बोली बोलनेवाले पक्षी चहचहाने लगे और भूमिपर विचरनेवाले समस्त मृग उन्हें दाहिने रखकर जाने लगे ॥ ८-९ ॥

तान् दृष्ट्वा राजशार्दूलो वसिष्ठं पर्यपृच्छत ।
असौम्याः पक्षिणो घोरा मृगाश्चापि प्रदक्षिणाः ॥१०॥
किमिदं हृदयोत्कम्पि मनो मम विषीदति ।

उन सबको देखकर राजसिंह दशरथने वसिष्ठजीसे पूछा—'मुनिवर ! एक ओर तो ये भयंकर पक्षी घोर शब्द कर रहे हैं और दूसरी ओर ये मृग हमें दाहिनी ओर करके जा रहे हैं; यह अशुभ और शुभ दो प्रकारका शकुन कैसा ? यह मेरे हृदयको कम्पित किये देता है । मेरा मन विषादमें डूबा जाता है' ॥ १०½ ॥

राज्ञो दशरथस्यैतच्छ्रुत्वा वाक्यं महानृषिः ॥ ११ ॥
उवाच मधुरां वाणीं श्रूयतामस्य यत् फलम् ।
उपस्थितं भयं घोरं दिव्यं पक्षिमुखाच्च्युतम् ॥ १२ ॥
मृगाः प्रशमयन्त्येते संतापस्त्यज्यतामयम् ।

राजा दशरथका यह वचन सुनकर महर्षि वसिष्ठने मधुर वाणीमें कहा—'राजन् ! इस शकुनका जो फल है, उसे सुनिये—आकाशमें पक्षियोंके मुखसे जो बात निकल रही है, वह बताती है कि इस समय कोई घोर भय उपस्थित होनेवाला है, परंतु हमें दाहिने रखकर जानेवाले ये मृग उस भयके शान्त हो जानेकी सूचना दे रहे हैं; इसलिये आप यह चिन्ता छोड़िये' ॥ ११-१२½ ॥

तेषां संवदतां तत्र वायुः प्रादुर्बभूव ह ॥ १३ ॥
कम्पयन् मेदिनीं सर्वां पातयंश्च महाद्रुमान् ।
तमसा संवृतः सूर्यः सर्वे नावेदिषुर्दिशः ॥ १४ ॥
भस्मना चावृतं सर्वं सम्मूढमिव तद्बलम् ।

इन लोगोंमें इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि वहाँ जोरोंकी आँधी उठी । वह सारी पृथ्वीको कँपाती हुई बड़े-बड़े वृक्षोंको धराशायी करने लगी । सूर्य अन्धकारसे ढँक गये । किसीको दिशाओंका भान न रहा । धूलसे ढक जानेके कारण वह सारी सेना मूर्च्छित-सी हो गयी ॥ १३-१४½ ॥

वसिष्ठ ऋषयश्चान्ये राजा च ससुतस्तदा ॥ १५ ॥
ससंज्ञा इव तत्रासन् सर्वमन्यद्विचेतनम् ।
तस्मिंस्तमसि घोरे तु भस्मच्छन्नेव सा चमूः ॥ १६ ॥

उस समय केवल वसिष्ठ मुनि, अन्यान्य ऋषियों तथा पुत्रोंसहित राजा दशरथको ही चेत रह गया था, शेष सभी लोग अचेत हो गये थे । उस घोर अन्धकारमें राजाकी वह सेना धूलसे आच्छादित-सी हो गयी थी ॥ १५-१६ ॥

ददर्श भीमसंकाशं जटामण्डलधारिणम् ।
भार्गवं जामदग्न्येयं राजा राजविमर्दनम् ॥ १७ ॥
कैलासमिव दुर्धर्षं कालाग्निमिव दुःसहम् ।
ज्वलन्तमिव तेजोभिर्दुर्निरीक्ष्यं पृथग्जनैः ॥ १८ ॥
स्कन्धे चासज्ज्य परशुं धनुर्विद्युद्गणोपमम् ।
प्रगृह्य शरमुग्रं च त्रिपुरघ्नं यथा शिवम् ॥ १९ ॥

उस समय राजा दशरथने देखा—क्षत्रिय राजाओंका मान-मर्दन करनेवाले भृगुकुलनन्दन जमदग्निकुमार परशुराम सामनेसे आ रहे हैं । वे बड़े भयानक-से दिखायी देते थे । उन्होंने मस्तकपर बड़ी-बड़ी जटाएँ धारण कर रखी थीं । वे कैलासके समान दुर्जय और कालाग्निके समान दुःसह प्रतीत होते थे । तेजोमण्डलद्वारा जाज्वल्यमान-से हो रहे थे । साधारण लोगोंके लिये उनकी ओर देखना भी कठिन था । वे कंधेपर फरसा रखे और हाथमें विद्युद्गणोंके समान दीप्तिमान् धनुष एवं भयंकर बाण लिये त्रिपुरविनाशक भगवान् शिवके समान जान पड़ते थे ॥ १७—१९ ॥

तं दृष्ट्वा भीमसंकाशं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
वसिष्ठप्रमुखा विप्रा जपहोमपरायणाः ॥ २० ॥
संगता मुनयः सर्वे संजजल्पुरथो मिथः ।

प्रज्वलित अग्निके समान भयानक-से प्रतीत होनेवाले परशुरामको उपस्थित देख जप और होममें तत्पर रहनेवाले वसिष्ठ आदि सभी ब्रह्मर्षि एकत्र हो परस्पर इस प्रकार बातें करने लगे—॥ २०½ ॥

कच्चित् पितृवधामर्षी क्षत्रं नोत्सादयिष्यति ॥ २१ ॥
पूर्वं क्षत्रवधं कृत्वा गतमन्युर्गतज्वरः ।
क्षत्रस्योत्सादनं भूयो न खल्वस्य चिकीर्षितम् ॥ २२ ॥

'क्या अपने पिताके वधसे अमर्षके वशीभूत हो ये क्षत्रियोंका संहार नहीं कर डालेंगे ? पूर्वकालमें क्षत्रियोंका वध करके इन्होंने अपना क्रोध उतार लिया है । अब इनकी बदला लेनेकी चिन्ता दूर हो चुकी है । अतः फिर क्षत्रियोंका संहार करना इनके लिये अभीष्ट नहीं है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है' ॥ २१-२२ ॥

एवमुक्त्वार्घ्यमादाय भार्गवं भीमदर्शनम् ।
ऋषयो रामरामेति मधुरं वाक्यमब्रुवन् ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर ऋषियोंने भयंकर दिखायी देनेवाले भृगुनन्दन परशुरामको अर्घ्य लेकर दिया और 'राम ! राम !' कहकर उनसे मधुर वाणीमें बातचीत की ॥ २३ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिदत्तां प्रतापवान् ।

रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्योऽभ्यभाषत ॥ २४ ॥

ऋषियोंकी दी हुई उस पूजाको स्वीकार करके प्रतापी जमदग्निपुत्र परशुरामने दशरथनन्दन श्रीरामसे इस प्रकार कहा ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथकी बात अनसुनी करके परशुरामका श्रीरामको वैष्णव-धनुषपर बाण चढ़ानेके लिये ललकारना

राम दाशरथे वीर वीर्यं ते श्रूयतेऽद्भुतम्।
धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मया श्रुतम्॥ १ ॥

'दशरथनन्दन श्रीराम! वीर! सुना जाता है कि तुम्हारा पराक्रम अद्भुत है। तुम्हारे द्वारा शिव-धनुषके तोड़े जानेका सारा समाचार भी मेरे कानोंमें पड़ चुका है ॥ १ ॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च भेदनं धनुषस्तथा।
तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तो धनुर्गृह्यापरं शुभम्॥ २ ॥

'उस धनुषका तोड़ना अद्भुत और अचिन्त्य है; उसके टूटनेकी बात सुनकर मैं एक दूसरा उत्तम धनुष लेकर आया हूँ ॥ २ ॥

तदिदं घोरसंकाशं जामदग्न्यं महद्धनुः।
पूरयस्व शरेणैव स्वबलं दर्शयस्व च॥ ३ ॥

'यह है वह जमदग्निकुमार परशुरामका भयंकर और विशाल धनुष। तुम इसे खींचकर इसके ऊपर बाण चढ़ाओ और अपना बल दिखाओ ॥ ३ ॥

तदहं ते बलं दृष्ट्वा धनुषोऽप्यस्य पूरणे।
द्वन्द्वयुद्धं प्रदास्यामि वीर्यश्लाघ्यमहं तव॥ ४ ॥

'इस धनुषके चढ़ानेमें भी तुम्हारा बल कैसा है? यह देखकर मैं तुम्हें ऐसा द्वन्द्वयुद्ध प्रदान करूँगा, जो तुम्हारे पराक्रमके लिये स्पृहणीय होगा' ॥ ४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजा दशरथस्तदा।
विषण्णवदनो दीनः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥ ५ ॥

परशुरामजीका वह वचन सुनकर उस समय राजा दशरथके मुखपर विषाद छा गया। वे दीनभावसे हाथ जोड़कर बोले—॥ ५ ॥

क्षत्ररोषात् प्रशान्तस्त्वं ब्राह्मणश्च महातपाः।
बालानां मम पुत्राणामभयं दातुमर्हसि॥ ६ ॥
भार्गवाणां कुले जातः स्वाध्यायव्रतशालिनाम्।
सहस्राक्षे प्रतिज्ञाय शस्त्रं प्रक्षिप्तवानसि॥ ७ ॥

'ब्रह्मन्! आप स्वाध्याय और व्रतसे शोभा पानेवाले भृगुवंशी ब्राह्मणोंके कुलमें उत्पन्न हुए हैं और स्वयं भी महान् तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी हैं; क्षत्रियोंपर अपना रोष प्रकट करके अब शान्त हो चुके हैं; इसलिये मेरे बालक पुत्रोंको आप अभयदान देनेकी कृपा करें; क्योंकि आपने इन्द्रके समीप प्रतिज्ञा करके शस्त्रका परित्याग कर दिया है ॥ ६-७ ॥

स त्वं धर्मपरो भूत्वा कश्यपाय वसुंधराम्।
दत्त्वा वनमुपागम्य महेन्द्रकृतकेतनः॥ ८ ॥

'इस तरह आप धर्ममें तत्पर हो कश्यपजीको पृथ्वीका दान करके वनमें आकर महेन्द्रपर्वतपर आश्रम बनाकर रहते हैं ॥ ८ ॥

मम सर्वविनाशाय सम्प्राप्तस्त्वं महामुने।
न चैकस्मिन् हते रामे सर्वे जीवामहे वयम्॥ ९ ॥

'महामुने! (इस प्रकार शस्त्रत्यागकी प्रतिज्ञा करके भी) आप मेरा सर्वनाश करनेके लिये कैसे आ गये? (यदि कहें—मेरा रोष तो केवल रामपर है तो) एकमात्र रामके मारे जानेपर ही हम सब लोग अपने जीवनका परित्याग कर देंगे' ॥

ब्रुवत्येवं दशरथे जामदग्न्यः प्रतापवान्।
अनादृत्य तु तद्वाक्यं राममेवाभ्यभाषत॥ १० ॥

राजा दशरथ इस प्रकार कहते ही रह गये; परंतु प्रतापी परशुरामने उनके उन वचनोंकी अवहेलना करके रामसे ही बातचीत जारी रक्खी ॥ १० ॥

इमे द्वे धनुषी श्रेष्ठे दिव्ये लोकाभिपूजिते।
दृढे बलवती मुख्ये सुकृते विश्वकर्मणा॥ ११ ॥

वे बोले—'रघुनन्दन! ये दो धनुष सबसे श्रेष्ठ और दिव्य थे। सारा संसार इन्हें सम्मानकी दृष्टिसे देखता था। साक्षात् विश्वकर्माने इन्हें बनाया था। ये बड़े प्रबल और दृढ़ थे ॥ ११ ॥

अनुसृष्टं सुरैरेकं त्र्यम्बकाय युयुत्सवे।
त्रिपुरघ्नं नरश्रेष्ठ भग्नं काकुत्स्थ यत्त्वया॥ १२ ॥

'नरश्रेष्ठ! इनमेंसे एकको देवताओंने त्रिपुरासुरसे युद्ध करनेके लिये भगवान् शङ्करको दे दिया था। ककुत्स्थनन्दन!

जिससे त्रिपुरका नाश हुआ था, वह वही धनुष था; जिसे तुमने तोड़ डाला है ॥ १२ ॥

इदं द्वितीयं दुर्धर्षं विष्णोर्दत्तं सुरोत्तमैः ।
तदिदं वैष्णवं राम धनुः परपुरंजयम् ॥ १३ ॥

'और दूसरा दुर्धर्ष धनुष यह है, जो मेरे हाथमें है । इसे श्रेष्ठ देवताओंने भगवान् विष्णुको दिया था । श्रीराम ! शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला वही यह वैष्णव धनुष है ॥ १३ ॥

समानसारं काकुत्स्थ रौद्रेण धनुषा त्विदम् ।
तदा तु देवताः सर्वाः पृच्छन्ति स्म पितामहम् ॥ १४ ॥
शितिकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबलनिरीक्षया ।

'ककुत्स्थनन्दन ! यह भी शिवजीके धनुषके समान ही प्रबल है । उन दिनों समस्त देवताओंने भगवान् शिव और विष्णुके बलाबलकी परीक्षाके लिये पितामह ब्रह्माजीसे पूछा था कि 'इन दोनों देवताओंमें कौन अधिक बलशाली है' ॥

अभिप्रायं तु विज्ञाय देवतानां पितामहः ॥ १५ ॥
विरोधं जनयामास तयोः सत्यवतां वरः ।

'देवताओंके इस अभिप्रायको जानकर सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ पितामह ब्रह्माजीने उन दोनों देवताओं (शिव और विष्णु) में विरोध उत्पन्न कर दिया ॥ १५½ ॥

विरोधे तु महद् युद्धमभवद् रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥
शितिकण्ठस्य विष्णोश्च परस्परजयैषिणोः ।

'विरोध पैदा होनेपर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले शिव और विष्णुमें बड़ा भारी युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ १६½ ॥

तदा तु जृम्भितं शैवं धनुर्भीमपराक्रमम् ॥ १७ ॥
हुंकारेण महादेवः स्तम्भितोऽथ त्रिलोचनः ।

'उस समय भगवान् विष्णुने हुङ्कारमात्रसे शिवजीके भयंकर बलशाली धनुषको शिथिल तथा त्रिनेत्रधारी महादेवजीको भी स्तम्भित कर दिया ॥ १७½ ॥

देवैस्तदा समागम्य सर्षिसङ्घैः सचारणैः ॥ १८ ॥
याचितौ प्रशमं तत्र जग्मतुस्तौ सुरोत्तमौ ।

'तब ऋषिसमूहों तथा चारणोंसहित देवताओंने आकर उन दोनों श्रेष्ठ देवताओंसे शान्तिके लिये याचना की; फिर वे दोनों वहाँ शान्त हो गये ॥ १८½ ॥

जृम्भितं तद् धनुर्दृष्ट्वा शैवं विष्णुपराक्रमैः ॥ १९ ॥
अधिकं मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तथा ।

'भगवान् विष्णुके पराक्रमसे शिवजीके उस धनुषको शिथिल हुआ देख ऋषियोंसहित देवताओंने भगवान् विष्णुको श्रेष्ठ माना ॥ १९½ ॥

धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः ॥ २० ॥
देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्ते ससायकम् ।

'तदनन्तर कुपित हुए महायशस्वी रुद्रने बाणसहित अपना धनुष विदेहदेशके राजर्षि देवरातके हाथमें दे दिया ॥

इदं च वैष्णवं राम धनुः परपुरंजयम् ॥ २१ ॥
ऋचीके भार्गवे प्रादाद् विष्णुः स न्यासमुत्तमम् ।

'श्रीराम ! शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले इस वैष्णव-धनुषको भगवान् विष्णुने भृगुवंशी ऋचीकमुनिको उत्तम धरोहरके रूपमें दिया था ॥ २१½ ॥

ऋचीकस्तु महातेजाः पुत्रस्याप्रतिकर्मणः ॥ २२ ॥
पितुर्मम ददौ दिव्यं जमदग्नेर्महात्मनः ।

'फिर महातेजस्वी ऋचीकने प्रतीकार (प्रतिशोध) की भावनासे रहित अपने पुत्र एवं मेरे पिता महात्मा जमदग्निके अधिकारमें यह दिव्य धनुष दे दिया ॥ २२½ ॥

न्यस्तशस्त्रे पितरि मे तपोबलसमन्विते ॥ २३ ॥
अर्जुनो विदधे मृत्युं प्राकृतां बुद्धिमास्थितः ।

'तपोबलसे सम्पन्न मेरे पिता जमदग्नि अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग करके जब ध्यानस्थ होकर बैठे थे, उस समय प्राकृत बुद्धिका आश्रय लेनेवाले कृतवीर्यकुमार अर्जुनने उनको मार डाला ॥ २३½ ॥

वधमप्रतिरूपं तु पितुः श्रुत्वा सुदारुणम् ।
क्षत्रमुत्सादयं रोषाज्जातं जातमनेकशः ॥ २४ ॥

'पिताके इस अत्यन्त भयंकर वधका, जो उनके योग्य नहीं था, समाचार सुनकर मैंने रोषपूर्वक बारंबार उत्पन्न हुए क्षत्रियोंका अनेक बार संहार किया ॥ २४ ॥

पृथिवीं चाखिलां प्राप्य कश्यपाय महात्मने ।
यज्ञस्यान्तेऽददं राम दक्षिणां पुण्यकर्मणे ॥ २५ ॥

'श्रीराम ! फिर सारी पृथ्वीपर अधिकार करके मैंने एक यज्ञ किया और उस यज्ञके समाप्त होनेपर पुण्यकर्मा महात्मा कश्यपको दक्षिणारूपसे यह सारी पृथ्वी दे डाली ॥ २५ ॥

दत्त्वा महेन्द्रनिलयस्तपोबलसमन्वितः ।
श्रुत्वा तु धनुषो भेदं ततोऽहं द्रुतमागतः ॥ २६ ॥

'पृथ्वीका दान करके मैं महेन्द्रपर्वतपर रहने लगा और वहाँ तपस्या करके तपोबलसे सम्पन्न हुआ । वहाँसे शिवजीके धनुषके तोड़े जानेका समाचार सुनकर मैं शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ ॥ २६ ॥

तदेवं वैष्णवं राम पितृपैतामहं महत् ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गृह्णीष्व धनुरुत्तमम् ॥ २७ ॥
योजयस्व धनुःश्रेष्ठे शरं परपुरंजयम् ।
यदि शक्तोऽसि काकुत्स्थ द्वन्द्वं दास्यामि ते ततः ॥ २८ ॥

'श्रीराम ! इस प्रकार वह महान् वैष्णवधनुष मेरे पिता-पितामहोंके अधिकारमें रहता चला आया है; अब तुम क्षत्रियधर्मको

सामने रखकर यह उत्तम धनुष हाथमें लो और इस श्रेष्ठ धनुषपर एक ऐसा बाण चढ़ाओ, जो शत्रुनगरीपर विजय पानेमें समर्थ हो; यदि तुम ऐसा कर सके तो मैं तुम्हें द्वन्द्व-युद्धका अवसर दूँगा ॥ २७-२८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

श्रीरामका वैष्णव-धनुषको चढ़ाकर अमोघ बाणके द्वारा परशुरामके तपःप्राप्त पुण्यलोकोंका नाश करना तथा परशुरामका महेन्द्रपर्वतको लौट जाना

श्रुत्वा तु जामदग्न्यस्य वाक्यं दाशरथिस्तदा ।
गौरवाद्यन्त्रितकथः पितू राममथाब्रवीत् ॥ १ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी अपने पिताके गौरवका ध्यान रखकर संकोचवश वहाँ कुछ बोल नहीं रहे थे, परंतु जमदग्निकुमार परशुरामजीकी उपर्युक्त बात सुनकर उस समय वे मौन न रह सके। उन्होंने परशुरामजीसे कहा—॥ १ ॥

कृतवानसि यत् कर्म श्रुतवानस्मि भार्गव ।
अनुरुध्यामहे ब्रह्मन् पितुरानृण्यमास्थितः ॥ २ ॥

'भृगुनन्दन ! ब्रह्मन् ! आपने पिताके ऋणसे उऋण होनेकी—पिताके मारनेवालेका वध करके वैरका बदला चुकानेकी भावना लेकर जो क्षत्रिय-संहाररूपी कर्म किया है, उसे मैंने सुना है और हमलोग आपके उस कर्मका अनुमोदन भी करते हैं (क्योंकि वीर पुरुष वैरका प्रतिशोध लेते ही हैं) ॥ २ ॥

वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव ।
अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ ३ ॥

'भार्गव ! मैं क्षत्रियधर्मसे युक्त हूँ (इसीलिये आप ब्राह्मण-देवताके समक्ष विनीत रहकर कुछ बोल नहीं रहा हूँ) तो भी आप मुझे पराक्रमहीन और असमर्थ-सा मानकर मेरा तिरस्कार कर रहे हैं। अच्छा, अब मेरा तेज और पराक्रम देखिये' ॥ ३ ॥

इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य वरायुधम् ।
शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः ॥ ४ ॥

ऐसा कहकर शीघ्र पराक्रम करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने कुपित हो परशुरामजीके हाथसे वह उत्तम धनुष और बाण ले लिया (साथ ही उनसे अपनी वैष्णवी शक्तिको भी वापस ले लिया) ॥ ४ ॥

आरोप्य स धनू रामः शरं सज्यं चकार ह ।
जामदग्न्यं ततो रामं रामः क्रुद्धोऽब्रवीदिदम् ॥ ५ ॥

उस धनुषको चढ़ाकर श्रीरामने उसकी प्रत्यञ्चापर बाण रखा, फिर कुपित होकर उन्होंने जमदग्निकुमार परशुरामजीसे इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च ।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥ ६ ॥

'(भृगुनन्दन) राम ! आप ब्राह्मण होनेके नाते मेरे पूज्य हैं तथा विश्वामित्रजीके साथ भी आपका सम्बन्ध है—इन सब कारणोंसे मैं इस प्राण-संहारक बाणको आपके शरीरपर नहीं छोड़ सकता ॥ ६ ॥

इमां वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमर्जितान् ।
लोकानप्रतिमान् वापि हनिष्यामीति मे मतिः ॥ ७ ॥
न ह्ययं वैष्णवो दिव्यः शरः परपुरंजयः ।
मोघः पतति वीर्येण बलदर्पविनाशनः ॥ ८ ॥

'राम ! मेरा विचार है कि आपको जो सर्वत्र शीघ्रतापूर्वक आने-जानेकी शक्ति प्राप्त हुई है, उसे अथवा आपने अपने तपोबलसे जिन अनुपम पुण्यलोकोंको प्राप्त किया है उन्हींको नष्ट कर डालूँ; क्योंकि अपने पराक्रमसे विपक्षीके बलके घमंडको चूर कर देनेवाला यह दिव्य वैष्णव बाण, जो शत्रुओंकी नगरीपर विजय दिलानेवाला है, कभी निष्फल नहीं जाता है' ॥ ७-८ ॥

वरायुधधरं रामं द्रष्टुं सर्षिगणाः सुराः ।
पितामहं पुरस्कृत्य समेतास्तत्र सर्वशः ॥ ९ ॥

उस समय उस उत्तम धनुष और बाणको धारण करके खड़े हुए श्रीरामचन्द्रजीको देखनेके लिये सम्पूर्ण देवता और ऋषि ब्रह्माजीको आगे करके वहाँ एकत्र हो गये ॥ ९ ॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव सिद्धचारणकिन्नराः ।
यक्षराक्षसनागाश्च तद् द्रष्टुं महदद्भुतम् ॥ १० ॥

गन्धर्व, अप्सराएँ, सिद्ध, चारण, किन्नर, यक्ष, राक्षस और नाग भी उस अत्यन्त अद्भुत दृश्यको देखनेके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥ १० ॥

जडीकृते तदा लोके रामे वरधनुर्धरे ।
निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ रामो राममुदैक्षत ॥ ११ ॥

जब श्रीरामचन्द्रजीने वह श्रेष्ठ धनुष हाथमें ले लिया, उस समय सब लोग आश्चर्यसे जडवत् हो गये। (परशुरामजीका वैष्णव तेज निकलकर श्रीरामचन्द्रजीमें मिल गया। इसलिये) वीर्यहीन हुए जमदग्निकुमार रामने दशरथनन्दन श्रीरामकी ओर देखा ॥ ११ ॥

तेजोभिर्गतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृतः ।
रामं कमलपत्राक्षं मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १२ ॥

तेज निकल जानेसे वीर्यहीन हो जानेके कारण जडवत् बने हुए जमदग्निकुमार परशुरामने कमलनयन श्रीरामसे धीरे-धीरे कहा—॥ १२ ॥

काश्यपाय मया दत्ता यदा पूर्वं वसुंधरा।
विषये मे न वस्तव्यमिति मां काश्यपोऽब्रवीत् ॥ १३ ॥

'रघुनन्दन! पूर्वकालमें मैंने कश्यपजीको जब यह पृथिवी दान की थी, तब उन्होंने मुझसे कहा था कि 'तुम्हें मेरे राज्यमें नहीं रहना चाहिये' ॥ १३ ॥

सोऽहं गुरुवचः कुर्वन् पृथिव्यां न वसे निशाम्।
तदाप्रभृति काकुत्स्थ कृता मे काश्यपस्य ह ॥ १४ ॥

'ककुत्स्थकुलनन्दन! तभीसे अपने गुरु कश्यपजीकी इस आज्ञाका पालन करता हुआ मैं कभी रातमें पृथिवीपर नहीं निवास करता हूँ; क्योंकि यह बात सर्वविदित है कि मैंने कश्यपके सामने रातको पृथिवीपर न रहनेकी प्रतिज्ञा कर रखी है ॥ १४ ॥

तामिमां मद्गतिं वीर हन्तुं नार्हसि राघव।
मनोजवं गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ १५ ॥

'इसलिये वीर राघव! आप मेरी इस गमनशक्तिको नष्ट न करें। मैं मनके समान वेगसे अभी महेन्द्र नामक श्रेष्ठ पर्वतपर चला जाऊँगा ॥ १५ ॥

लोकास्त्वप्रतिमा राम निर्जितास्तपसा मया।
जहि ताञ्छरमुख्येन मा भूत् कालस्य पर्ययः ॥ १६ ॥

'परंतु श्रीराम! मैंने अपनी तपस्यासे जिन अनुपम लोकोंपर विजय पायी है, उन्हींको आप इस श्रेष्ठ बाणसे नष्ट कर दें; अब इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ १६ ॥

अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्।
धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेऽस्तु परंतप ॥ १७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! आपने जो इस धनुषको चढ़ा दिया, इससे मुझे निश्चितरूपसे ज्ञात हो गया कि आप मधु दैत्यको मारनेवाले अविनाशी देवेश्वर विष्णु हैं। आपका कल्याण हो ॥ १७ ॥

एते सुरगणाः सर्वे निरीक्षन्ते समागताः।
त्वामप्रतिमकर्माणमप्रतिद्वन्द्वमाहवे ॥ १८ ॥

'ये सब देवता एकत्र होकर आपकी ओर देख रहे हैं। आपके कर्म अनुपम हैं; युद्धमें आपका सामना करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ १८ ॥

न चेयं तव काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति।
त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः ॥ १९ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! आपके सामने जो मेरी असमर्थता प्रकट हुई—यह मेरे लिये लज्जाजनक नहीं हो सकती; क्योंकि आप त्रिलोकीनाथ श्रीहरिने मुझे पराजित किया है ॥

शरमप्रतिमं राम मोक्तुमर्हसि सुव्रत।
शरमोक्षे गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २० ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रीराम! अब आप अपना अनुपम बाण छोड़िये; इसके छूटनेके बाद ही मैं श्रेष्ठ महेन्द्र पर्वतपर जाऊँगा' ॥ २० ॥

तथा ब्रुवति रामे तु जामदग्न्ये प्रतापवान्।
रामो दाशरथिः श्रीमांश्चिक्षेप शरमुत्तमम् ॥ २१ ॥

जमदग्निनन्दन परशुरामजीके ऐसा कहनेपर प्रतापी दशरथनन्दन श्रीमान् रामचन्द्रजीने वह उत्तम बाण छोड़ दिया ॥ २१ ॥

स हतान् दृश्य रामेण स्वाँल्लोकांस्तपसार्जितान्।
जामदग्न्यो जगामाशु महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २२ ॥

अपनी तपस्याद्वारा उपार्जित किये हुए पुण्यलोकोंको श्रीरामचन्द्रजीके चलाये हुए उस बाणसे नष्ट हुआ देखकर परशुरामजी शीघ्र ही उत्तम महेन्द्र पर्वतपर चले गये ॥ २२ ॥

ततो वितिमिराः सर्वा दिशश्चोपदिशस्तथा।
सुराः सर्षिगणा रामं प्रशशंसुरुदायुधम् ॥ २३ ॥

उनके जाते ही समस्त दिशाओं तथा उपदिशाओंका अन्धकार दूर हो गया। उस समय ऋषियोंसहित देवता उत्तम आयुधधारी श्रीरामकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ २३ ॥

रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्यः प्रपूजितः।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य जगामात्मगतिं प्रभुः ॥ २४ ॥

तदनन्तर दशरथनन्दन श्रीरामने जमदग्निकुमार परशुरामका पूजन किया। उनसे पूजित हो प्रभावशाली परशुराम दशरथकुमार रामकी परिक्रमा करके अपने स्थानको चले गये ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथका पुत्रों और वधुओंके साथ अयोध्यामें प्रवेश, शत्रुघ्नसहित भरतका मामाके यहाँ जाना, श्रीरामके बर्तावसे सबका संतोष तथा सीता और श्रीरामका पारस्परिक प्रेम

गते रामे प्रशान्तात्मा रामो दाशरथिर्धनुः।
वरुणायाप्रमेयाय ददौ हस्ते महायशाः ॥ १ ॥

जमदग्निकुमार परशुरामजीके चले जानेपर महायशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामने शान्तचित्त होकर अपार

शक्तिशाली वरुणके हाथमें वह धनुष दे दिया ॥ १ ॥

अभिवाद्य ततो रामो वसिष्ठप्रमुखानृषीन्।
पितरं विकलं दृष्ट्वा प्रोवाच रघुनन्दनः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् वसिष्ठ आदि ऋषियोंको प्रणाम करके रघुनन्दन श्रीरामने अपने पिताको विकल देखकर उनसे कहा—॥ २ ॥

जामदग्न्यो गतो रामः प्रयातु चतुरङ्गिणी।
अयोध्याभिमुखी सेना त्वया नाथेन पालिता ॥ ३ ॥

'पिताजी! जमदग्निकुमार परशुरामजी चले गये। अब आपके अधिनायकत्वमें सुरक्षित यह चतुरङ्गिणी सेना अयोध्याकी ओर प्रस्थान करे' ॥ ३ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा राजा दशरथः सुतम्।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य मूर्ध्न्युपाघ्राय राघवम् ॥ ४ ॥
गतो राम इति श्रुत्वा हृष्टः प्रमुदितो नृपः।
पुनर्जातं तदा मेने पुत्रमात्मानमेव च ॥ ५ ॥

श्रीरामका यह वचन सुनकर राजा दशरथने अपने पुत्र रघुनाथजीको दोनों भुजाओंसे खींचकर छातीसे लगा लिया और उनका मस्तक सूँघा। 'परशुरामजी चले गये' यह सुनकर राजा दशरथको बड़ा हर्ष हुआ, वे आनन्दमग्न हो गये। उस समय उन्होंने अपना और अपने पुत्रका पुनर्जन्म हुआ माना ॥ ४-५ ॥

चोदयामास तां सेनां जगामाशु ततः पुरीम्।
पताकाध्वजिनीं रम्यां तूर्योद्घुष्टनिनादिताम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर उन्होंने सेनाको नगरकी ओर कूँच करनेकी आज्ञा दी और वहाँसे चलकर बड़ी शीघ्रताके साथ वे अयोध्यापुरीमें जा पहुँचे। उस समय उस पुरीमें सब ओर ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं। सजावटसे नगरकी रमणीयता बढ़ गयी थी और भाँति-भाँतिके वाद्योंकी ध्वनिसे सारी अयोध्या गूँज उठी थी ॥ ६ ॥

सिक्तराजपथारम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम्।
राजप्रवेशसुमुखैः पौरैर्मङ्गलपाणिभिः ॥ ७ ॥
सम्पूर्णां प्राविशद् राजा जनौघैः समलंकृताम्।
पौरैः प्रत्युद्गतो दूरं द्विजैश्च पुरवासिभिः ॥ ८ ॥

सड़कोंपर जलका छिड़काव हुआ था, जिससे पुरीकी सुरम्य शोभा बढ़ गयी थी। यत्र-तत्र ढेर-के-ढेर फूल बिखेरे गये थे। पुरवासी मनुष्य हाथोंमें माङ्गलिक वस्तुएँ लेकर राजाके प्रवेशमार्गपर प्रसन्नमुख होकर खड़े थे। इन सबसे भरी-पूरी तथा भारी जनसमुदायसे अलंकृत हुई अयोध्यापुरीमें राजाने प्रवेश किया। नागरिकों तथा पुरवासी ब्राह्मणोंने दूर-तक आगे जाकर महाराजकी अगवानी की थी ॥ ७-८ ॥

पुत्रैरनुगतः श्रीमाञ्श्रीमद्भिश्च महायशाः।
प्रविवेश गृहं राजा हिमवत्सदृशं प्रियम् ॥ ९ ॥

अपने कान्तिमान् पुत्रोंके साथ महायशस्वी श्रीमान् राजा दशरथने अपने प्रिय राजभवनमें, जो हिमालयके समान सुन्दर एवं गगनचुम्बी था, प्रवेश किया ॥ ९ ॥

ननन्द स्वजनै राजा गृहे कामैः सुपूजितः।
कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च सुमध्यमा ॥ १० ॥
वधूप्रतिग्रहे युक्ता याश्चान्या राजयोषितः।

राजमहलमें स्वजनोंद्वारा मनोवाञ्छित वस्तुओंसे परम पूजित हो राजा दशरथने बड़े आनन्दका अनुभव किया। महारानी कौसल्या, सुमित्रा, सुन्दर कटिप्रदेशवाली कैकेयी तथा जो अन्य राजपत्नियाँ थीं, वे सब बहुओंको उतारनेके कार्यमें जुट गयीं ॥ १०½ ॥

ततः सीतां महाभागामूर्मिलां च यशस्विनीम् ॥ ११ ॥
कुशध्वजसुते चोभे जगृहुर्नृपयोषितः।
मङ्गलालापनैर्होमैः शोभिताः क्षौमवाससः ॥ १२ ॥

तदनन्तर राजपरिवारकी उन स्त्रियोंने परम सौभाग्यवती सीता, यशस्विनी ऊर्मिला तथा कुशध्वजकी दोनों कन्याओं—माण्डवी और श्रुतकीर्तिको सवारीसे उतारा और मङ्गल गीत गाती हुई सब वधुओंको घरमें ले गयीं। वे प्रवेशकालिक होमकर्मसे सुशोभित तथा रेशमी साड़ियोंसे अलंकृत थीं ॥

देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन्।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा ॥ १३ ॥
रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः।

उन सबने देवमन्दिरोंमें ले जाकर उन बहुओंसे देवताओंका पूजन करवाया। तदनन्तर नववधूरूपमें आयी हुई उन सभी राजकुमारियोंने वन्दनीय सास-ससुर आदिके चरणोंमें प्रणाम किया और अपने-अपने पतिके साथ एकान्तमें रहकर वे सब-की-सब बड़े आनन्दसे समय व्यतीत करने लगीं ॥

कृतदाराः कृतास्त्राश्च सधनाः ससुहृज्जनाः ॥ १४ ॥
शुश्रूषमाणाः पितरं वर्तयन्ति नरर्षभाः।
कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा दशरथः सुतम् ॥ १५ ॥
भरतं कैकयीपुत्रमब्रवीद् रघुनन्दनः।

श्रीराम आदि पुरुषश्रेष्ठ चारों भाई अस्त्रविद्यामें निपुण और विवाहित होकर धन और मित्रोंके साथ रहते हुए पिताकी सेवा करने लगे। कुछ कालके बाद रघुकुलनन्दन राजा दशरथने अपने पुत्र कैकेयीकुमार भरतसे कहा—॥ १४-१५½ ॥

अयं केकयराजस्य पुत्रो वसति पुत्रक ॥ १६ ॥
त्वां नेतुमागतो वीरो युधाजिन्मातुलस्तव।

'बेटा! ये तुम्हारे मामा केकयराजकुमार वीर युधाजित्

तुम्हें लेनेके लिये आये हैं और कई दिनोंसे यहाँ ठहरे हुए हैं ॥ १६½ ॥

श्रुत्वा दशरथस्यैतद् भरतः कैकयीसुतः ॥ १७ ॥
गमनायाभिचक्राम शत्रुघ्नसहितस्तदा ।

दशरथजीकी यह बात सुनकर कैकेयीकुमार भरतने उस समय शत्रुघ्नके साथ मामाके यहाँ जानेका विचार किया ॥ १७½ ॥

आपृच्छय पितरं शूरो रामं चाक्लिष्टकारिणम् ॥ १८ ॥
मातॄश्चापि नरश्रेष्ठः शत्रुघ्नसहितो ययौ ।

वे नरश्रेष्ठ शूरवीर भरत अपने पिता राजा दशरथ, अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीराम तथा सभी माताओंसे पूछकर उनकी आज्ञा ले शत्रुघ्नसहित वहाँसे चल दिये ॥ १८½ ॥

युधाजित् प्राप्य भरतं सशत्रुघ्नं प्रहर्षितः ॥ १९ ॥
स्वपुरं प्राविशद् वीरः पिता तस्य तुतोष ह ।

शत्रुघ्नसहित भरतको साथ लेकर वीर युधाजित्‌ने बड़े हर्षके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया, इससे उनके पिताको बड़ा संतोष हुआ ॥ १९½ ॥

गते च भरते रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ २० ॥
पितरं देवसंकाशं पूजयामासतुस्तदा ।

भरतके चले जानेपर महाबली श्रीराम और लक्ष्मण उन दिनों अपने देवोपम पिताकी सेवा-पूजामें संलग्न रहने लगे ॥

पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः ॥ २१ ॥
चकार रामः सर्वाणि प्रियाणि च हितानि च ।

पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके वे नगरवासियोंके सब काम देखने तथा उनके समस्त प्रिय तथा हितकर कार्य करने लगे ॥ २१½ ॥

मातृभ्यो मातृकार्याणि कृत्वा परमयन्त्रितः ॥ २२ ॥
गुरूणां गुरुकार्याणि काले कालेऽन्ववैक्षत ।

वे अपनेको बड़े संयममें रखते थे और समय-समयपर माताओंके लिये उनके आवश्यक कार्य पूर्ण करके गुरुजनोंके भारी-से-भारी कार्योंको भी सिद्ध करनेका ध्यान रखते थे ॥ २२½ ॥

एवं दशरथः प्रीतो ब्राह्मणा नैगमास्तथा ॥ २३ ॥
रामस्य शीलवृत्तेन सर्वे विषयवासिनः ।

उनके इस बर्तावसे राजा दशरथ, वेदवेत्ता ब्राह्मण तथा वैश्यवर्ग बड़े प्रसन्न रहते थे; श्रीरामके उत्तम शील और सद्-व्यवहारसे उस राज्यके भीतर निवास करनेवाले सभी मनुष्य बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ २३½ ॥

तेषामतियशा लोके रामः सत्यपराक्रमः ॥ २४ ॥
स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ।

राजाके उन चारों पुत्रोंमें सत्यपराक्रमी श्रीराम ही लोकमें अत्यन्त यशस्वी तथा महान् गुणवान् हुए—ठीक उसी तरह जैसे समस्त भूतोंमें स्वयम्भू ब्रह्मा ही अत्यन्त यशस्वी और महान् गुणवान् हैं ॥ २४½ ॥

रामश्च सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून् ॥ २५ ॥
मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः ।

श्रीरामचन्द्रजी सदा सीताके हृदयमन्दिरमें विराजमान रहते थे तथा मनस्वी श्रीरामका मन भी सीतामें ही लगा रहता था; श्रीरामने सीताके साथ अनेक ऋतुओंतक विहार किया ॥

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति ॥ २६ ॥
गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयोऽभिवर्धते ।
तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते ॥ २७ ॥

सीता श्रीरामको बहुत ही प्रिय थीं; क्योंकि वे अपने पिता राजा जनकद्वारा श्रीरामके हाथमें पत्नीरूपसे समर्पित की गयी थीं। सीताके पातिव्रत्य आदि गुणसे तथा उनके सौन्दर्य-गुणसे भी श्रीरामका उनके प्रति अधिकाधिक प्रेम बढ़ता रहता था; इसी प्रकार सीताके हृदयमें भी उनके पति श्रीराम अपने गुण और सौन्दर्यके कारण द्विगुण प्रीतिपात्र बनकर रहते थे ॥ २६-२७ ॥

अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं हृदा ।
तस्य भूयो विशेषेण मैथिली जनकात्मजा ।
देवताभिः समा रूपे सीता श्रीरिव रूपिणी ॥ २८ ॥

जनकनन्दिनी मिथिलेशकुमारी सीता श्रीरामके हार्दिक अभिप्रायको भी अपने हृदयसे ही और अधिकरूपमें जान लेती थीं तथा स्पष्टरूपसे बता भी देती थीं। वे रूपमें देवाङ्गनाओंके समान थीं और मूर्तिमती लक्ष्मी-सी प्रतीत होती थीं ॥ २८ ॥

तया स राजर्षिसुतोऽभिकामया
समेयिवानुत्तमराजकन्यया ।
अतीव रामः शुशुभे मुदान्वितो
विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः ॥ २९ ॥

श्रेष्ठ राजकुमारी सीता श्रीरामकी ही कामना रखती थीं और श्रीराम भी एकमात्र उन्हींको चाहते थे; जैसे लक्ष्मीके साथ देवेश्वर भगवान् विष्णुकी शोभा होती है, उसी प्रकार उन सीतादेवीके साथ राजर्षि दशरथकुमार श्रीराम परम प्रसन्न रहकर बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सतहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७७ ॥



॥ बालकाण्डं सम्पूर्णम् ॥





महाराज दशरथकी राजसभा

बैठे हुए सामन्त नरेशों तथा नगर और जनपदके निवासी मनुष्योंसे घिरे हुए महाराज दशरथ उस समय देवताओंके बीचमें विराजमान सहस्रनेत्रधारी भगवान् इन्द्रके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥



द्वितीयः सर्गः

राजा दशरथद्वारा श्रीरामके राज्याभिषेकका प्रस्ताव तथा सभासदोंद्वारा श्रीरामके गुणोंका वर्णन करते हुए उक्त प्रस्तावका सहर्ष युक्तियुक्त समर्थन

ततः परिषदं सर्वामामन्त्र्य वसुधाधिपः।
हितमुद्धर्षणं चैवमुवाच प्रथितं वचः॥ १॥
दुन्दुभिस्वरकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना।
स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन्॥ २॥

उस समय राजसभामें बैठे हुए सब लोगोंको सम्बोधित करके महाराज दशरथने मेघके समान शब्द करते हुए दुन्दुभिकी ध्वनिके सदृश अत्यन्त गम्भीर एवं गूँजते हुए उच्च स्वरसे सबके आनन्दको बढ़ानेवाली यह हितकारक बात कही॥

राजलक्षणयुक्तेन कान्तेनानुपमेन च।
उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान्॥ ३॥

राजा दशरथका स्वर राजोचित स्निग्धता और गम्भीरता आदि गुणोंसे युक्त था, अत्यन्त कमनीय और अनुपम था। वे उस अद्भुत रसमय स्वरसे समस्त नरेशोंको सम्बोधित करके बोले—॥ ३॥

विदितं भवतामेतद् यथा मे राज्यमुत्तमम्।
पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत् परिपालितम्॥ ४॥

'सज्जनो! आपलोगोंको यह तो विदित ही है कि मेरे पूर्वज राजाधिराजोंने इस श्रेष्ठ राज्यका (यहाँकी प्रजाका) किस प्रकार पुत्रकी भाँति पालन किया था॥ ४॥

सोऽहमिक्ष्वाकुभिः सर्वैर्नरेन्द्रैः प्रतिपालितम्।
श्रेयसा योक्तुमिच्छामि सुखार्हमखिलं जगत्॥ ५॥

'समस्त इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंने जिसका प्रतिपालन किया है, उस सुख भोगनेके योग्य सम्पूर्ण जगत्को अब मैं भी कल्याणका भागी बनाना चाहता हूँ॥ ५॥

मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता।
प्रजा नित्यमनिद्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः॥ ६॥

मेरे पूर्वज जिस मार्गपर चलते आये हैं, उसीका अनुसरण करते हुए मैंने भी सदा जागरूक रहकर समस्त प्रजाजनोंकी यथाशक्ति रक्षा की है॥ ६॥

इदं शरीरं कृत्स्नस्य लोकस्य चरता हितम्।
पाण्डुरस्यातपत्रस्य च्छायायां जरितं मया॥ ७॥

'समस्त संसारका हित-साधन करते हुए मैंने इस शरीरको श्वेत राजछत्रकी छायामें बूढ़ा किया है॥ ७॥

प्राप्य वर्षसहस्राणि बहून्यायूंषि जीवतः।
जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये॥ ८॥

'अनेक सहस्र (साठ हजार) वर्षोंकी आयु पाकर जीवित रहते हुए अपने इस जराजीर्ण शरीरको अब मैं विश्राम देना चाहता हूँ॥ ८॥

राजप्रभावजुष्टां च दुर्वहामजितेन्द्रियैः।
परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन्॥ ९॥

'जगत्के धर्मपूर्वक संरक्षणका भारी भार राजाओंके शौर्य आदि प्रभावोंसे ही उठाना सम्भव है। अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये इस बोझको ढोना अत्यन्त कठिन है। मैं दीर्घकालसे इस भारी भारको वहन करते-करते थक गया हूँ॥ ९॥

सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते।
संनिकृष्टानिमान् सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान्॥ १०॥

'इसलिये यहाँ पास बैठे हुए इन सम्पूर्ण श्रेष्ठ द्विजोंकी अनुमति लेकर प्रजाजनोंके हितके कार्यमें अपने पुत्र श्रीरामको नियुक्त करके अब मैं राजकार्यसे विश्राम लेना चाहता हूँ॥

अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैः श्रेष्ठो ममात्मजः।
पुरन्दरसमो वीर्ये रामः परपुरंजयः॥ ११॥

'मेरे पुत्र श्रीराम मेरी अपेक्षा सभी गुणोंमें श्रेष्ठ हैं। शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले श्रीरामचन्द्र बल-पराक्रममें देवराज इन्द्रके समान हैं॥ ११॥

तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतां वरम्।
यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रातः पुरुषपुङ्गवम्॥ १२॥

'पुष्य-नक्षत्रसे युक्त चन्द्रमाकी भाँति समस्त कार्योंके साधनमें कुशल तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ उन पुरुषशिरोमणि श्रीरामचन्द्रको मैं कल प्रातःकाल पुष्यनक्षत्रमें युवराजके पद-पर नियुक्त करूँगा॥ १२॥

अनुरूपः स वो नाथो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणाग्रजः।
त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम्॥ १३॥

'लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीमान् राम आपलोगोंके लिये योग्य स्वामी सिद्ध होंगे; उनके-जैसे स्वामीसे सम्पूर्ण त्रिलोकी भी परम सनाथ हो सकती है ॥ १३ ॥

अनेन श्रेयसा सद्यः संयोक्ष्येऽहमिमां महीम्।
गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन् निवेश्य वै ॥ १४ ॥

'ये श्रीराम कल्याणस्वरूप हैं; इनका शीघ्र ही अभिषेक करके मैं इस भूमण्डलको तत्काल कल्याणका भागी बनाऊँगा। अपने पुत्र श्रीरामपर राज्यका भार रखकर मैं सर्वथा क्लेश-रहित—निश्चिन्त हो जाऊँगा ॥ १४ ॥

यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥ १५ ॥

'यदि मेरा यह प्रस्ताव आपलोगोंको अनुकूल जान पड़े और यदि मैंने यह अच्छी बात सोची हो तो आपलोग इसके लिये मुझे सहर्ष अनुमति दें अथवा यह बतावें कि मैं किस प्रकारसे कार्य करूँ ॥ १५ ॥

यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद् विचिन्त्यताम्।
अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया ॥ १६ ॥

'यद्यपि यह श्रीरामके राज्याभिषेकका विचार मेरे लिये अधिक प्रसन्नताका विषय है तथापि यदि इसके अतिरिक्त भी कोई सबके लिये हितकर बात हो तो आपलोग उसे सोचें; क्योंकि मध्यस्थ पुरुषोंका विचार एकपक्षीय पुरुषकी अपेक्षा विलक्षण होता है, कारण कि वह पूर्वपक्ष और अपरपक्षको लक्ष्य करके किया गया होनेके कारण अधिक अभ्युदय करनेवाला होता है' ॥ १६ ॥

इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन् नृपा नृपम्।
वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः ॥ १७ ॥

राजा दशरथ जब ऐसी बात कह रहे थे, उस समय वहाँ उपस्थित नरेशोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन महाराजका उसी प्रकार अभिनन्दन किया, जैसे मोर मधुर केकारव फैलाते हुए वर्षा करनेवाले महामेघका अभिनन्दन करते हैं ॥

स्निग्धोऽनुनादः संजज्ञे ततो हर्षसमीरितः।
जनौघोद्घुष्टसंनादो मेदिनीं कम्पयन्निव ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् समस्त जनसमुदायकी स्नेहमयी हर्षध्वनि सुनायी पड़ी। वह इतनी प्रबल थी कि समस्त पृथ्वीको कँपाती हुई-सी जान पड़ी ॥ १८ ॥

तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ॥ १९ ॥
समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ २० ॥

धर्म और अर्थके ज्ञाता महाराज दशरथके अभिप्रायको पूर्णरूपसे जानकर सम्पूर्ण ब्राह्मण और सेनापति नगर और जनपदके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके साथ मिलकर परस्पर सलाह करनेके लिये बैठे और मनसे सब कुछ समझकर जब वे एक निश्चयपर पहुँच गये, तब बूढ़े राजा दशरथसे इस प्रकार बोले— ॥ १९-२० ॥

अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव।
स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिवम् ॥ २१ ॥

'पृथ्वीनाथ! आपकी अवस्था कई हजार वर्षोंकी हो गयी। आप बूढ़े हो गये। अतः पृथ्वीके पालनमें समर्थ अपने पुत्र श्रीरामका अवश्य ही युवराजके पदपर अभिषेक कीजिये॥

इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्।
गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम् ॥ २२ ॥

'रघुकुलके वीर महाबलवान् महाबाहु श्रीराम महान् गजराजपर बैठकर यात्रा करते हों और उनके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ हो—इस रूपमें हम उनकी झाँकी करना चाहते हैं'।

इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम्।
अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत् ॥ २३ ॥

उनकी यह बात राजा दशरथके मनको प्रिय लगनेवाली थी; इसे सुनकर राजा दशरथ अनजान-से बनकर उन सबके मनोभावको जाननेकी इच्छासे इस प्रकार बोले—॥ २३ ॥

श्रुत्वैतद् वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ।
राजानः संशयोऽयं मे तदिदं ब्रूत तत्त्वतः ॥ २४ ॥

'राजागण! मेरी यह बात सुनकर जो आपलोगोंने श्रीरामको राजा बनानेकी इच्छा प्रकट की है, इसमें मुझे यह संशय हो रहा है जिसे आपके समक्ष उपस्थित करता हूँ। आप इसे सुनकर इसका यथार्थ उत्तर दें ॥ २४ ॥

कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति।
भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम् ॥ २५ ॥

'मैं धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका निरन्तर पालन कर रहा हूँ; फिर मेरे रहते हुए आपलोग महाबली श्रीरामको युवराजके रूपमें क्यों देखना चाहते हैं?' ॥ २५ ॥

ते तमूचुर्महात्मानः पौरजानपदैः सह।
बहवो नृप कल्याणगुणाः सन्ति सुतस्य ते ॥ २६ ॥

यह सुनकर वे महात्मा नरेश नगर और जनपदके लोगोंके साथ राजा दशरथसे इस प्रकार बोले—'महाराज! आपके पुत्र श्रीराममें बहुत-से कल्याणकारी सद्गुण हैं ॥२६॥

गुणान् गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः।
प्रियानानन्दनान् कृत्स्नान् प्रवक्ष्यामोऽद्य ताञ्शृणु ॥

'देव! देवताओंके तुल्य बुद्धिमान् और गुणवान् श्रीरामचन्द्रजीके सारे गुण सबको प्रिय लगनेवाले और आनन्ददायक हैं, हम इस समय उनका यत्किंचित् वर्णन कर रहे हैं, आप उन्हें सुनिये ॥ २७ ॥

दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः ।
इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशाम्पते ॥ २८ ॥

प्रजानाथ ! सत्यपराक्रमी श्रीराम देवराज इन्द्रके समान दिव्य गुणोंसे सम्पन्न हैं । इक्ष्वाकुकुलमें भी ये सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ २८ ॥

रामः सत्पुरुषो लोके सत्यः सत्यपरायणः ।
साक्षाद् रामाद् विनिर्वृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह ॥ २९ ॥

'श्रीराम संसारमें सत्यवादी, सत्यपरायण और सत्पुरुष हैं । साक्षात् श्रीरामने ही अर्थके साथ धर्मको भी प्रतिष्ठित किया है ॥ २९ ॥

प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः ।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः ॥ ३० ॥

'ये प्रजाको सुख देनेमें चन्द्रमाकी और क्षमारूपी गुणमें पृथ्वीकी समानता करते हैं । बुद्धिमें बृहस्पति और बल-पराक्रममें साक्षात् शचीपति इन्द्रके समान हैं ॥ ३० ॥

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च शीलवाननसूयकः ।
क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः ॥
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः ।
प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः ॥ ३२ ॥

'श्रीराम धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, शीलवान्, अदोषदर्शी, शान्त, दीन-दुखियोंको सान्त्वना प्रदान करनेवाले, मृदुभाषी, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, कोमल स्वभाववाले, स्थिरबुद्धि, सदा कल्याणकारी, असूयारहित, समस्त प्राणियोंके प्रति प्रिय वचन बोलनेवाले और सत्यवादी हैं ॥ ३१-३२ ॥

बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता ।
तेनास्येहातुला कीर्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते ॥ ३३ ॥

'वे बहुश्रुत विद्वानों, बड़े-बूढ़ों तथा ब्राह्मणोंके उपासक हैं—सदा ही उनका संग किया करते हैं, इसलिये इस जगत्में श्रीरामकी अनुपम कीर्ति, यश और तेजका विस्तार हो रहा है ॥ ३३ ॥

देवासुरमनुष्याणां सर्वास्त्रेषु विशारदः ।
सम्यग् विद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित् ॥ ३४ ॥

'देवता, असुर और मनुष्योंके सम्पूर्ण अस्त्रोंका उन्हें विशेषरूपसे ज्ञान है । वे साङ्ग वेदके यथार्थ विद्वान् और सम्पूर्ण विद्याओंमें भलीभाँति निष्णात हैं ॥ ३४ ॥

गान्धर्वे च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ।
कल्याणाभिजनः साधुरदीनात्मा महामतिः ॥ ३५ ॥

'भरतके बड़े भाई श्रीराम गान्धर्ववेद (संगीतशास्त्र) में भी इस भूतलपर सबसे श्रेष्ठ हैं । कल्याणकी तो वे जन्मभूमि हैं । उनका स्वभाव साधु पुरुषोंके समान है, हृदय उदार और बुद्धि विशाल है ॥ ३५ ॥

द्विजैरभिविनीतश्च श्रेष्ठैर्धर्मार्थनैपुणैः ।
यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा ॥ ३६ ॥
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते ।

'धर्म और अर्थके प्रतिपादनमें कुशल श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने उन्हें उत्तम शिक्षा दी है । वे ग्राम अथवा नगरकी रक्षाके लिये लक्ष्मणके साथ जब संग्रामभूमिमें जाते हैं, उस समय वहाँ जाकर विजय प्राप्त किये विना पीछे नहीं लौटते ॥३६½॥

संग्रामात् पुनरागत्य कुञ्जरेण रथेन वा ॥ ३७ ॥
पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति ।
पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ॥ ३८ ॥

संग्रामभूमिसे हाथी अथवा रथके द्वारा पुनः अयोध्या लौटनेपर वे पुरवासियोंसे स्वजनोंकी भाँति प्रतिदिन उनके पुत्रों, अग्निहोत्रकी अग्नियों, स्त्रियों, सेवकों और शिष्योंका कुशल-समाचार पूछते रहते हैं ॥ ३७-३८ ॥

निखिलेनानुपूर्व्या च पिता पुत्रानिवौरसान् ।
शुश्रूषन्ते च वः शिष्याः कच्चिद् वर्मसु दंशिताः ॥ ३९ ॥
इति वः पुरुषव्याघ्रः सदा रामोऽभिभाषते ।

'जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका कुशल-मङ्गल पूछता है, उसी प्रकार वे समस्त पुरवासियोंसे क्रमशः उनका सारा समाचार पूछा करते हैं । पुरुषसिंह श्रीराम ब्राह्मणोंसे सदा पूछते रहते हैं कि 'आपके शिष्य आपलोगोंकी सेवा करते हैं न ?' क्षत्रियोंसे यह जिज्ञासा करते हैं कि आपके सेवक कवच आदिसे सुसज्जित हो आपकी सेवामें तत्पर रहते हैं न ?' ॥

व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ॥ ४० ॥
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ।

'नगरके मनुष्योंपर संकट आनेपर वे बहुत दुखी हो जाते हैं और उन सबके घरोंमें सब प्रकारके उत्सव होनेपर उन्हें पिताकी भाँति प्रसन्नता होती है ॥ ४०½ ॥

सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ॥ ४१ ॥
स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मनाश्रितः ।
सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विगृह्यकथारुचिः ॥ ४२ ॥

'वे सत्यवादी, महान् धनुर्धर, वृद्ध पुरुषोंके सेवक और जितेन्द्रिय हैं । श्रीराम पहले मुस्कराकर वार्तालाप आरम्भ करते हैं । उन्होंने सम्पूर्ण हृदयसे धर्मका आश्रय ले रक्खा है । वे कल्याणका सम्यक् आयोजन करनेवाले हैं; निन्दनीय बातोंकी चर्चामें उनकी कभी रुचि नहीं होती है ॥४१-४२॥

उत्तरोत्तरयुक्तौ च वक्ता वाचस्पतिर्यथा ।
सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद् विष्णुरिव स्वयम् ॥ ४३ ॥

'उत्तरोत्तर उत्तम युक्ति देते हुए वार्तालाप करनेमें वे साक्षात् बृहस्पतिके समान हैं । उनकी भौंहें सुन्दर हैं, आँखें विशाल और कुछ लालिमा लिये हुए हैं । वे साक्षात् विष्णुकी भाँति शोभा पाते हैं ॥ ४३ ॥

रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः।
प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः ॥ ४४ ॥

'सम्पूर्ण लोकोंको आनन्दित करनेवाले ये श्रीराम शूरता, वीरता और पराक्रम आदिके द्वारा सदा प्रजाका पालन करनेमें लगे रहते हैं। उनकी इन्द्रियाँ राग आदि दोषोंसे दूषित नहीं होती हैं ॥ ४४ ॥

शक्तस्त्रैलोक्यमप्येष भोक्तुं किं नु महीमिमाम्।
नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन ॥ ४५ ॥

'इस पृथ्वीकी तो बात ही क्या है, वे सम्पूर्ण त्रिलोकी-की भी रक्षा कर सकते हैं। उनका क्रोध और प्रसाद कभी व्यर्थ नहीं होता है ॥ ४५ ॥

हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति।
युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति ॥ ४६ ॥

'जो शास्त्रके अनुसार प्राणदण्ड पानेके अधिकारी हैं, उनका ये नियमपूर्वक वध कर डालते हैं तथा जो शास्त्रदृष्टिसे अवध्य हैं, उनपर ये कदापि कुपित नहीं होते हैं। जिसपर ये संतुष्ट होते हैं, उसे हर्षमें भरकर धनसे परिपूर्ण कर देते हैं ॥

दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम्।
गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥ ४७ ॥

'समस्त प्रजाओंके लिये कमनीय तथा मनुष्योंका आनन्द बढ़ानेवाले मन और इन्द्रियोंके संयम आदि सद्गुणोंद्वारा श्रीराम वैसे ही शोभा पाते हैं जैसे तेजस्वी सूर्य अपनी किरणोंसे सुशोभित होते हैं ॥ ४७ ॥

तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम्।
लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥ ४८ ॥

'ऐसे सर्वगुणसम्पन्न, लोकपालोंके समान प्रभावशाली एवं सत्य-पराक्रमी श्रीरामको इस पृथ्वीकी जनता अपना स्वामी बनाना चाहती है ॥ ४८ ॥

वत्सः श्रेयसि जातस्ते दिष्ट्यासौ तव राघवः।
दिष्ट्या पुत्रगुणैर्युक्तो मारीच इव कश्यपः ॥ ४९ ॥

'हमारे सौभाग्यसे आपके वे पुत्र श्रीरघुनाथजी प्रजाका कल्याण करनेमें समर्थ हो गये हैं तथा आपके सौभाग्यसे वे मरीचिनन्दन कश्यपकी भाँति पुत्रोचित गुणोंसे सम्पन्न हैं ॥

बलमारोग्यमायुश्च रामस्य विदितात्मनः।
देवासुरमनुष्येषु सगन्धर्वोरगेषु च ॥ ५० ॥
आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा।
आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ॥ ५१ ॥

'देवताओं, असुरों, मनुष्यों, गन्धर्वों और नागोंमेंसे प्रत्येक वर्गके लोग तथा इस राज्य और राजधानीमें भी बाहर-भीतर आने-जानेवाले नगर और जनपदके सभी लोग सुविख्यात शीलस्वभाववाले श्रीरामचन्द्रजीके लिये सदा ही बल, आरोग्य और आयुकी शुभ कामना करते हैं ॥ ५०-५१ ॥

स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः।
सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः।
तेषां तद् याचितं देव त्वत्प्रसादात्समृद्ध्यताम् ॥ ५२ ॥

'इस नगरकी बूढ़ी और युवती—सब तरहकी स्त्रियाँ सवेरे और सायंकालमें एकाग्रचित्त होकर परम उदार श्रीरामचन्द्रजीके युवराज होनेके लिये देवताओंसे नमस्कारपूर्वक प्रार्थना किया करती हैं। देव! उनकी वह प्रार्थना आपके कृपा-प्रसादसे अब पूर्ण होनी चाहिये ॥ ५२ ॥

राममिन्दीवरश्यामं सर्वशत्रुनिबर्हणम्।
पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम् ॥ ५३ ॥

'नृपश्रेष्ठ! जो नीलकमलके समान श्यामकान्तिसे सुशोभित तथा समस्त शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं, आपके उन ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको हम युवराज-पदपर विराजमान देखना चाहते हैं ॥ ५३ ॥

तं देवदेवोपममात्मजं ते
सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम्।
हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं
मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ॥ ५४ ॥

'अतः वरदायक महाराज! आप देवाधिदेव श्रीविष्णुके समान पराक्रमी, सम्पूर्ण लोकोंके हितमें संलग्न रहनेवाले और महापुरुषोंद्वारा सेवित अपने पुत्र श्रीरामचन्द्रजीका जितना शीघ्र हो सके प्रसन्नतापूर्वक राज्याभिषेक कीजिये, इसीमें हमलोगोंका हित है' ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

राजा दशरथका वसिष्ठ और वामदेवजीको श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी करनेके लिये कहना और उनका सेवकोंको तदनुरूप आदेश देना; राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको राजसभामें बुला लाना और राजाका अपने पुत्र श्रीरामको हितकर राजनीतिकी बातें बताना

तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः।
प्रतिगृह्याब्रवीद् राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥ १ ॥

सभासदोंने कमलपुष्पकी-सी आकृतिवाली अपनी अञ्जलियोंको सिरसे लगाकर सब प्रकारसे महाराजके प्रस्तावका

समर्थन किया; उनकी वह पद्माञ्जलि स्वीकार करके राजा दशरथ उन सबसे प्रिय और हितकारी वचन बोले—॥ १ ॥

अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ॥ २ ॥

'अहो! आपलोग जो मेरे परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको युवराजके पदपर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है तथा मेरा प्रभाव अनुपम हो गया है'॥ २ ॥

इति प्रत्यर्चितान् राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत्।
वसिष्ठं वामदेवं च तेषामेवोपशृण्वताम्॥ ३ ॥

इस प्रकारकी बातोंसे पुरवासी तथा अन्यान्य सभासदोंका सत्कार करके राजाने उनके सुनते हुए ही वामदेव और वसिष्ठ आदि ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम्॥ ४ ॥

'यह चैत्रमास बड़ा सुन्दर और पवित्र है, इसमें सारे वन-उपवन खिल उठे हैं; अतः इस समय श्रीरामका युवराजपदपर अभिषेक करनेके लिये आपलोग सब सामग्री एकत्र कराइये'॥ ४ ॥

राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत्।
शनैस्तस्मिन् प्रशान्ते च जनघोषे जनाधिपः॥ ५ ॥
वसिष्ठं मुनिशार्दूलं राजा वचनमब्रवीत्।

राजाकी यह बात समाप्त होनेपर सब लोग हर्षके कारण महान् कोलाहल करने लगे। धीरे-धीरे उस जनरवके शान्त होनेपर प्रजापालक नरेश दशरथने मुनिप्रवर वसिष्ठसे यह बात कही—॥ ५½ ॥

अभिषेकाय रामस्य यत् कर्म सपरिच्छदम्॥ ६ ॥
तदद्य भगवन् सर्वमाज्ञापयितुमर्हसि।

'भगवन्! श्रीरामके अभिषेकके लिये जो कर्म आवश्यक हो, उसे साङ्गोपाङ्ग बताइये और आज ही उस सबकी तैयारी करनेके लिये सेवकोंको आज्ञा दीजिये'॥ ६½ ॥

तच्छ्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो मुनिसत्तमः॥ ७ ॥
आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान् युक्तान् कृताञ्जलीन्।

महाराजका यह वचन सुनकर मुनिवर वसिष्ठने राजाके सामने ही हाथ जोड़कर खड़े हुए आज्ञापालनके लिये तैयार रहनेवाले सेवकोंसे कहा—॥ ७½ ॥

सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन् सर्वौषधीरपि॥ ८ ॥
शुक्लमाल्यानि लाजांश्च पृथक्च मधुसर्पिषी।
अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि॥ ९ ॥
चतुरङ्गबलं चैव गजं च शुभलक्षणम्।
चामरव्यजने चोभे ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम्॥ १० ॥
शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम्।
हिरण्यशृङ्गमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च॥ ११ ॥
यच्चान्यत् किंचिदेष्टव्यं तत् सर्वमुपकल्प्यताम्।
उपस्थापयत प्रातरग्न्यगारे महीपतेः॥ १२ ॥

'तुमलोग सुवर्ण आदि रत्न, देवपूजनकी सामग्री, सब प्रकारकी ओषधियाँ, श्वेत पुष्पोंकी मालाएँ, खील, अलग-अलग पात्रोंमें शहद और घी, नये वस्त्र, रथ, सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र, चतुरङ्गिणी सेना, उत्तम लक्षणोंसे युक्त हाथी, चमरी गायकी पूँछके बालोंसे बने हुए दो व्यजन, ध्वज, श्वेत छत्र, अग्निके समान देदीप्यमान सोनेके सौ कलश, सुवर्णसे मढ़े हुए सींगोंवाला एक साँड़, समूचा व्याघ्रचर्म तथा और जो कुछ भी वाञ्छनीय वस्तुएँ हैं, उन सबको एकत्र करो और प्रातःकाल महाराजकी अग्निशालामें पहुँचा दो॥ ८–१२ ॥

अन्तःपुरस्य द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च।
चन्दनस्रग्भिरर्च्यन्तां धूपैश्च घ्राणहारिभिः॥ १३ ॥

'अन्तःपुर तथा समस्त नगरके सभी दरवाजोंको चन्दन और मालाओंसे सजा दो तथा वहाँ ऐसे धूप सुलगा दो जो अपनी सुगन्धसे लोगोंको आकर्षित कर लें॥ १३ ॥

प्रशस्तमन्नं गुणवद् दधिक्षीरोपसेचनम्।
द्विजानां शतसाहस्रं यत्प्रकाममलं भवेत्॥ १४ ॥

'दही, दूध और घी आदिसे संयुक्त अत्यन्त उत्तम एवं गुणकारी अन्न तैयार कराओ, जो एक लाख ब्राह्मणोंके भोजनके लिये पर्याप्त हो॥ १४ ॥

सत्कृत्य द्विजमुख्यानां श्वः प्रभाते प्रदीयताम्।
घृतं दधि च लाजाश्च दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः॥ १५ ॥

'कल प्रातःकाल श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका सत्कार करके उन्हें वह अन्न प्रदान करो; साथ ही घी, दही, खील और पर्याप्त दक्षिणाएँ भी दो॥ १५ ॥

सूर्येऽभ्युदितमात्रे श्वो भविता स्वस्तिवाचनम्।
ब्राह्मणाश्च निमन्त्र्यन्तां कल्प्यन्तामासनानि च॥ १६ ॥

'कल सूर्योदय होते ही स्वस्तिवाचन होगा, इसके लिये ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करो और उनके लिये आसनोंका प्रबन्ध कर लो॥ १६ ॥

आबध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिच्यताम्।
सर्वे च तालापचरा गणिकाश्च स्वलंकृताः॥ १७ ॥
कक्ष्यां द्वितीयामासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मनः।

'नगरमें सब ओर पताकाएँ फहरायी जायँ तथा राजमार्गोंपर छिड़काव कराया जाय। समस्त तालजीवी (संगीत-निपुण) पुरुष और सुन्दर वेष-भूषासे विभूषित वाराङ्गनाएँ (नर्तकियाँ) राजमहलकी दूसरी कक्षा (ड्योढ़ी) में पहुँचकर खड़ी रहें॥ १७½ ॥

देवायतनचैत्येषु सान्नभक्ष्याः सदक्षिणाः॥ १८ ॥

उपस्थापयितव्याः स्युर्माल्ययोग्याः पृथक्पृथक्।

'देव-मन्दिरोंमें तथा चैत्यवृक्षोंके नीचे या चौराहोंपर जो पूजनीय देवता हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् भक्ष्य-भोज्य पदार्थ एवं दक्षिणा प्रस्तुत करनी चाहिये ॥ १८ ॥

दीर्घासिबद्धगोधाश्च संनद्धा मृष्टवाससः ॥ १९ ॥
महाराजाङ्गनं शूराः प्रविशन्तु महोदयम्।

'लंबी तलवार लिये और गोधाचर्मके बने दस्ताने पहने और कमर कसकर तैयार रहनेवाले शूर-वीर योद्धा स्वच्छ वस्त्र धारण किये महाराजके महान् अभ्युदयशाली आँगनमें प्रवेश करें' ॥ १९½ ॥

एवं व्यादिश्य विप्रौ तु क्रियास्तत्र विनिष्ठितौ ॥ २० ॥
चक्रतुश्चैव यच्छेषं पार्थिवाय निवेद्य च।

सेवकोंको इस प्रकार कार्य करनेका आदेश देकर दोनों ब्राह्मण वसिष्ठ और वामदेवने पुरोहितद्वारा सम्पादित होने योग्य क्रियाओंको स्वयं पूर्ण किया। राजाके बताये हुए कार्यों-के अतिरिक्त भी जो शेष आवश्यक कर्तव्य था उसे भी उन दोनोंने राजासे पूछकर स्वयं ही सम्पन्न किया ॥ २०½ ॥

कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य जगत्पतिम् ॥ २१ ॥
यथोक्तवचनं प्रीतौ हर्षयुक्तौ द्विजोत्तमौ।

तदनन्तर महाराजके पास जाकर प्रसन्नता और हर्षसे भरे हुए वे दोनों श्रेष्ठ द्विज बोले—'राजन्! आपने जैसा कहा था, उसके अनुसार सब कार्य सम्पन्न हो गया' ॥२१½॥

ततः सुमन्त्रं द्युतिमान् राजा वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
रामः कृतात्मा भवता शीघ्रमानीयतामिति।

इसके बाद तेजस्वी राजा दशरथने सुमन्त्रसे कहा—'सखे! पवित्रात्मा श्रीरामको तुम शीघ्र यहाँ बुला लाओ' ॥

तथेति प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशासनात् ॥ २३ ॥
रामं तत्रानयांचक्रे रथेन रथिनां वरम्।

तब 'जो आज्ञा' कहकर सुमन्त्र गये तथा राजाके आदेशानुसार रथियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामको रथपर बिठाकर ले आये॥

अथ तत्र सहासीनास्तदा दशरथं नृपम् ॥ २४ ॥
प्राच्योदीच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः।
म्लेच्छाश्चार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिनः ॥ २५ ॥
उपासांचक्रिरे सर्वे तं देवा वासवं यथा।

उस राजभवनमें साथ बैठे हुए पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिणके भूपाल, म्लेच्छ, आर्य तथा वनों और पर्वतोंमें रहने-वाले अन्यान्य मनुष्य सब-के-सब उस समय राजा दशरथकी उसी प्रकार उपासना कर रहे थे जैसे देवता देवराज इन्द्रकी ॥

तेषां मध्ये स राजर्षिर्मरुतामिव वासवः ॥ २६ ॥
प्रासादस्थो दशरथो ददर्शायान्तमात्मजम्।
गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम् ॥ २७ ॥

उनके बीच अट्टालिकाके भीतर बैठे हुए राजा दशरथ मरुद्गणोंके मध्य देवराज इन्द्रकी भाँति शोभा पा रहे थे; उन्होंने वहींसे अपने पुत्र श्रीरामको अपने पास आते देखा, जो गन्धर्वराजके समान तेजस्वी थे। उनका पौरुष समस्त संसारमें विख्यात था ॥ २६-२७ ॥

दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम्।
चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम् ॥ २८ ॥
रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।
घर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

उनकी भुजाएँ बड़ी और बल महान् था। वे मतवाले गजराजके समान बड़ी मस्तीके साथ चल रहे थे। उनका मुख चन्द्रमासे भी अधिक कान्तिमान् था। श्रीरामका दर्शन सबको अत्यन्त प्रिय लगता था। वे अपने रूप और उदारता आदि गुणोंसे लोगोंकी दृष्टि और मन आकर्षित कर लेते थे। जैसे धूपमें तपे हुए प्राणियोंको मेघ आनन्द प्रदान करता है, उसी प्रकार वे समस्त प्रजाको परम आह्लाद देते रहते थे ॥

न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः।
अवतार्य सुमन्त्रस्तु राघवं स्यन्दनोत्तमात् ॥ ३० ॥
पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात्।

आते हुए श्रीरामचन्द्रकी ओर एकटक देखते हुए राजा दशरथको तृप्ति नहीं होती थी। सुमन्त्रने उस श्रेष्ठ रथसे श्रीराम-चन्द्रजीको उतारा और जब वे पिताके समीप जाने लगे, तब सुमन्त्र भी उनके पीछे-पीछे हाथ जोड़े हुए गये ॥ ३०½ ॥

स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं रघुनन्दनः ॥ ३१ ॥
आरुरोह नृपं द्रष्टुं सहसा तेन राघवः।

वह राजमहल कैलासशिखरके समान उज्ज्वल और ऊँचा था, रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम महाराजका दर्शन करनेके लिये सुमन्त्रके साथ सहसा उसपर चढ़ गये ॥३१½॥

स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके ॥ ३२ ॥
नाम स्वं श्रावयन् रामो ववन्दे चरणौ पितुः।

श्रीराम दोनों हाथ जोड़कर विनीतभावसे पिताके पास गये और अपना नाम सुनाते हुए उन्होंने उनके दोनों चरणों-में प्रणाम किया ॥ ३२½ ॥

तं दृष्ट्वा प्रणतं पार्श्वे कृताञ्जलिपुटं नृपः ॥ ३३ ॥
गृह्याञ्जलौ समाकृष्य सस्वजे प्रियमात्मजम्।

श्रीरामको पास आकर हाथ जोड़ प्रणाम करते देख राजाने उनके दोनों हाथ पकड़ लिये और अपने प्रिय पुत्रको पास खींचकर छातीसे लगा लिया ॥ ३३½ ॥

तस्मै चाभ्युद्यतं सम्यङ्मणिकाञ्चनभूषितम् ॥ ३४ ॥
दिदेश राजा रुचिरं रामाय परमासनम्।

उस समय राजाने उन श्रीरामचन्द्रजीको मणिजटित

सुवर्णसे भूषित एक परम सुन्दर सिंहासनपर बैठनेकी आज्ञा दी, जो पहलेसे उन्हींके लिये वहाँ उपस्थित किया गया था ॥

तथाऽऽसनवरं प्राप्य व्यदीपयत राघवः ॥ ३५ ॥
स्वयैव प्रभया मेरुमुदये विमलो रविः ।

जैसे निर्मल सूर्य उदयकालमें मेरुपर्वतको अपनी किरणोंसे उद्भासित कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजी उस श्रेष्ठ आसनको ग्रहण करके अपनी ही प्रभासे उसे प्रकाशित करने लगे ॥ ३५½ ॥

तेन विभ्राजिता तत्र सा सभापि व्यरोचत ॥ ३६ ॥
विमलग्रहनक्षत्रा शारदी द्यौरिवेन्दुना ।

उनसे प्रकाशित हुई वह सभा भी बड़ी शोभा पा रही थी। ठीक उसी तरह जैसे निर्मल ग्रह और नक्षत्रोंसे भरा हुआ शरत्-कालका आकाश चन्द्रमासे उद्भासित हो उठता है ॥

तं पश्यमानो नृपतिस्तुतोष प्रियमात्मजम् ॥ ३७ ॥
अलंकृतमिवात्मानमादर्शतलसंस्थितम् ।

जैसे सुन्दर वेश-भूषासे अलंकृत हुए अपने ही प्रतिबिम्बको दर्पणमें देखकर मनुष्यको बड़ा संतोष प्राप्त होता है, उसी प्रकार अपने शोभाशाली प्रिय पुत्र उन श्रीरामको देखकर राजा बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३७½ ॥

स तं सुस्थितमाभाष्य पुत्रं पुत्रवतां वरः ॥ ३८ ॥
उवाचेदं वचो राजा देवेन्द्रमिव कश्यपः ।

जैसे कश्यप देवराज इन्द्रको पुकारते हैं, उसी प्रकार पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ राजा दशरथ सिंहासनपर बैठे हुए अपने पुत्र श्रीरामको सम्बोधित करके उनसे इस प्रकार बोले—॥३८½॥

ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः ॥ ३९ ॥
उत्पन्नस्त्वं गुणज्येष्ठो मम रामात्मजः प्रियः ।
त्वया यतः प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः ॥ ४० ॥
तस्मात् त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि ।

'बेटा ! तुम्हारा जन्म मेरी बड़ी महारानी कौसल्याके गर्भसे हुआ है। तुम अपनी माताके अनुरूप ही उत्पन्न हुए हो। श्रीराम ! तुम गुणोंमें मुझसे भी बढ़कर हो, अतः मेरे परम प्रिय पुत्र हो; तुमने अपने गुणोंसे इन समस्त प्रजाओंको प्रसन्न कर लिया है, इसलिये कल पुष्यनक्षत्रके योगमें युवराजका पद ग्रहण करो ॥ ३९-४०½ ॥

कामतस्त्वं प्रकृत्यैव निर्णीतो गुणवानिति ॥ ४१ ॥
गुणवत्यपि तु स्नेहात् पुत्र वक्ष्यामि ते हितम् ।
भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जितेन्द्रियः ॥ ४२ ॥

'बेटा ! यद्यपि तुम स्वभावसे ही गुणवान् हो और तुम्हारे विषयमें यही सबका निर्णय है तथापि मैं स्नेहवश सद्गुणसम्पन्न होनेपर भी तुम्हें कुछ हितकी बातें बताता हूँ। तुम और भी अधिक विनयका आश्रय लेकर सदा जितेन्द्रिय बने रहो ॥ ४१-४२ ॥

कामक्रोधसमुत्थानि त्यजस्व व्यसनानि च ।
परोक्षया वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा ॥ ४३ ॥

'काम और क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दुर्व्यसनोंका सर्वथा त्याग कर दो, परोक्षवृत्तिसे (अर्थात् गुप्तचरोंद्वारा यथार्थ बातोंका पता लगाकर) तथा प्रत्यक्षवृत्तिसे (अर्थात् दरबारमें सामने आकर कहनेवाली जनताके मुखसे उसके वृत्तान्तोंको प्रत्यक्ष देख-सुनकर) ठीक-ठीक न्याय-विचारमें तत्पर रहो ॥

अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रजाश्चैवानुरञ्जय ।
कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा संनिचयान् बहून् ॥ ४४ ॥
इष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम् ।
तस्य नन्दन्ति मित्राणि लब्ध्वामृतमिवामराः ॥ ४५ ॥

''मन्त्री, सेनापति आदि समस्त अधिकारियों तथा प्रजाजनोंको सदा प्रसन्न रखना। जो राजा कोष्ठागार (भण्डारगृह) तथा शस्त्रागार आदिके द्वारा उपयोगी वस्तुओंका बहुत बड़ा संग्रह करके मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि समस्त प्रकृतियोंको प्रिय मानकर उन्हें अपने प्रति अनुरक्त एवं प्रसन्न रखते हुए पृथ्वीका पालन करता है, उसके मित्र उसी प्रकार आनन्दित होते हैं, जैसे अमृतको पाकर देवता प्रसन्न हुए थे ॥ ४४-४५ ॥

तस्मात् पुत्र त्वमात्मानं नियम्यैवं समाचर ।
तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः ॥ ४६ ॥
त्वरिताः शीघ्रमागत्य कौसल्यायै न्यवेदयन् ।

'इसलिये बेटा ! तुम अपने चित्तको वशमें रखकर इस प्रकारके उत्तम आचरणोंका पालन करते रहो।' राजाकी ये बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेवाले सुहृदोंने तुरंत माता कौसल्याके पास जाकर उन्हें यह शुभ समाचार निवेदन किया ॥ ४६½ ॥

सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च ॥ ४७ ॥
व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा ।

नारियोंमें श्रेष्ठ कौसल्याने वह प्रिय संवाद सुनानेवाले उन सुहृदोंको तरह-तरहके रत्न, सुवर्ण और गौएँ पुरस्काररूपमें दीं ॥ ४७½ ॥

अथाभिवाद्य राजानं रथमारुह्य राघवः ।
ययौ स्वं द्युतिमद् वेश्म जनौघैः प्रतिपूजितः ॥ ४८ ॥

इसके बाद श्रीरामचन्द्रजी राजाको प्रणाम करके रथपर बैठे और प्रजाजनोंसे सम्मानित होते हुए वे अपने शोभाशाली भवनमें चले गये ॥ ४८ ॥

ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्त-
च्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु ।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा
देवान् समानर्चुरभिप्रहृष्टाः ॥ ४९ ॥

नगरनिवासी मनुष्योंने राजाकी बातें सुनकर मन-ही-मन

यह अनुभव किया कि हमें शीघ्र ही अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होगी, फिर भी महाराजकी आज्ञा लेकर अपने घरोंको गये और अत्यन्त हर्षसे भरकर अभीष्ट-सिद्धिके उपलक्ष्यमें देवताओंकी पूजा करने लगे ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

श्रीरामको राज्य देनेका निश्चय करके राजाका सुमन्त्रद्वारा पुनः श्रीरामको बुलवाकर उन्हें आवश्यक बातें बताना, श्रीरामका कौसल्याके भवनमें जाकर माताको यह समाचार बताना और मातासे आशीर्वाद पाकर लक्ष्मणसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप करके अपने महलमें जाना

गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः ।
मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स निश्चयम् ॥ १ ॥
श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः ।
रामो राजीवपत्राक्षो युवराज इति प्रभुः ॥ २ ॥

राजसभासे पुरवासियोंके चले जानेपर कार्यसिद्धिके योग्य देश-कालके नियमको जाननेवाले प्रभावशाली नरेशने पुनः मन्त्रियोंके साथ सलाह करके यह निश्चय किया कि 'कल ही पुष्य नक्षत्र होगा, अतः कल ही मुझे अपने पुत्र कमलनयन श्रीरामका युवराजके पदपर अभिषेक कर देना चाहिये' ॥

अथान्तर्गृहमाविश्य राजा दशरथस्तदा ।
सूतमामन्त्रयामास रामं पुनरिहानय ॥ ३ ॥

तदनन्तर अन्तःपुरमें जाकर महाराज दशरथने सूतको बुलाया और आज्ञा दी—'जाओ, श्रीरामको एक बार फिर यहाँ बुला लाओ' ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सूतः पुनरुपाययौ ।
रामस्य भवनं शीघ्रं राममानयितुं पुनः ॥ ४ ॥

उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके सुमन्त्र श्रीरामको शीघ्र बुला लानेके लिये पुनः उनके महलमें गये ॥ ४ ॥

द्वाःस्थैरावेदितं तस्य रामायागमनं पुनः ।
श्रुत्वैव चापि रामस्तं प्राप्तं शङ्कान्वितोऽभवत् ॥ ५ ॥

द्वारपालोंने श्रीरामको सुमन्त्रके पुनः आगमनकी सूचना दी । उनका आगमन सुनते ही श्रीरामके मनमें संदेह हो गया ॥ ५ ॥

प्रवेश्य चैनं त्वरितो रामो वचनमब्रवीत् ।
यदागमनकृत्यं ते भूयस्तद्ब्रूह्यशेषतः ॥ ६ ॥

उन्हें भीतर बुलाकर श्रीरामने उनसे बड़ी उतावलीके साथ पूछा—'आपको पुनः यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ी ?' यह पूर्णरूपसे बताइये ॥ ६ ॥

तमुवाच ततः सूतो राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
श्रुत्वा प्रमाणं तत्र त्वं गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥

तब सूतने उनसे कहा—'महाराज आपसे मिलना चाहते हैं । मेरी इस बातको सुनकर वहाँ जाने या न जानेका निर्णय आप स्वयं करें' ॥ ७ ॥

इति सूतवचः श्रुत्वा रामोऽपि त्वरयान्वितः ।
प्रययौ राजभवनं पुनर्द्रष्टुं नरेश्वरम् ॥ ८ ॥

सूतका यह वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी महाराज दशरथका पुनः दर्शन करनेके लिये तुरंत उनके महलकी ओर चल दिये ॥ ८ ॥

तं श्रुत्वा समनुप्राप्तं रामं दशरथो नृपः ।
प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम् ॥ ९ ॥

श्रीरामको आया हुआ सुनकर राजा दशरथने उनसे प्रिय तथा उत्तम बात कहनेके लिये उन्हें महलके भीतर बुला लिया ॥ ९ ॥

प्रविशन्नेव च श्रीमान् राघवो भवनं पितुः ।
ददर्श पितरं दूरात् प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ १० ॥

पिताके भवनमें प्रवेश करते ही श्रीमान् रघुनाथजीने उन्हें देखा और दूरसे ही हाथ जोड़कर वे उनके चरणोंमें पड़ गये ॥ १० ॥

प्रणमन्तं तमुत्थाप्य सम्परिष्वज्य भूमिपः ।
प्रदिश्य चासनं चास्मै रामं च पुनरब्रवीत् ॥ ११ ॥

प्रणाम करते हुए श्रीरामको उठाकर महाराजने छातीसे लगा लिया और उन्हें बैठनेके लिये आसन देकर पुनः उनसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ११ ॥

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा यथेप्सिताः ।
अन्नवद्भिः क्रतुशतैर्यथेष्टं भूरिदक्षिणैः ॥ १२ ॥

'श्रीराम ! अब मैं बूढ़ा हुआ । मेरी आयु बहुत अधिक हो गयी । मैंने बहुत-से मनोवाञ्छित भोग भोग लिये, अन्न और बहुत-सी दक्षिणाओंसे युक्त सैकड़ों यज्ञ भी कर लिये ॥ १२ ॥

जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं भुवि ।
दत्तमिष्टमधीतं च मया पुरुषसत्तम ॥ १३ ॥

'पुरुषोत्तम ! तुम मेरे परम प्रिय अभीष्ट संतानके

रूपमें प्राप्त हुए जिसकी इस भूमण्डलमें कहीं उपमा नहीं है, मैंने दान, यज्ञ और स्वाध्याय भी कर लिये ॥ १३ ॥

अनुभूतानि चेष्टानि मया वीर सुखान्यपि।
देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥

'वीर ! मैंने अभीष्ट सुखोंका भी अनुभव कर लिया। मैं देवता, ऋषि, पितर और ब्राह्मणोंके तथा अपने ऋणसे भी उऋण हो गया ॥ १४ ॥

न किंचिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात्।
अतो यत्त्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

'अब तुम्हें युवराज-पदपर अभिषिक्त करनेके सिवा और कोई कर्तव्य मेरे लिये शेष नहीं रह गया है, अतः मैं तुमसे जो कुछ कहूँ, मेरी उस आज्ञाका तुम्हें पालन करना चाहिये।१५।

अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम्।
अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥ १६ ॥

'बेटा ! अब सारी प्रजा तुम्हें अपना राजा बनाना चाहती है, अतः मैं तुम्हें युवराजपदपर अभिषिक्त करूँगा ॥ १६ ॥

अपि चाद्याशुभान् राम स्वप्नान् पश्यामि राघव।
सनिर्घाता दिवोल्काश्च पतन्ति हि महास्वनाः ॥ १७ ॥

'रघुकुलनन्दन श्रीराम ! आजकल मुझे बड़े बुरे सपने दिखायी देते हैं। दिनमें वज्रपातके साथ-साथ बड़ा भयंकर शब्द करनेवाली उल्काएँ भी गिर रही हैं ॥ १७ ॥

अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः।
आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः ॥ १८ ॥

'श्रीराम ! ज्योतिषियोंका कहना है कि मेरे जन्मनक्षत्रको सूर्य, मङ्गल और राहु नामक भयंकर ग्रहोंने आक्रान्त कर लिया है ॥ १८ ॥

प्रायेण च निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे।
राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां चापदमृच्छति ॥ १९ ॥

ऐसे अशुभ लक्षणोंका प्राकट्य होनेपर प्रायः राजा घोर आपत्तिमें पड़ जाता है और अन्ततोगत्वा उसकी मृत्यु भी हो जाती है ॥ १९ ॥

तद् यावदेव मे चेतो न विमुह्यति राघव।
तावदेवाभिषिञ्चस्व चला हि प्राणिनां मतिः ॥ २० ॥

'अतः रघुनन्दन ! जबतक मेरे चित्तमें मोह नहीं छा जाता, तबतक ही तुम युवराज-पदपर अपना अभिषेक करा लो; क्योंकि प्राणियोंकी बुद्धि चञ्चल होती है ॥ २० ॥

अद्य चन्द्रोऽभ्युपगमत् पुष्यात् पूर्वं पुनर्वसुम्।
श्वः पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते दैवचिन्तकाः ॥ २१ ॥

'आज चन्द्रमा पुष्यसे एक नक्षत्र पहले पुनर्वसुपर विराजमान हैं, अतः निश्चय ही कल वे पुष्य नक्षत्रपर रहेंगे—ऐसा ज्योतिषी कहते हैं ॥ २१ ॥

तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम्।
श्वस्त्वाहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परंतप ॥ २२ ॥

'इसलिये उस पुष्यनक्षत्रमें ही तुम अपना अभिषेक करा लो। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! मेरा मन इस कार्यमें बहुत शीघ्रता करनेको कहता है। इस कारण कल अवश्य ही मैं तुम्हारा युवराजपदपर अभिषेक कर दूँगा ॥ २२ ॥

तस्मात् त्वयाद्यप्रभृति निशेयं नियतात्मना।
सह वध्वोपवस्तव्या दर्भप्रस्तरशायिना ॥ २३ ॥

'अतः तुम इस समयसे लेकर सारी रात इन्द्रियसंयम-पूर्वक रहते हुए वधू सीताके साथ उपवास करो और कुशकी शय्यापर सोओ ॥ २३ ॥

सुहृदश्चाप्रमत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः।
भवन्ति बहुविघ्नानि कार्याण्येवंविधानि हि ॥ २४ ॥

'आज तुम्हारे सुहृद् सावधान रहकर सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें; क्योंकि इस प्रकारके शुभ कार्योंमें बहुत-से विघ्न आनेकी सम्भावना रहती है ॥ २४ ॥

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥ २५ ॥

'जबतक भरत इस नगरसे बाहर अपने मामाके यहाँ निवास करते हैं, तबतक ही तुम्हारा अभिषेक हो जाना मुझे उचित प्रतीत होता है ॥ २५ ॥

कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः।
ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ॥ २६ ॥
किं नु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतम्।
सतां च धर्मनित्यानां कृतशोभि च राघव ॥ २७ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारे भाई भरत सत्पुरुषोंके आचार-व्यवहारमें स्थित हैं, अपने बड़े भाईका अनुसरण करनेवाले, धर्मात्मा, दयालु और जितेन्द्रिय हैं तथापि मनुष्योंका चित्त प्रायः स्थिर नहीं रहता—ऐसा मेरा मत है। रघुनन्दन ! धर्मपरायण सत्पुरुषोंका मन भी विभिन्न कारणोंसे राग-द्वेषादिसे संयुक्त हो जाता है' ॥ २६-२७ ॥

इत्युक्तः सोऽभ्यनुज्ञातः श्वोभाविन्यभिषेचने।
व्रजेति रामः पितरमभिवाद्याभ्ययाद् गृहम् ॥ २८ ॥

राजाके इस प्रकार कहने और कल होनेवाले राज्याभिषेकके निमित्त व्रतपालनके लिये जानेकी आज्ञा देनेपर श्रीरामचन्द्रजी पिताको प्रणाम करके अपने महलमें गये ॥ २८ ॥

प्रविश्य चात्मनो वेश्म राज्ञाऽऽदिष्टेऽभिषेचने।
तत्क्षणादेव निष्क्रम्य मातुरन्तःपुरं ययौ ॥ २९ ॥

राजाने राज्याभिषेकके लिये व्रतपालनके निमित्त जो आज्ञा दी थी, उसे सीताको बतानेके लिये अपने महलके भीतर प्रवेश करके जब श्रीरामने वहाँ सीताको नहीं देखा,

तब वे तत्काल ही वहाँसे निकलकर माताके अन्तःपुरमें चले गये ॥ २९ ॥

तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम् ।
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥ ३० ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा माता कौसल्या रेशमी वस्त्र पहने मौन हो देवमन्दिरमें बैठकर देवताकी आराधनामें लगी हैं और पुत्रके लिये राजलक्ष्मीकी याचना कर रही हैं ॥३०॥

प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा ।
सीता चानयिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम् ॥ ३१ ॥

श्रीरामके राज्याभिषेकका प्रिय समाचार सुनकर सुमित्रा और लक्ष्मण वहाँ पहलेसे ही आ गये थे तथा बादमें सीता वहीं बुला ली गयी थीं ॥ ३१ ॥

तस्मिन् कालेऽपि कौसल्या तस्थावामीलितेक्षणा ।
सुमित्रयान्वास्यमाना सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी जब वहाँ पहुँचे, उस समय भी कौसल्या नेत्र बंद किये ध्यान लगाये बैठी थीं और सुमित्रा, सीता तथा लक्ष्मण उनकी सेवामें खड़े थे ॥ ३२ ॥

श्रुत्वा पुष्ये च पुत्रस्य यौवराज्येऽभिषेचनम् ।
प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥ ३३ ॥

पुष्यनक्षत्रके योगमें पुत्रके युवराजपदपर अभिषिक्त होनेकी बात सुनकर वे उसकी मङ्गलकामनासे प्राणायामके द्वारा परमपुरुष नारायणका ध्यान कर रही थीं ॥ ३३ ॥

तथा सनियमामेव सोऽभिगम्याभिवाद्य च ।
उवाच वचनं रामो हर्षयंस्तामिदं वरम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार नियममें लगी हुई माताके निकट उसी अवस्थामें जाकर श्रीरामने उनको प्रणाम किया और उन्हें हर्ष प्रदान करते हुए यह श्रेष्ठ बात कही— ॥ ३४ ॥

अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि ।
भविता श्वोऽभिषेको मे यथा मे शासनं पितुः ॥ ३५ ॥
सीतयाप्युपवस्तव्या रजनीयं मया सह ।
एवमुक्तमुपाध्यायैः स हि मामुक्तवान् पिता ॥ ३६ ॥

'माँ! पिताजीने मुझे प्रजापालनके कर्ममें नियुक्त किया है। कल मेरा अभिषेक होगा। जैसा कि मेरे लिये पिताजीका आदेश है, उसके अनुसार सीताको भी मेरे साथ इस रातमें उपवास करना होगा। उपाध्यायोंने ऐसी ही बात बतायी थी, जिसे पिताजीने मुझसे कहा है ॥ ३५-३६ ॥

यानि यान्यत्र योग्यानि श्वोभाविन्यभिषेचने ।
तानि मे मङ्गलान्यद्य वैदेह्याश्चैव कारय ॥ ३७ ॥

'अतः कल होनेवाले अभिषेकके निमित्तसे आज मेरे और सीताके लिये जो-जो मङ्गलकार्य आवश्यक हों, वे सब कराओ' ॥ ३७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु कौसल्या चिरकालाभिकाङ्क्षितम् ।
हर्षबाष्पाकुलं वाक्यमिदं राममभाषत ॥ ३८ ॥

चिरकालसे माताके हृदयमें जिस बातकी अभिलाषा थी, उसकी पूर्तिको सूचित करनेवाली यह बात सुनकर माता कौसल्याने आनन्दके आँसू बहाते हुए गद्गद कण्ठसे इस प्रकार कहा— ॥ ३८ ॥

वत्स राम चिरं जीव हतास्ते परिपन्थिनः ।
ज्ञातीन् मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय ॥ ३९ ॥

'बेटा श्रीराम! चिरञ्जीवी होओ। तुम्हारे मार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु नष्ट हो जायँ। तुम राजलक्ष्मीसे युक्त होकर मेरे और सुमित्राके बन्धु-बान्धवोंको आनन्दित करो ॥ ३९ ॥

कल्याणे बत नक्षत्रे मया जातोऽसि पुत्रक ।
येन त्वया दशरथो गुणैराराधितः पिता ॥ ४० ॥

'बेटा! तुम मेरे द्वारा किसी मङ्गलमय नक्षत्रमें उत्पन्न हुए थे, जिससे तुमने अपने गुणोंद्वारा पिता दशरथको प्रसन्न कर लिया ॥ ४० ॥

अमोघं बत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे ।
येयमिक्ष्वाकुराजश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥ ४१ ॥

'बड़े हर्षकी बात है कि मैंने कमलनयन भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये जो व्रत-उपवास आदि किया था, वह आज सफल हो गया। बेटा! उसीके फलसे यह इक्ष्वाकुकुलकी राजलक्ष्मी तुम्हें प्राप्त होनेवाली है' ॥ ४१ ॥

इत्येवमुक्तो मात्रा तु रामो भ्रातरमब्रवीत् ।
प्राञ्जलिं प्रह्वमासीनमभिवीक्ष्य स्मयन्निव ॥ ४२ ॥

माताके ऐसा कहनेपर श्रीरामने विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़े हुए अपने भाई लक्ष्मणकी ओर देखकर मुसकराते हुए-से कहा— ॥ ४२ ॥

लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुंधराम् ।
द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता ॥ ४३ ॥

'लक्ष्मण! तुम मेरे साथ इस पृथ्वीके राज्यका शासन (पालन) करो। तुम मेरे द्वितीय अन्तरात्मा हो। यह राजलक्ष्मी तुम्हींको प्राप्त हो रही है ॥ ४३ ॥

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च ।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥ ४४ ॥

'सुमित्रानन्दन! तुम अभीष्ट भोगों और राज्यके श्रेष्ठ फलोंका उपभोग करो। तुम्हारे लिये ही मैं इस जीवन तथा राज्यकी अभिलाषा करता हूँ ॥ ४४ ॥

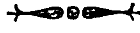
इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च ।

अभ्यनुज्ञाप्य सीतां च ययौ स्वं च निवेशनम् ॥ ४५ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीरामने दोनों माताओंको प्रणाम किया और सीताको भी साथ चलनेकी आज्ञा दिलाकर वे उनको लिये हुए अपने महलमें चले गये ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥



पञ्चमः सर्गः

राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सीतासहित श्रीरामको उपवासव्रतकी दीक्षा देकर आना और राजाको इस समाचारसे अवगत कराना; राजाका अन्तःपुरमें प्रवेश

संदिश्य रामं नृपतिः श्वोभाविन्यभिषेचने ।
पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उधर महाराज दशरथ जब श्रीरामचन्द्रजीको दूसरे दिन होनेवाले अभिषेकके विषयमें आवश्यक संदेश दे चुके, तब अपने पुरोहित वसिष्ठजीको बुलाकर बोले—॥ १ ॥

गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन ।
श्रेयसे राज्यलाभाय वध्वा सह यतव्रत ॥ २ ॥

'नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले तपोधन ! आप जाइये और विघ्ननिवारणरूप कल्याणकी सिद्धि तथा राज्यकी प्राप्तिके लिये बहूसहित श्रीरामसे उपवासव्रतका पालन कराइये'॥

तथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदां वरः ।
स्वयं वसिष्ठो भगवान् ययौ रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥
उपवासयितुं वीरं मन्त्रविन्मन्त्रकोविदम् ।
ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय सुधृतव्रतः ॥ ४ ॥

तब राजासे 'तथास्तु' कहकर वेदवेत्ता विद्वानोंमें श्रेष्ठ तथा उत्तम व्रतधारी स्वयं भगवान् वसिष्ठ मन्त्रवेत्ता वीर श्रीरामको उपवास-व्रतकी दीक्षा देनेके लिये ब्राह्मणके चढ़नेयोग्य जुते-जुताये श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो श्रीरामके महलकी ओर चल दिये ॥ ३-४ ॥

स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम् ।
तिस्रः कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः ॥ ५ ॥

श्रीरामका भवन श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल था, उसके पास पहुँचकर मुनिवर वसिष्ठने उसकी तीन ड्योढ़ियोंमें रथके द्वारा ही प्रवेश किया ॥ ५ ॥

तमागतमृषिं रामस्त्वरन्निव ससम्भ्रमम् ।
मानयिष्यन् स मानार्हं निश्चक्राम निवेशनात् ॥ ६ ॥

वहाँ पधारे हुए उन सम्माननीय महर्षिका सम्मान करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजी बड़ी उतावलीके साथ वेगपूर्वक घरसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

अभ्येत्य त्वरमाणोऽथ रथाभ्याशं मनीषिणः ।
ततोऽवतारयामास परिगृह्य रथात् स्वयम् ॥ ७ ॥

उन मनीषी महर्षिके रथके समीप शीघ्रतापूर्वक जाकर श्रीरामने स्वयं उनका हाथ पकड़कर उन्हें रथसे नीचे उतारा॥

स चैनं प्रश्रितं दृष्ट्वा सम्भाष्याभिप्रसाद्य च ।
प्रियार्हं हर्षयन् राममित्युवाच पुरोहितः ॥ ८ ॥

श्रीराम प्रिय वचन सुननेके योग्य थे । उन्हें इतना विनीत देखकर पुरोहितजीने 'वत्स !' कहकर पुकारा और उन्हें प्रसन्न करके उनका हर्ष बढ़ाते हुए इस प्रकार कहा—॥

प्रसन्नस्ते पिता राम यत्त्वं राज्यमवाप्स्यसि ।
उपवासं भवानद्य करोतु सह सीतया ॥ ९ ॥

'श्रीराम ! तुम्हारे पिता तुमपर बहुत प्रसन्न हैं, क्योंकि तुम्हें उनसे राज्य प्राप्त होगा; अतः आजकी रातमें तुम वधू सीताके साथ उपवास करो ॥ ९ ॥

प्रातस्त्वामभिषेक्ता हि यौवराज्ये नराधिपः ।
पिता दशरथः प्रीत्या ययातिं नहुषो यथा ॥ १० ॥

'रघुनन्दन ! जैसे नहुषने ययातिका अभिषेक किया था, उसी प्रकार तुम्हारे पिता महाराज दशरथ कल प्रातःकाल बड़े प्रेमसे तुम्हारा युवराज-पदपर अभिषेक करेंगे' ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतः ।
मन्त्रवत् कारयामास वैदेह्या सहितं शुचिः ॥ ११ ॥

ऐसा कहकर उन व्रतधारी एवं पवित्र महर्षिने मन्त्रोच्चारणपूर्वक सीतासहित श्रीरामको उस समय उपवास-व्रतकी दीक्षा दी ॥ ११ ॥

ततो यथावद् रामेण स राज्ञो गुरुरर्चितः ।
अभ्यनुज्ञाप्य काकुत्स्थं ययौ रामनिवेशनात् ॥ १२ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने महाराजके भी गुरु वसिष्ठका यथावत् पूजन किया; फिर वे मुनि श्रीरामकी अनुमति ले उनके महलसे बाहर निकले ॥ १२ ॥

सुहृद्भिस्तत्र रामोऽपि सहासीनः प्रियंवदैः ।
सभाजितो विवेशाथ ताननुज्ञाप्य सर्वशः ॥ १३ ॥

श्रीराम भी वहाँ प्रिय वचन बोलनेवाले सुहृदोंके साथ कुछ देरतक बैठे रहे; फिर उनसे सम्मानित हो उन सबकी अनुमति ले पुनः अपने महलके भीतर चले गये ॥ १३ ॥

रामाभिषेकयुक्ताश्च कथाश्चक्रुर्मिथो जनाः।
रामाभिषेके सम्प्राप्ते चत्वरेषु गृहेषु च ॥ १५ ॥

श्रीरामके राज्याभिषेकका शुभ अवसर प्राप्त होनेपर प्रायः सब लोग चौराहोंपर और घरोंमें भी आपसमें श्रीरामके राज्याभिषेककी ही चर्चा करते थे ॥ १५ ॥

बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्घशः।
रामाभिषवसंयुक्ताश्चक्रुरेव कथा मिथः ॥ १६ ॥

घरोंके दरवाजोंपर खेलते हुए झुंड-के-झुंड बालक भी आपसमें श्रीरामके राज्याभिषेककी ही बातें करते थे॥१६॥

कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः।
राजमार्गः कृतः श्रीमान् पौरै रामाभिषेचने ॥ १७ ॥

पुरवासियोंने श्रीरामके राज्याभिषेकके समय राजमार्गपर फूलोंकी भेंट चढ़ाकर वहाँ सब ओर धूपकी सुगन्ध फैला दी; ऐसा करके उन्होंने राजमार्गको बहुत सुन्दर बना दिया ॥१७॥

प्रकाशकरणार्थं च निशागमनशङ्कया।
दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः ॥ १८ ॥

राज्याभिषेक होते-होते रात हो जानेकी आशङ्कासे प्रकाशकी व्यवस्था करनेके लिये पुरवासियोंने सब ओर सड़कोंके दोनों तरफ वृक्षकी भाँति अनेक शाखाओंसे युक्त दीपस्तम्भ खड़े कर दिये ॥ १८ ॥

अलंकारं पुरस्यैवं कृत्वा तत् पुरवासिनः।
आकाङ्क्षमाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥
समेत्य सङ्घशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च।
कथयन्तो मिथस्तत्र प्रशशंसुर्जनाधिपम् ॥ २० ॥

इस प्रकार नगरको सजाकर श्रीरामके युवराजपदपर अभिषेककी अभिलाषा रखनेवाले समस्त पुरवासी चौराहों और सभाओंमें झुंड-के-झुंड एकत्र हो वहाँ परस्पर बातें करते हुए महाराज दशरथकी प्रशंसा करने लगे—॥१९-२०॥

अहो महात्मा राजायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः।
ज्ञात्वा वृद्धं स्वमात्मानं रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २१ ॥

'अहो! इक्ष्वाकुकुलको आनन्दित करनेवाले ये राजा दशरथ बड़े महात्मा हैं, जो कि अपने-आपको बूढ़ा हुआ जानकर श्रीरामका राज्याभिषेक करने जा रहे हैं ॥ २१ ॥

सर्वे ह्यनुगृहीताः स्म यन्नो रामो महीपतिः।
चिराय भविता गोप्ता दृष्टलोकपरावरः ॥ २२ ॥

'भगवान्का हम सब लोगोंपर बड़ा अनुग्रह है कि श्रीरामचन्द्रजी हमारे राजा होंगे और चिरकालतक हमारी रक्षा करते रहेंगे; क्योंकि वे समस्त लोकोंके निवासियोंमें जो भलाई या बुराई है, उसे अच्छी तरह देख चुके हैं ॥ २२ ॥

अनुद्धतमना विद्वान् धर्मात्मा भ्रातृवत्सलः।
यथा च भ्रातृषु स्निग्धस्तथास्मास्वपि राघवः ॥ २३ ॥

'श्रीरामका मन कभी उद्धत नहीं होता। वे विद्वान्, धर्मात्मा और अपने भाइयोंपर स्नेह रखनेवाले हैं। उनका अपने भाइयोंपर जैसा स्नेह है, वैसा ही हमलोगोंपर भी है ॥ २३ ॥

चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः।
यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम् ॥ २४ ॥

'धर्मात्मा एवं निष्पाप राजा दशरथ चिरकालतक जीवित रहें, जिनके प्रसादसे हमें श्रीरामके राज्याभिषेकका दर्शन सुलभ होगा' ॥ २४ ॥

एवंविधं कथयतां पौराणां शुश्रुवुः परे।
दिग्भ्यो विश्रुतवृत्तान्ताः प्राप्ता जानपदा जनाः ॥ २५ ॥

अभिषेकका वृत्तान्त सुनकर नाना दिशाओंसे उस जनपदके लोग भी वहाँ पहुँचे थे, उन्होंने उपर्युक्त बातें कहनेवाले पुरवासियोंकी सभी बातें सुनीं ॥ २५ ॥

ते तु दिग्भ्यः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेचनम्।
रामस्य पूरयामासुः पुरीं जानपदा जनाः ॥ २६ ॥

वे सब-के-सब श्रीरामका राज्याभिषेक देखनेके लिये अनेक दिशाओंसे अयोध्यापुरीमें आये थे। उन जनपदनिवासी मनुष्योंने श्रीरामपुरीको अपनी उपस्थितिसे भर दिया था ॥ २६ ॥

जनौघैस्तैर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निःस्वनः।
पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥ २७ ॥

वहाँ मनुष्योंकी भीड़-भाड़ बढ़नेसे जो जनरव सुनायी देता था, वह पर्वोंके दिन बढ़े हुए वेगवाले महासागरकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ २७ ॥

ततस्तदिन्द्रक्षयसंनिभं पुरं
दिदृक्षुभिर्जानपदैरुपाहितैः।
समन्ततः सस्वनमाकुलं बभौ
समुद्रयादोभिरिवार्णवोदकम् ॥ २८ ॥

उस समय श्रीरामके अभिषेकका उत्सव देखनेके लिये पधारे हुए जनपदवासी मनुष्योंद्वारा सब ओरसे भरा हुआ वह इन्द्रपुरीके समान नगर अत्यन्त कोलाहलपूर्ण होनेके कारण मकर, नक्र, तिमिङ्गल आदि विशाल जल-जन्तुओंसे परिपूर्ण महासागरके समान प्रतीत होता था ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

श्रीरामके अभिषेकका समाचार पाकर खिन्न हुई मन्थराका कैकेयीको उभाड़ना, परंतु प्रसन्न हुई कैकेयीका उसे पुरस्काररूपमें आभूषण देना और वर माँगनेके लिये प्रेरित करना

ज्ञातिदासी यतो जाता कैकेय्या तु सहोषिता।
प्रासादं चन्द्रसंकाशमारुरोह यदृच्छया॥ १॥

रानी कैकेयीके पास एक दासी थी, जो उसके मायकेसे आयी हुई थी। वह सदा कैकेयीके ही साथ रहा करती थी। उसका जन्म कहाँ हुआ था? उसके देश और माता-पिता कौन थे? इसका पता किसीको नहीं था। अभिषेकसे एक दिन पहले वह स्वेच्छासे ही कैकेयीके चन्द्रमाके समान कान्तिमान् महलकी छतपर जा चढ़ी॥ १॥

सिक्तराजपथां कृत्स्नां प्रकीर्णकमलोत्पलाम्।
अयोध्यां मन्थरा तस्मात् प्रासादादन्ववैक्षत॥ २॥

उस दासीका नाम था—मन्थरा। उसने उस महलकी छतसे देखा—अयोध्याकी सड़कोंपर छिड़काव किया गया है और सारी पुरीमें यत्र-तत्र खिले हुए कमल और उत्पल बिखेरे गये हैं॥ २॥

पताकाभिर्वरार्हाभिर्ध्वजैश्च समलंकृताम्।
सिक्तां चन्दनतोयैश्च शिरःस्नातजनैर्युताम्॥ ३॥

सब ओर बहुमूल्य पताकाएँ फहरा रही हैं। ध्वजाओंसे इस पुरीकी अपूर्व शोभा हो रही है। राजमार्गोंपर चन्दन-मिश्रित जलका छिड़काव किया गया है तथा अयोध्यापुरीके सब लोग उबटन लगाकर सिरके ऊपरसे स्नान किये हुए हैं॥ ३॥

माल्यमोदकहस्तैश्च द्विजेन्द्रैरभिनादिताम्।
शुक्लदेवगृहद्वारां सर्ववादित्रनादिताम्॥ ४॥
सम्प्रहृष्टजनाकीर्णां ब्रह्मघोषनिनादिताम्।
प्रहृष्टवरहस्त्यश्वां सम्प्रणर्दितगोवृषाम्॥ ५॥

श्रीरामके दिये हुए माल्य और मोदक हाथमें लिये श्रेष्ठ ब्राह्मण हर्षनाद कर रहे हैं, देवमन्दिरोंके दरवाजे चूने और चन्दन आदिसे लीपकर सफेद एवं सुन्दर बनाये गये हैं, सब प्रकारके बाजोंकी मनोहर ध्वनि हो रही है, अत्यन्त हर्षमें भरे हुए मनुष्योंसे सारा नगर परिपूर्ण है और चारों ओर वेद-पाठकोंकी ध्वनि गूँज रही है, श्रेष्ठ हाथी और घोड़े हर्षसे उत्फुल्ल दिखायी देते हैं तथा गाय-बैल प्रसन्न होकर रँभा रहे हैं॥ ४-५॥

हृष्टप्रमुदितैः पौरैरुच्छ्रितध्वजमालिनीम्।
अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता॥ ६॥

सारे नगरनिवासी हर्षजनित रोमाञ्चसे युक्त और आनन्द-मग्न हैं तथा नगरमें सब ओर श्रेणीबद्ध ऊँचे-ऊँचे ध्वज फहरा रहे हैं। अयोध्याकी ऐसी शोभाको देखकर मन्थराको बड़ा आश्चर्य हुआ॥ ६॥

सा हर्षोत्फुल्लनयनां पाण्डुरक्षौमवासिनीम्।
अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा॥ ७॥

उसने पासके ही कोठेपर रामकी धायको खड़ी देखा, उसके नेत्र प्रसन्नतासे खिले हुए थे और शरीरपर पीले रंगकी रेशमी साड़ी शोभा पा रही थी। उसे देखकर मन्थराने उससे पूछा—॥ ७॥

उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणार्थपरा सती।
राममाता धनं किं नु जनेभ्यः सम्प्रयच्छति॥ ८॥
अतिमात्रं प्रहर्षः किं जनस्यास्य च शंस मे।
कारयिष्यति किं वापि सम्प्रहृष्टो महीपतिः॥ ९॥

'धाय! आज श्रीरामचन्द्रजीकी माता अपने किसी अभीष्ट मनोरथके साधनमें तत्पर हो अत्यन्त हर्षमें भरकर लोगोंको धन क्यों बाँट रही हैं? आज यहाँके सभी मनुष्योंको इतनी अधिक प्रसन्नता क्यों है? इसका कारण मुझे बताओ! आज महाराज दशरथ अत्यन्त प्रसन्न होकर कौन-सा कर्म करायेंगे'॥ ८-९॥

विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री तु परया मुदा।
आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवे श्रियम्॥ १०॥
श्वः पुष्येण जितक्रोधं यौवराज्येन चानघम्।
राजा दशरथो राममभिषेक्ता हि राघवम्॥ ११॥

श्रीरामकी धाय तो हर्षसे फूली नहीं समाती थी, उसने कुब्जाके पूछनेपर बड़े आनन्दके साथ उसे बताया—'कुब्जे! रघुनाथजीको बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त होनेवाली है। कल महाराज दशरथ पुष्यनक्षत्रके योगमें क्रोधको जीतनेवाले, पापरहित, रघुकुलनन्दन श्रीरामको युवराजके पदपर अभिषिक्त करेंगे'॥ १०-११॥

धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता।
कैलासशिखराकारात् प्रासादादवरोहत॥ १२॥

धायका यह वचन सुनकर कुब्जा मन-ही-मन कुढ़ गयी और उस कैलास-शिखरकी भाँति उज्ज्वल एवं गगनचुम्बी प्रासादसे तुरंत ही नीचे उतर गयी॥ १२॥

सा दह्यमाना क्रोधेन मन्थरा पापदर्शिनी।
शयानामेव कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत्॥ १३॥

मन्थराको इसमें कैकेयीका अनिष्ट दिखायी देता था, वह क्रोधसे जल रही थी। उसने महलमें लेटी हुई कैकेयीके पास जाकर इस प्रकार कहा—॥ १३॥

उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते।
उपप्लुतमघौघेन नात्मानमवबुध्यसे ॥ १४ ॥

'मूर्खे! उठ। क्या सो रही है? तुझपर बड़ा भारी भय आ रहा है। अरी! तेरे ऊपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा है, फिर भी तुझे अपनी इस दुरवस्थाका बोध नहीं होता?॥१४॥

अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे।
चलं हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे ॥ १५ ॥

'तेरे प्रियतम तेरे सामने ऐसा आकार बनाये आते हैं मानो सारा सौभाग्य तुझे ही अर्पित कर देते हों, परंतु पीठ-पीछे वे तेरा अनिष्ट करते हैं। तू उन्हें अपनेमें अनुरक्त जानकर सौभाग्यकी डींग हाँका करती है, परंतु जैसे ग्रीष्म ऋतुमें नदीका प्रवाह सूखता चला जाता है, उसी प्रकार तेरा वह सौभाग्य अब अस्थिर हो गया है—तेरे हाथसे चला जाना चाहता है!' ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी रुष्टया परुषं वचः।
कुब्जया पापदर्शिन्या विषादमगमत् परम् ॥ १६ ॥

इष्टमें भी अनिष्टका दर्शन करानेवाली रोषभरी कुब्जाके इस प्रकार कठोर वचन कहनेपर कैकेयीके मनमें बड़ा दुःख हुआ ॥ १६ ॥

कैकेयी त्वब्रवीत् कुब्जां कच्चित् क्षेमं न मन्थरे।
विषण्णवदनां हि त्वां लक्षये भृशदुःखिताम् ॥ १७ ॥

उस समय केकयराजकुमारीने कुब्जासे पूछा—'मन्थरे! कोई अमङ्गलकी बात तो नहीं हो गयी; क्योंकि तेरे मुखपर विषाद छा रहा है और तू मुझे बहुत दुखी दिखायी देती है' ॥ १७ ॥

मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेय्या मधुराक्षरम्।
उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ १८ ॥
सा विषण्णतरा भूत्वा कुब्जा तस्यां हितैषिणी।
विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम् ॥ १९ ॥

मन्थरा बातचीत करनेमें बड़ी कुशल थी, वह कैकेयीके मीठे वचन सुनकर और भी खिन्न हो गयी, उसके प्रति अपनी हितैषिता प्रकट करती हुई कुपित हो उठी और कैकेयीके मनमें श्रीरामके प्रति भेदभाव और विषाद उत्पन्न करती हुई इस प्रकार बोली—॥ १८-१९ ॥

अक्षयं सुमहद् देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम्।
रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २० ॥

'देवि! तुम्हारे सौभाग्यके महान् विनाशका कार्य आरम्भ हो गया है, जिसका कोई प्रतीकार नहीं है। कल महाराज दशरथ श्रीरामको युवराजके पदपर अभिषिक्त कर देंगे ॥२०॥

सास्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता।
दह्यमानानलेनेव त्वद्धितार्थमिहागता ॥ २१ ॥

'यह समाचार पाकर मैं दुःख और शोकसे व्याकुल हो अगाध भयके समुद्रमें डूब गयी हूँ, चिन्ताकी आगसे मानो जली जा रही हूँ और तुम्हारे हितकी बात बतानेके लिये यहाँ आयी हूँ ॥ २१ ॥

तव दुःखेन कैकेयि मम दुःखं महद् भवेत्।
त्वद्वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेदिह न संशयः ॥ २२ ॥

'केकयनन्दिनि! यदि तुमपर कोई दुःख आया तो उससे मुझे भी बड़े भारी दुःखमें पड़ना होगा। तुम्हारी उन्नतिमें ही मेरी भी उन्नति है, इसमें संशय नहीं है ॥ २२ ॥

नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः।
उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुध्यसे ॥ २३ ॥

'देवि! तुम राजाओंके कुलमें उत्पन्न हुई हो और एक महाराजकी महारानी हो, फिर भी राजधर्मोंकी उग्रताको कैसे नहीं समझ रही हो? ॥ २३ ॥

धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः।
शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसंधिता ॥ २४ ॥

'तुम्हारे स्वामी धर्मकी बातें तो बहुत करते हैं, परंतु हैं बड़े शठ। मुँहसे चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं, परंतु हृदयके बड़े क्रूर हैं। तुम समझती हो कि वे सारी बातें शुद्ध भावसे ही कहते हैं, इसीलिये आज उनके द्वारा तुम बेतरह ठगी गयी ॥ २४ ॥

उपस्थितः प्रयुञ्जानस्त्वयि सान्त्वमनर्थकम्।
अर्थेनैवाद्य ते भर्ता कौसल्यां योजयिष्यति ॥ २५ ॥

'तुम्हारे पति तुम्हें व्यर्थ सान्त्वना देनेके लिये यहाँ उपस्थित होते हैं, वे ही अब रानी कौसल्याको अर्थसे सम्पन्न करने जा रहे हैं ॥ २५ ॥

अपवाह्य तु दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु।
काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके ॥ २६ ॥

'उनका हृदय इतना दूषित है कि भरतको तो उन्होंने तुम्हारे मायके भेज दिया और कल सबेरे ही अवधके निष्कण्टक राज्यपर वे श्रीरामका अभिषेक करेंगे ॥ २६ ॥

शत्रुः पतिप्रवादेन मात्रेव हितकाम्यया।
आशीविष इवाङ्केन बाले परिधृतस्त्वया ॥ २७ ॥

'बाले! जैसे माता हितकी कामनासे पुत्रका पोषण करती है, उसी प्रकार 'पति' कहलानेवाले जिस व्यक्तिका तुमने पोषण किया है, वह वास्तवमें शत्रु निकला। जैसे कोई अज्ञानवश सर्पको अपनी गोदमें लेकर उसका लालन करे, उसी प्रकार तुमने उन सर्पवत् बर्ताव करनेवाले महाराजको अपने अङ्कमें स्थान दिया है ॥ २७ ॥

यथा हि कुर्याच्छत्रुर्वा सर्पो वा प्रत्युपेक्षितः।
राज्ञा दशरथेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता ॥ २८ ॥

'उपेक्षित शत्रु अथवा सर्प जैसा बर्ताव कर सकता है, राजा दशरथने आज पुत्रसहित तुम कैकेयीके प्रति वैसा ही बर्ताव किया है ॥ २८ ॥

पापेनानृतसान्त्वेन बाले नित्यं सुखोचिता।
रामं स्थापयता राज्ये सानुबन्धा हता ह्यसि ॥ २९ ॥

'बाले! तुम सदा सुख भोगनेके योग्य हो, परंतु मनमें पाप (दुर्भावना) रखकर ऊपरसे झूठी सान्त्वना देनेवाले महाराजने अपने राज्यपर श्रीरामको स्थापित करनेका विचार करके आज सगे-सम्बन्धियोंसहित तुमको मानो मौतके मुखमें डाल दिया है ॥ २९ ॥

सा प्राप्तकालं कैकेयि क्षिप्रं कुरु हितं तव।
त्रायस्व पुत्रमात्मानं मां च विस्मयदर्शने ॥ ३० ॥

'केकयराजकुमारी! तुम दुःखजनक बात सुनकर भी मेरी ओर इस तरह देख रही हो, मानो तुम्हें प्रसन्नता हुई हो और मेरी बातोंसे तुम्हें विस्मय हो रहा हो, परंतु यह विस्मय छोड़ो और जिसे करनेका समय आ गया है, अपने उस हितकर कार्यको शीघ्र करो तथा ऐसा करके अपनी, अपने पुत्रकी और मेरी भी रक्षा करो' ॥ ३० ॥

मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात् सा शुभानना।
उत्तस्थौ हर्षसम्पूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी ॥ ३१ ॥

मन्थराकी यह बात सुनकर सुन्दर मुखवाली कैकेयी सहसा शय्यासे उठ बैठी। उसका हृदय हर्षसे भर गया। वह शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमण्डलकी भाँति उद्दीप्त हो उठी ॥

अतीव सा तु संतुष्टा कैकेयी विस्मयान्विता।
दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम् ॥ ३२ ॥

कैकेयी मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हुई। विस्मयविमुग्ध हो मुसकराते हुए उसने कुब्जाको पुरस्कारके रूपमें एक बहुत सुन्दर दिव्य आभूषण प्रदान किया ॥ ३२ ॥

दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा।
कैकेयी मन्थरां दृष्ट्वा पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥ ३३ ॥
इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम्।
एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते ॥ ३४ ॥

कुब्जाको वह आभूषण देकर हर्षसे भरी हुई रमणी-शिरोमणि कैकेयीने पुनः मन्थरासे इस प्रकार कहा—'मन्थरे! यह तूने मुझे बड़ा ही प्रिय समाचार सुनाया। तूने मेरे लिये जो यह प्रिय संवाद सुनाया, इसके लिये मैं तेरा और कौन-सा उपकार करूँ ॥ ३३-३४ ॥

रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात् तुष्टास्मि यद् राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ ३५ ॥

'मैं भी राम और भरतमें कोई भेद नहीं समझती। अतः यह जानकर कि राजा श्रीरामका अभिषेक करनेवाले हैं, मुझे बड़ी खुशी हुई है ॥ ३५ ॥

न मे परं किंचिदितो वरं पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम्।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं
वरं परं ते प्रददामि तं वृणु ॥ ३६ ॥

'मन्थरे! तू मुझसे प्रिय वस्तु पानेके योग्य है। मेरे लिये श्रीरामके अभिषेकसम्बन्धी इस समाचारसे बढ़कर दूसरा कोई प्रिय एवं अमृतके समान मधुर वचन नहीं कहा जा सकता। ऐसी परम प्रिय बात तुमने कही है; अतः अब यह प्रिय संवाद सुनानेके बाद तू कोई श्रेष्ठ वर माँग ले, मैं उसे अवश्य दूँगी' ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

मन्थराका पुनः श्रीरामके राज्याभिषेकको कैकेयीके लिये अनिष्टकारी बताना, कैकेयीका श्रीरामके गुणोंको बताकर उनके अभिषेकका समर्थन करना तत्पश्चात् कुब्जाका पुनः श्रीराम-राज्यको भरतके लिये भयजनक बताकर कैकेयीको भड़काना

मन्थरा त्वभ्यसूय्यैनामुत्सृज्याभरणं हि तत्।
उवाचेदं ततो वाक्यं कोपदुःखसमन्विता ॥ १ ॥

यह सुनकर मन्थराने कैकेयीकी निन्दा करके उसके दिये हुए आभूषणको उठाकर फेंक दिया और कोप तथा दुःखसे भरकर वह इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

हर्षं किमर्थमस्थाने कृतवत्यसि बालिशे।
शोकसागरमध्यस्थं नात्मानमवबुध्यसे ॥ २ ॥

'रानी! तुम बड़ी नादान हो। अहो! तुमने यह बेमौके हर्ष किसलिये प्रकट किया? तुम्हें शोकके स्थानपर प्रसन्नता कैसे हो रही है? अरी! तुम शोकके समुद्रमें डूबी हुई हो, तो भी तुम्हें अपनी इस विपन्नावस्थाका बोध नहीं हो रहा है ॥

मनसा प्रसहामि त्वां देवि दुःखार्दिता सती।
यच्छोचितव्ये हृष्टासि प्राप्य त्वं व्यसनं महत् ॥ ३ ॥

'देवि! महान् संकटमें पड़नेपर जहाँ तुम्हें शोक होना

चाहिये, वहीं हर्ष हो रहा है। तुम्हारी यह अवस्था देखकर मुझे मन-ही-मन बड़ा क्लेश सहन करना पड़ता है। मैं दुःखसे व्याकुल हुई जाती हूँ ॥ ३ ॥

शोचामि दुर्मतित्वं ते का हि प्राज्ञा प्रहर्षयेत्।
अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम्॥ ४ ॥

'मुझे तुम्हारी दुर्बुद्धिके लिये ही अधिक शोक होता है। अरी! सौतका बेटा शत्रु होता है। वह सौतेली माँके लिये साक्षात् मृत्युके समान है। भला, उसके अभ्युदयका अवसर आया देख कौन बुद्धिमती स्त्री अपने मनमें हर्ष मानेगी ॥

भरतादेव रामस्य राज्यसाधारणाद् भयम्।
तद् विचिन्त्य विषण्णास्मि भयं भीताद्धि जायते ॥ ५ ॥

'यह राज्य भरत और राम दोनोंके लिये साधारण भोग्य-वस्तु है, इसपर दोनोंका समान अधिकार है, इसलिये श्रीरामको भरतसे ही भय है। यही सोचकर मैं विषादमें डूबी जाती हूँ; क्योंकि भयभीतसे ही भय प्राप्त होता है अर्थात् आज जिसे भय है, वही राज्य प्राप्त कर लेनेपर जब सबल हो जायगा, तब अपने भयके हेतुको उखाड़ फेंकेगा ॥ ५ ॥

लक्ष्मणो हि महाबाहू रामं सर्वात्मना गतः।
शत्रुघ्नश्चापि भरतं काकुत्स्थं लक्ष्मणो यथा ॥ ६ ॥

'महाबाहु लक्ष्मण सम्पूर्ण हृदयसे श्रीरामचन्द्रजीके अनुगत हैं। जैसे लक्ष्मण श्रीरामके अनुगत हैं, उसी तरह शत्रुघ्न भी भरतका अनुसरण करनेवाले हैं ॥ ६ ॥

प्रत्यासन्नक्रमेणापि भरतस्यैव भामिनि।
राज्यक्रमो विसृष्टस्तु तयोस्तावद्यवीयसोः ॥ ७ ॥

'भामिनि! उत्पत्तिके क्रमसे श्रीरामके बाद भरतका ही पहले राज्यपर अधिकार हो सकता है (अतः भरतसे भय होना स्वाभाविक है)। लक्ष्मण और शत्रुघ्न तो छोटे हैं; अतः उनके लिये राज्यप्राप्तिकी सम्भावना दूर है ॥ ७ ॥

विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः।
भयात् प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम्॥ ८ ॥

'श्रीराम समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, विशेषतः क्षत्रिय-चरित्र (राजनीति) के पण्डित हैं तथा समयोचित कर्तव्यका पालन करनेवाले हैं; अतः उनका तुम्हारे पुत्रके प्रति जो क्रूरतापूर्ण बर्ताव होगा, उसे सोचकर मैं भयसे काँप उठती हूँ॥

सुभगा किल कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते।
यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः ॥ ९ ॥

'वास्तवमें कौसल्या ही सौभाग्यवती हैं, जिनके पुत्रका कल पुष्यनक्षत्रके योगमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा युवराजके महान् पदपर अभिषेक होने जा रहा है ॥ ९ ॥

प्राप्तां वसुमतीं प्रीतिं प्रतीतां हतविद्विषम्।
उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीवत् त्वं कृताञ्जलिः॥ १० ॥

'वे भूमण्डलका निष्कण्टक राज्य पाकर प्रसन्न होंगी; क्योंकि वे राजाकी विश्वासपात्र हैं और तुम दासीकी भाँति हाथ जोड़कर उनकी सेवामें उपस्थित होओगी ॥ १० ॥

एवं च त्वं सहास्माभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि।
पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यत्वं हि गमिष्यति ॥ ११ ॥

'इस प्रकार हमलोगोंके साथ तुम भी कौसल्याकी दासी बनोगी और तुम्हारे पुत्र भरतको भी श्रीरामचन्द्रजीकी गुलामी करनी पड़ेगी ॥ ११ ॥

हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः।
अप्रहृष्टा भविष्यन्ति स्नुषास्ते भरतक्षये ॥ १२ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके अन्तःपुरकी परम सुन्दरी स्त्रियाँ—सीतादेवी और उनकी सखियाँ निश्चय ही बहुत प्रसन्न होंगी और भरतके प्रभुत्वका नाश होनेसे तुम्हारी बहुएँ शोकमग्न हो जायँगी' ॥ १२ ॥

तां दृष्ट्वा परमप्रीतां ब्रुवन्तीं मन्थरां ततः।
रामस्यैव गुणान् देवी कैकेयी प्रशशंस ह ॥ १३ ॥

मन्थराको अत्यन्त अप्रसन्नताके कारण इस प्रकार बहकी-बहकी बातें करती देख देवी कैकेयीने श्रीरामके गुणोंकी ही प्रशंसा करते हुए कहा—॥ १३ ॥

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुचिः।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥ १४ ॥

'कुब्जे! श्रीराम धर्मके ज्ञाता, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी और पवित्र होनेके साथ ही महाराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं; अतः युवराज होनेके योग्य वे ही हैं ॥ १४ ॥

भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति।
संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम्॥ १५ ॥

'वे दीर्घजीवी होकर अपने भाइयों और भृत्योंका पिताकी भाँति पालन करेंगे। कुब्जे! उनके अभिषेककी बात सुनकर तू इतनी जल क्यों रही है? ॥ १५ ॥

भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात् परम्।
पितृपैतामहं राज्यमवाप्स्यति नरर्षभः ॥ १६ ॥

'श्रीरामकी राज्यप्राप्तिके सौ वर्ष बाद नरश्रेष्ठ भरतको भी निश्चय ही अपने पिता-पितामहोंका राज्य मिलेगा ॥ १६ ॥

सा त्वमभ्युदये प्राप्ते दह्यमानेव मन्थरे।
भविष्यति च कल्याणे किमिदं परितप्यसे ॥ १७ ॥

'मन्थरे! ऐसे अभ्युदयकी प्राप्तिके समय, जब कि भविष्यमें कल्याण-ही-कल्याण दिखायी दे रहा है, तू इस प्रकार जलती हुई-सी संतप्त क्यों हो रही है? ॥ १७ ॥

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु ॥ १८ ॥

'मेरे लिये जैसे भरत आदरके पात्र हैं, वैसे ही बल्कि

उनसे भी बढ़कर श्रीराम हैं; क्योंकि वे कौसल्यासे भी बढ़कर मेरी बहुत सेवा किया करते हैं ॥ १८ ॥

राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत् तदा।
मन्यते हि यथाऽऽत्मानं यथा भ्रातॄंस्तु राघवः ॥ १९ ॥

'यदि श्रीरामको राज्य मिल रहा है तो उसे भरतको मिला हुआ समझ; क्योंकि श्रीरामचन्द्र अपने भाइयोंको भी अपने ही समान समझते हैं' ॥ १९ ॥

कैकेय्या वचनं श्रुत्वा मन्थरा भृशदुःखिता।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ २० ॥

'कैकेयीकी यह बात सुनकर मन्थराको बड़ा दुःख हुआ। वह लंबी और गरम साँस खींचकर कैकेयीसे बोली—॥२०॥

अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुध्यसे।
शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे ॥ २१ ॥

'रानी! तुम मूर्खतावश अनर्थको ही अर्थ समझ रही हो! तुम्हें अपनी स्थितिका पता नहीं है। तुम दुःखके उस महासागरमें डूब रही हो, जो शोक (इष्टसे वियोगकी चिन्ता) और व्यसन (अनिष्टकी प्राप्तिके दुःख) से महान् विस्तारको प्राप्त हो रहा है ॥ २१ ॥

भविता राघवो राजा राघवस्य च यः सुतः।
राजवंशात्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते ॥ २२ ॥

'केकयराजकुमारी! जब श्रीरामचन्द्र राजा हो जायँगे, तब उनके बाद उनका जो पुत्र होगा, उसीको राज्य मिलेगा। भरत तो राजपरम्परासे अलग हो जायँगे ॥ २२ ॥

नहि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि।
स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ॥ २३ ॥

'भामिनि! राजाके सभी पुत्र राज्यसिंहासनपर नहीं बैठते हैं; यदि सबको बिठा दिया जाय तो बड़ा भारी अनर्थ हो जाय ॥ २३ ॥

तस्माज्ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः।
स्थापयन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेष्वपि ॥ २४ ॥

'परमसुन्दरी केकयनन्दिनि! इसीलिये राजालोग राज-काजका भार ज्येष्ठ पुत्रपर ही रखते हैं। यदि ज्येष्ठ पुत्र गुणवान् न हो तो दूसरे गुणवान् पुत्रोंको भी राज्य सौंप देते हैं ॥ २४ ॥

असावत्यन्तनिर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति।
अनाथवत् सुखेभ्यश्च राजवंशाच्च वत्सले ॥ २५ ॥

'पुत्रवत्सले! तुम्हारा पुत्र राज्यके अधिकारसे तो बहुत दूर हटा ही दिया जायगा, वह अनाथकी भाँति समस्त सुखोंसे भी वञ्चित हो जायगा ॥ २५ ॥

साहं त्वदर्थे सम्प्राप्ता त्वं तु मां नावबुद्ध्यसे।
सपत्निवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमर्हसि ॥ २६ ॥

'इसलिये मैं तुम्हारे ही हितकी बात सुझानेके लिये यहाँ आयी हूँ; परंतु तुम मेरा अभिप्राय तो समझती नहीं, उल्टे सौतका अभ्युदय सुनकर मुझे पारितोषिक देने चली हो ॥ २६ ॥

ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम्।
देशान्तरं नाययिता लोकान्तरमथापि वा ॥ २७ ॥

'याद रखो, यदि श्रीरामको निष्कण्टक राज्य मिल गया तो वे भरतको अवश्य ही इस देशसे बाहर निकाल देंगे अथवा उन्हें परलोकमें भी पहुँचा सकते हैं ॥ २७ ॥

बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया।
संनिकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेष्विव ॥ २८ ॥

'छोटी अवस्थामें ही तुमने भरतको मामाके घर भेज दिया। निकट रहनेसे सौहार्द उत्पन्न होता है। यह बात स्थावर योनियोंमें भी देखी जाती है (लता और वृक्ष आदि एक दूसरेके निकट होनेपर परस्पर आलिङ्गन-पाशमें बद्ध हो जाते हैं। यदि भरत यहाँ होते तो राजाका उनमें भी समानरूपसे स्नेह बढ़ता; अतः वे उन्हें भी आधा राज्य दे देते) ॥२८॥

भरतानुवशात् सोऽपि शत्रुघ्नस्तत्समं गतः।
लक्ष्मणो हि यथा रामं तथायं भरतं गतः ॥ २९ ॥

'भरतके अनुरोधसे शत्रुघ्न भी उनके साथ ही चले गये (यदि वे यहाँ होते तो भरतका काम बिगड़ने नहीं पाता। क्योंकि—) जैसे लक्ष्मण रामके अनुगामी हैं, उसी प्रकार शत्रुघ्न भरतका अनुसरण करनेवाले हैं ॥ २९ ॥

श्रूयते हि द्रुमः कश्चिच्छेत्तव्यो वनजीवनैः।
संनिकर्षादिषीकाभिर्मोचितः परमाद् भयात् ॥ ३० ॥

'सुना जाता है, जंगलकी लकड़ी बेचकर जीविका चलाने-वाले कुछ लोगोंने किसी वृक्षको काटनेका निश्चय किया, परंतु वह वृक्ष कँटीली झाड़ियोंसे घिरा हुआ था; इसलिये वे उसे काट नहीं सके। इस प्रकार उन कँटीली झाड़ियोंने निकट रहनेके कारण उस वृक्षको महान् भयसे बचा लिया ॥

गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः।
अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥ ३१ ॥

'सुमित्राकुमार लक्ष्मण श्रीरामकी रक्षा करते हैं और श्रीराम उनकी। उन दोनोंका उत्तम भ्रातृ-प्रेम दोनों अश्विनी-कुमारोंकी भाँति तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है ॥ ३१ ॥

तस्मान्न लक्ष्मणे रामः पापं किंचित् करिष्यति।
रामस्तु भरते पापं कुर्यादेव न संशयः ॥ ३२ ॥

'इसलिये श्रीराम लक्ष्मणका तो किञ्चित् भी अनिष्ट नहीं करेंगे; परंतु भरतका अनिष्ट किये बिना वे रह नहीं सकते इसमें संशय नहीं है ॥ ३२ ॥

तस्माद् राजगृहादेव वनं गच्छतु राघवः।
एतद्धि रोचते मह्यं भृशं चापि हितं तव॥ ३३॥

'अतः श्रीरामचन्द्र महाराजके महलसे ही सीधे वनको चले जायँ—मुझे तो यही अच्छा जान पड़ता है और इसीमें तुम्हारा परम हित है॥ ३३॥

एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति।
यदि चेद् भरतो धर्मात् पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति॥ ३४॥

'यदि भरत धर्मानुसार अपने पिताका राज्य प्राप्त कर लेंगे तो तुम्हारा और तुम्हारे पक्षके अन्य सब लोगोंका भी कल्याण होगा॥ ३४॥

स ते सुखोचितो बालो रामस्य सहजो रिपुः।
समृद्धार्थस्य नष्टार्थो जीविष्यति कथं वशे॥ ३५॥

'सौतेला भाई होनेके कारण जो श्रीरामका सहज शत्रु है, वह सुख भोगनेके योग्य तुम्हारा बालक भरत राज्य और धनसे वञ्चित हो राज्य पाकर समृद्धिशाली बने हुए श्रीरामके वशमें पड़कर कैसे जीवित रहेगा॥ ३५॥

अभिद्रुतमिवारण्ये सिंहेन गजयूथपम्।
प्रच्छाद्यमानं रामेण भरतं त्रातुमर्हसि॥ ३६॥

'जैसे वनमें सिंह हाथियोंके यूथपतिपर आक्रमण करता है और वह भागा फिरता है, उसी प्रकार राजा राम भरतका तिरस्कार करेंगे; अतः उस तिरस्कारसे तुम भरतकी रक्षा करो॥ ३६॥

दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया।
राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत्॥ ३७॥

'तुमने पहले पतिका अत्यन्त प्रेम प्राप्त होनेके कारण घमंडमें आकर जिनका अनादर किया था, वे ही तुम्हारी सौत श्रीराममाता कौसल्या पुत्रकी राज्यप्राप्तिसे परम सौभाग्यशालिनी हो उठी हैं; अब वे तुमसे अपने वैरका बदला क्यों नहीं लेंगी॥ ३७॥

यदा च रामः पृथिवीमवाप्स्यते
प्रभूतरत्नाकरशैलसंयुताम्।
तदा गमिष्यस्यशुभं पराभवं
सहैव दीना भरतेन भामिनि॥ ३८॥

'भामिनि! जब श्रीराम अनेक समुद्रों और पर्वतोंसे युक्त समस्त भूमण्डलका राज्य प्राप्त कर लेंगे, तब तुम अपने पुत्र भरतके साथ ही दीन-हीन होकर अशुभ पराभवका पात्र बन जाओगी॥ ३८॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यते
ध्रुवं प्रणष्टो भरतो भविष्यति।
अतो हि संचिन्तय राज्यमात्मजे
परस्य चैवाद्य विवासकारणम्॥ ३९॥

'याद रखो, जब श्रीराम इस पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त कर लेंगे, तब निश्चय ही तुम्हारे पुत्र भरत नष्टप्राय हो जायँगे। अतः ऐसा कोई उपाय सोचो, जिससे तुम्हारे पुत्रको तो राज्य मिले और शत्रुभूत श्रीरामका वनवास हो जाय'॥ ३९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टमः सर्गः॥ ८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८॥

नवमः सर्गः

कुब्जाके कुचक्रसे कैकेयीका कोपभवनमें प्रवेश

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत्॥ १॥

मन्थराके ऐसा कहनेपर कैकेयीका मुख क्रोधसे तमतमा उठा। वह लंबी और गरम साँस खींचकर उससे इस प्रकार बोली—॥ १॥

अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम्।
यौवराज्येन भरतं क्षिप्रमद्याभिषेचये॥ २॥

'कुब्जे! मैं श्रीरामको शीघ्र ही यहाँसे वनमें भेजूँगी और तुरंत ही युवराजके पदपर भरतका अभिषेक कराऊँगी॥

इदं त्विदानीं सम्पश्य केनोपायेन साधये।
भरतः प्राप्नुयाद् राज्यं न तु रामः कथंचन॥ ३॥

'परंतु इस समय यह तो सोचो कि किस उपायसे अपना अभीष्ट साधन करूँ? भरतको राज्य प्राप्त हो जाय और श्रीराम उसे किसी तरह भी न पा सकें—यह काम कैसे बने?'॥ ३॥

एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ ४॥

देवी कैकेयीके ऐसा कहनेपर पापका मार्ग दिखानेवाली मन्थरा श्रीरामके स्वार्थपर कुठाराघात करती हुई वहाँ कैकेयीसे इस प्रकार बोली—॥ ४॥

हन्तेदानीं प्रपश्य त्वं कैकेयि श्रूयतां वचः।
यथा ते भरतो राज्यं पुत्रः प्राप्स्यति केवलम्॥ ५॥

'केकयनन्दिनि! अच्छा, अब देखो कि मैं क्या करती हूँ? तुम मेरी बात सुनो, जिससे केवल तुम्हारे पुत्र भरत ही राज्य प्राप्त करेंगे (श्रीराम नहीं)॥ ५॥

किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगूहसे।

यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥

'कैकेयि ! क्या तुम्हें स्मरण नहीं है ? या स्मरण होनेपर भी मुझसे छिपा रही हो ? जिसकी तुम मुझसे अनेक बार चर्चा करती रहती हो, अपने उसी प्रयोजनको तुम मुझसे सुनना चाहती हो ? इसका क्या कारण है ? ॥ ६ ॥

मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि ।
श्रूयतामभिधास्यामि श्रुत्वा चैतद् विधीयताम् ॥ ७ ॥

'विलासिनि ! यदि मेरे ही मुँहसे सुननेके लिये तुम्हारा आग्रह है तो बताती हूँ, सुनो और सुनकर इसीके अनुसार कार्य करो' ॥ ७ ॥

श्रुत्वैवं वचनं तस्या मन्थरायास्तु कैकयी ।
किंचिदुत्थाय शयनात् स्वास्तीर्णादिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

'मन्थराका यह वचन सुनकर कैकेयी अच्छी तरहसे बिछे हुए उस पलंगसे कुछ उठकर उससे यों बोली—॥८॥

कथयस्व ममोपायं केनोपायेन मन्थरे ।
भरतः प्राप्नुयाद् राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ९ ॥

'मन्थरे ! मुझसे वह उपाय बताओ। किस उपायसे भरतको तो राज्य मिल जायगा, किंतु श्रीराम उसे किसी तरह नहीं पा सकेंगे' ॥ ९ ॥

एवमुक्ता तदा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी ।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १० ॥

देवी कैकेयीके ऐसा कहनेपर पापका मार्ग दिखानेवाली मन्थरा श्रीरामके स्वार्थपर कुठाराघात करती हुई उस समय कैकेयीसे इस प्रकार बोली—॥ १० ॥

पुरा देवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः ।
अगच्छत् त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत् ॥ ११ ॥

'देवि ! पूर्वकालकी बात है कि देवासुर-संग्रामके अवसरपर राजर्षियोंके साथ तुम्हारे पतिदेव तुम्हें साथ लेकर देवराजकी सहायता करनेके लिये गये थे ॥ ११ ॥

दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान् प्रति ।
वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः ॥ १२ ॥
स शम्बर इति ख्यातः शतमायो महासुरः ।
ददौ शक्रस्य संग्रामं देवसङ्घैरनिर्जितः ॥ १३ ॥

'केकयराजकुमारी ! दक्षिण दिशामें दण्डकारण्यके भीतर वैजयन्त नामसे विख्यात एक नगर है, जहाँ शम्बर नामसे प्रसिद्ध एक महान् असुर रहता था। वह अपनी ध्वजामें तिमि (ह्वेल मछली) का चिह्न धारण करता था और सैकड़ों मायाओंका जानकार था। देवताओंके समूह भी उसे पराजित नहीं कर पाते थे। एक बार उसने इन्द्रके साथ युद्ध छेड़ दिया ॥ १२-१३ ॥

तस्मिन् महति संग्रामे पुरुषान् क्षतविक्षतान् ।
रात्रौ प्रसुप्तान् घ्नन्ति स्म तरसापास्य राक्षसाः ॥ १४ ॥

'उस महान् संग्राममें क्षत-विक्षत हुए पुरुष जब रातमें थककर सो जाते, उस समय राक्षस उन्हें उनके बिस्तरसे खींच ले जाते और मार डालते थे ॥ १४ ॥

तत्राकरोन्महायुद्धं राजा दशरथस्तदा ।
असुरैश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः ॥ १५ ॥

'उन दिनों महाबाहु राजा दशरथने भी वहाँ असुरोंके साथ बड़ा भारी युद्ध किया। उस युद्धमें असुरोंने अपने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा उनके शरीरको जर्जर कर दिया ॥ १५ ॥

अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः ।
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ॥ १६ ॥

'देवि ! जब राजाकी चेतना लुप्त-सी हो गयी, उस समय सारथिका काम करती हुई तुमने अपने पतिको रणभूमिसे दूर हटाकर उनकी रक्षा की। जब वहाँ भी राक्षसोंके शस्त्रोंसे वे घायल हो गये, तब तुमने पुनः वहाँसे अन्यत्र ले जाकर उनकी रक्षा की ॥ १६ ॥

तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने ।
स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरम् ॥ १७ ॥
गृह्णीयां तु तदा भर्तस्तथेत्युक्तं महात्मना ।
अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथितं पुरा ॥ १८ ॥

'शुभदर्शने ! इससे संतुष्ट होकर महाराजने तुम्हें दो वरदान देनेको कहा—देवि ! उस समय तुमने अपने पतिसे कहा—'प्राणनाथ ! जब मेरी इच्छा होगी, तब मैं इन वरोंको माँग लूँगी।' उस समय उन महात्मा नरेशने 'तथास्तु' कहकर तुम्हारी बात मान ली थी। देवि ! मैं इस कथाको नहीं जानती थी। पूर्वकालमें तुम्हींने मुझसे यह वृत्तान्त कहा था ॥

कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया ।
रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ॥ १९ ॥

'तबसे तुम्हारे स्नेहवश मैं इस बातको मन ही-मन सदा याद रखती आयी हूँ। तुम इन वरोंके प्रभावसे स्वामीको वशमें करके श्रीरामके अभिषेकके आयोजनको पलट दो ॥

तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् ।
प्रव्राजनं च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश ॥ २० ॥

'तुम उन दोनों वरोंको अपने स्वामीसे माँगो। एक वरके द्वारा भरतका राज्याभिषेक और दूसरेके द्वारा श्रीरामका चौदह वर्षतकका वनवास माँग लो ॥ २० ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति ॥ २१ ॥

'जब श्रीराम चौदह वर्षोंके लिये वनमें चले जायँगे। तब उतने समयमें तुम्हारे पुत्र भरत समस्त प्रजाके हृदयमें

अपने लिये स्नेह पैदा कर लेंगे और इस राज्यपर स्थिर हो जायँगे ॥ २१ ॥

क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते ।
शेष्वानन्तर्हितायां त्वं भूमौ मलिनवासिनी ॥ २२ ॥

'अश्वपतिकुमारी ! तुम इस समय मैले वस्त्र पहन लो और कोपभवनमें प्रवेश करके कुपित-सी होकर बिना बिस्तरके ही भूमिपर लेट जाओ ॥ २२ ॥

मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः ।
रुदन्ती पार्थिवं दृष्ट्वा जगत्यां शोकलालसा ॥ २३ ॥

'राजा आवें तो उनकी ओर आँखें उठाकर न देखो और न उनसे कोई बात ही करो । महाराजको देखते ही रोती हुई शोकमग्न हो धरतीपर लोटने लगो ॥ २३ ॥

दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः ।
त्वत्कृते च महाराजो विशेदपि हुताशनम् ॥ २४ ॥

'इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि तुम अपने पतिको सदा ही बड़ी प्यारी रही हो । तुम्हारे लिये महाराज आगमें भी प्रवेश कर सकते हैं ॥ २४ ॥

न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम् ।
तव प्रियार्थं राजा तु प्राणानपि परित्यजेत् ॥ २५ ॥

'वे न तो तुम्हें कुपित कर सकते हैं और न कुपित अवस्थामें तुम्हें देख ही सकते हैं । राजा दशरथ तुम्हारा प्रिय करनेके लिये अपने प्राणोंका भी त्याग कर सकते हैं ॥ २५ ॥

न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः ।
मन्दस्वभावे बुध्यस्व सौभाग्यबलमात्मनः ॥ २६ ॥

'महाराज तुम्हारी बात किसी तरह टाल नहीं सकते । मुग्धे ! तुम अपने सौभाग्यके बलका स्मरण करो ॥ २६ ॥

मणिमुक्तासुवर्णानि रत्नानि विविधानि च ।
दद्याद् दशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ २७ ॥

'राजा दशरथ तुम्हें भुलावेमें डालनेके लिये मणि, मोती, सुवर्ण तथा भाँति-भाँतिके रत्न देनेकी चेष्टा करेंगे; किंतु तुम उनकी ओर मन न चलाना ॥ २७ ॥

यौ तौ देवासुरे युद्धे वरौ दशरथो ददौ ।
तौ स्मारय महाभागे सोऽर्थो न त्वाक्रमेदति ॥ २८ ॥

'महाभागे ! देवासुर-संग्रामके अवसरपर राजा दशरथने वे जो दो वर दिये थे, उनका उन्हें स्मरण दिलाना । वरदान-के रूपमें माँगा गया वह तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ सिद्ध हुए बिना नहीं रह सकता ॥ २८ ॥

यदा तु ते वरं दद्यात् स्वयमुत्थाप्य राघवः ।
व्यवस्थाप्य महाराजं त्वमिमं वृणुया वरम् ॥ २९ ॥

'रघुकुलनन्दन राजा दशरथ जब स्वयं तुम्हें धरतीसे उठाकर वर देनेको उद्यत हो जायँ, तब उन महाराजको सत्यकी शपथ दिलाकर खूब पक्का करके उनसे वर माँगना ॥ २९ ॥

रामप्रव्रजनं दूरं नव वर्षाणि पञ्च च ।
भरतः क्रियतां राजा पृथिव्यां पार्थिवर्षभ ॥ ३० ॥

'वर माँगते समय कहना कि नृपश्रेष्ठ ! आप श्रीरामको चौदह वर्षोंके लिये बहुत दूर वनमें भेज दीजिये और भरतको भूमण्डलका राजा बनाइये ॥ ३० ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः ॥ ३१ ॥

'श्रीरामके चौदह वर्षोंके लिये वनमें चले जानेपर तुम्हारे पुत्र भरतका राज्य सुदृढ़ हो जायगा और प्रजा आदिको वशमें कर लेनेसे यहाँ उनकी जड़ जम जायगी । फिर चौदह वर्षोंके बाद भी वे आजीवन स्थिर बने रहेंगे ॥ ३१ ॥

रामप्रव्रजनं चैव देवि याचस्व तं वरम् ।
एवं सेत्स्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थास्तव कामिनि ॥ ३२ ॥

'देवि ! तुम राजासे श्रीरामके वनवासका वर अवश्य माँगो । पुत्रके लिये राज्यकी कामना करनेवाली कैकेयि ! ऐसा करनेसे तुम्हारे पुत्रके सभी मनोरथ सिद्ध हो जायँगे ॥

एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति ।
भरतश्च गतामित्रस्तव राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥

'इस प्रकार वनवास मिल जानेपर ये राम राम नहीं रह जायँगे (इनका आज जो प्रभाव है वह भविष्यमें नहीं रह सकेगा) और तुम्हारे भरत भी शत्रुहीन राजा होंगे ॥ ३३ ॥

येन कालेन रामश्च वनात् प्रत्यागमिष्यति ।
अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति ॥ ३४ ॥

'जिस समय श्रीराम वनसे लौटेंगे, उस समयतक तुम्हारे पुत्र भरत भीतर और बाहरसे भी दृढ़मूल हो जायँगे ॥ ३४ ॥

संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्मवान् ।
प्राप्तकालं नु मन्येऽहं राजानं वीतसाध्वसा ॥ ३५ ॥
रामाभिषेकसंकल्पान्निगृह्य विनिवर्तय ।

'उनके पास सैनिक-बलका भी संग्रह हो जायगा; जितेन्द्रिय तो वे हैं ही; अपने सुहृदोंके साथ रहकर दृढ़मूल हो जायँगे । इस समय मेरी मान्यताके अनुसार राजाको श्रीरामके राज्या-भिषेकके संकल्पसे हटा देनेका समय आ गया है; अतः तुम निर्भय होकर राजाको अपने वचनोंमें बाँध लो और उन्हें श्रीरामके अभिषेकके संकल्पसे हटा दो' ॥ ३५½ ॥

अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तया ॥ ३६ ॥
हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ।
सा हि वाक्येन कुब्जायाः किशोरीवोत्पथं गता ॥ ३७ ॥
कैकेयी विस्मयं प्राप्य परं परमदर्शना ।

ऐसी बातें कहकर मन्थराने कैकेयीकी बुद्धिमें अनर्थको

ही अर्थरूपमें जँचा दिया। कैकेयीको उसकी बातपर विश्वास हो गया और वह मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई। यद्यपि वह बहुत समझदार थी, तो भी कुबरीके कहनेसे नादान बालिका-की तरह कुमार्गपर चली गयी—अनुचित काम करनेको तैयार हो गयी। उसे मन्थराकी बुद्धिपर बड़ा आश्चर्य हुआ और वह उससे इस प्रकार बोली—॥ ३६-३७½ ॥

प्रज्ञां ते नावजानामि श्रेष्ठे श्रेष्ठाभिधायिनि ॥ ३८ ॥
पृथिव्यामसि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये।
त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥ ३९ ॥

'हितकी बात बतानेमें कुशल कुब्जे! तू एक श्रेष्ठ स्त्री है; मैं तेरी बुद्धिकी अवहेलना नहीं करूँगी। बुद्धिके द्वारा किसी कार्यका निश्चय करनेमें तू इस पृथ्वीपर सभी कुब्जाओं-में उत्तम है। केवल तू ही मेरी हितैषिणी है और सदा सावधान रहकर मेरा कार्य सिद्ध करनेमें लगी रहती है ॥ ३८-३९ ॥

नाहं समवबुध्येयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम्।
सन्ति दुःसंस्थिताः कुब्जाः वक्राः परमपापिकाः ॥४०॥

'कुब्जे! यदि तू न होती तो राजा जो षड्यन्त्र रचना चाहते हैं, वह कदापि मेरी समझमें नहीं आता। तेरे सिवा जितनी कुब्जाएँ हैं, वे बेडौल शरीरवाली, टेढ़ी-मेढ़ी और बड़ी पापिनी होती हैं ॥ ४० ॥

त्वं पद्मसिव वातेन संनता प्रियदर्शना।
उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत् स्कन्धात् समुन्नतम् ४१

'तू तो वायुके द्वारा झुकायी हुई कमलिनीकी भाँति कुछ झुकी हुई होनेपर भी देखनेमें प्रिय (सुन्दर) है। तेरा वक्षः-स्थल कुब्जताके दोषसे व्याप्त है, अतएव कंधोंतक ऊँचा दिखायी देता है ॥ ४१ ॥

अधस्ताच्चोदरं शान्तं सुनाभमिव लज्जितम्।
प्रतिपूर्णं च जघनं सुपीनौ च पयोधरौ ॥ ४२ ॥

'वक्षःस्थलसे नीचे सुन्दर नाभिसे युक्त जो उदर है, वह मानो वक्षःस्थलकी ऊँचाई देखकर लज्जित-सा हो गया है, इसीलिये शान्त—कृश प्रतीत होता है। तेरा जघन विस्तृत है और दोनों स्तन सुन्दर एवं स्थूल हैं ॥ ४२ ॥

विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे।
जघनं तव निर्मृष्टं रशनादामभूषितम् ॥ ४३ ॥

'मन्थरे! तेरा मुख निर्मल चन्द्रमाके समान अद्भुत शोभा पा रहा है। करधनीकी लड़ियोंसे विभूषित तेरी कटिका अग्रभाग बहुत ही स्वच्छ—रोमादिसे रहित है ॥ ४३ ॥

जङ्घे भृशमुपन्यस्ते पादौ च व्यायतावुभौ।
त्वमायताभ्यां सक्थिभ्यां मन्थरे क्षौमवासिनी ॥ ४४ ॥
अग्रतो मम गच्छन्ती राजसेऽतीव शोभने।

'मन्थरे! तेरी पिण्डलियाँ परस्पर अधिक सटी हुई हैं और दोनों पैर बड़े-बड़े हैं। तू विशाल ऊरुओं (जाँघों) से सुशोभित होती है। शोभने! जब तू रेशमी साड़ी पहनकर मेरे आगे-आगे चलती है, तब तेरी बड़ी शोभा होती है ॥ ४४½ ॥

आसन् याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे ॥ ४५ ॥
हृदये ते निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः।
तदेव स्थगु यद् दीर्घं रथघोणमिवायतम् ॥ ४६ ॥
मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते।

'असुरराज शम्बरको जिन सहस्रों मायाओंका ज्ञान है, वे सब तेरे हृदयमें स्थित हैं; इनके अलावे भी तू हजारों प्रकारकी मायाएँ जानती है। इन मायाओंका समुदाय ही तेरा यह बड़ा-सा कुब्बड़ है, जो रथके नकुए (अग्रभाग) के समान बड़ा है। इसीमें तेरी मति, स्मृति और बुद्धि, क्षत्र-विद्या (राजनीति) तथा नाना प्रकारकी मायाएँ निवास करती हैं ॥ ४५-४६½ ॥

अत्र तेऽहं प्रमोक्ष्यामि मालां कुब्जे हिरण्मयीम् ॥ ४७ ॥
अभिषिक्ते च भरते राघवे च वनं गते।
जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टप्तेन सुन्दरि ॥ ४८ ॥
लब्धार्था च प्रतीता च लेपयिष्यामि ते स्थगु।

'सुन्दरी कुब्जे! यदि भरतका राज्याभिषेक हुआ और श्रीराम वनको चले गये तो मैं सफलमनोरथ एवं संतुष्ट होकर अच्छी जातिके खूब तपाये हुए सोनेकी बनी हुई सुन्दर स्वर्णमाला तेरे इस कुब्बड़को पहनाऊँगी और इसपर चन्दनका लेप लगवाऊँगी ॥ ४७-४८½ ॥

मुखे च तिलकं चित्रं जातरूपमयं शुभम् ॥ ४९ ॥
कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च।
परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि ॥ ५० ॥

'कुब्जे! तेरे मुख (ललाट) पर सुन्दर और विचित्र सोनेका टीका लगवा दूँगी और तू बहुत-से सुन्दर आभूषण एवं दो उत्तम वस्त्र (लहँगा और दुपट्टा) धारण करके देवाङ्गनाके समान विचरण करेगी ॥ ४९-५० ॥

चन्द्रमाह्वयमानेन मुखेनाप्रतिमानना।
गमिष्यसि गतिं मुख्यां गर्वयन्ती द्विषज्जने ॥ ५१ ॥

'चन्द्रमासे होड़ लगानेवाले अपने मनोहर मुखद्वारा तू ऐसी सुन्दर लगेगी कि तेरे मुखकी कहीं समता नहीं रह जायगी तथा शत्रुओंके बीचमें अपने सौभाग्यपर गर्व प्रकट करती हुई तू सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लेगी ॥ ५१ ॥

तवापि कुब्जाः कुब्जायाः सर्वाभरणभूषिताः।
पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥ ५२ ॥

'जैसे तू सदा मेरे चरणोंकी सेवा किया करती है, उसी प्रकार समस्त आभूषणोंसे विभूषित बहुत-सी कुब्जाएँ तुझ कुब्जाके भी चरणोंकी सदा परिचर्या किया करेंगी' ॥ ५२ ॥

इति प्रशस्यमाना सा कैकेयीमिदमब्रवीत्।
शयानां शयने शुभ्रे वेद्यामग्निशिखामिव ॥ ५३ ॥

जब इस प्रकार कुब्जाकी प्रशंसा की गयी, तब उसने बेदीपर प्रज्वलित अग्नि-शिखाके समान शुभ्र शय्यापर शयन करनेवाली कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ ५३ ॥

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते।
उत्तिष्ठ कुरु कल्याणं राजानमनुदर्शय ॥ ५४ ॥

'कल्याणि! नदीका पानी निकल जानेपर उसके लिये बाँध नहीं बाँधा जाता, (यदि रामका अभिषेक हो गया तो तुम्हारा वर माँगना व्यर्थ होगा; अतः बातोंमें समय न बिताओ) जल्दी उठो और अपना कल्याण करो। कोपभवनमें जाकर राजाको अपनी अवस्थाका परिचय दो' ॥

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह।
क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥ ५५ ॥
अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना।
अवमुच्य वरार्हाणि शुभान्याभरणानि च ॥ ५६ ॥

मन्थराके इस प्रकार प्रोत्साहन देनेपर सौभाग्यके मदसे गर्व करनेवाली विशाललोचना सुन्दरी कैकेयी देवी उसके साथ ही कोपभवनमें जाकर लाखोंकी लागतके मोतियोंके हार तथा दूसरे-दूसरे सुन्दर बहुमूल्य आभूषणोंको अपने शरीरसे उतार-उतारकर फेंकने लगी ॥ ५५-५६ ॥

तदा हेमोपमा तत्र कुब्जावाक्यवशंगता।
संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

सोनेके समान सुन्दर कान्तिवाली कैकेयी कुब्जाकी बातोंके वशीभूत हो गयी थी, अतः वह धरतीपर लेटकर मन्थरासे इस प्रकार बोली—॥ ५७ ॥

इह वा मां मृतां कुब्जे नृपायावेदयिष्यसि।
वनं तु राघवे प्राप्ते भरतः प्राप्स्यते क्षितिम् ॥ ५८ ॥
सुवर्णेन न मे ह्यर्थो न रत्नैर्न च भोजनैः।
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ५९ ॥

'कुब्जे! मुझे न तो सुवर्णसे, न रत्नोंसे और न भाँति-भाँतिके भोजनोंसे ही कोई प्रयोजन है; यदि श्रीरामका राज्याभिषेक हुआ तो यह मेरे जीवनका अन्त होगा। अब या तो श्रीरामके वनमें चले जानेपर भरतको इस भूतलका राज्य प्राप्त होगा अथवा तू यहाँ महाराजको मेरी मृत्युका समाचार सुनायेगी' ॥ ५८-५९ ॥

अथो पुनस्तां महिषीं महीक्षितो
वचोभिरत्यर्थमहापराक्रमैः।
उवाच कुब्जा भरतस्य मातरं
हितं वचो राममुपेत्य चाहितम् ॥ ६० ॥

तदनन्तर कुब्जा महाराज दशरथकी रानी और भरतकी माता कैकेयीसे अत्यन्त क्रूर वचनोंद्वारा पुनः ऐसी बात कहने लगी, जो लौकिक दृष्टिसे भरतके लिये हितकर और श्रीरामके लिये अहितकर थी ॥ ६० ॥

प्रपत्स्यते राज्यमिदं हि राघवो
यदि ध्रुवं त्वं ससुता च तप्स्यसे।
ततो हि कल्याणि यतस्व तत् तथा
यथा सुतस्ते भरतोऽभिषेक्ष्यते ॥ ६१ ॥

'कल्याणि! यदि श्रीराम इस राज्यको प्राप्त कर लेंगे तो निश्चय ही अपने पुत्र भरतसहित तुम भारी संतापमें पड़ जाओगी; अतः ऐसा प्रयत्न करो, जिससे तुम्हारे पुत्र भरतका राज्याभिषेक हो जाय' ॥ ६१ ॥

तथातिविद्धा महिषीति कुब्जया
समाहता वागिषुभिर्मुहुर्मुहुः।
विधाय हस्तौ हृदयेऽतिविस्मिता
शशंस कुब्जां कुपिता पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार कुब्जाने अपने वचनरूपी बाणोंका बारंबार प्रहार करके जब रानी कैकेयीको अत्यन्त घायल कर दिया, तब वह अत्यन्त विस्मित और कुपित हो अपने हृदयपर दोनों हाथ रखकर कुब्जासे बारंबार इस प्रकार कहने लगी—॥ ६२ ॥

यमस्य वा मां विषयं गतामितो
निशाम्य कुब्जे प्रतिवेदयिष्यसि।
वनं गते वा सुचिराय राघवे
समृद्धकामो भरतो भविष्यति ॥ ६३ ॥

'कुब्जे! अब या तो रामचन्द्रके अधिक कालके लिये वनमें चले जानेपर भरतका मनोरथ सफल होगा या तू मुझे यहाँसे यमलोकमें चली गयी सुनकर महाराजसे यह समाचार निवेदन करेगी ॥ ६३ ॥

अहं हि नैवास्तरणानि न स्रजो
न चन्दनं नाञ्जनपानभोजनम्।
न किंचिदिच्छामि न चेह जीवनं
न चेदितो गच्छति राघवो वनम् ॥ ६४ ॥

'यदि राम यहाँसे वनको नहीं गये तो मैं न तो भाँति-भाँतिके बिछौने, न फूलोंके हार, न चन्दन, न अञ्जन, न पान, न भोजन और न दूसरी ही कोई वस्तु लेना चाहूँगी। उस दशामें तो मैं यहाँ इस जीवनको भी नहीं रखना चाहूँगी' ॥ ६४ ॥

अथैवमुक्त्वा वचनं सुदारुणं
निधाय सर्वाभरणानि भामिनी।
असंस्कृतामास्तरणेन मेदिनीं
तदाधिशिश्ये पतितेव किंनरी ॥ ६५ ॥

ऐसे अत्यन्त कठोर वचन कहकर कैकेयीने सारे आभूषण उतार दिये और बिना बिस्तरके ही वह खाली जमीनपर लेट गयी। उस समय वह स्वर्गसे भूतलपर गिरी हुई किसी किन्नरीके समान जान पड़ती थी ॥ ६५ ॥

उदीर्णसंरम्भतमोवृतानना
तदावमुक्तोत्तममाल्यभूषणा ।
नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा
तमोवृता द्यौरिव मग्नतारका ॥ ६६ ॥

उसका मुख बढ़े हुए अमर्षरूपी अन्धकारसे आच्छादित हो रहा था। उसके अङ्गोंसे उत्तम पुष्पहार और आभूषण उतर चुके थे। उस दशामें उदास मनवाली राजरानी कैकेयी जिसके तारे डूब गये हों, उस अन्धकाराच्छन्न आकाशके समान प्रतीत होती थी ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

राजा दशरथका कैकेयीके भवनमें जाना, उसे कोपभवनमें स्थित देखकर दुःखी होना और उसको अनेक प्रकारसे सान्त्वना देना

विदर्शिता यदा देवी कुब्जया पापया भृशम् ।
तदा शेते स्म सा भूमौ दिग्धविद्धेव किंनरी ॥ १ ॥

पापिनी कुब्जाने जब देवी कैकेयीको बहुत उलटी बातें समझा दीं, तब वह विषाक्त बाणसे विद्ध हुई किन्नरीके समान धरतीपर लोटने लगी ॥ १ ॥

निश्चित्य मनसा कृत्यं सा सम्यगिति भामिनी ।
मन्थरायै शनैः सर्वमाचचक्षे विचक्षणा ॥ २ ॥

मन्थराके बताये हुए समस्त कार्यको यह बहुत उत्तम है—ऐसा मन-ही-मन निश्चय करके बात-चीतमें कुशल भामिनी कैकेयीने मन्थरासे धीरे-धीरे अपना सारा मन्तव्य बता दिया ॥

सा दीना निश्चयं कृत्वा मन्थरावाक्यमोहिता ।
नागकन्येव निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च भामिनी ॥ ३ ॥
मुहूर्तं चिन्तयामास मार्गमात्मसुखावहम् ।

मन्थराके वचनोंसे मोहित एवं दीन हुई भामिनी कैकेयी पूर्वोक्त निश्चय करके नागकन्याकी भाँति गरम और लंबी साँस खींचने लगी और दो घड़ीतक अपने लिये सुखदायक मार्गका विचार करती रही ॥ ३½ ॥

सा सुहृच्चार्थकामा च तं निशम्य विनिश्चयम् ॥ ४ ॥
बभूव परमप्रीता सिद्धिं प्राप्येव मन्थरा ।

और वह मन्थरा जो कैकेयीका हित चाहनेवाली सुहृद् थी और उसीके मनोरथको सिद्ध करनेकी अभिलाषा रखती थी, कैकेयीके उस निश्चयको सुनकर बहुत प्रसन्न हुई; मानो उसे कोई बहुत बड़ी सिद्धि मिल गयी हो ॥ ४½ ॥

अथ सा रुषिता देवी सम्यक्कृत्वा विनिश्चयम् ॥ ५ ॥
संविवेशाबला भूमौ निवेश्य भ्रुकुटिं मुखे ।

तदनन्तर रोषमें भरी हुई देवी कैकेयी अपने कर्तव्यका भलीभाँति निश्चय कर मुखमण्डलमें स्थित भौंहोंको टेढ़ी करके धरतीपर सो गयी। और क्या करती अबला ही तो थी ॥ ५½ ॥

ततश्चित्राणि माल्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ६ ॥
अपविद्धानि कैकेय्या तानि भूमिं प्रपेदिरे ।

तदनन्तर उस केकयराजकुमारीने अपने विचित्र पुष्पहारों और दिव्य आभूषणोंको उतारकर फेंक दिया। वे सारे आभूषण धरतीपर यत्र-तत्र पड़े थे ॥ ६½ ॥

तया तान्यपविद्धानि माल्यान्याभरणानि च ॥ ७ ॥
अशोभयन्त वसुधां नक्षत्राणि यथा नभः ।

जैसे छिटके हुए तारे आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार फेंके हुए वे पुष्पहार और आभूषण वहाँ भूमिकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ७½ ॥

क्रोधागारे च पतिता सा बभौ मलिनाम्बरा ॥ ८ ॥
एकवेणीं दृढां बद्ध्वा गतसत्त्वेव किंनरी ।

मलिन वस्त्र पहनकर और सारे केशोंको दृढ़तापूर्वक एक ही वेणीमें बाँधकर कोपभवनमें पड़ी हुई कैकेयी बलहीन अथवा अचेत हुई किन्नरीके समान जान पड़ती थी ॥८½॥

आज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम् ॥ ९ ॥
उपस्थानमनुज्ञाप्य प्रविवेश निवेशनम् ।

उधर महाराज दशरथ मन्त्री आदिको श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारीके लिये आज्ञा दे सबको यथासमय उपस्थित होनेके लिये कहकर रनिवासमें गये ॥ ९½ ॥

अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान् ॥ १० ॥
प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी ।

उन्होंने सोचा—आज ही श्रीरामके अभिषेककी बात प्रसिद्ध की गयी है, इसलिये यह समाचार अभी किसी रानीको नहीं मालूम हुआ होगा; ऐसा विचारकर जितेन्द्रिय

राजा दशरथने अपनी प्यारी रानीको यह प्रिय-संवाद सुनानेके लिये अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ १०½ ॥

स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः ॥ ११ ॥
पाण्डुराभ्रमिवाकाशं राहुयुक्तं निशाकरः ।

उन महायशस्वी नरेशने पहले कैकेयीके श्रेष्ठ भवनमें प्रवेश किया, मानो श्वेत बादलोंसे युक्त राहुयुक्त आकाशमें चन्द्रमाने पदार्पण किया हो ॥ ११½ ॥

शुकबर्हिसमायुक्तं क्रौञ्चहंसरुतायुतम् ॥ १२ ॥
वादित्ररवसंघुष्टं कुब्जावामनिकायुतम् ।
लतागृहैश्चित्रगृहैश्चम्पकाशोकशोभितैः ॥ १३ ॥

उस भवनमें तोते, मोर, क्रौञ्च और हंस आदि पक्षी कलरव कर रहे थे, वहाँ वाद्योंका मधुर घोष गूँज रहा था, बहुत-सी कुब्जा और बौनी दासियाँ भरी हुई थीं, चम्पा और अशोकसे सुशोभित बहुत-से लताभवन और चित्रमन्दिर उस महलकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १२-१३ ॥

दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिरुपशोभितम् ॥ १४ ॥

हाथीदाँत, चाँदी और सोनेकी बनी हुई वेदियोंसे संयुक्त उस भवनको नित्य फूलने-फलनेवाले वृक्ष और बहुत-सी बावड़ियाँ सुशोभित कर रही थीं ॥ १४ ॥

दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः ।
विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥
उपपन्नं महार्हैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम् ।

उसमें हाथीदाँत, चाँदी और सोनेके बने हुए उत्तम सिंहासन रखे गये थे । नाना प्रकारके अन्न, पान और भाँति-भाँतिके भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंसे वह भवन भरा-पूरा था । बहुमूल्य आभूषणोंसे सम्पन्न कैकेयीका वह भवन स्वर्गके समान शोभा पा रहा था ॥ १५½ ॥

स प्रविश्य महाराजः स्वमन्तःपुरमृद्धिमत् ॥ १६ ॥
न ददर्श स्त्रियं राजा कैकेयीं शयनोत्तमे ।

अपने उस समृद्धिशाली अन्तःपुरमें प्रवेश करके महाराज राजा दशरथने वहाँकी उत्तम शय्यापर रानी कैकेयीको नहीं देखा ॥ १६½ ॥

स कामबलसंयुक्तो रत्यर्थी मनुजाधिपः ॥ १७ ॥
अपश्यन् दयितां भार्यां पप्रच्छ विषसाद च ।

कामबलसे संयुक्त वे नरेश रानीकी प्रसन्नता बढ़ानेकी अभिलाषासे भीतर गये थे । वहाँ अपनी प्यारी पत्नीको न देखकर उनके मनमें बड़ा विषाद हुआ और वे उनके विषयमें पूछ-ताछ करने लगे ॥ १७½ ॥

नहि तस्य पुरा देवी तां वेलामत्यवर्तत ॥ १८ ॥
न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन ।
ततो गृहगतो राजा कैकेयीं पर्यपृच्छत ॥ १९ ॥
यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपण्डिताम् ।

इससे पहले रानी कैकेयी राजाके आगमनकी उस वेलामें कहीं अन्यत्र नहीं जाती थीं, राजाने कभी सूने भवनमें प्रवेश नहीं किया था, इसीलिये वे घरमें आकर कैकेयीके बारेमें पूछने लगे । उन्हें यह मालूम नहीं था कि वह मूर्खा कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहती है, अतः उन्होंने पहलेकी ही भाँति प्रतिहारीसे उसके विषयमें पूछा ॥ १८-१९½ ॥

प्रतिहारी त्वथोवाच संत्रस्ता तु कृताञ्जलिः ॥ २० ॥
देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता ।

प्रतिहारी बहुत डरी हुई थी । उसने हाथ जोड़कर कहा—'देव ! देवी कैकेयी अत्यन्त कुपित हो कोपभवनकी ओर दौड़ी गयी हैं' ॥ २०½ ॥

प्रतीहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः ॥ २१ ॥
विषसाद पुनर्भूयो लुलितव्याकुलेन्द्रियः ।

प्रतिहारीकी यह बात सुनकर राजाका मन बहुत उदास हो गया, उनकी इन्द्रियाँ चञ्चल एवं व्याकुल हो उठीं और वे पुनः अधिक विषाद करने लगे ॥ २१½ ॥

तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथोचिताम् ॥ २२ ॥
प्रतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः ।

कोपभवनमें वह भूमिपर पड़ी थी और इस तरह लेटी हुई थी, जो उसके लिये योग्य नहीं था । राजाने दुःखके कारण संतप्त-से होकर उसे इस अवस्थामें देखा ॥ २२½ ॥

स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २३ ॥
अपापः पापसंकल्पां ददर्श धरणीतले ।
लतामिव विनिष्कृत्तां पतितां देवतामिव ॥ २४ ॥

राजा बूढ़े थे और उनकी वह पत्नी तरुणी थी, अतः वे उसे अपने प्राणोंसे भी बढ़कर मानते थे । राजाके मनमें कोई पाप नहीं था; परंतु कैकेयी अपने मनमें पापपूर्ण संकल्प लिये हुए थी । उन्होंने उसे कटी हुई लताकी भाँति पृथ्वीपर पड़ी देखा—मानो कोई देवाङ्गना स्वर्गसे भूतलपर गिर पड़ी हो ॥ २३-२४ ॥

किंनरीमिव निर्धूतां च्युतामप्सरसं यथा ।
मायामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम् ॥ २५ ॥

वह स्वर्गभ्रष्ट किन्नरी, देवलोकसे च्युत हुई अप्सरा, लक्ष्यभ्रष्ट माया और जालमें बँधी हुई हरिणीके समान जान पड़ती थी ॥ २५ ॥

करेणुमिव दिग्धेन विद्धां मृगयुना वने ।
महागज इवारण्ये स्नेहात् परमदुःखिताम् ॥ २६ ॥
परिमृज्य च पाणिभ्यामभिसंत्रस्तचेतनः ।
कामी कमलपत्राक्षीमुवाच वनितामिदम् ॥ २७ ॥

जैसे कोई महान् गजराज वनमें व्याधके द्वारा विषलिप्त बाणसे विद्ध होकर गिरी हुई अत्यन्त दुःखित हथिनीका स्नेह-वश स्पर्श करता है, उसी प्रकार कामी राजा दशरथने महान् दुःखमें पड़ी हुई कमलनयनी भार्या कैकेयीका स्नेहपूर्वक दोनों हाथोंसे स्पर्श किया। उस समय उनके मनमें सब ओरसे यह भय समा गया था कि न जाने यह क्या कहेगी और क्या करेगी? वे उसके अङ्गोंपर हाथ फेरते हुए उससे इस प्रकार बोले—॥ २६-२७ ॥

न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम्।
देवि केनाभियुक्तासि केन वासि विमानिता ॥ २८ ॥

'देवि! तुम्हारा क्रोध मुझपर है, ऐसा तो मुझे विश्वास नहीं होता। फिर किसने तुम्हारा तिरस्कार किया है? किसके द्वारा तुम्हारी निन्दा की गयी है? ॥ २८ ॥

यदिदं मम दुःखाय शेषे कल्याणि पांसुषु।
भूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि ॥ २९ ॥
भूतोपहतचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनि।

'कल्याणि! तुम जो इस तरह मुझे दुःख देनेके लिये धूलमें लोट रही हो, इसका क्या कारण है? मेरे चित्तको मथ डालनेवाली सुन्दरी! मेरे मनमें तो सदा तुम्हारे कल्याणकी ही भावना रहती है। फिर मेरे रहते हुए तुम किस लिये धरती-पर सो रही हो? जान पड़ता है तुम्हारे चित्तपर किसी पिशाचने अधिकार कर लिया है ॥ २९½ ॥

सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥ ३० ॥
सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनि।

'भामिनि! तुम अपना रोग बताओ। मेरे यहाँ बहुत-से चिकित्साकुशल वैद्य हैं, जिन्हें मैंने सब प्रकारसे संतुष्ट कर रक्खा है, वे तुम्हें सुखी कर देंगे ॥ ३०½ ॥

कस्य वापि प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम् ॥ ३१ ॥
कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम्।

'अथवा कहो, आज किसका प्रिय करना है? या किसने तुम्हारा अप्रिय किया है? तुम्हारे किस उपकारीको आज प्रिय मनोरथ प्राप्त हो अथवा किस अपकारीको अत्यन्त अप्रिय—कठोर दण्ड दिया जाय? ॥ ३१½ ॥

मा रौत्सीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि सम्परिशोषणम् ॥ ३२ ॥
अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम्।
दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान् वाप्यकिंचनः ॥ ३३ ॥

'देवि! तुम न रोओ, अपनी देहको न सुखाओ; आज तुम्हारी इच्छाके अनुसार किस अवध्यका वध किया जाय? अथवा किस प्राणदण्ड पाने योग्य अपराधीको भी मुक्त कर दिया जाय? किस दरिद्रको धनवान् और किस धनवान्को कंगाल बना दिया जाय? ॥ ३२-३३ ॥

अहं च हि मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः।
न ते कंचिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥ ३४ ॥
आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसि स्थितम्।

'मैं और मेरे सभी सेवक तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं। तुम्हारे किसी भी मनोरथको मैं भंग नहीं कर सकता—उसे पूरा करके ही रहूँगा, चाहे उसके लिये मुझे अपने प्राण ही क्यों न देने पड़ें; अतः तुम्हारे मनमें जो कुछ हो, उसे स्पष्ट कहो ॥ ३४½ ॥

बलमात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ॥ ३५ ॥
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे।

'अपने बलको जानते हुए भी तुम्हें मुझपर संदेह नहीं करना चाहिये। मैं अपने सत्कर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ, जिससे तुम्हें प्रसन्नता हो, वही करूँगा ॥ ३५½ ॥

यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुंधरा ॥ ३६ ॥
द्राविडाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः।
वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः ॥ ३७ ॥

'जहाँतक सूर्यका चक्र घूमता है, वहाँतक सारी पृथ्वी मेरे अधिकारमें है। द्रविड, सिन्धु-सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिण भारतके सारे प्रदेश तथा अङ्ग, वङ्ग, मगध, मत्स्य, काशी और कोसल—इन सभी समृद्धिशाली देशोंपर मेरा आधिपत्य है ॥

तत्र जातं बहु द्रव्यं धनधान्यमजाविकम्।
ततो वृणीष्व कैकेयि यद् यत् त्वं मनसेच्छसि ॥ ३८ ॥

'केकयराजनन्दिनि! उनमें पैदा होनेवाले भाँति-भाँतिके द्रव्य, धन-धान्य और बकरी-भेड़ आदि जो भी तुम मनसे लेना चाहती हो, वह मुझसे माँग लो ॥ ३८ ॥

किमायासेन ते भीरु उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शोभने।
तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम्।
तत् ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिव रश्मिवान् ॥ ३९ ॥

'भीरु! इतना क्लेश उठाने—प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है? शोभने! उठो, उठो। कैकेयि! ठीक-ठीक बताओ, तुम्हें किससे कौन-सा भय प्राप्त हुआ है? जैसे अंशुमाली सूर्य कुहरा दूर कर देते हैं, उसी प्रकार मैं तुम्हारे भयका सर्वथा निवारण कर दूँगा' ॥ ३९ ॥

तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम्।
परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे ॥ ४० ॥

राजाके ऐसा कहनेपर कैकेयीको कुछ सान्त्वना मिली। अब उसे अपने स्वामीसे वह अप्रिय बात कहनेकी इच्छा हुई। उसने पतिको और अधिक पीड़ा देनेकी तैयारी की ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

कैकेयीका राजाको प्रतिज्ञाबद्ध करके उन्हें पहलेके दिये हुए दो वरोंका स्मरण दिलाकर भरतके लिये अभिषेक और रामके लिये चौदह वर्षोंका वनवास माँगना

तं मन्मथशरैर्विद्धं कामवेगवशानुगम्।
उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणं वचः॥ १॥

भूपाल दशरथ कामदेवके बाणोंसे पीड़ित तथा कामवेगके वशीभूत हो उसीका अनुसरण कर रहे थे। उनसे कैकेयीने यह कठोर वचन कहा—॥ १॥

नास्मि विप्रकृता देव केनचिन्नावमानिता।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तमिच्छामि त्वया कृतम्॥२॥

'देव! न तो किसीने मेरा अपकार किया है और न किसीके द्वारा मैं अपमानित या निन्दित ही हुई हूँ। मेरा कोई एक अभिप्राय (मनोरथ) है और मैं आपके द्वारा उसकी पूर्ति चाहती हूँ॥ २॥

प्रतिज्ञां प्रतिजानीष्व यदि त्वं कर्तुमिच्छसि।
अथ तद् व्याहरिष्यामि यथाभिप्रार्थितं मया॥ ३॥

'यदि आप उसे पूर्ण करना चाहते हों तो प्रतिज्ञा कीजिये। इसके बाद मैं अपना वास्तविक अभिप्राय आपसे कहूँगी'॥ ३॥

तामुवाच महाराजः कैकेयीमीषदुत्स्मयः।
कामी हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु भुवि स्थिताम्॥ ४॥

महाराज दशरथ कामके अधीन हो रहे थे। वे कैकेयीकी बात सुनकर किंचित् मुस्कराये और पृथ्वीपर पड़ी हुई उस देवीके केशोंको हाथसे पकड़कर—उसके सिरको अपनी गोदमें रखकर उससे इस प्रकार बोले—॥ ४॥

अवलिप्ते न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम।
मनुजो मनुजव्याघ्राद् रामादन्यो न विद्यते॥ ५॥

'अपने सौभाग्यपर गर्व करनेवाली कैकेयी! क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि नरश्रेष्ठ श्रीरामके अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो मुझे तुमसे अधिक प्रिय हो॥ ५॥

तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना।
शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेप्सितम्॥ ६॥

'जो प्राणोंके द्वारा भी आराधनीय हैं और जिन्हें जीतना किसीके लिये भी असम्भव है, उन प्रमुख वीर महात्मा श्रीरामकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारी कामना पूर्ण होगी; अतः तुम्हारे मनकी जो इच्छा हो उसे बताओ॥ ६॥

यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवे तमहं ध्रुवम्।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्॥ ७॥

'कैकेयि! जिन्हें दो घड़ी भी न देखनेपर निश्चय ही मैं जीवित नहीं रह सकता, उन श्रीरामकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम जो कहोगी, उसे पूर्ण करूँगा॥ ७॥

आत्मना चात्मजैश्चान्यैर्वृणे यं मनुजर्षभम्।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्॥ ८॥

'केकयनन्दिनि! अपने तथा अपने दूसरे पुत्रोंको निछावर करके भी मैं जिन नरश्रेष्ठ श्रीरामका वरण करनेको उद्यत हूँ, उन्हींकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारी कही हुई बात पूरी करूँगा॥ ८॥

भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्योद्धरस्व मे।
एतत् समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत् साधु मन्यसे॥ ९॥

'भद्रे! केकयराजकुमारी! मेरा यह हृदय भी तुम्हारे वचनोंकी पूर्तिके लिये तत्पर है। ऐसा सोचकर तुम अपनी इच्छा व्यक्त करके इस दुःखसे मेरा उद्धार करो। श्रीराम सबको अधिक प्रिय हैं—इस बातपर दृष्टिपात करके तुम्हें जो अच्छा जान पड़े, वह कहो॥ ९॥

बलमात्मनि पश्यन्ती न विशङ्कितुमर्हसि।
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे॥ १०॥

'अपने बलको देखते हुए भी तुम्हें मुझपर शङ्का नहीं करनी चाहिये। मैं अपने सत्कर्मोंकी शपथ खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हारा प्रिय कार्य अवश्य सिद्ध करूँगा'॥१०॥

सा तदर्थमना देवी तमभिप्रायमागतम्।
निर्माध्यस्थ्याच्च हर्षाच्च बभाषे दुर्वचं वचः॥ ११॥

रानी कैकेयीका मन स्वार्थकी सिद्धिमें ही लगा हुआ था। उसके हृदयमें भरतके प्रति पक्षपात था और राजाको अपने वशमें देखकर हर्ष हो रहा था; अतः यह सोचकर कि अब मेरे लिये अपना मतलब साधनेका अवसर आ गया है, वह राजासे ऐसी बात बोली, जिसे मुँहसे निकालना (शत्रुके लिये भी) कठिन है॥ ११॥

तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमात्मनः।
व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम्॥ १२॥

राजाके उस शपथयुक्त वचनसे उसको बड़ा हर्ष हुआ था। उसने अपने उस अभिप्रायको जो पास आये हुए यमराजके समान अत्यन्त भयंकर था, इन शब्दोंमें व्यक्त किया—॥ १२॥

यथा क्रमेण शपसे वरं मम ददासि च।
तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद् देवाः सेन्द्रपुरोगमाः॥ १३॥

'राजन्! आप जिस तरह क्रमशः शपथ खाकर

मुझे वर देनेको उद्यत हुए हैं, उसे इन्द्र आदि तैंतीस देवता सुन लें ॥ १३ ॥

चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः।
जगच्च पृथिवी चेयं सगन्धर्वाः सराक्षसाः ॥ १४ ॥
निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः।
यानि चान्यानि भूतानि जानीयुर्भाषितं तव ॥ १५ ॥

'चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, ग्रह, रात, दिन, दिशा, जगत्, यह पृथ्वी, गन्धर्व, राक्षस, रातमें विचरनेवाले प्राणी, घरोंमें रहनेवाले गृहदेवता तथा इनके अतिरिक्त भी जितने प्राणी हों, वे सब आपके कथनको जान लें—आपकी बातोंके साक्षी बनें ॥ १४-१५ ॥

सत्यसंधो महातेजा धर्मज्ञः सत्यवाक्शुचिः।
वरं मम ददात्येष सर्वे शृण्वन्तु दैवताः ॥ १६ ॥

'सब देवता सुनें ! महातेजस्वी, सत्यप्रतिज्ञ, धर्मके ज्ञाता, सत्यवादी तथा शुद्ध आचार-विचारवाले ये महाराज मुझे वर दे रहे हैं' ॥ १६ ॥

इति देवी महेष्वासं परिगृह्याभिशस्य च।
ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार काममोहित होकर वर देनेको उद्यत हुए महाधनुर्धर राजा दशरथको अपनी मुट्ठीमें करके देवी कैकेयीने पहले उनकी प्रशंसा की; फिर इस प्रकार कहा—॥ १७ ॥

स्मर राजन् पुरा वृत्तं तस्मिन् देवासुरे रणे।
तत्र त्वां च्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥ १८ ॥

'राजन् ! उस पुरानी बातको याद कीजिये, जब कि देवासुरसंग्राम हो रहा था। वहाँ शत्रुने आपको घायल करके गिरा दिया था, केवल प्राण नहीं लिये थे ॥ १८ ॥

तत्र चापि मया देव यत् त्वं समभिरक्षितः।
जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ ॥ १९ ॥

'देव ! उस युद्धस्थलमें सारी रात जागकर अनेक प्रकारके प्रयत्न करके जो मैंने आपके जीवनकी रक्षा की थी उससे संतुष्ट होकर आपने मुझे दो वर दिये थे ॥ १९ ॥

तौ दत्तौ च वरौ देव निक्षेपौ मृगयाम्यहम्।
तवैव पृथिवीपाल सकाशे रघुनन्दन ॥ २० ॥

'देव ! पृथ्वीपाल रघुनन्दन ! आपके दिये हुए वे दोनों वर मैंने धरोहरके रूपमें आपके ही पास रख दिये थे। आज इस समय उन्हींकी मैं खोज करती हूँ ॥ २० ॥

तत् प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद् दास्यसि मे वरम्।
अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता ॥ २१ ॥

'इस प्रकार धर्मतः प्रतिज्ञा करके यदि आप मेरे उन वरोंको नहीं देंगे तो मैं अपनेको आपके द्वारा अपमानित हुई समझकर आज ही प्राणोंका परित्याग कर दूँगी' ॥ २१ ॥

वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशे कृतः।
प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः ॥ २२ ॥

जैसे मृग बहेलियेकी वाणीमात्रसे अपने ही विनाशके लिये उसके जालमें फँस जाता है, उसी प्रकार कैकेयीके वशीभूत हुए राजा दशरथ उस समय पूर्वकालके वरदान-वाक्यका स्मरण करानेमात्रसे अपने ही विनाशके लिये प्रतिज्ञाके बन्धनमें बँध गये ॥ २२ ॥

ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम्।
वरौ देयौ त्वया देव तदा दत्तौ महीपते ॥ २३ ॥
तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि शृणु मे वचः।
अभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः ॥ २४ ॥
अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम्।

तदनन्तर कैकेयीने काममोहित होकर वर देनेके लिये उद्यत हुए राजासे इस प्रकार कहा—'देव ! पृथ्वीनाथ ! उन दिनों आपने जो दो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उन्हें अब मुझे देना चाहिये। उन दोनों वरोंको मैं अभी बताऊँगी-आप मेरी बात सुनिये—यह जो श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी की गयी है, इसी अभिषेक-सामग्रीद्वारा मेरे पुत्र भरतका अभिषेक किया जाय ॥ २३-२४½ ॥

यो द्वितीयो वरो देव दत्तः प्रीतेन मे त्वया ॥ २५ ॥
तदा देवासुरे युद्धे तस्य कालोऽयमागतः।

'देव ! आपने उस समय देवासुरसंग्राममें प्रसन्न होकर मेरे लिये जो दूसरा वर दिया था, उसे प्राप्त करनेका यह समय भी अभी आया है ॥ २५½ ॥

नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ २६ ॥
चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः।
भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ॥ २७ ॥

'धीर स्वभाववाले श्रीराम तपस्वीके वेशमें वल्कल तथा मृगचर्म धारण करके चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें जाकर रहें। भरतको आज निष्कण्टक युवराजपद प्राप्त हो जाय ॥

एष मे परमः कामो दत्तमेव वरं वृणे।
अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वने ॥ २८ ॥

'यही मेरी सर्वश्रेष्ठ कामना है। मैं आपसे पहलेका दिया हुआ वर ही माँगती हूँ। आप ऐसी व्यवस्था करें, जिससे मैं आज ही श्रीरामको वनकी ओर जाते देखूँ ॥ २८ ॥

स राजराजो भव सत्यसंगरः
कुलं च शीलं च हि जन्म रक्ष च।
परत्र वासे हि वदन्त्यनुत्तमं
तपोधनाः सत्यवचो हितं नृणाम् ॥ २९ ॥

'आप राजाओंके राजा हैं; अतः सत्यप्रतिज्ञ बनिये और

उस सत्यके द्वारा अपने कुल, शील तथा जन्मकी रक्षा कीजिये। तपस्वी पुरुष कहते हैं कि सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ धर्म है। वह परलोकमें निवास होनेपर मनुष्योंके लिये परम कल्याणकारी होता है ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

महाराज दशरथकी चिन्ता, विलाप, कैकेयीको फटकारना, समझाना और उससे वैसा वर न माँगनेके लिये अनुरोध करना

ततः श्रुत्वा महाराजः कैकेय्या दारुणं वचः।
चिन्तामभिसमापेदे मुहूर्तं प्रतताप च ॥ १ ॥

कैकेयीका यह कठोर वचन सुनकर महाराज दशरथको बड़ी चिन्ता हुई। वे एक मुहूर्ततक अत्यन्त संताप करते रहे ॥ १ ॥

किं नु मेऽयं दिवास्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम।
अनुभूतोपसर्गो वा मनसो वाप्युपद्रवः ॥ २ ॥

उन्होंने सोचा—'क्या दिनमें ही यह मुझे स्वप्न दिखायी दे रहा है? अथवा मेरे चित्तका मोह है? या किसी भूत (ग्रह आदि) के आवेशसे चित्तमें विकलता आ गयी है? या आधि-व्याधिके कारण यह कोई मनका ही उपद्रव है'? ॥२॥

इति संचिन्त्य तद् राजा नाध्यगच्छत् तदासुखम्।
प्रतिलभ्य ततः संज्ञां कैकेयीवाक्यतापितः ॥ ३ ॥

यही सोचते हुए उन्हें अपने भ्रमके कारणका पता नहीं लगा। उस समय राजाको मूर्च्छित कर देनेवाला महान् दुःख प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् होशमें आनेपर कैकेयीकी बातको याद करके उन्हें पुनः संताप होने लगा ॥ ३ ॥

व्यथितो विक्लवश्चैव व्याघ्रीं दृष्ट्वा यथा मृगः।
असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन् ॥ ४ ॥
मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः।

जैसे किसी बाघिनको देखकर मृग व्यथित हो जाता है, उसी प्रकार वे नरेश कैकेयीको देखकर पीड़ित एवं व्याकुल हो उठे। बिस्तररहित खाली भूमिपर बैठे हुए राजा लंबी साँस खींचने लगे, मानो कोई महाविषैला सर्प किसी मण्डलमें मन्त्रोंद्वारा अवरुद्ध हो गया हो ॥ ४½ ॥

अहो धिगिति सामर्षो वाचमुक्त्वा नराधिपः ॥ ५ ॥
मोहमापेदिवान् भूयः शोकोपहतचेतनः।

राजा दशरथ रोषमें भरकर 'अहो! धिक्कार है' यह कहकर पुनः मूर्च्छित हो गये। शोकके कारण उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी ॥ ५½ ॥

चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः ॥ ६ ॥
कैकेयीमब्रवीत् क्रुद्धो निर्दहन्निव तेजसा।

बहुत देरके बाद जब उन्हें फिर चेत हुआ, तब वे नरेश अत्यन्त दुखी होकर कैकेयीको अपने तेजसे दग्ध-सी करते हुए क्रोधपूर्वक उससे बोले— ॥ ६½ ॥

नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि ॥ ७ ॥
किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयापि वा।

'दयाहीन दुराचारिणी कैकेयि! तू इस कुलका विनाश करनेवाली डाइन है। पापिनि! बता, मैंने अथवा श्रीरामने तेरा क्या बिगाड़ा है? ॥ ७½ ॥

सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघवः ॥ ८ ॥
तस्यैवं त्वमनर्थाय किंनिमित्तमिहोद्यता।

'श्रीरामचन्द्र तो तेरे साथ सदा सगी माताका-सा बर्ताव करते आये हैं; फिर तू किस लिये उनका इस तरह अनिष्ट करनेपर उतारू हो गयी है ॥ ८½ ॥

त्वं मयाऽऽत्मविनाशाय भवनं स्वं निवेशिता ॥ ९ ॥
अविज्ञानान्नृपसुता व्याला तीक्ष्णविषा यथा।

'मालूम होता है—मैंने अपने विनाशके लिये ही तुझे अपने घरमें लाकर रखा था। मैं नहीं जानता था कि तू राजकन्याके रूपमें तीखे विषवाली नागिन है ॥ ९½ ॥

जीवलोको यदा सर्वो रामस्याह गुणस्तवम् ॥ १० ॥
अपराधं कमुद्दिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम्।

'जब सारा जीव-जगत् श्रीरामके गुणोंकी प्रशंसा करता है, तब मैं किस अपराधके कारण अपने उस प्यारे पुत्रको त्याग दूँ? ॥ १०½ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च त्यजेयमपि वा श्रियम् ॥ ११ ॥
जीवितं चात्मनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम्।

'मैं कौसल्या और सुमित्राको भी छोड़ सकता हूँ, राजलक्ष्मीका भी परित्याग कर सकता हूँ, परंतु अपने प्राणस्वरूप पितृभक्त श्रीरामको नहीं छोड़ सकता ॥ ११½ ॥

परा भवति मे प्रीतिर्दृष्ट्वा तनयमग्रजम् ॥ १२ ॥
अपश्यतस्तु मे रामं नष्टं भवति चेतनम्।

'अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको देखते ही मेरे हृदयमें परम

प्रेम उमड़ आता है; परंतु जब मैं श्रीरामको नहीं देखता हूँ, तब मेरी चेतना नष्ट होने लगती है ॥ १२½ ॥

तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना ॥ १३ ॥
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् ।

'सम्भव है सूर्यके बिना यह संसार टिक सके अथवा पानीके बिना खेती उपज सके, परंतु श्रीरामके बिना मेरे शरीरमें प्राण नहीं रह सकते ॥ १३½ ॥

तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये ॥ १४ ॥
अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येष प्रसीद मे ।
किमर्थं चिन्तितं पापे त्वया परमदारुणम् ॥ १५ ॥

'अतः ऐसा वर माँगनेसे कोई लाभ नहीं। पापपूर्ण निश्चयवाली कैकेयि ! तू इस निश्चय अथवा दुराग्रहको त्याग दे। यह लो, मैं तेरे पैरोंपर अपना मस्तक रखता हूँ, मुझपर प्रसन्न हो जा। पापिनि ! तूने ऐसी परम क्रूरतापूर्ण बात किस लिये सोची है ? ॥ १४-१५ ॥

अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये ।
अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति ॥ १६ ॥

'यदि यह जानना चाहती है कि भरत मुझे प्रिय हैं या अप्रिय तो रघुनन्दन भरतके सम्बन्धमें तू पहले जो कुछ कह चुकी है, वह पूर्ण हो अर्थात् तेरे प्रथम वरके अनुसार मैं भरतका राज्याभिषेक स्वीकार करता हूँ ॥ १६ ॥

स मे ज्येष्ठसुतः श्रीमान् धर्मज्येष्ठ इतीव मे ।
तत् त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥ १७ ॥

'तू पहले कहा करती थी कि 'श्रीराम मेरे बड़े बेटे हैं, वे धर्माचरणमें भी सबसे बड़े हैं !' परंतु अब मालूम हुआ कि तू ऊपर-ऊपरसे चिकनी-चुपड़ी बातें किया करती थी और वह बात तूने श्रीरामसे अपनी सेवा करानेके लिये ही कही होगी ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वा शोकसंतप्ता संतापयसि मां भृशम् ।
आविष्टासि गृहे शून्ये सा त्वं परवशं गता ॥ १८ ॥

'आज श्रीरामके अभिषेककी बात सुनकर तू शोकसे संतप्त हो उठी है और मुझे भी बहुत संताप दे रही है; इससे जान पड़ता है कि इस सूने घरमें तुझपर भूत आदिका आवेश हो गया है, अतः तू परवश होकर ऐसी बातें कह रही है ॥ १८ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम् ।
अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः ॥ १९ ॥

'देवि ! न्यायशील इक्ष्वाकुवंशमें यह बड़ा भारी अन्याय आकर उपस्थित हुआ है, जहाँ तेरी बुद्धि इस प्रकार विकृत हो गयी है ॥ १९ ॥

नहि किंचिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम ।
अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधामि ते ॥ २० ॥

'विशाललोचने ! आजसे पहले तूने कभी कोई ऐसा आचरण नहीं किया है, जो अनुचित अथवा मेरे लिये अप्रिय हो; इसीलिये तेरी आजकी बातपर भी मुझे विश्वास नहीं होता है ॥ २० ॥

ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना ।
बहुशो हि स्म बाले त्वं कथाः कथयसे मम ॥ २१ ॥

'तेरे लिये तो श्रीराम भी महात्मा भरतके ही तुल्य हैं। बाले ! तू बहुत बार बातचीतके प्रसंगमें स्वयं ही यह बात मुझसे कहती रही है ॥ २१ ॥

तस्य धर्मात्मनो देवि वने वासं यशस्विनः ।
कथं रोचयसे भीरु नव वर्षाणि पञ्च च ॥ २२ ॥

'भीरु स्वभाववाली देवि ! उन्हीं धर्मात्मा और यशस्वी श्रीरामका चौदह वर्षोंके लिये वनवास तुझे कैसे अच्छा लगता है ? ॥ २२ ॥

अत्यन्तसुकुमारस्य तस्य धर्मे कृतात्मनः ।
कथं रोचयसे वासमरण्ये भृशदारुणे ॥ २३ ॥

'जो अत्यन्त सुकुमार और धर्ममें दृढ़तापूर्वक मन लगाये रखनेवाले हैं, उन्हीं श्रीरामको वनवास देना तुझे कैसे रुचिकर जान पड़ता है ! अहो ! तेरा हृदय बड़ा कठोर है ॥ २३ ॥

रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने ।
तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम् ॥ २४ ॥

'सुन्दर नेत्रोंवाली कैकेयि ! जो सदा तेरी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते हैं, उन नयनाभिराम श्रीरामको देशनिकाला दे देनेकी इच्छा तुझे किसलिये हो रही है ? ॥ २४ ॥

रामो हि भरताद् भूयस्तव शुश्रूषते सदा ।
विशेषं त्वयि तस्मात् तु भरतस्य न लक्षये ॥ २५ ॥

'मैं देखता हूँ, भरतसे अधिक श्रीराम ही सदा तेरी सेवा करते हैं। भरत उनसे अधिक तेरी सेवामें रहते हों, ऐसा मैंने कभी नहीं देखा है ॥ २५ ॥

शुश्रूषां गौरवं चैव प्रमाणं वचनक्रियाम् ।
कस्तु भूयस्तरं कुर्यादन्यत्र पुरुषर्षभात् ॥ २६ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीरामसे बढ़कर दूसरा कौन है, जो गुरुजनोंकी सेवा करने, उन्हें गौरव देने, उनकी बातोंको मान्यता देने और उनकी आज्ञाका तुरंत पालन करनेमें अधिक तत्परता दिखाता हो ॥ २६ ॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम् ।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते ॥ २७ ॥

'मेरे यहाँ कई सहस्र स्त्रियाँ हैं और बहुत-से उपजीवी भृत्यजन हैं; परंतु किसीके मुँहसे श्रीरामके सम्बन्धमें सच्ची या झूठी किसी प्रकारकी शिकायत नहीं सुनी जाती ॥ २७ ॥

सान्त्वयन् सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा ।
गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवासिनः ॥ २

पुरुषसिंह श्रीराम समस्त प्राणियोंको शुद्ध हृदयसे सान्त्वना देते हुए प्रिय-आचरणोंद्वारा राज्यकी समस्त प्रजाओंको अपने वशमें किये रहते हैं ॥ २८ ॥

सत्येन लोकाञ्जयति द्विजान् दानेन राघवः ।
गुरूञ्छुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥ २९ ॥

'वीर श्रीरामचन्द्र अपने सात्त्विक भावसे समस्त लोकोंको, दानके द्वारा द्विजोंको, सेवासे गुरुजनोंको और धनुष-बाणद्वारा युद्धस्थलमें शत्रु-सैनिकोंको जीतकर अपने अधीन कर लेते हैं॥

सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम् ।
विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥ ३० ॥

'सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, विद्या और गुरु-शुश्रूषा—ये सभी सद्गुण श्रीराममें स्थिररूपसे रहते हैं ॥ ३० ॥

तस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि देवोपमे कथम् ।
पापमाशंससे रामे महर्षिसमतेजसि ॥ ३१ ॥

'देवि ! महर्षियोंके समान तेजस्वी उन सीधे-सादे देवतुल्य श्रीरामका तू क्यों अनिष्ट करना चाहती है ? ॥ ३१ ॥

न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः ।
स कथं त्वत्कृते रामं वक्ष्यामि प्रियमप्रियम् ॥ ३२ ॥

'श्रीराम सब लोगोंसे प्रिय बोलते हैं । उन्होंने कभी किसीको अप्रिय वचन कहा हो, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता । ऐसे सर्वप्रिय रामसे मैं तेरे लिये अप्रिय बात कैसे कहूँगा ?॥

क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता ।
अप्यहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम ॥ ३३ ॥

'जिनमें क्षमा, तप, त्याग, सत्य, धर्म, कृतज्ञता और समस्त जीवोंके प्रति दया भरी हुई है, उन श्रीरामके विना मेरी क्या गति होगी ? ॥ ३३ ॥

मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः ।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि ॥ ३४ ॥

'कैकेयि ! मैं बूढ़ा हूँ । मौतके किनारे बैठा हूँ । मेरी अवस्था शोचनीय हो रही है और मैं दीनभावसे तेरे सामने गिड़गिड़ा रहा हूँ । तुझे मुझपर दया करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यत् किंचिदधिगम्यते ।
तत् सर्वं तव दास्यामि मा च त्वं मन्युमाविश ॥ ३५ ॥

'समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर जो कुछ मिल सकता है, वह सब मैं तुझे दे दूँगा, परंतु तू ऐसे दुराग्रहमें न पड़, जो मुझे मौतके मुँहमें ढकेलनेवाला हो ॥ ३५ ॥

अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते ।
शरणं भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशेत् ॥ ३६ ॥

'केकयनन्दिनि ! मैं हाथ जोड़ता हूँ और तेरे पैरों पड़ता हूँ । तू श्रीरामको शरण दे, जिससे यहाँ मुझे पाप न लगे' ॥

इति दुःखाभिसंतप्तं विलपन्तमचेतनम् ।
घूर्णमानं महाराजं शोकेन समभिप्लुतम् ॥ ३७ ॥
पारं शोकार्णवस्याशु प्रार्थयन्तं पुनः पुनः ।
प्रत्युवाचाथ कैकेयी रौद्रा रौद्रतरं वचः ॥ ३८ ॥

महाराज दशरथ इस प्रकार दुःखसे संतप्त होकर विलाप कर रहे थे । उनकी चेतना बार-बार लुप्त हो जाती थी । उनके मस्तिष्कमें चक्कर आ रहा था और वे शोकमग्न हो उस शोकसागरसे शीघ्र पार होनेके लिये बारंबार अनुनय-विनय कर रहे थे, तो भी कैकेयीका हृदय नहीं पिघला । वह और भी भीषण रूप धारण करके अत्यन्त कठोर वाणीमें उन्हें इस प्रकार उत्तर देने लगी—॥ ३७-३८ ॥

यदि दत्त्वा वरौ राजन् पुनः प्रत्यनुतप्यसे ।
धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि ॥ ३९ ॥

'राजन् ! यदि दो वरदान देकर आप फिर उनके लिये पश्चात्ताप करते हैं तो वीर नरेश्वर ! इस भूमण्डलमें आप अपनी धार्मिकताका ढिंढोरा कैसे पीट सकेंगे ? ॥ ३९ ॥

यदा समेता बहवस्त्वया राजर्षयः सह ।
कथयिष्यन्ति धर्मज्ञ तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि ॥ ४० ॥

'धर्मके ज्ञाता महाराज ! जब बहुत-से राजर्षि एकत्र होकर आपके साथ मुझे दिये हुए वरदानके विषयमें बातचीत करेंगे उस समय वहाँ आप उन्हें क्या उत्तर देंगे ? ॥ ४० ॥

यस्याः प्रसादे जीवामि या च मामभ्यपालयत् ।
तस्याः कृता मया मिथ्या कैकेय्या इति वक्ष्यसि ॥ ४१ ॥

'यही कहेंगे न, कि जिसके प्रसादसे मैं जीवित हूँ, जिसने (बहुत बड़े संकटसे) मेरी रक्षा की, उसी कैकेयीको वर देनेके लिये की हुई प्रतिज्ञा मैंने झूठी कर दी ॥ ४१ ॥

किल्बिषं त्वं नरेन्द्राणां करिष्यसि नराधिप ।
यो दत्त्वा वरमद्यैव पुनरन्यानि भाषसे ॥ ४२ ॥

'महाराज ! आज ही वरदान देकर यदि आप फिर उससे विपरीत बात कहेंगे तो अपने कुलके राजाओंके माथे कलंकका टीका लगायेंगे ॥ ४२ ॥

शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ ।
अलर्कश्चक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४३ ॥

'राजा शैब्यने बाज और कबूतरके झगड़ेमें (कबूतरके प्राण बचानेकी प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये) बाज नामक पक्षीको अपने शरीरका मांस काटकर दे दिया था । इसी तरह राजा अलर्कने (एक अंधे ब्राह्मणको) अपने दोनों नेत्रोंका दान करके परम उत्तम गति प्राप्त की थी ॥ ४३ ॥

सागरः समयं कृत्वा न वेलामतिवर्तते ।
समयं मानृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ४४ ॥

'समुद्रने (देवताओंके समक्ष) अपनी नियत सीमाको

न लाँघनेकी प्रतिज्ञा की थी, सो अबतक वह उसका उल्लङ्घन नहीं करता है। आप भी पूर्ववर्ती महापुरुषोंके बर्तावको सदा ध्यानमें रखकर अपनी प्रतिज्ञा झूठी न करें ॥ ४४ ॥

स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च ।
सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते ॥ ४५ ॥

'(परंतु आप मेरी बात क्यों सुनेंगे?) दुर्बुद्धि नरेश! आप तो धर्मको तिलाञ्जलि देकर श्रीरामको राज्यपर अभिषिक्त करके रानी कौसल्याके साथ सदा मौज उड़ाना चाहते हैं ॥ ४५ ॥

भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम् ।
यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४६ ॥

'अब धर्म हो या अधर्म, झूठ हो या सच, जिस बातके लिये आपने मुझसे प्रतिज्ञा कर ली है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः ।
पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ४७ ॥

'यदि श्रीरामका राज्याभिषेक होगा तो मैं आपके सामने आपके देखते-देखते आज ही बहुत-सा विष पीकर मर जाऊँगी ॥ ४७ ॥

एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम् ।
अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम ॥ ४८ ॥

'यदि मैं एक दिन भी राममाता कौसल्याको राजमाता होनेके नाते दूसरे लोगोंसे अपनेको हाथ जोड़वाती देख लूँगी तो उस समय मैं अपने लिये मर जाना ही अच्छा समझूँगी ॥

भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप ।
यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात् ॥ ४९ ॥

'नरेश्वर! मैं आपके सामने अपनी और भरतकी शपथ खाकर कहती हूँ कि श्रीरामको इस देशसे निकाल देनेके सिवा दूसरे किसी वरसे मुझे संतोष नहीं होगा' ॥ ४९ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कैकेयी विरराम ह ।
विलपन्तं च राजानं न प्रतिव्याजहार सा ॥ ५० ॥

इतना कहकर कैकेयी चुप हो गयी। राजा बहुत रोये-गिड़गिड़ाये; किंतु उसने उनकी किसी बातका जवाब नहीं दिया ॥ ५० ॥

श्रुत्वा तु राजा कैकेय्या वाक्यं परमशोभनम् ।
रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च ॥ ५१ ॥
नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्तं व्याकुलेन्द्रियः ।
प्रैक्षतानिमिषो देवीं प्रियामप्रियवादिनीम् ॥ ५२ ॥

'श्रीरामका वनवास हो और भरतका राज्याभिषेक', कैकेयीके मुखसे यह परम अमङ्गलकारी वचन सुनकर राजाकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं। वे एक मुहूर्ततक कैकेयीसे कुछ न बोले। उस अप्रिय वचन बोलनेवाली प्यारी रानीकी ओर केवल एकटक दृष्टिसे देखते रहे ॥ ५१-५२ ॥

तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम् ।
दुःखशोकमयीं श्रुत्वा राजा न सुखितोऽभवत् ॥ ५३ ॥

मनको अप्रिय लगनेवाली कैकेयीकी वह वज्रके समान कठोर तथा दुःख-शोकमयी वाणी सुनकर राजाको बड़ा दुःख हुआ। उनकी सुख-शान्ति छिन गयी ॥ ५३ ॥

स देव्या व्यवसायं च घोरं च शपथं कृतम् ।
ध्यात्वा रामेति निःश्वस्य च्छिन्नस्तरुरिवापतत् ॥ ५४ ॥

देवी कैकेयीके उस घोर निश्चय और किये हुए शपथकी ओर ध्यान जाते ही वे 'हा राम!' कहकर लंबी साँस खींचते हुए कटे वृक्षकी भाँति गिर पड़े ॥ ५४ ॥

नष्टचित्तो यथोन्मत्तो विपरीतो यथातुरः ।
हृततेजा यथा सर्पो बभूव जगतीपतिः ॥ ५५ ॥

उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी। वे उन्मादग्रस्त-से प्रतीत होने लगे। उनकी प्रकृति विपरीत-सी हो गयी। वे रोगी-से जान पड़ते थे। इस प्रकार भूपाल दशरथ मन्त्रसे जिसका तेज हर लिया गया हो उस सर्पके समान निश्चेष्ट हो गये ॥

दीनयाऽऽतुरया वाचा इति होवाच कैकयीम् ।
अनर्थमिममर्थाभं केन त्वमुपदेशिता ॥ ५६ ॥

तदनन्तर उन्होंने दीन और आतुर वाणीमें कैकेयीसे इस प्रकार कहा—'अरी! तुझे अनर्थ ही अर्थ-सा प्रतीत हो रहा है, किसने तुझे इसका उपदेश दिया है? ॥ ५६ ॥

भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे ।
शीलव्यसनमेतत् ते नाभिजानाम्यहं पुरा ॥ ५७ ॥

'जान पड़ता है, तेरा चित्त किसी भूतके आवेशसे दूषित हो गया है। पिशाचग्रस्त नारीकी भाँति मेरे सामने ऐसी बातें कहती हुई तू लज्जित क्यों नहीं होती? मुझे पहले इस बातका पता नहीं था कि तेरा यह कुलाङ्गनोचित शील इस तरह नष्ट हो गया है ॥ ५७ ॥

बालायास्तत् त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत् ।
कुतो वा ते भयं जातं या त्वमेवंविधं वरम् ॥ ५८ ॥
राष्ट्रे भरतमासीनं वृणीषे राघवं वने ।
विरमैतेन भावेन त्वमेतेनानृतेन च ॥ ५९ ॥

'बालावस्थामें जो तेरा शील था, उसे इस समय मैं विपरीत-सा देख रहा हूँ। तुझे किस बातका भय हो गया है जो इस तरहका वर माँगती है! भरत राज्य-सिंहासनपर बैठें और श्रीराम वनमें रहें—यही तू माँग रही है। यह बड़ा असत्य तथा ओछा विचार है। तू अब भी इससे विरत हो जा ॥

यदि भर्तुः प्रियं कार्यं लोकस्य भरतस्य च ।
नृशंसे पापसंकल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणि ॥ ६० ॥

'क्रूर स्वभाव और पापपूर्ण विचारवाली नीच [illegible]!

यदि अपने पतिका, सारे जगत्‌का और भरतका भी प्रिय करना चाहती है तो इस दूषित संकल्पको त्याग दे ॥ ६० ॥

किं नु दुःखमलीकं वा मयि रामे च पश्यसि।
न कथंचिदृते रामाद् भरतो राज्यमावसेत्॥ ६१॥

'तू मुझमें या श्रीराममें कौन-सा दुःखदायक या अप्रिय बर्ताव देख रही है (कि ऐसा नीच कर्म करनेपर उतारू हो गयी है); श्रीरामके विना भरत किसी तरह राज्य लेना स्वीकार नहीं करेंगे ॥ ६१ ॥

रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्।
कथं द्रक्ष्यामि रामस्य वनं गच्छेति भाषिते॥ ६२॥
मुखवर्णं विवर्णं तु यथैवेन्दुमुपप्लुतम्।

'क्योंकि मेरी समझमें धर्मपालनकी दृष्टिसे भरत श्रीरामसे भी बढ़े-चढ़े हैं। श्रीरामसे यह कह देनेपर कि तुम वनको जाओ; जब उनके मुखकी कान्ति राहुग्रस्त चन्द्रमाकी भाँति फीकी पड़ जायगी, उस समय मैं कैसे उनके उस उदास मुखकी ओर देख सकूँगा ॥ ६२½ ॥

तां तु मे सुकृतां बुद्धिं सुहृद्भिः सह निश्चिताम्॥ ६३॥
कथं द्रक्ष्याम्यपावृत्तां परैरिव हतां चमूम्।

'मैंने श्रीरामके अभिषेकका निश्चय सुहृदोंके साथ विचार करके किया है, मेरी यह बुद्धि शुभ कर्ममें प्रवृत्त हुई है; अब मैं इसे शत्रुओंद्वारा पराजित हुई सेनाकी भाँति पलटी हुई कैसे देखूँगा ? ॥ ६३½ ॥

किं मां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्भ्यः समागताः ६४
बालो बतायमैक्ष्वाकश्चिरं राज्यमकारयत्।

'नाना दिशाओंसे आये हुए राजा लोग मुझे लक्ष्य करके खेदपूर्वक कहेंगे कि इस मूढ़ इक्ष्वाकुवंशी राजाने कैसे दीर्घकालतक इस राज्यका पालन किया है ? ॥ ६४½ ॥

यदा हि बहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः॥ ६५॥
परिप्रक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामीह कथं तदा।
... क्लिश्यमानेन पुत्रः प्रव्राजितो मया॥ ६६॥

'जब बहुत-से बहुश्रुत गुणवान् एवं वृद्ध पुरुष आकर मुझसे पूछेंगे कि श्रीराम कहाँ हैं ? तब मैं उनसे कैसे यह कहूँगा कि कैकेयीके दबाव देनेपर मैंने अपने बेटेको घरसे निकाल दिया ॥ ६५-६६ ॥

यदि सत्यं ब्रवीम्येतत् तदसत्यं भविष्यति।
किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते॥ ६७॥
किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम्।

'यदि कहूँ कि श्रीरामको वनवास देकर मैंने सत्यका पालन किया है तो इसके पहले जो उन्हें राज्य देनेकी बात कह चुका हूँ, वह असत्य हो जायगी। यदि राम वनको चले गये तो कौसल्या मुझे क्या कहेगी ? उसका ऐसा महान् अपकार करके मैं उसे क्या उत्तर दूँगा ॥ ६७½ ॥

यदा यदा च कौसल्या दासीव च सखीव च॥ ६८॥
भार्यावद् भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति।
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा॥ ६९॥
न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव।

'हाय ! जिसका पुत्र मुझे सबसे अधिक प्रिय है, वह प्रिय वचन बोलनेवाली कौसल्या जब-जब दासी, सखी, पत्नी, बहिन और माताकी भाँति मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे मेरी सेवामें उपस्थित होती थी, तब-तब उस सत्कार पानेयोग्य देवीका भी मैंने तेरे ही कारण कभी सत्कार नहीं किया ॥ ६८-६९½ ॥

इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं त्वयि॥ ७०॥
अपथ्यव्यञ्जनोपेतं भुक्तमन्नमिवातुरम्।

'तेरे साथ जो मैंने इतना अच्छा बर्ताव किया, वह याद आकर इस समय मुझे उसी प्रकार संताप दे रहा है, जैसे अपथ्य (हानिकारक) व्यञ्जनोंसे युक्त खाया हुआ अन्न किसी रोगीको कष्ट देता है ॥ ७०½ ॥

विप्रकारं च रामस्य सम्प्रयाणं वनस्य च॥ ७१॥
सुमित्रा प्रेक्ष्य वै भीता कथं मे विश्वसिष्यति।

'श्रीरामके अभिषेकका निवारण और उनका वनकी ओर प्रस्थान देखकर निश्चय ही सुमित्रा भयभीत हो जायगी, फिर वह कैसे मेरा विश्वास करेगी ? ॥ ७१½ ॥

कृपणं बत वैदेही श्रोष्यति द्वयमप्रियम्॥ ७२॥
मां च पञ्चत्वमापन्नं रामं च वनमाश्रितम्।

'हाय ! बेचारी सीताको एक ही साथ दो दुःखद एवं अप्रिय समाचार सुनने पड़ेंगे—श्रीरामका वनवास और मेरी मृत्यु ॥ ७२½ ॥

वैदेही बत मे प्राणाञ्शोचन्ती क्षपयिष्यति॥ ७३॥
हीना हिमवतः पार्श्वे किंनरेणेव किंनरी।

'जब वह श्रीरामके लिये शोक करने लगेगी, उस समय मेरे प्राणोंका नाश कर डालेगी—उसका शोक देखकर मेरे प्राण इस शरीरमें नहीं रह सकेंगे। उसकी दशा हिमालयके पार्श्वभागमें अपने स्वामी किन्नरसे बिछुड़ी हुई किन्नरीके समान हो जायगी ॥ ७३½ ॥

नहि राममहं दृष्ट्वा प्रवसन्तं महावने॥ ७४॥
चिरं जीवितुमाशंसे रुदन्तीं चापि मैथिलीम्।
सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि॥ ७५॥

'मैं श्रीरामको विशाल वनमें निवास करते और मिथिलेश-कुमारी सीताको रोती देख अधिक कालतक जीवित रहना नहीं चाहता। ऐसी दशामें तू निश्चय ही विधवा होकर बेटेके साथ अयोध्याका राज्य करना ॥ ७४-७५ ॥

सतीं त्वामहमत्यन्तं व्यवस्याम्यसतीं सतीम्।
रूपिणीं विषसंयुक्तां पीत्वेव मदिरां नरः॥ ७६॥

'ओह ! मैं तुझे अत्यन्त सती-साध्वी समझता था, परंतु तू बड़ी दुष्टा निकली; ठीक उसी तरह जैसे कोई मनुष्य देखनेमें सुन्दर मदिराको पीकर पीछे उसके द्वारा किये गये विकारसे यह समझ पाता है कि इसमें विष मिला हुआ था ॥ ७६ ॥

अनृतैर्बत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे ।
गीतशब्देन संरुध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ॥ ७७ ॥

'अबतक जो तू सान्त्वनापूर्ण मीठे वचन बोलकर मुझे आश्वासन देती हुई बातें किया करती थी, वे तेरी कही हुई सारी बातें झूठी थीं । जैसे व्याध हरिणको मधुर संगीतसे आकृष्ट करके उसे मार डालता है उसी प्रकार तू भी पहले मुझे लुभाकर अब मेरे प्राण ले रही है ॥ ७७ ॥

अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायकं ध्रुवम् ।
विकरिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा ॥ ७८ ॥

'श्रेष्ठ पुरुष निश्चय ही मुझे नीच और एक नारीके मोहमें पड़कर बेटेको बेच देनेवाला कहकर शराबी ब्राह्मणकी भाँति मेरी राह-बाट और गली-कूचोंमें निन्दा करेंगे ॥ ७८ ॥

अहो दुःखमहो कृच्छ्रं यत्र वाचः क्षमे तव ।
दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुरा कृतमिवाशुभम् ॥ ७९ ॥

'अहो ! कितना दुःख है ! कितना कष्ट है !! जहाँ मुझे तेरी ये बातें सहन करनी पड़ती हैं । मानो यह मेरे पूर्वजन्मके किये हुए पापका ही अशुभ फल है, जो मुझपर ऐसा महान् दुःख आ पड़ा ॥ ७९ ॥

चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता ।
अज्ञानादुपसम्पन्ना रज्जुरुद्बन्धनी यथा ॥ ८० ॥

'पापिनि ! मुझ पापीने बहुत दिनोंसे तेरी रक्षा की और अज्ञानवश तुझे गले लगाया; किंतु तू आज मेरे गलेमें पड़ी हुई फाँसीकी रस्सी बन गयी ॥ ८० ॥

रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये ।
बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम् ॥ ८१ ॥

'जैसे बालक एकान्तमें खेलता-खेलता काले नागको हाथमें पकड़ ले, उसी प्रकार मैंने एकान्तमें तेरे साथ क्रीडा करते हुए तेरा आलिङ्गन किया है; परंतु उस समय मुझे यह न सूझा कि तू ही एक दिन मेरी मृत्युका कारण बनेगी ॥ ८१ ॥

तं तु मां जीवलोकोऽयं नूनमाक्रोष्टुमर्हति ।
मया ह्यपितृकः पुत्रः स महात्मा दुरात्मना ॥ ८२ ॥

'हाय ! मुझ दुरात्माने जीतेजी ही अपने महात्मा पुत्रको पितृहीन बना दिया । मुझे यह सारा संसार निश्चय ही धिक्कारेगा—गालियाँ देगा, जो उचित ही होगा ॥ ८२ ॥

बालिशो बत कामात्मा राजा दशरथो भृशम् ।
स्त्रीकृते यः प्रियं पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति ॥ ८३ ॥

'लोग मेरी निन्दा करते हुए कहेंगे कि राजा दशरथ बड़ा ही मूर्ख और कामी है, जो एक स्त्रीको संतुष्ट करनेके लिये अपने प्यारे पुत्रको वनमें भेज रहा है ॥ ८३ ॥

वेदैश्च ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्शितः ।
भोगकाले महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते ॥ ८४ ॥

'हाय ! अबतक तो श्रीराम वेदोंका अध्ययन करने, ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करने तथा अनेकानेक गुरुजनोंकी सेवामें संलग्न रहनेके कारण दुबले होते चले आये हैं । अब जब इनके लिये सुखभोगका समय आया है, तब ये वनमें जाकर महान् कष्टमें पड़ेंगे ॥ ८४ ॥

नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम् ।
स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति ॥ ८५ ॥

'अपने पुत्र श्रीरामसे यदि मैं कह दूँ कि तुम वनको चले जाओ तो वे तुरंत 'बहुत अच्छा' कहकर मेरी आज्ञाको स्वीकार कर लेंगे । मेरे पुत्र राम दूसरी कोई बात कहकर मुझे प्रतिकूल उत्तर नहीं दे सकते ॥ ८५ ॥

यदि मे राघवः कुर्याद् वनं गच्छेति चोदितः ।
प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वत्सः करिष्यति ॥ ८६ ॥

'यदि मेरे वन जानेकी आज्ञा दे देनेपर भी श्रीरामचन्द्र उसके विपरीत करते—वनमें नहीं जाते तो वही मेरे लिये प्रिय कार्य होगा; किंतु मेरा बेटा ऐसा नहीं कर सकता ॥८६॥

राघवे हि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम् ।
मृत्युरक्षमणीयं मां नयिष्यति यमक्षयम् ॥ ८७ ॥

'यदि रघुनन्दन राम वनको चले गये तो सब लोगोंके धिक्कार-पात्र बने हुए मुझ अक्षम्य अपराधीको मृत्यु अवश्य यमलोकमें पहुँचा देगी ॥ ८७ ॥

मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ।
इष्टे मम जने शेषे किं पापं प्रतिपत्स्यसे ॥ ८८ ॥

'यदि नरश्रेष्ठ श्रीरामके वनमें चले जानेपर मेरी मृत्यु हो गयी तो शेष जो मेरे प्रियजन (कौसल्या आदि) यहाँ रहेंगे, उनपर तू कौन-सा अत्याचार करेगी ? ॥ ८८ ॥

कौसल्या मां च रामं च पुत्रौ च यदि हास्यति ।
दुःखान्यसहती देवी मामेवानुगमिष्यति ॥ ८९ ॥

'देवी कौसल्याको यदि मुझसे, श्रीरामसे तथा शेष दोनों पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्नसे बिछोह हो जायगा तो वह इतने बड़े दुःखको सहन नहीं कर सकेगी; अतः मेरे ही पीछे वह भी परलोक सिधार जायगी । (सुमित्राका भी यही हाल होगा) ॥ ८९ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च मां च पुत्रैस्त्रिभिः सह ।
प्रक्षिप्य नरके सा त्वं कैकेयि सुखिता भव ॥ ९० ॥

'कैकेयि ! इस प्रकार कौसल्याको, सुमित्राको और तीनों

पुत्रोंके साथ मुझे भी नरक-तुल्य महान् शोकमें डालकर तू स्वयं सुखी होना ॥ ९० ॥

मया रामेण च त्यक्तं शाश्वतं सत्कृतं गुणैः ।
इक्ष्वाकुकुलमक्षोभ्यमाकुलं पालयिष्यसि ॥ ९१ ॥

अनेकानेक गुणोंसे सत्कृत, शाश्वत तथा क्षोभरहित यह इक्ष्वाकुकुल जब मुझसे और श्रीरामसे परित्यक्त होकर शोकसे व्याकुल हो जायगा, तब उस अवस्थामें तू इसका पालन करेगी ॥ ९१ ॥

प्रियं चेद् भरतस्यैतद् रामप्रव्राजनं भवेत् ।
मा स्म मे भरतः कार्षीत् प्रेतकृत्यं गतायुषः ॥ ९२ ॥

'यदि भरतको भी श्रीरामका यह वनमें भेजा जाना प्रिय लगता हो तो मेरी मृत्युके बाद वे मेरे शरीरका दाह-संस्कार न करें ॥ ९२ ॥

मृते मयि गते रामे वनं पुरुषपुङ्गवे ।
सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ९३ ॥

'पुरुषशिरोमणि श्रीरामके वन-गमनके पश्चात् मेरी मृत्यु हो जानेपर अब विधवा होकर तू बेटेके साथ अयोध्याका राज्य करेगी ॥ ९३ ॥

त्वं राजपुत्रि दैवेन न्यवसो मम वेश्मनि ।
अकीर्तिश्चातुला लोके ध्रुवं परिभवश्च मे ॥
सर्वभूतेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा ॥ ९४ ॥

'राजकुमारी ! तू मेरे दुर्भाग्यसे मेरे घरमें आकर बस गयी । तेरे कारण संसारमें पापाचारीकी भाँति मुझे निश्चय ही अनुपम अपयश, तिरस्कार और समस्त प्राणियोंसे अवहेलना प्राप्त होगी ॥ ९४ ॥

कथं रथैर्विभुर्यात्वा गजाश्वैश्च मुहुर्मुहुः ।
पद्भ्यां रामो महारण्ये वत्सो मे विचरिष्यति ॥ ९५ ॥

'मेरे पुत्र सामर्थ्यशाली राम बारंबार रथों, हाथियों और घोड़ोंसे यात्रा किया करते थे । वे ही अब उस विशाल वनमें पैदल कैसे चलेंगे ? ॥ ९५ ॥

यस्य चाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः ।
अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रसन्नाः पानभोजनम् ॥ ९६ ॥
स कथं नु कषायाणि तिक्तानि कटुकानि च ।
भक्षयन् वन्यमाहारं सुतो मे वर्तयिष्यति ॥ ९७ ॥

'भोजनके समय जिनके लिये कुण्डलधारी रसोइये प्रसन्न होकर 'पहले मैं बनाऊँगा' ऐसा कहते हुए खाने-पीनेकी वस्तुएँ तैयार करते थे, वे ही मेरे पुत्र रामचन्द्र वनमें कसैले, तिक्त और कड़वे फलोंका आहार करते हुए किस तरह निर्वाह करेंगे ॥ ९६-९७ ॥

महार्हवस्त्रसम्बद्धो भूत्वा चिरसुखोचितः ।
काषायपरिधानस्तु कथं रामो भविष्यति ॥ ९८ ॥

'जो सदा बहुमूल्य वस्त्र पहना करते थे और जिनका चिरकालसे सुखमें ही समय बीता है, वे ही श्रीराम वनमें गेरुए वस्त्र पहनकर कैसे रह सकेंगे ? ॥ ९८ ॥

कस्येदं दारुणं वाक्यमेवंविधमपीरितम् ।
रामस्यारण्यगमनं भरतस्याभिषेचनम् ॥ ९९ ॥

'श्रीरामका वनगमन और भरतका अभिषेक—ऐसा कठोर वाक्य तूने किसकी प्रेरणासे अपने मुँहसे निकाला है ॥ ९९ ॥

धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपरायणाः ।
न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम् ॥ १०० ॥

'स्त्रियोंको धिक्कार है; क्योंकि वे शठ और स्वार्थपरायण होती हैं; परंतु मैं सारी स्त्रियोंके लिये ऐसा नहीं कह सकता, केवल भरतकी माताकी ही निन्दा करता हूँ ॥ १०० ॥

अनर्थभावेऽर्थपरे नृशंसे
ममानुतापाय निवेशितासि ।
किमप्रियं पश्यसि मन्निमित्तं
हितानुकारिण्यथवापि रामे ॥ १०१ ॥

'अनर्थमें ही अर्थबुद्धि रखनेवाली क्रूर कैकेयि ! तू मुझे संताप देनेके लिये ही इस घरमें बसायी गयी है । अरी ! मेरे कारण तू अपना कौन-सा अप्रिय होता देख रही है ? अथवा सबका निरन्तर हित करनेवाले श्रीराममें ही तुझे कौन-सी बुराई दिखायी देती है ॥ १०१ ॥

परित्यजेयुः पितरोऽपि पुत्रान्
भार्याः पतींश्चापि कृतानुरागाः ।
कृत्स्नं हि सर्वं कुपितं जगत् स्याद्
दृष्ट्वैव रामं व्यसने निमग्नम् ॥ १०२ ॥

'श्रीरामको संकटके समुद्रमें डूबा हुआ देखकर तो पिता अपने पुत्रोंको त्याग देंगे । अनुरागिणी स्त्रियाँ भी अपने पतियोंको त्याग देंगी । इस प्रकार यह सारा जगत् ही कुपित विपरीत व्यवहार करनेवाला हो जायगा ॥ १०२ ॥

अहं पुनर्देवकुमाररूप-
मलंकृतं तं सुतमाव्रजन्तम् ।
नन्दामि पश्यन्निव दर्शनेन
भवामि दृष्ट्वैव पुनर्युवेव ॥ १०३ ॥

'देवकुमारके समान कमनीय रूपवाले अपने पुत्र श्रीरामको जब वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित होकर सामने आते देखता हूँ तो नेत्रोंसे उनकी शोभा निहारकर निहाल हो जाता हूँ । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो मैं फिर जवान हो गया ॥ १०३ ॥

विना हि सूर्येण भवेत् प्रवृत्ति-
रवर्षता वज्रधरेण वापि ।
रामं तु गच्छन्तमितः समीक्ष्य
जीवेन्न कश्चित्त्विति चेतना मे ॥ १०४ ॥

'कदाचित् सूर्यके बिना भी संसारका काम चल जाय, वज्रधारी इन्द्रके वर्षा न करनेपर भी प्राणियोंका जीवन सुरक्षित रह जाय, परंतु रामको यहाँसे वनकी ओर जाते देखकर कोई भी जीवित नहीं रह सकता—मेरी ऐसी धारणा है॥१०४॥

विनाशकामामहितामभित्रा-
मावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम्।
चिरं बताङ्केन धृतासि सर्पी
महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात्॥१०५॥

'अरी! तू मेरा विनाश चाहनेवाली, अहित करनेवाली और शत्रुरूप है। जैसे कोई अपनी ही मृत्युको घरमें स्थान दे दे, उसी प्रकार मैंने तुझे घरमें बसा लिया है। खेदकी बात है कि मैंने मोहवश तुझ महाविषैली नागिनको चिरकालसे अपने अङ्कमें धारण कर रक्खा है; इसीलिये आज मैं मारा गया॥१०५॥

मया च रामेण सलक्ष्मणेन
प्रशास्तु हीनो भरतस्त्वया सह।
पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान्
ममाहितानां च भवाभिहर्षिणी॥१०६॥

'मुझसे, श्रीराम और लक्ष्मणसे हीन होकर भरत समस्त बान्धवोंका विनाश करके तेरे साथ इस नगर तथा राष्ट्रका शासन करें तथा तू मेरे शत्रुओंका हर्ष बढ़ानवाली हो॥ १०६॥

नृशंसवृत्ते व्यसनप्रहारिणि
प्रसह्य वाक्यं यदिहाद्य भाषसे।
न नाम ते तेन मुखात् पतन्त्यधो
विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा॥१०७॥

'क्रूरतापूर्ण बर्ताव करनवाली कैकेयी! तू संकटमें पड़े हुएपर प्रहार कर रही है। अरी! जब तू दुराग्रहपूर्वक आज ऐसी कठोर बातें मुँहसे निकालती है, उस समय तेरे दाँतोंके सैकड़ों टुकड़े होकर मुँहसे नीचे क्यों नहीं गिर जाते?॥१०७॥

न किंचिदाहाहितमप्रियं वचो
न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम्।
कथं तु रामे ह्यभिरामवादिनि
ब्रवीषि दोषान् गुणनित्यसम्मते॥१०८॥

'श्रीराम कभी किसीसे कोई अहितकारक या अप्रिय वचन नहीं कहते हैं। वे कटुवचन बोलना जानते ही नहीं हैं। उनका अपने गुणोंके कारण सदा-सर्वदा सम्मान होता है। उन्हीं मनोहर वचन बोलनेवाले श्रीराममें तू दोष कैसे बता रही है? क्योंकि वनवास उसीको दिया जाता है, जिसके बहुत-से दोष सिद्ध हो चुके हों॥ १०८॥

प्रताम्य वा प्रज्वल वा प्रणश्य वा
सहस्रशो वा स्फुटितां महीं व्रज।
न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं
ममाहितं केकयराजपांसने॥१०९॥

'ओ केकयराजके कुलकी जीती-जागती कलङ्क! तू चाहे ग्लानिमें डूब जा अथवा आगमें जलकर खाक हो जा या विष खाकर प्राण दे दे अथवा पृथ्वीमें हजारों दरारें बनाकर उसीमें समा जा; परंतु मेरा अहित करनेवाली तेरी यह अत्यन्त कठोर बात मैं कदापि नहीं मानूँगा॥ १०९॥

क्षुरोपमां नित्यमसत्प्रियंवदां
प्रदुष्टभावां स्वकुलोपघातिनीम्।
न जीवितुं त्वां विषहेऽमनोरमां
दिधक्षमाणां हृदयं सबन्धनम्॥११०॥

'तू छुरेके समान घात करनेवाली है। बातें तो मीठी-मीठी करती है, परंतु वे सदा झूठी और सद्भावनासे रहित होती हैं। तेरे हृदयका भाव अत्यन्त दूषित है तथा तू अपने कुलका भी नाश करनेवाली है। इतना ही नहीं, तू प्राणों-सहित मेरे हृदयको भी जलाकर भस्म कर डालना चाहती है; इसीलिये मेरे मनको नहीं भाती है। तुझ पापिनीका जीवित रहना मैं नहीं सह सकता॥ ११०॥

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं
विनात्मजेनात्मवतां कुतो रतिः।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि
स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे॥१११॥

'देवि! अपने बेटे श्रीरामके बिना मेरा जीवन नहीं रह सकता, फिर कहाँसे सुख हो सकता है? आत्मज्ञ पुरुषोंको भी अपने पुत्रसे बिछोह हो जानेपर कैसे चैन मिल सकती है? अतः तू मेरा अहित न कर। मैं तेरे पैर छूता हूँ, तू मुझपर प्रसन्न हो जा'॥ १११॥

स भूमिपालो विलपन्ननाथवत्
स्त्रिया गृहीतो हृदयेऽतिमात्रया।
पपात देव्याश्चरणौ प्रसारिता-
वुभावसम्प्राप्य यथाऽऽतुरस्तथा॥११२॥

इस प्रकार महाराज दशरथ मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाली उस हठीली स्त्रीके वशमें पड़कर अनाथकी भाँति विलाप कर रहे थे। वे देवी कैकेयीके फैलाये हुए दोनों चरणोंको छूना चाहते थे; परंतु उन्हें न पाकर बीचमें ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। ठीक उसी तरह, जैसे कोई रोगी किसी वस्तुको छूना चाहता है, किंतु दुर्बलताके कारण वहाँतक न पहुँचकर बीचमें ही अचेत होकर गिर जाता है॥ ११२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वादशः सर्गः॥ १२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १२॥

त्रयोदशः सर्गः

राजाका विलाप और कैकेयीसे अनुनय-विनय

अतदर्हं महाराजं शयानमतथोचितम्।
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात् परिच्युतम्॥ १॥
अनर्थरूपासिद्धार्था ह्यभीता भयदर्शिनी।
पुनराकारयामास तमेव वरमङ्गना॥ २॥

महाराज दशरथ उस अयोग्य और अनुचित अवस्थामें पृथ्वीपर पड़े थे। उस समय वे पुण्य समाप्त होनेपर देवलोकसे भ्रष्ट हुए राजा ययातिके समान जान पड़ते थे। उनकी वैसी दशा देख अनर्थकी साक्षात् मूर्ति कैकेयी, जिसका प्रयोजन अभीतक सिद्ध नहीं हुआ था, जो लोकापवादका भय छोड़ चुकी थी और श्रीरामसे भरतके लिये भय देखती थी, पुनः उसी वरके लिये राजाको सम्बोधित करके कहने लगी—॥ १-२॥

त्वं कत्थसे महाराज सत्यवादी दृढव्रतः।
मम चेदं वरं कस्माद् विधारयितुमिच्छसि॥ ३॥

'महाराज! आप तो डींग मारा करते थे कि मैं बड़ा सत्यवादी और दृढ़प्रतिज्ञ हूँ, फिर आप मेरे इस वरदानको क्यों हजम कर जाना चाहते हैं?' ॥ ३॥

एवमुक्तस्तु कैकेय्या राजा दशरथस्तदा।
प्रत्युवाच ततः क्रुद्धो मुहूर्तं विह्वलन्निव॥ ४॥

कैकेयीके ऐसा कहनेपर राजा दशरथ दो घड़ीतक व्याकुलकी-सी अवस्थामें रहे। तत्पश्चात् कुपित होकर उसे इस प्रकार उत्तर देने लगे—॥ ४॥

मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे।
हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा सुखिनी भव॥ ५॥

'ओ नीच! तू मेरी शत्रु है। नरश्रेष्ठ श्रीरामके वनमें चले जानेपर जब मेरी मृत्यु हो जायगी, उस समय तू सफलमनोरथ होकर सुखसे रहना॥ ५॥

स्वर्गेऽपि खलु रामस्य कुशलं दैवतैरहम्।
प्रत्यादेशादभिहितं धारयिष्ये कथं बत॥ ६॥

'हाय! स्वर्गमें भी जब देवता मुझसे श्रीरामका कुशल-समाचार पूछेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा? यदि कहूँ, उन्हें वनमें भेज दिया तो उसके बाद वे लोग जो मेरे प्रति धिक्कारपूर्ण बात कहेंगे, उसे कैसे सह सकूँगा? इसके लिये मुझे बड़ा खेद है॥ ६॥

कैकेय्याः प्रियकामेन रामः प्रव्राजितो वनम्।
यदि सत्यं ब्रवीम्येतत् तदसत्यं भविष्यति॥ ७॥

'कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे उसके माँगे हुए वरदानके अनुसार मैंने श्रीरामको वनमें भेज दिया, यदि ऐसा कहूँ और इसे सत्य बताऊँ तो मेरी वह पहली बात असत्य हो जायगी, जिसके द्वारा मैंने रामको राज्य देनेका आश्वासन दिया है॥ ७॥

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान्।
रामो लब्धो महातेजाः स कथं त्यज्यते मया॥ ८॥

'मैं पहले पुत्रहीन था, फिर महान् परिश्रम करके मैंने जिन महातेजस्वी महापुरुष श्रीरामको पुत्ररूपमें प्राप्त किया है, उनका मेरे द्वारा त्याग कैसे किया जा सकता है?॥ ८॥

शूरश्च कृतविद्यश्च जितक्रोधः क्षमापरः।
कथं कमलपत्राक्षो मया रामो विवास्यते॥ ९॥

'जो शूरवीर, विद्वान्, क्रोधको जीतनेवाले और क्षमापरायण हैं, उन कमलनयन श्रीरामको मैं देशनिकाला कैसे दे सकता हूँ?॥ ९॥

कथमिन्दीवरश्यामं दीर्घबाहुं महाबलम्।
अभिराममहं रामं स्थापयिष्यामि दण्डकान्॥ १०॥

'जिनकी अङ्गकान्ति नीलकमलके समान श्याम है, भुजाएँ विशाल और बल महान् हैं, उन नयनाभिराम श्रीरामको मैं दण्डकवनमें कैसे भेज सकूँगा?॥ १०॥

सुखानामुचितस्यैव दुःखैरनुचितस्य च।
दुःखं नामानुपश्येयं कथं रामस्य धीमतः॥ ११॥

'जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य हैं, कदापि दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन बुद्धिमान् श्रीरामको दुःख उठाते मैं कैसे देख सकता हूँ?॥ ११॥

यदि दुःखमकृत्वा तु मम संक्रमणं भवेत्।
अदुःखार्हस्य रामस्य ततः सुखमवाप्नुयाम्॥ १२॥

'जो दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन श्रीरामको यह वनवासका दुःख दिये बिना ही यदि मैं इस संसारसे विदा हो जाता तो मुझे बड़ा सुख मिलता॥ १२॥

नृशंसे पापसंकल्पे रामं सत्यपराक्रमम्।
किं विप्रियेण कैकेयि प्रियं योजयसे मम॥ १३॥
अकीर्तिरतुला लोके ध्रुवं परिभविष्यति।

'ओ पापपूर्ण विचार रखनेवाली पाषाणहृदया कैकेयि! सत्यपराक्रमी श्रीराम मुझे बहुत प्रिय हैं, तू मुझसे उनका बिछोह क्यों करा रही है? अरी! ऐसा करनेसे निश्चय ही संसारमें तेरी वह अपकीर्ति फैलेगी, जिसकी कहीं तुलना नहीं है'॥ १३½॥

तथा विलपतस्तस्य परिभ्रमितचेतसः॥ १४॥
अस्तमभ्यागमत् सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत।

इस प्रकार विलाप करते-करते राजा दशरथका चित्त

अत्यन्त व्याकुल हो उठा। इतनेमें ही सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और प्रदोषकाल आ पहुँचा ॥ १४½ ॥

सा त्रियामा तदार्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता ॥ १५ ॥
राज्ञो विलपमानस्य न व्यभासत शर्वरी।

वह तीन पहरोंवाली रात यद्यपि चन्द्रमण्डलकी चारु-चन्द्रिकासे आलोकित हो रही थी, तो भी उस समय आर्त होकर विलाप करते हुए राजा दशरथके लिये प्रकाश या उल्लास न दे सकी ॥ १५½ ॥

सदैवोष्णं विनिःश्वस्य वृद्धो दशरथो नृपः ॥ १६ ॥
विललापार्तवद् दुःखं गगनासक्तलोचनः।

बूढ़े राजा दशरथ निरन्तर गरम उच्छ्वास लेते हुए आकाशकी ओर दृष्टि लगाये आर्तकी भाँति दुःखपूर्ण विलाप करने लगे—॥ १६½ ॥

न प्रभातं त्वयेच्छामि निशे नक्षत्रभूषिते ॥ १७ ॥
क्रियतां मे दया भद्रे मयायं रचितोऽञ्जलिः।

'नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत कल्याणमयी रात्रिदेवि ! मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे द्वारा प्रभात-काल लाया जाय। मुझपर दया करो। मैं तुम्हारे सामने हाथ जोड़ता हूँ ॥१७½॥

अथवा गम्यतां शीघ्रं नाहमिच्छामि निर्घृणाम् ॥ १८ ॥
नृशंसां कैकयीं द्रष्टुं यत्कृते व्यसनं मम।

'अथवा शीघ्र बीत जाओ; क्योंकि जिसके कारण मुझे भारी संकट प्राप्त हुआ है, उस निर्दय और क्रूर कैकेयीको अब मैं नहीं देखना चाहता' ॥ १८½ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजा कैकेयीं संयताञ्जलिः ॥ १९ ॥
प्रसादयामास पुनः कैकेयीं राजधर्मवित्।

कैकेयीसे ऐसा कहकर राजधर्मके ज्ञाता राजा दशरथने पुनः हाथ जोड़कर उसे मनाने या प्रसन्न करनेकी चेष्टा आरम्भ की—॥ १९½ ॥

साधुवृत्तस्य दीनस्य त्वद्गतस्य गतायुषः ॥ २० ॥
प्रसादः क्रियतां भद्रे देवि राज्ञो विशेषतः।

'कल्याणमयी देवि ! जो सदाचारी, दीन, तेरे आश्रित, गतायु (मरणासन्न) और विशेषतः राजा है—ऐसे मुझ दशरथपर कृपा कर ॥ २०½ ॥

शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुदाहृतम् ॥ २१ ॥
कुरु साधुप्रसादं मे बाले सहृदया ह्यसि।

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली केकयनन्दिनि ! मैंने जो यह श्रीरामको राज्य देनेकी बात कही है, वह किसी सूने घरमें नहीं भरी सभामें घोषित की है; अतः बाले ! तू बड़ी सहृदय है; इसलिये मुझपर भलीभाँति कृपा कर (जिससे सभासदोंद्वारा मेरा उपहास न हो) ॥ २१½ ॥

प्रसीद देवि रामो मे त्वद्दत्तं राज्यमव्ययम् ॥ २२ ॥
लभतामसितापाङ्गे यशः परमवाप्स्यसि।

'देवि ! प्रसन्न हो जा। कजरारे नेत्रप्रान्तवाली प्रिये ! मेरे श्रीराम तेरे ही दिये हुए इस अक्षय राज्यको प्राप्त करें, इससे तुझे उत्तम यशकी प्राप्ति होगी ॥ २२½ ॥

मम रामस्य लोकस्य गुरूणां भरतस्य च।
प्रियमेतद् गुरुश्रोणि कुरु चारुमुखेक्षणे ॥ २३ ॥

'पृथुल नितम्बवाली देवि ! सुमुखि ! सुलोचने ! यह प्रस्ताव मुझको, श्रीरामको, समस्त प्रजावर्गको, गुरुजनोंको तथा भरतको भी प्रिय होगा, अतः इसे पूर्ण कर' ॥ २३ ॥

विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा
दीनस्य ताम्राश्रुकलस्य राज्ञः।
श्रुत्वा विचित्रं करुणं विलापं
भर्तुर्नृशंसा न चकार वाक्यम् ॥ २४ ॥

राजाके हृदयका भाव अत्यन्त शुद्ध था, उनके आँसू-भरे नेत्र लाल हो गये थे और वे दीनभावसे विचित्र करुणाजनक विलाप कर रहे थे, किंतु मनमें दूषित विचार रखनेवाली निष्ठुर कैकेयीने पतिके उस विलापको सुनकर भी उनकी आज्ञाका पालन नहीं किया ॥ २४ ॥

ततः स राजा पुनरेव मूर्च्छितः
प्रियामतुष्टां प्रतिकूलभाषिणीम्।
समीक्ष्य पुत्रस्य विवासनं प्रति
क्षितौ विसंज्ञो निपपात दुःखितः ॥ २५ ॥

(इतनी अनुनय-विनयके बाद भी) जब प्रिया कैकेयी किसी तरह संतुष्ट न हो सकी और बराबर प्रतिकूल बात ही मुँहसे निकालती गयी, तब पुत्रके वनवासकी बात सोचकर राजा पुनः दुःखके मारे मूर्च्छित हो गये और सुध-बुध खोकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २५ ॥

इतीव राज्ञो व्यथितस्य सा निशा
जगाम घोरं श्वसतो मनस्विनः।
विबोध्यमानः प्रतिबोधनं तदा
निवारयामास स राजसत्तमः ॥ २६ ॥

इस प्रकार व्यथित होकर भयंकर उच्छ्वास लेते हुए मनस्वी राजा दशरथकी वह रात धीरे-धीरे बीत गयी। प्रातःकाल राजाको जगानेके लिये मनोहर वाद्योंके साथ मङ्गलगान होने लगा; परंतु उन राजशिरोमणिने तत्काल मनाही भेजकर वह सब बंद करा दिया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

कैकेयीका राजाको सत्यपर दृढ़ रहनेके लिये प्रेरणा देकर अपने वरोंकी पूर्तिके लिये दुराग्रह दिखाना, महर्षि वसिष्ठका अन्तःपुरके द्वारपर आगमन और सुमन्त्रको महाराजके पास भेजना, राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको बुलानेके लिये जाना

पुत्रशोकार्दितं पापा विसंज्ञं पतितं भुवि।
विचेष्टमानमुत्प्रेक्ष्य ऐक्ष्वाकमिदमब्रवीत्॥ १॥

इक्ष्वाकुनन्दन राजा दशरथ पुत्रशोकसे पीड़ित हो पृथ्वीपर अचेत पड़े थे और वेदनासे छटपटा रहे थे, उन्हें इस अवस्थामें देखकर पापिनी कैकेयी इस प्रकार बोली—॥ १॥

पापं कृत्वेव किमिदं मम संश्रुत्य संश्रवम्।
शेषे क्षितितले सन्नः स्थित्यां स्थातुं त्वमर्हसि॥ २॥

'महाराज! आपने मुझे दो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी और जब मैंने उन्हें माँगा, तब आप इस प्रकार सन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो कोई पाप करके पछता रहे हों, यह क्या बात है? आपको सत्पुरुषोंकी मर्यादामें स्थिर रहना चाहिये॥ २॥

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः।
सत्यमाश्रित्य च मया त्वं धर्मं प्रतिचोदितः॥ ३॥

'धर्मज्ञ पुरुष सत्यको ही सबसे श्रेष्ठ धर्म बतलाते हैं, उस सत्यका सहारा लेकर मैंने आपको धर्मका पालन करनेके लिये ही प्रेरित किया है॥ ३॥

संश्रुत्य शैब्यः श्येनाय स्वां तनुं जगतीपतिः।
प्रदाय पक्षिणे राजा जगाम गतिमुत्तमाम्॥ ४॥

'पृथ्वीपति राजा शैब्यने बाज पक्षीको अपना शरीर देनेकी प्रतिज्ञा करके उसे दे ही दिया और देकर उत्तम गति प्राप्त कर ली॥ ४॥

तथा ह्यलर्कस्तेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे।
याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ॥ ५॥

'इसी प्रकार तेजस्वी राजा अलर्कने वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको उसके याचना करनेपर मनमें खेद न लाते हुए अपनी दोनों आँखें निकालकर दे दी थीं॥ ५॥

सरितां तु पतिः स्वल्पां मर्यादां सत्यमन्वितः।
सत्यानुरोधात् समये वेलां स्वां नातिवर्तते॥ ६॥

'सत्यको प्राप्त हुआ समुद्र सत्यका ही अनुसरण करनेके कारण पर्व आदिके समय भी अपनी छोटी-सी सीमातट—भूमिका भी उल्लङ्घन नहीं करता॥ ६॥

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम्॥ ७॥

'सत्य ही प्रणवरूप शब्दब्रह्म है, सत्यमें ही धर्म प्रतिष्ठित है, सत्य ही अविनाशी वेद है और सत्यसे ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है॥ ७॥

सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः।
स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सत्तम॥ ८॥

'इसलिये यदि आपकी बुद्धि धर्ममें स्थित है तो सत्यका अनुसरण कीजिये! साधुशिरोमणे! मेरा माँगा हुआ वह वर सफल होना चाहिये; क्योंकि आप स्वयं ही उस वरके दाता हैं॥ ८॥

धर्मस्यैवाभिकामार्थं मम चैवाभिचोदनात्।
प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम्॥ ९॥

'धर्मके ही अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये तथा मेरी प्रेरणासे भी आप अपने पुत्र श्रीरामको घरसे निकाल दीजिये। मैं अपने इस कथनको तीन बार दुहराती हूँ॥ ९॥

समयं च ममार्येमं यदि त्वं न करिष्यसि।
अग्रतस्ते परित्यक्ता परित्यक्ष्यामि जीवितम्॥ १०॥

'आर्य! यदि मुझसे की हुई इस प्रतिज्ञाका आप पालन नहीं करेंगे तो मैं आपसे परित्यक्त (उपेक्षित) होकर आपके सामने ही अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगी'॥ १०॥

एवं प्रचोदितो राजा कैकेय्या निर्विशङ्कया।
नाशकत् पाशमुन्मोक्तुं बलिरिन्द्रकृतं यथा॥ ११॥

इस प्रकार कैकेयीने जब निःशङ्क होकर राजाको प्रेरित किया, तब वे उस सत्यरूपी बन्धनको वैसे ही नहीं खोल सके—उस बन्धनसे अपनेको उसी तरह नहीं मुक्त कर सके, जैसे राजा बलि इन्द्रप्रेरित वामनके पाशसे अपनेको मुक्त करनेमें असमर्थ हो गये थे॥ ११॥

उद्भ्रान्तहृदयश्चापि विवर्णवदनोऽभवत्।
स धुर्यो वै परिस्पन्दन् युगचक्रान्तरं यथा॥ १२॥

दो पहियोंके बीचमें फँसकर वहाँसे निकलनेकी चेष्टा करनेवाले गाड़ीके बैलकी भाँति उनका हृदय उद्भ्रान्त हो उठा था और उनके मुखकी कान्ति भी फीकी पड़ गयी थी॥

विकलाभ्यां च नेत्राभ्यामपश्यन्निव भूमिपः।
कृच्छ्राद् धैर्येण संस्तभ्य कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ १३॥

अपने विकल नेत्रोंसे कुछ भी देखनेमें असमर्थ-से होकर भूपाल दशरथने बड़ी कठिनाईसे धैर्य धारण करके अपने हृदयको सँभाला और कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ १३॥

यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः।
संत्यजामि स्वजं चैव तव पुत्रं सह त्वया ॥ १४ ॥

'पापिनि! मैंने अग्निके समीप 'साङ्गुष्ठं ते गृभ्णामि सौभगत्वाय हस्तम्०' इत्यादि वैदिक मन्त्रका पाठ करके तेरे जिस हाथको पकड़ा था, उसे आज छोड़ रहा हूँ। साथ ही तेरे और अपनेद्वारा उत्पन्न हुए तेरे पुत्रका भी त्याग करता हूँ ॥ १४ ॥

प्रयाता रजनी देवि सूर्यस्योदयनं प्रति।
अभिषेकाय हि जनस्त्वरयिष्यति मां ध्रुवम् ॥ १५ ॥

'देवि! रात बीत गयी। सूर्योदय होते ही सब लोग निश्चय ही श्रीरामका राज्याभिषेक करनेके लिये मुझे शीघ्रता करनेको कहेंगे ॥ १५ ॥

रामाभिषेकसम्भारैस्तदर्थमुपकल्पितैः।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥
सपुत्रया त्वया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया।

'उस समय जो सामान श्रीरामके अभिषेकके लिये जुटाया गया है, उसके द्वारा मेरे मरनेके बाद श्रीरामके हाथसे मुझे जलाञ्जलि दिलवा देना; परंतु अपने पुत्रसहित तू मेरे लिये जलाञ्जलि न देना ॥ १६½ ॥

व्याहन्तास्यशुभाचारे यदि रामाभिषेचनम् ॥ १७ ॥
न शक्तोऽद्यास्म्यहं द्रष्टुं दृष्ट्वा पूर्वं तथामुखम्।
हतहर्षं तथानन्दं पुनर्जनमवाङ्मुखम् ॥ १८ ॥

'पापाचारिणि! यदि तू श्रीरामके अभिषेकमें विघ्न डालेगी (तो तुझे मेरे लिये जलाञ्जलि देनेका कोई अधिकार न होगा)। मैं पहले श्रीरामके राज्याभिषेकके समाचारसे जो जन-समुदायका हर्षोल्लाससे परिपूर्ण उन्नत मुख देख चुका हूँ, वैसा देखनेके पश्चात् आज पुनः उसी जनताके हर्ष और आनन्दसे शून्य, नीचे लटके हुए मुखको मैं नहीं देख सकूँगा' ॥

तां तथा ब्रुवतस्तस्य भूमिपस्य महात्मनः।
प्रभाता शर्वरी पुण्या चन्द्रनक्षत्रमालिनी ॥ १९ ॥

महात्मा राजा दशरथके कैकेयीसे इस तरहकी बातें करते-करते ही चन्द्रमा और नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत वह पुण्यमयी रजनी बीत गयी और प्रभातकाल आ गया ॥ १९ ॥

ततः पापसमाचारा कैकेयी पार्थिवं पुनः।
उवाच परुषं वाक्यं वाक्यज्ञा रोषमूर्च्छिता ॥ २० ॥

तदनन्तर बातचीतके मर्मको समझनेवाली पापाचारिणी कैकेयी रोषसे मूर्च्छित-सी होकर राजासे पुनः कठोर वाणीमें बोली—॥ २० ॥

किमिदं भाषसे राजन् वाक्यं गररुजोपमम्।
आनाययितुमक्लिष्टं पुत्रं राममिहार्हसि ॥ २१ ॥
स्थाप्य राज्ये मम सुतं कृत्वा रामं वनेचरम्।
निःसपत्नां च मां कृत्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥

'राजन्! आप विष और शूल आदि रोगोंके समान कष्ट देनेवाले ऐसे वचन क्यों बोल रहे हैं (इन बातोंसे कुछ होने-जानेवाला नहीं है)। आप बिना किसी क्लेशके अपने पुत्र श्रीरामको यहाँ बुलवाइये। मेरे पुत्रको राज्यपर प्रतिष्ठित कीजिये और श्रीरामको वनमें भेजकर मुझे निष्कण्टक बनाइये; तभी आप कृतकृत्य हो सकेंगे' ॥ २१-२२ ॥

स तुन्न इव तीक्ष्णेन प्रतोदेन हयोत्तमः।
राजा प्रचोदितोऽभीक्ष्णं कैकेय्या वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

तीखे कोड़ेकी मारसे पीड़ित हुए उत्तम अश्वकी भाँति कैकेयीद्वारा बारंबार प्रेरित होनेपर व्यथित हुए राजा दशरथने इस प्रकार कहा—॥ २३ ॥

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि नष्टा च मम चेतना।
ज्येष्ठं पुत्रं प्रियं रामं द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम् ॥ २४ ॥

'मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हुआ हूँ। मेरी चेतना लुप्त होती जा रही है। इसलिये इस समय मैं अपने धर्मपरायण परम प्रिय ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको देखना चाहता हूँ' ॥ २४ ॥

ततः प्रभातां रजनीमुदिते च दिवाकरे।
पुण्ये नक्षत्रयोगे च मुहूर्ते च समागते ॥ २५ ॥
वसिष्ठो गुणसम्पन्नः शिष्यैः परिवृतस्तथा।
उपगृह्याशु सम्भारान् प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ २६ ॥

उधर जब रात बीती, प्रभात हुआ, सूर्यदेवका उदय हो गया और पुष्यनक्षत्रके योगमें अभिषेकका शुभ मुहूर्त आ पहुँचा, उस समय शिष्योंसे घिरे हुए शुभगुणसम्पन्न महर्षि वसिष्ठ अभिषेककी आवश्यक सामग्रियोंका संग्रह करके शीघ्रता-पूर्वक उस श्रेष्ठ पुरीमें आये ॥ २५-२६ ॥

सिक्तसम्मार्जितपथां पताकोत्तमभूषिताम्।
संहृष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम् ॥ २७ ॥

उस पुण्यवेलामें अयोध्याकी सड़कें झाड़-बुहारकर साफ की गयी थीं और उनपर जलका छिड़काव हुआ था। सारी पुरी उत्तम पताकाओंसे सुशोभित थी। वहाँके सभी मनुष्य हर्ष और उत्साहसे भरे हुए थे। बाजार और दूकानें इस तरह सजी हुई थीं कि उनकी समृद्धि देखते ही बनती थी ॥ २७ ॥

महोत्सवसमायुक्तां राघवार्थे समुत्सुकाम्।
चन्दनागुरुधूपैश्च सर्वतः परिधूमिताम् ॥ २८ ॥

सब ओर महान् उत्सव हो रहा था। सारी नगरी श्रीरामचन्द्रजीके अभिषेकके लिये उत्सुक थी। चारों ओर चन्दन, अगर और धूपकी सुगन्ध व्याप्त हो रही थी ॥ २८ ॥

तां पुरीं समतिक्रम्य पुरंदरपुरोपमाम्।
ददर्शान्तःपुरं श्रीमान् नानाध्वजगणायुतम् ॥ २९ ॥

इन्द्रनगरी अमरावतीके समान शोभा पानेवाली उस पुरीको पार करके श्रीमान् वसिष्ठजीने राजा दशरथके अन्तःपुरका दर्शन किया। जहाँ सहस्रों ध्वजाएँ फहरा रही थीं ॥

पौरजानपदाकीर्णं ब्राह्मणैरुपशोभितम्।
यष्टिमद्भिः सुसम्पूर्णं सदश्वैः परमार्चितैः॥ ३०॥

नगर और जनपदके लोग वहाँ भरे हुए थे। बहुत-से ब्राह्मण उस स्थानकी शोभा बढ़ाते थे। छड़ीदार राजसेवक तथा सजे-सजाये सुन्दर घोड़े वहाँ अधिक संख्यामें उपस्थित थे॥

तदन्तःपुरमासाद्य व्यतिचक्राम तं जनम्।
वसिष्ठः परमप्रीतः परमर्षिभिरावृतः॥ ३१॥

श्रेष्ठ महर्षियोंसे घिरे हुए वसिष्ठजी परम प्रसन्न हो उस अन्तःपुरमें पहुँचकर उस जन-समुदायको लाँघकर आगे बढ़ गये॥

स त्वपश्यद् विनिष्क्रान्तं सुमन्त्रं नाम सारथिम्।
द्वारे मनुजसिंहस्य सचिवं प्रियदर्शनम्॥ ३२॥

वहाँ उन्होंने महाराजके सुन्दर सचिव तथा सारथि सुमन्त्रको अन्तःपुरके द्वारपर उपस्थित देखा, जो उसी समय भीतरसे निकले थे॥ ३२॥

तमुवाच महातेजाः सूतपुत्रं विशारदम्।
वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्व नृपतेर्मामिहागतम्॥ ३३॥

तब महातेजस्वी वसिष्ठने परम चतुर सूतपुत्र सुमन्त्रसे कहा—'सूत! तुम महाराजको शीघ्र ही मेरे आगमनकी सूचना दो॥ ३३॥

इमे गङ्गोदकघटाः सागरेभ्यश्च काञ्चनाः।
औदुम्बरं भद्रपीठमभिषेकार्थमाहृतम्॥ ३४॥

'(उन्हें बताओ कि श्रीरामके राज्याभिषेकके लिये सारी सामग्री एकत्र कर ली गयी है) ये गङ्गाजलसे भरे कलश रखे हैं, इन सोनेके कलशोंमें समुद्रोंसे लाया हुआ जल भरा हुआ है। यह गूलरकी लकड़ीका बना हुआ भद्रपीठ है, जो अभिषेकके लिये लाया गया है (इसीपर बिठाकर श्रीरामका अभिषेक होगा)॥ ३४॥

सर्वबीजानि गन्धाश्च रत्नानि विविधानि च।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः॥ ३५॥
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः।
चतुरश्वो रथः श्रीमान् निस्त्रिंशो धनुरुत्तमम्॥ ३६॥
वाहनं नरसंयुक्तं छत्रं च शशिसंनिभम्।
श्वेते च वालव्यजने भृङ्गारं च हिरण्मयम्॥ ३७॥
हेमदामपिनद्धश्च ककुद्मान् पाण्डुरो वृषः।
केसरी च चतुर्दंष्ट्रो हरिश्रेष्ठो महाबलः॥ ३८॥
सिंहासनं व्याघ्रतनुः समिधश्च हुताशनः।
सर्वे वादित्रसङ्घाश्च वेश्याश्चालंकृताः स्त्रियः॥ ३९॥
आचार्या ब्राह्मणा गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः।
पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह॥ ४०॥
एते चान्ये च बहवः प्रीयमाणाः प्रियंवदाः।
अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः॥ ४१॥

'सब प्रकारके बीज, गन्ध, भाँति-भाँतिके रत्न, मधु, दही, घी, लावा या खील, कुश, फूल, दूध, आठ सुन्दरी कन्याएँ, मत्त गजराज, चार घोड़ोंवाला रथ, चमचमाता हुआ खड्ग, उत्तम धनुष, मनुष्योंद्वारा ढोयी जानेवाली सवारी (पालकी आदि), चन्द्रमाके समान श्वेत छत्र, सफेद चँवर, सोनेकी झारी, सुवर्णकी मालासे अलंकृत ऊँचे डीलवाला श्वेत पीतवर्णका वृषभ; चार दाढ़ोंवाला सिंह, महाबलवान् उत्तम अश्व, सिंहासन, व्याघ्रचर्म, समिधाएँ, अग्नि, सब प्रकारके बाजे, वाराङ्गनाएँ, शृङ्गारयुक्त सौभाग्यवती स्त्रियाँ, आचार्य, ब्राह्मण, गौ, पवित्र पशु-पक्षी, नगर और जनपदके श्रेष्ठ पुरुष अपने सेवक-गणोंसहित प्रसिद्ध-प्रसिद्ध व्यापारी—ये तथा और भी बहुत-से प्रियवादी मनुष्य बहुसंख्यक राजाओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामके अभिषेकके लिये यहाँ उपस्थित हैं॥ ३५-४१॥

त्वरयस्व महाराजं यथा समुदितेऽहनि।
पुष्ये नक्षत्रयोगे च रामो राज्यमवाप्नुयात्॥ ४२॥

'तुम महाराजसे शीघ्रता करनेके लिये कहो, जिससे अब सूर्योदयके पश्चात् पुष्य-नक्षत्रके योगमें श्रीराम राज्य प्राप्त कर लें'॥ ४२॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा सूतपुत्रो महाबलः।
स्तुवन् नृपतिशार्दूलं प्रविवेश निवेशनम्॥ ४३॥

वसिष्ठजीके ये वचन सुनकर महाबली सूतपुत्र सुमन्त्रने राजसिंह दशरथकी स्तुति करते हुए उनके भवनमें प्रवेश किया॥

तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राजसम्मताः।
न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः॥ ४४॥

राजाका प्रिय करनेकी इच्छा रखनेवाले और उनके द्वारा सम्मानित द्वारपाल उन बूढ़े सचिवको भीतर जानेसे रोक न सके; क्योंकि उनके लिये पहलेसे ही महाराजकी आज्ञा थी कि ये किसी समय भी भीतर आनेसे रोके न जायँ॥ ४४॥

स समीपस्थितो राज्ञस्तामवस्थामजज्ञिवान्।
वाग्भिः परमतुष्टाभिरभिष्टोतुं प्रचक्रमे॥ ४५॥

सुमन्त्र राजाके पास जाकर खड़े हो गये। उन्हें उनकी उस अवस्थाका पता नहीं था; इसलिये वे अत्यन्त संतोषप्रदायक वचनोंद्वारा उनकी स्तुति करनेको उद्यत हुए॥ ४५॥

ततः सूतो यथापूर्वं पार्थिवस्य निवेशने।
सुमन्त्रः प्राञ्जलिर्भूत्वा तुष्टाव जगतीपतिम्॥ ४६॥

सूत सुमन्त्र राजाके उस महलमें पहलेकी ही भाँति हाथ जोड़कर उन महाराजकी स्तुति करने लगे—॥ ४६॥

यथा नन्दति तेजस्वी सागरो भास्करोदये।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तथा नन्दय नस्ततः॥ ४७॥

'महाराज! जैसे सूर्योदय होनेपर तेजस्वी समुद्र स्वयं

हर्षकी तरंगोंसे उल्लसित हो उसमें स्नानकी इच्छावाले मनुष्योंको आनन्दित करता है, उसी प्रकार आप स्वयं प्रसन्न हो प्रसन्नतापूर्ण हृदयसे हम सेवकोंको आनन्द प्रदान कीजिये ॥

इन्द्रमस्यां तु वेलायामभितुष्टाव मातलिः ।
सोऽजयद् दानवान् सर्वांस्तथा त्वां बोधयाम्यहम् ॥ ४८ ॥

'देवसारथि मातलिने इसी वेलामें देवराज इन्द्रकी स्तुति की थी, जिससे उन्होंने समस्त दानवोंपर विजय प्राप्त कर ली, उसी प्रकार मैं भी स्तुति-वचनोंद्वारा आपको जगा रहा हूँ ॥

वेदाः सहाङ्गा विद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं प्रभुम् ।
ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य तथा त्वां बोधयाम्यहम् ॥ ४९ ॥

'छहों अङ्गोंसहित चारों वेद तथा समस्त विद्याएँ जैसे स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माको जगाती हैं, उसी प्रकार आज मैं आपको जगा रहा हूँ ॥ ४९ ॥

आदित्यः सह चन्द्रेण यथा भूतधरां शुभाम् ।
बोधयत्यद्य पृथिवीं तथा त्वां बोधयाम्यहम् ॥ ५० ॥

'जैसे चन्द्रमाके साथ सूर्य समस्त भूतोंकी आधारभूता इस शुभ-स्वरूपा पृथ्वीको जगाया करते हैं, उसी प्रकार आज मैं आपको जगा रहा हूँ ॥ ५० ॥

उत्तिष्ठ सुमहाराज कृतकौतुकमङ्गलः ।
विराजमानो वपुषा मेरोरिव दिवाकरः ॥ ५१ ॥

'महाराज ! उठिये और उत्सवकालिक मङ्गलकृत्य पूर्ण करके वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित शरीरसे सिंहासनपर विराजमान होइये । फिर मेरु पर्वतसे ऊपर उठनेवाले सूर्यदेवके समान आपकी शोभा होती रहे ॥ ५१ ॥

सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ।
वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ॥ ५२ ॥

'ककुत्स्थ-कुलनन्दन ! चन्द्रमा, सूर्य, शिव, कुबेर, वरुण, अग्नि और इन्द्र आपको विजय प्रदान करें ॥ ५२ ॥

गता भगवती रात्रिः कृतं कृत्यमिदं तव ।
बुध्यस्व नृपशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ॥ ५३ ॥

'राजसिंह ! भगवती रात्रिदेवी विदा हो गयीं । आपने जिसके लिये आज्ञा दी थी, आपका वह सारा कार्य पूर्ण हो गया । इस बातको आप जान लें और इसके बाद जो अभिषेकका कार्य शेष है, उसे पूर्ण करें ॥ ५३ ॥

उदतिष्ठत रामस्य समग्रमभिषेचनम् ।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः ॥ ५४ ॥

श्रीरामके अभिषेककी सारी तैयारी हो चुकी है । नगर और जनपदके लोग तथा मुख्य-मुख्य व्यापारी भी हाथ जोड़े हुए उपस्थित हैं ॥ ५४ ॥

स्वयं वसिष्ठो भगवान् ब्राह्मणैः सह तिष्ठति ।
क्षिप्रमाज्ञाप्यतां राजन् राघवस्याभिषेचनम् ॥ ५५ ॥

'राजन् ! ये भगवान् वसिष्ठ मुनि ब्राह्मणोंके साथ द्वारपर खड़े हैं; अतः श्रीरामके अभिषेकका कार्य आरम्भ करनेके लिये शीघ्र आज्ञा दीजिये ॥ ५५ ॥

यथा ह्यपालाः पशवो यथा सेना ह्यनायका ।
यथा चन्द्रं विना रात्रिर्यथा गावो विना वृषम् ॥ ५६ ॥
एवं हि भविता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते ।

'जैसे चरवाहोंके बिना पशु, सेनापतिके बिना सेना, चन्द्रमाके बिना रात्रि और साँड़के बिना गौओंकी शोभा नहीं होती, ऐसी ही दशा उस राष्ट्रकी हो जाती है; जहाँ राजाका दर्शन नहीं होता है' ॥ ५६½ ॥

एवं तस्य वचः श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमिवार्थवत् ॥ ५७ ॥
अभ्यकीर्यत शोकेन भूय एव महीपतिः ।

सुमन्त्रके इस प्रकार कहे हुए सान्त्वनापूर्ण और सार्थक वचनको सुनकर राजा दशरथ पुनः शोकसे ग्रस्त हो गये ॥ ५७½ ॥

ततस्तु राजा तं सूतं सन्नहर्षः सुतं प्रति ॥ ५८ ॥
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुद्वीक्ष्योवाच धार्मिकः ।
वाक्यैस्तु खलु मर्माणि मम भूयो निकृन्तसि ॥ ५९ ॥

उस समय पुत्रके वियोगकी सम्भावनासे उनकी प्रसन्नता नष्ट हो चुकी थी । शोकके कारण उनके नेत्र लाल हो गये थे । उन धर्मात्मा श्रीमान् नरेशने एक बार दृष्टि उठाकर सूतकी ओर देखा और इस प्रकार कहा—'तुम ऐसी बातें सुनाकर मेरे मर्म-स्थानोंपर और अधिक आघात क्यों कर रहे हो' ॥ ५८-५९ ॥

सुमन्त्रः करुणं श्रुत्वा दृष्ट्वा दीनं च पार्थिवम् ।
प्रगृहीताञ्जलिः किंचित् तस्माद् देशादपाक्रमत् ॥ ६० ॥

राजाके ये करुण वचन सुनकर और उनकी दीन दशापर दृष्टिपात करके सुमन्त्र हाथ जोड़े हुए उस स्थानसे कुछ पीछे हट गये ॥ ६० ॥

यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः ।
तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह ॥ ६१ ॥

जब दुःख और दीनताके कारण राजा स्वयं कुछ भी न कह सके, तब मन्त्रणाका ज्ञान रखनेवाली कैकेयीने सुमन्त्रको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ६१ ॥

सुमन्त्र राजा रजनीं रामहर्षसमुत्सुकः ।
प्रजागरपरिश्रान्तो निद्रावशमुपागतः ॥ ६२ ॥

'सुमन्त्र ! राजा रातभर श्रीरामके राज्याभिषेकजनित हर्षके कारण उत्कण्ठित होकर जागते रहे हैं । अधिक जागनेसे थक जानेके कारण इस समय इन्हें नींद आ गयी है ॥ ६२ ॥

तद् गच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम् ।
राममानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा ।

'अतः सूत ! तुम्हारा भला हो । तुम तुरंत जाओ और यशस्वी राजकुमार श्रीरामको यहाँ बुला लाओ । इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥ ६३ ॥

अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि ।
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणो वाक्यं राजा मन्त्रिणमब्रवीत् ॥ ६४ ॥

तब सुमन्त्रने कहा—'भामिनि ! मैं महाराजकी आज्ञा सुने बिना कैसे जा सकता हूँ ?' मन्त्रीकी बात सुनकर राजाने उनसे कहा—॥ ६४ ॥

सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम् ।
स मन्यमानः कल्याणं हृदयेन ननन्द च ॥ ६५ ॥

'सुमन्त्र ! मैं सुन्दर श्रीरामको देखना चाहता हूँ । तुम शीघ्र उन्हें यहाँ ले आओ ।' उस समय श्रीरामके दर्शनसे ही कल्याण मानते हुए राजा मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ ६५ ॥

निर्जगाम च स प्रीत्या त्वरितो राजशासनात् ।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास त्वरितं चोदितस्तया ॥ ६६ ॥

इधर सुमन्त्र राजाकी आज्ञासे तुरंत प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे चल दिये । कैकेयीने जो तुरंत श्रीरामको बुला लानेकी आज्ञा दी थी, उसे याद करके वे सोचने लगे—'पता नहीं, यह उन्हें बुलानेके लिये इतनी जल्दी क्यों मचा रही है ! ॥ ६६ ॥

व्यक्तं रामाभिषेकार्थे इहायास्यति धर्मराट् ।
इति सूतो मतिं कृत्वा हर्षेण महता पुनः ॥ ६७ ॥
निर्जगाम महातेजा राघवस्य दिदृक्षया ।
सागरह्रदसंकाशात्सुमन्त्रोऽन्तःपुराच्छुभात् ।
निष्क्रम्य जनसम्बाधं ददर्श द्वारमग्रतः ॥ ६८ ॥

'जान पड़ता है, श्रीरामचन्द्रके अभिषेकके लिये ही वह जल्दी कर रही है । इस कार्यमें धर्मराज राजा दशरथको अधिक आयास करना पड़ता है (शायद इसीलिये ये बाहर नहीं निकलते) ।' ऐसा निश्चय करके महातेजस्वी सूत सुमन्त्र फिर बड़े हर्षके साथ श्रीरामके दर्शनकी इच्छासे चल पड़े । समुद्रके अन्तर्वर्ती जलाशयके समान उस सुन्दर अन्तःपुरसे निकलकर सुमन्त्रने द्वारके सामने मनुष्योंकी भारी भीड़ एकत्र हुई देखी ॥ ६७-६८ ॥

ततः पुरस्तात् सहसा विनिःसृतो
महीपतेर्द्वारगतान् विलोकयन् ।
ददर्श पौरान् विविधान् महाधना-
नुपस्थितान् द्वारमुपेत्य विष्ठितान् ॥ ६९ ॥

राजाके अन्तःपुरसे सहसा निकलकर सुमन्त्रने द्वारपर एकत्र हुए लोगोंकी ओर दृष्टिपात किया । उन्होंने देखा, बहुसंख्यक पुरवासी वहाँ उपस्थित थे और अनेकानेक महाधनी पुरुष राजद्वारपर आकर खड़े थे ॥ ६९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

सुमन्त्रका राजाकी आज्ञासे श्रीरामको बुलानेके लिये उनके महलमें जाना

ते तु तां रजनीमुष्य ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
उपतस्थुरुपस्थानं सह राजपुरोहिताः ॥ १ ॥

वे वेदोंके पारङ्गत ब्राह्मण तथा राजपुरोहित वह रात बिताकर प्रातःकाल (राजाकी प्रेरणाके अनुसार) राजद्वारपर उपस्थित हुए थे ॥ १ ॥

अमात्या बलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च ।
राघवस्याभिषेकार्थे प्रीयमाणाः सुसंगताः ॥ २ ॥

मन्त्री, सेनाके मुख्य-मुख्य अधिकारी और बड़े-बड़े सेठ-साहूकार श्रीरामचन्द्रजीके अभिषेकके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ एकत्र हुए थे ॥ २ ॥

उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि ।
लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥ ३ ॥
अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रैरुपकल्पितम् ।
काञ्चना जलकुम्भाश्च भद्रपीठं स्वलंकृतम् ॥ ४ ॥
रथश्च सम्यगास्तीर्णो भास्वता व्याघ्रचर्मणा ।
गङ्गायमुनयोः पुण्यात् संगमादाहृतं जलम् ॥ ५ ॥

निर्मल सूर्योदय होनेपर दिनमें जब पुष्य नक्षत्रका योग आया तथा श्रीरामके जन्मका कर्क लग्न उपस्थित हुआ, उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने श्रीरामके अभिषेकके लिये सारी सामग्री एकत्र करके उसे जँचाकर रख दिया । जलसे भरे हुए सोनेके कलश, भलीभाँति सजाया हुआ भद्रपीठ, चमकीले व्याघ्रचर्मसे अच्छी तरह आवृत रथ, गङ्गा-यमुनाके पवित्र सङ्गमसे लाया हुआ जल—ये सब वस्तुएँ एकत्र कर ली गयी थीं ॥ ३—५ ॥

याश्चान्याः सरितः पुण्या ह्रदाः कूपाः सरांसि च ।
प्राग्वहाश्चोर्ध्ववाहाश्च तिर्यग्वाहाश्च क्षीरिणः ॥ ६ ॥
ताभ्यश्चैवाहृतं तोयं समुद्रेभ्यश्च सर्वशः ।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ७ ॥
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः ।

सजलाः क्षीरिभिश्छन्ना घटाः काञ्चनराजताः ॥ ८ ॥
पद्मोत्पलयुता भान्ति पूर्णाः परमवारिणा ।

इनके सिवा जो अन्य नदियाँ, पवित्र जलाशय, कूप और सरोवर हैं तथा जो पूर्वकी ओर बहनेवाली (गोदावरी और कावेरी आदि) नदियाँ हैं, ऊपरकी ओर प्रवाहवाले जो (ब्रह्मावर्त आदि) सरोवर हैं तथा दक्षिण और उत्तरकी ओर बहनेवाली जो (गण्डकी एवं शोणभद्र आदि) नदियाँ हैं, जिनमें दूधके समान निर्मल जल भरा रहता है, उन सबसे और समस्त समुद्रोंसे भी लाया हुआ जल वहाँ संग्रह करके रखा गया था । इनके अतिरिक्त दूध, दही, घी, मधु, लावा, कुश, फूल, आठ सुन्दर कन्याएँ, मदमत्त गजराज और दूधवाले वृक्षोंके पल्लवोंसे ढके हुए सोने-चाँदीके जलपूर्ण कलश भी वहाँ विराजमान थे, जो उत्तम जलसे भरे होनेके साथ ही पद्म और उत्पलोंसे संयुक्त होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ६–८½ ॥

चन्द्रांशुविकचप्रख्यं पाण्डुरं रत्नभूषितम् ॥ ९ ॥
सज्जं तिष्ठति रामस्य वालव्यजनमुत्तमम् ।

श्रीरामके लिये चन्द्रमाकी किरणोंके समान विकसित कान्तिसे युक्त श्वेत, पीतवर्णका रत्नजटित उत्तम चँवर सुसज्जितरूपसे रखा हुआ था ॥ ९½ ॥

चन्द्रमण्डलसंकाशमातपत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥
सज्जं द्युतिकरं श्रीमदभिषेकपुरस्सरम् ।

चन्द्रमण्डलके समान सुसज्जित श्वेत छत्र भी अभिषेक-सामग्रीके साथ शोभा पा रहा था, जो परम सुन्दर और प्रकाश फैलानेवाला था ॥ १०½ ॥

पाण्डुरश्च वृषः सज्जः पाण्डुराश्वश्च संस्थितः ॥ ११ ॥

सुसज्जित श्वेत वृषभ और श्वेत अश्व भी खड़े थे ॥ ११ ॥

वादित्राणि च सर्वाणि वन्दिनश्च तथापरे ।
इक्ष्वाकूणां यथा राज्ये सम्भ्रियेताभिषेचनम् ॥ १२ ॥
तथाजातीयमादाय राजपुत्राभिषेचनम् ।
ते राजवचनात् तत्र समवेता महीपतिम् ॥ १३ ॥

सब प्रकारके बाजे मौजूद थे । स्तुति-पाठ करनेवाले वन्दी तथा अन्य मागध आदि भी उपस्थित थे । इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके राज्यमें जैसी अभिषेक-सामग्रीका संग्रह होना चाहिये, राजकुमारके अभिषेककी वैसी ही सामग्री साथ लेकर वे सब लोग महाराज दशरथकी आज्ञाके अनुसार वहाँ उनके दर्शनके लिये एकत्र हुए थे ॥ १२–१३ ॥

अपश्यन्तोऽब्रुवन् को नु राज्ञो नः प्रतिवेदयेत् ।
न पश्यामश्च राजानमुदितश्च दिवाकरः ॥ १४ ॥
यौवराज्याभिषेकश्च सज्जो रामस्य धीमतः ।

राजाको द्वारपर न देखकर वे कहने लगे—'कौन महाराजके पास जाकर हमारे आगमनकी सूचना देगा । हम महाराजको यहाँ नहीं देखते हैं । सूर्योदय हो गया है और बुद्धिमान् श्रीरामके यौवराज्याभिषेककी सारी सामग्री जुट गयी है' ॥ १४½ ॥

इति तेषु ब्रुवाणेषु सर्वांस्तांश्च महीपतीन् ॥ १५ ॥
अब्रवीत् तानिदं वाक्यं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ।

वे सब लोग जब इस प्रकारकी बातें कर रहे थे, उसी समय राजाद्वारा सम्मानित सुमन्त्रने वहाँ खड़े हुए उन समस्त भूपतियोंसे यह बात कही—॥ १५½ ॥

रामं राज्ञो नियोगेन त्वरया प्रस्थितो ह्यहम् ॥ १६ ॥
पूज्या राज्ञो भवन्तश्च रामस्य तु विशेषतः ।
अयं पृच्छामि वचनात् सुखमायुष्मतामहम् ॥ १७ ॥

'मैं महाराजकी आज्ञासे श्रीरामको बुलानेके लिये तुरंत जा रहा हूँ । आप सब लोग महाराजके तथा विशेषतः श्रीरामचन्द्रजीके पूजनीय हैं । मैं उन्हींकी ओरसे आप समस्त चिरंजीवी पुरुषोंके कुशल-समाचार पूछ रहा हूँ । आपलोग सुखसे हैं न ?' ॥ १६-१७ ॥

राज्ञः सम्प्रतिबुद्धस्य चानागमनकारणम् ।
इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारमाजगाम पुराणवित् ॥ १८ ॥

ऐसा कहकर और जगे हुए होनेपर श्रीमहाराजके बाहर न आनेका कारण बताकर पुरातन वृत्तान्तोंको जाननेवाले सुमन्त्र पुनः अन्तःपुरके द्वारपर लौट आये ॥ १८ ॥

सदा सक्तं च तद् वेश्म सुमन्त्रः प्रविवेश ह ।
तुष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य स विशाम्पतेः ॥ १९ ॥

वह राजभवन सुमन्त्रके लिये सदा खुला रहता था । उन्होंने भीतर प्रवेश किया और प्रवेश करके महाराजके वंशकी स्तुति की ॥ १९ ॥

शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत ।
सोऽत्यासाद्य तु तद् वेश्म तिरस्करणिमन्तरा ॥ २० ॥
आशीर्भिर्गुणयुक्ताभिरतुष्टाव राघवम् ।

तदनन्तर वे राजाके शयनगृहके पास जाकर खड़े हो गये । उस घरके अत्यन्त निकट पहुँचकर जहाँ बीचमें केवल चिकका अन्तर रह गया था, खड़े हो वे गुणवर्णनपूर्वक आशीर्वादसूचक वचनोंद्वारा रघुकुल-नरेशकी स्तुति करने लगे—॥ २०½ ॥

सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ॥ २१ ॥
वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ।

'ककुत्स्थनन्दन ! चन्द्रमा, सूर्य, शिव, कुबेर, वरुण, अग्नि और इन्द्र आपको विजय प्रदान करें ॥ २१½ ॥

गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥ २२ ॥
बुद्ध्यस्व राजशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ।

'भगवती रात्रि विदा हो गयी। अब कल्याणस्वरूप दिन उपस्थित हुआ है। राजसिंह ! निद्रा त्यागकर जग जाइये और अब जो कार्य प्राप्त है उसे कीजिये ॥ २२½ ॥

ब्राह्मणा बलमुख्याश्च नैगमाश्चागतास्त्विह ॥ २३ ॥
दर्शनं तेऽभिकाङ्क्षन्ते प्रतिबुद्ध्यस्व राघव ।

'ब्राह्मण, सेनाके मुख्य अधिकारी और बड़े-बड़े सेठ-साहूकार यहाँ आ गये हैं। वे सब लोग आपका दर्शन चाहते हैं। रघुनन्दन ! जागिये' ॥ २३½ ॥

स्तुवन्तं तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २४ ॥
प्रतिबुद्ध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत् ।

मन्त्रणा करनेमें कुशल सूत सुमन्त्र जब इस प्रकार स्तुति करने लगे, तब राजाने जाकर उनसे यह बात कही—॥ २४½ ॥

राममानय सूतेति यदस्यभिहितो मया ॥ २५ ॥
किमिदं कारणं येन ममाज्ञा प्रतिवाह्यते ।
न चैव सम्प्रसुप्तोऽहमानयेहाशु राघवम् ॥ २६ ॥

'सूत ! श्रीरामको बुला लाओ'—यह जो मैंने तुमसे कहा था, उसका पालन क्यों नहीं हुआ ? ऐसा कौन-सा कारण है, जिससे मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया जा रहा है ! मैं सोया नहीं हूँ। तुम श्रीरामको शीघ्र यहाँ बुला लाओ' ॥ २५-२६ ॥

इति राजा दशरथः सूतं तत्रान्वशात् पुनः ।
स राजवचनं श्रुत्वा शिरसा प्रतिपूज्य तम् ॥ २७ ॥
निर्जगाम नृपावासान्मन्यमानः प्रियं महत् ।
प्रपन्नो राजमार्गं च पताकाध्वजशोभितम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार राजा दशरथने जब सूतको फिर उपदेश , तब वे राजाकी वह आज्ञा सुनकर सिर झुकाकर उसका न करते हुए राजभवनसे बाहर निकल गये। वे मन-ही-मन अपना महान् प्रिय हुआ मानने लगे। राजभवनसे निकलकर सुमन्त्र ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित राजमार्गपर आ गये ॥ २७-२८ ॥

हृष्टः प्रमुदितः सूतो जगामाशु विलोकयन् ।
स सूतस्तत्र शुश्राव रामाधिकरणाः कथाः ॥ २९ ॥
अभिषेचनसंयुक्ताः सर्वलोकस्य हृष्टवत् ।

वे हर्ष और उल्लासमें भरकर सब ओर दृष्टि डालते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ने लगे। सूत सुमन्त्र वहाँ मार्गमें सब लोगोंके मुँहसे श्रीरामके राज्याभिषेककी आनन्ददायिनी बातें सुनते जा रहे थे ॥ २९½ ॥

ततो ददर्श रुचिरं कैलाससदृशप्रभम् ॥ ३० ॥
रामवेश्म सुमन्त्रस्तु शक्रवेश्मसमप्रभम् ।
महाकपाटपिहितं वितर्दिशतशोभितम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर सुमन्त्रको श्रीरामका सुन्दर भवन दिखायी दिया, जो कैलासपर्वतके समान श्वेत प्रभासे प्रकाशित हो रहा था। वह इन्द्रभवनके समान दीप्तिमान् था। उसका फाटक विशाल किवाड़ोंसे बंद था (उसके भीतरका छोटा-सा द्वार ही खुला हुआ था)। सैकड़ों वेदिकाएँ उस भवनकी शोभा बढ़ा रही थीं ॥ ३०-३१ ॥

काञ्चनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमतोरणम् ।
शारदाभ्रघनप्रख्यं दीप्तं मेरुगुहासमम् ॥ ३२ ॥

उसका मुख्य अग्रभाग सोनेकी देव-प्रतिमाओंसे अलंकृत था। उसके बाहर फाटकमें मणि और मूँगे जड़े हुए थे। वह सारा भवन शरद्-ऋतुके बादलोंकी भाँति श्वेत कान्तिसे युक्त, दीप्तिमान् और मेरुपर्वतकी कन्दराके समान शोभायमान था ॥ ३२ ॥

मणिभिर्वरमाल्यानां सुमहद्भिरलंकृतम् ।
मुक्तामणिभिराकीर्णं चन्दनागुरुभूषितम् ॥ ३३ ॥

सुवर्णनिर्मित पुष्पोंकी मालाओंके बीच-बीचमें पिरोयी हुई बहुमूल्य मणियोंसे वह भवन सजा हुआ था। दीवारोंमें जड़ी हुई मुक्तामणियोंसे व्याप्त होकर जगमगा रहा था (अथवा वहाँ मोती और मणियोंके भण्डार भरे हुए थे)। चन्दन और अगरकी सुगन्ध उसकी शोभा बढ़ा रही थी ॥ ३३ ॥

गन्धान् मनोज्ञान् विसृजद् दार्दुरं शिखरं यथा ।
सारसैश्च मयूरैश्च विनदद्भिर्विराजितम् ॥ ३४ ॥

वह भवन मलयाचलके समीपवर्ती दर्दुर नामक चन्दन-गिरिके शिखरकी भाँति सब ओर मनोहर सुगन्ध बिखेर रहा था। कलरव करते हुए सारस और मयूर आदि पक्षी उसकी शोभावृद्धि कर रहे थे ॥ ३४ ॥

सुकृतेहामृगाकीर्णमुत्कीर्णं भक्तिभिस्तथा ।
मनश्चक्षुश्च भूतानामाददत् तिग्मतेजसा ॥ ३५ ॥

सोने आदिकी सुन्दर ढंगसे बनी हुई भेड़ियोंकी मूर्तियोंसे वह व्याप्त था। शिल्पियोंने उसकी दीवारोंमें बड़ी सुन्दर नक्काशी की थी। वह अपनी उत्कृष्ट शोभासे समस्त प्राणियोंके मन और नेत्रोंको आकृष्ट कर लेता था ॥ ३५ ॥

चन्द्रभास्करसंकाशं कुबेरभवनोपमम् ।
महेन्द्रधामप्रतिमं नानापक्षिसमाकुलम् ॥ ३६ ॥

चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी, कुबेर-भवनके समान अक्षय सम्पत्तिसे पूर्ण तथा इन्द्रधामके समान भव्य एवं मनोरम उस श्रीरामभवनमें नाना प्रकारके पक्षी चहक रहे थे ॥ ३६ ॥

मेरुशृङ्गसमं सूतो रामवेश्म ददर्श ह ।
उपस्थितैः समाकीर्णं जनैरञ्जलिकारिभिः ॥ ३७ ॥

सुमन्त्रने देखा—श्रीरामका महल मेरु-पर्वतके शिखरकी भाँति शोभा पा रहा है। हाथ जोड़कर श्रीरामकी वन्दना करनेके लिये उपस्थित हुए असंख्य मनुष्योंसे वह भरा हुआ है ॥ ३७ ॥

उपादाय समाक्रान्तैस्तदा जानपदैर्जनैः।
रामाभिषेकसुमुखैरुन्मुखैः समलंकृतम् ॥ ३८ ॥

भाँति-भाँतिके उपहार लेकर जनपद-निवासी मनुष्य उस समय वहाँ पहुँचे हुए थे। श्रीरामके अभिषेकका समाचार सुनकर उनके मुख प्रसन्नतासे खिल उठे थे। वे उस उत्सवको देखनेके लिये उत्कण्ठित थे। उन सबकी उपस्थितिसे भवनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ३८ ॥

महामेघसमप्रख्यमुदग्रं सुविराजितम्।
नानारत्नसमाकीर्णं कुब्जकैरपि चावृतम् ॥ ३९ ॥

वह विशाल राजभवन महान् मेघखण्डके समान ऊँचा और सुन्दर शोभासे सम्पन्न था। उसकी दीवारोंमें नाना प्रकारके रत्न जड़े गये थे और कुबड़े सेवकोंसे वह भरा हुआ था ॥ ३९ ॥

स वाजियुक्तेन रथेन सारथिः
समाकुलं राजकुलं विराजयन्।
वरूथिना राजगृहाभिपातिना
पुरस्य सर्वस्य मनांसि हर्षयन् ॥ ४० ॥

सारथि सुमन्त्र राजभवनकी ओर जानेवाले वरूथ (लोहेकी चद्दर या सींकचोंके बने हुए आवरण) से युक्त तथा अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए रथके द्वारा मनुष्योंकी भीड़से भरे राजमार्गकी शोभा बढ़ाते तथा समस्त नगर-निवासियोंके मनको आनन्द प्रदान करते हुए श्रीरामके भवनके पास जा पहुँचे ॥ ४० ॥

ततः समासाद्य महाधनं महत्
प्रहृष्टरोमा स बभूव सारथिः।
मृगैर्मयूरैश्च समाकुलोल्बणं
गृहं वरार्हस्य शचीपतेरिव ॥ ४१ ॥

उत्तम वस्तुको प्राप्त करनेके अधिकारी श्रीरामका वह महान् समृद्धिशाली विशाल भवन शचीपति इन्द्रके भवनकी भाँति सुशोभित होता था। इधर-उधर फैले हुए मृगों और मयूरोंसे उसकी शोभा और भी बढ़ गयी थी। वहाँ पहुँचकर सारथि सुमन्त्रके शरीरमें अधिक हर्षके कारण रोमाञ्च हो आया ॥ ४१ ॥

स तत्र कैलासनिभाः स्वलंकृताः
प्रविश्य कक्ष्यास्त्रिदशालयोपमाः।
प्रियान् वरान् राममते स्थितान् बहून्
व्यपोह्य शुद्धान्तमुपस्थितो रथी ॥ ४२ ॥

वहाँ कैलास और स्वर्गके समान दिव्य शोभासे युक्त, सुन्दर सजी हुई अनेक ड्योढ़ियोंको लाँघकर श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञामें चलनेवाले बहुतेरे श्रेष्ठ मनुष्योंको बीचमें छोड़ते हुए रथसहित सुमन्त्र अन्तःपुरके द्वारपर उपस्थित हुए ॥ ४२ ॥

स तत्र शुश्राव च हर्षयुक्ता
रामाभिषेकार्थकृतां जनानाम्।
नरेन्द्रसूनोरभिमङ्गलार्थाः
सर्वस्य लोकस्य गिरः प्रहृष्टाः ॥ ४३ ॥

उस स्थानपर उन्होंने श्रीरामके अभिषेक-सम्बन्धी कर्म करनेवाले लोगोंकी हर्षभरी बातें सुनीं, जो राजकुमार श्रीरामके लिये सब ओरसे मङ्गलकामना सूचित करती थीं। इसी प्रकार उन्होंने अन्य सब लोगोंकी भी हर्षोल्लाससे परिपूर्ण वार्ताओंको श्रवण किया ॥ ४३ ॥

महेन्द्रसद्मप्रतिमं च वेश्म
रामस्य रम्यं मृगपक्षिजुष्टम्।
ददर्श मेरोरिव शृङ्गमुच्चं
विभ्राजमानं प्रभया सुमन्त्रः ॥ ४४ ॥

श्रीरामका वह भवन इन्द्रसदनकी शोभाको तिरस्कृत कर रहा था। मृगों और पक्षियोंसे सेवित होनेके कारण उसकी रमणीयता और भी बढ़ गयी थी। सुमन्त्रने उस भवनको देखा। वह अपनी प्रभासे प्रकाशित होनेवाले मेरुगिरिके ऊँचे शिखरकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥ ४४ ॥

उपस्थितैरञ्जलिकारिभिश्च
सोपायनैर्जानपदैर्जनैश्च।
कोट्या परार्धैश्च विमुक्तयानैः
समाकुलं द्वारपदं ददर्श ॥ ४५ ॥

'उस भवनके द्वारपर पहुँचकर सुमन्त्रने देखा—श्रीरामकी वन्दनाके लिये हाथ जोड़े उपस्थित हुए जनपद-वासी मनुष्य अपनी सवारियोंसे उतरकर हाथोंमें भाँति-भाँतिके उपहार लिये करोड़ों और परार्धोंकी संख्यामें खड़े थे; जिनसे वहाँ बड़ी भारी भीड़ लग गयी थी ॥ ४५ ॥

ततो महामेघमहीधराभं
प्रभिन्नमत्यङ्कुशमत्यसह्यम्।
रामोपवाह्यं रुचिरं ददर्श
शत्रुंजयं नागमुदग्रकायम् ॥ ४६ ॥

तदनन्तर उन्होंने श्रीरामकी सवारीमें आनेवाले सुन्दर शत्रुञ्जय नामक विशालकाय गजराजको देखा, जो महान् मेघसे युक्त पर्वतके समान प्रतीत होता था। उसके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही थी। वह अंकुशसे वशमें करनेयोग्य नहीं था। उसका वेग शत्रुओंके लिये अत्यन्त असह्य था। उसका जैसा नाम था, वैसा ही गुण भी था ॥ ४६ ॥

स्वलंकृतान् साश्वरथान् सकुञ्जरा-
नमात्यमुख्यांश्च ददर्श वल्लभान् ।
व्यपोह्य सूतः सहितान् समन्ततः
समृद्धमन्तःपुरमाविवेश ॥ ४७ ॥

उन्होंने वहाँ राजाके परम प्रिय मुख्य-मुख्य मन्त्रियोंको भी एक साथ उपस्थित देखा, जो सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित थे और घोड़े, रथ तथा हाथियोंके साथ वहाँ आये थे। सुमन्त्रने उन सबको एक ओर हटाकर स्वयं श्रीरामके समृद्धिशाली अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ ४७ ॥

ततोऽद्रिकूटाचलमेघसंनिभं
महाविमानोपमवेश्मसंयुतम् ।
अवार्यमाणः प्रविवेश सारथिः
प्रभूतरत्नं मकरो यथार्णवम् ॥ ४८ ॥

जैसे मगर प्रचुर रत्नोंसे भरे हुए समुद्रमें बेरोक-टोक प्रवेश करता है, उसी प्रकार सारथि सुमन्त्रने पर्वत-शिखरपर आरूढ़ हुए अविचल मेघके समान शोभायमान महान् विमानके सदृश सुन्दर गृहोंसे संयुक्त तथा प्रचुर रत्न-भण्डारसे भरपूर उस महलमें बिना किसी रोक-टोकके प्रवेश किया ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

सुमन्त्रका श्रीरामके महलमें पहुँचकर महाराजका संदेश सुनाना और श्रीरामका सीतासे अनुमति ले लक्ष्मणके साथ रथपर बैठकर गाजे-बाजेके साथ मार्गमें स्त्री-पुरुषोंकी बातें सुनते हुए जाना

स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम् ।
प्रविविक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित् ॥ १ ॥

पुरातन वृत्तान्तोंके ज्ञाता सूत सुमन्त्र मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए उस अन्तःपुरके द्वारको लाँघकर महलकी एकान्त-कक्षामें जा पहुँचे, जहाँ भीड़ बिल्कुल नहीं थी ॥ १ ॥

प्रासकार्मुकबिभ्रद्भिर्युवभिर्मृष्टकुण्डलैः ।
अप्रमादिभिरेकाग्रैः स्वानुरक्तैरधिष्ठिताम् ॥ २ ॥

वहाँ श्रीरामके चरणोंमें अनुराग रखनेवाले एकाग्रचित्त एवं सावधान युवक प्रास और धनुष आदि लिये डटे हुए थे। उनके कानोंमें शुद्ध सुवर्णके बने हुए कुण्डल झलमला रहे थे ॥ २ ॥

तत्र काषायिणो वृद्धान् वेत्रपाणीन् स्वलंकृतान् ।
ददर्श विष्ठितान् द्वारि स्त्र्यध्यक्षान् सुसमाहितान् ॥ ३ ॥

उस ड्योढ़ीमें सुमन्त्रको गेरुआ वस्त्र पहने और हाथमें छड़ी लिये वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत बहुतसे वृद्ध पुरुष बड़ी सावधानीके साथ द्वारपर बैठे दिखायी दिये, जो अन्तःपुरकी स्त्रियोंके अध्यक्ष (संरक्षक) थे ॥ ३ ॥

ते समीक्ष्य समायान्तं रामप्रियचिकीर्षवः ।
सहसोत्पतिताः सर्वे ह्यासनेभ्यः ससम्भ्रमाः ॥ ४ ॥

सुमन्त्रको आते देख श्रीरामका प्रिय करनेकी इच्छावाले वे सभी पुरुष सहसा वेगपूर्वक आसनोंसे उठकर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

तानुवाच विनीतात्मा सूतपुत्रः प्रदक्षिणः ।
क्षिप्रमाख्यात रामाय सुमन्त्रो द्वारि तिष्ठति ॥ ५ ॥

राजसेवामें अत्यन्त कुशल तथा विनीत हृदयवाले सूतपुत्र सुमन्त्रने उनसे कहा—'आपलोग श्रीरामचन्द्रजीसे शीघ्र जाकर कहें कि सुमन्त्र दरवाजेपर खड़े हैं' ॥ ५ ॥

ते राममुपसङ्गम्य भर्तुः प्रियचिकीर्षवः ।
सहभार्याय रामाय क्षिप्रमेवाचचक्षिरे ॥ ६ ॥

स्वामीका प्रिय करनेकी इच्छावाले वे सब सेवक श्रीरामचन्द्रजीके पास जा पहुँचे। उस समय श्रीराम अपनी धर्मपत्नी सीताके साथ विराजमान थे। उन सेवकोंने शीघ्र ही उन्हें सुमन्त्रका संदेश सुना दिया ॥ ६ ॥

प्रतिवेदितमाज्ञाय सूतमभ्यन्तरं पितुः ।
तत्रैवानाययामास राघवः प्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

द्वाररक्षकोंद्वारा दी हुई सूचना पाकर श्रीरामने पिताकी प्रसन्नताके लिये उनके अन्तरङ्ग सेवक सुमन्त्रको वहीं अन्तःपुरमें बुलवा लिया ॥ ७ ॥

तं वैश्रवणसंकाशमुपविष्टं स्वलंकृतम् ।
ददर्श सूतः पर्यङ्के सौवर्णे सोत्तरच्छदे ॥ ८ ॥

वहाँ पहुँचकर सुमन्त्रने देखा श्रीरामचन्द्रजी वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो कुबेरके समान जान पड़ते हैं और बिछौनोंसे युक्त सोनेके पलंगपर विराजमान हैं ॥ ८ ॥

वराहरुधिराभेण शुचिना च सुगन्धिना ।
अनुलिप्तं परार्ध्येन चन्दनेन परंतपम् ॥ ९ ॥
स्थितया पार्श्वतश्चापि वालव्यजनहस्तया ।
उपेतं सीतया भूयश्चित्रया शशिनं यथा ॥ १० ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनाथजीके श्रीअङ्गोंमें वाराहके रुधिरकी भाँति लाल, पवित्र और सुगन्धित उत्तम चन्दनका लेप लगा हुआ है और देवी सीता उनके पास बैठकर अपने हाथसे चवँर डुला रही हैं। सीताके अत्यन्त समीप बैठे हुए श्रीराम चित्रासे संयुक्त चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते हैं ॥ ९-१० ॥

तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं स्वतेजसा ।
ववन्दे वरदं वन्दी विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥

विनयके ज्ञाता वन्दी सुमन्त्रने तपते हुए सूर्यकी भाँति अपने नित्य प्रकाशसे सम्पन्न रहकर अधिक प्रकाशित होनेवाले वरदायक श्रीरामको विनीतभावसे प्रणाम किया ॥ ११ ॥

प्राञ्जलिः सुमुखं दृष्ट्वा विहारशयनासने ।
राजपुत्रमुवाचेदं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ॥ १२ ॥

विहारकालिक शयनके लिये जो आसन था, उस पलंगपर बैठे हुए प्रसन्न मुखवाले राजकुमार श्रीरामका दर्शन करके राजा दशरथद्वारा सम्मानित सुमन्त्रने हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

कौसल्या सुप्रजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
महिष्यापि हि कैकेय्या गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ १३ ॥

'श्रीराम ! आपको पाकर महारानी कौसल्या सर्वश्रेष्ठ संतानवाली हो गयी हैं। इस समय रानी कैकेयीके साथ बैठे हुए आपके पिताजी आपको देखना चाहते हैं, अतः वहाँ चलिये, विलम्ब न कीजिये' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु संहृष्टो नरसिंहो महाद्युतिः ।
ततः सम्मानयामास सीतामिदमुवाच ह ॥ १४ ॥

सुमन्त्रके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी नरश्रेष्ठ श्रीरामने सीताजीका सम्मान करते हुए प्रसन्नतापूर्वक उनसे इस प्रकार कहा ॥ १४ ॥

देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे ।
मन्त्रयेते ध्रुवं किंचिदभिषेचनसंहितम् ॥ १५ ॥

'देवि ! जान पड़ता है, पिताजी और माता कैकेयी दोनों मिलकर मेरे विषयमें ही कुछ विचार कर रहे हैं। निश्चय ही मेरे अभिषेकके सम्बन्धमें ही कोई बात होती होगी ॥ १५ ॥

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा ।
संचोदयति राजानं मदर्थमसितेक्षणा ॥ १६ ॥

'मेरे अभिषेकके विषयमें राजाके अभिप्रायको लक्ष्य करके उनका प्रिय करनेकी इच्छावाली परम उदार एवं समर्थ कजरारे नेत्रोंवाली कैकेयी मेरे अभिषेकके लिये ही राजाको प्रेरित कर रही होंगी ॥ १६ ॥

सा प्रहृष्टा महाराजं हितकामानुवर्तिनी ।
जननी चार्थकामा मे केकयाधिपतेः सुता ॥ १७ ॥

'मेरी माता केकयराजकुमारी इस समाचारसे बहुत प्रसन्न हुई होंगी। वे महाराजका हित चाहनेवाली और उनकी अनुगामिनी हैं। साथ ही वे मेरा भी भला चाहती हैं। अतः वे महाराजको अभिषेक करनेके लिये जल्दी करनेको कह रही होंगी ॥ १७ ॥

दिष्ट्या खलु महाराजो महिष्या प्रियया सह ।
सुमन्त्रं प्राहिणोद् दूतमर्थकामकरं मम ॥ १८ ॥

सौभाग्यकी बात है कि महाराज अपनी प्यारी रानीके साथ बैठे हैं और उन्होंने मेरे अभीष्ट अर्थको सिद्ध करनेवाले सुमन्त्रको ही दूत बनाकर भेजा है ॥ १८ ॥

यादृशी परिषत् तत्र तादृशो दूत आगतः ।
ध्रुवमद्यैव मां राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ १९ ॥

'जैसी वहाँ अन्तरङ्ग परिषद् बैठी है, वैसे ही दूत सुमन्त्रजी यहाँ पधारे हैं। अवश्य आज ही महाराज मुझे युवराजके पदपर अभिषिक्त करेंगे ॥ १९ ॥

हन्त शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम् ।
सह त्वं परिवारेण सुखमास्स्व रमस्व च ॥ २० ॥

'अतः मैं प्रसन्नतापूर्वक यहाँसे शीघ्र जाकर महाराजका दर्शन करूँगा। तुम परिजनोंके साथ यहाँ सुखपूर्वक बैठो और आनन्द करो' ॥ २० ॥

पतिसम्मानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा ।
आ द्वारमनुवव्राज मङ्गलान्यभिदध्युषी ॥ २१ ॥

'पतिके द्वारा इस प्रकार सम्मानित होकर कजरारे नेत्रोंवाली सीतादेवी उनका मङ्गल-चिन्तन करती हुई स्वामीके साथ-साथ द्वारतक उन्हें पहुँचानेके लिये गयीं ॥ २१ ॥

राज्यं द्विजातिभिर्जुष्टं राजसूयाभिषेचनम् ।
कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्येव लोककृत् ॥ २२ ॥

उस समय वे बोलीं—'आर्यपुत्र ! ब्राह्मणोंके साथ रहकर आपका युवराजपदपर अभिषेक करके महाराज दूसरे समयमें राजसूय-यज्ञमें सम्राट्के पदपर आपका अभिषेक करनेयोग्य हैं। ठीक उसी तरह जैसे लोकस्रष्टा ब्रह्माने देवराज इन्द्रका अभिषेक किया था ॥ २२ ॥

दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम् ।
कुरङ्गशृङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम् ॥ २३ ॥

'आप राजसूय यज्ञमें दीक्षित हो तदनुकूल व्रतका पालन करनेमें तत्पर, श्रेष्ठ मृगचर्मधारी, पवित्र तथा हाथमें मृगका शृङ्ग धारण करनेवाले हों और इस रूपमें आपका दर्शन करती हुई मैं आपकी सेवामें संलग्न रहूँ—यही मेरी शुभकामना है ॥ २३ ॥

पूर्वां दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः ।
वरुणः पश्चिमामाशां धनेशस्तूत्तरां दिशम् ॥ २४ ॥

'आपकी पूर्व दिशामें वज्रधारी इन्द्र, दक्षिण

यमराज, पश्चिम दिशामें वरुण और उत्तर दिशामें कुबेर रक्षा करें' ॥ २४ ॥

अथ सीतामनुज्ञाप्य कृतकौतुकमङ्गलः।
निश्चक्राम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात् ॥ २५ ॥

तदनन्तर सीताकी अनुमति ले उत्सवकालिक मङ्गलकृत्य पूर्ण करके श्रीरामचन्द्रजी सुमन्त्रके साथ अपने महलसे बाहर निकले ॥ २५ ॥

पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरिगुहाशयः।
लक्ष्मणं द्वारि सोऽपश्यत् प्रह्वाञ्जलिपुटं स्थितम् ॥२६॥

पर्वतकी गुफामें शयन करनेवाला सिंह जैसे पर्वतसे निकलकर आता है, उसी प्रकार महलसे निकलकर श्रीरामचन्द्रजीने द्वारपर लक्ष्मणको उपस्थित देखा, जो विनीतभावसे हाथ जोड़े खड़े थे ॥ २६ ॥

अथ मध्यमकक्ष्यायां समागच्छत् सुहृज्जनैः।
स सर्वानर्थिनो दृष्ट्वा समेत्य प्रतिनन्द्य च ॥ २७ ॥
ततः पावकसंकाशमारुरोह रथोत्तमम्।
वैयाघ्रं पुरुषव्याघ्रो राजितं राजनन्दनः ॥ २८ ॥

तदनन्तर मध्यम कक्षामें आकर वे मित्रोंसे मिले। फिर प्रार्थी जनोंको उपस्थित देख उन सबसे मिलकर उन्हें संतुष्ट करके पुरुषसिंह राजकुमार श्रीराम व्याघ्रचर्मसे आवृत, शोभाशाली तथा अग्निके समान तेजस्वी उत्तम रथपर आरूढ़ हुए ॥ २७-२८ ॥

मेघनादमसम्बाधं मणिहेमविभूषितम्।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि प्रभया मेरुवर्चसम् ॥ २९ ॥

उस रथकी घरघराहट मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान प्रतीत होती थी। उसमें स्थानकी संकीर्णता नहीं थी। वह विस्तृत था और मणि एवं सुवर्णसे विभूषित था। उसकी कान्ति सुवर्णमय मेरुपर्वतके समान जान पड़ती थी। वह रथ अपनी प्रभासे लोगोंकी आँखोंमें चकाचौंध-सा पैदा कर देता था ॥

करेणुशिशुकल्पैश्च युक्तं परमवाजिभिः।
हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवाशुगम् ॥ ३० ॥

उसमें उत्तम घोड़े जुते हुए थे, जो अधिक पुष्ट होनेके कारण हाथीके बच्चोंके समान प्रतीत होते थे। जैसे सहस्र नेत्रधारी इन्द्र हरे रंगके घोड़ोंसे युक्त शीघ्रगामी रथपर सवार होते हैं, उसी प्रकार श्रीराम अपने उस रथपर आरूढ़ थे ॥

प्रययौ तूर्णमास्थाय राघवो ज्वलितः श्रिया।
स पर्जन्य इवाकाशे स्वनवानभिनादयन् ॥ ३१ ॥
निकेतान्निर्ययौ श्रीमान् महाभ्रादिव चन्द्रमाः।

अपनी सहज शोभासे प्रकाशित श्रीरघुनाथजी उस रथपर आरूढ़ हो तुरंत वहाँसे चल दिये। वह तेजस्वी रथ आकाशमें गरजनेवाले मेघकी भाँति अपनी घर्घर ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करता हुआ महान् मेघखण्डसे निकलनेवाले चन्द्रमाके समान श्रीरामके उस भवनसे बाहर निकला ॥

चित्रचामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः ॥ ३२ ॥
जुगोप भ्रातरं भ्राता रथमास्थाय पृष्ठतः।

श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण भी हाथमें विचित्र चवँर लिये उस रथपर बैठ गये और पीछेसे अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामकी रक्षा करने लगे ॥ ३२½ ॥

ततो हलहलाशब्दस्तुमुलः समजायत ॥ ३३ ॥
तस्य निष्क्रममाणस्य जनौघस्य समन्ततः।

फिर तो सब ओरसे मनुष्योंकी भारी भीड़ निकलने लगी। उस समय उस जन-समूहके चलनेसे सहसा भयंकर कोलाहल मच गया ॥ ३३½ ॥

ततो हयवरा मुख्या नागाश्च गिरिसंनिभाः ॥ ३४ ॥
अनुजग्मुस्तथा रामं शतशोऽथ सहस्रशः।

श्रीरामके पीछे-पीछे अच्छे-अच्छे घोड़े और पर्वतोंके समान विशालकाय श्रेष्ठ गजराज सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें चलने लगे ॥ ३४½ ॥

अग्रतश्चास्य संनद्धाश्चन्दनागुरुभूषिताः ॥ ३५ ॥
खड्गचापधराः शूरा जग्मुराशंसवो जनाः।

उनके आगे-आगे कवच आदिसे सुसज्जित तथा चन्दन और अगुरुसे विभूषित हो खड्ग और धनुष धारण किये बहुत-से शूरवीर तथा मङ्गलाशंसी मनुष्य—वन्दी आदि चल रहे थे ॥ ३५½ ॥

ततो वादित्रशब्दाश्च स्तुतिशब्दाश्च वन्दिनाम् ॥ ३६ ॥
सिंहनादाश्च शूराणां ततः शुश्रुविरे पथि।
हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूषिताभिः समन्ततः ॥ ३७ ॥
कीर्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिंदमः।

तदनन्तर मार्गमें वाद्योंकी ध्वनि, वन्दीजनोंके स्तुतिपाठके शब्द तथा शूरवीरोंके सिंहनाद सुनायी देने लगे। महलोंकी खिड़कियोंमें बैठी हुई वस्त्राभूषणोंसे विभूषित वनिताएँ सब ओरसे शत्रुदमन श्रीरामपर ढेर-के-ढेर सुन्दर पुष्प बिखेर रही थीं। इस अवस्थामें श्रीराम आगे बढ़ते चले जा रहे थे ॥

रामं सर्वानवद्याङ्ग्यो रामपिप्रीषया ततः ॥ ३८ ॥
वचोभिरग्र्यैर्हर्म्यस्थाः क्षितिस्थाश्च ववन्दिरे।

उस समय अट्टालिकाओं और भूतलपर खड़ी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी युवतियाँ श्रीरामका प्रिय करनेकी इच्छासे श्रेष्ठ वचनों द्वारा उनकी स्तुति गाने लगीं ॥ ३८½ ॥

नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृनन्दन ॥ ३९ ॥
पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमुपस्थितम्।

'माताको आनन्द प्रदान करनेवाले रघुवीर! आपकी यह यात्रा सफल होगी और आपको पैतृक राज्य प्राप्त होगा।

इस अवस्थामें आपको देखती हुई आपकी माता कौसल्या निश्चय ही आनन्दित हो रही होंगी ॥ ३९½ ॥

सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीतां सीमन्तिनीं वराम् ॥ ४० ॥
अमन्यन्त हि ता नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम् ।
तया सुचरितं देव्या पुरा नूनं महत् तपः ॥ ४१ ॥
रोहिणीव शशाङ्केन रामसंयोगमाप या ।

'वे नारियाँ श्रीरामकी हृदयवल्लभा सीमन्तिनी सीताको संसारकी समस्त सौभाग्यवती स्त्रियोंसे श्रेष्ठ मानती हुई कहने लगीं—'उन देवी सीताने पूर्वकालमें निश्चय ही बड़ा भारी तप किया होगा, तभी उन्होंने चन्द्रमासे संयुक्त हुई रोहिणीकी भाँति श्रीरामका संयोग प्राप्त किया है' ॥ ४०-४१½ ॥

इति प्रासादशृङ्गेषु प्रमदाभिर्नरोत्तमः ।
शुश्राव राजमार्गस्थः प्रिया वाच उदाहृताः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार राजमार्गपर रथपर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी प्रासादशिखरोंपर बैठी हुई युवती स्त्रियोंके द्वारा कही गयी ये प्यारी बातें सुन रहे थे ॥ ४२ ॥

स राघवस्तत्र तदा प्रलापा-
ञ्छुश्राव लोकस्य समागतस्य ।
आत्माधिकारा विविधाश्च वाचः
प्रहृष्टरूपस्य पुरे जनस्य ॥ ४३ ॥

उस समय अयोध्यामें आये हुए दूर-दूरके लोग अत्यन्त हर्षसे भरकर वहाँ श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें जो वार्तालाप और तरह-तरहकी बातें करते थे, अपने विषयमें कही गयी उन सभी बातोंको श्रीरघुनाथजी सुनते जा रहे थे ॥ ४३ ॥

एष श्रियं गच्छति राघवोऽद्य
राजप्रसादाद् विपुलां गमिष्यन् ।
एते वयं सर्वसमृद्धकामा
येषामयं नो भविता प्रशास्ता ॥ ४४ ॥

वे कहते थे—'इस समय ये श्रीरामचन्द्रजी महाराज दशरथकी कृपासे बहुत बड़ी सम्पत्तिके अधिकारी होने जा रहे हैं। अब हम सब लोगोंकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जायँगी, क्योंकि ये श्रीराम हमारे शासक होंगे ॥ ४४ ॥

लाभो जनस्यास्य यदेष सर्वं
प्रपत्स्यते राष्ट्रमिदं चिराय ।
न ह्यप्रियं किंचन जातु कश्चित्
पश्येन्न दुःखं मनुजाधिपेऽस्मिन् ॥ ४५ ॥

'यदि यह सारा राज्य चिरकालके लिये इनके हाथमें आ जाय तो इस जगत्‌की समस्त जनताके लिये यह महान् लाभ होगा। इनके राजा होनेपर कभी किसीका अप्रिय नहीं होगा और किसीको कोई दुःख भी नहीं देखना पड़ेगा' ॥ ४५ ॥

स घोषवद्भिश्च हयैः सनागैः
पुरःसरैः स्वस्तिकसूतमागधैः ।
महीयमानः प्रवरैश्च वादकै-
रभिष्टुतो वैश्रवणो यथा ययौ ॥ ४६ ॥

हिनहिनाते हुए घोड़ों, चिग्घाड़ते हुए हाथियों, जय-जयकार करते हुए आगे-आगे चलनेवाले वन्दियों, स्तुतिपाठ करनेवाले सूतों, वंशकी विरुदावलि बखाननेवाले मागधों तथा सर्वश्रेष्ठ गुणगायकोंके तुमुल घोषके बीच उन वन्दी आदिसे पूजित एवं प्रशंसित होते हुए श्रीरामचन्द्रजी कुबेरके समान चल रहे थे ॥ ४६ ॥

करेणुमातङ्गरथाश्वसंकुलं
महाजनौघैः परिपूर्णचत्वरम् ।
प्रभूतरत्नं बहुपण्यसंचयं
ददर्श रामो विमलं महापथम् ॥ ४७ ॥

यात्रा करते हुए श्रीरामने उस विशाल राजमार्गको देखा, जो हथिनियों, मतवाले हाथियों, रथों और घोड़ोंसे खचाखच भरा हुआ था। उसके प्रत्येक चौराहेपर मनुष्योंकी भारी भीड़ इकट्ठी हो रही थी। उसके दोनों पार्श्वभागोंमें प्रचुर रत्नोंसे भरी हुई दूकानें थीं तथा विक्रयके योग्य और भी बहुत-से द्रव्योंके ढेर वहाँ दिखायी देते थे। वह राजमार्ग बहुत साफ-सुथरा था ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥



सप्तदशः सर्गः

श्रीरामका राजपथकी शोभा देखते और सुहृदोंकी बातें सुनते हुए पिताके भवनमें प्रवेश

स रामो रथमास्थाय सम्प्रहृष्टसुहृज्जनः ।
पताकाध्वजसम्पन्नं महार्हागुरुधूपितम् ॥ १ ॥
अपश्यन्नगरं श्रीमान् नानाजनसमन्वितम् ।
स गृहैरभ्रसंकाशैः पाण्डुरैरुपशोभितम् ॥ २ ॥
राजमार्गं ययौ रामो मध्येनागुरुधूपितम् ।

इस प्रकार श्रीमान् रामचन्द्रजी अपने सुहृदोंको आनन्द प्रदान करते हुए रथपर बैठे राजमार्गके बीचसे चले जा रहे थे; उन्होंने देखा—सारा नगर ध्वजा और पताकाओंसे सुशोभित हो रहा है; चारों ओर बहुमूल्य अगुरुनामक धूपकी सुगन्ध छा रही है और सब ओर असंख्य मनुष्योंकी भीड़ दिखायी

देती है। वह राजमार्ग श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल भव्य भवनोंसे सुशोभित तथा अगुरुकी सुगन्धसे व्याप्त हो रहा था ॥

चन्दनानां च मुख्यानामगुरूणां च संचयैः ॥ ३ ॥
उत्तमानां च गन्धानां क्षौमकौशाम्बरस्य च ।
अविद्धाभिश्च मुक्ताभिरुत्तमैः स्फाटिकैरपि ॥ ४ ॥
शोभमानमसम्बाधं तं राजपथमुत्तमम् ।
संवृतं विविधैः पुष्पैर्भक्ष्यैरुच्चावचैरपि ॥ ५ ॥
ददर्श तं राजपथं दिवि देवपतिर्यथा ।
दध्यक्षतहविर्लाजैर्धूपैरगुरुचन्दनैः ॥ ६ ॥
नानामाल्योपगन्धैश्च सदाभ्यर्चितचत्वरम् ।

अच्छी श्रेणीके चन्दनों, अगुरु नामक धूपों, उत्तम गन्ध-द्रव्यों, अलसी या सन आदिके रेशोंसे बने हुए कपड़ों तथा रेशमी वस्त्रोंके ढेर, अनविंधे मोती और उत्तमोत्तम स्फटिक रत्न उस विस्तृत एवं उत्तम राजमार्गकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह नाना प्रकारके पुष्पों तथा भाँति-भाँतिके भक्ष्य पदार्थोंसे भरा हुआ था। उसके चौराहोंकी दही, अक्षत, हविष्य, लावा, धूप, अगर, चन्दन, नाना प्रकारके पुष्पहार और गन्ध-द्रव्योंसे सदा पूजा की जाती थी। स्वर्गलोकमें बैठे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति रथारूढ़ श्रीरामने उस राजमार्गको देखा ॥

आशीर्वादान् बहूञ्शृण्वन् सुहृद्भिः समुदीरितान् ॥ ७ ॥
यथार्हं चापि सम्पूज्य सर्वानेव नरान् ययौ ।

वे अपने सुहृदोंके मुखसे कहे गये बहुत-से आशीर्वादोंको सुनते और यथायोग्य उन सब लोगोंका सम्मान करते हुए चले जा रहे थे ॥ ७½ ॥

पितामहैराचरितं तथैव प्रपितामहैः ॥ ८ ॥
अद्योपादाय तं मार्गमभिषिक्तोऽनुपालय ।

(उनके हितैषी सुहृद् कहते थे—) 'रघुनन्दन! तुम्हारे पितामह और प्रपितामह (दादे और परदादे) जिसपर चलते आये हैं, आज उसी मार्गको ग्रहण करके युवराज-पदपर अभिषिक्त हो आप हम सब लोगोंका निरन्तर पालन करें' ॥

यथा स्म पोषिताः पित्रा यथा सर्वैः पितामहैः ।
ततः सुखतरं सर्वे रामे वत्स्याम राजनि ॥ ९ ॥

(फिर वे आपसमें कहने लगे—) 'भाइयो! श्रीरामके पिता तथा समस्त पितामहोंद्वारा जिस प्रकार हमलोगोंका पालन-पोषण हुआ है, श्रीरामके राजा होनेपर हम उससे भी अधिक सुखी रहेंगे ॥ ९ ॥

अलमद्य हि भुक्तेन परमार्थैरलं च नः ।
यदि पश्याम निर्यान्तं रामं राज्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

'यदि हम राज्यपर प्रतिष्ठित हुए श्रीरामको पिताके घरसे निकलते हुए देख लें—यदि राजा रामका दर्शन कर लें तो अब हमें इहलोकके भोग और परमार्थस्वरूप मोक्ष लेकर क्या करना है ॥ १० ॥

ततो हि नः प्रियतरं नान्यत् किंचिद् भविष्यति ।
यथाभिषेको रामस्य राज्येनामिततेजसः ॥ ११ ॥

'अमिततेजस्वी श्रीरामका यदि राज्यपर अभिषेक हो जाय तो वह हमारे लिये जैसा प्रियतर कार्य होगा, उससे बढ़कर दूसरा कोई परम प्रिय कार्य नहीं होगा' ॥ ११ ॥

एताश्चान्याश्च सुहृदामुदासीनः शुभाः कथाः ।
आत्मसम्पूजनीः शृण्वन् ययौ रामो महापथम् ॥ १२ ॥

सुहृदोंके मुँहसे निकली हुई ये तथा और भी कई तरहकी अपनी प्रशंसासे सम्बन्ध रखनेवाली सुन्दर बातें सुनते हुए श्रीरामचन्द्रजी राजपथपर बढ़े चले जा रहे थे ॥ १२ ॥

न हि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात् ।
नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ॥ १३ ॥

(जो श्रीरामकी ओर एक बार देख लेता, वह उन्हें देखता ही रह जाता था।) श्रीरघुनाथजीके दूर चले जानेपर भी कोई उन पुरुषोत्तमकी ओरसे अपना मन या दृष्टि नहीं हटा पाता था ॥ १३ ॥

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति ।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥ १४ ॥

उस समय जो श्रीरामको नहीं देखता और जिसे श्रीराम नहीं देख लेते थे, वह समस्त लोकोंमें निन्दित समझा जाता था तथा स्वयं उसकी अन्तरात्मा भी उसे धिक्कारती थी ॥ १४ ॥

सर्वेषु स हि धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम् ।
चतुर्णां हि वयःस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ॥ १५ ॥

धर्मात्मा श्रीराम चारों वर्णोंके सभी मनुष्योंपर उनकी अवस्थाके अनुरूप दया करते थे, इसलिये वे सभी उनके भक्त थे ॥ १५ ॥

चतुष्पथान् देवपथांश्चैत्यांश्चायतनानि च ।
प्रदक्षिणं परिहरञ्जगाम नृपतेः सुतः ॥ १६ ॥

राजकुमार श्रीराम चौराहों, देवमार्गों, चैत्यवृक्षों तथा देवमन्दिरोंको अपने दाहिने छोड़ते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥

स राजकुलमासाद्य मेघसङ्घोपमैः शुभैः ।
प्रासादशृङ्गैर्विविधैः कैलासशिखरोपमैः ॥ १७ ॥
आवारयद्भिर्गगनं विमानैरिव पाण्डुरैः ।
वर्धमानगृहैश्चापि रत्नजालपरिष्कृतैः ॥ १८ ॥
तत् पृथिव्यां गृहवरं महेन्द्रसदनोपमम् ।
राजपुत्रः पितुर्वेश्म प्रविवेश श्रिया ज्वलन् ॥ १९ ॥

राजा दशरथका भवन मेघसमूहोंके समान शोभा पानेवाले, सुन्दर अनेक रूप-रंगवाले कैलासशिखरके समान उज्ज्वल प्रासादशिखरों (अट्टालिकाओं) से सुशोभित था। उसमें रत्नोंकी जालीसे विभूषित तथा विमानाकार क्रीडागृह

भी बने हुए थे, जो अपनी श्वेत आभासे प्रकाशित होते थे। वे अपनी ऊँचाईसे आकाशको भी लाँघते हुए-से प्रतीत होते थे; ऐसे गृहोंसे युक्त वह श्रेष्ठ भवन इस भूतलपर इन्द्रसदनके समान शोभा पाता था। उस राजभवनके पास पहुँचकर अपनी शोभासे प्रकाशित होनेवाले राजकुमार श्रीरामने पिताके महल-में प्रवेश किया ॥ १७—१९ ॥

स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभिः।
पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः ॥ २० ॥

उन्होंने धनुर्धर वीरोंद्वारा सुरक्षित महलकी तीन ड्यौढ़ियों-को तो घोड़े जुते हुए रथसे ही पार किया, फिर दो ड्यौढ़ियों-में वे पुरुषोत्तम राम पैदल ही गये ॥ २० ॥

स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः।
संनिवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान्तःपुरमत्यगात् ॥ २१ ॥

इस प्रकार सारी ड्यौढ़ियोंको पार करके दशरथनन्दन श्रीराम साथ आये हुए सब लोगोंको लौटाकर स्वयं अन्तःपुरमें गये ॥ २१ ॥

तस्मिन् प्रविष्टे पितुरन्तिकं तदा
जनः स सर्वो मुदितो नृपात्मजे।
प्रतीक्षते तस्य पुनः स्म निर्गमं
यथोदयं चन्द्रमसः सरित्पतिः ॥ २२ ॥

जब राजकुमार श्रीराम पिताके पास जानेके लिये अन्तः-पुरमें प्रविष्ट हुए, तब आनन्दमग्न हुए सब लोग बाहर खड़े होकर उनके पुनः निकलनेकी प्रतीक्षा करने लगे, ठीक उसी तरह जैसे सरिताओंका स्वामी समुद्र चन्द्रोदयकी प्रतीक्षा करता रहता है ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामका कैकेयीसे पिताके चिन्तित होनेका कारण पूछना और कैकेयीका कठोरतापूर्वक अपने माँगे हुए वरोंका वृत्तान्त बताकर श्रीरामको वनवासके लिये प्रेरित करना

स ददर्शासने रामो विषण्णं पितरं शुभे।
कैकेय्या सहितं दीनं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥

महलमें जाकर श्रीरामने पिताको कैकेयीके साथ एक सुन्दर आसनपर बैठे देखा। वे विषादमें डूबे हुए थे, उनका मुँह सूख गया था और वे बड़े दयनीय दिखायी देते थे ॥ १ ॥

स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतवत्।
ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः ॥ २ ॥

निकट पहुँचनेपर श्रीरामने विनीतभावसे पहले अपने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया; उसके बाद बड़ी सावधानीके साथ उन्होंने कैकेयीके चरणोंमें भी मस्तक झुकाया ॥ २ ॥

रामेत्युक्त्वा तु वचनं बाष्पपर्याकुलेक्षणः।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम् ॥ ३ ॥

उस समय दीनदशामें पड़े हुए राजा दशरथ एक बार 'राम!' ऐसा कहकर चुप हो गये (इससे आगे उनसे बोला नहीं गया)। उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये, अतः वे श्रीरामकी ओर न तो देख सके और न उनसे कोई बात ही कर सके ॥ ३ ॥

तदपूर्वं नरपतेर्दृष्ट्वा रूपं भयावहम्।
रामोऽपि भयमापन्नः पदा स्पृष्ट्वेव पन्नगम् ॥ ४ ॥

राजाका वह अभूतपूर्व भयंकर रूप देखकर श्रीरामको भी भय हो गया, मानो उन्होंने पैरसे किसी सर्पको छू दिया हो ॥ ४ ॥

इन्द्रियैरप्रहृष्टैस्तं शोकसंतापकर्शितम्।
निःश्वसन्तं महाराजं व्यथिताकुलचेतसम् ॥ ५ ॥
ऊर्मिमालिनमक्षोभ्यं क्षुभ्यन्तमिव सागरम्।
उपप्लुतमिवादित्यमुक्तानृतमृषिं यथा ॥ ६ ॥

राजाकी इन्द्रियोंमें प्रसन्नता नहीं थी; वे शोक और संतापसे दुर्बल हो रहे थे, बारंबार लंबी साँसें भरते थे तथा उनके चित्तमें बड़ी व्यथा और व्याकुलता थी। वे ऐसे दीखते थे; मानो तरङ्गमालाओंसे उपलक्षित अक्षोभ्य समुद्र क्षुब्ध हो उठा हो, सूर्यको राहुने ग्रस लिया हो अथवा किसी महर्षिने झूठ बोल दिया हो ॥

अचिन्त्यकल्पं नृपतेस्तं शोकमुपधारयन्।
बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि ॥ ७ ॥

राजाका वह शोक सम्भावनासे परे था। इस शोकका क्या कारण है—यह सोचते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूर्णिमाके समुद्रकी भाँति अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठे ॥ ७ ॥

चिन्तयामास चतुरो रामः पितृहिते रतः।
किंस्विदद्यैव नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति ॥ ८ ॥

पिताके हितमें तत्पर रहनेवाले परम चतुर श्रीराम सोचने लगे कि 'आज ही ऐसी क्या बात हो गयी, जिससे महाराज मुझसे प्रसन्न होकर बोलते नहीं हैं' ॥ ८ ॥

अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति।
तस्य मामद्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते॥ ९॥

'और दिन तो पिताजी कुपित होनेपर भी मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाते थे, आज मेरी ओर दृष्टिपात करके इन्हें क्लेश क्यों हो रहा है?' ॥ ९॥

स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः।
कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत्॥ १०॥

यह सब सोचकर श्रीराम दीन-से हो गये, शोकसे कातर हो उठे, विषादके कारण उनके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी। वे कैकेयीको प्रणाम करके उसीसे पूछने लगे—॥ १०॥

कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद् येन मे पिता।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय॥ ११॥

'मा! मुझसे अनजानमें कोई अपराध तो नहीं हो गया, जिससे पिताजी मुझपर नाराज हो गये हैं। तुम यह बात मुझे बताओ और तुम्हीं इन्हें मना दो॥ ११॥

अप्रसन्नमनाः किं नु सदा मां प्रति वत्सलः।
विषण्णवदनो दीनः नहि मां प्रति भाषते॥ १२॥

'ये तो सदा मुझे प्यार करते थे, आज इनका मन अप्रसन्न क्यों हो गया? देखता हूँ, ये आज मुझसे बोलतेतक नहीं हैं, इनके मुखपर विषाद छा रहा है और ये अत्यन्त दुखी हो रहे हैं॥ १२॥

शारीरो मानसो वापि कच्चिदेनं न बाधते।
संतापो वाभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम्॥ १३॥

'कोई शारीरिक व्याधिजनित संताप अथवा मानसिक अभिताप (चिन्ता) तो इन्हें पीड़ित नहीं कर रहा है? क्योंकि मनुष्यको सदा सुख-ही-सुख मिले—ऐसा सुयोग प्रायः दुर्लभ होता है॥ १३॥

कच्चिन्न किंचिद् भरते कुमारे प्रियदर्शने।
शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातॄणां वा ममाशुभम्॥ १४॥

'प्रियदर्शन कुमार भरत, महाबली शत्रुघ्न अथवा मेरी माताओंका तो कोई अमङ्गल नहीं हुआ है? ॥ १४॥

अतोषयन् महाराजमकुर्वन् वा पितुर्वचः।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे॥ १५॥

'महाराजको असंतुष्ट करके अथवा इनकी आज्ञा न मानकर इन्हें कुपित कर देनेपर मैं दो घड़ी भी जीवित रहना नहीं चाहूँगा॥ १५॥

यतोमूलं नरः पश्येत् प्रादुर्भावमिहात्मनः।
कथं तस्मिन् न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते॥ १६॥

'मनुष्य जिसके कारण इस जगत्में अपना प्रादुर्भाव (जन्म) देखता है, उस प्रत्यक्ष देवता पिताके जीते-जी वह उसके अनुकूल बर्ताव क्यों न करेगा?॥ १६॥

कच्चित्ते परुषं किंचिदभिमानात् पिता मम।
उक्तो भवत्या रोषेण येनास्य लुलितं मनः॥ १७॥

'कहीं तुमने तो अभिमान या रोषके कारण मेरे पिताजीसे कोई कठोर बात नहीं कह डाली, जिससे इनका मन दुखी हो गया है? ॥ १७॥

एतदाचक्ष्व मे देवि तत्त्वेन परिपृच्छतः।
किंनिमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे॥ १८॥

'देवि! मैं सच्ची बात पूछता हूँ, बताओ, किस कारणसे महाराजके मनमें आज इतना विकार (संताप) है? इनकी ऐसी अवस्था तो पहले कभी नहीं देखी गयी थी' ॥ १८॥

एवमुक्ता तु कैकेयी राघवेण महात्मना।
उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः॥ १९॥

महात्मा श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर अत्यन्त निर्लज्ज कैकेयी बड़ी ढिठाईके साथ अपने मतलबकी बात इस प्रकार बोली—॥ १९॥

न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किंचन।
किंचिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नानुभाषते॥ २०॥

'राम! महाराज कुपित नहीं हैं और न इन्हें कोई कष्ट ही हुआ है। इनके मनमें कोई बात है, जिसे तुम्हारे डरसे ये कह नहीं पा रहे हैं॥ २०॥

प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्य प्रवर्तते।
तदवश्यं त्वया कार्यं यदनेनाश्रुतं मम॥ २१॥

'तुम इनके प्रिय हो, तुमसे कोई अप्रिय बात कहनेके लिये इनकी जबान नहीं खुलती; किंतु इन्होंने जिस कार्यके लिये मेरे सामने प्रतिज्ञा की है, उसका तुम्हें अवश्य पालन करना चाहिये॥ २१॥

एष मह्यं वरं दत्त्वा पुरा मामभिपूज्य च।
स पश्चात् तप्यते राजा यथान्यः प्राकृतस्तथा॥ २२॥

'इन्होंने पहले तो मेरा सत्कार करते हुए मुझे मुँह-माँगा वरदान दे दिया और अब ये दूसरे गँवार मनुष्योंकी भाँति उसके लिये पश्चात्ताप करते हैं॥ २२॥

अतिसृज्य ददानीति वरं मम विशाम्पतिः।
स निरर्थं गतजले सेतुं बन्धितुमिच्छति॥ २३॥

'ये प्रजानाथ पहले 'मैं दूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करके मुझे वर दे चुके हैं और अब उसके निवारणके लिये व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हैं, पानी निकल जानेपर उसे रोकनेके लिये बाँध बाँधनेकी निरर्थक चेष्टा करते हैं॥ २३॥

धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि।
तत् सत्यं न त्यजेद् राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा॥ २४॥

'राम! सत्य ही धर्मकी जड़ है, यह सत्पुरुषोंका भी

निश्चय है। कहीं ऐसा न हो कि ये महाराज तुम्हारे कारण मुझपर कुपित होकर अपने उस सत्यको ही छोड़ बैठें। जैसे भी इनके सत्यका पालन हो, वैसा तुम्हें करना चाहिये ॥ २४ ॥

यदि तद् वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाशुभम्।
करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम् ॥ २५ ॥

'यदि राजा जिस बातको कहना चाहते हैं, वह शुभ हो या अशुभ, तुम सर्वथा उसका पालन करो तो मैं सारी बात पुनः तुमसे कहूँगी ॥ २५ ॥

यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते।
ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति ॥ २६ ॥

'यदि राजाकी कही हुई बात तुम्हारे कानोंमें पड़कर वहीं नष्ट न हो जाय—यदि तुम उनकी प्रत्येक आज्ञाका पालन कर सको तो मैं तुमसे सब कुछ खोलकर बता दूँगी, ये स्वयं तुमसे कुछ नहीं कहेंगे' ॥ २६ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या समुदाहृतम्।
उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसंनिधौ ॥ २७ ॥

कैकेयीकी कही हुई यह बात सुनकर श्रीरामके मनमें बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने राजाके समीप ही देवी कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ २७ ॥

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ॥ २८ ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥ २९ ॥
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥ ३० ॥

'अहो! धिक्कार है! देवि! तुम्हें मेरे प्रति ऐसी बात मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये। मैं महाराजके कहनेसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीव्र विषका भी भक्षण कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता हूँ! महाराज मेरे गुरु, पिता और हितैषी हैं, मै उनकी आज्ञा पाकर क्या नहीं कर सकता? इसलिये देवि! राजाको जो अभीष्ट है, वह बात मुझे बताओ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, उसे पूर्ण करूँगा। राम दो तरहकी बात नहीं करता है' ॥ २८—३० ॥

तमार्जवसमायुक्तमनार्या सत्यवादिनम्।
उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम् ॥ ३१ ॥

श्रीराम सरल स्वभावसे युक्त और सत्यवादी थे, उनकी बात सुनकर अनार्या कैकेयीने अत्यन्त दारुण वचन कहना आरम्भ किया—॥ ३१ ॥

पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव।
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे ॥ ३२ ॥

'रघुनन्दन! पहलेकी बात है, देवासुरसंग्राममें तुम्हारे पिता शत्रुओंके बाणोंसे बिंध गये थे, उस महासमरमें मैंने इनकी रक्षा की थी, उससे प्रसन्न होकर इन्होंने मुझे दो वर दिये थे ॥ ३२ ॥

तत्र मे याचितो राजा भरतस्याभिषेचनम्।
गमनं दण्डकारण्ये तव चाद्यैव राघव ॥ ३३ ॥

'राघव! उन्हींमेंसे एक वरके द्वारा तो मैंने महाराजसे यह याचना की है कि भरतका राज्याभिषेक हो और दूसरा वर यह माँगा है कि तुम्हें आज ही दण्डकारण्यमें भेज दिया जाय ॥ ३३ ॥

यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि।
आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु ॥ ३४ ॥

'नरश्रेष्ठ! यदि तुम अपने पिताको सत्यप्रतिज्ञ बनाना चाहते हो और अपनेको भी सत्यवादी सिद्ध करनेकी इच्छा रखते हो तो मेरी यह बात सुनो ॥ ३४ ॥

संनिदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम्।
त्वयारण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ ३५ ॥

'तुम पिताकी आज्ञाके अधीन रहो, जैसी इन्होंने प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार तुम्हें चौदह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ३५ ॥

भरतश्चाभिषिच्येत यदेतदभिषेचनम्।
त्वदर्थे विहितं राज्ञा तेन सर्वेण राघव ॥ ३६ ॥

'रघुनन्दन! राजाने तुम्हारे लिये जो यह अभिषेकका सामान जुटाया है, उस सबके द्वारा यहाँ भरतका अभिषेक किया जाय ॥ ३६ ॥

सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः।
अभिषेकमिदं त्यक्त्वा जटाचीरधरो भव ॥ ३७ ॥

'और तुम इस अभिषेकको त्यागकर चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें रहते हुए जटा और चीर धारण करो ॥ ३७ ॥

भरतः कोसलपतेः प्रशास्तु वसुधामिमाम्।
नानारत्नसमाकीर्णां सवाजिरथसंकुलाम् ॥ ३८ ॥

'कोसलनरेशकी इस वसुधाका, जो नाना प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी और घोड़े तथा रथोंसे व्याप्त है, भरत शासन करें ॥ ३८ ॥

एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारुण्येन समाप्लुतः।
शोकैः संक्लिष्टवदनो न शक्नोति निरीक्षितुम् ॥ ३९ ॥

'बस, इतनी ही बात है, ऐसा करनेसे तुम्हारे वियोगका कष्ट सहन करना पड़ेगा, यह सोचकर महाराज करुणामें डूब रहे हैं। इसी शोकसे इनका मुख सूख गया है और इन्हें तुम्हारी ओर देखनेका साहस नहीं होता ॥ ३९ ॥

एतत् कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन।

सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम् ॥ ४० ॥

'रघुनन्दन राम ! तुम राजाकी इस आज्ञाका पालन करो और इनके महान् सत्यकी रक्षा करके इन नरेशको संकटसे उबार लो' ॥ ४० ॥

इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां
न चैव रामः प्रविवेश शोकम् ।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो
राजा च पुत्रव्यसनाभितप्तः ॥ ४१ ॥

कैकेयीके इस प्रकार कठोर वचन कहनेपर भी श्रीरामके हृदयमें शोक नहीं हुआ, परंतु महानुभाव राजा दशरथ पुत्रके भावी वियोगजनित दुःखसे संतप्त एवं व्यथित हो उठे ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

श्रीरामकी कैकेयीके साथ बातचीत और वनमें जाना स्वीकार करके उनका माता कौसल्याके पास आज्ञा लेनेके लिये जाना

तदप्रियममित्रघ्नो वचनं मरणोपमम् ।
श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वह अप्रिय तथा मृत्युके समान कष्टदायक वचन सुनकर भी शत्रुसूदन श्रीराम व्यथित नहीं हुए । उन्होंने कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः ।
जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २ ॥

'मा ! बहुत अच्छा ! ऐसा ही हो । मैं महाराजकी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये जटा और चीर धारण करके वनमें रहनेके निमित्त अवश्य यहाँसे चला जाऊँगा ॥ २ ॥

इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः ।
नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापूर्वमरिंदमः ॥ ३ ॥

'परंतु मैं यह जानना चाहता हूँ कि आज दुर्जय तथा शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज मुझसे पहलेकी तरह प्रसन्नतापूर्वक बोलते क्यों नहीं हैं ? ॥ ३ ॥

मन्युर्न च त्वया कार्यो देवि ब्रूमि तवाग्रतः ।
यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः ॥ ४ ॥

'देवि ! मैं तुम्हारे सामने ऐसी बात पूछ रहा हूँ, इसलिये तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये । निश्चय चीर और जटा धारण करके मैं वनको चला जाऊँगा, तुम प्रसन्न रहो ॥ ४ ॥

हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च ।
नियुज्यमानो विस्रब्धः किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥ ५ ॥

'राजा मेरे हितैषी, गुरु, पिता और कृतज्ञ हैं । इनकी आज्ञा होनेपर मैं इनका कौन-सा ऐसा प्रिय कार्य है, जिसे निःशङ्क होकर न कर सकूँ ? ॥ ५ ॥

अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम ।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥ ६ ॥

'किंतु मेरे मनको एक ही हार्दिक दुःख अधिक जला रहा है कि स्वयं महाराजने मुझसे भरतके अभिषेककी बात नहीं कही ॥ ६ ॥

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च ।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः ॥ ७ ॥

'मैं केवल तुम्हारे कहनेसे भी अपने भाई भरतके लिये इस राज्यको, सीताको, प्यारे प्राणोंको तथा सारी सम्पत्तिको भी प्रसन्नतापूर्वक स्वयं ही दे सकता हूँ ॥ ७ ॥

किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः ।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ ८ ॥

'फिर यदि स्वयं महाराज—मेरे पिताजी आज्ञा दें और वह भी तुम्हारा प्रिय कार्य करनेके लिये, तो मैं प्रतिज्ञाका पालन करते हुए उस कार्यको क्यों नहीं करूँगा ? ॥ ८ ॥

तथाश्वासय ह्रीमन्तं किं त्विदं यन्महीपतिः ।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति ॥ ९ ॥

'तुम मेरी ओरसे विश्वास दिलाकर इन लज्जाशील महाराजको आश्वासन दो । ये पृथ्वीनाथ पृथ्वीकी ओर दृष्टि किये धीरे-धीरे आँसू क्यों बहा रहे हैं ? ॥ ९ ॥

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात् ॥ १० ॥

'आज ही महाराजकी आज्ञासे दूत शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर भरतको मामाके यहाँसे बुलानेके लिये चले जायँ॥

दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः ।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश ॥ ११ ॥

मैं अभी पिताकी बातपर कोई विचार न करके चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेके लिये तुरंत दण्डकारण्यको चला ही जाता हूँ' ॥ ११ ॥

सा हृष्टा तस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकयी ।
प्रस्थानं श्रद्दधाना सा त्वरयामास राघवम् ॥ १२ ॥

श्रीरामकी यह बात सुनकर कैकेयी बहुत प्रसन्न हुई । उसे विश्वास हो गया कि ये वनको चले जायँगे । अतः श्रीरामको जल्दी जानेकी प्रेरणा देती हुई वह बोली—॥ १२ ॥

एवं भवतु यास्यन्ति दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादिहावर्तयितुं नराः ॥ १३ ॥

'तुम ठीक कहते हो, ऐसा ही होना चाहिये । भरतको मामाके यहाँसे बुला लानेके लिये दूतलोग शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर अवश्य जायँगे ॥ १३ ॥

तव त्वहं क्षमं मन्ये नोत्सुकस्य विलम्बनम् ।
राम तस्मादितः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

'परंतु राम ! तुम वनमें जानेके लिये स्वयं ही उत्सुक जान पड़ते हो; अतः तुम्हारा विलम्ब करना मैं ठीक नहीं समझती । जितना शीघ्र सम्भव हो, तुम्हें यहाँसे वनको चल देना चाहिये ॥ १४ ॥

व्रीडान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वां नाभिभाषते ।
नैतत् किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥ १५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! राजा लज्जित होनेके कारण जो स्वयं तुमसे नहीं कहते हैं, यह कोई विचारणीय बात नहीं है । अतः इसका दुःख तुम अपने मनसे निकाल दो ॥ १५ ॥

यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादतित्वरम् ।
पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा ॥ १६ ॥

'श्रीराम ! तुम जबतक अत्यन्त उतावलीके साथ इस नगरसे वनको नहीं चले जाते, तबतक तुम्हारे पिता स्नान अथवा भोजन नहीं करेंगे' ॥ १६ ॥

धिक्कष्टमिति निःश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः ।
मूर्च्छितो न्यपतत् तस्मिन् पर्यङ्के हेमभूषिते ॥ १७ ॥

कैकेयीकी यह बात सुनकर शोकमें डूबे हुए राजा दशरथ लंबी साँस खींचकर बोले—'धिक्कार है ! हाय ! बड़ा कष्ट हुआ !' इतना कहकर वे मूर्च्छित हो उस सुवर्णभूषित पलंगपर गिर पड़े ॥ १७ ॥

रामोऽप्युत्थाप्य राजानं कैकेय्याभिप्रचोदितः ।
कशयेव हतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः ॥ १८ ॥

उस समय श्रीरामने राजाको उठाकर बैठा दिया और कैकेयीसे प्रेरित हो कोड़ेकी चोट खाये हुए घोड़ेकी भाँति वे शीघ्रतापूर्वक वनको जानेके लिये उतावले हो उठे ॥ १८ ॥

तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोदयम् ।
श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥

अनार्या कैकेयीके उस अप्रिय एवं दारुण वचनको सुनकर भी श्रीरामके मनमें व्यथा नहीं हुई । वे कैकेयीसे बोले—॥ १९ ॥

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ॥ २० ॥

'देवि ! मैं धनका उपासक होकर संसारमें नहीं रहना चाहता । तुम विश्वास रखो ! मैंने भी ऋषियोंकी ही भाँति निर्मल धर्मका आश्रय ले रखा है ॥ २० ॥

यत् तत्र भवतः किंचिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया ।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥ २१ ॥

'पूज्य पिताजीका जो भी प्रिय कार्य मैं कर सकता हूँ, उसे प्राण देकर भी करूँगा । तुम उसे सर्वथा मेरे द्वारा हुआ ही समझो ॥ २१ ॥

न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥ २२ ॥

'पिताकी सेवा अथवा उनकी आज्ञाका पालन करना, जैसा महत्त्वपूर्ण धर्म है, उससे बढ़कर संसारमें दूसरा कोई धर्माचरण नहीं है ॥ २२ ॥

अनुक्तोऽप्यत्र भवता भवत्या वचनादहम् ।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥ २३ ॥

'यद्यपि पूज्य पिताजीने स्वयं मुझसे नहीं कहा है, तथापि मैं तुम्हारे ही कहनेसे चौदह वर्षोंतक इस भूतलपर निर्जन वनमें निवास करूँगा ॥ २३ ॥

न नूनं मयि कैकेयि किंचिदाशंससे गुणान् ।
यद् राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती ॥ २४ ॥

'कैकेयि ! तुम्हारा मुझपर पूरा अधिकार है । मैं तुम्हारी प्रत्येक आज्ञाका पालन कर सकता हूँ; फिर भी तुमने स्वयं मुझसे न कहकर इस कार्यके लिये महाराजसे कहा—इनको कष्ट दिया । इससे जान पड़ता है कि तुम मुझमें कोई गुण नहीं देखती हो ॥ २४ ॥

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम् ।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद् वनम् ॥ २५ ॥

'अच्छा ! अब मैं माता कौसल्यासे आज्ञा ले लूँ और सीताको भी समझा-बुझा लूँ, इसके बाद आज ही विशाल दण्डकवनकी यात्रा करूँगा ॥ २५ ॥

भरतः पालयेद् राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा ।
तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥ २६ ॥

'तुम ऐसा प्रयत्न करना, जिससे भरत इस राज्यका पालन और पिताजीकी सेवा करते रहें; क्योंकि यही सनातन धर्म है' ॥ २६ ॥

रामस्य तु वचः श्रुत्वा भृशं दुःखगतः पिता ।
शोकादशक्नुवन् वक्तुं प्ररुरोद

श्रीरामका यह वचन सुनकर पिताको बहुत दुःख हुआ। वे शोकके आवेगसे कुछ बोल न सके, केवल फूट-फूटकर रोने लगे ॥ २७ ॥

वन्दित्वा चरणौ राज्ञो विसंज्ञस्य पितुस्तदा।
कैकेय्याश्चाप्यनार्याया निष्पपात महाद्युतिः ॥ २८ ॥

महातेजस्वी श्रीराम उस समय अचेत पड़े हुए पिता महाराज दशरथ तथा अनार्या कैकेयीके भी चरणोंमें प्रणाम करके उस भवनसे निकले ॥ २८ ॥

स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम्।
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्मात् स्वं ददर्श सुहृज्जनम् ॥ २९ ॥

पिता दशरथ और माता कैकेयीकी परिक्रमा करके उस अन्तःपुरसे बाहर निकलकर श्रीराम अपने सुहृदोंसे मिले ॥

तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनुजगाम ह।
लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ३० ॥

सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले लक्ष्मण उस अन्यायको देखकर अत्यन्त कुपित हो उठे थे, तथापि दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर वे चुपचाप श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे चले गये ॥

आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम्।
शनैर्जगाम सापेक्षो दृष्टिं तत्राविचालयन् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके मनमें अब वन जानेकी आकाङ्क्षाका उदय हो गया था, अतः अभिषेकके लिये एकत्र की हुई सामग्रियोंकी प्रदक्षिणा करते हुए वे धीरे-धीरे आगे बढ़ गये। उनकी ओर उन्होंने दृष्टिपात नहीं किया ॥ ३१ ॥

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः ॥ ३२ ॥

श्रीराम अविनाशी कान्तिसे युक्त थे, इसलिये उस समय राज्यका न मिलना उन लोककमनीय श्रीरामकी महती शोभामें कोई अन्तर न डाल सका; जैसे चन्द्रमाका क्षीण होना उसकी सहज शोभाका अपकर्ष नहीं कर पाता है ॥ ३२ ॥

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुंधराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥ ३३ ॥

वे वनमें जानेको उत्सुक थे और सारी पृथ्वीका राज्य छोड़ रहे थे; फिर भी उनके चित्तमें सर्वलोकातीत जीवन्मुक्त महात्माकी भाँति कोई विकार नहीं देखा गया ॥ ३३ ॥

प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलंकृते।
विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान् ॥ ३४ ॥
धारयन् मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च।
प्रविवेशात्मवान् वेश्म मातुरप्रियशंसिवान् ॥ ३५ ॥

श्रीरामने अपने ऊपर सुन्दर छत्र लगानेकी मनाही कर दी। डुलाये जानेवाले सुसज्जित चँवर भी रोक दिये। वे रथको लौटाकर स्वजनों तथा पुरवासी मनुष्योंको भी विदा करके (आत्मीय जनोंके दुःखसे होनेवाले) दुःखको मनमें ही दबाकर इन्द्रियोंको काबूमें करके यह अप्रिय समाचार सुनानेके लिये माता कौसल्याके महलमें गये। उस समय उन्होंने मनको पूर्णतः वशमें कर रखा था ॥ ३४-३५ ॥

सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमाञ्श्रीमतः सत्यवादिनः।
नालक्षयत रामस्य कंचिदाकारमानने ॥ ३६ ॥

जो शोभाशाली मनुष्य सदा सत्यवादी श्रीमान् रामके निकट रहा करते थे, उन्होंने भी उनके मुखपर कोई विकार नहीं देखा ॥ ३६ ॥

उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान्।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम् ॥ ३७ ॥

मनको वशमें रखनेवाले महाबाहु श्रीरामने अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता उसी तरह नहीं छोड़ी थी, जैसे शरद्-कालका उद्दीप्त किरणोंवाला चन्द्रमा अपने सहज तेजका परित्याग नहीं करता है ॥ ३७ ॥

वाचा मधुरया रामः सर्वं सम्मानयञ्जनम्।
मातुः समीपं धर्मात्मा प्रविवेश महायशाः ॥ ३८ ॥

महायशस्वी धर्मात्मा श्रीराम मधुर वाणीसे सब लोगोंका सम्मान करते हुए अपनी माताके समीप गये ॥ ३८ ॥

तं गुणैः समतां प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः।
सौमित्रिरनुवव्राज धारयन् दुःखमात्मजम् ॥ ३९ ॥

उस समय गुणोंमें श्रीरामकी ही समानता करनेवाले महापराक्रमी भ्राता सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी अपने मानसिक दुःखको मनमें ही धारण किये हुए श्रीरामके पीछे-पीछे गये ॥

प्रविश्य वेश्मातिभृशं मुदा युतं
समीक्ष्य तां चार्थविपत्तिमागताम्।
न चैव रामोऽत्र जगाम विक्रियां
सुहृज्जनस्यात्मविपत्तिशङ्कया ॥ ४० ॥

अत्यन्त आनन्दसे भरे हुए उस भवनमें प्रवेश करके लौकिक दृष्टिसे अपने अभीष्ट अर्थका विनाश हुआ देखकर भी हितैषी सुहृदोंके प्राणोंपर संकट आ जानेकी आशङ्कासे श्रीरामने यहाँ अपने मुखपर कोई विकार नहीं प्रकट होने दिया ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

राजा दशरथकी अन्य रानियोंका विलाप, श्रीरामका कौसल्याजीके भवनमें जाना और उन्हें अपने वनवासकी बात बताना, कौसल्याका अचेत होकर गिरना और श्रीरामके उठा देनेपर उनकी ओर देखकर विलाप करना

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र निष्क्रामति कृताञ्जलौ।
आर्तशब्दो महान् जज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे तदा ॥ १ ॥

उधर पुरुषसिंह श्रीराम हाथ जोड़े हुए ज्यों ही कैकेयीके महलसे बाहर निकलने लगे, त्यों ही अन्तःपुरमें रहनेवाली राजमहिलाओंका महान् आर्तनाद प्रकट हुआ ॥ १ ॥

कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च।
गतिश्च शरणं चासीत् स रामोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ २ ॥

वे कह रही थीं—'हाय! जो पिताके आज्ञा न देनेपर भी समस्त अन्तःपुरके आवश्यक कार्योंमें स्वतः संलग्न रहते थे, जो हमलोगोंके सहारे और रक्षक थे, वे श्रीराम आज वनको चले जायँगे ॥ २ ॥

कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः ॥ ३ ॥

'वे रघुनाथजी जन्मसे ही अपनी माता कौसल्याके प्रति सदा जैसा बर्ताव करते थे, वैसा ही हमारे साथ भी करते थे ॥ ३ ॥

न क्रुध्यत्यभिशप्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन्।
क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् स इतोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ ४ ॥

'जो कठोर बात कह देनेपर भी कुपित नहीं होते थे, दूसरोंके मनमें क्रोध उत्पन्न करनेवाली बातें नहीं बोलते थे तथा जो सभी रूठे हुए व्यक्तियोंको मना लिया करते थे, वे ही श्रीराम आज यहाँसे वनको चले जायँगे ॥ ४ ॥

अबुद्धिर्बत नो राजा जीवलोकं चरत्ययम्।
यो गतिं सर्वभूतानां परित्यजति राघवम् ॥ ५ ॥

'बड़े खेदकी बात है कि हमारे महाराजकी बुद्धि मारी गयी। ये इस समय सम्पूर्ण जीव-जगत्‌का विनाश करनेपर तुले हुए हैं, तभी तो ये समस्त प्राणियोंके जीवनाधार श्रीरामका परित्याग कर रहे हैं' ॥ ५ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः।
पतिमाचुक्रुशुश्चापि सस्वनं चापि चुक्रुशुः ॥ ६ ॥

इस प्रकार समस्त रानियाँ अपने पतिको कोसने लगीं और बछड़ोंसे बिछुड़ी हुई गौओंकी तरह उच्च स्वरसे क्रन्दन करने लगीं ॥ ६ ॥

स हि चान्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा व्यालीयतासने ॥ ७ ॥

अन्तःपुरका वह भयङ्कर आर्तनाद सुनकर महाराज दशरथने पुत्रशोकसे संतप्त हो लज्जाके मारे बिछौनेमें ही अपनेको छिपा लिया ॥ ७ ॥

रामस्तु भृशमायस्तो निःश्वसन्निव कुञ्जरः।
जगाम सहितो भ्रात्रा मातुरन्तःपुरं वशी ॥ ८ ॥

इधर जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्रजी स्वजनोंके दुःखसे अधिक खिन्न होकर हाथीके समान लंबी साँस खींचते हुए भाई लक्ष्मणके साथ माताके अन्तःपुरमें गये ॥ ८ ॥

सोऽपश्यत् पुरुषं तत्र वृद्धं परमपूजितम्।
उपविष्टं गृहद्वारि तिष्ठतश्चापरान् बहून् ॥ ९ ॥

वहाँ उन्होंने उस घरके दरवाजेपर एक परम पूजित वृद्ध पुरुषको बैठा हुआ देखा और दूसरे भी बहुत-से मनुष्य वहाँ खड़े दिखायी दिये ॥ ९ ॥

दृष्ट्वैव तु तदा रामं ते सर्वे समुपस्थिताः।
जयेन जयतां श्रेष्ठं वर्धयन्ति स्म राघवम् ॥ १० ॥

वे सब-के-सब विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन श्रीरामको देखते ही जय-जयकार करते हुए उनकी सेवामें उपस्थित हुए और उन्हें बधाई देने लगे ॥ १० ॥

प्रविश्य प्रथमां कक्ष्यां द्वितीयायां ददर्श सः।
ब्राह्मणान् वेदसम्पन्नान् वृद्धान् राज्ञाभिसत्कृतान् ॥

पहली ड्योढ़ी पार करके जब वे दूसरीमें पहुँचे, तब वहाँ उन्हें राजाके द्वारा सम्मानित बहुत-से वेदज्ञ ब्राह्मण दिखायी दिये ॥ ११ ॥

प्रणम्य रामस्तान् वृद्धांस्तृतीयायां ददर्श सः।
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च द्वाररक्षणतत्पराः ॥ १२ ॥

उन वृद्ध ब्राह्मणोंको प्रणाम करके श्रीरामचन्द्रजी जब तीसरी ड्योढ़ीमें पहुँचे, तब वहाँ उन्हें द्वाररक्षाके कार्यमें लगी हुई बहुत-सी नववयस्का एवं वृद्ध अवस्थावाली स्त्रियाँ दिखायी दीं ॥ १२ ॥

वर्धयित्वा प्रहृष्टास्ताः प्रविश्य च गृहं स्त्रियः।
न्यवेदयन्त त्वरितं राममातुः प्रियं तदा ॥ १३ ॥

उन्हें देखकर उन स्त्रियोंको बड़ा हर्ष हुआ। श्रीरामको बधाई देकर उन स्त्रियोंने तत्काल महलके भीतर प्रवेश किया और तुरंत ही श्रीरामचन्द्रजीकी माताको उनके आगमनका प्रिय समाचार सुनाया ॥ १३ ॥

कौसल्यापि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता।
प्रभाते चाकरोत् पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी ॥ १४ ॥

उस समय देवी कौसल्या पुत्रकी मङ्गलकामनासे रातभर जागकर सवेरे एकाग्रचित्त हो भगवान् विष्णुकी पूजा कर रही थीं ॥ १४ ॥

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला ॥ १५ ॥

वे रेशमी वस्त्र पहनकर बड़ी प्रसन्नताके साथ निरन्तर व्रतपरायण होकर मङ्गलकृत्य पूर्ण करनेके पश्चात् मन्त्रोच्चारण-पूर्वक उस समय अग्निमें आहुति दे रही थीं ॥ १५ ॥

प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम्।
ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम् ॥ १६ ॥

उसी समय श्रीरामने माताके शुभ अन्तःपुरमें प्रवेश करके वहाँ माताको देखा। वे अग्निमें हवन करा रही थीं ॥ १६ ॥

देवकार्यनिमित्तं च तत्रापश्यत् समुद्यतम्।
दध्यक्षतघृतं चैव मोदकान् हविषस्तथा ॥ १७ ॥
लाजान् माल्यानि शुक्लानि पायसं कृसरं तथा।
समिधः पूर्णकुम्भांश्च ददर्श रघुनन्दनः ॥ १८ ॥

रघुनन्दनने देखा तो वहाँ देव-कार्यके लिये बहुत-सी सामग्री संग्रह करके रखी हुई है। दही, अक्षत, घी, मोदक, हविष्य, धानका लावा, सफेद माला, खीर, खिचड़ी, समिधा और भरे हुए कलश—ये सब वहाँ दृष्टिगोचर हुए ॥ १७-१८ ॥

तां शुक्लक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्शिताम्।
तर्पयन्तीं ददर्शाद्भिर्देवतां वरवर्णिनीम् ॥ १९ ॥

उत्तम कान्तिवाली माता कौसल्या सफेद रंगकी रेशमी साड़ी पहने हुए थीं। वे व्रतके अनुष्ठानसे दुर्बल हो गयी थीं और इष्टदेवताका तर्पण कर रही थीं। इस अवस्थामें श्रीरामने उन्हें देखा ॥ १९ ॥

सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम्।
अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं वडवा यथा ॥ २० ॥

माताका आनन्द बढ़ानेवाले प्रिय पुत्रको बहुत देरके बाद सामने उपस्थित देख कौसल्यादेवी बड़े हर्षमें भरकर उसकी ओर चलीं, मानो कोई घोड़ी अपने बछेड़ेको देखकर बड़े हर्षसे उसके पास आयी हो ॥ २० ॥

स मातरमुपक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः।
परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामवघ्रातश्च मूर्धनि ॥ २१ ॥

श्रीरघुनाथजीने निकट आयी हुई माताके चरणोंमें प्रणाम किया और माता कौसल्याने उन्हें दोनों भुजाओंसे कसकर छातीसे लगा लिया तथा बड़े प्यारसे उनका मस्तक सूँघा ॥ २१ ॥

तमुवाच दुराधर्षं राघवं सुतमात्मनः।
कौसल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः ॥ २२ ॥

उस समय कौसल्यादेवीने अपने दुर्जय पुत्र श्रीरामचन्द्रजी-से पुत्रस्नेहवश यह प्रिय एवं हितकर बात कही—॥ २२ ॥

वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम्।
प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले ॥ २३ ॥

'बेटा! तुम धर्मशील, वृद्ध एवं महात्मा राजर्षियोंके समान आयु, कीर्ति और कुलोचित धर्म प्राप्त करो ॥ २३ ॥

सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव।
अद्यैव त्वां स धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २४ ॥

'रघुनन्दन! अब तुम जाकर अपने सत्यप्रतिज्ञ पिता राजाका दर्शन करो। वे धर्मात्मा नरेश आज ही तुम्हारा युवराजके पदपर अभिषेक करेंगे' ॥ २४ ॥

दत्तमासनमालभ्य भोजनेन निमन्त्रितः।
मातरं राघवः किंचित् प्रसार्याञ्जलिमब्रवीत् ॥ २५ ॥

यह कहकर माताने उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया और भोजन करनेको कहा। भोजनके लिये निमन्त्रित होकर श्रीरामने उस आसनका स्पर्शमात्र कर लिया। फिर वे अञ्जलि फैलाकर मातासे कुछ कहनेको उद्यत हुए ॥ २५ ॥

स स्वभावविनीतश्च गौरवाच्च तथानतः।
प्रस्थितो दण्डकारण्यमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥ २६ ॥

वे स्वभावसे ही विनयशील थे तथा माताके गौरवसे भी उनके सामने नतमस्तक हो गये थे। उन्हें दण्डकारण्यको प्रस्थान करना था, अतः वे उसके लिये आज्ञा लेनेका उपक्रम करने लगे ॥ २६ ॥

देवि नूनं न जानीषे महद् भयमुपस्थितम्।
इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च ॥ २७ ॥

उन्होंने कहा—'देवि! निश्चय ही तुम्हें मालूम नहीं है, तुम्हारे ऊपर महान् भय उपस्थित हो गया है। इस समय मैं जो बात कहने जा रहा हूँ, उसे सुनकर तुमको, सीताको और लक्ष्मणको भी दुःख होगा; तथापि कहूँगा ॥ २७ ॥

गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे।
विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः ॥ २८ ॥

'अब तो मैं दण्डकारण्यमें जाऊँगा, अतः ऐसे बहुमूल्य आसनकी मुझे क्या आवश्यकता है? अब मेरे लिये यह कुशकी चटाईपर बैठनेका समय आया है ॥ २८ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
कन्दमूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम् ॥ २९ ॥

'मैं राजभोग्य वस्तुका त्याग करके मुनिकी भाँति कन्द, मूल और फलोंसे जीवन-निर्वाह करता हुआ चौदह वर्षोंतक निर्जन वनमें निवास करूँगा ॥ २९ ॥

भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति।
मां पुनर्दण्डकारण्यं विवासयति तापसम् ॥ ३० ॥



'महाराज युवराजका पद भरतको दे रहे हैं और मुझे तपस्वी बनाकर दण्डकारण्यमें भेज रहे हैं ॥ ३० ॥

स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ।
आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन् ॥ ३१ ॥

'अतः चौदह वर्षोंतक निर्जन वनमें रहूँगा और जंगलमें सुलभ होनेवाले वल्कल आदिको धारण करके 'फल-मूलके आहारसे ही जीवन निर्वाह करता रहूँगा' ॥ ३१ ॥

सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः परशुना वने ।
पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता ॥ ३२ ॥

यह अप्रिय बात सुनकर वनमें फरसेसे काटी हुई शालवृक्षकी शाखाके समान कौसल्या देवी सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ीं, मानो स्वर्गसे कोई देवाङ्गना भूतलपर आ गिरी हो ॥ ३२ ॥

तामदुःखोचितां दृष्ट्वा पतितां कदलीमिव ।
रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम् ॥ ३३ ॥

जिन्होंने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखा था—जो दुःख भोगनेके योग्य थीं ही नहीं, उन्हीं माता कौसल्याको कटी हुई कदलीकी भाँति अचेत अवस्थामें भूमिपर पड़ी देख श्रीरामने हाथका सहारा देकर उठाया ॥ ३३ ॥

उपावृत्योत्थितां दीनां वडवामिव वाहिताम् ।
पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विममर्श च पाणिना ॥ ३४ ॥

जैसे कोई घोड़ी पहले बड़ा भारी बोझ ढो चुकी हो और थकावट दूर करनेके लिये धरतीपर लोट-पोटकर उठी हो, उसी तरह उठी हुई कौसल्याजीके समस्त अङ्गोंमें धूल लिपट गयी थी और वे अत्यन्त दीन दशाको पहुँच गयी थीं। उस अवस्थामें श्रीरामने अपने हाथसे उनके अङ्गोंकी धूल पोंछी ॥ ३४ ॥

सा राघवमुपासीनमसुखार्ता सुखोचिता ।
उवाच पुरुषव्याघ्रमुपशृण्वति लक्ष्मणे ॥ ३५ ॥

कौसल्याजीने जीवनमें पहले सदा सुख ही देखा था और उसीके योग्य थीं, परंतु उस समय वे दुःखसे कातर हो उठी थीं। उन्होंने लक्ष्मणके सुनते हुए अपने पास बैठे पुरुषसिंह श्रीरामसे इस प्रकार कहा—॥ ३५ ॥

यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव ।
न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः ॥ ३६ ॥

'बेटा रघुनन्दन! यदि तुम्हारा जन्म न हुआ होता तो मुझे इस एक ही बातका शोक रहता। आज जो मुझपर इतना भारी दुःख आ पड़ा है, इसे वन्ध्या होनेपर मुझे नहीं देखना पड़ता ॥ ३६ ॥

एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः ।
अप्रजास्मीति संतापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते ॥ ३७ ॥

'बेटा! वन्ध्याको एक मानसिक शोक होता है। उसके मनमें यह संताप बना रहता है कि मुझे कोई संतान नहीं है, इसके सिवा दूसरा कोई दुःख उसे नहीं होता ॥ ३७ ॥

न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे ।
अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामास्थितं मया ॥ ३८ ॥

'बेटा राम! पतिके प्रभुत्वकालमें एक ज्येष्ठ पत्नीको जो कल्याण या सुख प्राप्त होना चाहिये, वह मुझे पहले कभी नहीं देखनेको मिला। सोचती थी, पुत्रके राज्यमें मैं सब सुख देख लूँगी और इसी आशासे मैं अबतक जीती रही ॥ ३८ ॥

सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् ।
अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां परा सती ॥ ३९ ॥

'बड़ी रानी होकर भी मुझे अपनी बातोंसे हृदयको विदीर्ण कर देनेवाली छोटी सौतोंके बहुत-से अप्रिय वचन सुनने पड़ेंगे ॥ ३९ ॥

अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति ।
मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः ॥ ४० ॥

'स्त्रियोंके लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा अतः मेरा शोक और विलाप जैसा है, उसका कभी अन्त नहीं है ॥ ४० ॥

त्वयि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता ।
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि ॥ ४१ ॥

'तात! तुम्हारे निकट रहनेपर भी मैं इस प्रकार सौतोंसे तिरस्कृत रही हूँ, फिर तुम्हारे परदेश चले जानेपर मेरी क्या दशा होगी? उस दशामें तो मेरा मरण ही निश्चित है ॥ ४१ ॥

अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसम्मता ।
परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा ॥ ४२ ॥

'पतिकी ओरसे मुझे सदा अत्यन्त तिरस्कार अथवा कड़ी फटकार ही मिली है, कभी प्यार और सम्मान नहीं प्राप्त हुआ है। मैं कैकेयीकी दासियोंके बराबर अथवा उनसे भी गयी-बीती समझी जाती हूँ ॥ ४२ ॥

यो हि मां सेवते कश्चिदपि वाप्यनुवर्तते ।
कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते ॥ ४३ ॥

'जो कोई मेरी सेवामें रहता या मेरा अनुसरण करता है, वह भी कैकेयीके बेटेको देखकर चुप हो जाता है, मुझसे बात नहीं करता है ॥ ४३ ॥

नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादि तत् ।
कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता ॥ ४४ ॥

'बेटा! इस दुर्गतिमें पड़कर मैं सदा क्रोधी स्वभावके कारण कटुवचन बोलनेवाले उस कैकेयीके मुखको कैसे देख सकूँगी ॥ ४४ ॥

दश सप्त च वर्षाणि जातस्य तव राघव।
अतीतानि प्रकाङ्क्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम्॥ ४५॥

'रघुनन्दन! तुम्हारे उपनयनरूप द्वितीय जन्म लिये सत्रह वर्ष बीत गये (अर्थात् तुम अब सत्ताईस वर्षके हो गये)। अबतक मैं यही आशा लगाये चली आ रही थी कि अब मेरा दुःख दूर हो जायगा॥ ४५॥

तदक्षयं महद्दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरात्।
विप्रकारं सपत्नीनामेवं जीर्णापि राघव॥ ४६॥

'राघव! अब इस बुढ़ापेमें इस तरह सौतोंका तिरस्कार और उससे होनेवाले महान् अक्षय दुःखको मैं अधिक कालतक नहीं सह सकती॥ ४६॥

अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम्।
कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविका॥ ४७॥

'पूर्ण चन्द्रमाके समान तुम्हारे मनोहर मुखको देखे बिना मैं दुःखिनी दयनीय जीवनवृत्तिसे रहकर कैसे निर्वाह करूँगी॥

उपवासैश्च योगैश्च बहुभिश्च परिश्रमैः।
दुःखसंवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गतया मया॥ ४८॥

'बेटा! (यदि तुझे इस देशसे निकल ही जाना है तो) मुझ भाग्यहीनाने बारंबार उपवास, देवताओंका ध्यान तथा बहुत-से परिश्रमजनक उपाय करके व्यर्थ ही तुम्हारा इतने कष्टसे पालन-पोषण किया है॥ ४८॥

स्थिरं नु हृदयं मन्ये ममेदं यन्न दीर्यते।
प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टं कूलं नवाम्भसा॥ ४९॥

'मैं समझती हूँ कि निश्चय ही यह मेरा हृदय बड़ा कठोर है, जो तुम्हारे बिछोहकी बात सुनकर भी वर्षाकालके नूतन जलके प्रवाहसे टकराये हुए महानदीके कगारकी भाँति फट नहीं जाता है॥ ४९॥

ममैव नूनं मरणं न विद्यते
न चावकाशोऽस्ति यमक्षये मम।
यदन्तकोऽद्यैव न मां जिहीर्षति
प्रसह्य सिंहो रुदतीं मृगीमिव॥ ५०॥

'निश्चय ही मेरे लिये कहीं मौत नहीं है, यमराजके घरमें भी मेरे लिये जगह नहीं है, तभी तो जैसे किसी रोती हुई मृगीको सिंह जबरदस्ती उठा ले जाता है, उसी प्रकार यमराज मुझे आज ही उठा ले जाना नहीं चाहता है॥ ५०॥

स्थिरं हि नूनं हृदयं ममायसं
न भिद्यते यद् भुवि नो विदीर्यते।
अनेन दुःखेन च देहमर्पितं
ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते॥ ५१॥

'अवश्य ही मेरा कठोर हृदय लोहेका बना हुआ है, जो पृथिवीपर पड़नेपर भी न तो फटता है और न टूक-टूक हो जाता है। इसी दुःखसे व्याप्त हुए इस शरीरके भी टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाते हैं। निश्चय ही, मृत्युकाल आये बिना किसीका मरण नहीं होता है॥ ५१॥

इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे
व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि।
तपश्च तप्तं यदपत्यकाम्यया
सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे॥ ५२॥

'सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि पुत्रके सुखके लिये मेरे द्वारा किये गये व्रत, दान और संयम सब व्यर्थ हो गये। मैंने संतानकी हित-कामनासे जो तप किया है, वह भी ऊसरमें बोये हुए बीजकी भाँति निष्फल हो गया॥ ५२॥

यदि ह्यकाले मरणं यदृच्छया
लभेत कश्चिद् गुरुदुःखकर्शितः।
गताहमद्यैव परेतसंसदं
विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै॥ ५३॥

'यदि कोई मनुष्य भारी दुःखसे पीड़ित हो असमयमें भी अपनी इच्छाके अनुसार मृत्यु पा सके तो मैं तुम्हारे बिना अपने बछड़ेसे बिछुड़ी हुई गायकी भाँति आज ही यमराजकी सभामें चली जाऊँ॥ ५३॥

अथापि किं जीवितमद्य मे वृथा
त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ।
अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः
सुदुर्बला वत्समिवाभिकाङ्क्षया॥ ५४॥

'चन्द्रमाके समान मनोहर मुख-कान्तिवाले श्रीराम! यदि मेरी मृत्यु नहीं होती है तो तुम्हारे बिना यहाँ व्यर्थ कुत्सित जीवन क्यों बिताऊँ? बेटा! जैसे गौ दुर्बल होनेपर भी अपने बछड़ेके लोभसे उसके पीछे-पीछे चली जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ ही वनको चली चलूँगी'॥ ५४॥

भृशमसुखममर्षिता तदा बहु
विललाप समीक्ष्य राघवम्।
व्यसनमुपनिशाम्य सा महत्
सुतमिव बद्धमवेक्ष्य किंनरी॥ ५५॥

आनेवाले भारी दुःखको सहनेमें असमर्थ हो महान् संकटका विचार करके सत्यके बन्धनमें बँधे हुए अपने पुत्र श्रीरघुनाथजीकी ओर देखकर माता कौसल्या उस समय बहुत विलाप करने लगीं, मानो कोई किंनरी अपने पुत्रको बन्धनमें पड़ा हुआ देखकर बिलख रही हो॥ ५५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे विंशः सर्गः॥ २०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २०॥



एकविंशः सर्गः

लक्ष्मणका रोष, उनका श्रीरामको बलपूर्वक राज्यपर अधिकार कर लेनेके लिये प्रेरित करना तथा श्रीरामका पिताकी आज्ञाके पालनको ही धर्म बताकर माता और लक्ष्मणको समझाना

तथा तु विलपन्तीं तां कौसल्यां राममातरम्।
उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः॥ १॥

इस प्रकार विलाप करती हुई श्रीराममाता कौसल्यासे अत्यन्त दुखी हुए लक्ष्मणने उस समयके योग्य बात कही—॥

न रोचते ममाप्येतदार्ये यद् राघवो वनम्।
त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत् स्त्रिया वाक्यवशंगतः॥२॥
विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः।
नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः॥ ३॥

'बड़ी माँ! मुझे भी यह अच्छा नहीं लगता कि श्रीराम राज्यलक्ष्मीका परित्याग करके वनमें जायँ। महाराज तो इस समय स्त्रीकी बातमें आ गये हैं, इसलिये उनकी प्रकृति विपरीत हो गयी है। एक तो वे बूढ़े हैं, दूसरे विषयोंने उन्हें वशमें कर लिया है; अतः कामदेवके वशीभूत हुए वे नरेश कैकेयी-जैसी स्त्रीकी प्रेरणासे क्या नहीं कह सकते हैं?॥ २-३॥

नास्यापराधं पश्यामि नापि दोषं तथाविधम्।
येन निर्वास्यते राष्ट्राद् वनवासाय राघवः॥ ४॥

'मैं श्रीरघुनाथजीका ऐसा कोई अपराध या दोष नहीं देखता, जिससे इन्हें राज्यसे निकाला जाय और वनमें रहनेके लिये विवश किया जाय॥ ४॥

न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः।
स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि योऽस्य दोषमुदाहरेत्॥ ५॥

'मैं संसारमें एक मनुष्यको भी ऐसा नहीं देखता, जो अत्यन्त शत्रु एवं तिरस्कृत होनेपर भी परोक्षमें भी इनका कोई दोष बता सके॥ ५॥

देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम्।
अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत् पुत्रमकारणात्॥ ६॥

'धर्मपर दृष्टि रखनेवाला कौन ऐसा राजा होगा, जो देवताके समान शुद्ध, सरल, जितेन्द्रिय और शत्रुओंपर भी स्नेह रखनेवाले (श्रीराम-जैसे) पुत्रका अकारण परित्याग करेगा?॥ ६॥

तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः।
पुत्रः को हृदये कुर्याद् राजवृत्तमनुस्मरन्॥ ७॥

'जो पुनः बालभाव (विवेकशून्यता) को प्राप्त हो गये हैं, ऐसे राजाके इस वचनको राजनीतिका ध्यान रखनेवाला कौन पुत्र अपने हृदयमें स्थान दे सकता है?॥ ७॥

यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः।
तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम्॥ ८॥

'रघुनन्दन! जबतक कोई भी मनुष्य आपके वनवासकी बातको नहीं जानता है, तबतक ही, आप मेरी सहायतासे इस राज्यके शासनकी बागडोर अपने हाथमें ले लीजिये॥ ८॥

मया पार्श्वे सधनुषा तव गुप्तस्य राघव।
कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः॥ ९॥

'रघुवीर! जब मैं धनुष लिये आपके पास रहकर आपकी रक्षा करता रहूँ और आप कालके समान युद्धके लिये डट जायँ, उस समय आपसे अधिक पौरुष प्रकट करनेमें कौन समर्थ हो सकता है?॥ ९॥

निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये॥ १०॥

'नरश्रेष्ठ! यदि नगरके लोग विरोधमें खड़े होंगे तो मैं अपने तीखे बाणोंसे सारी अयोध्याको मनुष्योंसे सूनी कर दूँगा॥ १०॥

भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वास्य हितमिच्छति।
सर्वांस्तांश्च वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते॥ ११॥

'जो-जो भरतका पक्ष लेगा अथवा केवल जो उन्हींका हित चाहेगा, उन सबका मैं वध कर डालूँगा; क्योंकि जो कोमल या नम्र होता है, उसका सभी तिरस्कार करते हैं॥ ११॥

प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या संतुष्टो यदि नः पिता।
अमित्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां वध्यतामपि॥ १२॥

'यदि कैकेयीके प्रोत्साहन देनेपर उसके ऊपर संतुष्ट हो पिताजी हमारे शत्रु बन रहे हैं तो हमें भी मोह-ममता छोड़कर इन्हें कैद कर लेना या मार डालना चाहिये॥ १२॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्॥ १३॥

'क्योंकि यदि गुरु भी घमंडमें आकर कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान खो बैठे और कुमार्गपर चलने लगे तो उसे भी दण्ड देना आवश्यक हो जाता है॥ १३॥

बलमेष किमाश्रित्य हेतुं वा पुरुषोत्तम।
दातुमिच्छति कैकेय्यै उपस्थितमिदं तव॥ १४॥

'पुरुषोत्तम! राजा किस बलका सहारा लेकर अथवा किस कारणको सामने रखकर आपको न्यायतः प्राप्त हुआ यह राज्य अब कैकेयीको देना चाहते हैं॥ १४॥

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम्।
कास्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिशासन॥ १५॥

'शत्रुदमन श्रीराम! आपके और मेरे साथ भारी वैर बाँधकर इनकी क्या शक्ति है कि यह राज्यलक्ष्मी ये भरतको दे दें ॥ १५ ॥

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे ॥ १६ ॥

'देवि! (बड़ी माँ!) मैं सत्य, धनुष, दान तथा यज्ञ आदिकी शपथ खाकर तुमसे सच्ची बात कहता हूँ कि मेरा अपने पूज्य भ्राता श्रीराममें हार्दिक अनुराग है ॥

दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥ १७ ॥

'देवि! आप विश्वास रक्खें, यदि श्रीराम जलती हुई आगमें या घोर वनमें प्रवेश करनेवाले होंगे तो मैं इनसे भी पहले उसमें प्रविष्ट हो जाऊँगा ॥ १७ ॥

हरामि वीर्याद् दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥ १८ ॥

'इस समय आप, रघुनाथजी तथा अन्य सब लोग भी मेरे पराक्रमको देखें। जैसे सूर्य उदित होकर अन्धकारका नाश कर देता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी शक्तिसे आपके सब दुःख दूर कर दूँगा ॥ १८ ॥

हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम्।
कृपणं च स्थितं बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम् ॥ १९ ॥

'जो कैकेयीमें आसक्तचित्त होकर दीन बन गये हैं, बालभाव (अविवेक) में स्थित हैं और अधिक बुढ़ापेके कारण निन्दित हो रहे हैं, उन वृद्ध पिताको मैं अवश्य मार डालूँगा ॥ १९ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः।
उवाच रामं कौसल्या रुदती शोकलालसा ॥ २० ॥

महामनस्वी लक्ष्मणके ये ओजस्वी वचन सुनकर शोक-मग्न कौसल्या श्रीरामसे रोती हुई बोलीं—॥ २० ॥

भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया।
यदत्रानन्तरं तत्त्वं कुरुष्व यदि रोचते ॥ २१ ॥

'बेटा! तुमने अपने भाई लक्ष्मणकी कही हुई सारी बातें सुन लीं, यदि जँचे तो अब इसके बाद तुम जो कुछ करना उचित समझो, उसे करो ॥ २१ ॥

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम्।
विहाय शोकसंतप्तां गन्तुमर्हसि मामितः ॥ २२ ॥

'मेरी सौतकी कही हुई अधर्मयुक्त बात सुनकर मुझ शोकसे संतप्त हुई माताको छोड़कर तुम्हें यहाँसे नहीं जाना चाहिये ॥ २२ ॥

धर्मज्ञ इति धर्मिष्ठ धर्मं चरितुमिच्छसि।
शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम् ॥ २३ ॥

'धर्मिष्ठ! तुम धर्मको जाननेवाले हो, इसलिये यदि धर्मका पालन करना चाहो तो यहीं रहकर मेरी सेवा करो और इस प्रकार परम उत्तम धर्मका आचरण करो ॥

शुश्रूषुर्जननीं पुत्र स्वगृहे नियतो वसन्।
परेण तपसा युक्तः काश्यपस्त्रिदिवं गतः ॥ २४ ॥

'वत्स! अपने घरमें नियमपूर्वक रहकर माताकी सेवा करनेवाले काश्यप उत्तम तपस्यासे युक्त हो स्वर्गलोकमें चले गये थे ॥ २४ ॥

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम्।
त्वां साहं नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥ २५ ॥

'जैसे गौरवके कारण राजा तुम्हारे पूज्य हैं, उसी प्रकार मैं भी हूँ। मैं तुम्हें वन जानेकी आज्ञा नहीं देती, अतः तुम्हें यहाँसे वनको नहीं जाना चाहिये ॥ २५ ॥

त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन च।
त्वया सह मम श्रेयस्तृणानामपि भक्षणम् ॥ २६ ॥

'तुम्हारे साथ तिनके चबाकर रहना भी मेरे लिये श्रेयस्कर है, परंतु तुमसे विलग हो जानेपर न मुझे इस जीवनसे कोई प्रयोजन है और न सुखसे ॥ २६ ॥

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्।
अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ २७ ॥

'यदि तुम मुझे शोकमें डूबी हुई छोड़कर वनको चले जाओगे तो मैं उपवास करके प्राण त्याग दूँगी। जीवित नहीं रह सकूँगी ॥ २७ ॥

ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम्।
ब्रह्महत्यामिवाधर्मात् समुद्रः सरितां पतिः ॥ २८ ॥

'बेटा! ऐसा होनेपर तुम संसारप्रसिद्ध वह नरकतुल्य कष्ट पाओगे, जो ब्रह्महत्याके समान है और जिसे सरिताओंके स्वामी समुद्रने अपने अधर्मके फलरूपसे प्राप्त किया था* ॥

विलपन्तीं तथा दीनां कौसल्यां जननीं ततः।
उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम् ॥ २९ ॥

माता कौसल्याको इस प्रकार दीन होकर विलाप करती देख धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रने यह धर्मयुक्त वचन कहा—॥ २९ ॥

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥ ३० ॥

'माता! मैं तुम्हारे चरणोंमें सिर झुकाकर तुम्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ। मुझमें पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति नहीं है, अतः मैं वनको ही जाना चाहता हूँ ॥ ३० ॥

---

* किसी कल्पमें समुद्रने अपनी माताको दुःख दिया था, उससे पिप्पलाद नामक महर्षिने उस अधर्मका दण्ड देनेके लिये उसके ऊपर एक कृत्याका प्रयोग किया। इससे समुद्रको नरकवास-तुल्य महान् दुःख भोगना पड़ा था।

ऋषिणा च पितुर्वाक्यं कुर्वता वनचारिणा ।
गौर्हता जानताधर्मं कण्डुना च विपश्चिता ॥ ३१ ॥

'वनवासी विद्वान् कण्डु मुनिने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अधर्म समझते हुए भी गौका वध कर डाला था ॥ ३१ ॥

अस्माकं तु कुले पूर्वं सगरस्याज्ञया पितुः ।
खनद्भिः सागरैर्भूमिमवाप्तः सुमहान् वधः ॥ ३२ ॥

हमारे कुलमें भी पहले राजा सगरके पुत्र ऐसे हो गये हैं, जो पिताकी आज्ञासे पृथ्वी खोदते हुए बुरी तरहसे मारे गये ॥ ३२ ॥

जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम् ।
कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारणात् ॥ ३३ ॥

'जमदग्निके पुत्र परशुरामने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही वनमें फरसेसे अपनी माता रेणुकाका गला काट डाला था ॥ ३३ ॥

एतैरन्यैश्च बहुभिर्देवि देवसमैः कृतम् ।
पितुर्वचनमक्लीबं करिष्यामि पितुर्हितम् ॥ ३४ ॥

'देवि ! इन्होंने तथा और भी बहुत-से देवतुल्य मनुष्योंने उत्साहके साथ पिताके आदेशका पालन किया है । अतः मैं भी कायरता छोड़कर पिताका हित-साधन करूँगा ॥ ३४ ॥

न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम् ।
एतैरपि कृतं देवि ये मया परिकीर्तिताः ॥ ३५ ॥

'देवि ! केवल मैं ही इस प्रकार पिताके आदेशका पालन नहीं कर रहा हूँ । जिनकी मैंने अभी चर्चा की है, उन सबने भी पिताके आदेशका पालन किया है ॥ ३५ ॥

नाहं धर्ममपूर्वं ते प्रतिकूलं प्रवर्तये ।
पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ॥ ३६ ॥

'मा ! मैं तुम्हारे प्रतिकूल किसी नवीन धर्मका प्रचार नहीं कर रहा हूँ । पूर्वकालके धर्मात्मा पुरुषोंको भी यह अभीष्ट था । मैं तो उनके चले हुए मार्गका ही अनुसरण करता हूँ ॥ ३६ ॥

तदेतत् तु मया कार्यं क्रियते भुवि नान्यथा ।
पितुर्हि वचनं कुर्वन् न कश्चिन्नाम हीयते ॥ ३७ ॥

'इस भूमण्डलपर जो सबके लिये करने योग्य है वही मैं भी करने जा रहा हूँ । इसके विपरीत कोई न करने योग्य काम नहीं कर रहा हूँ । पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाला कोई भी पुरुष धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता' ॥ ३७ ॥

तामेवमुक्त्वा जननीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत् ।
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ३८ ॥

अपनी मातासे ऐसा कहकर वाक्यवेत्ताओंमें श्रेष्ठ समस्त धनुर्धरशिरोमणि श्रीरामने पुनः लक्ष्मणसे कहा—॥

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम् ।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥ ३९ ॥

'लक्ष्मण ! मेरे प्रति तुम्हारा जो परम उत्तम स्नेह है, उसे मैं जानता हूँ । तुम्हारे पराक्रम, धैर्य और दुर्धर्ष तेजका भी मुझे ज्ञान है ॥ ३९ ॥

मम मातुर्महद् दुःखमतुलं शुभलक्षण ।
अभिप्रायं न विज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च ॥ ४० ॥

'शुभलक्षण लक्ष्मण ! मेरी माताको जो अनुपम एवं महान् दुःख हो रहा है, वह सत्य और शमके विषयमें मेरे अभिप्रायको न समझनेके कारण है ॥ ४० ॥

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम् ॥ ४१ ॥

'संसारमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है । धर्ममें ही सत्यकी प्रतिष्ठा है । पिताजीका यह वचन भी धर्मके आश्रित होनेके कारण परम उत्तम है ॥ ४१ ॥

संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा ।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता ॥ ४२ ॥

'वीर ! धर्मका आश्रय लेकर रहनेवाले पुरुषको पिता, माता अथवा ब्राह्मणके वचनोंका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसे मिथ्या नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम् ।
पितुर्हि वचनाद् वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः ॥ ४३ ॥

'वीर ! अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता; क्योंकि पिताजीके कहनेसे ही कैकेयीने मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दी है ॥ ४३ ॥

तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम् ।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ॥ ४४ ॥

'इसलिये केवल क्षात्रधर्मका अवलम्बन करनेवाली इस ओछी बुद्धिका त्याग करो, धर्मका आश्रय लो, कठोरता छोड़ो और मेरे विचारके अनुसार चलो' ॥ ४४ ॥

तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद् भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः ।
उवाच भूयः कौसल्यां प्राञ्जलिः शिरसा नतः ॥ ४५ ॥

अपने भाई लक्ष्मणसे सौहार्दवश ऐसी बात कहकर उनके बड़े भ्राता श्रीरामने पुनः कौसल्याके चरणोंमें मस्तक झुकाया और हाथ जोड़कर कहा—॥ ४५ ॥

अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम् ।
शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे ॥ ४६ ॥

'देवि ! मैं यहाँसे वनको जाऊँगा । तुम मुझे आज्ञा दो और स्वस्तिवाचन कराओ । यह बात मैं अपने प्राणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ ॥ ४६ ॥

तीर्णप्रतिज्ञश्च वनात् पुनरेष्याम्यहं पुरीम्।
ययातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिवम् ॥ ४७ ॥

'जैसे पूर्वकालमें राजर्षि ययाति स्वर्गलोकका त्याग करके पुनः भूतलपर उतर आये थे, उसी प्रकार मैं भी प्रतिज्ञा पूर्ण करके पुनः वनसे अयोध्यापुरीको लौट आऊँगा ॥ ४७ ॥

शोकः संधार्यतां मातर्हृदये साधु मा शुचः।
वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः ॥ ४८ ॥

'मा! शोकको अपने हृदयमें ही अच्छी तरह दबाये रक्खो। शोक न करो। पिताकी आज्ञाका पालन करके मैं फिर वनवाससे यहाँ लौट आऊँगा ॥ ४८ ॥

त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया।
पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ४९ ॥

'तुमको, मुझको, सीताको, लक्ष्मणको और माता सुमित्राको भी पिताजीकी आज्ञामें ही रहना चाहिये। यही सनातन धर्म है ॥ ४९ ॥

अम्ब सम्भृत्य सम्भारान् दुःखं हृदि निगृह्य च।
वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम् ॥ ५० ॥

'मा! यह अभिषेककी सामग्री ले जाकर रख दो। अपने मनका दुःख मनमें ही दबा लो और वनवासके सम्बन्धमें जो मेरा धर्मानुकूल विचार है, उसका अनुसरण करो—मुझे जानेकी आज्ञा दो' ॥ ५० ॥

एतद् वचस्तस्य निशम्य माता
सुधर्म्यमव्यग्रमविक्लवं च।
मृतेव संज्ञां प्रतिलभ्य देवी
समीक्ष्य रामं पुनरित्युवाच ॥ ५१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह धर्मानुकूल तथा व्यग्रता और आकुलतासे रहित बात सुनकर जैसे मरे हुए मनुष्यमें प्राण आ जाय, उसी प्रकार देवी कौसल्या मूर्च्छा त्यागकर होशमें आ गयीं तथा अपने पुत्र श्रीरामकी ओर देखकर इस प्रकार कहने लगीं—॥ ५१ ॥

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं
गुरुः स्वधर्मेण सुहृत्तया च।
न त्वानुजानामि न मां विहाय
सुदुःखितामर्हसि पुत्र गन्तुम् ॥ ५२ ॥

'बेटा! धर्म और सौहार्दके नाते जैसे पिता तुम्हारे लिये आदरणीय गुरुजन हैं, वैसी ही मैं भी हूँ। मैं तुम्हें वनमें जानेकी आज्ञा नहीं देती। वत्स! मुझ दुखियाको छोड़कर तुम्हें कहीं नहीं जाना चाहिये ॥ ५२ ॥

किं जीवितेनेह विना त्वया मे
लोकेन वा किं स्वधयामृतेन।
श्रेयो मुहूर्तं तव संनिधानं
ममैव कृत्स्नादपि जीवलोकात् ॥ ५३ ॥

'तुम्हारे बिना मुझे यहाँ इस जीवनसे क्या लाभ है? इन स्वजनोंसे, देवता तथा पितरोंकी पूजासे और अमृतसे भी क्या लेना है? तुम दो घड़ी भी मेरे पास रहो तो वही मेरे लिये सम्पूर्ण संसारके राज्यसे भी बढ़कर सुख देनेवाला है'॥

नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो
महागजो ध्वान्तमभिप्रविष्टः।
भूयः प्रजज्वाल विलापमेवं
निशम्य रामः करुणं जनन्याः ॥ ५४ ॥

जैसे कोई विशाल गजराज किसी अन्धकूपमें पड़ जाय और लोग उसे जलते लुआठोंसे मार-मारकर पीड़ित करने लगें, उस दशामें वह क्रोधसे जल उठे; उसी प्रकार श्रीराम भी माताका बारंबार करुण-विलाप सुनकर (इसे स्वधर्म-पालनमें बाधा मानकर) आवेशमें भर गये (वनमें जानेका ही दृढ़ निश्चय कर लिया) ॥ ५४ ॥

स मातरं चैव विसंज्ञकल्पा-
मार्तं च सौमित्रिमभिप्रतप्तम्।
धर्मे स्थितो धर्म्यमुवाच वाक्यं
यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम् ॥ ५५ ॥

उन्होंने धर्ममें ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर अचेत-सी हो रही मातासे और आर्त एवं संतप्त हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे भी ऐसी धर्मानुकूल बात कही, जैसी उस अवसरपर वे ही कह सकते थे ॥ ५५ ॥

अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव
जानामि भक्तिं च पराक्रमं च।
मम त्वभिप्रायमसंनिरीक्ष्य
मात्रा सहाभ्यर्दसि मा सुदुःखम् ॥ ५६ ॥

'लक्ष्मण! मैं जानता हूँ, तुम सदा ही मुझमें भक्ति रखते हो और तुम्हारा पराक्रम कितना महान् है, यह भी मुझसे छिपा नहीं है; तथापि तुम मेरे अभिप्रायकी ओर ध्यान न देकर माताजीके साथ स्वयं भी मुझे पीड़ा दे रहे हो। इस तरह मुझे अत्यन्त दुःखमें न डालो ॥ ५६ ॥

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा ॥ ५७ ॥

'इस जीवजगत्में पूर्वकृत धर्मके फलकी प्राप्तिके अवसरोंपर जो धर्म, अर्थ और काम तीनों देखे गये हैं, वे सब-के-सब जहाँ धर्म है, वहाँ अवश्य प्राप्त होते हैं—इसमें संशय नहीं है; ठीक उसी तरह जैसे भार्या धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी साधन होती है। वह पतिके वशीभूत या अनुकूल रहकर अतिथि-सत्कार आदि धर्मके पालनमें सहायक होती है। प्रेयसी

रूपसे कामका साधन बनती है और पुत्रवती होकर उत्तम लोककी प्राप्तिरूप अर्थकी साधिका होती है ॥ ५७ ॥

यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत ।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ॥ ५८ ॥

'जिस कर्ममें धर्म आदि सब पुरुषार्थोंका समावेश न हो, उसको नहीं करना चाहिये। जिससे धर्मकी सिद्धि होती हो, उसीका आरम्भ करना चाहिये। जो केवल अर्थपरायण होता है, वह लोकमें सबके द्वेषका पात्र बन जाता है तथा धर्मविरुद्ध काममें अत्यन्त आसक्त होना प्रशंसा नहीं निन्दाकी बात है ॥

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः
क्रोधात् प्रहर्षादथवापि कामात् ।
यद् व्यादिशेत् कार्यमवेक्ष्य धर्मं
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥ ५९ ॥

'महाराज हमलोगोंके गुरु, राजा और पिता होनेके साथ ही बड़े-बूढ़े माननीय पुरुष हैं। वे क्रोधसे, हर्षसे अथवा कामसे प्रेरित होकर भी यदि किसी कार्यके लिये आज्ञा दें तो हमें धर्म समझकर उसका पालन करना चाहिये। जिसके आचरणोंमें क्रूरता नहीं है, ऐसा कौन पुरुष पिताकी आज्ञाके पालनरूप धर्मका आचरण नहीं करेगा ॥ ५९ ॥

न तेन शक्नोमि पितुः प्रतिज्ञा-
मिमां न कर्तुं सकलां यथावत् ।
स ह्यावयोस्तात गुरुर्नियोगे
देव्याश्च भर्ता स गतिश्च धर्मः ॥ ६० ॥

'इसलिये मैं पिताकी इस सम्पूर्ण प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करनेसे मुँह नहीं मोड़ सकता। तात लक्ष्मण! वे हम दोनों-को आज्ञा देनेमें समर्थ गुरु हैं और माताजीके तो वे ही पति, गति तथा धर्म हैं ॥ ६० ॥

तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे
विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने ।
देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्
कथंस्विदन्या विधवेव नारी ॥ ६१ ॥

'वे धर्मके प्रवर्तक महाराज अभी जीवित हैं और विशेषतः अपने धर्ममय मार्गपर स्थित हैं, ऐसी दशामें माताजी, जैसे दूसरी कोई विधवा स्त्री बेटेके साथ रहती है, उस प्रकार मेरे साथ यहाँसे वनमें कैसे चल सकती हैं? ॥ ६१ ॥

सा मानुमन्यस्व वनं व्रजन्तं
कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि ।
यथा समाप्ते पुनराव्रजेयं
यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः ॥ ६२ ॥

'अतः देवि! तुम मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दो और हमारे मङ्गलके लिये स्वस्तिवाचन कराओ, जिससे वनवासकी अवधि समाप्त होनेपर मैं फिर तुम्हारी सेवामें आ जाऊँ। जैसे राजा ययाति सत्यके प्रभावसे फिर स्वर्गमें लौट आये थे ॥

यशो ह्यहं केवलराज्यकारणा-
न्न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम् ।
अदीर्घकालेन तु देवि जीविते
वृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः ॥ ६३ ॥

'केवल धर्महीन राज्यके लिये मैं महान् फलदायक धर्म-पालनरूप सुयशको पीछे नहीं ढकेल सकता। मा! जीवन अधिक कालतक रहनेवाला नहीं है; इसके लिये मैं आज अधर्मपूर्वक इस तुच्छ पृथ्वीका राज्य लेना नहीं चाहता' ॥

प्रसादयन्नरवृषभः स मातरं
पराक्रमाज्जिगमिषुरेव दण्डकान् ।
अथानुजं भृशमनुशास्य दर्शनं
चकार तां हृदि जननीं प्रदक्षिणम् ॥ ६४ ॥

इस प्रकार नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने धैर्यपूर्वक दण्डकारण्य-में जानेकी इच्छासे माताको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया तथा अपने छोटे भाई लक्ष्मणको भी अपने विचारके अनुसार भलीभाँति धर्मका रहस्य समझाकर मन-ही-मन माताकी परिक्रमा करनेका संकल्प किया ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

श्रीरामका लक्ष्मणको समझाते हुए अपने वनवासमें दैवको ही कारण बताना और अभिषेककी सामग्रीको हटा लेनेका आदेश देना

अथ तं व्यथया दीनं सविशेषममर्षितम् ।
सरोषमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम् ॥ १ ॥
आसाद्य रामः सौमित्रिं सुहृदं भ्रातरं प्रियम् ।
उवाचेदं स धैर्येण धारयन् सत्त्वमात्मवान् ॥ २ ॥

(श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न पड़नेके कारण)
सुमित्राकुमार लक्ष्मण मानसिक व्यथासे बहुत दुःखी थे।

उनके मनमें विशेष अमर्ष भरा हुआ था। वे रोषसे भरे हुए गजराजकी भाँति क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे। अपने मनको वशमें रखनेवाले श्रीराम धैर्यपूर्वक चित्तको निर्विकाररूपसे काबूमें रखते हुए अपने हितैषी सुहृद् प्रिय भाई लक्ष्मणके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ १-२ ॥

निगृह्य रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम्।
अवमानं निरस्यैनं गृहीत्वा हर्षमुत्तमम्॥ ३ ॥
उपक्लृप्तं यदेतन्मे अभिषेकार्थमुत्तमम्।
सर्वं निवर्तय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरव्ययम्॥ ४ ॥

'लक्ष्मण! केवल धैर्यका आश्रय लेकर अपने मनके क्रोध और शोकको दूर करो, चित्तसे अपमानकी भावना निकाल दो और हृदयमें भलीभाँति हर्ष भरकर मेरे अभिषेकके लिये यह जो उत्तम सामग्री एकत्र की गयी है, इसे शीघ्र हटा दो और ऐसा कार्य करो, जिससे मेरे वनगमनमें बाधा उपस्थित न हो॥ ३-४ ॥

सौमित्रे योऽभिषेकार्थे मम सम्भारसम्भ्रमः।
अभिषेकनिवृत्त्यर्थे सोऽस्तु सम्भारसम्भ्रमः॥ ५ ॥

'सुमित्रानन्दन! अबतक अभिषेकके लिये सामग्री जुटानेमें जो तुम्हारा उत्साह था, वह इसे रोकने और मेरे वन जानेकी तैयारी करनेमें होना चाहिये॥ ५ ॥

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते।
माता नः सा यथा न स्यात् सविशङ्का तथा कुरु॥ ६ ॥

'मेरे अभिषेकके कारण जिनके चित्तमें संताप हो रहा है, उस हमारी माता कैकेयीको जिससे किसी तरहकी शङ्का न रह जाय, वही काम करो॥ ६ ॥

तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥ ७ ॥

'लक्ष्मण! उसके मनमें संदेहके कारण दुःख उत्पन्न हो —इस बातको मैं दो घड़ीके लिये भी नहीं सह सकता और न इसकी उपेक्षा ही कर सकता हूँ॥ ७ ॥

न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥ ८ ॥

'मैंने यहाँ कभी जान-बूझकर या अनजानमें माताओंका अथवा पिताजीका कोई छोटा-सा भी अपराध किया हो, ऐसा याद नहीं आता॥ ८ ॥

सत्यः सत्याभिसंधश्च नित्यं सत्यपराक्रमः।
परलोकभयाद् भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम॥ ९ ॥

'पिताजी सदा सत्यवादी और सत्यपराक्रमी रहे हैं। वे परलोकके भयसे सदा डरते रहते हैं; इसलिये मुझे वही काम करना चाहिये, जिससे मेरे पिताजीका पारलौकिक भय दूर हो जाय॥ ९ ॥

तस्यापि हि भवेदस्मिन् कर्मण्यप्रतिसंहृते।
सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेच्च माम्॥ १० ॥

'यदि इस अभिषेकसम्बन्धी कार्यको रोक नहीं दिया गया तो पिताजीको भी मन-ही-मन यह सोचकर संताप होगा कि मेरी बात सच्ची नहीं हुई और उनका वह मनस्ताप मुझे सदा संतप्त करता रहेगा॥ १० ॥

अभिषेकविधानं तु तस्मात् संहृत्य लक्ष्मण।
अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुरः॥ ११ ॥

'लक्ष्मण! इन्हीं सब कारणोंसे मैं अपने अभिषेकका कार्य रोककर शीघ्र ही इस नगरसे वनको चला जाना चाहता हूँ॥

मम प्रव्राजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मजा।
सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयतां ततः॥ १२ ॥

'आज मेरे चले जानेसे कृतकृत्य हुई राजकुमारी कैकेयी अपने पुत्र भरतका निर्भय एवं निश्चिन्त होकर अभिषेक करावे॥ १२ ॥

मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि।
गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनःसुखम्॥ १३ ॥

'मैं वल्कल और मृगचर्म धारण करके सिरपर जटाजूट बाँधे जब वनको चला जाऊँगा, तभी कैकेयीके मनको सुख प्राप्त होगा॥ १३ ॥

बुद्धिः प्रणीता येनेयं मनश्च सुसमाहितम्।
तं तु नार्हामि संक्लेष्टुं प्रव्रजिष्यामि मा चिरम्॥ १४ ॥

'जिस विधाताने कैकेयीको ऐसी बुद्धि प्रदान की है तथा जिसकी प्रेरणासे उसका मन मुझे वन भेजनेमें अत्यन्त दृढ़ हो गया है, उसे विफलमनोरथ करके कष्ट देना मेरे लिये उचित नहीं है॥ १४ ॥

कृतान्त एव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने।
राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने॥ १५ ॥

'सुमित्राकुमार! मेरे इस प्रवासमें तथा पिताद्वारा दिये हुए राज्यके फिर हाथसे निकल जानेमें दैवको ही कारण समझना चाहिये॥ १५ ॥

कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्यान्मम वेदने।
यदि तस्या न भावोऽयं कृतान्तविहितो भवेत्॥ १६ ॥

'मेरी समझसे कैकेयीका यह विपरीत मनोभाव दैवका ही विधान है। यदि ऐसा न होता तो वह मुझे वनमें भेजकर पीड़ा देनेका विचार क्यों करती?॥ १६ ॥

जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम्।
भूतपूर्वं विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा॥ १७ ॥

'सौम्य! तुम तो जानते ही हो कि मेरे मनमें पहले भी कभी माताओंके प्रति भेदभाव नहीं हुआ और कैकेयी भी पहले मुझमें या अपने पुत्रमें कोई अन्तर नहीं समझती थी॥

सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः।
उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद् दैवात् समर्थये॥ १८ ॥

'मेरे अभिषेकको रोकने और मुझे वनमें भेजनेके लिये उसने राजाको प्रेरित करनेके निमित्त जिन भयंकर और कटुवचनों-का प्रयोग किया है, उन्हें साधारण मनुष्योंके लिये भी मुँहसे निकालना कठिन है। उसकी ऐसी चेष्टामें मैं दैवके सिवा दूसरे किसी कारणका समर्थन नहीं करता ॥ १८ ॥

कथं प्रकृतिसम्पन्ना राजपुत्री तथागुणा।
ब्रूयात् सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीड्यं भर्तृसंनिधौ ॥ १९ ॥

'यदि ऐसी बात न होती तो वैसे उत्तम स्वभाव और श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त राजकुमारी कैकेयी एक साधारण स्त्रीकी भाँति अपने पतिके समीप मुझे पीड़ा देनेवाली बात कैसे कहती —मुझे कष्ट देनेके लिये रामको वनमें भेजनेका प्रस्ताव कैसे उपस्थित करती ? ॥ १९ ॥

यदचिन्त्यं तु तद् दैवं भूतेष्वपि न हन्यते।
व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः ॥ २० ॥

'जिसके विषयमें कभी कुछ सोचा न गया हो, वही दैवका विधान है। प्राणियोंमें अथवा उनके अधिष्ठाता देवताओंमें भी कोई ऐसा नहीं है, जो उस दैवके विधानको मेट सके; अतः निश्चय ही उसीकी प्रेरणासे मुझमें और कैकेयीमें यह भारी उलट-फेर हुआ है (मेरे हाथमें आया हुआ राज्य चला गया और कैकेयीकी बुद्धि बदल गयी) ॥ २० ॥

कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान्।
यस्य नु ग्रहणं किंचित् कर्मणोऽन्यन्न दृश्यते ॥ २१ ॥

'सुमित्रानन्दन ! कर्मोंके सुख-दुःखादिरूप फल प्राप्त होनेपर ही जिसका ज्ञान होता है, कर्मफलसे अन्यत्र कहीं भी जिसका पता नहीं चलता, उस दैवके साथ कौन पुरुष युद्ध कर सकता है ? ॥ २१ ॥

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किंचित् तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥ २२ ॥

'सुख-दुःख, भय-क्रोध (क्षोभ), लाभ-हानि, उत्पत्ति और विनाश तथा इस प्रकारके और भी जितने परिणाम प्राप्त होते हैं, जिनका कोई कारण समझमें नहीं आता, वे सब दैवके ही कर्म हैं ॥ २२ ॥

ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः ॥२३॥

'उग्र तपस्वी ऋषि भी दैवसे प्रेरित होकर अपने तीव्र नियमोंको छोड़ बैठते और काम-क्रोधके द्वारा विवश हो मर्यादासे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

असंकल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्तते।
निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत् ॥ २४ ॥

जो बात बिना सोचे-विचारे अकस्मात् सिरपर आ पड़ती है और प्रयत्नोंद्वारा आरम्भ किये हुए कार्यको रोककर एक नया ही काण्ड उपस्थित कर देती है, अवश्य वह दैवका ही विधान है ॥ २४ ॥

एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते ॥ २५ ॥

'इस तात्त्विक बुद्धिके द्वारा स्वयं ही मनको स्थिर कर लेनेके कारण मुझे अपने अभिषेकमें विघ्न पड़ जानेपर भी दुःख या संताप नहीं हो रहा है ॥ २५ ॥

तस्मादपरितापः संस्त्वमप्यनुविधाय माम्।
प्रतिसंहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकीं क्रियाम् ॥ २६ ॥

'इसी प्रकार तुम भी मेरे विचारका अनुसरण करके संतापशून्य हो राज्याभिषेकके इस आयोजनको शीघ्र बंद करा दो ॥ २६ ॥

एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसम्भृतैः।
मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति ॥ २७ ॥

'लक्ष्मण ! राज्याभिषेकके लिये सँजोकर रखे गये इन्हीं सब कलशोंद्वारा मेरा तापस-व्रतके संकल्पके लिये आवश्यक स्नान होगा ॥ २७ ॥

अथवा किं ममैतेन राज्यद्रव्यमयेन तु।
उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति ॥ २८ ॥

'अथवा राज्याभिषेकसम्बन्धी मङ्गल द्रव्यमय इस कलशजलकी मुझे क्या आवश्यकता है ? स्वयं मेरे द्वारा अपने हाथसे निकाला हुआ जल ही मेरे व्रतादेशका साधक होगा ॥

मा च लक्ष्मण संतापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यये।
राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः ॥ २९ ॥

'लक्ष्मण ! लक्ष्मीके इस उलट-फेरके विषयमें तुम कोई चिन्ता न करो। मेरे लिये राज्य अथवा वनवास दोनों समान हैं, बल्कि विशेष विचार करनेपर वनवास ही महान् अभ्युदय-कारी प्रतीत होता है ॥ २९ ॥

न लक्ष्मणास्मिन् मम राज्यविघ्ने
माता यवीयस्यभिशङ्कितव्या।
दैवाभिपन्ना न पिता कथंचि-
ज्जानासि दैवं हि तथाप्रभावम् ॥ ३० ॥

'लक्ष्मण ! मेरे राज्याभिषेकमें जो विघ्न आया है, इसमें मेरी सबसे छोटी माता कारण है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह दैवके अधीन थी। इसी प्रकार पिताजी भी किसी तरह इसमें कारण नहीं हैं। तुम तो दैव और उसके अद्भुत प्रभावको जानते ही हो, वही कारण है' ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

लक्ष्मणकी ओजभरी बातें, उनके द्वारा दैवका खण्डन और पुरुषार्थका प्रतिपादन तथा उनका श्रीरामके अभिषेकके निमित्त विरोधियोंसे लोहा लेनेके लिये उद्यत होना

इति ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणोऽवाक्शिरा इव।
ध्यात्वा मध्यं जगामाशु सहसा दैन्यहर्षयोः॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजी जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय लक्ष्मण सिर झुकाये कुछ सोचते रहे; फिर सहसा शीघ्रतापूर्वक वे दुःख और हर्षके बीचकी स्थितिमें आ गये (श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न पड़नेके कारण उन्हें दुःख हुआ और उनकी धर्ममें दृढ़ता देखकर प्रसन्नता हुई)॥ १॥

तदा तु बद्ध्वा भ्रुकुटीं भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः।
निशश्वास महासर्पो बिलस्थ इव रोषितः॥ २॥

नरश्रेष्ठ लक्ष्मणने उस समय ललाटमें भौंहोंको चढ़ाकर लंबी साँस खींचना आरम्भ किया, मानो बिलमें बैठा हुआ महान् सर्प रोषमें भरकर फुंकार मार रहा हो॥ २॥

तस्य दुष्प्रतिवीक्ष्यं तद् भ्रुकुटीसहितं तदा।
बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम्॥ ३॥

तनी हुई भौंहोंके साथ उस समय उनका मुख कुपित हुए सिंहके मुखके समान जान पड़ता था, उसकी ओर देखना कठिन हो रहा था॥ ३॥

अग्रहस्तं विधुन्वंस्तु हस्ती हस्तमिवात्मनः।
तिर्यगूर्ध्वं शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम्॥ ४॥
अग्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत्।

जैसे हाथी अपनी सूँड़ हिलाया करता है, उसी प्रकार वे अपने दाहिने हाथको हिलाते और गर्दनको शरीरमें ऊपर-नीचे और अगल-बगल सब ओर घुमाते हुए नेत्रोंके अग्र-भागसे टेढ़ी नजरोंद्वारा अपने भाई श्रीरामको देखकर उनसे बोले—॥ ४½॥

अस्थाने सम्भ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम्॥ ५॥
धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्यानतिशङ्कया।
कथं ह्येतदसम्भ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति॥ ६॥
यथा ह्येवमशौण्डीरं शौण्डीरः क्षत्रियर्षभः।
किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि॥ ७॥

'भैया! आप समझते हैं कि यदि पिताकी इस आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं वनको न जाऊँ तो धर्मके विरोधका प्रसङ्ग उपस्थित होता है, इसके सिवा लोगोंके मनमें यह बड़ी भारी शङ्का उठ खड़ी होगी कि जो पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह यदि राजा ही हो जाय तो हमारा धर्मपूर्वक पालन कैसे करेगा? साथ ही आप यह भी सोचते हैं कि यदि मैं पिताकी इस आज्ञाका पालन नहीं करूँ तो दूसरे लोग भी नहीं करेंगे। इस प्रकार धर्मकी अवहेलना होनेसे जगत्‌के विनाशका भय उपस्थित होगा। इन सब दोषों और शङ्काओंका निराकरण करनेके लिये आपके मनमें वनगमनके प्रति जो यह बड़ा भारी सम्भ्रम (उतावलापन) आ गया है; यह सर्वथा अनुचित एवं भ्रममूलक ही है; क्योंकि आप असमर्थ 'दैव' नामक तुच्छ वस्तुको प्रबल बता रहे हैं। दैवका निराकरण करनेमें समर्थ आप-जैसा क्षत्रियशिरोमणि वीर यदि भ्रममें नहीं पड़ गया होता तो ऐसी बात कैसे कह सकता था! अतः असमर्थ पुरुषोंद्वारा ही अपनाये जाने योग्य और पौरुषके निकट कुछ भी करनेमें असमर्थ 'दैव' की आप साधारण मनुष्यके समान इतनी स्तुति या प्रशंसा क्यों कर रहे हैं? ॥ ५—७॥

पापयोस्ते कथं नाम तयोः शङ्का न विद्यते।
सन्ति धर्मोपधासक्ता धर्मात्मन् किं न बुध्यसे॥ ८॥

'धर्मात्मन्! आपको उन दोनों पापियोंपर संदेह क्यों नहीं होता? संसारमें कितने ही ऐसे पापासक्त मनुष्य हैं, जो दूसरोंको ठगनेके लिये धर्मका ढोंग बनाये रहते हैं, क्या आप उन्हें नहीं जानते हैं? ॥ ८॥

तयोः सुचरितं स्वार्थं शाठ्यात् परिजिहीर्षतोः।
यदि नैवं व्यवसितं स्याद्धि प्रागेव राघव।
तयोः प्रागेव दत्तश्च स्याद् वरः प्रकृतश्च सः॥ ९॥

रघुनन्दन! वे दोनों अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये शठतावश धर्मके बहाने आप-जैसे सच्चरित्र पुरुषका परित्याग करना चाहते हैं। यदि उनका ऐसा विचार न होता तो जो कार्य आज हुआ है, वह पहले ही हो गया होता। यदि वरदानवाली बात सच्ची होती तो आपके अभिषेकका कार्य प्रारम्भ होनेसे पहले ही इस तरहका वर दे दिया गया होता॥ ९॥

लोकविद्विष्टमारब्धं त्वदन्यस्याभिषेचनम्।
नोत्सहे सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुमर्हसि॥ १०॥

(गुणवान् ज्येष्ठ पुत्रके रहते हुए छोटेका अभिषेक करना) यह लोकविरुद्ध कार्य है, जिसका आज आरम्भ किया गया है। आपके सिवा दूसरे किसीका राज्याभिषेक हो, यह मुझसे सहन नहीं होनेका। इसके लिये आप मुझे क्षमा करेंगे॥ १०॥

येनैवमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते।
सोऽपि धर्मो मम द्वेष्यो यत्प्रसङ्गाद् विमुह्यसि॥ ११॥

'महामते! पिताके जिस वचनको मानकर आप मोहमें

पड़े हुए हैं और जिसके कारण आपकी बुद्धिमें दुविधा उत्पन्न हो गयी है, मैं उसे धर्म माननेका पक्षपाती नहीं हूँ; ऐसे धर्मका तो मैं घोर विरोध करता हूँ ॥ ११ ॥

कथं त्वं कर्मणा शक्तः कैकेयीवशवर्तिनः ।
करिष्यसि पितुर्वाक्यमधर्मिष्ठं विगर्हितम् ॥ १२ ॥

'आप अपने पराक्रमसे सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी कैकेयीके वशमें रहनेवाले पिताके अधर्मपूर्ण एवं निन्दित वचनका पालन कैसे करेंगे ? ॥ १२ ॥

यद्ययं किल्बिषाद् भेदः कृतोऽप्येवं न गृह्यते ।
जायते तत्र मे दुःखं धर्मसङ्गश्च गर्हितः ॥ १३ ॥

वरदानकी झूठी कल्पनाका पाप करके आपके अभिषेकमें रोड़ा अटकाया गया है, फिर भी आप इस रूपमें नहीं ग्रहण करते हैं। इसके लिये मेरे मनमें बड़ा दुःख होता है। ऐसे कपटपूर्ण धर्मके प्रति होनेवाली आसक्ति निन्दित है ॥ १३ ॥

तवायं धर्मसंयोगो लोकस्यास्य विगर्हितः ।
मनसापि कथं कामं कुर्यात् त्वां कामवृत्तयोः ।
तयोस्त्वहितयोर्नित्यं शत्र्वोः पित्रभिधानयोः ॥ १४ ॥

'ऐसे पाखण्डपूर्ण धर्मके पालनमें जो आपकी प्रवृत्ति हो रही है, वह यहाँके जनसमुदायकी दृष्टिमें निन्दित है। आपके सिवा दूसरा कोई पुरुष सदा पुत्रका अहित करनेवाले, पिता-माता नामधारी उन कामाचारी शत्रुओंके मनोरथको मनसे भी कैसे पूर्ण कर सकता है (उसकी पूर्तिका विचार भी मनमें कैसे ला सकता है ?) ॥ १४ ॥

यद्यपि प्रतिपत्तिस्ते दैवी चापि तयोर्मतम् ।
तथाप्युपेक्षणीयं ते न मे तदपि रोचते ॥ १५ ॥

'माता-पिताके इस विचारको कि—'आपका राज्याभिषेक न हो' जो आप दैवकी प्रेरणाका फल मानते हैं, यह भी मुझे अच्छा नहीं लगता। यद्यपि वह आपका मत है, तथापि आपको उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये ॥ १५ ॥

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते ।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ॥ १६ ॥

'जो कायर है, जिसमें पराक्रमका नाम नहीं है, वही दैवका भरोसा करता है! सारा संसार जिन्हें आदरकी दृष्टिसे देखता है, वे शक्तिशाली वीर पुरुष दैवकी उपासना नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम् ।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ॥ १७ ॥

'जो अपने पुरुषार्थसे दैवको दबानेमें समर्थ है, वह पुरुष दैवके द्वारा अपने कार्यमें बाधा पड़नेपर खेद नहीं करता—शिथिल होकर नहीं बैठता ॥ १७ ॥

द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च ।
दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता व्यक्तिर्भविष्यति ॥ १८ ॥

'आज संसारके लोग देखेंगे कि दैवकी शक्ति बड़ी है या पुरुषका पुरुषार्थ। आज दैव और मनुष्यमें कौन बलवान् है और कौन दुर्बल—इसका स्पष्ट निर्णय हो जायगा ॥ १८ ॥

अद्य मे पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः ।
यैर्दैवादाहतं तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥

'जिन लोगोंने दैवके बलसे आज आपके राज्याभिषेकको नष्ट हुआ देखा है, वे ही आज मेरे पुरुषार्थसे अवश्य ही दैवका भी विनाश देख लेंगे ॥ १९ ॥

अत्यङ्कुशमिवोद्दामं गजं मदजलोद्धतम् ।
प्रधावितमहं दैवं पौरुषेण निवर्तये ॥ २० ॥

'जो अङ्कुशकी परवा नहीं करता और रस्से या साँकलको भी तोड़ देता है, मदकी धारा बहानेवाले उस मत्त गजराजकी भाँति वेगपूर्वक दौड़नेवाले दैवको भी आज मैं अपने पुरुषार्थसे पीछे लौटा दूँगा ॥ २० ॥

लोकपालाः समस्तास्ते नाद्य रामाभिषेचनम् ।
न च कृत्स्नास्त्रयो लोका विहन्युः किं पुनः पिता ॥ २१ ॥

'समस्त लोकपाल और तीनों लोकोंके सम्पूर्ण प्राणी आज श्रीरामके राज्याभिषेकको नहीं रोक सकते, फिर केवल पिताजीकी तो बात ही क्या है ? ॥ २१ ॥

यैर्विवासस्तवारण्ये मिथो राजन् समर्थितः ।
अरण्ये ते विवत्स्यन्ति चतुर्दश समास्तथा ॥ २२ ॥

'राजन्! जिन लोगोंने आपसमें आपके वनवासका समर्थन किया है, वे स्वयं चौदह वर्षोंतक वनमें जाकर छिपे रहेंगे ॥ २२ ॥

अहं तदाशां धक्ष्यामि पितुस्तस्याश्च या तव ।
अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते ॥ २३ ॥

'मैं पिताकी और जो आपके अभिषेकमें विघ्न डालकर अपने पुत्रको राज्य देनेके प्रयत्नमें लगी हुई है, उस कैकेयीकी भी उस आशाको जलाकर भस्म कर डालूँगा ॥ २३ ॥

मद्बलेन विरुद्धाय न स्याद् दैवबलं तथा ।
प्रभविष्यति दुःखाय यथोग्रं पौरुषं मम ॥ २४ ॥

'जो मेरे बलके विरोधमें खड़ा होगा, उसे मेरा भयंकर पुरुषार्थ जैसा दुःख देनेमें समर्थ होगा, वैसा दैवबल उसे सुख नहीं पहुँचा सकेगा ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वं वर्षसहस्रान्ते प्रजापाल्यमनन्तरम् ।
आर्यपुत्राः करिष्यन्ति वनवासं गते त्वयि ॥ २५ ॥

'सहस्रों वर्ष बीतनेके पश्चात् जब आप अवस्थाक्रमसे वनमें निवास करनेके लिये जायँगे, उस समय आपके बाद आपके पुत्र प्रजापालनरूप कार्य करेंगे (अर्थात् उस समय भी दूसरोंको इस राज्यमें दखल देनेका अवसर नहीं प्राप्त होगा) ॥ २५ ॥

पूर्वराजर्षिवृत्त्या हि वनवासोऽभिधीयते ।
प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत् परिपालने ॥ २६ ॥

'पुरातन राजर्षियोंकी आचारपरम्पराके अनुसार प्रजाका पुत्रवत् पालन करनेके निमित्त प्रजावर्गको पुत्रोंके हाथमें सौंपकर वृद्ध राजाका वनमें निवास करना उचित बताया जाता है ॥ २६ ॥

स चेद् राजन्यनेकाग्रे राज्यविभ्रमशङ्कया ।
नैवमिच्छसि धर्मात्मन् राज्यं राम त्वमात्मनि ॥ २७ ॥

'धर्मात्मा श्रीराम ! हमारे महाराज वानप्रस्थधर्मके पालनमें चित्तको एकाग्र नहीं कर रहे हैं, इसीलिये यदि आप यह समझते हों कि उनकी आज्ञाके विरुद्ध राज्य ग्रहण कर लेनेपर समस्त जनता विद्रोही हो जायगी, अतः राज्य अपने हाथमें नहीं रह सकेगा और इसी शङ्कासे यदि आप अपने ऊपर राज्यका भार नहीं लेना चाहते हैं ,अथवा वनमें चले जाना चाहते हैं तो इस शङ्काको छोड़ दीजिये ॥ २७ ॥

प्रतिजाने च ते वीर मा भूवं वीरलोकभाक् ।
राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेव सागरम् ॥ २८ ॥

'वीर ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जैसे तटभूमि समुद्रको रोके रहती है, उसी प्रकार मैं आपकी और आपके राज्यकी रक्षा करूँगा । यदि ऐसा न करूँ तो वीरलोकका भागी न होऊँ ॥ २८ ॥

मङ्गलैरभिषिञ्चस्व तत्र त्वं व्यापृतो भव ।
अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात् ॥ २९ ॥

'इसलिये आप मङ्गलमयी अभिषेक-सामग्रीसे अपना अभिषेक होने दीजिये । इस अभिषेकके कार्यमें आप तत्पर हो जाइये । मैं अकेला ही बलपूर्वक समस्त विरोधी भूपालोंको रोक रखनेमें समर्थ हूँ ॥ २९ ॥

न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे ।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः ॥ ३० ॥

'ये मेरी दोनों भुजाएँ केवल शोभाके लिये नहीं हैं। मेरे इस धनुषका आभूषण नहीं बनेगा । यह तलवार केवल कमरमें बाँधे रखनेके लिये नहीं है ,तथा इन बाणोंके खम्भे नहीं बनेंगे ॥ ३० ॥

अमित्रमथनार्थाय सर्वमेतच्चतुष्टयम् ।
न चाहं कामयेऽत्यर्थं यः स्याच्छत्रुर्मतो मम ॥ ३१ ॥

'ये सब चारों वस्तुएँ शत्रुओंका दमन करनेके लिये ही हैं । जिसे मैं अपना शत्रु समझता हूँ, उसे कदापि जीवित रहने देना नहीं चाहता ॥ ३१ ॥

असिना तीक्ष्णधारेण विद्युच्चलितवर्चसा ।
प्रगृहीतेन वै शत्रुं वज्रिणं वा न कल्पये ॥ ३२॥

'जिस समय मैं इस तीखी धारवाली तलवारको हाथमें लेता हूँ, यह बिजलीकी तरह चञ्चल प्रभासे चमक उठती है । इसके द्वारा अपने किसी भी शत्रुको, वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, मैं कुछ नहीं समझता ॥ ३२ ॥

खड्गनिष्पेषनिष्पिष्टैर्गहना दुश्चरा च मे ।
हस्त्यश्वरथिहस्तोरुशिरोभिर्भविता मही ॥ ३३ ॥

'आज मेरे खड्गके प्रहारसे पीस डाले गये हाथी, घोड़े और रथियोंके हाथ, जाँघ और मस्तकोंद्वारा पटी हुई यह पृथ्वी ऐसी गहन हो जायगी कि इसपर चलना-फिरना कठिन हो जायगा ॥ ३३ ॥

खड्गधाराहता मेऽद्य दीप्यमाना इवाग्नयः ।
पतिष्यन्ति द्विषो भूमौ मेघा इव सविद्युतः ॥ ३४ ॥

'मेरी तलवारकी धारसे कटकर रक्तसे लथपथ हुए शत्रु जलती हुई आगके समान जान पड़ेंगे और बिजलीसहित मेघोंके समान आज पृथ्वीपर गिरेंगे ॥ ३४ ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणे प्रगृहीतशरासने ।
कथं पुरुषमानी स्यात् पुरुषाणां मयि स्थिते ॥ ३५ ॥

'अपने हाथोंमें गोहके चर्मसे बने हुए दस्तानेको बाँधकर जब हाथमें धनुष ले मैं युद्धके लिये खड़ा हो जाऊँगा, उस समय पुरुषोंमेंसे कोई भी मेरे सामने कैसे अपने पौरुषपर अभिमान कर सकेगा ? ॥ ३५ ॥

बहुभिश्चैकमत्यस्यन्नेकेन च बहूञ्जनान् ।
विनियोक्ष्याम्यहं बाणान्नृवाजिगजमर्मसु ॥ ३६ ॥

'मैं बहुत-से बाणोंद्वारा एकको और एक ही बाणसे बहुत-से योद्धाओंको धराशायी करता हुआ मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके मर्मस्थानोंपर बाण मारूँगा ॥ ३६ ॥

अद्य मेऽस्त्रप्रभावस्य प्रभावः प्रभविष्यति ।
राज्ञश्चाप्रभुतां कर्तुं प्रभुत्वं च तव प्रभो ॥ ३७॥

'प्रभो ! आज राजा दशरथकी प्रभुताको मिटाने और आपके प्रभुत्वकी स्थापना करनेके लिये अस्त्रबलसे सम्पन्न मुझ लक्ष्मणका प्रभाव प्रकट होगा ॥ ३७ ॥

अद्य चन्दनसारस्य केयूरामोक्षणस्य च ।
वसूनां च विमोक्षस्य सुहृदां पालनस्य च ॥ ३८॥
अनुरूपाविमौ बाहू राम कर्म करिष्यतः ।
अभिषेचनविघ्नस्य कर्तॄणां ते निवारणे ॥ ३९ ॥

'श्रीराम ! आज मेरी ये दोनों भुजाएँ, जो चन्दनका लेप लगाने, बाजूबंद पहनने, धनका दान करने और सुहृदोंके पालनमें संलग्न रहनेके योग्य हैं, आपके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेवालोंको रोकनेके लिये अपने अनुरूप पराक्रम प्रकट करेंगी ॥ ३८-३९ ॥

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत् प्राणयशःसुहृज्जनैः ।
यथा तवेयं वसुधा वशा भवेत्
तथैव मां शाधि तवास्मि किंकरः ॥४०॥

'प्रभो ! बतलाइये, मैं आपके किस शत्रुको अभी प्राण, यश और सुहृज्जनोंसे सदाके लिये विलग कर दूँ। जिस उपायसे भी यह पृथ्वी आपके अधिकारमें आ जाय, उसके लिये मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपका दास हूँ' ॥ ४० ॥

विमृज्य बाष्पं परिसान्त्व्य चासकृत्
स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः ।
उवाच पित्रोर्वचने व्यवस्थितं
निबोध मामेष हि सौम्य सत्पथः ॥ ४१ ॥

रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले श्रीरामने लक्ष्मणकी ये बातें सुनकर उनके आँसू पोंछे और उन्हें बारंबार सान्त्वना देते हुए कहा—'सौम्य ! मुझे तो तुम माता-पिताकी आज्ञाके पालनमें ही दृढ़तापूर्वक स्थित समझो। यही सत्पुरुषोंका मार्ग है' ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

विलाप करती हुई कौसल्याका श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये आग्रह करना तथा पतिकी सेवा ही नारीका धर्म है, यह बताकर श्रीरामका उन्हें रोकना और वन जानेके लिये उनकी अनुमति प्राप्त करना

तं समीक्ष्य व्यवसितं पितुर्निर्देशपालने ।
कौसल्या बाष्पसंरुद्धा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत् ॥ १ ॥

कौसल्याने जब देखा कि श्रीरामने पिताकी आज्ञाके पालनका ही दृढ़ निश्चय कर लिया है, तब वे आँसुओंसे रुँधी हुई गद्गद वाणीमें धर्मात्मा श्रीरामसे इस प्रकार बोलीं—॥ १ ॥

अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ।
मयि जातो दशरथात् कथमुञ्छेन वर्तयेत् ॥ २ ॥

'हाय ! जिसने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखा है, जो समस्त प्राणियोंसे सदा प्रिय वचन बोलता है, जिसका जन्म महाराज दशरथसे मेरे द्वारा हुआ है, वह मेरा धर्मात्मा पुत्र उञ्छवृत्तिसे—खेतमें गिरे हुए अनाजके एक-एक दानेको बीनकर कैसे जीवन-निर्वाह कर सकेगा ? ॥ २ ॥

यस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते ।
कथं स भोक्ष्यते रामो वने मूलफलान्ययम् ॥ ३ ॥

'जिनके भृत्य और दास भी शुद्ध, स्वादिष्ट अन्न खाते हैं, वे ही श्रीराम वनमें फल-मूलका आहार कैसे करेंगे ? ॥ ३ ॥

क एतच्छ्रद्दधेच्छ्रुत्वा कस्य वा न भवेद् भयम् ।
गुणवान् दयितो राज्ञः काकुत्स्थो यद् विवास्यते ॥ ४ ॥

'जो सद्गुणसम्पन्न और महाराज दशरथके प्रिय हैं, उन्हीं ककुत्स्थकुल-भूषण श्रीरामको जो वनवास दिया जा रहा है, इसे सुनकर कौन इसपर विश्वास करेगा ? अथवा ऐसी बात सुनकर किसको भय नहीं होगा ? ॥ ४ ॥

नूनं तु बलवाँल्लोके कृतान्तः सर्वमादिशन् ।
लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि ॥ ५ ॥

'श्रीराम ! निश्चय ही इस जगत्में दैव सबसे बड़ा बलवान् है। उसकी आज्ञा सबके ऊपर चलती है—वही सबको सुख-दुःखसे संयुक्त करता है; क्योंकि उसीके प्रभावमें आकर तुम्हारे-जैसा लोकप्रिय मनुष्य भी वनमें जानेको उद्यत है ॥ ५ ॥

अयं तु मामात्मभवस्तवादर्शनमारुतः ।
विलापदुःखसमिधो रुदिताश्रुहुताहुतिः ॥ ६ ॥
चिन्तावाष्पमहाधूमस्तवागमनचिन्तजः ।
कर्शयित्वाधिकं पुत्र निःश्वासायाससम्भवः ॥ ७ ॥
त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान् ।
प्रधक्ष्यति यथा कक्ष्यं चित्रभानुर्हिमात्यये ॥ ८ ॥

'परंतु बेटा ! तुमसे बिछुड़ जानेपर यहाँ मुझे शोककी अनुपम एवं बहुत बढ़ी हुई आग उसी तरह जलाकर भस्म कर डालेगी, जैसे ग्रीष्मऋतुमें दावानल सूखी लकड़ियों और घास-फूसको जला डालता है। शोककी यह आग मेरे अपने ही मनमें प्रकट हुई है। तुम्हें न देख पानेकी सम्भावना ही वायु बनकर इस अग्निको उद्दीप्त कर रही है। विलापजनित दुःख ही इसमें ईंधनका काम कर रहे हैं। रोनेसे जो अश्रुपात होते हैं, वे ही मानो इसमें दी हुई घीकी आहुति हैं। चिन्ताके कारण जो गरम-गरम उच्छ्वास उठ रहा है, वही इसका महान् धूम है। तुम दूर देशमें जाकर फिर किस तरह आओगे—इस प्रकारकी चिन्ता ही इस शोकाग्निको जन्म दे रही है। साँस लेनेका जो प्रयत्न है, उसीसे इस आगकी प्रतिक्षण वृद्धि हो रही है। तुम्हीं इसे बुझानेके लिये जल हो। तुम्हारे बिना यह आग मुझे अधिक सुखाकर जला डालेगी ॥ ६—८ ॥

कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति ।
अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि ॥ ९ ॥

'वत्स ! धेनु आगे जाते हुए अपने बछड़ेके पीछे-पीछे

कैसे चली जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम जहाँ भी जाओगे, तुम्हारे पीछे-पीछे चली चलूँगी' ॥ ९ ॥

यथा निगदितं मात्रा तद् वाक्यं पुरुषर्षभः।
श्रुत्वा रामोऽब्रवीद् वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥ १० ॥

माता कौसल्याने जैसे जो कुछ कहा, उस वचनको सुनकर पुरुषोत्तम श्रीरामने अत्यन्त दुःखमें डूबी हुई अपनी मासे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते।
भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति ॥ ११ ॥

'मा ! कैकेयीने राजाके साथ धोखा किया है। इधर मैं वनको चला जा रहा हूँ। इस दशामें यदि तुम भी उनका परित्याग कर दोगी तो निश्चय ही वे जीवित नहीं रह सकेंगे ॥ ११ ॥

भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः ॥ १२ ॥

'पतिका परित्याग नारीके लिये बड़ा ही क्रूरतापूर्ण कर्म है। सत्पुरुषोंने इसकी बड़ी निन्दा की है; अतः तुम्हें तो ऐसी बात कभी मनमें भी नहीं लानी चाहिये ॥ १२ ॥

यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः।
शुश्रूषा क्रियतां तावत् स हि धर्मः सनातनः ॥ १३ ॥

'मेरे पिता ककुत्स्थकुल-भूषण महाराज दशरथ जबतक जीवित हैं, तबतक तुम उन्हींकी सेवा करो। पतिकी सेवा ही स्त्रीके लिये सनातन धर्म है' ॥ १३ ॥

एवमुक्ता तु रामेण कौसल्या शुभदर्शना।
तथेत्युवाच सुप्रीता राममक्लिष्टकारिणम् ॥ १४ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर शुभ कर्मोंपर दृष्टि रखनेवाली देवी कौसल्याने अत्यन्त प्रसन्न होकर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामसे कहा—'अच्छा बेटा ! ऐसा ही करूँगी' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु वचनं रामो धर्मभृतां वरः।
भूयस्तामब्रवीद् वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥ १५ ॥

माके इस प्रकार स्वीकृतिसूचक बात कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने अत्यन्त दुःखमें पड़ी हुई अपनी मातासे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः।
राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥ १६ ॥

'मा ! पिताजीकी आज्ञाका पालन करना मेरा और तुम्हारा—दोनोंका कर्तव्य है; क्योंकि राजा हम सब लोगोंके स्वामी, श्रेष्ठ गुरु, ईश्वर एवं प्रभु हैं ॥ १६ ॥

इमानि तु महारण्ये विहृत्य नव पञ्च च।
वर्षाणि परमप्रीत्या स्थास्यामि वचने तव ॥ १७ ॥

'इन चौदह वर्षोंतक मैं विशाल वनमें घूम-फिरकर लौट आऊँगा और बड़े प्रेमसे तुम्हारी आज्ञाका पालन करता रहूँगा' ॥ १७ ॥

एवमुक्ता प्रियं पुत्रं बाष्पपूर्णानना तदा।
उवाच परमार्ता तु कौसल्या सुतवत्सला ॥ १८ ॥

उनके ऐसा कहनेपर पुत्रवत्सला कौसल्याके मुखपर पुनः आँसुओंकी धारा बह चली। वे उस समय अत्यन्त आर्त होकर अपने प्रिय पुत्रसे बोलीं—॥ १८ ॥

आसां राम सपत्नीनां वस्तुं मध्ये न मे क्षमम्।
नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीमिव ॥ १९ ॥
यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया।

'बेटा राम ! अब मुझसे इन सौतोंके बीचमें नहीं रहा जायगा। काकुत्स्थ ! यदि पिताकी आज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे तुमने वनमें जानेका ही निश्चय किया है तो मुझे भी वनवासिनी हरिणीकी भाँति वनमें ही ले चलो' ॥ १९½ ॥

तां तथा रुदतीं रामो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥
जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः ॥ २१ ॥

यह कहकर माता कौसल्या रोने लगीं। उन्हें उस तरह रोती देख श्रीराम भी रो पड़े और उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—'मा ! स्त्रीके जीते-जी उसका पति ही उसके लिये देवता और ईश्वरके समान है। महाराज तुम्हारे और मेरे दोनोंके प्रभु हैं ॥ २०-२१ ॥

न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ॥ २२ ॥
भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा।

'जबतक बुद्धिमान् जगदीश्वर महाराज दशरथ जीवित हैं, तबतक हमें अपनेको अनाथ नहीं समझना चाहिये। भरत भी बड़े धर्मात्मा हैं। वे समस्त प्राणियोंके प्रति प्रिय वचन बोलनेवाले और सदा ही धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं; अतः वे तुम्हारा अनुसरण—तुम्हारी सेवा करेंगे ॥ २२½ ॥

यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः ॥ २३ ॥
श्रमं नावाप्नुयात् किंचिदप्रमत्ता तथा कुरु।

'मेरे चले जानेपर जिस तरह भी महाराजको पुत्रशोकके कारण कोई विशेष कष्ट न हो, तुम सावधानीके साथ वैसा ही प्रयत्न करना ॥ २३½ ॥

दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत् ॥ २४ ॥
राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता।

'कहीं ऐसा न हो कि यह दारुण शोक इनकी जीवनलीला ही समाप्त कर डाले। जैसे भी सम्भव हो, तुम सदा सावधान रहकर बूढ़े महाराजके हित-साधनमें लगी रहना ॥ २४½ ॥

व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥ २५ ॥
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत् ।

'उत्कृष्ट गुण और जाति आदिकी दृष्टिसे परम उत्तम तथा व्रत-उपवासमें तत्पर होकर भी जो नारी पतिकी सेवा नहीं करती है, उसे पापियोंको मिलनेवाली गति (नरक आदि) की प्राप्ति होती है ॥ २५½ ॥

भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥ २६ ॥
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।

'जो अन्यान्य देवताओंकी वन्दना और पूजासे दूर रहती है, वह नारी भी केवल पतिकी सेवामात्रसे उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त कर लेती है ॥ २६½ ॥

शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ॥ २७ ॥
एष धर्मः स्त्रिया नित्यो वेदे लोके श्रुतः स्मृतः ।

'अतः नारीको चाहिये कि वह पतिके प्रिय एवं हित-साधनमें तत्पर रहकर सदा उसकी सेवा ही करे, यही स्त्रीका वेद और लोकमें प्रसिद्ध नित्य (सनातन) धर्म है । इसी-का श्रुतियों और स्मृतियोंमें भी वर्णन है ॥ २७½ ॥

अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः ॥ २८ ॥
पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सत्कृताः ।

'देवि ! तुम्हें मेरी मङ्गल-कामनासे सदा अग्निहोत्रके अवसरोंपर पुष्पोंसे देवताओंका तथा सत्कारपूर्वक ब्राह्मणोंका भी पूजन करते रहना चाहिये ॥ २८½ ॥

एवं कालं प्रतीक्षस्व ममागमनकाङ्क्षिणी ॥ २९ ॥
नियता नियताहारा भर्तृशुश्रूषणे रता ।

'इस प्रकार तुम नियमित आहार करके नियमोंका पालन करती हुई स्वामीकी सेवामें लगी रहो और मेरे आगमनकी इच्छा रखकर समयकी प्रतीक्षा करो ॥ २९½ ॥

प्राप्स्यसे परमं कामं मयि पर्यागते सति ॥ ३० ॥
यदि धर्मभृतां श्रेष्ठो धारयिष्यति जीवितम् ।

'यदि धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाराज जीवित रहेंगे तो मेरे लौट आनेपर तुम्हारी भी शुभ कामना पूर्ण होगी' ॥ ३०½ ॥

एवमुक्ता तु रामेण बाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥ ३१ ॥
कौसल्या पुत्रशोकार्ता रामं वचनमब्रवीत् ।

श्रीरामके ऐसा कहनेपर कौसल्याके नेत्रोंमें आँसू छलक आये । वे पुत्रशोकसे पीड़ित होकर श्रीरामचन्द्रजीसे बोलीं—॥ ३१½ ॥

गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक ॥ ३२ ॥
विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः ।

'बेटा ! मैं तुम्हारे वनमें जानेके निश्चित विचारको नहीं पलट सकती । वीर ! निश्चय ही कालकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना अत्यन्त कठिन है ॥ ३२½ ॥

गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो ॥ ३३ ॥
पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा ।

'सामर्थ्यशाली पुत्र ! अब तुम निश्चिन्त होकर वनको जाओ, तुम्हारा सदा ही कल्याण हो । जब फिर तुम वनसे लौट आओगे, उस समय मेरे सारे क्लेश—सब संताप दूर हो जायँगे ॥ ३३½ ॥

प्रत्यागते महाभागे कृतार्थे चरितव्रते ।
पितुरानृण्यतां प्राप्ते स्वपिष्ये परमं सुखम् ॥ ३४ ॥

'बेटा ! जब तुम वनवासका महान् व्रत पूर्ण करके कृतार्थ एवं महान् सौभाग्यशाली होकर लौट आओगे और ऐसा करके पिताके ऋणसे उऋण हो जाओगे तभी मैं उत्तम सुखकी नींद सो सकूँगी ॥ ३४ ॥

कृतान्तस्य गतिः पुत्र दुर्विभाव्या सदा भुवि ।
यस्त्वां संचोदयति मे वच आविध्य राघव ॥ ३५ ॥

'बेटा रघुनन्दन ! इस भूतलपर दैवकी गतिको समझना बहुत ही कठिन है, जो मेरी बात काटकर तुम्हें वन जानेके लिये प्रेरित कर रहा है ॥ ३५ ॥

गच्छेदानीं महाबाहो क्षेमेण पुनरागतः ।
नन्दयिष्यसि मां पुत्र साम्ना श्लक्ष्णेन चारुणा ॥ ३६ ॥

'बेटा ! महाबाहो ! इस समय जाओ, फिर कुशलपूर्वक लौटकर सान्त्वनाभरे मधुर एवं मनोहर वचनोंसे मुझे आनन्दित करना ॥ ३६ ॥

अपीदानीं स कालः स्याद् वनात् प्रत्यागतं पुनः ।
यत् त्वां पुत्रक पश्येयं जटावल्कलधारिणम् ॥ ३७ ॥

'वत्स ! क्या वह समय अभी आ सकता है, जब कि जटा-वल्कल धारण किये वनसे लौटकर आये हुए तुमको फिर देख सकूँगी' ॥ ३७ ॥

तथा हि रामं वनवासनिश्चितं
ददर्श देवी परमेण चेतसा ।
उवाच रामं शुभलक्षणं वचो
बभूव च स्वस्त्ययनाभिकाङ्क्षिणी ॥ ३८ ॥

देवी कौसल्याने जब देखा कि इस प्रकार श्रीराम वन-वासका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं, तब वे परम आदरयुक्त हृदयसे उनको शुभसूचक आशीर्वाद देने और उनके लिये स्वस्तिवाचन करानेकी इच्छा करने लगीं ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

कौसल्याका श्रीरामकी वनयात्राके लिये मङ्गलकामनापूर्वक स्वस्तिवाचन करना और श्रीरामका उन्हें प्रणाम करके सीताके भवनकी ओर जाना

सा विनीय तमायासमुपस्पृश्य जलं शुचि।
चकार माता रामस्य मङ्गलानि मनस्विनी॥ १॥

तदनन्तर उस क्लेशजनक शोकको मनसे निकालकर श्रीरामकी मनस्विनी माता कौसल्याने पवित्र जलसे आचमन किया, फिर वे यात्राकालिक मङ्गलकृत्योंका अनुष्ठान करने लगीं॥ १॥

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे॥ २॥

(इसके बाद वे आशीर्वाद देती हुई बोलीं—) 'रघुकुलभूषण! अब मैं तुम्हें रोक नहीं सकती, इस समय जाओ, सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थिर रहो और शीघ्र ही वनसे लौट आओ॥ २॥

यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥ ३॥

'रघुकुलसिंह! तुम नियमपूर्वक प्रसन्नताके साथ जिस धर्मका पालन करते हो, वही सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करे॥ ३॥

येभ्यः प्रणमसे पुत्र देवेष्वायतनेषु च।
ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः॥ ४॥

बेटा! देवस्थानों और मन्दिरोंमें जाकर तुम जिनको प्रणाम करते हो, वे सब देवता महर्षियोंके साथ वनमें तुम्हारी रक्षा करें॥ ४॥

यानि दत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता।
तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणैः समुदितं सदा॥ ५॥

'तुम सद्गुणोंसे प्रकाशित हो, बुद्धिमान् विश्वामित्रजीने तुम्हें जो-जो अस्त्र दिये हैं, वे सब-के-सब सदा सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ ५॥

पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा।
सत्येन च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः॥ ६॥

'महाबाहु पुत्र! तुम पिताकी शुश्रूषा, माताकी सेवा तथा सत्यके पालनसे सुरक्षित होकर चिरंजीवी बने रहो॥६॥

समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च।
स्थण्डिलानि च विप्राणां शैला वृक्षाः क्षुपा ह्रदाः।
पतङ्गाः पन्नगाः सिंहास्त्वां रक्षन्तु नरोत्तम॥ ७॥

'नरश्रेष्ठ! समिधा, कुशा, पवित्री, वेदियाँ, मन्दिर, ब्राह्मणोंके देवपूजनसम्बन्धी स्थान, पर्वत, वृक्ष, क्षुप (छोटी शाखावाले वृक्ष), जलाशय, पक्षी, सर्प और सिंह वनमें [illegible] रक्षा करें॥ ७॥

स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षिभिः।
स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्यमा॥ ८॥

'साध्य, विश्वेदेव तथा महर्षियोंसहित मरुद्गण तुम्हारा कल्याण करें; धाता और विधाता तुम्हारे लिये मङ्गलकारी हों; पूषा, भग और अर्यमा तुम्हारा कल्याण करें॥ ८॥

लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा।
ऋतवः षट् च ते सर्वे मासाः संवत्सराः क्षपाः॥ ९॥
दिनानि च मुहूर्ताश्च स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा।
श्रुतिः स्मृतिश्च धर्मश्च पातु त्वां पुत्र सर्वतः॥ १०॥

'वे इन्द्र आदि समस्त लोकपाल, छहों ऋतुएँ, सभी मास, संवत्सर, रात्रि, दिन और मुहूर्त सदा तुम्हारा मङ्गल करें। बेटा! श्रुति, स्मृति और धर्म भी सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ ९-१०॥

स्कन्दश्च भगवान् देवः सोमश्च सबृहस्पतिः।
सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः॥ ११॥

'भगवान् स्कन्ददेव, सोम, बृहस्पति, सप्तर्षिगण और नारद—ये सभी सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ ११॥

ते चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः।
स्तुता मया वने तस्मिन् पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः॥१२॥

'बेटा! वे प्रसिद्ध सिद्धगण, दिशाएँ और दिक्पाल मेरी की हुई स्तुतिसे संतुष्ट हो उस वनमें सदा सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ १२॥

शैलाः सर्वे समुद्राश्च राजा वरुण एव च।
द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी वायुश्च सचराचरः॥ १३॥
नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सह दैवतैः।
अहोरात्रे तथा संध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम्॥ १४॥

'समस्त पर्वत, समुद्र, राजा वरुण, द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, चराचर प्राणी, समस्त नक्षत्र, देवताओंसहित ग्रह, दिन और रात तथा दोनों संध्याएँ—ये सब-के-सब वनमें जानेपर सदा तुम्हारी रक्षा करें॥ १३-१४॥

ऋतवश्चापि षट् चान्ये मासाः संवत्सरास्तथा।
कलाश्च काष्ठाश्च तथा तव शर्म दिशन्तु ते॥ १५॥

'छः ऋतुएँ, अन्यान्य मास, संवत्सर, कला और काष्ठा—ये सब तुम्हें कल्याण प्रदान करें॥ १५॥

महावनेऽपि चरतो मुनिवेषस्य धीमतः।
तथा देवाश्च दैत्याश्च भवन्तु सुखदाः सदा॥ १६॥

'मुनिका वेष धारण करके उस विशाल वनमें विचरते

हुए तुम बुद्धिमान् पुत्रके लिये समस्त देवता और दैत्य सदा सुखदायक हों ॥ १६ ॥

राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम् ।
क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत् पुत्रक ते भयम् ॥ १७ ॥

'बेटा ! तुम्हें भयंकर राक्षसों, क्रूरकर्मा पिशाचों तथा समस्त मांसभक्षी जन्तुओंसे कभी भय न हो ॥ १७ ॥

प्लवगा वृश्चिका दंशा मशकाश्चैव कानने ।
सरीसृपाश्च कीटाश्च मा भूवन् गहने तव ॥ १८ ॥

'वनमें जो मेढक या वानर, बिच्छू, डाँस, मच्छर, पर्वतीय सर्प और कीड़े होते हैं, वे उस गहन वनमें तुम्हारे लिये हिंसक न हों ॥ १८ ॥

महाद्विपाश्च सिंहाश्च व्याघ्रा ऋक्षाश्च दंष्ट्रिणः ।
महिषाः शृङ्गिणो रौद्रा न ते द्रुह्यन्तु पुत्रक ॥ १९ ॥

'पुत्र ! बड़े-बड़े हाथी, सिंह, व्याघ्र, रीछ, दाढ़वाले अन्य जीव तथा विशाल सींगवाले भयंकर भैंसे वनमें तुमसे द्रोह न करें ॥ १९ ॥

नृमांसभोजना रौद्रा ये चान्ये सर्वजातयः ।
मा च त्वां हिंसिषुः पुत्र मया सम्पूजितास्त्विह ॥ २० ॥

'वत्स ! इनके सिवा जो सभी जातियोंमें नरमांसभक्षी भयंकर प्राणी हैं, वे मेरे द्वारा यहाँ पूजित होकर वनमें तुम्हारी हिंसा न करें ॥ २० ॥

आगमास्ते शिवाः सन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः ।
सर्वसम्पत्तयो राम स्वस्तिमान् गच्छ पुत्रक ॥ २१ ॥

'बेटा राम ! सभी मार्ग तुम्हारे लिये मङ्गलकारी हों। तुम्हारे पराक्रम सफल हों तथा तुम्हें सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होती रहें। तुम सकुशल यात्रा करो ॥ २१ ॥

स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यः पुनः पुनः ।
सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो ये च ते परिपन्थिनः ॥ २२ ॥

'तुम्हें आकाशचारी प्राणियोंसे, भूतलके जीव-जन्तुओंसे, समस्त देवताओंसे तथा जो तुम्हारे शत्रु हैं, उनसे भी सदा कल्याण प्राप्त होता रहे ॥ २२ ॥

शुक्रः सोमश्च सूर्यश्च धनदोऽथ यमस्तथा ।
पान्तु त्वामर्चिता राम दण्डकारण्यवासिनम् ॥ २३ ॥

'श्रीराम ! शुक्र, सोम, सूर्य, कुबेर तथा यम—ये मुझसे पूजित हो दण्डकारण्यमें निवास करते समय सदा तुम्हारी रक्षा करें ॥ २३ ॥

अग्निर्वायुस्तथा धूमो मन्त्राश्चर्षिमुखच्युताः ।
उपस्पर्शनकाले तु पान्तु त्वां रघुनन्दन ॥ २४ ॥

'रघुनन्दन ! स्नान और आचमनके समय अग्नि, वायु, धूम तथा ऋषियोंके मुखसे निकले हुए मन्त्र तुम्हारी रक्षा करें॥

सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा भूतकर्तृ तथर्षयः ।
ये च शेषाः सुरास्ते तु रक्षन्तु वनवासिनम् ॥ २५ ॥

'समस्त लोकोंके स्वामी ब्रह्मा, जगत्‌के कारणभूत परब्रह्म, ऋषिगण तथा उनके अतिरिक्त जो देवता हैं, वे सब-के-सब वनवासके समय तुम्हारी रक्षा करें' ॥ २५ ॥

इति माल्यैः सुरगणान् गन्धैश्चापि यशस्विनी ।
स्तुतिभिश्चानुरूपाभिरानर्चायतलोचना ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर विशाललोचना यशस्विनी रानी कौसल्याने पुष्पमाला और गन्ध आदि उपचारोंसे तथा अनुरूप स्तुतियों-द्वारा देवताओंका पूजन किया ॥ २६ ॥

ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना ।
हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात् ॥ २७ ॥

उन्होंने श्रीरामकी मङ्गल-कामनासे अग्निको लाकर एक महात्मा ब्राह्मणके द्वारा उसमें विधिपूर्वक होम करवाया ॥

घृतं श्वेतानि माल्यानि समिधश्चैव सर्षपान् ।
उपसम्पादयामास कौसल्या परमाङ्गना ॥ २८ ॥

श्रेष्ठ नारी महारानी कौसल्याने घी, श्वेत पुष्प और माला, समिधा तथा सरसों आदि वस्तुएँ ब्राह्मणके समीप रखवा दीं ॥ २८ ॥

उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्तिमनामयम् ।
हुतहव्यावशेषेण बाह्यं बलिमकल्पयत् ॥ २९ ॥

पुरोहितजीने समस्त उपद्रवोंकी शान्ति और आरोग्यके उद्‌देश्यसे विधिपूर्वक अग्निमें होम करके हवनसे बचे हुए हविष्यके द्वारा होमकी वेदीसे बाहर दसों दिशाओंमें इन्द्र आदि लोकपालोंके लिये बलि अर्पित की ॥ २९ ॥

मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्तिवाच्यं द्विजांस्ततः ।
वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाम् ॥ ३० ॥

तदनन्तर स्वस्तिवाचनके उद्‌देश्यसे ब्राह्मणोंको मधु, दही, अक्षत और घृत अर्पित करके 'वनमें श्रीरामका सदा मङ्गल हो' इस कामनासे कौसल्याजीने उन सबसे स्वस्त्ययन-सम्बन्धी मन्त्रोंका पाठ करवाया ॥ ३० ॥

ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी ।
दक्षिणां प्रददौ काम्यां राघवं चेदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

इसके बाद यशस्विनी श्रीराममाताने उन विप्रवर पुरोहित-जीको उनकी इच्छाके अनुसार दक्षिणा दी और श्रीरघुनाथजी-से इस प्रकार कहा—॥ ३१ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३२ ॥

वृत्रासुरका नाश करनेके निमित्त सर्वदेववन्दित सहस्र-नेत्रधारी इन्द्रको जो मङ्गलमय आशीर्वाद प्राप्त हुआ था, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी हो ॥ ३२ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३३ ॥

'पूर्वकालमें विनतादेवीने अमृत लानेकी इच्छावाले अपने पुत्र गरुड़के लिये जो मङ्गलकृत्य किया था, वही मङ्गल तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ३३ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३४ ॥

'अमृतकी उत्पत्तिके समय दैत्योंका संहार करनेवाले वज्रधारी इन्द्रके लिये माता अदितिने जो मङ्गलमय आशीर्वाद दिया था, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी सुलभ हो ॥ ३४ ॥

त्रिविक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरतुलतेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३५ ॥

'श्रीराम! तीन पगोंको बढ़ाते हुए अनुपम तेजस्वी भगवान् विष्णुके लिये जो मङ्गलाशंसा की गयी थी, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी प्राप्त हो ॥ ३५ ॥

ऋषयः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु शुभमङ्गलम् ॥ ३६ ॥

'महाबाहो! ऋषि, समुद्र, द्वीप, वेद, समस्त लोक और दिशाएँ तुम्हें मङ्गल प्रदान करें। तुम्हारा सदा शुभ मङ्गल हो' ॥ ३६ ॥

इति पुत्रस्य शेषाश्च कृत्वा शिरसि भामिनी ।
गन्धैश्चापि समालभ्य राममायतलोचना ॥ ३७ ॥
ओषधीं च सुसिद्धार्थां विशल्यकरणीं शुभाम् ।
चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च ॥ ३८ ॥

इस प्रकार आशीर्वाद देकर विशाललोचना भामिनी कौसल्याने पुत्रके मस्तकपर अक्षत रखकर चन्दन और रोली लगायी तथा सब मनोरथोंको सिद्ध करनेवाली विशल्यकरणी नामक शुभ ओषधि लेकर रक्षाके उद्देश्यसे मन्त्र पढ़ते हुए उसको श्रीरामके हाथमें बाँध दिया; फिर उसमें उत्कर्ष लानेके लिये मन्त्रका जप भी किया ॥ ३७-३८ ॥

उवाचापि प्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्तिनी ।
वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया ॥ ३९ ॥

तदनन्तर दुःखके अधीन हुई कौसल्याने ऊपरसे प्रसन्न-सी होकर मन्त्रोंका स्पष्ट उच्चारण भी किया। उस समय वे वाणीमात्रसे ही मन्त्रोच्चारण कर सकीं, हृदयसे नहीं (क्योंकि हृदय श्रीरामके वियोगकी सम्भावनासे व्यथित था, इसीलिये) वे खेदसे गद्गद, लड़खड़ाती हुई वाणीसे मन्त्र बोल रही थीं॥

आनम्य मूर्ध्नि चाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनी ।
अवदत् पुत्रमिष्टार्थो गच्छ राम यथासुखम् ॥ ४० ॥
अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम् ।
पश्यामि त्वां सुखं वत्स संधितं राजवर्त्मसु ॥ ४१ ॥

इसके बाद उनके मस्तकको कुछ झुकाकर यशस्विनी माताने सूँघा और बेटेको हृदयसे लगाकर कहा—'वत्स राम! तुम सफलमनोरथ होकर सुखपूर्वक वनको जाओ। जब पूर्णकाम होकर रोगरहित सकुशल अयोध्यामें लौटोगे, उस समय तुम्हें राजमार्गपर स्थित देखकर सुखी होऊँगी ॥ ४०-४१ ॥

प्रणष्टदुःखसंकल्पा हर्षविद्योतितानना ।
द्रक्ष्यामि त्वां वनात् प्राप्तं पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ॥ ४२ ॥

'उस समय मेरे दुःखपूर्ण संकल्प मिट जायँगे, मुखपर हर्षजनित उल्लास छा जायगा और मैं वनसे आये हुए तुमको पूर्णिमाकी रातमें उदित हुए पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति देखूँगी ॥

भद्रासनगतं राम वनवासादिहागतम् ।
द्रक्ष्यामि च पुनस्त्वां तु तीर्णवन्तं पितुर्वचः ॥ ४३ ॥

'श्रीराम! वनवाससे यहाँ आकर पिताकी प्रतिज्ञाको पूर्ण करके जब तुम राजसिंहासनपर बैठोगे, उस समय मैं पुनः प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारा दर्शन करूँगी ॥ ४३ ॥

मङ्गलैरुपसम्पन्नो वनवासादिहागतः ।
वध्वाश्च मम नित्यं त्वं कामान् संवर्ध याहि भोः॥ ४४ ॥

'अब जाओ और वनवाससे यहाँ लौटकर राजोचित मङ्गलमय वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो तुम सदा मेरी बहू सीताकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करते रहो ॥ ४४ ॥

मयार्चिता देवगणाः शिवादयो
महर्षयो भूतगणाः सुरोरगाः ।
अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते
हितानि काङ्क्षन्तु दिशश्च राघव ॥ ४५ ॥

'रघुनन्दन! मैंने सदा जिनका पूजन और सम्मान किया है, वे शिव आदि देवता, महर्षि, भूतगण, देवोपम, नाग और सम्पूर्ण दिशाएँ—ये सब-के-सब वनमें जानेपर चिरकालतक तुम्हारे हित-साधनकी कामना करते रहें' ॥ ४५ ॥

अतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना
समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि ।
प्रदक्षिणं चापि चकार राघवं
पुनः पुनश्चापि निरीक्ष्य सस्वजे ॥ ४६ ॥

इस प्रकार माताने नेत्रोंमें अत्यन्त आँसू भरकर विधिपूर्वक वह स्वस्तिवाचन कर्म पूर्ण किया। फिर श्रीरामकी परिक्रमा की और बारंबार उनकी ओर देखकर उन्हें छातीसे लगाया ॥ ४६ ॥

तया हि देव्या च कृतप्रदक्षिणो
निपीड्य मातुश्चरणौ पुनः पुनः ।
जगाम सीतानिलयं महायशाः
स राघवः प्रज्वलितस्तया श्रिया ॥ ४७ ॥

देवी कौसल्याने जब श्रीरामकी प्रदक्षिणा कर ली, तब महायशस्वी रघुनाथजी बारंबार माताके चरणोंको दबाकर प्रणाम करके माताकी मङ्गलकामनाजनित उत्कृष्ट शोभासे सम्पन्न हो सीताजीके महलकी ओर चल दिये ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥



वनगमनके समय श्रीजानकीसे भेंट

षड्विंशः सर्गः

श्रीरामको उदास देखकर सीताका उनसे इसका कारण पूछना और श्रीरामका पिताकी आज्ञासे वनमें जानेका निश्चय बताते हुए सीताको घरमें रहनेके लिये समझाना

अभिवाद्य तु कौसल्यां रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।
कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठे वर्त्मनि स्थितः ॥ १ ॥

धर्मिष्ठ मार्गपर स्थित हुए श्रीराम माताद्वारा स्वस्तिवाचन कर्म सम्पन्न हो जानेपर कौसल्याको प्रणाम करके वहाँसे वनके लिये प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

विराजयन् राजसुतो राजमार्गं नरैर्वृतम् ।
हृदयान्याममन्थेव जनस्य गुणवत्तया ॥ २ ॥

उस समय मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए राजमार्गको प्रकाशित करते हुए राजकुमार श्रीराम अपने सद्‌गुणोंके कारण लोगोंके मनको मथने-से लगे (ऐसे गुणवान् श्रीरामको वनवास दिया जा रहा है, यह सोचकर वहाँके लोगोंका जी कचोटने लगा) ॥ २ ॥

वैदेही चापि तत् सर्वं न शुश्राव तपस्विनी ।
तदेव हृदि तस्याश्च यौवराज्याभिषेचनम् ॥ ३ ॥

तपस्विनी विदेहनन्दिनी सीताने अभीतक वह सारा हाल नहीं सुना था । उनके हृदयमें यही बात समायी हुई थी कि मेरे पतिका युवराजपदपर अभिषेक हो रहा होगा ॥ ३ ॥

देवकार्यं स्म सा कृत्वा कृतज्ञा हृष्टचेतना ।
अभिज्ञा राजधर्माणां राजपुत्री प्रतीक्षति ॥ ४ ॥

विदेहराजकुमारी सीता सामयिक कर्तव्यों तथा राजधर्मोंको जानती थीं, अतः देवताओंकी पूजा करके प्रसन्नचित्तसे श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं ॥ ४ ॥

प्रविवेशाथ रामस्तु स्ववेश्म सुविभूषितम् ।
प्रहृष्टजनसम्पूर्णं ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥

इतनेमें ही श्रीरामने अपने भलीभाँति सजे-सजाये अन्तःपुरमें, जो प्रसन्न मनुष्योंसे भरा हुआ था, प्रवेश किया । उस समय लज्जासे उनका मुख कुछ नीचा हो रहा था ॥ ५ ॥

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम् ।
अपश्यच्छोकसंतप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

सीता उन्हें देखते ही आसनसे उठकर खड़ी हो गयीं । उनकी अवस्था देखकर काँपने लगीं और चिन्तासे व्याकुल इन्द्रियोंवाले अपने उन शोकसंतप्त पतिको निहारने लगीं ॥ ६ ॥

तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम् ।
तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः ॥ ७ ॥

धर्मात्मा श्रीराम सीताको देखकर अपने मानसिक शोकका वेग सहन न कर सके, अतः उनका वह शोक प्रकट हो गया ॥ ७ ॥

विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम् ।
आह दुःखाभिसंतप्ता किमिदानीमिदं प्रभो ॥ ८ ॥

उनका मुख उदास हो गया था । उनके अङ्गोंसे पसीना निकल रहा था । वे अपने शोकको दबाये रखनेमें असमर्थ हो गये थे । उन्हें इस अवस्थामें देखकर सीता दुःखसे संतप्त हो उठीं और बोलीं—'प्रभो ! इस समय यह आपकी कैसी दशा है ? ॥ ८ ॥

अद्य बार्हस्पतः श्रीमान् युक्तः पुष्येण राघव ।
प्रोच्यते ब्राह्मणैः प्राज्ञैः केन त्वमसि दुर्मनाः ॥ ९ ॥

'रघुनन्दन ! आज बृहस्पति देवता-सम्बन्धी मङ्गलमय पुष्यनक्षत्र है, जो अभिषेकके योग्य है । उसी पुष्यनक्षत्रके योगमें विद्वान् ब्राह्मणोंने आपका अभिषेक बताया है । ऐसे समयमें जब कि आपको प्रसन्न होना चाहिये था; आपका मन इतना उदास क्यों है ? ॥ ९ ॥

न ते शतशलाकेन जलफेननिभेन च ।
आवृतं वदनं वल्गु च्छत्रेणाभिविराजते ॥ १० ॥

'मैं देखती हूँ, इस समय आपका मनोहर मुख जलके फेनके समान उज्ज्वल तथा सौ तीलियोंवाले श्वेत छत्रसे आच्छादित नहीं है, अतएव अधिक शोभा नहीं पा रहा है ॥ १० ॥

व्यजनाभ्यां च मुख्याभ्यां शतपत्रनिभेक्षणम् ।
चन्द्रहंसप्रकाशाभ्यां वीज्यते न तवाननम् ॥ ११ ॥

'कमल-जैसे सुन्दर नेत्र धारण करनेवाले आपके इस मुखपर चन्द्रमा और हंसके समान श्वेत वर्णवाले दो श्रेष्ठ चँवरोंद्वारा हवा नहीं की जा रही है ॥ ११ ॥

वाग्मिनो वन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वां नरर्षभ ।
स्तुवन्तो नाद्य दृश्यन्ते मङ्गलैः सूतमागधाः ॥ १२ ॥

'नरश्रेष्ठ ! प्रवचनकुशल वन्दी, सूत और मागधजन आज अत्यन्त प्रसन्न हो अपने माङ्गलिक वचनोंद्वारा आपकी स्तुति करते नहीं दिखायी देते हैं ॥ १२ ॥

न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
मूर्ध्नि मूर्धाभिषिक्तस्य ददति स्म विधानतः ॥ १३ ॥

'वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंने आज मूर्धाभिषिक्त हुए आपके मस्तकपर तीर्थोदकमिश्रित मधु और दधिका विधिपूर्वक अभिषेक नहीं किया ॥ १३ ॥

न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः ।
अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा ॥ १४ ॥

'मन्त्री-सेनापति आदि सारी प्रकृतियाँ, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित मुख्य-मुख्य सेठ-साहूकार तथा नगर और जनपदके लोग आज आपके पीछे-पीछे चलनेकी इच्छा नहीं कर रहे हैं ! (इसका क्या कारण है ?) ॥ १४ ॥

चतुर्भिर्वेगसम्पन्नैर्हयैः काञ्चनभूषणैः ।
मुख्यः पुष्परथो युक्तः किं न गच्छति तेऽग्रतः ॥ १५ ॥

'सुनहरे साज-बाजसे सजे हुए चार वेगशाली घोड़ोंसे जुता हुआ श्रेष्ठ पुष्परथ (पुष्पभूषित केवल भ्रमणोपयोगी रथ) आज आपके आगे-आगे क्यों नहीं चल रहा है ? ॥ १५ ॥

न हस्ती चाग्रतः श्रीमान् सर्वलक्षणपूजितः ।
प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः ॥ १६ ॥

'वीर ! आपकी यात्राके समय समस्त शुभ लक्षणोंसे प्रशंसित तथा काले मेघवाले पर्वतके समान विशालकाय तेजस्वी गजराज आज आपके आगे क्यों नहीं दिखायी देता है ? ॥ १६ ॥

न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन ।
भद्रासनं पुरस्कृत्य यान्तं वीर पुरःसरम् ॥ १७ ॥

'प्रियदर्शन वीर ! आज आपके सुवर्णजटित भद्रासनको सादर हाथमें लेकर अग्रगामी सेवक आगे जाता क्यों नहीं दिखायी देता है ? ॥ १७ ॥

अभिषेको यदा सज्जः किमिदानीमिदं तव ।
अपूर्वो मुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते ॥ १८ ॥

'जब अभिषेककी सारी तैयारी हो चुकी है, ऐसे समयमें आपकी यह क्या दशा हो रही है ? आपके मुखकी कान्ति उड़ गयी है । ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था । आपके चेहरेपर प्रसन्नताका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता है । इसका क्या कारण है ?' ॥ १८ ॥

इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः ।
सीते तत्रभवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई सीतासे रघुनन्दन श्रीरामने कहा—'सीते ! आज पूज्य पिताजी मुझे वनमें भेज रहे हैं ॥ १९ ॥

कुले महति सम्भूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि ।
शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाद्यागतं मम ॥ २० ॥

'महान् कुलमें उत्पन्न, धर्मको जाननेवाली तथा धर्मपरायणे जनकनन्दिनि ! जिस कारण यह वनवास आज मुझे प्राप्त हुआ है, वह क्रमशः बताता हूँ, सुनो ॥ २० ॥

राज्ञा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन वै ।
कैकेय्यै मम मात्रे तु पुरा दत्तौ महावरौ ॥ २१ ॥

मेरे सत्यप्रतिज्ञ पिता महाराज दशरथने माता कैकेयीको पहले कभी दो महान् वर दिये थे ॥ २१ ॥

तयाद्य मम सज्जेऽस्मिन्नभिषेके नृपोद्यते ।
प्रचोदितः स समयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः ॥ २२ ॥

'इधर जब महाराजके उद्योगसे मेरे राज्याभिषेककी तैयारी होने लगी, तब कैकेयीने उस वरदानकी प्रतिज्ञाको याद दिलाया और महाराजको धर्मतः अपने काबूमें कर लिया ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया ।
पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः ॥ २३ ॥

'इससे विवश होकर पिताजीने भरतको तो युवराजके पदपर नियुक्त किया और मेरे लिये दूसरा वर स्वीकार किया, जिसके अनुसार मुझे चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें निवास करना होगा ॥ २३ ॥

सोऽहं त्वामागतो द्रष्टुं प्रस्थितो विजनं वनम् ।
भरतस्य समीपे ते नाहं कथ्यः कदाचन ॥ २४ ॥
ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम् ।
तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम ॥ २५ ॥

'इस समय मैं निर्जन वनमें जानेके लिये प्रस्थान कर चुका हूँ और तुमसे मिलनेके लिये यहाँ आया हूँ । तुम भरतके समीप कभी मेरी प्रशंसा न करना; क्योंकि समृद्धिशाली पुरुष दूसरेकी स्तुति नहीं सहन कर पाते हैं । इसीलिये कहता हूँ कि तुम भरतके सामने मेरे गुणोंकी प्रशंसा न करना ॥ २४-२५ ॥

अहं ते नानुवक्तव्यो विशेषेण कदाचन ।
अनुकूलतया शक्यं समीपे तस्य वर्तितुम् ॥ २६ ॥

'विशेषतः तुम्हें भरतके समक्ष अपनी सखियोंके साथ भी बारंबार मेरी चर्चा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उनके मनके अनुकूल बर्ताव करके ही तुम उनके निकट रह सकती हो ॥ २६ ॥

तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम् ।
स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः ॥ २७ ॥

'सीते ! राजाने उन्हें सदाके लिये युवराजपद दे दिया है, इसलिये तुम्हें विशेष प्रयत्नपूर्वक उन्हें प्रसन्न रखना चाहिये; क्योंकि अब वे ही राजा होंगे ॥ २७ ॥

अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन् ।
वनमद्यैव यास्यामि स्थिरीभव मनस्विनि ॥ २८ ॥

'मैं भी पिताजीकी उस प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये आज ही वनको चला जाऊँगा । मनस्विनि ! तुम धैर्य धारण करके रहना ॥ २८ ॥

याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम् ।
व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे ॥ २९ ॥

'कल्याणि ! निष्पाप सीते ! मेरे मुनिजनसेवित वनको चले जानेपर तुम्हें प्रायः व्रत और उपवासमें संलग्न रहना चाहिये ॥ २९ ॥

कल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि ।
वन्दितव्यो दशरथः पिता मम जनेश्वरः ॥ ३० ॥

'प्रतिदिन सबेरे उठकर देवताओंकी विधिपूर्वक पूजा करके तुम्हें मेरे पिता महाराज दशरथकी वन्दना करनी चाहिये ॥ ३० ॥

माता च मम कौसल्या वृद्धा संतापकर्शिता ।
धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति ॥ ३१ ॥

'मेरी माता कौसल्याको भी प्रणाम करना चाहिये । एक तो वे बूढ़ी हुईं, दूसरे दुःख और संतापने उन्हें दुर्बल कर दिया है; अतः धर्मको ही सामने रखकर तुमसे वे विशेष सम्मान पानेके योग्य हैं ॥ ३१ ॥

वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः ।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः ॥ ३२ ॥

'जो मेरी शेष माताएँ हैं, उनके चरणोंमें भी तुम्हें प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये; क्योंकि स्नेह, उत्कृष्ट प्रेम और पालन-पोषणकी दृष्टिसे सभी माताएँ मेरे लिये समान हैं ॥ ३२ ॥

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः ।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥ ३३ ॥

'भरत और शत्रुघ्न मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं, अतः तुम्हें उन दोनोंको विशेषतः अपने भाई और पुत्रके समान देखना और मानना चाहिये ॥ ३३ ॥

विप्रियं च न कर्तव्यं भरतस्य कदाचन ।
स हि राजा च वैदेहि देशस्य च कुलस्य च ॥ ३४ ॥

'विदेहनन्दिनि ! तुम्हें भरतकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिये; क्योंकि इस समय वे मेरे देश और कुलके राजा हैं ॥ ३४ ॥

आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपसेविताः ।
राजानः सम्प्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये ॥ ३५ ॥

'अनुकूल आचरणके द्वारा आराधना और प्रयत्नपूर्वक सेवा करनेपर राजा लोग प्रसन्न होते हैं तथा विपरीत बर्ताव करनेपर वे कुपित हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

औरस्यानपि पुत्रान् हि त्यजन्त्यहितकारिणः ।
समर्थान् सम्प्रगृह्णन्ति जनानपि नराधिपाः ॥ ३६ ॥

'जो अहित करनेवाले हैं, वे अपने औरस पुत्र ही क्यों न हों, राजा उन्हें त्याग देते हैं और आत्मीय न होनेपर भी जो सामर्थ्यवान् होते हैं, उन्हें वे अपना बना लेते हैं ॥ ३६ ॥

सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी ।
भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रतपरायणा ॥ ३७ ॥

'अतः कल्याणि ! तुम राजा भरतके अनुकूल बर्ताव करती हुई धर्म एवं सत्यव्रतमें तत्पर रहकर यहाँ निवास करो ॥ ३७ ॥

अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये
त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि ।
यथा व्यलीकं कुरुषे न कस्यचित्-
तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम ॥ ३८ ॥

'प्रिये ! अब मैं उस विशाल वनमें चला जाऊँगा । भामिनि ! तुम्हें यहीं निवास करना होगा । तुम्हारे बर्तावसे किसीको कष्ट न हो, इसका ध्यान रखते हुए तुम्हें यहाँ मेरी इस आज्ञाका पालन करते रहना चाहिये' ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

सीताकी श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये प्रार्थना

एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी ।
प्रणयादेव संक्रुद्धा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर प्रियवादिनी विदेहकुमारी सीताजी, जो सब प्रकारसे अपने स्वामीका प्यार पाने योग्य थीं, प्रेमसे ही कुछ कुपित होकर पतिसे इस प्रकार बोलीं—॥ १ ॥

किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम् ।
त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरोत्तम ॥ २ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीराम ! आप मुझे ओछी समझकर यह क्या कह रहे हैं ! आपकी ये बातें सुनकर मुझे बहुत हँसी आती है ॥ २ ॥

वीराणां राजपुत्राणां शस्त्रास्त्रविदुषां नृप ।
अनर्हमयशस्यं च न श्रोतव्यं त्वयेरितम् ॥ ३ ॥

'नरेश्वर ! आपने जो कुछ कहा है, वह अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता वीर राजकुमारोंके योग्य नहीं है । वह अपयशका टीका लगानेवाला होनेके कारण सुनने योग्य भी नहीं है ॥ ३ ॥

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।

स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते॥ ४॥

'आर्यपुत्र! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये सब पुण्यादि कर्मोंका फल भोगते हुए अपने-अपने भाग्य (शुभाशुभ कर्म) के अनुसार जीवन-निर्वाह करते हैं॥ ४॥

भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि॥ ५॥

'पुरुषप्रवर! केवल पत्नी ही अपने पतिके भाग्यका अनुसरण करती है, अतः आपके साथ ही मुझे भी वनमें रहनेकी आज्ञा मिल गयी है॥ ५॥

न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥ ६॥

'नारियोंके लिये इस लोक और परलोकमें एकमात्र पति ही सदा आश्रय देनेवाला है। पिता, पुत्र, माता, सखियाँ तथा अपना यह शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है॥ ६॥

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्॥ ७॥

'रघुनन्दन! यदि आप आज ही दुर्गम वनकी ओर प्रस्थान कर रहे हैं तो मैं रास्तेके कुश और काँटोंको कुचलती हुई आपके आगे-आगे चलूँगी॥ ७॥

ईर्ष्यां रोषं बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम्।
नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते॥ ८॥

'अतः वीर! आप ईर्ष्या[1] और रोषको[2] दूर करके पीनेसे[3] बचे हुए जलकी भाँति मुझे निःशङ्क होकर साथ ले चलिये। मुझमें ऐसा कोई पाप—अपराध नहीं है, जिसके कारण आप मुझे यहाँ त्याग दें॥ ८॥

प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते॥ ९॥

'ऊँचे-ऊँचे महलोंमें रहना, विमानोंपर चढ़कर घूमना अथवा अणिमा आदि सिद्धियोंके द्वारा आकाशमें विचरना—इन सबकी अपेक्षा स्त्रीके लिये सभी अवस्थाओंमें पतिके चरणोंकी छायामें रहना विशेष महत्त्व रखता है॥ ९॥

अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्।
नास्मि सम्प्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया॥ १०॥

'मुझे किसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस विषयमें मेरी माता और पिताने मुझे अनेक प्रकारसे शिक्षा दी है। इस समय इसके विषयमें मुझे कोई उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है॥ १०॥

१. स्त्री होकर यह वनमें जानेका साहस कैसे करती है? इस विचारसे ईर्ष्या होती है। २. यह मेरी बात नहीं मान रही है, यह सोचकर रोष प्रकट होता है। इन दोनोंका त्याग अपेक्षित है। ३. जैसे किसी जलहीन बीहड़ पथमें लोग अपने पीनेसे बचे हुए पानीको साथ ले चलते हैं, इसी प्रकार मुझे भी आप साथ ले चलें—यह सीताका अनुरोध है।

अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम्।
नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम्॥ ११॥

'अतः नाना प्रकारके वन्य पशुओंसे व्याप्त तथा सिंहों और व्याघ्रोंसे सेवित उस निर्जन एवं दुर्गम वनमें मैं अवश्य चलूँगी॥ ११॥

सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम्॥ १२॥

'मैं तो जैसे अपने पिताके घरमें रहती थी, उसी प्रकार उस वनमें भी सुखपूर्वक निवास करूँगी। वहाँ तीनों लोकोंके ऐश्वर्यको भी कुछ न समझती हुई मैं सदा पतिव्रत धर्मका चिन्तन करती हुई आपकी सेवामें लगी रहूँगी॥ १२॥

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु॥ १३॥

'वीर! नियमपूर्वक रहकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करूँगी और सदा आपकी सेवामें तत्पर रहकर आपहीके साथ मीठी-मीठी सुगन्धसे भरे हुए वनोंमें विचरूँगी॥ १३॥

त्वं हि कर्तुं वने शक्तो राम सम्परिपालनम्।
अन्यस्यापि जनस्येह किं पुनर्मम मानद॥ १४॥

'दूसरोंको मान देनेवाले श्रीराम! आप तो वनमें रहकर दूसरे लोगोंकी भी रक्षा कर सकते हैं, फिर मेरी रक्षा करना आपके लिये कौन बड़ी बात है?॥ १४॥

साहं त्वया गमिष्यामि वनमद्य न संशयः।
नाहं शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यता॥ १५॥

महाभाग! अतः मैं आपके साथ आज अवश्य वनमें चलूँगी। इसमें संशय नहीं है। मैं हर तरह चलनेको तैयार हूँ। मुझे किसी तरह भी रोका नहीं जा सकता॥ १५॥

फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा॥ १६॥

'वहाँ चलकर मैं आपको कोई कष्ट नहीं दूँगी, सदा आपके साथ रहूँगी और प्रतिदिन फल-मूल खाकर ही निर्वाह करूँगी। मेरे इस कथनमें किसी प्रकारके संदेहके लिये स्थान नहीं है॥ १६॥

अग्रतस्ते गमिष्यामि भोक्ष्ये भुक्तवति त्वयि।
इच्छामि परतः शैलान् पल्वलानि सरांसि च॥ १७॥
द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता।

'आपके आगे-आगे चलूँगी और आपके भोजन कर लेनेपर जो कुछ बचेगा, उसे ही खाकर रहूँगी। प्रभो! मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं आप बुद्धिमान् प्राणनाथके साथ निर्भय हो वनमें सर्वत्र घूमकर पर्वतों, छोटे-छोटे तालाबों और सरोवरोंको देखूँ॥ १७½॥

हंसकारण्डवाकीर्णाः पद्मिनीः साधुपुष्पिताः ॥ १८ ॥
इच्छेयं सुखिनी द्रष्टुं त्वया वीरेण संगता ।

'आप मेरे वीर स्वामी हैं । मैं आपके साथ रहकर सुखपूर्वक उन सुन्दर सरोवरोंकी शोभा देखना चाहती हूँ, जो श्रेष्ठ कमलपुष्पोंसे सुशोभित हैं तथा जिनमें हंस और कारण्डव आदि पक्षी भरे रहते हैं ॥ १८½ ॥

अभिषेकं करिष्यामि तासु नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥
सह त्वया विशालाक्ष रंस्ये परमनन्दिनी ।

'विशाल नेत्रोंवाले आर्यपुत्र ! आपके चरणोंमें अनुरक्त रहकर मैं प्रतिदिन उन सरोवरोंमें स्नान करूँगी और आपके साथ वहाँ सब ओर विचरूँगी, इससे मुझे परम आनन्दका अनुभव होगा ॥ १९½ ॥

एवं वर्षसहस्राणि शतं वापि त्वया सह ॥ २० ॥
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि हि न मे मतः ।

'इस तरह सैकड़ों या हजारों वर्षोंतक भी यदि आपके साथ रहनेका सौभाग्य मिले तो मुझे कभी कष्टका अनुभव नहीं होगा । यदि आप साथ न हों तो मुझे स्वर्गलोककी प्राप्ति भी अभीष्ट नहीं है ॥ २०½ ॥

स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव ।
त्वया विना नरव्याघ्र नाहं तदपि रोचये ॥ २१ ॥

'पुरुषसिंह रघुनन्दन ! आपके बिना यदि मुझे स्वर्गलोकका निवास भी मिल रहा हो तो वह मेरे लिये रुचिकर नहीं हो सकता—मैं उसे लेना नहीं चाहूँगी ॥ २१ ॥

अहं गमिष्यामि वनं सुदुर्गमं
मृगायुतं वानरवारणैश्च ।
वने निवत्स्यामि यथा पितुर्गृहे
तवैव पादावुपगृह्य सम्मता ॥ २२ ॥

'प्राणनाथ ! अतः उस अत्यन्त दुर्गम वनमें, जहाँ सहस्रों मृग, वानर और हाथी निवास करते हैं, मैं अवश्य चलूँगी और आपके ही चरणोंकी सेवामें रहकर आपके अनुकूल चलती हुई उस वनमें उसी तरह सुखसे रहूँगी, जैसे पिताके घरमें रहा करती थी ॥ २२ ॥

अनन्यभावामनुरक्तचेतसं
त्वया वियुक्तां मरणाय निश्चिताम् ।
नयस्व मां साधु कुरुष्व याचनां
नातो मया ते गुरुता भविष्यति ॥ २३ ॥

'मेरे हृदयका सम्पूर्ण प्रेम एकमात्र आपको ही अर्पित है, आपके सिवा और कहीं मेरा मन नहीं जाता, यदि आपसे वियोग हुआ तो निश्चय ही मेरी मृत्यु हो जायगी । इसलिये आप मेरी याचना सफल करें, मुझे साथ ले चलें, यही अच्छा होगा; मेरे रहनेसे आपपर कोई भार नहीं पड़ेगा' ॥ २३ ॥

तथा ब्रुवाणामपि धर्मवत्सलां
न च स्म सीतां नृवरो निनीषति ।
उवाच चैनां बहु संनिवर्तने
वने निवासस्य च दुःखितां प्रति ॥ २४ ॥

धर्ममें अनुरक्त रहनेवाली सीताके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भी नरश्रेष्ठ श्रीरामको उन्हें साथ ले जानेकी इच्छा नहीं हुई । वे उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये वहाँके कष्टोंका अनेक प्रकारसे विस्तारपूर्वक वर्णन करने लगे ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

श्रीरामका वनवासके कष्टका वर्णन करते हुए सीताको वहाँ चलनेसे मना करना

स एवं ब्रुवतीं सीतां धर्मज्ञां धर्मवत्सलः ।
न नेतुं कुरुते बुद्धिं वने दुःखानि चिन्तयन् ॥ १ ॥

धर्मको जाननेवाली सीताके इस प्रकार कहनेपर भी धर्मवत्सल श्रीरामने वनमें होनेवाले दुःखोंको सोचकर उन्हें साथ ले जानेका विचार नहीं किया ॥ १ ॥

सान्त्वयित्वा ततस्तां तु बाष्पदूषितलोचनाम् ।
निवर्तनार्थे धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥

सीताके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे । धर्मात्मा श्रीराम उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये सान्त्वना देते हुए इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

सीते महाकुलीनासि धर्मे च निरता सदा ।
इहाचरस्व धर्मं त्वं यथा मे मनसः सुखम् ॥ ३ ॥

'सीते ! तुम अत्यन्त उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई हो और सदा धर्मके आचरणमें ही लगी रहती हो; अतः यहीं रहकर धर्मका पालन करो, जिससे मेरे मनको संतोष हो ॥ ३ ॥

सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाबले ।
वने दोषा हि बहवो वसतस्तान् निबोध मे ॥ ४ ॥

'सीते ! मैं तुमसे जैसा कहूँ, वैसा ही करना तुम्हारा कर्तव्य है । तुम अबला हो, वनमें निवास करनेवाले मनुष्यको बहुत-से दोष प्राप्त होते हैं; उन्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥

सीते विमुच्यतामेषा वनवासकृता मतिः।
बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥

'सीते! वनवासके लिये चलनेका यह विचार छोड़ दो, वनको अनेक प्रकारके दोषोंसे व्याप्त और दुर्गम बताया जाता है ॥ ५ ॥

हितबुद्ध्या खलु वचो मयैतदभिधीयते।
सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम् ॥ ६ ॥

'तुम्हारे हितकी भावनासे ही मैं ये सब बातें कह रहा हूँ। जहाँतक मेरी जानकारी है, वनमें सदा सुख नहीं मिलता। वहाँ तो सदा दुःख ही मिला करता है ॥ ६ ॥

गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिनिर्दरिवासिनाम्।
सिंहानां निनदा दुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम् ॥ ७ ॥

'पर्वतोंसे गिरनेवाले झरनोंके शब्दको सुनकर उन पर्वतोंकी कन्दराओंमें रहनेवाले सिंह दहाड़ने लगते हैं। उनकी वह गर्जना सुननेमें बड़ी दुःखदायिनी प्रतीत होती है, इसलिये वन दुःखमय ही है ॥ ७ ॥

क्रीडमानाश्च विस्रब्धा मत्ताः शून्ये तथा मृगाः।
दृष्ट्वा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम् ॥ ८ ॥

'सीते! सूने वनमें निर्भय होकर क्रीड़ा करनेवाले मतवाले जंगली पशु मनुष्यको देखते ही उसपर चारों ओरसे टूट पड़ते हैं; अतः वन दुःखसे भरा हुआ है ॥ ८ ॥

सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यस्तु दुस्तराः।
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम् ॥ ९ ॥

'वनमें जो नदियाँ होती हैं, उनके भीतर ग्राह निवास करते हैं, उनमें कीचड़ अधिक होनेके कारण उन्हें पार करना अत्यन्त कठिन होता है। इसके सिवा वनमें मतवाले हाथी सदा घूमते रहते हैं। इन सब कारणोंसे वन बहुत ही दुःखदायक होता है ॥ ९ ॥

लताकण्टकसंकीर्णाः कृकवाकूपनादिताः।
निरपाश्च सुदुःखाश्च मार्गा दुःखमतो वनम् ॥ १० ॥

'वनके मार्ग लताओं और काँटोंसे भरे रहते हैं। वहाँ जंगली मुर्गे बोला करते हैं, उन मार्गोंपर चलनेमें बड़ा कष्ट होता है तथा वहाँ आस-पास जल नहीं मिलता, इससे वनमें दुःख-ही-दुःख है ॥ १० ॥

सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयंभग्नासु भूतले।
रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद् दुःखमतो वनम् ॥ ११ ॥

'दिनभरके परिश्रमसे थके-माँदे मनुष्यको रातमें जमीनके ऊपर अपने-आप गिरे हुए सूखे पत्तोंके बिछौनेपर सोना पड़ता है, अतः वन दुःखसे भरा हुआ है ॥ ११ ॥

अहोरात्रं च संतोषः कर्तव्यो नियतात्मना।
[illegible] सीते दुःखमतो वनम् ॥ १२ ॥

'सीते! वहाँ मनको वशमें रखकर वृक्षोंसे स्वतः गिरे हुए फलोंके आहारपर ही दिन-रात संतोष करना पड़ता है, अतः वन दुःख देनेवाला ही है ॥ १२ ॥

उपवासश्च कर्तव्यो यथा प्राणेन मैथिलि।
जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारणम् ॥ १३ ॥

'मिथिलेशकुमारी! अपनी शक्तिके अनुसार उपवास करना, सिरपर जटाका भार ढोना और वल्कल वस्त्र धारण करना—यही वहाँकी जीवनशैली है ॥ १३ ॥

देवतानां पितॄणां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम्।
प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम् ॥ १४ ॥

'देवताओंका, पितरोंका तथा आये हुए अतिथियोंका प्रतिदिन शास्त्रोक्तविधिके अनुसार पूजन करना—यह वनवासीका प्रधान कर्तव्य है ॥ १४ ॥

कार्यस्त्रिरभिषेकश्च काले काले च नित्यशः।
चरतां नियमेनैव तस्माद् दुःखतरं वनम् ॥ १५ ॥

'वनवासीको प्रतिदिन नियमपूर्वक तीनों समय स्नान करना होता है। इसलिये वन बहुत ही कष्ट देनेवाला है ॥ १५ ॥

उपहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः।
आर्षेण विधिना वेद्यां सीते दुःखमतो वनम् ॥ १६ ॥

'सीते! वहाँ स्वयं चुनकर लाये हुए फूलोंद्वारा वेदोक्त विधिसे वेदीपर देवताओंकी पूजा करनी पड़ती है। इसलिये वनको कष्टप्रद कहा गया है ॥ १६ ॥

यथालब्धेन कर्तव्यः संतोषस्तेन मैथिलि।
यताहारैर्वनचरैः सीते दुःखमतो वनम् ॥ १७ ॥

'मिथिलेशकुमारी जानकी! वनवासियोंको जब जैसा आहार मिल जाय उसीपर संतोष करना पड़ता है; अतः वन दुःखरूप ही है ॥ १७ ॥

अतीव वातस्तिमिरं बुभुक्षा चाति नित्यशः।
भयानि च महान्त्यत्र ततो दुःखतरं वनम् ॥ १८ ॥

'वनमें प्रचण्ड आँधी, घोर अन्धकार, प्रतिदिन भूखका कष्ट तथा और भी बड़े-बड़े भय प्राप्त होते हैं, अतः वन अत्यन्त कष्टप्रद है ॥ १८ ॥

सरीसृपाश्च बहवो बहुरूपाश्च भामिनि।
चरन्ति पथि ते दर्पात् ततो दुःखतरं वनम् ॥ १९ ॥

'भामिनि! वहाँ बहुत-से पहाड़ी सर्प, जो अनेक प्रकारके रूपवाले होते हैं, दर्पवश बीच रास्तेमें विचरते रहते हैं; अतः वन अत्यन्त कष्टदायक है ॥ १९ ॥

नदीनिलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः।
तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानमतो दुःखतरं वनम् ॥ २० ॥

'जो नदियोंमें निवास करते और नदियोंके समान ही

कुटिल गतिसे चलते हैं, ऐसे बहुसंख्यक सर्प वनमें रास्तेको घेरकर पड़े रहते हैं; इसलिये वन बहुत ही कष्टदायक है ॥ २० ॥

पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह ।
बाधन्ते नित्यमबले सर्वं दुःखमतो वनम् ॥ २१ ॥

'अबले! पतंगे, बिच्छू, कीड़े, डाँस और मच्छर वहाँ सदा कष्ट पहुँचाते रहते हैं, अतः सारा वन दुःखरूप ही है ॥

द्रुमाः कण्टकिनश्चैव कुशाः काशाश्च भामिनि ।
वने व्याकुलशाखाग्रास्तेन दुःखमतो वनम् ॥ २२ ॥

'भामिनि! वनमें काँटेदार वृक्ष, कुश और कास होते हैं, जिनकी शाखाओंके अग्रभाग सब ओर फैले हुए होते हैं; इसलिये वन विशेष कष्टदायक होता है ॥ २२ ॥

कायक्लेशाश्च बहवो भयानि विविधानि च ।
अरण्यवासे वसतो दुःखमेव सदा वनम् ॥ २३ ॥

'वनमें निवास करनेवाले मनुष्यको बहुत-से शारीरिक क्लेशों और नाना प्रकारके भयोंका सामना करना पड़ता है, अतः वन सदा दुःखरूप ही होता है ॥ २३ ॥

क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मतिः ।
न भेतव्यं च भेतव्ये दुःखं नित्यमतो वनम् ॥ २४ ॥

'वहाँ क्रोध और लोभको त्याग देना होता है, तपस्यामें मन लगाना पड़ता है और जहाँ भयका स्थान है, वहाँ भी भयभीत न होनेकी आवश्यकता होती है; अतः वनमें सदा दुःख-ही-दुःख है ॥ २४ ॥

तदलं ते वनं गत्वा क्षेमं नहि वनं तव ।
विमृशन्निव पश्यामि बहुदोषकरं वनम् ॥ २५ ॥

'इसलिये तुम्हारा वनमें जाना ठीक नहीं है। वहाँ जाकर तुम सकुशल नहीं रह सकती। मैं बहुत सोच-विचारकर देखता और समझता हूँ कि वनमें रहना अनेक दोषोंका उत्पादक बहुत ही कष्टदायक है ॥ २५ ॥

वनं तु नेतुं न कृता मतिर्यदा
बभूव रामेण तदा महात्मना ।
न तस्य सीता वचनं चकार तं
ततोऽब्रवीद् राममिदं सुदुःखिता ॥ २६ ॥

जब महात्मा श्रीरामने उस समय सीताको वनमें ले जानेका विचार नहीं किया, तब सीताने भी उनकी उस बातको नहीं माना। वे अत्यन्त दुखी होकर श्रीरामसे इस प्रकार बोलीं ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

सीताका श्रीरामके समक्ष उनके साथ अपने वनगमनका औचित्य बताना

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सीता रामस्य दुःखिता ।
प्रसक्ताश्रुमुखी मन्दमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर सीताको बड़ा दुःख हुआ, उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वे धीरे-धीरे इस प्रकार कहने लगीं— ॥ १ ॥

ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति ।
गुणानित्येव तान् विद्धि तव स्नेहपुरस्कृता ॥ २ ॥

'प्राणनाथ! आपने वनमें रहनेके जो-जो दोष बताये हैं, वे सब आपका स्नेह पाकर मेरे लिये गुणरूप हो जायँगे। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ॥ २ ॥

मृगाः सिंहा गजाश्चैव शार्दूलाः शरभास्तथा ।
चमराः सृमराश्चैव ये चान्ये वनचारिणः ॥ ३ ॥
अदृष्टपूर्वरूपत्वात् सर्वे ते तव राघव ।
रूपं दृष्ट्वापसर्पेयुस्तव सर्वे हि बिभ्यति ॥ ४ ॥

'रघुनन्दन! मृग, सिंह, हाथी, शेर, शरभ, चमरी गाय, नीलगाय तथा जो अन्य जंगली जीव हैं, वे सब-के-सब आपका रूप देखकर भाग जायँगे; क्योंकि ऐसा प्रभावशाली स्वरूप उन्होंने पहले कभी नहीं देखा होगा। आपसे तो सभी डरते हैं; फिर वे पशु क्यों नहीं डरेंगे? ॥ ३-४ ॥

त्वया च सह गन्तव्यं मया गुरुजनाज्ञया ।
त्वद्वियोगेन मे राम त्यक्तव्यमिह जीवितम् ॥ ५ ॥

'श्रीराम! मुझे गुरुजनोंकी आज्ञासे निश्चय ही आपके साथ चलना है; क्योंकि आपका वियोग हो जानेपर मैं यहाँ अपने जीवनका परित्याग कर दूँगी ॥ ५ ॥

नहि मां त्वत्समीपस्थामपि शक्रोऽपि राघव ।
सुराणामीश्वरः शक्तः प्रधर्षयितुमोजसा ॥ ६ ॥

'रघुनाथजी! आपके समीप रहनेपर देवताओंके राजा इन्द्र भी बलपूर्वक मेरा तिरस्कार नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

पतिहीना तु या नारी न सा शक्ष्यति जीवितुम् ।
काममेवंविधं राम त्वया मम निदर्शितम् ॥ ७ ॥

'श्रीराम! पतिभक्ता स्त्री अपने पतिके वियोग होनेपर जीवित नहीं रह सकेगी; ऐसी बात आपने भी मुझे भलीभाँति दर्शायी है ॥ ७ ॥

अथापि च महाप्राज्ञ ब्राह्मणानां मया श्रुतम्।
पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने॥ ८॥

'महाप्राज्ञ! यद्यपि वनमें दोष और दुःख ही भरे हैं तथापि अपने पिताके घरपर रहते समय मैं ब्राह्मणोंके मुखसे पहले यह बात सुन चुकी हूँ कि 'मुझे अवश्य ही वनमें रहना पड़ेगा' यह बात मेरे जीवनमें सत्य होकर रहेगी॥ ८॥

लक्षणिभ्यो द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं गृहे।
वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल॥ ९॥

'महाबली वीर! हस्तरेखा देखकर भविष्यकी बातें जान लेनेवाले ब्राह्मणोंके मुखसे अपने घरपर ऐसी बात सुनकर मैं सदा ही वनवासके लिये उत्साहित रहती हूँ॥ ९॥

आदेशो वनवासस्य प्राप्तव्यः स मया किल।
सा त्वया सह भर्त्राहं यास्यामि प्रिय नान्यथा॥ १०॥

'प्रियतम! ब्राह्मणसे ज्ञात हुआ वनमें रहनेका आदेश एक-न-एक दिन मुझे पूरा करना ही पड़ेगा, यह किसी तरह पलट नहीं सकता। अतः मैं अपने स्वामी आपके साथ वनमें अवश्य चलूँगी॥ १०॥

कृतादेशा भविष्यामि गमिष्यामि त्वया सह।
कालश्चायं समुत्पन्नः सत्यवान् भवतु द्विजः॥ ११॥

'ऐसा होनेसे मैं उस भाग्यके विधानको भोग लूँगी। उसके लिये यह समय आ गया है, अतः आपके साथ मुझे चलना ही है; इससे उस ब्राह्मणकी बात भी सच्ची हो जायगी॥ ११॥

वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल।
प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभिः॥ १२॥

'वीर! मैं जानती हूँ कि वनवासमें अवश्य ही बहुत-से दुःख प्राप्त होते हैं; परंतु वे उन्हींको दुःख जान पड़ते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ और मन अपने वशमें नहीं हैं॥ १२॥

कन्यया च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया।
भिक्षिण्याः शमवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः॥ १३॥

'पिताके घरपर कुमारी अवस्थामें एक शान्तिपरायणा भिक्षुकीके मुखसे भी मैंने अपने वनवासकी बात सुनी थी। उसने मेरी माताके सामने ही ऐसी बात कही थी॥ १३॥

प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं मे बहुतिथं प्रभो।
गमनं वनवासस्य काङ्क्षितं हि सह त्वया॥ १४॥

'प्रभो! यहाँ आनेपर भी मैंने पहले ही कई बार आपसे कुछ कालतक वनमें रहनेके लिये प्रार्थना की थी और आपको राजी भी कर लिया था। इससे आप निश्चितरूपसे जान लें कि आपके साथ वनको चलना मुझे पहलेसे ही अभीष्ट है॥

कृतक्षणाहं भद्रं ते गमनं प्रति राघव।
वनवासस्य शूरस्य मम चर्या हि रोचते॥ १५॥

'रघुनन्दन! आपका भला हो। मैं वहाँ चलनेके लिये पहलेसे ही आपकी अनुमति प्राप्त कर चुकी हूँ। अपने शूरवीर वनवासी पतिकी सेवा करना मेरे लिये अधिक रुचिकर है॥

शुद्धात्मन् प्रेमभावाद्धि भविष्यामि विकल्मषा।
भर्तारमनुगच्छन्ती भर्ता हि परदैवतम्॥ १६॥

'शुद्धात्मन्! आप मेरे स्वामी हैं, आपके पीछे प्रेमभावसे वनमें जानेपर मेरे पाप दूर हो जायँगे; क्योंकि स्वामी ही स्त्रीके लिये सबसे बड़ा देवता है॥ १६॥

प्रेत्यभावे हि कल्याणः संगमो मे सदा त्वया।
श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां यशस्विनाम्॥ १७॥

'आपके अनुगमनसे परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा और सदा आपके साथ मेरा संयोग बना रहेगा। इस विषयमें यशस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे एक पवित्र श्रुति सुनी जाती है (जो इस प्रकार है—)॥ १७॥

इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा॥ १८॥

'महाबली वीर! इस लोकमें पिता आदिके द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके अनुसार जलसे संकल्प करके दे दी जाती है, वह मरनेके बाद परलोकमें भी उसीकी स्त्री होती है॥ १८॥

एवमस्मात् स्वकां नारीं सुवृत्तां हि पतिव्रताम्।
नाभिरोचयसे नेतुं त्वं मां केनेह हेतुना॥ १९॥

'मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ, उत्तम व्रतका पालन करनेवाली और पतिव्रता हूँ, फिर क्या कारण है कि आप मुझे यहाँसे अपने साथ ले चलना नहीं चाहते हैं॥ १९॥

भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम्॥ २०॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! मैं आपकी भक्त हूँ, पातिव्रत्यका पालन करती हूँ, आपके विछोहके भयसे दीन हो रही हूँ तथा आपके सुख-दुःखमें समानरूपसे हाथ बँटानेवाली हूँ। मुझे सुख मिले या दुःख, मैं दोनों अवस्थाओंमें सम रहूँगी—हर्ष या शोकके वशीभूत नहीं होऊँगी। अतः आप अवश्य ही मुझे साथ ले चलनेकी कृपा करें॥ २०॥

यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात्॥ २१॥

'यदि आप इस प्रकार दुःखमें पड़ी हुई मुझ सेविकाको अपने साथ वनमें ले जाना नहीं चाहते हैं तो मैं मृत्युके लिये विष खा लूँगी, आगमें कूद पड़ूँगी अथवा जलमें डूब जाऊँगी'॥ २१॥

एवं बहुविधं तं सा याचते गमनं प्रति।
नानुमेने महाबाहुस्तां नेतुं विजनं वनम्॥ २२॥

इस तरह अनेक प्रकारसे सीताजी वनमें जानेके लिये याचना कर रही थीं तथापि महाबाहु श्रीरामने उन्हें अपने

साथ निर्जन वनमें ले जानेकी अनुमति नहीं दी ॥ २२ ॥

एवमुक्ता तु सा चिन्तां मैथिली समुपागता ।
स्नापयन्तीव गामुष्णैरश्रुभिर्नयनच्युतैः ॥ २३ ॥

इस प्रकार उनके अस्वीकार कर देनेपर मिथिलेश-कुमारी सीताको बड़ी चिन्ता हुई और वे अपने नेत्रोंसे गरम-गरम आँसू बहाकर धरतीको भिगोने-सी लगीं ॥ २३ ॥

चिन्तयन्तीं तदा तां तु निवर्तयितुमात्मवान् ।
क्रोधाविष्टां तु वैदेहीं काकुत्स्थो बह्वसान्त्वयत् ॥ २४ ॥

उस समय विदेहनन्दिनी जानकीको चिन्तित और कुपित देख मनको वशमें रखनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये भाँति-भाँतिकी बातें कहकर समझाया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

सीताका वनमें चलनेके लिये अधिक आग्रह, विलाप और घबराहट देखकर श्रीरामका उन्हें साथ ले चलनेकी स्वीकृति देना, पिता-माता और गुरुजनोंकी सेवाका महत्त्व बताना तथा सीताको वनमें चलनेकी तैयारीके लिये घरकी वस्तुओंका दान करनेकी आज्ञा देना

सान्त्व्यमाना तु रामेण मैथिली जनकात्मजा ।
वनवासनिमित्तार्थं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामके समझानेपर मिथिलेशकुमारी जानकी वनवासकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये अपने पतिसे फिर इस प्रकार बोलीं ॥

सा तमुत्तमसंविग्ना सीता विपुलवक्षसम् ।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप राघवम् ॥ २ ॥

सीता अत्यन्त डरी हुई थीं । वे प्रेम और स्वाभिमानके कारण विशाल वक्षःस्थलवाले श्रीरामचन्द्रजीपर आक्षेप-सा करती हुई कहने लगीं—॥ २ ॥

किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः ।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥ ३ ॥

'श्रीराम ! क्या मेरे पिता मिथिलानरेश विदेहराज जनकने आपको जामाताके रूपमें पाकर कभी यह भी समझा था कि आप केवल शरीरसे ही पुरुष हैं; कार्यकलापसे तो स्त्री ही हैं ॥

अनृतं बत लोकोऽयमज्ञानाद् यदि वक्ष्यति ।
तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे ॥ ४ ॥

'नाथ ! आपके मुझे छोड़कर चले जानेपर संसारके लोग अज्ञानवश यदि यह कहने लगें कि सूर्यके समान तपनेवाले श्रीरामचन्द्रमें तेज और पराक्रमका अभाव है तो उनकी यह असत्य धारणा मेरे लिये कितने दुःखकी बात होगी ॥ ४ ॥

किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते ।
यत् परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम् ॥ ५ ॥

'आप क्या सोचकर विषादमें पड़े हुए हैं अथवा किससे आपको भय हो रहा है, जिसके कारण आप अपनी पत्नी मुझ सीताका, जो एकमात्र आपके ही आश्रित है, परित्याग करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनुव्रताम् ।
सावित्रीमिव मां विद्धि त्वमात्मवशवर्तिनीम् ॥ ६ ॥

'जैसे सावित्री द्युमत्सेनकुमार वीरवर सत्यवान्‌की ही अनुगामिनी थी, उसी प्रकार आप मुझे भी अपनी ही आज्ञाके अधीन समझिये ॥ ६ ॥

न त्वहं मनसा त्वन्यं द्रष्टास्मि त्वदृतेऽनघ ।
त्वया राघव गच्छेयं यथान्या कुलपांसनी ॥ ७ ॥

'निष्पाप रघुनन्दन ! जैसी दूसरी कोई कुलकलङ्किनी स्त्री परपुरुषपर दृष्टि रखती है, वैसी मैं नहीं हूँ । मैं तो आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषको मनसे भी नहीं देख सकती । इसलिये आपके साथ ही चलूँगी (आपके बिना अकेली यहाँ नहीं रहूँगी) ॥ ७ ॥

स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम् ।
शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि ॥ ८ ॥

'श्रीराम ! जिसका कुमारावस्थामें ही आपके साथ विवाह हुआ है और जो चिरकालतक आपके साथ रह चुकी है, उसी मुझ अपनी सती-साध्वी पत्नीको आप औरतकी कमाई खानेवाले नटकी भाँति दूसरोंके हाथमें सौंपना चाहते हैं ! ॥ ८ ॥

यस्य पथ्यंचरामात्थ यस्य चार्थेऽवरुध्यसे ।
त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदानघ ॥ ९ ॥

'निष्पाप रघुनन्दन ! आप मुझे जिसके अनुकूल चलनेकी शिक्षा दे रहे हैं और जिसके लिये आपका राज्याभिषेक रोक दिया गया है, उस भरतके सदा ही वशवर्ती और आज्ञापालक बनकर आप ही रहिये, मैं नहीं रहूँगी ॥ ९ ॥

स मामनादाय वनं न त्वं प्रस्थितुमर्हसि ।
तपो वा यदि वारण्यं स्वर्गो वा स्यात् त्वया सह ॥ १० ॥

'इसलिये आपका मुझे अपने साथ लिये बिना वनकी ओर प्रस्थान करना उचित नहीं है। यदि तपस्या करनी हो, वनमें रहना हो अथवा स्वर्गमें जाना हो तो सभी जगह मैं आपके साथ रहना चाहती हूँ ॥ १० ॥

न च मे भविता तत्र कश्चित् पथि परिश्रमः।
पृष्ठतस्तव गच्छन्त्या विहारशयनेष्विव ॥ ११ ॥

'जैसे बगीचोंमें घूमने और पलंगपर सोनेमें कोई कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार आपके पीछे-पीछे वनके मार्गपर चलनेमें भी मुझे कोई परिश्रम नहीं जान पड़ेगा ॥ ११ ॥

कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः।
तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया ॥ १२ ॥

'रास्तेमें जो कुश-कास, सरकंडे, सींक और काँटेदार वृक्ष मिलेंगे, उनका स्पर्श मुझे आपके साथ रहनेसे रूई और मृगचर्मके समान सुखद प्रतीत होगा ॥ १२ ॥

महावातसमुद्भूतं यन्मामवकरिष्यति।
रजो रमण तन्मन्ये परार्घ्यमिव चन्दनम् ॥ १३ ॥

'प्राणवल्लभ ! प्रचण्ड आँधीसे उड़कर मेरे शरीरपर जो धूल पड़ेगी, उसे मैं उत्तम चन्दनके समान समझूँगी ॥ १३ ॥

शाद्वलेषु यदा शिश्ये वनान्तर्वनगोचरा।
कुथास्तरणयुक्तेषु किं स्यात् सुखतरं ततः ॥ १४ ॥

'जब वनके भीतर रहूँगी, तब आपके साथ घासोंपर भी सो लूँगी। रंग-बिरंगे कालीनों और मुलायम बिछौनोंसे युक्त पलंगोंपर क्या उससे अधिक सुख हो सकता है ? ॥१४॥

पत्रं मूलं फलं यत्तु अल्पं वा यदि वा बहु।
दास्यसे स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम् ॥ १५ ॥

'आप अपने हाथसे लाकर थोड़ा या बहुत फल, मूल या पत्ता, जो कुछ दे देंगे, वही मेरे लिये अमृत-रसके समान होगा ॥ १५ ॥

न मातुर्न पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः।
आर्तवान्युपभुञ्जाना पुष्पाणि च फलानि च ॥ १६ ॥

'ऋतुके अनुकूल जो भी फल-फूल प्राप्त होंगे, उन्हें खाकर रहूँगी और माता-पिता अथवा महलको कभी याद नहीं करूँगी ॥ १६ ॥

न च तत्र ततः किंचिद् द्रष्टुमर्हसि विप्रियम्।
मत्कृते न च ते शोको न भविष्यामि दुर्भरा ॥ १७ ॥

'वहाँ रहते समय मेरा कोई भी प्रतिकूल व्यवहार आप नहीं देख सकेंगे। मेरे लिये आपको कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। मेरा निर्वाह आपके लिये दूभर नहीं होगा ॥१७॥

यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना।
इति जानन् परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह ॥ १८ ॥

'आपके साथ जहाँ भी रहना पड़े, वही मेरे लिये स्वर्ग है और आपके बिना जो कोई भी स्थान हो, वह मेरे लिये नरकके समान है। श्रीराम ! मेरे इस निश्चयको जानकर आप मेरे साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक वनको चलें ॥ १८ ॥

अथ मामेवमव्यग्रां वनं नैव नयिष्यसे।
विषमद्यैव पास्यामि मा वशं द्विषतां गमम् ॥ १९ ॥

'मुझे वनवासके कष्टसे कोई घबराहट नहीं है। यदि इस दशामें भी आप अपने साथ मुझे वनमें नहीं ले चलेंगे तो मैं आज ही विष पी लूँगी, परंतु शत्रुओंके अधीन होकर नहीं रहूँगी ॥ १९ ॥

पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम्।
उज्झितायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम् ॥ २० ॥

'नाथ ! यदि आप मुझे त्यागकर वनको चले जायँगे तो पीछे भी इस भारी दुःखके कारण मेरा जीवित रहना सम्भव नहीं है; ऐसी दशामें मैं इसी समय आपके जाते ही अपना प्राण त्याग देना अच्छा समझती हूँ ॥ २० ॥

इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता ॥ २१ ॥

'आपके विरहका यह शोक मैं दो घड़ी भी नहीं सह सकूँगी। फिर मुझ दुखियासे यह चौदह वर्षोंतक कैसे सहा जायगा ?' ॥ २१ ॥

इति सा शोकसंतप्ता विलप्य करुणं बहु।
चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिङ्ग्य सस्वरम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार बहुत देरतक करुणाजनक विलाप करके शोकसे संतप्त हुई सीता शिथिल हो अपने पतिको जोरसे पकड़कर—उनका गाढ़ आलिङ्गन करके फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ २२ ॥

सा विद्धा बहुभिर्वाक्यैर्दिग्धैरिव गजाङ्गना।
चिरसंनियतं बाष्पं मुमोचाग्निमिवारणिः ॥ २३ ॥

जैसे कोई हथिनी विषमें बुझे हुए बहुसंख्यक बाणोंद्वारा घायल कर दी गयी हो, उसी प्रकार सीता श्रीरामचन्द्रजीके पूर्वोक्त अनेकानेक वचनोंद्वारा मर्माहत हो उठी थीं; अतः जैसे अरणी आग प्रकट करती है, उसी प्रकार वे बहुत देरसे रोके हुए आँसुओंको बरसाने लगीं ॥ २३ ॥

तस्याः स्फटिकसंकाशं वारि संतापसम्भवम्।
नेत्राभ्यां परिसुस्राव पङ्कजाभ्यामिवोदकम् ॥ २४ ॥

उनके दोनों नेत्रोंसे स्फटिकके समान निर्मल संतापजनित अश्रुजल झर रहा था, मानो दो कमलोंसे जलकी धारा गिर रही हो ॥ २४ ॥

तत्सितामलचन्द्राभं मुखमायतलोचनम्।
पर्यशुष्यत बाष्पेण जलोद्धृतमिवाम्बुजम् ॥ २५ ॥

बड़े-बड़े नेत्रोंसे सुशोभित और पूर्णिमाके निर्मल चन्द्रमाके समान कान्तिमान् उनका वह मनोहर मुख संतापजनित तापके कारण पानीसे बाहर निकाले हुए कमलके समान सूख-सा गया था ॥ २५ ॥

तां परिष्वज्य बाहुभ्यां विसंज्ञामिव दुःखिताम् ।
उवाच वचनं रामः परिविश्वासयंस्तदा ॥ २६ ॥

सीताजी दुःखके मारे अचेत-सी हो रही थीं । श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें दोनों हाथोंसे सँभालकर हृदयसे लगा लिया और उस समय उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥ २६ ॥

न देवि तव दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचये ।
नहि मेऽस्ति भयं किंचित् स्वयम्भोरिव सर्वतः ॥ २७॥

'देवि ! तुम्हें दुःख देकर मुझे स्वर्गका सुख मिलता हो तो मैं उसे भी लेना नहीं चाहूँगा । स्वयम्भू ब्रह्माजीकी भाँति मुझे किसीसे किञ्चित् भी भय नहीं है ॥ २७ ॥

तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने ।
वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे ॥ २८ ॥

'शुभानने ! यद्यपि वनमें तुम्हारी रक्षा करनेके लिये मैं सर्वथा समर्थ हूँ तो भी तुम्हारे हार्दिक अभिप्रायको पूर्णरूपसे जाने बिना तुमको वनवासिनी बनाना मैं उचित नहीं समझता था ॥ २८ ॥

यत् सृष्टासि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि ।
न विहातुं मया शक्या प्रीतिरात्मवता यथा ॥ २९ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! जब तुम मेरे साथ वनमें रहनेके लिये ही उत्पन्न हुई हो तो मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता, ठीक उसी तरह जैसे आत्मज्ञानी पुरुष अपनी स्वाभाविक प्रसन्नताका त्याग नहीं करते ॥ २९ ॥

धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा ।
तं चाहमनुवर्तिष्ये यथा सूर्यं सुवर्चला ॥ ३० ॥

'हाथीकी सूँड़के समान जाँघवाली जनककिशोरी ! पूर्वकालके सत्पुरुषोंने अपनी पत्नीके साथ रहकर जिस धर्मका आचरण किया था, उसीका मैं भी तुम्हारे साथ रहकर अनुसरण करूँगा तथा जैसे सुवर्चला (संज्ञा) अपने पति सूर्यका अनुगमन करती है, उसी प्रकार तुम भी मेरा अनुसरण करो ॥ ३० ॥

न खल्वहं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि ।
वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम् ॥ ३१ ॥

'जनकनन्दिनि ! यह तो किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है कि मैं वनको न जाऊँ; क्योंकि पिताजीका वह सत्ययुक्त वचन ही मुझे वनकी ओर ले जा रहा है ॥ ३१ ॥

एष धर्मश्च सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता ।
आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३२ ॥

'सुश्रोणि ! पिता और माताकी आज्ञाके अधीन रहना पुत्रका धर्म है, इसलिये मैं उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके जीवित नहीं रह सकता ॥ ३२ ॥

अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते ।
स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ॥ ३३ ॥

'जो अपनी सेवाके अधीन हैं, उन प्रत्यक्ष देवता माता, पिता एवं गुरुका उल्लङ्घन करके जो सेवाके अधीन नहीं है, उस अप्रत्यक्ष देवता दैवकी विभिन्न प्रकारसे किस तरह आराधना की जा सकती है ॥ ३३ ॥

यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि ।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ॥ ३४ ॥

'सुन्दर नेत्रप्रान्तवाली सीते ! जिनकी आराधना करनेपर धर्म, अर्थ और काम तीनों प्राप्त होते हैं तथा तीनों लोकोंकी आराधना सम्पन्न हो जाती है, उन माता, पिता और गुरुके समान दूसरा कोई पवित्र देवता इस भूतलपर नहीं है। इसीलिये भूतलके निवासी इन तीनों देवताओंकी आराधना करते हैं ॥ ३४ ॥

न सत्यं दानमानौ वा यज्ञो वाप्याप्तदक्षिणाः ।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्मता ॥ ३५ ॥

'सीते ! पिताकी सेवा करना कल्याणकी प्राप्तिका जैसा प्रबल साधन माना गया है, वैसा न सत्य है, न दान है, न मान है और न पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञ ही हैं ॥ ३५ ॥

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्या पुत्राः सुखानि च ।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ ३६ ॥

'गुरुजनोंकी सेवाका अनुसरण करनेसे स्वर्ग, धन-धान्य, विद्या, पुत्र और सुख—कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ ३६ ॥

देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकांस्तथापरान् ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ॥ ३७ ॥

'माता-पिताकी सेवामें लगे रहनेवाले महात्मा पुरुष देवलोक, गन्धर्वलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक तथा अन्य लोकोंको भी प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३७ ॥

स मा पिता यथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थितः ।
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः ॥ ३८ ॥

'इसीलिये सत्य और धर्मके मार्गपर स्थित रहनेवाले पूज्य पिताजी मुझे जैसी आज्ञा दे रहे हैं, मैं वैसा ही बर्ताव करना चाहता हूँ; क्योंकि वह सनातनधर्म है ॥ ३८ ॥

मम सन्ना मतिः सीते नेतुं त्वां दण्डकावनम् ।
वसिष्यामीति सा त्वं मामनुयातुं सुनिश्चिता ॥ ३९ ॥

'सीते ! 'मैं आपके साथ वनमें निवास करूँगी'—ऐसा कहकर तुमने मेरे साथ चलनेका दृढ़ निश्चय कर लिया है,

इसलिये तुम्हें दण्डकारण्य ले चलनेके सम्बन्धमें जो मेरा पहला विचार था, वह अब बदल गया है ॥ ३९ ॥

सा हि दिष्टानवद्याङ्गि वनाय मदिरेक्षणे।
अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव ॥ ४० ॥

'मदभरे नेत्रोंवाली सुन्दरी ! अब मैं तुम्हें वनमें चलनेके लिये आज्ञा देता हूँ। भीरु ! तुम मेरी अनुगामिनी बनो और मेरे साथ रहकर धर्मका आचरण करो ॥ ४० ॥

सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च।
व्यवसायमनुक्रान्ता कान्ते त्वमतिशोभनम् ॥ ४१ ॥

'प्राणवल्लभे सीते ! तुमने मेरे साथ चलनेका जो यह परम सुन्दर निश्चय किया है, यह तुम्हारे और मेरे कुलके सर्वथा योग्य ही है ॥ ४१ ॥

आरभस्व शुभश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः।
नेदानीं त्वदृते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते ॥ ४२ ॥

'सुश्रोणि ! अब तुम वनवासके योग्य दान आदि कर्म प्रारम्भ करो। सीते ! इस समय तुम्हारे इस प्रकार दृढ़ निश्चय कर लेनेपर तुम्हारे बिना स्वर्ग भी मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम्।
देहि चाशंसमानेभ्यः संत्वरस्व च मा चिरम् ॥ ४३ ॥

'ब्राह्मणोंको रत्नस्वरूप उत्तम वस्तुएँ दान करो और भोजन माँगनेवाले भिक्षुकोंको भोजन दो। शीघ्रता करो, विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ ४३ ॥

भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च।
रमणीयाश्च ये केचित् क्रीडार्थाश्चाप्युपस्कराः ॥ ४४ ॥
शयनीयानि यानानि मम चान्यानि यानि च।
देहि स्वभृत्यवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम् ॥ ४५ ॥

'तुम्हारे पास जितने बहुमूल्य आभूषण हों, जो-जो अच्छे-अच्छे वस्त्र हों, जो कोई भी रमणीय पदार्थ हों तथा मनोरञ्जनकी जो-जो सुन्दर सामग्रियाँ हों, मेरे और तुम्हारे उपयोगमें आनेवाली जो उत्तमोत्तम शय्याएँ, सवारियाँ तथा अन्य वस्तुएँ हों, उनमेंसे ब्राह्मणोंको दान करनेके पश्चात् जो बचें उन सबको अपने सेवकोंको बाँट दो' ॥ ४४-४५ ॥

अनुकूलं तु सा भर्तुर्ज्ञात्वा गमनमात्मनः।
क्षिप्रं प्रमुदिता देवी दातुमेव प्रचक्रमे ॥ ४६ ॥

'स्वामीने वनमें मेरा जाना स्वीकार कर लिया—मेरा वनगमन उनके मनके अनुकूल हो गया' यह जानकर देवी सीता बहुत प्रसन्न हुईं और शीघ्रतापूर्वक सब वस्तुओंका दान करनेमें जुट गयीं ॥ ४६ ॥

अतः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा
यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम्।
धनानि रत्नानि च दातुमङ्गना
प्रचक्रमे धर्मभृतां मनस्विनी ॥ ४७ ॥

तदनन्तर अपना मनोरथ पूर्ण हो जानेसे अत्यन्त हर्षमें भरी हुई यशस्विनी एवं मनस्विनी सीता देवी स्वामीके आदेशपर विचार करके धर्मात्मा ब्राह्मणोंको धन और रत्नोंका दान करनेके लिये उद्यत हो गयीं ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥



एकत्रिंशः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका संवाद, श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका सुहृदोंसे पूछकर और दिव्य आयुध लाकर वनगमनके लिये तैयार होना, श्रीरामका उनसे ब्राह्मणोंको धन बाँटनेका विचार व्यक्त करना

एवं श्रुत्वा स संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः।
बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन् ॥ १ ॥

जिस समय श्रीराम और सीतामें बातचीत हो रही थी, लक्ष्मण वहाँ पहलेसे ही आ गये थे। उन दोनोंका ऐसा संवाद सुनकर उनका मुखमण्डल आँसुओंसे भीग गया। भाईके विरहका शोक अब उनके लिये भी असह्य हो उठा ॥ १ ॥

स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।
सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम् ॥ २ ॥

रघुकुलको आनन्दित करनेवाले लक्ष्मणने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रजीके दोनों पैर जोरसे पकड़ लिये और अत्यन्त यशस्विनी सीता तथा महान् व्रतधारी श्रीरघुनाथजीसे कहा— ॥ २ ॥

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वानुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः ॥ ३ ॥

'आर्य ! यदि आपने सहस्रों वन्य पशुओं तथा हाथियोंसे भरे हुए वनमें जानेका निश्चय कर ही लिया है तो मैं भी आपका अनुसरण करूँगा। धनुष हाथमें लेकर आगे-आगे चलूँगा ॥ ३ ॥

मया समेतोऽरण्यानि रम्याणि विचरिष्यसि।

पक्षिभिर्मृगयूथैश्च संघुष्टानि समन्ततः ॥ ४ ॥

'आप मेरे साथ पक्षियोंके कलरव और भ्रमरसमूहोंके गुञ्जारवसे गूँजते हुए रमणीय वनोंमें सब ओर विचरण कीजियेगा ॥ ४ ॥

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे ।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना ॥ ५ ॥

'मैं आपके बिना स्वर्गमें जाने, अमर होने तथा सम्पूर्ण लोकोंका ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी भी इच्छा नहीं रखता' ॥ ५ ॥

एवं ब्रुवाणः सौमित्रिर्वनवासाय निश्चितः ।
रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत् ॥ ६ ॥

वनवासके लिये निश्चित विचार करके ऐसी बात कहनेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणको श्रीरामचन्द्रजीने बहुत-से सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा समझाकर जब वनमें चलनेसे मना किया, तब वे फिर बोले—॥ ६ ॥

अनुज्ञातस्तु भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम् ।
किमिदानीं पुनरपि क्रियते मे निवारणम् ॥ ७ ॥

'भैया ! आपने तो पहलेसे ही मुझे अपने साथ रहनेकी आज्ञा दे रखी है, फिर इस समय आप मुझे क्यों रोकते हैं ?

यदर्थं प्रतिषेधो मे क्रियते गन्तुमिच्छतः ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं संशयो हि ममानघ ॥ ८ ॥

'निष्पाप रघुनन्दन ! जिस कारणसे आपके साथ चलनेकी इच्छावाले मुझको आप मना करते हैं, उस कारणको मैं जानना चाहता हूँ । मेरे हृदयमें इसके लिये बड़ा संशय हो रहा है' ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा रामो लक्ष्मणमग्रतः ।
स्थितं प्राग्गामिनं धीरं याचमानं कृताञ्जलिम् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर धीर-वीर लक्ष्मण आगे जानेके लिये तैयार हो भगवान् श्रीरामके सामने खड़े हो गये और हाथ जोड़कर याचना करने लगे । तब महातेजस्वी श्रीरामने उनसे कहा—॥ ९ ॥

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः ।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विजेयश्च सखा च मे ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! तुम मेरे स्नेही, धर्मपरायण, धीर-वीर तथा सदा सन्मार्गमें स्थित रहनेवाले हो । मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो तथा मेरे वशमें रहनेवाले आज्ञापालक और सखा हो ॥

मयाद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम् ।
को भजिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ॥ ११ ॥

'सुमित्रानन्दन ! यदि आज मेरे साथ तुम भी वनको चल दोगे तो परमयशस्विनी माता कौसल्या और सुमित्राकी सेवा कौन करेगा ? ॥ ११ ॥

अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव ।
स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः ॥ १२ ॥

'जैसे मेघ पृथ्वीपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार जो सबकी कामनाएँ पूर्ण करते थे, वे महातेजस्वी महाराज दशरथ अब कैकेयीके प्रेमपाशमें बँध गये हैं ॥ १२ ॥

सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता ।
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ॥ १३ ॥

'केकयराज अश्वपतिकी पुत्री कैकेयी महाराजके इस राज्यको पाकर मेरे वियोगके दुःखमें डूबी हुई अपनी सौतोंके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करेगी ॥ १३ ॥

न भरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम् ।
भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ॥ १४ ॥

'भरत भी राज्य पाकर कैकेयीके अधीन रहनेके कारण दुखिया कौसल्या और सुमित्राका भरण-पोषण नहीं करेंगे ॥

तामार्यां स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा ।
सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थममुं चर ॥ १५ ॥

'अतः सुमित्राकुमार ! तुम यहीं रहकर अपने प्रयत्नसे अथवा राजाकी कृपा प्राप्त करके माता कौसल्याका पालन करो । मेरे बताये हुए इस प्रयोजनको ही सिद्ध करो ॥ १५ ॥

एवं मयि च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता ।
धर्मज्ञगुरुपूजायां धर्मश्चाप्यतुलो महान् ॥ १६ ॥

'ऐसा करनेसे मेरे प्रति जो तुम्हारी भक्ति है, वह भी भलीभाँति प्रकट हो जायगी तथा धर्मज्ञ गुरुजनोंकी पूजा करनेसे जो अनुपम एवं महान् धर्म होता है, वह भी तुम्हें प्राप्त हो जायगा ॥ १६ ॥

एवं कुरुष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन ।
अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत् सुखम् ॥ १७ ॥

'रघुकुलको आनन्दित करनेवाले सुमित्राकुमार ! तुम मेरे लिये ऐसा ही करो; क्योंकि हमलोगोंसे बिछुड़ी हुई हमारी माको कभी सुख नहीं होगा (वह सदा हमारी ही चिन्तामें डूबी रहेगी)' ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः श्लक्ष्णया गिरा ।
प्रत्युवाच तदा रामं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ १८ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर बातचीतके मर्मको समझनेवाले लक्ष्मणने उस समय बातका तात्पर्य समझनेवाले श्रीरामको मधुर वाणीमें उत्तर दिया ॥ १८ ॥

तवैव तेजसा वीर भरतः पूजयिष्यति ।
कौसल्यां च सुमित्रां च प्रयतो नास्ति संशयः ॥ १९ ॥

'वीर ! आपके ही तेज (प्रभाव) से भरत माता कौसल्या और सुमित्रा दोनोंका पवित्र भावसे पूजन करेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

यदि दुःस्थो न रक्षेत भरतो राज्यमुत्तमम् ।
प्राप्य दुर्मनसा वीर गर्वेण च विशेषतः ॥

तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः।
तत्पक्षानपि तान् सर्वांस्त्रैलोक्यमपि किं तु सा ॥ २१ ॥
कौसल्या बिभृयादार्या सहस्रं मद्विधानपि।
यस्याः सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम् ॥ २२ ॥

'वीरवर! इस उत्तम राज्यको पाकर यदि भरत बुरे रास्तेपर चलेंगे और दूषित हृदय एवं विशेषतः घमंडके कारण माताओंकी रक्षा नहीं करेंगे तो मैं उन दुर्बुद्धि और क्रूर भरतका तथा उनके पक्षका समर्थन करनेवाले उन सब लोगोंका वध कर डालूँगा; इसमें संशय नहीं है। यदि सारी त्रिलोकी उनका पक्ष करने लगे तो उसे भी अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा, परंतु बड़ी माता कौसल्या तो स्वयं ही मेरे-जैसे सहस्रों मनुष्योंका भी भरण कर सकती हैं; क्योंकि उन्हें अपने आश्रितोंका पालन करनेके लिये एक सहस्र गाँव मिले हुए हैं ॥ २०—२२ ॥

तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च।
पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय मनस्विनी ॥ २३ ॥

'इसलिये वे मनस्विनी कौसल्या स्वयं ही अपना, मेरी माताका तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से मनुष्योंका भरण-पोषण करनेमें समर्थ हैं ॥ २३ ॥

कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्प्यते ॥ २४ ॥

'अतः आप मुझको अपना अनुगामी बना लीजिये। इसमें कोई धर्मकी हानि नहीं होगी। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा तथा आपका भी प्रयोजन मेरे द्वारा सिद्ध हुआ करेगा ॥ २४ ॥

धनुरादाय सगुणं खनित्रपिटकाधरः।
अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानं तव दर्शयन् ॥ २५ ॥

'प्रत्यञ्चासहित धनुष लेकर खंती और पिटारी लिये आपको रास्ता दिखाता हुआ मैं आपके आगे-आगे चलूँगा ॥

आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम् ॥ २६ ॥

'प्रतिदिन आपके लिये फल-मूल लाऊँगा तथा तपस्वीजनोंके लिये वनमें मिलनेवाली तथा अन्यान्य हवन-सामग्री जुटाता रहूँगा ॥ २६ ॥

भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यसे।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते ॥ २७ ॥

'आप विदेहकुमारीके साथ पर्वतशिखरोंपर भ्रमण करेंगे। वहाँ आप जागते हों या सोते, मैं हर समय आपके सभी आवश्यक कार्य पूर्ण करूँगा' ॥ २७ ॥

रामस्त्वनेन वाक्येन सुप्रीतः प्रत्युवाच तम्।
व्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम् ॥ २८ ॥

लक्ष्मणकी इस बातसे श्रीरामचन्द्रजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने उनसे कहा—'सुमित्रानन्दन! जाओ, माता आदि सभी सुहृदोंसे मिलकर अपनी वनयात्राके विषयमें पूछ लो—उनकी आज्ञा एवं अनुमति ले लो ॥ २८ ॥

ये च राज्ञो ददौ दिव्ये महात्मा वरुणः स्वयम्।
जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने ॥ २९ ॥
अभेद्ये कवचे दिव्ये तूणी चाक्षय्यसायकौ।
आदित्यविमलाभौ द्वौ खड्गौ हेमपरिष्कृतौ ॥ ३० ॥
सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि।
सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण ॥ ३१ ॥

'लक्ष्मण! राजा जनकके महान् यज्ञमें स्वयं महात्मा वरुणने उन्हें जो देखनेमें भयंकर दो दिव्य धनुष दिये थे, साथ ही, जो दो दिव्य अभेद्य कवच, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस तथा सूर्यकी भाँति निर्मल दीप्तिसे दमकते हुए जो दो सुवर्णभूषित खड्ग प्रदान किये थे (वे सभी दिव्यास्त्र मिथिलानरेशने मुझे दहेजमें दे दिये थे), उन सबको आचार्यदेवके घरमें सत्कारपूर्वक रक्खा गया है। तुम उन सारे आयुधोंको लेकर शीघ्र लौट आओ' ॥ २९—३१ ॥

स सुहृज्जनमामन्त्र्य वनवासाय निश्चितः।
इक्ष्वाकुगुरुमागम्य जग्राहायुधमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

आज्ञा पाकर लक्ष्मणजी गये और सुहृज्जनोंकी अनुमति लेकर वनवासके लिये निश्चितरूपसे तैयार हो इक्ष्वाकुकुलके गुरु वसिष्ठजीके यहाँ गये। वहाँसे उन्होंने उन उत्तम आयुधोंको ले लिया ॥ ३२ ॥

तद् दिव्यं राजशार्दूलः सत्कृतं माल्यभूषितम्।
रामाय दर्शयामास सौमित्रिः सर्वमायुधम् ॥ ३३ ॥

क्षत्रियशिरोमणि सुमित्राकुमार लक्ष्मणने सत्कारपूर्वक रखे हुए उन माल्यविभूषित समस्त दिव्य आयुधोंको लाकर उन्हें श्रीरामको दिखाया ॥ ३३ ॥

तमुवाचात्मवान् रामः प्रीत्या लक्ष्मणमागतम्।
काले त्वमागतः सौम्य काङ्क्षिते मम लक्ष्मण ॥ ३४ ॥

तब मनस्वी श्रीरामने वहाँ आये हुए लक्ष्मणसे प्रसन्न होकर कहा—'सौम्य! लक्ष्मण! तुम ठीक समयपर आ गये। इसी समय तुम्हारा आना मुझे अभीष्ट था ॥ ३४ ॥

अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परंतप ॥ ३५ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! मेरा जो यह धन है, इसे मैं तुम्हारे साथ रहकर तपस्वी ब्राह्मणोंको बाँटना चाहता हूँ ॥ ३५ ॥

वसन्तीह दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः।
तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम् ॥ ३६ ॥

'गुरुजनोंके प्रति सुदृढ़ भक्तिभावसे युक्त जो श्रेष्ठ ब्राह्मण यहाँ मेरे पास रहते हैं, उनको तथा समस्त आश्रितजनोंको भी मुझे अपना यह धन बाँटना है ॥ ३६ ॥

वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्यं
त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम्।
अपि प्रयास्यामि वनं समस्ता-
नभ्यर्च्य शिष्टानपरान् द्विजातीन्॥ ३७॥

'वसिष्ठजीके पुत्र जो ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ आर्य सुयज्ञ हैं, उन्हें तुम शीघ्र यहाँ बुला लाओ। मैं इन सबका तथा और जो ब्राह्मण शेष रह गये हों, उनका भी सत्कार करके वनको जाऊँगा' ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥



द्वात्रिंशः सर्गः

सीतासहित श्रीरामका वसिष्ठपुत्र सुयज्ञको बुलाकर उनके तथा उनकी पत्नीके लिये बहुमूल्य आभूषण, रत्न और धन आदिका दान तथा लक्ष्मणसहित श्रीरामद्वारा ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों, सेवकों, त्रिजट ब्राह्मण और सुहृज्जनोंको धनका वितरण

ततः शासनमाज्ञाय भ्रातुः प्रियकरं हितम्।
गत्वा स प्रविवेशाशु सुयज्ञस्य निवेशनम्॥ १॥

तदनन्तर अपने भाई श्रीरामकी प्रियकारक एवं हितकर आज्ञा पाकर लक्ष्मण वहाँसे चल दिये। उन्होंने शीघ्र ही गुरुपुत्र सुयज्ञके घरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

तं विप्रमग्न्यगारस्थं वन्दित्वा लक्ष्मणोऽब्रवीत्।
सखेऽभ्यागच्छ पश्य त्वं वेश्म दुष्करकारिणः॥ २॥

उस समय विप्रवर सुयज्ञ अग्निशालामें बैठे हुए थे। लक्ष्मणने उन्हें प्रणाम करके कहा—'सखे! दुष्कर कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके घरपर आओ और उनका कार्य देखो' ॥ २ ॥

ततः संध्यामुपास्थाय गत्वा सौमित्रिणा सह।
ऋद्धं स प्राविशल्लक्ष्म्या रम्यं रामनिवेशनम्॥ ३॥

सुयज्ञने मध्याह्नकालकी संध्योपासना पूरी करके लक्ष्मणके साथ जाकर श्रीरामके रमणीय भवनमें प्रवेश किया, जो लक्ष्मीसे सम्पन्न था ॥ ३ ॥

तमागतं वेदविदं प्राञ्जलिः सीतया सह।
सुयज्ञमभिचक्राम राघवोऽग्निमिवार्चितम्॥ ४॥

होमकालमें पूजित अग्निके समान तेजस्वी वेदवेत्ता सुयज्ञको आया जान सीतासहित श्रीरामने हाथ जोड़कर उनकी अगवानी की ॥ ४ ॥

जातरूपमयैर्मुख्यैरङ्गदैः कुण्डलैः शुभैः।
सहेमसूत्रैर्मणिभिः केयूरैर्वलयैरपि॥ ५॥
अन्यैश्च रत्नैर्बहुभिः काकुत्स्थः प्रत्यपूजयत्।

तत्पश्चात् ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने सोनेके बने हुए श्रेष्ठ अङ्गदों, सुन्दर कुण्डलों, सुवर्णमय सूत्रमें पिरोयी हुई मणियों, केयूरों, वलयों तथा अन्य बहुत-से रत्नोंद्वारा उनका पूजन किया ॥ ५½ ॥

सुयज्ञं स तदोवाच रामः सीताप्रचोदितः॥ ६॥
हारं च हेमसूत्रं च भार्यायै सौम्य हारय।
रशनां चाथ सा सीता दातुमिच्छति ते सखी॥ ७॥

इसके बाद सीताकी प्रेरणासे श्रीरामने सुयज्ञसे कहा—'सौम्य! तुम्हारी पत्नीकी सखी सीता तुम्हें अपना हार, सुवर्णसूत्र और करधनी देना चाहती है। इन वस्तुओंको अपनी पत्नीके लिये ले जाओ ॥ ६-७ ॥

अङ्गदानि च चित्राणि केयूराणि शुभानि च।
प्रयच्छति सखी तुभ्यं भार्यायै गच्छती वनम्॥ ८॥

'वनको प्रस्थान करनेवाली तुम्हारी स्त्रीकी सखी सीता तुम्हें तुम्हारी पत्नीके लिये विचित्र अङ्गद और सुन्दर केयूर भी देना चाहती है ॥ ८ ॥

पर्यङ्कमग्र्यास्तरणं नानारत्नविभूषितम्।
तमपीच्छति वैदेही प्रतिष्ठापयितुं त्वयि॥ ९॥

'उत्तम बिछौनोंसे युक्त तथा नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित जो पलंग है, उसे भी विदेहनन्दिनी सीता तुम्हारे ही घरमें भेज देना चाहती है ॥ ९ ॥

नागः शत्रुंजयो नाम मातुलोऽयं ददौ मम।
तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुङ्गव॥ १०॥

'विप्रवर! शत्रुञ्जय नामक जो हाथी है, जिसे मेरे मामाने मुझे भेंट किया था, उसे एक हजार अशर्फियोंके साथ मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ' ॥ १० ॥

इत्युक्तः स तु रामेण सुयज्ञः प्रतिगृह्य तत्।
रामलक्ष्मणसीतानां प्रयुयोजाशिषः शिवाः॥ ११॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर सुयज्ञने वे सब वस्तुएँ ग्रहण करके श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके लिये मङ्गलमय आशीर्वाद प्रदान किये ॥ ११ ॥

अथ भ्रातरमव्यग्रं प्रियं रामः प्रियंवदम्।
सौमित्रिं तमुवाचेदं ब्रह्मेव त्रिदशेश्वरम्॥ १२॥

तदनन्तर श्रीरामने शान्तभावसे खड़े हुए और प्रिय वचन बोलनेवाले अपने प्रिय भाई सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे

उसी तरह निम्नाङ्कित बात कही, जैसे ब्रह्मा देवराज इन्द्रसे कुछ कहते हैं ॥ १२ ॥

अगस्त्यं कौशिकं चैव तावुभौ ब्राह्मणोत्तमौ ।
अर्चयाहूय सौमित्रे रत्नैः सस्यमिवाम्बुभिः ॥ १३ ॥
तर्पयस्व महाबाहो गोसहस्रेण राघव ।
सुवर्णरजतैश्चैव मणिभिश्च महाधनैः ॥ १४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! अगस्त्य और विश्वामित्र दोनों उत्तम ब्राह्मणोंको बुलाकर रत्नोंद्वारा उनकी पूजा करो । महाबाहु रघुनन्दन ! जैसे मेघ जलकी वर्षाद्वारा खेतीको तृप्त करता है, उसी प्रकार तुम उन्हें सहस्रों गौओं, सुवर्णमुद्राओं, रजतद्रव्यों और बहुमूल्य मणियोंद्वारा संतुष्ट करो ॥ १३-१४ ॥

कौसल्यां च य आशीर्भिर्भक्तः पर्युपतिष्ठति ।
आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित् ॥ १५ ॥
तस्य यानं च दासीश्च सौमित्रे सम्प्रदापय ।
कौशेयानि च वस्त्राणि यावत् तुष्यति स द्विजः ॥ १६ ॥

'लक्ष्मण ! यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाका अध्ययन करनेवाले ब्राह्मणोंके जो आचार्य और सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान् हैं, साथ ही जिनमें दानप्राप्तिकी योग्यता है तथा जो माता कौसल्याके प्रति भक्तिभाव रखकर प्रतिदिन उनके पास आकर उन्हें आशीर्वाद प्रदान करते हैं, उनको सवारी, दास-दासी, रेशमी वस्त्र और जितने धनसे वे ब्राह्मणदेवता संतुष्ट हों, उतना धन खजानेसे दिलवाओ ॥ १५-१६ ॥

सूतश्चित्ररथश्चार्यः सचिवः सुचिरोषितः ।
तोषयैनं महार्हैश्च रत्नैर्वस्त्रैर्धनैस्तथा ॥ १७ ॥
पशुकाभिश्च सर्वाभिर्गवां दशशतेन च ।

'चित्ररथ नामक सूत श्रेष्ठ सचिव भी हैं । वे सुदीर्घकालसे यहीं राजकुलकी सेवामें रहते हैं । इनको भी तुम बहुमूल्य रत्न, वस्त्र और धन देकर संतुष्ट करो । साथ ही, इन्हें उत्तम श्रेणीके अज आदि सभी पशु और एक सहस्र गौएँ अर्पित करके पूर्ण संतोष प्रदान करो ॥ १७½ ॥

ये चेमे कठकालापा बहवो दण्डमाणवाः ॥ १८ ॥
नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्नान्यत् कुर्वन्ति किंचन ।
अलसाः स्वादुकामाश्च महतां चापि सम्मताः ॥ १९ ॥
तेषामशीतियानानि रत्नपूर्णानि दापय ।
शालिवाहसहस्रं च द्वे शते भद्रकांस्तथा ॥ २० ॥

'मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले जो कठशाखा और कलापशाखाके अध्येता बहुत-से दण्डधारी ब्रह्मचारी हैं, वे सदा स्वाध्यायमें ही संलग्न रहनेके कारण दूसरा कोई कार्य नहीं कर पाते । भिक्षा माँगनेमें आलसी हैं, परंतु स्वादिष्ट अन्न खानेकी इच्छा रखते हैं । महान् पुरुष भी उनका सम्मान करते हैं । उनके लिये रत्नोंके बोझसे लदे हुए अस्सी ऊँट, अगहनी चावलका भार ढोनेवाले एक सहस्र बैल तथा भद्रक नामक धान्यविशेष (चने, मूँग आदि) का भार लिये हुए दो सौ बैल और दिलवाओ ॥ १८-२० ॥

व्यञ्जनार्थं च सौमित्रे गोसहस्रमुपाकुरु ।
मेखलीनां महासङ्घः कौसल्यां समुपस्थितः ।
तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदापय ॥ २१ ॥

'सुमित्राकुमार ! उपर्युक्त वस्तुओंके सिवा उनके लिये दही, घी आदि व्यञ्जनके निमित्त एक सहस्र गौएँ भी हँकवा दो । माता कौसल्याके पास मेखलाधारी ब्रह्मचारियोंका बहुत बड़ा समुदाय आया है । उनमेंसे प्रत्येकको एक-एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दिलवा दो ॥ २१ ॥

अम्बा यथा नो नन्देच्च कौसल्या मम दक्षिणाम् ।
तथा द्विजातींस्तान् सर्वाँल्लक्ष्मणार्चय सर्वशः ॥ २२ ॥

'लक्ष्मण ! उन समस्त ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंको मेरेद्वारा दिलायी हुई दक्षिणा देखकर जिस प्रकार मेरी माता कौसल्या आनन्दित हो उठे, उसी प्रकार तुम उन सबकी सब प्रकारसे पूजा करो' ॥ २२ ॥

ततः पुरुषशार्दूलस्तद् धनं लक्ष्मणः स्वयम् ।
यथोक्तं ब्राह्मणेन्द्राणामददाद् धनदो यथा ॥ २३ ॥

इस प्रकार आज्ञा प्राप्त होनेपर पुरुषसिंह लक्ष्मणने स्वयं ही कुबेरकी भाँति श्रीरामके कथनानुसार उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उस धनका दान किया ॥ २३ ॥

अथाब्रवीद् बाष्पगलांस्तिष्ठतश्चोपजीविनः ।
स प्रदाय बहुद्रव्यमेकैकस्योपजीवनम् ॥ २४ ॥
लक्ष्मणस्य च यद् वेश्म गृहं च यदिदं मम ।
अशून्यं कार्यमेकैकं यावदागमनं मम ॥ २५ ॥

इसके बाद वहाँ खड़े हुए अपने आश्रित सेवकोंको जिनका गला आँसुओंसे रुँधा हुआ था, बुलाकर श्रीरामने उनमेंसे एक-एकको चौदह वर्षोंतक जीविका चलानेयोग्य बहुत-सा द्रव्य प्रदान किया और उन सबसे कहा—'जबतक मैं वनसे लौटकर न आऊँ, तबतक तुमलोग लक्ष्मणके और मेरे इस घरको कभी सूना न करना—छोड़कर अन्यत्र न जाना' ॥ २४-२५ ॥

इत्युक्त्वा दुःखितं सर्वं जनं तमुपजीविनम् ।
उवाचेदं धनाध्यक्षं धनमानीयतां मम ॥ २६ ॥

वे सब सेवक श्रीरामके वनगमनसे बहुत दुखी थे । उनसे उपर्युक्त बात कहकर श्रीराम अपने धनाध्यक्ष (खजांची) से बोले—'खजानेमें मेरा जितना धन है, वह सब ले आओ' ॥

ततोऽस्य धनमाजह्रुः सर्व एवोपजीविनः ।
स राशिः सुमहांस्तत्र दर्शनीयो ह्यदृश्यत ॥ २७ ॥

यह सुनकर सभी सेवक उनका धन ढो-ढोकर ले आने लगे। वहाँ उस धनकी बहुत बड़ी राशि एकत्र हुई दिखायी देने लगी, जो देखने ही योग्य थी ॥ २७ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद् धनं सहलक्ष्मणः।
द्विजेभ्यो बालवृद्धेभ्यः कृपणेभ्यो ह्यदापयत् ॥ २८ ॥

तब लक्ष्मणसहित पुरुषसिंह श्रीरामने बालक और बूढ़े ब्राह्मणों तथा दीन-दुखियोंको वह सारा धन बँटवा दिया ॥

तत्रासीत् पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः।
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली ॥ २९ ॥

उन दिनों वहाँ अयोध्याके आस-पास वनमें त्रिजट नामवाले एक गर्गगोत्रीय ब्राह्मण रहते थे। उनके पास जीविकाका कोई साधन नहीं था, इसलिये उपवास आदिके कारण उनके शरीरका रंग पीला पड़ गया था। वे सदा फाल, कुदाल और हल लिये वनमें फल-मूलकी तलाशमें घूमा करते थे ॥ २९ ॥

तं वृद्धं तरुणी भार्या बालानादाय दारकान्।
अब्रवीद् ब्राह्मणं वाक्यं स्त्रीणां भर्ता हि देवता ॥ ३० ॥
अपास्य फालं कुद्दालं कुरुष्व वचनं मम।
रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किंचिदवाप्स्यसि ॥ ३१ ॥

वे स्वयं तो बूढ़े हो चले थे, परंतु उनकी पत्नी अभी तरुणी थी। उसने छोटे बच्चोंको लेकर ब्राह्मणदेवतासे यह बात कही—'प्राणनाथ! (यद्यपि) स्त्रियोंके लिये पति ही देवता है, (अतः मुझे आपको आदेश देनेका कोई अधिकार नहीं है, तथापि मैं आपकी भक्त हूँ; इसलिये विनयपूर्वक यह अनुरोध करती हूँ कि—) आप यह फाल और कुदाल फेंककर मेरा कहना कीजिये। धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीसे मिलिये। यदि आप ऐसा करें तो वहाँ अवश्य कुछ पा जायँगे' ॥ ३०-३१ ॥

स भार्याया वचः श्रुत्वा शाटीमाच्छाद्य दुश्छदाम्।
स प्रातिष्ठत पन्थानं यत्र रामनिवेशनम् ॥ ३२ ॥

पत्नीकी बात सुनकर ब्राह्मण एक फटी धोती, जिससे मुश्किलसे शरीर ढक पाता था, पहनकर उस मार्गपर चल दिये, जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका महल था ॥ ३२ ॥

भृग्वङ्गिरःसमं दीप्त्या त्रिजटं जनसंसदि।
आपञ्चमायाः कक्ष्याया नैनं कश्चिदवारयत् ॥ ३३ ॥

भृगु और अङ्गिराके समान तेजस्वी त्रिजट जनसमुदायके बीचसे होकर श्रीरामभवनकी पाँचवीं ड्योढ़ीतक चले गये, परन्तु उनके लिये किसीने रोक-टोक नहीं की ॥ ३३ ॥

स राममासाद्य तदा त्रिजटो वाक्यमब्रवीत्।
निर्धनो बहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महाबल ॥ ३४ ॥
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्व मामिति।

उस समय श्रीरामके पास पहुँचकर त्रिजटने कहा—'महाबली राजकुमार! मैं निर्धन हूँ, मेरे बहुत-से पुत्र हैं, जीविका नष्ट हो जानेसे सदा वनमें ही रहता हूँ, आप मुझपर कृपादृष्टि कीजिये' ॥ ३४½ ॥

तमुवाच ततो रामः परिहाससमन्वितम् ॥ ३५ ॥
गवां सहस्रमप्येकं न च विश्राणितं मया।
परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवाप्स्यसे ॥ ३६ ॥

तब श्रीरामने विनोदपूर्वक कहा—'ब्रह्मन्! मेरे पास असंख्य गौएँ हैं, इनमेंसे एक सहस्रका भी मैंने अभीतक किसीको दान नहीं किया है। आप अपना डंडा जितनी दूर फेंक सकेंगे, वहाँतककी सारी गौएँ आपको मिल जायँगी' ॥

स शाटीं परितः कट्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्ट्य ताम्।
आविध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगतः ॥ ३७ ॥

यह सुनकर उन्होंने बड़ी तेजीके साथ धोतीके पल्लेको सब ओरसे कमरमें लपेट लिया और अपनी सारी शक्ति लगाकर डंडेको बड़े वेगसे घुमाकर फेंका ॥ ३७ ॥

स तीर्त्वा सरयूपारं दण्डस्तस्य कराच्च्युतः।
गोव्रजे बहुसाहस्रे पपातोक्षणसंनिधौ ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणके हाथसे छूटा हुआ वह डंडा सरयूके उस पार जाकर हजारों गौओंसे भरे हुए गोष्ठमें एक साँड़के पास गिरा ॥ ३८ ॥

तं परिष्वज्य धर्मात्मा आ तस्मात् सरयूतटात्।
आनयामास ता गावस्त्रिजटस्याश्रमं प्रति ॥ ३९ ॥

धर्मात्मा श्रीरामने त्रिजटको छातीसे लगा लिया और उस सरयूतटसे लेकर उस पार गिरे हुए डंडेके स्थानतक जितनी गौएँ थीं, उन सबको मँगवाकर त्रिजटके आश्रमपर भेज दिया ॥ ३९ ॥

उवाच च तदा रामस्तं गार्ग्यमभिसान्त्वयन्।
मन्युर्न खलु कर्तव्यः परिहासो ह्ययं मम ॥ ४० ॥

उस समय श्रीरामने गर्गवंशी त्रिजटको सान्त्वना देते हुए कहा—'ब्रह्मन्! मैंने विनोदमें यह बात कही थी, आप इसके लिये बुरा न मानियेगा ॥ ४० ॥

इदं हि तेजस्तव यद् दुरत्ययं
तदेव जिज्ञासितुमिच्छता मया।
इमं भवानर्थमभिप्रचोदितो
वृणीष्व किंचेदपरं व्यवस्यति ॥ ४१ ॥

'आपका यह जो दुर्लङ्घ्य तेज है, उसीको जाननेकी इच्छासे मैंने आपको यह डंडा फेंकनेके लिये प्रेरित किया था, यदि आप और कुछ चाहते हों तो माँगिये ॥ ४१ ॥

ब्रवीमि सत्येन न तेऽस्ति यन्त्रणा
धनं हि यद् यन्मम विप्रकारणात्।
भवत्सु सम्यक्प्रतिपादनेन
तन्मयार्जितं प्रीतियशस्करं भवेत् ॥ ४२ ॥

'मैं सच कहता हूँ कि इसमें आपके लिये कोई संकोचकी बात नहीं है। मेरे पास जो-जो धन हैं, वह सब ब्राह्मणोंके लिये ही है। आप-जैसे ब्राह्मणोंको शास्त्रीय विधिके अनुसार दान देनेसे मेरे द्वारा उपार्जित किया हुआ धन मेरे यशकी वृद्धि करनेवाला होगा' ॥ ४२ ॥

ततः सभार्यस्त्रिजटो महामुनि-
गवामनीकं प्रतिगृह्य मोदितः।
यशोबलप्रीतिसुखोपबृंहिणी-
स्तदाशिषः प्रत्यवदन्महात्मनः ॥ ४३ ॥

गौओंके उस महान् समूहको पाकर पत्नीसहित महामुनि त्रिजटको बड़ी प्रसन्नता हुई, वे महात्मा श्रीरामको यश, बल, प्रीति तथा सुख बढ़ानेवाले आशीर्वाद देने लगे ॥ ४३ ॥

स चापि रामः प्रतिपूर्णपौरुषो
महाधनं धर्मबलैरुपार्जितम्।
नियोजयामास सुहृज्जने चिराद्
यथार्हसम्मानवचःप्रचोदितः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर पूर्ण पराक्रमी भगवान् श्रीराम धर्मबलसे उपार्जित किये हुए उस महान् धनको लोगोंके यथायोग्य सम्मानपूर्ण वचनोंसे प्रेरित हो बहुत देरतक अपने सुहृदोंमें बाँटते रहे ॥ ४४ ॥

द्विजः सुहृद् भृत्यजनोऽथवा तदा
दरिद्रभिक्षाचरणश्च यो भवेत्।
न तत्र कश्चिन्न बभूव तर्पितो
यथार्हसम्माननदानसम्भ्रमैः ॥ ४५ ॥

उस समय वहाँ कोई भी ब्राह्मण, सुहृद्, सेवक, दरिद्र अथवा भिक्षुक ऐसा नहीं था, जो श्रीरामके यथायोग्य सम्मान, दान तथा आदर-सत्कारसे तृप्त न किया गया हो ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका दुखी नगरवासियोंके मुखसे तरह-तरहकी बातें सुनते हुए पिताके दर्शनके लिये कैकेयीके महलमें जाना

दत्त्वा तु सह वैदेह्या ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु।
जग्मतुः पितरं द्रष्टुं सीतया सह राघवौ ॥ १ ॥

विदेहकुमारी सीताके साथ श्रीराम और लक्ष्मण ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन दान करके वन जानेके लिये उद्यत हो पिताका दर्शन करनेके लिये गये ॥ १ ॥

ततो गृहीते प्रेष्याभ्यामशोभेतां तदायुधे।
मालादामभिरासक्ते सीतया समलंकृते ॥ २ ॥

उनके साथ दो सेवक श्रीराम और लक्ष्मणके वे धनुष आदि आयुध लेकर चले, जिन्हें फूलकी मालाओंसे सजाया गया था और सीताजीने पूजाके लिये चढ़ाये हुए चन्दन आदिसे अलंकृत किया था। उन दोनोंके आयुधोंकी उस समय बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २ ॥

ततः प्रासादहर्म्याणि विमानशिखराणि च।
अभिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो व्यलोकयत् ॥ ३ ॥

उस अवसरपर धनी लोग प्रासादों (तिमंजिले महलों), हर्म्यगृहों (राजभवनों) तथा विमानों (सात मंजिले महलों) की ऊपरी छतोंपर चढ़कर उदासीनभावसे उन तीनोंकी ओर देखने लगे ॥ ३ ॥

न हि रथ्याः सुशक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुलाः।
आरुह्य तस्मात् प्रासादाद् दीनाः पश्यन्ति राघवम् ॥४॥

उस समय सड़कें मनुष्योंकी भीड़से भरी थीं। इस लिये उनपर सुगमतापूर्वक चलना कठिन हो गया था। अतः अधिकांश मनुष्य प्रासादों (तिमंजिले मकानों) पर चढ़कर वहींसे दुखी होकर श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देख रहे थे ॥ ४ ॥

पदातिं सानुजं दृष्ट्वा ससीतं च जनास्तदा।
ऊचुर्बहुजना वाचः शोकोपहतचेतसः ॥ ५ ॥

श्रीरामको अपने छोटे भाई लक्ष्मण और पत्नी सीताके साथ पैदल जाते देख बहुत-से मनुष्योंका हृदय शोकसे व्याकुल हो उठा। वे खेदपूर्वक कहने लगे— ॥ ५ ॥

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत्।
तमेकं सीतया सार्धमनुयाति स्म लक्ष्मणः ॥ ६ ॥

'हाय! यात्राके समय जिनके पीछे विशाल चतुरङ्गिणी सेना चलती थी, वे ही श्रीराम आज अकेले जा रहे हैं और उनके पीछे सीताके साथ लक्ष्मण चल रहे हैं ॥ ६ ॥

ऐश्वर्यस्य रसज्ञः सन् कामानां चाकरो महान्।
नेच्छत्येवानृतं कर्तुं वचनं धर्मगौरवात् ॥ ७ ॥

'जो ऐश्वर्यके सुखका अनुभव करनेवाले तथा भोग्य वस्तुओंके महान् भण्डार थे—जहाँ सबकी कामनाएँ पूर्ण होती थीं, वे ही श्रीराम आज धर्मका गौरव रखनेके लिये पिताकी बात झूठी करना नहीं चाहते हैं ॥ ७ ॥

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ॥ ८ ॥

'ओह ! पहले जिसे आकाशमें विचरनेवाले प्राणी भी नहीं देख पाते थे, उसी सीताको इस समय सड़कोंपर खड़े हुए लोग देख रहे हैं ॥ ८ ॥

अङ्गरागोचितां सीतां रक्तचन्दनसेविनीम् ।
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यत्याशु विवर्णताम् ॥ ९ ॥

'सीता अङ्गराग-सेवनके योग्य हैं, लाल चन्दनका सेवन करनेवाली हैं । अब वर्षा, गर्मी और सर्दी शीघ्र ही इनके अङ्गोंकी कान्ति फीकी कर देगी ॥ ९ ॥

अद्य नूनं दशरथः सत्त्वमाविश्य भाषते ।
नहि राजा प्रियं पुत्रं विवासयितुमर्हति ॥ १० ॥

'निश्चय ही आज राजा दशरथ किसी पिशाचके आवेशमें पड़कर अनुचित बात कह रहे हैं; क्योंकि अपनी स्वाभाविक स्थितिमें रहनेवाला कोई भी राजा अपने प्यारे पुत्रको घरसे निकाल नहीं सकता ॥ १० ॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद् विनिवासनम् ।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥ ११ ॥

'पुत्र यदि गुणहीन हो तो भी उसे घरसे निकाल देनेका साहस कैसे हो सकता है ? फिर जिसके केवल चरित्रसे ही यह सारा संसार वशीभूत हो जाता है, उसको वनवास देनेकी तो बात ही कैसे की जा सकती है ? ॥ ११ ॥

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः ।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम् ॥ १२ ॥

'क्रूरताका अभाव, दया, विद्या, शील, दम (इन्द्रिय-संयम) और शम (मनोनिग्रह)-ये छः गुण नरश्रेष्ठ श्रीरामको सदा ही सुशोभित करते हैं ॥ १२ ॥

तस्मात् तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः ।
औदकानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ॥ १३ ॥

'अतः इनके ऊपर आघात करने—इनके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेसे प्रजाको उसी तरह महान् क्लेश पहुँचा है, जैसे गर्मीमें जलाशयका पानी सूख जानेसे उसके भीतर रहनेवाले जीव तड़पने लगते हैं ॥ १३ ॥

पीडया पीडितं सर्वं जगदस्य जगत्पतेः ।
मूलस्येवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥ १४ ॥

'इन जगदीश्वर श्रीरामकी व्यथासे सम्पूर्ण जगत् व्यथित हो उठा है, जैसे जड़ काट देनेसे पुष्प और फलसहित सारा वृक्ष सूख जाता है ॥ १४ ॥

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः ।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः ॥ १५ ॥

'ये महान् तेजस्वी श्रीराम सम्पूर्ण मनुष्योंके मूल हैं, धर्म ही इनका बल है । जगत्के दूसरे प्राणी पत्र, पुष्प, फल और शाखाएँ हैं ॥ १५ ॥

ते लक्ष्मण इव क्षिप्रं सपत्न्यः सहबान्धवाः ।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः ॥ १६ ॥

'अतः हमलोग भी लक्ष्मणकी भाँति पत्नी और बन्धु-बान्धवोंके साथ शीघ्र ही इन जानेवाले श्रीरामके ही पीछे-पीछे चल दें । जिस मार्गसे श्रीरघुनाथजी जा रहे हैं, उसीका हम भी अनुसरण करें ॥ १६ ॥

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
एकदुःखसुखा राममनुगच्छाम धार्मिकम् ॥ १७ ॥

'बाग-बगीचे, घर-द्वार और खेती-बारी—सब छोड़कर धर्मात्मा श्रीरामका अनुगमन करें । इनके दुःख-सुखके साथी बनें ॥ १७ ॥

समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च ।
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि सर्वशः ॥ १८ ॥
रजसाभ्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः ।
मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च ॥ १९ ॥
अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च ।
प्रणष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ॥ २० ॥
दुष्कालेनेव भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च ।
अस्मत्त्यक्तानि कैकेयी वेश्मानि प्रतिपद्यताम् ॥ २१ ॥

'हम अपने घरोंकी गड़ी हुई निधि निकाल लें । आँगनकी फर्श खोद डालें । सारा धन-धान्य साथ ले लें । सारी आवश्यक वस्तुएँ हटा लें । इनमें चारों ओर धूल भर जाय । देवता इन घरोंको छोड़कर भाग जायँ । चूहे बिलसे बाहर निकलकर इनमें चारों ओर दौड़ लगाने लगें और उनसे ये घर भर जायँ । इनमें न कभी आग जले, न पानी रहे और न झाड़ू ही लगे । यहाँ बलिवैश्वदेव, यज्ञ, मन्त्रपाठ, होम और जप बंद हो जाय । मानो बड़ा भारी अकाल पड़ गया हो, इस प्रकार ये सारे घर ढह जायँ । इनमें टूटे बर्तन बिखरे पड़े हों और हम सदाके लिये इन्हें छोड़ दें—ऐसी दशामें इन घरोंपर कैकेयी आकर अधिकार कर ले ॥ १८-२१ ॥

वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राघवः ।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ॥ २२ ॥

'जहाँ पहुँचनेके लिये ये श्रीरामचन्द्रजी जा रहे हैं, वह वन ही नगर हो जाय और हमारे छोड़ देनेपर यह नगर भी वनके रूपमें परिणत हो जाय ॥ २२ ॥

बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे सानूनि मृगपक्षिणः ।
त्यजन्त्वस्मद्भयाद्भीता गजाः सिंहा वनान्यपि ॥ २३ ॥

'वनमें हमलोगोंके भयसे साँप अपने बिल [illegible] भाग जायँ । पर्वतपर रहनेवाले मृग और प[illegible] शिखरोंको छोड़ दें तथा हाथी और सिंह [illegible] कर दूर चले जायँ ॥ २३ ॥

असत्यक्तं प्रपद्यन्तु सेव्यमानं त्यजन्तु च।
तृणमांसफलादानां देशं व्यालमृगद्विजम्॥ २४॥
प्रपद्यतां हि कैकेयी सपुत्रा सह बान्धवैः।
राघवेण वयं सर्वे वने वत्स्याम निर्वृताः॥ २५॥

'वे सर्प आदि उन स्थानोंमें चले जायँ, जिन्हें हमलोगोंने छोड़ रखा है और उन स्थानोंको त्याग दें, जिनका हम सेवन करते हैं। यह देश घास चरनेवाले पशुओं, मांसभक्षी हिंसक जन्तुओं और फल खानेवाले पक्षियोंका निवासस्थान बन जाय। यहाँ सर्प, पशु और पक्षी रहने लगें। उस दशामें पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित कैकेयी इसे अपने अधिकारमें कर ले। हम सब लोग वनमें श्रीरघुनाथजीके साथ बड़े आनन्दसे रहेंगे'॥ २४-२५॥

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः।
शुश्राव राघवः श्रुत्वा न विचक्रेऽस्य मानसम्॥ २६॥
स तु वेश्म पुनर्मातुः कैलासशिखरप्रभम्।
अभिचक्राम धर्मात्मा मत्तमातङ्गविक्रमः॥ २७॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने बहुत-से मनुष्योंके मुँहसे निकली हुई तरह-तरहकी बातें सुनीं; किंतु सुनकर भी उनके मनमें कोई विकार नहीं हुआ। मतवाले गजराजके समान पराक्रमी धर्मात्मा श्रीराम पुनः माता कैकेयीके कैलासशिखरके सदृश शुभ्र भवनमें गये॥ २६-२७॥

विनीतवीरपुरुषं प्रविश्य तु नृपालयम्।
ददर्शावस्थितं दीनं सुमन्त्रमविदूरतः॥ २८॥

विनयशील वीर पुरुषोंसे युक्त उस राजभवनमें प्रवेश करके उन्होंने देखा—सुमन्त्र पास ही दुखी होकर खड़े हैं॥ २८॥

प्रतीक्षमाणोऽभिजनं तदार्त-
मनार्तरूपः प्रहसन्निवाथ।
जगाम रामः पितरं दिदृक्षुः
पितुर्निदेशं विधिवच्चिकीर्षुः॥ २९॥

पूर्वजोंकी निवासभूमि अवधके मनुष्य वहाँ शोकसे आतुर होकर खड़े थे। उन्हें देखकर भी श्रीराम स्वयं शोकसे पीड़ित नहीं हुए—उनके शरीरपर व्यथाका कोई चिह्न प्रकट नहीं हुआ। वे पिताकी आज्ञाका विधिपूर्वक पालन करनेकी इच्छासे उनका दर्शन करनेके लिये हँसते हुए-से आगे बढ़े॥ २९॥

तत्पूर्वमैक्ष्वाकसुतो महात्मा
रामो गमिष्यन् नृपमार्तरूपम्।
व्यतिष्ठत प्रेक्ष्य तदा सुमन्त्रं
पितुर्महात्मा प्रतिहारणार्थम्॥ ३०॥

शोकाकुलरूपसे पड़े हुए राजाके पास जानेवाले महात्मा महामना इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीराम वहाँ पहुँचनेसे पहले सुमन्त्रको देखकर पिताके पास अपने आगमनकी सूचना भेजनेके लिये उस समय वहीं ठहर गये॥ ३०॥

पितुर्निदेशेन तु धर्मवत्सलो
वनप्रवेशे कृतबुद्धिनिश्चयः।
स राघवः प्रेक्ष्य सुमन्त्रमब्रवी-
न्निवेदयस्वागमनं नृपाय मे॥ ३१॥

पिताके आदेशसे वनमें प्रवेश करनेका बुद्धिपूर्वक निश्चय करके आये हुए धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्रजी सुमन्त्रकी ओर देखकर बोले—'आप महाराजको मेरे आगमनकी सूचना दे दें॥ ३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः॥ ३३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३३॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रानियोंसहित राजा दशरथके पास जाकर वनवासके लिये विदा माँगना, राजाका शोक और मूर्च्छा, श्रीरामका उन्हें समझाना तथा राजाका श्रीरामको हृदयसे लगाकर पुनः मूर्च्छित हो जाना

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरुपमो महान्।
उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति॥ १॥
स रामप्रेषितः क्षिप्रं संतापकलुषेन्द्रियम्।
प्रविश्य नृपतिं सूतो निःश्वसन्तं ददर्श ह॥ २॥

जब कमलनयन श्यामसुन्दर उपमारहित महापुरुष श्रीरामने सूत सुमन्त्रसे कहा—'आप पिताजीको मेरे आगमनकी सूचना दे दीजिये।' तब श्रीरामकी प्रेरणासे शीघ्र ही भीतर जाकर सारथि सुमन्त्रने राजाका दर्शन किया। उनकी सारी इन्द्रियाँ संतापसे कलुषित हो रही थीं। वे लंबी साँस खींच रहे थे॥ १-२॥

उपरक्तमिवादित्यं भस्मच्छन्नमिवानलम्।
तटाकमिव निस्तोयमपश्यज्जगतीपतिम्॥ ३॥
आलोक्य च महाप्राज्ञः परमाकुलचेतनम्।
राममेवानुशोचन्तं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ ४॥

सुमन्त्रने देखा, पृथ्वीपति महाराज दशरथ राहुग्रस्त सूर्य, राखसे ढकी हुई आग तथा जलशून्य तालाबके समान श्रीहीन हो रहे हैं। उनका चित्त अत्यन्त व्याकुल है और वे श्रीरामका ही चिन्तन कर रहे हैं। तब महाप्राज्ञ सूतने महाराजको सम्बोधित करके हाथ जोड़कर कहा॥ ३-४॥

तं वर्धयित्वा राजानं पूर्वं सूतो जयाशिषा।

भयविक्लवया वाचा मन्दया श्लक्ष्णयाब्रवीत् ॥ ५ ॥

पहले तो सूत सुमन्त्रने विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए महाराजकी अभ्युदय-कामना की; फिर भयसे व्याकुल मन्द-मधुर वाणीद्वारा यह बात कही— ॥ ५ ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो द्वारि तिष्ठति ते सुतः ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सर्वं चैवोपजीविनाम् ॥ ६ ॥
स त्वां पश्यतु भद्रं ते रामः सत्यपराक्रमः ।
सर्वान् सुहृद आपृच्छ्य त्वां हीदानीं दिदृक्षते ॥ ७ ॥
गमिष्यति महारण्यं तं पश्य जगतीपते ।
वृतं राजगुणैः सर्वैरादित्यमिव रश्मिभिः ॥ ८ ॥

'पृथ्वीनाथ! आपके पुत्र ये सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह श्रीराम ब्राह्मणों तथा आश्रित सेवकोंको अपना सारा धन देकर द्वारपर खड़े हैं। आपका कल्याण हो, ये अपने सब सुहृदोंसे मिलकर—उनसे विदा लेकर इस समय आपका दर्शन करना चाहते हैं। आज्ञा हो तो यहाँ आकर आपका दर्शन करें। राजन्! अब ये विशाल वनमें चले जायँगे, अतः किरणोंसे युक्त सूर्यकी भाँति समस्त राजोचित गुणसे सम्पन्न इन श्रीरामको आप भी जी भरकर देख लीजिये' ॥ ६–८ ॥

स सत्यवाक्यो धर्मात्मा गाम्भीर्यात् सागरोपमः ।
आकाश इव निष्पङ्को नरेन्द्रः प्रत्युवाच तम् ॥ ९ ॥

यह सुनकर समुद्रके समान गम्भीर तथा आकाशकी भाँति निर्मल, सत्यवादी धर्मात्मा महाराज दशरथने उन्हें उत्तर दिया— ॥ ९ ॥

सुमन्त्रानय मे दारान् ये केचिदिह मामकाः ।
दारैः परिवृतः सर्वैर्द्रष्टुमिच्छामि राघवम् ॥ १० ॥

'सुमन्त्र! यहाँ जो कोई भी मेरी स्त्रियाँ हैं, उन सबको बुलाओ। उन सबके साथ मैं श्रीरामको देखना चाहता हूँ' ॥ १० ॥

सोऽन्तःपुरमतीत्यैव स्त्रियस्ता वाक्यमब्रवीत् ।
आर्यो ह्वयति वो राजा गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ ११ ॥

तब सुमन्त्रने बड़े वेगसे अन्तःपुरमें जाकर सब स्त्रियोंसे कहा—'देवियो! आपलोगोंको महाराज बुला रहे हैं, अतः वहाँ शीघ्र चलें' ॥ ११ ॥

एवमुक्ताः स्त्रियः सर्वाः सुमन्त्रेण नृपाज्ञया ।
प्रचक्रमुस्तद् भवनं भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥ १२ ॥

राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रके ऐसा कहनेपर वे सब रानियाँ स्वामीका आदेश समझकर उस भवनकी ओर चलीं ॥ १२ ॥

अर्धसप्तशतास्तत्र प्रमदास्ताम्रलोचनाः ।
कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः ॥ १३ ॥

कुछ-कुछ लाल नेत्रोंवाली साढ़े तीन सौ पतिव्रता युवती स्त्रियाँ महारानी कौसल्याको सब ओरसे घेरकर धीरे-धीरे उस भवनमें गयीं ॥ १३ ॥

आगतेषु च दारेषु समवेक्ष्य महीपतिः ।
उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय मे सुतम् ॥ १४ ॥

उन सबके आ जानेपर उन्हें देखकर पृथ्वीपति राजा दशरथने सूतसे कहा—'सुमन्त्र! अब मेरे पुत्रको ले आओ' ॥

स सूतो राममादाय लक्ष्मणं मैथिलीं तथा ।
जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः ॥ १५ ॥

आज्ञा पाकर सुमन्त्र गये और श्रीराम, लक्ष्मण तथा सीताको साथ लेकर शीघ्र ही महाराजके पास लौट आये ॥

स राजा पुत्रमायान्तं दृष्ट्वा चारात् कृताञ्जलिम् ।
उत्पपातासनात् तूर्णमार्तः स्त्रीजनसंवृतः ॥ १६ ॥

महाराज दूरसे ही अपने पुत्रको हाथ जोड़कर आते देख सहसा अपने आसनसे उठ खड़े हुए। उस समय स्त्रियोंसे घिरे हुए वे नरेश शोकसे आर्त हो रहे थे ॥ १६ ॥

सोऽभिदुद्राव वेगेन रामं दृष्ट्वा विशाम्पतिः ।
तमसम्प्राप्य दुःखार्तः पपात भुवि मूर्च्छितः ॥ १७ ॥

श्रीरामको देखते ही वे प्रजापालक महाराज बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े, किंतु उनके पास पहुँचनेके पहले ही दुःखसे व्याकुल हो पृथ्वीपर गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये ॥ १७ ॥

तं रामोऽभ्यपतत् क्षिप्रं लक्ष्मणश्च महारथः ।
विसंज्ञमिव दुःखेन सशोकं नृपतिं तथा ॥ १८ ॥

उस समय श्रीराम और महारथी लक्ष्मण बड़ी तेजीसे चलकर दुःखके कारण अचेत-से हुए शोकमग्न महाराजके पास जा पहुँचे ॥ १८ ॥

स्त्रीसहस्रनिनादश्च संजज्ञे राजवेश्मनि ।
हा हा रामेति सहसा भूषणध्वनिमिश्रितः ॥ १९ ॥

इतनेहीमें उस राजभवनके भीतर सहसा आभूषणोंकी ध्वनिके साथ सहस्रों स्त्रियोंका 'हा राम! हा राम!' यह आर्तनाद गूँज उठा ॥ १९ ॥

तं परिष्वज्य बाहुभ्यां तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।
पर्यङ्के सीतया सार्धं रुदन्तः समवेशयन् ॥ २० ॥

श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई भी सीताके साथ रो पड़े और उन तीनोंने महाराजको दोनों भुजाओंसे उठाकर पलंगपर बिठा दिया ॥ २० ॥

अथ रामो मुहूर्तस्य लब्धसंज्ञं महीपतिम् ।
उवाच प्राञ्जलिर्बाष्पशोकार्णवपरिप्लुतम् ॥ २१ ॥

शोकाश्रुके सागरमें डूबे हुए महाराज दशरथको दो घड़ीमें जब फिर चेत हुआ, तब श्रीरामने हाथ जोड़कर उनसे कहा— ॥ २१ ॥

आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः ।
प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन माम् ॥ २२ ॥

'महाराज! आप हमलोगोंके स्वामी हैं। मैं दण्डकारण्यको जा रहा हूँ और आपसे आज्ञा लेने आया हूँ। आप अपनी कल्याणमयी दृष्टिसे मेरी ओर देखिये ॥ २२ ॥

लक्ष्मणं चानुजानीहि सीता चान्वेतु मां वनम् ।
कारणैर्बहुभिस्तथ्यैर्वार्यमाणौ न चेच्छतः ॥ २३ ॥

अनुजानीहि सर्वान् नः शोकमुत्सृज्य मानद ।
लक्ष्मणं मां च सीतां च प्रजापतिरिवात्मजान् ॥ २४ ॥

'मेरे साथ लक्ष्मणको भी वनमें जानेकी आज्ञा दीजिये। साथ ही यह भी स्वीकार कीजिये कि सीता भी मेरे साथ वनको जाय। मैंने बहुत-से सच्चे कारण बताकर इन दोनोंको रोकनेकी चेष्टा की है; परंतु ये यहाँ रहना नहीं चाहते हैं; अतः दूसरोंको मान देनेवाले नरेश! आप शोक छोड़कर हम सबको—मुझको, लक्ष्मणको और सीताको भी उसी तरह वनमें जानेकी आज्ञा दीजिये, जैसे ब्रह्माजीने अपने पुत्र सनकादिकोंको तपके लिये वनमें जानेकी अनुमति दी थी' ॥

प्रतीक्षमाणमव्यग्रमनुज्ञां जगतीपतेः ।
उवाच राजा सम्प्रेक्ष्य वनवासाय राघवम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार शान्तभावसे वनवासके लिये राजाकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते हुए श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर महाराजने उनसे कहा— ॥ २५ ॥

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः ।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम् ॥ २६ ॥

'रघुनन्दन! मैं कैकेयीको दिये हुए वरके कारण मोहमें पड़ गया हूँ। तुम मुझे कैद करके स्वयं ही अब अयोध्याके राजा बन जाओ' ॥ २६ ॥

एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतां वरः ।
प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः ॥ २७ ॥

महाराजके ऐसा कहनेपर बातचीत करनेमें कुशल धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने दोनों हाथ जोड़कर पिताको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ २७ ॥

भवान् वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः ।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य काङ्क्षिता ॥ २८ ॥

'महाराज! आप सहस्रों वर्षोंतक इस पृथ्वीके अधिपति बने रहें। मैं तो अब वनमें ही निवास करूँगा। मुझे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं है ॥ २८ ॥

नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहृत्य ते ।
पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप ॥ २९ ॥

'नरेश्वर! चौदह वर्षोंतक वनमें घूम-फिरकर आपकी प्रतिज्ञा पूरी कर लेनेके पश्चात् मैं पुनः आपके युगल चरणोंमें मस्तक झुकाऊँगा' ॥ २९ ॥

रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयुतः ।
कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो राजा तमब्रवीत् ॥ ३० ॥

राजा दशरथ एक तो सत्यके बन्धनमें बँधे हुए थे, दूसरे एकान्तमें कैकेयी उन्हें श्रीरामको वनमें तुरंत भेजनेके लिये बाध्य कर रही थी—इस अवस्थामें वे आर्तभावसे रोते हुए वहाँ अपने प्रिय पुत्र श्रीरामसे बोले— ॥ ३० ॥

श्रेयसे वृद्धये तात पुनरागमनाय च ।
गच्छस्वारिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम् ॥ ३१ ॥

'तात! तुम कल्याणके लिये, वृद्धिके लिये और फिर लौट आनेके लिये शान्तभावसे जाओ। तुम्हारा मार्ग विघ्न-बाधाओंसे रहित और निर्भय हो ॥ ३१ ॥

न हि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव ।
संनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन ॥ ३२ ॥
अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा ।
एकाहं दर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम् ॥ ३३ ॥

'बेटा रघुनन्दन! तुम सत्यस्वरूप और धर्मात्मा हो। तुम्हारे विचारको पलटना तो असम्भव है; परंतु रातभर और रह जाओ। सिर्फ एक रातके लिये सर्वथा अपनी यात्रा रोक दो। केवल एक दिन भी तो तुम्हें देखनेका सुख उठा लूँ ॥ ३२-३३ ॥

मातरं मां च सम्पश्यन् वसेमामद्य शर्वरीम् ।
तर्पितः सर्वकामैस्त्वं श्वः काल्ये साधयिष्यसि ॥ ३४ ॥

'अपनी माताको और मुझको इस अवस्थामें देखकर आजकी इस रातमें यहीं रह जाओ। मेरे द्वारा सम्पूर्ण अभिलषित वस्तुओंसे तृप्त होकर कल प्रातःकाल यहाँसे जाना ॥

दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव प्रिय ।
त्वया हि मत्प्रियार्थं तु वनमेवमुपाश्रितम् ॥ ३५ ॥

'मेरे प्रिय पुत्र श्रीराम! तुम सर्वथा दुष्कर कार्य कर रहे हो। मेरा प्रिय करनेके लिये ही तुमने इस प्रकार वनका आश्रय लिया है ॥ ३५ ॥

न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव ।
छन्नया चलितस्त्वस्मि स्त्रिया भस्माग्निकल्पया ॥ ३६ ॥
वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि ।
अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः ॥ ३७ ॥

'परंतु बेटा रघुनन्दन! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यह मुझे प्रिय नहीं है। मुझे तुम्हारा वनमें जाना अच्छा नहीं लगता। यह मेरी स्त्री कैकेयी राखमें छिपी हुई आगके समान भयंकर है। इसने अपने क्रूर अभिप्रायको छिपा रखा था। इसीने आज मुझे मेरे अभीष्ट संकल्पसे विचलित कर दिया है। कुलोचित सदाचारका विनाश करनेवाली इस कैकेयीने मुझे वरदानके लिये प्रेरित करके मेरे साथ बहुत बड़ा धोखा किया है। इसके द्वारा जो वञ्चना मुझे प्राप्त हुई है, उसीको तुम पार करना चाहते हो ॥ ३६-३७ ॥

न चैतदाश्चर्यतमं यत् त्वं ज्येष्ठः सुतो मम ।
अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ॥ ३८ ॥

'पुत्र! तुम अपने पिताको सत्यवादी बनाना चाहते हो। तुम्हारे लिये यह कोई अधिक आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि तुम गुण और अवस्था दोनों ही दृष्टियोंसे मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो' ॥ ३८ ॥

अथ रामस्तदा श्रुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा दीनो वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

अपने शोकाकुल पिताका यह कथन सुनकर उस समय छोटे भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामने दुखी होकर कहा— ॥ ३९ ॥

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान् को मे श्वस्तान् प्रदास्यति ।
अपक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे ॥ ४० ॥

'महाराज ! आज यात्रा करके मैं जिन गुणों (लाभों)-को पाऊँगा, उन्हें कल कौन मुझे देगा ?* अतः मैं सम्पूर्ण कामनाओंके बदले आज यहाँसे निकल जाना ही अच्छा समझता हूँ और इसीका वरण करता हूँ ॥ ४० ॥

इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला ।
मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥ ४१ ॥

'राष्ट्र और यहाँके निवासी मनुष्योंसहित धनधान्यसे सम्पन्न यह सारी पृथ्वी मैंने छोड़ दी । आप इसे भरतको दे दें ॥४१॥

वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽद्य चलिष्यति ।
यस्तु युद्धे वरो दत्तः कैकेय्यै वरद त्वया ॥ ४२ ॥
दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव ।

'मेरा वनवासविषयक निश्चय अब बदल नहीं सकेगा । वरदायक नरेश ! आपने देवासुर-संग्राममें कैकेयीको जो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे पूर्णरूपसे दीजिये और सत्यवादी बनिये ॥ ४२½ ॥

अहं निदेशं भवतो यथोक्तमनुपालयन् ॥ ४३ ॥
चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह ।
मा विमर्शो वसुमती भरताय प्रदीयताम् ॥ ४४ ॥

'मैं आपकी उक्त आज्ञाका पालन करता हुआ चौदह वर्षोंतक वनमें वनचारी प्राणियोंके साथ निवास करूँगा । आपके मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये । आप यह सारी पृथ्वी भरतको दे दीजिये ॥ ४३-४४ ॥

नहि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि वा प्रियम् ।
यथानिदेशं कर्तुं वै तवैव रघुनन्दन ॥ ४५ ॥

'रघुनन्दन ! मैंने अपने मनको सुख देने अथवा स्वजनोंका प्रिय करनेके उद्देश्यसे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं की थी । आपकी आज्ञाका यथावत्‌रूपसे पालन करनेके लिये ही मैंने उसे ग्रहण करनेकी अभिलाषा की थी ॥ ४५ ॥

अपगच्छतु ते दुःखं मा भूर्बाष्पपरिप्लुतः ।
नहि क्षुभ्यति दुर्धर्षः समुद्रः सरितां पतिः ॥ ४६ ॥

'आपका दुःख दूर हो जाय, आप इस प्रकार आँसू न बहावें । सरिताओंका स्वामी दुर्धर्ष समुद्र क्षुब्ध नहीं होता है—अपनी मर्यादाका त्याग नहीं करता है (इसी तरह आपको भी क्षुब्ध नहीं होना चाहिये) ॥ ४६ ॥

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम् ।
नैव सर्वानिमान् कामान् न स्वर्गं न च जीवितुम् ॥ ४७ ॥

'मुझे न तो इस राज्यकी, न सुखकी, न पृथ्वीकी, न इन सम्पूर्ण भोगोंकी, न स्वर्गकी और न जीवनकी ही इच्छा है ॥ ४७ ॥

त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥ ४८ ॥

'पुरुषशिरोमणे ! मेरे मनमें यदि कोई इच्छा है तो यही कि आप सत्यवादी बनें । आपका वचन मिथ्या न होने पावे । यह बात मैं आपके सामने सत्य और शुभ कर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ ॥ ४८ ॥

न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो ।
स शोकं धारयस्वेमं नहि मेऽस्ति विपर्ययः ॥ ४९ ॥

'तात ! प्रभो ! अब मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहर सकता । अतः आप इस शोकको अपने भीतर ही दबा लें । मैं अपने निश्चयके विपरीत कुछ नहीं कर सकता ॥ ४९ ॥

अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव ।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये ॥ ५० ॥

'रघुनन्दन ! कैकेयीने मुझसे यह याचना की कि 'राम ! तुम वनको चले जाओ' मैंने वचन दिया था कि 'अवश्य जाऊँगा' उस सत्यका मुझे पालन करना है ॥ ५० ॥

मा चोत्कण्ठां कृथा देव वने रंस्यामहे वयम् ।
प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुनिनादिते ॥ ५१ ॥

'देव ! बीचमें हमें देखने या हमसे मिलनेके लिये आप उत्कण्ठित न होंगे । शान्तस्वभाववाले मृगोंसे भरे हुए और भाँति-भाँतिके पक्षियोंके कलरवोंसे गूँजते हुए उस वनमें हमलोग बड़े आनन्दसे रहेंगे ॥ ५१ ॥

पिता हि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम् ।
तस्माद् दैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः ॥ ५२ ॥

'तात ! पिता देवताओंके भी देवता माने गये हैं अतः मैं देवता समझकर ही पिता (आप) की आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ५२ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु नृपसत्तम ।
पुनर्द्रक्ष्यसि मां प्राप्तं संतापोऽयं विमुच्यताम् ॥ ५३ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! अब यह संताप छोड़िये । चौदह वर्ष बीत जानेपर आप फिर मुझे आया हुआ देखेंगे ॥ ५३ ॥

येन संस्तम्भनीयोऽयं सर्वो बाष्पकलो जनः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल किमर्थं विक्रियां गतः ॥ ५४ ॥

'पुरुषसिंह ! यहाँ जितने लोग आँसू बहा रहे हैं, इन सबको धैर्य बँधाना आपका कर्तव्य है; फिर आप स्वयं ही इतने विकल कैसे हो रहे हैं ? ॥ ५४ ॥

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला
मया विसृष्टा भरताय दीयताम् ।
अहं निदेशं भवतोऽनुपालयन्
वनं गमिष्यामि चिराय सेवितुम् ॥ ५५ ॥

'यह नगर, यह राज्य और यह सारी पृथ्वी मैंने छोड़ दी । आप यह सब कुछ भरतको दे दीजिये । अब मैं आपके आदेशका पालन करता हुआ दीर्घकालतक वनमें निवास

* 'प्राप्स्यामि……' इस आधे श्लोकका अर्थ यह भी हो सकता है कि आज यहाँ रहकर जिन उत्तमोत्तम अभीष्ट पदार्थोंको मैं पाऊँगा, उन्हें कलसे कौन देगा ?

करनेके लिये यहाँसे यात्रा कर रहा हूँ ॥ ५५ ॥

मया विसृष्टां भरतो महीमिमां
सशैलखण्डां सपुरोपकाननाम्।
शिवासु सीमास्वनुशास्तु केवलं
त्वया यदुक्तं नृपते तथास्तु तत् ॥ ५६ ॥

'मेरी छोड़ी हुई पर्वतखण्डों, नगरों और उपवनोंसहित इस सारी पृथ्वीका भरत कल्याणकारिणी मर्यादाओंमें स्थित रहकर पालन करें। नरेश्वर! आपने जो वचन दिया है, वह पूर्ण हो ॥ ५६ ॥

न मे तथा पार्थिव धीयते मनो
महत्सु कामेषु न चात्मनः प्रिये।
यथा निदेशे तव शिष्टसम्मते
व्यपैतु दुःखं तव मत्कृतेऽनघ ॥५७॥

'पृथ्वीनाथ! निष्पाप महाराज! सत्पुरुषोंद्वारा अनुमोदित आपकी आज्ञाका पालन करनेमें मेरा मन जैसा लगता है, वैसा बड़े-बड़े भोगोंमें तथा अपने किसी प्रिय पदार्थमें भी नहीं लगता; अतः मेरे लिये आपके मनमें जो दुःख है, वह दूर हो जाना चाहिये ॥ ५७ ॥

तदद्य नैवानघ राज्यमव्ययं
न सर्वकामान् वसुधां न मैथिलीम्।
न चिन्तितं त्वामनृतेन योजयन्
वृणीय सत्यं व्रतमस्तु ते तथा ॥५८॥

'निष्पाप नरेश! आज आपको मिथ्यावादी बनाकर मैं अक्षय राज्य, सब प्रकारके भोग, वसुधाका आधिपत्य, मिथिलेशकुमारी सीता तथा अन्य किसी अभिलषित पदार्थको भी स्वीकार नहीं कर सकता। मेरी एकमात्र इच्छा यही है कि 'आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो' ॥ ५८ ॥

फलानि मूलानि च भक्षयन् वने
गिरींश्च पश्यन् सरितः सरांसि च।
वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं
सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः ॥५९॥

'मैं विचित्र वृक्षोंसे युक्त वनमें प्रवेश करके फल-मूलका भोजन करता हुआ वहाँके पर्वतों, नदियों और सरोवरोंको देख-देखकर सुखी होऊँगा; इसलिये आप अपने मनको शान्त कीजिये' ॥ ५९ ॥

एवं स राजा व्यसनाभिपन्न-
स्तापेन दुःखेन च पीड्यमानः।
आलिङ्ग्य पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो
भूमिं गतो नैव चिचेष्ट किंचित् ॥ ६० ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर पुत्र-विछोहके संकटमें पड़े हुए राजा दशरथने दुःख और संतापसे पीड़ित हो उन्हें छातीसे लगाया और फिर अचेत होकर वे पृथ्वीपर गिर पड़े। उस समय उनका शरीर जडकी भाँति कुछ भी चेष्टा न कर सका॥

देव्यः समस्ता रुरुदुः समेता-
स्तां वर्जयित्वा नरदेवपत्नीम्।
रुदन् सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्च्छां
हाहाकृतं तत्र बभूव सर्वम् ॥ ६१ ॥

यह देख राजरानी कैकेयीको छोड़कर वहाँ एकत्र हुई अन्य सभी रानियाँ रो पड़ीं। सुमन्त्र भी रोते-रोते मूर्च्छित हो गये तथा वहाँ सब ओर हाहाकार मच गया ॥ ६१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

सुमन्त्रके समझाने और फटकारनेपर भी कैकेयीका टस-से-मस न होना

ततो निधूय सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत्।
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य दन्तान् कटकटाय्य च ॥ १ ॥
लोचने कोपसंरक्ते वर्णं पूर्वोचितं जहत्।
कोपाभिभूतः सहसा संतापमशुभं गतः ॥ २ ॥
मनः समीक्षमाणश्च सूतो दशरथस्य च।
कम्पयन्निव कैकेय्या हृदयं वाक्शरैः शितैः ॥ ३ ॥

तदनन्तर होशमें आनेपर सारथि सुमन्त्र सहसा उठकर खड़े हो गये। उनके मनमें बड़ा संताप हुआ, जो अमङ्गलकारी था। वे क्रोधके मारे काँपने लगे। उनके शरीर और मुखकी पहली स्वाभाविक कान्ति बदल गयी। वे क्रोधसे आँखें लाल करके दोनों हाथोंसे सिर पीटने लगे और बारंबार लंबी साँस खींचकर, हाथसे हाथ मलकर, दाँत कटकटाकर राजा दशरथके मनकी वास्तविक अवस्था देखते हुए अपने वचनरूपी तीखे बाणोंसे कैकेयीके हृदयको कम्पित-सा करने लगे ॥ १-३ ॥

वाक्यवज्रैरनुपमैर्निर्भिन्दन्निव चाशुभैः।
कैकेय्याः सर्वमर्माणि सुमन्त्रः प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥

अपने अशुभ एवं अनुपम वचनरूपी वज्रसे कैकेयीके सारे मर्मस्थानोंको विदीर्ण-से करते हुए सुमन्त्रने उससे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ ४ ॥

यस्यास्तव पतिस्त्यक्तो राजा दशरथः स्वयम्।
भर्ता सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥ ५ ॥
नह्यकार्यतमं किंचित्तव देवीह विद्यते।
पतिघ्नीं त्वामहं मन्ये कुलघ्नीमपि चान्ततः ॥ ६ ॥

'देवि ! जब तुमने सम्पूर्ण चराचर जगत्के स्वामी स्वयं अपने पति महाराज दशरथका ही त्याग कर दिया, तब इस जगत्में कोई ऐसा कुकर्म नहीं है, जिसे तुम न कर सको; मैं तो समझता हूँ कि तुम पतिकी हत्या करनेवाली तो हो ही; अन्ततः कुलघातिनी भी हो ॥ ५-६ ॥

यन्महेन्द्रमिवाजय्यं दुष्प्रकम्प्यमिवाचलम् ।
महोदधिमिवाक्षोभ्यं संतापयसि कर्मभिः ॥ ७ ॥

'ओह ! जो देवराज इन्द्रके समान अजेय, पर्वतके समान अकम्पनीय और महासागरके समान क्षोभरहित हैं, उन महाराज दशरथको भी तुम अपने कर्मोंसे संतप्त कर रही हो॥

मावमंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम् ।
भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते ॥ ८ ॥

राजा दशरथ तुम्हारे पति, पालक और वरदाता हैं। तुम इनका अपमान न करो।। नारियोंके लिये पतिकी इच्छा-का महत्त्व करोड़ों पुत्रोंसे भी अधिक है ॥ ८ ॥

यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये ।
इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिंस्तं लोपयितुमिच्छसि ॥ ९ ॥

'इस कुलमें राजाका परलोकवास हो जानेपर उसके पुत्रोंकी अवस्थाका विचार करके जो ज्येष्ठ पुत्र होते हैं, वे ही राज्य पाते हैं। राजकुलके इस परम्परागत आचारको तुम इन इक्ष्वाकुवंशके स्वामी महाराज दशरथके जीते-जी ही मिटा देना चाहती हो ॥ ९ ॥

राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम् ।
वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति ॥ १० ॥

'तुम्हारे पुत्र भरत राजा हो जायँ और इस पृथ्वीका शासन करें; किंतु हमलोग तो वहीं चले जायँगे जहाँ श्रीराम जायँगे ॥ १० ॥

न च ते विषये कश्चिद् ब्राह्मणो वस्तुमर्हति ।
तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि ॥ ११ ॥
नूनं सर्वे गमिष्यामो मार्गं रामनिषेवितम् ।

'तुम्हारे राज्यमें कोई भी ब्राह्मण निवास नहीं करेगा; यदि तुम आज वैसा मर्यादाहीन कर्म करोगी तो निश्चय ही हम सब लोग उसी मार्गपर चले जायँगे, जिसका श्रीरामने सेवन किया है ॥ ११½ ॥

त्यक्ता या बान्धवैः सर्वैर्ब्राह्मणैः साधुभिः सदा ॥ १२ ॥
का प्रीती राज्यलाभेन तव देवि भविष्यति ।
तादृशं त्वममर्यादं कर्म कर्तुं चिकीर्षसि ॥ १३ ॥

'सम्पूर्ण बन्धु-बान्धव और सदाचारी ब्राह्मण भी तुम्हारा त्याग कर देंगे। देवि ! फिर इस राज्यको पाकर तुम्हें क्या आनन्द मिलेगा। ओह ! तुम ऐसा मर्यादाहीन कर्म करना चाहती हो ॥ १२-१३ ॥

आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम् ।
आचरन्त्या न विदृता सद्यो भवति मेदिनी ॥ १४ ॥

'मुझे तो यह देखकर आश्चर्य-सा हो रहा है कि तुम्हारे इतने बड़े अत्याचार करनेपर भी पृथ्वी तुरंत फट क्यों नहीं जाती ! ॥ १४ ॥

महाब्रह्मर्षिसृष्टा वा ज्वलन्तो भीमदर्शनाः ।
धिग्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रव्राजने स्थिताम् ॥ १५ ॥

'अथवा बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियोंके धिक्कारपूर्ण वाग्दण्ड (शाप) जो देखनेमें भयंकर और जलाकर भस्म कर देनेवाले होते हैं, श्रीरामको घरसे निकालनेके लिये तैयार खड़ी हुई तुम-जैसी पाषाणहृदयाका सर्वनाश क्यों नहीं कर डालते हैं ! ॥ १५ ॥

आम्रं छित्त्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत् तु कः ।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत् ॥ १६ ॥

'भला आमको कुल्हाड़ीसे काटकर उसकी जगह नीमका सेवन कौन करेगा ? जो आमकी जगह नीमको ही दूधसे सींचता है, उसके लिये भी यह नीम मीठा फल देने-वाला नहीं हो सकता (अतः वरदानके बहाने श्रीरामको वनवास देकर कैकेयीके चित्तको संतुष्ट करना राजाके लिये कभी सुखद परिणामका जनक नहीं हो सकता) ॥ १६ ॥

आभिजात्यं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च ।
न हि निम्बात् स्रवेत् क्षौद्रं लोके निगदितं वचः ॥ १७ ॥

'कैकेयि ! मैं समझता हूँ कि तुम्हारी माताका अपने कुलके अनुरूप जैसा स्वभाव था, वैसा ही तुम्हारा भी है। लोकमें कही जानेवाली यह कहावत सत्य ही है कि नीमसे मधु नहीं टपकता ॥ १७ ॥

तव मातुरसद्ग्राहं विद्म पूर्वं यथा श्रुतम् ।
पितुस्ते वरदः कश्चिद् ददौ वरमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

'तुम्हारी माताके दुराग्रहकी बात भी हम जानते हैं। इसके विषयमें पहले जैसा सुना गया है, वह बताया जाता है। एक समय किसी वर देनेवाले साधुने तुम्हारे पिताको अत्यन्त उत्तम वर दिया था ॥ १८ ॥

सर्वभूतरुतं तस्मात् संजज्ञे वसुधाधिपः ।
तेन तिर्यग्गतानां च भूतानां विदितं वचः ॥ १९ ॥

'उस वरके प्रभावसे केकयनरेश समस्त प्राणियोंकी बोली समझने लगे। तिर्यक् योनिमें पड़े हुए प्राणियोंकी बातें भी उनकी समझमें आ जाती थीं ॥ १९ ॥

ततो जृम्भस्य शयने विरुताद् भूरिवर्चसः ।
पितुस्ते विदितो भावः स तत्र बहुधाहसत् ॥ २० ॥

'एक दिन तुम्हारे महातेजस्वी पिता शय्यापर लेटे हुए थे। उसी समय जृम्भ नामक पक्षीकी आवाज उनके कानोंमें पड़ी। उसकी बोलीका अभिप्राय उनकी समझमें आ गया। अतः वे वहाँ कई बार हँसे ॥ २० ॥

तत्र ते जननी क्रुद्धा मृत्युपाशमभीप्सती ।
हासं ते नृपते सौम्य जिज्ञासामीति चाब्रवीत् ॥ २१ ॥

'उसी शय्यापर तुम्हारी माँ भी सोयी थी। वह यह समझकर कि राजा मेरी ही हँसी उड़ा रहे हैं, कुपित हो उठी और गलेमें मौतकी फाँसी लगानेकी इच्छा रखती हुई बोली—

'सौम्य ! नरेश्वर ! तुम्हारे हँसनेका क्या कारण है, यह मैं जानना चाहती हूँ' ॥ २१ ॥

नृपश्चोवाच तां देवीं हासं शंसामि ते यदि ।
ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति न संशयः ॥ २२ ॥

'तब राजाने उस देवीसे कहा—'रानी ! यदि मैं अपने हँसनेका कारण बता दूँ तो उसी क्षण मेरी मृत्यु हो जायगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ २२ ॥

माता ते पितरं देवि पुनः केकयमब्रवीत् ।
शंस मे जीव वा मा वा न मां त्वं प्रहसिष्यसि ॥ २३ ॥

'देवि ! यह सुनकर तुम्हारी रानी माताने तुम्हारे पिता केकयराजसे फिर कहा—'तुम जीओ या मरो, मुझे कारण बता दो । भविष्यमें तुम फिर मेरी हँसी नहीं उड़ा सकोगे' ॥ २३ ॥

प्रियया च तथोक्तः स केकयः पृथिवीपतिः ।
तस्मै तं वरदायार्थं कथयामास तत्त्वतः ॥ २४ ॥

'अपनी प्यारी रानीके ऐसा कहनेपर केकयनरेशने उस वर देनेवाले साधुके पास जाकर सारा समाचार ठीक-ठीक कह सुनाया ॥ २४ ॥

ततः स वरदः साधू राजानं प्रत्यभाषत ।
म्रियतां ध्वंसतां वेयं मा शंसीस्त्वं महीपते ॥ २५ ॥

'तब उस वर देनेवाले साधुने राजाको उत्तर दिया—महाराज ! रानी मरे या घरसे निकल जाय; तुम कदापि यह बात उसे न बताना' ॥ २५ ॥

स तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रसन्नमनसो नृपः ।
मातरं ते निरस्याशु विजहार कुबेरवत् ॥ २६ ॥

'प्रसन्न चित्तवाले उस साधुका यह वचन सुनकर केकयनरेशने तुम्हारी माताको तुरंत घरसे निकाल दिया और स्वयं कुबेरके समान विहार करने लगे ॥ २६ ॥

तथा त्वमपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि ।
असद्ग्राहमिमं मोहात् कुरुषे पापदर्शिनी ॥ २७ ॥

'तुम भी इसी प्रकार दुर्जनोंके मार्गपर स्थित हो पापपर ही दृष्टि रखकर मोहवश राजासे यह अनुचित आग्रह कर रही हो ॥ २७ ॥

सत्यश्चात्र प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति माम् ।
पितॄन् समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः ॥ २८ ॥

'आज मुझे यह लोकोक्ति सोलह आने सच मालूम होती है कि पुत्र पिताके समान होते हैं और कन्याएँ माताके समान ॥ २८ ॥

नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः ।
भर्तुरिच्छामुपास्वेह जनस्यास्य गतिर्भव ॥ २९ ॥

'तुम ऐसी न बनो—इस लोकोक्तिको अपने जीवनमें चरितार्थ न करो । राजाने जो कुछ कहा है, उसे स्वीकार करो (श्रीरामका राज्याभिषेक होने दो) अपने पतिकी इच्छाका अनुसरण करके इस जन-समुदायको यहाँ शरण देनेवाली बनो ॥ २९ ॥

मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम् ।
भर्तारं लोकभर्तारमसद्धर्ममुपादध ॥ ३० ॥

'पापपूर्ण विचार रखनेवाले लोगोंके बहकावेमें आकर तुम देवराज इन्द्रके तुल्य तेजस्वी अपने लोक-प्रतिपालक स्वामीको अनुचित कर्ममें न लगाओ ॥ ३० ॥

नहि मिथ्या प्रतिज्ञातं करिष्यति तवानघः ।
श्रीमान् दशरथो राजा देवि राजीवलोचनः ॥ ३१ ॥

'देवि ! कमलनयन श्रीमान् राजा दशरथ पापसे दूर रहते हैं । वे अपनी प्रतिज्ञा झूठी नहीं करेंगे ॥ ३१ ॥

ज्येष्ठो वदान्यः कर्मण्यः स्वधर्मस्यापि रक्षिता ।
रक्षिता जीवलोकस्य बली रामोऽभिषिच्यताम् ॥ ३२ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी अपने भाइयोंमें ज्येष्ठ, उदार, कर्मठ, स्वधर्मके पालक, जीवजगत्के रक्षक और बलवान् हैं । इनका इस राज्यपर अभिषेक होने दो ॥ ३२ ॥

परिवादो हि ते देवि महाँल्लोके चरिष्यति ।
यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम् ॥ ३३ ॥

'देवि ! यदि श्रीराम अपने पिता राजा दशरथको छोड़कर वनको चले जायँगे तो संसारमें तुम्हारी बड़ी निन्दा होगी ॥ ३३ ॥

स्वराज्यं राघवः पातु भव त्वं विगतज्वरा ।
नहि ते राघवादन्यः क्षमः पुरवरे वसन् ॥ ३४ ॥

'अतः श्रीरामचन्द्रजी ही अपने राज्यका पालन करें और तुम निश्चिन्त होकर बैठो । श्रीरामके सिवा दूसरा कोई राजा इस श्रेष्ठ नगरमें रहकर तुम्हारे अनुकूल आचरण नहीं कर सकता ॥ ३४ ॥

रामे हि यौवराज्यस्थे राजा दशरथो वनम् ।
प्रवेक्ष्यति महेष्वासः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ३५ ॥

'श्रीरामके युवराजपदपर प्रतिष्ठित हो जानेके बाद महाधनुर्धर राजा दशरथ पूर्वजोंके वृत्तान्तका स्मरण करके स्वयं वनमें प्रवेश करेंगे' ॥ ३५ ॥

इति सान्त्वैश्च तीक्ष्णैश्च कैकेयीं राजसंसदि ।
भूयः संक्षोभयामास सुमन्त्रस्तु कृताञ्जलिः ॥ ३६ ॥
नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते ।
न चास्या मुखवर्णस्य लक्ष्यते विक्रिया तदा ॥ ३७ ॥

इस प्रकार सुमन्त्रने हाथ जोड़कर कैकेयीको उस राजभवनमें सान्त्वनापूर्ण तथा तीखे वचनोंसे भी बारंबार विचलित करनेकी चेष्टा की; किंतु वह टस-से-मस न हुई । देवी कैकेयीके मनमें न तो क्षोभ हुआ और न दुःख ही । उस समय उसके चेहरेके रंगमें भी कोई फर्क पड़ता नहीं दिखायी दिया ॥ ३६-३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

राजा दशरथका श्रीरामके साथ सेना और खजाना भेजनेका आदेश, कैकेयीद्वारा इसका विरोध, सिद्धार्थका कैकेयीको समझाना तथा राजाका श्रीरामके साथ जानेकी इच्छा प्रकट करना

सुमन्त्रमैक्ष्वाकः पीडितोऽत्र प्रतिज्ञया ।
तिनिःश्वस्य जगादेदं पुनर्वचः ॥ १ ॥

इक्ष्वाकुकुलनन्दन राजा दशरथ वहाँ अपनी पीड़ित हो आँसू बहाते हुए लंबी साँस खींचकर फिर इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

सुसम्पूर्णा चतुर्विधबला चमूः ।
ानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम् ॥ २ ॥

'सूत ! तुम शीघ्र ही रत्नोंसे भरी-पूरी चतुरङ्गिणी सेनाको ामके पीछे-पीछे जानेकी आज्ञा दो ॥ २ ॥

पाजीवाश्च वादिन्यो वणिजश्च महाधनाः ।
शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीः सुप्रसारिताः ॥ ३ ॥

'रूपसे आजीविका चलाने और सरस वचन बोलनेवाली स्त्रियाँ तथा महाधनी एवं विक्रययोग्य द्रव्योंका प्रसारण करनेमें कुशल वैश्य राजकुमार श्रीरामकी सेनाओंको सुशोभित करें ॥ ३ ॥

ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः ।
तेषां बहुविधं दत्त्वा तानप्यत्र नियोजय ॥ ४ ॥

'जो श्रीरामके पास रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं तथा जिन मल्लोंसे ये उनका पराक्रम देखकर प्रसन्न रहते हैं, उन सबको अनेक प्रकारका धन देकर उन्हें भी इनके साथ जानेकी ज्ञा दे दो ॥ ४ ॥

युधानि च मुख्यानि नागराः शकटानि च ।
गच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्चारण्यकोविदाः ॥ ५ ॥

'मुख्य-मुख्य आयुध, नगरके निवासी, छकड़े तथा नके भीतरी रहस्यको जाननेवाले व्याध ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामके पीछे-पीछे जायँ ॥ ५ ॥

घ्नन् मृगात् कुञ्जरांश्च पिबंश्चारण्यकं मधु ।
दीश्च विविधाः पश्यन् न राज्यं संस्मरिष्यति ॥ ६ ॥

'वे रास्तेमें आये हुए मृगों एवं हाथियोंको पीछे लौटाते, गली मधुका पान करते और नाना प्रकारकी नदियोंको देखते ए अपने राज्यका स्मरण नहीं करेंगे ॥ ६ ॥

कोशश्च यः कश्चिद् धनकोशश्च मामकः ।
राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने वने ॥ ७ ॥

'श्रीराम निर्जन वनमें निवास करनेके लिये जा रहे हैं, : मेरा खजाना और अन्नभण्डार—ये दोनों वस्तुएँ के साथ जायँ ॥ ७ ॥

पुण्येषु देशेषु विसृजंश्चाप्तदक्षिणाः ।
चापि संगम्य प्रवत्स्यति सुखं वने ॥ ८ ॥

'ये वनके पावन प्रदेशोंमें यज्ञ करेंगे, उनमें आचार्य आदिको पर्याप्त दक्षिणा देंगे तथा ऋषियोंसे मिलकर वनमें सुखपूर्वक रहेंगे ॥ ८ ॥

भरतश्च महाबाहुरयोध्यां पालयिष्यति ।
सर्वकामैः पुनः श्रीमान् रामः संसाध्यतामिति ॥ ९ ॥

'महाबाहु भरत अयोध्याका पालन करेंगे । श्रीमान् रामको सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न करके यहाँसे भेजा जाय' ॥

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे कैकेय्या भयमागतम् ।
मुखं चाप्यगमच्छोषं स्वरश्चापि व्यरुध्यत ॥ १० ॥

जब महाराज दशरथ ऐसी बातें कहने लगे, तब कैकेयीको बड़ा भय हुआ । उसका मुँह सूख गया और उसका स्वर भी रुँध गया ॥ १० ॥

सा विषण्णा च संत्रस्ता मुखेन परिशुष्यता ।
राजानमेवाभिमुखी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वह केकयराजकुमारी विषादग्रस्त एवं त्रस्त होकर सूखे मुँहसे राजाकी ओर ही मुँह करके बोली—॥ ११ ॥

राज्यं गतधनं साधो पीतमण्डां सुरामिव ।
निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते ॥ १२ ॥

'श्रेष्ठ महाराज ! जिसका सारभाग पहलेसे ही पी लिया गया हो, उस आस्वादरहित सुराको जैसे उसका सेवन करनेवाले लोग नहीं ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार इस धनहीन और सूने राज्यको, जो कदापि सेवन करने योग्य नहीं रह जायगा, भरत कदापि नहीं ग्रहण करेंगे' ॥ १२ ॥

कैकेय्यां मुक्तलज्जायां वदन्त्यामतिदारुणम् ।
राजा दशरथो वाक्यमुवाचायतलोचनाम् ॥ १३ ॥

कैकेयी लाज छोड़कर जब वह अत्यन्त दारुण वचन बोलने लगी, तब राजा दशरथने उस विशाललोचना कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

वहन्तं किं तुदसि मां नियुज्य धुरि माहिते ।
अनार्ये कृत्यमारब्धं किं न पूर्वमुपारुधः ॥ १४ ॥

'अनार्ये ! अहितकारिणि ! तू रामको वनवास देनेके दुर्वह भारमें लगाकर जब मैं उस भारको ढो रहा हूँ, उस अवस्थामें क्यों अपने वचनोंका चाबुक मारकर मुझे पीड़ा दे रही है ! इस समय जो कार्य तूने आरम्भ किया है अर्थात् श्रीरामके साथ सेना और सामग्री भेजनेमें जो प्रतिबन्ध लगाया है, इसके लिये तूने पहले ही क्यों नहीं प्रार्थना की थी ? (अर्थात् पहले ही यह क्यों नहीं कह दिया था कि

श्रीरामको अकेले वनमें जाना पड़ेगा, उनके साथ सेना आदि सामग्री नहीं जा सकती)' ॥ १४ ॥

तस्यैतत् क्रोधसंयुक्तमुक्तं श्रुत्वा वराङ्गना।
कैकेयी द्विगुणं क्रुद्धा राजानमिदमब्रवीत्॥ १५॥

राजाका यह क्रोधयुक्त वचन सुनकर सुन्दरी कैकेयी उनकी अपेक्षा दूना क्रोध करके उनसे इस प्रकार बोली—॥ १५॥

तवैव वंशे सगरो ज्येष्ठपुत्रमुपारुधत्।
असमञ्ज इति ख्यातं तथायं गन्तुमर्हति॥ १६॥

'महाराज! आपके ही वंशमें पहले राजा सगर हो गये हैं, जिन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र असमञ्जको निकालकर उसके लिये राज्यका दरवाजा सदाके लिये बंद कर दिया था। इसी तरह इनको भी यहाँसे निकल जाना चाहिये' ॥ १६ ॥

एवमुक्तो धिगित्येव राजा दशरथोऽब्रवीत्।
व्रीडितश्च जनः सर्वः सा च तन्नावबुध्यत॥ १७॥

उसके ऐसा कहनेपर राजा दशरथने कहा—'धिक्कार है!' वहाँ जितने लोग बैठे थे सभी लाजसे गड़ गये; किंतु कैकेयी अपने कथनके अनौचित्यको अथवा राजाद्वारा दिये गये धिक्कारके औचित्यको नहीं समझ सकी ॥ १७ ॥

तत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः।
शुचिर्बहुमतो राज्ञः कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ १८॥

उस समय वहाँ राजाके प्रधान और वयोवृद्ध मन्त्री सिद्धार्थ बैठे थे। वे बड़े ही शुद्ध स्वभाववाले और राजाके विशेष आदरणीय थे। उन्होंने कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ १८ ॥

असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान्।
सरय्वां प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः॥ १९॥

'देवि! असमञ्ज बड़ी दुष्ट बुद्धिका राजकुमार था। वह मार्गपर खेलते हुए बालकोंको पकड़कर सरयूके जलमें फेंक देता था और ऐसे ही कार्योंसे अपना मनोरञ्जन करता था ॥ १९ ॥

तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजानमब्रुवन्।
असमञ्जं वृणीष्वैकमस्मान् वा राष्ट्रवर्धन॥ २०॥

'उसकी यह करतूत देखकर सभी नगरनिवासी कुपित हो राजाके पास जाकर बोले—'राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले महाराज! या तो आप अकेले असमञ्जको लेकर रहिये या इन्हें निकालकर हमें इस नगरमें रहने दीजिये' ॥

तानुवाच ततो राजा किंनिमित्तमिदं भयम्।
ताश्चापि राज्ञा सम्पृष्टा वाक्यं प्रकृतयोऽब्रुवन्॥ २१॥

'तब राजाने उनसे पूछा—'तुम्हें असमञ्जसे किस कारण भय हुआ है?' राजाके पूछनेपर उन प्रजाजनोंने यह बात कही—॥ २१ ॥

क्रीडतस्त्वेष नः पुत्रान् बालानुद्भ्रान्तचेतसः।
सरय्वां प्रक्षिपन्मौर्ख्यादतुलां प्रीतिमश्नुते॥ २२॥

'महाराज! यह हमारे खेलते हुए छोटे-छोटे बच्चोंको पकड़ लेते हैं और जब वे बहुत घबरा जाते हैं, तब उन्हें सरयूमें फेंक देते हैं। मूर्खतावश ऐसा करके इन्हें अनुपम आनन्द प्राप्त होता है' ॥ २२ ॥

स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनां नराधिपः।
तं तत्याजाहितं पुत्रं तासां प्रियचिकीर्षया॥ २३॥

'उन प्रजाजनोंकी वह बात सुनकर राजा सगरने उनका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने उस अहितकारक दुष्ट पुत्रको त्याग दिया ॥ २३ ॥

तं यानं शीघ्रमारोप्य सभार्यं सपरिच्छदम्।
यावज्जीवं विवास्योऽयमिति तानन्वशात् पिता॥ २४॥

'पिताने अपने उस पुत्रको पत्नी और आवश्यक सामग्रीसहित शीघ्र रथपर बिठाकर अपने सेवकोंको आज्ञा दी—'इसे जीवनभरके लिये राज्यसे बाहर निकाल दो'॥

स फालपिटकं गृह्य गिरिदुर्गाण्यलोकयत्।
दिशः सर्वास्त्वनुचरन् स यथा पापकर्मकृत्॥ २५॥
इत्येनमत्यजद् राजा सगरो वै सुधार्मिकः।
रामः किमकरोत् पापं येनैवमुपरुध्यते॥ २६॥

'असमञ्जने फल और पिटारी लेकर पर्वतोंकी दुर्गम गुफाओंको ही अपने निवासके योग्य देखा और कन्द आदिके लिये वह सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरने लगा। वह जैसा कि बताया गया है, पापाचारी था, इसलिये परम धार्मिक राजा सगरने उसको त्याग दिया था। श्रीरामने ऐसा कौन-सा अपराध किया है, जिसके कारण इन्हें इस तरह राज्य पानेसे रोका जा रहा है? ॥ २५-२६ ॥

नहि कंचन पश्यामो राघवस्यागुणं वयम्।
दुर्लभो ह्यस्य निरयः शशाङ्कस्येव कल्मषम्॥ २७॥

'हमलोग तो श्रीरामचन्द्रजीमें कोई अवगुण नहीं देखते हैं; जैसे (शुक्लपक्षकी द्वितीयाके) चन्द्रमामें मलिनताका दर्शन दुर्लभ है, उसी प्रकार इनमें कोई पाप या अपराध ढूँढ़नेसे भी नहीं मिल सकता ॥ २७ ॥

अथवा देवि त्वं कंचिद् दोषं पश्यसि राघवे।
तमद्य ब्रूहि तत्त्वेन तदा रामो विवास्यते॥ २८॥

'अथवा देवि! यदि तुम्हें श्रीरामचन्द्रजीमें कोई दोष दिखायी देता हो तो आज उसे ठीक-ठीक बताओ। उस दशामें श्रीरामको निकाल दिया जा सकता है ॥ २८ ॥

अदुष्टस्य हि संत्यागः सत्पथे निरतस्य च।
निर्दहेदपि शक्रस्य द्युतिं धर्मविरोधवान्॥ २९॥

'जिसमें कोई दुष्टता नहीं है, जो सदा सन्मार्गमें ही

स्थित है, ऐसे पुरुषका त्याग धर्मसे विरुद्ध माना जाता है। ऐसा धर्मविरोधी कर्म तो इन्द्रके भी तेजको दग्ध कर देगा ॥ २९ ॥

तदलं देवि रामस्य श्रिया विहतया त्वया।
लोकतोऽपि हि ते रक्ष्यः परिवादः शुभानने ॥ ३० ॥

'अतः देवि! श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। शुभानने! तुम्हें लोकनिन्दासे भी बचनेकी चेष्टा करनी चाहिये' ॥ ३० ॥

श्रुत्वा तु सिद्धार्थवचो राजा श्रान्ततरस्वरः।
शोकोपहतया वाचा कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

सिद्धार्थकी बातें सुनकर राजा दशरथ अत्यन्त थके हुए स्वरसे शोकाकुल वाणीमें कैकेयीसे इस प्रकार बोले— ॥ ३१ ॥

एतद्वचो नेच्छसि पापरूपे
हितं न जानासि ममात्मनोऽथवा।
आस्थाय मार्गं कृपणं कुचेष्टा
चेष्टा हि ते साधुपथादपेता ॥ ३२ ॥

'पापिनि! क्या तुझे यह बात नहीं रुची? तुझे मेरे या अपने हितका भी बिल्कुल ज्ञान नहीं है? तू दुःखद मार्गका आश्रय लेकर ऐसी कुचेष्टा कर रही है! तेरी यह सारी चेष्टा साधु पुरुषोंके मार्गके विपरीत है ॥ ३२ ॥

अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं
राज्यं परित्यज्य सुखं धनं च।
सर्वे च राज्ञा भरतेन च त्वं
यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम् ॥ ३३ ॥

'अब मैं भी यह राज्य, धन और सुख छोड़कर श्रीरामके पीछे चला जाऊँगा। ये सब लोग भी उन्हींके साथ जायँगे। तू अकेली राजा भरतके साथ चिरकालतक सुखपूर्वक राज्य भोगती रह' ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

श्रीराम आदिका वल्कल-वस्त्र-धारण, सीताके वल्कल-धारणसे रनिवासकी स्त्रियोंको खेद तथा गुरु वसिष्ठका कैकेयीको फटकारते हुए सीताके वल्कल-धारणका अनौचित्य बताना

महामात्रवचः श्रुत्वा रामो दशरथं तदा।
अभ्यभाषत वाक्यं तु विनयज्ञो विनीतवत् ॥ १ ॥

प्रधान मन्त्रीकी पूर्वोक्त बात सुनकर विनयके ज्ञाता श्रीरामने उस समय राजा दशरथसे विनीत होकर कहा— ॥ १ ॥

त्यक्तभोगस्य मे राजन् वने वन्येन जीवतः।
किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः ॥ २ ॥

'राजन्! मैं भोगोंका परित्याग कर चुका हूँ। मुझे जंगलके फल-मूलोंसे जीवन-निर्वाह करना है। जब मैं सब ओरसे आसक्ति छोड़ चुका हूँ, तब मुझे सेनासे क्या प्रयोजन है? ॥ २ ॥

यो हि दत्त्वा द्विपश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम् ॥ ३ ॥

'जो श्रेष्ठ गजराजका दान करके उसके रस्सेमें मन लगाता है—लोभवश रस्सेको रख लेना चाहता है, वह अच्छा नहीं करता; क्योंकि उत्तम हाथीका त्याग करनेवाले पुरुषको उसके रस्सेमें आसक्ति रखनेकी क्या आवश्यकता है? ॥ ३ ॥

तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते।
सर्वाण्येवानुजानामि चीराण्येवानयन्तु मे ॥ ४ ॥

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज! इसी तरह मुझे सेना लेकर क्या करना है? मैं ये सारी वस्तुएँ भरतको अर्पित करनेकी अनुमति देता हूँ। मेरे लिये तो (माता कैकेयीकी दासियाँ) चीर (चिथड़े या वल्कलवस्त्र) ला दें ॥ ४ ॥

खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छत।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम ॥ ५ ॥

'दासियो! जाओ, खन्ती और पेटारी अथवा कुदारी और खाँची ये दोनों वस्तुएँ लाओ। चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेके लिये ये चीजें उपयोगी हो सकती हैं' ॥ ५ ॥

अथ चीराणि कैकेयी स्वयमाहृत्य राघवम्।
उवाच परिधत्स्वेति जनौघे निरपत्रपा ॥ ६ ॥

कैकेयी लाज-संकोच छोड़ चुकी थी। वह स्वयं ही जाकर बहुत-सी चीर ले आयी और जनसमुदायमें श्रीरामचन्द्रजीसे बोली, 'लो, पहन लो' ॥ ६ ॥

स चीरे पुरुषव्याघ्रः कैकेय्याः प्रतिगृह्य ते।
सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य मुनिवस्त्राण्यवस्त ह ॥ ७ ॥

पुरुषसिंह श्रीरामने कैकेयीके हाथसे दो चीर ले लिये और अपने महीन वस्त्र उतारकर मुनियोंके-से वस्त्र धारण कर लिये ॥ ७ ॥

लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे।
तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः ॥ ८ ॥

इसी प्रकार लक्ष्मणने भी अपने पिताके सामने ही दोनों सुन्दर वस्त्र उतारकर तपस्वियोंके-से वल्कल-वस्त्र पहन लिये ॥ ८ ॥

अथात्मपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी ।
समीक्ष्य चीरं संत्रस्ता पृषती वागुरामिव ॥ ९ ॥
सा व्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदुर्मनाः ।
कैकेय्याः कुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा ॥ १० ॥
अश्रुसम्पूर्णनेत्रा च धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी ।
गन्धर्वराजप्रतिमं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः ।
इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः ॥ १२ ॥

तदनन्तर रेशमी वस्त्र पहनने और धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाली धर्मज्ञा शुभलक्षणा जनकनन्दिनी सीता अपने पहननेके लिये भी चीर वस्त्रको प्रस्तुत देख उसी प्रकार डर गयी, जैसे मृगी बिछे हुए जालको देखकर भयभीत हो जाती है । वे कैकेयीके हाथसे दो वल्कल वस्त्र लेकर लज्जित-सी हो गयीं । उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ और नेत्रोंमें आँसू भर आये । उस समय उन्होंने गन्धर्वराजके समान तेजस्वी पतिसे इस प्रकार पूछा—'नाथ ! वनवासी मुनिलोग चीर कैसे बाँधते हैं ?' यह कहकर उसे धारण करनेमें कुशल न होनेके कारण सीता बारंबार मोहमें पड़ जाती थीं—भूल कर बैठती थीं ॥ ९-१२ ॥

कृत्वा कण्ठे स्म सा चीरमेकमादाय पाणिना ।
तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा ॥ १३ ॥

चीर-धारणमें कुशल न होनेसे जनकनन्दिनी सीता लज्जित हो एक वल्कल गलेमें डाल दूसरा हाथमें लेकर चुपचाप खड़ी रहीं ॥ १३ ॥

तस्यास्तत् क्षिप्रमागत्य रामो धर्मभृतां वरः ।
चीरं बबन्ध सीतायाः कौशेयस्योपरि स्वयम् ॥ १४ ॥

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीराम जल्दीसे उनके पास आकर स्वयं अपने हाथोंसे उनके रेशमी वस्त्रके ऊपर वल्कल-वस्त्र बाँधने लगे ॥ १४ ॥

रामं प्रेक्ष्य तु सीताया बध्नन्तं चीरमुत्तमम् ।
अन्तःपुरचरा नार्यो मुमुचुर्वारि नेत्रजम् ॥ १५ ॥

सीताको उत्तम चीरवस्त्र पहनाते हुए श्रीरामकी ओर देखकर रनवासकी स्त्रियाँ अपने नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं ॥ १५ ॥

ऊचुश्च परमायत्ता रामं ज्वलिततेजसम् ।
वत्स नैवं नियुक्तेयं वनवासे मनस्विनी ॥ १६ ॥

वे सब अत्यन्त खिन्न होकर उद्दीप्त तेजवाले श्रीरामसे [illegible]टा ! मनस्विनी सीताको इस प्रकार वनवासकी आज्ञा [illegible] गयी है ॥ १६ ॥

पितुर्वाक्यानुरोधेन गतस्य विजनं वनम् ।
तावद् दर्शनमस्या नः सफलं भवतु प्रभो ॥ १७ ॥

'प्रभो ! तुम पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये जबतक निर्जन वनमें जाकर रहोगे, तबतक इसीको देखकर हमारा जीवन सफल होने दो ॥ १७ ॥

लक्ष्मणेन सहायेन वनं गच्छस्व पुत्रक ।
नेयमर्हति कल्याणी वस्तुं तापसवद् वने ॥ १८ ॥

'बेटा ! तुम लक्ष्मणको अपना साथी बनाकर उनके साथ वनको जाओ, परंतु यह कल्याणी सीता तपस्वी मुनिकी भाँति वनमें निवास करनेके योग्य नहीं है ॥ १८ ॥

कुरु नो याचनां पुत्र सीता तिष्ठतु भामिनी ।
धर्मनित्यः स्वयं स्थातुं न हीदानीं त्वमिच्छसि ॥ १९ ॥

'पुत्र ! तुम हमारी यह याचना सफल करो । भामिनी सीता यहीं रहे । तुम तो नित्य धर्मपरायण हो अतः स्वयं इस समय यहाँ नहीं रहना चाहते हो (परंतु सीताको तो रहने दो)' ॥ १९ ॥

तासामेवंविधा वाचः शृण्वन् दशरथात्मजः ।
बबन्धैव तथा चीरं सीतया तुल्यशीलया ॥ २० ॥
चीरे गृहीते तु तया सबाष्पो नृपतेर्गुरुः ।
निवार्य सीतां कैकेयीं वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ २१ ॥

माताओंकी ऐसी बातें सुनते हुए भी दशरथनन्दन श्रीरामने सीताको वल्कलवस्त्र पहना ही दिया । पतिके समान शीलस्वभाववाली सीताके वल्कल धारण कर लेनेपर राजाके गुरु वसिष्ठजीके नेत्रोंमें आँसू भर आया । उन्होंने सीताको रोककर कैकेयीसे कहा—॥ २०-२१ ॥

अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि ।
वञ्चयित्वा तु राजानं न प्रमाणेऽवतिष्ठसि ॥ २२ ॥

'मर्यादाका उल्लङ्घन करके अधर्मकी ओर पैर बढ़ानेवाली दुर्बुद्धि कैकेयी ! तू केकयराजके कुलकी जीती-जागती कलङ्क है । अरी, राजाको धोखा देकर अब तू सीमाके भीतर नहीं रहना चाहती है ? ॥ २२ ॥

न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते ।
अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम् ॥ २३ ॥

शीलका परित्याग करनेवाली दुष्टे ! देवी सीता वनमें नहीं जायँगी ! रामके लिये प्रस्तुत हुए राजसिंहासनपर ये ही बैठेंगी ॥ २३ ॥

आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम् ।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ २४ ॥

'सम्पूर्ण गृहस्थोंकी पत्नियाँ उनका आधा अङ्ग हैं । इस तरह सीता देवी भी श्रीरामकी आत्मा हैं; अतः उनकी जगह ये ही इस राज्यका पालन करेंगी ॥ २४ ॥

अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण संगता।
वयमत्रानुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति ॥ २५ ॥
अन्तपालाश्च यास्यन्ति सदारो यत्र राघवः।
सहोपजीव्यं राष्ट्रं च पुरं च सपरिच्छदम् ॥ २६ ॥

'यदि विदेहनन्दिनी सीता श्रीरामके साथ वनमें जायँगी तो हमलोग भी इनके साथ चले जायँगे। यह सारा नगर भी चला जायगा और अन्तःपुरके रक्षक भी चले जायँगे। अपनी पत्नीके साथ श्रीरामचन्द्रजी जहाँ निवास करेंगे, वहीं इस राज्य और नगरके लोग भी धन-दौलत और आवश्यक सामान लेकर चले जायँगे ॥ २५-२६ ॥

भरतश्च सशत्रुघ्नश्चीरवासा वनेचरः।
वने वसन्तं काकुत्स्थमनुवत्स्यति पूर्वजम् ॥ २७ ॥

'भरत और शत्रुघ्न भी चीरवस्त्र धारण करके वनमें रहेंगे और वहाँ निवास करनेवाले अपने बड़े भाई श्रीरामकी सेवा करेंगे ॥ २७ ॥

ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह।
त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते स्थिता ॥ २८ ॥

'फिर तू वृक्षोंके साथ अकेली रहकर इस निर्जन एवं सूनी पृथ्वीका राज्य करना। तू बड़ी दुराचारिणी है और प्रजाका अहित करनेमें लगी हुई है ॥ २८ ॥

न हि तद् भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद् वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥ २९ ॥

'याद रख, श्रीराम जहाँके राजा न होंगे, वह राज्य राज्य नहीं रह जायगा—जंगल हो जायगा तथा श्रीराम जहाँ निवास करेंगे, वह वन एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन जायगा ॥ २९॥

न ह्यदत्तां महीं पित्रा भरतः शास्तुमिच्छति।
त्वयि वा पुत्रवद् वस्तुं यदि जातो महीपतेः ॥ ३० ॥

'यदि भरत राजा दशरथसे पैदा हुए हैं तो पिताके प्रसन्नतापूर्वक दिये बिना इस राज्यको कदापि लेना नहीं चाहेंगे तथा तेरे साथ पुत्रवत् बर्ताव करनेके लिये भी यहाँ बैठे रहनेकी इच्छा नहीं करेंगे ॥ ३० ॥

यद्यपि त्वं क्षितितलाद् गगनं चोत्पतिष्यसि।
पितृवंशचरित्रज्ञः सोऽन्यथा न करिष्यति ॥ ३१ ॥

'तू पृथ्वी छोड़कर आसमानमें उड़ जाय तो भी अपने पितृकुलके आचार-व्यवहारको जाननेवाले भरत उसके विरुद्ध कुछ नहीं करेंगे ॥ ३१ ॥

तत् त्वया पुत्रगर्धिन्या पुत्रस्य कृतमप्रियम्।
लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः ॥ ३२ ॥

'तूने पुत्रका प्रिय करनेकी इच्छासे वास्तवमें उसका अप्रिय ही किया है; क्योंकि संसारमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो श्रीरामका भक्त न हो ॥ ३२ ॥

द्रक्ष्यस्यद्यैव कैकेयि पशुव्यालमृगद्विजान्।
गच्छतः सह रामेण पादपांश्च तदुन्मुखान् ॥ ३३ ॥

'कैकेयि! तू आज ही देखेगी कि वनको जाते हुए श्रीरामके साथ पशु, सर्प, मृग और पक्षी भी चले जा रहे हैं। औरोंकी तो बात ही क्या, वृक्ष भी उनके साथ जानेको उत्सुक हैं ॥ ३३ ॥

अथोत्तमान्याभरणानि देवि
देहि स्नुषायै व्यपनीय चीरम्।
न चीरमस्याः प्रविधीयतेति
न्यवारयत् तद् वसनं वसिष्ठः ॥ ३४ ॥

'देवि! सीता तेरी पुत्रवधू है। इनके शरीरसे वल्कल वस्त्र हटाकर तू इन्हें पहननेके लिये उत्तमोत्तम वस्त्र और आभूषण दे। इनके लिये वल्कलवस्त्र देना कदापि उचित नहीं है।' ऐसा कहकर वसिष्ठने उसे जानकीको वल्कलवस्त्र पहनानेसे मना किया ॥ ३४ ॥

एकस्य रामस्य वने निवास-
स्त्वया वृतः केकयराजपुत्रि।
विभूषितेयं प्रतिकर्मनित्या
वसत्वरण्ये सह राघवेण ॥ ३५ ॥

वे फिर बोले—'केकयराजकुमारी! तूने अकेले श्रीरामके लिये ही वनवासका वर माँगा है (सीताके लिये नहीं); अतः ये राजकुमारी वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर सदा शृङ्गार धारण करके वनमें श्रीरामचन्द्रजीके साथ निवास करें ॥

यानैश्च मुख्यैः परिचारकैश्च
सुसंवृता गच्छतु राजपुत्री।
वस्त्रैश्च सर्वैः सहितैर्विधानै-
र्नेयं वृता ते वरसम्प्रदाने ॥ ३६ ॥

'राजकुमारी सीता मुख्य-मुख्य सेवकों तथा सवारियोंके साथ सब प्रकारके वस्त्रों और आवश्यक उपकरणोंसे सम्पन्न होकर वनकी यात्रा करें। तूने वर माँगते समय पहले सीताके वनवासकी कोई चर्चा नहीं की थी (अतः इन्हें वल्कलवस्त्र नहीं पहनाया जा सकता)' ॥ ३६ ॥

तस्मिंस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये
गुरौ नृपस्याप्रतिमप्रभावे।
नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा
प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणशिरोमणि अप्रतिम प्रभावशाली राजगुरु महर्षि वसिष्ठके ऐसा कहनेपर भी सीता अपने प्रियतम पतिके समान ही वेष-भूषा धारण करनेकी इच्छा रखकर उस चीर-धारणसे विरत नहीं हुई ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

राजा दशरथका सीताको वल्कल धारण कराना अनुचित बताकर कैकेयीको फटकारना और श्रीरामका उनसे कौसल्यापर कृपादृष्टि रखनेके लिये अनुरोध करना

तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत्।
प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक् त्वां दशरथं त्विति॥ १॥

सीताजी सनाथ होकर भी जब अनाथकी भाँति चीर-वस्त्र धारण करने लगीं, तब सब लोग चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे—'राजा दशरथ! तुम्हें धिक्कार है!'॥ १॥

तेन तत्र प्रणादेन दुःखितः स महीपतिः।
चिच्छेद जीविते श्रद्धां धर्मे यशसि चात्मनः॥ २॥
स निःश्वस्योष्णमैक्ष्वाकस्तां भार्यामिदमब्रवीत्।
कैकेयि कुशचीरेण न सीता गन्तुमर्हति॥ ३॥

वहाँ होनेवाले उस कोलाहलसे दुखी हो इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथने अपने जीवन, धर्म और यशकी उत्कट इच्छा त्याग दी। फिर वे गरम साँस खींचकर अपनी भार्या कैकेयीसे इस प्रकार बोले—'कैकेयि! सीता कुश-चीर (वल्कल-वस्त्र) पहनकर वनमें जानेके योग्य नहीं है॥ २-३॥

सुकुमारी च बाला च सततं च सुखोचिता।
नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम॥ ४॥

'यह सुकुमारी है, बालिका है और सदा सुखोंमें ही पली है। मेरे गुरुजी ठीक कहते हैं कि यह सीता वनमें जाने योग्य नहीं है॥ ४॥

इयं हि कस्यापि करोति किंचित्
तपस्विनी राजवरस्य पुत्री।
या चीरमासाद्य जनस्य मध्ये
स्थिता विसंज्ञा श्रमणीव काचित्॥ ५॥

'राजाओंमें श्रेष्ठ जनककी यह तपस्विनी पुत्री क्या किसी-का भी कुछ बिगाड़ती है? जो इस प्रकार जन-समुदायके बीच किसी किंकर्तव्यविमूढ भिक्षुकीके समान चीर धारण करके खड़ी है?॥ ५॥

चीराण्यपास्याज्जनकस्य कन्या
नेयं प्रतिज्ञा मम दत्तपूर्वा।
यथासुखं गच्छतु राजपुत्री
वनं समग्रा सह सर्वरत्नैः॥ ६॥

'जनकनन्दिनी अपने चीर-वस्त्र उतार डाले। 'यह इस रूपमें वन जाय' ऐसी कोई प्रतिज्ञा मैंने पहले नहीं की है और न किसीको इस तरहका वचन ही दिया है। अतः राजकुमारी सीता सम्पूर्ण वस्त्रालंकारोंसे सम्पन्न हो सब प्रकारके रत्नोंके साथ जिस तरह भी वह सुखी रह सके, उसी तरह वनको जा सकती है॥ ६॥

अजीवनार्हेण मया नृशंसा
कृता प्रतिज्ञा नियमेन तावत्।
त्वया हि बाल्यात् प्रतिपन्नमेतत्
तन्मा दहेद् वेणुमिवात्मपुष्पम्॥ ७॥

'मैं जीवित रहनेयोग्य नहीं हूँ। मैंने तेरे वचनोंमें बँधकर एक तो यों ही नियम (शपथ) पूर्वक बड़ी क्रूर प्रतिज्ञा कर डाली है, दूसरे तूने अपनी नादानीके कारण सीताको इस तरह चीर पहनाना प्रारम्भ कर दिया। जिस प्रकार बाँसका फूल उसीको सुखा डालता है, उसी प्रकार मेरी की हुई प्रतिज्ञा मुझीको भस्म किये डालती है॥ ७॥

रामेण यदि ते पापे किंचित्कृतमशोभनम्।
अपकारः क इह ते वैदेह्या दर्शितोऽधमे॥ ८॥

'नीच पापिनि! यदि श्रीरामने तेरा कोई अपराध किया है तो (उन्हें तो तू वनवास दे ही चुकी) विदेहनन्दिनी सीता-ने ऐसा दण्ड पानेयोग्य तेरा कौन-सा अपकार कर डाला है?॥

मृगीवोत्फुल्लनयना मृदुशीला मनस्विनी।
अपकारं कमिव ते करोति जनकात्मजा॥ ९॥

'जिसके नेत्र हरिणीके नेत्रोंके समान खिले हुए हैं, जिसका स्वभाव अत्यन्त कोमल एवं मधुर है, वह मनस्विनी जनकनन्दिनी तेरा कौन-सा अपराध कर रही है॥ ९॥

ननु पर्याप्तमेवं ते पापे रामविवासनम्।
किमेभिः कृपणैर्भूयः पातकैरपि ते कृतैः॥ १०॥

'पापिनि! तूने श्रीरामको वनवास देकर ही पूरा पाप कमा लिया है। अब सीताको भी वनमें भेजने और वल्कल पहनाने आदिका अत्यन्त दुःखद कार्य करके फिर तू इतने पातक किसलिये बटोर रही है?॥ १०॥

प्रतिज्ञातं मया तावत् त्वयोक्तं देवि शृण्वता।
रामं यदभिषेकाय त्वमिहागतमब्रवीः॥ ११॥

'देवि! श्रीराम जब अभिषेकके लिये यहाँ आये थे, उस समय तूने उनसे जो कुछ कहा था, उसे सुनकर मैंने उतनेके लिये ही प्रतिज्ञा की थी॥ ११॥

तत्त्वेतत् समतिक्रम्य निरयं गन्तुमिच्छसि।
मैथिलीमपि या हि त्वमीक्षसे चीरवासिनीम्॥ १२॥

'उसका उल्लङ्घन करके जो तू मिथिलेशकुमारी जानकी-को भी वल्कल वस्त्र पहने देखना चाहती है, इससे जान पड़ता है, तुझे नरकमें ही जानेकी इच्छा हो रही है'॥ १२॥

एवं ब्रुवन्तं पितरं रामः सम्प्रस्थितो वनम्।
अवाक्शिरसमासीनमिदं वचनमब्रवीत्॥ १३॥

राजा दशरथ सिर नीचा किये बैठे हुए जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय वनकी ओर जाते हुए श्रीरामने पितासे इस प्रकार कहा—॥ १३॥

इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी।
वृद्धा चाक्षुद्रशीला च न च त्वां देव गर्हते॥ १४॥
मया विहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम्।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः सम्मन्तुमर्हसि॥ १५॥

'धर्मात्मन्! ये मेरी यशस्विनी माता कौसल्या अब वृद्ध हो चली हैं। इनका स्वभाव बहुत ही उच्च और उदार है। देव! यह कभी आपकी निन्दा नहीं करती हैं। इन्होंने पहले कभी ऐसा भारी संकट नहीं देखा होगा। वरदायक नरेश! ये मेरे न रहनेसे शोकके समुद्रमें डूब जायँगी। अतः आप सदा इनका अधिक सम्मान करते रहें॥ १४-१५॥

पुत्रशोकं यथा नर्च्छेत् त्वया पूज्येन पूजिता।
मां हि संचिन्तयन्ती सा त्वयि जीवेत् तपस्विनी॥ १६॥

'आप पूज्यतम पतिसे सम्मानित हो जिस प्रकार यह पुत्रशोकका अनुभव न कर सकें और मेरा चिन्तन करती हुई भी आपके आश्रयमें ही ये मेरी तपस्विनी माता जीवन धारण करें, ऐसा प्रयत्न आपको करना चाहिये॥ १६॥

इमां महेन्द्रोपम जातगर्धिनीं
तथा विधातुं जननीं ममार्हसि।
यथा वनस्थे मयि शोककर्शिता
न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत्॥ १७॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी महाराज! ये निरन्तर अपने बिछुड़े हुए बेटेको देखनेके लिये उत्सुक रहेंगी। कहीं ऐसा न हो मेरे वनमें रहते समय ये शोकसे कातर हो अपने प्राणोंको त्याग करके यमलोकको चली जायँ। अतः आप मेरी माताको सदा ऐसी ही परिस्थितिमें रखें, जिससे उक्त आशङ्काके लिये अवकाश न रह जाय'॥ १७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः॥ ३८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३८॥



एकोनचत्वारिंशः सर्गः

राजा दशरथका विलाप, उनकी आज्ञासे सुमन्त्रका रामके लिये रथ जोतकर लाना, कोषाध्यक्षका सीताको बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण देना, कौसल्याका सीताको पतिसेवाका उपदेश, सीताके द्वारा उसकी स्वीकृति तथा श्रीरामका अपनी मातासे पिताके प्रति दोषदृष्टि न रखनेका अनुरोध करके अन्य माताओंसे भी विदा माँगना

रामस्य तु वचः श्रुत्वा मुनिवेषधरं च तम्।
समीक्ष्य सह भार्याभी राजा विगतचेतनः॥ १॥

श्रीरामकी बात सुनकर और उन्हें मुनिवेष धारण किये देख स्त्रियोंसहित राजा दशरथ शोकसे अचेत हो गये॥ १॥

नैनं दुःखेन संतप्तः प्रत्यवैक्षत राघवम्।
न चैनमभिसम्प्रेक्ष्य प्रत्यभाषत दुर्मनाः॥ २॥

दुःखसे संतप्त होनेके कारण वे श्रीरामकी ओर भर आँख देख भी न सके और देखकर भी मनमें दुःख होनेके कारण उन्हें कुछ उत्तर न दे सके॥ २॥

स मुहूर्तमिवासंज्ञो दुःखितश्च महीपतिः।
विललाप महाबाहू राममेवानुचिन्तयन्॥ ३॥

दो घड़ीतक अचेत-सा रहनेके बाद जब उन्हें होश हुआ, तब वे महाबाहु नरेश श्रीरामका ही चिन्तन करते हुए दुखी होकर विलाप करने लगे—॥ ३॥

मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः।
प्राणिनो हिंसिता वापि तन्मामिदमुपस्थितम्॥ ४॥

'मालूम होता है, मैंने पूर्वजन्ममें अवश्य ही बहुत-सी गौओंका उनके बछड़ोंसे बिछोह कराया है अथवा अनेक प्राणियोंकी हिंसा की है, इसीसे आज मेरे ऊपर यह संकट आ पड़ा है॥ ४॥

न त्वेवानागते काले देहाच्च्यवति जीवितम्।
कैकेय्या क्लिश्यमानस्य मृत्युर्मम न विद्यते॥ ५॥

'समय पूरा हुए विना किसीके शरीरसे प्राण नहीं निकलते; तभी तो कैकेयीके द्वारा इतना क्लेश पानेपर भी मेरी मृत्यु नहीं हो रही है॥ ५॥

योऽहं पावकसंकाशं पश्यामि पुरतः स्थितम्।
विहाय वसने सूक्ष्मे तापसाच्छादमात्मजम्॥ ६॥

'ओह! अपने अग्निके समान तेजस्वी पुत्रको महीन वस्त्र त्यागकर तपस्वियोंके-से वल्कल-वस्त्र धारण किये सामने खड़ा देख रहा हूँ (फिर भी मेरे प्राण नहीं निकलते हैं)॥

एकस्याः खलु कैकेय्याः कृतेऽयं खिद्यते जनः।
स्वार्थे प्रयतमानायाः संश्रित्य निकृतिं त्विमाम्॥ ७॥

'इस वरदानरूप शठताका आश्रय लेकर अपने स्वार्थ-साधनके प्रयत्नमें लगी हुई एकमात्र कैकेयीके कारण ये सब लोग महान् कष्टमें पड़ गये हैं' ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा तु वचनं बाष्पेण विहतेन्द्रियः।
रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक सः ॥ ८ ॥

ऐसी बात कहते-कहते राजाके नेत्रोंमें आँसू भर आये। उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं और वे एक ही बार 'हे राम!' कहकर मूर्च्छित हो गये। आगे कुछ न बोल सके ॥ ८ ॥

संज्ञां तु प्रतिलभ्यैव मुहूर्तात् स महीपतिः।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

दो घड़ी बाद होशमें आते ही वे महाराज आँसू-भरे नेत्रोंसे देखते हुए सुमन्त्रसे इस प्रकार बोले—॥ ९ ॥

औपवाह्यं रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयोत्तमैः।
प्रापयैनं महाभागमितो जनपदात् परम् ॥ १० ॥

'तुम सवारीके योग्य एक रथको उसमें उत्तम घोड़े जोतकर यहाँ ले आओ और इन महाभाग श्रीरामको उसपर बिठाकर इस जनपदसे बाहरतक पहुँचा आओ ॥ १० ॥

एवं मन्ये गुणवतां गुणानां फलमुच्यते।
पित्रा मात्रा च यत्साधुर्वीरो निर्वास्यते वनम् ॥ ११ ॥

'अपने श्रेष्ठ वीर पुत्रको स्वयं पिता-माता ही जब घरसे निकालकर वनमें भेज रहे हैं, तब ऐसा मालूम होता है कि शास्त्रमें गुणवान् पुरुषोंके गुणोंका यही फल बताया जाता है' ॥

राज्ञो वचनमाज्ञाय सुमन्त्रः शीघ्रविक्रमः।
योजयित्वा ययौ तत्र रथमश्वैरलंकृतम् ॥ १२ ॥

राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके शीघ्रगामी सुमन्त्र गये और उत्तम घोड़ोंसे सुशोभित रथ जोतकर ले आये ॥ १२ ॥

तं रथं राजपुत्राय सूतः कनकभूषितम्।
आचचक्षेऽञ्जलिं कृत्वा युक्तं परमवाजिभिः ॥ १३ ॥

फिर सूत सुमन्त्रने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! राजकुमार श्रीरामके लिये उत्तम घोड़ोंसे जुता हुआ सुवर्ण-भूषित रथ तैयार है' ॥ १३ ॥

राजा सत्वरमाहूय व्यापृतं वित्तसंचये।
उवाच देशकालज्ञो निश्चितं सर्वतः शुचिः ॥ १४ ॥

तब देश और कालको समझनेवाले, सब ओरसे शुद्ध (इहलोक और परलोकसे उऋण) राजा दशरथने तुरंत ही धन-संग्रहके व्यापारमें नियुक्त कोषाध्यक्षको बुलाकर यह निश्चित बात कही—॥ १४ ॥

वासांसि च वरार्हाणि भूषणानि महान्ति च।
वर्षाण्येतानि संख्याय वैदेह्याः क्षिप्रमानय ॥ १५ ॥

'तुम विदेहकुमारी सीताके पहननेयोग्य बहुमूल्य वस्त्र और महान् आभूषण जो चौदह वर्षोंके लिये पर्याप्त हों गिनकर शीघ्र ले आओ' ॥ १५ ॥

नरेन्द्रेणैवमुक्तस्तु गत्वा कोशगृहं ततः।
प्रायच्छत् सर्वमाहृत्य सीतायै क्षिप्रमेव तत् ॥ १६ ॥

महाराजके ऐसा कहनेपर कोषाध्यक्षने खजानेमें जा वहाँसे सब चीजें लाकर शीघ्र ही सीताको समर्पित कर दीं ॥ १६ ॥

सा सुजाता सुजातानि वैदेही प्रस्थिता वनम्।
भूषयामास गात्राणि तैर्विचित्रैर्विभूषणैः ॥ १७ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न अथवा अयोनिजा और वनवासके लिये प्रस्थित विदेहकुमारी सीताने सुन्दर लक्षणोंसे युक्त अपने सभी अङ्गोंको उन विचित्र आभूषणोंसे विभूषित किया ॥ १७ ॥

व्यराजयत वैदेही वेश्म तत् सुविभूषिता।
उद्यतोंऽशुमतः काले खं प्रभेव विवस्वतः ॥ १८ ॥

उन आभूषणोंसे विभूषित हुई विदेहनन्दिनी सीता उस घरको उसी प्रकार सुशोभित करने लगीं, जैसे प्रातःकाल उगते हुए अंशुमाली सूर्यकी प्रभा आकाशको प्रकाशित करती है ॥

तां भुजाभ्यां परिष्वज्य श्वश्रूर्वचनमब्रवीत्।
अनाचरन्तीं कृपणं मूर्ध्न्युपाघ्राय मैथिलीम् ॥ १९ ॥

उस समय सास कौसल्याने कभी दुःखद बर्ताव न करनेवाली मिथिलेशकुमारी सीताको अपनी दोनों भुजाओंसे कसकर छातीसे लगा लिया और उनके मस्तकको सूँघकर कहा—॥

असत्यः सर्वलोकेऽस्मिन् सततं सत्कृताः प्रियैः।
भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातगतं स्त्रियः ॥ २० ॥

'बेटी! जो स्त्रियाँ अपने प्रियतम पतिके द्वारा सदा सम्मानित होकर भी संकटमें पड़नेपर उसका आदर नहीं करती हैं, वे इस सम्पूर्ण जगत्में 'असती' (दुष्टा) के नामसे पुकारी जाती हैं ॥ २० ॥

एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम्।
अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ॥ २१ ॥

'दुष्टा स्त्रियोंका यह स्वभाव होता है कि पहले तो वे पतिके द्वारा यथेष्ट सुख भोगती हैं, परंतु जब वह थोड़ी-सी भी विपत्तिमें पड़ता है, तब उसपर दोषारोपण करती और उसका साथ छोड़ देती हैं ॥ २१ ॥

असत्यशीला विकृता दुर्गा अहृदयाः सदा।
असत्यः पापसंकल्पाः क्षणमात्रविरागिणः ॥ २२ ॥

'जो झूठ बोलनेवाली, विकृत चेष्टा करनेवाली, दुष्ट पुरुषोंसे संसर्ग रखनेवाली, पतिके प्रति सदा हृदयहीनताका परिचय देनेवाली, कुलटा, पापके ही मनसूबे बाँधनेवाली और छोटी-सी बातके लिये भी क्षणमात्रमें पतिकी ओरसे विरक्त हो जानेवाली हैं, वे सब-की-सब असती या दुष्टा कही गयी हैं ॥ २२ ॥

न कुलं न कृतं विद्या न दत्तं नापि संग्रहः।
स्त्रीणां गृह्णाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः ॥ २३ ॥

'उत्तम कुल, किया हुआ उपकार, विद्या, भूषण आदिका दान और संग्रह (पतिके द्वारा स्नेहपूर्वक अपनाया जाना), यह सब कुछ दुष्टा स्त्रियोंके हृदयको नहीं वशमें कर पाता है; क्योंकि उनका चित्त अव्यवस्थित होता है ॥ २३ ॥

साध्वीनां तु स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥ २४ ॥

'इसके विपरीत जो सत्य, सदाचार, शास्त्रोंकी आज्ञा और कुलोचित मर्यादाओंमें स्थित रहती हैं, उन साध्वी स्त्रियोंके लिये एकमात्र पति ही परम पवित्र एवं सर्वश्रेष्ठ देवता है ॥ २४ ॥

स त्वया नावमन्तव्यः पुत्रः प्रव्राजितो वनम्।
तव देवसमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा ॥ २५ ॥

'इसलिये तुम मेरे पुत्र श्रीरामका, जिन्हें वनवासकी आज्ञा मिली है, कभी अनादर न करना। ये निर्धन हों या धनी, तुम्हारे लिये देवताके तुल्य हैं' ॥ २५ ॥

विज्ञाय वचनं सीता तस्या धर्मार्थसंहितम्।
कृत्वाञ्जलिमुवाचेदं श्वश्रूमभिमुखे स्थिता ॥ २६ ॥

सासके धर्म और अर्थयुक्त वचनोंका तात्पर्य भलीभाँति समझकर उनके सामने खड़ी हुई सीताने हाथ जोड़कर उनसे इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

करिष्ये सर्वमेवाहमार्या यदनुशास्ति माम्।
अभिज्ञास्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं श्रुतं च मे ॥ २७ ॥

'आर्ये! आप मेरे लिये जो कुछ उपदेश दे रही हैं, मैं उसका पूर्णरूपसे पालन करूँगी। स्वामीके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, यह मुझे भलीभाँति विदित है; क्योंकि इस विषयको मैंने पहलेसे ही सुन रखा है ॥ २७ ॥

न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति।
धर्माद् विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ॥ २८ ॥

'पूजनीया माताजी! आपको मुझे असती स्त्रियोंके समान नहीं मानना चाहिये; क्योंकि जैसे प्रभा चन्द्रमासे दूर नहीं हो सकती, उसी प्रकार मैं पतिव्रत-धर्मसे विचलित नहीं हो सकती ॥ २८ ॥

नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा ॥ २९ ॥

'जैसे विना तारकी वीणा नहीं बज सकती और बिना पहियेका रथ नहीं चल सकता है, उसी प्रकार नारी सौ बेटोंकी माता होनेपर भी बिना पतिके सुखी नहीं हो सकती ॥ २९ ॥

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ ३० ॥

'पिता, भ्राता और पुत्र—ये परिमित सुख प्रदान करते हैं, परंतु पति अपरिमित सुखका दाता है—उसकी सेवासे इहलोक और परलोक दोनोंमें कल्याण होता है; अतः ऐसी कौन स्त्री है, जो अपने पतिका सत्कार नहीं करेगी ॥ ३० ॥

साहमेवंगता श्रेष्ठा श्रुतधर्मपरावरा।
आर्ये किमवमन्येयं स्त्रिया भर्ता हि दैवतम् ॥ ३१ ॥

आर्ये! मैंने श्रेष्ठ स्त्रियों—माता आदिके मुखसे नारीके सामान्य और विशेष धर्मोंका श्रवण किया है। इस प्रकार पातिव्रत्यका महत्त्व जानकर भी मैं पतिका क्यों अपमान करूँगी? मैं जानती हूँ कि पति ही स्त्रीका देवता है' ॥ ३१ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयङ्गमम्।
शुद्धसत्त्वा मुमोचाश्रु सहसा दुःखहर्षजम् ॥ ३२ ॥

सीताका यह मनोहर वचन सुनकर शुद्ध अन्तः-करणवाली देवी कौसल्याके नेत्रोंसे सहसा दुःख और हर्षके आँसू बहने लगे ॥ ३२ ॥

तां प्राञ्जलिरभिप्रेक्ष्य मातृमध्येऽतिसत्कृताम्।
रामः परमधर्मात्मा मातरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

तब परम धर्मात्मा श्रीरामने माताओंके बीचमें अत्यन्त सम्मानित होकर खड़ी हुई माता कौसल्याकी ओर देख हाथ जोड़कर कहा—॥ ३३ ॥

अम्ब मा दुःखिता भूत्वा पश्येस्त्वं पितरं मम।
क्षयोऽपि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ ३४ ॥

'माँ! (इन्हींके कारण मेरे पुत्रका वनवास हुआ है; ऐसा समझकर) तुम मेरे पिताजीकी ओर दुःखित होकर न देखना। वनवासकी अवधि भी शीघ्र ही समाप्त हो जायगी ॥ ३४ ॥

सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च।
समग्रमिह सम्प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम् ॥ ३५ ॥

'ये चौदह वर्ष तो तुम्हारे सोते-सोते निकल जायँगे, फिर एक दिन देखोगी कि मैं अपने सुहृदोंसे घिरा हुआ सीता और लक्ष्मणके साथ सम्पूर्णरूपसे यहाँ आ पहुँचा हूँ' ॥ ३५ ॥

एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा स जननीं वचः।
त्रयः शतशतार्धा हि ददर्शावेक्ष्य मातरः ॥ ३६ ॥
ताश्चापि स तथैवार्ता मातृर्दशरथात्मजः।
धर्मयुक्तमिदं वाक्यं निजगाद कृताञ्जलिः ॥ ३७ ॥

मातासे इस प्रकार अपना निश्चित अभिप्राय बताकर

दशरथनन्दन श्रीरामने अपनी अन्य साढ़े तीन सौ माताओंकी ओर दृष्टिपात किया और उनको भी कौसल्याकी ही भाँति शोकाकुल पाया। तब उन्होंने हाथ जोड़कर उन सबसे यह धर्मयुक्त बात कही—॥ ३६-३७ ॥

संवासात् परुषं किंचिदज्ञानादपि यत् कृतम्।
तन्मे समुपजानीत सर्वाश्चामन्त्रयामि वः॥ ३८॥

माताओ! सदा एक साथ रहनेके कारण मैंने जो कुछ कठोर वचन कह दिये हों अथवा अनजानमें भी मुझसे जो अपराध बन गये हों, उनके लिये आप मुझे क्षमा कर दें। मैं आप सब माताओंसे विदा माँगता हूँ'॥ ३८॥

वचनं राघवस्यैतद् धर्मयुक्तं समाहितम्।
शुश्रुवुस्ताः स्त्रियः सर्वाः शोकोपहतचेतसः॥ ३९॥

राजा दशरथकी उन सभी स्त्रियोंने श्रीरघुनाथजीका यह समाधानकारी धर्मयुक्त वचन सुना, सुनकर उन सबका चित्त शोकसे व्याकुल हो गया॥ ३९॥

जज्ञेऽथ तासां संनादः क्रौञ्चीनामिव निःस्वनः।
मानवेन्द्रस्य भार्याणामेवं वदति राघवे॥ ४०॥

श्रीरामके ऐसी बात कहते समय महाराज दशरथकी रानियाँ कुररियोंके समान विलाप करने लगीं। उनका वह आर्तनाद उस राजभवनमें सब ओर गूँज उठा॥ ४०॥

मुरजपणवमेघघोषवद्
दशरथवेश्म बभूव यत् पुरा।
विलपितपरिदेवनाकुलं
व्यसनगतं तदभूत् सुदुःखितम्॥ ४१॥

राजा दशरथका जो भवन पहले मुरज, पणव और मेघ आदि वाद्योंके गम्भीर घोषसे गूँजता रहता था, वही विलाप और रोदनसे व्याप्त हो संकटमें पड़कर अत्यन्त दुःखमय प्रतीत होने लगा॥ ४१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः॥ ३९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३९॥

चत्वारिंशः सर्गः

सीता, राम और लक्ष्मणका दशरथकी परिक्रमा करके कौसल्या आदिको प्रणाम करना, सुमित्राका लक्ष्मणको उपदेश, सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मणका रथमें बैठकर वनकी ओर प्रस्थान, पुरवासियों तथा रानियोंसहित महाराज दशरथकी शोकाकुल अवस्था

अथ रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
उपसंगृह्य राजानं चक्रुर्दीनाः प्रदक्षिणम्॥ १॥

तदनन्तर राम, लक्ष्मण और सीताने हाथ जोड़कर दीनभावसे राजा दशरथके चरणोंका स्पर्श करके उनकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की॥ १॥

तं चापि समनुज्ञाप्य धर्मज्ञः सह सीतया।
राघवः शोकसम्मूढो जननीमभ्यवादयत्॥ २॥

उनसे विदा लेकर सीतासहित धर्मज्ञ रघुनाथजीने माताका कष्ट देखकर शोकसे व्याकुल हो उनके चरणोंमें प्रणाम किया॥ २॥

अन्वक्षं लक्ष्मणो भ्रातुः कौसल्यामभ्यवादयत्।
अपि मातुः सुमित्राया जग्राह चरणौ पुनः॥ ३॥

श्रीरामके बाद लक्ष्मणने भी पहले माता कौसल्याको प्रणाम किया, फिर अपनी माता सुमित्राके भी दोनों पैर पकड़े॥ ३॥

तं वन्दमानं रुदती माता सौमित्रिमब्रवीत्।
हितकामा महाबाहुं मूर्ध्न्युपाघ्राय लक्ष्मणम्॥ ४॥

अपने पुत्र महाबाहु लक्ष्मणको प्रणाम करते देख उनका हित चाहनेवाली माता सुमित्राने बेटेका मस्तक सूँघकर कहा—॥ ४॥

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति॥ ५॥

'वत्स! तुम अपने सुहृद् श्रीरामके परम अनुरागी हो, इसलिये मैं तुम्हें वनवासके लिये विदा करती हूँ। अपने बड़े भाईके वनमें इधर-उधर जाते समय तुम उनकी सेवामें कभी प्रमाद न करना॥ ५॥

व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ।
एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत्॥ ६॥

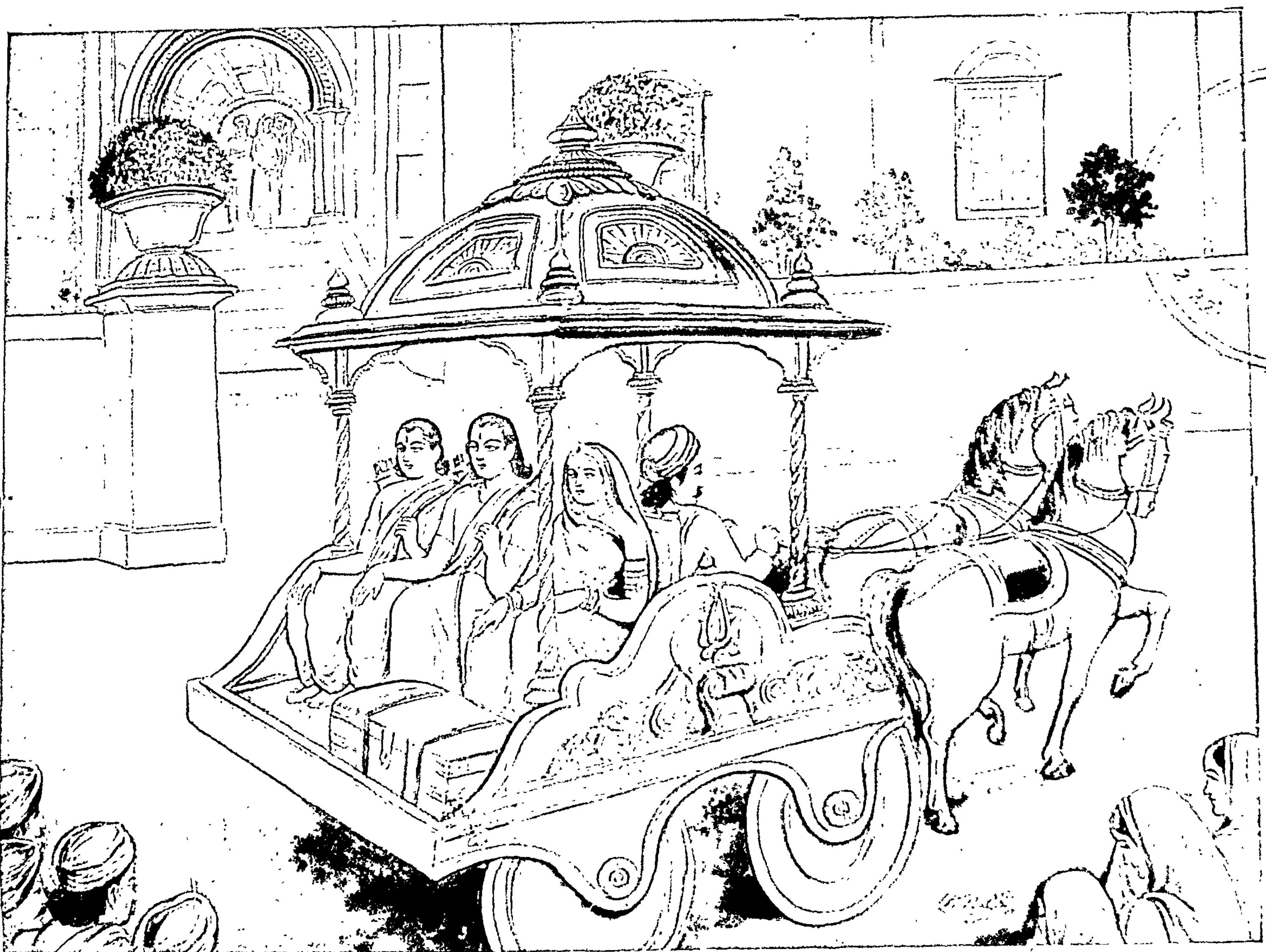
'ये संकटमें हों या समृद्धिमें, ये ही तुम्हारी परम गति हैं। निष्पाप लक्ष्मण! संसारमें सत्पुरुषोंका यही धर्म है कि सर्वदा अपने बड़े भाईकी आज्ञाके अधीन रहें॥ ६॥

इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम्।
दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु हि॥ ७॥

'दान देना, यज्ञमें दीक्षा ग्रहण करना और युद्धमें शरीर त्यागना—यही इस कुलका उचित एवं सनातन आचार है'॥ ७॥

लक्ष्मणं त्वेवमुक्त्वासौ संसिद्धं प्रियराघवम्।
सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनः पुनरुवाच तम्॥ ८॥

अपने पुत्र लक्ष्मणसे ऐसा कहकर सुमित्राने वनवासके



रथारूढ श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीका वनके लिये प्रस्थान

लिये निश्चित विचार रखनेवाले सर्वप्रिय श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'बेटा ! जाओ, जाओ (तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो)।' इसके बाद वे लक्ष्मणसे फिर बोलीं—॥ ८ ॥

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥ ९ ॥

'बेटा ! तुम श्रीरामको ही अपने पिता महाराज दशरथ समझो, जनकनन्दिनी सीताको ही अपनी माता सुमित्रा मानो और वनको ही अयोध्या जानो। अब सुखपूर्वक यहाँसे प्रस्थान करो' ॥ ९ ॥

ततः सुमन्त्रः काकुत्स्थं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्।
विनीतो विनयज्ञश्च मातलिर्वासवं यथा॥ १० ॥

इसके बाद जैसे मातलि इन्द्रसे कोई बात कहते हैं, उसी प्रकार विनयके ज्ञाता सुमन्त्रने ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामसे विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कहा—॥ १० ॥

रथमारोह भद्रं ते राजपुत्र महायशः।
क्षिप्रं त्वां प्रापयिष्यामि यत्र मां राम वक्ष्यसे॥ ११ ॥

'महायशस्वी राजकुमार श्रीराम ! आपका कल्याण हो। आप इस रथपर बैठिये। आप मुझसे जहाँ कहेंगे, वहीं मैं शीघ्र आपको पहुँचा दूँगा ॥ ११ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यानि वने त्वया।
तान्युपक्रमितव्यानि यानि देव्या प्रचोदितः॥ १२ ॥

'आपको जिन चौदह वर्षोंतक वनमें रहना है, उनकी गणना आजसे ही आरम्भ हो जानी चाहिये; क्योंकि देवी कैकेयीने आज ही आपको वनमें जानेके लिये प्रेरित किया है' ॥

तं रथं सूर्यसंकाशं सीता हृष्टेन चेतसा।
आरुरोह वरारोहा कृत्वालंकारमात्मनः॥ १३ ॥

तब सुन्दरी सीता अपने अङ्गोंमें उत्तम अलंकार धारण करके प्रसन्न चित्तसे उस सूर्यके समान तेजस्वी रथपर आरूढ़ हुईं ॥ १३ ॥

वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ॥ १४ ॥

पतिके साथ जानेवाली सीताके लिये उनके श्वशुरने वनवासकी वर्षसंख्या गिनकर उसके अनुसार ही वस्त्र और आभूषण दिये थे ॥ १४ ॥

तथैवायुधजातानि भ्रातृभ्यां कवचानि च।
रथोपस्थे प्रविन्यस्य सचर्म कठिनं च यत्॥ १५ ॥

इसी प्रकार महाराजने दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणके लिये जो बहुत-से अस्त्र-शस्त्र और कवच प्रदान किये थे, उन्हें रथके पिछले भागमें रखकर उन्होंने चमड़ेसे मढ़ी हुई पिटारी और खन्ती या कुदारी भी उसीपर रख दी ॥ १५ ॥

अथो ज्वलनसंकाशं चामीकरविभूषितम्।
तमारुरुहतुस्तूर्णं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ १६ ॥

इसके बाद दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण उस अग्निके समान दीप्तिमान् सुवर्णभूषित रथपर शीघ्र ही आरूढ़ हो गये॥

सीतातृतीयानारूढान् दृष्ट्वा रथमचोदयत्।
सुमन्त्रः सम्मतानश्वान् वायुवेगसमाञ्जवे॥ १७ ॥

जिनमें सीताकी संख्या तीसरी थी, उन श्रीराम आदिको रथपर आरूढ़ हुआ देख सारथि सुमन्त्रने रथको आगे बढ़ाया। उसमें जुते हुए वायुके समान वेगशाली उत्तम घोड़ोंको हाँका ॥ १७ ॥

प्रयाते तु महारण्यं चिररात्राय राघवे।
बभूव नगरे मूर्च्छा बलमूर्च्छा जनस्य च॥ १८ ॥

जब श्रीरामचन्द्रजी सुदीर्घकालके लिये महान् वनकी ओर जाने लगे, उस समय समस्त पुरवासियों, सैनिकों तथा दर्शकरूपमें आये हुए बाहरी लोगोंको भी मूर्च्छा आ गयी ॥

तत् समाकुलसम्भ्रान्तं मत्तसंकुपितद्विपम्।
हयसिञ्जितनिर्घोषं पुरमासीन्महास्वनम्॥ १९ ॥

उस समय सारी अयोध्यामें महान् कोलाहल मच गया। सब लोग व्याकुल होकर घबरा उठे। मतवाले हाथी श्रीरामके वियोगसे कुपित हो उठे और इधर-उधर भागते हुए घोड़ोंके हिनहिनाने एवं उनके आभूषणोंके खनखनानेकी आवाज सब ओर गूँजने लगी ॥ १९ ॥

ततः सबालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता।
राममेवाभिदुद्राव घर्मार्तः सलिलं यथा॥ २० ॥

अयोध्यापुरीके आबाल-वृद्ध सब लोग अत्यन्त पीड़ित होकर श्रीरामके ही पीछे दौड़े, मानो धूपसे पीड़ित हुए प्राणी पानीकी ओर भागे जाते हों ॥ २० ॥

पार्श्वतः पृष्ठतश्चापि लम्बमानास्तदुन्मुखाः।
बाष्पपूर्णमुखाः सर्वे तमूचुर्भृशनिःस्वनाः॥ २१ ॥

उनमेंसे कुछ लोग रथके पीछे और अगल-बगलमें लटक गये। सभी श्रीरामके लिये उत्कण्ठित थे और सबके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। वे सब-के-सब उच्चस्वरसे कहने लगे—॥ २१ ॥

संयच्छ वाजिनां रश्मीन् सूत याहि शनैः शनैः।
मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति॥ २२ ॥

'सूत ! घोड़ोंकी लगाम खींचो। रथको धीरे-धीरे ले चलो। हम श्रीरामका मुख देखेंगे; क्योंकि अब इस मुखका दर्शन हमलोगोंके लिये दुर्लभ हो जायगा ॥ २२ ॥

आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम्।
यद् देवगर्भप्रतिमे वनं याति न भिद्यते॥ २३ ॥

'निश्चय ही श्रीरामचन्द्रजीकी माताका हृदय लोहेका बना हुआ है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। तभी तो देव-

कुमारके समान तेजस्वी पुत्रके वनकी ओर जाते समय फट नहीं जाता है ॥ २३ ॥

कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्।
न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ २४ ॥

'विदेहनन्दिनी सीता कृतार्थ हो गयीं; क्योंकि वे पतिव्रत-धर्ममें तत्पर रहकर छायाकी भाँति पतिके पीछे-पीछे चली जा रही हैं। वे श्रीरामका साथ उसी प्रकार नहीं छोड़ती हैं, जैसे सूर्य-की प्रभा मेरुपर्वतका त्याग नहीं करती है ॥ २४ ॥

अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्।
भ्रातरं देवसंकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि ॥ २५ ॥

'अहो लक्ष्मण! तुम भी कृतार्थ हो गये; क्योंकि तुम सदा प्रिय वचन बोलनेवाले अपने देवतुल्य भाईकी वनमें सेवा करोगे ॥ २५ ॥

महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान्।
एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि ॥ २६ ॥

'तुम्हारी यह बुद्धि विशाल है। तुम्हारा यह महान् अभ्युदय है और तुम्हारे लिये यह स्वर्गका मार्ग मिल गया है; क्योंकि तुम श्रीरामका अनुसरण कर रहे हो' ॥ २६ ॥

एवं वदन्तस्ते सोढुं न शेकुर्बाष्पमागतम्।
नरास्तमनुगच्छन्ति प्रियमिक्ष्वाकुनन्दनम् ॥ २७ ॥

ऐसी बातें कहते हुए वे पुरवासी मनुष्य उमड़े हुए आँसुओंका वेग न सह सके। वे लोग सबके प्रेमपात्र इक्ष्वाकु-कुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे चले जा रहे थे ॥२७॥

अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः।
निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन् गृहात् ॥ २८ ॥

उसी समय दयनीय दशाको प्राप्त हुई अपनी स्त्रियोंसे घिरे हुए राजा दशरथ अत्यन्त दीन होकर 'मैं अपने प्यारे पुत्र श्रीरामको देखूँगा' ऐसा कहते हुए महलसे बाहर निकल आये ॥ २८ ॥

शुश्रुवे चाग्रतः स्त्रीणां रुदतीनां महास्वनः।
यथा नादः करेणूनां बद्धे महति कुञ्जरे ॥ २९ ॥

उन्होंने अपने आगे रोती हुई स्त्रियोंका महान् आर्तनाद सुना। वह वैसा ही जान पड़ता था, जैसे बड़े हाथी यूथपतिके बाँध लिये जानेपर हथिनियोंका चीत्कार सुनायी देता है ॥

पिता हि राजा काकुत्स्थः श्रीमान् सन्नस्तदा बभौ।
परिपूर्णः शशी काले ग्रहेणोपप्लुतो यथा ॥ ३० ॥

उस समय श्रीरामके पिता ककुत्स्थवंशी श्रीमान् राजा दशरथ उसी तरह खिन्न जान पड़ते थे, जैसे पर्वके समय राहुसे ग्रस्त होनेपर पूर्ण चन्द्रमा श्रीहीन प्रतीत होते हैं ॥

स च श्रीमानचिन्त्यात्मा रामो दशरथात्मजः।
सूतं संचोदयामास त्वरितं वाह्यतामिति ॥ ३१ ॥

यह देख अचिन्त्यस्वरूप दशरथनन्दन श्रीमान् भगवान् रामने सुमन्त्रको प्रेरित करते हुए कहा—'आप रथको तेजीसे चलाइये' ॥ ३१ ॥

रामो याहीति तं सूतं तिष्ठेति च जनस्तथा।
उभयं नाशकत् सूतः कर्तुमध्वनि चोदितः ॥ ३२ ॥

एक ओर श्रीरामचन्द्रजी सारथिसे रथ हाँकनेके लिये कहते थे और दूसरी ओर सारा जनसमुदाय उन्हें ठहर जानेके लिये कहता था। इस प्रकार दुविधामें पड़कर सारथि सुमन्त्र उस मार्गपर दोनोंमेंसे कुछ न कर सके—न तो रथको आगे बढ़ा सके और न सर्वथा रोक ही सके ॥ ३२ ॥

निर्गच्छति महाबाहौ रामे पौरजनाश्रुभिः।
पतितैरभ्यवहितं प्रणनाश महीरजः ॥ ३३ ॥

महाबाहु श्रीरामके नगरसे निकलते समय पुरवासियोंके नेत्रोंसे गिरे हुए आँसुओंद्वारा भीगकर धरतीकी उड़ती हुई धूल शान्त हो गयी ॥ ३३ ॥

रुदिताश्रुपरिद्यूनं हाहाकृतमचेतनम्।
प्रयाणे राघवस्यासीत् पुरं परमपीडितम् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके प्रस्थान करते समय सारा नगर अत्यन्त पीड़ित हो गया। सब रोने और आँसू बहाने लगे तथा सभी हाहाकार करते-करते अचेत-से हो गये ॥ ३४ ॥

सुस्राव नयनैः स्त्रीणामस्रमायाससम्भवम्।
मीनसंक्षोभचलितैः सलिलं पङ्कजैरिव ॥ ३५ ॥

नारियोंके नेत्रोंसे उसी तरह खेदजनित अश्रु झर रहे थे, जैसे मछलियोंके उछलनेसे हिले हुए कमलोंद्वारा जलकणोंकी वर्षा होने लगती है ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वा तु नृपतिः श्रीमानेकचित्तगतं पुरम्।
निपपातैव दुःखेन कृत्तमूल इव द्रुमः ॥ ३६ ॥

श्रीमान् राजा दशरथ सारी अयोध्यापुरीके लोगोंको एक-सा व्याकुलचित्त देखकर अत्यन्त दुःखके कारण जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति भूमिपर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

ततो हलहलाशब्दो जज्ञे रामस्य पृष्ठतः।
नराणां प्रेक्ष्य राजानं सीदन्तं भृशदुःखितम् ॥ ३७ ॥

उस समय राजाको अत्यन्त दुःखमें मग्न हो कष्ट पाते देख श्रीरामके पीछे जाते हुए मनुष्योंका पुनः महान् कोलाहल प्रकट हुआ ॥ ३७ ॥

हा रामेति जनाः केचिद् राममातेति चापरे।
अन्तःपुरसमृद्धं च क्रोशन्तं पर्यदेवयन् ॥ ३८ ॥

अन्तःपुरकी रानियोंके सहित राजा दशरथको उच्चस्वरसे विलाप करते देख कोई 'हा राम!' कहकर और कोई 'हा राममाता!' की पुकार मचाकर करुणक्रन्दन करने लगे ॥

अन्वीक्षमाणो रामस्तु विषण्णं भ्रान्तचेतसम्।
राजानं मातरं चैव ददर्शानुगतौ पथि ॥ ३९ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीने पीछे घूमकर देखा तो उन्हें विषादग्रस्त तथा भ्रान्तचित्त पिता राजा दशरथ और दुःखमें डूबी हुई माता कौसल्या दोनों ही मार्गपर अपने पीछे आते हुए दिखायी दिये ॥ ३९ ॥

स बद्ध इव पाशेन किशोरो मातरं यथा।
धर्मपाशेन संयुक्तः प्रकाशं नाभ्युदैक्षत ॥ ४० ॥

जैसे रस्सीमें बँधा हुआ घोड़ेका बच्चा अपनी माको नहीं देख पाता, उसी प्रकार धर्मके बन्धनमें बँधे हुए श्रीरामचन्द्रजी अपनी माताकी ओर स्पष्टरूपसे न देख सके ॥४०॥

पदातिनौ च यानार्हावदुःखार्हौ सुखोचितौ।
दृष्ट्वा संचोदयामास शीघ्रं याहीति सारथिम् ॥ ४१ ॥

जो सवारीपर चलने योग्य, दुःख भोगनेके अयोग्य और सुख भोगनेके ही योग्य थे, उन माता-पिताको पैदल ही अपने पीछे-पीछे आते देख श्रीरामचन्द्रजीने सारथिको शीघ्र रथ हाँकनेके लिये प्रेरित किया ॥ ४१ ॥

नहि तत् पुरुषव्याघ्रो दुःखजं दर्शनं पितुः।
मातुश्च सहितुं शक्तस्तोत्त्रैर्नुन्न इव द्विपः ॥ ४२ ॥

जैसे अङ्कुशसे पीड़ित किया हुआ गजराज उस कष्टको नहीं सहन कर पाता है, उसी प्रकार पुरुषसिंह श्रीरामके लिये माता-पिताको इस दुःखद अवस्थामें देखना असह्य हो गया ॥

प्रत्यगारमिवायान्ती सवत्सा वत्सकारणात्।
बद्धवत्सा यथा धेनू राममाताभ्यधावत ॥ ४३ ॥

जैसे बँधे हुए बछड़ेवाली सवत्सा गौ शामको घरकी ओर लौटते समय बछड़ेके स्नेहसे दौड़ी चली आती है, उसी प्रकार श्रीरामकी माता कौसल्या उनकी ओर दौड़ी आ रही थीं ॥

तथा रुदन्तीं कौसल्यां रथं तमनुधावतीम्।
क्रोशन्तीं राम रामेति हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ ४४ ॥
रामलक्ष्मणसीतार्थं स्रवन्तीं वारि नेत्रजम्।
असकृत् प्रैक्षत स तां नृत्यन्तीमिव मातरम् ॥ ४५ ॥

'हा राम! हा राम! हा सीते! हा लक्ष्मण!' की रट लगाती और रोती हुई कौसल्या उस रथके पीछे दौड़ रही थीं। वे श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके लिये नेत्रोंसे आँसू बहा रही थीं एवं इधर-उधर नाचती—चक्कर लगाती-सी डोल रही थीं। इस अवस्थामें माता कौसल्याको श्रीरामचन्द्रजीने बारंबार देखा ॥ ४४-४५ ॥

तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति राघवः।
सुमन्त्रस्य बभूवात्मा चक्रयोरिव चान्तरा ॥ ४६ ॥

राजा दशरथ चिल्लाकर कहते थे—'सुमन्त्र! ठहरो।' किंतु श्रीरामचन्द्रजी कहते थे—'आगे बढ़िये, शीघ्र आगे बढ़िये।' उन दो प्रकारके आदेशोंमें पड़े हुए बेचारे सुमन्त्रका मन उस समय दो पहियोंके बीचमें फँसे हुए मनुष्यका-सा हो रहा था ॥ ४६ ॥

नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि।
चिरं दुःखस्य पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

उस समय श्रीरामने सुमन्त्रसे कहा—'यहाँ अधिक विलम्ब करना मेरे और पिताजीके लिये दुःख ही नहीं, महान् दुःखका कारण होगा; इसलिये रथ आगे बढ़ाइये। लौटनेपर महाराज उलाहना दें तो कह दीजियेगा, मैंने आपकी बात नहीं सुनी' ॥ ४७ ॥

स रामस्य वचः कुर्वन्ननुज्ञाप्य च तं जनम्।
व्रजतोऽपि हयाञ्शीघ्रं चोदयामास सारथिः ॥ ४८ ॥

अन्तमें श्रीरामके ही आदेशका पालन करते हुए सारथिने पीछेसे आनेवाले लोगोंसे जानेकी आज्ञा ली और स्वतः चलते हुए घोड़ोंको भी तीव्रगतिसे चलनेके लिये हाँका ॥ ४८ ॥

न्यवर्तत जनो राज्ञो रामं कृत्वा प्रदक्षिणम्।
मनसाप्याशुवेगेन न न्यवर्तत मानुषम् ॥ ४९ ॥

राजा दशरथके साथ आनेवाले लोग मन-ही-मन श्रीरामकी परिक्रमा करके शरीरमात्रसे लौटे (मनसे नहीं लौटे); क्योंकि वह उनके रथकी अपेक्षा भी तीव्रगामी था। दूसरे मनुष्योंका समुदाय शीघ्रगामी मन और शरीर दोनोंसे ही नहीं लौटा (वे सब लोग श्रीरामके पीछे-पीछे दौड़े चले गये)॥

यमिच्छेत् पुनरायातं नैनं दूरमनुव्रजेत्।
इत्यमात्या महाराजमूचुर्दशरथं वचः ॥ ५० ॥

इधर मन्त्रियोंने महाराज दशरथसे कहा—'राजन्! जिसके लिये यह इच्छा की जाय कि वह पुनः शीघ्र लौट आये, उसके पीछे दूरतक नहीं जाना चाहिये' ॥ ५० ॥

तेषां वचः सर्वगुणोपपन्नः
प्रस्विन्नगात्रः प्रविषण्णरूपः।
निशम्य राजा कृपणः सभार्यो
व्यवस्थितस्तं सुतमीक्षमाणः ॥ ५१ ॥

सर्वगुणसम्पन्न राजा दशरथका शरीर पसीनेसे भीग रहा था, वे विषादके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते थे। अपने मन्त्रियोंकी उपर्युक्त बात सुनकर वे वहीं खड़े हो गये और रानियोंसहित अत्यन्त दीनभावसे पुत्रकी ओर देखने लगे ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामके वनगमनसे रनवासकी स्त्रियोंका विलाप तथा नगरनिवासियोंकी शोकाकुल अवस्था

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ।
आर्तशब्दो हि संजज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे महान्॥ १॥

पुरुषसिंह श्रीरामने माताओंसहित पिताके लिये दूरसे ही हाथ जोड़ रखे थे, उसी अवस्थामें जब वे रथद्वारा नगरसे बाहर निकलने लगे, उस समय रनवासकी रानियोंमें बड़ा हाहाकार मच गया॥ १॥

अनाथस्य जनस्यास्य दुर्बलस्य तपस्विनः।
यो गतिः शरणं चासीत् स नाथः क्व नु गच्छति॥ २॥

वे रोती हुई कहने लगीं—'हाय! जो हम अनाथ, दुर्बल और शोचनीय जनोंकी गति (सब सुखोंकी प्राप्ति करानेवाले) और शरण (समस्त आपत्तियोंसे रक्षा करनेवाले) थे, वे हमारे नाथ (मनोरथ पूर्ण करनेवाले) श्रीराम कहाँ चले जा रहे हैं?॥ २॥

न क्रुध्यत्यभिशस्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन्।
क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् समदुःखः क्व गच्छति॥ ३॥

'जो किसीके द्वारा झूठा कलंक लगाये जानेपर भी क्रोध नहीं करते थे, क्रोध दिलानेवाली बातें नहीं कहते थे और रूठे हुए सभी लोगोंको मनाकर प्रसन्न कर लेते थे, वे दूसरोंके दुःखमें समवेदना प्रकट करनेवाले राम कहाँ जा रहे हैं?॥ ३॥

कौसल्यायां महातेजा यथा मातरि वर्तते।
तथा यो वर्ततेऽस्मासु महात्मा क्व नु गच्छति॥ ४॥

'जो महातेजस्वी महात्मा श्रीराम अपनी माता कौसल्याके साथ जैसा बर्ताव करते थे, वैसा ही बर्ताव हमारे साथ भी करते थे, वे कहाँ चले जा रहे हैं?॥ ४॥

कैकेय्या क्लिश्यमानेन राज्ञा संचोदितो वनम्।
परित्राता जनस्यास्य जगतः क्व नु गच्छति॥ ५॥

'कैकेयीके द्वारा क्लेशमें डाले गये महाराजके वन जानेके लिये कहनेपर हमलोगोंकी अथवा समस्त जगत्‌की रक्षा करनेवाले श्रीरघुवीर कहाँ चले जा रहे हैं?॥ ५॥

अहो निश्चेतनो राजा जीवलोकस्य संक्षयम्।
धर्म्यं सत्यव्रतं रामं वनवासे प्रवत्स्यति॥ ६॥

'अहो! ये राजा बड़े बुद्धिहीन हैं, जो कि जीव-जगत्‌के आश्रयभूत, धर्मपरायण, सत्यव्रती श्रीरामको वनवासके लिये देश-निकाला दे रहे हैं'॥ ६॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः।
रुरुदुश्चैव दुःखार्ताः सस्वरं च विचुक्रुशुः॥ ७॥

इस प्रकार वे सब-की-सब रानियाँ बछड़ोंसे बिछुड़ी हुई गौओंकी तरह दुःखसे आर्त होकर रोने और उच्चस्वरसे क्रन्दन करने लगीं॥ ७॥

स तमन्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा चासीत् सुदुःखितः॥ ८॥

अन्तःपुरमें वह घोर आर्तनाद सुनकर पुत्रशोकसे संतप्त हुए महाराज दशरथ बहुत दुःखी हो गये॥ ८॥

नाग्निहोत्राण्यहूयन्त नापचन् गृहमेधिनः।
अकुर्वन् न प्रजाः कार्यं सूर्यश्चान्तरधीयत॥
व्यसृजन् कवलान् नागा गावो वत्सान् न पाययन्।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत॥ १०॥

उस दिन अग्निहोत्र बंद हो गया, गृहस्थोंके घर भोजन नहीं बना, प्रजाओंने कोई काम नहीं किया, सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये, हाथियोंने मुँहमें लिया हुआ चारा छोड़ दिया, गौओंने बछड़ोंको दूध नहीं पिलाया और पहले-पहल पुत्रको जन्म देकर भी कोई माता प्रसन्न नहीं हुई॥ ९-१०॥

त्रिशङ्कुर्लोहिताङ्गश्च बृहस्पतिबुधावपि।
दारुणाः सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः॥ ११॥

त्रिशंकु, मङ्गल, गुरु, बुध तथा अन्य समस्त ग्रह शुक्र, शनि आदि रातमें वक्रगतिसे चन्द्रमाके पास पहुँचकर दारुण (क्रूरकान्तियुक्त) होकर स्थित हो गये॥ ११॥

नक्षत्राणि गतार्चींषि ग्रहाश्च गततेजसः।
विशाखाश्च सधूमाश्च नभसि प्रचकाशिरे॥ १२॥

नक्षत्रोंकी कान्ति फीकी पड़ गयी और ग्रह निस्तेज हो गये। वे सब-के-सब आकाशमें विपरीत मार्गपर स्थित हो धूमाच्छन्न प्रतीत हो रहे थे॥ १२॥

कालिकानिलवेगेन महोदधिरिवोत्थितः।
रामे वनं प्रव्रजिते नगरं प्रचचाल तत्॥ १३॥

आकाशमें छायी हुई मेघमाला वायुके वेगसे उमड़े हुए समुद्रके समान प्रतीत होती थी। श्रीरामके वनको जाते समय वह सारा नगर जोर-जोरसे हिलने लगा (वहाँ भूकम्प आ गया)॥ १३॥

दिशः पर्याकुलाः सर्वास्तिमिरेणेव संवृताः।
न ग्रहो नापि नक्षत्रं प्रचकाशे न किंचन॥ १४॥

समस्त दिशाएँ व्याकुल हो उठीं, उनमें अन्धकार-सा छा गया। न कोई ग्रह प्रकाशित होता था, न नक्षत्र॥ १४॥

अकस्मान्नागरः सर्वो जनो दैन्यमुपागमत्।
आहारे वा विहारे वा न कश्चिदकरोन्मनः॥ १५॥

सहसा सारे नागरिक दीन दशाको प्राप्त हो गये। किसीने भी आहार या विहारमें मन नहीं लगाया॥ १५॥

शोकपर्यायसंतप्तः सततं दीर्घमुच्छ्वसन्।
अयोध्यायां जनः सर्वश्चुक्रोश जगतीपतिम्॥ १६॥

अयोध्यावासी सब लोग शोकपरम्परासे संतप्त हो निरन्तर लंबी साँस खींचते हुए राजा दशरथको कोसने लगे॥ १६॥

बाष्पपर्याकुलमुखो राजमार्गगतो जनः।
न हृष्टो लक्ष्यते कश्चित् सर्वः शोकपरायणः॥ १७॥

सड़कपर निकला हुआ कोई भी मनुष्य प्रसन्न नहीं दिखायी देता था। सबका मुख आँसुओंसे भीगा हुआ था और सभी शोकमग्न हो रहे थे॥ १७॥

न वाति पवनः शीतो न शशी सौम्यदर्शनः।
न सूर्यस्तपते लोकं सर्वं पर्याकुलं जगत्॥ १८॥

शीतल वायु नहीं चलती थी। चन्द्रमा सौम्य नहीं दिखायी देता था। सूर्य भी जगत्‌को उचित मात्रामें ताप या प्रकाश नहीं दे रहा था। सारा संसार ही व्याकुल हो उठा था॥ १८॥

अनर्थिनः सुताः स्त्रीणां भर्तारो भ्रातरस्तथा।
सर्वे सर्वं परित्यज्य राममेवान्वचिन्तयन्॥ १९॥

बालक माँ-बापको भूल गये। पतियोंको स्त्रियोंकी याद नहीं आती थी और भाई-भाईका स्मरण नहीं करते थे—सभी सब कुछ छोड़कर केवल श्रीरामका ही चिन्तन करने लगे॥ १९॥

ये तु रामस्य सुहृदः सर्वे ते मूढचेतसः।
शोकभारेण चाक्रान्ताः शयनं नैव भेजिरे॥ २०॥

जो श्रीरामके मित्र थे, वे सब तो और भी अपनी सुध-बुध खो बैठे थे। शोकके भारसे आक्रान्त होनेके कारण वे रातमें सोयेतक नहीं॥ २०॥

ततस्त्वयोध्या रहिता महात्मना
पुरंदरेणेव मही सपर्वता।
चचाल घोरं भयशोकदीपिता
सनागयोधाश्वगणा ननाद च॥ २१॥

इस प्रकार सारी अयोध्यापुरी श्रीरामसे रहित होकर भय और शोकसे प्रज्वलित-सी होकर उसी प्रकार घोर हलचलमें पड़ गयी, जैसे देवराज इन्द्रसे रहित हुई मेरुपर्वतसहित यह पृथ्वी डगमगाने लगती है। हाथी, घोड़े और सैनिकोंसहित उस नगरीमें भयंकर आर्तनाद होने लगा॥ २१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः॥ ४१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४१॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

राजा दशरथका पृथ्वीपर गिरना, श्रीरामके लिये विलाप करना, कैकेयीको अपने पास आनेसे मना करना और उसे त्याग देना, कौसल्या और सेवकोंकी सहायतासे उनका कौसल्याके भवनमें आना और वहाँ भी श्रीरामके लिये दुःखका ही अनुभव करना

यावत् तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत।
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत् संजहारात्मचक्षुषी॥ १॥

वनकी ओर जाते हुए श्रीरामके रथकी धूल जबतक दिखायी देती रही, तबतक इक्ष्वाकुवंशके स्वामी राजा दशरथने उधरसे अपनी आँखें नहीं हटायीं॥ १॥

यावद् राजा प्रियं पुत्रं पश्यत्यत्यन्तधार्मिकम्।
तावद् व्यवर्धतेवास्य धरण्यां पुत्रदर्शने॥ २॥

वे महाराज अपने अत्यन्त धार्मिक प्रिय पुत्रको जबतक देखते रहे, तबतक पुत्रको देखनेके लिये उनका शरीर मानो पृथ्वीपर बढ़ रहा था—वे ऊँचे उठ-उठकर उनकी ओर निहार रहे थे॥ २॥

न पश्यति रजोऽप्यस्य यदा रामस्य भूमिपः।
तदार्तश्च निषण्णश्च पपात धरणीतले॥ ३॥

जब राजाको श्रीरामके रथकी धूल भी नहीं दिखायी देने लगी, तब वे अत्यन्त आर्त और विषादग्रस्त हो पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ३॥

तस्य दक्षिणमन्वागात् कौसल्या बाहुमङ्गना।
परं चास्यान्वगात् पार्श्वं कैकेयी सा सुमध्यमा॥ ४॥

उस समय उन्हें सहारा देनेके लिये उनकी धर्मपत्नी कौसल्या देवी दाहिनी बाँहके पास आयीं और सुन्दरी कैकेयी उनके वामभागमें जा पहुँचीं॥ ४॥

तां नयेन च सम्पन्नो धर्मेण विनयेन च।
उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्यथितेन्द्रियः॥ ५॥

कैकेयीको देखते ही नय, विनय और धर्मसे सम्पन्न राजा दशरथकी समस्त इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं; वे बोल उठे—॥ ५॥

कैकेयि मामकाङ्गानि मा स्प्राक्षीः पापनिश्चये।
नहि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बान्धवी॥ ६॥

'पापपूर्ण विचार रखनेवाली कैकेयि! तू मेरे अङ्गोंका स्पर्श न कर! मैं तुझे देखना नहीं चाहता। तू न तो मेरी भार्या है और न बान्धवी॥ ६॥

ये च त्वामनुजीवन्ति नाहं तेषां न ते मम।
केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम्॥ ७॥

'जो तेरा आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं, मैं उनका स्वामी नहीं हूँ और वे मेरे परिजन नहीं हैं। तूने केवल धनमें आसक्त होकर धर्मका त्याग किया है, इसलिये मैं तेरा परित्याग करता हूँ॥ ७॥

अगृह्णां यच्च ते पाणिमग्निं पर्यणयं च यत्।
अनुजानामि तत् सर्वमस्मिँल्लोके परत्र च॥ ८॥

'मैंने जो तेरा पाणिग्रहण किया है और तुझे साथ लेकर अग्निकी परिक्रमा की है, तेरे साथका वह सारा सम्बन्ध इस लोक और परलोकके लिये भी त्याग देता हूँ॥ ८॥

भरतश्चेत् प्रतीतः स्याद् राज्यं प्राप्यैतदव्ययम्।
यन्मे स दद्यात् पित्रर्थं मा मां तद्दत्तमागमत्॥ ९॥

'तेरा पुत्र भरत भी यदि इस विघ्न-बाधासे रहित राज्यको पाकर प्रसन्न हो तो वह मेरे लिये श्राद्धमें जो कुछ पिण्ड या जल आदि दान करे, वह मुझे प्राप्त न हो'॥ ९॥

अथ रेणुसमुद्ध्वस्तं समुत्थाप्य नराधिपम्।
न्यवर्तत तदा देवी कौसल्या शोककर्शिता॥ १०॥

तदनन्तर शोकसे कातर हुई कौसल्या देवी उस समय धरतीपर लोटनेके कारण धूलसे व्याप्त हुए महाराजको उठाकर उनके साथ राजभवनकी ओर लौटीं॥ १०॥

हत्वेव ब्राह्मणं कामात् स्पृष्ट्वाग्निमिव पाणिना।
अन्वतप्यत धर्मात्मा पुत्रं संचिन्त्य राघवम्॥ ११॥

जैसे कोई जान-बूझकर स्वेच्छापूर्वक ब्राह्मणकी हत्या कर डाले अथवा हाथसे प्रज्वलित अग्निका स्पर्श कर ले और ऐसा करके संतप्त होता रहे, उसी प्रकार धर्मात्मा राजा दशरथ अपने ही दिये हुए वरदानके कारण वनमें गये हुए श्रीरामका चिन्तन करके अनुतप्त हो रहे थे॥ ११॥

निवृत्त्यैव निवृत्त्यैव सीदतो रथवर्त्मसु।
राज्ञो नातिबभौ रूपं ग्रस्तस्यांशुमतो यथा॥ १२॥

राजा दशरथ बारंबार पीछे लौटकर रथके मार्गोंपर देखनेका कष्ट उठाते थे। उस समय उनका रूप राहुग्रस्त सूर्यकी भाँति अधिक शोभा नहीं पाता था॥ १२॥

विललाप स दुःखार्तः प्रियं पुत्रमनुस्मरन्।
नगरान्तमनुप्राप्तं बुद्ध्वा पुत्रमथाब्रवीत्॥ १३॥

वे अपने प्रिय पुत्रका बारंबार स्मरण करके दुःखसे आतुर हो विलाप करने लगे। वे बेटेको नगरकी सीमापर पहुँचा हुआ समझकर इस प्रकार कहने लगे—॥ १३॥

वाहनानां च मुख्यानां वहतां तं ममात्मजम्।
पदानि पथि दृश्यन्ते स महात्मा न दृश्यते॥ १४॥

'हाय! मेरे पुत्रको वनकी ओर ले जाते हुए श्रेष्ठ वाहनों (घोड़ों) के पदचिह्न तो मार्गमें दिखायी देते हैं; परंतु उन महात्मा श्रीरामका दर्शन नहीं हो रहा है॥ १४॥

यः सुखेनोपधानेषु शेते चन्दनरूषितः।
वीज्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः॥ १५॥
स नूनं क्वचिदेवाद्य वृक्षमूलमुपाश्रितः।
काष्ठं वा यदि वाश्मानमुपधाय शयिष्यते॥ १६॥

'जो मेरे श्रेष्ठ पुत्र श्रीराम चन्दनसे चर्चित हो तकियोंका सहारा लेकर उत्तम शय्याओंपर सुखसे सोते थे और उत्तम अलंकारोंसे विभूषित सुन्दरी स्त्रियाँ जिन्हें व्यजन डुलाती थीं, वे निश्चय ही आज कहीं वृक्षकी जड़का आश्रय ले अथवा किसी काठ या पत्थरको सिरके नीचे रखकर भूमिपर ही शयन करेंगे॥ १५-१६॥

उत्थास्यति च मेदिन्याः कृपणः पांसुगुण्ठितः।
विनिःश्वसन् प्रस्रवणात् करेणूनामिवर्षभः॥ १७॥

'फिर अङ्गोंमें धूल लपेटे दीनकी भाँति लंबी साँस खींचते हुए वे उस शयन-भूमिसे उसी प्रकार उठेंगे, जैसे किसी झरनेके पाससे गजराज उठता है॥ १७॥

द्रक्ष्यन्ति नूनं पुरुषा दीर्घबाहुं वनेचराः।
राममुत्थाय गच्छन्तं लोकनाथमनाथवत्॥ १८॥

'निश्चय ही वनमें रहनेवाले मनुष्य लोकनाथ महाबाहु श्रीरामको वहाँसे अनाथकी भाँति उठकर जाते हुए देखेंगे॥

सा नूनं जनकस्येष्टा सुता सुखसदोचिता।
कण्टकाक्रमणक्लान्ता वनमद्य गमिष्यति॥ १९॥

'जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य है, वह जनककी प्यारी पुत्री सीता आज अवश्य ही काँटोंपर पैर पड़नेसे व्यथाका अनुभव करती हुई वनको जायगी॥ १९॥

अनभिज्ञा वनानां सा नूनं भयमुपैष्यति।
श्वपदानर्दितं श्रुत्वा गम्भीरं रोमहर्षणम्॥ २०॥

'वह वनके कष्टोंसे अनभिज्ञ है। वहाँ व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओंका गम्भीर तथा रोमाञ्चकारी गर्जन-तर्जन सुनकर निश्चय ही भयभीत हो जायगी॥ २०॥

सकामा भव कैकेयि विधवा राज्यमावस।
नहि तं पुरुषव्याघ्रं विना जीवितुमुत्सहे॥ २१॥

'अरी कैकेयी! तू अपनी कामना सफल कर ले और विधवा होकर राज्य भोग। मैं पुरुषसिंह श्रीरामके बिना जीवित नहीं रह सकता'॥ २१॥

इत्येवं विलपन् राजा जनौघेनाभिसंवृतः।
अपस्नात इवारिष्टं प्रविवेश गृहोत्तमम्॥ २२॥

इस प्रकार विलाप करते हुए राजा दशरथने मरघटसे नहाकर आये हुए पुरुषकी भाँति मनुष्योंकी भारी भीड़से घिरकर अपने शोकपूर्ण उत्तम भवनमें प्रवेश किया॥ २२॥

शून्यचत्वरवेश्मान्तां संवृतापणवेदिकाम्।
क्लान्तदुर्बलदुःखार्तां नात्याकीर्णमहापथाम्॥ २३॥
तामवेक्ष्य पुरीं सर्वां राममेवानुचिन्तयन्।
विलपन् प्राविशद् राजा गृहं सूर्य इवाम्बुदम्॥ २४॥

उन्होंने देखा, अयोध्यापुरीके प्रत्येक घरका बाहरी चबूतरा और भीतरी भाग भी सूना हो रहा है। (क्योंकि उन घरोंके सब लोग श्रीरामके पीछे चले गये थे।) बाजार-हाट बंद है। जो लोग नगरमें हैं, वे भी अत्यन्त क्लान्त, दुर्बल और दुःखसे आतुर हो रहे हैं तथा बड़ी-बड़ी सड़कोंपर भी अधिक आदमी जाते-आते नहीं दिखायी देते हैं। सारे नगरकी यह अवस्था देखकर श्रीरामके लिये ही चिन्ता और विलाप करते हुए राजा उसी तरह महलके भीतर गये, जैसे सूर्य मेघोंकी घटामें छिप जाते हैं॥ २३-२४॥

महाह्रदमिवाक्षोभ्यं सुपर्णेन हृतोरगम्।
रामेण रहितं वेश्म वैदेह्या लक्ष्मणेन च॥ २५॥

श्रीराम, लक्ष्मण और सीतासे रहित वह राजभवन उस महान् अक्षोभ्य जलाशयके समान जान पड़ता था, जिसके भीतरके नागको गरुड़ उठा ले गये हों॥ २५॥

अथ गद्गदशब्दस्तु विलपन् वसुधाधिपः।
उवाच मृदु मन्दार्थं वचनं दीनमस्वरम्॥ २६॥

उस समय विलाप करते हुए राजा दशरथने गद्गद वाणीमें द्वारपालोंसे यह मधुर, अस्पष्ट, दीनतायुक्त और स्वाभाविक स्वरसे रहित बात कही—॥ २६॥

कौसल्याया गृहं शीघ्रं राममातुर्नयन्तु माम्।
न ह्यन्यत्र ममाश्वासो हृदयस्य भविष्यति॥ २७॥

'मुझे शीघ्र ही श्रीराम-माता कौसल्याके घरमें पहुँचा दो; क्योंकि मेरे हृदयको और कहीं शान्ति नहीं मिल सकती'॥

इति ब्रुवन्तं राजानमनयन् द्वारदर्शिनः।
कौसल्याया गृहं तत्र न्यवेशयत विनीतवत्॥ २८॥

ऐसी बात कहते हुए राजा दशरथको द्वारपालोंने बड़ी विनयके साथ रानी कौसल्याके भवनमें पहुँचाया और पलंगपर सुला दिया॥ २८॥

ततस्तत्र प्रविश्यास्य कौसल्याया निवेशनम्।
अधिरुह्यापि शयनं बभूव लुलितं मनः॥ २९॥

वहाँ कौसल्याके भवनमें प्रवेश करके पलंगपर आरूढ़ हो जानेपर भी राजा दशरथका मन चञ्चल एवं मलिन ही रहा॥ २९॥

पुत्रद्वयविहीनं च स्नुषया च विवर्जितम्।
अपश्यद् भवनं राजा नष्टचन्द्रमिवाम्बरम्॥ ३०॥

दोनों पुत्र और पुत्रवधू सीतासे रहित वह भवन राजाको चन्द्रहीन आकाशकी भाँति श्रीहीन दिखायी देने लगा॥ ३०॥

तच्च दृष्ट्वा महाराजो भुजमुद्यम्य वीर्यवान्।
उच्चैःस्वरेण प्राक्रोशद्धा राम विजहासि नौ॥ ३१॥
सुखिता बत तं कालं जीविष्यन्ति नरोत्तमाः।
परिष्वजन्तो ये रामं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम्॥ ३२॥

उसे देखकर पराक्रमी महाराजने एक बाँह ऊपर उठाकर उच्चस्वरसे विलाप करते हुए कहा—'हा राम! तुम हम दोनों माता-पिताको त्याग दे रहे हो। जो नरश्रेष्ठ चौदह वर्षोंकी अवधितक जीवित रहेंगे और अयोध्यामें पुनः लौटे हुए श्रीरामको हृदयसे लगाकर देखेंगे, वे ही वास्तवमें सुखी होंगे'॥ ३१-३२॥

अथ रात्र्यां प्रपन्नायां कालरात्र्यामिवात्मनः।
अर्धरात्रे दशरथः कौसल्यामिदमब्रवीत्॥ ३३॥

तदनन्तर अपनी कालरात्रिके समान वह रात्रि आनेपर राजा दशरथने आधी रात होनेपर कौसल्यासे इस प्रकार कहा—॥ ३३॥

न त्वां पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश।
रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते॥ ३४॥

'कौसल्ये! मेरी दृष्टि श्रीरामके ही साथ चली गयी और वह अबतक नहीं लौटी है; अतः मैं तुम्हें देख नहीं पाता हूँ। एक बार अपने हाथसे मेरे शरीरका स्पर्श तो करो'॥ ३४॥

तं राममेवानुविचिन्तयन्तं
समीक्ष्य देवी शयने नरेन्द्रम्।
उपोपविश्याधिकमार्तरूपा
विनिःश्वसन्तं विललाप कृच्छ्रम्॥ ३५॥

शय्यापर पड़े हुए महाराज दशरथको श्रीरामका ही चिन्तन करते और लंबी साँस खींचते देख देवी कौसल्या अत्यन्त व्यथित हो उनके पास आ बैठीं और बड़े कष्टसे विलाप करने लगीं॥ ३५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः॥ ४२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४२॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

महारानी कौसल्याका विलाप

ततः समीक्ष्य शयने सन्नं शोकेन पार्थिवम्।
कौसल्या पुत्रशोकार्ता तमुवाच महीपतिम्॥ १॥

शय्यापर पड़े हुए राजाको पुत्रशोकसे व्याकुल देख पुत्रके ही शोकसे पीड़ित हुई कौसल्याने उन महाराजसे कहा—॥ १॥

राघवे नरशार्दूले विषं मुक्त्वाहिजिह्मगा।
विचरिष्यति कैकेयी निर्मुक्तेव हि पन्नगी॥ २॥

'नरश्रेष्ठ श्रीरामपर अपना विष उँड़ेलकर टेढ़ी चालसे चलनेवाली कैकेयी केंचुल छोड़कर नूतन शरीरसे प्रकट हुई सर्पिणीकी भाँति अब स्वच्छन्द विचरेगी॥ २॥

विवास्य रामं सुभगा लब्धकामा समाहिता।
त्रासयिष्यति मां भूयो दुष्टाहिरिव वेश्मनि॥ ३॥

'जैसे घरमें रहनेवाला दुष्ट सर्प बारंबार भय देता रहता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रको वनवास देकर सफलमनोरथ हुई सुभगा कैकेयी सदा सावधान होकर मुझे त्रास देती रहेगी॥

अथास्मिन् नगरे रामश्चरन् भैक्षं गृहे वसेत्।
कामकारो वरं दातुमपि दासं ममात्मजम्॥ ४॥

'यदि श्रीराम इस नगरमें भीख माँगते हुए भी घरमें रहते अथवा मेरे पुत्रको कैकेयीका दास भी बना दिया गया होता तो वैसा वरदान मुझे भी अभीष्ट होता (क्योंकि उस दशामें मुझे भी श्रीरामका दर्शन होता रहता। श्रीरामके वनवासका वरदान तो कैकेयीने मुझे दुःख देनेके लिये ही माँगा है।)॥ ४॥

पातयित्वा तु कैकेय्या रामं स्थानाद् यथेष्टतः।
प्रविद्धो रक्षसां भागः पर्वणीवाहिताग्निना॥ ५॥

'कैकेयीने अपनी इच्छाके अनुसार श्रीरामको उनके स्थानसे भ्रष्ट करके वैसा ही किया है, जैसे किसी अग्निहोत्रीने पर्वके दिन देवताओंको उनके भागसे वञ्चित करके राक्षसोंको वह भाग अर्पित कर दिया हो॥ ५॥

नागराजगतिर्वीरो महाबाहुर्धनुर्धरः।
वनमाविशते नूनं सभार्यः सहलक्ष्मणः॥ ६॥

'गजराजके समान मन्द गतिसे चलनेवाले वीर महाबाहु धनुर्धर श्रीराम निश्चय ही अपनी पत्नी और लक्ष्मणके साथ वनमें प्रवेश कर रहे होंगे॥ ६॥

वने त्वदृष्टदुःखानां कैकेय्यनुमते त्वया।
त्यक्तानां वनवासाय कान्यावस्था भविष्यति॥ ७॥

'महाराज! जिन्होंने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखे थे, उन श्रीराम, लक्ष्मण और सीताको आपने कैकेयीकी बातोंमें आकर वनमें भेज दिया। अब उन बेचारोंकी वनवासके कष्ट भोगनेके सिवा और क्या अवस्था होगी?॥ ७॥

ते रत्नहीनास्तरुणाः फलकाले विवासिताः।
कथं वत्स्यन्ति कृपणाः फलमूलैः कृताशनाः॥ ८॥

'रत्नतुल्य उत्तम वस्तुओंसे वञ्चित वे तीनों तरुण सुख-रूप फल भोगनेके समय घरसे निकाल दिये गये। अब वे बेचारे फल-मूलका भोजन करके कैसे रह सकेंगे?॥ ८॥

अपीदानीं स कालः स्यान्मम शोकक्षयः शिवः।
सहभार्यं सह भ्रात्रा पश्येयमिह राघवम्॥ ९॥

'क्या अब फिर मेरे शोकको नष्ट करनेवाला वह शुभ समय आयेगा, जब मैं सीता और लक्ष्मणके साथ वनसे लौटे हुए श्रीरामको देखूँगी?॥ ९॥

श्रुत्वैवोपस्थितौ वीरौ कदायोध्या भविष्यति।
यशस्विनी हृष्टजना सूच्छ्रितध्वजमालिनी॥ १०॥

'कब वह शुभ अवसर प्राप्त होगा जब कि 'वीर श्रीराम और लक्ष्मण वनसे लौट आये' यह सुनते ही यशस्विनी अयोध्यापुरीके सब लोग हर्षसे उल्लसित हो उठेंगे और घर-घर फहराये गये ऊँचे-ऊँचे ध्वज-समूह पुरीकी शोभा बढ़ाने लगेंगे॥ १०॥

कदा प्रेक्ष्य नरव्याघ्रावरण्यात् पुनरागतौ।
भविष्यति पुरी हृष्टा समुद्र इव पर्वणि॥ ११॥

'नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मणको पुनः वनसे आया हुआ देख यह अयोध्यापुरी पूर्णिमाके उमड़ते हुए समुद्रकी भाँति कब हर्षोल्लाससे परिपूर्ण होगी?॥ ११॥

कदायोध्यां महाबाहुः पुरीं वीरः प्रवेक्ष्यति।
पुरस्कृत्य रथे सीतां वृषभो गोवधूमिव॥ १२॥

'जैसे साँड़ गायको आगे करके चलता है, उसी प्रकार वीर महाबाहु श्रीराम रथपर सीताको आगे करके कब अयोध्यापुरीमें प्रवेश करेंगे?॥ १२॥

कदा प्राणिसहस्राणि राजमार्गे ममात्मजौ।
लाजैरवकरिष्यन्ति प्रविशन्तावरिंदमौ॥ १३॥

'कब यहाँके सहस्रों मनुष्य पुरीमें प्रवेश करते और राजमार्गपर चलते हुए मेरे दोनों शत्रुदमन पुत्रोंपर लावा (खील) की वर्षा करेंगे?॥ १३॥

प्रविशन्तौ कदायोध्यां द्रक्ष्यामि शुभकुण्डलौ।
उदग्रायुधनिस्त्रिंशौ सशृङ्गाविव पर्वतौ॥ १४॥

'उत्तम आयुध एवं खड्ग लिये शिखरयुक्त पर्वतोंके समान प्रतीत होनेवाले श्रीराम और लक्ष्मण सुन्दर कुण्डलोंसे

अलंकृत हो कब अयोध्यापुरीमें प्रवेश करते हुए मेरे नेत्रोंके समक्ष प्रकट होंगे ? ॥ १४ ॥

कदा सुमनसः कन्या द्विजातीनां फलानि च ।
प्रदिशन्त्यः पुरीं हृष्टाः करिष्यन्ति प्रदक्षिणम् ॥ १५ ॥

'कब ब्राह्मणोंकी कन्याएँ हर्षपूर्वक फूल और फल अर्पण करती हुई अयोध्यापुरीकी परिक्रमा करेंगी ? ॥ १५ ॥

कदा परिणतो बुद्ध्या वयसा चामरप्रभः ।
अभ्युपैष्यति धर्मात्मा सुवर्ष इव लालयन् ॥ १६ ॥

'कब ज्ञानमें बढ़े-चढ़े और अवस्थामें देवताओंके समान तेजस्वी धर्मात्मा श्रीराम उत्तम वर्षाकी भाँति जनसमुदायका लालन करते हुए यहाँ पधारेंगे ? ॥ १६ ॥

निःसंशयं मया मन्ये पुरा वीर कदर्यया ।
पातुकामेषु वत्सेषु मातॄणां शातिताः स्तनाः ॥ १७ ॥

'वीर ! इसमें संदेह नहीं कि पूर्व जन्ममें मुझ नीच आचार-विचारवाली नारीने बछड़ोंके दूध पीनेके लिये उद्यत होते ही उनकी माताओंके स्तन काट दिये होंगे ॥ १७ ॥

साहं गौरिव सिंहेन विवत्सा वत्सला कृता ।
कैकेय्या पुरुषव्याघ्र बालवत्सेव गौर्बलात् ॥ १८ ॥

'पुरुषसिंह ! जैसे किसी सिंहने छोटेसे बछड़ेवाली वत्सला गौको बलपूर्वक बछड़ेसे हीन कर दिया हो, उसी प्रकार कैकेयीने मुझे बलात्कारपूर्वक अपने बेटेसे विलग कर दिया है ॥ १८ ॥

नहि तावद्गुणैर्जुष्टं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
एकपुत्रा विना पुत्रमहं जीवितुमुत्सहे ॥ १९ ॥

'जो उत्तम गुणोंसे युक्त और सम्पूर्ण शास्त्रोंमें प्रवीण हैं, उन अपने पुत्र श्रीरामके बिना मैं इकलौते बेटेवाली माँ जीवित नहीं रह सकती ॥ १९ ॥

न हि मे जीविते किंचित् सामर्थ्यमिह कल्प्यते ।
अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २० ॥

'अब प्यारे पुत्र श्रीराम और महाबली लक्ष्मणको देखे बिना मुझमें जीवित रहनेकी कुछ भी शक्ति नहीं है ॥ २० ॥

अयं हि मां दीपयतेऽद्य वह्नि-
स्तनूजशोकप्रभवो महाहितः ।
महीमिमां रश्मिभिरुत्तमप्रभो
यथा निदाघे भगवान् दिवाकरः ॥ २१ ॥

'जैसे ग्रीष्म ऋतुमें उत्कृष्ट प्रभावाले भगवान् सूर्य अपनी किरणोंद्वारा इस पृथ्वीको अधिक ताप देते हैं, उसी प्रकार यह पुत्रशोकजनित महान् अहितकारक अग्नि आज मुझे जलाये दे रही है' ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

सुमित्राका कौसल्याको आश्वासन देना

विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम् ।
इदं धर्मे स्थिता धर्म्यं सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

नारियोंमें श्रेष्ठ कौसल्याको इस प्रकार विलाप करती देख धर्मपरायणा सुमित्रा यह धर्मयुक्त बात बोली—॥ १ ॥

तवार्ये सद्गुणैर्युक्तः स पुत्रः पुरुषोत्तमः ।
किं ते विलपितेनैवं कृपणं रुदितेन वा ॥ २ ॥

'आर्ये ! तुम्हारे पुत्र श्रीराम उत्तम गुणोंसे युक्त और पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं । उनके लिये इस प्रकार विलाप करना और दीनतापूर्वक रोना व्यर्थ है, इस तरह रोने-धोनेसे क्या लाभ ? ॥ २ ॥

यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः ।
साधु कुर्वन् महात्मानं पितरं सत्यवादिनम् ॥ ३ ॥
शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत् प्रेत्य फलोदये ।
रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन ॥ ४ ॥

'बहिन ! जो राज्य छोड़कर अपने महात्मा पिताको भलीभाँति सत्यवादी बनानेके लिये वनमें चले गये हैं, वे तुम्हारे महाबली श्रेष्ठ पुत्र श्रीराम उस उत्तम धर्ममें स्थित हैं, जिसका सत्पुरुषोंने सर्वदा और सम्यक् प्रकारसे पालन किया है तथा जो परलोकमें भी सुखमय फल प्रदान करनेवाला है । ऐसे धर्मात्माके लिये कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३-४ ॥

वर्तते चोत्तमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन् सदानघः ।
दयावान् सर्वभूतेषु लाभस्तस्य महात्मनः ॥ ५ ॥

'निष्पाप लक्ष्मण समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु हैं । वे सदा श्रीरामके प्रति उत्तम बर्ताव करते हैं, अतः उन महात्मा लक्ष्मणके लिये यह लाभकी ही बात है ॥ ५ ॥

अरण्यवासे यद् दुःखं जानन्त्येव सुखोचिता ।
अनुगच्छति वैदेही धर्मात्मानं तवात्मजम् ॥ ६ ॥

'विदेहनन्दिनी सीता भी जो सुख भोगनेके ही योग्य है, वनवासके दुःखोंको भलीभाँति सोच-समझकर ही तुम्हारे धर्मात्मा पुत्रका अनुसरण करती है ॥ ६ ॥

कीर्तिभूतां पताकां यो लोके भ्रमयति प्रभुः ।
धर्मः सत्यव्रतपरः किं न प्राप्तस्तवात्मजः ॥ ७ ॥

'जो प्रभु संसारमें अपनी कीर्तिमयी पताका फहरा रहे हैं और सदा सत्यव्रतके पालनमें तत्पर रहते हैं, उन धर्मस्वरूप तुम्हारे पुत्र श्रीरामको कौन-सा श्रेय प्राप्त नहीं हुआ है ॥ ७ ॥

व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं माहात्म्यमुत्तमम् ।
न गात्रमंशुभिः सूर्यः संतापयितुमर्हति ॥ ८ ॥

'श्रीरामकी पवित्रता और उत्तम माहात्म्यको जानकर निश्चय ही सूर्य अपनी किरणोंद्वारा उनके शरीरको संतप्त नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः ।
राघवं युक्तशीतोष्णः सेविष्यति सुखोऽनिलः ॥ ९ ॥

'सभी समयोंमें वनोंसे निकली हुई उचित सरदी और गरमीसे युक्त सुखद एवं मङ्गलमय वायु श्रीरघुनाथजीकी सेवा करेगी ॥ ९ ॥

शयानमनघं रात्रौ पितेवाभिपरिष्वजन् ।
घर्मघ्नः संस्पृशञ्छीतश्चन्द्रमा ह्लादयिष्यति ॥ १० ॥

'रात्रिकालमें धूपका कष्ट दूर करनेवाले शीतल चन्द्रमा सोते हुए निष्पाप श्रीरामका अपने किरणरूपी करोंसे आलिङ्गन और स्पर्श करके उन्हें आह्लाद प्रदान करेंगे ॥ १० ॥

ददौ चास्त्राणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा महौजसे ।
दानवेन्द्रं हतं दृष्ट्वा तिमिध्वजसुतं रणे ॥ ११ ॥

'श्रीरामके द्वारा रणभूमिमें तिमिध्वज (शम्बर) के पुत्र दानवराज सुबाहुको मारा गया देख विश्वामित्रजीने उन महातेजस्वी वीरको बहुत-से दिव्यास्त्र प्रदान किये थे ॥ ११ ॥

स शूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः ।
असंत्रस्तो ह्यरण्येऽसौ वेश्मनीव निवत्स्यते ॥ १२ ॥

'वे पुरुषसिंह श्रीराम बड़े शूरवीर हैं । वे अपने ही बाहुबलका आश्रय लेकर जैसे महलमें रहते थे, उसी तरह वनमें भी निडर होकर रहेंगे ॥ १२ ॥

यस्येषुपथमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः ।
कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थातुमर्हति ॥ १३ ॥

जिनके बाणोंका लक्ष्य बनकर सभी शत्रु विनाशको प्राप्त होते हैं, उनके शासनमें यह पृथ्वी और यहाँके प्राणी कैसे नहीं रहेंगे ? ॥ १३ ॥

या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता ।
निवृत्तारण्यवासः स्वं क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥ १४ ॥

'श्रीरामकी जैसी शारीरिक शोभा है, जैसा पराक्रम है और जैसी कल्याणकारिणी शक्ति है, उससे जान पड़ता है कि वे वनवाससे लौटकर शीघ्र ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे ॥ १४ ॥

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।
श्रियाःश्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा ॥ १५ ॥
दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः ।
तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे ॥ १६ ॥

'देवि ! श्रीराम सूर्यके भी सूर्य (प्रकाशक) और अग्निके भी अग्नि (दाहक) हैं । वे प्रभुके भी प्रभु, लक्ष्मीकी भी उत्तम लक्ष्मी और क्षमाकी भी क्षमा हैं । इतना ही नहीं— वे देवताओंके भी देवता तथा भूतोंके भी उत्तम भूत हैं । वे वनमें रहें या नगरमें, उनके लिये कौन-से चराचर प्राणी दोषावह हो सकते हैं ॥ १५-१६ ॥

पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः ।
क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यते ॥ १७ ॥

'पुरुषशिरोमणि श्रीराम शीघ्र ही पृथ्वी, सीता और लक्ष्मी— इन तीनोंके साथ राज्यपर अभिषिक्त होंगे ॥ १७ ॥

दुःखजं विसृजत्यश्रु निष्क्रामन्तमुदीक्ष्य यम् ।
अयोध्यायां जनः सर्वः शोकवेगसमाहतः ॥ १८ ॥
कुशचीरधरं वीरं गच्छन्तमपराजितम् ।
सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ १९ ॥

'जिनको नगरसे निकलते देख अयोध्याका सारा जनसमुदाय शोकके वेगसे आहत हो नेत्रोंसे दुःखके आँसू बहा रहा है, कुश और चीर धारण करके वनको जाते हुए जिन अपराजित नित्यविजयी वीरके पीछे-पीछे सीताके रूपमें साक्षात् लक्ष्मी ही गयी है, उनके लिये क्या दुर्लभ है ? ॥ १८-१९ ॥

धनुर्ग्रहवरो यस्य बाणखड्गास्त्रभृत् स्वयम् ।
लक्ष्मणो व्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ २० ॥

'जिनके आगे धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मण स्वयं बाण और खड्ग आदि अस्त्र लिये जा रहे हैं, उनके लिये जगत्में कौन-सी वस्तु दुर्लभ है ? ॥ २० ॥

निवृत्तवनवासं तं द्रष्टासि पुनरागतम् ।
जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

'देवि ! मैं तुमसे सत्य कहती हूँ । तुम वनवासकी अवधि पूर्ण होनेपर यहाँ लौटे हुए श्रीरामको फिर देखोगी, इसलिये तुम शोक और मोह छोड़ दो ॥ २१ ॥

शिरसा चरणावेतौ वन्दमानमनिन्दिते ।
पुनर्द्रक्ष्यसि कल्याणि पुत्रं चन्द्रमिवोदितम् ॥ २२ ॥

'कल्याणि ! अनिन्दिते ! तुम नवोदित चन्द्रमाके समान अपने पुत्रको पुनः अपने इन चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते देखोगी ॥ २२ ॥

पुनः प्रविष्टं दृष्ट्वा तमभिषिक्तं महाश्रियम्।
समुत्स्रक्ष्यसि नेत्राभ्यां शीघ्रमानन्दजं जलम्॥ २३॥

'राजभवनमें प्रविष्ट होकर पुनः राजपदपर अभिषिक्त हुए अपने पुत्रको बड़ी भारी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न देखकर तुम शीघ्र ही अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाओगी॥ २३॥

मा शोको देवि दुःखं वा न रामे दृश्यतेऽशिवम्।
क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं ससीतं सहलक्ष्मणम्॥ २४॥

'देवि! श्रीरामके लिये तुम्हारे मनमें शोक और दुःख नहीं होना चाहिये; क्योंकि उनमें कोई अशुभ बात नहीं दिखायी देती। तुम सीता और लक्ष्मणके साथ अपने पुत्र श्रीरामको शीघ्र ही यहाँ उपस्थित देखोगी॥ २४॥

त्वयाशेषो जनश्चायं समाश्वास्यो यतोऽनघे।
किमिदानीमिदं देवि करोषि हृदि विक्लवम्॥ २५॥

'पापरहित देवि! तुम्हें तो इन सब लोगोंको धैर्य बँधाना चाहिये, फिर स्वयं ही इस समय अपने हृदयमें इतना दुःख क्यों करती हो?॥ २५॥

नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः।
नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः॥ २६॥

'देवि! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि तुम्हें रघुकुलनन्दन राम-जैसा बेटा मिला है। श्रीरामसे बढ़कर सन्मार्गमें स्थिर रहनेवाला मनुष्य संसारमें दूसरा कोई नहीं है॥ २६॥

अभिवादयमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम्।
मुदाश्रु मोक्ष्यसे क्षिप्रं मेघरेखेव वार्षिकी॥ २७॥

'जैसे वर्षाकालके मेघोंकी घटा जलकी वृष्टि करती है, उसी प्रकार तुम सुहृदोंसहित अपने पुत्र श्रीरामको अपने चरणोंमें प्रणाम करते देख शीघ्र ही आनन्दपूर्वक आँसुओंकी वर्षा करोगी॥ २७॥

पुत्रस्ते वरदः क्षिप्रमयोध्यां पुनरागतः।
कराभ्यां मृदुपीनाभ्यां चरणौ पीडयिष्यति॥ २८॥

'तुम्हारे वरदायक पुत्र पुनः शीघ्र ही अयोध्यामें आकर अपने मोटे-मोटे कोमल हाथोंद्वारा तुम्हारे दोनों पैरोंको दबायेंगे॥ २८॥

अभिवाद्य नमस्यन्तं शूरं ससुहृदं सुतम्।
मुदास्रैः प्रोक्षसे पुत्रं मेघराजिरिवाचलम्॥ २९॥

'जैसे मेघमाला पर्वतको नहलाती है, उसी प्रकार तुम अभिवादन करके नमस्कार करते हुए सुहृदोंसहित अपने शूरवीर पुत्रका आनन्दके आँसुओंसे अभिषेक करोगी' ॥२९॥

आश्वासयन्ती विविधैश्च वाक्यै-
र्वाक्योपचारे कुशलानवद्या।
रामस्य तां मातरमेवमुक्त्वा
देवी सुमित्रा विरराम रामा॥ ३०॥

बातचीत करनेमें कुशल, दोषरहित तथा रमणीय रूपवाली देवी सुमित्रा इस प्रकार तरह-तरहकी बातोंसे श्रीराम-माता कौसल्याको आश्वासन देती हुई उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गयीं॥ ३०॥

निशम्य तल्लक्ष्मणमातृवाक्यं
रामस्य मातुर्नरदेवपत्न्याः।
सद्यः शरीरे विननाश शोकः
शरद्गतो मेघ इवाल्पतोयः॥ ३१॥

लक्ष्मणकी माताका वह वचन सुनकर महाराज दशरथकी पत्नी तथा श्रीरामकी माता कौसल्याका सारा शोक उनके शरीर (मन) में ही तत्काल विलीन हो गया। ठीक उसी तरह, जैसे शरद् ऋतुका थोड़े जलवाला बादल शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जाता है॥ ३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः॥ ४४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४४॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामका पुरवासियोंसे भरत और महाराज दशरथके प्रति प्रेम-भाव रखनेका अनुरोध करते हुए लौट जानेके लिये कहना; नगरके वृद्ध ब्राह्मणोंका श्रीरामसे लौट चलनेके लिये आग्रह करना तथा उन सबके साथ श्रीरामका तमसातटपर पहुँचना

अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्।
अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः॥ १॥

उधर सत्यपराक्रमी महात्मा श्रीराम जब वनकी ओर जाने लगे, उस समय उनके प्रति अनुराग रखनेवाले बहुत-से अयोध्यावासी मनुष्य वनमें निवास करनेके लिये उनके पीछे-पीछे चल दिये॥ १॥

निवर्तितेऽतीव बलात् सुहृद्धर्मेण राजनि।
नैव ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम्॥ २॥

'जिसके जल्दी लौटनेकी कामना की जाय, उस स्वजन-को दूरतक नहीं पहुँचाना चाहिये'—इत्यादि रूपसे बताये गये सुहृद्धर्मके अनुसार जब राजा दशरथ बलपूर्वक लौटा दिये गये, तब भी जो श्रीरामजीके रथके पीछे-पीछे लगे हुए

थे, वे अयोध्यावासी अपने घरकी ओर नहीं लौटे ॥ २ ॥

अयोध्यानिलयानां हि पुरुषाणां महायशाः ।
बभूव गुणसम्पन्नः पूर्णचन्द्र इव प्रियः ॥ ३ ॥

क्योंकि अयोध्यावासी पुरुषोंके लिये सद्गुणसम्पन्न महायशस्वी श्रीराम पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रिय हो गये थे ॥ ३ ॥

स याच्यमानः काकुत्स्थस्ताभिः प्रकृतिभिस्तदा ।
कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत ॥ ४ ॥

उन प्रजाजनोंने श्रीरामसे घर लौट चलनेके लिये बहुत प्रार्थना की; किंतु वे पिताके सत्यकी रक्षा करनेके लिये वनकी ओर ही बढ़ते गये ॥ ४ ॥

अवेक्षमाणः सस्नेहं चक्षुषा प्रपिबन्निव ।
उवाच रामः सस्नेहं ताः प्रजाः स्वाः प्रजा इव ॥ ५ ॥

वे प्रजाजनोंको इस प्रकार स्नेहभरी दृष्टिसे देख रहे थे मानो नेत्रोंसे उन्हें पी रहे हों; उस समय श्रीरामने अपनी संतानके समान प्रिय उन प्रजाजनोंसे स्नेहपूर्वक कहा—॥५॥

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् ।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम् ॥ ६ ॥

'अयोध्यानिवासियोंका मेरे प्रति जो प्रेम और आदर है, वह मेरी ही प्रसन्नताके लिये भरतके प्रति और अधिकरूपमें होना चाहिये ॥ ६ ॥

स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः ।
करिष्यति यथावद् वः प्रियाणि च हितानि च ॥ ७ ॥

'उनका चरित्र बड़ा ही सुन्दर और सबका कल्याण करनेवाला है। कैकेयीका आनन्द बढ़ानेवाले भरत आप लोगोंका यथावत् प्रिय और हित करेंगे ॥ ७ ॥

ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः ।
अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः ॥ ८ ॥

'वे अवस्थामें छोटे होनेपर भी ज्ञानमें बड़े हैं। पराक्रमोचित गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी स्वभावके बड़े कोमल हैं। वे आपलोगोंके लिये योग्य राजा होंगे और प्रजाके भयका निवारण करेंगे ॥ ८ ॥

स हि राजगुणैर्युक्तो युवराजः समीक्षितः ।
अपि चापि मया शिष्टैः कार्यं वो भर्तृशासनम् ॥ ९ ॥

'वे मुझसे भी अधिक राजोचित गुणोंसे युक्त हैं, इसीलिये महाराजने उन्हें युवराज बनानेका निश्चय किया है; अतः आपलोगोंको अपने स्वामी भरतकी आज्ञाका सदा पालन करना चाहिये ॥ ९ ॥

न संतप्येद् यथा चासौ वनवासं गते मयि ।
महाराजस्तथा कार्यो मम प्रियचिकीर्षया ॥ १० ॥

'मेरे वनमें चले जानेपर महाराज दशरथ जिस प्रकार भी शोकसे संतप्त न होने पायें, इस बातके लिये आपलोग सदा चेष्टा रखें। मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे आपको मेरी इस प्रार्थनापर अवश्य ध्यान देना चाहिये' ॥ १० ॥

यथा यथा दाशरथिर्धर्ममेवाश्रितो भवेत् ।
तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन् ॥ ११ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामने ज्यों-ज्यों धर्मका आश्रय लेनेके लिये ही दृढ़ता दिखायी, त्यों-ही-त्यों प्रजाजनोंके मनमें उन्हींको अपना स्वामी बनानेकी इच्छा प्रबल होती गयी ॥ ११ ॥

बाष्पेण पिहितं दीनं रामः सौमित्रिणा सह ।
चकर्षेव गुणैर्बद्धं जनं पुरनिवासिनम् ॥ १२ ॥

समस्त पुरवासी अत्यन्त दीन होकर आँसू बहा रहे थे और लक्ष्मणसहित श्रीराम मानो अपने गुणोंमें बाँधकर उन्हें खींचे लिये जा रहे थे ॥ १२ ॥

ते द्विजास्त्रिविधं वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा ।
वयःप्रकम्पशिरसो दूरादूचुरिदं वचः ॥ १३ ॥

उनमें बहुत-से ब्राह्मण थे, जो ज्ञान, अवस्था और तपोबल—तीनों ही दृष्टियोंसे बड़े थे। वृद्धावस्थाके कारण कितनोंके तो सिर काँप रहे थे। वे दूरसे ही इस प्रकार बोले—॥ १३ ॥

वहन्तो जवना रामं भो भो जात्यास्तुरंगमाः ।
निवर्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तरि ॥ १४ ॥

'अरे! ओ तेज चलनेवाले अच्छी जातिके घोड़ो! तुम बड़े वेगशाली हो और श्रीरामको वनकी ओर लिये जा रहे हो, लौटो! अपने स्वामीके हितैषी बनो! तुम्हें वनमें नहीं जाना चाहिये ॥ १४ ॥

कर्णवन्ति हि भूतानि विशेषेण तुरङ्गमाः ।
यूयं तस्मान्निवर्तध्वं याचनां प्रतिवेदिताः ॥ १५ ॥

'यों तो सभी प्राणियोंके कान होते हैं, परंतु घोड़ोंके कान बड़े होते हैं; अतः तुम्हें हमारी याचनाका ज्ञान तो हो ही गया होगा; इसलिये घरकी ओर लौट चलो ॥ १५ ॥

धर्मतः स विशुद्धात्मा वीरः शुभदृढव्रतः ।
उपवाह्यस्तु वो भर्ता नापवाह्यः पुराद् वनम् ॥ १६ ॥

'तुम्हारे स्वामी श्रीराम विशुद्धात्मा, वीर और उत्तम व्रतका दृढ़तासे पालन करनेवाले हैं, अतः तुम्हें इनका उपवहन करना चाहिये—इन्हें बाहरसे नगरके समीप ले चलना चाहिये। नगरसे वनकी ओर इनका अपवहन करना—इन्हें ले जाना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है' ॥ १६ ॥

एवमार्तप्रलापांस्तान् वृद्धान् प्रलपतो द्विजान् ।
अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह ॥ १७ ॥

वृद्ध ब्राह्मणोंको इस प्रकार आर्तभावसे प्रलाप

करते देख श्रीरामचन्द्रजी सहसा रथसे नीचे उतर गये ॥

पद्भ्यामेव जगामाथ ससीतः सहलक्ष्मणः ।
संनिकृष्टपदन्यासो रामो वनपरायणः ॥ १८ ॥

वे सीता और लक्ष्मणके साथ पैदल ही चलने लगे। ब्राह्मणोंका साथ न छूटे, इसके लिये वे अपना पैर बहुत निकट रखते थे—लंबे डगसे नहीं चलते थे। वनमें पहुँचना ही उनकी यात्राका परम लक्ष्य था ॥ १८ ॥

द्विजातीन् हि पदातींस्तान् रामश्चारित्रवत्सलः।
न शशाक घृणाचक्षुः परिमोक्तुं रथेन सः॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें वात्सल्य-गुणकी प्रधानता थी। उनकी दृष्टिमें दया भरी हुई थी; इसलिये वे रथके द्वारा चलकर उन पैदल चलनेवाले ब्राह्मणोंको पीछे छोड़नेका साहस न कर सके ॥ १९ ॥

गच्छन्तमेव तं दृष्ट्वा रामं सम्भ्रान्तमानसाः ।
ऊचुः परमसंतप्ता रामं वाक्यमिदं द्विजाः ॥२० ॥

श्रीरामको अब भी वनकी ओर ही जाते देख वे ब्राह्मण मन-ही-मन घबरा उठे और अत्यन्त संतप्त होकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

ब्राह्मण्यं कृत्स्नमेतत् त्वां ब्रह्मण्यमनुगच्छति ।
द्विजस्कन्धाधिरूढास्त्वामग्नयोऽप्यनुयान्त्वमी ॥२१॥

'रघुनन्दन ! तुम ब्राह्मणोंके हितैषी हो, इसीसे यह सारा ब्राह्मण-समाज तुम्हारे पीछे-पीछे चल रहा है। इन ब्राह्मणोंके कंधोंपर चढ़कर अग्निदेव भी तुम्हारा अनुसरण कर रहे हैं ॥ २१ ॥

वाजपेयसमुत्थानि च्छत्राण्येतानि पश्य नः ।
पृष्ठतोऽनुप्रयातानि मेघानिव जलात्यये ॥ २२ ॥

'वर्षा बीतनेपर शरद् ऋतुमें दिखायी देनेवाले सफेद बादलोंके समान हमारे इन श्वेत छत्रोंकी ओर देखो, जो तुम्हारे पीछे-पीछे चल पड़े हैं। ये हमें वाजपेय यज्ञमें प्राप्त हुए थे ॥ २२ ॥

अनवाप्तातपत्रस्य रश्मिसंतापितस्य ते ।
एभिश्छायां करिष्यामः स्वैश्छत्रैर्वाजपेयकैः ॥ २३ ॥

'तुम्हें राजकीय श्वेतच्छत्र नहीं प्राप्त हुआ, अतएव तुम सूर्यदेवकी किरणोंसे संतप्त हो रहे हो। इस अवस्थामें हम वाजपेय यज्ञमें प्राप्त हुए इन अपने छत्रोंद्वारा तुम्हारे लिये छाया करेंगे ॥ २३ ॥

या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी ।
त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी ॥ २४ ॥

'वत्स ! हमारी जो बुद्धि सदा वेदमन्त्रोंके पीछे चलती थी—उन्हींके चिन्तनमें लगी रहती थी, वही तुम्हारे लिये वनवासका अनुसरण करनेवाली हो गयी है ॥ २४ ॥

हृदयेष्ववतिष्ठन्ते वेदा ये नः परं धनम् ।
वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥ २५ ॥

'जो हमारे परम धन वेद हैं, वे हमारे हृदयोंमें स्थित हैं। हमारी स्त्रियाँ अपने चरित्रबलसे सुरक्षित रहकर घरोंमें ही रहेंगी ॥ २५ ॥

पुनर्न निश्चयः कार्यस्त्वद्गतौ सुकृता मतिः ।
त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्याद् धर्मपथे स्थितम् ॥ २६ ॥

'अब हमें अपने कर्तव्यके विषयमें पुनः कुछ निश्चय नहीं करना है। हमने तुम्हारे साथ जानेका विचार स्थिर कर लिया है। तो भी हमें इतना अवश्य कहना है कि 'जब तुम ही ब्राह्मणकी आज्ञाके पालनरूपी धर्मकी ओरसे निरपेक्ष हो जाओगे, तब दूसरा कौन प्राणी धर्ममार्गपर स्थित रह सकेगा ॥ २६ ॥

याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः ।
शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः ॥ २७ ॥

'सदाचारका पोषण करनेवाले श्रीराम ! हमारे सिरके बाल पककर हंसके समान सफेद हो गये हैं और पृथ्वीपर पड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम करनेसे इनमें धूल भर गयी है। हम अपने ऐसे मस्तकोंको झुकाकर तुमसे याचना करते हैं कि तुम घरको लौट चलो (वे तत्त्वज्ञ ब्राह्मण यह जानते थे कि श्रीराम साक्षात् भगवान् विष्णु हैं । इसीलिये उनका श्रीरामके प्रति प्रणाम करना दोषकी बात नहीं है) ॥ २७ ॥

बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः ।
तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने ॥ २८ ॥

'(इतनेपर भी जब श्रीराम नहीं रुके, तब वे ब्राह्मण बोले—) वत्स ! जो लोग यहाँ आये हैं, इनमें बहुत-से ऐसे ब्राह्मण हैं, जिन्होंने यज्ञ आरम्भ कर दिया है। अब इनके यज्ञोंकी समाप्ति तुम्हारे लौटनेपर ही निर्भर है ॥ २८ ॥

भक्तिमन्तीह भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च ।
याचमानेषु तेषु त्वं भक्तिं भक्तेषु दर्शय ॥ २९ ॥

'संसारके स्थावर और जङ्गम सभी प्राणी तुम्हारे प्रति भक्ति रखते हैं । वे सब तुमसे लौट चलनेकी प्रार्थना कर रहे हैं। अपने उन भक्तोंपर तुम अपना स्नेह दिखाओ ॥ २९ ॥

अनुगन्तुमशक्तास्त्वां मूलैरुद्धतवेगिनः।
उन्नता वायुवेगेन विक्रोशन्तीव पादपाः ॥ ३० ॥

'ये वृक्ष अपनी जड़ोंके कारण अत्यन्त वेगहीन हैं, इसीसे तुम्हारे पीछे नहीं चल सकते; परंतु वायुके वेगसे इनमें जो सनसनाहट पैदा होती है, उसके द्वारा ये ऊँचे वृक्ष मानो तुम्हें पुकार रहे हैं—तुमसे लौट चलनेकी प्रार्थना कर रहे हैं ॥ ३० ॥

निश्चेष्टाहारसंचारा वृक्षैकस्थाननिश्चिताः ।

पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पिनम् ॥ ३१ ॥

'जो सब प्रकारकी चेष्टा छोड़ चुके हैं, चारा चुगनेके लिये भी कहीं उड़कर नहीं जाते हैं और निश्चितरूपसे वृक्षके एक स्थानपर ही पड़े रहते हैं, वे पक्षी भी तुमसे लौट चलनेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं; क्योंकि तुम समस्त प्राणियोंपर कृपा करनेवाले हो' ॥ ३१ ॥

एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने।
ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीरामसे लौटनेके लिये पुकार मचाते हुए उन ब्राह्मणोंपर मानो कृपा करनेके लिये मार्गमें तमसा नदी दिखायी दी, जो अपने तिर्यक्-प्रवाह (तिरछी धारा) से श्रीरघुनाथजीको रोकती हुई-सी प्रतीत होती थी ॥ ३२ ॥

ततः सुमन्त्रोऽपि रथाद् विमुच्य
श्रान्तान् हयान् सम्परिवर्त्य शीघ्रम्।
पीतोदकांस्तोयपरिप्लुताङ्गा-
नचारयद् वै तमसाविदूरे ॥ ३३ ॥

वहाँ पहुँचनेपर सुमन्त्रने भी थके हुए घोड़ोंको शीघ्र ही रथसे खोलकर उन सबको टहलाया, फिर पानी पिलाया और नहलाया, तत्पश्चात् तमसाके निकट ही चरनेके लिये छोड़ दिया ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रात्रिमें तमसा-तटपर निवास, माता-पिता और अयोध्याके लिये चिन्ता तथा पुरवासियोंको सोते छोड़कर वनकी ओर जाना

ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः।
सीतामुद्वीक्ष्य सौमित्रिमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर तमसाके रमणीय तटका आश्रय लेकर श्रीरामने सीताकी ओर देखकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

इयमद्य निशा पूर्वा सौमित्रे प्रहिता वनम्।
वनवासस्य भद्रं ते न चोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

'सुमित्रानन्दन! तुम्हारा कल्याण हो। हमलोग जो वनकी ओर प्रस्थित हुए हैं, हमारे उस वनवासकी आज यह पहली रात प्राप्त हुई है; अतः अब तुम्हें नगरके लिये उत्कण्ठित नहीं होना चाहिये ॥ २ ॥

पश्य शून्यान्यरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः।
यथा निलयमायद्भिर्निलीनानि मृगद्विजैः ॥ ३ ॥

'इन सूने वनोंकी ओर तो देखो, इनमें वन्य पशु-पक्षी अपने-अपने स्थानपर आकर अपनी बोली बोल रहे हैं। उनके शब्दसे सारी वनस्थली व्याप्त हो गयी है, मानो वे सारे वन हमें इस अवस्थामें देखकर खिन्न हो सब ओरसे रो रहे हैं ॥ ३ ॥

अद्यायोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम।
सस्त्रीपुंसा गतानस्माञ्शोचिष्यति न संशयः ॥ ४ ॥

'आज मेरे पिताकी राजधानी अयोध्या नगरी वनमें आये हुए हमलोगोंके लिये समस्त नर-नारियोंसहित शोक करेगी, इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

अनुरक्ता हि मनुजा राजानं बहुभिर्गुणैः।
त्वां च मां च नरव्याघ्र शत्रुघ्नभरतौ तथा ॥ ५ ॥

'पुरुषसिंह! अयोध्याके मनुष्य बहुत-से सद्गुणोंके कारण महाराजमें, तुममें, मुझमें तथा भरत और शत्रुघ्नमें भी अनुरक्त हैं ॥ ५ ॥

पितरं चानुशोचामि मातरं च यशस्विनीम्।
अपि नान्धौ भवेतां नौ रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः ॥ ६ ॥

'इस समय मुझे पिता और यशस्विनी माताके लिये बड़ा शोक हो रहा है; कहीं ऐसा न हो कि वे निरन्तर रोते रहनेके कारण अंधे हो जायँ ॥ ६ ॥

भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे।
धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति ॥ ७ ॥

'परंतु भरत बड़े धर्मात्मा हैं। अवश्य ही वे धर्म, अर्थ और काम—तीनोंके अनुकूल वचनोंद्वारा पिताजीको और मेरी माताको भी सान्त्वना देंगे ॥ ७ ॥

भरतस्यानृशंसत्वं संचिन्त्याहं पुनः पुनः।
नानुशोचामि पितरं मातरं च महाभुज ॥ ८ ॥

'महाबाहो! जब मैं भरतके कोमल स्वभावका बार-बार स्मरण करता हूँ, तब मुझे माता-पिताके लिये अधिक चिन्ता नहीं होती ॥ ८ ॥

त्वया कार्यं नरव्याघ्र मामनुव्रजता कृतम्।
अन्वेष्टव्या हि वैदेह्या रक्षणार्थे सहायता ॥ ९ ॥

'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! तुमने मेरे साथ आकर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है; क्योंकि तुम न आते तो मुझे विदेहकुमारी सीताकी रक्षाके लिये कोई सहायक ढूँढ़ना पड़ता ॥ ९ ॥

अद्भिरेव हि सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम् ।
एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति ॥ १० ॥

'सुमित्रानन्दन ! यद्यपि यहाँ नाना प्रकारके जंगली फल-मूल मिल सकते हैं तथापि आजकी यह रात मैं केवल जल पीकर ही बिताऊँगा । यही मुझे अच्छा जान पड़ता है' ॥१०॥

एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं सुमन्त्रमपि राघवः ।
अप्रमत्तस्त्वमश्वेषु भव सौम्येत्युवाच ह ॥ ११ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजीने सुमन्त्रसे भी कहा—'सौम्य ! अब आप घोड़ोंकी रक्षापर ध्यान दें, उनकी ओरसे असावधान न हों' ॥ ११ ॥

सोऽश्वान् सुमन्त्रः संयम्य सूर्येऽस्तं समुपागते ।
प्रभूतयवसान् कृत्वा बभूव प्रत्यनन्तरः ॥ १२ ॥

सुमन्त्रने सूर्यास्त हो जानेपर घोड़ोंको लाकर बाँध दिया और उनके आगे बहुत-सा चारा डालकर वे श्रीरामके पास आ गये ॥ १२ ॥

उपास्य तु शिवां संध्यां दृष्ट्वा रात्रिमुपागताम् ।
रामस्य शयनं चक्रे सूतः सौमित्रिणा सह ॥ १३ ॥

फिर (वर्णानुकूल) कल्याणमयी संध्योपासना करके रात आयी देख लक्ष्मणसहित सुमन्त्रने श्रीरामचन्द्रजीके शयन करने-योग्य स्थान और आसन ठीक किया ॥ १३ ॥

तां शय्यां तमसातीरे वीक्ष्य वृक्षदलैर्वृताम् ।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सभार्यः संविवेश ह ॥१४॥

तमसाके तटपर वृक्षके पत्तोंसे बनी हुई वह शय्या देखकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण और सीताके साथ उसपर बैठे ॥१४॥

सभार्यं सम्प्रसुप्तं तु श्रान्तं सम्प्रेक्ष्य लक्ष्मणः ।
कथयामास सूताय रामस्य विविधान् गुणान् ॥ १५ ॥

थोड़ी देरमें सीतासहित श्रीरामको थककर सोया हुआ देख लक्ष्मण सुमन्त्रसे उनके नाना प्रकारके गुणोंका वर्णन करने लगे ॥ १५ ॥

जाग्रतोरेव तां रात्रिं सौमित्रेरुदितो रविः ।
सूतस्य तमसातीरे रामस्य ब्रुवतो गुणान् ॥ १६ ॥

सुमन्त्र और लक्ष्मण तमसाके किनारे श्रीरामके गुणोंकी चर्चा करते हुए रातभर जागते रहे । इतनेहीमें सूर्योदयका समय निकट आ पहुँचा ॥ १६ ॥

गोकुलाकुलतीरायास्तमसाया विदूरतः ।
अवसत् तत्र तां रात्रिं रामः प्रकृतिभिः सह ॥ १७ ॥

तमसाका वह तट गौओंके समुदायसे भरा हुआ था । श्रीरामचन्द्रजीने प्रजाजनोंके साथ वहीं रात्रिमें निवास किया । वे प्रजाजनोंसे कुछ दूरपर सोये थे ॥ १७ ॥

उत्थाय च महातेजाः प्रकृतीस्ता निशाम्य च ।
अब्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम् ॥ १८ ॥

महातेजस्वी श्रीराम तड़के ही उठे और प्रजाजनोंको सोते देख पवित्र लक्षणोंवाले भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—॥

अस्मद्व्यपेक्षान् सौमित्रे निर्व्यपेक्षान् गृहेष्वपि ।
वृक्षमूलेषु संसक्तान् पश्य लक्ष्मण साम्प्रतम् ॥१९ ॥

'सुमित्राकुमार लक्ष्मण ! इन पुरवासियोंकी ओर देखो, ये इस समय वृक्षोंकी जड़से सटकर सो रहे हैं । इन्हें केवल हमारी चाह है । ये अपने घरोंकी ओरसे भी पूर्ण निरपेक्ष हो गये हैं ॥ १९ ॥

यथैते नियमं पौराः कुर्वन्त्यस्मन्निवर्तने ।
अपि प्राणान् न्यसिष्यन्ति न तु त्यक्ष्यन्ति निश्चयम् ।२०।

'हमें लौटा ले चलनेके लिये ये जैसा उद्योग कर रहे हैं, इससे जान पड़ता है, ये अपना प्राण त्याग देंगे; किंतु अपना निश्चय नहीं छोड़ेंगे ॥ २० ॥

यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वयं लघु ।
रथमारुह्य गच्छामः पन्थानमकुतोभयम् ॥ २१ ॥

'अतः जबतक ये सो रहे हैं तभीतक हमलोग रथपर सवार होकर शीघ्रतापूर्वक यहाँसे चल दें । फिर हमें इस मार्ग-पर और किसीके आनेका भय नहीं रहेगा ॥ २१ ॥

अतो भूयोऽपि नेदानीमिक्ष्वाकुपुरवासिनः ।
स्वपेयुरनुरक्ता मा वृक्षमूलेषु संश्रिताः ॥ २२ ॥

'अयोध्यावासी हमलोगोंके अनुरागी हैं । जब हम यहाँसे निकल चलेंगे, तब उन्हें फिर अब इस प्रकार वृक्षोंकी जड़ोंसे सटकर नहीं सोना पड़ेगा ॥ २२ ॥

पौरा ह्यात्मकृताद् दुःखाद् विप्रमोच्या नृपात्मजैः ।
न तु खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः ॥ २३ ॥

'राजकुमारोंका यह कर्तव्य है कि वे पुरवासियोंको अपने द्वारा होनेवाले दुःखसे मुक्त करें, न कि अपना दुःख देकर उन्हें और दुखी बना दें' ॥ २३ ॥

अब्रवील्लक्ष्मणो रामं साक्षाद् धर्ममिव स्थितम् ।
रोचते मे तथा प्राज्ञ क्षिप्रमारुह्यतामिति ॥२४ ॥

यह सुनकर लक्ष्मणने साक्षात् धर्मके समान विराजमान भगवान् श्रीरामसे कहा—'परम बुद्धिमान् आर्य ! मुझे आपकी राय पसंद है । शीघ्र ही रथपर सवार होइये' ॥ २४ ॥

अथ रामोऽब्रवीत् सूतं शीघ्रं संयुज्यतां रथः ।
गमिष्यामि ततोऽरण्यं गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥ २५ ॥

तब श्रीरामने सुमन्त्रसे कहा—'प्रभो ! आप जाइये और

शीघ्र ही रथ जोतकर तैयार कीजिये। फिर मैं जल्दी ही यहाँसे वनकी ओर चलूँगा' ॥ २५ ॥

सूतस्ततः संत्वरितः स्यन्दनं तैर्हयोत्तमैः।
योजयित्वा तु रामस्य प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत् ॥ २६ ॥

आज्ञा पाकर सुमन्त्रने उन उत्तम घोड़ोंको तुरंत ही रथमें जोत दिया और श्रीरामके पास हाथ जोड़कर निवेदन किया—॥

अयं युक्तो महाबाहो रथस्ते रथिनां वर।
त्वरयाऽऽरोह भद्रं ते ससीतः सहलक्ष्मणः ॥ २७ ॥

'महाबाहो! रथियोंमें श्रेष्ठ वीर! आपका कल्याण हो। आपका यह रथ जुता हुआ तैयार है। अब सीता और लक्ष्मणके साथ शीघ्र इसपर सवार होइये' ॥ २७ ॥

तं स्यन्दनमधिष्ठाय राघवः सपरिच्छदः।
शीघ्रगामाकुलावर्तां तमसामतरन्नदीम् ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी सबके साथ रथपर बैठकर तीव्र-गतिसे बहनेवाली भँवरोंसे भरी हुई तमसा नदीके उस पार गये ॥

स संतीर्य महाबाहुः श्रीमाञ्शिवमकण्टकम्।
प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शिनाम् ॥ २९ ॥

नदीको पार करके महाबाहु श्रीमान् राम ऐसे महान् मार्गपर जा पहुँचे जो कल्याणप्रद, कण्टकरहित तथा सर्वत्र भय देखनेवालोंके लिये भी भयसे रहित था ॥ २९ ॥

मोहनार्थं तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद् वचः।
उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमारुह्य सारथे ॥ ३० ॥
मुहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः।
यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः ॥ ३१ ॥

उस समय श्रीरामने पुरवासियोंको भुलावा देनेके लिये सुमन्त्रसे यह बात कही—'सारथे! (हमलोग तो यहीं उतर जाते हैं;) परंतु आप रथपर आरूढ़ होकर पहले उत्तर दिशाकी ओर जाइये। दो घड़ीतक तीव्र गतिसे उत्तर जाकर फिर दूसरे मार्गसे रथको यहीं लौटा लाइये। जिस तरह भी पुरवासियोंको मेरा पता न चले, वैसा एकाग्रतापूर्वक प्रयत्न कीजिये'॥३०-३१॥

रामस्य तु वचः श्रुत्वा तथा चक्रे च सारथिः।
प्रत्यागम्य च रामस्य स्यन्दनं प्रत्यवेदयत् ॥ ३२ ॥

श्रीरामजीका यह वचन सुनकर सारथिने वैसा ही किया और लौटकर पुनः श्रीरामकी सेवामें रथ उपस्थित कर दिया ॥ ३२ ॥

तौ सम्प्रयुक्तं तु रथं समास्थितौ
तदा ससीतौ रघुवंशवर्धनौ।
प्रचोदयामास ततस्तुरंगमान्
स सारथिर्येन पथा तपोवनम् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मण, जो रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले थे, लौटाकर लाये गये उस रथपर चढ़े। तदनन्तर सारथिने घोड़ोंको उस मार्गपर बढ़ा दिया जिससे तपोवनमें पहुँचा जा सकता था ॥ ३३ ॥

ततः समास्थाय रथं महारथः
ससारथिर्दाशरथिर्वनं ययौ।
उदङ्मुखं तं तु रथं चकार
प्रयाणमाङ्गल्यनिमित्तदर्शनात् ॥ ३४ ॥

तदनन्तर सारथिसहित महारथी श्रीरामने यात्राकालिक मङ्गलसूचक शकुन देखनेके लिये पहले तो उस रथको उत्तराभिमुख खड़ा किया; फिर वे उस रथपर आरूढ़ होकर वनकी ओर चल दिये ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

प्रातःकाल उठनेपर पुरवासियोंका विलाप करना और निराश होकर नगरको लौटना

प्रभातायां तु शर्वर्यां पौरास्ते राघवं विना।
शोकोपहतनिश्चेष्टा बभूवुर्हतचेतसः ॥ १ ॥

इधर रात बीतनेपर जब सवेरा हुआ, तब अयोध्यावासी मनुष्य श्रीरघुनाथजीको न देखकर अचेत हो गये। शोकसे व्याकुल होनेके कारण उनसे कोई भी चेष्टा करते न बनी ॥ १ ॥

शोकजाश्रुपरिद्यूना वीक्षमाणास्ततस्ततः।
आलोकमपि रामस्य न पश्यन्ति स्म दुःखिताः ॥ २ ॥

वे शोकजनित आँसू बहाते हुए अत्यन्त खिन्न हो गये तथा इधर-उधर उनकी खोज करने लगे। परंतु उन दुखी पुरवासियोंको श्रीराम किधर गये, इस बातका पता देनेवाला कोई चिह्नतक नहीं दिखायी दिया ॥ २ ॥

ते विषादार्तवदना रहितास्तेन धीमता।
कृपणाः करुणा वाचो वदन्ति स्म मनीषिणः ॥ ३ ॥

बुद्धिमान् श्रीरामसे बिलग होकर वे अत्यन्त दीन हो गये। उनके मुखपर विषादजनित वेदना स्पष्ट दिखायी देती थी। वे मनीषी पुरवासी करुणाभरे वचन बोलते हुए विलाप करने लगे—॥ ३ ॥

धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहृतचेतसः।
नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम् ॥ ४ ॥

'हाय ! हमारी उस निद्राको धिक्कार है, जिससे अचेत हो जानेके कारण हम उस समय विशाल वक्षवाले महाबाहु श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित हो गये हैं ॥ ४ ॥

कथं रामो महाबाहुः स तथावितथक्रियः।
भक्तं जनमभित्यज्य प्रवासं तापसो गतः ॥ ५ ॥

'जिनकी कोई भी क्रिया कभी निष्फल नहीं होती, वे तापसवेषधारी महाबाहु श्रीराम हम भक्तजनोंको छोड़कर परदेश (वन) में कैसे चले गये ? ॥ ५ ॥

यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान्।
कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः॥ ६ ॥

'जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका पालन करता है, उसी प्रकार जो सदा हमारी रक्षा करते थे, वे ही रघुकुलश्रेष्ठ श्रीराम आज हमें छोड़कर वनको क्यों चले गये ? ॥ ६ ॥

इहैव निधनं याम महाप्रस्थानमेव वा।
रामेण रहितानां नो किमर्थं जीवितं हितम् ॥ ७ ॥

'अब हमलोग यहीं प्राण दे दें या मरनेका निश्चय करके उत्तर दिशाकी ओर चल दें। श्रीरामसे रहित होकर हमारा जीवन-धारण किसलिये हितकर हो सकता है ? ॥ ७ ॥

सन्ति शुष्काणि काष्ठानि प्रभूतानि महान्ति च।
तैः प्रज्वाल्य चितां सर्वे प्रविशामोऽथवा वयम् ॥ ८ ॥

'अथवा यहाँ बहुत-से बड़े-बड़े सूखे काठ पड़े हैं, उनसे चिता जलाकर हम सब लोग उसीमें प्रवेश कर जायँ ॥ ८ ॥

किं वक्ष्यामो महाबाहुरनसूयः प्रियंवदः।
नीतः स राघवोऽस्माभिरिति वक्तुं कथं क्षमम् ॥ ९ ॥

'(यदि हमसे कोई श्रीरामका वृत्तान्त पूछेगा तो हम उसे क्या उत्तर देंगे ?) क्या हम यह कहेंगे कि जो किसीके दोष नहीं देखते और सबसे प्रिय वचन बोलते हैं, उन महाबाहु श्रीरघुनाथजीको हमने वनमें पहुँचा दिया है ? हाय ! यह अयोग्य बात हमारे मुँहसे कैसे निकल सकती है ? ॥ ९ ॥

सा नूनं नगरी दीना दृष्ट्वास्मान् राघवं विना।
भविष्यति निरानन्दा सस्त्रीबालवयोऽधिका ॥ १० ॥

'श्रीरामके बिना हमलोगोंको लौटा हुआ देखकर स्त्री, बालक और वृद्धोंसहित सारी अयोध्यानगरी निश्चय ही दीन और आनन्दहीन हो जायगी ॥ १० ॥

निर्यातास्तेन वीरेण सह नित्यं महात्मना।
विहीनास्तेन च पुनः कथं द्रक्ष्याम तां पुरीम् ॥ ११ ॥

'हमलोग वीरवर महात्मा श्रीरामके साथ सर्वदा निवास करनेके लिये निकले थे। अब उनसे बिछुड़कर हम अयोध्यापुरीको कैसे देख सकेंगे' ॥ ११ ॥

इतीव बहुधा वाचो बाहुमुद्यम्य ते जनाः।
विलपन्ति स्म दुःखार्ता हृतवत्सा इवाग्रगाः ॥ १२ ॥

इस प्रकार अनेक तरहकी बातें कहते हुए वे समस्त पुरवासी अपनी भुजा उठाकर विलाप करने लगे। वे बछड़ोंसे बिछुड़ी हुई अग्रगामिनी गौओंकी भाँति दुःखसे व्याकुल हो रहे थे ॥ १२ ॥

ततो मार्गानुसारेण गत्वा किंचित् ततः क्षणम्।
मार्गनाशाद् विषादेन महता समभिप्लुताः ॥ १३ ॥

फिर रास्तेपर रथकी लीक देखते हुए सब-के-सब कुछ दूरतक गये; किंतु क्षणभरमें मार्गका चिह्न न मिलनेके कारण वे महान् शोकमें डूब गये ॥ १३ ॥

रथमार्गानुसारेण न्यवर्तन्त मनस्विनः।
किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति ॥ १४ ॥

उस समय यह कहते हुए कि 'यह क्या हुआ ? अब हम क्या करें ? दैवने हमें मार डाला' वे मनस्वी पुरुष रथकी लीकका अनुसरण करते हुए अयोध्याकी ओर लौट पड़े ॥

तदा यथागतेनैव मार्गेण क्लान्तचेतसः।
अयोध्यामगमन् सर्वे पुरीं व्यथितसज्जनाम् ॥ १५ ॥

उनका चित्त क्लान्त हो रहा था। वे सब जिस मार्गसे गये थे, उसीसे लौटकर अयोध्यापुरीमें जा पहुँचे, जहाँके सभी सत्पुरुष श्रीरामके लिये व्यथित थे ॥ १५ ॥

आलोक्य नगरीं तां च क्षयव्याकुलमानसाः।
आवर्तयन्त तेऽश्रूणि नयनैः शोकपीडितैः ॥ १६ ॥

उस नगरीको देखकर उनका हृदय दुःखसे व्याकुल हो उठा। वे अपने शोकपीड़ित नेत्रोंद्वारा आँसुओंकी वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

एषा रामेण नगरी रहिता नातिशोभते।
आपगा गरुडेनेव ह्रदादुद्धृतपन्नगा ॥ १७ ॥

(वे बोले—) 'जिसके गहरे कुण्डसे वहाँका नाग गरुड़के द्वारा निकाल लिया गया हो, वह नदी जैसे शोभाहीन हो जाती है, उसी प्रकार श्रीरामसे रहित हुई यह अयोध्यानगरी अब अधिक शोभा नहीं पाती है' ॥ १७ ॥

चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम्।
अपश्यन् निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः ॥ १८ ॥

उन्होंने देखा, सारा नगर चन्द्रहीन आकाश और जलहीन समुद्रके समान आनन्दशून्य हो गया है। पुरीकी यह दुरवस्था देख वे अचेत-से हो गये ॥ १८ ॥

ते तानि वेश्मानि महाधनानि
दुःखेन दुःखोपहता विशन्तः।
नैव प्रजज्ञुः स्वजनं परं वा
निरीक्ष्यमाणाः प्रविनष्टहर्षाः ॥ १९ ॥

उनके हृदयका सारा उल्लास नष्ट हो चुका था। वे दुःखसे पीड़ित हो उन महान् वैभवसम्पन्न गृहोंमें बड़े क्लेशके साथ प्रविष्ट हो सबको देखते हुए भी अपने और परायेकी पहचान न कर सके ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥



अष्टचत्वारिंशः सर्गः

नगरनिवासिनी स्त्रियोंका विलाप करना

तेषामेवं विषण्णानां पीडितानामतीव च।
बाष्पविप्लुतनेत्राणां सशोकानां मुमूर्षया ॥ १ ॥
अभिगम्य निवृत्तानां रामं नगरवासिनाम्।
उद्गतानीव सत्त्वानि बभूवुरमनस्विनाम् ॥ २ ॥

इस प्रकार जो विषादग्रस्त, अत्यन्त पीड़ित, शोकमग्न तथा प्राण त्याग देनेकी इच्छासे युक्त हो नेत्रोंसे आँसू बहा रहे थे, श्रीरामचन्द्रजीके साथ जाकर भी जो उन्हें लिये बिना लौट आये थे और इसीलिये जिनका चित्त ठिकाने नहीं था, उन नगरवासियोंकी ऐसी दशा हो रही थी मानो उनके प्राण निकल गये हों ॥ १-२ ॥

स्वं स्वं निलयमागम्य पुत्रदारैः समावृताः।
अश्रूणि मुमुचुः सर्वे बाष्पेण पिहिताननाः ॥ ३ ॥

वे सब अपने-अपने घरमें आकर पत्नी और पुत्रोंसे घिरे हुए आँसू बहाने लगे। उनके मुख अश्रुधारासे आच्छादित थे ॥ ३ ॥

न चाहृष्यन् न चामोदन् वणिजो न प्रसारयन्।
न चाशोभन्त पण्यानि नापचन् गृहमेधिनः ॥ ४ ॥

उनके शरीरमें हर्षका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता था तथा मनमें भी आनन्दका अभाव ही था। वैश्योंने अपनी दुकानें नहीं खोलीं। क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ बाजारोंमें फैलायी जानेपर भी उनकी शोभा नहीं हुई (उन्हें लेनेके लिये ग्राहक नहीं आये)। उस दिन गृहस्थोंके घरमें चूल्हे नहीं जले—रसोई नहीं बनी ॥ ४ ॥

नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन् विपुलं वा धनागमम्।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाप्यनन्दत ॥ ५ ॥

खोयी हुई वस्तु मिल जानेपर भी किसीको प्रसन्नता नहीं हुई, विपुल धन-राशि प्राप्त हो जानेपर भी किसीने उसका अभिनन्दन नहीं किया। जिसने प्रथम बार पुत्रको जन्म दिया था, वह माता भी आनन्दित नहीं हुई ॥ ५ ॥

गृहे गृहे रुदन्त्यश्च भर्तारं गृहमागतम्।
व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्भिस्तोत्त्रैरिव द्विपान् ॥ ६ ॥

प्रत्येक घरकी स्त्रियाँ अपने पतियोंको श्रीरामके बिना ही लौटकर आये देख रो पड़ीं और दुःखसे आतुर हो कठोर वचनोंद्वारा उन्हें कोसने लगीं, मानो महावत अङ्कुशोंसे हाथियोंको मार रहे हों ॥ ६ ॥

किं नु तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा।
पुत्रैर्वापि सुखैर्वापि ये न पश्यन्ति राघवम् ॥ ७ ॥

वे बोलीं—'जो लोग श्रीरामको नहीं देखते, उन्हें घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-दौलत और सुख-भोगोंसे क्या प्रयोजन है? ॥ ७ ॥

एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया।
योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन् वने ॥ ८ ॥

'संसारमें एकमात्र लक्ष्मण ही सत्पुरुष हैं, जो सीताके साथ श्रीरामकी सेवा करनेके लिये उनके पीछे-पीछे वनमें जा रहे हैं ॥ ८ ॥

आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च।
येषु यास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि ॥ ९ ॥

'उन नदियों, कमलमण्डित बावड़ियों तथा सरोवरोंने अवश्य ही बहुत पुण्य किया होगा, जिनके पवित्र जलमें स्नान करके श्रीरामचन्द्रजी आगे जायँगे ॥ ९ ॥

शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमटव्यो रम्यकाननाः।
आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः ॥ १० ॥

जिनमें रमणीय वृक्षावलियाँ शोभा पाती हैं, वे सुन्दर वन-श्रेणियाँ, बड़े कछारवाली नदियाँ और शिखरोंसे सम्पन्न पर्वत श्रीरामकी शोभा बढ़ायेंगे ॥ १० ॥

काननं वापि शैलं वा यं रामोऽनुगमिष्यति।
प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैनं शक्ष्यन्त्यनर्चितुम् ॥ ११ ॥

'श्रीराम जिस वन अथवा पर्वतपर जायँगे, वहाँ उन्हें अपने प्रिय अतिथिकी भाँति आया हुआ देख वे वन और पर्वत उनकी पूजा किये बिना नहीं रह सकेंगे ॥ ११ ॥

विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः।
राघवं दर्शयिष्यन्ति नगा भ्रमरशालिनः ॥ १२ ॥

'विचित्र फूलोंके मुकुट पहने और बहुत-सी मञ्जरियाँ धारण किये भ्रमरोंसे सुशोभित वृक्ष वनमें श्रीरामचन्द्रजीको अपनी शोभा दिखायेंगे ॥ १२ ॥

अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च।
दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद् गिरयो राममागतम् ॥ १३ ॥

'वहाँके पर्वत अपने यहाँ पधारे हुए श्रीरामको अत्यन्त आदरके कारण असमयमें भी उत्तम-उत्तम फूल और फल दिखायेंगे (भेंट करेंगे) ॥ १३ ॥

प्रस्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः ।
विदर्शयन्तो विविधान् भूयश्चित्रांश्च निर्झरान् ॥ १४ ॥

'वे पर्वत बारंबार नाना प्रकारके विचित्र झरने दिखाते हुए श्रीरामके लिये निर्मल जलके स्रोत बहायेंगे ॥

पादपाः पर्वताग्रेषु रमयिष्यन्ति राघवम् ।
यत्र रामो भयं नात्र नास्ति तत्र पराभवः ॥ १५ ॥
स हि शूरो महाबाहुः पुत्रो दशरथस्य च ।
पुरा भवति नोऽदूरादनुगच्छाम राघवम् ॥ १६ ॥

'पर्वत-शिखरोंपर लहलहाते हुए वृक्ष श्रीरघुनाथजीका मनोरञ्जन करेंगे । जहाँ श्रीराम हैं वहाँ न तो कोई भय है और न किसीके द्वारा पराभव ही हो सकता है; क्योंकि दशरथनन्दन महाबाहु श्रीराम बड़े शूरवीर हैं । अतः जबतक वे हमलोगोंसे बहुत दूर नहीं निकल जाते, इसके पहले ही हमें उनके पास पहुँचकर पीछे लग जाना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

पादच्छाया सुखं भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः ।
स हि नाथो जनस्यास्य स गतिः स परायणम् ॥ १७ ॥

'उनके-जैसे महात्मा एवं स्वामीके चरणोंकी छाया ही हमारे लिये परम सुखद है । वे ही हमारे रक्षक, गति और परम आश्रय हैं ॥ १७ ॥

वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं च राघवम् ।
इति पौरस्त्रियो भर्तॄन् दुःखार्तास्तत्तदब्रुवन् ॥ १८ ॥

'हम स्त्रियाँ सीताजीकी सेवा करेंगी और तुम सब लोग श्रीरघुनाथजीकी सेवामें लगे रहना ।' इस प्रकार पुरवासियोंकी स्त्रियाँ दुःखसे आतुर हो अपने पतियोंसे उपर्युक्त बातें कहने लगीं ॥ १८ ॥

युष्माकं राघवोऽरण्ये योगक्षेमं विधास्यति ।
सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥ १९ ॥

(वे पुनः बोलीं—) 'वनमें श्रीरामचन्द्रजी आपलोगोंका योगक्षेम सिद्ध करेंगे और सीताजी हम नारियोंके योगक्षेमका निर्वाह करेंगी ॥ १९ ॥

को न्वनेनाप्रतीतेन सोत्कण्ठितजनेन च ।
सम्प्रीयेतामनोज्ञेन वासेन हृतचेतसा ॥ २० ॥

'यहाँका निवास प्रीति और प्रतीतिसे रहित है । यहाँके सब लोग श्रीरामके लिये उत्कण्ठित रहते हैं । किसीको यहाँका रहना अच्छा नहीं लगता तथा यहाँ रहनेसे मन अपनी सुध-बुध खो बैठता है । भला, ऐसे निवाससे किसको प्रसन्नता होगी ? ॥ २० ॥

कैकेय्या यदि चेद् राज्यं स्यादधर्म्यमनाथवत् ।
न हि नो जीवितेनार्थः कुतः पुत्रैः कुतो धनैः ॥ २१ ॥

'यदि इस राज्यपर कैकेयीका अधिकार हो गया तो यह अनाथ-सा हो जायगा । इसमें धर्मकी मर्यादा नहीं रहने पायेगी । ऐसे राज्यमें तो हमें जीवित रहनेकी ही आवश्यकता नहीं जान पड़ती, फिर यहाँ धन और पुत्रोंसे क्या लेना है ? ॥ २१ ॥

यया पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावैश्वर्यकारणात् ।
कं सा परिहरेदन्यं कैकेयी कुलपांसनी ॥ २२ ॥

'जिसने राज्य-वैभवके लिये अपने पुत्र और पतिको त्याग दिया, वह कुलकलङ्किनी कैकेयी दूसरे किसका त्याग नहीं करेगी ? ॥ २२ ॥

कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका हि वसेमहि ।
जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे ॥ २३ ॥

'हम अपने पुत्रोंकी शपथ खाकर कहती हैं कि जबतक कैकेयी जीवित रहेगी, तबतक हम जीते-जी कभी उसके राज्यमें नहीं रह सकेंगी, भले ही यहाँ हमारा पालन-पोषण होता रहे (फिर भी हम यहाँ रहना नहीं चाहेंगी) ॥ २३ ॥

या पुत्रं पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्घृणा ।
कस्तां प्राप्य सुखं जीवेदधर्म्यां दुष्टचारिणीम् ॥ २४ ॥

'जिस निर्दय स्वभाववाली नारीने महाराजके पुत्रको राज्यसे बाहर निकलवा दिया है, उस अधर्मपरायणा दुराचारिणी कैकेयीके अधिकारमें रहकर कौन सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है ? ॥ २४ ॥

उपद्रुतमिदं सर्वमनालम्भमनायकम् ।
कैकेय्यास्तु कृते सर्वं विनाशमुपयास्यति ॥ २५ ॥

'कैकेयीके कारण यह सारा राज्य अनाथ एवं यज्ञरहित होकर उपद्रवका केन्द्र बन गया है, अतः एक दिन सबका विनाश हो जायगा ॥ २५ ॥

नहि प्रव्रजिते रामे जीविष्यति महीपतिः ।
मृते दशरथे व्यक्तं विलोपस्तदनन्तरम् ॥ २६ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके वनवासी हो जानेपर महाराज दशरथ जीवित नहीं रहेंगे। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि राजा दशरथकी मृत्युके पश्चात् इस राज्यका लोप हो जायगा ॥ २६ ॥

ते विषं पिबतालोड्य क्षीणपुण्याः सुदुःखिताः ।
राघवं वानुगच्छध्वमश्रुतिं वापि गच्छत ॥ २७ ॥

'इसलिये अब तुमलोग यह समझ लो कि अब हमारे पुण्य समाप्त हो गये । यहाँ रहकर हमें अत्यन्त दुःख ही भोगना पड़ेगा । ऐसी दशामें या तो जहर घोलकर पी जाओ या श्रीरामका अनुसरण करो अथवा किसी ऐसे देशमें चले चलो, जहाँ कैकेयीका नाम भी न सुनायी पड़े ॥ २७ ॥

मिथ्याप्रव्राजितो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः ।
भरते संनिबद्धाः स्मः सौनिके पशवो यथा ॥ २८ ॥

'झूठे वरकी कल्पना करके पत्नी और लक्ष्मणके साथ श्रीरामको देशनिकाला दे दिया गया और हमें भरतके साथ बाँध दिया गया। अब हमारी दशा कसाईके घर बँधे हुए पशुओंके समान हो गयी है ॥ २८ ॥

पूर्णचन्द्राननः श्यामो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः पद्माक्षो रामो लक्ष्मणपूर्वजः ॥ २९ ॥
पूर्वाभिभाषी मधुरः सत्यवादी महाबलः।
सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत् प्रियदर्शनः ॥ ३० ॥

'लक्ष्मणके ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर है। उनके शरीरकी कान्ति श्याम, गलेकी हँसली मांससे ढकी हुई, भुजाएँ घुटनोंतक लंबी और नेत्र कमलके समान सुन्दर हैं। वे सामने आनेपर पहले ही बातचीत छेड़ते हैं तथा मीठे और सत्य वचन बोलते हैं। श्रीराम शत्रुओंका दमन करनेवाले और महान् बलवान् हैं। समस्त जगत्के लिये सौम्य (कोमल स्वभाववाले) हैं। उनका दर्शन चन्द्रमाके समान प्यारा है ॥ २९-३० ॥

नूनं पुरुषशार्दूलो मत्तमातङ्गविक्रमः।
शोभयिष्यत्यरण्यानि विचरन् स महारथः ॥ ३१ ॥

'निश्चय ही मतवाले गजराजके समान पराक्रमी पुरुषसिंह महारथी श्रीराम भूतलपर विचरते हुए वनस्थलियोंकी शोभा बढ़ायेंगे' ॥ ३१ ॥

तास्तथा विलपन्त्यस्तु नगरे नागरस्त्रियः।
चुक्रुशुर्दुःखसंतप्ता मृत्योरिव भयागमे ॥ ३२ ॥

नगरमें नागरिकोंकी स्त्रियाँ इस प्रकार विलाप करती हुई दुःखसे संतप्त हो इस तरह जोर-जोरसे रोने लगीं मानो उनपर मृत्युका भय आ गया हो ॥ ३२ ॥

इत्येवं विलपन्तीनां स्त्रीणां वेश्मसु राघवम्।
जगामास्तं दिनकरो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ ३३ ॥

अपने-अपने घरोंमें श्रीरामके लिये स्त्रियाँ इस प्रकार दिनभर विलाप करती रहीं। धीरे-धीरे सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और रात हो गयी ॥ ३३ ॥

नष्टज्वलनसंतापा प्रशान्ताध्यायसत्कथा।
तिमिरेणानुलिप्तेव तदा सा नगरी बभौ ॥ ३४ ॥

उस समय किसीके घरमें अग्निहोत्रके लिये भी आग नहीं जली। स्वाध्याय और कथावार्ता भी नहीं हुई। सारी अयोध्यापुरी अन्धकारसे पुती हुई-सी प्रतीत होती थी ॥ ३४ ॥

उपशान्तवणिक्पण्या नष्टहर्षा निराश्रया।
अयोध्या नगरी चासीन्नष्टतारमिवाम्बरम् ॥ ३५ ॥

बनियोंकी दुकानें बंद होनेके कारण वहाँ चहल-पहल नहीं थी, सारी पुरीकी हँसी-खुशी छिन गयी थी, श्रीरामरूपी आश्रयसे रहित अयोध्यानगरी जिसके तारे छिप गये हों, उस आकाशके समान श्रीहीन जान पड़ती थी ॥ ३५ ॥

तदा स्त्रियो रामनिमित्तमातुरा
यथा सुते भ्रातरि वा विवासिते।
विलप्य दीना रुरुदुर्विचेतसः
सुतैर्हि तासामधिकोऽपि सोऽभवत् ॥ ३६ ॥

उस समय नगरवासिनी स्त्रियाँ श्रीरामके लिये इस तरह शोकातुर हो रही थीं, मानो उनके सगे बेटे या भाईको देश-निकाला दे दिया गया हो। वे अत्यन्त दीनभावसे विलाप करके रोने लगीं और रोते-रोते अचेत हो गयीं; क्योंकि श्रीराम उनके लिये पुत्रों (तथा भाइयों) से भी बढ़कर थे ॥ ३६ ॥

प्रशान्तगीतोत्सवनृत्यवादना
विभ्रष्टहर्षा पिहितापणोदया।
तदा ह्ययोध्या नगरी बभूव सा
महार्णवः संक्षपितोदको यथा ॥ ३७ ॥

वहाँ गाने, बजाने और नाचनेके उत्सव बंद हो गये, सबका उत्साह जाता रहा, बाजारकी दुकानें नहीं खुलीं, इन सब कारणोंसे उस समय अयोध्यानगरी जलहीन समुद्रके समान सूनसान लग रही थी ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

ग्रामवासियोंकी बातें सुनते हुए श्रीरामका कोसल जनपदको लाँघते हुए आगे जाना और वेदश्रुति, गोमती एवं स्यन्दिका नदियोंको पार करके सुमन्त्रसे कुछ कहना

रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम्।
जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन् ॥ १ ॥

उधर पुरुषसिंह श्रीराम भी पिताकी आज्ञाका बारंबार स्मरण करते हुए उस शेष रात्रिमें ही बहुत दूर निकल गये ॥

तथैव गच्छतस्तस्य व्यपायाद् रजनी शिवा।
उपास्य तु शिवां संध्यां विषयानत्यगाहत ॥ २ ॥

उसी तरह चलते-चलते उनकी वह कल्याणमयी रजनी भी व्यतीत हो गयी। सबेरा होनेपर मङ्गलमयी संध्योपासना

करके वे विभिन्न जनपदोंको लाँघते हुए चल दिये ॥ २ ॥

ग्रामान् विकृष्टसीमान्तान् पुष्पितानि वनानि च।
पश्यन्नतिययौ शीघ्रं शनैरिव हयोत्तमैः ॥ ३ ॥

जिनकी सीमाके पासकी भूमि जोत दी गयी थी, उन ग्रामों तथा फूलोंसे सुशोभित वनोंको देखते हुए वे उन उत्तम घोड़ोंद्वारा शीघ्रतपूर्वक आगे बढ़े जा रहे थे तथापि सुन्दर दृश्योंके देखनेमें तन्मय रहनेके कारण उन्हें उस रथकी गति धीमी-सी ही जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

शृण्वन् वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् ।
राजानं धिग् दशरथं कामस्य वशमास्थितम् ॥ ४ ॥

मार्गमें जो बड़े और छोटे गाँव मिलते थे, उनमें निवास करनेवाले मनुष्योंकी निम्नाङ्कित बातें उनके कानोंमें पड़ रही थीं—'अहो ! कामके वशमें पड़े हुए राजा दशरथको धिक्कार है ! ॥ ४ ॥

हा नृशंसाद्य कैकेयी पापा पापानुबन्धिनी ।
तीक्ष्णा सम्भिन्नमर्यादा तीक्ष्णकर्मणि वर्तते ॥ ५ ॥

'हाय ! हाय ! पापशीला, पापासक्त, क्रूर तथा धर्ममर्यादाका त्याग करनेवाली कैकेयीको तो दया छू भी नहीं गयी है, वह क्रूर अब निष्ठुर कर्ममें ही लगी रहती है ॥ ५ ॥

या पुत्रमीदृशं राज्ञः प्रवासयति धार्मिकम् ।
वनवासे महाप्राज्ञं सानुक्रोशं जितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

'जिसने महाराजके ऐसे धर्मात्मा, महाज्ञानी, दयालु और जितेन्द्रिय पुत्रको वनवासके लिये घरसे निकलवा दिया है ॥

कथं नाम महाभागा सीता जनकनन्दिनी ।
सदा सुखेष्वभिरता दुःखान्यनुभविष्यति ॥ ७ ॥

'जनकनन्दिनी महाभागा सीता, जो सदा सुखोंमें ही रत रहती थीं, अब वनवासके दुःख कैसे भोग सकेंगी ? ॥ ७ ॥

अहो दशरथो राजा निःस्नेहः स्वसुतं प्रति ।
प्रजानामनघं रामं परित्यक्तुमिहेच्छति ॥ ८ ॥

'अहो ! क्या राजा दशरथ अपने पुत्रके प्रति इतने स्नेहहीन हो गये, जो प्रजाओंके प्रति कोई अपराध न करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीका यहाँ परित्याग कर देना चाहते हैं ॥ ८ ॥

एता वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् ।
शृण्वन्नतिययौ वीरः कोसलान् कोसलेश्वरः ॥ ९ ॥

छोटे-बड़े गाँवोंमें रहनेवाले मनुष्योंकी ये बातें सुनते हुए वीर कोसलपति श्रीराम कोसल जनपदकी सीमा लाँघकर आगे बढ़ गये ॥ ९ ॥

ततो वेदश्रुतिं नाम शिववारिवहां नदीम् ।
उत्तीर्याभिमुखः प्रायादगस्त्याध्युषितां दिशम् ॥ १० ॥

तदनन्तर शीतल एवं सुखद जल बहानेवाली वेदश्रुति नामक नदीको पार करके श्रीरामचन्द्रजी अगस्त्यसेवित दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ गये ॥ १० ॥

गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शीतवहां नदीम् ।
गोमतीं गोयुतानूपामतरत् सागरङ्गमाम् ॥ ११ ॥

दीर्घकालतक चलकर उन्होंने समुद्रगामिनी गोमती नदीको पार किया, जो शीतल जलका स्रोत बहाती थी। उसके कछारमें बहुत-सी गौएँ विचरती थीं ॥ ११ ॥

गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः ।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम् ॥ १२ ॥

शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा गोमती नदीको लाँघ करके श्रीरघुनाथजीने मोरों और हंसोंके कलरवोंसे व्याप्त स्यन्दिका नामक नदीको भी पार किया ॥ १२ ॥

स महीं मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा ।
स्फीतां राष्ट्रवृतां रामो वैदेहीमन्वदर्शयत् ॥ १३ ॥

वहाँ जाकर श्रीरामने धन-धान्यसे सम्पन्न और अनेक अवान्तर जनपदोंसे घिरी हुई भूमिका सीताको दर्शन कराया, जिसे पूर्वकालमें राजा मनुने इक्ष्वाकुको दिया था ॥ १३ ॥

सूत इत्येव चाभाष्य सारथिं तमभीक्ष्णशः ।
हंसमत्तस्वरः श्रीमानुवाच पुरुषोत्तमः ॥ १४ ॥

फिर श्रीमान् पुरुषोत्तम श्रीरामने 'सूत !' कहकर सारथिको बारंबार सम्बोधित किया और मदमत्त हंसके समान मधुर स्वरमें इस प्रकार कहा—॥ १४ ॥

कदाहं पुनरागम्य सरय्वाः पुष्पिते वने ।
मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च संगतः ॥ १५ ॥

'सूत ! मैं कब पुनः लौटकर माता-पितासे मिलूँगा और सरयूके पार्श्ववर्ती पुष्पित वनमें मृगयाके लिये भ्रमण करूँगा ? ॥ १५ ॥

नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने ।
रतिर्ह्येषातुला लोके राजर्षिगणसम्मता ॥ १६ ॥

'मैं सरयूके वनमें शिकार खेलनेकी बहुत अधिक अभिलाषा नहीं रखता। यह लोकमें एक प्रकारकी अनुपम क्रीड़ा है, जो राजर्षियोंके समुदायको अभिमत है ॥ १६ ॥

राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन् रत्यर्थं मृगया वने ।
काले कृतां तां मनुजैर्धन्विनामभिकाङ्क्षिताम् ॥ १७ ॥

'इस लोकमें वनमें जाकर शिकार खेलना राजर्षियोंकी क्रीड़ाके लिये प्रचलित हुआ था। अतः मनुपुत्रोंद्वारा उस समय की गयी यह क्रीड़ा अन्य धनुर्धरोंको भी अभीष्ट हुई' ॥ १७ ॥

स तमध्वानमैक्ष्वाकः सूतं मधुरया गिरा ।

तं तमर्थमभिप्रेत्य ययौ वाक्यमुदीरयन् ॥ १८ ॥

इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी विभिन्न विषयोंको लेकर सूतसे मधुर वाणीमें उपयुक्त बातें कहते हुए उस मार्गपर बढ़ते चले गये ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥



पञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका मार्गमें अयोध्यापुरीसे वनवासकी आज्ञा माँगना और शृङ्गवेरपुरमें गङ्गातटपर पहुँचकर रात्रिमें निवास करना, वहाँ निषादराज गुहद्वारा उनका सत्कार

विशालान् कोसलान् रम्यान् यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।
अयोध्यामुन्मुखो धीमान् प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार विशाल और रमणीय कोसलदेशकी सीमाको पार करके लक्ष्मणके बड़े भाई बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने अयोध्याकी ओर अपना मुख किया और हाथ जोड़कर कहा—॥

आपृच्छे त्वां पुरिश्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते ।
दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च ॥ २ ॥

'ककुत्स्थवंशी राजाओंसे परिपालित पुरीशिरोमणि अयोध्ये! मैं तुमसे तथा जो-जो देवता तुम्हारी रक्षा करते और तुम्हारे भीतर निवास करते हैं, उनसे भी वनमें जानेकी आज्ञा चाहता हूँ ॥ २ ॥

निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः ।
पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह संगतः ॥ ३ ॥

'वनवासकी अवधि पूरी करके महाराजके ऋणसे उऋण हो मैं पुनः लौटकर तुम्हारा दर्शन करूँगा और अपने माता-पितासे भी मिलूँगा' ॥ ३ ॥

ततो रुचिरताम्राक्षो भुजमुद्यम्य दक्षिणम् ।
अश्रुपूर्णमुखो दीनोऽब्रवीज्जानपदं जनम् ॥ ४ ॥

इसके बाद सुन्दर एवं अरुण नेत्रवाले श्रीरामने दाहिनी भुजा उठाकर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए दुखी होकर जनपदके लोगोंसे कहा—॥ ४ ॥

अनुक्रोशो दया चैव यथार्हं मयि वः कृतः ।
चिरं दुःखस्य पापीयो गम्यतामर्थसिद्धये ॥ ५ ॥

'आपने मुझपर बड़ी कृपा की और यथोचित दया दिखायी। मेरे लिये आपलोगोंने बहुत देरतक कष्ट सहन किया। इस तरह आपका देरतक दुःखमें पड़े रहना अच्छा नहीं है; इसलिये अब आपलोग अपना-अपना कार्य करनेके लिये जाइये' ॥ ५ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
विलपन्तो नराघोरं व्यतिष्ठंश्च क्वचित् क्वचित् ॥ ६ ॥

यह सुनकर उन मनुष्योंने महात्मा श्रीरामको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की और घोर विलाप करते हुए वे जहाँ-तहाँ खड़े हो गये ॥ ६ ॥

तथा विलपतां तेषामतृप्तानां च राघवः ।
अचक्षुर्विषयं प्रायाद् यथार्कः क्षणदामुखे ॥ ७ ॥

उनकी आँखें अभी श्रीरामके दर्शनसे तृप्त नहीं हुई थीं और वे पूर्वोक्त रूपसे विलाप कर ही रहे थे, इतनेमें श्रीरघुनाथजी उनकी दृष्टिसे ओझल हो गये जैसे सूर्य प्रदोषकालमें छिप जाते हैं ॥ ७ ॥

ततो धान्यधनोपेतान् दानशीलजनाञ्शिवान् ।
अकुतश्चिद्भयान् रम्यांश्चैत्ययूपसमावृतान् ॥ ८ ॥
उद्यानाम्रवणोपेतान् सम्पन्नसलिलाशयान् ।
तुष्टपुष्टजनाकीर्णान् गोकुलाकुलसेवितान् ॥ ९ ॥
रक्षणीयान् नरेन्द्राणां ब्रह्मघोषाभिनादितान् ।
रथेन पुरुषव्याघ्र कोसलानत्यवर्तत ॥ १० ॥

इसके बाद पुरुषसिंह श्रीराम रथके द्वारा ही उस कोसल जनपदको लाँघ गये, जो धन-धान्यसे सम्पन्न और सुखदायक था। वहाँके सब लोग दानशील थे। उस जनपदमें कहींसे कोई भय नहीं था। वहाँके भूभाग रमणीय एवं चैत्य-वृक्षों तथा यज्ञसम्बन्धी यूपोंसे व्याप्त थे। बहुत-से उद्यान और आमोंके वन उस जनपदकी शोभा बढ़ाते थे। वहाँ जलसे भरे हुए बहुत-से जलाशय सुशोभित थे। सारा जनपद हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा था; गौओंके समूहोंसे व्याप्त और सेवित था। वहाँके ग्रामोंकी बहुत-से नरेश रक्षा करते थे तथा वहाँ वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि गूँजती रहती थी ॥ ८–१० ॥

मध्येन मुदितं स्फीतं रम्योद्यानसमाकुलम् ।
राज्यं भोज्यं नरेन्द्राणां ययौ धृतिमतां वरः ॥ ११ ॥

कोसलदेशसे आगे बढ़नेपर धैर्यवानोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी मध्यमार्गसे ऐसे राज्यमें होकर निकले, जो सुख-सुविधासे युक्त, धन-धान्यसे सम्पन्न, रमणीय उद्यानोंसे व्याप्त तथा सामन्त नरेशोंके उपभोगमें आनेवाला था ॥ ११ ॥

तत्र त्रिपथगां दिव्यां शीततोयामशैवलाम् ।
ददर्श राघवो गङ्गां रम्यामृषिनिषेविताम् ॥ १२ ॥

उस राज्यमें श्रीरघुनाथजीने त्रिपथगामिनी दिव्यनदी गङ्गाका दर्शन किया, जो शीतल जलसे भरी हुई, सेवारोंसे रहित तथा रमणीय थीं। बहुत-से महर्षि उनका सेवन करते थे ॥ १२ ॥

आश्रमैरविदूरस्थैः श्रीमद्भिः समलंकृताम् ।
कालेऽप्सरोभिर्हृष्टाभिः सेवितम्भोहृदां शिवाम् ।।१३।।

उनके तटपर थोड़ी-थोड़ी दूरपर बहुत-से सुन्दर आश्रम बने थे, जो उन देवनदीकी शोभा बढ़ाते थे । समय-समयपर हर्षभरी अप्सराएँ भी उतरकर उनके जलकुण्डका सेवन करती हैं । वे गङ्गा सबका कल्याण करनेवाली हैं ॥ १३ ॥

देवदानवगन्धर्वैः किंनरैरुपशोभिताम् ।
नागगन्धर्वपत्नीभिः सेवितां सततं शिवाम् ॥ १४ ॥

देवता, दानव, गन्धर्व और किन्नर उन शिवस्वरूपा भागीरथीकी शोभा बढ़ाते हैं । नागों और गन्धर्वोंकी पत्नियाँ उनके जलका सदा सेवन करती हैं ॥ १४ ॥

देवाक्रीडशताकीर्णां देवोद्यानयुतां नदीम् ।
देवार्थमाकाशगतां विख्यातां देवपद्मिनीम् ॥ १५ ॥

गङ्गाके दोनों तटोंपर देवताओंके सैकड़ों पर्वतीय क्रीड़ास्थल हैं । उनके किनारे देवताओंके बहुत-से उद्यान भी हैं । वे देवताओंकी क्रीड़ाके लिये आकाशमें भी विद्यमान हैं और वहाँ देवपद्मिनीके रूपमें विख्यात हैं ॥ १५ ॥

जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम् ।
क्वचिद् वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम् ॥ १६ ॥

प्रस्तरखण्डोंसे गङ्गाके जलके टकरानेसे जो शब्द होता है, वही मानो उनका उग्र अट्टहास है । जलसे जो फेन प्रकट होता है, वही उन दिव्य नदीका निर्मल हास है । कहीं तो उनका जल वेणीके आकारका है और कहीं वे भँवरोंसे सुशोभित होती हैं ॥ १६ ॥

क्वचित् स्तिमितगम्भीरां क्वचिद् वेगसमाकुलाम् ।
क्वचिद् गम्भीरनिर्घोषां क्वचिद् भैरवनिःस्वनाम् ॥१७॥

कहीं उनका जल निश्चल एवं गहरा है । कहीं वे महान् वेगसे व्याप्त हैं । कहीं उनके जलसे मृदङ्ग आदिके समान गम्भीर घोष प्रकट होता है और कहीं वज्रपात आदिके समान भयंकर नाद सुनायी पड़ता है ॥ १७ ॥

देवसंघाप्लुतजलां निर्मलोत्पलसंकुलाम् ।
क्वचिदाभोगपुलिनां क्वचिन्निर्मलवालुकाम् ॥ १८ ॥

उनके जलमें देवताओंके समुदाय गोते लगाते हैं । कहीं-कहीं उनका जल नील कमलों अथवा कुमुदोंसे आच्छादित होता है । कहीं विशाल पुलिनका दर्शन होता है तो कहीं निर्मल बालुका-राशिका ॥ १८ ॥

हंससारससंघुष्टां चक्रवाकोपशोभिताम् ।
सदामत्तैश्च विहगैरभिपन्नामनिन्दिताम् ॥ १९ ॥

हंसों और सारसोंके कलरव वहाँ गूँजते रहते हैं । चकवे उन देवनदीकी शोभा बढ़ाते हैं । सदा मदमत्त रहनेवाले विहंगम उनके जलपर मँडराते रहते हैं । वे उत्तम शोभासे सम्पन्न हैं ॥ १९ ॥

क्वचित् तीररुहैर्वृक्षैर्मालाभिरिव शोभिताम् ।
क्वचित् फुल्लोत्पलच्छन्नां क्वचित् पद्मवनाकुलाम् ।।२०।।

कहीं तटवर्ती वृक्ष मालाकार होकर उनकी शोभा बढ़ाते हैं । कहीं तो उनका जल खिले हुए उत्पलोंसे आच्छादित है और कहीं कमलवनोंसे व्याप्त ॥ २० ॥

क्वचित् कुमुदखण्डैश्च कुड्मलैरुपशोभिताम् ।
नानापुष्परजोध्वस्तां समदामिव च क्वचित् ॥ २१ ॥

कहीं कुमुदसमूह तथा कहीं कलिकाएँ उन्हें सुशोभित करती हैं । कहीं नाना प्रकारके पुष्पोंके परागोंसे व्याप्त होकर वे मदमत्त नारीके समान प्रतीत होती हैं ॥ २१ ॥

व्यपेतमलसंघातां मणिनिर्मलदर्शनाम् ।
दिशागजैर्वनगजैर्मत्तैश्च वरवारणैः ॥ २२ ॥
देवराजोपवाह्यैश्च संनादितवनान्तराम् ।

वे मलसमूह (पापराशि) दूर कर देती हैं । उनका जल इतना स्वच्छ है कि मणिके समान निर्मल दिखायी देता है । उनके तटवर्ती वनका भीतरी भाग मदमत्त दिग्गजों, जंगली हाथियों तथा देवराजकी सवारीमें आनेवाले श्रेष्ठ गजराजोंसे कोलाहलपूर्ण बना रहता है ॥ २२½ ॥

प्रमदामिव यत्नेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥ २३ ॥
फलपुष्पैः किसलयैर्वृतां गुल्मैर्द्विजैस्तथा ।
विष्णुपादच्युतां दिव्यामपापां पापनाशिनीम् ॥ २४ ॥

वे फलों, फूलों, पल्लवों, गुल्मों तथा पक्षियोंसे आवृत होकर उत्तम आभूषणोंसे यत्नपूर्वक विभूषित हुई युवतीके समान शोभा पाती हैं । उनका प्राकट्य भगवान् विष्णुके चरणोंसे हुआ है । उनमें पापका लेश भी नहीं है । वे दिव्य नदी गङ्गा जीवोंके समस्त पापोंका नाश कर देनेवाली हैं ॥

शिशुमारैश्च नक्रैश्च भुजंगैश्च समन्विताम् ।
शंकरस्य जटाजूटाद् भ्रष्टां सागरतेजसा ॥ २५ ॥
समुद्रमहिषीं गङ्गां सारसक्रौञ्चनादिताम् ।
आससाद महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥ २६ ॥

उनके जलमें सूँस, घड़ियाल और सर्प निवास करते हैं । सगरवंशी राजा भगीरथके तपोमय तेजसे जिनका शंकरजीके जटाजूटसे अवतरण हुआ था, जो समुद्रकी रानी हैं तथा जिनके निकट सारस और क्रौञ्च पक्षी कलरव करते रहते हैं, उन्हीं देवनदी गङ्गाके पास महाबाहु श्रीरामजी पहुँचे । गङ्गाकी वह धारा शृङ्गवेरपुरमें बह रही थी ॥ २५-२६ ॥

तामूर्मिकलिलावर्तामन्ववेक्ष्य महारथः ।
सुमन्त्रमब्रवीत् सूतमिहैवाद्य वसामहे ॥ २७ ॥

जिनके आवर्त (भँवरें) लहरोंसे व्याप्त थे, उन

गङ्गाजीका दर्शन करके महारथी श्रीरामने सारथि सुमन्त्रसे कहा—'सूत ! आज हमलोग यहीं रहेंगे ॥ २७ ॥

अविदूरादयं नद्या बहुपुष्पप्रवालवान् ।
सुमहानिङ्गुदीवृक्षो वसामोऽत्रैव सारथे ॥ २८ ॥

'सारथे ! गङ्गाजीके समीप ही जो यह बहुत-से फूलों और नये-नये पल्लवोंसे सुशोभित महान् इङ्गुदीका वृक्ष है, इसीके नीचे आज रातमें हम निवास करेंगे ॥ २८ ॥

प्रेक्षामि सरितां श्रेष्ठां सम्मान्यसलिलां शिवाम् ।
देवमानवगन्धर्वमृगपन्नगपक्षिणाम् ॥ २९ ॥

'जिनका जल देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों, सर्पों, पशुओं तथा पक्षियोंके लिये भी समादरणीय है, उन कल्याणस्वरूपा, सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीका भी मुझे यहाँसे दर्शन होता रहेगा' ॥ २९ ॥

लक्ष्मणश्च सुमन्त्रश्च बाढमित्येव राघवम् ।
उक्त्वा तमिङ्गुदीवृक्षं तदोपययतुर्हयैः ॥ ३० ॥

तब लक्ष्मण और सुमन्त्र भी श्रीरामचन्द्रजीसे 'बहुत अच्छा' कहकर अश्वोंद्वारा उस इङ्गुदी वृक्षके समीप गये ॥

रामोऽभियाय तं रम्यं वृक्षमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
रथादवतरत् तस्मात् सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ३१ ॥

उस रमणीय वृक्षके पास पहुँचकर इक्ष्वाकुनन्दन श्रीराम अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ रथसे उतर गये ॥ ३१ ॥

सुमन्त्रोऽप्यवतीर्याथ मोचयित्वा हयोत्तमान् ।
वृक्षमूलगतं राममुपतस्थे कृताञ्जलिः ॥ ३२ ॥

फिर सुमन्त्रने भी उतरकर उत्तम घोड़ोंको खोल दिया और वृक्षकी जड़पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ३२ ॥

तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा ।
निषादजात्यो बलवान् स्थपतिश्चेति विश्रुतः ॥ ३३ ॥

शृङ्गवेरपुरमें गुहनामका राजा राज्य करता था । वह श्रीरामचन्द्रजीका प्राणोंके समान प्रिय मित्र था । उसका जन्म निषादकुलमें हुआ था । वह शारीरिक शक्ति और सैनिक शक्तिकी दृष्टिसे भी बलवान् था तथा वहाँके निषादोंका सुविख्यात राजा था ॥ ३३ ॥

स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम् ।
वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः ॥ ३४ ॥

उसने जब सुना कि पुरुषसिंह श्रीराम मेरे राज्यमें पधारे हैं, तब वह बूढ़े मन्त्रियों और बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ वहाँ आया ॥ ३४ ॥

ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम् ।
सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद् गुहेन सः ॥ ३५ ॥

निषादराजको दूरसे आया हुआ देख श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ आगे बढ़कर उससे मिले ॥ ३५ ॥

तमार्तः सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत् ।
यथायोध्या तथेदं ते राम किं करवाणि ते ॥ ३६ ॥
ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम् ।

श्रीरामचन्द्रजीको वल्कल आदि धारण किये देख गुहको बड़ा दुःख हुआ । उसने श्रीरघुनाथजीको हृदयसे लगाकर कहा—'श्रीराम ! आपके लिये जैसे अयोध्याका राज्य है, उसी प्रकार यह राज्य भी है । बताइये: मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? महाबाहो ! आप-जैसा प्रिय अतिथि किसको सुलभ होगा ?' ॥ ३६½ ॥

ततो गुणवदन्नाद्यमुपादाय पृथग्विधम् ॥ ३७ ॥
अर्घ्यं चोपानयच्छीघ्रं वाक्यं चेदमुवाच ह ।
स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही ॥ ३८ ॥
वयं प्रेष्या भवान् भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः ।
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चैतदुपस्थितम् ।
शयनानि च मुख्यानि वाजिनां खादनं च ते ॥ ३९ ॥

फिर भाँति-भाँतिका उत्तम अन्न लेकर वह सेवामें उपस्थित हुआ । उसने शीघ्र ही अर्घ्य निवेदन किया और इस प्रकार कहा—'महाबाहो ! आपका स्वागत है । यह सारी भूमि, जो मेरे अधिकारमें है, आपकी ही है । हम आपके सेवक हैं और आप हमारे स्वामी, आजसे आप ही हमारे इस राज्यका भलीभाँति शासन करें । यह भक्ष्य (अन्न आदि), भोज्य (खीर आदि), पेय (पानकरस आदि) तथा लेह्य (चटनी आदि) आपकी सेवामें उपस्थित हैं, इसे स्वीकार करें । ये उत्तमोत्तम शय्याएँ हैं तथा आपके घोड़ोंके खानेके लिये चने और घास आदि भी प्रस्तुत हैं—ये सब सामग्री ग्रहण करें' ॥ ३७–३९ ॥

गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह ।
अर्चिताश्चैव हृष्टाश्च भवता सर्वदा वयम् ॥ ४० ॥
पद्भ्यामभिगमाच्चैव स्नेहसंदर्शनेन च ।

गुहके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—'सखे ! तुम्हारे यहाँतक पैदल आने और स्नेह दिखानेसे ही हमारा सदाके लिये भलीभाँति पूजन—स्वागत-सत्कार हो गया । तुमसे मिलकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है' ॥ ४०½ ॥

भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत् ४१
दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः ।
अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च ॥ ४२ ॥

फिर श्रीरामने अपनी दोनों गोल-गोल भुजाओंसे गुहका अच्छी तरह आलिङ्गन करते हुए कहा—'गुह ! सौभाग्यकी बात है कि मैं आज तुम्हें बन्धु-बान्धवोंके साथ स्वस्थ एवं

सानन्द देख रहा हूँ। बताओ, तुम्हारे राज्यमें, मित्रोंके यहाँ तथा वनोंमें सर्वत्र कुशल तो है ? ॥ ४१-४२ ॥

यत् त्विदं भवता किंचित् प्रीत्या समुपकल्पितम्।
सर्वं तदनुजानामि नहि वर्ते प्रतिग्रहे ॥ ४३ ॥

'तुमने प्रेमवश यह जो कुछ सामग्री प्रस्तुत की है, इसे स्वीकार करके मैं तुम्हें वापिस ले जानेकी आज्ञा देता हूँ; क्योंकि इस समय दूसरोंकी दी हुई कोई भी वस्तु मैं ग्रहण नहीं करता—अपने उपयोगमें नहीं लाता ॥ ४३ ॥

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम्।
विद्धि प्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम् ॥ ४४ ॥

'वल्कल और मृगचर्म धारण करके फल-मूलका आहार करता हूँ और धर्ममें स्थित रहकर तापसवेशमें वनके भीतर ही विचरता हूँ। इन दिनों तुम मुझे इसी नियममें स्थित जानो ॥ ४४ ॥

अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येन केनचित्।
एतावतात्र भवता भविष्यामि सुपूजितः ॥ ४५ ॥

'इन सामग्रियोंमें जो घोड़ोंके खाने-पीनेकी वस्तु है, उसीकी इस समय मुझे आवश्यकता है, दूसरी किसी वस्तुकी नहीं। घोड़ोंको खिला-पिला देनेमात्रसे तुम्हारे द्वारा मेरा पूर्ण सत्कार हो जायगा ॥ ४५ ॥

एते हि दयिता राज्ञः पितुर्दशरथस्य मे।
एतैः सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः ॥ ४६ ॥

'ये घोड़े मेरे पिता महाराज दशरथको बहुत प्रिय हैं। इनके खाने-पीनेका सुन्दर प्रबन्ध कर देनेसे मेरा भलीभाँति पूजन हो जायगा' ॥ ४६ ॥

अश्वानां प्रतिपानं च खादनं चैव सोऽन्वशात्।
गुहस्तत्रैव पुरुषांस्त्वरितं दीयतामिति ॥ ४७ ॥

तब गुहने अपने सेवकोंको उसी समय यह आज्ञा दी कि तुम घोड़ोंके खाने-पीनेके लिये आवश्यक वस्तुएँ शीघ्र लाकर दो ॥ ४७ ॥

ततश्चीरोत्तरासङ्गः संध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम् ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् वल्कलका उत्तरीय-वस्त्र धारण करनेवाले श्रीरामने सायंकालकी संध्योपासना करके भोजनके नामपर स्वयं लक्ष्मणका लाया हुआ केवल जलमात्र पी लिया ॥

तस्य भूमौ शयानस्य पादौ प्रक्षाल्य लक्ष्मणः।
सभार्यस्य ततोऽभ्येत्य तस्थौ वृक्षमुपाश्रितः ॥ ४९ ॥

फिर पत्नीसहित श्रीराम भूमिपर ही तृणकी शय्या बिछाकर सोये। उस समय लक्ष्मण उनके दोनों चरणोंको धो-पोंछकर वहाँसे कुछ दूरपर हट आये और एक वृक्षका सहारा लेकर बैठ गये ॥ ४९ ॥

गुहोऽपि सह सूतेन सौमित्रिमनुभाषयन्।
अन्वजाग्रत् ततो राममप्रमत्तो धनुर्धरः ॥ ५० ॥

गुह भी सावधानीके साथ धनुष धारण करके सुमन्त्रके साथ बैठकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बातचीत करता हुआ श्रीरामकी रक्षाके लिये रातभर जागता रहा ॥ ५० ॥

तथा शयानस्य ततो यशस्विनो
मनस्विनो दाशरथेर्महात्मनः।
अदृष्टदुःखस्य सुखोचितस्य सा
तदा व्यतीता सुचिरेण शर्वरी ॥ ५१ ॥

इस प्रकार सोये हुए यशस्वी मनस्वी दशरथनन्दन महात्मा श्रीरामकी, जिन्होंने कभी दुःख नहीं देखा था तथा जो सुख भोगनेके ही योग्य थे, वह रात उस समय (नींद न आनेके कारण) बहुत देरके बाद व्यतीत हुई ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

निषादराज गुहके समक्ष लक्ष्मणका विलाप

तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम्।
गुहः संतापसंतप्तो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मणको अपने भाईके लिये स्वाभाविक अनुरागसे जागते देख निषादराज गुहको बड़ा संताप हुआ। उसने रघुकुलनन्दन लक्ष्मणसे कहा—॥ १ ॥

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता।
प्रत्याश्वसिहि साध्वस्यां राजपुत्र यथासुखम् ॥ २ ॥

'तात! राजकुमार! तुम्हारे लिये यह आराम देनेवाली शय्या तैयार है, इसपर सुखपूर्वक सोकर भलीभाँति विश्राम कर लो ॥ २ ॥

उचितोऽयं जनः सर्वः क्लेशानां त्वं सुखोचितः।
गुप्त्यर्थं जागरिष्यामः काकुत्स्थस्य वयं हि

'यह (मैं) सेवक तथा इसके साथके सब होनेके कारण सब प्रकारके क्लेश सहन

(क्योंकि हम सबको कष्ट सहनेका अभ्यास है), परंतु तुम सुखमें ही पले हो, अतः उसीके योग्य हो (इसलिये सो जाओ) । हम सब लोग श्रीरामचन्द्रजीकी रक्षाके लिये रातभर जागते रहेंगे ॥ ३ ॥

नहि रामात् प्रियतमो ममास्ते भुवि कश्चन ।
ब्रवीम्येव च ते सत्यं सत्येनैव च ते शपे ॥ ४ ॥

'मैं सत्यकी ही शपथ खाकर तुमसे सत्य कहता हूँ कि इस भूतलपर मुझे श्रीरामसे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई नहीं है ॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन् सुमहद् यशः ।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामौ च पुष्कलौ ॥ ५ ॥

'इन श्रीरघुनाथजीके प्रसादसे ही मैं इस लोकमें महान् यश, विपुल धर्म-लाभ तथा प्रचुर अर्थ एवं भोग्य वस्तु पानेकी आशा करता हूँ ॥ ५ ॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया ।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वथा ज्ञातिभिः सह ॥ ६ ॥

'अतः मैं अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ हाथमें धनुष लेकर सीतासहित सोये हुए प्रिय-सखा श्रीरामकी सब प्रकारसे रक्षा करूँगा ॥ ६ ॥

न मेऽस्त्यविदितं किंचिद् वनेऽस्मिंश्चरतः सदा ।
चतुरङ्गं ह्यतिबलं सुमहत् संतरेमहि ॥ ७ ॥

'इस वनमें सदा विचरते रहनेके कारण मुझसे यहाँकी कोई बात छिपी नहीं है । हमलोग यहाँ शत्रुकी अत्यन्त शक्तिशालिनी विशाल चतुरङ्गिणी सेनाको भी अनायास ही जीत लेंगे' ॥ ७ ॥

लक्ष्मणस्तु तदोवाच रक्ष्यमाणास्त्वयानघ ।
नात्र भीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ८ ॥
कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया ।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥ ९ ॥

यह सुनकर लक्ष्मणने कहा—'निष्पाप निषादराज ! तुम धर्मपर ही दृष्टि रखते हुए हमारी रक्षा करते हो, इसलिये इस स्थानपर हम सब लोगोंके लिये कोई भय नहीं है । फिर भी जब महाराज दशरथके ज्येष्ठ पुत्र सीताके साथ भूमिपर शयन कर रहे हैं, तब मेरे लिये उत्तम शय्यापर सोकर नींद लेना, जीवन-धारणके लिये स्वादिष्ट अन्न खाना अथवा दूसरे-दूसरे सुखोंको भोगना कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥ ८-९ ॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि ।
तं पश्य सुखसंसुप्तं तृणेषु सह सीतया ॥ १० ॥

'देखो ! सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी युद्धमें जिनके वेगको नहीं सह सकते, वे ही श्रीराम इस समय सीताके साथ तिनकोंके ऊपर सुखसे सो रहे हैं ॥ १० ॥

यो मन्त्रतपसा लब्धो विविधैश्च पराक्रमैः ।
एको दशरथस्यैव पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ ११ ॥
अस्मिन् प्रव्रजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति ।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १२ ॥

'गायत्री आदि मन्त्रोंके जप, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तप तथा नाना प्रकारके पराक्रम (यज्ञानुष्ठान आदि प्रयत्न) करनेसे जो महाराज दशरथको अपने समान उत्तम लक्षणोंसे युक्त ज्येष्ठ पुत्रके रूपमें प्राप्त हुए हैं, उन्हीं इन श्रीरामके वनमें आ जानेसे अब राजा दशरथ अधिक कालतक जीवन धारण नहीं कर सकेंगे । जान पड़ता है, निश्चय ही यह पृथ्वी अब शीघ्र विधवा हो जायगी ॥ ११-१२ ॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः ।
निर्घोषोपरतं तात मन्ये राजनिवेशनम् ॥ १३ ॥

'तात ! रनवासकी स्त्रियाँ बड़े जोरसे आर्तनाद करके अधिक श्रमके कारण अब चुप हो गयी होंगी । मैं समझता हूँ, राजभवनका हाहाकार और चीत्कार अब शान्त हो गया होगा॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम ।
नाशंसे यदि जीवन्ति सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥ १४ ॥

'महारानी कौसल्या, राजा दशरथ तथा मेरी माता सुमित्रा—ये सब लोग आजकी राततक जीवित रहेंगे या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता ॥ १४ ॥

जीवेदपि हि मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया ।
तद् दुःखं यदि कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥ १५ ॥

'शत्रुघ्नकी बाट देखनेके कारण सम्भव है मेरी माता जीवित रह जाय, परंतु यदि वीरजननी कौसल्या श्रीरामके विरहमें नष्ट हो जायँगी तो यह हमलोगोंके लिये बड़े दुःखकी बात होगी ॥ १५ ॥

अनुरक्तजनाकीर्णा सुखालोकप्रियावहा ।
राजव्यसनसंसृष्टा सा पुरी विनशिष्यति ॥ १६ ॥

'जिसमें श्रीरामके अनुरागी मनुष्य भरे हुए हैं तथा जो सदा सुखका दर्शनरूप प्रिय वस्तुकी प्राप्ति करानेवाली रही है, वह अयोध्यापुरी राजा दशरथके निधनजनित दुःखसे युक्त होकर नष्ट हो जायगी ॥ १६ ॥

कथं पुत्रं महात्मानं ज्येष्ठपुत्रमपश्यतः ।
शरीरं धारयिष्यन्ति प्राणा राज्ञो महात्मनः ॥ १७ ॥

'अपने ज्येष्ठ पुत्र महात्मा श्रीरामको न देखनेपर महामना राजा दशरथके प्राण उनके शरीरमें कैसे टिके रह सकेंगे ॥ १७ ॥

विनष्टे नृपतौ पश्चात् कौसल्या विनशिष्यति ।
अनन्तरं च मातापि मम नाशमुपैष्यति ॥ १८ ॥

'महाराजके नष्ट होनेपर देवी कौसल्या भी नष्ट हो जायँगी। तदनन्तर मेरी माता सुमित्रा भी नष्ट हुए बिना नहीं रहेंगी॥

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम्।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १९ ॥

'(महाराजकी इच्छा थी कि श्रीरामको राज्यपर अभिषिक्त करूँ) अपने उस मनोरथको न पाकर श्रीरामको राज्यपर स्थापित किये बिना ही 'हाय! मेरा सब कुछ नष्ट हो गया, नष्ट हो गया' ऐसा कहते हुए मेरे पिताजी अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ १९ ॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन् काले ह्युपस्थिते।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति राघवम् ॥ २० ॥

'उनकी उस मृत्युका समय उपस्थित होनेपर जो लोग रहेंगे और मेरे मरे हुए पिता रघुकुलशिरोमणि दशरथका सभी प्रेतकार्योंमें संस्कार करेंगे, वे ही सफलमनोरथ और भाग्यशाली हैं ॥ २० ॥

रम्यचत्वरसंस्थानां संविभक्तमहापथाम्।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां गणिकावरशोभिताम् ॥ २१ ॥
रथाश्वगजसम्बाधां तूर्यनादविनादिताम्।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २२ ॥
आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम्।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २३ ॥

'(यदि पिताजी जीवित रहे तो) रमणीय चबूतरों और चौराहोंके सुन्दर स्थानोंसे युक्त, पृथक्-पृथक् बने हुए विशाल राजमार्गोंसे अलंकृत, धनिकोंकी अट्टालिकाओं और देवमन्दिरों एवं राजभवनोंसे सम्पन्न, श्रेष्ठ वाराङ्गनाओंसे सुशोभित, रथों, घोड़ों और हाथियोंके आवागमनसे भरी हुई, विविध वाद्योंकी ध्वनियोंसे निनादित, समस्त कल्याणकारी वस्तुओंसे भरपूर, हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे सेवित, पुष्पवाटिकाओं और उद्यानोंसे विभूषित तथा सामाजिक उत्सवोंसे सुशोभित हुई मेरे पिताकी राजधानी अयोध्यापुरीमें जो लोग विचरेंगे, वास्तवमें वे ही सुखी हैं ॥ २१—२३ ॥

अपि जीवेद् दशरथो वनवासात् पुनर्वयम्।
प्रत्यागम्य महात्मानमपि पश्याम सुव्रतम् ॥ २४ ॥

'क्या मेरे पिता महाराज दशरथ हमलोगोंके लौटनेतक जीवित रहेंगे? क्या वनवाससे लौटकर उन उत्तम व्रतधारी महात्माका हम फिर दर्शन कर सकेंगे? ॥ २४ ॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम्।
निवृत्ते वनवासेऽस्मिन्नयोध्यां प्रविशेमहि ॥ २५ ॥

'क्या वनवासकी इस अवधिके समाप्त होनेपर हमलोग सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामके साथ कुशलपूर्वक अयोध्यापुरीमें प्रवेश कर सकेंगे?' ॥ २५ ॥

परिदेवयमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २६ ॥

इस प्रकार दुःखसे आर्त होकर विलाप करते हुए महामना राजकुमार लक्ष्मणको वह सारी रात जागते ही बीती ॥ २६ ॥

तथा हि सत्यं ब्रुवति प्रजाहिते
नरेन्द्रसूनौ गुरुसौहृदाद् गुहः।
मुमोच वाष्पं व्यसनाभिपीडितो
ज्वरातुरो नाग इव व्यथातुरः ॥ २७ ॥

प्रजाके हितमें संलग्न रहनेवाले राजकुमार लक्ष्मण जब बड़े भाईके प्रति सौहार्दवश उपर्युक्तरूपसे यथार्थ बात कह रहे थे, उस समय उसे सुनकर निषादराज गुह दुःखसे पीड़ित हो उठा और व्यथासे व्याकुल हो ज्वरसे आतुर हुए हाथीकी भाँति आँसू बहाने लगा ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥



द्विपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामकी आज्ञासे गुहका नाव मँगाना, श्रीरामका सुमन्त्रको समझा-बुझाकर अयोध्यापुरी लौट जानेके लिये आज्ञा देना और माता-पिता आदिसे कहनेके लिये संदेश सुनाना, सुमन्त्रके वनमें ही चलनेके लिये आग्रह करनेपर श्रीरामका उन्हें युक्तिपूर्वक समझाकर लौटनेके लिये विवश करना, फिर तीनोंका नावपर बैठना, सीताकी गङ्गाजीसे प्रार्थना, नावसे पार उतरकर श्रीराम आदिका वत्सदेशमें पहुँचना और सायंकालमें एक वृक्षके नीचे रहनेके लिये जाना

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ १ ॥

जब रात बीती और प्रभात हुआ, उस समय विशाल वक्षवाले महायशस्वी श्रीरामने शुभलक्षणसम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

भास्करोदयकालोऽसौ गता भगवती निशा।
असौ सुकृष्णो विहगः कोकिलस्तात कूजति ॥ २ ॥

'तात! भगवती रात्रि व्यतीत हो गयी। अब सूर्योदयका समय आ पहुँचा है। वह अत्यन्त काले रंगका पक्षी कोकिल कुहू-कुहू बोल रहा है ॥ २ ॥

बर्हिणानां च निर्घोषः श्रूयते नदतां वने।
तराम जाह्नवीं सौम्य शीघ्रगां सागरङ्गमाम्॥ ३॥

'वनमें अव्यक्त शब्द करनेवाले मयूरोंकी केका वाणी भी सुनायी देती है; अतः सौम्य! अब हमें तीव्र गतिसे बहनेवाली समुद्रगामिनी गङ्गाजीके पार उतरना चाहिये'॥

विज्ञाय रामस्य वचः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः।
गुहमामन्त्र्य सूतं च सोऽतिष्ठद् भ्रातुरग्रतः॥ ४॥

मित्रोंको आनन्दित करनेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणने श्रीरामचन्द्रजीके कथनका अभिप्राय समझकर गुह और सुमन्त्रको बुलाकर पार उतरनेकी व्यवस्था करनेके लिये कहा और स्वयं वे भाईके सामने आकर खड़े हो गये॥ ४॥

स तु रामस्य वचनं निशम्य प्रतिगृह्य च।
स्थपतिस्तूर्णमाहूय सचिवानिदमब्रवीत्॥ ५॥

श्रीरामचन्द्रजीका वचन सुनकर उनका आदेश शिरोधार्य करके निषादराजने तुरंत अपने सचिवोंको बुलाया और इस प्रकार कहा—॥ ५॥

अस्यवाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम्।
सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर॥ ६॥

'तुम घाटपर शीघ्र ही एक ऐसी नाव ले आओ, जो मजबूत होनेके साथ ही सुगमतापूर्वक खेनेयोग्य हो, उसमें डाँड़ लगा हुआ हो, कर्णधार बैठा हो तथा वह नाव देखनेमें सुन्दर हो'॥ ६॥

तं निशम्य गुहादेशं गुहामात्यो गतो महान्।
उपोह्य रुचिरां नावं गुहाय प्रत्यवेदयत्॥ ७॥

निषादराज गुहका वह आदेश सुनकर उसका महान् मन्त्री गया और एक सुन्दर नाव घाटपर पहुँचाकर उसने गुहको इसकी सूचना दी॥ ७॥

ततः स प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो राघवमब्रवीत्।
उपस्थितेयं नौर्देव भूयः किं करवाणि ते॥ ८॥

तब गुहने हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'देव! यह नौका उपस्थित है; बताइये, इस समय आपकी और क्या सेवा करूँ?॥ ८॥

तवामरसुतप्रख्य तर्तुं सागरगामिनीम्।
नौरियं पुरुषव्याघ्र शीघ्रमारोह सुव्रत॥ ९॥

'देवकुमारके समान तेजस्वी तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुरुषसिंह श्रीराम! समुद्रगामिनी गङ्गानदीको पार करनेके लिये आपकी सेवामें यह नाव आ गयी है, अब आप शीघ्र इसपर आरूढ़ होइये'॥ ९॥

अथोवाच महातेजा रामो गुहमिदं वचः।
कृतकामोऽस्मि भवता शीघ्रमारोप्यतामिति॥ १०॥

तब महातेजस्वी श्रीराम गुहसे इस प्रकार बोले—'सखे! तुमने मेरा सारा मनोरथ पूर्ण कर दिया, अब शीघ्र ही सब सामान नावपर चढ़ाओ'॥ १०॥

ततः कलापान् संनह्य खड्गौ बद्ध्वा च धन्विनौ।
जग्मतुर्येन तां गङ्गां सीतया सह राघवौ॥ ११॥

यह कहकर श्रीराम और लक्ष्मणने कवच धारण करके तरकस एवं तलवार बाँधी तथा धनुष लेकर वे दोनों भाई जिस मार्गसे सब लोग घाटपर जाया करते थे, उसीसे सीताके साथ गङ्गाजीके तटपर गये॥ ११॥

राममेवं तु धर्मज्ञमुपागत्य विनीतवत्।
किमहं करवाणीति सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ १२॥

उस समय धर्मके ज्ञाता भगवान् श्रीरामके पास जाकर सारथि सुमन्त्रने विनीतभावसे हाथ जोड़कर पूछा—'प्रभो! अब मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'॥ १२॥

ततोऽब्रवीद् दाशरथिः सुमन्त्रं
स्पृशन् करेणोत्तमदक्षिणेन।
सुमन्त्र शीघ्रं पुनरेव याहि
राज्ञः सकाशे भव चाप्रमत्तः॥ १३॥

तब दशरथनन्दन श्रीरामने सुमन्त्रको उत्तम दाहिने हाथसे स्पर्श करते हुए कहा—'सुमन्त्रजी! अब आप शीघ्र ही पुनः महाराजके पास लौट जाइये और वहाँ सावधान होकर रहिये'॥ १३॥

निवर्तस्वेत्युवाचैनमेतावद्धि कृतं मम।
रथं विहाय पद्भ्यां तु गमिष्यामो महावनम्॥ १४॥

उन्होंने फिर कहा—'इतनी दूरतक महाराजकी आज्ञासे मैंने रथद्वारा यात्रा की है, अब हमलोग रथ छोड़कर पैदल ही महान् वनकी यात्रा करेंगे; अतः आप लौट जाइये'॥ १४॥

आत्मानं त्वभ्यनुज्ञातमवेक्ष्यार्तः स सारथिः।
सुमन्त्रः पुरुषव्याघ्रमैक्ष्वाकमिदमब्रवीत्॥ १५॥

अपनेको घर लौटनेकी आज्ञा प्राप्त हुई देख सारथि सुमन्त्र शोकसे व्याकुल हो उठे और इक्ष्वाकुनन्दन पुरुषसिंह श्रीरामसे इस प्रकार बोले—॥ १५॥

नातिक्रान्तमिदं लोके पुरुषेणेह केनचित्।
तव सभ्रातृभार्यस्य वासः प्राकृतवद् वने॥ १६॥

'रघुनन्दन! जिसकी प्रेरणासे आपको भाई और पत्नीके साथ साधारण मनुष्योंकी भाँति वनमें रहनेको विवश होना पड़ा है, उस दैवका इस संसारमें किसी भी पुरुषने उल्लङ्घन नहीं किया॥ १६॥

न मन्ये ब्रह्मचर्येऽस्ति स्वधीते वा फलोदयः।
मार्दवार्जवयोर्वापि त्वां चेद् व्यसनमागतम्॥ १७॥

'जब आप-जैसे महान् पुरुषपर यह संकट आ गया, तब मैं समझता हूँ कि ब्रह्मचर्य-पालन, वेदोंके स्वाध्याय,

दयालुता अथवा सरलतामें भी किसी फलकी सिद्धि नहीं है ॥ १७ ॥

सह राघव वैदेह्या भ्रात्रा चैव वने वसन्।
त्वं गतिं प्राप्स्यसे वीर त्रीँल्लोकांस्तु जयन्निव ॥ १८ ॥

'वीर रघुनन्दन! (इस प्रकार पिताके सत्यकी रक्षाके लिये) विदेहनन्दिनी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ वनमें निवास करते हुए आप तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करनेवाले महापुरुष नारायणकी भाँति उत्कर्ष (महान् यश) प्राप्त करेंगे ॥ १८ ॥

वयं खलु हता राम ये त्वया ह्युपवञ्चिताः।
कैकेय्या वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः ॥ १९ ॥

'श्रीराम! निश्चय ही हमलोग हर तरहसे मारे गये; क्योंकि आपने हम पुरवासियोंको अपने साथ न ले जाकर अपने दर्शनजनित सुखसे वञ्चित कर दिया। अब हम पापिनी कैकेयीके वशमें पड़ेंगे और दुःख भोगते रहेंगे' ॥

इति ब्रुवन्नात्मसमं सुमन्त्रः सारथिस्तदा।
दृष्ट्वा दूरगतं रामं दुःखार्तो रुरुदे चिरम् ॥ २० ॥

आत्माके समान प्रिय श्रीरामचन्द्रजीसे ऐसी बात कहकर उन्हें दूर जानेको उद्यत देख सारथि सुमन्त्र दुःखसे व्याकुल होकर देरतक रोते रहे ॥ २० ॥

ततस्तु विगते बाष्पे सूतं स्पृष्टोदकं शुचिम्।
रामस्तु मधुरं वाक्यं पुनः पुनरुवाच तम् ॥ २१ ॥

आँसुओंका प्रवाह रुकनेपर आचमन करके पवित्र हुए सारथिसे श्रीरामचन्द्रजीने बारंबार मधुर वाणीमें कहा— ॥

इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये।
यथा दशरथो राजा मां न शोचेत् तथा कुरु ॥ २२ ॥

'सुमन्त्रजी! मेरी दृष्टिमें इक्ष्वाकुवंशियोंका हित करनेवाला सुहृद् आपके समान दूसरा कोई नहीं है। आप ऐसा प्रयत्न करें, जिससे महाराज दशरथको मेरे लिये शोक न हो ॥ २२ ॥

शोकोपहतचेताश्च वृद्धश्च जगतीपतिः।
कामभारावसन्नश्च तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥

'पृथिवीपति महाराज दशरथ एक तो बूढ़े हैं, दूसरे उनका सारा मनोरथ चूर-चूर हो गया है; इसलिये उनका हृदय शोकसे पीड़ित है। यही कारण है कि मैं आपको उनकी सँभालके लिये कहता हूँ ॥ २३ ॥

यद् यथाज्ञापयेत् किंचित् स महात्मा महीपतिः।
कैकेय्याः प्रियकामार्थं कार्यं तदविकाङ्क्षया ॥ २४ ॥

'वे महामनस्वी महाराज कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे आपको जो कुछ जैसी भी आज्ञा दें, उसका आप आदरपूर्वक पालन करें—यही मेरा अनुरोध है ॥ २४ ॥

एतदर्थं हि राज्यानि प्रशासति नराधिपाः।
यदेषां सर्वकृत्येषु मनो न प्रतिहन्यते ॥ २५ ॥

'राजालोग इसीलिये राज्यका पालन करते हैं कि किसी भी कार्यमें इनके मनकी इच्छा-पूर्तिमें विघ्न न डाला जाय ॥ २५ ॥

यद् यथा स महाराजो नालीकमधिगच्छति।
न च ताम्यति शोकेन सुमन्त्र कुरु तत् तथा ॥ २६ ॥

'सुमन्त्रजी! जिस किसी भी कार्यमें जिस किसी तरह भी महाराजको अप्रिय बातसे खिन्न होनेका अवसर न आवे तथा वे शोकसे दुबले न हों, वह आपको उसी प्रकार करना चाहिये ॥ २६ ॥

अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम्।
ब्रूयास्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वचः ॥ २७ ॥

'जिन्होंने कभी दुःख नहीं देखा है, उन आर्य, जितेन्द्रिय और वृद्ध महाराजको मेरी ओरसे प्रणाम करके यह बात कहियेगा ॥ २७ ॥

न चाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च शोचति।
अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्स्यामहेति वा ॥ २८ ॥

'हमलोग अयोध्यासे निकल गये अथवा हमें वनमें रहना पड़ेगा, इस बातको लेकर न तो मैं कभी शोक करता हूँ और न लक्ष्मणको ही इसका शोक है ॥ २८ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनः पुनः।
लक्ष्मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसे शीघ्रमागतान् ॥ २९ ॥

'चौदह वर्ष समाप्त होनेपर हम पुनः शीघ्र ही लौट आयँगे और उस समय आप मुझे, लक्ष्मणको और सीताको भी फिर देखेंगे ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुमन्त्र मे।
अन्याश्च देवीः सहिताः कैकेयीं च पुनः पुनः ॥ ३० ॥

'सुमन्त्रजी! महाराजसे ऐसा कहकर आप मेरी मातासे, उनके साथ बैठी हुई अन्य देवियों (माताओं) से तथा कैकेयीसे भी बारंबार मेरा कुशल-समाचार कहियेगा ॥ ३० ॥

आरोग्यं ब्रूहि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम्।
सीताया मम चार्यस्य वचनाल्लक्ष्मणस्य च ॥ ३१ ॥

'माता कौसल्यासे कहियेगा कि तुम्हारा पुत्र स्वस्थ एवं प्रसन्न है। इसके बाद सीताकी ओरसे, मुझ ज्येष्ठ पुत्रकी ओरसे तथा लक्ष्मणकी ओरसे भी माताकी चरणवन्दना कह दीजियेगा ॥ ३१ ॥

ब्रूयाश्चापि महाराजं भरतं क्षिप्रमानय।
आगतश्चापि भरतः स्थाप्यो नृपमते पदे ॥ ३२ ॥

'तदनन्तर मेरी ओरसे महाराजसे भी यह निवेदन कीजियेगा कि आप भरतको शीघ्र ही बुलवा लें और जब

वे आ जायँ, तब अपने अभीष्ट युवराजपदपर उनका अभिषेक कर दें ॥ ३२ ॥

भरतं च परिष्वज्य यौवराज्येऽभिषिच्य च ।
अस्मत्संतापजं दुःखं न त्वामभिभविष्यति ॥ ३३ ॥

'भरतको छातीसे लगाकर और युवराजके पदपर अभिषिक्त करके आपको हमलोगोंके वियोगसे होनेवाला दुःख दबा नहीं सकेगा ॥ ३३ ॥

भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे ।
तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः ॥ ३४ ॥

'भरतसे भी हमारा यह संदेश कह दीजियेगा कि महाराजके प्रति जैसा तुम्हारा बर्ताव है, वैसा ही समानरूपसे सभी माताओंके प्रति होना चाहिये ॥ ३४ ॥

यथा च तव कैकेयी सुमित्रा चाविशेषतः ।
तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः ॥ ३५ ॥

'तुम्हारी दृष्टिमें कैकेयीका जो स्थान है, वही समानरूपसे सुमित्रा और मेरी माता कौसल्याका भी होना उचित है, इन सबमें कोई अन्तर न रखना ॥ ३५ ॥

तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता ।
लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम् ॥ ३६ ॥

पिताजीका प्रिय करनेकी इच्छासे युवराजपदको स्वीकार करके यदि तुम राजकाजकी देखभाल करते रहोगे तो इहलोक और परलोकमें सदा ही सुख पाओगे' ॥ ३६ ॥

निवर्त्यमानो रामेण सुमन्त्रः प्रतिबोधितः ।
तत्सर्वं वचनं श्रुत्वा स्नेहात् काकुत्स्थमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने सुमन्त्रको लौटाते हुए जब इस प्रकार समझाया, तब उनकी सारी बातें सुनकर वे श्रीरामसे स्नेहपूर्वक बोले—॥ ३७ ॥

यदहं नोपचारेण ब्रूयां स्नेहादविक्लवम् ।
भक्तिमानिति तत् तावद् वाक्यं त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥
कथं हि त्वद्विहीनोऽहं प्रतियास्यामि तां पुरीम् ।
तव तात वियोगेन पुत्रशोकातुरामिव ॥ ३९ ॥

'तात ! सेवकका स्वामीके प्रति जो सत्कारपूर्ण बर्ताव होना चाहिये, उसका यदि मैं आपसे बात करते समय पालन न कर सकूँ, यदि मेरे मुखसे स्नेहवश कोई धृष्टतापूर्ण बात निकल जाय तो 'यह मेरा भक्त है' ऐसा समझकर आप मुझे क्षमा कीजियेगा । जो आपके वियोगसे पुत्रशोकसे आतुर हुई माताकी भाँति संतप्त हो रही है, उस अयोध्यापुरीमें मैं आपको साथ लिये बिना कैसे, लौटकर जा सकूँगा ? ॥ ३८-३९ ॥

सराममपि तावन्मे रथं दृष्ट्वा तदा जनः ।
विना रामं रथं दृष्ट्वा विदीर्येतापि सा पुरी ॥ ४० ॥

'आते समय लोगोंने मेरे रथमें श्रीरामको विराजमान देखा था, अब इस रथको श्रीरामसे रहित देखकर उन लोगोंका और उस अयोध्यापुरीका भी हृदय विदीर्ण हो जायगा ॥ ४० ॥

दैन्यं हि नगरी गच्छेद् दृष्ट्वा शून्यमिमं रथम् ।
सूतावशेषं स्वं सैन्यं हतवीरमिवाहवे ॥ ४१ ॥

'जैसे युद्धमें अपने स्वामी वीर रथीके मारे जानेपर जिसमें केवल सारथि शेष रह गया हो ऐसे रथको देखकर उसकी अपनी सेना अत्यन्त दयनीय अवस्थामें पड़ जाती है, उसी प्रकार मेरे इस रथको आपसे सूना देखकर सारी अयोध्या नगरी दीन दशाको प्राप्त हो जायगी ॥ ४१ ॥

दूरेऽपि निवसन्तं त्वां मानसेनाग्रतः स्थितम् ।
चिन्तयन्त्योऽद्य नूनं त्वां निराहाराः कृताः प्रजाः ॥ ४२ ॥

'आप दूर रहकर भी प्रजाके हृदयमें निवास करनेके कारण सदा उसके सामने ही खड़े रहते हैं । निश्चय ही इस समय प्रजावर्गके सब लोगोंने आपका ही चिन्तन करते हुए खाना-पीना छोड़ दिया होगा ॥ ४२ ॥

दृष्टं तद् वै त्वया राम यादृशं त्वत्प्रवासने ।
प्रजानां संकुलं वृत्तं त्वच्छोकक्लान्तचेतसाम् ॥ ४३ ॥

'श्रीराम ! जिस समय आप वनको आने लगे, उस समय आपके शोकसे व्याकुलचित्त हुई प्रजाने जैसा आर्तनाद एवं क्षोभ प्रकट किया था, उसे तो आपने देखा ही था ॥ ४३ ॥

आर्तनादो हि यः पौरैरुन्मुक्तस्त्वत्प्रवासने ।
सरथं मां निशाम्यैव कुर्युः शतगुणं ततः ॥ ४४ ॥

'आपके अयोध्यासे निकलते समय पुरवासियोंने जैसा आर्तनाद किया था, आपके बिना मुझे खाली रथ लिये लौटा देख वे उससे भी सौगुना हाहाकार करेंगे ॥ ४४ ॥

अहं किं चापि वक्ष्यामि देवीं तव सुतो मया ।
नीतोऽसौ मातुलकुलं संतापं मा कृथा इति ॥ ४५ ॥
असत्यमपि नैवाहं ब्रूयां वचनमीदृशम् ।
कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः ॥ ४६ ॥

क्या मैं महारानी कौसल्यासे जाकर कहूँगा कि मैंने आपके बेटेको मामाके घर पहुँचा दिया है ? इसलिये आप संताप न करें । यह बात प्रिय होनेपर भी असत्य है, अतः ऐसा असत्य वचन भी मैं कभी नहीं कह सकता । फिर यह अप्रिय सत्य भी कैसे सुना सकूँगा कि मैं आपके पुत्रको वनमें पहुँचा आया ॥ ४५-४६ ॥

मम तावन्नियोगस्थास्त्वद्बन्धुजनवाहिनः ।
कथं रथं त्वया हीनं प्रवाह्यन्ति हयोत्तमाः ॥ ४७ ॥

'ये उत्तम घोड़े मेरी आज्ञाके अधीन रहकर आपके

बन्धुजनोंका भार वहन करते हैं (आपके बन्धुजनोंसे हीन रथका ये वहन नहीं करते हैं), ऐसी दशामें आपसे सूने रथको ये कैसे खींच सकेंगे ? ॥ ४७ ॥

तन्न शक्ष्याम्यहं गन्तुमयोध्यां त्वदृतेऽनघ।
वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४८ ॥

'अतः निष्पाप रघुनन्दन ! अब मैं आपके बिना अयोध्या लौटकर नहीं जा सकूँगा। मुझे भी वनमें चलनेकी ही आज्ञा दीजिये ॥ ४८ ॥

यदि मे याचमानस्य त्यागमेव करिष्यसि।
सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्र इह त्वया ॥ ४९ ॥

'यदि इस तरह याचना करनेपर भी आप मुझे त्याग ही देंगे तो मैं आपके द्वारा परित्यक्त होकर यहाँ रथसहित अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा' ॥ ४९ ॥

भविष्यन्ति वने यानि तपोविघ्नकराणि ते।
रथेन प्रतिबाधिष्ये तानि सर्वाणि राघव ॥ ५० ॥

'रघुनन्दन ! वनमें आपकी तपस्यामें विघ्न डालनेवाले जो-जो जन्तु उपस्थित होंगे, मैं इस रथके द्वारा उन सबको दूर भगा दूँगा ॥ ५० ॥

त्वत्कृतेन मया प्राप्तं रथचर्याकृतं सुखम्।
आशंसे त्वत्कृतेनाहं वनवासकृतं सुखम् ॥ ५१ ॥

'श्रीराम ! आपकी कृपासे मुझे आपको रथपर बिठाकर यहाँतक लानेका सुख प्राप्त हुआ। अब आपके ही अनुग्रहसे मैं आपके साथ वनमें रहनेका सुख भी पानेकी आशा करता हूँ ॥ ५१ ॥

प्रसीदेच्छामि तेऽरण्ये भवितुं प्रत्यनन्तरः।
प्रीत्याभिहितमिच्छामि भव मे प्रत्यनन्तरः ॥ ५२ ॥

'आप प्रसन्न होकर आज्ञा दीजिये। मैं वनमें आपके पास ही रहना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि आप प्रसन्नतापूर्वक कह दें कि तुम वनमें मेरे साथ ही रहो ॥ ५२ ॥

इमेऽपि च हया वीर यदि ते वनवासिनः।
परिचर्यां करिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति परमां गतिम् ॥ ५३ ॥

'वीर ! ये घोड़े भी यदि वनमें रहते समय आपकी सेवा करेंगे तो इन्हें परमगतिकी प्राप्ति होगी ॥ ५३ ॥

तव शुश्रूषणं मूर्ध्ना करिष्यामि वने वसन्।
अयोध्यां देवलोकं वा सर्वथा प्रजहाम्यहम् ॥ ५४ ॥

'प्रभो ! मैं वनमें रहकर अपने सिरसे (सारे शरीरसे) आपकी सेवा करूँगा और इस सुखके आगे अयोध्या तथा देवलोकका भी सर्वथा त्याग कर दूँगा ॥ ५४ ॥

नहि शक्या प्रवेष्टुं सा मयायोध्या त्वया विना।
राजधानी महेन्द्रस्य यथा दुष्कृतकर्मणा ॥ ५५ ॥

'जैसे सदाचारहीन प्राणी इन्द्रकी राजधानी स्वर्गमें नहीं प्रवेश कर सकता, उसी प्रकार आपके बिना मैं अयोध्यापुरीमें नहीं जा सकता ॥ ५५ ॥

वनवासे क्षयं प्राप्ते ममैष हि मनोरथः।
यदनेन रथेनैव त्वां वहेयं पुरीं पुनः ॥ ५६ ॥

'मेरी यह अभिलाषा है कि जब वनवासकी अवधि समाप्त हो जाय, तब फिर इसी रथपर बिठाकर आपको अयोध्यापुरीमें ले चलूँ ॥ ५६ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि सहितस्य त्वया वने।
क्षणभूतानि यास्यन्ति शतसंख्यानि चान्यथा ॥ ५७ ॥

'वनमें आपके साथ रहनेसे ये चौदह वर्ष मेरे लिये चौदह क्षणोंके समान बीत जायँगे। अन्यथा चौदह सौ वर्षोंके समान भारी जान पड़ेंगे ॥ ५७ ॥

भृत्यवत्सल तिष्ठन्तं भर्तृपुत्रगते पथि।
भक्तं भृत्यं स्थितं स्थित्या न मा त्वं हातुमर्हसि ॥ ५८ ॥

'अतः भक्तवत्सल ! आप मेरे स्वामीके पुत्र हैं। आप जिस पथपर चल रहे हैं, उसीपर आपकी सेवाके लिये साथ चलनेको मैं भी तैयार खड़ा हूँ। मैं आपके प्रति भक्ति रखता हूँ, आपका भृत्य हूँ और भृत्यजनोचित मर्यादाके भीतर स्थित हूँ; अतः आप मेरा परित्याग न करें' ॥ ५८ ॥

एवं बहुविधं दीनं याचमानं पुनः पुनः।
रामो भृत्यानुकम्पी तु सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

इस तरह अनेक प्रकारसे दीन वचन कहकर बारंबार याचना करनेवाले सुमन्त्रसे सेवकोंपर कृपा करनेवाले श्रीरामने इस प्रकार कहा—॥ ५९ ॥

जानामि परमां भक्तिमहं ते भर्तृवत्सल।
शृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीमितः ॥ ६० ॥

'सुमन्त्रजी ! आप स्वामीके प्रति स्नेह रखनेवाले हैं। मुझमें आपकी जो उत्कृष्ट भक्ति है, उसे मैं जानता हूँ; फिर भी जिस कार्यके लिये मैं आपको यहाँसे अयोध्यापुरीमें भेज रहा हूँ, उसे सुनिये ॥ ६० ॥

नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी।
कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः ॥ ६१ ॥

'जब आप नगरको लौट जायँगे, तब आपको देखकर मेरी छोटी माता कैकेयीको यह विश्वास हो जायगा कि राम वनको चले गये ॥ ६१ ॥

विपरीते तुष्टिहीना वनवासं गते मयि।
राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम् ॥ ६२ ॥

'इसके विपरीत यदि आप नहीं गये तो उसे संतोष नहीं होगा। मेरे वनवासी हो जानेपर भी वह धर्मपरायण महाराज दशरथके प्रति मिथ्यावादी होनेका संदेह करे, ऐसा मैं नहीं चाहता ॥ ६२

एष मे प्रथमः कल्पो यदम्बा मे यवीयसी ।
भरतारक्षितं स्फीतं पुत्रराज्यमवाप्स्यते ॥ ६३ ॥

'आपको भेजनेमें मेरा मुख्य उद्देश्य यही है कि मेरी छोटी माता कैकेयी भरतद्वारा सुरक्षित समृद्धिशाली राज्यको हस्तगत कर ले ॥ ६३ ॥

मम प्रियार्थं राज्ञश्च सुमन्त्र त्वं पुरीं व्रज ।
संदिष्टश्चापि यानर्थांस्तांस्तान् ब्रूयास्तथा तथा ॥ ६४ ॥

'सुमन्त्रजी ! मेरा तथा महाराजका प्रिय करनेके लिये आप अयोध्यापुरीको अवश्य पधारिये और आपको जिनके लिये जो संदेश दिया गया है, वह सब वहाँ जाकर उन लोगोंसे कह दीजिये' ॥ ६४ ॥

इत्युक्त्वा वचनं सूतं सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ।
गुहं वचनमक्लीबो रामो हेतुमदब्रवीत् ॥ ६५ ॥

ऐसा कहकर श्रीरामने सुमन्त्रको बारंबार सान्त्वना दी । इसके बाद उन्होंने गुहसे उत्साहपूर्वक यह युक्तियुक्त बात कही— ॥ ६५ ॥

नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने ।
अवश्यमाश्रमे वासः कर्तव्यस्तद्गतो विधिः ॥ ६६ ॥

'निषादराज गुह ! इस समय मेरे लिये ऐसे वनमें रहना उचित नहीं है, जहाँ जनपदके लोगोंका आना-जाना अधिक होता हो, अब अवश्य मुझे निर्जन वनके आश्रममें ही वास करना होगा । इसके लिये जटा धारण आदि आवश्यक विधिका मुझे पालन करना चाहिये ॥ ६६ ॥

सोऽहं गृहीत्वा नियमं तपस्विजनभूषणम् ।
हितकामः पितुर्भूयः सीताया लक्ष्मणस्य च ॥ ६७ ॥
जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय ।
तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत् ॥ ६८ ॥

'अतः फल-मूलका आहार और पृथ्वीपर शयन आदि नियमोंको ग्रहण करके मैं सीता और लक्ष्मणकी अनुमति लेकर पिताका हित करनेकी इच्छासे सिरपर तपस्वी जनोंके आभूषणरूप जटा धारण करके यहाँसे वनको जाऊँगा । मेरे केशोंको जटाका रूप देनेके लिये तुम बड़का दूध ला दो ।' गुहने तुरंत ही बड़का दूध लाकर श्रीरामको दिया ॥

लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः ।
दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारयत् ॥ ६९ ॥

श्रीरामने उसके द्वारा लक्ष्मणकी तथा अपनी जटाएँ बनायीं । महाबाहु पुरुषसिंह श्रीराम तत्काल जटाधारी हो गये ॥ ६९ ॥

तौ तदा चीरसम्पन्नौ जटामण्डलधारिणौ ।
अशोभेतामृषिसमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७० ॥

उस समय वे दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मण वल्कल वस्त्र और जटामण्डल धारण करके ऋषियोंके समान शोभा पाने लगे ॥

ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणः ।
व्रतमादिष्टवान् रामः सहायं गुहमब्रवीत् ॥ ७१ ॥

तदनन्तर वानप्रस्थमार्गका आश्रय लेकर लक्ष्मण-सहित श्रीरामने वानप्रस्थोचित व्रतको ग्रहण किया । तत्पश्चात् वे अपने सहायक गुहसे बोले— ॥ ७१ ॥

अप्रमत्तो बले कोशे दुर्गे जनपदे तथा ।
भवेथा गुह राज्यं हि दुरारक्षतमं मतम् ॥ ७२ ॥

'निषादराज ! तुम सेना, खजाना, किला और राज्यके विषयमें सदा सावधान रहना; क्योंकि राज्यकी रक्षाका काम बड़ा कठिन माना गया है' ॥ ७२ ॥

ततस्तं समनुज्ञाप्य गुहमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
जगाम तूर्णमव्यग्रः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ७३ ॥

गुहको इस प्रकार आज्ञा देकर उससे विदा ले इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजी पत्नी और लक्ष्मणके साथ तुरंत ही वहाँसे चल दिये । उस समय उनके चित्तमें तनिक भी व्यग्रता नहीं थी ॥ ७३ ॥

स तु दृष्ट्वा नदीतीरे नावमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
तितीर्षुः शीघ्रगां गङ्गामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७४ ॥

नदीके तटपर लगी हुई नावको देखकर इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामने शीघ्रगामी गङ्गानदीके पार जानेकी इच्छासे लक्ष्मणको सम्बोधित करके कहा— ॥ ७४ ॥

आरोह त्वं नरव्याघ्र स्थितां नावमिमां शनैः ।
सीतां चारोपयान्वक्षं परिगृह्य मनस्विनीम् ॥ ७५ ॥

'पुरुषसिंह ! यह सामने नाव खड़ी है । तुम मनस्विनी सीताको पकड़कर धीरेसे उसपर बिठा दो, फिर स्वयं भी नावपर बैठ जाओ' ॥ ७५ ॥

स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन् ।
आरोप्य मैथिलीं पूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः ॥ ७६ ॥

भाईका यह आदेश सुनकर मनको वशमें रखनेवाले लक्ष्मणने पूर्णतः उसके अनुकूल चलते हुए पहले मिथिलेश-कुमारी श्रीसीताको नावपर बिठाया, फिर स्वयं भी उसपर आरूढ़ हुए ॥ ७६ ॥

अथारुरोह तेजस्वी स्वयं लक्ष्मणपूर्वजः ।
ततो निषादाधिपतिर्गुहो ज्ञातीनचोदयत् ॥ ७७ ॥

सबके अन्तमें लक्ष्मणके बड़े भाई तेजस्वी श्रीराम स्वयं नौकापर बैठे । तदनन्तर निषादराज गुहने अपने भाई-बन्धुओंको नौका खेनेका आदेश दिया ॥ ७७ ॥

राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः ।
ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः ॥ ७८ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी भी उस नावपर आरूढ़ होनेके पश्चात् अपने हितके उद्देश्यसे ब्राह्मण और

क्षत्रियके जपने योग्य 'दैवी नाव' इत्यादि वैदिक मन्त्रका जप करने लगे ॥ ७८ ॥

आचम्य च यथाशास्त्रं नदीं तां सह सीतया।
प्रणमत्प्रीतिसंतुष्टो लक्ष्मणश्च महारथः ॥ ७९ ॥

फिर शास्त्रविधिके अनुसार आचमन करके सीताके साथ उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर गङ्गाजीको प्रणाम किया। महारथी लक्ष्मणने भी उन्हें मस्तक झुकाया ॥ ७९ ॥

अनुज्ञाय सुमन्त्रं च सबलं चैव तं गुहम्।
आस्थाय नावं रामस्तु चोदयामास नाविकान् ॥ ८० ॥

इसके बाद श्रीरामने सुमन्त्रको तथा सेनासहित गुहको भी जानेकी आज्ञा दे नावपर भलीभाँति बैठकर मल्लाहोंको उसे चलानेका आदेश दिया ॥ ८० ॥

ततस्तैश्चालिता नौका कर्णधारसमाहिता।
शुभस्फ्यवेगाभिहता शीघ्रं सलिलमत्यगात् ॥ ८१ ॥

तदनन्तर मल्लाहोंने नाव चलायी। कर्णधार सावधान होकर उसका संचालन करता था। वेगसे सुन्दर डाँड़ चलानेके कारण वह नाव बड़ी तेजीसे पानीपर बढ़ने लगी ॥ ८१ ॥

मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता।
वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत् ॥ ८२ ॥

भागीरथीकी बीच धारामें पहुँचकर सती साध्वी विदेहनन्दिनी सीताने हाथ जोड़कर गङ्गाजीसे यह प्रार्थना की—॥ ८२ ॥

पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः।
निदेशं पालयत्वेनं गङ्गे त्वदभिरक्षितः ॥ ८३ ॥

'देवि गङ्गे! ये परम बुद्धिमान् महाराज दशरथके पुत्र हैं और पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये वनमें जा रहे हैं। ये आपसे सुरक्षित होकर पिताकी इस आज्ञाका पालन कर सकें—ऐसी कृपा कीजिये ॥ ८३ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने।
भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति ॥ ८४ ॥

'वनमें पूरे चौदह वर्षोंतक निवास करके ये मेरे तथा अपने भाईके साथ पुनः अयोध्यापुरीको लौटेंगे ॥ ८४ ॥

ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता।
यक्ष्ये प्रमुदिता गङ्गे सर्वकामसमृद्धिनी ॥ ८५ ॥

'सौभाग्यशालिनी देवि गङ्गे! उस समय वनसे पुनः कुशलपूर्वक लौटनेपर सम्पूर्ण मनोरथोंसे सम्पन्न हुई मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ आपकी पूजा करूँगी ॥ ८५ ॥

त्वं हि त्रिपथगे देवि ब्रह्मलोकं समक्षसे।
भार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन् सम्प्रदृश्यसे ॥ ८६ ॥

'स्वर्ग, भूतल और पाताल तीनों मार्गोंपर विचरनेवाली देवि! तुम यहाँसे ब्रह्मलोकतक फैली हुई हो और इस लोकमें समुद्रराजकी पत्नीके रूपमें दिखायी देती हो ॥ ८६ ॥

सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने।
प्राप्तराज्ये नरव्याघ्रे शिवेन पुनरागते ॥ ८७ ॥

'शोभाशालिनी देवि! पुरुषसिंह श्रीराम जब पुनः वनसे सकुशल लौटकर अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे, तब मैं सीता पुनः आपको मस्तक झुकाऊँगी और आपकी स्तुति करूँगी ॥ ८७ ॥

गवां शतसहस्रं च वस्त्राण्यन्नं च पेशलम्।
ब्राह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया ॥ ८८ ॥

'इतना ही नहीं, मैं आपका प्रिय करनेकी इच्छासे ब्राह्मणोंको एक लाख गौएँ, बहुत-से वस्त्र तथा उत्तमोत्तम अन्न प्रदान करूँगी ॥ ८८ ॥

सुराघटसहस्रेण मांसभूतौदनेन च।
यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवि पुरीं पुनरुपागता ॥ ८९ ॥

'देवि! पुनः अयोध्यापुरीमें लौटनेपर मैं सहस्रों देवदुर्लभ पदार्थोंसे तथा राजकीय भागसे रहित पृथ्वी, वस्त्र और अन्नके द्वारा भी आपकी पूजा करूँगी। आप मुझपर प्रसन्न हों* ॥ ८९ ॥

यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि च सन्ति हि।
तानि सर्वाणि यक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च ॥ ९० ॥

'आपके किनारे जो-जो देवता, तीर्थ और मन्दिर हैं, उन सबका मैं पूजन करूँगी ॥ ९० ॥

पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च संगतः।
अयोध्यां वनवासात् तु प्रविशत्वनघोऽनघे ॥ ९१ ॥

'निष्पाप गङ्गे! ये महाबाहु पापरहित मेरे पतिदेव मेरे तथा अपने भाईके साथ वनवाससे लौटकर पुनः अयोध्या नगरीमें प्रवेश करें' ॥ ९१ ॥

तथा सम्भाषमाणा सा सीता गङ्गामनिन्दिता।
दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत् ॥ ९२ ॥

पतिके अनुकूल रहनेवाली सती-साध्वी सीता इस प्रकार गङ्गाजीसे प्रार्थना करती हुई शीघ्र ही दक्षिणतटपर जा पहुँचीं ॥

तीरं तु समनुप्राप्य नावं हित्वा नरर्षभः।
प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परंतपः ॥ ९३ ॥

किनारे पहुँचकर शत्रुओंको संताप देनेवाले नरश्रेष्ठ

---

* इस श्लोकमें आये हुए 'सुराघटसहस्रेण' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—सुरेषु देवेषु न घटन्ते न सन्तीत्यर्थः, तेषां सहस्रं तेन सहस्रसंख्याकसुरदुर्लभपदार्थेनेत्यर्थः। 'मांसभूतौदनेन' की व्युत्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—मांसभूतौदनेन मा नास्ति अंसो राजभागो यस्यां सा एव भूः पृथ्वी च भूतं वस्त्रं च ओदनं च एतेषां समाहारः, तेन च त्वां यक्ष्ये।

श्रीरामने नाव छोड़ दी और भाई लक्ष्मण तथा विदेहनन्दिनी सीताके साथ आगेको प्रस्थान किया ॥ ९३ ॥

अथाब्रवीन्महाबाहुः सुमित्रानन्दवर्धनम् ।
भव संरक्षणार्थाय सजने विजनेऽपि वा ॥ ९४ ॥
अवश्यं रक्षणं कार्यं मद्विधैर्विजने वने ।
अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु ॥ ९५ ॥
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सीतां त्वां चानुपालयन् ।
अन्योन्यस्य हि नो रक्षा कर्तव्या पुरुषर्षभ ॥ ९६ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीराम सुमित्रानन्दन लक्ष्मणसे बोले—'सुमित्राकुमार ! अब तुम सजन या निर्जन वनमें सीताकी रक्षाके लिये सावधान हो जाओ । हम-जैसे लोगोंको निर्जन वनमें नारीकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये । अतः तुम आगे-आगे चलो, सीता तुम्हारे पीछे-पीछे चलें और मैं सीताकी तथा तुम्हारी रक्षा करता हुआ सबसे पीछे चलूँगा । पुरुषप्रवर ! हमलोगोंको एक-दूसरेकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ९४—९६ ॥

न हि तावदतिक्रान्तासुकरा काचन क्रिया ।
अद्य दुःखं तु वैदेही वनवासस्य वेत्स्यति ॥ ९७ ॥

'अबतक कोई भी दुष्कर कार्य समाप्त नहीं हुआ है—इस समयसे ही कठिनाइयोंका सामना आरम्भ हुआ है । आज विदेहकुमारी सीताको वनवासके वास्तविक कष्टका अनुभव होगा ॥ ९७ ॥

प्रणष्टजनसम्बाधं क्षेत्रारामविवर्जितम् ।
विषमं च प्रपातं च वनमद्य प्रवेक्ष्यति ॥ ९८ ॥

'अब ये ऐसे वनमें प्रवेश करेंगी, जहाँ मनुष्योंके आने-जानेका कोई चिह्न नहीं दिखायी देगा, न धान आदिके खेत होंगे, न टहलनेके लिये बगीचे । जहाँ ऊँची-नीची भूमि होगी और गड्ढे मिलेंगे, जिसमें गिरनेका भय रहेगा' ॥ ९८ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रतस्थे लक्ष्मणोऽग्रतः ।
अनन्तरं च सीताया राघवो रघुनन्दनः ॥ ९९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर लक्ष्मण आगे बढ़े । उनके पीछे सीता चलने लगीं तथा सीताके पीछे रघुकुलनन्दन श्रीराम थे ॥ ९९ ॥

गतं तु गङ्गापरपारमाशु
रामं सुमन्त्रः सततं निरीक्ष्य ।
अध्वप्रकर्षाद् विनिवृत्तदृष्टि-
र्मुमोच बाष्पं व्यथितस्तपस्वी ॥१००॥

श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र गङ्गाजीके उस पार पहुँचकर जबतक दिखायी दिये तबतक सुमन्त्र निरन्तर उन्हींकी ओर दृष्टि लगाये देखते रहे । जब वनके मार्गमें बहुत दूर निकल जानेके कारण वे दृष्टिसे ओझल हो गये, तब तपस्वी सुमन्त्रके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई । वे नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ १०० ॥

स लोकपालप्रतिमप्रभाव-
स्तीर्त्वा महात्मा वरदो महानदीम् ।
ततः समृद्धाञ्छुभसस्यमालिनः
क्रमेण वत्सान् मुदितानुपागमत् ॥१०१॥

लोकपालोंके समान प्रभावशाली वरदायक महात्मा श्रीराम महानदी गङ्गाको पार करके क्रमशः समृद्धिशाली वत्सदेश (प्रयाग) में जा पहुँचे, जो सुन्दर धन-धान्यसे सम्पन्न था । वहाँके लोग बड़े हृष्ट-पुष्ट थे ॥ १०१ ॥

तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान्
वराहमृश्यं पृषतं महारुरुम् ।
आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ
वासाय काले ययतुर्वनस्पतिम् ॥१०२॥

वहाँ उन दोनों भाइयोंने मृगया-विनोदके लिये वराह, ऋश्य, पृषत् और महारुरु—इन चार महामृगोंपर बाणोंका प्रहार किया । तत्पश्चात् जब उन्हें भूख लगी, तब पवित्र कन्द-मूल आदि लेकर सायंकालके समय ठहरनेके लिये (वे सीताजीके साथ) एक वृक्षके नीचे चले गये ॥ १०२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका राजाको उपालम्भ देते हुए कैकेयीसे कौसल्या आदिके अनिष्टकी आशङ्का बताकर लक्ष्मणको अयोध्या लौटानेके लिये प्रयत्न करना, लक्ष्मणका श्रीरामके बिना अपना जीवन असम्भव बताकर वहाँ जानेसे इनकार करना, फिर श्रीरामका उन्हें वनवासकी अनुमति देना

स तं वृक्षं समासाद्य संध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।
रामो रमयतां श्रेष्ठ इति होवाच लक्ष्मणम् ॥ १ ॥

उस वृक्षके नीचे पहुँचकर आनन्द प्रदान करनेवालोंमें श्रेष्ठ श्रीरामने सायंकालकी संध्योपासना करके लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अद्येयं प्रथमा रात्रिर्याता जनपदाद् बहिः ।



श्रीजानकीसहित दोनों राजकुमार गङ्गा पारकर आगे बढ़ रहे हैं

या सुमन्त्रेण रहिता तां नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

'सुमित्रानन्दन ! आज हमें अपने जनपदसे बाहर यह पहली रात प्राप्त हुई है; जिसमें सुमन्त्र हमारे साथ नहीं हैं। इस रातको पाकर तुम्हें नगरकी सुख-सुविधाओंके लिये उत्कण्ठित नहीं होना चाहिये ॥ २ ॥

जागर्तव्यमतन्द्रिभ्यामद्यप्रभृति रात्रिषु ।
योगक्षेमौ हि सीताया वर्तेते लक्ष्मणावयोः ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण ! आजसे हम दोनों भाइयोंको आलस्य छोड़कर रातमें जागना होगा; क्योंकि सीताके योगक्षेम हम दोनोंके ही अधीन हैं ॥ ३ ॥

रात्रिं कथंचिदेवेमां सौमित्रे वर्तयामहे ।
अपवर्तामहे भूमावास्तीर्य स्वयमर्जितैः ॥ ४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! यह रात हमलोग किसी तरह बिताएँगे और स्वयं संग्रह करके लाये हुए तिनकों और पत्तोंकी शय्या बनाकर उसे भूमिपर बिछाकर उसपर किसी तरह सो लेंगे' ॥

स तु संविश्य मेदिन्यां महार्हशयनोचितः ।
इमाः सौमित्रये रामो व्याजहार कथाः शुभाः ॥ ५ ॥

जो बहुमूल्य शय्यापर सोनेके योग्य थे, वे श्रीराम भूमिपर ही बैठकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे ये शुभ बातें कहने लगे—*॥ ५ ॥

ध्रुवमद्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण ।
कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति ॥ ६ ॥

'लक्ष्मण ! आज महाराज निश्चय ही बड़े दुःखसे सो रहे होंगे; परंतु कैकेयी सफलमनोरथ होनेके कारण बहुत संतुष्ट होगी ॥ ६ ॥

सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात् ।
अपि न च्यावयेत् प्राणान् दृष्ट्वा भरतमागतम् ॥ ७ ॥

'कहीं ऐसा न हो कि रानी कैकेयी भरतको आया देख राज्यके लिये महाराजको प्राणोंसे भी वियुक्त कर दे ॥ ७ ॥

अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विना कृतः ।
किं करिष्यति कामात्मा कैकेय्या वशमागतः ॥ ८ ॥

'महाराजका कोई रक्षक न होनेके कारण वे इस समय अनाथ हैं, बूढ़े हैं और उन्हें मेरे वियोगका सामना करना पड़ा है। उनकी कामना मनमें ही रह गयी तथा वे कैकेयीके वशमें पड़ गये हैं; ऐसी दशामें वे बेचारे अपनी रक्षाके लिये क्या करेंगे ? ॥

इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम् ।
काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ॥ ९ ॥

'अपने ऊपर आये हुए इस संकटको और राजाकी मति-भ्रान्तिको देखकर मुझे ऐसा मालूम होता है कि अर्थ और धर्मकी अपेक्षा [काम]का ही गौरव अधिक है ॥ ९ ॥

को ह्यविद्वानपि पुमान् प्रमदायाः कृते त्यजेत् ।
छन्दानुवर्तिनं पुत्रं तातो मामिव लक्ष्मण ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! पिताजीने जिस तरह मुझे त्याग दिया है, उस प्रकार अत्यन्त अज्ञ होनेपर भी कौन ऐसा पुरुष होगा, जो एक स्त्रीके लिये अपने आज्ञाकारी पुत्रका परित्याग कर दे ? ॥

सुखी बत सुभार्यश्च भरतः केकयीसुतः ।
मुदितान् कोसलानेको यो भोक्ष्यत्यधिराजवत् ॥ ११ ॥

'कैकेयीकुमार भरत ही सुखी और सौभाग्यवती स्त्रीके पति हैं, जो अकेले ही हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए कोसलदेशका सम्राट्‌की भाँति पालन करेंगे ॥ ११ ॥

स हि राज्यस्य सर्वस्य सुखमेकं भविष्यति ।
ताते तु वयसातीते मयि चारण्यमाश्रिते ॥ १२ ॥

'पिताजी अत्यन्त वृद्ध हो गये हैं और मैं वनमें चला आया हूँ, ऐसी दशामें केवल भरत ही समस्त राज्यके श्रेष्ठ सुखका उपभोग करेंगे ॥ १२ ॥

अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते ।
एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ॥ १३ ॥

'सच है, जो अर्थ और धर्मका परित्याग करके केवल कामका अनुसरण करता है, वह उसी प्रकार शीघ्र ही आपत्तिमें पड़ जाता है, जैसे इस समय महाराज दशरथ पड़े हैं ॥ १३ ॥

मन्ये दशरथान्ताय मम प्रव्राजनाय च ।
कैकेयी सौम्य सम्प्राप्ता राज्याय भरतस्य च ॥ १४ ॥

'सौम्य ! मैं समझता हूँ कि महाराज दशरथके प्राणोंका अन्त करने, मुझे देशनिकाला देने और भरतको राज्य दिलानेके लिये ही कैकेयी इस राजभवनमें आयी थी ॥ १४ ॥

अपीदानीं तु कैकेयी सौभाग्यमदमोहिता ।
कौसल्यां च सुमित्रां च सा प्रबाधेत मत्कृते ॥ १५ ॥

'इस समय भी सौभाग्यके मदसे मोहित हुई कैकेयी मेरे कारण कौसल्या और सुमित्राको कष्ट पहुँचा सकती है ॥ १५ ॥

मातास्मत्कारणाद् देवी सुमित्रा दुःखमावसेत् ।
अयोध्यामित एव त्वं काले प्रविश लक्ष्मण ॥ १६ ॥

'हमलोगोंके कारण तुम्हारी माता सुमित्रादेवीको बड़े दुःखके साथ वहाँ रहना पड़ेगा; अतः लक्ष्मण ! तुम यहींसे कल प्रातःकाल अयोध्याको लौट जाओ ॥ १६ ॥

अहमेको गमिष्यामि सीतया सह दण्डकान् ।
अनाथाया हि नाथस्त्वं कौसल्याया भविष्यसि ॥ १७ ॥

---

* श्लोक ६ से लेकर २६ तक श्रीरामचन्द्रजीने जो बातें कही हैं, वे लक्ष्मणकी परीक्षाके लिये तथा उन्हें अयोध्या लौटानेके लिये कही गयी हैं; वास्तवमें उनकी ऐसी मान्यता नहीं थी ; यही बात यहाँ सभी व्याख्याकारोंने स्वीकार की है ।

'मैं अकेला ही सीताके साथ दण्डकवनको जाऊँगा। तुम वहाँ मेरी असहाय माता कौसल्याके सहायक हो जाओगे॥

क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेषादन्यायमाचरेत्।
परिदद्याद्धि धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम्॥ १८॥

'धर्मज्ञ लक्ष्मण! कैकेयीके कर्म बड़े खोटे हैं। वह द्वेषवश अन्याय भी कर सकती है। तुम्हारी और मेरी माताको जहर भी दे सकती है॥ १८॥

नूनं जात्यन्तरे तात स्त्रियः पुत्रैर्वियोजिताः।
जनन्या मम सौमित्रे तदद्यैतदुपस्थितम्॥ १९॥

'तात सुमित्राकुमार! निश्चय ही पूर्वजन्ममें मेरी माताने कुछ स्त्रियोंका उनके पुत्रोंसे वियोग कराया होगा, उसी पापका यह पुत्रबिछोहरूप फल आज उन्हें प्राप्त हुआ है॥ १९॥

मया हि चिरपुष्टेन दुःखसंवर्धितेन च।
विप्रयुज्यत कौसल्या फलकाले धिगस्तु माम्॥ २०॥

'मेरी माताने चिरकालतक मेरा पालन-पोषण किया और स्वयं दुःख सहकर मुझे बड़ा किया। अब जब पुत्रसे प्राप्त होनेवाले सुखरूपी फलके भोगनेका अवसर आया, तब मैंने माता कौसल्याको अपनेसे विलग कर दिया। मुझे धिक्कार है!॥

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम्।
सौमित्रे योऽहमम्बाया दद्मि शोकमनन्तकम्॥ २१॥

'सुमित्रानन्दन! कोई भी सौभाग्यवती स्त्री कभी ऐसे पुत्रको जन्म न दे, जैसा मैं हूँ; क्योंकि मैं अपनी माताको अनन्त शोक दे रहा हूँ॥ २१॥

मन्ये प्रीतिविशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण सारिका।
यत्तस्याः श्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश॥ २२॥

'लक्ष्मण! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि माता कौसल्यामें मुझसे अधिक प्रेम उनकी पाली हुई वह सारिका ही करती है; क्योंकि उसके मुखसे माँको सदा यह बात सुनायी देती है, कि 'ऐ तोते! तू शत्रुके पैरको काट खा' (अर्थात् हमें पालनेवाली माता कौसल्याके शत्रुके पाँवको चोंच मार दे। वह पक्षिणी होकर माताका इतना ध्यान रखती है और मैं उनका पुत्र होकर भी उनके लिये कुछ नहीं कर पाता)॥

शोचन्त्याश्चाल्पभाग्याया न किंचिदुपकुर्वता।
पुत्रेण किमपुत्राया मया कार्यमरिंदम॥ २३॥

'शत्रुदमन! जो मेरे लिये शोकमग्न रहती है, मन्दभागिनी-सी हो रही है और पुत्रका कोई फल न पानेके कारण निपूती-सी हो गयी है, उस मेरी माताको कुछ भी उपकार न करनेवाले मुझ-जैसे पुत्रसे क्या प्रयोजन है?॥ २३॥

अल्पभाग्या हि मे माता कौसल्या रहिता मया।
शेते परमदुःखार्ता पतिता शोकसागरे॥ २४॥

'मुझसे बिछुड़ जानेके कारण माता कौसल्या वास्तवमें मन्दभागिनी हो गयी है और शोकके समुद्रमें पड़कर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो उसीमें शयन करती है॥ २४॥

एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम्॥ २५॥

'लक्ष्मण! यदि मैं कुपित हो जाऊँ तो अपने बाणोंद्वारा अकेला ही अयोध्यापुरी तथा समस्त भूमण्डलको निष्कण्टक बनाकर अपने अधिकारमें कर लूँ; परंतु पारलौकिक हित-साधनमें बल-पराक्रम कारण नहीं होता है (इसीलिये मैं ऐसा नहीं कर रहा हूँ।)॥ २५॥

अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ।
तेन लक्ष्मण नाद्याहमात्मानमभिषेचये॥ २६॥

'निष्पाप लक्ष्मण! मैं अधर्म और परलोकके डरसे डरता हूँ; इसीलिये आज अयोध्याके राज्यपर अपना अभिषेक नहीं कराता हूँ'॥ २६॥

एतदन्यच्च करुणं विलप्य विजने बहु।
अश्रुपूर्णमुखो दीनो निशि तूष्णीमुपाविशत्॥ २७॥

यह तथा और भी बहुत-सी बातें कहकर श्रीरामने उस निर्जन वनमें करुणाजनक विलाप किया। तत्पश्चात् वे उस रातमें चुपचाप बैठ गये। उस समय उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और दीनता छा रही थी॥ २७॥

विलापोपरतं रामं गतार्चिषमिवानलम्।
समुद्रमिव निर्वेगमाश्वासयत लक्ष्मणः॥ २८॥

विलापसे निवृत्त होनेपर श्रीराम ज्वालारहित अग्नि और वेगशून्य समुद्रके समान शान्त प्रतीत होते थे। उस समय लक्ष्मणने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—॥ २८॥

ध्रुवमद्य पुरी राम अयोध्याऽऽयुधिनां वर।
निष्प्रभा त्वयि निष्क्रान्ते गतचन्द्रेव शर्वरी॥ २९॥

'अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! आपके निकल आनेसे निश्चय ही आज अयोध्यापुरी चन्द्रहीन रात्रिके समान निस्तेज हो गयी॥ २९॥

नैतदौपयिकं राम यदिदं परितप्यसे।
विषादयसि सीतां च मां चैव पुरुषर्षभ॥ ३०॥

'पुरुषोत्तम श्रीराम! आप जो इस तरह संतप्त हो रहे हैं, यह आपके लिये कदापि उचित नहीं है। आप ऐसा करके सीताको और मुझको भी खेदमें डाल रहे हैं॥ ३०॥

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥ ३१॥

'रघुनन्दन! आपके बिना सीता और मैं दोनों दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकते। ठीक उसी तरह, जैसे जलसे निकाले हुए मत्स्य नहीं जीते हैं॥ ३१॥

नहि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परंतप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना ॥ ३२ ॥

'शत्रुओंको ताप देनेवाले रघुवीर! आपके बिना आज मैं न तो पिताजीको, न भाई शत्रुघ्नको, न माता सुमित्राको और न स्वर्गलोकको ही देखना चाहता हूँ' ॥ ३२ ॥

ततस्तत्र समासीनौ नातिदूरे निरीक्ष्य ताम्।
न्यग्रोधे सुकृतां शय्यां भेजाते धर्मवत्सलौ ॥ ३३ ॥

तदनन्तर वहाँ बैठे हुए धर्मवत्सल सीता और श्रीरामने थोड़ी ही दूरपर वटवृक्षके नीचे लक्ष्मणद्वारा सुन्दर ढंगसे निर्मित हुई शय्या देखकर उसीका आश्रय लिया (अर्थात् वे दोनों वहाँ जाकर सो गये) ॥ ३३ ॥

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं वचो
निशम्य चैवं वनवासमादरात्।
समाः समस्ता विदधे परंतपः
प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः ॥ ३४ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनाथजीने इस प्रकार वनवासके प्रति आदरपूर्वक कहे हुए लक्ष्मणके अत्यन्त उत्तम वचनोंको सुनकर स्वयं भी दीर्घकालके लिये वनवासरूप धर्मको स्वीकार करके सम्पूर्ण वर्षोंतक लक्ष्मणको अपने साथ वनमें रहनेकी अनुमति दे दी ॥ ३४ ॥

ततस्तु तस्मिन् विजने महाबलौ
महावने राघववंशवर्धनौ।
न तौ भयं सम्भ्रममभ्युपेयतु-
र्यथैव सिंहौ गिरिसानुगोचरौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर उस महान् निर्जन वनमें रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले वे दोनों महाबली वीर पर्वतशिखरपर विचरनेवाले दो सिंहोंके समान कभी भय और उद्वेगको नहीं प्राप्त हुए ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

लक्ष्मण और सीतासहित श्रीरामका प्रयागमें गङ्गा-यमुना-संगमके समीप भरद्वाज-आश्रममें जाना, मुनिके द्वारा उनका अतिथिसत्कार, उन्हें चित्रकूट पर्वतपर ठहरनेका आदेश तथा चित्रकूटकी महत्ता एवं शोभाका वर्णन

ते तु तस्मिन् महावृक्षे उषित्वा रजनीं शुभाम्।
विमलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्माद् देशात् प्रतस्थिरे ॥ १ ॥

उस महान् वृक्षके नीचे वह सुन्दर रात बिताकर वे सब लोग निर्मल सूर्योदयकालमें उस स्थानसे आगेको प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाभिप्रवर्तते।
जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद् वनम् ॥ २ ॥

जहाँ भागीरथी गङ्गासे यमुना मिलती हैं, उस स्थानपर जानेके लिये वे महान् वनके भीतरसे होकर यात्रा करने लगे ॥ २ ॥

ते भूमिभागान् विविधान् देशांश्चापि मनोहरान्।
अदृष्टपूर्वान् पश्यन्तस्तत्र तत्र यशस्विनः ॥ ३ ॥

वे तीनों यशस्वी यात्री मार्गमें जहाँ-तहाँ जो पहले कभी देखनेमें नहीं आये थे, ऐसे अनेक प्रकारके भू-भाग तथा मनोहर प्रदेश देखते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ३ ॥

यथा क्षेमेण सम्पश्यन् पुष्पितान् विविधान् द्रुमान्।
निर्वृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४ ॥

सुखपूर्वक आरामसे उठते-बैठते यात्रा करते हुए उन तीनोंने फूलोंसे सुशोभित भाँति-भाँतिके वृक्षोंका दर्शन किया। इस प्रकार जब दिन प्रायः समाप्त हो चला, तब श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा— ॥ ४ ॥

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुत्तमम्।
अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये संनिहितो मुनिः ॥ ५ ॥

'सुमित्रानन्दन! वह देखो, प्रयागके पास भगवान् अग्निदेवकी ध्वजारूप उत्तम धूम उठ रहा है। मालूम होता है, मुनिवर भरद्वाज यहीं हैं ॥ ५ ॥

नूनं प्राप्ताः स्म सम्भेदं गङ्गायमुनयोर्वयम्।
तथाहि श्रूयते शब्दो वारिणोर्वारिघर्षजः ॥ ६ ॥

'निश्चय ही हमलोग गङ्गा-यमुनाके सङ्गमके पास आ पहुँचे हैं; क्योंकि दो नदियोंके जलोंके परस्पर टकरानेसे जो शब्द प्रकट होता है, वह सुनायी दे रहा है ॥ ६ ॥

दारूणि परिभिन्नानि वनजैरुपजीविभिः।
छिन्नाश्चाप्याश्रमे चैते दृश्यन्ते विविधा द्रुमाः ॥ ७ ॥

'वनमें उत्पन्न हुए फल-मूल और काष्ठ आदिसे जीविका चलानेवाले लोगोंने जो लकड़ियाँ काटी हैं, वे दिखायी देती हैं तथा जिनकी लकड़ियाँ काटी गयी हैं, वे नाना प्रकारके वृक्ष भी आश्रमके समीप दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ ७ ॥

धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे।
गङ्गायमुनयोः संधौ प्रापतुर्निलयं मुनेः॥ ८॥

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे दोनों धनुर्धर वीर श्रीराम और लक्ष्मण सूर्यास्त होते-होते गङ्गा-यमुनाके सङ्गमके समीप मुनिवर भरद्वाजके आश्रमपर जा पहुँचे॥

रामस्त्वाश्रममासाद्य त्रासयन् मृगपक्षिणः।
गत्वा मुहूर्तमध्वानं भरद्वाजमुपागमत्॥ ९॥

श्रीरामचन्द्रजी आश्रमकी सीमामें पहुँचकर अपने धनुर्धर वेशके द्वारा वहाँके पशु-पक्षियोंको डराते हुए दो ही घड़ीमें तै करने योग्य मार्गसे चलकर भरद्वाज मुनिके समीप जा पहुँचे॥ ९॥

ततस्त्वाश्रममासाद्य मुनेर्दर्शनकाङ्क्षिणौ।
सीतयानुगतौ वीरौ दूरादेवावतस्थतुः॥ १०॥

आश्रममें पहुँचकर महर्षिके दर्शनकी इच्छावाले सीता-सहित वे दोनों वीर कुछ दूरपर ही खड़े हो गये॥ १०॥

स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्वृतम्।
संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम्॥ ११॥
हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागः कृताञ्जलिः।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया चाभ्यवादयत्॥ १२॥

(दूर खड़े हो महर्षिके शिष्यसे अपने आगमनकी सूचना दिलवाकर भीतर आनेकी अनुमति प्राप्त कर लेनेके बाद) पर्णशालामें प्रवेश करके उन्होंने तपस्याके प्रभावसे तीनों कालोंकी सारी बातें देखनेकी दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेने-वाले एकाग्रचित्त तथा तीक्ष्ण व्रतधारी महात्मा भरद्वाज ऋषिका दर्शन किया, जो अग्निहोत्र करके शिष्योंसे घिरे हुए आसनपर विराजमान थे। महर्षिको देखते ही लक्ष्मण और सीतासहित महाभाग श्रीरामने हाथ जोड़कर उनके चरणों-में प्रणाम किया॥ ११-१२॥

न्यवेदयत चात्मानं तस्मै लक्ष्मणपूर्वजः।
पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन् रामलक्ष्मणौ॥ १३॥
भार्या ममेयं कल्याणी वैदेही जनकात्मजा।
मां चानुयाता विजनं तपोवनमनिन्दिता॥ १४॥

तत्पश्चात् लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरघुनाथजीने उनसे इस प्रकार अपना परिचय दिया—'भगवन्! हम दोनों राजा दशरथके पुत्र हैं। मेरा नाम राम और इनका लक्ष्मण है तथा ये विदेहराज जनककी पुत्री और मेरी कल्याणमयी पत्नी सती साध्वी सीता हैं, जो निर्जन तपोवनमें भी मेरा साथ देनेके लिये आयी हैं॥ १३-१४॥

पित्रा प्रव्राज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः।
अयमन्वगमद् भ्राता वनमेव धृतव्रतः॥ १५॥

'पिताकी आज्ञासे मुझे वनकी ओर आते देख ये मेरे प्रिय अनुज भाई सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी वनमें ही रहनेका व्रत लेकर मेरे पीछे-पीछे चले आये हैं॥ १५॥

पित्रा नियुक्ता भगवन् प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम्।
धर्ममेवाचरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः॥ १६॥

'भगवन्! इस प्रकार पिताकी आज्ञासे हम तीनों तपोवनमें जायँगे और वहाँ फल-मूलका आहार करते हुए धर्म-का ही आचरण करेंगे'॥ १६॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः।
उपानयत धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः॥ १७॥

परम बुद्धिमान् राजकुमार श्रीरामका वह वचन सुनकर धर्मात्मा भरद्वाज मुनिने उनके लिये आतिथ्यसत्कारके रूपमें एक गौ तथा अर्घ्य-जल समर्पित किये॥ १७॥

नानाविधानन्नरसान् वन्यमूलफलाश्रयान्।
तेभ्यो ददौ तप्ततपा वासं चैवाभ्यकल्पयत्॥ १८॥

उन तपस्वी महात्माने उन सबको नाना प्रकारके अन्न, रस और जंगली फल-मूल प्रदान किये। साथ ही उनके ठहरनेके लिये स्थानकी भी व्यवस्था की॥ १८॥

मृगपक्षिभिरासीनो मुनिभिश्च समन्ततः।
राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनागतं मुनिः॥ १९॥
प्रतिगृह्य तु तामर्चामुपविष्टं स राघवम्।
भरद्वाजोऽब्रवीद् वाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा॥ २०॥

महर्षिके चारों ओर मृग, पक्षी और ऋषि-मुनि बैठे थे और उनके बीचमें वे विराजमान थे। उन्होंने अपने आश्रमपर अतिथिरूपमें पधारे हुए श्रीरामका स्वागतपूर्वक सत्कार किया। उनके उस सत्कारको ग्रहण करके श्रीराम-चन्द्रजी जब आसनपर विराजमान हुए, तब भरद्वाजजीने उनसे यह धर्मयुक्त वचन कहा—॥ १९-२०॥

चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्याम्यहमुपागतम्।
श्रुतं तव मया चैव विवासनमकारणम्॥ २१॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! मैं इस आश्रमपर दीर्घकालसे तुम्हारे शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ (आज मेरा मनोरथ सफल हुआ है)। मैंने यह भी सुना है कि तुम्हें अकारण ही वनवास दे दिया गया है॥ २१॥

अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे।
पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान् सुखम्॥ २२॥

'गङ्गा और यमुना—इन दोनों महानदियोंके संगमके पासका यह स्थान बड़ा ही पवित्र और एकान्त है। यहाँकी प्राकृतिक छटा भी मनोरम है; अतः तुम यहीं सुखपूर्वक निवास करो'॥ २२॥

एवमुक्तस्तु वचनं भरद्वाजेन राघवः।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः॥ २३॥

भरद्वाज मुनिके ऐसा कहनेपर समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले रघुकुलनन्दन श्रीरामने इन शुभ वचनोंके द्वारा उन्हें उत्तर दिया—॥ २३ ॥

भगवन्निन आसन्नः पौरजानपदो जनः।
सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम् ॥ २४ ॥
आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः।
अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये ॥ २५ ॥

'भगवन्! मेरे नगर और जनपदके लोग यहाँसे बहुत निकट पड़ते हैं, अतः मैं समझता हूँ कि यहाँ मुझसे मिलना सुगम समझकर लोग इस आश्रमपर मुझे और सीताको देखनेके लिये प्रायः आते-जाते रहेंगे; इस कारण यहाँ निवास करना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥ २४-२५ ॥

एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम्।
रमते यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा ॥ २६ ॥

'भगवन्! किसी एकान्त प्रदेशमें आश्रमके योग्य उत्तम स्थान देखिये (सोचकर बताइये), जहाँ सुख भोगनेके योग्य विदेहराजकुमारी जानकी प्रसन्नतापूर्वक रह सकें' ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो महामुनिः।
राघवस्य तु तद् वाक्यमर्थग्राहकमब्रवीत् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह शुभ वचन सुनकर महामुनि भरद्वाजजीने उनके उक्त उद्देश्यकी सिद्धिका बोध करानेवाली बात कही—॥ २७ ॥

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन् निवत्स्यसि।
महर्षिसेवितः पुण्यः पर्वतः शुभदर्शनः ॥ २८ ॥

'तात! यहाँसे दस कोस (अन्य व्याख्याके अनुसार ३० कोस)* की दूरीपर एक सुन्दर और महर्षियों-द्वारा सेवित परम पवित्र पर्वत है, जिसपर तुम्हें निवास करना होगा ॥ २८ ॥

गोलाङ्गूलानुचरितो वानरर्क्षनिषेवितः।
चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसंनिभः ॥ २९ ॥

'उसपर बहुत-से लंगूर विचरते रहते हैं। वहाँ वानर और रीछ भी निवास करते हैं। वह पर्वत चित्रकूट नामसे विख्यात है और गन्धमादनके समान मनोहर है ॥ २९ ॥

यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते।
कल्याणानि समाधत्ते न पापे कुरुते मनः ॥ ३० ॥

'जब मनुष्य चित्रकूटके शिखरोंका दर्शन कर लेता है, तब कल्याणकारी पुण्य कर्मोंका फल पा लेता है और कभी पापमें मन नहीं लगाता है ॥ ३० ॥

ऋषयस्तत्र बहवो विहृत्य शरदां शतम्।
तपसा दिवमारूढाः कपालशिरसा सह ॥ ३१ ॥

'वहाँ बहुत-से ऋषि, जिनके सिरके बाल वृद्धावस्थाके कारण खोपड़ीकी भाँति सफेद हो गये थे, तपस्याद्वारा सैकड़ों वर्षोंतक क्रीड़ा करके स्वर्गलोकको चले गये हैं ॥ ३१ ॥

प्रविविक्तमहं मन्ये तं वासं भवतः सुखम्।
इह वा वनवासाय वस राम मया सह ॥ ३२ ॥

'उसी पर्वतको मैं तुम्हारे लिये एकान्तवासके योग्य और सुखद मानता हूँ अथवा श्रीराम! तुम वनवासके उद्देश्यसे मेरे साथ इस आश्रमपर ही रहो' ॥ ३२ ॥

स रामं सर्वकामैस्तं भरद्वाजः प्रियातिथिम्।
सभार्यं सह च भ्रात्रा प्रतिजग्राह हर्षयन् ॥ ३३ ॥

ऐसा कहकर भरद्वाजजीने पत्नी और भ्रातासहित प्रिय अतिथि श्रीरामका हर्ष बढ़ाते हुए सब प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुओंद्वारा उन सबका आतिथ्यसत्कार किया ॥

तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिमुपेयुषः।
प्रपन्ना रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः ॥ ३४ ॥

प्रयागमें श्रीरामचन्द्रजी महर्षिके पास बैठकर विचित्र बातें करते रहे, इतनेमें ही पुण्यमयी रात्रिका आगमन हुआ ॥

सीतातृतीयः काकुत्स्थः परिश्रान्तः सुखोचितः।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत् सुखम् ॥ ३५ ॥

वे सुख भोगने योग्य होनेपर भी परिश्रमसे बहुत थक गये थे, इसलिये भरद्वाज मुनिके उस मनोहर आश्रममें श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ सुखपूर्वक वह रात्रि व्यतीत की ॥ ३५ ॥

प्रभातायां तु शर्वर्यां भरद्वाजमुपागमत्।
उवाच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब पुरुषसिंह श्रीराम प्रज्वलित तेजवाले भरद्वाज मुनिके पास गये और बोले—॥ ३६ ॥

शर्वरीं भगवन्नद्य सत्यशील तवाश्रमे।
उषिताः स्मोऽह वसतिमनुजानातु नो भवान् ॥ ३७ ॥

'भगवन्! आप स्वभावतः सत्य बोलनेवाले हैं। आज हमलोगोंने आपके आश्रममें बड़े आरामसे रात बितायी है, अब आप हमें आगेके गन्तव्य-स्थानपर जानेके लिये आज्ञा प्रदान करें' ॥ ३७ ॥

* रामायणशिरोमणिकार दस कोसका अर्थ तीस कोस करते हैं और 'दश च दश च दश च' ऐसी व्युत्पत्ति करके एकशेषके नियमानुसार एक ही दशका प्रयोग होनेपर भी उसे ३० संख्याका बोधक मानते हैं। प्रयागसे चित्रकूटकी दूरी लगभग २८ कोस मानी जाती है, जो उपर्युक्त संख्यासे मिलती-जुलती ही है। आधुनिक मापके अनुसार प्रयागसे चित्रकूट ८० मील है। इस हिसाबसे चालीस कोसकी दूरी हुई। परंतु पहलेका क्रोशमान आधुनिक मानसे कुछ बड़ा रहा होगा, तभी यह अन्तर है।

रात्र्यां तु तस्यां व्युष्टायां भरद्वाजोऽब्रवीदिदम्।
मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं व्रजेति ह ॥ ३८ ॥
वासमौपयिकं मन्ये तव राम महाबल।

रात बीतने और सवेरा होनेपर श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर भरद्वाजजीने कहा—'महाबली श्रीराम! तुम मधुर फल-मूलसे सम्पन्न चित्रकूट पर्वतपर जाओ। मैं उसीको तुम्हारे लिये उपयुक्त निवासस्थान मानता हूँ ॥ ३८½ ॥

नानानगगणोपेतः किन्नरोरगसेवितः ॥ ३९ ॥
मयूरनादाभिरतो गजराजनिषेवितः।
गम्यतां भवता शैलश्चित्रकूटः स विश्रुतः ॥ ४० ॥

'वह सुविख्यात चित्रकूट पर्वत नाना प्रकारके वृक्षोंसे हरा-भरा है। वहाँ बहुत-से किन्नर और सर्प निवास करते हैं। मोरोंके कलरवोंसे वह और भी रमणीय प्रतीत होता है। बहुत-से गजराज उस पर्वतका सेवन करते हैं। तुम वहीं चले जाओ ॥ ३९-४० ॥

पुण्यश्च रमणीयश्च बहुमूलफलायुतः।
तत्र कुञ्जरयूथानि मृगयूथानि चैव हि ॥ ४१ ॥
विचरन्ति वनान्तेषु तानि द्रक्ष्यसि राघव।
सरित्प्रस्रवणप्रस्थान् दरीकन्दरनिर्झरान्।
चरतः सीतया सार्धं नन्दिष्यति मनस्तव ॥ ४२ ॥

'वह पर्वत परम पवित्र, रमणीय तथा बहुसंख्यक फल-मूलोंसे सम्पन्न है। वहाँ झुंड-के-झुंड हाथी और हिरन वनके भीतर विचरते रहते हैं। रघुनन्दन! तुम उन सबको प्रत्यक्ष देखोगे। मन्दाकिनी नदी, अनेकानेक जलस्रोत, पर्वतशिखर, गुफा, कन्दरा और झरने भी तुम्हारे देखनेमें आयेंगे। वह पर्वत सीताके साथ विचरते हुए तुम्हारे मनको आनन्द प्रदान करेगा ॥ ४१-४२ ॥

प्रहृष्टकोयष्टिभकोकिलस्वनै-
र्विनोदयन्तं च सुखं परं शिवम्।
मृगैश्च मत्तैर्बहुभिश्च कुञ्जरैः
सुरम्यमासाद्य समावसाश्रयम् ॥ ४३ ॥

'हर्षमें भरे हुए टिट्टिभ और कोकिलोंके कलरवोंद्वारा वह पर्वत यात्रियोंका मनोरञ्जन-सा करता है। वह परम सुखद एवं कल्याणकारी है, मदमत्त मृगों और बहुसंख्यक मतवाले हाथियोंने उसकी रमणीयताको और बढ़ा दिया है। तुम उसी पर्वतपर जाकर डेरा डालो और उसमें निवास करो' ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥



पञ्चपञ्चाशः सर्गः

भरद्वाजजीका श्रीराम आदिके लिये स्वस्तिवाचन करके उन्हें चित्रकूटका मार्ग बताना, उन सबका अपने ही बनाये हुए बेड़ेसे यमुनाजीको पार करना, सीताकी यमुना और श्यामवटसे प्रार्थना, तीनोंका यमुनाके किनारेके मार्गसे एक कोसतक जाकर वनमें घूमना-फिरना, यमुनाजीके समतल तटपर रात्रिमें निवास करना

उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिंदमौ।
महर्षिमभिवाद्याथ जग्मतुस्तं गिरिं प्रति ॥ १ ॥

उस आश्रममें रातभर रहकर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों राजकुमार महर्षिको प्रणाम करके चित्रकूट पर्वतपर जानेको उद्यत हुए ॥ १ ॥

तेषां स्वस्त्ययनं चैव महर्षिः स चकार ह।
प्रस्थितान् प्रेक्ष्य तांश्चैव पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ २ ॥

उन तीनोंको प्रस्थान करते देख महर्षिने उनके लिये उसी प्रकार स्वस्तिवाचन किया जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंको यात्रा करते देख उनके लिये मङ्गलसूचक आशीर्वाद देता है ॥ २ ॥

ततः प्रचक्रमे वक्तुं वचनं स महामुनिः।
महातेजा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी महामुनि भरद्वाजने सत्यपराक्रमी श्रीरामसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ ३ ॥

गङ्गायमुनयोः संधिमासाद्य मनुजर्षभौ।
कालिन्दीमनुगच्छेतां नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम् ॥ ४ ॥

'नरश्रेष्ठ! तुम दोनों भाई गङ्गा और यमुनाके संगमपर पहुँचकर जिनमें पश्चिममुखी होकर गङ्गा मिली हैं, उन महानदी यमुनाके निकट जाना ॥ ४ ॥

अथासाद्य तु कालिन्दीं प्रतिस्रोतःसमागताम्।
तस्यास्तीर्थं प्रचरितं प्रकामं प्रेक्ष्य राघव।
तत्र यूयं प्लवं कृत्वा तरतांशुमतीं नदीम् ॥ ५ ॥

'रघुनन्दन! तदनन्तर गङ्गाजीके जलके वेगसे अपने प्रवाहके प्रतिकूल दिशामें मुड़ी हुई यमुनाके पास पहुँचकर लोगोंके आने-जानेके कारण उनके पदचिह्नोंसे चिह्नित हुए

अवतरण-प्रदेश (पार उतरनेके लिये उपयोगी घाट) को अच्छी तरह देख-भालकर वहाँ जाना और एक बेड़ा बनाकर उसीके द्वारा सूर्यकन्या यमुनाके उस पार उतर जाना ॥५॥

ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम्।
परीतं बहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम्॥ ६ ॥
तस्मिन् सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिषां क्रियाम्।
समासाद्य च तं वृक्षं वसेद् वातिक्रमेत वा॥ ७ ॥

'तत्पश्चात् आगे जानेपर एक बहुत बड़ा बरगदका वृक्ष मिलेगा, जिसके पत्ते हरे रंगके हैं। वह चारों ओरसे बहु-संख्यक दूसरे वृक्षोंद्वारा घिरा हुआ है। उस वृक्षका नाम श्यामवट है। उसकी छायाके नीचे बहुत-से सिद्ध पुरुष निवास करते हैं। वहाँ पहुँचकर सीता दोनों हाथ जोड़कर उस वृक्षसे आशीर्वादकी याचना करें। यात्रीकी इच्छा हो तो उस वृक्षके पास जाकर कुछ कालतक वहाँ निवास करे अथवा वहाँसे आगे बढ़ जाय ॥ ६-७ ॥

क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं प्रेक्ष्य च काननम्।
सल्लकीबदरीमिश्रं रम्यं वंशैश्च यामुनैः॥ ८ ॥

'श्यामवटसे एक कोस दूर जानेपर तुम्हें नीलवनका दर्शन होगा; वहाँ सल्लकी (चीड़) और बेरके भी पेड़ मिले हुए हैं। यमुनाके तटपर उत्पन्न हुए बाँसोंके कारण वह और भी रमणीय दिखायी देता है ॥ ८ ॥

स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतस्य बहुशो मया।
रम्यो मार्दवयुक्तश्च दावैश्चैव विवर्जितः॥ ९ ॥

'यह वही स्थान है जहाँ चित्रकूटको रास्ता जाता है। मैं उस मार्गसे कई बार गया हूँ। वहाँकी भूमि कोमल और दृश्य रमणीय है। उधर कभी दावानलका भय नहीं होता है' ॥

इति पन्थानमादिश्य महर्षिः संन्यवर्तत।
अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः॥ १० ॥

इस प्रकार मार्ग बताकर जब महर्षि भरद्वाज लौटने लगे, तब श्रीरामने 'तथास्तु' कहकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—'अब आप आश्रमको लौट जाइये' ॥ १० ॥

उपावृत्ते मुनौ तस्मिन् रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
कृतपुण्याः स्म भद्रं ते मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते॥ ११ ॥

उन महर्षिके लौट जानेपर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन! तुम्हारा कल्याण हो। ये मुनि हमारे ऊपर जो इतनी कृपा रखते हैं, इससे जान पड़ता है कि हमलोगोंने पहले कभी महान् पुण्य किया है' ॥ ११ ॥

इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ।
सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम्॥ १२ ॥

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे दोनों मनस्वी पुरुषसिंह सीताको ही आगे करके यमुना नदीके तटपर गये ॥ १२ ॥

अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतस्विनीं नदीम्।
चिन्तामापेदिरे सद्यो नदीजलतितीर्षवः॥ १३ ॥

वहाँ कालिन्दीका स्रोत बड़ी तीव्रगतिसे प्रवाहित हो रहा था; वहाँ पहुँचकर वे इस चिन्तामें पड़े कि कैसे नदीको पार किया जाय; क्योंकि वे तुरंत ही यमुनाजीके जलको पार करना चाहते थे ॥ १३ ॥

तौ काष्ठसंघाटमथो चक्रतुः सुमहाप्लवम्।
शुष्कैर्वंशैः समाकीर्णमुशीरैश्च समावृतम्॥ १४ ॥
ततो वैतसशाखाश्च जम्बुशाखाश्च वीर्यवान्।
चकार लक्ष्मणश्छित्त्वा सीतायाः सुखमासनम्॥ १५ ॥

फिर उन दोनों भाइयोंने जंगलके सूखे काठ बटोरकर उन्हींके द्वारा एक बहुत बड़ा बेड़ा तैयार किया। वह बेड़ा सूखे बाँसोंसे व्याप्त था और उसके ऊपर खस बिछाया गया था। तदनन्तर पराक्रमी लक्ष्मणने बेंत और जामुनकी टहनियों-को काटकर सीताके बैठनेके लिये एक सुखद आसन तैयार किया ॥ १४-१५ ॥

तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां रामो दाशरथिः प्रियाम्।
ईषत्संलज्जमानां तामध्यारोपयत प्लवम्॥ १६ ॥
पार्श्वे तत्र च वैदेह्या वसने भूषणानि च।
प्लवे कठिनकाजं च रामश्चक्रे समाहितः॥ १७ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामने लक्ष्मीके समान अचिन्त्य ऐश्वर्य-वाली अपनी प्रिया सीताको जो कुछ लज्जित-सी हो रही थीं, उस बेड़ेपर चढ़ा दिया और उनके बगलमें वस्त्र एवं आभूषण रख दिये; फिर श्रीरामने बड़ी सावधानीके साथ खन्ती (कुदारी) और बकरेके चमड़ेसे मढ़ी हुई पिटारीको भी बेड़ेपर ही रक्खा ॥ १६-१७ ॥

आरोप्य सीतां प्रथमं संघाटं परिगृह्य तौ।
ततः प्रतेरतुर्यत्तौ प्रीतौ दशरथात्मजौ॥ १८ ॥

इस प्रकार पहले सीताको चढ़ाकर वे दोनों भाई दशरथ-कुमार श्रीराम और लक्ष्मण उस बेड़ेको पकड़कर खेने लगे। उन्होंने बड़े प्रयत्न और प्रसन्नताके साथ नदीको पार करना आरम्भ किया ॥ १८ ॥

कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामवन्दत।
स्वस्ति देवि तरामि त्वां पारयेन्मे पतिर्व्रतम्॥ १९ ॥

यमुनाकी बीच धारामें आनेपर सीताने उन्हें प्रणाम किया और कहा—'देवि! इस बेड़ेद्वारा मैं आपके पार जा रही हूँ। आप ऐसी कृपा करें, जिससे हमलोग सकुशल पार हो जायँ और मेरे पतिदेव अपनी वनवासविषयक प्रतिज्ञाको निर्विघ्न पूर्ण करें ॥ १९ ॥

यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च।
स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम्॥ २० ॥

'इक्ष्वाकुवंशी वीरोंद्वारा पालित अयोध्यापुरीमें श्रीरघुनाथजीके सकुशल लौट आनेपर मैं आपके किनारे एक सहस्र गौओंका दान करूँगी और सैकड़ों देवदुर्लभ पदार्थ अर्पित करके आपकी पूजा सम्पन्न करूँगी' ॥ २० ॥

कालिन्दीमथ सीता तु याचमाना कृताञ्जलिः ।
तीरमेवाभिसम्प्राप्ता दक्षिणं वरवर्णिनी ॥ २१ ॥

इस प्रकार सुन्दरी सीता हाथ जोड़कर यमुनाजीसे प्रार्थना कर रही थीं, इतनेहीमें वे दक्षिण तटपर जा पहुँचीं ॥ २१ ॥

ततः प्लवेनांशुमतीं शीघ्रगामूर्मिमालिनीम् ।
तीरजैर्बहुभिर्वृक्षैः संतेरुर्यमुनां नदीम् ॥ २२ ॥

इस तरह उन तीनोंने उसी बेड़ेद्वारा बहुसंख्यक तटवर्ती वृक्षोंसे सुशोभित और तरङ्गमालाओंसे अलंकृत शीघ्रगामिनी सूर्य-कन्या यमुना नदीको पार किया ॥ २२ ॥

ते तीर्णाः प्लवमुत्सृज्य प्रस्थाय यमुनावनात् ।
श्यामं न्यग्रोधमासेदुः शीतलं हरितच्छदम् ॥ २३ ॥

पार उतरकर उन्होंने बेड़ेको तो वहीं तटपर छोड़ दिया और यमुना-तटवर्ती वनसे प्रस्थान करके वे हरे-हरे पत्तोंसे सुशोभित शीतल छायावाले श्यामवटके पास जा पहुँचे ॥

न्यग्रोधं समुपागम्य वैदेही चाभ्यवन्दत ।
नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्व्रतम् ॥ २४ ॥

वटके समीप पहुँचकर विदेहनन्दिनी सीताने उसे मस्तक झुकाया और इस प्रकार कहा—'महावृक्ष ! आपको नमस्कार है। आप ऐसी कृपा करें, जिससे मेरे पतिदेव अपने वनवासविषयक व्रतको पूर्ण करें ॥ २४ ॥

कौसल्यां चैव पश्येम सुमित्रां च यशस्विनीम् ।
इति सीताञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छन्मनस्विनी ॥ २५ ॥

'तथा हमलोग वनसे सकुशल लौटकर माता कौसल्या तथा यशस्विनी सुमित्रादेवीका दर्शन कर सकें।' इस प्रकार कहकर मनस्विनी सीताने हाथ जोड़े हुए उस वृक्षकी परिक्रमा की ॥ २५ ॥

अवलोक्य ततः सीतामायाचन्तीमनिन्दिताम् ।
दयितां च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २६ ॥

सदा अपनी आज्ञाके अधीन रहनेवाली प्राणप्यारी सती-साध्वी सीताको श्यामवटसे आशीर्वादकी याचना करती देख श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—॥ २६ ॥

सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरतानुज ।
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सायुधो द्विपदां वर ॥ २७ ॥

'भरतके छोटे भाई नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! तुम सीताको साथ लेकर आगे-आगे चलो और मैं धनुष धारण किये पीछेसे तुमलोगोंकी रक्षा करता हुआ चलूँगा ॥ २७ ॥

यद् यत् फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा ।
तत् तत् प्रयच्छ वैदेह्या यत्रास्या रमते मनः ॥ २८ ॥

'विदेहकुलनन्दिनी जनकदुलारी सीता जो-जो फल या फूल माँगें अथवा जिस वस्तुको पाकर इनका मन प्रसन्न रहे, वह सब इन्हें देते रहो' ॥ २८ ॥

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम् ।
अदृष्टरूपां पश्यन्ती रामं पप्रच्छ साबला ॥ २९ ॥

अबला सीता एक-एक वृक्ष, झाड़ी अथवा पहलेकी न देखी हुई पुष्पशोभित लताको देखकर उसके विषयमें श्रीरामचन्द्रजीसे पूछती थीं ॥ २९ ॥

रमणीयान् बहुविधान् पादपान् कुसुमोत्करान् ।
सीतावचनसंरब्ध आनयामास लक्ष्मणः ॥ ३० ॥

तथा लक्ष्मण सीताके कथनानुसार तुरंत ही भाँति-भाँतिके वृक्षोंकी मनोहर शाखाएँ और फूलोंके गुच्छे ला-लाकर उन्हें देते थे ॥ ३० ॥

विचित्रवालुकजलां हंससारसनादिताम् ।
रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम् ॥ ३१ ॥

उस समय जनकराजकिशोरी सीता विचित्र वालुका और जलराशिसे सुशोभित तथा हंस और सारसोंके कलनादसे मुखरित यमुना नदीको देखकर बहुत प्रसन्न होती थीं ॥ ३१ ॥

क्रोशमात्रं ततो गत्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बहून् मेध्यान् मृगान् हत्वा चेरतुर्यमुनावने ॥ ३२ ॥

इस तरह एक कोसकी यात्रा करके दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण (प्राणियोंके हितके लिये) मार्गमें मिले हुए हिंसक पशुओंका वध करते हुए यमुना-तटवर्ती वनमें विचरने लगे ॥ ३२ ॥

विहृत्य ते बर्हिणपूगनादिते
शुभे वने वारणवानरायुते ।
समं नदीवप्रमुपेत्य सत्वरं
निवासमाजग्मुरदीनदर्शनाः ॥ ३३ ॥

उदार दृष्टिवाले वे सीता, लक्ष्मण और श्रीराम मोरोंके झुंडोंकी मीठी बोलीसे गूँजते तथा हाथियों और वानरोंसे भरे हुए उस सुन्दर वनमें घूम-फिरकर शीघ्र ही यमुनानदीके समतल तटपर आ गये और रातमें उन्होंने वहीं निवास किया ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

वनकी शोभा देखते-दिखाते हुए श्रीराम आदिका चित्रकूटमें पहुँचना, वाल्मीकिजीका दर्शन करके श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा पर्णशालाका निर्माण तथा उसकी वास्तुशान्ति करके उन सबका कुटीमें प्रवेश

अथ रात्र्यां व्यतीतायामवसुप्तमनन्तरम्।
प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुपुङ्गवः॥ १॥

तदनन्तर रात्रि व्यतीत होनेपर रघुकुलशिरोमणि श्रीरामने अपने जागनेके बाद वहाँ सोये हुए लक्ष्मणको धीरेसे जगाया (और इस प्रकार कहा—)॥ १॥

सौमित्रे शृणु वन्यानां वल्गु व्याहरतां स्वनम्।
सम्प्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परंतप॥ २॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले सुमित्राकुमार! मीठी बोली बोलनेवाले शुक-पिक आदि जंगली पक्षियोंका कलरव सुनो। अब हमलोग यहाँसे प्रस्थान करें; क्योंकि प्रस्थानके योग्य समय आ गया है'॥ २॥

प्रसुप्तस्तु ततो भ्रात्रा समये प्रतिबोधितः।
जहौ निद्रां च तन्द्रां च प्रसक्तं च परिश्रमम्॥ ३॥

सोये हुए लक्ष्मणने अपने बड़े भाईद्वारा ठीक समयपर जगा दिये जानेपर निद्रा, आलस्य तथा राह चलनेकी थकावटको दूर कर दिया॥ ३॥

तत उत्थाय ते सर्वे स्पृष्ट्वा नद्याः शिवं जलम्।
पन्थानमृषिभिर्जुष्टं चित्रकूटस्य तं ययुः॥ ४॥

फिर सब लोग उठे और यमुना नदीके शीतल जलमें स्नान आदि करके ऋषि-मुनियोंद्वारा सेवित चित्रकूटके उस मार्गपर चल दिये॥ ४॥

ततः सम्प्रस्थितः काले रामः सौमित्रिणा सह।
सीतां कमलपत्राक्षीमिदं वचनमब्रवीत्॥ ५॥

उस समय लक्ष्मणके साथ वहाँसे प्रस्थित हुए श्रीरामने कमलनयनी सीतासे इस प्रकार कहा—॥ ५॥

आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान् नगान्।
स्वैः पुष्पैः किंशुकान् पश्य मालिनः शिशिरात्यये॥ ६॥

'विदेहराजनन्दिनी! इस वसन्त ऋतुमें सब ओरसे खिले हुए इन पलाश-वृक्षोंको तो देखो। ये अपने ही पुष्पोंसे पुष्पमालाधारी-से प्रतीत होते हैं और उन फूलोंकी अरुण प्रभाके कारण प्रज्वलित होते-से दिखायी देते हैं॥ ६॥

पश्य भल्लातकान् बिल्वान् नरैरनुपसेवितान्।
फलपुष्पैरवनतान् नूनं शक्ष्याम जीवितुम्॥ ७॥

'देखो, ये भिलावे और बेलके पेड़ अपने फूलों और फलोंके भारसे झुके हुए हैं। दूसरे मनुष्योंका यहाँतक आना सम्भव न होनेसे ये उनके द्वारा उपयोगमें नहीं लाये गये हैं; अतः निश्चय ही इन फलोंसे हम जीवननिर्वाह कर सकेंगे'॥

पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण।
मधूनि मधुकारीभिः सम्भृतानि नगे नगे॥ ८॥

(फिर लक्ष्मणसे कहा—) 'लक्ष्मण! देखो, यहाँके एक-एक वृक्षमें मधुमक्खियोंद्वारा लगाये और पुष्ट किये गये मधुके छत्ते कैसे लटक रहे हैं। इन सबमें एक-एक द्रोण (लगभग सोलह सेर) मधु भरा हुआ है॥ ८॥

एष क्रोशति नत्यूहस्तं शिखी प्रतिकूजति।
रमणीये वनोद्देशे पुष्पसंस्तरसंकटे॥ ९॥

'वनका यह भाग बड़ा ही रमणीय है, यहाँ फूलोंकी वर्षा-सी हो रही है और सारी भूमि पुष्पोंसे आच्छादित दिखायी देती है। इस वनप्रान्तमें यह चातक 'पी कहाँ' 'पी कहाँ' की रट लगा रहा है। उधर वह मोर बोल रहा है, मानो पपीहेकी बातका उत्तर दे रहा हो॥ ९॥

मातङ्गयूथानुसृतं पक्षिसंघानुनादितम्।
चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं गिरिम्॥ १०॥

'यह रहा चित्रकूट पर्वत—इसका शिखर बहुत ऊँचा है। झुंड-के-झुंड हाथी उसी ओर जा रहे हैं और वहाँ बहुत-से पक्षी चहक रहे हैं॥ १०॥

समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुभिरावृते।
पुण्ये रंस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने॥ ११॥

'तात! जहाँकी भूमि समतल है और जो बहुत-से वृक्षोंसे भरा हुआ है, चित्रकूटके उस पवित्र काननमें हमलोग बड़े आनन्दसे विचरेंगे'॥ ११॥

ततस्तौ पादचारेण गच्छन्तौ सह सीतया।
रम्यमासेदतुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम्॥ १२॥

सीताके साथ दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण पैदल ही यात्रा करते हुए यथासमय रमणीय एवं मनोरम पर्वत चित्रकूटपर जा पहुँचे॥ १२॥

तं तु पर्वतमासाद्य नानापक्षिगणायुतम्।
बहुमूलफलं रम्यं सम्पन्नसरसोदकम्॥ १३॥

वह पर्वत नाना प्रकारके पक्षियोंसे परिपूर्ण था। वहाँ फल-मूलोंकी बहुतायत थी और स्वादिष्ट जल पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होता था। उस रमणीय शैलके समीप जाकर श्रीरामने कहा—॥ १३॥

मनोज्ञोऽयं गिरिः सौम्य नानाद्रुमलतायुतः।
बहुमूलफलो रम्यः स्वाजीवः प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

'सौम्य ! यह पर्वत बड़ा मनोहर है। नाना प्रकारके वृक्ष और लताएँ इसकी शोभा बढ़ाती हैं। यहाँ फल-मूल भी बहुत हैं; यह रमणीय तो है ही। मुझे जान पड़ता है कि यहाँ बड़े सुखसे जीवन-निर्वाह हो सकता है ॥ १४ ॥

मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिञ्शिलोच्चये।
अयं वासो भवेत् तात वयमत्र वसेमहि ॥ १५ ॥

'इस पर्वतपर बहुत-से महात्मा मुनि निवास करते हैं। तात ! यही हमारा वासस्थान होनेयोग्य है। हम यहीं निवास करेंगे' ॥ १५ ॥

इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन् ॥ १६ ॥

ऐसा निश्चय करके सीता, श्रीराम और लक्ष्मणने हाथ जोड़कर महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें प्रवेश किया और सबने उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ १६ ॥

तान् महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित्।
आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तं निवेद्य च ॥ १७ ॥

धर्मको जाननेवाले महर्षि उनके आगमनसे बहुत प्रसन्न हुए और 'आपलोगोंका स्वागत है। आइये, बैठिये।' ऐसा कहते हुए उन्होंने उनका आदर-सत्कार किया ॥ १७ ॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः।
संनिवेद्य यथान्यायमात्मानमृषये प्रभुः ॥ १८ ॥

तदनन्तर महाबाहु भगवान् श्रीरामने महर्षिको अपना यथोचित परिचय दिया और लक्ष्मणसे कहा— ॥ १८ ॥

लक्ष्मणानय दारूणि दृढानि च वराणि च।
कुरुष्वावसथं सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः ॥ १९ ॥

'सौम्य लक्ष्मण ! तुम जंगलसे अच्छी-अच्छी मजबूत लकड़ियाँ ले आओ और रहनेके लिये एक कुटी तैयार करो। यहीं निवास करनेको मेरा जी चाहता है' ॥ १९ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान् द्रुमान्।
आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिंदमः ॥ २० ॥

श्रीरामकी यह बात सुनकर शत्रुदमन लक्ष्मण अनेक प्रकारके वृक्षोंकी डालियाँ काट लाये और उनके द्वारा एक पर्णशाला तैयार की ॥ २० ॥

तां निष्ठितां बद्धकटां दृष्ट्वा रामः सुदर्शनाम्।
शुश्रूषमाणमेकाग्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

वह कुटी बाहर-भीतरसे लकड़ीकी ही दीवारसे सुस्थिर बनायी गयी थी और उसे ऊपरसे छा दिया गया था, जिससे वर्षा आदिका निवारण हो। वह देखनेमें बड़ी सुन्दर लगती थी। उसे तैयार हुई देख एकाग्रचित्त होकर अपनी बात सुननेवाले लक्ष्मणसे श्रीरामने इस प्रकार कहा— ॥ २१ ॥

ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम्।
कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरजीविभिः ॥ २२ ॥

'सुमित्राकुमार ! हम गजकन्दका गूदा लेकर उसीसे पर्णशालाके अधिष्ठाता देवताओंका पूजन करेंगे;* क्योंकि दीर्घ जीवनकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको वास्तुशान्ति अवश्य करनी चाहिये ॥ २२ ॥

मृगं हत्वाऽऽनय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण।
कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिर्धर्ममनुस्मर ॥ २३ ॥

'कल्याणदर्शी लक्ष्मण ! तुम 'गजकन्द' नामक कन्दको† उखाड़कर या खोदकर शीघ्र यहाँ ले आओ; क्योंकि शास्त्रोक्त विधिका अनुष्ठान हमारे लिये अवश्यकर्तव्य है। तुम धर्मका ही सदा चिन्तन किया करो' ॥ २३ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय लक्ष्मणः परवीरहा।
चकार च यथोक्तं हि तं रामः पुनरब्रवीत् ॥ २४ ॥

भाईकी इस बातको समझकर शत्रुवीरोंका वध करनेवाले लक्ष्मणने उनके कथनानुसार कार्य किया। तब श्रीरामने पुनः उनसे कहा— ॥ २४ ॥

ऐणेयं श्रपयस्वैतच्छालां यक्ष्यामहे वयम्।
त्वर सौम्यमुहूर्तोऽयं ध्रुवश्च दिवसो ह्ययम् ॥ २५ ॥

'लक्ष्मण ! इस गजकन्दको पकाओ। हम पर्णशालाके अधिष्ठाता देवताओंका पूजन करेंगे। जल्दी करो। यह सौम्य-मुहूर्त है और यह दिन भी 'ध्रुव'‡ संज्ञक है (अतः इसीमें यह शुभ कार्य होना चाहिये)' ॥ २५ ॥

---

* यहाँ 'ऐणेयं मांसम्' का अर्थ है—गजकन्द नामक कन्द-विशेषका गूदा। इस प्रसंगमें मांसपरक अर्थ नहीं लेना चाहिये; क्योंकि ऐसा अर्थ लेनेपर 'हित्वा मुनिवदामिषम्' (२।२०।२९), 'फलानि मूलानि च भक्षयन् वने' (२।३४।५९) तथा 'धर्ममेवाचरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः' (२।५४।१६)' इत्यादि रूपसे की हुई श्रीरामकी प्रतिज्ञाओंसे विरोध पड़ेगा। इन वचनोंमें निरामिष रहने और फल-मूल खाकर धर्माचरण करनेकी ही बात कही गयी है। 'रामो द्विर्नाभिभाषते' (श्रीराम दो तरहकी बात नहीं कहते हैं, एक बार जो कह दिया, वह अटल है) इस कथनके अनुसार श्रीरामकी प्रतिज्ञा टलनेवाली नहीं है।

† मदनपाल-निघण्टुके अनुसार 'मृग' का अर्थ गजकन्द है।

‡ 'उत्तरात्रयरोहिण्यो भास्करश्च ध्रुवं स्थिरम्।
(मुहूर्तचिन्तामणि)

अर्थात् तीनों उत्तरा और रोहिणी नक्षत्र तथा रविवार—ये 'ध्रुव' एवं 'स्थिर' संज्ञक हैं। इसमें गृहशान्ति या वास्तुशान्ति आदि कार्य अच्छे माने गये हैं।

स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान्।
अथ चिक्षेप सौमित्रिः समिद्धे जातवेदसि ॥ २६ ॥

प्रतापी सुमित्राकुमार लक्ष्मणने पवित्र और काले छिलकेवाले गजकन्दको उखाड़कर प्रज्वलित आगमें डाल दिया ॥

तत् तु पक्वं समाज्ञाय निष्टप्तं छिन्नशोणितम्।
लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीत् ॥ २७ ॥

रक्तविकारका नाश करनेवाले* उस गजकन्दको भलीभाँति पका हुआ जानकर लक्ष्मणने पुरुषसिंह श्रीरघुनाथजीसे कहा—॥ २७ ॥

अयं सर्वः समस्ताङ्गः शृतः कृष्णमृगो मया।
देवता देवसंकाश यजस्व कुशलो ह्यसि ॥ २८ ॥

'देवोपम तेजस्वी श्रीरघुनाथजी! यह काले छिलकेवाला गजकन्द, जो बिगड़े हुए सभी अङ्गोंको ठीक करनेवाला है,† मेरेद्वारा सम्पूर्णतः पका दिया गया है। अब आप वास्तुदेवताओंका यजन कीजिये; क्योंकि आप इस कर्ममें कुशल हैं ॥ २८ ॥

रामः स्नात्वा तु नियतो गुणवाञ्जपकोविदः।
संग्रहेणाकरोत् सर्वान् मन्त्रान् सत्रावसानिकान् ॥२९॥

सद्गुणसम्पन्न तथा जपकर्मके ज्ञाता श्रीरामचन्द्रजीने स्नान करके शौच-संतोषादि नियमोंके पालनपूर्वक संक्षेपसे उन सभी मन्त्रोंका पाठ एवं जप किया, जिनसे वास्तुयज्ञकी पूर्ति हो जाती है ॥ २९ ॥

इष्ट्वा देवगणान् सर्वान् विवेशावसथं शुचिः।
बभूव च मनोह्लादो रामस्यामिततेजसः ॥ ३० ॥

समस्त देवताओंका पूजन करके पवित्र भावसे श्रीरामने पर्णकुटीमें प्रवेश किया। उस समय अमिततेजस्वी श्रीरामके मनमें बड़ा आह्लाद हुआ ॥ ३० ॥

वैश्वदेवबलिं कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च।
वास्तुसंशमनीयानि मङ्गलानि प्रवर्तयन् ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् बलिवैश्वदेव कर्म, रुद्रयाग तथा वैष्णवयाग करके श्रीरामने वास्तुदोषकी शान्तिके लिये मङ्गलपाठ किया ॥ ३१ ॥

जपं च न्यायतः कृत्वा स्नात्वा नद्यां यथाविधि।
पापसंशमनं रामश्चकार बलिमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

नदीमें विधिपूर्वक स्नान करके न्यायतः गायत्री आदि मन्त्रोंका जप करनेके अनन्तर श्रीरामने पञ्चसूना आदि दोषोंकी शान्तिके लिये उत्तम बलिकर्म सम्पन्न किया ॥३२॥

वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्यायतनानि च।
आश्रमस्यानुरूपाणि स्थापयामास राघवः ॥ ३३ ॥

रघुनाथजीने अपनी छोटी-सी कुटीके अनुरूप ही वेदिस्थलों (आठ दिक्पालोंके लिये बलि-समर्पणके स्थानों), चैत्यों (गणेश आदिके स्थानों) तथा आयतनों (विष्णु आदि देवोंके स्थानों) का निर्माण एवं स्थापना की ॥३३॥

तां वृक्षपर्णच्छदनां मनोज्ञां
यथाप्रदेशं सुकृतां निवाताम्।
वासाय सर्वे विविशुः समेताः
सभां यथा देवगणाः सुधर्माम् ॥ ३४ ॥

वह मनोहर कुटी उपयुक्त स्थानपर बनी थी। उसे वृक्षोंके पत्तोंसे छाया गया था और उसके भीतर प्रचण्ड वायुसे बचनेका पूरा प्रबन्ध था। सीता, लक्ष्मण और श्रीराम सबने एक साथ उसमें निवासके लिये प्रवेश किया। ठीक वैसे ही, जैसे देवतालोग सुधर्मा सभामें प्रवेश करते हैं ॥३४॥

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं
नदीं च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम्।
ननन्द हृष्टो मृगपक्षिजुष्टां
जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात् ॥ ३५ ॥

चित्रकूट पर्वत बड़ा ही रमणीय था। वहाँ उत्तम तीर्थों (तीर्थस्थान, सीढ़ी और घाटों) से सुशोभित माल्यवती (मन्दाकिनी) नदी बह रही थी, जिसका बहुत-से पशु-पक्षी सेवन करते थे। उस पर्वत और नदीका सांनिध्य पाकर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा हर्ष और आनन्द हुआ। वे नगरसे दूर वनमें आनेके कारण होनेवाले कष्टको भूल गये ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥



---

* 'छिन्नशोणितम्' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'छिन्नं शोणितं रक्तविकाररूपं रोगजातं येन सः तम्।' 'गजकन्द' रोग-विकारका नाशक है, यह वैद्यकमें प्रसिद्ध है। मदनपाल-निघण्टुके 'षट्दोषादिकुष्ठहन्ता' आदि वचनसे भी यह चर्मदोष तथा कुष्ठ आदि रक्तविकारका नाशक सिद्ध होता है।

† 'समस्ताङ्गः' की व्युत्पत्ति यों समझनी चाहिये—'सम्यग् भवन्ति अस्तानि अङ्गानि येन सः।'

सप्तपञ्चाशः सर्गः

सुमन्त्रका अयोध्याको लौटना, उनके मुखसे श्रीरामका संदेश सुनकर पुरवासियोंका विलाप, राजा दशरथ और कौसल्याकी मूर्च्छा तथा अन्तःपुरकी रानियोंका आर्तनाद

कथयित्वा तु दुःखार्तः सुमन्त्रेण चिरं सह ।
रामे दक्षिणकूलस्थे जगाम स्वगृहं गुहः ॥ १ ॥

इधर, जब श्रीराम गङ्गाके दक्षिणतटपर उतर गये, तब गुह दुःखसे व्याकुल हो सुमन्त्रके साथ बड़ी देरतक बातचीत करता रहा । इसके बाद वह सुमन्त्रको साथ ले अपने घरको चला गया ॥ १ ॥

भरद्वाजाभिगमनं प्रयागे च सभाजनम् ।
आ गिरेर्गमनं तेषां तत्रस्थैरभिलक्षितम् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका प्रयागमें भरद्वाजके आश्रमपर जाना, मुनिके द्वारा सत्कार पाना तथा चित्रकूट पर्वतपर पहुँचना—ये सब वृत्तान्त शृङ्गवेरके निवासी गुप्तचरोंने देखे और लौटकर गुहको इन बातोंसे अवगत कराया ॥ २ ॥

अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा हयोत्तमान् ।
अयोध्यामेव नगरीं प्रययौ गाढदुर्मनाः ॥ ३ ॥

इन सब बातोंको जानकर सुमन्त्र गुहसे विदा ले अपने उत्तम घोड़ोंको रथमें जोतकर अयोध्याकी ओर ही लौट पड़े । उस समय उनके मनमें बड़ा दुःख हो रहा था ॥३॥

स वनानि सुगन्धीनि सरितश्च सरांसि च ।
पश्यन् यत्तो ययौ शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च ॥ ४ ॥

वे मार्गमें सुगन्धित वनों, नदियों, सरोवरों, गाँवों और नगरोंको देखते हुए बड़ी सावधानीके साथ शीघ्रतापूर्वक जा रहे थे ॥ ४ ॥

ततः सायाह्नसमये द्वितीयेऽहनि सारथिः ।
अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह ॥ ५ ॥

शृङ्गवेरपुरसे लौटनेके दूसरे दिन सायंकालमें अयोध्या पहुँचकर उन्होंने देखा, सारी पुरी आनन्दशून्य हो गयी है ॥ ५ ॥

स शून्यामिव निःशब्दां दृष्ट्वा परमदुर्मनाः ।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास शोकवेगसमाहतः ॥ ६ ॥

वहाँ कहीं एक शब्द भी सुनायी नहीं देता था । सारी पुरी ऐसी नीरव थी, मानो मनुष्योंसे सूनी हो गयी हो । अयोध्याकी ऐसी दशा देखकर सुमन्त्रके मनमें बड़ा दुःख हुआ । वे शोकके वेगसे पीड़ित हो इस प्रकार चिन्ता करने लगे—॥ ६ ॥

कच्चिन्न सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा ।
रामसंतापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी ॥ ७ ॥

'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि श्रीरामके विरहजनित संतापके दुःखसे व्यथित हो हाथी, घोड़े, मनुष्य और महाराजसहित सारी अयोध्यापुरी शोकाग्निसे दग्ध हो गयी हो' ॥

इति चिन्तापरः सूतो वाजिभिः शीघ्रयायिभिः ।
नगरद्वारमासाद्य त्वरितः प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

इसी चिन्तामें पड़े हुए सारथि सुमन्त्रने शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा नगरद्वारपर पहुँचकर तुरंत ही पुरीके भीतर प्रवेश किया ॥ ८ ॥

सुमन्त्रमभिधावन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ।
क्व राम इति पृच्छन्तः सूतमभ्यद्रवन् नराः ॥ ९ ॥

सुमन्त्रको देखकर सैकड़ों और हजारों पुरवासी मनुष्य दौड़े आये और 'श्रीराम कहाँ हैं ?' यह पूछते हुए उनके रथके साथ-साथ दौड़ने लगे ॥ ९ ॥

तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छ्य राघवम् ।
अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना ॥ १० ॥
ते तीर्णा इति विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखा नराः ।
अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति विचुक्रुशुः ॥ ११ ॥

उस समय सुमन्त्रने उन लोगोंसे कहा—'सज्जनो ! मैं गङ्गाजीके किनारेतक श्रीरघुनाथजीके साथ गया था । वहाँसे उन धर्मनिष्ठ महात्माने मुझे लौट जानेकी आज्ञा दी । अतः मैं उनसे विदा लेकर यहाँ लौट आया हूँ ।' 'वे तीनों व्यक्ति गङ्गाके उस पार चले गये' यह जानकर सब लोगोंके मुखपर आँसुओंकी धाराएँ बह चलीं । 'अहो ! हमें धिक्कार है !' ऐसा कहकर वे लंबी साँसें खींचते और 'हा राम !' की पुकार मचाते हुए जोर-जोरसे करुणक्रन्दन करने लगे ॥ १०-११ ॥

शुश्राव च वचस्तेषां वृन्दं वृन्दं च तिष्ठताम् ।
हताः स्म खलु ये नेह पश्याम इति राघवम् ॥ १२ ॥

सुमन्त्रने उनकी बातें सुनीं । वे झुंड-के-झुंड खड़े होकर कह रहे थे—'हाय ! निश्चय ही हमलोग मारे गये; क्योंकि अब हम यहाँ श्रीरामचन्द्रजीको नहीं देख पायेंगे ॥ १२ ॥

दानयज्ञविवाहेषु समाजेषु महत्सु च ।
न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु धार्मिकं राममन्तरा ॥ १३ ॥

'दान, यज्ञ, विवाह तथा बड़े-बड़े सामाजिक उत्सवोंके समय अब हम कभी धर्मात्मा श्रीरामको अपने बीचमें खड़ा हुआ नहीं देख सकेंगे ॥ १३ ॥

किं समर्थं जनस्यास्य किं प्रियं किं सुखावहम्।
इति रामेण नगरं पित्रेव परिपालितम्॥ १४॥

'अमुक पुरुषके लिये कौन-सी वस्तु उपयोगी है ? क्या करनेसे उसका प्रिय होगा ? और कैसे किस-किस वस्तुसे उसे सुख मिलेगा, इत्यादि बातोंका विचार करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पिताकी भाँति इस नगरका पालन करते थे' ॥ १४॥

वातायनगतानां च स्त्रीणामन्वन्तरापणम्।
राममेवाभितप्तानां शुश्राव परिदेवनाम्॥ १५॥

बाजारके बीचसे निकलते समय सारथिके कानोंमें स्त्रियोंके रोनेकी आवाज सुनायी दी, जो महलोंकी खिड़कियोंमें बैठकर श्रीरामके लिये ही संतप्त हो विलाप कर रही थीं ॥ १५॥

स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहिताननः।
यत्र राजा दशरथस्तदेवोपययौ गृहम्॥ १६॥

राजमार्गके बीचसे जाते हुए सुमन्त्रने कपड़ेसे अपना मुँह ढक लिया। वे रथ लेकर उसी भवनकी ओर गये, जहाँ राजा दशरथ मौजूद थे ॥ १६॥

सोऽवतीर्य रथाच्छीघ्रं राजवेश्म प्रविश्य च।
कक्ष्याः सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुलाः॥ १७॥

राजमहलके पास पहुँचकर वे शीघ्र ही रथसे उतर पड़े और भीतर प्रवेश करके बहुत-से मनुष्योंसे भरी हुई सात ड्योढ़ियोंको पार कर गये ॥ १७॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्याथ समागतम्।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः॥ १८॥

धनियोंकी अट्टालिकाओं, सतमंजिले मकानों तथा राजभवनोंमें बैठी हुई स्त्रियाँ सुमन्त्रको लौटा हुआ देख श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित होनेके दुःखसे दुर्बल हो हाहाकार कर उठीं ॥ १८॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः।
अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः॥ १९॥

उनके कज्जल आदिसे रहित बड़े-बड़े नेत्र आँसुओंके वेगमें डूबे हुए थे। वे स्त्रियाँ अत्यन्त आर्त होकर अव्यक्त-भावसे एक दूसरीकी ओर देख रही थीं ॥ १९॥

ततो दशरथस्त्रीणां प्रासादेभ्यस्ततस्ततः।
रामशोकाभितप्तानां मन्दं शुश्राव जल्पितम्॥ २०॥

तदनन्तर राजमहलोंमें जहाँ-तहाँसे श्रीरामके शोकसे संतप्त हुई राजा दशरथकी रानियोंके मन्दस्वरमें कहे गये वचन सुनायी पड़े ॥ २०॥

सह रामेण निर्यातो विना राममिहागतः।
सूतः किं नाम कौसल्यां क्रोशन्तीं प्रतिवक्ष्यति॥ २१॥

'ये सारथि सुमन्त्र श्रीरामके साथ यहाँसे गये थे और उनके बिना ही यहाँ लौटे हैं, ऐसी दशामें करुणक्रन्दन करती हुई कौसल्याको ये क्या उत्तर देंगे ?॥ २१॥

यथा च मन्ये दुर्जीवमेवं न सुकरं ध्रुवम्।
आच्छिद्य पुत्रे निर्याते कौसल्या यत्र जीवति॥ २२॥

'मैं समझती हूँ, जैसे जीवन दुःखजनित है, निश्चय ही उसी प्रकार इसका नाश भी सुकर नहीं है; तभी तो न्यायतः प्राप्त हुए अभिषेकको त्यागकर पुत्रके वनमें चले जानेपर भी कौसल्या अभीतक जीवित हैं' ॥ २२॥

सत्यरूपं तु तद् वाक्यं राजस्त्रीणां निशामयन्।
प्रदीप्त इव शोकेन विवेश सहसा गृहम्॥ २३॥

रानियोंकी वह सच्ची बात सुनकर शोकसे दग्ध-से होते हुए सुमन्त्रने सहसा राजभवनमें प्रवेश किया ॥ २३॥

स प्रविश्याष्टमीं कक्ष्यां राजानं दीनमातुरम्।
पुत्रशोकपरिद्यूनमपश्यत् पाण्डुरे गृहे॥ २४॥

आठवीं ड्योढ़ीमें प्रवेश करके उन्होंने देखा, राजा एक श्वेत भवनमें बैठे और पुत्रशोकसे मलिन, दीन एवं आतुर हो रहे हैं ॥ २४॥

अभिगम्य तमासीनं राजानमभिवाद्य च।
सुमन्त्रो रामवचनं यथोक्तं प्रत्यवेदयत्॥ २५॥

सुमन्त्रने वहाँ बैठे हुए महाराजके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और उन्हें श्रीरामचन्द्रजीकी कही हुई बातें ज्यों-की-त्यों सुना दीं ॥ २५॥

स तूष्णीमेव तच्छ्रुत्वा राजा विद्रुतमानसः।
मूर्च्छितो न्यपतद् भूमौ रामशोकाभिपीडितः॥ २६॥

राजाने चुपचाप ही वह सुन लिया, सुनकर उनका हृदय द्रवित (व्याकुल) हो गया। फिर वे श्रीरामके शोकसे अत्यन्त पीड़ित हो मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २६॥

ततोऽन्तःपुरमाविद्धं मूर्च्छिते पृथिवीपतौ।
उच्छ्रित्य बाहू चुक्रोश नृपतौ पतिते क्षितौ॥ २७॥

महाराजके मूर्च्छित हो जानेपर सारा अन्तःपुर दुःखसे व्यथित हो उठा। राजाके पृथ्वीपर गिरते ही सब लोग दोनों बाँहें उठाकर जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ॥ २७॥

सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतितं पतिम्।
उत्थापयामास तदा वचनं चेदमब्रवीत्॥ २८॥

उस समय कौसल्याने सुमित्राकी सहायतासे अपने गिरे हुए पतिको उठाया और इस प्रकार कहा—॥ २८॥

इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः।
वनवासादनुप्राप्तं कस्मान्न प्रतिभाषसे॥ २९॥

'महाभाग ! ये सुमन्त्रजी दुष्कर कर्म करनेवाले श्रीरामके दूत होकर—उनका संदेश लेकर वनवाससे लौटे हैं। आप इनसे बात क्यों नहीं करते हैं ? ॥ २९ ॥

अद्येममनयं कृत्वा व्यपत्रपसि राघव।
उत्तिष्ठ सुकृतं तेऽस्तु शोके न स्यात् सहायता ॥ ३० ॥

'रघुनन्दन ! पुत्रको वनवास दे देना अन्याय है । यह अन्याय करके आप लज्जित क्यों हो रहे हैं ? उठिये, आपको अपने सत्यके पालनका पुण्य प्राप्त हो । जब आप इस तरह शोक करेंगे, तब आपके सहायकोंका समुदाय भी आपके साथ ही नष्ट हो जायगा ॥ ३० ॥

देव यस्या भयाद् रामं नानुपृच्छसि सारथिम्।
नेह तिष्ठति कैकेयी विश्रब्धं प्रतिभाष्यताम् ॥ ३१ ॥

'देव ! आप जिसके भयसे सुमन्त्रजीसे श्रीरामका समाचार नहीं पूछ रहे हैं, वह कैकेयी यहाँ मौजूद नहीं है; अतः निर्भय होकर बात कीजिये' ॥ ३१ ॥

सा तथोक्त्वा महाराजं कौसल्या शोकलालसा।
धरण्यां निपपाताशु बाष्पविप्लुतभाषिणी ॥ ३२ ॥

महाराजसे ऐसा कहकर कौसल्याका गला भर आया । आँसुओंके कारण उनसे बोला नहीं गया और वे शोकसे व्याकुल होकर तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥ ३२ ॥

विलपन्तीं तथा दृष्ट्वा कौसल्यां पतितां भुवि।
पतिं चावेक्ष्य ताः सर्वाः समन्ताद् रुरुदुः स्त्रियः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई कौसल्याको भूमिपर पड़ी देख और अपने पतिकी मूर्च्छित दशापर दृष्टिपात करके सभी रानियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर रोने लगीं ॥ ३३ ॥

ततस्तमन्तःपुरनादमुत्थितं
समीक्ष्य वृद्धास्तरुणाश्च मानवाः।
स्त्रियश्च सर्वा रुरुदुः समन्ततः
पुरं तदासीत् पुनरेव संकुलम् ॥ ३४ ॥

अन्तःपुरसे उठे हुए उस आर्तनादको देख-सुनकर नगरके बूढ़े और जवान पुरुष रो पड़े । सारी स्त्रियाँ भी रोने लगीं । वह सारा नगर उस समय सब ओरसे पुनः शोकसे व्याकुल हो उठा ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥



अष्टपञ्चाशः सर्गः

महाराज दशरथकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीराम और लक्ष्मणके संदेश सुनाना

प्रत्याश्वस्तो यदा राजा मोहात् प्रत्यागतस्मृतिः।
तदाजुहाव तं सूतं रामवृत्तान्तकारणात् ॥ १ ॥

मूर्च्छा दूर होनेपर जब राजाको चेत हुआ तब सुस्थिर चित्त होकर उन्होंने श्रीरामका वृत्तान्त सुननेके लिये सारथि सुमन्त्रको सामने बुलाया ॥ १ ॥

तदा सूतो महाराजं कृताञ्जलिरुपस्थितः।
राममेवानुशोचन्तं दुःखशोकसमन्वितम् ॥ २ ॥

उस समय सुमन्त्र श्रीरामके ही शोक और चिन्तामें निरन्तर डूबे रहनेवाले दुःख-शोकसे व्याकुल महाराज दशरथके पास हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ २ ॥

वृद्धं परमसंतप्तं नवग्रहमिव द्विपम्।
विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तमस्वस्थमिव कुञ्जरम् ॥ ३ ॥
राजा तु रजसा सूतं ध्वस्ताङ्गं समुपस्थितम्।
अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत् ॥ ४ ॥

जैसे जंगलसे तुरंत पकड़कर लाया हुआ हाथी अपने यूथपति गजराजका चिन्तन करके लंबी साँस खींचता और अत्यन्त संतप्त तथा अस्वस्थ हो जाता है, उसी प्रकार बूढ़े राजा दशरथ श्रीरामके लिये अत्यन्त संतप्त हो लंबी साँस खींचकर उन्हींका ध्यान करते हुए अस्वस्थ-से हो गये थे। राजाने देखा, सारथिका सारा शरीर धूलसे भर गया है। यह सामने खड़ा है । इसके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही है और यह अत्यन्त दीन दिखायी देता है । उस अवस्थामें राजाने अत्यन्त आर्त होकर उससे पूछा—॥ ३-४ ॥

क्व नु वत्स्यति धर्मात्मा वृक्षमूलमुपाश्रितः।
सोऽत्यन्तसुखितः सूत किमशिष्यति राघवः ॥ ५ ॥

'सूत ! धर्मात्मा श्रीराम वृक्षकी जड़का सहारा ले कहाँ निवास करेंगे ? जो अत्यन्त सुखमें पले थे, वे मेरे लाड़ले राम वहाँ क्या खायेंगे ? ॥ ५ ॥

दुःखस्यानुचितो दुःखं सुमन्त्र शयनोचितः।
भूमिपालात्मजो भूमौ शेते कथमनाथवत् ॥ ६ ॥

'सुमन्त्र ! जो दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन्हीं श्रीरामको भारी दुःख प्राप्त हुआ है । जो राजोचित शय्यापर शयन करनेयोग्य हैं, वे राजकुमार श्रीराम अनाथकी भाँति भूमिपर कैसे सोते होंगे ? ॥ ६ ॥

यं यान्तमनुयान्ति स्म पदातिरथकुञ्जराः।
स वत्स्यति कथं रामो विजनं वनमाश्रितः॥ ७॥

'जिनके यात्रा करते समय पीछे-पीछे पैदलों, रथियों और हाथीसवारोंकी सेना चलती थी, वे ही श्रीराम निर्जन वनमें पहुँचकर वहाँ कैसे निवास करेंगे?॥ ७॥

व्यालैर्मृगैराचरितं कृष्णसर्पनिषेवितम्।
कथं कुमारौ वैदेह्या सार्धं वनमुपाश्रितौ॥ ८॥

'जहाँ अजगर और व्याघ्र-सिंह आदि हिंसक पशु विचरते हैं तथा काले सर्प जिसका सेवन करते हैं, उसी वनका आश्रय लेनेवाले मेरे दोनों कुमार सीताके साथ वहाँ कैसे रहेंगे?॥

सुकुमार्या तपस्विन्या सुमन्त्र सह सीतया।
राजपुत्रौ कथं पादैरवरुह्य रथाद् गतौ॥ ९॥

'सुमन्त्र! परम सुकुमारी तपस्विनी सीताके साथ वे दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण रथसे उतरकर पैदल कैसे गये होंगे?॥ ९॥

सिद्धार्थः खलु सूत त्वं येन दृष्टौ ममात्मजौ।
वनान्तं प्रविशन्तौ तावश्विनाविव मन्दरम्॥ १०॥

'सारथे! तुम कृतकृत्य हो गये; क्योंकि जैसे दोनों अश्विनीकुमार मन्दराचलके वनमें जाते हैं, उसी प्रकार वनके भीतर प्रवेश करते हुए मेरे दोनों पुत्रोंको तुमने अपनी आँखोंसे देखा है॥ १०॥

किमुवाच वचो रामः किमुवाच च लक्ष्मणः।
सुमन्त्र वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली॥ ११॥

सुमन्त्र! वनमें पहुँचकर श्रीरामने तुमसे क्या कहा? लक्ष्मणने भी क्या कहा? तथा मिथिलेशकुमारी सीताने क्या संदेश दिया?॥ ११॥

आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय।
जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु॥ १२॥

'सूत! तुम श्रीरामके बैठने, सोने और खाने-पीनेसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें बताओ। जैसे स्वर्गसे गिरे हुए राजा ययाति सत्पुरुषोंके बीचमें उपस्थित होनेपर सत्संगके प्रभावसे पुनः सुखी हो गये थे, उसी प्रकार तुम-जैसे साधुपुरुषके मुखसे पुत्रका वृत्तान्त सुननेसे मैं सुखपूर्वक जीवन धारण कर सकूँगा'॥

इति सूतो नरेन्द्रेण चोदितः सज्जमानया।
उवाच वाचा राजानं स वाष्पपरिबद्धया॥ १३॥

महाराजके इस प्रकार पूछनेपर सारथि सुमन्त्रने आँसुओंसे रुँधी हुई गद्गद वाणीद्वारा उनसे कहा—॥ १३॥

अब्रवीन्मे महाराज धर्ममेवानुपालयन्।
अञ्जलिं राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च॥ १४॥
सूत मद्वचनात् तस्य तातस्य विदितात्मनः।
शिरसा वन्दनीयस्य वन्द्यौ पादौ महात्मनः॥ १५॥
सर्वमन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्वचनात् त्वया।
आरोग्यमविशेषेण यथार्हमभिवादनम्॥ १६॥

'महाराज! श्रीरामचन्द्रजीने धर्मका ही निरन्तर पालन करते हुए दोनों हाथ जोड़कर और मस्तक झुकाकर कहा है—'सूत! तुम मेरी ओरसे आत्मज्ञानी तथा वन्दनीय मेरे महात्मा पिताके दोनों चरणोंमें प्रणाम कहना तथा अन्तःपुरमें सभी माताओंको मेरे आरोग्यका समाचार देते हुए उनसे विशेषरूपसे मेरा यथोचित प्रणाम निवेदन करना॥ १४-१६॥

माता च मम कौसल्या कुशलं चाभिवादनम्।
अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्चैनामिदं वचः॥ १७॥
धर्मनित्या यथाकालमग्न्यगारपरा भव।
देवि देवस्य पादौ च देववत् परिपालय॥ १८॥

'इसके बाद मेरी माता कौसल्यासे मेरा प्रणाम करके बताना कि 'मैं कुशलसे हूँ और धर्मपालनमें सावधान रहता हूँ।' फिर उनको मेरा यह संदेश सुनाना कि 'माँ! तुम सदा धर्ममें तत्पर रहकर यथासमय अग्निशालाके सेवन (अग्निहोत्र-कार्य) में संलग्न रहना। देवि! महाराजको देवताके समान मानकर उनके चरणोंकी सेवा करना॥

अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु।
अनुराजानमार्यां च कैकेयीमम्ब कारय॥ १९॥

'अभिमान[1] और मानको[2] त्यागकर सभी माताओंके प्रति समान बर्ताव करना—उनके साथ हिल-मिलकर रहना। अम्ब! जिसमें राजाका अनुराग है, उस कैकेयीको भी श्रेष्ठ मानकर उसका सत्कार करना॥ १९॥

कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या च राजवत्।
अर्थज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर॥ २०॥

'कुमार भरतके प्रति राजोचित बर्ताव करना। राजा छोटी उम्रके हों तो भी वे आदरणीय ही होते हैं—इस राजधर्मको याद रखना'॥ २०॥

भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो मद्वचनेन च।
सर्वास्वेव यथान्यायं वृत्तिं वर्तस्व मातृषु॥ २१॥

'कुमार भरतसे भी मेरा कुशल-समाचार बताकर उनसे मेरी ओरसे कहना—'भैया! तुम सभी माताओंके प्रति न्यायोचित बर्ताव करते रहना॥ २१॥

वक्तव्यश्च महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः।
पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय॥ २२॥

'इक्ष्वाकुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु भरतसे यह भी कहना चाहिये कि युवराजपदपर अभिषिक्त होनेके बाद भी तुम राज्यसिंहासनपर विराजमान पिताजीकी रक्षा एवं सेवामें संलग्न रहना॥ २२॥

१. मुख्य पटरानी होनेका अहङ्कार। २. अपने बड़प्पनके घमंडमें आकर दूसरोंके तिरस्कार करनेकी भावना।

अतिक्रान्तवया राजा मा स्मैनं व्यपरोरुधः।
कुमारराज्ये जीवस्व तस्यैवाज्ञाप्रवर्तनात् ॥ २३ ॥

'राजा बहुत बूढ़े हो गये हैं—ऐसा मानकर तुम उनका विरोध न करना—उन्हें राजसिंहासनसे न उतारना। युवराज-पदपर ही प्रतिष्ठित रहकर उनकी आज्ञाका पालन करते हुए ही जीवन-निर्वाह करना ॥ २३ ॥

अब्रवीच्चापि मां भूयो भृशमश्रूणि वर्तयन्।
मातेव मम माता ते द्रष्टव्या पुत्रगर्धिनी ॥ २४ ॥
इत्येवं मां महाबाहुर्ब्रुवन्नेव महायशाः।
रामो राजीवपत्राक्षो भृशमश्रूण्यवर्तयत् ॥ २५ ॥

'फिर उन्होंने नेत्रोंसे बहुत आँसू बहाते हुए मुझसे भरत-से कहनेके लिये ही यह संदेश दिया—'भरत! मेरी पुत्र-वत्सला माताको अपनी ही माताके समान समझना।' मुझसे इतना ही कहकर महाबाहु महायशस्वी कमलनयन श्रीराम बड़े वेगसे आँसुओंकी वर्षा करने लगे ॥ २४-२५ ॥

लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो निःश्वसन् वाक्यमब्रवीत्।
केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः ॥ २६ ॥

'परंतु लक्ष्मण उस समय अत्यन्त कुपित हो लंबी साँस खींचते हुए बोले—'सुमन्त्रजी! किस अपराधके कारण महाराजने इन राजकुमार श्रीरामको देशनिकाला दे दिया है?॥

राज्ञा तु खलु कैकेय्या लघु चाश्रुत्य शासनम्।
कृतं कार्यमकार्यं वा वयं येनाभिपीडिताः ॥ २७ ॥

'राजाने कैकेयीका आदेश सुनकर झटसे उसे पूर्ण करने-की प्रतिज्ञा कर ली। उनका यह कार्य उचित हो या अनुचित, परंतु हमलोगोंको उसके कारण कष्ट भोगना ही पड़ता है ॥

यदि प्रव्राजितो रामो लोभकारणकारितम्।
वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥ २८ ॥

'श्रीरामको वनवास देना कैकेयीके लोभके कारण हुआ हो अथवा राजाके दिये हुए वरदानके कारण, मेरी दृष्टिमें यह सर्वथा पाप ही किया गया है ॥ २८ ॥

इदं तावद् यथाकाममीश्वरस्य कृते कृतम्।
रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्षये ॥ २९ ॥

'यह श्रीरामको वनवास देनेका कार्य राजाकी स्वेच्छा-चारिताके कारण किया गया हो अथवा ईश्वरकी प्रेरणासे, परंतु मुझे श्रीरामके परित्यागका कोई समुचित कारण नहीं दिखायी देता है ॥ २९ ॥

असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाघवात्।
जनयिष्यति संक्रोशं राघवस्य विवासनम् ॥ ३० ॥

'बुद्धिकी कमी अथवा तुच्छताके कारण उचित-अनुचित-का विचार किये बिना ही जो यह राम-वनवासरूपी शास्त्र-विरुद्ध कार्य आरम्भ किया गया है, यह अवश्य ही निन्दा और दुःखका जनक होगा ॥ ३० ॥

अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥ ३१ ॥

'मुझे इस समय महाराजमें पिताका भाव नहीं दिखायी देता। अब तो रघुकुलनन्दन श्रीराम ही मेरे भाई, स्वामी, बन्धु-बान्धव तथा पिता हैं ॥ ३१ ॥

सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतम्।
सर्वलोकोऽनुरज्येत कथं चानेन कर्मणा ॥ ३२ ॥

'जो सम्पूर्ण लोकोंके हितमें तत्पर होनेके कारण सब लोगोंके प्रिय हैं, उन श्रीरामका परित्याग करके राजाने जो यह क्रूरतापूर्ण पापकृत्य किया है, इसके कारण अब सारा संसार उनमें कैसे अनुरक्त रह सकता है? (अब उनमें राजोचित गुण कहाँ रह गया है?) ॥ ३२ ॥

सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्राज्य धार्मिकम्।
सर्वलोकविरोधेन कथं राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥

'जिनमें समस्त प्रजाका मन रमता है, उन धर्मात्मा श्रीरामको देशनिकाला देकर समस्त लोकोंका विरोध करनेके कारण अब वे कैसे राजा हो सकेंगे? ॥ ३३ ॥'

जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती तपस्विनी।
भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मृता स्थिता ॥ ३४ ॥

'महाराज! तपस्विनी जनकनन्दिनी सीता तो लंबी साँस खींचती हुई इस प्रकार निश्चेष्ट खड़ी थीं, मानो उनमें किसी भूतका आवेश हो गया हो। वे भूली-सी जान पड़ती थीं ॥

अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी।
तेन दुःखेन रुदती नैव मां किंचिदब्रवीत् ॥ ३५ ॥

'उन यशस्विनी राजकुमारीने पहले कभी ऐसा संकट नहीं देखा था। वे पतिके ही दुःखसे दुखी होकर रो रही थीं। उन्होंने मुझसे कुछ भी नहीं कहा ॥ ३५ ॥

उद्वीक्षमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता।
मुमोच सहसा बाष्पं प्रयान्तमुपवीक्ष्य सा ॥ ३६ ॥

'मुझे इधर आनेके लिये उद्यत देख वे सूखे मुँहसे पति-की ओर देखती हुई सहसा आँसू बहाने लगी थीं ॥ ३६ ॥

तथैव रामोऽश्रुमुखः कृताञ्जलिः।
स्थितोऽब्रवील्लक्ष्मणबाहुपालितः।
तथैव सीता रुदती तपस्विनी
निरीक्षते राजरथं तथैव माम् ॥ ३७ ॥

'इसी प्रकार लक्ष्मणकी भुजाओंसे सुरक्षित श्रीराम उस समय हाथ जोड़े खड़े थे। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। मनस्विनी सीता भी रोती हुई कभी आपके इस रथकी ओर देखती थीं और कभी मेरी ओर' ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

सुमन्त्रद्वारा श्रीरामके शोकसे जड-चेतन एवं अयोध्यापुरीकी दुरवस्थाका वर्णन तथा राजा दशरथका विलाप

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि।
उष्णमश्रु विमुञ्चन्तो रामे सम्प्रस्थिते वनम्॥ १॥
उभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम्।
प्रस्थितो रथमास्थाय तद्दुःखमपि धारयन्॥ २॥

सुमन्त्रने कहा—'जब श्रीरामचन्द्रजी वनकी ओर प्रस्थित हुए, तब मैंने उन दोनों राजकुमारोंको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनके वियोगके दुःखको हृदयमें धारण करके रथपर आरूढ़ हो उधरसे लौटा। लौटते समय मेरे घोड़े नेत्रोंसे गरम-गरम आँसू बहाने लगे। रास्ता चलनेमें उनका मन नहीं लगता था॥ १-२॥

गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान् बहून्।
आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति॥ ३॥

'मैं गुहके साथ कई दिनोंतक वहाँ इस आशासे ठहरा रहा कि सम्भव है, श्रीराम फिर मुझे बुला लें॥ ३॥

विषये ते महाराज महाव्यसनकर्शिताः।
अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः॥ ४॥

'महाराज! आपके राज्यमें वृक्ष भी इस महान् संकटसे कृशकाय हो गये हैं, फूल, अङ्कुर और कलियोंसहित मुरझा गये हैं॥ ४॥

उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च।
परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च॥ ५॥

'नदियों, छोटे जलाशयों तथा बड़े सरोवरोंके जल गरम हो गये हैं। वनों और उपवनोंके पत्ते सूख गये हैं॥ ५॥

न च सर्पन्ति सत्त्वानि व्याला न प्रचरन्ति च।
रामशोकाभिभूतं तन्निष्कूजमभवद् वनम्॥ ६॥

'वनके जीव-जन्तु आहारके लिये भी कहीं नहीं जाते हैं। अजगर आदि सर्प भी जहाँ-के-तहाँ पड़े हैं, आगे नहीं बढ़ते हैं। श्रीरामके शोकसे पीड़ित हुआ वह सारा वन नीरव-सा हो गया है॥ ६॥

लीनपुष्करपत्राश्च नद्यश्च कलुषोदकाः।
संतप्तपद्माः पद्मिन्यो लीनमीनविहंगमाः॥ ७॥

'नदियोंके जल मलिन हो गये हैं। उनमें फैले हुए कमलोंके पत्ते गल गये हैं। सरोवरोंके कमल भी सूख गये हैं। उनमें रहनेवाले मत्स्य और पक्षी भी नष्टप्राय हो गये हैं॥ ७॥

जलजानि च पुष्पाणि माल्यानि स्थलजानि च।
नातिभान्त्यल्पगन्धीनि फलानि च यथापुरम्॥ ८॥

'जलमें उत्पन्न होनेवाले पुष्प तथा स्थलसे पैदा होनेवाले फूल भी बहुत थोड़ी सुगन्धसे युक्त होनेके कारण अधिक शोभा नहीं पाते हैं तथा फल भी पूर्ववत् नहीं दृष्टिगोचर होते हैं॥ ८॥

अत्रोद्यानानि शून्यानि प्रलीनविहगानि च।
न चाभिरामानारामान् पश्यामि मनुजर्षभ॥ ९॥

'नरश्रेष्ठ! अयोध्याके उद्यान भी सूने हो गये हैं, उनमें रहनेवाले पक्षी भी कहीं छिप गये हैं। यहाँके बगीचे भी मुझे पहलेकी भाँति मनोहर नहीं दिखायी देते हैं॥ ९॥

प्रविशन्तमयोध्यायां न कश्चिदभिनन्दति।
नरा राममपश्यन्तो निःश्वसन्ति मुहुर्मुहुः॥ १०॥

'अयोध्यामें प्रवेश करते समय मुझसे किसीने प्रसन्न होकर बात नहीं की। श्रीरामको न देखकर लोग बारंबार लंबी साँसें खींचने लगे॥ १०॥

देव राजरथं दृष्ट्वा विना राममिहागतम्।
दूरादश्रुमुखः सर्वो राजमार्गे गतो जनः॥ ११॥

'देव! सड़कपर आये हुए सब लोग राजाका रथ श्रीरामके बिना ही यहाँ लौट आया है, यह देखकर दूरसे ही आँसू बहाने लगे थे॥ ११॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्य रथमागतम्।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः॥ १२॥

'अट्टालिकाओं, विमानों और प्रासादोंपर बैठी हुई स्त्रियाँ वहाँसे रथको सूना ही लौटा देखकर श्रीरामको न देखनेके कारण व्यथित हो उठीं और हाहाकार करने लगीं॥ १२॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः।
अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः॥ १३॥

'उनके कज्जल आदिसे रहित बड़े-बड़े नेत्र आँसुओंके वेगमें डूबे हुए थे। वे स्त्रियाँ अत्यन्त आर्त होकर अव्यक्त भावसे एक दूसरीकी ओर देख रही थीं॥ १३॥

नामित्राणां न मित्राणामुदासीनजनस्य च।
अहमार्ततया कंचिद् विशेषं नोपलक्षये॥ १४॥

'शत्रुओं, मित्रों तथा उदासीन (मध्यस्थ) मनुष्योंको

भी मैंने समानरूपसे दुखी देखा है। किसीके शोकमें मुझे कुछ अन्तर नहीं दिखायी दिया है ॥ १४ ॥

अप्रहृष्टमनुष्या च दीननागतुरंगमा ।
आर्तस्वरपरिम्लाना विनिःश्वसितनिःस्वना ॥ १५ ॥
निरानन्दा महाराज रामप्रव्राजनातुरा ।
कौसल्या पुत्रहीनेव अयोध्या प्रतिभाति मे ॥ १६ ॥

'महाराज ! अयोध्याके मनुष्योंका हर्ष छिन गया है। वहाँके घोड़े और हाथी भी बहुत दुखी हैं। सारी पुरी आर्तनादसे मलिन दिखायी देती है। लोगोंकी लंबी-लंबी साँसें ही इस नगरीका उच्छ्वास बन गयी हैं। यह अयोध्यापुरी श्रीरामके वनवाससे व्याकुल हुई पुत्रवियोगिनी कौसल्याकी भाँति मुझे आनन्दशून्य प्रतीत हो रही है ॥ १५-१६ ॥

सूतस्य वचनं श्रुत्वा वाचा परमदीनया ।
बाष्पोपहतया सूतमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

सुमन्त्रके वचन सुनकर राजाने उनसे अश्रु-गद्गद परम दीन वाणीमें कहा—॥ १७ ॥

कैकेय्या विनियुक्तेन पापाभिजनभावया ।
मया न मन्त्रकुशलैर्वृद्धैः सह समर्थितम् ॥ १८ ॥

सूत ! जो पापी कुल और पापपूर्ण देशमें उत्पन्न हुई है तथा जिसके विचार भी पापसे भरे हैं, उस कैकेयीके कहनेमें आकर मैंने सलाह देनेमें कुशल वृद्ध पुरुषोंके साथ बैठकर इस विषयमें कोई परामर्श भी नहीं किया ॥ १८ ॥

न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा सनैगमैः ।
मयायमर्थः सम्मोहात् स्त्रीहेतोः सहसा कृतः ॥ १९ ॥

'सुहृदों, मन्त्रियों और वेदवेत्ताओंसे सलाह लिये बिना ही मैंने मोहवश केवल एक स्त्रीकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये सहसा यह अनर्थमय कार्य कर डाला है ॥ १९ ॥

भवितव्यतया नूनमिदं वा व्यसनं महत् ।
कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सूत यदृच्छया ॥ २० ॥

'सुमन्त्र ! होनहारवश यह भारी विपत्ति निश्चय ही इस कुलका विनाश करनेके लिये अकस्मात् आ पहुँची है ॥ २० ॥

सूत यद्यस्ति ते किंचिन्मयापि सुकृतं कृतम् ।
त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः संत्वरयन्ति माम् ॥ २१ ॥

'सारथे ! यदि मैंने तुम्हारा कभी कुछ थोड़ा-सा भी उपकार किया हो तो तुम मुझे शीघ्र ही श्रीरामके पास पहुँचा दो। मेरे प्राण मुझे श्रीरामके दर्शनके लिये शीघ्रता करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं ॥ २१ ॥

यद्यद्यापि ममैवाज्ञा निवर्तयतु राघवम् ।
न शक्ष्यामि विना रामं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ २२ ॥

'यदि आज भी इस राज्यमें मेरी ही आज्ञा चलती हो तो तुम मेरे ही आदेशसे जाकर श्रीरामको वनसे लौटा ले आओ; क्योंकि अब मैं उनके बिना दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकूँगा ॥ २२ ॥

अथवापि महाबाहुर्गतो दूरं भविष्यति ।
मामेव रथमारोप्य शीघ्रं रामाय दर्शय ॥ २३ ॥

'अथवा महाबाहु श्रीराम तो अब दूर चले गये होंगे, इसलिये मुझे ही रथपर बिठाकर ले चलो और शीघ्र ही रामका दर्शन कराओ ॥ २३ ॥

वृत्तदंष्ट्रो महेष्वासः क्वासौ लक्ष्मणपूर्वजः ।
यदि जीवामि साध्वेनं पश्येयं सीतया सह ॥ २४ ॥

'कुन्दकलीके समान श्वेत दाँतोंवाले, लक्ष्मणके बड़े भाई महाधनुर्धर श्रीराम कहाँ हैं ? यदि सीताके साथ भलीभाँति उनका दर्शन कर लूँ, तभी मैं जीवित रह सकता हूँ ॥ २४ ॥

लोहिताक्षं महाबाहुमामुक्तमणिकुण्डलम् ।
रामं यदि न पश्येयं गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ २५ ॥

'जिनके लाल नेत्र और बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं तथा जो मणियोंके कुण्डल धारण करते हैं; उन श्रीरामको यदि मैं नहीं देखूँगा तो अवश्य यमलोकको चला जाऊँगा ॥ २५ ॥

अतो नु किं दुःखतरं योऽहमिक्ष्वाकुनन्दनम् ।
इमामवस्थामापन्नो नेह पश्यामि राघवम् ॥ २६ ॥

'इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या होगी कि मैं इस मरणासन्न अवस्थामें पहुँचकर भी इक्ष्वाकुकुलनन्दन राघवेन्द्र श्रीरामको यहाँ नहीं देख रहा हूँ ॥ २६ ॥

हा राम रामानुज हा हा वैदेहि तपस्विनि ।
न मां जानीत दुःखेन म्रियमाणमनाथवत् ॥ २७ ॥

'हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा विदेहराजकुमारी तपस्विनी सीते ! तुम्हें पता नहीं होगा कि मैं किस प्रकार दुःखसे अनाथकी भाँति मर रहा हूँ' ॥ २७ ॥

स तेन राजा दुःखेन भृशमर्पितचेतनः ।
अवगाढः सुदुष्पारं शोकसागरमब्रवीत् ॥ २८ ॥

राजा उस दुःखसे अत्यन्त अचेत हो रहे थे, अतः वे उस परम दुर्लङ्घ्य शोकसमुद्रमें निमग्न होकर बोले—॥ २८ ॥

रामशोकमहावेगः सीताविरहपारगः ।
श्वसितोर्मिमहावर्तो बाष्पवेगजलाविलः ॥ २९ ॥
बाहुविक्षेपमीनोऽसौ विक्रन्दितमहास्वनः ।
प्रकीर्णकेशशैवालः कैकेयीवडवामुखः ॥ ३० ॥
ममाश्रुवेगप्रभवः कुब्जावाक्यमहाग्रहः ।
वरवेलो नृशंसाया रामप्रव्राजनायतः ॥ ३१ ॥

यस्मिन् बत निमग्नोऽहं कौसल्ये राघवं विना।
दुस्तरो जीवता देवि मयायं शोकसागरः ॥ ३२ ॥

'देवि कौसल्ये! मैं श्रीरामके विना जिस शोक-समुद्रमें डूबा हुआ हूँ, उसे जीते-जी पार करना मेरे लिये अत्यन्त कठिन है। श्रीरामका शोक ही उस समुद्रका महान् वेग है। सीताका बिछोह ही उसका दूसरा छोर है। लंबी-लंबी साँसें उसकी लहरें और बड़ी-बड़ी भँवरें हैं। आँसुओंका वेगपूर्वक उमड़ा हुआ प्रवाह ही उसका मलिन जल है। मेरा हाथ पटकना ही उसमें उछलती हुई मछलियोंका विलास है। करुण-क्रन्दन ही उसकी महान् गर्जना है। ये बिखरे हुए केश ही उसमें उपलब्ध होनेवाले सेवार हैं। कैकेयी बड़वानल है। वह शोक-समुद्र मेरी वेगपूर्वक होनेवाली अश्रुवर्षाकी उत्पत्तिका मूल कारण है। मन्थराके कुटिलतापूर्ण वचन ही उस समुद्रके बड़े-बड़े ग्राह हैं। क्रूर कैकेयीके माँगे हुए दो वर ही उसके दो तट हैं तथा श्रीरामका वनवास ही उस शोकसागरका महान् विस्तार है ॥ २९—३२ ॥

अशोभनं योऽहमिहाद्य राघवं
दिदृक्षमाणो न लभे सलक्ष्मणम्।
इतीव राजा विलपन् महायशाः
पपात तूर्णं शयने स मूर्च्छितः ॥ ३३ ॥

'मैं लक्ष्मणसहित श्रीरामको देखना चाहता हूँ, परंतु इस समय उन्हें यहाँ देख नहीं पाता हूँ—यह मेरे बहुत बड़े पापका फल है।' इस तरह विलाप करते हुए महायशस्वी राजा दशरथ तुरंत ही मूर्च्छित होकर शय्यापर गिर पड़े ॥

इति विलपति पार्थिवे प्रणष्टे
करुणतरं द्विगुणं च रामहेतोः।
वचनमनुनिशम्य तस्य देवी
भयमगमत् पुनरेव राममाता ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके लिये इस प्रकार विलाप करते हुए राजा दशरथके मूर्च्छित हो जानेपर उनके उस अत्यन्त करुणाजनक वचनको सुनकर राममाता देवी कौसल्याको पुनः दुगुना भय हो गया ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

कौसल्याका विलाप और सारथि सुमन्त्रका उन्हें समझाना

ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुनः।
धरण्यां गतसत्त्वेव कौसल्या सूतमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर जैसे उनमें भूतका आवेश हो गया हो, इस प्रकार कौसल्या देवी बारंबार काँपने लगीं और अचेत-सी होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। उसी अवस्थामें उन्होंने सारथिसे कहा—॥ १ ॥

नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः।
तान् विना क्षणमप्यद्य जीवितुं नोत्सहे ह्यहम् ॥ २ ॥

'सुमन्त्र! जहाँ श्रीराम हैं, जहाँ सीता और लक्ष्मण हैं, वहीं मुझे भी पहुँचा दो। मैं उनके विना अब एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती ॥ २ ॥

निवर्तय रथं शीघ्रं दण्डकान् नय मामपि।
अथ तान् नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३ ॥

'जल्दी रथ लौटाओ और मुझे भी दण्डकारण्यमें ले चलो। यदि मैं उनके पास न जा सकी तो यमलोककी यात्रा करूँगी' ॥ ३ ॥

बाष्पवेगोपहतया स वाचा सज्जमानया।
इदमाश्वासयन् देवीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

देवी कौसल्याकी बात सुनकर सारथि सुमन्त्रने हाथ जोड़कर उन्हें समझाते हुए आँसुओंके वेगसे अवरुद्ध हुई गद्गदवाणीमें कहा—॥ ४ ॥

त्यज शोकं च मोहं च सम्भ्रमं दुःखजं तथा।
व्यवधूय च संतापं वने वत्स्यति राघवः ॥ ५ ॥

'महारानी! यह शोक, मोह और दुःखजनित व्याकुलता छोड़िये। श्रीरामचन्द्रजी इस समय सारा संताप भूलकर वनमें निवास करते हैं ॥ ५ ॥

लक्ष्मणश्चापि रामस्य पादौ परिचरन् वने।
आराधयति धर्मज्ञः परलोकं जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

'धर्मज्ञ एवं जितेन्द्रिय लक्ष्मण भी उस वनमें श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंकी सेवा करते हुए अपना परलोक बना रहे हैं ॥ ६ ॥

विजनेऽपि वने सीता वासं प्राप्य गृहेष्विव।
विस्रम्भं लभतेऽभीता रामे विन्यस्तमानसा ॥ ७ ॥

'सीताका मन भगवान् श्रीराममें ही लगा हुआ है। इसलिये निर्जन वनमें रहकर भी वे घरकी ही भाँति प्रेम एवं प्रसन्नता पाती तथा निर्भय रहती हैं ॥ ७ ॥

नास्या दैन्यं कृतं किंचित् सुसूक्ष्ममपि लक्ष्यते ।
उचितेव प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मे ॥ ८ ॥

'वनमें रहनेके कारण उनके मनमें कुछ थोड़ा-सा भी दुःख नहीं दिखायी देता। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो विदेहराजकुमारी सीताको परदेशमें रहनेका पहलेसे ही अभ्यास हो ॥ ८ ॥

नगरोपवनं गत्वा यथा स्म रमते पुरा ।
तथैव रमते सीता निर्जनेषु वनेष्वपि ॥ ९ ॥

'जैसे यहाँ नगरके उपवनमें जाकर वे पहले घूमा करती थीं, उसी प्रकार निर्जन वनमें भी सीता सानन्द विचरती हैं ॥ ९ ॥

बालेव रमते सीता बालचन्द्रनिभानना ।
रामा रामे ह्यदीनात्मा विजनेऽपि वने सती ॥ १० ॥

'पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली रमणीशिरोमणि उदारहृदया सती-साध्वी सीता उस निर्जन वनमें भी श्रीरामके समीप बालिकाके समान खेलती और प्रसन्न रहती हैं ॥ १० ॥

तद्गतं हृदयं यस्यास्तदधीनं च जीवितम् ।
अयोध्या हि भवेदस्या रामहीना तथा वनम् ॥ ११ ॥

'उनका हृदय श्रीराममें ही लगा हुआ है । उनका जीवन भी श्रीरामके ही अधीन है, अतः रामके बिना अयोध्या भी उनके लिये वनके समान ही होगी (और श्रीरामके साथ रहनेपर वे वनमें भी अयोध्याके समान ही सुखका अनुभव करेंगी) ॥ ११ ॥

परिपृच्छति वैदेही ग्रामांश्च नगराणि च ।
गतिं दृष्ट्वा नदीनां च पादपान् विविधानपि ॥ १२ ॥

'विदेहनन्दिनी सीता मार्गमें मिलनेवाले गाँवों, नगरों, नदियोंके प्रवाहों और नाना प्रकारके वृक्षोंको देखकर उनका परिचय पूछा करती हैं ॥ १२ ॥

रामं वा लक्ष्मणं वापि दृष्ट्वा जानाति जानकी ।
अयोध्या क्रोशमात्रे तु विहारमिव साश्रिता ॥ १३ ॥

'श्रीराम और लक्ष्मणको अपने पास देखकर जानकीको यही जान पड़ता है कि मैं अयोध्यासे एक कोसकी दूरीपर मानो घूमने-फिरनेके लिये ही आयी हूँ ॥ १३ ॥

इदमेव स्मराम्यस्याः सहसैवोपजल्पितम् ।
कैकेयीसंश्रितं जल्पं नेदानीं प्रतिभाति माम् ॥ १४ ॥

'सीताके सम्बन्धमें मुझे इतना ही स्मरण है । उन्होंने कैकेयीको लक्ष्य करके जो सहसा कोई बात कह दी थी, वह इस समय मुझे याद नहीं आ रही है' ॥ १४ ॥

ध्वंसयित्वा तु तद् वाक्यं प्रमादात् पर्युपस्थितम् ।
ह्लादनं वचनं सूतो देव्या मधुरमब्रवीत् ॥ १५ ॥

इस प्रकार भूलसे निकली हुई कैकेयीविषयक उस बातको पलटकर सारथि सुमन्त्रने देवी कौसल्याके हृदयको आह्लाद प्रदान करनेवाला मधुर वचन कहा—॥ १५ ॥

अध्वना वातवेगेन सम्भ्रमेणातपेन च ।
न विगच्छति वैदेह्याश्चन्द्रांशुसदृशी प्रभा ॥ १६ ॥

'मार्गमें चलनेकी थकावट, वायुके वेग, भयदायक वस्तुओंको देखनेके कारण होनेवाली घबराहट तथा धूपसे भी विदेहराजकुमारीकी चन्द्रकिरणोंके समान कमनीय कान्ति उनसे दूर नहीं होती है ॥ १६ ॥

सदृशं शतपत्रस्य पूर्णचन्द्रोपमप्रभम् ।
वदनं तद् वदान्याया वैदेह्या न विकम्पते ॥ १७ ॥

'उदारहृदया सीताका विकसित कमलके समान सुन्दर तथा पूर्णचन्द्रमाके समान आनन्ददायक कान्तिसे युक्त मुख कभी मलिन नहीं होता है ॥ १७ ॥

अलक्तरसरक्ताभावलक्तरसवर्जितौ ।
अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ ॥ १८ ॥

'जिनमें महावरके रंग नहीं लग रहे हैं, सीताके वे दोनों चरण आज भी महावरके समान ही लाल तथा कमलकोशके समान कान्तिमान् हैं ॥ १८ ॥

नूपुरोत्कृष्टलीलेव खेलं गच्छति भामिनी ।
इदानीमपि वैदेही तद्रागान्न्यस्तभूषणा ॥ १९ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके प्रति अनुरागके कारण उन्हींकी प्रसन्नताके लिये जिन्होंने आभूषणोंका परित्याग नहीं किया है, वे विदेहराजकुमारी भामिनी सीता इस समय भी अपने नूपुरोंकी झनकारसे हंसोंके कलनादका तिरस्कार-सा करती हुई लीलाविलासयुक्त गतिसे चलती हैं ॥ १९ ॥

गजं वा वीक्ष्य सिंहं वा व्याघ्रं वा वनमाश्रिता ।
नाहारयति संत्रासं बाहू रामस्य संश्रिता ॥ २० ॥

'वे श्रीरामचन्द्रजीके बाहुबलका भरोसा करके वनमें रहती हैं और हाथी, बाघ अथवा सिंहको भी देखकर कभी भय नहीं मानती हैं ॥ २० ॥

न शोच्यास्ते न चात्मा ते शोच्यो नापि जनाधिपः ।
इदं हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम् ॥ २१ ॥

'अतः आप श्रीराम, लक्ष्मण अथवा सीताके लिये शोक न करें, अपने और महाराजके लिये भी चिन्ता छोड़ें । श्रीरामचन्द्रजीका यह पावन चरित्र संसारमें सदा ही स्थिर रहेगा ॥ २१ ॥

विधूय शोकं परिहृष्टमानसा
महर्षियाते पथि सुव्यवस्थिताः ।
वने रता वन्यफलाशनाः पितुः
शुभां प्रतिज्ञां प्रतिपालयन्ति ते ॥ २२ ॥

'वे तीनों ही शोक छोड़कर प्रसन्नचित्त हो महर्षियोंके मार्गपर दृढ़तापूर्वक स्थित हैं और वनमें रहकर फल-मूलका भोजन करते हुए पिताकी उत्तम प्रतिज्ञाका पालन कर रहे हैं' ॥ २२ ॥

तथापि सूतेन सुयुक्तवादिना
निवार्यमाणा सुतशोककर्शिता ।
न चैव देवी विरराम कूजितात्
प्रियेति पुत्रेति च राघवेति च ॥ २३ ॥

इस प्रकार युक्तियुक्त वचन कहकर सारथि सुमन्त्रने पुत्रशोकसे पीड़ित हुई कौसल्याको चिन्ता करने और रोनेसे रोका तो भी देवी कौसल्या विलापसे विरत न हुईं। वे 'हा प्यारे !' 'हा पुत्र !' और 'हा रघुनन्दन !' की रट लगाती हुई करुणक्रन्दन करती ही रहीं ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

कौसल्याका विलापपूर्वक राजा दशरथको उपालम्भ देना

वनं गते धर्मरते रामे रमयतां वरे ।
कौसल्या रुदती चार्ता भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

प्रजाजनोंको आनन्द प्रदान करनेवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ धर्मपरायण श्रीरामके वनमें चले जानेपर आर्त होकर रोती हुई कौसल्याने अपने पतिसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

यद्यपि त्रिषु लोकेषु प्रथितं ते महद् यशः ।
सानुक्रोशो वदान्यश्च प्रियवादी च राघवः ॥ २ ॥

'महाराज ! यद्यपि तीनों लोकोंमें आपका महान् यश फैला हुआ है—सब लोग यही जानते हैं कि—रघुकुलनरेश दशरथ बड़े दयालु, उदार और प्रिय वचन बोलनेवाले हैं ॥ २ ॥

कथं नरवरश्रेष्ठ पुत्रौ तौ सह सीतया ।
दुःखितौ सुखसंवृद्धौ वने दुःखं सहिष्यतः ॥ ३ ॥

'नरेशोंमें श्रेष्ठ आर्यपुत्र ! तथापि आपने इस बातका विचार नहीं किया कि सुखमें पले हुए आपके वे दोनों पुत्र सीताके साथ वनवासका कष्ट कैसे सहन करेंगे ॥ ३ ॥

सा नूनं तरुणी श्यामा सुकुमारी सुखोचिता ।
कथमुष्णं च शीतं च मैथिली विसहिष्यते ॥ ४ ॥

'वह सोलह-अठारह वर्षोंकी सुकुमारी तरुणी मिथिलेशकुमारी सीता, जो सुख भोगनेके ही योग्य है, वनमें सर्दी-गरमीका दुःख कैसे सहेगी ! ॥ ४ ॥

भुक्त्वाशनं विशालाक्षी सूपदंशान्वितं शुभम् ।
वन्यं नैवारमाहारं कथं सीतोपभोक्ष्यते ॥ ५ ॥

'विशाललोचना सीता सुन्दर व्यञ्जनोंसे युक्त सुन्दर स्वादिष्ट अन्न भोजन किया करती थी, अब वह जंगलकी तिन्नीके चावलका सूखा भात कैसे खायगी ? ॥ ५ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषं श्रुत्वा शुभसमन्विता ।
कथं क्रव्यादसिंहानां शब्दं श्रोष्यत्यशोभनम् ॥ ६ ॥

'जो माङ्गलिक वस्तुओंसे सम्पन्न रहकर सदा गीत और वाद्यकी मधुर ध्वनि सुना करती थी, वही जंगलमें मांसभक्षी सिंहोंका अशोभन (अमङ्गलकारी) शब्द कैसे सुन सकेगी ? ॥ ६ ॥

महेन्द्रध्वजसंकाशः क्व नु शेते महाभुजः ।
भुजं परिघसंकाशमुपाधाय महाबलः ॥ ७ ॥

'जो इन्द्रध्वजके समान समस्त लोकोंके लिये उत्सव प्रदान करनेवाले थे, वे महाबली, महाबाहु श्रीराम अपनी परिघ-जैसी मोटी बाँहका तकिया लगाकर कहाँ सोते होंगे ? ॥ ७ ॥

पद्मवर्णं सुकेशान्तं पद्मनिःश्वासमुत्तमम् ।
कदा द्रक्ष्यामि रामस्य वदनं पुष्करेक्षणम् ॥ ८ ॥

'जिसकी कान्ति कमलके समान है, जिसके ऊपर सुन्दर केश शोभा पाते हैं, जिसकी प्रत्येक साँससे कमलकी-सी सुगन्ध निकलती है तथा जिसमें विकसित कमलके सदृश सुन्दर नेत्र सुशोभित होते हैं, श्रीरामके उस मनोहर मुखको मैं कब देखूँगी ? ॥ ८ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदयं मे न संशयः ।
अपश्यन्त्या न तं यद् वै फलतीदं सहस्रधा ॥ ९ ॥

'मेरा हृदय निश्चय ही लोहेका बना हुआ है, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि श्रीरामको न देखनेपर भी मेरे इस हृदयके सहस्रों टुकड़े नहीं हो जाते हैं ॥ ९ ॥

यत् त्वया करुणं कर्म व्यपोह्य मम बान्धवाः ।
निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने ॥ १० ॥

'आपने यह बड़ा ही निर्दयतापूर्ण कर्म किया है कि बिना कुछ सोच-विचार किये मेरे बान्धवोंको (कैकेयीके कहनेसे) निकाल दिया है, जिसके कारण वे सुख भोगनेके योग्य होनेपर भी दीन होकर वनमें दौड़ रहे हैं ॥ १० ॥

यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति ।
जह्याद् राज्यं च कोशं च भरतो नोपलक्ष्यते ॥ ११ ॥

'यदि पंद्रहवें वर्षमें श्रीरामचन्द्र पुनः वनसे लौटें तो भरत उनके लिये राज्य और खजाना छोड़ देंगे, ऐसी सम्भावना नहीं दिखायी देती ॥ ११ ॥

भोजयन्ति किल श्राद्धे केचित् स्वानेव बान्धवान् ।
ततः पश्चात् समीक्षन्ते कृतकार्या द्विजोत्तमान् ॥ १२ ॥
तत्र ये गुणवन्तश्च विद्वांसश्च द्विजातयः ।
न पश्चात् तेऽभिमन्यन्ते सुधामपि सुरोपमाः ॥ १३ ॥

'कहते हैं, कुछ लोग श्राद्धमें पहले अपने बान्धवों (दौहित्र आदि) को ही भोजन करा देते हैं, उसके बाद कृतकृत्य होकर निमन्त्रित श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी ओर ध्यान देते हैं। परंतु वहाँ जो गुणवान् एवं विद्वान् देवतुल्य उत्तम ब्राह्मण होते हैं, वे पीछे अमृत भी परोसा गया हो तो उसको स्वीकार नहीं करते हैं ॥ १२-१३ ॥

ब्राह्मणेष्वपि वृत्तेषु भुक्तशेषं द्विजोत्तमाः ।
नाभ्युपेतुमलं प्राज्ञाः शृङ्गच्छेदमिवर्षभाः ॥ १४ ॥

'यद्यपि पहली पंक्तिमें भी ब्राह्मण ही भोजन करके उठे होते हैं, तथापि जो श्रेष्ठ और विद्वान् ब्राह्मण हैं, वे अपमानके भयसे उस भुक्तशेष अन्नको उसी तरह ग्रहण नहीं कर पाते जैसे अच्छे बैल अपने सींग कटानेको नहीं तैयार होते हैं ॥ १४ ॥

एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशाम्पते ।
भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमन्यते ॥ १५ ॥

'महाराज ! इसी प्रकार ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भ्राता अपने छोटे भाईके भोगे हुए राज्यको कैसे ग्रहण करेंगे ? वे उसका तिरस्कार (त्याग) क्यों नहीं कर देंगे ? ॥ १५ ॥

न परेणाहृतं भक्ष्यं व्याघ्रः खादितुमिच्छति ।
एवमेव नरव्याघ्रः परलीढं न मंस्यते ॥ १६ ॥

'जैसे बाघ गीदड़ आदि दूसरे जन्तुओंके लाये या खाये हुए भक्ष्य पदार्थ (शिकार) को खाना नहीं चाहता, इसी प्रकार पुरुषसिंह श्रीराम दूसरोंके चाटे (भोगे) हुए राज्य-भोगको नहीं स्वीकार करेंगे ॥ १६ ॥

हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपाश्च खादिराः ।
नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे ॥ १७ ॥

'हविष्य, घृत, पुरोडाश, कुश और खदिर (खैर) के यूप—ये एक यज्ञके उपयोगमें आ जानेपर 'यातयाम' (उपभुक्त) हो जाते हैं; इसलिये विद्वान् इनका फिर दूसरे यज्ञमें उपयोग नहीं करते हैं ॥ १७ ॥

तथा ह्यात्तमिदं राज्यं हृतसारां सुरामिव ।
नाभिमन्तुमलं रामो नष्टसोममिवाध्वरम् ॥ १८ ॥

'इसी प्रकार निःसार सुरा और भुक्तावशिष्ट यज्ञसम्बन्धी सोमरसकी भाँति इस भोगे हुए राज्यको श्रीराम नहीं ग्रहण कर सकते ॥ १८ ॥

नैवंविधमसत्कारं राघवो मर्षयिष्यति ।
बलवानिव शार्दूलो बालधेरभिमर्शनम् ॥ १९ ॥

'जैसे बलवान् शेर किसीके द्वारा अपनी पूँछका पकड़ा जाना नहीं सह सकता, उसी प्रकार श्रीराम ऐसे अपमानको नहीं सह सकेंगे ॥ १९ ॥

नैतस्य सहिता लोका भयं कुर्युर्महामृधे ।
अधर्मं त्विह धर्मात्मा लोकं धर्मेण योजयेत् ॥ २० ॥

'समस्त लोक एक साथ होकर यदि महासमरमें आ जायँ तो भी वे श्रीरामचन्द्रजीके मनमें भय उत्पन्न नहीं कर सकते, तथापि इस तरह राज्य लेनेमें अधर्म मानकर उन्होंने इसपर अधिकार नहीं किया। जो धर्मात्मा समस्त जगत्को धर्ममें लगाते हैं, वे स्वयं अधर्म कैसे कर सकते हैं ? ॥ २० ॥

नन्वसौ काञ्चनैर्बाणैर्महावीर्यो महाभुजः ।
युगान्त इव भूतानि सागरानपि निर्दहेत् ॥ २१ ॥

'वे महापराक्रमी महाबाहु श्रीराम अपने सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा सारे समुद्रोंको भी उसी प्रकार दग्ध कर सकते हैं, जैसे संवर्तक अग्निदेव प्रलयकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंको भस्म कर डालते हैं ॥ २१ ॥

स तादृशः सिंहबलो वृषभाक्षो नरर्षभः ।
स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्मजो यथा ॥ २२ ॥

'सिंहके समान बल और बैलके समान बड़े-बड़े नेत्रवाला वैसा नरश्रेष्ठ वीर पुत्र स्वयं अपने पिताके ही हाथोंद्वारा मारा गया (राज्यसे वञ्चित कर दिया गया)। ठीक उसी तरह, जैसे मत्स्यका बच्चा अपने पिता मत्स्यके द्वारा ही खा लिया जाता है ॥ २२ ॥

द्विजातिचरितो धर्मः शास्त्रे दृष्टः सनातनैः ।
यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे विवासिते ॥ २३ ॥

'आपके द्वारा धर्मपरायण पुत्रको देशनिकाला दे दिया गया, अतः यह प्रश्न उठता है कि सनातन ऋषियोंने वेदमें जिसका साक्षात्कार किया है तथा श्रेष्ठ द्विज जिसे अपने आचरणमें लाये हैं, वह धर्म आपकी दृष्टिमें सत्य है या नहीं ॥

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः ।
तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नैव विद्यते ॥ २४ ॥

'राजन् ! नारीके लिये एक सहारा उसका पति है, दूसरा उसका पुत्र है तथा तीसरा सहारा उसके पिता, भाई आदि बन्धु-बान्धव हैं, चौथा कोई सहारा उसके लिये नहीं है ॥ २४ ॥

तत्र त्वं मम नैवासि रामश्च वनमाहितः ।
न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा हा हता त्वया ॥ २५ ॥

'इन सहारोंमेंसे आप तो मेरे हैं ही नहीं (क्योंकि आप सौतके अधीन हैं)। दूसरा सहारा श्रीराम हैं, जो वनमें भेज दिये गये (और बन्धु-बान्धव भी दूर हैं। अतः तीसरा सहारा भी नहीं रहा)। आपकी सेवा छोड़कर मैं श्रीरामके पास वनमें जाना नहीं चाहती हूँ, इसलिये सर्वथा आपके द्वारा मारी ही गयी ॥ २५ ॥

हतं त्वया राष्ट्रमिदं सराज्यं
हताः स्म सर्वाः सह मन्त्रिभिश्च।
हता सपुत्रास्मि हताश्च पौराः
सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ ॥ २६ ॥

'आपने श्रीरामको वनमें भेजकर इस राष्ट्रका तथा आस-पासके अन्य राज्योंका भी नाश कर डाला, मन्त्रियोंसहित सारी प्रजाका वध कर डाला। आपके द्वारा पुत्रसहित मैं भी मारी गयी और इस नगरके निवासी भी नष्टप्राय हो गये। केवल आपके पुत्र भरत और पत्नी कैकेयी दो ही प्रसन्न हुए हैं' ॥ २६ ॥

इमां गिरं दारुणशब्दसंहितां
निशम्य रामेति मुमोह दुःखितः।
ततः स शोकं प्रविवेश पार्थिवः
स्वदुष्कृतं चापि पुनस्तथास्मरत् ॥ २७ ॥

कौसल्याकी यह कठोर शब्दोंसे युक्त वाणी सुनकर राजा दशरथको बड़ा दुःख हुआ। वे 'हा राम!' कहकर मूर्च्छित हो गये। राजा शोकमें डूब गये। फिर उसी समय उन्हें अपने एक पुराने दुष्कर्मका स्मरण हो आया, जिसके कारण उन्हें यह दुःख प्राप्त हुआ था ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

दुखी हुए राजा दशरथका कौसल्याको हाथ जोड़कर मनाना और कौसल्याका उनके चरणोंमें पड़कर क्षमा माँगना

एवं तु क्रुद्धया राजा राममात्रा सशोकया।
श्रावितः परुषं वाक्यं चिन्तयामास दुःखितः ॥ १ ॥

शोकमग्न हो कुपित हुई श्रीराममाता कौसल्याने जब राजा दशरथको इस प्रकार कठोर वचन सुनाया, तब वे दुःखित होकर बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥ १ ॥

चिन्तयित्वा स च नृपो मोहव्याकुलितेन्द्रियः।
अथ दीर्घेण कालेन संज्ञामाप परंतपः ॥ २ ॥

चिन्तित होनेके कारण राजाकी सारी इन्द्रियाँ मोहसे आच्छन्न हो गयीं। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा दशरथको चेत हुआ ॥ २ ॥

स संज्ञामुपलभ्यैव दीर्घमुष्णं च निःश्वसन्।
कौसल्यां पार्श्वतो दृष्ट्वा ततश्चिन्तामुपागमत् ॥ ३ ॥

होशमें आनेपर उन्होंने गरम-गरम लंबी साँस ली और कौसल्याको बगलमें बैठी हुई देख वे फिर चिन्तामें पड़ गये ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य प्रत्यभात् कर्म दुष्कृतम्।
यदनेन कृतं पूर्वमज्ञानाच्छब्दवेधिना ॥ ४ ॥

चिन्तामें पड़े-पड़े ही उन्हें अपने एक दुष्कर्मका स्मरण हो आया, जो इन शब्दवेधी बाण चलानेवाले नरेशके द्वारा पहले अनजानमें बन गया था ॥ ४ ॥

अमनास्तेन शोकेन रामशोकेन च प्रभुः।
द्वाभ्यामपि महाराजः शोकाभ्यामभितप्यते ॥ ५ ॥

उन शोकसे तथा श्रीरामके शोकसे भी राजाके मनमें बड़ी वेदना हुई। उन दोनों ही शोकोंसे महाराज संतप्त होने लगे ॥ ५ ॥

दह्यमानस्तु शोकाभ्यां कौसल्यामाह दुःखितः।
वेपमानोऽञ्जलिं कृत्वा प्रसादार्थमवाङ्मुखः ॥ ६ ॥

उन दोनों शोकोंसे दग्ध होते हुए दुखी राजा दशरथ नीचे मुँह किये थर-थर काँपने लगे और कौसल्याको मनानेके लिये हाथ जोड़कर बोले—॥ ६ ॥

प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाञ्जलिः।
वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि ॥ ७ ॥

'कौसल्ये! मैं तुमसे निहोरा करता हूँ, तुम प्रसन्न हो जाओ। देखो, मैंने ये दोनों हाथ जोड़ लिये हैं। तुम तो दूसरोंपर भी सदा वात्सल्य और दया दिखानेवाली हो (फिर मेरे प्रति क्यों कठोर हो गयीं ?) ॥ ७ ॥

भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान् निर्गुणोऽपि वा।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम् ॥ ८ ॥

'देवि! पति गुणवान् हो या गुणहीन, धर्मका विचार करनेवाली सती नारियोंके लिये वह प्रत्यक्ष देवता है ॥ ८ ॥

सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा।
नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम् ॥ ९ ॥

'तुम तो सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाली और लोकमें भले-बुरेको समझनेवाली हो। यद्यपि तुम भी दुःखित हो तथापि मैं भी महान् दुःखमें पड़ा हुआ हूँ; अतः तुम्हें मुझसे कठोर वचन नहीं कहना चाहिये' ॥ ९ ॥

तद् वाक्यं करुणं राज्ञः श्रुत्वा दीनस्य भाषितम्।
कौसल्या व्यसृजद् बाष्पं प्रणालीव नवोदकम्॥ १०॥

दुःखी हुए राजा दशरथके मुखसे कहे गये उस करुणाजनक वचनको सुनकर कौसल्या अपने नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं, मानो छतकी नालीसे नूतन (वर्षाका) जल गिर रहा हो ॥ १० ॥

सा मूर्ध्नि बद्ध्वा रुदती राज्ञः पद्ममिवाञ्जलिम्।
सम्भ्रमादब्रवीत् त्रस्ता त्वरमाणाक्षरं वचः॥११॥

वे अधर्मके भयसे रो पड़ीं और राजाके जुड़े हुए कमलसदृश हाथोंको अपने सिरसे सटाकर घबराहटके कारण शीघ्रतापूर्वक एक-एक अक्षरका उच्चारण करती हुई बोलीं—॥ ११ ॥

प्रसीद शिरसा याचे भूमौ निपतितास्मि ते।
याचितास्मि हता देव क्षन्तव्याहं नहि त्वया॥ १२॥

'देव! मैं आपके सामने पृथ्वीपर पड़ी हूँ। आपके चरणोंमें मस्तक रखकर याचना करती हूँ, आप प्रसन्न हों। यदि आपने उलटे मुझसे ही याचना की, तब तो मैं मारी गयी। मुझसे अपराध हुआ हो तो भी मैं आपसे क्षमा पानेके योग्य हूँ, प्रहार पानेके नहीं ॥ १२ ॥

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता।
उभयोर्लोकयोर्लोके पत्या या सम्प्रसाद्यते॥ १३॥

'पति अपनी स्त्रीके लिये इहलोक और परलोकमें भी स्पृहणीय है। इस जगत्‌में जो स्त्री अपने बुद्धिमान् पतिके द्वारा मनायी जाती है, वह कुलस्त्री कहलानेके योग्य नहीं है॥

जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम्।
पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम्॥ १४॥

'धर्मज्ञ महाराज! मैं स्त्री-धर्मको जानती हूँ और यह भी जानती हूँ कि आप सत्यवादी हैं। इस समय मैंने जो कुछ भी न कहने योग्य बात कह दी है, वह पुत्रशोकसे पीड़ित होनेके कारण मेरे मुखसे निकल गयी है ॥ १४ ॥

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः॥ १५॥

'शोक धैर्यका नाश कर देता है। शोक शास्त्रज्ञान को भी लुप्त कर देता है तथा शोक सब कुछ नष्ट कर देता है; अतः शोकके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है ॥१५॥

शक्यमापतितः सोढुं प्रहारो रिपुहस्ततः।
सोढुमापतितः शोकः सुसूक्ष्मोऽपि न शक्यते॥ १६॥

'शत्रुके हाथसे अपने ऊपर पड़ा हुआ शस्त्रोंका प्रहार सह लिया जा सकता है; परंतु दैववश प्राप्त हुआ थोड़ा-सा भी शोक नहीं सहा जा सकता ॥ १६ ॥

वनवासाय रामस्य पञ्चरात्रोऽत्र गण्यते।
यः शोकहतहर्षायाः पञ्चवर्षोपमो मम॥ १७॥

'श्रीरामको वनमें गये आज पाँच रातें बीत गयीं। मैं यही गिनती रहती हूँ। शोकने मेरे हर्षको नष्ट कर दिया है, अतः ये पाँच रात मेरे लिये पाँच वर्षोंके समान प्रतीत हुई हैं ॥ १७ ॥

तं हि चिन्तयमानायाः शोकोऽयं हृदि वर्धते।
नदीनामिव वेगेन समुद्रसलिलं महत्॥ १८॥

'श्रीरामका ही चिन्तन करनेके कारण मेरे हृदयका यह शोक बढ़ता जा रहा है, जैसे नदियोंके वेगसे समुद्रका जल बहुत बढ़ जाता है' ॥ १८ ॥

एवं हि कथयन्त्यास्तु कौसल्यायाः शुभं वचः।
मन्दरश्मिरभूत् सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत॥ १९॥
अथ प्रह्लादितो वाक्यैर्देव्या कौसल्यया नृपः।
शोकेन च समाक्रान्तो निद्राया वशमेयिवान्॥ २०॥

कौसल्या इस प्रकार शुभ वचन कह ही रही थीं कि सूर्यकी किरणें मन्द पड़ गयीं और रात्रिकाल आ पहुँचा। देवी कौसल्याकी इन बातोंसे राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। साथ ही वे श्रीरामके शोकसे भी पीड़ित थे। इस हर्ष और शोककी अवस्थामें उन्हें नींद आ गयी ॥ १९-२० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

राजा दशरथका शोक और उनका कौसल्यासे अपने द्वारा मुनिकुमारके मारे जानेका प्रसङ्ग सुनाना

प्रतिबुद्धो मुहूर्तेन शोकोपहतचेतनः।
अथ राजा दशरथः स चिन्तामभ्यपद्यत॥ १॥

राजा दशरथ दो ही घड़ीके बाद फिर जाग उठे। उस समय उनका हृदय शोकसे व्याकुल हो रहा था। वे मन-ही-मन चिन्ता करने लगे ॥ १ ॥

रामलक्ष्मणयोश्चैव विवासाद् वासवोपमम्।
आपेदे उपसर्गस्तं तमः सूर्यमिवासुरम्॥ २॥

श्रीराम और लक्ष्मणके वनमें चले जानेसे इन इन्द्रतुल्य तेजस्वी महाराज दशरथको शोकने उसी प्रकार धर दबाया था, जैसे राहुका अन्धकार सूर्यको ढक देता है॥ २॥

सभार्ये हि गते रामे कौसल्यां कोसलेश्वरः।
विवक्षुरसितापाङ्गीं स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः॥ ३॥

पत्नीसहित श्रीरामके वनमें चले जानेपर कोसलनरेश दशरथने अपने पुरातन पापका स्मरण करके कजरारे नेत्रोंवाली कौसल्यासे कहनेका विचार किया॥ ३॥

स राजा रजनीं षष्ठीं रामे प्रव्राजिते वनम्।
अर्धरात्रे दशरथः सोऽस्मरद् दुष्कृतं कृतम्॥ ४॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीको वनमें गये छठी रात बीत रही थी। जब आधी रात हुई, तब राजा दशरथको उस पहलेके किये हुए दुष्कर्मका स्मरण हुआ॥ ४॥

स राजा पुत्रशोकार्तः स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः।
कौसल्यां पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत्॥ ५॥

पुत्रशोकसे पीड़ित हुए महाराजने अपने उस दुष्कर्मको याद करके पुत्रशोकसे व्याकुल हुई कौसल्यासे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ५॥

यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाशुभम्।
तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः॥ ६॥

'कल्याणि! मनुष्य शुभ या अशुभ जो भी कर्म करता है, भद्रे! अपने उसी कर्मके फलस्वरूप सुख या दुःख कर्ताको प्राप्त होते हैं॥ ६॥

गुरुलाघवमर्थानामारम्भे कर्मणां फलम्।
दोषं वा यो न जानाति स बाल इति होच्यते॥ ७॥

'जो कर्मोंका आरम्भ करते समय उनके फलोंकी गुरुता या लघुताको नहीं जानता, उनसे होनेवाले लाभरूपी गुण अथवा हानिरूपी दोषको नहीं समझता, वह मनुष्य बालक (मूर्ख) कहा जाता है॥ ७॥

कश्चिदाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च निषिञ्चति।
पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे॥ ८॥

'कोई मनुष्य पलाशका सुन्दर फूल देखकर मन-ही-मन यह अनुमान करके कि इसका फल और भी मनोहर तथा सुस्वादु होगा, फलकी अभिलाषासे आमके बगीचेको काटकर वहाँ पलाशके पौदे लगाता और सींचता है, वह फल लगनेके समय पश्चात्ताप करता है (क्योंकि उससे अपनी आशाके अनुरूप फल वह नहीं पाता है)॥ ८॥

अविज्ञाय फलं यो हि कर्म त्वेवानुधावति।
स शोचेत् फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः॥ ९॥

'जो क्रियमाण कर्मके फलका ज्ञान या विचार न करके केवल कर्मकी ओर ही दौड़ता है, उसे उसका फल मिलनेके समय उसी तरह शोक होता है, जैसा कि आम काटकर पलाश सींचनेवालेको हुआ करता है॥ ९॥

सोऽहमाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च न्यषेचयम्।
रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः॥ १०॥

'मैंने भी आमका वन काटकर पलाशोंको ही सींचा है, इस कर्मके फलकी प्राप्तिके समय अब श्रीरामको खोकर मैं पश्चात्ताप कर रहा हूँ। मेरी बुद्धि कैसी खोटी है!॥ १०॥

लब्धशब्देन कौसल्ये कुमारेण धनुष्मता।
कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम्॥ ११॥

'कौसल्ये! पिताके जीवनकालमें जब मैं केवल राजकुमार था, एक अच्छे धनुर्धरके रूपमें मेरी ख्याति फैल गयी थी। सब लोग यही कहते थे कि 'राजकुमार दशरथ शब्द-वेधी बाण चलाना जानते हैं।' इसी ख्यातिमें पड़कर मैंने यह एक पाप कर डाला था (जिसे अभी बताऊँगा)॥ ११॥

तदिदं मेऽनुसम्प्राप्तं देवि दुःखं स्वयंकृतम्।
सम्मोहादिह बालेन यथा स्याद् भक्षितं विषम्॥ १२॥

'देवि! उस अपने ही किये हुए कुकर्मका फल मुझे इस महान् दुःखके रूपमें प्राप्त हुआ है। जैसे कोई बालक अज्ञानवश विष खा ले तो उसे भी वह विष मार ही डालता है, उसी प्रकार मोह या अज्ञानवश किये हुए दुष्कर्मका फल भी यहाँ मुझे भोगना पड़ रहा है॥ १२॥

यथान्यः पुरुषः कश्चित् पलाशैर्मोहितो भवेत्।
एवं मयाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम्॥ १३॥

'जैसे दूसरा कोई गँवार मनुष्य पलाशके फूलोंपर ही मोहित हो उसके कड़वे फलको नहीं जानता, उसी प्रकार मैं भी 'शब्दवेधी बाण-विद्या' की प्रशंसा सुनकर उसपर लट्टू हो गया। उसके द्वारा ऐसा क्रूरतापूर्ण पापकर्म बन सकता है और ऐसा भयंकर फल प्राप्त हो सकता है, इसका ज्ञान मुझे नहीं हुआ॥ १३॥

देव्यनूढा त्वमभवो युवराजो भवाम्यहम्।
ततः प्रावृडनुप्राप्ता मम कामविवर्धिनी॥ १४॥

'देवि! तुम्हारा विवाह नहीं हुआ था और मैं अभी युवराज ही था, उन्हीं दिनोंकी बात है। मेरी कामभावनाको बढ़ानेवाली वर्षा ऋतु आयी॥ १४॥

अपास्य हि रसान् भौमांस्तप्त्वा च जगदंशुभिः।
परेताचरितां भीमां रविराचरते दिशम्॥ १५॥

'सूर्यदेव पृथ्वीके रसोंको सुखाकर और जगत्‌को अपनी किरणोंसे भलीभाँति संतप्त करके जिसमें यमलोकवर्ती प्रेत विचरा करते हैं, उस भयंकर दक्षिण दिशामें संचरण करते थे ॥ १५ ॥

उष्णमन्तर्दधे सद्यः स्निग्धा ददृशिरे घनाः ।
ततो जहृषिरे सर्वे भेकसारङ्गबर्हिणः ॥ १६ ॥

'सब ओर सजल मेघ दृष्टिगोचर होने लगे और गरमी तत्काल शान्त हो गयी; इससे समस्त मेढकों, चातकों और मयूरोंमें हर्ष छा गया ॥ १६ ॥

क्लिन्नपक्षोत्तराः स्नाताः कृच्छ्रादिव पतत्त्रिणः ।
वृष्टिवातावधूताग्रान् पादपानभिपेदिरे ॥ १७ ॥

'पक्षियोंकी पाँखें ऊपरसे भींग गयी थीं। वे नहा उठे थे और बड़ी कठिनाईसे उन वृक्षोंतक पहुँच पाते थे, जिनकी डालियोंके अग्रभाग वर्षा और वायुके झोंकोंसे झूम रहे थे ॥

पतितेनाम्भसाऽऽच्छन्नः पतमानेन चासकृत् ।
आबभौ मत्तसारङ्गस्तोयराशिरिवाचलः ॥ १८ ॥

'गिरे हुए और बारंबार गिरते हुए जलसे आच्छादित हुआ मतवाला हाथी तरङ्गरहित प्रशान्त समुद्र तथा भीगे पर्वतके समान प्रतीत होता था ॥ १८ ॥

पाण्डुरारुणवर्णानि स्रोतांसि विमलान्यपि ।
सुस्रुवुर्गिरिधातुभ्यः सभस्मानि भुजंगवत् ॥ १९ ॥

'पर्वतोंसे गिरनेवाले स्रोत या झरने निर्मल होनेपर भी पर्वतीय धातुओंके सम्पर्कसे श्वेत, लाल और भस्मयुक्त होकर सर्पोंकी भाँति कुटिल गतिसे बह रहे थे ॥ १९ ॥

तस्मिन्नतिसुखे काले धनुष्मानिषुमान् रथी ।
व्यायामकृतसंकल्पः सरयूमन्वगां नदीम् ॥ २० ॥

'वर्षा ऋतुके उस अत्यन्त सुखद सुहावने समयमें मैं धनुष-बाण लेकर रथपर सवार हो शिकार खेलनेके लिये सरयू नदीके तटपर गया ॥ २० ॥

निपाने महिषं रात्रौ गजं वाभ्यागतं मृगम् ।
अन्यद् वा श्वापदं किंचिज्जिघांसुरजितेन्द्रियः ॥ २१ ॥

'मेरी इन्द्रियाँ मेरे वशमें नहीं थीं। मैंने सोचा था कि पानी पीनेके घाटपर रातके समय जब कोई उपद्रवकारी भैंसा, मतवाला हाथी अथवा सिंह-व्याघ्र आदि दूसरा कोई हिंसक जन्तु आवेगा तो उसे मारूँगा ॥ २१ ॥

अथान्धकारे त्वश्रौषं जले कुम्भस्य पूर्यतः ।
अचक्षुर्विषये घोषं वारणस्येव नर्दतः ॥ २२ ॥

'उस समय वहाँ सब ओर अन्धकार छा रहा था। मुझे अकस्मात् पानीमें घड़ा भरनेकी आवाज सुनायी पड़ी। मेरी दृष्टि तो वहाँतक पहुँचती नहीं थी, किंतु वह आवाज मुझे हाथीके पानी पीते समय होनेवाले शब्दके समान जान पड़ी ॥

ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमाशीविषोपमम् ।
शब्दं प्रति गजप्रेप्सुरभिलक्ष्यमपातयम् ॥ २३ ॥

'तब मैंने यह समझकर कि हाथी ही अपनी सूँड़में पानी खींच रहा होगा; अतः वही मेरे बाणका निशाना बनेगा। तरकससे एक तीर निकाला और उस शब्दको लक्ष्य करके चला दिया। वह दीप्तिमान् बाण विषधर सर्पके समान भयंकर था ॥ २३ ॥

अमुञ्चं निशितं बाणमहमाशीविषोपमम् ।
तत्र वागुषसि व्यक्ता प्रादुरासीद् वनौकसः ॥ २४ ॥
हा हेति पततस्तोये बाणाद् व्यथितमर्मणः ।
तस्मिन्निपतिते भूमौ वागभूत् तत्र मानुषी ॥ २५ ॥

'वह उषःकालकी वेला थी। विषैले सर्पके सदृश उस तीखे बाणको मैंने ज्यों ही छोड़ा, त्यों ही वहाँ पानीमें गिरते हुए किसी वनवासीका हाहाकार मुझे स्पष्टरूपसे सुनायी दिया। मेरे बाणसे उसके मर्ममें बड़ी पीड़ा हो रही थी। उस पुरुषके धराशायी हो जानेपर वहाँ यह मानव-वाणी प्रकट हुई—सुनायी देने लगी—॥ २४-२५ ॥

कथमस्मद्विधे शस्त्रं निपतेच्च तपस्विनि ।
प्रविविक्तां नदीं रात्रावुदाहारोऽहमागतः ॥ २६ ॥

''आह ! मेरे-जैसे तपस्वीपर शस्त्रका प्रहार कैसे सम्भव हुआ ? मैं तो नदीके इस एकान्त तटपर रातमें पानी लेनेके लिये आया था ॥ २६ ॥

इषुणाभिहतः केन कस्य वापकृतं मया ।
ऋषेर्हि न्यस्तदण्डस्य वने वन्येन जीवतः ॥ २७ ॥
कथं नु शस्त्रेण वधो मद्विधस्य विधीयते ।
जटाभारधरस्यैव वल्कलाजिनवाससः ॥ २८ ॥
को वधेन ममार्थी स्यात् किं वास्यापकृतं मया ।
एवं निष्फलमारब्धं केवलानर्थसंहितम् ॥ २९ ॥

''किसने मुझे बाण मारा है ? मैंने किसका क्या बिगाड़ा था ? मैं तो सभी जीवोंको पीड़ा देनेकी वृत्तिका त्याग करके ऋषि-जीवन बिताता था, वनमें रहकर जंगली फल-मूलोंसे ही जीविका चलाता था। मुझ-जैसे निरपराध मनुष्यका शस्त्रसे वध क्यों किया जा रहा है ? मैं वल्कल और मृगचर्म पहननेवाला जटाधारी तपस्वी हूँ। मेरा वध करनेमें किसने अपना क्या लाभ सोचा होगा ? मैंने मारनेवालेका क्या अपराध किया था ? मेरी हत्याका प्रयत्न व्यर्थ ही किया गया ! इससे किसीको कुछ लाभ नहीं होगा, केवल अनर्थ ही हाथ लगेगा ॥

न कश्चित् साधु मन्येत यथैव गुरुतल्पगम् ।
नेमं तथानुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥ ३० ॥
मातरं पितरं चोभावनुशोचामि मद्वधे ।
तदेतन्मिथुनं वृद्धं चिरकालभृतं मया ॥ ३१ ॥

मयि पञ्चत्वमापन्ने कां वृत्तिं वर्तयिष्यति।
वृद्धौ च मातापितरावहं चैकेषुणा हतः॥ ३२॥
केन स्म निहताः सर्वे सुबालेनाकृतात्मना।

"इस हत्यारेको संसारमें कहीं भी कोई उसी तरह अच्छा नहीं समझेगा, जैसे गुरुपत्नीगामीको! मुझे अपने इस जीवनके नष्ट होनेकी उतनी चिन्ता नहीं है; मेरे मारे जानेसे मेरे माता-पिताको जो कष्ट होगा, उसीके लिये मुझे बारंबार शोक हो रहा है। मैंने इन दोनों वृद्धोंका बहुत समयसे पालन-पोषण किया है; अब मेरे शरीरके न रहनेपर ये किस प्रकार जीवन-निर्वाह करेंगे? घातकने एक ही बाणसे मुझे और मेरे बूढ़े माता-पिताको भी मौतके मुखमें डाल दिया। किस विवेकहीन और अजितेन्द्रिय पुरुषने हम सब लोगोंका एक साथ ही वध कर डाला?' ॥ ३०—३२½ ॥

तां गिरं करुणं श्रुत्वा मम धर्मानुकाङ्क्षिणः॥ ३३॥
कराभ्यां सशरं चापं व्यथितस्यापतद् भुवि।

'ये करुणाभरे वचन सुनकर मेरे मनमें बड़ी व्यथा हुई। कहाँ तो मैं धर्मकी अभिलाषा रखनेवाला था और कहाँ यह अधर्मका कार्य बन गया। उस समय मेरे हाथोंसे धनुष और बाण छूटकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३३½ ॥

तस्याहं करुणं श्रुत्वा ऋषेर्विलपतो निशि॥ ३४॥
सम्भ्रान्तः शोकवेगेन भृशमासं विचेतनः।

'रातमें विलाप करते हुए ऋषिका वह करुण वचन सुनकर मैं शोकके वेगसे घबरा उठा। मेरी चेतना अत्यन्त विलुप्त-सी होने लगी ॥ ३४½ ॥

तं देशमहमागम्य दीनसत्त्वः सुदुर्मनाः॥ ३५॥
अपश्यमिषुणा तीरे सरय्वास्तापसं हतम्।
अवकीर्णजटाभारं प्रविद्धकलशोदकम्॥ ३६॥
पांसुशोणितदिग्धाङ्गं शयानं शल्यवेधितम्।
स मामुद्वीक्ष्य नेत्राभ्यां त्रस्तमस्वस्थचेतनम्॥ ३७॥
इत्युवाच वचः क्रूरं दिधक्षन्निव तेजसा।

'मेरे हृदयमें दीनता छा गयी, मन बहुत दुखी हो गया। सरयूके किनारे उस स्थानपर जाकर मैंने देखा—एक तपस्वी बाणसे घायल होकर पड़े हैं। उनकी जटाएँ बिखरी हुई हैं, घड़ेका जल गिर गया है तथा सारा शरीर धूल और खूनमें सना हुआ है। वे बाणसे बिंधे हुए पड़े थे। उनकी अवस्था देखकर मैं डर गया, मेरा चित्त ठिकाने नहीं था। उन्होंने दोनों नेत्रोंसे मेरी ओर इस प्रकार देखा, मानो अपने तेजसे मुझे भस्म कर देना चाहते हों। वे कठोर वाणीमें यों बोले—॥ ३५—३७½ ॥

किं तवापकृतं राजन् वने निवसता मया॥ ३८॥
जिहीर्षुरम्भो गुर्वर्थं यदहं ताडितस्त्वया।

"राजन्! वनमें रहते हुए मैंने तुम्हारा कौन-सा अपराध किया था, जिससे तुमने मुझे बाण मारा? मैं तो माता-पिताके लिये पानी लेनेकी इच्छासे यहाँ आया था ॥ ३८½ ॥

एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहते मयि॥ ३९॥
द्वावन्धौ निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे।

"तुमने एक ही बाणसे मेरा मर्म विदीर्ण करके मेरे दोनों अन्धे और बूढ़े माता-पिताको भी मार डाला ॥ ३९½ ॥

तौ नूनं दुर्बलावन्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ॥ ४०॥
चिरमाशां कृतां कष्टां तृष्णां संधारयिष्यतः।

"वे दोनों बहुत दुबले और अन्धे हैं निश्चय ही प्याससे पीड़ित होकर वे मेरी प्रतीक्षामें बैठे होंगे। वे देरतक मेरे आगमनकी आशा लगाये दुःखदायिनी प्यास लिये बाट जोहते रहेंगे ॥ ४०½ ॥

न नूनं तपसो वास्ति फलयोगः श्रुतस्य वा॥ ४१॥
पिता यन्मां न जानीते शयानं पतितं भुवि।

"अवश्य ही मेरी तपस्या अथवा शास्त्रज्ञानका कोई फल यहाँ प्रकट नहीं हो रहा है; क्योंकि पिताजीको यह नहीं मालूम है कि मैं पृथ्वीपर गिरकर मृत्युशय्यापर पड़ा हुआ हूँ ॥

जानन्नपि च किं कुर्यादशक्तश्चापरिक्रमः॥ ४२॥
भिद्यमानमिवाशक्तस्त्रातुमन्यो नगो नगम्।

"यदि जान भी लें तो क्या कर सकते हैं; क्योंकि असमर्थ हैं और चल-फिर भी नहीं सकते हैं। जैसे वायु आदिके द्वारा तोड़े जाते हुए वृक्षको कोई दूसरा वृक्ष नहीं बचा सकता, उसी प्रकार मेरे पिता भी मेरी रक्षा नहीं कर सकते ॥

पितुस्त्वमेव मे गत्वा शीघ्रमाचक्ष्व राघव॥ ४३॥
न त्वामनुदहेत् क्रुद्धो वनमग्निरिवैधितः।

"अतः रघुकुलनरेश! अब तुम्हीं जाकर शीघ्र ही मेरे पिताको यह समाचार सुना दो। (यदि स्वयं कह दोगे तो) जैसे प्रज्वलित अग्नि समूचे वनको जला डालती है, उस प्रकार वे क्रोधमें भरकर तुमको भस्म नहीं करेंगे ॥ ४३½ ॥

इयमेकपदी राजन् यतो मे पितुराश्रमः॥ ४४॥
तं प्रसादय गत्वा त्वं न त्वा संकुपितः शपेत्।

"राजन्! यह पगडंडी उधर ही गयी है, जहाँ मेरे पिताका आश्रम है। तुम जाकर उन्हें प्रसन्न करो, जिससे वे कुपित होकर तुम्हें शाप न दें ॥ ४४½ ॥

विशल्यं कुरु मां राजन् मर्म मे निशितः शरः॥ ४५॥
रुणद्धि मृदु सोत्सेधं तीरमम्बुरयो यथा।

"राजन्! मेरे शरीरसे इस बाणको निकाल दो। यह तीखा बाण मेरे मर्मस्थानको उसी प्रकार पीड़ा दे रहा है, जैसे नदीके जलका वेग उसके कोमल बालुकामय ऊँचे तटको छिन्न-भिन्न कर देता है' ॥ ४५½ ॥

सशल्यः क्लिश्यते प्राणैर्विशल्यो विनशिष्यति ॥ ४६ ॥
इति मामविशच्चिन्ता तस्य शल्यापकर्षणे ।
दुःखितस्य च दीनस्य मम शोकातुरस्य च ॥ ४७ ॥
लक्षयामास स ऋषिश्चिन्तां मुनिसुतस्तदा ।

'मुनिकुमारकी यह बात सुनकर मेरे मनमें यह चिन्ता समायी कि यदि बाण नहीं निकालता हूँ तो इन्हें क्लेश होता है और निकाल देता हूँ तो ये अभी प्राणोंसे भी हाथ धो बैठते हैं। इस प्रकार बाणको निकालनेके विषयमें मुझ दीन दुखी और शोकाकुल दशरथकी इस चिन्ताको उस समय मुनिकुमारने लक्ष्य किया ॥ ४६-४७½ ॥

ताम्यमानं स मां कृच्छ्रादुवाच परमार्थवित् ॥ ४८ ॥
सीदमानो विवृत्ताङ्गोऽचेष्टमानो गतः क्षयम् ।
संस्तभ्य शोकं धैर्येण स्थिरचित्तो भवाम्यहम् ॥ ४९ ॥

'यथार्थ बातको समझ लेनेवाले उन महर्षिने मुझे अत्यन्त ग्लानिमें पड़ा हुआ देख बड़े कष्टसे कहा—'राजन्! मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। मेरी आँखें चढ़ गयी हैं, अङ्ग-अङ्गमें तड़पन हो रही है। मुझसे कोई चेष्टा नहीं बन पाती। अब मैं मृत्युके समीप पहुँच गया हूँ, फिर भी धैर्यके द्वारा शोकको रोककर अपने चित्तको स्थिर करता हूँ (अब मेरी बात सुनो)॥

ब्रह्महत्याकृतं तापं हृदयादपनीयताम् ।
न द्विजातिरहं राजन् मा भूत् ते मनसो व्यथा॥५०॥

''मुझसे ब्रह्महत्या हो गयी—इस चिन्ताको अपने हृदयसे निकाल दो। राजन्! मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, इसलिये तुम्हारे मनमें ब्राह्मणवधको लेकर कोई व्यथा नहीं होनी चाहिये ॥

शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप ।
इतीव वदतः कृच्छ्राद् बाणाभिहतमर्मणः ॥ ५१ ॥
विघूर्णतो विचेष्टस्य वेपमानस्य भूतले ।
तस्य त्वाताम्यमानस्य तं बाणमहमुद्धरम् ।
स मामुद्वीक्ष्य संत्रस्तो जहौ प्राणांस्तपोधनः ॥ ५२ ॥

नरश्रेष्ठ! मैं वैश्य पिताद्वारा शूद्रजातीय माताके गर्भसे उत्पन्न हुआ हूँ।' बाणसे मर्ममें आघात पहुँचनेके कारण वे बड़े कष्टसे इतना ही कह सके। उनकी आँखें घूम रही थीं। उनसे कोई चेष्टा नहीं बनती थी। वे पृथ्वीपर पड़े-पड़े छटपटा रहे थे और अत्यन्त कष्टका अनुभव करते थे। उस अवस्थामें मैंने उनके शरीरसे उस बाणको निकाल दिया। फिर तो अत्यन्त भयभीत हो उन तपोधनने मेरी ओर देखकर अपने प्राण त्याग दिये ॥ ५१-५२ ॥

जलार्द्रगात्रं तु विलप्य कृच्छ्रं
मर्मव्रणं संततमुच्छ्वसन्तम् ।
ततः सरय्वां तमहं शयानं
समीक्ष्य भद्रे सुभृशं विषण्णः ॥ ५३ ॥

'पानीमें गिरनेके कारण उनका सारा शरीर भीग गया था। मर्ममें आघात लगनेके कारण बड़े कष्टसे विलाप करके और बारंबार उच्छ्वास लेकर उन्होंने प्राणोंका त्याग किया था। कल्याणी कौसल्ये! उस अवस्थामें सरयूके तटपर मरे पड़े मुनि-पुत्रको देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ' ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

राजा दशरथका अपने द्वारा मुनिकुमारके वधसे दुखी हुए उनके माता-पिताके विलाप और उनके दिये हुए शापका प्रसंग सुनाकर कौसल्याके समीप रोते-विलखते हुए आधी रातके समय अपने प्राणोंको त्याग देना

वधमप्रतिरूपं तु महर्षेस्तस्य राघवः ।
विलपन्नेव धर्मात्मा कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उन महर्षिके अनुचित वधका स्मरण करके धर्मात्मा रघुकुलनरेशने अपने पुत्रके लिये विलाप करते हुए ही रानी कौसल्यासे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

तदज्ञानान्महत्पापं कृत्वा संकुलितेन्द्रियः ।
एकस्त्वचिन्तयं बुद्ध्या कथं नु सुकृतं भवेत् ॥ २ ॥

'देवि! अनजानमें यह महान् पाप कर डालनेके कारण मेरी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो रही थीं। मैं अकेला ही बुद्धि लगाकर सोचने लगा, अब किस उपायसे मेरा कल्याण हो? ॥ २ ॥

ततस्तं घटमादाय पूर्णं परमवारिणा ।
आश्रमं तमहं प्राप्य यथाख्यातपथं गतः ॥ ३ ॥

'तदनन्तर उस घड़ेको उठाकर मैंने सरयूके उत्तम जलसे भरा और उसे लेकर मुनिकुमारके बताये हुए मार्गसे उनके आश्रमपर गया ॥ ३ ॥

तत्राहं दुर्बलावन्धौ वृद्धावपरिणायकौ ।
अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षाविव द्विजौ ॥ ४ ॥

वहाँ पहुँचकर मैंने उनके दुबले, अन्धे और बूढ़े माता-पिताको देखा, जिनका दूसरा कोई सहायक नहीं था। उनकी अवस्था पंख कटे हुए दो पक्षियोंके समान थी ॥ ४ ॥

तन्निमित्ताभिरासीनौ कथाभिरपरिश्रमौ ।
तामाशां मत्कृते हीनावुपासीनावनाथवत् ॥ ५ ॥

'वे अपने पुत्रकी ही चर्चा करते हुए उसके आनेकी आशा लगाये बैठे थे। उस चर्चाके कारण उन्हें कुछ परिश्रम या थकावटका अनुभव नहीं होता था। यद्यपि मेरे कारण उनकी वह आशा धूलमें मिल चुकी थी तो भी वे उसीके आसरे बैठे थे। अब वे दोनों सर्वथा अनाथ-से हो गये थे ॥ ५ ॥

शोकोपहतचित्तश्च भयसंत्रस्तचेतनः ।
तच्चाश्रमपदं गत्वा भूयः शोकमहं गतः ॥ ६ ॥

'मेरा हृदय पहलेसे ही शोकके कारण घबराया हुआ था। भयसे मेरा होश ठिकाने नहीं था। मुनिके आश्रमपर पहुँचकर मेरा वह शोक और भी अधिक हो गया ॥ ६ ॥

पदशब्दं तु मे श्रुत्वा मुनिर्वाक्यमभाषत ।
किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं क्षिप्रमानय ॥ ७ ॥

'मेरे पैरोंकी आहट सुनकर वे मुनि इस प्रकार बोले—'बेटा! देर क्यों लगा रहे हो? शीघ्र पानी ले आओ ॥ ७ ॥

यन्निमित्तमिदं तात सलिले क्रीडितं त्वया ।
उत्कण्ठिता ते मातेयं प्रविश क्षिप्रमाश्रमम् ॥ ८ ॥

''तात! जिस कारणसे तुमने बड़ी देरतक जलमें क्रीड़ा की है, उसी कारणको लेकर तुम्हारी यह माता तुम्हारे लिये उत्कण्ठित हो गयी है; अतः शीघ्र ही आश्रमके भीतर प्रवेश करो ॥ ८ ॥

यद् व्यलीकं कृतं पुत्र मात्रा ते यदि वा मया ।
न तन्मनसि कर्तव्यं त्वया तात तपस्विना ॥ ९ ॥

''बेटा तात! यदि तुम्हारी माताने अथवा मैंने तुम्हारा कोई अप्रिय किया हो तो उसे तुम्हें अपने मनमें नहीं लाना चाहिये; क्योंकि तुम तपस्वी हो ॥ ९ ॥

त्वं गतिस्त्वगतीनां च चक्षुस्त्वं हीनचक्षुषाम् ।
समासक्तास्त्वयि प्राणाः कथं त्वं नाभिभाषसे ॥ १० ॥

''हम असहाय हैं, तुम्हीं हमारे सहायक हो। हम अन्धे हैं, तुम्हीं हमारे नेत्र हो। हमलोगोंके प्राण तुम्हींमें अटके हुए हैं। बताओ, तुम बोलते क्यों नहीं हो?' ॥ १० ॥

मुनिमव्यक्तया वाचा तमहं सज्जमानया ।
हीनव्यञ्जनया प्रेक्ष्य भीतचित्त इवाब्रुवम् ॥ ११ ॥

'मुनिको देखते ही मेरे मनमें भय-सा समा गया। मेरी जबान लड़खड़ाने लगी। कितने अक्षरोंका उच्चारण नहीं हो पाता था। इस प्रकार अस्पष्ट वाणीमें मैंने बोलनेका प्रयास किया ॥ ११ ॥

मनसः कर्म चेष्टाभिरभिसंस्तभ्य वाग्बलम् ।
आचचक्षे त्वहं तस्मै पुत्रव्यसनजं भयम् ॥ १२ ॥

'मानसिक भयको बाहरी चेष्टाओंसे दबाकर मैंने कुछ कहनेकी क्षमता प्राप्त की और मुनिपर पुत्रकी मृत्युसे जो संकट आ पड़ा था, वह उनपर प्रकट करते हुए कहा—॥ १२ ॥

क्षत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः ।
सज्जनावमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम् ॥ १३ ॥

''महात्मन्! मैं आपका पुत्र नहीं, दशरथ नामका एक क्षत्रिय हूँ। मैंने अपने कर्मवश यह ऐसा दुःख पाया है, जिसकी सत्पुरुषोंने सदा निन्दा की है ॥ १३ ॥

भगवंश्चापहस्तोऽहं सरयूतीरमागतः ।
जिघांसुः श्वापदं किंचिन्निपाने वागतं गजम् ॥ १४ ॥

''भगवन्! मैं धनुष-बाण लेकर सरयूके तटपर आया था। मेरे आनेका उद्देश्य यह था कि कोई जंगली हिंसक पशु अथवा हाथी घाटपर पानी पीनेके लिये आवे तो मैं उसे मारूँ ॥ १४ ॥

ततः श्रुतो मया शब्दो जले कुम्भस्य पूर्यतः ।
द्विपोऽयमिति मत्वाहं बाणेनाभिहतो मया ॥ १५ ॥

''थोड़ी देर बाद मुझे जलमें घड़ा भरनेका शब्द सुनायी पड़ा। मैंने समझा कोई हाथी आकर पानी पी रहा है, इसलिये उसपर बाण चला दिया ॥ १५ ॥

गत्वा तस्यास्ततस्तीरमपश्यमिषुणा हृदि ।
विनिर्भिन्नं गतप्राणं शयानं भुवि तापसम् ॥ १६ ॥

''फिर सरयूके तटपर जाकर देखा कि मेरा बाण एक तपस्वीकी छातीमें लगा है और वे मृतप्राय होकर धरती-पर पड़े हैं ॥ १६ ॥

ततस्तस्यैव वचनादुपेत्य परितप्यतः ।
स मया सहसा बाण उद्धृतो मर्मतस्तदा ॥ १७ ॥

''उस बाणसे उन्हें बड़ी पीड़ा हो रही थी, अतः उस समय उन्हींके कहनेसे मैंने सहसा वह बाण उनके मर्म-स्थानसे निकाल दिया ॥ १७ ॥

स चोद्धृतेन बाणेन सहसा स्वर्गमास्थितः ।
भगवन्तावुभौ शोचन्नन्धाविति विलप्य च ॥ १८ ॥

बाण निकलनेके साथ ही वे तत्काल स्वर्ग सिधार गये। मरते समय उन्होंने आप दोनों पूजनीय अन्धे पिता-माताके लिये बड़ा शोक और विलाप किया था ॥ १८ ॥

अज्ञानाद् भवतः पुत्रः सहसाभिहतो मया।
शेषमेवं गते यत् स्यात् तत् प्रसीदतु मे मुनिः॥ १९॥

"इस प्रकार अनजानमें मेरे हाथसे आपके पुत्रका वध हो गया है। ऐसी अवस्थामें मेरे प्रति जो शाप या अनुग्रह शेष हो, उसे देनेके लिये आप महर्षि मुझपर प्रसन्न हों'॥ १९॥

स तच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं मया तदघशंसिना।
नाशकत् तीव्रमायासं स कर्तुं भगवानृषिः॥ २०॥

'मैंने अपने मुँहसे अपना पाप प्रकट कर दिया था, इसलिये मेरी क्रूरतासे भरी हुई वह बात सुनकर भी वे पूज्यपाद महर्षि मुझे कठोर दण्ड—भस्म हो जानेका शाप नहीं दे सके॥ २०॥

स बाष्पपूर्णवदनो निःश्वसञ्शोकमूर्च्छितः।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम्॥ २१॥

'उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वे शोकसे मूर्च्छित होकर दीर्घ निःश्वास लेने लगे। मैं हाथ जोड़े उनके सामने खड़ा था। उस समय उन महातेजस्वी मुनिने मुझसे कहा—॥ २१॥

यद्येतदशुभं कर्म न स्म मे कथयेः स्वयम्।
फलेन्मूर्धा स्म ते राजन् सद्यः शतसहस्रधा॥ २२॥

"राजन्! यदि यह अपना पापकर्म तुम स्वयं यहाँ आकर न बताते तो शीघ्र ही तुम्हारे मस्तकके सैकड़ों-हजारों टुकड़े हो जाते॥ २२॥

क्षत्रियेण वधो राजन् वानप्रस्थे विशेषतः।
ज्ञानपूर्वं कृतः स्थानाच्च्यावयेदपि वज्रिणम्॥ २३॥

"नरेश्वर! यदि क्षत्रिय जान-बूझकर विशेषतः किसी वानप्रस्थीका वध कर डाले तो वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, वह उसे अपने स्थानसे भ्रष्ट कर देता है॥ २३॥

सप्तधा तु भवेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति।
ज्ञानाद् विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि॥ २४॥

"तपस्यामें लगे हुए वैसे ब्रह्मवादी मुनिपर जान-बूझकर शस्त्रका प्रहार करनेवाले पुरुषके मस्तकके सात टुकड़े हो जाते हैं॥ २४॥

अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं ते तेन जीवसे।
अपि ह्यकुशलं न स्याद् राघवाणां कुतो भवान्॥ २५॥

"तुमने अनजानमें यह पाप किया है, इसीलिये अभीतक जीवित हो। यदि जान-बूझकर किया होता तो समस्त रघुवंशियोंका कुल ही नष्ट हो जाता, अकेले तुम्हारी तो बात ही क्या है?'॥ २५॥

नय नौ नृप तं देशमिति मां चाभ्यभाषत।
अद्य तं द्रष्टुमिच्छावः पुत्रं पश्चिमदर्शनम्॥ २६॥

'उन्होंने मुझसे यह भी कहा—"नरेश्वर! तुम हम दोनोंको उस स्थानपर ले चलो, जहाँ हमारा पुत्र मरा पड़ा है। इस समय हम उसे देखना चाहते हैं। यह हमारे लिये उसका अन्तिम दर्शन होगा'॥ २६॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रकीर्णाजिनवाससम्।
शयानं भुवि निःसंज्ञं धर्मराजवशं गतम्॥ २७॥
अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ।
अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया॥ २८॥

'तब मैं अकेला ही अत्यन्त दुःखमें पड़े हुए उन दम्पतिको उस स्थानपर ले गया, जहाँ उनका पुत्र कालके अधीन होकर पृथ्वीपर अचेत पड़ा था। उसके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहे थे, मृगचर्म और वस्त्र बिखरे पड़े थे। मैंने पत्नीसहित मुनिको उनके पुत्रके शरीरका स्पर्श कराया॥ २७-२८॥

तौ पुत्रमात्मनः स्पृष्ट्वा तमासाद्य तपस्विनौ।
निपेततुः शरीरेऽस्य पिता चैनमुवाच ह॥ २९॥

'वे दोनों तपस्वी अपने उस पुत्रका स्पर्श करके उसके अत्यन्त निकट जाकर उसके शरीरपर गिर पड़े। फिर पिताने पुत्रको सम्बोधित करके उससे कहा—॥ २९॥

नाभिवादयसे माद्य न च मामभिभाषसे।
किं च शेषे तु भूमौ त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि॥ ३०॥

"बेटा! आज तुम मुझे न तो प्रणाम करते हो और न मुझसे बोलते ही हो। तुम धरतीपर क्यों सो रहे हो? क्या तुम हमसे रूठ गये हो?॥ ३०॥

नन्वहं तेऽप्रियः पुत्र मातरं पश्य धार्मिकीम्।
किं च नालिङ्गसे पुत्र सुकुमार वचो वद॥ ३१॥

"बेटा! यदि मैं तुम्हारा प्रिय नहीं हूँ तो तुम अपनी इस धर्मात्मा माताकी ओर तो देखो। तुम इसके हृदयसे क्यों नहीं लग जाते हो? वत्स! कुछ तो बोलो॥ ३१॥

कस्य वा पररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयङ्गमम्।
अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वान्यद् विशेषतः॥ ३२॥

"अब पिछली रातमें मधुर स्वरसे शास्त्र या पुराण आदि अन्य किसी ग्रन्थका विशेषरूपसे स्वाध्याय करते हुए किसके मुँहसे मैं मनोरम शास्त्रचर्चा सुनूँगा?॥ ३२॥

को मां संध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः।
श्लाघयिष्यत्युपासीनः पुत्रशोकभयार्दितम्॥ ३३॥

'अब कौन स्नान, संध्योपासना तथा अग्निहोत्र करके मेरे पास बैठकर पुत्रशोकके भयसे पीड़ित हुए मुझ बूढ़ेको सान्त्वना देता हुआ मेरी सेवा करेगा?॥ ३३॥

कन्दमूलफलं हृत्वा यो मां प्रियमिवातिथिम्।
भोजयिष्यत्यकर्मण्यमप्रग्रहमनायकम्॥ ३४॥

"अब कौन ऐसा है, जो कन्द, मूल और फल लाकर मुझ अकर्मण्य, अन्नसंग्रहसे रहित और अनाथको प्रिय अतिथिकी भाँति भोजन करायेगा ॥ ३४ ॥

इमामन्धां च वृद्धां च मातरं ते तपस्विनीम्।
कथं पुत्र भरिष्यामि कृपणां पुत्रगर्धिनीम् ॥ ३५ ॥

"बेटा ! तुम्हारी यह तपस्विनी माता अन्धी, बूढ़ी, दीन तथा पुत्रके लिये उत्कण्ठित रहनेवाली है। मैं (स्वयं अन्धा होकर) इसका भरण-पोषण कैसे करूँगा ? ॥ ३५ ॥

तिष्ठ मा मा गमः पुत्र यमस्य सदनं प्रति।
श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥ ३६ ॥

"पुत्र ! ठहरो, आज यमराजके घर न जाओ। कल मेरे और अपनी माताके साथ चलना ॥ ३६ ॥

उभावपि च शोकार्तावनाथौ कृपणौ वने।
क्षिप्रमेव गमिष्यावस्त्वया हीनौ यमक्षयम् ॥ ३७ ॥

"हम दोनों शोकसे आर्त, अनाथ और दीन हैं। तुम्हारे न रहनेपर हम शीघ्र ही यमलोककी राह लेंगे ॥ ३७ ॥

ततो वैवस्वतं दृष्ट्वा तं प्रवक्ष्यामि भारतीम्।
क्षमतां धर्मराजो मे बिभृयात् पितरावयम् ॥ ३८ ॥

"तदनन्तर सूर्यपुत्र यमराजका दर्शन करके मैं उनसे यह बात कहूँगा—धर्मराज मेरे अपराधको क्षमा करें और मेरे पुत्रको छोड़ दें, जिससे यह अपने माता-पिताका भरण-पोषण कर सके ॥ ३८ ॥

दातुमर्हति धर्मात्मा लोकपालो महायशाः।
ईदृशस्य ममाक्षय्यामेकामभयदक्षिणाम् ॥ ३९ ॥

"ये धर्मात्मा हैं, महायशस्वी लोकपाल हैं। मुझ-जैसे अनाथको वह एक बार अभय दान दे सकते हैं ॥ ३९ ॥

अपापोऽसि यथा पुत्र निहतः पापकर्मणा।
तेन सत्येन गच्छाशु ये लोकास्त्वस्त्रयोधिनाम् ॥ ४० ॥
यां हि शूरा गतिं यान्ति संग्रामेष्वनिवर्तिनः।
हतास्त्वभिमुखाः पुत्र गतिं तां परमां व्रज ॥ ४१ ॥

"बेटा ! तुम निष्पाप हो, किंतु एक पापकर्मा क्षत्रियने तुम्हारा वध किया है, इस कारण मेरे सत्यके प्रभावसे तुम शीघ्र ही उन लोकोंमें जाओ, जो अस्त्रयोधी शूरवीरोंको प्राप्त होते हैं। बेटा ! युद्धमें पीठ न दिखानेवाले शूरवीर सम्मुख युद्धमें मारे जानेपर जिस गतिको प्राप्त होते हैं, उसी उत्तम गतिको तुम भी जाओ ॥ ४०-४१ ॥

यां गतिं सगरः शैब्यो दिलीपो जनमेजयः।
नहुषो धुन्धुमारश्च प्राप्तास्तां गच्छ पुत्रक ॥ ४२ ॥

'वत्स ! राजा सगर, शैब्य, दिलीप, जनमेजय, नहुष और धुन्धुमार जिस गतिको प्राप्त हुए हैं, वही तुम्हें भी मिले ॥ ४२ ॥

या गतिः सर्वभूतानां स्वाध्यायात् तपसश्च या।
भूमिदस्याहिताग्नेश्च एकपत्नीव्रतस्य च ॥ ४३ ॥
गोसहस्रप्रदातॄणां गुरुसेवाभृतामपि।
देहन्यासकृतां या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥ ४४ ॥

"स्वाध्याय और तपस्यासे समस्त प्राणियोंके आश्रयभूत जिस परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वही तुम्हें भी प्राप्त हो। वत्स ! भूमिदाता, अग्निहोत्री, एकपत्नीव्रती, एक हजार गौओंका दान करनेवाले, गुरुकी सेवा करनेवाले तथा महा-प्रस्थान आदिके द्वारा देहत्याग करनेवाले पुरुषोंको जो गति मिलती है, वही तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ४३-४४ ॥

न हि त्वस्मिन् कुले जातो गच्छत्यकुशलां गतिम्।
स तु यास्यति येन त्वं निहतो मम बान्धवः ॥ ४५ ॥

'हम-जैसे तपस्वियोंके इस कुलमें पैदा हुआ कोई पुरुष बुरी गतिको नहीं प्राप्त हो सकता। बुरी गति तो उसकी होगी, जिसने मेरे बान्धवरूप तुम्हें अकारण मारा है !' ॥ ४५ ॥

एवं स कृपणं तत्र पर्यदेवयतासकृत्।
ततोऽस्मै कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वे दीनभावसे बारंबार विलाप करने लगे। तत्पश्चात् अपनी पत्नीके साथ वे पुत्रको जलाञ्जलि देनेके कार्यमें प्रवृत्त हुए ॥ ४६ ॥

स तु दिव्येन रूपेण मुनिपुत्रः स्वकर्मभिः।
स्वर्गमध्यारुहत् क्षिप्रं शक्रेण सह धर्मवित् ॥ ४७ ॥

'इसी समय वह धर्मज्ञ मुनिकुमार अपने पुण्य-कर्मोंके प्रभावसे दिव्य रूप धारण करके शीघ्र ही इन्द्रके साथ स्वर्गको जाने लगा ॥ ४७ ॥

आबभाषे च तौ वृद्धौ शक्रेण सह तापसः।
आश्वास्य च मुहूर्तं तु पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४८ ॥

'इन्द्रसहित उस तपस्वीने अपने दोनों बूढ़े पिता-माताको एक मुहूर्ततक आश्वासन देते हुए उनसे बातचीत की; फिर वह अपने पितासे बोला—॥ ४८ ॥

स्थानमस्मि महत् प्राप्तो भवतोः परिचारणात्।
भवन्तावपि च क्षिप्रं मम मूलमुपैष्यथः ॥ ४९ ॥

'मैं आप दोनोंकी सेवासे महान् स्थानको प्राप्त हुआ हूँ, अब आपलोग भी शीघ्र ही मेरे पास आ जाइयेगा' ॥ ४९ ॥

एवमुक्त्वा तु दिव्येन विमानेन वपुष्मता।
आरुरोह दिवं क्षिप्रं मुनिपुत्रो जितेन्द्रियः ॥ ५० ॥

'यह कहकर वह जितेन्द्रिय मुनिकुमार उस सुन्दर आकारवाले दिव्य विमानसे शीघ्र ही देवलोकको चला गया ॥

स कृत्वाथोदकं तूर्णं तापसः सह भार्यया।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ ५१ ॥

'तदनन्तर पत्नीसहित उन महातेजस्वी तपस्वी मुनिने तुरंत ही पुत्रको जलाञ्जलि देकर हाथ जोड़े खड़े हुए मुझसे कहा—॥ ५१ ॥

अद्यैव जहि मां राजन् मरणे नास्ति मे व्यथा।
यः शरेणैकपुत्रं मां त्वमकार्षीरपुत्रकम्॥ ५२॥

''राजन्! तुम आज ही मुझे भी मार डालो; अब मरनेमें मुझे कष्ट नहीं होगा। मेरे एक ही बेटा था, जिसे तुमने अपने बाणका निशाना बनाकर मुझे पुत्रहीन कर दिया॥

त्वयापि च यदज्ञानान्निहतो मे स बालकः।
तेन त्वामपि शप्स्येऽहं सुदुःखमतिदारुणम्॥ ५३॥

''तुमने अज्ञानवश जो मेरे बालककी हत्या की है, उसके कारण मैं तुम्हें भी अत्यन्त भयंकर एवं भलीभाँति दुःख देनेवाला शाप दूँगा॥ ५३॥

पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम्।
एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन् कालं करिष्यसि॥ ५४॥

'राजन्! इस समय पुत्रके वियोगसे मुझे जैसा कष्ट हो रहा है, ऐसा ही तुम्हें भी होगा। तुम भी पुत्रशोकसे ही कालके गालमें जाओगे॥ ५४॥

अज्ञानात्तु हतो यस्मात् क्षत्रियेण त्वया मुनिः।
तस्मात् त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप॥ ५५॥
त्वामप्येतादृशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति।
जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणाम्॥ ५६॥

''नरेश्वर! क्षत्रिय होकर अनजानमें तुमने वैश्यजातीय मुनिका वध किया है, इसलिये शीघ्र ही तुम्हें ब्रह्महत्याका पाप तो नहीं लगेगा तथापि जल्दी ही तुम्हें भी ऐसी ही भयानक और प्राण लेनेवाली अवस्था प्राप्त होगी। ठीक उसी तरह, जैसे दक्षिणा देनेवाले दाताको उसके अनुरूप फल प्राप्त होता है'॥ ५५-५६॥

एवं शापं मयि न्यस्य विलप्य करुणं बहु।
चितामारोप्य देहं तन्मिथुनं स्वर्गमभ्ययात्॥ ५७॥

'इस प्रकार मुझे शाप देकर वे बहुत देरतक करुणाजनक विलाप करते रहे; फिर वे दोनों पति-पत्नी अपने शरीरोंको जलती हुई चितामें डालकर स्वर्गको चले गये॥ ५७॥

तदेतच्चिन्तयानेन स्मृतं पापं मया स्वयम्।
तदा बाल्याद् कृतं देवि शब्दवेध्यनुकर्षिणा॥ ५८॥

'देवि! इस प्रकार बालस्वभावके कारण मैंने पहले शब्दवेधी बाण मारकर और फिर उस मुनिके शरीरसे बाणको खींचकर जो उनका वधरूपी पाप किया था, वह आज इस पुत्रवियोगकी चिन्तामें पड़े हुए मुझे स्वयं ही स्मरण हो आया है॥

तस्यायं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः।
अपथ्यैः सह सम्भुक्ते व्याधिरन्नरसे यथा॥ ५९॥
तस्मान्मामागतं भद्रे तस्योदारस्य तद् वचः।

'देवि! अपथ्य वस्तुओंके साथ अन्नरस ग्रहण कर लेनेपर जैसे शरीरमें रोग पैदा हो जाता है, उसी प्रकार यह उस पापकर्मका फल उपस्थित हुआ है। अतः कल्याणि! उन उदार महात्माका शापरूपी वचन इस समय मेरे पास फल देनेके लिये आ गया है'॥ ५९½॥

इत्युक्त्वा स रुदंस्त्रस्तो भार्यामाह तु भूमिपः॥ ६०॥
यदहं पुत्रशोकेन संत्यजिष्यामि जीवितम्।
चक्षुर्भ्यां त्वां न पश्यामि कौसल्ये त्वं हि मां स्पृश॥ ६१॥

ऐसा कहकर वे भूपाल मृत्युके भयसे त्रस्त हो अपनी पत्नीसे रोते हुए बोले—'कौसल्ये! अब मैं पुत्र-शोकसे अपने प्राणोंका त्याग करूँगा। इस समय मैं तुम्हें अपनी आँखोंसे देख नहीं पाता हूँ; तुम मेरा स्पर्श करो॥ ६०-६१॥

यमक्षयमनुप्राप्ता द्रक्ष्यन्ति नहि मानवाः।
यदि मां संस्पृशेद् रामः सकृदन्वारभेत वा॥ ६२॥
धनं वा यौवराज्यं वा जीवेयमिति मे मतिः।

'जो मनुष्य यमलोकमें जानेवाले (मरणासन्न) होते हैं, वे अपने बान्धवजनोंको नहीं देख पाते हैं। यदि श्रीराम आकर एक बार मेरा स्पर्श करें अथवा यह धन-वैभव और युवराजपद स्वीकार कर लें तो मेरा विश्वास है कि मैं जी सकता हूँ॥ ६२½॥

न तन्मे सदृशं देवि यन्मया राघवे कृतम्॥ ६३॥
सदृशं तत्तु तस्यैव यदनेन कृतं मयि।

'देवि! मैंने श्रीरामके साथ जो बर्ताव किया है, वह मेरे योग्य नहीं था; परंतु श्रीरामने मेरे साथ जो व्यवहार किया है, वह सर्वथा उन्हींके योग्य है॥ ६३½॥

दुर्वृत्तमपि कः पुत्रं त्यजेद् भुवि विचक्षणः॥ ६४॥
कश्च प्रव्राज्यमानो वा नासूयेत् पितरं सुतः।

'कौन बुद्धिमान् पुरुष इस भूतलपर अपने दुराचारी पुत्रका भी परित्याग कर सकता है? (एक मैं हूँ, जिसने अपने धर्मात्मा पुत्रको त्याग दिया) तथा कौन ऐसा पुत्र है, जिसे घरसे निकाल दिया जाय और वह पिताको कोसेतक नहीं? (परंतु श्रीराम चुपचाप चले गये। उन्होंने मेरे विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा)॥ ६४½॥

चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते॥ ६५॥
दूता वैवस्वतस्यैते कौसल्ये त्वरयन्ति माम्।

'कौसल्ये! अब मेरी आँखें तुम्हें नहीं देख पाती हैं, स्मरण-शक्ति भी लुप्त होती जा रही है। उधर देखो, ये यमराजके दूत मुझे यहाँसे ले जानेके लिये उतावले हो उठे हैं॥ ६५½॥

अतस्तु किं दुःखतरं यदहं जीवितक्षये॥ ६६॥
नहि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम्।

'इससे बढ़कर दुःख मेरे लिये और क्या हो सकता है कि मैं प्राणान्तके समय सत्यपराक्रमी धर्मज्ञ रामका दर्शन नहीं पा रहा हूँ॥ ६६½॥

तस्यादर्शनजः शोकः सुतस्याप्रतिकर्मणः ॥ ६७ ॥
उच्छोषयति वै प्राणान् वारि स्तोकमिवातपः ।

'जिनकी समता करनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं है, उन प्रिय-पुत्र श्रीरामके न देखनेका शोक मेरे प्राणोंको उसी तरह सुखाये डालता है, जैसे धूप थोड़े-से जलको शीघ्र सुखा देती है ॥ ६७½ ॥

न ते मनुष्या देवास्ते ये चारुशुभकुण्डलम् ॥ ६८ ॥
मुखं द्रक्ष्यन्ति रामस्य वर्षे पञ्चदशे पुनः ।

'वे मनुष्य नहीं देवता हैं, जो आजके पंद्रहवें वर्ष वनसे लौटनेपर श्रीरामका सुन्दर मनोहर कुण्डलोंसे अलंकृत मुख देखेंगे ॥ ६८½ ॥

पद्मपत्रेक्षणं सुभ्रु सुदंष्ट्रं चारुनासिकम् ॥ ६९ ॥
धन्या द्रक्ष्यन्ति रामस्य ताराधिपसमं मुखम् ।

'जो कमलके समान नेत्र, सुन्दर भौंहें, स्वच्छ दाँत और मनोहर नासिकासे सुशोभित श्रीरामके चन्द्रोपम मुखका दर्शन करेंगे, वे धन्य हैं ॥ ६९½ ॥

सदृशं शारदस्येन्दोः फुल्लस्य कमलस्य च ॥ ७० ॥
सुगन्धि मम रामस्य धन्या द्रक्ष्यन्ति ये मुखम् ।
निवृत्तवनवासं तमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ७१ ॥
द्रक्ष्यन्ति सुखिनो रामं शुक्रं मार्गगतं यथा ।

'जो मेरे श्रीरामके शरच्चन्द्र-सदृश मनोहर और प्रफुल्ल कमलके समान सुवासित मुखका दर्शन करेंगे, वे धन्य हैं। जैसे मूढ़ता आदि अवस्थाओंको त्यागकर अपने उच्च मार्गमें स्थित शुक्रका दर्शन करके लोग सुखी होते हैं, उसी प्रकार वनवासकी अवधि पूरी करके पुनः अयोध्यामें लौटकर आये हुए श्रीरामको जो लोग देखेंगे, वे ही सुखी होंगे ॥७०-७१½॥

कौसल्ये चित्तमोहेन हृदयं सीदतेतराम् ॥ ७२ ॥
वेदये न च संयुक्ताञ्शब्दस्पर्शरसानहम् ।

'कौसल्ये! मेरे चित्तपर मोह छा रहा है, हृदय विदीर्ण-सा हो रहा है, इन्द्रियोंसे संयोग होनेपर भी मुझे शब्द, स्पर्श और रस आदि विषयोंका अनुभव नहीं हो रहा है ॥ ७२½ ॥

चित्तनाशाद् विपद्यन्ते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि हि ।
क्षीणस्नेहस्य दीपस्य संरक्ता रश्मयो यथा ॥ ७३ ॥

'जैसे तेल समाप्त हो जानेपर दीपककी अरुण प्रभा विलीन हो जाती है, उसी प्रकार चेतनाके नष्ट होनेसे मेरी सारी इन्द्रियाँ ही नष्ट हो चली हैं ॥ ७३ ॥

अयमात्मभवः शोको मामनाथमचेतनम् ।
संसाधयति वेगेन यथा कूलं नदीरयः ॥ ७४ ॥

'जिस प्रकार नदीका वेग अपने ही किनारेको काट गिराता है, उसी प्रकार मेरा अपना ही उत्पन्न किया हुआ शोक मुझे वेगपूर्वक अनाथ और अचेत किये दे रहा है ॥ ७४ ॥

हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन ।
हा पितृप्रिय मे नाथ हा मामासि गतः सुत ॥ ७५ ॥

'हा महाबाहु रघुनन्दन! हा मेरे कष्टोंको दूर करनेवाले श्रीराम! हा पिताके प्रिय पुत्र! हा मेरे नाथ! हा मेरे बेटे! तुम कहाँ चले गये? ॥ ७५ ॥

हा कौसल्ये न पश्यामि हा सुमित्रे तपस्विनि ।
हा नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि ॥ ७६ ॥

'हा कौसल्ये! अब मुझे कुछ नहीं दिखायी देता। हा तपस्विनि सुमित्रे! अब मैं इस लोकसे जा रहा हूँ। हा मेरी शत्रु, क्रूर, कुलाङ्गार कैकेयि! (तेरी कुटिल इच्छा पूरी हुई), ॥ ७६ ॥

इति मातुश्च रामस्य सुमित्रायाश्च संनिधौ ।
राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीराम-माता कौसल्या और सुमित्राके निकट शोकपूर्ण विलाप करते हुए राजा दशरथके जीवनका अन्त हो गया ॥ ७७ ॥

तथा तु दीनः कथयन् नराधिपः
प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः ।
गतेऽर्धरात्रे भृशदुःखपीडित-
स्तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः ॥ ७८ ॥

अपने प्रिय पुत्रके वनवाससे शोकाकुल हुए राजा दशरथ इस प्रकार दीनतापूर्ण वचन कहते हुए आधी रात बीतते-बीतते अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो गये और उसी समय उन उदारदर्शी नरेशने अपने प्राणोंको त्याग दिया ॥ ७८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

वन्दीजनोंका स्तुतिपाठ, राजा दशरथको दिवंगत हुआ जान उनकी रानियोंका करुण-विलाप

अथ रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरेवापरेऽहनि ।
वन्दिनः पर्युपातिष्ठंस्तत्पार्थिवनिवेशनम् ॥ १ ॥

तदनन्तर रात बीतनेपर दूसरे दिन सवेरे ही वन्दीजन (महाराजकी स्तुति करनेके लिये) राजमहलमें उपस्थित हुए ॥

सूताः परमसंस्कारा मागधाश्चोत्तमश्रुताः ।
गायकाः श्रुतिशीलाश्च निगदन्तः पृथक्पृथक् ॥ २ ॥

व्याकरण-ज्ञानसे सम्पन्न (अथवा उत्तम अलङ्कारोंसे विभूषित) सूत, उत्तमरूपसे वंशपरम्पराका श्रवण करानेवाले मागध और सङ्गीतशास्त्रका अनुशीलन करनेवाले गायक अपने-अपने मार्गके अनुसार पृथक्-पृथक् यशोगान करते हुए वहाँ आये ॥ २ ॥

राजानं स्तुवतां तेषामुदात्ताभिहिताशिषाम् ।
प्रासादाभोगविस्तीर्णः स्तुतिशब्दो ह्यवर्तत ॥ ३ ॥

उच्चस्वरसे आशीर्वाद देते हुए राजाकी स्तुति करनेवाले उन सूत-मागध आदिका शब्द राजमहलोंके भीतरी भागमें फैलकर गूँजने लगा ॥ ३ ॥

ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः ।
अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादानवादयन् ॥ ४ ॥

वे सूतगण स्तुति कर रहे थे; इतनेहीमें पाणिवादक (हाथोंसे ताल देकर गानेवाले) वहाँ आये और राजाओंके बीते हुए अद्भुत कर्मोंका बखान करते हुए तालगतिके अनुसार तालियाँ बजाने लगे ॥ ४ ॥

तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धाश्च सस्वनुः ।
शाखास्थाः पञ्जरस्थाश्च ये राजकुलगोचराः ॥ ५ ॥

उस शब्दसे वृक्षोंकी शाखाओंपर बैठे हुए तथा राजकुलमें ही विचरनेवाले पिंजड़ेमें बंद शुक आदि पक्षी जागकर चहचहाने लगे ॥ ५ ॥

व्याहृताः पुण्यशब्दाश्च वीणानां चापिनिःस्वनाः ।
आशीर्गेयं च गाथानां पूरयामास वेश्म तत् ॥ ६ ॥

शुक आदि पक्षियों तथा ब्राह्मणोंके मुखसे निकले हुए पवित्र शब्द, वीणाओंके मधुर नाद तथा गाथाओंके आशीर्वाद-युक्त गानसे वह सारा भवन गूँज उठा ॥ ६ ॥

ततः शुचिसमाचाराः पर्युपस्थानकोविदाः ।
स्त्रीवर्षवरभूयिष्ठा उपतस्थुर्यथापुरा ॥ ७ ॥

तदनन्तर सदाचारी तथा परिचर्याकुशल सेवक, जिनमें स्त्रियों और खोजोंकी संख्या अधिक थी, पहलेकी भाँति उस दिन भी राजभवनमें उपस्थित हुए ॥ ७ ॥

हरिचन्दनसम्पृक्तमुदकं काञ्चनैर्घटैः ।
आनिन्युः स्नानशिक्षाज्ञा यथाकालं यथाविधि ॥ ८ ॥

स्नानविधिके ज्ञाता भृत्यजन विधिपूर्वक सोनेके घड़ोंमें चन्दनमिश्रित जल लेकर ठीक समयपर आये ॥ ८ ॥

मङ्गलालम्भनीयानि प्राशनीयान्युपस्करान् ।
उपानिन्युस्तथा पुण्याः कुमारीबहुलाः स्त्रियः ॥ ९ ॥

पवित्र आचार-विचारवाली स्त्रियाँ, जिनमें कुमारी कन्याओंकी संख्या अधिक थी, मङ्गलके लिये स्पर्श करने योग्य गौ आदि, पीने योग्य गङ्गाजल आदि तथा अन्य उपकरण—दर्पण, आभूषण और वस्त्र आदि ले आयीं ॥ ९ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं सर्वं विधिवदर्चितम् ।
सर्वं सुगुणलक्ष्मीवत् तद्भूदाभिहारिकम् ॥ १० ॥

प्रातःकाल राजाओंके मङ्गलके लिये जो-जो वस्तुएँ लायी जाती हैं, उनका नाम आभिहारिक है । वहाँ लायी गयी सारी आभिहारिक सामग्री समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, विधिके अनुरूप आदर, और प्रशंसाके योग्य उत्तम गुणसे युक्त तथा शोभायमान थी ॥ १० ॥

ततः सूर्योदयं यावत् सर्वं परिसमुत्सुकम् ।
तस्थावनुपसम्प्राप्तं किंस्विदित्युपशङ्कितम् ॥ ११ ॥

सूर्योदय होनेतक राजाकी सेवाके लिये उत्सुक हुआ सारा परिजनवर्ग वहाँ आकर खड़ा हो गया । जब उस समयतक राजा बाहर नहीं निकले, तब सबके मनमें यह शङ्का हो गयी कि महाराजके न आनेका क्या कारण हो सकता है ? ॥ ११ ॥

अथ याः कोसलेन्द्रस्य शयनं प्रत्यनन्तराः ।
ताः स्त्रियस्तु समागम्य भर्तारं प्रत्यबोधयन् ॥ १२ ॥

तदनन्तर जो कोसलनरेश दशरथके समीप रहनेवाली स्त्रियाँ थीं, वे उनकी शय्याके पास जाकर अपने स्वामीको जगाने लगीं ॥ १२ ॥

अथाप्युचितवृत्तास्ता विनयेन नयेन च ।
नह्यस्य शयनं स्पृष्ट्वा किंचिदप्युपलेभिरे ॥ १३ ॥

वे स्त्रियाँ उनका स्पर्श आदि करनेके योग्य थीं; अतः विनीतभावसे युक्तिपूर्वक उन्होंने उनकी शय्याका स्पर्श किया । स्पर्श करके भी वे उनमें जीवनका कोई चिह्न नहीं पा सकीं ॥ १३ ॥

ताः स्त्रियः स्वप्नशीलज्ञाश्चेष्टां संचलनादिषु ।
ता वेपथुपरीताश्च राज्ञः प्राणेषु शङ्किताः ॥ १४ ॥

सोये हुए पुरुषकी जैसी स्थिति होती है, उसको भी वे स्त्रियाँ अच्छी तरह समझती थीं; अतः उन्होंने हृदय एवं हाथके मूलभागमें चलनेवाली नाड़ियोंकी भी परीक्षा की, किंतु वहाँ भी कोई चेष्टा नहीं प्रतीत हुई । फिर तो वे काँप उठीं । उनके मनमें राजाके प्राणोंके निकल जानेकी आशङ्का हो गयी ॥ १४ ॥

प्रतिस्रोतस्तृणाग्राणां सदृशं संचकाशिरे ।
अथ संदेहमानानां स्त्रीणां दृष्ट्वा च पार्थिवम् ।
यत् तदाशङ्कितं पापं तदा जज्ञे विनिश्चयः ॥ १५ ॥

वे जलके प्रवाहके सम्मुख पड़े हुए तिनकोंके अग्रभागकी भाँति काँपती हुई प्रतीत होने लगीं । संशयमें पड़ी हुई उन स्त्रियोंको राजाकी ओर देखकर उनकी मृत्युके विषयमें जो शङ्का हुई थी, उसका उस समय उन्हें पूरा निश्चय हो गया ॥ १५ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकपराजिते ।

प्रसुप्ते न प्रबुध्येते यथा कालसमन्विते ॥ १६ ॥

पुत्रशोकसे आक्रान्त हुई कौसल्या और सुमित्रा उस समय मरी हुईके समान सो गयी थीं और उस समयतक उनकी नींद नहीं खुल पायी थी ॥ १६ ॥

निष्प्रभा सा विवर्णा च सन्ना शोकेन संनता।
न व्यराजत कौसल्या तारेव तिमिरावृता ॥ १७ ॥

सोयी हुई कौसल्या श्रीहीन हो गयी थीं। उनके शरीरका रंग बदल गया था। वे शोकसे पराजित एवं पीड़ित हो अन्धकारसे आच्छादित हुई तारिकाके समान शोभा नहीं पा रही थीं ॥ १७ ॥

कौसल्यानन्तरं राज्ञः सुमित्रा तदनन्तरम्।
न स्म विभ्राजते देवी शोकाश्रुलुलितानना ॥ १८ ॥

राजाके पास कौसल्या थीं और कौसल्याके समीप देवी सुमित्रा थीं। दोनों ही निद्रामग्न हो जानेके कारण शोभाहीन प्रतीत होती थीं। उन दोनोंके मुखपर शोकके आँसू फैले हुए थे ॥ १८ ॥

ते च दृष्ट्वा तदा सुप्ते उभे देव्यौ च तं नृपम्।
सुप्तमेवोद्गतप्राणमन्तःपुरममन्यत ॥ १९ ॥

उस समय उन दोनों देवियोंको निद्रामग्न देख अन्तःपुरकी अन्य स्त्रियोंने यही समझा कि सोते अवस्थामें ही महाराजके प्राण निकल गये हैं ॥ १९ ॥

ततः प्रचुक्रुशुर्दीनाः सस्वरं ता वराङ्गनाः।
करेणव इवारण्ये स्थानप्रच्युतयूथपाः ॥ २० ॥

फिर तो जैसे जंगलमें यूथपति गजराजके अपने वास-स्थानसे अन्यत्र चले जानेपर हथिनियाँ करुण चीत्कार करने लगती हैं, उसी प्रकार वे अन्तःपुरकी सुन्दरी रानियाँ अत्यन्त दुखी हो उच्चस्वरसे आर्तनाद करने लगीं ॥ २० ॥

तासामाक्रन्दशब्देन सहसोद्गतचेतने।
कौसल्या च सुमित्रा च त्यक्तनिद्रे बभूवतुः ॥ २१ ॥

उनके रोनेकी आवाजसे कौसल्या और सुमित्राकी भी नींद टूट गयी और वे दोनों सहसा जाग उठीं ॥ २१ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम्।
हा नाथेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीतले ॥ २२ ॥

कौसल्या और सुमित्राने राजाको देखा, उनके शरीरका स्पर्श किया और 'हा नाथ!' की पुकार मचाती हुई वे दोनों रानियाँ पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥ २२ ॥

सा कोसलेन्द्रदुहिता चेष्टमाना महीतले।
न भ्राजते रजोध्वस्ता तारेव गगनच्युता ॥ २३ ॥

कोसलराजकुमारी कौसल्या धरतीपर लोटने और छटपटाने लगीं। उनका धूलि-धूसरित शरीर शोभाहीन दिखायी देने लगा, मानो आकाशसे टूटकर गिरी हुई कोई तारा धूलमें लोट रही हो ॥ २३ ॥

नृपे शान्तगुणे जाते कौसल्यां पतितां भुवि।
अपश्यंस्ताः स्त्रियः सर्वा हतां नागवधूमिव ॥ २४ ॥

राजा दशरथके शरीरकी उष्णता शान्त हो गयी थी। इस प्रकार उनका जीवन शान्त हो जानेपर भूमिपर अचेत पड़ी हुई कौसल्याको अन्तःपुरकी उन सारी स्त्रियोंने मरी हुई नागिनके समान देखा ॥ २४ ॥

ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैकेयीप्रमुखाः स्त्रियः।
रुदत्यः शोकसंतप्ता निपेतुर्गतचेतनाः ॥ २५ ॥

तदनन्तर पीछे आयी हुई महाराजकी कैकेयी आदि सारी रानियाँ शोकसे संतप्त होकर रोने लगीं और अचेत होकर गिर पड़ीं ॥ २५ ॥

ताभिः स बलवान् नादः क्रोशन्तीभिरनुद्रुतः।
येन स्फीतीकृतो भूयस्तद् गृहं समनादयत् ॥ २६ ॥

उन क्रन्दन करती हुई रानियोंने वहाँ पहलेसे होनेवाले प्रबल आर्तनादको और भी बढ़ा दिया। उस बढ़े हुए आर्तनादसे वह सारा राजमहल पुनः बड़े जोरसे गूँज उठा ॥ २६ ॥

तत् परित्रस्तसम्भ्रान्तपर्युत्सुकजनाकुलम्।
स तस्तुमुलाक्रन्दं परितापार्तबान्धवम् ॥ २७ ॥
सद्योनिपतितानन्दं दीनं विक्लवदर्शनम्।
बभूव नरदेवस्य सद्म दिष्टान्तमीयुषः ॥ २८ ॥

कालधर्मको प्राप्त हुए राजा दशरथका वह भवन डरे, घबराये और अत्यन्त उत्सुक हुए मनुष्योंसे भर गया। सब ओर रोने-चिल्लानेका भयंकर शब्द होने लगा। वहाँ राजाके सभी बन्धु-बान्धव शोक-संतापसे पीड़ित होकर जुट गये। वह सारा भवन तत्काल आनन्दशून्य हो दीन-दुखी एवं व्याकुल दिखायी देने लगा ॥ २७-२८ ॥

अतीतमाज्ञाय तु पार्थिवर्षभं
यशस्विनं तं परिवार्य पत्नयः।
भृशं रुदत्यः करुणं सुदुःखिताः
प्रगृह्य बाहू व्यलपन्ननाथवत् ॥ २९ ॥

उन यशस्वी भूपालशिरोमणिको दिवङ्गत हुआ जान उनकी सारी पत्नियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर अत्यन्त दुखी हो जोर-जोरसे रोने लगीं और उनकी दोनों बाँहें पकड़कर अनाथकी भाँति करुण-विलाप करने लगीं ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

राजाके लिये कौसल्याका विलाप और कैकेयीकी भर्त्सना, मन्त्रियोंका राजाके शवको तेलसे भरे हुए कड़ाहमें सुलाना, रानियोंका विलाप, पुरीकी श्रीहीनता और पुरवासियोंका शोक

तमग्निमिव संशान्तमम्बुहीनमिवार्णवम् ।
गतप्रभमिवादित्यं स्वर्गस्थं प्रेक्ष्य भूमिपम्॥ १ ॥
कौसल्या बाष्पपूर्णाक्षी विविधं शोककर्शिता ।
उपगृह्य शिरो राज्ञः कैकेयीं प्रत्यभाषत ॥ २ ॥

बुझी हुई आग, जलहीन समुद्र तथा प्रभाहीन सूर्यकी भाँति शोभाहीन हुए दिवङ्गत राजाका शव देखकर कौसल्याके नेत्रोंमें आँसू भर आये। वे अनेक प्रकारसे शोकाकुल होकर राजाके मस्तकको गोदमें ले कैकेयीसे इस प्रकार बोलीं—॥ १-२ ॥

सकामा भव कैकेयि भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ।
त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा नृशंसे दुष्टचारिणि ॥ ३ ॥

'दुराचारिणी क्रूर कैकेयी ! ले, तेरी कामना सफल हुई। अब राजाको भी त्यागकर एकाग्रचित्त हो अपना अकण्टक राज्य भोग ॥ ३ ॥

विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम ।
विपथे सार्थहीनेव नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

'राम मुझे छोड़कर वनमें चले गये और मेरे स्वामी स्वर्ग सिधारे। अब मैं दुर्गम मार्गमें साथियोंसे बिछुड़कर असहाय हुई अबलाकी भाँति जीवित नहीं रह सकती ॥ ४ ॥

भर्तारं तु परित्यज्य का स्त्री दैवतमात्मनः ।
इच्छेज्जीवितुमन्यत्र कैकेय्यास्त्यक्तधर्मणः ॥ ५ ॥

'नारीधर्मको त्याग देनेवाली कैकेयीके सिवा संसारमें दूसरी कौन ऐसी स्त्री होगी, जो अपने लिये आराध्य देवस्वरूप पतिका परित्याग करके जीना चाहेगी ? ॥ ५ ॥

लुब्धो बुध्यते दोषान् किंपाकमिव भक्षयन् ।
कुब्जानिमित्तं कैकेय्या राघवाणां कुलं हतम् ॥ ६ ॥

जैसे कोई धनका लोभी दूसरोंको विष खिला देता है और उससे होनेवाले हत्याके दोषोंपर ध्यान नहीं देता, उसी प्रकार इस कैकेयीने कुब्जाके कारण रघुवंशियोंके इस कुलका नाश कर डाला ॥ ६ ॥

अनियोगे नियुक्तेन राज्ञा रामं विवासितम् ।
सभार्यं जनकः श्रुत्वा परितप्स्यत्यहं यथा ॥ ७ ॥

'कैकेयीने महाराजको अयोग्य कार्यमें लगाकर उनके द्वारा पत्नीसहित श्रीरामको वनवास दिलवा दिया। यह समाचार जब राजा जनक सुनेंगे, तब मेरे ही समान उनको भी बड़ा कष्ट होगा ॥ ७ ॥

स मामनाथां विधवां नाद्य जानाति धार्मिकः ।
रामः कमलपत्राक्षो जीवन्नाशमितो गतः ॥ ८ ॥

'मैं अनाथ और विधवा हो गयी—यह बात मेरे धर्मात्मा पुत्र कमलनयन श्रीरामको नहीं मालूम है। वे तो यहाँसे जीते-जी अदृश्य हो गये हैं ॥ ८ ॥

विदेहराजस्य सुता तथा चारुतपस्विनी ।
दुःखस्यानुचिता दुःखं वने पर्युद्विजिष्यति ॥ ९ ॥

'पति-सेवारूप मनोहर तप करनेवाली विदेहराजकुमारी सीता दुःख भोगनेके योग्य नहीं है। वह वनमें दुःखका अनुभव करके उद्विग्न हो उठेगी ॥ ९ ॥

नदतां भीमघोषाणां निशासु मृगपक्षिणाम् ।
निशम्यमाना संत्रस्ता राघवं संश्रयिष्यति ॥ १० ॥

'रातके समय भयानक शब्द करनेवाले पशु-पक्षियोंकी बोली सुनकर भयभीत हो सीता श्रीरामकी ही शरण लेगी—उन्हींकी गोदमें जाकर छिपेगी ॥ १० ॥

वृद्धश्चैवाल्पपुत्रश्च वैदेहीमनुचिन्तयन् ।
सोऽपि शोकसमाविष्टो नूनं त्यक्ष्यति जीवितम् ॥ ११ ॥

'जो बूढ़े हो गये हैं, कन्याएँमात्र ही जिनकी संतति हैं, वे राजा जनक भी सीताकी ही बारंबार चिन्ता करते हुए शोकमें डूबकर अवश्य ही अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ ११ ॥

साहमद्यैव दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता ।
इदं शरीरमालिङ्ग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ १२ ॥

'मैं भी आज ही मृत्युका वरण करूँगी। एक पतिव्रताकी भाँति पतिके शरीरका आलिङ्गन करके चिताकी आगमें प्रवेश कर जाऊँगी' ॥ १२ ॥

तां ततः सम्परिष्वज्य विलपन्तीं तपस्विनीम् ।
व्यपनिन्युः सुदुःखार्तां कौसल्यां व्यावहारिकाः ॥ १३ ॥

पतिके शरीरको हृदयसे लगाकर अत्यन्त दुःखसे आर्त हो करुण विलाप करती हुई तपस्विनी कौसल्याको राजकाज देखनेवाले मन्त्रियोंने दूसरी स्त्रियोंद्वारा वहाँसे हटवा दिया ॥

तैलद्रोण्यां तदामात्याः संवेश्य जगतीपतिम् ।
राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टाश्चक्रुः कर्माण्यनन्तरम् ॥ १४ ॥

फिर उन्होंने महाराजके शरीरको तेलसे भरे हुए कड़ाहमें रखकर वसिष्ठ आदिकी आज्ञाके अनुसार शवकी रक्षा आदि अन्य सब राजकीय कार्योंकी सँभाल आरम्भ कर दी ॥ १४ ॥

न तु संकालनं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः ।
सर्वज्ञाः कर्तुमीषुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम् ॥ १५ ॥

वे सर्वज्ञ मन्त्री पुत्रके बिना राजाका दाह-संस्कार न कर सके, इसलिये उनके शवकी रक्षा करने लगे ॥ १५ ॥

तैलद्रोण्यां शायितं तं सचिवैस्तु नराधिपम् ।
हा मृतोऽयमिति ज्ञात्वा स्त्रियस्ताः पर्यदेवयन् ॥ १६ ॥

जब मन्त्रियोंने राजाके शवको तैलके कड़ाहमें सुलाया, तब यह जानकर सारी रानियाँ 'हाय ! ये महाराज परलोकवासी हो गये' ऐसा कहती हुई पुनः विलाप करने लगीं ॥ १६ ॥

बाहूनुच्छ्रित्य कृपणा नेत्रप्रस्रवणैर्मुखैः ।
रुदत्यः शोकसंतप्ताः कृपणं पर्यदेवयन् ॥ १७ ॥

उनके मुखपर नेत्रोंसे आँसुओंके झरने झर रहे थे । वे अपनी भुजाओंको ऊपर उठाकर दीनभावसे रोने और शोकसंतप्त हो दयनीय विलाप करने लगीं ॥ १७ ॥

हा महाराज रामेण संततं प्रियवादिना ।
विहीनाः सत्यसंधेन किमर्थं विजहासि नः ॥ १८ ॥

वे बोलीं—'हा महाराज ! हम सत्यप्रतिज्ञ एवं सदा प्रिय बोलनेवाले अपने पुत्र श्रीरामसे तो बिछुड़ी ही थीं, अब आप भी क्यों हमारा परित्याग कर रहे हैं ? ॥ १८ ॥

कैकेय्या दुष्टभावाया राघवेण विवर्जिताः ।
कथं सपत्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम् ॥ १९ ॥

'श्रीरामसे बिछुड़कर हम सब विधवाएँ इस दुष्ट विचार-वाली सौत कैकेयीके समीप कैसे रहेंगी ? ॥ १९ ॥

स हि नाथः स चास्माकं तव च प्रभुरात्मवान् ।
वनं रामो गतः श्रीमान् विहाय नृपतिश्रियम् ॥ २० ॥

'जो हमारे और आपके भी रक्षक और प्रभु थे, वे मनस्वी श्रीरामचन्द्र राजलक्ष्मीको छोड़कर वन चले गये ॥ २० ॥

त्वया तेन च वीरेण विना व्यसनमोहिताः ।
कथं वयं निवत्स्यामः कैकेय्या च विदूषिताः ॥ २१ ॥

'वीरवर श्रीराम और आपके भी न रहनेसे हमारे ऊपर बड़ा भारी संकट आ गया, जिससे हम मोहित हो रही हैं । अब सौत कैकेयीके द्वारा तिरस्कृत हो हम यहाँ कैसे रह सकेंगी ? ॥ २१ ॥

यया च राजा रामश्च लक्ष्मणश्च महाबलः ।
सीतया सह संत्यक्ताः सा कमन्यं न हास्यति ॥ २२ ॥

'जिसने राजाका तथा सीतासहित श्रीराम और महाबली लक्ष्मणका भी परित्याग कर दिया, वह दूसरे किसका त्याग नहीं करेगी ?' ॥ २२ ॥

ता बाष्पेण च संवीताः शोकेन विपुलेन च ।
व्यचेष्टन्त निरानन्दा राघवस्य वरस्त्रियः ॥ २३ ॥

रघुकुलनरेश दशरथकी वे सुन्दरी रानियाँ महान् शोकसे ग्रस्त हो आँसू बहाती हुई नाना प्रकारकी चेष्टाएँ और विलाप कर रही थीं । उनका आनन्द लुट गया था ॥ २३ ॥

निशा नक्षत्रहीनेव स्त्रीव भर्तृविवर्जिता ।
पुरी नाराजतायोध्या हीना राज्ञा महात्मना ॥ २४ ॥

महामना राजा दशरथसे हीन हुई वह अयोध्यापुरी नक्षत्रहीन रात्रि और पतिविहीना नारीकी भाँति श्रीहीन हो गयी थी ॥ २४ ॥

बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना ।
शून्यचत्वरवेश्मान्ता न बभ्राज यथापुरम् ॥ २५ ॥

नगरके सभी मनुष्य आँसू बहा रहे थे । कुलवती स्त्रियाँ हाहाकार कर रही थीं । चौराहे तथा घरोंके द्वार सूने दिखायी देते थे (वहाँ झाड़-बुहार, लीपने-पोतने तथा बलि अर्पण करने आदिकी क्रियाएँ नहीं होती थीं) । इस प्रकार वह पुरी पहलेकी भाँति शोभा नहीं पाती थी ॥ २५ ॥

गते तु शोकात् त्रिदिवं नराधिपे
महीतलस्थासु नृपाङ्गनासु च ।
निवृत्तचारः सहसा गतो रविः
प्रवृत्तचारा रजनी ह्युपस्थिता ॥ २६ ॥

राजा दशरथ शोकवश स्वर्ग सिधारे और उनकी रानियाँ शोकसे ही भूतलपर लोटती रहीं । इस शोकमें ही सहसा सूर्यकी किरणोंका प्रचार बंद हो गया और सूर्यदेव अस्त हो गये । तत्पश्चात् अन्धकारका प्रचार करती हुई रात्रि उपस्थित हुई ॥ २६ ॥

ऋते तु पुत्राद् दहनं महीपते-
र्नारोचयंस्ते सुहृदः समागताः ।
इतीव तस्मिञ्शयने न्यवेशयन्
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २७ ॥

वहाँ पधारे हुए सुहृदोंने किसी भी पुत्रके बिना राजाका दाहसंस्कार होना नहीं पसंद किया । अब राजाका दर्शन अचिन्त्य हो गया, यह सोचते हुए उन सबने उस तैलपूर्ण कड़ाहमें उनके शवको सुरक्षित रख दिया ॥ २७ ॥

गतप्रभा द्यौरिव भास्करं विना
व्यपेतनक्षत्रगणेव शर्वरी ।
पुरी बभासे रहिता महात्मना
कण्ठास्रकण्ठाकुलमार्गचत्वरा ॥ २८ ॥

सूर्यके बिना प्रभाहीन आकाश तथा नक्षत्रोंके बिना शोभाहीन रात्रिकी भाँति अयोध्यापुरी महात्मा राजा दशरथसे रहित हो श्रीहीन प्रतीत होती थी । उसकी सड़कों और चौराहोंपर आँसुओंसे अवरुद्ध कण्ठवाले मनुष्योंकी भीड़ एकत्र हो गयी थी ॥ २८ ॥

नराश्च नार्यश्च समेत्य संघशो
विगर्हमाणा भरतस्य मातरम्।
तदा नगर्यां नरदेवसंक्षये
बभूवुरार्ता न च शर्म लेभिरे ॥ २९ ॥

झुंड-के-झुंड स्त्री और पुरुष एक साथ खड़े होकर भरत-माता कैकेयीकी निन्दा करने लगे। उस समय महाराजकी मृत्युसे अयोध्यापुरीमें रहनेवाले सभी लोग शोकाकुल हो रहे थे। कोई भी शान्ति नहीं पाता था ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

मार्कण्डेय आदि मुनियों तथा मन्त्रियोंका राजाके विना होनेवाली देशकी दुरवस्थाका वर्णन करके वसिष्ठजीसे किसीको राजा बनानेके लिये अनुरोध

आक्रन्दिता निरानन्दा सास्रकण्ठजनाविला।
अयोध्यायामवतता सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

अयोध्यामें लोगोंकी वह रात रोते-कलपते ही बीती। उसमें आनन्दका नाम भी नहीं था। आँसुओंसे सब लोगोंके कण्ठ भरे हुए थे। दुःखके कारण वह रात सबको बड़ी लंबी प्रतीत हुई थी ॥ १ ॥

व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः।
समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्विजातयः ॥ २ ॥

जब रात बीत गयी और सूर्योदय हुआ, तब राज्यका प्रबन्ध करनेवाले ब्राह्मणलोग एकत्र हो दरबारमें आये ॥ २ ॥

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च कश्यपः।
कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महायशाः ॥ ३ ॥
एते द्विजाः सहामात्यैः पृथग्वाचमुदीरयन्।
वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम् ॥ ४ ॥

मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम और महायशस्वी जाबालि—ये सभी ब्राह्मणश्रेष्ठ राजपुरोहित वसिष्ठजीके सामने बैठकर मन्त्रियोंके साथ अपनी अलग-अलग राय देने लगे ॥ ३-४ ॥

तीता शर्वरी दुःखं या नो वर्षशतोपमा।
स्मिन् पञ्चत्वमापन्ने पुत्रशोकेन पार्थिवे ॥ ५ ॥

वे बोले—'पुत्रशोकसे इन महाराजके स्वर्गवासी होनेके कारण यह रात बड़े दुःखसे बीती है, जो हमारे लिये सौ वर्षोंके समान प्रतीत हुई थी ॥ ५ ॥

स्वर्गस्थश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः।
लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह ॥ ६ ॥

'महाराज दशरथ स्वर्ग सिधारे। श्रीरामचन्द्रजी वनमें रहने लगे और तेजस्वी लक्ष्मण भी श्रीरामके साथ ही चले गये ॥ ६ ॥

उभौ भरतशत्रुघ्नौ केकयेषु परंतपौ।
पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने ॥ ७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले दोनों भाई भरत और शत्रुघ्न केकयदेशके रमणीय राजगृहमें नानाके घरमें निवास करते हैं ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद् राजा विधीयताम्।
अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात् ॥ ८ ॥

'इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारोंमेंसे किसीको आज ही यहाँका राजा बनाया जाय; क्योंकि राजाके बिना हमारे इस राज्यका नाश हो जायगा ॥ ८ ॥

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः।
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा ॥ ९ ॥

'जहाँ कोई राजा नहीं होता, ऐसे जनपदमें विद्युन्मालाओंसे अलंकृत महान् गर्जन करनेवाला मेघ पृथ्वीपर दिव्य जलकी वर्षा नहीं करता है ॥ ९ ॥

नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते।
नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे ॥ १० ॥

'जिस जनपदमें कोई राजा नहीं, वहाँके खेतोंमें मुट्ठी-के-मुट्ठी बीज नहीं बिखेरे जाते। राजासे रहित देशमें पुत्र पिता और स्त्री पतिके वशमें नहीं रहती ॥ १० ॥

अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके।
इदमत्याहितं चान्यत् कुतः सत्यमराजके ॥ ११ ॥

'राजहीन देशमें धन अपना नहीं होता है। बिना राजाके राज्यमें पत्नी भी अपनी नहीं रह पाती है। राजारहित देशमें यह महान् भय बना रहता है। (जब वहाँ पति-पत्नी आदिका सत्य सम्बन्ध नहीं रह सकता,) तब फिर दूसरा कोई सत्य कैसे रह सकता है? ॥ ११ ॥

नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः।
उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि च ॥ १२ ॥

'बिना राजाके राज्यमें मनुष्य कोई पञ्चायत-भवन नहीं बनवाते, रमणीय उद्यानका भी निर्माण नहीं करवाते तथा हर्ष और उत्साहके साथ पुण्यगृह (धर्मशाला, मन्दिर आदि) भी नहीं बनवाते हैं ॥ १२ ॥

नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः।
सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितव्रताः ॥ १३ ॥

'जहाँ कोई राजा नहीं, उस जनपदमें स्वभावतः यज्ञ करनेवाले द्विज और कठोर व्रतका पालन करनेवाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण उन बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं करते, जिनमें सभी ऋत्विज और सभी यजमान होते हैं ॥ १३ ॥

नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः।
ब्राह्मणा वसुसम्पूर्णा विसृजन्त्याप्तदक्षिणाः ॥ १४ ॥

'राजारहित जनपदमें कदाचित् महायज्ञोंका आरम्भ हो भी तो उनमें धनसम्पन्न ब्राह्मण भी ऋत्विजोंको पर्याप्त दक्षिणा नहीं देते (उन्हें भय रहता है कि लोग हमें धनी समझकर लूट न लें) ॥ १४ ॥

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः ॥ १५ ॥

'अराजक देशमें राष्ट्रको उन्नतिशील बनानेवाले उत्सव, जिनमें नट और नर्तक हर्षमें भरकर अपनी कलाका प्रदर्शन करते हैं, बढ़ने नहीं पाते हैं तथा दूसरे-दूसरे राष्ट्रहितकारी संघ भी नहीं पनपने पाते हैं ॥ १५ ॥

नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिणः।
कथाभिरभिरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥ १६ ॥

'बिना राजाके राज्यमें वादी और प्रतिवादीके विवादका संतोषजनक निपटारा नहीं हो पाता अथवा व्यापारियोंको लाभ नहीं होता। कथा सुननेकी इच्छावाले लोग कथावाचक पौराणिकोंकी कथाओंसे प्रसन्न नहीं होते ॥ १६ ॥

नाराजके जनपदे तूद्यानानि समागताः।
सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः ॥ १७ ॥

'राजारहित जनपदमें सोनेके आभूषणोंसे विभूषित हुई कुमारियाँ एक साथ मिलकर संध्याके समय उद्यानोंमें क्रीड़ा करनेके लिये नहीं जाती हैं ॥ १७ ॥

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः ॥ १८ ॥

'बिना राजाके राज्यमें धनीलोग सुरक्षित नहीं रह पाते तथा कृषि और गोरक्षासे जीवन-निर्वाह करनेवाले वैश्य भी दरवाजा खोलकर नहीं सो पाते हैं ॥ १८ ॥

नाराजके जनपदे वाहनैः शीघ्रवाहिभिः।
नरा निर्यान्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः ॥ १९ ॥

'राजासे रहित जनपदमें कामी मनुष्य नारियोंके साथ शीघ्रगामी वाहनोंद्वारा वनविहारके लिये नहीं निकलते हैं ॥

नाराजके जनपदे बद्धघण्टा विषाणिनः।
अटन्ति राजमार्गेषु कुञ्जराः षष्टिहायनाः ॥ २० ॥

'जहाँ कोई राजा नहीं होता, उस जनपदमें साठ वर्षके दन्तार हाथी घंटे बाँधकर सड़कोंपर नहीं घूमते हैं ॥ २० ॥

नाराजके जनपदे शरान् संततमस्यताम्।
श्रूयते तलनिर्घोष इष्वस्त्राणामुपासने ॥ २१ ॥

'बिना राजाके राज्यमें धनुर्विद्याके अभ्यासकालमें निरन्तर लक्ष्यकी ओर बाण चलानेवाले वीरोंकी प्रत्यञ्चा तथा करतलका शब्द नहीं सुनायी देता है ॥ २१ ॥

नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः।
गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः ॥ २२ ॥

'राजासे रहित जनपदमें दूर जाकर व्यापार करनेवाले वणिक् बेचनेकी बहुत-सी वस्तुएँ साथ लेकर कुशलपूर्वक मार्ग तै नहीं कर सकते ॥ २२ ॥

नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी।
भावयन्नात्मनाऽऽत्मानं यत्र सायं गृहो मुनिः ॥ २३ ॥

'जहाँ कोई राजा नहीं होता, उस जनपदमें जहाँ संध्या हो वहीं डेरा डाल देनेवाला, अपने अन्तःकरणके द्वारा परमात्माका ध्यान करनेवाला और अकेला ही विचरनेवाला जितेन्द्रिय मुनि नहीं घूमता-फिरता है (क्योंकि उसे कोई भोजन देनेवाला नहीं होता) ॥ २३ ॥

नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते।
न चाप्यराजके सेना शत्रून् विषहते युधि ॥ २४ ॥

'अराजक देशमें लोगोंको अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति और प्राप्त वस्तुकी रक्षा नहीं हो पाती। राजाके न रहनेपर सेना भी युद्धमें शत्रुओंका सामना नहीं करती ॥ २४ ॥

नाराजके जनपदे हृष्टैः परमवाजिभिः।
नराः संयान्ति सहसा रथैश्च प्रतिमण्डिताः ॥ २५ ॥

'बिना राजाके राज्यमें लोग वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो हृष्ट-पुष्ट उत्तम घोड़ों तथा रथोंद्वारा सहसा यात्रा नहीं करते हैं (क्योंकि उन्हें लुटेरोंका भय बना रहता है) ॥ २५ ॥

नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः।
संवदन्तोपतिष्ठन्ते वनेषूपवनेषु वा ॥ २६ ॥

'राजासे रहित राज्यमें शास्त्रोंके विशिष्ट विद्वान् मनुष्य वनों और उपवनोंमें शास्त्रोंकी व्याख्या करते हुए नहीं ठहर पाते हैं ॥ २६ ॥

नाराजके जनपदे माल्यमोदकदक्षिणाः।
देवताभ्यर्चनार्थाय कल्प्यन्ते नियतैर्जनैः ॥ २७ ॥

'जहाँ अराजकता फैल जाती है, उस जनपदमें मनको वशमें रखनेवाले लोग देवताओंकी पूजाके लिये फूल, मिठाई और दक्षिणाकी व्यवस्था नहीं करते हैं ॥ २७ ॥

नाराजके जनपदे चन्दनागुरुरूषिताः।
राजपुत्रा विराजन्ते वसन्ते इव शाखिनः ॥ २८ ॥

'जिस जनपदमें कोई राजा नहीं होता है, वहाँ चन्दन और अगुरुका लेप लगाये हुए राजकुमार वसन्त-ऋतुके खिले हुए वृक्षोंकी भाँति शोभा नहीं पाते हैं ॥ २८ ॥

यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाप्यतृणं वनम्।
अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥ २९ ॥

'जैसे जलके बिना नदियाँ, घासके बिना वन और ग्वालों-के बिना गौओंकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार राजाके बिना राज्य शोभा नहीं पाता है ॥ २९ ॥

ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं धूमो ज्ञानं विभावसोः ।
तेषां यो नो ध्वजो राजा स देवत्वमितो गतः ॥ ३० ॥

'जैसे ध्वज रथका ज्ञान कराता है और धूम अग्निका बोधक होता है, उसी प्रकार राजकाज देखनेवाले हमलोगोंके अधिकार-को प्रकाशित करनेवाले जो महाराज थे, वे यहाँसे देवलोकको चले गये ॥ ३० ॥

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् ।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥ ३१ ॥

'राजाके न रहनेपर राज्यमें किसी भी मनुष्यकी कोई भी वस्तु अपनी नहीं रह जाती । जैसे मत्स्य एक दूसरेको खा जाते हैं, उसी प्रकार अराजक देशके लोग सदा एक-दूसरेको खाते—लूटते-खसोटते रहते हैं ॥ ३१ ॥

ये हि सम्भिन्नमर्यादा नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः ।
तेऽपि भावाय कल्पन्ते राजदण्डनिपीडिताः ॥ ३२ ॥

'जो वेद-शास्त्रोंकी तथा अपनी-अपनी जातिके लिये नियत वर्णाश्रमकी मर्यादाको भङ्ग करनेवाले नास्तिक मनुष्य पहले राजदण्डसे पीड़ित होकर दबे रहते थे, वे भी अब राजाके न रहनेसे निःशङ्क होकर अपना प्रभुत्व प्रकट करेंगे ॥ ३२ ॥

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते ।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः ॥ ३३ ॥

'जैसे दृष्टि सदा ही शरीरके हितमें प्रवृत्त रहती है, उसी प्रकार राजा राज्यके भीतर सत्य और धर्मका प्रवर्तक होता है ॥ ३३ ॥

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम् ।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥ ३४ ॥

'राजा ही सत्य और धर्म है । राजा ही कुलवानोंका कुल है । राजा ही माता और पिता है तथा राजा ही मनुष्योंका हित करनेवाला है ॥ ३४ ॥

यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः ।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता ततः ॥ ३५ ॥

'राजा अपने महान् चरित्रके द्वारा यम, कुबेर, इन्द्र और महाबली वरुणसे भी बढ़ जाते हैं (यमराज केवल दण्ड देते हैं, कुबेर केवल धन देते हैं, इन्द्र केवल पालन करते हैं और वरुण केवल सदाचारमें नियन्त्रित करते हैं; परंतु एक श्रेष्ठ राजामें ये चारों गुण मौजूद होते हैं । अतः वह इनसे बढ़ जाता है) ॥ ३५ ॥

अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किंचन ।
राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन् साध्वसाधुनी ॥ ३६ ॥

'यदि संसारमें भले-बुरेका विभाग करनेवाला राजा न हो तो यह सारा जगत् अन्धकारसे आच्छन्न-सा हो जाय, कुछ भी सूझ न पड़े ॥ ३६ ॥

जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम् ।
नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः ॥ ३७ ॥

'वसिष्ठजी ! जैसे उमड़ता हुआ समुद्र अपनी तटभूमितक पहुँचकर उससे आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार हम सब लोग महाराजके जीवनकालमें भी केवल आपकी ही बातका उल्लङ्घन नहीं करते थे ॥ ३७ ॥

स नः समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं
नृपं विना राष्ट्रमरण्यभूतम् ।
कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं
त्वमेव राजानमिहाभिषेचय ॥ ३८ ॥

'अतः विप्रवर ! इस समय हमारे व्यवहारको देखकर तथा राजाके अभावमें जंगल बने हुए इस देशपर दृष्टिपात करके आप ही किसी इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारको अथवा दूसरे किसी योग्य पुरुषको राजाके पदपर अभिषिक्त कीजिये' ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठजीकी आज्ञासे पाँच दूतोंका अयोध्यासे केकयदेशके राजगृह नगरमें जाना

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।
मित्रामात्यजनान् सर्वान् ब्राह्मणांस्तानिदं वचः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय आदिके ऐसे वचन सुनकर महर्षि वसिष्ठने मित्रों, मन्त्रियों और उन समस्त ब्राह्मणोंको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १ ॥

यदसौ मातुलकुले दत्तराज्यः परं सुखी ।
भरतो वसति भ्रात्रा शत्रुघ्नेन मुदान्वितः ॥ २ ॥

'राजा दशरथने जिनको राज्य दिया है, वे भरत इस समय अपने भाई शत्रुघ्नके साथ मामाके यहाँ बड़े सुख और प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं ॥ २ ॥

तच्छीघ्रं जवना दूता गच्छन्तु त्वरितं हयैः ।
आनेतुं भ्रातरौ वीरौ किं समीक्षामहे वयम् ॥ ३ ॥

'उन दोनों वीर बन्धुओंको बुलानेके लिये शीघ्र ही तेज चलनेवाले दूत घोड़ोंपर सवार होकर यहाँसे जायँ, इसके

सिवा हमलोग और क्या विचार कर सकते हैं ?' ॥ ३ ॥

गच्छन्त्विति ततः सर्वे वसिष्ठं वाक्यमब्रुवन् ।
तेषां तद् वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

इसपर सबने वसिष्ठजीसे कहा—'हाँ, दूत अवश्य भेजे जायँ।' उनका वह कथन सुनकर वसिष्ठजीने दूतोंको सम्बोधित करके कहा—॥ ४ ॥

एहि सिद्धार्थ विजय जयन्ताशोकनन्दन ।
श्रूयतामितिकर्तव्यं सर्वानेव ब्रवीमि वः ॥ ५ ॥

'सिद्धार्थ ! विजय ! जयन्त ! अशोक ! और नन्दन ! तुम सब यहाँ आओ और तुम्हें जो काम करना है, उसे सुनो। मैं तुम सब लोगोंसे ही कहता हूँ ॥ ५ ॥

पुरं राजगृहं गत्वा शीघ्रं शीघ्रजवैर्हयैः ।
त्यक्तशोकैरिदं वाच्यः शासनाद् भरतो मम ॥ ६ ॥

'तुमलोग शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर तुरंत ही राजगृह नगरको जाओ और शोकका भाव न प्रकट करते हुए मेरी आज्ञाके अनुसार भरतसे इस प्रकार कहो ॥ ६ ॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ७ ॥

'कुमार ! पुरोहितजी तथा समस्त मन्त्रियोंने आपसे कुशल-मङ्गल कहा है। अब आप यहाँसे शीघ्र ही चलिये। अयोध्यामें आपसे अत्यन्त आवश्यक कार्य है ॥ ७ ॥

मा चास्मै प्रोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम् ।
भवन्तः शंसिषुर्गत्वा राघवाणामितः क्षयम् ॥ ८ ॥

'भरतको श्रीरामचन्द्रके वनवास और पिताकी मृत्युका हाल मत बतलाना और इन परिस्थितियोंके कारण रघुवंशियोंके यहाँ जो कुहराम मचा हुआ है, इसकी चर्चा भी न करना ॥ ८ ॥

कौशेयानि च वस्त्राणि भूषणानि वराणि च ।
क्षिप्रमादाय राज्ञश्च भरतस्य च गच्छत ॥ ९ ॥

'केकयराज तथा भरतको भेंट देनेके लिये रेशमी वस्त्र और उत्तम आभूषण लेकर तुमलोग यहाँसे शीघ्र चल दो' ॥ ९ ॥

दत्तपथ्यशना दूता जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम् ।
केकयांस्ते गमिष्यन्तो हयानारुह्य सम्मतान् ॥ १० ॥

केकय देशको जानेवाले वे दूत रास्तेका खर्च ले अच्छे घोड़ोंपर सवार हो अपने-अपने घरको गये ॥ १० ॥

ततः प्रास्थानिकं कृत्वा कार्यशेषमनन्तरम् ।
वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञाता दूताः संत्वरितं ययुः ॥ ११ ॥

तदनन्तर यात्रासम्बन्धी शेष तैयारी पूरी करके वसिष्ठजीकी आज्ञा ले सभी दूत तुरंत वहाँसे प्रस्थित हो गये ॥ ११ ॥

न्यन्तेनापरतालस्य प्रलम्बस्योत्तरं प्रति ।
निषेवमाणास्ते जग्मुर्नदीं मध्येन मालिनीम् ॥ १२ ॥

अपरताल नामक पर्वतके अन्तिम छोर अर्थात् दक्षिण भाग और प्रलम्बगिरिके उत्तरभागमें दोनों पर्वतोंके बीचसे बहनेवाली मालिनी नदीके तटपर होते हुए वे दूत आगे बढ़े ॥ १२ ॥

ते हास्तिनपुरे गङ्गां तीर्त्वा प्रत्यङ्मुखा ययुः ।
पाञ्चालदेशमासाद्य मध्येन कुरुजाङ्गलम् ॥ १३ ॥

हस्तिनापुरमें गङ्गाको पार करके वे पश्चिमकी ओर गये और पाञ्चालदेशमें पहुँचकर कुरुजाङ्गल प्रदेशके बीचसे होते हुए आगे बढ़ गये ॥ १३ ॥

सरांसि च सुफुल्लानि नदीश्च विमलोदकाः ।
निरीक्षमाणा जग्मुस्ते दूताः कार्यवशाद् द्रुतम् ॥ १४ ॥

मार्गमें सुन्दर फूलोंसे सुशोभित सरोवरों तथा निर्मल जलवाली नदियोंका दर्शन करते हुए वे दूत कार्यवश तीव्रगतिसे आगे बढ़ते गये ॥ १४ ॥

ते प्रसन्नोदकां दिव्यां नानाविहगसेविताम् ।
उपातिजग्मुर्वेगेन शरदण्डां जलाकुलाम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वे स्वच्छ जलसे सुशोभित, पानीसे भरी हुई और भाँति-भाँतिके पक्षियोंसे सेवित दिव्य नदी शरदण्डाके तटपर पहुँचकर उसे वेगपूर्वक लाँघ गये ॥ १५ ॥

निकूलवृक्षमासाद्य दिव्यं सत्योपयाचनम् ।
अभिगम्याभिवाद्यं तं कुलिङ्गां प्राविशन् पुरीम् ॥ १६ ॥

शरदण्डाके पश्चिमतटपर एक दिव्य वृक्ष था, जिसपर किसी देवताका आवास था; इसीलिये वहाँ जो याचना की जाती थी, वह सत्य (सफल) होती थी, अतः उसका नाम सत्योपयाचन हो गया था। उस वन्दनीय वृक्षके निकट पहुँचकर दूतोंने उसकी परिक्रमा की और वहाँसे आगे जाकर उन्होंने कुलिङ्गा नामक पुरीमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

अभिकालं ततः प्राप्य तेजोऽभिभवनाच्च्युताः ।
पितृपैतामहीं पुण्यां तेरुरिक्षुमतीं नदीम् ॥ १७ ॥

वहाँसे तेजोऽभिभवन नामक गाँवको पार करते हुए वे अभिकाल नामक गाँवमें पहुँचे और वहाँसे आगे बढ़नेपर उन्होंने राजा दशरथके पिता-पितामहोंद्वारा सेवित पुण्यसलिला इक्षुमती नदीको पार किया ॥ १७ ॥

अवेक्ष्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान् वेदपारगान् ।
ययुर्मध्येन बाह्लीकान् सुदामानं च पर्वतम् ॥ १८ ॥

वहाँ केवल अञ्जलि भर जल पीकर तपस्या करनेवाले वेदोंके पारगामी ब्राह्मणोंका दर्शन करके वे दूत बाह्लीक देशके मध्यभागमें स्थित सुदामा नामक पर्वतके पास जा पहुँचे ॥ १८ ॥

विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम्।
नदीर्वापीतटाकानि पल्वलानि सरांसि च ॥ १९ ॥
पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहान् व्याघ्रान् मृगान् द्विपान्।
ययुः पथातिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥ २० ॥

उस पर्वतके शिखरपर स्थित भगवान् विष्णुके चरणचिह्नका दर्शन करके वे विपाशा (व्यास) नदी और उसके तटवर्ती शाल्मली वृक्षके निकट गये। वहाँसे आगे बढ़नेपर बहुत-सी नदियों, बावड़ियों, पोखरों, छोटे तालाबों, सरोवरों तथा भाँति-भाँतिके वनजन्तुओं—सिंह, व्याघ्र, मृग और हाथियोंका दर्शन करते हुए वे दूत अत्यन्त विशाल मार्गके द्वारा आगे बढ़ने लगे। वे अपने स्वामीकी आज्ञाका शीघ्र पालन करनेकी इच्छा रखते थे ॥ १९-२० ॥

ते श्रान्तवाहना दूता विकृष्टेन सता पथा।
गिरिव्रजं पुरवरं शीघ्रमासेदुरञ्जसा ॥ २१ ॥

उन दूतोंके वाहन (घोड़े) चलते-चलते थक गये थे। वह मार्ग बड़ी दूरका होनेपर उपद्रवसे रहित था। उसे तै करके सारे दूत शीघ्र ही बिना किसी कष्टके श्रेष्ठ नगर गिरिव्रजमें जा पहुँचे ॥ २१ ॥

भर्तुः प्रियार्थं कुलरक्षणार्थं
भर्तुश्च वंशस्य परिग्रहार्थम्।
अहेडमानास्त्वरया स्म दूता
रात्र्यां तु ते तत्पुरमेव याताः ॥ २२ ॥

अपने स्वामी (आज्ञा देनेवाले वसिष्ठजी) का प्रिय और प्रजावर्गकी रक्षा करने तथा महाराज दशरथके वंशपरम्परागत राज्यको भरतजीसे स्वीकार करानेके लिये सादर तत्पर हुए वे दूत बड़ी उतावलीके साथ चलकर रातमें ही उस नगरमें जा पहुँचे ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

भरतकी चिन्ता, मित्रोंद्वारा उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयास तथा उनके पूछनेपर भरतका मित्रोंके समक्ष अपने देखे हुए भयंकर दुःस्वप्नका वर्णन करना

यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम्।
भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः ॥ १ ॥

जिस रातमें दूतोंने उस नगरमें प्रवेश किया था, उससे पहली रातमें भरतने भी एक अप्रिय स्वप्न देखा था ॥

व्युष्टामेव तु तां रात्रिं दृष्ट्वा तं स्वप्नमप्रियम्।
पुत्रो राजाधिराजस्य सुभृशं पर्यतप्यत ॥ २ ॥

रात बीतकर प्रायः सवेरा हो चला था तभी उस अप्रिय स्वप्नको देखकर राजाधिराज दशरथके पुत्र भरत मन-ही-मन बहुत संतप्त हुए ॥ २ ॥

तप्यमानं समाज्ञाय वयस्याः प्रियवादिनः।
आयासं विनयिष्यन्तः सभायां चक्रिरे कथाः ॥ ३ ॥

उन्हें चिन्तित जान उनके अनेक प्रियवादी मित्रोंने उनका मानसिक क्लेश दूर करनेकी इच्छासे एक गोष्ठी की और उसमें अनेक प्रकारकी बातें करने लगे ॥ ३ ॥

वादयन्ति तदा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च ॥ ४ ॥

कुछ लोग वीणा आदि बजाने लगे। दूसरे लोग उनके खेदकी शान्तिके लिये नृत्य कराने लगे। दूसरे मित्रोंने नाना प्रकारके नाटकोंका आयोजन किया, जिनमें हास्यरसकी प्रधानता थी ॥ ४ ॥

स तैर्महात्मा भरतः सखिभिः प्रियवादिभिः।
गोष्ठीहास्यानि कुर्वद्भिर्न प्राहृष्यत राघवः ॥ ५ ॥

किंतु रघुकुलभूषण महात्मा भरत उन प्रियवादी मित्रोंकी गोष्ठीमें हास्यविनोद करनेपर भी प्रसन्न नहीं हुए ॥ ५ ॥

तमब्रवीत् प्रियसखो भरतं सखिभिर्वृतम्।
सुहृद्भिः पर्युपासीनः किं सखे नानुमोदसे ॥ ६ ॥

तब सुहृदोंसे घिरकर बैठे हुए एक प्रिय मित्रने मित्रोंके बीचमें विराजमान भरतसे पूछा—'सखे! तुम आज प्रसन्न क्यों नहीं होते हो?' ॥ ६ ॥

एवं ब्रुवाणं सुहृदं भरतः प्रत्युवाच ह।
शृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम् ॥ ७ ॥
स्वप्ने पितरमद्राक्षं मलिनं मुक्तमूर्धजम्।
पतन्तमद्रिशिखरात् कलुषे गोमये ह्रदे ॥ ८ ॥

इस प्रकार पूछते हुए सुहृद्‌को भरतने इस प्रकार उत्तर दिया—'मित्र! जिस कारणसे मेरे मनमें यह दैन्य आया है, वह बताता हूँ, सुनो। मैंने आज स्वप्नमें अपने पिताजीको देखा है। उनका मुख मलिन था, बाल खुले हुए थे और वे पर्वतकी चोटीसे एक ऐसे गंदे गढ़ेमें गिर पड़े थे, जिसमें गोबर भरा हुआ था ॥ ७-८ ॥

प्लवमानश्च मे दृष्टः स तस्मिन् गोमये ह्रदे ।
पिबन्नञ्जलिना तैलं हसन्निव मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥

'मैंने उस गोबरके कुण्डमें उन्हें तैरते देखा था। वे अञ्जलिमें तेल लेकर पी रहे थे और बारंबार हँसते हुए-से प्रतीत होते थे ॥ ९ ॥

ततस्तिलोदनं भुक्त्वा पुनः पुनरधःशिराः ।
तैलेनाभ्यक्तसर्वाङ्गस्तैलमेवान्वगाहत ॥ १० ॥

'फिर उन्होंने तिल और भात खाया। इसके बाद उनके सारे शरीरमें तेल लगाया गया और फिर वे सिर नीचे किये तैलमें ही गोते लगाने लगे ॥ १० ॥

स्वप्नेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं च पतितं भुवि ।
उपरुद्धां च जगतीं तमसेव समावृताम् ॥ ११ ॥

'स्वप्नमें ही मैंने यह भी देखा है कि समुद्र सूख गया, चन्द्रमा पृथ्वीपर गिर पड़े हैं, सारी पृथ्वी उपद्रवसे ग्रस्त और अन्धकारसे आच्छादित-सी हो गयी है ॥ ११ ॥

औपवाह्यस्य नागस्य विषाणं शकलीकृतम् ।
सहसा चापि संशान्ता ज्वलिता जातवेदसः ॥ १२ ॥

'महाराजकी सवारीके काममें आनेवाले हाथीका दाँत टूक-टूक हो गया है और पहलेसे प्रज्वलित होती हुई आग सहसा बुझ गयी है ॥ १२ ॥

अवदीर्णां च पृथिवीं शुष्कांश्च विविधान् द्रुमान् ।
अहं पश्यामि विध्वस्तान् सधूमांश्चैव पर्वतान् ॥ १३ ॥

'मैंने यह भी देखा है कि पृथ्वी फट गयी है, नाना प्रकारके वृक्ष सूख गये हैं तथा पर्वत ढह गये हैं और उनसे धुआँ निकल रहा है ॥ १३ ॥

पीठे कार्ष्णायसे चैव निषण्णं कृष्णवाससम् ।
प्रहसन्ति स्म राजानं प्रमदाः कृष्णपिङ्गलाः ॥ १४ ॥

'काले लोहेकी चौकीपर महाराज दशरथ बैठे हैं। उन्होंने काला ही वस्त्र पहन रखा है और काले एवं पिङ्गलवर्णकी स्त्रियाँ उनके ऊपर प्रहार करती हैं ॥ १४ ॥

त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः ।
रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः ॥ १५ ॥

'धर्मात्मा राजा दशरथ लाल रंगके फूलोंकी माला पहने और लाल चन्दन लगाये गधे जुते हुए रथपर बैठकर बड़ी तेजीके साथ दक्षिण दिशाकी ओर गये हैं ॥ १५ ॥

प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी ।
प्रकर्षन्ती मया दृष्टा राक्षसी विकृतानना ॥ १६ ॥

'लाल वस्त्र धारण करनेवाली एक स्त्री, जो विकराल मुखवाली राक्षसी प्रतीत होती थी, महाराजको हँसती हुई-सी खींचकर लिये जा रही थी। यह दृश्य भी मेरे देखनेमें आया ॥ १६ ॥

एवमेतन्मया दृष्टमिमां रात्रिं भयावहाम् ।
अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति ॥ १७ ॥

'इस प्रकार इस भयंकर रात्रिके समय मैंने यह स्वप्न देखा है। इसका फल यह होगा कि मैं, श्रीराम, राजा दशरथ अथवा लक्ष्मण—इनमेंसे किसी एककी अवश्य मृत्यु होगी ॥

नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि ।
अचिरात्तस्य धूमाग्रं चितायां सम्प्रदृश्यते ॥ १८ ॥
एतन्निमित्तं दीनोऽहं न वचः प्रतिपूजये ।
शुष्यतीव च मे कण्ठो न स्वस्थमिव मे मनः ॥ १९ ॥

'जो मनुष्य स्वप्नमें गधे जुते हुए रथसे यात्रा करता दिखायी देता है, उसकी चिताका धुआँ शीघ्र ही देखनेमें आता है। यही कारण है कि मैं दुखी हो रहा हूँ और आपलोगोंकी बातोंका आदर नहीं करता हूँ। मेरा गला सूखा-सा जा रहा है और मन अस्वस्थ-सा हो चला है ॥ १८-१९ ॥

न पश्यामि भयस्थानं भयं चैवोपधारये ।
भ्रष्टश्च स्वरयोगो मे छाया चापगता मम ।
जुगुप्स इव चात्मानं न च पश्यामि कारणम् ॥ २० ॥

'मैं भयका कोई कारण नहीं देखता तो भी भयको प्राप्त हो रहा हूँ। मेरा स्वर बदल गया है तथा मेरी कान्ति भी फीकी पड़ गयी है। मैं अपने-आपसे घृणा-सी करने लगा हूँ, परंतु इसका कारण क्या है, यह मेरी समझमें नहीं आता ॥ २० ॥

इमां च दुःस्वप्नगतिं निशाम्य हि
त्वनेकरूपामवितर्कितां पुरा ।
भयं महत्तद्धृदयान्न याति मे
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २१ ॥

'जिनके विषयमें मैंने पहले कभी सोचातक नहीं था, ऐसे अनेक प्रकारके दुःस्वप्नोंको देखकर तथा महाराजका दर्शन इस रूपमें क्यों हुआ, जिसकी मेरे मनमें कोई कल्पना नहीं थी—यह सोचकर मेरे हृदयसे महान् भय दूर नहीं हो रहा है' ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः

दूतोंका भरतको उनके नाना और मामाके लिये उपहारकी वस्तुएँ अर्पित करना और वसिष्ठजीका संदेश सुनाना, भरतका पिता आदिकी कुशल पूछना और नानासे आज्ञा तथा उपहारकी वस्तुएँ पाकर शत्रुघ्नके साथ अयोध्याकी ओर प्रस्थान करना

भरते ब्रुवति स्वप्नं दूतास्ते क्लान्तवाहनाः।
प्रविश्यासह्यपरिखं रम्यं राजगृहं पुरम्॥ १॥

इस प्रकार भरत जब अपने मित्रोंको स्वप्नका वृत्तान्त बता रहे थे, उसी समय थके हुए वाहनोंवाले वे दूत उस रमणीय राजगृहपुरमें प्रविष्ट हुए, जिसकी खाईको लाँघनेका कष्ट शत्रुओंके लिये असह्य था॥ १॥

समागम्य च राज्ञा ते राजपुत्रेण चार्चिताः।
राज्ञः पादौ गृहीत्वा च तमूचुर्भरतं वचः॥ २॥

नगरमें आकर वे दूत केकयदेशके राजा और राजकुमारसे मिले तथा उन दोनोंने भी उनका सत्कार किया। फिर वे भावी राजा भरतके चरणोंका स्पर्श करके उनसे इस प्रकार बोले—॥ २॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया॥ ३॥

'कुमार! पुरोहितजी तथा समस्त मन्त्रियोंने आपसे कुशल-मङ्गल कहा है। अब आप यहाँसे शीघ्र चलिये। अयोध्यामें आपसे अत्यन्त आवश्यक कार्य है॥ ३॥

इमानि च महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च।
प्रतिगृह्य विशालाक्ष मातुलस्य च दापय॥ ४॥

'विशाल नेत्रोंवाले राजकुमार! ये बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण आप स्वयं भी ग्रहण कीजिये और अपने मामाको भी दीजिये॥ ४॥

अत्र विंशतिकोट्यस्तु नृपतेर्मातुलस्य ते।
दशकोट्यस्तु सम्पूर्णास्तथैव च नृपात्मज॥ ५॥

'राजकुमार! यहाँ जो बहुमूल्य सामग्री लायी गयी है, इसमें बीस करोड़की लागतका सामान आपके नाना केकय-नरेशके लिये है और पूरे दस करोड़की लागतका सामान आपके मामाके लिये है'॥ ५॥

प्रतिगृह्य तु तत् सर्वं स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
दूतानुवाच भरतः कामैः सम्प्रतिपूज्य तान्॥ ६॥

वे सारी वस्तुएँ लेकर मामा आदि सुहृदोंमें अनुराग रखनेवाले भरतने उन्हें भेंट कर दीं। तत्पश्चात् इच्छानुसार वस्तुएँ देकर दूतोंका सत्कार करनेके अनन्तर उनसे इस प्रकार कहा—॥ ६॥

कच्चित् स कुशली राजा पिता दशरथो मम।
कच्चिदारोग्यता रामे लक्ष्मणे च महात्मनि॥ ७॥

'मेरे पिता महाराज दशरथ सकुशल तो हैं न? महात्मा श्रीराम और लक्ष्मण नीरोग तो हैं न?॥ ७॥

आर्या च धर्मनिरता धर्मज्ञा धर्मवादिनी।
अरोगा चापि कौसल्या माता रामस्य धीमतः॥ ८॥

'धर्मको जानने और धर्मकी ही चर्चा करनेवाली बुद्धिमान् श्रीरामकी माता धर्मपरायणा आर्या कौसल्याको तो कोई रोग या कष्ट नहीं है?॥ ८॥

कच्चित् सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या।
शत्रुघ्नस्य च वीरस्य अरोगा चापि मध्यमा॥ ९॥

'क्या वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्नकी जननी मेरी मझली माता धर्मज्ञा सुमित्रा स्वस्थ और सुखी हैं?॥ ९॥

आत्मकामा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमानिनी।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह॥ १०॥

'जो सदा अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहती और अपनेको बड़ी बुद्धिमती समझती है, उस उग्र स्वभाववाली कोपशीला मेरी माता कैकेयीको तो कोई कष्ट नहीं है? उसने क्या कहा है?'॥ १०॥

एवमुक्तास्तु ते दूता भरतेन महात्मना।
ऊचुः सम्प्रश्रितं वाक्यमिदं तं भरतं तदा॥ ११॥

महात्मा भरतके इस प्रकार पूछनेपर उस समय दूतोंने विनयपूर्वक उनसे यह बात कही—॥ ११॥

कुशलास्ते नरव्याघ्र येषां कुशलमिच्छसि।
श्रीश्च त्वां वृणुते पद्मा युज्यतां चापि ते रथः॥ १२॥

'पुरुषसिंह! आपको जिनका कुशल-मङ्गल अभिप्रेत है, वे सकुशल हैं। हाथमें कमल लिये रहनेवाली लक्ष्मी (शोभा) आपका वरण कर रही है। अब यात्राके लिये शीघ्र ही आपका रथ जुतकर तैयार हो जाना चाहिये'॥ १२॥

भरतश्चापि तान् दूतानेवमुक्तोऽभ्यभाषत।
आपृच्छेऽहं महाराजं दूताः संत्वरयन्ति माम्॥ १३॥

उन दूतोंके ऐसा कहनेपर भरतने उनसे कहा—'अच्छा मैं महाराजसे पूछता हूँ कि दूत मुझसे शीघ्र अयोध्या चलनेके लिये कह रहे हैं। आपकी क्या आज्ञा है?'॥ १३॥

एवमुक्त्वा तु तान् दूतान् भरतः पार्थिवात्मजः।
दूतैः संचोदितो वाक्यं मातामहमुवाच ह॥ १४॥

दूतोंसे ऐसा कहकर राजकुमार भरत उनसे प्रेरित हो नानाके पास जाकर बोले—॥ १४॥

राजन् पितुर्गमिष्यामि सकाशं दूतचोदितः।
पुनरप्यहमेष्यामि यदा मे त्वं स्मरिष्यसि ॥ १५ ॥

'राजन्! मैं दूतोंके कहनेसे इस समय पिताजीके पास जा रहा हूँ। पुनः जब आप मुझे याद करेंगे, यहाँ आ जाऊँगा' ॥

भरतेनैवमुक्तस्तु नृपो मातामहस्तदा।
तमुवाच शुभं वाक्यं शिरस्याघ्राय राघवम् ॥ १६ ॥

भरतके ऐसा कहनेपर नाना केकयनरेशने उस समय उन रघुकुलभूषण भरतका मस्तक सूँघकर यह शुभ वचन कहा—॥ १६ ॥

गच्छ तातानुजाने त्वां कैकेयी सुप्रजास्त्वया।
मातरं कुशलं ब्रूयाः पितरं च परंतप ॥ १७ ॥

'तात! जाओ, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम्हें पाकर कैकेयी उत्तम संतानवाली हो गयी। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! तुम अपनी माता और पितासे यहाँका कुशल-समाचार कहना ॥ १७ ॥

पुरोहितं च कुशलं ये चान्ये द्विजसत्तमाः।
तौ च तात महेष्वासौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १८ ॥

'तात! अपने पुरोहितजीसे तथा अन्य जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, उनसे भी मेरा कुशल-मङ्गल कहना। उन महाधनुर्धर दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे भी यहाँका कुशल-समाचार सुना देना' ॥ १८ ॥

तस्मै हस्त्युत्तमांश्चित्रान् कम्बलानजिनानि च।
सत्कृत्य केकयो राजा भरताय ददौ धनम् ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर केकयनरेशने भरतका सत्कार करके उन्हें बहुत-से उत्तम हाथी, विचित्र कालीन, मृगचर्म और बहुत-सा धन दिये ॥ १९ ॥

अन्तःपुरेऽतिसंवृद्धान् व्याघ्रवीर्यबलोपमान्।
दंष्ट्रायुक्तान् महाकायाञ्शुनश्चोपायनं ददौ ॥ २० ॥

जो अन्तःपुरमें पाल-पोसकर बड़े किये गये थे, बल और पराक्रममें बाघोंके समान थे, जिनकी दाढ़ें बड़ी-बड़ी और काया विशाल थी, ऐसे बहुत-से कुत्ते भी केकयनरेशने भरतको भेंटमें दिये ॥ २० ॥

रुक्मनिष्कसहस्रे द्वे षोडशाश्वशतानि च।
सत्कृत्य कैकयीपुत्रं केकयो धनमादिशत् ॥ २१ ॥

दो हजार सोनेकी मोहरें और सोलह सौ घोड़े भी दिये। इस प्रकार केकयनरेशने केकयीकुमार भरतको सत्कारपूर्वक बहुत-सा धन दिया ॥ २१ ॥

तदामात्यानभिप्रेतान् विश्वास्यांश्च गुणान्वितान्।
ददावश्वपतिः शीघ्रं भरतायानुयायिनः ॥ २२ ॥

उस समय केकयनरेश अश्वपतिने अपने अभीष्ट, विश्वासपात्र और गुणवान् मन्त्रियोंको भरतके साथ जानेके लिये शीघ्र आज्ञा दी ॥ २२ ॥

ऐरावतानैन्द्रशिरान् नागान् वै प्रियदर्शनान्।
खराञ्शीघ्रान् सुसंयुक्तान् मातुलोऽस्मै धनं ददौ ॥ २३ ॥

भरतके मामाने उन्हें उपहारमें दिये जानेवाले धनके रूपमें इरावान् पर्वत और इन्द्रशिर नामक स्थानके आस-पास उत्पन्न होनेवाले बहुत-से सुन्दर-सुन्दर हाथी तथा तेज चलनेवाले सुशिक्षित खच्चर दिये ॥ २३ ॥

स दत्तं केकयेन्द्रेण धनं तन्नाभ्यनन्दत।
भरतः कैकयीपुत्रो गमनत्वरया तदा ॥ २४ ॥

उस समय जानेकी जल्दी होनेके कारण कैकयीपुत्र भरतने केकयराजके दिये हुए उस धनका अभिनन्दन नहीं किया ॥

बभूव ह्यस्य हृदये चिन्ता सुमहती तदा।
त्वरया चापि दूतानां स्वप्नस्यापि च दर्शनात् ॥ २५ ॥

उस अवसरपर उनके हृदयमें बड़ी भारी चिन्ता हो रही थी। इसके दो कारण थे, एक तो दूत वहाँसे चलनेकी जल्दी मचा रहे थे, दूसरे उन्हें दुःस्वप्नका दर्शन भी हुआ था ॥

स स्ववेश्माभ्यतिक्रम्य नरनागाश्वसंकुलम्।
प्रपेदे सुमहच्छ्रीमान् राजमार्गमनुत्तमम् ॥ २६ ॥

वे यात्राकी तैयारीके लिये पहले अपने आवासस्थानपर गये। फिर वहाँसे निकलकर मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंसे भरे हुए परम उत्तम राजमार्गपर गये। उस समय भरतजीके पास बहुत बड़ी सम्पत्ति जुट गयी थी ॥ २६ ॥

अभ्यतीत्य ततोऽपश्यदन्तःपुरमनुत्तमम्।
ततस्तद् भरतः श्रीमानाविवेशानिवारितः ॥ २७ ॥

सड़कको पार करके श्रीमान् भरतने राजभवनके परम उत्तम अन्तःपुरका दर्शन किया और उसमें वे बेरोक-टोक घुस गये ॥

स मातामहमापृच्छ्य मातुलं च युधाजितम्।
रथमारुह्य भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ २८ ॥

वहाँ नाना, नानी, मामा युधाजित् और मामीसे विदा ले शत्रुघ्नसहित रथपर सवार हो भरतने यात्रा आरम्भ की ॥

रथान् मण्डलचक्रांश्च योजयित्वा परः शतम्।
उष्ट्रगोऽश्वखरैर्भृत्या भरतं यान्तमन्वयुः ॥ २९ ॥

गोलाकार पहियेवाले सौसे भी अधिक रथोंमें ऊँट, बैल, घोड़े और खच्चर जोतकर सेवकोंने जाते हुए भरतका अनुसरण किया ॥

बलेन गुप्तो भरतो महात्मा
सहार्यकस्यात्मसमैरमात्यैः।
आदाय शत्रुघ्नमपेतशत्रु-
र्गृहाद् ययौ सिद्ध इवेन्द्रलोकात् ॥ ३० ॥

शत्रुहीन महामना भरत अपनी और मामाकी सेनासे

सुरक्षित हो शत्रुघ्नको अपने साथ रथपर लेकर नानाके अपने ही समान माननीय मन्त्रियोंके साथ मामाके घरसे चले; मानो कोई सिद्ध पुरुष इन्द्रलोकसे किसी अन्य स्थानके लिये प्रस्थित हुआ हो ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः

रथ और सेनासहित भरतकी यात्रा, विभिन्न स्थानोंको पार करके उनका उज्जिहाना नगरीके उद्यानमें पहुँचना और सेनाको धीरे-धीरे आनेकी आज्ञा दे स्वयं रथद्वारा तीव्रवेगसे आगे बढ़ते हुए सालवनको पार करके अयोध्याके निकट जाना, वहाँसे अयोध्याकी दुरवस्था देखते हुए आगे बढ़ना और सारथिसे अपना दुःखपूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए राजभवनमें प्रवेश करना

स प्राङ्मुखो राजगृहादभिनिर्याय वीर्यवान्।
ततः सुदामां द्युतिमान् संतीर्यावेक्ष्य तां नदीम्॥ १॥
ह्लादिनीं दूरपारां च प्रत्यक्स्रोतस्तरङ्गिणीम्।
शतद्रुमतरच्छ्रीमान् नदीमिक्ष्वाकुनन्दनः॥ २॥

राजगृहसे निकलकर पराक्रमी भरत पूर्वदिशाकी ओर चले।* उन तेजस्वी राजकुमारने मार्गमें सुदामा नदीका दर्शन करके उसे पार किया। तत्पश्चात् इक्ष्वाकुनन्दन श्रीमान् भरतने, जिसका पाट दूरतक फैला हुआ था, उस ह्लादिनी नदीको लाँघकर पश्चिमाभिमुख बहनेवाली शतद्रु नदी (सतलज) को पार किया॥ १-२॥

ऐलधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्वतान्।
शिलामाकुर्वतीं तीर्त्वा आग्नेयं शल्यकर्षणम्॥ ३॥

वहाँसे ऐलधान नामक गाँवमें जाकर वहाँ बहनेवाली नदीको पार किया। तत्पश्चात् वे अपरपर्वत नामक जनपदमें गये। वहाँ शिला नामकी नदी बहती थी, जो अपने भीतर पड़ी हुई वस्तुको शिलास्वरूप बना देती थी। उसे पार करके भरत वहाँसे आग्नेय कोणमें स्थित शल्यकर्षण नामक देशमें गये, जहाँ शरीरसे काँटेको निकालनेमें सहायता करनेवाली ओषधि उपलब्ध होती थी॥ ३॥

सत्यसंधः शुचिर्भूत्वा प्रेक्षमाणः शिलावहाम्।
अभ्यगात् स महाशैलान् वनं चैत्ररथं प्रति॥ ४॥

तदनन्तर सत्यप्रतिज्ञ भरतने पवित्र होकर शिलावहा नामक नदीका दर्शन किया (जो अपनी प्रखर धारासे शिला-खण्डों—बड़ी-बड़ी चट्टानोंको भी बहा ले जानेके कारण उक्त नामसे प्रसिद्ध थी)। उस नदीका दर्शन करके वे आगे बढ़ गये और बड़े-बड़े पर्वतोंको लाँघते हुए चैत्ररथ नामक वनमें जा पहुँचे॥ ४॥

सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रतिपद्य च।
उत्तरान् वीरमत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद् वनम्॥ ५॥

तत्पश्चात् पश्चिमवाहिनी सरस्वती तथा गङ्गाकी धारा-विशेषके सङ्गमसे होते हुए उन्होंने वीरमत्स्य देशके उत्तरवर्ती देशोंमें पदार्पण किया और वहाँसे आगे बढ़कर वे भारुण्डवनके भीतर गये॥ ५॥

वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां ह्लादिनीं पर्वतावृताम्।
यमुनां प्राप्य संतीर्णो बलमाश्वासयत् तदा॥ ६॥

फिर अत्यन्त वेगसे बहनेवाली तथा पर्वतोंसे घिरी होनेके कारण अपने प्रखर प्रवाहके द्वारा कलकल नाद करनेवाली कुलिङ्गा नदीको पार करके यमुनाके तटपर पहुँचकर उन्होंने सेनाको विश्राम कराया॥ ६॥

शीतीकृत्य तु गात्राणि क्लान्तानाश्वास्य वाजिनः।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम्॥ ७॥
राजपुत्रो महारण्यमनभीक्ष्णोपसेवितम्।
भद्रो भद्रेण यानेन मारुतः खमिवात्यगात्॥ ८॥

थके हुए घोड़ोंको नहलाकर उनके अङ्गोंको शीतलता प्रदान करके उन्हें छायामें घास आदि देकर आराम करनेका अवसर दे राजकुमार भरत स्वयं भी स्नान और जलपान करके रास्तेके लिये जल साथ ले आगे बढ़े। मङ्गलाचारसे युक्त हो माङ्गलिक रथके द्वारा उन्होंने, जिसमें मनुष्योंका बहुधा आना-जाना या रहना नहीं होता था, उस विशाल वनको उसी प्रकार वेगपूर्वक पार किया, जैसे वायु आकाशको लाँघ जाती है॥ ७-८॥

भागीरथीं दुष्प्रतरां सोंऽशुधाने महानदीम्।
उपायाद् राघवस्तूर्णं प्राग्वटे विश्रुते पुरे॥ ९॥

तत्पश्चात् अंशुधान नामक ग्रामके पास महानदी भागीरथी गङ्गाको दुस्तर जानकर रघुनन्दन भरत तुरंत ही प्राग्वट नामसे विख्यात नगरमें आ गये॥ ९॥

* अयोध्यासे जो पाँच दूत चले थे, वे सीधी राहसे राजगृहमें आये थे; अतः उनके मार्गमें जो-जो स्थान पड़े थे, वे भरतके मार्गमें नहीं पड़े थे। भरतके साथ रथ और चतुरङ्गिणी सेना थी; अतः उसके निर्वाहके अनुकूल मार्गसे चलकर वे अयोध्या पहुँचे थे। इसलिये इनके मार्गमें सर्वथा नये ग्रामों और स्थानोंका उल्लेख मिलता है।

स गङ्गां प्राग्वटे तीर्त्वा समायात् कुटिकोष्ठिकाम्।
सबलस्तां स तीर्त्वाथ समगाद् धर्मवर्धनम् ॥१०॥

प्राग्वट नगरमें गङ्गाको पार करके वे कुटिकोष्ठिका नामवाली नदीके तटपर आये और सेनासहित उसको भी पार करके धर्मवर्धन नामक ग्राममें जा पहुँचे ॥ १० ॥

तोरणं दक्षिणार्धेन जम्बूप्रस्थं समागमत्।
वरूथं च ययौ रम्यं ग्रामं दशरथात्मजः ॥११॥

वहाँसे तोरण ग्रामके दक्षिणार्ध भागमें होते हुए जम्बूप्रस्थमें गये। तदनन्तर दशरथकुमार भरत एक रमणीय ग्राममें गये, जो वरूथके नामसे विख्यात था ॥ ११ ॥

तत्र रम्ये वने वासं कृत्वासौ प्राङ्मुखो ययौ।
उद्यानमुज्जिहानायाः प्रियका यत्र पादपाः ॥१२॥

वहाँ एक रमणीय वनमें निवास करके वे प्रातःकाल पूर्व दिशाकी ओर गये। जाते-जाते उज्जिहाना नगरीके उद्यानमें पहुँच गये, जहाँ कदम्ब नामवाले वृक्षोंकी बहुतायत थी ॥ १२ ॥

स तांस्तु प्रियकान् प्राप्य शीघ्रानास्थाय वाजिनः।
अनुज्ञाप्याथ भरतो वाहिनीं त्वरितो ययौ ॥१३॥

उन कदम्बोंके उद्यानमें पहुँचकर अपने रथमें शीघ्रगामी घोड़ोंको जोतकर सेनाको धीरे-धीरे आनेकी आज्ञा दे भरत तीव्रगतिसे चल दिये ॥ १३ ॥

वासं कृत्वा सर्वतीर्थे तीर्त्वा चोत्तानिकां नदीम्।
अन्या नदीश्च विविधैः पार्वतीयैस्तुरङ्गमैः ॥१४॥
हस्तिपृष्ठकमासाद्य कुटिकामप्यवर्तत।
ततार च नरव्याघ्रो लोहित्ये च कपीवतीम् ॥१५॥

तत्पश्चात् सर्वतीर्थ नामक ग्राममें एक रात रहकर उत्तानिका नदी तथा अन्य नदियोंको भी नाना प्रकारके पर्वतीय घोड़ोंद्वारा जुते हुए रथसे पार करके नरश्रेष्ठ भरतजी हस्तिपृष्ठक नामक ग्राममें जा पहुँचे। वहाँसे आगे जानेपर उन्होंने कुटिका नदी पार की। फिर लोहित्य नामक ग्राममें पहुँचकर कपीवती नामक नदीको पार किया ॥ १४-१५ ॥

एकसाले स्थाणुमतीं विनते गोमतीं नदीम्।
कलिङ्गनगरे चापि प्राप्य सालवनं तदा ॥१६॥

फिर एकसाल नगरके पास स्थाणुमती और विनत-ग्रामके निकट गोमती नदीको पार करके वे तुरंत ही कलिङ्गनगरके पास सालवनमें जा पहुँचे ॥ १६ ॥

भरतः क्षिप्रमागच्छत् सुपरिश्रान्तवाहनः।
वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये ॥१७॥
अयोध्यां मनुना राज्ञा निर्मितां स ददर्श ह।
तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि ॥१८॥

वहाँ जाते-जाते भरतके घोड़े थक गये। तब उन्हें विश्राम देकर वे रातों-रात शीघ्र ही सालवनको लाँघ गये और अरुणोदयकालमें राजा मनुकी बसायी हुई अयोध्यापुरीका उन्होंने दर्शन किया। पुरुषसिंह भरत मार्गमें सात रातें व्यतीत करके आठवें दिन अयोध्यापुरीका दर्शन कर सके थे ॥ १७-१८ ॥

अयोध्यामग्रतो दृष्ट्वा सारथिं चेदमब्रवीत्।
एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी ॥१९॥
अयोध्या दृश्यते दूरात् सारथे पाण्डुमृत्तिका।
यज्वभिर्गुणसम्पन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥२०॥
भूयिष्ठमृद्धैराकीर्णा राजर्षिवरपालिता।

सामने अयोध्यापुरीको देखकर वे अपने सारथिसे इस प्रकार बोले—'सूत! पवित्र उद्यानोंसे सुशोभित यह यशस्विनी नगरी आज मुझे अधिक प्रसन्न नहीं दिखायी देती है। यह वही नगरी है, जहाँ निरन्तर यज्ञ-याग करनेवाले गुणवान् और वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण निवास करते हैं, जहाँ बहुत-से धनियोंकी भी बस्ती है तथा राजर्षियोंमें श्रेष्ठ महाराज दशरथ जिसका पालन करते हैं, वही अयोध्या इस समय दूरसे सफेद मिट्टीके ढूहकी भाँति दीख रही है ॥ १९-२०½ ॥

अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान् ॥२१॥
समन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम्।

'पहले अयोध्यामें चारों ओर नर-नारियोंका महान् तुमुलनाद सुनायी पड़ता था; परंतु आज मैं उसे नहीं सुन रहा हूँ ॥ २१½ ॥

उद्यानानि हि सायाह्ने क्रीडित्वोपरतैर्नरैः ॥२२॥
समन्ताद् विप्रधावद्भिः प्रकाशन्ते ममान्यथा।
तान्यद्यानुरुदन्तीव परित्यक्तानि कामिभिः ॥२३॥

'सायंकालके समय लोग उद्यानोंमें प्रवेश करके वहाँ क्रीड़ा करते और उस क्रीड़ासे निवृत्त होकर सब ओरसे अपने घरोंकी ओर दौड़ते थे, अतः उस समय इन उद्यानोंकी अपूर्व शोभा होती थी, परंतु आज ये मुझे कुछ और ही प्रकारके दिखायी देते हैं। वे ही उद्यान आज कामी जनोंसे परित्यक्त होकर रोते हुए-से प्रतीत होते हैं ॥ २२-२३ ॥

अरण्यभूतेव पुरी सारथे प्रतिभाति माम्।
नह्यत्र यानैर्दृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः।
निर्यान्तो वाभियान्तो वा नरमुख्या यथा पुरा ॥२४॥

'सारथे! यह पुरी मुझे जंगल-सी जान पड़ती है। अब यहाँ पहलेकी भाँति घोड़ों, हाथियों तथा दूसरी-दूसरी सवारियोंसे आते-जाते हुए श्रेष्ठ मनुष्य नहीं दिखायी दे रहे हैं ॥ २४ ॥

उद्यानानि पुरा भान्ति मत्तप्रमुदितानि च।
जनानां रतिसंयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च ॥२५॥

तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः।
स्रस्तपर्णैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः ॥२६॥

'जो उद्यान पहले मदमत्त एवं आनन्दमग्न भ्रमरों, कोकिलों और नर-नारियोंसे भरे प्रतीत होते थे तथा लोगोंके प्रेम-मिलनके लिये अत्यन्त गुणकारी (अनुकूल सुविधाओंसे सम्पन्न) थे, उन्हींको आज मैं सर्वथा आनन्दशून्य देख रहा हूँ। वहाँ मार्गपर वृक्षोंके जो पत्ते गिर रहे हैं, उनके द्वारा मानो वे वृक्ष करुण क्रन्दन कर रहे हैं (और उनसे उपलक्षित होनेके कारण वे उद्यान आनन्दहीन प्रतीत होते हैं) ॥ २५-२६ ॥

नाद्यापि श्रूयते शब्दो मत्तानां मृगपक्षिणाम्।
संरक्तां मधुरां वाणीं कलं व्याहरतां बहु ॥२७॥

'रागयुक्त मधुर कलरव करनेवाले मतवाले मृगों और पक्षियोंका तुमुल शब्द अभीतक सुनायी नहीं पड़ रहा है ॥ २७ ॥

चन्दनागुरुसम्पृक्तो धूपसम्मूर्च्छितोऽमलः।
प्रवाति पवनः श्रीमान् किं नु नाद्य यथा पुरा ॥२८॥

'चन्दन और अगुरुकी सुगन्धसे मिश्रित तथा धूपकी मनोहर गन्धसे व्याप्त निर्मल मनोरम समीर आज पहलेकी भाँति क्यों नहीं प्रवाहित हो रहा है ? ॥ २८ ॥

भेरीमृदङ्गवीणानां कोणसंघट्टितः पुनः।
किमद्य शब्दो विरतः सदादीनगतिः पुरा ॥२९॥

'वादनदण्डद्वारा बजायी जानेवाली भेरी, मृदङ्ग और वीणाका जो आघातजनित शब्द होता है, वह पहले अयोध्यामें सदा होता रहता था, कभी उसकी गति अवरुद्ध नहीं होती थी; परंतु आज वह शब्द न जाने क्यों बंद हो गया है ? ॥ २९ ॥

अनिष्टानि च पापानि पश्यामि विविधानि च।
निमित्तान्यमनोज्ञानि तेन सीदति मे मनः ॥३०॥

'मुझे अनेक प्रकारके अनिष्टकारी, क्रूर और अशुभ-सूचक अपशकुन दिखायी दे रहे हैं, जिससे मेरा मन खिन्न हो रहा है ॥ ३० ॥

सर्वथा कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु।
तथा ह्यसति सम्मोहे हृदयं सीदतीव मे ॥३१॥

'सारथे ! इससे प्रतीत होता है कि इस समय मेरे बान्धवोंको कुशल-मङ्गल सर्वथा दुर्लभ है, तभी तो मोहका कोई कारण न होनेपर भी मेरा हृदय बैठा जा रहा है' ॥ ३१ ॥

विषण्णः श्रान्तहृदयस्त्रस्तः संलुलितेन्द्रियः।
भरतः प्रविवेशाशु पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ॥३२॥

भरत मन-ही-मन बहुत खिन्न थे। उनका हृदय शिथिल हो रहा था। वे डरे हुए थे और उनकी सारी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो उठी थीं, इसी अवस्थामें उन्होंने शीघ्रतापूर्वक इक्ष्वाकुवंशी राजाओंद्वारा पालित अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया ॥ ३२ ॥

द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशच्छ्रान्तवाहनः।
द्वाःस्थैरुत्थाय विजयमुक्तस्तैः सहितो ययौ ॥३३॥

पुरीके द्वारपर सदा वैजयन्ती पताका फहरानेके कारण उस द्वारका नाम वैजयन्त रखा गया था। (यह पुरीके पश्चिम भागमें था।) उस वैजयन्तद्वारसे भरत पुरीके भीतर प्रविष्ट हुए। उस समय उनके रथके घोड़े बहुत थके हुए थे। द्वारपालोंने उठकर कहा—'महाराजकी जय हो !' फिर वे उनके साथ आगे बढ़े ॥ ३३ ॥

स त्वनेकाग्रहृदयो द्वाःस्थं प्रत्यर्च्य तं जनम्।
सूतमश्वपतेः क्लान्तमब्रवीत् तत्र राघवः ॥३४॥

भरतका हृदय एकाग्र नहीं था—वे घबराये हुए थे। अतः उन रघुकुलनन्दन भरतने साथ आये हुए द्वारपालोंको सत्कारपूर्वक लौटा दिया और केकयराज अश्वपतिके थके-माँदे सारथिसे वहाँ इस प्रकार कहा— ॥ ३४ ॥

किमहं त्वरयाऽऽनीतः कारणेन विनानघ।
अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं च पततीव मे ॥३५॥

'निष्पाप सूत ! मैं बिना कारण ही इतनी उतावलीके साथ क्यों बुलाया गया ? इस बातका विचार करके मेरे हृदयमें अशुभकी आशङ्का होती है। मेरा दीनतारहित स्वभाव भी अपनी स्थितिसे भ्रष्ट-सा हो रहा है ॥ ३५ ॥

श्रुता नु यादृशाः पूर्वं नृपतीनां विनाशने।
आकारांस्तानहं सर्वानिह पश्यामि सारथे ॥३६॥

'सारथे ! अबसे पहले मैंने राजाओंके विनाशके जैसे-जैसे लक्षण सुन रखे हैं, उन सभी लक्षणोंको आज मैं यहाँ देख रहा हूँ ॥ ३६ ॥

सम्मार्जनविहीनानि परुषाण्युपलक्षये।
असंयतकवाटानि श्रीविहीनानि सर्वशः ॥३७॥
बलिकर्मविहीनानि धूपसम्मोदनेन च।
अनाशितकुटुम्बानि प्रभाहीनजनानि च ॥३८॥
अलक्ष्मीकानि पश्यामि कुटुम्बिभवनान्यहम्।

'मैं देखता हूँ—गृहस्थोंके घरोंमें झाड़ू नहीं लगी है। वे रूखे और श्रीहीन दिखायी देते हैं। इनकी किवाड़ें खुली हैं। इन घरोंमें बलिवैश्वदेवकर्म नहीं हो रहे हैं। ये धूपकी सुगन्धसे वञ्चित हैं। इनमें रहनेवाले कुटुम्बीजनोंको भोजन नहीं प्राप्त हुआ है तथा ये सारे गृह प्रभाहीन (उदास) दिखायी देते हैं। जान पड़ता है—इनमें लक्ष्मीका निवास नहीं है ॥ ३७-३८½ ॥

अपेतमाल्यशोभानि असम्मृष्टाजिराणि च ॥३९॥
देवागाराणि शून्यानि न भान्तीह यथा पुरा।

'देवमन्दिर फूलोंसे सजे हुए नहीं दिखायी देते । इनके आँगन झाड़े-बुहारे नहीं गये हैं । ये मनुष्योंसे सूने हो रहे हैं, अतएव इनकी पहले-जैसी शोभा नहीं हो रही है ॥

देवतार्चाः प्रविद्धाश्च यज्ञगोष्ठास्तथैव च ॥ ४० ॥
माल्यापणेषु राजन्ते नाद्य पण्यानि वा तथा ।
दृश्यन्ते वणिजोऽप्यद्य न यथापूर्वमत्र वै ॥ ४१ ॥
ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारयन्त्रिताः ।

'देवप्रतिमाओंकी पूजा बंद हो गयी है । यज्ञशालाओंमें यज्ञ नहीं हो रहे हैं । फूलों और मालाओंके बाजारमें आज बिकनेकी कोई वस्तुएँ नहीं शोभित हो रही हैं । यहाँ पहलेके समान बनिये भी आज नहीं दिखायी देते हैं । चिन्तासे उनका हृदय उद्विग्न जान पड़ता है । और अपना व्यापार नष्ट हो जानेके कारण वे संकुचित हो रहे हैं ॥ ४०-४१½ ॥

देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिमृगास्तथा ॥ ४२ ॥
मलिनं चाश्रुपूर्णाक्षं दीनं ध्यानपरं कृशम् ।
सस्त्रीपुंसं च पश्यामि जनमुत्कण्ठितं पुरे ॥ ४३ ॥

'देवालयों तथा चैत्य (देव) वृक्षोंपर जिनका निवास है, वे पशु-पक्षी दीन दिखायी दे रहे हैं । मैं देखता हूँ, नगरके सभी स्त्री-पुरुषोंका मुख मलिन है, उनकी आँखोंमें आँसू भरे हैं और वे सब-के-सब दीन, चिन्तित, दुर्बल तथा उत्कण्ठित हैं' ॥ ४२-४३ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतः सूतं तं दीनमानसः ।
तान्यनिष्टान्ययोध्यायां प्रेक्ष्य राजगृहं ययौ ॥ ४४ ॥

सारथिसे ऐसा कहकर अयोध्यामें होनेवाले उन अनिष्ट-सूचक चिह्नोंको देखते हुए भरत मन-ही-मन दुखी हो राजमहलमें गये ॥ ४४ ॥

तां शून्यशृङ्गाटकवेश्मरथ्यां
रजोरुणद्वारकवाटयन्त्राम् ।
दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरीप्रकाशां
दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव ॥ ४५ ॥

जो अयोध्यापुरी कभी देवराज इन्द्रकी नगरीके समान शोभा पाती थी, उसीके चौराहे, घर और सड़कें आज सूनी दिखायी देती थीं तथा दरवाजोंकी किवाड़ें धूलि-धूसर हो रही थीं, उसकी ऐसी दुर्दशा देख भरत पूर्णतः दुःखमें निमग्न हो गये ॥ ४५ ॥

बभूव पश्यन् मनसोऽप्रियाणि
यान्यन्यदा नास्य पुरे बभूवुः ।
अवाक्शिरा दीनमना न हृष्टः
पितुर्महात्मा प्रविवेश वेश्म ॥ ४६ ॥

उस नगरमें जो पहले कभी नहीं हुई थीं, ऐसी अप्रिय बातोंको देखकर महात्मा भरतने अपना मस्तक नीचेको झुका लिया, उनका हर्ष छिन गया और उन्होंने दीन-हृदयसे पिताके भवनमें प्रवेश किया ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

भरतका कैकेयीके भवनमें जाकर उसे प्रणाम करना, उसके द्वारा पिताके परलोकवासका समाचार पा दुखी हो विलाप करना तथा श्रीरामके विषयमें पूछनेपर कैकेयीद्वारा उनका श्रीरामके वनगमनके वृत्तान्तसे अवगत होना

अपश्यंस्तु ततस्तत्र पितरं पितुरालये ।
जगाम भरतो द्रष्टुं मातरं मातुरालये ॥ १ ॥

तदनन्तर पिताके घरमें पिताको न देखकर भरत माताका दर्शन करनेके लिये अपनी माताके महलमें गये ॥ १ ॥

अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रोषितं सुतम् ।
उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम् ॥ २ ॥

अपने परदेश गये हुए पुत्रको घर आया देख उस समय कैकेयी हर्षसे भर गयी और अपने सुवर्णमय आसनको छोड़ उछलकर खड़ी हो गयी ॥ २ ॥

स प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविवर्जितम् ।
भरतः प्रेक्ष्य जग्राह जनन्याश्चरणौ शुभौ ॥ ३ ॥

धर्मात्मा भरतने अपने उस घरमें प्रवेश करके देखा कि सारा घर श्रीहीन हो रहा है, फिर उन्होंने माताके शुभ चरणोंका स्पर्श किया ॥ ३ ॥

तं मूर्ध्नि समुपाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनम् ।
अङ्के भरतमारोप्य प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

अपने यशस्वी पुत्र भरतको छातीसे लगाकर कैकेयीने उनका मस्तक सूँघा और उन्हें गोदमें बिठाकर पूछना आरम्भ किया— ॥ ४ ॥

अद्य ते कतिचिद् रात्र्यश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः ।
अपि नाध्वश्रमः शीघ्रं रथेनापततस्तव ॥ ५ ॥

'बेटा ! तुम्हें अपने नानाके घरसे चले आज

कितनी रातें व्यतीत हो गयीं ? तुम रथके द्वारा बड़ी शीघ्रताके साथ आये हो। रास्तेमें तुम्हें अधिक थकावट तो नहीं हुई ?॥ ५॥

आर्यकस्ते सुकुशली युधाजिन्मातुलस्तव।
प्रवासाच्च सुखं पुत्र सर्वं मे वक्तुमर्हसि॥ ६॥

'तुम्हारे नाना सकुशल तो हैं न ? तुम्हारे मामा युधाजित् तो कुशलसे हैं ? बेटा! जब तुम यहाँसे गये थे, तबसे लेकर अबतक सुखसे रहे हो न ? ये सारी बातें मुझे बताओ'॥ ६॥

एवं पृष्टस्तु कैकेय्या प्रियं पार्थिवनन्दनः।
आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः॥ ७॥

कैकेयीके इस प्रकार प्रिय वाणीमें पूछनेपर दशरथ-नन्दन कमलनयन भरतने माताको सब बातें बतायीं॥ ७॥

अद्य मे सप्तमी रात्रिश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः।
अम्बायाः कुशली तातो युधाजिन्मातुलश्च मे॥ ८॥

(वे बोले—) 'मा! नानाके घरसे चले मेरी यह सातवीं रात बीती है। मेरे नानाजी और मामा युधाजित् भी कुशलसे हैं॥ ८॥

यन्मे धनं च रत्नं च ददौ राजा परंतपः।
परिश्रान्तं पथ्यभवत् ततोऽहं पूर्वमागतः॥ ९॥
राजवाक्यहरैर्दूतैस्त्वर्यमाणोऽहमागतः।
यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदम्बा वक्तुमर्हति॥ १०॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले केकयनरेशने मुझे जो धन-रत्न प्रदान किये हैं, उनके भारसे मार्गमें सब वाहन थक गये थे, इसलिये मैं राजकीय संदेश लेकर गये हुए दूतोंके जल्दी मचानेसे यहाँ पहले ही चला आया हूँ। अच्छा माँ, अब मैं जो कुछ पूछता हूँ, उसे तुम बताओ॥ ९-१०॥

शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्को हेमभूषितः।
न चायमिक्ष्वाकुजनः प्रहृष्टः प्रतिभाति मे॥ ११॥

'यह तुम्हारी शय्या सुवर्णभूषित पलंग इस समय सूना है, इसका क्या कारण है (आज यहाँ महाराज उपस्थित क्यों नहीं हैं)? ये महाराजके परिजन आज प्रसन्न क्यों नहीं जान पड़ते हैं ?॥ ११॥

राजा भवति भूयिष्ठमिहाम्बाया निवेशने।
तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः॥ १२॥

'महाराज (पिताजी) प्रायः माताजीके ही महलमें रहा करते थे, किंतु आज मैं उन्हें यहाँ नहीं देख रहा हूँ। मैं उन्हींका दर्शन करनेकी इच्छासे यहाँ आया हूँ॥ १२॥

पितुर्ग्रहीष्ये पादौ च तं ममाख्याहि पृच्छतः।
आहोस्विदम्बाज्येष्ठायाः कौसल्याया निवेशने॥ १३॥

'मैं पूछता हूँ, बताओ, पिताजी कहाँ हैं ? मैं उनके पैर पकड़ूँगा। अथवा बड़ी माता कौसल्याके घरमें तो वे नहीं हैं ?'॥ १३॥

तं प्रत्युवाच कैकेयी प्रियवद् घोरमप्रियम्।
अजानन्तं प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता॥ १४॥

कैकेयी राज्यके लोभसे मोहित हो रही थी। वह राजाका वृत्तान्त न जाननेवाले भरतसे उस घोर अप्रिय समाचारको प्रिय-सा समझती हुई इस प्रकार बताने लगी—॥ १४॥

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतां गतिः॥ १५॥

'बेटा! तुम्हारे पिता महाराज दशरथ बड़े महात्मा, तेजस्वी, यज्ञशील और सत्पुरुषोंके आश्रयदाता थे। एक दिन समस्त प्राणियोंकी जो गति होती है, उसी गतिको वे भी प्राप्त हुए हैं'॥ १५॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं धर्माभिजनवाञ्छुचिः।
पपात सहसा भूमौ पितृशोकबलार्दितः॥ १६॥
हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचमुदीरयन्।
निपपात महाबाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान्॥ १७॥

भरत धार्मिक कुलमें उत्पन्न हुए थे और उनका हृदय शुद्ध था। माताकी बात सुनकर वे पितृशोकसे अत्यन्त पीड़ित हो सहसा पृथ्वीपर गिर पड़े और 'हाय, मैं मारा गया!' इस प्रकार अत्यन्त दीन और दुःखमय वचन कहकर रोने लगे। पराक्रमी महाबाहु भरत अपनी भुजाओंको बारंबार पृथ्वीपर पटककर गिरने और लोटने लगे॥ १६-१७॥

ततः शोकेन संवीतः पितुर्मरणदुःखितः।
विललाप महातेजा भ्रान्ताकुलितचेतनः॥ १८॥

उन महातेजस्वी राजकुमारकी चेतना भ्रान्त और व्याकुल हो गयी। वे पिताकी मृत्युसे दुखी और शोकसे व्याकुलचित्त होकर विलाप करने लगे—॥ १८॥

एतत् सुरुचिरं भाति पितुर्मे शयनं पुरा।
शशिनेवामलं रात्रौ गगनं तोयदात्यये॥ १९॥
तदिदं न विभात्यद्य विहीनं तेन धीमता।
व्योमेव शशिना हीनमप्शुष्क इव सागरः॥ २०॥

'हाय! मेरे पिताजीकी जो यह अत्यन्त सुन्दर शय्या पहले शरत्कालकी रातमें चन्द्रमासे सुशोभित होनेवाले निर्मल आकाशकी भाँति शोभा पाती थी, वही यह आज उन्हीं बुद्धिमान् महाराजसे रहित होकर चन्द्रमासे हीन आकाश और सूखे हुए समुद्रके समान श्रीहीन प्रतीत होती है'॥ १९-२०॥

वाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वात्मना परिपीडितः ।
प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद् वस्त्रेण जयतां वरः ॥ २१ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ भरत अपने सुन्दर मुख वस्त्रसे ढककर अपने कण्ठस्वरके साथ आँसू गिराकर मन-ही-मन अत्यन्त पीड़ित हो पृथ्वीपर पड़कर विलाप करने लगे ॥ २१ ॥

तमार्तं देवसंकाशं समीक्ष्य पतितं भुवि ।
निकृत्तमिव सालस्य स्कन्धं परशुना वने ॥ २२ ॥
माता मातङ्गसंकाशं चन्द्रार्कसदृशं सुतम् ।
उत्थापयित्वा शोकार्तं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

देवतुल्य भरत शोकसे व्याकुल हो वनमें फरसेसे काटे गये साखूके तनेकी भाँति पृथ्वीपर पड़े थे, मतवाले हाथीके समान पुष्ट तथा चन्द्रमा या सूर्यके समान तेजस्वी अपने शोकाकुल पुत्रको इस तरह भूमिपर पड़ा देख माता कैकेयीने उन्हें उठाया और इस प्रकार कहा—॥ २२-२३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे राजन्नत्र महायशः ।
त्वद्विधा नहि शोचन्ति सन्तः सदसि सम्मताः ॥ २४ ॥

'राजन् ! उठो ! उठो ! महायशस्वी कुमार ! तुम इस तरह यहाँ धरतीपर क्यों पड़े हो ? तुम्हारे-जैसे सभाओंमें सम्मानित होनेवाले सत्पुरुष शोक नहीं किया करते हैं ॥ २४ ॥

दानयज्ञाधिकारा हि शीलश्रुतितपोनुगा ।
बुद्धिस्ते बुद्धिसम्पन्न प्रभेवार्कस्य मन्दिरे ॥ २५ ॥

'बुद्धिसम्पन्न पुत्र ! जैसे सूर्यमण्डलमें प्रभा निश्चल रूपसे रहती है, उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि सुस्थिर है । वह दान और यज्ञमें लगनेकी अधिकारिणी है; क्योंकि सदाचार और वेदवाक्योंका अनुसरण करनेवाली है' ॥ २५ ॥

स रुदित्वा चिरं कालं भूमौ परिविवृत्य च ।
जननीं प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृतः ॥ २६ ॥

भरत पृथ्वीपर लोटते-पोटते बहुत देरतक रोते रहे । तत्पश्चात् अधिकाधिक शोकसे आकुल होकर वे मातासे इस प्रकार बोले—॥ २६ ॥

अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते ।
इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम् ॥ २७ ॥

'मैंने तो यह सोचा था कि महाराज श्रीरामका राज्याभिषेक करेंगे और स्वयं यज्ञका अनुष्ठान करेंगे—यही सोचकर मैंने बड़े हर्षके साथ वहाँसे यात्रा की थी ॥ २७ ॥

तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम ।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥

'किंतु यहाँ आनेपर सारी बातें मेरी आशाके विपरीत हो गयीं । मेरा हृदय फटा जा रहा है; क्योंकि सदा अपने प्रिय और हितमें लगे रहनेवाले पिताजीको मैं नहीं देख रहा हूँ ॥ २८ ॥

अम्ब केनात्यगाद् राजा व्याधिना मय्यनागते ।
धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ॥ २९ ॥

'मा ! महाराजको ऐसा कौन-सा रोग हो गया था, जिससे वे मेरे आनेके पहले ही चल बसे ? श्रीराम आदि सब भाई धन्य हैं, जिन्होंने स्वयं उपस्थित रहकर पिताजीका अन्त्येष्टि-संस्कार किया ॥ २९ ॥

न नूनं मां महाराजः प्राप्तं जानाति कीर्तिमान् ।
उपजिघ्रेत् तु मां मूर्ध्नि तातः संनाम्य सत्वरम् ॥ ३० ॥

'निश्चय ही मेरे पूज्य पिता यशस्वी महाराजको मेरे यहाँ आनेका कुछ पता नहीं है, अन्यथा वे शीघ्र ही मेरे मस्तकको झुकाकर उसे प्यारसे सूँघते ॥ ३० ॥

क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः ।
यो हि मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति ॥ ३१ ॥

'हाय ! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले मेरे पिताका वह कोमल हाथ कहाँ है, जिसका स्पर्श मेरे लिये बहुत ही सुखदायक था ? वे उसी हाथसे मेरे धूलिधूसर शरीरको बारंबार पोंछा करते थे ॥ ३१ ॥

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः ।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३२ ॥

'अब जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं तथा जिनका मैं परम प्रिय दास हूँ, अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले उन श्रीरामचन्द्रजीको तुम शीघ्र ही मेरे आनेकी सूचना दो ॥ ३२ ॥

पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः ।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥ ३३ ॥

'धर्मके ज्ञाता श्रेष्ठ पुरुषके लिये बड़ा भाई पिताके समान होता है । मैं उनके चरणोंमें प्रणाम करूँगा । अब वे ही मेरे आश्रय हैं ॥ ३३ ॥

धर्मविद् धर्मशीलश्च महाभागो दृढव्रतः ।
आर्ये किमब्रवीद् राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥
पश्चिमं साधुसंदेशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः ।

'आर्ये ! धर्मका आचरण जिनका स्वभाव बन गया था तथा जो बड़ी दृढ़ताके साथ उत्तम व्रतका पालन करते थे, वे मेरे सत्यपराक्रमी और धर्मज्ञ पिता महाराज दशरथ अन्तिम समयमें क्या कह गये थे ? मेरे लिये जो उनका उत्तम अन्तिम संदेश हो उसे मैं सुनना चाहता हूँ' ॥ ३४½ ॥

इति पृष्टा यथातत्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥
रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च ।
स महात्मा परं लोकं गतो मतिमतां वरः ॥ ३६ ॥

भरतके इस प्रकार पूछनेपर कैकेयीने सब बात ठीक-ठीक बता दी । वह कहने लगी—'बेटा ! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे महात्मा पिता महाराजने 'हा राम ! हा सीते ! हा लक्ष्मण !' इस प्रकार विलाप करते हुए परलोककी यात्रा की थी ॥ ३५-३६ ॥

इतीमां पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव ।
कालधर्मं परिक्षिप्तः पाशैरिव महागजः ॥ ३७ ॥

'जैसे पाशोंसे बँधा हुआ महान् गज विवश हो जाता है, उसी प्रकार कालधर्मके वशीभूत हुए तुम्हारे पिताने अन्तिम वचन इस प्रकार कहा था—॥ ३७ ॥

सिद्धार्थास्तु नरा राममागतं सह सीतया ।
लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३८ ॥

'जो लोग सीताके साथ पुनः लौटकर आये हुए श्रीराम और महाबाहु लक्ष्मणको देखेंगे, वे ही कृतार्थ होंगे' ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा विषसादैव द्वितीयाप्रियशंसनात् ।
विषण्णवदनो भूत्वा भूयः पप्रच्छ मातरम् ॥ ३९ ॥

माताके द्वारा यह दूसरी अप्रिय बात कही जानेपर भरत और भी दुखी ही हुए । उनके मुखपर विषाद छा गया और उन्होंने पुनः मातासे पूछा—॥ ३९ ॥

क चेदानीं स धर्मात्मा कौसल्यानन्दवर्धनः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च समागतः ॥ ४० ॥

'मा ! माता कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी इस अवसरपर भाई लक्ष्मण और सीताके कहाँ चले गये हैं ?' ॥ ४० ॥

पृष्टा यथान्यायमाख्यातुमुपचक्रमे ।
मातास्य युगपद्वाक्यं विप्रियं प्रियशंसया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार पूछनेपर उनकी माता कैकेयीने एक साथ ही प्रिय बुद्धिसे वह अप्रिय संवाद यथोचित रीतिसे सुनाना आरम्भ किया—॥ ४१ ॥

स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महावनम् ।
दण्डकान् सह वैदेह्या लक्ष्मणानुचरो गतः ॥ ४२ ॥

'बेटा ! राजकुमार श्रीराम वल्कल वस्त्र धारण करके सीताके साथ दण्डकवनमें चले गये हैं । लक्ष्मणने भी उन्हींका अनुसरण किया है' ॥ ४२ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतस्त्रस्तो भ्रातुश्चारित्रशङ्कया ।
स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात् प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४३ ॥

यह सुनकर भरत डर गये, उन्हें अपने भाईके चरित्रपर शङ्का हो आयी । (वे सोचने लगे—श्रीराम कहीं धर्मसे गिर तो नहीं गये ?) अपने वंशकी महत्ता (धर्मपरायणता) का स्मरण करके वे कैकेयीसे इस प्रकार पूछने लगे— ॥ ४३ ॥

कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित् ।
कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४४ ॥

'मा ! श्रीरामने किसी कारणवश ब्राह्मणका धन तो नहीं हर लिया था ? किसी निष्पाप धनी या दरिद्रकी हत्या तो नहीं कर डाली थी ? ॥ ४४ ॥

कच्चिन्न परदारान् वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ।
कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः ॥ ४५ ॥

'राजकुमार श्रीरामका मन किसी परायी स्त्रीकी ओर तो नहीं चला गया ? किस अपराधके कारण भैया श्रीरामको दण्डकारण्यमें जानेके लिये निर्वासित कर दिया गया है ?' ॥ ४५ ॥

अथास्य चपला माता तत् स्वकर्म यथातथम् ।
तेनैव स्त्रीस्वभावेन व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तब चपल स्वभाववाली भरतकी माता कैकेयीने उस विवेकशून्य चञ्चल नारीस्वभावके कारण ही अपनी करतूतको ठीक-ठीक बताना आरम्भ किया ॥ ४६ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना ।
उवाच वचनं हृष्टा वृथापण्डितमानिनी ॥ ४७ ॥

महात्मा भरतके पूर्वोक्त रूपसे पूछनेपर व्यर्थ ही अपनेको बड़ी विदुषी माननेवाली कैकेयीने बड़े हर्षमें भरकर कहा—॥ ४७ ॥

न ब्राह्मणधनं किंचिद्धृतं रामेण कस्यचित् ।
कश्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ।
न रामः परदारान् स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥ ४८ ॥

'बेटा ! श्रीरामने किसी कारणवश किञ्चिन्मात्र भी ब्राह्मणके धनका अपहरण नहीं किया है । किसी निरपराध धनी या दरिद्रकी हत्या भी उन्होंने नहीं की है । श्रीराम कभी किसी परायी स्त्रीपर दृष्टि नहीं डालते हैं ॥ ४८ ॥

मया तु पुत्र श्रुत्वैव रामस्येहाभिषेचनम् ।
याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम् ॥ ४९ ॥

'बेटा ! (उनके वनमें जानेका कारण इस प्रकार है–) मैंने सुना था कि अयोध्यामें श्रीरामका राज्याभिषेक होने जा रहा है, तब मैंने तुम्हारे पितासे तुम्हारे लिये राज्य और श्रीरामके लिये वनवासकी प्रार्थना की ॥ ४९ ॥

स स्ववृत्तिं समास्थाय पिता ते तत् तथाकरोत् ।
रामस्तु सहसौमित्रिः प्रेषितः सह सीतया ॥ ५० ॥
तमपश्यन् प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः ।
पुत्रशोकपरिद्यूनः पञ्चत्वमुपपेदिवान् ॥ ५१ ॥

'उन्होंने अपने सत्यप्रतिज्ञ स्वभावके अनुसार मेरी माँग पूरी की। श्रीराम लक्ष्मण और सीताके साथ वनको भेज दिये गये, फिर अपने प्रिय पुत्र श्रीरामको न देखकर वे महायशस्वी महाराज पुत्रशोकसे पीड़ित हो परलोकवासी हो गये ॥ ५०-५१ ॥

त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम्।
त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ॥ ५२ ॥

'धर्मज्ञ ! अब तुम राजपद स्वीकार करो। तुम्हारे लिये ही मैंने इस प्रकारसे यह सब कुछ किया है ॥ ५२ ॥

मा शोकं मा च संतापं धैर्यमाश्रय पुत्रक।
त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनामयम् ॥ ५३ ॥

'बेटा ! शोक और संताप न करो, धैर्यका आश्रय लो। अब यह नगर और निष्कण्टक राज्य तुम्हारे ही अधीन है ॥ ५३ ॥

तत् पुत्र शीघ्रं विधिना विधिज्ञै-
र्वसिष्ठमुख्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः।
संकाल्य राजानमदीनसत्त्व-
मात्मानमुर्व्यामभिषेचयस्व ॥ ५४ ॥

'अतः वत्स ! अब विधि-विधानके ज्ञाता वसिष्ठ आदि प्रमुख ब्राह्मणोंके साथ तुम उदार हृदयवाले महाराजका अन्त्येष्टि संस्कार करके इस पृथ्वीके राज्यपर अपना अभिषेक कराओ' ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७२ ॥



त्रिसप्ततितमः सर्गः

भरतका कैकेयीको धिक्कारना और उसके प्रति महान् रोष प्रकट करना

श्रुत्वा तु स पितुर्वृत्तं भ्रातरौ च विवासितौ।
भरतो दुःखसंतप्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

पिताके परलोकवास और दोनों भाइयोंके वनवासका समाचार सुनकर भरत दुःखसे संतप्त हो उठे और इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

किं नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः।
विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च ॥ २ ॥

'हाय ! तूने मुझे मार डाला। मैं पितासे सदाके लिये बिछुड़ गया और पितृतुल्य बड़े भाईसे भी बिलग हो गया। अब तो मैं शोकमें डूब रहा हूँ, मुझे यहाँ राज्य लेकर क्या करना है ? ॥ २ ॥

दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददाः।
राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम् ॥ ३ ॥

'तूने राजाको परलोकवासी तथा श्रीरामको तपस्वी बनाकर मुझे दुःख-पर-दुःख दिया है, घावपर नमक-सा छिड़क दिया है ॥ ३ ॥

कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता।
अङ्गारमुपगूह्य स्म पिता मे नावबुद्धवान् ॥ ४ ॥

'तू इस कुलका विनाश करनेके लिये कालरात्रि बनकर आयी थी। मेरे पिताने तुझे अपनी पत्नी क्या बनाया, दहकते हुए अङ्गारको हृदयसे लगा लिया था; किंतु उस समय यह बात उनकी समझमें नहीं आयी थी ॥ ४ ॥

मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनि।
सुखं परिहृतं मोहात् कुलेऽस्मिन् कुलपांसनि ॥ ५ ॥

'पापपर ही दृष्टि रखनेवाली ! कुलकलङ्किनी ! तूने मेरे महाराजको कालके गालमें डाल दिया और मोहवश इस कुल-का सुख सदाके लिये छीन लिया ॥ ५ ॥

त्वां प्राप्य हि पिता मेऽद्य सत्यसंधो महायशाः।
तीव्रदुःखाभिसंतप्तो वृत्तो दशरथो नृपः ॥ ६ ॥

'तुझे पाकर मेरे सत्यप्रतिज्ञ महायशस्वी पिता महाराज दशरथ इन दिनों दुःसह दुःखसे संतप्त होकर प्राण त्यागनेको विवश हुए हैं ॥ ६ ॥

विनाशितो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः।
कस्मात् प्रव्राजितो रामः कस्मादेव वनं गतः ॥ ७ ॥

'बता, तूने मेरे धर्मवत्सल पिता महाराज दशरथका विनाश क्यों किया ? मेरे बड़े भाई श्रीरामको क्यों घरसे निकाला और वे भी क्यों (तेरे ही कहनेसे) वनको चले गये ? ॥

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकाभिपीडिते।
दुष्करं यदि जीवेतां प्राप्य त्वां जननीं मम ॥ ८ ॥

'कौसल्या और सुमित्रा भी मेरी माता कहलानेवाली तुझ कैकेयीको पाकर पुत्रशोकसे पीड़ित हो गयीं। अब उनका जीवित रहना अत्यन्त कठिन है ॥ ८ ॥

नन्वार्योऽपि च धर्मात्मा त्वयि वृत्तिमनुत्तमाम्।
वर्तते गुरुवृत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते ॥ ९ ॥

'बड़े भैया श्रीराम धर्मात्मा हैं; गुरुजनोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये—इसे वे अच्छी तरह जानते हैं, इसलिये उनका अपनी माताके प्रति जैसा बर्ताव था, वैसा ही उत्तम व्यवहार वे तेरे साथ भी करते थे ॥ ९ ॥

तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी ।
त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते ॥ १० ॥

'मेरी बड़ी माता कौसल्या भी बड़ी दूरदर्शिनी हैं। वे धर्मका ही आश्रय लेकर तेरे साथ बहिनका-सा बर्ताव करती हैं ॥

तस्याः पुत्रं महात्मानं चीरवल्कलवाससम् ।
प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसे ॥ ११ ॥

'पापिनि! उनके महात्मा पुत्रको चीर और वल्कल पहनाकर तूने वनमें रहनेके लिये भेज दिया। फिर भी तुझे शोक क्यों नहीं हो रहा है? ॥ ११ ॥

अपापदर्शिनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम् ।
प्रव्राज्य चीरवसनं किं नु पश्यसि कारणम् ॥ १२ ॥

'श्रीराम किसीकी बुराई नहीं देखते। वे शूरवीर, पवित्रात्मा और यशस्वी हैं। उन्हें चीर पहनाकर वनवास दे देनेमें तू कौन-सा लाभ देख रही है? ॥ १२ ॥

लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं यथा ।
तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वयाऽऽनीतो महानयम् ॥१३ ॥

'तू लोभिन है। मैं समझता हूँ, इसीलिये तुझे यह पता नहीं है कि मेरा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कैसा भाव है, तभी तूने राज्यके लिये यह महान् अनर्थ कर डाला है ॥ १३ ॥

अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन् रामलक्ष्मणौ ।
केन शक्तिप्रभावेण राज्यं रक्षितुमुत्सहे ॥ १४ ॥

'मैं पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर किस शक्तिके प्रभावसे इस राज्यकी रक्षा कर सकता हूँ? (मेरे बल तो मेरे भाई ही हैं) ॥ १४ ॥

तं हि नित्यं महाराजो बलवन्तं महौजसम् ।
उपाश्रितोऽभूद् धर्मात्मा मेरुर्मेरुवनं यथा ॥ १५ ॥

'मेरे धर्मात्मा पिता महाराज दशरथ भी सदा उन महातेजस्वी बलवान् श्रीरामका ही आश्रय लेते थे (उन्हींसे अपने लोक-परलोककी सिद्धिकी आशा रखते थे), ठीक उसी तरह जैसे मेरुपर्वत अपनी रक्षाके लिये अपने ऊपर उत्पन्न हुए गहन वनका ही आश्रय लेता है (यदि वह दुर्गम वनसे घिरा हुआ न हो तो दूसरे लोग निश्चय ही उसपर आक्रमण कर सकते हैं) ॥ १५ ॥

सोऽहं कथमिमं भारं महाधुर्यसमुद्यतम् ।
दम्यो धुरमिवासाद्य सहेयं केन चौजसा ॥ १६ ॥

'यह राज्यका भार, जिसे किसी महाधुरंधरने धारण किया था, मैं कैसे, किस बलसे धारण कर सकता हूँ? जैसे कोई छोटा-सा बछड़ा बड़े-बड़े बैलोंद्वारा ढोये जाने योग्य महान् भारको नहीं खींच सकता, उसी प्रकार यह राज्यका महान् भार मेरे लिये असह्य है ॥ १६ ॥

अथवा मे भवेच्छक्तिर्योगैर्बुद्धिबलेन वा ।
सकामां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्द्धिनीम् ॥ १७ ॥

'अथवा नाना प्रकारके उपायोंसे तथा बुद्धिबलसे मुझमें राज्यके भरण-पोषणकी शक्ति हो तो भी केवल अपने बेटेके लिये राज्य चाहनेवाली तुझ कैकेयीकी मनःकामना पूरी नहीं होने दूँगा ॥ १७ ॥

न मे विकाङ्क्षा जायेत त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम् ।
यदि रामस्य नावेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत् सदा ॥ १८ ॥

'यदि श्रीराम तुझे सदा अपनी माताके समान नहीं देखते होते तो तेरी-जैसी पापपूर्ण विचारवाली माताका त्याग करनेमें मुझे तनिक भी हिचक नहीं होती ॥ १८ ॥

उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी ।
साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ॥ १९ ॥

'उत्तम चरित्रसे गिरी हुई पापिनि! मेरे पूर्वजोंने जिसकी सदा निन्दा की है, वह पापपर ही दृष्टि रखनेवाली बुद्धि तुझमें कैसे उत्पन्न हो गयी? ॥ १९ ॥

अस्मिन् कुले हि सर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।
अपरे भ्रातरस्तस्मिन् प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥ २० ॥

'इस कुलमें जो सबसे बड़ा होता है, उसीका राज्याभिषेक होता है; दूसरे भाई सावधानीके साथ बड़ेकी आज्ञाके अधीन रहकर कार्य करते हैं ॥ २० ॥

न हि मन्ये नृशंसे त्वं राजधर्ममवेक्षसे ।
गतिं वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ॥ २१ ॥

'क्रूर स्वभाववाली कैकेयि! मेरी समझमें तू राजधर्मपर दृष्टि नहीं रखती है अथवा उसे बिल्कुल नहीं जानती। राजाओंके बर्तावका जो सनातन स्वरूप है, उसका भी तुझे ज्ञान नहीं है ॥ २१ ॥

सततं राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ।
राज्ञामेतत् समं तत् स्यादिक्ष्वाकूणां विशेषतः ॥ २२ ॥

'राजकुमारोंमें जो ज्येष्ठ होता है, सदा उसीका राजाके पदपर अभिषेक किया जाता है। सभी राजाओंके यहाँ समान रूपसे इस नियमका पालन होता है। इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंके कुलमें इसका विशेष आदर है ॥ २२ ॥

तेषां धर्मैकरक्षाणां कुलचारित्रशोभिनाम् ।
अद्य चारित्रशौटीर्यं त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥ २३ ॥

'जिनकी एकमात्र धर्मसे ही रक्षा होती आयी है तथा जो कुलोचित सदाचारके पालनसे ही सुशोभित हुए हैं, उनका यह चरित्रविषयक अभिमान आज तुझे पाकर—तेरे सम्बन्धके कारण दूर हो गया ॥ २३ ॥

तवापि सुमहाभागे जनेन्द्रकुलपूर्वके ।
बुद्धिमोहः कथमयं सम्भूतस्त्वयि गर्हितः ॥ २४ ॥

'महाभागे! तेरा जन्म भी तो महाराज केकयके कुलमें

हुआ है, फिर तेरे हृदयमें यह निन्दित बुद्धिमोह कैसे उत्पन्न हो गया ? ॥ २४ ॥

न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये ।
यया व्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम ॥ २५ ॥

'अरी ! तेरा विचार बड़ा ही पापपूर्ण है। मैं तेरी इच्छा कदापि नहीं पूर्ण करूँगा। तूने मेरे लिये उस विपत्तिकी नींव डाल दी है, जो मेरे प्राणतक ले सकती है ॥ २५ ॥

एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तवानघम् ।
निवर्तयिष्यामि वनाद् भ्रातरं स्वजनप्रियम् ॥ २६ ॥

'यह ले, मैं अभी तेरा अप्रिय करनेके लिये तुल गया हूँ। मैं वनसे निष्पाप भ्राता श्रीरामको, जो स्वजनोंके प्रिय हैं, लौटा लाऊँगा ॥ २६ ॥

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः ।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥ २७ ॥

श्रीरामको लौटा लाकर उद्दीप्त तेजवाले उन्हीं महापुरुषका दास बनकर स्वस्थचित्तसे जीवन व्यतीत करूँगा' ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा
प्रियेतरैर्वाक्यगणैस्तुदंस्ताम् ।
शोकार्दितश्चापि ननाद भूयः
सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर महात्मा भरत शोकसे पीड़ित हो पुनः जली-कटी बातोंसे कैकेयीको व्यथित करते हुए उसे जोर-जोरसे फटकारने लगे, मानो मन्दराचलकी गुहामें बैठा हुआ सिंह गरज रहा हो ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः

भरतका कैकेयीको कड़ी फटकार देना

तां तथा गर्हयित्वा तु मातरं भरतस्तदा ।
रोषेण महताविष्टः पुनरेवाब्रवीद् वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार माताकी निन्दा करके भरत उस समय महान् रोषावेशसे भर गये और फिर कठोर वाणीमें कहने लगे—॥ १ ॥

राज्याद् भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि ।
परित्यक्तासि धर्मेण मा मृतं रुदती भव ॥ २ ॥

दुष्टतापूर्ण बर्ताव करनेवाली क्रूरहृदया कैकेयि ! तू राज्यसे भ्रष्ट हो जा। धर्मने तेरा परित्याग कर दिया है, अतः अब तू मरे हुए महाराजके लिये रोना मत, (क्योंकि तू पत्नी-धर्मसे गिर चुकी है) अथवा मुझे मरा हुआ समझकर तू जन्मभर पुत्रके लिये रोया कर ॥ २ ॥

किं नु तेऽदूषयद् रामो राजा वा भृशधार्मिकः ।
ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्यमागतौ ॥ ३ ॥

'श्रीरामने अथवा अत्यन्त धर्मात्मा महाराज (पिताजी) ने तेरा क्या बिगाड़ा था, जिससे एक साथ ही उन्हें तुम्हारे कारण वनवास और मृत्युका कष्ट भोगना पड़ा ! ॥ ३ ॥

भ्रूणहत्यामसि प्राप्ता कुलस्यास्य विनाशनात् ।
कैकेयि नरकं गच्छ मा च तातसलोकताम् ॥ ४ ॥

कैकेयि ! तूने इस कुलका विनाश करनेके कारण भ्रूण-हत्याका पाप अपने सिरपर लिया है, इसलिये तू नरकमें जा और पिताजीका लोक तुझे न मिले ॥ ४ ॥

यत्त्वया हीदृशं पापं कृतं घोरेण कर्मणा ।
सर्वलोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम् ॥ ५ ॥

'तूने इस घोर कर्मके द्वारा समस्त लोकोंके प्रिय श्रीरामको देशनिकाला देकर जो ऐसा बड़ा पाप किया है, उसने मेरे लिये भी भय उपस्थित कर दिया है ॥ ५ ॥

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः ।
अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥ ६ ॥

तेरे कारण मेरे पिताकी मृत्यु हुई, श्रीरामको वनका आश्रय लेना पड़ा और मुझे भी तूने इस जीवजगत्में अप-यशका भागी बना दिया ॥ ६ ॥

मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके ।
न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि ॥ ७ ॥

'राज्यके लोभमें पड़कर क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाली दुराचारिणी पतिघातिनि ! तू माताके रूपमें मेरी शत्रु है। तुझे मुझसे बात नहीं करनी चाहिये ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः ।
दुःखेन महताविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषिणीम् ॥ ८ ॥

'कौसल्या, सुमित्रा तथा जो अन्य मेरी माताएँ हैं, वे सब तुझ कुलकलङ्किनीके कारण महान् दुःखमें पड़ गयी हैं ॥ ८ ॥

न त्वमश्वपतेः कन्या धर्मराजस्य धीमतः ।
राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः ॥ ९ ॥

'तू बुद्धिमान् धर्मराज अश्वपतिकी कन्या नहीं है। तू उनके

कुलमें कोई राक्षसी पैदा हो गयी है, जो पिताके वंशका विध्वंस करनेवाली है ॥ ९ ॥

यत् त्वया धार्मिको रामो नित्यं सत्यपरायणः ।
वनं प्रस्थापितो वीरः पितापि त्रिदिवं गतः ॥ १० ॥
यत् प्रधानासि तत् पापं मयि पित्रा विना कृते ।
भ्रातृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाप्रिये ॥ ११ ॥

'तूने सदा सत्यमें तत्पर रहनेवाले धर्मात्मा वीर श्रीरामको जो वनमें भेज दिया और तेरे कारण जो मेरे पिता स्वर्गवासी हो गये, इन सब कुकृत्योंद्वारा तूने प्रधान रूपसे जिस पापका अर्जन किया है, वह पाप मुझमें आकर अपना फल दिखा रहा है; इसलिये मैं पितृहीन हो गया, अपने दो भाइयोंसे बिछुड़ गया और समस्त जगत्के लोगोंके लिये अप्रिय बन गया ॥ १०-११ ॥

कौसल्यां धर्मसंयुक्तां वियुक्तां पापनिश्चये ।
कृत्वा कं प्राप्स्यसे ह्यद्य लोकं निरयगामिनि ॥ १२ ॥

पापपूर्ण विचार रखनेवाली नरकगामिनी कैकेयि ! धर्मपरायणा माता कौसल्याको पति और पुत्रसे वञ्चित करके अब तू किस लोकमें जायगी ? ॥ १२ ॥

किं नावबुध्यसे क्रूरे नियतं बन्धुसंश्रयम् ।
ज्येष्ठं पितृसमं रामं कौसल्यायात्मसम्भवम् ॥ १३ ॥

'क्रूरहृदये ! कौसल्यापुत्र श्रीराम मेरे बड़े भाई और पिताके तुल्य हैं । वे जितेन्द्रिय और बन्धुओंके आश्रयदाता हैं । क्या तू उन्हें इस रूपमें नहीं जानती है ? ॥ १३ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चाभिजायते ।
तस्मात् प्रियतरो मातुः प्रिया एव तु बान्धवाः ॥ १४ ॥

'पुत्र माताके अङ्ग-प्रत्यङ्ग और हृदयसे उत्पन्न होता है, इसलिये वह माताको अधिक प्रिय होता है । अन्य भाई-बन्धु केवल प्रिय ही होते हैं (किंतु पुत्र प्रियतर होता है) ॥ १४ ॥

अन्यदा किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरसम्मता ।
वहमानौ ददर्शोर्व्यां पुत्रौ विगतचेतसौ ॥ १५ ॥

'एक समयकी बात है कि धर्मको जाननेवाली देव-सम्मानित सुरभि (कामधेनु) ने पृथ्वीपर अपने दो पुत्रोंको देखा, जो हल जोतते-जोतते अचेत हो गये थे ॥ १५ ॥

तावर्धदिवसं श्रान्तौ दृष्ट्वा पुत्रौ महीतले ।
रुरोद पुत्रशोकेन बाष्पपर्याकुलेक्षणम् ॥ १६ ॥

'मध्याह्नका समय होनेतक लगातार हल जोतनेसे वे बहुत थक गये थे । पृथ्वीपर अपने उन दोनों पुत्रोंको ऐसी दुर्दशामें पड़ा देख सुरभि पुत्रशोकसे रोने लगी । उसके नेत्रोंमें आँसू उमड़ आये ॥ १६ ॥

अधस्ताद् व्रजतस्तस्याः सुरराज्ञो महात्मनः ।
बिन्दवः पतिता गात्रे सूक्ष्माः सुरभिगन्धिनः ॥ १७ ॥

'उसी समय महात्मा देवराज इन्द्र सुरभिके नीचेसे होकर कहीं जा रहे थे । उनके शरीरपर कामधेनुके दो बूँद सुगन्धित आँसू गिर पड़े ॥ १७ ॥

निरीक्षमाणस्तां शक्रो ददर्श सुरभिं स्थिताम् ।
आकाशे विष्ठितां दीनां रुदतीं भृशदुःखिताम् ॥ १८ ॥

'जब इन्द्रने ऊपर दृष्टि डाली, तब देखा—आकाशमें सुरभि खड़ी हैं और अत्यन्त दुखी हो दीनभावसे रो रही हैं ॥ १८ ॥

तां दृष्ट्वा शोकसंतप्तां वज्रपाणिर्यशस्विनीम् ।
इन्द्रः प्राञ्जलिरुद्विग्नः सुरराजोऽब्रवीद् वचः ॥ १९ ॥

'यशस्विनी सुरभिको शोकसे संतप्त हुई देख वज्रधारी देवराज इन्द्र उद्विग्न हो उठे और हाथ जोड़कर बोले—॥ १९ ॥

भयं कच्चिन्न चास्मासु कुतश्चिद् विद्यते महत् ।
कुतोनिमित्तः शोकस्ते ब्रूहि सर्वहितैषिणि ॥ २० ॥

'सबका हित चाहनेवाली देवि ! हमलोगोंपर कहींसे कोई महान् भय तो नहीं उपस्थित हुआ है ? बताओ, किस कारणसे तुम्हें यह शोक प्राप्त हुआ है ?' ॥ २० ॥

एवमुक्ता तु सुरभिः सुरराजेन धीमता ।
प्रत्युवाच ततो धीरा वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ २१ ॥

'बुद्धिमान् देवराज इन्द्रके इस प्रकार पूछनेपर बोलनेमें चतुर और धीरस्वभाववाली सुरभिने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २१ ॥

शान्तं पापं न वः किंचित् कुतश्चिदमराधिप ।
अहं तु मग्नौ शोचामि स्वपुत्रौ विषमे स्थितौ ॥ २२ ॥

'देवेश्वर ! पाप शान्त हो । तुमलोगोंपर कहींसे कोई भय नहीं है । मैं तो अपने इन दोनों पुत्रोंको विषम अवस्था (घोर सङ्कट) में मग्न हुआ देख शोक कर रही हूँ ॥ २२ ॥

एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ ।
वध्यमानौ बलीवर्दौ कर्षकेण दुरात्मना ॥ २३ ॥

'ये दोनों बैल अत्यन्त दुर्बल और दुखी हैं, सूर्यकी किरणोंसे बहुत तप गये हैं और ऊपरसे वह दुष्ट किसान इन्हें पीट रहा है ॥ २३ ॥

मम कायात् प्रसूतौ हि दुःखितौ भारपीडितौ ।
यौ दृष्ट्वा परितप्येऽहं नास्ति पुत्रसमः प्रियः ॥ २४ ॥

'मेरे शरीरसे इनकी उत्पत्ति हुई है । ये दोनों भारसे पीड़ित और दुखी हैं, इसीलिये इन्हें देखकर मैं शोकसे संतप्त हो रही हूँ; क्योंकि पुत्रके समान प्रिय दूसरा कोई नहीं है' ॥ २४ ॥

यस्याः पुत्रसहस्रैस्तु कृत्स्नं व्याप्तमिदं जगत् ।
तां दृष्ट्वा रुदतीं शक्रो न सुतान् मन्यते परम् ॥ २५ ॥

'जिनके सहस्रों पुत्रोंसे यह सारा जगत् भरा हुआ है, उन्हीं कामधेनुको इस तरह रोती देख इन्द्रने यह माना कि पुत्रसे बढ़कर और कोई नहीं है ॥ २५ ॥

इन्द्रो ह्यश्रुनिपातं तं स्वगात्रे पुण्यगन्धिनम् ।
सुरभिं मन्यते दृष्ट्वा भूयसीं तामिहेश्वरः ॥ २६ ॥

देवेश्वर इन्द्रने अपने शरीरपर उस पवित्र गन्धवाले अश्रुपातको देखकर देवी सुरभिको इस जगत्में सबसे श्रेष्ठ माना ॥ २६ ॥

समाप्रतिमवृत्तायाः लोकधारणकाम्यया ।
श्रीमत्या गुणमुख्यायाः स्वभावपरिचेष्टया ॥ २७ ॥
यस्याः पुत्रसहस्राणि सापि शोचति कामधुक् ।
किं पुनर्या विना रामं कौसल्या वर्तयिष्यति ॥ २८ ॥

'जिनका चरित्र समस्त प्राणियोंके लिये समान रूपसे हितकर और अनुपम है, जो अभीष्ट दानरूप ऐश्वर्य शक्तिसे सम्पन्न, सत्यरूप प्रधान गुणसे युक्त तथा लोकरक्षाकी कामनासे कार्यमें प्रवृत्त होनेवाली हैं और जिनके सहस्रों पुत्र हैं, वे कामधेनु भी जब अपने दो पुत्रोंके लिये उनके स्वाभाविक चेष्टामें रत होनेपर भी कष्ट पानेके कारण शोक करती हैं, तब जिनके एक ही पुत्र है, वे माता कौसल्या श्रीरामके बिना कैसे जीवित रहेंगी ? ॥ २७-२८ ॥

एकपुत्रा च साध्वी च विवत्सेयं त्वया कृता ।
तस्मात् त्वं सततं दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे ॥ २९ ॥

इकलौते बेटेवाली इन सती-साध्वी कौसल्याका तूने उनके पुत्रसे बिछोह करा दिया है, इसलिये तू सदा ही इस लोक और परलोकमें भी दुःख ही पायेगी ॥ २९ ॥

अहं त्वपचितिं भ्रातुः पितुश्च सकलामिमाम् ।
वर्धनं यशसश्चापि करिष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

'मैं तो यह राज्य लौटाकर भाईकी पूजा करूँगा और यह सारा अन्त्येष्टिसंस्कार आदि करके पिताका भी पूर्णरूपसे पूजन करूँगा तथा निःसंदेह मैं वही कर्म करूँगा, जो (तेरे दिये हुए कलङ्कको मिटानेवाला और) मेरे यशको बढ़ानेवाला हो ॥ ३० ॥

आनाय्य च महाबाहुं कोसलेन्द्रं महाबलम् ।
स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम् ॥ ३१ ॥

'महाबली महाबाहु कोसलनरेश श्रीरामको यहाँ लौटा लाकर मैं स्वयं ही मुनिजनसेवित वनमें प्रवेश करूँगा ॥ ३१ ॥

न ह्यहं पापसंकल्पे पापे पापं त्वया कृतम् ।
शक्तो धारयितुं पौरैरश्रुकण्ठैर्निरीक्षितः ॥ ३२ ॥

'पापपूर्ण संकल्प करनेवाली पापिनि ! पुरवासी मनुष्य आँसू बहाते हुए अवरुद्धकण्ठ हो मुझे देखें और मैं तेरे किये हुए इस पापका बोझ ढोता रहूँ—यह मुझसे नहीं हो सकता ॥ ३२ ॥

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा विश दण्डकान् ।
रज्जुं बद्ध्वाथवा कण्ठे नहि तेऽन्यत् परायणम् ॥ ३३ ॥

'अब तू जलती आगमें प्रवेश कर जा, या स्वयं दण्डकारण्यमें चली जा अथवा गलेमें रस्सी बाँधकर प्राण दे दे, इसके सिवा तेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ ३३ ॥

अहमप्यवनीं प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे ।
कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः ॥ ३४ ॥

'सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी जब अयोध्याकी भूमिपर पदार्पण करेंगे तभी मेरा कलङ्क दूर होगा और तभी मैं कृतकृत्य होऊँगा' ॥ ३४ ॥

इति नाग इवारण्ये तोमराङ्कुशतोदितः ।
पपात भुवि संक्रुद्धो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३५ ॥

यह कहकर भरत वनमें तोमर और अङ्कुशद्वारा पीड़ित किये गये हाथीकी भाँति मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और क्रोधमें भरकर फुफकारते हुए साँपकी भाँति लम्बी साँस खींचने लगे ॥ ३५ ॥

संरक्तनेत्रः शिथिलाम्बरस्तथा
विधूतसर्वाभरणः परंतपः ।
बभूव भूमौ पतितो नृपात्मजः
शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्षये ॥ ३६ ॥

शत्रुओंको तपानेवाले राजकुमार भरत उत्सव समाप्त होनेपर नीचे गिराये गये शचीपति इन्द्रके ध्वजकी भाँति उस समय पृथ्वीपर पड़े थे, उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये थे, वस्त्र ढीले पड़ गये थे और सारे आभूषण टूटकर बिखर गये थे ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

कौसल्याके सामने भरतका शपथ खाना

दीर्घकालात् समुत्थाय संज्ञां लब्ध्वा स वीर्यवान्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां दीनामुद्वीक्ष्य मातरम्॥ १ ॥
सोऽमात्यमध्ये भरतो जननीमभ्यकुत्सयत्।

बहुत देरके बाद होशमें आनेपर जब पराक्रमी भरत उठे तब आँसू भरे नेत्रोंसे दीन बनी बैठी हुई माताकी ओर देखकर मन्त्रियोंके बीचमें उसकी निन्दा करते हुए बोले—॥

राज्यं न कामये जातु मन्त्रये नापि मातरम्॥ २ ॥
अभिषेकं न जानामि योऽभूद् राजा समीक्षितः।
विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नसहितोऽभवम्॥ ३ ॥

'मन्त्रिवरो ! मैं राज्य नहीं चाहता और न मैंने कभी मातासे इसके लिये बातचीत ही की है। महाराजने जिस अभिषेकका निश्चय किया था, उसका भी मुझे पता नहीं था; क्योंकि उस समय मैं शत्रुघ्नके साथ दूर देशमें था॥ २-३॥

वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः।
विवासनं च सौमित्रेः सीतायाश्च यथाभवत्॥ ४ ॥

'महात्मा श्रीरामके वनवास और सीता तथा लक्ष्मणके निर्वासनका भी मुझे ज्ञान नहीं है कि वह कब और कैसे हुआ ?' ॥ ४ ॥

तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः।
कौसल्या शब्दमाज्ञाय सुमित्रां चेदमब्रवीत्॥ ५ ॥

महात्मा भरत जब इस प्रकार अपनी माताको कोस रहे थे, उस समय उनकी आवाजको पहचानकर कौसल्याने सुमित्रासे इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम्॥ ६ ॥

'क्रूर कर्म करनेवाली कैकेयीके पुत्र भरत आ गये हैं। वे बड़े दूरदर्शी हैं, अतः मैं उन्हें देखना चाहती हूँ' ॥ ६ ॥

सुमित्रां तां विवर्णवदना कृशा।
प्रतस्थे भरतो यत्र वेपमाना विचेतना॥ ७ ॥

सुमित्रासे ऐसा कहकर उदास मुखवाली, दुर्बल और अचेत-सी हुई कौसल्या जहाँ भरत थे, उस स्थानपर जानेके लिये काँपती हुई चलीं॥ ७ ॥

स तु राजात्मजश्चापि शत्रुघ्नसहितस्तदा।
प्रतस्थे भरतो येन कौसल्याया निवेशनम्॥ ८ ॥

उसी समय उधरसे राजकुमार भरत भी शत्रुघ्नको साथ लिये उसी मार्गसे चले आ रहे थे, जिससे कौसल्याके भवनमें आना-जाना होता था॥ ८ ॥

ततः शत्रुघ्नभरतौ कौसल्यां प्रेक्ष्य दुःखितौ।
पर्यष्वजेतां दुःखार्तां पतितां नष्टचेतनाम्॥ ९ ॥
रुदन्तौ रुदती दुःखात् समेत्यार्या मनस्विनी।
भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता॥ १० ॥

तदनन्तर शत्रुघ्न और भरतने दूरसे ही देखा कि माता कौसल्या दुःखसे व्याकुल और अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी हैं। यह देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे दौड़कर उनकी गोदीसे लग गये तथा फूट-फूटकर रोने लगे। आर्या मनस्विनी कौसल्या भी दुःखसे रो पड़ीं और उन्हें छातीसे लगाकर अत्यन्त दुःखित हो भरतसे इस प्रकार बोलीं—॥

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।
सम्प्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा॥ ११ ॥

'बेटा ! तुम राज्य चाहते थे न ? सो यह निष्कण्टक राज्य तुम्हें प्राप्त हो गया; किंतु खेद यही है कि कैकेयीने जल्दीके कारण बड़े क्रूर कर्मके द्वारा इसे पाया है॥ ११ ॥

प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम्।
कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी॥ १२ ॥

'क्रूरतापूर्ण दृष्टि रखनेवाली कैकेयी न जाने इसमें कौन-सा लाभ देखती थी कि उसने मेरे बेटेको चीर-वस्त्र पहनाकर वनमें भेज दिया और उसे वनवासी बना दिया॥ १२ ॥

क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति।
हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः॥ १३ ॥

'अब कैकेयीको चाहिये कि मुझे भी शीघ्र ही उसी स्थानपर भेज दे, जहाँ इस समय सुवर्णमयी नाभिसे सुशोभित मेरे महायशस्वी पुत्र श्रीराम हैं॥ १३ ॥

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम्।
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः॥ १४ ॥

'अथवा सुमित्राको साथ लेकर और अग्निहोत्रको आगे करके मैं स्वयं ही सुखपूर्वक उस स्थानको प्रस्थान करूँगी, जहाँ श्रीराम निवास करते हैं॥ १४ ॥

कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि।
यत्रासौ पुरुषव्याघ्रस्तप्यते मे सुतस्तपः॥ १५ ॥

'अथवा तुम स्वयं ही अपनी इच्छाके अनुसार अब मुझे वहीं पहुँचा दो, जहाँ मेरे पुत्र पुरुषसिंह श्रीराम तप करते हैं॥

इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम्।
हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं राज्यं निर्यातितं तया॥ १६ ॥

'यह धन-धान्यसे सम्पन्न तथा हाथी, घोड़े एवं रथोंसे भरा-पूरा विस्तृत राज्य कैकेयीने (श्रीरामसे छीनकर) तुम्हें दिलाया है' ॥ १६ ॥

इत्यादिबहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः सम्भर्त्सितोऽनघः।
विव्यथे भरतोऽतीव व्रणे तुद्येव सूचिना॥ १७॥

इस तरहकी बहुत-सी कठोर बातें कहकर जब कौसल्याने निरपराध भरतकी भर्त्सना की, तब उनको बड़ी पीड़ा हुई; मानो किसीने घावमें सूई चुभो दी हो॥ १७॥

पपात चरणौ तस्यास्तदा सम्भ्रान्तचेतनः।
विलप्य बहुधासंज्ञो लब्धसंज्ञस्ततदाभवत्॥ १८॥

वे कौसल्याके चरणोंमें गिर पड़े, उस समय उनके चित्तमें बड़ी घबराहट थी। वे बारंबार विलाप करके अचेत हो गये। थोड़ी देर बाद उन्हें फिर चेत हुआ॥ १८॥

एवं विलपमानां तां प्राञ्जलिर्भरतस्तदा।
कौसल्यां प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृताम्॥ १९॥

तब भरत अनेक प्रकारके शोकोंसे घिरी हुई और पूर्वोक्त रूपसे विलाप करती हुई माता कौसल्यासे हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले—॥ १९॥

आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामकल्मषम्।
विपुलां च मम प्रीतिं स्थितां जानासि राघवे॥ २०॥

'आर्ये! यहाँ जो कुछ हुआ है, इसकी मुझे बिल्कुल जानकारी नहीं थी। मैं सर्वथा निरपराध हूँ, तो भी आप क्यों मुझे दोष दे रही हैं? आप तो जानती हैं कि श्रीरघुनाथजीमें मेरा कितना प्रगाढ़ प्रेम है॥ २०॥

कृतशास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूत् तस्य कदाचन।
सत्यसंधः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २१॥

'जिसकी अनुमतिसे सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ, आर्य श्रीरामजी वनमें गये हों उस पापीकी बुद्धि कभी गुरुसे सीखे हुए शास्त्रोंमें बताये गये मार्गका अनुसरण करनेवाली न हो॥

प्रैष्यं पापीयसां यातु सूर्यं च प्रति मेहतु।
हन्तु पादेन गाः सुप्ता यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २२॥

'जिसकी सलाहसे बड़े भाई श्रीरामको वनमें जाना पड़ा हो, वह अत्यन्त पापियों—हीन जातियोंका सेवक हो। सूर्यकी ओर मुँह करके मल-मूत्रका त्याग करे और सोयी हुई गौओंको लातसे मारे (अर्थात् वह इन पापकर्मोंके दुष्परिणामका भागी हो)॥ २२॥

कारयित्वा महत् कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम्।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः॥२३॥

'जिसकी सम्मतिसे भैया श्रीरामने वनको प्रस्थान किया हो, उसको वही पाप लगे, जो सेवकसे भारी काम कराकर उसे समुचित वेतन न देनेवाले स्वामीको लगता है॥ २३॥

परिपालयमानस्य राज्ञो भूतानि पुत्रवत्।
ततस्तु द्रुह्यतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २४॥

'जिसके कहनेसे आर्य श्रीरामको वनमें भेजा गया हो, उसको वही पाप लगे, जो समस्त प्राणियोंका पुत्रकी भाँति पालन करनेवाले राजासे द्रोह करनेवाले लोगोंको लगता है॥

बलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षितुः प्रजाः।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह उसी अधर्मका भागी हो, जो प्रजासे उसकी आयका छठा भाग लेकर भी प्रजावर्गकी रक्षा न करनेवाले राजाको प्राप्त होता है॥२५॥

संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे वै यज्ञदक्षिणाम्।
तां चापलतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २६॥

'जिसकी सलाहसे भैया श्रीरामको वनमें जाना पड़ा हो, उसे वही पाप लगे, जो यज्ञमें कष्ट सहनेवाले ऋत्विजोंको दक्षिणा देनेकी प्रतिज्ञा करके पीछे इनकार कर देनेवाले लोगोंको लगता है॥ २६॥

हस्त्यश्वरथसम्बाधे युद्धे शस्त्रसमाकुले।
मा स्म कार्षीत् सतां धर्मं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २७॥

'हाथी, घोड़े और रथोंसे भरे एवं अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे व्याप्त संग्राममें सत्पुरुषोंके धर्मका पालन न करनेवाले योद्धाओंको जो पाप लगता है, वही उस मनुष्यको भी प्राप्त हो, जिसकी सम्मतिसे आर्य श्रीरामजीको वनमें भेजा गया हो॥

उपदिष्टं सुसूक्ष्मार्थं शास्त्रं यत्नेन धीमता।
स नाशयतु दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २८॥

'जिसकी सलाहसे आर्य श्रीरामको वनमें प्रस्थान करना पड़ा है, वह दुष्टात्मा बुद्धिमान् गुरुके द्वारा यत्नपूर्वक प्राप्त हुआ शास्त्रके सूक्ष्म विषयका उपदेश भुला दे॥ २८॥

मा च तं व्यूढबाह्वंसं चन्द्रभास्करतेजसम्।
द्राक्षीद् राज्यस्थमासीनं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २९॥

'जिसकी सलाहसे बड़े भैया श्रीरामको वनमें भेजा गया हो, वह चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी तथा विशाल भुजाओं और कंधोंसे सुशोभित श्रीरामचन्द्रजीको राज्यसिंहासनपर विराजमान न देख सके—वह राजा श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित रह जाय॥ २९॥

पायसं कृसरं छागं वृथा सोऽश्नातु निर्घृणः।
गुरूंश्चाप्यवजानातु यस्यार्योऽनुते गतः॥ ३०॥

'जिसकी सलाहसे आर्य श्रीरामचन्द्रजी वनमें गये हों, वह निर्दय मनुष्य खीर, खिचड़ी और बकरीके दूधको देवताओं, पितरों एवं भगवान्‌को निवेदन किये बिना व्यर्थ करके खाय॥ ३०॥

गाश्च स्पृशतु पादेन गुरून् परिवदेत च।
मित्रे द्रुह्येत सोऽत्यर्थं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३१॥

'जिसकी सम्मतिसे श्रीरामचन्द्रजीको वनमें जाना पड़ा

हो, वह पापी मनुष्य गौओंके शरीरका पैरसे स्पर्श, गुरुजनोंकी निन्दा तथा मित्रके प्रति अत्यन्त द्रोह करे ॥ ३१ ॥

विश्वासात् कथितं किंचित् परिवादं मिथः क्वचित् ।
विवृणोतु स दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३२ ॥

'जिसके कहनेसे बड़े भैया श्रीराम वनमें गये हों, वह दुष्टात्मा गुप्त रखनेके विश्वासपर एकान्तमें कहे हुए किसीके दोषको दूसरोंपर प्रकट कर दे (अर्थात् उसे विश्वासघात करनेका पाप लगे) ॥ ३२ ॥

अकर्ता चाकृतज्ञश्च त्यक्तात्मा निरपत्रपः ।
लोके भवतु विद्विष्टो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३३ ॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह मनुष्य उपकार न करनेवाला, कृतघ्न, सत्पुरुषोंद्वारा परित्यक्त, निर्लज्ज और जगत्‌में सबके द्वेषका पात्र हो ॥ ३३ ॥

पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः ।
स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३४ ॥

'जिसकी सलाहसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह अपने घरमें पुत्रों, दासों और भृत्योंसे घिरा रहकर भी अकेले ही मिष्टान्न भोजन करनेके पापका भागी हो ॥ ३४ ॥

अप्राप्य सदृशान् दारानपत्यः प्रमीयताम् ।
अनवाप्य क्रियां धर्म्यां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३५ ॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीरामका वनगमन हुआ हो, वह अपने अनुरूप पत्नीको न पाकर अग्निहोत्र आदि धार्मिक कर्मोंका अनुष्ठान किये विना संतानहीन अवस्थामें ही मर जाय ॥ ३५ ॥

माऽऽत्मनः संततिं द्राक्षीत् स्वेषु दारेषु दुःखितः ।
आयुःसमग्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३६ ॥

'जिसकी सम्मतिसे मेरे बड़े भाई श्रीराम वनमें गये हों, वह सदा दुखी रहकर अपनी धर्मपत्नीसे होनेवाली संतानका मुँह न देखे तथा सम्पूर्ण आयुका उपभोग किये विना ही मर जाय ॥ ३६ ॥

राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत् पापमुच्यते ।
भृत्यत्यागे च यत् पापं तत् पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ३७ ॥

'राजा, स्त्री, बालक और वृद्धोंका वध करने तथा भृत्यों-को त्याग देनेमें जो पाप होता है, वही पाप उसे भी लगे ॥

लाक्षया मधुमांसेन लोहेन च विषेण च ।
सदैव बिभृयाद् भृत्यान् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३८ ॥

जिसकी सम्मतिसे श्रीरामका वनगमन हुआ हो, वह सदैव लाह, मधु, मांस, लोहा और विष आदि निषिद्ध वस्तुओंको बेचकर कमाये हुए धनसे अपने भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनोंका पालन करे ॥ ३८ ॥

संग्रामे समुपोढे च शत्रुपक्षभयंकरे ।
पलायमानो वध्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३९ ॥

'जिसकी रायसे श्रीराम वनमें जानेको विवश हुए हों, वह शत्रुपक्षको भय देनेवाले युद्धके प्राप्त होनेपर उसमें पीठ दिखाकर भागता हुआ मारा जाय ॥ ३९ ॥

कपालपाणिः पृथिवीमटतां चीरसंवृतः ।
भिक्षमाणो यथोन्मत्तो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४० ॥

'जिसकी सम्मतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह फटे-पुराने, मैले-कुचैले वस्त्रसे अपने शरीरको ढककर हाथमें खप्पर ले भीख माँगता हुआ उन्मत्तकी भाँति पृथ्वीपर घूमता फिरे ॥ ४० ॥

मद्यप्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः ।
कामक्रोधाभिभूतश्च यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४१ ॥

'जिसकी सलाहसे श्रीरामचन्द्रजीको वनमें जाना पड़ा हो, वह काम-क्रोधके वशीभूत होकर सदा ही मद्यपान, स्त्री-समागम और द्यूतक्रीड़ामें आसक्त रहे ॥ ४१ ॥

मास्य धर्मे मनो भूयादधर्मं स निषेवताम् ।
अपात्रवर्षी भवतु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४२ ॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, उसका मन कभी धर्ममें न लगे, वह अधर्मका ही सेवन करे और अपात्रको धन दान करे ॥ ४२ ॥

संचितान्यस्य वित्तानि विविधानि सहस्रशः ।
दस्युभिर्विप्रलुप्यन्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४३ ॥

'जिसकी सलाहसे आर्य श्रीरामका वनगमन हुआ हो, उसके द्वारा सहस्रोंकी संख्यामें संचित किये गये नाना प्रकारके धन वैभवोंको लुटेरे लूट ले जायँ ॥ ४३ ॥

उभे संध्ये शयानस्य यत् पापं परिकल्प्यते ।
तच्च पापं भवेत् तस्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४४ ॥
यदग्निदायके पापं यत् पापं गुरुतल्पगे ।
मित्रद्रोहे च यत् पापं तत् पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ४५ ॥

'जिसके कहनेसे भैया श्रीरामको वनमें भेजा गया हो, उसे वही पाप लगे, जो दोनों संध्याओंके समय सोये हुए पुरुषको प्राप्त होता है। आग लगानेवाले मनुष्यको जो पाप लगता है, गुरुपत्नीगामीको जिस पापकी प्राप्ति होती है तथा मित्रद्रोह करनेसे जो पाप प्राप्त होता है, वही पाप उसे भी लगे ॥ ४४-४५ ॥

देवतानां पितॄणां च मातापित्रोस्तथैव च ।
मा स्म कार्षीत् स शुश्रूषां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४६ ॥

'जिसकी सम्मतिसे आर्य श्रीरामको वनमें जाना पड़ा है, वह देवताओं, पितरों और माता-पिताकी सेवा कभी न करे (अर्थात् उनकी सेवाके पुण्यसे वञ्चित रह जाय) ॥ ४६ ॥

सतां लोकात् सतां कीर्त्याः सज्जुष्टात् कर्मणस्तथा ।
भ्रश्यतु क्षिप्रमद्यैव यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४७ ॥

'जिसकी अनुमतिसे विवश होकर भैया श्रीरामने वनमें पदार्पण किया है, वह पापी आज ही सत्पुरुषोंके लोकसे, सत्पुरुषोंकी कीर्तिसे तथा सत्पुरुषोंद्वारा सेवित कर्मसे शीघ्र भ्रष्ट हो जाय ॥ ४७ ॥

अपास्य मातृशुश्रूषामनर्थे सोऽवतिष्ठताम्।
दीर्घबाहुर्महावक्षा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४८ ॥

'जिसकी सम्मतिसे बड़ी-बड़ी बाँह और विशाल वक्षवाले आर्य श्रीरामको वनमें जाना पड़ा है, वह माताकी सेवा छोड़कर अनर्थके पथमें स्थित रहे ॥ ४८ ॥

बहुभृत्यो दरिद्रश्च ज्वररोगसमन्वितः।
समायात् सततं क्लेशं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४९ ॥

'जिसकी सलाहसे श्रीरामका वनगमन हुआ हो, वह दरिद्र हो, उसके यहाँ भरण-पोषण पानेके योग्य पुत्र आदिकी संख्या बहुत अधिक हो तथा वह ज्वर रोगसे पीड़ित होकर सदा क्लेश भोगता रहे ॥ ४९ ॥

आशामाशंसमानानां दीनानामूर्ध्वचक्षुषाम्।
अर्थिनां वितथां कुर्याद् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५०॥

'जिसकी अनुमति पाकर आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह आशा लगाये ऊपरकी ओर आँख उठाकर दाताके मुँहकी ओर देखनेवाले दीन याचकोंकी आशाको निष्फल कर दे ॥ ५० ॥

मायया रमतां नित्यं पुरुषः पिशुनोऽशुचिः।
राज्ञो भीतस्त्वधर्मात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५१ ॥

'जिसके कहनेसे भैया श्रीरामने वनको प्रस्थान किया हो, वह पापात्मा पुरुष चुगला, अपवित्र तथा राजासे भयभीत रहकर सदा छल-कपटमें ही रचा-पचा रहे ॥ ५१ ॥

ऋतुस्नातां सतीं भार्यामृतुकालानुरोधिनीम्।
अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५२ ॥

'जिसके परामर्शसे आर्यका वनगमन हुआ हो, वह दुष्टात्मा ऋतु-स्नानकाल प्राप्त होनेके कारण अपने पास आयी हुई सती-साध्वी ऋतुस्नाता पत्नीको ठुकरा दे (उसकी इच्छा न पूर्ण करनेके पापका भागी हो) ॥ ५२ ॥

विप्रलुप्तप्रजातस्य दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यत्।
तदेतत् प्रतिपद्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५३ ॥

'जिसकी सलाहसे मेरे बड़े भाईको वनमें जाना पड़ा हो, उसको वही पाप लगे, जो (अन्न आदिका दान न करने अथवा स्त्रीसे द्वेष रखनेके कारण) नष्ट हुई संतानवाले ब्राह्मणको प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

ब्राह्मणायोद्यतां पूजां विहन्तु कलुषेन्द्रियः।
बालवत्सां च गां दोग्धु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५४॥

'जिसकी रायसे आर्यने वनमें पदार्पण किया हो, वह मलिन इन्द्रियवाला पुरुष ब्राह्मणके लिये की जाती हुई पूजामें विघ्न डाल दे और छोटे बछड़ेवाली (दस दिनके भीतरकी ब्यायी हुई) गायका दूध दुहे ॥ ५४ ॥

धर्मदारान् परित्यज्य परदारान् निषेवताम्।
त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५५ ॥

'जिसने आर्य श्रीरामके वनगमनकी अनुमति दी हो, वह मूढ़ धर्मपत्नीको छोड़कर परस्त्रीका सेवन करे तथा धर्मविषयक अनुरागको त्याग दे ॥ ५५ ॥

पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके।
यत्तदेकः स लभतां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५६ ॥

'पानीको गन्दा करनेवाले तथा दूसरोंको जहर देनेवाले मनुष्यको जो पाप लगता है, वह सारा पाप अकेला वही प्राप्त करे, जिसकी अनुमतिसे विवश होकर आर्य श्रीरामको वनमें जाना पड़ा है ॥ ५६ ॥

तृषार्ते सति पानीये विप्रलम्भेन योजयन्।
यत् पापं लभते तत् स्याद् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५७॥

'जिसकी सम्मतिसे आर्यका वनगमन हुआ हो, उसे वही पाप प्राप्त हो, जो पानी होते हुए भी प्यासेको उससे वञ्चित कर देनेवाले मनुष्यको लगता है ॥ ५७ ॥

भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः।
तेन पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५८ ॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह उस पापका भागी हो, जो परस्पर झगड़ते हुए मनुष्योंमेंसे किसी एकके प्रति पक्षपात रखकर मार्गमें खड़ा हो उनका झगड़ा देखनेवाले कलहप्रिय मनुष्यको प्राप्त होता है' ॥ ५८ ॥

एवमाश्वासयन्नेव दुःखार्तोऽनुपपात ह।
विहीनां पतिपुत्राभ्यां कौसल्यां पार्थिवात्मजः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार पति और पुत्रसे बिछुड़ी हुई कौसल्याको शपथके द्वारा आश्वासन देते हुए ही राजकुमार भरत दुःखसे व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५९ ॥

तदा तं शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम्।
भरतं शोकसंतप्तं कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ ६० ॥

उस समय दुष्कर शपथोंद्वारा अपनी सफाई देते हुए शोकसंतप्त एवं अचेत भरतसे कौसल्याने इस प्रकार कहा—॥ ६० ॥

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते।
शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे ॥ ६१ ॥

'बेटा ! तुम अनेकानेक शपथ खाकर जो मेरे प्राणोंको पीड़ा दे रहे हो, इससे मेरा यह दुःख और भी बढ़ता जा रहा है ॥ ६१ ॥

दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्षणः।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो हि सतां लोकानवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

'वत्स! सौभाग्यकी बात है कि शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न तुम्हारा चित्त धर्मसे विचलित नहीं हुआ है। तुम सत्यप्रतिज्ञ हो, इसलिये तुम्हें सत्पुरुषोंके लोक प्राप्त होंगे' ॥ ६२ ॥

इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम्।
परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता ॥ ६३ ॥

ऐसा कहकर कौसल्याने भ्रातृभक्त महाबाहु भरतको गोदमें खींच लिया और अत्यन्त दुखी हो उन्हें गलेसे लगाकर वे फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ ६३ ॥

एवं विलपमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः।
मोहाच्च शोकसंरम्भाद् बभूव लुलितं मनः ॥ ६४ ॥

महात्मा भरत भी दुःखसे आर्त होकर विलाप कर रहे थे। उनका मन मोह और शोकके वेगसे व्याकुल हो गया था ॥ ६४ ॥

लालप्यमानस्य विचेतनस्य
प्रणष्टबुद्धेः पतितस्य भूमौ।
मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च दीर्घं
सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः ॥ ६५ ॥

पृथ्वीपर पड़े हुए भरतकी बुद्धि (विवेकशक्ति) नष्ट हो गयी थी। वे अचेत-से होकर विलाप करते और बारंबार लंबी साँस खींचते थे। इस तरह शोकमें ही उनकी वह रात बीत गयी ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथका अन्त्येष्टिसंस्कार

तमेवं शोकसंतप्तं भरतं कैकयीसुतम्।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः ॥ १ ॥

इस प्रकार शोकसे संतप्त हुए केकयीकुमार भरतसे वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षि वसिष्ठने उत्तम वाणीमें कहा— ॥ १ ॥

अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः।
प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम् ॥ २ ॥

'महायशस्वी राजकुमार! तुम्हारा कल्याण हो। यह शोक छोड़ो, क्योंकि इससे कुछ होने-जानेवाला नहीं है। अब समयोचित कर्तव्यपर ध्यान दो। राजा दशरथके शवको दाहसंस्कारके लिये ले चलनेका उत्तम प्रबन्ध करो' ॥ २ ॥

वसिष्ठस्य वचः श्रुत्वा भरतो धरणीं गतः।
[illegible] सर्वाणि कारयामास धर्मवित् ॥ ३ ॥

वसिष्ठजीका वचन सुनकर धर्मज्ञ भरतने पृथ्वीपर पड़कर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और मन्त्रियोंद्वारा पिताके सम्पूर्ण प्रेतकर्मका प्रबन्ध करवाया ॥ ३ ॥

उद्धृत्य तैलसंसेकात् स तु भूमौ निवेशितम्।
आपीतवर्णवदनं प्रसुप्तमिव भूमिपम् ॥ ४ ॥

राजा दशरथका शव तेलके कड़ाहसे निकालकर भूमिपर रखा गया। अधिक समयतक तेलमें पड़े रहनेसे उसका मुख कुछ पीला हो गया। उसे देखनेसे ऐसा जान पड़ता था, मानो भूमिपाल दशरथ सो रहे हों ॥ ४ ॥

संवेश्य शयने चाग्र्ये नानारत्नपरिष्कृते।
ततो दशरथं पुत्रो विललाप सुदुःखितः ॥ ५ ॥

तदनन्तर मृत राजा दशरथको धो-पोंछकर नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित उत्तम शय्या (विमान) पर सुलाकर उनके पुत्र भरत अत्यन्त दुखी हो विलाप करने लगे— ॥ ५ ॥

किं ते व्यवसितं राजन् प्रोषिते मय्यनागते।
विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ ६ ॥

'राजन्! मैं परदेशमें था और आपके पास पहुँचने भी नहीं पाया था, तबतक ही धर्मज्ञ श्रीराम और महाबली लक्ष्मणको वनमें भेजकर आपने इस तरह स्वर्गमें जानेका निश्चय कैसे कर लिया? ॥ ६ ॥

क्व यास्यसि महाराज हित्वेमं दुःखितं जनम्।
हीनं पुरुषसिंहेन रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ७ ॥

'महाराज! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले पुरुषसिंह श्रीरामसे हीन इस दुखी सेवकको छोड़ आप कहाँ चले जायँगे? ॥ ७ ॥

योगक्षेमं तु तेऽव्यग्रं कोऽस्मिन् कल्पयिता पुरे।
त्वयि प्रयाते स्वस्तात रामे च वनमाश्रिते ॥ ८ ॥

'तात! आप स्वर्गको चल दिये और श्रीरामने वनका आश्रय लिया—ऐसी दशामें आपके इस नगरमें निश्चिन्ततापूर्वक प्रजाके योगक्षेमकी व्यवस्था कौन करेगा? ॥

विधवा पृथिवी राजंस्त्वया हीना न राजते।
हीनचन्द्रेव रजनी नगरी प्रतिभाति माम् ॥ ९ ॥

'राजन्! आपके बिना यह पृथ्वी विधवाके समान हो गयी, अतः इसकी शोभा नहीं हो रही है। यह पुरी भी मुझे चन्द्रहीन रात्रिके समान श्रीहीन प्रतीत होती है'॥ ९॥

एवं विलपमानं तं भरतं दीनमानसम्।
अब्रवीद् वचनं भूयो वसिष्ठस्तु महामुनिः॥ १०॥

इस प्रकार दीनचित्त होकर विलाप करते हुए भरतसे महामुनि वसिष्ठने फिर कहा—॥ १०॥

प्रेतकार्याणि यान्यस्य कर्तव्यानि विशाम्पतेः।
तान्यव्यग्रं महाबाहो क्रियतामविचारितम्॥ ११॥

'महाबाहो! इन महाराजके लिये जो कुछ भी प्रेतकर्म करने हैं उन्हें बिना विचारे शान्तचित्त होकर करो'॥ ११॥

तथेति भरतो वाक्यं वसिष्ठस्याभिपूज्य तत्।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यांस्त्वरयामास सर्वशः॥ १२॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर भरतने वसिष्ठजीकी आज्ञा शिरोधार्य की तथा ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्य—सबको इस कार्यके लिये जल्दी करनेको कहा॥ १२॥

ये त्वग्नयो नरेन्द्रस्य अग्न्यगाराद् बहिष्कृताः।
ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव ते हूयन्ते यथाविधि॥ १३॥

राजाकी अग्निशालासे जो अग्नियाँ बाहर निकाली गयी थीं, उनमें ऋत्विजों और याजकोंद्वारा विधिपूर्वक हवन किया गया॥ १३॥

शिबिकायामथारोप्य राजानं गतचेतनम्।
बाष्पकण्ठा विमनसस्तमूहुः परिचारकाः॥ १४॥

तत्पश्चात् महाराज दशरथके प्राणहीन शरीरको पालकीमें बिठाकर परिचारकगण उन्हें श्मशानभूमिको ले चले। उस समय आँसुओंसे उनका गला रुँध गया था और मन-ही-मन उन्हें बड़ा दुःख हो रहा था॥ १४॥

हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च।
प्रकिरन्तो जना मार्गं नृपतेरग्रतो ययुः॥ १५॥

मार्गमें राजकीय पुरुष राजाके शवके आगे-आगे सोने, चाँदी तथा भाँति-भाँतिके वस्त्र लुटाते चलते थे॥ १५॥

चन्दनागुरुनिर्यासान् सरलं पद्मकं तथा।
देवदारूणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथापरे॥ १६॥
गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र गत्वाथ भूमिपम्।
तत्र संवेशयामासुश्चितामध्ये तमृत्विजः॥ १७॥

श्मशानभूमिमें पहुँचकर चिता तैयार की जाने लगी, किसीने चन्दन लाकर रखा तो किसीने अगर, कोई-कोई गुग्गुल तथा कोई सरल, पद्मक और देवदारुकी लकड़ियाँ ला-लाकर चितामें डालने लगे। कुछ लोगोंने तरह-तरहके सुगन्धित पदार्थ लाकर छोड़े। इसके बाद ऋत्विजोंने राजाके शवको चितापर रखा॥ १६-१७॥

तदा हुताशनं हुत्वा जेपुस्तस्य तदृत्विजः।
जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः॥ १८॥

उस समय अग्निमें आहुति देकर उनके ऋत्विजोंने वेदोक्त मन्त्रोंका जप किया। सामगान करनेवाले विद्वान् शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार साम-श्रुतियोंका गायन करने लगे॥ १८॥

शिबिकाभिश्च यानैश्च यथार्हं तस्य योषितः।
नगरान्निर्ययुस्तत्र वृद्धैः परिवृतास्तथा॥ १९॥
प्रसव्यं चापि तं चक्रुर्ऋत्विजोऽग्निचितं नृपम्।
स्त्रियश्च शोकसंतप्ताः कौसल्याप्रमुखास्तदा॥ २०॥

(इसके बाद चितामें आग लगायी गयी) तदनन्तर राजा दशरथकी कौसल्या आदि रानियाँ बूढ़े रक्षकोंसे घिरी हुई यथायोग्य शिबिकाओं तथा रथोंपर आरूढ़ होकर नगरसे निकलीं तथा शोकसे संतप्त हो श्मशानभूमिमें आकर अश्वमेधान्त यज्ञोंके अनुष्ठाता राजा दशरथके शवकी परिक्रमा करने लगीं। साथ ही ऋत्विजोंने भी उस शवकी परिक्रमा की॥ १९-२०॥

क्रौञ्चीनामिव नारीणां निनादस्तत्र शुश्रुवे।
आर्तानां करुणं काले क्रोशन्तीनां सहस्रशः॥ २१॥

उस समय वहाँ करुण क्रन्दन करती हुई सहस्रों शोकार्त रानियोंका आर्तनाद कुररियोंके चीत्कारके समान सुनायी देता था॥ २१॥

ततो रुदन्त्यो विवशा विलप्य च पुनः पुनः।
यानेभ्यः सरयूतीरमवतेरुर्नृपाङ्गनाः॥ २२॥

दाहकर्मके पश्चात् विवश होकर रोती हुई वे राज-रानियाँ बारंबार विलाप करके सवारियोंसे ही सरयूके तटपर जाकर उतरीं॥ २२॥

कृत्वोदकं ते भरतेन सार्धं
नृपाङ्गना मन्त्रिपुरोहिताश्च।
पुरं प्रविश्याश्रुपरीतनेत्रा
भूमौ दशाहं व्यनयन्त दुःखम्॥ २३॥

भरतके साथ रानियों, मन्त्रियों और पुरोहितोंने भी राजाके लिये जलाञ्जलि दी, फिर सब-के-सब नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए नगरमें आये और दस दिनोंतक भूमिपर शयन करते हुए उन्होंने बड़े दुःखसे अपना समय व्यतीत किया॥ २३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः॥ ७६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७६॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

भरतका पिताके श्राद्धमें ब्राह्मणोंको बहुत धन-रत्न आदिका दान देना, तेरहवें दिन अस्थि-संचयका शेष कार्य पूर्ण करनेके लिये पिताकी चिताभूमिपर जाकर भरत और शत्रुघ्नका विलाप करना और वसिष्ठ तथा सुमन्त्रका उन्हें समझाना

ततो दशाहेऽतिगते कृतशौचो नृपात्मजः ।
द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत् ॥ १ ॥

तदनन्तर दशाह व्यतीत हो जानेपर राजकुमार भरतने ग्यारहवें दिन आत्मशुद्धिके लिये स्नान और एकादशाह श्राद्धका अनुष्ठान किया, फिर बारहवाँ दिन आनेपर उन्होंने अन्य श्राद्ध कर्म (मासिक और सपिण्डीकरण श्राद्ध) किये ॥ १ ॥

ब्राह्मणेभ्यो धनं रत्नं ददावन्नं च पुष्कलम् ।
वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ।
वास्तिकं बहु शुक्लं च गाश्चापि बहुशस्तदा ॥ २ ॥

उसमें भरतने ब्राह्मणोंको धन, रत्न, प्रचुर अन्न, बहुमूल्य वस्त्र, नाना प्रकारके रत्न, बहुत-से बकरे, चाँदी और बहुतेरी गौएँ दान कीं ॥ २ ॥

दासीर्दासांश्च यानानि वेश्मानि सुमहान्ति च ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदेहिकम् ॥ ३ ॥

राजपुत्र भरतने राजाके पारलौकिक हितके लिये बहुत-से दास, दासियाँ, सवारियाँ तथा बड़े-बड़े घर भी ब्राह्मणोंको दिये ॥ ३ ॥

ततः प्रभातसमये दिवसे च त्रयोदशे ।
विललाप महाबाहुर्भरतः शोकमूर्च्छितः ॥ ४ ॥

तदनन्तर तेरहवें दिन प्रातःकाल महाबाहु भरत शोकसे मूर्च्छित होकर विलाप करने लगे ॥ ४ ॥

शब्दापिहितकण्ठश्च शोधनार्थमुपागतः ।
चितामूले पितुर्वाक्यमिदमाह सुदुःखितः ॥ ५ ॥
तात यस्मिन् निसृष्टोऽहं त्वया भ्रातरि राघवे ।
तस्मिन् वनं प्रव्रजिते शून्ये त्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ॥

उस समय रोनेसे उनका गला भर आया था, वे पिताके चितास्थानपर अस्थिसंचयके लिये आये और अत्यन्त दुखी होकर इस प्रकार कहने लगे—'तात ! आपने मुझे जिन ज्येष्ठ भ्राता श्रीरघुनाथजीके हाथमें सौंपा था, उनके वनमें चले जानेपर आपने मुझे सूनेमें ही छोड़ दिया (इस समय मेरा कोई सहारा नहीं) ॥ ५-६ ॥

यस्या गतिरनाथायाः पुत्रः प्रव्राजितो वनम् ।
तामम्बां तात कौसल्यां त्यक्त्वा त्वं क्व गतो नृप ॥७॥

'तात ! नरेश्वर ! जिन अनाथ हुई देवीके एकमात्र आधार पुत्रको आपने वनमें भेज दिया, उन माता कौसल्याको छोड़कर आप कहाँ चले गये ?' ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा भस्मारुणं तच्च दग्धास्थि स्थानमण्डलम् ।
पितुः शरीरनिर्वाणं निष्टनन् विषसाद ह ॥ ८ ॥

पिताकी चिताका वह स्थानमण्डल भस्मसे भरा हुआ था, अत्यन्त दाहके कारण कुछ लाल दिखायी देता था। वहाँ पिताकी जली हुई हड्डियाँ बिखरी हुई थीं। पिताके शरीरके निर्वाणका वह स्थान देखकर भरत अत्यन्त विलाप करते हुए शोकमें डूब गये ॥ ८ ॥

स तु दृष्ट्वा रुदन् दीनः पपात धरणीतले ।
उत्थाप्यमानः शक्रस्य यन्त्रध्वज इवोच्छ्रितः ॥ ९ ॥

उस स्थानको देखते ही वे दीनभावसे रोकर पृथ्वीपर गिर पड़े। जैसे इन्द्रका यन्त्रबद्ध ऊँचा ध्वज ऊपरको उठाये जाते समय खिसककर गिर पड़ा हो ॥ ९ ॥

अभिपेतुस्ततः सर्वे तस्यामात्याः शुचिव्रतम् ।
अन्तकाले निपतितं ययातिमृषयो यथा ॥ १० ॥

तब उनके सारे मन्त्री उन पवित्र व्रतवाले भरतके पास आ पहुँचे, जैसे पुण्योंका अन्त होनेपर स्वर्गसे गिरे हुए राजा ययातिके पास अष्टक आदि राजर्षि आ गये थे ॥ १० ॥

शत्रुघ्नश्चापि भरतं दृष्ट्वा शोकपरिप्लुतम् ।
विसंज्ञो न्यपतद् भूमौ भूमिपालमनुस्मरन् ॥ ११ ॥

भरतको शोकमें डूबा हुआ देख शत्रुघ्न भी अपने पिता महाराज दशरथका बारंबार स्मरण करते हुए अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ११ ॥

उन्मत्त इव निश्चित्तो विललाप सुदुःखितः ।
स्मृत्वा पितुर्गुणाङ्गानि तानि तानि तदा तदा ॥ १२ ॥

वे समय-समयपर अनुभवमें आये हुए पिताके लालन-पालनसम्बन्धी उन-उन गुणोंका स्मरण करके अत्यन्त दुखी हो सुध-बुध खोकर उन्मत्तके समान विलाप करने लगे—॥

मन्थराप्रभवस्तीव्रः कैकेयीग्राहसंकुलः ।
वरदानमयोऽक्षोभ्योऽमज्जयच्छोकसागरः ॥ १३ ॥

'हाय ! मन्थरासे जिसका प्राकट्य हुआ है, कैकेयीरूपी ग्राहसे जो व्याप्त है तथा जो किसी प्रकार भी मिटाया नहीं जा सकता, उस वरदानमय शोकरूपी उग्र समुद्रने हम सब लोगोंको अपने भीतर निमग्न कर दिया है ॥ १३ ॥

सुकुमारं च बालं च सततं लालितं त्वया।
क्व तात भरतं हित्वा विलपन्तं गतो भवान्॥ १४॥

'तात! आपने जिनका सदा लाड़-प्यार किया है तथा जो सुकुमार और बालक हैं, उन रोते-बिलखते हुए भरतको छोड़कर आप कहाँ चले गये?॥ १४॥

ननु भोज्येषु पानेषु वस्त्रेष्वाभरणेषु च।
प्रवारयति सर्वान् नस्तन्नः कोऽद्य करिष्यति॥ १५॥

'भोजन, पान, वस्त्र और आभूषण—इन सबको अधिक संख्यामें एकत्र करके आप हम सब लोगोंसे अपनी रुचिकी वस्तुएँ ग्रहण करनेको कहते थे। अब कौन हमारे लिये ऐसी व्यवस्था करेगा?॥ १५॥

अवदारणकाले तु पृथिवी नावदीर्यते।
विहीना या त्वया राज्ञा धर्मज्ञेन महात्मना॥ १६॥

'आप-जैसे धर्मज्ञ महात्मा राजासे रहित होनेपर पृथ्वीको फट जाना चाहिये। इस फटनेके अवसरपर भी जो यह फट नहीं रही है, यह आश्चर्यकी बात है॥ १६॥

पितरि स्वर्गमापन्ने रामे चारण्यमाश्रिते।
किं मे जीवितसामर्थ्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥ १७॥

'पिता स्वर्गवासी हो गये और श्रीराम वनमें चले गये। अब मुझमें जीवित रहनेकी क्या शक्ति है? अब तो मैं अग्निमें ही प्रवेश करूँगा॥ १७॥

हीनो भ्रात्रा च पित्रा च शून्यामिक्ष्वाकुपालिताम्।
अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि प्रवेक्ष्यामि तपोवनम्॥ १८॥

'बड़े भाई और पितासे हीन होकर इक्ष्वाकुवंशी नरेशों-द्वारा पालित इस सूनी अयोध्यामें मैं प्रवेश नहीं करूँगा; तपोवनको ही चला जाऊँगा'॥ १८॥

तयोर्विलपितं श्रुत्वा व्यसनं चाप्यवेक्ष्य तत्।
भृशमार्ततरा भूयः सर्व एवानुगामिनः॥ १९॥

उन दोनोंका विलाप सुनकर और उस संकटको देखकर समस्त अनुचर-वर्गके लोग पुनः अत्यन्त शोकसे व्याकुल हो उठे॥ १९॥

ततो विषण्णौ श्रान्तौ च शत्रुघ्नभरतावुभौ।
धरायां स्म व्यचेष्टेतां भग्नशृङ्गाविवर्षभौ॥ २०॥

उस समय भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई विषादग्रस्त और थकित होकर टूटे सींगोंवाले दो बैलोंके समान पृथ्वीपर लोट रहे थे॥ २०॥

ततः प्रकृतिमान् वैद्यः पितुरेषां पुरोहितः।
वसिष्ठो भरतं वाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह॥ २१॥

तदनन्तर दैवी प्रकृतिसे युक्त और सर्वज्ञ वसिष्ठजी, जो इन श्रीराम आदिके पिताके पुरोहित थे, भरतको उठाकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ २१॥

त्रयोदशोऽयं दिवसः पितुर्वृत्तस्य ते विभो।
सावशेषास्थिनिचये किमिह त्वं विलम्बसे॥ २२॥

'प्रभो! तुम्हारे पिताके दाहसंस्कार हुए यह तेरहवाँ दिन है; अब अस्थिसंचयका जो शेष कार्य है, उसके करनेमें तुम यहाँ विलम्ब क्यों लगा रहे हो?॥ २२॥

त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः।
तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि॥ २३॥

'भूख-प्यास, शोक-मोह तथा जरा-मृत्यु—ये तीन द्वन्द्व सभी प्राणियोंमें समानरूपसे उपलब्ध होते हैं। इन्हें रोकना सर्वथा असम्भव है—ऐसी स्थितिमें तुम्हें इस तरह शोकाकुल नहीं होना चाहिये'॥ २३॥

सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च।
श्रावयामास तत्त्वज्ञः सर्वभूतभवाभवौ॥ २४॥

तत्त्वज्ञ सुमन्त्रने भी शत्रुघ्नको उठाकर उनके चित्तको शान्त किया तथा समस्त प्राणियोंके जन्म और मरणकी अनिवार्यताका उपदेश सुनाया॥ २४॥

उत्थितौ तौ नरव्याघ्रौ प्रकाशेते यशस्विनौ।
वर्षातपपरिग्लानौ पृथगिन्द्रध्वजाविव॥ २५॥

उस समय उठे हुए वे दोनों यशस्वी नरश्रेष्ठ वर्षा और धूपसे मलिन हुए दो अलग-अलग इन्द्रध्वजोंके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ २५॥

अश्रूणि परिमृद्नन्तौ रक्ताक्षौ दीनभाषिणौ।
अमात्यास्त्वरयन्ति स्म तनयौ चापराः क्रियाः॥ २६॥

वे आँसू पोंछते हुए दीनतापूर्ण वाणीमें बोलते थे। उन दोनोंकी आँखें लाल हो गयी थीं तथा मन्त्रीलोग उन दोनों राजकुमारोंको दूसरी-दूसरी क्रियाएँ शीघ्र करनेके लिये प्रेरित कर रहे थे॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः॥ ७७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सतहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७७॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः

शत्रुघ्नका रोष, उनका कुब्जाको घसीटना और भरतजीके कहनेसे उसे मूर्च्छित अवस्थामें छोड़ देना

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः।
भरतं शोकसंतप्तमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

तेरहवें दिनका कार्य पूर्ण करके श्रीरामचन्द्रजीके पास जानेका विचार करते हुए शोकसंतप्त भरतसे लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्नने इस प्रकार कहा—॥ १॥

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः।

स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम्॥ २ ॥

'भैया! जो दुःखके समय अपने तथा आत्मीयजनोंके लिये तो बात ही क्या है, समस्त प्राणियोंको भी सहारा देनेवाले हैं, वे सत्त्वगुणसम्पन्न श्रीराम एक स्त्रीके द्वारा वनमें भेज दिये गये (यह कितने खेदकी बात है)॥ २॥

बलवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम्॥ ३ ॥

'तथा वे जो बल और पराक्रमसे सम्पन्न लक्ष्मण नामधारी शूरवीर हैं, उन्होंने भी कुछ नहीं किया। मैं पूछता हूँ कि उन्होंने पिताको कैद करके भी श्रीरामको इस संकटसे क्यों नहीं छुड़ाया?॥ ३॥

पूर्वमेव तु निग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ।
उत्पथं यः समारूढो नार्या राजा वशं गतः॥ ४ ॥

'जब राजा एक नारीके वशमें होकर बुरे मार्गपर आरूढ़ हो चुके थे, तब न्याय और अन्यायका विचार करके उन्हें पहले ही कैद कर लेना चाहिये था'॥ ४॥

इति सम्भाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे।
प्राग्द्वारेऽभूत् तदा कुब्जा सर्वाभरणभूषिता॥ ५ ॥

लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न जब इस प्रकार रोषमें भरकर बोल रहे थे, उसी समय कुब्जा समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो उस राजभवनके पूर्वद्वारपर आकर खड़ी हो गयी॥

लिप्ता चन्दनसारेण राजवस्त्राणि बिभ्रती।
विविधं विविधैस्तैस्तैर्भूषणैश्च विभूषिता॥ ६ ॥

उसके अङ्गोंमें उत्तमोत्तम चन्दनका लेप लगा हुआ था तथा वह राजरानियोंके पहनने योग्य विविध वस्त्र धारण करके भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे सज-धजकर वहाँ आयी थी॥ ६॥

मेखलादामभिश्चित्रैरन्यैश्च वरभूषणैः।
बभासे बहुभिर्बद्धा रज्जुभिरिव वानरी॥ ७ ॥

करधनीकी विचित्र लड़ियों तथा अन्य बहुसंख्यक सुन्दर अलंकारोंसे अलंकृत हो वह बहुत-सी रस्सियोंमें बँधी हुई वानरीके समान जान पड़ती थी॥ ७॥

तां समीक्ष्य तदा द्वाःस्थो भृशं पापस्य कारिणीम्।
गृहीत्वाकरुणं कुब्जां शत्रुघ्नाय न्यवेदयत्॥ ८ ॥

वही सारी बुराइयोंकी जड़ थी। वही श्रीरामके वनवासरूपी पापका मूल कारण थी। उसपर दृष्टि पड़ते ही द्वारपालने उसे पकड़ लिया और बड़ी निर्दयताके साथ घसीट लाकर शत्रुघ्नके हाथमें देते हुए कहा—॥ ८॥

यस्याः कृते वने रामो न्यस्तदेहश्च वः पिता।
सेयं पापा नृशंसा च तस्याः कुरु यथामति॥ ९ ॥

'राजकुमार! जिसके कारण श्रीरामको वनमें निवास करना पड़ा है और आपलोगोंके पिताने शरीरका परित्याग किया है, वह क्रूर कर्म करनेवाली पापिनी यही है। आप इसके साथ जैसा बर्ताव उचित समझें, करें'॥ ९॥

शत्रुघ्नश्च तदाज्ञाय वचनं भृशदुःखितः।
अन्तःपुरचरान् सर्वानित्युवाच धृतव्रतः॥ १० ॥

द्वारपालकी बातपर विचार करके शत्रुघ्नका दुःख और बढ़ गया। उन्होंने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और अन्तःपुरमें रहनेवाले सब लोगोंको सुनाकर इस प्रकार कहा—॥ १०॥

तीव्रमुत्पादितं दुःखं भ्रातॄणां मे तथा पितुः।
यथा सेयं नृशंसस्य कर्मणः फलमश्नुताम्॥ ११ ॥

'इस पापिनीने मेरे भाइयों तथा पिताको जैसा दुःसह दुःख पहुँचाया है, अपने उस क्रूर कर्मका वैसा ही फल यह भी भोगे'॥ ११॥

एवमुक्त्वा च तेनाशु सखीजनसमावृता।
गृहीता बलवत् कुब्जा सा तद् गृहमनादयत्॥ १२ ॥

ऐसा कहकर शत्रुघ्नने सखियोंसे घिरी हुई कुब्जाको तुरंत ही बलपूर्वक पकड़ लिया। वह डरके मारे ऐसा चीखने-चिल्लाने लगी कि वह सारा महल गूँज उठा॥ १२॥

ततः सुभृशसंतप्तस्तस्याः सर्वः सखीजनः।
क्रुद्धमाज्ञाय शत्रुघ्नं व्यपलायत सर्वशः॥ १३ ॥

फिर तो उसकी सारी सखियाँ अत्यन्त संतप्त हो उठीं और शत्रुघ्नको कुपित जानकर सब ओर भाग चलीं॥ १३॥

अमन्त्रयत कृत्स्नश्च तस्याः सर्वः सखीजनः।
यथायं समुपक्रान्तो निःशेषं नः करिष्यति॥ १४ ॥

उसकी सम्पूर्ण सखियोंने एक जगह एकत्र होकर आपसमें सलाह की कि 'जिस प्रकार इन्होंने बलपूर्वक कुब्जाको पकड़ा है, उससे जान पड़ता है, ये हमलोगोंमेंसे किसीको जीवित नहीं छोड़ेंगे॥ १४॥

सानुक्रोशां वदान्यां च धर्मज्ञां च यशस्विनीम्।
कौसल्यां शरणं यामः सा हि नोऽस्ति ध्रुवा गतिः॥

'अतः हमलोग परम दयालु, उदार, धर्मज्ञ और यशस्विनी महारानी कौसल्याकी शरणमें चलें। इस समय वे ही हमारी निश्चल गति हैं'॥ १५॥

स च रोषेण संवीतः शत्रुघ्नः शत्रुशासनः।
विचकर्ष तदा कुब्जां क्रोशन्तीं पृथिवीतले॥ १६ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले शत्रुघ्न रोषमें भरकर कुब्जाको जमीनपर घसीटने लगे। उस समय वह जोर-जोरसे चीत्कार कर रही थी॥ १६॥

तस्यां ह्याकृष्यमाणायां मन्थरायां ततस्ततः।
चित्रं बहुविधं भाण्डं पृथिव्यां तद्व्यशीर्यत॥ १७ ॥

जब मन्थरा घसीटी जा रही थी, उस समय उसके नाना प्रकारके विचित्र आभूषण टूट-टूटकर पृथ्वीपर इधर-उधर बिखरे जाते थे॥ १७॥

तेन भाण्डेन विस्तीर्णं श्रीमद् राजनिवेशनम्।
अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा॥ १८॥

आभूषणोंके उन टुकड़ोंसे वह शोभाशाली विशाल राजभवन नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत शरत्कालके आकाशकी भाँति अधिक सुशोभित हो रहा था॥ १८॥

स बली बलवत् क्रोधाद् गृहीत्वा पुरुषर्षभः।
कैकेयीमभिनिर्भर्त्स्य बभाषे परुषं वचः॥ १९॥

बलवान् नरश्रेष्ठ शत्रुघ्न जिस समय रोषपूर्वक मन्थराको जोरसे पकड़कर घसीट रहे थे, उस समय उसे छुड़ानेके लिये कैकेयी उनके पास आयी। तब उन्होंने उसे धिक्कारते हुए उसके प्रति बड़ी कठोर बातें कहीं—उसे रोषपूर्वक फटकारा॥

तैर्वाक्यैः परुषैर्दुःखैः कैकेयी भृशदुःखिता।
शत्रुघ्नभयसंत्रस्ता पुत्रं शरणमागता॥ २०॥

शत्रुघ्नके वे कठोर वचन बड़े ही दुःखदायी थे। उन्हें सुनकर कैकेयीको बहुत दुःख हुआ। वह शत्रुघ्नके भयसे थर्रा उठी और अपने पुत्रकी शरणमें आयी॥ २०॥

तं प्रेक्ष्य भरतः क्रुद्धं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत्।
अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति॥ २१॥

शत्रुघ्नको क्रोधमें भरा हुआ देख भरतने उनसे कहा—'सुमित्राकुमार! क्षमा करो। स्त्रियाँ सभी प्राणियोंके लिये अवध्य होती हैं॥ २१॥

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्॥ २२॥

'यदि मुझे यह भय न होता कि धर्मात्मा श्रीराम मातृघाती समझकर मुझसे घृणा करने लगेंगे तो मैं भी इस दुष्ट आचरण करनेवाली पापिनी कैकेयीको मार डालता॥ २२॥

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥ २३॥

'धर्मात्मा श्रीरघुनाथजी तो इस कुब्जाके भी मारे जानेका समाचार यदि जान लें तो वे निश्चय ही तुमसे और मुझसे बोलना भी छोड़ देंगे'॥ २३॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः।
न्यवर्तत ततो दोषात् तां मुमोच च मूर्च्छिताम्॥ २४॥

भरतजीकी यह बात सुनकर लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न मन्थराके वधरूपी दोषसे निवृत्त हो गये और उसे मूर्च्छित अवस्थामें ही छोड़ दिया॥ २४॥

सा पादमूले कैकेय्या मन्थरा निपपात ह।
निःश्वसन्ती सुदुःखार्ता कृपणं विललाप ह॥ २५॥

मन्थरा कैकेयीके चरणोंमें गिर पड़ी और लंबी साँस खींचती हुई अत्यन्त दुःखसे आर्त हो करुण विलाप करने लगी॥ २५॥

शत्रुघ्नविक्षेपविमूढसंज्ञां
समीक्ष्य कुब्जां भरतस्य माता।
शनैः समाश्वासयदार्तरूपां
क्रौञ्चीं विलग्नामिव वीक्षमाणाम्॥ २६॥

शत्रुघ्नके पटकने और घसीटनेसे आर्त एवं अचेत हुई कुब्जाको देखकर भरतकी माता कैकेयी धीरे-धीरे उसे आश्वासन देने—होशमें लानेकी चेष्टा करने लगी। उस समय कुब्जा पिंजड़ेमें बँधी हुई क्रौञ्चीकी भाँति कातर दृष्टिसे उसकी ओर देख रही थी॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टसप्ततितमः सर्गः॥ ७८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अठहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७८॥

एकोनाशीतितमः सर्गः

न्त्री आदिका भरतसे राज्य ग्रहण करनेके लिये प्रस्ताव तथा भरतका अभिषेक-सामग्रीकी परिक्रमा करके श्रीरामको ही राज्यका अधिकारी बताकर उन्हें लौटा लानेके लिये चलनेके निमित्त व्यवस्था करनेकी सबको आज्ञा देना

तः प्रभातसमये दिवसेऽथ चतुर्दशे।
मेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन्॥ १॥

तदनन्तर चौदहवें दिन प्रातःकाल समस्त राजकर्मचारी लकर भरतसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

गो दशरथः स्वर्गं यो नो गुरुतरो गुरुः।
पं प्रव्राज्य वै ज्येष्ठं लक्ष्मणं च महाबलम्॥ २॥
मद्य भव नो राजा राजपुत्र महायशः।
संगत्या नापराध्नोति राज्यमेतदनायकम्॥ ३॥

'महायशस्वी राजकुमार! जो हमारे सर्वश्रेष्ठ गुरु थे, वे महाराज दशरथ तो अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणको वनमें भेजकर स्वयं स्वर्गलोकको चले गये, अब इस राज्यका कोई स्वामी नहीं है; इसलिये अब आप ही हमारे राजा हों। आपके बड़े भाईको स्वयं महाराजने वनवासकी आज्ञा दी और आपको यह राज्य प्रदान किया।

अतः आपका राजा होना न्यायसङ्गत है। इस सङ्गतिके कारण ही आप राज्यको अपने अधिकारमें लेकर किसीके प्रति कोई अपराध नहीं कर रहे हैं ॥ २-३ ॥

आभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव।
प्रतीक्षते त्वां स्वजनः श्रेणयश्च नृपात्मज ॥ ४ ॥

'राजकुमार रघुनन्दन! ये मन्त्री आदि स्वजन, पुरवासी तथा सेठलोग अभिषेककी सब सामग्री लेकर आपकी राह देखते हैं ॥ ४ ॥

राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम्।
अभिषेचय चात्मानं पाहि चास्मान् नरर्षभ ॥ ५ ॥

'भरतजी! आप अपने पिता-पितामहोंके इस राज्यको अवश्य ग्रहण कीजिये। नरश्रेष्ठ! राजाके पदपर अपना अभिषेक कराइये और हमलोगोंकी रक्षा कीजिये' ॥ ५ ॥

आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा सर्वं प्रदक्षिणम्।
भरतस्तं जनं सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः ॥ ६ ॥

यह सुनकर उत्तम व्रतको धारण करनेवाले भरतने अभिषेकके लिये रखी हुई कलश आदि सब सामग्रीकी प्रदक्षिणा की और वहाँ उपस्थित हुए सब लोगोंको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ६ ॥

ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः।
नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः ॥ ७ ॥

सज्जनो! आपलोग बुद्धिमान् हैं, आपको मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। हमारे कुलमें सदा ज्येष्ठ पुत्र ही राज्यका अधिकारी होता आया है और यही उचित भी है ॥ ७ ॥

रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च ॥ ८ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी हमलोगोंके बड़े भाई हैं, अतः वे ही राजा होंगे। उनके बदले मैं ही चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करूँगा ॥ ८ ॥

युज्यतां महती सेना चतुरङ्गमहाबला।
आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात् ॥ ९ ॥

'आपलोग विशाल चतुरङ्गिणी सेना, जो सब प्रकारसे सबल हो, तैयार कीजिये। मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रजी-को वनसे लौटा लाऊँगा ॥ ९ ॥

आभिषेचनिकं चैव सर्वमेतदुपस्कृतम्।
पुरस्कृत्य गमिष्यामि रामहेतोर्वनं प्रति ॥ १० ॥
तत्रैव तं नरव्याघ्रमभिषिच्य पुरस्कृतम्।
आनयिष्यामि वै रामं हव्यवाहमिवाध्वरात् ॥ ११ ॥

'अभिषेकके लिये संचित हुई इस सारी सामग्रीको आगे करके मैं श्रीरामसे मिलनेके लिये वनमें चलूँगा और उन नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीका वहीं अभिषेक करके यज्ञसे लायी जानेवाली अग्निके समान उन्हें आगे करके अयोध्यामें ले आऊँगा ॥ १०-११ ॥

न सकामां करिष्यामि स्वामिमां मातृगन्धिनीम्।
वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति ॥ १२ ॥

'परंतु जिसमें लेशमात्र मातृभाव शेष है, अपनी माता कहलानेवाली इस कैकेयीको मैं कदापि सफलमनोरथ नहीं होने दूँगा। श्रीराम यहाँके राजा होंगे और मैं दुर्गम वनमें निवास करूँगा ॥ १२ ॥

क्रियतां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विषमाणि च।
रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः ॥ १३ ॥

'कारीगर आगे जाकर रास्ता बनायें, ऊँची-नीची भूमिको बराबर करें तथा मार्गमें दुर्गम स्थानोंकी जानकारी रखनेवाले रक्षक भी साथ-साथ चलें' ॥ १३ ॥

एवं सम्भाषमाणं तं रामहेतोर्नृपात्मजम्।
प्रत्युवाच जनः सर्वः श्रीमद् वाक्यमनुत्तमम् ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके लिये ऐसी बातें कहते हुए राजकुमार भरतसे वहाँ आये हुए सब लोगोंने इस प्रकार सुन्दर एवं परम उत्तम बात कही—॥ १४ ॥

एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्रीरुपतिष्ठताम्।
यस्त्वं ज्येष्ठे नृपसुते पृथिवीं दातुमिच्छसि ॥ १५ ॥

'भरतजी! ऐसे उत्तम वचन कहनेवाले आपके पास कमलवनमें निवास करनेवाली लक्ष्मी अवस्थित हों; क्योंकि आप राजाके ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको स्वयं ही इस पृथिवीका राज्य लौटा देना चाहते हैं' ॥ १५ ॥

अनुत्तमं तद्वचनं नृपात्मजः
प्रभाषितं संश्रवणे निशम्य च।
प्रहर्षजास्तं प्रति बाष्पबिन्दवो
निपेतुरार्याननेत्रसम्भवाः ॥ १६ ॥

उन लोगोंका कहा हुआ वह परम उत्तम आशीर्वचन जब कानमें पड़ा, तब उसे सुनकर राजकुमार भरतको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन सबकी ओर देखकर भरतके मुख-मण्डलमें सुशोभित होनेवाले नेत्रोंसे हर्षजनित आँसुओंकी बूँदें गिरने लगीं ॥ १६ ॥

ऊचुस्ते वचनमिदं निशम्य हृष्टाः
सामात्याः सपरिषदो वियातशोकाः।
पन्थानं नरवरभक्तिमान् जनश्च
व्यादिष्टस्तव वचनाच्च शिल्पिवर्गः ॥ १७ ॥

भरतके मुखसे श्रीरामको ले आनेकी बात सुनकर उस सभाके सभी सदस्यों और मन्त्रियोंसहित समस्त राज-कर्मचारी हर्षसे खिल उठे। उनका सारा शोक दूर हो गया

और वे भरतसे बोले—'नरश्रेष्ठ ! आपकी आज्ञाके अनुसार राजपरिवारके प्रति भक्तिभाव रखनेवाले कारीगरों और रक्षकोंको मार्ग ठीक करनेके लिये भेज दिया गया है' ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमः सर्गः

अयोध्यासे गङ्गातटतक सुरम्य शिविर और कूप आदिसे युक्त सुखद राजमार्गका निर्माण

अथ भूमिप्रदेशज्ञाः सूत्रकर्मविशारदाः ।
स्वकर्माभिरताः शूराः खनका यन्त्रकास्तथा ॥ १ ॥
कर्मान्तिकाः स्थपतयः पुरुषा यन्त्रकोविदाः ।
तथा वर्धकयश्चैव मार्गिणो वृक्षतक्षकाः ॥ २ ॥
सूपकाराः सुधाकारा वंशचर्मकृतस्तथा ।
समर्था ये च द्रष्टारः पुरतश्च प्रतस्थिरे ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् ऊँची-नीची एवं सजल-निर्जल भूमिका ज्ञान रखनेवाले, सूत्रकर्म (छावनी आदि बनानेके लिये सूत धारण करने) में कुशल, मार्गकी रक्षा आदि अपने कर्ममें सदा सावधान रहनेवाले शूर-वीर, भूमि खोदने या सुरङ्ग आदि बनानेवाले, नदी आदि पार करनेके लिये तुरंत साधन उपस्थित करनेवाले अथवा जलके प्रवाहको रोकनेवाले वेतनभोगी कारीगर, थवई, रथ और यन्त्र आदि बनानेवाले पुरुष, बढ़ई, मार्गरक्षक, पेड़ काटनेवाले, रसोइये, चूनेसे पोतने आदिका काम करनेवाले, बाँसकी चटाई और सूप आदि बनानेवाले, चमड़ेका चारजामा आदि बनानेवाले तथा रास्तेकी विशेष जानकारी रखनेवाले सामर्थ्यशाली पुरुषोंने पहले प्रस्थान किया ॥ १-३ ॥

स तु हर्षात् तमुद्देशं जनौघो विपुलः प्रयान् ।
अशोभत महावेगः सागरस्येव पर्वणि ॥ ४ ॥

उस समय मार्ग ठीक करनेके लिये एक विशाल जनसमुदाय बड़े हर्षके साथ वनप्रदेशकी ओर अग्रसर हुआ, जो पूर्णिमाके दिन उमड़े हुए समुद्रके महान् वेगकी भाँति शोभा पा रहा था ॥ ४ ॥

ते स्ववारं समास्थाय वर्त्मकर्मणि कोविदाः ।
करणैर्विविधोपेतैः पुरस्तात् सम्प्रतस्थिरे ॥ ५ ॥

वे मार्ग-निर्माणमें निपुण कारीगर अपना-अपना दल साथ लेकर अनेक प्रकारके औजारोंके साथ आगे चल दिये ॥ ५ ॥

लता वल्लीश्च गुल्मांश्च स्थाणूनश्मन एव च ।
जनास्ते चक्रिरे मार्गं छिन्दन्तो विविधान् द्रुमान् ॥ ६ ॥

वे लोग लताएँ, बेलें, झाड़ियाँ, ठूँठे वृक्ष तथा पत्थरोंको हटाते और नाना प्रकारके वृक्षोंको काटते हुए मार्ग तैयार करने लगे ॥ ६ ॥

अवृक्षेषु च देशेषु केचिद् वृक्षानरोपयन् ।
केचित् कुठारैष्टङ्कैश्च दात्रैश्छिन्दन् क्वचित् क्वचित् ॥ ७ ॥

जिन स्थानोंमें वृक्ष नहीं थे, वहाँ कुछ लोगोंने वृक्ष भी लगाये । कुछ कारीगरोंने कुल्हाड़ों, टंकों (पत्थर तोड़नेके औजारों) तथा हँसियोंसे कहीं-कहीं वृक्षों और घासोंको काट-काटकर रास्ता साफ किया ॥ ७ ॥

अपरे वीरणस्तम्बान् बलिनो बलवत्तराः ।
विधमन्ति स्म दुर्गाणि स्थलानि च ततस्ततः ॥ ८ ॥
अपरेऽपूरयन् कूपान् पांसुभिः श्वभ्रमायतम् ।
निम्नभागस्तथैवाशु समांश्चक्रुः समन्ततः ॥ ९ ॥

अन्य प्रबल मनुष्योंने जिनकी जड़ें नीचेतक जमी हुई थीं, उन कुश, कास आदिके झुरमुटोंको हाथोंसे ही उखाड़ फेंका । वे जहाँ-तहाँ ऊँचे-नीचे दुर्गम स्थानोंको खोद-खोदकर बराबर कर देते थे । दूसरे लोग कुओं और लंबे-चौड़े गड्ढोंको धूलोंसे ही पाट देते थे । जो स्थान नीचे होते, वहाँ सब ओरसे मिट्टी डालकर वे उन्हें शीघ्र ही बराबर कर देते थे ॥ ८-९ ॥

बबन्धुर्बन्धनीयांश्च क्षोद्यान् संचुक्षुदुस्तथा ।
बिभिदुर्भेदनीयांश्च तांस्तान् देशान् नरास्तदा ॥ १० ॥

उन्होंने जहाँ पुल बाँधनेके योग्य पानी देखा, वहाँ पुल बाँध दिये । जहाँ कँकरीली जमीन दिखायी दी, वहाँ उसे ठोक-पीटकर मुलायम कर दिया और जहाँ पानी बहनेके लिये मार्ग बनाना आवश्यक समझा, वहाँ बाँध काट दिया । इस प्रकार विभिन्न देशोंमें वहाँकी आवश्यकताके अनुसार कार्य किया ॥ १० ॥

अचिरेण तु कालेन परिवाहान् बहूदकान् ।
चक्रुर्बहुविधाकारान् सागरप्रतिमान् बहून् ॥ ११ ॥

छोटे-छोटे सोतोंको, जिनका पानी सब ओर बह जाया करता था, चारों ओरसे बाँधकर शीघ्र ही अधिक जलवाला बना दिया । इस तरह थोड़े ही समयमें उन्होंने भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारके बहुत-से सरोवर तैयार कर दिये, जो अगाध जलसे भरे होनेके कारण समुद्रके समान जान पड़ते थे ॥ ११ ॥

निर्जलेषु च देशेषु खानयामासुरुत्तमान्।
उदपानान् बहुविधान् वेदिकापरिमण्डितान्॥ १२॥

निर्जल स्थानोंमें नाना प्रकारके अच्छे-अच्छे कुएँ और बावड़ी आदि बनवा दिये, जो आस-पास बनी हुई वेदिकाओंसे अलंकृत थे॥ १२॥

ससुधाकुट्टिमतलः प्रपुष्पितमहीरुहः।
मत्तोद्घुष्टद्विजगणः पताकाभिरलंकृतः॥ १३॥
चन्दनोदकसंसिक्तो नानाकुसुमभूषितः।
बह्वशोभत सेनायाः पन्थाः सुरपथोपमः॥ १४॥

इस प्रकार सेनाका वह मार्ग देवताओंके मार्गकी भाँति अधिक शोभा पाने लगा। उसकी भूमिपर चूना-सुर्खी और कंकरीट बिछाकर उसे कूट-पीटकर पक्का कर दिया गया था। उसके किनारे-किनारे फूलोंसे सुशोभित वृक्ष लगाये गये थे। वहाँके वृक्षोंपर मतवाले पक्षी चहक रहे थे। सारे मार्गको पताकाओंसे सजा दिया गया था, उसपर चन्दनमिश्रित जलका छिड़काव किया गया था तथा अनेक प्रकारके फूलोंसे वह सड़क सजायी गयी थी॥ १३-१४॥

आज्ञाप्याथ यथाज्ञप्ति युक्तास्तेऽधिकृता नराः।
रमणीयेषु देशेषु बहुस्वादुफलेषु च॥ १५॥
यो निवेशस्त्वभिप्रेतो भरतस्य महात्मनः।
भूयस्तं शोभयामासुर्भूषाभिर्भूषणोपमम्॥ १६॥

मार्ग बन जानेपर जहाँ-तहाँ छावनी आदि बनानेके लिये जिन्हें अधिकार दिया गया था, कार्यमें दत्त-चित्त रहनेवाले उन लोगोंने भरतकी आज्ञाके अनुसार सेवकोंको काम करनेका आदेश देकर जहाँ स्वादिष्ट फलोंकी अधिकता थी, उन सुन्दर प्रदेशोंमें छावनियाँ बनवायीं और जो भरतको अभीष्ट था, मार्गके भूषणरूप उस शिविरको नाना प्रकारके अलंकारोंसे और भी सजा दिया॥ १५-१६॥

नक्षत्रेषु प्रशस्तेषु मुहूर्तेषु च तद्विदः।
निवेशान् स्थापयामासुर्भरतस्य महात्मनः॥ १७॥

वास्तु-कर्मके ज्ञाता विद्वानोंने उत्तम नक्षत्रों और मुहूर्तोंमें महात्मा भरतके ठहरनेके लिये जो-जो स्थान बने थे, उनकी प्रतिष्ठा करवायी॥ १७॥

बहुपांसुचयाश्चापि परिखाः परिवारिताः।
तत्रेन्द्रनीलप्रतिमाः प्रतोलीवरशोभिताः॥ १८॥
प्रासादमालासंयुक्ताः सौधप्राकारसंवृताः।
पताकाशोभिताः सर्वे सुनिर्मितमहापथाः॥ १९॥
विसर्पद्भिरिवाकाशे विटङ्काग्रविमानकैः।
समुच्छ्रितैर्निवेशास्ते बभुः शक्रपुरोपमाः॥ २०॥

मार्गमें बने हुए वे निवेश (विश्राम-स्थान) इन्द्रपुरीके समान शोभा पाते थे। उनके चारों ओर खाइयाँ खोदी गयी थीं, धूल-मिट्टीके ऊँचे ढेर लगाये गये थे। खेमोंके भीतर इन्द्रनीलमणिकी बनी हुई प्रतिमाएँ सजायी गयी थीं। गलियों और सड़कोंसे उनकी विशेष शोभा होती थी। राजकीय गृहों और देवस्थानोंसे युक्त वे शिविर चूने पुते हुए प्राकारों (चहारदीवारियों) से घिरे थे। सभी विश्रामस्थान पताकाओंसे सुशोभित थे। सर्वत्र बड़ी-बड़ी सड़कोंका सुन्दर ढंगसे निर्माण किया गया था। विटङ्कों (कबूतरोंके रहनेके स्थानों—काबकों) और ऊँचे-ऊँचे श्रेष्ठ विमानोंके कारण उन सभी शिविरोंकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ १८—२०॥

जाह्नवीं तु समासाद्य विविधद्रुमकाननाम्।
शीतलामलपानीयां महामीनसमाकुलाम्॥ २१॥
सचन्द्रतारागणमण्डितं यथा
नभः क्षपायाममलं विराजते।
नरेन्द्रमार्गः स तदा व्यराजत
क्रमेण रम्यः शुभशिल्पिनिर्मितः॥२२॥

नाना प्रकारके वृक्षों और वनोंसे सुशोभित, शीतल-निर्मल जलसे भरी हुई और बड़े-बड़े मत्स्योंसे व्याप्त गङ्गाके किनारेतक बना हुआ वह रमणीय राजमार्ग उस समय बड़ी शोभा पा रहा था। अच्छे कारीगरोंने उसका निर्माण किया था। रात्रिके समय वह चन्द्रमा और तारागणोंसे मण्डित निर्मल आकाशके समान सुशोभित होता था॥ २१-२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽशीतितमः सर्गः॥ ८०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अस्सीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८०॥

एकाशीतितमः सर्गः

प्रातःकालके मङ्गलवाद्य-घोषको सुनकर भरतका दुखी होना और उसे बंद कराकर विलाप करना, वसिष्ठजीका सभामें आकर मन्त्री आदिको बुलानेके लिये दूत भेजना

ततो नान्दीमुखीं रात्रिं भरतं सूतमागधाः।
तुष्टुवुः सविशेषज्ञाः स्तवैर्मङ्गलसंस्तवैः॥ १॥

इधर अयोध्यामें उस अभ्युदयसूचक रात्रिका थोड़ा-सा ही भाग अवशिष्ट देख स्तुति-कलाके विशेषज्ञ सूत और मागधोंने मङ्गलमयी स्तुतियोंद्वारा भरतका स्तवन आरम्भ किया॥

सुवर्णकोणाभिहतः प्राणदद्यामदुन्दुभिः।
दध्मुः शङ्खांश्च शतशो वाद्यांश्चोच्चावचस्वरान्॥ २॥

प्रहरकी समाप्तिको सूचित करनेवाली दुन्दुभि सोनेके

डंडेसे आहत होकर बज उठी। बाजे बजानेवालोंने शंख तथा दूसरे-दूसरे नाना प्रकारके सैकड़ों बाजे बजाये ॥ २ ॥

स तूर्यघोषः सुमहान् दिवमापूरयन्निव ।
भरतं शोकसंतप्तं भूयः शोकैररन्धयत् ॥ ३ ॥

वाद्योंका वह महान् तुमुल घोष समस्त आकाशको व्याप्त करता हुआ-सा गूँज उठा और शोकसंतप्त भरतको पुनः शोकाग्निकी आँचसे राँधने लगा ॥ ३ ॥

ततः प्रबुद्धो भरतस्तं घोषं संनिवर्त्य च ।
नाहं राजेति चोक्त्वा तं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

वाद्योंकी उस ध्वनिसे भरतकी नींद खुल गयी; वे जाग उठे और 'मैं राजा नहीं हूँ' ऐसा कहकर उन्होंने उन बाजोंका बजना बंद करा दिया। तत्पश्चात् वे शत्रुघ्नसे बोले— ॥

पश्य शत्रुघ्न कैकेय्या लोकस्यापकृतं महत् ।
विसृज्य मयि दुःखानि राजा दशरथो गतः ॥ ५ ॥

'शत्रुघ्न! देखो तो सही, कैकेयीने जगत्‌का कितना महान् अपकार किया है। महाराज दशरथ मुझपर बहुत-से दुःखोंका बोझ डालकर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ५ ॥

तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः ।
परिभ्रमति राजश्रीर्नौरिवाकर्णिका जले ॥ ६ ॥

'आज उन धर्मराज महामना नरेशकी यह धर्ममूला राजलक्ष्मी जलमें पड़ी हुई बिना नाविककी नौकाके समान इधर-उधर डगमगा रही है ॥ ६ ॥

यो हि नः सुमहान् नाथः सोऽपि प्रव्राजितो वने ।
अनया धर्ममुत्सृज्य मात्रा मे राघवः स्वयम् ॥ ७ ॥

'जो हमलोगोंके सबसे बड़े स्वामी और संरक्षक हैं, उन श्रीरघुनाथजीको भी स्वयं मेरी इस माताने धर्मको तिलाञ्जलि देकर वनमें भेज दिया' ॥ ७ ॥

इत्येवं भरतं वीक्ष्य विलपन्तमचेतनम् ।
कृपणा रुरुदुः सर्वाः सुस्वरं योषितस्तदा ॥ ८ ॥

उस समय भरतको इस प्रकार अचेत हो-होकर विलाप करते देख रनिवासकी सारी स्त्रियाँ दीनभावसे फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ ८ ॥

तथा तस्मिन् विलपति वसिष्ठो राजधर्मवित् ।
सभामिक्ष्वाकुनाथस्य प्रविवेश महायशाः ॥ ९ ॥

जब भरत इस प्रकार विलाप कर रहे थे, उसी समय राजधर्मके ज्ञाता महायशस्वी महर्षि वसिष्ठने इक्ष्वाकुनाथ राजा दशरथके सभाभवनमें प्रवेश किया ॥ ९ ॥

शातकुम्भमयीं रम्यां मणिहेमसमाकुलाम् ।
सुधर्मामिव धर्मात्मा सगणः प्रत्यपद्यत ॥ १० ॥
स काञ्चनमयं पीठं स्वस्त्यास्तरणसंवृतम् ।
अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च ॥ ११ ॥

वह सभाभवन अधिकांश सुवर्णका बना हुआ था। उसमें सोनेके खम्भे लगे थे। वह रमणीय सभा देवताओंकी सुधर्मा सभाके समान शोभा पाती थी। सम्पूर्ण वेदोंके ज्ञाता धर्मात्मा वसिष्ठने अपने शिष्यगणके साथ उस सभामें पदार्पण किया और सुवर्णमय पीठपर जो स्वस्तिकाकार बिछौनेसे ढका हुआ था, वे विराजमान हुए। आसन ग्रहण करनेके पश्चात् उन्होंने दूतोंको आज्ञा दी—॥ १०-११ ॥

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् योधानमात्यान् गणवल्लभान् ।
क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥ १२ ॥
सराजपुत्रं शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम् ।
युधाजितं सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥ १३ ॥

'तुमलोग शान्तभावसे जाकर ब्राह्मणों, क्षत्रियों, योद्धाओं, अमात्यों और सेनापतियोंको शीघ्र बुला लाओ। अन्य राजकुमारोंके साथ यशस्वी भरत और शत्रुघ्नको, मन्त्री युधाजित् और सुमन्त्रको तथा और भी जो हितैषी पुरुष वहाँ हों उन सबको शीघ्र बुलाओ। हमें उनसे बहुत ही आवश्यक कार्य है' ॥

ततो हलाहलशब्दो महान् समुदपद्यत ।
रथैरश्वैर्गजैश्चापि जनानामुपगच्छताम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर घोड़े, हाथी और रथोंसे आनेवाले लोगोंका महान् कोलाहल आरम्भ हुआ ॥ १४ ॥

ततो भरतमायान्तं शतक्रतुमिवामराः ।
प्रत्यनन्दन् प्रकृतयो यथा दशरथं तथा ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् जैसे देवता इन्द्रका अभिनन्दन करते हैं, उसी प्रकार समस्त प्रकृतियों (मन्त्री-प्रजा आदि) ने आते हुए भरतका राजा दशरथकी ही भाँति अभिनन्दन किया ॥ १५ ॥

ह्रद इव तिमिनागसंवृतः
स्तिमितजलो मणिशङ्खशर्करः ।
दशरथसुतशोभिता सभा
सदशरथेव बभूव सा पुरा ॥ १६ ॥

तिमिनामक महान् मत्स्य और जलहस्तीसे युक्त, स्थिर जलवाले तथा मुक्ता आदि मणियोंसे युक्त शङ्ख और बालुकावाले समुद्रके जलाशयकी भाँति वह सभा दशरथपुत्र भरतसे सुशोभित होकर वैसी ही शोभा पाने लगी, जैसे पूर्वकालमें राजा दशरथकी उपस्थितिसे शोभा पाती थी* ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्यासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

---

* यहाँ सभा उपमेय और ह्रद (जलाशय) उपमान है। जलाशयके जो विशेषण दिये गये हैं, वे सभामें इस प्रकार संगत होते हैं—सभामें तिमि और जलहस्तीके चित्र लगे हैं। स्थिर जलकी जगह उसमें स्थिर तेज है, खम्भोंमें मणियाँ जड़ी गयी हैं, शंखके चिह्न हैं तथा फर्शमें सोनेका लेप लगा है, जो स्वर्णबालुका-सा प्रतीत होता है।

द्व्यशीतितमः सर्गः

वसिष्ठजीका भरतको राज्यपर अभिषिक्त होनेके लिये आदेश देना तथा भरतका उसे अनुचित बताकर अस्वीकार करना और श्रीरामको लौटा लानेके लिये वनमें चलनेकी तैयारीके निमित्त सबको आदेश देना

तामार्यगणसम्पूर्णां भरतः प्रग्रहां सभाम्।
ददर्श बुद्धिसम्पन्नः पूर्णचन्द्रां निशामिव ॥ १ ॥

बुद्धिमान् भरतने उत्तम ग्रह-नक्षत्रोंसे सुशोभित और पूर्ण चन्द्रमण्डलसे प्रकाशित रात्रिकी भाँति उस सभाको देखा। वह श्रेष्ठ पुरुषोंकी मण्डलीसे भरी-पूरी तथा वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ मुनियोंकी उपस्थितिसे शोभायमान थी ॥ १ ॥

आसनानि यथान्यायमार्याणां विशतां तदा।
वस्त्राङ्गरागप्रभया द्योतिता सा सभोत्तमा ॥ २ ॥

उस समय यथायोग्य आसनोंपर बैठे हुए आर्य पुरुषोंके वस्त्रों तथा अङ्गरागोंकी प्रभासे वह उत्तम सभा अधिक दीप्तिमती हो उठी थी ॥ २ ॥

सा विद्वज्जनसम्पूर्णा सभा सुरुचिरा तथा।
अदृश्यत घनापाये पूर्णचन्द्रेव शर्वरी ॥ ३ ॥

जैसे वर्षाकाल व्यतीत होनेपर शरदृतुकी पूर्णिमाको पूर्ण चन्द्रमण्डलसे अलंकृत रजनी बड़ी मनोहर दिखायी देती है, उसी प्रकार विद्वानोंके समुदायसे भरी हुई वह सभा बड़ी सुन्दर दिखायी देती थी ॥ ३ ॥

राज्ञस्तु प्रकृतीः सर्वाः स सम्प्रेक्ष्य च धर्मवित्।
इदं पुरोहितो वाक्यं भरतं मृदु चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

उस समय धर्मके ज्ञाता पुरोहित वसिष्ठजीने राजाकी सम्पूर्ण प्रकृतियोंको उपस्थित देख भरतसे यह मधुर वचन कहा—॥ ४ ॥

तात राजा दशरथः स्वर्गतो धर्ममाचरन्।
धनधान्यवतीं स्फीतां प्रदाय पृथिवीं तव ॥ ५ ॥

'तात! राजा दशरथ यह धन-धान्यसे परिपूर्ण समृद्धिशालिनी पृथिवी तुम्हें देकर स्वयं धर्मका आचरण करते हुए स्वर्गवासी हुए हैं ॥ ५ ॥

रामस्तथा सत्यवृत्तिः सतां धर्ममनुस्मरन्।
नाजहात् पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिवोदितः ॥ ६ ॥

'सत्यपूर्ण बर्ताव करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने सत्पुरुषोंके धर्मका विचार करके पिताकी आज्ञाका उसी प्रकार उल्लङ्घन नहीं किया, जैसे उदित चन्द्रमा अपनी चाँदनीको नहीं छोड़ता है ॥ ६ ॥

पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम्।
तद् भुङ्क्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय ॥ ७ ॥
उदीच्याश्च प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च केवलाः।
कोट्यापरान्ताः सामुद्रा रत्नान्युपहरन्तु ते ॥ ८ ॥

'इस प्रकार पिता और ज्येष्ठ भ्राता—दोनोंने ही तुम्हें यह अकण्टक राज्य प्रदान किया है। अतः तुम मन्त्रियोंको प्रसन्न रखते हुए इसका पालन करो और शीघ्र ही अपना अभिषेक करा लो। जिससे उत्तर, पश्चिम, दक्षिण, पूर्व और अपरान्त देशके निवासी राजा तथा समुद्रमें जहाजोंद्वारा व्यापार करनेवाले व्यवसायी तुम्हें असंख्य रत्न प्रदान करें' ॥ ७-८ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं शोकेनाभिपरिप्लुतः।
जगाम मनसा रामं धर्मज्ञो धर्मकाङ्क्षया ॥ ९ ॥

यह बात सुनकर धर्मज्ञ भरत शोकमें डूब गये और धर्म-पालनकी इच्छासे उन्होंने मन-ही-मन श्रीरामकी शरण ली ॥

सबाष्पकलया वाचा कलहंसस्वरो युवा।
विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम् ॥ १० ॥

नवयुवक भरत उस भरी सभामें आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीद्वारा कलहंसके समान मधुर स्वरसे विलाप करने और पुरोहितजीको उपालम्भ देने लगे—॥ १० ॥

चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः।
धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत् ॥ ११ ॥

'गुरुदेव! जिन्होंने ब्रह्मचर्यका पालन किया, जो सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात हुए तथा जो सदा ही धर्मके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, उन बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीके राज्यका मेरे-जैसा कौन मनुष्य अपहरण कर सकता है? ॥ ११ ॥

कथं दशरथाज्जातो भवेद् राज्यापहारकः।
राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि ॥ १२ ॥

'महाराज दशरथका कोई भी पुत्र बड़े भाईके राज्यका अपहरण कैसे कर सकता है? यह राज्य और मैं दोनों ही श्रीरामके हैं; यह समझकर आपको इस सभामें धर्मसंगत बात कहनी चाहिये (अन्याययुक्त नहीं) ॥ १२ ॥

ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च धर्मात्मा दिलीपनहुषोपमः।
लब्धुमर्हति काकुत्स्थो राज्यं दशरथो यथा ॥ १३ ॥

'धर्मात्मा श्रीराम मुझसे अवस्थामें बड़े और गुणोंमें भी श्रेष्ठ हैं। वे दिलीप और नहुषके समान तेजस्वी हैं; अतः महाराज दशरथकी भाँति वे ही इस राज्यको पानेके अधिकारी हैं ॥ १३ ॥

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं कुर्यां पापमहं यदि।
इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपांसनः ॥ १४ ॥

'पापका आचरण तो नीच पुरुष करते हैं। वह मनुष्यको निश्चय ही नरकमें डालनेवाला है। यदि श्रीरामचन्द्रजीका राज्य लेकर मैं भी पापाचरण करूँ तो संसारमें इक्ष्वाकुकुलका कलंक समझा जाऊँगा ॥ १४ ॥

यद्धि मात्रा कृतं पापं नाहं तदपि रोचये।
इहस्थो वनदुर्गस्थं नमस्यामि कृताञ्जलिः ॥ १५ ॥

'मेरी माताने जो पाप किया है, उसे मैं कभी पसंद नहीं करता; इसलिये यहाँ रहकर भी मैं दुर्गम वनमें निवास करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ ॥

राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदां वरः।
त्रयाणामपि लोकानां राघवो राज्यमर्हति ॥ १६ ॥

'मैं श्रीरामका ही अनुसरण करूँगा। मनुष्योंमें श्रेष्ठ श्रीरघुनाथजी ही इस राज्यके राजा हैं। वे तीनों ही लोकोंके राजा होने योग्य हैं' ॥ १६ ॥

तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
हर्षान्मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः ॥ १७ ॥

भरतका वह धर्मयुक्त वचन सुनकर सभी सभासद् श्रीराममें चित्त लगाकर हर्षके आँसू बहाने लगे ॥ १७ ॥

यदि त्वार्यं न शक्ष्यामि विनिवर्तयितुं वनात्।
वने तत्रैव वत्स्यामि यथार्यो लक्ष्मणस्तथा ॥ १८ ॥

भरतने फिर कहा—'यदि मैं आर्य श्रीरामको वनसे न लौटा सकूँगा तो स्वयं भी नरश्रेष्ठ लक्ष्मणकी भाँति वहीं निवास करूँगा ॥ १८ ॥

सर्वोपायं तु वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं बलात्।
समक्षमार्यमिश्राणां साधूनां गुणवर्तिनाम् ॥ १९ ॥

'मैं आप सभी सद्गुणयुक्त बर्ताव करनेवाले पूजनीय श्रेष्ठ सभासदोंके समक्ष श्रीरामचन्द्रजीको बलपूर्वक लौटा लानेके लिये सारे उपायोंसे चेष्टा करूँगा ॥ १९ ॥

विष्टिकर्मान्तिकाः सर्वे मार्गशोधकदक्षकाः।
प्रस्थापिता मया पूर्वं यात्रा च मम रोचते ॥ २० ॥

'मैंने मार्गशोधनमें कुशल सभी अवैतनिक तथा वेतन-भोगी कार्यकर्ताओंको पहले ही यहाँसे भेज दिया है। अतः मुझे श्रीरामचन्द्रजीके पास चलना ही अच्छा जान पड़ता है' ॥

एवमुक्त्वा तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः।
समीपस्थमुवाचेदं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २१ ॥

सभासदोंसे ऐसा कहकर भ्रातृवत्सल धर्मात्मा भरत पास बैठे हुए मन्त्रवेत्ता सुमन्त्रसे इस प्रकार बोले—॥ २१ ॥

तूर्णमुत्थाय गच्छ त्वं सुमन्त्र मम शासनात्।
यात्रामाज्ञापय क्षिप्रं बलं चैव समानय ॥ २२ ॥

'सुमन्त्रजी! आप जल्दी उठकर जाइये और मेरी आज्ञासे सबको वनमें चलनेका आदेश सूचित कर दीजिये और सेनाको भी शीघ्र ही बुला भेजिये' ॥ २२ ॥

एवमुक्तः सुमन्त्रस्तु भरतेन महात्मना।
प्रहृष्टः सोऽदिशत् सर्वं यथासंदिष्टमिष्टवत् ॥ २३ ॥

महात्मा भरतके ऐसा कहनेपर सुमन्त्रने बड़े हर्षके साथ सबको उनके कथनानुसार वह प्रिय संदेश सुना दिया ॥२३॥

ताः प्रहृष्टाः प्रकृतयो बलाध्यक्षा बलस्य च।
श्रुत्वा यात्रां समाज्ञप्तां राघवस्य निवर्तने ॥ २४ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेके लिये भरत जायँगे और उनके साथ जानेके लिये सेनाको भी आदेश प्राप्त हुआ है'—यह समाचार सुनकर वे सभी प्रजाजन तथा सेनापतिगण बहुत प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

ततो योधाङ्गनाः सर्वा भर्तॄन् सर्वान् गृहे गृहे।
यात्रागमनमाज्ञाय त्वरयन्ति स्म हर्षिताः ॥ २५ ॥

तदनन्तर उस यात्राका समाचार पाकर सैनिकोंकी सभी स्त्रियाँ घर-घरमें हर्षसे खिल उठीं और अपने पतियोंको जल्दी तैयार होनेके लिये प्रेरित करने लगीं ॥ २५ ॥

ते हयैर्गोरथैः शीघ्रं स्यन्दनैश्च मनोजवैः।
सह योषिद्बलाध्यक्षा बलं सर्वमचोदयन् ॥ २६ ॥

सेनापतियोंने घोड़ों, बैलगाड़ियों तथा मनके समान वेगशाली रथोंसहित सम्पूर्ण सेनाको स्त्रियोंसहित यात्राके लिये शीघ्र तैयार होनेकी आज्ञा दी ॥ २६ ॥

सज्जं तु तद् बलं दृष्ट्वा भरतो गुरुसंनिधौ।
रथं मे त्वरयस्वेति सुमन्त्रं पार्श्वतोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥

सेनाको कूँचके लिये उद्यत देख भरतने गुरुके समीप ही बगलमें खड़े हुए सुमन्त्रसे कहा—'आप मेरे रथको शीघ्र तैयार करके लाइये' ॥ २७ ॥

भरतस्य तु तस्याज्ञां परिगृह्य प्रहर्षितः।
रथं गृहीत्वोपययौ युक्तं परमवाजिभिः ॥ २८ ॥

भरतकी उस आज्ञाको शिरोधार्य करके सुमन्त्र बड़े हर्षके साथ गये और उत्तम घोड़ोंसे जुता हुआ रथ लेकर लौट आये ॥ २८ ॥

स राघवः सत्यधृतिः प्रतापवान्
ब्रुवन् सुयुक्तं दृढसत्यविक्रमः।
गुरुं महारण्यगतं यशस्विनं
प्रसादयिष्यन् भरतोऽब्रवीत् तदा ॥ २९ ॥

तब सुदृढ़ एवं सत्य पराक्रमवाले सत्यपरायण प्रतापी भरत विशाल वनमें गये हुए अपने बड़े भाई यशस्वी श्रीरामको लौटा लानेके निमित्त राजी करनेके लिये यात्राके उद्देश्यसे उस समय इस प्रकार बोले—॥ २९ ॥

तूर्णं त्वमुत्थाय सुमन्त्र गच्छ
बलस्य योगाय बलप्रधानान्।
आनेतुमिच्छामि हि तं वनस्थं
प्रसाद्य रामं जगतो हिताय ॥ ३० ॥

'सुमन्त्रजी ! आप शीघ्र उठकर सेनापतियोंके पास जाइये और उनसे कहकर सेनाको कल कूँच करनेके लिये तैयार होनेका प्रबन्ध कीजिये; क्योंकि मैं सारे जगत्का कल्याण करनेके लिये उन वनवासी श्रीरामको प्रसन्न करके यहाँ ले आना चाहता हूँ' ॥ ३० ॥

स सूतपुत्रो भरतेन सम्य-
गाज्ञापितः सम्परिपूर्णकामः ।
शशास सर्वान् प्रकृतिप्रधानान्
बलस्य मुख्यांश्च सुहृज्जनं च ॥ ३१ ॥

भरतकी यह उत्तम आज्ञा पाकर सूतपुत्र सुमन्त्रने अपना मनोरथ सफल हुआ समझा और उन्होंने प्रजावर्गके सभी प्रधान व्यक्तियों, सेनापतियों तथा सुहृदोंको भरतका आदेश सुना दिया ॥ ३१ ॥

ततः समुत्थाय कुले कुले ते
राजन्यवैश्या वृषलाश्च विप्राः ।
अयूयुजन्नुष्ट्ररथान् खरांश्च
नागान् हयांश्चैव कुलप्रसूतान् ॥ ३२ ॥

तब प्रत्येक घरके लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उठ-उठकर अच्छी जातिके घोड़े, हाथी, ऊँट, गधे तथा रथोंको जोतने लगे ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्व्यशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बयासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमः सर्गः

भरतकी वनयात्रा और शृङ्गवेरपुरमें रात्रिवास

ततः समुत्थितः कल्यमास्थाय स्यन्दनोत्तमम् ।
प्रययौ भरतः शीघ्रं रामदर्शनकाम्यया ॥ १ ॥

तदनन्तर प्रातःकाल उठकर भरतने उत्तम रथपर आरूढ़ हो श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान किया ॥ १ ॥

अग्रतः प्रययुस्तस्य सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः ।
अधिरुह्य हयैर्युक्तान् रथान् सूर्यरथोपमान् ॥ २ ॥

उनके आगे-आगे सभी मन्त्री और पुरोहित घोड़े जुते हुए रथोंपर बैठकर यात्रा कर रहे थे । वे रथ सूर्यदेवके रथके समान तेजस्वी दिखायी देते थे ॥ २ ॥

नवनागसहस्राणि कल्पितानि यथाविधि ।
अन्वयुर्भरतं यान्तमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम् ॥ ३ ॥

यात्रा करते हुए इक्ष्वाकुकुलनन्दन भरतके पीछे-पीछे विधिपूर्वक सजाये गये नौ हजार हाथी चल रहे थे ॥ ३ ॥

षष्टिः रथसहस्राणि धन्विनो विविधायुधाः ।
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ४ ॥

यात्रापरायण यशस्वी राजकुमार भरतके पीछे साठ हजार रथ और नाना प्रकारके आयुध धारण करनेवाले धनुर्धर योद्धा भी जा रहे थे ॥ ४ ॥

शतं सहस्राण्यश्वानां समारूढानि राघवम् ।
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ५ ॥

उसी प्रकार एक लाख घुड़सवार भी उन यशस्वी रघुकुलनन्दन राजकुमार भरतकी यात्राके समय उनका अनुसरण कर रहे थे ॥ ५ ॥

कैकेयी च सुमित्रा च कौसल्या च यशस्विनी ।
रामानयनसंतुष्टा ययुर्यानेन भास्वता ॥ ६ ॥

कैकेयी, सुमित्रा और यशस्विनी कौसल्या देवी भी श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेके लिये की जानेवाली उस यात्रासे संतुष्ट हो तेजस्वी रथके द्वारा प्रस्थित हुईं ॥ ६ ॥

प्रयाताश्चार्यसंघाता रामं द्रष्टुं सलक्ष्मणम् ।
तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा हृष्टमानसाः ॥ ७ ॥

ब्राह्मण आदि आर्यों (त्रैवर्णिकों) के समूह मनमें अत्यन्त हर्ष लेकर लक्ष्मणसहित श्रीरामका दर्शन करनेके लिये उन्हींके सम्बन्धमें विचित्र बातें कहते-सुनते हुए यात्रा कर रहे थे ॥ ७ ॥

मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसत्त्वं दृढव्रतम् ।
कदा द्रक्ष्यामहे रामं जगतः शोकनाशनम् ॥ ८ ॥

(वे आपसमें कहते थे—) 'हमलोग दृढ़ताके साथ उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा संसारका दुःख दूर करनेवाले, स्थितप्रज्ञ, श्यामवर्ण महाबाहु श्रीरामका कब दर्शन करेंगे ? ॥ ८ ॥

दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः ।
तमः सर्वस्य लोकस्य समुद्यन्निव भास्करः ॥ ९ ॥

'जैसे सूर्यदेव उदय लेते ही सारे जगत्का अन्धकार हर लेते हैं, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजी हमारी आँखोंके सामने पड़ते ही हमलोगोंका सारा शोक-संताप दूर कर देंगे' ॥ ९ ॥

इत्येवं कथयन्तस्ते सम्प्रहृष्टाः कथाः शुभाः ।
परिष्वजानाश्चान्योन्यं ययुर्नागरिकास्तदा ॥ १० ॥

इस प्रकारकी बातें कहते और अत्यन्त हर्षसे भरकर एक-दूसरेका आलिङ्गन करते हुए अयोध्याके नागरिक उस समय यात्रा कर रहे थे ॥ १० ॥

ये च तत्रापरे सर्वे सम्मता ये च नैगमाः ।

रामं प्रतिययुर्हृष्टाः सर्वाः प्रकृतयः शुभाः ॥ ११ ॥

उस नगरमें जो दूसरे सम्मानित पुरुष थे, वे सब लोग तथा व्यापारी और शुभ विचारवाले प्रजाजन भी बड़े हर्षके साथ श्रीरामसे मिलनेके लिये प्रस्थित हुए ॥ ११ ॥

मणिकाराश्च ये केचित् कुम्भकाराश्च शोभनाः ।
सूत्रकर्मविशेषज्ञा ये च शस्त्रोपजीविनः ॥ १२ ॥
मायूरकाः क्राकचिका वेधका रोचकास्तथा ।
दन्तकाराः सुधाकारा ये च गन्धोपजीविनः ॥ १३ ॥
सुवर्णकाराः प्रख्यातास्तथा कम्बलकारकाः ।
स्नापकोष्णोदका वैद्या धूपकाः शौण्डिकास्तथा ॥१४॥
रजकास्तुन्नवायाश्च ग्रामघोषमहत्तराः ।
शैलूषाश्च सह स्त्रीभिर्यान्ति कैवर्तकास्तथा ॥ १५ ॥
समाहिता वेदविदो ब्राह्मणा वृत्तसम्मताः ।
गोरथैर्भरतं यान्तमनुजग्मुः सहस्रशः ॥ १६ ॥

जो कोई मणिकार (मणियोंको सानपर चढ़ाकर चमका देनेवाले), अच्छे कुम्भकार, सूतका ताना-बाना करके वस्त्र बनानेकी कलाके विशेषज्ञ, शस्त्र निर्माण करके जीविका चलानेवाले, मायूरक (मोरकी पाँखोंसे छत्र-व्यजन आदि बनानेवाले), आरेसे चन्दन आदिकी लकड़ी चीरनेवाले, मणि-मोती आदिमें छेद करनेवाले, रोचक (दीवारों और वेदी आदिमें शोभाका सम्पादन करनेवाले), दन्तकार (हाथीके दाँत आदिसे नाना प्रकारकी वस्तुओंका निर्माण करनेवाले), सुधाकार (चूना बनानेवाले), गन्धी, प्रसिद्ध सोनार, कम्बल और कालीन बनानेवाले, गरम जलसे नहलानेका काम करनेवाले, वैद्य, धूपक (धूपन क्रियाद्वारा जीविका चलानेवाले), शौण्डिक (मद्यविक्रेता), धोबी, दर्जी, गाँवों तथा गोशालाओंके महतो, स्त्रियोंसहित नट, केवट तथा समाहितचित्त सदाचारी वेदवेत्ता सहस्रों ब्राह्मण बैलगाड़ियोंपर चढ़कर वनकी यात्रा करनेवाले भरतके पीछे-पीछे गये ॥ १२—१६ ॥

सुवेषाः शुद्धवसनास्ताम्रमृष्टानुलेपिनः ।
सर्वे ते विविधैर्यानैः शनैर्भरतमन्वयुः ॥ १७ ॥

सबके वेश सुन्दर थे। सबने शुद्ध वस्त्र धारण कर रखे थे तथा सबके अङ्गोंमें ताँबेके समान लाल रंगका अङ्गराग लगा था। वे सब-के-सब नाना प्रकारके वाहनोंद्वारा धीरे-धीरे भरतका अनुसरण कर रहे थे ॥ १७ ॥

प्रहृष्टमुदिता सेना सान्वयात् कैकेयीसुतम् ।
भ्रातुरानयने यातं भरतं भ्रातृवत्सलम् ॥ १८ ॥

हर्ष और आनन्दमें भरी हुई वह सेना भाईको बुलानेके लिये प्रस्थित हुए कैकेयीकुमार भ्रातृवत्सल भरतके पीछे-पीछे चलने लगी ॥ १८ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं रथयानाश्वकुञ्जरैः ।
समासेदुस्ततो गङ्गां शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥ १९ ॥

इस प्रकार रथ, पालकी, घोड़े और हाथियोंके द्वारा बहुत दूरतकका मार्ग तय कर लेनेके बाद वे सब लोग शृङ्गवेरपुरमें गङ्गाजीके तटपर जा पहुँचे ॥ १९ ॥

यत्र रामसखा वीरो गुहो ज्ञातिगणैर्वृतः ।
निवसत्यप्रमादेन देशं तं परिपालयन् ॥ २० ॥

जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका सखा वीर निषादराज गुह सावधानीके साथ उस देशकी रक्षा करता हुआ अपने भाई-बन्धुओंके साथ निवास करता था ॥ २० ॥

उपेत्य तीरं गङ्गायाश्चक्रवाकैरलंकृतम् ।
व्यवतिष्ठत सा सेना भरतस्यानुयायिनी ॥ २१ ॥

चक्रवाकोंसे अलंकृत गङ्गातटपर पहुँचकर भरतका अनुसरण करनेवाली वह सेना ठहर गयी ॥ २१ ॥

निरीक्ष्यानुत्थितां सेनां तां च गङ्गां शिवोदकाम् ।
भरतः सचिवान् सर्वानब्रवीद् वाक्यकोविदः ॥ २२ ॥

पुण्यसलिला भागीरथीका दर्शन करके अपनी उस सेनाको शिथिल हुई देख बातचीत करनेकी कलामें कुशल भरतने समस्त सचिवोंसे कहा— ॥ २२ ॥

निवेशयत मे सैन्यमभिप्रायेण सर्वतः ।
विश्रान्ताः प्रतरिष्यामः श्व इमां सागरङ्गमाम् ॥ २३ ॥

'आपलोग मेरे सैनिकोंको उनकी इच्छाके अनुसार यहाँ सब ओर ठहरा दीजिये। आज रातमें विश्राम कर लेनेके बाद हम सब लोग कल सवेरे इन सागर-गामिनी नदी गङ्गाजीको पार करेंगे ॥ २३ ॥

दातुं च तावदिच्छामि स्वर्गतस्य महीपतेः ।
और्ध्वदेहनिमित्तार्थमवतीर्योदकं नदीम् ॥ २४ ॥

'यहाँ ठहरनेका एक और प्रयोजन है—मैं चाहता हूँ कि गङ्गाजीमें उतरकर स्वर्गीय महाराजके पारलौकिक कल्याणके लिये जलाञ्जलि दे दूँ' ॥ २४ ॥

तस्यैवं ब्रुवतोऽमात्यास्तथेत्युक्त्वा समाहिताः ।
न्यवेशयंस्तांश्छन्देन स्वेन स्वेन पृथक् पृथक् ॥२५॥

उनके इस प्रकार कहनेपर सभी मन्त्रियोंने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और समस्त सैनिकोंको उनकी इच्छाके अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानोंपर ठहरा दिया ॥ २५ ॥

निवेश्य गङ्गामनु तां महानदीं
चमूं विधानैः परिबर्हशोभिनीम् ।
उवास रामस्य तदा महात्मनो
विचिन्तमानो भरतो निवर्तनम् ॥ २६ ॥

महानदी गङ्गाके तटपर खेमे आदिसे सुशोभित होनेवाली उस सेनाको व्यवस्थापूर्वक ठहराकर भरतने महात्मा श्रीरामके लौटनेके विषयमें विचार करते हुए उस समय वहाँ निवास किया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरासीवाँ सर्ग पूरा ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमः सर्गः

निषादराज गुहका अपने बन्धुओंको नदीकी रक्षा करते हुए युद्धके लिये तैयार रहनेका आदेश दे भेंटकी सामग्री ले भरतके पास जाना और उनसे आतिथ्य स्वीकार करनेके लिये अनुरोध करना

ततो निविष्टां ध्वजिनीं गङ्गामन्वाश्रितां नदीम्।
निषादराजो दृष्ट्वैव ज्ञातीन् स परितोऽब्रवीत्॥ १॥

उधर निषादराज गुहने गङ्गा नदीके तटपर ठहरी हुई भरतकी सेनाको देखकर सब ओर बैठे हुए अपने भाई-बन्धुओंसे कहा—॥ १॥

महतीयमितः सेना सागराभा प्रदृश्यते।
नास्यान्तमवगच्छामि मनसापि विचिन्तयन्॥ २॥

'भाइयो! इस ओर जो यह विशाल सेना ठहरी हुई है समुद्रके समान अपार दिखायी देती है, मैं मनसे बहुत सोचनेपर भी इसका पार नहीं पाता हूँ॥ २॥

यदा तु खलु दुर्बुद्धिर्भरतः स्वयमागतः।
स एष हि महाकायः कोविदारध्वजो रथे॥ ३॥

'निश्चय ही इसमें स्वयं दुर्बुद्धि भरत भी आया हुआ है; यह कोविदारके चिह्नवाली विशाल ध्वजा उसीके रथपर फहरा रही है॥ ३॥

बन्धयिष्यति वा पाशैरथ वास्मान् वधिष्यति।
अनु दाशरथिं रामं पित्रा राज्याद् विवासितम्॥ ४॥

'मैं समझता हूँ कि यह अपने मन्त्रियोंद्वारा पहले हम लोगोंको पाशोंसे बँधवायेगा अथवा हमारा वध कर डालेगा; तत्पश्चात् जिन्हें पिताने राज्यसे निकाल दिया है, उन दशरथनन्दन श्रीरामको भी मार डालेगा॥ ४॥

सम्पन्नां श्रियमन्विच्छंस्तस्य राज्ञः सुदुर्लभाम्।
भरतः कैकयीपुत्रो हन्तुं समधिगच्छति॥ ५॥

'कैकेयीका पुत्र भरत राजा दशरथकी सम्पन्न एवं सुदुर्लभ राजलक्ष्मीको अकेला ही हड़प लेना चाहता है, इसीलिये वह श्रीरामचन्द्रजीको वनमें मार डालनेके लिये जा रहा है॥ ५॥

भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्मम।
तस्यार्थकामाः संनद्धा गङ्गानूपेऽत्र तिष्ठत॥ ६॥

'परंतु दशरथकुमार श्रीराम मेरे स्वामी और सखा हैं, इसलिये उनके हितकी कामना रखकर तुमलोग अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो यहाँ गङ्गाके तटपर मौजूद रहो॥ ६॥

तिष्ठन्तु सर्वदाशाश्च गङ्गामन्वाश्रिता नदीम्।
बलयुक्ता नदीरक्षा मांसमूलफलाशनाः॥ ७॥

'सभी मल्लाह सेनाके साथ नदीकी रक्षा करते हुए गङ्गाके तटपर ही खड़े रहें और नावपर रखे हुए फल-मूल आदिका आहार करके ही आजकी रात बितावें॥ ७॥

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम्।
संनद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत्॥ ८॥

'हमारे पास पाँच सौ नावें हैं, उनमेंसे एक-एक नावपर मल्लाहोंके सौ-सौ जवान युद्ध-सामग्रीसे लैस होकर बैठे रहें।' इस प्रकार गुहने उन सबको आदेश दिया॥ ८॥

यदि तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति।
इयं स्वस्तिमती सेना गङ्गामद्य तरिष्यति॥ ९॥

उसने फिर कहा कि 'यदि यहाँ भरतका भाव श्रीरामके प्रति संतोषजनक होगा, तभी उनकी यह सेना आज कुशलपूर्वक गङ्गाके पार जा सकेगी'॥ ९॥

इत्युक्त्वोपायनं गृह्य मत्स्यमांसमधूनि च।
अभिचक्राम भरतं निषादाधिपतिर्गुहः॥ १०॥

यों कहकर निषादराज गुह मत्स्यण्डी (मिश्री)[1], फलके गूदे और मधु आदि भेंटकी सामग्री लेकर भरतके पास गया॥ १०॥

तमायान्तं तु सम्प्रेक्ष्य सूतपुत्रः प्रतापवान्।
भरतायाचचक्षेऽथ समयज्ञो विनीतवत्॥ ११॥

उसे आते देख समयोचित कर्तव्यको समझनेवाले प्रतापी सूतपुत्र सुमन्त्रने विनीतकी भाँति भरतसे कहा—॥ ११॥

एष ज्ञातिसहस्रेण स्थपतिः परिवारितः।
कुशलो दण्डकारण्ये वृद्धो भ्रातुश्च ते सखा॥ १२॥
तस्मात् पश्यतु काकुत्स्थ त्वां निषादाधिपो गुहः।
असंशयं विजानीते यत्र तौ रामलक्ष्मणौ॥ १३॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! यह बूढ़ा निषादराज गुह अपने सहस्रों भाई-बन्धुओंके साथ यहाँ निवास करता है। यह तुम्हारे बड़े भाई श्रीरामका सखा है। इसे दण्डकारण्यके मार्गकी विशेष- जानकारी है। निश्चय ही इसे पता होगा कि दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण कहाँ हैं, अतः निषादराज गुह यहाँ आकर तुमसे मिलें इसके लिये अवसर दो'॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सुमन्त्राद् भरतः शुभम्।
उवाच वचनं शीघ्रं गुहः पश्यतु मामिति॥ १४॥

सुमन्त्रके मुखसे यह शुभ वचन सुनकर भरतने कहा—'निषादराज गुह मुझसे शीघ्र मिलें—इसकी व्यवस्था की जाय'॥ १४॥

लब्ध्वानुज्ञां सम्प्रहृष्टो ज्ञातिभिः परिवारितः।
आगम्य भरतं प्रह्वो गुहो वचनमब्रवीत्॥ १५॥

---

१. यहाँ मूलमें 'मत्स्य' शब्द 'मत्स्यण्डी' अर्थात् मिश्रीका वाचक है। 'मत्स्यण्डी' इस नामका एक अंश 'मत्स्य' है, अतः नामके एक अंशके ग्रहणसे सम्पूर्ण नामका ग्रहण किया गया है।

मिलनेकी अनुमति पाकर गुह अपने भाई-बन्धुओंके साथ वहाँ प्रसन्नतापूर्वक आया और भरतसे मिलकर बड़ी नम्रताके साथ बोला—॥ १५ ॥

निष्कुटश्चैव देशोऽयं वञ्चिताश्चापि ते वयम्।
निवेदयाम ते सर्वं स्वके दाशगृहे वस ॥ १६ ॥

'यह वन-प्रदेश आपके लिये घरमें लगे हुए बगीचेके समान है। आपने अपने आगमनकी सूचना न देकर हमें धोखेमें रख दिया—हम आपके स्वागतकी कोई तैयारी न कर सके। हमारे पास जो कुछ है, वह सब आपकी सेवामें अर्पित है। यह निषादोंका घर आपका ही है, आप यहाँ सुखपूर्वक निवास करें ॥ १६ ॥

अस्ति मूलफलं चैतन्निषादैः स्वयमर्जितम्।
आर्द्रं शुष्कं तथा मांसं वन्यं चोच्चावचं तथा ॥ १७ ॥

'यह फल-मूल आपकी सेवामें प्रस्तुत है। इसे निषाद लोग स्वयं तोड़कर लाये हैं। इनमेंसे कुछ फल तो अभी हरे ताजे हैं और कुछ सूख गये हैं। इनके साथ तैयार किया हुआ फलका गूदा भी है। इन सबके सिवा नाना प्रकारके दूसरे-दूसरे वन्य पदार्थ भी हैं। इन सबको ग्रहण करें ॥ १७ ॥

आशंसे स्वाशिता सेना वत्स्यत्येनां विभावरीम्।
अर्चितो विविधैः कामैः श्वः ससैन्यो गमिष्यसि ॥ १८ ॥

'हम आशा करते हैं कि यह सेना आजकी रात यहीं ठहरेगी और हमारा दिया हुआ भोजन स्वीकार करेगी। नाना प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुओंसे आज हम सेनासहित आपका सत्कार करेंगे; फिर कल सवेरे आप अपने सैनिकोंके साथ यहाँसे अन्यत्र जाइयेगा' ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमः सर्गः

गुह और भरतकी बातचीत तथा भरतका शोक

एवमुक्तस्तु भरतो निषादाधिपतिं गुहम्।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो वाक्यं हेत्वर्थसंहितम् ॥ १ ॥

निषादराज गुहके ऐसा कहनेपर महाबुद्धिमान् भरतने युक्ति और प्रयोजनयुक्त वचनोंमें उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १ ॥

ऊर्जितः खलु ते कामः कृतो मम गुरोः सखे।
यो मे त्वमीदृशीं सेनामभ्यर्चयितुमिच्छसि ॥ २ ॥

'भैया! तुम मेरे बड़े भाई श्रीरामके सखा हो। मेरी इतनी बड़ी सेनाका सत्कार करना चाहते हो, यह तुम्हारा मनोरथ बहुत ही ऊँचा है। तुम उसे पूर्ण ही समझो—तुम्हारी श्रद्धासे ही हम सब लोगोंका सत्कार हो गया' ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा स महातेजा गुहं वचनमुत्तमम्।
अब्रवीद् भरतः श्रीमान् पन्थानं दर्शयन् पुनः ॥ ३ ॥

यह कहकर महातेजस्वी श्रीमान् भरतने गन्तव्य मार्गको हाथके संकेतसे दिखाते हुए पुनः गुहसे उत्तम वाणीमें पूछा—॥ ३ ॥

कतरेण गमिष्यामि भरद्वाजाश्रमं यथा।
गहनोऽयं भृशं देशो गङ्गानूपो दुरत्ययः ॥ ४ ॥

'निषादराज! इन दो मार्गोंमेंसे किसके द्वारा मुझे भरद्वाज मुनिके आश्रमपर जाना होगा? गङ्गाके किनारेका यह प्रदेश तो बड़ा गहन मालूम होता है। इसे लाँघकर आगे बढ़ना कठिन है' ॥ ४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो गहनगोचरः ॥ ५ ॥

बुद्धिमान् राजकुमार भरतका यह वचन सुनकर वनमें विचरनेवाले गुहने हाथ जोड़कर कहा—॥ ५ ॥

दाशास्त्वनुगमिष्यन्ति देशज्ञाः सुसमाहिताः।
अहं चानुगमिष्यामि राजपुत्र महाबल ॥ ६ ॥

'महाबली राजकुमार! आपके साथ बहुत-से मल्लाह जायँगे, जो इस प्रदेशसे पूर्ण परिचित तथा भलीभाँति सावधान रहनेवाले हैं। इनके सिवा मैं भी आपके साथ चलूँगा ॥ ६ ॥

कच्चिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
इयं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे ॥ ७ ॥

'परंतु एक बात बताइये, अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके प्रति आप कोई दुर्भावना लेकर तो नहीं जा रहे हैं? आपकी यह विशाल सेना मेरे मनमें शङ्का-सी उत्पन्न कर रही है' ॥ ७ ॥

तमेवमभिभाषन्तमाकाश इव निर्मलः।
भरतः श्लक्ष्णया वाचा गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

ऐसी बात कहते हुए गुहसे आकाशके समान निर्मल भरतने मधुर वाणीमें कहा—॥ ८ ॥

मा भूत् स कालो यत् कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि।
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः ॥ ९ ॥

'निषादराज ! ऐसा समय कभी न आये। तुम्हारी बात सुनकर मुझे बड़ा कष्ट हुआ। तुम्हें मुझपर संदेह नहीं करना चाहिये। श्रीरघुनाथजी मेरे बड़े भाई हैं। मैं उन्हें पिताके समान मानता हूँ ॥ ९ ॥

तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम्।
बुद्धिरन्या न मे कार्या गुह सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम वनमें निवास करते हैं, अतः उन्हें लौटा लानेके लिये जा रहा हूँ। गुह ! मैं तुमसे सच कहता हूँ। तुम्हें मेरे विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥ १० ॥

स तु संहृष्टवदनः श्रुत्वा भरतभाषितम्।
पुनरेवाब्रवीद् वाक्यं भरतं प्रति हर्षितः ॥ ११ ॥

भरतकी बात सुनकर निषादराजका मुँह प्रसन्नतासे खिल उठा। वह हर्षसे भरकर पुनः भरतसे बोला—॥ ११ ॥

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तमिहेच्छसि ॥ १२ ॥

'आप धन्य हैं, जो विना प्रयत्नके हाथमें आये हुए राज्यको त्याग देना चाहते हैं। आपके समान धर्मात्मा मुझे इस भूमण्डलमें कोई नहीं दिखायी देता ॥ १२ ॥

शाश्वती खलु ते कीर्तिर्लोकाननु चरिष्यति।
यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि ॥ १३ ॥

'कष्टप्रद वनमें निवास करनेवाले श्रीरामको जो आप लौटा लाना चाहते हैं, इससे समस्त लोकोंमें आपकी अक्षय कीर्तिका प्रसार होगा' ॥ १३ ॥

एवं सम्भाषमाणस्य गुहस्य भरतं तदा।
बभौ नष्टप्रभः सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ १४ ॥

जब गुह भरतसे इस प्रकारकी बातें कह रहा था, उसी समय सूर्यदेवकी प्रभा अदृश्य हो गयी और रातका अन्धकार ओर फैल गया ॥ १४ ॥

[illegible] स तां सेनां गुहेन परितोषितः।
शत्रुघ्नेन समं श्रीमाञ्छयनं पुनरागमत् ॥ १५ ॥

गुहके बर्तावसे श्रीमान् भरतको बड़ा संतोष हुआ और वे सेनाको विश्राम करनेकी आज्ञा दे शत्रुघ्नके साथ शयन करनेके लिये गये ॥ १५ ॥

रामचिन्तामयः शोको भरतस्य महात्मनः।
उपस्थितो ह्यनर्हस्य धर्मप्रेक्षस्य तादृशः ॥ १६ ॥

धर्मपर दृष्टि रखनेवाले महात्मा भरत शोकके योग्य नहीं थे तथापि उनके मनमें श्रीरामचन्द्रजीके लिये चिन्ताके कारण ऐसा शोक उत्पन्न हुआ, जिसका वर्णन नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

अन्तर्दाहेन दहनः संतापयति राघवम्।
वनदाहाग्निसंतप्तं गूढोऽग्निरिव पादपम् ॥ १७ ॥

जैसे वनमें फैले हुए दावानलसे संतप्त हुए वृक्षको उसके खोखलेमें छिपी हुई आग और भी अधिक जलाती है, उसी प्रकार दशरथ-मरणजन्य चिन्ताकी आगसे संतप्त हुए रघुकुलनन्दन भरतको वह राम-वियोगसे उत्पन्न हुई शोकाग्नि और भी जलाने लगी ॥ १७ ॥

प्रसृतः सर्वगात्रेभ्यः स्वेदं शोकाग्निसम्भवम्।
यथा सूर्यांशुसंतप्तो हिमवान् प्रसृतो हिमम् ॥ १८ ॥

जैसे सूर्यकी किरणोंसे तपा हुआ हिमालय अपनी पिघली हुई बर्फको बहाने लगता है, उसी प्रकार भरत शोकाग्निसे संतप्त होनेके कारण अपने सम्पूर्ण अङ्गोंसे पसीना बहाने लगे ॥ १८ ॥

ध्याननिर्दरशैलेन विनिःश्वसितधातुना।
दैन्यपादपसंघेन शोकायासाधिशृङ्गिणा ॥ १९ ॥
प्रमोहानन्तसत्त्वेन संतापौषधिवेणुना।
आक्रान्तो दुःखशैलेन महता कैकयीसुतः ॥ २० ॥

उस समय कैकेयीकुमार भरत दुःखके विशाल पर्वतसे आक्रान्त हो गये थे। श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान ही उसमें छिद्ररहित शिलाओंका समूह था। दुःखपूर्ण उच्छ्वास ही गैरिक आदि धातुका स्थान ले रहा था। दीनता (इन्द्रियोंकी अपने विषयोंसे विमुखता) ही वृक्षसमूहोंके रूपमें प्रतीत होती थी। शोकजनित आयास ही उस दुःखरूपी पर्वतके ऊँचे शिखर थे। अतिशय मोह ही उसमें अनन्त प्राणी थे। बाहर-भीतरकी इन्द्रियोंमें होनेवाले संताप ही उस पर्वतकी ओषधियाँ तथा बाँसके वृक्ष थे ॥ १९-२० ॥

विनिःश्वसन् वै भृशदुर्मनास्ततः
प्रमूढसंज्ञः परमापदं गतः।
शमं न लेभे हृदयज्वरार्दितो
नरर्षभो यूथहतो यथर्षभः ॥ २१ ॥

उनका मन बहुत दुखी था। वे लंबी साँस खींचते हुए सहसा अपनी सुध-बुध खोकर बड़ी भारी आपत्तिमें पड़ गये। मानसिक चिन्तासे पीड़ित होनेके कारण नरश्रेष्ठ भरतको शान्ति नहीं मिलती थी। उनकी दशा अपने झुंडसे बिछुड़े हुए वृषभकी-सी हो रही थी ॥ २१ ॥

गुहेन सार्धं भरतः समागतो
महानुभावः सजनः समाहितः।
सुदुर्मनास्तं भरतं तदा पुन-
र्गुहः समाश्वासयदग्रजं प्रति ॥ २२ ॥

परिवारसहित एकाग्रचित्त महानुभाव भरत जब गुहसे मिले, उस समय उनके मनमें बड़ा दुःख था। वे अपने बड़े भाईके लिये चिन्तित थे, अतः गुहने उन्हें पुनः आश्वासन दिया ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमः सर्गः

निषादराज गुहके द्वारा लक्ष्मणके सद्भाव और विलापका वर्णन

आचचक्षेऽथ सद्भावं लक्ष्मणस्य महात्मनः।
भरतायाप्रमेयाय गुहो गहनगोचरः ॥ १ ॥

वनचारी गुहने अप्रमेय शक्तिशाली भरतसे महात्मा लक्ष्मणके सद्भावका इस प्रकार वर्णन किया—॥ १ ॥

तं जाग्रतं गुणैर्युक्तं वरचापेषुधारिणम्।
भ्रातृगुप्त्यर्थमत्यन्तमहं लक्ष्मणमब्रुवम् ॥ २ ॥

"लक्ष्मण अपने भाईकी रक्षाके लिये श्रेष्ठ धनुष और बाण धारण किये अधिक कालतक जागते रहे। उस समय उन सद्गुणशाली लक्ष्मणसे मैंने इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता।
प्रत्याश्वसिहि शेष्वास्यां सुखं राघवनन्दन ॥ ३ ॥
उचितोऽयं जनः सर्वो दुःखानां त्वं सुखोचितः।
धर्मात्मंस्तस्य गुप्त्यर्थं जागरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

"तात रघुकुलनन्दन! मैंने तुम्हारे लिये यह सुखदायिनी शय्या तैयार की है। तुम इसपर सुखपूर्वक सोओ और भलीभाँति विश्राम करो। यह (मैं) सेवक तथा इसके साथके सब लोग वनवासी होनेके कारण दुःख सहन करनेके योग्य हैं (क्योंकि हम सबको कष्ट सहनेका अभ्यास है); परंतु तुम सुखमें ही पले होनेके कारण उसीके योग्य हो। धर्मात्मन्! हमलोग श्रीरामचन्द्रजीकी रक्षाके लिये रातभर जागते रहेंगे ॥

नहि रामात् प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन।
मोत्सुको भूर्ब्रवीम्येतदथ सत्यं तवाग्रतः ॥ ५ ॥

"मैं तुम्हारे सामने सत्य कहता हूँ कि इस भूमण्डलमें मुझे श्रीरामसे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई नहीं है; अतः तुम इनकी रक्षाके लिये उत्सुक न होओ ॥ ५ ॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन् सुमहद् यशः।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामौ च केवलौ ॥ ६ ॥

"इन श्रीरघुनाथजीके प्रसादसे ही मैं इस लोकमें महान् यश, प्रचुर धर्मलाभ तथा विशुद्ध अर्थ एवं भोग्य-वस्तु पानेकी आशा करता हूँ ॥ ६ ॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वैः स्वैर्ज्ञातिभिः सह ॥ ७ ॥

"अतः मैं अपने समस्त बन्धु-बान्धवोंके साथ हाथमें धनुष लेकर सीताके साथ सोये प्रिय सखा श्रीरामकी (सब प्रकारसे) रक्षा करूँगा ॥ ७ ॥

नहि मेऽविदितं किंचिद् वनेऽस्मिंश्चरतः सदा।
चतुरङ्गं ह्यपि बलं प्रसहेम वयं युधि ॥ ८ ॥

"इस वनमें सदा विचरते रहनेके कारण मुझसे यहाँकी कोई बात छिपी नहीं है। हमलोग यहाँ युद्धमें शत्रुकी चतुरङ्गिणी सेनाका भी अच्छी तरह सामना कर सकते हैं' ॥

एवमस्माभिरुक्तेन लक्ष्मणेन महात्मना।
अनुनीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ९ ॥

"हमारे इस प्रकार कहनेपर धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाले महात्मा लक्ष्मणने हम सब लोगोंसे अनुनयपूर्वक कहा—॥ ९॥

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितानि सुखानि वा ॥ १० ॥

"निषादराज! जब दशरथनन्दन श्रीराम देवी सीताके साथ भूमिपर शयन कर रहे हैं, तब मेरे लिये उत्तम शय्यापर सोकर नींद लेना, जीवन-धारणके लिये स्वादिष्ट अन्न खाना अथवा दूसरे-दूसरे सुखोंको भोगना कैसे सम्भव हो सकता है?॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि।
तं पश्य गुह संविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥ ११ ॥

"गुह! देखो, सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी युद्धमें जिनके वेगको नहीं सह सकते, वे ही श्रीराम इस समय सीताके साथ तिनकोंपर सो रहे हैं ॥ ११ ॥

महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः।
एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ १२ ॥
अस्मिन् प्रव्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १३ ॥

"महान् तप और नाना प्रकारके परिश्रमसाध्य उपायोंद्वारा जो यह महाराज दशरथको अपने समान उत्तम लक्षणोंसे युक्त ज्येष्ठ पुत्रके रूपमें प्राप्त हुए हैं, उन्हीं इन श्रीरामके वनमें आ जानेसे राजा दशरथ अधिक कालतक जीवित नहीं रह सकेंगे। जान पड़ता है निश्चय ही यह पृथ्वी अब शीघ्र विधवा हो जायगी ॥ १२-१३ ॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः।
निर्घोषो विरतो नूनमद्य राजनिवेशने ॥ १४ ॥

"अवश्य ही अब रनवासकी स्त्रियाँ बड़े जोरसे आर्तनाद करके अधिक श्रमके कारण अब चुप हो गयी होंगी और राजमहलका वह हाहाकार इस समय शान्त हो गया होगा ॥ १४ ॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम ।
नाशंसे यदि ते सर्वे जीवेयुः शर्वरीमिमाम् ॥ १५ ॥

"महारानी कौसल्या, राजा दशरथ तथा मेरी माता सुमित्रा—ये सब लोग आजकी इस राततक जीवित रह सकेंगे या नहीं; यह मैं नहीं कह सकता ॥ १५ ॥

जीवेदपि च मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया ।
दुःखिता या हि कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥ १६ ॥

"शत्रुघ्नकी बाट देखनेके कारण सम्भव है, मेरी माता सुमित्रा जीवित रह जायँ; परंतु पुत्रके विरहसे दुःखमें डूबी हुई वीर-जननी कौसल्या अवश्य नष्ट हो जायँगी ॥ १६ ॥

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् ।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १७ ॥

"(महाराजकी इच्छा थी कि श्रीरामको राज्यपर अभिषिक्त करूँ) अपने उस मनोरथको न पाकर श्रीरामको राज्यपर स्थापित किये बिना ही 'हाय ! मेरा सब कुछ नष्ट हो गया ! नष्ट हो गया !!' ऐसा कहते हुए मेरे पिताजी अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ १७ ॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन् काले ह्युपस्थिते ।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥ १८ ॥

"उनकी उस मृत्युका समय उपस्थित होनेपर जो लोग वहाँ रहेंगे और मेरे मरे हुए पिता महाराज दशरथका सभी प्रेतकार्योंमें संस्कार करेंगे, वे ही सफलमनोरथ और भाग्यशाली हैं ॥ १८ ॥

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् ।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां सर्वरत्नविभूषिताम् ॥ १९ ॥
गजाश्वरथसम्बाधां तूर्यनादविनादिताम् ।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २० ॥
आरामोद्यानसम्पूर्णां समाजोत्सवशालिनीम् ।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २१ ॥

"(यदि पिताजी जीवित रहे तो) रमणीय चबूतरों और चौराहोंके सुन्दर स्थानोंसे युक्त, पृथक्-पृथक् बने हुए विशाल राजमार्गोंसे अलंकृत, धनिकोंकी अट्टालिकाओं और देवमन्दिरों एवं राजभवनोंसे सम्पन्न, सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित, हाथियों, घोड़ों और रथोंके आवागमनसे भरी हुई, विविध वाद्योंकी ध्वनियोंसे निनादित, समस्त कल्याणकारी वस्तुओंसे भरपूर, हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे व्याप्त, पुष्पवाटिकाओं और उद्यानोंसे परिपूर्ण तथा सामाजिक उत्सवोंसे सुशोभित हुई मेरे पिताकी राजधानी अयोध्यापुरीमें जो लोग विचरेंगे, वास्तवमें वे ही सुखी हैं ॥ १९–२१ ॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम् ।
निवृत्ते समये ह्यस्मिन् सुखिताः प्रविशेमहि ॥ २२ ॥

"क्या वनवासकी इस अवधिके समाप्त होनेपर सकुशल लौटे हुए सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामके साथ हमलोग अयोध्यापुरीमें प्रवेश कर सकेंगे' ॥ २२ ॥

परिदेवयमानस्य तस्यैवं हि महात्मनः ।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २३ ॥

"इस प्रकार विलाप करते हुए महामनस्वी राजकुमार लक्ष्मणकी वह सारी रात जागते ही बीती ॥ २३ ॥

प्रभाते विमले सूर्ये कारयित्वा जटा उभौ ।
अस्मिन् भागीरथीतीरे सुखं संतारितौ मया ॥ २४ ॥

"प्रातःकाल निर्मल सूर्योदय होनेपर मैंने भागीरथीके तटपर (वटके दूधसे) उन दोनोंके केशोंको जटाका रूप दिलवाया और उन्हें सुखपूर्वक पार उतारा ॥ २४ ॥

जटाधरौ तौ द्रुमचीरवाससौ
महाबलौ कुञ्जरयूथपोपमौ ।
वरेषुधीचापधरौ परंतपौ
व्यपेक्षमाणौ सह सीतया गतौ ॥ २५ ॥

"सिरपर जटा धारण करके वल्कल एवं चीर-वस्त्र पहने हुए, महाबली, शत्रुसंतापी श्रीराम और लक्ष्मण दो गजयूथपतियोंके समान शोभा पाते थे । वे सुन्दर तरकस और धनुष धारण किये इधर-उधर देखते हुए सीताके साथ चले गये" ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छियासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमः सर्गः

भरतकी मूर्च्छासे गुह, शत्रुघ्न और माताओंका दुखी होना, होशमें आनेपर भरतका गुहसे श्रीराम आदिके भोजन और शयन आदिके विषयमें पूछना और गुहका उन्हें सब बातें बताना

गुहस्य वचनं श्रुत्वा भरतो भृशमप्रियम् ।
ध्यानं जगाम तत्रैव यत्र तच्छ्रुतमप्रियम् ॥ १ ॥

गुहका श्रीरामके जटाधारण आदिसे सम्बन्ध रखनेवाला अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर भरत चिन्तामग्न हो गये ।

जिन श्रीरामके विषयमें उन्होंने अप्रिय बात सुनी थी, उन्हींका वे चिन्तन करने लगे (उन्हें यह चिन्ता हो गयी कि अब मेरा मनोरथ पूर्ण न हो सकेगा। श्रीरामने जब जटा धारण कर ली, तब वे शायद ही लौटें)॥ १॥

सुकुमारो महासत्त्वः सिंहस्कन्धो महाभुजः।
पुण्डरीकविशालाक्षस्तरुणः प्रियदर्शनः॥ २॥
प्रत्याश्वस्य मुहूर्तं तु कालं परमदुर्मनाः।
ससाद सहसा तोत्रैर्हृदि विद्ध इव द्विपः॥ ३॥

भरत सुकुमार होनेके साथ ही महान् बलशाली थे, उनके कंधे सिंहके समान थे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और नेत्र विकसित कमलके सदृश सुन्दर थे। उनकी अवस्था तरुण थी और वे देखनेमें बड़े मनोरम थे। उन्होंने गुहकी बात सुनकर दो घड़ीतक किसी प्रकार धैर्य धारण किया, फिर उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ। वे अंकुशसे विद्ध हुए हाथीके समान अत्यन्त व्यथित होकर सहसा दुःखसे शिथिल एवं मूर्च्छित हो गये॥ २-३॥

भरतं मूर्च्छितं दृष्ट्वा विवर्णवदनो गुहः।
बभूव व्यथितस्तत्र भूमिकम्पे यथा द्रुमः॥ ४॥

भरतको मूर्च्छित हुआ देख गुहके चेहरेका रंग उड़ गया। वह भूकम्पके समय मथित हुए वृक्षकी भाँति वहाँ व्यथित हो उठा॥ ४॥

तदवस्थं तु भरतं शत्रुघ्नोऽनन्तरस्थितः।
परिष्वज्य रुरोदोच्चैर्विसंज्ञः शोककर्शितः॥ ५॥

शत्रुघ्न भरतके पास ही बैठे थे। वे उनकी वैसी अवस्था देख उन्हें हृदयसे लगाकर जोर-जोरसे रोने लगे और शोकसे पीड़ित हो अपनी सुध-बुध खो बैठे॥ ५॥

ततः सर्वाः समापेतुर्मातरो भरतस्य ताः।
उपवासकृशा दीना भर्तृव्यसनकर्शिताः॥ ६॥

तदनन्तर भरतकी सभी माताएँ वहाँ आ पहुँचीं। वे पतिवियोगके दुःखसे दुखी, उपवास करनेके कारण दुर्बल और दीन हो रही थीं॥ ६॥

ताश्च तं पतितं भूमौ रुदत्यः पर्यवारयन्।
कौसल्या त्वनुसृत्यैनं दुर्मनाः परिषस्वजे॥ ७॥

भूमिपर पड़े हुए भरतको उन्होंने चारों ओरसे घेर लिया और सब-की-सब रोने लगीं। कौसल्याका हृदय तो दुःखसे और भी कातर हो उठा। उन्होंने भरतके पास जाकर उन्हें अपनी गोदमें चिपका लिया॥ ७॥

वत्सला स्वं यथा वत्समुपगुह्य तपस्विनी।
परिपप्रच्छ भरतं रुदती शोकलालसा॥ ८॥

जैसे वत्सला गौ अपने बछड़ेको गलेसे लगाकर चाटती है, उसी तरह शोकसे व्याकुल हुई तपस्विनी कौसल्याने भरतको गोदमें लेकर रोते-रोते पूछा—॥ ८॥

पुत्र व्याधिर्न ते कच्चिच्छरीरं प्रति बाधते।
अस्य राजकुलस्याद्य त्वदधीनं हि जीवितम्॥ ९॥

'बेटा! तुम्हारे शरीरको कोई रोग तो कष्ट नहीं पहुँचा रहा है? अब इस राजवंशका जीवन तुम्हारे ही अधीन है॥

त्वां दृष्ट्वा पुत्र जीवामि रामे सभ्रातृके गते।
वृत्ते दशरथे राज्ञि नाथ एकस्त्वमद्य नः॥ १०॥

'वत्स! मैं तुम्हींको देखकर जी रही हूँ। श्रीराम लक्ष्मणके साथ वनमें चले गये और महाराज दशरथ स्वर्गवासी हो गये; अब एकमात्र तुम्हीं हमलोगोंके रक्षक हो॥ १०॥

कच्चिन्न लक्ष्मणे पुत्र श्रुतं ते किंचिदप्रियम्।
पुत्रे वा ह्येकपुत्रायाः सहभार्ये वनं गते॥ ११॥

'बेटा! सच बताओ, तुमने लक्ष्मणके सम्बन्धमें अथवा मुझ एक ही पुत्रवाली माके बेटे वनमें सीतासहित गये हुए श्रीरामके विषयमें कोई अप्रिय बात तो नहीं सुनी है?'॥ ११॥

स मुहूर्तं समाश्वस्य रुदन्नेव महायशाः।
कौसल्यां परिसान्त्व्येदं गुहं वचनमब्रवीत्॥ १२॥

दो ही घड़ीमें जब महायशस्वी भरतका चित्त स्वस्थ हुआ, तब उन्होंने रोते-रोते ही कौसल्याको सान्त्वना दी (और कहा—'मा! घबराओ मत, मैंने कोई अप्रिय बात नहीं सुनी है)। फिर निषादराज गुहसे इस प्रकार पूछा—॥ १२॥

भ्राता मे क्वावसद् रात्रौ क्व सीता क्व च लक्ष्मणः।
अस्वपच्छयने कस्मिन् किं भुक्त्वा गुह शंस मे॥ १३॥

'गुह! उस दिन रातमें मेरे भाई श्रीराम कहाँ ठहरे थे? सीता कहाँ थीं? और लक्ष्मण कहाँ रहे? उन्होंने क्या भोजन करके कैसे बिछौनेपर शयन किया था? ये सब बातें मुझे बताओ'॥ १३॥

सोऽब्रवीद् भरतं हृष्टो निषादाधिपतिर्गुहः।
यद्विधं प्रतिपेदे च रामे प्रियहितेऽतिथौ॥ १४॥

ये प्रश्न सुनकर निषादराज गुह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अपने प्रिय एवं हितकारी अतिथि श्रीरामके आनेपर उनके प्रति जैसा बर्ताव किया था, वह सब बताते हुए भरतसे कहा—॥ १४॥

अन्नमुच्चावचं भक्ष्याः फलानि विविधानि च।
रामायाभ्यवहारार्थं बहुशोऽपहृतं मया॥ १५॥

'मैंने भाँति-भाँतिके अन्न, अनेक प्रकारके खाद्य-पदार्थ और कई तरहके फल श्रीरामचन्द्रजीके पास भोजनके लिये प्रचुर मात्रामें पहुँचाये॥ १५॥

तत् सर्वं प्रत्यनुज्ञासीद् रामः सत्यपराक्रमः।
न हि तत् प्रत्यगृह्णात् स क्षत्रधर्ममनुस्मरन्॥ १६॥

'सत्यपराक्रमी श्रीरामने मेरी दी हुई सब वस्तुएँ स्वीकार तो कीं; किंतु क्षत्रियधर्मका स्मरण करते हुए उनको ग्रहण नहीं किया—मुझे आदरपूर्वक लौटा दिया॥ १६॥

न ह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा।
इति तेन वयं सर्वे अनुनीता महात्मना ॥ १७ ॥

'फिर उन महात्माने हम सब लोगोंको समझाते हुए कहा—'सखे! हम-जैसे क्षत्रियोंको किसीसे कुछ लेना नहीं चाहिये; अपितु सदा देना ही चाहिये' ॥ १७ ॥

लक्ष्मणेन यदानीतं पीतं वारि महात्मना।
औपवास्यं तदाकार्षीद् राघवः सह सीतया ॥ १८ ॥

'सीतासहित श्रीरामने उस रातमें उपवास ही किया। लक्ष्मण जो जल ले आये थे, केवल उसीको उन महात्माने पीया ॥ १८ ॥

ततस्तु जलशेषेण लक्ष्मणोऽप्यकरोत् तदा।
वाग्यतास्ते त्रयः संध्यां समुपासन्त संहिताः ॥ १९ ॥

'उनके पीनेसे बचा हुआ जल लक्ष्मणने ग्रहण किया। (जलपानके पहले) उन तीनोंने मौन एवं एकाग्रचित्त होकर संध्योपासना की थी ॥ १९ ॥

सौमित्रिस्तु ततः पश्चादकरोत् स्वास्तरं शुभम्।
स्वयमानीय बर्हींषि क्षिप्रं राघवकारणात् ॥ २० ॥

'तदनन्तर लक्ष्मणने स्वयं कुश लाकर श्रीरामचन्द्रजीके लिये शीघ्र ही सुन्दर बिछौना बिछाया ॥ २० ॥

तस्मिन् समाविशद् रामः स्वास्तरे सह सीतया।
प्रक्षाल्य च तयोः पादौ व्यपाक्रामत् सलक्ष्मणः ॥ २१ ॥

'उस सुन्दर बिस्तरपर जब सीताके साथ श्रीराम विराजमान हुए, तब लक्ष्मण उन दोनोंके चरण पखारकर वहाँसे दूर हट आये ॥ २१ ॥

एतत् तदिङ्गुदीमूलमिदमेव च तत् तृणम्।
यस्मिन् रामश्च सीता च रात्रिं तां शयितावुभौ ॥ २२ ॥

'यही वह इङ्गुदी वृक्षकी जड़ है और यही वह तृण है, जहाँ श्रीराम और सीता—दोनोंने रात्रिमें शयन किया था ॥

नियम्य पृष्ठे तु तलाङ्गुलित्रवान्
शरैः सुपूर्णाविषुधी परंतपः।
महद्धनुः सज्जमुपोह्य लक्ष्मणो
निशामतिष्ठत् परितोऽस्य केवलम् ॥ २३ ॥

'शत्रुसंतापी लक्ष्मण अपनी पीठपर बाणोंसे भरे दो तरकस बाँधे, दोनों हाथोंकी अंगुलियोंमें दस्ताने पहने और महान् धनुष चढ़ाये श्रीरामके चारों ओर घूमकर केवल पहरा देते हुए रातभर खड़े रहे ॥ २३ ॥

ततस्त्वहं चोत्तमबाणचापभृत्
स्थितोऽभवं तत्र स यत्र लक्ष्मणः।
अतन्द्रितैर्ज्ञातिभिरात्तकार्मुकै-
र्महेन्द्रकल्पं परिपालयंस्तदा ॥ २४ ॥

तदनन्तर, मैं भी उत्तम बाण और धनुष लेकर वहीं आ खड़ा हुआ, जहाँ लक्ष्मण थे। उस समय अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ, जो निद्रा और आलस्यका त्याग करके धनुष-बाण लिये सदा सावधान रहे, मैं देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी श्रीरामकी रक्षा करता रहा' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सतासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमः सर्गः

श्रीरामकी कुश-शय्या देखकर भरतका शोकपूर्ण उद्गार तथा स्वयं भी वल्कल और जटाधारण करके वनमें रहनेका विचार प्रकट करना

तच्छ्रुत्वा निपुणं सर्वं भरतः सह मन्त्रिभिः।
इङ्गुदीमूलमागम्य रामशय्यामवेक्षत ॥ १ ॥

'निषादराजकी सारी बातें ध्यानसे सुनकर मन्त्रियोंसहित भरतने इङ्गुदी वृक्षकी जड़के पास आकर श्रीरामचन्द्रजीकी शय्याका निरीक्षण किया ॥ १ ॥

अब्रवीज्जननीः सर्वा इह तस्य महात्मनः।
शर्वरी शयिता भूमाविदमस्य विमर्दितम् ॥ २ ॥

फिर उन्होंने समस्त माताओंसे कहा—'यहीं महात्मा श्रीरामने भूमिपर शयन करके रात्रि व्यतीत की थी। यही वह कुशसमूह है, जो उनके अङ्गोंसे विमर्दित हुआ था ॥ २ ॥

महाराजकुलीनेन महाभागेन धीमता।
जातो दशरथेनोर्व्यां न रामः स्वप्तुमर्हति ॥ ३ ॥

'महाराजोंके कुलमें उत्पन्न हुए परम बुद्धिमान् महाभाग राजा दशरथने जिन्हें जन्म दिया है, वे श्रीराम इस तरह भूमिपर शयन करनेके योग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥

अजिनोत्तरसंस्तीर्णे वरास्तरणसंचये।
शयित्वा पुरुषव्याघ्रः कथं शेते महीतले ॥ ४ ॥

'जो पुरुषसिंह श्रीराम मुलायम मृगचर्मकी विशेष चादरसे ढके हुए तथा अच्छे-अच्छे बिछौनोंके समूहसे सजे हुए पलंगपर सदा सोते आये हैं, वे इस समय पृथ्वीपर कैसे शयन करते होंगे! ॥ ४ ॥

प्रासादाग्रविमानेषु वलभीषु च सर्वदा।

हैमराजतभौमेषु वरास्तरणशालिषु ॥ ५ ॥
पुष्पसंचयचित्रेषु चन्दनागुरुगन्धिषु ।
पाण्डुराभ्रप्रकाशेषु शुकसंघरुतेषु च ॥ ६ ॥
प्रासादवरवर्येषु शीतवत्सु सुगन्धिषु ।
उषित्वा मेरुकल्पेषु कृतकाञ्चनभित्तिषु ॥ ७ ॥

'जो सदा विमानाकार प्रासादोंके श्रेष्ठ भवनों और अट्टालिकाओंमें सोते आये हैं तथा जिनकी फर्श सोने और चाँदीकी बनी हुई है, जो अच्छे बिछौनोंसे सुशोभित हैं, पुष्पराशिसे विभूषित होनेके कारण जिनकी विचित्र शोभा होती है, जिनमें चन्दन और अगुरुकी सुगन्ध फैली रहती है, जो श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल कान्ति धारण करते हैं, जिनमें शुकसमूहोंका कलरव होता रहता है, जो शीतल हैं एवं कपूर आदिकी सुगन्धसे व्याप्त होते हैं, जिनकी दीवारोंपर सुवर्णका काम किया गया है तथा जो ऊँचाईमें मेरु पर्वतके समान जान पड़ते हैं, ऐसे सर्वोत्तम राजमहलोंमें जो निवास कर चुके हैं, वे श्रीराम वनमें पृथ्वीपर कैसे सोते होंगे ? ॥ ५—७ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषैर्वराभरणनिःस्वनैः ।
मृदङ्गवरशब्दैश्च सततं प्रतिबोधितः ॥ ८ ॥
वन्दिभिर्वन्दितः काले बहुभिः सूतमागधैः ।
गाथाभिरनुरूपाभिः स्तुतिभिश्च परंतपः ॥ ९ ॥

'जो गीतों और वाद्योंकी ध्वनियोंसे, श्रेष्ठ आभूषणोंकी झनकारोंसे तथा मृदङ्गोंके उत्तम शब्दोंसे सदा जगाये जाते थे, बहुत-से वन्दीगण समय-समयपर जिनकी वन्दना करते थे, सूत और मागध अनुरूप गाथाओं और स्तुतियोंसे जिनको जगाते थे, वे शत्रुसंतापी श्रीराम अब भूमिपर कैसे शयन करते होंगे ? ॥ ८-९ ॥

अश्रद्धेयमिदं लोके न सत्यं प्रतिभाति मा ।
मुह्यते खलु मे भावः स्वप्नोऽयमिति मे मतिः ॥ १० ॥

'यह बात जगत्में विश्वासके योग्य नहीं है । मुझे यह सत्य नहीं प्रतीत होती । मेरा अन्तःकरण अवश्य ही मोहित हो रहा है । मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह कोई स्वप्न है ॥ १० ॥

न नूनं दैवतं किंचित् कालेन बलवत्तरम् ।
यत्र दाशरथी रामो भूमावेवमशेत सः ॥ ११ ॥

'निश्चय ही कालके समान प्रबल कोई दूसरा देवता नहीं है, जिसके प्रभावसे दशरथनन्दन श्रीरामको भी इस प्रकार भूमिपर सोना पड़ा ॥ ११ ॥

यस्मिन् विदेहराजस्य सुता च प्रियदर्शना ।
दयिता शयिता भूमौ स्नुषा दशरथस्य च ॥ १२ ॥

'उस कालके ही प्रभावसे विदेहराजकी परम सुन्दरी पुत्री और महाराज दशरथकी प्यारी पुत्रवधू सीता भी पृथ्वीपर शयन करती हैं ॥ १२ ॥

इयं शय्या मम भ्रातुरिदमावर्तितं शुभम् ।
स्थण्डिले कठिने सर्वं गात्रैर्विमृदितं तृणम् ॥ १३ ॥

'यही मेरे बड़े भाईकी शय्या है । यहीं उन्होंने करवटें बदली थीं । इस कठोर वेदीपर उनका शुभ शयन हुआ था, जहाँ उनके अङ्गोंसे कुचला गया सारा तृण अभीतक पड़ा है ॥ १३ ॥

मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिञ्शयने शुभा ।
तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः ॥ १४ ॥

'जान पड़ता है, शुभलक्षणा सीता शय्यापर आभूषण पहने ही सोयी थीं; क्योंकि यहाँ यत्र-तत्र सुवर्णके कण सटे दिखायी देते हैं ॥ १४ ॥

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा ।
तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः ॥ १५ ॥

'यहाँ उस समय सीताकी चादर उलझ गयी थी, यह साफ दिखायी दे रहा है; क्योंकि यहाँ सटे हुए ये रेशमके तागे चमक रहे हैं ॥ १५ ॥

मन्ये भर्तुः सुखा शय्या येन बाला तपस्विनी ।
सुकुमारी सती दुःखं न विजानाति मैथिली ॥ १६ ॥

'मैं समझता हूँ कि पतिकी शय्या कोमल हो या कठोर, साध्वी स्त्रियोंके लिये वही सुखदायिनी होती है, तभी तो वह तपस्विनी एवं सुकुमारी बाला सती-साध्वी मिथिलेशकुमारी सीता यहाँ दुःखका अनुभव नहीं कर रही हैं ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत् सभार्यः कृते मम ।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत् ॥ १७ ॥

'हाय ! मैं मर गया—मेरा जीवन व्यर्थ है । मैं बड़ा क्रूर हूँ, जिसके कारण सीतासहित श्रीरामको अनाथकी भाँति ऐसी शय्यापर सोना पड़ता है ॥ १७ ॥

सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः ।
सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम् ॥ १८ ॥
कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः ।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः ॥ १९ ॥

'जो चक्रवर्ती सम्राट्के कुलमें उत्पन्न हुए हैं, समस्त लोकोंको सुख देनेवाले हैं तथा सबका प्रिय करनेमें तत्पर रहते हैं, जिनका शरीर नीले कमलके समान श्याम, आँखें लाल और दर्शन सबको प्रिय लगनेवाला है तथा जो सुख भोगनेके ही योग्य हैं, दुःख भोगनेके कदापि योग्य नहीं हैं, वे ही श्रीरघुनाथजी परम उत्तम प्रिय राज्यका परित्याग करके इस समय पृथ्वीपर शयन करते हैं ॥ १८-१९ ॥

धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
भ्रातरं विषमे काले यो राममनुवर्तते ॥ २० ॥

'उत्तम लक्षणोंवाले लक्ष्मण ही धन्य एवं बड़भागी हैं, जो संकटके समय बड़े भाई श्रीरामके साथ रहकर उनकी सेवा करते हैं ॥ २० ॥

सिद्धार्था खलु वैदेही पतिं यानुगता वनम्।
वयं संशयिताः सर्वे हीनास्तेन महात्मना ॥ २१ ॥

'निश्चय ही विदेहनन्दिनी सीता भी कृतार्थ हो गयीं, जिन्होंने पतिके साथ वनका अनुसरण किया है। हम सब लोग उन महात्मा श्रीरामसे बिछुड़कर संशयमें पड़ गये हैं (हमें यह संदेह होने लगा है कि श्रीराम हमारी सेवा स्वीकार करेंगे या नहीं) ॥ २१ ॥

अकर्णधारा पृथिवी शून्येव प्रतिभाति मे।
गते दशरथे स्वर्गं रामे चारण्यमाश्रिते ॥ २२ ॥

'महाराज दशरथ स्वर्गलोकको गये और श्रीराम वनवासी हो गये, ऐसी दशामें यह पृथ्वी बिना नाविककी नौकाके समान मुझे सूनी-सी प्रतीत हो रही है ॥ २२ ॥

न च प्रार्थयते कश्चिन्मनसापि वसुंधराम्।
वने निवसतस्तस्य बाहुवीर्याभिरक्षिताम् ॥ २३ ॥

'वनमें निवास करनेपर भी उन्हीं श्रीरामके बाहुबलसे सुरक्षित हुई इस वसुन्धराको कोई शत्रु मनसे भी नहीं लेना चाहता है ॥ २३ ॥

शून्यसंवरणारक्षामयन्त्रितहयद्विपाम्।
अनावृतपुरद्वारां राजधानीमरक्षिताम् ॥ २४ ॥
अप्रहृष्टबलां शून्यां विषमस्थामनावृताम्।
शत्रवो नाभिमन्यन्ते भक्ष्यान् विषकृतानिव ॥ २५ ॥

'इस समय अयोध्याकी चहारदीवारीकी सब ओरसे रक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं है, हाथी और घोड़े बँधे नहीं रहते हैं—खुले विचरते हैं, नगरद्वारका फाटक खुला ही रहता है, सारी राजधानी अरक्षित है, सेनामें हर्ष और उत्साहका अभाव है, समस्त नगरी रक्षकोंसे सूनी-सी जान पड़ती है, सङ्कटमें पड़ी हुई है, रक्षकोंके अभावसे आवरणरहित हो गयी है, तो भी शत्रु विषमिश्रित भोजनकी भाँति इसे ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करते हैं। श्रीरामके बाहुबलसे ही इसकी रक्षा हो रही है ॥ २४-२५ ॥

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा।
फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥ २६ ॥

'आजसे मैं भी पृथ्वीपर अथवा तिनकोंपर ही सोऊँगा, फल-मूलका ही भोजन करूँगा और सदा वल्कल वस्त्र तथा जटा धारण किये रहूँगा ॥ २६ ॥

तस्याहमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने।
तत् प्रतिश्रुतमार्यस्य नैव मिथ्या भविष्यति ॥ २७ ॥

'वनवासके जितने दिन बाकी हैं, उतने दिनोंतक मैं ही वहाँ सुखपूर्वक निवास करूँगा, ऐसा होनेसे आर्य श्रीरामकी की हुई प्रतिज्ञा झूठी नहीं होगी ॥ २७ ॥

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति।
लक्ष्मणेन सहायोध्यामार्यो मे पालयिष्यति ॥ २८ ॥

'भाईके लिये वनमें निवास करते समय शत्रुघ्न मेरे साथ रहेंगे और मेरे बड़े भाई श्रीराम लक्ष्मणको साथ लेकर अयोध्याका पालन करेंगे ॥ २८ ॥

अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः।
अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम् ॥ २९ ॥

'अयोध्यामें ब्राह्मणलोग ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामका अभिषेक करेंगे। क्या देवता मेरे इस मनोरथको सत्य (सफल) करेंगे ? ॥ २९ ॥

प्रसाद्यमानः शिरसा मया स्वयं
बहुप्रकारं यदि न प्रपत्स्यते।
ततोऽनुवत्स्यामि चिराय राघवं
वनेचरं नार्हति मामुपेक्षितुम् ॥ ३० ॥

'मैं उनके चरणोंपर मस्तक रखकर उन्हें मनानेकी चेष्टा करूँगा। यदि मेरे बहुत कहनेपर भी वे लौटनेको राजी न होंगे तो उन वनवासी श्रीरामके साथ मैं भी दीर्घकालतक वहीं निवास करूँगा। वे मेरी उपेक्षा नहीं करेंगे' ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अठासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमः सर्गः

भरतका सेनासहित गङ्गा पार करके भरद्वाजके आश्रमपर जाना

व्युष्य रात्रिं तु तत्रैव गङ्गाकूले स राघवः।
कल्यमुत्थाय शत्रुघ्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

शृङ्गवेरपुरमें ही गङ्गाके तटपर रात्रि बिताकर रघुकुलनन्दन भरत प्रातःकाल उठे और शत्रुघ्नसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

शत्रुघ्नोत्तिष्ठ किं शेषे निषादाधिपतिं गुहम्।
शीघ्रमानय भद्रं ते तारयिष्यति वाहिनीम् ॥ २ ॥

'शत्रुघ्न ! उठो, क्या सो रहे हो। तुम्हारा कल्याण हो, तुम निषादराज गुहको शीघ्र बुला लाओ, वही हमें गङ्गाके पार उतारेगा' ॥ २ ॥

जागर्मि नाहं स्वपिमि तथैवार्यं विचिन्तयन्।
इत्येवमब्रवीद् भ्राता शत्रुघ्नो विप्रचोदितः ॥ ३ ॥

उनसे इस प्रकार प्रेरित होनेपर शत्रुघ्नने कहा—'भैया ! मैं भी आपकी ही भाँति आर्य श्रीरामका चिन्तन करता हुआ जाग रहा हूँ, सोता नहीं हूँ' ॥ ३ ॥

इति संवदतोरेवमन्योन्यं नरसिंहयोः ।
आगम्य प्राञ्जलिः काले गुहो वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह जब इस प्रकार परस्पर बातचीत कर रहे थे, उसी समय गुह उपयुक्त वेलामें आ पहुँचा और हाथ जोड़कर बोला—॥ ४ ॥

कच्चित् सुखं नदीतीरेऽवात्सीः काकुत्स्थ शर्वरीम् ।
कच्चिच्च सहसैन्यस्य तव नित्यमनामयम् ॥ ५ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण भरतजी ! इस नदीके तटपर आप रातमें सुखसे रहे हैं न ? सेनासहित आपको यहाँ कोई कष्ट तो नहीं हुआ है ? आप सर्वथा नीरोग हैं न ?' ॥ ५ ॥

गुहस्य तत् तु वचनं श्रुत्वा स्नेहादुदीरितम् ।
रामस्यानुवशो वाक्यं भरतोऽपीदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

गुहके स्नेहपूर्वक कहे गये इस वचनको सुनकर श्रीरामके अधीन रहनेवाले भरतने यों कहा—॥ ६ ॥

सुखा नः शर्वरी धीमन् पूजिताश्चापि ते वयम् ।
गङ्गां तु नौभिर्बह्वीभिर्दाशाः संतारयन्तु नः ॥ ७ ॥

'बुद्धिमान् निषादराज ! हम सब लोगोंकी रात बड़े सुखसे बीती है । तुमने हमारा बड़ा सत्कार किया । अब ऐसी व्यवस्था करो, जिससे तुम्हारे मल्लाह बहुत-सी नौकाओं-द्वारा हमें गङ्गाके पार उतार दें' ॥ ७ ॥

ततो गुहः संत्वरितः श्रुत्वा भरतशासनम् ।
प्रतिप्रविश्य नगरं तं ज्ञातिजनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

भरतका यह आदेश सुनकर गुह तुरंत अपने नगरमें गया और भाई-बन्धुओंसे बोला—॥ ८ ॥

उत्तिष्ठत प्रबुध्यध्वं भद्रमस्तु हि वः सदा ।
नावः समुपकर्षध्वं तारयिष्यामि वाहिनीम् ॥ ९ ॥

'उठो, जागो, सदा तुम्हारा कल्याण हो । नौकाओंको खींचकर घाटपर ले आओ । भरतकी सेनाको गङ्गाजीके पार उतारूँगा' ॥ ९ ॥

ते तथोक्ताः समुत्थाय त्वरिता राजशासनात् ।
पञ्च नावां शतान्येव समानिन्युः समन्ततः ॥ १० ॥

गुहके इस प्रकार कहनेपर अपने राजाकी आज्ञासे सभी मल्लाह शीघ्र ही उठ खड़े हुए और चारों ओरसे पाँच सौ नौकाएँ एकत्र कर लाये ॥ १० ॥

अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधरावराः ।
शोभमानाः पताकिन्यो युक्तवाहाः सुसंहताः ॥ ११ ॥

इन सबके अतिरिक्त कुछ स्वस्तिक नामसे प्रसिद्ध नौकाएँ थीं, जो स्वस्तिकके चिह्नोंसे अलंकृत होनेके कारण उन्हीं चिह्नोंसे पहचानी जाती थीं । उनपर ऐसी पताकाएँ फहरा रही थीं, जिनमें बड़ी-बड़ी घण्टियाँ लटक रही थीं । स्वर्ण आदिके बने हुए चित्रोंसे उन नौकाओंकी विशेष शोभा हो रही थी । उनमें नौका खेनेके लिये बहुत-से डाँड़ लगे हुए थे तथा चतुर नाविक उन्हें चलानेके लिये तैयार बैठे थे । वे सभी नौकाएँ बड़ी मजबूत बनी थीं ॥ ११ ॥

ततः स्वस्तिकविज्ञेयां पाण्डुकम्बलसंवृताम् ।
सनन्दिघोषां कल्याणीं गुहो नावमुपाहरत् ॥ १२ ॥

उन्हींमेंसे एक कल्याणमयी नाव गुह स्वयं लेकर आया, जिसमें श्वेत कालीन बिछे हुए थे तथा उस स्वस्तिक नामवाली नावपर माङ्गलिक शब्द हो रहा था ॥ १२ ॥

तामारुरोह भरतः शत्रुघ्नश्च महाबलः ।
कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या राजयोषितः ॥ १३ ॥
पुरोहितश्च तत् पूर्वं गुरवो ब्राह्मणाश्च ये ।
अनन्तरं राजदारास्तथैव शकटापणाः ॥ १४ ॥

उसपर सबसे पहले पुरोहित, गुरु और ब्राह्मण बैठे । तत्पश्चात् उसपर भरत, महाबली शत्रुघ्न, कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी तथा राजा दशरथकी जो अन्य रानियाँ थीं, वे सब सवार हुईं । तदनन्तर राजपरिवारकी दूसरी स्त्रियाँ बैठीं । गाड़ियाँ तथा क्रय-विक्रयकी सामग्रियाँ दूसरी-दूसरी नावोंपर लादी गयीं ॥ १३-१४ ॥

आवासमादीपयतां तीर्थं चाप्यवगाहताम् ।
भाण्डानि चाददानानां घोषस्तु दिवमस्पृशत् ॥ १५ ॥

कुछ सैनिक बड़ी-बड़ी मशालें जलाकर* अपने खेमोंमें छूटी हुई वस्तुओंको सम्हालने लगे । कुछ लोग शीघ्रतापूर्वक घाटपर उतरने लगे तथा बहुत-से सैनिक अपने-अपने सामानको 'यह मेरा है, यह मेरा है' इस तरह पहचान-कर उठाने लगे । उस समय जो महान् कोलाहल मचा, वह आकाशमें गूँज उठा ॥ १५ ॥

पताकिन्यस्तु ता नावः स्वयं दाशैरधिष्ठिताः ।
वहन्त्यो जनमारूढं तदा सम्पेतुराशुगाः ॥ १६ ॥

उन सभी नावोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं । सबके ऊपर खेनेवाले कई मल्लाह बैठे थे । वे सब नौकाएँ उस समय चढ़े हुए मनुष्योंको तीव्रगतिसे पार ले जाने लगीं ॥ १६ ॥

नारीणामभिपूर्णास्तु काश्चित् काश्चित् तु वाजिनाम् ।
काश्चित् तत्र वहन्ति स्म यानयुग्यं महाधनम् ॥ १७ ॥

---

* यहाँ 'आवासमादीपयताम्' का अर्थ कुछ टीकाकारोंने यह किया है कि 'वे अपने आवासस्थानमें आग लगाने लगे ।' आवश्यक वस्तुओंको लाद लेनेके बाद जो मामूली झोंपड़े और नगण्य वस्तुएँ शेष रह जाती हैं, उनमें छावनी उठाते समय आग लगा देना—यह सेनाका धर्म बताया गया है । इसके दो रहस्य हैं, किसी शत्रुपक्षीय व्यक्तिके लिये अपना कोई निशान न छोड़ना—यह सैनिक नीति है । दूसरा यह है कि इस तरह आग लगाकर जानेसे विजय-लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है—ऐसा उनका परम्परागत विश्वास है ।

कितनी ही नौकाएँ केवल स्त्रियोंसे भरी थीं, कुछ नावोंपर घोड़े थे तथा कुछ नौकाएँ गाड़ियों, उनमें जोते जानेवाले घोड़े, खच्चर, बैल आदि वाहनों तथा बहुमूल्य रत्न आदिको ढो रही थीं ॥ १७ ॥

तास्तु गत्वा परं तीरमवरोप्य च तं जनम्।
निवृत्ताः काण्डचित्राणि क्रियन्ते दाशबन्धुभिः ॥ १८ ॥

वे दूसरे तटपर पहुँचकर वहाँ लोगोंको उतारकर जब लौटीं, उस समय मल्लाहबन्धु जलमें उनकी विचित्र गतियों-का प्रदर्शन करने लगे ॥ १८ ॥

सवैजयन्तास्तु गजा गजारोहैः प्रचोदिताः।
तरन्तः स्म प्रकाशन्ते सपक्षा इव पर्वताः ॥ १९ ॥

वैजयन्ती पताकाओंसे सुशोभित होनेवाले हाथी महावतों-से प्रेरित होकर स्वयं ही नदी पार करने लगे। उस समय वे पंखधारी पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ॥ १९ ॥

नावश्चारुरुहुस्त्वन्ये प्लवैस्तेरुस्तथापरे।
अन्ये कुम्भघटैस्तेरुरन्ये तेरुश्च बाहुभिः ॥ २० ॥

कितने ही मनुष्य नावोंपर बैठे थे और कितने ही बाँस तथा तिनकोंसे बने हुए बेड़ोंपर सवार थे। कुछ लोग बड़े-बड़े कलशों, कुछ छोटे घड़ों और कुछ अपनी बाहुओंसे ही तैरकर पार हो रहे थे ॥ २० ॥

सा पुण्या ध्वजिनी गङ्गां दाशैः संतारिता स्वयम्।
मैत्रे मुहूर्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार मल्लाहोंकी सहायतासे वह सारी पवित्र सेना गङ्गाके पार उतारी गयी। फिर वह स्वयं मैत्र[1] नामक मुहूर्तमें उत्तम प्रयागवनकी ओर प्रस्थित हो गयी ॥ २१ ॥

आश्वासयित्वा च चमूं महात्मा
निवेशयित्वा च यथोपजोषम्।
द्रष्टुं भरद्वाजमृषिप्रवर्य-
मृत्विक्सदस्यैर्भरतः प्रतस्थे ॥ २२ ॥

वहाँ पहुँचकर महात्मा भरत सेनाको सुखपूर्वक विश्रामकी आज्ञा दे उसे प्रयागवनमें ठहराकर स्वयं ऋत्विजों तथा राजसभाके सदस्योंके साथ ऋषिश्रेष्ठ भरद्वाजका दर्शन करनेके लिये गये ॥ २२ ॥

स ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेत्य
महात्मनो देवपुरोहितस्य।
ददर्श रम्योटजवृक्षदेशं
महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम् ॥ २३ ॥

देवपुरोहित महात्मा ब्राह्मण भरद्वाज मुनिके आश्रमपर पहुँचकर भरतने उन विप्रशिरोमणिके रमणीय एवं विशाल वनको देखा, जो मनोहर पर्णशालाओं तथा वृक्षावलियोंसे सुशोभित था ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें नवासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमः सर्गः

भरत और भरद्वाज मुनिकी भेंट एवं बातचीत तथा मुनिका अपने आश्रमपर ही ठहरनेका आदेश देना

भरद्वाजाश्रमं गत्वा क्रोशादेव नरर्षभः।
जनं सर्वमवस्थाप्य जगाम सह मन्त्रिभिः ॥ १ ॥
पद्भ्यामेव तु धर्मज्ञो न्यस्तशस्त्रपरिच्छदः।
वसानो वाससी क्षौमे पुरोधाय पुरोहितम् ॥ २ ॥

धर्मके ज्ञाता नरश्रेष्ठ भरतने भरद्वाज-आश्रमके पास पहुँचकर अपने साथके सब लोगोंको आश्रमसे एक कोस इधर ही ठहरा दिया था और अपने भी अस्त्र-शस्त्र तथा राजोचित वस्त्र उतारकर वहीं रख दिये थे। केवल दो रेशमी वस्त्र धारण करके पुरोहितको आगे किये वे मन्त्रियोंके साथ पैदल ही वहाँ गये ॥ १-२ ॥

ततः संदर्शने तस्य भरद्वाजस्य राघवः।
मन्त्रिणस्तानवस्थाप्य जगामानुपुरोहितम् ॥ ३ ॥

आश्रममें प्रवेश करके जहाँ दूरसे ही मुनिवर भरद्वाजका दर्शन होने लगा, वहीं उन्होंने उन मन्त्रियोंको खड़ा कर दिया और पुरोहित वसिष्ठजीको आगे करके वे पीछे-पीछे ऋषिके पास गये ॥ ३ ॥

वसिष्ठमथ दृष्ट्वैव भरद्वाजो महातपाः।
संचचालासनात् तूर्णं शिष्यानर्घ्यमिति ब्रुवन् ॥ ४ ॥

महर्षि वसिष्ठको देखते ही महातपस्वी भरद्वाज आसनसे

---

१. दो-दो घड़ी (दण्ड) का एक मुहूर्त होता है। दिनमें कुल पंद्रह मुहूर्त बीतते हैं। इनमेंसे तीसरे मुहूर्तको 'मैत्र' कहते हैं। बृहस्पतिने पंद्रह मुहूर्तोंके नाम इस प्रकार गिनाये हैं—रौद्र, सार्प, मैत्र, पैत्र, वासव, आप्य, वैश्व, ब्राह्म, प्राज, ईश, ऐन्द्र, ऐन्द्राग्न, नैर्ऋत, वारुणार्यमण तथा भगी। जैसा कि वचन है—

रौद्रः सार्पस्तथा मैत्रः पैत्रो वासव एव च। आप्यो वैश्वस्तथा ब्राह्मः प्राजेशैन्द्रास्तथैव च ॥
ऐन्द्राग्नो नैर्ऋतश्चैव वारुणार्यमणो भगी। एतेऽह्नि क्रमशो ज्ञेया मुहूर्ता दश पञ्च च ॥



भक्तिमती शबरीका परधाम-गमन

उठ खड़े हुए और शिष्योंसे शीघ्रतापूर्वक अर्घ्य ले आनेको कहा ॥ ४ ॥

समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः।
अबुध्यत महातेजाः सुतं दशरथस्य तम् ॥ ५ ॥

फिर वे वसिष्ठसे मिले। तत्पश्चात् भरतने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। महातेजस्वी भरद्वाज समझ गये कि ये राजा दशरथके पुत्र हैं ॥ ५ ॥

ताभ्यामर्घ्यं च पाद्यं च दत्त्वा पश्चात् फलानि च।
आनुपूर्व्याच्च धर्मज्ञः पप्रच्छ कुशलं कुले ॥ ६ ॥

धर्मज्ञ ऋषिने क्रमशः वसिष्ठ और भरतको अर्घ्य, पाद्य तथा फल आदि निवेदन करके उन दोनोंके कुलका कुशल-समाचार पूछा ॥ ६ ॥

अयोध्यायां बले कोशे मित्रेष्वपि च मन्त्रिषु।
जानन् दशरथं वृत्तं न राजानमुदाहरत् ॥ ७ ॥

इसके बाद अयोध्या, सेना, खजाना, मित्रवर्ग तथा मन्त्रिमण्डलका हाल पूछा। राजा दशरथकी मृत्युका वृत्तान्त वे जानते थे; इसलिये उनके विषयमें उन्होंने कुछ नहीं पूछा ॥ ७ ॥

वसिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम्।
शरीरेऽग्निषु शिष्येषु वृक्षेषु मृगपक्षिषु ॥ ८ ॥

वसिष्ठ और भरतने भी महर्षिके शरीर, अग्निहोत्र, शिष्यवर्ग, पेड़-पत्ते तथा मृग-पक्षी आदिका कुशल-समाचार पूछा ॥ ८ ॥

तथेति तु प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महायशाः।
भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहबन्धनात् ॥ ९ ॥

महायशस्वी भरद्वाज 'सब ठीक है' ऐसा कहकर श्रीरामके प्रति स्नेह होनेके कारण भरतसे इस प्रकार बोले—॥

किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः।
एतदाचक्ष्व सर्वं मे न हि मे शुध्यते मनः ॥ १० ॥

तुम तो राज्य कर रहे हो न? तुम्हें यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ गयी? यह सब मुझे बताओ, क्योंकि मेरा मन तुम्हारी ओरसे शुद्ध नहीं हो रहा है—मेरा विश्वास तुमपर नहीं जमता है ॥ १० ॥

सुषुवे यममित्रघ्नं कौसल्याऽऽनन्दवर्धनम्।
भ्रात्रा सह सभार्यो यश्चिरं प्रव्राजितो वनम् ॥ ११ ॥
नियुक्तः स्त्रीनिमित्तेन पित्रा योऽसौ महायशाः।
वनवासी भवेतीह समाः किल चतुर्दश ॥ १२ ॥
कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि।
अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥ १३ ॥

'जो शत्रुओंका नाश करनेवाला है, जिस आनन्दवर्धक पुत्रको कौसल्याने जन्म दिया है तथा तुम्हारे पिताने स्त्रीके कारण जिस महायशस्वी पुत्रको चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेकी आज्ञा देकर उसे भाई और पत्नीके साथ दीर्घकालके लिये वनमें भेज दिया है, उस निरपराध श्रीराम और उसके छोटे भाई लक्ष्मणका तुम अकण्टक राज्य भोगनेकी इच्छासे कोई अनिष्ट तो नहीं करना चाहते हो?' ॥ ११—१३ ॥

एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह।
पर्यश्रुनयनो दुःखाद् वाचा संसज्जमानया ॥ १४ ॥

भरद्वाजजीके ऐसा कहनेपर दुःखके कारण भरतकी आँखें डबडबा आयीं। वे लड़खड़ाती हुई वाणीमें उनसे इस प्रकार बोले—॥ १४ ॥

हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते।
मत्तो न दोषमाशङ्के मैवं मामनुशाधि हि ॥ १५ ॥

'भगवन्! यदि आप पूज्यपाद महर्षि भी मुझे ऐसा समझते हैं, तब तो मैं हर तरहसे मारा गया। यह मैं निश्चित-रूपसे जानता हूँ कि श्रीरामके वनवासमें मेरी ओरसे कोई अपराध नहीं हुआ है, अतः आप मुझसे ऐसी कठोर बात न कहें ॥ १५ ॥

न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे।
नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे ॥ १६ ॥

'मेरी आड़ लेकर मेरी माताने जो कुछ कहा या किया है, यह मुझे अभीष्ट नहीं है। मैं इससे संतुष्ट नहीं हूँ और न माताकी उस बातको स्वीकार ही करता हूँ ॥ १६ ॥

अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः।
प्रतिनेतुमयोध्यायां पादौ चास्याभिवन्दितुम् ॥ १७ ॥

'मैं तो उन पुरुषसिंह श्रीरामको प्रसन्न करके अयोध्यामें लौटा लाने और उनके चरणोंकी वन्दना करनेके लिये जा रहा हूँ ॥ १७ ॥

तं मामेवंगतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि।
शंस मे भगवन् रामः क्व सम्प्रति महीपतिः ॥ १८ ॥

'इसी उद्देश्यसे मैं यहाँ आया हूँ। ऐसा समझकर आपको मुझपर कृपा करनी चाहिये। भगवन्! आप मुझे बताइये कि इस समय महाराज श्रीराम कहाँ हैं?' ॥

वसिष्ठादिभिर्ऋत्विग्भिर्याचितो भगवांस्ततः।
उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद् भरतं वचः ॥ १९ ॥

इसके बाद वसिष्ठ आदि ऋत्विजोंने भी यह प्रार्थना की कि भरतका कोई अपराध नहीं है। आप इनपर प्रसन्न हों। तब भगवान् भरद्वाजने प्रसन्न होकर भरतसे कहा—॥ १९ ॥

त्वय्येतत् पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे।
गुरुवृत्तिर्दमश्चैव साधूनां चानुयायिता ॥ २० ॥

'पुरुषसिंह ! तुम रघुकुलमें उत्पन्न हुए हो । तुममें गुरुजनोंकी सेवा, इन्द्रियसंयम तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके अनुसरणका भाव होना उचित ही है ॥ २० ॥

जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति ।
अपृच्छं त्वां तवात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन् ॥ २१ ॥

'तुम्हारे मनमें जो बात है, उसे मैं जानता हूँ; तथापि मैंने इसलिये पूछा है कि तुम्हारा यह भाव और भी दृढ़ हो जाय तथा तुम्हारी कीर्तिका अधिकाधिक विस्तार हो ॥ २१ ॥

जाने च रामं धर्मज्ञं ससीतं सहलक्ष्मणम् ।
अयं वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरौ ॥ २२ ॥

'मैं सीता और लक्ष्मणसहित धर्मज्ञ श्रीरामका पता जानता हूँ । ये तुम्हारे भ्राता श्रीरामचन्द्र महापर्वत चित्रकूट-पर निवास करते हैं ॥ २२ ॥

श्वस्तु गन्तासि तं देशं वसाद्य सह मन्त्रिभिः ।
एतं मे कुरु सुप्राज्ञ कामं कामार्थकोविद ॥ २३ ॥

'अब कल तुम उस स्थानकी यात्रा करना । आज अपने मन्त्रियोंके साथ इस आश्रममें ही रहो । महाबुद्धिमान् भरत ! तुम मेरी इस अभीष्ट वस्तुको देनेमें समर्थ हो, अतः मेरी यह अभिलाषा पूर्ण करो' ॥ २३ ॥

ततस्तथेत्येवमुदारदर्शनः
प्रतीतरूपो भरतोऽब्रवीद् वचः ।
चकार बुद्धिं च तदाश्रमे तदा
निशानिवासाय नराधिपात्मजः ॥ २४ ॥

तब जिनके स्वरूप एवं स्वभावका परिचय मिल गया था, उन उदार दृष्टिवाले भरतने 'तथास्तु' कहकर मुनिकी आज्ञा शिरोधार्य की तथा उन राजकुमारने उस समय रातको उस आश्रममें ही निवास करनेका विचार किया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें नब्बेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमः सर्गः

भरद्वाज मुनिके द्वारा सेनासहित भरतका दिव्य सत्कार

कृतबुद्धिं निवासाय तत्रैव स मुनिस्तदा ।
भरतं केकयीपुत्रमातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ॥ १ ॥

जब भरतने उस आश्रममें ही निवासका दृढ़ निश्चय कर लिया, तब मुनिने कैकेयीकुमार भरतको अपना आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये न्योता दिया ॥ १ ॥

अब्रवीद् भरतस्त्वेतं नन्विदं भवता कृतम् ।
पाद्यमर्घ्यमथातिथ्यं वने यदुपपद्यते ॥ २ ॥

यह सुनकर भरतने उनसे कहा—'मुने ! वनमें जैसा आतिथ्य-सत्कार सम्भव है, वह तो आप पाद्य, अर्घ्य और फल-मूल आदि देकर कर ही चुके' ॥ २ ॥

अथोवाच भरद्वाजो भरतं प्रहसन्निव ।
जाने त्वां प्रीतिसंयुक्तं तुष्येस्त्वं येन केनचित् ॥ ३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भरद्वाजजी भरतसे हँसते हुए-से बोले—'भरत ! मैं जानता हूँ, मेरे प्रति तुम्हारा प्रेम है; अतः मैं तुम्हें जो कुछ दूँगा, उसीसे तुम संतुष्ट हो जाओगे ॥ ३ ॥

सेनायास्तु तवैतस्याः कर्तुमिच्छामि भोजनम् ।
मम प्रीतिर्यथारूपा त्वमर्हो मनुजर्षभ ॥ ४ ॥

'किंतु इस समय मैं तुम्हारी सेनाको भोजन कराना चाहता हूँ । नरश्रेष्ठ ! इससे मुझे प्रसन्नता होगी और जिस तरह मुझे प्रसन्नता हो, वैसा कार्य तुम्हें अवश्य करना चाहिये ॥ ४ ॥

किमर्थं चापि निक्षिप्य दूरे बलमिहागतः ।
कस्मान्नेहोपयातोऽसि सबलः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

'पुरुषप्रवर ! तुम अपनी सेनाको किसलिये इतनी दूर छोड़कर यहाँ आये हो, सेनासहित यहाँ क्यों नहीं आये ?' ॥ ५ ॥

भरतः प्रत्युवाचेदं प्राञ्जलिस्तं तपोधनम् ।
न सैन्येनोपयातोऽस्मि भगवन् भगवद्भयात् ॥ ६ ॥

तब भरतने हाथ जोड़कर उन तपोधन मुनिको उत्तर दिया—'भगवन् ! मैं आपके ही भयसे सेनाके साथ यहाँ नहीं आया ॥ ६ ॥

राज्ञा हि भगवन् नित्यं राजपुत्रेण वा तथा ।
यत्नतः परिहर्तव्या विषयेषु तपस्विनः ॥ ७ ॥

'प्रभो ! राजा और राजपुत्रको चाहिये कि वे सभी देशोंमें प्रयत्नपूर्वक तपस्वीजनोंको दूर छोड़कर रहें (क्योंकि उनके द्वारा उन्हें कष्ट पहुँचनेकी सम्भावना रहती है) ॥ ७ ॥

वाजिमुख्या मनुष्याश्च मत्ताश्च वरवारणाः ।
प्रच्छाद्य भगवन् भूमिं महतीमनुयान्ति माम् ॥ ८ ॥

'भगवन् ! मेरे साथ बहुत-से अच्छे-अच्छे घोड़े, मनुष्य और मतवाले गजराज हैं, जो बहुत बड़े भूभागको ढककर मेरे पीछे-पीछे चलते हैं ॥ ८ ॥

ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेषूटजांस्तथा ।
न हिंस्युरिति तेनाहमेक एवागतस्ततः ॥ ९ ॥

'वे आश्रमके वृक्ष, जल, भूमि और पर्णशालाओंको हानि न पहुँचायें, इसलिये मैं यहाँ अकेला ही आया हूँ'॥ ९॥

आनीयतामितः सेनेत्याज्ञप्तः परमर्षिणा ।
तथानुचक्रे भरतः सेनायाः समुपागमम् ॥ १० ॥

तदनन्तर उन महर्षिने आज्ञा दी कि 'सेनाको यहीं ले आओ।' तब भरतने सेनाको वहीं बुलवा लिया ॥१०॥

अग्निशालां प्रविश्याथ पीत्वापः परिमृज्य च ।
आतिथ्यस्य क्रियाहेतोर्विश्वकर्माणमाह्वयत् ॥ ११ ॥

इसके बाद मुनिवर भरद्वाजने अग्निशालामें प्रवेश करके जलका आचमन किया और ओठ पोंछकर भरतके आतिथ्य-सत्कारके लिये विश्वकर्मा आदिका आवाहन किया ॥ ११ ॥

आह्वये विश्वकर्माणमहं त्वष्टारमेव च ।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १२ ॥

वे बोले—'मैं विश्वकर्मा त्वष्टा देवताका आवाहन करता हूँ। मेरे मनमें सेनासहित भरतका आतिथ्य-सत्कार करनेकी इच्छा हुई है। इसमें मेरे लिये वे आवश्यक प्रबन्ध करें ॥ १२ ॥

आह्वये लोकपालांस्त्रीन् देवाञ् शक्रपुरोगमान् ।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १३ ॥

'जिनके अगुआ इन्द्र हैं, उन तीन लोकपालोंका (अर्थात् इन्द्रसहित यम, वरुण और कुबेर नामक देवताओंका) मैं आवाहन करता हूँ। इस समय भरतका आतिथ्य-सत्कार करना चाहता हूँ, इसमें मेरे लिये वे लोग आवश्यक प्रबन्ध करें ॥ १३ ॥

प्राक्स्रोतसश्च या नद्यस्तिर्यक्स्रोतस एव च ।
पृथिव्यामन्तरिक्षे च समायान्त्वद्य सर्वशः ॥ १४ ॥

'पृथिवी और आकाशमें जो पूर्व एवं पश्चिमकी ओर प्रवाहित होनेवाली नदियाँ हैं, उनका भी मैं आवाहन करता हूँ; वे सब आज यहाँ पधारें ॥ १४ ॥

अन्याः स्रवन्तु मैरेयं सुरामन्याः सुनिष्ठिताम् ।
अपराश्चोदकं शीतमिक्षुकाण्डरसोपमम् ॥ १५ ॥

'कुछ नदियाँ मैरेय प्रस्तुत करें। दूसरी अच्छी तरह तैयार की हुई सुरा ले आवें तथा अन्य नदियाँ ईखके पोरुओंमें होनेवाले रसकी भाँति मधुर एवं शीतल जल तैयार करके रखें ॥ १५ ॥

आह्वये देवगन्धर्वान् विश्वावसुहहाहुहून् ।
तथैवाप्सरसो देवगन्धर्वश्चापि सर्वशः ॥ १६ ॥

'मैं विश्वावसु, हाहा और हूहू आदि देव-गन्धर्वोंका तथा उनके साथ समस्त अप्सराओंका भी आवाहन करता हूँ ॥ १६ ॥

घृताचीमथ विश्वाचीं मिश्रकेशीमलम्बुषाम् ।
नागदत्तां च हेमां च सोमामद्रिकृतस्थलीम् ॥ १७ ॥

'घृताची, विश्वाची, मिश्रकेशी, अलम्बुषा, नागदत्ता, हेमा, सोमा तथा अद्रिकृतस्थली (अथवा पर्वतपर निवास करनेवाली सोमा) का भी मैं आवाहन करता हूँ ॥ १७ ॥

शक्रं याश्चोपतिष्ठन्ति ब्रह्माणं याश्च भामिनीः ।
सर्वास्तुम्बुरुणा सार्धमाह्वये सपरिच्छदाः ॥ १८ ॥

'जो अप्सराएँ इन्द्रकी सभामें उपस्थित होती हैं तथा जो देवाङ्गनाएँ ब्रह्माजीकी सेवामें जाया करती हैं, उन सबका मैं तुम्बुरुके साथ आवाहन करता हूँ। वे अलङ्कारों तथा नृत्य-गीतके लिये अपेक्षित अन्यान्य उपकरणोंके साथ यहाँ पधारें ॥ १८ ॥

वनं कुरुषु यद् दिव्यं वासोभूषणपत्रवत् ।
दिव्यनारीफलं शश्वत् तत्कौबेरमिहैव तु ॥ १९ ॥

'उत्तर कुरुवर्षमें जो दिव्य चैत्ररथ नामक वन है, जिसमें दिव्य वस्त्र और आभूषण ही वृक्षोंके पत्ते हैं और दिव्य नारियाँ ही फल हैं, कुबेरका वह सनातन दिव्य वन यहीं आ जाय ॥ १९ ॥

इह मे भगवान् सोमो विधत्तामन्नमुत्तमम् ।
भक्ष्यं भोज्यं च चोष्यं च लेह्यं च विविधं बहु ॥ २० ॥

'यहाँ भगवान् सोम मेरे अतिथियोंके लिये उत्तम अन्न, नाना प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्यकी प्रचुर मात्रामें व्यवस्था करें ॥ २० ॥

विचित्राणि च माल्यानि पादपप्रच्युतानि च ।
सुरादीनि च पेयानि मांसानि विविधानि च ॥ २१ ॥

'वृक्षोंसे तुरंत चुने गये नाना प्रकारके पुष्प, मधु आदि पेय पदार्थ तथा नाना प्रकारके फलोंके गूदे भी भगवान् सोम यहाँ प्रस्तुत करें ॥ २१ ॥

एवं समाधिना युक्तस्तेजसाप्रतिमेन च ।
शिक्षास्वरसमायुक्तं सुव्रतश्चाब्रवीन्मुनिः ॥ २२ ॥

इस प्रकार उत्तम व्रतका पालन करनेवाले भरद्वाज मुनिने एकाग्रचित्त और अनुपम तेजसे सम्पन्न हो शिक्षा (शिक्षाशास्त्रमें बतायी गयी उच्चारणविधि) और (व्याकरण-शास्त्रोक्त प्रकृति-प्रत्ययसम्बन्धी) स्वरसे युक्त वाणीमें उन सबका आवाहन किया ॥ २२ ॥

मनसा ध्यायतस्तस्य प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः ।
आजग्मुस्तानि सर्वाणि दैवतानि पृथक् पृथक् ॥ २३ ॥

इस तरह आवाहन करके मुनि पूर्वाभिमुख हो हाथ जोड़े मन-ही-मन ध्यान करने लगे। उनके स्मरण करते ही वे सभी देवता एक-एक करके वहाँ आ पहुँचे ॥ २३ ॥

मलयं दर्दुरं चैव ततः स्वेदनुदोऽनिलः ।
उपस्पृश्य ववौ युक्त्या सुप्रियात्मा सुखं शिवः ॥ २४ ॥

फिर तो वहाँ मलय और दर्दुर नामक पर्वतोंका स्पर्श करके बहनेवाली अत्यन्त प्रिय और सुखदायिनी हवा धीरे-

धीरे चलने लगी, जो स्पर्शमात्रसे शरीरके पसीनेको सुखा देनेवाली थी ॥ २४ ॥

ततोऽभ्यवर्षन्त घना दिव्याः कुसुमवृष्टयः ।
देवदुन्दुभिघोषश्च दिक्षु सर्वासु शुश्रुवे ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् मेघगण दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। सम्पूर्ण दिशाओंमें देवताओंकी दुन्दुभियोंका मधुर शब्द सुनायी देने लगा ॥ २५ ॥

प्रववुश्चोत्तमा वाता ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
प्रजगुर्देवगन्धर्वा वीणाः प्रमुमुचुः स्वरान् ॥ २६ ॥

उत्तम वायु चलने लगी। अप्सराओंके समुदायोंका नृत्य होने लगा। देवगन्धर्व गाने लगे और सब ओर वीणाओंकी स्वरलहरियाँ फैल गयीं ॥ २६ ॥

स शब्दो द्यां च भूमिं च प्राणिनां श्रवणानि च ।
विवेशोच्चावचः श्लक्ष्णः समो लयगुणान्वितः ॥ २७ ॥

सङ्गीतका वह शब्द पृथ्वी, आकाश तथा प्राणियोंके कर्णकुहरोंमें प्रविष्ट होकर गूँजने लगा। आरोह-अवरोहसे युक्त वह शब्द कोमल एवं मधुर था, समतालसे विशिष्ट और लयगुणसे सम्पन्न था ॥ २७ ॥

तस्मिन्नेवंगते शब्दे दिव्ये श्रोत्रसुखे नृणाम् ।
ददर्श भारतं सैन्यं विधानं विश्वकर्मणः ॥ २८ ॥

इस प्रकार मनुष्योंके कानोंको सुख देनेवाला वह दिव्य शब्द हो ही रहा था कि भरतकी सेनाको विश्वकर्माका निर्माणकौशल दिखायी पड़ा ॥ २८ ॥

बभूव हि समा भूमिः समन्तात् पञ्चयोजनम् ।
शाद्वलैर्बहुभिश्छन्ना नीलवैदूर्यसंनिभैः ॥ २९ ॥

चारों ओर पाँच योजनतककी भूमि समतल हो गयी। उसपर नीलम और वैदूर्य मणिके समान नाना प्रकारकी घनी घास छा रही थी ॥ २९ ॥

तस्मिन् बिल्वाः कपित्थाश्च पनसा बीजपूरकाः ।
आमलक्यो बभूवुश्च चूताश्च फलभूषिताः ॥ ३० ॥

स्थान-स्थानपर बेल, कैथ, कटहल, आँवला, बिजौरा तथा आमके वृक्ष लगे थे, जो फलोंसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ३० ॥

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च वनं दिव्योपभोगवत् ।
आजगाम नदी सौम्या तीरजैर्बहुभिर्वृता ॥ ३१ ॥

उत्तर कुरुवर्षसे दिव्य भोगसामग्रियोंसे सम्पन्न चैत्ररथ नामक वन वहाँ आ गया। साथ ही वहाँकी रमणीय नदियाँ भी आ पहुँचीं, जो बहुसंख्यक तटवर्ती वृक्षोंसे घिरी हुई थीं ॥ ३१ ॥

चतुःशालानि शुभ्राणि शालाश्च गजवाजिनाम् ।
हर्म्यप्रासादसंयुक्ततोरणानि शुभानि च ॥ ३२ ॥

उज्ज्वल, चार-चार कमरोंसे युक्त गृह (अथवा गृहयुक्त चबूतरे) तैयार हो गये। हाथी और घोड़ोंके रहनेके लिये शालाएँ बन गयीं। अट्टालिकाओं तथा सतमंजिले महलोंसे युक्त सुन्दर नगरद्वार भी निर्मित हो गये ॥ ३२ ॥

सितमेघनिभं चापि राजवेश्म सुतोरणम् ।
शुक्लमाल्यकृताकारं दिव्यगन्धसमुक्षितम् ॥ ३३ ॥

राजपरिवारके लिये बना हुआ सुन्दर द्वारसे युक्त दिव्य भवन श्वेत बादलोंके समान शोभा पा रहा था। उसे सफेद फूलोंकी मालाओंसे सजाया और दिव्य सुगन्धित जलसे सींचा गया था ॥ ३३ ॥

चतुरस्रमसम्बाधं शयनासनयानवत् ।
दिव्यैः सर्वरसैर्युक्तं दिव्यभोजनवस्त्रवत् ॥ ३४ ॥

वह महल चौकोना तथा बहुत बड़ा था—उसमें संकीर्णताका अनुभव नहीं होता था। उसमें सोने, बैठने और सवारियोंके रहनेके लिये अलग-अलग स्थान थे। वहाँ सब प्रकारके दिव्य रस, दिव्य भोजन और दिव्य वस्त्र प्रस्तुत थे ॥ ३४ ॥

उपकल्पितसर्वान्नं धौतनिर्मलभाजनम् ।
क्लृप्तसर्वासनं श्रीमत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम् ॥ ३५ ॥

सब तरहके अन्न और धुले हुए स्वच्छ पात्र रखे गये थे। उस सुन्दर भवनमें कहीं बैठनेके लिये सब प्रकारके आसन उपस्थित थे और कहीं सोनेके लिये सुन्दर शय्याएँ बिछी थीं ॥ ३५ ॥

प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा ।
वेश्म तद् रत्नसम्पूर्णं भरतः कैकयीसुतः ॥ ३६ ॥
अनुजग्मुश्च ते सर्वे मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।
बभूवुश्च मुदा युक्तास्तं दृष्ट्वा वेश्मसंविधिम् ॥ ३७ ॥

महर्षि भरद्वाजकी आज्ञासे कैकेयीपुत्र महाबाहु भरतने नाना प्रकारके रत्नोंसे भरे हुए उस महलमें प्रवेश किया। उनके साथ-साथ पुरोहित और मन्त्री भी उसमें गये। उस भवनका निर्माणकौशल देखकर उन सब लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३६-३७ ॥

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत् ॥ ३८ ॥

उस भवनमें भरतने दिव्य राजसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे तथा वहाँ राजा श्रीरामकी भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन समस्त राजभोग्य वस्तुओंकी प्रदक्षिणा की ॥ ३८ ॥

आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च ।
वालव्यजनमादाय न्यषीदत् सचिवासने ॥ ३९ ॥

सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी महाराज विराजमान हैं, ऐसी धारणा बनाकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की। फिर अपने हाथमें चँवर ले, वे मन्त्रीके आसनपर जा बैठे ॥ ३९ ॥

आनुपूर्व्यान्निषेदुश्च सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः।
ततः सेनापतिः पश्चात् प्रशास्ता च न्यषीदत ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् पुरोहित और मन्त्री भी क्रमशः अपने योग्य आसनोंपर बैठे; फिर सेनापति और प्रशास्ता (छावनीकी रक्षा करनेवाले) भी बैठ गये ॥ ४० ॥

ततस्तत्र मुहूर्तेन नद्यः पायसकर्दमाः।
उपातिष्ठन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर वहाँ दो ही घड़ीमें भरद्वाज मुनिकी आज्ञासे भरतकी सेवामें नदियाँ उपस्थित हुईं, जिनमें कीचके स्थानमें खीर भरी थी ॥ ४१ ॥

आसामुभयतःकूलं पाण्डुमृत्तिकलेपनाः।
रम्याश्चावसथा दिव्या ब्राह्मणस्य प्रसादजाः ॥ ४२ ॥

उन नदियोंके दोनों तटोंपर ब्रह्मर्षि भरद्वाजकी कृपासे दिव्य एवं रमणीय भवन प्रकट हो गये थे, जो चूनेसे पुते हुए थे ॥ ४२ ॥

तेनैव च मुहूर्तेन दिव्याभरणभूषिताः।
आगुर्विंशतिसाहस्रा ब्रह्मणा प्रहिताः स्त्रियः ॥ ४३ ॥

उसी मुहूर्तमें ब्रह्माजीकी भेजी हुई दिव्य आभूषणोंसे विभूषित बीस हजार दिव्याङ्गनाएँ वहाँ आयीं ॥ ४३ ॥

सुवर्णमणिमुक्तेन प्रवालेन च शोभिताः।
आगुर्विंशतिसाहस्राः कुबेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥
याभिर्गृहीतः पुरुषः सोन्माद इव लक्ष्यते।

इसी तरह सुवर्ण, मणि, मुक्ता और मूँगोंके आभूषणोंसे सुशोभित, कुबेरकी भेजी हुई बीस हजार दिव्य महिलाएँ भी वहाँ उपस्थित हुईं, जिनका स्पर्श पाकर पुरुष उन्माद-ग्रस्त-सा दिखायी देता है ॥ ४४½ ॥

आगुर्विंशतिसाहस्रा नन्दनादप्सरोगणाः ॥ ४५ ॥
नारदस्तुम्बुरुर्गोपः प्रभया सूर्यवर्चसः।
एते गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः ॥ ४६ ॥

इनके सिवा नन्दनवनसे बीस हजार अप्सराएँ भी आयीं। नारद, तुम्बुरु और गोप अपनी कान्तिसे सूर्यके समान प्रकाशित होते थे। ये तीनों गन्धर्वराज भरतके सामने गीत गाने लगे ॥ ४५-४६ ॥

अलम्बुषा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ वामना।
उपानृत्यन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥

अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका और वामना—ये चार अप्सराएँ भरद्वाज मुनिकी आज्ञासे भरतके समीप नृत्य करने लगीं ॥ ४७ ॥

यानि माल्यानि देवेषु यानि चैत्ररथे वने।
प्रयागे तान्यदृश्यन्त भरद्वाजस्य तेजसा ॥ ४८ ॥

जो फूल देवताओंके उद्यानोंमें और जो चैत्ररथ वनमें हुआ करते हैं, वे महर्षि भरद्वाजके प्रतापसे प्रयागमें दिखायी देने लगे ॥ ४८ ॥

बिल्वा मार्दङ्गिका आसञ् शम्याग्राहा विभीतकाः।
अश्वत्था नर्तकाश्चासन् भरद्वाजस्य तेजसा ॥ ४९ ॥

भरद्वाज मुनिके तेजसे बेलके वृक्ष मृदङ्ग बजाते, बहेड़ेके पेड़ शम्या नामक ताल देते और पीपलके वृक्ष वहाँ नृत्य करते थे ॥ ४९ ॥

ततः सरलतालाश्च तिलकाः सतमालकाः।
प्रहृष्टास्तत्र सम्पेतुः कुब्जा भूत्वाथ वामनाः ॥ ५० ॥

तदनन्तर देवदारु, ताल, तिलक और तमाल नामक वृक्ष कुबड़े और बौने बनकर बड़े हर्षके साथ भरतकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ५० ॥

शिंशपाऽऽमलकी जम्बूर्याश्चान्याः कानने लताः।
मालती मल्लिका जातिर्याश्चान्याः कानने लताः।
प्रमदाविग्रहं कृत्वा भरद्वाजाश्रमेऽवसन् ॥ ५१ ॥

शिंशपा, आमलकी और जम्बू आदि स्त्रीलिङ्ग वृक्ष तथा मालती, मल्लिका और जाति आदि वनकी लताएँ नारीका रूप धारण करके भरद्वाज मुनिके आश्रममें आ बसीं ॥ ५१ ॥

सुरां सुरापाः पिबत पायसं च बुभुक्षिताः।
मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यो यदिच्छति ॥

(वे भरतके सैनिकोंको पुकार-पुकारकर कहती थीं—) 'मधुका पान करनेवाले लोगो ! लो, यह मधु पान कर लो। तुममेंसे जिन्हें भूख लगी हो, वे सब लोग यह खीर खाओ और परम पवित्र फलोंके गूदे भी प्रस्तुत हैं, इनका आस्वादन करो। जिसकी जो इच्छा हो, वही भोजन करो' ॥ ५२ ॥

उच्छोद्य स्नापयन्ति स्म नदीतीरेषु वल्गुषु।
अप्येकमेकं पुरुषं प्रमदाः सप्त चाष्ट च ॥ ५३ ॥

सात-आठ तरुणी स्त्रियाँ मिलकर एक-एक पुरुषको नदीके मनोहर तटोंपर उबटन लगा-लगाकर नहलाती थीं ॥ ५३ ॥

संवाहन्त्यः समापेतुर्नार्यो विपुललोचनाः।
परिमृज्य तदान्योन्यं पाययन्ति वराङ्गनाः ॥ ५४ ॥

बड़े-बड़े नेत्रोंवाली सुन्दरी रमणियाँ अतिथियोंका पैर दबानेके लिये आयी थीं। वे उनके भीगे हुए अङ्गोंको वस्त्रोंसे पोंछकर शुद्ध वस्त्र धारण कराकर उन्हें स्वादिष्ट पेय (दूध आदि) पिलाती थीं ॥ ५४ ॥

हयान् गजान् खरानुष्ट्रांस्तथैव सुरभेः सुतान्।
अभोजयन् वाहनपास्तेषां भोज्यं यथाविधि ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न वाहनोंकी रक्षामें नियुक्त मनुष्योंने हाथी, घोड़े, गधे, ऊँट और बैलोंको भलीभाँति दाना-घास आदिका भोजन कराया ॥ ५५ ॥

इक्षूंश्च मधुलाजांश्च भोजयन्ति स्म वाहनान्।
इक्ष्वाकुवरयोधानां चोदयन्तो महाबलाः ॥ ५६ ॥

इक्ष्वाकुकुलके श्रेष्ठ योद्धाओंकी सवारीमें आनेवाले वाहनोंको वे महाबली वाहन-रक्षक (जिन्हें महर्षिने सेवाके लिये नियुक्त किया था) प्रेरणा दे-देकर गन्नेके टुकड़े और मधुमिश्रित लावे खिलाते थे ॥ ५६ ॥

नाश्वबन्धोऽश्वमाजानान्न गजं कुञ्जरग्रहः।
मत्तप्रमत्तमुदिता सा चमूस्तत्र सम्बभौ ॥ ५७ ॥

घोड़े बाँधनेवाले सईसको अपने घोड़ेका और हाथीवान-को अपने हाथीका कुछ पता नहीं था। सारी सेना वहाँ मत्त-प्रमत्त और आनन्दमग्न प्रतीत होती थी ॥ ५७ ॥

तर्पिताः सर्वकामैश्च रक्तचन्दनरूषिताः।
अप्सरोगणसंयुक्ताः सैन्या वाचमुदीरयन् ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण मनोवाञ्छित पदार्थोंसे तृप्त होकर लाल चन्दनसे चर्चित हुए सैनिक अप्सराओंका संयोग पाकर निम्नाङ्कित बातें कहने लगे—॥ ५८ ॥

नैवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान्।
कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ॥ ५९ ॥

'अब हम अयोध्या नहीं जायँगे, दण्डकारण्यमें भी नहीं जायँगे। भरत सकुशल रहें (जिनके कारण हमें इस भूतलपर स्वर्गका सुख मिला) तथा श्रीरामचन्द्रजी भी सुखी रहें (जिनके दर्शनके लिये आनेपर हमें इस दिव्य सुखकी प्राप्ति हुई)' ॥ ५९ ॥

इति पादातयोधाश्च हस्त्यश्वारोहबन्धकाः।
अनाथास्तं विधिं लब्ध्वा वाचमेतामुदीरयन् ॥ ६० ॥

इस प्रकार पैदल सैनिक तथा हाथीसवार, घुड़सवार, सईस और महावत आदि उस सत्कारको पाकर स्वच्छन्द हो उपर्युक्त बातें कहने लगे ॥ ६० ॥

सम्प्रहृष्टा विनेदुस्ते नरास्तत्र सहस्रशः।
भरतस्यानुयातारः स्वर्गोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ ६१ ॥

भरतके साथ आये हुए हजारों मनुष्य वहाँका वैभव देखकर हर्षके मारे फूले नहीं समाते थे और जोर-जोरसे कहते थे—यह स्थान स्वर्ग है ॥ ६१ ॥

नृत्यन्तश्च हसन्तश्च गायन्तश्चैव सैनिकाः।
समन्तात् परिधावन्तो माल्योपेताः सहस्रशः ॥ ६२ ॥

सहस्रों सैनिक फूलोंके हार पहनकर नाचते, हँसते और गाते हुए सब ओर दौड़ते फिरते थे ॥ ६२ ॥

ततो भुक्तवतां तेषां तदन्नममृतोपमम्।
दिव्यानुद्वीक्ष्य भक्ष्यांस्तानभवद् भक्षणे मतिः ॥ ६३ ॥

उस अमृतके समान स्वादिष्ट अन्नका भोजन कर चुकनेपर भी उन दिव्य भक्ष्य पदार्थोंको देखकर उन्हें पुनः भोजन करनेकी इच्छा हो जाती थी ॥ ६३ ॥

प्रेष्याश्चेट्यश्च वध्वश्च बलस्थाश्चापि सर्वशः।
बभूवुस्ते भृशं प्रीताः सर्वे चाहतवाससः ॥ ६४ ॥

दास-दासियाँ, सैनिकोंकी स्त्रियाँ और सैनिक सब-के-सब नूतन वस्त्र धारण करके सब प्रकारसे अत्यन्त प्रसन्न हो गये थे ॥ ६४ ॥

कुञ्जराश्च खरोष्ट्राश्च गोऽश्वाश्च मृगपक्षिणः।
बभूवुः सुभृतास्तत्र नान्यो ह्यन्यमकल्पयत् ॥ ६५ ॥

हाथी, घोड़े, गदहे, ऊँट, बैल, मृग तथा पक्षी भी वहाँ पूर्ण तृप्त हो गये थे; अतः कोई दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता था ॥ ६५ ॥

नाशुक्लवासास्तत्रासीत् क्षुधितो मलिनोऽपि वा।
रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यत ॥ ६६ ॥

उस समय वहाँ कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं दिखायी देता था, जिसके कपड़े सफेद न हों, जो भूखा या मलिन रह गया हो, अथवा जिसके केश धूलसे धूसरित हो गये हों ॥ ६६ ॥

आजैश्चापि च वाराहैर्निष्ठानवरसंचयैः।
फलनिर्यूहसंसिद्धैः सूपैर्गन्धरसान्वितैः ॥ ६७ ॥
पुष्पध्वजवतीः पूर्णाः शुक्लस्यान्नस्य चाभितः।
ददृशुर्विस्मितास्तत्र नरा लौहीः सहस्रशः ॥ ६८ ॥

अजवाइन मिलाकर बनाये गये, वराही कन्दसे तैयार किये गये तथा आम आदि फलोंके गरम किये हुए रसमें पकाये गये उत्तमोत्तम व्यञ्जनोंके संग्रहों, सुगन्धयुक्त रसवाली दालों तथा श्वेत रंगके भातोंसे भरे हुए सहस्रों सुवर्ण आदिके पात्र वहाँ सब ओर रखे हुए थे, जिन्हें फूलोंकी ध्वजाओंसे सजाया गया था। भरतके साथ आये हुए सब लोगोंने उन पात्रोंको आश्चर्यचकित होकर देखा ॥ ६७-६८ ॥

बभूवुर्वनपार्श्वेषु कूपाः पायसकर्दमाः।
ताश्च कामदुघा गावो द्रुमाश्चासन् मधुच्युतः ॥ ६९ ॥

वनके आस-पास जितने कुएँ थे, उन सबमें गाढ़ी स्वादिष्ट खीर भरी हुई थी। वहाँकी गौएँ कामधेनु (सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाली) हो गयी थीं और उस दिव्य वनके वृक्ष मधुकी वर्षा करते थे ॥ ६९ ॥

वाप्यो मैरेयपूर्णाश्च मृष्टमांसचयैर्वृताः।
प्रतप्तपिठरैश्चापि मार्गमायूरकौक्कुटैः ॥ ७० ॥

भरतकी सेनामें आये हुए निषाद आदि निम्नवर्गके लोगोंकी तृप्तिके लिये वहाँ मधुसे भरी हुई बावड़ियाँ प्रकट हो गयी थीं तथा उनके तटोंपर तपे हुए पिठर (कुण्ड) में पकाये गये मृग, मोर और मुर्गोंके स्वच्छ मांस भी ढेर-के-ढेर रख दिये गये थे ॥ ७० ॥

पात्रीणां च सहस्राणि स्थालीनां नियुतानि च।
न्यर्बुदानि च पात्राणि शातकुम्भमयानि च ॥ ७१ ॥

वहाँ सहस्रों सोनेके अन्नपात्र, लाखों व्यञ्जनपात्र और लगभग एक अरब थालियाँ संगृहीत थीं ॥ ७१ ॥

स्थाल्यः कुम्भ्यः करम्भ्यश्च दधिपूर्णाः सुसंस्कृताः।
यौवनस्थस्य गौरस्य कपित्थस्य सुगन्धिनः ॥ ७२ ॥

ह्रदाः पूर्णा रसालस्य दध्नः श्वेतस्य चापरे।
बभूवुः पायसस्यान्ये शर्कराणां च संचयाः ॥ ७३ ॥

पिठर, छोटे-छोटे घड़े तथा मटके दहीसे भरे हुए थे और उनमें दहीको सुस्वादु बनानेवाले सोंठ आदि मसाले पड़े हुए थे। एक पहर पहलेके तैयार किये हुए केसरमिश्रित पीतवर्णवाले सुगन्धित तक्रके कई तालाब भरे हुए थे। जीरा आदि मिलाये हुए तक्र (रसाल), सफेद दही तथा दूधके भी कई कुण्ड पृथक्-पृथक् भरे हुए थे। शक्करोंके कई ढेर लगे थे॥ ७२-७३ ॥

कल्कांश्चूर्णकषायांश्च स्नानानि विविधानि च।
ददृशुर्भाजनस्थानि तीर्थेषु सरितां नराः ॥ ७४ ॥

स्नान करनेवाले मनुष्योंको नदीके घाटोंपर भिन्न-भिन्न पात्रोंमें पीसे हुए आँवले, सुगन्धित चूर्ण तथा और भी नाना प्रकारके स्नानोपयोगी पदार्थ दिखायी देते थे॥ ७४ ॥

शुक्लानंशुमतश्चापि दन्तधावनसंचयान्।
शुक्लांश्चन्दनकल्कांश्च समुद्रेष्ववतिष्ठतः ॥ ७५ ॥

साथ ही ढेर-के-ढेर दाँतन, जो सफेद कूँचेवाले थे, वहाँ रखे हुए थे। सम्पुटोंमें घिसे हुए सफेद चन्दन विद्यमान थे। इन सब वस्तुओंको लोगोंने देखा॥ ७५ ॥

दर्पणान् परिमृष्टांश्च वाससां चापि संचयान्।
पादुकोपानहं चैव युग्मान्यत्र सहस्रशः ॥ ७६ ॥

इतना ही नहीं, वहाँ बहुत-से स्वच्छ दर्पण, ढेर-के-ढेर वस्त्र और हजारों जोड़े खड़ाऊँ और जूते भी दिखायी देते थे॥

आञ्जनीः कङ्कतान् कूर्चांश्छत्राणि च धनूंषि च।
मर्मत्राणानि चित्राणि शयनान्यासनानि च ॥ ७७ ॥

काजलोंसहित कजरौटे, कंघे, कूर्च (थकरी या ब्रश), छत्र, धनुष, मर्मस्थानोंकी रक्षा करनेवाले कवच आदि तथा विचित्र शय्या और आसन भी वहाँ दृष्टिगोचर होते थे॥

प्रतिपानह्रदान् पूर्णान् खरोष्ट्रगजवाजिनाम्।
अवगाह्यसुतीर्थांश्च ह्रदान् सोत्पलपुष्करान्।
आकाशवर्णप्रतिमान् स्वच्छतोयान् सुखाप्लवान् ॥ ७८ ॥

गधे, ऊँट, हाथी और घोड़ोंके पानी पीनेके लिये कई जलाशय भरे थे, जिनके घाट बड़े सुन्दर और सुखपूर्वक उतरनेयोग्य थे। उन जलाशयोंमें कमल और उत्पल शोभा पा रहे थे। उनका जल आकाशके समान स्वच्छ था तथा उनमें सुखपूर्वक तैरा जा सकता था॥ ७८ ॥

नीलवैदूर्यवर्णांश्च मृदून् यवससंचयान्।
निर्वापार्थं पशूनां ते ददृशुस्तत्र सर्वशः ॥ ७९ ॥

पशुओंके खानेके लिये वहाँ सब ओर नील वैदूर्यमणिके समान रंगवाली हरी एवं कोमल घासकी ढेरियाँ लगी थीं। उन सब लोगोंने वे सारी वस्तुएँ देखीं॥ ७९ ॥

व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम्।
दृष्ट्वाऽऽतिथ्यं कृतं तादृग् भरतस्य महर्षिणा ॥ ८० ॥

महर्षि भरद्वाजके द्वारा सेनासहित भरतका किया हुआ वह अनिर्वचनीय आतिथ्य-सत्कार अद्भुत और स्वप्नके समान था। उसे देखकर वे सब मनुष्य आश्चर्यचकित हो उठे॥

इत्येवं रममाणानां देवानामिव नन्दने।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥ ८१ ॥

जैसे देवता नन्दनवनमें विहार करते हैं, उसी प्रकार भरद्वाज मुनिके रमणीय आश्रममें यथेष्ट क्रीड़ा-विहार करते हुए उन लोगोंकी वह रात्रि बड़े सुखसे बीती॥ ८१ ॥

प्रतिजग्मुश्च ता नद्यो गन्धर्वाश्च यथागतम्।
भरद्वाजमनुज्ञाप्य ताश्च सर्वा वराङ्गनाः ॥ ८२ ॥

तत्पश्चात् वे नदियाँ, गन्धर्व और समस्त सुन्दरी अप्सराएँ भरद्वाजजीकी आज्ञा ले जैसे आयी थीं, उसी प्रकार लौट गयीं॥ ८२ ॥

तथैव मत्ता मदिरोत्कटा नरा-
स्तथैव दिव्यागुरुचन्दनोक्षिताः।
तथैव दिव्या विविधाः स्रगुत्तमाः
पृथग्विकीर्णा मनुजैः प्रमर्दिताः ॥ ८३ ॥

सवेरा हो जानेपर भी लोग उसी प्रकार मधुपानसे मत्त एवं उन्मत्त दिखायी देते थे। उनके अङ्गोंपर दिव्य अगुरुयुक्त चन्दनका लेप ज्यों-का-त्यों दृष्टिगोचर हो रहा था। मनुष्योंके उपभोगमें लाये गये नाना प्रकारके दिव्य उत्तम पुष्पहार भी उसी अवस्थामें पृथक्-पृथक् बिखरे पड़े थे॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्यानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमः सर्गः

भरतका भरद्वाज मुनिसे जानेकी आज्ञा लेते हुए श्रीरामके आश्रमपर जानेका मार्ग जानना और मुनिको अपनी माताओंका परिचय देकर वहाँसे चित्रकूटके लिये सेनासहित प्रस्थान करना

ततस्तां रजनीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः।
कृतातिथ्यो भरद्वाजं कामादभिजगाम ह ॥ १ ॥

परिवारसहित भरत इच्छानुसार मुनिका आतिथ्य ग्रहण करके रातभर आश्रममें ही रहे। फिर सवेरे जानेकी आज्ञा लेनेके लिये वे महर्षि भरद्वाजके पास गये॥ १ ॥

तमृषिः पुरुषव्याघ्रं प्रेक्ष्य प्राञ्जलिमागतम्।
हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

पुरुषसिंह भरतको हाथ जोड़े अपने पास आया देख भरद्वाजजी अग्निहोत्रका कार्य करके उनसे बोले—॥ २ ॥

कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता।

समग्रस्ते जनः कच्चिदातिथ्ये शंस मेऽनघ ॥ ३ ॥

'निष्पाप भरत ! क्या हमारे इस आश्रममें तुम्हारी यह रात सुखसे बीती है ? क्या तुम्हारे साथ आये हुए सब लोग इस आतिथ्यसे संतुष्ट हुए हैं ? यह बताओ' ॥ ३ ॥

तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च ।
आश्रमादुपनिष्क्रान्तमृषिमुत्तमतेजसम् ॥ ४ ॥

तब भरतने आश्रमसे बाहर निकले हुए उन उत्तम तेजस्वी महर्षिको प्रणाम करके उनसे हाथ जोड़कर कहा—॥

सुखोषितोऽस्मि भगवन् समग्रबलवाहनः ।
बलवत्तर्पितश्चाहं बलवान् भगवंस्त्वया ॥ ५ ॥

'भगवन् ! मैं सम्पूर्ण सेना और सवारीके साथ यहाँ सुखपूर्वक रहा हूँ तथा सैनिकोंसहित मुझे पूर्णरूपसे तृप्त किया गया है ॥ ५ ॥

अपेतक्लमसंतापाः सुभिक्षाः सुप्रतिश्रयाः ।
अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः ॥ ६ ॥

'सेवकोंसहित हम सब लोग ग्लानि और संतापसे रहित हो उत्तम अन्न-पान ग्रहण करके सुन्दर गृहोंका आश्रय ले बड़े सुखसे यहाँ रातभर रहे हैं ॥ ६ ॥

आमन्त्रयेऽहं भगवन् कामं त्वामृषिसत्तम ।
समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ ७ ॥

'भगवन् ! मुनिश्रेष्ठ ! अब मैं अपनी इच्छाके अनुसार आपसे आज्ञा लेने आया हूँ और अपने भाईके समीप प्रस्थान कर रहा हूँ; आप मुझे स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखिये ॥ ७ ॥

आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः ।
आचक्ष्व कतमो मार्गः कियानिति च शंस मे ॥ ८ ॥

'धर्मज्ञ मुनीश्वर ! बताइये, धर्मपरायण महात्मा श्रीरामका आश्रम कहाँ है ? कितनी दूर है ? और वहाँ पहुँचनेके लिये कौन-सा मार्ग है ? इसका भी मुझसे स्पष्टरूपसे वर्णन कीजिये'॥

इति पृष्टस्तु भरतं भ्रातुर्दर्शनलालसम् ।
प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर महातपस्वी, महातेजस्वी भरद्वाजमुनिने भाईके दर्शनकी लालसावाले भरतको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ९ ॥

भरतार्धतृतीयेषु योजनेष्वजने वने ।
चित्रकूटगिरिस्तत्र रम्यनिर्झरकाननः ॥ १० ॥

'भरत ! यहाँसे ढाई योजन (दस कोस)* की दूरी-पर एक निर्जन वनमें चित्रकूटनामक पर्वत है, जहाँके झरने और वन बड़े ही रमणीय हैं (प्रयागसे चित्रकूटकी आधुनिक दूरी लगभग २८ कोस है) ॥ १० ॥

उत्तरं पार्श्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी ।
पुष्पितद्रुमसंछन्ना रम्यपुष्पितकानना ॥ ११ ॥
अनन्तरं तत्सरितश्चित्रकूटं च पर्वतम् ।
तयोः पर्णकुटीं तात तत्र तौ वसतो ध्रुवम् ॥ १२ ॥

'उसके उत्तरी किनारेसे मन्दाकिनी नदी बहती है, जो फूलोंसे लदे सघन वृक्षोंसे आच्छादित रहती है, उसके आस-पासका वन बड़ा ही रमणीय और नाना प्रकारके पुष्पोंसे सुशोभित है। उस नदीके उस पार चित्रकूट पर्वत है। तात ! वहाँ पहुँचकर तुम नदी और पर्वतके बीचमें श्रीरामकी पर्णकुटी देखोगे। वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण निश्चय ही उसीमें निवास करते हैं ॥ ११-१२ ॥

दक्षिणेन च मार्गेण सव्यदक्षिणमेव च ।
गजवाजिसमाकीर्णां वाहिनीं वाहिनीपते ॥ १३ ॥
वाहयस्व महाभाग ततो द्रक्ष्यसि राघवम् ।

'सेनापते ! तुम यहाँसे हाथी-घोड़ोंसे भरी हुई अपनी सेना लेकर पहले यमुनाके दक्षिणी किनारेसे जो मार्ग गया है, उससे जाओ। आगे जाकर दो रास्ते मिलेंगे, उनमेंसे जो रास्ता बायें दाबकर दक्षिण दिशाकी ओर गया है, उसीसे सेनाको ले जाना। महाभाग ! उस मार्गसे चलकर तुम शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन पा जाओगे ॥ १३½ ॥

प्रयाणमिति च श्रुत्वा राजराजस्य योषितः ॥ १४ ॥
हित्वा यानानि यानार्हा ब्राह्मणं पर्यवारयन् ।

'अब यहाँसे प्रस्थान करना है'—यह सुनकर महाराज दशरथकी स्त्रियाँ, जो सवारीपर ही रहने योग्य थीं, सवारियोंको छोड़कर ब्रह्मर्षि भरद्वाजको प्रणाम करनेके लिये उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं ॥१४½॥

वेपमाना कृशा दीना सह देव्या सुमित्रया ॥ १५ ॥
कौसल्या तत्र जग्राह कराभ्यां चरणौ मुनेः ।

उपवासके कारण अत्यन्त दुर्बल एवं दीन हुई देवी कौसल्याने, जो काँप रही थीं, सुमित्रा देवीके साथ अपने दोनों हाथोंसे भरद्वाज मुनिके पैर पकड़ लिये ॥

असमृद्धेन कामेन सर्वलोकस्य गर्हिता ॥ १६ ॥
कैकेयी तत्र जग्राह चरणौ सव्यपत्रपा ।
तं प्रदक्षिणमागम्य भगवन्तं महामुनिम् ॥ १७ ॥
अदूराद् भरतस्यैव तस्थौ दीनमनास्तदा ।

तत्पश्चात् जो अपनी असफल कामनाके कारण सब लोगोंके लिये निन्दित हो गयी थी, उस कैकेयीने लज्जित होकर वहाँ मुनिके चरणोंका स्पर्श किया और उन महामुनि भगवान् भरद्वाजकी परिक्रमा करके वह दीनचित्त हो उस समय भरतके ही पास आकर खड़ी हो गयी ॥ १६-१७½ ॥

तत्र पप्रच्छ भरतं भरद्वाजो महामुनिः ॥ १८ ॥

* सर्ग ५४ के श्लोक २८ में मूल ग्रन्थमें दस कोसकी दूरी लिखी है और यहाँ ढाई योजन। दोनों स्थलोंमें दस कोसका ही संकेत है। रामायणशिरोमणि नामक व्याख्यामें दोनों जगह कपि-जलाधिकरणन्यायसे अथवा एकशेषके द्वारा यह दूरी तिगुनी करके दिखायी गयी है। प्रयागसे चित्रकूटकी दूरी लगभग २८ कोसकी मानी जाती है। रामायणशिरोमणि-कारकी मान्यताके अनुसार ३० कोसकी दूरीमें और इस दूरीमें अधिक अन्तर नहीं है। मीलका माप पुराने क्रोश-मानकी अपेक्षा छोटा है, इसलिये ८० मीलकी यह दूरी मानी जाती है।

विशेषं ज्ञातुमिच्छामि मातॄणां तव राघव।

तब महामुनि भरद्वाजने वहाँ भरतसे पूछा—'रघुनन्दन! तुम्हारी इन माताओंका विशेष परिचय क्या है? यह मैं जानना चाहता हूँ' ॥ १८½ ॥

एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धार्मिकः ॥ १९ ॥
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यं वचनकोविदः।

भरद्वाजके इस प्रकार पूछनेपर बोलनेकी कलामें कुशल धर्मात्मा भरतने हाथ जोड़कर कहा—॥ १९½ ॥

यामिमां भगवन् दीनां शोकानशनकर्शिताम् ॥ २० ॥
पितुर्हि महिषीं देवीं देवतामिव पश्यसि।
एषां तं पुरुषव्याघ्रं सिंहविक्रान्तगामिनम् ॥ २१ ॥
कौसल्या सुषुवे रामं धातारमदितिर्यथा।

'भगवन्! आप जिन्हें शोक और उपवासके कारण अत्यन्त दुर्बल एवं दुखी देख रहे हैं, जो देवी-सी दृष्टिगोचर हो रही हैं, ये मेरे पिताकी सबसे बड़ी महारानी कौसल्या हैं। जैसे अदितिने धाता नामक आदित्यको उत्पन्न किया था, उसी प्रकार इन कौसल्या देवीने सिंहके समान पराक्रमसूचक गतिसे चलनेवाले पुरुषसिंह श्रीरामको जन्म दिया है ॥ २०—२१½ ॥

अस्या वामभुजं श्लिष्टा या सा तिष्ठति दुर्मनाः ॥ २२ ॥
इयं सुमित्रा दुःखार्ता देवी राज्ञश्च मध्यमा।
कर्णिकारस्य शाखेव शीर्णपुष्पा वनान्तरे ॥ २३ ॥
एतस्यास्तौ सुतौ देव्याः कुमारौ देववर्णिनौ।
उभौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ वीरौ सत्यपराक्रमौ ॥ २४ ॥

'इनकी बायीं बाँहसे सटकर जो उदास मनसे खड़ी हैं तथा दुःखसे आतुर हो रही हैं और आभूषणशून्य होनेसे वनके भीतर झड़े हुए पुष्पवाली कनेरकी डालके समान दिखायी देती हैं, ये महाराजकी मझली रानी देवी सुमित्रा हैं। सत्यपराक्रमी वीर तथा देवताओंके तुल्य कान्तिमान् वे दोनों भाई राजकुमार लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन्हीं सुमित्रा देवीके पुत्र हैं ॥ २२—२४ ॥

यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाशमितो गतौ।
राजा पुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ॥ २५ ॥
क्रोधनामकृतप्रज्ञां दृप्तां सुभगमानिनीम्।
ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम् ॥ २६ ॥
ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम्।
यतोमूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः ॥ २७ ॥

'और जिसके कारण पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण यहाँसे प्राण-सङ्कटकी अवस्था (वनवास) में जा पहुँचे हैं तथा राजा दशरथ पुत्रवियोगका कष्ट पाकर स्वर्गवासी हुए हैं, जो स्वभावसे ही क्रोध करनेवाली, अशिक्षित बुद्धिवाली, गर्वीली, अपने-आपको सबसे अधिक सुन्दरी और भाग्यवती समझनेवाली तथा राज्यका लोभ रखनेवाली है, जो शक्ल-सूरतसे आर्या होनेपर भी वास्तवमें अनार्या है, इस कैकेयीको मेरी माता समझिये। यह बड़ी ही क्रूर और पापपूर्ण विचार रखनेवाली है। मैं अपने ऊपर जो महान् संकट आया हुआ देख रहा हूँ, इसका मूल कारण यही है' ॥ २५—२७ ॥

इत्युक्त्वा नरशार्दूलो बाष्पगद्गदया गिरा।
विनिःश्वस्य स ताम्राक्षः क्रुद्धो नाग इव श्वसन् ॥ २८ ॥

अश्रुगद्गद वाणीसे इस प्रकार कहकर लाल आँखें किये पुरुषसिंह भरत रोषसे भरकर फुफकारते हुए सर्पकी भाँति लंबी साँस खींचने लगे ॥ २८ ॥

भरद्वाजो महर्षिस्तं ब्रुवन्तं भरतं तदा।
प्रत्युवाच महाबुद्धिरिदं वचनमर्थवित् ॥ २९ ॥

उस समय ऐसी बातें कहते हुए भरतसे श्रीरामावतारके प्रयोजनको जाननेवाले महाबुद्धिमान् महर्षि भरद्वाजने उनसे यह बात कही—॥ २९ ॥

न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया।
रामप्रव्राजनं तु ह्येतत् सुखोदर्कं भविष्यति ॥ ३० ॥

'भरत! तुम कैकेयीके प्रति दोष-दृष्टि न करो। श्रीरामका यह वनवास भविष्यमें बड़ा ही सुखद होगा ॥ ३० ॥

देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम्।
हितमेव भविष्यद्धि रामप्रव्राजनादिह ॥ ३१ ॥

'श्रीरामके वनमें जानेसे देवताओं, दानवों तथा परमात्माका चिन्तन करनेवाले महर्षियोंका इस जगत्में हित ही होनेवाला है' ॥ ३१ ॥

अभिवाद्य तु संसिद्धः कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम्।
आमन्त्र्य भरतः सैन्यं युज्यतामिति चाब्रवीत् ॥ ३२ ॥

श्रीरामका पता जानकर और मुनिका आशीर्वाद पाकर कृतकृत्य हुए भरतने मुनिको मस्तक झुका उनकी प्रदक्षिणा करके जानेकी आज्ञा ले सेनाको कूचके लिये तैयार होनेका आदेश दिया ॥ ३२ ॥

ततो वाजिरथान् युक्त्वा दिव्यान् हेमविभूषितान्।
अध्यारोहत् प्रयाणार्थं बहून् बहुविधो जनः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर अनेक प्रकारकी वेष-भूषावाले लोग बहुत-से दिव्य घोड़ों और दिव्य रथोंको, जो सुवर्णसे विभूषित थे, जोतकर यात्राके लिये उनपर सवार हुए ॥ ३३ ॥

गजकन्या गजाश्चैव हेमकक्ष्याः पताकिनः।
जीमूता इव घर्मान्ते सघोषाः सम्प्रतस्थिरे ॥ ३४ ॥

बहुत-सी हथिनियाँ और हाथी, जो सुनहरे रस्सोंसे

कसे गये थे और जिनके ऊपर पताकाएँ फहरा रही थीं, वर्षा-कालके गरजते हुए मेघोंके समान घण्टानाद करते हुए वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ३४ ॥

विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च ।
प्रययुः सुमहार्हाणि पादैरपि पदातयः ॥ ३५ ॥

नाना प्रकारके छोटे-बड़े बहुमूल्य वाहनोंपर सवार हो उनके अधिकारी चले और पैदल सैनिक अपने पैरोंसे ही यात्रा करने लगे ॥ ३५ ॥

अथ यानप्रवेकैस्तु कौसल्याप्रमुखाः स्त्रियः ।
रामदर्शनकाङ्क्षिण्यः प्रययुर्मुदितास्तदा ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् कौसल्या आदि रानियाँ उत्तम सवारियोंपर बैठकर श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी अभिलाषासे प्रसन्नता-पूर्वक चलीं ॥ ३६ ॥

चन्द्रार्कतरुणाभासां नियुक्तां शिबिकां शुभाम् ।
आस्थाय प्रययौ श्रीमान् भरतः सपरिच्छदः ॥ ३७ ॥

इसी प्रकार श्रीमान् भरत नवोदित चन्द्रमा और सूर्यके समान कान्तिमती शिबिकामें बैठकर आवश्यक साम-ग्रियोंके साथ प्रस्थित हुए । उस शिबिकाको कहारोंने अपने कंधोंपर उठा रखा था ॥ ३७ ॥

सा प्रयाता महासेना गजवाजिसमाकुला ।
दक्षिणां दिशमावृत्य महामेघ इवोत्थितः ॥ ३८ ॥

हाथी-घोड़ोंसे भरी हुई वह विशाल वाहिनी दक्षिण दिशाको घेरकर उमड़ी हुई महामेघोंकी घटाके समान चल पड़ी ॥ ३८ ॥

वनानि च व्यतिक्रम्य जुष्टानि मृगपक्षिभिः ।
गङ्गायाः परवेलायां गिरिष्वथ नदीष्वपि ॥ ३९ ॥

गङ्गाके उस पार पर्वतों तथा नदियोंके निकटवर्ती वनोंको, जो मृगों और पक्षियोंसे सेवित थे, लाँघकर वह आगे बढ़ गयी ॥ ३९ ॥

सा सम्प्रहृष्टद्विपवाजियूथा
वित्रासयन्ती मृगपक्षिसंघान् ।
महद्वनं तत् प्रविगाहमाना
रराज सेना भरतस्य तत्र ॥ ४० ॥

उस सेनाके हाथी और घोड़ोंके समुदाय बड़े प्रसन्न थे । जंगलके मृगों और पक्षिसमूहोंको भयभीत करती हुई भरतकी वह सेना उस विशाल वनमें प्रवेश करके वहाँ बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमः सर्गः

सेनासहित भरतकी चित्रकूट-यात्राका वर्णन

तया महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः ।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ १ ॥

यात्रा करनेवाली उस विशाल वाहिनीसे पीड़ित हो वनवासी यूथपति मतवाले हाथी आदि अपने यूथोंके साथ भाग चले ॥ १ ॥

ऋक्षाः पृषतमुख्याश्च रुरवश्च समन्ततः ।
दृश्यन्ते वनवाटेषु गिरिष्वपि नदीषु च ॥ २ ॥

रीछ, चितकबरे मृग तथा रुरु नामक मृग वनप्रदेशोंमें, पर्वतोंमें और नदियोंके तटोंपर चारों ओर उस सेनासे पीड़ित दिखायी देते थे ॥ २ ॥

स सम्प्रतस्थे धर्मात्मा प्रीतो दशरथात्मजः ।
वृतो महत्या नादिन्या सेनया चतुरङ्गया ॥ ३ ॥

महान् कोलाहल करनेवाली उस विशाल चतुरंगिणी सेनासे घिरे हुए धर्मात्मा दशरथनन्दन भरत बड़ी प्रसन्नताके साथ यात्रा कर रहे थे ॥ ३ ॥

सागरौघनिभा सेना भरतस्य महात्मनः ।
महीं संछादयामास प्रावृषि द्यामिवाम्बुदः ॥ ४ ॥

जैसे वर्षा-ऋतुमें मेघोंकी घटा आकाशको ढक लेती है, उसी प्रकार महात्मा भरतकी समुद्र-जैसी उस विशाल सेनाने दूरतकके भूभागको आच्छादित कर लिया था ॥ ४ ॥

तुरंगौघैरवतता वारणैश्च महाबलैः ।
अनालक्ष्याचिरं कालं तस्मिन् काले बभूव सा ॥ ५ ॥

घोड़ोंके समूहों तथा महाबली हाथियोंसे भरी और दूरतक फैली हुई वह सेना उस समय बहुत देरतक दृष्टिमें ही नहीं आती थी ॥ ५ ॥

स गत्वा दूरमध्वानं सम्परिश्रान्तवाहनः ।

उवाच वचनं श्रीमान् वसिष्ठं मन्त्रिणां वरम् ॥ ६ ॥

दूरतकका रास्ता तै कर लेनेपर जब भरतकी सवारियाँ बहुत थक गयीं, तब श्रीमान् भरतने मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजीसे कहा —॥ ६ ॥

यादृशं लक्ष्यते रूपं यथा चैव मया श्रुतम्।
व्यक्तं प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

'ब्रह्मन्! मैंने जैसा सुन रखा था और जैसा इस देशका स्वरूप दिखायी देता है, इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि भरद्वाजजीने जहाँ पहुँचनेका आदेश दिया था, उस देशमें हमलोग आ पहुँचे हैं ॥ ७ ॥

अयं गिरिश्चित्रकूटस्तथा मन्दाकिनी नदी।
एतत् प्रकाशते दूरान्नीलमेघनिभं वनम् ॥ ८ ॥

'जान पड़ता है यही चित्रकूट पर्वत है तथा वह मन्दाकिनी नदी बह रही है। यह पर्वतके आस-पासका वन दूरसे नील मेघके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ ८ ॥

गिरेः सानूनि रम्याणि चित्रकूटस्य सम्प्रति।
वारणैरवमृद्यन्ते मामकैः पर्वतोपमैः ॥ ९ ॥

'इस समय मेरे पर्वताकार हाथी चित्रकूटके रमणीय शिखरोंका अवमर्दन कर रहे हैं ॥ ९ ॥

मुञ्चन्ति कुसुमान्येते नगाः पर्वतसानुषु।
नीला इवातपापाये तोयं तोयधरा घनाः ॥ १० ॥

'ये वृक्ष पर्वतशिखरोंपर उसी प्रकार फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं, जैसे वर्षाकालमें नील जलधर मेघ उनपर जलकी वृष्टि करते हैं' ॥ १० ॥

किंनराचरितं देशं पश्य शत्रुघ्न पर्वते।
हयैः समन्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम् ॥ ११ ॥

(इसके बाद भरत शत्रुघ्नसे कहने लगे—) 'शत्रुघ्न! देखो, इस पर्वतकी उपत्यकामें जो देश है, जहाँपर किन्नर विचरा करते हैं, वही प्रदेश हमारी सेनाके घोड़ोंसे व्याप्त होकर मगरोंसे भरे हुए समुद्रके समान प्रतीत होता है ॥ ११ ॥

एते मृगगणा भान्ति शीघ्रवेगाः प्रचोदिताः।
वायुप्रविद्धाः शरदि मेघजाला इवाम्बरे ॥ १२ ॥

'सैनिकोंके खदेड़े हुए ये मृगोंके झुंड तीव्र वेगसे भागते हुए वैसी ही शोभा पा रहे हैं, जैसे शरत्-कालके आकाशमें हवासे उड़ाये गये बादलोंके समूह सुशोभित होते हैं ॥ १२ ॥

कुर्वन्ति कुसुमापीडाञ्शिरःसु सुरभीनमी।
मेघप्रकाशैः फलकैर्दाक्षिणात्या नरा यथा ॥ १३ ॥

'ये सैनिक अथवा वृक्ष मेघके समान कान्तिवाली ढालोंसे उपलक्षित होनेवाले दक्षिण भारतीय मनुष्योंके समान अपने मस्तकों अथवा शाखाओंपर सुगन्धित पुष्प गुच्छमय आभूषणों-को धारण करते हैं ॥ १३ ॥

निष्कूजमिव भूत्वेदं वनं घोरप्रदर्शनम्।
अयोध्येव जनाकीर्णा सम्प्रति प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

'यह वन जो पहले जनरव-शून्य होनेके कारण अत्यन्त भयंकर दिखायी देता था, वही इस समय हमारे साथ आये हुए लोगोंसे व्याप्त होनेके कारण मुझे अयोध्या-पुरीके समान प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

खुरैरुदीरितो रेणुर्दिवं प्रच्छाद्य तिष्ठति।
तं वहत्यनिलः शीघ्रं कुर्वन्निव मम प्रियम् ॥ १५ ॥

'घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई धूल आकाशको आच्छादित करके स्थित होती है, परंतु उसे हवा मेरा प्रिय करती हुई-सी शीघ्र ही अन्यत्र उड़ा ले जाती है ॥ १५ ॥

स्यन्दनांस्तुरगोपेतान् सूतमुख्यैरधिष्ठितान्।
एतान् सम्पततः शीघ्रं पश्य शत्रुघ्न कानने ॥ १६ ॥

'शत्रुघ्न! देखो, इस वनमें घोड़ोंसे जुते हुए और श्रेष्ठ सारथियोंद्वारा संचालित हुए ये रथ कितनी शीघ्रतासे आगे बढ़ रहे हैं ॥ १६ ॥

एतान् वित्रासितान् पश्य बर्हिणः प्रियदर्शनान्।
एवमापततः शैलमधिवासं पतत्रिणः ॥ १७ ॥

'जो देखनेमें बड़े प्यारे लगते हैं उन मोरोंको तो देखो। ये हमारे सैनिकोंके भयसे कितने डरे हुए हैं। इसी प्रकार अपने आवास-स्थान पर्वतकी ओर उड़ते हुए अन्य पक्षियों-पर भी दृष्टिपात करो ॥ १७ ॥

अतिमात्रमयं देशो मनोज्ञः प्रतिभाति मे।
तापसानां निवासोऽयं व्यक्तं स्वर्गपथोऽनघ ॥ १८ ॥

'निष्पाप शत्रुघ्न! यह देश मुझे बड़ा ही मनोहर प्रतीत होता है। तपस्वी जनोंका यह निवासस्थान वास्तवमें स्वर्गीय पथ है ॥ १८ ॥

मृगा मृगीभिः सहिता बहवः पृषता वने।
मनोज्ञरूपा लक्ष्यन्ते कुसुमैरिव चित्रिताः ॥ १९ ॥

'इस वनमें मृगियोंके साथ विचरनेवाले बहुत-से चित-कबरे मृग ऐसे मनोहर दिखायी देते हैं, मानो इन्हें फूलोंसे चित्रित—सुसज्जित किया गया हो ॥ १९ ॥

साधु सैन्याः प्रतिष्ठन्तां विचिन्वन्तु च काननम्।
यथा तौ पुरुषव्याघ्रौ दृश्येते रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥

मेरे सैनिक यथोचित रूपसे आगे बढ़ें और वनमें सब ओर खोजें, जिससे उन दोनों पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणका पता लग जाय' ॥ २० ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः ।
विविशुस्तद्वनं शूरा धूमाग्रं ददृशुस्ततः ॥ २१ ॥

भरतका यह वचन सुनकर बहुत-से शूरवीर पुरुषोंने हाथोंमें हथियार लेकर उस वनमें प्रवेश किया । तदनन्तर आगे जानेपर उन्हें कुछ दूरपर ऊपरको धुआँ उठता दिखायी दिया ॥ २१ ॥

ते समालोक्य धूमाग्रमूचुर्भरतमागताः ।
नामनुष्ये भवत्यग्निर्व्यक्तमत्रैव राघवौ ॥ २२ ॥

उस धूमशिखाको देखकर वे लौट आये और भरतसे बोले—'प्रभो ! जहाँ कोई मनुष्य नहीं होता, वहाँ आग नहीं होती । अतः श्रीराम और लक्ष्मण अवश्य यहीं होंगे ॥ २२ ॥

अथ नात्र नरव्याघ्रौ राजपुत्रौ परंतपौ ।
अन्ये रामोपमाः सन्ति व्यक्तमत्र तपस्विनः ॥ २३ ॥

'यदि शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण यहाँ न हों तो भी श्रीराम-जैसे तेजस्वी दूसरे कोई तपस्वी तो अवश्य ही होंगे' ॥ २३ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतस्तेषां वचनं साधुसम्मतम् ।
सैन्यानुवाच सर्वांस्तानमित्रबलमर्दनः ॥ २४ ॥

उनकी बातें श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा मानने योग्य थीं, उन्हें सुनकर शत्रुसेनाका मर्दन करनेवाले भरतने उन समस्त सैनिकोंसे कहा—॥ २४ ॥

यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः ।
अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो धृतिरेव च ॥ २५ ॥

'तुम सब लोग सावधान होकर यहीं ठहरो ! यहाँसे आगे न जाना । अब मैं ही वहाँ जाऊँगा । मेरे साथ सुमन्त्र और धृति भी रहेंगे' ॥ २५ ॥

एवमुक्तास्ततः सैन्यास्तत्र तस्थुः समन्ततः ।
भरतो यत्र धूमाग्रं तत्र दृष्टिं समादधत् ॥ २६ ॥

उनकी ऐसी आज्ञा पाकर समस्त सैनिक वहीं सब ओर फैलकर खड़े हो गये और भरतने जहाँ धुआँ उठ रहा था, उस ओर अपनी दृष्टि स्थिर की ॥ २६ ॥

व्यवस्थिता या भरतेन सा चमू-
र्निरीक्षमाणापि च भूमिमग्रतः ।
बभूव हृष्टा नचिरेण जानती
प्रियस्य रामस्य समागमं तदा ॥ २७ ॥

भरतके द्वारा वहाँ ठहरायी गयी वह सेना आगेकी भूमिका निरीक्षण करती हुई भी वहाँ हर्षपूर्वक खड़ी रही; क्योंकि उस समय उसे मालूम हो गया था कि अब शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीसे मिलनेका अवसर आनेवाला है ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमः सर्गः

श्रीरामका सीताको चित्रकूटकी शोभा दिखाना

दीर्घकालोषितस्तस्मिन् गिरौ गिरिवरप्रियः ।
वैदेह्याः प्रियमाकाङ्क्षन् स्वं च चित्तं विलोभयन् ॥ १ ॥
अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत् ।
भार्याममरसंकाशः शचीमिव पुरंदरः ॥ २ ॥

गिरिवर चित्रकूट श्रीरामको बहुत ही प्रिय लगता था । वे उस पर्वतपर बहुत दिनोंसे रह रहे थे । एक दिन अमरतुल्य तेजस्वी दशरथनन्दन श्रीराम विदेहराजकुमारी सीताका प्रिय करनेकी इच्छासे तथा अपने मनको भी बहलानेके लिये अपनी भार्याको विचित्र चित्रकूटकी शोभाका दर्शन कराने लगे, मानो देवराज इन्द्र अपनी पत्नी शचीको पर्वतीय सुषमाका दर्शन करा रहे हों ॥ १-२ ॥

न राज्यभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः ।
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ ३ ॥

(वे बोले—) 'भद्रे ! यद्यपि मैं राज्यसे भ्रष्ट हो गया हूँ तथा मुझे अपने हितैषी सुहृदोंसे विलग होकर रहना पड़ता है, तथापि जब मैं इस रमणीय पर्वतकी ओर देखता हूँ, तब

मेरा सारा दुःख दूर हो जाता है—राज्यका न मिलना और सुहृदोंका बिछोह होना भी मेरे मनको व्यथित नहीं कर पाता है ॥ ३ ॥

पश्येममचलं भद्रे नानाद्विजगणायुतम् ।
शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुमद्भिर्विभूषितम् ॥ ४ ॥

'कल्याणि ! इस पर्वतपर दृष्टिपात तो करो, नाना प्रकारके असंख्य पक्षी यहाँ कलरव कर रहे हैं । नाना प्रकारके धातुओंसे मण्डित इसके गगन-चुम्बी शिखर मानो आकाशको वेध रहे हैं । इन शिखरोंसे विभूषित हुआ यह चित्रकूट कैसी शोभा पा रहा है ! ॥ ४ ॥

केचिद् रजतसंकाशाः केचित् क्षतजसंनिभाः ।
पीतमाञ्जिष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः ॥ ५ ॥
पुष्पार्ककेतकाभाश्च केचिज्ज्योतीरसप्रभाः ।
विराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः ॥ ६ ॥

'विभिन्न धातुओंसे अलंकृत अचलराज चित्रकूटके प्रदेश कितने सुन्दर लगते हैं ! इनमेंसे कोई तो चाँदीके समान चमक रहे हैं । कोई लोहूकी लाल आभाका विस्तार करते हैं । किन्हीं प्रदेशोंके रंग पीले और मंजिष्ठ वर्णके हैं । कोई श्रेष्ठ मणियोंके समान उद्भासित होते हैं । कोई पुखराजके समान, कोई स्फटिकके सदृश और कोई केवड़ेके फूलके समान कान्तिवाले हैं तथा कुछ प्रदेश नक्षत्रों और पारेके समान प्रकाशित होते हैं ॥ ५-६ ॥

नानामृगगणैर्द्वीपितरक्ष्वृक्षगणैर्वृतः ।
अदुष्टैर्भात्ययं शैलो बहुपक्षिसमाकुलः ॥ ७ ॥

'यह पर्वत बहुसंख्यक पक्षियोंसे व्याप्त है तथा नाना प्रकारके मृगों, बड़े-बड़े व्याघ्रों, चीतों और रीछोंसे भरा हुआ है । वे व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु अपने दुष्टभावका परित्याग करके यहाँ रहते हैं और इस पर्वतकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ७ ॥

आम्रजम्ब्वसनैर्लोध्रैः प्रियालैः पनसैर्धवैः ।
अङ्कोलैर्भव्यतिनिशैर्बिल्वतिन्दुकवेणुभिः ॥ ८ ॥
काश्मर्यारिष्टवरणैर्मधूकैस्तिलकैरपि ।
बदर्यामलकैर्नीपैर्वेत्रधन्वनबीजकैः ॥ ९ ॥
पुष्पवद्भिः फलोपेतैश्छायावद्भिर्मनोरमैः ।
एवमादिभिराकीर्णः श्रियं पुष्यत्ययं गिरिः ॥ १० ॥

'आम, जामुन, असन, लोध, प्रियाल, कटहल, धव, अंकोल, भव्य, तिनिश, बेल, तिन्दुक, बाँस, काश्मरी (मधुपर्णिका), अरिष्ट (नीम), वरण, महुआ, तिलक, बेर, आँवला, कदम्ब, बेत, धन्वन (इन्द्रजौ), बीजक (अनार) आदि घनी छायावाले वृक्षोंसे, जो फूलों और फलोंसे लदे होनेके कारण मनोरम प्रतीत होते थे, व्याप्त हुआ यह पर्वत अनुपम शोभाका पोषण एवं विस्तार कर रहा है ॥ ८–१० ॥

शैलप्रस्थेषु रम्येषु पश्येमान् कामहर्षणान् ।
किंनरान् द्वन्द्वशो भद्रे रममाणान् मनस्विनः ॥ ११ ॥

'इन रमणीय शैलशिखरोंपर उन प्रदेशोंको देखो, जो प्रेम-मिलनकी भावनाका उद्दीपन करके आन्तरिक हर्षको बढ़ानेवाले हैं । वहाँ मनस्वी किन्नर दो-दो एक साथ होकर टहल रहे हैं ॥ ११ ॥

शाखावसक्तान् खड्गांश्च प्रवराण्यम्बराणि च ।
पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान् मनोरमान् ॥ १२ ॥

'इन किन्नरोंके खड्ग पेड़ोंकी डालियोंमें लटक रहे हैं । इधर विद्याधरोंकी स्त्रियोंके मनोरम क्रीड़ास्थलों तथा वृक्षोंकी शाखाओंपर रखे हुए उनके सुन्दर वस्त्रोंकी ओर भी देखो ॥ १२ ॥

जलप्रपातैरुद्भेदैर्निष्पन्दैश्च क्वचित् क्वचित् ।
स्रवद्भिर्भात्ययं शैलः स्रवन्मद इव द्विपः ॥ १३ ॥

'इसके ऊपर कहीं ऊँचेसे झरने गिर रहे हैं, कहीं जमीनके भीतरसे सोते निकले हैं और कहीं-कहीं छोटे-छोटे स्रोत प्रवाहित हो रहे हैं । इन सबके द्वारा यह पर्वत मदकी धारा बहानेवाले हाथीके समान शोभा पाता है ॥ १३ ॥

गुहासमीरणो गन्धान् नानापुष्पभवान् बहून् ।
घ्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत् ॥ १४ ॥

'गुफाओंसे निकली हुई वायु नाना प्रकारके पुष्पोंकी प्रचुर गन्ध लेकर नासिकाको तृप्त करती हुई किस पुरुषके पास आकर उसका हर्ष नहीं बढ़ा रही है ॥ १४ ॥

यदीह शरदोऽनेकास्त्वया सार्धमनिन्दिते ।
लक्ष्मणेन च वत्स्यामि न मां शोकः प्रधर्षति ॥ १५ ॥

'सती-साध्वी सीते ! यदि तुम्हारे और लक्ष्मणके साथ मैं यहाँ अनेक वर्षोंतक रहूँ तो भी नगरत्यागका शोक मुझे कदापि पीड़ित नहीं करेगा ॥ १५ ॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते ।
विचित्रशिखरे ह्यस्मिन् रतवानस्मि भामिनि ॥ १६ ॥

'भामिनि ! बहुतेरे फूलों और फलोंसे युक्त तथा नाना प्रकारके पक्षियोंसे सेवित इस विचित्र शिखरवाले रमणीय पर्वतपर मेरा मन बहुत लगता है ॥ १६ ॥

अनेन वनवासेन मम प्राप्तं फलद्वयम्।
पितुश्चानृण्यता धर्मे भरतस्य प्रियं तथा ॥१७॥

'प्रिये! इस वनवाससे मुझे दो फल प्राप्त हुए हैं—दो लाभ हुए हैं—एक तो धर्मानुसार पिताकी आज्ञाका पालनरूप ऋण चुक गया और दूसरा भाई भरतका प्रिय हुआ॥ १७॥

वैदेहि रमसे कच्चिच्चित्रकूटे मया सह।
पश्यन्ती विविधान् भावान् मनोवाक्कायसम्मतान्॥१८॥

'विदेहकुमारी! क्या चित्रकूट पर्वतपर मेरे साथ मन, वाणी और शरीरको प्रिय लगनेवाले भाँति-भाँतिके पदार्थोंको देखकर तुम्हें आनन्द प्राप्त होता है?॥ १८॥

इदमेवामृतं प्राहू राज्ञि राजर्षयः परे।
वनवासं भवार्थाय प्रेत्य मे प्रपितामहाः॥ १९॥

'रानी! मेरे प्रपितामह मनु आदि उत्कृष्ट राजर्षियोंने नियमपूर्वक किये गये इस वनवासको ही अमृत बतलाया है; इससे शरीरत्यागके पश्चात् परम कल्याणकी प्राप्ति होती है॥ १९॥

शिलाः शैलस्य शोभन्ते विशालाः शतशोऽभितः।
बहुला बहुलैर्वर्णैर्नीलपीतसितारुणैः॥२०॥

'चारों ओर इस पर्वतकी सैकड़ों विशाल शिलाएँ शोभा पा रही हैं, जो नीले, पीले, सफेद और लाल आदि विविध रंगोंसे अनेक प्रकारकी दिखायी देती हैं॥ २०॥

निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव।
ओषध्यः स्वप्रभालक्ष्म्या भ्राजमानाः सहस्रशः॥२१॥

'रातमें इस पर्वतराजके ऊपर उगी हुई सहस्रों ओषधियाँ अपनी प्रभासम्पत्तिसे प्रकाशित होती हुई अग्नि-शिखाके समान उद्भासित होती हैं॥ २१॥

केचित् क्षयनिभा देशाः केचिदुद्यानसंनिभाः।
केचिदेकशिला भान्ति पर्वतस्यास्य भामिनि॥२२॥

'भामिनि! इस पर्वतके कई स्थान घरकी भाँति दिखायी देते हैं (क्योंकि वे वृक्षोंकी घनी छायासे आच्छादित हैं) और कई स्थान चम्पा, मालती आदि फूलोंकी अधिकताके कारण उद्यानके समान सुशोभित होते हैं तथा कितने ही स्थान ऐसे हैं जहाँ बहुत दूरतक एक ही शिला फैली हुई है। इन सबकी बड़ी शोभा होती है॥ २२॥

भित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः समुत्थितः।
चित्रकूटस्य कूटोऽयं दृश्यते सर्वतः शुभः॥ २३॥

'ऐसा जान पड़ता है कि यह चित्रकूट पर्वत पृथ्वीको फाड़कर ऊपर उठ आया है। चित्रकूटका यह शिखर सब ओरसे सुन्दर दिखायी देता है॥ २३॥

कुष्ठस्थगरपुंनागभूर्जपत्रोत्तरच्छदान्।
कामिनां स्वास्तरान् पश्य कुशेशयदलायुतान्॥२४॥

'प्रिये! देखो, ये विलासियोंके बिस्तर हैं, जिनपर उत्पल, पुत्रजीवक, पुन्नाग और भोजपत्र—इनके पत्ते ही चादरका काम देते हैं तथा इनके ऊपर सब ओरसे कमलोंके पत्ते बिछे हुए हैं॥ २४॥

मृदिताश्चापविद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्रजः।
कामिभिर्वनिते पश्य फलानि विविधानि च॥ २५॥

'प्रियतमे! ये कमलोंकी मालाएँ दिखायी देती हैं, जो विलासियोंद्वारा मसलकर फेंक दी गयी हैं। उधर देखो, वृक्षोंमें नाना प्रकारके फल लगे हुए हैं॥ २५॥

वस्वौकसारां नलिनीमतीत्यैवोत्तरान् कुरून्।
पर्वतश्चित्रकूटोऽसौ बहुमूलफलोदकः॥ २६॥

'बहुत-से फल, मूल और जलसे सम्पन्न यह चित्रकूट पर्वत कुबेर-नगरी वस्वौकसारा (अलका), इन्द्रपुरी नलिनी (अमरावती अथवा नलिनी नामसे प्रसिद्ध कुबेरकी सौगन्धिक कमलोंसे युक्त पुष्करिणी) तथा उत्तर कुरुको भी अपनी शोभासे तिरस्कृत कर रहा है॥ २६॥

इमं तु कालं वनिते विजह्रिवां-
स्त्वया च सीते सह लक्ष्मणेन।
रतिं प्रपत्स्ये कुलधर्मवर्धिनीं
सतां पथि स्वैर्नियमैः परैः स्थितः॥२७॥

'प्राणवल्लभे सीते! अपने उत्तम नियमोंको पालन करते हुए सन्मार्गपर स्थित रहकर यदि तुम्हारे और लक्ष्मणके साथ यह चौदह वर्षोंका समय मैं सानन्द व्यतीत कर लूँगा तो मुझे वह सुख प्राप्त होगा जो कुलधर्मको बढ़ानेवाला है'॥ २७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्नवतितमः सर्गः॥ ९४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौरानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९४॥

पञ्चनवतितमः सर्गः

श्रीरामका सीताके प्रति मन्दाकिनी नदीकी शोभाका वर्णन

अथ शैलाद् विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोसलेश्वरः।
अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम्॥ १॥

तदनन्तर उस पर्वतसे निकलकर कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीने मिथिलेशकुमारी सीताको पुण्यसलिला रमणीय मन्दाकिनी नदीका दर्शन कराया॥ १॥

अब्रवीच्च वरारोहां चन्द्रचारुनिभाननाम्।
विदेहराजस्य सुतां रामो राजीवलोचनः॥ २॥

और उस समय कमलनयन श्रीरामने चन्द्रमाके समान मनोहर मुख तथा सुन्दर कटिप्रदेशवाली विदेहराजनन्दिनी सीतासे इस प्रकार कहा—॥ २॥

विचित्रपुलिनां रम्यां हंससारससेविताम्।
कुसुमैरुपसम्पन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम्॥ ३॥

'प्रिये! अब मन्दाकिनी नदीकी शोभा देखो; हंस और सारसोंसे सेवित होनेके कारण यह कितनी सुन्दर जान पड़ती है। इसका किनारा बड़ा ही विचित्र है। नाना प्रकारके पुष्प इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं॥ ३॥

नानाविधैस्तीररुहैर्वृतां पुष्पफलद्रुमैः।
राजन्तीं राजराजस्य नलिनीमिव सर्वतः॥ ४॥

'फल और फूलोंके भारसे लदे हुए नाना प्रकारके तटवर्ती वृक्षोंसे घिरी हुई यह मन्दाकिनी कुबेरके सौगन्धिक सरोवरकी भाँति सब ओरसे सुशोभित हो रही है॥ ४॥

मृगयूथनिपीतानि कलुषाम्भांसि साम्प्रतम्।
तीर्थानि रमणीयानि रतिं संजनयन्ति मे॥ ५॥

'हरिनोंके झुंड पानी पीकर इस समय यद्यपि यहाँका जल गँदला कर गये हैं तथापि इसके रमणीय घाट मेरे मनको बड़ा आनन्द दे रहे हैं॥ ५॥

जटाजिनधराः काले वल्कलोत्तरवाससः।
ऋषयस्त्ववगाहन्ते नदीं मन्दाकिनीं प्रिये॥ ६॥

'प्रिये! वह देखो, जटा, मृगचर्म और वल्कलका उत्तरीय धारण करनेवाले महर्षि उपयुक्त समयमें आकर इस मन्दाकिनी नदीमें स्नान कर रहे हैं॥ ६॥

आदित्यमुपतिष्ठन्ते नियमादूर्ध्वबाहवः।
एते परे विशालाक्षि मुनयः संशितव्रताः॥ ७॥

'विशाललोचने! ये दूसरे मुनि, जो कठोर व्रतका पालन करनेवाले हैं, नैत्यिक नियमके कारण दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर सूर्यदेवका उपस्थान कर रहे हैं॥ ७॥

मारुतोद्धूतशिखरैः प्रनृत्त इव पर्वतः।
पादपैः पुष्पपत्राणि सृजद्भिरभितो नदीम्॥ ८॥

'हवाके झोंकेसे जिनकी शिखाएँ झूम रही हैं, अतएव जो मन्दाकिनी नदीके उभय तटोंपर फूल और पत्ते बिखेर रहे हैं, उन वृक्षोंसे उपलक्षित हुआ यह पर्वत मानो नृत्य-सा करने लगा है॥ ८॥

क्वचिन्मणिनिकाशोदां क्वचित् पुलिनशालिनीम्।
क्वचित् सिद्धजनाकीर्णां पश्य मन्दाकिनीं नदीम्॥ ९॥

'देखो! मन्दाकिनी नदीकी कैसी शोभा है; कहीं तो इसमें मोतियोंके समान स्वच्छ जल बहता दिखायी देता है, कहीं यह ऊँचे कगारोंसे ही शोभा पाती है (वहाँका जल कगारोंमें छिप जानेके कारण दिखायी नहीं देता है) और कहीं सिद्धजन इसमें अवगाहन कर रहे हैं तथा यह उनसे व्याप्त दिखायी देती है॥ ९॥

निर्धूतान् वायुना पश्य विततान् पुष्पसंचयान्।
पोप्लूयमानानपरान् पश्य त्वं तनुमध्यमे॥ १०॥

'सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली सुन्दरि! देखो, वायुके द्वारा उड़ाकर लाये हुए ये ढेर-के-ढेर फूल किस तरह मन्दाकिनीके दोनों तटोंपर फैले हुए हैं और वे दूसरे पुष्पसमूह कैसे पानीपर तैर रहे हैं॥ १०॥

पश्यैतद्वल्गुवचसो रथाङ्गाह्वयना द्विजाः।
अधिरोहन्ति कल्याणि निष्कूजन्तः शुभा गिरः॥ ११॥

'कल्याणि! देखो तो सही, ये मीठी बोली बोलनेवाले चक्रवाक पक्षी सुन्दर कलरव करते हुए किस तरह नदीके तटोंपर आरूढ़ हो रहे हैं॥ ११॥

दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने।
अधिकं पुरवासाच्च मन्ये तव च दर्शनात्॥ १२॥

'शोभने! यहाँ जो प्रतिदिन चित्रकूट और मन्दाकिनीका दर्शन होता है, वह नित्य-निरन्तर तुम्हारा दर्शन होनेके कारण अयोध्यानिवासकी अपेक्षा भी अधिक सुखद जान पड़ता है॥

विधूतकल्मषैः सिद्धैस्तपोदमशमान्वितैः।
नित्यविक्षोभितजलां विगाहस्व मया सह॥ १३॥

'इस नदीमें प्रतिदिन तपस्या, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहसे सम्पन्न निष्पाप सिद्ध महात्माओंके अवगाहन करनेसे इसका जल विक्षुब्ध होता रहता है। चलो, तुम भी मेरे साथ इसमें स्नान करो॥ १३॥

सखीवच्च विगाहस्व सीते मन्दाकिनीं नदीम्।
कमलान्यवमज्जन्ती पुष्कराणि च भामिनि॥ १४॥

'भामिनि सीते! एक सखी दूसरी सखीके साथ जैसे क्रीड़ा करती है, उसी प्रकार तुम मन्दाकिनी नदीमें उतरकर

इसके लाल और श्वेत कमलोंको जलमें डुबोती हुई इसमें स्नान-क्रीड़ा करो ॥ १४ ॥

त्वं पौरजनवद् व्यालानयोध्यामिव पर्वतम् ।
मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमां नदीम् ॥ १५ ॥

'प्रिये ! तुम इस वनके निवासियोंको पुरवासी मनुष्योंके समान समझो, चित्रकूट पर्वतको अयोध्याके तुल्य मानो और इस मन्दाकिनी नदीको सरयूके सदृश जानो ॥ १५ ॥

लक्ष्मणश्चैव धर्मात्मा मन्निदेशे व्यवस्थितः ।
त्वं चानुकूला वैदेहि प्रीतिं जनयती मम ॥ १६ ॥

विदेहनन्दिनि ! धर्मात्मा लक्ष्मण सदा मेरी आज्ञाके अधीन रहते हैं और तुम भी मेरे मनके अनुकूल ही चलती हो; इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ॥ १६ ॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणं मधुमूलफलाशनः ।
नायोध्यायै न राज्याय स्पृहये च त्वया सह ॥ १७ ॥

'प्रिये ! तुम्हारे साथ तीनों काल स्नान करके मधुर फल-मूलका आहार करता हुआ मैं न तो अयोध्या जानेकी इच्छा रखता हूँ और न राज्य पानेकी ही ॥ १७ ॥

इमां हि रम्यां गजयूथलोडितां
निपीततोयां गजसिंहवानरैः ।
सुपुष्पितां पुष्पभरैरलंकृतां
न सोऽस्ति यः स्यान्न गतक्लमः सुखी ॥ १८ ॥

'जिसे हाथियोंके समूह मथे डालते हैं तथा सिंह और वानर जिसका जल पिया करते हैं, जिसके तटपर सुन्दर पुष्पोंसे लदे वृक्ष शोभा पाते हैं तथा जो पुष्पसमूहोंसे अलंकृत है, ऐसी इस रमणीय मन्दाकिनी नदीमें स्नान करके जो ग्लानिरहित और सुखी न हो जाय—ऐसा मनुष्य इस संसारमें नहीं है' ॥ १८ ॥

इतीव रामो बहुसंगतं वचः
प्रियासहायः सरितं प्रति ब्रुवन् ।
चचार रम्यं नयनाञ्जनप्रभं
स चित्रकूटं रघुवंशवर्धनः ॥ १९ ॥

रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी मन्दाकिनी नदीके प्रति ऐसी अनेक प्रकारकी सुसंगत बातें कहते हुए नील-कान्तिवाले रमणीय चित्रकूटपर्वतपर अपनी प्रिया पत्नी सीताके साथ विचरने लगे ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पंचानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९५ ॥



षण्णवतितमः सर्गः

वन-जन्तुओंके भागनेका कारण जाननेके लिये श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका शाल-वृक्षपर चढ़कर भरतकी सेनाको देखना और उनके प्रति अपना रोषपूर्ण उद्गार प्रकट करना

तां तदा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम् ।
निषसाद गिरिप्रस्थे सीतां मांसेन छन्दयन् ॥ १ ॥

इस प्रकार मिथिलेशकुमारी सीताको मन्दाकिनी नदीका दर्शन कराकर उस समय श्रीरामचन्द्रजी पर्वतके समतल प्रदेशमें उनके साथ बैठ गये और तपस्वी-जनोंके उपभोगमें आने योग्य फल-मूलके गूदेसे उनकी मानसिक प्रसन्नताको बढ़ाने—उनका लालन करने लगे ॥ १ ॥

इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना ।
एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः ॥ २ ॥

धर्मात्मा रघुनन्दन सीताजीके साथ इस प्रकारकी बातें कर रहे थे—'प्रिये ! यह फल परम पवित्र है। यह बहुत स्वादिष्ट है तथा इस कन्दको अच्छी तरह आगपर सेका गया है' ॥ २ ॥

तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयायिनः ।
सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभस्पृशौ ॥ ३ ॥

इस प्रकार वे उस पर्वतीय प्रदेशमें बैठे हुए ही थे कि उनके पास आनेवाली भरतकी सेनाकी धूल और कोलाहल दोनों एक साथ प्रकट हुए और आकाशमें फैलने लगे ॥ ३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः ।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाद् दुद्रुवुर्दिशः ॥ ४ ॥

इसी बीचमें सेनाके महान् कोलाहलसे भयभीत एवं पीड़ित हो हाथियोंके कितने ही मतवाले यूथपति अपने यूथोंके साथ सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगे ॥ ४ ॥

स तं सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः ।
तांश्च विप्रद्रुतान् सर्वान् यूथपानन्ववैक्षत ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने सेनासे प्रकट हुए उस महान् कोलाहलको सुना तथा भागे जाते हुए उन समस्त यूथपतियोंको भी देखा ॥

तांश्च विप्रद्रुतान् दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा महास्वनम् ।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ६ ॥

उन भागे हुए हाथियोंको देखकर और उस महाभयंकर शब्दको सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उद्दीप्त तेजवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बोले—॥ ६ ॥

हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया ।
भीमस्तनितगम्भीरं तुमुलः श्रूयते स्वनः ॥ ७ ॥

'लक्ष्मण ! इस जगत्‌में तुमसे ही माता सुमित्रा श्रेष्ठ पुत्रवाली हुई हैं । देखो तो सही—यह भयंकर गर्जनाके साथ कैसा गम्भीर तुमुल नाद सुनायी देता है ॥ ७ ॥

गजयूथानि वारण्ये महिषा वा महावने ।
वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रद्रुता दिशः ॥ ८ ॥
राजा वा राजपुत्रो वा मृगयामटते वने ।
अन्यद्वा श्वापदं किंचित् सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥

'सुमित्रानन्दन ! पता तो लगाओ, इस विशाल वनमें ये जो हाथियोंके झुंड अथवा भैंसे या मृग जो सहसा सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भाग चले हैं, इसका क्या कारण है ? इन्हें सिंहोंने तो नहीं डरा दिया है अथवा कोई राजा या राजकुमार इस वनमें आकर शिकार तो नहीं खेल रहा है या दूसरा कोई हिंसक जन्तु तो नहीं प्रकट हो गया है ? ॥ ८-९ ॥

सुदुश्चरो गिरिश्चायं पक्षिणामपि लक्ष्मण ।
सर्वमेतद् यथातत्त्वमभिज्ञातुमिहार्हसि ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! इस पर्वतपर अपरिचित पक्षियोंका आना-जाना भी अत्यन्त कठिन है (फिर यहाँ किसी हिंसक जन्तु वा राजाका आक्रमण कैसे सम्भव है)। अतः इन सारी बातोंकी ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करो' ॥ १० ॥

स लक्ष्मणः संत्वरितः सालमारुह्य पुष्पितम् ।
प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वां दिशमवैक्षत ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीरामकी आज्ञा पाकर लक्ष्मण तुरंत ही फूलोंसे भरे हुए एक शाल-वृक्षपर चढ़ गये और सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखते हुए उन्होंने पूर्व दिशाकी ओर दृष्टिपात किया ॥

उदङ्मुखः प्रेक्षमाणो ददर्श महतीं चमूम् ।
गजाश्वरथसम्बाधां यत्तैर्युक्तां पदातिभिः ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् उत्तरकी ओर मुँह करके देखनेपर उन्हें एक विशाल सेना दिखायी दी, जो हाथी, घोड़े और रथोंसे परिपूर्ण तथा प्रयत्नशील पैदल सैनिकोंसे संयुक्त थी ॥ १२ ॥

तामश्वरथसम्पूर्णां रथध्वजविभूषिताम् ।
शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

घोड़ों और रथोंसे भरी हुई तथा रथकी ध्वजासे विभूषित उस सेनाकी सूचना उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको दी और यह बात कही—॥ १३ ॥

अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् ।
सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा ॥ १४ ॥

'आर्य ! अब आप आग बुझा दें (अन्यथा धुआँ देखकर यह सेना यहीं चली आयगी); देवी सीता गुफामें जा बैठें। आप अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा लें और बाण तथा कवच धारण कर लें ॥ १४ ॥

तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह ।
अङ्गावेक्षस्व सौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमूम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर पुरुषसिंह श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'प्रिय सुमित्राकुमार ! अच्छी तरह देखो तो सही, तुम्हारी समझमें यह किसकी सेना हो सकती है ?' ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
दिधक्षन्निव तां सेनां रुषितः पावको यथा ॥ १६ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण रोषसे प्रज्वलित हुए अग्निदेवकी भाँति उस सेनाकी ओर इस तरह देखने लगे, मानो उसे जलाकर भस्म कर देना चाहते हों और इस प्रकार बोले—॥ १६ ॥

सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम् ।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः ॥ १७ ॥

'भैया ! निश्चय ही यह कैकेयीका पुत्र भरत है, जो अयोध्यामें अभिषिक्त होकर अपने राज्यको निष्कण्टक बनानेकी इच्छासे हम दोनोंको मार डालनेके लिये यहाँ आ रहा है॥

एष वै सुमहाञ्छ्रीमान् विटपी सम्प्रकाशते ।
विराजत्युज्ज्वलस्कन्धः कोविदारध्वजो रथे ॥ १८ ॥

'सामनेकी ओर यह जो बहुत बड़ा शोभासम्पन्न वृक्ष दिखायी देता है, उसके समीप जो रथ है, उसपर उज्ज्वल तनेसे युक्त कोविदार वृक्षसे चिह्नित ध्वज शोभा पा रहा है ॥

भजन्त्येते यथाकाममश्वानारुह्य शीघ्रगान् ।
एते भ्राजन्ति संहृष्टा गजानारुह्य सादिनः ॥ १९ ॥

'ये घुड़सवार सैनिक इच्छानुसार शीघ्रगामी घोड़ोंपर आरूढ़ हो इधर ही आ रहे हैं और ये हाथीसवार भी बड़े हर्षसे हाथियोंपर चढ़कर आते हुए प्रकाशित हो रहे हैं॥१९॥

गृहीतधनुषावावां गिरिं वीर श्रयावहे ।
अथवेहैव तिष्ठावः संनद्धावुद्यतायुधौ ॥ २० ॥

'वीर ! हम दोनोंको धनुष लेकर पर्वतके शिखरपर चलना चाहिये अथवा कवच बाँधकर अस्त्र-शस्त्र धारण किये यहीं डटे रहना चाहिये ॥ २० ॥

अपि नौ वशमागच्छेत् कोविदारध्वजो रणे ।
अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत् ॥ २१ ॥
त्वया राघव सम्प्राप्तं सीतया च मया तथा ।
यन्निमित्तं भवान् राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात् ॥

'रघुनन्दन ! आज यह कोविदारके चिह्नसे युक्त ध्वजवाला रथ रणभूमिमें हम दोनोंके अधिकारमें आ जायगा और आज मैं अपनी इच्छाके अनुसार उस भरतको भी सामने देखूँगा कि जिसके कारण आपको, सीताको और मुझे भी महान् संकटका सामना करना पड़ा है तथा जिसके कारण आप अपने सनातन राज्याधिकारसे वञ्चित किये गये हैं ॥

सम्प्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव हि ।
भरतस्य वधे दोषं नाहं पश्यामि राघव ॥ २३ ॥

'वीर रघुनाथजी ! यह भरत हमारा शत्रु है और सामने आ गया है; अतः वधके ही योग्य है । भरतका वध करनेमें मुझे कोई दोष नहीं दिखायी देता ॥ २३ ॥

पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते ।
पूर्वापकारी भरतस्त्यागेऽधर्मश्च राघव ॥ २४ ॥

'रघुनन्दन ! जो पहलेका अपकारी रहा हो, उसको मारकर कोई अधर्मका भागी नहीं होता है । भरतने पहले हमलोगोंका अपकार किया है, अतः उसे मारनेमें नहीं, जीवित छोड़ देनेमें ही अधर्म है ॥ २४ ॥

एतस्मिन् निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुंधराम् ।
अद्य पुत्रं हतं संख्ये कैकेयी राज्यकामुका ॥ २५ ॥
मया पश्येत् सुदुःखार्ता हस्तिभिन्नमिव द्रुमम् ।

'इस भरतके मारे जानेपर आप समस्त वसुधाका शासन करें । जैसे हाथी किसी वृक्षको तोड़ डालता है, उसी प्रकार राज्यका लोभ करनेवाली कैकेयी आज अत्यन्त दुःखसे आर्त हो इसे मेरे द्वारा युद्धमें मारा गया देखे ॥ २५½ ॥

कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां सबान्धवाम् ॥ २६ ॥
कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम् ।

मैं कैकेयीका भी उसके सगे-सम्बन्धियों एवं बन्धु-बान्धवोंसहित वध कर डालूँगा । आज यह पृथ्वी कैकेयीरूप महान् पापसे मुक्त हो जाय ॥ २६½ ॥

अद्येमं संयतं क्रोधमसत्कारं च मानद ॥ २७ ॥
मोक्ष्यामि शत्रुसैन्येषु कक्षेष्विव हुताशनम् ।

'मानद ! आज मैं अपने रोके हुए क्रोध और तिरस्कारको शत्रुकी सेनाओंपर उसी प्रकार छोड़ूँगा, जैसे सूखे घास-फूँसके ढेरमें आग लगा दी जाय ॥ २७½ ॥

अद्यैव चित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः ॥ २८ ॥
छिन्दञ्छत्रुशरीराणि करिष्ये शोणितोक्षितम् ।

'अपने तीखे बाणोंसे शत्रुओंके शरीरोंके टुकड़े-टुकड़े करके मैं अभी चित्रकूटके इस वनको रक्तसे सींच दूँगा ॥

शरैर्निर्भिन्नहृदयान् कुञ्जरांस्तुरगांस्तथा ॥ २९ ॥
श्वापदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान् मया ।

'मेरे बाणोंसे विदीर्ण हुए हृदयवाले हाथियों और घोड़ोंको तथा मेरे हाथसे मारे गये मनुष्योंको भी गीदड़ आदि मांसभक्षी जन्तु इधर-उधर घसीटें ॥ २९½ ॥

शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मिन् महावने ।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

'इस महान् वनमें सेनासहित भरतका वध करके मैं धनुष और बाणके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा—इसमें संशय नहीं है' ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छियानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमः सर्गः

श्रीरामका लक्ष्मणके रोषको शान्त करके भरतके सद्भावका वर्णन करना, लक्ष्मणका लज्जित हो श्रीरामके पास खड़ा होना और भरतकी सेनाका पर्वतके नीचे छावनी डालना

[illegible] तु भरतं लक्ष्मणं क्रोधमूर्च्छितम् ।
[illegible] परिसान्त्व्याथ वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मण भरतके प्रति रोषावेशके कारण क्रोधवश अपना विवेक खो बैठे थे, उस अवस्थामें श्रीरामने उन्हें समझा-बुझाकर शान्त किया और इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा ।
महाबले महोत्साहे भरते स्वयमागते ॥ २ ॥

'लक्ष्मण ! महाबली और महान् उत्साही भरत जब स्वयं यहाँ आ गये हैं, तब इस समय यहाँ धनुष अथवा ढाल-तलवारसे क्या काम है ? ॥ २ ॥

पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमाहवे ।
किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण ! पिताके सत्यकी रक्षाके लिये प्रतिज्ञा करके यदि मैं युद्धमें भरतको मारकर उनका राज्य छीन लूँ तो संसारमें मेरी कितनी निन्दा होगी, फिर उस कलंकित राज्यको लेकर मैं क्या करूँगा ? ॥ ३ ॥

यद् द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत् ।
नाहं तत् प्रतिगृह्णीयां भक्ष्यान् विषकृतानिव ॥ ४ ॥

'अपने बन्धु-बान्धवों या मित्रोंका विनाश करके जिस धनकी प्राप्ति होती हो, वह तो विषमिश्रित भोजनके समान सर्वथा त्याग देने योग्य है; उसे मैं कदापि ग्रहण नहीं करूँगा ॥ ४ ॥

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते ॥ ५ ॥



[illegible] लक्ष्मणजीका क्रोध और श्रीरामके द्वारा सान्त्वना

'लक्ष्मण ! मैं तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि—धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वीका राज्य भी मैं तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ ॥ ५ ॥

भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥ ६ ॥

'सुमित्राकुमार ! मैं भाइयोंके संग्रह और सुखके लिये ही राज्यकी भी इच्छा करता हूँ और इस बातकी सच्चाईके लिये मैं अपना धनुष छूकर शपथ खाता हूँ ॥ ६ ॥

नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा।
नहीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

'सौम्य लक्ष्मण ! समुद्रसे घिरी हुई यह पृथिवी मेरे लिये दुर्लभ नहीं है, परंतु मैं अधर्मसे इन्द्रका पद पानेकी भी इच्छा नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

यद् विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किंचिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी ॥ ८ ॥

'मानद ! भरतको, तुमको और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिलता हो तो उसे अग्निदेव जलाकर भस्म कर डालें ॥ ८ ॥

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः।
मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥ ९ ॥
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम्।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम ॥ १० ॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः ॥ ११ ॥

'वीर ! पुरुषप्रवर ! भरत बड़े भ्रातृभक्त हैं। वे मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं। मुझे तो ऐसा मालूम होता है, भरतने अयोध्यामें आनेपर जब सुना है कि मैं तुम्हारे और जानकीके साथ जटा-वल्कल धारण करके वनमें आ गया हूँ, तब उनकी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठी हैं और वे कुलधर्मका विचार करके स्नेहयुक्त हृदयसे हम लोगोंसे मिलने आये हैं। इन भरतके आगमनका इसके सिवा दूसरा कोई उद्देश्य नहीं हो सकता ॥ ९—११ ॥

अम्बां च केकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन्।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः ॥ १२ ॥

'माता कैकेयीके प्रति कुपित हो, उन्हें कठोर वचन सुनाकर और पिताजीको प्रसन्न करके श्रीमान् भरत मुझे राज्य देनेके लिये आये हैं ॥ १२ ॥

प्राप्तकालं यथैषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमर्हति।
अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत् ॥ १३ ॥

'भरतका हमलोगोंसे मिलनेके लिये आना सर्वथा समयोचित है। वे हमसे मिलनेके योग्य हैं। हमलोगोंका कोई अहित करनेका विचार तो वे कभी मनमें भी नहीं ला सकते ॥ १३ ॥

विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम्।
ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद् विशङ्कसे ॥ १४ ॥

'भरतने तुम्हारे प्रति पहले कब कौन-सा अप्रिय बर्ताव किया है, जिससे आज तुम्हें उनसे ऐसा भय लग रहा है और तुम उनके विषयमें इस तरहकी आशङ्का कर रहे हो ? ॥ १४ ॥

नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः।
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥ १५ ॥

'भरतके आनेपर तुम उनसे कोई कठोर या अप्रिय वचन न बोलना। यदि तुमने उनसे कोई प्रतिकूल बात कही तो वह मेरे ही प्रति कही हुई समझी जायगी ॥ १५ ॥

कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि।
भ्राता वा भ्रातरं हन्यात् सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥ १६ ॥

'सुमित्रानन्दन ! कितनी ही बड़ी आपत्ति क्यों न आ जाय, पुत्र अपने पिताको कैसे मार सकते हैं ? अथवा भाई अपने प्राणोंके समान प्रिय भाईकी हत्या कैसे कर सकता है ? ॥ १६ ॥

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ १७ ॥

'यदि तुम राज्यके लिये ऐसी कठोर बात कहते हो तो मैं भरतसे मिलनेपर उन्हें कह दूँगा कि तुम यह राज्य लक्ष्मणको दे दो ॥ १७ ॥

उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद्वचः।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मंस्यते ॥ १८ ॥

'लक्ष्मण ! यदि मैं भरतसे यह कहूँ कि 'तुम राज्य इन्हें दे दो, तो वे 'बहुत अच्छा' कहकर अवश्य मेरी बात मान लेंगे' ॥ १८ ॥

तथोक्तो धर्मशीलेन भ्रात्रा तस्य हिते रतः।
लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया ॥ १९ ॥

अपने धर्मपरायण भाईके ऐसा कहनेपर उन्हींके हितमें तत्पर रहनेवाले लक्ष्मण लज्जावश मानो अपने अङ्गोंमें ही समा गये—लाजसे गड़ गये ॥ १९ ॥

तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह।
त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥ २० ॥

श्रीरामका पूर्वोक्त वचन सुनकर लज्जित हुए लक्ष्मणने कहा—'भैया ! मैं समझता हूँ, हमारे पिता महाराज दशरथ स्वयं ही आपसे मिलने आये हैं' ॥ २० ॥

व्रीडितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः प्रत्युवाच ह।
एष मन्ये महाबाहुरिहास्मान् द्रष्टुमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मणको लज्जित हुआ देख श्रीरामने उत्तर दिया—'मैं भी ऐसा ही मानता हूँ कि हमारे महाबाहु पिताजी ही हमलोगोंसे मिलने आये हैं ॥ २१ ॥

अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ ।
वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥ २२ ॥

'अथवा मैं ऐसा समझता हूँ कि हमें सुख भोगनेके योग्य मानते हुए पिताजी वनवासके कष्टका विचार करके हम दोनोंको निश्चय ही घर लौटा ले जायँगे ॥ २२ ॥

इमां चाप्येष वैदेहीमत्यन्तसुखसेविनीम् ।
पिता मे राघवः श्रीमान् वनादादाय यास्यति ॥ २३ ॥

'मेरे पिता रघुकुलतिलक श्रीमान् महाराज दशरथ अत्यन्त सुखका सेवन करनेवाली इन विदेहराजनन्दिनी सीताको भी वनसे साथ लेकर ही घरको लौटेंगे ॥ २३ ॥

एतौ तौ सम्प्रकाशेते गोत्रवन्तौ मनोरमौ ।
वायुवेगसमौ वीरौ जवनौ तुरगोत्तमौ ॥ २४ ॥

'अच्छे घोड़ोंके कुलमें उत्पन्न हुए ये ही वे दोनों वायुके समान वेगशाली, शीघ्रगामी, वीर एवं मनोरम अपने उत्तम घोड़े चमक रहे हैं ॥ २४ ॥

स एष सुमहाकायः कम्पते वाहिनीमुखे ।
नागः शत्रुंजयो नाम वृद्धस्तातस्य धीमतः ॥ २५ ॥

'परम बुद्धिमान् पिताजीकी सवारीमें रहनेवाला यह वही विशालकाय शत्रुंजय नामक बूढ़ा गजराज है, जो सेनाके मुहानेपर झूमता हुआ चल रहा है ॥ २५ ॥

न तु पश्यामि तच्छत्रं पाण्डुरं लोकविश्रुतम् ।
पितुर्दिव्यं महाभाग संशयो भवतीह मे ॥ २६ ॥

'महाभाग ! परंतु इसके ऊपर पिताजीका वह विश्वविख्यात दिव्य श्वेतछत्र मुझे नहीं दिखायी देता है—इससे मेरे मनमें संशय उत्पन्न होता है ॥ २६ ॥

वृक्षाग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः ।
इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह ॥ २७ ॥
अवतीर्य तु सालाग्रात् तस्मात् स समितिंजयः ।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थौ रामस्य पार्श्वतः ॥ २८ ॥

'लक्ष्मण ! अब मेरी बात मानो और पेड़से नीचे उतर आओ ।' धर्मात्मा श्रीरामने सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे जब ऐसी बात कही, तब युद्धमें विजय पानेवाले लक्ष्मण उस शाल वृक्षके अग्रभागसे उतरे और श्रीरामके पास हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ २७-२८ ॥

भरतेनाथ संदिष्टा सम्मर्दो न भवेदिति ।
समन्तात् तस्य शैलस्य सेना वासमकल्पयत् ॥ २९ ॥

उधर भरतने सेनाको आज्ञा दी कि 'यहाँ किसीको हमलोगोंके द्वारा बाधा नहीं पहुँचनी चाहिये ।' उनका यह आदेश पाकर समस्त सैनिक पर्वतके चारों ओर नीचे ही ठहर गये ॥ २९ ॥

अध्यर्धमिक्ष्वाकुचमूर्योजनं पर्वतस्य ह ।
पार्श्वे न्यविशदावृत्य गजवाजिनराकुला ॥ ३० ॥

उस समय हाथी, घोड़े और मनुष्योंसे भरी हुई इक्ष्वाकुवंशी नरेशकी वह सेना पर्वतके आस-पासकी डेढ़ योजन (छः कोस) भूमि घेरकर पड़ाव डाले हुए थी ॥ ३० ॥

सा चित्रकूटे भरतेन सेना
धर्मं पुरस्कृत्य विधूय दर्पम् ।
प्रसादनार्थं रघुनन्दनस्य
विरोचते नीतिमता प्रणीता ॥ ३१ ॥

नीतिज्ञ भरत धर्मको सामने रखते हुए गर्वको त्यागकर रघुकुलनन्दन श्रीरामको प्रसन्न करनेके लिये जिसे अपने साथ ले आये थे, वह सेना चित्रकूट पर्वतके समीप बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्तानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९७ ॥



अष्टनवतितमः सर्गः

भरतके द्वारा श्रीरामके आश्रमकी खोजका प्रबन्ध तथा उन्हें आश्रमका दर्शन

निवेश्य सेनां तु विभुः पद्भ्यां पादवतां वरः ।
अभिगन्तुं स काकुत्स्थमियेष गुरुवर्तकम् ॥ १ ॥
निविष्टमात्रे सैन्ये तु यथोद्देशं विनीतवत् ।
भरतो भ्रातरं वाक्यं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

इस प्रकार सेनाको ठहराकर जंगम प्राणियोंमें श्रेष्ठ एवं प्रभावशाली भरतने गुरुसेवापरायण (एवं पिताके आज्ञापालक) श्रीरामचन्द्रजीके पास जानेका विचार किया । जब सारी सेना विनीत भावसे यथास्थान ठहर गयी, तब भरतने अपने भाई शत्रुघ्नसे इस प्रकार कहा—॥ १-२ ॥

क्षिप्रं वनमिदं सौम्य नरसंघैः समन्ततः ।
लुब्धैश्च सहितैरेभिस्त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ३ ॥

'सौम्य ! बहुत-से मनुष्योंके साथ इन निषादोंको भी साथ लेकर तुम्हें शीघ्र ही इस वनमें चारों ओर श्रीरामचन्द्रजी-की खोज करनी चाहिये ॥ ३ ॥

गुहो ज्ञातिसहस्रेण शरचापासिपाणिना ।
समन्वेषतु काकुत्स्थावस्मिन् परिवृतः स्वयम् ॥ ४ ॥

'निषादराज गुह स्वयं भी धनुष-बाण और तलवार धारण करनेवाले अपने सहस्रों बन्धु-बान्धवोंसे घिरे हुए जायँ और इस वनमें ककुत्स्थवंशी श्रीराम और लक्ष्मणका अन्वेषण करें ॥ ४ ॥

अमात्यैः सह पौरैश्च गुरुभिश्च द्विजातिभिः ।
सह सर्वं चरिष्यामि पद्भ्यां परिवृतः स्वयम् ॥ ५ ॥

'मैं स्वयं भी मन्त्रियों, पुरवासियों, गुरुजनों तथा ब्राह्मणोंके साथ उन सबसे घिरा रहकर पैदल ही सारे वनमें विचरण करूँगा ॥ ५ ॥

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम् ।
वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

'जबतक श्रीराम, महाबली लक्ष्मण अथवा महाभागा विदेहराजकुमारी सीताको न देख लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ॥ ६ ॥

यावन्न चन्द्रसंकाशं तद् द्रक्ष्यामि शुभाननम् ।
भ्रातुः पद्मविशालाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ७ ॥

जबतक अपने पूज्य भ्राता श्रीरामके कमलदलके सदृश विशाल नेत्रोंवाले सुन्दर मुखचन्द्रका दर्शन न कर लूँगा, तबतक मेरे मनको शान्ति नहीं प्राप्त होगी ॥ ७ ॥

सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम् ।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति ॥ ८ ॥

'निश्चय ही सुमित्राकुमार लक्ष्मण कृतार्थ हो गये, जो श्रीरामचन्द्रजीके उस कमल-सदृश नेत्रवाले महातेजस्वी मुखका निरन्तर दर्शन करते हैं, जो चन्द्रमाके समान निर्मल एवं आह्लाद प्रदान करनेवाला है ॥ ८ ॥

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ९ ॥

'जबतक भाई श्रीरामके राजोचित लक्षणोंसे युक्त चरणारविन्दोंको अपने सिरपर नहीं रक्खूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ॥ ९ ॥

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः ।
अभिषिक्तो जलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ १० ॥

'जबतक राज्यके सच्चे अधिकारी आर्य श्रीराम पिता-पितामहोंके राज्यपर प्रतिष्ठित हो अभिषेकके जलसे आर्द्र नहीं हो जायँगे, तबतक मेरे मनको शान्ति नहीं प्राप्त होगी ॥ १० ॥

कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा ।
भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या यानुगच्छति ॥ ११ ॥

'जो समुद्रपर्यन्त पृथ्वीके स्वामी अपने पतिदेव श्रीराम-चन्द्रजीका अनुसरण करती हैं, वे जनककिशोरी विदेहराजनन्दिनी महाभागा सीता अपने इस सत्कर्मसे कृतार्थ हो गयीं ॥ ११ ॥

सुशुभश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजसमो गिरिः ।
यस्मिन् वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने ॥ १२ ॥

'जैसे नन्दनवनमें कुबेर निवास करते हैं, उसी प्रकार जिसके वनमें ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी विराज रहे हैं, वह चित्रकूट परम मङ्गलकारी तथा गिरिराज हिमालय एवं वेंकटाचलके समान श्रेष्ठ पर्वत है ॥ १२ ॥

कृतकार्यमिदं दुर्गं वनं व्यालनिषेवितम् ।
यदध्यास्ते महाराजो रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ १३ ॥

'यह सर्पसेवित दुर्गम वन भी कृतार्थ हो गया, जहाँ शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाराज श्रीराम निवास करते हैं' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्भरतः पुरुषर्षभः ।
पद्भ्यामेव महातेजाः प्रविवेश महद् वनम् ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी पुरुषप्रवर महाबाहु भरतने उस विशाल वनमें पैदल ही प्रवेश किया ॥ १४ ॥

स तानि द्रुमजालानि जातानि गिरिसानुषु ।
पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतां वरः ॥ १५ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ भरत पर्वतशिखरोंपर उत्पन्न हुए वृक्षसमूहोंके, जिनकी शाखाओंके अग्रभाग फूलोंसे भरे थे, बीचसे निकले ॥ १५ ॥

स गिरेश्चित्रकूटस्य सालमारुह्य सत्वरम् ।
रामाश्रमगतस्याग्नेर्ददर्श ध्वजमुच्छ्रितम् ॥ १६ ॥

आगे जाकर वे बड़ी तेजीसे चित्रकूटपर्वतके एक शालवृक्षपर चढ़ गये और वहाँसे उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमपर सुलगती हुई आगका ऊपर उठता हुआ धुआँ देखा ॥ १६ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान् मुमोद सहबान्धवः ।
अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः ॥ १७ ॥

उस धूमको देखकर श्रीमान् भरतको अपने भाई शत्रुघ्नसहित बड़ी प्रसन्नता हुई और 'यहीं श्रीराम हैं' यह जानकर उन्हें अथाह जलसे पार हो जानेके समान संतोष प्राप्त हुआ ॥ १७ ॥

स चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य
रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम्।
गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम
पुनर्निवेश्यैव चमूं महात्मा ॥ १८ ॥

इस प्रकार चित्रकूट पर्वतपर पुण्यात्मा महर्षियोंसे युक्त श्रीरामचन्द्रजीका आश्रम देखकर महात्मा भरतने ढूँढ़नेके लिये आयी हुई सेनाको पुनः पूर्वस्थानपर ठहरा दिया और वे स्वयं गुहके साथ शीघ्रतापूर्वक आश्रमकी ओर चल दिये ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

नवनवतितमः सर्गः

भरतका शत्रुघ्न आदिके साथ श्रीरामके आश्रमपर जाना, उनकी पर्णशालाको देखना तथा रोते-रोते उनके चरणोंमें गिर जाना, श्रीरामका उन सबको हृदयसे लगाना और मिलना

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्ततः।
जगाम भ्रातरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन् ॥ १ ॥

सेनाके ठहर जानेपर भाईके दर्शनके लिये उत्कण्ठित होकर भरत अपने छोटे भाई शत्रुघ्नको आश्रमके चिह्न दिखाते हुए उसकी ओर चले ॥ १ ॥

ऋषिं वसिष्ठं संदिश्य मातॄर्मे शीघ्रमानय।
इति त्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः ॥ २ ॥

गुरुभक्त भरत महर्षि वसिष्ठको यह संदेश देकर कि आप मेरी माताओंको साथ लेकर शीघ्र ही आइये, तुरंत आगे बढ़ गये ॥ २ ॥

सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत।
रामदर्शनजस्तर्षो भरतस्येव तस्य च ॥ ३ ॥

सुमन्त्र भी शत्रुघ्नके समीप ही पीछे-पीछे चल रहे थे। उन्हें भी भरतके समान ही श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी तीव्र अभिलाषा थी ॥ ३ ॥

गच्छन्नेवाथ भरतस्तापसालयसंस्थिताम्।
भ्रातुः पर्णकुटीं श्रीमानुटजं च ददर्श ह ॥ ४ ॥

चलते-चलते ही श्रीमान् भरतने तपस्वीजनोंके आश्रमोंके समान प्रतिष्ठित हुई भाईकी पर्णकुटी और झोंपड़ी देखी ॥ ४ ॥

शालायास्त्वग्रतस्तस्या ददर्श भरतस्तदा।
काष्ठानि चावभग्नानि पुष्पाण्यपचितानि च ॥ ५ ॥

उस पर्णशालाके सामने भरतने उस समय बहुत-से कटे हुए काष्ठके टुकड़े देखे, जो होमके लिये संगृहीत थे। साथ ही वहाँ पूजाके लिये संचित किये हुए फूल भी दृष्टि-गोचर हुए ॥ ५ ॥

स लक्ष्मणस्य रामस्य ददर्शाश्रममीयुषः।
कृतं वृक्षेष्वभिज्ञानं कुशचीरैः क्वचित् क्वचित् ॥ ६ ॥

आश्रमपर आने-जानेवाले श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा निर्मित मार्गबोधक चिह्न भी उन्हें वृक्षोंमें लगे दिखायी दिये, जो कुशों और चीरोंद्वारा तैयार करके कहीं-कहीं वृक्षोंकी शाखाओंमें लटका दिये गये थे ॥ ६ ॥

ददर्श च वने तस्मिन् महतः संचयान् कृतान्।
मृगाणां महिषाणां च करीषैः शीतकारणात् ॥ ७ ॥

उस वनमें शीत-निवारणके लिये मृगोंकी लेंडी और भैंसोंके सूखे हुए गोबरके ढेर एकत्र करके रखे गये थे, जिन्हें भरतने अपनी आँखों देखा ॥ ७ ॥

गच्छन्नेव महाबाहुर्द्युतिमान् भरतस्तदा।
शत्रुघ्नं चाब्रवीद्धृष्टस्तानमात्यांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

उस समय चलते-चलते ही परम कान्तिमान् महाबाहु भरतने शत्रुघ्न तथा सम्पूर्ण मन्त्रियोंसे अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा— ॥ ८ ॥

मन्ये प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत्।
नातिदूरे हि मन्येऽहं नदीं मन्दाकिनीमितः ॥ ९ ॥

'जान पड़ता है कि महर्षि भरद्वाजने जिस स्थानका पता बताया था, वहाँ हमलोग आ गये हैं। मैं समझता हूँ मन्दाकिनी नदी यहाँसे अधिक दूर नहीं है ॥ ९ ॥

उच्चैर्बद्धानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदयम्।
अभिज्ञानकृतः पन्था विकाले गन्तुमिच्छता ॥ १० ॥

'वृक्षोंमें ऊँचे बँधे हुए ये चीर दिखायी दे रहे हैं। अतः समय-बेसमय जल आदि लानेके निमित्त बाहर जानेकी इच्छावाले लक्ष्मणने जिसकी पहचानके लिये यह चिह्न बनाया है, वह आश्रमको जानेवाला मार्ग यही हो सकता है ॥ १० ॥

इतश्चोदात्तदन्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम्।
शैलपार्श्वे परिक्रान्तमन्योन्यमभिगर्जताम् ॥ ११ ॥

'इधरसे बड़े-बड़े दाँतवाले वेगशाली हाथी निकलकर एक-दूसरेके प्रति गर्जना करते हुए इस पर्वतके पार्श्वभागमें

चक्कर लगाते रहते हैं (अतः उधर जानेसे रोकनेके लिये लक्ष्मणने ये चिह्न बनाये होंगे) ॥ ११ ॥

यमेवाधातुमिच्छन्ति तापसाः सततं वने ।
तस्यासौ दृश्यते धूमः संकुलः कृष्णवर्त्मनः ॥ १२ ॥

'वनमें तपस्वी मुनि सदा जिनका आधान करना चाहते हैं, उन अग्निदेवका यह अति सघन धूम दृष्टिगोचर हो रहा है ॥ १२ ॥

अत्राहं पुरुषव्याघ्रं गुरुसत्कारकारिणम् ।
आर्यं द्रक्ष्यामि संहृष्टं महर्षिमिव राघवम् ॥ १३ ॥

'यहाँ मैं गुरुजनोंका सत्कार करनेवाले पुरुषसिंह आर्य रघुनन्दनका सदा आनन्दमग्न रहनेवाले महर्षिकी भाँति दर्शन करूँगा' ॥ १३ ॥

अथ गत्वा मुहूर्तं तु चित्रकूटं स राघवः ।
मन्दाकिनीमनु प्राप्तस्तं जनं चेदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर रघुकुलभूषण भरत दो ही घड़ीमें मन्दाकिनीके तटपर विराजमान चित्रकूटके पास जा पहुँचे और अपने साथवाले लोगोंसे इस प्रकार बोले—॥ १४ ॥

जगत्यां पुरुषव्याघ्र आस्ते वीरासने रतः ।
जनेन्द्रो निर्जनं प्राप्य धिङ्मे जन्म सजीवितम् ॥ १५ ॥

'अहो! मेरे ही कारण पुरुषसिंह महाराज श्रीरामचन्द्र इस निर्जन वनमें आकर खुली पृथ्वीके ऊपर वीरासनसे बैठते हैं; अतः मेरे जन्म और जीवनको धिक्कार है ॥ १५ ॥

मत्कृते व्यसनं प्राप्तो लोकनाथो महाद्युतिः ।
सर्वान् कामान् परित्यज्य वने वसति राघवः ॥ १६ ॥

'मेरे ही कारण महातेजस्वी लोकनाथ रघुनाथ भारी संकटमें पड़कर समस्त कामनाओंका परित्याग करके वनमें निवास करते हैं ॥ १६ ॥

इति लोकसमाक्रुष्टः पादेष्वद्य प्रसादयन् ।
रामं तस्य पतिष्यामि सीताया लक्ष्मणस्य च ॥ १७ ॥

'इसलिये मैं सब लोगोंके द्वारा निन्दित हूँ; अतः मेरे जन्मको धिक्कार है! आज मैं श्रीरामको प्रसन्न करनेके लिये उनके चरणोंमें गिर जाऊँगा। सीता और लक्ष्मणके भी पैरों पड़ूँगा' ॥ १७ ॥

एवं स विलपंस्तस्मिन् वने दशरथात्मजः ।
ददर्श महतीं पुण्यां पर्णशालां मनोरमाम् ॥ १८ ॥

इस तरह विलाप करते हुए दशरथकुमार भरतने उस वनमें एक बड़ी पर्णशाला देखी, जो परम पवित्र और मनोरम थी ॥ १८ ॥

सालतालाश्वकर्णानां पर्णैर्बहुभिरावृताम् ।
विशालां मृदुभिस्तीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरे ॥ १९ ॥

वह साल, ताल और अश्वकर्ण नामक वृक्षोंके बहुत-से पत्तोंद्वारा छायी हुई थी; अतः यज्ञशालामें जिसपर कोमल कुश बिछाये गये हों, उस लंबी-चौड़ी वेदीके समान शोभा पा रही थी ॥ १९ ॥

शक्रायुधनिकाशैश्च कार्मुकैर्भारसाधनैः ।
रुक्मपृष्ठैर्महासारैः शोभितां शत्रुबाधकैः ॥ २० ॥

वहाँ इन्द्रधनुषके समान बहुत-से धनुष रखे गये थे, जो गुरुतर कार्य-साधनमें समर्थ थे। जिनके पृष्ठभाग सोनेसे मढ़े गये थे और जो बहुत ही प्रबल तथा शत्रुओंको पीड़ा देनेवाले थे। उनसे उस पर्णकुटीकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २० ॥

अर्करश्मिप्रतीकाशैर्घोरैस्तूणगतैः शरैः ।
शोभितां दीप्तवदनैः सर्पैर्भोगवतीमिव ॥ २१ ॥

वहाँ तरकसोंमें बहुत-से बाण भरे थे, जो सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले और भयङ्कर थे। उन बाणोंसे वह पर्णशाला उसी प्रकार सुशोभित होती थी, जैसे दीप्तिमान् मुखवाले सर्पोंसे भोगवती पुरी शोभित होती है ॥ २१ ॥

महारजतवासोभ्यामसिभ्यां च विराजिताम् ।
रुक्मबिन्दुविचित्राभ्यां चर्मभ्यां चापि शोभिताम् ॥ २२ ॥

सोनेकी म्यानोंमें रखी हुई दो तलवारें और स्वर्णमय बिन्दुओंसे विभूषित दो विचित्र ढालें भी उस आश्रमकी शोभा बढ़ा रही थीं ॥ २२ ॥

गोधाङ्गुलित्रैरासक्तैश्चित्रकाञ्चनभूषितैः ।
अरिसंघैरनाधृष्यां मृगैः सिंहगुहामिव ॥ २३ ॥

वहाँ गोहके चमड़ेके बने हुए बहुत-से सुवर्णजटित दस्ताने भी टँगे हुए थे। जैसे मृग सिंहकी गुफापर आक्रमण नहीं कर सकते, उसी प्रकार वह पर्णशाला शत्रुसमूहोंके लिये अगम्य एवं अजेय थी ॥ २३ ॥

प्रागुदक्प्रवणां वेदिं विशालां दीप्तपावकाम् ।
ददर्श भरतस्तत्र पुण्यां रामनिवेशने ॥ २४ ॥

श्रीरामके उस निवासस्थानमें भरतने एक पवित्र एवं विशाल वेदी भी देखी, जो ईशानकोणकी ओर कुछ नीची थी। उसपर अग्नि प्रज्वलित हो रही थी ॥ २४ ॥

निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम् ।
उटजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम् ॥ २५ ॥
कृष्णाजिनधरं तं तु चीरवल्कलवाससम् ।
ददर्श राममासीनमभितः पावकोपमम् ॥ २६ ॥

पर्णशालाकी ओर थोड़ी देरतक देखकर भरतने कुटियामें बैठे हुए अपने पूजनीय भ्राता श्रीरामको देखा, जो सिरपर जटामण्डल धारण किये हुए थे। उन्होंने अपने अङ्गोंमें कृष्णमृगचर्म तथा चीर एवं वल्कल वस्त्र धारण कर रखे थे। भरतको दिखायी दिया कि श्रीराम पास ही बैठे हैं और

प्रज्वलित अग्निके समान अपनी दिव्य प्रभा फैला रहे हैं ॥ २५-२६ ॥

सिंहस्कन्धं महाबाहुं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।
पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम् ॥ २७ ॥
उपविष्टं महाबाहुं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ।
स्थण्डिले दर्भसंस्तीर्णे सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २८ ॥

समुद्रपर्यन्त पृथ्वीके स्वामी, धर्मात्मा, महाबाहु श्रीराम सनातन ब्रह्माकी भाँति कुश बिछी हुई वेदीपर बैठे थे। उनके कंधे सिंहके समान, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और नेत्र प्रफुल्ल कमलके समान थे। उस वेदीपर वे सीता और लक्ष्मणके साथ विराजमान थे ॥ २७-२८ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमाञ्शोकमोहपरिप्लुतः ।
अभ्यधावत धर्मात्मा भरतः कैकयीसुतः ॥ २९ ॥

उन्हें इस अवस्थामें देख धर्मात्मा श्रीमान् कैकेयीकुमार भरत शोक और मोहमें डूब गये तथा बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

दृष्ट्वैव विललापार्तो बाष्पसंदिग्धया गिरा ।
अशक्नुवन् वारयितुं धैर्याद् वचनमब्रवन् ॥ ३० ॥

भाईकी ओर दृष्टि पड़ते ही भरत आर्तभावसे विलाप करने लगे। वे अपने शोकके आवेगको धैर्यसे रोक न सके और आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें बोले—॥ ३० ॥

यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद् युक्त उपासितुम् ।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥ ३१ ॥

'हाय! जो राजसभामें बैठकर प्रजा और मन्त्रिवर्गके द्वारा सेवा तथा सम्मान पानेके योग्य हैं, वे ही ये मेरे बड़े भ्राता श्रीराम यहाँ जंगली पशुओंसे घिरे हुए बैठे हैं ॥ ३१ ॥

वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः ।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥ ३२ ॥

'जो महात्मा पहले कई सहस्र वस्त्रोंका उपयोग करते थे, वे अब धर्माचरण करते हुए यहाँ केवल दो मृगचर्म धारण करते हैं ॥ ३२ ॥

अधारयद् यो विविधाश्चित्राः सुमनसः सदा ।
सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम् ॥ ३३ ॥

'जो सदा नाना प्रकारके विचित्र फूलोंको अपने सिरपर धारण करते थे, वे ही ये श्रीरघुनाथजी इस समय इस जटा-भारको कैसे सहन करते हैं? ॥ ३३ ॥

यस्य यज्ञैर्यथादिष्टैर्युक्तो धर्मस्य संचयः ।
शरीरक्लेशसम्भूतं स धर्मं परिमार्गते ॥ ३४ ॥

'जिनके लिये शास्त्रोक्त यज्ञोंके अनुष्ठानद्वारा धर्मका संग्रह करना उचित है, वे इस समय शरीरको कष्ट देनेसे प्राप्त होनेवाले धर्मका अनुसंधान कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

चन्दनेन महार्हेण यस्याङ्गमुपसेवितम् ।
मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते ॥ ३५ ॥

'जिनके अङ्गोंकी बहुमूल्य चन्दनसे सेवा होती थी, उन्हीं मेरे पूज्य भ्राताका यह शरीर कैसे मलसे सेवित हो रहा है ॥ ३५ ॥

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः ।
धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम् ॥ ३६ ॥

'हाय! जो सर्वथा सुख भोगनेके योग्य हैं, वे श्रीराम मेरे ही कारण ऐसे दुःखमें पड़ गये हैं। ओह! मैं कितना क्रूर हूँ! मेरे इस लोकनिन्दित जीवनको धिक्कार है!' ॥ ३६ ॥

इत्येवं विलपन् दीनः प्रस्विन्नमुखपङ्कजः ।
पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार विलाप करते-करते भरत अत्यन्त दुःखी हो गये। उनके मुखारविन्दपर पसीनेकी बूँदें दिखायी देने लगीं। वे श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंतक पहुँचनेके पहले ही पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३७ ॥

दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः ।
उक्त्वाऽऽर्येति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किंचन ॥ ३८ ॥

अत्यन्त दुःखसे संतप्त होकर महाबली राजकुमार भरतने एक बार दीनवाणीमें 'आर्य' कहकर पुकारा। फिर वे कुछ न बोल सके ॥ ३८ ॥

बाष्पैः पिहितकण्ठश्च प्रेक्ष्य रामं यशस्विनम् ।
आर्येत्येवाभिसंक्रुश्य व्याहर्तुं नाशकत् ततः ॥ ३९ ॥

आँसुओंसे उनका गला रुँध गया था। यशस्वी श्रीरामकी ओर देख वे 'हा! आर्य' कहकर चीख उठे। इससे आगे उनसे कुछ बोला न जा सका ॥ ३९ ॥

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन् ।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत् ॥ ४० ॥

फिर शत्रुघ्नने भी रोते-रोते श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम किया। श्रीरामने उन दोनोंको उठाकर छातीसे लगा लिया। फिर वे भी नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहाने लगे ॥ ४० ॥

ततः सुमन्त्रेण गुहेन चैव
समीयतू राजसुतावरण्ये ।
दिवाकरश्चैव निशाकरश्च
यथाम्बरे शुक्रबृहस्पतिभ्याम् ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् राजकुमार श्रीराम तथा लक्ष्मण उस वनमें सुमन्त्र और निषादराज गुहसे मिले, मानो आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा, शुक्र और बृहस्पतिसे मिल रहे हों ॥ ४१ ॥

तान् पार्थिवान् वारणयूथपाहान्
समागतांस्तत्र महत्यरण्ये ।
वनौकसस्तेऽभिसमीक्ष्य सर्वे
त्वश्रूण्यमुञ्चन् प्रविहाय हर्षम् ॥ ४२ ॥

यूथपति गजराजपर बैठकर यात्रा करनेयोग्य उन चारों राजकुमारोंको उस विशाल वनमें आया देख समस्त वनवासी हर्ष छोड़कर शोकके आँसू बहाने लगे ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवनवतितमः सर्गः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें निन्यानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमः सर्गः

श्रीरामका भरतको कुशल-प्रश्नके बहाने राजनीतिका उपदेश करना

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि ।
ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा ॥ १ ॥
कथंचिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम् ।
भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह पाणिना ॥ २ ॥
आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवम् ।
अङ्के भरतमारोप्य पर्यपृच्छत सादरम् ॥ ३ ॥

जटा और चीर-वस्त्र धारण किये भरत हाथ जोड़कर पृथ्वीपर पड़े थे, मानो प्रलयकालमें सूर्यदेव धरतीपर गिर गये हों। उनको उस अवस्थामें देखना किसी भी स्नेही सुहृद्‌के लिये अत्यन्त कठिन था। श्रीरामने उन्हें देखा और जैसे-तैसे किसी तरह पहचाना। उनका मुख उदास हो गया था। वे बहुत दुर्बल हो गये थे। श्रीरामने भाई भरतको अपने हाथसे पकड़कर उठाया और उनका मस्तक सूँघकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। इसके बाद रघुकुलभूषण भरतको गोदमें बिठाकर श्रीरामने बड़े आदरसे पूछा—॥ १–३ ॥

क नु तेऽभूत् पिता तात यदरण्यं त्वमागतः ।
न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

'तात ! पिताजी कहाँ थे कि तुम इस वनमें आये हो ? उनके जीते-जी तो तुम वनमें नहीं आ सकते थे ॥ ४ ॥

चिरस्य बत पश्यामि दूराद् भरतमागतम् ।
दुष्प्रतीकमरण्येऽस्मिन् किं तात वनमागतः ॥ ५ ॥

'मैं दीर्घकालके बाद दूरसे (नानाके घरसे) आये हुए भरतको आज इस वनमें देख रहा हूँ; परंतु इनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया है। तात ! तुम क्यों वनमें आये हो ?॥

कच्चिन्नु धरते तात राजा यत् त्वमिहागतः ।
कच्चिन्नदीनः सहसा राजा लोकान्तरं गतः ॥ ६ ॥

'भाई ! महाराज जीवित हैं न ? कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि वे अत्यन्त दुखी होकर सहसा परलोकवासी हो गये हों और इसीलिये तुम्हें स्वयं यहाँ आना पड़ा हो ? ॥ ६ ॥

कच्चित् सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम् ।
कच्चिच्छुश्रूषसे तात पितुः सत्यपराक्रम ॥ ७ ॥

'सौम्य ! तुम अभी बालक हो, इसलिये परम्परासे चला आता हुआ तुम्हारा राज्य नष्ट तो नहीं हो गया ? सत्यपराक्रमी तात भरत ! तुम पिताजीकी सेवा-शुश्रूषा तो करते हो न ? ॥७॥

कच्चिद् दशरथो राजा कुशली सत्यसंगरः ।
राजसूयाश्वमेधानामाहर्ता धर्मनिश्चितः ॥ ८ ॥

'जो धर्मपर अटल रहनेवाले हैं तथा जिन्होंने राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया है, वे सत्यप्रतिज्ञ महाराज दशरथ सकुशल तो हैं न ? ॥ ८ ॥

स कच्चिद् ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युतिः ।
इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत् तात पूज्यते ॥ ९ ॥

'तात ! क्या तुम सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले, विद्वान्, ब्रह्मवेत्ता और इक्ष्वाकुकुलके आचार्य महातेजस्वी वसिष्ठजीकी यथावत् पूजा करते हो ? ॥ ९ ॥

तात कच्चिच्च कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती ।
सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकयी ॥ १० ॥

'भाई ! क्या माता कौसल्या सुखसे हैं ? उत्तम संतानवाली सुमित्रा प्रसन्न हैं और आर्या कैकेयी देवी भी आनन्दित हैं ?॥

कच्चित् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।
अनसूयुरनुद्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥ ११ ॥

जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, विनयसम्पन्न, बहुश्रुत, किसीके दोष न देखनेवाले तथा शास्त्रोक्त धर्मोंपर निरन्तर दृष्टि रखनेवाले हैं, उन पुरोहितजीका तुमने पूर्णतः सत्कार किया है ? ॥ ११ ॥

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥ १२ ॥

'हवनविधिके ज्ञाता, बुद्धिमान् और सरल स्वभाववाले जिन ब्राह्मण देवताको तुमने अग्निहोत्र-कार्यके लिये नियुक्त किया है, वे सदा ठीक समयपर आकर क्या तुम्हें यह सूचित करते हैं कि इस समय अग्निमें आहुति दे दी गयी और अब अमुक समयमें हवन करना है ? ॥ १२ ॥

कच्चिद् देवान् पितॄन् भृत्यान् गुरून् पितृसमानपि ।
वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे ॥ १३ ॥

'तात ! क्या तुम देवताओं, पितरों, भृत्यों, गुरुजनों, पिताके समान आदरणीय वृद्धों, वैद्यों और ब्राह्मणोंका सम्मान करते हो ? ॥ १३ ॥

इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम् ।
सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित् त्वं तात मन्यसे ॥१४॥

'भाई ! जो मन्त्ररहित श्रेष्ठ बाणोंके प्रयोग तथा मन्त्र-सहित उत्तम अस्त्रोंके प्रयोगके ज्ञानसे सम्पन्न और अर्थ-शास्त्र (राजनीति) के अच्छे पण्डित हैं, उन आचार्य सुधन्वा-का क्या तुम समादर करते हो ? ॥ १४ ॥

कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः ।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥१५॥

'तात ! क्या तुमने अपने ही समान शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन तथा बाहरी चेष्टाओंसे ही मनकी बात समझ लेनेवाले सुयोग्य व्यक्तियोंको ही मन्त्री बनाया है ? ॥

मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव ।
सुसंवृतो मन्त्रिधुरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ॥ १६ ॥

'रघुनन्दन ! अच्छी मन्त्रणा ही राजाओंकी विजयका मूलकारण है। वह भी तभी सफल होती है, जब नीतिशास्त्रनिपुण मन्त्रिशिरोमणि अमात्य उसे सर्वथा गुप्त रक्खें ॥ १६ ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित् कालेऽवबुध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम् ॥ १७ ॥

'भरत ! तुम असमयमें ही निद्राके वशीभूत तो नहीं होते ? समयपर जाग जाते हो न ? रातके पिछले पहरमें अर्थ-सिद्धिके उपायपर विचार करते हो न ? ॥ १७ ॥

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित् ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥ १८ ॥

'(कोई भी गुप्त मन्त्रणा दोसे चार कानोंतक ही गुप्त रहती है; छः कानोंमें जाते ही वह फूट जाती है, अतः मैं पूछता हूँ—) तुम किसी गूढ़ विषयपर अकेले ही तो विचार नहीं करते ? अथवा बहुत लोगोंके साथ बैठकर तो मन्त्रणा नहीं करते ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारी निश्चित की हुई गुप्त मन्त्रणा फूटकर शत्रुके राज्यतक फैल जाती हो ? ॥

कच्चिदर्थं विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम् ।
क्षिप्रमारभसे कर्म न दीर्घयसि राघव ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन ! जिसका साधन बहुत छोटा और फल बहुत बड़ा हो, ऐसे कार्यका निश्चय करनेके बाद तुम उसे शीघ्र प्रारम्भ कर देते हो न ? उसमें विलम्ब तो नहीं करते ? ॥१९॥

कच्चिन्नु सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः ।
विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः ॥ २० ॥

'तुम्हारे सब कार्य पूर्ण हो जानेपर अथवा पूरे होनेके समीप पहुँचनेपर ही दूसरे राजाओंको ज्ञात होते हैं न ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारे भावी कार्यक्रमको वे पहले ही जान लेते हों ? ॥ २० ॥

कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः ।
त्वया वा तव वामात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥ २१ ॥

'तात ! तुम्हारे निश्चित किये हुए विचारोंको तुम्हारे या मन्त्रियोंके प्रकट न करनेपर भी दूसरे लोग तर्क और युक्तियों-के द्वारा जान तो नहीं लेते हैं ? (तथा तुमको और तुम्हारे अमात्योंको दूसरोंके गुप्त विचारोंका पता लगता रहता है न ?) ॥

कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत् ॥२२॥

'क्या तुम सहस्रों मूर्खोंके बदले एक पण्डितको ही अपने पास रखनेकी इच्छा रखते हो ? क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थसंकटके समय महान् कल्याण कर सकता है ॥ २२ ॥

सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः ।
अथवाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥ २३ ॥

'यदि राजा हजार या दस हजार मूर्खोंको अपने पास रख ले तो भी उनसे अवसरपर कोई अच्छी सहायता नहीं मिलती ॥ २३ ॥

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः ।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ २४ ॥

'यदि एक मन्त्री भी मेधावी, शूरवीर, चतुर एवं नीतिज्ञ हो तो वह राजा या राजकुमारको बहुत बड़ी सम्पत्तिकी प्राप्ति करा सकता है ॥ २४ ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्यास्ते तात योजिताः ॥ २५ ॥

'तात ! तुमने प्रधान व्यक्तियोंको प्रधान, मध्यम श्रेणीके मनुष्योंको मध्यम और छोटी श्रेणीके लोगोंको छोटे ही कार्मोंमें नियुक्त किया है न ? ॥ २५ ॥

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्छुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित् त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ २६ ॥

जो घूस न लेते हों अथवा निश्छल हों, बाप-दादोंके समयसे ही काम करते आ रहे हों तथा बाहर-भीतरसे पवित्र एवं श्रेष्ठ हों, ऐसे अमात्योंको ही तुम उत्तम कार्योंमें नियुक्त करते हो न ? ॥ २६ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः ।
राष्ट्रे तवावजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥ २७ ॥

'कैकेयीकुमार ! तुम्हारे राज्यकी प्रजा कठोर दण्डसे अत्यन्त उद्विग्न होकर तुम्हारे मन्त्रियोंका तिरस्कार तो नहीं करती ? ॥ २७ ॥

कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ २८ ॥

'जैसे पवित्र याजक पतित यजमानका तथा स्त्रियाँ काम-चारी पुरुषका तिरस्कार कर देती हैं, उसी प्रकार प्रजा कठोरतापूर्वक अधिक कर लेनेके कारण तुम्हारा अनादर तो नहीं करती ? ॥ २८ ॥

उपायकुशलं वैद्यं भृत्यसंदूषणे रतम्।
शूरमैश्वर्यकामं च यो हन्ति न स हन्यते ॥ २९ ॥

'जो साम-दाम आदि उपायोंके प्रयोगमें कुशल, राजनीति-शास्त्रका विद्वान्, विश्वासी भृत्योंको फोड़नेमें लगा हुआ, शूर (मरनेसे न डरनेवाला) तथा राजाके राज्यको हड़प लेनेकी इच्छा रखनेवाला है—ऐसे पुरुषको जो राजा नहीं मार डालता है, वह स्वयं उसके हाथसे मारा जाता है ॥ २९ ॥

कच्चिद् धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान् मतिमाञ्छुचिः।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ ३० ॥

'क्या तुमने सदा संतुष्ट रहनेवाले, शूर-वीर, धैर्यवान्, बुद्धिमान्, पवित्र, कुलीन एवं अपनेमें अनुराग रखनेवाले, रणकर्मदक्ष पुरुषको ही सेनापति बनाया है ? ॥ ३० ॥

बलवन्तश्च कच्चित् ते मुख्या युद्धविशारदाः।
दृष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ३१ ॥

'तुम्हारे प्रधान-प्रधान योद्धा (सेनापति) बलवान्, युद्ध-कुशल और पराक्रमी तो हैं न ? क्या तुमने उनके शौर्यकी परीक्षा कर ली है ? तथा क्या वे तुम्हारे द्वारा सत्कारपूर्वक सम्मान पाते रहते हैं ? ॥ ३१ ॥

कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्।
सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥ ३२ ॥

'सैनिकोंको देनेके लिये नियत किया हुआ समुचित वेतन और भत्ता तुम समयपर दे देते हो न ? देनेमें विलम्ब तो नहीं करते ? ॥ ३२ ॥

कालातिक्रमणे ह्येव भक्तवेतनयोर्भृताः।
भर्तुरप्यतिकुप्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् कृतः ॥ ३३ ॥

'यदि समय बिताकर भत्ता और वेतन दिये जाते हैं तो सैनिक अपने स्वामीपर भी अत्यन्त कुपित हो जाते हैं और इसके कारण बड़ा भारी अनर्थ घटित हो जाता है ॥ ३३ ॥

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः।
कच्चित् प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति समाहिताः ॥ ३४ ॥

'क्या उत्तम कुलमें उत्पन्न मन्त्री आदि समस्त प्रधान अधिकारी तुमसे प्रेम रखते हैं ? क्या वे तुम्हारे लिये एक-चित्त होकर अपने प्राणोंका त्याग करनेके लिये उद्यत रहते हैं ? ॥

कच्चिज्जानपदो विद्वान् दक्षिणः प्रतिभानवान्।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥ ३५ ॥

'भरत ! तुमने जिसे राजदूतके पदपर नियुक्त किया है, वह पुरुष अपने ही देशका निवासी, विद्वान्, कुशल, प्रतिभा-शाली और जैसा कहा जाय, वैसी ही बात दूसरेके सामने कहनेवाला और सदसद्विवेकयुक्त है न ? ॥ ३५ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३६ ॥

'क्या तुम शत्रुपक्षके अठारह[1] और अपने पक्षके पंद्रह[2] तीर्थोंकी तीन-तीन अज्ञात गुप्तचरोंद्वारा देख-भाल या जाँच-पड़ताल करते रहते हो ? ॥ ३६ ॥

कच्चिद् व्यपास्तानहितान् प्रतियातांश्च सर्वदा।
दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन ॥ ३७ ॥

'शत्रुसूदन ! जिन शत्रुओंको तुमने राज्यसे निकाल दिया है, वे यदि फिर लौटकर आते हैं तो तुम उन्हें दुर्बल समझकर उनकी उपेक्षा तो नहीं करते ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥ ३८ ॥

'तात ! तुम कभी नास्तिक ब्राह्मणोंका संग तो नहीं करते हो ? क्योंकि वे बुद्धिको परमार्थकी ओरसे विचलित करनेमें कुशल होते हैं तथा वास्तवमें अज्ञानी होते हुए भी अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानते हैं ॥ ३८ ॥

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ ३९ ॥

'उनका ज्ञान वेदके विरुद्ध होनेके कारण दूषित होता है और वे प्रमाणभूत प्रधान-प्रधान धर्मशास्त्रोंके होते हुए भी तार्किक बुद्धिका आश्रय लेकर व्यर्थ बकवाद किया करते हैं ॥

वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः।
सत्यनामां दृढद्वारां हस्त्यश्वरथसंकुलाम् ॥ ४० ॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा।
जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्वृतामार्यैः सहस्रशः ॥ ४१ ॥

---

१. शत्रुपक्षके मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक (अन्तःपुरका अध्यक्ष), कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायोग्य कार्योंमें धनका व्यय करनेवाला सचिव, प्रदेष्टा (पहरेदारों-को काम बतानेवाला), नगराध्यक्ष (कोतवाल), कार्यनिर्माणकर्ता (शिल्पियोंका परिचालक), धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्ग-पाल, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक—ये अठारह तीर्थ हैं, जिनपर राजाको दृष्टि रखनी चाहिये। मतान्तरसे ये अठारह तीर्थ इस प्रकार हैं—मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तःपुराध्यक्ष, कारागाराध्यक्ष, धनाध्यक्ष, राजाकी आज्ञासे सेवकोंको काम बताने-वाला, वादी-प्रतिवादीसे नालिशकी पूछ-ताछ करनेवाला, प्राड्विवाक (वकील), धर्मासनाधिकारी (न्यायाधीश), व्यवहार निर्णेता, सभ्य, सेनाको जीविका-निर्वाहके लिये धन देनेका अधिकारी (सेना-नायक), कर्मचारियोंको काम पूरा होनेपर वेतन देनेके लिये राजासे धन लेनेवाला, नगराध्यक्ष, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक), दुष्टोंको दण्ड देनेका अधिकारी तथा जल, पर्वत, वन एवं दुर्गम भूमिकी रक्षा करनेवाला—इनपर राजाको दृष्टि रखनी चाहिये।

२. उपर्युक्त अठारह तीर्थोंमेंसे आदिके तीनको छोड़कर शेष पंद्रह तीर्थ अपने पक्षके भी सदा परीक्षणीय हैं।

प्रासादैर्विविधाकारैर्वृतां वैद्यजनाकुलाम्।
कच्चित् समुदितां स्फीतामयोध्यां परिरक्षसे ॥ ४२ ॥

'तात! अयोध्या हमारे वीर पूर्वजोंकी निवासभूमि है; उसका जैसा नाम है, वैसा ही गुण है। उसके दरवाजे सब ओरसे सुदृढ़ हैं। वह हाथी, घोड़े और रथोंसे परिपूर्ण है। अपने-अपने कर्मोंमें लगे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सहस्रोंकी संख्यामें वहाँ सदा निवास करते हैं। वे सब-के-सब महान् उत्साही, जितेन्द्रिय और श्रेष्ठ हैं। नाना प्रकारके राजभवन और मन्दिर उसकी शोभा बढ़ाते हैं। वह नगरी बहुसंख्यक विद्वानोंसे भरी है। ऐसी अभ्युदयशील और समृद्धिशालिनी नगरी अयोध्याकी तुम भलीभाँति रक्षा तो करते हो न?॥

कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च तडागैश्चोपशोभितः ॥ ४३ ॥
प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः।
सुकृष्टसीमापशुमान् हिंसाभिरभिवर्जितः ॥ ४४ ॥
अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः।
परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः ॥ ४५ ॥
विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः।
कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥ ४६ ॥

'रघुनन्दन भरत! जहाँ नाना प्रकारके अश्वमेध आदि महायज्ञोंके बहुत-से चयन-प्रदेश (अनुष्ठानस्थल) शोभा पाते हैं, जिसमें प्रतिष्ठित मनुष्य अधिक संख्यामें निवास करते हैं, अनेकानेक देवस्थान, पौंसले और तालाब जिसकी शोभा बढ़ाते हैं, जहाँके स्त्री-पुरुष सदा प्रसन्न रहते हैं, जो सामाजिक उत्सवोंके कारण सदा शोभासम्पन्न दिखायी देता है, जहाँ खेत जोतनेमें समर्थ पशुओंकी अधिकता है, जहाँ किसी प्रकारकी हिंसा नहीं होती, जहाँ खेतीके लिये वर्षाके जलपर निर्भर नहीं रहना पड़ता (नदियोंके जलसे ही सिंचाई हो जाती है), जो बहुत ही सुन्दर और हिंसक पशुओंसे रहित है, जहाँ किसी तरहका भय नहीं है, नाना प्रकारकी खानें जिसकी शोभा बढ़ाती हैं, जहाँ पापी मनुष्योंका सर्वथा अभाव है तथा हमारे पूर्वजोंने जिसकी भलीभाँति रक्षा की है, वह अपना कोसल देश धन-धान्यसे सम्पन्न और सुखपूर्वक बसा हुआ है न?॥

कच्चित् ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ४७ ॥

'तात! कृषि और गोरक्षासे आजीविका चलानेवाले सभी वैश्य तुम्हारे प्रीतिपात्र हैं न? क्योंकि कृषि और व्यापार आदिमें संलग्न रहनेपर ही यह लोक सुखी एवं उन्नतिशील होता है ॥ ४७ ॥

तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित् ते भरणं कृतम्।
रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥ ४८ ॥

'उन वैश्योंको इष्टकी प्राप्ति कराकर और उनके अनिष्टका निवारण करके तुम उन सब लोगोंका भरण-पोषण तो करते हो न? क्योंकि राजाको अपने राज्यमें निवास करनेवाले सब लोगोंका धर्मानुसार पालन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

कच्चित् स्त्रियः सान्त्वयसे कच्चित् तास्ते सुरक्षिताः।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे ॥ ४९ ॥

'क्या तुम अपनी स्त्रियोंको संतुष्ट रखते हो? क्या वे तुम्हारे द्वारा भलीभाँति सुरक्षित रहती हैं? तुम उनपर अधिक विश्वास तो नहीं करते? उन्हें अपनी गुप्त बात तो नहीं कह देते?॥

कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित् ते सन्ति धेनुकाः।
कच्चिन्न गणिकाश्वानां कुञ्जराणां च तृप्यसि ॥ ५० ॥

'जहाँ हाथी उत्पन्न होते हैं, वे जंगल तुम्हारे द्वारा सुरक्षित हैं न? तुम्हारे पास दूध देनेवाली गौएँ तो अधिक संख्यामें हैं न? (अथवा हाथियोंको फँसानेवाली हथिनियोंकी तो तुम्हारे पास कमी नहीं है?) तुम्हें हथिनियों, घोड़ों और हाथियोंके संग्रहसे कभी तृप्ति तो नहीं होती? ॥ ५० ॥

कच्चिद् दर्शयसे नित्यं मानुषाणां विभूषितम्।
उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे ॥ ५१ ॥

'राजकुमार! क्या तुम प्रतिदिन पूर्वाह्णकालमें वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो प्रधान सड़कपर जा-जाकर नगरवासी मनुष्योंको दर्शन देते हो? ॥ ५१ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥ ५२ ॥

'काम-काजमें लगे हुए सभी मनुष्य निडर होकर तुम्हारे सामने तो नहीं आते? अथवा वे सब सदा तुमसे दूर तो नहीं रहते? क्योंकि कर्मचारियोंके विषयमें मध्यम स्थितिका अवलम्बन करना ही अर्थसिद्धिका कारण होता है ॥ ५२ ॥

कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः।
यन्त्रैश्च प्रतिपूर्णानि तथा शिल्पधनुर्धरैः ॥ ५३ ॥

'क्या तुम्हारे सभी दुर्ग (किले) धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यन्त्र (मशीन), शिल्पी तथा धनुर्धर सैनिकोंसे भरे-पूरे रहते हैं? ॥ ५३ ॥

आयस्ते विपुलः कच्चित् कच्चिदल्पतरो व्ययः।
अपात्रेषु न ते कच्चित् कोषो गच्छति राघव ॥ ५४ ॥

'रघुनन्दन! क्या तुम्हारी आय अधिक और व्यय बहुत कम है? तुम्हारे खजानेका धन अपात्रोंके हाथमें तो नहीं चला जाता? ॥ ५४ ॥

देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च।
योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चित् गच्छति ते व्ययः ॥ ५५ ॥

'देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा तथा मित्रोंके लिये ही तो तुम्हारा धन खर्च होता है न ? ॥ ५५ ॥

कच्चिदार्योऽपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा ।
अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद् बध्यते शुचिः ॥ ५६ ॥

'कभी ऐसा तो नहीं होता कि कोई मनुष्य किसी श्रेष्ठ निर्दोष और शुद्धात्मा पुरुषपर भी दोष लगा दे तथा शास्त्रज्ञानमें कुशल विद्वानोंद्वारा उसके विषयमें विचार कराये बिना ही लोभवश उसे आर्थिक दण्ड दे दिया जाता हो ? ॥ ५६ ॥

गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥ ५७ ॥

'नरश्रेष्ठ ! जो चोरीमें पकड़ा गया हो, जिसे किसीने चोरी करते समय देखा हो, पूछ-ताछसे भी जिसके चोर होनेका प्रमाण मिल गया हो तथा जिसके विरुद्ध (चोरीका माल बरामद होना आदि) और भी बहुत-से कारण (सबूत) हों ऐसे चोरको भी तुम्हारे राज्यमें धनके लालचसे छोड़ तो नहीं दिया जाता है ? ॥ ५७ ॥

व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्बलस्य च राघव ।
अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ॥ ५८ ॥

'रघुकुलभूषण ! यदि धनी और गरीबमें कोई विवाद छिड़ा हो और वह राज्यके न्यायालयमें निर्णयके लिये आया हो तो तुम्हारे बहुज्ञ मन्त्री धन आदिके लोभको छोड़कर उस मामलेपर विचार करते हैं न ? ॥ ५८ ॥

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव ।
तानि पुत्रपशून् घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥ ५९ ॥

'रघुनन्दन ! निरपराध होनेपर भी जिन्हें मिथ्या दोष लगाकर दण्ड दिया जाता है, उन मनुष्योंकी आँखोंसे जो आँसू गिरते हैं, वे पक्षपातपूर्ण शासन करनेवाले राजाके पुत्र और पशुओंका नाश कर डालते हैं ॥ ५९ ॥

कच्चिद् वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यान् मुख्यांश्च राघव ।
दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुभूषसे ॥ ६० ॥

'राघव ! क्या तुम वृद्ध पुरुषों, बालकों और प्रधान-प्रधान वैद्योंका आन्तरिक अनुराग, मधुर वचन और धन-दान—इन तीनोंके द्वारा सम्मान करते हो ? ॥ ६० ॥

कच्चिद् गुरूंश्च वृद्धांश्च तापसान् देवतातिथीन् ।
चैत्यांश्च सर्वान् सिद्धार्थान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ।६१।

'गुरुजनों, वृद्धों, तपस्वियों, देवताओं, अतिथियों, चैत्य वृक्षों और समस्त पूर्णकाम ब्राह्मणोंको नमस्कार करते हो न ? ॥ ६१ ॥

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥ ६२ ॥

'तुम अर्थके द्वारा धर्मको अथवा धर्मके द्वारा अर्थको हानि तो नहीं पहुँचाते ? अथवा आसक्ति और लोभरूप कामके द्वारा धर्म और अर्थ दोनोंमें बाधा तो नहीं आने देते ? ॥ ६२ ॥

कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् वरद सेवसे ॥ ६३ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ, समयोचित कर्तव्यके ज्ञाता तथा दूसरोंको वर देनेमें समर्थ भरत ! क्या तुम समयका विभाग करके धर्म, अर्थ और कामका योग्य समयमें सेवन करते हो ? ॥ ६३ ॥

कच्चित् ते ब्राह्मणाः शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ।
आशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥ ६४ ॥

'महाप्राज्ञ ! सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाले ब्राह्मण पुरवासी और जनपदवासी मनुष्योंके साथ तुम्हारे कल्याणकी कामना करते हैं न ? ॥ ६४ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥ ६५ ॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम् ।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥ ६६ ॥
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ।
कच्चित् त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश ॥ ६७ ॥

'नास्तिकता, असत्य-भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानी पुरुषोंका संग न करना, आलस्य, नेत्र आदि पाँचों इन्द्रियोंके वशीभूत होना, राजकार्योंके विषयमें अकेले ही विचार करना, प्रयोजनको न समझनेवाले विपरीतदर्शी मूर्खोंसे सलाह लेना, निश्चित किये हुए कार्योंका शीघ्र प्रारम्भ न करना, गुप्त मन्त्रणाको सुरक्षित न रखकर प्रकट कर देना, माङ्गलिक आदि कार्योंका अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओंपर एक ही साथ चढ़ाई कर देना—ये राजाके चौदह दोष हैं । तुम इन दोषोंका सदा परित्याग करते हो न ? ॥ ६५–६७ ॥

दशपञ्चचतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः ।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव ॥ ६८ ॥
इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा षाड्गुण्यं दैवमानुषम् ।
कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥ ६९ ॥
यात्रादण्डविधानं च द्वियोनी संधिविग्रहौ ।
कच्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥ ७० ॥

'महाप्राज्ञ भरत! दशवर्ग[1], पञ्चवर्ग[2], चतुर्वर्ग[3], सप्तवर्ग[4], अष्टवर्ग[5], त्रिवर्ग[6], तीन विद्याएँ[7], बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंको जीतना, छः गुण[8], दैवी[9] और मानुषी बाधाएँ, राजाके नीतिपूर्ण कार्य[10], विंशतिवर्ग[11], प्रकृतिमण्डल[12], यात्रा (शत्रु-पर आक्रमण), दण्डविधान (व्यूहरचना) तथा दो-दो गुणोंकी[13] योनिभूत संधि और विग्रह—इन सबकी ओर तुम यथार्थ रूपसे ध्यान देते हो न? इनमेंसे त्यागनेयोग्य दोषोंको त्यागकर ग्रहण करनेयोग्य गुणोंको ग्रहण करते हो न? ॥ ६८-७० ॥

मन्त्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टं चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ।
कच्चित् समस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे बुध ॥ ७१ ॥

'विद्वन्! क्या तुम नीतिशास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चार या तीन मन्त्रियोंके साथ—सबको एकत्र करके अथवा सबसे अलग-अलग मिलकर सलाह करते हो? ॥ ७१ ॥

कच्चित् ते सफला वेदाः कच्चित् ते सफलाः क्रियाः ।
कच्चित् ते सफला दाराः कच्चित् ते सफलं श्रुतम् ॥ ७२ ॥

'क्या तुम वेदोंकी आज्ञाके अनुसार काम करके उन्हें सफल करते हो? क्या तुम्हारी क्रियाएँ सफल (उद्देश्यकी सिद्धि करनेवाली) हैं? क्या तुम्हारी स्त्रियाँ भी सफल (संतानवती) हैं? और क्या तुम्हारा शास्त्रज्ञान भी विनय आदि गुणोंका उत्पादक होकर सफल हुआ है? ॥ ७२ ॥

---

१. कामसे उत्पन्न होनेवाले दस दोषोंको दशवर्ग कहते हैं। ये राजाके लिये त्याज्य हैं। मनुजीने उनके नाम इस प्रकार गिनाये हैं—आखेट, जुआ, दिनमें सोना, दूसरोंकी निन्दा करना, स्त्रीमें आसक्त होना, मद्यपान, नाचना, गाना, बाजा बजाना और व्यर्थ घूमना। २. जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग, वृक्षदुर्ग, ईरिणदुर्ग और धन्वदुर्ग—ये पाँच प्रकारके दुर्ग पञ्चवर्ग कहलाते हैं। इनमें आरम्भके तीन तो प्रसिद्ध ही हैं। जहाँ किसी प्रकारकी खेती नहीं होती, ऐसे प्रदेशको ईरिण कहते हैं। बालूसे भरी मरुभूमिको धन्व कहते हैं। गर्मीके दिनोंमें वह शत्रुओंके लिये दुर्गम होती है। इन सब दुर्गोंका यथासमय उपयोग करके राजाको आत्मरक्षा करनी चाहिये। ३. साम, दान, भेद और दण्ड—इन चार प्रकारकी नीतिको चतुर्वर्ग कहते हैं। ४. राजा, मन्त्री, राष्ट्र, किला, खजाना, सेना और मित्रवर्ग—ये परस्पर उपकार करनेवाले राज्यके सात अङ्ग हैं। इन्हींको सप्तवर्ग कहा गया है। ५. चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोषदर्शन, अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता और दण्डकी कठोरता—ये क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले आठ दोष अष्टवर्ग माने गये हैं। किसी-किसीके मतमें खेतीकी उन्नति करना, व्यापारको बढ़ाना, दुर्ग बनवाना, पुल निर्माण कराना, जंगलसे हाथी पकड़कर मँगवाना, खानोंपर अधिकार प्राप्त करना, अधीन राजाओंसे कर लेना और निर्जन प्रदेशको आबाद करना—ये राजाके लिये उपादेय आठ गुण ही अष्टवर्ग हैं। ६. धर्म, अर्थ और कामको अथवा उत्साह-शक्ति, प्रभुशक्ति तथा मन्त्रशक्तिको त्रिवर्ग कहते हैं। ७. त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—ये तीन विद्याएँ हैं। इनमें तीनों वेदोंको त्रयी कहते हैं। कृषि और गोरक्षा आदि वार्ताके अन्तर्गत हैं तथा नीतिशास्त्रका नाम दण्डनीति है। ८. संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—ये छः गुण हैं। इनमें शत्रुसे मेल रखना संधि, उससे लड़ाई छेड़ना विग्रह, आक्रमण करना यान, अवसरकी प्रतीक्षामें बैठे रहना आसन, दुरंगी नीति बर्तना द्वैधीभाव और अपनेसे बलवान् राजाकी शरण लेना समाश्रय कहलाता है। ९. आग लगना, बाढ़ आना, बीमारी फैलना, अकाल पड़ना और महामारीका प्रकोप होना—ये पाँच दैवी बाधाएँ हैं। राज्यके अधिकारियों, चोरों, शत्रुओं और राजाके प्रिय व्यक्तियोंसे तथा स्वयं राजाके लोभसे जो भय प्राप्त होता है, उसे मानवी बाधा कहते हैं।

१०. शत्रु राजाओंके सेवकोंमेंसे जिनको वेतन न मिला हो, जो अपमानित किये गये हों, जो अपने मालिकके किसी बर्तावसे कुपित हों तथा जिन्हें भय दिखाकर डराया गया हो, ऐसे लोगोंको मनचाही वस्तु देकर फोड़ लेना राजाका कृत्य (नीतिपूर्ण कार्य) माना गया है। ११. बालक, वृद्ध, दीर्घकालका रोगी, जातिच्युत, डरपोक, भीरु मनुष्योंको साथ रखनेवाला, लोभी-लालची लोगोंको आश्रय देनेवाला, मन्त्री, सेनापति आदि प्रकृतियोंको असंतुष्ट रखनेवाला, विषयोंमें आसक्त, चञ्चलचित्त मनुष्योंसे सलाह लेनेवाला, देवता और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला, दैवका मारा हुआ, भाग्यके भरोसे पुरुषार्थ न करनेवाला, दुर्भिक्षसे पीड़ित, सैनिक-कष्टसे युक्त (सेनारहित), स्वदेशमें न रहनेवाला, अधिक शत्रुओंवाला, अकाल (क्रूर ग्रहदशा आदिसे युक्त) और सत्यधर्मसे रहित—ये बीस प्रकारके राजा संधिके योग्य नहीं माने गये हैं। इन्हींको विंशतिवर्गके नामसे कहा गया है। १२. राज्यके स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना—राज्यके इन सात अङ्गोंको ही प्रकृतिमण्डल कहते हैं। किसी-किसीके मतमें मन्त्री, राष्ट्र, किला, खजाना और दण्ड—ये पाँच प्रकृतियाँ अलग हैं और बारह राजाओंके समूहको मण्डल कहा है। १३. द्वैधीभाव और समाश्रय—ये इनकी योनिसंधि हैं और यान तथा आसन इनकी योनिविग्रह है, अर्थात् प्रथम दो संधिमूलक और अन्तिम दो विग्रहमूलक हैं।

कच्चिदेषैव ते बुद्धिर्यथोक्ता मम राघव ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता ॥ ७३ ॥

'रघुनन्दन ! मैंने जो कुछ कहा है, तुम्हारी बुद्धिका भी ऐसा ही निश्चय है न ? क्योंकि यह विचार आयु और यशको बढ़ानेवाला तथा धर्म, काम और अर्थकी सिद्धि करनेवाला है ॥ ७३ ॥

यां वृत्तिं वर्तते तातो यां च नः प्रपितामहः ।
तां वृत्तिं वर्तसे कच्चिद् या च सत्पथगा शुभा ॥ ७४ ॥

'हमारे पिताजी जिस वृत्तिका आश्रय लेते हैं, हमारे प्रपितामहोंने जिस आचरणका पालन किया है, सत्पुरुष भी जिसका सेवन करते हैं और जो कल्याणका मूल है, उसीका तुम पालन करते हो न ? ॥ ७४ ॥

कच्चित् स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव ।
कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि ॥ ७५ ॥

'रघुनन्दन ! तुम स्वादिष्ट अन्न अकेले ही तो नहीं खा जाते ? उसकी आशा रखनेवाले मित्रोंको भी देते हो न ? ॥ ७५ ॥

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा
महीपतिर्दण्डधरः प्रजानाम् ।
अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथाव-
दितश्च्युतः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ ७६ ॥

'इस प्रकार धर्मके अनुसार दण्ड धारण करनेवाला विद्वान् राजा प्रजाओंका पालन करके समूची पृथ्वीको यथावत्रूपसे अपने अधिकारमें कर लेता है तथा देहत्याग करनेके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है' ॥ ७६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सौवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०० ॥

एकाधिकशततमः सर्गः

श्रीरामका भरतसे वनमें आगमनका प्रयोजन पूछना, भरतका उनसे राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना और श्रीरामका उसे अस्वीकार कर देना

तं तु रामः समाश्वास्य भ्रातरं गुरुवत्सलम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीने अपने गुरुभक्त भाई भरतको अच्छी तरह समझाकर अथवा उन्हें अपनेमें अनुरक्त जानकर उनसे इस प्रकार पूछना आरम्भ किया— ॥ १ ॥

किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं त्वया ।
यस्मात् त्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी ॥ २ ॥
यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः ।
हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत् सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

'भाई ! तुम राज्य छोड़कर वल्कल, कृष्णमृगचर्म और जटा धारण करके जो इस देशमें आये हो, इसका क्या कारण है ? जिस निमित्तसे इस वनमें तुम्हारा प्रवेश हुआ है, यह मैं तुम्हारे मुँहसे सुनना चाहता हूँ। तुम्हें सब कुछ साफ-साफ बताना चाहिये' ॥ २-३ ॥

इत्युक्तः कैकयीपुत्रः काकुत्स्थेन महात्मना ।
प्रगृह्य बलवद् भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

ककुत्स्थवंशी महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर भरतने बलपूर्वक आन्तरिक शोकको दबा पुनः हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा— ॥ ४ ॥

आर्य तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
गतः स्वर्गं महाबाहुः पुत्रशोकाभिपीडितः ॥ ५ ॥

'आर्य ! हमारे महाबाहु पिता अत्यन्त दुष्कर कर्म करके पुत्रशोकसे पीड़ित हो हमें छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ५ ॥

स्त्रिया नियुक्तः कैकेय्या मम मात्रा परंतप ।
चकार सा महत्पापमिदमात्मयशोहरम् ॥ ६ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनन्दन ! अपनी स्त्री एवं मेरी माता कैकेयीकी प्रेरणासे ही विवश हो पिताजीने ऐसा कठोर कार्य किया था। मेरी माँने अपने सुयशको नष्ट करनेवाला यह बड़ा भारी पाप किया है ॥ ६ ॥

सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्शिता ।
पतिष्यति महाघोरे नरके जननी मम ॥ ७ ॥

'अतः वह राज्यरूपी फल न पाकर विधवा हो गयी। अब मेरी माता शोकसे दुर्बल हो महाघोर नरकमें पड़ेगी ॥ ७ ॥

तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
अभिषिञ्चस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिव ॥ ८ ॥

'अब आप अपने दासस्वरूप मुझ भरतपर कृपा कीजिये और इन्द्रकी भाँति आज ही राज्य ग्रहण करनेके लिये अपना अभिषेक कराइये ॥ ८ ॥

इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मातरश्च याः ।
त्वत्सकाशमनुप्राप्ताः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

'ये सारी प्रकृतियाँ (प्रजा आदि) और सभी विधवा माताएँ आपके पास आयी हैं। आप इन सबपर कृपा करें ॥ ९ ॥

तथानुपूर्व्या युक्तश्च युक्तं चात्मनि मानद।
राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु॥ १०॥

'दूसरोंको मान देनेवाले रघुवीर! आप ज्येष्ठ होनेके नाते राज्य-प्राप्तिके क्रमिक अधिकारसे युक्त हैं, न्यायतः आपको ही राज्य मिलना उचित है; अतः आप धर्मानुसार राज्य ग्रहण करें और अपने सुहृदोंको सफल-मनोरथ बनावें॥ १०॥

भवत्वविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया।
शशिना विमलेनेव शारदी रजनी यथा॥ ११॥

'आप-जैसे पतिसे युक्त हो यह सारी वसुधा वैधव्यरहित हो जाय और निर्मल चन्द्रमासे सनाथ हुई शरत्कालकी रात्रिके समान शोभा पाने लगे॥ ११॥

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ १२॥

'मैं इन समस्त सचिवोंके साथ आपके चरणोंमें मस्तक रखकर यह याचना करता हूँ कि आप राज्य ग्रहण करें। मैं आपका भाई, शिष्य और दास हूँ। आप मुझपर कृपा करें॥ १२॥

तदिदं शाश्वतं पित्र्यं सर्वं सचिवमण्डलम्।
पूजितं पुरुषव्याघ्र नातिक्रमितुमर्हसि॥ १३॥

'पुरुषसिंह! यह सारा मन्त्रिमण्डल अपने यहाँ कुलपरम्परासे चला आ रहा है। ये सभी सचिव पिताजीके समयमें भी थे। हम सदासे इनका सम्मान करते आये हैं; अतः आप इनकी प्रार्थना न ठुकरायें'॥ १३॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः सबाष्पः कैकयीसुतः।
रामस्य शिरसा पादौ जग्राह भरतः पुनः॥ १४॥

ऐसा कहकर कैकेयीपुत्र महाबाहु भरतने नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए पुनः श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंसे माथा टेक दिया॥ १४॥

तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।
भ्रातरं भरतं रामः परिष्वज्येदमब्रवीत्॥ १५॥

उस समय वे मतवाले हाथीके समान बारंबार लंबी साँस खींचने लगे, तब श्रीरामने भाई भरतको उठाकर हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—॥ १५॥

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः।
राज्यहेतोः कथं पापमाचरेन्मद्विधो जनः॥ १६॥

'भाई! तुम्हीं बताओ। उत्तम कुलमें उत्पन्न, सत्त्वगुणसम्पन्न, तेजस्वी और श्रेष्ठ व्रतोंका पालन करनेवाला मेरे-जैसा मनुष्य राज्यके लिये पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घनरूप पाप कैसे कर सकता है?॥ १६॥

न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन।
न चापि जननीं बाल्यात् त्वं विगर्हितुमर्हसि॥ १७॥

'शत्रुसूदन! मैं तुम्हारे अंदर थोड़ा-सा भी दोष नहीं देखता। अज्ञानवश तुम्हें अपनी माताकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये॥ १७॥

कामकारो महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदानघ।
उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते॥ १८॥

'निष्पाप महाप्राज्ञ! गुरुजनोंका अपनी अभीष्ट स्त्रियों और प्रिय पुत्रोंपर सदा पूर्ण अधिकार होता है। वे उन्हें चाहे जैसी आज्ञा दे सकते हैं॥ १८॥

वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः।
भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमपि ज्ञातुमर्हसि॥ १९॥

'सौम्य! माताओंसहित हम भी इस लोकमें श्रेष्ठ पुरुषों-द्वारा महाराजके स्त्री-पुत्र और शिष्य कहे गये हैं, अतः हमें भी उनको सब तरहकी आज्ञा देनेका अधिकार था। इस बातको तुम भी समझने योग्य हो॥ १९॥

वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम्।
राज्ये वापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः॥ २०॥

'सौम्य! महाराज मुझे वल्कल वस्त्र और मृगचर्म धारण कराकर वनमें ठहरावें अथवा राज्यपर बिठावें—इन दोनों बातोंके लिये वे सर्वथा समर्थ थे॥ २०॥

यावत् पितरि धर्मज्ञ गौरवं लोकसत्कृते।
तावद् धर्मकृतां श्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम्॥ २१॥

'धर्मज्ञ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरत! मनुष्यकी विश्व-वन्द्य पितामें जितनी गौरव-बुद्धि होती है, उतनी ही मातामें भी होनी चाहिये॥ २१॥

एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव।
मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत् समाचरे॥ २२॥

'रघुनन्दन! इन धर्मशील माता और पिता दोनोंने जब मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दे दी है, तब मैं उनकी आज्ञाके विपरीत दूसरा कोई बर्ताव कैसे कर सकता हूँ?॥ २२॥

त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम्।
वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा॥ २३॥

'तुम्हें अयोध्यामें रहकर समस्त जगत्‌के लिये आदरणीय राज्य प्राप्त करना चाहिये और मुझे वल्कल वस्त्र धारण करके दण्डकारण्यमें रहना चाहिये॥

एवमुक्त्वा महाराजो विभागं लोकसंनिधौ।
व्यादिश्य च महाराजो दिवं दशरथो गतः॥ २४॥

'क्योंकि महाराज दशरथ बहुत लोगोंके सामने हम दोनोंके लिये इस प्रकार पृथक्-पृथक् दो आज्ञाएँ देकर स्वर्गको सिधारे हैं॥ २४॥

स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव।
पित्रा दत्तं यथाभागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि॥ २५॥

'इस विषयमें लोकगुरु धर्मात्मा राजा ही तुम्हारे लिये प्रमाणभूत हैं—उन्हींकी आज्ञा तुम्हें माननी चाहिये और पिताने तुम्हारे हिस्सेमें जो कुछ दिया है, उसीका तुम्हें यथावत् रूपसे उपभोग करना चाहिये ॥ २५ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः ।
उपभोक्ष्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना ॥ २६ ॥

'सौम्य ! चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें रहनेके बाद ही महात्मा पिताके दिये हुए राज्य-भागका मैं उपभोग करूँगा ॥ २६ ॥

यदब्रवीन्मां नरलोकसत्कृतः
पिता महात्मा विबुधाधिपोपमः ।
तदेव मन्ये परमात्मनो हितं
न सर्वलोकेश्वरभावमव्ययम् ॥ २७ ॥

'मनुष्यलोकमें सम्मानित और देवराज इन्द्रके तुल्य तेजस्वी मेरे महात्मा पिताने मुझे जो वनवासकी आज्ञा दी है, उसीको मैं अपने लिये परम हितकारी समझता हूँ । उनकी आज्ञाके विरुद्ध सर्वलोकेश्वर ब्रह्माका अविनाशी पद भी मेरे लिये श्रेयस्कर नहीं है' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ एकवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०१ ॥*



द्व्यधिकशततमः सर्गः

भरतका पुनः श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेका अनुरोध करके उनसे पिताकी मृत्युका समाचार बताना

रामस्य वचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ह ।
किं मे धर्माद् विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी बात सुनकर भरतने इस प्रकार उत्तर दिया—'भैया ! मैं राज्यका अधिकारी न होनेके कारण उस राजधर्मके अधिकारसे रहित हूँ, अतः मेरे लिये यह राजधर्मका उपदेश किस काम आयगा ? ॥ १ ॥

शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ ।
ज्येष्ठे पुत्रे स्थिते राजा न कनीयान् भवेन्नृपः ॥ २ ॥

'नरश्रेष्ठ ! हमारे यहाँ सदासे ही इस शाश्वत धर्मका पालन होता आया है कि ज्येष्ठ पुत्रके रहते हुए छोटा पुत्र राजा नहीं हो सकता ॥ २ ॥

स समृद्धां मया सार्धमयोध्यां गच्छ राघव ।
अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय नः ॥ ३ ॥

'अतः रघुनन्दन ! आप मेरे साथ समृद्धिशालिनी अयोध्यापुरीको चलिये और हमारे कुलके अभ्युदयके लिये राजाके पदपर अपना अभिषेक कराइये ॥ ३ ॥

राजानं मानुषं प्राहुर्देवत्वे सम्मतो मम ।
यस्य धर्मार्थसहितं वृत्तमाहुरमानुषम् ॥ ४ ॥

'यद्यपि सब लोग राजाको मनुष्य कहते हैं, तथापि मेरी रायमें वह देवत्वपर प्रतिष्ठित है; क्योंकि उसके धर्म और अर्थयुक्त आचारको साधारण मनुष्यके लिये असम्भावित बताया गया है ॥ ४ ॥

केकयस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते ।
धीमान् स्वर्गं गतो राजा यायजूकः सतां मतः ॥ ५ ॥

'जब मैं केकयदेशमें था और आप वनमें चले आये थे, तब अश्वमेध आदि यज्ञोंके कर्ता और सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित बुद्धिमान् महाराज दशरथ स्वर्गलोकको चले गये ॥ ५ ॥

निष्क्रान्तमात्रे भवति सहसीते सलक्ष्मणे ।
दुःखशोकाभिभूतस्तु राजा त्रिदिवमभ्यगात् ॥ ६ ॥

'सीता और लक्ष्मणके साथ आपके राज्यसे निकलते ही दुःख-शोकसे पीड़ित हुए महाराज स्वर्गलोकको चल दिये ॥ ६ ॥

उत्तिष्ठ पुरुषव्याघ्र क्रियतामुदकं पितुः ।
अहं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकौ ॥ ७ ॥

'पुरुषसिंह ! उठिये और पिताको जलाञ्जलि दान कीजिये । मैं और यह शत्रुघ्न—दोनों पहले ही उनके लिये जलाञ्जलि दे चुके हैं ॥ ७ ॥

प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव ।
अक्षयं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ॥ ८ ॥

'रघुनन्दन ! कहते हैं, प्रिय पुत्रका दिया हुआ जल आदि पितृलोकमें अक्षय होता है और आप पिताके परम प्रिय पुत्र हैं ॥ ८ ॥

* कुछ प्रतियोंमें यह सर्ग १०४ वें सर्गके रूपमें वर्णित है । १०० वें सर्गके बादके तीन सर्गोंके बाद इसका उल्लेख हुआ है ।

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सु-
स्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम् ।
त्वया विहीनस्तव शोकरुग्ण-
स्त्वां संस्मरन्नेव गतः पिता ते ॥ ९ ॥

'आपके पिता आपसे बिलग होते ही शोकके कारण रुग्ण हो गये और आपके ही शोकमें मग्न हो, आपको ही देखनेकी इच्छा रखकर, आपमें ही लगी हुई बुद्धिको आपकी ओरसे न हटाकर, आपका ही स्मरण करते हुए स्वर्गको चले गये' ॥ ९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्व्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ दोवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम आदिका विलाप, पिताके लिये जलाञ्जलि-दान, पिण्डदान और रोदन

तां श्रुत्वा करुणां वाचं पितुर्मरणसंहिताम् ।
राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः ॥ १ ॥

भरतकी कही हुई पिताकी मृत्युसे सम्बन्ध रखनेवाली करुणाजनक बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी दुःखके कारण अचेत हो गये ॥ १ ॥

तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा ।
वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परंतपः ॥ २ ॥
प्रगृह्य रामो बाहू वै पुष्पिताङ्ग इव द्रुमः ।
वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह ॥ ३ ॥

भरतके मुखसे निकला हुआ वह वचन वज्र-सा लगा, मानो दानवशत्रु इन्द्रने युद्धस्थलमें वज्रका प्रहार-सा कर दिया हो । मनको प्रिय न लगनेवाले उस वाग्-वज्रको सुनकर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम दोनों भुजाओंको ऊपर उठाकर जिसकी डालियाँ खिली हुई हों, वनमें कुल्हाड़ीसे कटे हुए उस वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े (भरतके दर्शनसे श्रीरामको हर्ष हुआ था, पिताकी मृत्युके संवादसे दुःख; अतः उन्हें खिले और कटे हुए पेड़की उपमा दी गयी है)॥

तथा हि पतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम् ।
कूलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥ ४ ॥
भ्रातरस्ते महेष्वासं सर्वतः शोककर्शितम् ।
रुदन्तः सह वैदेह्या सिषिचुः सलिलेन वै ॥ ५ ॥

पृथ्वीपति श्रीराम इस प्रकार पृथ्वीपर गिरकर नदीके तटको दाँतोंसे विदीर्ण करनेके परिश्रमसे थककर सोये हुए हाथीके समान प्रतीत होते थे । शोकके कारण दुर्बल हुए उन महाधनुर्धर श्रीरामको सब ओरसे घेरकर सीतासहित रोते हुए वे तीनों भाई आँसुओंके जलसे भिगोने लगे ॥ ४-५ ॥

स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राभ्यामश्रुमुत्सृजन् ।
उपाक्रामत काकुत्स्थः कृपणं बहु भाषितुम् ॥ ६ ॥

थोड़ी देर बाद पुनः होशमें आनेपर नेत्रोंसे अश्रुवर्षा करते हुए ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने अत्यन्त दीन वाणीमें विलाप आरम्भ किया ॥ ६ ॥

स रामः स्वर्गतं श्रुत्वा पितरं पृथिवीपतिम् ।
उवाच भरतं वाक्यं धर्मात्मा धर्मसंहितम् ॥ ७ ॥

पृथ्वीपति महाराज दशरथको स्वर्गगामी हुआ सुनकर धर्मात्मा श्रीरामने भरतसे यह धर्मयुक्त बात कही— ॥ ७ ॥

किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते ।
कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति ॥ ८ ॥

'भैया ! जब पिताजी परलोकवासी हो गये, तब अयोध्यामें चलकर अब मैं क्या करूँगा ? उन राजशिरोमणि पितासे हीन हुई उस अयोध्याका अब कौन पालन करेगा ? ॥ ८ ॥

किं नु तस्य मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः ।
यो मृतो मम शोकेन स मया न च संस्कृतः ॥ ९ ॥

'हाय ! जो पिताजी मेरे ही शोकसे मृत्युको प्राप्त हुए, उन्हींका मैं दाहसंस्कारतक न कर सका । मुझ-जैसे व्यर्थ जन्म लेनेवाले पुत्रसे उन महात्मा पिताका कौन-सा कार्य सिद्ध हुआ ? ॥ ९ ॥

अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयानघ ।
शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः ॥ १० ॥

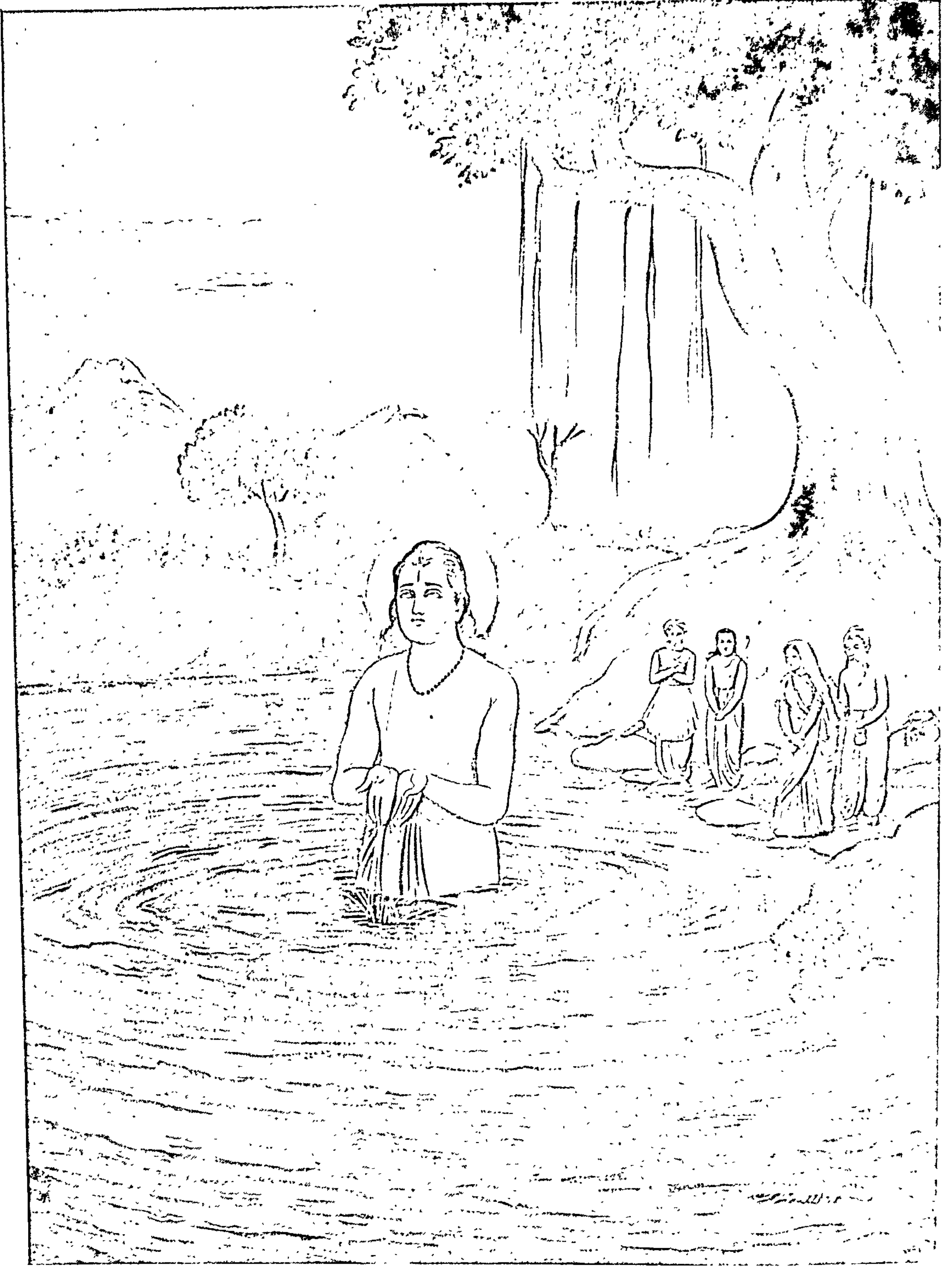
'निष्पाप भरत ! तुम्हीं कृतार्थ हो, तुम्हारा अहोभाग्य है, जिससे तुमने और शत्रुघ्नने सभी प्रेतकार्यों (पारलौकिक कृत्यों) में संस्कार-कर्मके द्वारा महाराजका पूजन किया है ॥

निष्प्रधानामनेकाग्रां नरेन्द्रेण विना कृताम् ।
निवृत्तवनवासोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे ॥ ११ ॥

'महाराज दशरथसे हीन हुई अयोध्या अब प्रधान शासकसे रहित हो अस्वस्थ एवं आकुल हो उठी है; अतः वनवाससे लौटनेपर भी मेरे मनमें अयोध्या जानेका उत्साह नहीं रह गया है ॥ ११ ॥

समाप्तवनवासं मामयोध्यायां परंतप ।
कोऽनुशासिष्यति पुनस्ताते लोकान्तरं गते ॥ १२ ॥

'परंतप भरत ! वनवासकी अवधि समाप्त करके यदि मैं अयोध्यामें जाऊँ तो फिर कौन मुझे कर्तव्यका उपदेश देगा; क्योंकि पिताजी तो परलोकवासी हो गये ॥ १२ ॥



मर्यादा-पुरुषोत्तम पिताको जलाञ्जलि दे रहे हैं

पुरा प्रेक्ष्य सुवृत्तं मां पिता यान्याह सान्त्वयन्।
वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णसुखान्यहम्॥ १३ ॥

'पहले जब मैं उनकी किसी आज्ञाका पालन करता था, तब वे मेरे सद्व्यवहारको देखकर मेरा उत्साह बढ़ानेके लिये जो-जो बातें कहा करते थे, कानोंको सुख पहुँचानेवाली उन बातोंको अब मैं किसके मुखसे सुनूँगा'॥ १३ ॥

एवमुक्त्वाथ भरतं भार्यामभ्येत्य राघवः।
उवाच शोकसंतप्तः पूर्णचन्द्रनिभाननाम्॥ १४ ॥

भरतसे ऐसा कहकर शोकसंतप्त श्रीरामचन्द्रजी पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली अपनी पत्नीके पास आकर बोले—॥ १४ ॥

सीते मृतस्ते श्वशुरः पितृहीनोऽसि लक्ष्मण।
भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतं पृथिवीपतेः॥ १५ ॥

'सीते! तुम्हारे श्वशुर चल बसे। लक्ष्मण! तुम पितृहीन हो गये। भरत पृथ्वीपति महाराज दशरथके स्वर्गवासका दुःखदायी समाचार सुना रहे हैं'॥ १५ ॥

ततो बहुगुणं तेषां बाष्पं नेत्रेष्वजायत।
तथा ब्रुवति काकुत्स्थे कुमाराणां यशस्विनाम्॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर उन सभी यशस्वी कुमारोंके नेत्रोंमें बहुत अधिक आँसू उमड़ आये॥ १६ ॥

ततस्ते भ्रातरः सर्वे भृशमाश्वास्य दुःखितम्।
अब्रुवञ्जगतीभर्तुः क्रियतामुदकं पितुः॥ १७ ॥

तदनन्तर सभी भाइयोंने दुखी हुए श्रीरामचन्द्रजीको सान्त्वना देते हुए कहा—'भैया! अब पृथ्वीपति पिताजीके लिये जलाञ्जलि दान कीजिये'॥ १७ ॥

सा सीता स्वर्गतं श्रुत्वा श्वशुरं तं महानृपम्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां न शशाकेक्षितुं प्रियम्॥ १८ ॥

अपने श्वशुर महाराज दशरथके स्वर्गवासका समाचार सुनकर सीताके नेत्रोंमें आँसू भर आये। वे अपने प्रियतम श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देख न सकीं॥ १८ ॥

सान्त्वयित्वा तु तां रामो रुदतीं जनकात्मजाम्।
उवाच लक्ष्मणं तत्र दुःखितो दुःखितं वचः॥ १९ ॥

तदनन्तर रोती हुई जनककुमारीको सान्त्वना देकर दुःखमग्न श्रीरामने अत्यन्त दुखी हुए लक्ष्मणसे कहा—॥

आनयेङ्गुदिपिण्याकं चीरमाहर चोत्तरम्।
जलक्रियार्थं तातस्य गमिष्यामि महात्मनः॥ २० ॥

'भाई! तुम इङ्गुदीका पिसा हुआ फल और चीर एवं उत्तरीय ले आओ। मैं महात्मा पिताको जलदान देनेके लिये चलूँगा॥ २० ॥

सीता पुरस्ताद् व्रजतु त्वमेनामभितो व्रज।
अहं पश्चाद् गमिष्यामि गतिर्ह्येषा सुदारुणा॥ २१ ॥

'सीता आगे-आगे चलें। इनके पीछे तुम चलो और तुम्हारे पीछे मैं चलूँगा। शोकके समयकी यही परिपाटी है, जो अत्यन्त दारुण होती है'॥ २१ ॥

ततो नित्यानुगस्तेषां विदितात्मा महामतिः।
मृदुर्दान्तश्च कान्तश्च रामे च दृढभक्तिमान्॥ २२ ॥
सुमन्त्रस्तैर्नृपसुतैः सार्धमाश्वास्य राघवम्।
अवतारयदालम्ब्य नदीं मन्दाकिनीं शिवाम्॥ २३ ॥

तत्पश्चात् उनके कुलके परम्परागत सेवक, आत्मज्ञानी, परम बुद्धिमान्, कोमल स्वभाववाले, जितेन्द्रिय, तेजस्वी और श्रीरामके सुदृढ़ भक्त सुमन्त्र समस्त राजकुमारोंके साथ श्रीरामको धैर्य बँधाकर उन्हें हाथका सहारा दे कल्याणमयी मन्दाकिनीके तटपर ले गये॥ २२-२३ ॥

ते सुतीर्थां ततः कृच्छ्रादुपगम्य यशस्विनः।
नदीं मन्दाकिनीं रम्यां सदा पुष्पितकाननाम्॥ २४ ॥
शीघ्रस्रोतसमासाद्य तीर्थं शिवमकर्दमम्।
सिषिचुस्तूदकं राज्ञे तत एतद् भवत्विति॥ २५ ॥

वे यशस्वी राजकुमार सदा पुष्पित काननसे सुशोभित, शीघ्र गतिसे प्रवाहित होनेवाली और उत्तम घाटवाली रमणीय नदी मन्दाकिनीके तटपर कठिनाईसे पहुँचे तथा उसके पङ्क-रहित, कल्याणप्रद, तीर्थभूत जलको लेकर उन्होंने राजाके लिये जल दिया। उस समय वे बोले—'पिताजी! यह जल आपकी सेवामें उपस्थित हो'॥ २४-२५ ॥

प्रगृह्य तु महीपालो जलापूरितमञ्जलिम्।
दिशं याम्यामभिमुखो रुदन् वचनमब्रवीत्॥ २६ ॥
एतत् ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम्।
पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु॥ २७ ॥

पृथ्वीपालक श्रीरामने जलसे भरी हुई अञ्जलि ले दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके रोते हुए इस प्रकार कहा—'मेरे पूज्य पिता राजशिरोमणि महाराज दशरथ! आज मेरा दिया हुआ यह निर्मल जल पितृलोकमें गये हुए आपको अक्षयरूपसे प्राप्त हो'॥

ततो मन्दाकिनीतीरं प्रत्युत्तीर्य स राघवः।
पितुश्चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभिः सह॥ २८ ॥

इसके बाद मन्दाकिनीके जलसे निकलकर किनारेपर आकर तेजस्वी श्रीरघुनाथजीने अपने भाइयोंके साथ मिलकर पिताके लिये पिण्डदान किया॥ २८ ॥

ऐङ्गुदं बदरैर्मिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे।
न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन् वचनमब्रवीत्॥ २९ ॥

उन्होंने इङ्गुदीके गूदेमें बेर मिलाकर उसका पिण्ड तैयार किया और बिछे हुए कुशोंपर उसे रखकर अत्यन्त दुःखसे आर्त हो रोते हुए यह बात कही—॥ २९ ॥

इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम्।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ३० ॥

महाराज ! प्रसन्नतापूर्वक यह भोजन स्वीकार कीजिये; क्योंकि आजकल यही हमलोगोंका आहार है। मनुष्य स्वयं जो अन्न खाता है, वही उसके देवता भी ग्रहण करते हैं' ॥

ततस्तेनैव मार्गेण प्रत्युत्तीर्य सरित्तटात्।
आरुरोह नरव्याघ्रो रम्यसानुं महीधरम् ॥ ३१ ॥
ततः पर्णकुटीद्वारमासाद्य जगतीपतिः।
परिजग्राह पाणिभ्यामुभौ भरतलक्ष्मणौ ॥ ३२ ॥

इसके बाद उसी मार्गसे मन्दाकिनीतटके ऊपर आकर पृथ्वीपालक पुरुषसिंह श्रीराम सुन्दर शिखरवाले चित्रकूट पर्वतपर चढ़े और पर्णकुटीके द्वारपर आकर भरत और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको दोनों हाथोंसे पकड़कर रोने लगे ॥

तेषां तु रुदतां शब्दात् प्रतिशब्दोऽभवद् गिरौ।
भ्रातॄणां सह वैदेह्या सिंहानां नर्दतामिव ॥ ३३ ॥

सीतासहित रोते हुए उन चारों भाइयोंके रुदन-शब्दसे उस पर्वतपर गरजते हुए सिंहोंके दहाड़नेके समान प्रतिध्वनि होने लगी ॥ ३३ ॥

महाबलानां रुदतां कुर्वतामुदकं पितुः।
विज्ञाय तुमुलं शब्दं त्रस्ता भरतसैनिकाः ॥ ३४ ॥
अब्रुवंश्चापि रामेण भरतः संगतो ध्रुवम्।
तेषामेव महाञ्शब्दः शोचतां पितरं मृतम् ॥ ३५ ॥

पिताको जलाञ्जलि देकर रोते हुए उन महाबली भाइयोंके रोदनका तुमुल नाद सुनकर भरतके सैनिक किसी भयकी आशङ्कासे डर गये। फिर उसे पहचानकर वे एक-दूसरेसे बोले—'निश्चय ही भरत श्रीरामचन्द्रजीसे मिले हैं। अपने परलोकवासी पिताके लिये शोक करनेवाले उन चारों भाइयोंके रोनेका ही यह महान् शब्द है' ॥ ३४-३५ ॥

अथ वाहान् परित्यज्य तं सर्वेऽभिमुखाः स्वनम्।
अप्येकमनसो जग्मुर्यथास्थानं प्रधाविताः ॥ ३६ ॥

यों कहकर उन सबने अपनी सवारियोंको तो वहीं छोड़ दिया और जिस स्थानसे वह आवाज आ रही थी, उसी ओर मुँह किये एकचित्त होकर वे दौड़ पड़े ॥ ३६ ॥

हयैरन्ये गजैरन्ये रथैरन्ये स्वलंकृतैः।
सुकुमारास्तथैवान्ये पद्भिरेव नरा ययुः ॥ ३७ ॥

उनसे भिन्न जो सुकुमार मनुष्य थे, उनमेंसे कुछ लोग घोड़ोंसे, कुछ हाथियोंसे और कुछ सजे-सजाये रथोंसे ही आगे बढ़े। कितने ही मनुष्य पैदल ही चल दिये ॥ ३७ ॥

अचिरप्रोषितं रामं चिरविप्रोषितं यथा।
द्रष्टुकामो जनः सर्वो जगाम सहसाश्रमम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्रजीको परदेशमें आये अभी थोड़े ही दिन हुए थे, तथापि लोगोंको ऐसा जान पड़ता था कि मानो वे दीर्घकालसे परदेशमें रह रहे हैं; अतः सब लोग उनके दर्शनकी इच्छासे सहसा आश्रमकी ओर चल दिये ॥ ३८ ॥

भ्रातॄणां त्वरितास्ते तु द्रष्टुकामाः समागमम्।
ययुर्बहुविधैर्यानैः खुरनेमिसमाकुलैः ॥ ३९ ॥

वे लोग चारों भाइयोंका मिलन देखनेकी इच्छासे खुरों एवं पहियोंसे युक्त नाना प्रकारकी सवारियोंद्वारा बड़ी उतावलीके साथ चले ॥ ३९ ॥

सा भूमिर्बहुभिर्यानै रथनेमिसमाहता।
मुमोच तुमुलं शब्दं द्यौरिवाभ्रसमागमे ॥ ४० ॥

अनेक प्रकारकी सवारियों तथा रथकी पहियोंसे आक्रान्त हुई वह भूमि भयंकर शब्द करने लगी; ठीक उसी तरह जैसे मेघोंकी घटा घिर आनेपर आकाशमें गड़गड़ाहट होने लगती है ॥ ४० ॥

तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः।
आवासयन्तो गन्धेन जग्मुरन्यद्वनं ततः ॥ ४१ ॥

उस तुमुलनादसे भयभीत हुए हाथी हथिनियोंसे घिरकर मदकी गन्धसे उस स्थानको सुवासित करते हुए वहाँसे दूसरे वनमें भाग गये ॥ ४१ ॥

वराहवृकसिंहाश्च महिषाः सृमरास्तथा।
व्याघ्रगोकर्णगवया वित्रेसुः पृषतैः सह ॥ ४२ ॥

वराह, भेड़िये, सिंह, भैंसे, सृमर (मृगविशेष), व्याघ्र, गोकर्ण (मृगविशेष) और गवय (नीलगाय), चितकबरे हरिणोंसहित संत्रस्त हो उठे ॥ ४२ ॥

रथाङ्गहंसा नत्यूहाः प्लवाः कारण्डवाः परे।
तथा पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ॥ ४३ ॥

चक्रवाक, हंस, जलकुक्कुट, बक, कारण्डव, नरकोकिल और क्रौञ्च पक्षी होश-हवाश खोकर विभिन्न दिशाओंमें उड़ गये ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तैराकाशं पक्षिभिर्वृतम्।
मनुष्यैरावृता भूमिरुभयं प्रबभौ तदा ॥ ४४ ॥

उस शब्दसे डरे हुए पक्षी आकाशमें छा गये और नीचेकी भूमि मनुष्योंसे भर गयी। इस प्रकार उन दोनोंकी समानरूपसे शोभा होने लगी ॥ ४४ ॥

ततस्तं पुरुषव्याघ्रं यशस्विनमकल्मषम्।
आसीनं स्थण्डिले रामं ददर्श सहसा जनः ॥ ४५ ॥

लोगोंने सहसा पहुँचकर देखा—यशस्वी, पापरहित, पुरुषसिंह श्रीराम वेदीपर बैठे हैं ॥ ४५ ॥

विगर्हमाणः कैकेयीं मन्थरासहितामपि।
अभिगम्य जनो रामं बाष्पपूर्णमुखोऽभवत् ॥ ४६ ॥

श्रीरामके पास जानेपर सबके मुख आँसुओंसे भीग गये और सब लोग मन्थरासहित कैकेयीकी निन्दा करने लगे ॥

तान् नरान् बाष्पपूर्णाक्षान् समीक्ष्याथ सुदुःखितान्।
पर्यष्वजत धर्मज्ञः पितृवन्मातृवच्च सः ॥ ४७ ॥

उन सब लोगोंके नेत्र आँसुओंसे भरे हुए थे और वे सब-के-सब अत्यन्त दुखी हो रहे थे। धर्मज्ञ श्रीरामने उन्हें देखकर पिता-माताकी भाँति हृदयसे लगाया ॥ ४७ ॥

स तत्र कांश्चित् परिषस्वजे नरान्
नराश्च केचित्तु तमभ्यवादयन्।
चकार सर्वान् सवयस्यबान्धवान्
यथार्हमासाद्य तदा नृपात्मजः ॥ ४८ ॥

श्रीरामने कुछ मनुष्योंको वहाँ छातीसे लगाया तथा कुछ लोगोंने पहुँचकर वहाँ उनके चरणोंमें प्रणाम किया। राजकुमार श्रीरामने उस समय वहाँ आये हुए सभी मित्रों और बन्धु-बान्धवोंका यथायोग्य सम्मान किया ॥ ४८ ॥

ततः स तेषां रुदतां महात्मनां
भुवं च खं चानुविनादयन् स्वनः।
गुहा गिरीणां च दिशश्च संततं
मृदङ्गघोषप्रतिमो विशुश्रुवे ॥ ४९ ॥

उस समय वहाँ रोते हुए उन महात्माओंका वह रोदन-शब्द पृथ्वी, आकाश, पर्वतोंकी गुफा और सम्पूर्ण दिशाओंको निरन्तर प्रतिध्वनित करता हुआ मृदङ्गकी ध्वनिके समान सुनायी पड़ता था ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ तीनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीके साथ आती हुई कौसल्याका मन्दाकिनीके तटपर सुमित्रा आदिके समक्ष दुःखपूर्ण उद्गार, श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके द्वारा माताओंकी चरणवन्दना तथा वसिष्ठजीको प्रणाम करके श्रीराम आदिका सबके साथ बैठना

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान् दशरथस्य च।
अभिचक्राम तं देशं रामदर्शनतर्षितः ॥ १ ॥

महर्षि वसिष्ठजी महाराज दशरथकी रानियोंको आगे करके श्रीरामचन्द्रजीको देखनेकी अभिलाषा लिये उस स्थानकी ओर चले, जहाँ उनका आश्रम था ॥ १ ॥

राजपत्न्यश्च गच्छन्त्यो मन्दं मन्दाकिनीं प्रति।
ददृशुस्तत्र तत् तीर्थं रामलक्ष्मणसेवितम् ॥ २ ॥

राजरानियाँ मन्द गतिसे चलती हुई जब मन्दाकिनीके तटपर पहुँचीं, तब उन्होंने वहाँ श्रीराम और लक्ष्मणके स्नान करनेका घाट देखा ॥ २ ॥

कौसल्या बाष्पपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता।
सुमित्रामब्रवीद् दीनां याश्चान्या राजयोषितः ॥ ३ ॥

इस समय कौसल्याके मुँहपर आँसुओंकी धारा बह चली। उन्होंने सूखे एवं उदास मुखसे दीन सुमित्रा तथा अन्य राजरानियोंसे कहा—॥ ३ ॥

इदं तेषामनाथानां क्लिष्टमक्लिष्टकर्मणाम्।
वने प्राक्कलनं तीर्थं ये ते निर्विषयीकृताः ॥ ४ ॥

'जो राज्यसे निकाल दिये गये हैं तथा जो दूसरोंको क्लेश न देनेवाले कार्य ही करते हैं, उन मेरे अनाथ बच्चोंका यह वनमें दुर्गम तीर्थ है, जिसे इन्होंने पहले-पहल स्वीकार किया है ॥ ४ ॥

इतः सुमित्रे पुत्रस्ते सदा जलमतन्द्रितः।
स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणात् ॥ ५ ॥

'सुमित्रे! आलस्यरहित तुम्हारे पुत्र लक्ष्मण स्वयं आकर सदा यहींसे मेरे पुत्रके लिये जल ले जाया करते हैं ॥ ५ ॥

जघन्यमपि ते पुत्रः कृतवान् न तु गर्हितः।
भ्रातुर्यदर्थरहितं सर्वं तद् गर्हितं गुणैः ॥ ६ ॥

'यद्यपि तुम्हारे पुत्रने छोटे-से-छोटा सेवाकार्य भी स्वीकार किया है, तथापि इससे वे निन्दित नहीं हुए हैं; क्योंकि सद्गुणोंसे युक्त ज्येष्ठ भाईके प्रयोजनसे रहित जो कार्य होते हैं, वे ही सब निन्दित माने गये हैं ॥ ६ ॥

अद्यायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतथोचितः।
नीचानर्थसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुञ्चतु ॥ ७ ॥

'तुम्हारा यह पुत्र भी उन क्लेशोंके योग्य नहीं है, जिन्हें आजकल वह सहन करता है। अब श्रीराम लौट चलें और निम्न श्रेणीके पुरुषोंके योग्य जो दुःखजनक कार्य उसके सामने प्रस्तुत है, उसे वह छोड़ दे—उसे करनेका अवसर ही उसके लिये न रह जाय' ॥ ७ ॥

दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सा ददर्श महीतले।
पितुरिङ्गुदिपिण्याकं न्यस्तमायतलोचना ॥ ८ ॥

आगे जाकर विशाललोचना कौसल्याने देखा कि श्रीरामने पृथ्वीपर बिछे हुए दक्षिणाग्र कुशोंके ऊपर

अपने पिताके लिये पिसे हुए इङ्गुदीके फलका पिण्ड रख छोड़ा है ॥ ८ ॥

तं भूमौ पितुरार्तेन न्यस्तं रामेण वीक्ष्य सा ।
उवाच देवी कौसल्या सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ ९ ॥

दुखी रामके द्वारा पिताके लिये भूमिपर रखे हुए उस पिण्डको देखकर देवी कौसल्याने दशरथकी सब रानियोंसे कहा—॥ ९ ॥

इदमिक्ष्वाकुनाथस्य राघवस्य महात्मनः ।
राघवेण पितुर्दत्तं पश्यतैतद् यथाविधि ॥ १० ॥

'बहनो ! देखो, श्रीरामने इक्ष्वाकुकुलके स्वामी रघुकुलभूषण महात्मा पिताके लिये यह विधिपूर्वक पिण्डदान किया है ॥ १० ॥

तस्य देवसमानस्य पार्थिवस्य महात्मनः ।
नैतदौपयिकं मन्ये भुक्तभोगस्य भोजनम् ॥ ११ ॥

'देवताके समान तेजस्वी वे महामना भूपाल नाना प्रकारके उत्तम भोग भोग चुके हैं। उनके लिये यह भोजन मैं उचित नहीं मानती ॥ ११ ॥

चतुरन्तां महीं भुक्त्वा महेन्द्रसदृशो भुवि ।
कथमिङ्गुदिपिण्याकं स भुङ्क्ते वसुधाधिपः ॥ १२ ॥

'जो चारों समुद्रोंतककी पृथ्वीका राज्य भोगकर भूतलपर देवराज इन्द्रके समान प्रतापी थे, वे भूपाल महाराज दशरथ पिसे हुए इङ्गुदी-फलका पिण्ड कैसे खा रहे होंगे ? ॥ १२ ॥

अतो दुःखतरं लोके न किंचित् प्रतिभाति मे ।
यत्र रामः पितुर्दद्यादिङ्गुदीक्षोदमृद्धिमान् ॥ १३ ॥

संसारमें इससे बढ़कर महान् दुःख मुझे और कोई नहीं प्रतीत होता है, जिसके अधीन होकर श्रीराम समृद्धिशाली होते हुए भी अपने पिताको इङ्गुदीके पिसे हुए फलका पिण्ड दें ॥ १३ ॥

[illegible] पिण्याकं पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे ।
कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा ॥ १४ ॥

'श्रीरामने अपने पिताको इङ्गुदीका पिण्याक (पिसा हुआ फल) प्रदान किया है—यह देखकर दुःखसे मेरे हृदयके सहस्रों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते हैं ? ॥ १४ ॥

श्रुतिस्तु खल्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मे ।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ १५ ॥

'यह लौकिकी श्रुति (लोकविख्यात कहावत) निश्चय ही मुझे सत्य प्रतीत हो रही है कि मनुष्य स्वयं जो अन्न खाता है, उसके देवता भी उसी अन्नको ग्रहण करते हैं' ॥ १५ ॥

एवमार्तां सपत्न्यस्ता जग्मुराश्वास्य तां तदा ।
ददृशुश्चाश्रमे रामं स्वर्गच्युतमिवामरम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार शोकसे आर्त हुई कौसल्याको उस समय उनकी सौतें समझा-बुझाकर उन्हें आगे ले गयीं। आश्रमपर पहुँचकर उन सबने श्रीरामको देखा, जो स्वर्गसे गिरे हुए देवताके समान जान पड़ते थे ॥ १६ ॥

तं भोगैः सम्परित्यक्तं रामं सम्प्रेक्ष्य मातरः ।
आर्ता मुमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः ॥ १७ ॥

भोगोंका परित्याग करके तपस्वी जीवन व्यतीत करनेवाले श्रीरामको देखकर उनकी माताएँ शोकसे कातर हो गयीं और आर्तभावसे फूट-फूटकर रोती हुई आँसू बहाने लगीं ॥ १७ ॥

तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणाम्बुजान् ।
मातॄणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसंगरः ॥ १८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ नरश्रेष्ठ श्रीराम माताओंको देखते ही उठकर खड़े हो गये और बारी-बारीसे उन सबके चरणारविन्दोंका स्पर्श किया ॥ १८ ॥

ताः पाणिभिः सुखस्पर्शैर्मृद्वङ्गुलितलैः शुभैः ।
प्रममार्जू रजः पृष्ठाद् रामस्यायतलोचनाः ॥ १९ ॥

विशाल नेत्रोंवाली माताएँ स्नेहवश जिनकी अंगुलियाँ कोमल और स्पर्श सुखद था, उन सुन्दर हाथोंसे श्रीरामकी पीठसे धूल पोंछने लगीं ॥ १९ ॥

सौमित्रिरपि ताः सर्वा मातॄः सम्प्रेक्ष्य दुःखितः ।
अभ्यवादयदासक्तं शनै रामादनन्तरम् ॥ २० ॥

श्रीरामके बाद लक्ष्मण भी उन सभी दुखिया माताओंको देखकर दुखी हो गये और उन्होंने स्नेहपूर्वक धीरे-धीरे उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ २० ॥

यथा रामे तथा तस्मिन् सर्वा ववृतिरे स्त्रियः ।
वृत्तिं दशरथाज्जाते लक्ष्मणे शुभलक्षणे ॥ २१ ॥

उन सब माताओंने श्रीरामके साथ जैसा बर्ताव किया था, वैसे ही उत्तम लक्षणोंसे युक्त दशरथनन्दन लक्ष्मणके साथ भी किया ॥ २१ ॥

सीतापि चरणांस्तासामुपसंगृह्य दुःखिता ।
श्वश्रूणामश्रुपूर्णाक्षी सम्बभूवाग्रतः स्थिता ॥ २२ ॥

तदनन्तर आँसू भरे नेत्रोंवाली दुःखिनी सीता भी सभी सासुओंके चरणोंमें प्रणाम करके उनके आगे खड़ी हो गयी ॥ २२ ॥

तां परिष्वज्य दुःखार्ता माता दुहितरं यथा ।
वनवासकृतां दीनां कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

तब दुःखसे पीड़ित हुई कौसल्याने जैसे माता अपनी बेटीको हृदयसे लगा लेती है, उसी प्रकार वनवासके कारण दीन (दुर्बल) हुई सीताको छातीसे चिपका लिया और इस प्रकार कहा—॥ २३ ॥

वैदेहराजन्यसुता स्नुषा दशरथस्य च ।
रामपत्नी कथं दुःखं सम्प्राप्ता विजने वने ॥२४ ॥

'विदेहराज जनककी पुत्री, राजा दशरथकी पुत्रवधू तथा श्रीरामकी पत्नी इस निर्जन वनमें क्यों दुःख भोग रही है ? ॥ २४ ॥

पद्ममातपसंतप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम् ।
काञ्चनं रजसा ध्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः ॥ २५ ॥

'बेटी ! तुम्हारा मुख धूपसे तपे हुए कमल, कुचले हुए उत्पल, धूलसे ध्वस्त हुए सुवर्ण और बादलोंसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति श्रीहीन हो रहा है ॥ २५ ॥

मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम् ।
भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः ॥ २६ ॥

'विदेहनन्दिनि ! जैसे आग अपने उत्पत्तिस्थान काष्ठको दग्ध कर देती है, उसी प्रकार तुम्हारे इस मुखको देखकर मेरे मनमें संकटरूपी अरणिसे उत्पन्न हुआ यह शोकानल मुझे जलाये देता है' ॥ २६ ॥

ब्रुवन्त्यामेवमार्तायां जनन्यां भरताग्रजः ।
पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः ॥ २७ ॥

शोकाकुल हुई माता जब इस प्रकार विलाप कर रही थी, उसी समय भरतके बड़े भाई श्रीरामने वसिष्ठजीके चरणोंमें पड़कर उन्हें दोनों हाथोंसे पकड़ लिया ॥ २७ ॥

पुरोहितस्याग्निसमस्य तस्य वै
बृहस्पतेरिन्द्र इवामराधिपः ।
प्रगृह्य पादौ सुसमृद्धतेजसः
सहैव तेनोपविवेश राघवः ॥ २८ ॥

जैसे देवराज इन्द्र बृहस्पतिके चरणोंका स्पर्श करते हैं, उसी प्रकार अग्निके समान बढ़े हुए तेजवाले पुरोहित वसिष्ठजीके दोनों पैर पकड़कर श्रीरामचन्द्रजी उनके साथ ही पृथ्वीपर बैठ गये ॥ २८ ॥

ततो जघन्यं सहितैः स्वमन्त्रिभिः
पुरप्रधानैश्च तथैव सैनिकैः ।
जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवा-
नुपोपविष्टो भरतस्तदाग्रजम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा भरत एक साथ आये हुए अपने सभी मन्त्रियों, प्रधान-प्रधान पुरवासियों, सैनिकों तथा परम धर्मज्ञ पुरुषोंके साथ अपने बड़े भाईके पास उनके पीछे जा बैठे ॥ २९ ॥

उपोपविष्टस्तु तदातिवीर्यवां-
स्तपस्विवेषेण समीक्ष्य राघवम् ।
श्रिया ज्वलन्तं भरतः कृताञ्जलि-
र्यथा महेन्द्रः प्रयतः प्रजापतिम् ॥ ३० ॥

उस समय श्रीरामके आसनके समीप बैठे हुए अत्यन्त पराक्रमी भरतने दिव्य दीप्तिसे प्रकाशित होनेवाले श्रीरघुनाथजीको तपस्वीके वेशमें देखकर उनके प्रति उसी प्रकार हाथ जोड़ लिये जैसे देवराज इन्द्र प्रजापति ब्रह्माके समक्ष विनीतभावसे हाथ जोड़ते हैं ॥ ३० ॥

किमेष वाक्यं भरतोऽद्य राघवं
प्रणम्य सत्कृत्य च साधु वक्ष्यति ।
इतीव तस्यार्यजनस्य तत्त्वतो
बभूव कौतूहलमुत्तमं तदा ॥ ३१ ॥

उस समय वहाँ बैठे हुए श्रेष्ठ पुरुषोंके हृदयमें यथार्थ रूपसे यह उत्तम कौतूहल-सा जाग उठा कि देखें ये भरतजी श्रीरामचन्द्रजीको सत्कारपूर्वक प्रणाम करके आज उत्तम रीतिसे उनके समक्ष क्या कहते हैं ? ॥ ३१ ॥

स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो
महानुभावो भरतश्च धार्मिकः ।
वृताः सुहृद्भिश्च विरेजिरेऽध्वरे
यथा सदस्यैः सहितास्त्रयोऽग्नयः ॥ ३२ ॥

वे सत्यप्रतिज्ञ श्रीराम, महानुभाव लक्ष्मण तथा धर्मात्मा भरत—ये तीनों भाई अपने सुहृदोंसे घिरकर यज्ञशालामें सदस्योंद्वारा घिरे हुए त्रिविध अग्नियोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुरधिकशततमः सर्गः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ चारवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः

भरतका श्रीरामको अयोध्यामें चलकर राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना, श्रीरामका जीवनकी अनित्यता बताते हुए पिताकी मृत्युके लिये शोक न करनेका भरतको उपदेश देना और पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही राज्य ग्रहण न करके वनमें रहनेका ही दृढ़ निश्चय बताना

ततः पुरुषसिंहानां वृतानां तैः सुहृद्गणैः ।
शोचतामेव रजनी दुःखेन व्यत्यवर्तत ॥ १ ॥

रजन्यां सुप्रभातायां भ्रातरस्ते सुहृद्वृताः ।
मन्दाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमन् ॥ २ ॥

अपने सुहृदोंसे घिरकर बैठे हुए पुरुषसिंह श्रीराम आदि भाइयोंकी वह रात्रि पिताकी मृत्युके दुःखसे शोक करते हुए ही व्यतीत हुई। सवेरा होनेपर भरत आदि तीनों भाई सुहृदोंके साथ ही मन्दाकिनीके तटपर गये और स्नान, होम एवं जप आदि करके पुनः श्रीरामके पास लौट आये ॥ १-२ ॥

तूष्णीं ते समुपासीना न कश्चित् किंचिदब्रवीत्।
भरतस्तु सुहृन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत्॥ ३ ॥

वहाँ आकर सभी चुपचाप बैठ गये। कोई कुछ नहीं बोल रहा था। तब सुहृदोंके बीचमें बैठे हुए भरतने श्रीरामसे इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

सान्त्विता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम।
तद् ददामि तवैवाहं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम्॥ ४ ॥

'भैया! पिताजीने वरदान देकर मेरी माताको संतुष्ट कर दिया और माताने यह राज्य मुझे दे दिया। अब मैं अपनी ओरसे यह अकण्टक राज्य आपकी ही सेवामें समर्पित करता हूँ। आप इसका पालन एवं उपभोग कीजिये ॥ ४ ॥

महतेवाम्बुवेगेन भिन्नः सेतुर्जलागमे।
दुरावरं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत्॥ ५ ॥

'वर्षाकालमें जलके महान् वेगसे टूटे हुए सेतुकी भाँति इस विशाल राज्यखण्डको सँभालना आपके सिवा दूसरेके लिये अत्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

गतिं खर इवाश्वस्य तार्क्ष्यस्येव पतत्रिणः।
अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तव महीपते॥ ६ ॥

'पृथ्वीनाथ! जैसे गदहा घोड़ेकी और अन्य साधारण पक्षी गरुड़की चाल नहीं चल सकते, उसी प्रकार मुझमें आपकी गतिका—आपकी पालन-पद्धतिका अनुसरण करनेकी शक्ति नहीं है ॥ ६ ॥

सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते।
राम तेन तु दुर्जीवं यः परानुपजीवति॥ ७ ॥

'श्रीराम! जिसके पास आकर दूसरे लोग जीवन-निर्वाह करते हैं, उसीका जीवन उत्तम है और जो दूसरोंका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करता है, उसका जीवन दुःखमय है (अतः आपके लिये राज्य करना ही उचित है) ॥ ७ ॥

यथा तु रोपितो वृक्षः पुरुषेण विवर्धितः।
ह्रस्वकेन दुरारोहो रूढस्कन्धो महाद्रुमः॥ ८ ॥
स यदा पुष्पितो भूत्वा फलानि न विदर्शयेत्।
स तां नानुभवेत् प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः॥ ९ ॥
एषोपमा महाबाहो तदर्थं वेत्तुमर्हसि।
यत्र त्वमस्मान् वृषभो भर्ता भृत्यान् न शाधि हि॥ १० ॥

'जैसे फलकी इच्छा रखनेवाले किसी पुरुषने एक वृक्ष लगाया, उसे पाल-पोसकर बड़ा किया; फिर उसके तने मोटे हो गये और वह ऐसा विशाल वृक्ष हो गया कि किसी नाटे कदके पुरुषके लिये उसपर चढ़ना अत्यन्त कठिन था। उस वृक्षमें जब फूल लग जायँ, उसके बाद भी यदि वह फल न दिखा सके तो जिसके लिये उस वृक्षको लगाया गया था, वह उद्देश्य पूरा न हो सका। ऐसी स्थितिमें उसे लगानेवाला पुरुष उस प्रसन्नताका अनुभव नहीं करता, जो फलकी प्राप्ति होनेसे सम्भावित थी। महाबाहो! यह एक उपमा है, इसका अर्थ आप स्वयं समझ लें (अर्थात् पिताजीने आप-जैसे सर्व-सद्गुणसम्पन्न पुत्रको लोकरक्षाके लिये उत्पन्न किया था। यदि आपने राज्यपालनका भार अपने हाथमें नहीं लिया तो उनका वह उद्देश्य व्यर्थ हो जायगा)। इस राज्यपालनके अवसरपर आप श्रेष्ठ एवं भरण-पोषणमें समर्थ होकर भी यदि हम भृत्योंका शासन नहीं करेंगे तो पूर्वोक्त उपमा ही आपके लिये लागू होगी ॥ ८—१० ॥

श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्त्वग्र्याश्च सर्वशः।
प्रतपन्तमिवादित्यं राज्यस्थितमरिंदमम्॥ ११ ॥

'महाराज! विभिन्न जातियोंके सङ्घ और प्रधान-प्रधान पुरुष आप शत्रुदमन नरेशको सब ओर तपते हुए सूर्यकी भाँति राज्यसिंहासनपर विराजमान देखें ॥ ११ ॥

तथानुयाने काकुत्स्थ मत्ता नर्दन्तु कुञ्जराः।
अन्तःपुरगता नार्यो नन्दन्तु सुसमाहिताः॥ १२ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! इस प्रकार आपके अयोध्याको लौटते समय मतवाले हाथी गर्जना करें और अन्तःपुरकी स्त्रियाँ एकाग्रचित्त होकर प्रसन्नतापूर्वक आपका अभिनन्दन करें' ॥ १२ ॥

तस्य साध्वनुमन्यन्त नागरा विविधा जनाः।
भरतस्य वचः श्रुत्वा रामं प्रत्यनुयाचतः॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीरामसे राज्य-ग्रहणके लिये प्रार्थना करते हुए भरतजीकी बात सुनकर नगरके भिन्न-भिन्न मनुष्योंने उसका भलीभाँति अनुमोदन किया ॥ १३ ॥

तमेवं दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम्।
रामः कृतात्मा भरतं समाश्वासयदात्मवान्॥ १४ ॥

तब शिक्षित बुद्धिवाले अत्यन्त धीर भगवान् श्रीरामने यशस्वी भरतको इस तरह दुखी हो विलाप करते देख उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥ १४ ॥

नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति॥ १५ ॥

'भाई! यह जीव ईश्वरके समान स्वतन्त्र नहीं है, अतः कोई यहाँ अपनी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं कर सकता। काल इस पुरुषको इधर-उधर खींचता रहता है ॥ १५ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥ १६॥

'समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है। लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है। संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है॥ १६॥

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद् भयम्।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद् भयम्॥ १७॥

'जैसे पके हुए फलोंको पतनके सिवा और किसीसे भय नहीं है, उसी प्रकार उत्पन्न हुए मनुष्यको मृत्युके सिवा और किसीसे भय नहीं है॥ १७॥

यथाऽऽगारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वोपसीदति।
तथावसीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः॥ १८॥

'जैसे सुदृढ़ खम्भेवाला मकान भी पुराना होनेपर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जरा और मृत्युके वशमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं॥ १८॥

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते।
यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकार्णवम्॥ १९॥

'जो रात बीत जाती है, वह लौटकर फिर नहीं आती है। जैसे यमुना जलसे भरे हुए समुद्रकी ओर जाती ही है, उधरसे लौटती नहीं॥ १९॥

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः॥ २०॥

'दिन-रात लगातार बीत रहे हैं और इस संसारमें सभी प्राणियोंकी आयुका तीव्र गतिसे नाश कर रहे हैं। ठीक वैसे ही जैसे सूर्यकी किरणें ग्रीष्म ऋतुमें जलको शीघ्रतापूर्वक सोखती रहती हैं॥ २०॥

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि।
आयुस्तु हीयते यस्य स्थितस्यास्य गतस्य च॥ २१॥

'तुम अपने ही लिये चिन्ता करो, दूसरेके लिये क्यों बार-बार शोक करते हो। कोई इस लोकमें स्थित हो या अन्यत्र गया हो, जिस किसीकी भी आयु तो निरन्तर क्षीण ही हो रही है॥ २१॥

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते॥ २२॥

'मृत्यु साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है और बहुत बड़े मार्गकी यात्रामें भी साथ ही जाकर वह मनुष्यके साथ ही लौटती है॥ २२॥

गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः।
जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत्॥ २३॥

'शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं, सिरके बाल सफेद हो गये। फिर जरावस्थासे जीर्ण हुआ मनुष्य कौन-सा उपाय करके मृत्युसे बचनेके लिये अपना प्रभाव प्रकट कर सकता है?॥

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमितेऽहनि।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम्॥ २४॥

'लोग सूर्योदय होनेपर प्रसन्न होते हैं, सूर्यास्त होनेपर भी खुश होते हैं; किंतु यह नहीं जानते कि प्रतिदिन अपने जीवनका नाश हो रहा है॥ २४॥

हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिवागतम्।
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः॥ २५॥

'किसी ऋतुका प्रारम्भ देखकर मानो वह नयी-नयी आयी हो (पहले कभी आयी ही न हो) ऐसा समझकर लोग हर्षसे खिल उठते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि इन ऋतुओंके परिवर्तनसे प्राणियोंके प्राणोंका (आयुका) क्रमशः क्षय हो रहा है॥ २५॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन॥ २६॥
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः॥ २७॥

'जैसे महासागरमें बहते हुए दो काठ कभी एक दूसरेसे मिल जाते हैं और कुछ कालके बाद अलग भी हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं; क्योंकि इनका वियोग अवश्यम्भावी है॥ २६-२७॥

नात्र कश्चिद् यथाभावं प्राणी समतिवर्तते।
तेन तस्मिन् न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः॥ २८॥

'इस संसारमें कोई भी प्राणी यथासमय प्राप्त होनेवाले जन्म-मरणका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इसलिये जो किसी मरे हुए व्यक्तिके लिये बारंबार शोक करता है, उसमें भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अपनी ही मृत्युको टाल सके॥ २८॥

यथा हि सार्थं गच्छन्तं ब्रूयात् कश्चित् पथि स्थितः।
अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति॥ २९॥
एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पैतृपितामहैर्ध्रुवः।
तमापन्नः कथं शोचेद् यस्य नास्ति व्यतिक्रमः॥ ३०॥

'जैसे आगे जाते हुए यात्रियों अथवा व्यापारियोंके समुदायसे रास्तेमें खड़ा हुआ पथिक यों कहे कि मैं भी आप लोगोंके पीछे-पीछे आऊँगा और तदनुसार वह उनके पीछे-पीछे जाय, उसी प्रकार हमारे पूर्वज पिता-पितामह आदि जिस मार्गसे गये हैं, जिसपर जाना अनिवार्य है तथा जिससे बचनेका कोई उपाय नहीं है, उसी मार्गपर स्थित हुआ मनुष्य किसी औरके लिये शोक कैसे करे?॥ २९-३०॥

वयसः पतमानस्य स्रोतसो वानिवर्तिनः।
आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः॥ ३१॥

'जैसे नदियोंका प्रवाह पीछे नहीं लौटता, उसी प्रकार दिन-दिन ढलती हुई अवस्था फिर नहीं लौटती है। उसका क्रमशः नाश हो रहा है, यह सोचकर आत्माको कल्याणके साधनभूत धर्ममें लगावे; क्योंकि सभी लोग अपना कल्याण चाहते हैं ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
धूतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३२॥

'तात! हमारे पिता धर्मात्मा थे। उन्होंने पर्याप्त दक्षिणाएँ देकर प्रायः सभी परम शुभकारक यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। उनके सारे पाप धुल गये थे। अतः वे महाराज स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३२ ॥

भृत्यानां भरणात् सम्यक् प्रजानां परिपालनात्।
अर्थादानाच्च धर्मेण पिता नस्त्रिदिवं गतः ॥३३॥

'वे भरण-पोषणके योग्य परिजनोंका भरण करते थे। प्रजाजनोंका भलीभाँति पालन करते थे और प्रजाजनोंसे धर्मके अनुसार कर आदिके रूपमें धन लेते थे—इन सब कारणोंसे हमारे पिता उत्तम स्वर्गलोकमें पधारे हैं ॥ ३३ ॥

कर्मभिस्तु शुभैरिष्टैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
स्वर्गं दशरथः प्राप्तः पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३४॥

'सर्वप्रिय शुभ कर्मों तथा प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंके अनुष्ठानोंसे हमारे पिता पृथ्वीपति महाराज दशरथ स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३४॥

इष्ट्वा बहुविधैर्यज्ञैर्भोगांश्चावाप्य पुष्कलान्।
उत्तमं चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः ॥ ३५॥

'उन्होंने नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यज्ञपुरुषकी आराधना की, प्रचुर भोग प्राप्त किये और उत्तम आयु पायी थी, इसके बाद वे महाराज यहाँसे स्वर्गलोकको पधारे हैं ॥ ३५ ॥

आयुरुत्तममासाद्य भोगानपि च राघवः।
न स शोच्यः पिता तात स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ॥३६॥

'तात! अन्य राजाओंकी अपेक्षा उत्तम आयु और श्रेष्ठ भोगोंको पाकर हमारे पिता सदा सत्पुरुषोंके द्वारा सम्मानित हुए हैं; अतः स्वर्गवासी हो जानेपर भी वे शोक करनेयोग्य नहीं हैं ॥ ३६ ॥

स जीर्णमानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः।
दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥ ३७॥

'हमारे पिताने जराजीर्ण मानव-शरीरका परित्याग करके दैवी सम्पत्ति प्राप्त की है, जो ब्रह्मलोकमें विहार करानेवाली है॥

तं तु नैवंविधः कश्चित् प्राज्ञः शोचितुमर्हसि।
त्वद्विधो मद्विधश्चापि श्रुतवान् बुद्धिमत्तरः ॥ ३८॥

'कोई भी ऐसा विद्वान्, जो तुम्हारे और मेरे समान शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न एवं परम बुद्धिमान् है, पिताजीके लिये शोक नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

एते बहुविधाः शोका विलापरुदिते तथा।
वर्जनीया हि धीरेण सर्वावस्थासु धीमता ॥ ३९॥

'धीर एवं प्रज्ञावान् पुरुषको सभी अवस्थाओंमें ये नाना प्रकारके शोक, विलाप तथा रोदन त्याग देने चाहिये ॥३९॥

स स्वस्थो भव मा शोको यात्वा चावस तां पुरीम्।
तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना वदतां वर ॥ ४० ॥

'इसलिये तुम स्वस्थ हो जाओ, तुम्हारे मनमें शोक नहीं होना चाहिये। वक्ताओंमें श्रेष्ठ भरत! तुम यहाँसे जाकर अयोध्यापुरीमें निवास करो; क्योंकि मनको वशमें रखनेवाले पूज्य पिताजीने तुम्हारे लिये यही आदेश दिया है ॥ ४० ॥

यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा।
तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम् ॥ ४१ ॥

'उन पुण्यकर्मा महाराजने मुझे भी जहाँ रहनेकी आज्ञा दी है, वहीं रहकर मैं उन पूज्य पिताके आदेशका पालन करूँगा ॥ ४१ ॥

न मया शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिंदम।
स त्वयापि सदा मान्यः स वै बन्धुः स नः पिता ॥ ४२॥

'शत्रुदमन भरत! पिताकी आज्ञाकी अवहेलना करना मेरे लिये कदापि उचित नहीं है। वे तुम्हारे लिये भी सर्वदा सम्मानके योग्य हैं; क्योंकि वे ही हमलोगोंके हितैषी बन्धु और जन्मदाता थे ॥ ४२ ॥

तद् वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणाम्।
कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघव ॥ ४३॥

'रघुनन्दन! मैं इस वनवासरूपी कर्मके द्वारा पिताजीके ही वचनका, जो धर्मात्माओंको भी मान्य है, पालन करूँगा॥

धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना।
भवितव्यं नरव्याघ्र परलोकं जिगीषता ॥ ४४॥

'नरश्रेष्ठ! परलोकपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको धार्मिक, क्रूरतासे रहित और गुरुजनोंका आज्ञा-पालक होना चाहिये ॥ ४४ ॥

आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ।
निशाम्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः ॥ ४५॥

'मनुष्योंमें श्रेष्ठ भरत! हमारे पूज्य पिता दशरथके शुभ आचरणोंपर दृष्टिपात करके तुम अपने धार्मिक स्वभावके द्वारा आत्माकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करो' ॥ ४५ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
पितुर्निदेशप्रतिपालनार्थम्।
यवीयसं भ्रातरमर्थवच्च
प्रभुर्मुहूर्ताद् विरराम रामः ॥ ४६॥

सर्वशक्तिमान् महात्मा श्रीराम एक मुहूर्ततक अपने छोटे भाई भरतसे पिताकी आज्ञाका पालन कराने- के उद्देश्यसे ये अर्थयुक्त वचन कहकर चुप हो गये ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाधिकशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमः सर्गः

भरतकी पुनः श्रीरामसे अयोध्या लौटने और राज्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना

एवमुक्त्वा तु विरते रामे वचनमर्थवत् ।
ततो मन्दाकिनीतीरे रामं प्रकृतिवत्सलम् ॥ १ ॥
उवाच भरतश्चित्रं धार्मिको धार्मिकं वचः ।
को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिंदम ॥ २ ॥

ऐसा अर्थयुक्त वचन कहकर जब श्रीराम चुप हो गये, तब धर्मात्मा भरतने मन्दाकिनीके तटपर प्रजा-वत्सल धर्मात्मा श्रीरामसे यह विचित्र बात कही—'शत्रु-दमन रघुवीर ! इस जगत्में जैसे आप हैं, वैसा दूसरा कौन हो सकता है ? ॥ १-२ ॥

न त्वां प्रव्यथयेद् दुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत् ।
सम्मतश्चापि वृद्धानां तांश्च पृच्छसि संशयान् ॥ ३ ॥

'कोई भी दुःख आपको व्यथित नहीं कर सकता। कितनी ही प्रिय बात क्यों न हो, वह आपको हर्षोत्फुल्ल नहीं कर सकती। वृद्ध पुरुषोंके सम्माननीय होकर भी आप उनसे संदेहकी बातें पूछते हैं ॥ ३ ॥

यथा मृतस्तथा जीवन् यथासति तथा सति ।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात् परितप्येत केन सः ॥ ४ ॥

'जैसे मरे हुए जीवका अपने शरीर आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार जीते-जी भी वह उनके सम्बन्धसे रहित है। जैसे वस्तुके अभावमें उसके प्रति राग-द्वेष नहीं होता, वैसे ही उसके रहनेपर भी मनुष्यको राग-द्वेषसे शून्य होना चाहिये। जिसे ऐसी विवेकयुक्त बुद्धि प्राप्त हो गयी है, उसको संताप क्यों होगा ? ॥ ४ ॥

परावरज्ञो यश्च स्याद् यथा त्वं मनुजाधिप ।
स एव व्यसनं प्राप्य न विषीदितुमर्हति ॥ ५ ॥

'नरेश्वर ! जिसे आपके समान आत्मा और अनात्माका ज्ञान है, वही संकटमें पड़नेपर भी विषाद नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चासि राघव ॥ ६ ॥

'रघुनन्दन ! आप देवताओंकी भाँति सत्त्वगुणसे सम्पन्न, महात्मा, सत्यप्रतिज्ञ, सर्वज्ञ, सबके साक्षी और बुद्धिमान् हैं ॥ ६ ॥

न त्वामेवंगुणैर्युक्तं प्रभवाभवकोविदम् ।
अविषह्यतमं दुःखमासादयितुमर्हति ॥ ७ ॥

'ऐसे उत्तम गुणोंसे युक्त और जन्म-मरणके रहस्यको जाननेवाले आपके पास असह्य दुःख नहीं आ सकता ॥ ७ ॥

प्रोषिते मयि यत् पापं मात्रा मत्कारणात् कृतम् ।
क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान् मम ॥ ८ ॥

'जब मैं परदेशमें था, उस समय नीच विचार रखनेवाली मेरी माताने मेरे लिये जो पाप कर डाला, वह मुझे अभीष्ट नहीं है; अतः आप उसे क्षमा करके मुझपर प्रसन्न हों ॥ ८ ॥

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम् ।
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम् ॥ ९ ॥

'मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हूँ, इसीलिये इस पाप करने-वाली एवं दण्डनीय माताको मैं कठोर दण्ड देकर मार नहीं डालता ॥ ९ ॥

कथं दशरथाज्जातः शुभाभिजनकर्मणः ।
जानन् धर्ममधर्मं च कुर्यां कर्म जुगुप्सितम् ॥ १० ॥

'जिनके कुल और कर्म दोनों ही शुभ थे, उन महाराज दशरथसे उत्पन्न होकर धर्म और अधर्मको जानता हुआ भी मैं मातृवधरूपी लोकनिन्दित कर्म कैसे करूँ ? ॥ १० ॥

गुरुः क्रियावान् वृद्धश्च राजा प्रेतः पितेति च ।
तातं न परिगर्हेऽहं दैवतं चेति संसदि ॥ ११ ॥

'महाराज मेरे गुरु, श्रेष्ठ यज्ञकर्म करनेवाले, बड़े-बूढ़े, राजा, पिता और देवता रहे हैं और इस समय परलोकवासी हो चुके हैं, इसीलिये इस भरी सभामें मैं उनकी निन्दा नहीं करता हूँ ॥ ११ ॥

को हि धर्मार्थयोर्हीनमीदृशं कर्म किल्बिषम् ।
स्त्रियः प्रियचिकीर्षुः सन् कुर्याद् धर्मज्ञ धर्मवित् ॥ १२ ॥

'धर्मज्ञ रघुनन्दन ! कौन ऐसा मनुष्य है, जो धर्मको जानते हुए भी स्त्रीका प्रिय करनेकी इच्छासे ऐसा धर्म और अर्थसे हीन कुत्सित कर्म कर सकता है ? ॥ १२ ॥

अन्तकाले हि भूतानि मुह्यन्तीति पुरा श्रुतिः ।
राज्ञैवं कुर्वता लोके प्रत्यक्षा सा श्रुतिः कृता ॥ १३ ॥

'लोकमें एक प्राचीन किंवदन्ती है कि अन्तकालमें सब प्राणी मोहित हो जाते हैं—उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। राजा दशरथने ऐसा कठोर कर्म करके उस किंवदन्तीकी सत्यताको प्रत्यक्ष कर दिखाया ॥ १३ ॥

साध्वर्थमभिसंधाय क्रोधान्मोहाच्च साहसात्।
तातस्य यदतिक्रान्तं प्रत्याहरतु तद् भवान् ॥ १४ ॥

'पिताजीने क्रोध, मोह और साहसके कारण ठीक समझकर जो धर्मका उल्लङ्घन किया है, उसे आप पलट दें—उसका संशोधन कर दें ॥ १४ ॥

पितुर्हि समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते।
तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोऽन्यथा ॥ १५ ॥

'जो पुत्र पिताकी की हुई भूलको ठीक कर देता है, वही लोकमें उत्तम संतान माना गया है। जो इसके विपरीत बर्ताव करता है, वह पिताकी श्रेष्ठ संतति नहीं है ॥ १५ ॥

तदपत्यं भवानस्तु मा भवान् दुष्कृतं पितुः।
अति यत् तत् कृतं कर्म लोके धीरविगर्हितम् ॥ १६ ॥

'अतः आप पिताकी योग्य संतान ही बने रहें। उनके अनुचित कर्मका समर्थन न करें। उन्होंने इस समय जो कुछ किया है, वह धर्मकी सीमासे बाहर है। संसारमें धीर पुरुष उसकी निन्दा करते हैं ॥ १६ ॥

कैकेयीं मां च तातं च सुहृदो बान्धवांश्च नः।
पौरजानपदान् सर्वांस्त्रातुं सर्वमिदं भवान् ॥ १७ ॥

'कैकेयी, मैं, पिताजी, सुहृद्गण, बन्धु-बान्धव, पुरवासी तथा राष्ट्रकी प्रजा—इन सबकी रक्षाके लिये आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें ॥ १७ ॥

क्व चारण्यं क्व च क्षात्रं क्व जटाः क्व च पालनम्।
ईदृशं व्याहतं कर्म न भवान् कर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

'कहाँ वनवास और कहाँ क्षात्रधर्म ? कहाँ जटा-धारण और कहाँ प्रजाका पालन ? ऐसे परस्परविरोधी कर्म आपको नहीं करने चाहिये ॥ १८ ॥

एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम्।
येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम् ॥ १९ ॥

'महाप्राज्ञ ! क्षत्रियके लिये पहला धर्म यही है कि उसका राज्यपर अभिषेक हो, जिससे वह प्रजाका भलीभाँति पालन कर सके ॥ १९ ॥

कश्च प्रत्यक्षमुत्सृज्य संशयस्थमलक्षणम्।
आयतिस्थं चरेद् धर्मं क्षत्रबन्धुरनिश्चितम् ॥ २० ॥

'भला कौन ऐसा क्षत्रिय होगा, जो प्रत्यक्ष सुखके साधनभूत प्रजापालनरूप धर्मका परित्याग करके संशयमें स्थित, सुखके लक्षणसे रहित, भविष्यमें फल देनेवाले अनिश्चित धर्मका आचरण करेगा ? ॥ २० ॥

अथ क्लेशजमेव त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि।
धर्मेण चतुरो वर्णान् पालयन् क्लेशमाप्नुहि ॥ २१ ॥

'यदि आप क्लेशसाध्य धर्मका ही आचरण करना चाहते हैं तो धर्मानुसार चारों वर्णोंका पालन करते हुए ही कष्ट उठाइये ॥ २१ ॥

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्।
आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमिच्छसि ॥ २२ ॥

'धर्मज्ञ रघुनन्दन ! धर्मके ज्ञाता पुरुष चारों आश्रमोंमें गार्हस्थ्यको ही श्रेष्ठ बतलाते हैं, फिर आप उसका परित्याग क्यों करना चाहते हैं ? ॥ २२ ॥

श्रुतेन बालः स्थानेन जन्मना भवतो ह्यहम्।
स कथं पालयिष्यामि भूमिं भवति तिष्ठति ॥ २३ ॥

'मैं शास्त्रज्ञान और जन्मजात अवस्था दोनों ही दृष्टियोंसे आपकी अपेक्षा बालक हूँ, फिर आपके रहते हुए मैं वसुधाका पालन कैसे करूँगा ? ॥ २३ ॥

हीनबुद्धिगुणो बालो हीनस्थानेन चाप्यहम्।
भवता च विनाभूतो न वर्तयितुमुत्सहे ॥ २४ ॥

'मैं बुद्धि और गुण दोनोंसे हीन हूँ, बालक हूँ तथा मेरा स्थान आपसे बहुत छोटा है; अतः मैं आपके बिना जीवन-धारण भी नहीं कर सकता, राज्यका पालन तो दूरकी बात है ॥ २४ ॥

इदं निखिलमप्यग्र्यं राज्यं पित्र्यमकण्टकम्।
अनुशाधि स्वधर्मेण धर्मज्ञ सह बान्धवैः ॥ २५ ॥

'धर्मज्ञ रघुनन्दन ! पिताका यह सारा राज्य श्रेष्ठ और निष्कण्टक है, अतः आप बन्धु-बान्धवोंके साथ स्वधर्मानुसार इसका पालन कीजिये ॥ २५ ॥

इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह।
ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रविन्मन्त्रकोविदाः ॥ २६ ॥

'मन्त्रज्ञ रघुवीर ! मन्त्रोंके ज्ञाता महर्षि वसिष्ठ आदि सभी ऋत्विज तथा मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि सारी प्रकृतियाँ यहाँ उपस्थित हैं। ये सब लोग यहीं आपका राज्याभिषेक करें ॥ २६ ॥

अभिषिक्तस्त्वमस्माभिरयोध्यां पालने व्रज।
विजित्य तरसा लोकान् मरुद्भिरिव वासवः ॥ २७ ॥

'हमलोगोंके द्वारा अभिषिक्त होकर आप मरुद्गणोंसे अभिषिक्त हुए इन्द्रकी भाँति वेगपूर्वक सब लोकोंको जीतकर प्रजाका पालन करनेके लिये अयोध्याको चलें ॥ २७ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन् दुर्हृदः साधु निर्दहन्।
सुहृदस्तर्पयन् कामैस्त्वमेवात्रानुशाधि माम् ॥ २८ ॥

'वहाँ देवता, ऋषि और पितरोंका ऋण चुकायें, दुष्ट शत्रुओंका भलीभाँति दमन करें तथा मित्रोंको उनके

इच्छानुसार वस्तुओंद्वारा तृप्त करते हुए आप ही अयोध्यामें मुझे धर्मकी शिक्षा देते रहें ॥ २८ ॥

अद्यार्य मुदिताः सन्तु सुहृदस्तेऽभिषेचने ।
अद्य भीताः पलायन्तु दुष्प्रदास्ते दिशो दश ॥ २९॥

'आर्य ! आपका अभिषेक सम्पन्न होनेपर सुहृद्गण प्रसन्न हों और दुःख देनेवाले आपके शत्रु भयभीत होकर दसों दिशाओंमें भाग जायँ ॥ २९ ॥

आक्रोशं मम मातुश्च प्रमृज्य पुरुषर्षभ ।
अद्य तत्रभवन्तं च पितरं रक्ष किल्बिषात् ॥ ३०॥

'पुरुषप्रवर ! आज आप मेरी माताके कलङ्कको धो-पोंछकर पूज्य पिताजीको भी निन्दासे बचाइये ॥ ३० ॥

शिरसा त्वाभियाचेऽहं कुरुष्व करुणां मयि ।
बान्धवेषु च सर्वेषु भूतेष्विव महेश्वरः ॥ ३१ ॥

'मैं आपके चरणोंमें माथा टेककर याचना करता हूँ। आप मुझपर दया कीजिये। जैसे महादेवजी सब प्राणियोंपर अनुग्रह करते हैं, उसी प्रकार आप भी अपने बन्धु-बान्धवोंपर कृपा कीजिये ॥ ३१ ॥

अथवा पृष्ठतः कृत्वा वनमेव भवानितः ।
गमिष्यति गमिष्यामि भवता सार्धमप्यहम् ॥ ३२ ॥

'अथवा यदि आप मेरी प्रार्थनाको ठुकराकर यहाँसे वनको ही जायँगे तो मैं भी आपके साथ जाऊँगा' ॥ ३२ ॥

तथाभिरामो भरतेन ताम्यता
प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः ।
न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्
मतिं पितुस्तद् वचने प्रतिष्ठितः ॥ ३३॥

ग्लानिमें पड़े हुए भरतने मनोभिराम राजा श्रीरामको उनके चरणोंमें माथा टेककर प्रसन्न करनेकी चेष्टा की तथापि उन सत्त्वगुणसम्पन्न रघुनाथजीने पिताकी आज्ञामें ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर अयोध्या जानेका विचार नहीं किया ॥ ३३ ॥

तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे
समं जनो हर्षमवाप दुःखितः ।
न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्
स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी वह अद्भुत दृढ़ता देखकर सब लोग एक ही साथ दुखी भी हुए और हर्षको भी प्राप्त हुए। ये अयोध्या नहीं जा रहे हैं—यह सोचकर वे दुखी हुए और प्रतिज्ञा-पालनमें उनकी दृढ़ता देखकर उन्हें हर्ष हुआ ॥ ३४ ॥

तमृत्विजो नैगमयूथवल्लभा-
स्तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः ।
तथा ब्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः
प्रणम्य रामं च ययाचिरे सह ॥ ३५ ॥

उस समय ऋत्विज, पुरवासी, भिन्न-भिन्न समुदायके नेता और माताएँ अचेत-सी होकर आँसू बहाती हुई पूर्वोक्त बातें कहनेवाले भरतकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगीं और सबने उनके साथ ही योग्यतानुसार श्रीरामजीके सामने विनीत होकर उनसे अयोध्या लौट चलनेकी याचना की ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडधिकशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमः सर्गः

श्रीरामका भरतको समझाकर उन्हें अयोध्या जानेका आदेश देना

पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः ।
प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्ज्ञातिमध्ये सुसत्कृतः ॥ १ ॥

जब भरत पुनः इस प्रकार प्रार्थना करने लगे, तब कुटुम्बीजनोंके बीचमें सत्कारपूर्वक बैठे हुए लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीमान् रामचन्द्रजीने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥

उपपन्नमिदं वाक्यं यस्त्वमेवमभाषथाः ।
जातः पुत्रो दशरथात् कैकेय्यां राजसत्तमात् ॥ २ ॥

'भाई ! तुम नृपश्रेष्ठ महाराज दशरथके द्वारा केकयराज-कन्या माता कैकेयीके गर्भसे उत्पन्न हुए हो; अतः तुमने जो ऐसे उत्तम वचन कहे हैं, वे सर्वथा तुम्हारे योग्य हैं ॥ २ ॥

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन् ।
मातामहे समाश्रौषीद् राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

'भैया ! आजसे बहुत पहलेकी बात है—पिताजीका जब तुम्हारी माताजीके साथ विवाह हुआ था, तभी उन्होंने तुम्हारे नानासे कैकेयीके पुत्रको राज्य देनेकी उत्तम शर्त कर ली थी ॥ ३ ॥

देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः ।
सम्प्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः ॥ ४ ॥

'इसके बाद देवासुर-संग्राममें तुम्हारी माताने प्रभावशाली महाराजकी बड़ी सेवा की; इससे संतुष्ट होकर राजाने उन्हें वरदान दिया ॥ ४ ॥

ततः सा सम्प्रतिश्राव्य तव माता यशस्विनी ।
अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौ वरौ वरवर्णिनी ॥ ५ ॥

'उसीकी पूर्तिके लिये प्रतिज्ञा कराकर तुम्हारी श्रेष्ठ वर्णवाली यशस्विनी माताने उन नरश्रेष्ठ पिताजीसे दो वर माँगे ॥

तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा ।
तच्च राजा तथा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरम् ॥ ६ ॥

'पुरुषसिंह ! एक वरके द्वारा इन्होंने तुम्हारे लिये राज्य माँगा और दूसरेके द्वारा मेरा वनवास । इनसे इस प्रकार प्रेरित होकर राजाने वे दोनों वर इन्हें दे दिये ॥ ६ ॥

तेन पित्राहमप्यत्र नियुक्तः पुरुषर्षभ ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम् ॥ ७ ॥

'पुरुषप्रवर ! इस प्रकार उन पिताजीने वरदानके रूपमें मुझे चौदह वर्षोंतक वनवासकी आज्ञा दी है ॥ ७ ॥

सोऽयं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः ।
सीतया चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः ॥ ८ ॥

'यही कारण है कि मैं सीता और लक्ष्मणके साथ इस निर्जन वनमें चला आया हूँ । यहाँ मेरा कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है । मैं यहाँ पिताजीके सत्यकी रक्षामें स्थित रहूँगा ॥ ८ ॥

भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम् ।
कर्तुमर्हसि राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषेचनात् ॥ ९ ॥

'राजेन्द्र ! तुम भी उनकी आज्ञा मानकर शीघ्र ही राज्यपदपर अपना अभिषेक करा लो और पिताको सत्यवादी बनाओ—यही तुम्हारे लिये उचित है ॥ ९ ॥

ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम् ।
पितरं त्राहि धर्मज्ञ मातरं चाभिनन्दय ॥ १० ॥

'धर्मज्ञ भरत ! तुम मेरे लिये पूज्य पिता राजा दशरथको कैकेयीके ऋणसे मुक्त करो, उन्हें नरकमें गिरनेसे बचाओ और माताका भी आनन्द बढ़ाओ ॥ १० ॥

श्रूयते धीमता तात श्रुतिर्गीता यशस्विना ।
गयेन यजमानेन गयेष्वेव पितॄन् प्रति ॥ ११ ॥

'तात ! सुना जाता है कि बुद्धिमान्, यशस्वी राजा गयने गय देशमें ही यज्ञ करते हुए पितरोंके प्रति एक कहावत कही थी ॥ ११ ॥

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः ॥ १२ ॥

'(वह इस प्रकार है,—) बेटा पुत् नामक नरकसे पिताका उद्धार करता है, इसलिये वह पुत्र कहा गया है । वही पुत्र है, जो पितरोंकी सब ओरसे रक्षा करता है ॥ १२ ॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः ।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद् गयां व्रजेत् ॥ १३ ॥

'बहुत-से गुणवान् और बहुश्रुत पुत्रोंकी इच्छा करनी चाहिये । सम्भव है कि प्राप्त हुए उन पुत्रोंमेंसे कोई एक भी गयाकी यात्रा करे ॥ १३ ॥

एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता रघुनन्दन ।
तस्मात् त्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात् प्रभो ॥ १४ ॥

'रघुनन्दन ! नरश्रेष्ठ भरत ! इस प्रकार सभी राजर्षियोंने पितरोंके उद्धारका निश्चय किया है, अतः प्रभो ! तुम भी अपने पिताका नरकसे उद्धार करो ॥ १४ ॥

अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरुपरञ्जय ।
शत्रुघ्नसहितो वीर सह सर्वैर्द्विजातिभिः ॥ १५ ॥

'वीर भरत ! तुम शत्रुघ्न तथा समस्त ब्राह्मणोंको साथ लेकर अयोध्याको लौट जाओ और प्रजाको सुख दो ॥ १५ ॥

प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यविलम्बयन् ।
आभ्यां तु सहितो वीर वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ १६ ॥

'वीर ! अब मैं भी लक्ष्मण और सीताके साथ शीघ्र ही दण्डकारण्यमें प्रवेश करूँगा ॥ १६ ॥

त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां
वन्यानामहमपि राजराण्मृगाणाम् ।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य सम्प्रहृष्टः
संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान् प्रवेक्ष्ये ॥ १७ ॥

'भरत ! तुम स्वयं मनुष्योंके राजा बनो और मैं जंगली पशुओंका सम्राट् बनूँगा । अब तुम अत्यन्त हर्षपूर्वक श्रेष्ठ नगर अयोध्याको जाओ और मैं भी प्रसन्नतापूर्वक दण्डकवनमें प्रवेश करूँगा ॥ १७ ॥

छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं
वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम् ।
एतेषामहमपि काननद्रुमाणां
छायां तामतिशयिनीं शनैः श्रयिष्ये ॥ १८ ॥

'भरत ! सूर्यकी प्रभाको तिरोहित कर देनेवाला छत्र तुम्हारे मस्तकपर शीतल छाया करे । अब मैं भी धीरे-धीरे इन जंगली वृक्षोंकी घनी छायाका आश्रय लूँगा ॥ १८ ॥

शत्रुघ्नस्त्वतुलमतिस्तु ते सहायः
सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम् ।
चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं
सत्यस्थं भरत चराम मा विषीद ॥ १९ ॥

'भरत ! अतुलित बुद्धिवाले शत्रुघ्न तुम्हारी सहायतामें रहें और सुविख्यात सुमित्राकुमार लक्ष्मण मेरे प्रधान मित्र (सहायक) हैं; हम चारों पुत्र अपने पिता राजा दशरथके सत्यकी रक्षा करें । तुम विषाद मत करो' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ताधिकशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमः सर्गः

जाबालिका नास्तिकोंके मतका अवलम्बन करके श्रीरामको समझाना

आश्वासयन्तं भरतं जाबालिर्ब्राह्मणोत्तमः ।
उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मापेतमिदं वचः ॥ १ ॥

जब धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजी भरतको इस प्रकार समझा-बुझा रहे थे, उसी समय ब्राह्मणशिरोमणि जाबालिने उनसे यह धर्मविरुद्ध वचन कहा—॥ १ ॥

साधु राघव मा भूत् ते बुद्धिरेवं निरर्थिका ।
प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेस्तपस्विनः ॥ २ ॥

'रघुनन्दन ! आपने ठीक कहा, परंतु आप श्रेष्ठ बुद्धिवाले और तपस्वी हैं; अतः आपको गँवार मनुष्यकी तरह ऐसा निरर्थक विचार मनमें नहीं लाना चाहिये ॥ २ ॥

कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित् ।
एको हि जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ॥ ३ ॥

'संसारमें कौन पुरुष किसका बन्धु है और किससे किसको क्या पाना है ? जीव अकेला ही जन्म लेता और अकेला ही नष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः ।
उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित् ॥ ४ ॥

'अतः श्रीराम ! जो मनुष्य माता या पिता समझकर किसीके प्रति आसक्त होता है, उसे पागलके समान समझना चाहिये; क्योंकि यहाँ कोई किसीका कुछ भी नहीं है ॥ ४ ॥

यथा ग्रामान्तरं गच्छन् नरः कश्चिद् बहिर्वसेत् ।
उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि ॥ ५ ॥
एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु ।
आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः ॥ ६ ॥

'जैसे कोई मनुष्य दूसरे गाँवको जाते समय बाहर किसी धर्मशालामें एक रातके लिये ठहर जाता है और दूसरे दिन उस स्थानको छोड़कर आगेके लिये प्रस्थित हो जाता है, इसी प्रकार पिता, माता, घर और धन—ये मनुष्योंके आवासमात्र हैं। ककुत्स्थकुलभूषण ! इनमें सज्जन पुरुष आसक्त नहीं होते हैं ॥ ५-६ ॥

पित्र्यं राज्यं समुत्सृज्य स नार्हसि नरोत्तम ।
आस्थातुं कापथं दुःखं विषमं बहुकण्टकम् ॥ ७ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ ! आपको पिताका राज्य छोड़कर इस दुःखमय, नीचे-ऊँचे तथा बहुकण्टकाकीर्ण वनके कुत्सित मार्गपर नहीं चलना चाहिये ॥ ७ ॥

समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिषेचय ।
एकवेणीधरा हि त्वा नगरी सम्प्रतीक्षते ॥ ८ ॥

'आप समृद्धिशालिनी अयोध्यामें जाकर पदपर अपना अभिषेक कराइये । वह नगरी प्रोषितभर्तृका नारीकी भाँति एक वेणी धारण करके आपकी प्रतीक्षा करती है ॥ ८ ॥

राजभोगाननुभवन् महार्हान् पार्थिवात्मज ।
विहर त्वमयोध्यायां यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥

'राजकुमार ! जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गमें विहार करते हैं, उसी प्रकार आप बहुमूल्य राजभोगोंका उपभोग करते हुए अयोध्यामें विहार कीजिये ॥ ९ ॥

न ते कश्चिद् दशरथस्त्वं च तस्य न कश्चन ।
अन्यो राजा त्वमन्यस्तु तस्मात् कुरु यदुच्यते ॥ १० ॥

'राजा दशरथ आपके कोई नहीं थे और आप भी उनके कोई नहीं हैं । राजा दूसरे थे और आप भी दूसरे हैं; इसलिये मैं जो कहता हूँ, वही कीजिये ॥ १० ॥

बीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्रं शोणितमेव च ।
संयुक्तमृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत् ॥ ११ ॥

'पिता जीवके जन्ममें निमित्तकारणमात्र होता है । वास्तवमें ऋतुमती माताके द्वारा गर्भमें धारण किये हुए वीर्य और रजका परस्पर संयोग होनेपर ही पुरुषका यहाँ जन्म होता है ॥ ११ ॥

गतः स नृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां त्वं तु मिथ्या विहन्यसे ॥ १२ ॥

'राजाको जहाँ जाना था, वहाँ चले गये । यह प्राणियोंके लिये स्वाभाविक स्थिति है । आप तो व्यर्थ ही मारे जाते (कष्ट उठाते) हैं ॥ १२ ॥

अर्थधर्मपरा ये ये तांस्ताञ्शोचामि नेतरान् ।
ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य लेभिरे ॥ १३ ॥

'जो-जो मनुष्य प्राप्त हुए अर्थका परित्याग करके धर्मपरायण हुए हैं, उन्हीं-उन्हींके लिये मैं शोक करता हूँ, दूसरोंके लिये नहीं । वे इस जगत्में धर्मके नामपर केवल दुःख भोगकर मृत्युके पश्चात् नष्ट हो गये हैं ॥ १३ ॥

अष्टकापितृदैवत्यमित्ययं प्रसृतो जनः ।
अन्नस्योपद्रवं पश्य मृतो हि किमशिष्यति ॥ १४ ॥

'अष्टका आदि जितने श्राद्ध हैं, उनके देवता पितर हैं—श्राद्धका दान पितरोंको मिलता है । यही सोचकर लोग श्राद्धमें प्रवृत्त होते हैं; किंतु विचार करके देखिये तो इसमें अन्नका नाश ही होता है । भला, मरा हुआ मनुष्य क्या खायेगा ॥

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति ।
दद्यात् प्रवसतां श्राद्धं न तत् पथ्यशनं भवेत् ॥ १५ ॥

'यदि यहाँ दूसरेका खाया हुआ अन्न दूसरेके शरीरमें

चला जाता हो तो परदेशमें जानेवालोंके लिये श्राद्ध ही कर देना चाहिये; उनको रास्तेके लिये भोजन देना उचित नहीं है॥

दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः कृताः ।
यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व संत्यज ॥ १६ ॥

'देवताओंके लिये यज्ञ और पूजन करो, दान दो, यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करो, तपस्या करो और घर-द्वार छोड़कर संन्यासी बन जाओ इत्यादि बातें बतानेवाले ग्रन्थ बुद्धिमान् मनुष्योंने दानकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति करानेके लिये ही बनाये हैं ॥ १६ ॥

स नास्ति परमित्येतत् कुरु बुद्धिं महामते ।
प्रत्यक्षं यत् तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥ १७ ॥

'अतः महामते ! आप अपने मनमें यह निश्चय कीजिये कि इस लोकके सिवा कोई दूसरा लोक नहीं है (अतः वहाँ फल भोगनेके लिये धर्म आदिके पालनकी आवश्यकता नहीं है) । जो प्रत्यक्ष राज्यलाभ है, उसका आश्रय लीजिये, परोक्ष (पारलौकिक लाभ) को पीछे ढकेल दीजिये ॥ १७ ॥

सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम् ।
राज्यं स त्वं निगृह्णीष्व भरतेन प्रसादितः ॥ १८ ॥

'सत्पुरुषोंकी बुद्धि, जो सब लोगोंके लिये राह दिखानेवाली होनेके कारण प्रमाणभूत है, आगे करके भरतके अनुरोधसे आप अयोध्याका राज्य ग्रहण कीजिये' ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाधिकशततमः सर्गः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

नवाधिकशततमः सर्गः

श्रीरामके द्वारा जाबालिके नास्तिक मतका खण्डन करके आस्तिक मतका स्थापन

जाबालेस्तु वचः श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः ।
उवाच परया सूक्त्या बुद्ध्याविप्रतिपन्नया ॥ १ ॥

जाबालिका यह वचन सुनकर सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीने अपनी संशयरहित बुद्धिके द्वारा श्रुतिसम्मत सदुक्तिका आश्रय लेकर कहा—॥ १ ॥

भवान् मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान् ।
अकार्यं कार्यसंकाशमपथ्यं पथ्यसंनिभम् ॥ २ ॥

'विप्रवर ! आपने मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे यहाँ जो बात कही है, वह कर्तव्य-सी दिखायी देती है; किंतु वास्तवमें करनेयोग्य नहीं है । वह पथ्य-सी दीखनेपर भी वास्तवमें अपथ्य है ॥ २ ॥

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥ ३ ॥

'जो पुरुष धर्म अथवा वेदकी मर्यादाको त्याग देता है, वह पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है । उसके आचार और विचार दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं; इसलिये वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता है ॥ ३ ॥

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम् ॥ ४ ॥

'आचार ही यह बताता है कि कौन पुरुष उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ है और कौन अधम कुलमें, कौन वीर है और कौन व्यर्थ ही अपनेको पुरुष मानता है तथा कौन पवित्र है और कौन अपवित्र ? ॥ ४ ॥

अनार्यस्त्वार्यसंस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः ।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव ॥ ५ ॥

'आपने जो आचार बताया है, उसे अपनानेवाला पुरुष श्रेष्ठ-सा दिखायी देनेपर भी वास्तवमें अनार्य होगा । बाहरसे पवित्र दीखनेपर भी भीतरसे अपवित्र होगा । उत्तम लक्षणोंसे युक्त-सा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें उसके विपरीत होगा तथा शीलवान्-सा दीखनेपर भी वस्तुतः वह दुःशील ही होगा ॥

अधर्मं धर्मवेषेण यद्यहं लोकसंकरम् ।
अभिपत्स्ये शुभं हित्वा क्रियां विधिविवर्जिताम् ॥ ६ ॥
कश्चेतयानः पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः ।
बहु मन्येत मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम् ॥ ७ ॥

'आपका उपदेश चोला तो धर्मका पहने हुए है, किंतु वास्तवमें अधर्म है । इससे संसारमें वर्णसंकरताका प्रचार होगा । यदि मैं इसे स्वीकार करके वेदोक्त शुभ कर्मोंका अनुष्ठान छोड़ दूँ और विधिहीन कर्मोंमें लग जाऊँ तो कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान रखनेवाला कौन समझदार मनुष्य मुझे श्रेष्ठ समझकर आदर देगा ? उस दशामें तो मैं इस जगत्‌में दुराचारी तथा लोकको कलङ्कित करनेवाला समझा जाऊँगा ॥ ६-७ ॥

कस्य यास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम् ।
अनया वर्तमानोऽहं वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥ ८ ॥

'जहाँ अपनी की हुई प्रतिज्ञा तोड़ दी जाती है, उस वृत्तिके अनुसार बर्ताव करनेपर मैं किस साधनसे स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा तथा आपने जिस आचारका उपदेश दिया है, वह किसका है, जिसका मुझे अनुसरण करना होगा; क्योंकि आपके कथनानुसार मैं पिता आदिमेंसे किसीका कुछ भी नहीं हूँ ॥ ८ ॥

कामवृत्तोऽन्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते ।

यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ।९।

'आपके बताये हुए मार्गसे चलनेपर पहले तो मैं स्वेच्छाचारी हूँगा। फिर यह सारा लोक स्वेच्छाचारी हो जायगा; क्योंकि राजाओंके जैसे आचरण होते हैं, प्रजा भी वैसा ही आचरण करने लगती है ॥ ९ ॥

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम् ।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥ १० ॥

'सत्यका पालन ही राजाओंका दयाप्रधान धर्म है—सनातन आचार है, अतः राज्य सत्यस्वरूप है। सत्यमें ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे ।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्॥११॥

'ऋषियों और देवताओंने सदा सत्यका ही आदर किया है। इस लोकमें सत्यवादी मनुष्य अक्षय परम धाममें जाता है ॥ ११ ॥

उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः ।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ॥ १२ ॥

'झूठ बोलनेवाले मनुष्यसे सब लोग उसी तरह डरते हैं, जैसे साँपसे। संसारमें सत्य ही धर्मकी पराकाष्ठा है और वही सबका मूल कहा जाता है ॥ १२ ॥

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥ १३ ॥

'जगत्में सत्य ही ईश्वर है। सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है। सत्य ही सबकी जड़ है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई परम पद नहीं है ॥ १३ ॥

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च ।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत् ॥ १४ ॥

'दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आधार सत्य ही है; इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये ॥ १४ ॥

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।
मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते ॥ १५ ॥

'एक मनुष्य सम्पूर्ण जगत्का पालन करता है, एक समूचे कुलका पालन करता है, एक नरकमें डूबता है और एक स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १५ ॥

सोऽहं पितुर्निदेशं तु किमर्थं नानुपालये ।
सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतम् ॥ १६ ॥

'मैं सत्यप्रतिज्ञ हूँ और सत्यकी शपथ खाकर पिताके सत्यका पालन स्वीकार कर चुका हूँ, ऐसी दशामें मैं पिताके आदेशका किस लिये पालन नहीं करूँ ? ॥ १६ ॥

नैव लोभान्न मोहाद् वा न चाज्ञानात् तमोऽन्वितः ।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः ॥१७॥

'पहले सत्यपालनकी प्रतिज्ञा करके अब लोभ, मोह अथवा अज्ञानसे विवेकशून्य होकर मैं पिताके सत्यकी मर्यादा भङ्ग नहीं करूँगा ॥ १७ ॥

असत्यसंधस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः ।
नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ॥ १८ ॥

'हमने सुना है कि जो अपनी प्रतिज्ञा झूठी करनेके कारण धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है, उस चञ्चल चित्तवाले पुरुषके दिये हुए हव्य-कव्यको देवता और पितर नहीं स्वीकार करते हैं ॥ १८ ॥

प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम् ।
भारः सत्पुरुषैश्चीर्णस्तदर्थमभिनन्द्यते ॥ १९ ॥

'मैं इस सत्यरूपी धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये हितकर और सब धर्मोंमें श्रेष्ठ समझता हूँ। सत्पुरुषोंने जटा-वल्कल आदिके धारणरूप तापस धर्मका पालन किया है, इसलिये मैं भी उसका अभिनन्दन करता हूँ ॥ १९ ॥

क्षात्रं धर्ममहं त्यक्ष्ये ह्यधर्मं धर्मसंहितम् ।
क्षुद्रैर्नृशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः ॥ २० ॥

'जो धर्मयुक्त प्रतीत हो रहा है, किंतु वास्तवमें अधर्म-रूप है, जिसका नीच, क्रूर, लोभी और पापाचारी पुरुषोंने सेवन किया है, ऐसे क्षात्रधर्मका (पिताकी आज्ञा भङ्ग करके राज्य ग्रहण करनेका) मैं अवश्य त्याग करूँगा (क्योंकि वह न्याययुक्त नहीं है) ॥ २० ॥

कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत् ।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम् ॥ २१ ॥

'मनुष्य अपने शरीरसे जो पाप करता है, उसे पहले मनके द्वारा कर्तव्यरूपसे निश्चित करता है। फिर जिह्वाकी सहायतासे उस अनृत कर्म (पाप) को वाणीद्वारा दूसरोंसे कहता है, तत्पश्चात् औरोंके सहयोगसे उसे शरीरद्वारा सम्पन्न करता है। इस तरह एक ही पातक कायिक, वाचिक और मानसिक भेदसे तीन प्रकारका होता है ॥ २१ ॥

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि ।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत् ततः ॥ २२ ॥

'पृथ्वी, कीर्ति, यश और लक्ष्मी—ये सब-की-सब सत्यवादी पुरुषको पानेकी इच्छा रखती हैं और शिष्ट पुरुष सत्यका ही अनुसरण करते हैं, अतः मनुष्यको सदा सत्यका ही सेवन करना चाहिये ॥ २२ ॥

श्रेष्ठं ह्यनार्यमेव स्याद् यद् भवानवधार्य माम् ।
आह युक्तिकरैर्वाक्यैरिदं भद्रं कुरुष्व ह ॥२३॥

'आपने उचित सिद्ध करके तर्कपूर्ण वचनोंके द्वारा

मुझसे जो यह कहा है कि राज्य ग्रहण करनेमें ही कल्याण है; अतः इसे अवश्य स्वीकार करो। आपका यह आदेश श्रेष्ठ-सा प्रतीत होनेपर भी सज्जन पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाने योग्य नहीं है (क्योंकि इसे स्वीकार करनेसे सत्य और न्यायका उल्लङ्घन होता है) ॥ २३ ॥

कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरोः।
भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः ॥ २४ ॥

'मैं पिताजीके सामने इस तरह वनमें रहनेकी प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। अब उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके मैं भरतकी बात कैसे मान लूँगा ॥ २४ ॥

स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसंनिधौ।
प्रहृष्टमानसा देवी कैकेयी चाभवत् तदा ॥ २५ ॥

'गुरुके समीप की हुई मेरी वह प्रतिज्ञा अटल है—किसी तरह तोड़ी नहीं जा सकती। उस समय जब कि मैंने प्रतिज्ञा की थी, देवी कैकेयीका हृदय हर्षसे खिल उठा था ॥ २५ ॥

वनवासं वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः।
मूलपुष्पफलैः पुण्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पयन् ॥ २६॥

'मैं वनमें ही रहकर बाहर-भीतरसे पवित्र हो नियमित भोजन करूँगा और पवित्र फल, मूल एवं पुष्पोंद्वारा देवताओं और पितरोंको तृप्त करता हुआ प्रतिज्ञाका पालन करूँगा ॥ २६ ॥

संतुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां प्रवाहये।
अकुहः श्रद्दधानः सन् कार्याकार्यविचक्षणः ॥ २७ ॥

'क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इसका निश्चय मैं कर चुका हूँ। अतः फल-मूल आदिसे पाँचों इन्द्रियोंको संतुष्ट करके निश्छल, श्रद्धापूर्वक लोकयात्रा (पिताकी आज्ञाके पालनरूप व्यवहार) का निर्वाह करूँगा ॥ २७ ॥

कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम्।
अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः ॥ २८ ॥

'इस कर्मभूमिको पाकर जो शुभ कर्म हो, उसका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि अग्नि, वायु तथा सोम भी कर्मोंके ही फलसे उन-उन पदोंके भागी हुए हैं ॥ २८ ॥

शतं क्रतूनामाहृत्य देवराट् त्रिदिवं गतः।
तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं प्राप्ता महर्षयः ॥ २९ ॥

'देवराज इन्द्र सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं। महर्षियोंने भी उग्र तपस्या करके दिव्य लोकोंमें स्थान प्राप्त किया है' ॥ २९ ॥

अमृष्यमाणः पुनरुग्रतेजा
निशम्य तन्नास्तिकवाक्यहेतुम्।
अथाब्रवीत् तं नृपतेस्तनूजो
विगर्हमाणो वचनानि तस्य ॥ ३० ॥

उग्र तेजस्वी राजकुमार श्रीराम परलोककी सत्ताका खण्डन करनेवाले जाबालिके पूर्वोक्त वचनोंको सुनकर उन्हें सहन न कर सकनेके कारण उन वचनोंकी निन्दा करते हुए पुनः उनसे बोले—॥ ३० ॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥ ३१ ॥

'सत्य, धर्म, पराक्रम, समस्त प्राणियोंपर दया, सबसे प्रिय वचन बोलना तथा देवताओं, अतिथियों और ब्राह्मणोंकी पूजा करना—इन सबको साधु पुरुषोंने स्वर्गलोकका मार्ग बताया है ॥ ३१ ॥

तेनैवमाज्ञाय यथावदर्थ-
मेकोदयं सम्प्रतिपद्य विप्राः।
धर्मं चरन्तः सकलं यथावत्
काङ्क्षन्ति लोकागममप्रमत्ताः ॥ ३२ ॥

'सत्पुरुषोंके इस वचनके अनुसार धर्मका स्वरूप जानकर तथा अनुकूल तर्कसे उसका यथार्थ निर्णय करके एक निश्चयपर पहुँचे हुए सावधान ब्राह्मण भलीभाँति धर्माचरण करते हुए उन-उन उत्तम लोकोंको प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ३२ ॥

निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम्।
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ॥ ३३ ॥

'आपकी बुद्धि विषम-मार्गमें स्थित है—आपने वेद-विरुद्ध मार्गका आश्रय ले रखा है। आप घोर नास्तिक और धर्मके रास्तेसे कोसों दूर हैं। ऐसी पाखण्डमयी बुद्धिके द्वारा अनुचित विचारका प्रचार करनेवाले आपको मेरे पिताजीने जो अपना याजक बना लिया, उनके इस कार्यकी मैं निन्दा करता हूँ ॥ ३३ ॥

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध-
स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां
स नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात् ॥ ३४ ॥

'जैसे चोर दण्डनीय होता है, उसी प्रकार (वेदविरोधी) बुद्ध (बौद्धमतावलम्बी) भी दण्डनीय है। तथागत (नास्तिकविशेष) और नास्तिक (चार्वाक) को भी यहाँ इसी कोटिमें समझना चाहिये। इसलिये प्रजापर अनुग्रह करनेके लिये राजाद्वारा जिस नास्तिकको दण्ड दिलाया जा सके, उसे तो चोरके समान दण्ड दिलाया ही जाय; परंतु जो वशके बाहर हो,

उस नास्तिकके प्रति विद्वान् ब्राह्मण कभी उन्मुख न हो—उससे वार्तालापतक न करे ॥ ३४ ॥

त्वत्तो जनाः पूर्वतरे द्विजाश्च
शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः।
छित्त्वा सदेमं च परं च लोकं
तस्माद् द्विजाः स्वस्ति कृतं हुतं च ॥

'आपके सिवा पहलेके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने इहलोक और परलोककी फल-कामनाका परित्याग करके वेदोक्त धर्म समझकर सदा ही बहुत-से शुभ कर्मोंका अनुष्ठान किया है। अतः जो भी ब्राह्मण हैं, वे वेदोंको ही प्रमाण मानकर स्वस्ति (अहिंसा और सत्य आदि), कृत (तप, दान और परोपकार आदि) तथा हुत (यज्ञ-याग आदि) कर्मोंका सम्पादन करते हैं ॥ ३५ ॥

धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेता-
स्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके
भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥ ३६ ॥

'जो धर्ममें तत्पर रहते हैं, सत्पुरुषोंका साथ करते हैं, तेजसे सम्पन्न हैं, जिनमें दानरूपी गुणकी प्रधानता है, जो कभी किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करते तथा जो मल-संसर्गसे रहित हैं, ऐसे श्रेष्ठ मुनि ही संसारमें पूजनीय होते हैं' ॥ ३६ ॥

इति ब्रुवन्तं वचनं सरोषं
रामं महात्मानमदीनसत्त्वम्।
उवाच पथ्यं पुनरास्तिकं च
सत्यं वचः सानुनयं च विप्रः ॥ ३७ ॥

महात्मा श्रीराम स्वभावसे ही दैन्यभावसे रहित थे। उन्होंने जब रोषपूर्वक पूर्वोक्त बात कही, तब ब्राह्मण जाबालिने विनयपूर्वक यह आस्तिकतापूर्ण सत्य एवं हितकर वचन कहा—॥ ३७ ॥

न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं
न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किंचन।
समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽभवं
भवेय काले पुनरेव नास्तिकः ॥ ३८ ॥

'रघुनन्दन! न तो मैं नास्तिक हूँ और न नास्तिकोंकी बात ही करता हूँ। परलोक आदि कुछ भी नहीं है, ऐसा मेरा मत नहीं है। मैं अवसर देखकर फिर आस्तिक हो गया और लौकिक व्यवहारके समय आवश्यकता होनेपर पुनः नास्तिक हो सकता हूँ—नास्तिकोंकी-सी बातें कर सकता हूँ ॥ ३८ ॥

स चापि कालोऽयमुपागतः शनै-
र्यथा मया नास्तिकवागुदीरिता।
निवर्तनार्थं तव राम कारणात्
प्रसादनार्थं च मयैतदीरितम् ॥ ३९ ॥

'इस समय ऐसा अवसर आ गया था, जिससे मैंने धीरे-धीरे नास्तिकोंकी-सी बातें कह डालीं। श्रीराम! मैंने जो यह बात कही, इसमें मेरा उद्देश्य यही था कि किसी तरह आपको राजी करके अयोध्या लौटनेके लिये तैयार कर लूँ' ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवाधिकशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ नौवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०९ ॥



दशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीका सृष्टिपरम्पराके साथ इक्ष्वाकुकुलकी परम्परा बताकर ज्येष्ठके ही राज्याभिषेकका औचित्य सिद्ध करना और श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना

क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको रुष्ट जानकर महर्षि वसिष्ठजीने उनसे कहा—'रघुनन्दन! महर्षि जाबालि भी यह जानते हैं कि इस लोकके प्राणियोंका परलोकमें जाना और आना होता रहता है (अतः ये नास्तिक नहीं हैं) ॥ १ ॥

निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद् वाक्यमब्रवीत्।
इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे ॥ २ ॥

'जगदीश्वर! इस समय तुम्हें लौटानेकी इच्छासे ही इन्होंने यह नास्तिकतापूर्ण बात कही थी। तुम मुझसे इस लोककी उत्पत्तिका वृत्तान्त सुनो ॥ २ ॥

सर्वं सलिलमेवासीत् पृथिवी तत्र निर्मिता।
ततः समभवद् ब्रह्मा स्वयंभूर्दैवतैः सह ॥ ३ ॥

'सृष्टिके प्रारम्भकालमें सब कुछ जलमय ही था। उस जलके भीतर ही पृथ्वीका निर्माण हुआ। तदनन्तर देवताओंके साथ स्वयंभू ब्रह्मा प्रकट हुए ॥ ३ ॥

स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुंधराम्।
असृजच्च जगत् सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥

'इसके बाद उन भगवान् विष्णुस्वरूप ब्रह्माने ही वराहरूपसे प्रकट होकर जलके भीतरसे इस पृथ्वीको निकाला और अपने कृतात्मा पुत्रोंके साथ इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की ॥ ४ ॥

आकाशप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः।
तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः कश्यपः सुतः ॥ ५ ॥

'आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मासे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ है, जो नित्य, सनातन एवं अविनाशी हैं। उनसे मरीचि उत्पन्न हुए और मरीचिके पुत्र कश्यप हुए ॥ ५ ॥

विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्वयम्।
स तु प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुस्तु मनोः सुतः ॥ ६ ॥

'कश्यपसे विवस्वान्का जन्म हुआ। विवस्वान्के पुत्र साक्षात् वैवस्वत मनु हुए, जो पहले प्रजापति थे। मनुके पुत्र इक्ष्वाकु हुए ॥ ६ ॥

यस्येयं प्रथमं दत्ता समृद्धा मनुना मही।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ ७ ॥

'जिन्हें मनुने सबसे पहले इस पृथ्वीका समृद्धिशाली राज्य सौंपा था, उन राजा इक्ष्वाकुको तुम अयोध्याका प्रथम राजा समझो ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव विश्रुतः।
कुक्षेरथात्मजो वीरो विकुक्षिरुदपद्यत ॥ ८ ॥

'इक्ष्वाकुके पुत्र श्रीमान् कुक्षिके नामसे विख्यात हुए। कुक्षिके वीर पुत्र विकुक्षि हुए ॥ ८ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान्।
बाणस्य च महाबाहुरनरण्यो महातपाः ॥ ९ ॥

'विकुक्षिके महातेजस्वी प्रतापी पुत्र बाण हुए। बाणके महाबाहु पुत्र अनरण्य हुए, जो बड़े भारी तपस्वी थे ॥ ९ ॥

नानावृष्टिर्बभूवास्मिन् न दुर्भिक्षः सतां वरे।
अनरण्ये महाराजे तस्करो वापि कश्चन ॥ १० ॥

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज अनरण्यके राज्यमें कभी अनावृष्टि नहीं हुई, अकाल नहीं पड़ा और कोई चोर भी नहीं उत्पन्न हुआ ॥ १० ॥

अनरण्यान्महाराज पृथू राजा बभूव ह।
तस्मात् पृथोर्महातेजास्त्रिशङ्कुरुदपद्यत ॥ ११ ॥

'महाराज! अनरण्यसे राजा पृथु हुए। उन पृथुसे महातेजस्वी त्रिशंकुकी उत्पत्ति हुई ॥ ११ ॥

स सत्यवचनाद् वीरः सशरीरो दिवं गतः।
त्रिशङ्कोरभवत् सूनुर्धुन्धुमारो महायशाः ॥ १२ ॥

'वे वीर त्रिशंकु विश्वामित्रके सत्य वचनके प्रभावसे सदेह स्वर्गलोकको चले गये थे। त्रिशंकुके महायशस्वी धुन्धुमार हुए ॥ १२ ॥

धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो व्यजायत।
युवनाश्वसुतः श्रीमान् मान्धाता समपद्यत ॥ १३ ॥

'धुन्धुमारसे महातेजस्वी युवनाश्वका जन्म हुआ। युवनाश्वके पुत्र श्रीमान् मान्धाता हुए ॥ १३ ॥

मान्धातुस्तु महातेजाः सुसंधिरुदपद्यत।
सुसंधेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसंधिः प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

'मान्धाताके महान् तेजस्वी पुत्र सुसंधि हुए। सुसंधिके दो पुत्र हुए—ध्रुवसंधि और प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

यशस्वी ध्रुवसंधेस्तु भरतो रिपुसूदनः।
भरतात् तु महाबाहोरसितो नाम जायत ॥ १५ ॥

'ध्रुवसंधिके यशस्वी पुत्र शत्रुसूदन भरत थे। महाबाहु भरतसे असित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १५ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशबिन्दवः ॥ १६ ॥

'जिसके शत्रुभूत प्रतिपक्षी राजा ये हैहय, तालजंघ और शूर शशबिन्दु उत्पन्न हुए थे ॥ १६ ॥

तांस्तु सर्वान् प्रतिव्यूह्य युद्धे राजा प्रवासितः।
स च शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ १७ ॥

'उन सबका सामना करनेके लिये सेनाका व्यूह बनाकर युद्धके लिये डटे रहनेपर भी शत्रुओंकी संख्या अधिक होनेके कारण राजा असितको हारकर परदेशकी शरण लेनी पड़ी। वे रमणीय शैल-शिखरपर प्रसन्नतापूर्वक रहकर मुनिभावसे परमात्माका मनन-चिन्तन करने लगे ॥ १७ ॥

द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः।
तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ १८ ॥
ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षिणी पुत्रमुत्तमम्।
एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै गरलं ददौ ॥ १९ ॥

'सुना जाता है कि असितकी दो पत्नियाँ गर्भवती थीं। उनमेंसे एक महाभागा कमललोचना राजपत्नीने उत्तम पुत्र पानेकी अभिलाषा रखकर देवतुल्य तेजस्वी भृगुवंशी च्यवन मुनिके चरणोंमें वन्दना की और दूसरी रानीने अपनी सौतके गर्भका विनाश करनेके लिये उसे जहर दे दिया ॥ १८-१९ ॥

भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः।
तमृषिं साभ्युपागम्य कालिन्दी त्वभ्यवादयत् ॥ २० ॥

'उन दिनों भृगुवंशी च्यवन मुनि हिमालयपर रहते थे। राजा असितकी कालिन्दी नामवाली पत्नीने ऋषिके चरणोंमें पहुँचकर उन्हें प्रणाम किया ॥ २० ॥

स तामभ्यवदत् प्रीतो वरेप्सुं पुत्रजन्मनि।
पुत्रस्ते भविता देवि महात्मा लोकविश्रुतः ॥ २१ ॥

धार्मिकश्च सुभीमश्च वंशकर्तारिसूदनः ।

'मुनिने प्रसन्न होकर पुत्रकी उत्पत्तिके लिये वरदान चाहनेवाली रानीसे इस प्रकार कहा—'देवि ! तुम्हें एक महामनस्वी लोकविख्यात पुत्र प्राप्त होगा, जो धर्मात्मा, शत्रुओंके लिये अत्यन्त भयंकर, अपने वंशको चलानेवाला और शत्रुओंका संहारक होगा' ॥ २१½ ॥

श्रुत्वा प्रदक्षिणं कृत्वा मुनिं तमनुमान्य च ॥ २२ ॥
पद्मपत्रसमानाक्षं पद्मगर्भसमप्रभम् ।
ततः सा गृहमागम्य पत्नी पुत्रमजायत ॥ २३॥

'यह सुनकर रानीने मुनिकी परिक्रमा की और उनसे विदा लेकर वहाँसे अपने घर आनेपर उस रानीने एक पुत्रको जन्म दिया, जिसकी कान्ति कमलके भीतरी भागके समान सुन्दर थी और नेत्र कमलदलके समान मनोहर थे ॥ २२-२३ ॥

सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया ।
गरेण सह तेनैव तस्मात् स सगरोऽभवत् ॥ २४॥

'सौतने उसके गर्भको नष्ट करनेके लिये जो गर (विष) दिया था, उस गरके साथ ही वह बालक प्रकट हुआ; इसलिये सगर नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ २४ ॥

स राजा सगरो नाम यः समुद्रमखानयत् ।
इष्ट्वा पर्वणि वेगेन त्रासयान इमाः प्रजाः ॥ २५॥

'राजा सगर वे ही हैं, जिन्होंने पर्वके दिन यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करके खुदाईके वेगसे इन समस्त प्रजाओंको भयभीत करते हुए अपने पुत्रोंद्वारा समुद्रको खुदवाया था ॥ २५ ॥

असमञ्जस्तु पुत्रोऽभूत् सगरस्येति नः श्रुतम् ।
जीवन्नेव स पित्रा तु निरस्तः पापकर्मकृत् ॥ २६ ॥

'हमारे सुननेमें आया है कि सगरके पुत्र असमञ्ज हुए, जिन्हें पापकर्ममें प्रवृत्त होनेके कारण पिताने जीते-जी ही राज्यसे निकाल दिया था ॥ २६ ॥

अंशुमानपि पुत्रोऽभूदसमञ्जस्य वीर्यवान् ।
दिलीपोऽंशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ २७ ॥

'असमञ्जके पुत्र अंशुमान् हुए, जो बड़े पराक्रमी थे । अंशुमान्‌के दिलीप और दिलीपके पुत्र भगीरथ हुए ॥२७॥

भगीरथात् ककुत्स्थश्च काकुत्स्था येन तु स्मृताः ।
ककुत्स्थस्य तु पुत्रोऽभूद् रघुर्येन तु राघवाः ॥ २८ ॥

'भगीरथसे ककुत्स्थका जन्म हुआ, जिनसे उनके वंशवाले 'काकुत्स्थ' कहलाते हैं । ककुत्स्थके पुत्र रघु हुए जिनसे उस वंशके लोग 'राघव' कहलाये ॥ २८ ॥

रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ।
कल्माषपादः सौदास इत्येवं प्रथितो भुवि ॥ २९ ॥

'रघुके तेजस्वी पुत्र कल्माषपाद हुए, जो बड़े होनेपर शापवश कुछ वर्षोंके लिये नरभक्षी राक्षस हो गये थे । वे इस पृथ्वीपर सौदास नामसे विख्यात थे ॥ २९ ॥

कल्माषपादपुत्रोऽभूच्छङ्खणस्त्विति नः श्रुतम् ।
यस्तु तद्वीर्यमासाद्य सहसैन्यो व्यनीनशत् ॥ ३० ॥

'कल्माषपादके पुत्र शङ्खण हुए, यह हमारे सुननेमें आया है, जो युद्धमें सुप्रसिद्ध पराक्रम प्राप्त करके भी सेनासहित नष्ट हो गये थे ॥ ३० ॥

शङ्खणस्य तु पुत्रोऽभूच्छूरः श्रीमान् सुदर्शनः ।
सुदर्शनस्याग्निवर्ण अग्निवर्णस्य शीघ्रगः ॥ ३१ ॥

शङ्खणके शूरवीर पुत्र श्रीमान् सुदर्शन हुए । सुदर्शनके पुत्र अग्निवर्ण और अग्निवर्णके पुत्र शीघ्रग थे ॥ ३१ ॥

शीघ्रगस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रशुश्रुवः ।
प्रशुश्रुवस्य पुत्रोऽभूदम्बरीषो महामतिः ॥ ३२ ॥

'शीघ्रगके पुत्र मरु, मरुके पुत्र प्रशुश्रुव तथा प्रशुश्रुवके महाबुद्धिमान् पुत्र अम्बरीष हुए ॥ ३२ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषः सत्यविक्रमः ।
नहुषस्य च नाभागः पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ३३ ॥

'अम्बरीषके पुत्र सत्यपराक्रमी नहुष थे । नहुषके पुत्र नाभाग हुए, जो बड़े धर्मात्मा थे ॥ ३३ ॥

अजश्च सुव्रतश्चैव नाभागस्य सुतावुभौ ।
अजस्य चैव धर्मात्मा राजा दशरथः सुतः ॥ ३४ ॥

'नाभागके दो पुत्र हुए—अज और सुव्रत । अजके धर्मात्मा पुत्र राजा दशरथ थे ॥ ३४ ॥

तस्य ज्येष्ठोऽसि दायादो राम इत्यभिविश्रुतः ।
तद् गृहाण स्वकं राज्यमवेक्षस्व जगन्नृप ॥ ३५ ॥

दशरथके ज्येष्ठ पुत्र तुम हो, जिसकी 'श्रीराम' के नामसे प्रसिद्धि है । नरेश्वर ! यह अयोध्याका राज्य तुम्हारा है, इसे ग्रहण करो और इसकी देख-भाल करते रहो ॥ ३५ ॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः ।
पूर्वजे नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ॥ ३६ ॥

'समस्त इक्ष्वाकुवंशियोंके यहाँ ज्येष्ठ पुत्र ही राजा होता आया है । ज्येष्ठके होते हुए छोटा पुत्र राजा नहीं होता है । ज्येष्ठ पुत्रका ही राजाके पदपर अभिषेक होता है ॥ ३६ ॥

स राघवाणां कुलधर्ममात्मनः
सनातनं नाद्य विहन्तुमर्हसि ।
प्रभूतरत्नामनुशाधि मेदिनीं
प्रभूतराष्ट्रां पितृवन्महायशाः ॥ ३७ ॥

'महायशस्वी श्रीराम ! रघुवंशियोंका जो अपना सनातन कुलधर्म है, उसको आज तुम नष्ट न करो। बहुत-से अवान्तर देशोंवाली तथा प्रचुर रत्नराशिसे सम्पन्न इस वसुधाका पिताकी भाँति पालन करो' ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीके समझानेपर भी श्रीरामको पिताकी आज्ञाके पालनसे विरत होते न देख भरतका धरना देनेको तैयार होना तथा श्रीरामका उन्हें समझाकर अयोध्या लौटनेकी आज्ञा देना

वसिष्ठः स तदा राममुक्त्वा राजपुरोहितः।
अब्रवीद् धर्मसंयुक्तं पुनरेवापरं वचः ॥ १ ॥

उस समय राजपुरोहित वसिष्ठने पूर्वोक्त बातें कहकर पुनः श्रीरामसे दूसरी धर्मयुक्त बातें कहीं—॥ १ ॥

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवः सदा।
आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव ॥ २ ॥

'रघुनन्दन ! ककुत्स्थकुलभूषण ! इस संसारमें उत्पन्न हुए पुरुषके सदा तीन गुरु होते हैं—आचार्य, पिता और माता ॥ २ ॥

पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ।
प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुरुच्यते ॥ ३ ॥

पुरुषप्रवर ! पिता पुरुषके शरीरको उत्पन्न करता है, इसलिये गुरु है और आचार्य उसे ज्ञान देता है, इसलिये गुरु कहलाता है ॥ ३ ॥

स तेऽहं पितुराचार्यस्तव चैव परंतप।
मम त्वं वचनं कुर्वन् नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ४ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुवीर ! मैं तुम्हारे पिताका और तुम्हारा भी आचार्य हूँ; अतः मेरी आज्ञाका पालन करनेसे तुम सत्पुरुषोंके पथका त्याग करनेवाले नहीं समझे जाओगे ॥ ४ ॥

इमा हि ते परिषदो ज्ञातयश्च नृपास्तथा।
एषु तात चरन् धर्मं नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ५ ॥

'तात ! ये तुम्हारे सभासद्, बन्धु-बान्धव तथा सामन्त राजा पधारे हुए हैं, इनके प्रति धर्मानुकूल बर्ताव करनेसे भी तुम्हारे द्वारा सन्मार्गका उल्लङ्घन नहीं होगा ॥ ५ ॥

वृद्धाया धर्मशीलाया मातुर्नार्हस्यवर्तितुम्।
अस्या हि वचनं कुर्वन् नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ६ ॥

अपनी धर्मपरायणा बूढ़ी माताकी बात तो तुम्हें कभी टालनी ही नहीं चाहिये। इनकी आज्ञाका पालन करके तुम श्रेष्ठ पुरुषोंके आश्रयभूत धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले नहीं माने जाओगे ॥ ६ ॥

भरतस्य वचः कुर्वन् याचमानस्य राघव।
आत्मानं नातिवर्तेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम ॥ ७ ॥

'सत्य, धर्म और पराक्रमसे सम्पन्न रघुनन्दन ! भरत अपने आत्मस्वरूप तुमसे राज्य ग्रहण करने और अयोध्या लौटनेकी प्रार्थना कर रहे हैं, उनकी बात मान लेनेसे भी तुम धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले नहीं कहलाओगे' ॥ ७ ॥

एवं मधुरमुक्तः स गुरुणा राघवः स्वयम्।
प्रत्युवाच समासीनं वसिष्ठं पुरुषर्षभः ॥ ८ ॥

गुरु वसिष्ठने सुमधुर वचनोंमें जब इस प्रकार कहा तब साक्षात् पुरुषोत्तम श्रीराघवेन्द्रने वहाँ बैठे हुए वसिष्ठजीको यों उत्तर दिया—॥ ८ ॥

यन्मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा।
न सुप्रतिकरं तत् तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम् ॥ ९ ॥
यथाशक्तिप्रदानेन स्वापनोच्छादनेन च।
नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च ॥ १० ॥

'माता और पिता पुत्रके प्रति जो सर्वदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करते हैं, अपनी शक्तिके अनुसार उत्तम खाद्य पदार्थ देने, अच्छे बिछौनेपर सुलाने, उबटन आदि लगाने, सदा मीठी बातें बोलने तथा पालन-पोषण करने आदिके द्वारा माता और पिताने जो उपकार किया है, उसका बदला सहज ही नहीं चुकाया जा सकता ॥ ९-१० ॥

स हि राजा दशरथः पिता जनयिता मम।
आज्ञापयन्मां यत् तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति ॥ ११ ॥

'अतः मेरे जन्मदाता पिता महाराज दशरथने मुझे जो आज्ञा दी है, वह मिथ्या नहीं होगी' ॥ ११ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम्।
उवाच विपुलोरस्कः सूतं परमदुर्मनाः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर चौड़ी छातीवाले भरतजीका मन बहुत उदास हो गया। वे पास ही बैठे हुए सूत सुमन्त्रसे बोले—॥ १२ ॥

इह तु स्थण्डिले शीघ्रं कुशानास्तर सारथे।
आर्यं प्रत्युपवेक्ष्यामि यावन्मे सम्प्रसीदति ॥ १३ ॥

निराहारो निरालोको धनहीनो यथा द्विजः ।
शये पुरस्ताच्छालायां यावन्मां प्रतियास्यति ॥ १४ ॥

'सारथे ! आप इस वेदीपर शीघ्र ही बहुत-से कुश बिछा दीजिये । जबतक आर्य मुझपर प्रसन्न नहीं होंगे, तबतक मैं यहीं इनके पास धरना दूँगा । जैसे साहूकार या महाजनके द्वारा निर्धन किया हुआ ब्राह्मण उसके घरके दरवाजेपर मुँह ढककर बिना खाये-पिये पड़ा रहता है, उसी प्रकार मैं भी उपवासपूर्वक मुखपर आवरण डालकर इस कुटियाके सामने लेट जाऊँगा । जबतक मेरी बात मानकर ये अयोध्याको नहीं लौटेंगे, तबतक मैं इसी तरह पड़ा रहूँगा' ॥ १३-१४ ॥

स तु राममवेक्षन्तं सुमन्त्रं प्रेक्ष्य दुर्मनाः ।
कुशोत्तरमुपस्थाप्य भूमावेवास्थितः स्वयम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर सुमन्त्र श्रीरामचन्द्रजीका मुँह ताकने लगे । उन्हें इस अवस्थामें देख भरतके मनमें बड़ा दुःख हुआ और वे स्वयं ही कुशकी चटाई बिछाकर जमीनपर बैठ गये ॥ १५ ॥

तमुवाच महातेजा रामो राजर्षिसत्तमः ।
किं मां भरत कुर्वाणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसे ॥ १६ ॥

तब महातेजस्वी राजर्षिशिरोमणि श्रीरामने उनसे कहा—'तात भरत ! मैं तुम्हारी क्या बुराई करता हूँ, जो मेरे आगे धरना दोगे ? ॥ १६ ॥

ब्राह्मणो ह्येकपार्श्वेन नरान् रोद्धुमिहार्हति ।
न तु मूर्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने ॥ १७ ॥

'ब्राह्मण एक करवटसे सोकर—धरना देकर मनुष्योंको अन्यायसे रोक सकता है, परंतु राजतिलक ग्रहण करनेवाले क्षत्रियोंके लिये इस प्रकार धरना देनेका विधान नहीं है ॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद् दारुणं व्रतम् ।
पुरवर्यामितः क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव ॥ १८ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ रघुनन्दन ! इस कठोर व्रतका परित्याग करके उठो और यहाँसे शीघ्र ही अयोध्यापुरीको जाओ' ॥ १८ ॥

आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम् ।
उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यं नानुशासथ ॥ १९ ॥

यह सुनकर भरत वहाँ बैठे-बैठे ही सब ओर दृष्टि डालकर नगर और जनपदके लोगोंसे बोले—'आपलोग भैयाको क्यों नहीं समझाते हैं ?' ॥ १९ ॥

ते तदोचुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः ।
काकुत्स्थमभिजानीमः सम्यग् वदति राघवः ॥ २० ॥

तब नगर और जनपदके लोग महात्मा भरतसे बोले—'हम जानते हैं, काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्रजीके प्रति आप रघुकुल-तिलक भरतजी ठीक ही कहते हैं ॥ २० ॥

एषोऽपि हि महाभागः पितुर्वचसि तिष्ठति ।
अत एव न शक्ताः स्मो व्यावर्तयितुमञ्जसा ॥ २१ ॥

'परंतु ये महाभाग श्रीरामचन्द्रजी भी पिताकी आज्ञाके पालनमें लगे हैं, इसलिये यह भी ठीक ही है । अतएव हम इन्हें सहसा उस ओरसे लौटानेमें असमर्थ हैं' ॥ २१ ॥

तेषामाज्ञाय वचनं रामो वचनमब्रवीत् ।
एवं निबोध वचनं सुहृदां धर्मचक्षुषाम् ॥ २२ ॥

उन पुरवासियोंके वचनका तात्पर्य समझकर श्रीरामने भरतसे कहा—'भरत ! धर्मपर दृष्टि रखनेवाले सुहृदोंके इस कथनको सुनो और समझो ॥ २२ ॥

एतच्चैवोभयं श्रुत्वा सम्यक् सम्पश्य राघव ।
उत्तिष्ठ त्वं महाबाहो मां च स्पृश तथोदकम् ॥ २३ ॥

'रघुनन्दन ! मेरी और इनकी दोनों बातोंको सुनकर उनपर सम्यक् रूपसे विचार करो । महाबाहो ! अब शीघ्र उठो तथा मेरा और जलका स्पर्श करो' ॥ २३ ॥

अथोत्थाय जलं स्पृष्ट्वा भरतो वाक्यमब्रवीत् ।
शृण्वन्तु मे परिषदो मन्त्रिणः शृणुयुस्तथा ॥ २४ ॥
न याचे पितरं राज्यं नानुशासामि मातरम् ।
एवं परमधर्मज्ञं नानुजानामि राघवम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर भरत उठकर खड़े हो गये और श्रीराम एवं जलका स्पर्श करके बोले—'मेरे सभासद् और मन्त्री सब लोग सुनें—न तो मैंने पिताजीसे राज्य माँगा था और न मातासे ही कभी इसके लिये कुछ कहा था । साथ ही, परम धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीके वनवासमें भी मेरी कोई सम्मति नहीं है ॥ २४-२५ ॥

यदि त्ववश्यं वस्तव्यं कर्तव्यं च पितुर्वचः ।
अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश वने समाः ॥ २६ ॥

'फिर भी यदि इनके लिये पिताजीकी आज्ञाका पालन करना और वनमें रहना अनिवार्य है तो इनके बदले मैं ही चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करूँगा' ॥ २६ ॥

धर्मात्मा तस्य सत्येन भ्रातुर्वाक्येन विस्मितः ।
उवाच रामः सम्प्रेक्ष्य पौरजानपदं जनम् ॥ २७ ॥

भाई भरतकी इस सत्य बातसे धर्मात्मा श्रीरामको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने पुरवासी तथा राज्यनिवासी लोगोंकी ओर देखकर कहा—॥ २७ ॥

विक्रीतमाहितं क्रीतं यत् पित्रा जीवता मम ।
न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा ॥ २८ ॥

'पिताजीने अपने जीवनकालमें जो वस्तु बेंच दी है, या धरोहर रख दी है अथवा खरीदी है, उसे मैं अथवा भरत कोई भी पलट नहीं सकता ॥ २८ ॥

उपाधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः।
युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥ २९ ॥

'मुझे वनवासके लिये किसीको प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहिये; क्योंकि सामर्थ्य रहते हुए प्रतिनिधिसे काम लेना लोकमें निन्दित है। कैकेयीने उचित माँग ही प्रस्तुत की थी और मेरे पिताजीने उसे देकर पुण्य कर्म ही किया था ॥ २९ ॥

जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम्।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसंधे महात्मनि ॥ ३० ॥

'मैं जानता हूँ, भरत बड़े क्षमाशील और गुरुजनोंका सत्कार करनेवाले हैं; इन सत्यप्रतिज्ञ महात्मामें सभी कल्याणकारी गुण मौजूद हैं ॥ ३० ॥

अनेन धर्मशीलेन वनात् प्रत्यागतः पुनः।
भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥ ३१ ॥

चौदह वर्षोंकी अवधि पूरी करके जब मैं वनसे लौटूँगा, तब अपने इन धर्मशील भाईके साथ इस भूमण्डलका श्रेष्ठ राजा होऊँगा ॥ ३१ ॥

वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम्।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥ ३२ ॥

'कैकेयीने राजासे वर माँगा और मैंने उसका पालन स्वीकार कर लिया, अतः भरत! अब तुम मेरा कहना मानकर उस वरके पालनद्वारा अपने पिता महाराज दशरथको असत्यके बन्धनसे मुक्त करो' ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकादशाधिकशततमः सर्गः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमः सर्गः

ऋषियोंका भरतको श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार लौट जानेकी सलाह देना, भरतका पुनः श्रीरामके चरणोंमें गिरकर चलनेकी प्रार्थना करना, श्रीरामका उन्हें समझाकर अपनी चरणपादुका देकर उन सबको विदा करना

तमप्रतिमतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम्।
विस्मिताः संगमं प्रेक्ष्य समुपेता महर्षयः ॥ १ ॥

उन अनुपम तेजस्वी भ्राताओंका वह रोमाञ्चकारी समागम देख वहाँ आये हुए महर्षियोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १ ॥

अन्तर्हिता मुनिगणाः स्थिताश्च परमर्षयः।
तौ भ्रातरौ महाभागौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे ॥ २ ॥

अन्तरिक्षमें अदृश्य भावसे खड़े हुए मुनि तथा वहाँ प्रत्यक्षरूपमें बैठे हुए महर्षि उन महान् भाग्यशाली ककुत्स्थवंशी बन्धुओंकी इस प्रकार प्रशंसा करने लगे—॥

सदार्यौ राजपुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ।
श्रुत्वा वयं हि सम्भाषामुभयोः स्पृहयामहे ॥ ३ ॥

'ये दोनों राजकुमार सदा श्रेष्ठ, धर्मके ज्ञाता और धर्ममार्गपर ही चलनेवाले हैं। इन दोनोंकी बातचीत सुनकर हमें उसे बारंबार सुनते रहनेकी ही इच्छा होती है' ॥ ३ ॥

ततस्त्वृषिगणाः क्षिप्रं दशग्रीववधैषिणः।
भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः संगता वचः ॥ ४ ॥

तदनन्तर दशग्रीव रावणके वधकी अभिलाषा रखनेवाले ऋषियोंने मिलकर राजसिंह भरतसे तुरंत ही यह बात कही—॥ ४ ॥

कुले जात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः।
ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे ॥ ५ ॥

'महाप्राज्ञ! तुम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हो। तुम्हारा आचरण बहुत उत्तम और यश महान् है। यदि तुम अपने पिताकी ओर देखो—उन्हें सुख पहुँचाना चाहो तो तुम्हें श्रीरामचन्द्रजीकी बात मान लेनी चाहिये ॥ ५ ॥

सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः।
अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः ॥ ६ ॥

'हमलोग इन श्रीरामको पिताके ऋणसे सदा उऋण देखना चाहते हैं। कैकेयीका ऋण चुका देनेके कारण ही राजा दशरथ स्वर्गमें पहुँचे हैं ॥ ६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं गन्धर्वाः समहर्षयः।
राजर्षयश्चैव तथा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः ॥ ७ ॥

इतना कहकर वहाँ आये हुए गन्धर्व, महर्षि और राजर्षि सब अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ७ ॥

ह्लादितस्तेन वाक्येन शुशुभे शुभदर्शनः।
रामः संहृष्टवदनस्तानृषीनभ्यपूजयत्॥ ८॥

जिनके दर्शनसे जगत्का कल्याण हो जाता है, वे भगवान् श्रीराम महर्षियोंके वचनसे बहुत प्रसन्न हुए। उनका मुख हर्षोल्लाससे खिल उठा, इससे उनकी बड़ी शोभा हुई और उन्होंने उन महर्षियोंकी सादर प्रशंसा की॥ ८॥

त्रस्तगात्रस्तु भरतः स वाचा सज्जमानया।
कृताञ्जलिरिदं वाक्यं राघवं पुनरब्रवीत्॥ ९॥

परंतु भरतका सारा शरीर थर्रा उठा। वे लड़खड़ाती हुई जबानसे हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—॥ ९॥

राम धर्ममिमं प्रेक्ष्य कुलधर्मानुसंततम्।
कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ मम मातुश्च याचनाम्॥ १०॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! हमारे कुलधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला जो ज्येष्ठ पुत्रका राज्यग्रहण और प्रजापालनरूप धर्म है, उसकी ओर दृष्टि डालकर आप मेरी तथा माताकी याचना सफल कीजिये॥ १०॥

रक्षितुं सुमहद् राज्यमहमेकस्तु नोत्सहे।
पौरजानपदांश्चापि रक्तान् रञ्जयितुं तदा॥ ११॥

'मैं अकेला ही इस विशाल राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता तथा आपके चरणोंमें अनुराग रखनेवाले इन पुरवासी तथा जनपदवासी लोगोंको भी आपके विना प्रसन्न नहीं रख सकता॥ ११॥

ज्ञातयश्चापि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः।
त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः॥ १२॥

'जैसे किसान मेघकी प्रतीक्षा करते रहते हैं, उसी प्रकार हमारे बन्धु-बान्धव, योद्धा, मित्र और सुहृद् सब लोग आपकी ही बाट जोहते हैं॥ १२॥

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय प्रतिपद्य हि।
शक्तिमान् स हि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने॥ १३॥

'महाप्राज्ञ! आप इस राज्यको स्वीकार करके दूसरे किसीको इसके पालनका भार सौंप दीजिये। वही पुरुष आपके प्रजावर्ग अथवा लोकका पालन करनेमें समर्थ हो सकता है'॥

एवमुक्त्वापतद् भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा।
भृशं सम्प्रार्थयामास राघवेऽतिप्रियं वदन्॥ १४॥

ऐसा कहकर भरत अपने भाईके चरणोंपर गिर पड़े। उस समय उन्होंने श्रीरघुनाथजीसे अत्यन्त प्रिय वचन बोलकर उनसे राज्यग्रहण करनेके लिये बड़ी प्रार्थना की॥ १४॥

तमङ्के भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत्।
श्यामं नलिनपत्राक्षं मत्तहंसस्वरः स्वयम्॥ १५॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने श्यामवर्ण कमलनयन भाई भरतको उठाकर गोदमें बिठा लिया और मदमत्त हंसके समान मधुर स्वरमें स्वयं यह बात कही—॥ १५॥

आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि॥ १६॥

'तात! तुम्हें जो यह स्वाभाविक विनयशील बुद्धि प्राप्त हुई है इस बुद्धिके द्वारा तुम समस्त भूमण्डलकी रक्षा करनेमें भी पूर्णरूपसे समर्थ हो सकते हो॥ १६॥

अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः।
सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य महान्त्यपि हि कारय॥ १७॥

'इसके सिवा अमात्यों, सुहृदों और बुद्धिमान् मन्त्रियोंसे सलाह लेकर उनके द्वारा सब कार्य, वे कितने ही बड़े क्यों न हों, करा लिया करो॥ १७॥

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद् वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥ १८॥

'चन्द्रमासे उसकी प्रभा अलग हो जाय, हिमालय हिमका परित्याग कर दे, अथवा समुद्र अपनी सीमाको लाँघकर आगे बढ़ जाय, किंतु मैं पिताकी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता॥१८॥

कामाद् वा तात लोभाद् वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्॥ १९॥

'तात! माता कैकेयीने कामनासे अथवा लोभवश तुम्हारे लिये जो कुछ किया है, उसको मनमें न लाना और उसके प्रति सदा वैसा ही बर्ताव करना जैसा अपनी पूजनीया माताके प्रति करना उचित है'॥ १९॥

एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत्।
तेजसाऽऽदित्यसंकाशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम्॥ २०॥

जो सूर्यके समान तेजस्वी हैं तथा जिनका दर्शन प्रतिपदा (द्वितीया) के चन्द्रमाकी भाँति आह्लादजनक है, उन कौसल्यानन्दन श्रीरामके इस प्रकार कहनेपर भरत उनसे यों बोले—॥ २०॥

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः॥ २१॥

'आर्य! ये दो सुवर्णभूषित पादुकाएँ आपके चरणोंमें अर्पित हैं, आप इनपर अपने चरण रखें। ये ही सम्पूर्ण जगत्के योगक्षेमका निर्वाह करेंगी'॥ २१॥

सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च।
प्रायच्छत् सुमहातेजा भरताय महात्मने॥ २२॥

तब महातेजस्वी पुरुषसिंह श्रीरामने उन पादुकाओंपर चढ़कर उन्हें फिर अलग कर दिया और महात्मा भरतको सौंप दिया॥ २२॥

स पादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत्।

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥ २३ ॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद् बहिः ॥ २४ ॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप ।

उन पादुकाओंको प्रणाम करके भरतने श्रीरामसे कहा—'वीर रघुनन्दन ! मैं भी चौदह वर्षोंतक जटा और चीर धारण करके फल-मूलका भोजन करता हुआ आपके आगमनकी प्रतीक्षामें नगरसे बाहर ही रहूँगा । परंतप ! इतने दिनोंतक राज्यका सारा भार आपकी इन चरणपादुकाओंपर ही रखकर मैं आपकी बाट जोहता रहूँगा ॥ २३-२४½ ॥

चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥ २५ ॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।

'रघुकुलशिरोमणे ! यदि चौदहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर नूतन वर्षके प्रथम दिन ही मुझे आपका दर्शन नहीं मिलेगा तो मैं जलती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगा' ॥ २५½ ॥

तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥ २६ ॥
शत्रुघ्नं च परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत् ।

श्रीरामचन्द्रजीने 'बहुत अच्छा' कहकर स्वीकृति दे दी और बड़े आदरके साथ भरतको हृदयसे लगाया । तत्पश्चात् शत्रुघ्नको भी छातीसे लगाकर यह बात कही—॥ २६½ ॥

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥ २७ ॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन ।
इत्युक्त्वाश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह ॥ २८ ॥

'रघुनन्दन ! मैं तुम्हें अपनी और सीताकी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम माता कैकेयीकी रक्षा करना, उनके प्रति कभी क्रोध न करना'—इतना कहते-कहते उनकी आँखोंमें आँसू उमड़ आये । उन्होंने व्यथित हृदयसे भाई शत्रुघ्नको विदा किया ॥ २७-२८ ॥

स पादुके ते भरतः स्वलंकृते
महोज्ज्वले सम्परिगृह्य धर्मवित् ।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं
चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि ॥ २९ ॥

धर्मज्ञ भरतने भलीभाँति अलंकृत की हुई उन परम उज्ज्वल चरणपादुकाओंको लेकर श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की तथा उन पादुकाओंको राजाकी सवारीमें आनेवाले सर्वश्रेष्ठ गजराजके मस्तकपर स्थापित किया ॥ २९ ॥

अथानुपूर्व्या प्रतिपूज्य तं जनं
गुरूंश्च मन्त्रीन् प्रकृतीस्तथानुजौ ।
व्यसर्जयद् राघववंशवर्धनः
स्थितः स्वधर्मे हिमवानिवाचलः ॥ ३० ॥

तदनन्तर अपने धर्ममें हिमालयकी भाँति अविचल भावसे स्थित रहनेवाले रघुवंशवर्धन श्रीरामने क्रमशः वहाँ आये हुए जनसमुदाय, गुरु, मन्त्री, प्रजा तथा दोनों भाइयोंका यथायोग्य सत्कार करके उन्हें विदा किया ॥ ३० ॥

तं मातरो बाष्पगृहीतकण्ठ्यो
दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः ।
स चैव मातॄरभिवाद्य सर्वा
रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ॥ ३१ ॥

उस समय कौसल्या आदि सभी माताओंका गला आँसुओंसे रुँध गया था । वे दुःखके कारण श्रीरामको सम्बोधित भी न कर सकीं । श्रीराम भी सब माताओंको प्रणाम करके रोते हुए अपनी कुटियामें चले गये ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः

भरतका भरद्वाजसे मिलते हुए अयोध्याको लौट आना

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा ।
आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा ॥ १ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी दोनों चरणपादुकाओंको अपने मस्तकपर रखकर भरत शत्रुघ्नके साथ प्रसन्नतापूर्वक रथपर बैठे ॥ १ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जावालिश्च दृढव्रतः ।
अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वसिष्ठ, वामदेव तथा दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले जाबालि आदि सब मन्त्री, जो उत्तम मन्त्रणा देनेके कारण सम्मानित थे, आगे-आगे चले ॥ २ ॥

मन्दाकिनीं नदीं रम्यां प्राङ्मुखास्ते ययुस्तदा ।
प्रदक्षिणं च कुर्वाणाश्चित्रकूटं महागिरिम् ॥ ३ ॥

वे सब लोग चित्रकूट नामक महान् पर्वतकी परिक्रमा करते हुए परम रमणीय मन्दाकिनी नदीको पार करके पूर्वदिशाकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ३ ॥

पश्यन् धातुसहस्राणि रम्याणि विविधानि च ।



भरतका श्रीरामकी पादुका लेकर अयोध्याके लिये प्रस्थान

प्रययौ तस्य पार्श्वेन ससैन्यो भरतस्तदा ॥ ४ ॥

उस समय भरत अपनी सेनाके साथ सहस्रों प्रकारके रमणीय धातुओंको देखते हुए चित्रकूटके किनारेसे होकर निकले ॥ ४ ॥

अदूराच्चित्रकूटस्य ददर्श भरतस्तदा ।
आश्रमं यत्र स मुनिर्भरद्वाजः कृतालयः ॥ ५ ॥

चित्रकूटसे थोड़ी ही दूर जानेपर भरतने वह आश्रम देखा, जहाँ मुनिवर भरद्वाजजी निवास करते थे * ॥ ५ ॥

स तमाश्रममागम्य भरद्वाजस्य वीर्यवान् ।
अवतीर्य रथात् पादौ ववन्दे कुलनन्दनः ॥ ६ ॥

अपने कुलको आनन्दित करनेवाले पराक्रमी भरत महर्षि भरद्वाजके उस आश्रमपर पहुँचकर रथसे उतर पड़े और उन्होंने मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ६ ॥

ततो हृष्टो भरद्वाजो भरतं वाक्यमब्रवीत् ।
अपि कृत्यं कृतं तात रामेण च समागतम् ॥ ७ ॥

उनके आनेसे महर्षि भरद्वाजको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने भरतसे पूछा—'तात ! क्या तुम्हारा कार्य सम्पन्न हुआ ? क्या श्रीरामचन्द्रजीसे भेंट हुई ?' ॥ ७ ॥

एवमुक्तः स तु ततो भरद्वाजेन धीमता ।
प्रत्युवाच भरद्वाजं भरतो धर्मवत्सलः ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् भरद्वाजजीके इस प्रकार पूछनेपर धर्मवत्सल भरतने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ८ ॥

स याच्यमानो गुरुणा मया च दृढविक्रमः ।
राघवः परमप्रीतो वसिष्ठं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

'मुने ! भगवान् श्रीराम अपने पराक्रमपर दृढ़ रहनेवाले हैं। मैंने उनसे बहुत प्रार्थना की । गुरुजीने भी अनुरोध किया । तब उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर गुरुदेव वसिष्ठजीसे इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

पितुः प्रतिज्ञां तामेव पालयिष्यामि तत्त्वतः ।
चतुर्दश हि वर्षाणि या प्रतिज्ञा पितुर्मम ॥ १० ॥

'मैं चौदह वर्षोंतक वनमें रहूँ, इसके लिये मेरे पिताजीने जो प्रतिज्ञा कर ली थी, उनकी उस प्रतिज्ञाका ही मैं यथार्थरूपसे पालन करूँगा' ॥ १० ॥

एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं राघवं वचनं महत् ॥ ११ ॥

'उनके ऐसा कहनेपर बातके मर्मको समझनेवाले महाज्ञानी वसिष्ठजीने बातचीत करनेमें कुशल श्रीरघुनाथजीसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही—॥ ११ ॥

एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेमभूषिते ।
अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरो भव ॥ १२ ॥

'महाप्राज्ञ ! तुम प्रसन्नतापूर्वक ये स्वर्णभूषित पादुकाएँ अपने प्रतिनिधिके रूपमें भरतको दे दो और इन्हींके द्वारा अयोध्याके योगक्षेमका निर्वाह करो' ॥ १२ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः ।
पादुके हेमविकृते मम राज्याय ते ददौ ॥ १३ ॥

'गुरु वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर पूर्वाभिमुख खड़े हुए श्रीरघुनाथजीने अयोध्याके राज्यका संचालन करनेके लिये ये दोनों स्वर्णभूषित पादुकाएँ मुझे दे दीं ॥ १३ ॥

निवृत्तोऽहमनुज्ञातो रामेण सुमहात्मना ।
अयोध्यामेव गच्छामि गृहीत्वा पादुके शुभे ॥ १४ ॥

'तत्पश्चात् मैं महात्मा श्रीरामकी आज्ञा पाकर लौट आया हूँ और उनकी इन मङ्गलमयी चरणपादुकाओंको लेकर अयोध्याको ही जा रहा हूँ' ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।
भरद्वाजः शुभतरं मुनिर्वाक्यमुदाहरत् ॥ १५ ॥

महात्मा भरतका यह शुभ वचन सुनकर भरद्वाज मुनिने यह परम मङ्गलमय बात कही—॥ १५ ॥

नैतच्चित्रं नरव्याघ्रे शीलवृत्तविदां वरे ।
यदार्यं त्वयि तिष्ठेत्तु निम्नोत्सृष्टमिवोदकम् ॥ १६ ॥

'भरत ! तुम मनुष्योंमें सिंहके समान वीर तथा शील और सदाचारके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ हो । जैसे जल नीची भूमिवाले जलाशयमें सब ओरसे बहकर चला आता है, उसी प्रकार तुममें सारे श्रेष्ठ गुण स्थित हों—यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ १६ ॥

अनृणः स महाबाहुः पिता दशरथस्तव ।
यस्य त्वमीदृशः पुत्रो धर्मात्मा धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥

'तुम्हारे पिता महाबाहु राजा दशरथ सब प्रकारसे उऋण हो गये जिनके तुम-जैसा धर्मप्रेमी एवं धर्मात्मा पुत्र है' ॥ १७ ॥

तमृषिं तु महाप्राज्ञमुक्तवाक्यं कृताञ्जलिः ।
आमन्त्रयितुमारेभे चरणावुपगृह्य च ॥ १८ ॥

* यह आश्रम यमुनासे दक्षिण दिशामें चित्रकूटके कुछ निकट था। गङ्गा और यमुनाके बीच प्रयागवाला आश्रम, जहाँ वनमें जाते समय श्रीरामचन्द्रजी तथा भरत आदिने विश्राम किया था, इससे भिन्न जान पड़ता है। तभी इस आश्रमपर भरद्वाजसे मिलनेके बाद भरत आदिके यमुना पार करनेका उल्लेख मिलता है—'ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम् ।' इस द्वितीय आश्रमसे श्रीराम और भरतके समागमका समाचार शीघ्र प्राप्त हो सकता था; इसीलिये भरद्वाजजी भरतके लौटनेके समय वहीं मौजूद थे ।

उन महाज्ञानी महर्षिके ऐसा कहनेपर भरतने हाथ जोड़कर उनके चरणोंका स्पर्श किया; फिर वे उनसे जानेकी आज्ञा लेनेको उद्यत हुए ॥ १८ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भरद्वाजं पुनः पुनः ।
भरतस्तु ययौ श्रीमानयोध्यां सह मन्त्रिभिः ॥ १९ ॥

तदनन्तर श्रीमान् भरत बारंबार भरद्वाज मुनिकी परिक्रमा करके मन्त्रियोंसहित अयोध्याकी ओर चल दिये ॥ १९ ॥

यानैश्च शकटैश्चैव हयैर्नागैश्च सा चमूः ।
पुनर्निवृत्ता विस्तीर्णा भरतस्यानुयायिनी ॥ २० ॥

फिर वह विस्तृत सेना रथों, छकड़ों, घोड़ों और हाथियोंके साथ भरतका अनुसरण करती हुई अयोध्याको लौटी ॥

ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम् ।
ददृशुस्तां पुनः सर्वे गङ्गां शिवजलां नदीम् ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् आगे जाकर उन सब लोगोने तरंग-मालाओंसे सुशोभित दिव्य नदी यमुनाको पार करके पुनः शुभसलिला गङ्गाजीका दर्शन किया ॥ २१ ॥

तां रम्यजलसम्पूर्णां संतीर्य सहबान्धवः ।
शृङ्गवेरपुरं रम्यं प्रविवेश ससैनिकः ॥ २२ ॥

फिर बन्धु-बान्धवों और सैनिकोंके साथ मनोहर जलसे भरी हुई गङ्गाके भी पार होकर वे परम रमणीय शृङ्गवेरपुरमें जा पहुँचे ॥ २२ ॥

शृङ्गवेरपुराद् भूय अयोध्यां संददर्श ह ।
अयोध्यां तु तदा दृष्ट्वा पित्रा भ्रात्रा विवर्जिताम् ॥ २३ ॥
भरतो दुःखसंतप्तः सारथिं चेदमब्रवीत् ।

शृङ्गवेरपुरसे प्रस्थान करनेपर उन्हें पुनः अयोध्यापुरीका दर्शन हुआ, जो उस समय पिता और भाई दोनोंसे विहीन थी । उसे देखकर भरतने दुःखसे संतप्त हो सारथिसे इस प्रकार कहा—॥ २३½ ॥

सारथे पश्य विध्वस्ता अयोध्या न प्रकाशते ॥ २४ ॥
निराकारा निरानन्दा दीना प्रतिहतस्वना ॥ २५ ॥

'सारथि सुमन्त्रजी ! देखिये, अयोध्याकी सारी शोभा नष्ट हो गयी है; अतः यह पहलेकी भाँति प्रकाशित नहीं होती है । इसका वह सुन्दर रूप, वह आनन्द जाता रहा । इस समय यह अत्यन्त दीन और नीरव हो रही है' ॥ २४-२५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः

भरतके द्वारा अयोध्याकी दुरवस्थाका दर्शन तथा अन्तःपुरमें प्रवेश करके भरतका दुखी होना

स्निग्धगम्भीरघोषेण स्यन्दनेनोपयान् प्रभुः ।
अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविवेश महायशाः ॥ १ ॥

इसके बाद प्रभावशाली महायशस्वी भरतने स्निग्ध, गम्भीर घर्घर घोषसे युक्त रथके द्वारा यात्रा करके शीघ्र ही अयोध्यामें प्रवेश किया ॥ १ ॥

विडालोलूकचरितामालीननरवारणाम् ।
तिमिराभ्याहतां कालीमप्रकाशां निशामिव ॥ २ ॥

उस समय वहाँ बिलाव और उल्लू विचर रहे थे । घरोंके किवाड़ बंद थे । सारे नगरमें अन्धकार छा रहा था । प्रकाश न होनेके कारण वह पुरी कृष्ण-पक्षकी काली रातके समान जान पड़ती थी ॥ २ ॥

राहुशत्रोः प्रियां पत्नीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम् ।
ग्रहेणाभ्युदितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम् ॥ ३ ॥

जैसे चन्द्रमाकी प्रिय पत्नी और अपनी शोभासे प्रकाशित कान्तिवाली रोहिणी उदित हुए राहु नामक ग्रहके द्वारा अपने पतिके ग्रस लिये जानेपर अकेली—असहाय हो जाती है, उसी प्रकार दिव्य ऐश्वर्यसे प्रकाशित होनेवाली अयोध्या राजाके कालकवलित हो जानेके कारण पीड़ित एवं असहाय हो रही थी ॥ ३ ॥

अल्पोष्णक्षुब्धसलिलां घर्मतप्तविहंगमाम् ।
लीनमीनझषग्राहां कृशां गिरिनदीमिव ॥ ४ ॥

वह पुरी उस पर्वतीय नदीकी भाँति कृशकाय दिखायी देती थी, जिसका जल सूर्यकी किरणोंसे तपकर कुछ गरम और गँदला हो रहा हो, जिसके पक्षी धूपसे संतप्त होकर भाग गये हों तथा जिसके मीन, मत्स्य और ग्राह गहरे जलमें छिप गये हों ॥ ४ ॥

विधूमामिव हेमाभां शिखामग्नेः समुत्थिताम् ।
हविरभ्युक्षितां पश्चाच्छिखां विप्रलयं गताम् ॥ ५ ॥

जो अयोध्या पहले धूमरहित सुनहरी कान्तिवाली प्रज्वलित अग्निशिखाके समान प्रकाशित होती थी, वही श्रीरामवनवासके बाद हवनीय दुग्धसे सींची गयी अग्निकी ज्वालाके समान बुझकर विलीन-सी हो गयी है ॥ ५ ॥

विध्वस्तकवचां रुग्णगजवाजिरथध्वजाम्।
हतप्रवीरामापन्नां चमूमिव महाहवे॥ ६॥

उस समय अयोध्या महासमरमें संकटग्रस्त हुई उस सेनाके समान प्रतीत होती थी, जिसके कवच कटकर गिर गये हों, हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजा छिन्न-भिन्न हो गये हों और मुख्य-मुख्य वीर मार डाले गये हों॥ ६॥

सफेनां सस्वनां भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम्।
प्रशान्तमारुतोद्धूतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम्॥ ७॥

प्रबल वायुके वेगसे फेन और गर्जनाके साथ उठी हुई समुद्रकी उत्ताल तरंग सहसा वायुके शान्त हो जानेपर जैसे शिथिल और नीरव हो जाती है, उसी प्रकार कोलाहलपूर्ण अयोध्या अब शब्दशून्य-सी जान पड़ती थी॥ ७॥

त्यक्तां यज्ञायुधैः सर्वैरभिरूपैश्च याजकैः।
सुत्याकाले सुनिर्वृत्ते वेदिं गतरवामिव॥ ८॥

यज्ञकाल समाप्त होनेपर 'स्फ्य' आदि यज्ञसम्बन्धी आयुधों तथा श्रेष्ठ याजकोंसे सूनी हुई वेदी जैसे मन्त्रोच्चारणकी ध्वनिसे रहित हो जाती है, उसी प्रकार अयोध्या सुनसान दिखायी देती थी॥ ८॥

गोष्ठमध्ये स्थितामार्तामचरन्तीं नवं तृणम्।
गोवृषेण परित्यक्तां गवां पत्नीमिवोत्सुकाम्॥ ९॥

जैसे कोई गाय साँड़के साथ समागमके लिये उत्सुक हो, उसी अवस्थामें उसे साँड़से अलग कर दिया गया हो और वह नूतन घास चरना छोड़कर आर्त भावसे गोष्ठमें बँधी हुई खड़ी हो, उसी तरह अयोध्यापुरी भी आन्तरिक वेदनासे पीड़ित थी॥ ९॥

प्रभाकराद्यैः सुस्निग्धैः प्रज्वलद्भिरिवोत्तमैः।
वियुक्तां मणिभिर्जात्यैर्नवां मुक्तावलीमिव॥ १०॥

श्रीराम आदिसे रहित हुई अयोध्या मोतियोंकी उस नूतन मालाके समान श्रीहीन हो गयी थी, जिसकी अत्यन्त चिकनी-चमकीली, उत्तम तथा अच्छी जातिकी पद्मराग आदि मणियाँ उससे निकालकर अलग कर दी गयी हों॥ १०॥

सहसाचरितां स्थानान्महीं पुण्यक्षयाद् गताम्।
संहृतद्युतिविस्तारां तारामिव दिवश्च्युताम्॥ ११॥

जो पुण्य-क्षय होनेके कारण सहसा अपने स्थानसे भ्रष्ट हो पृथ्वीपर आ पहुँची हो, अतएव जिसकी विस्तृत प्रभा क्षीण हो गयी हो, आकाशसे गिरी हुई उस तारिकाकी भाँति अयोध्या शोभाहीन हो गयी थी॥ ११॥

पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तभ्रमरशालिनीम्।
द्रुतदावाग्निविप्लुष्टां क्लान्तां वनलतामिव॥ १२॥

जो ग्रीष्म ऋतुमें पहले फूलोंसे लदी हुई होनेके कारण मतवाले भ्रमरोंसे सुशोभित होती रही हो और फिर सहसा दावानलके लपेटमें आकर मुरझा गयी हो, वनकी उस लताके समान पहलेकी उल्लासपूर्ण अयोध्या अब उदास हो गयी थी॥

सम्मूढनिगमां सर्वां संक्षिप्तविपणापणाम्।
प्रच्छन्नशशिनक्षत्रां द्यामिवाम्बुधरैर्वृताम्॥ १३॥

वहाँके व्यापारी वणिक् शोकसे व्याकुल होनेके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे, बाजार-हाट और दूकानें बहुत कम खुली थीं। उस समय सारी पुरी उस आकाशकी भाँति शोभाहीन हो गयी थी, जहाँ बादलोंकी घटाएँ घिर आयी हों और तारे तथा चन्द्रमा ढक गये हों॥ १३॥

क्षीणपानोत्तमैर्भग्नैः शरावैरभिसंवृताम्।
हतशौण्डामिव ध्वस्तां पानभूमिमसंस्कृताम्॥ १४॥

(उन दिनों अयोध्यापुरीकी सड़कें झाड़ी-बुहारी नहीं गयी थीं, इसलिये यत्र-तत्र कूड़े-करकटके ढेर पड़े थे। उस अवस्थामें) वह नगरी उस उजड़ी हुई पानभूमि (मधुशाला) के समान श्रीहीन दिखायी देती थी, जिसकी सफाई न की गयी हो, जहाँ मधुसे खाली टूटी-फूटी प्यालियाँ पड़ी हों और जहाँके पीनेवाले भी नष्ट हो गये हों॥ १४॥

वृक्णभूमितलां निम्नां वृक्णपात्रैः समावृताम्।
उपयुक्तोदकां भग्नां प्रपां निपतितामिव॥ १५॥

उस पुरीकी दशा उस पौंसलेकी-सी हो रही थी, जो खम्भोंके टूट जानेसे ढह गया हो, जिसका चबूतरा छिन्न-भिन्न हो गया हो, भूमि नीची हो गयी हो, पानी चुक गया हो और जलपात्र टूट-फूटकर इधर-उधर सब ओर बिखरे पड़े हों॥

विपुलां विततां चैव युक्तपाशां तरस्विनाम्।
भूमौ बाणैर्विनिष्कृत्तां पतितां ज्यामिवायुधात्॥ १६॥

जो विशाल और सम्पूर्ण धनुषमें फैली हुई हो, उसकी दोनों कोटियों (किनारों) में बाँधनेके लिये जिसमें रस्सी जुड़ी हुई हो, किंतु वेगशाली वीरोंके बाणोंसे कटकर धनुषसे पृथ्वीपर गिर पड़ी हो, उस प्रत्यञ्चाके समान ही अयोध्यापुरी भी स्थानभ्रष्ट हुई-सी दिखायी देती थी॥ १६॥

सहसा युद्धशौण्डेन हयारोहेण वाहिताम्।
निहतां प्रतिसैन्येन वडवामिव पातिताम्॥ १७॥

जिसपर युद्धकुशल घुड़सवारने सवारी की हो और जिसे शत्रुपक्षकी सेनाने सहसा मार गिराया हो, युद्धभूमिमें पड़ी हुई उस घोड़ीकी जो दशा होती है, वही उस समय अयोध्यापुरीकी भी थी (कैकेयीके कुचक्रसे उसके संचालक नरेशका स्वर्गवास और युवराजका वनवास हो गया था)॥ १७॥

भरतस्तु रथस्थः सञ्श्रीमान् दशरथात्मजः।
वाहयन्तं रथश्रेष्ठं सारथिं वाक्यमब्रवीत्॥ १८॥

रथपर बैठे हुए श्रीमान् दशरथनन्दन भरतने उस समय श्रेष्ठ रथका संचालन करनेवाले सारथि सुमन्त्रसे इस प्रकार कहा—॥ १८ ॥

किं नु खल्वद्य गम्भीरो मूर्च्छितो न निशाम्यते ।
यथापुरमयोध्यायां गीतवादित्रनिःस्वनः ॥ १९ ॥

'अब अयोध्यामें पहलेकी भाँति सब ओर फैला हुआ गाने-बजानेका गम्भीर नाद नहीं सुनायी पड़ता; यह कितने कष्टकी बात है ! ॥ १९ ॥

वारुणीमदगन्धश्च माल्यगन्धश्च मूर्च्छितः ।
चन्दनागुरुगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः ॥ २० ॥

'अब चारों ओर वारुणी (मधु) की मादक गन्ध, व्याप्त हुई फूलोंकी सुगन्ध तथा चन्दन और अगुरुकी पवित्र गन्ध नहीं फैल रही है ॥ २० ॥

यानप्रवरघोषश्च सुस्निग्धहयनिःस्वनः ।
प्रमत्तगजनादश्च महांश्च रथनिःस्वनः ॥ २१ ॥

'अच्छी-अच्छी सवारियोंकी आवाज, घोड़ोंके हींसनेका सुस्निग्ध शब्द, मतवाले हाथियोंका चिग्घाड़ना तथा रथोंकी घर्घराहटका महान् शब्द—ये सब नहीं सुनायी दे रहे हैं ॥

नेदानीं श्रूयते पुर्यामस्यां रामे विवासिते ।
चन्दनागुरुगन्धांश्च महार्हाश्च वनस्रजः ॥ २२ ॥
गते रामे हि तरुणाः संतप्ता नोपभुञ्जते ।
बहिर्यात्रां न गच्छन्ति चित्रमाल्यधरा नराः ॥ २३ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके निर्वासित होनेके कारण ही इस पुरीमें इस समय इन सब प्रकारके शब्दोंका श्रवण नहीं हो रहा है। श्रीरामके चले जानेसे यहाँके तरुण बहुत ही संतप्त हैं। वे चन्दन और अगुरुकी सुगन्धका सेवन नहीं करते तथा बहुमूल्य वनमालाएँ भी नहीं धारण करते। अब इस पुरीके लोग विचित्र फूलोंके हार पहनकर बाहर घूमनेके लिये नहीं निकलते हैं ॥ २२-२३ ॥

नोत्सवाः सम्प्रवर्तन्ते रामशोकार्दिते पुरे ।
सा हि नूनं मम भ्रात्रा पुरस्यास्य द्युतिर्गता ॥ २४ ॥

'श्रीरामके शोकसे पीड़ित हुए इस नगरमें अब नाना प्रकारके उत्सव नहीं हो रहे हैं। निश्चय ही इस पुरीकी वह सारी शोभा मेरे भाईके साथ ही चली गयी ॥ २४ ॥

नहि राजत्ययोध्येयं सासारेवार्जुनी क्षपा ।
कदा नु खलु मे भ्राता महोत्सव इवागतः ॥ २५ ॥
जनयिष्यत्ययोध्यायां हर्षं ग्रीष्म इवाम्बुदः ।

'जैसे वेगयुक्त वर्षाके कारण शुक्लपक्षकी चाँदनी रात भी शोभा नहीं पाती है, उसी प्रकार नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई यह अयोध्या भी शोभित नहीं हो रही है। अब कब मेरे भाई महोत्सवकी भाँति अयोध्यामें पधारेंगे और ग्रीष्म-ऋतुमें प्रकट हुए मेघकी भाँति सबके हृदयमें हर्षका संचार करेंगे ॥ २५½ ॥

तरुणैश्चारुवेषैश्च नरैरुन्नतगामिभिः ॥ २६ ॥
सम्पतद्भिरयोध्यायां नाभिभान्ति महापथाः ।

'अब अयोध्याकी बड़ी-बड़ी सड़कें हर्षसे उछलकर चलते हुए मनोहर वेषधारी तरुणोंके शुभागमनसे शोभा नहीं पा रही हैं' ॥ २६½ ॥

इति ब्रुवन् सारथिना दुःखितो भरतस्तदा ॥ २७ ॥
अयोध्यां सम्प्रविश्यैव विवेश वसतिं पितुः ।
तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव ॥ २८ ॥

इस प्रकार सारथिके साथ बातचीत करते हुए दुखी भरत उस समय सिंहसे रहित गुफाकी भाँति राजा दशरथसे हीन पिताके निवासस्थान राजमहलमें गये ॥ २७-२८ ॥

तदा तदन्तःपुरमुज्झितप्रभं
सुरैरिवोत्कृष्टमभास्करं दिनम् ।
निरीक्ष्य सर्वत्र विभक्तमात्मवान्
मुमोच बाष्पं भरतः सुदुःखितः ॥ २९ ॥

जैसे सूर्यके छिप जानेसे दिनकी शोभा नष्ट हो जाती है और देवता शोक करने लगते हैं, उसी प्रकार उस समय वह अन्तःपुर शोभाहीन हो गया था और वहाँके लोग शोकमग्न थे। उसे सब ओरसे स्वच्छता और सजावटसे हीन देख भरत धैर्यवान् होनेपर भी अत्यन्त दुखी हो आँसू बहाने लगे ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे
चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें
एक सौ चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः

भरतका नन्दिग्राममें जाकर श्रीरामकी चरणपादुकाओंको राज्यपर अभिषिक्त करके उन्हें निवेदनपूर्वक राज्यका सब कार्य करना

ततो निक्षिप्य मातृस्ता अयोध्यायां दृढव्रतः।
भरतः शोकसंतप्तो गुरूनिदमथाब्रवीत्॥ १॥

तदनन्तर सब माताओंको अयोध्यामें रखकर दृढ-प्रतिज्ञ भरतने शोकसे संतप्त हो गुरुजनोंसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽत्र वः।
तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना॥ २॥

'अब मैं नन्दिग्रामको जाऊँगा, इसके लिये आप सब लोगोंकी आज्ञा चाहता हूँ। वहाँ श्रीरामके बिना प्राप्त होनेवाले इस सारे दुःखको सहन करूँगा॥ २॥

गतश्चाहो दिवं राजा वनस्थः स गुरुर्मम।
रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः॥ ३॥

'अहो! महाराज (पूज्य पिताजी) तो स्वर्गको सिधारे और वे मेरे गुरु (पूजनीय भ्राता) श्रीरामचन्द्रजी वनमें विराज रहे हैं। मैं इस राज्यके लिये वहाँ श्रीरामकी प्रतीक्षा करता रहूँगा; क्योंकि वे महायशस्वी श्रीराम ही हमारे राजा हैं'॥ ३॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः।
अब्रुवन् मन्त्रिणः सर्वे वसिष्ठश्च पुरोहितः॥ ४॥

महात्मा भरतका यह शुभ वचन सुनकर सब मन्त्री और पुरोहित वसिष्ठजी बोले—॥ ४॥

सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया।
वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत्॥ ५॥

'भरत! भ्रातृभक्तिसे प्रेरित होकर तुमने जो बात कही है, वह बहुत ही प्रशंसनीय है। वास्तवमें वह तुम्हारे ही योग्य है॥ ५॥

नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे।
मार्गमार्यं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान्॥ ६॥

'तुम अपने भाईके दर्शनके लिये सदा लालायित रहते हो और भाईके ही सौहार्द (हितसाधन) में संलग्न हो। साथ ही श्रेष्ठ मार्गपर स्थित हो, अतः कौन पुरुष तुम्हारे विचारका अनुमोदन नहीं करेगा'॥ ६॥

मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा यथाभिलषितं प्रियम्।
अब्रवीत् सारथिं वाक्यं रथो मे युज्यतामिति॥ ७॥

मन्त्रियोंका अपनी रुचिके अनुरूप प्रिय वचन सुनकर भरतने सारथिसे कहा—'मेरा रथ जोतकर तैयार किया जाय'॥ ७॥

प्रहृष्टवदनः सर्वा मातृः समभिभाष्य च।
आरुरोह रथं श्रीमाञ्शत्रुघ्नेन समन्वितः॥ ८॥

फिर उन्होंने प्रसन्नवदन होकर सब माताओंसे बातचीत करके जानेकी आज्ञा ली। इसके बाद शत्रुघ्नके सहित श्रीमान् भरत रथपर सवार हुए॥ ८॥

आरुह्य तु रथं क्षिप्रं शत्रुघ्नभरतावुभौ।
ययतुः परमप्रीतौ वृतौ मन्त्रिपुरोहितैः॥ ९॥

रथपर आरूढ़ होकर परम प्रसन्न हुए भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई मन्त्रियों तथा पुरोहितोंसे घिरकर शीघ्रतापूर्वक वहाँसे प्रस्थित हुए॥ ९॥

अग्रतो गुरवः सर्वे वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः।
प्रययुः प्राङ्मुखाः सर्वे नन्दिग्रामो यतो भवेत्॥ १०॥

आगे-आगे वसिष्ठ आदि सभी गुरुजन एवं ब्राह्मण चल रहे थे। उन सब लोगोंने अयोध्यासे पूर्वाभिमुख होकर यात्रा की और उस मार्गको पकड़ा, जो नन्दिग्रामकी ओर जाता था॥ १०॥

बलं च तदनाहूतं गजाश्वरथसंकुलम्।
प्रययौ भरते याते सर्वे च पुरवासिनः॥ ११॥

भरतके प्रस्थित होनेपर हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई सारी सेना भी बिना बुलाये ही उनके पीछे-पीछे चल दी और समस्त पुरवासी भी उनके साथ हो लिये॥ ११॥

रथस्थः स तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः।
नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं शिरस्यादाय पादुके॥ १२॥

धर्मात्मा भ्रातृवत्सल भरत अपने मस्तकपर भगवान् श्रीरामकी चरणपादुका लिये रथपर बैठकर बड़ी शीघ्रतासे नन्दिग्रामकी ओर चले॥ १२॥

भरतस्तु ततः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः।
अवतीर्य रथात् तूर्णं गुरूनिदमभाषत॥ १३॥

नन्दिग्राममें शीघ्र पहुँचकर भरत तुरंत ही रथसे उतर पड़े और गुरुजनोंसे इस प्रकार बोले—॥ १३॥

एतद् राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम् ।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥ १४ ॥

'मेरे भाईने यह उत्तम राज्य मुझे धरोहरके रूपमें दिया है, उनकी ये सुवर्णविभूषित चरणपादुकाएँ ही सबके योगक्षेमका निर्वाह करनेवाली हैं' ॥ १४ ॥

भरतः शिरसा कृत्वा संन्यासं पादुके ततः ।
अब्रवीद् दुःखसंतप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् भरतने मस्तक झुकाकर उन चरणपादुकाओंके प्रति उस धरोहररूप राज्यको समर्पित करके दुःखसे संतप्त हो समस्त प्रकृतिमण्डल (मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि) से कहा—॥ १५ ॥

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥१६॥

'आप सब लोग इन चरणपादुकाओंके ऊपर छत्र धारण करें । मैं इन्हें आर्य रामचन्द्रजीके साक्षात् चरण मानता हूँ । मेरे गुरुकी इन चरणपादुकाओंसे ही इस राज्यमें धर्मकी स्थापना होगी ॥ १६ ॥

भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम् ।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥ १७ ॥

'मेरे भाईने प्रेमके कारण ही यह धरोहर मुझे सौंपी है, अतः मैं उनके लौटनेतक इसकी भलीभाँति रक्षा करूँगा ॥ १७ ॥

क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ ॥ १८ ॥

'इसके बाद मैं स्वयं इन पादुकाओंको पुनः शीघ्र ही श्रीरघुनाथजीके चरणोंसे संयुक्त करके इन पादुकाओंसे सुशोभित श्रीरामके उन युगल चरणोंका दर्शन करूँगा ॥ १८ ॥

ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः ।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम् ॥ १९ ॥

'श्रीरघुनाथजीके आनेपर उनसे मिलते ही मैं अपने उन गुरुदेवको यह राज्य समर्पित करके उनकी आज्ञाके अधीन हो उन्हींकी सेवामें लग जाऊँगा । राज्यका यह भार उनपर डालकर मैं हलका हो जाऊँगा ॥ १९ ॥

राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके ।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम् ॥ २० ॥

'मेरे पास धरोहररूपमें रखे हुए इस राज्यको, अयोध्याको तथा इन श्रेष्ठ पादुकाओंको श्रीरघुनाथजीकी सेवामें समर्पित करके मैं सब प्रकारके पाप-तापसे मुक्त हो जाऊँगा ॥ २० ॥

अभिषिक्ते तु काकुत्स्थे प्रहृष्टमुदिते जने ।
प्रीतिर्मम यशश्चैव भवेद् राज्याच्चतुर्गुणम् ॥ २१ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामका अयोध्याके राज्यपर अभिषेक हो जानेपर जब सब लोग हर्ष और आनन्दमें निमग्न हो जायँगे, तब मुझे राज्य पानेकी अपेक्षा चौगुनी प्रसन्नता और चौगुने यशकी प्राप्ति होगी' ॥ २१ ॥

एवं तु विलपन् दीनो भरतः स महायशाः ।
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं दुःखितो मन्त्रिभिः सह ॥

इस प्रकार दीनभावसे विलाप करते हुए दुःखमग्न महायशस्वी भरत मन्त्रियोंके साथ नन्दिग्राममें रहकर राज्यका शासन करने लगे ॥ २२ ॥

स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः ।
नन्दिग्रामेऽवसद् धीरः ससैन्यो भरतस्तदा ॥ २३ ॥

सेनासहित प्रभावशाली धीर-वीर भरतने उस समय वल्कल और जटा धारण करके मुनिवेषधारी हो नन्दिग्राममें निवास किया ॥ २३ ॥

रामागमनमाकाङ्क्षन् भरतो भ्रातृवत्सलः ।
भ्रातुर्वचनकारी च प्रतिज्ञापारगस्तदा ।
पादुके त्वभिषिच्याथ नन्दिग्रामेऽवसत् तदा ॥ २४ ॥

भाईकी आज्ञाका पालन और प्रतिज्ञाके पार जानेकी इच्छा करनेवाले भ्रातृवत्सल भरत श्रीरामचन्द्रजीके आगमनकी आकाङ्क्षा रखते हुए उनकी चरणपादुकाओंको राज्यपर अभिषिक्त करके उन दिनों नन्दिग्राममें रहने लगे ॥ २४ ॥

सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम् ।
भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन् ॥ २५ ॥

भरतजी राज्य-शासनका समस्त कार्य भगवान् श्रीरामकी चरणपादुकाओंको निवेदन करके करते थे तथा स्वयं ही उनके ऊपर छत्र लगाते और चँवर डुलाते थे ॥ २५ ॥

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके ।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा ॥ २६ ॥

श्रीमान् भरत बड़े भाईकी उन पादुकाओंको राज्यपर अभिषिक्त करके सदा उनके अधीन रहकर उन दिनों राज्यका सब कार्य मन्त्री आदिसे कराते थे ॥ २६ ॥

तदा हि यत् कार्यमुपैति किंचि-
दुपायनं चोपहृतं महार्हम् ।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य
चकार पश्चाद् भरतो यथावत् ॥ २७ ॥

उस समय जो कोई भी कार्य उपस्थित होता, जो भी बहुमूल्य भेंट आती, वह सब पहले उन पादुकाओंको निवेदन करके पीछे भरतजी उसका यथावत् प्रबन्ध करते थे ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥११५॥

षोडशाधिकशततमः सर्गः

वृद्ध कुलपतिसहित बहुत-से ऋषियोंका चित्रकूट छोड़कर दूसरे आश्रममें जाना

प्रतियाते तु भरते वसन् रामस्तदा वने ।
लक्षयामास सोद्वेगमथौत्सुक्यं तपस्विनाम् ॥ १ ॥

भरतके लौट जानेपर श्रीरामचन्द्रजी उन दिनों जब वनमें निवास करने लगे, तब उन्होंने देखा कि वहाँके तपस्वी उद्विग्न हो वहाँसे अन्यत्र चले जानेके लिये उत्सुक हैं ॥ १ ॥

ये तत्र चित्रकूटस्य पुरस्तात् तापसाश्रमे ।
राममाश्रित्य निरतास्तानलक्षयदुत्सुकान् ॥ २ ॥

पहले चित्रकूटके उस आश्रममें जो तपस्वी श्रीरामका आश्रय लेकर सदा आनन्दमग्न रहते थे, उन्हींको श्रीरामने उत्कण्ठित देखा (मानो वे कहीं जानेके विषयमें कुछ कहना चाहते हों) ॥ २ ॥

नयनैर्भृकुटीभिश्च रामं निर्दिश्य शङ्किताः ।
अन्योन्यमुपजल्पन्तः शनैश्चक्रुर्मिथः कथाः ॥ ३ ॥

नेत्रोंसे, भौंहें टेढ़ी करके, श्रीरामकी ओर संकेत करके मन-ही-मन शङ्कित हो आपसमें कुछ सलाह करते हुए वे तपस्वी मुनि धीरे-धीरे परस्पर वार्तालाप कर रहे थे ॥ ३ ॥

तेषामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्त्वात्मनि शङ्कितः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं ततः ॥ ४ ॥

उनकी उत्कण्ठा देख श्रीरामचन्द्रजीके मनमें यह शङ्का हुई कि मुझसे कोई अपराध तो नहीं बन गया । तब वे हाथ जोड़कर वहाँके कुलपति महर्षिसे इस प्रकार बोले—॥ ४ ॥

न कच्चिद् भगवन् किंचित् पूर्ववृत्तमिदं मयि ।
दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्विनः ॥ ५ ॥

'भगवन् ! क्या मुझमें पूर्ववर्ती राजाओंका-सा कोई बर्ताव नहीं दिखायी देता अथवा मुझमें कोई विकृत भाव दृष्टिगोचर होता है, जिससे यहाँके तपस्वी मुनि विकारको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ५ ॥

प्रमादाच्चरितं किंचित् कच्चिन्नावरजस्य मे ।
लक्ष्मणस्यर्षिभिर्दृष्टं नानुरूपं महात्मनः ॥ ६ ॥

'क्या मेरे छोटे भाई महात्मा लक्ष्मणका प्रमादवश किया हुआ कोई ऐसा आचरण ऋषियोंने देखा है, जो उसके योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

कच्चिच्छुश्रूषमाणा वः शुश्रूषणपरा मयि ।
प्रमदाभ्युचितां वृत्तिं सीता युक्तां न वर्तते ॥ ७ ॥

'अथवा क्या जो अर्घ्य-पाद्य आदिके द्वारा सदा आपलोगोंकी सेवा करती रही है, वह सीता इस समय मेरी सेवामें लग जानेके कारण एक गृहस्थकी सती नारीके अनुरूप ऋषियोंकी समुचित सेवा नहीं कर पाती है ?' ॥ ७ ॥

अथर्षिर्जरया वृद्धस्तपसा च जरां गतः ।
वेपमान इवोवाच रामं भूतदयापरम् ॥ ८ ॥

'श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर एक महर्षि जो जरावस्थाके कारण तो वृद्ध थे ही, तपस्याद्वारा भी वृद्ध हो गये थे, समस्त प्राणियोंपर दया करनेवाले श्रीरामसे काँपते हुए-से बोले—॥ ८ ॥

कुतः कल्याणसत्त्वायाः कल्याणाभिरतेः सदा ।
चलनं तात वैदेह्यास्तपस्विषु विशेषतः ॥ ९ ॥

'तात ! जो स्वभावसे ही कल्याणमयी है और सदा सबके कल्याणमें ही रत रहती है, वह विदेहनन्दिनी सीता विशेषतः तपस्वीजनोंके प्रति बर्ताव करते समय अपने कल्याणमय स्वभावसे विचलित हो जाय, यह कैसे सम्भव है ? ॥ ९ ॥

त्वन्निमित्तमिदं तावत् तापसान् प्रति वर्तते ।
रक्षोभ्यस्तेन संविग्नाः कथयन्ति मिथः कथाः ॥ १० ॥

'आपके ही कारण तापसोंपर यह राक्षसोंकी ओरसे भय उपस्थित होनेवाला है, उससे उद्विग्न हुए ऋषि आपसमें कुछ बातें (कानाफूसी) कर रहे हैं ॥ १० ॥

रावणावरजः कश्चित् खरो नामेह राक्षसः।
उत्पाट्य तापसान् सर्वाञ्जनस्थाननिवासिनः॥ ११॥
धृष्टश्च जितकाशी च नृशंसः पुरुषादकः।
अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तात न मृष्यते॥ १२॥

'तात! यहाँ वनप्रान्तमें रावणका छोटा भाई खर नामक राक्षस है, जिसने जनस्थानमें रहनेवाले समस्त तापसोंको उखाड़ फेंका है। वह बड़ा ही ढीठ, विजयोन्मत्त, क्रूर, नरभक्षी और घमंडी है। वह आपको भी सहन नहीं कर पाता है॥ ११-१२॥

त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे।
तदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान्॥१३॥

'तात! जबसे आप इस आश्रममें रह रहे हैं, तबसे सब राक्षस तापसोंको विशेषरूपसे सताने लगे हैं॥ १३॥

दर्शयन्ति हि बीभत्सैः क्रूरैर्भीषणकैरपि।
नानारूपैर्विरूपैश्च रूपैरसुखदर्शनैः॥१४॥
अप्रशस्तैरशुचिभिः सम्प्रयुज्य च तापसान्।
प्रतिघ्नन्त्यपरान् क्षिप्रमनार्याः पुरतः स्थितान्॥१५॥

'वे अनार्य राक्षस बीभत्स (घृणित), क्रूर और भीषण, नाना प्रकारके विकृत एवं देखनेमें दुःखदायक रूप धारण करके सामने आते हैं और पापजनक अपवित्र पदार्थोंसे तपस्वियोंका स्पर्श कराकर अपने सामने खड़े हुए अन्य ऋषियोंको भी पीड़ा देते हैं॥ १४-१५॥

तेषु तेष्वाश्रमस्थानेष्वबुद्धमवलीय च।
रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः॥ १६॥

'वे उन-उन आश्रमोंमें अज्ञातरूपसे आकर छिप जाते हैं और अल्पज्ञ अथवा असावधान तापसोंका विनाश करते हुए वहाँ सानन्द विचरते रहते हैं॥ १६॥

अवक्षिपन्ति स्रुग्भाण्डानग्नीन् सिञ्चन्ति वारिणा।
कलशांश्च प्रमर्दन्ति हवने समुपस्थिते॥ १७॥

'होमकर्म आरम्भ होनेपर वे स्रुक्-स्रुवा आदि यज्ञसामग्रियोंको इधर-उधर फेंक देते हैं। प्रज्वलित अग्निमें पानी डाल देते हैं और कलशोंको फोड़ डालते हैं॥ १७॥

तैर्दुरात्मभिराविष्टानाश्रमान् प्रजिहासवः।
गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्यृषयोऽद्य माम्॥ १८॥

'उन दुरात्मा राक्षसोंसे आविष्ट हुए आश्रमोंको त्याग देनेकी इच्छा रखकर ये ऋषिलोग आज मुझे यहाँसे अन्य स्थानमें चलनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं॥ १८॥

तत् पुरा राम शारीरीमुपहिंसां तपस्विषु।
दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्ष्याम इममाश्रमम्॥ १९॥

'श्रीराम! वे दुष्ट राक्षस तपस्वियोंकी शारीरिक हिंसाका प्रदर्शन करें, इसके पहले ही हम इस आश्रमको त्याग देंगे॥

बहुमूलफलं चित्रमविदूरादितो वनम्।
अश्वस्याश्रममेवाहं श्रयिष्ये सगणः पुनः॥ २०॥

'यहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक विचित्र वन है, जहाँ फल-मूलकी अधिकता है। वहीं अश्वमुनिका आश्रम है, अतः ऋषियोंके समूहको साथ लेकर मैं पुनः उसी आश्रमका आश्रय लूँगा॥ २०॥

खरस्त्वय्यपि चायुक्तं पुरा राम प्रवर्तते।
सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते॥ २१॥

'श्रीराम! खर आपके प्रति भी कोई अनुचित बर्ताव करे, उसके पहले ही यदि आपका विचार हो तो हमारे साथ ही यहाँसे चल दीजिये॥ २१॥

सकलत्रस्य संदेहो नित्यं युक्तस्य राघव।
समर्थस्यापि हि सतो वासो दुःखमिहाद्य ते॥ २२॥

'रघुनन्दन! यद्यपि आप सदा सावधान रहनेवाले तथा राक्षसोंके दमनमें समर्थ हैं, तथापि पत्नीके साथ आजकल उस आश्रममें आपका रहना संदेहजनक एवं दुःखदायक है'॥ २२॥

इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम्।
न शशाकोत्तरैर्वाक्यैरवबद्धुं समुत्सुकम्॥ २३॥

ऐसी बात कहकर अन्यत्र जानेके लिये उत्कण्ठित हुए उन तपस्वी मुनिको राजकुमार श्रीराम सान्त्वनाजनक उत्तर-वाक्योंद्वारा वहाँ रोक नहीं सके॥ २३॥

अभिनन्द्य समापृच्छ्य समाधाय च राघवम्।
स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह॥ २४॥

तत्पश्चात् वे कुलपति महर्षि श्रीरामचन्द्रजीका अभिनन्दन करके उनसे पूछकर और उन्हें सान्त्वना देकर इस आश्रमको छोड़ वहाँसे अपने दलके ऋषियोंके साथ चले गये॥ २४॥

रामः संसाध्य ऋषिगणमनुगमनाद्
देशात् तस्मात् कुलपतिमभिवाद्य ऋषिम्।
सम्यक्प्रीतैस्तैरनुमत उपदिष्टार्थः
पुण्यं वासाय स्वनिलयमुपसम्पेदे॥ २५॥

श्रीरामचन्द्रजी वहाँसे जानेवाले ऋषियोंके पीछे-पीछे जाकर उन्हें विदा दे कुलपति ऋषिको प्रणाम करके परम प्रसन्न हुए उन ऋषियोंकी अनुमति ले उनके दिये हुए

कर्तव्यविषयक उपदेशको सुनकर लौटे और निवास करनेके लिये अपने पवित्र आश्रममें आये ॥ २५ ॥

आश्रममृषिविरहितं प्रभुः
क्षणमपि न जहौ स राघवः ।
राघवं हि सततमनुगता-
स्तापसाश्चार्षचरिते धृतगुणाः ॥ २६ ॥

उन ऋषियोंसे रहित हुए आश्रमको भगवान् श्रीरामने एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ा। जिनका ऋषियोंके समान ही चरित्र था, उन श्रीरामचन्द्रजीमें निश्चय ही ऋषियोंकी रक्षाकी शक्तिरूप गुण विद्यमान है। ऐसा विश्वास रखनेवाले कुछ तपस्वीजनोंने सदा श्रीरामका ही अनुसरण किया। वे दूसरे किसी आश्रममें नहीं गये ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११६ ॥



सप्तदशाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम आदिका अत्रिमुनिके आश्रमपर जाकर उनके द्वारा सत्कृत होना तथा अनसूयाद्वारा सीताका सत्कार

राघवस्त्वपयातेषु सर्वेष्वनुविचिन्तयन् ।
न तत्रारोचयद् वासं कारणैर्बहुभिस्तदा ॥ १ ॥

उन सब ऋषियोंके चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने जब बारंबार विचार किया, तब उन्हें बहुत-से ऐसे कारण ज्ञात हुए, जिनसे उन्होंने स्वयं भी वहाँ रहना उचित न समझा ॥ १ ॥

इह मे भरतो दृष्टो मातरश्च सनागराः ।
सा च मे स्मृतिरन्वेति तान् नित्यमनुशोचतः ॥ २ ॥

उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'इस आश्रममें मैं भरतसे, माताओंसे तथा पुरवासी मनुष्योंसे मिल चुका हूँ। वह स्मृति मुझे बराबर बनी रहती है और मैं प्रतिदिन उन सब लोगोंका चिन्तन करके शोकमग्न हो जाता हूँ ॥ २ ॥

स्कन्धावारनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः ।
हयहस्तिकरीषैश्च उपमर्दः कृतो भृशम् ॥ ३ ॥

'महात्मा भरतकी सेनाका पड़ाव पड़नेके कारण हाथी और घोड़ोंकी लीदोंसे यहाँकी भूमि अधिक अपवित्र कर दी गयी है ॥ ३ ॥

तस्मादन्यत्र गच्छाम इति संचिन्त्य राघवः ।
प्रातिष्ठत स वैदेह्या लक्ष्मणेन च संगतः ॥ ४ ॥

'अतः हमलोग भी अन्यत्र चले जायँ' ऐसा सोचकर श्रीरघुनाथजी सीता और लक्ष्मणके साथ वहाँसे चल दिये ॥

सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं ववन्दे महायशाः ।
तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत् प्रत्यपद्यत ॥ ५ ॥

वहाँसे अत्रिके आश्रमपर पहुँचकर महायशस्वी श्रीरामने उन्हें प्रणाम किया तथा भगवान् अत्रिने भी उन्हें अपने पुत्रकी भाँति स्नेहपूर्वक अपनाया ॥ ५ ॥

स्वयमातिथ्यमादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम् ।
सौमित्रिं च महाभागां सीतां च समसान्त्वयत् ॥ ६ ॥

उन्होंने स्वयं ही श्रीरामका सम्पूर्ण आतिथ्य-सत्कार करके महाभाग लक्ष्मण और सीताको भी सत्कारपूर्वक संतुष्ट किया ॥ ६ ॥

पत्नीं च तमनुप्राप्तां वृद्धामामन्त्र्य सत्कृताम् ।
सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥
अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ।
प्रतिगृह्णीष्व वैदेहीमब्रवीदृषिसत्तमः ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले धर्मज्ञ मुनिश्रेष्ठ अत्रिने अपने समीप आयी हुई सबके द्वारा सम्मानित तापसी एवं धर्मपरायणा बूढ़ी पत्नी महाभागा अनसूयाको सम्बोधित करके सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा संतुष्ट किया और कहा—'देवि! विदेहराजनन्दिनी सीताको सत्कारपूर्वक हृदयसे लगाओ' ॥ ७-८ ॥

रामाय चाचचक्षे तां तापसीं धर्मचारिणीम् ।
दश वर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम् ॥ ९ ॥
यया मूलफले सृष्टे जाह्नवी च प्रवर्तिता ।
उग्रेण तपसा युक्ता नियमैश्चाप्यलंकृता ॥ १० ॥
दश वर्षसहस्राणि यया तप्तं महत् तपः ।
अनसूयाव्रतैस्तात प्रत्यूहाश्च निबर्हिताः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको धर्मपरायणा तपस्विनी अनसूयाका परिचय देते हुए कहा—'एक समय दस वर्षोंतक वृष्टि नहीं हुई, उस समय जब सारा जगत् निरन्तर दग्ध होने लगा, तब जिन्होंने उग्र तपस्यासे युक्त तथा कठोर नियमोंसे अलंकृत होकर अपने तपके प्रभावसे यहाँ फल-मूल उत्पन्न

किये और मन्दाकिनीकी पवित्र धारा बहायी तथा तात ! जिन्होंने दस हजार वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या करके अपने उत्तम व्रतोंके प्रभावसे ऋषियोंके समस्त विघ्नोंका निवारण किया था, वे ही यह अनसूया देवी हैं ॥ ९–११ ॥

देवकार्यनिमित्तं च यया संत्वरमाणया।
दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ ॥ १२ ॥

'निष्पाप श्रीराम ! इन्होंने देवताओंके कार्यके लिये अत्यन्त उतावली होकर दस रातके बराबर एक ही रात बनायी थी; वे ही ये अनसूया देवी तुम्हारे लिये माताकी भाँति पूजनीया हैं ॥ १२ ॥

तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां तपस्विनीम्।
अभिगच्छतु वैदेही वृद्धामक्रोधनां सदा ॥ १३ ॥

'ये सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये वन्दनीया तपस्विनी हैं। क्रोध तो इन्हें कभी छू भी नहीं सका है। विदेहनन्दिनी सीता इन वृद्धा अनसूया देवीके पास जायँ' ॥ १३ ॥

एवं ब्रुवाणं तमृषिं तथेत्युक्त्वा स राघवः।
सीतामालोक्य धर्मज्ञामिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

ऐसी बात कहते हुए अत्रि मुनिसे 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीने धर्मज्ञा सीताकी ओर देखकर यह बात कही—॥ १४ ॥

राजपुत्रि श्रुतं त्वेतन्मुनेरस्य समीरितम्।
श्रेयोऽर्थमात्मनः शीघ्रमभिगच्छ तपस्विनीम् ॥ १५ ॥

'राजकुमारी ! महर्षि अत्रिके वचन तो तुमने सुन ही लिये; अब अपने कल्याणके लिये तुम शीघ्र ही इन तपस्विनी देवीके पास जाओ ॥ १५ ॥

अनसूयेति या लोके कर्मभिः ख्यातिमागता।
तां शीघ्रमभिगच्छ त्वमभिगम्यां तपस्विनीम् ॥ १६ ॥

'जो अपने सत्कर्मोंसे संसारमें अनसूयाके नामसे विख्यात हुई हैं, वे तपस्विनी देवी तुम्हारे आश्रय लेने योग्य हैं, तुम शीघ्र उनके पास जाओ' ॥ १६ ॥

सीता त्वेतद् वचःश्रुत्वा राघवस्य यशस्विनी।
तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर यशस्विनी मिथिलेश-कुमारी सीता धर्मको जाननेवाली अत्रिपत्नी अनसूयाके पास गयीं ॥ १७ ॥

शिथिलां वलितां वृद्धां जरापाण्डुरमूर्धजाम्।
सततं वेपमानाङ्गीं प्रवाते कदलीमिव ॥ १८ ॥

अनसूया वृद्धावस्थाके कारण शिथिल हो गयी थीं; उनके शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी थीं तथा सिरके बाल सफेद हो गये थे। अधिक हवा चलनेपर हिलते हुए कदली-वृक्षके समान उनके सारे अङ्ग निरन्तर काँप रहे थे ॥ १८ ॥

तां तु सीता महाभागामनसूयां पतिव्रताम्।
अभ्यवादयदव्यग्रा स्वं नाम समुदाहरत् ॥ १९ ॥

सीताने निकट जाकर शान्तभावसे अपना नाम बताया और उन महाभागा पतिव्रता अनसूयाको प्रणाम किया ॥ १९ ॥

अभिवाद्य च वैदेही तापसीं तां दमान्विताम्।
बद्धाञ्जलिपुटा हृष्टा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ २० ॥

उन संयमशीला तपस्विनीको प्रणाम करके हर्षसे भरी हुई सीताने दोनों हाथ जोड़कर उनका कुशल-समाचार पूछा ॥

ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम्।
सान्त्वयन्त्यब्रवीद् वृद्धा दिष्ट्या धर्ममवेक्षसे ॥ २१ ॥

धर्मका आचरण करनेवाली महाभागा सीताको देखकर बूढ़ी अनसूया देवी उन्हें सान्त्वना देती हुई बोलीं—'सीते ! सौभाग्यकी बात है कि तुम धर्मपर ही दृष्टि रखती हो ॥२१॥

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते मानवृद्धिं च मानिनि।
अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि ॥ २२ ॥

'मानिनी सीते ! बन्धु-बान्धवोंको छोड़कर और उनसे प्राप्त होनेवाली मान-प्रतिष्ठाका परित्याग करके तुम वनमें भेजे हुए श्रीरामका अनुसरण कर रही हो—यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ २२ ॥

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः। २३।

'अपने स्वामी नगरमें रहें या वनमें, भले हों या बुरे, जिन स्त्रियोंको वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥ २४ ॥

'पति बुरे स्वभावका, मनमाना बर्ताव करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो, वह उत्तम स्वभाववाली नारियोंके लिये श्रेष्ठ देवताके समान है ॥ २४ ॥

नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम्।
सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपःकृतमिवाव्ययम् ॥२५॥

'विदेहराजनन्दिनि ! मैं बहुत विचार करनेपर भी पतिसे बढ़कर कोई हितकारी बन्धु नहीं देखती। अपनी की हुई तपस्याके अविनाशी फलकी भाँति वह इस लोकमें और पर-लोकमें सर्वत्र सुख पहुँचानेमें समर्थ होता है ॥ २५ ॥

न त्वेवमनुगच्छन्ति गुणदोषमसत्स्त्रियः।
कामवक्तव्यहृदया भर्तृनाथाश्चरन्ति याः ॥ २६॥

'जो अपने पतिपर भी शासन करती हैं, वे कामके अधीन चित्तवाली असाध्वी स्त्रियाँ इस प्रकार पतिका अनुसरण नहीं करतीं। उन्हें गुण-दोषोंका ज्ञान नहीं होता; अतः वे इच्छानुसार इधर-उधर विचरती रहती हैं ॥ २६ ॥

प्राप्नुवन्त्ययशश्चैव धर्मभ्रंशं च मैथिलि।
अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो याः खलु तद्विधाः ॥२७॥

'मिथिलेशकुमारी ! ऐसी नारियाँ अवश्य ही अनुचित कर्ममें फँसकर धर्मसे भ्रष्ट हो जाती हैं और संसारमें उन्हें अपयशकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः।
स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा पुण्यकृतस्तथा ॥२८॥

'किंतु जो तुम्हारे समान लोक-परलोकको जाननेवाली साध्वी स्त्रियाँ हैं, वे उत्तम गुणोंसे युक्त होकर पुण्यकर्मोंमें संलग्न रहती हैं; अतः वे दूसरे पुण्यात्माओंकी भाँति स्वर्ग-लोकमें विचरण करेंगी ॥ २८ ॥

तदेवमेतं त्वमनुव्रता सती
पतिप्रधाना समयानुवर्तिनी।
भव स्वभर्तुः सहधर्मचारिणी
यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि ॥ २९ ॥

'अतः तुम इसी प्रकार अपने इन पतिदेव श्रीरामचन्द्रजी-की सेवामें लगी रहो—सतीधर्मका पालन करो, पतिको प्रधान देवता समझो और प्रत्येक समय उनका अनुसरण करती हुई अपने स्वामीकी सहधर्मिणी बनो, इससे तुम्हें सुयश और धर्म दोनोंकी प्राप्ति होगी' ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः

सीता-अनसूया-संवाद, अनसूयाका सीताको प्रेमोपहार देना तथा अनसूयाके पूछनेपर सीताका उन्हें अपने स्वयंवरकी कथा सुनाना

सा त्वेवमुक्ता वैदेही त्वनसूयानसूयया।
प्रतिपूज्य वचो मन्दं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

तपस्विनी अनसूयाके इस प्रकार उपदेश देनेपर किसीके प्रति दोषदृष्टि न रखनेवाली विदेहराजकुमारी सीताने उनके वचनोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके धीरे-धीरे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ १ ॥

नैतदाश्चर्यमार्यायां यन्मां त्वमनुभाषसे।
विदितं तु ममाप्येतद् यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ २ ॥

'देवि ! आप संसारकी स्त्रियोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। आपके मुँहसे ऐसी बातोंका सुनना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। नारीका गुरु पति ही है, इस विषयमें जैसा आपने उपदेश किया है, यह बात मुझे भी पहलेसे ही विदित है ॥ २ ॥

यद्यप्येष भवेद् भर्ता अनार्यो वृत्तिवर्जितः।
अद्वैधमत्र वर्तव्यं तथाप्येष मया भवेत् ॥ ३ ॥

'मेरे पतिदेव यदि अनार्य (चरित्रहीन) तथा जीविकाके साधनोंसे रहित (निर्धन) होते तो भी मैं बिना किसी दुविधाके इनकी सेवामें लगी रहती ॥ ३ ॥

किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः।
स्थिरानुरागो धर्मात्मा मातृवत्पितृवत्प्रियः ॥ ४ ॥

'फिर जब कि ये अपने गुणोंके कारण ही सबकी प्रशंसाके पात्र हैं, तब तो इनकी सेवाके लिये कहना ही क्या है। ये श्रीरघुनाथजी परम दयालु, जितेन्द्रिय, दृढ़ अनुराग रखनेवाले, धर्मात्मा तथा माता-पिताके समान प्रिय हैं ॥ ४ ॥

यां वृत्तिं वर्तते रामः कौसल्यायां महाबलः।
तामेव नृपनारीणामन्यासामपि वर्तते ॥ ५ ॥

'महाबली श्रीराम अपनी माता कौसल्याके प्रति जैसा बर्ताव करते हैं वैसा ही महाराज दशरथकी दूसरी रानियोंके साथ भी करते हैं ॥ ५ ॥

सकृद् दृष्टास्वपि स्त्रीषु नृपेण नृपवत्सलः।
मातृवद् वर्तते वीरो मानमुत्सृज्य धर्मवित् ॥ ६ ॥

'महाराज दशरथने एक बार भी जिन स्त्रियोंको प्रेमदृष्टिसे देख लिया है, उनके प्रति भी ये पितृवत्सल धर्मज्ञ वीर श्रीराम मान छोड़कर माताके समान ही बर्ताव करते हैं ॥ ६ ॥

आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम्।
समाहितं हि मे श्वश्र्वा हृदये यत् स्थिरं मम ॥ ७ ॥

'जब मैं पतिके साथ निर्जन वनमें आने लगी, उस समय मेरी सास कौसल्याने मुझे जो कर्तव्यका उपदेश

दिया था, वह मेरे हृदयमें ज्यों-का-त्यों स्थिरभावसे अङ्कित है ॥ ७ ॥

पाणिप्रदानकाले च यत् पुरा त्वग्निसंनिधौ।
अनुशिष्टं जनन्या मे वाक्यं तदपि मे धृतम् ॥ ८ ॥

'पहले मेरे विवाह-कालमें अग्निके समीप माताने मुझे जो शिक्षा दी थी, वह भी मुझे अच्छी तरह याद है ॥ ८ ॥

न विस्मृतं तु मे सर्वं वाक्यैः स्वैर्धर्मचारिणि।
पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद् विधीयते ॥ ९ ॥

'धर्मचारिणि! इसके सिवा मेरे अन्य स्वजनोंने अपने वचनोंद्वारा जो-जो उपदेश किया है, वह भी मुझे भूला नहीं है। स्त्रीके लिये पतिकी सेवाके अतिरिक्त दूसरे किसी तपका विधान नहीं है ॥ ९ ॥

सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते।
तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥ १० ॥

'सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री पतिकी सेवा करके ही स्वर्गलोकमें पूजित हो रही हैं। उन्हींके समान बर्ताव करनेवाली आप (अनसूया देवी) ने भी पतिकी सेवाके ही प्रभावसे स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लिया है ॥ १० ॥

वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता।
रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते ॥ ११ ॥

'सम्पूर्ण स्त्रियोंमें श्रेष्ठ यह स्वर्गकी देवी रोहिणी पति-सेवाके प्रभावसे ही एक मुहूर्तके लिये भी चन्द्रमासे विलग होती नहीं देखी जाती ॥ ११ ॥

एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः।
देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥ १२ ॥

'इस प्रकार दृढतापूर्वक पातिव्रत्य धर्मका पालन करनेवाली बहुत-सी साध्वी स्त्रियाँ अपने पुण्यकर्मके बलसे देवलोकमें आदर पा रही हैं' ॥ १२ ॥

ततोऽनसूया संहृष्टा श्रुत्वोक्तं सीतया वचः।
शिरस्याघ्राय चोवाच मैथिलीं हर्षयन्त्युत ॥ १३ ॥

तदनन्तर सीताके कहे हुए वचन सुनकर अनसूयाको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने उनका मस्तक सूँघा और फिर उन मिथिलेशकुमारीका हर्ष बढ़ाते हुए इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

नियमैर्विविधैराप्तं तपो हि महदस्ति मे।
तत् संश्रित्य बलं सीते छन्दये त्वां शुचिव्रते ॥ १४ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सीते! मैंने अनेक प्रकारके नियमोंका पालन करके बहुत बड़ी तपस्या संचित की है। उस तपोबलका ही आश्रय लेकर मैं तुमसे इच्छानुसार वर माँगनेके लिये कहती हूँ ॥ १४ ॥

उपपन्नं च युक्तं च वचनं तव मैथिलि।
प्रीता चास्म्युचितां सीते करवाणि प्रियं च किम् ॥ १५ ॥

'मिथिलेशकुमारी सीते! तुमने बहुत ही युक्तियुक्त और उत्तम वचन कहा है। उसे सुनकर मुझे बड़ा संतोष हुआ है, अतः बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' ॥ १५ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा विस्मिता मन्दविस्मया।
कृतमित्यब्रवीत् सीता तपोबलसमन्विताम् ॥ १६ ॥

उनका यह कथन सुनकर सीताको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे तपोबलसम्पन्न अनसूयासे मन्द-मन्द मुसकराती हुई बोलीं—'आपने अपने वचनोंद्वारा ही मेरा सारा प्रिय कार्य कर दिया, अब और कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है' ॥ १६ ॥

सा त्वेवमुक्ता धर्मज्ञा तया प्रीततराभवत्।
सफलं च प्रहर्षं ते हन्त सीते करोम्यहम् ॥ १७ ॥

सीताके ऐसा कहनेपर धर्मज्ञ अनसूयाको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे बोलीं—'सीते! तुम्हारी निर्लोभतासे जो मुझे विशेष हर्ष हुआ है (अथवा तुममें जो लोभहीनताके कारण सदा आनन्दोत्सव भरा रहता है), उसे मैं अवश्य सफल करूँगी ॥ १७ ॥

इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च।
अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम् ॥ १८ ॥
मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत्।
अनुरूपमसंक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति ॥ १९ ॥

'यह सुन्दर दिव्य हार, यह वस्त्र, ये आभूषण, यह अङ्गराग और बहुमूल्य अनुलेपन मैं तुम्हें देती हूँ। विदेहनन्दिनि सीते! मेरी दी हुई ये वस्तुएँ तुम्हारे अङ्गोंकी शोभा बढ़ायेंगी। ये सब तुम्हारे ही योग्य हैं और सदा उपयोगमें लायी जानेपर निर्दोष एवं निर्विकार रहेंगी ॥ १८-१९ ॥

अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे।
शोभयिष्यसि भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम् ॥ २० ॥

'जनककिशोरी! इस दिव्य अङ्गरागको अङ्गोंमें लगाकर तुम अपने पतिको उसी प्रकार सुशोभित करोगी, जैसे लक्ष्मी अविनाशी भगवान् विष्णुकी शोभा बढ़ाती हैं' ॥ २० ॥

सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि स्रजस्तथा।
मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥ २१ ॥

प्रतिगृह्य च तत् सीता प्रीतिदानं यशस्विनी ।
श्लिष्टाञ्जलिपुटा धीरा समुपास्त तपोधनाम् ॥ २२ ॥

अनसूयाकी आज्ञासे धीरस्वभाववाली यशस्विनी मिथिलेशकुमारी सीताने उस वस्त्र, अङ्गराग, आभूषण और हारको उनकी प्रसन्नताका परम उत्तम उपहार समझकर ले लिया । उस प्रेमोपहारको ग्रहण करके वे दोनों हाथ जोड़कर उन तपोधना अनसूयाकी सेवामें बैठी रहीं ॥ २१-२२ ॥

तथा सीतामुपासीनामनसूया दृढव्रता ।
वचनं प्रष्टुमारेभे कथां कांचिदनुप्रियाम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर इस प्रकार अपने निकट बैठी हुई सीतासे दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाली अनसूयाने कोई परम प्रिय कथा सुनानेके लिये इस प्रकार पूछना आरम्भ किया—॥ २३ ॥

स्वयंवरे किल प्राप्ता त्वमनेन यशस्विना ।
राघवेणेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥ २४ ॥

'सीते ! इन यशस्वी राघवेन्द्रने तुम्हें स्वयंवरमें प्राप्त किया था, यह बात मेरे सुननेमें आयी है ॥ २४ ॥

तां कथां श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण च मैथिलि ।
यथाभूतं च कार्त्स्न्येन तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २५॥

'मिथिलेशनन्दिनि ! मैं उस वृत्तान्तको विस्तारके साथ सुनना चाहती हूँ । अतः जो कुछ जिस प्रकार हुआ, वह सब पूर्णरूपसे मुझे बताओ' ॥ २५ ॥

एवमुक्ता तु सा सीता तापसीं धर्मचारिणीम् ।
श्रूयतामिति चोक्त्वा वै कथयामास तां कथाम् ॥ २६ ॥

उनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर सीताने उन धर्मचारिणी तापसी अनसूयासे कहा—'माताजी ! सुनिये ।' ऐसा कहकर उन्होंने उस कथाको इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ २६ ॥

मिथिलाधिपतिर्वीरो जनको नाम धर्मवित् ।
क्षत्रकर्मण्यभिरतो न्यायतः शास्ति मेदिनीम् ॥ २७ ॥

'मिथिला जनपदके वीर राजा 'जनक' नामसे प्रसिद्ध हैं । वे धर्मके ज्ञाता हैं, अतः क्षत्रियोचित कर्ममें तत्पर रहकर न्यायपूर्वक पृथ्वीका पालन करते हैं ॥ २७ ॥

तस्य लाङ्गलहस्तस्य कृषतः क्षेत्रमण्डलम् ।
अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता ॥ २८ ॥

'एक समयकी बात है, वे यज्ञके योग्य क्षेत्रको हाथमें हल लेकर जोत रहे थे; इसी समय मैं पृथ्वीको फाड़कर प्रकट हुई । इतनेमात्रसे ही मैं राजा जनककी पुत्री हुई ॥ २८ ॥

स मां दृष्ट्वा नरपतिर्मुष्टिविक्षेपतत्परः ।
पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विस्मितो जनकोऽभवत् ॥ २९ ॥

'वे राजा उस क्षेत्रमें ओषधियोंको मुट्ठीमें लेकर वो रहे थे । इतनेहीमें उनकी दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी । मेरे सारे अङ्गोंमें धूल लिपटी हुई थी । उस अवस्थामें मुझे देखकर राजा जनकको बड़ा विस्मय हुआ ॥ २९ ॥

अनपत्येन च स्नेहादङ्कमारोप्य च स्वयम् ।
ममेयं तनयेत्युक्त्वा स्नेहो मयि निपातितः ॥ ३० ॥

'उन दिनों उनके कोई दूसरी संतान नहीं थी, इसलिये स्नेहवश उन्होंने स्वयं मुझे गोदमें ले लिया और 'यह मेरी बेटी है' ऐसा कहकर मुझपर अपने हृदयका सारा स्नेह उड़ेल दिया ॥ ३० ॥

अन्तरिक्षे च वागुक्ता प्रतिमामानुषी किल ।
एवमेतन्नरपते धर्मेण तनया तव ॥ ३१ ॥

'इसी समय आकाशवाणी हुई, जो स्वरूपतः मानवी भाषामें कही गयी थी (अथवा मेरे विषयमें प्रकट हुई वह वाणी अमानुषी—दिव्य थी) । उसने कहा—नरेश्वर ! तुम्हारा कथन ठीक है, यह कन्या धर्मतः तुम्हारी ही पुत्री है' ॥ ३१ ॥

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा पिता मे मिथिलाधिपः ।
अवाप्तो विपुलामृद्धिं मामवाप्य नराधिपः ॥ ३२॥

'यह आकाशवाणी सुनकर मेरे धर्मात्मा पिता मिथिलानरेश बड़े प्रसन्न हुए । मुझे पाकर उन नरेशने मानो कोई बड़ी समृद्धि पा ली थी ॥ ३२ ॥

दत्ता चास्मीष्टवद्देव्यै ज्येष्ठायै पुण्यकर्मणे ।
तया सम्भाविता चास्मि स्निग्धया मातृसौहृदात् ॥ ३३॥

'उन्होंने पुण्यकर्मपरायणा बड़ी रानीको, जो उन्हें अधिक प्रिय थीं, मुझे दे दिया । उन स्नेहमयी महारानीने मातृ-समुचित सौहार्दसे मेरा लालन-पालन किया ॥ ३३ ॥

पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता ।
चिन्तामभ्यगमद् दीनो वित्तनाशादिवाधनः ॥ ३४॥

'जब पिताने देखा कि मेरी अवस्था विवाहके योग्य हो गयी, तब इसके लिये वे बड़ी चिन्तामें पड़े । जैसे कमाये हुए धनका नाश हो जानेसे निर्धन मनुष्यको बड़ा दुःख होता है, उसी प्रकार वे मेरे विवाहकी चिन्तासे बहुत दुखी हो गये ॥ ३४ ॥

सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात् ।
प्रधर्षणमवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि ॥ ३५॥

'संसारमें कन्याके पिताको, वह भूतलपर इन्द्रके ही तुल्य क्यों न हो, वरपक्षके लोगोंसे, वे अपने समान या अपनेसे

छोटी हैसियतके ही क्यों न हों, प्रायः अपमान उठाना पड़ता है ॥ ३५ ॥

तां धर्षणामदूरस्थां संदृश्यात्मनि पार्थिवः ।
चिन्तार्णवगतः पारं नाससादाप्लवो यथा ॥ ३६ ॥

'वह अपमान सहन करनेकी घड़ी अपने लिये बहुत समीप आ गयी है, यह देखकर राजा चिन्ताके समुद्रमें डूब गये । जैसे नौकारहित मनुष्य पार नहीं पहुँच पाता, उसी प्रकार मेरे पिता भी चिन्ताका पार नहीं पा रहे थे ॥ ३६ ॥

अयोनिजां हि मां ज्ञात्वा नाध्यगच्छत् स चिन्तयन् ।
सदृशं चाभिरूपं च महीपालः पतिं मम ॥ ३७ ॥

'मुझे अयोनिजा कन्या समझकर वे भूपाल मेरे लिये योग्य और परम सुन्दर पतिका विचार करने लगे; किन्तु किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके ॥ ३७ ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता चिन्तयानस्य संततम् ।
स्वयंवरं तनूजायाः करिष्यामीति धर्मतः ॥ ३८ ॥

'सदा मेरे विवाहकी चिन्तामें पड़े रहनेवाले उन महाराजके मनमें एक दिन यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं धर्मतः अपनी पुत्रीका स्वयंवर करूँगा ॥ ३८ ॥

महायज्ञे तदा तस्य वरुणेन महात्मना ।
दत्तं धनुर्वरं प्रीत्या तूणी चाक्षय्यसायकौ ॥ ३९ ॥

'उन्हीं दिनों उनके एक महान् यज्ञमें प्रसन्न होकर महात्मा वरुणने उन्हें एक श्रेष्ठ दिव्य धनुष तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस दिये ॥ ३९ ॥

असंचाल्यं मनुष्यैश्च यत्नेनापि च गौरवात् ।
तन्न शक्ता नमयितुं स्वप्नेष्वपि नराधिपाः ॥ ४० ॥

'वह धनुष इतना भारी था कि मनुष्य पूरा प्रयत्न करनेपर भी उसे हिला भी नहीं पाते थे । भूमण्डलके नरेश स्वप्नमें भी उस धनुषको झुकानेमें असमर्थ थे ॥ ४० ॥

तद्धनुः प्राप्य मे पित्रा व्याहृतं सत्यवादिना ।
समवाये नरेन्द्राणां पूर्वमामन्त्र्य पार्थिवान् ॥ ४१ ॥

'उस धनुषको पाकर मेरे सत्यवादी पिताने पहले भूमण्डलके राजाओंको आमन्त्रित करके उन नरेशोंके समूहमें यह बात कही—॥ ४१ ॥

इदं च धनुरुद्यम्य सज्यं यः कुरुते नरः ।
तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशयः ॥ ४२ ॥

'जो मनुष्य इस धनुषको उठाकर इसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा देगा, मेरी पुत्री सीता उसीकी पत्नी होगी; इसमें संशय नहीं है; ॥ ४२ ॥

तच्च दृष्ट्वा धनुःश्रेष्ठं गौरवाद् गिरिसंनिभम् ।
अभिवाद्य नृपा जग्मुरशक्तास्तस्य तोलने ॥ ४३ ॥

'अपने भारीपनके कारण पहाड़-जैसे प्रतीत होनेवाले उस श्रेष्ठ धनुषको देखकर वहाँ आये हुए राजा जब उसे उठानेमें समर्थ न हो सके, तब उसे प्रणाम करके चले गये ॥ ४३ ॥

सुदीर्घस्य तु कालस्य राघवोऽयं महाद्युतिः ।
विश्वामित्रेण सहितो यज्ञं द्रष्टुं समागतः ॥ ४४ ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामः सत्यपराक्रमः ।
विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा मम पित्रा सुपूजितः ॥ ४५ ॥

'तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् ये महातेजस्वी रघुकुलनन्दन सत्यपराक्रमी श्रीराम अपने भाई लक्ष्मणको साथ ले विश्वामित्रजीके साथ मेरे पिताका यज्ञ देखनेके लिये मिथिलामें पधारे । उस समय मेरे पिताने धर्मात्मा विश्वामित्र मुनिका बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ ४४-४५ ॥

प्रोवाच पितरं तत्र राघवौ रामलक्ष्मणौ ।
सुतौ दशरथस्येमौ धनुर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ।
धनुर्दर्शय रामाय राजपुत्राय दैविकम् ॥ ४६ ॥

'तब वहाँ विश्वामित्रजी मेरे पितासे बोले—'राजन्! ये दोनों रघुकुलभूषण श्रीराम और लक्ष्मण महाराज दशरथके पुत्र हैं और आपके उस दिव्य धनुषका दर्शन करना चाहते हैं । आप अपना वह देवप्रदत्त धनुष राजकुमार श्रीरामको दिखाइये' ॥ ४६ ॥

इत्युक्तस्तेन विप्रेण तद् धनुः समुपानयत् ।
तद् धनुर्दर्शयामास राजपुत्राय दैविकम् ॥ ४७ ॥

'विप्रवर विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर पिताजीने उस दिव्य धनुषको मँगवाया और राजकुमार श्रीरामको उसे दिखाया ॥ ४७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण तदानम्य महाबलः ।
ज्यां समारोप्य झटिति पूरयामास वीर्यवान् ॥ ४८ ॥

'महाबली और परम पराक्रमी श्रीरामने पलक मारते-मारते उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और उसे तुरंत कानतक खींचा ॥ ४८ ॥

तेनापूरयता वेगान्मध्ये भग्नं द्विधा धनुः ।
तस्य शब्दोऽभवद् भीमः पतितस्याशनेर्यथा ॥ ४९ ॥

'उनके वेगपूर्वक खींचते समय वह धनुष बीचसे ही टूट गया और उसके दो टुकड़े हो गये । उसके टूटते समय ऐसा भयंकर शब्द हुआ मानो वहाँ वज्र टूट पड़ा हो ॥

ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्याभिसंधिना ।
उद्यता दातुमुद्यम्य जलभाजनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

'तब मेरे सत्यप्रतिज्ञ पिताने जलका उत्तम पात्र लेकर श्रीरामके हाथमें मुझे दे देनेका उद्योग किया ॥ ५० ॥

दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः।
अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥ ५१ ॥

'उस समय अपने पिता अयोध्यानरेश महाराज दशरथके अभिप्रायको जाने बिना श्रीरामने राजा जनकके देनेपर भी मुझे नहीं ग्रहण किया ॥ ५ ॥

ततः श्वशुरमामन्त्र्य वृद्धं दशरथं नृपम्।
मम पित्रा त्वहं दत्ता रामाय विदितात्मने ॥ ५२ ॥

'तदनन्तर मेरे बूढ़े श्वशुर राजा दशरथकी अनुमति लेकर पिताजीने आत्मज्ञानी श्रीरामको मेरा दान कर दिया ॥ ५२ ॥

मम चैवानुजा साध्वी ऊर्मिला शुभदर्शना।
भार्यार्थे लक्ष्मणस्यापि दत्ता पित्रा मम स्वयम् ॥ ५३ ॥

'तत्पश्चात् पिताजीने स्वयं ही मेरी छोटी बहिन सती-साध्वी परम सुन्दरी ऊर्मिलाको लक्ष्मणकी पत्नीरूपसे उनके हाथमें दे दिया ॥ ५३ ॥

एवं दत्तास्मि रामाय तथा तस्मिन् स्वयंवरे।
अनुरक्तास्मि धर्मेण पतिं वीर्यवतां वरम् ॥ ५४ ॥

'इस प्रकार उस स्वयंवरमें पिताजीने श्रीरामके हाथमें मुझको सौंपा था। मैं धर्मके अनुसार अपने पति बलवानोंमें श्रेष्ठ श्रीराममें सदा अनुरक्त रहती हूँ' ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः

अनसूयाकी आज्ञासे सीताका उनके दिये हुए वस्त्राभूषणोंको धारण करके श्रीरामजीके पास आना तथा श्रीराम आदिका रात्रिमें आश्रमपर रहकर प्रातःकाल अन्यत्र जानेके लिये ऋषियोंसे विदा लेना

अनसूया तु धर्मज्ञा श्रुत्वा तां महतीं कथाम्।
पर्यष्वजत बाहुभ्यां शिरस्याघ्राय मैथिलीम् ॥ १ ॥

धर्मको जाननेवाली अनसूयाने उस लंबी कथाको सुनकर मिथिलेशकुमारी सीताको अपनी दोनों भुजाओंसे अङ्कमें भर लिया और उनका मस्तक सूँघकर कहा—॥ १ ॥

व्यक्ताक्षरपदं चित्रं भाषितं मधुरं त्वया।
यथा स्वयंवरं वृत्तं तत् सर्वं च श्रुतं मया ॥ २ ॥

'बेटी! तुमने सुस्पष्ट अक्षरवाले शब्दोंमें यह विचित्र एवं मधुर प्रसङ्ग सुनाया। तुम्हारा स्वयंवर जिस प्रकार हुआ था, वह सब मैंने सुन लिया ॥ २ ॥

रमेयं कथया ते तु दृढं मधुरभाषिणि।
रविरस्तं गतः श्रीमानुपोह्य रजनीं शुभाम् ॥ ३ ॥
दिवसं परिकीर्णानामाहारार्थं पतत्रिणाम्।
संध्याकाले निलीनानां निद्रार्थं श्रूयते ध्वनिः ॥ ४ ॥

'मधुरभाषिणी सीते! तुम्हारी इस कथामें मेरा मन बहुत लग रहा है; तथापि तेजस्वी सूर्यदेव रजनीकी शुभ वेलाको निकट पहुँचाकर अस्त हो गये। जो दिनमें चारा चुगनेके लिये चारों ओर छिटके हुए थे, वे पक्षी अब संध्याकालमें नींद लेनेके लिये अपने घोंसलोंमें आकर छिप गये हैं; उनकी यह ध्वनि सुनायी दे रही है ॥ ३-४ ॥

एते चाप्यभिषेकार्द्रा मुनयः कलशोद्यताः।
सहिता उपवर्तन्ते सलिलाप्लुतवल्कलाः ॥ ५ ॥

'ये जलसे भीगे हुए वल्कल धारण करनेवाले मुनि, जिनके शरीर स्नानके कारण आर्द्र दिखायी देते हैं, जलसे भरे कलश उठाये एक साथ आश्रमकी ओर लौट रहे हैं ॥

अग्निहोत्रे च ऋषिणा हुते च विधिपूर्वकम्।
कपोताङ्गारुणो धूमो दृश्यते पवनोद्धतः ॥ ६ ॥

'महर्षि (अत्रि) ने विधिपूर्वक अग्निहोत्र-सम्बन्धी होमकर्म सम्पन्न कर लिया है, अतः वायुके वेगसे ऊपरको उठा हुआ यह कबूतरके कण्ठकी भाँति श्यामवर्णका धूम दिखायी दे रहा है ॥ ६ ॥

अल्पपर्णा हि तरवो घनीभूताः समन्ततः।
विप्रकृष्टेन्द्रिये देशे न प्रकाशन्ति वै दिशः ॥ ७ ॥

'अपनी इन्द्रियोंसे दूर देशमें चारों ओर जो वृक्ष दिखायी देते हैं, वे थोड़े पत्तेवाले होनेपर भी अन्धकारसे व्याप्त हो घनीभूत हो गये हैं; अतएव दिशाओंका भान नहीं हो रहा है ॥

रजनीचरसत्त्वानि प्रचरन्ति समन्ततः।
तपोवनमृगा ह्येते वेदितीर्थेषु शेरते ॥ ८ ॥

'रातको विचरनेवाले प्राणी (उल्लू आदि) सब ओर विचरण कर रहे हैं तथा ये तपोवनके मृग पुण्यक्षेत्रस्वरूप आश्रमके वेदी आदि विभिन्न प्रदेशोंमें सो रहे हैं ॥ ८ ॥

सम्प्रवृत्ता निशा सीते नक्षत्रसमलंकृता।
ज्योत्स्नाप्रावरणश्चन्द्रो दृश्यतेऽभ्युदितोऽम्बरे ॥ ९ ॥

'सीते! अब रात हो गयी; यह नक्षत्रोंसे सज रही है।

आकाशमें चन्द्रदेव चाँदनीकी चादर ओढ़े उदित दिखायी देते हैं ॥ ९ ॥

गम्यतामनुजानामि रामस्यानुचरी भव।
कथयन्त्या हि मधुरं त्वयाहमपि तोषिता ॥ १० ॥

'अतः अब जाओ, मैं तुम्हें जानेकी आज्ञा देती हूँ। जाकर श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें लग जाओ। तुमने अपनी मीठी-मीठी बातोंसे मुझे भी बहुत संतुष्ट किया है ॥ १० ॥

अलंकुरु च तावत् त्वं प्रत्यक्षं मम मैथिलि।
प्रीतिं जनय मे वत्से दिव्यालंकारशोभिनी ॥ ११ ॥

'बेटी! मिथिलेशकुमारी! पहले मेरी आँखोंके सामने अपने आपको अलंकृत करो। इन दिव्य वस्त्र और आभूषणोंको धारण करके इनसे सुशोभित हो मुझे प्रसन्न करो' ॥ ११ ॥

सा तदा समलंकृत्य सीता सुरसुतोपमा।
प्रणम्य शिरसा पादौ रामं त्वभिमुखी ययौ ॥ १२ ॥

यह सुनकर देवकन्याके समान सुन्दरी सीताने उस समय उन वस्त्राभूषणोंसे अपना शृङ्गार किया और अनसूयाके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम करनेके अनन्तर वे श्रीरामके सम्मुख गयीं ॥ १२ ॥

तथा तु भूषितां सीतां ददर्श वदतां वरः।
राघवः प्रीतिदानेन तपस्विन्या जहर्ष च ॥ १३ ॥

श्रीरामने जब इस प्रकार सीताको वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित देखा, तब तपस्विनी अनसूयाके उस प्रेमोपहारके दर्शनसे वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

न्यवेदयत् ततः सर्वं सीता रामाय मैथिली।
प्रीतिदानं तपस्विन्या वसनाभरणस्रजाम् ॥ १४ ॥

उस समय मिथिलेशकुमारी सीताने तपस्विनी अनसूयाके हाथसे जिस प्रकार वस्त्र, आभूषण और हार आदिका प्रेमोपहार प्राप्त हुआ था, वह सब श्रीरामचन्द्रजीसे कह सुनाया ॥

प्रहृष्टस्त्वभवद् रामो लक्ष्मणश्च महारथः।
मैथिल्याः सत्क्रियां दृष्ट्वा मानुषेषु सुदुर्लभाम् ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीराम और महारथी लक्ष्मण सीताका वह सत्कार जो मनुष्योंके लिये सर्वथा दुर्लभ है, देखकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

ततः स शर्वरीं प्रीतः पुण्यां शशिनिभाननाम्।
अर्चितस्तापसैः सर्वैरुवास रघुनन्दनः ॥ १६ ॥

तदनन्तर समस्त तपस्विजनोंसे सम्मानित हुए रघुकुलनन्दन श्रीरामने अनसूयाके दिये हुए पवित्र अलंकार आदिसे अलंकृत चन्द्रमुखी सीताको देखकर बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ रात्रिभर निवास किया ॥ १६ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामभिषिच्य हुताग्निकान्।
आपृच्छेतां नरव्याघ्रौ तापसान् वनगोचरान् ॥ १७ ॥

वह रात बीतनेपर जब सभी वनवासी तपस्वी मुनि स्नान करके अग्निहोत्र कर चुके, तब पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणने उनसे जानेके लिये आज्ञा माँगी ॥ १७ ॥

तावूचुस्ते वनचरास्तापसा धर्मचारिणः।
वनस्य तस्य संचारं राक्षसैः समभिप्लुतम् ॥ १८ ॥
रक्षांसि पुरुषादानि नानारूपाणि राघव।
वसन्त्यस्मिन् महारण्ये व्यालाश्च रुधिराशनाः ॥ १९ ॥

तब वे धर्मपरायण वनवासी तपस्वी उन दोनों भाइयोंसे इस प्रकार बोले—'रघुनन्दन! इस वनका मार्ग राक्षसोंसे आक्रान्त है—यहाँ उनका उपद्रव होता रहता है। इस विशाल वनमें नानारूपधारी नरभक्षी राक्षस तथा रक्तभोजी हिंसक पशु निवास करते हैं ॥ १८-१९ ॥

उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वा तापसं ब्रह्मचारिणम्।
अदन्त्यस्मिन् महारण्ये तान् निवारय राघव ॥ २० ॥

राघवेन्द्र! जो तपस्वी और ब्रह्मचारी यहाँ अपवित्र अथवा असावधान अवस्थामें मिल जाता है, उसे वे राक्षस और हिंसक जन्तु इस महान् वनमें खा जाते हैं; अतः आप उन्हें रोकिये—यहाँसे मार भगाइये ॥ २० ॥

एष पन्था महर्षीणां फलान्याहरतां वने।
अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम् ॥ २१ ॥

'रघुकुलभूषण! यही वह मार्ग है, जिससे महर्षिलोग वनके भीतर फल-मूल लेनेके लिये जाते हैं। आपको भी इसी मार्गसे इस दुर्गम वनमें प्रवेश करना चाहिये' ॥ २१ ॥

इतीरितः प्राञ्जलिभिस्तपस्विभि-
र्द्विजैः कृतस्वस्त्ययनः परंतपः।
वनं सभार्यः प्रविवेश राघवः
सलक्ष्मणः सूर्य इवाभ्रमण्डलम् ॥ २२ ॥

तपस्वी ब्राह्मणोंने हाथ जोड़कर जब ऐसी बातें कहीं और उनकी मङ्गलयात्राके लिये स्वस्तिवाचन किया, तब शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् श्रीरामने अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ उस वनमें प्रवेश किया, मानो सूर्यदेव मेघोंकी घटाके भीतर घुस गये हों ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

अयोध्याकाण्डं सम्पूर्णम्

दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे महर्षि उदयकालके चन्द्रमाकी भाँति मनोहर, धर्मात्मा श्रीरामको, लक्ष्मणको और यशस्विनी विदेहराजकुमारी सीताको भी देखकर उन सबके लिये मङ्गलमय आशीर्वाद देने लगे। उन्होंने उन तीनोंको आदरणीय अतिथिके रूपमें ग्रहण किया ॥ ११-१२ ॥

रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्।
ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥ १३ ॥

श्रीरामके रूप, शरीरकी गठन, कान्ति, सुकुमारता तथा सुन्दर वेषको उन वनवासी मुनियोंने आश्चर्यचकित होकर देखा ॥ १३ ॥

वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव।
आश्चर्यभूतान् ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः ॥ १४ ॥

वनमें निवास करनेवाले वे सभी मुनि श्रीराम, लक्ष्मण और सीता— तीनोंको एकटक नेत्रोंसे देखने लगे। उनका स्वरूप उन्हें आश्चर्यमय प्रतीत होता था ॥ १४ ॥

अत्रैनं हि महाभागाः सर्वभूतहिते रताः।
अतिथिं पर्णशालायां राघवं संन्यवेशयन् ॥ १५ ॥

समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले उन महाभाग महर्षियोंने वहाँ अपने प्रिय अतिथि इन भगवान् श्रीरामको पर्णशालामें ले जाकर ठहराया ॥ १५ ॥

ततो रामस्य सत्कृत्य विधिना पावकोपमाः।
आजह्रुस्ते महाभागाः सलिलं धर्मचारिणः ॥ १६ ॥

अग्नितुल्य तेजस्वी और धर्मपरायण उन महाभाग मुनियोंने श्रीरामको विधिवत् सत्कारके साथ जल समर्पित किया ॥ १६ ॥

मङ्गलानि प्रयुञ्जाना मुदा परमया युताः।
मूलं पुष्पं फलं सर्वमाश्रमं च महात्मनः ॥ १७ ॥

फिर बड़ी प्रसन्नताके साथ मङ्गलसूचक आशीर्वाद देते हुए उन महात्मा श्रीरामको उन्होंने फल-मूल और फूल आदिके साथ सारा आश्रम भी समर्पित कर दिया ॥ १७ ॥

निवेदयित्वा धर्मज्ञास्ते तु प्राञ्जलयोऽब्रुवन्।
धर्मपालो जनस्यास्य शरण्यश्च महायशाः ॥ १८ ॥
पूजनीयश्च मान्यश्च राजा दण्डधरो गुरुः।
इन्द्रस्यैव चतुर्भागः प्रजा रक्षति राघव ॥ १९ ॥
राजा तस्माद् वरान् भोगान् रम्यान् भुङ्क्ते नमस्कृतः।

सब कुछ निवेदन करके वे धर्मज्ञ मुनि हाथ जोड़कर बोले—'रघुनन्दन! दण्ड धारण करनेवाला राजा धर्मका पालक, महायशस्वी, इस जन समुदायको शरण देनेवाला माननीय, पूजनीय और सबका गुरु है। इस भूतलपर इन्द्र (आदि लोकपालों) का ही चौथा अंश होनेके कारण वह प्रजाकी रक्षा करता है, अतः राजा सबसे वन्दित होता तथा उत्तम एवं रमणीय भोगोंका उपभोग करता है। (जब साधारण राजाकी यह स्थिति है, तब आपके लिये तो क्या कहना है। आप तो साक्षात् भगवान् हैं) ॥ १८-१९½ ॥

ते वयं भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः।
नगरस्थो वनस्थो वा त्वं नो राजा जनेश्वरः ॥ २० ॥

'हम आपके राज्यमें निवास करते हैं, अतः आपको हमारी रक्षा करनी चाहिये। आप नगरमें रहें या वनमें, हमलोगोंके राजा ही हैं। आप समस्त जनसमुदायके शासक एवं पालक हैं ॥ २० ॥

न्यस्तदण्डा वयं राजञ्जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
रक्षणीयास्त्वया शश्वद् गर्भभूतास्तपोधनाः ॥ २१ ॥

'राजन्! हमने जीवमात्रको दण्ड देना छोड़ दिया है, क्रोध और इन्द्रियोंको जीत लिया है। अब तपस्या ही हमारा धन है। जैसे माता गर्भस्थ बालककी रक्षा करती है, उसी प्रकार आपको सदा सब तरहसे हमारी रक्षा करनी चाहिये' ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैरन्यैश्च राघवम्।
वन्यैश्च विविधाहारैः सलक्ष्मणमपूजयन् ॥ २२ ॥

ऐसा कहकर उन तपस्वी मुनियोंने वनमें उत्पन्न होनेवाले फल, मूल, फूल तथा अन्य अनेक प्रकारके आहारोंसे लक्ष्मण (और सीता) सहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका सत्कार किया ॥ २२ ॥

तथान्ये तापसाः सिद्धा रामं वैश्वानरोपमाः।
न्यायवृत्ता यथान्यायं तर्पयामासुरीश्वरम् ॥ २३ ॥

इनके सिवा दूसरे अग्नितुल्य तेजस्वी तथा न्याययुक्त बर्तावबाले सिद्ध तापसोंने भी सर्वेश्वर भगवान् श्रीरामको यथोचित रूपसे तृप्त किया ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

वनके भीतर श्रीराम, लक्ष्मण और सीतापर विराधका आक्रमण

कृतातिथ्योऽथ रामस्तु सूर्यस्योदयनं प्रति।
आमन्त्र्य स मुनीन् सर्वान् वनमेवान्वगाहत ॥ १ ॥

रात्रिमें उन महर्षियोंका आतिथ्य ग्रहण करके सबेरे सूर्योदय होनेपर समस्त मुनियोंसे विदा ले श्री-

रामचन्द्रजी पुनः वनमें ही आगे बढ़ने लगे ॥ १ ॥

नानामृगगणाकीर्णमृक्षशार्दूलसेवितम् ।
ध्वस्तवृक्षलतागुल्मं दुर्दर्शसलिलाशयम् ॥ २ ॥
निष्कूजमानशकुनि झिल्लिकागणनादितम् ।
लक्ष्मणानुचरो रामो वनमध्यं ददर्श ह ॥ ३ ॥

जाते-जाते लक्ष्मणसहित श्रीरामने वनके मध्यभागमें एक ऐसे स्थानको देखा, जो नाना प्रकारके मृगोंसे व्याप्त था। वहाँ बहुत-से रीछ और बाघ रहा करते थे। वहाँके वृक्ष, लता और झाड़ियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो गयी थीं। उस वन-प्रान्तमें किसी जलाशयका दर्शन होना कठिन था। वहाँके पक्षी वहीं चहक रहे थे। झींगुरोंकी झंकार गूँज रही थी ॥ २-३ ॥

सीतया सह काकुत्स्थस्तस्मिन् घोरमृगायुते ।
ददर्श गिरिशृङ्गाभं पुरुषादं महास्वनम् ॥ ४ ॥

भयंकर जंगली पशुओंसे भरे हुए उस दुर्गम वनमें सीताके साथ श्रीरामचन्द्रजीने एक नरभक्षी राक्षस देखा, जो पर्वतशिखरके समान ऊँचा था और उच्चस्वरसे गर्जना कर रहा था ॥ ४ ॥

गभीराक्षं महावक्त्रं विकटं विकटोदरम् ।
बीभत्सं विषमं दीर्घं विकृतं घोरदर्शनम् ॥ ५ ॥

उसकी आँखें गहरी, मुँह बहुत बड़ा, आकार विकट और पेट विकराल था। वह देखनेमें बड़ा भयंकर, घृणित, बेडौल, बहुत बड़ा और विकृत वेशसे युक्त था ॥ ५ ॥

वसानं चर्म वैयाघ्रं वसार्द्रं रुधिरोक्षितम् ।
त्रासनं सर्वभूतानां व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥ ६ ॥

उसने खूनसे भीगा और चर्बीसे गीला व्याघ्रचर्म पहन रखा था। समस्त प्राणियोंको त्रास पहुँचानेवाला वह राक्षस यमराजके समान मुँह बाये खड़ा था ॥ ६ ॥

त्रीन् सिंहांश्चतुरो व्याघ्रान् द्वौ वृकौ पृषतान् दश ।
सविषाणं वसादिग्धं गजस्य च शिरो महत् ॥ ७ ॥
अवसज्यायसे शूले विनदन्तं महास्वनम् ।

वह एक लोहेके शूलमें तीन सिंह, चार बाघ, दो भेड़िये, दस चितकबरे हरिण और दाँतोंसहित एक बहुत बड़ा हाथीका मस्तक, जिसमें चर्बी लिपटी हुई थी, गाँथकर जोर-जोरसे दहाड़ रहा था ॥ ७½ ॥

स रामं लक्ष्मणं चैव सीतां दृष्ट्वा च मैथिलीम् ॥ ८ ॥
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धः प्रजाः काल इवान्तकः ।
स कृत्वा भैरवं नादं चालयन्निव मेदिनीम् ॥ ९ ॥

श्रीराम, लक्ष्मण और मिथिलेशकुमारी सीताको देखते ही वह क्रोधमें भरकर भैरवनाद करके पृथ्वीको कम्पित करता हुआ उन सबकी ओर उसी प्रकार दौड़ा, जैसे प्राणान्तकारी काल प्रजाकी ओर अग्रसर होता है ॥ ८-९ ॥

अङ्केनादाय वैदेहीमपक्रम्य तदाब्रवीत् ।
युवां जटाचीरधरौ सभार्यौ क्षीणजीवितौ ॥ १० ॥
प्रविष्टौ दण्डकारण्यं शरचापासिपाणिनौ ।

वह विदेहनन्दिनी सीताको गोदमें ले कुछ दूर जाकर खड़ा हो गया। फिर उन दोनों भाइयोंसे बोला—'तुम दोनों जटा और चीर धारण करके भी स्त्रीके साथ रहते हो और हाथमें धनुष-बाण और तलवार लिये दण्डकवनमें घुस आये हो; अतः जान पड़ता है, तुम्हारा जीवन क्षीण हो चला है ॥ १०½ ॥

कथं तापसयोर्वां च वासः प्रमदया सह ॥ ११ ॥
अधर्मचारिणौ पापौ कौ युवां मुनिदूषकौ ।

'तुम दोनों तो तपस्वी जान पड़ते हो, फिर तुम्हारा युवती स्त्रीके साथ रहना कैसे सम्भव हुआ? अधर्म-परायण, पापी तथा मुनिसमुदायको कलङ्कित करनेवाले तुम दोनों कौन हो? ॥ ११½ ॥

अहं वनमिदं दुर्गं विराधो नाम राक्षसः ॥ १२ ॥
चरामि सायुधो नित्यमृषिमांसानि भक्षयन् ।

'मैं विराध नामक राक्षस हूँ और प्रतिदिन ऋषियोंके मांसका भक्षण करता हुआ हाथमें अस्त्र-शस्त्र लिये इस दुर्गम वनमें विचरता रहता हूँ ॥ १२½ ॥

इयं नारी वरारोहा मम भार्या भविष्यति ॥ १३ ॥
युवयोः पापयोश्चाहं पास्यामि रुधिरं मृधे ।

'यह स्त्री बड़ी सुन्दरी है, अतः मेरी भार्या बनेगी और तुम दोनों पापियोंका मैं युद्धस्थलमें रक्त-पान करूँगा' ॥ १३½ ॥

तस्यैवं ब्रुवतो दुष्टं विराधस्य दुरात्मनः ॥ १४ ॥
श्रुत्वा सगर्वितं वाक्यं सम्भ्रान्ता जनकात्मजा ।
सीता प्रवेपितोद्वेगात् प्रवाते कदली यथा ॥ १५ ॥

दुरात्मा विराधकी ये दुष्टता और घमंडसे भरी बातें सुनकर जनकनन्दिनी सीता घबरा गयी और जैसे तेज हवा चलनेपर केलेका वृक्ष जोर-जोरसे हिलने लगता है, उसी प्रकार वे उद्वेगके कारण थरथर काँपने लगीं ॥ १४-१५ ॥

तां दृष्ट्वा राघवः सीतां विराधाङ्कगतां शुभाम् ।
अब्रवील्लक्ष्मणं वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ १६ ॥

शुभलक्षणा सीताको सहसा विराधके चंगुलमें फँसी देख श्रीरामचन्द्रजी सूखते हुए मुँहसे लक्ष्मणको सम्बोधित करके बोले—॥ १६ ॥

पश्य सौम्य नरेन्द्रस्य जनकस्यात्मसम्भवाम् ।
मम भार्यां शुभाचारां विराधाङ्के प्रवेशिताम् ॥ १७ ॥

'सौम्य ! देखो तो सही, महाराज जनककी पुत्री और मेरी सती-साध्वी पत्नी सीता विराधके अङ्कमें विवशता-पूर्वक जा पहुँची हैं ॥ १७ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धां राजपुत्रीं यशस्विनीम् ।
यदभिप्रेतमस्मासु प्रियं वरवृतं च यत् ॥ १८ ॥
कैकेय्यास्तु सुसंवृत्तं क्षिप्रमद्यैव लक्ष्मण ।
या न तुष्यति राज्येन पुत्रार्थे दीर्घदर्शिनी ॥ १९ ॥

'अत्यन्त सुखमें पली हुई यशस्विनी राजकुमारी सीताकी यह अवस्था ! (हाय ! कितने कष्टकी बात है !) लक्ष्मण ! वनमें हमारे लिये जिस दुःखकी प्राप्ति कैकेयीको अभीष्ट थी और जो कुछ उसे प्रिय था, जिसके लिये उसने वर माँगे थे, वह सब आज ही शीघ्रतापूर्वक सिद्ध हो गया । तभी तो वह दूर-दर्शिनी कैकेयी अपने पुत्रके लिये केवल राज्य लेकर नहीं संतुष्ट हुई थी ॥ १८-१९ ॥

ययाहं सर्वभूतानां प्रियः प्रस्थापितो वनम् ।
अद्येदानीं सकामा सा या माता मध्यमा मम ॥ २० ॥

'जिसने समस्त प्राणियोंके लिये प्रिय होनेपर भी मुझे वनमें भेज दिया, वह मेरी मझली माता कैकेयी आज इस समय सफलमनोरथ हुई है ॥ २० ॥

परस्पर्शात् तु वैदेह्या न दुःखतरमस्ति मे ।
पितुर्विनाशात् सौमित्रे स्वराज्यहरणात् तथा ॥ २१ ॥

'विदेहनन्दिनीका दूसरा कोई स्पर्श कर ले, इससे बढ़कर दुःखकी बात मेरे लिये दूसरी कोई नहीं है । सुमित्रानन्दन ! पिताजीकी मृत्यु तथा अपने राज्यके अपहरण-से भी उतना कष्ट मुझे नहीं हुआ था, जितना अब हुआ है' ॥ २१ ॥

इति ब्रुवति काकुत्स्थे बाष्पशोकपरिप्लुतः ।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धो रुद्धो नाग इव श्वसन् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर शोकके आँसू बहाते हुए लक्ष्मण कुपित हो मन्त्रसे अवरुद्ध हुए सर्पकी भाँति फुफकारते हुए बोले—॥ २२ ॥

अनाथ इव भूतानां नाथस्त्वं वासवोपमः ।
मया प्रेष्येण काकुत्स्थ किमर्थं परितप्यसे ॥ २३ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण ! आप इन्द्रके समान समस्त प्राणियोंके स्वामी एवं संरक्षक हैं । मुझ दासके रहते हुए आप किस लिये अनाथकी भाँति संतप्त हो रहे हैं ? ॥ २३ ॥

शरेण निहतस्याद्य मया क्रुद्धेन रक्षसः ।
विराधस्य गतासोर्हि मही पास्यति शोणितम् ॥ २४ ॥

'मैं अभी कुपित होकर अपने बाणसे इस राक्षसका वध करता हूँ । आज यह पृथ्वी मेरेद्वारा मारे गये प्राणशून्य विराधका रक्त पीयेगी ॥ २४ ॥

राज्यकामे मम क्रोधो भरते यो बभूव ह ।
तं विराधे विमोक्ष्यामि वज्री वज्रमिवाचले ॥ २५ ॥

'राज्यकी इच्छा रखनेवाले भरतपर मेरा जो क्रोध प्रकट हुआ था, उसे आज मैं विराधपर छोड़ूँगा । जैसे वज्रधारी इन्द्र पर्वतपर अपना वज्र छोड़ते हैं ॥ २५ ॥

मम भुजबलवेगवेगितः
पततु शरोऽस्य महान् महोरसि ।
व्यपनयतु तनोश्च जीवितं
पततु ततश्च महीं विघूर्णितः ॥ २६ ॥

'मेरी भुजाओंके बलके वेगसे वेगवान् होकर छूटा हुआ मेरा महान् बाण आज विराधके विशाल वक्षःस्थलपर गिरे । इसके शरीरसे प्राणोंको अलग करे । तत्पश्चात् यह विराध चक्कर खाता हुआ पृथ्वीपर पड़ जाय' ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

विराध और श्रीरामकी बातचीत, श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा विराधपर प्रहार तथा विराधका इन दोनों भाइयोंको साथ लेकर दूसरे वनमें जाना

अथोवाच पुनर्वाक्यं विराधः पूरयन् वनम् ।
पृच्छतो मम हि ब्रूतं कौ युवां क्व गमिष्यथः ॥ १ ॥

तदनन्तर विराधने उस वनको गुँजाते हुए कहा—'अरे ! मैं पूछता हूँ, मुझे बताओ । तुम दोनों कौन हो और कहाँ जाओगे ?' ॥ १ ॥

तमुवाच ततो रामो राक्षसं ज्वलिताननम् ।
पृच्छन्तं सुमहातेजा इक्ष्वाकुकुलमात्मनः ॥ २ ॥
क्षत्रियौ वृत्तसम्पन्नौ विद्धि नौ वनगोचरौ ।
त्वां तु वेदितुमिच्छावः कस्त्वं चरसि दण्डकान् ॥ ३ ॥

तब महातेजस्वी श्रीरामने अपना परिचय पूछते हुए प्रज्वलित मुखवाले उस राक्षससे इस प्रकार कहा—'तुझे मालूम होना चाहिये कि महाराज इक्ष्वाकुका कुल ही मेरा

कुल है। हम दोनों भाई सदाचारका पालन करनेवाले क्षत्रिय हैं और कारणवश इस समय वनमें निवास करते हैं। अब हम तेरा परिचय जानना चाहते हैं। तू कौन है, जो दण्डक-वनमें स्वेच्छासे विचर रहा है ?' ॥ २-३ ॥

तमुवाच विराधस्तु रामं सत्यपराक्रमम्।
हन्त वक्ष्यामि ते राजन् निबोध मम राघव ॥ ४ ॥

यह सुनकर विराधने सत्यपराक्रमी श्रीरामसे कहा—'रघुवंशी नरेश ! मैं प्रसन्नतापूर्वक अपना परिचय देता हूँ। तुम मेरे विषयमें सुनो ॥ ४ ॥

पुत्रः किल जवस्याहं माता मम शतह्रदा।
विराध इति मामाहुः पृथिव्यां सर्वराक्षसाः ॥ ५ ॥

'मैं 'जव' नामक राक्षसका पुत्र हूँ, मेरी माताका नाम 'शतह्रदा' है। भूमण्डलके समस्त राक्षस मुझे विराधके नामसे पुकारते हैं ॥ ५ ॥

तपसा चाभिसम्प्राप्ता ब्रह्मणो हि प्रसादजा।
शस्त्रेणावध्यता लोकेऽच्छेद्याभेद्यत्वमेव च ॥ ६ ॥

'मैंने तपस्याके द्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न करके यह वरदान प्राप्त किया है कि किसी भी शस्त्रसे मेरा वध न हो। मैं संसारमें अच्छेद्य और अभेद्य होकर रहूँ—कोई भी मेरे शरीरको छिन्न-भिन्न नहीं कर सके ॥ ६ ॥

उत्सृज्य प्रमदामेनामनपेक्षौ यथागतम्।
त्वरमाणौ पलायेथां न वां जीवितमाददे ॥ ७ ॥

'अब तुम दोनों इस युवती स्त्रीको यहीं छोड़कर इसे पानेकी इच्छा न रखते हुए जैसे आये हो उसी प्रकार तुरंत यहाँसे भाग जाओ। मैं तुम दोनोंके प्राण नहीं लूँगा' ॥ ७ ॥

तं रामः प्रत्युवाचेदं कोपसंरक्तलोचनः।
राक्षसं विकृताकारं विराधं पापचेतसम् ॥ ८ ॥

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वे पापपूर्ण विचार और विकट आकारवाले उस पापी राक्षस विराधसे इस प्रकार बोले—॥ ८ ॥

क्षुद्र धिक् त्वां तु हीनार्थं मृत्युमन्वेषसे ध्रुवम्।
रणे प्राप्स्यसि संतिष्ठ न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥ ९ ॥

'नीच ! तुझे धिक्कार है। तेरा अभिप्राय बड़ा ही खोटा है। निश्चय ही तू अपनी मौत ढूँढ़ रहा है और वह तुझे युद्धमें मिलेगी। ठहर, अब तू मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकेगा' ॥

ततः सज्यं धनुः कृत्वा रामः सुनिशिताञ्शरान्।
सुशीघ्रमभिसंधाय राक्षसं निजघान ह ॥ १० ॥

यह कहकर भगवान् श्रीरामने अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और तुरंत ही तीखे बाणोंका अनुसंधान करके उस राक्षसको बींधना आरम्भ किया ॥ १० ॥

धनुषा ज्यागुणवता सप्त बाणान् मुमोच ह।
रुक्मपुङ्खान् महावेगान् सुपर्णानिलतुल्यगान् ॥ ११ ॥

उन्होंने प्रत्यञ्चायुक्त धनुषके द्वारा विराधके ऊपर लगातार सात बाण छोड़े, जो गरुड़ और वायुके समान महान् वेगशाली थे और सोनेके पंखोंसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ११ ॥

ते शरीरं विराधस्य भित्त्वा बर्हिणवाससः।
निपेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां पावकोपमाः ॥ १२ ॥

प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी और मोरपंख लगे हुए वे बाण विराधके शरीरको छेदकर रक्तरञ्जित हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १२ ॥

स विद्धो न्यस्य वैदेहीं शूलमुद्यम्य राक्षसः।
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धस्तदा रामं सलक्ष्मणम् ॥ १३ ॥

घायल हो जानेपर उस राक्षसने विदेहकुमारी सीताको अलग रख दिया और स्वयं हाथमें शूल लिये अत्यन्त कुपित होकर श्रीराम तथा लक्ष्मणपर तत्काल टूट पड़ा ॥ १३ ॥

स विनद्य महानादं शूलं शक्रध्वजोपमम्।
प्रगृह्याशोभत तदा व्यात्तानन इवान्तकः ॥ १४ ॥

वह बड़े जोरसे गर्जना करके इन्द्रध्वजके समान शूल लेकर उस समय मुँह बाये हुए कालके समान शोभा पा रहा था ॥ १४ ॥

अथ तौ भ्रातरौ दीप्तं शरवर्षं ववर्षतुः।
विराधे राक्षसे तस्मिन् कालान्तकयमोपमे ॥ १५ ॥

तब काल, अन्तक और यमराजके समान उस भयंकर राक्षस विराधके ऊपर उन दोनों भाइयोंने प्रज्वलित बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १५ ॥

स प्रहस्य महारौद्रः स्थित्वाजृम्भत राक्षसः।
जृम्भमाणस्य ते बाणाः कायान्निष्पेतुराशुगाः ॥ १६ ॥

'यह देख वह महाभयंकर राक्षस अट्टहास करके खड़ा हो गया और जँभाईके साथ अँगड़ाई लेने लगा। उसके वैसा करते ही वे शीघ्रगामी बाण उसके शरीरसे निकलकर पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ १६ ॥

स्पर्शात् तु वरदानेन प्राणान् संरोध्य राक्षसः।
विराधः शूलमुद्यम्य राघवावभ्यधावत ॥ १७ ॥

वरदानके सम्बन्धसे उस राक्षस विराधने प्राणोंको रोक लिया और शूल उठाकर उन दोनों रघुवंशी वीरोंपर आक्रमण किया ॥ १७ ॥

तच्छूलं वज्रसंकाशं गगने ज्वलनोपमम्।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ १८ ॥

उसका वह शूल आकाशमें वज्र और अग्निके समान प्रज्वलित हो उठा; परंतु शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने दो बाण मारकर उसे काट डाला ॥ १८ ॥

तद् रामविशिखैश्छिन्नं शूलं तस्यापतद् भुवि।
पपाताशनिना छिन्नं मेरोरिव शिलातलम् ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे कटा हुआ विराधका वह शूल वज्रसे छिन्न-भिन्न हुए मेरुके शिलाखण्डकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १९ ॥

तौ खड्गौ क्षिप्रमुद्यम्य कृष्णसर्पाविवोद्यतौ ।
तूर्णमापेततुस्तस्य तदा प्रहरतां बलात् ॥ २० ॥

फिर तो वे दोनों भाई शीघ्र ही काले सर्पोंके समान दो तलवारें लेकर तुरंत उसपर टूट पड़े और तत्काल बलपूर्वक प्रहार करने लगे ॥ २० ॥

स वध्यमानः सुभृशं भुजाभ्यां परिगृह्य तौ ।
अप्रकम्प्यौ नरव्याघ्रौ रौद्रः प्रस्थातुमैच्छत ॥ २१ ॥

उनके आघातसे अत्यन्त घायल हुए उस भयंकर राक्षसने अपनी दोनों भुजाओंसे उन अकम्प्य पुरुषसिंह वीरोंको पकड़कर अन्यत्र जानेकी इच्छा की ॥ २१ ॥

तस्याभिप्रायमाज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
वहत्वयमलं तावत् पथानेन तु राक्षसः ॥ २२ ॥
यथा चेच्छति सौमित्रे तथा वहतु राक्षसः ।
अयमेव हि नः पन्था येन याति निशाचरः ॥ २३ ॥

उसके अभिप्रायको जानकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन ! यह राक्षस अपनी इच्छाके अनुसार हम लोगोंको इस मार्गसे ढोकर ले चले। यह जैसा चाहता है, उसी तरह हमारा वाहन बनकर हमें ले चले (इसमें बाधा डालनेकी आवश्यकता नहीं है) । जिस मार्गसे यह निशाचर चल रहा है, यही हमलोगोंके लिये आगे जानेका मार्ग है' ॥

स तु स्वबलवीर्येण समुत्क्षिप्य निशाचरः ।
बालाविव स्कन्धगतौ चकारातिबलोद्धतः ॥ २४ ॥

अत्यन्त बलसे उद्दण्ड बने हुए निशाचर विराधने अपने बल-पराक्रमसे उन दोनों भाइयोंको बालकोंकी तरह उठाकर अपने दोनों कंधोंपर बिठा लिया ॥ २४ ॥

तावारोप्य ततः स्कन्धं राघवौ रजनीचरः ।
विराधो विनदन् घोरं जगामाभिमुखो वनम् ॥ २५ ॥

उन दोनों रघुवंशी वीरोंको कंधेपर चढ़ा लेनेके बाद राक्षस विराध भयंकर गर्जना करता हुआ वनकी ओर चल दिया ॥ २५ ॥

वनं महामेघनिभं प्रविष्टो
द्रुमैर्महद्भिर्विविधैरुपेतम् ।
नानाविधैः पक्षिकुलैर्विचित्रं
शिवायुतं व्यालमृगैर्विकीर्णम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर उसने एक ऐसे वनमें प्रवेश किया, जो महान् मेघोंकी घटाके समान घना और नीला था । नाना प्रकारके बड़े-बड़े वृक्ष वहाँ भरे हुए थे । भाँति-भाँतिके पक्षियोंके समुदाय उसे विचित्र शोभासे सम्पन्न बना रहे थे तथा बहुत-से गीदड़ और हिंसक पशु उसमें सब ओर फैले हुए थे ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥



चतुर्थः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा विराधका वध

ह्रियमाणौ तु काकुत्स्थौ दृष्ट्वा सीता रघूत्तमौ ।
उच्चैः स्वरेण चुक्रोश प्रगृह्य सुमहाभुजौ ॥ १ ॥

रघुकुलके श्रेष्ठ वीर ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम और लक्ष्मणको राक्षस लिये जा रहा है—यह देखकर सीता अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर जोर-जोरसे रोने-चिल्लाने लगीं—॥

एष दाशरथी रामः सत्यवाञ्छीलवाञ्शुचिः ।
रक्षसा रौद्ररूपेण ह्रियते सहलक्ष्मणः ॥ २ ॥

'हाय ! इन सत्यवादी, शीलवान् और शुद्ध आचार-विचारवाले दशरथनन्दन श्रीराम और लक्ष्मणको यह रौद्ररूपधारी राक्षस लिये जा रहा है ॥ २ ॥

मामृक्षा भक्षयिष्यन्ति शार्दूलद्वीपिनस्तथा ।
मां हरोत्सृज काकुत्स्थौ नमस्ते राक्षसोत्तम ॥ ३ ॥

'राक्षसशिरोमणे ! तुम्हें नमस्कार है । इस वनमें रीछ, व्याघ्र और चीते मुझे खा जायँगे, इसलिये तुम मुझे ही ले चलो, किंतु इन दोनों ककुत्स्थवंशी वीरोंको छोड़ दो' ॥ ३ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वेगं प्रचक्रतुर्वीरौ वधे तस्य दुरात्मनः ॥ ४ ॥

विदेहनन्दिनी सीताकी यह बात सुनकर वे दोनों वीर श्रीराम और लक्ष्मण उस दुरात्मा राक्षसका वध करनेमें शीघ्रता करने लगे ॥ ४ ॥

तस्य रौद्रस्य सौमित्रिः सव्यं बाहुं बभञ्ज ह ।
रामस्तु दक्षिणं बाहुं तरसा तस्य रक्षसः ॥ ५ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मणने उस राक्षसकी बायीं और श्रीरामने उसकी दाहिनी बाँह बड़े वेगसे तोड़ डाली ॥ ५ ॥

स भग्नबाहुः संविग्नः पपाताशु विमूर्च्छितः ।
धरण्यां मेघसंकाशो वज्रभिन्न इवाचलः ॥ ६ ॥

भुजाओंके टूट जानेपर वह मेघके समान काला राक्षस व्याकुल हो गया और शीघ्र ही मूर्च्छित होकर वज्रके द्वारा टूटे हुए पर्वतशिखरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६ ॥

मुष्टिभिर्बाहुभिः पद्भिः सूदयन्तौ तु राक्षसम् ।
उद्यम्योद्यम्य चाप्येनं स्थण्डिले निष्पिपेषतुः ॥ ७ ॥

तब श्रीराम और लक्ष्मण विराधको भुजाओं, मुक्कों और लातोंसे मारने लगे तथा उसे उठा-उठाकर पटकने और पृथ्वीपर रगड़ने लगे ॥ ७ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैः खड्गाभ्यां च परिक्षतः ।
निष्पिष्टो बहुधा भूमौ न ममार स राक्षसः ॥ ८ ॥

बहुसंख्यक बाणोंसे घायल और तलवारोंसे क्षत-विक्षत होनेपर तथा पृथ्वीपर बार-बार रगड़ा जानेपर भी वह राक्षस मरा नहीं ॥ ८ ॥

तं प्रेक्ष्य रामः सुभृशमवध्यमचलोपमम् ।
भयेष्वभयदः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

अवध्य तथा पर्वतके समान अचल विराधको बारंबार देखकर भयके अवसरोंपर अभय देनेवाले श्रीमान् रामने लक्ष्मणसे यह बात कही—॥ ९ ॥

तपसा पुरुषव्याघ्र राक्षसोऽयं न शक्यते ।
शस्त्रेण युधि निर्जेतुं राक्षसं निखनावहे ॥ १० ॥

'पुरुषसिंह ! यह राक्षस तपस्यासे (वर पाकर) अवध्य हो गया है । इसे शस्त्रके द्वारा युद्धमें नहीं जीता जा सकता। इसलिये हमलोग निशाचर विराधको पराजित करनेके लिये अब गड्ढा खोदकर गाड़ दें ॥ १० ॥

कुञ्जरस्येव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण ।
वनेऽस्मिन् सुमहच्छ्वभ्रं खन्यतां रौद्रवर्चसः ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण ! हाथीके समान भयंकर तथा रौद्र तेजवाले इस राक्षसके लिये इस वनमें बहुत बड़ा गड्ढा खोदो' ॥११॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति ।
तस्थौ विराधमाक्रम्य कण्ठे पादेन वीर्यवान् ॥ १२ ॥

इस प्रकार लक्ष्मणको गड्ढा खोदनेकी आज्ञा देकर पराक्रमी श्रीराम अपने एक पैरसे विराधका गला दबाकर खड़े हो गये ॥ १२ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं राक्षसः प्रश्रितं वचः ।
इदं प्रोवाच काकुत्स्थं विराधः पुरुषर्षभम् ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी कही हुई यह बात सुनकर राक्षस विराधने पुरुषप्रवर श्रीरामसे यह विनययुक्त बात कही—॥

हतोऽहं पुरुषव्याघ्र शक्रतुल्यबलेन वै ।
मया तु पूर्वं त्वं मोहान्न ज्ञातः पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥

'पुरुषसिंह ! नरश्रेष्ठ ! आपका बल देवराज इन्द्रके समान है । मैं आपके हाथसे मारा गया । मोहवश पहले मैं आपको पहचान न सका ॥ १४ ॥

कौसल्या सुप्रजास्तात रामस्त्वं विदितो मया ।
वैदेही च महाभागा लक्ष्मणश्च महायशाः ॥ १५ ॥

'तात ! आपके द्वारा माता कौसल्या उत्तम संतानवाली हुई हैं। मैं यह जान गया कि आप ही श्रीरामचन्द्रजी हैं । यह महाभागा विदेहनन्दिनी सीता हैं और ये आपके छोटे भाई महायशस्वी लक्ष्मण हैं ॥ १५ ॥

अभिशापादहं घोरां प्रविष्टो राक्षसीं तनुम् ।
तुम्बुरुर्नाम गन्धर्वः शप्तो वैश्रवणेन हि ॥ १६ ॥

'मुझे शापके कारण इस भयंकर राक्षसशरीरमें आना पड़ा था । मैं तुम्बुरु नामक गन्धर्व हूँ । कुबेरने मुझे राक्षस होनेका शाप दिया था ॥ १६ ॥

प्रसाद्यमानश्च मया सोऽब्रवीन्मां महायशाः ।
यदा दाशरथी रामस्त्वां वधिष्यति संयुगे ॥ १७ ॥
तदा प्रकृतिमापन्नो भवान् स्वर्गं गमिष्यति ।

'जब मैंने उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा की, तब वे महायशस्वी कुबेर मुझसे इस प्रकार बोले—'गन्धर्व ! जब दशरथनन्दन श्रीराम युद्धमें तुम्हारा वध करेंगे, तब तुम अपने पहले स्वरूपको प्राप्त होकर स्वर्गलोकको जाओगे ॥१७½ ॥

अनुपस्थीयमानो मां स क्रुद्धो व्याजहार ह ॥ १८ ॥
इति वैश्रवणो राजा रम्भासक्तमुवाच ह ।

'मैं रम्भा नामक अप्सरामें आसक्त था, इसलिये एक दिन ठीक समयसे उनकी सेवामें उपस्थित न हो सका। इसीलिये कुपित हो राजा वैश्रवण (कुबेर) ने मुझे पूर्वोक्त शाप देकर उससे छूटनेकी अवधि बतायी थी ॥ १८½ ॥

तव प्रसादान्मुक्तोऽहमभिशापात् सुदारुणात् ॥ १९ ॥
भुवनं स्वं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु परंतप ।

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुवीर ! आज आपकी कृपासे मुझे उस भयंकर शापसे छुटकारा मिल गया । आपका कल्याण हो, अब मैं अपने लोकको जाऊँगा ॥ १९½ ॥

इतो वसति धर्मात्मा शरभङ्गः प्रतापवान् ॥ २० ॥
अध्यर्धयोजने तात महर्षिः सूर्यसंनिभः ।
तं क्षिप्रमभिगच्छ त्वं स ते श्रेयोऽभिधास्यति ॥ २१ ॥

'तात ! यहाँसे डेढ़ योजनकी दूरीपर सूर्यके समान तेजस्वी प्रतापी और धर्मात्मा महामुनि शरभङ्ग निवास करते हैं । उनके पास आप शीघ्र चले जाइये; वे आपके कल्याणकी बात बतायेंगे ॥ २०-२१ ॥

अवटे चापि मां राम निक्षिप्य कुशली व्रज ।
रक्षसां गतसत्त्वानामेष धर्मः सनातनः ॥ २२ ॥

'श्रीराम ! आप मेरे शरीरको गड्ढेमें गाड़कर कुशलपूर्वक चले जाइये । मरे हुए राक्षसोंके शरीरको गड्ढेमें गाड़ना (कब्र खोदकर उसमें दफना देना) यह उनके लिये सनातन (परम्पराप्राप्त) धर्म है ॥ २२ ॥

अवटे ये निधीयन्ते तेषां लोकाः सनातनाः ।
एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थं विराधः शरपीडितः ॥ २३ ॥
बभूव स्वर्गसम्प्राप्तो न्यस्तदेहो महाबलः ।

'जो राक्षस गड्ढेमें गाड़ दिये जाते हैं, उन्हें सनातन लोकोंकी प्राप्ति होती है ।' श्रीरामसे ऐसा कहकर बाणोंसे पीड़ित हुआ महाबली विराध (जब उसका शरीर गड्ढेमें डाला गया, तब) उस शरीरको छोड़कर स्वर्गलोकको चला गया ॥ २३½ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यं लक्ष्मणं व्यादिदेश ह ॥ २४ ॥
कुञ्जरस्येव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण ।
वनेऽस्मिन्सुमहाञ्श्वभ्रः खन्यतां रौद्रकर्मणः ॥ २५ ॥

(वह किस तरह गड्ढेमें डाला गया ?—यह बात अब बतायी जाती है—) उसकी बात सुनकर श्रीरघुनाथजीने लक्ष्मणको आज्ञा दी—'लक्ष्मण ! भयंकर कर्म करनेवाले तथा हाथीके समान भयानक इस राक्षसके लिये इस वनमें बहुत बड़ा गड्ढा खोदो' ॥ २४-२५ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति ।
तस्थौ विराधमाक्रम्य कण्ठे पादेन वीर्यवान् ॥ २६ ॥

इस प्रकार लक्ष्मणको गड्ढा खोदनेका आदेश दे पराक्रमी श्रीराम एक पैरसे विराधका गला दबाकर खड़े हो गये ॥ २६ ॥

ततः खनित्रमादाय लक्ष्मणः श्वभ्रमुत्तमम् ।
अखनत् पार्श्वतस्तस्य विराधस्य महात्मनः ॥ २७ ॥

तब लक्ष्मणने फावड़ा लेकर उस विशालकाय विराधके पास ही एक बहुत बड़ा गड्ढा खोदकर तैयार किया ॥ २७ ॥

तं मुक्तकण्ठमुत्क्षिप्य शङ्कुकर्णं महास्वनम् ।
विराधं प्राक्षिपच्छ्वभ्रे नदन्तं भैरवस्वनम् ॥ २८ ॥

तब श्रीरामने उसके गलेको छोड़ दिया और लक्ष्मणने खूँटे-जैसे कानवाले उस विराधको उठाकर उस गड्ढेमें डाल दिया, उस समय वह बड़ी भयानक आवाजमें जोर-जोरसे गर्जना कर रहा था ॥ २८ ॥

तमाहवे दारुणमाशुविक्रमौ
स्थिरावुभौ संयति रामलक्ष्मणौ ।
मुदान्वितौ चिक्षिपतुर्भयावहं
नदन्तमुत्क्षिप्य बलेन राक्षसम् ॥ २९ ॥

युद्धमें स्थिर रहकर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणने रणभूमिमें क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाले उस भयंकर राक्षस विराधको बलपूर्वक उठाकर गड्ढेमें फेंक दिया । उस समय वह जोर-जोरसे चिल्ला रहा था । उसे गड्ढेमें डालकर वे दोनों बन्धु बड़े प्रसन्न हुए ॥ २९ ॥

अवध्यतां प्रेक्ष्य महासुरस्य तौ
शितेन शस्त्रेण तदा नरर्षभौ ।
समर्थ्य चात्यर्थविशारदावुभौ
बिले विराधस्य वधं प्रचक्रतुः ॥ ३० ॥

महान् असुर विराधका तीखे शस्त्रसे वध होनेवाला नहीं है, यह देखकर अत्यन्त कुशल दोनों भाई नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मणने उस समय गड्ढा खोदकर उस गड्ढेमें उसे डाल दिया और उसे मिट्टीसे पाटकर उस राक्षसका वध कर डाला ॥ ३० ॥

स्वयं विराधेन हि मृत्युमात्मनः
प्रसह्य रामेण यथार्थमीप्सितः ।
निवेदितः काननचारिणा स्वयं
न मे वधः शस्त्रकृतो भवेदिति ॥ ३१ ॥

वास्तवमें श्रीरामके हाथसे ही हठपूर्वक मरना उसे अभीष्ट था । उस अपनी मनोवाञ्छित मृत्युकी प्राप्तिके उद्देश्यसे स्वयं वनचारी विराधने ही श्रीरामको यह बता दिया था कि शस्त्रद्वारा मेरा वध नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

तदेव रामेण निशम्य भाषितं
कृता मतिस्तस्य बिलप्रवेशने ।
बिलं च तेनातिबलेन रक्षसा
प्रवेश्यमानेन वनं विनादितम् ॥ ३२ ॥

उसकी कही हुई उसी बातको सुनकर श्रीरामने उसे गड्ढेमें गाड़ देनेका विचार किया था । जब वह गड्ढेमें डाला जाने लगा, उस समय उस अत्यन्त बलवान् राक्षसने अपनी चिल्लाहटसे सारे वन-प्रान्तको गुँजा दिया ॥

प्रहृष्टरूपाविव रामलक्ष्मणौ
विराधमुर्व्यां प्रदरे निपात्य तम् ।
ननन्दतुर्वीतभयौ महावने
शिलाभिरन्तर्दधतुश्च राक्षसम् ॥ ३३ ॥

राक्षस विराधको पृथ्वीके अंदर गड्ढेमें गिराकर श्रीराम और लक्ष्मणने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे ऊपरसे बहुतेरे पत्थर डालकर पाट दिया । फिर वे निर्भय हो उस महान् वनमें सानन्द विचरने लगे ॥ ३३ ॥

ततस्तु तौ काञ्चनचित्रकार्मुकौ
निहत्य रक्षः परिगृह्य मैथिलीम् ।
विजह्रतुस्तौ मुदितौ महावने
दिवि स्थितौ चन्द्रदिवाकराविव ॥ ३४ ॥

इस प्रकार उस राक्षसका वध करके मिथिलेशकुमारी सीताको साथ ले सोनेके विचित्र धनुषोंसे सुशोभित हो वे दोनों भाई आकाशमें स्थित हुए चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति उस महान् वनमें आनन्दमग्न हो विचरण करने लगे ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे च[illegible] सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥



पञ्चमः सर्गः

श्रीराम, लक्ष्मण और सीताका शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर जाना, देवताओंका दर्शन करना और मुनिसे सम्मानित होना तथा शरभङ्ग मुनिका ब्रह्मलोक-गमन

हत्वा तु तं भीमबलं विराधं राक्षसं वने ।
ततः सीतां परिष्वज्य समाश्वास्य च वीर्यवान् ॥ १ ॥
अब्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ।
कष्टं वनमिदं दुर्गं न च स्मो वनगोचराः ॥ २ ॥
अभिगच्छामहे शीघ्रं शरभङ्गं तपोधनम् ।
आश्रमं शरभङ्गस्य राघवोऽभिजगाम ह ॥ ३ ॥

वनमें उस भयंकर बलशाली राक्षस विराधका वध करके पराक्रमी श्रीरामने सीताको हृदयसे लगाकर सान्त्वना दी और उद्दीप्त तेजवाले भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—'सुमित्रानन्दन ! यह दुर्गम वन बड़ा कष्टप्रद है । हमलोग इसके पहले कभी ऐसे वनोंमें नहीं रहे हैं (अतः यहाँके कष्टोंका न तो अनुभव है और न अभ्यास ही है) । अच्छा ! हमलोग अब शीघ्र ही तपोधन शरभङ्गजीके पास चलें—ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर गये ॥ १–३ ॥

तस्य देवप्रभावस्य तपसा भावितात्मनः ।
समीपे शरभङ्गस्य ददर्श महदद्भुतम् ॥ ४ ॥

देवताओंके तुल्य प्रभावशाली तथा तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले (अथवा तपके द्वारा परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करनेवाले) शरभङ्ग मुनिके समीप जानेपर श्रीरामने एक बड़ा अद्भुत दृश्य देखा ॥ ४ ॥

विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरप्रभम् ।
रथप्रवरमारूढमाकाशे विबुधानुगम् ॥ ५ ॥
असंस्पृशन्तं वसुधां ददर्श विबुधेश्वरम् ।
सुप्रभाभरणं देवं विरजोऽम्बरधारिणम् ॥ ६ ॥

वहाँ उन्होंने आकाशमें एक श्रेष्ठ रथपर बैठे हुए देवताओंके स्वामी इन्द्रदेवका दर्शन किया, जो पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे थे । उनकी अङ्गकान्ति सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित होती थी । वे अपने तेजस्वी शरीरसे देदीप्यमान हो रहे थे । उनके पीछे और भी बहुत-से देवता थे । उनके दीप्तिमान् आभूषण चमक रहे थे तथा उन्होंने निर्मल वस्त्र धारण कर रखा था ॥ ५-६ ॥

तद्विधैरेव बहुभिः पूज्यमानं महात्मभिः ।
हरितैर्वाजिभिर्युक्तमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ ७ ॥
ददर्शादूरतस्तस्य तरुणादित्यसंनिभम् ।

उन्हींके समान वेशभूषावाले दूसरे बहुत-से महात्मा इन्द्रदेवकी पूजा (स्तुति-प्रशंसा) कर रहे थे । उनका रथ आकाशमें खड़ा था और उसमें हरे रंगके घोड़े जुते हुए थे । श्रीरामने निकटसे उस रथको देखा । वह नवोदित सूर्यके समान प्रकाशित होता था ॥ ७½ ॥

पाण्डुराभ्रघनप्रख्यं चन्द्रमण्डलसंनिभम् ॥ ८ ॥
अपश्यद् विमलं छत्रं चित्रमाल्योपशोभितम् ।

उन्होंने यह भी देखा कि इन्द्रके मस्तकके ऊपर श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल तथा चन्द्रमण्डलके समान कान्तिमान् निर्मल छत्र तना हुआ है, जो विचित्र फूलोंकी मालाओंसे सुशोभित है ॥ ८½ ॥

चामरव्यजने चाग्र्ये रुक्मदण्डे महाधने ॥ ९ ॥
गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि ।

श्रीरामने सुवर्णमय डंडेवाले दो श्रेष्ठ एवं बहुमूल्य चँवर और व्यजन भी देखे, जिन्हें दो सुन्दरियाँ लेकर देवराजके मस्तकपर हवा कर रही थीं ॥ ९½ ॥

गन्धर्वामरसिद्धाश्च बहवः परमर्षयः ॥ १० ॥
अन्तरिक्षगतं देवं गीर्भिरग्र्याभिरैडयन् ।
सह सम्भाषमाणे तु शरभङ्गेन वासवे ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा शतक्रतुं तत्र रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
रामोऽथ रथमुद्दिश्य भ्रातुर्दर्शयताद्भुतम् ॥ १२ ॥

उस समय बहुत-से गन्धर्व, देवता, सिद्ध और महर्षिगण उत्तम वचनोंद्वारा अन्तरिक्षमें विराजमान देवेन्द्रकी

स्तुति करते थे और देवराज इन्द्र शरभङ्ग मुनिके साथ वार्तालाप कर रहे थे। वहाँ इस प्रकार शतक्रतु इन्द्रका दर्शन करके श्रीरामने उनके अद्भुत रथकी ओर अँगुलीसे संकेत करते हुए उसे भाईको दिखाया और लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—॥ १०-१२ ॥

अर्चिष्मन्तं श्रिया जुष्टमद्भुतं पश्य लक्ष्मण।
प्रतपन्तमिवादित्यमन्तरिक्षगतं रथम्॥ १३॥

'लक्ष्मण! आकाशमें वह अद्भुत रथ तो देखो, उससे तेजकी लपटें निकल रही हैं। वह सूर्यके समान तप रहा है। शोभा मानो मूर्तिमती होकर उसकी सेवा करती है॥ १३॥

ये हयाः पुरुहूतस्य पुरा शक्रस्य नः श्रुताः।
अन्तरिक्षगता दिव्यास्त इमे हरयो ध्रुवम्॥ १४॥

'हमलोगोंने पहले देवराज इन्द्रके जिन दिव्य घोड़ोंके विषयमें जैसा सुन रखा है, निश्चय ही आकाशमें ये वैसे ही दिव्य अश्व विराजमान हैं॥ १४॥

इमे च पुरुषव्याघ्र ये तिष्ठन्त्यभितो दिशम्।
शतं शतं कुण्डलिनो युवानः खड्गपाणयः॥ १५॥
विस्तीर्णविपुलोरस्काः परिघायतबाहवः।
शोणांशुवसनाः सर्वे व्याघ्रा इव दुरासदाः॥ १६॥

'पुरुषसिंह! इस रथके दोनों ओर जो ये हाथोंमें खड्ग लिये कुण्डलधारी सौ-सौ युवक खड़े हैं, इनके वक्षःस्थल विशाल एवं विस्तृत हैं, भुजाएँ परिघोंके समान सुदृढ़ एवं बड़ी-बड़ी हैं। ये सब-के-सब लाल वस्त्र धारण किये हुए हैं और व्याघ्रोंके समान दुर्जय प्रतीत होते हैं॥ १५-१६॥

उरोदेशेषु सर्वेषां हारा ज्वलनसंनिभाः।
रूपं बिभ्रति सौमित्रे पञ्चविंशतिवार्षिकम्॥ १७॥

'सुमित्रानन्दन! इन सबके हृदयदेशोंमें अग्निके समान तेजसे जगमगाते हुए हार शोभा पाते हैं। ये नवयुवक पचीस वर्षोंकी अवस्थाका रूप धारण करते हैं॥१७॥

एतद्धि किल देवानां वयो भवति नित्यदा।
यथेमे पुरुषव्याघ्रा दृश्यन्ते प्रियदर्शनाः॥ १८॥

'कहते हैं, देवताओंकी सदा ऐसी ही अवस्था रहती है, जैसे ये पुरुषप्रवर दिखायी देते हैं। इनका दर्शन कितना प्यारा लगता है॥ १८॥

इहैव सह वैदेह्या मुहूर्तं तिष्ठ लक्ष्मण।
यावज्जानाम्यहं व्यक्तं क एष द्युतिमान् रथे॥ १९॥

'लक्ष्मण! जबतक कि मैं स्पष्ट रूपसे यह पता न लगा लूँ कि रथपर बैठे हुए ये तेजस्वी पुरुष कौन हैं? तबतक तुम विदेहनन्दिनी सीताके साथ एक मुहूर्ततक यहीं ठहरो'॥ १९॥

तमेवमुक्त्वा सौमित्रिमिहैव स्थीयतामिति।
अभिचक्राम काकुत्स्थः शरभङ्गाश्रमं प्रति॥ २०॥

इस प्रकार सुमित्राकुमारको वहीं ठहरनेका आदेश देकर श्रीरामचन्द्रजी टहलते हुए शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर गये॥ २०॥

ततः समभिगच्छन्तं प्रेक्ष्य रामं शचीपतिः।
शरभङ्गमनुज्ञाप्य विबुधानिदमब्रवीत्॥ २१॥

श्रीरामको आते देख शचीपति इन्द्रने शरभङ्ग मुनिसे विदा ले देवताओंसे इस प्रकार कहा—॥ २१॥

इहोपयात्यसौ रामो यावन्मां नाभिभाषते।
निष्ठां नयत तावत् तु ततो मा द्रष्टुमर्हति॥ २२॥

'श्रीरामचन्द्रजी यहाँ आ रहे हैं। वे जबतक मुझसे कोई बात न करें, उसके पहले ही तुमलोग मुझे यहाँसे दूसरे स्थानमें ले चलो। इस समय श्रीरामसे मेरी मुलाकात नहीं होनी चाहिये॥ २२॥

जितवन्तं कृतार्थं हि तदाहमचिरादिमम्।
कर्म ह्यनेन कर्तव्यं महदन्यैः सुदुष्करम्॥ २३॥

'इन्हें वह महान् कर्म करना है, जिसका सम्पादन करना दूसरोंके लिये बहुत कठिन है। जब ये रावणपर विजय पाकर अपना कर्तव्य पूर्ण करके कृतार्थ हो जायँगे, तब मैं शीघ्र ही आकर इनका दर्शन करूँगा'॥ २३॥

अथ वज्री तमामन्त्र्य मानयित्वा च तापसम्।
रथेन हययुक्तेन ययौ दिवमरिंदमः॥ २४॥

यह कहकर वज्रधारी शत्रुदमन इन्द्रने तपस्वी शरभङ्गका सत्कार किया और उनसे पूछकर अनुमति ले वे घोड़े जुते हुए रथके द्वारा स्वर्गलोकको चल दिये॥ २४॥

प्रयाते तु सहस्राक्षे राघवः सपरिच्छदः।
अग्निहोत्रमुपासीनं शरभङ्गमुपागमत्॥ २५॥

सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजी अपनी पत्नी और भाईके साथ शरभङ्ग मुनिके पास गये। उस समय वे अग्निके समीप बैठकर अग्निहोत्र कर रहे थे॥२५॥

तस्य पादौ च संगृह्य रामः सीता च लक्ष्मणः।
निषेदुस्तदनुज्ञाता लब्धवासा निमन्त्रिताः॥ २६॥

श्रीराम, सीता और लक्ष्मणने मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया और उनकी आज्ञासे वहाँ बैठ गये। शरभङ्गजीने उन्हें आतिथ्यके लिये निमन्त्रण दे ठहरनेके लिये स्थान दिया॥

ततः शक्रोपयानं तु पर्यपृच्छत राघवः।
शरभङ्गश्च तत् सर्वं राघवाय न्यवेदयत्॥ २७॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने उनसे इन्द्रके आनेका कारण पूछा। तब शरभङ्ग मुनिने श्रीरघुनाथजीसे सब बातें निवेदन करते हुए कहा—॥ २७ ॥

मामेष वरदो राम ब्रह्मलोकं निनीषति।
जितमुग्रेण तपसा दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ २८ ॥

'श्रीराम ! ये वर देनेवाले इन्द्र मुझे ब्रह्मलोकमें ले जाना चाहते हैं। मैंने अपनी उग्र तपस्यासे उस लोकपर विजय पायी है। जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उन पुरुषोंके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है ॥ २८ ॥

अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः।
ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम् ॥ २९ ॥

'पुरुषसिंह ! परंतु जब मुझे मालूम हो गया कि आप इस आश्रमके निकट आ गये हैं, तब मैंने निश्चय किया कि आप-जैसे प्रिय अतिथिका दर्शन किये बिना मैं ब्रह्मलोकको नहीं जाऊँगा ॥ २९ ॥

त्वयाहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना।
समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं चावरं परम् ॥ ३० ॥

'नरश्रेष्ठ ! आप धर्मपरायण महात्मा पुरुषसे मिलकर ही मैं स्वर्गलोक तथा उससे ऊपरके ब्रह्मलोकको जाऊँगा ॥३०॥

अक्षया नरशार्दूल जिता लोका मया शुभाः।
ब्राह्म्याश्च नाकपृष्ठ्याश्च प्रतिगृह्णीष्व मामकान्। ३१ ॥

'पुरुषशिरोमणे ! मैंने ब्रह्मलोक और स्वर्गलोक आदि जिन अक्षय शुभ लोकोंपर विजय पायी है, मेरे उन सभी लोकोंको आप ग्रहण करें' ॥ ३१ ॥

एवमुक्तो नरव्याघ्रः सर्वशास्त्रविशारदः।
ऋषिणा शरभङ्गेन राघवो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

शरभङ्ग मुनिके ऐसा कहनेपर सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता नरश्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीने यह बात कही—॥ ३२ ॥

अहमेवाहरिष्यामि सर्वाँल्लोकान् महामुने।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥ ३३ ॥

'महामुने ! मैं ही आपको उन सब लोकोंकी प्राप्ति कराऊँगा। इस समय तो मैं इस वनमें आपके बताये हुए स्थानपर निवासमात्र करना चाहता हूँ' ॥ ३३ ॥

राघवेणैवमुक्तस्तु शक्रतुल्यबलेन वै।
शरभङ्गो महाप्राज्ञः पुनरेवाब्रवीद् वचः ॥ ३४ ॥

इन्द्रके समान बलशाली श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर महाज्ञानी शरभङ्ग मुनि फिर बोले—॥ ३४ ॥

इह राम महातेजाः सुतीक्ष्णो नाम धार्मिकः।
वसत्यरण्ये नियतः स ते श्रेयो विधास्यति ॥ ३५ ॥

'श्रीराम ! इस वनमें थोड़ी ही दूरपर महातेजस्वी धर्मात्मा सुतीक्ष्ण मुनि नियमपूर्वक निवास करते हैं। वे ही आपका कल्याण (आपके लिये स्थान आदिका प्रबन्ध) करेंगे ॥

सुतीक्ष्णमभिगच्छ त्वं शुचौ देशे तपस्विनम्।
रमणीये वनोद्देशे स ते वासं विधास्यति ॥ ३६ ॥

'आप इस रमणीय वनप्रान्तके उस पवित्र स्थानमें तपस्वी सुतीक्ष्ण मुनिके पास चले जाइये। वे आपके निवासस्थानकी व्यवस्था करेंगे ॥ ३६ ॥

इमां मन्दाकिनीं राम प्रतिस्रोतामनुव्रज।
नदीं पुष्पोडुपवहां ततस्तत्र गमिष्यसि ॥ ३७ ॥

'श्रीराम ! आप फूलके समान छोटी-छोटी डोंगियोंसे पार होने योग्य अथवा पुष्पमयी नौकाको वहानेवाली इस मन्दाकिनी नदीके स्रोतके विपरीत दिशामें इसीके किनारे-किनारे चले जाइये। इससे वहाँ पहुँच जाइयेगा ॥ ३७ ॥

एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम्।
यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ ३८ ॥

'नरश्रेष्ठ ! यही वह मार्ग है, परंतु तात ! दो घड़ी यहीं ठहरिये और जबतक पुरानी केंचुलका त्याग करनेवाले सर्पकी भाँति मैं अपने इन जराजीर्ण अङ्गोंका त्याग न कर दूँ, तबतक मेरी ही ओर देखिये' ॥ ३८ ॥

ततोऽग्निं स समाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवत्।
शरभङ्गो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम् ॥ ३९ ॥

यों कहकर महातेजस्वी शरभङ्ग मुनिने विधिवत् अग्निकी स्थापना करके उसे प्रज्वलित किया और मन्त्रोच्चारणपूर्वक घीकी आहुति देकर वे स्वयं भी उस अग्निमें प्रविष्ट हो गये ॥

तस्य रोमाणि केशांश्च तदा वह्निर्महात्मनः।
जीर्णां त्वचं तदस्थीनि यच्च मांसं च शोणितम् ॥ ४० ॥

उस समय अग्निने उन महात्माके रोम, केश, जीर्ण त्वचा, हड्डी, मांस और रक्त सबको जलाकर भस्म कर दिया ॥

स च पावकसंकाशः कुमारः समपद्यत।
उत्थायाग्निचयात् तस्माच्छरभङ्गो व्यरोचत ॥ ४१ ॥

वे शरभङ्ग मुनि अग्नितुल्य तेजस्वी कुमारके रूपमें प्रकट हो गये और उस अग्निराशिसे ऊपर उठकर बड़ी शोभा पाने लगे ॥ ४१ ॥

स लोकानाहिताग्नीनामृषीणां च महात्मनाम्।
देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहत ॥ ४२ ॥

वे अग्निहोत्री पुरुषों, महात्मा मुनियों और देवताओंके भी लोकोंको लाँघकर ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे ॥ ४२ ॥

स पुण्यकर्मा भुवने द्विजर्षभः
पितामहं सानुचरं ददर्श ह।
पितामहश्चापि समीक्ष्य तं द्विजं
ननन्द सुस्वागतमित्युवाच ह ॥ ४३ ॥

पुण्यकर्म करनेवाले द्विजश्रेष्ठ शरभङ्गने ब्रह्मलोकमें पार्षदोंसहित पितामह ब्रह्माजीका दर्शन किया। ब्रह्माजी भी उन ब्रह्मर्षिको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'महामुने! तुम्हारा शुभ स्वागत है' ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

वानप्रस्थ मुनियोंका राक्षसोंके अत्याचारसे अपनी रक्षाके लिये श्रीरामचन्द्रजीसे प्रार्थना करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देना

शरभङ्गे दिवं प्राप्ते मुनिसङ्घाः समागताः।
अभ्यगच्छन्त काकुत्स्थं रामं ज्वलिततेजसम् ॥ १ ॥

शरभङ्ग मुनिके ब्रह्मलोक चले जानेपर प्रज्वलित तेजवाले ककुत्स्थवंशी श्रीरामचन्द्रजीके पास बहुत-से मुनियोंके समुदाय पधारे ॥ १ ॥

वैखानसा वालखिल्याः सम्प्रक्षाला मरीचिपाः।
अश्मकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्च तापसाः ॥ २ ॥
दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे।
गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवानवकाशिकाः ॥ ३ ॥
मुनयः सलिलाहारा वायुभक्षास्तथापरे।
आकाशनिलयाश्चैव तथा स्थण्डिलशायिनः ॥ ४ ॥
तथोर्ध्ववासिनो दान्तास्तथाऽऽर्द्रपटवाससः।
सजपाश्च तपोनिष्ठास्तथा पञ्चतपोऽन्विताः ॥ ५ ॥

उनमें वैखानस[1], वालखिल्य[2], सम्प्रक्षाल[3], मरीचिप[4], बहुसंख्यक अश्मकुट्ट[5], पत्राहार[6], दन्तोलूखली[7], उन्मज्जक[8], गात्रशय्य[9], अशय्य[10], अनवकाशिक[11], सलिलाहार[12], वायुभक्ष[13], आकाशनिलय[14], स्थण्डिलशायी[15], ऊर्ध्ववासी[16], दान्त[17], आर्द्रपटवासा[18], सजप[19], तपोनिष्ठ[20] और पञ्चाग्निसेवी[21]—इन सभी श्रेणियोंके तपस्वी मुनि थे ॥ २–५ ॥

सर्वे ब्राह्म्या श्रिया युक्ता दृढयोगसमाहिताः।
शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः ॥ ६ ॥

वे सभी तपस्वी ब्रह्मतेजसे सम्पन्न थे और सुदृढ़ योगके अभ्याससे उन सबका चित्त एकाग्र हो गया था। वे सब-के-सब शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर श्रीरामचन्द्रजीके समीप आये ॥ ६ ॥

अभिगम्य च धर्मज्ञा रामं धर्मभृतां वरम्।
ऊचुः परमधर्मज्ञमृषिसङ्घाः समागताः ॥ ७ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ परम धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीके पास आकर वे धर्मके ज्ञाता समागत ऋषिसमुदाय उनसे बोले— ॥ ७ ॥

त्वमिक्ष्वाकुकुलस्यास्य पृथिव्याश्च महारथः।
प्रधानश्चापि नाथश्च देवानां मघवानिव ॥ ८ ॥

'रघुनन्दन! आप इस इक्ष्वाकुवंशके साथ ही समस्त भूमण्डलके भी स्वामी, संरक्षक एवं प्रधान महारथी वीर हैं। जैसे इन्द्र देवताओंके रक्षक हैं, उसी प्रकार आप मनुष्यलोककी रक्षा करनेवाले हैं ॥ ८ ॥

विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु यशसा विक्रमेण च।
पितृव्रतत्वं सत्यं च त्वयि धर्मश्च पुष्कलः ॥ ९ ॥

'आप अपने यश और पराक्रमसे तीनों लोकोंमें विख्यात हैं। आपमें पिताकी आज्ञाके पालनका व्रत, सत्य भाषण तथा सम्पूर्ण धर्म विद्यमान हैं ॥ ९ ॥

त्वामासाद्य महात्मानं धर्मज्ञं धर्मवत्सलम्।
अर्थित्वान्नाथ वक्ष्यामस्तच्च नः क्षन्तुमर्हसि ॥ १० ॥

'नाथ! आप महात्मा, धर्मज्ञ और धर्मवत्सल हैं। हम आपके पास प्रार्थी होकर आये हैं; इसीलिये ये स्वार्थकी बात

१. ऋषियोंका एक समुदाय जो ब्रह्माजीके नखसे उत्पन्न हुआ है। २. ब्रह्माजीके बाल (रोम) से प्रकट हुए महर्षियोंका समूह। ३. जो भोजनके बाद अपने बर्तन धो-पोंछकर रख देते हैं, दूसरे समयके लिये कुछ नहीं बचाते। ४. सूर्य अथवा चन्द्रमाकी किरणोंका पान करके रहनेवाले। ५. कच्चे अन्नको पत्थरसे कूटकर खानेवाले। ६. पत्तोंका आहार करनेवाले। ७. दाँतोंसे ही ऊखलका काम लेनेवाले। ८. कण्ठतक पानीमें डूबकर तपस्या करनेवाले। ९. शरीरसे ही शय्याका काम लेनेवाले अर्थात् बिना बिछौनेके ही भुजापर सिर रखकर सोनेवाले। १०. शय्याके साधनोंसे रहित। ११. निरन्तर सत्कर्ममें लगे रहनेके कारण कभी अवकाश न पानेवाले। १२. जल पीकर रहनेवाले। १३. हवा पीकर जीवन-निर्वाह करनेवाले। १४. खुले मैदानमें रहनेवाले। १५. वेदीपर सोनेवाले। १६. पर्वतशिखर आदि ऊँचे स्थानोंमें निवास करनेवाले। १७. मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले। १८. सदा भीगे कपड़े पहननेवाले। १९. निरन्तर जप करनेवाले। २०. तपस्या अथवा परमात्मतत्त्वके विचारमें स्थित रहनेवाले। २१. गर्मीके मौसममें ऊपरसे सूर्यका और चारों ओरसे अग्निका ताप सहन करनेवाले।

निवेदन करना चाहते हैं। आपको इसके लिये हमें क्षमा करना चाहिये ॥ १० ॥

अधर्मः सुमहान् नाथ भवेत् तस्य तु भूपतेः ।
यो हरेद् बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत् ॥ ११ ॥

'स्वामिन् ! जो राजा प्रजासे उसकी आयका छठा भाग करके रूपमें ले ले और पुत्रकी भाँति प्रजाकी रक्षा न करे, उसे महान् अधर्मका भागी होना पड़ता है ॥ ११ ॥

युञ्जानः स्वानिव प्राणान् प्राणैरिष्टान् सुतानिव ।
नित्ययुक्तः सदा रक्षन् सर्वान् विषयवासिनः ॥ १२ ॥
प्राप्नोति शाश्वतीं राम कीर्तिं स बहुवार्षिकीम् ।
ब्रह्मणः स्थानमासाद्य तत्र चापि महीयते ॥ १३ ॥

'श्रीराम ! जो भूपाल प्रजाकी रक्षाके कार्यमें संलग्न हो अपने राज्यमें निवास करनेवाले सब लोगोंको प्राणोंके समान अथवा प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्रोंके समान समझकर सदा सावधानीके साथ उनकी रक्षा करता है, वह बहुत वर्षोंतक स्थिर रहनेवाली अक्षय कीर्ति पाता है और अन्तमें ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँ भी विशेष सम्मानका भागी होता है ॥ १२-१३ ॥

यत् करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः ।
तत्र राज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः ॥ १४ ॥

'राजाके राज्यमें मुनि फल-मूलका आहार करके जिस उत्तम धर्मका अनुष्ठान करता है, उसका चौथा भाग धर्मके अनुसार प्रजाकी रक्षा करनेवाले उस राजाको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

सोऽयं ब्राह्मणभूयिष्ठो वानप्रस्थगणो महान् ।
त्वन्नाथोऽनाथवद् राम राक्षसैर्हन्यते भृशम् ॥ १५ ॥

'श्रीराम ! इस वनमें रहनेवाला वानप्रस्थ महात्माओंका यह महान् समुदाय, जिसमें ब्राह्मणोंकी ही संख्या अधिक है तथा जिसके रक्षक आप ही हैं, राक्षसोंके द्वारा अनाथकी तरह मारा जा रहा है—इस मुनि-समुदायका बहुत अधिक मात्रामें संहार हो रहा है ॥ १५ ॥

एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम् ।
हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा वने ॥ १६ ॥

'आइये, देखिये, ये भयंकर राक्षसोंद्वारा बारंबार अनेक प्रकारसे मारे गये बहुसंख्यक पवित्रात्मा मुनियोंके शरीर (शव या कंकाल) दिखायी देते हैं ॥ १६ ॥

पम्पानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि ।
चित्रकूटालयानां च क्रियते कदनं महत् ॥ १७ ॥

'पम्पा सरोवर और उसके निकट बहनेवाली तुङ्गभद्रा नदीके तटपर जिनका निवास है, जो मन्दाकिनीके किनारे रहते हैं तथा जिन्होंने चित्रकूटपर्वतके किनारे अपना निवासस्थान बना लिया है, उन सभी ऋषि-महर्षियोंका राक्षसोंद्वारा महान् संहार किया जा रहा है ॥ १७ ॥

एवं वयं न मृष्यामो विप्रकारं तपस्विनाम् ।
क्रियमाणं वने घोरं रक्षोभिर्भीमकर्मभिः ॥ १८ ॥

'इन भयानक कर्म करनेवाले राक्षसोंने इस वनमें तपस्वी मुनियोंका जो ऐसा भयंकर विनाशकाण्ड मचा रखा है, वह हमलोगोंसे सहा नहीं जाता है ॥ १८ ॥

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः ।
परिपालय नो राम वध्यमानान् निशाचरैः ॥ १९ ॥

'अतः इन राक्षसोंसे बचनेके लिये शरण लेनेके उद्देश्यसे हम आपके पास आये हैं। श्रीराम ! आप शरणागतवत्सल हैं, अतः इन निशाचरोंसे मारे जाते हुए हम मुनियोंकी रक्षा कीजिये ॥ १९ ॥

परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते ।
परिपालय नः सर्वान् राक्षसेभ्यो नृपात्मज ॥ २० ॥

वीर राजकुमार ! इस भूमण्डलमें हमें आपसे बढ़कर दूसरा कोई सहारा नहीं दिखायी देता। आप इन राक्षसोंसे हम सबको बचाइये' ॥ २० ॥

एतच्छ्रुत्वा तु काकुत्स्थस्तापसानां तपस्विनाम् ।
इदं प्रोवाच धर्मात्मा सर्वानेव तपस्विनः ॥ २१ ॥

तपस्यामें लगे रहनेवाले उन तपस्वी मुनियोंकी ये बातें सुनकर ककुत्स्थकुलभूषण धर्मात्मा श्रीरामने उन सबसे कहा—॥ २१ ॥

नैवमर्हथ मां वक्तुमाज्ञाप्योऽहं तपस्विनाम् ।
केवलेन स्वकार्येण प्रवेष्टव्यं वनं मया ॥ २२ ॥

'मुनिवरो ! आपलोग मुझसे इस प्रकार प्रार्थना न करें । मैं तो तपस्वी महात्माओंका आज्ञापालक हूँ । मुझे केवल अपने ही कार्यसे वनमें तो प्रवेश करना ही है (इसके साथ ही आपलोगोंकी सेवाका सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हो जायगा) ॥ २२ ॥

विप्रकारमपाक्रष्टुं राक्षसैर्भवतामिमम् ।
पितुस्तु निर्देशकरः प्रविष्टोऽहमिदं वनम् ॥ २३ ॥

'राक्षसोंके द्वारा जो आपको यह कष्ट पहुँच रहा है, इसे दूर करनेके लिये ही मैं पिताके आदेशका पालन करता हुआ इस वनमें आया हूँ ॥ २३ ॥

भवतामर्थसिद्ध्यर्थमागतोऽहं यदृच्छया ।
तस्य मेऽयं वने वासो भविष्यति महाफलः ॥ २४ ॥

'आपलोगोंके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये मैं दैववश यहाँ आ पहुँचा हूँ । आपकी सेवाका अवसर मिलनेसे मेरे लिये यह वनवास महान् फलदायक होगा ॥ २४ ॥

तपस्विनां रणे शत्रून् हन्तुमिच्छामि राक्षसान्।
पश्यन्तु वीर्यमृषयः सभ्रातुर्मे तपोधनाः॥ २५॥

'तपोधनो! मैं तपस्वी मुनियोंसे शत्रुता रखनेवाले उन राक्षसोंका युद्धमें संहार करना चाहता हूँ। आप सब महर्षि भाईसहित मेरा पराक्रम देखें'॥ २५॥

दत्त्वा वरं चापि तपोधनानां
धर्मे धृतात्मा सह लक्ष्मणेन।
तपोधनैश्चापि सहार्यदत्तः
सुतीक्ष्णमेवाभिजगाम वीरः॥ २६॥

इस प्रकार उन तपोधनोंको वर देकर धर्ममें मन लगानेवाले तथा श्रेष्ठ दान देनेवाले वीर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण तथा तपस्वी महात्माओंके साथ सुतीक्ष्ण मुनिके पास गये॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षष्ठः सर्गः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ॥ ६॥



सप्तमः सर्गः

सीता और भ्रातासहित श्रीरामका सुतीक्ष्णके आश्रमपर जाकर उनसे बातचीत करना तथा उनसे सत्कृत हो रातमें वहीं ठहरना

रामस्तु सहितो भ्रात्रा सीतया च परंतपः।
सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं जगाम सह तैर्द्विजैः॥ १॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण, सीता तथा उन ब्राह्मणोंके साथ सुतीक्ष्ण मुनिके आश्रमकी ओर चले॥ १॥

स गत्वा दूरमध्वानं नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः।
ददर्श विमलं शैलं महामेरुमिवोन्नतम्॥ २॥

वे दूरतकका मार्ग तै करके अगाध जलसे भरी हुई बहुत-सी नदियोंको पार करते हुए जब आगे गये, तब उन्हें महान् मेरुगिरिके समान एक अत्यन्त ऊँचा पर्वत दिखायी दिया, जो बड़ा ही निर्मल था॥ २॥

ततस्तदिक्ष्वाकुवरौ सततं विविधैर्द्रुमैः।
काननं तौ विविशतुः सीतया सह राघवौ॥ ३॥

वहाँसे आगे बढ़कर वे दोनों इक्ष्वाकुकुलके श्रेष्ठ वीर रघुवंशी बन्धु सीताके साथ नाना प्रकारके वृक्षोंसे भरे हुए एक वनमें पहुँचे॥ ३॥

प्रविष्टस्तु वनं घोरं बहुपुष्पफलद्रुमम्।
ददर्शाश्रममेकान्ते चीरमालापरिष्कृतम्॥ ४॥

उस घोर वनमें प्रविष्ट हो श्रीरघुनाथजीने एकान्त स्थानमें एक आश्रम देखा, जहाँके वृक्ष प्रचुर फल-फूलोंसे लदे हुए थे। इधर-उधर टँगे हुए चीर वस्त्रोंके समुदाय उस आश्रमकी शोभा बढ़ाते थे॥ ४॥

तत्र तापसमासीनं मलपङ्कजधारिणम्।
रामः सुतीक्ष्णं विधिवत् तपोधनमभाषत॥ ५॥

वहाँ आन्तरिक मलकी शुद्धिके लिये पद्मासन किये सुतीक्ष्ण मुनि ध्यानमग्न होकर बैठे थे। श्रीरामने उन तपोधन मुनिके पास विधिवत् जाकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ ५॥

रामोऽहमस्मि भगवन् भवन्तं द्रष्टुमागतः।
तन्माभिवद धर्मज्ञ महर्षे सत्यविक्रम॥ ६॥

'सत्यपराक्रमी धर्मज्ञ महर्षे! भगवन्! मैं राम हूँ और यहाँ आपका दर्शन करनेके लिये आया हूँ, अतः आप मुझसे बात कीजिये'॥ ६॥

स निरीक्ष्य ततो धीरो रामं धर्मभृतां वरम्।
समाश्लिष्य च बाहुभ्यामिदं वचनमब्रवीत्॥ ७॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीरामका दर्शन करके धीर महर्षि सुतीक्ष्णने अपनी दोनों भुजाओंसे उनका आलिङ्गन किया और इस प्रकार कहा—॥ ७॥

स्वागतं ते रघुश्रेष्ठ राम सत्यभृतां वर।
आश्रमोऽयं त्वयाऽऽक्रान्तः सनाथ इव साम्प्रतम्॥ ८॥

'सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ रघुकुलभूषण श्रीराम! आपका स्वागत है। इस समय आपके पदार्पण करनेसे यह आश्रम सनाथ हो गया॥ ८॥

प्रतीक्षमाणस्त्वामेव नारोहेऽहं महायशः।
देवलोकमितो वीर देहं त्यक्त्वा महीतले॥ ९॥

'महायशस्वी वीर! मैं आपकी ही प्रतीक्षामें था, इसीलिये अबतक इस पृथ्वीपर अपने शरीरको त्यागकर मैं यहाँसे देवलोक (ब्रह्मधाम) में नहीं गया॥ ९॥

चित्रकूटमुपादाय राज्यभ्रष्टोऽसि मे श्रुतः।
इहोपयातः काकुत्स्थ देवराजः शतक्रतुः॥ १०॥

'मैंने सुना था कि आप राज्यसे भ्रष्ट हो चित्रकूट पर्वतपर आकर रहते हैं। काकुत्स्थ! यहाँ सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र आये थे॥ १०॥

उपागम्य च मे देवो महादेवः सुरेश्वरः।
सर्वाँल्लोकाञ्जितानाह मम पुण्येन कर्मणा ॥ ११ ॥

'वे महान् देवता देवेश्वर इन्द्रदेव मेरे पास आकर कह रहे थे कि 'तुमने अपने पुण्यकर्मके द्वारा समस्त शुभ लोकोंपर विजय पायी है' ॥ ११ ॥

तेषु देवर्षिजुष्टेषु जितेषु तपसा मया।
मत्प्रसादात् सभार्यस्त्वं विहरस्व सलक्ष्मणः ॥ १२ ॥

'उनके कथनानुसार मैंने तपस्यासे जिन देवर्षिसेवित लोकोंपर अधिकार प्राप्त किया है, उन लोकोंमें आप सीता और लक्ष्मणके साथ विहार करें। मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ वे सारे लोक आपकी सेवामें समर्पित करता हूँ' ॥ १२ ॥

तमुग्रतपसं दीप्तं महर्षिं सत्यवादिनम्।
प्रत्युवाचात्मवान् रामो ब्रह्माणमिव वासवः ॥ १३ ॥

जैसे इन्द्र ब्रह्माजीसे बात करते हैं, उसी प्रकार मनस्वी श्रीरामने उन उग्र तपस्यावाले तेजस्वी एवं सत्यवादी महर्षिको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १३ ॥

अहमेवाहरिष्यामि स्वयं लोकान् महामुने।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥ १४ ॥

'महामुने! वे लोक तो मैं स्वयं ही आपको प्राप्त कराऊँगा, इस समय तो मेरी यह इच्छा है कि आप बतावें कि मैं इस वनमें अपने ठहरनेके लिये कहाँ कुटिया बनाऊँ? ॥ १४ ॥

भवान् सर्वत्र कुशलः सर्वभूतहिते रतः।
आख्यातं शरभङ्गेन गौतमेन महात्मना ॥ १५ ॥

'आप समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर तथा इहलोक और परलोककी सभी बातोंके ज्ञानमें निपुण हैं, यह बात मुझसे गौतमगोत्रीय महात्मा शरभङ्गने कही थी' ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण महर्षिर्लोकविश्रुतः।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं हर्षेण महता युतः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर उन लोकविख्यात महर्षिने बड़े हर्षके साथ मधुर वाणीमें कहा— ॥ १६ ॥

अयमेवाश्रमो राम गुणवान् रम्यतामिति।
ऋषिसंघानुचरितः सदा मूलफलैर्युतः ॥ १७ ॥

'श्रीराम! यही आश्रम सब प्रकारसे गुणवान् (सुविधाजनक) है, अतः आप यहीं सुखपूर्वक निवास कीजिये। यहाँ ऋषियोंका समुदाय सदा आता-जाता रहता है और फल-मूल भी सर्वदा सुलभ होते हैं ॥ १७ ॥

इममाश्रममागम्य मृगसंघा महीयसः।
अहत्वा प्रतिगच्छन्ति लोभयित्वाकुतोभयाः ॥ १८ ॥

'इस आश्रमपर बड़े-बड़े मृगोंके झुंड आते और अपने रूप, कान्ति एवं गतिसे मनको लुभाकर किसीको कष्ट दिये बिना ही यहाँसे लौट जाते हैं। उन्हें यहाँ किसीसे कोई भय नहीं प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

नान्यो दोषो भवेदत्र मृगेभ्योऽन्यत्र विद्धि वै।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य महर्षेर्लक्ष्मणाग्रजः ॥ १९ ॥
उवाच वचनं धीरो विगृह्य सशरं धनुः।

'इस आश्रममें मृगोंके उपद्रवके सिवा और कोई दोष नहीं है, यह आप निश्चितरूपसे जान लें।' महर्षिका यह वचन सुनकर लक्ष्मणके बड़े भाई धीर-वीर भगवान् श्रीरामने हाथमें धनुष-बाण लेकर कहा— ॥ १९½ ॥

तानहं सुमहाभाग मृगसंघान् समागतान् ॥ २० ॥
हन्यां निशितधारेण शरेणानतपर्वणा।
भवांस्तत्राभिषज्येत किं स्यात् कृच्छ्रतरं ततः ॥ २१ ॥

'महाभाग! यहाँ आये हुए उन उपद्रवकारी मृग-समूहोंको यदि मैं झुकी हुई गाँठ और तीखी धारवाले बाणसे मार डालूँ तो इसमें आपका अपमान होगा। यदि ऐसा हुआ तो इससे बढ़कर कष्टकी बात मेरे लिये और क्या हो सकती है? ॥ २०-२१ ॥

एतस्मिन्नाश्रमे वासं चिरं तु न समर्थये।
तमेवमुक्त्वोपरमं रामः संध्यामुपागमत् ॥ २२ ॥

'इसलिये मैं इस आश्रममें अधिक समय नहीं निवास करना चाहता।' मुनिसे ऐसा कहकर मौन हो श्रीरामचन्द्रजी संध्योपासना करने चले गये ॥ २२ ॥

अन्वास्य पश्चिमां संध्यां तत्र वासमकल्पयत्।
सुतीक्ष्णस्याश्रमे रम्ये सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २३ ॥

सायंकालकी संध्योपासना करके श्रीरामने सीता और लक्ष्मणके साथ सुतीक्ष्ण मुनिके उस रमणीय आश्रममें निवास किया ॥ २३ ॥

ततः शुभं तापसयोग्यमन्नं
स्वयं सुतीक्ष्णः पुरुषर्षभाभ्याम्।
ताभ्यां सुसत्कृत्य ददौ महात्मा
संध्यानिवृत्तौ रजनीं समीक्ष्य ॥ २४ ॥

संध्याका समय बीतनेपर रात हुई देख महात्मा सुतीक्ष्णने स्वयं ही तपस्वी-जनोंके सेवन करने योग्य शुभ अन्न ले आकर उन दोनों पुरुषशिरोमणि बन्धुओंको बड़े सत्कारके साथ अर्पित किया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

प्रातःकाल सुतीक्ष्णसे विदा ले श्रीराम, लक्ष्मण, सीताका वहाँसे प्रस्थान

रामस्तु सहसौमित्रिः सुतीक्ष्णेनाभिपूजितः।
परिणाम्य निशां तत्र प्रभाते प्रत्यबुध्यत॥ १॥

सुतीक्ष्णके द्वारा भलीभाँति पूजित हो लक्ष्मणसहित श्रीराम उनके आश्रममें ही रात बिताकर प्रातःकाल जाग उठे॥१॥

उत्थाय च यथाकालं राघवः सह सीतया।
उपस्पृश्य सुशीतेन तोयेनोत्पलगन्धिना॥ २॥
अथ तेऽग्निं सुरांश्चैव वैदेही रामलक्ष्मणौ।
काल्यं विधिवदभ्यर्च्य तपस्विशरणे वने॥ ३॥
उदयन्तं दिनकरं दृष्ट्वा विगतकल्मषाः।
सुतीक्ष्णमभिगम्येदं श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन्॥ ४॥

सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मणने ठीक समयसे उठकर कमलकी सुगन्धसे सुवासित परम शीतल जलके द्वारा स्नान किया। तदनन्तर उन तीनोंने ही मिलकर विधिपूर्वक अग्नि और देवताओंकी प्रातःकालिक पूजा की। इसके बाद तपस्वीजनोंके आश्रयभूत वनमें उदित हुए सूर्यदेवका दर्शन करके वे तीनों निष्पाप पथिक सुतीक्ष्ण मुनिके पास गये और यह मधुर वचन बोले—॥ २—४॥

सुखोषिताः स्म भगवंस्त्वया पूज्येन पूजिताः।
आपृच्छामः प्रयास्यामो मुनयस्त्वरयन्ति नः॥ ५॥

भगवन्! आपने पूजनीय होकर भी हमलोगोंकी पूजा की है। हम आपके आश्रममें बड़े सुखसे रहे हैं। अब हम यहाँसे जायँगे, इसके लिये आपकी आज्ञा चाहते हैं। ये मुनि हमें चलनेके लिये जल्दी मचा रहे हैं॥ ५॥

त्वरामहे वयं द्रष्टुं कृत्स्नमाश्रममण्डलम्।
ऋषीणां पुण्यशीलानां दण्डकारण्यवासिनाम्॥ ६॥

'हमलोग दण्डकारण्यमें निवास करनेवाले पुण्यात्मा ऋषियोंके सम्पूर्ण आश्रममण्डलका दर्शन करनेके लिये उतावले हो रहे हैं॥ ६॥

अभ्यनुज्ञातुमिच्छामः सहैभिर्मुनिपुंगवैः।
धर्मनित्यैस्तपोदान्तैर्विशिखैरिव पावकैः॥ ७॥

'अतः हमारी इच्छा है कि आप धूमरहित अग्निके समान तेजस्वी, तपस्याद्वारा इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले तथा नित्य-धर्मपरायण इन श्रेष्ठ महर्षियोंके साथ यहाँसे जानेके लिये हमें आज्ञा दें॥ ७॥

अविषह्यातपो यावत् सूर्यो नातिविराजते।
अमार्गेणागतां लक्ष्मीं प्राप्येवान्वयवर्जितः॥ ८॥
तावदिच्छामहे गन्तुमित्युक्त्वा चरणौ मुनेः।
ववन्दे सहसौमित्रिः सीतया सह राघवः॥ ९॥

'जैसे अन्यायसे आयी हुई सम्पत्तिको पाकर किसी नीच कुलके मनुष्यमें असह्य उग्रता आ जाती है, उसी प्रकार यह सूर्यदेव जबतक असह्य ताप देनेवाले होकर प्रचण्ड तेजसे प्रकाशित न होने लगें, उसके पहले ही हम यहाँसे चल देना चाहते हैं।' ऐसा कहकर लक्ष्मण और सीतासहित श्रीरामने मुनिके चरणोंकी वन्दना की॥ ८-९॥

तौ संस्पृशन्तौ चरणावुत्थाप्य मुनिपुंगवः।
गाढमाश्लिष्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत्॥ १०॥

अपने चरणोंका स्पर्श करते हुए श्रीराम और लक्ष्मणको उठाकर मुनिवर सुतीक्ष्णने कसकर हृदयसे लगा लिया और बड़े स्नेहसे इस प्रकार कहा—॥ १०॥

अरिष्टं गच्छ पन्थानं राम सौमित्रिणा सह।
सीतया चानया सार्धं छाययेवानुवृत्तया॥ ११॥

'श्रीराम! आप छायाकी भाँति अनुसरण करनेवाली इस धर्मपत्नी सीता तथा सुमित्राकुमार लक्ष्मणके साथ यात्रा कीजिये। आपका मार्ग विघ्न-बाधाओंसे रहित परम मङ्गलमय हो॥ ११॥

पश्याश्रमपदं रम्यं दण्डकारण्यवासिनाम्।
एषां तपस्विनां वीर तपसा भावितात्मनाम्॥ १२॥

'वीर! तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले दण्डकारण्यवासी इन तपस्वी मुनियोंके रमणीय आश्रमोंका दर्शन कीजिये॥

सुप्राज्यफलमूलानि पुष्पितानि वनानि च।
प्रशस्तमृगयूथानि शान्तपक्षिगणानि च॥ १३॥

'इस यात्रामें आप प्रचुर फल-मूलोंसे युक्त तथा फूलोंसे सुशोभित अनेक वन देखेंगे; वहाँ उत्तम मृगोंके झुंड विचरते होंगे और पक्षी शान्तभावसे रहते होंगे॥ १३॥

फुल्लपङ्कजखण्डानि प्रसन्नसलिलानि च।
कारण्डवविकीर्णानि तटाकानि सरांसि च॥ १४॥

'आपको बहुत-से ऐसे तालाब और सरोवर दिखायी देंगे जिनमें प्रफुल्ल कमलोंके समूह शोभा दे रहे होंगे। उनमें स्वच्छ जल भरे होंगे तथा कारण्डव आदि जलपक्षी सब ओर फैल रहे होंगे॥ १४॥

द्रक्ष्यसे दृष्टिरम्याणि गिरिप्रस्रवणानि च।
रमणीयान्यरण्यानि मयूराभिरुतानि च॥ १५॥

'नेत्रोंको रमणीय प्रतीत होनेवाले पहाड़ी झरनों और मोरोंकी मीठी बोलीसे गूँजती हुई सुरम्य वनस्थलियोंको भी आप देखेंगे॥ १५॥

गम्यतां वत्स सौमित्रे भवानपि च गच्छतु।
आगन्तव्यं च ते दृष्ट्वा पुनरेवाश्रमं प्रति॥ १६॥

'श्रीराम! जाइये, वत्स सुमित्राकुमार! तुम भी जाओ। दण्डकारण्यके आश्रमोंका दर्शन करके आपलोगोंको फिर इसी आश्रममें आ जाना चाहिये'॥ १६॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा काकुत्स्थः सहलक्ष्मणः।
प्रदक्षिणं मुनिं कृत्वा प्रस्थातुमुपचक्रमे॥ १७॥

उनके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामने 'बहुत अच्छा' कहकर मुनिकी परिक्रमा की और वहाँसे प्रस्थान करनेकी तैयारी की॥ १७॥

ततः शुभतरे तूणी धनुषी चायतेक्षणा।
ददौ सीता तयोर्भ्रात्रोः खड्गौ च विमलौ ततः॥ १८॥

तदनन्तर विशाल नेत्रोंवाली सीताने उन दोनों भाइयोंके हाथमें दो परम सुन्दर तूणीर, धनुष और चमचमाते हुए खड्ग प्रदान किये॥ १८॥

आबध्य च शुभे तूणी चापे चादाय सस्वने।
निष्क्रान्तावाश्रमाद् गन्तुमुभौ तौ रामलक्ष्मणौ॥ १९॥

उन सुन्दर तूणीरोंको पीठपर बाँधकर टंकारते हुए धनुषोंको हाथमें ले वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण आश्रमसे बाहर निकले॥ १९॥

शीघ्रं तौ रूपसम्पन्नावनुज्ञातौ महर्षिणा।
प्रस्थितौ धृतचापासी सीतया सह राघवौ॥ २०॥

वे दोनों रघुवंशी वीर बड़े ही रूपवान् थे, उन्होंने खड्ग और धनुष धारण करके महर्षिकी आज्ञा ले सीताके साथ शीघ्र ही वहाँसे प्रस्थान किया॥ २०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टमः सर्गः॥ ८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८॥



नवमः सर्गः

सीताका श्रीरामसे निरपराध प्राणियोंको न मारने और अहिंसा-धर्मका पालन करनेके लिये अनुरोध

सुतीक्ष्णेनाभ्यनुज्ञातं प्रस्थितं रघुनन्दनम्।
हृद्यया स्निग्धया वाचा भर्तारमिदमब्रवीत्॥ १॥

सुतीक्ष्णकी आज्ञा लेकर वनकी ओर प्रस्थित हुए अपने स्वामी रघुकुलनन्दन श्रीरामसे सीताने स्नेहभरी मनोहर वाणीमें इस प्रकार कहा—॥ १॥

अधर्मं तु सुसूक्ष्मेण विधिना प्राप्यते महान्।
निवृत्तेन च शक्योऽयं व्यसनात् कामजादिह॥ २॥

'आर्यपुत्र! यद्यपि आप महान् पुरुष हैं तथापि अत्यन्त सूक्ष्म विधिसे विचार करनेपर आप अधर्मको प्राप्त हो रहे हैं। जब कामजनित व्यसनसे आप सर्वथा निवृत्त हैं, तब यहाँ इस अधर्मसे भी बच सकते हैं॥ २॥

त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत।
मिथ्यावाक्यं तु परमं तस्माद् गुरुतरावुभौ॥ ३॥
परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता।
मिथ्यावाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव॥ ४॥

'इस जगत्‌में कामसे उत्पन्न होनेवाले तीन ही व्यसन होते हैं। मिथ्याभाषण बहुत बड़ा व्यसन है, किंतु उससे भी भारी दो व्यसन और हैं—परस्त्रीगमन और बिना वैरके ही दूसरोंके प्रति क्रूरतापूर्ण बर्ताव। रघुनन्दन! इनमेंसे मिथ्या-भाषणरूप व्यसन तो न आपमें कभी हुआ है और न आगे होगा ही॥ ३-४॥

कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत् ते कदाचन॥ ५॥
मनस्यपि तथा राम न चैतद् विद्यते क्वचित्।
स्वदारनिरतश्चैव नित्यमेव नृपात्मज॥ ६॥
धर्मिष्ठः सत्यसंधश्च पितुर्निर्देशकारकः।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ ७॥

'परस्त्रीविषयक अभिलाषा तो आपको हो ही कैसे सकती है? नरेन्द्र! धर्मका नाश करनेवाली यह कुत्सित इच्छा न आपके मनमें कभी हुई थी, न है और न भविष्यमें कभी होनेकी सम्भावना ही है। राजकुमार श्रीराम! यह दोष तो आपके मनमें भी कभी उदित नहीं हुआ है। (फिर वाणी और क्रियामें कैसे आ सकता है?) आप सदा ही अपनी धर्मपत्नीमें अनुरक्त रहनेवाले, धर्मनिष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ तथा पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं। आपमें धर्म और सत्य दोनोंकी स्थिति है। आपमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है॥

तच्च सर्वं महाबाहो शक्यं वोढुं जितेन्द्रियैः।
तव वश्येन्द्रियत्वं च जानामि शुभदर्शन॥ ८॥

'महाबाहो! जो लोग जितेन्द्रिय हैं, वे सदा सत्य और धर्मको पूर्णरूपसे धारण कर सकते हैं। शुभदर्शी महापुरुष! आपकी जितेन्द्रियताको मैं अच्छी तरह जानती हूँ (इसीलिये मुझे विश्वास है कि आपमें पूर्वोक्त दोनों दोष कदापि नहीं रह सकते)॥ ८॥

तृतीयं यदिदं रौद्रं परप्राणाभिहिंसनम्।
निर्वैरं क्रियते मोहात् तच्च ते समुपस्थितम्॥ ९॥

'परंतु दूसरोंके प्राणोंकी हिंसारूप जो यह तीसरा भयंकर

दोष है, उसे लोग मोहवश बिना वैर-विरोधके भी किया करते हैं। वही दोष आपके सामने भी उपस्थित है ॥ ९ ॥

प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम्।
ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम् ॥ १० ॥

'वीर! आपने दण्डकारण्यनिवासी ऋषियोंकी रक्षाके लिये युद्धमें राक्षसोंका वध करनेकी प्रतिज्ञा की है ॥ १० ॥

एतन्निमित्तं च वनं दण्डका इति विश्रुतम्।
प्रस्थितस्त्वं सह भ्रात्रा धृतबाणशरासनः ॥ ११ ॥

'इसीके लिये आप भाईके साथ धनुष-बाण लेकर दण्डकारण्यके नामसे विख्यात वनकी ओर प्रस्थित हुए हैं ॥ ११ ॥

ततस्त्वां प्रस्थितं दृष्ट्वा मम चिन्ताकुलं मनः।
त्वद्वृत्तं चिन्तयन्त्या वै भवेन्निःश्रेयसं हितम् ॥ १२ ॥

'अतः आपको इस घोर कर्मके लिये प्रस्थित हुआ देख मेरा चित्त चिन्तासे व्याकुल हो उठा है। आपके प्रतिज्ञापालनरूप व्रतका विचार करके मैं सदा यही सोचती रहती हूँ कि कैसे आपका कल्याण हो? ॥ १२ ॥

नहि मे रोचते वीर गमनं दण्डकान् प्रति।
कारणं तत्र वक्ष्यामि वदन्त्याः श्रूयतां मम ॥ १३ ॥

'वीर! मुझे इस समय आपका दण्डकारण्यमें जाना अच्छा नहीं लगता है। इसका क्या कारण है—यह बता रही हूँ; आप मेरे मुँहसे सुनिये ॥ १३ ॥

त्वं हि बाणधनुष्पाणिर्भ्रात्रा सह वनं गतः।
दृष्ट्वा वनचरान् सर्वान् कच्चित् कुर्याः शरव्ययम् ॥

'आप हाथमें धनुष-बाण लेकर अपने भाईके साथ वनमें आये हैं। सम्भव है, समस्त वनचारी राक्षसोंको देखकर कदाचित् आप उनके प्रति अपने बाणोंका प्रयोग कर बैठें ॥

क्षत्रियाणामिह धनुर्हुताशस्येन्धनानि च।
समीपतः स्थितं तेजोबलमुच्छ्रयते भृशम् ॥ १५ ॥

'जैसे आगके समीप रखे हुए ईंधन उसके तेजरूप बलको अत्यन्त उद्दीप्त कर देते हैं, उसी प्रकार जहाँ क्षत्रियोंके पास धनुष हो तो वह उनके बल और प्रतापको उद्दीपित कर देता है ॥ १५ ॥

पुरा किल महाबाहो तपस्वी सत्यवाक्छुचिः।
कस्मिंश्चिदभवत् पुण्ये वने रतमृगद्विजे ॥ १६ ॥

'महाबाहो! पूर्वकालकी बात है, किसी पवित्र वनमें, जहाँ मृग और पक्षी बड़े आनन्दसे रहते थे, एक सत्यवादी एवं पवित्र तपस्वी निवास करते थे ॥ १६ ॥

तस्यैव तपसो विघ्नं कर्तुमिन्द्रः शचीपतिः।
खड्गपाणिरथागच्छदाश्रमं भटरूपधृक् ॥ १७ ॥

'उन्हींकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये शचीपति इन्द्र किसी योद्धाका रूप धारण करके हाथमें तलवार लिये एक दिन उनके आश्रमपर आये ॥ १७ ॥

तस्मिंस्तदाश्रमपदे निहितः खड्ग उत्तमः।
स न्यासविधिना दत्तः पुण्ये तपसि तिष्ठतः ॥ १८ ॥

'उन्होंने मुनिके आश्रममें अपना उत्तम खड्ग रख दिया। पवित्र तपस्यामें लगे हुए मुनिको धरोहरके रूपमें वह खड्ग दे दिया ॥ १८ ॥

स तच्छस्त्रमनुप्राप्य न्यासरक्षणतत्परः।
वने तु विचरत्येव रक्षन् प्रत्ययमात्मनः ॥ १९ ॥

'उस शस्त्रको पाकर मुनि उस धरोहरकी रक्षामें लग गये। वे अपने विश्वासकी रक्षाके लिये वनमें विचरते समय भी उसे साथ रखते थे ॥ १९ ॥

यत्र गच्छत्युपादातुं मूलानि च फलानि च।
न विना याति तं खड्गं न्यासरक्षणतत्परः ॥ २० ॥

'धरोहरकी रक्षामें तत्पर रहनेवाले वे मुनि फल-मूल लानेके लिये जहाँ-कहीं भी जाते, उस खड्गको साथ लिये बिना नहीं जाते थे ॥ २० ॥

नित्यं शस्त्रं परिवहन् क्रमेण स तपोधनः।
चकार रौद्रीं स्वां बुद्धिं त्यक्त्वा तपसि निश्चयम् ॥

'तप ही जिनका धन था, उन मुनिने प्रतिदिन शस्त्र ढोते रहनेके कारण क्रमशः तपस्याका निश्चय छोड़कर अपनी बुद्धिको क्रूरतापूर्ण बना लिया ॥ २१ ॥

ततः स रौद्राभिरतः प्रमत्तोऽधर्मकर्षितः।
तस्य शस्त्रस्य संवासाज्जगाम नरकं मुनिः ॥ २२ ॥

फिर तो अधर्मने उन्हें आकृष्ट कर लिया। वे मुनि प्रमादवश रौद्र-कर्ममें तत्पर हो गये और उस शस्त्रके सहवाससे उन्हें नरकमें जाना पड़ा ॥ २२ ॥

एवमेतत् पुरावृत्तं शस्त्रसंयोगकारणम्।
अग्निसंयोगवद्धेतुः शस्त्रसंयोग उच्यते ॥ २३ ॥

'इस प्रकार शस्त्रका संयोग होनेके कारण पूर्वकालमें उन तपस्वी मुनिको ऐसी दुर्दशा भोगनी पड़ी। जैसे आगका संयोग ईंधनोंको जलानेका कारण होता है, उसी प्रकार शस्त्रोंका संयोग शस्त्रधारीके हृदयमें विकारका उत्पादक कहा गया है ॥

स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां तु शिक्षये।
न कथंचन सा कार्या गृहीतधनुषा त्वया ॥ २४ ॥
बुद्धिर्वैरं विना हन्तुं राक्षसान् दण्डकाश्रितान्।
अपराधं विना हन्तुं लोको वीर न मंस्यते ॥ २५ ॥

'मेरे मनमें आपके प्रति जो स्नेह और विशेष आदर है, उसके कारण मैं आपको उस प्राचीन घटनाकी याद दिलाती हूँ तथा यह शिक्षा भी देती हूँ कि आपको धनुष लेकर किसी तरह बिना वैरके ही दण्डकारण्यवासी राक्षसोंके वधका

विचार नहीं करना चाहिये। वीरवर! बिना अपराधके ही किसीको मारना संसारके लोग अच्छा नहीं समझेंगे ॥२४-२५॥

क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु नियतात्मनाम्।
धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम् ॥ २६ ॥

'अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले क्षत्रिय वीरोंके लिये वनमें धनुष धारण करनेका इतना ही प्रयोजन है कि वे संकटमें पड़े हुए प्राणियोंकी रक्षा करें ॥

क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च।
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ॥ २७ ॥

'कहाँ शस्त्र-धारण और कहाँ वनवास! कहाँ क्षत्रियका हिंसामय कठोर कर्म और कहाँ सब प्राणियोंपर दया करनारूप तप—ये परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं। अतः हमलोगोंको देशधर्मका ही आदर करना चाहिये (इस समय हम तपोवन-रूप देशमें निवास करते हैं, अतः यहाँके अहिंसामय धर्मका पालन करना ही हमारा कर्तव्य है) ॥ २७ ॥

कदर्यकलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात्।
पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षत्रधर्मं चरिष्यसि ॥ २८ ॥

'केवल शस्त्रका सेवन करनेसे मनुष्यकी बुद्धि कृपण पुरुषोंके समान कलुषित हो जाती है; अतः आप अयोध्यामें चलनेपर ही पुनः क्षात्रधर्मका अनुष्ठान कीजियेगा ॥ २८ ॥

अक्षया तु भवेत् प्रीतिः श्वश्रूश्वशुरयोर्मम।
यदि राज्यं हि संन्यस्य भवेस्त्वं निरतो मुनिः ॥ २९ ॥

'राज्य त्यागकर वनमें आ जानेपर यदि आप मुनि-वृत्तिसे ही रहें तो इससे मेरी सास और श्वशुरको अक्षय प्रसन्नता होगी ॥ २९ ॥

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ॥ ३० ॥

'धर्मसे अर्थ प्राप्त होता है, धर्मसे सुखका उदय होता है और धर्मसे ही मनुष्य सब कुछ पा लेता है। इस संसारमें धर्म ही सार है ॥ ३० ॥

आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः।
प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम् ॥ ३१ ॥

'चतुर मनुष्य भिन्न-भिन्न वानप्रस्थोचित नियमोंके द्वारा अपने शरीरको क्षीण करके यत्नपूर्वक धर्मका सम्पादन करते हैं; क्योंकि सुखदायक साधनसे सुखके हेतुभूत धर्मकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ ३१ ॥

नित्यं शुचिमतिः सौम्य चर धर्मं तपोवने।
सर्वं तु विदितं तुभ्यं त्रैलोक्यमपि तत्त्वतः ॥ ३२ ॥

'सौम्य! प्रतिदिन शुद्धचित्त होकर तपोवनमें धर्मका अनुष्ठान कीजिये। त्रिलोकीमें जो कुछ भी है, आपको तो वह सब कुछ यथार्थरूपसे विदित ही है ॥ ३२ ॥

स्त्रीचापलादेतदुपाहृतं मे
धर्मं च वक्तुं तव कः समर्थः।
विचार्य बुद्ध्या तु सहानुजेन
यद् रोचते तत् कुरु माचिरेण ॥ ३३ ॥

'मैंने नारीजातिकी स्वाभाविक चपलताके कारण ही आपकी सेवामें ये बातें निवेदन कर दी हैं। वास्तवमें आपको धर्मका उपदेश करनेमें कौन समर्थ है? आप इस विषयमें अपने छोटे भाईके साथ बुद्धिपूर्वक विचार कर लें। फिर आपको जो ठीक जँचे, उसे ही शीघ्रतापूर्वक करें' ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥



दशमः सर्गः

श्रीरामका ऋषियोंकी रक्षाके लिये राक्षसोंके वधके निमित्त की हुई प्रतिज्ञाके पालनपर दृढ़ रहनेका विचार प्रकट करना

वाक्यमेतत् तु वैदेह्या व्याहृतं भर्तृभक्तया।
श्रुत्वा धर्मे स्थितो रामः प्रत्युवाचाथ जानकीम् ॥ १ ॥

अपने स्वामीके प्रति भक्ति रखनेवाली विदेहकुमारी सीताकी कही हुई यह बात सुनकर सदा धर्ममें स्थित रहनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने जानकीको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १ ॥

हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया सदृशं वचः।
कुलं व्यपदिशन्त्या च धर्मज्ञे जनकात्मजे ॥ २ ॥

'देवि! धर्मको जाननेवाली जनककिशोरी! तुम्हारा मेरे ऊपर स्नेह है, इसलिये तुमने मेरे हितकी बात कही है। क्षत्रियोंके कुलधर्मका उपदेश करती हुई तुमने जो कुछ कहा है, वह तुम्हारे ही योग्य है ॥ २ ॥

किं नु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः।
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति ॥ ३ ॥

'देवि! मैं तुम्हें क्या उत्तर दूँ, तुमने ही पहले यह बात कही है कि क्षत्रियलोग इसलिये धनुष धारण करते हैं कि किसीको दुःखी होकर हाहाकार न

करना पड़े (यदि कोई दुःख या संकटमें पड़ा हो तो उसकी रक्षा की जाय) ॥ ३ ॥

ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः ।
मां सीते स्वयमागम्य शरण्यं शरणं गताः ॥ ४ ॥

'सीते ! दण्डकारण्यमें रहकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले वे मुनि बहुत दुखी हैं, इसीलिये मुझे शरणागतवत्सल जानकर वे स्वयं मेरे पास आये और शरणागत हुए ॥ ४ ॥

वसन्तः कालकालेषु वने मूलफलाशनाः ।
न लभन्ते सुखं भीरु राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ ५ ॥
भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैर्नरमांसोपजीविभिः ।

'भीरु ! सदा ही वनमें रहकर फल-मूलका आहार करनेवाले वे मुनि इन क्रूरकर्मा राक्षसोंके कारण कभी सुख नहीं पाते हैं । मनुष्योंके मांससे जीवननिर्वाह करनेवाले ये भयानक राक्षस उन्हें मारकर खा जाते हैं ॥ ५½ ॥

ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः ॥ ६ ॥
अस्मानभ्यवपद्येति मामूचुर्द्विजसत्तमाः ।

'उन राक्षसोंके ग्रास बने हुए वे दण्डकारण्यवासी द्विज-श्रेष्ठ मुनि हमलोगोंके पास आकर मुझसे बोले—'प्रभो ! हमपर अनुग्रह कीजिये' ॥ ६½ ॥

मया तु वचनं श्रुत्वा तेषामेवं मुखाच्च्युतम् ॥ ७ ॥
कृत्वा वचनशुश्रूषां वाक्यमेतदुदाहृतम् ।

'उनके मुखसे निकली हुई इस प्रकार रक्षाकी पुकार सुनकर और उनकी आज्ञा-पालनरूपी सेवाका विचार मनमें लेकर मैंने उनसे यह बात कही ॥ ७½ ॥

प्रसीदन्तु भवन्तो मे ह्रीरेषा तु ममातुला ॥ ८ ॥
यदीदृशैरहं विप्रैरुपस्थेयैरुपस्थितः ।
किं करोमीति च मया व्याहृतं द्विजसंनिधौ ॥ ९ ॥

'महर्षियो ! आप-जैसे ब्राह्मणोंकी सेवामें मुझे स्वयं ही उपस्थित होना चाहिये था, परंतु आप स्वयं ही अपनी रक्षाके लिये मेरे पास आये, यह मेरे लिये अनुपम लज्जाकी बात है; अतः आप प्रसन्न हों । बताइये, मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ?' यह बात मैंने उन ब्राह्मणोंके सामने कही ॥ ८-९ ॥

सर्वैरेव समागम्य वागियं समुदाहृता ।
राक्षसैर्दण्डकारण्ये बहुभिः कामरूपिभिः ॥ १० ॥
अर्दिताः स्म भृशं राम भवान् नस्तत्र रक्षतु ।

'तब उन सभीने मिलकर अपना मनोभाव इन वचनोंमें प्रकट किया—'श्रीराम ! दण्डकारण्यमें इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले बहुत-से राक्षस रहते हैं । उनसे हमें बड़ा कष्ट पहुँच रहा है, अतः वहाँ उनके भयसे आप हमारी रक्षा करें ॥ १०½ ॥

होमकाले तु सम्प्राप्ते पर्वकालेषु चानघ ॥ ११ ॥
धर्षयन्ति सुदुर्धर्षा राक्षसाः पिशिताशनाः ।

'निष्पाप रघुनन्दन ! अग्निहोत्रका समय आनेपर तथा पर्वके अवसरोंपर ये अत्यन्त दुर्धर्ष मांसभोजी राक्षस हमें धर दबाते हैं ॥ ११½ ॥

राक्षसैर्धर्षितानां च तापसानां तपस्विनाम् ॥ १२ ॥
गतिं मृगयमाणानां भवान् नः परमा गतिः ।

'राक्षसोंद्वारा आक्रान्त होनेवाले हम तपस्वी तापस सदा अपने लिये कोई आश्रय ढूँढ़ते रहते हैं, अतः आप ही हमारे परम आश्रय हों ॥ १२½ ॥

कामं तपःप्रभावेण शक्ता हन्तुं निशाचरान् ॥ १३ ॥
चिरार्जितं न चेच्छामस्तपः खण्डयितुं वयम् ।
बहुविघ्नं तपो नित्यं दुश्चरं चैव राघव ॥ १४ ॥

'रघुनन्दन ! यद्यपि हम तपस्याके प्रभावसे इच्छानुसार इन राक्षसोंका वध करनेमें समर्थ हैं तथापि चिरकालसे उपार्जित किये हुए तपको खण्डित करना नहीं चाहते हैं; क्योंकि तपमें सदा ही बहुत-से विघ्न आते रहते हैं तथा इसका सम्पादन बहुत ही कठिन होता है ॥ १३-१४ ॥

तेन शापं न मुञ्चामो भक्ष्यमाणाश्च राक्षसैः ।
तदर्द्यमानान् रक्षोभिर्दण्डकारण्यवासिभिः ॥ १५ ॥
रक्ष नस्त्वं सह भ्रात्रा त्वन्नाथा हि वयं वने ।

'यही कारण है कि राक्षसोंके ग्रास बन जानेपर भी हम उन्हें शाप नहीं देते हैं, इसलिये दण्डकारण्यवासी निशाचरोंसे पीड़ित हुए हम तापसोंकी भाईसहित आप रक्षा करें; क्योंकि इस वनमें अब आप ही हमारे रक्षक हैं' ॥ १५½ ॥

मया चैतद्वचः श्रुत्वा कार्त्स्न्येन परिपालनम् ॥ १६ ॥
ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे ।

'जनकनन्दिनि ! दण्डकारण्यमें ऋषियोंकी यह बात सुनकर मैंने पूर्णरूपसे उनकी रक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की है ॥ १६½ ॥

संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम् ॥ १७ ॥
मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा ।

'मुनियोंके सामने यह प्रतिज्ञा करके अब मैं जीते-जी इस प्रतिज्ञाको मिथ्या नहीं कर सकूँगा; क्योंकि सत्यका पालन मुझे सदा ही प्रिय है ॥ १७½ ॥

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ॥ १८ ॥
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ।

'सीते ! मैं अपने प्राण छोड़ सकता हूँ, तुम्हारा और लक्ष्मणका भी परित्याग कर सकता हूँ, किंतु अपनी प्रतिज्ञाको, विशेषतः ब्राह्मणोंके लिये की गयी प्रतिज्ञाको मैं कदापि नहीं तोड़ सकता ॥ १८½ ॥

तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम् ॥ १९ ॥
अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय कथं पुनः ।

'इसलिये ऋषियोंकी रक्षा करना मेरे लिये आवश्यक कर्तव्य है । विदेहनन्दिनि ! ऋषियोंके बिना कहे ही उनकी मुझे रक्षा करनी चाहिये थी; फिर जब उन्होंने स्वयं कहा और मैंने प्रतिज्ञा भी कर ली, तब अब उनकी रक्षासे कैसे मुँह मोड़ सकता हूँ ॥ १९½ ॥

मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वया वचः ॥ २० ॥
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न ह्यनिष्टोऽनुशास्यते ।

'सीते ! तुमने स्नेह और सौहार्दवश जो मुझसे ये बातें कही हैं, इससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ; क्योंकि जो अपना प्रिय न हो, उसे कोई हितकर उपदेश नहीं देता ॥ २०½ ॥

सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव शोभने ।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ २१ ॥

'शोभने ! तुम्हारा यह कथन तुम्हारे योग्य तो है ही, तुम्हारे कुलके भी सर्वथा अनुरूप है । तुम मेरी सहधर्मिणी हो और मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हो' ॥ २१ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
सीतां प्रियां मैथिलराजपुत्रीम् ।
रामो धनुष्मान् सह लक्ष्मणेन
जगाम रम्याणि तपोवनानि ॥ २२ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्रिया मिथिलेश-कुमारी सीतासे ऐसा वचन कहकर हाथमें धनुष ले लक्ष्मणके साथ रमणीय तपोवनोंमें विचरण करने लगे ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

पञ्चाप्सर तीर्थ एवं माण्डकर्णि मुनिकी कथा, विभिन्न आश्रमोंमें घूमकर श्रीराम आदिका सुतीक्ष्णके आश्रममें आना, वहाँ कुछ कालतक रहकर उनकी आज्ञासे अगस्त्यके भाई तथा अगस्त्यके आश्रमपर जाना तथा अगस्त्यके प्रभावका वर्णन

अग्रतः प्रययौ रामः सीता मध्ये सुशोभना ।
पृष्ठतस्तु धनुष्पाणिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ॥ १ ॥

तदनन्तर आगे-आगे श्रीराम चले, बीचमें परम सुन्दरी सीता चल रही थीं और उनके पीछे हाथमें धनुष लिये लक्ष्मण चलने लगे ॥ १ ॥

तौ पश्यमानौ विविधाञ्शैलप्रस्थान् वनानि च ।
नदीश्च विविधा रम्या जग्मतुः सह सीतया ॥ २ ॥

सीताके साथ वे दोनों भाई भाँति-भाँतिके पर्वतीय शिखरों, वनों तथा नाना प्रकारकी रमणीय नदियोंको देखते हुए अग्रसर होने लगे ॥ २ ॥

सारसांश्चक्रवाकांश्च नदीपुलिनचारिणः ।
सरांसि च सपद्मानि युतानि जलजैः खगैः ॥ ३ ॥

उन्होंने देखा, कहीं नदियोंके तटोंपर सारस और चक्रवाक विचर रहे हैं और कहीं खिले हुए कमलों और जलचर पक्षियोंसे युक्त सरोवर शोभा पाते हैं ॥ ३ ॥

यूथबद्धांश्च पृषतान् मदोन्मत्तान् विषाणिनः ।
महिषांश्च वराहांश्च गजांश्च द्रुमवैरिणः ॥ ४ ॥

कहीं चितकबरे मृग यूथ बाँधे चले जा रहे थे, कहीं बड़े-बड़े सींगवाले मदमत्त भैंसे तथा बढ़े हुए दाँतवाले जंगली सूअर और वृक्षोंके वैरी दन्तार हाथी दिखायी देते थे ॥ ४ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ।
ददृशुः सहिता रम्यं तटाकं योजनायुतम् ॥ ५ ॥

दूरतक यात्रा तै करनेके बाद जब सूर्य अस्ताचलको जाने लगे, तब उन तीनोंने एक साथ देखा—सामने एक बड़ा ही सुन्दर तालाब है, जिसकी लंबाई-चौड़ाई एक-एक योजन-की जान पड़ती है ॥ ५ ॥

पद्मपुष्करसम्बाधं गजयूथैरलंकृतम् ।
सारसैर्हंसकादम्बैः संकुलं जलजातिभिः ॥ ६ ॥

वह सरोवर लाल और श्वेत कमलोंसे भरा हुआ था । उसमें क्रीड़ा करते हुए झुंड-के-झुंड हाथी उसकी शोभा बढ़ाते थे । तथा सारस, राजहंस और कलहंस आदि पक्षियों एवं जलमें उत्पन्न होनेवाले मत्स्य आदि जन्तुओंसे वह व्याप्त दिखायी देता था ॥ ६ ॥

प्रसन्नसलिले रम्ये तस्मिन् सरसि शुश्रुवे ।
गीतवादित्रनिर्घोषो न तु कश्चन दृश्यते ॥ ७ ॥

स्वच्छ जलसे भरे हुए उस रमणीय सरोवरमें गाने-बजानेका शब्द सुनायी देता था, किंतु कोई दिखायी नहीं दे रहा था ॥ ७ ॥

ततः कौतूहलाद् रामो लक्ष्मणश्च महारथः ।
मुनिं धर्मभृतं नाम प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ८ ॥

तब श्रीराम और महारथी लक्ष्मणने कौतूहलवश अपने साथ आये हुए धर्मभृत् नामक मुनिसे पूछना आरम्भ किया—॥ ८ ॥

इदमत्यद्भुतं श्रुत्वा सर्वेषां नो महामुने ।
कौतूहलं महज्जातं किमिदं साधु कथ्यताम् ॥ ९ ॥

'महामुने ! यह अत्यन्त अद्भुत संगीतकी ध्वनि सुनकर हम सब लोगोंको बड़ा कौतूहल हो रहा है । यह क्या है, इसे अच्छी तरह बताइये' ॥ ९ ॥

तेनैवमुक्तो धर्मात्मा राघवेण मुनिस्तदा ।
प्रभावं सरसः क्षिप्रमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर धर्मात्मा धर्मभृत् नामक मुनिने तुरंत ही उस सरोवरके प्रभावका वर्णन आरम्भ किया—॥ १० ॥

इदं पञ्चाप्सरो नाम तटाकं सार्वकालिकम् ।
निर्मितं तपसा राम मुनिना माण्डकर्णिना ॥ ११ ॥

'श्रीराम ! यह पञ्चाप्सर नामक सरोवर है, जो सर्वदा अगाध जलसे भरा रहता है । माण्डकर्णिनामक मुनिने अपने तपके द्वारा इसका निर्माण किया था ॥ ११ ॥

स हि तेपे तपस्तीव्रं माण्डकर्णिर्महामुनिः ।
दशवर्षसहस्राणि वायुभक्षो जलाशये ॥ १२ ॥

'महामुनि माण्डकर्णिने एक जलाशयमें रहकर केवल वायुका आहार करते हुए दस सहस्र वर्षोंतक तीव्र तपस्या की थी ॥ १२ ॥

ततः प्रव्यथिताः सर्वे देवाः साग्निपुरोगमाः ।
अब्रुवन् वचनं सर्वे परस्परसमागताः ॥ १३ ॥

'उस समय अग्नि आदि सब देवता उनके तपसे अत्यन्त व्यथित हो उठे और आपसमें मिलकर वे सब-के-सब इस प्रकार कहने लगे ॥ १३ ॥

अस्माकं कस्यचित् स्थानमेष प्रार्थयते मुनिः ।
इति संविग्नमनसः सर्वे तत्र दिवौकसः ॥ १४ ॥

'जान पड़ता है, ये मुनि हमलोगोंमेंसे किसीके स्थानको लेना चाहते हैं, ऐसा सोचकर वे सब देवता वहाँ मन-ही-मन उद्विग्न हो उठे ॥ १४ ॥

ततः कर्तुं तपोविघ्नं सर्वदेवैर्नियोजिताः ।
प्रधानाप्सरसः पञ्च विद्युच्चलितवर्चसः ॥ १५ ॥

'तब उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये सम्पूर्ण देवताओंने पाँच प्रधान अप्सराओंको नियुक्त किया, जिनकी अङ्गकान्ति विद्युत्के समान चञ्चल थी ॥ १५ ॥

अप्सरोभिस्ततस्ताभिर्मुनिर्दृष्टपरावरः ।
नीतो मदनवश्यत्वं देवानां कार्यसिद्धये ॥ १६ ॥

'तदनन्तर जिन्होंने लौकिक एवं पारलौकिक धर्माधर्मका ज्ञान प्राप्त कर लिया था, उन मुनिको उन पाँच अप्सराओंने देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये कामके अधीन कर दिया ॥ १६ ॥

ताश्चैवाप्सरसः पञ्च मुनेः पत्नीत्वमागताः ।
तटाके निर्मितं तासां तस्मिन्नन्तर्हितं गृहम् ॥ १७ ॥

'मुनिकी पत्नी बनी हुई वे ही पाँच अप्सराएँ यहाँ रहती हैं । उनके रहनेके लिये इस तालाबके भीतर घर बना हुआ है, जो जलके अंदर छिपा हुआ है ॥ १७ ॥

तत्रैवाप्सरसः पञ्च निवसन्त्यो यथासुखम् ।
रमयन्ति तपोयोगान्मुनिं यौवनमास्थितम् ॥ १८ ॥

'उसी घरमें सुखपूर्वक रहती हुई पाँचों अप्सराएँ तपस्याके प्रभावसे युवावस्थाको प्राप्त हुए मुनिको अपनी सेवाओंसे संतुष्ट करती हैं ॥ १८ ॥

तासां संक्रीडमानानामेष वादित्रनिःस्वनः ।
श्रूयते भूषणोन्मिश्रो गीतशब्दो मनोहरः ॥ १९ ॥

'क्रीड़ा-विहारमें लगी हुई उन अप्सराओंके ही वाद्योंकी यह ध्वनि सुनायी देती है, जो भूषणोंकी झनकारके साथ मिली हुई है । साथ ही उनके गीतका भी मनोहर शब्द सुन पड़ता है' ॥ १९ ॥

आश्चर्यमिति तस्यैतद् वचनं भावितात्मनः ।
राघवः प्रतिजग्राह सह भ्रात्रा महायशाः ॥ २० ॥

अपने भाईके साथ महायशस्वी श्रीरघुनाथजीने उन भावितात्मा महर्षिके इस कथनको 'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है' यों कहकर स्वीकार किया ॥ २० ॥

एवं कथयमानः स ददर्शाश्रममण्डलम् ।
कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्म्या लक्ष्म्या समावृतम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार कहते हुए श्रीरामचन्द्रजीको एक आश्रम-मण्डल दिखायी दिया, जहाँ सब ओर कुश और वल्कल वस्त्र फैले हुए थे । वह आश्रम ब्राह्मी लक्ष्मी (ब्रह्मतेज) से प्रकाशित होता था ॥ २१ ॥

प्रविश्य सह वैदेह्या लक्ष्मणेन च राघवः ।
तदा तस्मिन् स काकुत्स्थः श्रीमत्याश्रममण्डले ॥ २२ ॥
उषित्वा स सुखं तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।

विदेहनन्दिनी सीता तथा लक्ष्मणके साथ उस तेजस्वी आश्रममण्डलमें प्रवेश करके ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने उस समय सुखपूर्वक निवास किया । वहाँके महर्षियोंने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ २२½ ॥

जगाम चाश्रमांस्तेषां पर्यायेण तपस्विनाम् ॥ २३ ॥
येषामुषितवान् पूर्वं सकाशे स महास्त्रवित् ।

तदनन्तर महान् अस्त्रोंके ज्ञाता श्रीरामचन्द्रजी बारी-बारीसे उन सभी तपस्वी मुनियोंके आश्रमोंपर गये, जिनके यहाँ वे पहले रह चुके थे। उनके पास भी (उनकी भक्ति देख) दुबारा जाकर रहे ॥ २३½ ॥

क्वचित् परिदशान् मासानेकसंवत्सरं क्वचित् ॥ २४ ॥
क्वचिच्च चतुरो मासान् पञ्च षट् च परान् क्वचित् ।
अपरत्राधिकान् मासानध्यर्धमधिकं क्वचित् ॥ २५ ॥
त्रीन् मासानष्टमासांश्च राघवो न्यवसत् सुखम् ।

कहीं दस महीने, कहीं साल भर, कहीं चार महीने, कहीं पाँच या छः महीने; कहीं इससे भी अधिक समय (अर्थात् सात महीने), कहीं उससे भी अधिक (आठ महीने), कहीं आधे मास अधिक अर्थात् साढ़े आठ महीने, कहीं तीन महीने और कहीं आठ और तीन अर्थात् ग्यारह महीनेतक श्रीरामचन्द्रजीने सुखपूर्वक निवास किया २४-२५½

तत्र संवसतस्तस्य मुनीनामाश्रमेषु वै ॥ २६ ॥
रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश ।

इस प्रकार मुनियोंके आश्रमोंपर रहते और अनुकूलता पाकर आनन्दका अनुभव करते हुए उनके दस वर्ष बीत गये ॥ २६½ ॥

परिसृत्य च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया ॥ २७ ॥
सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं पुनरेवाजगाम ह ।

इस प्रकार सब ओर घूम-फिरकर धर्मके ज्ञाता भगवान् श्रीराम सीताके साथ फिर सुतीक्ष्णके आश्रमपर ही लौट आये ॥ २७½ ॥

स तमाश्रममागम्य मुनिभिः परिपूजितः ॥ २८ ॥
तत्रापि न्यवसद् रामः किंचित् कालमरिंदमः ।

शत्रुओंका दमन करनेवाले श्रीराम उस आश्रममें आकर वहाँ रहनेवाले मुनियोंद्वारा भलीभाँति सम्मानित हो वहाँ भी कुछ कालतक रहे ॥ २८½ ॥

अथाश्रमस्थो विनयात् कदाचित् तं महामुनिम् ॥२९॥
उपासीनः स काकुत्स्थः सुतीक्ष्णमिदमब्रवीत् ।

उस आश्रममें रहते हुए श्रीरामने एक दिन महामुनि सुतीक्ष्णके पास बैठकर विनीतभावसे कहा—॥ २९½ ॥

अस्मिन्नरण्ये भगवन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ३० ॥
वसतीति मया नित्यं कथाः कथयतां श्रुतम् ।
न तु जानामि तं देशं वनस्यास्य महत्तया ॥ ३१ ॥

'भगवन्! मैंने प्रतिदिन बातचीत करनेवाले लोगोंके मुँहसे सुना है कि इस वनमें कहीं मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी निवास करते हैं; किंतु इस वनकी विशालताके कारण मैं उस स्थानको नहीं जानता हूँ ॥ ३०-३१ ॥

कुत्राश्रमपदं रम्यं महर्षेस्तस्य धीमतः ।
प्रसादार्थं भगवतः सानुजः सह सीतया ॥ ३२ ॥
अगस्त्यमधिगच्छेयमभिवादयितुं मुनिम् ।
मनोरथो महानेष हृदि सम्परिवर्तते ॥ ३३ ॥

'उन बुद्धिमान् महर्षिका सुन्दर आश्रम कहाँ है? मैं लक्ष्मण और सीताके साथ भगवान् अगस्त्यको प्रसन्न करनेके लिये उन मुनीश्वरको प्रणाम करनेके उद्देश्यसे उनके आश्रमपर जाऊँ—यह महान् मनोरथ मेरे हृदयमें चक्कर लगा रहा है ॥ ३२-३३ ॥

यदहं तं मुनिवरं शुश्रूषेयमपि स्वयम् ।
इति रामस्य स मुनिः श्रुत्वा धर्मात्मनो वचः ॥ ३४ ॥
सुतीक्ष्णः प्रत्युवाचेदं प्रीतो दशरथात्मजम् ।

'मैं चाहता हूँ कि स्वयं भी मुनिवर अगस्त्यकी सेवा करूँ।' धर्मात्मा श्रीरामका यह वचन सुनकर सुतीक्ष्ण मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन दशरथनन्दनसे इस प्रकार बोले—॥ ३४½ ॥

अहमप्येतदेव त्वां वक्तुकामः सलक्ष्मणम् ॥ ३५ ॥
अगस्त्यमभिगच्छेति सीतया सह राघव ।
दिष्ट्या त्विदानीमर्थेऽस्मिन् स्वयमेव ब्रवीषि माम् ॥

'रघुनन्दन! मैं भी लक्ष्मणसहित आपसे यही कहना चाहता था कि आप सीताके साथ महर्षि अगस्त्यके पास जायँ। सौभाग्यकी बात है कि इस समय आप स्वयं ही मुझसे वहाँ जानेके विषयमें पूछ रहे हैं ॥ ३५-३६ ॥

अयमाख्यामि ते राम यत्रागस्त्यो महामुनिः ।
योजनान्याश्रमात् तात याहि चत्वारि वै ततः ।
दक्षिणेन महाञ्छ्रीमानगस्त्यभ्रातुराश्रमः ॥ ३७ ॥

'श्रीराम! महामुनि अगस्त्य जहाँ रहते हैं, उस आश्रमका पता मैं अभी आपको बताये देता हूँ। तात! इस आश्रमसे चार योजन दक्षिण चले जाइये। वहाँ आपको अगस्त्यके भाईका बहुत बड़ा एवं सुन्दर आश्रम मिलेगा ॥

स्थलीप्रायवनोद्देशे पिप्पलीवनशोभिते ।
बहुपुष्पफले रम्ये नानाविहगनादिते ॥ ३८ ॥
पद्मिन्यो विविधास्तत्र प्रसन्नसलिलाशयाः ।
हंसकारण्डवाकीर्णाश्चक्रवाकोपशोभिताः ॥ ३९ ॥

'वहाँके वनकी भूमि प्रायः समतल है तथा पिप्पलीका वन उस आश्रमकी शोभा बढ़ाता है। वहाँ फूलों और फलोंकी बहुतायत है। नाना प्रकारके पक्षियोंके कलरवोंसे गूँजते हुए उस रमणीय आश्रमके पास भाँति-भाँतिके कमलमण्डित सरोवर हैं, जो स्वच्छ जलसे भरे हुए हैं। हंस और कारण्डव आदि पक्षी उनमें सब ओर फैले हुए हैं तथा चक्रवाक उनकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ३८-३९ ॥

तत्रैकां रजनीं व्युष्य प्रभाते राम गम्यताम्।
दक्षिणां दिशमास्थाय वनखण्डस्य पार्श्वतः ॥ ४० ॥
तत्रागस्त्याश्रमपदं गत्वा योजनमन्तरम्।
रमणीये वनोद्देशे बहुपादपशोभिते ॥ ४१ ॥

'श्रीराम! आप एक रात उस आश्रममें ठहरकर प्रातःकाल उस वनखण्डके किनारे दक्षिण दिशाकी ओर जायँ। इस प्रकार एक योजन आगे जानेपर अनेकानेक वृक्षोंसे सुशोभित वनके रमणीय भागमें अगस्त्य मुनिका आश्रम मिलेगा ॥ ४०-४१ ॥

रंस्यते तत्र वैदेही लक्ष्मणश्च त्वया सह।
स हि रम्यो वनोद्देशो बहुपादपसंयुतः ॥ ४२ ॥

'वहाँ विदेहनन्दिनी सीता और लक्ष्मण आपके साथ सानन्द विचरण करेंगे; क्योंकि बहुसंख्यक वृक्षोंसे सुशोभित वह वनप्रान्त बड़ा ही रमणीय है ॥ ४२ ॥

यदि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महामुनिम्।
अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महामते ॥ ४३ ॥

'महामते! यदि आपने महामुनि अगस्त्यके दर्शनका निश्चित विचार कर लिया है तो आज ही वहाँकी यात्रा करनेका भी निश्चय करें' ॥ ४३ ॥

इति रामो मुनेः श्रुत्वा सह भ्रात्राभिवाद्य च।
प्रतस्थेऽगस्त्यमुद्दिश्य सानुगः सह सीतया ॥ ४४ ॥

मुनिका यह वचन सुनकर भाईसहित श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें प्रणाम किया और सीता तथा लक्ष्मणके साथ अगस्त्यजीके आश्रमकी ओर चल दिये ॥ ४४ ॥

पश्यन् वनानि चित्राणि पर्वतांश्चाभ्रसंनिभान्।
सरांसि सरितश्चैव पथि मार्गवशानुगान् ॥ ४५ ॥

मार्गमें मिले हुए विचित्र-विचित्र वनों, मेघमालाके समान पर्वतमालाओं, सरोवरों और सरिताओंको देखते हुए वे आगे बढ़ते गये ॥ ४५ ॥

सुतीक्ष्णेनोपदिष्टेन गत्वा तेन पथा सुखम्।
इदं परमसंहृष्टो वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार सुतीक्ष्णके बताये हुए मार्गसे सुखपूर्वक चलते-चलते श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त हर्षमें भरकर लक्ष्मणसे यह बात कही— ॥ ४६ ॥

एतदेवाश्रमपदं नूनं तस्य महात्मनः।
अगस्त्यस्य मुनेर्भ्रातुर्दृश्यते पुण्यकर्मणः ॥ ४७ ॥

'सुमित्रानन्दन! निश्चय ही यह पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले महात्मा अगस्त्य मुनिके भाईका आश्रम दिखायी दे रहा है ॥ ४७ ॥

यथा हीमे वनस्यास्य ज्ञाताः पथि सहस्रशः।
संनताः फलभारेण पुष्पभारेण च द्रुमाः ॥ ४८ ॥

'क्योंकि सुतीक्ष्णजीने जैसा बतलाया था, उसके अनुसार इस वनके मार्गमें फूलों और फलोंके भारसे झुके हुए सहस्रों परिचित वृक्ष शोभा पा रहे हैं ॥ ४८ ॥

पिप्पलीनां च पक्वानां वनादस्मादुपागतः।
गन्धोऽयं पवनोत्क्षिप्तः सहसा कटुकोदयः ॥ ४९ ॥

'इस वनमें पकी हुई पीपलियोंकी यह गन्ध वायुसे प्रेरित होकर सहसा इधर आयी है, जिससे कटुरसका उदय हो रहा है ॥ ४९ ॥

तत्र तत्र च दृश्यन्ते संक्षिप्ताः काष्ठसंचयाः।
लूनाश्च परिदृश्यन्ते दर्भा वैदूर्यवर्चसः ॥ ५० ॥

'जहाँ-तहाँ लकड़ियोंके ढेर लगे दिखायी देते हैं और वैदूर्यमणिके समान रंगवाले कुश कटे हुए दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ५० ॥

एतच्च वनमध्यस्थं कृष्णाभ्रशिखरोपमम्।
पावकस्याश्रमस्थस्य धूमाग्रं सम्प्रदृश्यते ॥ ५१ ॥

'यह देखो, जंगलके बीचमें आश्रमकी अग्निका धुआँ उठता दिखायी दे रहा है, जिसका अग्रभाग काले मेघोंके ऊपरी भाग-सा प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥

विविक्तेषु च तीर्थेषु कृतस्नाना द्विजातयः।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमर्जितैः ॥ ५२ ॥

'यहाँके एकान्त एवं पवित्र तीर्थोंमें स्नान करके आये हुए ब्राह्मण स्वयं चुनकर लाये हुए फूलोंसे देवताओंके लिये पुष्पोपहार अर्पित करते हैं ॥ ५२ ॥

ततः सुतीक्ष्णवचनं यथा सौम्य मया श्रुतम्।
अगस्त्यस्याश्रमो भ्रातुर्नूनमेष भविष्यति ॥ ५३ ॥

'सौम्य! मैंने सुतीक्ष्णजीका कथन जैसा सुना था, उसके अनुसार यह निश्चय ही अगस्त्यजीके भाईका आश्रम होगा ॥ ५३ ॥

निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया।
यस्य भ्रात्रा कृतेयं दिक्शरण्या पुण्यकर्मणा ॥ ५४ ॥

'इन्हींके भाई पुण्यकर्मा अगस्त्यजीने समस्त लोकोंके हितकी कामनासे मृत्युस्वरूप वातापि और इल्वलका वेगपूर्वक दमन करके इस दक्षिण दिशाको शरण लेनेके योग्य बना दिया ॥ ५४ ॥

इहैकदा किल क्रूरो वातापिरपि चेल्वलः।
भ्रातरौ सहितावास्तां ब्राह्मणघ्नौ महासुरौ ॥ ५५ ॥

'एक समयकी बात है, यहाँ क्रूर स्वभाववाला वातापि और इल्वल—ये दोनों भाई एक साथ रहते थे। ये दोनों महान् असुर ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले थे ॥ ५५ ॥

धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्।
आमन्त्रयति विप्रान् स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः ॥ ५६ ॥

भ्रातरं संस्कृतं कृत्वा ततस्तं मेषरूपिणम्।
तान् द्विजान् भोजयामास श्राद्धदृष्टेन कर्मणा ॥ ५७॥

'निर्दयी इल्वल ब्राह्मणका रूप धारण करके संस्कृत बोलता हुआ जाता और श्राद्धके लिये ब्राह्मणोंको निमन्त्रण दे आता था। फिर मेष (जीवशाक) का रूप धारण करनेवाले अपने भाई वातापिका संस्कार करके श्राद्धकल्पोक्त विधिसे ब्राह्मणोंको खिला देता था ॥ ५६-५७ ॥

ततो भुक्तवतां तेषां विप्राणामिल्वलोऽब्रवीत्।
वातापे निष्क्रमस्वेति स्वरेण महता वदन् ॥ ५८॥

'वे ब्राह्मण जब भोजन कर लेते, तब इल्वल उच्च स्वरसे बोलता—'वातापे! निकलो' ॥ ५८ ॥

ततो भ्रातुर्वचः श्रुत्वा वातापिर्मेषवन्नदन्।
भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि ब्राह्मणानां विनिष्पतत् ॥ ५९॥

'भाईकी बात सुनकर वातापि भेड़ेके समान 'में-में' करता हुआ उन ब्राह्मणोंके पेट फाड़-फाड़कर निकल आता था ॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि तैरेवं कामरूपिभिः।
विनाशितानि संहत्य नित्यशः पिशिताशनैः ॥ ६०॥

'इस प्रकार इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन मांसभक्षी असुरोंने प्रतिदिन मिलकर सहस्रों ब्राह्मणोंका विनाश कर डाला ॥ ६० ॥

अगस्त्येन तदा देवैः प्रार्थितेन महर्षिणा।
अनुभूय किल श्राद्धे भक्षितः स महासुरः ॥ ६१॥

'उस समय देवताओंकी प्रार्थनासे महर्षि अगस्त्यने श्राद्धमें शाकरूपधारी उस महान् असुरको जान-बूझकर भक्षण किया ॥ ६१ ॥

ततः सम्पन्नमित्युक्त्वा दत्त्वा हस्तेऽवनेजनम्।
भ्रातरं निष्क्रमस्वेति चेल्वलः समभाषत ॥ ६२॥

'तदनन्तर श्राद्धकर्म सम्पन्न हो गया। ऐसा कहकर ब्राह्मणोंके हाथमें अवनेजनका जल दे इल्वलने भाईको सम्बोधित करके कहा, 'निकलो' ॥ ६२ ॥

स तदा भाषमाणं तु भ्रातरं विप्रघातिनम्।
अब्रवीत् प्रहसन् धीमानगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ६३॥

'इस प्रकार भाईको पुकारते हुए उस ब्राह्मणघाती असुरसे बुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यने हँसकर कहा—॥ ६३ ॥

कुतो निष्क्रमितुं शक्तिर्मया जीर्णस्य रक्षसः।
भ्रातुस्तु मेषरूपस्य गतस्य यमसादनम् ॥ ६४॥

'जिस जीवशाकरूपधारी तेरे भाई राक्षसको मैंने खाकर पचा लिया, वह तो यमलोकमें जा पहुँचा है। अब उसमें निकलनेकी शक्ति कहाँ है' ॥ ६४ ॥

अथ तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातुर्निधनसंश्रितम्।
प्रधर्षयितुमारेभे मुनिं क्रोधान्निशाचरः ॥ ५॥

'भाईकी मृत्युको सूचित करनेवाले मुनिके इस वचनको सुनकर उस निशाचरने क्रोधपूर्वक उन्हें मार डालनेका उद्योग आरम्भ किया ॥ ६५ ॥

सोऽभ्यद्रवद् द्विजेन्द्रं तं मुनिना दीप्ततेजसा।
चक्षुषानलकल्पेन निर्दग्धो निधनं गतः ॥ ६६॥

'उसने ज्यों ही द्विजराज अगस्त्यपर धावा किया, त्यों ही उद्दीप्त तेजवाले उन मुनिने अपनी अग्नितुल्य दृष्टिसे उस राक्षसको दग्ध कर डाला। इस प्रकार उसकी मृत्यु हो गयी ॥ ६६ ॥

तस्यायमाश्रमो भ्रातुस्तटाकवनशोभितः।
विप्रानुकम्पया येन कर्मेदं दुष्करं कृतम् ॥ ६७॥

'ब्राह्मणोंपर कृपा करके जिन्होंने यह दुष्कर कर्म किया था, उन्हीं महर्षि अगस्त्यके भाईका यह आश्रम है, जो सरोवर और वनसे सुशोभित हो रहा है' ॥ ६७ ॥

एवं कथयमानस्य तस्य सौमित्रिणा सह।
रामस्यास्तं गतः सूर्यः संध्याकालोऽभ्यवर्तत ॥ ६८॥

श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ इस प्रकार बातचीत कर रहे थे। इतनेमें ही सूर्यदेव अस्त हो गये और संध्याका समय हो गया ॥ ६८ ॥

उपास्य पश्चिमां संध्यां सह भ्रात्रा यथाविधि।
प्रविवेशाश्रमपदं तमृषिं चाभ्यवादयत् ॥ ६९॥

तब भाईके साथ विधिपूर्वक सायं संध्योपासना करके श्रीरामने आश्रममें प्रवेश किया और उन महर्षिके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ ६९ ॥

सम्यक्प्रतिगृहीतस्तु मुनिना तेन राघवः।
न्यवसत् तां निशामेकां प्राश्य मूलफलानि च ॥७०॥

मुनिने उनका यथावत् आदर-सत्कार किया। सीता और लक्ष्मणसहित श्रीराम वहाँ फल-मूल खाकर एक रात उस आश्रममें रहे ॥ ७० ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामुदिते रविमण्डले।
भ्रातरं तमगस्त्यस्य आमन्त्रयत राघवः ॥ ७१॥

वह रात बीतनेपर जब सूर्योदय हुआ, तब श्रीरामचन्द्रजीने अगस्त्यके भाईसे विदा माँगते हुए कहा—॥७१॥

अभिवादये त्वां भगवन् सुखमस्म्युषितो निशाम्।
आमन्त्रये त्वां गच्छामि गुरुं ते द्रष्टुमग्रजम् ॥ ७२॥

'भगवन्! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। यहाँ रातभर बड़े सुखसे रहा हूँ। अब आपके बड़े भाई मुनिवर अगस्त्यका दर्शन करनेके लिये जाऊँगा। इसके लिये आपसे आज्ञा चाहता हूँ' ॥ ७२ ॥

गम्यतामिति तेनोक्तो जगाम रघुनन्दनः।
यथोद्दिष्टेन मार्गेण वनं तच्चावलोकयन् ॥ ७३॥

तब महर्षिने कहा, 'बहुत अच्छा, जाइये।' इस प्रकार महर्षिसे आज्ञा पाकर भगवान् श्रीराम सुतीक्ष्णके बताये हुए मार्गसे वनकी शोभा देखते हुए आगे चले ॥ ७३ ॥

नीवारान् पनसान् सालान् वञ्जुलांस्तिनिशांस्तथा।
चिरिबिल्वान् मधूकांश्च बिल्वानथ च तिन्दुकान्॥७४॥
पुष्पितान् पुष्पिताग्राभिर्लताभिरुपशोभितान्।
ददर्श रामः शतशस्तत्र कान्तारपादपान्॥ ७५॥
हस्तिहस्तैर्विमृदितान् वानरैरुपशोभितान्।
मत्तैः शकुनिसङ्घैश्च शतशः प्रतिनादितान्॥ ७६॥

श्रीरामने वहाँ मार्गमें नीवार (जलकदम्ब), कटहल, साखू, अशोक, तिनिश, चिरिबिल्व, महुआ, बेल, तेंदू तथा और भी सैकड़ों जंगली वृक्ष देखे, जो फूलोंसे भरे थे तथा खिली हुई लताओंसे परिवेष्टित हो बड़ी शोभा पा रहे थे। उनमेंसे कई वृक्षोंको हाथियोंने अपनी सूँड़ोंसे तोड़कर मसल डाला था और बहुत-से वृक्षोंपर बैठे हुए वानर उनकी शोभा बढ़ाते थे। सैकड़ों मतवाले पक्षी उनकी डालियोंपर चहक रहे थे ॥ ७४—७६ ॥

ततोऽब्रवीत् समीपस्थं रामो राजीवलोचनः।
पृष्ठतोऽनुगतं वीरं लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम्॥ ७७॥

उस समय कमलनयन श्रीराम अपने पीछे-पीछे आते हुए शोभावर्धक वीर लक्ष्मणसे, जो उनके निकट ही थे, इस प्रकार बोले—॥ ७७ ॥

स्निग्धपत्रा यथा वृक्षा यथा क्षान्ता मृगद्विजाः।
आश्रमो नातिदूरस्थो महर्षेर्भावितात्मनः॥ ७८॥

'यहाँके वृक्षोंके पत्ते जैसे सुने गये थे, वैसे ही चिकने दिखायी देते हैं तथा पशु और पक्षी क्षमाशील एवं शान्त हैं। इससे जान पड़ता है, उन भावितात्मा (शुद्ध अन्तःकरणवाले) महर्षि अगस्त्यका आश्रम यहाँसे अधिक दूर नहीं है ॥

अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा।
आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः॥ ७९॥

'जो अपने कर्मसे ही संसारमें अगस्त्यके[1] नामसे विख्यात हुए हैं, उन्हींका यह आश्रम दिखायी देता है, जो थके-माँदे पथिकोंकी थकावटको दूर करनेवाला है ॥ ७९ ॥

प्राज्यधूमाकुलवनश्चीरमालापरिष्कृतः।
प्रशान्तमृगयूथश्च नानाशकुनिनादितः॥ ८०॥

'इस आश्रमके वन यज्ञ-यागसम्बन्धी अधिक धूमोंसे व्याप्त हैं। चीरवस्त्रोंकी पंक्तियाँ इसकी शोभा बढ़ाती हैं। यहाँके मृगोंके झुंड सदा शान्त रहते हैं तथा इस आश्रममें नाना प्रकारके पक्षियोंके कलरव गूँजते रहते हैं ॥ ८० ॥

निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया।
दक्षिणा दिक् कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा॥ ८१॥
तस्येदमाश्रमपदं प्रभावाद् यस्य राक्षसैः।
दिगियं दक्षिणा त्रासाद् दृश्यते नोपभुज्यते॥ ८२॥

'जिन पुण्यकर्मा महर्षि अगस्त्यने समस्त लोकोंकी हित-कामनासे मृत्युस्वरूप राक्षसोंका वेगपूर्वक दमन करके इस दक्षिण दिशाको शरण लेनेके योग्य बना दिया तथा जिनके प्रभावसे राक्षस इस दक्षिण दिशाको केवल दूरसे भयभीत होकर देखते हैं, इसका उपभोग भी नहीं करते, उन्हींका यह आश्रम है ॥ ८१-८२ ॥

यदाप्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा।
तदाप्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः॥ ८३॥

'पुण्यकर्मा महर्षि अगस्त्यने जबसे इस दिशामें पदार्पण किया है, तबसे यहाँके निशाचर वैररहित और शान्त हो गये हैं ॥८३॥

नाम्ना चेयं भगवतो दक्षिणा दिक्प्रदक्षिणा।
प्रथिता त्रिषु लोकेषु दुर्धर्षा क्रूरकर्मभिः॥ ८४॥

'भगवान् अगस्त्यकी महिमासे इस आश्रमके आस-पास निर्वैरता आदि गुणोंके सम्पादनमें समर्थ तथा क्रूरकर्मा राक्षसोंके लिये दुर्जय होनेके कारण यह सम्पूर्ण दिशा नामसे भी तीनों लोकोंमें 'दक्षिणा' ही कहलायी, इसी नामसे विख्यात हुई तथा इसे 'अगस्त्यकी दिशा' भी कहते हैं ॥ ८४ ॥

मार्गं निरोद्धुं सततं भास्करस्याचलोत्तमः।
संदेशं पालयंस्तस्य विन्ध्यशैलो न वर्धते॥ ८५॥

'एक बार पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्य सूर्यका मार्ग रोकनेके लिये बढ़ा था, किंतु महर्षि अगस्त्यके कहनेसे वह नम्र हो गया। तबसे आजतक निरन्तर उनके आदेशका पालन करता हुआ वह कभी नहीं बढ़ता ॥ ८५ ॥

अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः।
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान् विनीतमृगसेवितः॥ ८६॥

'वे दीर्घायु महात्मा हैं। उनका कर्म (समुद्रशोषण आदि कार्य) तीनों लोकोंमें विख्यात है। उन्हीं अगस्त्यका यह शोभा-सम्पन्न आश्रम है, जो विनीत मृगोंसे सेवित है ॥ ८६ ॥

एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यं रतः सताम्।
अस्मानधिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति॥ ८७॥

'ये महात्मा अगस्त्यजी सम्पूर्ण लोकोंके द्वारा पूजित तथा सदा सज्जनोंके हितमें लगे रहनेवाले हैं। अपने पास आये हुए हमलोगोंको वे अपने आशीर्वादसे कल्याणके भागी बनायेंगे ॥ ८७ ॥

आराधयिष्याम्यत्राहमगस्त्यं तं महामुनिम्।
शेषं च वनवासस्य सौम्य वत्स्याम्यहं प्रभो॥ ८८॥

---

१. अगं पर्वतं स्तम्भयति इति अगस्त्यः—जो अग अर्थात् पर्वतको स्तम्भित कर दे, उसे अगस्त्य कहते हैं।

'सेवा करनेमें समर्थ सौम्य लक्ष्मण! यहाँ रहकर मैं उन महामुनि अगस्त्यकी आराधना करूँगा और वनवासके शेष दिन यहीं रहकर बिताऊँगा ॥ ८८ ॥

अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
अगस्त्यं नियताहाराः सततं पर्युपासते ॥ ८९ ॥

'देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि यहाँ नियमित आहार करते हुए सदा अगस्त्य मुनिकी उपासना करते हैं ॥ ८९ ॥

नात्र जीवेन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः ।
नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः ॥ ९० ॥

'ये ऐसे प्रभावशाली मुनि हैं कि इनके आश्रममें कोई झूठ बोलनेवाला, क्रूर, शठ, नृशंस अथवा पापाचारी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता ॥ ९० ॥

अत्र देवाश्च यक्षाश्च नागाश्च पतगैः सह ।
वसन्ति नियताहारा धर्ममाराधयिष्णवः ॥ ९१ ॥

'यहाँ धर्मकी आराधना करनेके लिये देवता, यक्ष, नाग और पक्षी नियमित आहार करते हुए निवास करते हैं ॥

अत्र सिद्धा महात्मानो विमानैः सूर्यसंनिभैः ।
त्यक्त्वा देहान् नवैर्देहैः स्वर्याताः परमर्षयः ॥ ९२ ॥

'इस आश्रमपर अपने शरीरोंको त्यागकर अनेकानेक सिद्ध, महात्मा, महर्षि नूतन शरीरोंके साथ सूर्यतुल्य तेजस्वी विमानोंद्वारा स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं ॥ ९२ ॥

यक्षत्वममरत्वं च राज्यानि विविधानि च ।
अत्र देवाः प्रयच्छन्ति भूतैराराधिताः शुभैः ॥ ९३ ॥

'यहाँ सत्कर्मपरायण प्राणियोंद्वारा आराधित हुए देवता उन्हें यक्षत्व, अमरत्व तथा नाना प्रकारके राज्य प्रदान करते हैं ॥ ९३ ॥

आगताः स्माश्रमपदं सौमित्रे प्रविशाग्रतः ।
निवेदयेह मां प्राप्तमृषये सह सीतया ॥ ९४ ॥

'सुमित्रानन्दन! अब हमलोग आश्रमपर आ पहुँचे। तुम पहले प्रवेश करो और महर्षियोंको सीताके साथ मेरे आगमनकी सूचना दो' ॥ ९४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

श्रीराम आदिका अगस्त्यके आश्रममें प्रवेश, अतिथि-सत्कार तथा मुनिकी ओरसे उन्हें दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंकी प्राप्ति

स प्रविश्याश्रमपदं लक्ष्मणो राघवानुजः ।
अगस्त्यशिष्यमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई लक्ष्मणने आश्रममें प्रवेश करके अगस्त्यजीके शिष्यसे भेंट की और उनसे यह बात कही—॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम ज्येष्ठस्तस्य सुतो बली ।
रामः प्राप्तो मुनिं द्रष्टुं भार्यया सह सीतया ॥ २ ॥

'मुने! अयोध्यामें जो दशरथ नामसे प्रसिद्ध राजा थे, उन्हींके ज्येष्ठ पुत्र महाबली श्रीरामचन्द्रजी अपनी पत्नी सीता-के साथ महर्षिका दर्शन करनेके लिये आये हैं ॥ २ ॥

लक्ष्मणो नाम तस्याहं भ्राता त्ववरजो हितः ।
अनुकूलश्च भक्तश्च यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ ३ ॥

'मैं उनका छोटा भाई, हितैषी और अनुकूल चलने-वाला भक्त हूँ। मेरा नाम लक्ष्मण है। सम्भव है यह नाम कभी आपके कानोंमें पड़ा हो ॥ ३ ॥

ते वयं वनमत्युग्रं प्रविष्टाः पितृशासनात् ।
द्रष्टुमिच्छामहे सर्वे भगवन्तं निवेद्यताम् ॥ ४ ॥

'हम सब लोग पिताकी आज्ञासे इस अत्यन्त भयंकर वनमें आये हैं और भगवान् अगस्त्य मुनिका दर्शन करना चाहते हैं। आप उनसे यह समाचार निवेदन कीजिये' ॥ ४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य तपोधनः ।
तथेत्युक्त्वाग्निशरणं प्रविवेश निवेदितुम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मणकी वह बात सुनकर उन तपोधनने 'बहुत अच्छा' कहकर महर्षिको समाचार देनेके लिये अग्निशालामें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

स प्रविश्य मुनिश्रेष्ठं तपसा दुष्प्रधर्षणम् ।
कृताञ्जलिरुवाचेदं रामागमनमञ्जसा ॥ ६ ॥
यथोक्तं लक्ष्मणेनैव शिष्योऽगस्त्यस्य सम्मतः ।

अग्निशालामें प्रवेश करके अगस्त्यके उस प्रिय शिष्यने जो अपनी तपस्याके प्रभावसे दूसरोंके लिये दुर्जय थे, उन मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यके पास जा हाथ जोड़ लक्ष्मणके कथनानुसार उन्हें श्रीरामचन्द्रजीके आगमनका समाचार शीघ्रतापूर्वक यों सुनाया—॥ ६½ ॥

पुत्रौ दशरथस्येमौ रामो लक्ष्मण एव च ॥ ७ ॥
प्रविष्टावाश्रमपदं सीतया सह भार्यया ।
द्रष्टुं भवन्तमायातौ शुश्रूषार्थमरिंदमौ ॥ ८ ॥
यदत्रानन्तरं तत् त्वमाज्ञापयितुमर्हसि ।

'महामुने! राजा दशरथके ये दो पुत्र श्रीराम और

लक्ष्मण आश्रममें पधारे हैं। श्रीराम अपनी धर्मपत्नी सीताके साथ हैं। वे दोनों शत्रुदमन वीर आपकी सेवाके उद्देश्यसे आपका दर्शन करनेके लिये आये हैं। अब इस विषयमें जो कुछ कहना या करना हो, इसके लिये आप मुझे आज्ञा दें' ॥ ७-८½ ॥

ततः शिष्यादुपश्रुत्य प्राप्तं रामं सलक्ष्मणम् ॥ ९ ॥
वैदेहीं च महाभागामिदं वचनमब्रवीत् ।

शिष्यसे लक्ष्मणसहित श्रीराम और महाभागा विदेहनन्दिनी सीताके शुभागमनका समाचार सुनकर महर्षिने इस प्रकार कहा—॥ ९½ ॥

दिष्ट्या रामश्चिरस्याद्य द्रष्टुं मां समुपागतः ॥ १० ॥
मनसा काङ्क्षितं ह्यस्य मयाप्यागमनं प्रति ।
गम्यतां सत्कृतो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ११ ॥
प्रवेश्यतां समीपं मे किमसौ न प्रवेशितः ।

'सौभाग्यकी बात है कि आज चिरकालके बाद श्रीरामचन्द्रजी स्वयं ही मुझसे मिलनेके लिये आ गये। मेरे मनमें भी बहुत दिनोंसे यह अभिलाषा थी कि वे एक बार मेरे आश्रमपर पधारते। जाओ, पत्नीसहित श्रीराम और लक्ष्मणको सत्कारपूर्वक आश्रमके भीतर मेरे समीप ले आओ। तुम अबतक उन्हें ले क्यों नहीं आये?' ॥

एवमुक्तस्तु मुनिना धर्मज्ञेन महात्मना ॥ १२ ॥
अभिवाद्याब्रवीच्छिष्यस्तथेति नियताञ्जलिः ।

धर्मज्ञ महात्मा अगस्त्य मुनिके ऐसा कहनेपर शिष्यने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और कहा—'बहुत अच्छा, अभी ले आता हूँ' ॥ १२½ ॥

तदा निष्क्रम्य सम्भ्रान्तः शिष्यो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १३ ॥
कोऽसौ रामो मुनिं द्रष्टुमेतु प्रविशतु स्वयम् ।

इसके बाद वह शिष्य आश्रमसे निकलकर शीघ्रतापूर्वक लक्ष्मणके पास गया और बोला—'श्रीरामचन्द्रजी कौन हैं? वे स्वयं आश्रममें प्रवेश करें और मुनिका दर्शन करनेके लिये चलें' ॥ १३½ ॥

ततो गत्वाऽऽश्रमपदं शिष्येण सह लक्ष्मणः ॥ १४ ॥
दर्शयामास काकुत्स्थं सीतां च जनकात्मजाम् ।

तब लक्ष्मणने शिष्यके साथ आश्रमके द्वारपर जाकर उसे श्रीरामचन्द्रजी तथा जनककिशोरी श्रीसीताका दर्शन कराया ॥ १४½ ॥

तं शिष्यः प्रश्रितं वाक्यमगस्त्यवचनं ब्रुवन् ॥ १५ ॥
प्रावेशयद् यथान्यायं सत्कारार्हं सुसत्कृतम् ।

शिष्यने बड़ी विनयके साथ महर्षि अगस्त्यकी कही हुई बात वहाँ दुहरायी और जो सत्कारके योग्य थे, उन श्रीरामका यथोचित रीतिसे भलीभाँति सत्कार करके वह उन्हें आश्रममें ले गया ॥ १५½ ॥

प्रविवेश ततो रामः सीतया सह लक्ष्मणः ॥ १६ ॥
प्रशान्तहरिणाकीर्णमाश्रमं ह्यवलोकयन् ।
स तत्र ब्रह्मणः स्थानमग्नेः स्थानं तथैव च ॥ १७ ॥

उस समय श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ आश्रममें प्रवेश किया। वह आश्रम शान्तभावसे रहनेवाले हरिणोंसे भरा हुआ था। आश्रमकी शोभा देखते हुए उन्होंने वहाँ ब्रह्माजीका स्थान और अग्निदेवका स्थान देखा ॥

विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः ।
सोमस्थानं भगस्थानं स्थानं कौबेरमेव च ॥ १८ ॥
धातुर्विधातुः स्थानं च वायोः स्थानं तथैव च ।
स्थानं च पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥ १९ ॥
स्थानं तथैव गायत्र्या वसूनां स्थानमेव च ।
स्थानं च नागराजस्य गरुडस्थानमेव च ॥ २० ॥
कार्तिकेयस्य च स्थानं धर्मस्थानं च पश्यति ।

फिर क्रमशः भगवान् विष्णु, महेन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, पाशधारी महात्मा वरुण, गायत्री, वसु, नागराज अनन्त, गरुड़, कार्तिकेय तथा धर्मराजके पृथक्-पृथक् स्थानका निरीक्षण किया ॥

ततः शिष्यैः परिवृतो मुनिरप्यभिनिष्पतत् ॥ २१ ॥
तं ददर्शाग्रतो रामो मुनीनां दीप्ततेजसाम् ।
अब्रवीद् वचनं वीरो लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ २२ ॥

इतनेहीमें मुनिवर अगस्त्य भी शिष्योंसे घिरे हुए अग्निशालासे बाहर निकले। वीर श्रीरामने मुनियोंके आगे-आगे आते हुए उद्दीप्त तेजस्वी अगस्त्यजीका दर्शन किया और अपनी शोभाका विस्तार करनेवाले लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—॥ २१-२२ ॥

बहिर्लक्ष्मण निष्क्रामत्यगस्त्यो भगवानृषिः ।
औदार्येणावगच्छामि निधानं तपसामिमम् ॥ २३ ॥

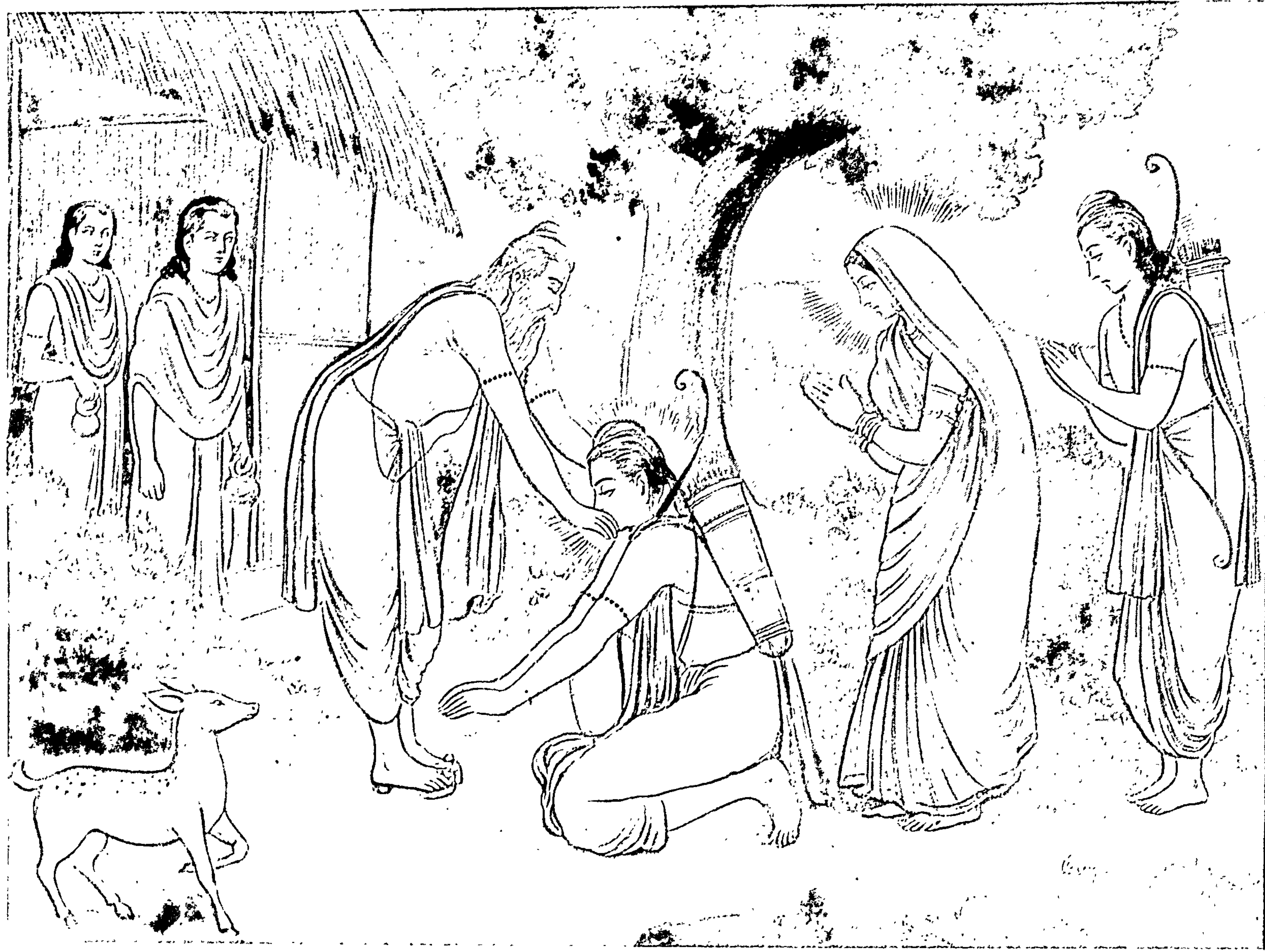
'लक्ष्मण! भगवान् अगस्त्य मुनि आश्रमसे बाहर निकल रहे हैं। ये तपस्याके निधि हैं। इनके विशिष्ट तेजके आधिक्यसे ही मुझे पता चलता है कि ये अगस्त्यजी हैं' ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरगस्त्यं सूर्यवर्चसम् ।
जग्राहापततस्तस्य पादौ च रघुनन्दनः ॥ २४ ॥

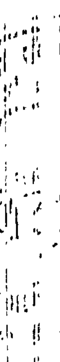
सूर्यतुल्य तेजस्वी महर्षि अगस्त्यके विषयमें ऐसा कहकर महाबाहु रघुनन्दनने सामनेसे आते हुए उन मुनीश्वरके दोनों चरण पकड़ लिये ॥ २४ ॥

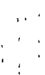
अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः ।
सीतया सह वैदेह्या तदा रामः सलक्ष्मणः ॥ २५ ॥

जिनमें योगियोंका मन रमण करता है अथवा जो भक्तोंको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं, वे धर्मात्मा श्रीराम उस समय विदेहकुमारी सीता और लक्ष्मणके साथ महर्षिके चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ २५ ॥



महर्षि अगस्त्यके द्वारा श्रीराम आदिका स्वागत





प्रतिगृह्य च काकुत्स्थमर्चयित्वाऽऽसनोदकैः।
कुशलप्रश्नमुक्त्वा च आस्यतामिति सोऽब्रवीत् ॥ २६ ॥

महर्षिने भगवान् श्रीरामको हृदयसे लगाया और आसन तथा जल (पाद्य, अर्घ्य आदि) देकर उनका आतिथ्य-सत्कार किया। फिर कुशल-समाचार पूछकर उन्हें बैठनेको कहा ॥ २६ ॥

अग्निं हुत्वा प्रदायार्घ्यमतिथीन् प्रतिपूज्य च।
वानप्रस्थेन धर्मेण स तेषां भोजनं ददौ ॥ २७ ॥

अगस्त्यजीने पहले अग्निमें आहुति दी, फिर वानप्रस्थधर्मके अनुसार अर्घ्य दे अतिथियोंका भलीभाँति पूजन करके उनके लिये भोजन दिया ॥ २७ ॥

प्रथमं चोपविश्याथ धर्मज्ञो मुनिपुङ्गवः।
उवाच राममासीनं प्राञ्जलिं धर्मकोविदम् ॥ २८ ॥
अग्निं हुत्वा प्रदायार्घ्यमतिथिं प्रतिपूजयेत्।
अन्यथा खलु काकुत्स्थ तपस्वी समुदाचरन्।
दुःसाक्षीव परे लोके स्वानि मांसानि भक्षयेत् ॥ २९ ॥

धर्मके ज्ञाता मुनिवर अगस्त्यजी पहले स्वयं बैठे, फिर धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजी हाथ जोड़कर आसनपर विराजमान हुए। इसके बाद महर्षिने उनसे कहा—'काकुत्स्थ! वानप्रस्थको चाहिये कि वह पहले अग्निको आहुति दे। तदनन्तर अर्घ्य देकर अतिथिका पूजन करे। जो तपस्वी इसके विपरीत आचरण करता है, उसे झूठी गवाही देनेवालेकी भाँति परलोकमें अपने ही शरीरका मांस खाना पड़ता है ॥ २८-२९ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथः।
पूजनीयश्च मान्यश्च भवान् प्राप्तः प्रियातिथिः ॥ ३० ॥

'आप सम्पूर्ण लोकके राजा, महारथी और धर्मका आचरण करनेवाले हैं तथा मेरे प्रिय अतिथिके रूपमें इस आश्रमपर पधारे हैं, अतएव आप हमलोगोंके माननीय एवं पूजनीय हैं' ॥ ३० ॥

एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैश्चान्यैश्च राघवम्।
पूजयित्वा यथाकामं ततोऽगस्त्यस्तमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

ऐसा कहकर महर्षि अगस्त्यने फल, मूल, फूल तथा अन्य उपकरणोंसे इच्छानुसार भगवान् श्रीरामका पूजन किया। तत्पश्चात् अगस्त्यजी उनसे इस प्रकार बोले— ॥ ३१ ॥

इदं दिव्यं महच्चापं हेमवज्रविभूषितम्।
वैष्णवं पुरुषव्याघ्र निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ ३२ ॥
अमोघः सूर्यसंकाशो ब्रह्मदत्तः शरोत्तमः।
दत्तौ मम महेन्द्रेण तूणी चाक्षय्यसायकौ ॥ ३३ ॥
सम्पूर्णौ निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पावकैः।
महाराजतकोशोऽयमसिर्हेमविभूषितः ॥ ३४ ॥

'पुरुषसिंह! यह महान् दिव्य धनुष विश्वकर्माजीने बनाया है। इसमें सुवर्ण और हीरे जड़े हैं। यह भगवान् विष्णुका दिया हुआ है तथा यह जो सूर्यके समान देदीप्यमान अमोघ उत्तम बाण है, ब्रह्माजीका दिया हुआ है। इनके सिवा इन्द्रने ये दो तरकस दिये हैं, जो तीखे तथा प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बाणोंसे सदा भरे रहते हैं, कभी खाली नहीं होते। साथ ही यह तलवार भी है जिसकी मूठमें सोना जड़ा हुआ है। इसकी म्यान भी सोनेकी ही बनी हुई है ॥ ३२-३४ ॥

अनेन धनुषा राम हत्वा संख्ये महासुरान्।
आजहार श्रियं दीप्तां पुरा विष्णुर्दिवौकसाम् ॥ ३५ ॥
तद्धनुस्तौ च तूणी च शरं खड्गं च मानद।
जयाय प्रतिगृह्णीष्व वज्रं वज्रधरो यथा ॥ ३६ ॥

'श्रीराम! पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने इसी धनुषसे युद्धमें बड़े-बड़े असुरोंका संहार करके देवताओंकी उद्दीप्त लक्ष्मीको उनके अधिकारसे लौटाया था। मानद! आप यह धनुष, ये दोनों तरकस, ये बाण और यह तलवार (राक्षसोंपर) विजय पानेके लिये ग्रहण कीजिये। ठीक उसी तरह, जैसे वज्रधारी इन्द्र वज्र ग्रहण करते हैं ॥'

एवमुक्त्वा महातेजाः समस्तं तद्वरायुधम्।
दत्त्वा रामाय भगवानगस्त्यः पुनरब्रवीत् ॥ ३७ ॥

ऐसा कहकर महान् तेजस्वी अगस्त्यने वे सभी श्रेष्ठ आयुध श्रीरामचन्द्रजीको सौंप दिये। तत्पश्चात् वे फिर बोले ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

महर्षि अगस्त्यका श्रीरामके प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट करके सीताकी प्रशंसा करना, श्रीरामके पूछनेपर उन्हें पञ्चवटीमें आश्रम बनाकर रहनेका आदेश देना तथा श्रीराम आदिका प्रस्थान

राम प्रीतोऽस्मि भद्रं ते परितुष्टोऽस्मि लक्ष्मण।
अभिवादयितुं यन्मां प्राप्तौ स्थः सह सीतया ॥ १ ॥

'श्रीराम! आपका कल्याण हो। मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ। लक्ष्मण! मैं तुमपर भी बहुत संतुष्ट हूँ।

दोनों भाई मुझे प्रणाम करनेके लिये जो सीताके साथ यहाँतक आये, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १ ॥

अध्वश्रमेण वां खेदो बाधते प्रचुरश्रमः ।
व्यक्तमुत्कण्ठते वापि मैथिली जनकात्मजा ॥ २ ॥

'रास्ता चलनेके परिश्रमसे आपलोगोंको बहुत थकावट हुई है । इसके कारण जो कष्ट हुआ है, वह आप दोनोंको पीड़ा दे रहा होगा । मिथिलेशकुमारी जानकी भी अपनी थकावट दूर करनेके लिये अधिक उत्कण्ठित है, यह बात स्पष्ट ही जान पड़ती है ॥ २ ॥

एषा च सुकुमारी च खेदैश्च न विमानिता ।
प्राज्यदोषं वनं प्राप्ता भर्तृस्नेहप्रचोदिता ॥ ३ ॥

'यह सुकुमारी है और इससे पहले इसे ऐसे दुःखोंका सामना नहीं करना पड़ा है । वनमें अनेक प्रकारके कष्ट होते हैं, फिर भी यह पतिप्रेमसे प्रेरित होकर यहाँ आयी है ॥ ३ ॥

यथैषा रमते राम इह सीता तथा कुरु ।
दुष्करं कृतवत्येषा वने त्वामभिगच्छती ॥ ४ ॥

'श्रीराम ! जिस प्रकार सीताका यहाँ मन लगे—जैसे भी यह प्रसन्न रहे, वही कार्य आप करें । वनमें आपके साथ आकर इसने दुष्कर कार्य किया है ॥ ४ ॥

एषा हि प्रकृतिः स्त्रीणामासृष्टे रघुनन्दन ।
समस्थमनुरज्यन्ते विषमस्थं त्यजन्ति च ॥ ५ ॥

'रघुनन्दन ! सृष्टिकालसे लेकर अबतक स्त्रियोंका प्रायः यही स्वभाव रहता आया है कि यदि पति सम अवस्थामें है अर्थात् धनधान्यसे सम्पन्न, स्वस्थ एवं सुखी है, तब तो वे उसमें अनुराग रखती हैं, परंतु यदि वह विषम अवस्थामें पड़ जाता है—दरिद्र एवं रोगी हो जाता है, तब उसे त्याग देती हैं ॥ ५ ॥

शतह्रदानां लोलत्वं शस्त्राणां तीक्ष्णतां तथा ।
गरुडानिलयोः शैघ्र्यमनुगच्छन्ति योषितः ॥ ६ ॥

'स्त्रियाँ विद्युत्की चपलता, शस्त्रोंकी तीक्ष्णता तथा गरुड एवं वायुकी तीव्र गतिका अनुसरण करती हैं ॥ ६ ॥

इयं तु भवतो भार्या दोषैरेतैर्विवर्जिता ।
श्लाघ्या च व्यपदेश्या च यथा देवीष्वरुन्धती ॥ ७ ॥

'आपकी यह धर्मपत्नी सीता इन सब दोषोंसे रहित है । स्पृहणीय एवं पतिव्रताओंमें उसी तरह अग्रगण्य है, जैसे देवियोंमें अरुन्धती ॥ ७ ॥

अलंकृतोऽयं देशश्च यत्र सौमित्रिणा सह ।
वैदेह्या चानया राम वत्स्यसि त्वमरिंदम ॥ ८ ॥

'शत्रुदमन श्रीराम ! आजसे इस देशकी शोभा बढ़ गयी, जहाँ सुमित्राकुमार लक्ष्मण और विदेहनन्दिनी सीताके साथ आप निवास करेंगे' ॥ ८ ॥

एवमुक्तस्तु मुनिना राघवः संयताञ्जलिः ।
उवाच प्रश्रितं वाक्यमृषिं दीप्तमिवानलम् ॥ ९ ॥

मुनिके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी उन महर्षिसे दोनों हाथ जोड़कर यह विनय-युक्त बात कही—॥ ९ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गवः ।
गुणैः सभ्रातृभार्यस्य गुरुर्नः परितुष्यति ॥ १० ॥

'भाई और पत्नीसहित जिसके अर्थात् मेरे गुणोंसे हमारे गुरुदेव मुनिवर अगस्त्यजी यदि संतुष्ट हो रहे हैं, तब तो मैं धन्य हूँ, मुझपर मुनीश्वरका महान् अनुग्रह है ॥ १० ॥

किं तु व्यादिश मे देशं सोदकं बहुकाननम् ।
यत्राश्रमपदं कृत्वा वसेयं निरतः सुखम् ॥ ११ ॥

'परंतु मुने ! अब आप मुझे ऐसा कोई स्थान बताइये जहाँ बहुत-से वन हों, जलकी भी सुविधा हो तथा जहाँ आश्रम बनाकर मैं सुखपूर्वक सानन्द निवास कर सकूँ' ॥ ११ ॥

ततोऽब्रवीन्मुनिश्रेष्ठः श्रुत्वा रामस्य भाषितम् ।
ध्यात्वा मुहूर्तं धर्मात्मा ततोवाच वचः शुभम् ॥ १२ ॥

श्रीरामका यह कथन सुनकर मुनिश्रेष्ठ धर्मात्मा अगस्त्यने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार किया । तदनन्तर वे यह शुभ वचन बोले—॥ १२ ॥

इतो द्वियोजने तात बहुमूलफलोदकः ।
देशो बहुमृगः श्रीमान् पञ्चवट्यभिविश्रुतः ॥ १३ ॥

'तात ! यहाँसे दो योजनकी दूरीपर पञ्चवटी नामसे विख्यात एक बहुत ही सुन्दर स्थान है, जहाँ बहुत-से मृग रहते हैं तथा फल-मूल और जलकी अधिक सुविधा है ॥ १३ ॥

तत्र गत्वाऽऽश्रमपदं कृत्वा सौमित्रिणा सह ।
रमस्व त्वं पितुर्वाक्यं यथोक्तमनुपालयन् ॥ १४ ॥

'वहीं जाकर लक्ष्मणके साथ आप आश्रम बनाइये और पिताकी यथोक्त आज्ञाका पालन करते हुए वहाँ सुखपूर्वक निवास कीजिये ॥ १४ ॥

विदितो ह्येष वृत्तान्तो मम सर्वस्तवानघ ।
तपसश्च प्रभावेण स्नेहाद् दशरथस्य च ॥ १५ ॥

'अनघ ! आपका और राजा दशरथका यह सारा वृत्तान्त मुझे अपनी तपस्याके प्रभावसे तथा आपके प्रति स्नेह होनेके कारण अच्छी तरह विदित है ॥ १५ ॥

हृदयस्थं च ते च्छन्दो विज्ञातं तपसा मया ।
इह वासं प्रतिज्ञाय मया सह तपोवने ॥ १६ ॥

'आपने तपोवनमें मेरे साथ रहनेकी और वनवासका शेष समय यहीं बितानेकी अभिलाषा प्रकट करके भी जो यहाँसे अन्यत्र रहने योग्य स्थानके विषयमें मुझसे पूछा है, इसमें आपका हार्दिक अभिप्राय क्या है ? यह मैंने अपने तपोबलसे

जान लिया है (आपने ऋषियोंकी रक्षाके लिये राक्षसोंके वध-की प्रतिज्ञा की है। इस प्रतिज्ञाका निर्वाह अन्यत्र रहनेसे ही हो सकता है; क्योंकि यहाँ राक्षसोंका आना-जाना नहीं होता) ॥ १६ ॥

अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पञ्चवटीमिति।
स हि रम्यो वनोद्देशो मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १७ ॥

'इसीलिये मैं आपसे कहता हूँ कि पञ्चवटीमें जाइये। वहाँकी वनस्थली बड़ी ही रमणीय है। वहाँ मिथिलेशकुमारी सीता आनन्दपूर्वक सब ओर विचरेंगी ॥ १७ ॥

स देशः श्लाघनीयश्च नातिदूरे च राघव।
गोदावर्याः समीपे च मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १८ ॥

'रघुनन्दन ! वह स्पृहणीय स्थान यहाँसे अधिक दूर नहीं है। गोदावरीके पास (उसीके तटपर) है, अतः मैथिलीका मन वहाँ खूब लगेगा ॥ १८ ॥

प्राज्यमूलफलैश्चैव नानाद्विजगणैर्युतः।
विविक्तश्च महाबाहो पुण्यो रम्यस्तथैव च ॥ १९ ॥

'महाबाहो ! वह स्थान प्रचुर फल-मूलोंसे सम्पन्न, भाँति-भाँतिके विहङ्गमोंसे सेवित, एकान्त, पवित्र और रमणीय है ॥ १९ ॥

भवानपि सदाचारः शक्तश्च परिरक्षणे।
अपि चात्र वसन् राम तापसान् पालयिष्यसि ॥ २० ॥

'श्रीराम ! आप भी सदाचारी और ऋषियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। अतः वहाँ रहकर तपस्वी मुनियोंका पालन कीजियेगा ॥ २० ॥

एतदालक्ष्यते वीर मधूकानां महावनम्।
उत्तरेणास्य गन्तव्यं न्यग्रोधमपि गच्छता ॥ २१ ॥
ततः स्थलमुपारुह्य पर्वतस्याविदूरतः।
ख्यातः पञ्चवटीत्येव नित्यपुष्पितकाननः ॥ २२ ॥

'वीर ! यह जो महुओंका विशाल वन दिखायी देता है, इसके उत्तरसे होकर जाना चाहिये। उस मार्गसे जाते हुए आपको आगे एक बरगदका वृक्ष मिलेगा। उससे आगे कुछ दूरतक ऊँचा मैदान है, उसे पार करनेके बाद एक पर्वत दिखायी देगा। उस पर्वतसे थोड़ी ही दूरपर पञ्चवटी नामसे प्रसिद्ध सुन्दर वन है, जो सदा फूलोंसे सुशोभित रहता है' ॥ २१-२२ ॥

अगस्त्येनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिणा सह।
सत्कृत्यामन्त्रयामास तमृषिं सत्यवादिनम् ॥ २३ ॥

महर्षि अगस्त्यके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामने उनका सत्कार करके उन सत्यवादी महर्षिसे वहाँ जानेकी आज्ञा माँगी ॥ २३ ॥

तौ तु तेनाभ्यनुज्ञातौ कृतपादाभिवन्दनौ।
तमाश्रमं पञ्चवटीं जग्मतुः सह सीतया ॥ २४ ॥

उनकी आज्ञा पाकर उन दोनों भाइयोंने उनके चरणोंकी वन्दना की और सीताके साथ वे पञ्चवटी नामक आश्रमकी ओर चले ॥ २४ ॥

गृहीतचापौ तु नराधिपात्मजौ
विषक्ततूणी समरेष्वकातरौ।
यथोपदिष्टेन पथा महर्षिणा
प्रजग्मतुः पञ्चवटीं समाहितौ ॥ २५ ॥

राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मणने पीठपर तरकस बाँध हाथमें धनुष ले लिये। वे दोनों भाई समराङ्गणोंमें कातरता दिखानेवाले नहीं थे। वे दोनों बन्धु महर्षिके बताये हुए मार्गसे बड़ी सावधानीके साथ पञ्चवटीकी ओर प्रस्थित हुए ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

पञ्चवटीके मार्गमें जटायुका मिलना और श्रीरामको अपना विस्तृत परिचय देना

अथ पञ्चवटीं गच्छन्नन्तरा रघुनन्दनः।
आससाद महाकायं गृध्रं भीमपराक्रमम् ॥ १ ॥

पञ्चवटी जाते समय बीचमें श्रीरामचन्द्रजीको एक विशालकाय गृध्र मिला, जो भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाला था ॥

तं दृष्ट्वा तौ महाभागौ वनस्थं रामलक्ष्मणौ।
मेनाते राक्षसं पक्षिं ब्रुवाणौ को भवानिति ॥ २ ॥

वनमें बैठे हुए उस विशाल पक्षीको देखकर महाभाग श्रीराम और लक्ष्मणने उसे राक्षस ही समझा और पूछा—'आप कौन हैं ?' ॥ २ ॥

ततो मधुरया वाचा सौम्यया प्रीणयन्निव।
उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः ॥ ३ ॥

तब उस पक्षीने बड़ी मधुर और कोमल वाणीमें उन्हें प्रसन्न करते हुए-से कहा—'बेटा ! मुझे अपने पिताका मित्र समझो' ॥ ३ ॥

स तं पितृसखं मत्वा पूजयामास राघवः।
स तस्य कुलमव्यग्रमथ पप्रच्छ नाम च ॥ ४ ॥

पिताका मित्र जानकर श्रीरामचन्द्रजीने गृध्रका आदर किया और शान्तभावसे उसका कुल एवं नाम पूछा ॥ ४ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा कुलमात्मानमेव च ।
आचचक्षे द्विजस्तस्मै सर्वभूतसमुद्भवम् ॥ ५ ॥

श्रीरामका यह प्रश्न सुनकर उस पक्षीने उन्हें अपने कुल और नामका परिचय देते हुए समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका क्रम ही बताना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

पूर्वकाले महाबाहो ये प्रजापतयोऽभवन् ।
तान् मे निगदतः सर्वानादितः शृणु राघव ॥ ६ ॥

'महाबाहु रघुनन्दन ! पूर्वकालमें जो-जो प्रजापति हो चुके हैं, उन सबका आदिसे ही वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ६ ॥

कर्दमः प्रथमस्तेषां विकृतस्तदनन्तरम् ।
शेषश्च संश्रयश्चैव बहुपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ ७ ॥

'उन प्रजापतियोंमें सबसे प्रथम कर्दम हुए । तदनन्तर दूसरे प्रजापतिका नाम विकृत हुआ, तीसरे शेष, चौथे संश्रय और पाँचवें प्रजापति पराक्रमी बहुपुत्र हुए ॥ ७ ॥

स्थाणुर्मरीचिरत्रिश्च क्रतुश्चैव महाबलः ।
पुलस्त्यश्चाङ्गिराश्चैव प्रचेताः पुलहस्तथा ॥ ८ ॥

'छठे स्थाणु, सातवें मरीचि, आठवें अत्रि, नवें महान् शक्तिशाली क्रतु, दसवें पुलस्त्य, ग्यारहवें अङ्गिरा, बारहवें प्रचेता (वरुण) और तेरहवें प्रजापति पुलह हुए ॥ ८ ॥

दक्षो विवस्वानपरोऽरिष्टनेमिश्च राघव ।
कश्यपश्च महातेजास्तेषामासीच्च पश्चिमः ॥ ९ ॥

'चौदहवें दक्ष, पंद्रहवें विवस्वान्, सोलहवें अरिष्टनेमि और सत्रहवें प्रजापति महातेजस्वी कश्यप हुए । रघुनन्दन ! यह कश्यपजी अन्तिम प्रजापति कहे गये हैं ॥ ९ ॥

प्रजापतेस्तु दक्षस्य बभूवुरिति विश्रुताः ।
षष्टिर्दुहितरो राम यशस्विन्यो महायशः ॥ १० ॥

'महायशस्वी श्रीराम ! प्रजापति दक्षके साठ यशस्विनी कन्याएँ हुईं, जो बहुत ही विख्यात थीं ॥ १० ॥

कश्यपः प्रतिजग्राह तासामष्टौ सुमध्यमाः ।
अदितिं च दितिं चैव दनूमपि च कालकाम् ॥ ११ ॥
ताम्रां क्रोधवशां चैव मनुं चाप्यनलामपि ।

उनमेंसे आठ सुन्दरी कन्याओंको प्रजापति कश्यपने पत्नीरूपमें ग्रहण किया । जिनके नाम इस प्रकार हैं—अदिति, दिति, दनु, कालका, ताम्रा, क्रोधवशा, मनु और अनला ॥ ११½ ॥

तास्तु कन्यास्ततः प्रीतः कश्यपः पुनरब्रवीत् ॥ १२ ॥
पुत्रांस्त्रैलोक्यभर्तॄन् वै जनयिष्यथ मत्समान् ।

तदनन्तर उन कन्याओंसे प्रसन्न होकर कश्यपजीने फिर उनसे कहा—'देवियो ! तुमलोग ऐसे पुत्रोंको जन्म दोगी, जो तीनों लोकोंका भरण-पोषण करनेमें समर्थ और मेरे समान तेजस्वी होंगे, ॥ १२½ ॥

अदितिस्तन्मना राम दितिश्च दनुरेव च ॥ १३ ॥
कालका च महाबाहो शेषास्त्वमनसोऽभवन् ।

'महाबाहु श्रीराम ! इनमेंसे अदिति, दिति, दनु और कालका—इन चारोंने कश्यपजीकी कही हुई बातको मनसे ग्रहण किया; परंतु शेष स्त्रियोंने उधर मन नहीं लगाया । उनके मनमें वैसा मनोरथ नहीं उत्पन्न हुआ ॥ १३½ ॥

अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिंदम ॥ १४ ॥
आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परंतप ।

'शत्रुओंका दमन करनेवाले रघुवीर ! अदितिके गर्भसे तैंतीस देवता उत्पन्न हुए—बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार । शत्रुओंको ताप देनेवाले श्रीराम ! ये ही तैंतीस देवता हैं ॥ १४½ ॥

दितिस्त्वजनयत् पुत्रान् दैत्यांस्तात यशस्विनः ॥ १५ ॥
तेषामियं वसुमती पुराऽऽसीत् सवनार्णवा ।

'तात ! दितिने दैत्य नामसे प्रसिद्ध यशस्वी पुत्रोंको जन्म दिया । पूर्वकालमें वन और समुद्रोंसहित सारी पृथिवी उन्हींके अधिकारमें थी ॥ १५½ ॥

दनुस्त्वजनयत् पुत्रमश्वग्रीवमरिंदम ॥ १६ ॥
नरकं कालकं चैव कालकापि व्यजायत ।

'शत्रुदमन ! दनुने अश्वग्रीव नामक पुत्रको उत्पन्न किया और कालकाने नरक एवं कालक नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया ॥ १६½ ॥

क्रौञ्चीं भासीं तथा श्येनीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम् ॥ १७ ॥
ताम्रा तु सुषुवे कन्याः पञ्चैता लोकविश्रुताः ।

'ताम्राने क्रौञ्ची, भासी, श्येनी, धृतराष्ट्री तथा शुकी—इन पाँच विश्वविख्यात कन्याओंको उत्पन्न किया ॥ १७½ ॥

उलूकाञ्जनयत् क्रौञ्ची भासी भासान् व्यजायत ॥ १८ ॥
श्येनी श्येनांश्च गृध्रांश्च व्यजायत सुतेजसः ।
धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

'इनमेंसे क्रौञ्चीने उल्लुओंको, भासीने भास नामक पक्षियोंको, श्येनीने परम तेजस्वी श्येनों (बाजों) और गीधोंको तथा धृतराष्ट्रीने सब प्रकारके हंसों और कलहंसोंको जन्म दिया ॥ १८-१९ ॥

चक्रवाकांश्च भद्रं ते विजज्ञे सापि भामिनी ।
शुकी नतां विजज्ञे तु नतायां विनता सुता ॥ २० ॥

'श्रीराम ! आपका कल्याण हो, उसी भामिनी धृत-

---

१. यद्यपि पुराणग्रन्थोंमें 'कश्यपाय त्रयोदश' इत्यादि वचनोंद्वारा कश्यपकी तेरह पत्नियोंका उल्लेख किया गया है, तथापि यहाँ जिस संतानपरम्पराका वर्णन करना है, उसमें इन आठोंका ही उपयोग है, इसलिये यहाँ आठकी ही संख्या दी गयी है ।

राष्ट्रीने चक्रवाक नामक पक्षियोंको भी उत्पन्न किया था। ताम्राकी सबसे छोटी पुत्री शुकीने नता नामवाली कन्याको जन्म दिया। नतासे विनता नामवाली पुत्री उत्पन्न हुई॥

दश क्रोधवशा राम विजज्ञेऽप्यात्मसम्भवाः।
मृगीं च मृगमन्दां च हरीं भद्रमदामपि॥ २१॥
मातङ्गीमथ शार्दूलीं श्वेतां च सुरभीं तथा।
सर्वलक्षणसम्पन्नां सुरसां कद्रुकामपि॥ २२॥

'श्रीराम! क्रोधवशाने अपने पेटसे दस कन्याओंको जन्म दिया। जिनके नाम हैं—मृगी, मृगमन्दा, हरी, भद्रमदा, मातङ्गी, शार्दूली, श्वेता, सुरभी, सर्वलक्षणसम्पन्ना सुरसा और कद्रुका॥ २१-२२॥

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्चमरास्तथा॥ २३॥

'नरेशोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! मृगीकी संतान सारे मृग हैं और मृगमन्दाके ऋक्ष, सृमर और चमर॥ २३॥

ततस्त्विरावतीं नाम जज्ञे भद्रमदा सुताम्।
तस्यास्त्वैरावतः पुत्रो लोकनाथो महागजः॥ २४॥

'भद्रमदाने इरावती नामक कन्याको जन्म दिया, जिसका पुत्र है ऐरावत नामक महान् गजराज, जो समस्त लोकोंको अभीष्ट है॥ २४॥

हर्यश्च हरयोऽपत्यं वानराश्च तपस्विनः।
गोलाङ्गूलाश्च शार्दूली व्याघ्रांश्चाजनयत् सुतान्॥ २५॥

'हरीकी संतानें हरि (सिंह) तथा तपस्वी (विचारशील) वानर तथा गोलांगूल (लंगूर) हैं। क्रोधवशाकी पुत्री शार्दूलीने व्याघ्र नामक पुत्र उत्पन्न किये॥ २५॥

मातङ्ग्यास्त्वथ मातङ्गा अपत्यं मनुजर्षभ।
दिशागजं तु काकुत्स्थ श्वेता व्यजनयत् सुतम्॥ २६॥

'नरश्रेष्ठ! मातङ्गीकी संतानें मातङ्ग (हाथी) हैं। काकुत्स्थ! श्वेताने अपने पुत्रके रूपमें एक दिग्गजको जन्म दिया॥ २६॥

ततो दुहितरौ राम सुरभिर्द्वे व्यजायत।
रोहिणीं नाम भद्रं ते गन्धर्वीं च यशस्विनीम्॥ २७॥

'श्रीराम! आपका भला हो! क्रोधवशाकी पुत्री सुरभी देवीने दो कन्याएँ उत्पन्न कीं—रोहिणी और यशस्विनी गन्धर्वी॥ २७॥

रोहिण्यजनयद् गावो गन्धर्वी वाजिनः सुतान्।
सुरसाजनयन्नागान् राम कद्रूश्च पन्नगान्॥ २८॥

'रोहिणीने गौओंको जन्म दिया और गन्धर्वीने घोड़ोंको ही पुत्ररूपमें प्रकट किया। श्रीराम! सुरसाने नागोंको और कद्रूने पन्नगोंको जन्म दिया॥ २८॥

मनुर्मनुष्याञ्जनयत् कश्यपस्य महात्मनः।
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्शूद्रांश्च मनुजर्षभ॥ २९॥

'नरश्रेष्ठ! महात्मा कश्यपकी पत्नी मनुने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातिवाले मनुष्योंको जन्म दिया॥ २९॥

मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा।
ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः॥ ३०॥

'मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए और हृदयसे क्षत्रिय। दोनों ऊरुओंसे वैश्योंका जन्म हुआ और दोनों पैरोंसे शूद्रोंका—ऐसी प्रसिद्धि है॥ ३०॥

सर्वान् पुण्यफलान् वृक्षाननलापि व्यजायत।
विनता च शुकीपौत्री कद्रूश्च सुरसास्वसा॥ ३१॥

'(कश्यपपत्नी) अनलाने पवित्र फलवाले समस्त वृक्षोंको जन्म दिया। कश्यपपत्नी ताम्राकी पुत्री जो शुकी थी, उसकी पौत्री विनता थी तथा कद्रू सुरसाकी बहिन (एवं क्रोधवशाकी पुत्री) कही गयी है॥ ३१॥

कद्रूर्नागसहस्रं तु विजज्ञे धरणीधरान्।
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च॥ ३२॥

'इनमेंसे कद्रूने एक सहस्र नागोंको उत्पन्न किया, जो इस पृथ्वीको धारण करनेवाले हैं तथा विनताके दो पुत्र हुए—गरुड़ और अरुण॥ ३२॥

तस्माज्जातोऽहमरुणात् सम्पातिश्च ममाग्रजः।
जटायुरिति मां विद्धि श्येनीपुत्रमरिंदम॥ ३३॥

'उन्हीं विनतानन्दन अरुणसे मैं तथा मेरे बड़े भाई सम्पाति उत्पन्न हुए। शत्रुदमन रघुवीर! आप मेरा नाम जटायु समझें। मैं श्येनीका पुत्र हूँ (ताम्राकी पुत्री जो श्येनी बतायी गयी है, उसीकी परम्परामें उत्पन्न हुई एक श्येनी मेरी माता हुई)॥ ३३॥

सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि।
इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससेवितम्।
सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे॥ ३४॥

'तात! यदि आप चाहें तो मैं यहाँ आपके निवासमें सहायक होऊँगा। यह दुर्गम वन मृगों तथा राक्षसोंसे सेवित है। लक्ष्मणसहित आप यदि अपनी पर्णशालासे कभी बाहर चले जायँ तो उस अवसरपर मैं देवी सीताकी रक्षा करूँगा॥'

जटायुषं तु प्रतिपूज्य राघवो
मुदा परिष्वज्य च संनतोऽभवत्।
पितुर्हि शुश्राव सखित्वमात्मवा-
ञ्जटायुषा संकथितं पुनः पुनः॥ ३५॥

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने जटायुका बड़ा सम्मान किया और प्रसन्नतापूर्वक उनके गले लगकर वे उनके सामने नतमस्तक हो गये। फिर पिताके साथ जिस प्रकार उनकी मित्रता

हुई थी; वह प्रसङ्ग मनस्वी श्रीरामने जटायुके मुखसे बारंबार सुना ॥ ३५ ॥

स तत्र सीतां परिदाय मैथिलीं
सहैव तेनातिबलेन पक्षिणा ।
जगाम तां पञ्चवटीं सलक्ष्मणो
रिपून् दिधक्षञ्शलभानिवानलः ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् वे मिथिलेशकुमारी सीताको उनके संरक्षणमें सौंपकर लक्ष्मण और उन अत्यन्त बलशाली पक्षी जटायुके साथ ही पञ्चवटीकी ओर ही चल दिये। श्रीरामचन्द्रजी मुनि-द्रोही राक्षसोंको शत्रु समझकर उन्हें उसी प्रकार दग्ध कर डालना चाहते थे, जैसे आग पतिङ्गोंको जलाकर भस्म कर देती है ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥



पञ्चदशः सर्गः

पञ्चवटीके रमणीय प्रदेशमें श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा सुन्दर पर्णशालाका निर्माण तथा उसमें सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका निवास

ततः पञ्चवटीं गत्वा नानाव्यालमृगायुताम् ।
उवाच लक्ष्मणं रामो भ्रातरं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥

नाना प्रकारके सर्पों, हिंसक जन्तुओं और मृगोंसे भरी हुई पञ्चवटीमें पहुँचकर श्रीरामने उद्दीप्त तेजवाले अपने भाई लक्ष्मणसे कहा— ॥ १ ॥

आगताः स्म यथोद्दिष्टं यं देशं मुनिरब्रवीत् ।
अयं पञ्चवटीदेशः सौम्य पुष्पितकाननः ॥ २ ॥

'सौम्य ! मुनिवर अगस्त्यने हमें जिस स्थानका परिचय दिया था, उनके तथाकथित स्थानमें हमलोग आ पहुँचे। यही पञ्चवटीका प्रदेश है। यहाँका वनप्रान्त पुष्पोंसे कैसी शोभा पा रहा है ॥ २ ॥

सर्वतश्चार्यतां दृष्टिः कानने निपुणो ह्यसि ।
आश्रमः कतरस्मिन् नो देशे भवति सम्मतः ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण ! तुम इस वनमें चारों ओर दृष्टि डालो; क्योंकि इस कार्यमें निपुण हो। देखकर यह निश्चय करो कि किस स्थानपर आश्रम बनाना हमारे लिये अच्छा होगा ॥ ३ ॥

रमते यत्र वैदेही त्वमहं चैव लक्ष्मण ।
तादृशो दृश्यतां देशः संनिकृष्टजलाशयः ॥ ४ ॥
वनरामण्यकं यत्र जलरामण्यकं तथा ।
संनिकृष्टं च यस्मिंस्तु समित्पुष्पकुशोदकम् ॥ ५ ॥

'लक्ष्मण ! तुम किसी ऐसे स्थानको ढूँढ़ निकालो, जहाँसे जलाशय निकट हो, जहाँ विदेहकुमारी सीताका मन लगे, जहाँ तुम और हम भी प्रसन्नतापूर्वक रह सकें, जहाँ वन और जल दोनोंका रमणीय दृश्य हो तथा जिस स्थानके आस-पास ही समिधा, फूल, कुश और जल मिलनेकी सुविधा हो' ॥ ४-५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताञ्जलिः ।
सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण दोनों हाथ जोड़कर सीताके सामने ही उन ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामसे इस प्रकार बोले— ॥ ६ ॥

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते ।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद ॥ ७ ॥

'काकुत्स्थ ! आपके रहते हुए मैं सदा पराधीन ही हूँ। मैं सैकड़ों या अनन्त वर्षोंतक आपकी आज्ञाके अधीन ही रहना चाहता हूँ; अतः आप स्वयं ही देखकर जो स्थान सुन्दर जान पड़े, वहाँ आश्रम बनानेके लिये मुझे आज्ञा दें—मुझसे कहें कि तुम अमुक स्थानपर आश्रम बनाओ' ॥ ७ ॥

सुप्रीतस्तेन वाक्येन लक्ष्मणस्य महाद्युतिः ।
विमृशन् रोचयामास देशं सर्वगुणान्वितम् ॥ ८ ॥
स तं रुचिरमाक्रम्य देशमाश्रमकर्मणि ।
हस्ते गृहीत्वा हस्तेन रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ९ ॥

लक्ष्मणके इस वचनसे अत्यन्त तेजस्वी भगवान् श्रीरामको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने स्वयं ही सोच-विचारकर एक ऐसा स्थान पसंद किया, जो सब प्रकारके उत्तम गुणोंसे सम्पन्न और आश्रम बनानेके योग्य था। उस सुन्दर स्थानपर आकर श्रीरामने लक्ष्मणका हाथ अपने हाथमें लेकर कहा— ॥ ८-९ ॥

अयं देशः समः श्रीमान् पुष्पितैस्तरुभिर्वृतः ।
इहाश्रमपदं रम्यं यथावत् कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥

'सुमित्रानन्दन ! यह स्थान समतल और सुन्दर है तथा फूले हुए वृक्षोंसे घिरा है। तुम्हें इसी स्थानपर यथोचित रूपसे एक रमणीय आश्रमका निर्माण करना चाहिये ॥ १० ॥

इयमादित्यसंकाशैः पद्मैः सुरभिगन्धिभिः ।
अदूरे दृश्यते रम्या पद्मिनी पद्मशोभिता ॥ ११ ॥

'यह पास ही सूर्यके समान उज्ज्वल कान्तिवाले मनोरम गन्धयुक्त कमलोंसे रमणीय प्रतीत होनेवाली तथा पद्मोंकी शोभासे सम्पन्न पुष्करिणी दिखायी देती है ॥

यथाख्यातमगस्त्येन मुनिना भावितात्मना ।
इयं गोदावरी रम्या पुष्पितैस्तरुभिर्वृता ॥ १२ ॥

'पवित्र अन्तःकरणवाले अगस्त्य मुनिने जिसके विषयमें कहा था, वह विकसित वृक्षावलियोंसे घिरी हुई रमणीय गोदावरी नदी यही है ॥ १२ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता ।
नातिदूरे न चासन्ने मृगयूथनिपीडिता ॥ १३ ॥

'इसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी विचर रहे हैं। चकवे इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं तथा पानी पीनेके लिये आये हुए मृगोंके झुंड इसके तटपर छाये रहते हैं। यह नदी इस स्थानसे न तो अधिक दूर है और न अत्यन्त निकट ही ॥ १३ ॥

मयूरनादिता रम्याः प्रांशवो बहुकन्दराः ।
दृश्यन्ते गिरयः सौम्य फुल्लैस्तरुभिरावृताः ॥ १४ ॥

'सौम्य ! यहाँ बहुत-सी कन्दराओंसे युक्त ऊँचे-ऊँचे पर्वत दिखायी दे रहे हैं, जहाँ मयूरोंकी मीठी बोली गूँज रही है। ये रमणीय पर्वत खिले हुए वृक्षोंसे व्याप्त हैं ॥

सौवर्णै राजतैस्ताम्रैर्देशे देशे तथा शुभैः ।
गवाक्षिता इवाभान्ति गजाः परमभक्तिभिः ॥ १५ ॥

स्थान-स्थानपर सोने, चाँदी तथा ताँबेके समान रंगवाले सुन्दर गैरिक धातुओंसे उपलक्षित ये पर्वत ऐसे प्रतीत हो रहे हैं, मानो झरोखेके आकारमें की गयी नीले, पीले और सफेद आदि रंगोंकी उत्तम शृङ्गाररचनाओंसे अलंकृत हाथी शोभा पा रहे हों ॥ १५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च खर्जूरैः पनसैर्द्रुमैः ।
नीवारैस्तिनिशैश्चैव पुन्नागैश्चोपशोभिताः ॥ १६ ॥
चूतैरशोकैस्तिलकैः केतकैरपि चम्पकैः ।
पुष्पगुल्मलतोपेतैस्तैस्तैस्तरुभिरावृताः ॥ १७ ॥
स्यन्दनैश्चन्दनैर्नीपैः पर्णासैर्लकुचैरपि ।
धवाश्वकर्णखदिरैः शमीकिंशुकपाटलैः ॥ १८ ॥

पुष्पों, गुल्मों तथा लता-वल्लरियोंसे युक्त साल, ताल, तमाल, खजूर, कटहल, जलकदम्ब, तिनिश, पुंनाग, आम, अशोक, तिलक, केवड़ा, चम्पा, स्यन्दन, चन्दन, कदम्ब, पर्णास, लकुच, धव, अश्वकर्ण, खैर, शमी, पलाश और पाटल (पाडर) आदि वृक्षोंसे घिरे हुए ये पर्वत बड़ी शोभा पा रहे हैं ॥ १६–१८ ॥

इदं पुण्यमिदं रम्यमिदं बहुमृगद्विजम् ।
इह वत्स्याम सौमित्रे सार्धमेतेन पक्षिणा ॥ १९ ॥

'सुमित्रानन्दन ! यह बहुत ही पवित्र और बड़ा रमणीय स्थान है। यहाँ बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते हैं। हमलोग भी यहीं इन पक्षिराज जटायुके साथ रहेंगे' ॥१९॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः परवीरहा ।
अचिरेणाश्रमं भ्रातुश्चकार सुमहाबलः ॥ २० ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाबली लक्ष्मणने भाईके लिये शीघ्र ही आश्रम बनाकर तैयार किया ॥ २० ॥

पर्णशालां सुविपुलां तत्र संघातमृत्तिकाम् ।
सुस्तम्भां मस्करैर्दीर्घैः कृतवंशां सुशोभनाम् ॥ २१ ॥
शमीशाखाभिरास्तीर्य दृढपाशावपाशिताम् ।
कुशकाशशरैः पर्णैः सुपरिच्छादितां तथा ॥ २२ ॥
समीकृततलां रम्यां चकार सुमहाबलः ।
निवासं राघवस्यार्थे प्रेक्षणीयमनुत्तमम् ॥ २३ ॥

वह आश्रम एक अत्यन्त विस्तृत पर्णशालाके रूपमें बनाया गया था। महाबली लक्ष्मणने पहले वहाँ मिट्टी एकत्र करके दीवार खड़ी की, फिर उसमें सुन्दर एवं सुदृढ़ खम्भे लगाये। खम्भोंके ऊपर बड़े-बड़े बाँस तिरछे करके रखे। बाँसोंके रख दिये जानेपर वह कुटी बड़ी सुन्दर दिखायी देने लगी। फिर उन बाँसोंपर उन्होंने शमीवृक्षकी शाखाएँ फैला दीं और उन्हें मजबूत रस्सियोंसे कसकर बाँध दिया। इसके बाद ऊपरसे कुश, कास, सरकंडे और पत्ते बिछाकर उस पर्णशालाको भलीभाँति छा दिया तथा नीचेकी भूमिको बराबर करके उस कुटीको बड़ा रमणीय बना दिया। इस प्रकार लक्ष्मणने श्रीरामचन्द्रजीके लिये परम उत्तम निवासगृह बना दिया, जो देखने ही योग्य था ॥ २१–२३ ॥

स गत्वा लक्ष्मणः श्रीमान् नदीं गोदावरीं तदा ।
स्नात्वा पद्मानि चादाय सफलः पुनरागतः ॥ २४ ॥

उसे तैयार करके श्रीमान् लक्ष्मणने गोदावरी नदीके तटपर जाकर तत्काल उसमें स्नान किया और कमलके फूल तथा फल लेकर वे फिर वहीं लौट आये ॥ २४ ॥

ततः पुष्पबलिं कृत्वा शान्तिं च स यथाविधि ।
दर्शयामास रामाय तदाश्रमपदं कृतम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर शास्त्रीय विधिके अनुसार देवताओंके लिये फूलोंकी बलि (उपहारसामग्री) अर्पित की तथा वास्तुशान्ति करके उन्होंने अपना बनाया हुआ आश्रम श्रीरामचन्द्रजीको दिखाया ॥ २५ ॥

स तं दृष्ट्वा कृतं सौम्यमाश्रमं सह सीतया ।
राघवः पर्णशालायां हर्षमाहारयत् परम् ॥ २६ ॥

भगवान् श्रीराम सीताके साथ उस नये बने हुए सुन्दर

आश्रमको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और कुछ कालतक उसके भीतर खड़े रहे ॥ २६ ॥

सुसंहृष्टः परिष्वज्य बाहुभ्यां लक्ष्मणं तदा।
अतिस्निग्धं च गाढं च वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् अत्यन्त हर्षमें भरकर उन्होंने दोनों भुजाओंसे लक्ष्मणको कसकर हृदयसे लगा लिया और बड़े स्नेहके साथ यह बात कही—॥ २७ ॥

प्रीतोऽस्मि ते महत् कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो।
प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गो मया कृतः ॥ २८ ॥

'सामर्थ्यशाली लक्ष्मण ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने यह महान् कार्य किया है। उसके लिये और कोई समुचित पुरस्कार न होनेसे मैंने तुम्हें गाढ़ आलिङ्गन प्रदान किया है ॥ २८ ॥

भावज्ञेन कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण।
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः पिता मम ॥ २९ ॥

'लक्ष्मण ! तुम मेरे मनोभावको तत्काल समझ लेनेवाले, कृतज्ञ और धर्मज्ञ हो। तुम-जैसे पुत्रके कारण मेरे धर्मात्मा पिता अभी मरे नहीं हैं—तुम्हारे रूपमें वे अब भी जीवित ही हैं' ॥ २९ ॥

एवं लक्ष्मणमुक्त्वा तु राघवो लक्ष्मिवर्धनः।
तस्मिन् देशे बहुफले न्यवसत् स सुखं सुखी ॥ ३० ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर अपनी शोभाका विस्तार करनेवाले सुखी श्रीरामचन्द्रजी प्रचुर फलोंसे सम्पन्न उस पञ्चवटी-प्रदेशमें सबके साथ सुखपूर्वक रहने लगे ॥

कंचित् कालं स धर्मात्मा सीतया लक्ष्मणेन च।
अन्वास्यमानो न्यवसत् स्वर्गलोके यथामरः ॥ ३१ ॥

सीता और लक्ष्मणसे सेवित हो धर्मात्मा श्रीराम कुछ कालतक वहाँ उसी प्रकार रहे, जैसे स्वर्गलोकमें देवता निवास करते हैं ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

लक्ष्मणके द्वारा हेमन्त ऋतुका वर्णन और भरतकी प्रशंसा तथा श्रीरामका उन दोनोंके साथ गोदावरी नदीमें स्नान

वसतस्तस्य तु सुखं राघवस्य महात्मनः।
शरद्व्यपाये हेमन्तऋतुरिष्टः प्रवर्तत ॥ १ ॥

महात्मा श्रीरामको उस आश्रममें रहते हुए शरद्-ऋतु बीत गयी और प्रिय हेमन्तका आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

स कदाचित् प्रभातायां शर्वर्यां रघुनन्दनः।
प्रययावभिषेकार्थं रम्यां गोदावरीं नदीम् ॥ २ ॥

एक दिन प्रातःकाल रघुकुलनन्दन श्रीराम स्नान करनेके लिये परम रमणीय गोदावरी नदीके तटपर गये ॥

प्रह्वः कलशहस्तस्तु सीतया सह वीर्यवान्।
पृष्ठतोऽनुव्रजन् भ्राता सौमित्रिरिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी, जो बड़े ही विनीत और पराक्रमी थे, सीताके साथ-साथ हाथमें घड़ा लिये उनके पीछे-पीछे गये। जाते-जाते वे श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार बोले—॥ ३ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः प्रियो यस्ते प्रियंवद।
अलंकृत इवाभाति येन संवत्सरः शुभः ॥ ४ ॥

'प्रिय वचन बोलनेवाले भैया श्रीराम ! यह वही हेमन्त-काल आ पहुँचा है, जो आपको अधिक प्रिय है और जिससे यह शुभ संवत्सर अलंकृत-सा प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

नीहारपरुषो लोकः पृथिवी सस्यमालिनी।
जलान्यनुपभोग्यानि सुभगो हव्यवाहनः ॥ ५ ॥

'इस ऋतुमें अधिक ठण्डक या पालेके कारण लोगोंका शरीर रूखा हो जाता है। पृथ्वीपर रबीकी खेती लहलहाने लगती है। जल अधिक शीतल होनेके कारण पीनेके योग्य नहीं रहता और आग बड़ी प्रिय लगती है ॥ ५ ॥

नवाग्रयणपूजाभिरभ्यर्च्य पितृदेवताः।
कृताग्रयणकाः काले सन्तो विगतकल्मषाः ॥ ६ ॥

'नवसस्येष्टि कर्मके अनुष्ठानकी इस वेलामें नूतन अन्न ग्रहण करनेके लिये की गयी आग्रयणकर्मरूप पूजाओंद्वारा देवताओं तथा पितरोंको संतुष्ट करके उक्त आग्रयणकर्मका सम्पादन करनेवाले सत्पुरुष निष्पाप हो गये हैं ॥ ६ ॥

प्राज्यकामा जनपदाः सम्पन्नतरगोरसाः।
विचरन्ति महीपाला यात्रार्थं विजिगीषवः ॥ ७ ॥

'इस ऋतुमें प्रायः सभी जनपदोंके निवासियोंकी अन्न-प्राप्तिविषयक कामनाएँ प्रचुररूपसे पूर्ण हो जाती हैं। गोरसकी भी बहुतायत होती है तथा विजयकी इच्छा रखनेवाले भूपाल-गण युद्ध-यात्राके लिये विचरते रहते हैं ॥ ७ ॥

सेवमाने दृढं सूर्ये दिशमन्तकसेविताम्।
विहीनतिलकेव स्त्री नोत्तरा दिक् प्रकाशते ॥ ८ ॥

'सूर्यदेव इन दिनों यमसेवित दक्षिणदिशाका दृढ़तापूर्वक सेवन करने लगे हैं। इसलिये उत्तरदिशा सिंदूरविन्दुसे वञ्चित हुई नारीकी भाँति सुशोभित या प्रकाशित नहीं हो रही है ॥ ८ ॥

प्रकृत्या हिमकोशाढ्यो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम्।
यथार्थनामा सुव्यक्तं हिमवान् हिमवान् गिरिः॥ ९ ॥

'हिमालयपर्वत तो स्वभावसे ही घनीभूत हिमके खजानेसे भरा-पूरा होता है, परंतु इस समय सूर्यदेव भी दक्षिणायनमें चले जानेके कारण उससे दूर हो गये हैं; अतः अब अधिक हिमके संचयसे सम्पन्न होकर हिमवान् गिरि स्पष्ट ही अपने नामको सार्थक कर रहा है ॥ ९ ॥

अत्यन्तसुखसंचारा मध्याह्ने स्पर्शतः सुखाः।
दिवसाः सुभगादित्याश्छायासलिलदुर्भगाः॥ १० ॥

'मध्याह्नकालमें धूपका स्पर्श होनेसे हेमन्तके सुखमय दिन अत्यन्त सुखसे इधर-उधर विचरनेके योग्य होते हैं। इन दिनों सुसेव्य होनेके कारण सूर्यदेव सौभाग्यशाली जान पड़ते हैं और सेवनके योग्य न होनेके कारण छाँह तथा जल अभागे प्रतीत होते हैं ॥ १० ॥

मृदुसूर्याः सनीहाराः पटुशीताः समारुताः।
शून्यारण्या हिमध्वस्ता दिवसा भान्ति साम्प्रतम्॥ ११ ॥

'आजकलके दिन ऐसे हैं कि सूर्यकी किरणोंका स्पर्श कोमल (प्रिय) जान पड़ता है। कुहासे अधिक पड़ते हैं, सरदी सबल होती है, कड़ाकेका जाड़ा पड़ने लगता है। साथ ही ठण्डी हवा चलती रहती है। पाला पड़नेसे पत्तोंके झड़ जानेके कारण जंगल सूने दिखायी देते हैं और हिमके स्पर्शसे कमल गल जाते हैं ॥ ११ ॥

निवृत्ताकाशशयनाः पुष्यनीता हिमारुणाः।
शीतवृद्धतरायामास्त्रियामा यान्ति साम्प्रतम्॥ १२ ॥

'इस हेमन्तकालमें रातें बड़ी होने लगती हैं। इनमें सरदी बहुत बढ़ जाती है। खुले आकाशमें कोई नहीं सोते हैं। पौषमासकी ये रातें हिमपातके कारण धूसर प्रतीत होती हैं ॥

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारारुणमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥ १३ ॥

'हेमन्तकालमें चन्द्रमाका सौभाग्य सूर्यदेवमें चला गया है (चन्द्रमा सरदीके कारण असेव्य और सूर्य मन्दरश्मि होनेके कारण सेव्य हो गये हैं)। चन्द्रमण्डल हिमकणोंसे आच्छन्न होकर धूमिल जान पड़ता है; अतः चन्द्रदेव निःश्वासवायुसे मलिन हुए दर्पणकी भाँति प्रकाशित नहीं हो रहे हैं ॥ १३ ॥

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न च शोभते॥ १४ ॥

'इन दिनों पूर्णिमाकी चाँदनी रात भी तुहिन-बिन्दुओंसे मलिन दिखायी देती है—प्रकाशित नहीं होती है। ठीक उसी तरह, जैसे सीता अधिक धूप लगनेसे साँवली-सी दीखती है—पूर्ववत् शोभा नहीं पाती ॥ १४ ॥

प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम्।
प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः॥ १५ ॥

'स्वभावसे ही जिसका स्पर्श शीतल है, वह पछुआ हवा इस समय हिमकणोंसे व्याप्त हो जानेके कारण दूनी सरदी लेकर बड़े वेगसे बह रही है ॥ १५ ॥

बाष्पच्छन्नान्यरण्यानि यवगोधूमवन्ति च।
शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्ये नदद्भिः क्रौञ्चसारसैः॥ १६ ॥

'जौ और गेहूँके खेतोंसे युक्त ये बहुसंख्यक वन भापसे ढँके हुए हैं तथा क्रौञ्च और सारस इनमें कलरव कर रहे हैं। सूर्योदयकालमें इन वनोंकी बड़ी शोभा हो रही है ॥ १६ ॥

खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः।
शोभन्ते किंचिदालम्बाः शालयः कनकप्रभाः॥ १७ ॥

'ये सुनहरे रंगके जड़हन धान खजूरके फूलके-से आकारवाली बालोंसे, जिनमें चावल भरे हुए हैं, कुछ लटक गये हैं। इन बालोंके कारण इनकी बड़ी शोभा होती है ॥ १७ ॥

मयूखैरुपसर्पद्भिर्हिमनीहारसंवृतैः।
दूरमभ्युदितः सूर्यः शशाङ्क इव लक्ष्यते॥ १८ ॥

'कुहासेसे ढकी और फैलती हुई किरणोंसे उपलक्षित होनेवाले दूरोदित सूर्य चन्द्रमाके समान दिखायी देते हैं ॥

आग्राह्यवीर्यः पूर्वाह्णे मध्याह्ने स्पर्शतः सुखः।
संरक्तः किंचिदापाण्डुरातपः शोभते क्षितौ॥ १९ ॥

'इस समय अधिक लाल और कुछ-कुछ श्वेत पीत वर्णकी धूप पृथ्वीपर फैलकर शोभा पा रही है। पूर्वाह्णकालमें तो कुछ इसका बल जान ही नहीं पड़ता है, परंतु मध्याह्नकालमें इसके स्पर्शसे सुखका अनुभव होता है ॥ १९ ॥

अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥ २० ॥

'ओसकी बूँदें पड़नेसे जहाँकी घासें कुछ-कुछ भीगी हुई जान पड़ती हैं, वह वनभूमि नवोदित सूर्यकी धूपका प्रवेश होनेसे अद्भुत शोभा पा रही है ॥ २० ॥

स्पृशन् सुविपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥ २१ ॥

'यह जंगली हाथी बहुत प्यासा हुआ है। यह सुखपूर्वक प्यास बुझानेके लिये अत्यन्त शीतल जलका स्पर्श तो करता है, किंतु उसकी ठंडक असह्य होनेके कारण अपनी सूँड़को तुरंत ही सिकोड़ लेता है ॥ २१ ॥

एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः।
नावगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम्॥ २२॥

'ये जलचर पक्षी जलके पास ही बैठे हैं; परंतु जैसे डरपोक मनुष्य युद्धभूमिमें प्रवेश नहीं करते हैं, उसी प्रकार ये पानीमें नहीं उतर रहे हैं॥ २२॥

अवश्यायतमोनद्धा नीहारतमसावृताः।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः॥ २३॥

'रातमें ओसबिन्दुओं और अन्धकारसे आच्छादित तथा प्रातःकाल कुहासेके अँधेरेसे ढकी हुई ये पुष्पहीन वन-श्रेणियाँ सोयी हुई-सी दिखायी देती हैं॥ २३॥

बाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम्॥ २४॥

'इस समय नदियोंके जल भापसे ढके हुए हैं। इनमें विचरनेवाले सारस केवल अपने कलरवोंसे पहचाने जाते हैं तथा ये सरिताएँ भी ओससे भीगी हुई बालूवाले अपने तटोंसे ही प्रकाशमें आती हैं (जलसे नहीं)॥ २४॥

तुषारपतनाच्चैव मृदुत्वाद् भास्करस्य च।
शैत्यादगाग्रस्थमपि प्रायेण रसवज्जलम्॥ २५॥

'बर्फ पड़नेसे और सूर्यकी किरणोंके मन्द होनेसे अधिक सर्दीके कारण इन दिनों पर्वतके शिखरपर पड़ा हुआ जल भी प्रायः स्वादिष्ट प्रतीत होता है॥ २५॥

जराजर्जरितैः पत्रैः शीर्णकेसरकर्णिकैः।
नालशेषा हिमध्वस्ता न भान्ति कमलाकराः॥ २६॥

'जो पुराने पड़ जानेके कारण जर्जर हो गये हैं, जिनकी कर्णिका और केसर जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं, ऐसे दलोंसे उपलक्षित होनेवाले कमलोंके समूह पाला पड़नेसे गल गये हैं। उनमें डंठलमात्र शेष रह गये हैं। इसीलिये उनकी शोभा नष्ट हो गयी है॥ २६॥

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे॥ २७॥

'पुरुषसिंह श्रीराम! इस समय धर्मात्मा भरत आपके लिये बहुत दुखी हैं और आपमें भक्ति रखते हुए नगरमें ही तपस्या कर रहे हैं॥ २७॥

त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून्।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले॥ २८॥

'वे राज्य, मान तथा नाना प्रकारके बहुसंख्यक भोगोंका परित्याग करके तपस्यामें संलग्न हैं एवं नियमित आहार करते हुए इस शीतल महीतलपर बिना बिस्तरके ही शयन करते हैं॥ २८॥

सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम्॥ २९॥

'निश्चय ही भरत भी इसी वेलामें स्नानके लिये उद्यत हो मन्त्री एवं प्रजाजनोंके साथ प्रतिदिन सरयू नदीके तटपर जाते होंगे॥ २९॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते॥ ३०॥

'अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार भरत जाड़ेका कष्ट सहते हुए रातके पिछले पहरमें कैसे सरयूजीके जलमें डुबकी लगाते होंगे॥ ३०॥

पद्मपत्रेक्षणः श्यामः श्रीमान् निरुदरो महान्।
धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेधो जितेन्द्रियः॥ ३१॥
प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुररिंदमः।
संत्यज्य विविधान् सौख्यानार्यं सर्वात्मना श्रितः॥ ३२॥

'जिनके नेत्र कमलदलके समान शोभा पाते हैं, जिनकी अङ्गकान्ति श्याम है और जिनके उदरका कुछ पता ही नहीं लगता है, ऐसे महान् धर्मज्ञ, सत्यवादी, लज्जाशील, जितेन्द्रिय, प्रिय वचन बोलनेवाले, मृदुलस्वभाववाले महाबाहु शत्रुदमन श्रीमान् भरतने नाना प्रकारके सुखोंको त्यागकर सर्वथा आपका ही आश्रय ग्रहण किया है॥ ३१-३२॥

जितः स्वर्गस्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते॥ ३३॥

'आपके भाई महात्मा भरतने निश्चय ही स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर ली है; क्योंकि वे भी तपस्यामें स्थित होकर आपके वनवासी जीवनका अनुसरण कर रहे हैं॥ ३३॥

न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा इति।
ख्यातो लोकप्रवादोऽयं भरतेनान्यथा कृतः॥ ३४॥

'मनुष्य प्रायः माताके गुणोंका ही अनुवर्तन करते हैं, पिताके नहीं; इस लौकिक उक्तिको भरतने अपने बर्तावसे मिथ्या प्रमाणित कर दिया है॥ ३४॥

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी॥ ३५॥

'महाराज दशरथ जिसके पति हैं और भरत-जैसा साधु जिसका पुत्र है, वह माता कैकेयी वैसी क्रूरतापूर्ण दृष्टिवाली कैसे हो गयी?'॥ ३५॥

इत्येवं लक्ष्मणे वाक्यं स्नेहाद् वदति धार्मिके।
परिवादं जनन्यास्तमसहन् राघवोऽब्रवीत्॥ ३६॥

धर्मपरायण लक्ष्मण जब स्नेहवश इस प्रकार कह रहे थे, उस समय श्रीरामचन्द्रजीसे माता कैकेयीकी निन्दा नहीं सही गयी। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—॥ ३६॥

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥ ३७॥

'तात! तुम्हें मझली माता कैकेयीकी कभी निन्दा नहीं

करनी चाहिये। (यदि कुछ कहना हो तो) पहलेकी भाँति इक्ष्वाकुवंशके स्वामी भरतकी ही चर्चा करो ॥ ३७ ॥

निश्चितैव हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता।
भरतस्नेहसंतप्ता बालिशीक्रियते पुनः ॥ ३८ ॥

'यद्यपि मेरी बुद्धि दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए वनमें रहनेका अटल निश्चय कर चुकी है, तथापि भरतके स्नेहसे संतप्त होकर पुनः चञ्चल हो उठती है ॥ ३८ ॥

संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च।
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रह्लादनानि च ॥ ३९ ॥

'मुझे भरतकी वे परम प्रिय, मधुर, मनको भानेवाली और अमृतके समान हृदयको आह्लाद प्रदान करनेवाली बातें याद आ रही हैं ॥ ३९ ॥

कदा ह्यहं समेष्यामि भरतेन महात्मना।
शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रघुनन्दन ॥ ४० ॥

'रघुकुलनन्दन लक्ष्मण! कब वह दिन आयेगा, जब मैं तुम्हारे साथ चलकर महात्मा भरत और वीरवर शत्रुघ्नसे मिलूँगा ॥ ४० ॥

इत्येवं विलपंस्तत्र प्राप्य गोदावरीं नदीम्।
चक्रेऽभिषेकं काकुत्स्थः सानुजः सह सीतया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए ककुत्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ गोदावरी नदीके तटपर जाकर स्नान किया ॥ ४१ ॥

तर्पयित्वाथ सलिलैस्तैः पितॄन् दैवतानपि।
स्तुवन्ति स्मोदितं सूर्यं देवताश्च तथानघाः ॥ ४२ ॥

वहाँ स्नान करके उन्होंने गोदावरीके जलसे देवताओं और पितरोंका तर्पण किया। तदनन्तर जब सूर्योदय हुआ, तब वे तीनों निष्पाप व्यक्ति भगवान् सूर्यका उपस्थान करके अन्य देवताओंकी भी स्तुति करने लगे ॥ ४२ ॥

कृताभिषेकः स रराज रामः
सीताद्वितीयः सह लक्ष्मणेन।
कृताभिषेकस्त्वगराजपुत्र्या
रुद्रः सनन्दिर्भगवानिवेशः ॥ ४३ ॥

सीता और लक्ष्मणके साथ स्नान करके भगवान् श्रीराम उसी प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे पर्वतराजपुत्री उमा और नन्दीके साथ गङ्गाजीमें अवगाहन करके भगवान् रुद्र सुशोभित होते हैं ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

श्रीरामके आश्रममें शूर्पणखाका आना, उनका परिचय जानना और अपना परिचय देकर उनसे अपनेको भार्याके रूपमें ग्रहण करनेके लिये अनुरोध करना

कृताभिषेको रामस्तु सीता सौमित्रिरेव च।
तस्माद् गोदावरीतीरात् ततो जग्मुः स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥

स्नान करके श्रीराम, लक्ष्मण और सीता तीनों ही उस गोदावरीतटसे अपने आश्रममें लौट आये ॥ १ ॥

आश्रमं तमुपागम्य राघवः सहलक्ष्मणः।
कृत्वा पौर्वाह्णिकं कर्म पर्णशालामुपागमत् ॥ २ ॥

उस आश्रममें आकर लक्ष्मणसहित श्रीरामने पूर्वाह्णकालके होम-पूजन आदि कार्य पूर्ण किये, फिर वे दोनों भाई पर्णशालामें आकर बैठे ॥ २ ॥

उवास सुखितस्तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः।
स रामः पर्णशालायामासीनः सह सीतया ॥ ३ ॥
विरराज महाबाहुश्चित्रया चन्द्रमा इव।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चकार विविधाः कथाः ॥ ४ ॥

वहाँ सीताके साथ वे सुखपूर्वक रहने लगे। उन दिनों बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आकर वहाँ उनका सत्कार करते थे। पर्णशालामें सीताके साथ बैठे हुए महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी चित्राके साथ विराजमान चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहे थे। वे अपने भाई लक्ष्मणके साथ वहाँ तरह-तरहकी बातें किया करते थे ॥ ३-४ ॥

तदासीनस्य रामस्य कथासंसक्तचेतसः।
तं देशं राक्षसी काचिदाजगाम यदृच्छया ॥ ५ ॥
सा तु शूर्पणखा नाम दशग्रीवस्य रक्षसः।
भगिनी राममासाद्य ददर्श त्रिदशोपमम् ॥ ६ ॥

उस समय जब कि श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ बातचीतमें लगे हुए थे, एक राक्षसी अकस्मात् उस स्थानपर आ पहुँची। वह दशमुख राक्षस रावणकी बहिन शूर्पणखा थी। उसने वहाँ आकर देवताओंके समान मनोहर रूपवाले श्रीरामचन्द्रजीको देखा ॥ ५-६ ॥

दीप्तास्यं च महाबाहुं पद्मपत्रायतेक्षणम्।
गजविक्रान्तगमनं जटामण्डलधारिणम् ॥ ७ ॥

उनका मुख तेजस्वी, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल एवं सुन्दर थे। वे हाथीके समान

मन्द गतिसे चलते थे। उन्होंने मस्तकपर जटामण्डल धारण कर रखा था ॥ ७ ॥

सुकुमारं महासत्त्वं पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्।
राममिन्दीवरश्यामं कंदर्पसदृशप्रभम् ॥ ८ ॥
बभूवेन्द्रोपमं दृष्ट्वा राक्षसी काममोहिता।

परम सुकुमार, महान् बलशाली, राजोचित लक्षणोंसे युक्त, नील कमलके समान श्याम कान्तिसे सुशोभित, कामदेवके सदृश सौन्दर्यशाली तथा इन्द्रके समान तेजस्वी श्रीरामको देखते ही वह राक्षसी कामसे मोहित हो गयी ॥ ८½ ॥

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं महोदरी ॥ ९ ॥
विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्धजा।
प्रियरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वना ॥ १० ॥

श्रीरामका मुख सुन्दर था और शूर्पणखाका मुख बहुत ही भद्दा एवं कुरूप था। उनका मध्य भाग (कटिप्रदेश और उदर) क्षीण था; किंतु शूर्पणखा बेडौल लंबे पेटवाली थी। श्रीरामकी आँखें बड़ी-बड़ी होनेके कारण मनोहर थीं, परंतु उस राक्षसीके नेत्र कुरूप और डरावने थे। श्रीरघुनाथजीके केश चिकने और सुन्दर थे, परंतु उस निशाचरीके सिरके बाल ताँबे-जैसे लाल थे। श्रीरामका रूप बड़ा प्यारा लगता था, किंतु शूर्पणखाका रूप बीभत्स और विकराल था। श्रीराघवेन्द्र मधुर स्वरमें बोलते थे, किंतु वह राक्षसी भैरवनाद करनेवाली थी ॥ ९-१० ॥

तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी।
न्यायवृत्तं सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना ॥ ११ ॥

ये देखनेमें सौम्य और नित्यनूतन तरुण थे, किंतु वह निशाचरी क्रूर और हजारों वर्षोंकी बुढ़िया थी। ये सरलतासे बात करनेवाले और उदार थे, किंतु उसकी बातोंमें कुटिलता भरी रहती थी। ये न्यायोचित सदाचारका पालन करनेवाले थे और वह अत्यन्त दुराचारिणी थी। श्रीराम देखनेमें प्यारे लगते थे और शूर्पणखाको देखते ही घृणा पैदा होती थी ॥ ११ ॥

शरीरजसमाविष्टा राक्षसी राममब्रवीत्।
जटी तापसवेषेण सभार्यः शरचापधृक् ॥ १२ ॥
आगतस्त्वमिमं देशं कथं राक्षससेवितम्।
किमागमनकृत्यं ते तत्त्वमाख्यातुमर्हसि ॥ १३ ॥

तो वह राक्षसी कामभावसे आविष्ट हो (मनोहर रूप बनाकर) श्रीरामके पास आयी और बोली—'तपस्वीके वेशमें मस्तकपर जटा धारण किये, साथमें स्त्रीको लिये और हाथमें धनुष-बाण ग्रहण किये, इस राक्षसोंके देशमें तुम कैसे चले आये? यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या प्रयोजन है? यह सब मुझे ठीक-ठीक बताओ' ॥ १२-१३ ॥

एवमुक्तस्तु राक्षस्या शूर्पणख्या परंतपः।
ऋजुबुद्धितया सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ १४ ॥

राक्षसी शूर्पणखाके इस प्रकार पूछनेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने अपने सरलस्वभावके कारण सब कुछ बताना आरम्भ किया— ॥ १४ ॥

आसीद् दशरथो नाम राजा त्रिदशविक्रमः।
तस्याहमग्रजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ॥ १५ ॥

'देवि! दशरथ नामसे प्रसिद्ध एक चक्रवर्ती राजा हो गये हैं, जो देवताओंके समान पराक्रमी थे। मैं उन्हींका ज्येष्ठ पुत्र हूँ और लोगोंमें राम-नामसे विख्यात हूँ ॥

भ्रातायं लक्ष्मणो नाम यवीयान् मामनुव्रतः।
इयं भार्या च वैदेही मम सीतेति विश्रुता ॥ १६ ॥

'ये मेरे छोटे भाई लक्ष्मण हैं, जो सदा मेरी आज्ञाके अधीन रहते हैं और ये मेरी पत्नी हैं, जो विदेहराज जनककी पुत्री तथा सीता-नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ १६ ॥

नियोगात् तु नरेन्द्रस्य पितुर्मातुश्च यन्त्रितः।
धर्मार्थं धर्मकाङ्क्षी च वनं वस्तुमिहागतः ॥ १७ ॥

'अपने पिता महाराज दशरथ और माता कैकेयीकी आज्ञासे प्रेरित होकर मैं धर्मपालनकी इच्छा रखकर धर्मरक्षाके ही उद्देश्यसे इस वनमें निवास करनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥ १७ ॥

त्वां तु वेदितुमिच्छामि कस्य त्वं कासि कस्य वा।
त्वं हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे ॥ १८ ॥
इह वा किंनिमित्तं त्वमागता ब्रूहि तत्त्वतः।

'अब मैं तुम्हारा परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। तुम किसकी पुत्री हो? तुम्हारा नाम क्या है? और तुम किसकी पत्नी हो? तुम्हारे अङ्ग इतने मनोहर हैं कि तुम मुझे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली कोई राक्षसी प्रतीत होती हो। यहाँ किस लिये तुम आयी हो? यह ठीक-ठीक बताओ' ॥

साब्रवीद् वचनं श्रुत्वा राक्षसी मदनार्दिता ॥ १९ ॥
श्रूयतां राम तत्त्वार्थं वक्ष्यामि वचनं मम।
अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर वह राक्षसी कामसे पीड़ित होकर बोली—'श्रीराम! मैं सब कुछ ठीक-ठीक बता रही हूँ। तुम मेरी बात सुनो। मेरा नाम शूर्पणखा है और मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी हूँ ॥ १९-२० ॥

अरण्यं विचरामीदमेका सर्वभयंकरा।
रावणो नाम मे भ्राता यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ २१ ॥

'मैं समस्त प्राणियोंके मनमें भय उत्पन्न करती हुई इस वनमें अकेली विचरती हूँ। मेरे भाईका नाम रावण है। सम्भव है, उसका नाम तुम्हारे कानोंतक पहुँचा हो ॥ २१ ॥

वीरो विश्रवसः पुत्रो यदि ते श्रोत्रमागतः ।
प्रवृद्धनिद्रश्च सदा कुम्भकर्णो महाबलः ॥ २२ ॥

'रावण विश्रवा मुनिका वीर पुत्र है, यह बात भी तुम्हारे सुननेमें आयी होगी। मेरा दूसरा भाई महाबली कुम्भकर्ण है, जिसकी निद्रा सदा ही बढ़ी रहती है ॥ २२ ॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः ।
प्रख्यातवीर्यौ च रणे भ्रातरौ खरदूषणौ ॥ २३ ॥

'मेरे तीसरे भाईका नाम विभीषण है, परंतु वह धर्मात्मा है, राक्षसोंके आचार-विचारका वह कभी पालन नहीं करता। युद्धमें जिनका पराक्रम विख्यात है, वे खर और दूषण भी मेरे भाई ही हैं ॥ २३ ॥

तानहं समतिक्रान्ता राम त्वा पूर्वदर्शनात् ।
समुपेतास्मि भावेन भर्तारं पुरुषोत्तमम् ॥ २४ ॥

'श्रीराम ! बल और पराक्रममें मैं अपने उन सभी भाइयोंसे बढ़कर हूँ। तुम्हारे प्रथम दर्शनसे ही मेरा मन तुममें आसक्त हो गया है। (अथवा तुम्हारा रूप-सौन्दर्य अपूर्व है। आजसे पहले देवताओंमें भी किसीका ऐसा रूप मेरे देखनेमें नहीं आया है; अतः इस अपूर्व रूपके दर्शनसे मैं तुम्हारे प्रति आकृष्ट हो गयी हूँ।) यही कारण है कि मैं तुम-जैसे पुरुषोत्तमके प्रति पतिकी भावना रखकर बड़े प्रेमसे पास आयी हूँ ॥ २४ ॥

अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी ।
चिराय भव भर्ता मे सीतया किं करिष्यसि ॥ २५ ॥

'मैं प्रभाव (उत्कृष्ट भाव—अनुराग अथवा महान् बल-पराक्रम) से सम्पन्न हूँ और अपनी इच्छा तथा शक्तिसे समस्त लोकोंमें विचरण कर सकती हूँ; अतः अब तुम दीर्घकालके लिये मेरे पति बन जाओ। इस अबला सीताको लेकर क्या करोगे ? ॥ २५ ॥

विकृता च विरूपा च न सेयं सदृशी तव ।
अहमेवानुरूपा ते भार्यारूपेण पश्य माम् ॥ २६ ॥

'यह विकारयुक्त और कुरूपा है, अतः तुम्हारे योग्य नहीं है। मैं ही तुम्हारे अनुरूप हूँ, अतः मुझे अपनी भार्याके रूपमें देखो ॥ २६ ॥

इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।
अनेन सह ते भ्रात्रा भक्षयिष्यामि मानुषीम् ॥ २७ ॥

'यह सीता मेरी दृष्टिमें कुरूप, ओछी, विकृत, धँसे हुए पेटवाली और मानवी है, मैं इसे तुम्हारे इस भाईके साथ ही खा जाऊँगी ॥ २७ ॥

ततः पर्वतशृङ्गाणि वनानि विविधानि च ।
पश्यन् सह मया कामी दण्डकान् विचरिष्यसि ॥ २८ ॥

'फिर तुम कामभावयुक्त हो मेरे साथ पर्वतीय शिखरों और नाना प्रकारके वनोंकी शोभा देखते हुए दण्डकवनमें विहार करना' ॥ २८ ॥

इत्येवमुक्तः काकुत्स्थः प्रहस्य मदिरेक्षणाम् ।
इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः ॥ २९ ॥

शूर्पणखाके ऐसा कहनेपर बातचीत करनेमें कुशल ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी जोर-जोरसे हँसने लगे, फिर उन्होंने उस मतवाले नेत्रोंवाली निशाचरीसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामके टाल देनेपर शूर्पणखाका लक्ष्मणसे प्रणययाचना करना, फिर उनके भी टालनेपर उसका सीतापर आक्रमण और लक्ष्मणका उसके नाक-कान काट लेना

तां तु शूर्पणखां रामः कामपाशावपाशिताम् ।
स्वेच्छया श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामने कामपाशसे बँधी हुई उस शूर्पणखासे अपनी इच्छाके अनुसार मधुर वाणीमें मन्द-मन्द मुसकराते हुए कहा—॥ १ ॥

कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम ।
त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता ॥ २ ॥

'आदरणीया देवि ! मैं विवाह कर चुका हूँ। यह मेरी प्यारी पत्नी विद्यमान है। तुम-जैसी स्त्रियोंके लिये तो सौतका रहना अत्यन्त दुःखदायी ही होगा ॥ २ ॥

अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान् प्रियदर्शनः ।
श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ ३ ॥
अपूर्वी भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः ।
अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति ॥ ४ ॥

'ये मेरे छोटे भाई श्रीमान् लक्ष्मण बड़े शीलवान्, देखनेमें प्रिय लगनेवाले और बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं। इनके साथ स्त्री नहीं है। ये अपूर्व गुणोंसे सम्पन्न हैं। ये तरुण तो हैं ही, इनका रूप भी देखनेमें बड़ा मनोरम है। अतः यदि इन्हें भार्याकी चाह होगी तो ये ही तुम्हारे इस सुन्दर रूपके योग्य पति होंगे ॥ ३-४ ॥

एनं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम।
असपत्ना वरारोहे मेरुमर्कप्रभा यथा॥ ५॥

'विशाललोचने! वरारोहे! जैसे सूर्यकी प्रभा मेरुपर्वतका सेवन करती है, उसी प्रकार तुम मेरे इन छोटे भाई लक्ष्मणको पतिके रूपमें अपनाकर सौतके भयसे रहित हो इनकी सेवा करो'॥ ५॥

इति रामेण सा प्रोक्ता राक्षसी काममोहिता।
विसृज्य रामं सहसा ततो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ ६॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर वह कामसे मोहित हुई राक्षसी उन्हें छोड़कर सहसा लक्ष्मणके पास जा पहुँची और इस प्रकार बोली—॥ ६॥

अस्य रूपस्य ते युक्ता भार्याहं वरवर्णिनी।
मया सह सुखं सर्वान् दण्डकान् विचरिष्यसि॥ ७॥

'लक्ष्मण! तुम्हारे इस सुन्दर रूपके योग्य मैं ही हूँ, अतः मैं ही तुम्हारी परम सुन्दरी भार्या हो सकती हूँ। मुझे अङ्गीकार कर लेनेपर तुम मेरे साथ समूचे दण्डकारण्यमें सुखपूर्वक विचरण कर सकोगे'॥ ७॥

एवमुक्तस्तु सौमित्री राक्षस्या वाक्यकोविदः।
ततः शूर्पनखीं स्मित्वा लक्ष्मणो युक्तमब्रवीत्॥ ८॥

उस राक्षसीके ऐसा कहनेपर बातचीतमें निपुण सुमित्राकुमार लक्ष्मण मुसकराकर सूप-जैसे नखवाली उस निशाचरीसे यह युक्तियुक्त बात बोले—॥ ८॥

कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि।
सोऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा कमलवर्णिनि॥ ९॥

'लाल कमलके समान गौरवर्णवाली सुन्दरि! मैं तो दास हूँ, अपने बड़े भाई भगवान् श्रीरामके अधीन हूँ, तुम मेरी स्त्री होकर दासी बनना क्यों चाहती हो?॥ ९॥

समृद्धार्थस्य सिद्धार्था मुदितामलवर्णिनी।
आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी॥ १०॥

'विशाललोचने! मेरे बड़े भैया सम्पूर्ण ऐश्वर्यों (अथवा सभी अभीष्ट वस्तुओं) से सम्पन्न हैं। तुम उन्हींकी छोटी स्त्री हो जाओ। इससे तुम्हारे सभी मनोरथ सिद्ध हो जायँगे और तुम सदा प्रसन्न रहोगी। तुम्हारे रूप-रंग उन्हींके योग्य निर्मल हैं॥ १०॥

एतां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।
भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति॥ ११॥

'कुरूप, ओछी, विकृत, धँसे हुए पेटवाली और वृद्धा भार्याको त्यागकर ये तुम्हें ही सादर ग्रहण करेंगे*॥

को हि रूपमिदं श्रेष्ठं संत्यज्य वरवर्णिनि।
मानुषीषु वरारोहे कुर्याद् भावं विचक्षणः॥ १२॥

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली वरवर्णिनि! कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा, जो तुम्हारे इस श्रेष्ठ रूपको छोड़कर मानवकन्याओंसे प्रेम करेगा?'॥ १२॥

इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी।
मन्यते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा॥ १३॥

लक्ष्मणके इस प्रकार कहनेपर परिहासको न समझनेवाली उस लंबे पेटवाली विकराल राक्षसीने उनकी बातको सच्ची माना॥ १३॥

सा रामं पर्णशालायामुपविष्टं परंतपम्।
सीतया सह दुर्धर्षमब्रवीत् काममोहिता॥ १४॥

वह पर्णशालामें सीताके साथ बैठे हुए शत्रुसंतापी दुर्जय वीर श्रीरामचन्द्रजीके पास लौट आयी और कामसे मोहित होकर बोली—॥ १४॥

इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।
वृद्धां भार्यामवष्टभ्य न मां त्वं बहु मन्यसे॥ १५॥

'राम! तुम इस कुरूप, ओछी, विकृत, धँसे हुए पेटवाली और वृद्धाका आश्रय लेकर मेरा विशेष आदर नहीं करते हो॥ १५॥

अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम्।
त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथासुखम्॥ १६॥

'अतः आज तुम्हारे देखते-देखते मैं इस मानुषीको खा जाऊँगी और इस सौतके न रहनेपर तुम्हारे साथ सुखपूर्वक विचरण करूँगी'॥ १६॥

इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीमलातसदृशेक्षणा।
अभ्यगच्छत् सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव॥ १७॥

ऐसा कहकर दहकते हुए अंगारोंके समान नेत्रोंवाली शूर्पणखा अत्यन्त क्रोधमें भरकर मृगनयनी सीताकी ओर झपटी, मानो कोई बड़ी भारी उल्का रोहिणी नामक तारेपर टूट पड़ी हो॥ १७॥

तां मृत्युपाशप्रतिमामापतन्तीं महाबलः।
विगृह्य रामः कुपितस्ततो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ १८॥

* यहाँ लक्ष्मणने उन्हीं विशेषणोंको दुहराया है, जिन्हें शूर्पणखाने सीताके लिये प्रयुक्त किया था। शूर्पणखाकी दृष्टिसे जो अर्थ है, वह ऊपर दे दिया है; परंतु लक्ष्मणकी दृष्टिमें वे विशेषण निन्दापरक नहीं, स्तुतिपरक हैं, अतः उनकी दृष्टिसे उन विशेषणोंका अर्थ यहाँ दिया जाता है—विरूपा—विशिष्ट रूपवाली त्रिभुवनसुन्दरी। असती—जिससे बढ़कर दूसरी कोई सती नहीं है ऐसी। कराला—शरीरकी गठनके अनुसार ऊँचे-नीचे अङ्गोंवाली। निर्णतोदरी—निम्न उदर अथवा क्षीण कटि-प्रदेशवाली। वृद्धा—ज्ञानमें बढ़ी-चढ़ी। अर्थात् तुम्हें छोड़कर उक्त विशेषणोंवाली सीताको ही ये ग्रहण करेंगे।

महाबली श्रीरामने मौतके फंदेकी तरह आती हुई उस राक्षसीको हुंकारसे रोककर कुपित हो लक्ष्मणसे कहा—॥ १८॥

क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथंचन।
न कार्यः पश्य वैदेहीं कथंचित् सौम्य जीवतीम्॥ १९॥

'सुमित्रानन्दन! क्रूर कर्म करनेवाले अनार्योंसे किसी प्रकारका परिहास भी नहीं करना चाहिये। सौम्य! देखो न, इस समय सीताके प्राण किसी प्रकार बड़ी मुश्किलसे बचे हैं॥

इमां विरूपामसतीमतिमत्तां महोदरीम्।
राक्षसीं पुरुषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि॥ २०॥

'पुरुषसिंह! तुम्हें इस कुरूपा, कुलटा, अत्यन्त मतवाली और लंबे पेटवाली राक्षसीको कुरूप—किसी अङ्गसे हीन कर देना चाहिये'॥ २०॥

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः।
उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासे महाबलः॥ २१॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार आदेश देनेपर क्रोधमें भरे हुए महाबली लक्ष्मणने उनके देखते-देखते म्यानसे तलवार खींच ली और शूर्पणखाके नाक-कान काट लिये॥ २१॥

निकृत्तकर्णनासा तु विस्वरं सा विनद्य च।
यथागतं प्रदुद्राव घोरा शूर्पणखा वनम्॥ २२॥

नाक और कान कट जानेपर भयंकर राक्षसी शूर्पणखा बड़े जोरसे चिल्लाकर जैसे आयी थी, उसी तरह वनमें भाग गयी॥ २२॥

सा विरूपा महाघोरा राक्षसी शोणितोक्षिता।
ननाद विविधान् नादान् यथा प्रावृषि तोयदः॥ २३॥

खूनसे भीगी हुई वह महाभयंकर एवं विकराल रूपवाली निशाचरी नाना प्रकारके स्वरोंमें जोर-जोरसे चीत्कार करने लगी, मानो वर्षाकालमें मेघोंकी घटा गर्जन-तर्जन कर रही हो॥ २३॥

सा विक्षरन्ती रुधिरं बहुधा घोरदर्शना।
प्रगृह्य बाहू गर्जन्ती प्रविवेश महावनम्॥ २४॥

वह देखनेमें बड़ी भयानक थी। उसने अपने कटे हुए अङ्गोंसे बारंबार खूनकी धारा बहाते और दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर चिग्घाड़ते हुए एक विशाल वनके भीतर प्रवेश किया॥

ततस्तु सा राक्षससङ्घसंवृतं
खरं जनस्थानगतं विरूपिता।
उपेत्य तं भ्रातरमुग्रतेजसं
पपात भूमौ गगनाद् यथाशनिः॥ २५॥

लक्ष्मणके द्वारा कुरूप की गयी शूर्पणखा वहाँसे भागकर राक्षससमूहसे घिरे हुए भयंकर तेजवाले जनस्थाननिवासी भ्राता खरके पास गयी और जैसे आकाशसे बिजली गिरती है, उसी प्रकार वह पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ २५॥

ततः सभार्यं भयमोहमूर्च्छिता
सलक्ष्मणं राघवमागतं वनम्।
विरूपणं चात्मनि शोणितोक्षिता
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा॥ २६॥

खरकी वह बहन रक्तसे नहा गयी थी और भय तथा मोहसे अचेत-सी हो रही थी। उसने वनमें सीता और लक्ष्मणके साथ श्रीरामचन्द्रजीके आने और अपने कुरूप किये जानेका सारा वृत्तान्त खरसे कह सुनाया॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टादशः सर्गः॥ १८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १८॥

एकोनविंशः सर्गः

शूर्पणखाके मुखसे उसकी दुर्दशाका वृत्तान्त सुनकर क्रोधमें भरे हुए खरका श्रीराम आदिके वधके लिये चौदह राक्षसोंको भेजना

तां तथा पतितां दृष्ट्वा विरूपां शोणितोक्षिताम्।
भगिनीं क्रोधसंतप्तः खरः पप्रच्छ राक्षसः॥ १॥

अपनी बहिनको इस प्रकार अङ्गहीन और रक्तसे भीगी हुई अवस्थामें पृथ्वीपर पड़ी देख राक्षस खर क्रोधसे जल उठा और इस प्रकार पूछने लगा—॥ १॥

उत्तिष्ठ तावदाख्याहि प्रमोहं जहि सम्भ्रमम्।
व्यक्तमाख्याहि केन त्वमेवंरूपा विरूपिता॥ २॥

'बहिन! उठो और अपना हाल बताओ। मूर्च्छा और घबराहट छोड़ो तथा साफ-साफ कहो, किसने तुम्हें इस तरह रूपहीन बनाया है?॥ २॥

कः कृष्णसर्पमासीनमाशीविषमनागसम्।
तुदत्यभिसमापन्नमङ्गुल्यग्रेण लीलया॥ ३॥

'कौन अपने सामने आकर चुपचाप बैठे हुए निरपराध एवं विषैले काले साँपको अपनी अँगुलियोंके अग्रभागसे खेल-खेलमें पीड़ा दे रहा है?॥ ३॥

कालपाशं समासज्य कण्ठे मोहान्न बुध्यते।
यस्त्वामद्य समासाद्य पीतवान् विषमुत्तमम्॥ ४॥

'जिसने आज तुमपर आक्रमण करके तुम्हारे नाक-कान काटे हैं, उसने उच्चकोटिका विष पी लिया है तथा अपने गले-

में कालका फंदा डाल लिया है, फिर भी मोहवश वह इस बातको समझ नहीं रहा है ॥ ४ ॥

बलविक्रमसम्पन्ना कामगा कामरूपिणी ।
इमामवस्थां नीता त्वं केनान्तकसमागता ॥ ५ ॥

'तुम तो स्वयं ही दूसरे प्राणियोंके लिये यमराजके समान हो, बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो तथा इच्छानुसार सर्वत्र विचरने और अपनी रुचिके अनुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हो, फिर भी तुम्हें किसने इस दुरवस्थामें डाला है; जिससे दुखी होकर तुम यहाँ आयी हो ? ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम् ।
कोऽयमेवं महावीर्यस्त्वां विरूपां चकार ह ॥ ६ ॥

'देवताओं, गन्धर्वों, भूतों तथा महात्मा ऋषियोंमें यह कौन ऐसा महान् बलशाली है, जिसने तुम्हें रूपहीन बना दिया ? ॥

नहि पश्याम्यहं लोके यः कुर्यान्मम विप्रियम् ।
अमरेषु सहस्राक्षं महेन्द्रं पाकशासनम् ॥ ७ ॥

'संसारमें तो मैं किसीको ऐसा नहीं देखता, जो मेरा अप्रिय कर सके । देवताओंमें सहस्रनेत्रधारी पाकशासन इन्द्र भी ऐसा साहस कर सकें, यह मुझे नहीं दिखायी देता ॥ ७ ॥

अद्याहं मार्गणैः प्राणानादास्ये जीवितान्तगैः ।
सलिले क्षीरमासक्तं निष्पिबन्निव सारसः ॥ ८ ॥

'जैसे हंस जलमें मिले हुए दूधको पी लेता है, उसी प्रकार मैं आज इन प्राणान्तकारी बाणोंसे तुम्हारे अपराधीके शरीरसे उसके प्राण ले लूँगा ॥ ८ ॥

निहतस्य मया संख्ये शरसंकृत्तमर्मणः ।
सफेनं रुधिरं कस्य मेदिनी पातुमिच्छति ॥ ९ ॥

'युद्धमें मेरे बाणोंसे जिसके मर्मस्थान छिन्न-भिन्न हो गये हैं तथा जो मेरे हाथों मारा गया है, ऐसे किस पुरुषके फेन-सहित गरम-गरम रक्तको यह पृथ्वी पीना चाहती है ? ॥ ९ ॥

कस्य पत्ररथाः कायान्मांसमुत्कृत्य संगताः ।
प्रहृष्टा भक्षयिष्यन्ति निहतस्य मया रणे ॥ १० ॥

'रणभूमिमें मेरेद्वारा मारे गये किस व्यक्तिके शरीरसे मांस कुतर-कुतरकर ये हर्षमें भरे हुए झुंड-के-झुंड पक्षी खायँगे ? ॥ १० ॥

तं न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
मयापकृष्टं कृपणं शक्तास्त्रातुं महाहवे ॥ ११ ॥

'जिसे मैं महासमरमें खींच लूँ, उस दीन अपराधीको देवता, गन्धर्व, पिशाच और राक्षस भी नहीं बचा सकते ॥

उपलभ्य शनैः संज्ञां तं मे शंसितुमर्हसि ।
येन त्वं दुर्विनीतेन वने विक्रम्य निर्जिता ॥ १२ ॥

'धीरे-धीरे होशमें आकर तुम मुझे उसका नाम बताओ, जिस उद्दण्डने वनमें तुमपर बलपूर्वक आक्रमण करके तुम्हें परास्त किया है' ॥ १२ ॥

इति भ्रातुर्वचः श्रुत्वा क्रुद्धस्य च विशेषतः ।
ततः शूर्पणखा वाक्यं सबाष्पमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

भाईका विशेषतः क्रोधमें भरे हुए भाई खरका यह वचन सुनकर शूर्पणखा नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई इस प्रकार बोली—॥

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ॥ १४ ॥

'भैया ! वनमें दो तरुण पुरुष आये हैं; जो देखनेमें बड़े ही सुकुमार, रूपवान् और महान् बलवान् हैं । उन दोनोंके बड़े-बड़े नेत्र ऐसे जान पड़ते हैं मानो खिले हुए कमल हों । वे दोनों ही वल्कल-वस्त्र और मृगचर्म पहने हुए हैं ॥ १४ ॥

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १५ ॥

'फल और मूल ही उनका भोजन है । वे जितेन्द्रिय, तपस्वी और ब्रह्मचारी हैं । दोनों ही राजा दशरथके पुत्र और आपसमें भाई-भाई हैं । उनके नाम राम और लक्ष्मण हैं ।

गन्धर्वराजप्रतिमौ पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।
देवौ वा दानवावेतौ न तर्कयितुमुत्सहे ॥ १६ ॥

'वे दो गन्धर्वराजोंके समान जान पड़ते हैं और राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न हैं । ये दोनों भाई देवता अथवा दानव हैं, यह मैं अनुमानसे भी नहीं जान सकती ॥ १६ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।
दृष्टा तत्र मया नारी तयोर्मध्ये सुमध्यमा ॥ १७ ॥

'उन दोनोंके बीचमें एक तरुण अवस्थावाली रूपवती स्त्री भी वहाँ देखी है, जिसके शरीरका मध्यभाग बड़ा ही सुन्दर है । वह सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित है ॥ १७ ॥

ताभ्यामुभाभ्यां सम्भूय प्रमदामधिकृत्य ताम् ।
इमामवस्थां नीताहं यथानाथासती तथा ॥ १८ ॥

'उस स्त्रीके ही कारण उन दोनोंने मिलकर मेरी एक अनाथ और कुलटा स्त्रीकी भाँति ऐसी दुर्गति की है ॥ १८ ॥

तस्याश्चानृजुवृत्तायास्तयोश्च हतयोरहम् ।
सफेनं पातुमिच्छामि रुधिरं रणमूर्धनि ॥ १९ ॥

'मैं युद्धमें उस कुटिल आचारवाली स्त्रीके और उन दोनों राजकुमारोंके भी मारे जानेपर उनका फेनसहित रक्त पीना चाहती हूँ ॥ १९ ॥

एष मे प्रथमः कामः कृतस्तत्र त्वया भवेत् ।
तस्यास्तयोश्च रुधिरं पिबेयमहमाहवे ॥ २० ॥

'रणभूमिमें उस स्त्रीका और उन पुरुषोंका भी रक्त मैं पी सकूँ—यह मेरी पहली और प्रमुख इच्छा है, जो तुम्हारे द्वारा पूर्ण की जानी चाहिये ॥ २० ॥

इति तस्यां ब्रुवाणायां चतुर्दश महाबलान्।
व्यादिदेश खरः क्रुद्धो राक्षसानन्तकोपमान्॥ २१॥

शूर्पणखाके ऐसा कहनेपर खरने कुपित होकर अत्यन्त बलवान् चौदह राक्षसोंको, जो यमराजके समान भयंकर थे, यह आदेश दिया—॥ २१॥

मानुषौ शस्त्रसम्पन्नौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ।
प्रविष्टौ दण्डकारण्यं घोरं प्रमदया सह॥ २२॥

'वीरो! इस भयंकर दण्डकारण्यके भीतर चीर और काला मृगचर्म धारण किये दो शस्त्रधारी मनुष्य एक युवती स्त्रीके साथ घुस आये हैं॥ २२॥

तौ हत्वा तां च दुर्वृत्तामुपावर्तितुमर्हथ।
इयं च भगिनी तेषां रुधिरं मम पास्यति॥ २३॥

'तुमलोग वहाँ जाकर पहले उन दोनों पुरुषोंको मार डालो; फिर उस दुराचारिणी स्त्रीके भी प्राण ले लो। मेरी यह बहिन उन तीनोंका रक्त पीवेगी॥ २३॥

मनोरथोऽयमिष्टोऽस्या भगिन्या मम राक्षसाः।
शीघ्रं सम्पाद्यतां गत्वा तौ प्रमथ्य स्वतेजसा॥ २४॥

'राक्षसो! मेरी इस बहिनका यह प्रिय मनोरथ है। तुम वहाँ जाकर अपने प्रभावसे उन दोनों मनुष्योंको मार गिराओ और बहिनके इस मनोरथको शीघ्र पूरा करो॥ २४॥

युष्माभिर्निहतौ दृष्ट्वा तावुभौ भ्रातरौ रणे।
इयं प्रहृष्टा मुदिता रुधिरं युधि पास्यति॥ २५॥

'रणभूमिमें उन दोनों भाइयोंको तुम्हारे द्वारा मारा गया देख यह हर्षसे खिल उठेगी और आनन्दमग्न होकर युद्ध-स्थलमें उनका रक्त-पान करेगी'॥ २५॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षसास्ते चतुर्दश।
तत्र जग्मुस्तया सार्धं घना वातेरिता इव॥ २६॥

खरकी ऐसी आज्ञा पाकर वे चौदहों राक्षस हवाके उड़ाये हुए बादलोंके समान विवश हो शूर्पणखाके साथ पञ्चवटीको गये॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनविंशः सर्गः॥ १९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १९॥

विंशः सर्गः

श्रीरामद्वारा खरके भेजे हुए चौदह राक्षसोंका वध

ततः शूर्पणखा घोरा राघवाश्रममागता।
राक्षसानाचचक्षे तौ भ्रातरौ सह सीतया॥ १॥

तदनन्तर भयानक राक्षसी शूर्पणखा श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमपर आयी। उसने सीतासहित उन दोनों भाइयोंका उन राक्षसोंको परिचय दिया॥ १॥

ते रामं पर्णशालायामुपविष्टं महाबलम्।
ददृशुः सीतया सार्धं लक्ष्मणेनापि सेवितम्॥ २॥

राक्षसोंने देखा—महाबली श्रीराम सीताके साथ पर्णशालामें बैठे हैं और लक्ष्मण भी उनकी सेवामें उपस्थित हैं॥ २॥

तां दृष्ट्वा राघवः श्रीमानागतांस्तांश्च राक्षसान्।
अब्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणं दीप्ततेजसम्॥ ३॥

इधर श्रीमान् रघुनाथजीने भी शूर्पणखा तथा उसके साथ आये हुए उन राक्षसोंको भी देखा। देखकर वे उद्दीप्त तेजवाले अपने भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—॥ ३॥

मुहूर्तं भव सौमित्रे सीतायाः प्रत्यनन्तरः।
इमानस्या वधिष्यामि पदवीमागतानिह॥ ४॥

'सुमित्राकुमार! तुम थोड़ी देरतक सीताके पास खड़े हो जाओ। मैं इस राक्षसीके सहायक बनकर पीछे-पीछे आये हुए इन निशाचरोंका यहाँ अभी वध कर डालूँगा'॥ ४॥

वाक्यमेतत् ततः श्रुत्वा रामस्य विदितात्मनः।
तथेति लक्ष्मणो वाक्यं राघवस्य प्रपूजयन्॥ ५॥

अपने स्वरूपको समझनेवाले श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर लक्ष्मणने इसकी भूरि-भूरि सराहना करते हुए 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की॥ ५॥

राघवोऽपि महच्चापं चामीकरविभूषितम्।
चकार सज्यं धर्मात्मा तानि रक्षांसि चाब्रवीत्॥ ६॥

तब धर्मात्मा रघुनाथजीने अपने सुवर्णमण्डित विशाल धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और उन राक्षसोंसे कहा—॥ ६॥

पुत्रौ दशरथस्यावां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
प्रविष्टौ सीतया सार्धं दुश्चरं दण्डकावनम्॥ ७॥
फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
वसन्तौ दण्डकारण्ये किमर्थमुपहिंसथ॥ ८॥

'हम दोनों भाई राजा दशरथके पुत्र राम और लक्ष्मण हैं तथा सीताके साथ इस दुर्गम दण्डकारण्यमें आकर फल-मूलका आहार करते हुए इन्द्रियसंयमपूर्वक तपस्यामें संलग्न हैं और ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। इस प्रकार दण्डकवनमें निवास करनेवाले हम दोनों भाइयोंको तुम किसलिये हिंसा करना चाहते हो?॥ ७-८॥

युष्मान् पापात्मकान् हन्तुं विप्रकारान् महाहवे ।
ऋषीणां तु नियोगेन सम्प्राप्तः सशरासनः ॥ ९ ॥

'देखो, तुम सब-के-सब पापात्मा तथा ऋषियोंका अपराध करनेवाले हो । उन ऋषि-मुनियोंकी आज्ञासे ही मैं धनुष-बाण लेकर महासमरमें तुम्हारा वध करनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥

तिष्ठतैवात्र संतुष्टा नोपवर्तितुमर्हथ ।
यदि प्राणैरिहार्थो वो निवर्तध्वं निशाचराः ॥ १० ॥

'निशाचरो ! यदि तुम्हें युद्धसे संतोष प्राप्त होता हो तो यहाँ खड़े ही रहो, भाग मत जाना और यदि तुम्हें प्राणोंका लोभ हो तो लौट जाओ (एक क्षणके लिये भी यहाँ न रुको)' ॥ १० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
ऊचुर्वाचं सुसंक्रुद्धा ब्रह्मघ्नाः शूलपाणयः ॥ ११ ॥
संरक्तनयना घोरा रामं संरक्तलोचनम् ।
परुषा मधुराभाषं हृष्टा दृष्टपराक्रमम् ॥ १२ ॥

श्रीरामकी यह बात सुनकर वे चौदहों राक्षस अत्यन्त कुपित हो उठे । ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले वे घोर निशाचर हाथोंमें शूल लिये क्रोधसे लाल आँखें करके कठोर वाणीमें हर्ष और उत्साहके साथ स्वभावतः लाल नेत्रोंवाले मधुर-भाषी श्रीरामसे, जिनका पराक्रम वे देख चुके थे, यों बोले—॥ ११-१२ ॥

क्रोधमुत्पाद्य नो भर्तुः खरस्य सुमहात्मनः ।
त्वमेव हास्यसे प्राणान् सद्योऽस्माभिर्हतो युधि ॥ १३ ॥

'अरे ! तूने हमारे स्वामी महाकाय खरको क्रोध दिलाया है; अतः हमलोगोंके हाथसे युद्धमें मारा जाकर तू स्वयं ही तत्काल अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा ॥ १३ ॥

का हि ते शक्तिरेकस्य बहूनां रणमूर्धनि ।
अस्माकमग्रतः स्थातुं किं पुनर्योद्धुमाहवे ॥ १४ ॥

'हम बहुत-से हैं और तू अकेला, तेरी क्या शक्ति है कि तू हमारे सामने रणभूमिमें खड़ा भी रह सके, फिर युद्ध करना तो दूरकी बात है ॥ १४ ॥

एभिर्बाहुप्रयुक्तैश्च परिघैः शूलपट्टिशैः ।
प्राणांस्त्यक्ष्यसि वीर्यं च धनुश्च करपीडितम् ॥ १५ ॥

'हमारी भुजाओंद्वारा छोड़े गये इन परिघों, शूलों और पट्टिशोंकी मार खाकर तू अपने हाथमें दबाये हुए इस धनुष-को, बल-पराक्रमके अभिमानको तथा अपने प्राणोंका भी एक साथ ही त्याग देगा' ॥ १५ ॥

इत्येवमुक्त्वा संरब्धा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
उद्यतायुधनिस्त्रिंशा राममेवाभिदुद्रुवुः ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए वे चौदहों राक्षस तरह-तरहके आयुध और तलवारें लिये श्रीरामपर ही टूट पड़े ॥

चिक्षिपुस्तानि शूलानि राघवं प्रति दुर्जयम् ।
तानि शूलानि काकुत्स्थः समस्तानि चतुर्दश ॥ १७ ॥
तावद्भिरेव चिच्छेद शरैः काञ्चनभूषितैः ।

उन राक्षसोंने दुर्जय वीर श्रीराघवेन्द्रपर वे शूल चलाये, परंतु ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजीने उन समस्त चौदहों शूलोंको उतने ही सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा काट डाला ॥ १७½ ॥

ततः पश्चान्महातेजा नाराचान् सूर्यसंनिभान् ॥ १८ ॥
जग्राह परमक्रुद्धश्चतुर्दश शिलाशितान् ।
गृहीत्वा धनुरायम्य लक्ष्यानुद्दिश्य राक्षसान् ॥ १९ ॥
मुमोच राघवो बाणान् वज्रानिव शतक्रतुः ।

तत्पश्चात् महातेजस्वी रघुनाथजीने अत्यन्त कुपित हो शानपर चढ़ाकर तेज किये गये सूर्यतुल्य तेजस्वी चौदह नाराच हाथमें लिये । फिर धनुष लेकर उसपर उन बाणोंको रखा और कानतक खींचकर राक्षसोंको लक्ष्य करके छोड़ दिया । मानो इन्द्रने वज्रोंका प्रहार किया हो ॥ १८—१९½ ॥

ते भित्त्वा रक्षसां वेगाद् वक्षांसि रुधिरप्लुताः ॥ २० ॥
विनिष्पेतुस्तदा भूमौ वल्मीकादिव पन्नगाः ।

वे बाण बड़े वेगसे उन राक्षसोंकी छाती छेदकर रुधिरमें डूबे हुए निकले और बाँबीसे बाहर आये हुए सर्पोंकी भाँति तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २०½ ॥

तैर्भग्नहृदया भूमौ छिन्नमूला इव द्रुमाः ॥ २१ ॥
निपेतुः शोणितस्नाता विकृता विगतासवः ।

उन नाराचोंसे हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण वे राक्षस जड़से कटे हुए वृक्षोंकी भाँति धराशायी हो गये । वे सब-के-सब खूनसे नहा गये थे । उनके शरीर विकृत हो गये थे । उस अवस्थामें उनके प्राणपखेरू उड़ गये ॥ २१½ ॥

तान् भूमौ पतितान् दृष्ट्वा राक्षसी क्रोधमूर्छिता ॥ २२ ॥
उपगम्य खरं सा तु किंचित्संशुष्कशोणिता ।
पपात पुनरेवार्ता सनिर्यासेव वल्लरी ॥ २३ ॥

उन सबको पृथ्वीपर पड़ा देख वह राक्षसी क्रोधसे मूर्छित हो गयी और खरके पास जाकर पुनः आर्तभावसे गिर पड़ी । उसके कटे हुए कानों और नाकोंका खून सूख गया था इसलिये गोंदयुक्त लताके समान प्रतीत होती थी ॥ २२-२३ ॥

भ्रातुः समीपे शोकार्ता ससर्ज निनदं महत् ।
सस्वरं मुमुचे बाष्पं विवर्णवदना तदा ॥ २४ ॥

भाईके निकट शोकसे पीड़ित हुई शूर्पणखा बड़े जोरसे आर्तनाद करने और फूट-फूटकर रोने तथा आँसू बहाने लगी । उस समय उसके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी ॥ २४ ॥

निपातितान् प्रेक्ष्य रणे तु राक्षसान्
प्रधाविता शूर्पणखा पुनस्ततः ।
वधं च तेषां निखिलेन रक्षसां
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २५ ॥

रणभूमिमें उन राक्षसोंको मारा गया देख खरकी बहिन शूर्पणखा पुनः वहाँसे भागी हुई आयी । उसने उन समस्त राक्षसोंके वधका सारा समाचार भाईसे कह सुनाया ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

शूर्पणखाका खरके पास आकर उन राक्षसोंके वधका समाचार बताना और रामका भय दिखाकर उसे युद्धके लिये उत्तेजित करना

स पुनः पतितां दृष्ट्वा क्रोधाच्छूर्पणखां पुनः ।
उवाच व्यक्तया वाचा तामनर्थार्थमागताम् ॥ १ ॥

शूर्पणखाको पुनः पृथ्वीपर पड़ी हुई देख अनर्थके लिये आयी हुई उस बहिनसे खरने क्रोधपूर्वक स्पष्ट वाणीमें फिर कहा— ॥ १ ॥

मया त्विदानीं शूरास्ते राक्षसाः पिशिताशनाः ।
त्वत्प्रियार्थं विनिर्दिष्टाः किमर्थं रुद्यते पुनः ॥ २ ॥

'बहिन ! मैंने तुम्हारा प्रिय करनेके लिये उस समय बहुत-से शूरवीर एवं मांसाहारी राक्षसोंको जानेकी आज्ञा दे दी थी, अब फिर तुम किसलिये रो रही हो ? ॥ २ ॥

भक्ताश्चैवानुरक्ताश्च हिताश्च मम नित्यशः ।
हन्यमाना न हन्यन्ते न न कुर्युर्वचो मम ॥ ३ ॥

'मैंने जिन राक्षसोंको भेजा था, वे मेरे भक्त, मुझमें अनुराग रखनेवाले और सदा मेरा हित चाहनेवाले हैं। वे किसीके मारनेपर भी मर नहीं सकते । उनके द्वारा मेरी आज्ञाका पालन न हो, यह भी सम्भव नहीं है ॥ ३ ॥

किमेतच्छ्रोतुमिच्छामि कारणं यत्कृते पुनः ।
हा नाथेति विनर्दन्ती सर्पवच्चेष्टसे क्षितौ ॥ ४ ॥

'फिर ऐसा कौन-सा कारण उपस्थित हो गया, जिसके लिये तुम 'हा नाथ' की पुकार मचाती हुई साँपकी तरह धरतीपर लोट रही हो । मैं उसे सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

अनाथवद् विलपसि किं नु नाथे मयि स्थिते ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ मा मैवं वैक्लव्यं त्यज्यतामिति ॥ ५ ॥

'मेरे-जैसे संरक्षकके रहते हुए तुम अनाथकी तरह विलाप क्यों करती हो ? उठो ! उठो !! इस तरह लोटो मत । घबराहट छोड़ दो' ॥ ५ ॥

इत्येवमुक्ता दुर्धर्षा खरेण परिसान्त्विता ।
विमृज्य नयने सास्रे खरं भ्रातरमब्रवीत् ॥ ६ ॥

खरके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर वह दुर्धर्ष राक्षसी अपने आँसूभरे नेत्रोंको पोंछकर भाई खरसे बोली— ॥ ६ ॥

अस्मीदानीमहं प्राप्ता हतश्रवणनासिका ।
शोणितौघपरिक्लिन्ना त्वया च परिसान्त्विता ॥ ७ ॥

'भैया ! मैं इस समय फिर तुम्हारे पास क्यों आयी हूँ—यह बताती हूँ, सुनो—मेरे नाक-कान कट गये और मैं खूनकी धारासे नहा उठी, उस अवस्थामें जब पहली बार मैं आयी थी, तब तुमने मुझे बड़ी सान्त्वना दी थी ॥

प्रेषिताश्च त्वया शूरा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
निहन्तुं राघवं घोरं मत्प्रियार्थं सलक्ष्मणम् ॥ ८ ॥
ते तु रामेण सामर्षाः शूलपट्टिशपाणयः ।
समरे निहताः सर्वे सायकैर्मर्मभेदिभिः ॥ ९ ॥

'तत्पश्चात् मेरा प्रिय करनेके लिये लक्ष्मणसहित रामका वध करनेके उद्देश्यसे तुमने जो वे चौदह शूरवीर राक्षस भेजे थे, वे सब-के-सब अमर्षमें भरकर हाथोंमें शूल और पट्टिश लिये वहाँ जा पहुँचे, परंतु रामने अपने मर्मभेदी बाणोंद्वारा उन सबको समराङ्गणमें मार गिराया ॥ ८-९ ॥

तान् भूमौ पतितान् दृष्ट्वा क्षणेनैव महाजवान् ।
रामस्य च महत्कर्म महांस्त्रासोऽभवन्मम ॥ १० ॥

'उन महान् वेगशाली निशाचरोंको क्षणभरमें ही धराशायी हुआ देख रामके उस महान् पराक्रमपर दृष्टिपात करके मेरे मनमें बड़ा भय उत्पन्न हो गया ॥ १० ॥

सास्मि भीता समुद्विग्ना विषण्णा च निशाचर ।
शरणं त्वां पुनः प्राप्ता सर्वतो भयदर्शिनी ॥ ११ ॥

'निशाचरराज ! मैं भयभीत, उद्विग्न और विषाद-ग्रस्त हो गयी हूँ । मुझे सब ओर भय-ही-भय दिखायी देता है, इसीलिये फिर तुम्हारी शरणमें आयी हूँ ॥ ११ ॥

विषादनक्राध्युषिते परित्रासोर्मिमालिनि ।
किं मां न त्रायसे मग्नां विपुले शोकसागरे ॥ १२ ॥

'मैं शोकके उस विशाल समुद्रमें डूब गयी हूँ, जहाँ विषादरूपी मगर निवास करते हैं और त्रासकी तरङ्गमालाएँ उठती रहती हैं । तुम उस शोकसागरसे मेरा उद्धार क्यों नहीं करते हो ? ॥ १२ ॥

एते च निहता भूमौ रामेण निशितैः शरैः ।
ये च मे पदवीं प्राप्ता राक्षसाः पिशिताशनाः ॥ १३

'जो मांसभक्षी राक्षस मेरे साथ गये थे, वे सब-के-सब रामके पैने बाणोंसे मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हैं ॥ १३ ॥

मयि ते यद्यनुक्रोशो यदि रक्षःसु तेषु च।
रामेण यदि शक्तिस्ते तेजो वास्ति निशाचर ॥ १४ ॥
दण्डकारण्यनिलयं जहि राक्षसकण्टकम्।

'राक्षसराज ! यदि मुझपर और उन मरे हुए राक्षसोंपर तुम्हें दया आती हो तथा यदि रामके साथ लोहा लेनेके लिये तुममें शक्ति और तेज हो तो उन्हें मार डालो; क्योंकि दण्डकारण्यमें घर बनाकर रहनेवाले राम राक्षसोंके लिये कण्टक हैं ॥ १४½ ॥

यदि राममित्रघ्नं न त्वमद्य वधिष्यसि ॥ १५ ॥
तव चैवाग्रतः प्राणांस्त्यक्ष्यामि निरपत्रपा।

'यदि तुम आज ही शत्रुघाती रामका वध नहीं कर डालोगे तो मैं तुम्हारे सामने ही अपने प्राण त्याग दूँगी; क्योंकि मेरी लाज लुट चुकी है ॥ १५½ ॥

बुद्ध्याहमनुपश्यामि न त्वं रामस्य संयुगे ॥ १६ ॥
स्थातुं प्रतिमुखे शक्तः सबलोऽपि महारणे।

'मैं बुद्धिसे बारंबार सोचकर देखती हूँ कि तुम महासमरमें सबल होकर भी रामके सामने युद्धमें नहीं ठहर सकोगे ॥ १६½ ॥

शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रमः ॥ १७ ॥
अपयाहि जनस्थानात् त्वरितः सहबान्धवः।
जहि त्वं समरे मूढान्यथा तु कुलपांसन ॥ १८ ॥

'तुम अपनेको शूरवीर मानते हो, किंतु तुममें शौर्य है ही नहीं। तुमने झूठे ही अपने-आपमें पराक्रमका आरोप कर लिया है। मूढ़ ! तुम समराङ्गणमें उन दोनोंको मार डालो अन्यथा अपने कुलमें कलङ्क लगाकर भाई-बन्धुओंके साथ तुरंत ही इस जनस्थानसे भाग जाओ ॥ १७-१८ ॥

मानुषौ तौ न शक्नोषि हन्तुं वै रामलक्ष्मणौ।
निःसत्त्वस्याल्पवीर्यस्य वासस्ते कीदृशस्त्विह ॥ १९ ॥

'राम और लक्ष्मण मनुष्य हैं, यदि उन्हें भी मारनेकी तुममें शक्ति नहीं है तो तुम्हारे-जैसे निर्बल और पराक्रमशून्य राक्षसका यहाँ रहना कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥ १९ ॥

रामतेजोऽभिभूतो हि त्वं क्षिप्रं विनशिष्यसि।
स हि तेजःसमायुक्तो रामो दशरथात्मजः ॥ २० ॥
भ्राता चास्य महावीर्यो येन चास्मि विरूपिता।

'तुम रामके तेजसे पराजित होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे; क्योंकि दशरथकुमार राम बड़े तेजस्वी हैं। उनका भाई भी महान् पराक्रमी है, जिसने मुझे नाक-कानसे हीन करके अत्यन्त कुरूप बना दिया' ॥ २०½ ॥

एवं विलप्य बहुशो राक्षसी प्रदरोदरी ॥ २१ ॥
भ्रातुः समीपे शोकार्ता नष्टसंज्ञा बभूव ह।
कराभ्यामुदरं हत्वा रुरोद भृशदुःखिता ॥ २२ ॥

इस प्रकार बहुत विलाप करके गुफाके समान गहरे पेटवाली वह राक्षसी शोकसे आतुर हो अपने भाईके पास मूर्च्छित-सी हो गयी और अत्यन्त दुखी हो दोनों हाथोंसे पेट पीटती हुई फूट-फूटकर रोने लगी ॥ २१-२२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥



द्वाविंशः सर्गः

चौदह हजार राक्षसोंकी सेनाके साथ खर-दूषणका जनस्थानसे पञ्चवटीकी ओर प्रस्थान

एवमाधर्षितः शूरः शूर्पणख्या खरस्ततः।
उवाच रक्षसां मध्ये खरः खरतरं वचः ॥ १ ॥

शूर्पणखाद्वारा इस प्रकार तिरस्कृत होकर शूरवीर खरने राक्षसोंके बीच अत्यन्त कठोर वाणीमें कहा— ॥ १ ॥

तवापमानप्रभवः क्रोधोऽयमतुलो मम।
न शक्यते धारयितुं लवणाम्भ इवोल्बणम् ॥ २ ॥

'बहिन ! तुम्हारे अपमानके कारण मुझे बेतरह क्रोध चढ़ आया है। इसे धारण करना या दबा देना उसी प्रकार असम्भव है, जैसे पूर्णिमाको प्रचण्ड वेगसे बढ़े हुए खारे पानीके समुद्रके जलको (अथवा यह उसी प्रकार असह्य है, जैसे घावपर नमकीन पानीका छिड़कना) ॥ २ ॥

न रामं गणये वीर्यान्मानुषं क्षीणजीवितम्।
आत्मदुश्चरितैः प्राणान् हतो योऽद्य विमोक्ष्यते ॥ ३ ॥

'मैं पराक्रमकी दृष्टिसे रामको कुछ भी नहीं गिनता हूँ; क्योंकि उस मनुष्यका जीवन अब क्षीण हो चला है। वह अपने दुष्कर्मोंसे ही मारा जाकर आज प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा ॥ ३ ॥

बाष्पः संधार्यतामेष सम्भ्रमश्च विमुच्यताम्।
अहं रामं सह भ्रात्रा नयामि यमसादनम् ॥ ४ ॥

'तुम अपने आँसुओंको रोको और यह घबराहट छोड़ो। मैं भाईसहित रामको अभी यमलोक पहुँचा देता हूँ ॥ ४ ॥

परश्वधहतस्याद्य मन्दप्राणस्य भूतले।

रामस्य रुधिरं रक्तमुष्णं पास्यसि राक्षसि ॥ ५ ॥

'राक्षसी! आज मेरे फरसेकी मारसे निष्प्राण होकर धरतीपर पड़े हुए रामका गरम-गरम रक्त तुम्हें पीनेको मिलेगा' ॥ ५ ॥

सम्प्रहृष्टा वचः श्रुत्वा खरस्य वदनाच्च्युतम्।
प्रशशंस पुनर्मौर्ख्याद् भ्रातरं रक्षसां वरम् ॥ ६ ॥

खरके मुखसे निकली हुई इस बातको सुनकर शूर्पणखाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने मूर्खतावश राक्षसोंमें श्रेष्ठ भाई खरकी पुनः भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ६ ॥

तया परुषितः पूर्वं पुनरेव प्रशंसितः।
अब्रवीद् दूषणं नाम खरः सेनापतिं तदा ॥ ७ ॥

उसने पहले जिसका कठोर वाणीद्वारा तिरस्कार किया और पुनः जिसकी अत्यन्त सराहना की, उस खरने उस समय अपने सेनापति दूषणसे कहा—॥ ७ ॥

चतुर्दश सहस्राणि मम चित्तानुवर्तिनाम्।
रक्षसां भीमवेगानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ८ ॥
नीलजीमूतवर्णानां लोकहिंसाविहारिणाम्।
सर्वोद्योगमुदीर्णानां रक्षसां सौम्य कारय ॥ ९ ॥

'सौम्य! मेरे मनके अनुकूल चलनेवाले, युद्धके मैदानसे पीछे न हटनेवाले, भयंकर वेगशाली, मेघोंकी काली घटाके समान काले रंगवाले, लोगोंकी हिंसासे ही क्रीड़ा-विहार करनेवाले तथा युद्धमें उत्साहपूर्वक आगे बढ़नेवाले चौदह सहस्र राक्षसोंको युद्धके लिये भेजनेकी पूरी तैयारी कराओ ॥

उपस्थापय मे क्षिप्रं रथं सौम्य धनूंषि च।
शरांश्च चित्रान् खड्गांश्च शक्तीश्च विविधाः शिताः ॥

'सौम्य सेनापते! तुम शीघ्र ही मेरा रथ भी यहाँ मँगवा लो। उसपर बहुत-से धनुष, बाण, विचित्र-विचित्र खड्ग और नाना प्रकारकी तीखी शक्तियोंको भी रख दो ॥ १० ॥

अग्रे निर्यातुमिच्छामि पौलस्त्यानां महात्मनाम्।
वधार्थं दुर्विनीतस्य रामस्य रणकोविद ॥ ११ ॥

'रणकुशल वीर! मैं इस उद्दण्ड रामका वध करनेके लिये महामनस्वी पुलस्त्यवंशी राक्षसोंके आगे-आगे जाना चाहता हूँ' ॥ ११ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सूर्यवर्णं महारथम्।
सदश्वैः शबलैर्युक्तमाचचक्षेऽथ दूषणः ॥ १२ ॥

उसके इस प्रकार आज्ञा देते ही एक सूर्यके समान प्रकाशमान और चितकबरे रंगके अच्छे घोड़ोंसे जुता हुआ विशाल रथ वहाँ आ गया। दूषणने खरको इसकी सूचना दी ॥ १२ ॥

तं मेरुशिखराकारं तप्तकाञ्चनभूषणम्।
हेमचक्रमसम्बाधं वैदूर्यमयकूबरम् ॥ १३ ॥
मत्स्यैः पुष्पैर्द्रुमैः शैलैश्चन्द्रसूर्यैश्च काञ्चनैः।
माङ्गल्यैः पक्षिसङ्घैश्च ताराभिश्च समावृतम् ॥ १४ ॥
ध्वजनिस्त्रिंशसम्पन्नं किंकिणीवरभूषितम्।
सदश्वयुक्तं सोऽमर्षादारुरोह खरस्तदा ॥ १५ ॥

वह रथ मेरुपर्वतके शिखरकी भाँति ऊँचा था, उसे तपाये हुए सोनेके बने हुए साज-बाजसे सजाया गया था, उसके पहियोंमें सोना जड़ा हुआ था, उसका विस्तार बहुत बड़ा था, उस रथके कूबर वैदूर्यमणिसे जड़े गये थे, उसकी सजावटके लिये सोनेके बने हुए मत्स्य, फूल, वृक्ष, पर्वत, चन्द्रमा, सूर्य, माङ्गलिक पक्षियोंके समुदाय तथा तारिकाओंसे वह रथ सुशोभित हो रहा था, उसपर ध्वजा फहरा रही थी तथा रथके भीतर खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्र रखे हुए थे, छोटी-छोटी घण्टियों अथवा सुन्दर घुँघुरुओंसे सजे और उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए उस रथपर राक्षसराज खर उस समय आरूढ़ हुआ। अपनी बहिनके अपमानका स्मरण करके उसके मनमें बड़ा अमर्ष हो रहा था ॥ १३—१५ ॥

खरस्तु तन्महत्सैन्यं रथचर्मायुधध्वजम्।
निर्यातेत्यब्रवीत् प्रेक्ष्य दूषणः सर्वराक्षसान् ॥ १६ ॥

रथ, ढाल, अस्त्र-शस्त्र तथा ध्वजसे सम्पन्न उस विशाल सेनाकी ओर देखकर खर और दूषणने समस्त राक्षसोंसे कहा—'निकलो, आगे बढ़ो' ॥ १६ ॥

ततस्तद् राक्षसं सैन्यं घोरचर्मायुधध्वजम्।
निर्जगाम जनस्थानान्महानादं महाजवम् ॥ १७ ॥

कूच करनेकी आज्ञा प्राप्त होते ही भयंकर ढाल, अस्त्र-शस्त्र तथा ध्वजासे युक्त वह विशाल राक्षस-सेना जोर-जोरसे गर्जना करती हुई जनस्थानसे बड़े वेगके साथ निकली ॥ १७ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः सुतीक्ष्णैश्च परश्वधैः।
खड्गैश्चक्रैश्च हस्तस्थैर्भ्राजमानैः सतोमरैः ॥ १८ ॥
शक्तिभिः परिघैर्घोरैरतिमात्रैश्च कार्मुकैः।
गदासिमुसलैर्वज्रैर्गृहीतैर्भीमदर्शनैः ॥ १९ ॥
राक्षसानां सुघोराणां सहस्राणि चतुर्दश।
निर्यातानि जनस्थानात् खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ २० ॥

सैनिकोंके हाथमें मुद्गर, पट्टिश, शूल, अत्यन्त तीखे फरसे, खड्ग, चक्र और तोमर चमक उठे। शक्ति, भयंकर परिघ, विशाल धनुष, गदा, तलवार, मुसल तथा वज्र (आठ कोनवाले आयुधविशेष) उन राक्षसोंके हाथोंमें आकर बड़े भयानक दिखायी दे रहे थे। इन अस्त्र-शस्त्रोंसे उपलक्षित और खरके मनकी इच्छाके अनुसार चलनेवाले अत्यन्त भयंकर चौदह हजार राक्षस जनस्थानसे युद्धके लिये चले ॥ १८—२० ॥

तांस्तु निर्धावतो दृष्ट्वा राक्षसान् भीमदर्शनान् ।
खरस्याथ रथः किंचिज्जगाम तदनन्तरम् ॥ २१ ॥

उन भयंकर दिखायी देनेवाले राक्षसोंको धावा करते देख खरका रथ भी कुछ देर सैनिकोंके निकलनेकी प्रतीक्षा करके उनके साथ ही आगे बढ़ा ॥ २१ ॥

ततस्ताञ्छबलानश्वांस्तप्तकाञ्चनभूषितान् ।
खरस्य मतमाज्ञाय सारथिः पर्यचोदयत् ॥ २२ ॥

तदनन्तर खरका अभिप्राय जानकर उसके सारथिने तपाये हुए सोनेके आभूषणोंसे विभूषित उन चितकबरे घोड़ोंको हाँका ॥ २२ ॥

संचोदितो रथः शीघ्रं खरस्य रिपुघातिनः ।
शब्देनापूरयामास दिशः सप्रदिशस्तथा ॥ २३ ॥

उसके हाँकनेपर शत्रुघाती खरका रथ शीघ्र ही अपने घर-घर शब्दसे सम्पूर्ण दिशाओं तथा उपदिशाओंको प्रतिध्वनित करने लगा ॥ २३ ॥

प्रवृद्धमन्युस्तु खरः खरस्वरो
रिपोर्वधार्थं त्वरितो यथान्तकः ।
अचूचुदत् सारथिमुन्नदन् पुन-
र्महाबलो मेघ इवाश्मवर्षवान् ॥ २४ ॥

उस समय खरका क्रोध बढ़ा हुआ था । उसका स्वर भी कठोर हो गया था । वह शत्रुके वधके लिये उतावला होकर यमराजके समान भयानक जान पड़ता था । जैसे ओलोंकी वर्षा करनेवाला मेघ बड़े जोरसे गर्जना करता है, उसी प्रकार महाबली खरने उच्चस्वरसे सिंहनाद करके पुनः सारथिको रथ हाँकनेके लिये प्रेरित किया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

भयंकर उत्पातोंको देखकर भी खरका उनकी परवा नहीं करना तथा राक्षस-सेनाका श्रीरामके आश्रमके समीप पहुँचना

तत्प्रयातं बलं घोरमशिवं शोणितोदकम् ।
अभ्यवर्षन्महाघोरस्तुमुलो गर्दभारुणः ॥ १ ॥

उस सेनाके प्रस्थान करते समय आकाशमें गधेके समान धूसर रंगवाले बादलोंकी महाभयंकर घटा घिर आयी । उसकी तुमुल गर्जना होने लगी तथा सैनिकोंके ऊपर घोर अमङ्गल-सूचक रक्तमय जलकी वर्षा आरम्भ हो गयी ॥ १ ॥

निपेतुस्तुरगास्तस्य रथयुक्ता महाजवाः ।
समे पुष्पचिते देशे राजमार्गे यदृच्छया ॥ २ ॥

खरके रथमें जुते हुए महान् वेगशाली घोड़े फूल बिछे हुए समतल स्थानमें सड़कपर चलते-चलते अकस्मात् गिर पड़े ॥ २ ॥

श्यामं रुधिरपर्यन्तं बभूव परिवेषणम् ।
अलातचक्रप्रतिमं प्रतिगृह्य दिवाकरम् ॥ ३ ॥

सूर्यमण्डलके चारों ओर अलातचक्रके समान गोलाकार घेरा दिखायी देने लगा, जिसका रंग काला और किनारेका रंग लाल था ॥ ३ ॥

ततो ध्वजमुपागम्य हेमदण्डं समुच्छ्रितम् ।
समाक्रम्य महाकायस्तस्थौ गृध्रः सुदारुणः ॥ ४ ॥

तदनन्तर खरके रथकी सुवर्णमय दण्डवाली ऊँची ध्वजापर एक विशालकाय गीध आकर बैठ गया, जो देखनेमें बड़ा ही भयंकर था ॥ ४ ॥

जनस्थानसमीपे च समाक्रम्य खरस्वनाः ।
विस्वरान् विविधान् नादान् मांसादा मृगपक्षिणः ॥५॥
व्याजह्रुरभिदीप्तायां दिशि वै भैरवस्वनम् ।
अशिवं यातुधानानां शिवा घोरा महास्वनाः ॥ ६ ॥

कठोर स्वरवाले मांसभक्षी पशु और पक्षी जनस्थानके पास आकर विकृत स्वरमें अनेक प्रकारके विकट शब्द बोलने लगे तथा सूर्यकी प्रभासे प्रकाशित हुई दिशाओंमें जोर-जोरसे चीत्कार करनेवाले और मुँहसे आग उगलनेवाले भयंकर गीदड़ राक्षसोंके लिये अमङ्गलजनक भैरवनाद करने लगे ॥

प्रभिन्नगजसंकाशास्तोयशोणितधारिणः ।
आकाशं तदनाकाशं चक्रुर्भीमाम्बुवाहकाः ॥ ७ ॥

भयंकर मेघ, जो मदकी धारा बहानेवाले गजराजके समान दिखायी देते थे और जलकी जगह रक्त धारण किये हुए थे, तत्काल घिर आये । उन्होंने समूचे आकाशको ढक दिया । थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं रहने दिया ॥ ७ ॥

बभूव तिमिरं घोरमुद्धतं रोमहर्षणम् ।
दिशो वा प्रदिशो वापि सुव्यक्तं न चकाशिरे ॥ ८ ॥

सब ओर अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी घना अन्धकार छा गया । दिशाओं अथवा कोणोंका स्पष्टरूपसे भान नहीं हो पाता था ॥ ८ ॥

क्षतजार्द्रसवर्णाभा संध्या कालं विना बभौ ।
खरं चाभिमुखं नेदुस्तदा घोरा मृगाः खगाः ॥ ९ ॥

विना समयके ही खूनसे भीगे हुए वस्त्रके समान रंगवाली संध्या प्रकट हो गयी। उस समय भयंकर पशु-पक्षी खरके सामने आकर गर्जना करने लगे॥ ९॥

कङ्कगोमायुगृध्राश्च चुक्रुशुर्भयशंसिनः।
नित्याशिवकरा युद्धे शिवा घोरनिदर्शनाः॥ १०॥
नेदुर्बलस्याभिमुखं ज्वालोद्गारिभिराननैः।

भयकी सूचना देनेवाले कङ्क (सफेद चील), गीदड़ और गीध खरके सामने चीत्कार करने लगे। युद्धमें सदा अमङ्गल सूचित करनेवाली और भय दिखानेवाली गीदड़ियाँ खरकी सेनाके सामने आकर आग उगलनेवाले मुखोंसे घोर शब्द करने लगीं॥ १०½॥

कबन्धः परिघाभासो दृश्यते भास्करान्तिके॥ ११॥
जग्राह सूर्यं स्वर्भानुरपर्वणि महाग्रहः।
प्रवाति मारुतः शीघ्रं निष्प्रभोऽभूद् दिवाकरः॥ १२॥

सूर्यके निकट परिघके समान कबन्ध (सिर कटा हुआ धड़) दिखायी देने लगा। महान् ग्रह राहु अमावास्याके बिना ही सूर्यको ग्रसने लगा। हवा तीव्र गतिसे चलने लगी एवं सूर्यदेवकी प्रभा फीकी पड़ गयी॥ ११-१२॥

उत्पेतुश्च विना रात्रिं ताराः खद्योतसप्रभाः।
संलीनमीनविहगा नलिन्यः शुष्कपङ्कजाः॥ १३॥

विना रातके ही जुगनूके समान चमकनेवाले तारे आकाशमें उदित हो गये। सरोवरोंमें मछली और जलपक्षी विलीन हो गये। उनके कमल सूख गये॥ १३॥

तस्मिन् क्षणे बभूवुश्च विना पुष्पफलैर्द्रुमाः।
उद्धूतश्च विना वातं रेणुर्जलधरारुणः॥ १४॥

उस क्षणमें वृक्षोंके फूल और फल झड़ गये। विना हवाके ही बादलोंके समान धूसर रंगकी धूल ऊपर उठकर आकाशमें छा गयी॥ १४॥

चीचीकूचीति वाश्यन्त्यो बभूवुस्तत्र सारिकाः।
उल्काश्चापि सनिर्घोषा निपेतुर्घोरदर्शनाः॥ १५॥

वहाँ वनकी सारिकाएँ चें-चें करने लगीं। भारी आवाजके साथ भयानक उल्काएँ आकाशसे पृथ्वीपर गिरने लगीं॥ १५॥

प्रचचाल मही चापि सशैलवनकानना।
खरस्य च रथस्थस्य नर्दमानस्य धीमतः॥ १६॥
प्राकम्पत भुजः सव्यः स्वरश्चास्यावसज्जत।
सास्रा सम्पद्यते दृष्टिः पश्यमानस्य सर्वतः॥ १७॥

पर्वत, वन और काननोंसहित धरती डोलने लगी। बुद्धिमान् खर रथपर बैठकर गर्जना कर रहा था। उस समय उसकी बायीं भुजा सहसा काँप उठी। स्वर अवरुद्ध हो गया और सब ओर देखते समय उसकी आँखोंमें आँसू आने लगे॥ १६-१७॥

ललाटे च रुजो जाता न च मोहान्न्यवर्तत।
तान् समीक्ष्य महोत्पातानुत्थितान् रोमहर्षणान्॥ १८॥
अब्रवीद् राक्षसान् सर्वान् प्रहसन् स खरस्तदा।

उसके सिरमें दर्द होने लगा, फिर भी मोहवश वह युद्धसे निवृत्त नहीं हुआ। उस समय प्रकट हुए उन बड़े-बड़े रोमाञ्चकारी उत्पातोंको देखकर खर जोर-जोरसे हँसने लगा और समस्त राक्षसोंसे बोला—॥ १८½॥

महोत्पातानिमान् सर्वानुत्थितान् घोरदर्शनान्॥ १९॥
न चिन्तयाम्यहं वीर्याद् बलवान् दुर्बलानिव।
तारा अपि शरैस्तीक्ष्णैः पातयेयं नभस्तलात्॥ २०॥

'ये जो भयानक दिखायी देनेवाले बड़े-बड़े उत्पात प्रकट हो रहे हैं, इन सबकी मैं अपने बलके भरोसे कोई परवा नहीं करता; ठीक उसी तरह, जैसे बलवान् वीर दुर्बल शत्रुओंको कुछ नहीं समझता है। मैं अपने तीखे बाणोंद्वारा आकाशसे तारोंको भी गिरा सकता हूँ॥ १९-२०॥

मृत्युं मरणधर्मेण संक्रुद्धो योजयाम्यहम्।
राघवं तं बलोत्सिक्तं भ्रातरं चापि लक्ष्मणम्॥ २१॥
अहत्वा सायकैस्तीक्ष्णैर्नोपावर्तितुमुत्सहे।

'यदि कुपित हो जाऊँ तो मृत्युको भी मौतके मुखमें डाल सकता हूँ। आज बलका घमंड रखनेवाले राम और उसके भाई लक्ष्मणको तीखे बाणोंसे मारे बिना मैं पीछे नहीं लौट सकता॥ २१½॥

यन्निमित्तं तु रामस्य लक्ष्मणस्य विपर्ययः॥ २२॥
सकामा भगिनी मेऽस्तु पीत्वा तु रुधिरं तयोः।

'जिसे दण्ड देनेके लिये राम और लक्ष्मणकी बुद्धिमें विपरीत विचार (क्रूरतापूर्ण कर्म करनेके भाव) का उदय हुआ है, वह मेरी बहिन शूर्पणखा उन दोनोंका खून पीकर सफलमनोरथ हो जाय॥ २२½॥

न क्वचित् प्राप्तपूर्वो मे संयुगेषु पराजयः॥ २३॥
युष्माकमेतत् प्रत्यक्षं नानृतं कथयाम्यहम्।

'आजतक जितने युद्ध हुए हैं, उनमेंसे किसीमें भी पहले मेरी कभी पराजय नहीं हुई है; यह तुमलोगोंने प्रत्यक्ष देखा है। मैं झूठ नहीं कहता हूँ॥ २३½॥

देवराजमपि क्रुद्धो मत्तैरावतगामिनम्॥ २४॥
वज्रहस्तं रणे हन्यां किं पुनस्तौ च मानवौ।

'मैं मतवाले ऐरावतपर चलनेवाले वज्रधारी देवराज इन्द्रको भी रणभूमिमें कुपित होकर कालके गालमें डाल सकता हूँ, फिर उन दो मनुष्योंकी तो बात ही क्या है?'॥ २४½॥

सा तस्य गर्जितं श्रुत्वा राक्षसानां महाचमूः॥ २५॥
प्रहर्षमतुलं लेभे मृत्युपाशावपाशिता।

खरकी यह गर्जना सुनकर राक्षसोंकी वह विशाल सेना, जो मौतके पाशसे बँधी हुई थी, अनुपम हर्षसे भर गयी ॥ २५½ ॥

समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥
ऋषयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।
समेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २७ ॥

उस समय युद्ध देखनेकी इच्छावाले बहुत-से पुण्यकर्मा महात्मा, ऋषि, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारण वहाँ एकत्र हो गये। एकत्र हो वे सभी मिलकर एक-दूसरेसे कहने लगे—॥ २६-२७ ॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्यस्तु लोकानां ये च सम्मताः ।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान् ॥ २८ ॥
चक्रहस्तो यथा विष्णुः सर्वानसुरसत्तमान् ।

'गौओं और ब्राह्मणोंका कल्याण हो तथा जो अन्य लोकप्रिय महात्मा हैं, वे भी कल्याणके भागी हों। जैसे चक्रधारी भगवान् विष्णु समस्त असुरशिरोमणियोंको परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार रघुकुलभूषण श्रीराम युद्धमें इन पुलस्त्यवंशी निशाचरोंको पराजित करें' ॥ २८½ ॥

एतच्चान्यच्च बहुशो ब्रुवाणाः परमर्षयः ॥ २९ ॥
जातकौतूहलास्तत्र विमानस्थाश्च देवताः ।
ददृशुर्वाहिनीं तेषां राक्षसानां गतायुषाम् ॥ ३० ॥

ये तथा और भी बहुत-सी मङ्गलकामनासूचक बातें कहते हुए वे महर्षि और देवता कौतूहलवश विमानपर बैठकर जिनकी आयु समाप्त हो चली थी, उन राक्षसोंकी उस विशाल वाहिनीको देखने लगे ॥ २९-३० ॥

रथेन तु खरो वेगात् सैन्यस्याग्राद् विनिःसृतः ।
श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहंगमः ॥ ३१ ॥
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ।
हेममाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ॥ ३२ ॥
द्वादशैते महावीर्याः प्रतस्थुरभितः खरम् ।

खर रथके द्वारा बड़े वेगसे चलकर सारी सेनासे आगे निकल आया और श्येनगामी, पृथुग्रीव, यज्ञशत्रु, विहंगम, दुर्जय, करवीराक्ष, परुष, कालकार्मुक, हेममाली, महामाली, सर्पास्य तथा रुधिराशन—ये बारह महापराक्रमी राक्षस खरको दोनों ओरसे घेरकर उसके साथ-साथ चलने लगे ३१-३२½

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथस्त्रिशिरास्तथा ।
चत्वार एते सेनाग्रे दूषणं पृष्ठतोऽन्वयुः ॥ ३३ ॥

महाकपाल, स्थूलाक्ष, प्रमाथ और त्रिशिरा—ये चार राक्षस वीर सेनाके आगे और सेनापति दूषणके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ ३३ ॥

सा भीमवेगा समराभिकाङ्क्षिणी
सुदारुणा राक्षसवीरसेना ।
तौ राजपुत्रौ सहसाभ्युपेता
माला ग्रहाणामिव चन्द्रसूर्यौ ॥ ३४ ॥

राक्षस वीरोंकी वह भयंकर वेगवाली अत्यन्त दारुण सेना, जो युद्धकी अभिलाषासे आ रही थी, सहसा उन दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मणके पास जा पहुँची, मानो ग्रहोंकी पंक्ति चन्द्रमा और सूर्यके समीप प्रकाशित हो रही हो ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

श्रीरामका तात्कालिक शकुनोंद्वारा राक्षसोंके विनाश और अपनी विजयकी सम्भावना करके सीतासहित लक्ष्मणको पर्वतकी गुफामें भेजना और युद्धके लिये उद्यत होना

आश्रमं प्रतियाते तु खरे खरपराक्रमे ।
तानेवौत्पातिकान् रामः सह भ्रात्रा ददर्श ह ॥ १ ॥

प्रचण्ड पराक्रमी खर जब श्रीरामके आश्रमकी ओर चला, तब भाईसहित श्रीरामने भी उन्हीं उत्पातसूचक लक्षणोंको देखा ॥ १ ॥

तानुत्पातान् महाघोरान् रामो दृष्ट्वात्यमर्षणः ।
प्रजानामहितान् दृष्ट्वा वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

प्रजाके अहितकी सूचना देनेवाले उन महाभयंकर उत्पातोंको देखकर श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंके उपद्रवका विचार करके अत्यन्त अमर्षमें भर गये और लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

इमान् पश्य महाबाहो सर्वभूतापहारिणः ।
समुत्थितान् महोत्पातान् संहर्तुं सर्वराक्षसान् ॥ ३ ॥

'महाबाहो! ये जो बड़े-बड़े उत्पात प्रकट हो रहे हैं, इनकी ओर दृष्टिपात करो। समस्त भूतोंके संहारकी सूचना देनेवाले ये महान् उत्पात इस समय इन सारे राक्षसोंका संहार करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं ॥ ३ ॥

अमी रुधिरधारास्तु विसृजन्ते खरस्वनाः ।
व्योम्नि मेघा निवर्तन्ते परुषा गर्दभारुणाः ॥ ४ ॥

'आकाशमें जो गधोंके समान धूसर वर्णवाले बादल इधर-उधर विचर रहे हैं, ये प्रचण्ड गर्जना करते हुए खूनकी धाराएँ बरसा रहे हैं ॥ ४ ॥

सधूमाश्च शराः सर्वे मम युद्धाभिनन्दिताः।
रुक्मपृष्ठानि चापानि विचेष्टन्ते विचक्षण ॥ ५ ॥

'युद्धकुशल लक्ष्मण ! मेरे सारे बाण उत्पातवश उठनेवाले धूमसे सम्बद्ध हो युद्धके लिये मानो आनन्दित हो रहे हैं तथा जिनके पृष्ठभागमें सुवर्ण मढ़ा हुआ है, वे मेरे धनुष भी प्रत्यञ्चासे जुड़ जानेके लिये स्वयं ही चेष्टाशील जान पड़ते हैं ॥ ५ ॥

यादृशा इह कूजन्ति पक्षिणो वनचारिणः।
अग्रतो नोऽभयं प्राप्तं संशयो जीवितस्य च ॥ ६ ॥

'यहाँ जैसे-जैसे वनचारी पक्षी बोल रहे हैं, उनसे हमारे लिये भविष्यमें अभयकी और राक्षसोंके लिये प्राणसंकटकी प्राप्ति सूचित हो रही है ॥ ६ ॥

सम्प्रहारस्तु सुमहान् भविष्यति न संशयः।
अयमाख्याति मे बाहुः स्फुरमाणो मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

'मेरी यह दाहिनी भुजा बारंबार फड़ककर इस बातकी सूचना देती है कि कुछ ही देरमें बहुत बड़ा युद्ध होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

संनिकर्षे तु नः शूर जयं शत्रोः पराजयम्।
सुप्रभं च प्रसन्नं च तव वक्त्रं हि लक्ष्यते ॥ ८ ॥

'शूरवीर लक्ष्मण ! परंतु निकटभविष्यमें ही हमारी विजय और शत्रुकी पराजय होगी; क्योंकि तुम्हारा मुख कान्तिमान् एवं प्रसन्न दिखायी दे रहा है ॥ ८ ॥

उद्यतानां हि युद्धार्थं येषां भवति लक्ष्मण।
निष्प्रभं वदनं तेषां भवत्यायुःपरिक्षयः ॥ ९ ॥

'लक्ष्मण ! युद्धके लिये उद्यत होनेपर जिनका मुख प्रभाहीन (उदास) हो जाता है, उनकी आयु नष्ट हो जाती है ॥

रक्षसां नर्दतां घोरः श्रूयतेऽयं महाध्वनिः।
आहतानां च भेरीणां राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ १० ॥

गरजते हुए राक्षसोंका यह घोर नाद सुनायी देता है तथा क्रूरकर्मा राक्षसोंद्वारा बजायी गयी भेरियोंकी यह महाभयंकर ध्वनि कानोंमें पड़ रही है ॥ १० ॥

अनागतविधानं तु कर्तव्यं शुभमिच्छता।
आपदं शङ्कमानेन पुरुषेण विपश्चिता ॥ ११ ॥

'अपना कल्याण चाहनेवाले विद्वान् पुरुषको उचित है कि आपत्तिकी आशङ्का होनेपर पहलेसे ही उससे बचनेका उपाय कर ले ॥ ११ ॥

तस्माद् गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्धरः।
गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गां पादपसंकुलाम् ॥ १२ ॥

इसलिये तुम धनुष-बाण धारण करके विदेहकुमारी सीताको साथ ले पर्वतकी उस गुफामें चले जाओ, जो वृक्षोंसे आच्छादित है ॥ १२ ॥

प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया।
शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स माचिरम् ॥ १३ ॥

'वत्स ! तुम मेरे इस वचनके प्रतिकूल कुछ कहो या करो, यह मैं नहीं चाहता। अपने चरणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ, शीघ्र चले जाओ ॥ १३ ॥

त्वं हि शूरश्च बलवान् हन्या एतान् न संशयः।
स्वयं निहन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान् ॥ १४ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि तुम बलवान् और शूरवीर हो तथा इन राक्षसोंका वध कर सकते हो; तथापि मैं स्वयं ही इन निशाचरोंका संहार करना चाहता हूँ (इसलिये तुम मेरी बात मानकर सीताको सुरक्षित रखनेके लिये इसे गुफामें ले जाओ)' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः सह सीतया।
शरानादाय चापं च गुहां दुर्गां समाश्रयत् ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण धनुष-बाण ले सीताके साथ पर्वतकी दुर्गम गुफामें चले गये ॥ १५ ॥

तस्मिन् प्रविष्टे तु गुहां लक्ष्मणे सह सीतया।
हन्त निर्युक्तमित्युक्त्वा रामः कवचमाविशत् ॥ १६ ॥

सीतासहित लक्ष्मणके गुफाके भीतर चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने 'हर्षकी बात है, लक्ष्मणने शीघ्र मेरी बात मान ली और सीताकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध हो गया' ऐसा कहकर कवच धारण किया ॥ १६ ॥

स तेनाग्निनिकाशेन कवचेन विभूषितः।
बभूव रामस्तिमिरे महानग्निरिवोत्थितः ॥ १७ ॥

प्रज्वलित आगके समान प्रकाशित होनेवाले उस कवचसे विभूषित हो श्रीराम अन्धकारमें प्रकट हुए महान् अग्निदेवके समान शोभा पाने लगे ॥ १७ ॥

स चापमुद्यम्य महच्छरानादाय वीर्यवान्।
सम्बभूवावस्थितस्तत्र ज्यास्वनैः पूरयन् दिशः ॥ १८ ॥

पराक्रमी श्रीराम महान् धनुष एवं बाण हाथमें लेकर युद्धके लिये डटकर खड़े हो गये और प्रत्यञ्चाकी टंकारसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाने लगे ॥ १८ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः।
समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षया ॥ १९ ॥

तदनन्तर श्रीराम और राक्षसोंका युद्ध देखनेकी इच्छासे देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारण आदि महात्मा वहाँ एकत्र हो गये ॥ १९ ॥

ऋषयश्च महात्मानो लोके ब्रह्मर्षिसत्तमाः।
समेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २० ॥
स्वस्ति गोब्राह्मणानां च लोकानां चेति संस्थिताः।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान् ॥ २१ ॥

चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुंगवान् ।

इनके सिवा, जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध ब्रह्मर्षिशिरोमणि पुण्यकर्मा महात्मा ऋषि हैं, वे सभी वहाँ जुट गये और एक साथ खड़े हो परस्पर मिलकर यों कहने लगे—'गौओं, ब्राह्मणों और समस्त लोकोंका कल्याण हो। जैसे चक्रधारी भगवान् विष्णु युद्धमें समस्त श्रेष्ठ असुरोंको परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार इस संग्राममें श्रीरामचन्द्रजी पुलस्त्यवंशी निशाचरोंपर विजय प्राप्त करें' ॥ २०-२१½ ॥

एवमुक्त्वा पुनः प्रोचुरालोक्य च परस्परम् ॥ २२ ॥
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर वे पुनः एक दूसरेकी ओर देखते हुए बोले—'एक ओर भयंकर कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षस हैं और दूसरी ओर अकेले धर्मात्मा श्रीराम हैं, फिर यह युद्ध कैसे होगा ?' ॥ २२-२३ ॥

इति राजर्षयः सिद्धाः सगणाश्च द्विजर्षभाः ।
जातकौतूहलास्तस्थुर्विमानस्थाश्च देवताः ॥ २४ ॥

ऐसी बातें करते हुए राजर्षि, सिद्ध, विद्याधर आदि देवयोनिगणसहित श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि तथा विमानपर स्थित हुए देवता कौतूहलवश वहाँ खड़े हो गये ॥ २४ ॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि स्थितम् ।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयाद् विव्यथिरे तदा ॥ २५ ॥

युद्धके मुहानेपर वैष्णव तेजसे आविष्ट हुए श्रीरामको खड़ा देख उस समय सब प्राणी (उनके प्रभावको न जाननेके कारण) भयसे व्यथित हो उठे ॥ २५ ॥

रूपमप्रतिमं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
बभूव रूपं क्रुद्धस्य रुद्रस्येव महात्मनः ॥ २६ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले तथा रोषमें भरे हुए महात्मा श्रीरामका वह रूप कुपित हुए रुद्रदेवके समान तुलनारहित प्रतीत होता था ॥ २६ ॥

इति सम्भाष्यमाणे तु देवगन्धर्वचारणैः ।
ततो गम्भीरनिर्ह्रादं घोरचर्मायुधध्वजम् ॥ २७ ॥
अनीकं यातुधानानां समन्तात् प्रत्यपद्यत ।

जब देवता, गन्धर्व और चारण पूर्वोक्तरूपसे श्रीरामकी मङ्गलकामना कर रहे थे, उसी समय भयंकर ढाल-तलवार आदि आयुधों और ध्वजाओंसे उपलक्षित होनेवाली निशाचरोंकी वह सेना गम्भीर गर्जना करती हुई चारों ओरसे श्रीरामजीके पास आ पहुँची ॥ २७½ ॥

वीरालापान् विसृजतामन्योन्यमभिगच्छताम् ॥ २८ ॥
चापानि विस्फारयतां जृम्भतां चाप्यभीक्ष्णशः ।
विप्रघुष्टस्वनानां च दुन्दुभींश्चापि निघ्नताम् ॥ २९ ॥
तेषां सुतुमुलः शब्दः पूरयामास तद् वनम् ।

वे राक्षस-सैनिक वीरोचित वार्तालाप करते, युद्धका ढंग बतानेके लिये एक-दूसरेके सामने जाते, धनुषोंको खींचकर उनकी टंकार फैलाते, बारंबार मदमत्त होकर उछलते, जोर-जोरसे गर्जना करते और नगाड़े पीटते थे। उनका वह अत्यन्त तुमुल नाद उस वनमें सब ओर गूँजने लगा ॥

तेन शब्देन वित्रस्ताः श्वापदा वनचारिणः ॥ ३० ॥
दुद्रुवुर्यत्र निःशब्दं पृष्ठतो नावलोकयन् ।

उस शब्दसे डरे हुए वनचारी हिंसक जन्तु उस वनमें गये, जहाँ किसी प्रकारका कोलाहल नहीं सुनायी पड़ता था। वे वनजन्तु भयके मारे पीछे फिरकर देखते भी नहीं थे ॥ ३०½ ॥

तच्चानीकं महावेगं रामं समनुवर्तत ॥ ३१ ॥
धृतनानाप्रहरणं गम्भीरं सागरोपमम् ।

वह सेना बड़े वेगसे श्रीरामकी ओर चली। उसमें नाना प्रकारके आयुध धारण करनेवाले सैनिक थे। वह समुद्रके समान गम्भीर दिखायी देती थी ॥ ३१½ ॥

रामोऽपि चारयंश्चक्षुः सर्वतो रणपण्डितः ॥ ३२ ॥
ददर्श खरसैन्यं तद् युद्धायाभिमुखो गतः ।

युद्धकलाके विद्वान् श्रीरामचन्द्रजीने भी चारों ओर दृष्टि-पात करते हुए खरकी सेनाका निरीक्षण किया और वे युद्धके लिये उसके सामने बढ़ गये ॥ ३२½ ॥

वितत्य च धनुर्भीमं तूण्याश्चोद्धृत्य सायकान् ॥ ३३ ॥
क्रोधमाहारयत् तीव्रं वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।
दुष्प्रेक्ष्यश्चाभवत् क्रुद्धो युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥ ३४ ॥

फिर उन्होंने तरकससे अनेक बाण निकाले और अपने भयंकर धनुषको खींचकर सम्पूर्ण राक्षसोंका वध करनेके लिये तीव्र क्रोध प्रकट किया। कुपित होनेपर वे प्रलयकालिक अग्निके समान प्रज्वलित होने लगे। उस समय उनकी ओर देखना भी कठिन हो गया ॥ ३३-३४ ॥

तं दृष्ट्वा तेजसाऽऽविष्टं प्राव्यथन् वनदेवताः ।
तस्य रुष्टस्य रूपं तु रामस्य ददृशे तदा ।
दक्षस्येव क्रतुं हन्तुमुद्यतस्य पिनाकिनः ॥ ३५ ॥

तेजसे आविष्ट हुए श्रीरामको देखकर वनके देवता व्यथित हो उठे। उस समय रोषमें भरे हुए श्रीरामका रूप दक्षयज्ञका विनाश करनेके लिये उद्यत हुए पिनाकधारी महादेवजीके समान दिखायी देने लगा ॥ ३५ ॥

तत्कार्मुकैराभरणै रथैश्च
तद्वर्मभिश्चाग्निसमानवर्णैः ।
बभूव सैन्यं पिशिताशनानां
सूर्योदये नीलमिवाभ्रजालम् ॥ ३६ ॥

धनुषों, आभूषणों, रथों और अग्निके समान कान्तिवाले चमकीले कवचोंसे युक्त वह पिशाचोंकी सेना सूर्योदयकालमें नीले मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होती थी ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

राक्षसोंका श्रीरामपर आक्रमण और श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा राक्षसोंका संहार

अवष्टब्धधनुं रामं क्रुद्धं तं रिपुघातिनम् ।
ददर्शाश्रममागम्य खरः सह पुरःसरैः ॥ १ ॥
तं दृष्ट्वा सगुणं चापमुद्यम्य खरनिःस्वनम् ।
रामस्याभिमुखं सूतं चोद्यतामित्यचोदयत् ॥ २ ॥

खरने अपने अग्रगामी सैनिकोंके साथ आश्रमके पास पहुँचकर क्रोधमें भरे हुए शत्रुघाती श्रीरामको देखा, जो हाथमें धनुष लिये खड़े थे। उन्हें देखते ही अपने तीव्र टंकार करनेवाले प्रत्यञ्चासहित धनुषको उठाकर सूतको आज्ञा दी—'मेरा रथ रामके सामने ले चलो' ॥ १-२ ॥

स खरस्याज्ञया सूतस्तुरगान् समचोदयत् ।
यत्र रामो महाबाहुरेको धुन्वन् धनुः स्थितः ॥ ३ ॥

खरकी आज्ञासे सारथिने घोड़ोंको उधर ही बढ़ाया, जहाँ महाबाहु श्रीराम अकेले खड़े होकर अपने धनुषकी टंकार कर रहे थे ॥ ३ ॥

तं तु निष्पतितं दृष्ट्वा सर्वतो रजनीचराः ।
मुञ्चमाना महानादं सचिवाः पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

खरको श्रीरामके समीप पहुँचा देख श्येनगामी आदि उसके निशाचर मन्त्री भी बड़े जोरसे सिंहनाद करके उसे चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

स तेषां यातुधानानां मध्ये रथगतः खरः ।
बभूव मध्ये ताराणां लोहिताङ्ग इवोदितः ॥ ५ ॥

उन राक्षसोंके बीचमें रथपर बैठा हुआ खर तारोंके मध्यभागमें उगे हुए मङ्गलकी भाँति शोभा पा रहा था ॥ ५ ॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम् ।
अर्दयित्वा महानादं ननाद समरे खरः ॥ ६ ॥

उस समय खरने समराङ्गणमें सहस्रों बाणोंद्वारा अप्रतिम बलशाली श्रीरामको पीड़ित-सा करके बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ६ ॥

ततस्तं भीमधन्वानं क्रुद्धाः सर्वे निशाचराः ।
रामं नानाविधैः शस्त्रैरभ्यवर्षन्त दुर्जयम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए समस्त निशाचर भयंकर धनुष धारण करनेवाले दुर्जय वीर श्रीरामपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥

मुद्गरैरायसैः शूलैः प्रासैः खड्गैः परश्वधैः ।
राक्षसाः समरे शूरं निजघ्नू रोषतत्पराः ॥ ८ ॥

उस समराङ्गणमें रुष्ट हुए राक्षसोंने शूरवीर श्रीरामपर लोहेके मुद्गरों, शूलों, प्रासों, खड्गों और फरसोंद्वारा प्रहार किया ॥

ते बलाहकसंकाशा महाकाया महाबलाः ।
अभ्यधावन्त काकुत्स्थं रथैर्वाजिभिरेव च ॥ ९ ॥
गजैः पर्वतकूटाभै रामं युद्धे जिघांसवः ।

वे मेघोंके समान काले, विशालकाय और महाबली निशाचर रथों, घोड़ों और पर्वतशिखरके समान गजराजोंद्वारा ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामपर चारों ओरसे टूट पड़े। वे युद्धमें उन्हें मार डालना चाहते थे ॥ ९½ ॥

ते रामे शरवर्षाणि व्यसृजन् रक्षसां गणाः ॥ १० ॥
शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणा महाघनाः ।

जैसे बड़े-बड़े मेघ गिरिराजपर जलकी धाराएँ बरसा रहे हों, उसी प्रकार वे राक्षसगण श्रीरामपर बाणोंकी वृष्टि कर रहे थे ॥ १०½ ॥

सर्वैः परिवृतो रामो राक्षसैः क्रूरदर्शनैः ॥ ११ ॥
तिथिष्विव महादेवो वृतः पारिषदां गणैः ।

क्रूरतापूर्ण दृष्टिसे देखनेवाले उन सभी राक्षसोंने श्रीरामको उसी प्रकार घेर रक्खा था, जैसे प्रदोषसंज्ञक तिथियोंमें भगवान् शिवके पार्षदगण उन्हें घेरे रहते हैं ॥ ११½ ॥

तानि मुक्तानि शस्त्राणि यातुधानैः स राघवः ॥ १२ ॥
प्रतिजग्राह विशिखैर्नद्योघानिव सागरः ।

श्रीरघुनाथजीने राक्षसोंके छोड़े हुए उन अस्त्र-शस्त्रोंको अपने बाणोंद्वारा उसी तरह ग्रस लिया, जैसे समुद्र नदियोंके प्रवाहको आत्मसात् कर लेता है ॥ १२½ ॥

स तैः प्रहरणैर्घोरैर्भिन्नगात्रो न विव्यथे ॥ १३ ॥
रामः प्रदीप्तैर्बहुभिर्वज्रैरिव महाचलः ।

उन राक्षसोंके घोर अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारसे यद्यपि श्रीरामका शरीर क्षत-विक्षत हो गया था तो भी वे व्यथित या विचलित नहीं हुए, जैसे बहुसंख्यक दीप्तिमान् वज्रोंके आघात सहकर भी महान् पर्वत अडिग बना रहता है ॥

स विद्धः क्षतजादिग्धः सर्वगात्रेषु राघवः ॥ १४ ॥

बभूव रामः संध्याभ्रैर्दिवाकर इवावृतः ।

श्रीरघुनाथजीके सारे अङ्गोंमें अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे घाव हो गया था । वे लहू-लुहान हो रहे थे, अतः उस समय संध्याकालके बादलोंसे घिरे हुए सूर्यदेवके समान शोभा पा रहे थे ॥ १४½ ॥

विषेदुर्देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ १५ ॥
एकं सहस्रैर्बहुभिस्तदा दृष्ट्वा समावृतम् ।

श्रीराम अकेले थे । उस समय उन्हें अनेक सहस्र शत्रुओंसे घिरा हुआ देख देवता, सिद्ध, गन्धर्व और महर्षि विषादमें डूब गये ॥ १५½ ॥

ततो रामस्तु संक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः ॥ १६ ॥
ससर्ज निशितान् बाणाञ्छतशोऽथ सहस्रशः ।
दुरावारान् दुर्विषहान् कालपाशोपमान् रणे ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त कुपित हो अपने धनुषको इतना खींचा कि वह गोलाकार दिखायी देने लगा । फिर तो वे उस धनुषसे रणभूमिमें सैकड़ों, हजारों ऐसे पैने बाण छोड़ने लगे, जिन्हें रोकना सर्वथा कठिन था, जो दुःसह होनेके साथ ही कालपाशके समान भयंकर थे ॥ १६-१७ ॥

मुमोच लीलया कङ्कपत्रान् काञ्चनभूषणान् ।
ते शराः शत्रुसैन्येषु मुक्ता रामेण लीलया ॥ १८ ॥
आददू रक्षसां प्राणान् पाशाः कालकृता इव ।

उन्होंने खेल-खेलमें ही चीलके परोंसे युक्त असंख्य सुवर्णभूषित बाण छोड़े । शत्रुके सैनिकोंपर श्रीरामद्वारा लीलापूर्वक छोड़े गये वे बाण कालपाशके समान राक्षसोंके प्राण लेने लगे ॥ १८½ ॥

भित्त्वा राक्षसदेहांस्तांस्ते शरा रुधिराप्लुताः ॥ १९ ॥
अन्तरिक्षगता रेजुर्दीप्ताग्निसमतेजसः ।

राक्षसोंके शरीरोंको छेदकर खूनमें डूबे हुए वे बाण जब आकाशमें पहुँचते, तब प्रज्वलित अग्निके समान तेजसे प्रकाशित होने लगते थे ॥ १९½ ॥

असंख्येयास्तु रामस्य सायकाश्चापमण्डलात् ॥ २० ॥
विनिष्पेतुरतीवोग्रा रक्षःप्राणापहारिणः ।

श्रीरामके मण्डलाकार धनुषसे अत्यन्त भयंकर और राक्षसोंके प्राण लेनेवाले असंख्य बाण छूटने लगे ॥ २०½ ॥

तैर्धनूंषि ध्वजाग्राणि चर्माणि कवचानि च ॥ २१ ॥
बाहून् सहस्ताभरणानूरून् करिकरोपमान् ।
चिच्छेद रामः समरे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २२ ॥

उन बाणोंद्वारा श्रीरामने समराङ्गणमें शत्रुओंके सैकड़ों-हजारों धनुष, ध्वजाओंके अग्रभाग, ढाल, कवच, आभूषणोंसहित भुजाएँ तथा हाथीकी सूँड़के समान जाँघें काट डालीं ॥ २१-२२ ॥

हयान् काञ्चनसंनाहान् रथयुक्तान् ससारथीन् ।
गजांश्च सगजारोहान् सहयान् सादिनस्तदा ॥ २३ ॥
चिच्छिदुर्बिभिदुश्चैव रामबाणा गुणच्युताः ।
पदातीन् समरे हत्वा ह्यनयद् यमसादनम् ॥ २४ ॥

प्रत्यञ्चासे छूटे हुए श्रीरामके बाणोंने उस समय सोनेके साज-बाज एवं कवचसे सजे और रथोंमें जुते हुए घोड़ों, सारथियों, हाथियों, हाथीसवारों, घोड़ों और घुड़सवारोंको भी छिन्न-भिन्न कर डाला । इसी प्रकार श्रीरामने समरभूमिमें पैदल सैनिकोंको भी मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥ २३-२४ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
भीममार्तस्वरं चक्रुश्छिद्यमाना निशाचराः ॥ २५ ॥

उस समय उनके नालीक, नाराच और तीखे अग्रभागवाले विकर्णी नामक बाणोंद्वारा छिन्न-भिन्न होते हुए निशाचर भयंकर आर्तनाद करने लगे ॥ २५ ॥

तत्सैन्यं विविधैर्बाणैरर्दितं मर्मभेदिभिः ।
न रामेण सुखं लेभे शुष्कं वनमिवाग्निना ॥ २६ ॥

श्रीरामके चलाये हुए नाना प्रकारके मर्मभेदी बाणोंद्वारा पीड़ित हुई वह राक्षससेना आगसे जलते हुए सूखे वनकी भाँति सुख-शान्ति नहीं पाती थी ॥ २६ ॥

केचिद् भीमबलाः शूराः प्रासाञ्छूलान् परश्वधान् ।
चिक्षिपुः परमक्रुद्धा रामाय रजनीचराः ॥ २७ ॥

कुछ भयंकर बलशाली शूरवीर निशाचर अत्यन्त कुपित हो श्रीरामपर प्रासों, शूलों और फरसोंका प्रहार करने लगे ॥

तेषां बाणैर्महाबाहुः शस्त्राण्यावार्य वीर्यवान् ।
जहार समरे प्राणांश्चिच्छेद च शिरोधरान् ॥ २८ ॥

परंतु पराक्रमी महाबाहु श्रीरामने रणभूमिमें अपने बाणोंद्वारा उनके उन अस्त्र-शस्त्रोंको रोककर उनके गले काट डाले और प्राण हर लिये ॥ २८ ॥

ते छिन्नशिरसः पेतुश्छिन्नचर्मशरासनाः ।
सुपर्णवातविक्षिप्ता जगत्यां पादपा यथा ॥ २९ ॥
अवशिष्टाश्च ये तत्र विषण्णास्ते निशाचराः ।
खरमेवाभ्यधावन्त शरणार्थं शराहताः ॥ ३० ॥

सिर, ढाल और धनुषके कट जानेपर वे निशाचर गरुड़के पंखकी हवासे टूटकर गिरनेवाले नन्दनवनके वृक्षोंकी भाँति धराशायी हो गये । जो बचे थे, वे राक्षस भी श्रीरामके बाणोंसे आहत हो विषादमें डूब गये और अपनी रक्षाके लिये खरके पास ही दौड़े गये ॥ २९-३० ॥

तान् सर्वान् धनुरादाय समाश्वास्य च दूषणः ।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धः क्रुद्धं क्रुद्ध इवान्तकः ॥ ३१ ॥

परंतु बीचमें दूषणने धनुष लेकर उन सबको आश्वासन

दिया और अत्यन्त कुपित हो रोषमें भरे हुए यमराजकी भाँति वह क्रुद्ध होकर युद्धके लिये डटे हुए श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दौड़ा ॥ ३१ ॥

निवृत्तास्तु पुनः सर्वे दूषणाश्रयनिर्भयाः ।
राममेवाभ्यधावन्त सालतालशिलायुधाः ॥ ३२ ॥

दूषणका सहारा मिल जानेसे निर्भय हो वे सब-के-सब फिर लौट आये और साखू, ताड़ आदिके वृक्ष तथा पत्थर लेकर पुनः श्रीरामपर ही टूट पड़े ॥ ३२ ॥

शूलमुद्गरहस्ताश्च पाशहस्ता महाबलाः ।
सृजन्तः शरवर्षाणि शस्त्रवर्षाणि संयुगे ॥ ३३ ॥

उस युद्धस्थलमें अपने हाथोंमें शूल, मुद्गर और पाश धारण किये वे महाबली निशाचर बाणों तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

द्रुमवर्षाणि मुञ्चन्तः शिलावर्षाणि राक्षसाः ।
तद् बभूवाद्भुतं युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ ३४ ॥
रामस्यास्य महाघोरं पुनस्तेषां च रक्षसाम् ।

कोई राक्षस वृक्षोंकी वर्षा करने लगे तो कोई पत्थरोंकी । उस समय इन श्रीराम और उन निशाचरोंमें पुनः बड़ा ही अद्भुत, महाभयंकर, घमासान और रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ ३४½ ॥

ते समन्तादभिक्रुद्धा राघवं पुनरार्दयन् ॥ ३५ ॥
ततः सर्वा दिशो दृष्ट्वा प्रदिशश्च समावृताः ।
राक्षसैः सर्वतः प्राप्तैः शरवर्षाभिरावृतः ॥ ३६ ॥
स कृत्वा भैरवं नादमस्त्रं परमभास्वरम् ।
समयोजयद् गान्धर्वं राक्षसेषु महाबलः ॥ ३७ ॥

वे राक्षस कुपित होकर चारों ओरसे पुनः श्रीरामचन्द्रजीको पीड़ित करने लगे । तब सब ओरसे आये हुए राक्षसोंसे सम्पूर्ण दिशाओं और उपदिशाओंको घिरी हुई देख बाण-वर्षासे आच्छादित हुए महाबली श्रीरामने भैरव-नाद करके उन राक्षसोंपर परम तेजस्वी गान्धर्व नामक अस्त्रका प्रयोग किया ॥ ३५-३७ ॥

ततः शरसहस्राणि निर्ययुश्चापमण्डलात् ।
सर्वा दश दिशो बाणैरापूर्यन्त समागतैः ॥ ३८ ॥

फिर तो उनके मण्डलाकार धनुषसे सहस्रों बाण छूटने लगे । उन बाणोंसे दसों दिशाएँ पूर्णतः आच्छादित हो गयीं ॥ ३८ ॥

नाददानं शरान् घोरान् विमुञ्चन्तं शरोत्तमान् ।
विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसास्ते शरार्दिताः ॥ ३९ ॥

बाणोंसे पीड़ित राक्षस यह नहीं देख पाते थे कि श्रीरामचन्द्रजी कब भयंकर बाण हाथमें लेते हैं और कब उन उत्तम बाणोंको छोड़ देते हैं । वे केवल उनको धनुष खींचते देखते थे ॥ ३९ ॥

शरान्धकारमाकाशमावृणोत् सदिवाकरम् ।
बभूवावस्थितो रामः प्रक्षिपन्निव ताञ्छरान् ॥ ४० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके बाणसमुदायरूपी अन्धकारने सूर्यसहित सारे आकाशमण्डलको ढक दिया । उस समय श्रीराम उन बाणोंको लगातार छोड़ते हुए एक स्थानपर खड़े थे ॥ ४० ॥

युगपत्पतमानैश्च युगपच्च हतैर्भृशम् ।
युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाभवत् ॥ ४१ ॥

एक ही समय बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल हो एक साथ ही गिरते और गिरे हुए बहुसंख्यक राक्षसोंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि पट गयी ॥ ४१ ॥

निहताः पतिताः क्षीणाश्छिन्ना भिन्ना विदारिताः ।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते राक्षसास्ते सहस्रशः ॥ ४२ ॥

जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती थी, वहीं-वहीं वे हजारों राक्षस मरे, गिरे, क्षीण हुए, कटे-पिटे और विदीर्ण हुए दिखायी देते थे ॥ ४२ ॥

सोष्णीषैरुत्तमाङ्गैश्च साङ्गदैर्बाहुभिस्तथा ।
ऊरुभिर्बाहुभिश्छिन्नैर्नानारूपैर्विभूषणैः ॥ ४३ ॥
हयैश्च द्विपमुख्यैश्च रथैर्भिन्नैरनेकशः ।
चामरव्यजनैश्छत्रैर्ध्वजैर्नानाविधैरपि ॥ ४४ ॥
रामेण बाणाभिहतैर्विच्छिन्नैः शूलपट्टिशैः ।
खड्गैः खण्डीकृतैः प्रासैर्विकीर्णैश्च परश्वधैः ॥ ४५ ॥
चूर्णिताभिः शिलाभिश्च शरैश्चित्रैरनेकशः ।
विच्छिन्नैः समरे भूमिर्विस्तीर्णाभूद् भयंकरा ॥ ४६ ॥

वहाँ श्रीरामके बाणोंसे कटे हुए पगड़ियोंसहित मस्तकों, बाजूबंदसहित भुजाओं, जाँघों, बाँहों, भाँति-भाँतिके आभूषणों, घोड़ों, श्रेष्ठ हाथियों, टूटे-फूटे अनेकानेक रथों, चँवरों, व्यजनों, छत्रों, नाना प्रकारकी ध्वजाओं, छिन्न-भिन्न हुए शूलों, पट्टिशों, खण्डित खड्गों, बिखरे प्रासों, फरसों, चूर-चूर हुई शिलाओं तथा टुकड़े-टुकड़े हुए बहुतेरे विचित्र बाणोंसे पटी हुई वह समरभूमि अत्यन्त भयंकर दिखायी देती थी ॥ ४३-४६ ॥

तान् दृष्ट्वा निहतान् सर्वे राक्षसाः परमातुराः ।
न तत्र चलितुं शक्ता रामं परपुरंजयम् ॥ ४७ ॥

उन सबको मारा गया देख शेष राक्षस अत्यन्त आतुर हो वहाँ शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले श्रीरामके सम्मुख जानेमें असमर्थ हो गये ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा दूषणसहित चौदह सहस्र राक्षसोंका वध

दूषणस्तु स्वकं सैन्यं हन्यमानं विलोक्य च ।
संदिदेश महाबाहुर्भीमवेगान् दुरासदान् ॥ १ ॥
राक्षसान् पञ्चसाहस्रान् समरेष्वनिवर्तिनः ।

महाबाहु दूषणने जब देखा कि मेरी सेना बुरी तरहसे मारी जा रही है, तब उसने युद्धसे पीछे पैर न हटानेवाले भयंकर वेगशाली पाँच हजार राक्षसोंको, जिन्हें जीतना बड़ा ही कठिन था, आगे बढ़नेकी आज्ञा दी ॥ १½ ॥

ते शूलैः पट्टिशैः खड्गैः शिलावर्षैर्द्रुमैरपि ॥ २ ॥
शरवर्षैरविच्छिन्नं ववर्षुस्तं समन्ततः ।

वे श्रीरामपर चारों ओरसे शूल, पट्टिश, तलवार, पत्थर, वृक्ष और बाणोंकी लगातार वर्षा करने लगे ॥ २½ ॥

तद् द्रुमाणां शिलानां च वर्षं प्राणहरं महत् ॥ ३ ॥
प्रति जग्राह धर्मात्मा राघवस्तीक्ष्णसायकैः ।

यह देख धर्मात्मा श्रीरघुनाथजीने वृक्षों और शिलाओंकी उस प्राणहारिणी महावृष्टिको अपने तीखे सायकोंद्वारा रोका ॥ ३½ ॥

प्रतिगृह्य च तद् वर्षं निमीलित इवर्षभः ॥ ४ ॥
रामः क्रोधं परं लेभे वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।

उस सारी वर्षाको रोककर आँख मूँदे हुए साँड़की भाँति अविचल भावसे खड़े हुए श्रीरामने समस्त राक्षसोंके वधके लिये महान् क्रोध धारण किया ॥ ४½ ॥

ततः क्रोधसमाविष्टः प्रदीप्त इव तेजसा ॥ ५ ॥
शरैरभ्यकिरत् सैन्यं सर्वतः सहदूषणम् ।

क्रोधसे युक्त और तेजसे उद्दीप्त हुए श्रीरामने दूषण-सहित सारी राक्षस-सेनापर चारों ओरसे बाणकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ५½ ॥

ततः सेनापतिः क्रुद्धो दूषणः शत्रुदूषणः ॥ ६ ॥
शरैरशनिकल्पैस्तं राघवं समवारयत् ।

इससे शत्रुदूषण सेनापति दूषणको बड़ा क्रोध हुआ और उसने वज्रके समान बाणोंसे श्रीरामचन्द्रजीको रोका ॥ ६½ ॥

ततो रामः सुसंक्रुद्धः क्षुरेणास्य महद् धनुः ॥ ७ ॥
चिच्छेद समरे वीरश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
हत्वा चाश्वाञ्शरैस्तीक्ष्णैरर्धचन्द्रेण सारथेः ॥ ८ ॥
शिरो जहार तद्रक्षस्त्रिभिर्विव्याध वक्षसि ।

तब अत्यन्त कुपित हुए वीर श्रीरामने समराङ्गणमें क्षुरनामक बाणसे दूषणके विशाल धनुषको काट डाला और चार तीखे सायकोंसे उसके चारों घोड़ोंको मौतके घाट उतारकर एक अर्धचन्द्राकार बाणसे सारथिका भी सिर उड़ा दिया तथा तीन बाणोंसे उस राक्षसकी भी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ७-८½ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ॥ ९ ॥
जग्राह गिरिशृङ्गाभं परिघं रोमहर्षणम् ।
वेष्टितं काञ्चनैः पट्टैर्देवसैन्याभिमर्दनम् ॥ १० ॥

धनुष कट जाने और घोड़ों तथा सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए दूषणने पर्वतशिखरके समान एक रोमाञ्चकारी परिघ हाथमें लिया, जिसके ऊपर सोनेके पत्र मढ़े गये थे। वह परिघ देवताओंकी सेनाको भी कुचल डालनेवाला था ॥ ९-१० ॥

आयसैः शङ्कुभिस्तीक्ष्णैः कीर्णं परवसोक्षितम् ।
वज्राशनिसमस्पर्शं परगोपुरदारणम् ॥ ११ ॥

उसपर चारों ओरसे लोहेकी तीखी कीलें लगी हुई थीं। वह शत्रुओंकी चर्बीसे लिपटा हुआ था। उसका स्पर्श हीरे तथा वज्रके समान कठोर एवं असह्य था। वह शत्रुओंके नगरद्वारको विदीर्ण कर डालनेमें समर्थ था ॥ ११ ॥

तं महोरगसंकाशं प्रगृह्य परिघं रणे ।
दूषणोऽभ्यपतद् रामं क्रूरकर्मा निशाचरः ॥ १२ ॥

रणभूमिमें बहुत बड़े सर्पके समान भयंकर उस परिघको हाथमें लेकर वह क्रूरकर्मा निशाचर दूषण श्रीरामपर टूट पड़ा ॥ १२ ॥

तस्याभिपतमानस्य दूषणस्य च राघवः ।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद सहस्ताभरणौ भुजौ ॥ १३ ॥

उसे अपने ऊपर आक्रमण करते देख श्रीरामचन्द्रजीने दो बाणोंसे आभूषणोंसहित उसकी दोनों भुजाएँ काट डालीं ॥ १३ ॥

भ्रष्टस्तस्य महाकायः पपात रणमूर्धनि ।
परिघश्छिन्नहस्तस्य शक्रध्वज इवाग्रतः ॥ १४ ॥

युद्धके मुहानेपर जिसकी दोनों भुजाएँ कट गयी थीं, उस दूषणके हाथसे खिसककर वह विशालकाय परिघ इन्द्रध्वजके समान सामने गिर पड़ा ॥ १४ ॥

कराभ्यां च विकीर्णाभ्यां पपात भुवि दूषणः ।
विषाणाभ्यां विशीर्णाभ्यां मनस्वीव महागजः ॥ १५ ॥

जैसे दोनों दाँतोंके उखाड़ लिये जानेपर महान् मनस्वी गजराज उनके साथ ही धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार कटकर गिरी हुई अपनी भुजाओंके साथ ही दूषण भी पृथ्वी-पर गिर पड़ा ॥ १५ ॥

दृष्ट्वा तं पतितं भूमौ दूषणं निहतं रणे।
साधु साध्विति काकुत्स्थं सर्वभूतान्यपूजयन्॥ १६॥

रणभूमिमें मारे गये दूषणको धराशायी हुआ देख समस्त प्राणियोंने 'साधु-साधु' कहकर भगवान् श्रीरामकी प्रशंसा की॥ १६॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धास्त्रयः सेनाग्रयायिनः।
संहत्याभ्यद्रवन् रामं मृत्युपाशावपाशिताः॥ १७॥
महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी च महाबलः।

इसी समय सेनाके आगे चलनेवाले महाकपाल, स्थूलाक्ष और महाबली प्रमाथी—ये तीन राक्षस कुपित हो मौतके फंदेमें फँसकर संगठितरूपसे श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर टूट पड़े॥ १७½॥

महाकपालो विपुलं शूलमुद्यम्य राक्षसः॥ १८॥
स्थूलाक्षः पट्टिशं गृह्य प्रमाथी च परश्वधम्।

राक्षस महाकपालने एक विशाल शूल उठाया, स्थूलाक्षने पट्टिश हाथमें लिया और प्रमाथीने फरसा सँभालकर आक्रमण किया॥ १८½॥

दृष्ट्वैवापततस्तांस्तु राघवः सायकैः शितैः॥ १९॥
तीक्ष्णाग्रैः प्रतिजग्राह सम्प्राप्तानतिथीनिव।

उन तीनोंको अपनी ओर आते देख भगवान् श्रीरामने तीखे अग्रभागवाले पैने सायकोंद्वारा द्वारपर आये हुए अतिथियोंके समान उनका स्वागत किया॥ १९½॥

महाकपालस्य शिरश्चिच्छेद रघुनन्दनः॥ २०॥
असंख्येयैस्तु बाणौघैः प्रममाथ प्रमाथिनम्।
स्थूलाक्षस्याक्षिणी स्थूले पूरयामास सायकैः॥ २१॥

श्रीरघुनन्दनने महाकपालका सिर एवं कपाल उड़ा दिया। प्रमाथीको असंख्य बाणसमूहोंसे मथ डाला और स्थूलाक्षकी स्थूल आँखोंको सायकोंसे भर दिया॥ २०-२१॥

स पपात हतो भूमौ विटपीव महाद्रुमः।
दूषणस्यानुगान् पञ्चसाहस्रान् कुपितः क्षणात्॥ २२॥
हत्वा तु पञ्चसाहस्रैरनयद् यमसादनम्।

तीनों अग्रगामी सैनिकोंका वह समूह अनेक शाखावाले विशाल वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने कुपित हो दूषणके अनुयायी पाँच हजार राक्षसोंको उतने ही बाणोंका निशाना बनाकर क्षणभरमें यमलोक पहुँचा दिया॥ २२½॥

दूषणं निहतं श्रुत्वा तस्य चैव पदानुगान्॥ २३॥
व्यादिदेश खरः क्रुद्धः सेनाध्यक्षान् महाबलान्।
अयं विनिहतः संख्ये दूषणः सपदानुगः॥ २४॥
महत्या सेनया सार्धं युद्ध्वा रामं कुमानुषम्।
शस्त्रैर्नानाविधाकारैर्हनध्वं सर्वराक्षसाः॥ २५॥

दूषण और उसके अनुयायी मारे गये—यह सुनकर खरको बड़ा क्रोध हुआ। उसने अपने महाबली सेनापतियोंको आज्ञा दी—'वीरो! यह दूषण अपने सेवकोंसहित युद्धमें मार डाला गया। अतः अब तुम सभी राक्षस बहुत बड़ी सेनाके साथ धावा करके इस दुष्ट मनुष्य रामके साथ युद्ध करो और नाना प्रकारके शस्त्रोंद्वारा इसका वध कर डालो'॥ २३—२५॥

एवमुक्त्वा खरः क्रुद्धो राममेवाभिदुद्रुवे।
श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहंगमः॥ २६॥
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः।
हेममाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः॥ २७॥
द्वादशैते महावीर्या बलाध्यक्षाः ससैनिकाः।
राममेवाभ्यधावन्त विसृजन्तः शरोत्तमान्॥ २८॥

ऐसा कहकर कुपित हुए खरने श्रीरामपर ही धावा किया। साथ ही श्येनगामी, पृथुग्रीव, यज्ञशत्रु, विहङ्गम, दुर्जय, करवीराक्ष, परुष, कालकार्मुक, हेममाली, महामाली, सर्पास्य तथा रुधिराशन—ये बारह महापराक्रमी सेनापति भी उत्तम बाणोंकी वर्षा करते हुए अपने सैनिकोंके साथ श्रीरामपर ही टूट पड़े॥ २६—२८॥

ततः पावकसंकाशैर्हेमवज्रविभूषितैः।
जघान शेषं तेजस्वी तस्य सैन्यस्य सायकैः॥ २९॥

तब तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने सोने और हीरोंसे विभूषित अग्नितुल्य तेजस्वी सायकोंद्वारा उस सेनाके बचे-खुचे सिपाहियोंका भी संहार कर डाला॥ २९॥

ते रुक्मपुङ्खा विशिखाः सधूमा इव पावकाः।
निजघ्नुस्तानि रक्षांसि वज्रा इव महाद्रुमान्॥ ३०॥

जैसे वज्र बड़े-बड़े वृक्षोंको नष्ट कर डालते हैं, उसी प्रकार धूमयुक्त अग्निके समान प्रतीत होनेवाले उन सोनेकी पाँखवाले बाणोंने उन समस्त राक्षसोंका विनाश कर डाला॥

रक्षसां तु शतं रामः शतेनैकेन कर्णिना।
सहस्रं तु सहस्रेण जघान रणमूर्धनि॥ ३१॥

उस युद्धके मुहानेपर श्रीरामने कर्णिनामक सौ बाणोंसे सौ राक्षसोंका और सहस्र बाणोंसे सहस्र निशाचरोंका एक साथ ही संहार कर डाला॥ ३१॥

तैर्भिन्नवर्माभरणाश्छिन्नभिन्नशरासनाः।
निपेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां रजनीचराः॥ ३२॥

उन बाणोंसे निशाचरोंके कवच, आभूषण और धनुष छिन्न-भिन्न हो गये तथा वे खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ३२॥

तैर्मुक्तकेशैः समरे पतितैः शोणितोक्षितैः।
विस्तीर्णा वसुधा कृत्स्ना महावेदिः कुशैरिव॥ ३३॥

कुशोंसे ढकी हुई विशाल वेदीके समान युद्धमें लोहूलुहान होकर गिरे हुए खुले केशवाले राक्षसोंसे सारी रणभूमि पट गयी ॥ ३३ ॥

तत्क्षणे तु महाघोरं वनं निहतराक्षसम्।
बभूव निरयप्रख्यं मांसशोणितकर्दमम् ॥ ३४ ॥

राक्षसोंके मारे जानेसे उस समय वहाँ रक्त और मांसकी कीचड़ जम गयी; अतः वह महाभयंकर वन नरकके समान प्रतीत होने लगा ॥ ३४ ॥

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
हतान्येकेन रामेण मानुषेण पदातिना ॥ ३५ ॥

मानवरूपधारी श्रीराम अकेले और पैदल थे, तो भी उन्होंने भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंको तत्काल मौतके घाट उतार दिया ॥ ३५ ॥

तस्य सैन्यस्य सर्वस्य खरः शेषो महारथः।
राक्षसस्त्रिशिराश्चैव रामश्च रिपुसूदनः ॥ ३६ ॥

उस समूची सेनामें केवल महारथी खर और त्रिशिरा—ये दो ही राक्षस बच रहे। उधर शत्रुसंहारक भगवान् श्रीराम ज्यों-के-त्यों युद्धके लिये डटे रहे ॥ ३६ ॥

शेषा हता महावीर्या राक्षसा रणमूर्धनि।
घोरा दुर्विषहाः सर्वे लक्ष्मणस्याग्रजेन ते ॥ ३७ ॥

उपर्युक्त दो राक्षसोंको छोड़कर शेष सभी निशाचर, जो महान् पराक्रमी, भयंकर और दुर्धर्ष थे, युद्धके मुहानेपर लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरामके हाथों मारे गये ॥ ३७ ॥

ततस्तु तद्भीमबलं महाहवे
समीक्ष्य रामेण हतं बलीयसा।
रथेन रामं महता खरस्ततः
समाससादेन्द्र इवोद्यताशनिः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर महासमरमें महाबली श्रीरामके द्वारा अपनी भयंकर सेनाको मारी गयी देख खर एक विशाल रथके द्वारा श्रीरामका सामना करनेके लिये आया, मानो वज्रधारी इन्द्रने किसी शत्रुपर आक्रमण किया हो ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

त्रिशिराका वध

खरं तु रामाभिमुखं प्रयान्तं वाहिनीपतिः।
राक्षसस्त्रिशिरा नाम संनिपत्येदमब्रवीत् ॥ १ ॥

खरको भगवान् श्रीरामके सम्मुख जाते देख सेनापति राक्षस त्रिशिरा तुरंत उसके पास आ पहुँचा और इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

मां नियोजय विक्रान्तं त्वं निवर्तस्व साहसात्।
पश्य रामं महाबाहुं संयुगे विनिपातितम् ॥ २ ॥

'राक्षसराज! मुझ पराक्रमी वीरको इस युद्धमें लगाइये और स्वयं इस साहसपूर्ण कार्यसे अलग रहिये। देखिये, मैं अभी महाबाहु रामको युद्धमें मार गिराता हूँ ॥ २ ॥

प्रतिजानामि ते सत्यमायुधं चाहमालभे।
यथा रामं वधिष्यामि वधार्हं सर्वरक्षसाम् ॥ ३ ॥

'आपके सामने मैं सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ और अपने हथियार छूकर शपथ खाता हूँ कि जो समस्त राक्षसोंके लिये वधके योग्य हैं, उन रामका मैं अवश्य वध करूँगा ॥ ३ ॥

अहं वास्य रणे मृत्युरेष वा समरे मम।
विनिवर्त्य रणोत्साहं मुहूर्तं प्राश्निको भव ॥ ४ ॥

'इस युद्धमें या तो मैं इनकी मृत्यु बनूँगा या ये ही समराङ्गणमें मेरी मृत्युका कारण होंगे। आप इस समय अपने युद्धविषयक उत्साहको रोककर एक मुहूर्तके लिये जय-पराजयका निर्णय करनेवाले साक्षी बन जाइये ॥ ४ ॥

प्रहृष्टो वा हते रामे जनस्थानं प्रयास्यसि।
मयि वा निहते रामं संयुगाय प्रयास्यसि ॥ ५ ॥

'यदि मेरेद्वारा राम मारे गये तो आप प्रसन्नतापूर्वक जनस्थानको लौट जाइये अथवा यदि रामने ही मुझे मार दिया तो आप युद्धके लिये इनपर धावा बोल दीजियेगा' ॥

खरस्त्रिशिरसा तेन मृत्युलोभात् प्रसादितः।
गच्छ युध्येत्यनुज्ञातो राघवाभिमुखो ययौ ॥ ६ ॥

भगवान्के हाथसे मृत्युका लोभ होनेके कारण जब त्रिशिराने इस प्रकार खरको राजी किया, तब उसने आज्ञा दे दी—'अच्छा जाओ, युद्ध करो।' आज्ञा पाकर वह श्रीरामचन्द्रजीकी ओर चला ॥ ६ ॥

त्रिशिरास्तु रथेनैव वाजियुक्तेन भास्वता।
अभ्यद्रवद् रणे रामं त्रिशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ७ ॥

घोड़े जुते हुए एक तेजस्वी रथके द्वारा त्रिशिराने रणभूमिमें श्रीरामपर आक्रमण किया। उस समय वह तीन शिखरोंवाले पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ७ ॥

शरधारासमूहान् स महामेघ इवोत्सृजन्।
व्यसृजत् सदृशं नादं जलार्द्रस्येव दुन्दुभेः ॥ ८ ॥

उसने आते ही बड़े भारी मेघकी भाँति बाणरूपी धाराओंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी और वह जलसे भीगे हुए नगाड़ेकी तरह विकट गर्जना करने लगा ॥ ८ ॥

आगच्छन्तं त्रिशिरसं राक्षसं प्रेक्ष्य राघवः।
धनुषा प्रतिजग्राह विधुन्वन् सायकाञ्शितान्॥ ९॥

त्रिशिरानामक राक्षसको आते देख श्रीरघुनाथजीने धनुष-के द्वारा पैने बाण छोड़ते हुए उसे अपने प्रतिद्वन्द्वीके रूपमें ग्रहण किया (अथवा उसे आगे बढ़नेसे रोक दिया)॥ ९॥

स सम्प्रहारस्तुमुलो रामत्रिशिरसोस्तदा।
सम्बभूवातिबलिनोः सिंहकुञ्जरयोरिव॥ १०॥

अत्यन्त बलशाली श्रीराम और त्रिशिराका वह संग्राम महाबली सिंह और गजराजके युद्धकी भाँति बड़ा भयंकर प्रतीत होता था॥ १०॥

ततस्त्रिशिरसा बाणैर्ललाटे ताडितस्त्रिभिः।
अमर्षी कुपितो रामः संरब्ध इदमब्रवीत्॥ ११॥

उस समय त्रिशिराने तीन बाणोंसे श्रीरामचन्द्रजीके ललाटको बींध डाला। श्रीराम उसकी यह उद्दण्डता सहन न कर सके। वे कुपित हो रोषावेशमें भरकर इस प्रकार बोले—॥

अहो विक्रमशूरस्य राक्षसस्येदृशं बलम्।
पुष्पैरिव शरैर्योऽहं ललाटेऽस्मि परिक्षतः॥ १२॥
ममापि प्रतिगृह्णीष्व शरांश्चापगुणाच्च्युतान्।

'अहो! पराक्रम प्रकट करनेमें शूरवीर राक्षसका ऐसा ही बल है, जो तुमने फूलों-जैसे बाणोंद्वारा मेरे ललाटपर प्रहार किया है। अच्छा, अब धनुषकी डोरीसे छूटे हुए मेरे बाणोंको भी ग्रहण करो'॥ १२½॥

एवमुक्त्वा सुसंरब्धः शरानाशीविषोपमान्॥ १३॥
त्रिशिरोवक्षसि क्रुद्धो निजघान चतुर्दश।

ऐसा कहकर रोषमें भरे हुए श्रीरामने त्रिशिराकी छातीमें क्रोधपूर्वक चौदह बाण मारे, जो विषधर सर्पोंके समान भयंकर थे॥ १३½॥

चतुर्भिस्तुरगानस्य शरैः संनतपर्वभिः॥ १४॥
न्यपातयत तेजस्वी चतुरस्तस्य वाजिनः।
अष्टभिः सायकैः सूतं रथोपस्थे न्यपातयत्॥ १५॥

तदनन्तर तेजस्वी रघुनाथजीने झुकी गाँठवाले चार बाणों-से उसके चारों घोड़ोंको मार गिराया। फिर आठ सायकोंद्वारा उसके सारथिको भी रथकी बैठकमें ही सुला दिया॥ १४-१५॥

रामश्चिच्छेद बाणेन ध्वजं चास्य समुच्छ्रितम्।
ततो हतरथात् तस्मादुत्पतन्तं निशाचरम्॥ १६॥
चिच्छेद रामस्तं बाणैर्हृदये सोऽभवज्जडः।

इसके बाद श्रीरामने एक बाणसे उसकी ध्वजा भी काट डाली। तदनन्तर जब वह उस नष्ट हुए रथसे कूदने लगा, उसी समय श्रीरघवेन्द्रने अनेक बाणोंद्वारा उस निशाचरकी छाती छेद डाली। फिर तो वह जडवत् हो गया॥ १६½॥

सायकैश्चाप्रमेयात्मा सामर्षस्तस्य रक्षसः॥ १७॥
शिरांस्यपातयत् त्रीणि वेगवद्भिस्त्रिभिः शरैः।

इसके बाद अप्रमेयस्वरूप श्रीरामने अमर्षमें भरकर तीन वेगशाली एवं विनाशकारी बाणोंद्वारा उस राक्षसके तीनों मस्तक काट गिराये॥ १७½॥

स धूमशोणितोद्गारी रामबाणाभिपीडितः॥ १८॥
न्यपतत् पतितैः पूर्वं समरस्थो निशाचरः।

समराङ्गणमें खड़ा हुआ वह निशाचर श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे पीड़ित हो अपने धड़से भापसहित रुधिर उगलता हुआ पहले गिरे हुए मस्तकोंके साथ ही धराशायी हो गया॥

हतशेषास्ततो भग्ना राक्षसाः खरसंश्रयाः॥ १९॥
द्रवन्ति स्म न तिष्ठन्ति व्याघ्रत्रस्ता मृगा इव।

तत्पश्चात् खरकी सेवामें रहनेवाले राक्षस, जो मरनेसे बचे हुए थे, भाग खड़े हुए। वे व्याघ्रसे डरे हुए मृगोंके समान भागते ही चले जाते थे, खड़े नहीं होते थे॥ १९½॥

तान् खरो द्रवतो दृष्ट्वा निवर्त्य रुषितस्त्वरन्।
राममेवाभिदुद्राव राहुश्चन्द्रमसं यथा॥ २०॥

उन्हें भागते देख रोषमें भरे हुए खरने तुरंत लौटाया और जैसे राहु चन्द्रमापर आक्रमण करता है, उसी प्रकार उसने श्रीरामपर ही धावा किया॥ २०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तविंशः सर्गः॥ २७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २७॥

अष्टाविंशः सर्गः

खरके साथ श्रीरामका घोर युद्ध

निहतं दूषणं दृष्ट्वा रणे त्रिशिरसा सह।
खरस्याप्यभवत् त्रासो दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम्॥ १॥

त्रिशिरासहित दूषणको रणभूमिमें मारा गया देख श्रीराम-के पराक्रमपर दृष्टिपात करके खरको भी बड़ा भय हुआ॥

स दृष्ट्वा राक्षसं सैन्यमविषह्यं महाबलम्।
हतमेकेन रामेण दूषणस्त्रिशिरा अपि॥ २॥
तद्बलं हतभूयिष्ठं विमनाः प्रेक्ष्य राक्षसः।
आससाद खरो रामं नमुचिर्वासवं यथा॥ ३॥

एकमात्र श्रीरामने महान् बलशाली और असह्य राक्षस-सेनाका वध कर डाला। दूषण और त्रिशिराको भी मार गिराया तथा मेरी सेनाके अधिकांश (चौदह हजार) प्रमुख वीरोंको कालके गालमें भेज दिया—यह सब देख और सोचकर राक्षस खर उदास हो गया। उसने श्रीरामपर उसी तरह आक्रमण किया, जैसे नमुचिने इन्द्रपर किया था ॥ २-३ ॥

विकृष्य बलवच्चापं नाराचान् रक्तभोजनान्।
खरश्चिक्षेप रामाय क्रुद्धानाशीविषानिव ॥ ४ ॥

खरने एक प्रबल धनुषको खींचकर श्रीरामके प्रति बहुत-से नाराच चलाये, जो रक्त पीनेवाले थे। वे समस्त नाराच रोषमें भरे हुए विषधर सर्पोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ४ ॥

ज्यां विधुन्वन् सुबहुशः शिक्षयास्त्राणि दर्शयन्।
चचार समरे मार्गाञ्शरै रथगतः खरः ॥ ५ ॥

धनुर्विद्याके अभ्याससे प्रत्यञ्चाको हिलाता और नाना प्रकारके अस्त्रोंका प्रदर्शन करता हुआ रथारूढ़ खर समराङ्गणमें युद्धके अनेक पैंतरे दिखाता हुआ विचरने लगा ॥ ५ ॥

स सर्वाश्च दिशो बाणैः प्रदिशश्च महारथः।
पूरयामास तं दृष्ट्वा रामोऽपि सुमहद् धनुः ॥ ६ ॥

उस महारथी वीरने अपने बाणोंसे समस्त दिशाओं और विदिशाओंको ढक दिया। उसे ऐसा करते देख श्रीरामने भी अपना विशाल धनुष उठाया और समस्त दिशाओंको बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ६ ॥

स सायकैर्दुर्विषहैर्विस्फुलिङ्गैरिवाग्निभिः।
नभश्चकाराविवरं पर्जन्य इव वृष्टिभिः ॥ ७ ॥

जैसे मेघ जलकी वर्षासे आकाशको ढक देता है, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजीने भी आगकी चिनगारियोंके समान दुःसह सायकोंकी वर्षा करके आकाशको ठसाठस भर दिया। वहाँ थोड़ी-सी भी जगह खाली नहीं रहने दी ॥ ७ ॥

तद् बभूव शितैर्बाणैः खररामविसर्जितैः।
पर्याकाशमनाकाशं सर्वतः शरसंकुलम् ॥ ८ ॥

खर और श्रीरामद्वारा छोड़े गये पैने बाणोंसे व्याप्त हो सब ओर फैला हुआ आकाश चारों ओरसे बाणोंद्वारा भर जानेके कारण अवकाशरहित हो गया ॥ ८ ॥

शरजालावृतः सूर्यो न तदा स्म प्रकाशते।
अन्योन्यवधसंरम्भादुभयोः सम्प्रयुध्यतोः ॥ ९ ॥

एक दूसरेके वधके लिये रोषपूर्वक जूझते हुए उन दोनों वीरोंके बाणजालसे आच्छादित होकर सूर्यदेव प्रकाशित नहीं होते थे ॥ ९ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः।
आजघान रणे रामं तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ १० ॥

तदनन्तर खरने रणभूमिमें श्रीरामपर नालीक, नाराच और तीखे अग्रभागवाले विकर्णि नामक बाणोंद्वारा प्रहार किया, मानो किसी महान् गजराजको अङ्कुशोंद्वारा मारा गया हो ॥ १० ॥

तं रथस्थं धनुष्पाणिं राक्षसं पर्यवस्थितम्।
ददृशुः सर्वभूतानि पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ ११ ॥

उस समय हाथमें धनुष लेकर रथमें स्थिरतापूर्वक बैठे हुए राक्षस खरको समस्त प्राणियोंने पाशधारी यमराजके समान देखा ॥ ११ ॥

हन्तारं सर्वसैन्यस्य पौरुषे पर्यवस्थितम्।
परिश्रान्तं महासत्त्वं मेने रामं खरस्तदा ॥ १२ ॥

उस वेलामें समस्त सेनाओंका वध करनेवाले तथा पुरुषार्थपर डटे हुए महान् बलशाली श्रीरामको खरने थका हुआ समझा ॥ १२ ॥

तं सिंहमिव विक्रान्तं सिंहविक्रान्तगामिनम्।
दृष्ट्वा नोद्विजते रामः सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ १३ ॥

यद्यपि वह सिंहके समान चलता और सिंहके ही तुल्य पराक्रम प्रकट करता था तो भी उस खरको देखकर श्रीराम उसी तरह उद्विग्न नहीं होते थे, जैसे छोटे-से मृगको देखकर सिंह भयभीत नहीं होता है ॥ १३ ॥

ततः सूर्यनिकाशेन रथेन महता खरः।
आससादाथ तं रामं पतङ्ग इव पावकम् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् जैसे पतिङ्गा आगके पास जाता है, उसी प्रकार खर अपने सूर्यतुल्य तेजस्वी विशाल रथके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके पास गया ॥ १४ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुष्टिदेशे महात्मनः।
खरश्चिच्छेद रामस्य दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ १५ ॥

वहाँ जाकर उस राक्षस खरने अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए महात्मा श्रीरामके बाणसहित धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट डाला ॥ १५ ॥

स पुनस्त्वपरान् सप्त शरानादाय मर्मणि।
निजघान रणे क्रुद्धः शक्राशनिसमप्रभान् ॥ १६ ॥

फिर इन्द्रके वज्रकी भाँति प्रकाशित होनेवाले दूसरे सात बाण लेकर रणभूमिमें कुपित हुए खरने उनके द्वारा श्रीरामके मर्मस्थलमें चोट पहुँचायी ॥ १६ ॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम्।
अर्दयित्वा महानादं ननाद समरे खरः ॥ १७ ॥

तदनन्तर अप्रतिम बलशाली श्रीरामको सहस्रों बाणोंसे पीड़ित करके निशाचर खर समरभूमिमें जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ १७ ॥

ततस्तत्प्रहतं बाणैः खरमुक्तैः सुपर्वभिः।
पपात कवचं भूमौ रामस्यादित्यवर्चसम्॥ १८॥

खरके छोड़े हुए उत्तम गाँठवाले बाणोंद्वारा कटकर श्रीरामका सूर्यतुल्य तेजस्वी कवच पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ १८॥

स शरैरर्पितः क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवः।
रराज समरे रामो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन्॥ १९॥

उनके सभी अङ्गोंमें खरके बाण धँस गये थे। उस समय कुपित हो समरभूमिमें खड़े हुए श्रीरघुनाथजी धूमरहित प्रज्वलित अग्निकी भाँति शोभा पा रहे थे॥ १९॥

ततो गम्भीरनिर्ह्रादं रामः शत्रुनिबर्हणः।
चकारान्ताय स रिपोः सज्यमन्यन्महद्धनुः॥ २०॥

तब शत्रुओंका नाश करनेवाले भगवान् श्रीरामने अपने विपक्षीका विनाश करनेके लिये एक दूसरे विशाल धनुषपर, जिसकी ध्वनि बहुत ही गम्भीर थी, प्रत्यञ्चा चढ़ायी॥ २०॥

सुमहद् वैष्णवं यत् तदतिसृष्टं महर्षिणा।
वरं तद् धनुरुद्यम्य खरं समभिधावत॥ २१॥

महर्षि अगस्त्यने जो महान् और उत्तम वैष्णव धनुष प्रदान किया था, उसीको लेकर उन्होंने खरपर धावा किया॥ २१॥

ततः कनकपुङ्खैस्तु शरैः संनतपर्वभिः।
चिच्छेद रामः संक्रुद्धः खरस्य समरे ध्वजम्॥ २२॥

उस समय अत्यन्त क्रोधमें भरकर श्रीरामने सोनेकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा समराङ्गणमें खरकी ध्वजा काट डाली॥ २२॥

स दर्शनीयो बहुधा विच्छिन्नः काञ्चनो ध्वजः।
जगाम धरणीं सूर्यो देवतानामिवाज्ञया॥ २३॥

वह दर्शनीय सुवर्णमय ध्वज अनेक टुकड़ोंमें कटकर धरतीपर गिर पड़ा, मानो देवताओंकी आज्ञासे सूर्यदेव भूमिपर उत्तर आये हों॥ २३॥

तं चतुर्भिः खरः क्रुद्धो रामं गात्रेषु मार्गणैः।
विव्याध हृदि मर्मज्ञो मातङ्गमिव तोमरैः॥ २४॥

क्रोधमें भरे हुए खरको मर्मस्थानोंका ज्ञान था। उसने श्रीरामके अङ्गोंमें, विशेषतः उनकी छातीमें चार बाण मारे, मानो किसी महावतने गजराजपर तोमरोंसे प्रहार किया हो॥ २४॥

स रामो बहुभिर्बाणैः खरकार्मुकनिःसृतैः।
विद्धो रुधिरसिक्ताङ्गो बभूव रुषितो भृशम्॥ २५॥

खरके धनुषसे छूटे हुए बहुसंख्यक बाणोंसे घायल होकर श्रीरामका सारा शरीर लहूलुहान हो गया। इससे उनको बड़ा रोष हुआ॥ २५॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठः संगृह्य परमाहवे।
मुमोच परमेष्वासः षट् शरानभिलक्षितान्॥ २६॥

धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर श्रीरामने युद्धस्थलमें पूर्वोक्त श्रेष्ठ धनुषको हाथमें लेकर लक्ष्य निश्चित करके खरको छः बाण मारे॥ २६॥

शिरस्येकेन बाणेन द्वाभ्यां बाह्वोरथार्पयत्।
त्रिभिश्चन्द्रार्धवक्त्रैश्च वक्षस्यभिजघान ह॥ २७॥

उन्होंने एक बाण उसके मस्तकमें, दोसे उसकी भुजाओंमें और तीन अर्धचन्द्राकार बाणोंसे उसकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी॥ २७॥

ततः पश्चान्महातेजा नाराचान् भास्करोपमान्।
जघान राक्षसं क्रुद्धस्त्रयोदश शिलाशितान्॥ २८॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने कुपित होकर उस राक्षसको शानपर तेज किये हुए और सूर्यके समान चमकनेवाले तेरह बाण मारे॥ २८॥

रथस्य युगमेकेन चतुर्भिः शबलान् हयान्।
षष्ठेन च शिरः संख्ये चिच्छेद खरसारथेः॥ २९॥

एक बाणसे तो उसके रथका जूआ काट दिया, चार बाणोंसे चारों चितकबरे घोड़े मार डाले और छठे बाणसे युद्धस्थलमें खरके सारथिका मस्तक काट गिराया॥ २९॥

त्रिभिस्त्रिवेणून् बलवान् द्वाभ्यामक्षं महाबलः।
द्वादशेन तु बाणेन खरस्य सशरं धनुः॥ ३०॥
छित्त्वा वज्रनिकाशेन राघवः प्रहसन्निव।
त्रयोदशेनेन्द्रसमो बिभेद समरे खरम्॥ ३१॥

तत्पश्चात् तीन बाणोंसे त्रिवेणु (जूएके आधारदण्ड) और दोसे रथके धुरेको खण्डित करके महान् शक्तिशाली और बलवान् श्रीरामने बारहवें बाणसे खरके बाणसहित धनुषके दो टुकड़े कर दिये। इसके बाद इन्द्रके समान तेजस्वी श्रीराघवेन्द्रने हँसते-हँसते वज्रतुल्य तेरहवें बाणके द्वारा समराङ्गणमें खरको घायल कर दिया॥ ३०-३१॥

प्रभग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
गदापाणिरवप्लुत्य तस्थौ भूमौ खरस्तदा॥ ३२॥

धनुषके खण्डित होने, रथके टूटने, घोड़ोंके मारे जाने और सारथिके भी नष्ट हो जानेपर खर उस समय हाथमें गदा ले रथसे कूदकर धरतीपर खड़ा हो गया॥ ३२॥

तत् कर्म रामस्य महारथस्य
समेत्य देवाश्च महर्षयश्च।
अपूजयन् प्राञ्जलयः प्रहृष्टा-
स्तदा विमानाग्रगताः समेताः॥ ३३॥

उस अवसरपर विमानपर बैठे हुए देवता और महर्षि हर्षसे उत्फुल्ल हो परस्पर मिलकर हाथ जोड़ महारथी श्रीरामके उस कर्मकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

श्रीरामका खरको फटकारना तथा खरका भी उन्हें कठोर उत्तर देकर उनके ऊपर गदाका प्रहार करना और श्रीरामद्वारा उस गदाका खण्डन

खरं तु विरथं रामो गदापाणिमवस्थितम् ।
मृदुपूर्वं महातेजाः परुषं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

खरको रथहीन होकर गदा हाथमें लिये सामने उपस्थित देख महातेजस्वी भगवान् श्रीराम पहले कोमल और फिर कठोर वाणीमें बोले—॥ १ ॥

गजाश्वरथसम्बाधे बले महति तिष्ठता ।
कृतं ते दारुणं कर्म सर्वलोकजुगुप्सितम् ॥ २ ॥
उद्वेजनीयो भूतानां नृशंसः पापकर्मकृत् ।
त्रयाणामपि लोकानामीश्वरोऽपि न तिष्ठति ॥ ३ ॥
कर्म लोकविरुद्धं तु कुर्वाणं क्षणदाचर ।
तीक्ष्णं सर्वजनो हन्ति सर्पं दुष्टमिवागतम् ॥ ४ ॥

'निशाचर ! हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई विशाल सेनाके बीचमें खड़े रहकर (असंख्य राक्षसोंके स्वामित्वका अभिमान लेकर) तूने सदा जो क्रूरतापूर्ण कर्म किया है, उसकी समस्त लोकोंद्वारा निन्दा हुई है । जो समस्त प्राणियोंको उद्वेगमें डालनेवाला, क्रूर और पापाचारी है, वह तीनों लोकोंका ईश्वर हो तो भी अधिक कालतक टिक नहीं सकता । जो लोकविरोधी कठोर कर्म करनेवाला है, उसे सब लोग सामने आये हुए दुष्ट सर्पकी भाँति मारते हैं ॥ २–४ ॥

लोभात् पापानि कुर्वाणः कामाद् वा यो न बुध्यते ।
हृष्टः पश्यति तस्यान्तं ब्राह्मणी करकादिव ॥ ५ ॥

'जो वस्तु प्राप्त नहीं हुई है, उसकी इच्छाको 'काम' कहते हैं और प्राप्त हुई वस्तुको अधिक-से-अधिक संख्यामें पानेकी इच्छाका नाम 'लोभ' है । जो काम अथवा लोभसे प्रेरित हो पाप करता है और उसके (विनाशकारी) परिणाम-को नहीं समझता है, उलटे उस पापमें हर्षका अनुभव करता है, वह उसी प्रकार अपना विनाशरूप परिणाम देखता है जैसे वर्षाके साथ गिरे हुए ओलेको खाकर ब्राह्मणी (रक्तपुच्छिका) नामवाली कीड़ी अपना विनाश देखती है*॥५॥

* लाल पूँछवाली एक कीड़ी होती है, जो ओला खा लेनेपर मर जाती है । वह उसके लिये विषका काम करता है—यह बात लोकमें प्रसिद्ध है ।

वसतो दण्डकारण्ये तापसान् धर्मचारिणः ।
किं नु हत्वा महाभागान् फलं प्राप्स्यसि राक्षस ॥ ६ ॥

'राक्षस ! दण्डकारण्यमें निवास करनेवाले तपस्यामें संलग्न धर्मपरायण महाभाग मुनियोंकी हत्या करके न जाने तू कौन-सा फल पायेगा ? ॥ ६ ॥

न चिरं पापकर्माणः क्रूरा लोकजुगुप्सिताः ।
ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति शीर्णमूला इवद्रुमाः ॥ ७ ॥

'जिनकी जड़ खोखली हो गयी हो, वे वृक्ष जैसे अधिक कालतक नहीं खड़े रह सकते, उसी प्रकार पापकर्म करने-वाले लोकनिन्दित क्रूर पुरुष (किसी पूर्वपुण्यके प्रभावसे) ऐश्वर्यको पाकर भी चिरकालतक उसमें प्रतिष्ठित नहीं रह पाते (उससे भ्रष्ट हो ही जाते हैं) ॥ ७ ॥

अवश्यं लभते कर्ता फलं पापस्य कर्मणः ।
घोरं पर्यागते काले द्रुमः पुष्पमिवार्तवम् ॥ ८ ॥

'जैसे समय आनेपर वृक्षमें ऋतुके अनुसार फूल लगते ही हैं, उसी प्रकार पापकर्म करनेवाले पुरुषको समयानुसार अपने उस पापकर्मका भयंकर फल अवश्य ही प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

नचिरात् प्राप्यते लोके पापानां कर्मणां फलम् ।
सविषाणामिवान्नानां भुक्तानां क्षणदाचर ॥ ९ ॥

'निशाचर ! जैसे खाये हुए विषमिश्रित अन्नका परिणाम तुरंत ही भोगना पड़ता है, उसी प्रकार लोकमें किये गये पापकर्मोंका फल शीघ्र ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

पापमाचरतां घोरं लोकस्याप्रियमिच्छताम् ।
अहमासादितो राज्ञा प्राणान् हन्तुं निशाचर ॥ १० ॥

'राक्षस ! जो संसारका बुरा चाहते हुए घोर पापकर्ममें लगे हुए हैं, उन्हें प्राणदण्ड देनेके लिये मेरे पिता महाराज दशरथने मुझे यहाँ वनमें भेजा है ॥ १० ॥

अद्य भित्त्वा मया मुक्ताः शराः काञ्चनभूषणाः ।
विदार्यातिपतिष्यन्ति वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ ११ ॥

'आज मेरे छोड़े हुए सुवर्णभूषित बाण जैसे सर्प

बाँबीको छेदकर निकलते हैं, उसी प्रकार तेरे शरीरको फाड़कर पृथ्वीको भी विदीर्ण करके पातालमें जाकर गिरेंगे ॥

ये त्वया दण्डकारण्ये भक्षिता धर्मचारिणः ।
तानद्य निहतः संख्ये ससैन्योऽनुगमिष्यसि ॥ १२ ॥

'तूने दण्डकारण्यमें जिन धर्मपरायण ऋषियोंका भक्षण किया है; आज युद्धमें मारा जाकर सेनासहित तू भी उन्हींका अनुसरण करेगा ॥ १२ ॥

अद्य त्वां निहतं बाणैः पश्यन्तु परमर्षयः ।
निरयस्थं विमानस्था ये त्वया निहताः पुरा ॥ १३ ॥

'पहले तूने जिनका वध किया है, वे महर्षि विमानपर बैठकर आज तुझे मेरे बाणोंसे मारा गया और नरकतुल्य कष्ट भोगता हुआ देखें ॥ १३ ॥

प्रहरस्व यथाकामं कुरु यत्नं कुलाधम ।
अद्य ते पातयिष्यामि शिरस्तालफलं यथा ॥ १४ ॥

'कुलाधम ! तेरी जितनी इच्छा हो, प्रहार कर । जितना सम्भव हो, मुझे परास्त करनेका प्रयत्न कर; किंतु आज मैं तेरे मस्तकको ताड़के फलकी भाँति अवश्य काट गिराऊँगा' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण क्रुद्धः संरक्तलोचनः ।
प्रत्युवाच ततो रामं प्रहसन् क्रोधमूर्च्छितः ॥ १५ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर खर कुपित हो उठा । उसकी आँखें लाल हो गयीं । वह क्रोधसे अचेत-सा होकर हँसता हुआ श्रीरामको इस प्रकार उत्तर देने लगा—॥

प्राकृतान् राक्षसान् हत्वा युद्धे दशरथात्मज ।
आत्मना कथमात्मानमप्रशस्यं प्रशंससि ॥ १६ ॥

'दशरथकुमार ! तुम साधारण राक्षसोंको युद्धमें मारकर स्वयं ही अपनी इतनी प्रशंसा कैसे कर रहे हो ? तुम प्रशंसाके योग्य कदापि नहीं हो ॥ १६ ॥

विक्रान्ता बलवन्तो वा ये भवन्ति नरर्षभाः ।
कथयन्ति न ते किंचित् तेजसा चातिगर्विताः ॥ १७ ॥

'जो श्रेष्ठ पुरुष पराक्रमी अथवा बलवान् होते हैं, वे अपने प्रतापके कारण अधिक घमंडमें भरकर कोई बात नहीं कहते हैं (अपने विषयमें मौन ही रहते हैं) ॥ १७ ॥

प्राकृतास्त्वकृतात्मानो लोके क्षत्रियपांसनाः ।
निरर्थकं विकत्थन्ते यथा राम विकत्थसे ॥ १८ ॥

'राम ! जो क्षुद्र, अजितात्मा और क्षत्रियकुलकलंक होते हैं, वे ही संसारमें अपनी बड़ाईके लिये व्यर्थ डींग हाँका करते हैं; जैसे इस समय तुम (अपने विषयमें) बढ़-बढ़कर बातें बना रहे हो ॥ १८ ॥

कुलं व्यपदिशन् वीरः समरे कोऽभिधास्यति ।
मृत्युकाले तु सम्प्राप्ते स्वयमप्रस्तवे स्तवम् ॥ १९ ॥

'जब कि मृत्युके समान युद्धका अवसर उपस्थित है, ऐसे समयमें बिना किसी प्रस्तावके ही समराङ्गणमें कौन वीर अपनी कुलीनता प्रकट करता हुआ आप ही अपनी स्तुति करेगा ? ॥ १९ ॥

सर्वथा तु लघुत्वं ते कत्थनेन विदर्शितम् ।
सुवर्णप्रतिरूपेण तप्तेनेव कुशाग्निना ॥ २० ॥

'जैसे पीतल सुवर्णशोधक आगमें तपाये जानेपर अपनी लघुता (कालेपन) को ही व्यक्त करता है, उसी प्रकार अपनी झूठी प्रशंसाके द्वारा तुमने सर्वथा अपने ओछेपनका ही परिचय दिया है ॥ २० ॥

न तु मामिह तिष्ठन्तं पश्यसि त्वं गदाधरम् ।
धराधरमिवाकम्प्यं पर्वतं धातुभिश्चितम् ॥ २१ ॥

'क्या तुम नहीं देखते कि मैं नाना प्रकारके धातुओंकी खानोंसे युक्त तथा पृथ्वीको धारण करनेवाले अविचल कुलपर्वतके समान यहाँ स्थिरभावसे तुम्हारे सामने गदा लेकर खड़ा हूँ ॥ २१ ॥

पर्याप्तोऽहं गदापाणिर्हन्तुं प्राणान् रणे तव ।
त्रयाणामपि लोकानां पाशहस्त इवान्तकः ॥ २२ ॥

मैं अकेला ही पाशधारी यमराजकी भाँति गदा हाथमें लेकर रणभूमिमें तुम्हारे और तीनों लोकोंके भी प्राण लेनेकी शक्ति रखता हूँ ॥ २२ ॥

कामं बह्वपि वक्तव्यं त्वयि वक्ष्यामि न त्वहम् ।
अस्तं प्राप्नोति सविता युद्धविघ्नस्ततो भवेत् ॥ २३ ॥

यद्यपि तुम्हारे विषयमें मैं इच्छानुसार बहुत कुछ कह सकता हूँ तथापि इस समय कुछ नहीं कहूँगा; क्योंकि सूर्यदेव अस्ताचलको जा रहे हैं, अतः युद्धमें विघ्न पड़ जायगा ॥ २३ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां हतानि ते ।
त्वद्विनाशात् करोम्यद्य तेषामश्रुप्रमार्जनम् ॥ २४ ॥

तुमने चौदह हजार राक्षसोंका संहार किया है, अतः आज तुम्हारा भी विनाश करके मैं उन सबके आँसू पोछूँगा—उनकी मौतका बदला चुकाऊँगा' ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धः स गदां परमाङ्गदाम् ।
खरश्चिक्षेप रामाय प्रदीप्तामशनिं यथा ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए खरने उत्तम वलय (कड़े) से विभूषित तथा प्रज्वलित वज्रके समान भयंकर गदाको श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर चलाया ॥ २५ ॥

खरबाहुप्रमुक्ता सा प्रदीप्ता महती गदा ।
भस्म वृक्षांश्च गुल्मांश्च कृत्वागात् तत्समीपतः ॥ २६ ॥

खरके हाथोंसे छूटी हुई वह दीप्तिमान् विशाल गदा वृक्षों और लताओंको भस्म करके उनके समीप जा पहुँची ॥ २६ ॥

तामापतन्तीं महतीं मृत्युपाशोपमां गदाम्।
अन्तरिक्षगतां रामश्चिच्छेद बहुधा शरैः॥ २७॥

मृत्युके पाशकी भाँति उस विशाल गदाको अपने ऊपर आती देख श्रीरामचन्द्रजीने अनेक बाण मारकर आकाशमें ही उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले॥ २७॥

सा विशीर्णा शरैर्भिन्ना पपात धरणीतले।
गदा मन्त्रौषधिबलैर्व्यालीव विनिपातिता॥ २८॥

बाणोंसे विदीर्ण एवं चूर-चूर होकर वह गदा पृथ्वीपर गिर पड़ी, मानो कोई सर्पिणी मन्त्र और ओषधियोंके बलसे गिरायी गयी हो॥ २८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः॥ २९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २९॥

त्रिंशः सर्गः

श्रीरामके व्यङ्ग करनेपर खरका उन्हें फटकारकर उनके ऊपर साल वृक्षका प्रहार करना, श्रीरामका उस वृक्षको काटकर एक तेजस्वी बाणसे खरको मार गिराना तथा देवताओं और महर्षियोंद्वारा श्रीरामकी प्रशंसा

भित्त्वा तु तां गदां बाणै राघवो धर्मवत्सलः।
स्मयमान इदं वाक्यं संरब्धमिदमब्रवीत्॥ १॥

धर्मप्रेमी भगवान् श्रीरामने अपने बाणोंद्वारा खरकी उस गदाको विदीर्ण करके मुसकराते हुए यह रोषसूचक बात कही—॥ १॥

एतत् ते बलसर्वस्वं दर्शितं राक्षसाधम।
शक्तिहीनतरो मत्तो वृथा त्वमुपगर्जसि॥ २॥

राक्षसाधम! यही तेरा सारा बल है, जिसे तूने इस गदाके साथ दिखाया है। अब सिद्ध हो गया कि तू मुझसे अत्यन्त शक्तिहीन है, व्यर्थ ही अपने बलकी डींग हाँक रहा था॥ २॥

एषा बाणविनिर्भिन्ना गदा भूमितलं गता।
अभिधानप्रगल्भस्य तव प्रत्ययघातिनी॥ ३॥

'मेरे बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर तेरी यह गदा पृथ्वीपर पड़ी हुई है। तेरे मनमें जो यह विश्वास था कि मैं इस गदासे शत्रुका वध कर डालूँगा, इसका खण्डन तेरी इस गदाने ही कर दिया। अब यह स्पष्ट हो गया कि तू केवल बातें बनानेमें ढीठ है (तुझसे कोई पराक्रम नहीं हो सकता)॥ ३॥

यत् त्वयोक्तं विनष्टानामिदमश्रुप्रमार्जनम्।
राक्षसानां करोमीति मिथ्या तदपि ते वचः॥ ४॥

'तूने जो यह कहा था कि मैं तुम्हारा वध करके तुम्हारे हाथसे मारे गये राक्षसोंका अभी आँसू पोछूँगा, तेरी वह बात भी झूठी हो गयी॥ ४॥

नीचस्य क्षुद्रशीलस्य मिथ्यावृत्तस्य रक्षसः।
प्राणानपहरिष्यामि गरुत्मानमृतं यथा॥ ५॥

'तू नीच, क्षुद्रस्वभावसे युक्त और मिथ्याचारी राक्षस है। मैं तेरे प्राणोंको उसी प्रकार हर लूँगा, जैसे गरुड़ने देवताओंके यहाँसे अमृतका अपहरण किया था॥ ५॥

अद्य ते भिन्नकण्ठस्य फेनबुद्बुदभूषितम्।
विदारितस्य मद्बाणैर्मही पास्यति शोणितम्॥ ६॥

'अब मैं अपने बाणोंसे तेरे शरीरको विदीर्ण करके तेरा गला भी काट डालूँगा, फिर यह पृथ्वी फेन और बुद्बुदोंसे युक्त तेरे गरम-गरम रक्तका पान करेगी॥ ६॥

पांसुरूषितसर्वाङ्गः स्रस्तन्यस्तभुजद्वयः।
स्वप्स्यसे गां समाश्लिष्य दुर्लभां प्रमदामिव॥ ७॥

'तेरे सारे अङ्ग धूलसे धूसर हो जायँगे, तेरी दोनों भुजाएँ शरीरसे अलग होकर पृथ्वीपर गिर जायँगी और उस दशामें तू दुर्लभ युवतीके समान इस पृथ्वीका आलिङ्गन करके सदाके लिये सो जायगा॥ ७॥

प्रवृद्धनिद्रे शयिते त्वयि राक्षसपांसने।
भविष्यन्ति शरण्यानां शरण्या दण्डका इमे॥ ८॥

'तेरे-जैसे राक्षसकुलकलङ्कके सदाके लिये महानिद्रामें सो जानेपर ये दण्डकवनके प्रदेश शरणार्थियोंको शरण देनेवाले हो जायँगे॥ ८॥

जनस्थाने हतस्थाने तव राक्षस मच्छरैः।
निर्भया विचरिष्यन्ति सर्वतो मुनयो वने॥ ९॥

'राक्षस! मेरे बाणोंसे जनस्थानमें बने हुए तेरे निवासस्थानके नष्ट हो जानेपर मुनिगण इस वनमें सब ओर निर्भय विचर सकेंगे॥ ९॥

अद्य विप्रसरिष्यन्ति राक्षस्यो हतबान्धवाः।
बाष्पार्द्रवदना दीना भयादन्यभयावहाः॥ १०॥

'जो अबतक दूसरोंको भय देती थीं, वे राक्षसियाँ आज अपने बान्धवजनोंके मारे जानेसे दीन हो आँसुओंसे भीगे मुँह लिये जनस्थानसे स्वयं ही भयके कारण भाग जायँगी॥ १०॥

अद्य शोकरसज्ञास्ता भविष्यन्ति निरर्थिकाः।
अनुरूपकुलाः पत्न्यो यासां त्वं पतिरीदृशः॥ ११॥

'जिनका तुझ-जैसा दुराचारी पति है, वे तदनुरूप कुल-वाली तेरी पत्नियाँ आज तेरे मारे जानेपर काम आदि पुरुषार्थोंसे वञ्चित हो शोकरूपी स्थायी भाववाले करुणरसका अनुभव करनेवाली होंगी ॥ ११ ॥

नृशंसशील क्षुद्रात्मन् नित्यं ब्राह्मणकण्टक।
त्वत्कृते शङ्कितैरग्नौ मुनिभिः पात्यते हविः ॥ १२ ॥

'क्रूरस्वभाववाले निशाचर! तेरा हृदय सदा ही क्षुद्र विचारोंसे भरा रहता है। तू ब्राह्मणोंके लिये कण्टकरूप है। तेरे ही कारण मुनिलोग शङ्कित रहकर ही अग्निमें हविष्यकी आहुतियाँ डालते हैं' ॥ १२ ॥

तमेवमभिसंरब्धं ब्रुवाणं राघवं वने।
खरो निर्भर्त्सयामास रोषात् खरतरस्वरः ॥ १३ ॥

वनमें श्रीरामचन्द्रजी जब इस प्रकार रोषपूर्ण बातें कह रहे थे, उस समय क्रोधके कारण खरका भी स्वर अत्यन्त कठोर हो गया और उसने उन्हें फटकारते हुए कहा—॥ १३॥

दृढं खल्ववलिप्तोऽसि भयेष्वपि च निर्भयः।
वाच्यावाच्यं ततो हि त्वं मृत्योर्वश्यो न बुध्यसे ॥ १४ ॥

'अहो! निश्चय ही तुम बड़े घमंडी हो, भयके अवसरों-पर भी निर्भय बने हुए हो। जान पड़ता है कि तुम मृत्युके अधीन हो गये हो, इस कारणसे ही तुम्हें यह भी पता नहीं है कि कब क्या कहना चाहिये और क्या नहीं कहना चाहिये!

कालपाशपरिक्षिप्ता भवन्ति पुरुषा हि ये।
कार्याकार्यं न जानन्ति ते निरस्तषडिन्द्रियाः ॥ १५ ॥

'जो पुरुष कालके फन्देमें फँस जाते हैं, उनकी छहों इन्द्रियाँ बेकाम हो जाती हैं; इसीलिये उन्हें कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान नहीं रह जाता है' ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामं संरुध्य भ्रुकुटिं ततः।
स ददर्श महासालमविदूरे निशाचरः ॥ १६ ॥
रणे प्रहरणस्यार्थे सर्वतो ह्यवलोकयन्।
स तमुत्पाटयामास संदष्टदशनच्छदम् ॥ १७ ॥

ऐसा कहकर उस निशाचरने एक बार श्रीरामकी ओर भौंहें टेढ़ी करके देखा और रणभूमिमें उनपर प्रहार करनेके लिये वह चारों ओर दृष्टिपात करने लगा। इतनेमें ही उसे एक विशाल साखूका वृक्ष दिखायी दिया, जो निकट ही था। खरने अपने होठोंको दाँतोंसे दबाकर उस वृक्षको उखाड़ लिया ॥ १६-१७ ॥

तं समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां विनर्दित्वा महाबलः।
राममुद्दिश्य चिक्षेप हतस्त्वमिति चाब्रवीत् ॥ १८ ॥

फिर उस महाबली निशाचरने विकट गर्जना करके दोनों हाथोंसे उस वृक्षको उठा लिया और श्रीरामपर दे मारा। साथ ही यह भी कहा—'लो, अब तुम मारे गये' ॥१८॥

तमापतन्तं बाणौघैश्छित्त्वा रामः प्रतापवान्।
रोषमाधारयत् तीव्रं निहन्तुं समरे खरम् ॥ १९ ॥

परमप्रतापी भगवान् श्रीरामने अपने ऊपर आते हुए उस वृक्षको बाण-समूहोंसे काट गिराया और उस समरभूमिमें खरको मार डालनेके लिये अत्यन्त क्रोध प्रकट किया ॥१९॥

जातस्वेदस्ततो रामो रोषरक्तान्तलोचनः।
निर्बिभेद सहस्रेण बाणानां समरे खरम् ॥ २० ॥

उस समय श्रीरामके शरीरमें पसीना आ गया। उनके नेत्रप्रान्त रोषसे रक्तवर्णके हो गये। उन्होंने सहस्रों बाणोंका प्रहार करके समराङ्गणमें खरको क्षत-विक्षत कर दिया ॥२०॥

तस्य बाणान्तराद् रक्तं बहु सुस्राव फेनिलम्।
गिरेः प्रस्रवणस्येव धाराणां च परिस्रवः ॥ २१ ॥

उनके बाणोंके आघातसे उस निशाचरके शरीरमें जो घाव हुए थे, उनसे अधिक मात्रामें फेनयुक्त रक्त प्रवाहित होने लगा, मानो पर्वतके झरनेसे जलकी धाराएँ गिर रही हों ॥२१॥

विकलः स कृतो बाणैः खरो रामेण संयुगे।
मत्तो रुधिरगन्धेन तमेवाभ्यद्रवद् द्रुतम् ॥ २२ ॥

श्रीरामने युद्धस्थलमें अपने बाणोंकी मारसे खरको व्याकुल कर दिया; तो भी (उसका साहस कम नहीं हुआ।) वह खूनकी गन्धसे उन्मत्त होकर बड़े वेगसे श्रीरामकी ओर ही दौड़ा ॥ २२ ॥

तमापतन्तं संक्रुद्धं कृतास्त्रो रुधिराप्लुतम्।
अपासर्पद् द्वित्रिपदं किंचित्त्वरितविक्रमः ॥ २३ ॥

अस्त्र-विद्याके ज्ञाता भगवान् श्रीरामने देखा कि यह राक्षस खूनसे लथपथ होनेपर भी अत्यन्त क्रोधपूर्वक मेरी ही ओर बढ़ा आ रहा है तो वे तुरंत चरणोंका संचालन करके दो-तीन पग पीछे हट गये (क्योंकि बहुत निकट होनेपर बाण चलाना सम्भव नहीं हो सकता था) ॥ २३ ॥

ततः पावकसंकाशं वधाय समरे शरम्।
खरस्य रामो जग्राह ब्रह्मदण्डमिवापरम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर श्रीरामने समराङ्गणमें खरका वध करनेके लिये एक अग्निके समान तेजस्वी बाण हाथमें लिया, जो दूसरे ब्रह्म-दण्डके समान भयंकर था ॥ २४ ॥

स तद् दत्तं मघवता सुरराजेन धीमता।
संदधे च स धर्मात्मा मुमोच च खरं प्रति ॥ २५ ॥

वह बाण बुद्धिमान् देवराज इन्द्रका दिया हुआ था। धर्मात्मा श्रीरामने उसे धनुषपर रखा और खरको लक्ष्य करके छोड़ दिया ॥ २५ ॥

स विमुक्तो महाबाणो निर्घातसमनिःस्वनः।
रामेण धनुरायम्य खरस्योरसि चापतत् ॥ २६ ॥

उस महाबाणके छूटते ही वज्रपातके समान भयानक

शब्द हुआ। श्रीरामने अपने धनुषको कानतक खींचकर उसे छोड़ा था। वह खरकी छातीमें जा लगा ॥ २६ ॥

स पपात खरो भूमौ दह्यमानः शराग्निना।
रुद्रेणेव विनिर्दग्धः श्वेतारण्ये यथान्धकः ॥ २७ ॥

जैसे श्वेतवनमें भगवान् रुद्रने अन्धकासुरको जलाकर भस्म किया था, उसी प्रकार दण्डकवनमें श्रीरामके उस बाणकी आगमें जलता हुआ निशाचर खर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २७ ॥

स वृत्र इव वज्रेण फेनेन नमुचिर्यथा।
बलो वेन्द्राशनिहतो निपपात हतः खरः ॥ २८ ॥

जैसे वज्रसे वृत्रासुर, फेनसे नमुचि और इन्द्रकी अशनिसे बलासुर मारा गया था, उसी प्रकार श्रीरामके उस बाणसे आहत होकर खर धराशायी हो गया ॥ २८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवाश्चारणैः सह संगताः।
दुन्दुभींश्चाभिनिघ्नन्तः पुष्पवर्षं समन्ततः ॥ २९ ॥
रामस्योपरि संहृष्टा ववर्षुर्विस्मितास्तदा।
अर्धाधिकमुहूर्तेन रामेण निशितैः शरैः ॥ ३० ॥
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां कामरूपिणाम्।
खरदूषणमुख्यानां निहतानि महामृधे ॥ ३१ ॥

इसी समय देवता चारणोंके साथ मिलकर आये और हर्षमें भरकर दुन्दुभि बजाते हुए वहाँ श्रीरामके ऊपर चारों ओरसे फूलोंकी वर्षा करने लगे। उस समय उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि श्रीरामने अपने पैने बाणोंसे डेढ़ मुहूर्तमें ही इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले खर-दूषण आदि चौदह हजार राक्षसोंका इस महासमरमें संहार कर डाला ॥ २९-३१ ॥

अहो बत महत्कर्म रामस्य विदितात्मनः।
अहो वीर्यमहो दार्ढ्यं विष्णोरिव हि दृश्यते ॥ ३२ ॥

वे बोले—'अहो! अपने स्वरूपको जाननेवाले भगवान श्रीरामका यह कर्म महान् और अद्भुत है, इनका बल-पराक्रम भी अद्भुत है और इनमें भगवान् विष्णुकी भाँति आश्चर्यजनक दृढ़ता दिखायी देती है' ॥ ३२ ॥

इत्येवमुक्त्वा ते सर्वे ययुर्देवा यथागतम्।
ततो राजर्षयः सर्वे संगताः परमर्षयः ॥ ३३ ॥
सभाज्य मुदिता रामं सागस्त्या इदमब्रुवन्।

ऐसा कहकर वे सब देवता जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। तदनन्तर बहुत-से राजर्षि और अगस्त्य आदि महर्षि मिलकर वहाँ आये तथा प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामका सत्कार करके उनसे इस प्रकार बोले—॥ ३३½ ॥

एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः ॥ ३४ ॥
शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरंदरः।
आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः ॥ ३५ ॥

'रघुनन्दन! इसीलिये महातेजस्वी पाकशासन पुरंदर इन्द्र शरभङ्ग मुनिके पवित्र आश्रमपर आये थे और इसी कार्यकी सिद्धिके लिये महर्षियोंने विशेष उपाय करके आपको पञ्चवटीके इस प्रदेशमें पहुँचाया था ॥ ३४-३५ ॥

एषां वधार्थं शत्रूणां रक्षसां पापकर्मणाम्।
तदिदं नः कृतं कार्यं त्वया दशरथात्मज ॥ ३६ ॥
स्वधर्मं प्रचरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः।

'मुनियोंके शत्रुरूप इन पापाचारी राक्षसोंके वधके लिये ही आपका यहाँ शुभागमन आवश्यक समझा गया था। दशरथनन्दन! आपने हमलोगोंका यह बहुत बड़ा कार्य सिद्ध कर दिया। अब बड़े-बड़े ऋषि-मुनि दण्डकारण्यके विभिन्न प्रदेशोंमें निर्भय होकर अपने धर्मका अनुष्ठान करेंगे' ॥ ३६½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो लक्ष्मणः सह सीतया ॥ ३७ ॥
गिरिदुर्गाद् विनिष्क्रम्य संविवेशाश्रमे सुखी।

इसी बीचमें वीर लक्ष्मण भी सीताके साथ पर्वतकी कन्दरासे निकलकर प्रसन्नतापूर्वक आश्रममें आ गये ॥ ३७½ ॥

ततो रामस्तु विजयी पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३८ ॥
प्रविवेशाश्रमं वीरो लक्ष्मणेनाभिपूजितः।

तत्पश्चात् महर्षियोंसे प्रशंसित और लक्ष्मणसे पूजित विजयी वीर श्रीरामने आश्रममें प्रवेश किया ॥ ३८½ ॥

तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुखावहम् ॥ ३९ ॥
बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे।
मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान् हतान्।
रामं चैवाव्ययं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा ॥ ४० ॥

महर्षियोंको सुख देनेवाले अपने शत्रुहन्ता पतिका दर्शन करके विदेहराजनन्दिनी सीताको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने परमानन्दमें निमग्न होकर अपने स्वामीका आलिङ्गन किया। राक्षस-समूह मारे गये और श्रीरामको कोई क्षति नहीं पहुँची—यह देख और जानकर जानकीजीको बहुत संतोष हुआ ॥ ३९-४० ॥

ततस्तु तं राक्षससङ्घमर्दनं
सम्पूज्यमानं मुदितैर्महात्मभिः।
पुनः परिष्वज्य मुदान्वितानना
बभूव हृष्टा जनकात्मजा तदा ॥ ४१ ॥

प्रसन्नतासे भरे हुए महात्मा मुनि जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे तथा जिन्होंने राक्षसोंके समुदायको कुचल डाला था, उन प्राणवल्लभ श्रीरामका बारंबार आलिङ्गन करके उस समय जनकनन्दिनी सीताको बड़ा हर्ष हुआ। उनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥



खर-दूषणादिके वधपर ऋषियोंद्वारा श्रीरामका अभिनन्दन

एकत्रिंशः सर्गः

रावणका अकम्पनकी सलाहसे सीताका अपहरण करनेके लिये जाना और मारीचके कहनेसे लङ्काको लौट आना

त्वरमाणस्ततो गत्वा जनस्थानादकम्पनः।
प्रविश्य लङ्कां वेगेन रावणं वाक्यमब्रवीत्॥ १॥

तदनन्तर जनस्थानसे अकम्पन नामक राक्षस बड़ी उतावलीके साथ लङ्काकी ओर गया और शीघ्र ही उस पुरीमें प्रवेश करके रावणसे इस प्रकार बोला—॥ १॥

जनस्थानस्थिता राजन् राक्षसा बहवो हताः।
खरश्च निहतः संख्ये कथंचिदहमागतः॥ २॥

'राजन्! जनस्थानमें जो बहुत-से राक्षस रहते थे, वे मार डाले गये। खर भी युद्धमें मारा गया। मैं किसी तरह जान बचाकर यहाँ आया हूँ' ॥ २॥

एवमुक्तो दशग्रीवः क्रुद्धः संरक्तलोचनः।
अकम्पनमुवाचेदं निर्दहन्निव तेजसा॥ ३॥

अकम्पनके ऐसा कहते ही दशमुख रावण क्रोधसे जल उठा और लाल आँखें करके उससे इस तरह बोला, मानो उसे अपने तेजसे जलाकर भस्म कर डालेगा॥ ३॥

केन भीमं जनस्थानं हतं मम परासुना।
को हि सर्वेषु लोकेषु गतिं नाधिगमिष्यति॥ ४॥

वह बोला—'कौन मौतके मुखमें जाना चाहता है, जिसने मेरे भयंकर जनस्थानका विनाश किया है? कौन वह दुःसाहसी है, जिसे समस्त लोकोंमें कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं मिलनेवाला है? ॥ ४॥

न हि मे विप्रियं कृत्वा शक्यं मघवता सुखम्।
प्राप्तुं वैश्रवणेनापि न यमेन च विष्णुना॥ ५॥

'मेरा अपराध करके इन्द्र, यम, कुबेर और विष्णु भी चैनसे नहीं रह सकेंगे ॥ ५॥

कालस्य चाप्यहं कालो दहेयमपि पावकम्।
मृत्युं मरणधर्मेण संयोजयितुमुत्सहे॥ ६॥

'मैं कालका भी काल हूँ, आगको भी जला सकता हूँ तथा मौतको भी मृत्युके मुखमें डाल सकता हूँ॥ ६॥

वातस्य तरसा वेगं निहन्तुमपि चोत्सहे।
दहेयमपि संक्रुद्धस्तेजसाऽऽदित्यपावकौ॥ ७॥

'यदि मैं क्रोधमें भर जाऊँ तो अपने वेगसे वायुकी गतिको भी रोक सकता हूँ तथा अपने तेजसे सूर्य और अग्निको भी जलाकर भस्म कर सकता हूँ' ॥ ७॥

तथा क्रुद्धं दशग्रीवं कृताञ्जलिरकम्पनः।
भयात् संदिग्धया वाचा रावणं याचतेऽभयम्॥ ८॥

रावणको इस प्रकार क्रोधसे भरा देख भयके मारे अकम्पनकी बोलती बंद हो गयी। उसने हाथ जोड़कर संशययुक्त वाणीमें रावणसे अभयकी याचना की॥ ८॥

दशग्रीवोऽभयं तस्मै प्रददौ रक्षसां वरः।
स विस्रब्धोऽब्रवीद् वाक्यमसंदिग्धमकम्पनः॥ ९॥

तब राक्षसोंमें श्रेष्ठ दशग्रीवने उसे अभयदान दिया। इससे अकम्पनको अपने प्राण बचनेका विश्वास हुआ और वह संशयरहित होकर बोला—॥ ९॥

पुत्रो दशरथस्यास्ते सिंहसंहननो युवा।
रामो नाम महास्कन्धो वृत्तायतमहाभुजः॥ १०॥
श्यामः पृथुयशाः श्रीमानतुल्यबलविक्रमः।
हतस्तेन जनस्थाने खरश्च सहदूषणः॥ ११॥

'राक्षसराज! राजा दशरथके नवयुवक पुत्र श्रीराम पञ्चवटीमें रहते हैं। उनके शरीरकी गठन सिंहके समान है, कंधे मोटे और भुजाएँ गोल तथा लंबी हैं, शरीरका रंग साँवला है। वे बड़े यशस्वी और तेजस्वी दिखायी देते हैं। उनके बल और पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है। उन्होंने जनस्थानमें रहनेवाले खर और दूषण आदिका वध किया है' ॥१०-११॥

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः।
नागेन्द्र इव निःश्वस्य इदं वचनमब्रवीत्॥ १२॥

अकम्पनकी यह बात सुनकर राक्षसराज रावणने नागराज (महान् सर्प) की भाँति लम्बी साँस खींचकर इस प्रकार कहा—॥ १२॥

स सुरेन्द्रेण संयुक्तो रामः सर्वामरैः सह।
उपयातो जनस्थानं ब्रूहि कच्चिदकम्पन॥ १३॥

'अकम्पन! बताओ तो सही, क्या राम सम्पूर्ण देवताओं तथा देवराज इन्द्रके साथ जनस्थानमें आये हैं?' ॥ १३॥

रावणस्य पुनर्वाक्यं निशम्य तदकम्पनः।
आचचक्षे बलं तस्य विक्रमं च महात्मनः॥ १४॥

रावणका यह प्रश्न सुनकर अकम्पनने महात्मा श्रीरामके बल और पराक्रमका पुनः इस प्रकार वर्णन किया—॥ १४॥

रामो नाम महातेजाः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम्।
दिव्यास्त्रगुणसम्पन्नः परं धर्मं गतो युधि॥ १५॥

'लङ्केश्वर ! जिनका नाम राम है, वे संसारके समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ और अत्यन्त तेजस्वी हैं। दिव्यास्त्रोंके प्रयोगका जो गुण है, उससे भी वे पूर्णतः सम्पन्न हैं। युद्धकी कलामें तो वे पराकाष्ठाको पहुँचे हुए हैं ॥ १५ ॥

तस्यानुरूपो बलवान् रक्ताक्षो दुन्दुभिस्वनः ।
कनीयाँल्लक्ष्मणो भ्राता राकाशशिनिभाननः ॥ १६ ॥

'श्रीरामके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी हैं, जो उन्हींके समान बलवान् हैं। उनका मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति मनोहर है। उनकी आँखें कुछ-कुछ लाल हैं और स्वर दुन्दुभिके समान गम्भीर है ॥ १६ ॥

स तेन सह संयुक्तः पावकेनानिलो यथा ।
श्रीमान् राजवरस्तेन जनस्थानं निपातितम् ॥ १७ ॥

'जैसे अग्निके साथ वायु हों, उसी प्रकार अपने भाईके साथ संयुक्त हुए राजाधिराज श्रीमान् राम बड़े प्रबल हैं। उन्होंने ही जनस्थानको उजाड़ डाला है ॥ १७ ॥

नैव देवा महात्मानो नात्र कार्या विचारणा ।
शरा रामेण तूत्सृष्टा रुक्मपुङ्खाः पतत्रिणः ॥ १८ ॥
सर्पाः पञ्चानना भूत्वा भक्षयन्ति स्म राक्षसान् ।

'उनके साथ न कोई देवता हैं, न महात्मा मुनि। इस विषयमें आप कोई विचार न करें। श्रीरामके छोड़े हुए सोनेकी पाँखवाले बाण पाँच मुखवाले सर्प बनकर राक्षसोंको खा जाते थे ॥ १८½ ॥

येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्षिताः ॥ १९ ॥
तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रतः स्थितम् ।
इत्थं विनाशितं तेन जनस्थानं तवानघ ॥ २० ॥

'भयसे कातर हुए राक्षस जिस-जिस मार्गसे भागते थे, वहाँ-वहाँ वे श्रीरामको ही अपने सामने खड़ा देखते थे। अनघ ! इस प्रकार अकेले श्रीरामने ही आपके जनस्थानका विनाश किया है' ॥ १९-२० ॥

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
गमिष्यामि जनस्थानं रामं हन्तुं सलक्ष्मणम् ॥ २१ ॥

अकम्पनकी यह बात सुनकर रावणने कहा—'मैं अभी लक्ष्मणसहित रामका वध करनेके लिये जनस्थानको जाऊँगा' ॥ २१ ॥

अथैवमुक्ते वचने प्रोवाचेदमकम्पनः ।
शृणु राजन् यथावृत्तं रामस्य बलपौरुषम् ॥ २२ ॥

उसके ऐसा कहनेपर अकम्पन बोला—'राजन् ! श्रीरामका बल और पुरुषार्थ जैसा है, उसका यथावत् वर्णन मुझसे सुनिये ॥ २२ ॥

असाध्यः कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः ।
आपगायास्तु पूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः ॥ २३ ॥
सताराग्रहनक्षत्रं नभश्चाप्यवसादयेत् ।

'महायशस्वी श्रीराम यदि कुपित हो जायँ तो उन्हें अपने पराक्रमके द्वारा कोई भी काबूमें नहीं कर सकता। वे अपने बाणोंसे भरी हुई नदीके वेगको भी पलट सकते हैं। तथा तारा, ग्रह और नक्षत्रोंसहित सम्पूर्ण आकाशमण्डलको पीड़ा दे सकते हैं ॥ २३½ ॥

असौ रामस्तु सीदन्तीं श्रीमानभ्युद्धरेन्महीम् ॥ २४ ॥
भित्त्वा वेलां समुद्रस्य लोकानाप्लावयेद् विभुः ।
वेगं वापि समुद्रस्य वायुं वा विधमेच्छरैः ॥ २५ ॥

'वे श्रीमान् भगवान् राम समुद्रमें डूबती हुई पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं, महासागरकी मर्यादाका भेदन करके समस्त लोकोंको उसके जलसे आप्लावित कर सकते हैं तथा अपने बाणोंसे समुद्रके वेग अथवा वायुको भी नष्ट कर सकते हैं ॥ २४-२५ ॥

संहृत्य वा पुनर्लोकान् विक्रमेण महायशाः ।
शक्तः श्रेष्ठः स पुरुषः स्रष्टुं पुनरपि प्रजाः ॥ २६ ॥

'वे महायशस्वी पुरुषोत्तम अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण लोकोंका संहार करके पुनः नये सिरेसे प्रजाकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं ॥ २६ ॥

नहि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं रणे त्वया ।
रक्षसां वापि लोकेन स्वर्गः पापजनैरिव ॥ २७ ॥

'दशग्रीव ! जैसे पापी पुरुष स्वर्गपर अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते, उसी प्रकार आप अथवा समस्त राक्षस-जगत् भी युद्धमें श्रीरामको नहीं जीत सकते ॥ २७ ॥

न तं वध्यमहं मन्ये सर्वैर्देवासुरैरपि ।
अयं तस्य वधोपायस्तन्ममैकमनाः शृणु ॥ २८ ॥

'मेरी समझमें सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी उनका वध नहीं कर सकते। उनके वधका यह एक उपाय मुझे सूझा है, उसे आप मेरे मुखसे एकचित्त होकर सुनिये ॥ २८ ॥

भार्या तस्योत्तमा लोके सीता नाम सुमध्यमा ।
श्यामा समविभक्ताङ्गी स्त्रीरत्नं रत्नभूषिता ॥ २९ ॥

'श्रीरामकी पत्नी सीता संसारकी सर्वोत्तम सुन्दरी है। उसने यौवनके मध्यमें पदार्पण किया है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुन्दर और सुडौल हैं। वह रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित रहती है। सीता सम्पूर्ण स्त्रियोंमें एक रत्न है ॥ २९ ॥

नैव देवी न गन्धर्वी नाप्सरा न च पन्नगी ।
तुल्या सीमन्तिनी तस्या मानुषी तु कुतो भवेत् ॥ ३० ॥

'देवकन्या, गन्धर्वकन्या, अप्सरा अथवा नागकन्या कोई भी रूपमें उसकी समानता नहीं कर सकती, फिर

मनुष्य-जातिकी दूसरी कोई नारी उसके समान कैसे हो सकती है ॥ ३० ॥

तस्यापहर भार्यां त्वं तं प्रमथ्य महावने ।
सीतया रहितो रामो न चैव हि भविष्यति ॥ ३१ ॥

'उस विशाल वनमें जिस किसी भी उपायसे श्रीरामको धोखेमें डालकर आप उनकी पत्नीका अपहरण कर लें । सीतासे बिछुड़ जानेपर श्रीराम कदापि जीवित नहीं रहेंगे' ॥ ३१ ॥

अरोचयत तद्वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ।
चिन्तयित्वा महाबाहुरकम्पनमुवाच ह ॥ ३२ ॥

राक्षसराज रावणको अकम्पनकी वह बात पसंद आ गयी । उस महाबाहु दशग्रीवने कुछ सोचकर अकम्पनसे कहा—॥ ३२ ॥

बाढं कल्यं गमिष्यामि ह्येकः सारथिना सह ।
आनेष्यामि च वैदेहीमिमां हृष्टो महापुरीम् ॥ ३३ ॥

'ठीक है, कल प्रातःकाल सारथिके साथ मैं अकेला ही जाऊँगा और विदेहकुमारी सीताको प्रसन्नतापूर्वक इस महापुरीमें ले आऊँगा' ॥ ३३ ॥

तदेवमुक्त्वा प्रययौ खरयुक्तेन रावणः ।
रथेनादित्यवर्णेन दिशः सर्वाः प्रकाशयन् ॥ ३४ ॥

ऐसा कहकर रावण गधोंसे जुते हुए सूर्यतुल्य तेजस्वी रथपर आरूढ़ हो सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वहाँसे चला ॥ ३४ ॥

स रथो राक्षसेन्द्रस्य नक्षत्रपथगो महान् ।
चञ्चूर्यमाणः शुशुभे जलदे चन्द्रमा इव ॥ ३५ ॥

नक्षत्रोंके मार्गपर विचरता हुआ राक्षसराजका वह विशाल रथ बादलोंकी आड़में प्रकाशित होनेवाले चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था ॥ ३५ ॥

स दूरे चाश्रमं गत्वा ताटकेयमुपागमत् ।
मारीचेनार्चितो राजा भक्ष्यभोज्यैरमानुषैः ॥ ३६ ॥

कुछ दूरपर स्थित एक आश्रममें जाकर वह ताटका-पुत्र मारीचसे मिला । मारीचने अलौकिक भक्ष्य-भोज्य अर्पित करके राजा रावणका स्वागत-सत्कार किया ॥ ३६ ॥

तं स्वयं पूजयित्वा तु आसनेनोदकेन च ।
अर्थोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

आसन और जल आदिके द्वारा स्वयं ही उसका पूजन करके मारीचने अर्थयुक्त वाणीमें पूछा—॥ ३७ ॥

कच्चित् सुकुशलं राजँल्लोकानां राक्षसाधिप ।
आशङ्के नाधिजाने त्वं यतस्तूर्णमुपागतः ॥ ३८ ॥

'राक्षसराज ! तुम्हारे राज्यमें लोगोंकी कुशल तो है न ! तुम बड़ी उतावलीके साथ आ रहे हो, इसलिये मेरे मनमें कुछ खटका हुआ है । मैं समझता हूँ, तुम्हारे यहाँका अच्छा हाल नहीं है' ॥ ३८ ॥

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः ।
ततः पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद् वाक्यकोविदः ॥ ३९ ॥

मारीचके इस प्रकार पूछनेपर बातचीतकी कलाको जाननेवाले महातेजस्वी रावणने इस प्रकार कहा—॥ ३९ ॥

आरक्षो मे हतस्तात रामेणाक्लिष्टकारिणा ।
जनस्थानमवध्यं तत् सर्वं युधि निपातितम् ॥ ४० ॥

'तात ! अनायास ही महान् पराक्रम दिखानेवाले श्रीरामने मेरे राज्यकी सीमाके रक्षक खर-दूषण आदिको मार डाला है तथा जो जनस्थान अवध्य समझा जाता था, वहाँके सारे राक्षसोंको उन्होंने युद्धमें मार गिराया है ॥ ४० ॥

तस्य मे कुरु साचिव्यं तस्य भार्यापहारणे ।
राक्षसेन्द्रवचः श्रुत्वा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

अतः इसका बदला लेनेके लिये मैं उनकी स्त्रीका अपहरण करना चाहता हूँ । इस कार्यमें तुम मेरी सहायता करो ।' राक्षसराज रावणका यह वचन सुनकर मारीच बोला—॥ ४१ ॥

आख्याता केन वा सीता मित्ररूपेण शत्रुणा ।
त्वया राक्षसशार्दूल को न नन्दति नन्दितः ॥ ४२ ॥

निशाचरशिरोमणे ! मित्रके रूपमें तुम्हारा वह कौन-सा ऐसा शत्रु है, जिसने तुम्हें सीताको हर लेनेकी सलाह दी है ? कौन ऐसा पुरुष है, जो तुमसे सुख और आदर पाकर भी प्रसन्न नहीं है, अतः तुम्हारी बुराई करना चाहता है ? ॥ ४२ ॥

सीतामिहानयस्वेति को ब्रवीति ब्रवीहि मे ।
रक्षोलोकस्य सर्वस्य कः शृङ्गं छेत्तुमिच्छति ॥ ४३ ॥

'कौन कहता है कि तुम सीताको यहाँ हर ले आओ ! मुझे उसका नाम बताओ । वह कौन है, जो समस्त राक्षस-जगत्का सींग काट लेना चाहता है ? ॥ ४३ ॥

प्रोत्साहयति यश्च त्वां स च शत्रुरसंशयम् ।
आशीविषमुखाद् दंष्ट्रामुद्धर्तुं चेच्छति त्वया ॥ ४४ ॥

'जो इस कार्यमें तुम्हें प्रोत्साहन दे रहा है, वह तुम्हारा शत्रु है, इसमें संशय नहीं है । वह तुम्हारे हाथों विषधर सर्पके मुखसे उसके दाँत उखड़वाना चाहता है ॥ ४४ ॥

कर्मणानेन केनासि कापथं प्रतिपादितः ।
सुखसुप्तस्य ते राजन् प्रहृतं केन मूर्धनि ॥ ४५ ॥

राजन् ! किसने तुम्हें ऐसी खोटी सलाह देकर कुमार्गपर

पहुँचाया है ? किसने सुखपूर्वक सोते समय तुम्हारे मस्तकपर लात मारी है ॥ ४५ ॥

विशुद्धवंशाभिजनाग्रहस्त-
तेजोमदः संस्थितदोर्विषाणः ।
उदीक्षितुं रावण नेह युक्तः
स संयुगे राघवगन्धहस्ती ॥ ४६ ॥

'रावण ! राघवेन्द्र श्रीराम वह गन्धयुक्त गजराज हैं, जिसकी गन्ध सूँघकर ही गजरूपी योद्धा दूर भाग जाते हैं। विशुद्ध कुलमें जन्म ग्रहण करना ही उस राघवरूपी गजराजका शुण्डदण्ड है, प्रताप ही मद है और सुडौल बाँहें ही दोनों दाँत हैं। युद्धस्थलमें उनकी ओर देखना भी तुम्हारे लिये उचित नहीं है; फिर जूझनेकी तो बात ही क्या है ॥ ४६ ॥

असौ रणान्तःस्थितिसंधिवालो
विदग्धरक्षोमृगहा नृसिंहः ।
सुप्तस्त्वया बोधयितुं न शक्यः
शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः ॥ ४७ ॥

'वे श्रीराम मनुष्यके रूपमें एक सिंह हैं। रणभूमिके भीतर स्थित होना ही उनके अङ्गोंकी संधियाँ तथा बाल हैं। वह सिंह चतुर राक्षसरूपी मृगोंका वध करनेवाला है, बाणरूपी अङ्गोंसे परिपूर्ण है तथा तलवारें ही उसकी तीखी दाढ़ें हैं। सोते हुए सिंहको तुम नहीं जगा सकते ॥ ४७ ॥

चापापहारे भुजवेगपङ्के
शरोर्मिमाले सुमहाहवौघे ।
न रामपातालमुखेऽतिघोरे
प्रस्कन्दितुं राक्षसराज युक्तम् ॥ ४८ ॥

'राक्षसराज ! श्रीराम एक पातालतलव्यापी महासागर हैं, धनुष ही उस समुद्रके भीतर रहनेवाला ग्राह है, भुजाओं-का वेग ही कीचड़ है, बाण ही तरङ्गमालाएँ हैं और महान् युद्ध ही उसकी अगाध जलराशि है। उसके अत्यन्त भयंकर मुख अर्थात् वड़वानलमें कूद पड़ना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है ॥ ४८ ॥

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र
लङ्कां प्रसन्नो भव साधु गच्छ ।
त्वं स्वेषु दारेषु रमस्व नित्यं
रामः सभार्यो रमतां वनेषु ॥ ४९ ॥

'लंकेश्वर ! प्रसन्न होओ । राक्षसराज ! सानन्द रहो और सकुशल लंकाको लौट जाओ। तुम सदा पुरीमें अपनी स्त्रियोंके साथ रमण करो और राम अपनी पत्नीके साथ वनमें विहार करें' ॥ ४९ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवो मारीचेन स रावणः ।
न्यवर्तत पुरीं लङ्कां विवेश च गृहोत्तमम् ॥ ५० ॥

मारीचके ऐसा कहनेपर दशमुख रावण लंकाको लौटा और अपने सुन्दर महलमें चला गया ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

शूर्पणखाका लंकामें रावणके पास जाना

ततः शूर्पणखा दृष्ट्वा सहस्राणि चतुर्दश ।
हतान्येकेन रामेण रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ १ ॥
दूषणं च खरं चैव हतं त्रिशिरसं रणे ।
दृष्ट्वा पुनर्महानादान् ननाद जलदोपमा ॥ २ ॥

उधर शूर्पणखाने जब देखा कि श्रीरामने भयंकर कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंको अकेले ही मार गिराया तथा युद्धके मैदानमें दूषण, खर और त्रिशिराको भी मौतके घाट उतार दिया, तब वह शोकके कारण मेघ-गर्जनाके समान पुनः बड़े जोर-जोरसे घोर चीत्कार करने लगी ॥ १-२ ॥

सा दृष्ट्वा कर्म रामस्य कृतमन्यैः सुदुष्करम् ।
जगाम परमोद्विग्ना लङ्कां रावणपालिताम् ॥ ३ ॥

श्रीरामने वह कर्म कर दिखाया, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर है; यह अपनी आँखों देखकर वह अत्यन्त उद्विग्न हो उठी और रावणद्वारा सुरक्षित लंकापुरीको गयी ॥ ३ ॥

सा ददर्श विमानाग्रे रावणं दीप्ततेजसम् ।
उपोपविष्टं सचिवैर्मरुद्भिरिव वासवम् ॥ ४ ॥

वहाँ पहुँचकर उसने देखा, रावण पुष्पक विमान (या सतमहले मकान) के ऊपरी भागमें बैठा हुआ है। उसका राजोचित तेज उद्दीप्त हो रहा है तथा मरुद्गणोंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति वह आसपास बैठे हुए मन्त्रियोंसे घिरा है ॥४॥

आसीनं सूर्यसंकाशे काञ्चने परमासने ।
रुक्मवेदिगतं प्राज्यं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ५ ॥

रावण जिस उत्तम सुवर्णमय सिंहासनपर विराजमान था, वह सूर्यके समान जगमगा रहा था। जैसे सोनेकी ईंटोंसे बनी हुई वेदीपर स्थापित अग्निदेव घीकी अधिक आहुति पाकर

प्रज्वलित हो उठे हों, उसी प्रकार उस स्वर्णसिंहासनपर रावण शोभा पा रहा था ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम्।
अजेयं समरे घोरं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ६ ॥
देवासुरविमर्देषु वज्राशनिकृतव्रणम्।
ऐरावतविषाणाग्रैरुत्कृष्टकिणवक्षसम् ॥ ७ ॥

देवता, गन्धर्व, भूत और महात्मा ऋषि भी उसे जीतनेमें असमर्थ थे। समरभूमिमें वह मुँह फैलाकर खड़े हुए यमराजकी भाँति भयानक जान पड़ता था। देवताओं और असुरोंके संग्रामके अवसरोंपर उसके शरीरमें वज्र और अशनिके जो घाव हुए थे, उनके चिह्न अबतक विद्यमान थे। उसकी छातीमें ऐरावत हाथीने जो अपने दाँत गड़ाये थे, उसके निशान अब भी दिखायी देते थे ॥ ६-७ ॥

विंशद्भुजं दशग्रीवं दर्शनीयपरिच्छदम्।
विशालवक्षसं वीरं राजलक्षणलक्षितम् ॥ ८ ॥
नद्धवैदूर्यसंकाशं तप्तकाञ्चनभूषणम्।
सुभुजं शुक्लदशनं महास्यं पर्वतोपमम् ॥ ९ ॥

उसके बीस भुजाएँ और दस मस्तक थे। उसके छत्र, चँवर और आभूषण आदि उपकरण देखने ही योग्य थे। वक्षःस्थल विशाल था। वह वीर राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न दिखायी देता था। वह अपने शरीरमें जो वैदूर्यमणि (नीलम) का आभूषण पहने हुए था, उसके समान ही उसके शरीरकी कान्ति भी थी। उसने तपाये हुए सोनेके आभूषण भी पहन रखे थे। उसकी भुजाएँ सुन्दर, दाँत सफेद, मुँह बहुत बड़ा और शरीर पर्वतके समान विशाल था ॥ ८-९ ॥

विष्णुचक्रनिपातैश्च शतशो देवसंयुगे।
अन्यैः शस्त्रैः प्रहारैश्च महायुद्धेषु ताडितम् ॥ १० ॥

देवताओंके साथ युद्ध करते समय उसके अङ्गोंपर सैकड़ों बार भगवान् विष्णुके चक्रका प्रहार हुआ था। बड़े-बड़े युद्धोंमें अन्यान्य अस्त्र-शस्त्रोंकी भी उसपर मार पड़ी थी (उन सबके चिह्न दृष्टिगोचर होते थे) ॥ १० ॥

अहताङ्गैः समस्तैस्तं देवप्रहरणैस्तदा।
अक्षोभ्याणां समुद्राणां क्षोभणं क्षिप्रकारिणम् ॥ ११ ॥

देवताओंके समस्त आयुधोंके प्रहारोंसे भी जो खण्डित न हो सके थे, उन्हीं अङ्गोंसे वह अक्षोभ्य समुद्रोंमें भी क्षोभ (हलचल) पैदा कर देता था। वह सभी कार्य बड़ी शीघ्रतासे करता था ॥ ११ ॥

क्षेप्तारं पर्वताग्राणां सुराणां च प्रमर्दनम्।
उच्छेत्तारं च धर्माणां परदाराभिमर्शनम् ॥ १२ ॥

पर्वतशिखरोंको भी तोड़कर फेंक देता था, देवताओंको भी रौंद डालता था। धर्मकी तो वह जड़ ही काट देता था और परायी स्त्रियोंके सतीत्वका नाश करनेवाला था ॥ १२ ॥

सर्वदिव्यास्त्रयोक्तारं यज्ञविघ्नकरं सदा।
पुरीं भोगवतीं गत्वा पराजित्य च वासुकिम् ॥ १३ ॥
तक्षकस्य प्रियां भार्यां पराजित्य जहार यः।

वह सब प्रकारके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करनेवाला और सदा यज्ञोंमें विघ्न डालनेवाला था। एक समय पातालकी भोगवती पुरीमें जाकर नागराज वासुकिको परास्त करके तक्षकको भी हराकर उसकी प्यारी पत्नीको वह हर ले आया था ॥ १३½ ॥

कैलासं पर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम् ॥ १४ ॥
विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः।

इसी तरह कैलास पर्वतपर जाकर कुबेरको युद्धमें पराजित करके उसने उनके इच्छानुसार चलनेवाले पुष्पकविमानको अपने अधिकारमें कर लिया ॥ १४½ ॥

वनं चैत्ररथं दिव्यं नलिनीं नन्दनं वनम् ॥ १५ ॥
विनाशयति यः क्रोधाद् देवोद्यानानि वीर्यवान्।

वह पराक्रमी निशाचर क्रोधपूर्वक कुबेरके दिव्य चैत्ररथ वनको, सौगन्धिक कमलोंसे युक्त नलिनी नामवाली पुष्करिणीको, इन्द्रके नन्दनवनको तथा देवताओंके दूसरे-दूसरे उद्यानोंको नष्ट करता रहता था ॥ १५½ ॥

चन्द्रसूर्यौ महाभागावुत्तिष्ठन्तौ परंतपौ ॥ १६ ॥
निवारयति बाहुभ्यां यः शैलशिखरोपमः।

वह पर्वत-शिखरके समान आकार धारण करके शत्रुओंको संताप देनेवाले महाभाग चन्द्रमा और सूर्यको उनके उदयकालमें अपने हाथोंसे रोक देता था ॥ १६½ ॥

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने ॥ १७ ॥
पुरा स्वयंभुवे धीरः शिरांस्युपजहार यः।

उस धीर स्वभाववाले रावणने पूर्वकालमें एक विशाल वनके भीतर दस हजार वर्षोंतक घोर तपस्या करके ब्रह्माजीको अपने मस्तकोंकी बलि दे दी थी ॥ १७½ ॥

देवदानवगन्धर्वपिशाचपतगोरगैः ॥ १८ ॥
अभयं यस्य संग्रामे मृत्युतो मानुषादृते।

उसके प्रभावसे उसे देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और सर्पोंसे भी संग्राममें अभय प्राप्त हो गया था। मनुष्यके सिवा और किसीके हाथसे उसे मृत्युका भय नहीं था ॥ १८½ ॥

मन्त्रैरभिष्टुतं पुण्यमध्वरेषु द्विजातिभिः ॥ १९ ॥
हविर्धानेषु यः सोममुपहन्ति महाबलः।

वह महाबली [illegible]

द्विजातियोंद्वारा वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक निकाले गये तथा वैदिक मन्त्रोंसे ही सुसंस्कृत एवं स्तुत हुए पवित्र सोमरसको वहाँ पहुँचकर नष्ट कर देता था ॥ १९½ ॥

प्राप्तयज्ञहरं दुष्टं ब्रह्मघ्नं क्रूरकारिणम् ॥ २० ॥
कर्कशं निरनुक्रोशं प्रजानामहिते रतम् ।

समाप्तिके निकट पहुँचे हुए यज्ञोंका विध्वंस करनेवाला वह दुष्ट निशाचर ब्राह्मणोंकी हत्या तथा दूसरे-दूसरे क्रूर कर्म करता था। वह बड़े ही रूखे स्वभावका और निर्दय था। सदा प्रजाजनोंके अहितमें ही लगा रहता था ॥ २०½ ॥

रावणं सर्वभूतानां सर्वलोकभयावहम् ॥ २१ ॥
राक्षसी भ्रातरं क्रूरं सा ददर्श महाबलम् ।

समस्त लोकोंको भय देनेवाले और सम्पूर्ण प्राणियोंको रुलानेवाले अपने इस महाबली क्रूर भाईको राक्षसी शूर्पणखाने उस समय देखा ॥ २१½ ॥

तं दिव्यवस्त्राभरणं दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ २२ ॥
आसने सूपविष्टं तं काले कालमिवोद्यतम् ।
राक्षसेन्द्रं महाभागं पौलस्त्यकुलनन्दनम् ॥ २३ ॥

वह दिव्य वस्त्रों और आभूषणोंसे विभूषित था। दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। सिंहासनपर बैठा हुआ राक्षसराज पुलस्त्यकुलनन्दन महाभाग दशग्रीव प्रलयकालमें संहारके लिये उद्यत हुए महाकालके समान जान पड़ता था ॥ २२-२३ ॥

उपगम्याब्रवीद् वाक्यं राक्षसी भयविह्वला ।
रावणं शत्रुहन्तारं मन्त्रिभिः परिवारितम् ॥ २४ ॥

मन्त्रियोंसे घिरे हुए शत्रुहन्ता भाई रावणके पास जाकर भयसे विह्वल हुई वह राक्षसी कुछ कहनेको उद्यत हुई ॥ २४ ॥

तमब्रवीद् दीप्तविशाललोचनं
प्रदर्शयित्वा भयलोभमोहिता ।
सुदारुणं वाक्यमभीतचारिणी
महात्मना शूर्पणखा विरूपिता ॥ २५ ॥

महात्मा लक्ष्मणने नाक-कान काटकर जिसे कुरूप कर दिया था तथा जो निर्भय विचरनेवाली थी, वह भय और लोभसे मोहित हुई शूर्पणखा बड़े-बड़े चमकीले नेत्रोंवाले अत्यन्त क्रूर रावणको अपनी दुर्दशा दिखाकर उससे बोली ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥



त्रयस्त्रिंशः सर्गः

शूर्पणखाका रावणको फटकारना

ततः शूर्पणखा दीना रावणं लोकरावणम् ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धा परुषं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

उस समय शूर्पणखा श्रीरामसे तिरस्कृत होनेके कारण बहुत दुखी थी। उसने मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए समस्त लोकोंको रुलानेवाले रावणसे अत्यन्त कुपित होकर कठोर वाणीमें कहा— ॥ १ ॥

प्रमत्तः कामभोगेषु स्वैरवृत्तो निरङ्कुशः ।
समुत्पन्नं भयं घोरं बोद्धव्यं नावबुध्यसे ॥ २ ॥

'राक्षसराज! तुम स्वेच्छाचारी और निरङ्कुश होकर विषय-भोगोंमें मतवाले हो रहे हो। तुम्हारे लिये घोर भय उत्पन्न हो गया है। तुम्हें इसकी जानकारी होनी चाहिये थी, किंतु तुम इसके विषयमें कुछ नहीं जानते हो ॥ २ ॥

सक्तं ग्राम्येषु भोगेषु कामवृत्तं महीपतिम् ।
लुब्धं न बहु मन्यन्ते श्मशानाग्निमिव प्रजाः ॥ ३ ॥

'जो राजा निम्न श्रेणीके भोगोंमें आसक्त हो स्वेच्छाचारी और लोभी हो जाता है, उसे मरघटकी आगके समान हेय मानकर प्रजा उसका अधिक आदर नहीं करती है ॥ ३ ॥

स्वयं कार्याणि यः काले नानुतिष्ठति पार्थिवः ।
स तु वै सह राज्येन तैश्च कार्यैर्विनश्यति ॥ ४ ॥

'जो राजा ठीक समयपर स्वयं ही अपने कार्योंका सम्पादन नहीं करता है, वह राज्य और उन कार्योंके साथ ही नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

अयुक्तचारं दुर्दर्शमस्वाधीनं नराधिपम् ।
वर्जयन्ति नरा दूरान्नदीपङ्कमिव द्विपाः ॥ ५ ॥

'जो राज्यकी देख-भालके लिये गुप्तचरोंको नियुक्त नहीं करता है, प्रजाजनोंको जिसका दर्शन दुर्लभ हो जाता है और कामिनी आदि भोगोंमें आसक्त होनेके कारण अपनी स्वाधीनता खो बैठता है, ऐसे राजाको प्रजा दूरसे ही त्याग देती है। ठीक उसी तरह, जैसे हाथी नदीकी कीचड़से दूर ही रहते हैं ॥ ५ ॥

ये न रक्षन्ति विषयमस्वाधीनं नराधिपाः ।
ते न वृद्ध्या प्रकाशन्ते गिरयः सागरे यथा ॥ ६ ॥

'जो नरेश अपने राज्यके उस प्रान्तकी, जो अपनी ही असावधानीके कारण दूसरेके अधिकारमें चला गया हो, रक्षा नहीं करते—उसे पुनः अपने अधिकारमें नहीं लाते, वे समुद्रमें डूबे हुए पर्वतोंकी भाँति अपने अभ्युदयसे प्रकाशित नहीं होते हैं ॥ ६ ॥

आत्मवद्भिर्विगृह्य त्वं देवगन्धर्वदानवैः ।
अयुक्तचारश्चपलः कथं राजा भविष्यसि ॥ ७ ॥

'जो अपने मनको काबूमें रखनेवाले एवं प्रयत्नशील हैं, उन देवताओं, गन्धर्वों तथा दानवोंके साथ विरोध करके तुमने अपने राज्यकी देखभालके लिये गुप्तचर नहीं नियुक्त किये हैं, ऐसी दशामें तुम-जैसा विषयलोलुप चपल पुरुष कैसे राजा बना रह सकेगा ? ॥ ७ ॥

त्वं तु बालस्वभावश्च बुद्धिहीनश्च राक्षस ।
ज्ञातव्यं तन्न जानीषे कथं राजा भविष्यसि ॥ ८ ॥

'राक्षस ! तुम्हारा स्वभाव बालकों-जैसा है । तुम निरे बुद्धिहीन हो । तुम्हें जानने योग्य बातोंका भी ज्ञान नहीं है । ऐसी दशामें तुम किस तरह राजा बने रह सकोगे ? ॥ ८ ॥

येषां चाराश्च कोशश्च नयश्च जयतां वर ।
अस्वाधीना नरेन्द्राणां प्राकृतैस्ते जनैः समाः ॥ ९ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ निशाचरपते ! जिन नरेशोंके गुप्तचर, कोष और नीति—ये सब अपने अधीन नहीं हैं, वे साधारण लोगोंके ही समान हैं ॥ ९ ॥

यस्मात् पश्यन्ति दूरस्थान् सर्वानर्थान् नराधिपाः ।
चारेण तस्मादुच्यन्ते राजानो दीर्घचक्षुषः ॥ १० ॥

'गुप्तचरोंकी सहायतासे राजालोग दूर-दूरके सारे कार्योंकी देखभाल करते रहते हैं, इसीलिये वे दीर्घदर्शी या दूरदर्शी कहलाते हैं ॥ १० ॥

अयुक्तचारं मन्ये त्वां प्राकृतैः सचिवैर्युतः ।
स्वजनं च जनस्थानं निहतं नावबुध्यसे ॥ ११ ॥

'मैं समझती हूँ, तुम गवाँर मन्त्रियोंसे घिरे हुए हो, तभी तो तुमने अपने राज्यके भीतर गुप्तचर नहीं तैनात किये हैं । तुम्हारे स्वजन मारे गये और जनस्थान उजाड़ हो गया, फिर भी तुम्हें इसका पता नहीं लगा है ॥ ११ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
हतान्येकेन रामेण खरश्च सहदूषणः ॥ १२ ॥
ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ।
धर्षितं च जनस्थानं रामेणाक्लिष्टकारिणा ॥ १३ ॥

'अकेले रामने, जो अनायास ही महान् कर्म करनेवाले हैं, भीमकर्मा राक्षसोंकी चौदह हजार सेनाको यमलोक पहुँचा दिया, खर और दूषणके भी प्राण ले लिये, ऋषियोंको भी अभयदान कर दिया तथा दण्डकारण्यमें राक्षसोंकी ओरसे जो विघ्न-बाधाएँ थीं, उन सबको दूर करके वहाँ शान्ति स्थापित कर दी । जनस्थानको तो उन्होंने चौपट ही कर डाला ॥ १२-१३ ॥

त्वं तु लुब्धः प्रमत्तश्च पराधीनश्च राक्षस ।
विषये स्वे समुत्पन्नं यद् भयं नावबुध्यसे ॥ १४ ॥

'राक्षस ! तुम तो लोभ और प्रमादमें फँसकर पराधीन हो रहे हो, अतः अपने ही राज्यमें उत्पन्न हुए भयका तुम्हें कुछ पता ही नहीं है ॥ १४ ॥

तीक्ष्णमल्पप्रदातारं प्रमत्तं गर्वितं शठम् ।
व्यसने सर्वभूतानि नाभिधावन्ति पार्थिवम् ॥ १५ ॥

'जो राजा कठोरतापूर्ण बर्ताव करता अथवा तीखे स्वभावका परिचय देता है, सेवकोंको बहुत कम वेतन देता है, प्रमादमें पड़ा और गर्वमें भरा रहता है तथा स्वभावसे ही शठ होता है, उसके संकटमें पड़नेपर सभी प्राणी उसका साथ छोड़ देते हैं—उसकी सहायताके लिये आगे नहीं बढ़ते हैं ॥ १५ ॥

अतिमानिनमग्राह्यमात्मसम्भावितं नरम् ।
क्रोधनं व्यसने हन्ति स्वजनोऽपि नराधिपम् ॥ १६ ॥

'जो अत्यन्त अभिमानी, अपनानेके अयोग्य, आप ही अपनेको बहुत बड़ा माननेवाला और क्रोधी होता है, ऐसे नर अथवा नरेशको संकटकालमें आत्मीय जन भी मार डालते हैं ॥ १६ ॥

नानुतिष्ठति कार्याणि भयेषु न बिभेति च ।
क्षिप्रं राज्याच्च्युतो दीनस्तृणैस्तुल्यो भवेदिह ॥ १७ ॥

'जो राजा अपने कर्तव्यका पालन अथवा करने योग्य कार्योंका सम्पादन नहीं करता तथा भयके अवसरोंपर भयभीत (एवं अपनी रक्षाके लिये सावधान) नहीं होता, वह शीघ्र ही राज्यसे भ्रष्ट एवं दीन होकर इस भूतलपर तिनकोंके समान उपेक्षणीय हो जाता है ॥ १७ ॥

शुष्ककाष्ठैर्भवेत् कार्यं लोष्टैरपि च पांसुभिः ।
न तु स्थानात् परिभ्रष्टैः कार्यं स्याद् वसुधाधिपैः ॥ १८ ॥

'लोगोंको सूखे काठोंसे, मिट्टीके ढेलों तथा धूलसे भी कुछ प्रयोजन होता है, किंतु स्थानभ्रष्ट राजाओंसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥ १८ ॥

उपभुक्तं यथा वासः स्रजो वा मृदिता यथा ।
एवं राज्यात् परिभ्रष्टः समर्थोऽपि निरर्थकः ॥ १९ ॥

'जैसे पहना हुआ वस्त्र और मसल डाली गयी फूलोंकी

माला दूसरोंके उपयोगमें आने योग्य नहीं होती, इसी प्रकार राज्यसे भ्रष्ट हुआ राजा समर्थ होनेपर भी दूसरोंके लिये निरर्थक है ॥ १९ ॥

अप्रमत्तश्च यो राजा सर्वज्ञो विजितेन्द्रियः ।
कृतज्ञो धर्मशीलश्च स राजा तिष्ठते चिरम् ॥ २० ॥

'परंतु जो राजा सदा सावधान रहता, राज्यके समस्त कार्योंकी जानकारी रखता, इन्द्रियोंको वशमें किये रहता, कृतज्ञ (दूसरोंके उपकारको माननेवाला) तथा स्वभावसे ही धर्मपरायण होता है, वह राजा बहुत दिनोंतक राज्य करता है ॥ २० ॥

नयनाभ्यां प्रसुप्तो वा जागर्ति नयचक्षुषा ।
व्यक्तक्रोधप्रसादश्च स राजा पूज्यते जनैः ॥ २१ ॥

'जो स्थूल आँखोंसे तो सोता है, परंतु नीतिकी आँखोंसे सदा जागता रहता है तथा जिसके क्रोध और अनुग्रहका फल प्रत्यक्ष प्रकट होता है, उसी राजाकी लोग पूजा करते हैं ॥ २१ ॥

त्वं तु रावण दुर्बुद्धिर्गुणैरेतैर्विवर्जितः ।
यस्य तेऽविदितश्चारै रक्षसां सुमहान् वधः ॥ २२ ॥

'रावण ! तुम्हारी बुद्धि दूषित है और तुम इन सभी राजोचित गुणोंसे वञ्चित हो; क्योंकि तुम्हें अबतक गुप्तचरों- की सहायतासे राक्षसोंके इस महान् संहारका समाचार ज्ञात नहीं हो सका था ॥ २२ ॥

परावमन्ता विषयेषु सङ्गवान्
न देशकालप्रविभागतत्त्ववित् ।
अयुक्तबुद्धिर्गुणदोषनिश्चये
विपन्नराज्यो नचिराद् विपत्स्यसे ॥ २३ ॥

'तुम दूसरोंका अनादर करनेवाले, विषयासक्त और देश-कालके विभागको यथार्थरूपसे न जाननेवाले हो, तुमने गुण और दोषके विचार एवं निश्चयमें कभी अपनी बुद्धिको नहीं लगाया है; अतः तुम्हारा राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जायगा और तुम स्वयं भी भारी विपत्तिमें पड़ जाओगे' ॥ २३ ॥

इति स्वदोषान् परिकीर्तितांस्तया
समीक्ष्य बुद्ध्या क्षणदाचरेश्वरः ।
धनेन दर्पेण बलेन चान्वितो
विचिन्तयामास चिरं स रावणः ॥ २४ ॥

शूर्पणखाके द्वारा कहे गये अपने दोषोंपर बुद्धिपूर्वक विचार करके धन, अभिमान और बलसे सम्पन्न वह निशाचर रावण बहुत देरतक सोच-विचार एवं चिन्तामें पड़ा रहा ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

रावणके पूछनेपर शूर्पणखाका उससे राम, लक्ष्मण और सीताका परिचय देते हुए सीताको भार्या बनानेके लिये उसे प्रेरित करना

ततः शूर्पणखां दृष्ट्वा ब्रुवन्तीं परुषं वचः ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धः परिपप्रच्छ रावणः ॥ १ ॥

शूर्पणखाको इस प्रकार कठोर बातें कहती देख मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए रावणने अत्यन्त कुपित होकर पूछा— ॥ १ ॥

कश्च रामः कथंवीर्यः किंरूपः किंपराक्रमः ।
किमर्थं दण्डकारण्यं प्रविष्टश्च सुदुस्तरम् ॥ २ ॥

'राम कौन है ? उसका बल कैसा है ? रूप और पराक्रम कैसे हैं ? अत्यन्त दुस्तर दण्डकारण्यमें उसने किस लिये प्रवेश किया है ? ॥ २ ॥

आयुधं किं च रामस्य येन ते राक्षसा हताः ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा ॥ ३ ॥

'रामके पास कौन-सा ऐसा अस्त्र है, जिससे वे सब राक्षस मारे गये तथा युद्धमें खर, दूषण और त्रिशिराका भी संहार हो गया ॥ ३ ॥

तत्त्वं ब्रूहि मनोज्ञाङ्गि केन त्वं च विरूपिता ।
इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसी क्रोधमूर्च्छिता ॥ ४ ॥

'मनोहर अङ्गोंवाली शूर्पणखे ! ठीक-ठीक बताओ, किसने तुम्हें कुरूप बनाया है—किसने तुम्हारी नाक और कान काट डाले हैं ?' राक्षसराज रावणके इस प्रकार पूछनेपर वह राक्षसी क्रोधसे अचेत-सी हो उठी ॥ ४ ॥

ततो रामं यथान्यायमाख्यातुमुपचक्रमे ।
दीर्घबाहुर्विशालाक्षश्चीरकृष्णाजिनाम्बरः ॥ ५ ॥
कन्दर्पसमरूपश्च रामो दशरथात्मजः ।

तदनन्तर उसने श्रीरामका यथावत् परिचय देना आरम्भ किया—'भैया ! श्रीरामचन्द्र राजा दशरथके पुत्र

हैं, उनकी भुजाएँ लंबी, आँखें बड़ी-बड़ी और रूप कामदेवके समान है। वे चीर और काला मृगचर्म धारण करते हैं ॥ ५½ ॥

शक्रचापनिभं चापं विकृष्य कनकाङ्गदम् ॥ ६ ॥
दीप्तान् क्षिपति नाराचान् सर्पानिव महाविषान्।

'श्रीराम इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल धनुषको, जिसमें सोनेके छल्ले शोभा दे रहे हैं, खींचकर उसके द्वारा महाविषैले सर्पोंके समान तेजस्वी नाराचोंकी वर्षा करते हैं ॥ ६½ ॥

नाददानं शरान् घोरान् विमुञ्चन्तं महाबलम् ॥ ७ ॥
न कार्मुकं विकर्षन्तं रामं पश्यामि संयुगे।

'वे महाबली राम युद्धस्थलमें कब धनुष खींचते, कब भयंकर बाण हाथमें लेते और कब उन्हें छोड़ते हैं—यह मैं नहीं देख पाती थी ॥ ७½ ॥

हन्यमानं तु तत्सैन्यं पश्यामि शरवृष्टिभिः ॥ ८ ॥
इन्द्रेणेवोत्तमं सस्यमाहतं त्वश्मवृष्टिभिः।

'उनके बाणोंकी वर्षासे राक्षसोंकी सेना मर रही है—इतना ही मुझे दिखायी देता था। जैसे इन्द्र (मेघ) द्वारा बरसाये गये ओलोंकी वृष्टिसे अच्छी खेती चौपट हो जाती है, उसी प्रकार रामके बाणोंसे राक्षसोंका विनाश हो गया ॥ ८½ ॥

रक्षसां भीमवीर्याणां सहस्राणि चतुर्दश ॥ ९ ॥
निहतानि शरैस्तीक्ष्णैस्तेनैकेन पदातिना।
अर्धाधिकमुहूर्तेन खरश्च सहदूषणः ॥ १० ॥
ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ॥ ११ ॥

'श्रीराम अकेले और पैदल थे, तो भी उन्होंने डेढ़ मुहूर्त (तीन घड़ी) के भीतर ही खर और दूषणसहित चौदह हजार भयंकर बलशाली राक्षसोंका तीखे बाणोंसे संहार कर डाला, ऋषियोंको अभय दे दिया और समस्त दण्डकवनको राक्षसोंकी विघ्नबाधासे रहित कर दिया ॥ ९-११ ॥

एका कथंचिन्मुक्ताहं परिभूय महात्मना।
स्त्रीवधं शङ्कमानेन रामेण विदितात्मना ॥ १२ ॥

'आत्मज्ञानी महात्मा श्रीरामने स्त्रीका वध हो जानेके भयसे एकमात्र मुझे किसी तरह केवल अपमानित करके ही छोड़ दिया ॥ १२ ॥

भ्राता चास्य महातेजा गुणतस्तुल्यविक्रमः।
अनुरक्तश्च भक्तश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १३ ॥
अमर्षी दुर्जयो जेता विक्रान्तो बुद्धिमान् बली।
रामस्य दक्षिणो बाहुर्नित्यं प्राणो बहिश्चरः ॥ १४ ॥

'उनका एक बड़ा ही तेजस्वी भाई है, जो गुण और पराक्रममें उन्हींके समान है। उसका नाम है लक्ष्मण। वह पराक्रमी वीर अपने बड़े भाईका प्रेमी और भक्त है, उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है, वह अमर्षशील, दुर्जय, विजयी तथा बल-विक्रमसे सम्पन्न है। श्रीरामका वह मानो दाहिना हाथ और सदा बाहर विचरनेवाला प्राण है ॥ १३-१४ ॥

रामस्य तु विशालाक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना।
धर्मपत्नी प्रिया नित्यं भर्तुः प्रियहिते रता ॥ १५ ॥

'श्रीरामकी धर्मपत्नी भी उनके साथ है। वह पतिको बहुत प्यारी है और सदा अपने स्वामीका प्रिय तथा हित करनेमें ही लगी रहती है। उसकी आँखें विशाल और मुख पूर्ण चन्द्रके समान मनोरम है ॥ १५ ॥

सा सुकेशी सुनासोरुः सुरूपा च यशस्विनी।
देवतेव वनस्यास्य राजते श्रीरिवापरा ॥ १६ ॥

'उसके केश, नासिका, ऊरु तथा रूप बड़े ही सुन्दर तथा मनोहर हैं। वह यशस्विनी राजकुमारी इस दण्डकवनकी देवी-सी जान पड़ती है और दूसरी लक्ष्मीके समान शोभा पाती है ॥ १६ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णाभा रक्ततुङ्गनखी शुभा।
सीता नाम वरारोहा वैदेही तनुमध्यमा ॥ १७ ॥

'उसका सुन्दर शरीर तपाये हुए सुवर्णकी कान्ति धारण करता है, नख ऊँचे तथा लाल हैं। वह शुभलक्षणोंसे सम्पन्न है। उसके सभी अङ्ग सुडौल हैं और कटिभाग सुन्दर तथा पतला है। वह विदेहराज जनककी कन्या है और सीता उसका नाम है ॥ १७ ॥

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किंनरी।
तथारूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥ १८ ॥

'देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरोंकी स्त्रियोंमें भी कोई उसके समान सुन्दरी नहीं है। इस भूतलपर वैसी रूपवती नारी मैंने पहले कभी नहीं देखी थी ॥ १८ ॥

यस्य सीता भवेद् भार्या यं च हृष्टा परिष्वजेत्।
अभिजीवेत् स सर्वेषु लोकेष्वपि पुरंदरात् ॥ १९ ॥

'सीता जिसकी भार्या हो और वह हर्षमें भरकर जिसका आलिङ्गन करे, समस्त लोकोंमें उसीका जीवन इन्द्रसे भी अधिक भाग्यशाली है ॥ १९ ॥

सा सुशीला वपुःश्लाघ्या रूपेणाप्रतिमा भुवि।
तवानुरूपा भार्या सा त्वं च तस्याः पतिर्वरः ॥ २० ॥

'उसका शील-स्वभाव बड़ा ही उत्तम है। उसका एक-एक अङ्ग स्तुत्य एवं स्पृहणीय है। रूपमें उसकी समानता करनेवाली भूमण्डलमें दूसरी कोई स्त्री नहीं है। वह तुम्हारे योग्य भार्या होगी और तुम भी उसके योग्य श्रेष्ठ पति होओगे ॥ २० ॥

तां तु विस्तीर्णजघनां पीनोत्तुङ्गपयोधराम्।
भार्यार्थे तु तवानेतुमुद्यताहं वराननाम्॥ २१॥
विरूपितास्मि क्रूरेण लक्ष्मणेन महाभुज।

'महाबाहो! विस्तृत जघन और उठे हुए पुष्ट कुचोंवाली उस सुमुखी स्त्रीको जब मैं तुम्हारी भार्या बनानेके लिये ले आनेको उद्यत हुई, तब क्रूर लक्ष्मणने मुझे इस तरह कुरूप कर दिया॥ २१½॥

तां तु दृष्ट्वाद्य वैदेहीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम्॥ २२॥
मन्मथस्य शराणां च त्वं विधेयो भविष्यसि।

'पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली विदेहराजकुमारी सीताको देखते ही तुम कामदेवके बाणोंके लक्ष्य बन जाओगे॥ २२½॥

यदि तस्यामभिप्रायो भार्यात्वे तव जायते।
शीघ्रमुद्ध्रियतां पादो जयार्थमिह दक्षिणः॥ २३॥

'यदि तुम्हें सीताको अपनी भार्या बनानेकी इच्छा हो तो शीघ्र ही श्रीरामको जीतनेके लिये यहाँ अपना दाहिना पैर आगे बढ़ाओ॥ २३॥

रोचते यदि ते वाक्यं ममैतद् राक्षसेश्वर।
क्रियतां निर्विशङ्केन वचनं मम रावण॥ २४॥

'राक्षसराज रावण! यदि तुम्हें मेरी यह बात पसंद हो तो निःशङ्क होकर मेरे कथनानुसार कार्य करो॥ २४॥

विज्ञायैषामशक्तिं च क्रियतां च महाबल।
सीता तवानवद्याङ्गी भार्यात्वे राक्षसेश्वर॥ २५॥

'महाबली राक्षसेश्वर! इन राम आदिकी असमर्थता और अपनी शक्तिका विचार करके सर्वाङ्गसुन्दरी सीताको अपनी भार्या बनानेका प्रयत्न करो (उसे हर लाओ)॥२५॥

निशाम्य रामेण शरैरजिह्मगै-
र्हताञ्जनस्थानगतान् निशाचरान्।
खरं च दृष्ट्वा निहतं च दूषणं
त्वमद्य कृत्यं प्रतिपत्तुमर्हसि॥ २६॥

'श्रीरामने अपने सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा जनस्थान-निवासी निशाचरोंको मार डाला और खर तथा दूषणको भी मौतके घाट उतार दिया, यह सब सुनकर और देखकर अब तुम्हारा क्या कर्तव्य है, इसका निश्चय तुम्हें कर लेना चाहिये'॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः॥ ३४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३४॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

रावणका समुद्रतटवर्ती प्रान्तकी शोभा देखते हुए पुनः मारीचके पास जाना

ततः शूर्पणखावाक्यं तच्छ्रुत्वा रोमहर्षणम्।
सचिवानभ्यनुज्ञाय कार्यं बुद्ध्वा जगाम ह॥ १॥

शूर्पणखाकी ये रोंगटे खड़ी कर देनेवाली बातें सुनकर रावण मन्त्रियोंसे सलाह ले अपने कर्तव्यका निश्चय करके वहाँसे चल दिया॥ १॥

तत् कार्यमनुगम्यान्तर्यथावदुपलभ्य च।
दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम्॥ २॥
इति कर्तव्यमित्येव कृत्वा निश्चयमात्मनः।
स्थिरबुद्धिस्ततो रम्यां यानशालां जगाम ह॥ ३॥

उसने पहले सीताहरणरूपी कार्यपर मन-ही-मन विचार किया। फिर उसके दोषों और गुणोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके बलाबलका निश्चय किया। अन्तमें यह स्थिर किया कि इस कामको करना ही चाहिये। जब इस बातपर उसकी बुद्धि जम गयी, तब वह रमणीय रथशालामें गया॥ २-३॥

यानशालां ततो गत्वा प्रच्छन्नं राक्षसाधिपः।
सूतं संचोदयामास रथः संयुज्यतामिति॥ ४॥

गुप्तरूपसे रथशालामें जाकर राक्षसराज रावणने अपने सारथिको यह आज्ञा दी कि 'मेरा रथ जोतकर तैयार करो'॥

एवमुक्तः क्षणेनैव सारथिर्लघुविक्रमः।
रथं संयोजयामास तस्याभिमतमुत्तमम्॥ ५॥

सारथि शीघ्रतापूर्वक कार्य करनेमें कुशल था। रावणकी उपर्युक्त आज्ञा पाकर उसने एक ही क्षणमें उसके मनके अनुकूल उत्तम रथ जोतकर तैयार कर दिया॥ ५॥

कामगं रथमास्थाय काञ्चनं रत्नभूषितम्।
पिशाचवदनैर्युक्तं खरैः कनकभूषणैः॥ ६॥

वह रथ इच्छानुसार चलनेवाला तथा सुवर्णमय था। उसे रत्नोंसे विभूषित किया गया था। उसमें सोनेके साज-बाजोंसे सजे हुए गधे जुते थे, जिनका मुख पिशाचोंके समान था। रावण उसपर आरूढ़ होकर चला॥ ६॥

मेघप्रतिमनादेन स तेन धनदानुजः।
राक्षसाधिपतिः श्रीमान् ययौ नदनदीपतिम्॥ ७॥

वह रथ मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर घर्घर ध्वनि फैलाता हुआ चलता था। उसके द्वारा वह कुबेरका छोटा भाई श्रीमान् राक्षसराज रावण समुद्रके तटपर गया॥ ७॥

स श्वेतवालव्यजनः श्वेतच्छत्रो दशाननः ।
स्निग्धवैदूर्यसंकाशस्तप्तकाञ्चनभूषणः ॥ ८ ॥
दशग्रीवो विंशतिभुजो दर्शनीयपरिच्छदः ।
त्रिदशारिर्मुनीन्द्रघ्नो दशशीर्ष इवाद्रिराट् ॥ ९ ॥

उस समय उसके लिये सफेद चँवरसे हवा की जा रही थी। सिरके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ था। उसकी अङ्ग-कान्ति स्निग्ध वैदूर्यमणिके समान नीली या काली थी। वह पक्के सोनेके आभूषणोंसे विभूषित था। उसके दस मुख, दस कण्ठ और बीस भुजाएँ थीं। उसके वस्त्राभूषण आदि अन्य उपकरण भी देखने ही योग्य थे। देवताओंका शत्रु और मुनीश्वरोंका हत्यारा वह निशाचर दस शिखरोंवाले पर्वतराजके समान प्रतीत होता था ॥ ८-९ ॥

कामगं रथमास्थाय शुशुभे राक्षसाधिपः ।
विद्युन्मण्डलवान् मेघः सबलाक इवाम्बरे ॥ १० ॥

इच्छानुसार चलनेवाले उस रथपर आरूढ़ हो राक्षसराज रावण आकाशमें विद्युन्मण्डलसे घिरे हुए तथा बकपंक्तियोंसे सुशोभित मेघके समान शोभा पा रहा था ॥ १० ॥

सशैलसागरानूपं वीर्यवानवलोकयन् ।
नानापुष्पफलैर्वृक्षैरनुकीर्णं सहस्रशः ॥ ११ ॥
शीतमङ्गलतोयाभिः पद्मिनीभिः समन्ततः ।
विशालैराश्रमपदैर्वेदिमद्भिरलंकृतम् ॥ १२ ॥

पराक्रमी रावण पर्वतयुक्त समुद्रके तटपर पहुँचकर उसकी शोभा देखने लगा। सागरका वह किनारा नाना प्रकारके फल-फूलवाले सहस्रों वृक्षोंसे व्याप्त था। चारों ओर मङ्गलकारी शीतल जलसे भरी हुई पुष्करिणियाँ और वेदिकाओंसे मण्डित विशाल आश्रम उस सिन्धुतटकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ११-१२ ॥

कदल्यटविसंशोभं नारिकेलोपशोभितम् ।
सालैस्तालैस्तमालैश्च तरुभिश्च सुपुष्पितैः ॥ १३ ॥

कहीं कदलीवन और कहीं नारियलके कुञ्ज शोभा दे रहे थे। साल, ताल, तमाल तथा सुन्दर फूलोंसे भरे हुए दूसरे-दूसरे वृक्ष उस तटप्रान्तको अलंकृत कर रहे थे ॥ १३ ॥

अत्यन्तनियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः ।
नागैः सुपर्णैर्गन्धर्वैः किंनरैश्च सहस्रशः ॥ १४ ॥

अत्यन्त नियमित आहार करनेवाले बड़े-बड़े महर्षियों, नागों, सुपर्णों (गरुड़ों), गन्धर्वों तथा सहस्रों किन्नरोंसे भी उस स्थानकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १४ ॥

जितकामैश्च सिद्धैश्च चारणैश्चोपशोभितम् ।
आजैर्वैखानसैर्माषैर्वालखिल्यैर्मरीचिपैः ॥ १५ ॥

कामविजयी सिद्धों, चारणों, ब्रह्माजीके पुत्रों, वानप्रस्थों, माष गोत्रमें उत्पन्न मुनियों, वालखिल्य महात्माओं तथा केवल सूर्य-किरणोंका पान करनेवाले तपस्वीजनोंसे भी वह सागरका तटप्रान्त सुशोभित हो रहा था ॥ १५ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिर्दिव्यरूपाभिरावृतम् ।
क्रीडारतविधिज्ञाभिरप्सरोभिः सहस्रशः ॥ १६ ॥
सेवितं देवपत्नीभिः श्रीमतीभिरुपासितम् ।
देवदानवसङ्घैश्च चरितं त्वमृताशिभिः ॥ १७ ॥

दिव्य आभूषणों और पुष्पमालाओंको धारण करनेवाली तथा क्रीड़ा-विहारकी विधिको जाननेवाली सहस्रों दिव्यरूपिणी अप्सराएँ वहाँ सब ओर विचर रही थीं। कितनी ही शोभा-शालिनी देवाङ्गनाएँ उस सिन्धुतटका सेवन करती हुई आस-पास बैठी थीं। देवताओं और दानवोंके समूह तथा अमृत-भोजी देवगण वहाँ विचर रहे थे ॥ १६-१७ ॥

हंसक्रौञ्चप्लवाकीर्णं सारसैः सम्प्रसादितम् ।
वैदूर्यप्रस्तरं स्निग्धं सान्द्रं सागरतेजसा ॥ १८ ॥

सिन्धुका वह तट समुद्रके तेजसे उसकी तरङ्गमालाओंके स्पर्शसे स्निग्ध एवं शीतल था। वहाँ हंस, क्रौञ्च तथा मेढक सब ओर फैले हुए थे और सारस उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उस तटपर वैदूर्यमणिके सदृश श्याम रंगके प्रस्तर दिखायी देते थे ॥ १८ ॥

पाण्डुराणि विशालानि दिव्यमाल्ययुतानि च ।
तूर्यगीताभिजुष्टानि विमानानि समन्ततः ॥ १९ ॥
तपसा जितलोकानां कामगान्यभिसम्पतन् ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ददर्श धनदानुजः ॥ २० ॥

आकाशमार्गसे यात्रा करते हुए कुबेरके छोटे भाई रावण-ने रास्तेमें सब ओर बहुत-से श्वेत वर्णके विमानों, गन्धर्वों तथा अप्सराओंको भी देखा। वे इच्छानुसार चलनेवाले विशाल विमान उन पुण्यात्मा पुरुषोंके थे, जिन्होंने तपस्यासे पुण्यलोकोंपर विजय पायी थी। उन विमानोंको दिव्य पुष्पोंसे सजाया गया था और उनके भीतरसे गीत-वाद्यकी ध्वनि प्रकट हो रही थी ॥ १९-२० ॥

निर्यासरसमूलानां चन्दनानां सहस्रशः ।
वनानि पश्यन् सौम्यानि घ्राणतृप्तिकराणि च ॥ २१ ॥

आगे बढ़नेपर उसने, जिनकी जड़ोंसे गोंद निकले हुए थे, ऐसे चन्दनोंके सहस्रों वन देखे, जो बड़े ही सुहावने और अपनी सुगन्धसे नासिकाको तृप्त करनेवाले थे ॥ २१ ॥

अगुरूणां च मुख्यानां वनान्युपवनानि च ।
तक्कोलानां च जात्यानां फलिनां च सुगन्धिनाम् ॥ २२ ॥
पुष्पाणि च तमालस्य गुल्मानि मरिचस्य च ।
मुक्तानां च समूहानि शुष्यमाणानि तीरतः ॥ २३ ॥
शैलानि प्रवरांश्चैव प्रवालनिचयांस्तथा ।
काञ्चनानि च शृङ्गाणि राजतानि तथैव च ॥ २४ ॥

प्रस्रवाणि मनोज्ञानि प्रसन्नान्यद्भुतानि च।
धनधान्योपपन्नानि स्त्रीरत्नैरावृतानि च॥ २५॥
हस्त्यश्वरथगाढानि नगराणि विलोकयन्।

कहीं श्रेष्ठ अगुरुके वन थे, कहीं उत्तम जातिके सुगन्धित फलवाले तक्कोलों (वृक्षविशेषों) के उपवन थे। कहीं तमालके फूल खिले हुए थे। कहीं गोल मिर्चकी झाड़ियाँ शोभा पाती थीं और कहीं समुद्रके तटपर ढेर-के-ढेर मोती सूख रहे थे। कहीं श्रेष्ठ पर्वतमालाएँ, कहीं मूँगोंकी राशियाँ, कहीं सोने-चाँदीके शिखर तथा कहीं सुन्दर, अद्भुत और स्वच्छ पानीके झरने दिखायी देते थे। कहीं धन-धान्यसे सम्पन्न, स्त्री-रत्नोंसे भरे हुए तथा हाथी, घोड़े और रथोंसे व्याप्त नगर दृष्टिगोचर होते थे। इन सबको देखता हुआ रावण आगे बढ़ा॥ २२—२५½॥

तं समं सर्वतः स्निग्धं मृदुसंस्पर्शमारुतम्॥ २६॥
अनूपे सिन्धुराजस्य ददर्श त्रिदिवोपमम्।

फिर उसने सिंधुराजके तटपर एक ऐसा स्थान देखा, जो स्वर्गके समान मनोहर, सब ओरसे समतल और स्निग्ध था। वहाँ मन्द-मन्द वायु चलती थी, जिसका स्पर्श बड़ा कोमल जान पड़ता था॥ २६½॥

तत्रापश्यत् स मेघाभं न्यग्रोधं मुनिभिर्वृतम्॥ २७॥
समन्ताद् यस्य ताः शाखाः शतयोजनमायताः।

वहाँ सागरतटपर एक बरगदका वृक्ष दिखायी दिया, जो अपनी घनी छायाके कारण मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होता था। उसके नीचे चारों ओर मुनि निवास करते थे। उस वृक्षकी सुप्रसिद्ध शाखाएँ चारों ओर सौ योजनोंतक फैली हुई थीं॥ २७½॥

यस्य हस्तिनमादाय महाकायं च कच्छपम्॥ २८॥
भक्षार्थं गरुडः शाखामाजगाम महाबलः।

यह वही वृक्ष था, जिसकी शाखापर किसी समय महाबली गरुड़ एक विशालकाय हाथी और कछुएको लेकर उन्हें खानेके लिये आ बैठे थे॥ २८½॥

तस्य तां सहसा शाखां भारेण पतगोत्तमः॥ २९॥
सुपर्णः पर्णबहुलां बभञ्जाथ महाबलः।

पक्षियोंमें श्रेष्ठ महाबली गरुड़ने बहुसंख्यक पत्तोंसे भरी हुई उस शाखाको सहसा अपने भारसे तोड़ डाला था॥

तत्र वैखानसा माषा वालखिल्या मरीचिपाः॥ ३०॥
आजा बभूवुर्धूम्राश्च संगताः परमर्षयः।

उस शाखाके नीचे बहुत-से वैखानस, माष, बालखिल्य, मरीचिप (सूर्य-किरणोंका पान करनेवाले), ब्रह्मपुत्र और धूम्रप संज्ञावाले महर्षि एक साथ रहते थे॥ ३०½॥

तेषां दयार्थं गरुडस्तां शाखां शतयोजनाम्॥ ३१॥
भग्नामादाय वेगेन तौ चोभौ गजकच्छपौ।
एकपादेन धर्मात्मा भक्षयित्वा तदामिषम्॥ ३२॥
निषादविषयं हत्वा शाखया पतगोत्तमम्।
प्रहर्षमतुलं लेभे मोक्षयित्वा महामुनीन्॥ ३३॥

उनपर दया करके उनके जीवनकी रक्षा करनेके लिये पक्षियोंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा गरुड़ने उस टूटी हुई सौ योजन लंबी शाखाको और उन दोनों हाथी तथा कछुएको भी वेगपूर्वक एक ही पंजेसे पकड़ लिया तथा आकाशमें ही उन दोनों जंतुओंके मांस खाकर फेंकी हुई उस डालीके द्वारा निषाद देशका संहार कर डाला। उस समय पूर्वोक्त महामुनियोंको मृत्युके संकटसे बचा लेनेसे गरुड़को अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ॥ ३१—३३॥

स तु तेन प्रहर्षेण द्विगुणीकृतविक्रमः।
अमृतानयनार्थं वै चकार मतिमान् मतिम्॥ ३४॥

उस महान् हर्षसे बुद्धिमान् गरुड़का पराक्रम दूना हो गया और उन्होंने अमृत ले आनेके लिये पक्का निश्चय कर लिया॥ ३४॥

अयोजालानि निर्मथ्य भित्त्वा रत्नगृहं वरम्।
महेन्द्रभवनाद् गुप्तमाजहारामृतं ततः॥ ३५॥

तत्पश्चात् इन्द्रलोकमें जाकर उन्होंने इन्द्रभवनकी उन जालियोंको तोड़ डाला, जो लोहेकी सींकचोंसे बनी हुई थीं। फिर रत्ननिर्मित श्रेष्ठ भवनको नष्ट-भ्रष्ट करके वहाँ छिपाकर रखे हुए अमृतको वे महेन्द्रभवनसे हर लाये॥ ३५॥

तं महर्षिगणैर्जुष्टं सुपर्णकृतलक्षणम्।
नाम्ना सुभद्रं न्यग्रोधं ददर्श धनदानुजः॥ ३६॥

गरुड़के द्वारा तोड़ी हुई डालीका वह चिह्न उस बरगदमें उस समय भी मौजूद था। उस वृक्षका नाम था सुभद्रवट। बहुत-से महर्षि उस वृक्षकी छायामें निवास करते थे। कुबेरके छोटे भाई रावणने उस वटवृक्षको देखा॥ ३६॥

तं तु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदीपतेः।
ददर्शाश्रममेकान्ते पुण्ये रम्ये वनान्तरे॥ ३७॥

नदियोंके स्वामी समुद्रके दूसरे तटपर जाकर उसने एक रमणीय वनके भीतर पवित्र एवं एकान्तस्थानमें एक आश्रम-का दर्शन किया॥ ३७॥

तत्र कृष्णाजिनधरं जटामण्डलधारिणम्।
ददर्श नियताहारं मारीचं नाम राक्षसम्॥ ३८॥

वहाँ शरीरमें काला मृगचर्म और सिरपर जटाओंका समूह धारण किये नियमित आहार करते हुए मारीच नामक राक्षस निवास करता था । रावण वहाँ जाकर उससे मिला ॥ ३८ ॥

स रावणः समागम्य विधिवत् तेन रक्षसा ।
मारीचेनार्चितो राजा सर्वकामैरमानुषैः ॥ ३९ ॥

मिलनेपर उस राक्षस मारीचने सब प्रकारके अलौकिक कमनीय पदार्थ अर्पित करके राजा रावणका विधिपूर्वक आतिथ्य-सत्कार किया ॥ ३९ ॥

तं स्वयं पूजयित्वा च भोजनेनोदकेन च ।
अर्थोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४० ॥

अन्न और जलसे स्वयं उसका पूर्ण सत्कार करके मारीचने प्रयोजनकी बातें पूछते हुए उससे इस प्रकार कहा—॥ ४० ॥

कच्चित्ते कुशलं राजल्लँङ्कायां राक्षसेश्वर ।
केनार्थेन पुनस्त्वं वै तूर्णमेव इहागतः ॥ ४१ ॥

'राजन् ! तुम्हारी लंकामें कुशल तो है ? राक्षसराज ! तुम किस कामके लिये पुनः इतनी जल्दी यहाँ आये हो ? ॥ ४१ ॥

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः ।
ततः पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद् वाक्यकोविदः ॥ ४२ ॥

मारीचके इस प्रकार पूछनेपर बातचीत करनेमें कुशल महातेजस्वी रावणने उससे इस प्रकार कहा ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

रावणका मारीचसे श्रीरामके अपराध बताकर उनकी पत्नी सीताके अपहरणमें सहायताके लिये कहना

मारीच श्रूयतां तात वचनं मम भाषतः ।
आर्तोऽस्मि मम चार्तस्य भवान् हि परमा गतिः ॥ १ ॥

'तात मारीच ! मैं सब बता रहा हूँ । मेरी बात सुनो । इस समय मैं बहुत दुखी हूँ और इस दुःखकी अवस्थामें तुम्हीं मुझे सबसे बढ़कर सहारा देनेवाले हो ॥ १ ॥

जानीषे त्वं जनस्थानं भ्राता यत्र खरो मम ।
दूषणश्च महाबाहुः स्वसा शूर्पणखा च मे ॥ २ ॥
त्रिशिराश्च महाबाहू राक्षसः पिशिताशनः ।
अन्ये च बहवः शूरा लब्धलक्षा निशाचराः ॥ ३ ॥

'तुम जनस्थानको जानते हो, जहाँ मेरा भाई खर, महाबाहु दूषण, मेरी बहिन शूर्पणखा, मांसभोजी राक्षस महाबाहु त्रिशिरा तथा और भी बहुत-से लक्ष्यवेधमें कुशल शूरवीर निशाचर रहा करते थे ॥ २-३ ॥

वसन्ति मन्नियोगेन अधिवासं च राक्षसाः ।
बाधमाना महारण्ये मुनीन् ये धर्मचारिणः ॥ ४ ॥

'वे सभी राक्षस मेरी आज्ञासे वहाँ घर बनाकर रहते थे और उस विशाल वनमें जो धर्माचरण करनेवाले मुनि थे, उन्हें सताया करते थे ॥ ४ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
शूराणां लब्धलक्षाणां खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ ५ ॥

'वहाँ खरके मनका अनुसरण करनेवाले तथा युद्ध-विषयक उत्साहसे सम्पन्न चौदह हजार शूरवीर राक्षस रहते थे, जो भयंकर कर्म करनेवाले थे ॥ ५ ॥

ते त्विदानीं जनस्थाने वसमाना महाबलाः ।
सङ्गताः परमायत्ता रामेण सह संयुगे ॥ ६ ॥

'जनस्थानमें निवास करनेवाले जितने महाबली राक्षस थे, वे सब-के-सब उस समय अच्छी तरह सन्नद्ध होकर युद्धक्षेत्रमें रामके साथ जा भिड़े थे ॥ ६ ॥

नानाशस्त्रप्रहरणाः खरप्रमुखराक्षसाः ।
तेन संजातरोषेण रामेण रणमूर्धनि ॥ ७ ॥
अनुक्त्वा परुषं किंचिच्छरैर्व्यापारितं धनुः ।

'वे खर आदि राक्षस नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करनेमें कुशल थे, परंतु युद्धके मुहानेपर रोषमें भरे हुए श्रीरामने अपने मुँहसे कोई कठोर बात न कहकर बाणोंके साथ धनुषका ही व्यापार आरम्भ किया ॥ ७ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसामुग्रतेजसाम् ॥ ८ ॥
निहतानि शरैर्दीप्तैर्मानुषेण पदातिना ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणश्च निपातितः ॥ ९ ॥
हत्वा त्रिशिरसं चापि निर्भया दण्डकाः कृताः ।

'पैदल और मनुष्य होकर भी रामने अपने चमकते हुए बाणोंसे भयंकर तेजवाले चौदह हजार राक्षसोंका विनाश कर डाला और उसी युद्धमें खरको भी मौतके घाट उतार-कर दूषणको भी मार गिराया । साथ ही त्रिशिराका

वध करके उसने दण्डकारण्यको दूसरोंके लिये निर्भय बना दिया ॥ ८९ ॥

पित्रा निरस्तः क्रुद्धेन सभार्यः क्षीणजीवितः ॥ १० ॥
स हन्ता तस्य सैन्यस्य रामः क्षत्रियपांसनः ।

'उसके पिताने कुपित होकर उसे पत्नीसहित घरसे निकाल दिया है । उसका जीवन क्षीण हो चला है । यह क्षत्रियकुलकलङ्क राम ही उस राक्षस-सेनाका घातक है ॥ १०½ ॥

अशीलः कर्कशस्तीक्ष्णो मूर्खो लुब्धोऽजितेन्द्रियः ॥ ११ ॥
त्यक्तधर्मा त्वधर्मात्मा भूतानामहिते रतः ।
येन वैरं विनारण्ये सत्त्वमास्थाय केवलम् ॥ १२ ॥
कर्णनासापहारेण भगिनी मे विरूपिता ।
अस्य भार्यां जनस्थानात् सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ १३ ॥
आनयिष्यामि विक्रम्य सहायस्तत्र मे भव ।

'वह शीलरहित, क्रूर, तीखे स्वभाववाला, मूर्ख, लोभी, अजितेन्द्रिय, धर्मत्यागी, अधर्मात्मा और समस्त प्राणियोंके अहितमें तत्पर रहनेवाला है । जिसने बिना किसी वैर-विरोधके केवल बलका आश्रय ले मेरी बहिनके नाक-कान काटकर उसका रूप बिगाड़ दिया, उससे बदला लेनेके लिये मैं भी उसकी देवकन्याके समान सुन्दरी पत्नी सीताको जनस्थानसे बलपूर्वक हर लाऊँगा । तुम उस कार्यमें मेरी सहायता करो ॥ ११–१३½ ॥

त्वया ह्यहं सहायेन पार्श्वस्थेन महाबल ॥ १४ ॥
भ्रातृभिश्च सुरान् सर्वान् नाहमत्राभिचिन्तये ।
तत्सहायो भव त्वं मे समर्थो ह्यसि राक्षस ॥ १५ ॥

'महाबली राक्षस ! तुम-जैसे पार्श्ववर्ती सहायकके और अपने भाइयोंके बलपर ही मैं समस्त देवताओंकी यहाँ कोई परवा नहीं करता, अतः तुम मेरे सहायक हो जाओ; क्योंकि तुम मेरी सहायता करनेमें समर्थ हो ॥ १४-१५ ॥

वीर्ये युद्धे च दर्पे च न ह्यस्ति सदृशस्तव ।
उपायतो महाञ्शूरो महामायाविशारदः ॥ १६ ॥

'पराक्रममें, युद्धमें और वीरोचित अभिमानमें तुम्हारे समान कोई नहीं है । नाना प्रकारके उपाय बतानेमें भी तुम बड़े बहादुर हो । बड़ी-बड़ी मायाओंका प्रयोग करनेमें भी विशेष कुशल हो ॥ १६ ॥

एतदर्थमहं प्राप्तस्त्वत्समीपं निशाचर ।
शृणु तत् कर्म साहाय्ये यत् कार्यं वचनान्मम ॥ १७ ॥

'निशाचर ! इसीलिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ । सहायताके लिये मेरे कथनानुसार तुम्हें कौन-सा काम करना है, वह भी सुनो ॥ १७ ॥

सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः ।
आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर ॥ १८ ॥

'तुम सोनेके बने हुए मृग-जैसा रूप धारण करके रजतमय बिन्दुओंसे युक्त चितकबरे हो जाओ और रामके आश्रममें सीताके सामने विचरो ॥ १८ ॥

त्वां तु निःसंशयं सीता दृष्ट्वा तु मृगरूपिणम् ।
गृह्यतामिति भर्तारं लक्ष्मणं चाभिधास्यति ॥ १९ ॥

'विचित्र मृगके रूपमें तुम्हें देखकर सीता अवश्य ही अपने पति रामसे तथा लक्ष्मणसे भी कहेगी कि आपलोग इसे पकड़ लावें ॥ १९ ॥

ततस्तयोरपाये तु शून्ये सीतां यथासुखम् ।
निराबाधो हरिष्यामि राहुश्चन्द्रप्रभामिव ॥ २० ॥

'जब वे दोनों तुम्हें पकड़नेके लिये दूर निकल जायँगे, तब मैं बिना किसी विघ्न-बाधाके सूने आश्रमसे सीताको उसी तरह सुखपूर्वक हर लाऊँगा, जैसे राहु चन्द्रमाकी प्रभाका अपहरण कर लेता है ॥ २० ॥

ततः पश्चात् सुखं रामे भार्याहरणकर्शिते ।
विस्रब्धं प्रहरिष्यामि कृतार्थेनान्तरात्मना ॥ २१ ॥

'उसके बाद स्त्रीका अपहरण हो जानेसे जब राम अत्यन्त दुखी और दुर्बल हो जायगा, उस समय मैं निर्भय हो सुखपूर्वक उसके ऊपर कृतार्थचित्तसे प्रहार करूँगा' ॥ २१ ॥

तस्य रामकथां श्रुत्वा मारीचस्य महात्मनः ।
शुष्कं समभवद् वक्त्रं परित्रस्तो बभूव च ॥ २२ ॥

रावणके मुखसे श्रीरामचन्द्रजीकी चर्चा सुनकर महात्मा मारीचका मुँह सूख गया । वह भयसे थर्रा उठा ॥ २२ ॥

ओष्ठौ परिलिहञ्शुष्कौ नेत्रैरनिमिषैरिव ।
मृतभूत इवार्तस्तु रावणं समुदैक्षत ॥ २३ ॥

वह अपलक नेत्रोंसे देखता हुआ अपने सूखे ओठोंको चाटने लगा । उसे इतना दुःख हुआ कि वह मुर्दा-सा दिखायी देने लगा । उसी अवस्थामें उसने रावणकी ओर देखा ॥ २३ ॥

स रावणं त्रस्तविषण्णचेता
महावने रामपराक्रमज्ञः ।
कृताञ्जलिस्तत्त्वमुवाच वाक्यं
हितं च तस्मै हितमात्मनश्च ॥ २४ ॥

उसे महान् वनमें श्रीरामचन्द्रजीके पराक्रमका ज्ञान

हो चुका था; इसलिये वह मन-ही-मन अत्यन्त भयभीत और दुखी हो गया तथा हाथ जोड़कर रावणसे यथार्थ वचन बोला। उसकी वह बात रावणके तथा अपने लिये भी हितकर थी ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥



सप्तत्रिंशः सर्गः

मारीचका रावणको श्रीरामचन्द्रजीके गुण और प्रभाव बताकर सीताहरणके उद्योगसे रोकना

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।
प्रत्युवाच महातेजा मारीचो राक्षसेश्वरम् ॥ १ ॥

राक्षसराज रावणकी पूर्वोक्त बात सुनकर बातचीत करनेमें कुशल महातेजस्वी मारीचने उसे इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १ ॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ २ ॥

'राजन्! सदा प्रिय वचन बोलनेवाले पुरुष तो सर्वत्र सुलभ होते हैं; परंतु जो अप्रिय होनेपर भी हितकर हो, ऐसी बातके कहने और सुननेवाले दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ २ ॥

न नूनं बुध्यसे रामं महावीर्यगुणोन्नतम् ।
अयुक्तचारश्चपलो महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ ३ ॥

'तुम कोई गुप्तचर तो रखते नहीं और तुम्हारा हृदय भी बहुत ही चञ्चल है; अतः निश्चय ही तुम श्रीरामचन्द्रजीको बिल्कुल नहीं जानते। वे पराक्रमोचित गुणोंमें बहुत बढ़े-चढ़े तथा इन्द्र और वरुणके समान हैं ॥ ३ ॥

अपि स्वस्ति भवेत् तात सर्वेषामपि रक्षसाम् ।
अपि रामो न संक्रुद्धः कुर्याल्लोकानराक्षसान् ॥ ४ ॥

'तात! मैं तो यही चाहता हूँ कि समस्त राक्षसोंका कल्याण हो। कहीं ऐसा न हो कि श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त कुपित हो समस्त लोकोंको राक्षसोंसे शून्य कर दें! ॥ ४ ॥

अपि ते जीवितान्ताय नोत्पन्ना जनकात्मजा ।
अपि सीतानिमित्तं च न भवेद् व्यसनं महत् ॥ ५ ॥

'जनकनन्दिनी सीता तुम्हारे जीवनका अन्त करनेके लिये तो नहीं उत्पन्न हुई है? कहीं ऐसा न हो कि सीताके कारण तुम्हारे ऊपर कोई बहुत बड़ा सङ्कट आ जाय! ॥ ५ ॥

अपि त्वामीश्वरं प्राप्य कामवृत्तं निरङ्कुशम् ।
न विनश्येत् पुरी लङ्का त्वया सह सराक्षसा ॥ ६ ॥

'तुम-जैसे स्वेच्छाचारी और उच्छृङ्खल राजाको पाकर लङ्कापुरी तुम्हारे और राक्षसोंके साथ ही नष्ट न हो जाय? ॥ ६ ॥

त्वद्विधः कामवृत्तो हि दुःशीलः पापमन्त्रितः ।
आत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्मतिः ॥ ७ ॥

'जो राजा तुम्हारे समान दुराचारी, स्वेच्छाचारी, पापपूर्ण विचार रखनेवाला और खोटी बुद्धिवाला होता है, वह अपना, अपने स्वजनोंका तथा समूचे राष्ट्रका भी विनाश कर डालता है ॥ ७ ॥

न च पित्रा परित्यक्तो नामर्यादः कथंचन ।
न लुब्धो न च दुःशीलो न च क्षत्रियपांसनः ॥ ८ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी न तो पिताद्वारा त्यागे या निकाले गये हैं, न उन्होंने धर्मकी मर्यादाका किसी तरह त्याग किया है, न वे लोभी, न दूषित आचार-विचारवाले और न क्षत्रियकुल-कलङ्क ही हैं ॥ ८ ॥

न च धर्मगुणैर्हीनः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
न च तीक्ष्णो हि भूतानां सर्वभूतहिते रतः ॥ ९ ॥

'कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले श्रीराम धर्मसम्बन्धी गुणोंसे हीन नहीं हुए हैं। उनका स्वभाव भी किसी प्राणीके प्रति तीखा नहीं है। वे सदा समस्त प्राणियोंके हितमें ही तत्पर रहते हैं ॥ ९ ॥

वञ्चितं पितरं दृष्ट्वा कैकेय्या सत्यवादिनम् ।
करिष्यामीति धर्मात्मा ततः प्रव्रजितो वनम् ॥ १० ॥

'रानी कैकेयीने पिताको धोखेमें डालकर मेरे वनवासका वर माँग लिया—यह देखकर धर्मात्मा श्रीरामने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि मैं पिताको सत्यवादी बनाऊँगा (उनके दिये हुए वर या वचनको पूरा करूँगा); इस निश्चयके अनुसार वे स्वयं ही वनको चल दिये ॥ १० ॥

कैकेय्याः प्रियकामार्थं पितुर्दशरथस्य च ।
हित्वा राज्यं च भोगांश्च प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ११ ॥

'माता कैकेयी और पिता राजा दशरथका प्रिय करनेकी इच्छासे ही वे स्वयं राज्य और भोगोंका परित्याग करके दण्डक-वनमें प्रविष्ट हुए हैं ॥ ११ ॥

न रामः कर्कशस्तात नाविद्वान् नाजितेन्द्रियः ।
अनृतं न श्रुतं चैव नैव त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

'तात! श्रीराम क्रूर नहीं हैं। वे मूर्ख और अजितेन्द्रिय भी नहीं हैं। श्रीराममें मिथ्याभाषणका दोष मैंने कभी नहीं सुना है; अतः उनके विषयमें तुम्हें ऐसी उलटी बातें कभी नहीं कहनी चाहिये ॥ १२ ॥

रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः ।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानामिव वासवः ॥ १३ ॥

'श्रीराम धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप हैं । वे साधु और सत्यपराक्रमी हैं । जैसे इन्द्र समस्त देवताओंके अधिपति हैं, उसी प्रकार श्रीराम भी सम्पूर्ण जगत्के राजा हैं ॥ १३ ॥

कथं नु तस्य वैदेहीं रक्षितां स्वेन तेजसा ।
इच्छसे प्रसभं हर्तुं प्रभामिव विवस्वतः ॥ १४ ॥

'उनकी पत्नी विदेहराजकुमारी सीता अपने ही पातिव्रत्यके तेजसे सुरक्षित हैं । जैसे सूर्यकी प्रभा उससे अलग नहीं की जा सकती, उसी तरह सीताको श्रीरामसे अलग करना असम्भव है । ऐसी दशामें तुम बलपूर्वक उनका अपहरण कैसे करना चाहते हो ? ॥ १४ ॥

शरार्चिषमनाधृष्यं चापखड्गेन्धनं रणे ।
रामाग्निं सहसा दीप्तं न प्रवेष्टुं त्वमर्हसि ॥ १५ ॥

'श्रीराम प्रज्वलित अग्निके समान हैं । बाण ही उस अग्निकी ज्वाला है । धनुष और खड्ग ही उसके लिये ईंधनका काम करते हैं । तुम्हें युद्धके लिये सहसा उस अग्निमें प्रवेश नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

धनुर्व्यादितदीप्तास्यं शरार्चिषममर्षणम् ।
चापबाणधरं तीक्ष्णं शत्रुसेनापहारिणम् ॥ १६ ॥
राज्यं सुखं च संत्यज्य जीवितं चेष्टमात्मनः ।
नात्यासादयितुं तात रामान्तकमिहार्हसि ॥ १७ ॥

'तात ! धनुष ही जिसका फैला हुआ दीप्तिमान् मुख है और बाण ही प्रभा है, जो अमर्षमें भरा हुआ है, धनुष और बाण धारण किये खड़ा है, रोषवश तीखे स्वभावका परिचय देता है और शत्रुसेनाके प्राण लेनेमें समर्थ है, उस रामरूपी यमराजके पास तुम्हें यहाँ अपने राज्यसुख और प्यारे प्राणोंका मोह छोड़कर सहसा नहीं जाना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा ।
न त्वं समर्थस्तां हर्तुं रामचापाश्रयां वने ॥ १८ ॥

'जनककिशोरी सीता जिनकी धर्मपत्नी हैं, उनका तेज अप्रमेय है । श्रीरामचन्द्रजीका धनुष उनका आश्रय है, अतः तुममें इतनी शक्ति नहीं है कि वनमें उनका अपहरण कर सको ॥ १८ ॥

तस्य वै नरसिंहस्य सिंहोरस्कस्य भामिनी ।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्या नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी हैं । उनका वक्षःस्थल सिंहके समान उन्नत है । भामिनी सीता उनकी प्राणोंसे भी अधिक प्रियतमा पत्नी हैं । वे सदा अपने पतिका ही अनुसरण करती हैं ॥ १९ ॥

न सा धर्षयितुं शक्या मैथिल्योजस्विनः प्रिया ।
दीप्तस्येव हुताशस्य शिखा सीता सुमध्यमा ॥ २० ॥

'मिथिलेशकुमारी सीता ओजस्वी श्रीरामकी प्यारी पत्नी हैं । वे प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाके समान असह्य हैं, अतः उन सुन्दरी सीतापर बलात्कार नहीं किया जा सकता ॥ २० ॥

किमुद्यमं व्यर्थमिमं कृत्वा ते राक्षसाधिप ।
दृष्टश्चेत् त्वं रणे तेन तदन्तमुपजीवितम् ॥ २१ ॥

'राक्षसराज ! यह व्यर्थका उद्योग करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? जिस दिन युद्धमें तुम्हारे ऊपर श्रीरामकी दृष्टि पड़ जाय, उसी दिन तुम अपने जीवनका अन्त समझना ॥ २१ ॥

जीवितं च सुखं चैव राज्यं चैव सुदुर्लभम् ।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम् ॥ २२ ॥

'यदि तुम अपने जीवनका, सुखका और परम दुर्लभ राज्यका चिरकालतक उपभोग करना चाहते हो तो श्रीरामका अपराध न करो ॥ २२ ॥

स सर्वैः सचिवैः सार्धं विभीषणपुरस्कृतैः ।
मन्त्रयित्वा स धर्मिष्ठैः कृत्वा निश्चयमात्मनः ।
दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ २३ ॥
आत्मनश्च बलं ज्ञात्वा राघवस्य च तत्त्वतः ।
हितं हि तव निश्चित्य क्षमं त्वं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

'तुम विभीषण आदि सभी धर्मात्मा मन्त्रियोंके साथ सलाह करके अपने कर्तव्यका निश्चय करो । अपने और श्रीरामके दोषों तथा गुणोंके बलाबलपर भलीभाँति विचार करके अपनी और श्रीरामचन्द्रजीकी शक्तिको ठीक-ठीक समझ लो । फिर क्या करनेसे तुम्हारा हित होगा, इसका निश्चय करके जो उचित जान पड़े, वही कार्य तुम्हें करना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

अहं तु मन्ये तव न क्षमं रणे
समागमं कोसलराजसूनुना ।
इदं हि भूयः शृणु वाक्यमुत्तमं
क्षमं च युक्तं च निशाचराधिप ॥ २५ ॥

'निशाचरराज ! मैं तो समझता हूँ कि कोसलराजकुमार श्रीरामचन्द्रजीके साथ तुम्हारा युद्ध करना उचित नहीं है । अब पुनः मेरी एक बात और सुनो, यह तुम्हारे लिये बहुत ही उत्तम, उचित और उपयुक्त सिद्ध होगी' ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

श्रीरामकी शक्तिके विषयमें अपना अनुभव बताकर मारीचका रावणको उनका अपराध करनेसे मना करना

कदाचिदप्यहं वीर्यात् पर्यटन् पृथिवीमिमाम्।
बलं नागसहस्रस्य धारयन् पर्वतोपमः॥ १॥

'एक समयकी बात है कि मैं अपने पराक्रमके अभिमानमें आकर पर्वतके समान शरीर धारण किये इस पृथ्वीपर चक्कर लगा रहा था। उस समय मुझमें एक हजार हाथियोंका बल था॥ १॥

नीलजीमूतसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः।
भयं लोकस्य जनयन् किरीटी परिघायुधः॥ २॥
व्यचरन् दण्डकारण्यमृषिमांसानि भक्षयन्।

'मेरा शरीर नील मेघके समान काला था। मैंने कानोंमें पक्के सोनेके कुण्डल पहन रखे थे। मेरे मस्तकपर किरीट था और हाथमें परिघ। मैं ऋषियोंके मांस खाता और समस्त जगत्के मनमें भय उत्पन्न करता हुआ दण्डकारण्यमें विचर रहा था॥ २½॥

विश्वामित्रोऽथ धर्मात्मा मद्वित्रस्तो महामुनिः॥ ३॥
स्वयं गत्वा दशरथं नरेन्द्रमिदमब्रवीत्।

'उन दिनों धर्मात्मा महामुनि विश्वामित्रको मुझसे बड़ा भय हो गया था। वे स्वयं राजा दशरथके पास गये और उनसे इस प्रकार बोले—॥ ३½॥

अयं रक्षतु मां रामः पर्वकाले समाहितः॥ ४॥
मारीचान्मे भयं घोरं समुत्पन्नं नरेश्वर।

'नरेश्वर! मुझे मारीच नामक राक्षससे घोर भय प्राप्त हुआ है, अतः ये श्रीराम मेरे साथ चलें और पर्वके दिन एकाग्रचित्त हो मेरी रक्षा करें'॥ ४½॥

इत्येवमुक्तो धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा॥ ५॥
प्रत्युवाच महाभागं विश्वामित्रं महामुनिम्।

'मुनिके ऐसा कहनेपर उस समय धर्मात्मा राजा दशरथने महाभाग महामुनि विश्वामित्रको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ५½॥

ऊनद्वादशवर्षोऽयमकृतास्त्रश्च राघवः॥ ६॥
कामं तु मम तत् सैन्यं मया सह गमिष्यति।
बलेन चतुरङ्गेण स्वयमेत्य निशाचरम्॥ ७॥
वधिष्यामि मुनिश्रेष्ठ शत्रुं तव यथेप्सितम्।

'मुनिश्रेष्ठ! रघुकुलनन्दन रामकी अवस्था अभी बारह वर्षसे भी कम है[1]। इन्हें अस्त्र-शस्त्रोंके चलानेका पूरा अभ्यास भी नहीं है। आप चाहें तो मेरे साथ मेरी सारी सेना वहाँ चलेगी और मैं चतुरङ्गिणी सेनाके साथ स्वयं ही चलकर आपकी इच्छाके अनुसार उस शत्रुरूप निशाचरका वध करूँगा'॥ ६–७½॥

एवमुक्तः स तु मुनी राजानमिदमब्रवीत्॥ ८॥
रामान्नान्यद् बलं लोके पर्याप्तं तस्य रक्षसः।

'राजाके ऐसा कहनेपर मुनि उनसे इस प्रकार बोले—'उस राक्षसके लिये श्रीरामके सिवा दूसरी कोई शक्ति पर्याप्त नहीं है॥ ८½॥

देवतानामपि भवान् समरेष्वभिपालकः॥ ९॥
आसीत् तव कृतं कर्म त्रिलोकविदितं नृप।

'राजन्! इसमें संदेह नहीं कि आप समरभूमिमें देवताओंकी भी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। आपने जो महान् कार्य किया है, वह तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है॥ ९½॥

काममस्ति महत् सैन्यं तिष्ठत्विह परंतप॥ १०॥
बालोऽप्येष महातेजाः समर्थस्तस्य निग्रहे।
गमिष्ये राममादाय स्वस्ति तेऽस्तु परंतप॥ ११॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! आपके पास जो विशाल सेना है, वह आपकी इच्छा हो तो यहीं रहे। (आप भी यहीं रहें।) महातेजस्वी श्रीराम बालक हैं तो भी उस राक्षसका दमन करनेमें समर्थ हैं, अतः मैं श्रीरामको ही साथ लेकर जाऊँगा; आपका कल्याण हो'॥ १०-११॥

इत्येवमुक्त्वा स मुनिस्तमादाय नृपात्मजम्।
जगाम परमप्रीतो विश्वामित्रः स्वमाश्रमम्॥ १२॥

'ऐसा कहकर (लक्ष्मणसहित) राजकुमार श्रीरामको साथ ले महामुनि विश्वामित्र बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने आश्रमको गये॥ १२॥

तं तथा दण्डकारण्ये यज्ञमुद्दिश्य दीक्षितम्।
बभूवोपस्थितो रामश्चित्रं विस्फारयन् धनुः॥ १३॥

'इस प्रकार दण्डकारण्यमें जाकर उन्होंने यज्ञके लिये दीक्षा ग्रहण की और श्रीराम अपने अद्भुत धनुषकी टङ्कार करते हुए उनकी रक्षाके लिये पास ही खड़े हो गये॥ १३॥

---

१. यद्यपि बालकाण्डके २० वें सर्गके दूसरे श्लोकमें राजा दशरथने श्रीरामकी अवस्था सोलह वर्षसे कम (पंद्रह वर्षकी) बतायी थी, तथापि यहाँ मारीचने रामके यज्ञ रक्षा करनेके लिये जाते समय उनकी अवस्था बारह वर्षकी बतायी है। जो छोटी अवस्थामें इतने महान् पराक्रमी थे, वे अब बड़े होनेपर न जाने कैसे होंगे! यह भाव बतलाना ही यहाँ मारीचको अभीष्ट है।

अजातव्यञ्जनः श्रीमान् बालः श्यामः शुभेक्षणः।
एकवस्त्रधरो धन्वी शिखी कनकमालया॥ १४॥

'उस समयतक श्रीराममें जवानीके चिह्न प्रकट नहीं हुए थे। (उनकी किशोरावस्था थी।) वे एक शोभाशाली बालकके रूपमें दिखायी देते थे। उनके श्रीअङ्गका रंग साँवला और आँखें बड़ी सुन्दर थीं। वे एक वस्त्र धारण किये, हाथोंमें धनुष लिये सुन्दर शिखा और सोनेके हारसे सुशोभित थे॥ १४॥

शोभयन् दण्डकारण्यं दीप्तेन स्वेन तेजसा।
अदृश्यत तदा रामो बालचन्द्र इवोदितः॥ १५॥

'उस समय अपने उद्दीप्त तेजसे दण्डकारण्यकी शोभा बढ़ाते हुए श्रीरामचन्द्र नवोदित बालचन्द्रके समान दृष्टिगोचर होते थे॥ १५॥

ततोऽहं मेघसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः।
बली दत्तवरो दर्पादाजगामाश्रमान्तरम्॥ १६॥

'इधर मैं भी मेघके समान काले शरीरसे बड़े घमंडके साथ उस आश्रमके भीतर घुसा। मेरे कानोंमें तपाये हुए सुवर्णके कुण्डल झलमला रहे थे। मैं बलवान् तो था ही, मुझे वरदान भी मिल चुका था कि देवता मुझे मार नहीं सकेंगे॥ १६॥

तेन दृष्टः प्रविष्टोऽहं सहसैवोद्यतायुधः।
मां तु दृष्ट्वा धनुः सज्यमसम्भ्रान्तश्चकार ह॥ १७॥

'भीतर प्रवेश करते ही श्रीरामचंद्रजीकी दृष्टि मुझपर पड़ी। मुझे देखते ही उन्होंने सहसा धनुष उठा लिया और बिना किसी घबराहटके उसपर डोरी चढ़ा दी॥ १७॥

अवजानन्नहं मोहाद् बालोऽयमिति राघवम्।
विश्वामित्रस्य तां वेदिमभ्यधावं कृतत्वरः॥ १८॥

'मैं मोहवश श्रीरामचन्द्रको 'यह बालक है' ऐसा समझकर उनकी अवहेलना करता हुआ बड़ी तेजीके साथ विश्वामित्रकी उस यज्ञवेदीकी ओर दौड़ा॥ १८॥

तेन मुक्तस्ततो बाणः शितः शत्रुनिबर्हणः।
तेनाहं ताडितः क्षिप्तः समुद्रे शतयोजने॥ १९॥

इतनेहीमें श्रीरामने एक ऐसा तीखा बाण छोड़ा, जो शत्रुका संहार करनेवाला था; परंतु उस बाणकी चोट खाकर (मैं मरा नहीं) सौ योजन दूर समुद्रमें आकर गिर पड़ा॥ १९॥

नेच्छता तात मां हन्तुं तदा वीरेण रक्षितः।
रामस्य शरवेगेन निरस्तो भ्रान्तचेतनः॥ २०॥
पातितोऽहं तदा तेन गम्भीरे सागराम्भसि।
प्राप्य संज्ञां चिरात् तात लङ्कां प्रति गतः पुरीम्॥ २१॥

'तात! वीर श्रीरामचन्द्रजी उस समय मुझे मारना नहीं चाहते थे, इसीलिये मेरी जान बच गयी। उनके बाणके वेगसे मैं भ्रान्तचित्त होकर दूर फेंक दिया गया और समुद्रके गहरे जलमें गिरा दिया गया। तात! फिर दीर्घकालके पश्चात् जब मुझे चेत हुआ, तब मैं लंकापुरीमें गया॥ २०-२१॥

एवमस्मि तदा मुक्तः सहायास्ते निपातिताः।
अकृतास्त्रेण रामेण बालेनाक्लिष्टकर्मणा॥ २२॥

'इस प्रकार उस समय मैं मरनेसे बचा। अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीराम उन दिनों अभी बालक थे और उन्हें अस्त्र चलानेका पूरा अभ्यास भी नहीं था तो भी उन्होंने मेरे उन सभी सहायकोंको मार गिराया, जो मेरे साथ गये थे॥ २२॥

तन्मया वार्यमाणस्तु यदि रामेण विग्रहम्।
करिष्यस्यापदं घोरां क्षिप्रं प्राप्य न शिष्यसि॥ २३॥

'इसलिये मेरे मना करनेपर भी यदि तुम श्रीरामके साथ विरोध करोगे तो शीघ्र ही घोर आपत्तिमें पड़ जाओगे और अन्तमें अपने जीवनसे भी हाथ धो बैठोगे॥ २३॥

क्रीडारतिविधिज्ञानां समाजोत्सवदर्शिनाम्।
रक्षसां चैव संतापमनर्थं चाहरिष्यसि॥ २४॥

'खेल-कूद और भोग-विलासके क्रमको जाननेवाले तथा सामाजिक उत्सवोंको ही देख-देखकर दिल बहलानेवाले राक्षसोंके लिये तुम संताप और अनर्थ (मौत) बुला लाओगे॥ २४॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधां नानारत्नविभूषिताम्।
द्रक्ष्यसि त्वं पुरीं लङ्कां विनष्टां मैथिलीकृते॥ २५॥

'मिथिलेशकुमारी सीताके लिये तुम्हें धनियोंकी अट्टालिकाओं तथा राजभवनोंसे भरी हुई एवं नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित लंकापुरीका विनाश भी अपनी आँखों देखना पड़ेगा॥ २५॥

अकुर्वन्तोऽपि पापानि शुचयः पापसंश्रयात्।
परपापैर्विनश्यन्ति मत्स्या नागह्रदे यथा॥ २६॥

'जो लोग आचार-विचारसे शुद्ध हैं और पाप या अपराध नहीं करते हैं, वे भी यदि पापियोंके सम्पर्कमें चले जायँ तो दूसरोंके पापोंसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे साँपवाले सरोवरमें निवास करनेवाली मछलियाँ उस सर्पके साथ ही मारी जाती हैं॥ २६॥

दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गान् दिव्याभरणभूषितान्।
द्रक्ष्यस्यभिहतान् भूमौ तव दोषात् तु राक्षसान्॥ २७॥

'तुम देखोगे कि जिनके अङ्ग दिव्य चन्दनसे चर्चित होते थे तथा जो दिव्य आभूषणोंसे विभूषित रहते थे, वे ही राक्षस तुम्हारे ही अपराधसे मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हुए हैं॥ २७॥

हृतदारान् सदारांश्च दश विद्रवतो दिशः ।
हतशेषानशरणान् द्रक्ष्यसि त्वं निशाचरान् ॥ २८ ॥

'तुम्हें यह भी दिखायी देगा कि कितने ही निशाचरोंकी स्त्रियाँ हर ली गयी हैं और कुछकी स्त्रियाँ साथ हैं तथा वे युद्धमें मरनेसे बचकर असहाय अवस्थामें दसों दिशाओंकी ओर भाग रहे हैं ॥ २८ ॥

शरजालपरिक्षिप्तामग्निज्वालासमावृताम् ।
प्रदग्धभवनां लङ्कां द्रक्ष्यसि त्वमसंशयम् ॥ २९ ॥

'निःसंदेह तुम्हारे सामने वह दृश्य भी आयेगा कि लंकापुरीपर बाणोंका जाल-सा बिछ गया है। वह आगकी ज्वालाओंसे घिर गयी है और उसका एक-एक घर जलकर भस्म हो गया है ॥ २९ ॥

परदाराभिमर्शात् तु नान्यत् पापतरं महत् ।
प्रमदानां सहस्राणि तव राजन् परिग्रहे ॥ ३० ॥
भव स्वदारनिरतः स्वकुलं रक्ष राक्षसान् ।
मानं वृद्धिं च राज्यं च जीवितं चेष्टमात्मनः ॥ ३१ ॥

'राजन्! परायी स्त्रीके संसर्गसे बढ़कर दूसरा कोई महान् पाप नहीं है। तुम्हारे अन्तःपुरमें हजारों युवती स्त्रियाँ हैं, उन अपनी ही स्त्रियोंमें अनुराग रखो। अपने कुलकी रक्षा करो, राक्षसोंके प्राण बचाओ तथा अपनी मान, प्रतिष्ठा, उन्नति, राज्य और प्यारे जीवनको नष्ट न होने दो ॥ ३०-३१ ॥

कलत्राणि च सौम्यानि मित्रवर्गं तथैव च ।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम् ॥ ३२ ॥

'यदि तुम अपनी सुन्दरी स्त्रियों तथा मित्रोंका सुख अधिक कालतक भोगना चाहते हो तो श्रीरामका अपराध न करो ॥ ३२ ॥

निवार्यमाणः सुहृदा मया भृशं
प्रसह्य सीतां यदि धर्षयिष्यसि ।
गमिष्यसि क्षीणबलः सबान्धवो
यमक्षयं रामशरात्त जीवितः ॥ ३३ ॥

'मैं तुम्हारा हितैषी सुहृद् हूँ। यदि मेरे बारंबार मना करनेपर भी तुम हठपूर्वक सीताका अपहरण करोगे तो तुम्हारी सारी सेना नष्ट हो जायगी और तुम श्रीरामके बाणोंसे अपने प्राण गँवाकर बन्धु-बान्धवोंके साथ यमलोककी यात्रा करोगे' ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

मारीचका रावणको समझाना

एवमस्मि तदा मुक्तः कथंचित् तेन संयुगे ।
इदानीमपि यद् वृत्तं तच्छृणुष्व यदुत्तरम् ॥ १ ॥

'इस प्रकार इस समय तो मैं किसी तरह श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे जीवित बच गया। उसके बाद इन दिनों जो घटना घटित हुई है, उसे भी सुन लो ॥ १ ॥

राक्षसाभ्यामहं द्वाभ्यामनिर्विण्णस्तथाकृतः ।
सहितो मृगरूपाभ्यां प्रविष्टो दण्डकावने ॥ २ ॥

'श्रीरामने मेरी वैसी दुर्दशा कर दी थी, तो भी मैं उनके विरोधसे बाज नहीं आया। एक दिन मृगरूपधारी दो राक्षसोंके साथ मैं भी मृगका ही रूप धारण करके दण्डकवनमें गया ॥

दीप्तजिह्वो महादंष्ट्रस्तीक्ष्णशृङ्गो महाबलः ।
व्यचरन् दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः ॥ ३ ॥

'मैं महान् बलशाली तो था ही, मेरी जीभ आगके समान उद्दीप्त हो रही थी। दाढ़ें भी बहुत बड़ी थीं; सींग तीखे थे और मैं महान् मृगके रूपमें मांस खाता हुआ दण्डकारण्यमें विचरने लगा ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रेषु तीर्थेषु चैत्यवृक्षेषु रावण ।
अत्यन्तघोरो व्यचरंस्तापसांस्तान् प्रधर्षयन् ॥ ४ ॥

'रावण! मैं अत्यन्त भयंकर रूप धारण किये अग्निशालाओंमें, जलाशयोंके घाटोंपर तथा देववृक्षोंके नीचे बैठे हुए तपस्वीजनोंको तिरस्कृत करता हुआ सब ओर विचरण करने लगा ॥ ४ ॥

निहत्य दण्डकारण्ये तापसान् धर्मचारिणः ।
रुधिराणि पिबंस्तेषां तन्मांसानि च भक्षयन् ॥ ५ ॥

'दण्डकारण्यके भीतर धर्मानुष्ठानमें लगे हुए तापसोंको मारकर उनका रक्त पीना और मांस खाना यही मेरा काम था ॥ ५ ॥

ऋषिमांसाशनः क्रूरस्त्रासयन् वनगोचरान् ।
तदा रुधिरमत्तोऽहं व्यचरं दण्डकावनम् ॥ ६ ॥

'मेरा स्वभाव तो क्रूर था ही, मैं ऋषियोंके मांस खाता और वनमें विचरनेवाले प्राणियोंको डराता हुआ रक्तपान करके मतवाला हो दण्डकवनमें घूमने लगा ॥ ६ ॥

तदाहं दण्डकारण्ये विचरन् धर्मदूषकः ।
आसादयं तदा रामं तापसं धर्ममाश्रितम् ॥ ७ ॥
वैदेहीं च महाभागां लक्ष्मणं च महारथम् ।
तापसं नियताहारं सर्वभूतहिते रतम् ॥ ८ ॥

'इस प्रकार उस समय दण्डकारण्यमें विचरता हुआ धर्मको कलंकित करनेवाला मैं मारीच तापस धर्मका आश्रय लेनेवाले श्रीराम, विदेहनन्दिनी महाभागा सीता तथा मिताहारी तपस्वीके रूपमें समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले महारथी लक्ष्मणके पास जा पहुँचा ॥ ७-८ ॥

सोऽहं वनगतं रामं परिभूय महाबलम्।
तापसोऽयमिति ज्ञात्वा पूर्ववैरमनुस्मरन्॥ ९॥
अभ्यधावं सुसंक्रुद्धस्तीक्ष्णशृङ्गो मृगाकृतिः।
जिघांसुरकृतप्रज्ञस्तं प्रहारमनुस्मरन्॥ १०॥

'वनमें आये हुए महाबली श्रीरामको 'यह एक तपस्वी है' ऐसा जानकर उनकी अवहेलना करके मैं आगे बढ़ा और पहलेके वैरका बारंबार स्मरण करके अत्यन्त कुपित हो उनकी ओर दौड़ा। उस समय मेरी आकृति मृगके ही समान थी। मेरे सींग बड़े तीखे थे। उनके पहलेके प्रहारको याद करके मैं उन्हें मार डालना चाहता था। मेरी बुद्धि शुद्ध न होनेके कारण मैं उनकी शक्ति और प्रभावको भूल-सा गया था ॥ ९-१० ॥

तेन त्यक्तास्त्रयो बाणाः शिताः शत्रुनिबर्हणाः।
विकृष्य सुमहच्चापं सुपर्णानिलतुल्यगाः॥ ११॥

'हम तीनोंको आते देख श्रीरामने अपने विशाल धनुषको खींचकर तीन पैने बाण छोड़े, जो गरुड़ और वायुके समान शीघ्रगामी तथा शत्रुके प्राण लेनेवाले थे ॥ ११ ॥

ते बाणा वज्रसंकाशाः सुघोरा रक्तभोजनाः।
आजग्मुः सहिताः सर्वे त्रयः संनतपर्वणः॥ १२॥

'झुकी हुई गाँठवाले वे सब तीनों बाण, जो वज्रके समान दुःसह, अत्यन्त भयंकर तथा रक्त पीनेवाले थे, एक साथ ही हमारी ओर आये ॥ १२ ॥

पराक्रमज्ञो रामस्य शठो दृष्टभयः पुरा।
समुत्क्रान्तस्ततो मुक्तस्तावुभौ राक्षसौ हतौ॥ १३॥

'मैं तो श्रीरामके पराक्रमको जानता था और पहले एक बार उनके भयका सामना कर चुका था, इसलिये शठतापूर्वक उछलकर भाग निकला। भाग जानेसे मैं तो बच गया; किंतु मेरे वे दोनों साथी राक्षस मारे गये ॥ १३ ॥

शरेण मुक्तो रामस्य कथंचित् प्राप्य जीवितम्।
इह प्रव्राजितो युक्तस्तापसोऽहं समाहितः॥ १४॥

'इस बार श्रीरामके बाणसे किसी तरह छुटकारा पाकर मुझे नया जीवन मिला और तभीसे संन्यास लेकर समस्त दुष्कर्मोंका परित्याग करके स्थिरचित्त हो योगाभ्यासमें तत्पर रहकर तपस्यामें लग गया ॥ १४ ॥

वृक्षे वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्।
गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम्॥ १५॥

'अब मुझे एक-एक वृक्षमें चीर, काला मृगचर्म और धनुष धारण किये श्रीराम ही दिखायी देते हैं, जो मुझे पाशधारी यमराजके समान प्रतीत होते हैं ॥ १५ ॥

अपि रामसहस्राणि भीतः पश्यामि रावण।
राममूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे॥ १६॥

'रावण! मैं भयभीत होकर हजारों रामोंको अपने सामने खड़ा देखता हूँ। यह सारा वन ही मुझे राममय प्रतीत हो रहा है ॥ १६ ॥

राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसेश्वर।
दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामि विचेतनः॥ १७॥

'राक्षसराज! जब मैं एकान्तमें बैठता हूँ, तब मुझे श्रीरामके ही दर्शन होते हैं। सपनेमें श्रीरामको देखकर मैं उद्भ्रान्त और अचेत-सा हो उठता हूँ ॥ १७ ॥

रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण।
रत्नानि च रथाश्चैव वित्रासं जनयन्ति मे॥ १८॥

'रावण! मैं रामसे इतना भयभीत हो गया हूँ कि रत्न और रथ आदि जितने भी रकारादि नाम हैं, वे मेरे कानोंमें पड़ते ही मनमें भारी भय उत्पन्न कर देते हैं' ॥ १८ ॥

अहं तस्य प्रभावज्ञो न युद्धं तेन ते क्षमम्।
बलिं वा नमुचिं वापि हन्याद्धि रघुनन्दनः॥ १९॥

'मैं उनके प्रभावको अच्छी तरह जानता हूँ। इसीलिये कहता हूँ कि श्रीरामके साथ तुम्हारा युद्ध करना कदापि उचित नहीं है। रघुकुलनन्दन श्रीराम राजा बलि अथवा नमुचिका भी वध कर सकते हैं ॥ १९ ॥

रणे रामेण युध्यस्व क्षमां वा कुरु रावण।
न ते रामकथा कार्या यदि मां द्रष्टुमिच्छसि॥ २०॥

'रावण! तुम्हारी इच्छा हो तो रणभूमिमें श्रीरामके साथ युद्ध करो अथवा उन्हें क्षमा कर दो, किंतु यदि मुझे जीवित देखना चाहते हो तो मेरे सामने श्रीरामकी चर्चा न करो ॥ २० ॥

बहवः साधवो लोके युक्ता धर्ममनुष्ठिताः।
परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः॥ २१॥

'लोकमें बहुत-से साधुपुरुष, जो योगयुक्त होकर केवल धर्मके ही अनुष्ठानमें लगे रहते थे, दूसरोंके अपराधसे ही परिकरोंसहित नष्ट हो गये ॥ २१ ॥

सोऽहं परापराधेन विनशेयं निशाचर।
कुरु यत् ते क्षमं तत्त्वमहं त्वां नानुयामि वै॥ २२॥

'निशाचर! मैं भी किसी तरह दूसरोंके अपराधसे नष्ट हो सकता हूँ, अतः तुम्हें जो उचित जान पड़े, वह करो। मैं इस कार्यमें तुम्हारा साथ नहीं दे सकता ॥ २२ ॥

रामश्च हि महातेजा महासत्त्वो महाबलः।
अपि राक्षसलोकस्य भवेदन्तकरोऽपि हि॥ २३॥

'क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी बड़े तेजस्वी, महान् आत्मबलसे

सम्पन्न तथा अधिक बलशाली हैं। वे समस्त राक्षस-जगत्का भी संहार कर सकते हैं ॥ २३ ॥

यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः।
अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ॥ २४ ॥

'यदि शूर्पणखाका बदला लेनेके लिये जनस्थाननिवासी खर पहले श्रीरामपर चढ़ाई करनेके लिये गया और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामके हाथसे मारा गया तो तुम्हीं ठीक-ठीक बताओ, इसमें श्रीरामका क्या अपराध है ? ।२४।

इदं वचो बन्धुहितार्थिना मया
यथोच्यमानं यदि नाभिपत्स्यसे।
सबान्धवस्त्यक्ष्यसि जीवितं रणे
हतोऽद्य रामेण शरैरजिह्मगैः ॥ २५ ॥

'तुम मेरे बन्धु हो। मैं तुम्हारा हित करनेकी इच्छासे ही ये बातें कह रहा हूँ। यदि नहीं मानोगे तो युद्धमें आज रामके सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा घायल होकर तुम्हें बन्धु-बान्धवोंसहित प्राणोंका परित्याग करना पड़ेगा' ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः

रावणका मारीचको फटकारना और सीताहरणके कार्यमें सहायता करनेकी आज्ञा देना

मारीचस्य तु तद् वाक्यं क्षमं युक्तं च रावणः।
उक्तो न प्रतिजग्राह मर्तुकाम इवौषधम् ॥ १ ॥

मारीचका वह कथन उचित और मानने योग्य था तो भी जैसे मरनेकी इच्छावाला रोगी दवा नहीं लेता, उसी प्रकार उसके बहुत कहनेपर भी रावणने उसकी बात नहीं मानी ॥ १ ॥

तं पथ्यहितवक्तारं मारीचं राक्षसाधिपः।
अब्रवीत् परुषं वाक्यमयुक्तं कालचोदितः ॥ २ ॥

कालसे प्रेरित हुए उस राक्षसराजने यथार्थ और हितकी बात बतानेवाले मारीचसे अनुचित और कठोर वाणीमें कहा—॥ २ ॥

दुष्कुलैतदयुक्तार्थं मारीच मयि कथ्यते।
वाक्यं निष्फलमत्यर्थं बीजमुप्तमिवोषरे ॥ ३ ॥

'दूषित कुलमें उत्पन्न मारीच ! तुमने मेरे प्रति जो ये अनाप-शनाप बातें कही हैं, ये मेरे लिये अनुचित और असंगत हैं, ऊसरमें बोये हुए बीजके समान अत्यन्त निष्फल हैं ॥ ३ ॥

त्वद्वाक्यैर्न तु मां शक्यं भेत्तुं रामस्य संयुगे।
मूर्खस्य पापशीलस्य मानुषस्य विशेषतः ॥ ४ ॥

'तुम्हारे इन वचनोंद्वारा मूर्ख, पापाचारी और विशेषतः मनुष्य रामके साथ युद्ध करने अथवा उसकी स्त्रीका अपहरण करनेके निश्चयसे मुझे विचलित नहीं किया जा सकता ॥ ४ ॥

यस्त्यक्त्वा सुहृदो राज्यं मातरं पितरं तथा।
स्त्रीवाक्यं प्राकृतं श्रुत्वा वनमेकपदे गतः ॥ ५ ॥
अवश्यं तु मया तस्य संयुगे खरघातिनः।
प्राणैः प्रियतरा सीता हर्तव्या तव संनिधौ ॥ ६ ॥

'एक स्त्री (कैकेयी) के मूर्खतापूर्ण वचन सुनकर जो राज्य, मित्र, माता और पिताको छोड़कर सहसा जंगलमें चला आया है तथा जिसने युद्धमें खरका वध किया है, उस रामचन्द्रकी प्राणोंसे भी प्यारी भार्या सीताका मैं तुम्हारे निकट ही अवश्य हरण करूँगा ॥ ५-६ ॥

एवं मे निश्चिता बुद्धिर्हृदि मारीच विद्यते।
न व्यावर्तयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ ७ ॥

'मारीच ! ऐसा मेरे हृदयका निश्चित विचार है, इसे इन्द्र आदि देवता और सारे असुर मिलकर भी बदल नहीं सकते ॥ ७ ॥

दोषं गुणं वा सम्पृष्टस्त्वमेवं वक्तुमर्हसि।
अपायं वा उपायं वा कार्यस्यास्य विनिश्चये ॥ ८ ॥

'यदि इस कार्यका निर्णय करनेके लिये तुमसे पूछा जाता 'इसमें क्या दोष है, क्या गुण है, इसकी सिद्धिमें कौन-सा विघ्न है अथवा इस कार्यको सिद्ध करनेका कौन-सा उपाय है' तो तुम्हें ऐसी बातें कहनी चाहिये थीं ॥ ८ ॥

सम्पृष्टेन तु वक्तव्यं सचिवेन विपश्चिता।
उद्यताञ्जलिना राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ ९ ॥

'जो अपना कल्याण चाहता हो, उस बुद्धिमान् मन्त्रीको उचित है कि वह राजाके पूछनेपर ही अपना अभिप्राय प्रकट करे और वह भी हाथ जोड़कर नम्रताके साथ ॥ ९ ॥

वाक्यमप्रतिकूलं तु मृदुपूर्वं शुभं हितम्।
उपचारेण वक्तव्यो युक्तं च वसुधाधिपः ॥ १० ॥

'राजाके सामने ऐसी बात कहनी चाहिये, जो सर्वथा अनुकूल, मधुर, उत्तम, हितकर, आदरसे युक्त और उचित हो ॥ १० ॥

सावमर्दं तु यद्वाक्यमथवा हितमुच्यते ।
नाभिनन्देत तद् राजा मानार्थी मानवर्जितम् ॥ ११ ॥

'राजा सम्मानका भूखा होता है। उसकी बातका खण्डन करके आक्षेपपूर्ण भाषामें यदि हितकर वचन भी कहा जाय तो उस अपमानपूर्ण वचनका वह कभी अभिनन्दन नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः ।
अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य वरुणस्य च ॥ १२ ॥
औष्ण्यं तथा विक्रमं च सौम्यं दण्डं प्रसन्नताम् ।
धारयन्ति महात्मानो राजानः क्षणदाचर ॥ १३ ॥

'निशाचर ! अमिततेजस्वी महामनस्वी राजा अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण—इन पाँच देवताओंके स्वरूप धारण किये रहते हैं, इसीलिये वे अपनेमें इन पाँचोंके गुण—प्रताप, पराक्रम, सौम्यभाव, दण्ड और प्रसन्नता भी धारण करते हैं ॥ १२-१३ ॥

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु मान्याः पूज्याश्च नित्यदा ।
त्वं तु धर्ममविज्ञाय केवलं मोहमाश्रितः ॥ १४ ॥
अभ्यागतं तु दौरात्म्यात् परुषं वदसीदृशम् ।
गुणदोषौ न पृच्छामि क्षेमं चात्मनि राक्षस ॥ १५ ॥

'अतः सभी अवस्थाओंमें सदा राजाओंका सम्मान और पूजन ही करना चाहिये। तुम तो अपने धर्मको न जानकर केवल मोहके वशीभूत हो रहे हो। मैं तुम्हारा अभ्यागत-अतिथि हूँ तो भी तुम दुष्टतावश मुझसे ऐसी कठोर बातें कह रहे हो। राक्षस ! मैं तुमसे अपने कर्तव्यके गुण-दोष नहीं पूछता हूँ और न यही जानना चाहता हूँ कि मेरे लिये क्या उचित है ॥ १४-१५ ॥

मयोक्तमपि चैतावत् त्वां प्रत्यमितविक्रम ।
अस्मिंस्तु स भवान् कृत्ये साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

'अमितपराक्रमी मारीच ! मैंने तो तुमसे इतना ही कहा था कि इस कार्यमें तुम्हें मेरी सहायता करनी चाहिये ॥ १६ ॥

शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम ।
सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः ॥ १७ ॥
आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर ।
प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

'अच्छा, अब तुम्हें सहायताके लिये मेरे कथनानुसार जो कार्य करना है, उसे सुनो। तुम सुवर्णमय चर्मसे युक्त चितकबरे रंगके मृग हो जाओ। तुम्हारे सारे अङ्गमें चाँदीकी-सी सफेद बूँदें रहनी चाहिये। ऐसा रूप धारण करके तुम रामके आश्रममें सीताके सामने विचरो। एक बार विदेहकुमारीको लुभाकर जहाँ तुम्हारी इच्छा हो उधर ही चले जाओ ॥ १७-१८ ॥

त्वां हि मायामयं दृष्ट्वा काञ्चनं जातविस्मया ।
आनयैनमिति क्षिप्रं रामं वक्ष्यति मैथिली ॥ १९ ॥

'तुम मायामय काञ्चन मृगको देखकर मिथिलेशकुमारी सीताको बड़ा आश्चर्य होगा और वह शीघ्र ही रामसे कहेगी कि आप इसे पकड़ लाइये ॥ १९ ॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे दूरं गत्वाप्युदाहर ।
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं रामवाक्यानुरूपकम् ॥ २० ॥

'जब राम तुम्हें पकड़नेके लिये आश्रमसे दूर चले जायँ तो तुम भी दूरतक जाकर श्रीरामकी बोलीके अनुरूप ही—ठीक उन्हींके स्वरमें 'हा सीते ! हा लक्ष्मण !' कहकर पुकारना ॥ २० ॥

तच्छ्रुत्वा रामपदवीं सीतया च प्रचोदितः ।
अनुगच्छति सम्भ्रान्तं सौमित्रिरपि सौहृदात् ॥ २१ ॥

'तुम्हारी उस पुकारको सुनकर सीताकी प्रेरणासे सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी स्नेहवश घबराये हुए अपने भाईके ही मार्गका अनुसरण करेंगे ॥ २१ ॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे लक्ष्मणे च यथासुखम् ।
आहरिष्यामि वैदेहीं सहस्राक्षः शचीमिव ॥ २२ ॥

'इस प्रकार राम और लक्ष्मण दोनोंके आश्रमसे दूर निकल जानेपर मैं सुखपूर्वक सीताको हर लाऊँगा, ठीक उसी तरह जैसे इन्द्र शचीको हर लाये थे ॥ २२ ॥

एवं कृत्वा त्विदं कार्यं यथेष्टं गच्छ राक्षस ।
राज्यस्यार्धं प्रदास्यामि मारीच तव सुव्रत ॥ २३ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राक्षस मारीच ! इस प्रकार इस कार्यको सम्पन्न करके जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहाँ चले जाना। मैं इसके लिये तुम्हें अपना आधा राज्य दे दूँगा ॥ २३ ॥

गच्छ सौम्य शिवं मार्गं कार्यस्यास्य विवृद्धये ।
अहं त्वानुगमिष्यामि सरथो दण्डकावनम् ॥ २४ ॥

'सौम्य ! अब इस कार्यकी सिद्धिके लिये प्रस्थान करो। तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो। मैं रथपर बैठकर दण्डक-वनतक तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगा ॥ २४ ॥

प्राप्य सीतामयुद्धेन वञ्चयित्वा तु राघवम् ।
लङ्कां प्रति गमिष्यामि कृतकार्यः सह त्वया ॥ २५ ॥

'रामको धोखा देकर बिना युद्ध किये ही सीताको अपने हाथमें करके कृतार्थ हो तुम्हारे साथ ही लंकाको लौट चलूँगा ॥ २५ ॥

नो चेत् करोषि मारीच हन्मि त्वामहमद्य वै ।
एतत् कार्यमवश्यं मे बलादपि करिष्यसि ।
राज्ञो विप्रतिकूलस्थो न जातु सुखमेधते ॥ २६ ॥

'मारीच ! यदि तुम इनकार करोगे तो तुम्हें अभी मार डालूँगा। मेरा यह कार्य तुम्हें अवश्य करना पड़ेगा। मैं बलप्रयोग करके भी तुमसे यह काम कराऊँगा। राजाके प्रतिकूल चलनेवाला पुरुष कभी सुखी नहीं होता है ॥ २६ ॥

आसाद्य तं जीवितसंशयस्ते
मृत्युर्ध्रुवो ह्यद्य मया विरुध्यतः।
एतद् यथावत् परिगण्य बुद्ध्या
यदत्र पथ्यं कुरु तत्तथा त्वम् ॥ २७ ॥

'रामके सामने जानेपर तुम्हारे प्राण जानेका संदेहमात्र है, परंतु मेरे साथ विरोध करनेपर तो आज ही तुम्हारी मृत्यु निश्चित है। इन बातोंपर बुद्धि लगाकर भलीभाँति विचार कर लो। उसके बाद यहाँ जो हितकर जान पड़े, उसे उसी प्रकार तुम करो' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

मारीचका रावणको विनाशका भय दिखाकर पुनः समझाना

आज्ञप्तो रावणेनेत्थं प्रतिकूलं च राजवत्।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं निःशङ्को राक्षसाधिपम् ॥ १ ॥

रावणने जब राजाकी भाँति उसे ऐसी प्रतिकूल आज्ञा दी, तब मारीचने निःशङ्क होकर उस राक्षसराजसे कठोर वाणीमें कहा— ॥ १ ॥

केनायमुपदिष्टस्ते विनाशः पापकर्मणा।
सपुत्रस्य सराज्यस्य सामात्यस्य निशाचर ॥ २ ॥

'निशाचर ! किस पापीने तुम्हें पुत्र, राज्य और मन्त्रियोंसहित तुम्हारे विनाशका यह मार्ग बताया है ? ॥ २ ॥

कस्त्वया सुखिना राजन् नाभिनन्दति पापकृत्।
केनेदमुपदिष्टं ते मृत्युद्वारमुपायतः ॥ ३ ॥

'राजन् ! कौन ऐसा पापाचारी है, जो तुम्हें सुखी देखकर प्रसन्न नहीं हो रहा है ? किसने युक्तिसे तुम्हें मौतके द्वारपर जानेकी यह सलाह दी है ? ॥ ३ ॥

शत्रवस्तव सुव्यक्तं हीनवीर्या निशाचर।
इच्छन्ति त्वां विनश्यन्तमुपरुद्धं बलीयसा ॥ ४ ॥

'निशाचर ! आज यह बात स्पष्टरूपसे ज्ञात हो गयी कि तुम्हारे दुर्बल शत्रु तुम्हें किसी बलवान्‌से भिड़ाकर नष्ट होते देखना चाहते हैं ॥ ४ ॥

केनेदमुपदिष्टं ते क्षुद्रेणाहितबुद्धिना।
यस्त्वामिच्छति नश्यन्तं स्वकृतेन निशाचर ॥ ५ ॥

'राक्षसराज ! तुम्हारे अहितका विचार रखनेवाले किस नीचने तुम्हें यह पाप करनेका उपदेश दिया है ? जान पड़ता है कि वह तुम्हें अपने ही कुकर्मसे नष्ट होते देखना चाहता है ॥ ५ ॥

वध्याः खलु न वध्यन्ते सचिवास्तव रावण।
ये त्वामुत्पथमारूढं न निगृह्णन्ति सर्वशः ॥ ६ ॥

'रावण ! निश्चय ही वधके योग्य तुम्हारे वे मन्त्री हैं, जो कुमार्गपर आरूढ़ हुए तुम-जैसे राजाको सब प्रकारसे रोक नहीं रहे हैं; किंतु तुम उनका वध नहीं करते हो ॥ ६ ॥

अमात्यैः कामवृत्तो हि राजा कापथमाश्रितः।
निग्राह्यः सर्वथा सद्भिः स निग्राह्यो न गृह्यसे ॥ ७ ॥

'अच्छे मन्त्रियोंको चाहिये कि जो राजा स्वेच्छाचारी होकर कुमार्गपर चलने लगे, उसे सब प्रकारसे वे रोकें। तुम भी रोकनेके ही योग्य हो; फिर भी वे मन्त्री तुम्हें रोक नहीं रहे हैं ॥ ७ ॥

धर्ममर्थं च कामं च यशश्च जयतां वर।
स्वामिप्रसादात् सचिवाः प्राप्नुवन्ति निशाचर ॥ ८ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ निशाचर ! मन्त्री अपने स्वामी राजाकी कृपासे ही धर्म, अर्थ, काम और यश पाते हैं ॥ ८ ॥

विपर्यये तु तत्सर्वं व्यर्थं भवति रावण।
व्यसनं स्वामिवैगुण्यात् प्राप्नुवन्तीतरे जनाः ॥ ९ ॥

'रावण ! यदि स्वामीकी कृपा न हो तो सब व्यर्थ हो जाता है। राजाके दोषसे दूसरे लोगोंको भी कष्ट भोगना पड़ता है ॥ ९ ॥

राजमूलो हि धर्मश्च यशश्च जयतां वर।
तस्मात् सर्वास्ववस्थासु रक्षितव्या नराधिपाः ॥ १० ॥

'विजयशीलोंमें श्रेष्ठ राक्षसराज ! धर्म और यशकी प्राप्तिका मूल कारण राजा ही है; अतः सभी अवस्थाओंमें राजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १० ॥

राज्यं पालयितुं शक्यं न तीक्ष्णेन निशाचर।
न चातिप्रतिकूलेन नाविनीतेन राक्षस ॥ ११ ॥

'रात्रिमें विचरनेवाले राक्षस ! जिसका स्वभाव अत्यन्त तीखा हो, जो जनताके अत्यन्त प्रतिकूल चलनेवाला और उद्दण्ड हो, ऐसे राजाके राज्यकी रक्षा नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

ये तीक्ष्णमन्त्राः सचिवा भुज्यन्ते सह तेन वै।
विषमेषु रथाः शीघ्रं मन्दसारथयो यथा ॥ १२ ॥

'जो मन्त्री तीखे उपायका उपदेश करते हैं, वे अपनी सलाह माननेवाले उस राजाके साथ ही दुःख भोगते हैं, जैसे जिनके सारथि मूर्ख हों, ऐसे रथ नीची-ऊँची भूमिमें जानेपर सारथियोंके साथ ही संकटमें पड़ जाते हैं ॥ १२ ॥

बहवः साधवो लोके युक्तधर्ममनुष्ठिताः ।
परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ॥ १३ ॥

'उपयुक्त धर्मका अनुष्ठान करनेवाले बहुत-से साधु-पुरुष इस जगत्‌में दूसरोंके अपराधसे परिवारसहित नष्ट हो गये हैं ॥ १३ ॥

स्वामिना प्रतिकूलेन प्रजास्तीक्ष्णेन रावण ।
रक्ष्यमाणा न वर्धन्ते मेषा गोमायुना यथा ॥ १४ ॥

'रावण ! प्रतिकूल बर्ताव और तीखे स्वभाववाले राजासे रक्षित होनेवाली प्रजा उसी तरह वृद्धिको नहीं प्राप्त होती है, जैसे गीदड़ या भेड़ियेसे पालित होनेवाली भेड़ें ॥ १४ ॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः ।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ १५ ॥

'रावण ! जिनके तुम क्रूर, दुर्बुद्धि और अजितेन्द्रिय राजा हो, वे सब राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जायँगे ॥ १५ ॥

तदिदं काकतालीयं घोरमासादितं मया ।
अत्र त्वं शोचनीयोऽसि ससैन्यो विनशिष्यसि ॥ १६ ॥

'काकतालीय न्यायके अनुसार मुझे तुमसे अकस्मात् ही यह घोर दुःख प्राप्त हो गया । इस विषयमें मुझे तुम ही शोकके योग्य जान पड़ते हो; क्योंकि सेनासहित तुम्हारा नाश हो जायगा ॥ १६ ॥

मां निहत्य तु रामोऽसावचिरात् त्वां वधिष्यति ।
अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये चाप्यरिणा हतः ॥ १७ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी मुझे मारकर तुम्हारा भी शीघ्र ही वध कर डालेंगे । जब दोनों ही तरहसे मेरी मृत्यु निश्चित है, तब श्रीरामके हाथसे होनेवाली जो यह मृत्यु है, इसे पाकर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा; क्योंकि शत्रुके द्वारा युद्धमें मारा जाकर प्राणत्याग करूँगा (तुम-जैसे राजाके हाथसे बलपूर्वक प्राणदण्ड पानेका कष्ट नहीं भोगूँगा) ॥ १७ ॥

दर्शनादेव रामस्य हतं मामवधारय ।
आत्मानं च हतं विद्धि हृत्वा सीतां सबान्धवम् ॥ १८ ॥

'राजन् ! यह निश्चित समझो कि श्रीरामके सामने जाकर उनकी दृष्टि पड़ते ही मैं मारा जाऊँगा और यदि तुमने सीताका हरण किया तो तुम अपनेको भी बन्धु-बान्धवों-सहित मरा हुआ ही मानो ॥ १८ ॥

आनयिष्यसि चेत् सीतामाश्रमात् सहितो मया ।
नैव त्वमपि नाहं वै नैव लङ्का न राक्षसाः ॥ १९ ॥

'यदि तुम मेरे साथ जाकर श्रीरामके आश्रमसे सीताका अपहरण करोगे, तब न तो तुम जीवित बचोगे और न मैं ही । न लंकापुरी रहने पायगी और न वहाँके निवासी राक्षस ही ॥ १९ ॥

निवार्यमाणस्तु मया हितैषिणा
न मृष्यसे वाक्यमिदं निशाचर ।
परेतकल्पा हि गतायुषो नरा
हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम् ॥ २० ॥

'निशाचर ! मैं तुम्हारा हितैषी हूँ, इसीलिये तुम्हें पाप-कर्मसे रोक रहा हूँ; किंतु तुम्हें मेरी बात सहन नहीं होती है। सच है जिनकी आयु समाप्त हो जाती है, वे मरणासन्न पुरुष अपने सुहृदोंकी कही हुई हितकर बातें नहीं स्वीकार करते हैं॥२०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

मारीचका सुवर्णमय मृगरूप धारण करके श्रीरामके आश्रमपर जाना और सीताका उसे देखना

एवमुक्त्वा तु परुषं मारीचो रावणं ततः ।
गच्छावेत्यब्रवीद् दीनो भयाद् रात्रिंचरप्रभोः ॥ १ ॥

रावणसे इस प्रकार कठोर बातें कहकर उस निशाचर-राजके भयसे दुखी हुए मारीचने कहा—'चलो चलें ॥१॥

दृष्टश्चाहं पुनस्तेन शरचापासिधारिणा ।
मद्वधोद्यतशस्त्रेण निहतं जीवितं च मे ॥ २ ॥

'मेरे वधके लिये जिनका हथियार सदा उठा ही रहता है, उन धनुष-बाण और तलवार धारण करनेवाले श्रीरामचन्द्र-जीने यदि फिर मुझे देख लिया तो मेरे जीवनका अन्त निश्चित है ॥ २ ॥

नहि रामं पराक्रम्य जीवन् प्रतिनिवर्तते ।
वर्तते प्रतिरूपोऽसौ यमदण्डहतस्य ते ॥ ३ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके साथ पराक्रम दिखाकर कोई जीवित नहीं लौटता है । तुम यमदण्डसे मारे गये हो (इसीलिये उनसे भिड़नेकी बात सोचते हो) । वे श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारे लिये यमदण्डके ही समान हैं ॥ ३ ॥

किं नु कर्तुं मया शक्यमेवं त्वयि दुरात्मनि।
एष गच्छाम्यहं तात स्वस्ति तेऽस्तु निशाचर ॥ ४ ॥

'परंतु जब तुम इस प्रकार दुष्टतापर उतारू हो गये, तब मैं क्या कर सकता हूँ। लो, यह मैं चलता हूँ। तात निशाचर! तुम्हारा कल्याण हो' ॥ ४ ॥

प्रहृष्टस्त्वभवत् तेन वचनेन स राक्षसः।
परिष्वज्य सुसंश्लिष्टमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

मारीचके उस वचनसे राक्षस रावणको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने उसे कसकर हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

एतच्छौटीर्ययुक्तं ते मच्छन्दवशवर्तिनः।
इदानीमसि मारीचः पूर्वमन्यो हि राक्षसः ॥ ६ ॥

'यह तुमने वीरताकी बात कही है; क्योंकि अब तुम मेरी इच्छाके वशवर्ती हो गये हो। इस समय तुम वास्तवमें मारीच हो। पहले तुममें किसी दूसरे राक्षसका आवेश हो गया था ॥ ६ ॥

आरुह्यतामयं शीघ्रं खगो रत्नविभूषितः।
मया सह रथो युक्तः पिशाचवदनैः खरैः ॥ ७ ॥

'यह रत्नोंसे विभूषित मेरा आकाशगामी रथ तैयार है, इसमें पिशाचोंके-से मुखवाले गधे जुते हुए हैं, इसपर मेरे साथ जल्दीसे बैठ जाओ ॥ ७ ॥

प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि।
तां शून्ये प्रसभं सीतामानयिष्यामि मैथिलीम् ॥ ८ ॥

'(तुम्हारे जिम्मे एक ही काम है) विदेहकुमारी सीताके मनमें अपने लिये लोभ उत्पन्न कर दो। उसे लुभाकर तुम जहाँ चाहो जा सकते हो। आश्रम सूना हो जानेपर मैं मिथिलेशकुमारी सीताको जबरदस्ती उठा लाऊँगा' ॥ ८ ॥

ततस्तथेत्युवाचैनं रावणं ताटकासुतः।
ततो रावणमारीचौ विमानमिव तं रथम् ॥ ९ ॥
आरुह्याययतुः शीघ्रं तस्मादाश्रममण्डलात्।

तब ताटकाकुमार मारीचने रावणसे कहा—'तथास्तु' ऐसा ही हो। तदनन्तर रावण और मारीच दोनों उस विमानाकार रथपर बैठकर शीघ्र ही उस आश्रममण्डलसे चल दिये ॥ ९½ ॥

तथैव तत्र पश्यन्तौ पत्तनानि वनानि च ॥ १० ॥
गिरींश्च सरितः सर्वा राष्ट्राणि नगराणि च।
समेत्य दण्डकारण्यं राघवस्याश्रमं ततः ॥ ११ ॥
ददर्श सहमारीचो रावणो राक्षसाधिपः।

मार्गमें पहलेकी ही भाँति अनेकानेक पत्तनों, वनों, पर्वतों, समस्त नदियों, राष्ट्रों तथा नगरोंको देखते हुए दोनोंने दण्डकारण्यमें प्रवेश किया और वहाँ मारीचसहित राक्षसराज रावणने श्रीरामचन्द्रजीका आश्रम देखा ॥ १०-११½ ॥

अवतीर्य रथात् तस्मात् ततः काञ्चनभूषणात् ॥ १२ ॥
हस्ते गृहीत्वा मारीचं रावणो वाक्यमब्रवीत्।

तब उस सुवर्णभूषित रथसे उतरकर रावणने मारीचका हाथ अपने हाथमें ले उससे कहा—॥ १२½ ॥

एतद् रामाश्रमपदं दृश्यते कदलीवृतम् ॥ १३ ॥
क्रियतां तत् सखे शीघ्रं यदर्थं वयमागताः।

'सखे! यह केलोंसे घिरा हुआ रामका आश्रम दिखायी दे रहा है। अब शीघ्र ही वह कार्य करो, जिसके लिये हमलोग यहाँ आये हैं' ॥ १३½ ॥

स रावणवचः श्रुत्वा मारीचो राक्षसस्तदा ॥ १४ ॥
मृगो भूत्वाऽऽश्रमद्वारि रामस्य विचचार ह।

रावणकी बात सुनकर राक्षस मारीच उस समय मृगका रूप धारण करके श्रीरामके आश्रमके द्वारपर विचरने लगा ॥ १४½ ॥

स तु रूपं समास्थाय महदद्भुतदर्शनम् ॥ १५ ॥
मणिप्रवरशृङ्गाग्रः सितासितमुखाकृतिः।
रक्तपद्मोत्पलमुख इन्द्रनीलोत्पलश्रवाः ॥ १६ ॥
किंचिदभ्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलनिभोदरः।
मधूकनिभपार्श्वश्च कञ्जकिञ्जल्कसंनिभः ॥ १७ ॥

उस समय उसने देखनेमें बड़ा ही अद्भुत रूप धारण कर रखा था। उसके सींगोंके ऊपरी भाग इन्द्रनील नामक श्रेष्ठ मणिके बने हुए जान पड़ते थे, मुखमण्डलपर सफेद और काले रंगकी बूँदें थीं, मुखका रंग लाल कमलके समान था। उसके कान नीलकमलके तुल्य थे और गरदन कुछ ऊँची थी, उदरका भाग इन्द्रनीलमणिकी कान्ति धारण कर रहा था। पार्श्वभाग महुएके फूलके समान श्वेतवर्णके थे, शरीरका सुनहरा रंग कमलके केसरकी भाँति सुशोभित होता था ॥ १५-१७ ॥

वैदूर्यसंकाशखुरस्तनुजङ्घः सुसंहतः।
इन्द्रायुधसवर्णेन पुच्छेनोर्ध्वं विराजितः ॥ १८ ॥

उसके खुर वैदूर्यमणिके समान, पिंडलियाँ पतली और पूँछ ऊपरसे इन्द्रधनुषके रंगकी थी, जिससे उसका सुगठित शरीर विशेष शोभा पा रहा था ॥ १८ ॥

मनोहरस्निग्धवर्णो रत्नैर्नानाविधैर्वृतः।
क्षणेन राक्षसो जातो मृगः परमशोभनः ॥ १९ ॥

उसकी देहकी कान्ति बड़ी ही मनोहर और चिकनी थी। वह नाना प्रकारके रत्नोंकी बुँदकियोंसे विभूषित दिखायी देता था। राक्षस मारीच क्षणभरमें ही परम शोभायमान मृग बन गया ॥ १९ ॥

वनं प्रज्वलयन् रम्यं रामाश्रमपदं च तत्।
मनोहरं दर्शनीयं रूपं कृत्वा स राक्षसः ॥ २० ॥

प्रलोभनार्थं वैदेह्या नानाधातुविचित्रितम् ।
विचरन् गच्छते सम्यक् शाद्वलानि समन्ततः ॥ २१ ॥

सीताको लुभानेके लिये विविध धातुओंसे चित्रित मनोहर एवं दर्शनीय रूप बनाकर वह निशाचर उस रमणीय वन तथा श्रीरामके उस आश्रमको प्रकाशित करता हुआ सब ओर उत्तम घासोंको चरने और विचरने लगा ॥ २०-२१ ॥

रौप्यैर्बिन्दुशतैश्चित्रं भूत्वा च प्रियदर्शनः ।
विटपीनां किसलयान् भक्षयन् विचचार ह ॥ २२ ॥

सैकड़ों रजतमय बिन्दुओंसे युक्त विचित्र रूप धारण करके वह मृग बड़ा प्यारा दिखायी देता था । वह वृक्षोंके कोमल पल्लवोंको खाता हुआ इधर-उधर विचरने लगा ॥ २२ ॥

कदलीगृहकं गत्वा कर्णिकारानितस्ततः ।
समाश्रयन् मन्दगतिं सीतासंदर्शनं ततः ॥ २३ ॥

केलेके बगीचेमें जाकर वह कनेरोंके कुञ्जमें जा पहुँचा । फिर जहाँ सीताकी दृष्टि पड़ सके, ऐसे स्थानमें जाकर मन्द-गतिका आश्रय ले इधर-उधर घूमने लगा ॥ २३ ॥

राजीवचित्रपृष्ठः स विरराज महामृगः ।
रामाश्रमपदाभ्याशे विचचार यथासुखम् ॥ २४ ॥

उसका पृष्ठभाग कमलके केसरकी भाँति सुनहरे रंगका होनेके कारण विचित्र दिखायी देता था, इससे उस महान् मृगकी बड़ी शोभा हो रही थी । श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमके निकट ही वह अपनी मौजसे घूम रहा था ॥ २४ ॥

पुनर्गत्वा निवृत्तश्च विचचार मृगोत्तमः ।
गत्वा मुहूर्तं त्वरया पुनः प्रतिनिवर्तते ॥ २५ ॥

वह श्रेष्ठ मृग कुछ दूर जाकर फिर लौट आता था और वहीं घूमने लगता था । दो घड़ीके लिये कहीं चला जाता और फिर बड़ी उतावलीके साथ लौट आता था ॥ २५ ॥

विक्रीडंश्च क्वचिद् भूमौ पुनरेव निषीदति ।
आश्रमद्वारमागम्य मृगयूथानि गच्छति ॥ २६ ॥

वह कहीं खेलता, कूदता और पुनः भूमिपर ही बैठ जाता था, फिर आश्रमके द्वारपर आकर मृगोंके झुंडके पीछे-पीछे चल देता ॥ २६ ॥

मृगयूथैरनुगतः पुनरेव निवर्तते ।
सीतादर्शनमाकाङ्क्षन् राक्षसो मृगतां गतः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् झुंड-के-झुंड मृगोंको साथ लिये फिर लौट आता था । उस मृगरूपधारी राक्षसके मनमें केवल यह अभिलाषा थी कि किसी तरह सीताकी दृष्टि मुझपर पड़ जाय ॥ २७ ॥

परिभ्रमति चित्राणि मण्डलानि विनिष्पतन् ।
समुद्वीक्ष्य च सर्वे तं मृगा येऽन्ये वनेचराः ॥ २८ ॥
उपगम्य समाघ्राय विद्रवन्ति दिशो दश ।

सीताके समीप आते समय वह विचित्र मण्डल (पैंतरे) दिखाता हुआ चारों ओर चक्कर लगाता था । उस वनमें विचरनेवाले जो दूसरे मृग थे, वे सब उसे देखकर पास आते और उसे सूँघकर दसों दिशाओंमें भाग जाते थे ॥ २८½ ॥

राक्षसः सोऽपि तान् वन्यान् मृगान् मृगवधे रतः ॥
प्रच्छादनार्थं भावस्य न भक्षयति संस्पृशन् ।

राक्षस मारीच यद्यपि मृगोंके वधमें ही तत्पर रहता था तथापि उस समय अपने भावको छिपानेके लिये उन वन्य मृगोंका स्पर्श करके भी उन्हें खाता नहीं था ॥ २९½ ॥

तस्मिन्नेव ततः काले वैदेही शुभलोचना ॥ ३० ॥
कुसुमापचये व्यग्रा पादपानत्यवर्तत ।
कर्णिकारानशोकांश्च चूतांश्च मदिरेक्षणा ॥ ३१ ॥

उसी समय, मदभरे, सुन्दर नेत्रोंवाली विदेहनन्दिनी सीता, जो फूल चुननेमें लगी हुई थीं, कनेर, अशोक और आमके वृक्षोंको लाँघती हुई उधर आ निकलीं ॥ ३०-३१ ॥

कुसुमान्यपचिन्वन्ती चचार रुचिरानना ।
अनर्हा वनवासस्य सा तं रत्नमयं मृगम् ॥ ३२ ॥
मुक्तामणिविचित्राङ्गं ददर्श परमाङ्गना ।

फूलोंको चुनती हुई वे वहीं विचरने लगीं । उनका मुख बड़ा ही सुन्दर था । वे वनवासका कष्ट भोगनेके योग्य नहीं थीं । परम सुन्दरी सीताने उस रत्नमय मृगको देखा, जिसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग मुक्तामणियोंसे चित्रित-सा जान पड़ता था ॥ ३२½ ॥

तं वै रुचिरदन्तोष्ठं रूप्यधातुतनूरुहम् ॥ ३३ ॥
विस्मयोत्फुल्लनयना सस्नेहं समुदैक्षत ।

उसके दाँत और ओठ बड़े सुन्दर थे तथा शरीरके रोएँ चाँदी एवं ताँबे आदि धातुओंके बने हुए जान पड़ते थे । उसके ऊपर दृष्टि पड़ते ही सीताजीकी आँखें आश्चर्यसे खिल उठीं और वे बड़े स्नेहसे उसकी ओर निहारने लगीं ॥ ३३½ ॥

स च तां रामदयितां पश्यन् मायामयो मृगः ॥ ३४ ॥
विचचार ततस्तत्र दीपयन्निव तद् वनम् ।

वह मायामय मृग भी श्रीरामकी प्राणवल्लभा सीताको देखता और उस वनको प्रकाशित-सा करता हुआ वहीं विचरने लगा ॥ ३४½ ॥

अदृष्टपूर्वं दृष्ट्वा तं नानारत्नमयं मृगम् ।

विस्मयं परमं सीता जगाम जनकात्मजा ॥ ३५ ॥

सीताने वैसा मृग पहले कभी नहीं देखा था। वह नाना प्रकारके रत्नोंका ही बना जान पड़ता था। उसे देखकर जनककिशोरी सीताको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

कपटमृगको देखकर लक्ष्मणका संदेह, सीताका उस मृगको जीवित या मृत अवस्थामें भी ले आनेके लिये श्रीरामको प्रेरित करना तथा श्रीरामका लक्ष्मणको समझा-बुझाकर सीताकी रक्षाका भार सौंपकर उस मृगको मारनेके लिये जाना

सा तं सम्प्रेक्ष्य सुश्रोणी कुसुमानि विचिन्वती ।
हेमराजतवर्णाभ्यां पार्श्वाभ्यामुपशोभितम् ॥ १ ॥
प्रहृष्टा चानवद्याङ्गी मृष्टहाटकवर्णिनी ।
भर्तारमपि चक्रन्द लक्ष्मणं चैव सायुधम् ॥ २ ॥

वह मृग सोने और चाँदीके समान कान्तिवाले पार्श्व-भागोंसे सुशोभित था। शुद्ध सुवर्णके समान कान्ति तथा निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी सीता फूल चुनते-चुनते ही उस मृगको देखकर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई और अपने पति श्रीराम तथा देवर लक्ष्मणको हथियार लेकर आनेके लिये पुकारने लगीं ॥ १-२ ॥

आहूयाहूय च पुनस्तं मृगं साधु वीक्षते ।
आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज ॥ ३ ॥

वे बार-बार उन्हें पुकारतीं और फिर उस मृगको अच्छी तरह देखने लगती थीं। वे बोलीं, 'आर्यपुत्र! अपने भाईके साथ आइये, शीघ्र आइये' ॥ ३ ॥

तावाहूतौ नरव्याघ्रौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वीक्षमाणौ तु तं देशं तदा ददृशतुर्मृगम् ॥ ४ ॥

विदेहकुमारी सीताके द्वारा पुकारे जानेपर नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मण वहाँ आये और उस स्थानपर सब ओर दृष्टि डालते हुए उन्होंने उस समय उस मृगको देखा ॥

शङ्कमानस्तु तं दृष्ट्वा लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
तमेवैनमहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम् ॥ ५ ॥

उसे देखकर लक्ष्मणके मनमें संदेह हुआ और वे बोले—'भैया! मैं तो समझता हूँ कि इस मृगके रूपमें वह मारीच नामका राक्षस ही आया है ॥ ५ ॥

चरन्तो मृगयां हृष्टाः पापेनोपाधिना वने ।
अनेन निहता राम राजानः कामरूपिणा ॥ ६ ॥

'श्रीराम! स्वेच्छानुसार रूप धारण करनेवाले इस पापीने कपट वेष बनाकर वनमें शिकार खेलनेके लिये आये हुए कितने ही हर्षोत्फुल्ल नरेशोंका वध किया है ॥ ६ ॥

अस्य मायाविदो माया मृगरूपमिदं कृतम् ।
भानुमत् पुरुषव्याघ्र गन्धर्वपुरसंनिभम् ॥ ७ ॥

'पुरुषसिंह! यह अनेक प्रकारकी मायाएँ जानता है। इसकी जो माया सुनी गयी है, वही इस प्रकाशमान मृगरूपमें परिणत हो गयी है। यह गन्धर्व-नगरके समान देखने-भरके लिये ही है (इसमें वास्तविकता नहीं है) ॥ ७ ॥

मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव ।
जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयः ॥ ८ ॥

'रघुनन्दन! पृथ्वीनाथ! इस भूतलपर कहीं भी ऐसा विचित्र रत्नमय मृग नहीं है; अतः निःसंदेह यह माया ही है' ॥ ८ ॥

एवं ब्रुवाणं काकुत्स्थं प्रतिवार्य शुचिस्मिता ।
उवाच सीता संहृष्टा छद्मना हृतचेतना ॥ ९ ॥

मारीचके छलसे जिनकी विचारशक्ति हर ली गयी थी, उन पवित्र मुसकानवाली सीताने उपर्युक्त बातें कहते हुए लक्ष्मणको रोककर स्वयं ही बड़े हर्षके साथ कहा— ॥ ९ ॥

आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मृगो हरति मे मनः ।
आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति ॥ १० ॥

'आर्यपुत्र! यह मृग बड़ा ही सुन्दर है। इसने मेरे मनको हर लिया है। महाबाहो! इसे ले आइये। यह हमलोगोंके मन-बहलावके लिये रहेगा ॥ १० ॥

इहाश्रमपदेऽस्माकं बहवः पुण्यदर्शनाः ।
मृगाश्चरन्ति सहिताश्चमराः सृमरास्तथा ॥ ११ ॥
ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च वानराः किन्नरास्तथा ।
विहरन्ति महाबाहो रूपश्रेष्ठा महाबलाः ॥ १२ ॥
न चान्यः सदृशो राजन् दृष्टः पूर्वं मृगो मया ।
तेजसा क्षमया दीप्त्या यथायं मृगसत्तमः ॥ १३ ॥

'राजन्! महाबाहो! यद्यपि हमारे इस आश्रमपर बहुत-से पवित्र एवं दर्शनीय मृग एक साथ आकर चरते हैं तथा चमर (काली पूँछवाली चमरी गाय), सृमर

(सफेद पूँछवाली चवँरी गाय), रीछ, चितकबरे मृगोंके झुंड, वानर तथा सुन्दर रूपवाले महाबली किन्नर भी विचरण करते हैं, तथापि आजके पहले मैंने दूसरा कोई ऐसा तेजस्वी, सौम्य और दीप्तिमान् मृग नहीं देखा था, जैसा कि यह श्रेष्ठ मृग दिखायी दे रहा है ॥ ११-१३ ॥

नानावर्णविचित्राङ्गो रत्नभूतो ममाग्रतः ।
द्योतयन् वनमव्यग्रं शोभते शशिसंनिभः ॥ १४ ॥

'नाना प्रकारके रंगोंसे युक्त होनेके कारण इसके अङ्ग विचित्र जान पड़ते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो यह रत्नोंका ही बना हुआ हो। मेरे आगे निर्भय एवं शान्त-भावसे स्थित होकर इस वनको प्रकाशित करता हुआ यह चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा है ॥ १४ ॥

अहो रूपमहो लक्ष्मीः स्वरसम्पच्च शोभना ।
मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे ॥ १५ ॥

'इसका रूप अद्भुत है। इसकी शोभा अवर्णनीय है। इसकी स्वरसम्पत्ति (बोली) बड़ी सुन्दर है। विचित्र रत्नोंसे सुशोभित यह अद्भुत मृग मेरे मनको मोहे लेता है ॥ १५ ॥

यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव ।
आश्चर्यभूतं भवति विस्मयं जनयिष्यति ॥ १६ ॥

'यदि यह मृग जीते-जी ही आपकी पकड़में आ जाय तो एक आश्चर्यकी वस्तु होगा और सबके हृदयमें विस्मय उत्पन्न कर देगा ॥ १६ ॥

समाप्तवनवासानां राज्यस्थानां च नः पुनः ।
अन्तःपुरे विभूषार्थो मृग एष भविष्यति ॥ १७ ॥

'जब हमारे वनवासकी अवधि पूरी हो जायगी और हम पुनः अपना राज्य पा लेंगे, उस समय यह मृग हमारे अन्तःपुरकी शोभा बढ़ायेगा ॥ १७ ॥

भरतस्यार्यपुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभो ।
मृगरूपमिदं दिव्यं विस्मयं जनयिष्यति ॥ १८ ॥

'प्रभो ! इस मृगका यह दिव्य रूप भरतके, आपके, मेरी सासुओंके और मेरे लिये भी विस्मयजनक होगा ॥

जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः ।
अजिनं नरशार्दूल रुचिरं तु भविष्यति ॥ १९ ॥

'पुरुषसिंह ! यदि कदाचित् यह श्रेष्ठ मृग जीते-जी पकड़ा न जा सके तो इसका चमड़ा ही बहुत सुन्दर होगा ॥

निहतस्यास्य सत्त्वस्य जाम्बूनदमयत्वचि ।
शष्पबृस्यां विनीतायामिच्छाम्यहमुपासितुम् ॥ २० ॥

'घास-फूसकी बनी हुई चटाईपर इस मरे हुए मृगका सुवर्णमय चमड़ा बिछाकर मैं इसपर आपके साथ बैठना चाहती हूँ ॥ २० ॥

कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम् ।
वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम ॥ २१ ॥

'यद्यपि स्वेच्छासे प्रेरित होकर अपने पतिको ऐसे काममें लगाना यह भयंकर स्वेच्छाचार है और साध्वी स्त्रियोंके लिये उचित नहीं माना गया है तथापि इस जन्तुके शरीरने मेरे हृदयमें विस्मय उत्पन्न कर दिया है (इसीलिये मैं इसको पकड़ लानेके लिये अनुरोध करती हूँ)' ॥ २१ ॥

तेन काञ्चनरोम्णा तु मणिप्रवरशृङ्गिणा ।
तरुणादित्यवर्णेन नक्षत्रपथवर्चसा ॥ २२ ॥
बभूव राघवस्यापि मनो विस्मयमागतम् ।
इति सीतावचः श्रुत्वा दृष्ट्वा च मृगमद्भुतम् ॥ २३ ॥
लोभितस्तेन रूपेण सीतया च प्रचोदितः ।
उवाच राघवो हृष्टो भ्रातरं लक्ष्मणं वचः ॥ २४ ॥

सुनहरी रोमावली, इन्द्रनील मणिके समान सींग, उदयकालके सूर्यकी-सी कान्ति तथा नक्षत्रलोककी भाँति बिन्दुयुक्त तेजसे सुशोभित उस मृगको देखकर श्रीरामचन्द्र-जीका मन भी विस्मित हो उठा। सीताकी पूर्वोक्त बातको सुनकर, उस मृगके अद्भुत रूपको देखकर, उसके उस रूपपर लुभाकर और सीतासे प्रेरित होकर हर्षसे भरे हुए श्रीरामने अपने भाई लक्ष्मणसे कहा—॥ २२-२४ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः स्पृहामुल्लसितामिमाम् ।
रूपश्रेष्ठतया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति ॥ २५ ॥

'लक्ष्मण ! देखो तो सही, विदेहनन्दिनी सीताके मनमें इस मृगको पानेके लिये कितनी प्रबल इच्छा जाग उठी है ! वास्तवमें इसका रूप है भी बहुत ही सुन्दर। अपने रूपकी इस श्रेष्ठताके कारण ही यह मृग आज जीवित नहीं रह सकेगा ॥ २५ ॥

न वने नन्दनोद्देशे न चैत्ररथसंश्रये ।
कुतः पृथिव्यां सौमित्रे योऽस्य कश्चित् समो मृगः ॥

'सुमित्रानन्दन ! देवराज इन्द्रके नन्दनवनमें और कुबेरके चैत्ररथवनमें भी कोई ऐसा मृग नहीं होगा, जो इसकी समानता कर सके। फिर पृथ्वीपर तो हो ही कहाँसे सकता है ॥ २६ ॥

प्रतिलोमानुलोमाश्च रुचिरा रोमराजयः ।
शोभन्ते मृगमाश्रित्य चित्राः कनकबिन्दुभिः ॥ २७ ॥

'टेढ़ी और सीधी रुचिर रोमावलियाँ इस मृगके शरीरका आश्रय ले सुनहरे बिन्दुओंसे चित्रित हो बड़ी शोभा पा रही हैं ॥ २७ ॥

पश्यास्य जृम्भमाणस्य दीप्तामग्निशिखोपमाम् ।
जिह्वां मुखान्निःसरन्तीं मेघादिव शतह्रदाम् ॥ २८ ॥

'देखो न, जब यह जँभाई लेता है, तब इसके मुखसे प्रज्वलित अग्निशिखाके समान दमकती हुई जिह्वा



स्वर्णमृगके वधकी प्रेरणा

बाहर निकल आती है और मेघसे प्रकट हुई बिजलीके समान चमकने लगती है ॥ २८ ॥

मसारगल्वर्कमुखः शङ्खमुक्तानिभोदरः।
कस्य नामानिरूप्योऽसौ न मनो लोभयेन्मृगः ॥ २९ ॥

इसका मुख-सम्पुट इन्द्रनीलमणिके बने हुए चषक (पानपात्र) के समान जान पड़ता है, उदर शङ्ख और मोतीके समान सफेद है। यह अवर्णनीय मृग किसके मनको नहीं लुभा लेगा ॥ २९ ॥

कस्य रूपमिदं दृष्ट्वा जाम्बूनदमयप्रभम्।
नानारत्नमयं दिव्यं न मनो विस्मयं व्रजेत् ॥ ३० ॥

'नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित इसके सुनहरी प्रभावाले दिव्य रूपको देखकर किसके मनमें विस्मय नहीं होगा ॥ ३० ॥

मांसहेतोरपि मृगान् विहारार्थं च धन्विनः।
घ्नन्ति लक्ष्मण राजानो मृगयायां महावने ॥ ३१ ॥

'लक्ष्मण ! राजालोग बड़े-बड़े वनोंमें मृगया खेलते समय मांस (मृगचर्म) के लिये और शिकार खेलनेका शौक पूरा करनेके लिये भी धनुष हाथमें लेकर मृगोंको मारते हैं ॥ ३१ ॥

धनानि व्यवसायेन विचीयन्ते महावने।
धातवो विविधाश्चापि मणिरत्नसुवर्णिनः ॥ ३२ ॥

मृगयाके उद्योगसे ही राजा लोग विशाल वनमें धनका भी संग्रह करते हैं; क्योंकि वहाँ मणि, रत्न और सुवर्ण आदिसे युक्त नाना प्रकारकी धातुएँ उपलब्ध होती हैं ॥ ३२ ॥

तत् सारमखिलं नॄणां धनं निचयवर्धनम्।
मनसा चिन्तितं सर्वं यथा शुक्रस्य लक्ष्मण ॥ ३३ ॥

'लक्ष्मण ! कोशकी वृद्धि करनेवाला वह वन्य धन मनुष्योंके लिये अत्यन्त उत्कृष्ट होता है। ठीक उसी तरह, जैसे ब्रह्मभावको प्राप्त हुए पुरुषके लिये मनके चिन्तनमात्रसे प्राप्त हुई सारी वस्तुएँ अत्यन्त उत्तम बतायी गयी हैं ॥ ३३ ॥

अर्थी येनार्थकृत्येन संव्रजत्यविचारयन्।
तमर्थमर्थशास्त्रज्ञाः प्राहुरर्थ्याः सुलक्ष्मण ॥ ३४ ॥

'लक्ष्मण ! अर्थी मनुष्य जिस अर्थ (प्रयोजन) का सम्पादन करनेके लिये उसके प्रति आकृष्ट हो बिना विचारे ही चल देता है, उस अत्यन्त आवश्यक प्रयोजनको ही अर्थसाधनमें चतुर एवं अर्थशास्त्रके ज्ञाता विद्वान् 'अर्थ' कहते हैं ॥ ३४ ॥

एतस्य मृगरत्नस्य परार्ध्ये काञ्चनत्वचि।
उपवेक्ष्यति वैदेही मया सह सुमध्यमा ॥ ३५ ॥

'इस रत्नस्वरूप श्रेष्ठ मृगके बहुमूल्य सुनहरे चमड़ेपर सुन्दरी विदेहराजनन्दिनी सीता मेरे साथ बैठेगी ॥ ३५ ॥

न कादली न प्रियकी न प्रवेणी न चाविकी।
भवेदेतस्य सदृशी स्पर्शेऽनेनेति मे मतिः ॥ ३६ ॥

'कदली (कोमल ऊँचे चितकबरे और नीलाग्ररोमवाले मृगविशेष), प्रियक (कोमल ऊँचे चिकने और घने रोमवाले मृगविशेष), प्रवेण (विशेष प्रकारके बकरे) और अवि (भेड़) की त्वचा भी स्पर्श करनेमें इस काञ्चन मृगके छालेके समान कोमल एवं सुखद नहीं हो सकती, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ३६ ॥

एष चैव मृगः श्रीमान् यश्च दिव्यो नभश्चरः।
उभावेतौ मृगौ दिव्यौ तारामृगमहीमृगौ ॥ ३७ ॥

यह सुन्दर मृग और वह जो दिव्य आकाशचारी मृग (मृगशिरा नक्षत्र) है, ये दोनों ही दिव्य मृग हैं। इनमेंसे एक तारामृग[1] और दूसरा महीमृग[2] है ॥ ३७ ॥

यदि वायं तथा यन्मां भवेद् वदसि लक्ष्मण।
मायैषा राक्षसस्येति कर्तव्योऽस्य वधो मया ॥ ३८ ॥

'लक्ष्मण ! तुम मुझसे जैसा कह रहे हो यदि वैसा ही यह मृग हो, यदि यह राक्षसकी माया ही हो तो भी मुझे उसका वध करना ही चाहिये ॥ ३८ ॥

एतेन हि नृशंसेन मारीचेनाकृतात्मना।
वने विचरता पूर्वं हिंसिता मुनिपुंगवाः ॥ ३९ ॥

'क्योंकि अपवित्र (दुष्ट) चित्तवाले इस क्रूरकर्मा मारीचने वनमें विचरते समय पहले अनेकानेक श्रेष्ठ मुनियोंकी हत्या की है ॥ ३९ ॥

उत्थाय बहवोऽनेन मृगयायां जनाधिपाः।
निहताः परमेष्वासास्तस्माद् वध्यस्त्वयं मृगः ॥ ४० ॥

'इसने मृगयाके समय प्रकट होकर बहुत-से महाधनुर्धर नरेशोंका वध किया है, अतः इस मृगके रूपमें इसका भी वध अवश्य करने योग्य है ॥ ४० ॥

पुरस्तादिह वातापिः परिभूय तपस्विनः।
उदरस्थो द्विजान् हन्ति स्वगर्भोऽश्वतरीमिव ॥ ४१ ॥

'इसी वनमें पहले वातापि नामक राक्षस रहता था, जो तपस्वी महात्माओंका तिरस्कार करके छलपूर्वक उनके पेटमें पहुँच जाता और जैसे खच्चरीको अपने ही गर्भका बच्चा नष्ट कर देता है, उसी प्रकार उन महर्षियोंको नष्ट कर देता था ॥ ४१ ॥

स कदाचिच्चिराल्लोभादाससाद महामुनिम्।
अगस्त्यं तेजसा युक्तं भक्ष्यस्तस्य बभूव ह ॥ ४२ ॥

'वह वातापि एक दिन दीर्घकालके पश्चात् लोभवश तेजस्वी महामुनि अगस्त्यजीके पास जा पहुँचा और (श्राद्ध-

---

१. नक्षत्रोंमें विचरनेवाला मृग (मृगशिरा नक्षत्र)।

२. पृथ्वीपर विचरनेवाला काञ्चनमृग।

कालमें) उनका आहार बन गया। उनके पेटमें पहुँच गया ॥ ४२ ॥

समुत्थाने च तद्रूपं कर्तुकामं समीक्ष्य तम्।
उत्स्मयित्वा तु भगवान् वातापिमिदमब्रवीत् ॥ ४३ ॥

'श्राद्धके अन्तमें जब वह अपना राक्षसरूप प्रकट करनेकी इच्छा करने लगा—उनका पेट फाड़कर निकल आनेको उद्यत हुआ, तब उस वातापिको लक्ष्य करके भगवान् अगस्त्य मुसकराये और उससे इस प्रकार बोले—॥ ४३ ॥

त्वयाविगण्य वातापे परिभूताश्च तेजसा।
जीवलोके द्विजश्रेष्ठास्तस्मादसि जरां गतः ॥ ४४ ॥

'वातापे! तुमने बिना सोचे-विचारे इस जीव-जगत्में बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको अपने तेजसे तिरस्कृत किया है, उसी पापसे अब तुम पच गये ॥ ४४ ॥

तद् रक्षो न भवेदेव वातापिरिव लक्ष्मण।
मद्विधं योऽतिमन्येत धर्मनित्यं जितेन्द्रियम् ॥ ४५ ॥

'लक्ष्मण! जो सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले, मुझ-जैसे जितेन्द्रिय पुरुषका भी अतिक्रमण करे, उस मारीच नामक राक्षसको भी वातापिके समान ही नष्ट हो जाना चाहिये ॥ ४५ ॥

भवेद्धतोऽयं वातापिरगस्त्येनेव मा गतः।
इह त्वं भव संनद्धो यन्त्रितो रक्ष मैथिलीम् ॥ ४६ ॥

'जैसे वातापि अगस्त्यके द्वारा नष्ट हुआ, उसी प्रकार यह मारीच अब मेरे सामने आकर अवश्य ही मारा जायगा। तुम अस्त्र और कवच आदिसे सुसज्जित हो जाओ और यहाँ सावधानीके साथ मिथिलेशकुमारीकी रक्षा करो ॥ ४६ ॥

अस्यामायत्तमस्माकं यत् कृत्यं रघुनन्दन।
अहमेनं वधिष्यामि ग्रहीष्याम्यथवा मृगम् ॥ ४७ ॥

'रघुनन्दन! हमलोगोंका जो आवश्यक कर्तव्य है, वह सीताकी रक्षाके ही अधीन है। मैं इस मृगको मार डालूँगा अथवा इसे जीता ही पकड़ लाऊँगा ॥ ४७ ॥

यावद् गच्छामि सौमित्रे मृगमानयितुं द्रुतम्।
पश्य लक्ष्मण वैदेहीं मृगत्वचि गतां स्पृहाम् ॥ ४८ ॥

'सुमित्राकुमार लक्ष्मण! देखो, इस मृगका चर्म हस्तगत करनेके लिये विदेहनन्दिनीको कितनी उत्कण्ठा हो रही है, इसलिये इस मृगको ले आनेके लिये मैं तुरंत ही जा रहा हूँ ॥

त्वचा प्रधानया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति।
अप्रमत्तेन ते भाव्यमाश्रमस्थेन सीतया ॥ ४९ ॥
यावत् पृषतमेकेन सायकेन निहन्म्यहम्।
हत्वैतच्चर्म चादाय शीघ्रमेष्यामि लक्ष्मण ॥ ५० ॥

'इस मृगको मारनेका प्रधान हेतु है, इसके चमड़ेको प्राप्त करना। आज इसीके कारण यह मृग जीवित नहीं रह सकेगा। लक्ष्मण! तुम आश्रमपर रहकर सीताके साथ सावधान रहना—सावधानीके साथ तबतक इसकी रक्षा करना, जबतक कि मैं एक ही बाणसे इस चितकबरे मृगको मार नहीं डालता हूँ। मारनेके पश्चात् इसका चमड़ा लेकर मैं शीघ्र लौट आऊँगा ॥ ४९-५० ॥

प्रदक्षिणेनातिबलेन पक्षिणा
जटायुषा बुद्धिमता च लक्ष्मण।
भवाप्रमत्तः प्रतिगृह्य मैथिलीं
प्रतिक्षणं सर्वत एव शङ्कितः ॥ ५१ ॥

'लक्ष्मण! बुद्धिमान् पक्षी गृध्रराज जटायु बड़े ही बलवान् और सामर्थ्यशाली हैं। उनके साथ ही यहाँ सदा सावधान रहना। मिथिलेशकुमारी सीताको अपने संरक्षणमें लेकर प्रतिक्षण सब दिशाओंमें रहनेवाले राक्षसोंकी ओरसे चौकन्ने रहना' ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा मारीचका वध और उसके द्वारा सीता और लक्ष्मणके पुकारनेका शब्द सुनकर श्रीरामकी चिन्ता

तथा तु तं समादिश्य भ्रातरं रघुनन्दनः।
बबन्धासिं महातेजा जाम्बूनदमयत्सरुम् ॥ १ ॥

लक्ष्मणको इस प्रकार आदेश देकर रघुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने सोनेकी मूँठवाली तलवार कमरमें बाँध ली ॥ १ ॥

ततस्त्रिविनतं चापमादायात्मविभूषणम्।
[illegible] च कलापौ द्वौ जगामोदग्रविक्रमः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् महापराक्रमी रघुनाथजी तीन स्थानोंमें झुके हुए अपने आभूषणरूप धनुषको हाथमें ले पीठपर दो तरकस बाँधकर वहाँसे चल दिये ॥ २ ॥

तं वन्यराजो राजेन्द्रमापतन्तं निरीक्ष्य वै।
बभूवान्तर्हितस्त्रासात् पुनः संदर्शनेऽभवत् ॥ ३ ॥

राजाधिराज श्रीरामको आते देख वह वन्य मृगोंका

राजा, काञ्चनमृग भयके मारे छिप गया, किंतु फिर तुरंत ही उनके दृष्टिपथमें आ गया ॥ ३ ॥

बद्धासिर्धनुरादाय प्रदुद्राव यतो मृगः ।
तं स पश्यति रूपेण द्योतयन्तमिवाग्रतः ॥ ४ ॥
अवेक्ष्यावेक्ष्य धावन्तं धनुष्पाणिर्महावने ।
अतिवृत्तमिवोत्पाताल्लोभयानं कदाचन ॥ ५ ॥
शङ्कितं तु समुद्भ्रान्तमुत्पतन्तमिवाम्बरम् ।
दृश्यमानमदृश्यं च वनोद्देशेषु केषुचित् ॥ ६ ॥
छिन्नाभ्रैरिव संवीतं शारदं चन्द्रमण्डलम् ।
मुहूर्तादेव ददृशे मुहुर्दूरात् प्रकाशते ॥ ७ ॥

तब तलवार बाँधे और धनुष लिये श्रीराम जिस ओर वह मृग था, उसी ओर दौड़े । धनुर्धर श्रीरामने देखा, वह अपने रूपसे सामनेकी दिशाको प्रकाशित-सी कर रहा था। उस महान् वनमें वह पीछेकी ओर देख-देखकर आगेकी ओर भाग रहा था । कभी छलाँगें मारकर बहुत दूर निकल जाता और कभी इतना निकट दिखायी देता कि हाथसे पकड़ लेनेका लोभ पैदा कर देता था । कभी डरा हुआ, कभी घबराया हुआ और कभी आकाशमें उछलता हुआ दीख पड़ता था । कभी वनके किन्हीं स्थानोंमें छिपकर अदृश्य हो जाता था, मानो शरद्ऋतुका चन्द्रमण्डल मेघखण्डोंसे आवृत हो गया हो । एक ही मुहूर्तमें वह निकट दिखायी देता और पुनः बहुत दूरके स्थानमें चमक उठता था ॥ ४–७ ॥

दर्शनादर्शनेनैव सोऽपाकर्षत राघवम् ।
स दूरमाश्रमस्यास्य मारीचो मृगतां गतः ॥ ८ ॥

इस तरह प्रकट होता और छिपता हुआ वह मृगरूपधारी मारीच श्रीरघुनाथजीको उनके आश्रमसे बहुत दूर खींच ले गया ॥ ८ ॥

आसीत् क्रुद्धस्तु काकुत्स्थो विवशस्तेन मोहितः ।
अथावतस्थे सुश्रान्तश्छायामाश्रित्य शाद्वले ॥ ९ ॥

उस समय उससे मोहित और विवश होकर श्रीराम कुछ कुपित हो उठे और थककर एक जगह छायाका आश्रय ले हरी-हरी घासवाली भूमिपर खड़े हो गये ॥ ९ ॥

स तमुन्मादयामास मृगरूपो निशाचरः ।
मृगैः परिवृतोऽथान्यैरदूरात् प्रत्यदृश्यत ॥ १० ॥

इस मृगरूपधारी निशाचरने उन्हें उन्मत्त-सा कर दिया था । थोड़ी ही देरमें वह दूसरे मृगोंसे घिरा हुआ पास ही दिखायी दिया ॥ १० ॥

ग्रहीतुकामं दृष्ट्वा तं पुनरेवाभ्यधावत ।
तत्क्षणादेव संत्रासात् पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ ११ ॥

श्रीराम मुझे पकड़ना चाहते हैं, यह देखकर वह फिर भागा और भयके मारे पुनः तत्काल ही अदृश्य हो गया ॥ ११ ॥

पुनरेव ततो दूराद् वृक्षखण्डाद् विनिःसृतः ।
दृष्ट्वा रामो महातेजास्तं हन्तुं कृतनिश्चयः ॥ १२ ॥

तदनन्तर वह पुनः दूरवर्ती वृक्ष-समूहसे होकर निकला । उसे देखकर महातेजस्वी श्रीरामने मार डालनेका निश्चय किया ॥ १२ ॥

भूयस्तु शरमुद्धृत्य कुपितस्तत्र राघवः ।
सूर्यरश्मिप्रतीकाशं ज्वलन्तमरिमर्दनम् ॥ १३ ॥
संधाय सुदृढे चापे विकृष्य बलवद् बली ।
तमेव मृगमुद्दिश्य श्वसन्तमिव पन्नगम् ॥ १४ ॥
मुमोच ज्वलितं दीप्तमस्त्रं ब्रह्मविनिर्मितम् ।

तब वहाँ क्रोधमें भरे हुए बलवान् रघुवेन्द्र श्रीरामने तरकससे सूर्यकी किरणोंके समान तेजस्वी एक प्रज्वलित एवं शत्रु-संहारक बाण निकालकर उसे अपने सुदृढ़ धनुषपर रखा और उस धनुषको जोरसे खींचकर उस मृगको ही लक्ष्य करके फुफकारते सर्पके समान सनसनाता हुआ वह प्रज्वलित एवं तेजस्वी बाण, जिसे ब्रह्माजीने बनाया था, छोड़ दिया ॥ १३-१४½ ॥

शरीरं मृगरूपस्य विनिर्भिद्य शरोत्तमः ॥ १५ ॥
मारीचस्यैव हृदयं विभेदाशनिसंनिभः ।

वज्रके समान तेजस्वी उस उत्तम बाणने मृगरूपधारी मारीचके शरीरको चीरकर उसके हृदयको भी विदीर्ण कर दिया ॥ १५½ ॥

तालमात्रमथोत्प्लुत्य न्यपतत् स भृशातुरः ॥ १६ ॥
व्यनदद् भैरवं नादं धरण्यामल्पजीवितः ।

उसकी चोटसे अत्यन्त आतुर हो वह राक्षस ताड़के बराबर उछलकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । उसका जीवन समाप्त हो चला । वह पृथ्वीपर पड़ा-पड़ा भयंकर गर्जना करने लगा ॥ १६½ ॥

म्रियमाणस्तु मारीचो जहौ तां कृत्रिमां तनुम् ॥ १७ ॥
स्मृत्वा तद्वचनं रक्षो दध्यौ केन तु लक्ष्मणम् ।
इह प्रस्थापयेत् सीता तां शून्ये रावणो हरेत् ॥ १८ ॥

मरते समय मारीचने अपने उस कृत्रिम शरीरको त्याग दिया । फिर रावणके वचनका स्मरण करके उस राक्षसने सोचा, किस उपायसे सीता लक्ष्मणको यहाँ भेज दे और सूने आश्रममें रावण उसे हर ले जाय ॥ १७-१८ ॥

स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वनम् ।
सदृशं राघवस्यैव हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ १९ ॥

[illegible] आ गया है—तब उसने श्रीरामचन्द्रजीके ही समान स्वरमें 'हा सीते ! हा लक्ष्मण !' कहकर पुकारा ॥ १९ ॥

तेन मर्मणि निर्विद्धं शरेणानुपमेन हि ।
मृगरूपं तु तत् त्यक्त्वा राक्षसं रूपमास्थितः ॥ २० ॥

श्रीरामके अनुपम बाणसे उसका मर्म विदीर्ण हो गया था, अतः उस मृगरूपको त्यागकर उसने राक्षसरूप धारण कर लिया ॥ २० ॥

चक्रे स सुमहाकायं मारीचो जीवितं त्यजन् ।
तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ राक्षसं भीमदर्शनम् ॥ २१ ॥
रामो रुधिरसिक्ताङ्गं चेष्टमानं महीतले ।
जगाम मनसा सीतां लक्ष्मणस्य वचः स्मरन् ॥ २२ ॥

प्राणत्याग करते समय मारीचने अपने शरीरको बहुत बड़ा बना लिया था । भयंकर दिखायी देनेवाले उस राक्षसको भूमिपर पड़कर खूनसे लथपथ हो धरतीपर लोटते और छटपटाते देख श्रीरामको लक्ष्मणकी कही हुई बात याद आ गयी और वे मन-ही-मन सीताकी चिन्ता करने लगे ॥ २१-२२ ॥

मारीचस्य तु मायैषा पूर्वोक्तं लक्ष्मणेन तु ।
तत् तथा ह्यभवच्चाद्य मारीचोऽयं मया हतः ॥ २३ ॥

वे सोचने लगे, 'अहो ! जैसा लक्ष्मणने पहले कहा था, उसके अनुसार यह वास्तवमें मारीचकी माया ही थी । लक्ष्मणकी बात ठीक निकली । आज मेरे द्वारा यह मारीच ही मारा गया ॥ २३ ॥

हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाक्रुश्य तु महास्वनम् ।
ममार राक्षसः सोऽयं श्रुत्वा सीता कथं भवेत् ॥ २४ ॥
लक्ष्मणश्च महाबाहुः कामवस्थां गमिष्यति ।

'परंतु यह राक्षस उच्चस्वरसे 'हा सीते ! हा लक्ष्मण !' की पुकार करके मरा है । उसके उस शब्दको सुनकर सीताकी कैसी अवस्था हो जायगी और महाबाहु लक्ष्मणकी भी क्या दशा होगी ?' ॥ २४½ ॥

इति संचिन्त्य धर्मात्मा रामो हृष्टतनूरुहः ॥ २५ ॥
तत्र रामं भयं तीव्रमाविवेश विषादजम् ।
राक्षसं मृगरूपं तं हत्वा श्रुत्वा च तत्स्वनम् ॥ २६ ॥

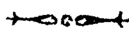
ऐसा सोचकर धर्मात्मा श्रीरामके रोंगटे खड़े हो गये । उस समय वहाँ मृगरूपधारी उस राक्षसको मारकर और उसके उस शब्दको सुनकर श्रीरामके मनमें विषादजनित तीव्र भय समा गया ॥ २५-२६ ॥

निहत्य पृषतं चान्यं मांसमादाय राघवः ।
त्वरमाणो जनस्थानं ससाराभिमुखं तदा ॥ २७ ॥

उस लोकविलक्षण मृगका वध करके तपस्वीके उपभोगमें आनेयोग्य फल-मूल आदि लेकर श्रीराम तत्काल ही जनस्थानके निकटवर्ती पञ्चवटीमें स्थित अपने आश्रमकी ओर बड़ी उतावलीके साथ चले ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥



पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

सीताके मार्मिक वचनोंसे प्रेरित होकर लक्ष्मणका श्रीरामके पास जाना

आर्तस्वरं तु तं भर्तुर्विज्ञाय सदृशं वने ।
उवाच लक्ष्मणं सीता गच्छ जानीहि राघवम् ॥ १ ॥

उस समय वनमें जो आर्तनाद हुआ, उसे अपने पतिके स्वरसे मिलता-जुलता जान श्रीसीताजी लक्ष्मणसे बोलीं—'भैया ! जाओ, श्रीरघुनाथजीकी सुधि लो—उनका समाचार जानो ॥ १ ॥

नहि मे जीवितं स्थाने हृदयं वावतिष्ठते ।
क्रोशतः परमार्तस्य श्रुतः शब्दो मया भृशम् ॥ २ ॥

'उन्होंने बड़े आर्तस्वरसे हमलोगोंको पुकारा है । मैंने उनका वह शब्द सुना है । वह बहुत उच्चस्वरसे बोला गया था । उसे सुनकर मेरे प्राण और मन अपने स्थानपर नहीं रह गये हैं—मैं घबरा उठी हूँ ॥ २ ॥

आक्रन्दमानं तु वने भ्रातरं त्रातुमर्हसि ।
तं क्षिप्रमभिधाव त्वं भ्रातरं शरणैषिणम् ॥ ३ ॥
रक्षसां वशमापन्नं सिंहानामिव गोवृषम् ।
न जगाम तथोक्तस्तु भ्रातुराज्ञाय शासनम् ॥ ४ ॥

'तुम्हारे भाई वनमें आर्तनाद कर रहे हैं । वे कोई शरण—रक्षाका सहारा चाहते हैं । तुम उन्हें बचाओ । जल्दी ही अपने भाईके पास दौड़े हुए जाओ । जैसे कोई साँड़ सिंहोंके पंजेमें फँस गया हो, उसी प्रकार वे राक्षसोंके वशमें पड़ गये हैं, अतः जाओ ।' सीताके ऐसा कहनेपर भी भाईके आदेशका विचार करके लक्ष्मण नहीं गये ॥ ३-४ ॥

तमुवाच ततस्तत्र क्षुभिता जनकात्मजा ।
सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातुस्त्वमसि शत्रुवत् ॥ ५ ॥
यस्त्वमस्यामवस्थायां भ्रातरं नाभिपद्यसे ।
इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते ॥ ६ ॥

उनके इस व्यवहारसे वहाँ जनककिशोरी सीता क्षुब्ध हो उठीं और उनसे इस प्रकार बोलीं—'सुमित्राकुमार ! तुम मित्ररूपमें अपने भाईके शत्रु ही जान पड़ते हो, इसीलिये तुम इस संकटकी अवस्थामें भी भाईके पास नहीं पहुँच रहे हो । लक्ष्मण ! मैं जानती हूँ, तुम

मुझपर अधिकार करनेके लिये इस समय श्रीरामका विनाश ही चाहते हो ॥ ५-६ ॥

लोभात्तु मत्कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम्।
व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते ॥ ७ ॥

'मेरे लिये तुम्हारे मनमें लोभ हो गया है, निश्चय ही इसीलिये तुम श्रीरघुनाथजीके पीछे नहीं जा रहे हो। मैं समझती हूँ, श्रीरामका संकटमें पड़ना ही तुम्हें प्रिय है। तुम्हारे मनमें अपने भाईके प्रति स्नेह नहीं है ॥ ७ ॥

तेन तिष्ठसि विस्रब्धं तमपश्यन् महाद्युतिम्।
किं हि संशयमापन्ने तस्मिन्निह मया भवेत् ॥ ८ ॥
कर्तव्यमिह तिष्ठन्त्या यत्प्रधानस्त्वमागतः।

'यही कारण है कि तुम उन महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीको देखने न जाकर यहाँ निश्चिन्त खड़े हो। हाय! जो मुख्यतः तुम्हारे सेव्य हैं, जिनकी रक्षा और सेवाके लिये तुम यहाँ आये हो, यदि उन्हींके प्राण संकटमें पड़ गये तो यहाँ मेरी रक्षासे क्या होगा?' ॥ ८½ ॥

एवं ब्रुवाणां वैदेहीं बाष्पशोकसमन्विताम् ॥ ९ ॥
अब्रवील्लक्ष्मणस्त्रस्तां सीतां मृगवधूमिव।

'विदेहकुमारी सीताजीकी दशा भयभीत हुई हरिणीके समान हो रही थी। उन्होंने शोकमग्न होकर आँसू बहाते हुए जब उपर्युक्त बातें कहीं, तब लक्ष्मण उनसे इस प्रकार बोले— ॥ ९½ ॥

पन्नगासुरगन्धर्वदेवदानवराक्षसैः ॥ १० ॥
अशक्यस्तव वैदेहि भर्ता जेतुं न संशयः।

'विदेहनन्दिनि! आप विश्वास करें, नाग, असुर, गन्धर्व, देवता, दानव तथा राक्षस—ये सब मिलकर भी आपके पतिको परास्त नहीं कर सकते, मेरे इस कथनमें संशय नहीं है ॥ १०½ ॥

देवि देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु पतत्रिषु ॥ ११ ॥
राक्षसेषु पिशाचेषु किन्नरेषु मृगेषु च।
दानवेषु च घोरेषु न स विद्येत शोभने ॥ १२ ॥
यो रामं प्रतियुध्येत समरे वासवोपमम्।
अवध्यः समरे रामो नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

'देवि! शोभने! देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों, पक्षियों, राक्षसों, पिशाचों, किन्नरों, मृगों तथा घोर दानवोंमें भी ऐसा कोई वीर नहीं है, जो समराङ्गणमें इन्द्रके समान पराक्रमी श्रीरामका सामना कर सके। भगवान् श्रीराम युद्धमें अवध्य हैं, अतएव आपको ऐसी बात ही नहीं कहनी चाहिये ॥ ११—१३ ॥

न त्वामस्मिन् वने हातुमुत्सहे राघवं विना।
अनिवार्यं बलं तस्य बलैर्बलवतामपि ॥ १४ ॥
त्रिभिर्लोकैः समुदितैः सेश्वरैः सामरैरपि।
हृदयं निर्वृतं तेऽस्तु संतापस्त्यज्यतां तव ॥ १५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीकी अनुपस्थितिमें इस वनके भीतर मैं आपको अकेली नहीं छोड़ सकता। सैनिक-बलसे सम्पन्न बड़े-बड़े राजा अपनी सारी सेनाओंके द्वारा भी श्रीरामके बलको कुण्ठित नहीं कर सकते। देवताओं तथा इन्द्र आदिके साथ मिले हुए तीनों लोक भी यदि आक्रमण करें तो वे श्रीरामके बलका वेग नहीं रोक सकते; अतः आपका हृदय शान्त हो। आप संताप छोड़ दें ॥ १४-१५ ॥

आगमिष्यति ते भर्ता शीघ्रं हत्वा मृगोत्तमम्।
न स तस्य स्वरो व्यक्तं न कश्चिदपि दैवतः ॥ १६ ॥
गन्धर्वनगरप्रख्या माया तस्य च रक्षसः।

'आपके पतिदेव उस सुन्दर मृगको मारकर शीघ्र ही लौट आयँगे। वह शब्द जो आपने सुना था, अवश्य ही उनका नहीं था। किसी देवताने कोई शब्द प्रकट किया हो, ऐसी बात भी नहीं है। वह तो उस राक्षसकी गन्धर्व-नगरके समान झूठी माया ही थी ॥ १६½ ॥

न्यासभूतासि वैदेहि न्यस्ता मयि महात्मना ॥ १७ ॥
रामेण त्वं वरारोहे न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।

'सुन्दरि! विदेहनन्दिनि! महात्मा श्रीरामचन्द्रजीने मुझपर आपकी रक्षाका भार सौंपा है। इस समय आप मेरे पास उनकी धरोहरके रूपमें हैं, अतः आपको मैं यहाँ अकेली नहीं छोड़ सकता ॥ १७½ ॥

कृतवैराश्च कल्याणि वयमेतैर्निशाचरैः ॥ १८ ॥
खरस्य निधने देवि जनस्थानवधं प्रति।

'कल्याणमयी देवि! जिस समय खरका वध किया गया, उस समय जनस्थाननिवासी दूसरे बहुत-से राक्षस भी मारे गये थे, इस कारण इन निशाचरोंने हमारे साथ वैर बाँध लिया है ॥ १८½ ॥

राक्षसा विविधा वाचो व्याहरन्ति महावने ॥ १९ ॥
हिंसाविहारा वैदेहि न चिन्तयितुमर्हसि।

'विदेहनन्दिनि! प्राणियोंकी हिंसा ही जिनका क्रीड़ा-विहार या मनोरञ्जन है, वे राक्षस ही इस विशाल वनमें नाना प्रकारकी बोलियाँ बोला करते हैं; अतः आपको चिन्ता नहीं करनी चाहिये' ॥ १९½ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्ता तु क्रुद्धा संरक्तलोचना ॥ २० ॥
अब्रवीत् परुषं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम्।

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर सीताको बड़ा क्रोध हुआ, उनकी आँखें लाल हो गयीं और वे सत्यवादी लक्ष्मणसे कठोर बातें कहने लगीं— ॥ २०½ ॥

अनार्याकरुणारम्भ नृशंस कुलपांसन ॥ २१ ॥

अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत् ।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे ॥ २२ ॥

'अनार्य ! निर्दयी ! क्रूरकर्मा ! कुलाङ्गार ! मैं तुझे खूब समझती हूँ । श्रीराम किसी भारी विपत्तिमें पड़ जायँ, यही तुझे प्रिय है । इसीलिये तू रामपर संकट आया देखकर भी ऐसी बातें बना रहा है ॥ २१-२२ ॥

नैव चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद् भवेत् ।
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु ॥ २३ ॥

'लक्ष्मण ! तेरे-जैसे क्रूर एवं सदा छिपे हुए शत्रुओंके मनमें इस तरहका पापपूर्ण विचार होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ २३ ॥

सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि ।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥ २४ ॥

'तू बड़ा दुष्ट है, श्रीरामको अकेले वनमें आते देख मुझे प्राप्त करनेके लिये ही अपने भावको छिपाकर तू भी अकेला ही उनके पीछे-पीछे चला आया है, अथवा यह भी सम्भव है कि भरतने ही तुझे भेजा हो ॥ २४ ॥

तन्न सिध्यति सौमित्रे तवापि भरतस्य वा ।
कथमिन्दीवरश्यामं रामं पद्मनिभेक्षणम् ॥ २५ ॥
उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम् ।

'परंतु सुमित्राकुमार ! तेरा या भरतका वह मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता । नीलकमलके समान श्यामसुन्दर कमल-नयन श्रीरामको पतिरूपमें पाकर मैं दूसरे किसी क्षुद्र पुरुषकी कामना कैसे कर सकती हूँ ? ॥ २५½ ॥

समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्याम्यसंशयम् ॥ २६ ॥
रामं विना क्षणमपि नैव जीवामि भूतले ।

'सुमित्राकुमार ! मैं तेरे सामने ही निःसंदेह अपने प्राण त्याग दूँगी, किंतु श्रीरामके बिना एक क्षण भी इस भूतलपर जीवित नहीं रह सकूँगी' ॥ २६½ ॥

इत्युक्तः परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम् ॥ २७ ॥
अब्रवील्लक्ष्मणः सीतां प्राञ्जलिः स जितेन्द्रियः ।
उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम ॥ २८ ॥

सीताने जब इस प्रकार कठोर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाली बात कही, तब जितेन्द्रिय लक्ष्मण हाथ जोड़कर उनसे बोले—'देवि ! मैं आपकी बातका जवाब नहीं दे सकता; क्योंकि आप मेरे लिये आराधनीया देवीके समान हैं ॥ २७-२८ ॥

वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि ।
स्वभावस्त्वेष नारीणामेषु लोकेषु दृश्यते ॥ २९ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! ऐसी अनुचित और प्रतिकूल बातें मुँहसे निकालना स्त्रियोंके लिये आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि इस संसारमें नारियोंका ऐसा स्वभाव बहुधा देखा जाता है ॥

विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः ।
न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे ॥ ३० ॥
श्रोत्रयोरुभयोर्मध्ये तप्तनाराचसंनिभम् ।

'स्त्रियाँ प्रायः विनय आदि धर्मोंसे रहित, चञ्चल, कठोर तथा घरमें फूट डालनेवाली होती हैं । विदेहकुमारी जानकी ! आपकी यह बात मेरे दोनों कानोंमें तपाये हुए लोहेके समान लगी है । मैं ऐसी बात सह नहीं सकता ॥ ३०½ ॥

उपशृण्वन्तु मे सर्वे साक्षिणो हि वनेचराः ॥ ३१ ॥
न्यायवादी यथा वाक्यमुक्तोऽहं परुषं त्वया ।
धिक् त्वामद्य विनश्यन्तीं यन्मामेवं विशङ्कसे ॥ ३२ ॥
स्त्रीत्वाद् दुष्टस्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम् ।
गच्छामि यत्र काकुत्स्थः स्वस्ति तेऽस्तु वरानने ॥ ३३ ॥

'इस वनमें विचरनेवाले सभी प्राणी साक्षी होकर मेरा कथन सुनें । मैंने न्याययुक्त बात कही है तो भी आपने मेरे प्रति ऐसी कठोर बात अपने मुँहसे निकाली है । निश्चय ही आज आपकी बुद्धि मारी गयी है । आप नष्ट होना चाहती हैं । धिक्कार है आपको, जो आप मुझपर ऐसा संदेह करती हैं । मैं बड़े भाईकी आज्ञाका पालन करनेमें दृढ़तापूर्वक तत्पर हूँ और आप केवल नारी होनेके कारण साधारण स्त्रियोंके दुष्ट स्वभावको अपनाकर मेरे प्रति ऐसी आशङ्का करती हैं । अच्छा, अब मैं वहीं जाता हूँ, जहाँ भैया श्रीराम गये हैं । सुमुखि ! आपका कल्याण हो ॥ ३१—३३ ॥

रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः ।
निमित्तानि हि घोराणि यानि प्रादुर्भवन्ति मे ।
अपि त्वां सह रामेण पश्येयं पुनरागतः ॥ ३४ ॥

'विशाललोचने ! वनके सम्पूर्ण देवता आपकी रक्षा करें; क्योंकि इस समय मेरे सामने जो बड़े भयंकर अपशकुन प्रकट हो रहे हैं, उन्होंने मुझे संशयमें डाल दिया है । क्या मैं श्रीरामचन्द्रजीके साथ लौटकर पुनः आपको सकुशल देख सकूँगा ?' ॥ ३४ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्ता तु रुदती जनकात्मजा ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं तीव्रबाष्पपरिप्लुता ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर जनककिशोरी सीता रोने लगीं । उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी तीव्र धारा बह चली । वे उन्हें इस प्रकार उत्तर देती हुई बोलीं—॥ ३५ ॥

गोदावरीं प्रवेक्ष्यामि हीना रामेण लक्ष्मण ।
आबन्धिष्येऽथवा त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः ॥ ३६ ॥
पिबामि वा विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
न त्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे ॥ ३७ ॥

'लक्ष्मण ! मैं श्रीरामसे बिछुड़ जानेपर गोदावरी नदीमें समा जाऊँगी अथवा गलेमें फाँसी लगा लूँगी अथवा पर्वतके दुर्गम शिखरपर चढ़कर वहाँसे अपने शरीरको नीचे डाल

दूँगी या तीव्र विष पान कर लूँगी अथवा जलती आगमें प्रवेश कर जाऊँगी, परंतु श्रीरघुनाथजीके सिवा दूसरे किसी पुरुषका कदापि स्पर्श नहीं करूँगी' ॥ ३६-३७ ॥

इति लक्ष्मणमाश्रुत्य सीता शोकसमन्विता ।
पाणिभ्यां रुदती दुःखादुदरं प्रजघान ह ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणके सामने यह प्रतिज्ञा करके शोकमग्न होकर रोती हुई सीता अधिक दुःखके कारण दोनों हाथोंसे अपने उदरपर आघात करने लगीं—छाती पीटने लगीं ॥ ३८ ॥

तामार्तरूपां विमना रुदन्तीं
सौमित्रिरालोक्य विशालनेत्राम् ।
आश्वासयामास न चैव भर्तु-
स्तं भ्रातरं किंचिदुवाच सीता ॥ ३९ ॥

विशाललोचना सीताको आर्त होकर रोती देख सुमित्रा-कुमार लक्ष्मणने मन-ही-मन उन्हें सान्त्वना दी, परंतु सीता उस समय अपने देवरसे कुछ नहीं बोलीं ॥ ३९ ॥

ततस्तु सीतामभिवाद्य लक्ष्मणः
कृताञ्जलिः किंचिदभिप्रणम्य ।
अवेक्षमाणो बहुशः स मैथिलीं
जगाम रामस्य समीपमात्मवान् ॥ ४० ॥

तब मनको वशमें रखनेवाले लक्ष्मणने दोनों हाथ जोड़ कुछ झुककर मिथिलेशकुमारी सीताको प्रणाम किया और बारंबार उनकी ओर देखते हुए वे श्रीरामचन्द्रजीके पास चल दिये ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

रावणका साधुवेषमें सीताके पास जाकर उनका परिचय पूछना और सीताका आतिथ्यके लिये उसे आमन्त्रित करना

तया परुषमुक्तस्तु कुपितो राघवानुजः ।
स विकाङ्क्षन् भृशं रामं प्रतस्थे नचिरादिव ॥ १ ॥

सीताके कठोर वचन कहनेपर कुपित हुए लक्ष्मण श्रीरामसे मिलनेकी विशेष इच्छा रखकर शीघ्र ही वहाँसे चल दिये ॥ १ ॥

तदासाद्य दशग्रीवः क्षिप्रमन्तरमास्थितः ।
अभिचक्राम वैदेहीं परिव्राजकरूपधृक् ॥ २ ॥

लक्ष्मणके चले जानेपर रावणको मौका मिल गया, अतः वह संन्यासीका वेष धारण करके शीघ्र ही विदेहकुमारी सीताके समीप गया ॥ २ ॥

श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही ।
वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू ॥ ३ ॥

वह शरीरपर साफ-सुथरा गेरुए रंगका वस्त्र लपेटे हुए था। उसके मस्तकपर शिखा, हाथमें छाता और पैरोंमें जूते थे। उसने बायें कंधेपर डंडा रखकर उसमें कमण्डलु लटका रखा था ॥ ३ ॥

परिव्राजकरूपेण वैदेहीमन्ववर्तत ।
तामाससादातिबलो भ्रातृभ्यां रहितां वने ॥ ४ ॥

अत्यन्त बलवान् रावण उस वनमें परिव्राजकका रूप धारण करके श्रीराम और लक्ष्मण दोनों बन्धुओंसे रहित हुई अकेली विदेहकुमारी सीताके पास गया ॥ ४ ॥

रहितां सूर्यचन्द्राभ्यां संध्यामिव महत्तमः ।
तामपश्यत् ततो बालां राजपुत्रीं यशस्विनीम् ॥ ५ ॥
रोहिणीं शशिना हीनां ग्रहवद् भृशदारुणः ।

जैसे सूर्य और चन्द्रमासे हीन हुई संध्याके पास महान् अंधकार उपस्थित हो, उसी प्रकार वह सीताके निकट गया। तदनन्तर जैसे चन्द्रमासे रहित हुई रोहिणीपर अत्यन्त दारुण ग्रह मंगल या शनैश्चरकी दृष्टि पड़े, उसी प्रकार उस अतिशय क्रूर रावणने उस भोली-भाली यशस्विनी राजकुमारीकी ओर देखा ॥ ५½ ॥

तमुग्रं पापकर्माणं जनस्थानगता द्रुमाः ॥ ६ ॥
संदृश्य न प्रकम्पन्ते न प्रवाति च मारुतः ।
शीघ्रस्रोताश्च तं दृष्ट्वा वीक्षन्तं रक्तलोचनम् ॥ ७ ॥
स्तिमितं गन्तुमारेभे भयाद् गोदावरी नदी ।

उस भयंकर पापाचारीको आया देख जनस्थानके वृक्षोंने हिलना बंद कर दिया और हवाका वेग रुक गया। लाल नेत्रोंवाले रावणको अपनी ओर दृष्टिपात करते देख तीव्र गतिसे बहनेवाली गोदावरी नदी भयके मारे धीरे-धीरे बहने लगी ॥ ६—७½ ॥

रामस्य त्वन्तरं प्रेप्सुर्दशग्रीवस्तदन्तरे ॥ ८ ॥
उपतस्थे च वैदेहीं भिक्षुरूपेण रावणः ।

रामसे बदला लेनेका अवसर ढूँढ़नेवाला दशमुख रावण उस समय भिक्षुरूपसे विदेहकुमारी सीताके पास पहुँचा ॥ ८½ ॥

अभव्यो भव्यरूपेण भर्तारमनुशोचतीम् ॥ ९ ॥
अभ्यवर्तत वैदेहीं चित्रामिव शनैश्चरः ।

उस समय विदेहराजकुमारी सीता अपने पतिके लिये शोक और चिन्तामें डूबी हुई थीं। उसी अवस्थामें अभव्य रावण भव्य रूप धारण करके उनके सामने उपस्थित हुआ, मानो शनैश्चर ग्रह चित्राके सामने जा पहुँचा हो ॥

सहसा भव्यरूपेण तृणैः कूप इवावृतः ॥ १० ॥
अतिष्ठत् प्रेक्ष्य वैदेहीं रामपत्नीं यशस्विनीम्।

जैसे कुआँ तिनकोंसे ढका हुआ हो, उसी प्रकार भव्य रूपसे अपनी अभव्यताको छिपाकर रावण सहसा वहाँ जा पहुँचा और यशस्विनी रामपत्नी वैदेहीको देखकर खड़ा हो गया ॥ १०½ ॥

तिष्ठन् सम्प्रेक्ष्य च तदा पत्नीं रामस्य रावणः ॥ ११ ॥
शुभां रुचिरदन्तोष्ठीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम्।
आसीनां पर्णशालायां बाष्पशोकाभिपीडिताम् ॥ १२ ॥

उस समय रावण वहाँ खड़ा-खड़ा रामपत्नी सीताको देखने लगा। वे बड़ी सुन्दरी थीं। उनके दाँत और ओठ भी सुन्दर थे, मुख पूर्ण चन्द्रमाकी शोभाको छीने लेता था। वे पर्णशालामें बैठी हुई शोकसे पीड़ित हो आँसू बहा रही थीं ॥ ११-१२ ॥

स तां पद्मपलाशाक्षीं पीतकौशेयवासिनीम्।
अभ्यगच्छत वैदेहीं हृष्टचेता निशाचरः ॥ १३ ॥

वह निशाचर प्रसन्नचित्त हो रेशमी पीताम्बरसे सुशोभित कमलनयनी विदेहकुमारीके सामने गया ॥ १३ ॥

दृष्ट्वा कामशराविद्धो ब्रह्मघोषमुदीरयन्।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपः ॥ १४ ॥

उन्हें देखते ही कामदेवके बाणोंसे घायल हो राक्षसराज रावण वेदमन्त्रका उच्चारण करने लगा और उस एकान्त स्थानमें विनीतभावसे उनसे कुछ कहनेको उद्यत हुआ ॥ १४ ॥

तामुत्तमां त्रिलोकानां पद्महीनामिव श्रियम्।
विभ्राजमानां वपुषा रावणः प्रशशंस ह ॥ १५ ॥

त्रिलोकसुन्दरी सीता अपने शरीरसे कमलसे रहित कमलालया लक्ष्मीकी भाँति शोभा पा रही थीं। रावण उनकी प्रशंसा करता हुआ बोला—॥ १५ ॥

रौप्यकाञ्चनवर्णाभे पीतकौशेयवासिनि।
कमलानां शुभां मालां पद्मिनीव च बिभ्रती ॥ १६ ॥

'उत्तम सुवर्णकी-सी कान्तिवाली तथा रेशमी पीताम्बर धारण करनेवाली सुन्दरी! (तुम कौन हो?) तुम्हारे मुख, नेत्र, हाथ और पैर कमलोंके समान हैं, अतः तुम पद्मिनी (पुष्करिणी) की भाँति कमलोंकी सुन्दर-सी माला धारण करती हो ॥ १६ ॥

ह्रीः श्रीः कीर्तिः शुभा लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने।
भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी ॥ १७ ॥

'शुभानने! तुम श्री, ह्री, कीर्ति, शुभस्वरूपा लक्ष्मी अथवा अप्सरा तो नहीं हो? अथवा वरारोहे! तुम भूति या स्वेच्छापूर्वक विहार करनेवाली कामदेवकी पत्नी रति तो नहीं हो? ॥ १७ ॥

समाः शिखरिणः स्निग्धाः पाण्डुरा दशनास्तव।
विशाले विमले नेत्रे रक्तान्ते कृष्णतारके ॥ १८ ॥
विशालं जघनं पीनमूरू करिकरोपमौ।

तुम्हारे दाँत बराबर हैं। उनके अग्रभाग कुन्दकी कलियोंके समान शोभा पाते हैं। वे सब-के-सब चिकने और सफेद हैं। तुम्हारी दोनों आँखें बड़ी-बड़ी और निर्मल हैं। उनके दोनों कोये लाल हैं और पुतलियाँ काली हैं। कटिका अग्रभाग विशाल एवं मांसल है। दोनों जाँघें हाथीकी सूँड़के समान शोभा पाती हैं ॥ १८½ ॥

एतावुपचितौ वृत्तौ संहतौ सम्प्रगल्भितौ ॥ १९ ॥
पीनोन्नतमुखौ कान्तौ स्निग्धतालफलोपमौ।
मणिप्रवेकाभरणौ रुचिरौ ते पयोधरौ ॥ २० ॥

'तुम्हारे ये दोनों स्तन पुष्ट, गोलाकार, परस्पर सटे हुए, प्रगल्भ, मोटे, उठे हुए मुखवाले, कमनीय, चिकने ताड़फलके समान आकारवाले, परम सुन्दर और श्रेष्ठ मणिमय आभूषणोंसे विभूषित हैं ॥ १९-२० ॥

चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि।
मनो हरसि मे रामे नदी कूलमिवाम्भसा ॥ २१ ॥

'सुन्दर मुसकान, रुचिर दन्तावली और मनोहर नेत्रवाली विलासिनी रमणी! तुम अपने रूप-सौन्दर्यसे मेरे मनको वैसे ही हरे लेती हो, जैसे नदी जलके द्वारा अपने तटका अपहरण करती है ॥ २१ ॥

करान्तमितमध्यासि सुकेशे संहतस्तनि।
नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किंनरी ॥ २२ ॥

'तुम्हारी कमर इतनी पतली है कि मुट्ठीमें आ जाय। केश चिकने और मनोहर हैं। दोनों स्तन एक-दूसरेसे सटे हुए हैं। सुन्दरी! देवता, गन्धर्व, यक्ष और किन्नर जातिकी स्त्रियोंमें भी कोई तुम-जैसी नहीं है ॥ २२ ॥

नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले।
रूपमग्र्यं च लोकेषु सौकुमार्यं वयश्च ते ॥ २३ ॥
इह वासश्च कान्तारे चित्तमुन्माथयन्ति मे।
सा प्रतिक्राम भद्रं ते न त्वं वस्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

'पृथ्वीपर तो ऐसी रूपवती नारी मैंने आजसे पहले कभी देखी ही नहीं थी। कहाँ तो तुम्हारा यह तीनों लोकोंमें सबसे सुन्दर रूप, सुकुमारता और नयी अवस्था और कहाँ इस दुर्गम वनमें निवास! ये सब बातें ध्यानमें आते ही मेरे मनको मथे डालती हैं। तुम्हारा

कल्याण हो। यहाँसे चली जाओ। तुम यहाँ रहनेके योग्य नहीं हो ॥ २३-२४ ॥

राक्षसानामयं वासो घोराणां कामरूपिणाम्।
प्रासादाग्राणि रम्याणि नगरोपवनानि च ॥ २५ ॥
सम्पन्नानि सुगन्धीनि युक्तान्याचरितुं त्वया।

'यह तो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले भयंकर राक्षसोंके रहनेकी जगह है। तुम्हें तो रमणीय राजमहलों, समृद्धिशाली नगरों और सुगन्धयुक्त उपवनोंमें निवास करना और विचरना चाहिये ॥ २५½ ॥

वरं माल्यं वरं गन्धं वरं वस्त्रं च शोभने ॥ २६ ॥
भर्तारं च वरं मन्ये त्वद्युक्तमसितेक्षणे।

'शोभने! वही पुष्प श्रेष्ठ है, वही गन्ध उत्तम है और वही वस्त्र सुन्दर है, जो तुम्हारे उपयोगमें आये। कजरारे नेत्रोंवाली सुन्दरी! मैं उसीको श्रेष्ठ पति मानता हूँ, जिसे तुम्हारा सुखद संयोग प्राप्त हो ॥ २६½ ॥

का त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा शुचिस्मिते ॥ २७ ॥
वसूनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे।

'पवित्र मुसकान और सुन्दर अङ्गोंवाली देवि! तुम कौन हो? मुझे तो तुम रुद्रों, मरुद्गणों अथवा वसुओंसे सम्बन्ध रखनेवाली देवी जान पड़ती हो ॥ २७½ ॥

नेह गच्छन्ति गन्धर्वा न देवा न च किन्नराः ॥ २८ ॥
राक्षसानामयं वासः कथं तु त्वमिहागता।

'यहाँ गन्धर्व, देवता तथा किन्नर नहीं आते-जाते हैं। यह राक्षसोंका निवासस्थान है, फिर तुम कैसे यहाँ आ गयीं? ॥ २८½ ॥

इह शाखामृगाः सिंहा द्वीपिव्याघ्रमृगा वृकाः ॥ २९ ॥
ऋक्षास्तरक्षवः कङ्काः कथं तेभ्यो न विभ्यसे।

'यहाँ वानर, सिंह, चीते, व्याघ्र, मृग, भेड़िये, रीछ, शेर और कंक (गीध आदि पक्षी) रहते हैं। तुम्हें इनसे भय क्यों नहीं हो रहा है? ॥ २९½ ॥

मदान्वितानां घोराणां कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥ ३० ॥
कथमेका महारण्ये न बिभेषि वरानने।

'वरानने! इस विशाल वनके भीतर अत्यन्त वेगशाली और भयंकर मदमत्त गजराजोंके बीच अकेली रहती हुई तुम भयभीत कैसे नहीं होती हो? ॥ ३०½ ॥

कासि कस्य कुतश्च त्वं किं निमित्तं च दण्डकान्॥ ३१॥
एका चरसि कल्याणि घोरान् राक्षससेवितान्।

'कल्याणमयी देवि! बताओ, तुम कौन हो? किसकी हो? और कहाँसे आकर किस कारण इस राक्षससेवित घोर दण्डकारण्यमें अकेली विचरण करती हो?' ॥ ३१½ ॥

इति प्रशस्ता वैदेही रावणेन महात्मना ॥ ३२ ॥
द्विजातिवेषेण हि तं दृष्ट्वा रावणमागतम्।
सर्वैरतिथिसत्कारैः पूजयामास मैथिली ॥ ३३ ॥

वेषभूषासे महात्मा बनकर आये हुए रावणने जब विदेहकुमारी सीताकी इस प्रकार प्रशंसा की, तब ब्राह्मणवेषमें वहाँ पधारे हुए रावणको देखकर मैथिलीने अतिथि-सत्कारके लिये उपयोगी सभी सामग्रियोंद्वारा उसका पूजन किया ॥ ३२-३३ ॥

उपानीयासनं पूर्वं पाद्येनाभिनिमन्त्र्य च।
अब्रवीत् सिद्धमित्येव तदा तं सौम्यदर्शनम् ॥ ३४ ॥

पहले बैठनेके लिये आसन दे, पाद्य (पैर धोनेके लिये जल) निवेदन किया। तदनन्तर ऊपरसे सौम्य दिखायी देनेवाले उस अतिथिको भोजनके लिये निमन्त्रण देते हुए कहा—'ब्रह्मन्! भोजन तैयार है, ग्रहण कीजिये' ॥ ३४ ॥

द्विजातिवेषेण समीक्ष्य मैथिली
समागतं पात्रकुसुम्भधारिणम्।
अशक्यमुद्द्रेष्टुमुपायदर्शना-
न्न्यमन्त्रयद् ब्राह्मणवत् तथागतम् ॥ ३५ ॥

वह ब्राह्मणके वेषमें आया था, कमण्डलु और गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए था। ब्राह्मण-वेषमें आये हुए अतिथिकी उपेक्षा असम्भव थी। उसकी वेषभूषामें ब्राह्मणत्वका निश्चय करानेवाले चिह्न दिखायी देते थे, अतः उस रूपमें आये हुए उस रावणको देखकर मैथिलीने ब्राह्मणके योग्य सत्कार करनेके लिये ही उसे निमन्त्रित किया ॥ ३५ ॥

इयं बृसी ब्राह्मण काममास्यता-
मिदं च पाद्यं प्रतिगृह्यतामिति।
इदं च सिद्धं वनजातमुत्तमं
त्वदर्थमव्यग्रमिहोपभुज्यताम् ॥ ३६ ॥

वे बोलीं—'ब्राह्मण! यह चटाई है, इसपर इच्छानुसार बैठ जाइये। यह पैर धोनेके लिये जल है, इसे ग्रहण कीजिये और यह वनमें ही उत्पन्न हुआ उत्तम फल-मूल आपके लिये ही तैयार करके रखा गया है, यहाँ शान्तभावसे उसका उपभोग कीजिये' ॥ ३६ ॥

निमन्त्र्यमाणः प्रतिपूर्णभाषिणीं
नरेन्द्रपत्नीं प्रसमीक्ष्य मैथिलीम्।
प्रसह्य तस्या हरणे दृढं मनः
समर्पयामास वधाय रावणः ॥ ३७ ॥

'अतिथिके लिये सब कुछ तैयार है' ऐसा कहकर सीताने जब उसे भोजनके लिये निमन्त्रित किया, तब रावणने 'सर्वं सम्पन्नम्' कहनेवाली रानी मैथिलीकी ओर देखा और अपने ही वधके लिये उसने हठपूर्वक सीताका हरण करनेके निमित्त मनमें दृढ़ निश्चय कर लिया ॥ ३७ ॥

ततः सुवेषं मृगयागतं पतिं
प्रतीक्षमाणा सहलक्ष्मणं तदा।
निरीक्षमाणा हरितं ददर्श त-
न्महद् वनं नैव तु रामलक्ष्मणौ ॥ ३८ ॥

तदनन्तर सीता शिकार खेलनेके लिये गये हुए लक्ष्मण-सहित अपने सुन्दर वेषधारी पति श्रीरामचन्द्रजीकी प्रतीक्षा करने लगीं। उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, किंतु उन्हें सब ओर हरा-भरा विशाल वन ही दिखायी दिया, श्रीराम और लक्ष्मण नहीं दीख पड़े ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥



सप्तचत्वारिंशः सर्गः

सीताका रावणको अपना और पतिका परिचय देकर वनमें आनेका कारण बताना, रावणका उन्हें अपनी पटरानी बनानेकी इच्छा प्रकट करना और सीताका उसे फटकारना

रावणेन तु वैदेही तदा पृष्टा जिहीर्षुणा।
परिव्राजकरूपेण शशंसात्मानमात्मना ॥ १ ॥

सीताको हरनेकी इच्छासे परिव्राजक (संन्यासी) का रूप धारण करके आये हुए रावणने उस समय जब विदेह-राजकुमारीसे इस प्रकार पूछा, तब उन्होंने स्वयं ही अपना परिचय दिया ॥ १ ॥

ब्राह्मणश्चातिथिश्चैष अनुक्तो हि शपेत माम्।
इति ध्यात्वा मुहूर्तं तु सीता वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

वे दो घड़ीतक इस विचारमें पड़ी रहीं कि ये ब्राह्मण और अतिथि हैं, यदि इनकी बातका उत्तर न दिया जाय तो ये मुझे शाप दे देंगे। यह सोचकर सीताने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ २ ॥

दुहिता जनकस्याहं मैथिलस्य महात्मनः।
सीता नाम्नास्मि भद्रं ते रामस्य महिषी प्रिया ॥ ३ ॥

'ब्रह्मन्! आपका भला हो। मैं मिथिलानरेश महात्मा जनककी पुत्री और अवधनरेश श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी रानी हूँ। मेरा नाम सीता है ॥ ३ ॥

उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने।
भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी ॥ ४ ॥

'विवाहके बाद बारह वर्षोंतक इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथके महलमें रहकर मैंने अपने पतिके साथ सभी मानवोचित भोग भोगे हैं। मैं वहाँ सदा मनोवाञ्छित सुख-सुविधाओंसे सम्पन्न रही हूँ ॥ ४ ॥

तत्र त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभिः ॥ ५ ॥

'तेरहवें वर्षके प्रारम्भमें सामर्थ्यशाली महाराज दशरथने राजमन्त्रियोंसे मिलकर सलाह की और श्रीरामचन्द्रजीका युवराजपदपर अभिषेक करनेका निश्चय किया ॥ ५ ॥

तस्मिन् सम्भ्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने।
ी नाम भर्तारं ममार्या याचते वरम् ॥ ६ ॥

'जब श्रीरघुनाथजीके राज्याभिषेककी सामग्री जुटायी जाने लगी, उस समय मेरी सास कैकेयीने अपने पतिसे वर माँगा ॥ ६ ॥

परिगृह्य तु कैकेयी श्वशुरं सुकृतेन मे।
मम प्रव्राजनं भर्तुर्भरतस्याभिषेचनम् ॥ ७ ॥
द्वावयाचत भर्तारं सत्यसंधं नृपोत्तमम्।

'कैकेयीने मेरे श्वशुरको पुण्यकी शपथ दिलाकर वचन-बद्ध कर लिया, फिर अपने सत्यप्रतिज्ञ पति उन राजशिरो-मणिसे दो वर माँगे—मेरे पतिके लिये वनवास और भरतके लिये राज्याभिषेक ॥ ७½ ॥

नाद्य भोक्ष्ये न च स्वप्स्ये न पास्ये न कदाचन ॥ ८ ॥
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते।

'कैकेयी हठपूर्वक कहने लगीं—यदि आज श्रीरामका अभिषेक किया गया तो मैं न तो खाऊँगी, न पीऊँगी और न कभी सोऊँगी ही। यही मेरे जीवनका अन्त होगा।

इति ब्रुवाणां कैकेयीं श्वशुरो मे स पार्थिवः ॥ ९ ॥
अयाचतार्थैरन्वर्थैर्न च याच्ञां चकार सा।

'ऐसी बात कहती हुई कैकेयीसे मेरे श्वशुर महाराज दशरथने यह याचना की कि 'तुम सब प्रकारकी उत्तम वस्तुएँ ले लो; किंतु श्रीरामके अभिषेकमें विघ्न न डालो।' किंतु कैकेयीने उनकी वह याचना सफल नहीं की ॥ ९½ ॥

मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः ॥ १० ॥
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते।

'उस समय मेरे महातेजस्वी पतिकी अवस्था पचीस सालसे ऊपरकी थी और मेरे जन्मकालसे लेकर वनगमन-कालतक मेरी अवस्था वर्षगणनाके अनुसार अठारह सालकी हो गयी थी ॥ १०½ ॥

रामेति प्रथितो लोके सत्यवाञ्शीलवाञ्शुचिः ॥ ११ ॥
विशालाक्षो महाबाहुः सर्वभूतहिते रतः।

'श्रीराम जगत्‌में सत्यवादी, सुशील और पवित्र रूपसे विख्यात हैं। उनके नेत्र बड़े-बड़े और भुजाएँ विशाल हैं। वे समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं ॥ ११½ ॥

कामार्तश्च महाराजः पिता दशरथः स्वयम् ॥ १२ ॥
कैकेय्याः प्रियकामार्थं तं रामं नाभ्यषेचयत् ।

'उनके पिता महाराज दशरथने स्वयं कामपीड़ित होनेके कारण कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे श्रीरामका अभिषेक नहीं किया ॥ १२½ ॥

अभिषेकाय तु पितुः समीपं राममागतम् ॥ १३ ॥
कैकेयी मम भर्तारमित्युवाच द्रुतं वचः ।

'श्रीरामचन्द्रजी जब अभिषेकके लिये पिताके समीप आये, तब कैकेयीने मेरे उन पतिदेवसे तुरंत यह बात कही ॥१३½ ॥

तव पित्रा समाज्ञप्तं ममेदं शृणु राघव ॥ १४ ॥
भरताय प्रदातव्यमिदं राज्यमकण्टकम् ।
त्वया तु खलु वस्तव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ १५ ॥
वने प्रव्रज काकुत्स्थ पितरं मोचयानृतात् ।

'रघुनन्दन ! तुम्हारे पिताने जो आज्ञा दी है, इसे मेरे मुँहसे सुनो। यह निष्कण्टक राज्य भरतको दिया जायगा, तुम्हें तो चौदह वर्षोंतक वनमें ही निवास करना होगा। काकुत्स्थ ! तुम वनको जाओ और पिताको असत्यके बन्धनसे छुड़ाओ ॥ १४–१५½ ॥

तथेत्युवाच तां रामः कैकेयीमकुतोभयः ॥ १६ ॥
चकार तद्वचः श्रुत्वा भर्ता मम दृढव्रतः ।

'किसीसे भी भय न माननेवाले श्रीरामने कैकेयीकी वह बात सुनकर कहा—'बहुत अच्छा'। उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। मेरे स्वामी दृढ़तापूर्वक अपनी प्रतिज्ञाका पालन करनेवाले हैं ॥ १६½ ॥

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात् सत्यं ब्रूयान्न चानृतम् ॥ १७ ॥
एतद् ब्राह्मण रामस्य व्रतं ध्रुतमनुत्तमम् ।

'श्रीराम केवल देते हैं; किसीसे कुछ लेते नहीं। वे सदा सत्य बोलते हैं, झूठ नहीं। ब्राह्मण ! यह श्रीरामचन्द्रजीका सर्वोत्तम व्रत है, जिसे उन्होंने धारण कर रखा है ॥ १७½ ॥

तस्य भ्राता तु वैमात्रो लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १८ ॥
रामस्य पुरुषव्याघ्रः सहायः समरेऽरिहा ।
स भ्राता लक्ष्मणो नाम ब्रह्मचारी दृढव्रतः ॥ १९ ॥

'श्रीरामके सौतेले भाई लक्ष्मण बड़े पराक्रमी हैं। समरभूमिमें शत्रुओंका संहार करनेवाले पुरुषसिंह लक्ष्मण श्रीरामके सहायक हैं, बन्धु हैं, ब्रह्मचारी और उत्तम व्रतका दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाले हैं ॥ १८-१९ ॥

अन्वगच्छद् धनुष्पाणिः प्रव्रजन्तं मया सह ।
जटी तापसरूपेण मया सह सहानुजः ॥ २० ॥
प्रविष्टो दण्डकारण्यं धर्मनित्यो दृढव्रतः ।

'श्रीरघुनाथजी मेरे साथ जब वनमें आने लगे, तब लक्ष्मण भी हाथमें धनुष लेकर उनके पीछे हो लिये। इस प्रकार मेरे और अपने छोटे भाईके साथ श्रीराम इस दण्डकारण्यमें आये हैं। वे दृढप्रतिज्ञ तथा नित्य-निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं और सिरपर जटा धारण किये तपस्वीके वेशमें यहाँ रहते हैं ॥ २०½ ॥

ते वयं प्रच्युता राज्यात् कैकेय्यास्तु कृते त्रयः ॥ २१ ॥
विचराम द्विजश्रेष्ठ वनं गम्भीरमोजसा ।
समाश्वस मुहूर्तं तु शक्यं वस्तुमिह त्वया ॥ २२ ॥
आगमिष्यति मे भर्ता वन्यमादाय पुष्कलम् ।

'द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार हम तीनों कैकेयीके कारण राज्यसे वञ्चित हो इस गम्भीर वनमें अपने ही बलके भरोसे विचरते हैं। आप यहाँ ठहर सकें तो दो घड़ी विश्राम करें। अभी मेरे स्वामी प्रचुरमात्रामें जंगली फल-मूल लेकर आते होंगे ॥ २१-२२½ ॥

रुरून् गोधान् वराहांश्च हत्वाऽऽदायामिषं बहु ॥ २३ ॥
स त्वं नाम च गोत्रं च कुलमाचक्ष्व तत्त्वतः ।
एकश्च दण्डकारण्ये किमर्थं चरसि द्विज ॥ २४ ॥

'रुरु, गोह और जंगली सूअर आदि हिंसक पशुओंका वध करके तपस्वी जनोंके उपभोगमें आने योग्य बहुत-सा फल-मूल लेकर वे अभी आयँगे (उस समय आपका विशेष सत्कार होगा)। ब्रह्मन् ! अब आप भी अपने नाम-गोत्र और कुलका ठीक-ठीक परिचय दीजिये। आप अकेले इस दण्डकारण्यमें किस लिये विचरते हैं ?' ॥ २३-२४ ॥

एवं ब्रुवत्यां सीतायां रामपत्न्यां महाबलः ।
प्रत्युवाचोत्तरं तीव्रं रावणो राक्षसाधिपः ॥ २५ ॥

श्रीरामपत्नी सीताके इस प्रकार पूछनेपर महाबली राक्षसराज रावणने अत्यन्त कठोर शब्दोंमें उत्तर दिया—॥

येन वित्रासिता लोकाः सदेवासुरमानुषाः ।
अहं स रावणो नाम सीते रक्षोगणेश्वरः ॥ २६ ॥

'सीते ! जिसके नामसे देवता, असुर और मनुष्यों-सहित तीनों लोक थर्रा उठते हैं, मैं वही राक्षसोंका राजा रावण हूँ ॥ २६ ॥

त्वां तु काञ्चनवर्णाभां दृष्ट्वा कौशेयवासिनीम् ।
रतिं स्वकेषु दारेषु नाधिगच्छाम्यनिन्दिते ॥ २७ ॥

'अनिन्द्यसुन्दरि ! तुम्हारे अङ्गोंकी कान्ति सुवर्णके समान है, जिनपर रेशमी साड़ी शोभा पा रही है। तुम्हें देखकर अब मेरा मन अपनी स्त्रियोंकी ओर नहीं जाता है ॥ २७ ॥

बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः ।
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव ॥ २८ ॥

'मैं इधर-उधरसे बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियोंको हर लाया हूँ। उन सबमें तुम मेरी पटरानी बनो। तुम्हारा भला हो ॥ २८ ॥

लङ्का नाम समुद्रस्य मध्ये मम महापुरी ।
सागरेण परिक्षिप्ता निविष्टा गिरिमूर्धनि ॥ २९ ॥

'मेरी राजधानीका नाम लङ्का है। वह महापुरी समुद्रके बीचमें एक पर्वतके शिखरपर बसी हुई है। समुद्रने उसे चारों ओरसे घेर रखा है ॥ २९ ॥

तत्र सीते मया सार्धं वनेषु विचरिष्यसि ।
न चास्य वनवासस्य स्पृहयिष्यसि भामिनि ॥ ३० ॥

'सीते! वहाँ रहकर तुम मेरे साथ नाना प्रकारके वनोंमें विचरण करोगी। भामिनि! फिर तुम्हारे मनमें इस वनवासकी इच्छा कभी नहीं होगी ॥ ३० ॥

पञ्च दास्यः सहस्राणि सर्वाभरणभूषिताः ।
सीते परिचरिष्यन्ति भार्या भवसि मे यदि ॥ ३१ ॥

'सीते! यदि तुम मेरी भार्या हो जाओगी तो सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित पाँच हजार दासियाँ सदा तुम्हारी सेवा किया करेंगी' ॥ ३१ ॥

रावणेनैवमुक्ता तु कुपिता जनकात्मजा ।
प्रत्युवाचानवद्याङ्गी तमनादृत्य राक्षसम् ॥ ३२ ॥

रावणके ऐसा कहनेपर निर्दोष अङ्गोंवाली जनकनन्दिनी सीता कुपित हो उठीं और राक्षसका तिरस्कार करके उसे यों उत्तर देने लगीं—॥ ३२ ॥

महागिरिमिवाकम्प्यं महेन्द्रसदृशं पतिम् ।
महोदधिमिवाक्षोभ्यमहं राममनुव्रता ॥ ३३ ॥

'मेरे पतिदेव भगवान् श्रीराम महान् पर्वतके समान अविचल हैं, इन्द्रके तुल्य पराक्रमी हैं और महासागरके समान प्रशान्त हैं, उन्हें कोई क्षुब्ध नहीं कर सकता। मैं तन-मन-प्राणसे उन्हींका अनुसरण करनेवाली तथा उन्हींकी अनुरागिणी हूँ ॥ ३३ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं न्यग्रोधपरिमण्डलम् ।
सत्यसंधं महाभागमहं राममनुव्रता ॥ ३४ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, वटवृक्षकी भाँति सबको अपनी छायामें आश्रय देनेवाले, सत्यप्रतिज्ञ और महान् सौभाग्यशाली हैं। मैं उन्हींकी अनन्य अनुरागिणी हूँ ॥ ३४ ॥

महाबाहुं महोरस्कं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
नृसिंहं सिंहसंकाशमहं राममनुव्रता ॥ ३५ ॥

'उनकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी और छाती चौड़ी है। वे [illegible] के समान पाँव बढ़ाते हुए बड़े गर्वके साथ चलते हैं और सिंहके ही समान पराक्रमी हैं। मैं उन पुरुषसिंह श्रीराममें ही अनन्य भक्ति रखनेवाली हूँ ॥ ३५ ॥

पूर्णचन्द्राननं रामं राजवत्सं जितेन्द्रियम् ।
पृथुकीर्तिं महाबाहुमहं राममनुव्रता ॥ ३६ ॥

'राजकुमार श्रीरामका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर है। वे जितेन्द्रिय हैं और उनका यश महान् है। उन महाबाहु श्रीराममें ही दृढ़तापूर्वक मेरा मन लगा हुआ है ॥ ३६ ॥

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिहेच्छसि दुर्लभाम् ।
नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा ॥ ३७ ॥

'पापी निशाचर! तू सियार है और मैं सिंहिनी हूँ। मैं तेरे लिये सर्वथा दुर्लभ हूँ। क्या तू यहाँ मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है। अरे! जैसे सूर्यकी प्रभापर कोई हाथ नहीं लगा सकता, उसी प्रकार तू मुझे छू भी नहीं सकता ॥ ३७ ॥

पादपान् काञ्चनान् नूनं बहून् पश्यसि मन्दभाक् ।
राघवस्य प्रियां भार्यां यस्त्वमिच्छसि राक्षस ॥ ३८ ॥

'अभागे राक्षस! तेरा इतना साहस! तू श्रीरघुनाथजीकी प्यारी पत्नीका अपहरण करना चाहता है! निश्चय ही तुझे बहुत-से सोनेके वृक्ष दिखायी देने लगे हैं—अब तू मौतके निकट जा पहुँचा है ॥ ३८ ॥

क्षुधितस्य च सिंहस्य मृगशत्रोस्तरस्विनः ।
आशीविषस्य वदनाद् दंष्ट्रामादातुमिच्छसि ॥ ३९ ॥
मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं पाणिना हर्तुमिच्छसि ।
कालकूटं विषं पीत्वा स्वस्तिमान् गन्तुमिच्छसि ॥ ४० ॥
अक्षि सूच्या प्रमृजसि जिह्वया लेढि च क्षुरम् ।
राघवस्य प्रियां भार्यामधिगन्तुं त्वमिच्छसि ॥ ४१ ॥

'तू श्रीरामकी प्यारी पत्नीको हस्तगत करना चाहता है। जान पड़ता है, अत्यन्त वेगशाली मृगवैरी भूखे सिंह और विषधर सर्पके मुखसे उनके दाँत तोड़ लेना चाहता है, पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचलको हाथसे उठाकर ले जानेकी इच्छा करता है, कालकूट विषको पीकर कुशलपूर्वक लौट जानेकी अभिलाषा रखता है तथा आँखको सूईसे पोंछता और छुरेको जीभसे चाटता है ॥ ३९—४१ ॥

अवसज्य शिलां कण्ठे समुद्रं तर्तुमिच्छसि ।
सूर्याचन्द्रमसौ चोभौ पाणिभ्यां हर्तुमिच्छसि ॥ ४२ ॥
यो रामस्य प्रियां भार्यां प्रधर्षयितुमिच्छसि ।

'क्या तू अपने गलेमें पत्थर बाँधकर समुद्रको पार करना चाहता है? सूर्य और चन्द्रमा दोनोंको अपने दोनों हाथोंसे हर लानेकी इच्छा करता है? जो श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी पत्नीपर बलात्कार करनेको उतारू हुआ है ॥ ४२½ ॥

अग्निं प्रज्वलितं दृष्ट्वा वस्त्रेणाहर्तुमिच्छसि ॥ ४३ ॥
कल्याणवृत्तां यो भार्यां रामस्याहर्तुमिच्छसि ।

'यदि तू कल्याणमय आचारका पालन करनेवाली श्रीरामकी भार्याका अपहरण करना चाहता है तो अवश्य ही जलती हुई आगको देखकर भी तू उसे कपड़ेमें बाँधकर ले जानेकी इच्छा करता है ॥ ४३½ ॥

अयोमुखानां शूलानामग्रे चरितुमिच्छसि ।
रामस्य सदृशीं भार्यां योऽधिगन्तुं त्वमिच्छसि ॥ ४४ ॥

'अरे ! तू श्रीरामकी भार्याको, जो सर्वथा उन्हींके योग्य है, हस्तगत करना चाहता है, तो निश्चय ही लोहमय मुखवाले शूलोंकी नोकपर चलनेकी अभिलाषा करता है ॥ ४४ ॥

यदन्तरं सिंहसृगालयोर्वने
यदन्तरं स्यन्दनिकासमुद्रयोः ।
सुराग्र्यसौवीरकयोर्यदन्तरं
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४५ ॥

'वनमें रहनेवाले सिंह और सियारमें, समुद्र और छोटी नदीमें तथा अमृत और काँजीमें जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथनन्दन श्रीराममें और तुझमें है ॥ ४५ ॥

यदन्तरं काञ्चनसीसलोहयो-
र्यदन्तरं चन्दनवारिपङ्कयोः ।
यदन्तरं हस्तिविडालयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४६ ॥

'सोने और सीसेमें, चन्दनमिश्रित जल और कीचड़में तथा वनमें रहनेवाले हाथी और विलावमें जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथनन्दन श्रीराम और तुझमें है ॥ ४६ ॥

यदन्तरं वायसवैनतेययो-
र्यदन्तरं मद्गुमयूरयोरपि ।
यदन्तरं हंसकगृध्रयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४७ ॥

'गरुड़ और कौएमें, मोर और जलकाकमें तथा वनवासी हंस और गीधमें जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथ-नन्दन श्रीराम और तुझमें है ॥ ४७ ॥

तस्मिन् सहस्राक्षसमप्रभावे
रामे स्थिते कार्मुकबाणपाणौ ।
हृतापि तेऽहं न जरां गमिष्ये
आज्यं यथा मक्षिकयावगीर्णम् ॥ ४८ ॥

'जिस समय सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके समान प्रभावशाली श्रीरामचन्द्रजी हाथमें धनुष और बाण लेकर खड़े हो जायँगे, उस समय तू मेरा अपहरण करके भी मुझे पचा नहीं सकेगा, ठीक उसी तरह जैसे मक्खी घी पीकर उसे पचा नहीं सकती' ॥ ४८ ॥

इतीव तद्वाक्यमदुष्टभावा
सुदुष्टमुक्त्वा रजनीचरं तम् ।
गात्रप्रकम्पाद् व्यथिता बभूव
वातोद्धता सा कदलीव तन्वी ॥ ४९ ॥

सीताके मनमें कोई दुर्भाव नहीं था तो भी उस राक्षससे यह अत्यन्त दुःखजनक बात कहकर सीता रोषसे काँपने लगीं । शरीरके कम्पनसे कृशाङ्गी सीता हवासे हिलायी गयी कदलीके समान व्यथित हो उठीं ॥ ४९ ॥

तां वेपमानामुपलक्ष्य सीतां
स रावणो मृत्युसमप्रभावः ।
कुलं बलं नाम च कर्म चात्मनः
समाचचक्षे भयकारणार्थम् ॥ ५० ॥

सीताको काँपती देख मौतके समान प्रभाव रखनेवाला रावण उनके मनमें भय उत्पन्न करनेके लिये अपने कुल, बल, नाम और कर्मका परिचय देने लगा ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

रावणके द्वारा अपने पराक्रमका वर्णन और सीताद्वारा उसको कड़ी फटकार

एवं ब्रुवत्यां सीतायां संरब्धः परुषं वचः ।
ललाटे भ्रुकुटिं कृत्वा रावणः प्रत्युवाच ह ॥ १ ॥

सीताके ऐसा कहनेपर रावण रोषमें भर गया और ललाटमें भौंहें टेढ़ी करके वह कठोर वाणीमें बोला—॥

भ्राता वैश्रवणस्याहं सापत्नो वरवर्णिनि ।
रावणो नाम भद्रं ते दशग्रीवः प्रतापवान् ॥ २ ॥

'सुन्दरी ! मैं कुबेरका सौतेला भाई परम प्रतापी दशग्रीव रावण हूँ । तुम्हारा भला हो ॥ २ ॥

यस्य देवाः सगन्धर्वाः पिशाचपतगोरगाः ।
विद्रवन्ति सदा भीता मृत्योरिव सदा प्रजाः ॥ ३ ॥
येन वैश्रवणो भ्राता वैमात्रः कारणान्तरे ।
द्वन्द्वमासादितः क्रोधाद् रणे विक्रम्य निर्जितः ॥ ४ ॥

'जैसे प्रजा मौतके भयसे सदा डरती रहती है, उसी प्रकार देवता, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और नाग सदा जिससे भयभीत होकर भागते हैं, जिसने किसी कारणवश अपने सौतेले भाई कुबेरके साथ द्वन्द्वयुद्ध किया

और क्रोधपूर्वक पराक्रम करके रणभूमिमें उन्हें परास्त कर दिया था, वही रावण मैं हूँ ॥ ३-४ ॥

मद्भयार्तः परित्यज्य स्वमधिष्ठानमृद्धिमत्।
कैलासं पर्वतश्रेष्ठमध्यास्ते नरवाहनः ॥ ५ ॥

'मेरे ही भयसे पीड़ित हो नरवाहन कुबेरने अपनी समृद्धिशालिनी पुरी लङ्काका परित्याग करके इस समय पर्वत-श्रेष्ठ कैलासकी शरण ली है ॥ ५ ॥

यस्य तत् पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम्।
वीर्यादावर्जितं भद्रे येन यामि विहायसम् ॥ ६ ॥

भद्रे ! उनका सुप्रसिद्ध पुष्पक नामक सुन्दर विमान, जो इच्छाके अनुसार चलनेवाला है, मैंने पराक्रमसे जीत लिया है और उसी विमानके द्वारा मैं आकाशमें विचरता हूँ ॥ ६ ॥

मम संजातरोषस्य मुखं दृष्ट्वैव मैथिलि।
विद्रवन्ति परित्रस्ताः सुराः शक्रपुरोगमाः ॥ ७ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! जब मुझे रोष चढ़ता है, उस समय इन्द्र आदि सब देवता मेरा मुँह देखकर ही भयसे थर्रा उठते हैं और इधर-उधर भाग जाते हैं ॥ ७ ॥

यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र मारुतो वाति शङ्कितः।
तीव्रांशुः शिशिरांशुश्च भयात् सम्पद्यते दिवि ॥ ८ ॥

'जहाँ मैं खड़ा होता हूँ, वहाँ हवा डरकर धीरे-धीरे चलने लगती है। मेरे भयसे आकाशमें प्रचण्ड किरणोंवाला सूर्य भी चन्द्रमाके समान शीतल हो जाता है ॥ ८ ॥

निष्कम्पपत्रास्तरवो नद्यश्च स्तिमितोदकाः।
भवन्ति यत्र तत्राहं तिष्ठामि च चरामि च ॥ ९ ॥

'जिस स्थानपर मैं ठहरता या भ्रमण करता हूँ, वहाँ वृक्षोंके पत्तेतक नहीं हिलते और नदियोंका पानी स्थिर हो जाता है ॥ ९ ॥

मम पारे समुद्रस्य लङ्का नाम पुरी शुभा।
सम्पूर्णा राक्षसैर्घोरैर्यथेन्द्रस्यामरावती ॥ १० ॥

'समुद्रके उस पार लङ्का नामक मेरी सुन्दर पुरी है, जो इन्द्रकी अमरावतीके समान मनोहर तथा घोर राक्षसोंसे भरी हुई है ॥ १० ॥

प्राकारेण परिक्षिप्ता पाण्डुरेण विराजिता।
हेमकक्ष्या पुरी रम्या वैदूर्यमयतोरणा ॥ ११ ॥

'उसके चारों ओर बनी हुई सफेद चहारदिवारी उस पुरीकी शोभा बढ़ाती है। लङ्कापुरीके महलोंके दालान, फर्श आदि सोनेके बने हैं और उसके बाहरी दरवाजे वैदूर्यमय हैं। वह पुरी बहुत ही रमणीय है ॥ ११ ॥

हस्त्यश्वरथसम्बाधा तूर्यनादविनादिता।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः संकुलोद्यानभूषिता ॥ १२ ॥

'हाथी, घोड़े और रथोंसे वहाँकी सड़कें भरी रहती हैं। भाँति-भाँतिके वाद्योंकी ध्वनि गूँजा करती है। सब प्रकारके मनोवाञ्छित फल देनेवाले वृक्षोंसे लङ्कापुरी व्याप्त है। नाना प्रकारके उद्यान उसकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ १२ ॥

तत्र त्वं वस हे सीते राजपुत्रि मया सह।
न स्मरिष्यसि नारीणां मानुषीणां मनस्विनि ॥ १३ ॥

'राजकुमारी सीते ! तुम मेरे साथ उस पुरीमें चलकर निवास करो। मनस्विनि ! वहाँ रहकर तुम मानवी स्त्रियोंको भूल जाओगी ॥ १३ ॥

भुञ्जाना मानुषान् भोगान् दिव्यांश्च वरवर्णिनि।
न स्मरिष्यसि रामस्य मानुषस्य गतायुषः ॥ १४ ॥

'सुन्दरी ! लङ्कामें दिव्य और मानुष-भोगोंका उपभोग करती हुई तुम उस मनुष्य रामका कभी स्मरण नहीं करोगी, जिसकी आयु अब समाप्त हो चली है ॥ १४ ॥

स्थापयित्वा प्रियं पुत्रं राज्ये दशरथो नृपः।
मन्दवीर्यस्ततो ज्येष्ठः सुतः प्रस्थापितो वनम् ॥ १५ ॥
तेन किं भ्रष्टराज्येन रामेण गतचेतसा।
करिष्यसि विशालाक्षि तापसेन तपस्विना ॥ १६ ॥

'विशाललोचने ! राजा दशरथने अपने प्यारे पुत्रको राज्यपर बिठाकर जिस अल्पपराक्रमी ज्येष्ठ पुत्रको वनमें भेज दिया, उस राज्यभ्रष्ट, बुद्धिहीन एवं तपस्यामें लगे हुए तापस रामको लेकर क्या करोगी ? ॥ १५-१६ ॥

रक्ष राक्षसभर्तारं कामय स्वयमागतम्।
न मन्मथशराविष्टं प्रत्याख्यातुं त्वमर्हसि ॥ १७ ॥

'यह राक्षसोंका स्वामी स्वयं तुम्हारे द्वारपर आया है, तुम इसकी रक्षा करो, इसे मनसे चाहो । यह कामदेवके बाणोंसे पीड़ित है । इसे ठुकराना तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ १७ ॥

प्रत्याख्याय हि मां भीरु पश्चात्तापं गमिष्यसि।
चरणेनाभिहत्येव पुरूरवसमुर्वशी ॥ १८ ॥

'भीरु ! मुझे ठुकराकर तुम उसी तरह पश्चात्ताप करोगी, जैसे पुरूरवाको लात मारकर उर्वशी पछतायी थी ॥ १८ ॥

अङ्गुल्या न समो रामो मम युद्धे स मानुषः।
तव भाग्येन सम्प्राप्तं भजस्व वरवर्णिनि ॥ १९ ॥

'सुन्दरी ! युद्धमें मनुष्यजातीय राम मेरी एक अङ्गुलिके बराबर भी नहीं है। तुम्हारे भाग्यसे मैं आ गया हूँ। तुम मुझे स्वीकार करो' ॥ १९ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही क्रुद्धा संरक्तलोचना।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपम् ॥ २० ॥

रावणके ऐसा कहनेपर विदेहकुमारी सीताके नेत्र

क्रोधसे लाल हो गये। उन्होंने उस एकान्त स्थानमें राक्षसराज रावणसे कठोर वाणीमें कहा—॥ २० ॥

कथं वैश्रवणं देवं सर्वदेवनमस्कृतम्।
भ्रातरं व्यपदिश्य त्वमशुभं कर्तुमिच्छसि ॥ २१ ॥

'अरे! भगवान् कुबेर तो सम्पूर्ण देवताओंके वन्दनीय हैं। तू उन्हें अपना भाई बताकर ऐसा पापकर्म कैसे करना चाहता है?॥ २१ ॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ २२ ॥

'रावण! जिनका तुझ-जैसा क्रूर, दुर्बुद्धि और अजितेन्द्रिय राजा है, वे सब राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जायँगे ॥ २२ ॥

अपहृत्य शचीं भार्यां शक्यमिन्द्रस्य जीवितुम्।
नहि रामस्य भार्यां मामानीय स्वस्तिमान् भवेत् ॥ २३ ॥

'इन्द्रकी पत्नी शचीका अपहरण करके सम्भव है कोई जीवित रह जाय; किंतु रामपत्नी मुझ सीताका हरण करके कोई कुशलसे नहीं रह सकता ॥ २३ ॥

जीवेच्चिरं वज्रधरस्य पश्चा-
च्छचीं प्रधृष्याप्रतिरूपरूपाम्।
न मादृशीं राक्षस धर्षयित्वा
पीतामृतस्यापि तवास्ति मोक्षः ॥ २४ ॥

'राक्षस! वज्रधारी इन्द्रकी अनुपम रूपवती भार्या शचीका तिरस्कार करके सम्भव है कोई उसके बाद भी चिरकालतक जीवित रह जाय; परंतु मेरी-जैसी स्त्रीका अपमान करके तू अमृत पी ले तो भी तुझे जीते-जी छुटकारा नहीं मिल सकता' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

रावणद्वारा सीताका अपहरण, सीताका विलाप और उनके द्वारा जटायुका दर्शन

सीताया वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान्।
हस्ते हस्तं समाहत्य चकार सुमहद् वपुः ॥ १ ॥

सीताके इस वचनको सुनकर प्रतापी दशमुख रावणने अपने हाथपर हाथ मारकर शरीरको बहुत बड़ा बना लिया ॥ १ ॥

स मैथिलीं पुनर्वाक्यं बभाषे वाक्यकोविदः।
नोन्मत्तया श्रुतौ मन्ये मम वीर्यपराक्रमौ ॥ २ ॥

वह बातचीत करनेकी कला जानता था। उसने मिथिलेशकुमारी सीतासे फिर इस प्रकार कहना आरम्भ किया—'मेरी समझमें तुम पागल हो गयी हो, इसीलिये तुमने मेरे बल और पराक्रमकी बातें अनसुनी कर दी हैं ॥ २ ॥

उद्वहेयं भुजाभ्यां तु मेदिनीमम्बरे स्थितः।
आपिबेयं समुद्रं च मृत्युं हन्यां रणे स्थितः ॥ ३ ॥

'अरी! मैं आकाशमें खड़ा हो इन दोनों भुजाओंसे ही सारी पृथ्वीको उठा ले जा सकता हूँ। समुद्रको पी जा सकता हूँ और युद्धमें स्थित हो मौतको भी मार सकता हूँ ॥ ३ ॥

अर्कं तुद्यां शरैस्तीक्ष्णैर्विभिन्द्यां हि महीतलम्।
कामरूपेण उन्मत्ते पश्य मां कामरूपिणम् ॥ ४ ॥

'काम तथा रूपसे उन्मत्त रहनेवाली नारी! यदि चाहूँ तो अपने तीखे बाणोंसे सूर्यको भी व्यथित कर दूँ और इस भूतलको भी विदीर्ण कर डालूँ। मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हूँ। तुम मेरी ओर देखो' ॥ ४ ॥

एवमुक्तवतस्तस्य रावणस्य शिखिप्रभे।
क्रुद्धस्य हरिपर्यन्ते रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ ५ ॥

ऐसा कहते-कहते क्रोधसे भरे हुए रावणकी आँखें, जिनके प्रान्तभाग काले थे, जलती आगके समान लाल हो गयीं ॥ ५ ॥

सद्यः सौम्यं परित्यज्य तीक्ष्णरूपं स रावणः।
स्वं रूपं कालरूपाभं भेजे वैश्रवणानुजः ॥ ६ ॥

कुबेरके छोटे भाई रावणने तत्काल अपने सौम्य रूपको त्यागकर तीखा एवं कालके समान विकराल अपना स्वाभाविक रूप धारण कर लिया ॥ ६ ॥

संरक्तनयनः श्रीमांस्तप्तकाञ्चनभूषणः।
क्रोधेन महताविष्टो नीलजीमूतसंनिभः ॥ ७ ॥

उस समय श्रीमान् रावणके सभी नेत्र लाल हो रहे थे। वह पक्के सोनेके आभूषणोंसे अलंकृत था और महान् क्रोधसे आविष्ट हो नीलमेघके समान काला दिखायी देने लगा ॥ ७ ॥

दशास्यो विंशतिभुजो बभूव क्षणदाचरः।
स परिव्राजकच्छद्म महाकायो विहाय तत् ॥ ८ ॥

वह विशालकाय निशाचर परिव्राजकके उस छद्मवेशको त्यागकर दस मुखों और बीस भुजाओंसे संयुक्त हो गया ॥ ८ ॥

प्रतिपेदे स्वकं रूपं रावणो राक्षसाधिपः ।
रक्ताम्बरधरस्तस्थौ स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य मैथिलीम् ॥ ९ ॥

उस समय राक्षसराज रावणने अपने सहज रूपको ग्रहण कर लिया और लाल रंगके वस्त्र पहनकर वह स्त्री-रत्न सीताकी ओर देखता हुआ खड़ा हो गया ॥ ९ ॥

स तामसितकेशान्तां भास्करस्य प्रभामिव ।
वसनाभरणोपेतां मैथिलीं रावणोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

काले केशवाली मैथिली वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सूर्यकी प्रभा-सी जान पड़ती थीं । रावणने उनसे कहा—॥

त्रिषु लोकेषु विख्यातं यदि भर्तारमिच्छसि ।
मामाश्रय वरारोहे तवाहं सदृशः पतिः ॥ ११ ॥

'वरारोहे ! यदि तुम तीनों लोकोंमें विख्यात पुरुषको अपना पति बनाना चाहती हो तो मेरा आश्रय लो । मैं ही तुम्हारे योग्य पति हूँ ॥ ११ ॥

मां भजस्व चिराय त्वमहं श्लाघ्यः पतिस्तव ।
नैव चाहं क्वचिद् भद्रे करिष्ये तव विप्रियम् ॥ १२ ॥

'भद्रे ! मुझे सुदीर्घकालके लिये स्वीकार करो । मैं तुम्हारे लिये स्पृहणीय एवं प्रशंसनीय पति होऊँगा तथा कभी तुम्हारे मनके प्रतिकूल कोई बर्ताव नहीं करूँगा ॥ १२ ॥

त्यज्यतां मानुषो भावो मयि भावः प्रणीयताम् ।
राज्याच्च्युतमसिद्धार्थं रामं परिमितायुषम् ॥ १३ ॥
कैर्गुणैरनुरक्तासि मूढे पण्डितमानिनि ।

'मनुष्य रामके विषयमें जो तुम्हारा अनुराग है, उसे त्याग दो और मुझसे स्नेह करो । अपनेको पण्डित (बुद्धिमती) माननेवाली मूढ़ नारी ! जो राज्यसे भ्रष्ट है, जिसका मनोरथ सफल नहीं हुआ तथा जिसकी आयु सीमित है, उस राममें किन गुणोंके कारण तुम अनुरक्त हो ? ॥ १३½ ॥

यः स्त्रियो वचनाद् राज्यं विहाय ससुहृज्जनम् ॥ १४ ॥
अस्मिन् व्यालानुचरिते वने वसति दुर्मतिः ।

'जो एक स्त्रीके कहनेसे सुहृदोंसहित सारे राज्यका त्याग करके इस हिंसक जन्तुओंसे सेवित वनमें निवास करता है, उसकी बुद्धि कैसी खोटी है ? (वह सर्वथा मूढ़ है)' ॥ १४½ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं वाक्यं प्रियार्हां प्रियवादिनीम् ॥
अभिगम्य सुदुष्टात्मा राक्षसः काममोहितः ।
जग्राह रावणः सीतां बुधः खे रोहिणीमिव ॥ १६ ॥

जो प्रिय वचन सुननेके योग्य और सबसे प्रिय वचन बोलनेवाली थीं, उस मिथिलेशकुमारी सीतासे ऐसा अप्रिय वचन कहकर कामसे मोहित हुए उस अत्यन्त दुष्टात्मा राक्षस रावणने निकट जाकर (माताके समान आदरणीया) सीताको पकड़ लिया, मानो बुधने आकाशमें अपनी माता रोहिणीको पकड़नेका दुस्साहस किया हो* ॥ १५-१६ ॥

वामेन सीतां पद्माक्षीं मूर्धजेषु करेण सः ।
ऊर्वोस्तु दक्षिणेनैव परिजग्राह पाणिना ॥ १७ ॥

उसने बायें हाथसे कमलनयनी सीताके केशोंसहित मस्तकको पकड़ा तथा दाहिना हाथ उनकी दोनों जाँघोंके नीचे लगाकर उसके द्वारा उन्हें उठा लिया ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा गिरिशृङ्गाभं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाभुजम् ।
प्राद्रवन् मृत्युसंकाशं भयार्ता वनदेवताः ॥ १८ ॥

उस समय तीखी दाढ़ों और विशाल भुजाओंसे युक्त पर्वतशिखरके समान प्रतीत होनेवाले उस कालके समान विकराल राक्षसको देखकर वनके समस्त देवता भयभीत होकर भाग गये ॥ १८ ॥

स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः ।
प्रत्यदृश्यत हेमाङ्गो रावणस्य महारथः ॥ १९ ॥

इतनेहीमें गधोंसे जुता हुआ और गधोंके समान ही शब्द करनेवाला रावणका वह विशाल सुवर्णमय मायानिर्मित दिव्य रथ वहाँ दिखायी दिया ॥ १९ ॥

ततस्तां परुषैर्वाक्यैरभितर्ज्य महास्वनः ।
अंकेनादाय वैदेहीं रथमारोपयत् तदा ॥ २० ॥

रथके प्रकट होते ही जोर-जोरसे गर्जना करनेवाले रावणने कठोर वचनोंद्वारा विदेहनन्दिनी सीताको डाँटा और पूर्वोक्त रूपसे गोदमें उठाकर तत्काल रथपर बिठा दिया ॥ २० ॥

सा गृहीतातिचुक्रोश रावणेन यशस्विनी ।
रामेति सीता दुःखार्ता रामं दूरं गतं वने ॥ २१ ॥

रावणके द्वारा पकड़ी जानेपर यशस्विनी सीता दुःखसे व्याकुल हो गयीं और वनमें दूर गये हुए श्रीरामचन्द्रजीको 'हे राम !' कहकर जोर-जोरसे पुकारने लगीं ॥ २१ ॥

तामकामां स कामार्तः पन्नगेन्द्रवधूमिव ।
विचेष्टमानामादाय उत्पपाताथ रावणः ॥ २२ ॥

सीताके मनमें रावणकी कामना नहीं थी—वे उसकी

---

* यहाँ अभूतोपमालंकार है । बुध चन्द्रमाके पुत्र हैं और रोहिणी चन्द्रमाकी पत्नी । बुधने न तो कभी रोहिणीको पकड़ा है और न वे ऐसा कर ही सकते हैं । यहाँ यह दिखाया गया है कि यदि कदाचित् बुध कामवश अपनी माता रोहिणीको पकड़ लें तो वह जैसा घोर पाप होगा, वही पाप रावणने सीताको पकड़नेके कारण किया था ।

ओरसे सर्वथा विरक्त थीं और उसकी कैदसे अपनेको छुड़ानेके लिये चोट खायी हुई नागिनकी तरह उस रथपर छटपटा रही थीं। उसी अवस्थामें कामपीड़ित राक्षस उन्हें लेकर आकाशमें उड़ चला ॥ २२ ॥

ततः सा राक्षसेन्द्रेण ह्रियमाणा विहायसा ।
भृशं चुक्रोश मत्तेव भ्रान्तचित्ता यथातुरा ॥ २३ ॥

राक्षसराज जब सीताको हरकर आकाशमार्गसे ले जाने लगा, उस समय उनका चित्त भ्रमित हो उठा। वे पगली-सी हो गयीं और दुःखसे आतुर-सी होकर जोर-जोरसे विलाप करने लगीं—॥ २३ ॥

हा लक्ष्मण महाबाहो गुरुचित्तप्रसादक ।
ह्रियमाणां न जानीषे रक्षसा कामरूपिणा ॥ २४ ॥

'हा महाबाहु लक्ष्मण! तुम गुरुजनोंके मनको प्रसन्न करनेवाले हो। इस समय इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला राक्षस मुझे हरकर लिये जाता है, किंतु तुम्हें इसका पता नहीं है ॥ २४ ॥

जीवितं सुखमर्थं च धर्महेतोः परित्यजन् ।
ह्रियमाणामधर्मेण मां राघव न पश्यसि ॥ २५ ॥

'हा रघुनन्दन! आपने धर्मके लिये प्राणोंका मोह, शरीरका सुख तथा राज्य-वैभव सब कुछ छोड़ दिया है। यह राक्षस मुझे अधर्मपूर्वक हरकर लिये जा रहा है, परंतु आप नहीं देखते हैं ॥ २५ ॥

ननु नामाविनीतानां विनेतासि परंतप ।
कथमेवंविधं पापं न त्वं शाधि हि रावणम् ॥ २६ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले आर्यपुत्र! आप तो कुमार्गपर चलनेवाले उद्दण्ड पुरुषोंको दण्ड देकर उन्हें राहपर लानेवाले हैं, फिर ऐसे पापी रावणको क्यों नहीं दण्ड देते हैं ॥ २६ ॥

न तु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ।
कालोऽप्यङ्गीभवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये ॥ २७ ॥

'उद्दण्ड पुरुषके उद्दण्डतापूर्ण कर्मका फल तत्काल मिलता नहीं दिखायी देता है; क्योंकि इसमें काल भी सहकारी कारण होता है, जैसे कि खेतीके पकनेके लिये तदनुकूल समयकी अपेक्षा होती है ॥ २७ ॥

त्वं कर्म कृतवानेतत् कालोपहतचेतन ।
जीवितान्तकरं घोरं रामाद् व्यसनमाप्नुहि ॥ २८ ॥

'रावण! तेरे सिरपर काल नाच रहा है। उसीने तेरी विचारशक्ति नष्ट कर दी है, इसीलिये तूने ऐसा पापकर्म किया है। तुझे श्रीरामसे वह भयंकर संकट प्राप्त हो, जो तेरे प्राणोंका अन्त कर डाले ॥ २८ ॥

हन्तेदानीं सकामा तु कैकेयी बान्धवैः सह ।
ह्रियेयं धर्मकामस्य धर्मपत्नी यशस्विनः ॥ २९ ॥

'हाय! इस समय कैकेयी अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सफलमनोरथ हो गयी; क्योंकि धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले यशस्वी श्रीरामकी धर्मपत्नी होकर भी मैं एक राक्षसद्वारा हरी जा रही हूँ ॥ २९ ॥

आमन्त्रये जनस्थाने कर्णिकारांश्च पुष्पितान् ।
क्षिप्रं रामाय शंसध्वं सीतां हरति रावणः ॥ ३० ॥

'मैं जनस्थानमें खिले हुए कनेर वृक्षोंसे प्रार्थना करती हूँ, तुमलोग शीघ्र ही श्रीरामसे कहना कि सीताको रावण हर ले जा रहा है ॥ ३० ॥

हंससारससंघुष्टां वन्दे गोदावरीं नदीम् ।
क्षिप्रं रामाय शंस त्वं सीतां हरति रावणः ॥ ३१ ॥

'हंसों और सारसोंके कलरवोंसे मुखरित हुई गोदावरी नदीको मैं प्रणाम करती हूँ। माँ! तुम श्रीरामसे शीघ्र ही कह देना, सीताको रावण हर ले जा रहा है ॥ ३१ ॥

दैवतानि च यान्यस्मिन् वने विविधपादपे ।
नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम् ॥ ३२ ॥

'इस वनके विभिन्न वृक्षोंपर निवास करनेवाले जो-जो देवता हैं, उन सबको मैं नमस्कार करती हूँ। आप सब लोग शीघ्र ही मेरे स्वामीको सूचना दे दें कि आपकी स्त्रीको राक्षस हर ले गया ॥ ३२ ॥

यानि कानिचिदप्यत्र सत्त्वानि विविधानि च ।
सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानि वै ॥ ३३ ॥
ह्रियमाणां प्रियां भर्तुः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ।
विवशा ते हृता सीता रावणेनेति शंसत ॥ ३४ ॥

'यहाँ पशु-पक्षी आदि जो कोई भी नाना प्रकारके प्राणी रहते हों, उन सबकी मैं शरण लेती हूँ। वे मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्रजीसे कहें कि जो आपको प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय थी, वह सीता हरी गयी। आपकी सीताको असहाय अवस्थामें रावण हर ले गया ॥ ३३-३४ ॥

विदित्वा तु महाबाहुरमुत्रापि महाबलः ।
आनेष्यति पराक्रम्य वैवस्वतहृतामपि ॥ ३५ ॥

'महाबाहु श्रीराम बड़े बलवान् हैं। वे मुझे परलोकमें भी गयी हुई जान लें तो यमराजके द्वारा अपहृत होनेपर भी मुझको पराक्रमपूर्वक वहाँसे लौटा लादेंगे' ॥ ३५ ॥

सा तदा करुणा वाचो विलपन्ती सुदुःखिता ।
वनस्पतिगतं गृध्रं ददर्शायतलोचना ॥ ३६ ॥

उस समय अत्यन्त दुःखी हो करुणाजनक बातें कहकर विलाप करती हुई विशाललोचना सीताने एक वृक्षपर बैठे हुए गृध्रराज जटायुको देखा ॥ ३६ ॥

सा तमुद्वीक्ष्य सुश्रोणी रावणस्य वशं गता ।

समाक्रन्दद् भयपरा दुःखोपहतया गिरा ॥ ३७ ॥

रावणके वशमें पड़ जानेके कारण सुन्दरी सीता अत्यन्त भयभीत हो रही थीं। जटायुको देखकर वे दुःखभरी वाणीमें करुणक्रन्दन करने लगीं—॥ ३७ ॥

जटायो पश्य मामार्य ह्रियमाणामनाथवत्।
अनेन राक्षसेन्द्रेणाकरुणं पापकर्मणा ॥ ३८ ॥

'आर्य जटायो! देखिये, यह पापाचारी राक्षसराज अनाथकी भाँति मुझे निर्दयतापूर्वक हरकर लिये जा रहा है ॥ ३८ ॥

नैष वारयितुं शक्यस्त्वया क्रूरो निशाचरः।
सत्ववाञ्जितकाशी च सायुधश्चैव दुर्मतिः ॥ ३९ ॥

'परंतु आप इस क्रूर निशाचरको रोक नहीं सकते; क्योंकि यह बलवान् है, अनेक युद्धोंमें विजय पानेके कारण इसका दुस्साहस बढ़ा हुआ है। इसके हाथोंमें हथियार है और इसके मनमें दुष्टता भी भरी हुई है ॥ ३९ ॥

रामाय तु यथातत्त्वं जटायो हरणं मम।
लक्ष्मणाय च तत् सर्वमाख्यातव्यमशेषतः ॥ ४० ॥

'आर्य जटायो! जिस प्रकार मेरा अपहरण हुआ है, यह सब समाचार आप श्रीराम और लक्ष्मणसे ज्यों-का-त्यों पूर्णरूपसे बता दीजियेगा' ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥



पञ्चाशः सर्गः

जटायुका रावणको सीताहरणके दुष्कर्मसे निवृत्त होनेके लिये समझाना और अन्तमें युद्धके लिये ललकारना

तं शब्दमवसुप्तस्तु जटायुरथ शुश्रुवे।
निरैक्षद् रावणं क्षिप्रं वैदेहीं च ददर्श सः ॥ १ ॥

जटायु उस समय सो रहे थे। उसी अवस्थामें उन्होंने सीताकी वह करुण पुकार सुनी। सुनते ही तुरंत आँख खोलकर उन्होंने विदेहनन्दिनी सीता तथा रावणको देखा ॥ १ ॥

ततः पर्वतशृङ्गाभस्तीक्ष्णतुण्डः खगोत्तमः।
वनस्पतिगतः श्रीमान् व्याजहार शुभां गिरम् ॥ २ ॥

पक्षियोंमें श्रेष्ठ श्रीमान् जटायुका शरीर पर्वत-शिखरके समान ऊँचा था और उनकी चोंच बड़ी ही तीखी थी। वे पेड़पर बैठे-ही-बैठे रावणको लक्ष्य करके यह शुभ वचन बोले—॥ २ ॥

दशग्रीव स्थितो धर्मे पुराणे सत्यसंश्रयः।
भ्रातस्त्वं निन्दितं कर्म कर्तुं नार्हसि साम्प्रतम् ॥ ३ ॥
जटायुर्नाम नाम्नाहं गृध्रराजो महाबलः।

'दशमुख रावण! मैं प्राचीन (सनातन) धर्ममें स्थित, सत्यप्रतिज्ञ और महाबलवान् गृध्रराज हूँ। मेरा नाम जटायु है। भैया! इस समय मेरे सामने तुम्हें ऐसा निन्दित कर्म नहीं करना चाहिये ॥ ३½ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः ॥ ४ ॥
लोकानां च हिते युक्तो रामो दशरथात्मजः।

'दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, इन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी तथा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहनेवाले हैं ॥ ४½ ॥

तस्यैषा लोकनाथस्य धर्मपत्नी यशस्विनी ॥ ५ ॥
सीता नाम वरारोहा यां त्वं हर्तुमिहेच्छसि।

'ये उन्हीं जगदीश्वर श्रीरामकी यशस्विनी धर्मपत्नी हैं। इन सुन्दर शरीरवाली देवीका नाम सीता है, जिन्हें तुम हरकर ले जाना चाहते हो ॥ ५½ ॥

कथं राजा स्थितो धर्मे परदारान् परामृशेत् ॥ ६ ॥
रक्षणीया विशेषेण राजदारा महाबल।
निवर्तय गतिं नीचां परदाराभिमर्शनात् ॥ ७ ॥

'अपने धर्ममें स्थित रहनेवाला कोई भी राजा भला परायी स्त्रीका स्पर्श कैसे कर सकता है? महाबली रावण! राजाओंकी स्त्रियोंकी तो सभीको विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये। परायी स्त्रीके स्पर्शसे जो नीच गति प्राप्त होनेवाली है, उसे अपने आपसे दूर हटा दो ॥ ६-७ ॥

न तत् समाचरेद् धीरो यत् परोऽस्य विगर्हयेत्।
यथाऽऽत्मनस्तथान्येषां दारा रक्ष्या विमर्शनात् ॥ ८ ॥

'धीर (बुद्धिमान्) वह कर्म न करे जिसकी दूसरे लोग निन्दा करें। जैसे पराये पुरुषोंके स्पर्शसे अपनी स्त्रीकी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरोंकी स्त्रियोंकी भी रक्षा करनी चाहिये ॥ ८ ॥

अर्थं वा यदि वा कामं शिष्टाः शास्त्रेष्वनागतम्।
व्यवस्यन्त्यनु राजानं धर्मं पौलस्त्यनन्दन ॥ ९ ॥

'पुलस्त्यकुलनन्दन! जिनकी शास्त्रोंमें चर्चा नहीं है ऐसे धर्म, अर्थ अथवा कामका भी श्रेष्ठ पुरुष केवल राजाकी देखा-देखी आचरण करने लगते हैं (अतः राजाको अनुचित या अशास्त्रीय कर्ममें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये) ॥ ९ ॥

राजा धर्मश्च कामश्च द्रव्याणां चोत्तमो निधिः ।
धर्मः शुभं वा पापं वा राजमूलं प्रवर्तते ॥ १० ॥

'राजा धर्म और कामका प्रवर्तक तथा द्रव्योंकी उत्तम निधि है, अतः धर्म, सदाचार अथवा पाप—इनकी प्रवृत्तिका मूलकारण राजा ही है ॥ १० ॥

पापस्वभावश्चपलः कथं त्वं रक्षसां वर ।
ऐश्वर्यमभिसम्प्राप्तो विमानमिव दुष्कृती ॥ ११ ॥

'राक्षसराज ! जब तुम्हारा स्वभाव ऐसा पापपूर्ण है और तुम इतने चपल हो, तब पापीको देवताओंके विमानकी भाँति तुम्हें यह ऐश्वर्य कैसे प्राप्त हो गया ? ॥ ११ ॥

कामस्वभावो यःसोऽसौ न शक्यस्तं प्रमार्जितुम् ।
नहि दुष्टात्मनामार्यमावसत्यालये चिरम् ॥ १२ ॥

'जिसके स्वभावमें कामकी प्रधानता है, उसके उस स्वभावका परिमार्जन नहीं किया जा सकता; क्योंकि दुष्टात्माओंके घरमें दीर्घकालके बाद भी पुण्यका आवास नहीं होता ॥ १२ ॥

विषये वा पुरे वा ते यदा रामो महाबलः ।
नापराध्यति धर्मात्मा कथं तस्यापराध्यसि ॥ १३ ॥

जब महाबली धर्मात्मा श्रीराम तुम्हारे राज्य अथवा नगरमें कोई अपराध नहीं करते हैं, तब तुम उनका अपराध कैसे कर रहे हो ? ॥ १३ ॥

यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ।
अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ १४ ॥
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ।
यस्य त्वं लोकनाथस्य हृत्वा भार्यां गमिष्यसि॥ १५ ॥

'यदि पहले शूर्पणखाका बदला लेनेके लिये चढ़कर आये हुए अत्याचारी खरका अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामने वध किया तो तुम्हीं ठीक-ठीक बताओ कि इसमें श्रीरामका क्या अपराध है, जिससे तुम उन जगदीश्वरकी पत्नीको हर ले जाना चाहते हो ? ॥ १४-१५ ॥

क्षिप्रं विसृज वैदेहीं मा त्वा घोरेण चक्षुषा ।
दहेद् दहनभूतेन वृत्रमिन्द्राशनिर्यथा ॥ १६ ॥

'रावण ! अब शीघ्र ही विदेहकुमारी सीताको छोड़ दो, जिससे श्रीरामचन्द्रजी अपनी अग्निके समान भयंकर दृष्टिसे तुम्हें जलाकर भस्म न कर डालें । जैसे इन्द्रका वज्र वृत्रासुरका विनाश कर डाला था, उसी प्रकार श्रीरामकी रोषपूर्ण दृष्टि दग्ध कर डालेगी ॥ १६ ॥

सर्पमाशीविषं बद्ध्वा वस्त्रान्ते नावबुध्यसे ।
ग्रीवायां प्रतिमुक्तं च कालपाशं न पश्यसि ॥ १७ ॥

'तुमने अपने कपड़ेमें विषधर सर्पको बाँध लिया है, फिर भी इस बातको समझ नहीं पाते हो । तुमने अपने गलेमें मौतकी फाँसी डाल ली है, फिर भी यह तुम्हें सूझ नहीं रहा है ॥१७॥

स भारः सौम्य भर्तव्यो यो नरं नावसादयेत् ।
तदन्नमपि भोक्तव्यं जीर्यते यदनामयम् ॥ १८ ॥

'सौम्य ! पुरुषको उतना ही बोझ उठाना चाहिये, जो उसे शिथिल न कर दे और वही अन्न भोजन करना चाहिये, जो पेटमें जाकर पच जाय, रोग न पैदा करे ॥ १८ ॥

यत् कृत्वा न भवेद् धर्मो न कीर्तिर्न यशो ध्रुवम् ।
शरीरस्य भवेत् खेदः कस्तत् कर्म समाचरेत् ॥ १९ ॥

'जो कार्य करनेसे न तो धर्म होता हो, न कीर्ति बढ़ती हो और न अक्षय यश ही प्राप्त होता हो, उल्टे शरीरको खेद हो रहा हो, उस कर्मका अनुष्ठान कौन करेगा ? ॥१९॥

षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम रावण ।
पितृपैतामहं राज्यं यथावदनुतिष्ठतः ॥ २० ॥

'रावण ! बाप-दादोंसे प्राप्त इस पक्षियोंके राज्यका विधिवत् पालन करते हुए मुझे जन्मसे लेकर अबतक साठ हजार वर्ष बीत गये ॥ २० ॥

वृद्धोऽहं त्वं युवा धन्वी सरथः कवची शरी ।
न चाप्यादाय कुशली वैदेहीं मे गमिष्यसि ॥ २१ ॥

'अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ और तुम नवयुवक हो । (मेरे पास कोई युद्धका साधन नहीं है, किंतु) तुम्हारे पास धनुष, कवच, बाण तथा रथ सब कुछ है, फिर भी तुम सीताको लेकर कुशलपूर्वक नहीं जा सकोगे ॥ २१ ॥

न शक्तस्त्वं बलाद्धर्तुं वैदेहीं मम पश्यतः ।
हेतुभिर्न्यायसंयुक्तैर्ध्रुवां वेदश्रुतीमिव ॥ २२ ॥

'मेरे देखते-देखते तुम विदेहनन्दिनी सीताका बलपूर्वक अपहरण नहीं कर सकते; ठीक उसी तरह जैसे कोई न्यायसङ्गत हेतुओंसे सत्य सिद्ध हुई वैदिक श्रुतिको अपनी युक्तियोंके बलपर पलट नहीं सकता ॥ २२ ॥

युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ।
शयिष्यसे हतो भूमौ यथा पूर्वं खरस्तथा ॥ २३ ॥

'रावण ! यदि शूरवीर हो तो युद्ध करो । मेरे सामने दो घड़ी ठहर जाओ; फिर जैसे पहले खर मारा गया था, उसी प्रकार तुम भी मेरेद्वारा मारे जाकर सदाके लिये सो जाओगे ॥ २३ ॥

असकृत्संयुगे येन निहता दैत्यदानवाः ।
न चिराच्चीरवासास्त्वां रामो युधि वधिष्यति ॥ २४ ॥

'जिन्होंने युद्धमें अनेक बार दैत्यों और दानवोंका वध किया है, वे चीरवस्त्रधारी भगवान् श्रीराम तुम्हारा भी शीघ्र ही युद्धभूमिमें विनाश करेंगे ॥ २४ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं गतौ दूरं नृपात्मजौ ।
क्षिप्रं त्वं नश्यसे नीच तयोर्भीतो न संशयः ॥ २५ ॥

'इस समय मैं क्या कर सकता हूँ, वे दोनों राजकुमार,

बहुत दूर चले गये हैं। नीच! (यदि मैं उन्हें बुलाने जाऊँ तो) तुम उन दोनोंसे भयभीत होकर शीघ्र ही भाग जाओगे (आँखोंसे ओझल हो जाओगे), इसमें संशय नहीं है ॥ २५ ॥

नहि मे जीवमानस्य नयिष्यसि शुभामिमाम्।
सीतां कमलपत्राक्षीं रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ २६ ॥

'कमलके समान नेत्रोंवाली ये शुभलक्षणा सीता श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी पटरानी हैं। इन्हें मेरे जीते-जी तुम नहीं ले जाने पाओगे ॥ २६ ॥

अवश्यं तु मया कार्यं प्रियं तस्य महात्मनः।
जीवितेनापि रामस्य तथा दशरथस्य च ॥ २७ ॥

'मुझे अपने प्राण देकर भी महात्मा श्रीराम तथा राजा दशरथका प्रिय कार्य अवश्य करना होगा ॥ २७ ॥

तिष्ठ तिष्ठ दशग्रीव मुहूर्तं पश्य रावण।
वृन्तादिव फलं त्वां तु पातयेयं रथोत्तमात्।
युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं निशाचर ॥ २८ ॥

'दशमुख रावण! ठहरो, ठहरो, केवल दो घड़ी रुक जाओ, फिर देखो, जैसे डंठलसे फल गिरता है, उसी प्रकार तुम्हें इस उत्तम रथसे नीचे गिराये देता हूँ। निशाचर! अपनी शक्तिके अनुसार युद्धमें मैं तुम्हारा पूरा आतिथ्य-सत्कार करूँगा—तुम्हें भलीभाँति भेंट-पूजा दूँगा' ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

जटायु तथा रावणका घोर युद्ध और रावणके द्वारा जटायुका वध

इत्युक्तः क्रोधताम्राक्षस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः।
राक्षसेन्द्रोऽभिदुद्राव पतगेन्द्रममर्षणः ॥ १ ॥

जटायुके ऐसा कहनेपर राक्षसराज रावण क्रोधसे आँखें लाल किये अमर्षमें भरकर उन पक्षिराजकी ओर दौड़ा। उस समय उसके कानोंमें तपाये हुए सोनेके कुण्डल झलमला रहे थे ॥ १ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलस्तयोस्तस्मिन् महामृधे।
बभूव वातोद्धुतयोर्मेघयोर्गगने यथा ॥ २ ॥

उस महासमरमें उन दोनोंका एक दूसरेपर भयंकर प्रहार होने लगा, मानो आकाशमें वायुसे उड़ाये गये दो मेघखण्ड आपसमें टकरा गये हों ॥ २ ॥

तद् बभूवाद्भुतं युद्धं गृध्रराक्षसयोस्तदा।
सपक्षयोर्माल्यवतोर्महापर्वतयोरिव ॥ ३ ॥

उस समय गृध्र और राक्षसमें वह बड़ा अद्भुत युद्ध होने लगा, मानो दो पंखधारी माल्यवान्[1] पर्वत एक दूसरेसे भिड़ गये हों ॥ ३ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः।
अभ्यवर्षन्महाघोरैर्गृध्रराजं महाबलम् ॥ ४ ॥

रावणने महाबली गृध्रराज जटायुपर नालीक, नाराच तथा तीखे अग्रभागवाले विकर्णी नामक महाभयंकर अस्त्रोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ४ ॥

स तानि शरजालानि गृध्रः पत्ररथेश्वरः।
जटायुः प्रतिजग्राह रावणास्त्राणि संयुगे ॥ ५ ॥

पक्षिराज गृध्रजातीय जटायुने युद्धमें रावणके उन बाणसमूहों तथा अन्य अस्त्रोंका आघात सह लिया ॥ ५ ॥

तस्य तीक्ष्णनखाभ्यां तु चरणाभ्यां महाबलः।
चकार बहुधा गात्रे व्रणान् पतगसत्तमः ॥ ६ ॥

साथ ही उन महाबली पक्षिशिरोमणिने अपने तीखे नखोंवाले पंजोंसे मार-मारकर रावणके शरीरमें बहुत-से घाव कर दिये ॥ ६ ॥

अथ क्रोधाद् दशग्रीवो जग्राह दश मार्गणान्।
मृत्युदण्डनिभान् घोराञ्शत्रोर्निधनकाङ्क्षया ॥ ७ ॥

तब दशग्रीवने क्रोधमें भरकर अपने शत्रुको मार डालनेकी इच्छासे दस बाण हाथमें लिये, जो कालदण्डके समान भयंकर थे ॥ ७ ॥

स तैर्बाणैर्महावीर्यः पूर्णमुक्तैरजिह्मगैः।
बिभेद निशितैस्तीक्ष्णैर्गृध्रं घोरैः शिलीमुखैः ॥ ८ ॥

महापराक्रमी रावणने धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये उन सीधे जानेवाले तीखे, पैने और भयंकर बाणोंद्वारा, जिनके मुखपर शल्य (काँटे) लगे हुए थे, गृध्रराजको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ८ ॥

स राक्षसरथे पश्यञ्जानकीं बाष्पलोचनाम्।
अचिन्तयित्वा बाणांस्तान् राक्षसं समभिद्रवत् ॥ ९ ॥

---

१. माल्यवान् पर्वत दो माने गये हैं, एक तो दण्डकारण्यमें किष्किन्धाके समीप है और दूसरा मेरुपर्वतके निकट बताया गया है। ये दोनों पर्वत परस्पर इतने दूर हैं कि इनमें संघर्षकी कोई सम्भावना नहीं हो सकती। इसलिये 'सपक्ष' (पंखधारी) विशेषण दिया गया है। पाँखवाले पर्वत कदाचित् उड़कर एक दूसरेके समीप पहुँच सकते हैं।

जटायुने देखा, जनकनन्दिनी सीता राक्षसके रथपर बैठी हैं और नेत्रोंसे आँसू बहा रही हैं। उन्हें देखकर गृध्रराज अपने शरीरमें लगते हुए उन बाणोंकी परवा न करके सहसा उस राक्षसपर टूट पड़े ॥ ९ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुक्तामणिविभूषितम्।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्ज पतगोत्तमः ॥ १० ॥

महातेजस्वी पक्षिराज जटायुने मोती-मणियोंसे विभूषित, बाणसहित रावणके धनुषको अपने दोनों पैरोंसे मारकर तोड़ दिया ॥ १० ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय रावणः क्रोधमूर्छितः।
ववर्ष शरवर्षाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ११ ॥

फिर तो रावण क्रोधसे भर गया और दूसरा धनुष हाथमें लेकर उसने सैकड़ों-हजारों बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ ११ ॥

शरैरावारितस्तस्य संयुगे पतगेश्वरः।
कुलायमभिसम्प्राप्तः पक्षिवच्च बभौ तदा ॥ १२ ॥

उस समय उस युद्धस्थलमें गृध्रराजके चारों ओर बाणोंका जाल-सा तन गया। वे उस समय घोंसलेमें बैठे हुए पक्षीके समान प्रतीत होने लगे ॥ १२ ॥

स तानि शरजालानि पक्षाभ्यां तु विधूय ह।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्जास्य महद् धनुः ॥ १३ ॥

तब महातेजस्वी जटायुने अपने दोनों पंखोंसे ही उन बाणोंको उड़ा दिया और पंजोंकी मारसे पुनः उसके धनुषके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ १३ ॥

तच्चाग्निसदृशं दीप्तं रावणस्य शरावरम्।
पक्षाभ्यां च महातेजा व्यधुनोत् पतगेश्वरः ॥ १४ ॥

रावणका कवच अग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था। महातेजस्वी पक्षिराजने उसे भी पंखोंसे ही मारकर छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ १४ ॥

काञ्चनोरश्छदान् दिव्यान् पिशाचवदनान् खरान्।
तांश्चास्य जवसम्पन्नाञ्जघान समरे बली ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् उन बलवान् वीरने समराङ्गणमें पिशाचके-से मुखवाले उन वेगशाली गधोंको भी, जिनकी छातीपर सोनेके कवच बँधे हुए थे, मार डाला ॥ १५ ॥

अथ त्रिवेणुसम्पन्नं कामगं पावकार्चिषम्।
मणिसोपानचित्राङ्गं बभञ्ज च महारथम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर अग्निकी भाँति दीप्तिमान्, मणिमय सोपानसे विचित्र अङ्गोंवाले तथा इच्छानुसार चलनेवाले उसके त्रिवेणु[1]सम्पन्न विशाल रथको भी तोड़-फोड़ डाला ॥

पूर्णचन्द्रप्रतीकाशं छत्रं च व्यजनैः सह।
पातयामास वेगेन ग्राहिभी राक्षसैः सह ॥ १७ ॥
सारथेश्चास्य वेगेन तुण्डेन च महच्छिरः।
पुनर्व्यपहनच्छ्रीमान् पक्षिराजो महाबलः ॥ १८ ॥

इसके बाद पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित छत्र और चवँरको भी उन्हें धारण करनेवाले राक्षसोंके साथ ही वेगपूर्वक मार गिराया। फिर उन महाबली तेजस्वी पक्षिराजने बड़े वेगसे चोंच मारकर रावणके सारथिका विशाल मस्तक भी धड़से अलग कर दिया ॥ १७-१८ ॥

स भग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
अङ्केनादाय वैदेहीं पपात भुवि रावणः ॥ १९ ॥

इस प्रकार जब धनुष टूटा, रथ चौपट हुआ, घोड़े मारे गये और सारथि भी कालके गालमें चला गया, तब रावण सीताको गोदमें लिये-लिये पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १९ ॥

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ रावणं भग्नवाहनम्।
साधु साध्विति भूतानि गृध्रराजमपूजयन् ॥ २० ॥

रथ टूट जानेसे रावणको धरतीपर पड़ा देख सब प्राणी 'साधु-साधु' कहकर गृध्रराजकी प्रशंसा करने लगे ॥ २० ॥

परिश्रान्तं तु तं दृष्ट्वा जरया पक्षियूथपम्।
उत्पपात पुनर्हृष्टो मैथिलीं गृह्य रावणः ॥ २१ ॥

वृद्धावस्थाके कारण पक्षिराजको थका हुआ देख रावणको बड़ा हर्ष हुआ और वह मैथिलीको लिये हुए फिर आकाशमें उड़ चला ॥ २१ ॥

तं प्रहृष्टं निधायाङ्के रावणं जनकात्मजाम्।
गच्छन्तं खड्गशेषं च प्रणष्टहतसाधनम् ॥ २२ ॥
गृध्रराजः समुत्पत्य रावणं समभिद्रवत्।
समावार्य महातेजा जटायुरिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

जनककिशोरीको गोदमें लेकर जब रावण प्रसन्नतापूर्वक जाने लगा, उस समय उसके अन्य सब साधन तो नष्ट हो गये थे, किंतु एक तलवार उसके पास शेष रह गयी थी। उसे जाते देख महातेजस्वी गृध्रराज जटायु उड़कर रावणकी ओर दौड़े और उसे रोककर इस प्रकार बोले—॥ २२-२३ ॥

वज्रसंस्पर्शबाणस्य भार्यां रामस्य रावण।
अल्पबुद्धे हरस्येनां वधाय खलु रक्षसाम् ॥ २४ ॥

'मन्दबुद्धि रावण! जिनके बाणोंका स्पर्श वज्रके समान है, उन श्रीरामकी इन धर्मपत्नी सीताको तुम अवश्य राक्षसोंके वधके लिये ही लिये जा रहे हो ॥ २४ ॥

समित्रबन्धुः सामात्यः सबलः सपरिच्छदः।
विषपानं पिबस्येतत् पिपासित इवोदकम् ॥ २५ ॥

'जैसे प्यासा मनुष्य जल पी रहा हो, उसी प्रकार

[1] त्रिवेणु रथका वह अङ्ग है, जो जूएको धारण करता है। इसका पर्याय है युगन्धर।

तुम मित्र, बन्धु, मन्त्री, सेना तथा परिवारसहित यह विषपान कर रहे हो ॥ २५ ॥

अनुबन्धमजानन्तः कर्मणामविचक्षणाः ।
शीघ्रमेव विनश्यन्ति यथा त्वं विनशिष्यसि ॥ २६ ॥

'अपने कर्मोंका परिणाम न जाननेवाले अज्ञानीजन जैसे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार तुम भी विनाशके गर्तमें गिरोगे ॥ २६ ॥

बद्धस्त्वं कालपाशेन क्व गतस्तस्य मोक्ष्यसे ।
वधाय बडिशं गृह्य सामिषं जलजो यथा ॥ २७ ॥

'तुम कालपाशमें बँध गये हो। कहाँ जाकर उससे छुटकारा पाओगे ? जैसे जलमें उत्पन्न होनेवाला मत्स्य मांस-युक्त बंसीको अपने वधके लिये ही निगल जाता है, उसी प्रकार तुम भी अपनी मौतके लिये ही सीताका अपहरण करते हो ॥ २७ ॥

नहि जातु दुराधर्षौ काकुत्स्थौ तव रावण ।
धर्षणं चाश्रमस्यास्य क्षमिष्येते तु राघवौ ॥ २८ ॥

'रावण ! ककुत्स्थकुलभूषण रघुकुलनन्दन श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई दुर्धर्ष वीर हैं। वे तुम्हारे द्वारा अपने आश्रमपर किये गये इस अपमानजनक अपराधको कभी क्षमा नहीं करेंगे ॥ २८ ॥

यथा त्वया कृतं कर्म भीरुणा लोकगर्हितम् ।
तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः ॥ २९ ॥

'तुम कायर और डरपोक हो। तुमने जैसा लोक-निन्दित कर्म किया है, यह चोरोंका मार्ग है। वीर पुरुष ऐसे मार्गका आश्रय नहीं लेते हैं ॥ २९ ॥

युद्ध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ।
शयिष्यसे हतो भूमौ यथा भ्राता खरस्तथा ॥ ३० ॥

'रावण ! यदि शूरवीर हो तो दो घड़ी और ठहरो और मुझसे युद्ध करो। फिर तो तुम भी उसी प्रकार मरकर पृथ्वीपर सो जाओगे, जैसे तुम्हारा भाई खर सोया था ॥ ३० ॥

परेतकाले पुरुषो यत् कर्म प्रतिपद्यते ।
विनाशायात्मनोऽधर्म्यं प्रतिपन्नोऽसि कर्म तत् ॥ ३१ ॥

'विनाशके समय पुरुष जैसा कर्म करता है, तुमने भी अपने विनाशके लिये वैसे ही अधर्मपूर्ण कर्मको अपनाया है ॥ ३१ ॥

पापानुबन्धो वै यस्य कर्मणः को नु तत् पुमान् ।
कुर्वीत लोकाधिपतिः स्वयंभूर्भगवानपि ॥ ३२ ॥

'जिस कर्मको करनेसे कर्ताका पापके फलसे सम्बन्ध होता है, उस कर्मको कौन पुरुष निश्चितरूपसे कर सकता है। लोकपाल इन्द्र तथा भगवान् स्वयम्भू (ब्रह्मा) भी वैसा कर्म नहीं कर सकते' ॥ ३२ ॥

एवमुक्त्वा शुभं वाक्यं जटायुस्तस्य रक्षसः ।
निपपात भृशं पृष्ठे दशग्रीवस्य वीर्यवान् ॥ ३३ ॥
तं गृहीत्वा नखैस्तीक्ष्णैर्विददार समन्ततः ।
अधिरूढो गजारोहो यथा स्याद् दुष्टवारणम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार उत्तम वचन कहकर पराक्रमी जटायु उस राक्षस दशग्रीवकी पीठपर बड़े वेगसे जा बैठे और उसे पकड़कर अपने तीखे नखोंद्वारा चारों ओरसे चीरने लगे। मानो कोई हाथीवान किसी दुष्ट हाथीके ऊपर सवार होकर उसे अङ्कुशसे छेद रहा हो ॥ ३३-३४ ॥

विददार नखैरस्य तुण्डं पृष्ठे समर्पयन् ।
केशांश्चोत्पाटयामास नखपक्षमुखायुधः ॥ ३५ ॥

नख, पाँख और चोंच—ये ही जटायुके हथियार थे। वे नखोंसे खरोंचते थे, पीठपर चोंच मारते थे और बाल पकड़कर उखाड़ लेते थे ॥ ३५ ॥

स तथा गृध्रराजेन क्लिश्यमानो मुहुर्मुहुः ।
अमर्षस्फुरितोष्ठः सन् प्राकम्पत च राक्षसः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार जब गृध्रराजने बारंबार क्लेश पहुँचाया, तब राक्षस रावण काँप उठा। क्रोधके मारे उसके ओठ फड़कने लगे ॥ ३६ ॥

सम्परिष्वज्य वैदेहीं वामेनाङ्केन रावणः ।
तलेनाभिजघानार्तो जटायुं क्रोधमूर्च्छितः ॥ ३७ ॥

उस समय क्रोधसे भरे रावणने विदेहनन्दिनी सीताको बायीं गोदमें करके अत्यन्त पीड़ित हो जटायुपर तमाचेका प्रहार किया ॥ ३७ ॥

जटायुस्तमतिक्रम्य तुण्डेनास्य खगाधिपः ।
वामबाहून् दश तदा व्यपाहरदरिंदमः ॥ ३८ ॥

परंतु उस वारको बचाकर शत्रुदमन गृध्रराज जटायुने अपनी चोंचसे मार-मारकर रावणकी दसों बायीं भुजाओंको उखाड़ लिया ॥ ३८ ॥

संछिन्नबाहोः सद्यो वै बाहवः सहसाभवन् ।
विषज्वालावलीयुक्ता वल्मीकादिव पन्नगाः ॥ ३९ ॥

उन बाँहोंके कट जानेपर बाँबीसे प्रकट होनेवाले विषकी ज्वाला-मालाओंसे युक्त सर्पोंकी भाँति तुरंत दूसरी नयी भुजाएँ सहसा उत्पन्न हो गयीं ॥ ३९ ॥

ततः क्रोधाद् दशग्रीवः सीतामुत्सृज्य वीर्यवान् ।
मुष्टिभ्यां चरणाभ्यां च गृध्रराजमपोथयत् ॥ ४० ॥

तब पराक्रमी दशाननने सीताको तो छोड़ दिया और गृध्रराजको क्रोधपूर्वक मुक्कों और लातोंसे मारना आरम्भ किया ॥ ४० ॥

ततो मुहूर्तं संग्रामो बभूवातुलवीर्ययोः ।
राक्षसानां च मुख्यस्य पक्षिणां प्रवरस्य च ॥ ४१ ॥

उस समय उन दोनों अनुपम पराक्रमी वीर राक्षसराज रावण और पक्षिराज जटायुमें दो घड़ीतक घोर संग्राम होता रहा ॥ ४१ ॥

तस्य व्यायच्छमानस्य रामस्यार्थे स रावणः।
पक्षौ पादौ च पार्श्वौ च खड्गमुद्धृत्य सोऽच्छिनत्॥

तदनन्तर रावणने तलवार निकाली और श्रीरामचन्द्रजीके लिये पराक्रम करनेवाले जटायुके दोनों पंख, पैर तथा पार्श्वभाग काट डाले ॥ ४२ ॥

स च्छिन्नपक्षः सहसा रक्षसा रौद्रकर्मणा।
निपपात महागृध्रो धरण्यामल्पजीवितः॥ ४३॥

भयंकर कर्म करनेवाले उस राक्षसके द्वारा सहसा पंख काट लिये जानेपर महागृध्र जटायु पृथ्वीपर गिर पड़े। अब वे थोड़ी ही देरके मेहमान थे ॥ ४३ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम्।
अभ्यधावत वैदेही स्वबन्धुमिव दुःखिता॥ ४४॥

अपने बान्धवके समान जटायुको खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़ा देख सीता दुःखसे व्याकुल हो उनकी ओर दौड़ीं ॥ ४४ ॥

तं नीलजीमूतनिकाशकल्पं
सपाण्डुरोरस्कमुदारवीर्यम्।
ददर्श लङ्काधिपतिः पृथिव्यां
जटायुषं शान्तमिवाग्निदावम्॥ ४५॥

जटायुके शरीरकी कान्ति नीले मेघके समान काली थी। उनकी छातीका रंग श्वेत था। वे बड़े पराक्रमी थे, तो भी उस समय बुझे हुए दावानलके समान पृथ्वीपर पड़ गये। लङ्कापति रावणने उन्हें इस अवस्थामें देखा ॥ ४५ ॥

ततस्तु तं पत्ररथं महीतले
निपातितं रावणवेगमर्दितम्।
पुनश्च संगृह्य शशिप्रभानना
रुरोद सीता जनकात्मजा तदा॥ ४६॥

तदनन्तर रावणके वेगसे रौंदे जाकर धराशायी हुए जटायुको पकड़कर चन्द्रमुखी जनकनन्दिनी सीता पुनः उस समय वहाँ रोने लगीं ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

रावणद्वारा सीताका अपहरण

सा तु ताराधिपमुखी रावणेन निरीक्ष्य तम्।
गृध्रराजं विनिहतं विललाप सुदुःखिता॥ १॥

रावणके द्वारा मारे गये गृध्रराजकी ओर देखकर चन्द्रमुखी सीता अत्यन्त दुखी होकर विलाप करने लगीं—॥

निमित्तं लक्षणं स्वप्नं शकुनिस्वरदर्शनम्।
अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां परिदृश्यते॥ २॥

'मनुष्योंको सुख-दुःखकी प्राप्तिके सूचक लक्षण, स्वप्न, पक्षियोंके स्वर तथा उनके दायें-बायें दर्शन आदि शुभाशुभ निमित्त अवश्य दिखायी देते हैं ॥ २ ॥

न नूनं राम जानासि महद्व्यसनमात्मनः।
धावन्ति नूनं काकुत्स्थ मदर्थं मृगपक्षिणः॥ ३॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! मेरे अपहरणकी सूचना देनेके लिये निश्चय ही ये मृग और पक्षी अशुभसूचक मार्गसे दौड़ रहे हैं, परंतु उनके द्वारा सूचित होनेपर भी अपने इस महान् संकटको अवश्य ही आप नहीं जानते हैं (क्योंकि जाननेपर आप इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे) ॥ ३ ॥

अयं हि कृपया राम मां त्रातुमिह संगतः।
शेते विनिहतो भूमौ ममाभाग्याद् विहंगमः॥ ४॥

'हा राम! मेरा कैसा अभाग्य है कि जो कृपा करके मुझे बचानेके लिये यहाँ आये थे, वे पक्षिप्रवर जटायु इस निशाचरद्वारा मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हैं ॥ ४ ॥

त्राहि मामद्य काकुत्स्थ लक्ष्मणेति वराङ्गना।
सुसंत्रस्ता समाक्रन्दच्छृण्वतां तु यथान्तिके॥ ५॥

'हे राम! हे लक्ष्मण! अब आप ही दोनों मेरी रक्षा करें।' यों कहकर अत्यन्त डरी हुई सुन्दरी सीता इस प्रकार क्रन्दन करने लगीं, जिससे निकटवर्ती देवता और मनुष्य सुन सकें ॥ ५ ॥

तां क्लिष्टमाल्याभरणां विलपन्तीमनाथवत्।
अभ्यधावत वैदेहीं रावणो राक्षसाधिपः॥ ६॥

उनके पुष्पहार और आभूषण मसलकर छिन्न-भिन्न हो गये थे। वे अनाथकी भाँति विलाप कर रही थीं। उसी अवस्थामें राक्षसराज रावण उन विदेहकुमारीकी ओर दौड़ा ॥ ६ ॥

तां लतामिव वेष्टन्तीमालिङ्गन्तीं महाद्रुमान्।
मुञ्च मुञ्चेति बहुशः प्राप तां राक्षसाधिपः॥ ७॥

वे लिपटी हुई लताकी भाँति बड़े-बड़े वृक्षोंसे लिपट

जातीं और बारंबार कहतीं—'मुझे इस संकटसे छुड़ाओ, छुड़ाओ !' इतनेहीमें वह निशाचरराज उनके पास जा पहुँचा ॥ ७ ॥

क्रोशन्तीं राम रामेति रामेण रहितां वने।
जीवितान्ताय केशेषु जग्राहान्तकसंनिभः ॥ ८ ॥
प्रधर्षितायां वैदेह्यां बभूव सचराचरम्।
जगत् सर्वममर्यादं तमसान्धेन संवृतम् ॥ ९ ॥

वनमें श्रीरामसे रहित होकर सीताको राम-रामकी रट लगाती देख उस कालके समान विकराल राक्षसने अपने ही विनाशके लिये उनके केश पकड़ लिये। सीताका इस प्रकार तिरस्कार होनेपर समस्त चराचर जगत् मर्यादारहित तथा अन्धकारसे आच्छन्न-सा हो गया ॥ ८-९ ॥

न वाति मारुतस्तत्र निष्प्रभोऽभूद् दिवाकरः।
दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां देवो दिव्येन चक्षुषा ॥ १० ॥
कृतं कार्यमिति श्रीमान् व्याजहार पितामहः।

वहाँ वायुकी गति रुक गयी और सूर्यकी भी प्रभा फीकी पड़ गयी। श्रीमान् पितामह ब्रह्माजी दिव्य दृष्टिसे विदेहनन्दिनीका वह राक्षसके द्वारा केशाकर्षणरूप अपमान देखकर बोले—'बस, अब कार्य सिद्ध हो गया' ॥

प्रहृष्टा व्यथिताश्चासन् सर्वे ते परमर्षयः ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां दण्डकारण्यवासिनः।
रावणस्य विनाशं च प्राप्तं बुद्ध्वा यदृच्छया ॥ १२ ॥

सीताके केशोंका खींचा जाना देखकर दण्डकारण्यमें निवास करनेवाले वे सब महर्षि मन-ही-मन व्यथित हो उठे। साथ ही अकस्मात् रावणका विनाश निकट आया जान उनको बड़ा हर्ष हुआ ॥११-१२ ॥

स तु तां राम रामेति रुदतीं लक्ष्मणेति च।
जगामादाय चाकाशं रावणो राक्षसेश्वरः ॥ १३ ॥

बेचारी सीता 'हा राम! हा राम' कहकर रो रही थीं। लक्ष्मणको भी पुकार रही थीं। उसी अवस्थामें राक्षसोंका राजा रावण उन्हें लेकर आकाशमार्गसे चल दिया ॥ १३ ॥

तप्ताभरणवर्णाङ्गी पीतकौशेयवासिनी।
रराज राजपुत्री तु विद्युत्सौदामनी यथा ॥ १४ ॥

तपाये हुए सोनेके आभूषणोंसे उनका सारा अङ्ग विभूषित था। वे पीले रंगकी रेशमी साड़ी पहने हुए थीं। अतः उस समय राजकुमारी सीता सुदाम पर्वतसे प्रकट हुई विद्युत्के समान प्रकाशित हो रही थीं ॥ १४ ॥

उद्धूतेन च वस्त्रेण तस्याः पीतेन रावणः।
अधिकं परिबभ्राज गिरिर्दीप्त इवाग्निना ॥ १५ ॥

[illegible]के फहराते हुए पीले वस्त्रसे उपलक्षित रावण दावानलसे उद्भासित होनेवाले पर्वतके समान अधिक शोभा पाने लगा ॥ १५ ॥

तस्याः परमकल्याण्यास्ताम्राणि सुरभीणि च।
पद्मपत्राणि वैदेह्या अभ्यकीर्यन्त रावणम् ॥ १६ ॥

उन परम कल्याणी विदेहकुमारीके अङ्गोंमें जो कमल-पुष्प थे, उनके किंचित् अरुण और सुगन्धित दल बिखर-बिखरकर रावणपर गिरने लगे ॥ १६ ॥

तस्याः कौशेयमुद्धूतमाकाशे कनकप्रभम्।
बभौ चादित्यरागेण ताम्रमभ्रमिवातपे ॥ १७ ॥

आकाशमें उड़ता हुआ उनका सुवर्णके समान कान्तिमान् रेशमी पीताम्बर संध्याकालमें सूर्यकी किरणोंसे रँगे हुए ताम्रवर्णके मेघखण्डकी भाँति शोभा पाता था ॥ १७ ॥

तस्यास्तद् विमलं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम्।
न रराज विना रामं विनालमिव पङ्कजम् ॥ १८ ॥

आकाशमें रावणके अङ्कमें स्थित सीताका निर्मल मुख श्रीरामके बिना नालरहित कमलकी भाँति शोभित नहीं होता था ॥ १८ ॥

बभूव जलदं नीलं भित्त्वा चन्द्र इवोदितः।
सुललाटं सुकेशान्तं पद्मगर्भाभमव्रणम् ॥ १९ ॥
शुक्लैः सुविमलैर्दन्तैः प्रभावद्भिरलंकृतम्।
तस्याः सुनयनं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम् ॥ २० ॥

सुन्दर ललाट और मनोहर केशोंसे युक्त, कमलके भीतरी भागके समान कान्तिमान्, चेचक आदिके दागसे रहित, श्वेत, निर्मल और दीप्तिमान् दाँतोंसे अलंकृत तथा सुन्दर नेत्रोंसे सुशोभित सीताका मुख आकाशमें रावणके अङ्कमें ऐसा जान पड़ता था मानो मेघोंकी काली घटाका भेदन करके चन्द्रमा उदित हुआ हो ॥

रुदितं व्यपमृष्टास्रं चन्द्रवत् प्रियदर्शनम्।
सुनासं चारुताम्रोष्ठमाकाशे हाटकप्रभम् ॥ २१ ॥
राक्षसेन्द्रसमाधूतं तस्यास्तद् वदनं शुभम्।
शुशुभे न विना रामं दिवा चन्द्र इवोदितः ॥ २२ ॥

चन्द्रमाके समान प्यारा दिखायी देनेवाला सीताका वह सुन्दर मुख तुरंतका रोया हुआ था। उसके आँसू पोंछ दिये गये थे। उसकी सुघड़ नासिका तथा ताँबे-जैसे लाल-लाल मनोहर ओठ थे। आकाशमें वह अपनी सुनहरी प्रभा बिखेर रहा था तथा राक्षसराजके वेगपूर्वक चलनेसे उसमें कम्पन हो रहा था। इस प्रकार वह मनोहर मुख भी श्रीरामके बिना उस समय दिनमें उगे हुए चन्द्रमाके समान शोभाहीन प्रतीत होता था ॥ २१-२२ ॥

सा हेमवर्णा नीलाङ्गं मैथिली राक्षसाधिपम्।
शुशुभे काञ्चनी काञ्ची नीलं गजमिवाश्रिता ॥ २३ ॥

मिथिलेशकुमारी सीताका श्रीअङ्ग सुवर्णके समान दीप्तिमान् था और राक्षसराज रावणका शरीर बिल्कुल काला था। उसकी गोदमें वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो काले हाथीको सोनेकी करधनी पहना दी गयी हो ॥२३॥

सा पद्मपीता हेमाभा रावणं जनकात्मजा।
विद्युद् घनमिवाविश्य शुशुभे तप्तभूषणा ॥ २४ ॥

कमलके केसरकी भाँति पीली एवं सुनहरी कान्तिवाली जनककुमारी सीता तपे हुए सोनेके आभूषण धारण किये रावणकी पीठपर वैसी ही शोभा पा रही थीं, जैसे मेघमालाका आश्रय लेकर बिजली चमक रही हो ॥ २४ ॥

तस्या भूषणघोषेण वैदेह्या राक्षसेश्वरः।
बभूव विमलो नीलः सघोष इव तोयदः ॥ २५ ॥

विदेहनन्दिनीके आभूषणोंकी झनकारसे राक्षसराज रावण गर्जना करते हुए निर्मल नील मेघके समान प्रतीत होता था ॥ २५ ॥

उत्तमाङ्गच्युता तस्याः पुष्पवृष्टिः समन्ततः।
सीताया ह्रियमाणायाः पपात धरणीतले ॥ २६ ॥

हरकर ले जायी जाती हुई सीताके सिरसे उनके केशोंमें गुँथे हुए फूल बिखरकर सब ओर पृथ्वीपर गिर रहे थे ॥ २६ ॥

सा तु रावणवेगेन पुष्पवृष्टिः समन्ततः।
समाधूता दशग्रीवं पुनरेवाभ्यवर्तत ॥ २७ ॥

चारों ओर होनेवाली वह फूलोंकी वर्षा रावणके वेगसे उठी हुई वायुके द्वारा प्रेरित हो फिर उस दशाननपर ही आकर पड़ती थी ॥ २७ ॥

अभ्यवर्तत पुष्पाणां धारा वैश्रवणानुजम्।
नक्षत्रमाला विमला मेरुं नगमिवोन्नतम् ॥ २८ ॥

कुबेरके छोटे भाई रावणके ऊपर जब वह फूलोंकी धारा गिरती थी, उस समय ऊँचे मेरुपर्वतपर उतरनेवाली निर्मल नक्षत्रमालाकी भाँति शोभा पाती थी ॥

चरणान्नूपुरं भ्रष्टं वैदेह्या रत्नभूषितम्।
विद्युन्मण्डलसंकाशं पपात धरणीतले ॥ २९ ॥

विदेहनन्दिनीका रत्नजटित नूपुर उनके एक चरणसे खिसककर विद्युन्मण्डलके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २९ ॥

तरुप्रवालरक्ता सा नीलाङ्गं राक्षसेश्वरम्।
प्राशोभयत वैदेही गजं कक्ष्येव काञ्चनी ॥ ३० ॥

वृक्षोंके नूतन पल्लवोंके समान किंचित् अरुण वर्णवाली सीता उस काले-कलूटे राक्षसराजको उसी प्रकार सुशोभित कर रही थीं, जैसे हाथीको कसनेवाला सुनहरा रस्सा उसकी शोभा बढ़ाता हो ॥ ३० ॥

तां महोल्कामिवाकाशे दीप्यमानां स्वतेजसा।
जहाराकाशमाविश्य सीतां वैश्रवणानुजः ॥ ३१ ॥

आकाशमें अपने तेजसे बहुत बड़ी उल्काके समान प्रकाशित होनेवाली सीताको रावण आकाशमार्गका ही आश्रय ले हर ले गया ॥ ३१ ॥

तस्यास्तान्यग्निवर्णानि भूषणानि महीतले।
सघोषाण्यवशीर्यन्त क्षीणास्तारा इवाम्बरात् ॥ ३२ ॥

जानकीके शरीरपर अग्निके समान प्रकाशमान आभूषण थे। वे उस समय खन-खनकी आवाज करते हुए एक-एक करके गिरने लगे, मानो आकाशसे ताराएँ टूट-टूटकर पृथ्वीपर गिर रही हों ॥ ३२ ॥

तस्याः स्तनान्तराद् भ्रष्टो हारस्ताराधिपद्युतिः।
वैदेह्या निपतन् भाति गङ्गेव गगनच्युता ॥ ३३ ॥

उन विदेहनन्दिनी सीताके स्तनोंके बीचसे खिसककर गिरता हुआ चन्द्रमाके समान उज्ज्वल हार गगनमण्डलसे उतरती हुई गङ्गाके समान प्रतीत हुआ ॥ ३३ ॥

उत्पातवाताभिरता नानाद्विजगणायुताः।
मा भैरिति विधूताग्रा व्याजह्रुरिव पादपाः ॥ ३४ ॥

रावणके वेगसे उत्पन्न हुई उत्पातसूचक वायुके झकोरोंसे हिलते हुए वृक्षोंपर नाना प्रकारके पक्षी कोलाहल कर रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे वृक्ष अपने सिरोंको हिला-हिलाकर संकेत करते हुए सीतासे कह रहे हैं कि 'तुम डरो मत' ॥ ३४ ॥

नलिन्यो ध्वस्तकमलास्त्रस्तमीनजलेचराः।
सखीमिव गतोत्साहां शोचन्तीव स्म मैथिलीम् ॥३५॥

जिनके कमल सूख गये थे और मत्स्य आदि जलचर जीव डर गये थे, वे पुष्करिणियाँ उत्साहहीन हुई मिथिलेश-कुमारी सीताको मानो अपनी सखी मानकर उनके लिये शोक कर रही थीं ॥ ३५ ॥

समन्तादभिसम्पत्य सिंहव्याघ्रमृगद्विजाः।
अन्वधावंस्तदा रोषात् सीताच्छायानुगामिनः ॥ ३६ ॥

उस सीताहरणके समय रावणपर रोष-सा करके सिंह, व्याघ्र, मृग और पक्षी सब ओरसे सीताकी परछाईंका अनुसरण करते हुए दौड़ रहे थे ॥ ३६ ॥

जलप्रपातास्रमुखाः शृङ्गैरुच्छ्रितबाहुभिः।
सीतायां ह्रियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः ॥ ३७ ॥

जब सीता हरी जाने लगीं, उस समय वहाँके पर्वत झरनोंके रूपमें आँसू बहाते हुए, ऊँचे शिखरोंके रूपमें अपनी भुजाएँ ऊपर उठाकर मानो जोर-जोरसे चीत्कार कर रहे थे ॥ ३७ ॥

ह्रियमाणां तु वैदेहीं दृष्ट्वा दीनो दिवाकरः।
प्रविध्वस्तप्रभः श्रीमानासीत् पाण्डुरमण्डलः ॥ ३८ ॥

सीताका हरण होता देख श्रीमान् सूर्यदेव दुखी हो गये। उनकी प्रभा नष्ट-सी हो गयी तथा उनका मण्डल पीला पड़ गया॥ ३८॥

नास्ति धर्मः कुतः सत्यं नार्जवं नानृशंसता।
यत्र रामस्य वैदेहीं सीतां हरति रावणः॥ ३९॥
इति भूतानि सर्वाणि गणशः पर्यदेवयन्।
वित्रस्तका दीनमुखा रुरुदुर्मृगपोतकाः॥ ४०॥

हाय! हाय! जब श्रीरामचन्द्रजीकी धर्मपत्नी विदेहनन्दिनी सीताको रावण हरकर लिये जा रहा है, तब यही कहना पड़ता है कि 'संसारमें धर्म नहीं है, सत्य भी कहाँ है? सरलता और दयाका भी सर्वथा लोप हो गया है।' इस प्रकार वहाँ झुंड-के-झुंड एकत्र हो सब प्राणी विलाप कर रहे थे। मृगोंके बच्चे भयभीत हो दीनमुखसे रो रहे थे॥ ३९-४०॥

उद्वीक्ष्योद्वीक्ष्य नयनैर्भयादिव विलक्षणैः।
सुप्रवेपितगात्राश्च बभूवुर्वनदेवताः॥ ४१॥
विक्रोशन्तीं दृढं सीतां दृष्ट्वा दुःखं तथा गताम्।

श्रीरामको जोर-जोरसे पुकारती और वैसे भारी दुःखमें पड़ी हुई सीताको अपनी विलक्षण आँखोंसे बारंबार देख-देखकर भयके मारे वनदेवताओंके अङ्ग थरथर काँपने लगे॥ ४१½॥

तां तु लक्ष्मण रामेति क्रोशन्तीं मधुरस्वराम्॥ ४२॥
अवेक्षमाणां बहुशो वैदेहीं धरणीतलम्।
स तामाकुलकेशान्तां विप्रमृष्टविशेषकाम्।
जहारात्मविनाशाय दशग्रीवो मनस्विनीम्॥ ४३॥

विदेहनन्दिनी मधुर स्वरमें 'हा राम, हा लक्ष्मण' की पुकार करती हुई बारंबार भूतलकी ओर देख रही थीं। उनके केश खुलकर सब ओर फैल गये थे और ललाटकी बेंदी मिट गयी थी। वैसी अवस्थामें दशग्रीव रावण अपने ही विनाशके लिये मनस्विनी सीताको लिये जा रहा था॥ ४२-४३॥

ततस्तु सा चारुदती शुचिस्मिता
विनाकृता बन्धुजनेन मैथिली।
अपश्यती राघवलक्ष्मणावुभौ
विवर्णवक्त्रा भयभारपीडिता॥ ४४॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली मिथिलेशकुमारी सीता, जो अपने बन्धुजनोंसे बिछुड़ गयी थीं, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके भारसे व्यथित हो उठीं। उनके मुखमण्डलकी कान्ति फीकी पड़ गयी॥ ४४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः॥ ५२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५२॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

सीताका रावणको धिक्कारना

खमुत्पतन्तं तं दृष्ट्वा मैथिली जनकात्मजा।
दुःखिता परमोद्विग्ना भये महति वर्तिनी॥ १॥

रावणको आकाशमें उड़ते देख मिथिलेशकुमारी जानकी दुःखमग्न हो अत्यन्त उद्विग्न हो रही थीं। वे बहुत बड़े भयमें पड़ गयी थीं॥ १॥

रोषरोदनताम्राक्षी भीमाक्षं राक्षसाधिपम्।
रुदती करुणं सीता ह्रियमाणा तमब्रवीत्॥ २॥

रोष और रोदनके कारण उनकी आँखें लाल हो गयी थीं। हरी जाती हुई सीता करुणाजनक स्वरमें रोती हुई उस भयंकर नेत्रवाले राक्षसराजसे इस प्रकार बोलीं—॥ २॥

न व्यपत्रपसे नीच कर्मणानेन रावण।
ज्ञात्वा विरहितां यो मां चोरयित्वा पलायसे॥ ३॥

'ओ नीच रावण! क्या तुझे अपने इस कुकर्मसे लज्जा नहीं आती है, जो मुझे स्वामीसे रहित अकेली और असहाय जानकर चुराये लिये भागा जाता है?॥ ३॥

त्वयैव नूनं दुष्टात्मन् भीरुणा हर्तुमिच्छता।
ममापवाहितो भर्ता मृगरूपेण मायया॥ ४॥

'दुष्टात्मन्! तू बड़ा कायर और डरपोक है। निश्चय ही मुझे हर ले जानेकी इच्छासे तूने ही माया-द्वारा मृगरूपमें उपस्थित हो मेरे स्वामीको आश्रमसे दूर हटा दिया था॥ ४॥

यो हि मामुद्यतस्त्रातुं सोऽप्ययं विनिपातितः।
गृध्रराजः पुराणोऽसौ श्वशुरस्य सखा मम॥ ५॥

'मेरे श्वशुरके सखा वे जो बूढ़े जटायु मेरी रक्षा करनेके लिये उद्यत हुए थे, उनको भी तूने मार गिराया॥ ५॥

परमं खलु ते वीर्यं दृश्यते राक्षसाधम।
विश्राव्य नामधेयं हि युद्धे नास्मि जिता त्वया॥ ६॥
ईदृशं गर्हितं कर्म कथं कृत्वा न लज्जसे।
स्त्रियाश्चाहरणं नीच रहिते च परस्य च॥ ७॥

'नीच राक्षस! अवश्य तुझमें बड़ा भारी बल

दिखायी देता है (क्योंकि तू बूढ़े पक्षीको भी मार गिराता है !); तूने अपना नाम बताकर श्रीराम-लक्ष्मणके साथ युद्ध करके मुझे नहीं जीता है। ओ नीच ! जहाँ कोई रक्षक न हो—ऐसे स्थानपर जाकर परायी स्त्रीके अपहरण-जैसा निन्दित कर्म करके तू लज्जित कैसे नहीं होता है ? ॥ ६-७ ॥

कथयिष्यन्ति लोकेषु पुरुषाः कर्म कुत्सितम्।
सुनृशंसमधर्मिष्ठं तव शौटीर्यमानिनः ॥ ८ ॥

'तू तो अपनेको बड़ा शूर-वीर मानता है, परंतु संसारके सभी वीर पुरुष तेरे इस कर्मको घृणित, क्रूरतापूर्ण और पापरूप ही बतायेंगे ॥ ८ ॥

धिक् ते शौर्यं च सत्त्वं च यत्त्वया कथितं तदा।
कुलाक्रोशकरं लोके धिक् ते चारित्रमीदृशम् ॥ ९ ॥

'तूने पहले स्वयं ही जिसका बड़े तावसे वर्णन किया था, तेरे उस शौर्य और बलको धिक्कार है ! कुलमें कलङ्क लगानेवाले तेरे ऐसे चरित्रको संसारमें सदा धिक्कार ही प्राप्त होगा ॥ ९ ॥

किं शक्यं कर्तुमेवं हि यज्जवेनैव धावसि।
मुहूर्तमपि तिष्ठ त्वं न जीवन् प्रतियास्यसि ॥ १० ॥

'किंतु इस समय क्या किया जा सकता है ? क्योंकि तू बड़े वेगसे भागा जा रहा है। अरे ! दो घड़ी भी तो ठहर जा, फिर यहाँसे जीवित नहीं लौट सकेगा ॥ १० ॥

नहि चक्षुःपथं प्राप्य तयोः पार्थिवपुत्रयोः।
ससैन्योऽपि समर्थस्त्वं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ ११ ॥

'उन दोनों राजकुमारोंके दृष्टिपथमें आ जानेपर तू सेनाके साथ हो तो भी दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकता ॥ ११ ॥

न त्वं तयोः शरस्पर्शं सोढुं शक्तः कथंचन।
वने प्रज्वलितस्येव स्पर्शमग्नेर्विहंगमः ॥ १२ ॥

'जैसे कोई आकाशचारी पक्षी वनमें प्रज्वलित हुए दावानलका स्पर्श सहन करनेमें समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार तू मेरे पति और उनके भाई दोनोंके बाणोंका स्पर्श किसी तरह सह नहीं सकता ॥ १२ ॥

साधु कृत्वाऽऽत्मनः पथ्यं साधु मां मुञ्च रावण।
मत्प्रधर्षणसंक्रुद्धो भ्रात्रा सह पतिर्मम ॥ १३ ॥
विधास्यति विनाशाय त्वं मां यदि न मुञ्चसि।

'रावण ! यदि तू मुझे छोड़ नहीं देता है तो मेरे तिरस्कारसे कुपित हुए मेरे पतिदेव अपने भाईके साथ चढ़ आयँगे और तेरे विनाशका उपाय करेंगे, अतः तू अच्छी तरह अपनी भलाई सोच ले और मुझे छोड़ दे। यही तेरे लिये अच्छा होगा ॥ १३½ ॥

येन त्वं व्यवसायेन बलान्मां हर्तुमिच्छसि ॥ १४ ॥
व्यवसायस्तु ते नीच भविष्यति निरर्थकः।

'नीच ! तू जिस संकल्प या अभिप्रायसे बलपूर्वक मेरा हरण करना चाहता है, तेरा वह अभिप्राय व्यर्थ होगा ॥ १४½ ॥

नह्यहं तमपश्यन्ती भर्तारं विबुधोपमम् ॥ १५ ॥
उत्सहे शत्रुवशगा प्राणान् धारयितुं चिरम्।

'मैं अपने देवोपम पतिका दर्शन न पानेपर शत्रुकी अधीनतामें अधिक कालतक अपने प्राणोंको नहीं धारण कर सकूँगी ॥ १५½ ॥

न नूनं चात्मनः श्रेयः पथ्यं वा समवेक्षसे ॥ १६ ॥
मृत्युकाले यथा मर्त्यो विपरीतानि सेवते।
मुमूर्षूणां तु सर्वेषां यत् पथ्यं तन्न रोचते ॥ १७ ॥

'निश्चय ही तू अपने कल्याण और हितका विचार नहीं करता है। जैसे मरनेके समय मनुष्य स्वास्थ्यके विरोधी पदार्थोंका सेवन करने लगता है, वही दशा तेरी है। प्रायः सभी मरणासन्न मनुष्योंको पथ्य (हितकारक सलाह या भोजन) नहीं रुचता है ॥ १६-१७ ॥

पश्यामीह हि कण्ठे त्वां कालपाशावपाशितम्।
यथा चास्मिन् भयस्थाने न बिभेषि निशाचर ॥ १८ ॥

'निशाचर ! मैं देखती हूँ, तेरे गलेमें कालकी फाँसी पड़ चुकी है, इसीसे इस भयके स्थानपर भी तू निर्भय बना हुआ है ॥ १८ ॥

व्यक्तं हिरण्मयांस्त्वं हि सम्पश्यसि महीरुहान्।
नदीं वैतरणीं घोरां रुधिरौघविवाहिनीम् ॥ १९ ॥
खड्गपत्रवनं चैव भीमं पश्यसि रावण।
तप्तकाञ्चनपुष्पां च वैदूर्यप्रवरच्छदाम् ॥ २० ॥
द्रक्ष्यसे शाल्मलीं तीक्ष्णामायसैः कण्टकैश्चिताम्।

'रावण ! अवश्य ही तू सुवर्णमय वृक्षोंको देख रहा है, रक्तका स्रोत बहानेवाली भयंकर वैतरणी नदीका दर्शन कर रहा है, भयानक असिपत्रवनको भी देखना चाहता है तथा जिसमें तपाये हुए सुवर्णके समान फूल तथा श्रेष्ठ वैदूर्यमणि (नीलम) के समान पत्ते हैं और जिसमें लोहेके काँटे चिने गये हैं, उस तीखी शाल्मलिका भी अब तू शीघ्र ही दर्शन करेगा ॥ १९-२०½ ॥

नहि त्वमीदृशं कृत्वा तस्यालीकं महात्मनः ॥ २१ ॥
धारितुं शक्ष्यसि चिरं विषं पीत्वेव निर्घृण।
बद्धस्त्वं कालपाशेन दुर्निवारेण रावण ॥ २२ ॥

'निर्दयी निशाचर ! तू महात्मा श्रीरामका

महान् अपराध करके विषपान किये हुए मनुष्यकी भाँति अधिक कालतक जीवन धारण नहीं कर सकेगा। रावण! तू अटल कालपाशसे बँध गया है ॥ २१-२२ ॥

क्व गतो लप्स्यसे शर्म मम भर्तुर्महात्मनः।
निमेषान्तरमात्रेण विना भ्रातरमाहवे ॥ २३ ॥
राक्षसा निहता येन सहस्राणि चतुर्दश।
कथं स राघवो वीरः सर्वास्त्रकुशलो बली ॥ २४ ॥
न त्वां हन्याच्छरैस्तीक्ष्णैरिष्टभार्यापहारिणम्।

'मेरे महात्मा पतिसे बचकर तू कहाँ जाकर शान्ति पा सकेगा। जिन्होंने अपने भाई लक्ष्मणकी सहायता लिये विना ही युद्धमें पलक मारते-मारते चौदह हजार राक्षसोंका विनाश कर डाला, वे सम्पूर्ण अस्त्रोंका प्रयोग करनेमें कुशल बलवान् वीर रघुनाथजी अपनी प्यारी पत्नीका अपहरण करनेवाले तुझ-जैसे पापीको तीखे बाणोंद्वारा क्यों नहीं कालके गालमें भेज देंगे' ॥ २३—२४½ ॥

एतच्चान्यच्च परुषं वैदेही रावणाङ्कगा।
भयशोकसमाविष्टा करुणं विललाप ह ॥ २५ ॥

रावणके चंगुलमें फँसी हुई विदेहराजकुमारी सीता भय और शोकसे व्याकुल हो ये तथा और भी बहुत-से कठोर वचन सुनाकर करुण-स्वरमें विलाप करने लगीं ॥ २५ ॥

तदा भृशार्तां बहु चैव भाषिणीं
विलापपूर्वं करुणं च भामिनीम्।
जहार पापस्तरुणीं विचेष्टतीं
नृपात्मजामागतगात्रवेपथुः ॥ २६ ॥

अत्यन्त दुःखसे आतुर हो विलापपूर्वक बहुत-सी करुणाजनक बातें कहती और छूटनेके लिये नाना प्रकारकी चेष्टा करती हुई तरुणी भामिनी राजकुमारी सीताको वह पापी निशाचर दूर ले गया। उस समय अधिक बोझके कारण उसका शरीर काँप रहा था ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशः सर्गः

सीताका पाँच वानरोंके बीच अपने भूषण और वस्त्रको गिराना, रावणका लङ्कामें पहुँचकर सीताको अन्तःपुरमें रखना तथा जनस्थानमें आठ राक्षसोंको गुप्तचरके रूपमें रहनेके लिये भेजना

ह्रियमाणा तु वैदेही कंचिन्नाथमपश्यती।
ददर्श गिरिशृङ्गस्थान् पञ्च वानरपुङ्गवान् ॥ १ ॥

रावणके द्वारा हरी जाती हुई विदेहनन्दिनी सीताको उस समय कोई भी अपना सहायक नहीं दिखायी देता था। मार्गमें उन्होंने एक पर्वतके शिखरपर पाँच श्रेष्ठ वानरोंको बैठे देखा ॥ १ ॥

तेषां मध्ये विशालाक्षी कौशेयं कनकप्रभम्।
उत्तरीयं वरारोहा शुभान्याभरणानि च ॥ २ ॥
मुमोच यदि रामाय शंसेयुरिति भामिनी।
वस्त्रमुत्सृज्य तन्मध्ये निक्षिप्तं सहभूषणम् ॥ ३ ॥

तब सुन्दर अङ्गोंवाली विशाललोचना भामिनी सीताने यह सोचकर कि शायद ये भगवान् श्रीरामको कुछ समाचार कह सकें, अपने सुनहरे रंगकी रेशमी चादर उतारी और उसमें वस्त्र और आभूषण रखकर उसे उनके बीचमें फेंक दिया ॥ २-३ ॥

सम्भ्रमात् तु दशग्रीवस्तत्कर्म च न बुद्धवान्।
पिङ्गाक्षास्तां विशालाक्षीं नेत्रैरनिमिषैरिव ॥ ४ ॥
विक्रोशन्तीं तदा सीतां ददृशुर्वानरोत्तमाः।

रावण बड़ी घबराहटमें था, इसलिये सीताके इस कार्यको वह न जान सका। वे भूरी आँखोंवाले श्रेष्ठ वानर उस समय उच्चस्वरसे विलाप करती हुई विशाललोचना सीताकी ओर एकटक नेत्रोंसे देखने लगे ॥ ४½ ॥

स च पम्पामतिक्रम्य लङ्कामभिमुखः पुरीम् ॥ ५ ॥
जगाम मैथिलीं गृह्य रुदतीं राक्षसेश्वरः।

राक्षसराज रावण पम्पासरोवरको लाँघकर रोती हुई मैथिली सीताको साथ लिये लङ्कापुरीकी ओर चल दिया ॥ ५½ ॥

तां जहार सुसंहृष्टो रावणो मृत्युमात्मनः ॥ ६ ॥
उत्सङ्गेनैव भुजगीं तीक्ष्णदंष्ट्रां महाविषाम्।

निशाचर रावण बड़े हर्षमें भरकर सीताके रूपमें अपनी मौतको ही हरकर लिये जा रहा था। उसने वैदेहीके रूपमें तीखे दाढ़वाली महाविषैली नागिनको ही अपनी गोदमें उठा रखा था ॥ ६½ ॥

वनानि सरितः शैलान् सरांसि च विहायसा ॥ ७ ॥
स क्षिप्रं समतीयाय शरश्चापादिव च्युतः।

वह धनुषसे छूटे हुए बाणकी तरह तीव्र गतिसे चलकर आकाशमार्गसे अनेकानेक वनों, नदियों, पर्वतों और सरोवरोंको तुरंत लाँघ गया ॥ ७½ ॥

तिमिनक्रनिकेतं तु वरुणालयमक्षयम् ॥ ८ ॥
सरितां शरणं गत्वा समतीयाय सागरम्।

उसने तिमि नामक मत्स्यों और नाकोंके निवासस्थान एवं वरुणके अक्षय गृह समुद्रको भी, जो समस्त नदियोंका आश्रय है, पार कर लिया ॥ ८½ ॥

सम्भ्रमात् परिवृत्तोर्मी रुद्धमीनमहोरगः ॥ ९ ॥
वैदेह्यां ह्रियमाणायां बभूव वरुणालयः ।

विदेहनन्दिनी जगन्माता जानकीका अपहरण होते समय वरुणालय समुद्रको बड़ी घबराहट हुई । उससे उसकी उठती हुई लहरें शान्त हो गयीं । उसके भीतर रहनेवाली मछलियों और बड़े-बड़े सर्पोंकी गति रुक गयी ॥ ९½ ॥

अन्तरिक्षगता वाचः ससृजुश्चारणास्तदा ॥ १० ॥
एतदन्तो दशग्रीव इति सिद्धास्तथाब्रुवन् ।

उस समय आकाशमें विचरनेवाले चारण यों बोले—'अब दशग्रीव रावणका यह अन्तकाल निकट आ पहुँचा है' तथा सिद्धोंने भी यही बात दुहरायी ॥ १०½ ॥

स तु सीतां विचेष्टन्तीमङ्केनादाय रावणः ॥ ११ ॥
प्रविवेश पुरीं लङ्कां रूपिणीं मृत्युमात्मनः ।

सीता छटपटा रही थीं । रावणने अपनी साकार मृत्युकी भाँति उन्हें अङ्कमें लेकर लङ्कापुरीमें प्रवेश किया ॥ ११½ ॥

सोऽभिगम्य पुरीं लङ्कां सुविभक्तमहापथाम् ॥ १२ ॥
संरूढकक्ष्यां बहुलां स्वमन्तःपुरमाविशत् ।

वहाँ पृथक्-पृथक् विशाल राजमार्ग बने हुए थे । पुरीके द्वारपर बहुत-से राक्षस इधर-उधर फैले हुए थे तथा उस नगरीका विस्तार बहुत बड़ा था । उसमें जाकर रावणने अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ १२½ ॥

तत्र तामसितापाङ्गीं शोकमोहसमन्विताम् ॥ १३ ॥
निदधे रावणः सीतां मयो मायामिवासुरीम् ।

कजरारे नेत्रप्रान्तवाली सीता शोक और मोहमें डूबी हुई थीं । रावणने उन्हें अन्तःपुरमें रख दिया, मानो मयासुरने मूर्तिमती आसुरी मायाको वहाँ स्थापित कर दिया हो * ॥ १३½ ॥

अब्रवीच्च दशग्रीवः पिशाचीर्घोरदर्शनाः ॥ १४ ॥
यथा नैनां पुमान् स्त्री वा सीतां पश्यत्यसम्मतः ।

इसके बाद दशग्रीवने भयंकर आकारवाली पिशाचिनोंको बुलाकर कहा—'(तुम सब सावधानीके साथ सीताकी रक्षा करो ।) कोई भी स्त्री या पुरुष मेरी आज्ञाके बिना सीताको देखने या इनसे मिलने न पाये ॥ १४½ ॥

मुक्तामणिसुवर्णानि वस्त्राण्याभरणानि च ॥ १५ ॥
यद् यदिच्छेत् तदेवास्या देयं मच्छन्दतो यथा ।

'उन्हें मोती, मणि, सुवर्ण, वस्त्र और आभूषण आदि जिस-जिस वस्तुकी इच्छा हो, वह तुरंत दी जाय; इसके लिये मेरी खुली आज्ञा है ॥ १५½ ॥

या च वक्ष्यति वैदेहीं वचनं किंचिदप्रियम् ॥ १६ ॥
अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानान्न तस्या जीवितं प्रियम् ।

'तुमलोगोंमेंसे जो कोई भी जानकर या बिना जाने विदेहकुमारी सीतासे कोई अप्रिय बात कहेगी, मैं समझूँगा, उसे अपनी जिंदगी प्यारी नहीं है' ॥ १६½ ॥

तथोक्त्वा राक्षसीस्तास्तु राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ १७ ॥
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्मात् किं कृत्यमिति चिन्तयन् ।
ददर्शाष्टौ महावीर्यान् राक्षसान् पिशिताशनान् ॥ १८ ॥

राक्षसियोंको वैसी आज्ञा देकर प्रतापी राक्षसराज 'अब आगे क्या करना चाहिये' यह सोचता हुआ अन्तःपुरसे बाहर निकला और कच्चे मांसका आहार करनेवाले आठ महापराक्रमी राक्षसोंसे तत्काल मिला ॥ १७-१८ ॥

स तान् दृष्ट्वा महावीर्यो वरदानेन मोहितः ।
उवाच तानिदं वाक्यं प्रशस्य बलवीर्यतः ॥ १९ ॥

उनसे मिलकर ब्रह्माजीके वरदानसे मोहित हुए महापराक्रमी रावणने उनके बल और वीर्यकी प्रशंसा करके उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १९ ॥

नानाप्रहरणाः क्षिप्रमितो गच्छत सत्वराः ।
जनस्थानं हतस्थानं भूतं पूर्वं खरालयम् ॥ २० ॥

'वीरो ! तुमलोग नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र साथ लेकर शीघ्र ही जनस्थानको, जहाँ पहले खर रहता था, जाओ । वह स्थान इस समय उजाड़ पड़ा है ॥ २० ॥

तत्रास्यतां जनस्थाने शून्ये निहतराक्षसे ।
पौरुषं बलमाश्रित्य त्रासमुत्सृज्य दूरतः ॥ २१ ॥

वहाँके सभी राक्षस मार डाले गये हैं । उस सूने जनस्थानमें तुमलोग अपने ही बल-पौरुषका भरोसा करके भयको दूर हटाकर रहो ॥ २१ ॥

बहुसैन्यं महावीर्यं जनस्थाने निवेशितम् ।
सदूषणखरं युद्धे निहतं रामसायकैः ॥ २२ ॥

'मैंने वहाँ बहुत बड़ी सेनाके साथ महापराक्रमी खर और दूषणको बसा रखा था; किंतु वे सब-के सब युद्धमें रामके बाणोंसे मारे गये ॥ २२ ॥

ततः क्रोधो ममापूर्वो धैर्यस्योपरि वर्धते ।
वैरं च सुमहज्जातं रामं प्रति सुदारुणम् ॥ २३ ॥

'इससे मेरे मनमें अपूर्व क्रोध जाग उठा है और वह

* रामायणतिलक नामक व्याख्याके विद्वान् लेखकने यह बताया है कि यहाँ जो सीताकी मायासे उपमा दी गयी है, उसके द्वारा यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि मायामयी सीता ही लङ्कामें आयी थीं; मुख्य सीता तो अग्निमें प्रविष्ट हो चुकी थीं। इसीलिये रावण उन्हें ला सका । मायारूपिणी होनेके कारण ही रावणको इनके स्वरूपका ज्ञान न हो सका ।

धैर्यकी सीमासे ऊपर उठकर बढ़ने लगा है; इसीलिये रामके साथ मेरा बड़ा भारी और भयंकर वैर ठन गया है ॥ २३ ॥

निर्यातयितुमिच्छामि तच्च वैरं महारिपोः ।
नहि लप्स्याम्यहं निद्रामहत्वा संयुगे रिपुम् ॥ २४ ॥

'मैं अपने महान् शत्रुसे उस वैरका बदला लेना चाहता हूँ। उस शत्रुको संग्राममें मारे बिना मैं चैनसे सो नहीं सकूँगा ॥ २४ ॥

तं त्विदानीमहं हत्वा खरदूषणघातिनम् ।
रामं शर्मोपलप्स्यामि धनं लब्ध्वेव निर्धनः ॥ २५ ॥

'रामने खर और दूषणका वध किया है, अतः मैं भी इस समय उन्हें मारकर जब बदला चुका लूँगा, तभी मुझे शान्ति मिलेगी। जैसे निर्धन मनुष्य धन पाकर संतुष्ट होता है, उसी प्रकार मैं रामका वध करके शान्ति पा सकूँगा ॥ २५ ॥

जनस्थाने वसद्भिस्तु भवद्भी राममाश्रिता ।
प्रवृत्तिरुपनेतव्या किं करोतीति तत्त्वतः ॥ २६ ॥

'जनस्थानमें रहकर तुमलोग रामचन्द्रका समाचार जानो और वे कब क्या कर रहे हैं, इसका ठीक-ठीक पता लगाते रहो और जो कुछ मालूम हो, उसकी सूचना मेरे पास भेज दिया करो ॥ २६ ॥

अप्रमादाच्च गन्तव्यं सर्वैरेव निशाचरैः ।
कर्तव्यश्च सदा यत्नो राघवस्य वधं प्रति ॥ २७ ॥

'तुम सभी निशाचर सावधानीके साथ वहाँ जाना और रामके वधके लिये सदा प्रयत्न करते रहना ॥ २७ ॥

युष्माकं तु बलं ज्ञातं बहुशो रणमूर्धनि ।
अतश्चास्मिञ्जनस्थाने मया यूयं निवेशिताः ॥ २८ ॥

'मुझे अनेक बार युद्धके मुहानेपर तुमलोगोंके बलका परिचय मिल चुका है; इसीलिये इस जनस्थानमें मैंने तुम्हीं लोगोंको रखनेका निश्चय किया है' ॥ २८ ॥

ततः प्रियं वाक्यमुपेत्य राक्षसा
महार्थमष्टावभिवाद्य रावणम् ।
विहाय लङ्कां सहिताः प्रतस्थिरे
यतो जनस्थानमलक्ष्यदर्शनाः ॥ २९ ॥

रावणकी यह महान् प्रयोजनसे भरी हुई प्रिय बातें सुनकर वे आठों राक्षस उसे प्रणाम करके अदृश्य हो एक साथ ही लङ्काको छोड़कर जनस्थानकी ओर प्रस्थित हो गये ॥ २९ ॥

ततस्तु सीतामुपलभ्य रावणः
सुसम्प्रहृष्टः परिगृह्य मैथिलीम् ।
प्रसज्य रामेण च वैरमुत्तमं
बभूव मोहान्मुदितः स रावणः ॥ ३० ॥

तदनन्तर मिथिलेशकुमारी सीताको पाकर उन्हें राक्षसियोंकी देख-रेखमें सौंपकर रावणको बड़ा हर्ष हुआ। श्रीरामके साथ भारी वैर ठानकर वह राक्षस मोहवश आनन्द मानने लगा ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

रावणका सीताको अपने अन्तःपुरका दर्शन कराना और अपनी भार्या बन जानेके लिये समझाना

संदिश्य राक्षसान् घोरान् रावणोऽष्टौ महाबलान् ।
आत्मानं बुद्धिवैक्लव्यात् कृतकृत्यममन्यत ॥ १ ॥

इस प्रकार आठ महाबली भयंकर राक्षसोंको जनस्थानमें जानेकी आज्ञा दे रावणने विपरीत बुद्धिके कारण अपनेको कृतकृत्य माना ॥ १ ॥

स चिन्तयानो वैदेहीं कामबाणैः प्रपीडितः ।
प्रविवेश गृहं रम्यं सीतां द्रष्टुमभित्वरन् ॥ २ ॥

वह विदेहकुमारी सीताका स्मरण करके काम-बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो रहा था; अतः उन्हें देखनेके लिये उसने बड़ी उतावलीके साथ अपने रमणीय अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

स प्रविश्य तु तद्वेश्म रावणो राक्षसाधिपः ।
अपश्यद् राक्षसीमध्ये सीतां दुःखपरायणाम् ॥ ३ ॥
अश्रुपूर्णमुखीं दीनां शोकभारावपीडिताम् ।
वायुवेगैरिवाक्रान्तां मज्जन्तीं नावमर्णवे ॥ ४ ॥
मृगयूथपरिभ्रष्टां मृगीं श्वभिरिवावृताम् ।

उस भवनमें प्रवेश करके राक्षसोंके राजा रावणने देखा कि सीता राक्षसियोंके बीचमें बैठकर दुःखमें डूबी हुई हैं। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही है और वे शोकके दुस्सह भारसे अत्यन्त पीड़ित एवं दीन हो वायुके वेगसे आक्रान्त हो समुद्रमें डूबती हुई नौकाके समान जान पड़ती हैं। मृगोंके यूथसे बिछुड़कर कुत्तोंसे घिरी हुई अकेली हरिणीके समान दिखायी देती हैं ॥ ३-४½ ॥

अधोगतमुखीं सीतां तामभ्येत्य निशाचरः ॥ ५ ॥
तां तु शोकवशाद् दीनामवशां राक्षसाधिपः ।
स बलाद् दर्शयामास गृहं देवगृहोपमम् ॥ ६ ॥

शोकवश दीन और विवश हो नीचे मुँह किये बैठी हुई सीताके पास पहुँचकर राक्षसोंके राजा निशाचर रावणने उन्हें जबर्दस्ती अपने देवगृहके समान सुन्दर भवनका दर्शन कराया ॥ ५-६ ॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधं स्त्रीसहस्रनिषेवितम् ।
नानापक्षिगणैर्जुष्टं नानारत्नसमन्वितम् ॥ ७ ॥

वह ऊँचे-ऊँचे महलों और सातमंजिले मकानोंसे भरा हुआ था । उसमें सहस्रों स्त्रियाँ निवास करती थीं । झुंड-के-झुंड नाना जातिके पक्षी वहाँ कलरव करते थे । नाना प्रकारके रत्न उस अन्तःपुरकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ७ ॥

दान्तकैस्तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैस्तथा ।
वज्रवैदूर्यचित्रैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोरमैः ॥ ८ ॥

उसमें बहुत-से मनोहर खंभे लगे थे, जो हाथीदाँत, पक्के सोने, स्फटिकमणि, चाँदी, हीरा और वैदूर्यमणि (नीलम) से जटित होनेके कारण बड़े विचित्र दिखायी देते थे ॥ ८ ॥

दिव्यदुन्दुभिनिर्घोषं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।
सोपानं काञ्चनं चित्रमारुरोह तया सह ॥ ९ ॥

उस महलमें दिव्य दुन्दुभियोंका मधुर घोष होता रहता था । उस अन्तःपुरको तपाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे सजाया गया था । रावण सीताको साथ लेकर सोनेकी बनी हुई विचित्र सीढ़ीपर चढ़ा ॥ ९ ॥

दान्तका राजताश्चैव गवाक्षाः प्रियदर्शनाः ।
हेमजालावृताश्चासंस्तत्र प्रासादपङ्क्तयः ॥ १० ॥

वहाँ हाथीदाँत और चाँदीकी बनी हुई खिड़कियाँ थीं, जो बड़ी सुहावनी दिखायी देती थीं । सोनेकी जालियोंसे ढकी हुई प्रासादमालाएँ भी दृष्टिगोचर होती थीं ॥ १० ॥

सुधामणिविचित्राणि भूमिभागानि सर्वशः ।
दशग्रीवः स्वभवने प्रादर्शयत मैथिलीम् ॥ ११ ॥

उस महलमें जो भूभाग (फर्श) थे, वे सुर्खी-चूनाके पक्के बनाये गये थे और उनमें मणियाँ जड़ी गयी थीं, जिनसे वे सब-के-सब विचित्र दिखायी देते थे । दशग्रीवने अपने महलकी वे सारी वस्तुएँ मैथिलीको दिखायीं ॥ ११ ॥

दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च नानापुष्पसमावृताः ।
रावणो दर्शयामास सीतां शोकपरायणाम् ॥ १२ ॥

रावणने बहुत-सी बावड़ियाँ और भाँति-भाँतिके फूलोंसे आच्छादित बहुत-सी पोखरियाँ भी सीताको दिखायीं । सीता यह सब देखकर शोकमें डूब गयीं ॥ १२ ॥

दर्शयित्वा तु वैदेहीं कृत्स्नं तद्भवनोत्तमम् ।
उवाच वाक्यं पापात्मा सीतां लोभितुमिच्छया ॥ १३ ॥

वह पापात्मा निशाचर विदेहनन्दिनी सीताको अपना सारा सुन्दर भवन दिखाकर उन्हें लुभानेकी इच्छासे इस प्रकार बोला— ॥ १३ ॥

दश राक्षसकोट्यश्च द्वाविंशतिरथापराः ।
वर्जयित्वा जरावृद्धान् बालांश्च रजनीचरान् ॥ १४ ॥
तेषां प्रभुरहं सीते सर्वेषां भीमकर्मणाम् ।
सहस्रमेकमेकस्य मम कार्यपुरःसरम् ॥ १५ ॥

'सीते ! मेरे अधीन बत्तीस करोड़ राक्षस हैं । यह संख्या बूढ़े और बालक निशाचरोंको छोड़कर बतायी गयी है । भयंकर कर्म करनेवाले इन सभी राक्षसोंका मैं ही स्वामी हूँ । अकेले मेरी सेवामें एक हजार राक्षस रहते हैं ॥ १४-१५ ॥

यदिदं राज्यतन्त्रं मे त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जीवितं च विशालाक्षि त्वं मे प्राणैर्गरीयसी ॥ १६ ॥

'विशाललोचने ! मेरा यह सारा राज्य और जीवन तुमपर ही अवलम्बित है (अथवा यह सब कुछ तुम्हारे चरणोंमें समर्पित है) । तुम मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो ॥ १६ ॥

बह्वीनामुत्तमस्त्रीणां मम योऽसौ परिग्रहः ।
तासां त्वमीश्वरी सीते मम भार्या भव प्रिये ॥ १७ ॥

'सीते ! मेरा अन्तःपुर मेरी बहुत-सी सुन्दरी भार्याओंसे भरा हुआ है, तुम उन सबकी स्वामिनी बनो— प्रिये ! मेरी भार्या बन जाओ ॥ १७ ॥

साधु किं तेऽन्यथाबुद्ध्या रोचयस्व वचो मम ।
भजस्व माभितप्तस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

'मेरे इस हितकर वचनको मान लो—इसे पसंद करो; इससे विपरीत विचारको मनमें लानेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? मुझे अङ्गीकार करो । मैं पीड़ित हूँ, मुझपर कृपा करो ॥ १८ ॥

परिक्षिप्ता समुद्रेण लङ्केयं शतयोजना ।
नेयं धर्षयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ १९ ॥

'समुद्रसे घिरी हुई इस लङ्काके राज्यका विस्तार सौ योजन है । इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी इसे ध्वस्त नहीं कर सकते ॥ १९ ॥

न देवेषु न यक्षेषु न गन्धर्वेषु नर्षिषु ।
अहं पश्यामि लोकेषु यो मे वीर्यसमो भवेत् ॥ २० ॥

'देवताओं, यक्षों, गन्धर्वों तथा ऋषियोंमें भी मैं किसीको ऐसा नहीं देखता, जो पराक्रममें मेरी समानता कर सके ॥ २० ॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन पदातिना।
किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्पतेजसा॥ २१॥

'राम तो राज्यसे भ्रष्ट, दीन, तपस्वी, पैदल चलनेवाले और मनुष्य होनेके कारण अल्प तेजवाले हैं, उन्हें लेकर क्या करोगी?॥ २१॥

भजस्व सीते मामेव भर्ताहं सदृशस्तव।
यौवनं त्वध्रुवं भीरु रमस्वेह मया सह॥ २२॥

'सीते! मुझको ही अपनाओ। मैं तुम्हारे योग्य पति हूँ। भीरु! जवानी सदा रहनेवाली नहीं है, अतः यहाँ रहकर मेरे साथ रमण करो॥ २२॥

दर्शने मा कृथा बुद्धिं राघवस्य वरानने।
कास्य शक्तिरिहागन्तुमपि सीते मनोरथैः॥ २३॥

'वरानने! सीते! अब तुम रामके दर्शनका विचार छोड़ दो। इस राममें इतनी शक्ति कहाँ है कि यहाँतक आनेका मनोरथ भी कर सके॥ २३॥

न शक्यो वायुराकाशे पाशैर्बद्धुं महाजवः।
दीप्यमानस्य वाप्यग्नेर्ग्रहीतुं विमलाः शिखाः॥ २४॥

'आकाशमें महान् वेगसे बहनेवाली वायुको रस्सियोंमें नहीं बाँधा जा सकता अथवा प्रज्वलित अग्निकी निर्मल ज्वालाओंको हाथोंसे नहीं पकड़ा जा सकता॥ २४॥

त्रयाणामपि लोकानां न तं पश्यामि शोभने।
विक्रमेण नयेद् यस्त्वां मद्बाहुपरिपालिताम्॥ २५॥

'शोभने! मैं तीनों लोकोंमें किसी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो मेरी भुजाओंसे सुरक्षित तुमको पराक्रम करके यहाँसे ले जा सके॥ २५॥

लङ्कायाः सुमहद्राज्यमिदं त्वमनुपालय।
त्वत्प्रेष्या मद्विधाश्चैव देवाश्चापि चराचरम्॥ २६॥

'लङ्काके इस विशाल राज्यका तुम्हीं पालन करो। मुझ-जैसे राक्षस, देवता तथा सम्पूर्ण चराचर जगत् तुम्हारे सेवक बनकर रहेंगे॥ २६॥

अभिषेकजलक्लिन्ना तुष्टा च रमयस्व च।
दुष्कृतं यत्पुरा कर्म वनवासेन तद्गतम्॥ २७॥
यच्च ते सुकृतं कर्म तस्येह फलमाप्नुहि।

'स्नानके जलसे आर्द्र (अथवा लङ्काके राज्यपर अपना अभिषेक कराकर उसके जलसे आर्द्र) होकर संतुष्ट हो तुम अपने-आपको क्रीड़ाविनोदमें लगाओ। तुम्हारा पहलेका जो दुष्कर्म था, वह वनवासका कष्ट देकर समाप्त हो गया। अब जो तुम्हारा पुण्यकर्म शेष है, उसका फल यहाँ भोगो॥ २७½॥

इह सर्वाणि माल्यानि दिव्यगन्धानि मैथिलि॥ २८॥
भूषणानि च मुख्यानि तानि सेव मया सह।

'मिथिलेशकुमारी! तुम मेरे साथ यहाँ रहकर श्रेष्ठ प्रकारके पुष्पहार, दिव्य गन्ध और श्रेष्ठ आभूषण आदिका सेवन करो॥ २८½॥

पुष्पकं नाम सुश्रोणि भ्रातुर्वैश्रवणस्य मे॥ २९॥
विमानं सूर्यसंकाशं तरसा निर्जितं रणे।
विशालं रमणीयं च तद्विमानं मनोजवम्॥ ३०॥
तत्र सीते मया सार्धं विहरस्व यथासुखम्।

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली सुन्दरी! वह सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाला पुष्पकविमान मेरे भाई कुबेरका था। उसे मैंने बलपूर्वक जीता है। वह अत्यन्त रमणीय, विशाल तथा मनके समान वेगसे चलनेवाला है। सीते! तुम उसके ऊपर मेरे साथ बैठकर सुखपूर्वक विहार करो॥ २९-३०½॥

वदनं पद्मसंकाशं विमलं चारुदर्शनम्॥ ३१॥
शोकार्तं तु वरारोहे न भ्राजति वरानने।

'वरारोहे सुमुखि! तुम्हारा यह कमलके समान सुन्दर निर्मल और मनोहर दिखायी देनेवाला मुख शोकसे पीड़ित होनेके कारण शोभा नहीं पा रहा है'॥ ३१½॥

एवं वदति तस्मिन् सा वस्त्रान्तेन वराङ्गना॥ ३२॥
पिधायेन्दुनिभं सीता मन्दमश्रूण्यवर्तयत्।

जब रावण ऐसी बातें कहने लगा, तब परम सुन्दरी सीता देवी चन्द्रमाके समान मनोहर अपने मुखको आँचलसे ढककर धीरे-धीरे आँसू बहाने लगीं॥ ३२½॥

ध्यायन्तीं तामिवास्वस्थां सीतां चिन्ताहतप्रभाम्॥ ३३
उवाच वचनं वीरो रावणो रजनीचरः।

सीता शोकसे अस्वस्थ-सी हो रही थीं, चिन्तासे उनकी कान्ति नष्ट-सी हो गयी थी और वे भगवान् रामका ध्यान करने लगी थीं। उस अवस्थामें उनसे वह वीर निशाचर रावण इस प्रकार बोला—॥ ३३½॥

अलं व्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृतेन ते॥ ३४॥
आर्षोऽयं देवि निष्पन्दो यस्त्वामभिभविष्यति।

'विदेहनन्दिनि! अपने पतिके त्याग और परपुरुषके अङ्गीकारसे जो धर्मलोपकी आशङ्का होती है, उसके कारण तुम्हें यहाँ लज्जा नहीं होनी चाहिये, इस तरहकी लाज व्यर्थ है। देवि! तुम्हारे साथ जो मेरा स्नेह-सम्बन्ध होगा, वह आर्ष[1] धर्मशास्त्रोंद्वारा समर्थित है॥ ३४½॥

---

१. ऐसा कहकर रावण देवी सीताको धोखा देना चाहता है। वास्तवमें ऐसे पापपूर्ण कृत्योंका समर्थन धर्मशास्त्रोंमें कहीं नहीं है। कुमारी कन्याका बलपूर्वक अपहरण शास्त्रोंमें राक्षसविवाह कहा गया है; किंतु वह भी निन्द्य ही माना गया है, यहाँ तो वह भी नहीं है। विवाहिता सती साध्वीका अपहरण घोर पाप माना गया है। इसी पापसे सोनेकी लङ्का मिट्टीमें मिल गयी और रावण दल-बल-कुल-परिवारसहित नष्ट हो गया।

एतौ पादौ मया स्निग्धौ शिरोभिः परिपीडितौ ॥ ३५ ॥
प्रसादं कुरु मे क्षिप्रं वश्यो दासोऽहमस्मि ते ।

'तुम्हारे इन कोमल एवं चिकने चरणोंपर मैं अपने ये दसों मस्तक रख रहा हूँ। अब शीघ्र मुझपर कृपा करो। मैं सदा तुम्हारे अधीन रहनेवाला दास हूँ ॥ ३५½ ॥

इमाः शून्या मया वाचः शुष्यमाणेन भाषिताः ॥ ३६ ॥
न चापि रावणः कांचिन्मूर्ध्ना स्त्रीं प्रणमेत ह ।

'मैंने कामाग्निसे संतप्त होकर ये बातें कही हैं। ये शून्य (निष्फल) न हों, ऐसी कृपा करो; क्योंकि रावण किसी स्त्रीको सिर झुकाकर प्रणाम नहीं करता, (केवल) तुम्हारे सामने इसका मस्तक झुका है' ॥ ३६½ ॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मैथिलीं जनकात्मजाम् ।
कृतान्तवशमापन्नो ममेयमिति मन्यते ॥ ३७ ॥

मिथिलेशकुमारी जानकीसे ऐसा कहकर कालके वशीभूत हुआ रावण मन-ही-मन मानने लगा कि 'यह अब मेरे अधीन हो गयी' ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

सीताका श्रीरामके प्रति अपना अनन्य अनुराग दिखाकर रावणको फटकारना तथा रावणकी आज्ञासे राक्षसियोंका उन्हें अशोकवाटिकामें ले जाकर डराना

सा तथोक्ता तु वैदेही निर्भया शोककर्शिता ।
तृणमन्तरतः कृत्वा रावणं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

रावणके ऐसा कहनेपर शोकसे कष्ट पाती हुई विदेहराजकुमारी सीता बीचमें तिनकेकी ओट करके उस निशाचरसे निर्भय होकर बोलीं—॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम धर्मसेतुरिवाचलः ।
सत्यसंधः परिज्ञातो यस्य पुत्रः स राघवः ॥ २ ॥
रामो नाम स धर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
दीर्घबाहुर्विशालाक्षो दैवतं स पतिर्मम ॥ ३ ॥

'महाराज दशरथ धर्मके अचल सेतुके समान थे। वे अपनी सत्यप्रतिज्ञताके लिये सर्वत्र विख्यात थे। उनके पुत्र जो रघुकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे भी अपने धर्मात्मापनके लिये तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं, उनकी भुजाएँ लंबी और आँखें बड़ी-बड़ी हैं। वे ही मेरे आराध्य देवता और पति हैं ॥ २-३ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा यस्ते प्राणान् वधिष्यति ॥ ४ ॥

'उनका जन्म इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है। उनके कंधे सिंहके समान और तेज महान् है। वे अपने भाई लक्ष्मणके साथ आकर तेरे प्राणोंका विनाश कर डालेंगे ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं यद्यहं तस्य त्वया वै धर्षिता बलात् ।
शयिता त्वं हतः संख्ये जनस्थाने यथा खरः ॥ ५ ॥

'यदि तू उनके सामने बलपूर्वक मेरा अपहरण करता तो अपने भाई खरकी तरह जनस्थानके युद्धस्थलमें ही मारा जाकर सदाके लिये सो जाता ॥ ५ ॥

य एते राक्षसाः प्रोक्ता घोररूपा महाबलाः ।
राघवे निर्विषाः सर्वे सुपर्णे पन्नगा यथा ॥ ६ ॥

'तूने जो इन घोर रूपधारी महाबली राक्षसोंकी चर्चा की है, श्रीरामके पास जाते ही इन सबका विष उतर जायगा; ठीक उसी तरह जैसे गरुड़के पास सारे सर्प विषके प्रभावसे रहित हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तस्य ज्याविप्रमुक्तास्ते शराः काञ्चनभूषणाः ।
शरीरं विधमिष्यन्ति गङ्गाकूलमिवोर्मयः ॥ ७ ॥

'जैसे बढ़ी हुई गङ्गाकी लहरें अपने कगारोंको काट गिराती हैं, उसी प्रकार श्रीरामके धनुषकी डोरीसे छूटे हुए सुवर्णभूषित बाण तेरे शरीरको छिन्न-भिन्न कर डालेंगे ॥ ७ ॥

असुरैर्वा सुरैर्वा त्वं यद्यवध्योऽसि रावण ।
उत्पाद्य सुमहद् वैरं जीवंस्तस्य न मोक्ष्यसे ॥ ८ ॥

'रावण! तू असुरों अथवा देवताओंसे यदि अवध्य है तो सम्भव है, वे तुझे न मार सकें; किंतु भगवान् श्रीरामके साथ यह महान् वैर ठानकर तू किसी तरह जीवित नहीं छूट सकेगा ॥ ८ ॥

स ते जीवितशेषस्य राघवोऽन्तकरो बली ।
पशोर्यूपगतस्येव जीवितं तव दुर्लभम् ॥ ९ ॥

'श्रीरघुनाथजी बड़े बलवान् हैं। वे तेरे शेष जीवनका अन्त कर डालेंगे। यूपमें बँधे हुए पशुकी भाँति तेरा जीवन दुर्लभ हो जायगा ॥ ९ ॥

यदि पश्येत् स रामस्त्वां रोषदीप्तेन चक्षुषा ।
रक्षस्त्वमद्य निर्दग्धो यथा रुद्रेण मन्मथः ॥ १० ॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन पदातिना।
किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्पतेजसा ॥ २१ ॥

'राम तो राज्यसे भ्रष्ट, दीन, तपस्वी, पैदल चलनेवाले और मनुष्य होनेके कारण अल्प तेजवाले हैं, उन्हें लेकर क्या करोगी ? ॥ २१ ॥

भजस्व सीते मामेव भर्ताहं सदृशस्तव।
यौवनं त्वध्रुवं भीरु रमस्वेह मया सह ॥ २२ ॥

'सीते ! मुझको ही अपनाओ। मैं तुम्हारे योग्य पति हूँ। भीरु ! जवानी सदा रहनेवाली नहीं है, अतः यहाँ रहकर मेरे साथ रमण करो ॥ २२ ॥

दर्शने मा कृथा बुद्धिं राघवस्य वरानने।
कास्य शक्तिरिहागन्तुमपि सीते मनोरथैः ॥ २३ ॥

'वरानने ! सीते ! अब तुम रामके दर्शनका विचार छोड़ दो। इस राममें इतनी शक्ति कहाँ है कि यहाँतक आनेका मनोरथ भी कर सके ॥ २३ ॥

न शक्यो वायुराकाशे पाशैर्बद्धुं महाजवः।
दीप्यमानस्य वाप्यग्नेर्ग्रहीतुं विमलाः शिखाः॥ २४ ॥

'आकाशमें महान् वेगसे बहनेवाली वायुको रस्सियोंमें नहीं बाँधा जा सकता अथवा प्रज्वलित अग्निकी निर्मल ज्वालाओंको हाथोंसे नहीं पकड़ा जा सकता ॥ २४ ॥

त्रयाणामपि लोकानां न तं पश्यामि शोभने।
विक्रमेण नयेद् यस्त्वां मद्बाहुपरिपालिताम् ॥ २५ ॥

'शोभने ! मैं तीनों लोकोंमें किसी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो मेरी भुजाओंसे सुरक्षित तुमको पराक्रम करके यहाँसे ले जा सके ॥ २५ ॥

लङ्कायाः सुमहद्राज्यमिदं त्वमनुपालय।
त्वत्प्रेष्या मद्विधाश्चैव देवाश्चापि चराचरम् ॥ २६ ॥

'लङ्काके इस विशाल राज्यका तुम्हीं पालन करो। मुझ-जैसे राक्षस, देवता तथा सम्पूर्ण चराचर जगत् तुम्हारे सेवक बनकर रहेंगे ॥ २६ ॥

अभिषेकजलक्लिन्ना तुष्टा च रमयस्व च।
दुष्कृतं यत्पुरा कर्म वनवासेन तद्गतम् ॥ २७ ॥
यच्च ते सुकृतं कर्म तस्येह फलमाप्नुहि।

'स्नानके जलसे आर्द्र (अथवा लङ्काके राज्यपर अपना अभिषेक कराकर उसके जलसे आर्द्र) होकर संतुष्ट हो तुम अपने-आपको क्रीडाविनोदमें लगाओ। तुम्हारा पहलेका जो दुष्कर्म था, वह वनवासका कष्ट देकर समाप्त हो गया। अब जो तुम्हारा पुण्यकर्म शेष है, उसका फल यहाँ भोगो ॥ २७½ ॥

इह सर्वाणि माल्यानि दिव्यगन्धानि मैथिलि ॥ २८ ॥
भूषणानि च मुख्यानि तानि सेव मया सह।

'मिथिलेशकुमारी ! तुम मेरे साथ यहाँ रहकर सब प्रकारके पुष्पहार, दिव्य गन्ध और श्रेष्ठ आभूषण आदिका सेवन करो ॥ २८½ ॥

पुष्पकं नाम सुश्रोणि भ्रातुर्वैश्रवणस्य मे ॥ २९ ॥
विमानं सूर्यसंकाशं तरसा निर्जितं रणे।
विशालं रमणीयं च तद्विमानं मनोजवम् ॥ ३० ॥
तत्र सीते मया सार्धं विहरस्व यथासुखम्।

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली सुन्दरी ! वह सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाला पुष्पकविमान मेरे भाई कुबेरका था। उसे मैंने बलपूर्वक जीता है। यह अत्यन्त रमणीय, विशाल तथा मनके समान वेगसे चलनेवाला है। सीते ! तुम उसके ऊपर मेरे साथ बैठकर सुखपूर्वक विहार करो ॥ २९-३०½ ॥

वदनं पद्मसंकाशं विमलं चारुदर्शनम् ॥ ३१ ॥
शोकार्तं तु वरारोहे न भ्राजति वरानने।

'वरारोहे सुमुखि ! तुम्हारा यह कमलके समान सुन्दर निर्मल और मनोहर दिखायी देनेवाला मुख शोकसे पीड़ित होनेके कारण शोभा नहीं पा रहा है' ॥ ३१½ ॥

एवं वदति तस्मिन् सा वस्त्रान्तेन वराङ्गना ॥ ३२ ॥
पिधायेन्दुनिभं सीता मन्दमश्रूण्यवर्तयत्।

जब रावण ऐसी बातें कहने लगा, तब परम सुन्दरी सीता देवी चन्द्रमाके समान मनोहर अपने मुखको आँचलसे ढककर धीरे-धीरे आँसू बहाने लगीं ॥ ३२½ ॥

ध्यायन्तीं तामिवास्वस्थां सीतां चिन्ताहतप्रभाम् ३३
उवाच वचनं वीरो रावणो रजनीचरः।

सीता शोकसे अस्वस्थ-सी हो रही थीं, चिन्तासे उनकी कान्ति नष्ट-सी हो गयी थी और वे भगवान् रामका ध्यान करने लगी थीं। उस अवस्थामें उनसे वह वीर निशाचर रावण इस प्रकार बोला—॥ ३३½ ॥

अलं व्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृतेन ते ॥ ३४ ॥
आर्षोऽयं देवि निष्पन्दो यस्त्वामभिभविष्यति।

'विदेहनन्दिनि ! अपने पतिके त्याग और परपुरुषके अङ्गीकारसे जो धर्मलोपकी आशङ्का होती है, उसके कारण तुम्हें यहाँ लज्जा नहीं होनी चाहिये, इस तरहकी लाज व्यर्थ है। देवि ! तुम्हारे साथ जो मेरा स्नेह-सम्बन्ध होगा, वह आर्ष[1] धर्मशास्त्रोंद्वारा समर्थित है ॥ ३४½ ॥

---

१. ऐसा कहकर रावण देवी सीताको धोखा देना चाहता है। वास्तवमें ऐसे पापपूर्ण कृत्योंका समर्थन धर्मशास्त्रोंमें कहीं नहीं है। कुमारी कन्याका बलपूर्वक अपहरण शास्त्रोंमें राक्षसविवाह कहा गया है; किंतु वह भी निन्द्य ही माना गया है, यहाँ तो वह भी नहीं है। विवाहिता सती साध्वीका अपहरण घोर पाप माना गया है। इसी पापसे सोनेकी लङ्का मिट्टीमें मिल गयी और रावण दल-बल-कुल-परिवारसहित नष्ट हो गया।

एतौ पादौ मया स्निग्धौ शिरोभिः परिपीडितौ ॥ ३५ ॥
प्रसादं कुरु मे क्षिप्रं वश्यो दासोऽहमस्मि ते ।

'तुम्हारे इन कोमल एवं चिकने चरणोंपर मैं अपने ये दसों मस्तक रख रहा हूँ । अब शीघ्र मुझपर कृपा करो । मैं सदा तुम्हारे अधीन रहनेवाला दास हूँ ॥ ३५½ ॥

इमाः शून्या मया वाचः शुष्यमाणेन भाषिताः ॥ ३६ ॥
न चापि रावणः कांचिन्मूर्ध्ना स्त्रीं प्रणमेत ह ।

'मैंने कामाग्निसे संतप्त होकर ये बातें कही हैं। ये शून्य (निष्फल) न हों, ऐसी कृपा करो; क्योंकि रावण किसी स्त्रीको सिर झुकाकर प्रणाम नहीं करता, (केवल) तुम्हारे सामने इसका मस्तक झुका है' ॥ ३६½ ॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मैथिलीं जनकात्मजाम् ।
कृतान्तवशमापन्नो ममेयमिति मन्यते ॥ ३७ ॥

मिथिलेशकुमारी जानकीसे ऐसा कहकर कालके वशीभूत हुआ रावण मन-ही-मन मानने लगा कि 'यह अब मेरे अधीन हो गयी' ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

सीताका श्रीरामके प्रति अपना अनन्य अनुराग दिखाकर रावणको फटकारना तथा रावणकी आज्ञासे राक्षसियोंका उन्हें अशोकवाटिकामें ले जाकर डराना

सा तथोक्ता तु वैदेही निर्भया शोककर्शिता ।
तृणमन्तरतः कृत्वा रावणं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

रावणके ऐसा कहनेपर शोकसे कष्ट पाती हुई विदेह-राजकुमारी सीता बीचमें तिनकेकी ओट करके उस निशाचरसे निर्भय होकर बोलीं—॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम धर्मसेतुरिवाचलः ।
सत्यसंधः परिज्ञातो यस्य पुत्रः स राघवः ॥ २ ॥
रामो नाम स धर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
दीर्घबाहुर्विशालाक्षो दैवतं स पतिर्मम ॥ ३ ॥

'महाराज दशरथ धर्मके अचल सेतुके समान थे । वे अपनी सत्यप्रतिज्ञताके लिये सर्वत्र विख्यात थे। उनके पुत्र जो रघुकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे भी अपने धर्मात्मापनके लिये तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं, उनकी भुजाएँ लंबी और आँखें बड़ी-बड़ी हैं । वे ही मेरे आराध्य देवता और पति हैं ॥ २-३ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा यस्ते प्राणान् वधिष्यति ॥ ४ ॥

'उनका जन्म इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है । उनके कंधे सिंहके समान और तेज महान् है । वे अपने भाई लक्ष्मणके साथ आकर तेरे प्राणोंका विनाश कर डालेंगे ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं यद्यहं तस्य त्वया वै धर्षिता बलात् ।
शयिता त्वं हतः संख्ये जनस्थाने यथा खरः ॥ ५ ॥

'यदि तू उनके सामने बलपूर्वक मेरा अपहरण करता तो अपने भाई खरकी तरह जनस्थानके युद्धस्थलमें ही मारा जाकर सदाके लिये सो जाता ॥ ५ ॥

य एते राक्षसाः प्रोक्ता घोररूपा महाबलाः ।
राघवे निर्विषाः सर्वे सुपर्णे पन्नगा यथा ॥ ६ ॥

'तूने जो इन घोर रूपधारी महाबली राक्षसोंकी चर्चा की है, श्रीरामके पास जाते ही इन सबका विष उतर जायगा; ठीक उसी तरह जैसे गरुड़के पास सारे सर्प विषके प्रभावसे रहित हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तस्य ज्याविप्रमुक्तास्ते शराः काञ्चनभूषणाः ।
शरीरं विधमिष्यन्ति गङ्गाकूलमिवोर्मयः ॥ ७ ॥

'जैसे बढ़ी हुई गङ्गाकी लहरें अपने कगारोंको काट गिराती हैं, उसी प्रकार श्रीरामके धनुषकी डोरीसे छूटे हुए सुवर्णभूषित बाण तेरे शरीरको छिन्न-भिन्न कर डालेंगे ॥ ७ ॥

असुरैर्वा सुरैर्वा त्वं यद्यवध्योऽसि रावण ।
उत्पाद्य सुमहद् वैरं जीवंस्तस्य न मोक्ष्यसे ॥ ८ ॥

'रावण ! तू असुरों अथवा देवताओंसे यदि अवध्य है तो सम्भव है, वे तुझे न मार सकें; किंतु भगवान् श्रीरामके साथ यह महान् वैर ठानकर तू किसी तरह जीवित नहीं छूट सकेगा ॥ ८ ॥

स ते जीवितशेषस्य राघवोऽन्तकरो बली ।
पशोर्यूपगतस्येव जीवितं तव दुर्लभम् ॥ ९ ॥

'श्रीरघुनाथजी बड़े बलवान् हैं । वे तेरे शेष जीवन-का अन्त कर डालेंगे । यूपमें बँधे हुए पशुकी भाँति तेरा जीवन दुर्लभ हो जायगा ॥ ९ ॥

यदि पश्येत् स रामस्त्वां रोषदीप्तेन चक्षुषा ।
रक्षस्त्वमद्य निर्दग्धो यथा रुद्रेण मन्मथः ॥ १० ॥

'राक्षस ! यदि श्रीरामचन्द्रजी अपनी रोषभरी दृष्टिसे तुझे देख लें तो तू अभी उसी तरह जलकर खाक हो जायगा जैसे भगवान् शङ्करने कामदेवको भस्म किया था ॥ १० ॥

यश्चन्द्रं नभसो भूमौ पातयेन्नाशयेत वा।
सागरं शोषयेद् वापि स सीतां मोचयेदिह ॥ ११ ॥

'जो चन्द्रमाको आकाशसे पृथ्वीपर गिराने या नष्ट करनेकी शक्ति रखते हैं अथवा जो समुद्रको भी सुखा सकते हैं, वे भगवान् श्रीराम यहाँ पहुँचकर सीताको भी छुड़ा सकते हैं ॥ ११ ॥

गतासुस्त्वं गतश्रीको गतसत्त्वो गतेन्द्रियः।
लङ्का वैधव्यसंयुक्ता त्वत्कृतेन भविष्यति ॥ १२ ॥

'तू समझ ले कि तेरे प्राण अब चले गये । तेरी राज्यलक्ष्मी नष्ट हो गयी । तेरे बल और इन्द्रियोंका भी नाश हो गया तथा तेरे ही पापके कारण तेरी यह लङ्का भी अब विधवा हो जायगी ॥ १२ ॥

न ते पापमिदं कर्म सुखोदर्कं भविष्यति।
याहं नीता विनाभावं पतिपार्श्वात् त्वया बलात्॥ १३ ॥

'तेरा यह पापकर्म तुझे भविष्यमें सुख नहीं भोगने देगा; क्योंकि तूने मुझे बलपूर्वक पतिके पाससे दूर हटाया है ॥ १३ ॥

स हि देवरसंयुक्तो मम भर्ता महाद्युतिः।
निर्भयो वीर्यमाश्रित्य शून्ये वसति दण्डके ॥ १४ ॥

'मेरे स्वामी महान् तेजस्वी हैं और मेरे देवरके साथ अपने ही पराक्रमका भरोसा करके सूने दण्डकारण्यमें निर्भयतापूर्वक निवास करते हैं ॥ १४ ॥

स ते वीर्यं बलं दर्पमुत्सेकं च तथाविधम्।
अपनेष्यति गात्रेभ्यः शरवर्षेण संयुगे ॥ १५ ॥

'वे युद्धमें बाणोंकी वर्षा करके तेरे शरीरसे बल, पराक्रम, घमंड तथा ऐसे उच्छृङ्खल आचरणको भी निकाल बाहर करेंगे ॥ १५ ॥

यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः।
तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः ॥ १६ ॥

'जब कालकी प्रेरणासे प्राणियोंका विनाश निकट आता है, उस समय मृत्युके अधीन हुए जीव प्रत्येक कार्यमें प्रमाद करने लगते हैं ॥ १६ ॥

मां प्रधृष्य स ते कालः प्राप्तोऽयं राक्षसाधम।
आत्मनो राक्षसानां च वधायान्तःपुरस्य च ॥ १७॥

'अधम निशाचर ! मेरा अपहरण करनेके कारण तेरे लिये भी वही काल आ पहुँचा है। तेरे अपने लिये, सारे राक्षसोंके लिये तथा इस अन्तःपुरके लिये भी विनाशकी घड़ी निकट आ गयी है ॥ १७ ॥

न शक्या यज्ञमध्यस्था वेदिः स्रुग्भाण्डमण्डिता।
द्विजातिमन्त्रसम्पूता चण्डालेनावमर्दितुम् ॥ १८ ॥

'यज्ञशालाके बीचकी वेदीपर, जो द्विजातियोंके मन्त्रद्वारा पवित्र की गयी होती है तथा जिसे स्रुक्, स्रुवा आदि यज्ञपात्र सुशोभित करते हैं, चाण्डाल अपना पैर नहीं रख सकता ॥ १८ ॥

तथाहं धर्मनित्यस्य धर्मपत्नी दृढव्रता।
त्वया स्प्रष्टुं न शक्याहं राक्षसाधम पापिना ॥ १९ ॥

'उसी प्रकार मैं नित्य धर्मपरायण भगवान् श्रीरामकी धर्मपत्नी हूँ तथा दृढ़तापूर्वक पातिव्रत्यधर्मका पालन करती हूँ (अतः यज्ञवेदीके समान हूँ) और राक्षसाधम ! तू महापापी है (अतः चाण्डालके तुल्य है); इसलिये मेरा स्पर्श नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

क्रीडन्ती राजहंसेन पद्मषण्डेषु नित्यशः।
हंसी सा तृणमध्यस्थं कथं द्रक्ष्येत मद्गुकम् ॥ २० ॥

'जो सदा कमलके समूहोंमें राजहंसके साथ क्रीड़ा करती है, वह हंसी तृणोंमें रहनेवाले जलकाककी ओर कैसे दृष्टिपात करेगी ॥ २० ॥

इदं शरीरं निःसंज्ञं बन्ध वा घातयस्व वा।
नेदं शरीरं रक्ष्यं मे जीवितं वापि राक्षस ॥ २१ ॥

'राक्षस ! तू इस संज्ञाशून्य जड़ शरीरको बाँधकर रख ले या काट डाल। मैं स्वयं ही इस शरीर और जीवनको नहीं रखना चाहती ॥ २१ ॥

न तु शक्यमपक्रोशं पृथिव्यां दातुमात्मनः।
एवमुक्त्वा तु वैदेही क्रोधात् सुपरुषं वचः ॥ २२ ॥
रावणं जानकी तत्र पुनर्नोवाच किंचन।

'मैं इस भूतलपर अपने लिये निन्दा या कलङ्क देनेवाला कोई कार्य नहीं कर सकती।' रावणसे क्रोधपूर्वक यह अत्यन्त कठोर वचन कहकर विदेहकुमारी जानकी चुप हो गयीं; वे वहाँ फिर कुछ नहीं बोलीं ॥ २२½ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं रोमहर्षणम् ॥ २३ ॥
प्रत्युवाच ततः सीतां भयसंदर्शनं वचः।

सीताका वह कठोर वचन रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। उसे सुनकर रावणने उनसे भय दिखानेवाली बात कही—॥ २३½ ॥

शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान् द्वादश भामिनि॥ २४ ॥
कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि।
ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः ॥ २५ ॥

'मनोहर हास्यवाली भामिनि ! मिथिलेशकुमारी ! मेरी बात सुन लो। मैं तुम्हें बारह महीनेका समय देता हूँ। इतने समयमें यदि तुम स्वेच्छापूर्वक मेरे पास नहीं आओगी

तो मेरे रसोइये सबेरेका कलेवा तैयार करनेके लिये तुम्हारे शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे' ॥ २४-२५ ॥

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणः शत्रुरावणः ।
राक्षसीश्च ततः क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

सीतासे ऐसी कठोर बात कहकर शत्रुओंको रुलानेवाला रावण कुपित हो राक्षसियोंसे इस प्रकार बोला— ॥ २६ ॥

शीघ्रमेव हि राक्षस्यो विरूपा घोरदर्शनाः ।
दर्पमस्यापनेष्यन्तु मांसशोणितभोजनाः ॥ २७ ॥

'अपने विकराल रूपके कारण भयङ्कर दिखायी देनेवाली तथा रक्त-मांसका आहार करनेवाली राक्षसियो ! तुमलोग शीघ्र ही इस सीताका अहंकार दूर करो' ॥ २७ ॥

वचनादेव तास्तस्य सुघोरा घोरदर्शनाः ।
कृतप्राञ्जलयो भूत्वा मैथिलीं पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

रावणके इतना कहते ही वे भयंकर दिखायी देनेवाली अत्यन्त घोर राक्षसियाँ हाथ जोड़े मैथिलीको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं ॥ २८ ॥

स ताः प्रोवाच राजासौ रावणो घोरदर्शनाः ।
प्रचल्य चरणोत्कर्षैर्दारयन्निव मेदिनीम् ॥ २९ ॥

तब राजा रावण अपने पैरोंके धमाकेसे पृथ्वीको विदीर्ण करता हुआ-सा दो-चार पग चलकर उन भयानक राक्षसियोंसे बोला— ॥ २९ ॥

अशोकवनिकामध्ये मैथिली नीयतामिति ।
तत्रेयं रक्ष्यतां गूढं युष्माभिः परिवारिता ॥ ३० ॥

'निशाचरियो ! तुमलोग मिथिलेशकुमारी सीताको अशोकवाटिकामें ले जाओ और चारों ओरसे घेरकर वहाँ गूढ़ भावसे इसकी रक्षा करती रहो ॥ ३० ॥

तत्रैनां तर्जनैर्घोरैः पुनः सान्त्वैश्च मैथिलीम् ।
आनयध्वं वशं सर्वा वन्यां गजवधूमिव ॥ ३१ ॥

'वहाँ पहले तो भयंकर गर्जन-तर्जन करके इसे डराना; फिर मीठे-मीठे वचनोंसे समझा-बुझाकर जंगलकी हथिनीकी भाँति इस मिथिलेशकुमारीको तुम सब लोग वशमें लानेकी चेष्टा करना' ॥ ३१ ॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षस्यो रावणेन ताः ।
अशोकवनिकां जग्मुर्मैथिलीं परिगृह्य तु ॥ ३२ ॥

रावणके इस प्रकार आदेश देनेपर वे राक्षसियाँ मैथिलीको साथ लेकर अशोकवाटिकामें चली गयीं ॥ ३२ ॥

सर्वकामफलैर्वृक्षैर्नानापुष्पफलैर्वृताम् ।
सर्वकालमदैश्चापि द्विजैः समुपसेविताम् ॥ ३३ ॥

वह वाटिका समस्त कामनाओंको फलरूपमें प्रदान करनेवाले कल्पवृक्षों तथा भाँति-भाँतिके फल-फूलवाले दूसरे-दूसरे वृक्षोंसे भी भरी थी तथा हर समय मदमत्त रहनेवाले पक्षी उसमें निवास करते थे ॥ ३३ ॥

सा तु शोकपरीताङ्गी मैथिली जनकात्मजा ।
राक्षसीवशमापन्ना व्याघ्रीणां हरिणी यथा ॥ ३४ ॥

परंतु वहाँ जानेपर मिथिलेशकुमारी जानकीके अङ्ग-अङ्गमें शोक व्याप्त हो गया । राक्षसियोंके वशमें पड़कर उनकी दशा बाघिनोंके बीचमें घिरी हुई हरिणीके समान हो गयी थी ॥ ३४ ॥

शोकेन महता ग्रस्ता मैथिली जनकात्मजा ।
न शर्म लभते भीरुः पाशबद्धा मृगी यथा ॥ ३५ ॥

महान् शोकसे ग्रस्त हुई मिथिलेशनन्दिनी जानकी जालमें फँसी हुई मृगीके समान भयभीत हो क्षणभरके लिये भी चैन नहीं पाती थीं ॥ ३५ ॥

न विन्दते तत्र तु शर्म मैथिली
विरूपनेत्राभिरतीव तर्जिता ।
पतिं स्मरन्ती दयितं च देवरं
विचेतनाभूद् भयशोकपीडिता ॥ ३६ ॥

विकराल रूप और नेत्रोंवाली राक्षसियोंकी अत्यन्त डाँट-फटकार सुननेके कारण मिथिलेशकुमारी सीताको वहाँ शान्ति नहीं मिली । वे भय और शोकसे पीड़ित हो प्रियतम पति और देवरका स्मरण करती हुई अचेत-सी हो गयीं ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

प्रक्षिप्तः सर्गः[1]

ब्रह्माजीकी आज्ञासे देवराज इन्द्रका निद्रासहित लङ्कामें जाकर सीताको दिव्य खीर अर्पित करना और उनसे विदा लेकर लौटना

प्रवेशितायां सीतायां लङ्कां प्रति पितामहः ।
तदा प्रोवाच देवेन्द्रं परितुष्टं शतक्रतुम् ॥ १ ॥

जब सीताका लङ्कामें प्रवेश हो गया, तब पितामह ब्रह्माजीने संतुष्ट हुए देवराज इन्द्रसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

---

१. यह सर्ग प्रसंगके अनुकूल और उत्तम है । कुछ प्रतियोंमें यह सानुवाद प्रकाशित भी है, परंतु इसपर तिलक आदि संस्कृत टीकाएँ नहीं उपलब्ध होती हैं; इसलिये कुछ लोगोंने इसे प्रक्षिप्त माना है । उपयोगी होनेके कारण इसे भी यहाँ सानुवाद प्रकाशित किया जाता है ।

त्रैलोक्यस्य हितार्थाय रक्षसामहिताय च।
लङ्कां प्रवेशिता सीता रावणेन दुरात्मना ॥ २ ॥

'देवराज! तीनों लोकोंके हित और राक्षसोंके विनाशके लिये दुरात्मा रावणने सीताको लङ्कामें पहुँचा दिया ॥ २ ॥

पतिव्रता महाभागा नित्यं चैव सुखैधिता।
अपश्यन्ती च भर्तारं पश्यन्ती राक्षसीजनम् ॥ ३ ॥
राक्षसीभिः परिवृता भर्तृदर्शनलालसा।

'पतिव्रता महाभागा जानकी सदा सुखमें ही पली हैं। इस समय वे अपने पतिके दर्शनसे वञ्चित हो गयी हैं और राक्षसियोंसे घिरी रहनेके कारण सदा उन्हींको अपने सामने देखती हैं। उनके हृदयमें अपने पतिके दर्शनकी तीव्र लालसा बनी हुई है ॥ ३½ ॥

निविष्टा हि पुरी लङ्का तीरे नदनदीपतेः ॥ ४ ॥
कथं ज्ञास्यति तां रामस्तत्रस्थां तामनिन्दिताम्।

'लङ्कापुरी समुद्रके तटपर बसी हुई है। वहाँ रहती हुई सती-साध्वी सीताका पता श्रीरामचन्द्रजीको कैसे लगेगा॥

दुःखं संचिन्तयन्ती सा बहुशः परिदुर्लभा ॥ ५ ॥
प्राणयात्रामकुर्वाणा प्राणांस्त्यक्ष्यत्यसंशयम्।
स भूयः संशयो जातः सीतायाः प्राणसंक्षये ॥ ६ ॥

'सीता दुःखके साथ नाना प्रकारकी चिन्ताओंमें डूबी रहती हैं। पतिके लिये इस समय वे अत्यन्त दुर्लभ हो गयी हैं। प्राणयात्रा(भोजन) नहीं करती हैं; अतः ऐसी दशामें निःसंदेह वे अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगी। सीता-के प्राणोंका क्षय हो जानेपर हमारे उद्देश्यकी सिद्धिमें पुनः पूर्ववत् संदेह उपस्थित हो जायगा ॥ ५-६ ॥

स त्वं शीघ्रमितो गत्वा सीतां पश्य शुभाननाम्।
प्रविश्य नगरीं लङ्कां प्रयच्छ हविरुत्तमम् ॥ ७ ॥

'अतः तुम शीघ्र ही यहाँसे जाकर लङ्कापुरीमें प्रवेश करके सुमुखी सीतासे मिलो और उन्हें उत्तम हविष्य प्रदान करो' ॥ ७ ॥

एवमुक्तोऽथ देवेन्द्रः पुरीं रावणपालिताम्।
आगच्छन्निद्रया सार्धं भगवान् पाकशासनः ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर पाकशासन भगवान् इन्द्र निद्राको साथ लेकर रावणद्वारा पालित लङ्कापुरीमें आये॥८॥

निद्रां चोवाच गच्छ त्वं राक्षसान् सम्प्रमोहय।
सा तथोक्ता मघवता देवी परमहर्षिता ॥ ९ ॥
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं प्रामोहयत राक्षसान्।

वहाँ आकर इन्द्रने निद्रासे कहा—'तुम राक्षसोंको मोहित करो।' इन्द्रसे ऐसी आज्ञा पाकर देवी निद्रा बहुत प्रसन्न हुई। देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये उन्होंने राक्षसोंको मोह (निद्रा) में डाल दिया ॥ ९½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवः सहस्राक्षः शचीपतिः ॥ १० ॥
आससाद वनस्थां तां वचनं चेदमब्रवीत्।

इसी बीचमें सहस्र नेत्रधारी शचीपति देवराज इन्द्र अशोकवाटिकामें बैठी हुई सीताके पास गये और इस प्रकार बोले—॥ १०½ ॥

देवराजोऽस्मि भद्रं ते इह चास्मि शुचिस्मिते ॥ ११ ॥
अहं त्वां कार्यसिद्ध्यर्थं राघवस्य महात्मनः।
साहाय्यं कल्पयिष्यामि मा शुचो जनकात्मजे ॥ १२ ॥

'पवित्र मुसकानवाली देवि! आपका भला हो। मैं देवराज इन्द्र यहाँ आपके पास आया हूँ। जनककिशोरी! मैं आपके उद्धारकार्यकी सिद्धिके लिये महात्मा श्रीरघुनाथजीकी सहायता करूँगा, अतः आप शोक न करें ॥ ११-१२ ॥

मत्प्रसादात् समुद्रं स तरिष्यति बलैः सह।
मयैवेह च राक्षस्यो मायया मोहिताः शुभे ॥ १३ ॥

'वे मेरे प्रसादसे बड़ी भारी सेनाके साथ समुद्रको पार करेंगे। शुभे! मैंने ही यहाँ इन राक्षसियोंको अपनी मायासे मोहित किया है ॥ १३ ॥

तस्मादन्नमिदं सीते हविष्यान्नमहं स्वयम्।
स त्वां संगृह्य वैदेहि आगतः सह निद्रया ॥ १४ ॥

'विदेहनन्दिनी सीते! इसलिये मैं स्वयं ही यह भोजन—यह हविष्यान्न लेकर निद्राके साथ तुम्हारे पास आया हूँ ॥ १४ ॥

एतदत्स्यसि मद्धस्तान्न त्वां बाधिष्यते शुभे।
क्षुधा तृषा च रम्भोरु वर्षाणामयुतैरपि ॥ १५ ॥

'शुभे! रम्भोरु! यदि मेरे हाथसे इस हविष्यको लेकर खा लोगी तो तुम्हें हजारों वर्षोंतक भूख और प्यास नहीं सतायेगी' ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु देवेन्द्रमुवाच परिशङ्किता।
कथं जानामि देवेन्द्रं त्वामिहस्थं शचीपतिम् ॥ १६ ॥

देवराजके ऐसा कहनेपर शङ्कित हुई सीताने उनसे कहा—'मुझे कैसे विश्वास हो कि आप शचीपति देवराज इन्द्र ही यहाँ पधारे हैं? ॥ १६ ॥

देवलिङ्गानि दृष्टानि रामलक्ष्मणसंनिधौ।
तानि दर्शय देवेन्द्र यदि त्वं देवराट् स्वयम् ॥ १७ ॥

'देवेन्द्र! मैंने श्रीराम और लक्ष्मणके समीप देवताओंके लक्षण अपनी आँखों देखे हैं। यदि आप साक्षात् देवराज हैं तो उन लक्षणोंको दिखाइये'॥ १७ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा तथा चक्रे शचीपतिः।
पृथिवीं नास्पृशत् पद्भ्यामनिमेषेक्षणानि च ॥ १८ ॥
अरजोऽम्बरधारी च नम्लानकुसुमस्तथा।
तं ज्ञात्वा लक्षणैः सीता वासवं परिहर्षिता ॥ १९ ॥

सीताकी यह बात सुनकर शचीपति इन्द्रने वैसा ही किया। उन्होंने अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं किया—आकाशमें निराधार खड़े रहे। उनकी आँखोंकी पलकें नहीं गिरती थीं। उन्होंने जो वस्त्र धारण किया था, उसपर धूलका स्पर्श नहीं होता था। उनके कण्ठमें जो पुष्पमाला थी, उसके पुष्प कुम्हलाते नहीं थे। देवोचित लक्षणोंसे इन्द्रको पहचानकर सीता बहुत प्रसन्न हुईं ॥ १८-१९ ॥

उवाच वाक्यं रुदती भगवन् राघवं प्रति।
सह भ्रात्रा महाबाहुर्दिष्ट्या मे श्रुतिमागतः ॥ २० ॥

वे भगवान् श्रीरामके लिये रोती हुई बोलीं—'भगवन्! सौभाग्यकी बात है कि आज भाईसहित महाबाहु श्रीरामका नाम मेरे कानोंमें पड़ा है ॥ २० ॥

यथा मे श्वशुरो राजा यथा च मिथिलाधिपः।
तथा त्वामद्य पश्यामि सनाथो मे पतिस्त्वया ॥ २१ ॥

'मेरे लिये जैसे मेरे श्वशुर महाराज दशरथ तथा पिता मिथिलानरेश जनक हैं, उसी रूपमें मैं आज आपको देखती हूँ। मेरे पति आपके द्वारा सनाथ हैं ॥ २१ ॥

तवाज्ञया च देवेन्द्र पयोभूतमिदं हविः।
अशिष्यामि त्वया दत्तं रघूणां कुलवर्धनम् ॥ २२ ॥

'देवेन्द्र! आपकी आज्ञासे मैं यह पायसरूप हविष्य (दूधकी बनी हुई खीर), जिसे आपने दिया है, खाऊँगी। यह रघुकुलकी वृद्धि करनेवाला हो' ॥ २२ ॥

इन्द्रहस्ताद् गृहीत्वा तत् पायसं सा शुचिस्मिता।
न्यवेदयत भर्त्रे सा लक्ष्मणाय च मैथिली ॥ २३ ॥

इन्द्रके हाथसे उस खीरको लेकर उन पवित्र मुसकानवाली मैथिलीने मन-ही-मन पहले उसे अपने स्वामी श्रीराम और देवर लक्ष्मणको निवेदन किया और इस प्रकार कहा—॥ २३ ॥

यदि जीवति मे भर्ता सह भ्रात्रा महाबलः।
इदमस्तु तयोर्भक्त्या तदाश्नात् पायसं स्वयम् ॥ २४ ॥

'यदि मेरे महाबली स्वामी अपने भाईके साथ जीवित हैं तो यह भक्तिभावसे उन दोनोंके लिये समर्पित है।' इतना कहनेके पश्चात् उन्होंने स्वयं उस खीरको खाया ॥ २४ ॥

इतीव तत् प्राश्य हविर्वरानना
जहौ क्षुधादुःखसमुद्भवं च तम्।
इन्द्रात् प्रवृत्तिमुपलभ्य जानकी
काकुत्स्थयोः प्रीतमना बभूव ॥ २५ ॥

इस प्रकार उस हविष्यको खाकर सुन्दर मुखवाली जानकीने भूख-प्यासके कष्टको त्याग दिया और इन्द्रके मुखसे श्रीराम तथा लक्ष्मणका समाचार पाकर वे जनकनन्दिनी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुईं ॥ २५ ॥

स चापि शक्रस्त्रिदिवालयं तदा
प्रीतो ययौ राघवकार्यसिद्धये।
आमन्त्र्य सीतां स ततो महात्मा
जगाम निद्रासहितः स्वमालयम् ॥ २६ ॥

तब निद्रासहित महात्मा देवराज इन्द्र भी प्रसन्न हो सीतासे विदा लेकर श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये अपने निवासस्थान देवलोकको चले गये ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे प्रक्षिप्तः सर्गः ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें प्रक्षिप्त सर्ग पूरा हुआ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका लौटना, मार्गमें अपशकुन देखकर चिन्तित होना तथा लक्ष्मणसे मिलनेपर उन्हें उलाहना दे सीतापर सङ्कट आनेकी आशङ्का करना

राक्षसं मृगरूपेण चरन्तं कामरूपिणम्।
निहत्य रामो मारीचं तूर्णं पथि न्यवर्तत ॥ १ ॥

इधर मृगरूपसे विचरते हुए उस इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस मारीचका वध करके श्रीरामचन्द्रजी तुरंत ही आश्रमके मार्गपर लौटे ॥ १ ॥

तस्य संत्वरमाणस्य द्रष्टुकामस्य मैथिलीम्।
क्रूरस्वनोऽथ गोमायुर्विननादास्य पृष्ठतः ॥ २ ॥

वे सीताको देखनेके लिये जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए आ रहे थे। इतनेहीमें पीछेकी ओरसे एक सियारिन बड़े कठोर स्वरमें चीत्कार करने लगी ॥ २ ॥

स तस्य स्वरमाज्ञाय दारुणं रोमहर्षणम्।
चिन्तयामास गोमायोः स्वरेण परिशङ्कितः ॥ ३ ॥

गीदड़ीके उस स्वरसे श्रीरामचन्द्रजीके मनमें कुछ शङ्का हुई। उसका स्वर बड़ा ही भयंकर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। उसका अनुभव करके वे बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥ ३ ॥

अशुभं बत मन्येऽहं गोमायुर्वाश्यते यथा।
स्वस्ति स्यादपि वैदेह्या राक्षसैर्भक्षणं विना ॥ ४ ॥

वे मन-ही-मन कहने लगे—'यह सियारिन जैसी बोली बोल रही है, इससे तो मुझे मालूम हो रहा है कि कोई

अशुभ घटना घटित हो गयी। क्या विदेहनन्दिनी सीता कुशलसे होंगी? उन्हें राक्षस तो नहीं खा गये? ॥ ४ ॥

मारीचेन तु विज्ञाय स्वरमालक्ष्य मामकम्।
विक्रुष्टं मृगरूपेण लक्ष्मणः शृणुयाद् यदि ॥ ५ ॥

'मृगरूपधारी मारीचने जान-बूझकर मेरे स्वरका अनुसरण करते हुए जो आर्तपुकार की थी, वह इसलिये कि शायद इसे लक्ष्मण सुन सकें ॥ ५ ॥

स सौमित्रिः स्वरं श्रुत्वा तां च हित्वाथ मैथिलीम्।
तयैव प्रहितः क्षिप्रं मत्सकाशमिहैष्यति ॥ ६ ॥

'सुमित्रानन्दन लक्ष्मण वह स्वर सुनते ही सीताके ही भेजनेपर उसे अकेली छोड़कर तुरंत मेरे पास यहाँ पहुँचनेके लिये चल देंगे ॥ ६ ॥

राक्षसैः सहितैर्नूनं सीताया ईप्सितो वधः।
काञ्चनश्च मृगो भूत्वा व्यपनीयाश्रमात्तु माम् ॥ ७ ॥
दूरं नीत्वाथ मारीचो राक्षसोऽभूच्छराहतः।
हा लक्ष्मण हतोऽस्मीति यद्वाक्यं व्याजहार ह ॥ ८ ॥

'राक्षसलोग तो सब-के-सब मिलकर सीताका वध अवश्य कर देना चाहते हैं। इसी उद्देश्यसे यह मारीच राक्षस सोनेका मृग बनकर मुझे आश्रमसे दूर हटा ले आया था और मेरे बाणोंसे आहत होनेपर जो उसने आर्तनाद करते हुए कहा था कि 'हा लक्ष्मण! मैं मारा गया' इसमें भी उसका वही उद्देश्य छिपा था ॥ ७-८ ॥

अपि स्वस्ति भवेद् द्वाभ्यां रहिताभ्यां मया वने।
जनस्थाननिमित्तं हि कृतवैरोऽस्मि राक्षसैः ॥ ९ ॥

'वनमें हम दोनों भाइयोंके आश्रमसे अलग हो जानेपर क्या सीता सकुशल वहाँ रह सकेंगी? जनस्थानमें जो राक्षसोंका संहार हुआ है, उसके कारण सारे राक्षस मुझसे वैर बाँधे ही हुए हैं ॥ ९ ॥

निमित्तानि च घोराणि दृश्यन्तेऽद्य बहूनि च।
इत्येवं चिन्तयन् रामः श्रुत्वा गोमायुनिःस्वनम् ॥ १० ॥
निवर्तमानस्त्वरितो जगामाश्रममात्मवान्।

'आज बहुत-से भयङ्कर अपशकुन भी दिखायी देते हैं।' सियारिनकी बोली सुनकर इस प्रकार चिन्ता करते हुए मनको वशमें रखनेवाले श्रीराम तुरंत लौटकर आश्रमकी ओर चले ॥ १०½ ॥

आत्मनश्चापनयनं मृगरूपेण रक्षसा ॥ ११ ॥
आजगाम जनस्थानं राघवः परिशङ्कितः।

मृगरूपधारी राक्षसके द्वारा अपनेको आश्रमसे दूर हटानेकी घटनापर विचार करके श्रीरघुनाथजी शङ्कित-हृदयसे जनस्थानको आये ॥ ११½ ॥

तं दीनमानसं दीनमासेदुर्मृगपक्षिणः ॥ १२ ॥
सव्यं कृत्वा महात्मानं घोरांश्च ससृजुः स्वरान्।

उनका मन बहुत दुखी था। वे दीन हो रहे थे। उसी अवस्थामें वनके मृग और पक्षी उन्हें बायें रखते हुए वहाँ आये और भयङ्कर स्वरमें अपनी बोली बोलने लगे ॥ १२½ ॥

तानि दृष्ट्वा निमित्तानि महाघोराणि राघवः।
न्यवर्तताथ त्वरितो जवेनाश्रममात्मनः ॥ १३ ॥

उन महाभयङ्कर अपशकुनोंको देखकर श्रीरामचन्द्रजी तुरंत ही बड़े वेगसे अपने आश्रमकी ओर लौटे ॥ १३ ॥

ततो लक्ष्मणमायान्तं ददर्श विगतप्रभम्।
ततोऽविदूरे रामेण समीयाय स लक्ष्मणः ॥ १४ ॥

इतनेहीमें उन्हें लक्ष्मण आते दिखायी दिये। उनकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी। थोड़ी ही देरमें निकट आकर लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजीसे मिले ॥ १४ ॥

विषण्णः सन् विषण्णेन दुःखितो दुःखभागिना।
स जगर्हेऽथ तं भ्राता दृष्ट्वा लक्ष्मणमागतम् ॥ १५ ॥
विहाय सीतां विजने वने राक्षससेविते।

दुःख और विषादमें डूबे हुए लक्ष्मणने दुखी और विषादग्रस्त श्रीरामचन्द्रजीसे भेंट की। उस समय राक्षसोंसे सेवित निर्जन वनमें सीताको अकेली छोड़कर आये हुए लक्ष्मणको देख भाई श्रीरामने उनकी निन्दा की ॥ १५½ ॥

गृहीत्वा च करं सव्यं लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १६ ॥
उवाच मधुरोदर्कमिदं परुषमार्तवत्।

लक्ष्मणका बायाँ हाथ पकड़कर रघुनन्दन आर्त-से हो गये और पहले कठोर तथा अन्तमें मधुर वाणीद्वारा इस प्रकार बोले—॥ १६½ ॥

अहो लक्ष्मण गर्ह्यं ते कृतं यत् त्वं विहाय ताम् ॥ १७ ॥
सीतामिहागतः सौम्य कच्चित् स्वस्ति भवेदिति।

'अहो सौम्य लक्ष्मण! यह तुमने बहुत बुरा किया, जो सीताको अकेली छोड़कर यहाँ चले आये। क्या वहाँ सीता सकुशल होगी? ॥ १७½ ॥

न मेऽस्ति संशयो वीर सर्वथा जनकात्मजा ॥ १८ ॥
विनष्टा भक्षिता वापि राक्षसैर्वनचारिभिः।

'वीर! मुझे इस बातमें संदेह नहीं है कि वनमें विचरनेवाले राक्षसोंने जनककुमारी सीताको या तो सर्वथा नष्ट कर दिया होगा या वे उन्हें खा गये होंगे ॥ १८½ ॥

अशुभान्येव भूयिष्ठं यथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥ १९ ॥
अपि लक्ष्मण सीतायाः सामग्र्यं प्राप्नुयामहे।
जीवन्त्याः पुरुषव्याघ्र सुताया जनकस्य वै ॥ २० ॥

'क्योंकि मेरे आसपास बहुत-से अपशकुन हो रहे हैं। पुरुषसिंह लक्ष्मण! क्या हमलोग जीती-जागती

हुई जनकदुलारी सीताको पूर्णतः स्वस्थ एवं सकुशल पा सकेंगे?॥

यथा वै मृगसंघाश्च गोमायुश्चैव भैरवम्।
वाश्यन्ते शकुनाश्चापि प्रदीप्तामभितो दिशम्।
अपि स्वस्ति भवेत् तस्या राजपुत्र्या महाबल॥ २१॥

'महाबली लक्ष्मण! ये मृगोंके झुंड (दाहिनी ओरसे आकर) जैसा अमङ्गल सूचित कर रहे हैं, ये गीदड़ जिस तरह भैरवनाद कर रहे हैं तथा जलती-सी प्रतीत होनेवाली सम्पूर्ण दिशाओंमें पक्षी जिस तरहकी बोली बोल रहे हैं—इन सबसे यही अनुमान होता है कि राजकुमारी सीता शायद ही कुशलसे हों॥ २१॥

इदं हि रक्षो मृगसंनिकाशं
प्रलोभ्य मां दूरमनुप्रयातम्।
हतं कथंचिन्महता श्रमेण
स राक्षसोऽभून्म्रियमाण एव॥ २२॥

'यह राक्षस मृगके समान रूप धारण करके मुझे लुभाकर दूर चला आया था। महान् परिश्रम करके जब मैंने इसे किसी तरह मारा, तब यह मरते ही राक्षस हो गया॥ २२॥

मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं
चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम्।
असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता
हृता मृता वा पथि वर्तते वा॥ २३॥

'लक्ष्मण! अतः मेरा मन अत्यन्त दीन और अप्रसन्न हो रहा है। मेरी बायीं आँख फड़क रही है, इससे जान पड़ता है, निःसंदेह आश्रमपर सीता नहीं है। उसे कोई हर ले गया, वह मारी गयी अथवा (किसी राक्षसके साथ) मार्गमें होगी'॥ २३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः॥ ५७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५७॥



अष्टपञ्चाशः सर्गः

मार्गमें अनेक प्रकारकी आशङ्का करते हुए लक्ष्मणसहित श्रीरामका आश्रममें आना और वहाँ सीताको न पाकर व्यथित होना

स दृष्ट्वा लक्ष्मणं दीनं शून्यं दशरथात्मजः।
पर्यपृच्छत धर्मात्मा वैदेहीमागतं विना॥ १॥

लक्ष्मणको दीन, संतोषशून्य तथा सीताको साथ लिये बिना आया देख धर्मात्मा दशरथनन्दन श्रीरामने पूछा—॥ १॥

प्रस्थितं दण्डकारण्यं या मामनुजगाम ह।
क्व सा लक्ष्मण वैदेही यां हित्वा त्वमिहागतः॥ २॥

'लक्ष्मण! जो दण्डकारण्यकी ओर प्रस्थित होनेपर अयोध्यासे मेरे पीछे-पीछे चली आयी तथा जिसे तुम अकेली छोड़कर यहाँ आ गये, वह विदेहराजकुमारी सीता इस समय कहाँ है?॥ २॥

राज्यभ्रष्टस्य दीनस्य दण्डकान् परिधावतः।
क्व सा दुःखसहाया मे वैदेही तनुमध्यमा॥ ३॥

'मैं राज्यसे भ्रष्ट और दीन होकर दण्डकारण्यमें चक्कर लगा रहा हूँ। इस दुःखमें जो मेरी सहायिका हुई, वह तनुमध्यमा (सूक्ष्मकटिप्रदेशवाली) विदेहराजकुमारी कहाँ है?॥ ३॥

यां विना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम्।
क्व सा प्राणसहाया मे सीता सुरसुतोपमा॥ ४॥

'वीर! जिसके बिना मैं दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकता तथा जो मेरे प्राणोंकी सहचरी है, वह देवकन्याके समान सुन्दरी सीता इस समय कहाँ है?॥ ४॥

पतित्वममराणां हि पृथिव्याश्चापि लक्ष्मण।
विना तां तपनीयाभां नेच्छेयं जनकात्मजाम्॥ ५॥

'लक्ष्मण! तपाये हुए सोनेके समान कान्तिवाली जनकनन्दिनी सीताके बिना मैं पृथ्वीका राज्य और देवताओंका आधिपत्य भी नहीं चाहता॥ ५॥

कच्चिज्जीवति वैदेही प्राणैः प्रियतरा मम।
कच्चित् प्रव्राजनं वीर न मे मिथ्या भविष्यति॥ ६॥

'वीर! जो मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है, वह विदेहराजकुमारी सीता क्या अब जीवित होगी? मेरा वनमें आना सीताको खो देनेके कारण व्यर्थ तो नहीं हो जायगा?॥ ६॥

सीतानिमित्तं सौमित्रे मृते मयि गते त्वयि।
कच्चित् सकामा कैकेयी सुखिता सा भविष्यति॥ ७॥

'सुमित्रानन्दन! सीताके नष्ट हो जानेके कारण जब मैं मर जाऊँगा और तुम अकेले ही अयोध्याको लौटोगे, उस समय क्या माता कैकेयी सफलमनोरथ एवं सुखी होगी?॥ ७॥

सपुत्रराज्यां सिद्धार्थां मृतपुत्रा तपस्विनी।
उपस्थास्यति कौसल्या कच्चिन्न सौम्येन कैकयीम्॥ ८॥

'जिसका इकलौता पुत्र मैं मर जाऊँगा, वह तपस्विनी माता कौसल्या क्या पुत्र और राज्यसे सम्पन्न

तथा कृतकृत्य हुई कैकेयीकी सेवामें विनीतभावसे उपस्थित होगी ? ॥ ८ ॥

यदि जीवति वैदेही गमिष्याम्याश्रमं पुनः ।
संवृत्ता यदि वृत्ता सा प्राणांस्त्यक्ष्यामि लक्ष्मण ॥९॥

'लक्ष्मण ! यदि विदेहनन्दिनी सीता जीवित होगी, तभी मैं फिर आश्रममें पैर रखूँगा । यदि सदाचार-परायणा मैथिली मर गयी होगी तो मैं भी प्राणोंका परित्याग कर दूँगा ॥ ९ ॥

यदि मामाश्रमगतं वैदेही नाभिभाषते ।
पुरः प्रहसिता सीता विनशिष्यामि लक्ष्मण ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! यदि आश्रममें जानेपर विदेहराजकुमारी सीता हँसते हुए मुखसे सामने आकर मुझसे बात नहीं करेगी तो मैं जीवित नहीं रहूँगा ॥ १० ॥

ब्रूहि लक्ष्मण वैदेही यदि जीवति वा न वा ।
त्वयि प्रमत्ते रक्षोभिर्भक्षिता वा तपस्विनी ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण ! बोलो तो सही ! वैदेही जीवित है या नहीं ? तुम्हारे असावधान होनेके कारण राक्षस उस तपस्विनी-को खा तो नहीं गये ? ॥ ११ ॥

सुकुमारी च बाला च नित्यं चादुःखभागिनी ।
मद्वियोगेन वैदेही व्यक्तं शोचति दुर्मनाः ॥ १२ ॥

'जो सुकुमारी है, बाला (भोली-भाली) है तथा जिसने वनवासके पहले दुःखका अनुभव नहीं किया था, वह वैदेही आज मेरे वियोगसे व्यथित-चित्त होकर अवश्य ही शोक कर रही होगी ॥ १२ ॥

सर्वथा रक्षसा तेन जिह्मेन सुदुरात्मना ।
वदता लक्ष्मणेत्युच्चैस्तवापि जनितं भयम् ॥ १३ ॥

'उस कुटिल एवं दुरात्मा राक्षसने उच्चस्वरसे 'हा लक्ष्मण !' ऐसा पुकारकर तुम्हारे मनमें भी सर्वथा भय उत्पन्न कर दिया ॥ १३ ॥

श्रुतश्च मन्ये वैदेह्या स स्वरः सदृशो मम ।
त्रस्तया प्रेषितस्त्वं च द्रष्टुं मां शीघ्रमागतः ॥ १४ ॥

'जान पड़ता है, वैदेहीने भी मेरे स्वरसे मिलता-जुलता उस राक्षसका स्वर सुन लिया और भयभीत होकर तुम्हें भेज दिया और तुम भी शीघ्र ही मुझे देखनेके लिये चले आये ॥ १४ ॥

सर्वथा तु कृतं कष्टं सीतामुत्सृजता वने ।
प्रतिकर्तुं नृशंसानां रक्षसां दत्तमन्तरम् ॥ १५ ॥

'जो भी हो—तुमने वनमें सीताको अकेली छोड़-कर सर्वथा दुःखद कार्य कर डाला । क्रूर कर्म करनेवाले राक्षसोंको बदला लेनेका अवसर दे दिया ॥ १५ ॥

दुःखिताः खरघातेन राक्षसाः पिशिताशनाः ।
तैः सीता निहता घोरैर्भविष्यति न संशयः ॥ १६ ॥

'मांसभक्षी निशाचर मेरे हाथों खरके मारे जानेसे बहुत दुखी थे । उन घोर राक्षसोंने सीताको मार डाला होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥

अहोऽस्मि व्यसने मग्नः सर्वथा रिपुनाशन ।
किं त्विदानीं करिष्यामि शङ्के प्राप्तव्यमीदृशम् ॥ १७ ॥

'शत्रुनाशन ! मैं सर्वथा संकटके समुद्रमें डूब गया हूँ । ऐसे दुःखका अवश्य ही अनुभव करना पड़ेगा—ऐसी शङ्का हो रही है । अतः अब मैं क्या करूँ ?' ॥

इति सीतां वरारोहां चिन्तयन्नेव राघवः ।
आजगाम जनस्थानं त्वरया सहलक्ष्मणः ॥ १८ ॥

इस प्रकार सुन्दरी सीताके विषयमें चिन्ता करते हुए ही लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजी तुरंत जनस्थानमें आये ॥ १८ ॥

विगर्हमाणोऽनुजमार्तरूपं
क्षुधाश्रमेणैव पिपासया च ।
विनिःश्वसञ्शुष्कमुखो विषण्णः
प्रतिश्रयं प्राप्य समीक्ष्य शून्यम् ॥ १९ ॥

अपने दुखी अनुज लक्ष्मणको कोसते एवं भूख-प्यास तथा परिश्रमसे लंबी साँस खींचते हुए सूखे मुँहवाले श्रीरामचन्द्रजी आश्रमके निकटवर्ती स्थानपर आकर उसे सूना देख विषादमें डूब गये ॥ १९ ॥

स्वमाश्रमं स प्रविगाह्य वीरो
विहारदेशाननुसृत्य कांश्चित् ।
एतत्तदित्येव निवासभूमौ
प्रहृष्टरोमा व्यथितो बभूव ॥ २० ॥

वीर श्रीरामने आश्रममें प्रवेश करके उसे भी सूना देख कुछ ऐसे स्थलोंमें अनुसंधान किया, जो सीताके विहारस्थान थे । उन्हें भी सूना पाकर उस क्रीड़ाभूमिमें यही वह स्थान है, जहाँ मैंने अमुक प्रकारकी क्रीड़ा की थी, ऐसा स्मरण करके उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वे व्यथासे पीड़ित हो गये ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणकी बातचीत

अथाश्रमादुपावृत्तमन्तरा रघुनन्दनः ।
परिपप्रच्छ सौमित्रिं रामो दुःखार्दितं वचः ॥ १ ॥

(आश्रममें आनेसे पहले मार्गमें श्रीराम और लक्ष्मणने परस्पर जो बातें की थीं, उन्हें पुनः विस्तारके साथ बता रहे हैं—) सीताके कथनानुसार आश्रमसे अपने पास आये हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे मार्गमें भी रघुकुलनन्दन श्रीरामने बड़े दुःखसे यह बात पूछी—॥ १ ॥

तमुवाच किमर्थं त्वमागतोऽपास्य मैथिलीम् ।
यदा सा तव विश्वासाद् वने विरहिता मया ॥ २ ॥

'लक्ष्मण ! जब मैंने तुम्हारे विश्वासपर ही वनमें सीताको छोड़ा था, तब तुम उसे अकेली छोड़कर क्यों चले आये ? ॥ २ ॥

दृष्ट्वैवाभ्यागतं त्वां मे मैथिलीं त्यज्य लक्ष्मण ।
शङ्कमानं महत् पापं यत्सत्यं व्यथितं मनः ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण ! मिथिलेशकुमारीको छोड़कर तुम जो मेरे पास आये हो, तुम्हें देखते ही जिस महान् अनिष्टकी आशङ्का करके मेरा मन व्यथित हो रहा था, वह सत्य जान पड़ने लगा है ॥ ३ ॥

स्फुरते नयनं सव्यं बाहुश्च हृदयं च मे ।
दृष्ट्वा लक्ष्मण दूरे त्वां सीताविरहितं पथि ॥ ४ ॥

'लक्ष्मण ! मेरी बायीं आँख और बायीं भुजा फड़क रही है । तुम्हें आश्रमसे दूर सीताके बिना ही मार्गपर आते देख मेरा हृदय भी धक-धक कर रहा है' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिर्लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
भूयो दुःखसमाविष्टो दुःखितं राममब्रवीत् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मण अत्यन्त दुखी होकर अपने शोकग्रस्त भाई श्रीरामसे बोले—॥ ५ ॥

न स्वयं कामकारेण तां त्यक्त्वाहमिहागतः ।
प्रचोदितस्तयैवोग्रैस्त्वत्सकाशमिहागतः ॥ ६ ॥

'भैया ! मैं स्वयं अपनी इच्छासे उन्हें छोड़कर नहीं आया हूँ । उन्हींके कठोर वचनोंसे प्रेरित होकर मुझे आपके पास आना पड़ा है ॥ ६ ॥

आर्येणेव परिक्रुष्टं लक्ष्मणेति सुविस्वरम् ।
परित्राहीति यद्वाक्यं मैथिल्यास्तच्छ्रुतिं गतम् ॥ ७ ॥

'आपके ही समान स्वरमें किसीने जोरसे पुकारा, 'लक्ष्मण ! मुझे बचाओ !' यह वाक्य मिथिलेशकुमारीके कानोंमें भी पड़ा ॥ ७ ॥

सा तमार्तस्वरं श्रुत्वा तव स्नेहेन मैथिली ।
गच्छ गच्छेति मामाह रुदती भयविक्लवा ॥ ८ ॥

'उस आर्तनादको सुनकर मैथिली आपके प्रति स्नेहके कारण भयसे व्याकुल हो गयीं और रोती हुई मुझसे तुरंत बोलीं—'जाओ, जाओ' ॥ ८ ॥

प्रचोद्यमानेन मया गच्छेति बहुशस्तया ।
प्रत्युक्ता मैथिली वाक्यमिदं तत् प्रत्ययान्वितम् ॥ ९ ॥

'जब बारंबार उन्होंने 'जाओ' कहकर मुझे प्रेरित किया, तब उन्हें विश्वास दिलाते हुए मैंने मैथिलीसे यह बात कही—॥ ९ ॥

न तत् पश्याम्यहं रक्षो यदस्य भयमावहेत् ।
निर्वृता भव नास्त्येतत् केनाप्येतदुदाहृतम् ॥ १० ॥

''देवि ! मैं ऐसे किसी राक्षसको नहीं देखता, जो भगवान् श्रीरामको भी भयमें डाल सके । आप शान्त रहें, यह भैयाकी आवाज नहीं है । किसी दूसरेने इस तरहकी पुकार की है ॥ १० ॥

विगर्हितं च नीचं च कथमार्योऽभिधास्यति ।
त्राहीति वचनं सीते यस्त्रायेत् त्रिदशानपि ॥ ११ ॥

''सीते ! जो देवताओंकी भी रक्षा कर सकते हैं, वे मेरे बड़े भाई 'मुझे बचाओ' ऐसा निन्दित (कायरतापूर्ण) वचन कैसे कहेंगे ? ॥ ११ ॥

किंनिमित्तं तु केनापि भ्रातुरालम्ब्य मे स्वरम् ।
विस्वरं व्याहृतं वाक्यं लक्ष्मण त्राहि मामिति ॥ १२ ॥

''किसी दूसरेने किसी बुरे उद्देश्यसे मेरे भैयाके स्वरकी नकल करके 'लक्ष्मण ! मुझे बचाओ' यह बात जोरसे कही है ॥ १२ ॥

राक्षसेनेरितं वाक्यं त्रासात् त्राहीति शोभने ।
न भवत्या व्यथा कार्या कुनारीजनसेविता ॥ १३ ॥

''शोभने ! उस राक्षसने ही भयके कारण (मुझे बचाओ) यह बात मुँहसे निकाली है । आपको व्यथित नहीं होना चाहिये । ऐसी व्यथाको नीच श्रेणीकी स्त्रियाँ ही अपने मनमें स्थान देती हैं ॥ १३ ॥

अलं विक्लवतां गन्तुं स्वस्था भव निरुत्सुका ।
न चास्ति त्रिषु लोकेषु पुमान् यो राघवं रणे ॥ १४ ॥
जातो वा जायमानो वा संयुगे यः पराजयेत् ।
अजेयो राघवो युद्धे देवैः शक्रपुरोगमैः ॥ १५ ॥

''तुम व्याकुल मत होओ, स्वस्थ हो जाओ, चिन्ता छोड़ो । तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पुरुष न तो उत्पन्न हुआ

है, न हो रहा है और न होगा ही, जो युद्धमें श्रीरघुनाथजीको परास्त कर सके। संग्राममें इन्द्र आदि देवता भी श्रीरामको नहीं जीत सकते' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही परिमोहितचेतना।
उवाचाश्रूणि मुञ्चन्ती दारुणं मामिदं वचः ॥ १६ ॥

'मेरे ऐसा कहनेपर विदेहराजकुमारीकी चेतना मोहसे आच्छन्न हो गयी। वे आँसू बहाती हुई मुझसे अत्यन्त कठोर वचन बोलीं—॥ १६ ॥

भावो मयि तवात्यर्थं पाप एव निवेशितः।
विनष्टे भ्रातरि प्राप्तुं न च त्वं मामवाप्स्यसे ॥ १७ ॥

''लक्ष्मण! तेरे मनमें मेरे लिये अत्यन्त पापपूर्ण भाव भरा है। तू अपने भाईके मरनेपर मुझे प्राप्त करना चाहता है, परंतु मुझे पा नहीं सकेगा ॥ १७ ॥

संकेताद् भरतेन त्वं रामं समनुगच्छसि।
क्रोशन्तं हि यथात्यर्थं नैनमभ्यवपद्यसे ॥ १८ ॥

''तू भरतके इशारेसे अपने स्वार्थके लिये श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे आया है। तभी तो वे जोर-जोरसे चिल्ला रहे हैं और तू उनके पास जाता तक नहीं है ॥ १८ ॥

रिपुः प्रच्छन्नचारी त्वं मदर्थमनुगच्छसि।
राघवस्यान्तरं प्रेप्सुस्तथैनं नाभिपद्यसे ॥ १९ ॥

''तू अपने भाईका छिपा हुआ शत्रु है। मेरे लिये ही श्रीरामका अनुसरण करता है और श्रीरामके छिद्र ढूँढ़ रहा है। तभी तो संकटके समय उनके पास जानेका नाम नहीं लेता है' ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु वैदेह्या संरब्धो रक्तलोचनः।
क्रोधात् प्रस्फुरमाणोष्ठ आश्रमादभिनिर्गतः ॥ २० ॥

'विदेहकुमारीके ऐसा कहनेपर मैं रोषसे भर गया। मेरी आँखें लाल हो गयीं और क्रोधसे मेरे होंठ फड़कने लगे। इस अवस्थामें मैं आश्रमसे निकल आया' ॥ २० ॥

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं रामः संतापमोहितः।
अब्रवीद् दुष्कृतं सौम्य तां विना त्वमिहागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मणकी ऐसी बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी संतापसे मोहित हो गये और उनसे बोले—'सौम्य! तुमने बड़ा बुरा किया, जो तुम सीताको छोड़कर यहाँ चले आये ॥२१॥

जानन्नपि समर्थं मां रक्षसामपवारणे।
अनेन क्रोधवाक्येन मैथिल्या निर्गतो भवान् ॥ २२ ॥

'मैं राक्षसोंका निवारण करनेमें समर्थ हूँ, यह जानते हुए भी तुम मैथिलीके क्रोधयुक्त वचनसे उत्तेजित होकर निकल पड़े ॥ २२ ॥

नहि ते परितुष्यामि त्यक्त्वा यदसि मैथिलीम्।
क्रुद्धायाः परुषं श्रुत्वा स्त्रिया यत् त्वमिहागतः ॥ २३ ॥

'क्रोधमें भरी हुई नारीके कठोर वचनको सुनकर जो तुम मिथिलेशकुमारीको छोड़कर यहाँ चले आये, इससे मैं तुम्हारे ऊपर संतुष्ट नहीं हूँ ॥ २३ ॥

सर्वथा त्वपनीतं ते सीतया यत् प्रचोदितः।
क्रोधस्य वशमागम्य नाकरोः शासनं मम ॥ २४ ॥

'सीतासे प्रेरित होकर क्रोधके वशीभूत हो तुमने मेरे आदेशका पालन नहीं किया; यह सर्वथा तुम्हारा अन्याय है ॥ २४ ॥

असौ हि राक्षसः शेते शरेणाभिहतो मया।
मृगरूपेण येनाहमाश्रमादपवाहितः ॥ २५ ॥

'जिसने मृगरूप धारण करके मुझे आश्रमसे दूर हटा दिया, वह राक्षस मेरे बाणोंसे घायल होकर सदाके लिये सो रहा है ॥ २५ ॥

विकृष्य चापं परिधाय सायकं
सलीलबाणेन च ताडितो मया।
मार्गीं तनुं त्यज्य च विक्लवस्वरो
बभूव केयूरधरः स राक्षसः ॥ २६ ॥

'धनुष खींचकर उस बाणका संधान करके मैंने लीलापूर्वक चलाये हुए बाणसे ज्यों ही उस मृगको मारा, त्यों ही वह मृगके शरीरका परित्याग करके बाँहोंमें बाजूबंद धारण करनेवाला राक्षस बन गया। उसके स्वरमें बड़ी व्याकुलता आ गयी थी ॥ २६ ॥

शराहतेनैव तदार्तया गिरा
स्वरं ममालम्ब्य सुदूरसुश्रवम्।
उदाहृतं तद् वचनं सुदारुणं
त्वमागतो येन विहाय मैथिलीम् ॥ २७ ॥

'बाणसे आहत होनेपर ही उसने आर्तवाणीमें मेरे स्वरकी नकल करके बहुत दूरतक सुनायी देनेवाला वह अत्यन्त दारुण वचन कहा था, जिससे तुम मिथिलेशकुमारी सीताको छोड़कर यहाँ चले आये हो' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

श्रीरामका विलाप करते हुए वृक्षों और पशुओंसे सीताका पता पूछना, भ्रान्त होकर रोना और बारंबार उनकी खोज करना

भृशमाव्रजमानस्य तस्याधो वामलोचनम्।
प्रास्फुरच्चास्खलद् रामो वेपथुश्चास्य जायते ॥ १ ॥

आश्रमकी ओर आते समय श्रीरामकी बायीं आँखकी नीचेवाली पलक जोर-जोरसे फड़कने लगी। श्रीराम चलते-

चलते लड़खड़ा गये और उनके शरीरमें कम्प होने लगा ॥ १ ॥

उपालक्ष्य निमित्तानि सोऽशुभानि मुहुर्मुहुः ।
अपि क्षेमं तु सीताया इति वै व्याजहार ह ॥ २ ॥

बारंबार इन अपशकुनोंको देखकर वे कहने लगे— क्या सीता सकुशल होगी ? ॥ २ ॥

त्वरमाणो जगामाथ सीतादर्शनलालसः ।
शून्यमावसथं दृष्ट्वा बभूवोद्विग्नमानसः ॥ ३ ॥

सीताको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो वे बड़ी उतावलीके साथ आश्रमपर गये । वहाँ कुटिया सूनी देख उनका मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा ॥ ३ ॥

उद्भ्रमन्निव वेगेन विक्षिपन् रघुनन्दनः ।
तत्र तत्रोटजस्थानमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥ ४ ॥
ददर्श पर्णशालां च सीतया रहितां तदा ।
श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पद्मिनीमिव ॥ ५ ॥

रघुनन्दन बड़े वेगसे इधर-उधर चक्कर लगाने और हाथ-पैर चलाने लगे । उन्होंने वहाँ जहाँ-तहाँ बनी हुई एक-एक पर्णशालाको चारों ओरसे देख डाला, किंतु उस समय उसे सीतासे सूनी ही पाया । जैसे हेमन्त ऋतुमें कमलिनी हिमसे ध्वस्त हो श्रीहीन हो जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक पर्णशाला शोभाशून्य हो गयी थी ॥ ४-५ ॥

रुदन्तमिव वृक्षैश्च ग्लानपुष्पमृगद्विजम् ।
श्रिया विहीनं विध्वस्तं संत्यक्तं वनदैवतैः ॥ ६ ॥

वह स्थान वृक्षों (की सनसनाहट) के द्वारा मानो रो रहा था, फूल मुरझा गये थे, मृग और पक्षी मन मारे बैठे थे । वहाँकी सम्पूर्ण शोभा नष्ट हो गयी थी । सारी कुटी उजाड़ दिखायी देती थी । वनके देवता भी उस स्थानको छोड़कर चले गये थे ॥ ६ ॥

विप्रकीर्णाजिनकुशं विप्रविद्धबृसीकटम् ।
दृष्ट्वा शून्योटजस्थानं विललाप पुनः पुनः ॥ ७ ॥

सब ओर मृगचर्म और कुश बिखरे हुए थे । चटाइयाँ अस्त-व्यस्त पड़ी थीं । पर्णशालाको सूनी देख भगवान् श्रीराम बारंबार विलाप करने लगे—॥ ७ ॥

हृता मृता वा नष्टा वा भक्षिता वा भविष्यति ।
निलीनाप्यथवा भीरुरथवा वनमाश्रिता ॥ ८ ॥

'हाय ! सीताको किसीने हर तो नहीं लिया । उसकी मृत्यु तो नहीं हो गयी अथवा वह खो तो नहीं गयी या किसी राक्षसने उसे खा तो नहीं लिया । वह भीरु कहीं छिप तो नहीं गयी है अथवा फल-फूल लानेके लिये वनके भीतर तो नहीं चली गयी ॥ ८ ॥

गता विचेतुं पुष्पाणि फलान्यपि च वा पुनः ।
अथवा पद्मिनीं याता जलार्थं वा नदीं गता ॥ ९ ॥

'सम्भव है, फल-फूल लानेके लिये ही गयी हो या जल लानेके लिये किसी पुष्करिणी अथवा नदीके तटपर गयी हो' ॥ ९ ॥

यत्नान्मृगयमाणस्तु नाससाद वने प्रियाम् ।
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुन्मत्त इव लक्ष्यते ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने प्रयत्नपूर्वक अपनी प्रिय पत्नी सीताको वनमें चारों ओर ढूँढ़ा, किंतु कहीं भी उनका पता न लगा । शोकके कारण श्रीमान् रामकी आँखें लाल हो गयीं । वे उन्मत्तके समान दिखायी देने लगे ॥ १० ॥

वृक्षाद् वृक्षं प्रधावन् स गिरींश्चापि नदीनदम् ।
बभ्राम विलपन् रामः शोकपङ्कार्णवप्लुतः ॥ ११ ॥

एक वृक्षसे दूसरे वृक्षके पास दौड़ते हुए वे पर्वतों, नदियों और नदोंके किनारे घूमने लगे । शोकके समुद्रमें डूबे हुए श्रीरामचन्द्रजी विलाप करते-करते वृक्षोंसे पूछने लगे— ॥ ११ ॥

अस्ति कच्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया ।
कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम् ॥ १२ ॥
स्निग्धपल्लवसंकाशां पीतकौशेयवासिनीम् ।
शंसस्व यदि सा दृष्टा बिल्व बिल्वोपमस्तनी ॥ १३ ॥

'कदम्ब ! मेरी प्रिया सीता तुम्हारे पुष्पसे बहुत प्रेम करती थी, क्या वह यहाँ है ? क्या तुमने उसे देखा है ? यदि जानते हो तो उस शुभानना सीताका पता बताओ । उसके अङ्ग सुस्निग्ध पल्लवोंके समान कोमल हैं तथा शरीरपर पीले रंगकी रेशमी साड़ी शोभा पाती है । बिल्व ! मेरी प्रियाके स्तन तुम्हारे ही समान हैं । यदि तुमने उसे देखा हो तो बताओ ॥ १२-१३ ॥

अथवार्जुन शंस त्वं प्रियां तामर्जुनप्रियाम् ।
जनकस्य सुता तन्वी यदि जीवति वा न वा ॥ १४ ॥

'अथवा अर्जुन ! तुम्हारे फूलोंपर मेरी प्रियाका विशेष अनुराग था, अतः तुम्हीं उसका कुछ समाचार बताओ । कृशाङ्गी जनककिशोरी जीवित है या नहीं ? ॥ १४ ॥

ककुभः ककुभोरुं तां व्यक्तं जानाति मैथिलीम् ।
लतापल्लवपुष्पाढ्यो भाति ह्येष वनस्पतिः ॥ १५ ॥
भ्रमरैरुपगीतश्च यथा द्रुमवरो ह्यसि ।
एष व्यक्तं विजानाति तिलकस्तिलकप्रियाम् ॥ १६ ॥

'यह ककुभ[1] अपने ही समान ऊरुवाली मिथिलेश-कुमारीको अवश्य जानता होगा; क्योंकि यह वनस्पति-लता, पल्लव तथा फूलोंसे सम्पन्न हो बड़ी शोभा पा रहा

---

१. रामायणके व्याख्याकारोंमेंसे किसीने ककुभका अर्थ मरुवक लिखा है और किसीने अर्जुनविशेष, किंतु कोशोंमें यह कुटजका पर्याय बताया गया है ।

है। ककुभ! तुम सब वृक्षोंमें श्रेष्ठ हो, क्योंकि ये भ्रमर तुम्हारे समीप आकर अपने झंकारोंद्वारा तुम्हारा यशोगान करते हैं। (तुम्हीं सीताका पता बताओ, अहो! यह भी कोई उत्तर नहीं दे रहा है।) यह तिलक वृक्ष अवश्य सीताके विषयमें जानता होगा; क्योंकि मेरी प्रिया सीताको भी तिलकसे प्रेम था॥ १५-१६॥

अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतनम्।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियासंदर्शनेन माम्॥ १७॥

'अशोक! तुम शोक दूर करनेवाले हो। इधर मैं शोकसे अपनी चेतना खो बैठा हूँ। मुझे मेरी प्रियतमाका दर्शन कराकर शीघ्र ही अपने-जैसे नामवाला बना दो—मुझे अशोक (शोकहीन) कर दो॥ १७॥

यदि ताल त्वया दृष्टा पक्वतालोपमस्तनी।
कथयस्व वरारोहां कारुण्यं यदि ते मयि॥ १८॥

'ताल वृक्ष! तुम्हारे पके हुए फलके समान स्तनवाली सीताको यदि तुमने देखा हो तो बताओ। यदि मुझपर तुम्हें दया आती हो तो उस सुन्दरीके विषयमें अवश्य कुछ कहो॥ १८॥

यदि दृष्टा त्वया जम्बो जाम्बूनदसमप्रभा।
प्रियां यदि विजानासि निःशङ्कं कथयस्व मे॥ १९॥

'जामुन! जाम्बूनद (सुवर्ण) के समान कान्तिवाली मेरी प्रिया यदि तुम्हारी दृष्टिमें पड़ी हो, यदि तुम उसके विषयमें कुछ जानते हो तो निःशङ्क होकर मुझे बताओ॥ १९॥

अहो त्वं कर्णिकाराद्य पुष्पितः शोभसे भृशम्।
कर्णिकारप्रियां साध्वीं शंस दृष्टा यदि प्रिया॥ २०॥

'कनेर! आज तो फूलोंके लगनेसे तुम्हारी बड़ी शोभा हो रही है। अहो! मेरी प्रिया साध्वी सीताको तुम्हारे ये पुष्प बहुत पसंद थे। यदि तुमने उसे कहीं देखा हो तो मुझसे कहो'॥ २०॥

चूतनीपमहासालान् पनसान् कुरवान् धवान्।
दाडिमानपि तान् गत्वा दृष्ट्वा रामो महायशाः॥ २१॥
बकुलानथ पुन्नागांश्चन्दनान् केतकांस्तथा।
पृच्छन् रामो वने भ्रान्त उन्मत्त इव लक्ष्यते॥ २२॥

इसी प्रकार आम, कदम्ब, विशाल शाल, कटहल, कुरव, धव और अनार आदि वृक्षोंको भी देखकर महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजी उनके पास गये और वकुल, पुन्नाग, चन्दन तथा केवड़े आदिके वृक्षोंसे भी पूछते फिरे। उस समय वे वनमें पागलकी तरह इधर-उधर भटकते दिखायी देते थे॥ २१-२२॥

अथवा मृगशावाक्षीं मृग जानासि मैथिलीम्।
मृगविप्रेक्षणी कान्ता मृगीभिः सहिता भवेत्॥ २३॥

अपने सामने हरिणको देखकर वे बोले—'मृग! अथवा तुम्हीं बताओ! मृगनयनी मैथिलीको जानते हो। मेरी प्रियाकी दृष्टि भी तुम हरिणोंकी-सी है, अतः सम्भव है, वह हरिणियोंके ही साथ हो॥ २३॥

गज सा गजनासोरुर्यदि दृष्टा त्वया भवेत्।
तां मन्ये विदितां तुभ्यमाख्याहि वरवारण॥ २४॥

'श्रेष्ठ गजराज! तुम्हारी सूँड़के समान ही जिसके दोनों ऊरु हैं, उस सीताको सम्भवतः तुमने देखा होगा। मालूम होता है, तुम्हें उसका पता विदित है, अतः बताओ! वह कहाँ है?॥ २४॥

शार्दूल यदि सा दृष्टा प्रिया चन्द्रनिभानना।
मैथिली मम विस्रब्धः कथयस्व न ते भयम्॥ २५॥

'व्याघ्र! यदि तुमने मेरी प्रिया चन्द्रमुखी मैथिलीको देखा हो तो निःशङ्क होकर बता दो, मुझसे तुम्हें कोई भय नहीं होगा'॥ २५॥

किं धावसि प्रिये नूनं दृष्टासि कमलेक्षणे।
वृक्षैराच्छाद्य चात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे॥ २६॥

(इतनेहीमें उनको भ्रम हुआ कि सीता उधर भागकर छिप रही है, तब वे बोले—) 'प्रिये! क्यों भागी जा रही हो। कमललोचने! निश्चय ही मैंने तुम्हें देख लिया है। तुम वृक्षोंकी ओटमें अपने-आपको छिपाकर मुझसे बात क्यों नहीं करती हो?॥ २६॥

तिष्ठ तिष्ठ वरारोहे न तेऽस्ति करुणा मयि।
नात्यर्थं हास्यशीलासि किमर्थं मामुपेक्षसे॥ २७॥

'वरारोहे! ठहरो, ठहरो। क्या तुम्हें मुझपर दया नहीं आती है। अधिक हास-परिहास करनेका तुम्हारा स्वभाव तो नहीं था, फिर किसलिये मेरी उपेक्षा करती हो?॥ २७॥

पीतकौशेयकेनासि सूचिता वरवर्णिनि।
धावन्त्यपि मया दृष्टा तिष्ठ यद्यस्ति सौहृदम्॥ २८॥

'सुन्दरि! पीली रेशमी साड़ीसे ही, तुम कहाँ हो—यह सूचना मिल जाती है। भागी जाती हो तो भी मैंने तुम्हें देख लिया है। यदि मेरे प्रति स्नेह एवं सौहार्द हो तो खड़ी हो जाओ'॥ २८॥

नैव सा नूनमथवा हिंसिता चारुहासिनी।
कृच्छ्रं प्राप्तं न मां नूनं यथोपेक्षितुमर्हति॥ २९॥

(फिर भ्रम दूर होनेपर बोले—) 'अथवा निश्चय ही वह नहीं है। उस मनोहर मुसकानवाली सीताको राक्षसोंने मार डाला, अन्यथा इस तरह संकटमें पड़े हुएकी (मेरी) वह कदापि उपेक्षा नहीं कर सकती थी॥ २९॥

व्यक्तं सा भक्षिता बाला राक्षसैः पिशिताशनैः।
विभज्याङ्गानि सर्वाणि मया विरहिता प्रिया॥ ३०॥

'स्पष्ट जान पड़ता है कि मांसभक्षी राक्षसोंने मुझसे बिछुड़ी हुई मेरी भोली-भाली प्रिया मैथिलीको उसके सारे अङ्ग बाँटकर खा लिया'॥ ३०॥

नूनं तच्छुभदन्तोष्ठं सुनासं शुभकुण्डलम्।
पूर्णचन्द्रनिभं ग्रस्तं मुखं निष्प्रभतां गतम्॥ ३१॥

'सुन्दर दाँत, मनोहर ओष्ठ, सुघड़ नासिकासे युक्त तथा रुचिर कुण्डलोंसे अलंकृत वह पूर्ण चन्द्रमाके समान अभिराम मुख राक्षसोंका ग्रास बनकर निश्चय ही अपनी प्रभा खो बैठा होगा॥ ३१॥

सा हि चम्पकवर्णाभा ग्रीवा ग्रैवेयकोचिता।
कोमला विलपन्त्यास्तु कान्ताया भक्षिता शुभा॥ ३२॥

'रोती-बिलखती हुई प्रियतमा सीताकी वह चम्पाके समान वर्णवाली कोमल एवं सुन्दर ग्रीवा, जो हार और हँसली आदि आभूषण पहननेके योग्य थी, निशाचरोंका आहार बन गयी॥ ३२॥

नूनं विक्षिप्यमाणौ तौ बाहू पल्लवकोमलौ।
भक्षितौ वेपमानाग्रौ सहस्ताभरणाङ्गदौ॥ ३३॥

'वे नूतन पल्लवोंके समान कोमल भुजाएँ, जो इधर-उधर पटकी जा रही होंगी और जिनके अग्रभाग काँप रहे होंगे, हाथोंके आभूषण तथा बाजूबंदसहित निश्चय ही राक्षसोंके पेटमें चली गयीं॥ ३३॥

मया विरहिता बाला रक्षसां भक्षणाय वै।
सार्थेनेव परित्यक्ता भक्षिता बहुबान्धवा॥ ३४॥

'मैंने राक्षसोंका भक्ष्य बननेके लिये ही उस बालाको अकेली छोड़ दिया। यद्यपि उसके बन्धु-बान्धव बहुत हैं, तथापि वह यात्रियोंके समुदायसे बिलग हुई किसी अकेली स्त्रीकी भाँति निशाचरोंका ग्रास बन गयी॥ ३४॥

हा लक्ष्मण महाबाहो पश्यसि त्वं प्रियां क्वचित्।
हा प्रिये क्व गता भद्रे हा सीतेति पुनः पुनः॥ ३५॥
इत्येवं विलपन् रामः परिधावन् वनाद् वनम्।
क्वचिदुद्भ्रमते वेगात् क्वचिद् विभ्रमते बलात्॥ ३६॥

'हा महाबाहु लक्ष्मण! क्या तुम कहीं मेरी प्रियतमाको देखते हो! हा प्रिये! हा भद्रे! हा सीते! तुम कहाँ चली गयी?' इस तरह बारंबार विलाप करते हुए श्रीरामचन्द्रजी एक वनसे दूसरे वनमें दौड़ने लगे। वे कहीं सीताकी समानता पाकर उद्भ्रान्त हो उठते (उछल पड़ते थे) और कहीं शोककी प्रबलताके कारण विभ्रान्त हो जाते (बवंडरकी भाँति चक्कर काटने लगते) थे॥ ३५-३६॥

क्वचिन्मत्त इवाभाति कान्तान्वेषणतत्परः।
स वनानि नदीः शैलान् गिरिप्रस्रवणानि च।
काननानि च वेगेन भ्रमत्यपरिसंस्थितः॥ ३७॥

अपनी प्रियतमाकी खोज करते हुए वे कभी-कभी पागलोंकी-सी चेष्टा करने लगते थे। उन्होंने बड़ी दौड़-धूप करके कहीं भी विश्राम न करते हुए वनों, नदियों, पर्वतों, पहाड़ी झरनों और विभिन्न काननोंमें घूम-घूमकर अन्वेषण किया॥ ३७॥

तदा स गत्वा विपुलं महद् वनं
परीत्य सर्वं त्वथ मैथिलीं प्रति।
अनिष्ठिताशः स चकार मार्गणे
पुनः प्रियायाः परमं परिश्रमम्॥ ३८॥

उस समय मिथिलेशकुमारीको ढूँढ़नेके लिये वे उस विशाल एवं विस्तृत वनमें गये और सबमें चक्कर लगाकर थक गये तो भी निराश नहीं हुए। उन्होंने पुनः अपनी प्रियतमाके अनुसंधानके लिये बड़ा भारी परिश्रम किया॥ ३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षष्टितमः सर्गः॥ ६०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६०॥

एकषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सीताकी खोज और उनके न मिलनेसे श्रीरामकी व्याकुलता

दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं शून्यं रामो दशरथात्मजः।
रहितां पर्णशालां च प्रविद्धान्यासनानि च॥ १॥
अदृष्ट्वा तत्र वैदेहीं संनिरीक्ष्य च सर्वशः।
उवाच रामः प्राक्रुश्य प्रगृह्य रुचिरौ भुजौ॥ २॥

दशरथनन्दन श्रीरामने देखा कि आश्रमके सभी स्थान सीतासे सूने हैं तथा पर्णशालामें भी सीता नहीं हैं और बैठनेके आसन इधर-उधर फेंके पड़े हैं। तब उन्होंने पुनः वहाँके सभी स्थानोंका निरीक्षण किया और चारों ओर ढूँढ़नेपर भी जब विदेहकुमारीका कहीं पता नहीं लगा, तब श्रीरामचन्द्रजी अपनी दोनों सुन्दर भुजाएँ ऊपर उठाकर सीताका नाम ले जोर-जोरसे पुकार करके लक्ष्मणसे बोले—॥ १-२॥

क्व नु लक्ष्मण वैदेही कं वा देशमितो गता।
केनाहृता वा सौमित्रे भक्षिता केन वा प्रिया॥ ३॥

'भैया लक्ष्मण ! विदेहराजकुमारी कहाँ हैं ? यहाँसे किस देशमें चली गयीं ? सुमित्रानन्दन ! मेरी प्रिया सीताको कौन हर ले गया ? अथवा किस राक्षसने खा डाला ? ॥ ३ ॥

वृक्षेणावार्य यदि मां सीते हसितुमिच्छसि ।
अलं ते हसितेनाद्य मां भजस्व सुदुःखितम् ॥ ४ ॥

(फिर वे सीताको सम्बोधित करके बोले—) 'सीते ! यदि तुम वृक्षोंकी आड़में अपनेको छिपाकर मुझसे हँसी करना चाहती हो तो इस समय यह हँसी ठीक नहीं है । मैं बहुत दुखी हो रहा हूँ, तुम मेरे पास आ जाओ ॥ ४ ॥

यैः परिक्रीडसे सीते विश्वस्तैर्मृगपोतकैः ।
एते हीनास्त्वया सौम्ये ध्यायन्त्यस्राविलेक्षणाः॥ ५ ॥

'सौम्य स्वभाववाली सीते ! जिन विश्वस्त मृगछौनोंके साथ तुम खेला करती थी, वे आज तुम्हारे बिना दुखी हो आँखोंमें आँसू भरकर चिन्तामग्न हो गये हैं' ॥ ५ ॥

सीतया रहितोऽहं वै नहि जीवामि लक्ष्मण ।
वृतं शोकेन महता सीताहरणजेन माम् ॥ ६ ॥
परलोके महाराजो नूनं द्रक्ष्यति मे पिता ।

'लक्ष्मण ! सीतासे रहित होकर मैं जीवित नहीं रह सकता । सीताहरणजनित महान् शोकने मुझे चारों ओरसे घेर लिया है । निश्चय ही अब परलोकमें मेरे पिता महाराज दशरथ मुझे देखेंगे ॥ ६½ ॥

कथं प्रतिज्ञां संश्रुत्य मया त्वमभियोजितः ॥ ७ ॥
अपूरयित्वा तं कालं मत्सकाशमिहागतः ।

'वे मुझे उपालम्भ देते हुए कहेंगे—'मैंने तो तुम्हें वनवासके लिये आज्ञा दी थी और तुमने भी वहाँ रहनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी । फिर उतने समयतक वहाँ रहकर उस प्रतिज्ञाको पूर्ण किये बिना ही तुम यहाँ मेरे पास कैसे चले आये ? ॥ ७½ ॥

कामवृत्तमनार्यं वा मृषावादिनमेव च ॥ ८ ॥
धिक् त्वामिति परे लोके व्यक्तं वक्ष्यति मे पिता ।

'तुम-जैसे स्वेच्छाचारी, अनार्य और मिथ्यावादीको धिक्कार है ।' यह बात परलोकमें पिताजी मुझसे अवश्य कहेंगे' ॥ ८½ ॥

विवशं शोकसंतप्तं दीनं भग्नमनोरथम् ॥ ९ ॥
मामिहोत्सृज्य करुणं कीर्तिर्नरमिवानृजुम् ।
क्व गच्छसि वरारोहे मा मोत्सृज सुमध्यमे ॥ १० ॥

'वरारोहे ! सुमध्यमे ! सीते ! मैं विवश, शोकसंतप्त, दीन, भग्नमनोरथ हो करुणाजनक अवस्थामें पड़ गया हूँ । जैसे कुटिल मनुष्यको कीर्ति त्याग देती है, उसी प्रकार तुम मुझे यहाँ छोड़कर कहाँ चली जा रही हो ? मुझे न छोड़ो, न छोड़ो ॥ ९-१० ॥

त्वया विरहितश्चाहं त्यक्ष्ये जीवितमात्मनः ।
इतीव विलपन् रामः सीतादर्शनलालसः ॥ ११ ॥
न ददर्श सुदुःखार्तो राघवो जनकात्मजाम् ।

'तुम्हारे वियोगमें मैं अपने प्राण त्याग दूँगा ।' इस प्रकार अत्यन्त दुःखसे आतुर हो विलाप करते हुए रघुकुलनन्दन श्रीराम सीताके दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये, किंतु वे जनकनन्दिनी उन्हें दिखायी न पड़ीं ॥ ११½ ॥

अनासादयमानं तं सीतां शोकपरायणम् ॥ १२ ॥
पङ्कमासाद्य विपुलं सीदन्तमिव कुञ्जरम् ।
लक्ष्मणो राममत्यर्थमुवाच हितकाम्यया ॥ १३ ॥

जैसे कोई हाथी किसी बड़ी भारी दलदलमें फँसकर कष्ट पा रहा हो, उसी प्रकार सीताको न पाकर अत्यन्त शोकमें डूबे हुए श्रीरामसे उनके हितकी कामना रखकर लक्ष्मण यों बोले—॥ १२-१३ ॥

मा विषादं महाबुद्धे कुरु यत्नं मया सह ।
इदं गिरिवरं वीर बहुकन्दरशोभितम् ॥ १४ ॥
प्रियकाननसंचारा वनोन्मत्ता च मैथिली ।
सा वनं वा प्रविष्टा स्यान्नलिनीं वा सुपुष्पिताम् ॥ १५ ॥
सरितं वापि सम्प्राप्ता मीनवञ्जुलसेविताम् ।
वित्रासयितुकामा वा लीना स्यात् कानने क्वचित्॥ १६ ॥
जिज्ञासमाना वैदेही त्वां मां च पुरुषर्षभ ।

'महामते ! आप विषाद न करें; मेरे साथ जानकीको ढूँढ़नेका प्रयत्न करें । वीरवर ! यह सामने जो ऊँचा पहाड़ दिखायी देता है, अनेक कन्दराओंसे सुशोभित है । मिथिलेश-कुमारीको वनमें घूमना प्रिय लगता है, वे वनकी शोभा देखकर हर्षसे उन्मत्त हो उठती हैं; अतः वनमें गयी होंगी, अथवा सुन्दर कमलके फूलोंसे भरे हुए इस सरोवरके या मत्स्य तथा वेतसलतासे सुशोभित सरिताके तटपर जा पहुँची होंगी । अथवा पुरुषप्रवर ! हमलोगोंको डरानेकी इच्छासे हम दोनों उन्हें खोज पाते हैं कि नहीं, इस जिज्ञासासे कहीं वनमें ही छिप गयी होंगी ॥ १४—१६½ ॥

तस्या ह्यन्वेषणे श्रीमन् क्षिप्रमेव यतावहे ॥ १७ ॥
वनं सर्वं विचिनुवो यत्र सा जनकात्मजा ।

'अतः श्रीमन् ! वनमें जहाँ-जहाँ जानकीके होनेकी सम्भावना हो, उन सभी स्थानोंपर हम दोनों शीघ्र ही उनकी खोजके लिये प्रयत्न करें ॥ १७½ ॥

मन्यसे यदि काकुत्स्थ मा स्म शोके मनः कृथाः॥ १८ ॥
एवमुक्तः स सौहार्दाल्लक्ष्मणेन समाहितः ।
सह सौमित्रिणा रामो विचेतुमुपचक्रमे ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन ! यदि आपको मेरी यह बात ठीक लगे तो आप शोक छोड़ दें ।' लक्ष्मणके द्वारा इस प्रकार

सौहार्दपूर्वक समझाये जानेपर श्रीरामचन्द्रजी सावधान हो गये और उन्होंने सुमित्राकुमारके साथ सीताकी खोजना आरम्भ किया ॥ १८-१९ ॥

तौ वनानि गिरींश्चैव सरितश्च सरांसि च ।
निखिलेन विचिन्वन्तौ सीतां दशरथात्मजौ ॥ २० ॥
तस्य शैलस्य सानूनि शिलाश्च शिखराणि च ।
निखिलेन विचिन्वन्तौ नैव तामभिजग्मतुः ॥ २१ ॥

दशरथके वे दोनों पुत्र सीताकी खोज करते हुए वनोंमें, पर्वतोंपर, सरिताओं और सरोवरोंके किनारे घूम-घूमकर पूरी चेष्टाके साथ अनुसंधानमें लगे रहे । उस पर्वतकी चोटियों, शिलाओं और शिखरोंपर उन्होंने अच्छी तरह जानकीको ढूँढ़ा; किंतु कहीं भी उनका पता नहीं लगा ॥ २०-२१ ॥

विचित्य सर्वतः शैलं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
नेह पश्यामि सौमित्रे वैदेहीं पर्वते शुभाम् ॥ २२ ॥

पर्वतके चारों ओर खोजकर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन ! इस पर्वतपर तो मैं सुन्दरी वैदेहीको नहीं देख पाता हूँ' ॥ २२ ॥

ततो दुःखाभिसंतप्तो लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
विचरन् दण्डकारण्यं भ्रातरं दीप्ततेजसम् ॥ २३ ॥

तब दुःखसे संतप्त हुए लक्ष्मणने दण्डकारण्यमें घूमते-घूमते अपने उद्दीप्त तेजस्वी भाईसे इस प्रकार कहा—॥ २३ ॥

प्राप्स्यसे त्वं महाप्राज्ञ मैथिलीं जनकात्मजाम् ।
यथा विष्णुर्महाबाहुर्बलिं बद्ध्वा महीमिमाम् ॥ २४ ॥

'महामते ! जैसे महाबाहु भगवान् विष्णुने राजा बलिको बाँधकर यह पृथ्वी प्राप्त कर ली थी, उसी प्रकार आप भी मिथिलेशकुमारी जानकीको पा जायँगे ॥ २४ ॥

एवमुक्तस्तु वीरेण लक्ष्मणेन स राघवः ।
उवाच दीनया वाचा दुःखाभिहतचेतनः ॥ २५ ॥

वीर लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर दुःखसे व्याकुलचित्त हुए श्रीरघुनाथजीने दीन वाणीमें कहा—॥ २५ ॥

वनं सुविचितं सर्वं पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः ।
गिरिश्चायं महाप्राज्ञ बहुकन्दरनिर्झरः ।
नहि पश्यामि वैदेहीं प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २६ ॥

'महाप्राज्ञ लक्ष्मण ! मैंने सारा वन खोज डाला । विकसित कमलोंसे भरे हुए सरोवर भी देख लिये तथा अनेक कन्दराओं और झरनोंसे सुशोभित इस पर्वतको भी सब ओरसे छान डाला; परंतु मुझे अपने प्राणोंसे भी प्यारी वैदेही कहीं दिखायी नहीं पड़ी' ॥ २६ ॥

एवं स विलपन् रामः सीताहरणकर्षितः ।
दीनः शोकसमाविष्टो मुहूर्तं विह्वलोऽभवत् ॥ २७ ॥

इस प्रकार सीता-हरणके कष्टसे पीड़ित हो विलाप करते हुए श्रीरामचन्द्रजी दीन और शोकमग्न हो दो घड़ीतक अत्यन्त व्याकुलतामें पड़े रहे ॥ २७ ॥

स विह्वलितसर्वाङ्गो गतबुद्धिर्विचेतनः ।
निषसादातुरो दीनो निःश्वस्याशीतमायतम् ॥ २८ ॥

उनका सारा अङ्ग विह्वल (शिथिल) हो गया, बुद्धि काम नहीं दे रही थी, चेतना लुप्त-सी होती जा रही थी । वे गरम-गरम लंबी साँस खींचते हुए दीन और आतुर होकर विषादमें डूब गये ॥ २८ ॥

बहुशः स तु निःश्वस्य रामो राजीवलोचनः ।
हा प्रियेति विचुक्रोश बहुशो बाष्पगद्गदः ॥ २९ ॥

बारंबार उच्छ्वास लेकर कमलनयन श्रीराम आँसुओंसे गद्गद वाणीमें 'हा प्रिये !' कहकर बहुत रोने-बिलखने लगे ॥ २९ ॥

तं सान्त्वयामास ततो लक्ष्मणः प्रियबान्धवम् ।
बहुप्रकारं शोकार्तः प्रश्रितः प्रश्रिताञ्जलिः ॥ ३० ॥

तब शोकसे पीड़ित हुए लक्ष्मणने विनीतभावसे हाथ जोड़कर अपने प्रिय भाईको अनेक प्रकारसे सान्त्वना दी ॥

अनादृत्य तु तद् वाक्यं लक्ष्मणोष्ठपुटच्युतम् ।
अपश्यंस्तां प्रियां सीतां प्राक्रोशत् स पुनः पुनः॥ ३१ ॥

लक्ष्मणके ओष्ठपुटोंसे निकली हुई इस बातका आदर न करके श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्यारी पत्नी सीताको न देखनेके कारण उन्हें बारंबार पुकारने और रोने लगे ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें एकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥



द्विषष्टितमः सर्गः

श्रीरामका विलाप

सीतामपश्यन् धर्मात्मा शोकोपहतचेतनः ।
विललाप महाबाहू रामः कमललोचनः ॥ १ ॥

सीताको न देखकर शोकसे व्याकुलचित्त हुए धर्मात्मा महाबाहु कमलनयन श्रीराम विलाप करने लगे॥१॥

पश्यन्निव च तां सीतामपश्यन्मन्मथार्दितः ।
उवाच राघवो वाक्यं विलापाश्रयदुर्वचम् ॥ २ ॥

रघुनाथजी सीताके प्रति अधिक प्रेमके कारण उनके वियोगमें कष्ट पा रहे थे । वे उन्हें न देखकर भी देखते हुएके समान ऐसी बात कहने लगे, जो विलापका आश्रय होनेसे गद्गदकण्ठके कारण कठिनतासे बोली जा रही थी—॥ २ ॥

त्वमशोकस्य शाखाभिः पुष्पप्रियतरा प्रिये ।
आवृणोषि शरीरं ते मम शोकविवर्धनी ॥ ३ ॥

'प्रिये ! तुम्हें फूल अधिक प्रिय हैं, इसलिये खिली हुई अशोककी शाखाओंसे अपने शरीरको छिपाती हो और मेरा शोक बढ़ा रही हो ॥ ३ ॥

कदलीकाण्डसदृशौ कदल्या संवृतावुभौ ।
ऊरू पश्यामि ते देवि नासि शक्ता निगूहितुम् ॥ ४ ॥

'देवि ! मैं केलेके तनोंके तुल्य और कदलीदलसे ही छिपे हुए तुम्हारे दोनों ऊरुओं (जाँघों) को देख रहा हूँ । तुम उन्हें छिपा नहीं सकती ॥ ४ ॥

कर्णिकारवनं भद्रे हसन्ती देवि सेवसे ।
अलं ते परिहासेन मम बाधावहेन वै ॥ ५ ॥

'भद्रे ! देवि ! तुम हँसती हुई कनेर-पुष्पोंकी वाटिका-का सेवन करती हो । बंद करो इस परिहासको, इससे मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है ॥ ५ ॥

विशेषेणाश्रमस्थाने हासोऽयं न प्रशस्यते ।
अवगच्छामि ते शीलं परिहासप्रियं प्रिये ॥ ६ ॥
आगच्छ त्वं विशालाक्षि शून्योऽयमुटजस्तव ।

'विशेषतः आश्रमके स्थानमें यह हास-परिहास अच्छा नहीं बताया जाता है । प्रिये ! मैं जानता हूँ, तुम्हारा स्वभाव परिहासप्रिय है । विशाललोचने ! आओ । तुम्हारी यह पर्णशाला सूनी है' ॥ ६½ ॥

सुव्यक्तं राक्षसैः सीता भक्षिता वा हृतापि वा ॥ ७ ॥
न हि सा विलपन्तं मामुपसम्प्रैति लक्ष्मण ।

(फिर भ्रम दूर होनेपर वे सुमित्राकुमारसे बोले—) 'लक्ष्मण ! अब तो भलीभाँति स्पष्ट हो गया कि राक्षसोंने सीताको खा लिया अथवा हर लिया; क्योंकि मैं विलाप कर रहा हूँ और वह मेरे पास नहीं आ रही है ॥ ७½ ॥

एतानि मृगयूथानि साश्रुनेत्राणि लक्ष्मण ॥ ८ ॥
शंसन्तीव हि मे देवीं भक्षितां रजनीचरैः ।

'लक्ष्मण ! ये जो मृगसमूह हैं, ये भी अपने नेत्रोंमें आँसू भरकर मानो मुझसे यही कह रहे हैं कि देवी सीताको निशाचर खा गये ॥ ८½ ॥

हा ममार्ये क्व यातासि हा साध्वि वरवर्णिनि ॥ ९ ॥
हा सकामाद्य कैकेयी देवि मेऽद्य भविष्यति ।

'हा मेरी आर्ये ! (आदरणीये !) तुम कहाँ चली गयी ? हा साध्वि ! हा वरवर्णिनि ! तुम कहाँ गयी ? हा देवि ! आज कैकेयी सफलमनोरथ हो जायगी ॥ ९½ ॥

सीतया सह निर्यातो विना सीतामुपागतः ॥ १० ॥
कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यमन्तःपुरं मम ।

'सीताके साथ अयोध्यासे निकला था । यदि सीताके विना ही वहाँ लौटा तो अपने सूने अन्तःपुरमें कैसे प्रवेश करूँगा ॥ १०½ ॥

निर्वीर्य इति लोको मां निर्दयश्चेति वक्ष्यति ॥ ११ ॥
कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे ।

'सारा संसार मुझे पराक्रमहीन और निर्दय कहेगा । सीताके अपहरणसे मेरी कायरता ही प्रकाशमें आयेगी ॥

निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम् ॥ १२ ॥
कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ष्ये निरीक्षितुम् ।

'जब वनवाससे लौटनेपर मिथिलानरेश जनक मुझसे कुशल पूछने आयेंगे, उस समय मैं कैसे उनकी ओर देख सकूँगा ? ॥ १२½ ॥

विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया ॥ १३ ॥
सुताविनाशसंतप्तो मोहस्य वशमेष्यति ।

'मुझे सीतासे रहित देख विदेहराज जनक अपनी पुत्रीके विनाशसे संतप्त हो निश्चय ही मूर्च्छित हो जायँगे ॥ १३½ ॥

अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपालिताम् ॥ १४ ॥
स्वर्गोऽपि हि तया हीनः शून्य एव मतो मम ।

अथवा अब मैं भरतद्वारा पालित अयोध्यापुरीको नहीं जाऊँगा । जानकीके विना मुझे स्वर्ग भी सूना ही जान पड़ेगा ॥ १४½ ॥

तन्मामुत्सृज्य हि वने गच्छायोध्यापुरीं शुभाम् ॥ १५ ॥
न त्वहं तां विना सीतां जीवेयं हि कथंचन ।

'इसलिये अब तुम मुझे वनमें ही छोड़कर सुन्दर अयोध्यापुरीको लौट जाओ । मैं तो अब सीताके विना किसी तरह जीवित नहीं रह सकता ॥ १५½ ॥

गाढमाश्लिष्य भरतो वाच्यो मद्वचनात् त्वया ॥ १६ ॥
अनुज्ञातोऽसि रामेण पालयेति वसुंधराम् ।

'भरतका गाढ़ आलिङ्गन करके तुम उनसे मेरा संदेश कह देना, 'कैकेयीनन्दन ! तुम सारी पृथ्वीका पालन करो, इसके लिये रामने तुम्हें आज्ञा दे दी है ॥ १६½ ॥

अम्बा च मम कैकेयी सुमित्रा च त्वया विभो ॥ १७ ॥
कौसल्या च यथान्यायमभिवाद्या ममाज्ञया ।
रक्षणीया प्रयत्नेन भवता सूक्तचारिणा ॥ १८ ॥

'विभो ! मेरी माता कौसल्या, कैकेयी तथा सुमित्राको प्रतिदिन यथोचित रीतिसे प्रणाम करते हुए उन सबकी रक्षा करना और सदा उनकी आज्ञाके अनुसार चलना,' यह तुम्हारे लिये मेरी आज्ञा है ॥ १७-१८ ॥

सीतायाश्च विनाशोऽयं मम चामित्रसूदन।
विस्तरेण जनन्या मे विनिवेद्यस्त्वया भवेत्॥ १९॥

'शत्रुसूदन ! मेरी माताके समक्ष सीताके विनाशका यह समाचार विस्तारपूर्वक कह सुनाना' ॥ १९ ॥

इति विलपति राघवे तु दीने
वनमुपगम्य तया विना सुकेश्या।
भयविकलमुखस्तु लक्ष्मणोऽपि
व्यथितमना भृशमातुरो बभूव॥ २०॥

सुन्दर केशवाली सीताके विरहमें भगवान् श्रीराम वनके भीतर जाकर जब इस तरह दीनभावसे विलाप करने लगे, तब लक्ष्मणके भी मुखपर भयजनित व्याकुलताके चिह्न दिखायी देने लगे। उनका मन व्यथित हो उठा और वे अत्यन्त घबरा गये ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

श्रीरामका विलाप

स राजपुत्रः प्रियया विहीनः
शोकेन मोहेन च पीड्यमानः।
विषादयन् भ्रातरमार्तरूपो
भूयो विषादं प्रविवेश तीव्रम्॥ १॥

अपनी प्रिया सीतासे रहित हो राजकुमार श्रीराम शोक और मोहसे पीड़ित होने लगे। वे स्वयं तो पीड़ित थे ही, अपने भाई लक्ष्मणको भी विषादमें डालते हुए पुनः तीव्र शोकमें मग्न हो गये ॥ १ ॥

स लक्ष्मणं शोकवशाभिपन्नं
शोके निमग्नो विपुले तु रामः।
उवाच वाक्यं व्यसनानुरूप-
मुष्णं विनिःश्वस्य रुदन् सशोकम्॥ २॥

लक्ष्मण शोकके अधीन हो रहे थे, उनसे महान् शोकमें डूबे हुए श्रीराम दुःखके साथ रोते हुए गरम उच्छ्वास लेकर अपने ऊपर पड़े हुए संकटके अनुरूप वचन बोले—॥ २ ॥

न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी
मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुंधरायाम्।
शोकानुशोको हि परम्पराया
मामेति भिन्दन् हृदयं मनश्च॥ ३॥

'सुमित्रानन्दन ! मालूम होता है, मेरे-जैसा पापकर्म करनेवाला मनुष्य इस पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि एकके बाद दूसरा शोक मेरे हृदय (प्राण) और मनको विदीर्ण करता हुआ लगातार मुझपर आता जा रहा है ॥ ३ ॥

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि
पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि।
तत्रायमद्यापतितो विपाको
दुःखेन दुःखं यदहं विशामि॥ ४॥

'निश्चय ही पूर्वजन्ममें मैंने अपनी इच्छाके अनुसार बारंबार बहुत-से पापकर्म किये हैं; उन्हींमेंसे कुछ कर्मोंका यह परिणाम आज प्राप्त हुआ है, जिसमें मैं एक दुःखसे दूसरे दुःखमें पड़ता जा रहा हूँ ॥ ४ ॥

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः
पितुर्विनाशो जननीवियोगः।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेग-
मापूरयन्ति प्रविचिन्तितानि॥ ५॥

'पहले तो मैं राज्यसे वञ्चित हुआ; फिर मेरा स्वजनोंसे वियोग हुआ। तत्पश्चात् पिताजीका परलोकवास हुआ, फिर मातासे भी मुझे बिछुड़ जाना पड़ा। लक्ष्मण ! ये सारी बातें जब मुझे याद आती हैं, तब मेरे शोकके वेगको बढ़ा देती हैं ॥ ५ ॥

सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेदं
शान्तं शरीरे वनमेत्य क्लेशम्।
सीतावियोगात् पुनरप्युदीर्णं
काष्ठैरिवाग्निः सहसोपदीप्तः॥ ६॥

'लक्ष्मण ! वनमें आकर क्लेशका अनुभव करके भी यह सारा दुःख सीताके समीप रहनेसे मेरे शरीरमें ही शान्त हो गया था, परंतु सीताके वियोगसे वह फिर उद्दीप्त हो उठा है, जैसे सूखे काठका संयोग पाकर आग सहसा प्रज्वलित हो उठती है ॥ ६ ॥

सा नूनमार्या मम राक्षसेन
ह्यभ्याहृता खं समुपेत्य भीरुः।
अपस्वरं सुस्वरविप्रलापा
भयेन विक्रन्दितवत्यभीक्ष्णम्॥ ७॥

'हाय ! मेरी श्रेष्ठ स्वभाववाली भीरु पत्नीको अवश्य ही राक्षसने आकाशमार्गसे हर लिया । उस समय सुमधुर स्वरमें विलाप करनेवाली सीता भयके मारे बारंबार विकृत स्वरमें क्रन्दन करने लगी होगी ॥ ७ ॥

तौ लोहितस्य प्रियदर्शनस्य
सदोचितावुत्तमचन्दनस्य ।
वृत्तौ स्तनौ शोणितपङ्कदिग्धौ
नूनं प्रियाया मम नाभिपातः ॥ ८ ॥

'मेरी प्रियाके वे दोनों गोल-गोल स्तन, जो सदा लाल चन्दनसे चर्चित होने योग्य थे, निश्चय ही रक्तकी कीचमें सन गये होंगे । हाय ! इतनेपर भी मेरे शरीरका पतन नहीं होता ॥ ८ ॥

तच्छ्लक्ष्णसुव्यक्तमृदुप्रलापं
तस्या मुखं कुञ्चितकेशभारम् ।
रक्षोवशं नूनमुपागतायाः
न भ्राजते राहुमुखे यथेन्दुः ॥ ९ ॥

'राक्षसके वशमें पड़ी हुई मेरी प्रियाका वह मुख जो स्निग्ध एवं सुस्पष्ट मधुर वार्तालाप करनेवाला तथा काले-काले घुँघराले केशोंके भारसे सुशोभित था, वैसे ही श्रीहीन हो गया होगा, जैसे राहुके मुखमें पड़ा हुआ चन्द्रमा शोभा नहीं पाता है ॥ ९ ॥

तां हारपाशस्य सदोचितान्तां
ग्रीवां प्रियाया मम सुव्रतायाः ।
रक्षांसि नूनं परिपीतवन्ति
शून्ये हि भित्त्वा रुधिराशनानि ॥ १० ॥

'हाय ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाली मेरी प्रियतमाका कण्ठ हर समय हारसे सुशोभित होने योग्य था, किंतु रक्तभोजी राक्षसोंने सूने वनमें अवश्य उसे फाड़कर उसका रक्त पिया होगा ॥ १० ॥

मया विहीना विजने वने सा
रक्षोभिराहृत्य विकृष्यमाणा ।
नूनं विनादं कुररीव दीना
सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा ॥ ११ ॥

'मेरे न रहनेके कारण निर्जन वनमें राक्षसोंने उसे ले-लेकर घसीटा होगा और विशाल एवं मनोहर नेत्रोंवाली ... जानकी अत्यन्त दीनभावसे कुररीकी भाँति विलाप ...ती रही होगी ॥ ११ ॥

अस्मिन् मया सार्धमुदारशीला
शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा ।
कान्तस्मिता लक्ष्मण जातहासा
त्वामाह सीता बहुवाक्यजातम् ॥ १२ ॥

'लक्ष्मण ! यह वही शिलातल है, जिसपर उदार स्वभाववाली सीता पहले एक दिन मेरे साथ बैठी हुई थी । उसकी मुसकान कितनी मनोहर थी, उस समय उसने हँस-हँसकर तुमसे भी बहुत-सी बातें कही थीं ॥ १२ ॥

गोदावरीयं सरितां वरिष्ठा
प्रिया प्रियाया मम नित्यकालम् ।
अप्यत्र गच्छेदिति चिन्तयामि
नैकाकिनी याति हि सा कदाचित् ॥ १३ ॥

'सरिताओंमें श्रेष्ठ यह गोदावरी मेरी प्रियतमाको सदा ही प्रिय रही है । सोचता हूँ, शायद वह इसीके तटपर गयी हो, किंतु अकेली तो वह कभी वहाँ नहीं जाती थी ॥ १३ ॥

पद्मानना पद्मपलाशनेत्रा
पद्मानि वानेतुमभिप्रयाता ।
तदप्ययुक्तं नहि सा कदाचि-
न्मया विना गच्छति पङ्कजानि ॥ १४ ॥

'उसका मुख और विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलोंके समान सुन्दर हैं, सम्भव है, वह कमलपुष्प लानेके लिये ही गोदावरी तटपर गयी हो, परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह मुझे साथ लिये बिना कभी कमलोंके पास नहीं जाती थी ॥ १४ ॥

कामं त्विदं पुष्पितवृक्षषण्डं
नानाविधैः पक्षिगणैरुपेतम् ।
वनं प्रयाता नु तदप्ययुक्त-
मेकाकिनी सातिबिभेति भीरुः ॥ १५ ॥

'हो सकता है कि वह इन पुष्पित वृक्षसमूहोंसे युक्त और नाना प्रकारके पक्षियोंसे सेवित वनमें भ्रमणके लिये गयी हो; परंतु यह भी ठीक नहीं लगता; क्योंकि वह भीरु तो अकेली वनमें जानेसे बहुत डरती थी ॥ १५ ॥

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ
लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन् ।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा
शंसस्व मे शोकहतस्य सर्वम् ॥ १६ ॥

'सूर्यदेव ! संसारमें किसने क्या किया और क्या नहीं किया—इसे तुम जानते हो; लोगोंके सत्य-असत्य (पुण्य और पाप) कर्मोंके तुम्हीं साक्षी हो । मेरी प्रिया सीता कहाँ गयी अथवा उसे किसने हर लिया, यह सब मुझे बताओ; क्योंकि मैं उसके शोकसे पीड़ित हूँ ॥ १६ ॥

लोकेषु सर्वेषु न नास्ति किंचिद्
यत् ते न नित्यं विदितं भवेत् तत् ।
शंसस्व वायो कुलपालिनीं तां
मृता हृता वा पथि वर्तते वा ॥ १७ ॥

'वायुदेव ! समस्त विश्वमें ऐसी कोई बात नहीं है,

जो तुम्हें सदा ज्ञात न रहती हो। मेरी कुलपालिका सीता कहाँ है, यह बता दो। वह मर गयी, हर ली गयी अथवा मार्गमें ही है' ॥ १७ ॥

इतीव तं शोकविधेयदेहं
रामं विसंज्ञं विलपन्तमेव।
उवाच सौमित्रिरदीनसत्त्वो
न्याय्ये स्थितः कालयुतं च वाक्यम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार शोकके अधीन होकर जब श्रीरामचन्द्रजी संज्ञाशून्य हो विलाप करने लगे, तब उनकी ऐसी अवस्था देख न्यायोचित मार्गपर स्थित रहनेवाले उदारचित्त सुमित्राकुमार लक्ष्मणने उनसे यह समयोचित बात कही—॥ १८ ॥

शोकं विसृज्याद्य धृतिं भजस्व
सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः।
उत्साहवन्तो हि नरा न लोके
सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु ॥ १९ ॥

'आर्य! आप शोक छोड़कर धैर्य धारण करें; सीताकी खोजके लिये मनमें उत्साह रखें; क्योंकि उत्साही मनुष्य जगत्‌में अत्यन्त दुष्कर कार्य आ पड़नेपर भी कभी दुखी नहीं होते हैं' ॥ १९ ॥

इतीव सौमित्रिमुदग्रपौरुषं
ब्रुवन्तमार्तो रघुवंशवर्धनः।
न चिन्तयामास धृतिं विमुक्तवान्
पुनश्च दुःखं महदभ्युपागमत् ॥ २० ॥

बढ़े हुए पुरुषार्थवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मण जब इस प्रकारकी बातें कह रहे थे, उस समय रघुकुलकी वृद्धि करनेवाले श्रीरामने आर्त होकर उनके कथनके औचित्यपर कोई ध्यान नहीं दिया; उन्होंने धैर्य छोड़ दिया और वे पुनः महान् दुःखमें पड़ गये ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सीताकी खोज, श्रीरामका शोकोद्गार, मृगोंद्वारा संकेत पाकर दोनों भाइयोंका दक्षिण दिशाकी ओर जाना, पर्वतपर क्रोध, सीताके बिखरे हुए फूल, आभूषणोंके कण और युद्धके चिह्न देखकर श्रीरामका देवता आदि-सहित समस्त त्रिलोकीपर रोष प्रकट करना

स दीनो दीनया वाचा लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत्।
शीघ्रं लक्ष्मण जानीहि गत्वा गोदावरीं नदीम् ॥ १ ॥
अपि गोदावरीं सीता पद्मान्यानयितुं गता।

तदनन्तर दीन हुए श्रीरामचन्द्रजीने दीन वाणीमें लक्ष्मणसे कहा—'लक्ष्मण! तुम शीघ्र ही गोदावरी नदीके तटपर जाकर पता लगाओ। सीता कमल लानेके लिये तो नहीं चली गयीं' ॥ १½ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः पुनरेव हि ॥ २ ॥
नदीं गोदावरीं रम्यां जगाम लघुविक्रमः।

श्रीरामकी ऐसी आज्ञा पाकर लक्ष्मण शीघ्र गतिसे पुनः रमणीय गोदावरी नदीके तटपर गये ॥ २½ ॥

तां लक्ष्मणस्तीर्थवतीं विचित्वा राममब्रवीत् ॥ ३ ॥
नैनां पश्यामि तीर्थेषु क्रोशतो न शृणोति मे।

अनेक तीर्थों (घाटों) से युक्त गोदावरीके तटपर खोजकर लक्ष्मण पुनः लौट आये और श्रीरामसे बोले—'भैया! मैं गोदावरीके घाटोंपर सीताको नहीं देख पाता हूँ; जोर-जोरसे पुकारनेपर भी वे मेरी बात नहीं सुनती हैं ॥ ३½ ॥

कं नु सा देशमापन्ना वैदेही क्लेशनाशिनी ॥ ४ ॥
नहि तं वेद्मि वै राम यत्र सा तनुमध्यमा।

'श्रीराम! क्लेशोंका नाश करनेवाली विदेहराजकुमारी न जाने किस देशमें चली गयीं। भैया श्रीराम! जहाँ कृश-कटिप्रदेशवाली सीता गयी हैं; उस स्थानको मैं नहीं जानता' ॥ ४½ ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दीनः संतापमोहितः ॥ ५ ॥
रामः समभिचक्राम स्वयं गोदावरीं नदीम्।

लक्ष्मणकी यह बात सुनकर दीन एवं संतापसे मोहित हुए श्रीरामचन्द्रजी स्वयं ही गोदावरी नदीके तटपर गये ॥ ५½ ॥

स तामुपस्थितो रामः क्व सीतेत्येवमब्रवीत् ॥ ६ ॥
भूतानि राक्षसेन्द्रेण वधार्हेण हृतामपि।
न तां शशंसू रामाय तथा गोदावरी नदी ॥ ७ ॥

वहाँ पहुँचकर श्रीरामने पूछा—'सीता कहाँ है?' परंतु वधके योग्य राक्षसराज रावणद्वारा हरी गयी सीताके विषयमें समस्त भूतोंमेंसे किसीने कुछ नहीं कहा। गोदावरी नदीने भी श्रीरामको कोई उत्तर नहीं दिया ॥ ६-७ ॥

ततः प्रचोदिता भूतैः शंस चास्मै प्रियामिति।
न च सा ह्यवदत् सीतां पृष्टा रामेण शोचता ॥ ८ ॥

तदनन्तर वनके समस्त प्राणियोंने उन्हें प्रेरित किया कि 'तुम श्रीरामको उनकी प्रियाका पता बता दो !' किंतु शोकमग्न श्रीरामके पूछनेपर भी गोदावरीने सीताका पता नहीं बताया ॥ ८ ॥

रावणस्य च तद्रूपं कर्माणि च दुरात्मनः।
ध्यात्वा भयात् तु वैदेहीं सा नदी न शशंस ह ॥ ९ ॥

दुरात्मा रावणके उस रूप और कर्मको याद करके भयके मारे गोदावरी नदीने वैदेहीके विषयमें श्रीरामसे कुछ नहीं कहा ॥ ९ ॥

निराशस्तु तया नद्या सीताया दर्शने कृतः।
उवाच रामः सौमित्रिं सीतादर्शनकर्शितः ॥ १० ॥

सीताके दर्शनके विषयमें जब नदीने उन्हें पूर्ण निराश कर दिया, तब सीताको न देखनेसे कष्टमें पड़े हुए श्रीराम सुमित्राकुमारसे इस प्रकार बोले—॥ १० ॥

एषा गोदावरी सौम्य किंचिन्न प्रतिभाषते।
किं नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः ॥ ११ ॥
मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम्।

'सौम्य लक्ष्मण ! यह गोदावरी नदी तो मुझे कोई उत्तर ही नहीं देती है। अब मैं राजा जनकसे मिलनेपर उन्हें क्या जवाब दूँगा ? जानकीके विना उसकी मातासे मिलकर भी मैं उनसे यह अप्रिय बात कैसे सुनाऊँगा ? ॥ ११½ ॥

या मे राज्यविहीनस्य वने वन्येन जीवतः ॥ १२ ॥
सर्वं व्यपानयच्छोकं वैदेही क्व नु सा गता।

'राज्यहीन होकर वनमें जंगली फल-मूलोंसे निर्वाह करते समय भी जो मेरे साथ रहकर मेरे सभी दुःखोंको दूर किया करती थी, वह विदेहराजकुमारी कहाँ चली गयी ? ॥ १२½ ॥

ज्ञातिवर्गविहीनस्य वैदेहीमप्यपश्यतः ॥ १३ ॥
मन्ये दीर्घा भविष्यन्ति रात्रयो मम जाग्रतः।

'बन्धु-बान्धवोंसे तो मेरा बिछोह हो ही गया था, अब सीताके दर्शनसे भी मुझे वञ्चित होना पड़ा; उसकी चिन्तामें निरन्तर जागते रहनेके कारण अब मेरी सभी रातें बहुत बड़ी हो जायँगी ॥ १३½ ॥

मन्दाकिनीं जनस्थानमिमं प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १४ ॥
सर्वाण्यनुचरिष्यामि यदि सीता हि लभ्यते।

'मन्दाकिनी नदी, जनस्थान तथा प्रस्रवण पर्वत—इन सभी स्थानोंपर मैं बारंबार भ्रमण करूँगा। शायद वहाँ सीताका पता चल जाय ॥ १४½ ॥

एते महामृगा वीर मामीक्षन्ते पुनः पुनः ॥ १५ ॥
वक्तुकामा इह हि मे इङ्गितान्युपलक्षये।

'वीर लक्ष्मण ! ये विशाल मृग मेरी ओर बारंबार देख रहे हैं, मानो यहाँ ये मुझसे कुछ कहना चाहते हैं। मैं इनकी चेष्टाओंको समझ रहा हूँ' ॥ १५½ ॥

तांस्तु दृष्ट्वा नरव्याघ्रो राघवः प्रत्युवाच ह ॥ १६ ॥
क्व सीतेति निरीक्षन् वै बाष्पसंरुद्धया गिरा।
एवमुक्ता नरेन्द्रेण ते मृगाः सहसोत्थिताः ॥ १७ ॥
दक्षिणाभिमुखाः सर्वे दर्शयन्तो नभःस्थलम्।

तदनन्तर उन सबकी ओर देखकर पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्रजीने उनसे कहा—'बताओ, सीता कहाँ है ?' उन मृगोंकी ओर देखते हुए राजा श्रीरामने जब अश्रुगद्गद वाणीसे इस प्रकार पूछा, तब वे मृग सहसा उठकर खड़े हो गये और ऊपरकी ओर देखकर आकाशमार्गकी ओर लक्ष्य कराते हुए सब-के-सब दक्षिण दिशाकी ओर मुँह किये दौड़े ॥ १६-१७½ ॥

मैथिली ह्रियमाणा सा दिशं यामभ्यपद्यत ॥ १८ ॥
तेन मार्गेण गच्छन्तो निरीक्षन्ते नराधिपम्।

मिथिलेशकुमारी सीता हरी जाकर जिस दिशाकी ओर गयी थीं, उसी ओरके मार्गसे जाते हुए वे मृग राजा श्रीरामचन्द्रजीकी ओर मुड़-मुड़कर देखते रहते थे ॥ १८½ ॥

येन मार्गं च भूमिं च निरीक्षन्ते स्म ते मृगाः ॥ १९ ॥
पुनर्नदन्तो गच्छन्ति लक्ष्मणेनोपलक्षिताः।
तेषां वचनसर्वस्वं लक्षयामास चेङ्गितम् ॥ २० ॥

वे मृग आकाशमार्ग और भूमि दोनोंकी ओर देखते और गर्जना करते हुए पुनः आगे बढ़ते थे। लक्ष्मणने उनकी इस चेष्टाको लक्ष्य किया। वे जो कुछ कहना चाहते थे, उसका सारसर्वस्वरूप जो उनकी चेष्टा थी, उसे उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया ॥ १९-२० ॥

उवाच लक्ष्मणो धीमाञ्ज्येष्ठं भ्रातरमार्तवत्।
क्व सीतेति त्वया पृष्टा यथेमे सहसोत्थिताः ॥ २१ ॥
दर्शयन्ति क्षितिं चैव दक्षिणां च दिशं मृगाः।
साधु गच्छावहे देव दिशमेतां च नैर्ऋतीम् ॥ २२ ॥
यदि तस्यागमः कश्चिदार्या वा साथ लक्ष्यते।

तदनन्तर बुद्धिमान् लक्ष्मणने आर्त-से होकर अपने बड़े भाईसे इस प्रकार कहा—'आर्य ! जब आपने पूछा कि सीता कहाँ हैं, तब ये मृग सहसा उठकर खड़े हो गये और पृथ्वी तथा दक्षिणकी ओर हमारा लक्ष्य कराने लगे हैं; अतः देव ! यही अच्छा होगा कि हमलोग इस नैर्ऋत्य दिशाकी ओर चलें। सम्भव है, इधर जानेसे सीताका कोई समाचार मिल जाय अथवा आर्या सीता स्वयं ही दृष्टिगोचर हो जायँ' ॥ २१-२२½ ॥

बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम् ॥ २३ ॥
लक्ष्मणानुगतः श्रीमान् वीक्षमाणो वसुंधराम्।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीमान् रामचन्द्रजी लक्ष्मणको साथ ले पृथ्वीकी ओर ध्यानसे देखते हुए दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ २३½ ॥

एवं सम्भाषमाणौ तावन्योन्यं भ्रातरावुभौ ॥ २४ ॥
वसुंधरायां पतितपुष्पमार्गमपश्यताम् ।

वे दोनों भाई आपसमें इसी प्रकारकी बातें करते हुए ऐसे मार्गपर जा पहुँचे, जहाँ भूमिपर कुछ फूल गिरे दिखायी देते थे ॥ २४½ ॥

पुष्पवृष्टिं निपतितां दृष्ट्वा रामो महीतले ॥ २५ ॥
उवाच लक्ष्मणं वीरो दुःखितो दुःखितं वचः ।

पृथ्वीपर फूलोंकी उस वर्षाको देखकर वीर श्रीरामने दुखी हो लक्ष्मणसे यह दुःखभरा वचन कहा—॥ २५½ ॥

अभिजानामि पुष्पाणि तानीमानीह लक्ष्मण ॥ २६ ॥
अपिनद्धानि वैदेह्या मया दत्तानि कानने ।

'लक्ष्मण ! मैं इन फूलोंको पहचानता हूँ । ये वे ही फूल यहाँ गिरे हैं, जिन्हें वनमें मैंने विदेहनन्दिनीको दिया था और उन्होंने अपने केशोंमें लगा लिया था ॥ २६½ ॥

मन्ये सूर्यश्च वायुश्च मेदिनी च यशस्विनी ॥ २७ ॥
अभिरक्षन्ति पुष्पाणि प्रकुर्वन्तो मम प्रियम् ।

'मैं समझता हूँ, सूर्य, वायु और यशस्विनी पृथ्वीने मेरा प्रिय करनेके लिये ही इन फूलोंको सुरक्षित रखा है' ॥ २७½ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्लक्ष्मणं पुरुषर्षभम् ॥ २८ ॥
उवाच रामो धर्मात्मा गिरिं प्रस्रवणाकुलम् ।

पुरुषप्रवर लक्ष्मणसे ऐसा कहकर धर्मात्मा महाबाहु श्रीरामने झरनोंसे भरे हुए प्रस्रवण गिरिसे कहा—॥ २८½ ॥

कच्चित् क्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ॥ २९ ॥
रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ।

'पर्वतराज ! क्या तुमने इस वनके रमणीय प्रदेशमें मुझसे बिछुड़ी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी सीताको देखा है ?' ॥ २९½ ॥

क्रुद्धोऽब्रवीद् गिरिं तत्र सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ३० ॥
तां हेमवर्णां हेमाङ्गीं सीतां दर्शय पर्वत ।
यावत् सानूनि सर्वाणि न ते विध्वंसयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर जैसे सिंह छोटे मृगको देखकर दहाड़ता है, उसी प्रकार वे कुपित हो वहाँ उस पर्वतसे बोले—'पर्वत ! जबतक मैं तुम्हारे सारे शिखरोंका विध्वंस नहीं कर डालता हूँ, इसके पहले ही तुम उस काञ्चनकी-सी काया-कान्तिवाली सीताका मुझे दर्शन करा दो' ॥ ३०-३१ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण पर्वतो मैथिलीं प्रति ।
दर्शयन्निव तां सीतां नादर्शयत राघवे ॥ ३२ ॥

श्रीरामके द्वारा मैथिलीके लिये ऐसा कहे जानेपर उस पर्वतने सीताको दिखाता हुआ-सा कुछ चिह्न प्रकट कर दिया । श्रीरघुनाथजीके समीप वह सीताको साक्षात् उपस्थित न कर सका ॥ ३२ ॥

ततो दाशरथी राम उवाच च शिलोच्चयम् ।
मम बाणाग्निनिर्दग्धो भस्मीभूतो भविष्यसि ॥ ३३ ॥
असेव्यः सर्वतश्चैव निस्तृणद्रुमपल्लवः ।

तब दशरथनन्दन श्रीरामने उस पर्वतसे कहा—'अरे ! तू मेरे बाणोंकी आगसे जलकर भस्मीभूत हो जायगा । किसी भी ओरसे तू सेवनके योग्य नहीं रह जायगा । तेरे तृण, वृक्ष और पल्लव नष्ट हो जायँगे' ॥ ३३½ ॥

इमां वा सरितं चाद्य शोषयिष्यामि लक्ष्मण ॥ ३४ ॥
यदि नाख्याति मे सीतामद्य चन्द्रनिभाननाम् ।

(इसके बाद वे सुमित्राकुमारसे बोले—) 'लक्ष्मण ! यदि यह नदी आज मुझे चन्द्रमुखी सीताका पता नहीं बताती है तो मैं अब इसे भी सुखा डालूँगा' ॥ ३४½ ॥

एवं प्ररुषितो रामो दिधक्षन्निव चक्षुषा ॥ ३५ ॥
ददर्श भूमौ निष्क्रान्तं राक्षसस्य पदं महत् ।

ऐसा कहकर रोषमें भरे हुए श्रीरामचन्द्रजी उसकी ओर इस तरह देखने लगे, मानो अपनी दृष्टिद्वारा उसे जलाकर भस्म कर देना चाहते हैं । इतनेहीमें उस पर्वत और गोदावरीके समीपकी भूमिपर राक्षसका विशाल पदचिह्न उभरा हुआ दिखायी दिया ॥ ३५½ ॥

त्रस्ताया रामकाङ्क्षिण्याः प्रधावन्त्या इतस्ततः ॥ ३६ ॥
राक्षसेनानुसृप्ताया वैदेह्याश्च पदानि तु ।

साथ ही राक्षसने जिनका पीछा किया था और जो श्रीरामकी अभिलाषा रखकर रावणके भयसे संत्रस्त हो इधर-उधर भागती फिरी थीं, उन विदेहराजकुमारी सीताके चरणचिह्न भी वहाँ दिखायी दिये ॥ ३६½ ॥

स समीक्ष्य परिक्रान्तं सीताया राक्षसस्य च ॥ ३७ ॥
भग्नं धनुश्च तूणी च विकीर्णं बहुधा रथम् ।
सम्भ्रान्तहृदयो रामः शशंस भ्रातरं प्रियम् ॥ ३८ ॥

सीता और राक्षसके पैरोंके निशान, टूटे धनुष, तरकस और छिन्न-भिन्न होकर अनेक टुकड़ोंमें बिखरे हुए रथको देखकर श्रीरामचन्द्रजीका हृदय घबरा उठा । वे अपने प्रिय भ्राता सुमित्राकुमारसे बोले—॥ ३७-३८ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः कीर्णाः कनकबिन्दवः ।
भूषणानां हि सौमित्रे माल्यानि विविधानि च ॥ ३९ ॥

'लक्ष्मण ! देखो, ये सीताके आभूषणोंमें लगे हुए सोनेके घुँघुरू बिखरे पड़े हैं । सुमित्रानन्दन ! उसके नाना प्रकारके हार भी टूटे पड़े हैं ॥ ३९ ॥

तप्तबिन्दुनिकाशैश्च चित्रैः क्षतजबिन्दुभिः ।
आवृतं पश्य सौमित्रे सर्वतो धरणीतलम् ॥ ४० ॥

'सुमित्राकुमार ! देखो, यहाँकी भूमि सब ओरसे सुवर्णकी बूँदोंके समान ही विचित्र रक्तबिन्दुओंसे रँगी दिखायी देती है ॥ ४० ॥

मन्ये लक्ष्मण वैदेही राक्षसैः कामरूपिभिः ।
भित्त्वा भित्त्वा विभक्ता वा भक्षिता वा भविष्यति ॥ ४१ ॥

'लक्ष्मण ! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसोंने यहाँ सीताके टुकड़े-टुकड़े करके उसे आपसमें बाँटा और खाया होगा ॥ ४१ ॥

तस्या निमित्तं सीताया द्वयोर्विवदमानयोः ।
बभूव युद्धं सौमित्रे घोरं राक्षसयोरिह ॥ ४२ ॥

'सुमित्रानन्दन ! सीताके लिये परस्पर विवाद करनेवाले दो राक्षसोंमें यहाँ घोर युद्ध भी हुआ है ॥ ४२ ॥

मुक्तामणिचितं चेदं रमणीयं विभूषितम् ।
धरण्यां पतितं सौम्य कस्य भग्नं महद् धनुः ॥ ४३ ॥

'सौम्य ! तभी तो यहाँ यह मोती और मणियोंसे जटित एवं विभूषित किसीका अत्यन्त सुन्दर और विशाल धनुष खण्डित होकर पृथ्वीपर पड़ा है । यह किसका धनुष हो सकता है ? ॥ ४३ ॥

राक्षसानामिदं वत्स सुराणामथवापि वा ।
तरुणादित्यसंकाशं वैदूर्यगुलिकाचितम् ॥ ४४ ॥

'वत्स ! पता नहीं, यह राक्षसोंका है या देवताओंका; यह प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा है तथा इसमें वैदूर्यमणि (नीलम) के टुकड़े जड़े हुए हैं ॥ ४४ ॥

विशीर्णं पतितं भूमौ कवचं कस्य काञ्चनम् ।
छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ ४५ ॥
भग्नदण्डमिदं सौम्य भूमौ कस्य निपातितम् ।

'सौम्य ! उधर पृथ्वीपर टूटा हुआ एक सोनेका कवच पड़ा है, न जाने वह किसका है ? दिव्य मालाओंसे सुशोभित यह सौ कमानियोंवाला छत्र किसका है ? इसका डंडा टूट गया है और यह धरतीपर गिरा दिया गया है ॥ ४५½ ॥

काञ्चनोरश्छदाश्चेमे पिशाचवदनाः खराः ॥ ४६ ॥
भीमरूपा महाकायाः कस्य वा निहता रणे ।

'इधर ये पिशाचोंके समान मुखवाले भयंकर रूपधारी गधे मरे पड़े हैं । इनका शरीर बहुत ही विशाल रहा है; इन सबकी छातीमें सोनेके कवच बँधे हैं । ये युद्धमें मारे गये जान पड़ते हैं । पता नहीं ये किसके थे ॥ ४६½ ॥

दीप्तपावकसंकाशो द्युतिमान् समरध्वजः ॥ ४७ ॥
अपविद्धश्च भग्नश्च कस्य साङ्ग्रामिको रथः ।

'तथा संग्राममें काम देनेवाला यह किसका रथ पड़ा है ? इसे किसीने उलटा गिराकर तोड़ डाला है । समराङ्गणमें स्वामीको सूचित करनेवाली ध्वजा भी इसमें लगी थी । यह तेजस्वी रथ प्रज्वलित अग्निके समान दमक रहा है ॥ ४७½ ॥

रथाक्षमात्रा विशिखास्तपनीयविभूषणाः ॥ ४८ ॥
कस्येमे निहता बाणाः प्रकीर्णा घोरदर्शनाः ।

'ये भयंकर बाण, जो यहाँ टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरे पड़े हैं, किसके हैं ? इनकी लंबाई और मोटाई रथके धुरेके समान प्रतीत होती है । इनके फल-भाग टूट गये हैं तथा ये सुवर्णसे विभूषित हैं ॥ ४८½ ॥

शरावरौ शरैः पूर्णौ विध्वस्तौ पश्य लक्ष्मण ॥ ४९ ॥
प्रतोदाभीषुहस्तोऽयं कस्य वा सारथिर्हतः ।

'लक्ष्मण ! उधर देखो, ये बाणोंसे भरे हुए दो तरकस पड़े हैं, जो नष्ट कर दिये गये हैं । यह किसका सारथि मरा पड़ा है, जिसके हाथमें चाबुक और लगाम अभीतक मौजूद हैं ॥ ४९½ ॥

पदवी पुरुषस्यैषा व्यक्तं कस्यापि रक्षसः ॥ ५० ॥
वैरं शतगुणं पश्य मम तैर्जीवितान्तकम् ।
सुघोरहृदयैः सौम्य राक्षसैः कामरूपिभिः ॥ ५१ ॥

'सौम्य ! यह अवश्य ही किसी राक्षसका पदचिह्न दिखायी देता है । इन अत्यन्त क्रूर हृदयवाले कामरूपी राक्षसोंके साथ मेरा वैर सौगुना बढ़ गया है । देखो, यह वैर उनके प्राण लेकर ही शान्त होगा ॥ ५०-५१ ॥

हृता मृता वा वैदेही भक्षिता वा तपस्विनी ।
न धर्मस्त्रायते सीतां ह्रियमाणां महावने ॥ ५२ ॥

'अवश्य ही तपस्विनी विदेहराजकुमारी हर ली गयी, मृत्युको प्राप्त हो गयी अथवा राक्षसोंने उसे खा लिया । इस विशाल वनमें हरी जाती हुई सीताकी रक्षा धर्म भी नहीं कर रहा है ॥ ५२ ॥

भक्षितायां हि वैदेह्यां हृतायामपि लक्ष्मण ।
के हि लोके प्रियं कर्तुं शक्ताः सौम्य ममेश्वराः ॥ ५३ ॥

'सौम्य लक्ष्मण ! जब विदेहनन्दिनी राक्षसोंका ग्रास बन गयी अथवा उनके द्वारा हर ली गयी और कोई सहायक नहीं हुआ, तब इस जगत्में कौन ऐसे पुरुष हैं, जो मेरा प्रिय करनेमें समर्थ हों ॥ ५३ ॥

कर्तारमपि लोकानां शूरं करुणवेदिनम् ।
अज्ञानादवमन्येरन् सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ५४ ॥

'लक्ष्मण ! जो समस्त लोकोंकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले 'त्रिपुर-विजय' आदि शौर्यसे सम्पन्न महेश्वर हैं, वे भी जब अपने करुणामय स्वभावके कारण चुप बैठे रहते हैं, तब सारे प्राणी उनके ऐश्वर्यको न जाननेसे उनका तिरस्कार करने लग जाते हैं ॥ ५४ ॥

मृदुं लोकहिते युक्तं दान्तं करुणवेदिनम्।
निर्वीर्य इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः ॥ ५५ ॥

'मैं लोकहितमें तत्पर, युक्त चित्त, जितेन्द्रिय तथा जीवोंपर करुणा करनेवाला हूँ, इसीलिये ये इन्द्र आदि देवेश्वर निश्चय ही मुझे निर्बल मान रहे हैं (तभी तो इन्होंने सीताकी रक्षा नहीं की है)॥ ५५ ॥

मां प्राप्य हि गुणो दोषः संवृत्तः पश्य लक्ष्मण।
अद्यैव सर्वभूतानां रक्षसामभवाय च ॥ ५६ ॥
संहृत्यैव शशिज्योत्स्नां महान् सूर्य इवोदितः।
संहृत्यैव गुणान् सर्वान् मम तेजः प्रकाशते ॥ ५७ ॥

'लक्ष्मण! देखो तो सही, यह दयालुता आदि गुण मेरे पास आकर दोष बन गया (तभी तो मुझे निर्बल मानकर मेरी स्त्रीका अपहरण किया गया है। अतः अब मुझे पुरुषार्थ ही प्रकट करना होगा)। जैसे प्रलयकालमें उदित हुआ महान् सूर्य चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना (चाँदनी) का संहार करके प्रचण्ड तेजसे प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार अब मेरा तेज आज ही समस्त प्राणियों तथा राक्षसोंका अन्त करनेके लिये मेरे उन कोमल स्वभाव आदि गुणोंको समेटकर प्रचण्डरूपमें प्रकाशित होगा, यह भी तुम देखो ॥ ५६-५७ ॥

नैव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
किंनरा वा मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति लक्ष्मण ॥ ५८ ॥

'लक्ष्मण! अब न तो यक्ष, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस, न किन्नर और न मनुष्य ही चैनसे रहने पायेंगे ॥५८॥

ममास्त्रबाणसम्पूर्णमाकाशं पश्य लक्ष्मण।
असम्पातं करिष्यामि ह्यद्य त्रैलोक्यचारिणम् ॥ ५९ ॥

'सुमित्रानन्दन! देखना, थोड़ी ही देरमें आकाशको मैं अपने चलाये हुए बाणोंसे भर दूँगा और तीन लोकोंमें विचरनेवाले प्राणियोंको हिलने-डुलने भी न दूँगा ॥ ५९ ॥

संनिरुद्धग्रहगणमावारितनिशाकरम्।
विप्रणष्टानलमरुद्भास्करद्युतिसंवृतम् ॥ ६० ॥
विनिर्मथितशैलाग्रं शुष्यमाणजलाशयम्।
ध्वस्तद्रुमलतागुल्मं विप्रणाशितसागरम् ॥ ६१ ॥
त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालकर्मणा।

'ग्रहोंकी गति रुक जायगी, चन्द्रमा छिप जायगा, अग्नि, मरुद्गण तथा सूर्यका तेज नष्ट हो जायगा, सब कुछ अन्धकारसे आच्छन्न हो जायगा, पर्वतोंके शिखर मथ डाले जायँगे, सारे जलाशय (नदी-सरोवर आदि) सूख जायँगे, वृक्ष, लता और गुल्म नष्ट हो जायँगे और समुद्रोंका भी नाश कर दिया जायगा। इस तरह मैं सारी त्रिलोकीमें ही कालकी विनाशलीला आरम्भ कर दूँगा ॥ ६०-६१½ ॥

न ते कुशलिनीं सीतां प्रदास्यन्ति ममेश्वराः ॥ ६२ ॥
अस्मिन् मुहूर्ते सौमित्रे मम द्रक्ष्यन्ति विक्रमम्।

'सुमित्रानन्दन! यदि देवेश्वरगण इसी मुहूर्तमें मुझे सीता देवीको सकुशल नहीं लौटा देंगे तो वे मेरा पराक्रम देखेंगे ॥ ६२½ ॥

नाकाशमुत्पतिष्यन्ति सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ६३ ॥
मम चापगुणोन्मुक्तैर्बाणजालैर्निरन्तरम्।

'लक्ष्मण! मेरे धनुषकी प्रत्यञ्चासे छूटे हुए बाणसमूहोंद्वारा आकाशके ठसाठस भर जानेके कारण उसमें कोई प्राणी उड़ नहीं सकेंगे ॥ ६३½ ॥

मर्दितं मम नाराचैर्ध्वस्तभ्रान्तमृगद्विजम् ॥ ६४ ॥
समाकुलममर्यादं जगत् पश्याद्य लक्ष्मण।

'सुमित्रानन्दन! देखो, आज मेरे नाराचोंसे रौंदा जाकर यह सारा जगत् व्याकुल और मर्यादारहित हो जायगा। यहाँके मृग और पक्षी आदि प्राणी नष्ट एवं उद्भ्रान्त हो जायँगे ॥ ६४½ ॥

आकर्णपूर्णैरिषुभिर्जीवलोकदुरावरैः ॥ ६५ ॥
करिष्ये मैथिलीहेतोरपिशाचमराक्षसम्।

'धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये मेरे बाणोंको रोकना जीवजगत्‌के लिये बहुत कठिन होगा। मैं सीताके लिये उन बाणोंद्वारा इस जगत्‌के समस्त पिशाचों और राक्षसोंका संहार कर डालूँगा ॥ ६५½ ॥

मम रोषप्रयुक्तानां विशिखानां बलं सुराः ॥ ६६ ॥
द्रक्ष्यन्त्यद्य विमुक्तानाममर्षाद् दूरगामिनाम्।

'रोष और अमर्षपूर्वक छोड़े गये मेरे फल-रहित दूरगामी बाणोंका बल आज देवतालोग देखेंगे ॥ ६६½ ॥

नैव देवा न दैतेया न पिशाचा न राक्षसाः ॥ ६७ ॥
भविष्यन्ति मम क्रोधात् त्रैलोक्ये विप्रणाशिते।

'मेरे क्रोधसे त्रिलोकीका विनाश हो जानेपर न देवता रह जायँगे न दैत्य, न पिशाच रहने पायँगे न राक्षस ॥६७½॥

देवदानवयक्षाणां लोका ये रक्षसामपि ॥ ६८ ॥
बहुधा निपतिष्यन्ति बाणौघैः शकलीकृताः।

'देवताओं, दानवों, यक्षों और राक्षसोंके जो लोक हैं, वे मेरे बाणसमूहोंसे टुकड़े टुकड़े होकर बारंबार नीचे गिरेंगे ॥ ६८½ ॥

निर्मर्यादानिमाँल्लोकान् करिष्याम्यद्य सायकैः ॥ ६९ ॥
हृतां मृतां वा सौमित्रे न दास्यन्ति ममेश्वराः।

'सुमित्रानन्दन! यदि देवेश्वरगण मेरी हरी या मरी हुई सीताको लाकर मुझे नहीं देंगे तो आज मैं अपने सायकोंकी मारसे इन तीनों लोकोंको मर्यादासे भ्रष्ट कर दूँगा ॥६९½॥

तथारूपां हि वैदेहीं न दास्यन्ति यदि प्रियाम् ॥ ७० ॥

नाशयामि जगत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
यावद् दर्शनमस्या वै तापयामि च सायकैः ॥ ७१ ॥

'यदि वे मेरी प्रिया विदेहराजकुमारीको मुझे उसी रूपमें वापस नहीं लौटायेंगे तो मैं चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीका नाश कर डालूँगा। जबतक सीताका दर्शन न होगा, तबतक मैं अपने सायकोंसे समस्त संसारको संतप्त करता रहूँगा' ॥ ७०-७१ ॥

इत्युक्त्वा क्रोधताम्राक्षः स्फुरमाणोष्ठसम्पुटः।
वल्कलाजिनमाबद्ध्य जटाभारमबन्धयत् ॥ ७२ ॥

ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजीके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये, होठ फड़कने लगे। उन्होंने वल्कल और मृगचर्मको अच्छी तरह कसकर अपने जटाभारको भी बाँध लिया ॥ ७२ ॥

तस्य क्रुद्धस्य रामस्य तथाभूतस्य धीमतः।
त्रिपुरं जघ्नुषः पूर्वं रुद्रस्येव बभौ तनुः ॥ ७३ ॥

उस समय क्रोधमें भरकर उस तरह संहारके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीरामका शरीर पूर्वकालमें त्रिपुरका संहार करनेवाले रुद्रके समान प्रतीत होता था ॥ ७३ ॥

लक्ष्मणादथ चादाय रामो निष्पीड्य कार्मुकम्।
शरमादाय संदीप्तं घोरमाशीविषोपमम् ॥ ७४ ॥
संदधे धनुषि श्रीमान् रामः परपुरञ्जयः।
युगान्ताग्निरिव क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ ७५ ॥

उस समय लक्ष्मणके हाथसे धनुष लेकर श्रीरामचन्द्रजीने उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया और एक विषधर सर्पके समान भयंकर और प्रज्वलित बाण लेकर उसे उस धनुषपर रखा। तत्पश्चात् शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले श्रीराम प्रलयाग्निके समान कुपित हो इस प्रकार बोले—॥ ७४-७५ ॥

यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः।
नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण।
तथाहं क्रोधसंयुक्तो न निवार्योऽस्म्यसंशयम् ॥ ७६ ॥

'लक्ष्मण! जैसे बुढ़ापा, जैसे मृत्यु, जैसे काल और जैसे विधाता सदा समस्त प्राणियोंपर प्रहार करते हैं, किंतु उन्हें कोई रोक नहीं पाता है, उसी प्रकार निस्संदेह क्रोधमें भर जानेपर मेरा भी कोई निवारण नहीं कर सकता ॥ ७६ ॥

पुरेव मे चारुदतीमनिन्दितां
दिशन्ति सीतां यदि नाद्य मैथिलीम्।
सदेवगन्धर्वमनुष्यपन्नगं
जगत् सशैलं परिवर्तयाम्यहम् ॥ ७७ ॥

'यदि देवता आदि आज पहलेकी ही भाँति मनोहर दाँतोंवाली अनिन्द्यसुन्दरी मिथिलेशकुमारी सीताको मुझे लौटा नहीं देंगे तो मैं देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग और पर्वतोंसहित सारे संसारको उलट दूँगा' ॥ ७७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

लक्ष्मणका श्रीरामको समझा-बुझाकर शान्त करना

तप्यमानं तदा रामं सीताहरणकर्शितम्।
लोकानामभवे युक्तं सांवर्तकमिवानलम् ॥ १ ॥
वीक्षमाणं धनुः सज्यं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।
दग्धुकामं जगत् सर्वं युगान्ते च यथा हरम् ॥ २ ॥
अदृष्टपूर्वं संक्रुद्धं दृष्ट्वा रामं स लक्ष्मणः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ ३ ॥

सीताहरणके शोकसे पीड़ित हुए श्रीराम जब उस समय संतप्त हो प्रलयकालिक अग्निके समान समस्त लोकोंका संहार करनेको उद्यत हो गये और धनुषकी डोरी चढ़ाकर बारंबार उसकी ओर देखने लगे तथा लंबी साँस खींचने लगे, साथ ही कल्पान्तकालमें रुद्रदेवकी भाँति समस्त संसारको दग्ध कर देनेकी इच्छा करने लगे, तब जिन्हें इस रूपमें पहले कभी देखा नहीं गया था, उन अत्यन्त कुपित हुए श्रीरामकी ओर देखकर लक्ष्मण हाथ जोड़ सूखे हुए मुँहसे इस प्रकार बोले—॥ १-३ ॥

पुरा भूत्वा मृदुर्दान्तः सर्वभूतहिते रतः।
न क्रोधवशमापन्नः प्रकृतिं हातुमर्हसि ॥ ४ ॥

'आर्य! आप पहले कोमल स्वभावसे युक्त, जितेन्द्रिय और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहे हैं। अब क्रोधके वशीभूत होकर अपनी प्रकृति (स्वभाव) का परित्याग न करें ॥ ४ ॥

चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गतिर्वायौ भुवि क्षमा।
एतच्च नियतं नित्यं त्वयि चानुत्तमं यशः ॥ ५ ॥

'चन्द्रमामें शोभा, सूर्यमें प्रभा, वायुमें गति और पृथ्वीमें क्षमा जैसे नित्य विराजमान रहती है, उसी प्रकार आपमें सर्वोत्तम यश सदा प्रकाशित होता है ॥ ५ ॥

एकस्य नापराधेन लोकान् हन्तुं त्वमर्हसि।
ननु जानामि कस्यायं भग्नः सांग्रामिको रथः ॥ ६ ॥

'आप किसी एकके अपराधसे समस्त लोकोंका संहार न करें। मैं यह जाननेकी चेष्टा करता हूँ कि यह टूटा हुआ युद्धोपयोगी रथ किसका है ॥ ६ ॥



सीता-विरहमें शोकमग्न श्रीरामको लक्ष्मण समझा रहे हैं

केन वा कस्य वा हेतोः सयुगः सपरिच्छदः।
खुरनेमिक्षतश्चायं सिक्तो रुधिरबिन्दुभिः॥ ७॥
देशो निर्वृत्तसंग्रामः सुघोरः पार्थिवात्मज।
एकस्य तु विमर्दोऽयं न द्वयोर्वदतां वर॥ ८॥
नहि वृत्तं हि पश्यामि बलस्य महतः पदम्।
नैकस्य तु कृते लोकान् विनाशयितुमर्हसि॥ ९॥

'अथवा किसने किस उद्देश्यसे जूए तथा अन्य उपकरणोंसहित इस रथको तोड़ा है? इसका भी पता लगाना है। राजकुमार! यह स्थान घोड़ोंकी खुरों और थके पहियोंसे खुदा हुआ है; साथ ही खूनकी बूँदोंसे सिंच उठा है। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ बड़ा भयंकर संग्राम हुआ था, परंतु यह संग्राम-चिह्न किसी एक ही रथीका है, दोका नहीं। वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीराम! मैं यहाँ किसी विशाल सेनाका पदचिह्न नहीं देख रहा हूँ; अतः किसी एकहीके अपराधके कारण आपको समस्त लोकोंका विनाश नहीं करना चाहिये॥ ७-९॥

युक्तदण्डा हि मृदवः प्रशान्ता वसुधाधिपाः।
सदा त्वं सर्वभूतानां शरण्यः परमा गतिः॥ १०॥

'क्योंकि राजालोग अपराधके अनुसार ही उचित दण्ड देनेवाले, कोमल स्वभाववाले और शान्त होते हैं। आप तो सदा ही समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले तथा उनकी परम गति हैं॥ १०॥

को नु दारप्रणाशं ते साधु मन्येत राघव।
सरितः सागराः शैला देवगन्धर्वदानवाः॥ ११॥
नालं ते विप्रियं कर्तुं दीक्षितस्येव साधवः।

'रघुनन्दन! आपकी स्त्रीका विनाश या अपहरण कौन अच्छा समझेगा? जैसे यज्ञमें दीक्षित हुए पुरुषका साधुस्वभाववाले ऋत्विज कभी अप्रिय नहीं कर सकते, उसी प्रकार सरिताएँ, समुद्र, पर्वत, देवता, गन्धर्व और दानव— ये कोई भी आपके प्रतिकूल आचरण नहीं कर सकते॥ ११½॥

येन राजन् हृता सीता तमन्वेषितुमर्हसि॥ १२॥
मद्द्वितीयो धनुष्पाणिः सहायैः परमर्षिभिः।

'राजन्! जिसने सीताका अपहरण किया है, उसीका अन्वेषण करना चाहिये। आप मेरे साथ धनुष हाथमें लेकर बड़े-बड़े ऋषियोंकी सहायतासे उसका पता लगावें॥ १२½॥

समुद्रं वा विचेष्यामः पर्वतांश्च वनानि च॥ १३॥
गुहाश्च विविधा घोराः पद्मिन्यो विविधास्तथा।
देवगन्धर्वलोकांश्च विचेष्यामः समाहिताः॥ १४॥
यावन्नाधिगमिष्यामस्तव भार्यापहारिणम्।
न चेत् साम्ना प्रदास्यन्ति पत्नीं ते त्रिदशेश्वराः।
कोसलेन्द्र ततः पश्चात् प्राप्तकालं करिष्यसि॥ १५॥

'हम सब लोग एकाग्रचित्त हो समुद्रमें खोजेंगे, पर्वतों और वनोंमें ढूँढ़ेंगे, नाना प्रकारकी भयंकर गुफाओं और भाँति-भाँतिके सरोवरोंको छान डालेंगे तथा देवताओं और गन्धर्वोंके लोकोंमें भी तलाश करेंगे। जबतक आपकी पत्नी-का अपहरण करनेवाले दुरात्माका पता नहीं लगा लेंगे, तब-तक हम अपना यह प्रयत्न जारी रखेंगे। कोसलनरेश! यदि हमारे शान्तिपूर्ण बर्तावसे देवेश्वरगण आपकी पत्नीका पता नहीं देंगे तो उस अवसरके अनुरूप कार्य आप कीजियेगा॥ १३—१५॥

शीलेन साम्ना विनयेन सीतां
नयेन न प्राप्स्यसि चेन्नरेन्द्र।
ततः समुत्सादय हेमपुङ्खै-
र्महेन्द्रवज्रप्रतिमैः शरौघैः॥ १६॥

'नरेन्द्र! यदि अच्छे शील-स्वभाव, सामनीति,, विनय और न्यायके अनुसार प्रयत्न करनेपर भी आपको सीताका पता न मिले, तब आप सुवर्णमय पंखवाले महेन्द्रके वज्र-तुल्य बाणसमूहोंसे समस्त लोकोंका संहार कर डालें'॥ १६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः॥ ६५॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६५॥

षट्षष्टितमः सर्गः

लक्ष्मणका श्रीरामको समझाना

तं तथा शोकसंतप्तं विलपन्तमनाथवत्।
मोहेन महता युक्तं परिद्यूनमचेतसम्॥ १॥
ततः सौमित्रिराश्वस्य मुहूर्तादिव लक्ष्मणः।
रामं सम्बोधयामास चरणौ चाभिपीडयन्॥ २॥

श्रीरामचन्द्रजी शोकसे संतप्त हो अनाथकी तरह विलाप करने लगे। वे महान् मोहसे युक्त और अत्यन्त दुर्बल हो गये। उनका चित्त स्वस्थ नहीं था। उन्हें इस अवसरमें देख-कर सुमित्राकुमार लक्ष्मणने दो घड़ीतक आश्वासन दिया; फिर वे उनका पैर दबाते हुए उन्हें समझाने लगे—॥ १-२॥

महता तपसा चापि महता चापि कर्मणा।
राज्ञा दशरथेनासील्लब्धोऽमृतमिवामरैः॥ ३॥

'भैया! हमारे पिता महाराज दशरथने बड़ी तपस्या और महान् कर्मका अनुष्ठान करके आपको पुत्ररूपमें प्राप्त

किया, जैसे देवताओंने महान् प्रयाससे अमृत पा लिया था ॥ ३ ॥

तव चैव गुणैर्बद्धस्त्वद्वियोगान्महीपतिः ।
राजा देवत्वमापन्नो भरतस्य यथा श्रुतम् ॥ ४ ॥

'आपने भरतके मुँहसे जैसा सुना था, उसके अनुसार भूपाल महाराज दशरथ आपके ही गुणोंसे बँधे हुए थे और आपका ही वियोग होनेसे देवलोकको प्राप्त हुए ॥ ४ ॥

यदि दुःखमिदं प्राप्तं काकुत्स्थ न सहिष्यसे ।
प्राकृतश्चाल्पसत्त्वश्च इतरः कः सहिष्यति ॥ ५ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण ! यदि अपने ऊपर आये हुए इस दुःखको आप ही धैर्यपूर्वक नहीं सहेंगे तो दूसरा कौन साधारण पुरुष, जिसकी शक्ति बहुत थोड़ी है, सह सकेगा ? ॥ ५ ॥

आश्वसिहि नरश्रेष्ठ प्राणिनः कस्य नापदः ।
संस्पृशन्त्यग्निवद् राजन् क्षणेन व्यपयान्ति च ॥ ६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! आप धैर्य धारण करें । संसारमें किस प्राणीपर आपत्तियाँ नहीं आतीं । राजन् ! आपत्तियाँ अग्निकी भाँति एक क्षणमें स्पर्श करती और दूसरे ही क्षणमें दूर हो जाती हैं ॥ ६ ॥

दुःखितो हि भवाँल्लोकांस्तेजसा यदि धक्ष्यते ।
आर्ताः प्रजा नरव्याघ्र क्व नु यास्यन्ति निर्वृतिम् ॥७॥

'पुरुषसिंह ! यदि आप दुखी होकर अपने तेजसे समस्त लोकोंको दग्ध कर डालेंगे तो पीड़ित हुई प्रजा किसकी शरणमें जाकर सुख और शान्ति पायेगी ॥ ७ ॥

लोकस्वभाव एवैष ययातिर्नहुषात्मजः ।
गतः शक्रेण सालोक्यमनयस्तं समस्पृशत् ॥ ८ ॥

'यह लोकका स्वभाव ही है कि यहाँ सबपर दुःख-शोक आता-जाता रहता है । नहुषपुत्र ययाति इन्द्रके समान लोक (देवेन्द्रपद) को प्राप्त हुए थे; किंतु वहाँ भी अन्यायमूलक दुःख उनका स्पर्श किये बिना न रहा ॥ ८ ॥

महर्षिर्यो वसिष्ठस्तु यः पितुर्नः पुरोहितः ।
अह्ना पुत्रशतं जज्ञे तथैवास्य पुनर्हतम् ॥ ९ ॥

'हमारे पिताके पुरोहित जो महर्षि वसिष्ठजी हैं, उन्हें एक ही दिनमें सौ पुत्र प्राप्त हुए और फिर एक ही दिन वे सब-के-सब विश्वामित्रके हाथसे मारे गये ॥ ९ ॥

या चेयं जगतो माता सर्वलोकनमस्कृता ।
अस्याश्च चलनं भूमेर्दृश्यते कोसलेश्वर ॥ १० ॥

'कोसलेश्वर ! यह जो विश्ववन्दिता जगन्माता पृथ्वी है, इसका भी हिलना-डुलना देखा जाता है ॥ १० ॥

यौ धर्मौ जगतो नेत्रौ यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
आदित्यचन्द्रौ ग्रहणमभ्युपेतौ महाबलौ ॥ ११ ॥

'जो धर्मके प्रवर्तक और संसारके नेत्र हैं, जिनके आधारपर ही सारा जगत् टिका हुआ है, वे महाबली सूर्य और चन्द्रमा भी राहुके द्वारा ग्रहणको प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

सुमहान्त्यपि भूतानि देवाश्च पुरुषर्षभ ।
न दैवस्य प्रमुञ्चन्ति सर्वभूतानि देहिनः ॥ १२ ॥

'पुरुषप्रवर ! बड़े-बड़े भूत और देवता भी दैव (प्रारब्ध कर्म) की अधीनतासे मुक्त नहीं हो पाते हैं; फिर समस्त देहधारी प्राणियोंके लिये तो कहना ही क्या है ॥ १२ ॥

शक्रादिष्वपि देवेषु वर्तमानौ नयानयौ ।
श्रूयेते नरशार्दूल न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १३ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इन्द्र आदि देवताओंको भी नीति और अनीतिके कारण सुख और दुःखकी प्राप्ति होती सुनी जाती है; इसलिये आपको शोक नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

मृतायामपि वैदेह्यां नष्टायामपि राघव ।
शोचितुं नार्हसे वीर यथान्यः प्राकृतस्तथा ॥ १४ ॥

'वीर रघुनन्दन ! विदेहराजकुमारी सीता यदि मर जायँ या नष्ट हो जायँ तो भी आपको दूसरे गँवार मनुष्योंकी तरह शोक-चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ १४ ॥

त्वद्विधा नहि शोचन्ति सततं सर्वदर्शनाः ।
सुमहत्स्वपि कृच्छ्रेषु रामानिर्विण्णदर्शनाः ॥ १५ ॥

'श्रीराम ! आप-जैसे सर्वज्ञ पुरुष बड़ी-से-बड़ी विपत्ति आनेपर भी कभी शोक नहीं करते हैं । वे निर्वेद (खेद) रहित हो अपनी विचारशक्तिको नष्ट नहीं होने देते ॥ १५ ॥

तत्त्वतो हि नरश्रेष्ठ बुद्ध्या समनुचिन्तय ।
बुद्ध्या युक्ता महाप्राज्ञा विजानन्ति शुभाशुभे ॥ १६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! आप बुद्धिके द्वारा तात्त्विक विचार कीजिये—क्या करना चाहिये और क्या नहीं; क्या उचित है और क्या अनुचित—इसका निश्चय कीजिये; क्योंकि बुद्धियुक्त महाज्ञानी पुरुष ही शुभ और अशुभ (कर्तव्य-अकर्तव्य एवं उचित-अनुचित) को अच्छी तरह जानते हैं ॥ १६ ॥

अदृष्टगुणदोषाणामध्रुवाणां तु कर्मणाम् ।
नान्तरेण क्रियां तेषां फलमिष्टं च वर्तते ॥ १७ ॥

'जिनके गुण-दोष देखे या जाने नहीं गये हैं तथा जो अध्रुव हैं—फल देकर नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे कर्मोंका शुभाशुभ फल उन्हें आचरणमें लाये बिना नहीं प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

मामेवं हि पुरा वीर त्वमेव बहुशोक्तवान् ।
अनुशिष्याद्धि को नु त्वामपि साक्षाद् बृहस्पतिः ॥ १८ ॥

'वीर ! पहले आप ही अनेक बार इस तरहकी बातें कहकर मुझे समझा चुके हैं, आपको कौन सिखा सकता है । साक्षात् बृहस्पति भी आपको उपदेश देनेकी शक्ति नहीं रखते हैं ॥ १८ ॥

बुद्धिश्च ते महाप्राज्ञ देवैरपि दुरन्वया।
शोकेनाभिप्रसुप्तं ते ज्ञानं सम्बोधयाम्यहम् ॥ १९ ॥

'महाप्राज्ञ! देवताओंके लिये भी आपकी बुद्धिका पता पाना कठिन है। इस समय शोकके कारण आपका ज्ञान सोया-खोया-सा जान पड़ता है। इसलिये मैं उसे जगा रहा हूँ ॥ १९ ॥

दिव्यं च मानुषं चैवमात्मनश्च पराक्रमम्।
इक्ष्वाकुवृषभावेक्ष्य यतस्व द्विषतां वधे ॥ २० ॥

'इक्ष्वाकुकुलशिरोमणे! अपने देवोचित तथा मानवोचित पराक्रमको देखकर उसका अवसरके अनुरूप उपयोग करते हुए आप शत्रुओंके वधका प्रयत्न कीजिये ॥ २० ॥

किं ते सर्वविनाशेन कृतेन पुरुषर्षभ।
तमेव तु रिपुं पापं विज्ञायोद्धर्तुमर्हसि ॥ २१ ॥

'पुरुषप्रवर! समस्त संसारका विनाश करनेसे आपको क्या लाभ होगा? उस पापी शत्रुका पता लगाकर उसीको उखाड़ फेंकनेका प्रयत्न करना चाहिये' ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणकी पक्षिराज जटायुसे भेंट तथा श्रीरामका उन्हें गलेसे लगाकर रोना

पूर्वजोऽप्युक्तमात्रस्तु लक्ष्मणेन सुभाषितम्।
सारग्राही महासारं प्रतिजग्राह राघवः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सब वस्तुओंका सार ग्रहण करनेवाले हैं। अवस्थामें बड़े होनेपर भी उन्होंने लक्ष्मणके कहे हुए अत्यन्त सारगर्भित उत्तम वचनोंको सुनकर उन्हें स्वीकार किया ॥ १ ॥

स निगृह्य महाबाहुः प्रवृद्धं रोषमात्मनः।
अवष्टभ्य धनुश्चित्रं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीरामने अपने बढ़े हुए रोषको रोका और उस विचित्र धनुषको उतारकर लक्ष्मणसे कहा— ॥ २ ॥

किं करिष्यावहे वत्स क्व वा गच्छाव लक्ष्मण।
केनोपायेन पश्यावः सीतामिह विचिन्तय ॥ ३ ॥

'वत्स! अब हमलोग क्या करें? कहाँ जायँ? लक्ष्मण! किस उपायसे हमें सीताका पता लगे? यहाँ इसका विचार करो' ॥ ३ ॥

तं तथा परितापार्तं लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
इदमेव जनस्थानं त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ४ ॥

तब लक्ष्मणने इस प्रकार संतापपीड़ित हुए श्रीरामसे कहा—'भैया! आपको इस जनस्थानमें ही सीताकी खोज करनी चाहिये ॥ ४ ॥

राक्षसैर्बहुभिः कीर्णं नानाद्रुमलतायुतम्।
सन्तीह गिरिदुर्गाणि निर्दराः कन्दराणि च ॥ ५ ॥

'नाना प्रकारके वृक्ष और लताओंसे युक्त यह सघन वन अनेक राक्षसोंसे भरा हुआ है। इसमें पर्वतके ऊपर बहुत-से दुर्गम स्थान, फटे हुए पत्थर और कंदराएँ हैं ॥ ५ ॥

गुहाश्च विविधा घोरा नानामृगगणाकुलाः।
आवासाः किंनराणां च गन्धर्वभवनानि च ॥ ६ ॥

'वहाँ भाँति भाँतिकी भयंकर गुफाएँ हैं, जो नाना प्रकारके मृगगणोंसे भरी रहती हैं। यहाँके पर्वतपर किन्नरोंके आवासस्थान और गन्धर्वोंके भवन भी हैं ॥ ६ ॥

तानि युक्तो मया सार्धं समन्वेषितुमर्हसि।
त्वद्विधा बुद्धिसम्पन्ना महात्मानो नरर्षभाः ॥ ७ ॥
आपत्सु न प्रकम्पन्ते वायुवेगैरिवाचलाः।

'मेरे साथ चलकर आप उन सभी स्थानोंमें एकाग्रचित्त हो सीताकी खोज करें। जैसे पर्वत वायुके वेगसे कम्पित नहीं होते हैं, उसी प्रकार आप-जैसे बुद्धिमान् महात्मा नरश्रेष्ठ आपत्तियोंमें विचलित नहीं होते हैं' ॥ ७½ ॥

इत्युक्तस्तद् वनं सर्वं विचचार सलक्ष्मणः ॥ ८ ॥
क्रुद्धो रामः शरं घोरं संधाय धनुषि क्षुरम्।

उनके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजी रोषपूर्वक अपने धनुषपर क्षुर नामक भयंकर बाण चढ़ाये वहाँ सारे वनमें विचरण करने लगे ॥ ८½ ॥

ततः पर्वतकूटाभं महाभागं द्विजोत्तमम् ॥ ९ ॥
ददर्श पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम्।
तं दृष्ट्वा गिरिशृङ्गाभं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १० ॥

थोड़ी ही दूर आगे जानेपर उन्हें पर्वतशिखरके समान विशाल शरीरवाले पक्षिराज महाभाग जटायु दिखायी पड़े, जो खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर पड़े थे। पर्वत-शिखरके समान प्रतीत होनेवाले उन गृध्रराजको देखकर श्रीराम लक्ष्मणसे बोले— ॥ ९-१० ॥

अनेन सीता वैदेही भक्षिता नात्र संशयः।
गृध्ररूपमिदं व्यक्तं रक्षो भ्रमति काननम् ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण! यह गृध्रके रूपमें अवश्य ही कोई राक्षस जान पड़ता है, जो इस वनमें घूमता रहता है। निःसंदेह इसीने विदेहराजकुमारी सीताको खा लिया होगा ॥ ११ ॥

भक्षयित्वा विशालाक्षीमास्ते सीतां यथासुखम्।
एनं वधिष्ये दीप्ताग्रैः शरैर्घोरैरजिह्मगैः ॥ १२ ॥

'विशाललोचना सीताको खाकर यह यहाँ सुखपूर्वक बैठा हुआ है। मैं प्रज्वलित अग्रभागवाले तथा सीधे जानेवाले अपने भयंकर बाणोंसे इसका वध करूँगा' ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वाभ्यपतद् द्रष्टुं संधाय धनुषि क्षुरम्।
क्रुद्धो रामः समुद्रान्तां चालयन्निव मेदिनीम् ॥ १३ ॥

ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए श्रीराम धनुषपर बाण चढ़ाये समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको कम्पित करते हुए उसे देखनेके लिये आगे बढ़े ॥ १३ ॥

तं दीनदीनया वाचा सफेनं रुधिरं वमन्।
अभ्यभाषत पक्षी स रामं दशरथात्मजम् ॥ १४ ॥

इसी समय पक्षी जटायु अपने मुँहसे फेनयुक्त रक्त वमन करते हुए अत्यन्त दीन-वाणीमें दशरथनन्दन श्रीरामसे बोले—॥ १४ ॥

यामोषधीमिवायुष्मन्नन्वेषसि महावने।
सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम् ॥ १५ ॥

'आयुष्मन्! इस महान् वनमें तुम जिसे ओषधिके समान ढूँढ़ रहे हो, उस देवी सीताको तथा मेरे इन प्राणोंको भी रावणने हर लिया ॥ १५ ॥

त्वया विरहिता देवी लक्ष्मणेन च राघव।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन बलीयसा ॥ १६ ॥

'रघुनन्दन! तुम्हारे और लक्ष्मणके न रहनेपर महाबली रावण आया और देवी सीताको हरकर ले जाने लगा। उस समय मेरी दृष्टि सीतापर पड़ी ॥ १६ ॥

सीतामभ्यवपन्नोऽहं रावणश्च रणे प्रभो।
विध्वंसितरथच्छत्रः पतितो धरणीतले ॥ १७ ॥

'प्रभो! ज्यों ही मेरी दृष्टि पड़ी, मैं सीताकी सहायताके लिये दौड़ पड़ा। रावणके साथ मेरा युद्ध हुआ। मैंने उस युद्धमें रावणके रथ और छत्र आदि सभी साधन नष्ट कर दिये और वह भी घायल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १७ ॥

एतदस्य धनुर्भग्नमेते चास्य शरास्तथा।
अयमस्य रणे राम भग्नः सांग्रामिको रथः ॥ १८ ॥

'श्रीराम! यह रहा उसका टूटा हुआ धनुष, ये हैं उसके खण्डित हुए बाण और यह है उसका युद्धोपयोगी रथ, जो युद्धमें मेरेद्वारा तोड़ डाला गया है ॥ १८ ॥

अयं तु सारथिस्तस्य मत्पक्षनिहतो भुवि।
परिश्रान्तस्य मे पक्षौ छित्त्वा खड्गेन रावणः ॥ १९ ॥
सीतामादाय वैदेहीमुत्पपात विहायसम्।
रक्षसा निहतं पूर्वं मां न हन्तुं त्वमर्हसि ॥ २० ॥

'यह रावणका सारथि है, जिसे मैंने अपने पंखोंसे मार डाला था। जब मैं युद्ध करते-करते थक गया, तब रावणने तलवारसे मेरे दोनों पंख काट डाले और वह विदेह-कुमारी सीताको लेकर आकाशमें उड़ गया। मैं उस राक्षसके हाथसे पहले ही मार डाला गया हूँ, अब तुम मुझे न मारो' ॥ १९-२० ॥

रामस्तस्य तु विज्ञाय सीतासक्तां प्रियां कथाम्।
गृध्रराजं परिष्वज्य परित्यज्य महद् धनुः ॥ २१ ॥
निपपातावशो भूमौ रुरोद सहलक्ष्मणः।
द्विगुणीकृततापार्तो रामो धीरतरोऽपि सन् ॥ २२ ॥

सीतासे सम्बन्ध रखनेवाली यह प्रिय वार्ता सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने अपना महान् धनुष फेंक दिया और गृध्रराज जटायुको गलेसे लगाकर वे शोकसे विवश हो पृथ्वीपर गिर पड़े और लक्ष्मणके साथ ही रोने लगे। अत्यन्त धीर होनेपर भी श्रीरामने उस समय दूने दुःखका अनुभव किया ॥ २१-२२ ॥

एकमेकायने कृच्छ्रे निःश्वसन्तं मुहुर्मुहुः।
समीक्ष्य दुःखितो रामः सौमित्रिमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

असहाय हो एकमात्र ऊर्ध्वश्वासकी संकटपूर्ण अवस्थामें पड़कर बारंबार लंबी साँस खींचते हुए जटायुकी ओर देखकर श्रीरामको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सुमित्राकुमारसे कहा—॥ २३ ॥

राज्यं भ्रष्टं वने वासः सीता नष्टा मृतो द्विजः।
ईदृशीयं ममालक्ष्मीर्दहेदपि हि पावकम् ॥ २४ ॥

'लक्ष्मण! मेरा राज्य छिन गया, मुझे वनवास मिला (पिताजीकी मृत्यु हुई), सीताका अपहरण हुआ और ये मेरे परम सहायक पक्षिराज भी मर गये। ऐसा जो मेरा यह दुर्भाग्य है, यह तो अग्निको भी जलाकर भस्म कर सकता है ॥ २४ ॥

सम्पूर्णमपि चेदद्य प्रतरेयं महोदधिम्।
सोऽपि नूनं ममालक्ष्म्या विशुष्येत् सरितां पतिः ॥ २५ ॥

'यदि आज मैं भरे हुए महासागरको तैरने लगूँ तो मेरे दुर्भाग्यकी आँचसे वह सरिताओंका स्वामी समुद्र भी निश्चय ही सूख जायगा ॥ २५ ॥

नास्त्यभाग्यतरो लोके मत्तोऽस्मिन् स चराचरे।
येनेयं महती प्राप्ता मया व्यसनवागुरा ॥ २६ ॥

'इस चराचर जगत्में मुझसे बढ़कर भाग्यहीन दूसरा कोई नहीं है, जिस अभाग्यके कारण मुझे इस विपत्तिके बड़े भारी जालमें फँसना पड़ा है ॥ २६ ॥

अयं पितुर्वयस्यो मे गृध्रराजो महाबलः।
शेते विनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात् ॥ २७ ॥

'ये महाबली गृध्रराज जटायु मेरे पिताजीके मित्र थे, किंतु आज मेरे दुर्भाग्यवश मारे जाकर इस समय पृथ्वीपर पड़े हैं' ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा बहुशो राघवः सहलक्ष्मणः ।
जटायुषं च पस्पर्श पितृस्नेहं निदर्शयन् ॥ २८ ॥

इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीने जटायुके शरीरपर हाथ फेरा और पिताके प्रति जैसा स्नेह होना चाहिये, वैसा ही उनके प्रति प्रदर्शित किया ॥ २८ ॥

निकृत्तपक्षं रुधिरावसिक्तं
तं गृध्रराजं परिगृह्य राघवः ।
क्व मैथिली प्राणसमा गतेति
विमुच्य वाचं निपपात भूमौ ॥ २९ ॥

पङ्ख कट जानेके कारण गृध्रराज जटायु लहू-लुहान हो रहे थे । उसी अवस्थामें उन्हें गलेसे लगाकर श्रीरघुनाथजीने पूछा—'तात ! मेरी प्राणोंके समान प्रिया मिथिलेशकुमारी सीता कहाँ चली गयी ?' इतनी ही बात मुँहसे निकालकर वे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

जटायुका प्राण-त्याग और श्रीरामद्वारा उनका दाह-संस्कार

रामः प्रेक्ष्य तु तं गृध्रं भुवि रौद्रेण पातितम् ।
सौमित्रिं मित्रसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

भयंकर राक्षस रावणने जिसे पृथ्वीपर मार गिराया था, उस गृध्रराज जटायुकी ओर दृष्टि डालकर भगवान् श्रीराम मित्रोचित गुणसे सम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बोले—॥ १ ॥

ममायं नूनमर्थेषु यतमानो विहंगमः ।
राक्षसेन हतः संख्ये प्राणांस्त्यजति मत्कृते ॥ २ ॥

'भाई ! यह पक्षी अवश्य मेरा ही कार्य सिद्ध करनेके लिये प्रयत्नशील था, किंतु उस राक्षसके द्वारा युद्धमें मारा गया । यह मेरे ही लिये अपने प्राणोंका परित्याग कर रहा है ॥ २ ॥

अतिखिन्नः शरीरेऽस्मिन् प्राणो लक्ष्मण विद्यते ।
तथा स्वरविहीनोऽयं विक्लवं समुदीक्षते ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण ! इसके शरीरके भीतर इसके प्राणोंको बड़ी वेदना हो रही है, इसीलिये इसकी आवाज बंद होती जा रही है तथा यह अत्यन्त व्याकुल होकर देख रहा है' ॥ ३ ॥

जटायो यदि शक्नोषि वाक्यं व्याहरितुं पुनः ।
सीतामाख्याहि भद्रं ते वधमाख्याहि चात्मनः ॥ ४ ॥

(लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीराम उस पक्षीसे बोले—) 'जटायो ! यदि आप पुनः बोल सकते हों तो आपका भला हो, बताइये, सीताकी क्या अवस्था है ? और आपका वध किस प्रकार हुआ ? ॥ ४ ॥

किंनिमित्तो जहारार्यां रावणस्तस्य किं मया ।
अपराधं तु यं दृष्ट्वा रावणेन हृता प्रिया ॥ ५ ॥

'जिस अपराधको देखकर रावणने मेरी प्रिय भार्याका अपहरण किया है, उसका वह अपराध क्या है ? और मैंने उसे कब किया ? किस निमित्तको लेकर रावणने आर्या सीताका हरण किया है ? ॥ ५ ॥

कथं तच्चन्द्रसंकाशं मुखमासीन्मनोहरम् ।
सीतया कानि चोक्तानि तस्मिन् काले द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

'पक्षिप्रवर ! सीताका चन्द्रमाके समान मनोहर मुख कैसा हो गया था ? तथा उस समय सीताने क्या-क्या बातें कही थीं ? ॥ ६ ॥

कथंवीर्यः कथंरूपः किंकर्मा स च राक्षसः ।
क्व चास्य भवनं तात ब्रूहि मे परिपृच्छतः ॥ ७ ॥

'तात ! उस राक्षसका बल-पराक्रम तथा रूप कैसा है ? वह क्या काम करता है ? और उसका घर कहाँ है ? मैं जो कुछ पूछ रहा हूँ, वह सब बताइये' ॥ ७ ॥

तमुद्वीक्ष्य स धर्मात्मा विलपन्तमनाथवत् ।
वाचा विक्लवया राममिदं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

इस तरह अनाथकी भाँति विलाप करते हुए श्रीरामकी ओर देखकर धर्मात्मा जटायुने लड़खड़ाती जबानसे यों कहना आरम्भ किया—॥ ८ ॥

सा हृता राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ।
मायामास्थाय विपुलां वातदुर्दिनसंकुलाम् ॥ ९ ॥

'रघुनन्दन ! दुरात्मा राक्षसराज रावणने विपुल मायाका आश्रय ले आँधी-पानीकी सृष्टि करके (घबराहटकी अवस्थामें) सीताका हरण किया था ॥ ९ ॥

परिक्लान्तस्य मे तात पक्षौ छित्त्वा निशाचरः ।
सीतामादाय वैदेहीं प्रयातो दक्षिणामुखः ॥ १० ॥

'तात ! जब मैं उससे लड़ता-लड़ता थक गया, उस अवस्थामें मेरे दोनों पंख काटकर वह निशाचर विदेहनन्दिनी सीताको साथ लिये यहाँसे दक्षिण दिशाकी ओर गया था ॥ १० ॥

उपरुध्यन्ति मे प्राणा दृष्टिर्भ्रमति राघव ।
पश्यामि वृक्षान् सौवर्णानुशीरकृतमूर्धजान् ॥ ११ ॥

'रघुनन्दन ! अब मेरे प्राणोंकी गति बंद हो रही है, दृष्टि घूम रही है और समस्त वृक्ष मुझे सुनहरे रंगके दिखायी देते हैं । ऐसा जान पड़ता है कि उन वृक्षोंपर खसके केश जमे हुए हैं ॥ ११ ॥

येन याति मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः ।
विप्रणष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥
विन्दो नाम मुहूर्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत् ।
त्वत्प्रियां जानकीं हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।
झषवद् बडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १३ ॥

'रावण सीताको जिस मुहूर्तमें ले गया है, उसमें खोया हुआ धन शीघ्र ही उसके स्वामीको मिल जाता है । काकुत्स्थ ! वह 'विन्द' नामक मुहूर्त था, किंतु उस राक्षसको इसका पता नहीं था । जैसे मछली मौतके लिये ही बंसी पकड़ लेती है, उसी प्रकार वह भी सीताको ले जाकर शीघ्र ही नष्ट हो जायगा ॥ १२-१३ ॥

न च त्वया व्यथा कार्या जनकस्य सुतां प्रति ।
वैदेह्या रंस्यसे क्षिप्रं हत्वा तं रणमूर्धनि ॥ १४ ॥

'अतः अब तुम जनकनन्दिनीके लिये अपने मनमें खेद न करो । संग्रामके मुहानेपर उस निशाचरका वध करके तुम शीघ्र ही पुनः विदेहराजकुमारीके साथ विहार करोगे' ॥१४॥

असम्मूढस्य गृध्रस्य रामं प्रत्यनुभाषतः ।
आस्यात् सुस्राव रुधिरं म्रियमाणस्य सामिषम् ॥ १५ ॥

गृध्रराज जटायु यद्यपि मर रहे थे तो भी उनके मनपर मोह या भ्रम नहीं छाया था (उनके होश-हवास ठीक थे) । वे श्रीरामचन्द्रजीको उनकी बातका उत्तर दे ही रहे थे कि उनके मुखसे मांसयुक्त रुधिर निकलने लगा ॥ १५ ॥

पुत्रो विश्रवसः साक्षाद् भ्राता वैश्रवणस्य च ।
इत्युक्त्वा दुर्लभान् प्राणान् मुमोच पतगेश्वरः ॥ १६ ॥

वे बोले—'रावण विश्रवाका पुत्र और कुबेरका सगा भाई है' इतना कहकर उन पक्षिराजने दुर्लभ प्राणोंका परित्याग कर दिया ॥ १६ ॥

ब्रूहि ब्रूहीति रामस्य ब्रुवाणस्य कृताञ्जलेः ।
त्यक्त्वा शरीरं गृध्रस्य प्राणा जग्मुर्विहायसम् ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी हाथ जोड़े कह रहे थे, 'कहिये, कहिये, कुछ और कहिये !' किंतु उस समय गृध्रराजके प्राण उनका शरीर छोड़कर आकाशमें चले गये ॥ १७ ॥

स निक्षिप्य शिरो भूमौ प्रसार्य चरणौ तथा ।
विक्षिप्य च शरीरं स्वं पपात धरणीतले ॥ १८ ॥

उन्होंने अपना मस्तक भूमिपर डाल दिया, दोनों पैर फैला दिये और अपने शरीरको भी पृथ्वीपर ही डालते हुए वे धराशायी हो गये ॥ १८ ॥

तं गृध्रं प्रेक्ष्य ताम्राक्षं गतासुमचलोपमम् ।
रामः सुबहुभिर्दुःखैर्दीनः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ १९ ॥

गृध्रराज जटायुकी आँखें लाल दिखायी देती थीं । प्राण निकल जानेसे वे पर्वतके समान अविचल हो गये । उन्हें इस अवस्थामें देखकर बहुत-से दुःखोंसे दुखी हुए श्रीरामचन्द्रजीने सुमित्राकुमारसे कहा—॥ १९ ॥

बहूनि रक्षसां वासे वर्षाणि वसता सुखम् ।
अनेन दण्डकारण्ये विशीर्णमिह पक्षिणा ॥ २० ॥

'लक्ष्मण ! राक्षसोंके निवासस्थान इस दण्डकारण्यमें बहुत वर्षोंतक सुखपूर्वक रहकर इन पक्षिराजने यहीं अपने शरीरका त्याग किया है ॥ २० ॥

अनेकवार्षिको यस्तु चिरकालसमुत्थितः ।
सोऽयमद्य हतः शेते कालो हि दुरतिक्रमः ॥ २१ ॥

'इनकी अवस्था बहुत वर्षोंकी थी । इन्होंने सुदीर्घ कालतक अपना अभ्युदय देखा है; किंतु आज इस वृद्धावस्थामें उस राक्षसके द्वारा मारे जाकर ये पृथ्वीपर सो रहे हैं; क्योंकि कालका उल्लङ्घन करना सबके ही लिये कठिन है ॥२१॥

पश्य लक्ष्मण गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे ।
सीतामभ्यवपन्नो हि रावणेन बलीयसा ॥ २२ ॥

'लक्ष्मण ! देखो, ये जटायु मेरे बड़े उपकारी थे, किंतु आज मारे गये । सीताकी रक्षाके लिये युद्धमें प्रवृत्त होनेपर अत्यन्त बलवान् रावणके हाथसे इनका वध हुआ है ॥२२॥

गृध्रराज्यं परित्यज्य पितृपैतामहं महत् ।
मम हेतोरयं प्राणान् मुमोच पतगेश्वरः ॥ २३ ॥

'बाप-दादोंके द्वारा प्राप्त हुए गीधोंके विशाल राज्यका त्याग करके इन पक्षिराजने मेरे ही लिये अपने प्राणोंकी आहुति दी है ॥ २३ ॥

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः ।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि ॥ २४ ॥

'शूर, शरणागतरक्षक, धर्मपरायण श्रेष्ठ पुरुष सभी जगह देखे जाते हैं । पशु-पक्षीकी योनियोंमें भी उनका अभाव नहीं है ॥ २४ ॥

सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम् ।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परंतप ॥ २५ ॥

'सौम्य ! शत्रुओंको संताप देनेवाले लक्ष्मण ! इस समय मुझे सीताके हरणका उतना दुःख नहीं है, जितना कि मेरे लिये प्राणत्याग करनेवाले जटायुकी मृत्युसे हो रहा है ॥२५॥

राजा दशरथः श्रीमान् तथा मम महायशाः ।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः ॥ २६ ॥

'महायशस्वी श्रीमान् राजा दशरथ जैसे मेरे माननीय और पूज्य थे, वैसे ही ये पक्षिराज जटायु भी हैं ॥ २६ ॥

सौमित्रे हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम् ।
गृध्रराजं दिधक्ष्यामि मत्कृते निधनं गतम् ॥ २७ ॥

'सुमित्रानन्दन ! तुम सूखे काष्ठ ले आओ, मैं मथकर आग निकालूँगा और मेरे लिये मृत्युको प्राप्त हुए इन गृध्रराजका दाह-संस्कार करूँगा ॥ २७ ॥

नाथं पतगलोकस्य चितिमारोपयाम्यहम् ।
इमं धक्ष्यामि सौमित्रे हतं रौद्रेण रक्षसा ॥ २८ ॥

'सुमित्राकुमार ! उस भयंकर राक्षसके द्वारा मारे गये इन पक्षिराजको मैं चितापर चढ़ाऊँगा और इनका दाहसंस्कार करूँगा' ॥ २८ ॥

या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः ।
अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम् ॥ २९ ॥
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान् ।
गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज ॥ ३० ॥

(फिर वे जटायुको सम्बोधित करके बोले—) 'महान् बलशाली गृध्रराज ! यज्ञ करनेवाले, अग्निहोत्री, युद्धमें पीठ न दिखानेवाले और भूमिदान करनेवाले पुरुषोंको जिस गतिकी—जिन उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है, मेरी आज्ञासे उन्हीं सर्वोत्तम लोकोंमें तुम भी जाओ । मेरे द्वारा दाह-संस्कार किये जानेपर तुम्हारी सद्गति हो' ॥ २९-३० ॥

एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम् ।
ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः ॥ ३१ ॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजीने दुःखित हो पक्षिराजके शरीरको चितापर रक्खा और उसमें आग लगाकर अपने बन्धुकी भाँति उनका दाह-संस्कार किया ॥ ३१ ॥

रामोऽथ सहसौमित्रिर्वनं गत्वा स वीर्यवान् ।
स्थूलान् हत्वा महारोहीननुतस्तार तं द्विजम् ॥ ३२ ॥
रोहिमांसानि चोद्धृत्य पेशीकृत्वा महायशाः ।
शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितशाद्वले ॥ ३३ ॥

तदनन्तर लक्ष्मणसहित पराक्रमी श्रीराम वनमें जाकर मोटे-मोटे महारोही (कन्दमूलविशेष) काट लाये और उन्हें जटायुके लिये अर्पित करनेके उद्देश्यसे उन्होंने पृथ्वीपर कुश बिछाये । महायशस्वी श्रीरामने रोहीके गूदे निकालकर उनका पिण्ड बनाया और उन सुन्दर हरित कुशाओंपर जटायुको पिण्डदान किया ॥ ३२-३३ ॥

यत् तत् प्रेतस्य मर्त्यस्य कथयन्ति द्विजातयः ।
तत् स्वर्गगमनं पित्र्यं तस्य रामो जजाप ह ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणलोग परलोकवासी मनुष्यको स्वर्गकी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे जिन पितृसम्बन्धी मन्त्रोंका जप आवश्यक बतलाते हैं, उन सबका भगवान् श्रीरामने जप किया ॥ ३४ ॥

ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ ।
उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर उन दोनों राजकुमारोंने गोदावरी नदीके तटपर जाकर उन गृध्रराजके लिये जलाञ्जलि दी ॥ ३५ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना जलं गृध्राय राघवौ ।
स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा ॥ ३६ ॥

रघुकुलके उन दोनों महापुरुषोंने गोदावरीमें नहाकर शास्त्रीय विधिसे उन गृध्रराजके लिये उस समय जलाञ्जलिका दान किया ॥ ३६ ॥

स गृध्रराजः कृतवान् यशस्करं
सुदुष्करं कर्म रणे निपातितः ।
महर्षिकल्पेन च संस्कृतस्तदा
जगाम पुण्यां गतिमात्मनः शुभाम् ॥ ३७ ॥

महर्षितुल्य श्रीरामके द्वारा दाहसंस्कार होनेके कारण गृध्रराज जटायुको आत्माका कल्याण करनेवाली परम पवित्र गति प्राप्त हुई । उन्होंने रणभूमिमें अत्यन्त दुष्कर और यशोवर्धक पराक्रम प्रकट किया था । परंतु अन्तमें रावणने उन्हें मार गिराया ॥ ३७ ॥

कृतोदकौ तावपि पक्षिसत्तमे
स्थिरां च बुद्धिं प्रणिधाय जग्मतुः ।
प्रवेश्य सीताधिगमे ततो मनो
वनं सुरेन्द्राविव विष्णुवासवौ ॥ ३८ ॥

तर्पण करनेके पश्चात् वे दोनों भाई पक्षिराज जटायुमें पितृतुल्य सुस्थिरभाव रखकर सीताकी खोजके कार्यमें मन लगा देवेश्वर विष्णु और इन्द्रकी भाँति वनमें आगे बढ़े ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

लक्ष्मणका अयोमुखीको दण्ड देना तथा श्रीराम और लक्ष्मणका कबन्धके बाहुबन्धमें पड़कर चिन्तित होना

कृत्वैवमुदकं तस्मै प्रस्थितौ राघवौ तदा ।
अवेक्षन्तौ वने सीतां जग्मतुः पश्चिमां दिशम् ॥ १ ॥

इस प्रकार जटायुके लिये जलाञ्जलि दान करके वे दोनों रघुवंशी बन्धु उस समय वहाँसे प्रस्थित हुए और वनमें सीता-

की खोज करते हुए पश्चिम दिशा (नैर्ऋत्य कोण) की ओर गये ॥ १ ॥

तां दिशं दक्षिणां गत्वा शरचापासिधारिणौ।
अविप्रहतमैक्ष्वाकौ पन्थानं प्रतिपेदतुः ॥ २ ॥

धनुष, बाण और खड्ग धारण किये वे दोनों इक्ष्वाकुवंशी वीर उस दक्षिण-पश्चिम दिशाकी ओर आगे बढ़ते हुए एक ऐसे मार्गपर जा पहुँचे, जिसपर लोगोंका आना-जाना नहीं होता था ॥ २ ॥

गुल्मैर्वृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम्।
आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोरदर्शनम् ॥ ३ ॥

वह मार्ग बहुत-से वृक्षों, झाड़ियों और लता-बेलोंद्वारा सब ओरसे घिरा हुआ था। वह बहुत ही दुर्गम, गहन और देखनेमें भयंकर था ॥ ३ ॥

व्यतिक्रम्य तु वेगेन गृहीत्वा दक्षिणां दिशम्।
सुभीमं तन्महारण्यं व्यतिपातौ महाबलौ ॥ ४ ॥

उसे वेगपूर्वक लाँघकर वे दोनों महाबली राजकुमार दक्षिण दिशाका आश्रय ले उस अत्यन्त भयानक और विशाल वनसे आगे निकल गये ॥ ४ ॥

ततः परं जनस्थानात् त्रिक्रोशं गम्य राघवौ।
क्रौञ्चारण्यं विविशतुर्गहनं तौ महौजसौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर जनस्थानसे तीन कोस दूर जाकर वे महाबली श्रीराम और लक्ष्मण क्रौञ्चारण्य नामसे प्रसिद्ध गहन वनके भीतर गये ॥ ५ ॥

नानामेघघनप्रख्यं प्रहृष्टमिव सर्वतः।
नानावर्णैः शुभैः पुष्पैर्मृगपक्षिगणैर्युतम् ॥ ६ ॥

वह वन अनेक मेघोंके समूहकी भाँति श्याम प्रतीत होता था। विविध रंगके सुन्दर फूलोंसे सुशोभित होनेके कारण वह सब ओरसे हर्षोत्फुल्ल-सा जान पड़ता था। उसके भीतर बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते थे ॥ ६ ॥

दिदृक्षमाणौ वैदेहीं तद् वनं तौ विचिक्यतुः।
तत्र तत्रावतिष्ठन्तौ सीताहरणदुःखितौ ॥ ७ ॥

सीताका पता लगानेकी इच्छासे वे दोनों उस वनमें उनकी खोज करने लगे। जहाँ-तहाँ थक जानेपर वे विश्रामके लिये ठहर जाते थे। विदेहनन्दिनीके अपहरणसे उन्हें बड़ा दुःख हो रहा था ॥ ७ ॥

ततः पूर्वेण तौ गत्वा त्रिक्रोशं भ्रातरौ तदा।
क्रौञ्चारण्यमतिक्रम्य मतङ्गाश्रममन्तरे ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् वे दोनों भाई तीन कोस पूर्व जाकर क्रौञ्चारण्यको पार करके मतङ्ग मुनिके आश्रमके पास गये ॥८॥

दृष्ट्वा तु तद् वनं घोरं बहुभीममृगद्विजम्।
नानावृक्षसमाकीर्णं सर्वं गहनपादपम् ॥ ९ ॥

वह वन बड़ा भयंकर था। उसमें बहुत-से भयानक पशु और पक्षी निवास करते थे। अनेक प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त वह सारा वन गहन वृक्षावलियोंसे भरा था ॥ ९ ॥

ददृशाते गिरौ तत्र दरीं दशरथात्मजौ।
पातालसमगम्भीरां तमसा नित्यसंवृताम् ॥ १० ॥

वहाँ पहुँचकर उन दशरथराजकुमारोंने वहाँके पर्वतपर एक गुफा देखी, जो पातालके समान गहरी थी। वह सदा अन्धकारसे आवृत रहती थी ॥ १० ॥

आसाद्य च नरव्याघ्रौ दर्यास्तस्याविदूरतः।
ददर्शतुर्महारूपां राक्षसीं विकृताननाम् ॥ ११ ॥

उसके समीप जाकर उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंने एक विशालकाय राक्षसी देखी, जिसका मुख बड़ा विकराल था ॥ ११ ॥

भयदामल्पसत्त्वानां बीभत्सां रौद्रदर्शनाम्।
लम्बोदरीं तीक्ष्णदंष्ट्रां करालीं परुषत्वचम् ॥ १२ ॥

वह छोटे-छोटे जन्तुओंको भय देनेवाली तथा देखनेमें बड़ी भयंकर थी। उसकी सूरत देखकर घृणा होती थी। उसके लंबे पेट, तीखी दाढ़ें और कठोर त्वचा थी। वह बड़ी विकराल दिखायी देती थी ॥ १२ ॥

भक्षयन्तीं मृगान् भीमान् विकटां मुक्तमूर्धजाम्।
अवैक्षतां तु तौ तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

भयानक पशुओंको भी पकड़कर खा जाती थी। उसका आकार विकट था और बाल खुले हुए थे। उस कन्दराके समीप दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणने उसे देखा ॥ १३ ॥

सा समासाद्य तौ वीरौ व्रजन्तं भ्रातुरग्रतः।
एहि रंस्यावहेत्युक्त्वा समालम्भत लक्ष्मणम् ॥ १४ ॥

वह राक्षसी उन दोनों वीरोंके पास आयी और अपने भाईके आगे-आगे चलते हुए लक्ष्मणकी ओर देखकर बोली—'आओ हम दोनों रमण करें।' ऐसा कहकर उसने लक्ष्मणका हाथ पकड़ लिया ॥ १४ ॥

उवाच चैनं वचनं सौमित्रिमुपगुह्य च।
अहं त्वयोमुखी नाम लाभस्ते त्वमसि प्रियः ॥ १५ ॥

इतना ही नहीं, उसने सुमित्राकुमारको अपनी भुजाओंमें कस लिया और इस प्रकार कहा—'मेरा नाम अयोमुखी है। मैं तुम्हें भार्यारूपसे मिल गयी तो समझ लो, बहुत बड़ा लाभ हुआ और तुम मेरे प्यारे पति हो ॥ १५ ॥

नाथ पर्वतदुर्गेषु नदीनां पुलिनेषु च।
आयुश्चिरमिदं वीर त्वं मया सह रंस्यसे ॥ १६ ॥

'प्राणनाथ! वीर! यह दीर्घकालतक स्थिर रहनेवाली आयु पाकर तुम पर्वतकी दुर्गम कन्दराओंमें तथा नदियोंके तटोंपर मेरे साथ सदा रमण करोगे' ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु कुपितः खड्गमुद्धृत्य लक्ष्मणः।
कर्णनासस्तनं तस्या निचकर्तारिसूदनः ॥ १७ ॥

राक्षसीके ऐसा कहनेपर शत्रुसूदन लक्ष्मण क्रोधसे जल उठे। उन्होंने तलवार निकालकर उसके कान, नाक और स्तन काट डाले ॥ १७ ॥

कर्णनासे निकृत्ते तु विस्वरं विननाद सा।
यथागतं प्रदुद्राव राक्षसी घोरदर्शना ॥ १८ ॥

नाक और कानके कट जानेपर वह भयंकर राक्षसी जोर-जोरसे चिल्लाने लगी और जहाँसे आयी थी, उधर ही भाग गयी ॥ १८ ॥

तस्यां गतायां गहनं व्रजन्तौ वनमोजसा।
आसेदतुरमित्रघ्नौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥

उसके चले जानेपर वे दोनों भाई शक्तिशाली श्रीराम और लक्ष्मण बड़े वेगसे चलकर एक गहन वनमें जा पहुँचे ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्तु महातेजाः सत्त्ववाञ्छीलवाञ्छुचिः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं भ्रातरं दीप्ततेजसम् ॥ २० ॥

उस समय महातेजस्वी, धैर्यवान्, सुशील एवं पवित्र आचार-विचारवाले लक्ष्मणने हाथ जोड़कर अपने तेजस्वी भ्राता श्रीरामचन्द्रजीसे कहा— ॥ २० ॥

स्पन्दते मे दृढं बाहुरुद्विग्नमिव मे मनः।
प्रायशश्चाप्यनिष्टानि निमित्तान्युपलक्षये ॥ २१ ॥
तस्मात् सज्जीभवार्य त्वं कुरुष्व वचनं मम।
ममैव हि निमित्तानि सद्यः शंसन्ति सम्भ्रमम् ॥ २२ ॥

'आर्य! मेरी बायीं बाँह जोर-जोरसे फड़क रही है और मन उद्विग्न-सा हो रहा है। मुझे बारंबार बुरे शकुन दिखायी देते हैं, इसलिये आप भयका सामना करनेके लिये तैयार हो जाइये। मेरी बात मानिये। ये जो बुरे शकुन हैं वे केवल मुझे ही तत्काल प्राप्त होनेवाले भयकी सूचना देते हैं ॥ २१-२२ ॥

एष वञ्जुलको नाम पक्षी परमदारुणः।
आवयोर्विजयं युद्धे शंसन्निव विनर्दति ॥ २३ ॥

'(इसके साथ एक शुभ शकुन भी हो रहा है) यह जो वञ्जुल नामक अत्यन्त दारुण पक्षी है, यह युद्धमें हम दोनोंकी विजय सूचित करता हुआ-सा जोर-जोरसे बोल रहा है' ॥ २३ ॥

तयोरन्वेषतोरेवं सर्वं तद् वनमोजसा।
संजज्ञे विपुलः शब्दः प्रभञ्जन्निव तद् वनम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार बलपूर्वक उस सारे वनमें वे दोनों भाई जब सीताकी खोज कर रहे थे, उसी समय वहाँ बड़े जोरका शब्द हुआ, जो उस वनका विध्वंस करता हुआ-सा प्रतीत होता था ॥ २४ ॥

संवेष्टितमिवात्यर्थं गहनं मातरिश्वना।
वनस्य तस्य शब्दोऽभूद् वनमापूरयन्निव ॥ २५ ॥

उस वनमें जोर-जोरसे आँधी चलने लगी। वह सारा वन उसकी लपेटमें आ गया। वनमें उस शब्दकी जो प्रतिध्वनि उठी, उससे वह सारा वनप्रान्त गूँज उठा ॥ २५ ॥

तं शब्दं काङ्क्षमाणस्तु रामः खड्गी सहानुजः।
ददर्श सुमहाकायं राक्षसं विपुलोरसम् ॥ २६ ॥

भाईके साथ तलवार हाथमें लिये भगवान् श्रीराम उस शब्दका पता लगाना ही चाहते थे कि एक चौड़ी छातीवाले विशालकाय राक्षसपर उनकी दृष्टि पड़ी ॥ २६ ॥

आसेदतुश्च तद्रक्षस्तावुभौ प्रमुखे स्थितम्।
विवृद्धमशिरोग्रीवं कबन्धमुदरेमुखम् ॥ २७ ॥

उन दोनों भाइयोंने उस राक्षसको अपने सामने खड़ा पाया। वह देखनेमें बहुत बड़ा था; किंतु उसके न मस्तक था न गला। कबन्ध (धड़मात्र) ही उसका स्वरूप था और उसके पेटमें ही मुँह बना हुआ था ॥ २७ ॥

रोमभिर्निशितैस्तीक्ष्णैर्महागिरिमिवोच्छ्रितम्।
नीलमेघनिभं रौद्रं मेघस्तनितनिःस्वनम् ॥ २८ ॥

उसके सारे शरीरमें पैने और तीखे रोयें थे। वह महान् पर्वतके समान ऊँचा था। उसकी आकृति बड़ी भयंकर थी। वह नील मेघके समान काला था और मेघके समान ही गम्भीर स्वरमें गर्जना करता था ॥ २८ ॥

अग्निज्वालानिकाशेन ललाटस्थेन दीप्यता।
महापक्ष्मेण पिङ्गेन विपुलेनायतेन च ॥ २९ ॥
एकेनोरसि घोरेण नयनेन सुदर्शिना।
महादंष्ट्रोपपन्नं तं लेलिहानं महामुखम् ॥ ३० ॥

उसकी छातीमें ही ललाट था और ललाटमें एक ही लंबी-चौड़ी तथा आगकी ज्वालाके समान दहकती हुई भयंकर आँख थी, जो अच्छी तरह देख सकती थी। उसकी पलक बहुत बड़ी थी और वह आँख भूरे रंगकी थी। उस राक्षसकी दाढ़ें बहुत बड़ी थीं तथा वह अपनी लपलपाती हुई जीभसे अपने विशाल मुखको बारंबार चाट रहा था ॥ २९-३० ॥

भक्षयन्तं महाघोरानृक्षसिंहमृगद्विजान्।
घोरौ भुजौ विकुर्वाणमुभौ योजनमायतौ ॥ ३१ ॥
कराभ्यां विविधान् गृह्य ऋक्षान् पक्षिगणान् मृगान्।
आकर्षन्तं विकर्षन्तमनेकान् मृगयूथपान् ॥ ३२ ॥

अत्यन्त भयंकर रीछ, सिंह, हिंसक पशु और पक्षी—ये ही उसके भोजन थे। वह अपनी एक-एक योजन लंबी दोनों भयानक भुजाओंको दूरतक फैला देता और उन दोनों हाथोंसे नाना प्रकारके अनेकों भालू, पक्षी, पशु तथा मृगोंके यूथपतियोंको पकड़कर खींच लेता था। उनमेंसे जो उसे भोजनके लिये अभीष्ट नहीं होते, उन जन्तुओंको वह उन्हीं हाथोंसे पीछे ढकेल देता था ॥ ३१-३२ ॥

स्थितमावृत्य पन्थानं तयोर्भ्रात्रोः प्रपन्नयोः ।
अथ तं समतिक्रम्य क्रोशमात्रं ददर्शतुः ॥ ३३ ॥
महान्तं दारुणं भीमं कबन्धं भुजसंवृतम् ।
कबन्धमिव संस्थानादतिघोरप्रदर्शनम् ॥ ३४ ॥

दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण जब उसके निकट पहुँचे, तब वह उनका रास्ता रोककर खड़ा हो गया । तब वे दोनों भाई उससे दूर हट गये और बड़े गौरसे उसे देखने लगे । उस समय वह एक कोस लंबा जान पड़ा । उस राक्षसकी आकृति केवल कबन्ध (धड़) के ही रूपमें थी, इसलिये वह कबन्ध कहलाता था । वह विशाल, हिंसापरायण, भयंकर तथा दो बड़ी-बड़ी भुजाओंसे युक्त था और देखनेमें अत्यन्त घोर प्रतीत होता था ॥ ३३-३४ ॥

स महाबाहुरत्यर्थं प्रसार्य विपुलौ भुजौ ।
जग्राह सहितावेव राघवौ पीडयन् बलात् ॥ ३५ ॥

उस महाबाहु राक्षसने अपनी दोनों विशाल भुजाओंको फैलाकर उन दोनों रघुवंशी राजकुमारोंको बलपूर्वक पीड़ा देते हुए एक साथ ही पकड़ लिया ॥ ३५ ॥

खड्गिनौ दृढधन्वानौ तिग्मतेजौ महाभुजौ ।
भ्रातरौ विवशं प्राप्तौ कृष्यमाणौ महाबलौ ॥ ३६ ॥

दोनोंके हाथोंमें तलवारें थीं, दोनोंके पास मजबूत धनुष थे और वे दोनों भाई प्रचण्ड तेजस्वी, विशाल भुजाओंसे युक्त तथा महान् बलवान् थे तो भी उस राक्षसके द्वारा खींचे जानेपर विवशताका अनुभव करने लगे ॥ ३६ ॥

तत्र धैर्याच्च शूरस्तु राघवो नैव विव्यथे ।
बाल्यादनाश्रयाच्चैव लक्ष्मणस्त्वभिविव्यथे ॥ ३७ ॥

उस समय वहाँ शूरवीर रघुनन्दन श्रीराम तो धैर्यके कारण व्यथित नहीं हुए, परंतु बालबुद्धि होने तथा धैर्यका आश्रय न लेनेके कारण लक्ष्मणके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ ३७ ॥

उवाच च विषण्णः सन् राघवं राघवानुजः ।
पश्य मां विवशं वीर राक्षसस्य वशंगतम् ॥ ३८ ॥

तब श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण विषादग्रस्त हो श्रीरघुनाथजीसे बोले—'वीरवर ! देखिये, मैं राक्षसके वशमें पड़कर विवश हो गया हूँ ॥ ३८ ॥

मयैकेन तु निर्युक्तः परिमुच्यस्व राघव ।
मां हि भूतबलिं दत्त्वा पलायस्व यथासुखम् ॥ ३९ ॥

'रघुनन्दन ! एकमात्र मुझे ही इस राक्षसको भेंट देकर आप स्वयं इसके बाहुबन्धनसे मुक्त हो जाइये । इस भूतको मेरी ही बलि देकर आप सुखपूर्वक यहाँसे निकल भागिये ॥ ३९ ॥

अधिगन्तासि वैदेहीमचिरेणेति मे मतिः ।
प्रतिलभ्य च काकुत्स्थ पितृपैतामहीं महीम् ॥ ४० ॥
तत्र मां राम राज्यस्थः स्मर्तुमर्हसि सर्वदा ।

'मेरा विश्वास है कि आप शीघ्र ही विदेहराजकुमारीको प्राप्त कर लेंगे । ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम ! वनवाससे लौटनेपर पिता-पितामहोंकी भूमिको अपने अधिकारमें लेकर जब आप राज-सिंहासनपर विराजमान होइयेगा, तब वहाँ सदा मेरा भी स्मरण करते रहियेगा' ॥ ४०½ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४१ ॥
मा स्म त्रासं वृथा वीर नहि त्वादृग् विषीदति ।

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर श्रीरामने उन सुमित्राकुमारसे कहा—'वीर ! तुम भयभीत न होओ । तुम्हारे-जैसे शूरवीर इस तरह विषाद नहीं करते हैं' ॥ ४१½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रूरो भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४२ ॥
तावुवाच महाबाहुः कबन्धो दानवोत्तमः ।

इसी बीचमें क्रूर हृदयवाले दानवशिरोमणि महाबाहु कबन्धने उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे कहा—॥४२½॥

कौ युवां वृषभस्कन्धौ महाखड्गधनुर्धरौ ॥ ४३ ॥
घोरं देशमिमं प्राप्तौ दैवेन मम चाक्षुषौ ।
वदतं कार्यमिह वां किमर्थं चागतौ युवाम् ॥ ४४ ॥

'तुम दोनों कौन हो ? तुम्हारे कंधे बैलके समान ऊँचे हैं । तुमने बड़ी-बड़ी तलवारें और धनुष धारण कर रखे हैं । इस भयंकर देशमें तुम दोनों किसलिये आये हो ? यहाँ तुम्हारा क्या कार्य है ? बताओ । भाग्यसे ही तुम दोनों मेरी आँखोंके सामने पड़ गये ॥ ४३-४४ ॥

इमं देशमनुप्राप्तौ क्षुधार्तस्येह तिष्ठतः ।
सबाणचापखड्गौ च तीक्ष्णशृङ्गाविवर्षभौ ॥ ४५ ॥
मां तूर्णमनुसम्प्राप्तौ दुर्लभं जीवितं हि वाम् ।

'मैं यहाँ भूखसे पीड़ित होकर खड़ा था और तुम स्वयं धनुष-बाण और खड्ग लिये तीखे सींगवाले दो बैलोंके समान तुरंत ही इस स्थानपर मेरे निकट आ पहुँचे । अतः अब तुम दोनोंका जीवित रहना कठिन है' ॥ ४५½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कबन्धस्य दुरात्मनः ॥ ४६ ॥
उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता ।
कृच्छ्रात् कृच्छ्रतरं प्राप्य दारुणं सत्यविक्रम ॥ ४७ ॥
व्यसनं जीवितान्ताय प्राप्तमप्राप्य तां प्रियाम् ।

दुरात्मा कबन्धकी ये बातें सुनकर श्रीरामने सूखे मुखवाले लक्ष्मणसे कहा—'सत्यपराक्रमी वीर ! कठिन-से-कठिन असह्य दुःखको पाकर हम दुखी थे ही, तबतक पुनः प्रियतमा सीताके प्राप्त होनेसे पहले ही हम दोनोंपर यह महान् संकट आ गया, जो जीवनका अन्त कर देनेवाला है ॥४६-४७½॥

कालस्य सुमहद् वीर्यं सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४८ ॥
त्वां च मां च नरव्याघ्र व्यसनैः पश्य मोहितौ ।
नहि भारोऽस्ति दैवस्य सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! कालका महान् बल सभी प्राणियोंपर अपना प्रभाव डालता है। देखो न, तुम और मैं दोनों ही कालके दिये हुए अनेकानेक संकटोंसे मोहित हो रहे हैं। सुमित्रानन्दन ! दैव अथवा कालके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंपर शासन करना भाररूप (कठिन) नहीं है ॥ ४८-४९ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्राश्च रणाजिरे ।
कालाभिपन्नाः सीदन्ति यथा वालुकसेतवः ॥ ५० ॥

'जैसे वालूके बने हुए पुल पानीके आघातसे ढह जाते हैं, उसी प्रकार बड़े-बड़े शूरवीर, बलवान् और अस्त्रवेत्ता पुरुष भी समराङ्गणमें कालके वशीभूत हो कष्टमें पड़ जाते हैं' ॥ ५० ॥

इति ब्रुवाणो दृढसत्यविक्रमो
महायशा दाशरथिः प्रतापवान् ।
अवेक्ष्य सौमित्रिमुदग्रविक्रमः
स्थिरां तदा स्वां मतिमात्मनाकरोत् ॥ ५१ ॥

ऐसा कहकर सुदृढ़ एवं सत्यपराक्रमवाले महान् बलविक्रमसे सम्पन्न महायशस्वी प्रतापशाली दशरथनन्दन श्रीरामने सुमित्राकुमारकी ओर देखकर उस समय स्वयं ही अपनी बुद्धिको सुस्थिर कर लिया ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका परस्पर विचार करके कबन्धकी दोनों भुजाओंको काट डालना तथा कबन्धके द्वारा उनका स्वागत

तौ तु तत्र स्थितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बाहुपाशपरिक्षिप्तौ कबन्धो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

अपने बाहुपाशसे घिरकर वहाँ खड़े हुए उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणकी ओर देखकर कबन्धने कहा—॥ १ ॥

तिष्ठतः किं नु मां दृष्ट्वा क्षुधार्तं क्षत्रियर्षभौ ।
आहारार्थं तु संदिष्टौ दैवेन हतचेतनौ ॥ २ ॥

'क्षत्रियशिरोमणि राजकुमारो ! मुझे भूखसे पीड़ित देखकर भी खड़े क्यों हो ? (मेरे मुँहमें चले आओ) क्योंकि दैवने मेरे भोजनके लिये ही तुम्हें यहाँ भेजा है। इसीलिये तुम दोनोंकी बुद्धि मारी गयी है' ॥ २ ॥

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणो वाक्यं प्राप्तकालं हितं तदा ।
उवाचार्तिसमापन्नो विक्रमे कृतनिश्चयः ॥ ३ ॥

यह सुनकर पीड़ित हुए लक्ष्मणने उस समय पराक्रमका ही निश्चय करके यह समयोचित एवं हितकर बात कही—॥

त्वां च मां च पुरा तूर्णमादत्ते राक्षसाधमः ।
तस्मादसिभ्यामस्याशु बाहू छिन्दावहे गुरू ॥ ४ ॥

'भैया ! यह नीच राक्षस मुझको और आपको तुरंत मुँहमें ले ले, इसके पहले ही हमलोग अपनी तलवारोंसे इसकी बड़ी-बड़ी बाँहें शीघ्र ही काट डालें ॥ ४ ॥

भीषणोऽयं महाकायो राक्षसो भुजविक्रमः ।
लोकं ह्यतिजितं कृत्वा ह्यावां हन्तुमिहेच्छति ॥ ५ ॥

'यह महाकाय राक्षस बड़ा भीषण है। इसकी भुजाओंमें ही इसका सारा बल और पराक्रम निहित है। यह समस्त संसारको सर्वथा पराजित-सा करके अब हमलोगोंको भी यहाँ मार डालना चाहता है ॥ ५ ॥

निश्चेष्टानां वधो राजन् कुत्सितो जगतीपतेः ।
क्रतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव ॥ ६ ॥

'राजन् ! रघुनन्दन ! यज्ञमें लाये गये पशुओंके समान निश्चेष्ट प्राणियोंका वध राजाके लिये निन्दित बताया गया है (इसलिये हमें इसके प्राण नहीं लेने चाहिये, केवल भुजाओंका ही उच्छेद कर देना चाहिये)' ॥ ६ ॥

एतत् संजल्पितं श्रुत्वा तयोः क्रुद्धस्तु राक्षसः ।
विदार्यास्यं ततो रौद्रं तौ भक्षयितुमारभत् ॥ ७ ॥

उन दोनोंकी यह बातचीत सुनकर उस राक्षसको बड़ा क्रोध हुआ और वह अपना भयंकर मुख फैलाकर उन्हें खा जानेको उद्यत हो गया ॥ ७ ॥

ततस्तौ देशकालज्ञौ खड्गाभ्यामेव राघवौ ।
अच्छिन्दन्तां सुसंहृष्टौ बाहू तस्यांसदेशतः ॥ ८ ॥

इतनेमें ही देश-काल (अवसर) का ज्ञान रखनेवाले उन दोनों रघुवंशी राजकुमारोंने अत्यन्त हर्षमें भरकर तलवारोंसे ही उसकी दोनों भुजाएँ कंधोंसे काट गिरायीं ॥ ८ ॥

दक्षिणो दक्षिणं बाहुमसक्तमसिना ततः ।
चिच्छेद रामो वेगेन सव्यं वीरस्तु लक्ष्मणः ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीराम उसके दाहिने भागमें खड़े थे। उन्होंने अपनी तलवारसे उसकी दाहिनी बाँह बिना किसी रुकावटके वेगपूर्वक काट डाली तथा वाम भागमें खड़े वीर लक्ष्मणने उसकी बायीं भुजाको तलवारसे उड़ा दिया॥

स पपात महाबाहुश्छिन्नबाहुर्महास्वनः।
खं च गां च दिशश्चैव नादयञ्जलदो यथा॥ १०॥

भुजाएँ कट जानेपर वह महाबाहु राक्षस मेघके समान गम्भीर गर्जना करके पृथ्वी, आकाश तथा दिशाओंको गुँजाता हुआ धरतीपर गिर पड़ा॥ १०॥

स निकृत्तौ भुजौ दृष्ट्वा शोणितौघपरिप्लुतः।
दीनः पप्रच्छ तौ वीरौ कौ युवामिति दानवः॥ ११॥

अपनी भुजाओंको कटी हुई देख खूनसे लथपथ हुए उस दानवने दीन वाणीमें पूछा—'वीरो! तुम दोनों कौन हो?'॥ ११॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य लक्ष्मणः शुभलक्षणः।
शशंस तस्य काकुत्स्थं कबन्धस्य महाबलः॥ १२॥

कबन्धके इस प्रकार पूछनेपर शुभ लक्षणोंवाले महाबली लक्ष्मणने उसे श्रीरामचन्द्रजीका परिचय देना आरम्भ किया—॥ १२॥

अयमिक्ष्वाकुदायादो रामो नाम जनैः श्रुतः।
तस्यैवावरजं विद्धि भ्रातरं मां च लक्ष्मणम्॥ १३॥

'ये इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथके पुत्र हैं और लोगोंमें श्रीराम नामसे विख्यात हैं। मुझे इन्हींका छोटा भाई समझो। मेरा नाम लक्ष्मण है॥ १३॥

मात्रा प्रतिहते राज्ये रामः प्रव्राजितो वनम्।
मया सह चरत्येष भार्यया च महद् वनम्॥ १४॥
अस्य देवप्रभावस्य वसतो विजने वने।
रक्षसापहृता भार्या यामिच्छन्ताविहागतौ॥ १५॥

'माता कैकेयीके द्वारा जब इनका राज्याभिषेक रोक दिया गया, तब ये पिताकी आज्ञासे वनमें चले आये और मेरे तथा अपनी पत्नीके साथ इस विशाल वनमें विचरण करने लगे। इस निर्जन वनमें रहते हुए इन देवतुल्य प्रभावशाली श्रीरघुनाथजीकी पत्नीको किसी राक्षसने हर लिया है। उन्हींका पता लगानेकी इच्छासे हमलोग यहाँ आये हैं॥ १४-१५॥

त्वं तु को वा किमर्थं वा कबन्धसदृशो वने।
आस्येनोरसि दीप्तेन भग्नजङ्घो विचेष्टसे॥ १६॥

'तुम कौन हो? और कबन्धके समान रूप धारण करके क्यों इस वनमें पड़े हो? छातीके नीचे चमकता हुआ मुँह और टूटी हुई जंघा (पिण्डली) लिये तुम किस कारण इधर-उधर लुढ़कते फिरते हो?'॥ १६॥

एवमुक्तः कबन्धस्तु लक्ष्मणेनोत्तरं वचः।
उवाच वचनं प्रीतस्तदिन्द्रवचनं स्मरन्॥ १७॥

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर कबन्धको इन्द्रकी कही हुई बातका स्मरण हो आया। अतः उसने बड़ी प्रसन्नताके साथ लक्ष्मणको उनकी बातका उत्तर दिया—॥ १७॥

स्वागतं वां नरव्याघ्रौ दिष्ट्या पश्यामि वामहम्।
दिष्ट्या चेमौ निकृत्तौ मे युवाभ्यां बाहुबन्धनौ॥ १८॥

'पुरुषसिंह वीरो! आप दोनोंका स्वागत है। बड़े भाग्यसे मुझे आपलोगोंका दर्शन मिला है। ये मेरी दोनों भुजाएँ मेरे लिये भारी बन्धन थीं। सौभाग्यकी बात है कि आपलोगोंने इन्हें काट डाला॥ १८॥

विरूपं यच्च मे रूपं प्राप्तं ह्यविनयाद् यथा।
तन्मे शृणु नरव्याघ्र तत्त्वतः शंसतस्तव॥ १९॥

'नरश्रेष्ठ श्रीराम! मुझे जो ऐसा कुरूप रूप प्राप्त हुआ है, यह मेरी ही उद्दण्डताका फल है। यह सब कैसे हुआ, वह प्रसङ्ग आपको मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ। आप मुझसे सुनें॥ १९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्ततितमः सर्गः॥ ७०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७०॥

एकसप्ततितमः सर्गः

कबन्धकी आत्मकथा, अपने शरीरका दाह हो जानेपर उसका श्रीरामको सीताके अन्वेषणमें सहायता देनेका आश्वासन

पुरा राम महाबाहो महाबलपराक्रमम्।
रूपमासीन्ममाचिन्त्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्॥ १॥

'महाबाहु श्रीराम! पूर्वकालमें मेरा रूप महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न, अचिन्त्य तथा तीनों लोकोंमें विख्यात था॥ १॥

यथा सूर्यस्य सोमस्य शक्रस्य च यथा वपुः।

सोऽहं रूपमिदं कृत्वा लोकवित्रासनं महत् ॥ २ ॥
ऋषीन् वनगतान् राम त्रासयामि ततस्ततः ।

'सूर्य, चन्द्रमा और इन्द्रका शरीर जैसा तेजस्वी है, वैसा ही मेरा भी था। ऐसा होनेपर भी मैं लोगोंको भयभीत करनेवाले इस अत्यन्त भयंकर राक्षस रूपको धारण करके इधर-उधर घूमता और वनमें रहनेवाले ऋषियोंको डराया करता था ॥ २½ ॥

ततः स्थूलशिरा नाम महर्षिः कोपितो मया ॥ ३ ॥
स चिन्वन् विविधं वन्यं रूपेणानेन धर्षितः ।
तेनाहमुक्तः प्रेक्ष्यैवं घोरशापाभिधायिना ॥ ४ ॥

अपने इस बर्तावसे एक दिन मैंने स्थूलशिरा नामक महर्षिको कुपित कर दिया। वे नाना प्रकारके जंगली फल-मूल आदिका संचय कर रहे थे, उसी समय मैंने उन्हें इस राक्षसरूपसे डरा दिया। मुझे ऐसे विकट रूपमें देखकर उन्होंने घोर शाप देते हुए कहा—॥ ३-४ ॥

एतदेवं नृशंसं ते रूपमस्तु विगर्हितम् ।
स मया याचितः क्रुद्धः शापस्यान्तो भवेदिति ॥ ५ ॥
अभिशापकृतस्येति तेनेदं भाषितं वचः ।

'दुरात्मन्! आजसे सदाके लिये तुम्हारा यही क्रूर और निन्दित रूप रह जाय।' यह सुनकर मैंने उन कुपित महर्षिसे प्रार्थना की—'भगवन्! इस अभिशाप (तिरस्कार) जनित शापका अन्त होना चाहिये।' तब उन्होंने इस प्रकार कहा—॥ ५½ ॥

यदा छित्त्वा भुजौ रामस्त्वां दहेद् विजने वने ॥ ६ ॥
तदा त्वं प्राप्स्यसे रूपं स्वमेव विपुलं शुभम् ।
श्रिया विराजितं पुत्रं दनोस्त्वं विद्धि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

'जब श्रीराम (और लक्ष्मण) तुम्हारी दोनों भुजाएँ काटकर तुम्हें निर्जन वनमें जलायेंगे, तब तुम पुनः अपने उसी परम उत्तम, सुन्दर और शोभासम्पन्न रूपको प्राप्त कर लोगे।' लक्ष्मण! इस प्रकार तुम मुझे एक दुराचारी दानव समझो ॥ ६-७ ॥

इन्द्रकोपादिदं रूपं प्राप्तमेवं रणाजिरे ।
अहं हि तपसोग्रेण पितामहमतोषयम् ॥ ८ ॥
दीर्घमायुः स मे प्रादात् ततो मां विभ्रमोऽस्पृशत् ।
दीर्घमायुर्मया प्राप्तं किं मां शक्रः करिष्यति ॥ ९ ॥

मेरा जो यह ऐसा रूप है, यह समराङ्गणमें इन्द्रके क्रोधसे प्राप्त हुआ है। मैंने पूर्वकालमें राक्षस होनेके पश्चात् घोर तपस्या करके पितामह ब्रह्माजीको संतुष्ट किया और उन्होंने मुझे दीर्घजीवी होनेका वर दिया। इससे मेरी बुद्धिमें यह भ्रम या अहंकार उत्पन्न हो गया कि मुझे तो दीर्घकालतक बनी रहनेवाली आयु प्राप्त हुई है; फिर इन्द्र मेरा क्या कर लेंगे? ॥ ८-९ ॥

इत्येवं बुद्धिमास्थाय रणे शक्रमधर्षयम् ।
तस्य बाहुप्रमुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा ॥ १० ॥
सक्थिनी च शिरश्चैव शरीरे सम्प्रवेशितम् ।

'ऐसे विचारका आश्रय लेकर एक दिन मैंने युद्धमें देवराजपर आक्रमण किया। उस समय इन्द्रने मुझपर सौ धारोंवाले वज्रका प्रहार किया। उनके छोड़े हुए उस वज्रसे मेरी जाँघें और मस्तक मेरे ही शरीरमें घुस गये ॥ १०½ ॥

स मया याच्यमानः सन् नानयद् यमसादनम् ॥ ११ ॥
पितामहवचः सत्यं तदस्त्विति ममाब्रवीत् ।

'मैंने बहुत प्रार्थना की, इसलिये उन्होंने मुझे यमलोक नहीं पठाया और कहा—'पितामह ब्रह्माजीने जो तुम्हें दीर्घजीवी होनेके लिये वरदान दिया है, वह सत्य हो' ॥

अनाहारः कथं शक्तो भग्नसक्थिशिरोमुखः ॥ १२ ॥
वज्रेणाभिहतः कालं सुदीर्घमपि जीवितुम् ।

'तब मैंने कहा—देवराज! आपने अपने वज्रकी मारसे मेरी जाँघें, मस्तक और मुँह सभी तोड़ डाले। अब मैं कैसे आहार ग्रहण करूँगा और निराहार रहकर किस प्रकार सुदीर्घकालतक जीवित रह सकूँगा? ॥ १२½ ॥

स एवमुक्तः शक्रो मे बाहू योजनमायतौ ॥ १३ ॥
तदा चास्यं च मे कुक्षौ तीक्ष्णदंष्ट्रमकल्पयत् ।

'मेरे ऐसा कहनेपर इन्द्रने मेरी भुजाएँ एक-एक योजन लंबी कर दीं एवं तत्काल ही मेरे पेटमें तीखे दाढ़ोंवाला एक मुख बना दिया ॥ १३½ ॥

सोऽहं भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां संक्षिप्यास्मिन् वनेचरान् १४
सिंहद्वीपिमृगव्याघ्रान् भक्षयामि समन्ततः ।

'इस प्रकार मैं विशाल भुजाओंद्वारा वनमें रहनेवाले सिंह, चीते, हरिन और बाघ आदि जन्तुओंको सब ओरसे समेटकर खाया करता था ॥ १४½ ॥

स तु मामब्रवीदिन्द्रो यदा रामः सलक्ष्मणः ॥ १५ ॥
छेत्स्यते समरे बाहू तदा स्वर्गं गमिष्यसि ।

'इन्द्रने मुझे यह भी बतला दिया था कि जब लक्ष्मण-सहित श्रीराम तुम्हारी भुजाएँ काट देंगे, उस समय तुम स्वर्गमें जाओगे ॥ १५½ ॥

अनेन वपुषा तात वनेऽस्मिन् राजसत्तम ॥ १६ ॥
यद् यत् पश्यामि सर्वस्य ग्रहणं साधु रोचये ।

'तात! राजशिरोमणे! इस शरीरसे इस वनके भीतर मैं जो-जो वस्तु देखता हूँ, वह सब ग्रहण कर लेना मुझे ठीक लगता है ॥ १६½ ॥

अवश्यं ग्रहणं रामो मन्येऽहं समुपैष्यति ॥ १७ ॥
इमां बुद्धिं पुरस्कृत्य देहन्यासकृतश्रमः ।

'इन्द्र तथा मुनिके कथनानुसार मुझे यह विश्वास था कि एक दिन श्रीराम अवश्य मेरी पकड़में आ जायँगे। इसी विचारको सामने रखकर मैं इस शरीरको त्याग देनेके लिये प्रयत्नशील था ॥ १७½ ॥

स त्वं रामोऽसि भद्रं ते नाहमन्येन राघव ॥ १८ ॥
शक्यो हन्तुं यथा तत्त्वमेवमुक्तं महर्षिणा ।

'रघुनन्दन ! अवश्य ही आप श्रीराम हैं । आपका कल्याण हो। मैं आपके सिवा दूसरे किसीसे नहीं मारा जा सकता था। यह बात महर्षिने ठीक ही कही थी ॥ १८½ ॥

अहं हि मतिसाचिव्यं करिष्यामि नरर्षभ ॥ १९ ॥
मित्रं चैवोपदेक्ष्यामि युवाभ्यां संस्कृतोऽग्निना ।

'नरश्रेष्ठ ! आप दोनों जब अग्निके द्वारा मेरा दाह-संस्कार कर देंगे, उस समय मैं आपकी बौद्धिक सहायता करूँगा । आप दोनोंके लिये एक अच्छे मित्रका पता बताऊँगा' ॥ १९½ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दनुना तेन राघवः ॥ २० ॥
इदं जगाद वचनं लक्ष्मणस्य च पश्यतः ।

उस दानवके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणके सामने उससे यह बात कही—॥ २०½ ॥

रावणेन हृता भार्या सीता मम यशस्विनी ॥ २१ ॥
निष्क्रान्तस्य जनस्थानात् सह भ्रात्रा यथासुखम् ।
नाममात्रं तु जानामि न रूपं तस्य रक्षसः ॥ २२ ॥

'कबन्ध ! मेरी यशस्विनी भार्या सीताको रावण हर ले गया है । उस समय मैं अपने भाई लक्ष्मणके साथ [illegible]पूर्वक जनस्थानके बाहर चला गया था। मैं उस राक्षसका [illegible]मात्र जानता हूँ । उसकी शकल-सूरतसे परिचित [illegible] हूँ ॥ २१-२२ ॥

निवासं वा प्रभावं वा वयं तस्य न विद्महे ।
शोकार्तानामनाथानामेवं विपरिधावताम् ॥ २३ ॥
कारुण्यं सदृशं कर्तुमुपकारेण वर्तताम् ।

'वह कहाँ रहता है और कैसा उसका प्रभाव है, इस बातसे हमलोग सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इस समय सीताका शोक हमें बड़ी पीड़ा दे रहा है। हम असहाय होकर इसी तरह सब ओर दौड़ रहे हैं । तुम हमारे ऊपर समुचित करुणा करनेके लिये इस विषयमें हमारा कुछ उपकार करो ॥२३½॥

काष्ठान्यानीय भग्नानि काले शुष्काणि कुञ्जरैः ॥ २४ ॥
धक्ष्यामस्त्वां वयं वीर श्वभ्रे महति कल्पिते ।

'वीर ! फिर हमलोग हाथियोंद्वारा तोड़े गये सूखे काठ लाकर स्वयं खोदे हुए एक बहुत बड़े गड्ढेमें तुम्हारे शरीरको रखकर जला देंगे ॥ २४½ ॥

स त्वं सीतां समाचक्ष्व येन वा यत्र वा हृता ॥ २५ ॥
कुरु कल्याणमत्यर्थं यदि जानासि तत्त्वतः ।

'अतः अब तुम हमें सीताका पता बताओ । इस समय वह कहाँ है ? तथा उसे कौन कहाँ ले गया है ? यदि ठीक-ठीक जानते हो तो सीताका समाचार बताकर हमारा अत्यन्त कल्याण करो' ॥ २५½ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण वाक्यं दनुरनुत्तमम् ॥ २६ ॥
प्रोवाच कुशलो वक्ता वक्तारमपि राघवम् ।

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर बात-चीतमें कुशल उस दानवने उन प्रवचनपटु रघुनाथजीसे यह परम उत्तम बात कही—॥ २६½ ॥

दिव्यमस्ति न मे ज्ञानं नाभिजानामि मैथिलीम् ॥ २७ ॥
यस्तां वक्ष्यति तं वक्ष्ये दग्धः स्वं रूपमास्थितः ।
योऽभिजानाति तद्रक्षस्तद् वक्ष्ये राम तत्परम् ॥ २८ ॥

'श्रीराम ! इस समय मुझे दिव्य ज्ञान नहीं है, इसलिये मैं मिथिलेशकुमारीके विषयमें कुछ भी नहीं जानता । जब मेरे इस शरीरका दाह हो जायगा, तब मैं अपने पूर्व स्वरूपको प्राप्त होकर किसी ऐसे व्यक्तिका पता बता सकूँगा, जो सीता-के विषयमें आपको कुछ बतायेगा तथा जो उस उत्कृष्ट राक्षसको भी जानता होगा, ऐसे पुरुषका आपको परिचय दूँगा ॥ २७-२८ ॥

अदग्धस्य हि विज्ञातुं शक्तिरस्ति न मे प्रभो ।
राक्षसं तु महावीर्यं सीता येन हृता तव ॥ २९ ॥

'प्रभो ! जबतक मेरे इस शरीरका दाह नहीं होगा तब-तक मुझमें यह जाननेकी शक्ति नहीं आ सकती कि वह महा-पराक्रमी राक्षस कौन है, जिसने आपकी सीताका अपहरण किया है ॥ २९ ॥

विज्ञानं हि महद् भ्रष्टं शापदोषेण राघव ।
स्वकृतेन मया प्राप्तं रूपं लोकविगर्हितम् ॥ ३० ॥

'रघुनन्दन ! शाप-दोषके कारण मेरा महान् विज्ञान नष्ट हो गया है। अपनी ही करतूतसे मुझे यह लोकनिन्दित रूप प्राप्त हुआ है ॥ ३० ॥

किं तु यावन्न यात्यस्तं सविता श्रान्तवाहनः ।
तावन्मामवटे क्षिप्त्वा दह राम यथाविधि ॥ ३१ ॥

किंतु श्रीराम ! जबतक सूर्यदेव अपने वाहनोंके थक जानेपर अस्त नहीं हो जाते, तभीतक मुझे गड्ढेमें डालकर शास्त्रीय विधिके अनुसार मेरा दाह-संस्कार कर दीजिये॥३१॥

दग्धस्त्वयाहमवटे न्यायेन रघुनन्दन ।

वक्ष्यामि तं महावीर यस्तं वेत्स्यति राक्षसम् ॥ ३२ ॥

'महावीर रघुनन्दन ! आपके द्वारा विधिपूर्वक गड्ढेमें मेरे शरीरका दाह हो जानेपर मैं ऐसे महापुरुषका परिचय दूँगा, जो उस राक्षसको जानते होंगे ॥ ३२ ॥

तेन सख्यं च कर्तव्यं न्याय्यवृत्तेन राघव।
कल्पयिष्यति ते वीर साहाय्यं लघुविक्रम ॥ ३३ ॥

'शीघ्र पराक्रम प्रकट करनेवाले वीर रघुनाथजी ! न्यायोचित आचारवाले उन महापुरुषके साथ आपको मित्रता कर लेनी चाहिये। वे आपकी सहायता करेंगे ॥ ३३ ॥

नहि तस्यास्त्यविज्ञातं त्रिषु लोकेषु राघव।
सर्वान् परिवृतो लोकान् पुरा वै कारणान्तरे ॥ ३४ ॥

'रघुनन्दन ! उनके लिये तीनों लोकोंमें कुछ भी अज्ञात नहीं है; क्योंकि किसी कारणवश वे पहले समस्त लोकोंमें चक्कर लगा चुके हैं' ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें एकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा चिताकी आगमें कबन्धका दाह तथा उसका दिव्य रूपमें प्रकट होकर उन्हें सुग्रीवसे मित्रता करनेके लिये कहना

एवमुक्तौ तु तौ वीरौ कबन्धेन नरेश्वरौ।
गिरिप्रदरमासाद्य पावकं विससर्जतुः ॥ १ ॥

कबन्धके ऐसा कहनेपर उन दोनों वीर नरेश्वर श्रीराम और लक्ष्मणने उसके शरीरको एक पर्वतके गड्ढेमें डालकर उसमें आग लगा दी ॥ १ ॥

लक्ष्मणस्तु महोल्काभिर्ज्वलिताभिः समन्ततः।
चितामादीपयामास सा प्रजज्वाल सर्वतः ॥ २ ॥

लक्ष्मणने जलती हुई बड़ी-बड़ी लुकारियोंके द्वारा चारों ओरसे उसकी चितामें आग लगायी; फिर तो वह सब ओरसे प्रज्वलित हो उठी ॥ २ ॥

तच्छरीरं कबन्धस्य घृतपिण्डोपमं महत्।
मेदसा पच्यमानस्य मन्दं दहत पावकः ॥ ३ ॥

चितामें जलते हुए कबन्धका विशाल शरीर चर्बियोंसे भरा होनेके कारण घीके लोंदेके समान प्रतीत होता था। चिताकी आग उसे धीरे-धीरे जलाने लगी ॥ ३ ॥

सविधूय चितामाशु विधूमोऽग्निरिवोत्थितः।
अरजे वाससी बिभ्रन्माल्यं दिव्यं महाबलः ॥ ४ ॥

तदनन्तर वह महाबली कबन्ध तुरंत ही चिताको हिलाकर दो निर्मल वस्त्र और दिव्य पुष्पोंका हार धारण किये धूमरहित अग्निके समान उठ खड़ा हुआ ॥ ४ ॥

ततश्चिताया वेगेन भास्वरो विरजाम्बरः।
उत्पपाताशु संहृष्टः सर्वप्रत्यङ्गभूषणः ॥ ५ ॥
विमाने भास्वरे तिष्ठन् हंसयुक्ते यशस्करे।
प्रभया च महातेजा दिशो दश विराजयन् ॥ ६ ॥
सोऽन्तरिक्षगतो वाक्यं कबन्धो राममब्रवीत्।

फिर वेगपूर्वक चितासे ऊपरको उठा और शीघ्र ही एक तेजस्वी विमानपर जा बैठा। निर्मल वस्त्रोंसे विभूषित हो वह बड़ा तेजस्वी दिखायी देता था। उसके मनमें हर्ष भरा हुआ था तथा समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गमें दिव्य आभूषण शोभा दे रहे थे। हंसोंसे जुते हुए उस यशस्वी विमानपर बैठा हुआ महान् तेजस्वी कबन्ध अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको प्रकाशित करने लगा और अन्तरिक्षमें स्थित हो श्रीरामसे इस प्रकार बोला—॥ ५-६½ ॥

शृणु राघव तत्त्वेन यथा सीतामवाप्स्यसि ॥ ७ ॥
राम षड् युक्तयो लोके याभिः सर्वं विमृश्यते।
परिमृष्टो दशान्तेन दशाभागेन सेव्यते ॥ ८ ॥

'रघुनन्दन ! आप जिस प्रकार सीताको पा सकेंगे, वह ठीक-ठीक बता रहा हूँ, सुनिये। श्रीराम ! लोकमें छः युक्तियाँ हैं, जिनसे राजाओंद्वारा सब कुछ प्राप्त किया जाता है (उन युक्तियों तथा उपायों के नाम हैं—संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय[1])। जो मनुष्य दुर्दशासे ग्रस्त होता है, वह दूसरे किसी दुर्दशाग्रस्त पुरुषसे ही सेवा या सहायता प्राप्त करता है (यह नीति है) ॥ ७-८ ॥

दशाभागगतो हीनस्त्वं हि राम सलक्ष्मणः।
यत्कृते व्यसनं प्राप्तं त्वया दारप्रधर्षणम् ॥ ९ ॥

'श्रीराम ! लक्ष्मणसहित आप बुरी दशाके शिकार हो रहे हैं; इसीलिये आपलोग राज्यसे वञ्चित हैं तथा उस बुरी दशाके कारण ही आपको अपनी भार्याके अपहरणका महान् दुःख प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

१. संधि आदिका विवेचन पृष्ठ ४४८ की टिप्पणीमें देखना चाहिये।

तदवश्यं त्वया कार्यः स सुहृत् सुहृदां वर।
अकृत्वा नहि ते सिद्धिमहं पश्यामि चिन्तयन्॥ १०॥

'अतः सुहृदोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन! आप अवश्य ही उस पुरुषको अपना सुहृद् बनाइये, जो आपकी ही भाँति दुर्दशामें पड़ा हुआ हो (इस प्रकार आप सुहृद्का आश्रय लेकर समाश्रय नीतिको अपनाइये)। मैं बहुत सोचनेपर भी ऐसा किये बिना आपकी सफलता नहीं देखता हूँ॥ १०॥

श्रूयतां राम वक्ष्यामि सुग्रीवो नाम वानरः।
भ्रात्रा निरस्तः क्रुद्धेन वालिना शक्रसूनुना॥ ११॥

'श्रीराम! सुनिये, मैं ऐसे पुरुषका परिचय दे रहा हूँ, उनका नाम है सुग्रीव। वे जातिके वानर हैं। उन्हें उनके भाई इन्द्रकुमार वालीने कुपित होकर घरसे निकाल दिया है॥ ११॥

ऋष्यमूके गिरिवरे पम्पापर्यन्तशोभिते।
निवसत्यात्मवान् वीरश्चतुर्भिः सह वानरैः॥ १२॥

'वे मनस्वी वीर सुग्रीव इस समय चार वानरोंके साथ उस गिरिवर ऋष्यमूकपर निवास करते हैं, जो पम्पासरोवरतक फैला हुआ है॥ १२॥

वानरेन्द्रो महावीर्यस्तेजोवानमितप्रभः।
सत्यसंधो विनीतश्च धृतिमान् मतिमान् महान्॥ १३॥
दक्षः प्रगल्भो द्युतिमान् महाबलपराक्रमः।

'वे वानरोंके राजा महापराक्रमी सुग्रीव तेजस्वी, अत्यन्त कान्तिमान्, सत्यप्रतिज्ञ, विनयशील, धैर्यवान्, बुद्धिमान्, महापुरुष, कार्यदक्ष, निर्भीक, दीप्तिमान् तथा महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हैं॥ १३½॥

भ्रात्रा विवासितो वीर राज्यहेतोर्महात्मना॥ १४॥
ते सहायो मित्रं च सीतायाः परिमार्गणे।
भविष्यति हि ते राम मा च शोके मनः कृथाः॥ १५॥

'वीर श्रीराम! उनके महामना भाई वालीने सारे राज्यको अपने अधिकारमें कर लेनेके लिये उन्हें राज्यसे बाहर निकाल दिया है; अतः वे सीताकी खोजके लिये आपके सहायक और मित्र होंगे। इसलिये आप अपने मनको शोकमें न डालिये॥ १४-१५॥

भवितव्यं हि तच्चापि न तच्छक्यमिहान्यथा।
कर्तुमिक्ष्वाकुशार्दूल कालो हि दुरतिक्रमः॥ १६॥

'इक्ष्वाकुवंशी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! जो होनहार है, उसे कोई भी पलट नहीं सकता। कालका विधान सभीके लिये दुर्लङ्घ्य होता है (अतः आपपर जो कुछ भी बीत रहा है, इसे काल या प्रारब्धका विधान समझकर आपको धैर्य धारण करना चाहिये।)॥ १६॥

गच्छ शीघ्रमितो वीर सुग्रीवं तं महाबलम्।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव॥ १७॥

'वीर रघुनाथजी! आप यहाँसे शीघ्र ही महाबली सुग्रीवके पास जाइये और जाकर तुरंत उन्हें अपना मित्र बना लीजिये॥ १७॥

अद्रोहाय समागम्य दीप्यमाने विभावसौ।
न च ते सोऽवमन्तव्यः सुग्रीवो वानराधिपः॥ १८॥

'प्रज्वलित अग्निको साक्षी बनाकर परस्पर द्रोह न करनेके लिये मैत्री स्थापित कीजिये और ऐसा करनेके बाद आपको कभी उन वानरराज सुग्रीवका अपमान नहीं करना चाहिये॥ १८॥

कृतज्ञः कामरूपी च सहायार्थी च वीर्यवान्।
शक्तौ ह्यद्य युवां कर्तुं कार्यं तस्य चिकीर्षितम्॥ १९॥

'वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, पराक्रमी और कृतज्ञ हैं तथा इस समय स्वयं ही अपने लिये एक सहायक ढूँढ़ रहे हैं। उनका जो अभीष्ट कार्य है उसे सिद्ध करनेमें आप दोनों भाई समर्थ हैं॥ १९॥

कृतार्थो वाकृतार्थो वा तव कृत्यं करिष्यति।
स ऋक्षरजसः पुत्रः पम्पामटति शङ्कितः॥ २०॥

'सुग्रीवका मनोरथ पूर्ण हो या न हो, वे आपका कार्य अवश्य सिद्ध करेंगे। वे ऋक्षरजाके क्षेत्रज पुत्र हैं और वालीसे शङ्कित रहकर पम्पासरोवरके तटपर भ्रमण करते हैं॥ २०॥

भास्करस्यौरसः पुत्रो वालिना कृतकिल्बिषः।
संनिधायायुधं क्षिप्रमृष्यमूकालयं कपिम्॥ २१॥
कुरु राघव सत्येन वयस्यं वनचारिणम्।

'उन्हें सूर्यदेवका औरस पुत्र कहा गया है। उन्होंने वालीका अपराध किया है (इसीलिये वे उससे डरते हैं)। रघुनन्दन! अग्निके समीप हथियार रखकर शीघ्र ही सत्यकी शपथ खाकर ऋष्यमूकनिवासी वनचारी वानर सुग्रीवको आप अपना मित्र बना लीजिये॥ २१½॥

स हि स्थानानि कार्त्स्न्येन सर्वाणि कपिकुञ्जरः॥ २२॥
नरमांसाशिनां लोके नैपुण्यादधिगच्छति।

'कपिश्रेष्ठ सुग्रीव संसारमें नरमांसभक्षी राक्षसोंके जितने स्थान हैं, उन सबको पूर्णरूपसे निपुणतापूर्वक जानते हैं॥ २२½॥

न तस्याविदितं लोके किंचिदस्ति हि राघव॥ २३॥
यावत् सूर्यः प्रतपति सहस्रांशुः परंतप।

'रघुनन्दन! शत्रुदमन! सहस्रों किरणोंवाले सूर्यदेव जहाँतक तपते हैं, वहाँतक संसारमें कोई ऐसा स्थान या वस्तु नहीं है, जो सुग्रीवके लिये अज्ञात हो॥ २३½॥

स नदीर्विपुलाञ्शैलान् गिरिदुर्गाणि कन्दरान् ॥ २४ ॥
अन्विष्य वानरैः सार्धं पत्नीं तेऽधिगमिष्यति ।

'वे वानरोंके साथ रहकर समस्त नदियों, बड़े-बड़े पर्वतों, पहाड़ी दुर्गम स्थानों और कन्दराओंमें भी खोज कराकर आपकी पत्नीका पता लगा लेंगे ॥ २४½ ॥

वानरांश्च महाकायान् प्रेषयिष्यति राघव ॥ २५ ॥
दिशो विचेतुं तां सीतां त्वद्वियोगेन शोचतीम् ।
अन्वेष्यति वरारोहां मैथिलीं रावणालये ॥ २६ ॥

'राघव ! वे आपके वियोगमें शोक करती हुई सीताकी खोजके लिये सम्पूर्ण दिशाओंमें विशालकाय वानरोंको भेजेंगे, तथा रावणके घरसे भी सुन्दर अङ्गोंवाली मिथिलेशकुमारीको ढूँढ़ निकालेंगे ॥ २५-२६ ॥

स मेरुशृङ्गाग्रगतामनिन्दितां
प्रविश्य पातालतलेऽपि वाश्रिताम् ।
प्लवङ्गमानामृषभस्तव प्रियां
निहत्य रक्षांसि पुनः प्रदास्यति ॥२७॥

'आपकी प्रिया सती-साध्वी सीता मेरुशिखरके अग्रभागपर पहुँचायी गयी हों या पातालमें प्रवेश करके रक्खी गयी हों, वानरशिरोमणि सुग्रीव समस्त राक्षसोंका वध करके उन्हें पुनः आपके पास ला देंगे' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

दिव्य रूपधारी कबन्धका श्रीराम और लक्ष्मणको ऋष्यमूक और पम्पासरोवरका मार्ग बताना तथा मतङ्गमुनिके वन एवं आश्रमका परिचय देकर प्रस्थान करना

दर्शयित्वा तु रामाय सीतायाः परिमार्गणे ।
वाक्यमन्वर्थमर्थज्ञः कबन्धः पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामको सीताकी खोजका उपाय दिखाकर अर्थवेत्ता कबन्धने उनसे पुनः यह प्रयोजनयुक्त बात कही—॥ १ ॥

एष राम शिवः पन्था यत्रैते पुष्पिता द्रुमाः ।
प्रतीचीं दिशमाश्रित्य प्रकाशन्ते मनोरमाः ॥ २ ॥

'श्रीराम ! यहाँसे पश्चिम दिशाका आश्रय लेकर जहाँ ये फूलोंसे भरे हुए मनोरम वृक्ष शोभा पा रहे हैं, यही आपके जाने लायक सुखद मार्ग है ॥ २ ॥

जम्बूप्रियालपनसा न्यग्रोधप्लक्षतिन्दुकाः ।
अश्वत्थाः कर्णिकाराश्च चूताश्चान्ये च पादपाः ॥ ३ ॥
धन्वना नागवृक्षाश्च तिलका नक्तमालकाः ।
नीलाशोकाः कदम्बाश्च करवीराश्च पुष्पिताः ॥ ४ ॥
अग्निमुख्या अशोकाश्च सुरक्ताः पारिभद्रकाः ।
तानारुह्याथवा भूमौ पातयित्वा च तान् बलात् ॥ ५ ॥
फलान्यमृतकल्पानि भक्षयित्वा गमिष्यथः ।

'जामुन, प्रियाल (चिरौंजी), कटहल, बड़, पाकड़, तेंदू, पीपल, कनेर, आम तथा अन्य वृक्ष, धव, नागकेसर, तिलक, नक्तमाल, नील, अशोक, कदम्ब, खिले हुए करवीर, भिलावा, अशोक, लाल चन्दन तथा मन्दार—ये वृक्ष मार्गमें पड़ेंगे । आप दोनों भाई इनकी डालियोंको बलपूर्वक भूमिपर झुकाकर अथवा इन वृक्षोंपर चढ़कर इनके अमृततुल्य मधुर फलोंका आहार करते हुए यात्रा कीजियेगा ॥ ३—५½ ॥

तदतिक्रम्य काकुत्स्थ वनं पुष्पितपादपम् ॥ ६ ॥
नन्दनप्रतिमं त्वान्यत् कुरवस्तूत्तरा इव ।
सर्वकालफला यत्र पादपा मधुरस्रवाः ॥ ७ ॥

'काकुत्स्थ ! खिले हुए वृक्षोंसे सुशोभित उस वनको लाँघकर आपलोग एक दूसरे वनमें प्रवेश कीजियेगा, जो नन्दनवनके समान मनोहर है । उस वनके वृक्ष उत्तर कुरुवर्षके वृक्षोंकी भाँति मधुकी धारा बहानेवाले हैं तथा उनमें सभी ऋतुओंमें सदा फल लगे रहते हैं ॥ ६-७ ॥

सर्वे च ऋतवस्तत्र वने चैत्ररथे यथा ।
फलभारनतास्तत्र महाविटपधारिणः ॥ ८ ॥

'चैत्ररथ वनकी भाँति उस मनोहर काननमें सभी ऋतुएँ निवास करती हैं । वहाँके वृक्ष बड़ी-बड़ी शाखा धारण करनेवाले तथा फलोंके भारसे झुके हुए हैं ॥ ८ ॥

शोभन्ते सर्वतस्तत्र मेघपर्वतसंनिभाः ।
तानारुह्याथवा भूमौ पातयित्वाथवा सुखम् ॥ ९ ॥
फलान्यमृतकल्पानि लक्ष्मणस्ते प्रदास्यति ।

'वे वहाँ सब ओर मेघों और पर्वतोंके समान शोभा पाते हैं । लक्ष्मण उन वृक्षोंपर चढ़कर अथवा सुखपूर्वक उन्हें पृथ्वीपर झुकाकर उनके अमृततुल्य मधुर फल आपको देंगे ॥ ९½ ॥

चङ्क्रमन्तौ वराञ्शैलाञ्शैलाच्छैलं वनाद् वनम् ॥ १० ॥
ततः पुष्करिणीं वीरौ पम्पां नाम गमिष्यथः ।

'इस प्रकार सुन्दर पर्वतोंपर भ्रमण करते हुए आप दोनों भाई एक पहाड़से दूसरे पहाड़पर तथा एक वनसे दूसरे वनमें पहुँचेंगे और इस तरह अनेक पर्वतों तथा वनोंको लाँघते हुए आप दोनों वीर पम्पा नामक पुष्करिणीके तटपर पहुँच जायँगे ॥ १०½ ॥

अशर्करामविभ्रंशां समतीर्थामशैवलाम् ॥ ११ ॥
राम संजातवालूकां कमलोत्पलशोभिताम् ।

'श्रीराम! वहाँ कंकड़का नाम नहीं है। उसके तटपर पैर फिसलने लायक कीचड़ आदि नहीं है। उसके घाटकी भूमि सब ओरसे बराबर है—ऊँची-नीची या ऊबड़-खाबड़ नहीं है। उस पुष्करिणीमें सेवारका सर्वथा अभाव है। उसके भीतरकी भूमि वालुकापूर्ण है। कमल और उत्पल उस सरोवरकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ११½ ॥

तत्र हंसाः प्लवाः क्रौञ्चाः कुरराश्चैव राघव ॥ १२ ॥
वल्गुस्वरा निकूजन्ति पम्पासलिलगोचराः ।
नोद्विजन्ते नरान् दृष्ट्वा वधस्याकोविदाः शुभाः॥ १३ ॥

'रघुनन्दन! वहाँ पम्पाके जलमें विचरनेवाले हंस, कारण्डव, क्रौञ्च और कुरर सदा मधुर स्वरमें कूजते रहते हैं। वे मनुष्योंको देखकर उद्विग्न नहीं होते हैं। क्योंकि किसी मनुष्यके द्वारा किसी पक्षीका वध भी हो सकता है, ऐसे भयका उन्हें अनुभव नहीं है। ये सभी पक्षी बड़े सुन्दर हैं ॥ १२-१३ ॥

घृतपिण्डोपमान् स्थूलांस्तान् द्विजान् भक्षयिष्यथः ।
रोहितान् वक्रतुण्डांश्च नलमीनांश्च राघव ॥ १४ ॥
पम्पायामिषुभिर्मत्स्यांस्तत्र राम वरान् हतान् ।
निस्त्वक्पक्षानयस्तप्तानकृशानेककण्टकान् ॥ १५ ॥
तव भक्त्या समायुक्तो लक्ष्मणः सम्प्रदास्यति ।

'बाणोंके अग्रभागसे जिनके छिलके छुड़ा दिये गये हैं, अतएव जिनमें एक भी काँटा नहीं रह गया है, जो घीके लौंदेके समान चिकने तथा आर्द्र हैं—सूखे नहीं हैं, जिन्हें लोहमय बाणोंके अग्रभागमें गूँथकर आगमें सेका और पकाया गया है, ऐसे फल-मूलके ढेर वहाँ भक्ष्य पदार्थके रूपमें उपलब्ध होंगे। आपके प्रति भक्तिभावसे सम्पन्न लक्ष्मण आपको वे भक्ष्य पदार्थ अर्पित करेंगे। आप दोनों भाई उन पदार्थोंको लेकर उस सरोवरके मोटे-मोटे सुप्रसिद्ध जलचर पक्षियों तथा श्रेष्ठ रोहित (रोहू), वक्रतुण्ड और नलमीन आदि मत्स्योंको थोड़ा थोड़ा करके खिलाइयेगा (इससे आपका मनोरञ्जन होगा) ॥ १४-१५½ ॥

भृशं तान् खादतो मत्स्यान् पम्पायाः पुष्पसंचये ॥ १६॥
पद्मगन्धि शिवं वारि सुखशीतमनामयम्।
उद्धृत्य स तदाक्लिष्टं रूप्यस्फटिकसंनिभम्॥ १७ ॥
अथ पुष्करपर्णेन लक्ष्मणः पाययिष्यति ।

'जिस समय आप पम्पासरोवरकी पुष्पराशिके समीप मछलियोंको भोजन करानेकी क्रीड़ामें अत्यन्त संलग्न होंगे, उस समय लक्ष्मण उस सरोवरका कमलकी गन्धसे सुवासित, कल्याणकारी, सुखद, शीतल, रोगनाशक, क्लेशहारी तथा चाँदी और स्फटिकमणिके समान स्वच्छ जल कमलके पत्तेमें निकालकर लायेंगे और आपको पिलायेंगे ॥ १६-१७½ ॥

स्थूलान् गिरिगुहाशय्यान् वानरान् वनचारिणः ॥१८॥
सायाह्ने विचरन् राम दर्शयिष्यति लक्ष्मणः ।

'श्रीराम! सायंकालमें आपके साथ विचरते हुए लक्ष्मण आपको उन मोटे-मोटे वनचारी वानरोंका दर्शन करायेंगे, जो पर्वतोंकी गुफाओंमें सोते और रहते हैं ॥ १८½ ॥

अपां लोभादुपावृत्तान् वृषभानिव नर्दतः ॥ १९ ॥
स्थूलान् पीतांश्च पम्पायां द्रक्ष्यसि त्वं नरोत्तम ।

'नरश्रेष्ठ! वे वानर पानी पीनेके लोभसे पम्पाके तटपर आकर साँड़ोंके समान गर्जते हैं। उनके शरीर मोटे और रंग पीले होते हैं। आप उन सबको वहाँ देखेंगे ॥ १९½ ॥

सायाह्ने विचरन् राम विटपी माल्यधारिणः ॥ २० ॥
शिवोदकं च पम्पायां दृष्ट्वा शोकं विहास्यसि ।

'श्रीराम! सायंकालमें चलते समय आप बड़ी-बड़ी शाखावाले, पुष्पधारी वृक्षों तथा पम्पाके शीतल जलका दर्शन करके अपना शोक त्याग देंगे ॥ २०½ ॥

सुमनोभिश्चितास्तत्र तिलका नक्तमालकाः ॥ २१ ॥
उत्पलानि च फुल्लानि पङ्कजानि च राघव ।

'रघुनन्दन! वहाँ फूलोंसे भरे हुए तिलक और नक्तमालके वृक्ष शोभा पाते हैं तथा जलके भीतर उत्पल और कमल फूले दिखायी देते हैं ॥ २१½ ॥

न तानि कश्चिन्माल्यानि तत्रारोपयिता नरः ॥ २२ ॥
न च वै म्लानतां यान्ति न च शीर्यन्ति राघव ।

'रघुनन्दन! कोई भी मनुष्य वहाँ उन फूलोंको उतारकर धारण नहीं करता है। (क्योंकि वहाँतक किसीकी पहुँच ही नहीं हो पाती है) पम्पासरोवरके फूल न तो मुरझाते हैं और न झरते ही हैं ॥ २२½ ॥

मतङ्गशिष्यास्तत्रासन्नृषयः सुसमाहिताः ॥ २३ ॥
तेषां भाराभितप्तानां वन्यमाहरतां गुरोः ।
ये प्रपेतुर्महीं तूर्णं शरीरात् स्वेदबिन्दवः ॥ २४ ॥
तानि माल्यानि जातानि मुनीनां तपसा तदा ।
स्वेदबिन्दुसमुत्थानि न विनश्यन्ति राघव ॥ २५ ॥

'कहते हैं, वहाँ पहले मतंग मुनिके शिष्य ऋषिगण निवास करते थे, जिनका चित्त सदा एकाग्र एवं शान्त रहता था। वे अपने गुरु मतंग मुनिके लिये जब जंगली फल-मूल ले आते और उनके भारसे थक जाते, तब उनके शरीरसे

पृथ्वीपर पसीनोंकी जो बूँदें गिरती थीं, वे ही उन मुनियोंकी तपस्याके प्रभावसे तत्काल फूलके रूपमें परिणत हो जाती थीं। राघव! पसीनोंकी बूँदोंसे उत्पन्न होनेके कारण वे फूल नष्ट नहीं होते हैं ॥ २३–२५ ॥

तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी।
श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी ॥ २६ ॥
त्वां तु धर्मे स्थिता नित्यं सर्वभूतनमस्कृतम्।
दृष्ट्वा देवोपमं राम स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥ २७ ॥

'वे सब-के-सब ऋषि तो अब चले गये; किंतु उनकी सेवामें रहनेवाली तपस्विनी शबरी आज भी वहाँ दिखायी देती है। काकुत्स्थ! शबरी चिरजीवनी होकर सदा धर्मके अनुष्ठानमें लगी रहती है। श्रीराम! आप समस्त प्राणियोंके लिये नित्य वन्दनीय और देवताके तुल्य हैं। आपका दर्शन करके शबरी स्वर्गलोक (साकेतधाम) को चली जायगी ॥ २६-२७ ॥

ततस्तद्राम पम्पायास्तीरमाश्रित्य पश्चिमम्।
आश्रमस्थानमतुलं गुह्यं काकुत्स्थ पश्यसि ॥ २८ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! तदनन्तर आप पम्पाके पश्चिम तटपर जाकर एक अनुपम आश्रम देखेंगे, जो (सर्व-साधारणकी पहुँचके बाहर होनेके कारण) गुप्त है ॥ २८ ॥

न तत्राक्रमितुं नागाः शक्नुवन्ति तदाश्रमे।
ऋषेस्तस्य मतङ्गस्य विधानात् तच्च काननम् ॥ २९ ॥

'उस आश्रमपर तथा उस वनमें मतंग मुनिके प्रभावसे हाथी कभी आक्रमण नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन।
तस्मिन् नन्दनसंकाशे देवारण्योपमे वने ॥ ३० ॥
नानाविहगसंकीर्णे रंस्यसे राम निर्वृतः।

'रघुनन्दन! वहाँका जंगल मतंगवनके नामसे प्रसिद्ध है। उस नन्दनतुल्य मनोहर और देववनके समान सुन्दर वनमें नाना प्रकारके पक्षी भरे रहते हैं। श्रीराम! आप वहाँ बड़ी प्रसन्नताके साथ सानन्द विचरण करेंगे ॥ ३०½ ॥

ऋष्यमूकस्तु पम्पायाः पुरस्तात् पुष्पितद्रुमः ॥ ३१ ॥
सुदुःखारोहणश्चैव शिशुनागाभिरक्षितः।
उदारो ब्रह्मणा चैव पूर्वकालेऽभिनिर्मितः ॥ ३२ ॥

'पम्पासरोवरके पूर्वभागमें ऋष्यमूक पर्वत है, जहाँके वृक्ष फूलोंसे सुशोभित दिखायी देते हैं। उसके ऊपर चढ़नेमें बड़ी कठिनाई होती है; क्योंकि वह छोटे-छोटे सर्पों अथवा हाथियोंके बच्चोंद्वारा सब ओरसे सुरक्षित है। ऋष्यमूक पर्वत उदार (अभीष्ट फलको देनेवाला) है। पूर्वकालमें साक्षात् ब्रह्माजीने उसका निर्माण किया और उसे औदार्य आदि गुणोंसे सम्पन्न बनाया ॥ ३१-३२ ॥

शयानः पुरुषो राम तस्य शैलस्य मूर्धनि।
यत् स्वप्ने लभते वित्तं तत् प्रबुद्धोऽधिगच्छति ॥ ३३ ॥
यस्त्वेनं विषमाचारः पापकर्माधिरोहति।
तत्रैव प्रहरन्त्येनं सुप्तमादाय राक्षसाः ॥ ३४ ॥

'श्रीराम! उस पर्वतके शिखरपर सोया हुआ पुरुष सपनेमें जिस सम्पत्तिको पाता है उसे जागनेपर भी प्राप्त कर लेता है। जो पापकर्मी तथा विषम बर्ताव करनेवाला पुरुष उस पर्वतपर चढ़ता है, उसे इस पर्वतशिखरपर ही सो जानेपर राक्षस लोग उठाकर उसके ऊपर प्रहार करते हैं ॥ ३३-३४ ॥

तत्रापि शिशुनागानामाक्रन्दः श्रूयते महान्।
क्रीडतां राम पम्पायां मतङ्गाश्रमवासिनाम् ॥ ३५ ॥

श्रीराम! मतंग मुनिके आश्रमके आसपासके वनमें रहने और पम्पासरोवरमें क्रीडा करनेवाले छोटे-छोटे हाथियोंके चिग्घाड़नेका महान् शब्द उस पर्वतपर भी सुनायी देता है ॥ ३५ ॥

सिक्ता रुधिरधाराभिः संहत्य परमद्विपाः।
प्रचरन्ति पृथक्कीर्णा मेघवर्णास्तरस्विनः ॥ ३६ ॥
ते तत्र पीत्वा पानीयं विमलं चारु शोभनम्।
अत्यन्तसुखसंस्पर्शं सर्वगन्धसमन्वितम् ॥ ३७ ॥
निर्वृत्ताः संविगाहन्ते वनानि वनगोचराः।

'जिनके गण्डस्थलोंपर कुछ लाल रंगकी मदकी धाराएँ बहती हैं, वे वेगशाली और मेघके समान काले बड़े-बड़े गजराज झुंड-के-झुंड एक साथ होकर दूसरी जातिवाले हाथियोंसे पृथक् हो वहाँ विचरते रहते हैं। वनमें विचरनेवाले वे हाथी जब पम्पासरोवरका निर्मल, मनोहर, सुन्दर, छूनेमें अत्यन्त सुखद तथा सब प्रकारकी सुगन्धसे सुवासित जल पीकर लौटते हैं, तब उन वनोंमें प्रवेश करते हैं ॥ ३६-३७½ ॥

ऋक्षांश्च द्वीपिनश्चैव नीलकोमलकप्रभान् ॥ ३८ ॥
रुरूनपेतानजयान् दृष्ट्वा शोकं प्रहास्यसि।

'रघुनन्दन! वहाँ रीछों, बाघों और नील कोमल कान्ति-वाले मनुष्योंको देखकर भागनेवाले तथा दौड़ लगानेमें किसी-से पराजित न होनेवाले मृगोंको देखकर आप अपना सारा शोक भूल जायँगे ॥ ३८½ ॥

राम तस्य तु शैलस्य महती शोभते गुहा ॥ ३९ ॥
शिलापिधाना काकुत्स्थ दुःखं चास्याः प्रवेशनम्।

'श्रीराम! उस पर्वतके ऊपर एक बहुत बड़ी गुफा शोभा पाती है, जिसका द्वार पत्थरसे ढका है। उसके भीतर प्रवेश करनेमें बड़ा कष्ट होता है ॥ ३९½ ॥

तस्या गुहायाः प्राग्द्वारे महाञ्शीतोदको ...
बहुमूलफलो रम्यो न...

'उस गुफाके पूर्वद्वारपर शी...

बहुत बड़ा कुण्ड है। उनके आसपास बहुत-से फल और मूल सुलभ हैं तथा वह रमणीय ह्रद नाना प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त है ॥ ४०½ ॥

तस्यां वसति धर्मात्मा सुग्रीवः सह वानरैः ॥ ४१ ॥
कदाचिच्छिखरे तस्य पर्वतस्यापि तिष्ठति ।

'धर्मात्मा सुग्रीव वानरोंके साथ उसी गुफामें निवास करते हैं। वे कभी-कभी उस पर्वतके शिखरपर भी रहते हैं'॥४१½॥

कबन्धस्त्वनुशास्यैवं तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४२ ॥
स्रग्वी भास्करवर्णाभः खे व्यरोचत वीर्यवान् ।

इस प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको सब बातें बताकर सूर्यके समान तेजस्वी और पराक्रमी कबन्ध दिव्य पुष्पोंकी माला धारण किये आकाशमें प्रकाशित होने लगा ॥ ४२½ ॥

तं तु खस्थं महाभागं तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४३ ॥
प्रस्थितौ त्वं व्रजस्वेति वाक्यमूचतुरन्तिके ।

उस समय वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण वहाँसे प्रस्थान करनेके लिये उद्यत हो आकाशमें खड़े हुए महाभाग कबन्धसे उसके निकट खड़े होकर बोले—'अब तुम परम धामको जाओ' ॥ ४३½ ॥

गम्यतां कार्यसिद्ध्यर्थमिति तावब्रवीत् स च ॥ ४४ ॥
सुप्रीतौ तावनुज्ञाप्य कबन्धः प्रस्थितस्तदा ॥ ४५ ॥

कबन्धने भी उन दोनों भाइयोंसे कहा—'आपलोग भी अपने कार्यकी सिद्धिके लिये यात्रा करें।' ऐसा कहकर परम प्रसन्न हुए उन दोनों बन्धुओंसे आज्ञा ले कबन्धने तत्काल प्रस्थान किया ॥ ४४-४५ ॥

स तत् कबन्धः प्रतिपद्य रूपं
वृतः श्रिया भास्वरसर्वदेहः ।
निदर्शयन् राममवेक्ष्य खस्थः
सख्यं कुरुष्वेति तदाभ्युवाच ॥ ४६ ॥

कबन्ध अपने पहले रूपको पाकर अद्भुत शोभासे सम्पन्न हो गया। उसका सारा शरीर सूर्य-तुल्य प्रभासे प्रकाशित हो उठा। वह रामकी ओर देखकर उन्हें पम्पासरोवरका मार्ग दिखाता हुआ आकाशमें ही स्थित होकर बोला—'आप सुग्रीवके साथ मित्रता अवश्य करें' ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका पम्पासरोवरके तटपर मतङ्गवनमें शबरीके आश्रमपर जाना, उसका सत्कार ग्रहण करना और उसके साथ मतङ्गवनको देखना, शबरीका अपने शरीरकी आहुति दे दिव्यधामको प्रस्थान करना

तौ कबन्धेन तं मार्गं पम्पाया दर्शितं वने ।
आतस्थतुर्दिशं गृह्य प्रतीचीं नृवरात्मजौ ॥ १ ॥

तदनन्तर राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण कबन्धके बताये हुए पम्पासरोवरके मार्गका आश्रय ले पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये ॥ १ ॥

तौ शैलेष्वाचितानेकान् क्षौद्रपुष्पफलद्रुमान् ।
वीक्षन्तौ जग्मतुर्द्रष्टुं सुग्रीवं रामलक्ष्मणौ ॥ २ ॥

दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण पर्वतोंपर फैले हुए बहुत-से वृक्षोंको, जो फूल, फल और मधुसे सम्पन्न थे, देखते हुए सुग्रीवसे मिलनेके लिये आगे बढ़े ॥ २ ॥

कृत्वा तु शैलपृष्ठे तु तौ वासं रघुनन्दनौ ।
पम्पायाः पश्चिमं तीरं राघवावुपतस्थतुः ॥ ३ ॥

रातमें एक पर्वत-शिखरपर निवास करके रघुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले वे दोनों रघुवंशी बन्धु पम्पासरोवरके पश्चिम तटपर जा पहुँचे ॥ ३ ॥

तौ पुष्करिण्याः पम्पायास्तीरमासाद्य पश्चिमम् ।
अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम् ॥ ४ ॥

पम्पानामक पुष्करिणीके पश्चिम तटपर पहुँचकर उन दोनों भाइयोंने वहाँ शबरीका रमणीय आश्रम देखा ॥ ४ ॥

तौ तमाश्रममासाद्य द्रुमैर्बहुभिरावृतम् ।
सुरम्यमभिवीक्षन्तौ शबरीमभ्युपेयतुः ॥ ५ ॥

उसकी शोभा निहारते हुए वे दोनों भाई बहुसंख्यक वृक्षोंसे घिरे हुए उस सुरम्य आश्रमपर जाकर शबरीसे मिले ॥ ५ ॥

तौ दृष्ट्वा तु तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः ।
पादौ जग्राह रामस्य लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ ६ ॥

शबरी सिद्ध तपस्विनी थी। उन दोनों भाइयोंको आश्रमपर आया देख वह हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी तथा उसने बुद्धिमान् श्रीराम और लक्ष्मणके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ६ ॥

पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादात् यथाविधि ।
तामुवाच ततो रामः श्रमणीं धर्मसंस्थिताम् ॥ ७ ॥

फिर पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदि सब सामग्री समर्पित की और विधिवत् उनका सत्कार किया । तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी उस धर्मपरायणा तपस्विनीसे बोले—॥ ७ ॥

कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः कच्चित्ते वर्धते तपः ।
कच्चित्ते नियतः कोप आहारश्च तपोधने ॥ ८ ॥

'तपोधने ! क्या तुमने सारे विघ्नोंपर विजय पा ली ? क्या तुम्हारी तपस्या बढ़ रही है ? क्या तुमने क्रोध और आहारको काबूमें कर लिया है ? ॥ ८ ॥

कच्चित्ते नियमाः प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम् ।
कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि ॥ ९ ॥

'तुमने जिन नियमोंको स्वीकार किया है, वे निभ तो जाते हैं न ? तुम्हारे मनमें सुख और शान्ति है न ? चारुभाषिणि ! तुमने जो गुरुजनोंकी सेवा की है, वह पूर्णरूपसे सफल हो गयी है न ?' ॥ ९ ॥

रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्मता ।
शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्यवस्थिता ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर वह सिद्ध तपस्विनी बूढ़ी शबरी, जो सिद्धोंके द्वारा सम्मानित थी, उनके सामने खड़ी होकर बोली—॥ १० ॥

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव संदर्शनान्मया ।
अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः ॥ ११ ॥

'रघुनन्दन ! आज आपका दर्शन मिलनेसे ही मुझे अपनी तपस्यामें सिद्धि प्राप्त हुई है । आज मेरा जन्म सफल हुआ और गुरुजनोंकी उत्तम पूजा भी सार्थक हो गयी ॥११॥

अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति ।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ ॥ १२ ॥

'पुरुषप्रवर श्रीराम ! आप देवेश्वरका यहाँ सत्कार हुआ, इससे मेरी तपस्या सफल हो गयी और अब मुझे आपके दिव्य धामकी प्राप्ति भी होगी ही ॥ १२ ॥

तवाहं चक्षुषा सौम्य पूता सौम्येन मानद ।
गमिष्याम्यक्षयांल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिंदम ॥ १३ ॥

'सौम्य ! मानद ! आपकी सौम्य दृष्टि पड़नेसे मैं परम पवित्र हो गयी । शत्रुदमन ! आपके प्रसादसे ही अब मैं अक्षय लोकोंमें जाऊँगी ॥ १३ ॥

चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः ।
इतस्ते दिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम् ॥ १४ ॥

'जब आप चित्रकूट पर्वतपर पधारे थे, उसी समय मेरे गुरुजन, जिनकी मैं सदा सेवा किया करती थी, अतुल कान्तिमान् विमानपर बैठकर यहाँसे दिव्यलोकको चले गये ॥ १४ ॥

तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः ।
आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम् ॥ १५ ॥
स ते प्रतिग्रहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः ।
तं च दृष्ट्वा वरांल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि ॥ १६ ॥

'उन धर्मज्ञ महाभाग महर्षियोंने जाते समय मुझसे कहा था कि तेरे इस परम पवित्र आश्रमपर श्रीरामचन्द्रजी पधारेंगे और लक्ष्मणके साथ तेरे अतिथि होंगे । तुम उनका यथावत् सत्कार करना । उनका दर्शन करके तू श्रेष्ठ एवं अक्षय लोकोंमें जायगी ॥ १५-१६ ॥

एवमुक्ता महाभागैस्तदाहं पुरुषर्षभ ।
मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ ॥ १७ ॥
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसम्भवम् ।

'पुरुषप्रवर ! उन महाभाग महात्माओंने मुझसे उस समय ऐसी बात कही थी । अतः पुरुषसिंह ! मैंने आपके लिये पम्पातटपर उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकारके जंगली फल-मूलोंका संचय किया है' ॥ १७½ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा शबर्या शबरीमिदम् ॥ १८ ॥
राघवः प्राह विज्ञाने तां नित्यमबहिष्कृताम् ।

शबरी (जातिसे वर्णबाह्य होनेपर भी) विज्ञानमें बहिष्कृत नहीं थी—उसे परमात्माके तत्त्वका नित्य ज्ञान प्राप्त था । उसकी पूर्वोक्त बातें सुनकर धर्मात्मा श्रीरामने उससे कहा—॥ १८½ ॥

दनोः सकाशात् तत्त्वेन प्रभावं ते महात्मनाम् ॥ १९ ॥
श्रुतं प्रत्यक्षमिच्छामि संद्रष्टुं यदि मन्यसे ।

'तपोधने ! मैंने कबन्धके मुखसे तुम्हारे महात्मा गुरुजनोंका यथार्थ प्रभाव सुना है । यदि तुम स्वीकार करो तो मैं उनके उस प्रभावको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ' ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा रामवक्त्रविनिःसृतम् ॥ २० ॥
शबरी दर्शयामास तावुभौ तद्वनं महत् ।

श्रीरामके मुखसे निकले हुए इस वचनको सुनकर शबरीने उन दोनों भाइयोंको उस महान् वनका दर्शन कराते हुए कहा—॥ २०½ ॥

पश्य मेघघनप्रख्यं मृगपक्षिसमाकुलम् ॥ २१ ॥
मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन ।

'रघुनन्दन ! मेघोंकी घटाके समान श्याम और नाना प्रकारके पशु-पक्षियोंसे भरे हुए इस वनकी ओर दृष्टिपात कीजिये । यह मतंगवनके नामसे ही विख्यात है ॥ २१½ ॥

इह ते भावितात्मानो गुरवो मे महाद्युते ।
जुहवांचक्रिरे नीडं मन्त्रवन्मन्त्रपूजितम् ॥ २२ ॥

'महातेजस्वी श्रीराम ! यहीं वे मेरे भावितात्मा (शुद्ध अन्तःकरणवाले एवं परमात्मचिन्तनपरायण) गुरुजन

निवास करते थे। इसी स्थानपर उन्होंने गायत्रीमन्त्रके जपसे विशुद्ध हुए अपने देहरूपी पञ्जरको मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्निमें होम दिया था॥ २२॥

इयं प्रत्यक्स्थली वेदी यत्र ते मे सुसत्कृताः।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति श्रमादुद्वेपिभिः करैः॥ २३॥

'यह प्रत्यक्स्थली नामवाली वेदी है, जहाँ मेरे द्वारा भलीभाँति पूजित हुए वे महर्षि वृद्धावस्थाके कारण श्रमसे काँपते हुए हाथोंद्वारा देवताओंको फूलोंकी बलि चढ़ाया करते थे॥ २३॥

तेषां तपःप्रभावेण पश्याद्यापि रघूत्तम।
द्योतयन्ती दिशः सर्वाः श्रिया वेद्यतुलप्रभा॥ २४॥

'रघुवंशशिरोमणे! देखिये, उनकी तपस्याके प्रभावसे आज भी यह वेदी अपने तेजके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रही है। इस समय भी इसकी प्रभा अतुलनीय है॥ २४॥

अशक्नुवद्भिस्तैर्गन्तुमुपवासश्रमालसैः।
चिन्तितनागतान् पश्य समेतान् सप्त सागरान्॥ २५॥

'उपवास करनेसे दुर्बल होनेके कारण जब वे चलने-फिरनेमें असमर्थ हो गये, तब उनके चिन्तनमात्रसे वहाँ सात समुद्रोंका जल प्रकट हो गया। वह सप्तसागर तीर्थ आज भी मौजूद है। उसमें सातों समुद्रोंके जल मिले हुए हैं, उसे चलकर देखिये॥ २५॥

कृताभिषेकैस्तैर्न्यस्ता वल्कलाः पादपेष्विह।
अद्यापि न विशुष्यन्ति प्रदेशे रघुनन्दन॥ २६॥

'रघुनन्दन! उसमें स्नान करके उन्होंने वृक्षोंपर जो वल्कल वस्त्र फैला दिये थे, वे इस प्रदेशमें अबतक सूखे नहीं हैं॥ २६॥

देवकार्याणि कुर्वद्भिर्यानीमानि कृतानि वै।
पुष्पैः कुवलयैः सार्धं म्लानत्वं न तु यान्ति वै॥ २७॥

'देवताओंकी पूजा करते हुए मेरे गुरुजनोंने कमलोंके साथ अन्य फूलोंकी जो मालाएँ बनायी थीं, वे आज भी मुरझायी नहीं हैं॥ २७॥

कृत्स्नं वनमिदं दृष्टं श्रोतव्यं च श्रुतं त्वया।
तदिच्छाम्यभ्यनुज्ञाता त्यक्ष्याम्येतत् कलेवरम्॥ २८॥

'भगवन्! आपने सारा वन देख लिया और यहाँके सम्बन्धमें जो बातें सुनने योग्य थीं, वे भी सुन लीं। अब मैं आपकी आज्ञा लेकर इस देहका परित्याग करना चाहती हूँ॥ २८॥

तेषामिच्छाम्यहं गन्तुं समीपं भावितात्मनाम्।
मुनीनामाश्रमो येषामहं च परिचारिणी॥ २९॥

'जिनका यह आश्रम है और जिनके चरणोंकी मैं दासी रही हूँ, उन्हीं पवित्रात्मा महर्षियोंके समीप अब मैं जाना चाहती हूँ'॥ २९॥

धर्मिष्ठं तु वचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः।
प्रहर्षमतुलं लेभे आश्चर्यमिति चाब्रवीत्॥ ३०॥

शबरीके धर्मयुक्त वचन सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामको अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई। उनके मुँहसे निकल पड़ा, 'आश्चर्य है!'॥ ३०॥

तामुवाच ततो रामः शबरीं संशितव्रताम्।
अर्चितोऽहं त्वया भद्रे गच्छ कामं यथासुखम्॥ ३१॥

तदनन्तर श्रीरामने कठोर व्रतका पालन करनेवाली शबरीसे कहा—'भद्रे! तुमने मेरा बड़ा सत्कार किया। अब तुम अपनी इच्छाके अनुसार आनन्दपूर्वक अभीष्ट लोककी यात्रा करो'॥ ३१॥

इत्येवमुक्ता जटिला चीरकृष्णाजिनाम्बरा।
अनुज्ञाता तु रामेण हुत्वाऽऽत्मानं हुताशने॥ ३२॥
ज्वलत्पावकसंकाशा स्वर्गमेव जगाम ह।
दिव्याभरणसंयुक्ता दिव्यमाल्यानुलेपना॥ ३३॥
दिव्याम्बरधरा तत्र बभूव प्रियदर्शना।
विराजयन्ती तं देशं विद्युत्सौदामनी यथा॥ ३४॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर मस्तकपर जटा और शरीरपर चीर एवं काला मृगचर्म धारण करनेवाली शबरीने अपनेको आगमें होमकर प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी शरीर प्राप्त किया। वह दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण, दिव्य फूलोंकी माला और दिव्य अनुलेपन धारण किये बड़ी मनोहर दिखायी देने लगी तथा सुदाम पर्वतपर प्रकट होनेवाली बिजलीके समान उस प्रदेशको प्रकाशित करती हुई स्वर्ग (साकेत) लोकको ही चली गयी॥ ३२—३४॥

यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः।
तत् पुण्यं शबरी स्थानं जगामात्मसमाधिना॥ ३५॥

उसने अपने चित्तको एकाग्र करके उस पुण्यधामकी यात्रा की, जहाँ उसके वे गुरुजन पुण्यात्मा महर्षि विहार करते थे॥ ३५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः॥ ७४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७४॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणकी बातचीत तथा उन दोनों भाइयोंका पम्पासरोवरके तटपर जाना

दिवं तु तस्यां यातायां शबर्यां स्वेन तेजसा।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चिन्तयामास राघवः॥ १॥
चिन्तयित्वा तु धर्मात्मा प्रभावं तं महात्मनाम्।
हितकारिणमेकाग्रं लक्ष्मणं राघवोऽब्रवीत्॥ २॥

अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाली शबरीके दिव्यलोकमें चले जानेपर भाई लक्ष्मणसहित धर्मात्मा श्रीरघुनाथजीने उन महात्मा महर्षियोंके प्रभावका चिन्तन किया। चिन्तन करके अपने हितमें संलग्न रहनेवाले एकाग्रचित्त लक्ष्मणसे श्रीरामने इस प्रकार कहा—॥ १-२॥

दृष्टो मयाऽऽश्रमः सौम्य बह्वाश्चर्यः कृतात्मनाम्।
विश्वस्तमृगशार्दूलो नानाविहगसेवितः॥ ३॥

'सौम्य! मैंने उन पुण्यात्मा महर्षियोंका यह पवित्र आश्रम देखा। यहाँ बहुत-सी आश्चर्यजनक बातें हैं। हरिण और बाघ एक दूसरेपर विश्वास करते हैं। नाना प्रकारके पक्षी इस आश्रमका सेवन करते हैं॥ ३॥

सप्तानां च समुद्राणां तेषां तीर्थेषु लक्ष्मण।
उपस्पृष्टं च विधिवत् पितरश्चापि तर्पिताः॥ ४॥
प्रणष्टमशुभं यन्नः कल्याणं समुपस्थितम्।
तेन त्वेतत् प्रहृष्टं मे मनो लक्ष्मण सम्प्रति॥ ५॥

'लक्ष्मण! यहाँ जो सातों समुद्रोंके जलसे भरे हुए तीर्थ हैं, उनमें हमने विधिपूर्वक स्नान तथा पितरोंका तर्पण किये हैं। इससे हमारा सारा अशुभ नष्ट हो गया और अब हमारे कल्याणका समय उपस्थित हुआ है। सुमित्राकुमार! इससे इस समय मेरे मनमें अधिक प्रसन्नता हो रही है॥ ४-५॥

हृदये मे नरव्याघ्र शुभमाविर्भविष्यति।
तदागच्छ गमिष्यावः पम्पां तां प्रियदर्शनाम्॥ ६॥

'नरश्रेष्ठ! अब मेरे हृदयमें कोई शुभ संकल्प उठनेवाला है। इसलिये आओ, अब हम दोनों परम सुन्दर पम्पासरोवर-के तटपर चलें॥ ६॥

ऋष्यमूको गिरिर्यत्र नातिदूरे प्रकाशते।
यस्मिन् वसति धर्मात्मा सुग्रीवोऽंशुमतः सुतः॥ ७॥

'वहाँसे थोड़ी ही दूरपर वह ऋष्यमूक पर्वत शोभा पाता है, जिसपर सूर्यपुत्र धर्मात्मा सुग्रीव निवास करते हैं॥ ७॥

नित्यं वालिभयात् त्रस्तश्चतुर्भिः सह वानरैः।
अहं त्वरे च तं द्रष्टुं सुग्रीवं वानरर्षभम्॥ ८॥
तदधीनं हि मे कार्यं सीतायाः परिमार्गणम्।

'वालीके भयसे सदा डरे रहनेके कारण वे चार वानरोंके साथ उस पर्वतपर रहते हैं। मैं वानरश्रेष्ठ सुग्रीवसे मिलनेके लिये उतावला हो रहा हूँ; क्योंकि सीताके अन्वेषणका कार्य उन्हींके अधीन है'॥ ८½॥

इति ब्रुवाणं तं वीरं सौमित्रिरिदमब्रवीत्॥ ९॥
गच्छावस्त्वरितं तत्र ममापि त्वरते मनः।

इस प्रकारकी बात कहते हुए वीर श्रीरामसे सुमित्राकुमार लक्ष्मणने यों कहा—'भैया! हम दोनोंको शीघ्र ही वहाँ चलना चाहिये। मेरा मन भी चलनेके लिये उतावला हो रहा है'॥ ९½॥

आश्रमात्तु ततस्तस्मान्निष्क्रम्य स विशाम्पतिः॥ १०॥
आजगाम ततः पम्पां लक्ष्मणेन सह प्रभुः।
समीक्षमाणः पुष्पाढ्यं सर्वतो विपुलद्रुमम्॥ ११॥

तदनन्तर प्रजापालक भगवान् श्रीराम लक्ष्मणके साथ उस आश्रमसे निकलकर सब ओर फूलोंसे लदे हुए नाना प्रकारके वृक्षोंकी शोभा निहारते हुए पम्पासरोवरके तटपर आये॥ १०-११॥

कोयष्टिभिश्चार्जुनकैः शतपत्रैश्च कीरकैः।
एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्नादितं तद् वनं महत्॥ १२॥

वह विशाल वन टिट्टिभों, मोरों, कठफोड़वों, तोतों तथा अन्य बहुत-से पक्षियोंके कलरवोंसे गूँज रहा था॥ १२॥

स रामो विविधान् वृक्षान् सरांसि विविधानि च।
पश्यन् कामाभिसंतप्तो जगाम परमं ह्रदम्॥ १३॥

श्रीरामके मनमें सीताजीसे मिलनेकी तीव्र लालसा जाग उठी थी, इससे संतप्त हो वे नाना प्रकारके वृक्षों और भाँति-भाँतिके सरोवरोंकी शोभा देखते हुए उस उत्तम जलाशयके पास गये॥ १३॥

स तामासाद्य वै रामो दूरात् पानीयवाहिनीम्।
मतङ्गसरसं नाम ह्रदं समवगाहत॥ १४॥

पम्पानामसे प्रसिद्ध वह सरोवर पीनेयोग्य स्वच्छ जल बहानेवाला था। श्रीराम दूर देशसे चलकर उसके तटपर आये। आकर उन्होंने मतंगसरस नामक कुण्डमें स्नान किया॥ १४॥

तत्र जग्मतुरव्यग्रौ राघवौ हि समाहितौ।
स तु शोकसमाविष्टो रामो दशरथात्मजः॥ १५॥
विवेश नलिनीं रम्यां पङ्कजैश्च समावृताम्।

वे दोनों रघुवंशी वीर वहाँ शान्त और एकाग्रचित्त होकर पहुँचे थे। सीताके शोकसे व्याकुल हुए दशरथनन्दन श्रीरामने उस रमणीय पुष्करिणी पम्पामें प्रवेश किया, जो कमलोंसे व्याप्त थी॥ १५½॥

तिलकाशोकपुंनागबकुलोद्दालकाशिनीम्॥ १६॥

रम्योपवनसम्बाधां पद्मसम्पीडितोदकाम्।
स्फटिकोपमतोयां तां श्लक्ष्णवालुकसंततताम्॥ १७॥
मत्स्यकच्छपसम्बाधां तीरस्थद्रुमशोभिताम्।
सखीभिरिव संयुक्तां लताभिरनुवेष्टिताम्॥ १८॥
किंनरोरगगन्धर्वयक्षराक्षससेविताम्।
नानाद्रुमलताकीर्णां शीतवारिनिधिं शुभाम्॥ १९॥

उसके तटपर तिलक, अशोक, नागकेसर, वकुल तथा लिसोड़ेके वृक्ष उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। भाँति-भाँतिके रमणीय उपवनोंसे वह घिरी हुई थी। उसका जल कमल-पुष्पोंसे आच्छादित था और स्फटिक मणिके समान स्वच्छ दिखायी देता था। जलके नीचे स्वच्छ बालुका फैली हुई थी। मत्स्य और कच्छप उसमें भरे हुए थे। तटवर्ती वृक्ष उसकी शोभा बढ़ाते थे। सब ओर लताओंद्वारा आवेष्टित होनेके कारण वह सखियोंसे संयुक्त-सी प्रतीत होती थी। किन्नर, नाग, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस उसका सेवन करते थे। भाँति-भाँतिके वृक्ष और लताओंसे व्याप्त हुई पम्पा शीतल जलकी सुन्दर निधि प्रतीत होती थी॥ १६—१९॥

पद्मसौगन्धिकैस्ताम्रां शुक्लां कुमुदमण्डलैः।
नीलां कुवलयोद्घाटैर्बहुवर्णां कुथामिव॥ २०॥

अरुण कमलोंसे वह ताम्रवर्णकी, कुमुद-कुसुमोंके समूहसे शुक्ल वर्णकी तथा नील कमलोंके समुदायसे नीलवर्णकी दिखायी देनेके कारण बहुरंगे कालीनके समान शोभा पाती थी॥ २०॥

अरविन्दोत्पलवतीं पद्मसौगन्धिकायुताम्।
पुष्पिताम्रवणोपेतां बर्हिणोद्घुष्टनादिताम्॥ २१॥

उस पुष्करिणीमें अरविन्द और उत्पल खिले थे। पद्म और सौगन्धिक जातिके पुष्प शोभा पाते थे। मौर लगी हुई अमराइयोंसे वह घिरी हुई थी तथा मयूरोंके केकानाद वहाँ गूँज रहे थे॥ २१॥

स तां दृष्ट्वा ततः पम्पां रामः सौमित्रिणा सह।
विललाप च तेजस्वी रामो दशरथात्मजः॥ २२॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मणसहित श्रीरामने जब उस मनोहर पम्पाको देखा, तब उनके हृदयमें सीताकी वियोग-व्यथा उद्दीप्त हो उठी; अतः वे तेजस्वी दशरथनन्दन श्रीराम वहाँ विलाप करने लगे॥ २२॥

तिलकैर्बीजपूरैश्च वटैः शुक्लद्रुमैस्तथा।
पुष्पितैः करवीरैश्च पुंनागैश्च सुपुष्पितैः॥ २३॥
मालतीकुन्दगुल्मैश्च भण्डीरैर्निचुलैस्तथा।
अशोकैः सप्तपर्णैश्च केतकैरतिमुक्तकैः॥ २४॥
अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैः प्रमदामिव शोभिताम्।
अस्यास्तीरे तु पूर्वोक्तः पर्वतो धातुमण्डितः॥ २५॥
ऋष्यमूक इति ख्यातश्चित्रपुष्पितपादपः।

तिलक, बिजौरा, वट, लोध, खिले हुए करवीर, पुष्पित नागकेसर, मालती, कुन्द, झाड़ी, भंडीर (बरगद), वञ्जुल, अशोक, छितवन, केतक, माधवी लता तथा अन्य नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित हुई पम्पा भाँति-भाँतिकी वस्त्रभूषाओंसे सजी हुई युवतीके समान जान पड़ती थी। उसीके तटपर विविध धातुओंसे मण्डित पूर्वोक्त ऋष्यमूक नामसे विख्यात पर्वत सुशोभित था। उसके ऊपर फूलोंसे भरे हुए विचित्र वृक्ष शोभा दे रहे थे॥ २३—२५½॥

हरिर्ऋक्षरजोनाम्नः पुत्रस्तस्य महात्मनः॥ २६॥
अध्यास्ते तु महावीर्यः सुग्रीव इति विश्रुतः।

ऋक्षरजा नामक महात्मा वानरके पुत्र कपिश्रेष्ठ महापराक्रमी सुग्रीव वहीं निवास करते थे॥ २६½॥

सुग्रीवमभिगच्छ त्वं वानरेन्द्रं नरर्षभ॥ २७॥
इत्युवाच पुनर्वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमः।
कथं मया विना सीतां शक्यं लक्ष्मण जीवितुम्॥ २८॥

उस समय सत्यपराक्रमी श्रीरामने पुनः लक्ष्मणसे कहा—'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण! तुम वानरराज सुग्रीवके पास चलो, मैं सीताके बिना कैसे जीवित रह सकता हूँ?'॥ २७-२८॥

इत्येवमुक्त्वा मदनाभिपीडितः
स लक्ष्मणं वाक्यमनन्यचेतनः।
विवेश पम्पां नलिनीमनोरमां
तमुत्तमं शोकमुदीरयाणः॥ २९॥

ऐसा कहकर सीताके दर्शनकी कामनासे पीड़ित तथा उनके प्रति अनन्य अनुराग रखनेवाले श्रीराम उस महान् शोकको प्रकट करते हुए उस मनोरम पुष्करिणी पम्पामें उतरे॥ २९॥

क्रमेण गत्वा प्रविलोकयन् वनं
ददर्श पम्पां शुभदर्शकाननाम्।
अनेकनानाविधपक्षिसंकुलां
विवेश रामः सह लक्ष्मणेन॥ ३०॥

वनकी शोभा देखते हुए क्रमशः वहाँ जाकर लक्ष्मणसहित श्रीरामने पम्पाको देखा। उसके समीपवर्ती कानन बड़े सुन्दर और दर्शनीय थे। अनेक प्रकारके झुंड-के-झुंड पक्षी वहाँ सब ओर भरे हुए थे। भाईसहित श्रीरघुनाथजीने पम्पाके जलमें प्रवेश किया॥ ३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७५॥

॥ अरण्यकाण्डं सम्पूर्णम्॥

श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

किष्किन्धाकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

पम्पासरोवरके दर्शनसे श्रीरामकी व्याकुलता, श्रीरामका लक्ष्मणसे पम्पाकी शोभा तथा वहाँकी उद्दीपनसामग्रीका वर्णन करना, लक्ष्मणका श्रीरामको समझाना तथा दोनों भाइयोंको ऋष्यमूककी ओर आते देख सुग्रीव तथा अन्य वानरोंका भयभीत होना

स तां पुष्करिणीं गत्वा पद्मोत्पलझषाकुलाम्।
रामः सौमित्रिसहितो विललापाकुलेन्द्रियः॥ १॥

कमल, उत्पल तथा मत्स्योंसे भरी हुई उस पम्पा नामक पुष्करिणीके पास पहुँचकर सीताकी सुधि आ जानेके कारण श्रीरामकी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठीं। वे विलाप करने लगे। उस समय सुमित्राकुमार लक्ष्मण उनके साथ थे॥१॥

तत्र दृष्ट्वैव तां हर्षादिन्द्रियाणि चकम्पिरे।
स कामवशमापन्नः सौमित्रिमिदमब्रवीत्॥ २॥

वहाँ पम्पापर दृष्टि पड़ते ही (कमल-पुष्पोंमें सीताके नेत्र-मुख आदिका किञ्चित् सादृश्य पाकर) हर्षोल्लाससे श्रीरामकी सारी इन्द्रियाँ चञ्चल हो उठीं। उनके मनमें सीताके दर्शनकी प्रबल इच्छा जाग उठी। उस इच्छाके अधीन-से होकर वे सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—॥ २॥

सौमित्रे शोभते पम्पा वैदूर्यविमलोदका।
फुल्लपद्मोत्पलवती शोभिता विविधैर्द्रुमैः॥ ३॥

'सुमित्रानन्दन! यह पम्पा कैसी शोभा पा रही है! इसका जल वैदूर्यमणिके समान स्वच्छ एवं श्याम है। इसमें बहुत-से पद्म और उत्पल खिले हुए हैं। तटपर उत्पन्न हुए नाना प्रकारके वृक्षोंसे इसकी शोभा और भी बढ़ गयी है॥३॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाः काननं शुभदर्शनम्।
यत्र राजन्ति शैला वा द्रुमाः सशिखरा इव॥ ४॥

सुमित्राकुमार! देखो तो सही, पम्पाके किनारेका वन कितना सुन्दर दिखायी दे रहा है। यहाँके ऊँचे-ऊँचे वृक्ष अपनी फैली हुई शाखाओंके कारण अनेक शिखरोंसे युक्त पर्वतोंके समान सुशोभित होते हैं॥ ४॥

मां तु शोकाभिसंतप्तमाधयः पीडयन्ति वै।
भरतस्य च दुःखेन वैदेह्या हरणेन च॥ ५॥

'परंतु मैं इस समय भरतके दुःख और सीताहरणकी चिन्ताके शोकसे संतप्त हो रहा हूँ। मानसिक वेदनाएँ मुझे बहुत कष्ट पहुँचा रही हैं॥ ५॥

शोकार्तस्यापि मे पम्पा शोभते चित्रकानना।
व्यवकीर्णा बहुविधैः पुष्पैः शीतोदका शिवा॥ ६॥

'यद्यपि मैं शोकसे पीड़ित हूँ तो भी मुझे यह पम्पा बड़ी सुहावनी लग रही है। इसके निकटवर्ती वन बड़े विचित्र दिखायी देते हैं। यह नाना प्रकारके फूलोंसे व्याप्त है। इसका जल बहुत शीतल है और यह बहुत सुखदायिनी प्रतीत होती है॥ ६॥

नलिनैरपि संछन्ना ह्यत्यर्थशुभदर्शना।
सर्पव्यालानुचरिता मृगद्विजसमाकुला॥ ७॥

'कमलोंसे यह सारी पुष्करिणी ढकी हुई है। इसलिये बड़ी सुन्दर दिखायी देती है। इसके आस-पास सर्प तथा हिंसक जन्तु विचर रहे हैं। मृग आदि पशु और पक्षी भी सब ओर छा रहे हैं॥ ७॥

अधिकं प्रविभात्येतन्नीलपीतं तु शाद्वलम्।
द्रुमाणां विविधैः पुष्पैः परिस्तोमैरिवार्पितम्॥ ८॥

'नयी-नयी घासोंसे ढका हुआ यह स्थान अपनी नीली-पीली आभाके कारण अधिक शोभा पा रहा है। यहाँ वृक्षोंके नाना प्रकारके पुष्प सब ओर बिखरे हुए हैं। इससे ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ बहुत-से गलीचे बिछा दिये गये हों॥८॥

पुष्पभारसमृद्धानि शिखराणि समन्ततः।
लताभिः पुष्पिताग्राभिरुपगूढानि सर्वतः॥ ९॥

'चारों ओर वृक्षोंके अग्रभाग फूलोंके भारसे लदे होनेके कारण समृद्धिशाली प्रतीत होते हैं। ऊपरसे खिली हुई लताएँ उनमें सब ओरसे लिपटी हुई हैं॥ ९॥

सुखानिलोऽयं सौमित्रे कालः प्रचुरमन्मथः।
गन्धवान् सुरभिर्मासो जातपुष्पफलद्रुमः॥ १०॥

'सुमित्रानन्दन! इस समय मन्द-मन्द सुखदायिनी हवा चल रही है; जिससे कामनाका उद्दीपन हो रहा है (सीताको देखनेकी इच्छा प्रबल हो उठी है) यह चैत्रका महीना है। वृक्षोंमें फूल और फल लग गये हैं और सब ओर मनोहर सुगन्ध छा रही है॥ १०॥

पश्य रूपाणि सौमित्रे वनानां पुष्पशालिनाम्।
सृजतां पुष्पवर्षाणि वर्षं तोयमुचामिव ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण! फूलोंसे सुशोभित होनेवाले इन वनोंके रूप तो देखो। ये उसी तरह फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं जैसे मेघ जलकी वृष्टि करते हैं ॥ ११ ॥

प्रस्तरेषु च रम्येषु विविधाः काननद्रुमाः।
वायुवेगप्रचलिताः पुष्पैरवकिरन्ति गाम् ॥ १२ ॥

'वनके ये विविध वृक्ष वायुके वेगसे झूम-झूमकर रमणीय शिलाओंपर फूल बरसा रहे हैं और यहाँकी भूमिको ढक देते हैं ॥ १२ ॥

पतितैः पतमानैश्च पादपस्थैश्च मारुतः।
कुसुमैः पश्य सौमित्रे क्रीडतीव समन्ततः ॥ १३ ॥

'सुमित्राकुमार! उधर तो देखो, जो वृक्षोंसे झड़ गये हैं, झड़ रहे हैं तथा जो अभी डालियोंमें ही लगे हुए हैं, उन सभी फूलोंके साथ सब ओर वायु खेल-सा कर रही है ॥ १३ ॥

विक्षिपन् विविधाः शाखा नगानां कुसुमोत्कटाः।
मारुतश्चलितस्थानैः षट्पदैरनुगीयते ॥ १४ ॥

'फूलोंसे भरी हुई वृक्षोंकी विभिन्न शाखाओंको झकझोरती हुई वायु जब आगेको बढ़ती है, तब अपने-अपने स्थानसे विचलित हुए भ्रमर मानो उसका यशोगान करते हुए उसके पीछे-पीछे चलने लगते हैं ॥ १४ ॥

मत्तकोकिलसंनादैर्नर्तयन्निव पादपान्।
शैलकंदरनिष्क्रान्तः प्रगीत इव चानिलः ॥ १५ ॥

'पर्वतकी कन्दरासे विशेष ध्वनिके साथ निकली हुई वायु मानो उच्च स्वरसे गीत गा रही है। मतवाले कोकिलोंके कलनाद वाद्यका काम देते हैं और उन वाद्योंकी ध्वनिके साथ वह वायु इन झूमते हुए वृक्षोंको मानो नृत्यकी शिक्षा-सी दे है ॥ १५ ॥

विक्षिपतात्यर्थं पवनेन समन्ततः।
अमी संसक्तशाखाग्रा ग्रथिता इव पादपाः ॥ १६ ॥

'वायुके वेगपूर्वक हिलानेसे जिनकी शाखाओंके अग्रभाग सब ओरसे परस्पर सट गये हैं, वे वृक्ष एक दूसरेसे गुँथे हुएकी भाँति जान पड़ते हैं ॥ १६ ॥

स एव सुखसंस्पर्शो वाति चन्दनशीतलः।
गन्धमभ्यवहन् पुण्यं श्रमापनयनोऽनिलः ॥ १७ ॥

'मलयचन्दनका स्पर्श करके बहनेवाली यह शीतलवायु शरीरसे छू जानेपर कितनी सुखद जान पड़ती है। यह थकावट दूर करती हुई बह रही है और सर्वत्र पवित्र सुगन्ध फैला रही है ॥ १७ ॥

अमी पवनविक्षिप्ता विनदन्तीव पादपाः।
षट्पदैरनुकूजद्भिर्वनेषु मधुगन्धिषु ॥ १८ ॥

'मधुर मकरन्द और सुगन्धसे भरे हुए इन वनोंमें गुनगुनाते हुए भ्रमरोंके व्याजसे ये वायुद्वारा हिलाये गये वृक्ष मानो नृत्यके साथ गान कर रहे हैं ॥ १८ ॥

गिरिप्रस्थेषु रम्येषु पुष्पवद्भिर्मनोरमैः।
संसक्तशिखराः शैला विराजन्ति महाद्रुमैः ॥ १९ ॥

'अपने रमणीय पृष्ठभागोंपर उत्पन्न फूलोंसे सम्पन्न तथा मनको लुभानेवाले विशाल वृक्षोंसे सटे हुए शिखरवाले पर्वत अद्भुत शोभा पा रहे हैं ॥ १९ ॥

पुष्पसंछन्नशिखरा मारुतोत्क्षेपचञ्चलाः।
अमी मधुकरोत्तंसाः प्रगीता इव पादपाः ॥ २० ॥

'जिनकी शाखाओंके अग्रभाग फूलोंसे ढके हैं, जो वायुके झोंकेसे हिल रहे हैं तथा भ्रमरोंको पगड़ीके रूपमें सिरपर धारण किये हुए हैं, वे वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो इन्होंने नाचना-गाना आरम्भ कर दिया है ॥ २० ॥

सुपुष्पितांस्तु पश्यैतान् कर्णिकारान् समन्ततः।
हाटकप्रतिसंछन्नान् नरान् पीताम्बरानिव ॥ २१ ॥

'देखो, सब ओर सुन्दर फूलोंसे भरे हुए ये कनेर सोनेके आभूषणोंसे विभूषित पीताम्बरधारी मनुष्योंके समान शोभा पा रहे हैं ॥ २१ ॥

अयं वसन्तः सौमित्रे नानाविहगनादितः।
सीतया विप्रहीणस्य शोकसंदीपनो मम ॥ २२ ॥

'सुमित्रानन्दन! नाना प्रकारके विहङ्गमोंके कलरवोंसे गूँजता हुआ यह वसन्तका समय सीतासे बिछुड़े हुए मेरे लिये शोकको बढ़ानेवाला हो गया है ॥ २२ ॥

मां हि शोकसमाक्रान्तं संतापयति मन्मथः।
हृष्टं प्रवदमानश्च समाह्वयति कोकिलः ॥ २३ ॥

'वियोगके शोकसे तो मैं पीड़ित हूँ ही, यह कामदेव (सीता-विषयक अनुराग) मुझे और भी संताप दे रहा है। कोकिल बड़े हर्षके साथ कलनाद करता हुआ मानो मुझे ललकार रहा है ॥ २३ ॥

एष दात्यूहको हृष्टो रम्ये मां वननिर्झरे।
प्रणदन्मन्मथाविष्टं शोचयिष्यति लक्ष्मण ॥ २४ ॥

'लक्ष्मण! वनके रमणीय झरनेके निकट बड़े हर्षके साथ बोलता हुआ यह जलकुक्कुट सीतासे मिलनेकी इच्छावाले मुझ रामको शोकमग्न किये देता है ॥ २४ ॥

श्रुत्वैतस्य पुरा शब्दमाश्रमस्था मम प्रिया।
मामाहूय प्रमुदिता परमं प्रत्यनन्दत ॥ २५ ॥

'पहले मेरी प्रिया जब आश्रममें रहती थी, उन दिनों इसका शब्द सुनकर आनन्दमग्न हो जाती थी और मुझे भी निकट बुलाकर अत्यन्त आनन्दित कर देती थी ॥ २५ ॥

एवं विचित्राः पतगा नानारावविराविणः।
वृक्षगुल्मलताः पश्य सम्पतन्ति समन्ततः ॥ २६ ॥

'देखो, इस प्रकार भाँति-भाँतिकी बोली बोलनेवाले विचित्र

पक्षी चारों ओर वृक्षों, झाड़ियों और लताओंकी ओर उड़ रहे हैं ॥ २६ ॥

विमिश्रा विहगाः पुंभिरात्मव्यूहाभिनन्दिताः ।
भृङ्गराजप्रमुदिताः सौमित्रे मधुरस्वराः ॥ २७ ॥

'सुमित्रानन्दन ! देखो, ये पक्षिणियाँ नर पक्षियोंसे संयुक्त हो अपने झुंडमें आनन्दका अनुभव कर रही हैं, भौंरोंका गुंजारव सुनकर प्रसन्न हो रही हैं और स्वयं भी मीठी बोली बोल रही हैं ॥ २७ ॥

अस्याः कूले प्रमुदिताः सङ्घशः शकुनास्त्विह ।
दात्यूहरतिविक्रन्दैः पुंस्कोकिलरुतैरपि ॥ २८ ॥
स्वनन्ति पादपाश्चेमे ममानङ्गप्रदीपकाः ।

'इस पम्पाके तटपर यहाँ झुंड-के-झुंड पक्षी आनन्दमग्न होकर चहक रहे हैं। जलकुक्कुटोंके रतिसम्बन्धी कूजन तथा नर कोकिलोंके कलनादके व्याजसे मानो ये वृक्ष ही मधुर बोली बोलते हैं और मेरी अनङ्गवेदनाको उद्दीप्त कर रहे हैं ॥ २८½ ॥

अशोकस्तबकाङ्गारः षट्पदस्वननिःस्वनः ॥ २९ ॥
मां हि पल्लवताम्रार्चिर्वसन्ताग्निः प्रधक्ष्यति ।

'जान पड़ता है, यह वसन्तरूपी आग मुझे जलाकर भस्म कर देगी। अशोक पुष्पके लाल-लाल गुच्छे ही इस अग्निके अङ्गार हैं, नूतन पल्लव ही इसकी लाल-लाल लपटें हैं तथा भ्रमरोंका गुञ्जारव ही इस जलती आगका 'चट्-चट' शब्द है ॥ २९½ ॥

न हि तां सूक्ष्मपक्ष्माक्षीं सुकेशीं मृदुभाषिणीम् ॥ ३० ॥
अपश्यतो मे सौमित्रे जीवितेऽस्ति प्रयोजनम् ।

'सुमित्रानन्दन ! यदि मैं सूक्ष्म बरौनियों और सुन्दर केशोंवाली मधुरभाषिणी सीताको न देख सका तो मुझे इस जीवनसे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ३०½ ॥

अयं हि रुचिरस्तस्याः कालो रुचिरकाननः ॥ ३१ ॥
कोकिलाकुलसीमान्तो दयिताया ममानघ ।

'निष्पाप लक्ष्मण ! वसन्त ऋतुमें वनकी शोभा बड़ी मनोहर हो जाती है, इसकी सीमामें सब ओर कोयलकी मधुर कूक सुनायी पड़ती है। मेरी प्रिया सीताको यह समय बड़ा ही प्रिय लगता था ॥ ३१½ ॥

मन्मथायाससम्भूतो वसन्तगुणवर्धितः ॥ ३२ ॥
अयं मां धक्ष्यति क्षिप्रं शोकाग्निर्नचिरादिव ।

'अनङ्गवेदनासे उत्पन्न हुई शोकाग्नि वसन्तऋतुके[1] गुणोंका ईंधन पाकर बढ़ गयी है; जान पड़ता है, यह मुझे शीघ्र ही अविलम्ब जला देगी ॥ ३२½ ॥

अपश्यतस्तां वनितां पश्यतो रुचिरान् द्रुमान् ॥ ३३ ॥
ममायमात्मप्रभवो भूयस्त्वमुपयास्यति ।

'अपनी उस प्रियतमा पत्नीको मैं नहीं देख पाता हूँ और इन मनोहर वृक्षोंको देख रहा हूँ; इसलिये मेरा यह अनङ्गज्वर अब और बढ़ जायगा ॥ ३३½ ॥

अदृश्यमाना वैदेही शोकं वर्धयतीह मे ॥ ३४ ॥
दृश्यमानो वसन्तश्च स्वेदसंसर्गदूषकः ।

'विदेहनन्दिनी सीता यहाँ मुझे नहीं दिखायी दे रही है, इसलिये मेरा शोक बढ़ाती है तथा मन्द मलयानिलके द्वारा स्वेदसंसर्गका निवारण करनेवाला यह वसन्त भी मेरे शोककी वृद्धि कर रहा है ॥ ३४½ ॥

मां हि सा मृगशावाक्षी चिन्ताशोकबलात्कृतम् ॥ ३५ ॥
संतापयति सौमित्रे क्रूरश्चैत्रवनानिलः ।

'सुमित्राकुमार ! मृगनयनी सीता चिन्ता और शोकसे बलपूर्वक पीडित किये गये मुझ रामको और भी संताप दे रही है। साथ ही यह वनमें बहनेवाली चैत्रमासकी वायु भी मुझे पीड़ा दे रही है ॥ ३५½ ॥

अमी मयूराः शोभन्ते प्रनृत्यन्तस्ततस्ततः ॥ ३६ ॥
स्वैः पक्षैः पवनोद्धूतैर्गवाक्षैः स्फाटिकैरिव ।

'ये मोर स्फटिकमणिके बने हुए गवाक्षों (झरोखों) के समान प्रतीत होनेवाले अपने फैले हुए पंखोंसे, जो वायुसे कम्पित हो रहे हैं, इधर-उधर नाचते हुए कैसी शोभा पा रहे हैं ! ॥ ३६½ ॥

शिखिनीभिः परिवृतास्त एते मदमूर्च्छिताः ॥ ३७ ॥
मन्मथाभिपरीतस्य मम मन्मथवर्धनाः ।

'मयूरियोंसे घिरे हुए ये मदमत्त मयूर अनङ्गवेदनासे संतप्त हुए मेरी इस कामपीड़ाको और भी बढ़ा रहे हैं ॥ ३७½ ॥

पश्य लक्ष्मण नृत्यन्तं मयूरमुपनृत्यति ॥ ३८ ॥
शिखिनी मन्मथार्तैषा भर्तारं गिरिसानुनि ।

'लक्ष्मण ! वह देखो, पर्वतशिखरपर नाचते हुए अपने स्वामी मयूरके साथ-साथ वह मोरनी भी कामपीड़ित होकर नाच रही है ॥ ३८½ ॥

तामेव मनसा रामां मयूरोऽप्यनुधावति ॥ ३९ ॥
वितत्य रुचिरौ पक्षौ रुतैरुपहसन्निव ।

'मयूर भी अपने दोनों सुन्दर पंखोंको फैलाकर मन-ही-मन अपनी उसी रामा (प्रिया) का अनुसरण कर रहा है तथा अपने मधुर स्वरोंसे मेरा उपहास करता-सा जान पड़ता है ॥ ३९½ ॥

मयूरस्य वने नूनं रक्षसा न हृता प्रिया ॥ ४० ॥
तस्मान्नृत्यति रम्येषु वनेषु सह कान्तया ।

'निश्चय ही वनमें किसी राक्षसने मोरकी प्रियाका अपहरण

---

[1] मन्द-मन्द मलयानिलका चलना, वनके वृक्षोंका नूतन पल्लवों और फूलोंसे सज जाना, कोकिलोंका कूजना, कमलोंका खिल जाना तथा सब ओर मधुर सुगन्धका छा जाना आदि वसन्तके गुण हैं, जो विरहीकी शोकाग्निको उद्दीप्त करते हैं।

नहीं किया है, इसीलिये यह रमणीय वनोंमें अपनी वल्लभाके साथ नृत्य कर रहा है * ॥ ४०½ ॥

मम त्वयं विना वासः पुष्पमासे सुदुःसहः ॥ ४१ ॥
पश्य लक्ष्मण संरागस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
यदेषा शिखिनी कामाद् भर्तारमभिवर्तते ॥ ४२ ॥

'फूलोंसे भरे हुए इस चैत्रमासमें सीताके बिना यहाँ निवास करना मेरे लिये अत्यन्त दुःसह है। लक्ष्मण! देखो तो सही, तिर्यग्योनिमें पड़े हुए प्राणियोंमें भी परस्पर कितना अधिक अनुराग है। इस समय यह मोरनी कामभावसे अपने स्वामीके सामने उपस्थित हुई है ॥ ४१-४२ ॥

ममाप्येवं विशालाक्षी जानकी जातसम्भ्रमा ।
मदनेनाभिवर्तेत यदि नापहृता भवेत् ॥ ४३ ॥

'यदि विशाल नेत्रोंवाली सीताका अपहरण न हुआ होता तो वह भी इसी प्रकार बड़े प्रेमसे वेगपूर्वक मेरे पास आती ॥ ४३ ॥

पश्य लक्ष्मण पुष्पाणि निष्फलानि भवन्ति मे ।
पुष्पभारसमृद्धानां वनानां शिशिरात्यये ॥ ४४ ॥

'लक्ष्मण! इस वसन्त ऋतुमें फूलोंके भारसे सम्पन्न हुए इन वनोंके ये सारे फूल मेरे लिये निष्फल हो रहे हैं। प्रिया सीताके यहाँ न होनेसे इनका मेरे लिये कोई प्रयोजन नहीं रह गया है ॥ ४४ ॥

रुचिराण्यपि पुष्पाणि पादपानामतिश्रिया ।
निष्फलानि महीं यान्ति समं मधुकरोत्करैः ॥ ४५ ॥

'अत्यन्त शोभासे मनोहर प्रतीत होनेवाले ये वृक्षोंके फूल भी निष्फल होकर भ्रमरसमूहोंके साथ ही पृथ्वीपर गिर जाते हैं ॥ ४५ ॥

नदन्ति कामं शकुना मुदिताः सङ्घशः कलम् ।
आह्वयन्त इवान्योन्यं कामोन्मादकरा मम ॥ ४६ ॥

'हर्षमें भरे हुए ये झुंड-के-झुंड पक्षी एक दूसरेको बुलाते हुए-से इच्छानुसार कलरव कर रहे हैं और मेरे मनमें प्रेमोन्माद उत्पन्न किये देते हैं ॥ ४६ ॥

वसन्तो यदि तत्रापि यत्र मे वसति प्रिया ।
नूनं परवशा सीता सापि शोचत्यहं यथा ॥ ४७ ॥

'जहाँ मेरी प्रिया सीता निवास करती है, वहाँ भी यदि इसी तरह वसन्त छा रहा हो तो उसकी क्या दशा होगी? निश्चय ही वहाँ पराधीन हुई सीता मेरी ही तरह शोक कर रही होगी ॥ ४७ ॥

नूनं न तु वसन्तस्तं देशं स्पृशति यत्र सा ।
कथं ह्यसितपद्माक्षी वर्तयेत् सा मया विना ॥ ४८ ॥

'अवश्य ही जहाँ सीता है, उस एकान्त स्थानमें वसन्तका प्रवेश नहीं है तो भी मेरे बिना वह कजरारे नेत्रोंवाली कमलनयनी सीता कैसे जीवित रह सकेगी ॥ ४८ ॥

अथवा वर्तते तत्र वसन्तो यत्र मे प्रिया ।
किं करिष्यति सुश्रोणी सा तु निर्भर्त्सिता परैः ॥ ४९ ॥

'अथवा सम्भव है जहाँ मेरी प्रिया है वहाँ भी इसी तरह वसन्त छा रहा हो, परंतु उसे तो शत्रुओंकी डाँट-फटकार सुननी पड़ती होगी; अतः वह बेचारी सुन्दरी सीता क्या कर सकेगी ॥ ४९ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी मृदुभाषा च मे प्रिया ।
नूनं वसन्तमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥ ५० ॥

'जिसकी अभी नयी-नयी अवस्था है और प्रफुल्ल कमल-दलके समान मनोहर नेत्र हैं, वह मीठी बोली बोलनेवाली मेरी प्राणवल्लभा जानकी निश्चय ही इस वसन्त ऋतुको पाकर अपने प्राण त्याग देगी ॥ ५० ॥

दृढं हि हृदये बुद्धिर्मम सम्परिवर्तते ।
नालं वर्तयितुं सीता साध्वी मद्विरहं गता ॥ ५१ ॥

'मेरे हृदयमें यह विचार दृढ़ होता जा रहा है कि साध्वी सीता मुझसे अलग होकर अधिक कालतक जीवित नहीं रह सकती ॥ ५१ ॥

मयि भावो हि वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः ।
ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः ॥ ५२ ॥

'वास्तवमें विदेहकुमारीका हार्दिक अनुराग मुझमें और मेरा सम्पूर्ण प्रेम सर्वथा विदेहनन्दिनी सीतामें ही प्रतिष्ठित है ॥

एष पुष्पवहो वायुः सुखस्पर्शो हिमावहः ।
तां विचिन्तयतः कान्तां पावकप्रतिमो मम ॥ ५३ ॥

'फूलोंकी सुगन्ध लेकर बहनेवाली यह शीतल वायु, जिसका स्पर्श बहुत ही सुखद है, प्राणवल्लभा सीताकी याद आनेपर मुझे आगकी भाँति तपाने लगती है ॥ ५३ ॥

सदा सुखमहं मन्ये यं पुरा सह सीतया ।
मारुतः स विना सीतां शोकसंजननो मम ॥ ५४ ॥

पहले जानकीके साथ रहनेपर जो मुझे सदा सुखद जान पड़ती थी, वही वायु आज सीताके विरहमें मेरे लिये शोकजनक हो गयी है ॥ ५४ ॥

तां विनाथ विहङ्गोऽसौ पक्षी प्रणदितस्तदा ।
वायसः पादपगतः प्रहृष्टमभिकूजति ॥ ५५ ॥

'जब सीता मेरे साथ थी उन दिनों जो पक्षी कौआ आकाशमें जाकर काँव-काँव करता था, वह उसके भावी वियोगको सूचित करनेवाला था। अब सीताके वियोगकालमें वह कौआ वृक्षपर बैठकर बड़े हर्षके साथ अपनी बोली बोल रहा है (इससे सूचित हो रहा है कि सीताका संयोग शीघ्र ही सुलभ होगा) ॥ ५५ ॥

---

* रामायणशिरोमणिकार इस श्लोकके पूर्वार्धका अर्थ यों लिखते हैं— निश्चय ही इस मोरके निवासभूत वनमें उस राक्षसने मेरी प्रिया सीताका अपहरण नहीं किया; नहीं तो यह भी उसीके शोकमें डूबा रहता।

एष वै तत्र वैदेह्या विहगः प्रतिहारकः ।
पक्षी मां तु विशालाक्ष्याः समीपमुपनेष्यति ॥ ५६ ॥

'यही वह पक्षी है, जो आकाशमें स्थित होकर बोलनेपर वैदेहीके अपहरणका सूचक हुआ; किंतु आज यह जैसी बोली बोल रहा है, उससे जान पड़ता है कि यह मुझे विशाललोचना सीताके समीप ले जायगा ॥ ५६ ॥

पश्य लक्ष्मण संनादं वने मदविवर्धनम् ।
पुष्पिताग्रेषु वृक्षेषु द्विजानामवकूजताम् ॥ ५७ ॥

'लक्ष्मण ! देखो, जिनकी ऊपरी डालियाँ फूलोंसे लदी हैं, वनमें उन वृक्षोंपर कलरव करनेवाले पक्षियोंका यह मधुर शब्द विरहीजनोंके मदनोन्मादको बढ़ानेवाला है ॥ ५७ ॥

विक्षिप्तां पवनेनैतामसौ तिलकमञ्जरीम् ।
षट्पदः सहसाभ्येति मदोद्धूतामिव प्रियाम् ॥ ५८ ॥

'वायुके द्वारा हिलायी जाती हुई उस तिलक वृक्षकी मंजरीपर भ्रमर सहसा जा बैठा है । मानो कोई प्रेमी काम-मदसे कम्पित हुई प्रेयसीसे मिल रहा हो ॥ ५८ ॥

कामिनामयमत्यन्तमशोकः शोकवर्धनः ।
स्तबकैः पवनोत्क्षिप्तैस्तर्जयन्निव मां स्थितः ॥ ५९ ॥

'यह अशोक प्रियाविरही कामी पुरुषोंके लिये अत्यन्त शोक बढ़ानेवाला है । यह वायुके झोंकेसे कम्पित हुए पुष्प-गुच्छोंद्वारा मुझे डाँट बताता हुआ-सा खड़ा है ॥ ५९ ॥

अमी लक्ष्मण दृश्यन्ते चूताः कुसुमशालिनः ।
विभ्रमोत्सिक्तमनसः साङ्गरागा नरा इव ॥ ६० ॥

'लक्ष्मण ! ये मञ्जरियोंसे सुशोभित होनेवाले आमके वृक्ष शृङ्गार-विलाससे मदमत्तहृदय होकर चन्दन आदि अङ्गराग धारण करनेवाले मनुष्योंके समान दिखायी देते हैं ॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाश्चित्रासु वनराजिषु ।
किंनरा नरशार्दूल विचरन्ति यतस्ततः ॥ ६१ ॥

'नरश्रेष्ठ सुमित्राकुमार ! देखो पम्पाकी विचित्र वन-श्रेणियोंमें इधर-उधर किन्नर विचर रहे हैं ॥ ६१ ॥

इमानि शुभगन्धीनि पश्य लक्ष्मण सर्वशः ।
नलिनानि प्रकाशन्ते जले तरुणसूर्यवत् ॥ ६२ ॥

'लक्ष्मण ! देखो, पम्पाके जलमें सब ओर खिले हुए ये सुगन्धित कमल प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ६२ ॥

एषा प्रसन्नसलिला पद्मनीलोत्पलायुता ।
हंसकारण्डवाकीर्णा पम्पा सौगन्धिकायुता ॥ ६३ ॥

'पम्पाका जल बड़ा ही स्वच्छ है । इसमें लाल कमल और नील कमल खिले हुए हैं । हंस और कारण्डव आदि पक्षी सब ओर फैले हुए हैं तथा सौगन्धिक कमल इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ६३ ॥

जले तरुणसूर्याभैः षट्पदाहतकेसरैः ।
पङ्कजैः शोभते पम्पा समन्तादभिसंवृता ॥ ६४ ॥

'जलमें प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होनेवाले कमलोंके द्वारा सब ओरसे घिरी हुई पम्पा बड़ी शोभा पा रही है । उन कमलोंके केसरोंको भ्रमरोंने चूस लिया है ॥ ६४ ॥

चक्रवाकयुता नित्यं चित्रप्रस्थवनान्तरा ।
मातङ्गमृगयूथैश्च शोभते सलिलार्थिभिः ॥ ६५ ॥

'इसमें चक्रवाक सदा निवास करते हैं । यहाँके वनोंमें विचित्र-विचित्र स्थान हैं तथा पानी पीनेके लिये आये हुए हाथियों और मृगोंके समूहोंसे इस पम्पाकी शोभा और भी बढ़ जाती है ॥ ६५ ॥

पवनाहतवेगाभिरूर्मिभिर्विमलेऽम्भसि ।
पङ्कजानि विराजन्ते ताड्यमानानि लक्ष्मण ॥ ६६ ॥

'लक्ष्मण ! वायुके थपेड़ेसे जिनमें वेग पैदा होता है, उन लहरोंसे ताड़ित होनेवाले कमल पम्पाके निर्मल जलमें बड़ी शोभा पाते हैं ॥ ६६ ॥

पद्मपत्रविशालाक्षीं सततं प्रियपङ्कजाम् ।
अपश्यतो मे वैदेहीं जीवितं नाभिरोचते ॥ ६७ ॥

'प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली विदेह-राजकुमारी सीताको कमल सदा ही प्रिय रहे हैं । उसे न देखनेके कारण मुझे जीवित रहना अच्छा नहीं लगता है ॥

अहो कामस्य वामत्वं यो गतामपि दुर्लभाम् ।
स्मारयिष्यति कल्याणीं कल्याणतरवादिनीम् ॥ ६८ ॥

'अहो ! काम कितना कुटिल है, जो अन्यत्र गयी हुई एवं परम दुर्लभ होनेपर भी कल्याणमय वचन बोलनेवाली उस कल्याणस्वरूपा सीताका बारंबार स्मरण दिला रहा है ॥ ६८ ॥

शक्यो धारयितुं कामो भवेदभ्यागतो मया ।
यदि भूयो वसन्तो मां न हन्यात् पुष्पितद्रुमः ॥ ६९ ॥

'यदि खिले हुए वृक्षोंवाला यह वसन्त मुझपर पुनः प्रहार न करे तो प्राप्त हुई कामवेदनाको मैं किसी तरह मनमें ही रोके रह सकता हूँ ॥ ६९ ॥

यानि स्म रमणीयानि तया सह भवन्ति मे ।
तान्येवारमणीयानि जायन्ते मे तया विना ॥ ७० ॥

'सीताके साथ रहनेपर जो-जो वस्तुएँ मुझे रमणीय प्रतीत होती थीं, वे ही आज उसके बिना असुन्दर जान पड़ती हैं ॥

पद्मकोशपलाशानि द्रष्टुं दृष्टिर्हि मन्यते ।
सीताया नेत्रकोशाभ्यां सदृशानीति लक्ष्मण ॥ ७१ ॥

'लक्ष्मण ! ये कमलकोशोंके दल सीताके नेत्रकोशोंके समान हैं । इसलिये मेरी आँखें इन्हें ही देखना चाहती हैं ॥ ७१ ॥

पद्मकेसरसंसृष्टो वृक्षान्तरविनिःसृतः ।
निःश्वास इव सीताया वाति वायुर्मनोहरः ॥ ७२ ॥

नहीं किया है, इसीलिये यह रमणीय वनोंमें अपनी वल्लभाके साथ नृत्य कर रहा है * ॥ ४०½ ॥

मम त्वयं विना वासः पुष्पमासे सुदुःसहः ॥ ४१ ॥
पश्य लक्ष्मण संरागस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
यदेषा शिखिनी कामाद् भर्तारमभिवर्तते ॥ ४२ ॥

'फूलोंसे भरे हुए इस चैत्रमासमें सीताके विना यहाँ निवास करना मेरे लिये अत्यन्त दुःसह है। लक्ष्मण! देखो तो सही, तिर्यग्योनिमें पड़े हुए प्राणियोंमें भी परस्पर कितना अधिक अनुराग है। इस समय यह मोरनी कामभावसे अपने स्वामीके सामने उपस्थित हुई है ॥ ४१-४२ ॥

ममाप्येवं विशालाक्षी जानकी जातसम्भ्रमा ।
मदनेनाभिवर्तेत यदि नापहृता भवेत् ॥ ४३ ॥

'यदि विशाल नेत्रोंवाली सीताका अपहरण न हुआ होता तो वह भी इसी प्रकार बड़े प्रेमसे वेगपूर्वक मेरे पास आती ॥ ४३ ॥

पश्य लक्ष्मण पुष्पाणि निष्फलानि भवन्ति मे ।
पुष्पभारसमृद्धानां वनानां शिशिरात्यये ॥ ४४ ॥

'लक्ष्मण! इस वसन्त ऋतुमें फूलोंके भारसे सम्पन्न हुए इन वनोंके ये सारे फूल मेरे लिये निष्फल हो रहे हैं। प्रिया सीताके यहाँ न होनेसे इनका मेरे लिये कोई प्रयोजन नहीं रह गया है ॥ ४४ ॥

रुचिराण्यपि पुष्पाणि पादपानामतिश्रिया ।
निष्फलानि महीं यान्ति समं मधुकरोत्करैः ॥ ४५ ॥

'अत्यन्त शोभासे मनोहर प्रतीत होनेवाले ये वृक्षोंके फूल भी निष्फल होकर भ्रमरसमूहोंके साथ ही पृथ्वीपर गिर जाते हैं ॥ ४५ ॥

नदन्ति कामं शकुना मुदिताः सङ्घशः कलम् ।
आह्वयन्त इवान्योन्यं कामोन्मादकरा मम ॥ ४६ ॥

'हर्षमें भरे हुए ये झुंड-के-झुंड पक्षी एक दूसरेको बुलाते हुए-से इच्छानुसार कलरव कर रहे हैं और मेरे मनमें प्रेमोन्माद उत्पन्न किये देते हैं ॥ ४६ ॥

वसन्तो यदि तत्रापि यत्र मे वसति प्रिया ।
नूनं परवशा सीता सापि शोचत्यहं यथा ॥ ४७ ॥

'जहाँ मेरी प्रिया सीता निवास करती है, वहाँ भी यदि इसी तरह वसन्त छा रहा हो तो उसकी क्या दशा होगी? निश्चय ही वहाँ पराधीन हुई सीता मेरी ही तरह शोक कर रही होगी ॥ ४७ ॥

नूनं न तु वसन्तस्तं देशं स्पृशति यत्र सा ।
कथं ह्यसितपद्माक्षी वर्तयेत् सा मया विना ॥ ४८ ॥

'अवश्य ही जहाँ सीता है, उस एकान्त स्थानमें वसन्तका प्रवेश नहीं है तो भी मेरे विना वह कजरारे नेत्रोंवाली कमलनयनी सीता कैसे जीवित रह सकेगी ॥४८॥

अथवा वर्तते तत्र वसन्तो यत्र मे प्रिया ।
किं करिष्यति सुश्रोणी सा तु निर्भर्त्सिता परैः ॥ ४९ ॥

'अथवा सम्भव है जहाँ मेरी प्रिया है वहाँ भी इसी तरह वसन्त छा रहा हो, परंतु उसे तो शत्रुओंकी डाँट-फटकार सुननी पड़ती होगी; अतः वह बेचारी सुन्दरी सीता क्या कर सकेगी ॥ ४९ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी मृदुभाषा च मे प्रिया ।
नूनं वसन्तमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥ ५० ॥

'जिसकी अभी नयी-नयी अवस्था है और प्रफुल्ल कमल-दलके समान मनोहर नेत्र हैं, वह मीठी बोली बोलनेवाली मेरी प्राणवल्लभा जानकी निश्चय ही इस वसन्त ऋतुको पाकर अपने प्राण त्याग देगी ॥ ५० ॥

दृढं हि हृदये बुद्धिर्मम सम्परिवर्तते ।
नालं वर्तयितुं सीता साध्वी मद्विरहं गता ॥ ५१ ॥

'मेरे हृदयमें यह विचार दृढ़ होता जा रहा है कि साध्वी सीता मुझसे अलग होकर अधिक कालतक जीवित नहीं रह सकती ॥ ५१ ॥

मयि भावो हि वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः ।
ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः ॥ ५२ ॥

'वास्तवमें विदेहकुमारीका हार्दिक अनुराग मुझमें और मेरा सम्पूर्ण प्रेम सर्वथा विदेहनन्दिनी सीतामें ही प्रतिष्ठित है॥

एष पुष्पवहो वायुः सुखस्पर्शो हिमावहः ।
तां विचिन्तयतः कान्तां पावकप्रतिमो मम ॥ ५३ ॥

'फूलोंकी सुगन्ध लेकर बहनेवाली यह शीतल वायु, जिसका स्पर्श बहुत ही सुखद है, प्राणवल्लभा सीताकी याद आनेपर मुझे आगकी भाँति तपाने लगती है ॥ ५३ ॥

सदा सुखमहं मन्ये यं पुरा सह सीतया ।
मारुतः स विना सीतां शोकसंजननो मम ॥ ५४ ॥

पहले जानकीके साथ रहनेपर जो मुझे सदा सुखद जान पड़ती थी, वही वायु आज सीताके विरहमें मेरे लिये शोकजनक हो गयी है ॥ ५४ ॥

तां विनाथ विहङ्गोऽसौ पक्षी प्रणदितस्तदा ।
वायसः पादपगतः प्रहृष्टमभिकूजति ॥ ५५ ॥

'जब सीता मेरे साथ थी उन दिनों जो पक्षी कौआ आकाशमें जाकर काँव-काँव करता था, वह उसके भावी वियोगको सूचित करनेवाला था। अब सीताके वियोगकालमें वह कौआ वृक्षपर बैठकर बड़े हर्षके साथ अपनी बोली बोल रहा है (इससे सूचित हो रहा है कि सीताका संयोग शीघ्र ही सुलभ होगा) ॥ ५५ ॥

---

* रामायणशिरोमणिकार इस श्लोकके पूर्वार्धका अर्थ यों लिखते हैं—निश्चय ही इस मोरके निवासभूत वनमें उस राक्षसने मेरी प्रिया सीताका अपहरण नहीं किया; नहीं तो यह भी उसीके शोकमें डूबा रहता।

एष वै तत्र वैदेह्या विहगः प्रतिहारकः ।
पक्षी मां तु विशालाक्ष्याः समीपमुपनेष्यति ॥ ५६ ॥

'यही वह पक्षी है, जो आकाशमें स्थित होकर बोलनेपर वैदेहीके अपहरणका सूचक हुआ; किंतु आज यह जैसी बोली बोल रहा है, उससे जान पड़ता है कि यह मुझे विशाललोचना सीताके समीप ले जायगा ॥ ५६ ॥

पश्य लक्ष्मण संनादं वने मदविवर्धनम् ।
पुष्पिताग्रेषु वृक्षेषु द्विजानामवकूजताम् ॥ ५७ ॥

'लक्ष्मण ! देखो, जिनकी ऊपरी डालियाँ फूलोंसे लदी हैं, वनमें उन वृक्षोंपर कलरव करनेवाले पक्षियोंका यह मधुर शब्द विरहीजनोंके मदनोन्मादको बढ़ानेवाला है ॥ ५७ ॥

विक्षिप्तां पवनेनैतामसौ तिलकमञ्जरीम् ।
षट्पदः सहसाभ्येति मदोद्धूतामिव प्रियाम् ॥ ५८ ॥

'वायुके द्वारा हिलायी जाती हुई उस तिलक वृक्षकी मंजरीपर भ्रमर सहसा जा बैठा है । मानो कोई प्रेमी काम-मदसे कम्पित हुई प्रेयसीसे मिल रहा हो ॥ ५८ ॥

कामिनामयमत्यन्तमशोकः शोकवर्धनः ।
स्तबकैः पवनोत्क्षिप्तैस्तर्जयन्निव मां स्थितः ॥ ५९ ॥

'यह अशोक प्रियाविरही कामी पुरुषोंके लिये अत्यन्त शोक बढ़ानेवाला है । यह वायुके झोंकेसे कम्पित हुए पुष्प-गुच्छोंद्वारा मुझे डाँट बताता हुआ-सा खड़ा है ॥ ५९ ॥

अमी लक्ष्मण दृश्यन्ते चूताः कुसुमशालिनः ।
विभ्रमोत्सिक्तमनसः साङ्गरागा नरा इव ॥ ६० ॥

'लक्ष्मण ! ये मञ्जरियोंसे सुशोभित होनेवाले आमके वृक्ष शृङ्गार-विलाससे मदमत्तहृदय होकर चन्दन आदि अङ्गराग धारण करनेवाले मनुष्योंके समान दिखायी देते हैं ॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाश्चित्रासु वनराजिषु ।
किंनरा नरशार्दूल विचरन्ति यतस्ततः ॥ ६१ ॥

'नरश्रेष्ठ सुमित्राकुमार ! देखो पम्पाकी विचित्र वन-श्रेणियोंमें इधर-उधर किंनर विचर रहे हैं ॥ ६१ ॥

इमानि शुभगन्धीनि पश्य लक्ष्मण सर्वशः ।
नलिनानि प्रकाशन्ते जले तरुणसूर्यवत् ॥ ६२ ॥

'लक्ष्मण ! देखो, पम्पाके जलमें सब ओर खिले हुए ये सुगन्धित कमल प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ६२ ॥

एषा प्रसन्नसलिला पद्मनीलोत्पलायुता ।
हंसकारण्डवाकीर्णा पम्पा सौगन्धिकायुता ॥ ६३ ॥

'पम्पाका जल बड़ा ही स्वच्छ है । इसमें लाल कमल और नील कमल खिले हुए हैं । हंस और कारण्डव आदि पक्षी सब ओर फैले हुए हैं तथा सौगन्धिक कमल इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ६३ ॥

जले तरुणसूर्याभैः षट्पदाहतकेसरैः ।
पङ्कजैः शोभते पम्पा समन्तादभिसंवृता ॥ ६४ ॥

'जलमें प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होनेवाले कमलोंके द्वारा सब ओरसे घिरी हुई पम्पा बड़ी शोभा पा रही है । उन कमलोंके केसरोंको भ्रमरोंने चूस लिया है ॥६४॥

चक्रवाकयुता नित्यं चित्रप्रस्थवनान्तरा ।
मातङ्गमृगयूथैश्च शोभते सलिलार्थिभिः ॥ ६५ ॥

'इसमें चक्रवाक सदा निवास करते हैं । यहाँके वनोंमें विचित्र-विचित्र स्थान हैं तथा पानी पीनेके लिये आये हुए हाथियों और मृगोंके समूहोंसे इस पम्पाकी शोभा और भी बढ़ जाती है ॥ ६५ ॥

पवनाहतवेगाभिरूर्मिभिर्विमलेऽम्भसि ।
पङ्कजानि विराजन्ते ताड्यमानानि लक्ष्मण ॥ ६६ ॥

'लक्ष्मण ! वायुके थपेड़ेसे जिनमें वेग पैदा होता है, उन लहरोंसे ताड़ित होनेवाले कमल पम्पाके निर्मल जलमें बड़ी शोभा पाते हैं ॥ ६६ ॥

पद्मपत्रविशालाक्षीं सततं प्रियपङ्कजाम् ।
अपश्यतो मे वैदेहीं जीवितं नाभिरोचते ॥ ६७ ॥

'प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली विदेह-राजकुमारी सीताको कमल सदा ही प्रिय रहे हैं । उसे न देखनेके कारण मुझे जीवित रहना अच्छा नहीं लगता है ॥

अहो कामस्य वामत्वं यो गतामपि दुर्लभाम् ।
स्मारयिष्यति कल्याणीं कल्याणतरवादिनीम् ॥ ६८ ॥

'अहो ! काम कितना कुटिल है; जो अन्यत्र गयी हुई एवं परम दुर्लभ होनेपर भी कल्याणमय वचन बोलनेवाली उस कल्याणस्वरूपा सीताका बारंबार स्मरण दिला रहा है ॥६८॥

शक्यो धारयितुं कामो भवेदभ्यागतो मया ।
यदि भूयो वसन्तो मां न हन्यात् पुष्पितद्रुमः ॥ ६९ ॥

'यदि खिले हुए वृक्षोंवाला यह वसन्त मुझपर पुनः प्रहार न करे तो प्राप्त हुई कामवेदनाको मैं किसी तरह मनमें ही रोके रह सकता हूँ ॥ ६९ ॥

यानि स्म रमणीयानि तया सह भवन्ति मे ।
तान्येवारमणीयानि जायन्ते मे तया विना ॥ ७० ॥

'सीताके साथ रहनेपर जो-जो वस्तुएँ मुझे रमणीय प्रतीत होती थीं, वे ही आज उसके बिना असुन्दर जान पड़ती हैं ॥

पद्मकोशपलाशानि द्रष्टुं दृष्टिर्हि मन्यते ।
सीताया नेत्रकोशाभ्यां सदृशानीति लक्ष्मण ॥ ७१ ॥

'लक्ष्मण ! ये कमलकोशोंके दल सीताके नेत्रकोशोंके समान हैं । इसलिये मेरी आँखें इन्हें ही देखना चाहती हैं ७१

पद्मकेसरसंसृष्टो वृक्षान्तरविनिःसृतः ।
निःश्वास इव सीताया वाति वायुर्मनोहरः ॥ ७२ ॥

'कमलकेसरोंका स्पर्श करके दूसरे वृक्षोंके बीचसे निकली हुई यह सौरभयुक्त मनोहर वायु सीताके निःश्वासकी भाँति चल रही है ॥ ७२ ॥

सौमित्रे पश्य पम्पाया दक्षिणे गिरिसानुषु ।
पुष्पितां कर्णिकारस्य यष्टिं परमशोभिताम् ॥ ७३ ॥

'सुमित्रानन्दन ! वह देखो, पम्पाके दक्षिण भागमें पर्वत-शिखरोंपर खिली हुई कनेरकी डाल कितनी अधिक शोभा पा रही है ॥ ७३ ॥

अधिकं शैलराजोऽयं धातुभिस्तु विभूषितः ।
विचित्रं सृजते रेणुं वायुवेगविघट्टितम् ॥ ७४ ॥

'विभिन्न धातुओंसे विभूषित हुआ यह पर्वतराज ऋष्यमूक वायुके वेगसे लायी हुई विचित्र धूलिकी सृष्टि कर रहा है ॥ ७४ ॥

गिरिप्रस्थास्तु सौमित्रे सर्वतः सम्प्रपुष्पितैः ।
निष्पत्रैः सर्वतो रम्यैः प्रदीप्ता इव किंशुकैः ॥ ७५ ॥

'सुमित्राकुमार ! चारों ओर खिले हुए और सब ओरसे रमणीय प्रतीत होनेवाले पत्रहीन पलाश वृक्षोंसे उपलक्षित इस पर्वतके पृष्ठभाग आगमें जलते हुए-से जान पड़ते हैं॥७५॥

पम्पातीररुहाश्चेमे संसिक्ता मधुगन्धिनः ।
मालतीमल्लिकापद्मकरवीराश्च पुष्पिताः ॥ ७६ ॥

'पम्पाके तटपर उत्पन्न हुए ये वृक्ष इसीके जलसे अभिषिक्त हो बढ़े हैं और मधुर मकरन्द एवं गन्धसे सम्पन्न हुए हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं—मालती, मल्लिका, पद्म और करवीर । ये सब-के-सब फूलोंसे सुशोभित हैं ॥ ७६ ॥

केतक्यः सिन्दुवाराश्च वासन्त्यश्च सुपुष्पिताः ।
माधव्यो गन्धपूर्णाश्च कुन्दगुल्माश्च सर्वशः ॥ ७७ ॥

'केतकी (केवड़े), सिन्दुवार तथा वासन्ती लताएँ भी सुन्दर फूलोंसे भरी हुई हैं ! गन्धभरी माधवी लता तथा कुन्द-कुसुमोंकी झाड़ियाँ सब ओर शोभा पा रही हैं ॥ ७७ ॥

चिरिबिल्वा मधूकाश्च वञ्जुला बकुलास्तथा ।
चम्पकास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः ॥ ७८ ॥

'चिरिबिल्व (चिलबिल), महुआ, बेंत, मौलसिरी, चम्पा, तिलक और नागकेसर भी खिले दिखायी देते हैं ॥७८॥

पद्मकाश्चैव शोभन्ते नीलाशोकाश्च पुष्पिताः ।
लोध्राश्च गिरिपृष्ठेषु सिंहकेसरपिञ्जराः ॥ ७९ ॥

'पर्वतके पृष्ठभागोंपर पद्मक और खिले हुए नील अशोक भी शोभा पाते हैं । वहीं सिंहके अयालकी भाँति पिङ्गल वर्णवाले लोध्र भी सुशोभित हो रहे हैं ॥ ७९ ॥

अङ्कोलाश्च कुरण्टाश्च चूर्णकाः पारिभद्रकाः ।
चूताः पाटलयश्चापि कोविदाराश्च पुष्पिताः ॥ ८० ॥
मुचुकुन्दार्जुनाश्चैव दृश्यन्ते गिरिसानुषु ।

'अङ्कोल, कुरंट, चूर्णक (सेमल), पारिभद्रक (नीम या मदार), आम, पाटलि, कोविदार, मुचुकुन्द (नारङ्ग) और अर्जुन नामक वृक्ष भी पर्वत-शिखरोंपर फूलोंसे लदे दिखायी देते हैं ॥ ८०½ ॥

केतकोद्दालकाश्चैव शिरीषाः शिंशपा धवाः ॥ ८१ ॥
शाल्मल्यः किंशुकाश्चैव रक्ताः कुरवकास्तथा ।
तिनिशा नक्तमालाश्च चन्दनाः स्यन्दनास्तथा ॥ ८२ ॥
हिन्तालास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः ।

'केतक, उद्दालक (लसोड़ा), शिरीष, शीशम, धव, सेमल, पलाश, लाल कुरबक, तिनिश, नक्तमाल, चन्दन, स्यन्दन, हिन्ताल, तिलक तथा नागकेसरके पेड़ भी फूलोंसे भरे दिखायी देते हैं ॥ ८१-८२½ ॥

पुष्पितान् पुष्पिताग्राभिर्लताभिः परिवेष्टितान् ॥ ८३ ॥
द्रुमान् पश्येह सौमित्रे पम्पाया रुचिरान् बहून् ।

'सुमित्रानन्दन ! जिनके अग्रभाग फूलोंसे भरे हुए हैं, उन लता-वल्लरियोंसे लिपटे हुए पम्पाके इन मनोहर और बहुसंख्यक वृक्षोंको तो देखो । वे सब-के-सब यहाँ फूलोंके भारसे लदे हुए हैं ॥ ८३½ ॥

वातविक्षिप्तविटपान् यथासन्नान् द्रुमानिमान् ॥ ८४ ॥
लताः समनुवर्तन्ते मत्ता इव वरस्त्रियः ।

'हवाके झोंके खाकर जिनकी डालें हिल रही हैं, वे ये वृक्ष झुककर इतने निकट आ जाते हैं कि हाथसे इनकी डालियोंका स्पर्श किया जा सके । सलोनी लताएँ मदमत्त सुन्दरियोंकी भाँति इनका अनुसरण करती हैं ॥ ८४½ ॥

पादपात् पादपं गच्छञ्छैलाच्छैलं वनाद् वनम् ॥८५॥
वाति नैकरसास्वादसम्मोदित इवानिलः ।

'एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर, एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर तथा एक वनसे दूसरे वनमें जाती हुई वायु अनेक रसोंके आस्वादनसे आनन्दित-सी होकर बह रही है ॥ ८५½ ॥

केचित् पर्याप्तकुसुमाः पादपा मधुगन्धिनः ॥ ८६ ॥
केचिन्मुकुलसंवीताः श्यामवर्णा इवाबभुः ।

'कुछ वृक्ष प्रचुर पुष्पोंसे भरे हुए हैं और मधु एवं सुगन्धसे सम्पन्न हैं । कुछ मुकुलोंसे आवेष्टित हो श्यामवर्ण-से प्रतीत हो रहे हैं ॥ ८६½ ॥

इदं मृष्टमिदं स्वादु प्रफुल्लमिदमित्यपि ॥ ८७ ॥
रागरक्तो मधुकरः कुसुमेष्वेव लीयते ।

'वह भ्रमर रागसे रँगा हुआ है और 'यह मधुर है, यह स्वादिष्ट है तथा यह अधिक खिला हुआ है' इत्यादि बातें सोचता हुआ फूलोंमें ही लीन हो रहा है ॥ ८७½ ॥

निलीय पुनरुत्पत्य सहसान्यत्र गच्छति ।
मधुलुब्धो मधुकरः पम्पातीरद्रुमेष्वसौ ॥ ८८ ॥

'पुष्पोंमें छिपकर फिर ऊपरको उड़ जाता है और सहसा अन्यत्र चल देता है। इस प्रकार मधुका लोभी भ्रमर पम्पातीरवर्ती वृक्षोंपर विचर रहा है ॥ ८८ ॥

इयं कुसुमसंघातैरुपस्तीर्णा सुखाकृता।
स्वयं निपतितैर्भूमिः शयनप्रस्तरैरिव ॥ ८९ ॥

'स्वयं झड़कर गिरे हुए पुष्पसमूहोंसे आच्छादित हुई यह भूमि ऐसी सुखदायिनी हो गयी है, मानो इसपर शयन करनेके लिये मुलायम बिछौने बिछा दिये गये हों ॥ ८९ ॥

विविधा विविधैः पुष्पैस्तैरेव नगसानुषु।
विस्तीर्णाः पीतरक्ताभाः सौमित्रे प्रस्तराः कृताः ॥९०॥

'सुमित्रानन्दन ! पर्वतके शिखरोंपर जो नाना प्रकारकी विशाल शिलाएँ हैं, उनपर झड़े हुए भाँति-भाँतिके फूलोंने उन्हें लाल-पीले रंगकी शय्याओंके समान बना दिया है ॥९०॥

हिमान्ते पश्य सौमित्रे वृक्षाणां पुष्पसम्भवम्।
पुष्पमासे हि तरवः संघर्षादिव पुष्पिताः ॥ ९१ ॥

'सुमित्राकुमार ! वसन्त ऋतुमें वृक्षोंके फूलोंका यह वैभव तो देखो। इस चैत्र मासमें ये वृक्ष मानो परस्पर होड़ लगाकर फूले हुए हैं ॥ ९१ ॥

आह्वयन्त इवान्योन्यं नगाः षट्पदनादिताः।
कुसुमोत्तंसविटपाः शोभन्ते बहु लक्ष्मण ॥ ९२ ॥

'लक्ष्मण ! वृक्ष अपनी ऊपरी डालियोंपर फूलोंका मुकुट धारण करके बड़ी शोभा पा रहे हैं तथा वे भ्रमरोंके गुञ्जारवसे इस तरह कोलाहलपूर्ण हो रहे हैं, मानो एक दूसरेका आह्वान कर रहे हों ॥ ९२ ॥

एष कारण्डवः पक्षी विगाह्य सलिलं शुभम्।
रमते कान्तया सार्धं काममुद्दीपयन्निव ॥ ९३ ॥

'यह कारण्डव पक्षी पम्पाके स्वच्छ जलमें प्रवेश करके अपनी प्रियतमाके साथ रमण करता हुआ कामका उद्दीपन-सा कर रहा है ॥ ९३ ॥

मन्दाकिन्यास्तु यदिदं रूपमेतन्मनोरमम्।
स्थाने जगति विख्याता गुणास्तस्या मनोरमाः ॥ ९४ ॥

'मन्दाकिनीके समान प्रतीत होनेवाली इस पम्पाका जब ऐसा मनोरम रूप है, तब संसारमें उसके जो मनोरम गुण विख्यात हैं, वे उचित ही हैं ॥ ९४ ॥

यदि दृश्येत सा साध्वी यदि चेह वसेमहि।
स्पृहयेयं न शक्राय नायोध्यायै रघूत्तम ॥ ९५ ॥

'रघुश्रेष्ठ लक्ष्मण ! यदि साध्वी सीता दीख जाय और यदि उसके साथ हम यहाँ निवास करने लगें तो हमें न इन्द्रलोकमें जानेकी इच्छा होगी और न अयोध्यामें लौटनेकी ही ॥ ९५ ॥

न ह्येवं रमणीयेषु शाद्वलेषु तया सह।
रमतो मे भवेच्चिन्ता न स्पृहान्येषु वा भवेत् ॥ ९६ ॥

'हरी-हरी घासोंसे सुशोभित ऐसे रमणीय प्रदेशोंमें सीताके साथ सानन्द विचरनेका अवसर मिले तो मुझे (अयोध्याका राज्य न मिलनेके कारण) कोई चिन्ता नहीं होगी और न दूसरे ही दिव्य भोगोंकी अभिलाषा हो सकेगी ॥ ९६ ॥

अमी हि विविधैः पुष्पैस्तरवो विविधच्छदाः।
काननेऽस्मिन् विना कान्तां चिन्तामुत्पादयन्ति मे ॥९७॥

'इस वनमें भाँति-भाँतिके पल्लवोंसे सुशोभित और नाना प्रकारके फूलोंसे उपलक्षित ये वृक्ष प्राणवल्लभा सीताके बिना मेरे मनमें चिन्ता उत्पन्न कर देते हैं ॥ ९७ ॥

पश्य शीतजलां चेमां सौमित्रे पुष्करायुताम्।
चक्रवाकानुचरितां कारण्डवनिषेविताम् ॥ ९८ ॥
प्लवैः क्रौञ्चैश्च सम्पूर्णां महामृगनिषेविताम्।

'सुमित्राकुमार ! देखो, इस पम्पाका जल कितना शीतल है। इसमें असंख्य कमल खिले हुए हैं। चकवे विचरते हैं और कारण्डव निवास करते हैं। इतना ही नहीं, जलकुक्कुट तथा क्रौञ्च भरे हुए हैं एवं बड़े-बड़े मृग इसका सेवन करते हैं ॥ ९८½ ॥

अधिकं शोभते पम्पा विकूजद्भिर्विहंगमैः ॥ ९९ ॥
दीपयन्तीव मे कामं विविधा मुदिता द्विजाः।
श्यामां चन्द्रमुखीं स्मृत्वा प्रियां पद्मनिभेक्षणाम् ॥१००॥

'चहकते हुए पक्षियोंसे इस पम्पाकी बड़ी शोभा हो रही है। आनन्दमें निमग्न हुए ये नाना प्रकारके पक्षी मेरे सीताविषयक अनुरागको उद्दीप्त कर देते हैं; क्योंकि इनकी बोली सुनकर मुझे नूतन अवस्थावाली कमलनयनी चन्द्रमुखी प्रियतमा सीताका स्मरण हो आता है ॥ ९९-१०० ॥

पश्य सानुषु चित्रेषु मृगीभिः सहितान् मृगान्।
मां पुनर्मृगशावाक्ष्या वैदेह्या विरहीकृतम्।
व्यथयन्तीव मे चित्तं संचरन्तस्ततस्ततः ॥१०१॥

'लक्ष्मण ! देखो, पर्वतके विचित्र शिखरोंपर ये हरिण अपनी हरिणियोंके साथ विचर रहे हैं और मैं मृगनयनी सीतासे बिछुड़ गया हूँ। इधर-उधर विचरते हुए ये मृग मेरे चित्तको व्यथित किये देते हैं ॥ १०१ ॥

अस्मिन् सानुनि रम्ये हि मत्तद्विजगणाकुले।
पश्येयं यदि तां कान्तां ततः स्वस्ति भवेन्मम ॥१०२॥

'मतवाले पक्षियोंसे भरे हुए इस पर्वतके रमणीय शिखरपर यदि प्राणवल्लभा सीताका दर्शन पा सकूँ, तभी मेरा कल्याण होगा ॥ १०२ ॥

जीवेयं खलु सौमित्रे मया सह सुमध्यमा।
सेवेत यदि वैदेही पम्पायाः पवनं शुभम् ॥१०३॥

'सुमित्रानन्दन ! यदि सुमध्यमा सीता मेरे साथ रहकर इस पम्पासरोवरके तटपर सुखद समीरका सेवन कर सके तो मैं निश्चय ही जीवित रह सकता हूँ ॥ १०३ ॥

पद्मसौगन्धिकवहं शिवं शोकविनाशनम्।
धन्या लक्ष्मण सेवन्ते पम्पाया वनमारुतम् ॥१०४॥

'लक्ष्मण ! जो लोग अपनी प्रियतमाके साथ रहकर पद्म और सौगन्धिक कमलोंकी सुगन्ध लेकर बहनेवाली शीतल, मन्द एवं शोकनाशन पम्पा-वनकी वायुका सेवन करते हैं, वे धन्य हैं ॥ १०४ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी प्रिया विरहिता मया ।
कथं धारयति प्राणान् विवशा जनकात्मजा ॥१०५॥

'हाय ! वह नयी अवस्थावाली कमललोचना जनकनन्दिनी प्रिया सीता मुझसे बिछुड़कर बेबसीकी दशामें अपने प्राणोंको कैसे धारण करती होगी ॥ १०५ ॥

किं नु वक्ष्यामि धर्मज्ञं राजानं सत्यवादिनम् ।
जनकं पृष्टसीतं तं कुशलं जनसंसदि ॥१०६॥

'लक्ष्मण ! धर्मके जाननेवाले सत्यवादी राजा जनक जब जनसमुदायमें बैठकर मुझसे सीताका कुशल-समाचार पूछेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ॥ १०६ ॥

या मामनुगता मन्दं पित्रा प्रस्थापितं वनम् ।
सीता धर्मं समास्थाय क्व नु सा वर्तते प्रिया ॥१०७॥

'हाय ! पिताके द्वारा वनमें भेजे जानेपर जो धर्मका आश्रय ले मेरे पीछे-पीछे यहाँ चली आयी, वह मेरी प्रिया इस समय कहाँ है ? ॥ १०७ ॥

तया विहीनः कृपणः कथं लक्ष्मण धारये ।
या मामनुगता राज्याद् भ्रष्टं विहतचेतसम् ॥१०८॥

'लक्ष्मण ! जिसने राज्यसे वञ्चित और हताश हो जानेपर भी मेरा साथ नहीं छोड़ा—मेरा ही अनुसरण किया, उसके बिना अत्यन्त दीन होकर मैं कैसे जीवन धारण करूँगा ? ॥ १०८ ॥

तच्चार्वञ्चितपद्माक्षं सुगन्धि शुभमव्रणम् ।
अपश्यतो मुखं तस्याः सीदतीव मतिर्मम ॥१०९॥

'जो कमलदलके समान सुन्दर, मनोहर एवं प्रशंसनीय नेत्रोंसे सुशोभित है, जिससे मीठी-मीठी सुगन्ध निकलती रहती है, जो निर्मल तथा चेचक आदिके चिह्नसे रहित है, जनककिशोरीके उस दर्शनीय मुखको देखे बिना मेरी सुध-बुध खोयी जा रही है ॥ १०९ ॥

स्मितहास्यान्तरयुतं गुणवन्मधुरं हितम् ।
वैदेह्या वाक्यमतुलं कदा श्रोष्यामि लक्ष्मण ॥११०॥

'लक्ष्मण ! वैदेहीके द्वारा कभी हँसकर और कभी मुस्कराकर कही हुई वे मधुर, हितकर एवं लाभदायक बातें जिनकी कहीं तुलना नहीं है, मुझे अब कब सुननेको मिलेंगी ? ॥ ११० ॥

प्राप्य दुःखं वने श्यामा मां मन्मथविकर्शितम् ।
नष्टदुःखेव हृष्टेव साध्वी साध्वभ्यभाषत ॥१११॥

'सोलह वर्षकी-सी अवस्थावाली साध्वी सीता यद्यपि वनमें कष्ट उठा रही थी, तथापि जब मुझे अनङ्गवेदना या शोक कष्टसे पीड़ित देखती, तब मानो उसका अपना सारा दुःख नष्ट हो गया हो, इस प्रकार प्रसन्न-सी होकर मेरी पीड़ा दूर करनेके लिये अच्छी-अच्छी बातें करने लगती थी ॥ १११ ॥

किं नु वक्ष्याम्ययोध्यायां कौसल्यां हि नृपात्मज ।
क्व सा स्नुषेति पृच्छन्तीं कथं चापि मनस्विनीम् ॥११२॥

'राजकुमार ! अयोध्यामें चलनेपर जब मनस्विनी माता कौसल्या पूछेंगी कि 'मेरी बहूरानी कहाँ है ?' तो मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ? ॥ ११२ ॥

गच्छ लक्ष्मण पश्य त्वं भरतं भ्रातृवत्सलम् ।
न ह्यहं जीवितुं शक्तस्तामृते जनकात्मजाम् ॥११३॥
इति रामं महात्मानं विलपन्तमनाथवत् ।
उवाच लक्ष्मणो भ्राता वचनं युक्तमव्ययम् ॥११४॥

'लक्ष्मण ! तुम जाओ, भ्रातृवत्सल भरतसे मिलो । मैं तो जनकनन्दिनी सीताके बिना जीवित नहीं रह सकता ।' इस प्रकार महात्मा श्रीरामको अनाथकी भाँति विलाप करते देख भाई लक्ष्मणने युक्तियुक्त एवं निर्दोष वाणीमें कहा— ॥ ११३-११४ ॥

संस्तम्भ राम भद्रं ते मा शुचः पुरुषोत्तम ।
नेदृशानां मतिर्मन्दा भवत्यकलुषात्मनाम् ॥११५॥

'पुरुषोत्तम श्रीराम ! आपका भला हो । आप अपनेको सँभालिये । शोक न कीजिये । आप-जैसे पुण्यात्मा पुरुषोंकी बुद्धि उत्साहशून्य नहीं होती ॥ ११५ ॥

स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने ।
अतिस्नेहपरिष्वङ्गाद् वर्तिरार्द्रापि दह्यते ॥११६॥

'स्वजनोंके अवश्यम्भावी वियोगका दुःख सभीको सहना पड़ता है, इस बातको स्मरण करके अपने प्रिय जनोंके प्रति अधिक स्नेह (आसक्ति) को त्याग दीजिये; क्योंकि जल आदिसे भीगी हुई बत्ती भी अधिक स्नेह (तेल) में डुबो दी जानेपर जलने लगती है ॥ ११६ ॥

यदि गच्छति पातालं ततोऽभ्यधिकमेव वा ।
सर्वथा रावणस्तात न भविष्यति राघव ॥११७॥

'तात रघुनन्दन ! यदि रावण पातालमें या उससे भी अधिक दूर चला जाय तो भी वह अब किसी तरह जीवित नहीं रह सकता ॥ ११७ ॥

प्रवृत्तिर्लभ्यतां तावत् तस्य पापस्य रक्षसः ।
ततो हास्यति वा सीतां निधनं वा गमिष्यति ॥११८॥

'पहले उस पापी राक्षसका पता लगाइये । फिर या तो वह सीताको वापस करेगा या अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा ॥ ११८ ॥

यदि याति दितेर्गर्भं रावणः सह सीतया ।
तत्राप्येनं हनिष्यामि न चेद् दास्यति मैथिलीम् ॥११९॥

'रावण यदि सीताको साथ लेकर दितिके गर्भमें जाकर छिप जाय तो भी यदि मिथिलेशकुमारीको लौटा न देगा तो मैं वहाँ भी उसे मार डालूँगा ॥ ११९ ॥

स्वास्थ्यं भद्रं भजस्वार्य त्यज्यतां कृपणा मतिः।
अर्थो हि नष्टकार्यार्थैरयत्नेनाधिगम्यते ॥ १२०॥

'अतः आर्य! आप कल्याणकारी धैर्यको अपनाइये। वह दीनतापूर्ण विचार त्याग दीजिये। जिनका प्रयत्न और धन नष्ट हो गया है, वे पुरुष यदि उत्साहपूर्वक उद्योग न करें तो उन्हें उस अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १२० ॥

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात् परं बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ १२१॥

'भैया! उत्साह ही बलवान् होता है। उत्साहसे बढ़कर दूसरा कोई बल नहीं है। उत्साही पुरुषके लिये संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥ १२१ ॥

उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु।
उत्साहमात्रमाश्रित्य प्रतिलप्स्याम जानकीम् ॥ १२२॥

'जिनके हृदयमें उत्साह होता है वे पुरुष कठिन-से-कठिन कार्य आ पड़नेपर हिम्मत नहीं हारते। हमलोग केवल उत्साहका आश्रय लेकर ही जनकनन्दिनीको प्राप्त कर सकते हैं ॥ १२२ ॥

त्यजतां कामवृत्तत्वं शोकं संन्यस्य पृष्ठतः।
महात्मानं कृतात्मानमात्मानं नावबुध्यसे ॥ १२३॥

'शोकको पीछे छोड़कर कामीके-से व्यवहारका त्याग कीजिये। आप महात्मा एवं कृतात्मा (पवित्र अन्तःकरण-वाले) हैं। किंतु इस समय अपने आपको भूल गये हैं— अपने स्वरूपका स्मरण नहीं कर रहे हैं' ॥ १२३ ॥

एवं सम्बोधितस्तेन शोकोपहतचेतनः।
त्यज्य शोकं च मोहं च रामो धैर्यमुपागमत् ॥ १२४॥

लक्ष्मणके इस प्रकार समझानेपर शोकसे संतप्तचित्त हुए श्रीरामने शोक और मोहका परित्याग करके धैर्य धारण किया ॥ १२४ ॥

सोऽभ्यतिक्रामदव्यग्रस्तामचिन्त्यपराक्रमः।
रामः पम्पां सुरुचिरां रम्यां पारिप्लवद्रुमाम् ॥ १२५॥

तदनन्तर व्यग्रतारहित (शान्तस्वरूप) अचिन्त्य-पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी जिसके तटवर्ती वृक्ष वायुके झोंके खाकर झूम रहे थे, उस परम सुन्दर रमणीय पम्पासरोवर-को लाँघकर आगे बढ़े ॥ १२५ ॥

निरीक्षमाणः सहसा महात्मा
सर्वं वनं निर्झरकन्दरं च।
उद्विग्नचेताः सह लक्ष्मणेन
विचार्य दुःखोपहतः प्रतस्थे ॥ १२६॥

सीताके स्मरणसे जिनका चित्त उद्विग्न हो गया था, अत-एव जो दुःखमें डूबे हुए थे, वे महात्मा श्रीराम लक्ष्मणकी कही हुई बातोंपर विचार करके सहसा सावधान हो गये और झरनों तथा कन्दराओंसहित उस सम्पूर्ण वनको निरीक्षण करते हुए वहाँसे आगेको प्रस्थित हुए ॥ १२६ ॥

तं मत्तमातङ्गविलासगामी
गच्छन्तमव्यग्रमना महात्मा।
स लक्ष्मणो राघवमिष्टचेष्टो
ररक्ष धर्मेण बलेन चैव ॥ १२७॥

मतवाले हाथीके समान विलासपूर्ण गतिसे चलनेवाले शान्तचित्त महात्मा लक्ष्मण आगे-आगे चलते हुए श्रीरघुनाथ-जीकी उनके अनुकूल चेष्टा करते धर्म और बलके द्वारा रक्षा करने लगे ॥ १२७ ॥

तावृष्यमूकस्य समीपचारी
चरन् ददर्शाद्भुतदर्शनीयौ।
शाखामृगाणामधिपस्तरस्वी
वितत्रसे नैव विचेष्ट चेष्टाम् ॥ १२८॥

ऋष्यमूक पर्वतके समीप विचरनेवाले बलवान् वानरराज सुग्रीव पम्पाके निकट घूम रहे थे। उसी समय उन्होंने उन अद्भुत दर्शनीय वीर श्रीराम और लक्ष्मणको देखा। देखते ही उनके मनमें यह भय हो गया कि हो न हो इन्हें मेरे शत्रु वालीने ही भेजा होगा, फिर तो वे इतने डर गये कि खाने-पीने आदिकी भी चेष्टा न कर सके ॥ १२८ ॥

स तौ महात्मा गजमन्दगामी
शाखामृगस्तत्र चरंश्चरन्तौ।
दृष्ट्वा विषादं परमं जगाम
चिन्तापरीतो भयभारभग्नः ॥ १२९॥

हाथीके समान मन्दगतिसे चलनेवाले महामना वानरराज सुग्रीव जो वहाँ विचर रहे थे, उस समय एक साथ आगे बढ़ते हुए उन दोनों भाइयोंको देखकर चिन्तित हो उठे। भयके भारी भारसे उनका उत्साह नष्ट हो गया। वे महान् दुःखमें पड़ गये ॥ १२९ ॥

तमाश्रमं पुण्यसुखं शरण्यं
सदैव शाखामृगसेवितान्तम्।
त्रस्ताश्च दृष्ट्वा हरयोऽभिजग्मु-
र्महौजसौ राघवलक्ष्मणौ तौ ॥ १३०॥

मतङ्ग मुनिका वह आश्रम परम पवित्र एवं सुखदायक था। मुनिके शापसे उसमें वालीका प्रवेश होना कठिन था, इस-लिये वह दूसरे वानरोंका आश्रय बना हुआ था। उस आश्रम या वनके भीतर सदा ही अनेकानेक शाखामृग निवास करते थे। उस दिन उन महातेजस्वी श्रीराम और लक्ष्मणको देखकर दूसरे-दूसरे वानर भी भयभीत हो आश्रमके भीतर चले गये ॥ १३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

सुग्रीव तथा वानरोंकी आशङ्का, हनुमान्‌जीद्वारा उसका निवारण तथा सुग्रीवका हनुमान्‌जीको श्रीराम-लक्ष्मणके पास उनका भेद लेनेके लिये भेजना

तौ तु दृष्ट्वा महात्मानौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
वरायुधधरौ वीरौ सुग्रीवः शङ्कितोऽभवत्॥ १॥

महात्मा श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको श्रेष्ठ आयुध धारण किये वीर वेशमें आते देख (ऋष्यमूक पर्वतपर बैठे हुए) सुग्रीवके मनमें बड़ी शङ्का हुई॥ १॥

उद्विग्नहृदयः सर्वा दिशः समवलोकयन्।
न व्यतिष्ठत कस्मिंश्चिद् देशे वानरपुंगवः॥ २॥

वे उद्विग्नचित्त होकर चारों दिशाओंकी ओर देखने लगे। उस समय वानरशिरोमणि सुग्रीव किसी एक स्थानपर स्थिर न रह सके॥ २॥

नैव चक्रे मनः स्थातुं वीक्षमाणो महाबलौ।
कपेः परमभीतस्य चित्तं व्यवससाद ह॥ ३॥

महाबली श्रीराम और लक्ष्मणको देखते हुए सुग्रीव अपने मनको स्थिर न रख सके। उस समय अत्यन्त भयभीत हुए उन वानरराजका चित्त बहुत दुखी हो गया॥ ३॥

चिन्तयित्वा स धर्मात्मा विमृश्य गुरुलाघवम्।
सुग्रीवः परमोद्विग्नः सर्वैस्तैर्वानरैः सह॥ ४॥

सुग्रीव धर्मात्मा थे—उन्हें राजधर्मका ज्ञान था। उन्होंने मन्त्रियोंके साथ विचारकर अपनी दुर्बलता और शत्रुपक्षकी प्रबलताका निश्चय किया। तत्पश्चात् वे समस्त वानरोंके साथ अत्यन्त उद्विग्न हो उठे॥ ४॥

ततः स सचिवेभ्यस्तु सुग्रीवः प्लवगाधिपः।
शशंस परमोद्विग्नः पश्यंस्तौ रामलक्ष्मणौ॥ ५॥

वानरराज सुग्रीवके हृदयमें बड़ा उद्वेग हो गया था। वे श्रीराम और लक्ष्मणकी ओर देखते हुए अपने मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले—॥ ५॥

एतौ वनमिदं दुर्गं वालिप्रणिहितौ ध्रुवम्।
छद्मना चीरवसनौ प्रचरन्ताविहागतौ॥ ६॥

'निश्चय ही ये दोनों वीर वालीके भेजे हुए ही इस दुर्गम वनमें विचरते हुए यहाँ आये हैं। इन्होंने छलसे चीर वस्त्र धारण कर लिये हैं, जिससे हम इन्हें पहचान न सकें'॥

ततः सुग्रीवसचिवा दृष्ट्वा परमधन्विनौ।
जग्मुर्गिरितटात् तस्मादन्यच्छिखरमुत्तमम्॥ ७॥

उधर सुग्रीवके सहायक दूसरे-दूसरे वानरोंने जब उन महाधनुर्धर श्रीराम और लक्ष्मणको देखा, तब वे उस पर्वत-तटसे भागकर दूसरे उत्तम शिखरपर जा पहुँचे॥ ७॥

ते क्षिप्रमभिगम्याथ यूथपा यूथपर्षभम्।
हरयो वानरश्रेष्ठं परिवार्योपतस्थिरे॥ ८॥

वे यूथपति वानर शीघ्रतापूर्वक जाकर यूथपतियोंके सरदार वानरशिरोमणि सुग्रीवको चारों ओरसे घेरकर उनके पास खड़े हो गये॥ ८॥

एवमेकायनगताः प्लवमाना गिरेर्गिरिम्।
प्रकम्पयन्तो वेगेन गिरीणां शिखराणि च॥ ९॥
ततः शाखामृगाः सर्वे प्लवमाना महाबलाः।
बभञ्जुश्च नगांस्तत्र पुष्पितान् दुर्गमाश्रितान्॥ १०॥

इस तरह एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर उछलते-कूदते और अपने वेगसे उन पर्वत-शिखरोंको प्रकम्पित करते हुए वे समस्त महाबली वानर एक मार्गपर आ गये। उन सबने उछल-कूदकर उस समय वहाँ दुर्गम स्थानोंमें स्थित हुए पुष्पशोभित बहुसंख्यक वृक्षोंको तोड़ डाला था॥ ९-१०॥

आप्लवन्तो हरिवराः सर्वतस्तं महागिरिम्।
मृगमार्जारशार्दूलांस्त्रासयन्तो ययुस्तदा॥ ११॥

उस वेलामें चारों ओरसे उस महान् पर्वतपर उछलकर आते हुए वे श्रेष्ठ वानर वहाँ रहनेवाले मृगों, बिलावों तथा व्याघ्रोंको भयभीत करते हुए जा रहे थे॥ ११॥

ततः सुग्रीवसचिवाः पर्वतेन्द्रं समाहिताः।
संगम्य कपिमुख्येन सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः॥ १२॥

इस प्रकार सुग्रीवके सभी सचिव पर्वतराज ऋष्यमूकपर आ पहुँचे और एकाग्रचित्त हो उन वानरराजसे मिलकर उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये॥ १२॥

ततस्तु भयसंत्रस्तं वालिकिल्बिषशङ्कितम्।
उवाच हनुमान् वाक्यं सुग्रीवं वाक्यकोविदः॥ १३॥

तदनन्तर वालीसे बुराईकी आशङ्का करके सुग्रीवको भयभीत देख बातचीत करनेमें कुशल हनुमान्‌जी बोले—॥ १३॥

सम्भ्रमस्त्यज्यतामेष सर्वैर्वालिकृते महान्।
मलयोऽयं गिरिवरो भयं नेहास्ति वालिनः॥ १४॥

'आप सब लोग वालीके कारण होनेवाली इस भारी घबराहटको छोड़ दीजिये। यह मलयनामक श्रेष्ठ पर्वत है। यहाँ वालीसे कोई भय नहीं है॥ १४॥

यस्मादुद्विग्नचेतास्त्वं विद्रुतो हरिपुङ्गव।
तं क्रूरदर्शनं क्रूरं नेह पश्यामि वालिनम्॥ १५॥

'वानरशिरोमणे! जिससे उद्विग्नचित्त होकर आप भागे हैं, उस क्रूर दिखायी देनेवाले निर्दय वालीको मैं यहाँ नहीं देखता हूँ॥ १५॥

यस्मात् तव भयं सौम्य पूर्वजात् पापकर्मणः।
स नेह वाली दुष्टात्मा न ते पश्याम्यहं भयम्॥ १६॥

'सौम्य! आपको अपने जिस पापाचारी बड़े भाईसे भय प्राप्त हुआ है, वह दुष्टात्मा वाली यहाँ नहीं आ सकता; अतः मुझे आपके भयका कोई कारण नहीं दिखायी देता॥

अहो शाखामृगत्वं ते व्यक्तमेव प्लवङ्गम।
लघुचित्ततयाऽऽत्मानं न स्थापयसि यो मतौ॥ १७॥

'आश्चर्य है कि इस समय आपने अपनी वानरोचित चपलताको ही प्रकट किया है। वानरप्रवर! आपका चित्त चञ्चल है। इसलिये आप अपनेको विचार-मार्गपर स्थिर नहीं रख पाते हैं॥ १७॥

बुद्धिविज्ञानसम्पन्न इङ्गितैः सर्वमाचर।
नह्यबुद्धिं गतो राजा सर्वभूतानि शास्ति हि॥ १८॥

'बुद्धि और विज्ञानसे सम्पन्न होकर आप दूसरोंकी चेष्टाओंके द्वारा उनका मनोभाव समझें और उसीके अनुसार सभी आवश्यक कार्य करें; क्योंकि जो राजा बुद्धि-बलका आश्रय नहीं लेता, वह सम्पूर्ण प्रजापर शासन नहीं कर सकता'॥ १८॥

सुग्रीवस्तु शुभं वाक्यं श्रुत्वा सर्वं हनूमतः।
ततः शुभतरं वाक्यं हनूमन्तमुवाच ह॥ १९॥

हनुमान्‌जीके मुखसे निकले हुए इन सभी श्रेष्ठ वचनोंको सुनकर सुग्रीवने उनसे बहुत ही उत्तम बात कही—॥ १९॥

दीर्घबाहू विशालाक्षौ शरचापासिधारिणौ।
कस्य न स्याद् भयं दृष्ट्वा ह्येतौ सुरसुतोपमौ॥ २०॥

'इन दोनों वीरोंकी भुजाएँ लंबी और नेत्र बड़े-बड़े हैं। ये धनुष, बाण और तलवार धारण किये देवकुमारोंके समान शोभा पा रहे हैं। इन दोनोंको देखकर किसके मनमें भयका संचार न होगा॥ २०॥

वालिप्रणिहितावेव शङ्केऽहं पुरुषोत्तमौ।
राजानो बहुमित्राश्च विश्वासो नात्र हि क्षमः॥ २१॥

'मेरे मनमें संदेह है कि ये दोनों श्रेष्ठ पुरुष वालीके ही भेजे हुए हैं; क्योंकि राजाओंके बहुत-से मित्र होते हैं। अतः उनपर विश्वास करना उचित नहीं है॥ २१॥

अरयश्च मनुष्येण विज्ञेयाश्छन्नचारिणः।
विश्वस्तानामविश्वस्ताश्छिद्रेषु प्रहरन्त्यपि॥ २२॥

'प्राणीमात्रको छद्मवेषमें विचरनेवाले शत्रुओंको विशेषरूपसे पहचाननेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि वे दूसरोंपर अपना विश्वास जमा लेते हैं, परंतु स्वयं किसीका विश्वास नहीं करते और अवसर पाते ही उन विश्वासी पुरुषोंपर ही प्रहार कर बैठते हैं॥ २२॥

कृत्येषु वाली मेधावी राजानो बहुदर्शिनः।
भवन्ति परहन्तारस्ते ज्ञेयाः प्राकृतैर्नरैः॥ २३॥

'वाली इन सब कार्योंमें बड़ा कुशल है। राजालोग बहुदर्शी होते हैं—वञ्चनाके अनेक उपाय जानते हैं, इसीलिये शत्रुओंका विध्वंस कर डालते हैं। ऐसे शत्रुभूत राजाओंको प्राकृत वेशभूषावाले मनुष्यों (गुप्तचरों) द्वारा जाननेका प्रयत्न करना चाहिये॥ २३॥

तौ त्वया प्राकृतेनेव गत्वा ज्ञेयौ प्लवंगम।
इङ्गितानां प्रकारैश्च रूपव्याभाषणेन च॥ २४॥

'अतः कपिश्रेष्ठ! तुम भी एक साधारण पुरुषकी भाँति यहाँसे जाओ और उनकी चेष्टाओंसे, रूपसे तथा बातचीतके तौर-तरीकोंसे उन दोनोंका यथार्थ परिचय प्राप्त करो॥२४॥

लक्षयस्व तयोर्भावं प्रहृष्टमनसौ यदि।
विश्वासयन् प्रशंसाभिरिङ्गितैश्च पुनः पुनः॥ २५॥

'उनके मनोभावोंको समझो। यदि वे प्रसन्नचित्त जान पड़ें तो बारंबार मेरी प्रशंसा करके तथा मेरे अभिप्रायको सूचित करनेवाली चेष्टाओंद्वारा मेरे प्रति उनका विश्वास उत्पन्न करो॥ २५॥

ममैवाभिमुखं स्थित्वा पृच्छ त्वं हरिपुङ्गव।
प्रयोजनं प्रवेशस्य वनस्यास्य धनुर्धरौ॥ २६॥

'वानरशिरोमणे! तुम मेरी ही ओर मुँह करके खड़ा होना और उन धनुर्धर वीरोंसे इस वनमें प्रवेश करनेका कारण पूछना॥ २६॥

शुद्धात्मानौ यदि त्वेतौ जानीहि त्वं प्लवङ्गम।
व्याभाषितैर्वा रूपैर्वा विज्ञेया दुष्टतानयोः॥ २७॥

'यदि उनका हृदय शुद्ध जान पड़े तो भी तरह-तरहकी बातों और आकृतिके द्वारा यह जाननेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये कि वे दोनों कोई दुर्भावना लेकर तो नहीं आये हैं'॥

इत्येवं कपिराजेन संदिष्टो मारुतात्मजः।
चकार गमने बुद्धिं यत्र तौ रामलक्ष्मणौ॥ २८॥

वानरराज सुग्रीवके इस प्रकार आदेश देनेपर पवनकुमार हनुमान्‌जीने उस स्थानपर जानेका विचार किया, जहाँ श्रीराम और लक्ष्मण विद्यमान थे॥ २८॥

तथेति सम्पूज्य वचस्तु तस्य
कपेः सुभीतस्य दुरासदस्य।
महानुभावो हनुमान् ययौ तदा
स यत्र रामोऽतिबली सलक्ष्मणः॥ २९॥

अत्यन्त डरे हुए दुर्जय वानर सुग्रीवके उस वचनका आदर करके 'बहुत अच्छा' कहकर महानुभाव हनुमान्‌जी जहाँ अत्यन्त बलशाली श्रीराम और लक्ष्मण थे, उस स्थानके लिये तत्काल चल दिये॥ २९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वितीयः सर्गः॥ २॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ॥ २॥

तृतीयः सर्गः

हनुमान्‌जीका श्रीराम और लक्ष्मणसे वनमें आनेका कारण पूछना और अपना तथा सुग्रीवका परिचय देना, श्रीरामका उनके वचनोंकी प्रशंसा करके लक्ष्मणको अपनी ओरसे बात करनेकी आज्ञा देना तथा लक्ष्मणद्वारा अपनी प्रार्थना स्वीकृत होनेसे हनुमान्‌जीका प्रसन्न होना

वचो विज्ञाय हनुमान् सुग्रीवस्य महात्मनः।
पर्वतादृष्यमूकात् तु पुप्लुवे यत्र राघवौ॥ १॥

महात्मा सुग्रीवके कथनका तात्पर्य समझकर हनुमान्‌जी ऋष्यमूक पर्वतसे उस स्थानकी ओर उछलते हुए चले, जहाँ वे दोनों रघुवंशी बन्धु विराजमान थे॥ १॥

कपिरूपं परित्यज्य हनुमान् मारुतात्मजः।
भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः॥ २॥

पवनकुमार वानरवीर हनुमान्‌ने यह सोचकर कि मेरे इस कपिरूपपर किसीका विश्वास नहीं जम सकता, अपने उस रूपका परित्याग करके भिक्षु (सामान्य तपस्वी) का रूप धारण कर लिया॥ २॥

ततश्च हनुमान् वाचा श्लक्ष्णया सुमनोज्ञया।
विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च॥ ३॥
आबभाषे च तौ वीरौ यथावत् प्रशशंस च।
सम्पूज्य विधिवद् वीरौ हनुमान् वानरोत्तमः॥ ४॥
उवाच कामतो वाक्यं मृदु सत्यपराक्रमौ।
राजर्षिदेवप्रतिमौ तापसौ संशितव्रतौ॥ ५॥

तदनन्तर हनुमान्‌ने विनीतभावसे उन दोनों रघुवंशी वीरोंके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके मनको अत्यन्त प्रिय लगनेवाली मधुर वाणीमें उनके साथ वार्तालाप आरम्भ किया। वानरशिरोमणि हनुमान्‌ने पहले तो उन दोनों वीरोंकी यथोचित प्रशंसा की। फिर विधिवत् उनका पूजन (आदर) करके स्वच्छन्दरूपसे मधुर वाणीमें कहा—'वीरो! आप दोनों सत्यपराक्रमी, राजर्षियों और देवताओंके समान प्रभावशाली, तपस्वी तथा कठोर व्रतका पालन करनेवाले जान पड़ते हैं॥ ३–५॥

देशं कथमिमं प्राप्तौ भवन्तौ वरवर्णिनौ।
त्रासयन्तौ मृगगणानन्यांश्च वनचारिणः॥ ६॥
पम्पातीररुहान् वृक्षान् वीक्षमाणौ समन्ततः।
इमां नदीं शुभजलां शोभयन्तौ तरस्विनौ॥ ७॥
धैर्यवन्तौ सुवर्णाभौ कौ युवां चीरवाससौ।
निःश्वसन्तौ वरभुजौ पीडयन्ताविमाः प्रजाः॥ ८॥

'आपके शरीरकी कान्ति बड़ी सुन्दर है। आप दोनों इस वन्य प्रदेशमें किसलिये आये हैं। वनमें विचरनेवाले मृगसमूहों तथा अन्य जीवोंको भी त्रास देते पम्पा-सरोवरके तटवर्ती वृक्षोंको सब ओरसे देखते और इस सुन्दर जलवाली नदी-सरीखी पम्पाको सुशोभित करते हुए आप दोनों वेगशाली वीर कौन हैं? आपके अङ्गोंकी कान्ति सुवर्णके समान प्रकाशित होती है। आप दोनों बड़े धैर्यशाली दिखायी देते हैं। आप दोनोंके अङ्गोंपर चीर वस्त्र शोभा पाता है। आप दोनों लंबी साँस खींच रहे हैं। आपकी भुजाएँ विशाल हैं। आप अपने प्रभावसे इस वनके प्राणियोंको पीड़ा दे रहे हैं। बताइये, आपका क्या परिचय है?॥ ६–८॥

सिंहविप्रेक्षितौ वीरौ महाबलपराक्रमौ।
शक्रचापनिभे चापे गृहीत्वा शत्रुनाशनौ॥ ९॥

'आप दोनों वीरोंकी दृष्टि सिंहके समान है। आपके बल और पराक्रम महान् हैं। इन्द्र-धनुषके समान महान् शरासन धारण करके आप शत्रुओंको नष्ट करनेकी शक्ति रखते हैं॥ ९॥

श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ वृषभश्रेष्ठविक्रमौ।
हस्तिहस्तोपमभुजौ द्युतिमन्तौ नरर्षभौ॥ १०॥

'आप कान्तिमान् तथा रूपवान् हैं। आप विशालकाय साँड़के समान मन्दगतिसे चलते हैं। आप दोनोंकी भुजाएँ हाथीकी सूँड़के समान जान पड़ती हैं। आप मनुष्योंमें श्रेष्ठ और परम तेजस्वी हैं॥ १०॥

प्रभया पर्वतेन्द्रोऽसौ युवयोरवभासितः।
राज्यार्हावमरप्रख्यौ कथं देशमिहागतौ॥ ११॥

'आप दोनोंकी प्रभासे गिरिराज ऋष्यमूक जगमगा रहा है। आपलोग देवताओंके समान पराक्रमी और राज्य भोगनेके योग्य हैं। भला, इस दुर्गम वनप्रदेशमें आपका आगमन कैसे सम्भव हुआ?॥ ११॥

पद्मपत्रेक्षणौ वीरौ जटामण्डलधारिणौ।
अन्योन्यसदृशौ वीरौ देवलोकादिहागतौ॥ १२॥

'आपके नेत्र प्रफुल्ल कमल-दलके समान शोभा पाते हैं। आपमें वीरता भरी है। आप दोनों अपने मस्तकपर जटामण्डल धारण करते हैं और दोनों ही एक-दूसरेके समान हैं। वीरो! क्या आप देवलोकसे यहाँ पधारे हैं?॥ १२॥

यदृच्छयेव सम्प्राप्तौ चन्द्रसूर्यौ वसुंधराम्।
विशालवक्षसौ वीरौ मानुषौ देवरूपिणौ॥ १३॥

'आप दोनोंको देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो चन्द्रमा और सूर्य स्वेच्छासे ही इस भूतलपर उतर आये हैं। आपके वक्षःस्थल विशाल हैं। मनुष्य होकर भी आपके रूप देवताओंके तुल्य हैं॥ १३॥

सिंहस्कन्धौ महोत्साहौ समदाविव गोवृषौ ।
आयताश्च सुवृत्ताश्च बाहवः परिघोपमाः ॥ १४ ॥
सर्वभूषणभूषार्हाः किमर्थं न विभूषिताः ।
उभौ योग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम् ॥ १५ ॥
ससागरवनां कृत्स्नां विन्ध्यमेरुविभूषिताम् ।

'आपके कंधे सिंहके समान हैं । आपमें महान् उत्साह भरा हुआ है । आप दोनों मदमत्त साँड़ोंके समान प्रतीत होते हैं । आपकी भुजाएँ विशाल, सुन्दर, गोल-गोल और परिघके समान सुदृढ़ हैं । ये समस्त आभूषणोंको धारण करनेके योग्य हैं तो भी आपने इन्हें विभूषित क्यों नहीं किया है ? मैं तो समझता हूँ कि आप दोनों समुद्रों और वनोंसे युक्त तथा विन्ध्य और मेरु आदि पर्वतोंसे विभूषित इस सारी पृथ्वीकी रक्षा करनेके योग्य हैं ॥ १४-१५½ ॥

इमे च धनुषी चित्रे श्लक्ष्णे चित्रानुलेपने ॥ १६ ॥
प्रकाशेते यथेन्द्रस्य वज्रे हेमविभूषिते ।

'आपके ये दोनों धनुष विचित्र, चिकने तथा अद्भुत अनुलेपनसे चित्रित हैं । इन्हें सुवर्णसे विभूषित किया गया है; अतः ये इन्द्रके वज्रके समान प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १६½ ॥

सम्पूर्णाश्च शितैर्बाणैस्तूणाश्च शुभदर्शनाः ॥ १७ ॥
जीवितान्तकरैर्घोरैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः ।

'प्राणोंका अन्त कर देनेवाले सर्पोंके समान भयंकर तथा प्रकाशमान तीखे बाणोंसे भरे हुए आप दोनोंके तूणीर बड़े सुन्दर दिखायी देते हैं ॥ १७½ ॥

महाप्रमाणौ विपुलौ तप्तहाटकभूषणौ ॥ १८ ॥
खड्गावेतौ विराजेते निर्मुक्तभुजगाविव ।

आपके ये दोनों खड्ग बहुत बड़े और विस्तृत हैं । इन्हें पक्के सोनेसे विभूषित किया गया है । ये दोनों केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान शोभा पाते हैं ॥ १८½ ॥

एवं मां परिभाषन्तं कस्माद् वै नाभिभाषतः ॥ १९ ॥
सुग्रीवो नाम धर्मात्मा कश्चिद् वानरपुङ्गवः ।
वीरो विनिकृतो भ्रात्रा जगद् भ्रमति दुःखितः ॥ २० ॥

'वीरो ! इस तरह मैं बारंबार आपका परिचय पूछ रहा हूँ, आपलोग मुझे उत्तर क्यों नहीं दे रहे हैं ? यहाँ सुग्रीव नामक एक श्रेष्ठ वानर रहते हैं, जो बड़े धर्मात्मा और वीर हैं । उनके भाई वालीने उन्हें घरसे निकाल दिया है; इसलिये वे अत्यन्त दुखी होकर सारे जगत्‌में मारे-मारे फिरते हैं । १९-२० ।

प्राप्तोऽहं प्रेषितस्तेन सुग्रीवेण महात्मना ।
राज्ञा वानरमुख्यानां हनुमान् नाम वानरः ॥ २१ ॥

'उन्हीं वानरशिरोमणियोंके राजा महात्मा सुग्रीवके भेजनेसे मैं यहाँ आया हूँ । मेरा नाम हनुमान् है । मैं भी वानर-जातिका ही हूँ ॥ २१ ॥

युवाभ्यां स हि धर्मात्मा सुग्रीवः सख्यमिच्छति ।
तस्य मां सचिवं वित्तं वानरं पवनात्मजम् ॥ २२ ॥
भिक्षुरूपप्रतिच्छन्नं सुग्रीवप्रियकारणात् ।
ऋष्यमूकादिह प्राप्तं कामगं कामचारिणम् ॥ २३ ॥

'धर्मात्मा सुग्रीव आप दोनोंसे मित्रता करना चाहते हैं । मुझे आपलोग उन्हींका मन्त्री समझें । मैं वायुदेवताका वानर-जातीय पुत्र हूँ । मेरी जहाँ इच्छा हो, जा सकता हूँ और जैसा चाहूँ, रूप धारण कर सकता हूँ । इस समय सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये भिक्षुके रूपमें अपनेको छिपाकर मैं ऋष्यमूक पर्वतसे यहाँपर आया हूँ' ॥ २२-२३ ॥

एवमुक्त्वा तु हनुमांस्तौ वीरौ रामलक्ष्मणौ ।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलः पुनर्नोवाच किंचन ॥ २४ ॥

उन दोनों भाई वीरवर श्रीराम और लक्ष्मणसे ऐसा कहकर बातचीत करनेमें कुशल तथा बातका मर्म समझनेमें निपुण हनुमान् चुप हो गये; फिर कुछ न बोले ॥ २४ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
प्रहृष्टवदनः श्रीमान् भ्रातरं पार्श्वतः स्थितम् ॥ २५ ॥

उनकी यह बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा । वे अपने बगलमें खड़े हुए छोटे भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार कहने लगे—॥ २५ ॥

सचिवोऽयं कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
तमेव काङ्क्षमाणस्य ममान्तिकमिहागतः ॥ २६ ॥

'सुमित्रानन्दन ! ये महामनस्वी वानरराज सुग्रीवके सचिव हैं और उन्हींके हितकी इच्छासे यहाँ मेरे पास आये हैं ॥ २६ ॥

तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिंदमम् ॥ २७ ॥

'लक्ष्मण ! इन शत्रुदमन सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान्‌से, जो बातके मर्मको समझनेवाले हैं, तुम स्नेहपूर्वक मीठी वाणीमें बातचीत करो ॥ २७ ॥

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥ २८ ॥

'जिसे ऋग्वेदकी शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेदका अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेदका विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुन्दर भाषामें वार्तालाप नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम् ॥ २९ ॥

'निश्चय ही इन्होंने समूचे व्याकरणका कई बार स्वाध्याय किया है; क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जानेपर भी इनके मुँहसे कोई अशुद्धि नहीं निकली ॥ २९ ॥

न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥ ३० ॥

'सम्भाषणके समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य सब अङ्गोंसे भी कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं ज्ञात नहीं हुआ ॥ ३० ॥

अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्ययम् ।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥ ३१ ॥

'इन्होंने थोड़ेमें ही बड़ी स्पष्टताके साथ अपना अभिप्राय निवेदन किया है । उसे समझनेमें कहीं कोई संदेह नहीं हुआ है । रुक-रुककर अथवा शब्दों या अक्षरोंको तोड़-मरोड़कर किसी ऐसे वाक्यका उच्चारण नहीं किया है, जो सुननेमें कर्णकटु हो । इनकी वाणी हृदयमें मध्यमारूपसे स्थित है और कण्ठसे वैखरीरूपमें प्रकट होती है, अतः बोलते समय इनकी आवाज न बहुत धीमी रही है न बहुत ऊँची । मध्यम स्वरमें ही इन्होंने सब बातें कही हैं ॥ ३१ ॥

संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम् ॥ ३२ ॥

'ये संस्कार[1] और क्रम[2]से सम्पन्न, अद्भुत, अविलम्बित[3] तथा हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाली कल्याणमयी वाणीका उच्चारण करते हैं ॥ ३२ ॥

अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥ ३३ ॥

'हृदय, कण्ठ और मूर्धा—इन तीनों स्थानोंद्वारा स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त होनेवाली इनकी इस विचित्र वाणीको सुनकर किसका चित्त प्रसन्न न होगा । वध करनेके लिये तलवार उठाये हुए शत्रुका हृदय भी इस अद्भुत वाणीसे बदल सकता है ॥ ३३ ॥

एवंविधो यस्य दूतो न भवेत् पार्थिवस्य तु ।
सिद्ध्यन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ ॥ ३४ ॥

'निष्पाप लक्ष्मण ! जिस राजाके पास इनके समान दूत न हो, उसके कार्योंकी सिद्धि कैसे हो सकती है ॥ ३४ ॥

एवंगुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः ।
तस्य सिद्ध्यन्ति सर्वेऽर्था दूतवाक्यप्रचोदिताः ॥ ३५ ॥

'जिसके कार्यसाधक दूत ऐसे उत्तम गुणोंसे युक्त हों, उस राजाके सभी मनोरथ दूतोंकी बातचीतसे ही सिद्ध हो जाते हैं' ॥ ३५ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिः सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
अभ्यभाषत वाक्यज्ञो वाक्यज्ञं पवनात्मजम् ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर बातचीतकी कला जाननेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण बातका मर्म समझनेवाले पवनकुमार सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान्‌से इस प्रकार बोले—॥ ३६ ॥

विदिता नौ गुणा विद्वन् सुग्रीवस्य महात्मनः ।
तमेव चावां मार्गावः सुग्रीवं प्लवगेश्वरम् ॥ ३७ ॥

'विद्वन् ! महामना सुग्रीवके गुण हमें ज्ञात हो चुके हैं । हम दोनों भाई वानरराज सुग्रीवकी ही खोजमें यहाँ आये हैं ॥ ३७ ॥

यथा ब्रवीषि हनुमन् सुग्रीववचनादिह ।
तत् तथा हि करिष्यावो वचनात् तव सत्तम ॥ ३८ ॥

'साधुशिरोमणि हनुमान्‌जी ! आप सुग्रीवके कथनानुसार यहाँ आकर जो मैत्रीकी बात चला रहे हैं, वह हमें स्वीकार है । हम आपके कहनेसे ऐसा कर सकते हैं' ॥ ३८ ॥

तत् तस्य वाक्यं निपुणं निशम्य
प्रहृष्टरूपः पवनात्मजः कपिः ।
मनः समाधाय जयोपपत्तौ
सख्यं तदा कर्तुमियेष ताभ्याम् ॥ ३९ ॥

लक्ष्मणके यह स्वीकृतिसूचक निपुणतायुक्त वचन सुनकर पवनकुमार कपिवर हनुमान् बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने सुग्रीवकी विजयसिद्धिमें मन लगाकर उस समय उन दोनों भाइयोंके साथ उनकी मित्रता करनेकी इच्छा की ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

लक्ष्मणका हनुमान्‌जीसे श्रीरामके वनमें आने और सीताजीके हरे जानेका वृत्तान्त बताना तथा इस कार्यमें सुग्रीवके सहयोगकी इच्छा प्रकट करना, हनुमान्‌जीका उन्हें आश्वासन देकर उन दोनों भाइयोंको अपने साथ ले जाना

ततः प्रहृष्टो हनुमान् कृत्यवानिति तद्वचः ।
श्रुत्वा मधुरभावं च सुग्रीवं मनसा गतः ॥ १ ॥

श्रीरामजीकी बात सुनकर तथा सुग्रीवके विषयमें उनका सौम्यभाव जानकर और साथ ही यह समझकर कि इन्हें

१. व्याकरणके नियमानुकूल शुद्ध वाणीको संस्कारसम्पन्न (संस्कृत) कहते हैं ।
२. शब्दोच्चारणकी शास्त्रीय परिपाटीका नाम क्रम है ।
३. बिना रुके धाराप्रवाहरूपसे बोलना अविलम्बित कहलाता है ।

भी सुग्रीवसे कोई आवश्यक काम है, हनुमान्‌जीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने मन-ही-मन सुग्रीवका स्मरण किया ॥ १ ॥

भाव्यो राज्यागमस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
यदयं कृत्यवान् प्राप्तः कृत्यं चैतदुपागतम् ॥ २ ॥

'अब अवश्य ही महामना सुग्रीवको राज्यकी प्राप्ति होनेवाली है; क्योंकि ये महानुभाव किसी कार्य या प्रयोजनसे यहाँ आये हैं और यह कार्य सुग्रीवके ही द्वारा सिद्ध होनेवाला है' ॥ २ ॥

ततः परमसंहृष्टो हनूमान् प्लवगोत्तमः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं रामं वाक्यविशारदः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् बातचीतमें कुशल वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी अत्यन्त हर्षमें भरकर श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—॥ ३ ॥

किमर्थं त्वं वनं घोरं पम्पाकाननमण्डितम्।
आगतः सानुजो दुर्गं नानाव्यालमृगायुतम् ॥ ४ ॥

'पम्पा-तटवर्ती काननसे सुशोभित यह वन भयंकर और दुर्गम है। इसमें नाना प्रकारके हिंसक जन्तु निवास करते हैं। आप अपने छोटे भाईके साथ यहाँ किसलिये आये हैं?' ॥४॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणो रामचोदितः।
आचचक्षे महात्मानं रामं दशरथात्मजम् ॥ ५ ॥

हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणने दशरथनन्दन महात्मा श्रीरामका इस प्रकार परिचय देना आरम्भ किया—॥ ५ ॥

राजा दशरथो नाम द्युतिमान् धर्मवत्सलः।
चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन् ॥ ६ ॥

'विद्वन्! इस पृथ्वीपर दशरथ नामसे प्रसिद्ध जो धर्मानुरागी तेजस्वी राजा थे, वे सदा ही अपने धर्मके अनुसार चारों वर्णोंकी प्रजाका पालन करते थे ॥ ६ ॥

न द्वेष्टा विद्यते तस्य स तु द्वेष्टि न कंचन।
स तु सर्वेषु भूतेषु पितामह इवापरः ॥ ७ ॥

'इस भूतलपर उनसे द्वेष रखनेवाला कोई नहीं था और वे भी किसीसे द्वेष नहीं रखते थे। वे समस्त प्राणियोंपर दूसरे ब्रह्माजीके समान स्नेह रखते थे ॥ ७ ॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्टवानाप्तदक्षिणैः।
तस्यायं पूर्वजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ॥ ८ ॥

'उन्होंने पर्याप्त दक्षिणावाले अग्निष्टोम आदि यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। ये उन्हीं महाराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं। लोग इन्हें श्रीराम कहते हैं ॥ ८ ॥

शरण्यः सर्वभूतानां पितुर्निर्देशपारगः।
ज्येष्ठो दशरथस्यायं पुत्राणां गुणवत्तरः ॥ ९ ॥

'ये सब प्राणियोंको शरण देनेवाले और पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं। महाराज दशरथके चारों पुत्रोंमें ये सबसे अधिक गुणवान् हैं ॥ ९ ॥

राजलक्षणसंयुक्तः संयुक्तो राज्यसम्पदा।
राज्याद् भ्रष्टो मया वस्तुं वने सार्धमिहागतः ॥ १० ॥

'ये राजाके उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न हैं। जब इन्हें राज्य-सम्पत्तिसे संयुक्त किया जा रहा था, उस समय कुछ ऐसा कारण आ पड़ा, जिससे ये राज्यसे वञ्चित हो गये और वनमें निवास करनेके लिये मेरे साथ यहाँ आ गये ॥ १० ॥

भार्यया च महाभाग सीतयानुगतो वशी।
दिनक्षये महातेजाः प्रभयेव दिवाकरः ॥ ११ ॥

'महाभाग! जैसे दिनका क्षय होनेपर सायंकाल महातेजस्वी सूर्य अपने प्रभाके साथ अस्ताचलको जाते हैं, उसी प्रकार ये जितेन्द्रिय श्रीरघुनाथजी अपनी पत्नी सीताके साथ वनमें आये थे ॥ ११ ॥

अहमस्यावरो भ्राता गुणैर्दास्यमुपागतः।
कृतज्ञस्य बहुज्ञस्य लक्ष्मणो नाम नामतः ॥ १२ ॥

'मैं इनका छोटा भाई हूँ। मेरा नाम लक्ष्मण है। मैं अपने कृतज्ञ और बहुज्ञ भाईके गुणोंसे आकृष्ट होकर इनका दास हो गया हूँ ॥ १२ ॥

सुखार्हस्य महार्हस्य सर्वभूतहितात्मनः।
ऐश्वर्येण विहीनस्य वनवासे रतस्य च ॥ १३ ॥
रक्षसापहृता भार्या रहिते कामरूपिणा।
तच्च न ज्ञायते रक्षः पत्नी येनास्य वा हृता ॥ १४ ॥

'सम्पूर्ण भूतोंके हितमें मन लगानेवाले, सुख भोगनेके योग्य, महापुरुषोंद्वारा पूजनीय, ऐश्वर्यसे हीन तथा वनवासमें तत्पर मेरे भाईकी पत्नीको इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले एक राक्षसने सूने आश्रमसे हर लिया। जिसने इनकी पत्नीका हरण किया है, वह राक्षस कौन है और कहाँ रहता है? इत्यादि बातोंका ठीक-ठीक पता नहीं लग रहा है ॥ १३-१४ ॥

दनुर्नाम दितेः पुत्रः शापाद् राक्षसतां गतः।
आख्यातस्तेन सुग्रीवः समर्थो वानराधिपः ॥ १५ ॥
स ज्ञास्यति महावीर्यस्तव भार्यापहारिणम्।
एवमुक्त्वा दनुः स्वर्गं भ्राजमानो दिवं गतः ॥ १६ ॥

'दनु नामक एक दैत्य था, जो शापसे राक्षसभावको प्राप्त हुआ था। उसने सुग्रीवका नाम बताया और कहा—'वानरराज सुग्रीव सामर्थ्यशाली और महान् पराक्रमी हैं। वे आपकी पत्नीका अपहरण करनेवाले राक्षसका पता लगा देंगे।' ऐसा कहकर तेजसे प्रकाशित होता हुआ दनु स्वर्गलोकमें पहुँचनेके लिये आकाशमें उड़ गया ॥ १५-१६ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं याथातथ्येन पृच्छतः।
अहं चैव च रामश्च सुग्रीवं शरणं गतौ ॥ १७ ॥

'आपके प्रश्नके अनुसार मैंने सब बातें ठीक-ठीक बता दीं। मैं और श्रीराम दोनों ही सुग्रीवकी शरणमें आये हैं ॥

एष दत्त्वा च वित्तानि प्राप्य चानुत्तमं यशः।
लोकनाथः पुरा भूत्वा सुग्रीवं नाथमिच्छति॥ १८॥

'ये पहले बहुत-से धन-वैभवका दान करके परम उत्तम यश प्राप्त कर चुके हैं। जो पूर्वकालमें सम्पूर्ण जगत्के नाथ (संरक्षक) थे, वे आज सुग्रीवको अपना रक्षक बनाना चाहते हैं॥ १८॥

सीता यस्य स्नुषा चासीच्छरण्यो धर्मवत्सलः।
तस्य पुत्रः शरण्यश्च सुग्रीवं शरणं गतः॥ १९॥

'सीता जिनकी पुत्रवधू है, जो शरणागतपालक और धर्मवत्सल रहे हैं, उन्हीं महाराज दशरथके पुत्र शरणदाता श्रीराम आज सुग्रीवकी शरणमें आये हैं॥ १९॥

सर्वलोकस्य धर्मात्मा शरण्यः शरणं पुरा।
गुरुर्मे राघवः सोऽयं सुग्रीवं शरणं गतः॥ २०॥

'जो मेरे धर्मात्मा बड़े भाई श्रीरघुनाथजी पहले सम्पूर्ण जगत्को शरण देनेवाले तथा शरणागतवत्सल रहे हैं, वे इस समय सुग्रीवकी शरणमें आये हैं॥ २०॥

यस्य प्रसादे सततं प्रसीदेयुरिमाः प्रजाः।
स रामो वानरेन्द्रस्य प्रसादमभिकाङ्क्षते॥ २१॥

'जिनके प्रसन्न होनेपर सदा यह सारी प्रजा प्रसन्नतासे खिल उठती थी, वे ही श्रीराम आज वानरराज सुग्रीवकी प्रसन्नता चाहते हैं॥ २१॥

येन सर्वगुणोपेताः पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः।
मानिताः सततं राज्ञा सदा दशरथेन वै॥ २२॥
तस्यायं पूर्वजः पुत्रस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
सुग्रीवं वानरेन्द्रं तु रामः शरणमागतः॥ २३॥

'जिन राजा दशरथने सदा अपने यहाँ आये हुए भूमण्डलके सर्वसद्गुणसम्पन्न समस्त राजाओंका निरन्तर सम्मान किया, उन्हींके ये त्रिभुवनविख्यात ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम आज वानरराज सुग्रीवकी शरणमें आये हैं॥ २२-२३॥

शोकाभिभूते रामे तु शोकार्ते शरणं गते।
कर्तुमर्हति सुग्रीवः प्रसादं सह यूथपैः॥ २४॥

'श्रीराम शोकसे अभिभूत और आर्त होकर शरणमें आये हैं। यूथपतियोंसहित सुग्रीवको इनपर कृपा करनी चाहिये॥'

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं करुणं साश्रुपातनम्।
हनूमान् प्रत्युवाचेदं वाक्यं वाक्यविशारदः॥ २५॥

नेत्रोंसे आँसू बहाकर करुणाजनक स्वरमें ऐसी बातें कहते हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे कुशल वक्ता हनुमान्जीने इस प्रकार कहा—॥ २५॥

ईदृशा बुद्धिसम्पन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
द्रष्टव्या वानरेन्द्रेण दिष्ट्या दर्शनमागताः॥ २६॥

'राजकुमारो! वानरराज सुग्रीवको आप-जैसे बुद्धिमान्, क्रोधविजयी और जितेन्द्रिय पुरुषोंसे मिलनेकी आवश्यकता थी। सौभाग्यकी बात है कि आपने स्वयं ही दर्शन दे दिया॥

स हि राज्याच्च विभ्रष्टः कृतवैरश्च वालिना।
हृतदारो वने त्रस्तो भ्रात्रा विनिकृतो भृशम्॥ २७॥

'वे भी राज्यसे भ्रष्ट हैं। वालीके साथ उनकी शत्रुता हो गयी है। उनकी स्त्रीका भी वालीने ही अपहरण कर लिया है तथा उस दुष्ट भाईने उन्हें घरसे निकाल दिया है, इसलिये वे अत्यन्त भयभीत होकर वनमें निवास करते हैं॥ २७॥

करिष्यति स साहाय्यं युवयोर्भास्करात्मजः।
सुग्रीवः सह चास्माभिः सीतायाः परिमार्गणे॥ २८॥

'सूर्यनन्दन सुग्रीव सीताका पता लगानेमें हमारे साथ स्वयं रहकर आप दोनोंकी पूर्ण सहायता करेंगे'॥ २८॥

इत्येवमुक्त्वा हनुमाञ्श्लक्ष्णं मधुरया गिरा।
बभाषे साधु गच्छामः सुग्रीवमिति राघवम्॥ २९॥

ऐसा कहकर हनुमान्जीने श्रीरघुनाथजीसे स्निग्ध मधुर वाणीमें कहा—'अच्छा, अब हमलोग सुग्रीवके पास चलें'॥ २९॥

एवं ब्रुवन्तं धर्मात्मा हनूमन्तं स लक्ष्मणः।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं प्रोवाच राघवम्॥ ३०॥

उस समय धर्मात्मा लक्ष्मणने उपर्युक्त बात कहनेवाले हनुमान्जीका यथोचित सम्मान किया और श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—॥ ३०॥

कपिः कथयते हृष्टो यथायं मारुतात्मजः।
कृत्यवान् सोऽपि सम्प्राप्तः कृतकृत्योऽसि राघव॥ ३१॥

'भैया रघुनन्दन! ये वानरश्रेष्ठ पवनकुमार हनुमान् अत्यन्त हर्षसे भरकर जैसी बात कह रहे हैं, उससे जान पड़ता है कि सुग्रीवको भी आपसे कुछ काम है। ऐसी दशामें आप अपना कार्य सिद्ध हुआ ही समझें॥ ३१॥

प्रसन्नमुखवर्णश्च व्यक्तं हृष्टश्च भाषते।
नानृतं वक्ष्यते वीरो हनूमान् मारुतात्मजः॥ ३२॥

'इनके मुखकी कान्ति स्पष्टतः प्रसन्न दिखायी देती है और ये हर्षसे उत्फुल्ल होकर बातचीत करते हैं। अतः मेरा विश्वास है कि पवनपुत्र वीर हनुमान्जी झूठ नहीं बोलेंगे'॥

ततः स सुमहाप्राज्ञो हनूमान् मारुतात्मजः।
जगामादाय तौ वीरौ हरिराजाय राघवौ॥ ३३॥

तदनन्तर परम बुद्धिमान् पवनपुत्र हनुमान्जी उन दोनों रघुवंशी वीरोंको साथ ले सुग्रीवसे मिलनेके लिये चले॥ ३३॥

भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः।
पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुञ्जरः॥ ३४॥

कपिवर हनुमान्ने भिक्षुरूपको त्यागकर वानररूप धारण कर लिया। वे उन दोनों वीरोंको पीठपर बिठाकर वहाँसे चल दिये॥ ३४॥

स तु विपुलयशाः कपिप्रवीरः
पवनसुतः कृतकृत्यवत् प्रहृष्टः ।
गिरिवरमुरुविक्रमः प्रयातः
स शुभमतिः सह रामलक्ष्मणाभ्याम् ॥ ३५ ॥

महान् यशस्वी तथा शुभ विचारवाले महापराक्रमी वे कपिवीर पवनकुमार कृतकृत्य-से होकर अत्यन्त हर्षमें भर गये और श्रीराम-लक्ष्मणके साथ गिरिवर ऋष्यमूकपर जा पहुँचे ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

श्रीराम और सुग्रीवकी मैत्री तथा श्रीरामद्वारा वालिवधकी प्रतिज्ञा

ऋष्यमूकात् तु हनुमान् गत्वा तं मलयं गिरिम् ।
आचचक्षे तदा वीरौ कपिराजाय राघवौ ॥ १ ॥

श्रीराम और लक्ष्मणको ऋष्यमूक पर्वतपर सुग्रीवके वास-स्थानमें बिठाकर हनुमान्‌जी वहाँसे मलयपर्वतपर गये (जो ऋष्यमूकका ही एक शिखर है) और वहाँ वानरराज सुग्रीवको उन दोनों रघुवंशी वीरोंका परिचय देते हुए इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

अयं रामो महाप्राज्ञ सम्प्राप्तो दृढविक्रमः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामोऽयं सत्यविक्रमः ॥ २ ॥

'महाप्राज्ञ ! जिनका पराक्रम अत्यन्त दृढ़ और अमोघ है, वे श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मणके साथ पधारे हैं ॥ २ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातो रामो दशरथात्मजः ।
धर्मे निगदितश्चैव पितुर्निर्देशकारकः ॥ ३ ॥

'इन श्रीरामका आविर्भाव इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है। ये महाराज दशरथके पुत्र हैं और स्वधर्मपालनके लिये संसारमें विख्यात हैं । अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये इस वनमें इनका आगमन हुआ है ॥ ३ ॥

राजसूयाश्वमेधैश्च वह्निर्येनाभितर्पितः ।
दक्षिणाश्च तथोत्सृष्टा गावः शतसहस्रशः ॥ ४ ॥
तपसा सत्यवाक्येन वसुधा येन पालिता ।
स्त्रीहेतोस्तस्य पुत्रोऽयं रामोऽरण्यं समागतः ॥ ५ ॥

'जिन्होंने राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करके अग्निदेवको तृप्त किया था, ब्राह्मणोंको बहुत-सी दक्षिणाएँ बाँटी थीं और लाखों गौएँ दानमें दी थीं । जिन्होंने सत्य-भाषणपूर्वक तपके द्वारा वसुधाका पालन किया था, उन्हीं महाराज दशरथके पुत्र ये श्रीराम पिताद्वारा अपनी पत्नी कैकेयीके लिये दिये हुए वरका पालन करनेके निमित्त इस वनमें आये हैं ॥ ४-५ ॥

तस्यास्य वसतोऽरण्ये नियतस्य महात्मनः ।
रावणेन हृता भार्या स त्वां शरणमागतः ॥ ६ ॥

'महात्मा श्रीराम मुनियोंकी भाँति नियमका पालन करते हुए दण्डकारण्यमें निवास करते थे । एक दिन रावणने आकर सूने आश्रमसे इनकी पत्नी सीताका अपहरण कर लिया । उन्हींकी खोजमें आपसे सहायता लेनेके लिये ये आपकी शरणमें आये हैं ॥ ६ ॥

भवता सख्यकामौ तौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
प्रगृह्य चार्चयस्वैतौ पूजनीयतमावुभौ ॥ ७ ॥

'ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण आपसे मित्रता करना चाहते हैं । आप चलकर इन्हें अपनावें और इनका यथोचित सत्कार करें; क्योंकि ये दोनों ही वीर हमलोगोंके लिये परम पूजनीय हैं' ॥ ७ ॥

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं सुग्रीवो वानराधिपः ।
दर्शनीयतमो भूत्वा प्रीत्योवाच च राघवम् ॥ ८ ॥

हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर वानरराज सुग्रीव स्वेच्छा-से अत्यन्त दर्शनीय रूप धारण करके श्रीरघुनाथजीके पास आये और बड़े प्रेमसे बोले—॥ ८ ॥

भवान् धर्मविनीतश्च सुतपाः सर्ववत्सलः ।
आख्याता वायुपुत्रेण तत्त्वतो मे भवद्गुणाः ॥ ९ ॥

'प्रभो ! आप धर्मके विषयमें भलीभाँति सुशिक्षित, परम तपस्वी और सबपर दया करनेवाले हैं । पवनकुमार हनुमान्‌जीने मुझसे आपके यथार्थ गुणोंका वर्णन किया है ॥ ९ ॥

तन्ममैवैष सत्कारो लाभश्चैवोत्तमः प्रभो ।
यत्त्वमिच्छसि सौहार्दं वानरेण मया सह ॥ १० ॥

'भगवन् ! मैं वानर हूँ और आप नर। मेरे साथ जो आप मैत्री करना चाहते हैं, इसमें मेरा ही सत्कार है और मुझे ही उत्तम लाभ प्राप्त हो रहा है ॥ १० ॥

रोचते यदि मे सख्यं बाहुरेष प्रसारितः ।
गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा ॥ ११ ॥

'यदि मेरी मैत्री आपको पसंद हो तो मेरा यह हाथ फैला हुआ है । आप इसे अपने हाथमें ले लें और परस्पर मैत्रीका अटूट सम्बन्ध बना रहे—इसके लिये स्थिर मर्यादा बाँध दें' ॥ ११ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य सुभाषितम् ।

हैं। इनमें कंक पक्षीके परोंके पंख लगे हुए हैं, जिनसे ये आच्छादित हैं। इनके अग्रभाग बड़े तीखे हैं और गाँठें भी सीधी हैं। ये रोषमें भरे हुए सर्पोंके समान छूटते हैं और इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर चोट करते हैं। उस दुराचारी वालीपर मेरे ये बाण अवश्य गिरेंगे ॥ २६-२७½ ॥

तमद्य वालिनं पश्य तीक्ष्णैराशीविषोपमैः ॥ २८ ॥
शरैर्विनिहतं भूमौ प्रकीर्णमिव पर्वतम्।

'आज देखना, मैं अपने विषधर सर्पोंके समान तीखे बाणोंसे मारकर वालीको पृथ्वीपर गिरा दूँगा। वह इन्द्रके वज्रसे टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतके समान दिखायी देगा' ॥ २८½ ॥

स तु तद् वचनं श्रुत्वा राघवस्यात्मनो हितम्।
सुग्रीवः परमप्रीतः परमं वाक्यमब्रवीत् ॥ २९ ॥

अपने लिये परम हितकर वह श्रीरघुनाथजीका वचन सुनकर सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उत्तम वाणीमें बोले— ॥ २९ ॥

तव प्रसादेन नृसिंह वीर
प्रियां च राज्यं च समाप्नुयामहम्।
तथा कुरु त्वं नरदेव वैरिणं
यथा न हिंस्यात् स पुनर्ममाग्रजम् ॥ ३० ॥

'वीर! पुरुषसिंह! मैं आपकी कृपासे अपनी प्यारी पत्नी तथा राज्यको प्राप्त कर सकूँ, ऐसा यत्न कीजिये। नरदेव! मेरा बड़ा भाई वैरी हो गया है। आप उसकी ऐसी अवस्था कर दें जिससे वह फिर मुझे मार न सके' ॥ ३० ॥

सीताकपीन्द्रक्षणदाचराणां
राजीवहेमज्वलनोपमानि।
सुग्रीवरामप्रणयप्रसङ्गे
वामानि नेत्राणि समं स्फुरन्ति ॥ ३१ ॥

सुग्रीव और श्रीरामकी इस प्रेमपूर्ण मैत्रीके प्रसङ्गमें सीता-के प्रफुल्ल कमल-जैसे, कपिराज सुग्रीवके सुवर्ण-जैसे तथा निशाचरोंके प्रज्वलित अग्नि-जैसे बायें नेत्र एक साथ ही फड़कने लगे ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामको सीताजीके आभूषण दिखाना तथा श्रीरामका शोक एवं रोषपूर्ण वचन

पुनरेवाब्रवीत् प्रीतो राघवं रघुनन्दनम्।
अयमाख्याति ते राम सचिवो मन्त्रिसत्तमः ॥ १ ॥
हनुमान् यन्निमित्तं त्वं निर्जनं वनमागतः।

सुग्रीवने पुनः प्रसन्नतापूर्वक रघुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'श्रीराम! मेरे मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ सचिव ये हनुमान्‌जी आपके विषयमें वह सारा वृत्तान्त बता चुके हैं, जिसके कारण आपको इस निर्जन वनमें आना पड़ा है ॥ १½ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वसतश्च वने तव ॥ २ ॥
रक्षसापहृता भार्या मैथिली जनकात्मजा।
त्वया वियुक्ता रुदती लक्ष्मणेन च धीमता ॥ ३ ॥
अन्तरं प्रेप्सुना तेन हत्वा गृध्रं जटायुषम्।
भार्यावियोगजं दुःखं प्रापितस्तेन रक्षसा ॥ ४ ॥

अपने भाई लक्ष्मणके साथ जब आप वनमें निवास करते थे, उस समय राक्षस रावणने आपकी पत्नी मिथिलेश-कुमारी जनकनन्दिनी सीताको हर लिया। उस वेलामें आप उनसे अलग थे और बुद्धिमान् लक्ष्मण भी उन्हें अकेली छोड़कर चले गये थे। राक्षस इसी अवसरकी प्रतीक्षामें था। उसने गीध जटायुका वध करके रोती हुई सीताका अपहरण किया है। इस प्रकार उस राक्षसने आपको पत्नी-वियोगके कष्टमें डाल दिया है ॥ २—४ ॥

भार्यावियोगजं दुःखं नचिरात् त्वं विमोक्ष्यसे।
अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव ॥ ५ ॥

'परंतु इस पत्नी-वियोगके दुःखसे आप शीघ्र ही मुक्त हो जायँगे। मैं राक्षसद्वारा हरी गयी वेदवाणीके समान आपकी पत्नीको वापस ला दूँगा ॥ ५ ॥

रसातले वा वर्तन्तीं वर्तन्तीं वा नभस्तले।
अहमानीय दास्यामि तव भार्यामरिंदम ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन श्रीराम! आपकी भार्या सीता पातालमें हों या आकाशमें, मैं उन्हें ढूँढ़ लाकर आपकी सेवामें समर्पित कर दूँगा ॥ ६ ॥

इदं तथ्यं मम वचस्त्वमवेहि च राघव।
न शक्या सा जरयितुमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः ॥ ७ ॥
तव भार्या महाबाहो भक्ष्यं विषकृतं यथा।
त्यज शोकं महाबाहो तां कान्तामानयामि ते ॥ ८ ॥

'रघुनन्दन! आप मेरी इस बातको सत्य मानें। महाबाहो! आपकी पत्नी जहर मिलाये हुए भोजनकी भाँति दूसरोंके लिये अग्राह्य है। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी उन्हें पचा नहीं सकते। आप शोक त्याग दीजिये। मैं आपकी प्राणवल्लभाको अवश्य ला दूँगा ॥ ७-८ ॥

अनुमानात् तु जानामि मैथिली सा न संशयः ।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रक्षसा रौद्रकर्मणा ॥ ९ ॥
क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम् ।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के पन्नगेन्द्रवधूर्यथा ॥ १० ॥

'एक दिन मैंने देखा, भयंकर कर्म करनेवाला कोई राक्षस किसी स्त्रीको लिये जा रहा है। मैं अनुमानसे समझता हूँ, वे मिथिलेशकुमारी सीता ही रही होंगी, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि वे टूटे हुए स्वरमें 'हा राम! हा राम! हा लक्ष्मण!' पुकारती हुई रो रही थीं तथा रावणकी गोदमें नागराजकी वधू (नागिन) की भाँति छटपटाती हुई प्रकाशित हो रही थीं ॥ ९-१० ॥

आत्मना पञ्चमं मां हि दृष्ट्वा शैलतले स्थितम् ।
उत्तरीयं तया त्यक्तं शुभान्याभरणानि च ॥ ११ ॥

'चार मन्त्रियोंसहित पाँचवाँ मैं इस शैल-शिखरपर बैठा हुआ था। मुझे देखकर देवी सीताने अपनी चादर और कई सुन्दर आभूषण ऊपरसे गिराये ॥ ११ ॥

तान्यस्माभिर्गृहीतानि निहितानि च राघव ।
आनयिष्याम्यहं तानि प्रत्यभिज्ञातुमर्हसि ॥ १२ ॥

'रघुनन्दन! वे सब वस्तुएँ हमलोगोंने लेकर रख ली हैं। मैं अभी उन्हें लाता हूँ, आप उन्हें पहचान सकते हैं' ॥

तमब्रवीत् ततो रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम् ।
आनयस्व सखे शीघ्रं किमर्थं प्रविलम्बसे ॥ १३ ॥

तब श्रीरामने यह प्रिय संवाद सुनानेवाले सुग्रीवसे कहा—'सखे! शीघ्र ले आओ, क्यों विलम्ब करते हो?'॥१३॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः शैलस्य गहनां गुहाम् ।
प्रविवेश ततः शीघ्रं राघवप्रियकाम्यया ॥ १४ ॥
उत्तरीयं गृहीत्वा तु स तान्याभरणानि च ।
इदं पश्येति रामाय दर्शयामास वानरः ॥ १५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर सुग्रीव शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेकी इच्छासे पर्वतकी एक गहन गुफामें गये और चादर तथा वे आभूषण लेकर निकल आये। बाहर आकर वानरराजने 'लीजिये, यह देखिये' ऐसा कहकर श्रीरामको वे सारे आभूषण दिखाये ॥ १४-१५ ॥

ततो गृहीत्वा वासस्तु शुभान्याभरणानि च ।
अभवद् बाष्पसंरुद्धो नीहारेणेव चन्द्रमाः ॥ १६ ॥

उन वस्त्र और सुन्दर आभूषणोंको लेकर श्रीरामचन्द्रजी कुहासेसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति आँसुओंसे अवरुद्ध हो गये ॥ १६ ॥

सीतास्नेहप्रवृत्तेन स तु बाष्पेण दूषितः ।
हा प्रियेति रुदन् धैर्यमुत्सृज्य न्यपतत् क्षितौ ॥ १७ ॥

सीताके स्नेहवश बहते हुए आँसुओंसे उनका मुख और वक्षःस्थल भीगने लगे। वे 'हा प्रिये!' ऐसा कहकर रोने लगे और धैर्य छोड़कर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १७ ॥

हृदि कृत्वा स बहुशस्तमलंकारमुत्तमम् ।
निशश्वास भृशं सर्पो बिलस्थ इव रोषितः ॥ १८ ॥

उन उत्तम आभूषणोंको बारंबार हृदयसे लगाकर वे बिलमें बैठे हुए रोषमें भरे सर्पकी भाँति जोर-जोरसे साँस लेने लगे ॥ १८ ॥

अविच्छिन्नाश्रुवेगस्तु सौमित्रिं प्रेक्ष्य पार्श्वतः ।
परिदेवयितुं दीनं रामः समुपचक्रमे ॥ १९ ॥

उनके आँसुओंका वेग रुकता ही नहीं था। अपने पास खड़े हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणकी ओर देखकर श्रीराम दीनभावसे विलाप करते हुए बोले—॥ १९ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्या संत्यक्तं ह्रियमाणया ।
उत्तरीयमिदं भूमौ शरीराद् भूषणानि च ॥ २० ॥

'लक्ष्मण! देखो, राक्षसके द्वारा हरी जाती हुई विदेहनन्दिनी सीताने यह चादर और ये गहने अपने शरीरसे उतारकर पृथ्वीपर डाल दिये थे ॥ २० ॥

शाद्वलिन्यां ध्रुवं भूम्यां सीतया ह्रियमाणया ।
उत्सृष्टं भूषणमिदं तथा रूपं हि दृश्यते ॥ २१ ॥

'निशाचरके द्वारा अपहृत होती हुई सीताके द्वारा त्यागे गये ये आभूषण निश्चय ही घासवाली भूमिपर गिरे होंगे; क्योंकि इनका रूप ज्यों-का-त्यों दिखायी देता है—ये टूटे-फूटे नहीं हैं' ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ॥ २२ ॥
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ।

श्रीरामके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण बोले—भैया! मैं इन बाजूबंदोंको तो नहीं जानता और न इन कुण्डलोंको ही समझ पाता हूँ कि किसके हैं परंतु प्रतिदिन भाभीके चरणोंमें प्रणाम करनेके कारण मैं इन दोनों नूपुरोंको अवश्य पहचानता हूँ'॥

ततस्तु राघवो वाक्यं सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥
ब्रूहि सुग्रीव कं देशं ह्रियन्ती लक्षिता त्वया ।
रक्षसा रौद्ररूपेण मम प्राणप्रिया हृता ॥ २४ ॥

तब श्रीरघुनाथजी सुग्रीवसे इस प्रकार बोले—'सुग्रीव! तुमने तो देखा है, वह भयंकर रूपधारी राक्षस मेरी प्राणप्यारी सीताको किस दिशाकी ओर ले गया है, यह बताओ ॥ २३-२४ ॥

क्व वा वसति तद् रक्षो महद् व्यसनदं मम ।
यन्निमित्तमहं सर्वान् नाशयिष्यामि राक्षसान् ॥ २५ ॥

'मुझे महान् संकट देनेवाला वह राक्षस कहाँ रहता है? मैं केवल उसीके अपराधके कारण समस्त राक्षसोंका विनाश कर डालूँगा ॥ २५ ॥

हरता मैथिलीं येन मां च रोषयता ध्रुवम्।
आत्मनो जीवितान्ताय मृत्युद्वारमपावृतम् ॥ २६ ॥

'उस राक्षसने मैथिलीका अपहरण करके मेरा रोष बढ़ाकर निश्चय ही अपने जीवनका अन्त करनेके लिये मौतका दरवाजा खोल दिया है ॥ २६ ॥

मम दयिततमा हृता वनाद्
रजनिचरेण विमथ्य येन सा।
कथय मम रिपुं तमद्य वै
प्लवगपते यमसंनिधिं नयामि ॥ २७ ॥

'वानरराज! जिस निशाचरने मुझे धोखेमें डालकर मेरा अपमान करके मेरी प्रियतमाका वनसे अपहरण किया है, वह मेरा घोर शत्रु है। तुम उसका पता बताओ। मैं अभी उसे यमराजके पास पहुँचाता हूँ' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामको समझाना तथा श्रीरामका सुग्रीवको उनकी कार्यसिद्धिका विश्वास दिलाना

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामेणार्तेन वानरः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं सबाष्पं बाष्पगद्गदः ॥ १ ॥

श्रीरामने शोकसे पीड़ित होकर जब ऐसी बातें कहीं, तब वानरराज सुग्रीवकी आँखोंमें आँसू भर आये और वे हाथ जोड़कर अश्रुगद्गद कण्ठसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

न जाने निलयं तस्य सर्वथा पापरक्षसः।
सामर्थ्यं विक्रमं वापि दौष्कुलेयस्य वा कुलम् ॥ २ ॥

प्रभो! नीच कुलमें उत्पन्न हुए उस पापात्मा राक्षसका गुप्त निवासस्थान कहाँ है, उसमें कितनी शक्ति है, उसका पराक्रम कैसा है अथवा वह किस वंशका है—इन सब बातोंको मैं सर्वथा नहीं जानता ॥ २ ॥

सत्यं तु प्रतिजानामि त्यज शोकमरिंदम।
करिष्यामि तथा यत्नं यथा प्राप्स्यसि मैथिलीम् ॥ ३ ॥

'परंतु आपके सामने सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं ऐसा यत्न करूँगा, जिससे मिथिलेशकुमारी सीता आपको मिल जायँ, इसलिये शत्रुदमन वीर! आप शोकका त्याग करें ॥ ३ ॥

रावणं सगणं हत्वा परितोष्यात्मपौरुषम्।
तथास्मि कर्ता नचिराद् यथा प्रीतो भविष्यसि ॥ ४ ॥

'मैं आपके संतोषके लिये सैनिकोंसहित रावणका वध करके अपना ऐसा पुरुषार्थ प्रकट करूँगा, जिससे आप शीघ्र ही प्रसन्न हो जायँगे ॥ ४ ॥

अलं वैक्लव्यमालम्ब्य धैर्यमात्मगतं स्मर।
त्वद्विधानां न सदृशमीदृशं बुद्धिलाघवम् ॥ ५ ॥

'इस तरह मनमें व्याकुलता लाना व्यर्थ है। आपके हृदयमें स्वाभाविकरूपसे जो धैर्य है, उसका स्मरण कीजिये। इस तरह बुद्धि और विचारको हल्का बना देना—उसकी सहज गम्भीरताको खो देना आप-जैसे महापुरुषोंके लिये उचित नहीं है ॥ ५ ॥

मयापि व्यसनं प्राप्तं भार्याविरहजं महत्।
नाहमेवं हि शोचामि धैर्यं न च परित्यजे ॥ ६ ॥

'मुझे भी पत्नीके विरहका महान् कष्ट प्राप्त हुआ है, परंतु मैं इस तरह शोक नहीं करता और न धैर्यको ही छोड़ता हूँ ॥ ६ ॥

नाहं तामनुशोचामि प्राकृतो वानरोऽपि सन्।
महात्मा च विनीतश्च किं पुनर्धृतिमान् महान् ॥ ७ ॥

'यद्यपि मैं एक साधारण वानर हूँ तथापि अपनी पत्नीके लिये निरन्तर शोक नहीं करता हूँ। फिर आप-जैसे महात्मा, सुशिक्षित और धैर्यवान् महापुरुष शोक न करें—इसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ ७ ॥

बाष्पमापतितं धैर्यान्निग्रहीतुं त्वमर्हसि।
मर्यादां सत्त्वयुक्तानां धृतिं नोत्स्रष्टुमर्हसि ॥ ८ ॥

'आपको चाहिये कि धैर्य धारण करके इन गिरते हुए आँसुओंको रोकें। सात्त्विक पुरुषोंकी मर्यादा और धैर्यका परित्याग न करें ॥ ८ ॥

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तगे।
विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमान् नावसीदति ॥ ९ ॥

'(आत्मीयजनोंके वियोग आदिसे होनेवाले) शोकमें, आर्थिक संकटमें अथवा प्राणान्तकारी भय उपस्थित होनेपर जो अपनी बुद्धिसे दुःख-निवारणके उपायका विचार करते हुए धैर्य धारण करता है, वह कष्ट नहीं भोगता है ॥ ९ ॥

बालिशस्तु नरो नित्यं वैक्लव्यं योऽनुवर्तते।
स मज्जत्यवशः शोके भाराक्रान्तेव नौर्जले ॥ १० ॥

'जो मूढ़ मानव सदा घबराहटमें ही पड़ा रहता है, वह

पानीमें भारसे दबी हुई नौकाके समान शोकमें विवश होकर डूब जाता है ॥ १० ॥

एषोऽञ्जलिर्मया बद्धः प्रणयात् त्वां प्रसादये ।
पौरुषं श्रय शोकस्य नान्तरं दातुमर्हसि ॥ ११ ॥

'मैं हाथ जोड़ता हूँ। प्रेमपूर्वक अनुरोध करता हूँ कि आप प्रसन्न हों और पुरुषार्थका आश्रय लें। शोकको अपने ऊपर प्रभाव डालनेका अवसर न दें ॥ ११ ॥

ये शोकमनुवर्तन्ते न तेषां विद्यते सुखम् ।
तेजश्च क्षीयते तेषां न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥

'जो शोकका अनुसरण करते हैं, उन्हें सुख नहीं मिलता है और उनका तेज भी क्षीण हो जाता है; अतः आप शोक न करें ॥ १२ ॥

शोकेनाभिप्रपन्नस्य जीविते चापि संशयः ।
स शोकं त्यज राजेन्द्र धैर्यमाश्रय केवलम् ॥ १३ ॥

'राजेन्द्र ! शोकसे आक्रान्त हुए मनुष्यके जीवनमें (उसके प्राणोंकी रक्षामें) भी संशय उपस्थित हो जाता है। इसलिये आप शोकको त्याग दें और केवल धैर्यका आश्रय लें ॥ १३ ॥

हितं वयस्यभावेन ब्रूमि नोपदिशामि ते ।
वयस्यतां पूजयन्मे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १४ ॥

'मैं मित्रताके नाते हितकी सलाह देता हूँ। आपको उपदेश नहीं दे रहा हूँ। आप मेरी मैत्रीका आदर करते हुए कदापि शोक न करें' ॥ १४ ॥

मधुरं सान्त्वितस्तेन सुग्रीवेण स राघवः ।
मुखमश्रुपरिक्लिन्नं वस्त्रान्तेन प्रमार्जयत् ॥ १५ ॥

सुग्रीवने जब मधुर वाणीमें इस प्रकार सान्त्वना दी, तब श्रीरघुनाथजीने आँसुओंसे भीगे हुए अपने मुखको वस्त्रके छोरसे पोंछ लिया ॥ १५ ॥

प्रकृतिस्थस्तु काकुत्स्थः सुग्रीववचनात् प्रभुः ।
सम्परिष्वज्य सुग्रीवमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

सुग्रीवके वचनसे शोकका परित्याग करके स्वस्थचित्त हो ककुत्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीरामने मित्रवर सुग्रीवको हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—॥ १६ ॥

कर्तव्यं यद् वयस्येन स्निग्धेन च हितेन च ।
अनुरूपं च युक्तं च कृतं सुग्रीव तत् त्वया ॥ १७ ॥

'सुग्रीव ! एक स्नेही और हितैषी मित्रको जो कुछ करना चाहिये, वही तुमने किया है। तुम्हारा कार्य सर्वथा उचित और तुम्हारे योग्य है ॥ १७ ॥

एष च प्रकृतिस्थोऽहमनुनीतस्त्वया सखे ।
दुर्लभो हीदृशो बन्धुरस्मिन् काले विशेषतः ॥ १८ ॥

'सखे ! तुम्हारे आश्वासनसे मेरी सारी चिन्ता जाती रही। अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। तुम्हारे-जैसे बन्धुका विशेषतः ऐसे संकटके समय मिलना कठिन होता है ॥ १८ ॥

किं तु यत्नस्त्वया कार्यो मैथिल्याः परिमार्गणे ।
राक्षसस्य च रौद्रस्य रावणस्य दुरात्मनः ॥ १९ ॥

'परंतु तुम्हें मिथिलेशकुमारी सीता तथा रौद्ररूपधारी दुरात्मा राक्षस रावणका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ १९ ॥

मया च यदनुष्ठेयं विस्रब्धेन तदुच्यताम् ।
वर्षास्विव च सुक्षेत्रे सर्वं सम्पद्यते तव ॥ २० ॥

'साथ ही मुझे भी इस समय तुम्हारे लिये जो कुछ करना आवश्यक हो, उसे बिना किसी सङ्कोचके बताओ। जैसे वर्षाकालमें अच्छे खेतमें बोया हुआ बीज अवश्य फल देता है उसी प्रकार तुम्हारा सारा मनोरथ सफल होगा ॥२०॥

मया च यदिदं वाक्यमभिमानात् समीरितम् ।
तत्त्वया हरिशार्दूल तत्त्वमित्युपधार्यताम् ॥ २१ ॥

'वानरश्रेष्ठ ! मैंने जो अभिमानपूर्वक यह वालीके वध आदि करनेकी बात कही है, इसे तुम ठीक ही समझो ॥२१॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ।
एतत्ते प्रतिजानामि सत्येनैव शपाम्यहम् ॥ २२ ॥

'मैंने पहले भी कभी झूठी बात नहीं कही है और भविष्यमें भी कभी असत्य नहीं बोलूँगा। इस समय जो कुछ कहा है, उसे पूर्ण करनेके लिये प्रतिज्ञा करता हूँ और तुम्हें विश्वास दिलानेके लिये सत्यकी ही शपथ खाता हूँ' ॥२२॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवो वानरैः सचिवैः सह ।
राघवस्य वचः श्रुत्वा प्रतिज्ञातं विशेषतः ॥ २३ ॥

श्रीरघुनाथजीकी बात, विशेषतः उनकी प्रतिज्ञा सुनकर अपने वानर-मन्त्रियोंसहित सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥२३॥

एवमेकान्तसम्पृक्तौ ततस्तौ नरवानरौ ।
उभावन्योन्यसदृशं सुखं दुःखमभाषताम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार एकान्तमें एक दूसरेके निकट बैठे हुए वे दोनों नर और वानर (श्रीराम और सुग्रीव) ने परस्पर सुख और दुःखकी बातें कहीं, जो एक दूसरेके लिये अनुरूप थीं ॥ २४ ॥

महानुभावस्य वचो निशम्य
हरिर्नृपाणामधिपस्य तस्य ।
कृतं स मेने हरिवीरमुख्य-
स्तदा च कार्यं हृदयेन विद्वान् ॥ २५ ॥

राजाधिराज महाराज श्रीरघुनाथजीकी बात सुनकर वानर वीरोंके प्रधान विद्वान् सुग्रीवने उस समय मन-ही-मन अपने कार्यको सिद्ध हुआ ही माना ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामसे अपना दुःख निवेदन करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देते हुए दोनों भाइयोंमें वैर होनेका कारण पूछना

परितुष्टस्तु सुग्रीवस्तेन वाक्येन हर्षितः।
लक्ष्मणस्याग्रजं शूरमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजीकी उस बातसे सुग्रीवको बड़ा संतोष हुआ। वे हर्षसे भरकर लक्ष्मणके बड़े भाई शूरवीर श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

सर्वथाहमनुग्राह्यो देवतानां न संशयः।
उपपन्नो गुणोपेतः सखा यस्य भवान् मम॥ २॥

'भगवन्! इसमें संदेह नहीं कि देवताओंकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा है—मैं सर्वथा उनके अनुग्रहका पात्र हूँ; क्योंकि आप-जैसे गुणवान् महापुरुष मेरे सखा हो गये॥ २॥

शक्यं खलु भवेद् राम सहायेन त्वयानघ।
सुरराज्यमपि प्राप्तुं स्वराज्यं किमुत प्रभो॥ ३॥

'प्रभो! निष्पाप श्रीराम! आप-जैसे सहायकके सहयोगसे तो देवताओंका राज्य भी अवश्य ही प्राप्त किया जा सकता है; फिर अपने खोये हुए राज्यको पाना कौन बड़ी बात है॥ ३॥

सोऽहं सभाज्यो बन्धूनां सुहृदां चैव राघव।
यस्याग्निसाक्षिकं मित्रं लब्धं राघववंशजम्॥ ४॥

'रघुनन्दन! अब मैं अपने बन्धुओं और सुहृदोंके विशेष सम्मानका पात्र हो गया; क्योंकि आज रघुवंशके राजकुमार आप अग्निको साक्षी बनाकर मुझे मित्रके रूपमें प्राप्त हुए हैं॥ ४॥

अहमप्यनुरूपस्ते वयस्यो ज्ञास्यसे शनैः।
न तु वक्तुं समर्थोऽहं त्वयि आत्मगतान् गुणान्॥ ५॥

'मैं भी आपके योग्य मित्र हूँ। इसका ज्ञान आपको धीरे-धीरे हो जायगा। इस समय आपके सामने मैं अपने गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ॥ ५॥

महात्मनां तु भूयिष्ठं त्वद्विधानां कृतात्मनाम्।
निश्चला भवति प्रीतिर्धैर्यमात्मवतां वर॥ ६॥

'आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! आप-जैसे पुण्यात्मा महात्माओंका प्रेम और धैर्य अधिकाधिक बढ़ता और अविचल होता है॥ ६॥

रजतं वा सुवर्णं वा शुभान्याभरणानि च।
अविभक्तानि साधूनामवगच्छन्ति साधवः॥ ७॥

'अच्छे स्वभाववाले मित्र अपने घरके सोने-चाँदी अथवा उत्तम आभूषणोंको अपने अच्छे मित्रोंके लिये अविभक्त ही मानते हैं—उन मित्रोंका अपने धनपर अपने ही समान अधिकार समझते हैं॥ ७॥

आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा।
निर्दोषश्च सदोषश्च वयस्यः परमा गतिः॥ ८॥

'अतएव मित्र धनी हो या दरिद्र, सुखी हो या दुखी अथवा निर्दोष हो या सदोष, वह मित्रके लिये सबसे बड़ा सहायक होता है॥ ८॥

धनत्यागः सुखत्यागो देशत्यागोऽपि वानघ।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम्॥ ९॥

'अनघ! साधुपुरुष अपने मित्रका अत्यन्त उत्कृष्ट प्रेम देख आवश्यकता पड़नेपर उसके लिये धन, सुख और देशका भी परित्याग कर देते हैं'॥ ९॥

तत् तथेत्यब्रवीद् रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम्।
लक्ष्मणस्याग्रतो लक्ष्म्या वासवस्येव धीमतः॥ १०॥

यह सुनकर लक्ष्मी (दिव्य कान्ति) से उपलक्षित श्रीरामचन्द्रजीने इन्द्रतुल्य तेजस्वी बुद्धिमान् लक्ष्मणके सामने ही प्रिय वचन बोलनेवाले सुग्रीवसे कहा—'सखे! तुम्हारी बात बिल्कुल ठीक है'॥ १०॥

ततो रामं स्थितं दृष्ट्वा लक्ष्मणं च महाबलम्।
सुग्रीवः सर्वतश्चक्षुर्वने लोलमपातयत्॥ ११॥

तदनन्तर (दूसरे दिन) महाबली श्रीराम और लक्ष्मणको खड़ा देख सुग्रीवने वनमें चारों ओर अपनी चञ्चल दृष्टि दौड़ायी॥ ११॥

स ददर्श ततः सालमविदूरे हरीश्वरः।
सुपुष्पमीषत्पत्राढ्यं भ्रमरैरुपशोभितम्॥ १२॥

उस समय वानरराजने पास ही एक सालका वृक्ष देखा, जिसमें थोड़े-से ही सुन्दर पुष्प लगे हुए थे; परंतु उसमें पत्रोंकी बहुलता थी। उस वृक्षपर मँडराते हुए भौंरे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ १२॥

तस्यैकां पर्णबहुलां शाखां भङ्क्त्वा सुशोभिताम्।
रामस्यास्तीर्य सुग्रीवो निषसाद सराघवः॥ १३॥

उसकी एक डालीको जिसमें अधिक पत्ते थे और जो पुष्पोंसे सुशोभित थी, सुग्रीवने तोड़ डाला और उसे श्रीरामके लिये बिछाकर वे स्वयं भी उनके साथ ही उसपर बैठ गये॥

तावासीनौ ततो दृष्ट्वा हनूमानपि लक्ष्मणम्।
शालशाखां समुत्पाट्य विनीतमुपवेशयत्॥ १४॥

उन दोनोंको आसनपर विराजमान देख हनुमान्‌जीने भी सालकी एक डाल तोड़ डाली और उसपर विनयशील लक्ष्मणको बैठाया ॥ १४ ॥

सुखोपविष्टं रामं तु प्रसन्नमुदधिं यथा।
सालपुष्पावसंकीर्णे तस्मिन् गिरिवरोत्तमे ॥ १५ ॥
ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः श्लक्ष्णया शुभया गिरा।
उवाच प्रणयाद् रामं हर्षव्याकुलिताक्षरम् ॥ १६ ॥

उस श्रेष्ठ पर्वतपर, जहाँ सब ओर सालके पुष्प बिखरे हुए थे, सुखपूर्वक बैठे हुए श्रीराम शान्त समुद्रके समान प्रसन्न दिखायी देते थे। उन्हें देखकर अत्यन्त हर्षसे भरे हुए सुग्रीवने श्रीरामसे स्निग्ध एवं सुन्दर वाणीमें वार्तालाप आरम्भ किया। उस समय आनन्दातिरेकसे उनकी वाणी लड़खड़ा जाती थी—अक्षरोंका स्पष्ट उच्चारण नहीं हो पाता था ॥ १५-१६ ॥

अहं विनिकृतो भ्रात्रा चराम्येष भयार्दितः।
ऋष्यमूकं गिरिवरं हृतभार्यः सुदुःखितः ॥ १७ ॥

'प्रभो! मेरे भाईने मुझे घरसे निकालकर मेरी स्त्रीको भी छीन लिया है। मैं उसीके भयसे अत्यन्त पीडित एवं दुखी होकर इस पर्वतश्रेष्ठ ऋष्यमूकपर विचरता रहता हूँ ॥ १७ ॥

सोऽहं त्रस्तो भये मग्नो वने सम्भ्रान्तचेतनः।
वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव ॥ १८ ॥

'मुझे बराबर उसका त्रास बना रहता है। मैं भयमें डूबा रहकर भ्रान्तचित्त हो इस वनमें भटकता फिरता हूँ। रघुनन्दन! मेरे भाई वालीने मुझे घरसे निकालनेके बाद भी मेरे साथ वैर बाँध रखा है ॥ १८ ॥

वालिनो मे भयार्तस्य सर्वलोकाभयंकर।
ममापि त्वमनाथस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'प्रभो! आप समस्त लोकोंको अभय देनेवाले हैं। मैं वालीके भयसे दुखी और अनाथ हूँ, अतः आपको मुझपर भी कृपा करनी चाहिये' ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मवत्सलः।
प्रत्युवाच स काकुत्स्थः सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥ २० ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर तेजस्वी, धर्मज्ञ एवं धर्मवत्सल भगवान् श्रीरामने उन्हें हँसते हुए-से इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ २० ॥

उपकारफलं मित्रमपकारोऽरिलक्षणम्।
अद्यैव तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ॥ २१ ॥

'सखे! उपकार ही मित्रताका फल है और अपकार शत्रुताका लक्षण है; अतः मैं आज ही तुम्हारी स्त्रीका अपहरण करनेवाले उस वालीका वध करूँगा ॥ २१ ॥

इमे हि मे महाभाग पत्रिणस्तिग्मतेजसः।
कार्तिकेयवनोद्भूताः शरा हेमविभूषिताः ॥ २२ ॥

'महाभाग! मेरे इन बाणोंका तेज प्रचण्ड है। सुवर्ण-भूषित ये शर कार्तिकेयकी उत्पत्तिके स्थानभूत शरोंके वनमें उत्पन्न हुए हैं (इसलिये अभेद्य हैं) ॥ २२ ॥

कङ्कपत्रपरिच्छन्ना महेन्द्राशनिसंनिभाः।
सुपर्वाणः सुतीक्ष्णाग्राः सरोषा भुजगा इव ॥ २३ ॥

'ये कंकपक्षीके परोंसे युक्त हैं और इन्द्रके वज्रकी भाँति अमोघ हैं। इनकी गाँठें सुन्दर और अग्रभाग तीखे हैं। ये रोषमें भरे भुजङ्गोंकी भाँति भयंकर हैं ॥ २३ ॥

वालिसंज्ञममित्रं ते भ्रातरं कृतकिल्बिषम्।
शरैर्विनिहतं पश्य विकीर्णमिव पर्वतम् ॥ २४ ॥

'इन बाणोंसे तुम अपने वाली नामक शत्रुको, जो भाई होकर भी तुम्हारी बुराई कर रहा है, विदीर्ण हुए पर्वतकी भाँति मरकर पृथ्वीपर पड़ा देखोगे' ॥ २४ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवो वाहिनीपतिः।
प्रहर्षमतुलं लेभे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥

श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर वानरसेनापति सुग्रीवको अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई और वे उन्हें बारंबार साधुवाद देते हुए बोले— ॥ २५ ॥

राम शोकाभिभूतोऽहं शोकार्तानां भवान् गतिः।
वयस्य इति कृत्वा हि त्वय्यहं परिदेवये ॥ २६ ॥

'श्रीराम! मैं शोकसे पीडित हूँ और आप शोकाकुल प्राणियोंकी परमगति हैं। मित्र समझकर मैं आपसे अपना दुःख निवेदन करता हूँ ॥ २६ ॥

त्वं हि पाणिप्रदानेन वयस्यो मेऽग्निसाक्षिकम्।
कृतः प्राणैर्बहुमतः सत्येन च शपाम्यहम् ॥ २७ ॥

'मैंने आपके हाथमें हाथ देकर अग्निदेवके सामने आपको अपना मित्र बनाया है। इसलिये आप मुझे अपने प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं। यह बात मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ ॥ २७ ॥

वयस्य इति कृत्वा च विस्रब्धः प्रवदाम्यहम्।
दुःखमन्तर्गतं तन्मे मनो हरति नित्यशः ॥ २८ ॥

'आप मेरे मित्र हैं, इसलिये आपपर पूर्ण विश्वास करके मैं अपने भीतरका दुःख, जो सदा मेरे मनको व्याकुल किये रहता है, आपको बता रहा हूँ' ॥ २८ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं बाष्पदूषितलोचनः।
बाष्पदूषितया वाचा नोच्चैः शक्नोति भाषितुम् ॥ २९ ॥

इतनी बात कहते-कहते सुग्रीवके नेत्रोंमें आँसू भर आये। उनकी वाणी अश्रुगद्गद हो गयी। इसलिये वे उच्चस्वरसे बोलनेमें समर्थ न हो सके ॥ २९ ॥

बाष्पवेगं तु सहसा नदीवेगमिवागतम् ।
धारयामास धैर्येण सुग्रीवो रामसंनिधौ ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् सुग्रीवने सहसा बढ़े हुए नदीके वेगके समान उमड़े हुए आँसुओंके वेगको श्रीरामके समीप धैर्यपूर्वक रोका ॥ ३० ॥

स निगृह्य तु तं बाष्पं प्रमृज्य नयने शुभे ।
विनिःश्वस्य च तेजस्वी राघवं पुनरूचिवान् ॥ ३१ ॥

आँसुओंको रोककर अपने दोनों सुन्दर नेत्रोंको पोंछनेके पश्चात् तेजस्वी सुग्रीव पुनः लंबी साँस खींचकर श्रीरघुनाथजीसे बोले—॥ ३१ ॥

पुराहं वालिना राम राज्यात् स्वादवरोपितः ।
परुषाणि च संश्राव्य निर्धूतोऽस्मि बलीयसा ॥ ३२ ॥

'श्रीराम ! पहलेकी बात है, बलिष्ठ वालीने कटुवचन सुनाकर बलपूर्वक मेरा तिरस्कार किया और अपने राज्य (युवराजपद) से नीचे उतार दिया ॥ ३२ ॥

हृता भार्या च मे तेन प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।
सुहृदश्च मदीया ये संयता बन्धनेषु ते ॥ ३३ ॥

'इतना ही नहीं, मेरी स्त्रीको भी, जो मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है, उसने छीन लिया और जितने मेरे सुहृद् थे, उन सबको कैदमें डाल दिया ॥ ३३ ॥

यत्नवांश्च स दुष्टात्मा मद्विनाशाय राघव ।
बहुशस्तत्प्रयुक्ताश्च वानरा निहता मया ॥ ३४ ॥

'रघुनन्दन ! इसके बाद भी वह दुरात्मा वाली मेरे विनाशके लिये यत्न करता रहता है । उसके भेजे हुए बहुत-से वानरोंका मैं वध कर चुका हूँ ॥ ३४ ॥

शङ्कया त्वेतयाहं च दृष्ट्वा त्वामपि राघव ।
नोपसर्पाम्यहं भीतो भये सर्वे हि बिभ्यति ॥ ३५ ॥

'रघुनाथजी ! आपको भी देखकर मेरे मनमें ऐसा ही संदेह हुआ था, इसीलिये डर जानेके कारण मैं पहले आपके पास न आ सका; क्योंकि भयका अवसर आनेपर प्रायः सभी डर जाते हैं ॥ ३५ ॥

केवलं हि सहाया मे हनुमत्प्रमुखास्त्विमे ।
अतोऽहं धारयाम्यद्य प्राणान् कृच्छ्रगतोऽपि सन् ॥ ३६ ॥

'केवल ये हनुमान् आदि वानर ही मेरे सहायक हैं; अतएव महान् संकटमें पड़कर भी मैं अबतक प्राण धारण करता हूँ ॥ ३६ ॥

एते हि कपयः स्निग्धा मां रक्षन्ति समन्ततः ।
सह गच्छन्ति गन्तव्ये नित्यं तिष्ठन्ति चास्थिते ॥ ३७ ॥

'इन लोगोंका मुझपर स्नेह है, अतः ये सभी वानर सब ओरसे सदा मेरी रक्षा करते रहते हैं । जहाँ जाना होता है वहाँ साथ-साथ जाते हैं और जब कहीं मैं ठहर जाता हूँ वहाँ ये नित्य मेरे साथ रहते हैं ॥ ३७ ॥

संक्षेपस्त्वेष मे राम किमुक्त्वा विस्तरं हि ते ।
स मे ज्येष्ठो रिपुर्भ्राता वाली विश्रुतपौरुषः ॥ ३८ ॥

'रघुनन्दन ! यह मैंने संक्षेपसे अपनी हालत बतलायी है । आपके सामने विस्तारपूर्वक कहनेसे क्या लाभ ? वाली मेरा ज्येष्ठ भाई है, फिर भी इस समय मेरा शत्रु हो गया है । उसका पराक्रम सर्वत्र विख्यात है ॥ ३८ ॥

तद्विनाशेऽपि मे दुःखं प्रमृष्टं स्यादनन्तरम् ।
सुखं मे जीवितं चैव तद्विनाशनिबन्धनम् ॥ ३९ ॥

'(यद्यपि भाईका नाश भी दुःखका ही कारण है, तथापि) इस समय जो मेरा दुःख है, वह उसका नाश होनेपर ही मिट सकता है । मेरा सुख और जीवन उसके विनाशपर ही निर्भर है ॥ ३९ ॥

एष मे राम शोकान्तः शोकार्तेन निवेदितः ।
दुःखितः सुखितो वापि सख्युर्नित्यं सखा गतिः ॥ ४० ॥

'श्रीराम ! यही मेरे शोकके नाशका उपाय है । मैंने शोकसे पीड़ित होनेके कारण आपसे यह बात निवेदन की है; क्योंकि मित्र दुःखमें हो या सुखमें, वह अपने मित्रकी सदा ही सहायता करता है' ॥ ४० ॥

श्रुत्वैतच्च वचो रामः सुग्रीवमिदमब्रवीत् ।
किंनिमित्तमभूद् वैरं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ४१ ॥

यह सुनकर श्रीरामने सुग्रीवसे कहा—'तुम दोनों भाइयोंमें वैर पड़नेका क्या कारण है, यह मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ ४१ ॥

सुखं हि कारणं श्रुत्वा वैरस्य तव वानर ।
आनन्तर्याद् विधास्यामि सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ ४२ ॥

'वानरराज ! तुमलोगोंकी शत्रुताका कारण सुनकर तुम दोनोंकी प्रबलता और निर्बलताका निश्चय करके फिर तत्काल ही तुम्हें सुखी बनानेवाला उपाय करूँगा ॥ ४२ ॥

बलवान् हि ममामर्षः श्रुत्वा त्वामवमानितम् ।
वर्धते हृदयोत्कम्पी प्रावृड्वेग इवाम्भसः ॥ ४३ ॥

जैसे वर्षाकालमें नदी आदिका वेग बहुत बढ़ जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे अपमानित होनेकी बात सुनकर मेरा प्रबल रोष बढ़ता जा रहा है और मेरे हृदयको कम्पित किये देता है ॥ ४३ ॥

हृष्टः कथय विस्रब्धो यावदारोप्यते धनुः ।
सृष्टश्च हि मया बाणो निरस्तश्च रिपुस्तव ॥ ४४ ॥

'मेरे धनुष चढ़ानेके पहले ही तुम अपनी सब बातें प्रसन्नतापूर्वक कह डालो; क्योंकि ज्यों ही मैंने बाण छोड़ा,

तुम्हारा शत्रु तत्काल कालके गालमें चला जायगा' ॥ ४४ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः काकुत्स्थेन महात्मना ।
प्रहर्षमतुलं लेभे चतुर्भिः सह वानरैः ॥ ४५ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर सुग्रीवको अपने चारों वानरोंके साथ अपार हर्ष हुआ ॥ ४५ ॥

ततः प्रहृष्टवदनः सुग्रीवो लक्ष्मणाग्रजे ।
वैरस्य कारणं तत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तदनन्तर सुग्रीवके मुखपर प्रसन्नता छा गयी और उन्होंने श्रीरामको वालीके साथ वैर होनेका यथार्थ कारण बताना आरम्भ किया ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामचन्द्रजीको वालीके साथ अपने वैर होनेका कारण बताना

वाली नाम मम भ्राता ज्येष्ठः शत्रुनिषूदनः ।
पितुर्बहुमतो नित्यं मम चापि तथा पुरा ॥ १ ॥

'रघुनन्दन ! वाली मेरे बड़े भाई हैं । उनमें शत्रुओंका संहार करनेकी शक्ति है । मेरे पिता ऋक्षरजा उनको बहुत मानते थे । वैरसे पहले मेरे मनमें भी उनके प्रति आदरका भाव था ॥ १ ॥

पितर्युपरते तस्मिञ्ज्येष्ठोऽयमिति मन्त्रिभिः ।
कपीनामीश्वरो राज्ये कृतः परमसम्मतः ॥ २ ॥

'पिताकी मृत्युके पश्चात् मन्त्रियोंने उन्हें ज्येष्ठ समझकर वानरोंका राजा बनाया । वे सबको बड़े प्रिय थे, इसीलिये किष्किन्धाके राज्यपर प्रतिष्ठित किये गये थे ॥ २ ॥

राज्यं प्रशासतस्तस्य पितृपैतामहं महत् ।
अहं सर्वेषु कालेषु प्रणतः प्रेष्यवत् स्थितः ॥ ३ ॥

'वे पिता-पितामहोंके विशाल राज्यका शासन करने लगे और मैं हर समय विनीतभावसे दासकी भाँति उनकी सेवामें रहने लगा ॥ ३ ॥

मायावी नाम तेजस्वी पूर्वजो दुन्दुभेः सुतः ।
तेन तस्य महद्वैरं वालिनः स्त्रीकृतं पुरा ॥ ४ ॥

'उन दिनों मायावी नामक एक तेजस्वी दानव रहता था, जो मय दानवका पुत्र और दुन्दुभिका बड़ा भाई था । उसके साथ वालीका स्त्रीके कारण बहुत बड़ा वैर हो गया था ॥

स तु सुप्ते जने रात्रौ किष्किन्धाद्वारमागतः ।
नर्दति स्म सुसंरब्धो वालिनं चाह्वयद् रणे ॥ ५ ॥

'एक दिन आधी रातके समय जब सब लोग सो गये, मायावी किष्किन्धापुरीके दरवाजेपर आया और क्रोधसे भरकर गर्जने तथा वालीको युद्धके लिये ललकारने लगा ॥

प्रसुप्तस्तु मम भ्राता नर्दतो भैरवस्वनम् ।
श्रुत्वा न ममृषे वाली निष्पपात जवात् तदा ॥ ६ ॥

'उस समय मेरे भाई सो रहे थे । उसका भैरवनाद सुनकर उनकी नींद खुल गयी । उनसे उस राक्षसकी ललकार सही नहीं गयी; अतः वे तत्काल वेगपूर्वक घरसे निकले ॥६॥

स तु वै निःसृतः क्रोधात् तं हन्तुमसुरोत्तमम् ।
वार्यमाणस्ततः स्त्रीभिर्मया च प्रणतात्मना ॥ ७ ॥

'जब वे क्रोध करके उस श्रेष्ठ असुरको मारनेके लिये निकले, उस समय मैंने तथा अन्तःपुरकी स्त्रियोंने पैरों पड़कर उन्हें जानेसे रोका ॥ ७ ॥

स तु निर्धूय सर्वान् नो निर्जगाम महाबलः ।
ततोऽहमपि सौहार्दान्निःसृतो वालिना सह ॥ ८ ॥

'परंतु महाबली वाली हम सबको हटाकर निकल पड़े, तब मैं भी स्नेहवश वालीके साथ ही बाहर निकला ॥ ८ ॥

स तु मे भ्रातरं दृष्ट्वा मां स दूरादवस्थितम् ।
असुरो जातसंत्रासः प्रदुद्राव तदा भृशम् ॥ ९ ॥

'उस असुरने मेरे भाईको देखा तथा कुछ दूरपर खड़े हुए मेरे ऊपर भी उसकी दृष्टि पड़ी; फिर तो वह भयसे थर्रा उठा और बड़े जोरसे भागा ॥ ९ ॥

तस्मिन् द्रवति संत्रस्ते ह्यावां द्रुततरं गतौ ।
प्रकाशोऽपि कृतो मार्गश्चन्द्रेणोद्गच्छता तदा ॥ १० ॥

उसके भयभीत होकर भागनेपर हम दोनों भाइयोंने बड़ी तेजीके साथ उसका पीछा किया । उस समय उदित हुए चन्द्रमाने हमारे मार्गको भी प्रकाशित कर दिया था ॥

स तृणैरावृतं दुर्गं धरण्या विवरं महत् ।
प्रविवेशासुरो वेगादावामासाद्य विष्ठितौ ॥ ११ ॥

'आगे जानेपर धरतीमें एक बहुत बड़ा बिल था, जो घास-फूससे ढका हुआ था । उसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था । वह असुर बड़े वेगसे उस बिलमें जा घुसा । वहाँ पहुँचकर हम दोनों ठहर गये ॥ ११ ॥

तं प्रविष्टं रिपुं दृष्ट्वा बिलं रोषवशं गतः ।
मामुवाच ततो वाली वचनं क्षुभितेन्द्रियः ॥ १२ ॥

'शत्रुको बिलके अंदर घुसा देख वालीके क्रोधकी सीमा न रही। उनकी सारी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो उठीं और वे मुझसे इस प्रकार बोले—॥ १२ ॥

इह तिष्ठाद्य सुग्रीव बिलद्वारि समाहितः।
यावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि समरे रिपुम्॥ १३॥

''सुग्रीव! जबतक मैं इस बिलके भीतर प्रवेश करके युद्धमें शत्रुको मारता हूँ, तबतक तुम आज इसके दरवाजेपर सावधानीसे खड़े रहो'॥ १३॥

मया त्वेतद् वचः श्रुत्वा याचितः स परंतपः।
शापयित्वा च मां पद्भ्यां प्रविवेश बिलं ततः॥ १४॥

'यह बात सुनकर मैंने शत्रुओंको संताप देनेवाले वालीसे स्वयं भी साथ चलनेके लिये प्रार्थना की, किंतु वे अपने चरणोंकी सौगन्ध दिलाकर अकेले ही बिलमें घुसे॥ १४॥

तस्य प्रविष्टस्य बिलं साग्रः संवत्सरो गतः।
स्थितस्य च बिलद्वारि स कालो व्यत्यवर्तत॥ १५॥

'बिलके भीतर गये हुए उन्हें एक सालसे अधिक समय बीत गया और बिलके दरवाजेपर खड़े-खड़े मेरा भी उतना ही समय निकल गया॥ १५॥

अहं तु नष्टं तं ज्ञात्वा स्नेहादागतसम्भ्रमः।
भ्रातरं न प्रपश्यामि पापशङ्कि च मे मनः॥ १६॥

'जब इतने दिनोंतक मुझे भाईका दर्शन नहीं हुआ, तब मैंने समझा कि मेरे भाई इस गुफामें ही कहीं खो गये। उस समय भ्रातृस्नेहके कारण मेरा हृदय व्याकुल हो उठा। मेरे मनमें उनके मारे जानेकी शङ्का होने लगी॥ १६॥

अथ दीर्घस्य कालस्य बिलात् तस्माद् विनिःसृतम्।
सफेनं रुधिरं दृष्ट्वा ततोऽहं भृशदुःखितः॥ १७॥

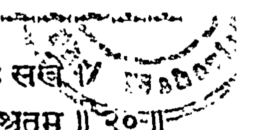
'तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् उस बिलसे सहसा फेनसहित खूनकी धारा निकली। उसे देखकर मैं बहुत दुखी हो गया॥ १७॥

नर्दतामसुराणां च ध्वनिर्मे श्रोत्रमागतः।
न रतस्य च संग्रामे क्रोशतोऽपि स्वनो गुरोः॥ १८॥

'इतनेहीमें गरजते हुए असुरोंकी आवाज भी मेरे कानोंमें पड़ी। युद्धमें लगे हुए मेरे बड़े भाई भी गरजना कर रहे थे, किंतु उनकी आवाज मैं नहीं सुन सका॥१८॥

अहं त्ववगतो बुद्ध्या चिह्नैस्तैर्भ्रातरं हतम्।
पिधाय च बिलद्वारं शिलया गिरिमात्रया॥ १९॥

शोकार्तश्चोदकं कृत्वा किष्किन्धामागतः सखे।
गूहमानस्य मे तत् त्वं यत्नतो मन्त्रिभिः श्रुतम्॥ २०॥



'इन सब चिह्नोंको देखकर बुद्धिद्वारा विचार करनेपर मैं इस निश्चयपर पहुँचा कि मेरे बड़े भाई मारे गये। फिर तो उस गुफाके दरवाजेपर मैंने पर्वतके समान एक पत्थरकी चट्टान रख दी और उसे बंद करके भाईको जलाञ्जलि दे शोकसे व्याकुल हुआ मैं किष्किन्धापुरीमें लौट आया। सखे! यद्यपि मैं इस यथार्थ बातको छिपा रहा था, तथापि मन्त्रियोंने यत्न करके सुन लिया॥ १९-२०॥

ततोऽहं तैः समागम्य समेतैरभिषेचितः।
राज्यं प्रशासतस्तस्य न्यायतो मम राघव॥ २१॥
आजगाम रिपुं हत्वा दानवं स तु वानरः।
अभिषिक्तं तु मां दृष्ट्वा क्रोधात् संरक्तलोचनः॥ २२॥

'तब उन सबने मिलकर मुझे राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। रघुनन्दन! मैं न्यायपूर्वक राज्यका संचालन करने लगा। इसी समय अपने शत्रुभूत उस दानवको मारकर वानरराज वाली घर लौटे। लौटनेपर मुझे राज्यपर अभिषिक्त हुआ देख उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं॥२१-२२॥

मदीयान् मन्त्रिणो बद्ध्वा परुषं वाक्यमब्रवीत्।
निग्रहे च समर्थस्य तं पापं प्रति राघव॥ २३॥
न प्रावर्तत मे बुद्धिर्भ्रातृगौरवयन्त्रिता।

'मेरे मन्त्रियोंको उन्होंने कैद कर लिया और उन्हें कठोर बातें सुनायीं। रघुवीर! यद्यपि मैं स्वयं भी उस पापीको कैद करनेमें समर्थ था तो भी भाईके प्रति गुरुभाव होनेके कारण मेरी बुद्धिमें ऐसा विचार नहीं हुआ॥ २३½॥

हत्वा शत्रुं स मे भ्राता प्रविवेश पुरं तदा॥ २४॥
मानयंस्तं महात्मानं यथावच्चाभिवादयम्।
उक्ताश्च नाशिषस्तेन प्रहृष्टेनान्तरात्मना॥ २५॥

'इस प्रकार शत्रुका वध करके मेरे भाईने उस समय नगरमें प्रवेश किया। उन महात्माका सम्मान करते हुए मैंने यथोचित रूपसे उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया तो भी उन्होंने प्रसन्नचित्तसे मुझे आशीर्वाद नहीं दिया॥ २४-२५॥

नत्वा पादावहं तस्य मुकुटेनास्पृशं प्रभो।
अपि वाली मम क्रोधान्न प्रसादं चकार सः॥ २६॥

'प्रभो! मैंने भाईके सामने झुककर अपने मस्तकके मुकुटसे उनके दोनों चरणोंका स्पर्श किया तो भी क्रोधके कारण वाली मुझपर प्रसन्न नहीं हुए'॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे नवमः सर्गः॥ ९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९॥

दशमः सर्गः

भाईके साथ वैरका कारण बतानेके प्रसङ्गमें सुग्रीवका वालीको मनाने और वालीद्वारा अपने निष्कासित होनेका वृत्तान्त सुनाना

ततः क्रोधसमाविष्टं संरब्धं तमुपागतम्।
अहं प्रसादयांचक्रे भ्रातरं हितकाम्यया॥ १॥

(सुग्रीव कहते हैं—) 'तदनन्तर क्रोधसे आविष्ट तथा विक्षुब्ध होकर आये हुए अपने बड़े भाईको उनके हितकी कामनासे मैं पुनः प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगा॥ १॥

दिष्ट्यासि कुशली प्राप्तो निहतश्च त्वया रिपुः।
अनाथस्य हि मे नाथस्त्वमेकोऽनाथनन्दन॥ २॥

'मैंने कहा—'अनाथनन्दन! सौभाग्यकी बात है कि आप सकुशल लौट आये और वह शत्रु आपके हाथसे मारा गया। मैं आपके बिना अनाथ हो रहा था। अब एकमात्र आप ही मेरे नाथ हैं॥ २॥

इदं बहुशलाकं ते पूर्णचन्द्रमिवोदितम्।
छत्रं सवालव्यजनं प्रतीच्छस्व मया धृतम्॥ ३॥

''यह बहुत-सी तीलियोंसे युक्त तथा उदित हुए पूर्ण चन्द्रमाके समान श्वेत छत्र मैं आपके मस्तकपर लगाता और चँवर डुलाता हूँ। आप इन्हें स्वीकार करें॥ ३॥

आर्तस्तस्य बिलद्वारि स्थितः संवत्सरं नृप।
दृष्ट्वा च शोणितं द्वारि बिलाच्चापि समुत्थितम्॥ ४॥
शोकसंविग्नहृदयो भृशं व्याकुलितेन्द्रियः।

''वानरराज! मैं बहुत दुखी होकर एक वर्षतक उस बिलके दरवाजेपर खड़ा रहा। उसके बाद बिलके भीतरसे खूनकी धारा निकली। द्वारपर वह रक्त देखकर मेरा हृदय शोकसे उद्विग्न हो उठा और मेरी सारी इन्द्रियाँ अत्यन्त व्याकुल हो गयीं॥ ४½॥

अपिधाय बिलद्वारं शैलशृङ्गेण तत् तदा॥ ५॥
तस्माद् देशादपाक्रम्य किष्किन्धां प्राविशं पुनः।

''तब उस बिलके द्वारको एक पर्वत-शिखरसे ढककर मैं उस स्थानसे हट गया और पुनः किष्किन्धापुरीमें चला आया॥

विषादात्त्विह मां दृष्ट्वा पौरैर्मन्त्रिभिरेव च॥ ६॥
अभिषिक्तो न कामेन तन्मे क्षन्तुं त्वमर्हसि।

''यहाँ विषादपूर्वक मुझे अकेला लौटा देख पुरवासियों और मन्त्रियोंने ही इस राज्यपर मेरा अभिषेक कर दिया। मैंने स्वेच्छासे इस राज्यको नहीं ग्रहण किया है। अतः अज्ञानवश होनेवाले मेरे इस अपराधको आप क्षमा करें॥ ६½॥

त्वमेव राजा मानार्हः सदा चाहं यथा पुरा॥ ७॥
राजभावे नियोगोऽयं मम त्वद्विरहात् कृतः।

''आप ही यहाँके सम्माननीय राजा हैं और मैं सदा आपका पूर्ववत् सेवक हूँ। आपके वियोगसे ही राजाके पदपर मेरी यह नियुक्ति की गयी॥ ७½॥

सामात्यपौरनगरं स्थितं निहतकण्टकम्॥ ८॥
न्यासभूतमिदं राज्यं तव निर्यातयाम्यहम्।

''मन्त्रियों, पुरवासियों तथा नगरसहित आपका यह सारा अकंटक राज्य मेरे पास धरोहरके रूपमें रक्खा था। अब इसे मैं आपकी सेवामें लौटा रहा हूँ॥ ८½॥

मा च रोषं कृथाः सौम्य मम शत्रुनिषूदन॥ ९॥
याचे त्वां शिरसा राजन् मया बद्धोऽयमञ्जलिः।

''सौम्य! शत्रुसूदन! आप मुझपर क्रोध न करें। राजन्! मैं इसके लिये मस्तक झुकाकर प्रार्थना करता हूँ और हाथ जोड़ता हूँ॥ ९½॥

बलादस्मिन् समागम्य मन्त्रिभिः पुरवासिभिः॥ १०॥
राजभावे नियुक्तोऽहं शून्यदेशजिगीषया।

'मन्त्रियों तथा पुरवासियोंने मिलकर जबर्दस्ती मुझे इस राज्यपर बिठाया है। वह भी इसलिये कि राजासे रहित राज्य देखकर कोई शत्रु इसे जीतनेकी इच्छासे आक्रमण न कर बैठे'॥ १०½॥

स्निग्धमेवं ब्रुवाणं मां स विनिर्भर्त्स्य वानरः॥ ११॥
धिक्त्वामिति च मामुक्त्वा बहु तत्तदुवाच ह।

'मैंने ये सारी बातें बड़े प्रेमसे कही थीं, किंतु उस वानरने मुझे डाँटकर कहा—'तुझे धिक्कार है'। यों कहकर उसने मुझे और भी बहुत-सी कठोर बातें सुनायीं॥ ११½॥

प्रकृतीश्च समानीय मन्त्रिणश्चैव सम्मतान्॥ १२॥
मामाह सुहृदां मध्ये वाक्यं परमगर्हितम्।

'तत्पश्चात् उसने प्रजाजनों और सम्मान्य मन्त्रियोंको बुलाया तथा सुहृदोंके बीचमें मेरे प्रति अत्यन्त निन्दित वचन कहा॥ १२½॥

विदितं वो मया रात्रौ मायावी स महासुरः॥ १३॥
मां समाह्वयत क्रुद्धो युद्धाकाङ्क्षी तदा पुरा।

'वह बोला—'आपलोगोंको मालूम होगा कि एक दिन रातमें मेरे साथ युद्ध करनेकी इच्छासे मायावी नामक महान् असुर यहाँ आया था। उसने क्रोधमें भरकर पहले मुझे युद्धके लिये ललकारा॥ १३½॥

तस्य तद् भाषितं श्रुत्वा निःसृतोऽहं नृपालयात् ॥ १४ ॥
अनुयातश्च मां तूर्णमयं भ्राता सुदारुणः ।

'उसकी वह ललकार सुनकर मैं राजभवनसे निकल पड़ा। उस समय यह क्रूर स्वभाववाला मेरा भाई भी तुरंत ही मेरे पीछे-पीछे आया ॥ १४½ ॥

स तु दृष्ट्वैव मां रात्रौ सद्वितीयं महाबलः ॥ १५ ॥
प्राद्रवद् भयसंत्रस्तो वीक्ष्यावां समुपागतौ ।
अभिद्रुतस्तु वेगेन विवेश स महाबिलम् ॥ १६ ॥

''यद्यपि वह असुर बड़ा बलवान् था तथापि मुझे एक दूसरे सहायकके साथ देखते ही भयभीत हो उस रातमें भाग चला। हम दोनों भाइयोंको आते देख वह बड़े वेगसे दौड़ा और एक विशाल गुफामें घुस गया ॥ १५-१६ ॥

तं प्रविष्टं विदित्वा तु सुघोरं सुमहद् बिलम् ।
अयमुक्तोऽथ मे भ्राता मया तु क्रूरदर्शनः ॥ १७ ॥

''उस अत्यन्त भयंकर विशाल गुफामें उस असुरको घुसा हुआ जानकर मैंने अपने इस क्रूरदर्शी भाईसे कहा—॥१७॥

अहत्वा नास्ति मे शक्तिः प्रतिगन्तुमितः पुरीम् ।
बिलद्वारि प्रतीक्ष त्वं यावदेनं निहन्म्यहम् ॥ १८ ॥

''सुग्रीव ! इस शत्रुको मारे बिना मैं यहाँसे किष्किन्धापुरीको लौट चलनेमें असमर्थ हूँ; अतः जबतक मैं इस असुरको मारकर लौटता हूँ, तबतक तुम इस गुफाके दरवाजेपर रहकर मेरी प्रतीक्षा करो' ॥ १८ ॥

स्थितोऽयमिति मत्वाहं प्रविष्टस्तु दुरासदम् ।
तं मे मार्गयतस्तत्र गतः संवत्सरस्तदा ॥ १९ ॥

''ऐसा कहकर और 'यह तो यहाँ खड़ा है ही' ऐसा विश्वास करके मैं उस अत्यन्त दुर्गम गुफाके भीतर प्रविष्ट हुआ। भीतर जाकर मैं उस दानवकी खोज करने लगा और इसीमें मेरा वहाँ एक वर्षका समय व्यतीत हो गया।१९।

स तु दृष्टो मया शत्रुरनिर्वेदाद् भयावहः ।
निहतश्च मया सद्यः स सर्वैः सह बन्धुभिः ॥ २० ॥

''इसके बाद मैंने उस भयंकर शत्रुको देखा। इतने दिनोंतक उसके न मिलनेसे मेरे मनमें कोई क्लेश या उदासीनता नहीं हुई थी। मैंने उसके समस्त बन्धु-बान्धवोंसहित तत्काल कालके गालमें डाल दिया ॥ २० ॥

तस्यास्यात्तु प्रवृत्तेन रुधिरौघेण तद्बिलम् ।
पूर्णमासीद् दुराक्रामं स्तनतस्तस्य भूतले ॥ २१ ॥

''उसके मुखसे और छातीसे भी भूतलपर रक्तका ऐसा प्रवाह जारी हुआ, जिससे वह सारी दुर्गम गुफा भर गयी।२१।

सूदयित्वा तु तं शत्रुं विक्रान्तं तमहं सुखम् ।
निष्क्रामं नैव पश्यामि बिलस्य पिहितं मुखम् ॥ २२ ॥

''इस तरह उस पराक्रमी शत्रुका सुखपूर्वक वध करके जब मैं लौटा, तब मुझे निकलनेका कोई मार्ग ही नहीं दिखायी देता था; क्योंकि बिलका दरवाजा बंद कर दिया गया था ॥ २२ ॥

विक्रोशमानस्य तु मे सुग्रीवेति पुनः पुनः ।
यतः प्रतिवचो नास्ति ततोऽहं भृशदुःखितः ॥ २३ ॥

''मैंने 'सुग्रीव ! सुग्रीव !' कहकर बारंबार पुकारा, किंतु कोई उत्तर नहीं मिला। इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥२३॥

पादप्रहारैस्तु मया बहुभिः परिपातितम् ।
ततोऽहं तेन निष्क्रम्य पथा पुरमुपागतः ॥ २४ ॥

''मैंने बारंबार लात मारकर किसी तरह उस पत्थरको पीछेकी ओर ढकेला। इसके बाद गुफाद्वारसे निकलकर यहाँकी राह पकड़े मैं इस नगरमें लौटा हूँ ॥ २४ ॥

तत्रानेनास्मि संरुद्धो राज्यं मृगयताऽऽत्मनः ।
सुग्रीवेण नृशंसेन विस्मृत्य भ्रातृसौहृदम् ॥ २५ ॥

''यह सुग्रीव ऐसा क्रूर और निर्दयी है कि इसने भ्रातृप्रेमको भुला दिया और सारा राज्य अपने हाथमें कर लेनेके लिये मुझे उस गुफाके अंदर बंद कर दिया था' ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा तु मां तत्र वस्त्रेणैकेन वानरः ।
तदा निर्वासयामास वाली विगतसाध्वसः ॥ २६ ॥

'ऐसा कहकर वानरराज वालीने निर्भयतापूर्वक मुझे घरसे निकाल दिया। उस समय मेरे शरीरपर एक ही वस्त्र रह गया था ॥ २६ ॥

तेनाहमपविद्धश्च हृतदारश्च राघव ।
तद्भयाच्च महीं सर्वां क्रान्तवान् सवनार्णवाम् ॥ २७ ॥
ऋष्यमूकं गिरिवरं भार्याहरणदुःखितः ।
प्रविष्टोऽस्मि दुराधर्षं वालिनः कारणान्तरे ॥ २८ ॥

'रघुनन्दन ! उसने मुझे घरसे तो निकाल ही दिया, मेरी स्त्रीको भी छीन लिया। उसके भयसे मैं वनों और समुद्रोंसहित सारी पृथ्वीपर मारा-मारा फिरता रहा। अन्ततोगत्वा मैं भार्याहरणके दुःखसे दुखी हो इस श्रेष्ठ पर्वत ऋष्यमूकपर चला आया; क्योंकि एक विशेष कारणवश वालीके लिये इस स्थानपर आक्रमण करना बहुत कठिन है ॥ २७-२८ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं वैरानुकथनं महत् ।
अनागसा मया प्राप्तं व्यसनं पश्य राघव ॥ २९ ॥

'रघुनाथजी ! यही वालीके साथ मेरे वैर पड़नेकी विस्तृत कथा है। यह सब मैंने आपको सुना दी। देखिये, बिना अपराधके ही मुझे यह सब संकट भोगना पड़ता है ॥ २९ ॥

वालिनश्च भयात् तस्य सर्वलोकभयापह ।
कर्तुमर्हसि मे वीर प्रसादं तस्य निग्रहात् ॥ ३० ॥

'वीरवर ! आप सम्पूर्ण जगत्‌का भय दूर करनेवाले हैं। मुझपर कृपा कीजिये और वालीका दमन करके मुझे उसके भयसे बचाइये' ॥ ३० ॥

एवमुक्तः स तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मसंहितम्।
वचनं वक्तुमारेभे सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥ ३१ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर धर्मके ज्ञाता परम तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने उनसे हँसते हुए-से यह धर्मयुक्त वचन कहना आरम्भ किया—॥ ३१ ॥

अमोघाः सूर्यसंकाशा निशिता मे शरा इमे।
तस्मिन् वालिनि दुर्वृत्ते पतिष्यन्ति रुषान्विताः ॥ ३२ ॥

'मित्र ! ये मेरे सूर्यके समान तेजस्वी तीखे बाण अमोघ हैं, जो दुराचारी वालीपर रोषपूर्वक पड़ेंगे ॥ ३२ ॥

यावत् तं नहि पश्येयं तव भार्यापहारिणम्।
तावत् स जीवेत् पापात्मा वाली चारित्रदूषकः ॥ ३३ ॥

'जबतक तुम्हारी भार्याका अपहरण करनेवाले उस वानरको मैं अपने सामने नहीं देखता हूँ, तबतक सदाचारको कलंकित करनेवाला वह पापात्मा वाली जीवन धारण कर ले ॥ ३३ ॥

आत्मानुमानात् पश्यामि मग्नस्त्वं शोकसागरे।
त्वामहं तारयिष्यामि बाढं प्राप्स्यसि पुष्कलम् ॥ ३४ ॥

'मैं अपने ही अनुमानसे समझता हूँ कि तुम शोकके समुद्रमें डूबे हुए हो। मैं तुम्हारा उद्धार करूँगा। तुम अपनी पत्नी तथा विशाल राज्यको भी अवश्य प्राप्त कर लोगे' ॥ ३४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा हर्षपौरुषवर्धनम्।
सुग्रीवः परमप्रीतः सुमहद्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

श्रीरामका यह वचन हर्ष और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला था। उसे सुनकर सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कहने लगे ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

सुग्रीवके द्वारा वालीके पराक्रमका वर्णन—वालीका दुन्दुभि दैत्यको मारकर उसकी लाशको मतङ्ग-वनमें फेंकना, मतङ्गमुनिका वालीको शाप देना, श्रीरामका दुन्दुभिके अस्थिसमूहको दूर फेंकना और सुग्रीवका उनसे साल-भेदनके लिये आग्रह करना

रामस्य वचनं श्रुत्वा हर्षपौरुषवर्धनम्।
सुग्रीवः पूजयांचक्रे राघवं प्रशशंस च ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका वचन हर्ष और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला था, उसे सुनकर सुग्रीवने उसके प्रति अपना आदर प्रकट किया और श्रीरघुनाथजीकी इस प्रकार प्रशंसा की—॥ १ ॥

असंशयं प्रज्वलितैस्तीक्ष्णैर्मर्मातिगैः शरैः।
त्वं दहेः कुपितो लोकान् युगान्त इव भास्करः ॥ २ ॥

'प्रभो ! आपके बाण प्रज्वलित, तीक्ष्ण एवं मर्मभेदी हैं। यदि आप कुपित हो जायँ तो इनके द्वारा प्रलयकालके सूर्यकी भाँति समस्त लोकोंको भस्म कर सकते हैं। इसमें संशयकी बात नहीं है ॥ २ ॥

वालिनः पौरुषं यत्तद् यच्च वीर्यं धृतिश्च या।
तन्ममैकमनाः श्रुत्वा विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ३ ॥

'परंतु वालीका जैसा पुरुषार्थ है, जो बल है और जैसा धैर्य है, वह सब एकचित्त होकर सुन लीजिये। उसके बाद जैसा उचित हो, कीजियेगा ॥ ३ ॥

समुद्रात् पश्चिमात् पूर्वं दक्षिणादपि चोत्तरम्।
क्रामत्यनुदिते सूर्ये वाली व्यपगतक्लमः ॥ ४ ॥

'वाली सूर्योदयके पहले ही पश्चिम समुद्रसे पूर्व समुद्रतक और दक्षिण सागरसे उत्तरतक घूम आता है; फिर भी वह थकता नहीं है ॥ ४ ॥

अग्राण्यारुह्य शैलानां शिखराणि महान्त्यपि।
ऊर्ध्वमुत्पात्य तरसा प्रतिगृह्णाति वीर्यवान् ॥ ५ ॥

'पराक्रमी वाली पर्वतोंकी चोटियोंपर चढ़कर बड़े-बड़े शिखरोंको बलपूर्वक उठा लेता और ऊपरको उछालकर फिर उन्हें हाथोंसे थाम लेता है ॥ ५ ॥

बहवः सारवन्तश्च वनेषु विविधा द्रुमाः।
वालिना तरसा भग्ना बलं प्रथयताऽऽत्मनः ॥ ६ ॥

'वनोंमें नाना प्रकारके जो बहुत-से सुदृढ़ वृक्ष थे, उन्हें अपने बलको प्रकट करते हुए वालीने वेगपूर्वक तोड़ डाला है ॥ ६ ॥

महिषो दुन्दुभिर्नाम कैलासशिखरप्रभः।
बलं नागसहस्रस्य धारयामास वीर्यवान्॥ ७॥

'पहलेकी बात है, यहाँ एक दुन्दुभि नामका असुर रहता था, जो भैंसेके रूपमें दिखायी देता था। वह ऊँचाईमें कैलास पर्वतके समान जान पड़ता था। पराक्रमी दुन्दुभि अपने शरीरमें एक हजार हाथियोंका बल रखता था॥ ७॥

स वीर्योत्सेकदुष्टात्मा वरदानेन मोहितः।
जगाम स महाकायः समुद्रं सरितां पतिम्॥ ८॥

'बलके घमंडमें भरा हुआ वह विशालकाय दुष्टात्मा दानव अपनेको मिले हुए वरदानसे मोहित हो सरिताओंके स्वामी समुद्रके पास गया॥ ८॥

ऊर्मिमन्तमतिक्रम्य सागरं रत्नसंचयम्।
मम युद्धं प्रयच्छेति तमुवाच महार्णवम्॥ ९॥

'जिसमें उत्ताल तरङ्गें उठ रही थीं तथा जो रत्नोंकी निधि है, उस महान् जलराशिसे परिपूर्ण समुद्रको लाँघकर—उसे कुछ भी न समझकर दुन्दुभिने उसके अधिष्ठाता देवतासे कहा—'मुझे अपने साथ युद्धका अवसर दो'॥ ९॥

ततः समुद्रो धर्मात्मा समुत्थाय महाबलः।
अब्रवीद् वचनं राजन्नसुरं कालचोदितम्॥ १०॥

'राजन्! उस समय महान् बलशाली धर्मात्मा समुद्र उस कालप्रेरित असुरसे इस प्रकार बोला—॥ १०॥

समर्थो नास्मि ते दातुं युद्धं युद्धविशारद।
श्रूयतां त्वभिधास्यामि यस्ते युद्धं प्रदास्यति॥ ११॥

''युद्धविशारद वीर! मैं तुम्हें युद्धका अवसर देने—तुम्हारे साथ युद्ध करनेमें असमर्थ हूँ। जो तुम्हें युद्ध प्रदान करेगा, उसका नाम बतलाता हूँ, सुनो॥ ११॥

शैलराजो महारण्ये तपस्विशरणं परम्।
शंकरश्वशुरो नाम्ना हिमवानिति विश्रुतः॥ १२॥
महाप्रस्रवणोपेतो बहुकन्दरनिर्झरः।
स समर्थस्तव प्रीतिमतुलां कर्तुमर्हति॥ १३॥

''विशाल वनमें जो पर्वतोंका राजा और भगवान् शंकरका श्वशुर है, तपस्वी जनोंका सबसे बड़ा आश्रय और संसारमें हिमवान् नामसे विख्यात है, जहाँसे जलके बड़े-बड़े स्रोत प्रकट हुए हैं तथा जहाँ बहुत-सी कन्दराएँ और झरने हैं, वह गिरिराज हिमालय ही तुम्हारे साथ युद्ध करनेमें समर्थ है। वह तुम्हें अनुपम प्रीति प्रदान कर सकता है'॥ १२-१३॥

तं भीतमिति विज्ञाय समुद्रमसुरोत्तमः।
हिमवद्वनमागम्य शरश्चापादिव च्युतः॥ १४॥
ततस्तस्य गिरेः श्वेता गजेन्द्रप्रतिमाः शिलाः।
चिक्षेप बहुधा भूमौ दुन्दुभिर्विननाद च॥ १५॥

'यह सुनकर असुरशिरोमणि दुन्दुभि समुद्रको डरा हुआ जान धनुषसे छूटे हुए बाणकी भाँति तुरंत हिमालयके वनमें जा पहुँचा और उस पर्वतकी गजराजोंके समान विशाल श्वेत शिलाओंको बारंबार भूमिपर फेंकने और गर्जना करने लगा॥ १४-१५॥

ततः श्वेताम्बुदाकारः सौम्यः प्रीतिकराकृतिः।
हिमवानब्रवीद् वाक्यं स्व एव शिखरे स्थितः॥ १६॥

'तब श्वेत बादलके समान आकार धारण किये सौम्य स्वभाववाले हिमवान् वहाँ प्रकट हुए। उनकी आकृति प्रसन्नताको बढ़ानेवाली थी। वे अपने ही शिखरपर खड़े होकर बोले—॥ १६॥

क्लेष्टुमर्हसि मां न त्वं दुन्दुभे धर्मवत्सल।
रणकर्मस्वकुशलस्तपस्विशरणो ह्यहम्॥ १७॥

''धर्मवत्सल दुन्दुभे! तुम मुझे क्लेश न दो। मैं युद्धकर्ममें कुशल नहीं हूँ। मैं तो केवल तपस्वी जनोंका निवासस्थान हूँ'॥ १७॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा गिरिराजस्य धीमतः।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं क्रोधात् संरक्तलोचनः॥ १८॥

'बुद्धिमान् गिरिराज हिमालयकी यह बात सुनकर दुन्दुभिके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वह इस प्रकार बोला—॥ १८॥

यदि युद्धेऽसमर्थस्त्वं मद्भयाद् वा निरुद्यमः।
तमाचक्ष्व प्रदद्यान्मे यो हि युद्धं युयुत्सतः॥ १९॥

'यदि तुम युद्ध करनेमें असमर्थ हो अथवा मेरे भयसे ही युद्धकी चेष्टासे विरत हो गये हो तो मुझे उस वीरका नाम बताओ, जो युद्धकी इच्छा रखनेवाले मुझको अपने साथ युद्ध करनेका अवसर दे'॥ १९॥

हिमवानब्रवीद् वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः।
अनुक्तपूर्वं धर्मात्मा क्रोधात् तमसुरोत्तमम्॥ २०॥

'उसकी यह बात सुनकर बातचीतमें कुशल धर्मात्मा हिमवान्ने श्रेष्ठ असुरसे, जिसके लिये पहले किसीने किसी प्रतिद्वन्द्वी योद्धाका नाम नहीं बताया था, क्रोधपूर्वक कहा—॥ २०॥

वाली नाम महाप्राज्ञ शक्रपुत्रः प्रतापवान्।
अध्यास्ते वानरः श्रीमान् किष्किन्धामतुलप्रभाम्॥

''महाप्राज्ञ दानवराज! वाली नामसे प्रसिद्ध एक परम तेजस्वी और प्रतापी वानर हैं, जो देवराज इन्द्रके पुत्र हैं और अनुपम शोभासे पूर्ण किष्किन्धानामक पुरीमें निवास करते हैं॥ २१॥

स समर्थो महाप्राज्ञस्तव युद्धविशारदः।
द्वन्द्वयुद्धं स दातुं ते नमुचेरिव वासवः ॥ २२ ॥

"वे बड़े बुद्धिमान् और युद्धकी कलामें निपुण हैं। वे ही तुमसे जूझनेमें समर्थ हैं। जैसे इन्द्रने नमुचिको युद्धका अवसर दिया था, उसी प्रकार वाली तुम्हें द्वन्द्वयुद्ध प्रदान कर सकते हैं ॥ २२ ॥

तं शीघ्रमभिगच्छ त्वं यदि युद्धमिहेच्छसि।
स हि दुर्मर्षणो नित्यं शूरः समरकर्मणि ॥ २३ ॥

"यदि तुम यहाँ युद्ध चाहते हो तो शीघ्र चले जाओ; क्योंकि वालीके लिये किसी शत्रुकी ललकारको सह सकना बहुत कठिन है। वे युद्धकर्ममें सदा शूरता प्रकट करनेवाले हैं"॥

श्रुत्वा हिमवतो वाक्यं कोपाविष्टः स दुन्दुभिः।
जगाम तां पुरीं तस्य किष्किन्धां वालिनस्तदा ॥ २४ ॥

'हिमवान्‌की बात सुनकर क्रोधसे भरा हुआ दुन्दुभि तत्काल वालीकी किष्किन्धापुरीमें जा पहुँचा ॥ २४ ॥

धारयन् माहिषं रूपं तीक्ष्णशृङ्गो भयावहः।
प्रावृषीव महामेघस्तोयपूर्णो नभस्तले ॥ २५ ॥

'उसने भैंसेका-सा रूप धारण कर रक्खा था। उसके सींग बड़े तीखे थे। वह बड़ा भयंकर था और वर्षाकालके आकाशमें छाये हुए जलसे भरे महान् मेघके समान जान पड़ता था ॥ २५ ॥

ततस्तु द्वारमागम्य किष्किन्धाया महाबलः।
ननर्द कम्पयन् भूमिं दुन्दुभिर्दुन्दुभिर्यथा ॥ २६ ॥

'वह महाबली दुन्दुभि किष्किन्धापुरीके द्वारपर आकर भूमिको कँपाता हुआ जोर-जोरसे गर्जना करने लगा, मानो दुन्दुभिका गम्भीर नाद हो रहा हो ॥ २६ ॥

समीपजान् द्रुमान् भञ्जन् वसुधां दारयन् खुरैः।
विषाणेनोल्लिखन् दर्पात् तद्द्वारं द्विरदो यथा ॥ २७ ॥

'वह आसपासके वृक्षोंको तोड़ता, धरतीको खुरोंसे खोदता और घमंडमें आकर पुरीके दरवाजेको सींगोंसे खरोंचता हुआ युद्धके लिये डट गया ॥ २७ ॥

अन्तःपुरगतो वाली श्रुत्वा शब्दममर्षणः।
निष्पपात सह स्त्रीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः ॥ २८ ॥

'वाली उस समय अन्तःपुरमें था। उस दानवकी गर्जना सुनकर वह अमर्षसे भर गया और तारोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति स्त्रियोंसे घिरा हुआ नगरके बाहर निकल आया ॥ २८ ॥

मितं व्यक्ताक्षरपदं तमुवाच स दुन्दुभिम्।
हरीणामीश्वरो वाली सर्वेषां वनचारिणाम् ॥ २९ ॥

'समस्त वनचारी वानरोंके राजा वालीने वहाँ सुस्पष्ट अक्षरों तथा पदोंसे युक्त परिमित वाणीमें उस दुन्दुभिसे कहा—॥ २९ ॥

किमर्थं नगरद्वारमिदं रुद्ध्वा विनर्दसे।
दुन्दुभे विदितो मेऽसि रक्ष प्राणान् महाबल ॥ ३० ॥

'महाबली दुन्दुभे! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। तुम इस नगरद्वारको रोककर क्यों गरज रहे हो? अपने प्राणोंकी रक्षा करो' ॥ ३० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा वानरेन्द्रस्य धीमतः।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं क्रोधात् संरक्तलोचनः ॥ ३१ ॥

'बुद्धिमान् वानरराज वालीका यह वचन सुनकर दुन्दुभिकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वह उससे इस प्रकार बोला—॥ ३१ ॥

न त्वं स्त्रीसंनिधौ वीर वचनं वक्तुमर्हसि।
मम युद्धं प्रयच्छाद्य ततो ज्ञास्यामि ते बलम् ॥ ३२ ॥

"वीर! तुम्हें स्त्रियोंके समीप ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। मुझे युद्धका अवसर दो, तब मैं तुम्हारा बल समझूँगा ॥ ३२ ॥

अथवा धारयिष्यामि क्रोधमद्य निशामिमाम्।
गृह्यतामुदयः स्वैरं कामभोगेषु वानर ॥ ३३ ॥

"अथवा वानर! मैं आजकी रातमें अपने क्रोधको रोके रहूँगा। तुम स्वेच्छानुसार कामभोगके लिये सूर्योदयतक समय मुझसे ले लो ॥ ३३ ॥

दीयतां सम्प्रदानं च परिष्वज्य च वानरान्।
सर्वशाखामृगेन्द्रस्त्वं संसादय सुहृज्जनम् ॥ ३४ ॥

"वानरोंको हृदयसे लगाकर जिसे जो कुछ देना हो दे दो; तुम समस्त कपियोंके राजा हो न? अपने सुहृदोंसे मिल लो, सलाह कर लो ॥ ३४ ॥

सुदृष्टां कुरु किष्किन्धां कुरुष्वात्मसमं पुरे।
क्रीडस्व च समं स्त्रीभिरहं ते दर्पशासनः ॥ ३५ ॥

"किष्किन्धापुरीको अच्छी तरह देख लो। अपने समान पुत्र आदिको इस नगरीके राज्यपर अभिषिक्त कर दो और स्त्रियोंके साथ आज जी भरकर क्रीड़ा कर लो। इसके बाद मैं तुम्हारा घमंड चूर कर दूँगा ॥ ३५ ॥

यो हि मत्तं प्रमत्तं वा भग्नं वा रहितं कृशम्।
हन्यात् स भ्रूणहा लोके त्वद्विधं मदमोहितम् ॥ ३६ ॥

'जो मधुपानसे मत्त, प्रमत्त (असावधान), युद्धसे भगे हुए, अस्त्ररहित, दुर्बल, तुम्हारे-जैसे स्त्रियोंसे घिरे हुए तथा मदमोहित पुरुषका वध करता है, वह जगत्‌में गर्भ-हत्यारा कहा जाता है' ॥ ३६ ॥

स प्रहस्याब्रवीन्मन्दं क्रोधात् तमसुरेश्वरम् ।
विसृज्य ताः स्त्रियः सर्वास्ताराप्रभृतिकास्तदा ॥ ३७ ॥

'यह सुनकर वाली मन्द-मन्द मुस्कराकर उन तारा आदि सब स्त्रियोंको दूर हटा उस असुरराजसे क्रोधपूर्वक बोला—॥

मत्तोऽयमिति मा मंस्था यद्यभीतोऽसि संयुगे ।
मदोऽयं सम्प्रहारेऽस्मिन् वीरपानं समर्थ्यताम् ॥ ३८ ॥

''यदि तुम युद्धके लिये निर्भय होकर खड़े हो तो यह न समझो कि यह वाली मधु पीकर मतवाला हो गया है । मेरे इस मदको तुम युद्धस्थलमें उत्साह-वृद्धिके लिये वीरोंद्वारा किया जानेवाला औषधविशेषका पान समझो' ॥ ३८ ॥

तमेवमुक्त्वा संक्रुद्धो मालामुत्क्षिप्य काञ्चनीम् ।
पित्रा दत्तां महेन्द्रेण युद्धाय व्यवतिष्ठत ॥ ३९ ॥

'उनसे ऐसा कहकर पिता इन्द्रकी दी हुई विजयदायिनी सुवर्णमालाको गलेमें डालकर वाली कुपित हो युद्धके लिये खड़ा हो गया ॥ ३९ ॥

विषाणयोर्गृहीत्वा तं दुन्दुभिं गिरिसंनिभम् ।
आविध्यत तथा वाली विनदन् कपिकुञ्जरः ॥ ४० ॥

'कपिश्रेष्ठ वालीने पर्वताकार दुन्दुभिके दोनों सींग पकड़कर उस समय गर्जना करते हुए उसे बारंबार घुमाया ॥

बलाद् व्यापादयांचक्रे ननर्द च महास्वनम् ।
श्रोत्राभ्यामथ रक्तं तु तस्य सुस्राव पात्यतः ॥ ४१ ॥

'फिर बलपूर्वक उसे धरतीपर दे मारा और बड़े जोरसे सिंहनाद किया । पृथ्वीपर गिराये जाते समय उसके दोनों कानोंसे खूनकी धाराएँ बहने लगीं ॥ ४१ ॥

तयोस्तु क्रोधसंरम्भात् परस्परजयैषिणोः ।
युद्धं समभवद् घोरं दुन्दुभेर्वालिनस्तथा ॥ ४२ ॥

'क्रोधके आवेशसे युक्त हो एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले उन दोनों दुन्दुभि और वालीमें घोर युद्ध होने लगा ॥ ४२ ॥

अयुध्यत तदा वाली शक्रतुल्यपराक्रमः ।
मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिः शिलाभिः पादपैस्तथा ॥ ४३ ॥

'उस समय इन्द्रके तुल्य पराक्रमी वाली दुन्दुभिपर मुक्कों, लातों, घुटनों, शिलाओं तथा वृक्षोंसे प्रहार करने लगा ॥ ४३ ॥

परस्परं घ्नतोस्तत्र वानरासुरयोस्तदा ।
आसीद्धीनोऽसुरो युद्धे शक्रसूनुर्व्यवर्धत ॥ ४४ ॥

'उस युद्धस्थलमें परस्पर प्रहार करते हुए वानर और असुर दोनों योद्धाओंमेंसे असुरकी शक्ति तो घटने लगी और इन्द्रकुमार वालीका बल बढ़ने लगा ॥ ४४ ॥

तं तु दुन्दुभिमुद्यम्य धरण्यामभ्यपातयत् ।
युद्धे प्राणहरे तस्मिन्निष्पिष्टो दुन्दुभिस्तदा ॥ ४५ ॥

'उन दोनोंमें वहाँ प्राणान्तकारी युद्ध छिड़ गया । उस समय वालीने दुन्दुभिको उठाकर पृथ्वीपर दे मारा, साथ ही अपने शरीरसे उसको दबा दिया, जिससे दुन्दुभि पिस गया ॥

स्रोतोभ्यो बहु रक्तं तु तस्य सुस्राव पात्यतः ।
पपात च महाबाहुः क्षितौ पञ्चत्वमागतः ॥ ४६ ॥

'गिरते समय उसके शरीरके समस्त छिद्रोंसे बहुत-सा रक्त बहने लगा । वह महाबाहु असुर पृथ्वीपर गिरा और मर गया ॥ ४६ ॥

तं तोलयित्वा बाहुभ्यां गतसत्त्वमचेतनम् ।
चिक्षेप वेगवान् वाली वेगेनैकेन योजनम् ॥ ४७ ॥

'जब उसके प्राण निकल गये और चेतना लुप्त हो गयी, तब वेगवान् वालीने उसे दोनों हाथोंसे उठाकर एक साधारण वेगसे एक योजन दूर फेंक दिया ॥ ४७ ॥

तस्य वेगप्रविद्धस्य वक्त्रात् क्षतजबिन्दवः ।
प्रपेतुर्मारुतोत्क्षिप्ता मतङ्गस्याश्रमं प्रति ॥ ४८ ॥

'वेगपूर्वक फेंके गये उस असुरके मुखसे निकली हुई रक्तकी बहुत-सी बूँदें हवाके साथ उड़कर मतंग मुनिके आश्रममें पड़ गयीं ॥ ४८ ॥

तान् दृष्ट्वा पतितांस्तत्र मुनिः शोणितविप्रुषः ।
क्रुद्धस्तस्य महाभाग चिन्तयामास को न्वयम् ॥ ४९ ॥

'महाभाग ! वहाँ पड़े हुए उन रक्त-बिन्दुओंको देखकर मतंगमुनि कुपित हो उठे और इस विचारमें पड़ गये कि 'यह कौन है, जो यहाँ रक्तके छींटे डाल गया है ? ॥४९॥

येनाहं सहसा स्पृष्टः शोणितेन दुरात्मना ।
कोऽयं दुरात्मा दुर्बुद्धिरकृतात्मा च बालिशः ॥ ५० ॥

'जिस दुष्टने सहसा मेरे शरीरसे रक्तका स्पर्श करा दिया, यह दुरात्मा, दुर्बुद्धि, अजितात्मा और मूर्ख कौन है ?' ॥५०॥

इत्युक्त्वा स विनिष्क्रम्य ददृशे मुनिसत्तमः ।
महिषं पर्वताकारं गतासुं पतितं भुवि ॥ ५१ ॥

'ऐसा कहकर मुनिवर मतंगने बाहर निकलकर देखा तो उन्हें एक पर्वताकार भैंसा पृथ्वीपर प्राणहीन होकर पड़ा दिखायी दिया ॥ ५१ ॥

स तु विज्ञाय तपसा वानरेण कृतं हि तत् ।
उत्ससर्ज महाशापं क्षेप्तारं वानरं प्रति ॥ ५२ ॥

'उन्होंने अपने तपोबलसे यह जान लिया कि यह एक वानरकी करतूत है । अतः उस लाशको फेंकनेवाले वानरके प्रति उन्होंने बड़ा भारी शाप दिया—॥ ५२ ॥

इह तेनाप्रवेष्टव्यं प्रविष्टस्य वधो भवेत्।
वनं मत्संश्रयं येन दूषितं रुधिरस्रवैः ॥ ५३ ॥

''जिसने खूनके छींटे डालकर मेरे निवासस्थान इस वनको अपवित्र कर दिया है, वह आजसे इस वनमें प्रवेश न करे। यदि इसमें प्रवेश करेगा तो उसका वध हो जायगा ॥ ५३ ॥

क्षिपता पादपाश्चेमे सम्भग्नाश्चासुरीं तनुम्।
समन्तादाश्रमं पूर्णं योजनं मामकं यदि ॥ ५४ ॥
आगमिष्यति दुर्बुद्धिर्व्यक्तं स न भविष्यति।

''इस असुरके शरीरको इधर फेंककर जिसने इन वृक्षोंको तोड़ डाला है, वह दुर्बुद्धि यदि मेरे आश्रमके चारों ओर पूरे एक योजनतककी भूमिमें पैर रक्खेगा तो अवश्य ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा ॥ ५४½ ॥

ये चास्य सचिवाः केचित् संश्रिता मामकं वनम् ॥५५॥
न च तैरिह वस्तव्यं श्रुत्वा यान्तु यथासुखम्।
तेऽपि वा यदि तिष्ठन्ति शपिष्ये तानपि ध्रुवम् ॥ ५६ ॥

''उस वालीके जो कोई सचिव भी मेरे इस वनमें रहते हों, उन्हें अब यहाँका निवास त्याग देना चाहिये। वे मेरी आज्ञा सुनकर सुखपूर्वक यहाँसे चले जायँ। यदि वे रहेंगे तो उन्हें भी निश्चय ही शाप दे दूँगा ॥ ५५-५६ ॥

वनेऽस्मिन् मामके नित्यं पुत्रवत् परिरक्षिते।
पत्राङ्कुरविनाशाय फलमूलाभवाय च ॥ ५७ ॥

''मैंने अपने इस वनकी सदा पुत्रकी भाँति रक्षा की है। जो इसके पत्र और अङ्कुरका विनाश तथा फल-मूलका अभाव करनेके लिये यहाँ रहेंगे, वे अवश्य शापके भागी होंगे ॥५७॥

दिवसश्चाद्य मर्यादा यं द्रष्टा श्वोऽस्मि वानरम्।
बहुवर्षसहस्राणि स वै शैलो भविष्यति ॥ ५८ ॥

''आजका दिन उन सबके आने-जाने या रहनेकी अन्तिम अवधि है—आजभरके लिये मैं उन सबको छुट्टी देता हूँ। कलसे जो कोई वानर यहाँ मेरी दृष्टिमें पड़ जायगा, वह कई हजार वर्षोंके लिये पत्थर हो जायगा' ॥ ५८ ॥

ततस्ते वानराः श्रुत्वा गिरं मुनिसमीरिताम्।
निश्चक्रमुर्वनात् तस्मात् तान् दृष्ट्वा वालिरब्रवीत् ॥५९॥

'मुनिके इस वचनको सुनकर वे सभी वानर मतङ्गवनसे निकल गये। उन्हें देखकर वालीने पूछा—॥५९॥

किं भवन्तः समस्ताश्च मतङ्गवनवासिनः।
मत्समीपमनुप्राप्ता अपि स्वस्ति वनौकसाम् ॥ ६० ॥

''मतङ्गवनमें निवास करनेवाले आप सभी वानर मेरे पास क्यों चले आये? वनवासियोंकी कुशल तो है न?' ॥६०॥

ततस्ते कारणं सर्वं तथा शापं च वालिनः।
शशंसुर्वानराः सर्वे वालिने हेममालिने ॥ ६१ ॥

'तब उन सभी वानरोंने सुवर्णमालाधारी वालीसे अपने आनेका सब कारण बताया तथा जो वालीको शाप हुआ था, उसे भी कह सुनाया ॥ ६१ ॥

एतच्छ्रुत्वा तदा वाली वचनं वानरेरितम्।
स महर्षिं समासाद्य याचते स्म कृताञ्जलिः ॥ ६२ ॥

'वानरोंकी कही हुई यह बात सुनकर वाली महर्षि मतंगके पास गया और हाथ जोड़कर क्षमा-याचना करने लगा ॥६२॥

महर्षिस्तमनादृत्य प्रविवेशाश्रमं प्रति।
शापधारणभीतस्तु वाली विह्वलतां गतः ॥ ६३ ॥

'किंतु महर्षिने उसका आदर नहीं किया। वे चुपचाप अपने आश्रममें चले गये। इधर वाली शाप प्राप्त होनेसे भयभीत हो बहुत ही व्याकुल हो गया ॥ ६३ ॥

ततः शापभयाद् भीतो ऋष्यमूकं महागिरिम्।
प्रवेष्टुं नेच्छति हरिर्द्रष्टुं वापि नरेश्वर ॥ ६४ ॥

'नरेश्वर! तबसे उस शापके भयसे डरा हुआ वाली इस महान् पर्वत ऋष्यमूकके स्थानोंमें न तो कभी प्रवेश करना चाहता है और न इस पर्वतको देखना ही चाहता है ॥६४॥

तस्याप्रवेशं ज्ञात्वाहमिदं राम महावनम्।
विचरामि सहामात्यो विषादेन विवर्जितः ॥ ६५ ॥

'श्रीराम! यहाँ उसका प्रवेश होना असम्भव है, यह जानकर मैं अपने मन्त्रियोंके साथ इस महान् वनमें विषाद-शून्य होकर विचरता हूँ ॥ ६५ ॥

एषोऽस्थिनिचयस्तस्य दुन्दुभेः सम्प्रकाशते।
वीर्योत्सेकान्निरस्तस्य गिरिकूटनिभो महान् ॥ ६६ ॥

'यह रहा दुन्दुभिकी हड्डियोंका ढेर, जो एक महान् पर्वत-शिखरके समान जान पड़ता है। वालीने अपने बलके घमंडमें आकर दुन्दुभिके शरीरको इतनी दूर फेंका था ॥ ६६ ॥

इमे च विपुलाः सालाः सप्त शाखावलम्बिनः।
यत्रैकं घटते वाली निष्पत्रयितुमोजसा ॥ ६७ ॥

'ये सात सालके विशाल एवं मोटे वृक्ष हैं, जो अनेक उत्तम शाखाओंसे सुशोभित होते हैं। वाली इनमेंसे एक-एकको बलपूर्वक हिलाकर पत्रहीन कर सकता है ॥ ६७ ॥

एतदस्यासमं वीर्यं मया राम प्रकाशितम्।
कथं तं वालिनं हन्तुं समरे शक्ष्यसे नृप ॥ ६८ ॥

'श्रीराम! यह मैंने वालीके अनुपम पराक्रमको प्रकाशित किया है। नरेश्वर! आप उस वालीको समराङ्गणमें कैसे मार सकेंगे' ॥ ६८ ॥

तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं प्रहसँल्लक्ष्मणोऽब्रवीत्।
कस्मिन् कर्मणि निर्वृत्ते श्रद्दध्या वालिनो वधम् ॥ ६९ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणको बड़ी हँसी आयी। वे

हँसते हुए ही बोले—'कौन-सा काम कर देनेपर तुम्हें विश्वास होगा कि श्रीरामचन्द्रजी वालीका वध कर सकेंगे' ॥ ६९ ॥

तमुवाचाथ सुग्रीवः सप्त सालानिमान् पुरा।
एवमेकैकशो वाली विव्याधाथ स चासकृत् ॥ ७० ॥
रामो निर्दारयेदेषां बाणेनैकेन च द्रुमम्।
वालिनं निहतं मन्ये दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम् ॥ ७१ ॥

तब सुग्रीवने उनसे कहा—'पूर्वकालमें वालीने सालके इन सातों वृक्षोंको एक-एक करके कई बार बींध डाला है। अतः श्रीरामचन्द्रजी भी यदि इनमेंसे किसी एक वृक्षको एक ही बाणसे छेद डालेंगे तो इनका पराक्रम देखकर मुझे वालीके मारे जानेका विश्वास हो जायगा ॥ ७०-७१ ॥

हतस्य महिषस्यास्थि पादेनैकेन लक्ष्मण।
उद्यम्य प्रक्षिपेच्चापि तरसा द्वे धनुःशते ॥ ७२ ॥

'लक्ष्मण! यदि इस महिषरूपधारी दुन्दुभिकी हड्डीको एक ही पैरसे उठाकर बलपूर्वक दो सौ धनुषकी दूरीपर फेंक सकें तो भी मैं यह मान लूँगा कि इनके हाथसे वालीका वध हो सकता है' ॥ ७२ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवो रामं रक्तान्तलोचनम्।
ध्यात्वा मुहूर्तं काकुत्स्थं पुनरेव वचोऽब्रवीत् ॥ ७३ ॥

जिनके नेत्रप्रान्त कुछ-कुछ लाल थे, उन श्रीरामसे ऐसा कहकर सुग्रीव दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारमें पड़े रहे। इसके बाद वे ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामसे फिर बोले—॥७३॥

शूरश्च शूरमानी च प्रख्यातबलपौरुषः।
बलवान् वानरो वाली संयुगेष्वपराजितः ॥ ७४ ॥

'वाली शूर है और स्वयं भी उसे अपने शौर्यपर अभिमान है। उसके बल और पुरुषार्थ विख्यात हैं। वह बलवान् वानर अबतकके युद्धोंमें कभी पराजित नहीं हुआ है ॥ ७४ ॥

दृश्यन्ते चास्य कर्माणि दुष्कराणि सुरैरपि।
यानि संचिन्त्य भीतोऽहमृश्यमूकमुपाश्रितः ॥ ७५ ॥

इसके ऐसे-ऐसे कर्म देखे जाते हैं, जो देवताओंके लिये दुष्कर हैं और जिनका चिन्तन करके भयभीत हो मैंने इस ऋष्यमूक पर्वतकी शरण ली है ॥ ७५ ॥

तमजय्यमधृष्यं च वानरेन्द्रममर्षणम्।
विचिन्तयन्नमुं चापि ऋष्यमूकममुं त्वहम् ॥ ७६ ॥

'वानरराज वालीको जीतना दूसरोंके लिये असम्भव है। उसपर आक्रमण अथवा उसका तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता। वह शत्रुकी ललकारको नहीं सह सकता। जब मैं उसके प्रभावका चिन्तन करता हूँ, तब इस ऋष्यमूक पर्वतको एक क्षणके लिये भी छोड़ नहीं पाता हूँ ॥ ७६ ॥

उद्विग्नः शङ्कितश्चाहं विचरामि महावने।
नुरक्तैः सहामात्यैर्हनुमत्प्रमुखैर्वरैः ॥ ७७ ॥

'ये हनुमान् आदि मेरे श्रेष्ठ सचिव मुझमें अनुराग रखनेवाले हैं। इनके साथ रहकर भी मैं इस विशाल वनमें वालीसे उद्विग्न और शङ्कित होकर ही विचरता हूँ' ॥ ७७ ॥

उपलब्धं च मे श्लाघ्यं सन्मित्रं मित्रवत्सल।
त्वामहं पुरुषव्याघ्र हिमवन्तमिवाश्रितः ॥ ७८ ॥

मित्रवत्सल! आप मुझे परम स्पृहणीय श्रेष्ठ मित्र मिल गये हैं। पुरुषसिंह! आप मेरे लिये हिमालयके समान हैं और मैं आपका आश्रय ले चुका हूँ (इसलिये अब मुझे निर्भय हो जाना चाहिये) ॥ ७८ ॥

किं तु तस्य बलज्ञोऽहं दुर्भ्रातुर्बलशालिनः।
अप्रत्यक्षं तु मे वीर्यं समरे तव राघव ॥ ७९ ॥

'किंतु रघुनन्दन! मैं उस बलशाली दुष्ट भ्राताके बल-पराक्रमको जानता हूँ और समरभूमिमें आपका पराक्रम मैंने प्रत्यक्ष नहीं देखा है' ॥ ७९ ॥

न खल्वहं त्वां तुलये नावमन्ये न भीषये।
कर्मभिस्तस्य भीमैश्च कातर्यं जनितं मम ॥ ८० ॥

'प्रभो! अवश्य ही मैं वालीसे आपकी तुलना नहीं करता हूँ। न तो आपको डराता हूँ और न आपका अपमान ही करता हूँ। वालीके भयानक कर्मोंने ही मेरे हृदयमें कातरता उत्पन्न कर दी है ॥ ८० ॥

कामं राघव ते वाणी प्रमाणं धैर्यमाकृतिः।
सूचयन्ति परं तेजो भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ८१ ॥

'रघुनन्दन! निश्चय ही आपकी वाणी मेरे लिये प्रमाणभूत है—विश्वसनीय है; क्योंकि आपका धैर्य और आपकी यह दिव्य आकृति आदि गुण राखसे ढकी हुई आगके समान आपके उत्कृष्ट तेजको सूचित कर रहे हैं' ॥ ८१ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य महात्मनः।
स्मितपूर्वमथो रामः प्रत्युवाच हरिं प्रति ॥ ८२ ॥

'महात्मा सुग्रीवकी यह बात सुनकर भगवान् श्रीराम पहले तो मुस्कराये। फिर उस वानरकी बातका उत्तर देते हुए उससे बोले'—॥ ८२ ॥

यदि न प्रत्ययोऽस्मासु विक्रमे तव वानर।
प्रत्ययं समरे श्लाघ्यमहमुत्पादयामि ते ॥ ८३ ॥

'वानर! यदि तुम्हें इस समय पराक्रमके विषयमें हम लोगोंपर विश्वास नहीं होता तो युद्धके समय हम तुम्हें उसका उत्तम विश्वास करा देंगे ॥ ८३ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सान्त्वयँल्लक्ष्मणाग्रजः।
राघवो दुन्दुभेः कायं पादाङ्गुष्ठेन लीलया ॥ ८४ ॥
तोलयित्वा महाबाहुश्चिक्षेप दशयोजनम्।
असुरस्य तनुं शुष्कां पादाङ्गुष्ठेन वीर्यवान् ॥ ८५ ॥

ऐसा कहकर सुग्रीवको सान्त्वना देते हुए लक्ष्मणके बड़े

भाई महाबाहु बलवान् श्रीरघुनाथजीने खिलवाड़में ही दुन्दुभिके शरीरको अपने पैरके अँगूठेसे टाँग लिया और उस असुरके उस सूखे हुए कङ्कालको पैरके अँगूठेसे ही दस योजन दूर फेंक दिया ॥ ८४-८५ ॥

क्षिप्तं दृष्ट्वा ततः कायं सुग्रीवः पुनरब्रवीत् ।
लक्ष्मणस्याग्रतो रामं तपन्तमिव भास्करम् ।
हरीणामग्रतो वीरमिदं वचनमर्थवत् ॥ ८६ ॥

उसके शरीरको फेंका गया देख सुग्रीवने लक्ष्मण और वानरोंके सामने ही तपते हुए सूर्यके समान तेजस्वी वीर श्रीरामचन्द्रजीसे पुनः यह अर्थभरी बात कही—॥ ८६ ॥

आर्द्रः समांसः प्रत्यग्रः क्षिप्तः कायः पुरा सखे ।
परिश्रान्तेन मत्तेन भ्रात्रा मे वालिना तदा ॥ ८७ ॥

'सखे ! मेरा भाई वाली उस समय मदमत्त और युद्धसे थका हुआ था और दुन्दुभिका यह शरीर खूनसे भीगा हुआ, मांसयुक्त तथा नया था । इस दशामें उसने इस शरीरको पूर्वकालमें दूर फेंका था' ॥ ८७ ॥

लघुः सम्प्रति निर्मांसस्तृणभूतश्च राघव ।
क्षिप्त एवं प्रहर्षेण भवता रघुनन्दन ॥ ८८ ॥

'परंतु रघुनन्दन ! इस समय यह मांसहीन होनेके कारण तिनकेके समान हल्का हो गया है और आपने हर्ष एवं उत्साहसे युक्त होकर इसे फेंका है' ॥ ८८ ॥

नात्र शक्यं बलं ज्ञातुं तव वा तस्य वाधिकम् ।
आर्द्रं शुष्कमिति ह्येतत् सुमहद् राघवान्तरम् ॥ ८९ ॥

'अतः श्रीराम ! इस लाशको फेंकनेपर भी यह नहीं जाना जा सकता कि आपका बल अधिक है या उसका; क्योंकि वह गीला था और यह सूखा । यह इन दोनों अवस्थाओंमें महान् अन्तर है' ॥ ८९ ॥

स एव संशयस्तात तव तस्य च यद्बलम् ।
सालमेकं विनिर्भिद्य भवेद् व्यक्तिर्बलाबले ॥ ९० ॥

'तात ! आपके और उसके बलमें वही संशय अबतक बना रह गया । अब इस एक सालवृक्षको विदीर्ण कर देनेपर दोनोंके बलाबलका स्पष्टीकरण हो जायगा' ॥ ९० ॥

कृत्वैतत् कार्मुकं सज्यं हस्तिहस्तमिवाततम् ।
आकर्णपूर्णमायम्य विसृजस्व महाशरम् ॥ ९१ ॥

आपका यह धनुष हाथीकी फैली हुई सूँड़के समान विशाल है । आप इसपर प्रत्यञ्चा चढ़ाइये और इसे कानतक खींचकर सालवृक्षको लक्ष्य करके एक विशाल बाण छोड़िये ॥ ९१ ॥

इमं हि सालं प्रहितस्त्वया शरो
न संशयोऽत्रास्ति विदारयिष्यति ।
अलं विमर्शेन मम प्रियं ध्रुवं
कुरुष्व राजन् प्रतिशापितो मया ॥ ९२ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि आपका छोड़ा हुआ बाण इस सालवृक्षको विदीर्ण कर देगा । राजन् ! अब विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । मैं अपनी शपथ दिलाकर कहता हूँ, आप मेरा यह प्रिय कार्य अवश्य कीजिये ॥ ९२ ॥

यथा हि तेजःसु वरः सदा रवि-
र्यथा हि शैलो हिमवान् महाद्रिषु ।
यथा चतुष्पात्सु च केसरी वर-
स्तथा नराणामसि विक्रमे वरः ॥ ९३ ॥

'जैसे सम्पूर्ण तेजोंमें सदा सूर्यदेव ही श्रेष्ठ हैं, जैसे बड़े-बड़े पर्वतोंमें गिरिराज हिमवान् श्रेष्ठ हैं और जैसे चौपायोंमें सिंह श्रेष्ठ है, उसी प्रकार पराक्रमके विषयमें सब मनुष्योंमें आप ही श्रेष्ठ हैं' ॥ ९३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा सात साल-वृक्षोंका भेदन, श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीवका किष्किन्धामें आकर वालीको ललकारना और युद्धमें उससे पराजित होकर मतंगवनमें भाग जाना, वहाँ श्रीरामका उन्हें आश्वासन देना और गलेमें पहचानके लिये गजपुष्पी लता डालकर उन्हें पुनः युद्धके लिये भेजना

एतच्च वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य सुभाषितम् ।
प्रत्ययार्थं महातेजा रामो जग्राह कार्मुकम् ॥ १ ॥

सुग्रीवके सुन्दर ढंगसे कहे हुए इस वचनको सुनकर महातेजस्वी श्रीरामने उन्हें विश्वास दिलानेके लिये धनुष हाथमें लिया ॥ १ ॥

स गृहीत्वा धनुर्घोरं शरमेकं च मानदः ।

सालमुद्दिश्य चिक्षेप पूरयन् स रवैर्दिशः ॥ २ ॥

दूसरोंको मान देनेवाले श्रीरघुनाथजीने वह भयंकर धनुष और एक बाण लेकर धनुषकी टंकारसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए उस बाणको सालवृक्षकी ओर छोड़ दिया ॥ २ ॥

स विसृष्टो बलवता बाणः स्वर्णपरिष्कृतः।
भित्त्वा सालान् गिरिप्रस्थं सप्तभूमिं विवेश ह ॥ ३ ॥

उन बलवान् वीरशिरोमणिके द्वारा छोड़ा गया वह सुवर्णभूषित बाण उन सातों सालवृक्षोंको एक ही साथ बींधकर पर्वत तथा पृथ्वीके सातों तलोंको छेदता हुआ पातालमें चला गया ॥ ३ ॥

सायकस्तु मुहूर्तेन सालान् भित्त्वा महाजवः।
निष्पत्य च पुनस्तूर्णं तमेव प्रविवेश ह ॥ ४ ॥

इस प्रकार एक ही मुहूर्तमें उन सबका भेदन करके वह महान् वेगशाली बाण पुनः वहाँसे निकलकर उनके तरकसमें ही प्रविष्ट हो गया ॥ ४ ॥

तान् दृष्ट्वा सप्त निर्भिन्नान् सालान् वानरपुङ्गवः।
रामस्य शरवेगेन विस्मयं परमं गतः ॥ ५ ॥

श्रीरामके बाणके वेगसे उन सातों सालवृक्षोंको विदीर्ण हुआ देख वानरशिरोमणि सुग्रीवको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ५ ॥

स मूर्ध्ना न्यपतद् भूमौ प्रलम्बीकृतभूषणः।
सुग्रीवः परमप्रीतो राघवाय कृताञ्जलिः ॥ ६ ॥

साथ ही उन्हें मन-ही-मन बड़ी प्रसन्नता हुई। सुग्रीवने हाथ जोड़कर धरतीपर माथा टेक दिया और श्रीरघुनाथजीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रणामके लिये झुकते समय उनके कण्ठहारादि भूषण लटकते हुए दिखायी देते थे ॥ ६ ॥

इदं चोवाच धर्मज्ञं कर्मणा तेन हर्षितः।
रामं सर्वास्त्रविदुषां श्रेष्ठं शूरमवस्थितम् ॥ ७ ॥

श्रीरामके उस महान् कर्मसे अत्यन्त प्रसन्न हो उन्होंने सामने खड़े हुए सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, धर्मज्ञ, शूरवीर श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार कहा—॥ ७ ॥

सेन्द्रानपि सुरान् सर्वांस्त्वं बाणैः पुरुषर्षभ।
समर्थः समरे हन्तुं किं पुनर्वालिनं प्रभो ॥ ८ ॥

'पुरुषप्रवर! भगवन्! आप तो अपने बाणोंसे समराङ्गणमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंका वध भी करनेमें समर्थ हैं। फिर वालीको मारना आपके लिये कौन बड़ी बात है? ॥ ८ ॥

येन सप्त महासाला गिरिर्भूमिश्च दारिताः।
बाणेनैकेन काकुत्स्थ स्थाता ते को रणाग्रतः ॥ ९ ॥

'काकुत्स्थ! जिन्होंने सात बड़े-बड़े सालवृक्ष, पर्वत और पृथ्वीको भी एक ही बाणसे विदीर्ण कर डाला, उन्हीं आपके समक्ष युद्धके मुहानेपर कौन ठहर सकता है ॥ ९ ॥

अद्य मे विगतः शोकः प्रीतिरद्य परा मम।
सुहृदं त्वां समासाद्य महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ १० ॥

'महेन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी आपको सुहृद्के रूपमें पाकर आज मेरा सारा शोक दूर हो गया। आज मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १० ॥

तमद्यैव प्रियार्थं मे वैरिणं भ्रातृरूपिणम्।
वालिनं जहि काकुत्स्थ मया बद्धोऽयमञ्जलिः ॥ ११ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! मैं हाथ जोड़ता हूँ। आप आज ही मेरा प्रिय करनेके लिये उस वालीका, जो भाईके रूपमें मेरा शत्रु है, वध कर डालिये' ॥ ११ ॥

ततो रामः परिष्वज्य सुग्रीवं प्रियदर्शनम्।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो लक्ष्मणानुगतं वचः ॥ १२ ॥

सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीको लक्ष्मणके समान प्रिय हो गये थे। उनकी बात सुनकर महाप्राज्ञ श्रीरामने अपने उस प्रिय सुहृद्को हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १२ ॥

अस्माद् गच्छाम किष्किन्धां क्षिप्रं गच्छ त्वमग्रतः।
गत्वा चाह्वय सुग्रीव वालिनं भ्रातृगन्धिनम् ॥ १३ ॥

'सुग्रीव! हमलोग शीघ्र ही इस स्थानसे किष्किन्धाको चलते हैं। तुम आगे जाओ और जाकर व्यर्थ ही भाई कहलानेवाले वालीको युद्धके लिये ललकारो' ॥ १३ ॥

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिनः पुरीम्।
वृक्षैरात्मानमावृत्य ह्यतिष्ठन् गहने वने ॥ १४ ॥

तदनन्तर वे सब लोग वालीकी राजधानी किष्किन्धापुरीमें गये और वहाँ गहन वनके भीतर वृक्षोंकी आड़में अपनेको छिपाकर खड़े हो गये ॥ १४ ॥

सुग्रीवोऽप्यनदद् घोरं वालिनो ह्वानकारणात्।
गाढं परिहितो वेगान्नादैर्भिन्दन्निवाम्बरम् ॥ १५ ॥

सुग्रीवने लँगोटसे अपनी कमर खूब कस ली और वालीको बुलानेके लिये भयंकर गर्जना की। वेगपूर्वक किये हुए उस सिंहनादसे मानो वे आकाशको फाड़े डालते थे ॥ १५ ॥

तं श्रुत्वा निनदं भ्रातुः क्रुद्धो वाली महाबलः।
निष्पपात सुसंरब्धो भास्करोऽस्ततटादिव ॥ १६ ॥

भाईका सिंहनाद सुनकर महाबली वालीको बड़ा क्रोध हुआ। वह अमर्षमें भरकर अस्ताचलसे नीचे जानेवाले सूर्यके समान बड़े वेगसे घरसे निकला ॥ १६ ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं वालिसुग्रीवयोरभूत्।
गगने ग्रहयोर्घोरं बुधाङ्गारकयोरिव ॥ १७ ॥

फिर तो वाली और सुग्रीवमें बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया, मानो आकाशमें बुध और मङ्गल—इन दोनों ग्रहोंमें घोर संग्राम हो रहा हो ॥ १७ ॥

तलैरशनिकल्पैश्च वज्रकल्पैश्च मुष्टिभिः।
जघ्नतुः समरेऽन्योन्यं भ्रातरौ क्रोधमूर्च्छितौ ॥ १८ ॥

वे दोनों भाई क्रोधसे मूर्च्छित हो एक-दूसरेपर वज्र और अशनिके समान तमाचों और घूँसोंका प्रहार करने लगे ॥१८॥

ततो रामो धनुष्पाणिस्तावुभौ समुदैक्षत।
अन्योन्यसदृशौ वीरावुभौ देवाविवाश्विनौ ॥ १९ ॥

उसी समय श्रीरामचन्द्रजीने धनुष हाथमें लिया और उन दोनोंकी ओर देखा। वे दोनों वीर अश्विनीकुमारोंकी भाँति परस्पर मिलते-जुलते दिखायी दिये ॥ १९ ॥

यन्नावगच्छत् सुग्रीवं वालिनं वापि राघवः।
ततो न कृतवान् बुद्धिं मोक्तुमन्तकरं शरम् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजीको यह पता न चला कि इनमें कौन सुग्रीव है और कौन वाली; इसलिये उन्होंने अपना वह प्राणान्तकारी बाण छोड़नेका विचार स्थगित कर दिया ॥ २० ॥

एतस्मिन्नन्तरे भग्नः सुग्रीवस्तेन वालिना।
अपश्यन् राघवं नाथमृष्यमूकं प्रदुद्रुवे ॥ २१ ॥

इसी बीचमें वालीने सुग्रीवके पाँव उखाड़ दिये। वे अपने रक्षक श्रीरघुनाथजीको न देखकर ऋष्यमूक पर्वतकी ओर भागे ॥ २१ ॥

क्लान्तो रुधिरसिक्ताङ्गः प्रहारैर्जर्जरीकृतः।
वालिनाभिद्रुतः क्रोधात् प्रविवेश महावनम् ॥ २२ ॥

वे बहुत थक गये थे। उनका सारा शरीर लहूलुहान और प्रहारोंसे जर्जर हो रहा था। इतनेपर भी वालीने क्रोधपूर्वक उनका पीछा किया। किंतु वे मतंग मुनिके महान् वनमें घुस गये ॥ २२ ॥

तं प्रविष्टं वनं दृष्ट्वा वाली शापभयात् ततः।
मुक्तो ह्यसि त्वमित्युक्त्वा स निवृत्तो महाबलः॥ २३ ॥

सुग्रीवको उस वनमें प्रविष्ट हुआ देख महाबली वाली शापके भयसे वहाँ नहीं गया और 'जाओ तुम बच गये' ऐसा कहकर वहाँसे लौट आया ॥ २३ ॥

राघवोऽपि सह भ्रात्रा सह चैव हनूमता।
तदेव वनमागच्छत् सुग्रीवो यत्र वानरः ॥ २४ ॥

इधर श्रीरघुनाथजी भी अपने भाई लक्ष्मण तथा श्रीहनुमान्‌जीके साथ उसी समय वनमें आ गये, जहाँ वानर सुग्रीव विद्यमान थे ॥ २४ ॥

तं समीक्ष्यागतं रामं सुग्रीवः सहलक्ष्मणम्।
ह्रीमान् दीनमुवाचेदं वसुधामवलोकयन् ॥ २५ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामको आया देख सुग्रीवको बड़ी लज्जा हुई और वे पृथ्वीकी ओर देखते हुए दीन वाणीमें उनसे बोले—॥ २५ ॥

आह्वयस्वेति मामुक्त्वा दर्शयित्वा च विक्रमम्।
वैरिणा घातयित्वा च किमिदानीं त्वया कृतम् ॥ २६ ॥
तामेव वेलां वक्तव्यं त्वया राघव तत्त्वतः।
वालिनं न निहन्मीति ततो नाहमितो व्रजे ॥ २७ ॥

'रघुनन्दन ! आपने अपना पराक्रम दिखाया और मुझे यह कहकर भेज दिया कि जाओ, वालीको युद्धके लिये ललकारो, यह सब हो जानेपर आपने शत्रुसे पिटवाया और स्वयं छिप गये। बताइये, इस समय आपने ऐसा क्यों किया ? आपको उसी समय सच-सच बता देना चाहिये था कि मैं वालीको नहीं मारूँगा। ऐसी दशामें मैं यहाँसे उसके पास जाता ही नहीं' ॥ २६-२७ ॥

तस्य चैवं ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
करुणं दीनया वाचा राघवः पुनरब्रवीत् ॥ २८ ॥

महामना सुग्रीव जब दीन वाणीद्वारा इस प्रकार करुणाजनक बात कहने लगे, तब श्रीराम फिर उनसे बोले—॥२८॥

सुग्रीव श्रूयतां तात क्रोधश्च व्यपनीयताम्।
कारणं येन बाणोऽयं स मया न विसर्जितः ॥ २९ ॥

'तात सुग्रीव ! मेरी बात सुनो, क्रोधको अपने मनसे निकाल दो। मैंने क्यों नहीं बाण चलाया, इसका कारण बतलाता हूँ ॥ २९ ॥

अलंकारेण वेषेण प्रमाणेन गतेन च।
त्वं च सुग्रीव वाली च सदृशौ स्थः परस्परम् ॥ ३० ॥

'सुग्रीव ! वेशभूषा, कद और चाल-ढालमें तुम और वाली—दोनों एक-दूसरेसे मिलते-जुलते हो ॥ ३० ॥

स्वरेण वर्चसा चैव प्रेक्षितेन च वानर।
विक्रमेण च वाक्यैश्च व्यक्तिं वां नोपलक्षये ॥ ३१ ॥

'स्वर, कान्ति, दृष्टि, पराक्रम और बोलचालके द्वारा भी मुझे तुम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता ॥ ३१ ॥

ततोऽहं रूपसादृश्यान्मोहितो वानरोत्तम।
नोत्सृजामि महावेगं शरं शत्रुनिबर्हणम् ॥ ३२ ॥

'वानरश्रेष्ठ ! तुम दोनोंके रूपकी इतनी समानता देखकर मैं मोहमें पड़ गया—तुम्हें पहचान न सका; इसीलिये मैंने अपना महान् वेगशाली शत्रुसंहारक बाण नहीं छोड़ा ॥ ३२ ॥

जीवितान्तकरं घोरं सादृश्यात् तु विशङ्कितः ।
मूलघातो न नौ स्याद्धि द्वयोरिति कृतो मया ॥ ३३ ॥

'मेरा वह भयंकर बाण शत्रुके प्राण लेनेवाला था, इसलिये तुम दोनोंकी समानतासे संदेहमें पड़कर मैंने उस बाणको नहीं छोड़ा । सोचा, कहीं ऐसा न हो कि हम दोनोंके मूल उद्देश्यका ही विनाश हो जाय ॥ ३३ ॥

त्वयि वीर विपन्ने हि अज्ञानाल्लाघवान्मया ।
मौढ्यं च मम बाल्यं च ख्यापितं स्यात् कपीश्वर ॥ ३४ ॥

वीर ! वानरराज ! यदि अनजानमें या जल्दबाजीके कारण मेरे बाणसे तुम्हीं मारे जाते तो मेरी बालोचित चपलता और मूढता ही सिद्ध होती ॥ ३४ ॥

दत्ताभयवधो नाम पातकं महदद्भुतम् ।
अहं च लक्ष्मणश्चैव सीता च वरवर्णिनी ॥ ३५ ॥
त्वदधीना वयं सर्वे वनेऽस्मिञ्शरणं भवान् ।
तस्माद् युध्यस्व भूयस्त्वं मा माशङ्कीश्च वानर ॥ ३६ ॥

'जिसको अभय-दान दे दिया गया हो, उसका वध करनेसे बड़ा भारी पाप होता है; यह एक अद्भुत पातक है । इस समय मैं, लक्ष्मण और सुन्दरी सीता–सब तुम्हारे अधीन हैं। इस वनमें तुम्हीं हमलोगोंके आश्रय हो; इसलिये वानरराज ! शङ्का न करो; पुनः चलकर युद्ध प्रारम्भ करो ॥ ३५-३६ ॥

एतन्मुहूर्ते तु मया पश्य वालिनमाहवे ।
निरस्तमिषुणैकेन चेष्टमानं महीतले ॥ ३७ ॥

'तुम इसी मुहूर्तमें वालीको मेरे एक ही बाणका निशाना बनकर धरतीपर लोटता देखोगे ॥ ३७ ॥

अभिज्ञानं कुरुष्व त्वमात्मनो वानरेश्वर ।
येन त्वामभिजानीयां द्वन्द्वयुद्धमुपागतम् ॥ ३८ ॥

'वानरेश्वर ! अपनी पहचानके लिये तुम कोई चिह्न धारण कर लो, जिससे द्वन्द्वयुद्धमें प्रवृत्त होनेपर मैं तुम्हें पहचान सकूँ' ॥ ३८ ॥

गजपुष्पीमिमां फुल्लामुत्पाट्य शुभलक्षणाम् ।
कुरु लक्ष्मण कण्ठेऽस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ ३९ ॥

(सुग्रीवसे ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसे बोले–) 'लक्ष्मण ! यह उत्तम लक्षणोंसे युक्त गजपुष्पी लता फूल रही है । इसे उखाड़कर तुम महामना सुग्रीवके गलेमें पहना दो' ॥

ततो गिरितटे जातामुत्पाट्य कुसुमायुताम् ।
लक्ष्मणो गजपुष्पीं तां तस्य कण्ठे व्यसर्जयत् ॥ ४० ॥

यह आज्ञा पाकर लक्ष्मणने पर्वतके किनारे उत्पन्न हुई फूलोंसे भरी वह गजपुष्पी लता उखाड़कर सुग्रीवके गलेमें डाल दिया ॥ ४० ॥

स तया शुशुभे श्रीमाँल्लतया कण्ठसक्तया ।
मालयेव बलाकानां ससंध्य इव तोयदः ॥ ४१ ॥

गलेमें पड़ी हुई उस लतासे श्रीमान् सुग्रीव बकपंक्तिसे अलंकृत संध्याकालके मेघकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ ४१ ॥

विभ्राजमानो वपुषा रामवाक्यसमाहितः ।
जगाम सह रामेण किष्किन्धां पुनराप सः ॥ ४२ ॥

श्रीरामके वचनसे आश्वासन पाकर अपने सुन्दर शरीरसे शोभा पानेवाले सुग्रीव श्रीरघुनाथजीके साथ फिर किष्किन्धापुरीमें जा पहुँचे ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

श्रीराम आदिका मार्गमें वृक्षों, विविध जन्तुओं, जलाशयों तथा सप्तजन आश्रमका दूरसे दर्शन करते हुए पुनः किष्किन्धापुरीमें पहुँचना

ऋष्यमूकात् स धर्मात्मा किष्किन्धां लक्ष्मणाग्रजः ।
जगाम सह सुग्रीवो वालिविक्रमपालिताम् ॥ १ ॥

लक्ष्मणके बड़े भाई धर्मात्मा श्रीराम सुग्रीवको साथ लेकर पुनः ऋष्यमूकसे उस किष्किन्धापुरीकी ओर चले, जो वालीके पराक्रमसे सुरक्षित थी ॥ १ ॥

समुद्यम्य महच्चापं रामः काञ्चनभूषितम् ।
शरांश्चादित्यसंकाशान् गृहीत्वा रणसाधकान् ॥ २ ॥

अपने सुवर्णभूषित विशाल धनुषको उठाकर और युद्धमें सफलता दिखानेवाले सूर्यतुल्य तेजस्वी बाणोंको लेकर श्रीराम वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २ ॥

अग्रतस्तु ययौ तस्य राघवस्य महात्मनः ।
सुग्रीवः संहतग्रीवो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ ३ ॥

महात्मा रघुनाथजीके आगे-आगे सुगठित ग्रीवावाले सुग्रीव और महाबली लक्ष्मण चल रहे थे ॥ ३ ॥

पृष्ठतो हनुमान् वीरो नलो नीलश्च वीर्यवान्।
तारश्चैव महातेजा हरियूथपयूथपः॥ ४॥

और उनके पीछे वीर हनुमान्, नल, पराक्रमी नील तथा वानर-यूथपोंके भी यूथपति महातेजस्वी तार चल रहे थे॥४॥

ते वीक्षमाणा वृक्षांश्च पुष्पभारावलम्बिनः।
प्रसन्नाम्बुवहाश्चैव सरितः सागरंगमाः॥ ५॥
कन्दराणि च शैलांश्च निर्दराणि गुहास्तथा।
शिखराणि च मुख्यानि दरीश्च प्रियदर्शनाः॥ ६॥

वे सब लोग फूलोंके भारसे झुके हुए वृक्षों, स्वच्छ जलवाली समुद्रगामिनी नदियों, कन्दराओं, पर्वतों, शिला-विवरों, गुफाओं, मुख्य-मुख्य शिखरों और सुन्दर दिखायी देनेवाली गहन गुफाओंको देखते हुए आगे बढ़ने लगे॥ ५-६॥

वैदूर्यविमलैस्तोयैः पद्मैश्चाकोशकुड्मलैः।
शोभितान् सजलान् मार्गे तटाकांश्चावलोकयन्॥ ७॥

उन्होंने मार्गमें ऐसे सजल सरोवरोंको भी देखा, जो वैदूर्यमणिके समान रंगवाले, निर्मल जल तथा कम खिले हुए मुकुलयुक्त कमलोंसे सुशोभित थे॥ ७॥

कारण्डैः सारसैर्हंसैर्वञ्जुलैर्जलकुक्कुटैः।
चक्रवाकैस्तथा चान्यैः शकुनैः प्रतिनादितान्॥ ८॥

कारण्डव, सारस, हंस, वञ्जुल, जलमुर्ग, चक्रवाक तथा अन्य पक्षी उन सरोवरोंमें चहचहा रहे थे। उन सबकी प्रतिध्वनि वहाँ गूँज रही थी॥ ८॥

मृदुशष्पाङ्कुराहारान्निर्भयान् वनगोचरान्।
चरतः सर्वतः पश्यन् स्थलीषु हरिणान् स्थितान्॥

स्थलोंमें सब ओर हरी-हरी कोमल घासके अङ्कुरोंका आहार करनेवाले वनचारी हरिण कहीं निर्भय होकर चरते थे और कहीं खड़े दिखायी देते थे (इन सबको देखते हुए श्रीराम आदि किष्किन्धाकी ओर जा रहे थे)॥ ९॥

तटाकवैरिणश्चापि शुक्लदन्तविभूषितान्।
घोरानेकचरान् वन्यान् द्विरदान् कूलघातिनः॥ १०॥
मत्तान् गिरितटोत्कृष्टान् पर्वतानिव जङ्गमान्।
वानरान् द्विरदप्रख्यान् महीरेणुसमुक्षितान्॥ ११॥
वने वनचरांश्चान्यान् खेचरांश्च विहंगमान्।
पश्यन्तस्त्वरिता जग्मुः सुग्रीववशवर्तिनः॥ १२॥

जो सफेद दाँतोंसे सुशोभित थे, देखनेमें भयंकर थे, अकेले विचरते थे और किनारोंको खोदकर नष्ट कर देनेके कारण सरोवरोंके शत्रु समझे जाते थे, ऐसे दो दाँतोंवाले मदमत्त जंगली हाथी चलते-फिरते पर्वतोंके समान जाते दिखायी देते थे। उन्होंने अपने दाँतोंसे पर्वतके तटप्रान्तको विदीर्ण कर दिया था। कहीं हाथी-जैसे विशालकाय वानर दृष्टिगोचर होते थे, जो धरतीकी धूलसे नहा उठे थे। इनके सिवा उस वनमें और भी बहुत-से जंगली जीव-जन्तु तथा आकाशचारी पक्षी विचरते देखे जाते थे। इन सबको देखते हुए श्रीराम आदि सब लोग सुग्रीवके वशवर्ती हो तीव्र गतिसे आगे बढ़ने लगे॥ १०-१२॥

तेषां तु गच्छतां तत्र त्वरितं रघुनन्दनः।
द्रुमषण्डवनं दृष्ट्वा रामः सुग्रीवमब्रवीत्॥ १३॥

उन यात्रा करनेवाले लोगोंमें वहाँ रघुकुलनन्दन श्रीरामने वृक्षसमूहोंसे सघन वनको देखकर सुग्रीवसे पूछा—॥ १३॥

एष मेघ इवाकाशे वृक्षषण्डः प्रकाशते।
मेघसंघातविपुलः पर्यन्तकदलीवृतः॥ १४॥

'वानरराज! आकाशमें मेघकी भाँति जो यह वृक्षोंका समूह प्रकाशित हो रहा है, क्या है? यह इतना विस्तृत है कि मेघोंकी घटाके समान छा रहा है। इसके किनारे-किनारे केलेके वृक्ष लगे हुए हैं, जिनसे यह सारा वृक्ष-समूह घिर गया है॥ १४॥

किमेतज्ज्ञातुमिच्छामि सखे कौतूहलं मम।
कौतूहलापनयनं कर्तुमिच्छाम्यहं त्वया॥ १५॥

'सखे! यह कौन-सा वन है, यह मैं जानना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे द्वारा मेरे इस कौतूहलका निवारण हो'॥ १५॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः।
गच्छन्नेवाचचक्षेऽथ सुग्रीवस्तन्महद् वनम्॥ १६॥

महात्मा रघुनाथजीकी यह बात सुनकर सुग्रीवने चलते-चलते ही उस विशाल वनके विषयमें बताना आरम्भ किया॥ १६॥

एतद् राघव विस्तीर्णमाश्रमं श्रमनाशनम्।
उद्यानवनसम्पन्नं स्वादुमूलफलोदकम्॥ १७॥

'रघुनन्दन! यह एक विस्तृत आश्रम है, जो सबके श्रमका निवारण करनेवाला है। यह उद्यानों और उपवनोंसे युक्त है। यहाँ स्वादिष्ट फल-मूल और जल सुलभ होते हैं॥ १७॥

अत्र सप्तजना नाम मुनयः संशितव्रताः।
सप्तैवासन्नधःशीर्षा नियतं जलशायिनः॥ १८॥

'इस आश्रममें सप्तजन नामसे प्रसिद्ध सात ही मुनि

रहते थे, जो कठोर व्रतके पालनमें तत्पर थे। वे नीचे सिर करके तपस्या करते थे। नियमपूर्वक रहकर जलमें शयन करनेवाले थे ॥ १८ ॥

सप्तरात्रे कृताहारा वायुनाचलवासिनः।
दिवं वर्षशतैर्याताः सप्तभिः सकलेवराः ॥ १९ ॥

'सात दिन और सात रात व्यतीत करके वे केवल वायुका आहार करते थे तथा एक स्थानपर निश्चल भावसे रहते थे। इस प्रकार सात सौ वर्षोंतक तपस्या करके वे सशरीर स्वर्गलोकको चले गये ॥ १९ ॥

तेषामेतत्प्रभावेण द्रुमप्राकारसंवृतम्।
आश्रमं सुदुराधर्षमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः ॥ २० ॥

'उन्हींके प्रभावसे सघन वृक्षोंकी चहारदीवारीसे घिरा हुआ यह आश्रम इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंके लिये भी अत्यन्त दुर्धर्ष बना हुआ है ॥ २० ॥

पक्षिणो वर्जयन्त्येतत् तथान्ये वनचारिणः।
विशन्ति मोहाद् येऽप्यत्र न निवर्तन्ति ते पुनः॥ २१ ॥

'पक्षी तथा दूसरे वनचर जीव इसे दूरसे ही त्याग देते हैं। जो मोहवश इसके भीतर प्रवेश करते हैं, वे फिर कभी नहीं लौटते हैं ॥ २१ ॥

विभूषणरवाश्चात्र श्रूयन्ते सकलाक्षराः।
तूर्यगीतस्वनश्चापि गन्धो दिव्यश्च राघव ॥ २२ ॥

रघुनन्दन ! यहाँ मधुर अक्षरवाली वाणीके साथ-साथ आभूषणोंकी झनकारें भी सुनी जाती हैं। वाद्य और गीतकी मधुर ध्वनि भी कानोंमें पड़ती है और दिव्य सुगन्धका भी अनुभव होता है ॥ २२ ॥

त्रेताग्नयोऽपि दीप्यन्ते धूमो ह्येष प्रदृश्यते।
वेष्टयन्निव वृक्षाग्रान् कपोताङ्गारुणो घनः ॥ २३ ॥

'यहाँ आहवनीय आदि त्रिविध अग्नियाँ भी प्रज्वलित होती हैं। यह कबूतरके अंगोंकी भाँति धूसर रंगवाला घना धूम उठता दिखायी देता है, जो वृक्षोंकी शिखाओंको आवेष्टित-सा कर रहा है ॥ २३ ॥

एते वृक्षाः प्रकाशन्ते धूमसंसक्तमस्तकाः।
मेघजालप्रतिच्छन्ना वैडूर्यगिरयो यथा ॥ २४ ॥

'जिनके शिखाओंपर होम-धूप छा रहे हैं, वे ये वृक्ष मेघसमूहोंसे आच्छादित हुए नीलमके पर्वतोंकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं ॥ २४ ॥

कुरु प्रणामं धर्मात्मंस्तेषामुद्दिश्य राघव !
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रयतः संहताञ्जलिः ॥ २५ ॥

'धर्मात्मा रघुनन्दन ! आप मनको एकाग्र करके दोनों हाथ जोड़कर भाई लक्ष्मणके साथ उन मुनियोंके उद्देश्यसे प्रणाम कीजिये ॥ २५ ॥

प्रणमन्ति हि ये तेषामृषीणां भावितात्मनाम्।
न तेषामशुभं किंचिच्छरीरे राम विद्यते ॥ २६ ॥

'श्रीराम ! जो उन पवित्र अन्तःकरणवाले ऋषियोंको प्रणाम करते हैं, उनके शरीरमें किंचिन्मात्र भी अशुभ नहीं रह जाता है' ॥ २६ ॥

ततो रामः सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन कृताञ्जलिः।
समुद्दिश्य महात्मानस्तानृषीनभ्यवादयत् ॥ २७ ॥

तब भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामने हाथ जोड़कर उन महात्मा ऋषियोंके उद्देश्यसे प्रणाम किया ॥ २७ ॥

अभिवाद्य च धर्मात्मा रामो भ्राता च लक्ष्मणः।
सुग्रीवो वानराश्चैव जग्मुः संहृष्टमानसाः ॥ २८ ॥

धर्मात्मा श्रीराम, उनके छोटे भाई लक्ष्मण, सुग्रीव तथा अन्य सभी वानर उन ऋषियोंको प्रणाम करके प्रसन्नचित्त हो आगे बढ़े ॥ २८ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं तस्मात् सप्तजनाश्रमात्।
ददृशुस्तां दुराधर्षां किष्किन्धां वालिपालिताम् ॥ २९ ॥

उस सप्तजनाश्रमसे दूरतकका मार्ग तय कर लेनेके पश्चात् उन सबने वालीद्वारा सुरक्षित किष्किन्धापुरीको देखा ॥ २९ ॥

ततस्तु रामानुजरामवानराः
प्रगृह्य शस्त्राण्युदितोग्रतेजसः।
पुरीं सुरेशात्मजवीर्यपालितां
वधाय शत्रोः पुनरागतास्त्विह ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा वानर, जिनका उग्रतेज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार वालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधके निमित्त पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

वाली-वधके लिये श्रीरामका आश्वासन पाकर सुग्रीवकी विकट गर्जना

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिनः पुरीम्।
वृक्षैरात्मानमावृत्य व्यतिष्ठन् गहने वने॥ १॥

वे सब लोग शीघ्रतापूर्वक वालीकी किष्किन्धापुरीमें पहुँचकर एक गहन वनमें वृक्षोंकी ओटमें अपने आपको छिपाकर खड़े हो गये॥ १॥

विसार्य सर्वतो दृष्टिं कानने काननप्रियः।
सुग्रीवो विपुलग्रीवः क्रोधमाहारयद् भृशम्॥ २॥

वनके प्रेमी विशाल ग्रीवावाले सुग्रीवने उस वनमें चारों ओर दृष्टि दौड़ायी और अपने मनमें अत्यन्त क्रोधका संचय किया॥ २॥

ततस्तु निनदं घोरं कृत्वा युद्धाय चाह्वयत्।
परिवारैः परिवृतो नादैर्भिन्दन्निवाम्बरम्॥ ३॥

तदनन्तर अपने सहायकोंसे घिरे हुए उन्होंने अपने सिंहनादसे आकाशको फाड़ते हुए-से घोर गर्जना की और वालीको युद्धके लिये ललकारा॥ ३॥

गर्जन्निव महामेघो वायुवेगपुरःसरः।
अथ बालार्कसदृशो दृप्तसिंहगतिस्ततः॥ ४॥

उस समय सुग्रीव वायुके वेगके साथ गर्जते हुए महामेघके समान जान पड़ते थे। अपनी अङ्गकान्ति और प्रतापके द्वारा प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होते थे। उनकी चाल दर्पभरे सिंहके समान प्रतीत होती थी॥ ४॥

दृष्ट्वा रामं क्रियादक्षं सुग्रीवो वाक्यमब्रवीत्।
हरिवागुरया व्याप्तां तप्तकाञ्चनतोरणाम्॥ ५॥
प्राप्ताः स्म ध्वजयन्त्राढ्यां किष्किन्धां वालिनः पुरीम्।
प्रतिज्ञा या कृता वीर त्वया वालिवधे पुरा॥ ६॥
सफलां कुरु तां क्षिप्रं लतां काल इवागतः।

कार्यकुशल श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर सुग्रीवने कहा—'भगवन्! वालीकी यह किष्किन्धापुरी तपाये हुए सुवर्णके द्वारा निर्मित नगरद्वारसे सुशोभित है। इसमें सब ओर वानरोंका जाल-सा बिछा हुआ है तथा यह ध्वजों और यन्त्रोंसे सम्पन्न है। हम सब लोग इस पुरीमें आ पहुँचे हैं। वीर! आपने पहले वाली-वधके लिये जो प्रतिज्ञा की थी, उसे अब शीघ्र सफल कीजिये। ठीक उसी तरह जैसे आया हुआ अनुकूल समय लताको फल-फूलसे सम्पन्न कर देता है'॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सुग्रीवेण स राघवः॥ ७॥
तमेवोवाच वचनं सुग्रीवं शत्रुसूदनः।

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर शत्रुसूदन धर्मात्मा श्रीरघुनाथजीने फिर अपनी पूर्वोक्त बातको दुहराते हुए ही सुग्रीवसे कहा—॥

कृताभिज्ञानचिह्नस्त्वमनया गजसाह्वया॥ ८॥
लक्ष्मणेन समुत्पाट्य एषा कण्ठे कृता तव।
शोभसेऽप्यधिकं वीर लतया कण्ठसक्तया॥ ९॥
विपरीत इवाकाशे सूर्यो नक्षत्रमालया।

'वीर! अब तो इस गजपुष्पी लताके द्वारा तुमने अपनी पहचानके लिये चिह्न धारण कर ही लिया है। लक्ष्मणने इसे उखाड़कर तुम्हारे कण्ठमें पहना ही दिया है। तुम कण्ठमें धारण की हुई इस लताके द्वारा बड़ी शोभा पा रहे हो। यदि आकाशमें यह विपरीत घटना हो कि सूर्य-मण्डल नक्षत्र-मालासे घिर जाय, तभी इस कण्ठलम्बिनी लतासे सुशोभित होनेवाले तुम्हारी उस सूर्यसे तुलना हो सकती है॥ ८—९½॥

अद्य वालिसमुत्थं ते भयं वैरं च वानर॥ १०॥
एकेनाहं प्रमोक्ष्यामि बाणमात्रेण संयुगे।

'वानरराज! आज मैं वालीसे उत्पन्न हुए तुम्हारे भय और वैर दोनोंको युद्धस्थलमें एक ही बार बाण छोड़कर मिटा दूँगा॥ १०½॥

मम दर्शय सुग्रीव वैरिणं भ्रातृरूपिणम्॥ ११॥
वाली विनिहतो यावद्वने पांसुषु चेष्टते।

'सुग्रीव! तुम मुझे अपने उस भ्रातारूपी शत्रुको दिखा तो दो। फिर वाली मारा जाकर वनके भीतर धूलमें लोटता दिखायी देगा॥ ११½॥

यदि दृष्टिपथं प्राप्तो जीवन् स विनिवर्तते॥ १२॥
ततो दोषेण मा गच्छेत् सद्यो गर्हेच्च मां भवान्।

'यदि मेरी दृष्टिमें पड़ जानेपर भी वह जीवित लौट जाय तो तुम मुझे दोषी समझना और तत्काल जी भरकर मेरी निन्दा करना॥ १२½॥

प्रत्यक्षं सप्त ते साला मया बाणेन दारिताः॥ १३॥
तेनावेहि बलेनाद्य वालिनं निहतं रणे।

'तुम्हारी आँखोंके सामने मैंने अपने एक ही बाणसे सात सालके वृक्ष विदीर्ण किये थे, मेरे उसी बलसे आज समराङ्गणमें (एक बाणसे ही) तुम वालीको मारा गया समझो॥ १३½॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे चिरं कृच्छ्रेऽपि तिष्ठता ॥ १४ ॥
धर्मलोभपरीतेन न च वक्ष्ये कथंचन ।
सफलां च करिष्यामि प्रतिज्ञां जहि संभ्रमम् ॥ १५ ॥

'बहुत समयसे संकट झेलते रहनेपर भी मैं कभी झूठ नहीं बोला हूँ। मेरे मनमें धर्मका लोभ है। इसलिये किसी तरह मैं झूठ तो बोलूँगा ही नहीं। साथ ही अपनी प्रतिज्ञाको भी अवश्य सफल करूँगा। अतः तुम भय और घबराहटको अपने हृदयसे निकाल दो ॥ १४-१५ ॥

प्रसूतं कलमक्षेत्रं वर्षेणेव शतक्रतुः ।
तदाह्वाननिमित्तं च वालिनो हेममालिनः ॥ १६ ॥
सुग्रीव कुरु तं शब्दं निष्पतेद् येन वानरः ।

'जैसे इन्द्र वर्षा करके उगे हुए धानके खेतको फलसे सम्पन्न करते हैं, उसी तरह मैं भी बाणका प्रयोग करके वालीके वधद्वारा तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा। इसलिये सुग्रीव! तुम सुवर्णमालाधारी वालीको बुलानेके लिये इस समय ऐसी गर्जना करो, जिससे तुम्हारा सामना करनेके लिये वह वानर नगरसे बाहर निकल आये ॥ १६½ ॥

जितकाशी जयश्लाघी त्वया चाधर्षितः पुरात् ॥ १७ ॥
निष्पतिष्यत्यसङ्गेन वाली स प्रियसंयुगः ।

'वह अनेक युद्धोंमें विजय पाकर विजयश्रीसे सुशोभित हुआ है। सबपर विजय पानेकी इच्छा रखता है और उसने कभी तुमसे हार नहीं खायी है। इसके अलावे युद्धसे उसका बड़ा प्रेम है, अतः वाली कहीं भी आसक्त न होकर नगरके बाहर अवश्य निकलेगा ॥ १७½ ॥

रिपूणां धर्षितं श्रुत्वा मर्षयन्ति न संयुगे ॥ १८ ॥
जानन्तस्तु स्वकं वीर्यं स्त्रीसमक्षं विशेषतः ।

'क्योंकि अपने पराक्रमको जाननेवाले वीर पुरुष, विशेषतः स्त्रियोंके सामने, युद्धके लिये शत्रुओंके तिरस्कारपूर्ण शब्द सुनकर कदापि सहन नहीं करते हैं' ॥ १८½ ॥

स तु रामवचः श्रुत्वा सुग्रीवो हेमपिङ्गलः ॥ १९ ॥
ननर्द क्रूरनादेन विनिर्भिन्दन्निवाम्बरम् ।

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर सुवर्णके समान पिङ्गलवर्णवाले सुग्रीवने आकाशको विदीर्ण-सा करते हुए कठोर स्वरमें बड़ी भयंकर गर्जना की ॥ १९½ ॥

तत्र शब्देन वित्रस्ता गावो यान्ति हतप्रभाः ॥ २० ॥
राजदोषपरामृष्टाः कुलस्त्रिय इवाकुलाः ।

उस सिंहनादसे भयभीत हो बड़े-बड़े बैल शक्तिहीन हो राजाके दोषसे परपुरुषोंद्वारा पकड़ी जानेवाली कुलाङ्गनाओंके समान व्याकुलचित्त हो सब ओर भाग चले ॥ २०½ ॥

द्रवन्ति च मृगाः शीघ्रं भग्ना इव रणे हयाः ।
पतन्ति च खगा भूमौ क्षीणपुण्या इव ग्रहाः ॥ २१ ॥

मृग युद्धस्थलमें अस्त्र-शस्त्रोंकी चोट खाकर भागे हुए घोड़ोंके समान तीव्र गतिसे भागने लगे और पक्षी जिनके पुण्य नष्ट हो गये हैं, ऐसे ग्रहोंके समान आकाशसे पृथ्वीपर गिरने लगे ॥ २१ ॥

ततः स जीमूतकृतप्रणादो
नादं ह्यमुञ्चत् त्वरया प्रतीतः ।
सूर्यात्मजः शौर्यविवृद्धतेजाः
सरित्पतिर्वानिलचञ्चलोर्मिः ॥ २२ ॥

तदनन्तर जिनका सिंहनाद मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर था और शौर्यके द्वारा जिनका तेज बढ़ा हुआ था, वे सुविख्यात सूर्यकुमार सुग्रीव बड़ी उतावलीके साथ बारंबार गर्जना करने लगे, मानो वायुके वेगसे चञ्चल हुई उत्ताल तरङ्गमालाओंसे सुशोभित सरिताओंका स्वामी समुद्र कोलाहल कर रहा हो ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

सुग्रीवकी गर्जना सुनकर वालीका युद्धके लिये निकलना और ताराका उसे रोककर सुग्रीव और श्रीरामके साथ मैत्री कर लेनेके लिये समझाना

अथ तस्य निनादं तं सुग्रीवस्य महात्मनः ।
शुश्रावान्तःपुरगतो वाली भ्रातुरमर्षणः ॥ १ ॥

उस समय अमर्षशील वाली अपने अन्तःपुरमें था। उसने अपने भाई महामना सुग्रीवका वह सिंहनाद वहींसे सुना ॥ १ ॥

श्रुत्वा तु तस्य निनदं सर्वभूतप्रकम्पनम्।
मदश्चैकपदे नष्टः क्रोधश्चापादितो महान्॥ २॥

समस्त प्राणियोंको कम्पित कर देनेवाली उनकी वह गर्जना सुनकर उसका सारा मद सहसा उतर गया और उसे महान् क्रोध उत्पन्न हुआ॥ २॥

ततो रोषपरीताङ्गो वाली स कनकप्रभः।
उपरक्त इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः॥ ३॥

फिर तो सुवर्णके समान पीले रंगवाले वालीका सारा शरीर क्रोधसे तमतमा उठा। वह राहुग्रस्त सूर्यके समान तत्काल श्रीहीन दिखायी देने लगा॥ ३॥

वाली दंष्ट्राकरालस्तु क्रोधाद् दीप्ताग्निलोचनः।
भात्युत्पतितपद्माभः समृणाल इव ह्रदः॥ ४॥

वालीकी दाढ़ें विकराल थीं, नेत्र क्रोधके कारण प्रज्वलित अग्निके समान उद्दीप्त हो रहे थे। वह उस तालाबके समान श्रीहीन दिखायी देता था; जिसमें कमलपुष्पोंकी शोभा तो नष्ट हो गयी हो और केवल मृणाल रह गये हों॥ ४॥

शब्दं दुर्मर्षणं श्रुत्वा निष्पपात ततो हरिः।
वेगेन च पदन्यासैर्दारयन्निव मेदिनीम्॥ ५॥

वह दुःसह शब्द सुनकर वाली अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको विदीर्ण-सी करता हुआ बड़े वेगसे निकला॥ ५॥

तं तु तारा परिष्वज्य स्नेहाद् दर्शितसौहृदा।
उवाच त्रस्तसम्भ्रान्ता हितोदर्कमिदं वचः॥ ६॥

उस समय वालीकी पत्नी तारा भयभीत हो घबरा उठी। उसने वालीको अपनी दोनों भुजाओंमें भर लिया और स्नेहसे सौहार्दका परिचय देते हुए परिणाममें हित करनेवाली यह बात कही—॥ ६॥

साधुः क्रोधमिमं वीर नदीवेगमिवागतम्।
शयनादुत्थितः काल्यं त्यज भुक्तामिव स्रजम्॥ ७॥

'वीर! मेरी अच्छी बात सुनिये और सहसा आये हुए नदीके वेगकी भाँति इस बढ़े हुए क्रोधको त्याग दीजिये। जैसे प्रातःकाल शय्यासे उठा हुआ पुरुष रातको उपभोगमें लायी गयी पुष्पमालाका त्याग कर देता है; उसी प्रकार इस क्रोधका परित्याग कीजिये॥ ७॥

काल्यमेतेन संग्रामं करिष्यसि च वानर।
वीर ते शत्रुबाहुल्यं फल्गुता वा न विद्यते॥ ८॥
सहसा तव निष्क्रामो मम तावन्न रोचते।
श्रूयतामभिधास्यामि यन्निमित्तं निवार्यते॥ ९॥

'वानरवीर! कल प्रातःकाल सुग्रीवके साथ युद्ध कीजियेगा (इस समय रुक जाइये)। यद्यपि युद्धमें कोई शत्रु आपसे बढ़कर नहीं है और आप किसीसे छोटे नहीं हैं। तथापि इस समय सहसा आपका घरसे बाहर निकलना मुझे अच्छा नहीं लगता है, आपको रोकनेका एक विशेष कारण भी है। उसे बताती हूँ, सुनिये॥ ८-९॥

पूर्वमापतितः क्रोधात् स त्वामाह्वयते युधि।
निष्पत्य च निरस्तस्ते हन्यमानो दिशो गतः॥ १०॥

'सुग्रीव पहले भी यहाँ आये थे और क्रोधपूर्वक उन्होंने आपको युद्धके लिये ललकारा था। उस समय आपने नगरसे निकलकर उन्हें परास्त किया और वे आपकी मार खाकर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भागते हुए मतङ्ग वनमें चले गये थे॥ १०॥

त्वया तस्य निरस्तस्य पीडितस्य विशेषतः।
इहैत्य पुनराह्वानं शङ्कां जनयतीव मे॥ ११॥

'इस प्रकार आपके द्वारा पराजित और विशेष पीड़ित होनेपर भी वे पुनः यहाँ आकर आपको युद्धके लिये ललकार रहे हैं। उनका यह पुनरागमन मेरे मनमें शङ्का-सी उत्पन्न कर रहा है॥ ११॥

दर्पश्च व्यवसायश्च यादृशस्तस्य नर्दतः।
निनादस्य च संरम्भो नैतदल्पं हि कारणम्॥ १२॥

'इस समय गर्जते हुए सुग्रीवका दर्प और उद्योग जैसा दिखायी देता है तथा उनकी गर्जनामें जो उत्तेजना जान पड़ती है, इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं होना चाहिये॥ १२॥

नासहायमहं मन्ये सुग्रीवं तमिहागतम्।
अवष्टब्धसहायश्च यमाश्रित्यैष गर्जति॥ १३॥

'मैं समझती हूँ सुग्रीव किसी प्रबल सहायकके बिना अबकी बार यहाँ नहीं आये हैं। किसी सबल सहायकको साथ लेकर ही आये हैं, जिसके बलपर ये इस तरह गरज रहे हैं॥ १३॥

प्रकृत्या निपुणश्चैव बुद्धिमांश्चैव वानरः।
नापरीक्षितवीर्येण सुग्रीवः सख्यमेष्यति॥ १४॥

'वानर सुग्रीव स्वभावसे ही कार्यकुशल और बुद्धिमान् हैं। वे किसी ऐसे पुरुषके साथ मैत्री नहीं करेंगे, जिसके बल और पराक्रमको अच्छी तरह परख न लिया हो॥ १४॥

पूर्वमेव मया वीर श्रुतं कथयतो वचः।
अङ्गदस्य कुमारस्य वक्ष्याम्यद्य हितं वचः॥ १५॥

'वीर! मैंने पहले ही कुमार अङ्गदके मुँहसे यह बात

सुन ली है। इसलिये आज मैं आपके हितकी बात बताती हूँ ॥ १५ ॥

अङ्गदस्तु कुमारोऽयं वनान्तमुपनिर्गतः ।
प्रवृत्तिस्तेन कथिता चारैरासीन्निवेदिता ॥ १६ ॥

'एक दिन कुमार अङ्गद वनमें गये थे। वहाँ गुप्तचरोंने उन्हें एक समाचार बताया, जो उन्होंने यहाँ आकर मुझसे भी कहा था ॥ १६ ॥

अयोध्याधिपतेः पुत्रौ शूरौ समरदुर्जयौ ।
इक्ष्वाकूणां कुले जातौ प्रथितौ रामलक्ष्मणौ ॥ १७ ॥

'वह समाचार इस प्रकार है—अयोध्यानरेशके दो शूरवीर पुत्र, जिन्हें युद्धमें जीतना अत्यन्त कठिन है, जिनका जन्म इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है तथा जो श्रीराम और लक्ष्मणके नामसे प्रसिद्ध हैं, यहाँ वनमें आये हुए हैं ॥ १७ ॥

सुग्रीवप्रियकामार्थं प्राप्तौ तत्र दुरासदौ ।
स ते भ्रातुर्हि विख्यातः सहायो रणकर्मणि ॥ १८ ॥
रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः ।
निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः ॥ १९ ॥

'वे दोनों दुर्जय वीर सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये उनके पास पहुँच गये हैं। उन दोनोंमेंसे जो आपके भाईके युद्धकर्ममें सहायक बताये गये हैं, वे श्रीराम शत्रुसेनाका संहार करनेवाले तथा प्रलयकालमें प्रज्वलित हुई अग्निके समान तेजस्वी हैं। वे साधु पुरुषोंके आश्रयदाता कल्पवृक्ष हैं और संकटमें पड़े हुए प्राणियोंके लिये सबसे बड़ा सहारा हैं ॥ १८-१९ ॥

आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम् ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो निदेशे निरतः पितुः ॥ २० ॥

'आर्त पुरुषोंके आश्रय, यशके एकमात्र भाजन, ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न तथा पिताकी आज्ञामें स्थित रहनेवाले हैं ॥ २० ॥

धातूनामिव शैलेन्द्रो गुणानामाकरो महान् ।
तत् क्षमो न विरोधस्ते सह तेन महात्मना ॥ २१ ॥
दुर्जयेनाप्रमेयेण रामेण रणकर्मसु ।

'जैसे गिरिराज हिमालय नाना धातुओंकी खान है, उसी प्रकार श्रीराम उत्तम गुणोंके बहुत बड़े भंडार हैं। अतः उन महात्मा रामके साथ आपका विरोध करना कदापि उचित नहीं है। क्योंकि वे युद्धकी कलामें अपना सानी नहीं रखते हैं। उनपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है ॥ २१½ ॥

शूर वक्ष्यामि ते किंचिन्न चेच्छाम्यभ्यसूयितुम् ॥ २२ ॥
श्रूयतां क्रियतां चैव तव वक्ष्यामि यद्धितम् ।

'शूरवीर ! मैं आपके गुणोंमें दोष देखना नहीं चाहती। अतः आपसे कुछ कहती हूँ। आपके लिये जो हितकर है, वही बता रही हूँ। आप उसे सुनिये और वैसा ही कीजिये ॥ २२½ ॥

यौवराज्येन सुग्रीवं तूर्णं साध्वभिषेचय ॥ २३ ॥
विग्रहं मा कृथा वीर भ्रात्रा राजन् यवीयसा ।

'अच्छा यही होगा कि आप सुग्रीवका शीघ्र ही युवराजके पदपर अभिषेक कर दीजिये। वीर वानरराज ! सुग्रीव आपके छोटे भाई हैं, उनके साथ युद्ध न कीजिये ॥ २३½ ॥

अहं हि ते क्षमं मन्ये तेन रामेण सौहृदम् ॥ २४ ॥
सुग्रीवेण च सम्प्रीतिं वैरमुत्सृज्य दूरतः ।

'मैं आपके लिये यही उचित समझती हूँ कि आप वैरभावको दूर हटाकर श्रीरामके साथ सौहार्द और सुग्रीवके साथ प्रेमका सम्बन्ध स्थापित कीजिये ॥ २४½ ॥

लालनीयो हि ते भ्राता यवीयानेष वानरः ॥ २५ ॥
तत्र वा सन्निहस्थो वा सर्वथा बन्धुरेव ते ।
नहि तेन समं बन्धुं भुवि पश्यामि कंचन ॥ २६ ॥

'वानर सुग्रीव आपके छोटे भाई हैं। अतः आपका लाड़-प्यार पानेके योग्य हैं। वे ऋष्यमूकपर रहें या किष्किन्धामें—सर्वथा आपके बन्धु ही हैं। मैं इस भूतलपर उनके समान बन्धु और किसीको नहीं देखती हूँ ॥ २५-२६ ॥

दानमानादिसत्कारैः कुरुष्व प्रत्यनन्तरम् ।
वैरमेतत् समुत्सृज्य तव पार्श्वे स तिष्ठतु ॥ २७ ॥

'आप दान-मान आदि सत्कारोंके द्वारा उन्हें अपना अत्यन्त अन्तरङ्ग बना लीजिये, जिससे वे इस वैरभावको छोड़कर आपके पास रह सकें ॥ २७ ॥

सुग्रीवो विपुलग्रीवो महाबन्धुर्मतस्तव ।
भ्रातृसौहृदमालम्ब्य नान्या गतिरिहास्ति ते ॥ २८ ॥

'पुष्ट ग्रीवावाले सुग्रीव आपके अत्यन्त प्रेमी बन्धु हैं, ऐसा मेरा मत है। इस समय भ्रातृप्रेमका सहारा लेनेके सिवा आपके लिये यहाँ दूसरी कोई गति नहीं है ॥ २८ ॥

यदि ते मत्प्रियं कार्यं यदि चावैषि मां हिताम् ।
याच्यमानः प्रियत्वेन साधु वाक्यं कुरुष्व मे ॥ २९ ॥

'यदि आपको मेरा प्रिय करना हो तथा आप मुझे अपनी हितकारिणी समझते हों तो मैं प्रेमपूर्वक याचना करती हूँ, आप मेरी यह नेक सलाह मान लीजिये ॥ २९ ॥

प्रसीद पथ्यं शृणु जल्पितं हि मे
न रोषमेवानुविधातुमर्हसि ।

क्षमो हि ते कोशलराजसूनुना
न विग्रहः शक्रसमानतेजसा ॥ ३० ॥

'स्वामिन्! आप प्रसन्न होइये। मैं आपके हितकी बात कहती हूँ। आप इसे ध्यान देकर सुनिये। केवल रोषका ही अनुसरण न कीजिये। कोसलराजकुमार श्रीराम इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। उनके साथ वैर बाँधना या युद्ध छेड़ना आपके लिये कदापि उचित नहीं है' ॥ ३० ॥

तदा हि तारा हितमेव वाक्यं
तं वालिनं पथ्यमिदं बभाषे।
न रोचते तद् वचनं हि तस्य
कालाभिपन्नस्य विनाशकाले ॥ ३१ ॥

उस समय ताराने वालीसे उसके हितकी ही बात कही थी और वह लाभदायक भी थी। किंतु उसकी बात उसे नहीं रुची। क्योंकि उसके विनाशका समय निकट था और वह कालके पाशमें बँध चुका था ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

वालीका ताराको डाँटकर लौटाना और सुग्रीवसे जूझना तथा श्रीरामके बाणसे घायल होकर पृथ्वीपर गिरना

तामेवं ब्रुवतीं तारां ताराधिपनिभाननाम्।
वाली निर्भर्त्सयामास वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

तारापति चन्द्रमाके समान मुखवाली ताराको ऐसी बातें करती देख वालीने उसे फटकारा और इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

गर्जतोऽस्य सुसंरब्धं भ्रातुः शत्रोर्विशेषतः।
मर्षयिष्यामि केनापि कारणेन वरानने ॥ २ ॥

'वरानने! इस गर्जते हुए भाईकी, जो विशेषतः मेरा शत्रु है, यह उत्तेजनापूर्ण चेष्टा मैं किस कारणसे सहन करूँगा ॥ २ ॥

अधर्षितानां शूराणां समरेष्वनिवर्तिनाम्।
धर्षणामर्षणं भीरु मरणादतिरिच्यते ॥ ३ ॥

'भीरु! जो कभी परास्त नहीं हुए और जिन्होंने युद्धके अवसरोंपर कभी पीठ नहीं दिखायी, उन शूरवीरोंके लिये शत्रुकी ललकार सह लेना मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायी होता है ॥ ३ ॥

सोढुं न च समर्थोऽहं युद्धकामस्य संयुगे।
सुग्रीवस्य च संरम्भं हीनग्रीवस्य गर्जितम् ॥ ४ ॥

'यह हीन ग्रीवावाला सुग्रीव संग्रामभूमिमें मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखता है। मैं इसके रोषावेश और गर्जन-तर्जनको सहन करनेमें असमर्थ हूँ ॥ ४ ॥

न च कार्यो विषादस्ते राघवं प्रति मत्कृते।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति ॥ ५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीकी बात सोचकर भी तुम्हें मेरे लिये विषाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि वे धर्मके ज्ञाता तथा कर्तव्याकर्तव्यको समझनेवाले हैं। अतः पाप कैसे करेंगे ॥ ५ ॥

निवर्तस्व सह स्त्रीभिः कथं भूयोऽनुगच्छसि।
सौहृदं दर्शितं तावन्मयि भक्तिस्त्वया कृता ॥ ६ ॥
प्रतियोत्स्याम्यहं गत्वा सुग्रीवं जहि सम्भ्रमम्।
दर्पं चास्य विनेष्यामि न च प्राणैर्वियोक्ष्यते ॥ ७ ॥

'तुम इन स्त्रियोंके साथ लौट जाओ। क्यों मेरे पीछे बार-बार आ रही हो। तुमने मेरे प्रति अपना स्नेह दिखाया। भक्तिका भी परिचय दे दिया। अब जाओ। घबराहट छोड़ो। मैं आगे बढ़कर सुग्रीवका सामना करूँगा। उसके घमण्डको चूर-चूर कर डालूँगा; किंतु प्राण नहीं लूँगा ॥ ६-७ ॥

अहं ह्याजिस्थितस्यास्य करिष्यामि यदीप्सितम्।
वृक्षैर्मुष्टिप्रहारैश्च पीडितः प्रतियास्यति ॥ ८ ॥

'युद्धके मैदानमें खड़े हुए सुग्रीवकी जो-जो इच्छा है, उसे मैं पूर्ण करूँगा। वृक्षों और मुक्कोंकी मारसे पीडित होकर वह स्वयं ही भाग जायगा ॥ ८ ॥

न मे गर्वितमायस्तं सहिष्यति दुरात्मवान्।
कृतं तारे सहायत्वं दर्शितं सौहृदं मयि ॥ ९ ॥

'तारे! दुरात्मा सुग्रीव मेरे युद्धविषयक दर्प और आयास (उद्योग) को नहीं सह सकेगा। तुमने मेरी बौद्धिक सहायता अच्छी तरह कर दी और मेरे प्रति अपना सौहार्द भी दिखा दिया ॥ ९ ॥

शापितासि मम प्राणैर्निवर्तस्व जनेन च।

अलं जित्वा निवर्तिष्ये तमहं भ्रातरं रणे ॥ १० ॥

'अब मैं प्राणोंकी सौगन्ध दिलाकर कहता हूँ कि अब तुम इन स्त्रियोंके साथ लौट जाओ। अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है, मैं युद्धमें अपने उस भाईको जीतकर लौट आऊँगा' ॥ १० ॥

तं तु तारा परिष्वज्य वालिनं प्रियवादिनी।
चकार रुदती मन्दं दक्षिणा सा प्रदक्षिणम् ॥ ११ ॥

यह सुनकर अत्यन्त उदार स्वभाववाली ताराने वालीका आलिङ्गन करके मन्द स्वरमें रोते-रोते उसकी परिक्रमा की ॥

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी।
अन्तःपुरं सह स्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता ॥ १२ ॥

वह पतिकी विजय चाहती थी और उसे मन्त्रका भी ज्ञान था। इसलिये उसने वालीकी मङ्गल-कामनासे स्वस्ति-वाचन किया और शोकसे मोहित हो वह अन्य स्त्रियोंके साथ अन्तःपुरको चली गयी ॥ १२ ॥

प्रविष्टायां तु तारायां सह स्त्रीभिः स्वमालयम्।
नगर्या निर्ययौ क्रुद्धो महासर्प इव श्वसन् ॥ १३ ॥

स्त्रियोंसहित ताराके अपने महलमें चले जानेपर वाली क्रोधसे भरे हुए महान् सर्पकी भाँति लम्बी साँस खींचता हुआ नगरसे बाहर निकला ॥ १३ ॥

स निःश्वस्य महारोषो वाली परमवेगवान्।
सर्वतश्चारयन् दृष्टिं शत्रुदर्शनकाङ्क्षया ॥ १४ ॥

महान् रोषसे युक्त और अत्यन्त वेगशाली वाली लम्बी साँस छोड़कर शत्रुको देखनेकी इच्छासे चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ाने लगा ॥ १४ ॥

स ददर्श ततः श्रीमान् सुग्रीवं हेमपिङ्गलम्।
सुसंवीतमवष्टब्धं दीप्यमानमिवानलम् ॥ १५ ॥

इतनेहीमें श्रीमान् वालीने सुवर्णके समान पिङ्गल वर्णवाले सुग्रीवको देखा, जो लँगोट बाँधकर युद्धके लिये डटकर खड़े थे और प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १५ ॥

तं स दृष्ट्वा महाबाहुः सुग्रीवं पर्यवस्थितम्।
गाढं परिदधे वासो वाली परमकोपनः ॥ १६ ॥

सुग्रीवको खड़ा देख महाबाहु वाली अत्यन्त कुपित हो उठा। उसने अपना लँगोट भी दृढ़ताके साथ बाँध लिया ॥ १६ ॥

स वाली गाढसंवीतो मुष्टिमुद्यम्य वीर्यवान्।
सुग्रीवमेवाभिमुखो ययौ योद्धुं कृतक्षणः ॥ १७ ॥

लँगोटको मजबूतीके साथ कसकर पराक्रमी वाली प्रहारका अवसर देखता हुआ मुक्का तानकर सुग्रीवकी ओर चला ॥ १७ ॥

श्लिष्टं मुष्टिं समुद्यम्य संरब्धतरमागतः।
सुग्रीवोऽपि समुद्दिश्य वालिनं हेममालिनम् ॥ १८ ॥

सुग्रीव भी सुवर्णमालाधारी वालीके उद्देश्यसे बँधा हुआ मुक्का ताने बड़े आवेशके साथ उसकी ओर बढ़े ॥ १८ ॥

तं वाली क्रोधताम्राक्षः सुग्रीवं रणकोविदम्।
आपतन्तं महावेगमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

युद्धकलाके पण्डित महावेगशाली सुग्रीवको अपनी ओर आते देख वालीकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और वह इस प्रकार बोला— ॥ १९ ॥

एष मुष्टिर्महान् बद्धो गाढः सुनियताङ्गुलिः।
मया वेगविमुक्तस्ते प्राणानादाय यास्यति ॥ २० ॥

सुग्रीव! देख ले। यह बड़ा भारी मुक्का खूब कसकर बँधा हुआ है। इसमें सारी अङ्गुलियाँ सुनियन्त्रितरूपसे परस्पर सटी हुई हैं। मेरे द्वारा वेगपूर्वक चलाया हुआ यह मुक्का तेरे प्राण लेकर ही जायगा' ॥ २० ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः क्रुद्धो वालिनमब्रवीत्।
तव चैष हरन् प्राणान् मुष्टिः पततु मूर्धनि ॥ २१ ॥

वालीके ऐसा कहनेपर सुग्रीव क्रोधपूर्वक उससे बोले— 'मेरा यह मुक्का भी तेरे प्राण लेनेके लिये तेरे मस्तकपर गिरे' ॥ २१ ॥

ताडितस्तेन तं क्रुद्धः समभिक्रम्य वेगतः।
अभवच्छोणितोद्गारी सापीड इव पर्वतः ॥ २२ ॥

इतनेहीमें वालीने वेगपूर्वक आक्रमण करके सुग्रीवपर मुक्केका प्रहार किया। उस चोटसे घायल एवं कुपित हुए सुग्रीव झरनोंसे युक्त पर्वतकी भाँति मुँहसे रक्त वमन करने लगे ॥ २२ ॥

सुग्रीवेण तु निःशङ्कं सालमुत्पाट्य तेजसा।
गात्रेष्वभिहतो वाली वज्रेणेव महागिरिः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् सुग्रीवने भी निःशङ्क होकर बलपूर्वक एक सालवृक्षको उखाड़ लिया और उसे वालीके शरीरपर दे मारा, मानो इन्द्रने किसी विशाल पर्वतपर वज्रका प्रहार किया हो ॥

स तु वृक्षेण निर्भग्नः सालताडनविह्वलः।
गुरुभारभराक्रान्ता नौः ससार्थेव सागरे ॥ २४ ॥

उस वृक्षकी चोटसे वालीके शरीरमें घाव हो गया। उस

आघातसे विह्वल हुआ वाली व्यापारियोंके समूहके चढ़नेसे भारी भारके द्वारा दबकर समुद्रमें डगमगाती हुई नौकाके समान काँपने लगा ॥ २४ ॥

तौ भीमबलविक्रान्तौ सुपर्णसमवेगितौ ।
प्रवृद्धौ घोरवपुषौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥ २५ ॥

उन दोनों भाइयोंका बल और पराक्रम भयंकर था। दोनोंके ही वेग गरुड़के समान थे। वे दोनों भयंकर रूप धारण करके बड़े जोरसे जूझ रहे थे और पूर्णिमाके आकाशमें चन्द्रमा और सूर्यके समान दिखायी देते थे ॥२५॥

परस्परममित्रघ्नौ छिद्रान्वेषणतत्परौ ।
ततोऽवर्धत वाली तु बलवीर्यसमन्वितः ॥ २६ ॥
सूर्यपुत्रो महावीर्यः सुग्रीवः परिहीयत ।

वे शत्रुसूदन वीर अपने विपक्षीको मार डालनेकी इच्छासे एक-दूसरेकी दुर्बलता ढूँढ़ रहे थे; परंतु उस युद्धमें बल-विक्रमसम्पन्न वाली बढ़ने लगा और महापराक्रमी सूर्यपुत्र सुग्रीवकी शक्ति क्षीण होने लगी ॥ २६½ ॥

वालिना भग्नदर्पस्तु सुग्रीवो मन्दविक्रमः ॥ २७ ॥
वालिनं प्रति सामर्षो दर्शयामास राघवम् ।

वालीने सुग्रीवका घमण्ड चूर्ण कर दिया। उनका पराक्रम मन्द पड़ने लगा। तब वालीके प्रति अमर्षमें भरे हुए सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीको अपनी अवस्थाका लक्ष्य कराया ॥२७½॥

वृक्षैः सशाखैः शिखरैर्वज्रकोटिनिभैर्नखैः ॥ २८ ॥
मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः ।
तयोर्युद्धमभूद्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ २९ ॥

इसके बाद डालियोंसहित वृक्षों, पर्वतके शिखरों, वज्रके समान भयंकर नखों, मुक्कों, घुटनों, लातों और हाथोंकी मारसे उन दोनोंमें इन्द्र और वृत्रासुरको भाँति भयकर संग्राम होने लगा ॥२८-२९ ॥

तौ शोणिताक्तौ युध्येतां वानरौ वनचारिणौ ।
मेघाविव महाशब्दैस्तर्जमानौ परस्परम् ॥ ३० ॥

वे दोनों वनचारी वानर लहूलुहान होकर लड़ रहे थे और दो बादलोंकी तरह अत्यन्त भयंकर गर्जना करते हुए एक दूसरेको डाँट रहे थे ॥ ३० ॥

हीयमानमथापश्यत् सुग्रीवं वानरेश्वरम् ।
प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहुर्मुहुः ॥ ३१ ॥

श्रीरघुनाथजीने देखा, वानरराज सुग्रीव कमजोर पड़ रहे हैं और बारंबार इधर-उधर दृष्टि दौड़ा रहे हैं ॥ ३१ ॥

ततो रामो महातेजा आर्तं दृष्ट्वा हरीश्वरम् ।
स शरं वीक्षते वीरो वालिनो वधकाङ्क्षया ॥ ३२ ॥

वानरराजको पीड़ित देख महातेजस्वी श्रीरामने वालीके वधकी इच्छासे अपने बाणपर दृष्टिपात किया ॥ ३२ ॥

ततो धनुषि संधाय शरमाशीविषोपमम् ।
पूरयामास तच्चापं कालचक्रमिवान्तकः ॥ ३३ ॥

उन्होंने अपने धनुषपर विषधर सर्पके समान भयंकर बाण रक्खा और उसे जोरसे खींचा, मानो यमराजने कालचक्र उठा लिया हो ॥ ३३ ॥

तस्य ज्यातलघोषेण त्रस्ताः पत्ररथेश्वराः ।
प्रदुद्रुवुर्मृगाश्चैव युगान्त इव मोहिताः ॥ ३४ ॥

उसकी प्रत्यञ्चाकी टङ्कारध्वनिसे भयभीत हो बड़े-बड़े पक्षी और मृग भाग खड़े हुए। वे प्रलयकालके समय मोहित हुए जीवोंके समान किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये ॥ ३४ ॥

मुक्तस्तु वज्रनिर्घोषः प्रदीप्ताशनिसंनिभः ।
राघवेण महाबाणो वालिवक्षसि पातितः ॥ ३५ ॥

श्रीरघुनाथजीने वज्रकी भाँति गड़गड़ाहट और प्रज्वलित अशनिकी भाँति प्रकाश पैदा करनेवाला वह महान् बाण छोड़ दिया तथा उसके द्वारा वालीके वक्षःस्थलपर चोट पहुँचायी ॥

ततस्तेन महातेजा वीर्ययुक्तः कपीश्वरः ।
वेगेनाभिहतो वाली निपपात महीतले ॥ ३६ ॥

उस बाणसे वेगपूर्वक आहत हो महातेजस्वी पराक्रमी वानरराज वाली तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३६ ॥

इन्द्रध्वज इवोद्धूतः पौर्णमास्यां महीतले ।
आश्वयुक्समये मासि गतश्रीको विचेतनः ।
बाष्पसंरुद्धकण्ठस्तु वाली चार्तस्वरः शनैः ॥ ३७ ॥

आश्विनकी पूर्णिमाके दिन इन्द्रध्वजोत्सवके अन्तमें ऊपर फेंका गया इन्द्रध्वज जैसे पृथ्वीपर गिर पड़ता है, उसी प्रकार वाली ग्रीष्मऋतुके अन्तमें श्रीहीन, अचेत और आँसुओंसे गद्गदकण्ठ हो धराशायी हो गया और धीरे-धीरे आर्तनाद करने लगा ॥ ३७ ॥

नरोत्तमः कालयुगान्तकोपमं
शरोत्तमं काञ्चनरूप्यभूषितम् ।
ससर्ज दीप्तं तममित्रमर्दनं
सधूममग्निं मुखतो यथा हरः ॥ ३८ ॥

श्रीरामका वह उत्तम बाण युगान्तकालके समान भयंकर तथा सोने-चाँदीसे विभूषित था। पूर्वकालमें महादेवजीने

जैसे अपने मुखसे (मुख-मण्डलके अन्तर्गत ललाटवर्ती नेत्रसे) शत्रुभूत कामदेवका नाश करनेके लिये धूमयुक्त अग्निकी सृष्टि की थी, उसी प्रकार पुरुषोत्तम श्रीरामने सुग्रीवशत्रु वालीका मर्दन करनेके लिये उस प्रज्वलित बाणको छोड़ा था ॥ ३८ ॥

अथोक्षितः शोणिततोयविस्रवैः
सुपुष्पिताशोक इवानिलोद्धतः ।
विचेतनो वासवसूनुराहवे
प्रभ्रंशितेन्द्रध्वजवत् क्षितिं गतः ॥ ३९ ॥

इन्द्रकुमार वालीके शरीरसे पानीके समान रक्तकी धारा बहने लगी। वह उससे नहा गया और अचेत हो वायुके उखाड़े हुए पुष्पित अशोकवृक्ष एवं आकाशसे नीचे गिरे हुए इन्द्रध्वजके समान समराङ्गणमें पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

वालीका श्रीरामचन्द्रजीको फटकारना

ततः शरेणाभिहतो रामेण रणकर्कशः ।
पपात सहसा वाली निकृत्त इव पादपः ॥ १ ॥

युद्धमें कठोरता दिखानेवाला वाली श्रीरामके बाणसे घायल हो कटे वृक्षकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १ ॥

स भूमौ न्यस्तसर्वाङ्गस्तप्तकाञ्चनभूषणः ।
अपतद् देवराजस्य मुक्तरश्मिरिव ध्वजः ॥ २ ॥

उसका सारा शरीर पृथ्वीपर पड़ा हुआ था। तपाये हुए सुवर्णके आभूषण अब भी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह देवराज इन्द्रके बन्धनरहित ध्वजकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा था ॥ २ ॥

अस्मिन् निपतिते भूमौ हर्यृक्षाणां गणेश्वरे ।
नष्टचन्द्रमिव व्योम न व्यराजत मेदिनी ॥ ३ ॥

वानरों और भालुओंके यूथपति वालीके धराशायी हो जानेपर यह पृथ्वी चन्द्ररहित आकाशकी भाँति शोभाहीन हो गयी ॥ ३ ॥

भूमौ निपतितस्यापि तस्य देहं महात्मनः ।
न श्रीर्जहाति न प्राणा न तेजो न पराक्रमः ॥ ४ ॥

पृथ्वीपर पड़े होनेपर भी महामना वालीके शरीरको शोभा, प्राण, तेज और पराक्रम नहीं छोड़ सके थे ॥ ४ ॥

शक्रदत्ता वरा माला काञ्चनी रत्नभूषिता ।
दधार हरिमुख्यस्य प्राणांस्तेजः श्रियं च सा ॥ ५ ॥

इन्द्रकी दी हुई रत्नजटित श्रेष्ठ सुवर्णमाला उस वानरराजके प्राण, तेज और शोभाको धारण किये हुए थी ॥ ५ ॥

स तया मालया वीरो हैमया हरियूथपः ।
संध्यानुगतपर्यन्तः पयोधर इवाभवत् ॥ ६ ॥

उस सुवर्णमालासे विभूषित हुआ वानरयूथपति वीर वाली संध्याकी लालीसे रँगे हुए प्रान्त भागवाले मेघखण्डके समान शोभा पा रहा था ॥ ६ ॥

तस्य माला च देहश्च मर्मघाती च यः शरः ।
त्रिधेव रचिता लक्ष्मीः पतितस्यापि शोभते ॥ ७ ॥

पृथ्वीपर गिरे होनेपर भी वालीकी वह सुवर्णमाला, उसका शरीर तथा मर्मस्थलको विदीर्ण करनेवाला वह बाण—ये तीनों पृथक्-पृथक् तीन भागोंमें विभक्त की हुई अङ्गलक्ष्मीके समान शोभा पा रहे थे ॥ ७ ॥

तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम् ।
रामबाणासनक्षिप्तमावहत् परमां गतिम् ॥ ८ ॥

वीरवर श्रीरामके धनुषसे चलाये गये उस अस्त्रने वालीके लिये स्वर्गका मार्ग प्रकाशित कर दिया और उसे परमपदको पहुँचा दिया ॥ ८ ॥

तं तथा पतितं संख्ये गतार्चिषमिवानलम् ।
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकादिह च्युतम् ॥ ९ ॥
आदित्यमिव कालेन युगान्ते भुवि पातितम् ।
महेन्द्रमिव दुर्धर्षमुपेन्द्रमिव दुःसहम् ॥ १० ॥
महेन्द्रपुत्रं पतितं वालिनं हेममालिनम् ।
व्यूढोरस्कं महाबाहुं दीप्तास्यं हरिलोचनम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार युद्धस्थलमें गिरा हुआ इन्द्रपुत्र वाली ज्वालारहित अग्निके समान, पुण्योंका क्षय होनेपर पुण्यलोकसे इस पृथ्वीपर गिरे हुए राजा ययातिके समान तथा महाप्रलयके समय कालद्वारा पृथ्वीपर गिराये गये सूर्यके समान जान पड़ता था। उसके गलेमें सोनेकी माला शोभा दे रही थी। वह महेन्द्रके समान दुर्जय और भगवान् विष्णुके समान दुस्सह था। उसकी छाती चौड़ी, भुजाएँ बड़ी-बड़ी, मुख दीप्तिमान् और नेत्र कपिलवर्णके थे ॥ ९—११ ॥

लक्ष्मणानुचरो रामो ददर्शोपससर्प च ।
तं तथा पतितं वीरं गतार्चिषमिवानलम् ॥ १२ ॥
बहुमान्य च तं वीरं वीक्षमाणं शनैरिव ।
उपयातौ महावीर्यौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

लक्ष्मणको साथ लिये श्रीरामने वालीको इस अवस्थामें देखा और वे उसके समीप गये। इस प्रकार ज्वालारहित अग्निकी भाँति वहाँ गिरा हुआ वह वीर धीरे-धीरे देख रहा था। महापराक्रमी दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण उस वीरका विशेष सम्मान करते हुए उसके पास गये ॥ १२-१३ ॥

तं दृष्ट्वा राघवं वाली लक्ष्मणं च महाबलम्।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ॥ १४ ॥

उन श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणको देखकर वाली धर्म और विनयसे युक्त कठोर वाणीमें बोला—॥ १४ ॥

स भूमावल्पतेजोऽसुर्निहतो नष्टचेतनः।
अर्थसंहितया वाचा गर्वितं रणगर्वितम् ॥ १५ ॥

अब उसमें तेज और प्राण स्वल्पमात्रामें ही रह गये थे। वह बाणसे घायल होकर पृथ्वीपर पड़ा था और उसकी चेष्टा धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही थी। उसने युद्धमें गर्वयुक्त पराक्रम प्रकट करनेवाले गर्वीले श्रीरामसे कठोर वाणीमें इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ १५ ॥

त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रथितः प्रियदर्शनः।
पराङ्मुखवधं कृत्वा कोऽत्र प्राप्तस्त्वया गुणः।
यदहं युद्धसंरब्धस्त्वत्कृते निधनं गतः ॥ १६ ॥

'रघुनन्दन! आप राजा दशरथके सुविख्यात पुत्र हैं। आपका दर्शन सबको प्रिय है। मैं आपसे युद्ध करने नहीं आया था। मैं तो दूसरेके साथ युद्धमें उलझा हुआ था। उस दशामें आपने मेरा वध करके यहाँ कौन-सा गुण प्राप्त किया है—किस महान् यशका उपार्जन किया है? क्योंकि मैं युद्धके लिये दूसरेपर रोष प्रकट कर रहा था, किंतु आपके कारण बीचमें ही मृत्युको प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः।
रामः करुणवेदी च प्रजानां च हिते रतः ॥ १७ ॥
सानुक्रोशो महोत्साहः समयज्ञो दृढव्रतः।
इत्येतत् सर्वभूतानि कथयन्ति यशो भुवि ॥ १८ ॥

'इस भूतलपर सब प्राणी आपके यशका वर्णन करते हुए कहते हैं—श्रीरामचन्द्रजी कुलीन, सत्त्वगुणसम्पन्न, तेजस्वी, उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले, करुणाका अनुभव करनेवाले, प्रजाके हितैषी, दयालु, महान् उत्साही, समयोचित कार्य एवं सदाचारके ज्ञाता और दृढप्रतिज्ञ हैं ॥ १७-१८ ॥

दमः शमः क्षमा धर्मो धृतिः सत्यं पराक्रमः।
पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु ॥ १९ ॥

'राजन्! इन्द्रियनिग्रह, मनका संयम, क्षमा, धर्म, धैर्य, सत्य, पराक्रम तथा अपराधियोंको दण्ड देना—ये राजाके गुण हैं ॥ १९ ॥

तान् गुणान् सम्प्रधार्याहमग्र्यं चाभिजनं तव।
तारया प्रतिषिद्धः सन् सुग्रीवेण समागतः ॥ २० ॥

'मैं आपमें इन सभी सद्गुणोंका विश्वास करके आपके उत्तम कुलको याद कर ताराके मना करनेपर भी सुग्रीवके साथ लड़ने आ गया ॥ २० ॥

न मामन्येन संरब्धं प्रमत्तं वेद्धुमर्हसि।
इति मे बुद्धिरुत्पन्ना बभूवादर्शने तव ॥ २१ ॥

'जबतक मैंने आपको नहीं देखा था, तबतक मेरे मनमें यही विचार उठता था कि दूसरेके साथ रोषपूर्वक जूझते हुए मुझको आप असावधान अवस्थामें अपने बाणसे बेधना उचित नहीं समझेंगे ॥ २१ ॥

स त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम्।
जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥ २२ ॥

'परंतु आज मुझे मालूम हुआ कि आपकी बुद्धि मारी गयी है। आप धर्मध्वजी हैं। दिखावेके लिये धर्मका चोला पहने हुए हैं। वास्तवमें अधर्मी हैं। आपका आचार-व्यवहार पापपूर्ण है। आप घास-फूससे ढके हुए कूपके समान धोखा देनेवाले हैं ॥ २२ ॥

सतां वेषधरं पापं प्रच्छन्नमिव पावकम्।
नाहं त्वामभिजानामि धर्मच्छद्माभिसंवृतम् ॥ २३ ॥

'आपने साधु पुरुषोंका-सा वेश धारण कर रक्खा है; परंतु हैं पापी। राखसे ढकी हुई आगके समान आपका असली रूप साधु-वेषमें छिप गया है। मैं नहीं जानता था कि आपने लोगोंको छलनेके लिये ही धर्मकी आड़ ली है ॥ २३ ॥

विषये वा पुरे वा ते यदा पापं करोम्यहम्।
न च त्वामवजानेऽहं कस्मात् तं हंस्यकिल्बिषम् ॥ २४ ॥

'जब मैं आपके राज्य या नगरमें कोई उपद्रव नहीं कर रहा था तथा आपका भी तिरस्कार नहीं करता था, तब आपने मुझ निरपराधको क्यों मारा? ॥ २४ ॥

फलमूलाशनं नित्यं वानरं वनगोचरम्।
मामिहाप्रतियुध्यन्तमन्येन च समागतम् ॥ २५ ॥

'मैं सदा फल-मूलका भोजन करनेवाला और वनमें ही विचरनेवाला वानर हूँ। मैं यहाँ आपसे युद्ध नहीं करता था, दूसरेके साथ मेरी लड़ाई हो रही थी। फिर बिना अपराधके आपने मुझे क्यों मारा? ॥ २५ ॥

त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रतीतः प्रियदर्शनः।
लिङ्गमप्यस्ति ते राजन् दृश्यते धर्मसंहितम् ॥ २६ ॥

'राजन्! आप एक सम्माननीय नरेशके पुत्र हैं। विश्वासके योग्य हैं और देखनेमें भी प्रिय हैं। आपमें धर्मका साधनभूत चिह्न (जटा) वल्कल धारण आदि भी प्रत्यक्ष दिखायी देता है ॥ २६ ॥

कः क्षत्रियकुले जातः श्रुतवान् नष्टसंशयः।
धर्मलिङ्गप्रतिच्छन्नः क्रूरं कर्म समाचरेत् ॥ २७ ॥

'क्षत्रियकुलमें उत्पन्न शास्त्रका ज्ञाता, संशयरहित तथा धार्मिक वेश-भूषासे आच्छन्न होकर भी कौन मनुष्य ऐसा क्रूरतापूर्ण कर्म कर सकता है ॥ २७ ॥

त्वं राघवकुले जातो धर्मवानिति विश्रुतः।
अभव्यो भव्यरूपेण किमर्थं परिधावसे ॥ २८॥

'महाराज! रघुके कुलमें आपका प्रादुर्भाव हुआ है। आप धर्मात्माके रूपमें प्रसिद्ध हैं तो भी इतने अभव्य (क्रूर) निकले! यदि यही आपका असली रूप है तो फिर किस लिये ऊपरसे भव्य (विनीत एवं दयालु) साधु पुरुषका-सा रूप धारण करके चारों ओर दौड़ते-फिरते हैं? ॥ २८ ॥

साम दानं क्षमा धर्मः सत्यं धृतिपराक्रमौ।
पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु ॥ २९ ॥

'राजन्! साम, दान, क्षमा, धर्म, सत्य, धृति, पराक्रम और अपराधियोंको दण्ड देना—ये भूपालोंके गुण हैं ॥ २९॥

वयं वनचरा राम मृगा मूलफलाशिनः।
एषा प्रकृतिरस्माकं पुरुषस्त्वं नरेश्वर ॥ ३० ॥

'नरेश्वर राम! हम फल-मूल खानेवाले वनचारी मृग हैं। यही हमारी प्रकृति है; किंतु आप तो पुरुष (मनुष्य) हैं (अतः हमारे और आपमें वैरका कोई कारण नहीं है) ॥ ३० ॥

भूमिर्हिरण्यं रूप्यं च विग्रहे कारणानि च।
तत्र कस्ते वने लोभो मदीयेषु फलेषु वा ॥ ३१ ॥

'पृथ्वी, सोना और चाँदी—इन्हीं वस्तुओंके लिये राजाओंमें परस्पर युद्ध होते हैं। ये ही तीन कलहके मूल कारण हैं। परंतु यहाँ वे भी नहीं हैं। इस दिशामें इस वनमें या हमारे फलोंमें आपका क्या लोभ हो सकता है? ॥ ३१ ॥

नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि।
राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः ॥ ३२ ॥

'नीति और विनय, दण्ड और अनुग्रह—ये राजधर्म हैं, किंतु इनके उपयोगके भिन्न-भिन्न अवसर हैं (इनका अविवेकपूर्वक उपयोग करना उचित नहीं है)। राजाओंको स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिये ॥ ३२ ॥

त्वं तु कामप्रधानश्च कोपनश्चानवस्थितः।
राजवृत्तेषु संकीर्णः शरासनपरायणः ॥ ३३ ॥

'परंतु आप तो कामके गुलाम, क्रोधी और मर्यादामें स्थित न रहनेवाले—चञ्चल हैं। नय-विनय आदि जो राजाओंके धर्म हैं, उनके अवसरका विचार किये बिना ही किसीका कहीं भी प्रयोग कर देते हैं। जहाँ कहीं भी बाण चलाते-फिरते हैं॥

न तेऽस्त्यपचितिर्धर्मे नार्थे बुद्धिरवस्थिता।
इन्द्रियैः कामवृत्तः सन् कृष्यसे मनुजेश्वर ॥ ३४ ॥

'आपका धर्मके विषयमें आदर नहीं है और न अर्थ-साधनमें ही आपकी बुद्धि स्थिर है। नरेश्वर! आप स्वेच्छाचारी हैं। इसलिये आपकी इन्द्रियाँ आपको कहीं भी खींच ले जाती हैं ॥ ३४ ॥

हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम्।
किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कर्म कृत्वा जुगुप्सितम् ॥ ३५ ॥

'काकुत्स्थ! मैं सर्वथा निरपराध था तो भी यहाँ मुझे बाणसे मारनेका घृणित कर्म करके सत्पुरुषोंके बीचमें आप क्या कहेंगे? ॥ ३५ ॥

राजहा ब्रह्महा गोघ्नश्चोरः प्राणिवधे रतः।
नास्तिकः परिवेत्ता च सर्वे निरयगामिनः ॥ ३६ ॥

'राजाका वध करनेवाला, ब्रह्म-हत्यारा, गोघाती, चोर, प्राणियोंकी हिंसामें तत्पर रहनेवाला, नास्तिक और परिवेत्ता (बड़े भाईके अविवाहित रहते अपना विवाह करनेवाला छोटा भाई)—ये सब-के-सब नरकगामी होते हैं ॥ ३६ ॥

सूचकश्च कदर्यश्च मित्रघ्नो गुरुतल्पगः।
लोकं पापात्मनामेते गच्छन्ते नात्र संशयः ॥ ३७ ॥

'चुगली खानेवाला, लोभी, मित्र-हत्यारा तथा गुरुपत्नी-गामी—ये पापात्माओंके लोकमें जाते हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ ३७ ॥

अधार्यं चर्म मे सद्भी रोमाण्यस्थि च वर्जितम्।
अभक्ष्याणि च मांसानि त्वद्विधैर्धर्मचारिभिः ॥ ३८ ॥

'हम वानरोंका चमड़ा भी तो सत्पुरुषोंके धारण करने योग्य नहीं होता। हमारे रोम और हड्डियाँ भी वर्जित हैं (छूने योग्य नहीं हैं। आप-जैसे धर्मचारी पुरुषोंके लिये मांस तो सदा ही अभक्ष्य है; फिर किस लोभसे आपने मुझ वानरको अपने बाणोंका शिकार बनाया है?) ॥ ३८ ॥

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः ॥ ३९ ॥

'रघुनन्दन! त्रैवर्णिकोंमें जिनकी किसी कारणसे मांसाहार (जैसे निन्दनीय कर्म) में प्रवृत्ति हो गयी है, उनके लिये भी पाँच नखवाले जीवोंमेंसे पाँच ही भक्षणके योग्य बताये गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—गेंडा, साही, गोह, खरहा और पाँचवाँ कछुआ ॥ ३९ ॥

चर्म चास्थि च मे राम न स्पृशन्ति मनीषिणः।
अभक्ष्याणि च मांसानि सोऽहं पञ्चनखो हतः ॥ ४० ॥

'श्रीराम! मनीषी पुरुष मेरे (वानरके) चमड़े और हड्डीका स्पर्श नहीं करते हैं। वानरके मांस भी सभीके लिये अभक्ष्य होते हैं। इस तरह जिसका सब कुछ निषिद्ध है, ऐसा पाँच नखवाला मैं आज आपके हाथसे मारा गया हूँ ॥

तारया वाक्यमुक्तोऽहं सत्यं सर्वज्ञया हितम्।
तदतिक्रम्य मोहेन कालस्य वशमागतः ॥ ४१ ॥

'मेरी स्त्री तारा सर्वज्ञ है। उसने मुझे सत्य और हितकी बात बतायी थी। किंतु मोहवश उसका उल्लङ्घन करके मैं कालके अधीन हो गया ॥ ४१ ॥

त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुंधरा।
प्रमदा शीलसम्पूर्णा पत्येव च विधर्मणा ॥ ४२

'काकुत्स्थ ! जैसे सुशीला युवती पापात्मा पतिसे सुरक्षित नहीं हो पाती, उसी प्रकार आप-जैसे स्वामीको पाकर यह वसुधा सनाथ नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥

शठोनैकृतिकः क्षुद्रो मिथ्याप्रश्रितमानसः ।
कथं दशरथेन त्वं जातः पापो महात्मना ॥ ४३ ॥

'आप शठ (छिपे रहकर दूसरोंका अप्रिय करनेवाले), अपकारी, क्षुद्र और झूठे ही शान्तचित्त बने रहनेवाले हैं । महात्मा राजा दशरथने आप-जैसे पापीको कैसे उत्पन्न किया ॥

छिन्नचारित्र्यकक्ष्येण सतां धर्मातिवर्तिना ।
त्यक्तधर्माङ्कुशेनाहं निहतो रामहस्तिना ॥ ४४ ॥

'हाय ! जिसने सदाचारका रस्सा तोड़ डाला है, सत्पुरुषोंके धर्म एवं मर्यादाका उल्लङ्घन किया है तथा जिसने धर्मरूपी अङ्कुशकी भी अवहेलना कर दी है, उस रामरूपी हाथीके द्वारा आज मैं मारा गया ॥ ४४ ॥

अशुभं चाप्ययुक्तं च सतां चैव विगर्हितम् ।
वक्ष्यसे चेदृशं कृत्वा सद्भिः सह समागतः ॥ ४५ ॥

'ऐसा अशुभ, अनुचित और सत्पुरुषोंद्वारा निन्दित कर्म करके आप श्रेष्ठ पुरुषोंसे मिलनेपर उनके सामने क्या कहेंगे ॥ ४५ ॥

उदासीनेषु योऽस्मासु विक्रमोऽयं प्रकाशितः ।
अपकारिषु ते राम नैवं पश्यामि विक्रमम् ॥ ४६ ॥

'श्रीराम ! हम उदासीन प्राणियोंपर आपने जो यह पराक्रम प्रकट किया है, ऐसा बल-पराक्रम आप अपना अपकार करनेवालोंपर प्रकट कर रहे हों, ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता ॥ ४६ ॥

दृश्यमानस्तु युध्येथा मया युधि नृपात्मज ।
अद्य वैवस्वतं देवं पश्येस्त्वं निहतो मया ॥ ४७ ॥

'राजकुमार ! यदि आप युद्धस्थलमें मेरी दृष्टिके सामने आकर मेरे साथ युद्ध करते तो आज मेरे द्वारा मारे जाकर सूर्यपुत्र यम देवताका दर्शन करते होते ॥ ४७ ॥

त्वयादृश्येन तु रणे निहतोऽहं दुरासदः ।
प्रसुप्तः पन्नगेनैव नरः पापवशं गतः ॥ ४८ ॥

'जैसे किसी सोये हुए पुरुषको साँप आकर डँस ले और वह मर जाय, उसी प्रकार रणभूमिमें मुझ दुर्जय वीरको आपने छिपे रहकर मारा है तथा ऐसा करके आप पापके भागी हुए हैं ॥ ४८ ॥

सुग्रीवप्रियकामेन यदहं निहतस्त्वया ।
मामेव यदि पूर्वं त्वमेतदर्थमचोदयः ।
मैथिलीमहमेकाह्ना तव चानीतवान् भवेः ॥ ४९ ॥

'जिस उद्देश्यको लेकर सुग्रीवका प्रिय करनेकी कामनासे आपने मेरा वध किया है, उसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये यदि आपने पहले मुझसे ही कहा होता तो मैं मिथिलेशकुमारी जानकीको एक ही दिनमें ढूँढ़कर आपके पास ला देता ॥

राक्षसं च दुरात्मानं तव भार्यापहारिणम् ।
कण्ठे बद्ध्वा प्रदद्यां तेऽनिहतं रावणं रणे ॥ ५० ॥

'आपकी पत्नीका अपहरण करनेवाले दुरात्मा राक्षस रावणको मैं युद्धमें मारे बिना ही उसके गलेमें रस्सी बाँधकर पकड़ लाता और उसे आपके हवाले कर देता ॥ ५० ॥

न्यस्तां सागरतोये वा पाताले वापि मैथिलीम् ।
आनयेयं तवादेशाच्छ्वेतामश्वतरीमिव ॥ ५१ ॥

'जैसे मधुकैटभद्वारा अपहृत हुई श्वेताश्वतरी श्रुतिका भगवान् हयग्रीवने उद्धार किया था, उसी प्रकार मैं आपके आदेशसे मिथिलेशकुमारी सीताको यदि वे समुद्रके जलमें या पातालमें रक्खी गयी होतीं तो भी वहाँसे ला देता ॥ ५१ ॥

युक्तं यत्प्राप्नुयाद् राज्यं सुग्रीवः स्वर्गते मयि ।
अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाहं निहतो रणे ॥ ५२ ॥

'मेरे स्वर्गवासी हो जानेपर सुग्रीव जो यह राज्य प्राप्त करेंगे, वह तो उचित ही है । अनुचित इतना ही हुआ है कि आपने मुझे रणभूमिमें अधर्मपूर्वक मारा है ॥ ५२ ॥

काममेवंविधो लोकः कालेन विनियुज्यते ।
क्षमं चेद्भवता प्राप्तमुत्तरं साधु चिन्त्यताम् ॥ ५३ ॥

'यह जगत् कभी-न-कभी कालके अधीन होता ही है । इसका ऐसा स्वभाव ही है । अतः भले ही मेरी मृत्यु हो जाय । इसके लिये मुझे खेद नहीं है । परंतु मेरे इस तरह मारे जानेका यदि आपने उचित उत्तर ढूँढ़ निकाला हो तो उसे अच्छी तरह सोच-विचारकर कहिये' ॥ ५३ ॥

इत्येवमुक्त्वा परिशुष्कवक्त्रः
शराभिघाताद् व्यथितो महात्मा ।
समीक्ष्य रामं रविसंनिकाशं
तूष्णीं बभौ वानरराजसूनुः ॥ ५४ ॥

ऐसा कहकर महामनस्वी वानरराजकुमार वाली सूर्यके समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर चुप हो गया । उसका मुँह सूख गया था और बाणके आघातसे उसको बड़ी पीड़ा हो रही थी ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामका वालीकी बातका उत्तर देते हुए उसे दिये गये दण्डका औचित्य बताना, वालीका निरुत्तर होकर भगवान्से अपने अपराधके लिये क्षमा माँगते हुए अङ्गदकी रक्षाके लिये प्रार्थना करना और श्रीरामका उसे आश्वासन देना

इत्युक्तः प्रश्रितं वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
परुषं वालिना रामो निहतेन विचेतसा॥ १॥
तं निष्प्रभमिवादित्यं मुक्ततोयमिवाम्बुदम्।
उक्तवाक्यं हरिश्रेष्ठमुपशान्तमिवानलम्॥ २॥
धर्मार्थगुणसम्पन्नं हरीश्वरमनुत्तमम्।
अधिक्षिप्तस्तदा रामः पश्चाद् वालिनमब्रवीत्॥ ३॥

वहाँ मारे जाकर अचेत हुए वालीने जब इस प्रकार विनयाभास, धर्माभास, अर्थाभास और हिताभाससे युक्त कठोर बातें कहीं, आक्षेप किया, तब उन बातोंको कहकर मौन हुए वानरश्रेष्ठ वालीसे श्रीरामचन्द्रजीने धर्म, अर्थ और श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त परम उत्तम बात कही। उस समय वाली प्रभाहीन सूर्य, जलहीन बादल और बुझी हुई आगके समान श्रीहीन प्रतीत होता था॥ १—३॥

धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम्।
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्य विगर्हसे॥ ४॥

(श्रीराम बोले—) 'वानर! धर्म, अर्थ, काम और लौकिक सदाचारको तो तुम स्वयं ही नहीं जानते हो। फिर बालोचित अविवेकके कारण आज यहाँ मेरी निन्दा क्यों करते हो?॥ ४॥

अपृष्ट्वा बुद्धिसम्पन्नान् वृद्धानाचार्यसम्मतान्।
सौम्य वानरचापल्यात् त्वं मां वक्तुमिहेच्छसि॥ ५॥

'सौम्य! तुम आचार्योंद्वारा सम्मानित बुद्धिमान् वृद्ध पुरुषोंसे पूछे बिना ही—उनसे धर्मके स्वरूपको ठीक-ठीक समझे बिना ही वानरोचित चपलतावश मुझे यहाँ उपदेश देना चाहते हो? अथवा मुझपर आक्षेप करनेकी इच्छा रखते हो॥ ५॥

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि॥ ६॥

'पर्वत, वन और काननोंसे युक्त यह सारी पृथ्वी इक्ष्वाकुवंशी राजाओंकी है; अतः वे यहाँके पशु-पक्षी और मनुष्योंपर दया करने और उन्हें दण्ड देनेके भी अधिकारी हैं॥ ६॥

तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवानृजुः।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः॥ ७॥

'धर्मात्मा राजा भरत इस पृथ्वीका पालन करते हैं। वे सत्यवादी, सरल तथा धर्म, अर्थ और कामके तत्त्वको जाननेवाले हैं; अतः दुष्टोंके निग्रह तथा साधु पुरुषोंके प्रति अनुग्रह करनेमें तत्पर रहते हैं॥ ७॥

नयश्च विनयश्चोभौ यस्मिन् सत्यं च सुस्थितम्।
विक्रमश्च यथा दृष्टः स राजा देशकालवित्॥ ८॥

'जिसमें नीति, विनय, सत्य और पराक्रम आदि सभी राजोचित गुण यथावत्‌रूपसे स्थित देखे जायँ, वही देश-काल-तत्त्वको जाननेवाला राजा होता है (भरतमें ये सभी गुण विद्यमान हैं)॥ ८॥

तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसंतानमिच्छवः॥ ९॥

'भरतकी ओरसे हमें तथा दूसरे राजाओंको यह आदेश प्राप्त है कि जगत्‌में धर्मके पालन और प्रसारके लिये यत्न किया जाय। इसलिये हमलोग धर्मका प्रचार करनेकी इच्छासे सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं॥ ९॥

तस्मिन् नृपतिशार्दूले भरते धर्मवत्सले।
पालयत्यखिलां पृथ्वीं कश्चरेद् धर्मविप्रियम्॥ १०॥

'राजाओंमें श्रेष्ठ भरत धर्मपर अनुराग रखनेवाले हैं। वे समूची पृथ्वीका पालन कर रहे हैं। उनके रहते हुए इस पृथ्वीपर कौन प्राणी धर्मके विरुद्ध आचरण कर सकता है?॥ १०॥

ते वयं मार्गविभ्रष्टं स्वधर्मे परमे स्थिताः।
भरताज्ञां पुरस्कृत्य निगृह्णीमो यथाविधि॥ ११॥

'हम सब लोग अपने श्रेष्ठ धर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर भरतकी आज्ञाको सामने रखते हुए धर्ममार्गसे भ्रष्ट पुरुषको विधिपूर्वक दण्ड देते हैं॥ ११॥

त्वं तु संक्लिष्टधर्मश्च कर्मणा च विगर्हितः।
कामतन्त्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि॥ १२॥

'तुमने अपने जीवनमें कामको ही प्रधानता दे रखी थी। राजोचित मार्गपर तुम कभी स्थिर नहीं रहे। तुमने सदा ही धर्मको बाधा पहुँचायी और बुरे कर्मोंके कारण सत्पुरुषोंद्वारा सदा तुम्हारी निन्दा की गयी॥ १२॥

ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः॥ १३॥

'बड़ा भाई, पिता तथा जो विद्या देता है, वह गुरु—ये तीनों धर्ममार्गपर स्थित रहनेवाले पुरुषोंके लिये पिताके तुल्य माननीय हैं, ऐसा समझना चाहिये॥ १३॥

यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः।
पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चैवात्र कारणम्॥ १४॥

'इसी प्रकार छोटा भाई, पुत्र और गुणवान् शिष्य—ये तीन पुत्रके तुल्य समझे जाने योग्य हैं। उनके प्रति ऐसा भाव रखनेमें धर्म ही कारण है ॥ १४ ॥

सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्लवङ्गम।
हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम् ॥ १५ ॥

'वानर! सज्जनोंका धर्म सूक्ष्म होता है वह परम दुर्ज्ञेय है—उसे समझना अत्यन्त कठिन है। समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विराजमान जो परमात्मा हैं, वे ही सबके शुभ और अशुभको जानते हैं ॥ १५ ॥

चपलश्चपलैः सार्धं वानरैरकृतात्मभिः।
जात्यन्ध इव जात्यन्धैर्मन्त्रयन् प्रेक्षसे नु किम् ॥ १६ ॥

'तुम स्वयं भी चपल हो और चञ्चल चित्तवाले अजितात्मा वानरोंके साथ रहते हो; अतः जैसे कोई जन्मान्ध पुरुष जन्मान्धोंसे ही रास्ता पूछे, उसी प्रकार तुम उन चपल वानरोंके साथ परामर्श करते हो। फिर तुम धर्मका विचार क्या कर सकते हो?—उसके स्वरूपको कैसे समझ सकते हो? ॥ १६ ॥

अहं तु व्यक्ततामस्य वचनस्य ब्रवीमि ते।
नहि मां केवलं रोषात् त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

'मैंने यहाँ जो कुछ कहा है, उसका अभिप्राय तुम्हें स्पष्ट करके बताता हूँ। तुम्हें केवल रोषवश मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥ १७ ॥

तदेतत् कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ॥ १८ ॥

'मैंने तुम्हें क्यों मारा है? उसका कारण सुनो और समझो। तुम सनातन धर्मका त्याग करके अपने छोटे भाईकी स्त्रीसे सहवास करते हो ॥ १८ ॥

अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रुमायां वर्तसे कामात् स्नुषायां पापकर्मकृत् ॥ १९ ॥

'इस महामना सुग्रीवके जीते-जी इसकी पत्नी रुमाका, जो तुम्हारी पुत्रवधूके समान है, कामवश उपभोग करते हो। अतः पापाचारी हो ॥ १९ ॥

तद् व्यतीतस्य ते धर्मात् कामवृत्तस्य वानर।
भ्रातृभार्याभिमर्शेऽस्मिन् दण्डोऽयं प्रतिपादितः ॥ २० ॥

'वानर! इस तरह तुम धर्मसे भ्रष्ट हो स्वेच्छाचारी हो गये हो और अपने भाईकी स्त्रीको गले लगाते हो। तुम्हारे इसी अपराधके कारण तुम्हें यह दण्ड दिया गया है ॥ २० ॥

नहि लोकविरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः।
दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप ॥ २१ ॥

'वानरराज! जो लोकाचारसे भ्रष्ट होकर लोकविरुद्ध आचरण करता है, उसे रोकने या राहपर लानेके लिये मैं दण्डके सिवा और कोई उपाय नहीं देखता ॥ २१ ॥

न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः।
औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः ॥ २२ ॥
प्रचरेत नरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः।

'मैं उत्तम कुलमें उत्पन्न क्षत्रिय हूँ; अतः मैं तुम्हारे पापको क्षमा नहीं कर सकता। जो पुरुष अपनी कन्या, बहिन अथवा छोटे भाईकी स्त्रीके पास काम-बुद्धिसे जाता है, उसका वध करना ही उसके लिये उपयुक्त दण्ड माना गया है ॥ २२½ ॥

भरतस्तु महीपालो वयं त्वादेशवर्तिनः ॥ २३ ॥
त्वं च धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम्।

'हमारे राजा भरत हैं। हमलोग तो केवल उनके आदेशका पालन करनेवाले हैं। तुम धर्मसे गिर गये हो; अतः तुम्हारी उपेक्षा कैसे की जा सकती थी ॥ २३½ ॥

गुरुधर्मव्यतिक्रान्तं प्राज्ञो धर्मेण पालयन् ॥ २४ ॥
भरतः कामयुक्तानां निग्रहे पर्यवस्थितः।

'विद्वान् राजा भरत महान् धर्मसे भ्रष्ट हुए पुरुषको दण्ड देते और धर्मात्मा पुरुषका धर्मपूर्वक पालन करते हुए कामासक्त स्वेच्छाचारी पुरुषोंके निग्रहमें तत्पर रहते हैं ॥ २४½ ॥

वयं तु भरतादेशावधिं कृत्वा हरीश्वर।
त्वद्विधान् भिन्नमर्यादान् निग्रहीतुं व्यवस्थिताः ॥ २५ ॥

'हरीश्वर! हमलोग तो भरतकी आज्ञाको ही प्रमाण मानकर धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले तुम्हारे-जैसे लोगोंको दण्ड देनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं ॥ २५ ॥

सुग्रीवेण च मे सख्यं लक्ष्मणेन यथा तथा।
दारराज्यनिमित्तं च निःश्रेयसकरः स मे ॥ २६ ॥
प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसंनिधौ।
प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम् ॥ २७ ॥

'सुग्रीवके साथ मेरी मित्रता हो चुकी है। उनके प्रति मेरा वही भाव है, जो लक्ष्मणके प्रति है। वे अपनी स्त्री और राज्यकी प्राप्तिके लिये मेरी भलाई करनेके लिये भी कटिबद्ध हैं। मैंने वानरोंके समीप इन्हें स्त्री और राज्य दिलानेके लिये प्रतिज्ञा भी कर ली है। ऐसी दशामें मेरे-जैसा मनुष्य अपनी प्रतिज्ञाकी ओरसे कैसे दृष्टि हटा सकता है ॥ २६-२७ ॥

तदेभिः कारणैः सर्वैर्महद्भिर्धर्मसंश्रितैः।
शासनं तव यद् युक्तं तद् भवाननुमन्यताम् ॥ २८ ॥

'ये सभी धर्मानुकूल महान् कारण एक साथ उपस्थित हो गये, जिनसे विवश होकर तुम्हें उचित दण्ड देना पड़ा है। तुम भी इसका अनुमोदन करो ॥ २८ ॥

सर्वथा धर्म इत्येव द्रष्टव्यस्तव निग्रहः।
वयस्यस्योपकर्तव्यं धर्ममेवानुपश्यता ॥ २९ ॥

'धर्मपर दृष्टि रखनेवाले मनुष्यके लिये मित्रका उपकार करना धर्म ही माना गया है; अतः तुम्हें जो यह दण्ड दिया गया है, वह धर्मके अनुकूल है। ऐसा ही तुम्हें समझना चाहिये ॥ २९ ॥

शक्यं त्वयापि तत्कार्यं धर्ममेवानुवर्तता।
श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चरित्रवत्सलौ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया ॥ ३० ॥

'यदि राजा होकर तुम धर्मका अनुसरण करते तो तुम्हें भी वही काम करना पड़ता, जो मैंने किया है। मनुने राजोचित सदाचारका प्रतिपादन करनेवाले दो श्लोक कहे हैं, जो स्मृतियोंमें सुने जाते हैं और जिन्हें धर्मपालनमें कुशल पुरुषोंने सादर स्वीकार किया। उन्हींके अनुसार इस समय यह मेरा वर्ताव हुआ है (वे श्लोक इस प्रकार हैं—) ॥ ३० ॥

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१ ॥
शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥ ३२ ॥

'मनुष्य पाप करके यदि राजाके दिये हुए दण्डको भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा साधु पुरुषोंकी भाँति स्वर्गलोकमें जाते हैं। (चोर आदि पापी जब राजाके सामने उपस्थित हों उस समय उन्हें) राजा दण्ड दे अथवा दया करके छोड़ दे। चोर आदि पापी पुरुष अपने पापसे मुक्त हो जाता है; किंतु यदि राजा पापीको उचित दण्ड नहीं देता तो उसे स्वयं उसके पापका फल भोगना पड़ता है* ॥ ३१-३२ ॥

आर्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम्।
श्रमणेन कृते पापे यथा पापं कृतं त्वया ॥ ३३ ॥

'तुमने जैसा पाप किया है, वैसा ही पाप प्राचीन कालमें एक श्रमणने किया था। उसे मेरे पूर्वज महाराज मान्धाताने बड़ा कठोर दण्ड दिया था, जो शास्त्रके अनुसार अभीष्ट था ॥ ३३ ॥

अन्यैरपि कृतं पापं प्रमत्तैर्वसुधाधिपैः।
प्रायश्चित्तं च कुर्वन्ति तेन तच्छाम्यते रजः ॥ ३४ ॥

'यदि राजा दण्ड देनेमें प्रमाद कर जायँ तो उन्हें दूसरोंके किये हुए पाप भी भोगने पड़ते हैं तथा उसके लिये जब वे प्रायश्चित्त करते हैं तभी उनका दोष शान्त होता है ॥

तदलं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः।
वधो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिताः ॥ ३५ ॥

'अतः वानरश्रेष्ठ! पश्चात्ताप करनेसे कोई लाभ नहीं है। सर्वथा धर्मके अनुसार ही तुम्हारा वध किया गया है; क्योंकि हमलोग अपने वशमें नहीं हैं (शास्त्रके ही अधीन हैं) ॥ ३५ ॥

शृणु चाप्यपरं भूयः कारणं हरिपुंगव।
तच्छ्रुत्वा हि महद् वीर न मन्युं कर्तुमर्हसि ॥ ३६ ॥

'वानरशिरोमणे! तुम्हारे वधका जो दूसरा कारण है, उसे भी सुन लो। वीर! उस महान् कारणको सुनकर तुम्हें मेरे प्रति क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ३६ ॥

न मे तत्र मनस्तापो न मन्युर्हरिपुंगव।
वागुराभिश्च पाशैश्च कूटैश्च विविधैर्नराः ॥ ३७ ॥
प्रतिच्छन्नाश्च दृश्याश्च गृह्णन्ति सुबहून् मृगान्।
प्रधावितान् वा वित्रस्तान् विस्रब्धानतिविष्ठितान् ॥ ३८ ॥

'वानरश्रेष्ठ! इस कार्यके लिये मेरे मनमें न तो संताप होता है और न खेद ही। मनुष्य (राजा आदि) बड़े-बड़े जाल बिछाकर, फंदे फैलाकर और नाना प्रकारके कूट उपाय (गुप्त गड्ढोंके निर्माण आदि) करके छिपे रहकर सामने आकर बहुत-से मृगोंको पकड़ लेते हैं; भले ही वे भयभीत होकर भागते हों या विश्वस्त होकर अत्यन्त निकट बैठे हों ॥

प्रमत्तानप्रमत्तान् वा नरा मांसाशिनो भृशम्।
विध्यन्ति विमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते ॥ ३९ ॥

'मांसाहारी मनुष्य (क्षत्रिय) सावधान, असावधान अथवा विमुख होकर भागनेवाले पशुओंको भी अत्यन्त घायल कर देते हैं; किंतु उनके लिये इस मृगयामें दोष नहीं होता ॥ ३९ ॥

यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः।
तस्मात् त्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर।
अयुध्यन् प्रतियुध्यन् वा यस्माच्छाखामृगो ह्यसि ॥ ४० ॥

'वानर! धर्मज्ञ राजर्षि भी इस जगत्में मृगयाके लिये जाते हैं और विविध जन्तुओंका वध करते हैं। इसलिये मैंने तुम्हें युद्धमें अपने बाणका निशाना बनाया है। तुम मुझसे युद्ध करते थे या नहीं करते थे, तुम्हारी वध्यतामें कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि तुम शाखामृग हो (और मृगया करनेका क्षत्रियको अधिकार है) ॥ ४० ॥

दुर्लभस्य च धर्मस्य जीवितस्य शुभस्य च।
राजानो वानरश्रेष्ठ प्रदातारो न संशयः ॥ ४१ ॥

'वानरश्रेष्ठ! राजालोग दुर्लभ धर्म, जीवन और लौकिक अभ्युदयके देनेवाले होते हैं; इसमें संशय नहीं है ॥ ४१ ॥

तान् न हिंस्यान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपेन्नाप्रियं वदेत्।
देवा मानुषरूपेण चरन्त्येते महीतले ॥ ४२ ॥

---

* मनुस्मृतिमें ये दोनों श्लोक किंचित् पाठान्तरके साथ इस प्रकार मिलते हैं—

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥
शासनाद् वा विमोक्षाद् वा स्तेनः स्तेयाद् विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥
(८। ३१८, ३१६)

'अतः उनकी हिंसा न करे, उनकी निन्दा न करे, उनके प्रति आक्षेप भी न करे और न उनसे अप्रिय वचन ही बोले; क्योंकि वे वास्तवमें देवता हैं, जो मनुष्यरूपसे इस पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ ४२ ॥

त्वं तु धर्ममविज्ञाय केवलं रोषमास्थितः ।
विदूषयसि मां धर्मे पितृपैतामहे स्थितम् ॥ ४३ ॥

'तुम तो धर्मके स्वरूपको न समझकर केवल रोषके वशीभूत हो गये हो; इसलिये पिता-पितामहोंके धर्मपर स्थित रहनेवाले मेरी निन्दा कर रहे हो' ॥ ४३ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण वाली प्रव्यथितो भृशम् ।
न दोषं राघवे दध्यौ धर्मेऽधिगतनिश्चयः ॥ ४४ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर वालीके मनमें बड़ी व्यथा हुई। इसे धर्मके तत्त्वका निश्चय हो गया। उसने श्रीरामचन्द्रजीके दोषका चिन्तन त्याग दिया ॥ ४४ ॥

प्रत्युवाच ततो रामं प्राञ्जलिर्वानरेश्वरः ।
यत् त्वमात्थ नरश्रेष्ठ तत् तथैव न संशयः ॥ ४५ ॥

इसके बाद वानरराज वालीने श्रीरामचन्द्रजीसे हाथ जोड़कर कहा—'नरश्रेष्ठ ! आप जो कुछ कहते हैं, बिल्कुल ठीक है; इसमें संशय नहीं है ॥ ४५ ॥

प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि नापकृष्टस्तु शक्नुयात् ।
यदयुक्तं मया पूर्वं प्रमादाद् वाक्यमप्रियम् ॥ ४६ ॥
तत्रापि खलु मां दोषं कर्तुं नार्हसि राघव ।
त्वं हि दृष्टार्थतत्त्वज्ञः प्रजानां च हिते रतः ।
कार्यकारणसिद्धौ च प्रसन्ना बुद्धिरव्यया ॥ ४७ ॥

'आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुषको मुझ-जैसा निम्न श्रेणीका प्राणी उचित उत्तर नहीं दे सकता; अतः मैंने प्रमादवश पहले जो अनुचित बात कह डाली है, उसमें भी आपको मेरा अपराध नहीं मानना चाहिये। रघुनन्दन ! आप परमार्थ-तत्त्वके यथार्थ ज्ञाता और प्रजाजनोंके हितमें तत्पर रहनेवाले हैं। आपकी बुद्धि कार्य-कारणके निश्चयमें निर्भ्रान्त एवं निर्मल है ॥४६-४७॥

मामप्यवगतं धर्माद् व्यतिक्रान्तपुरस्कृतम् ।
धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय ॥ ४८ ॥

'धर्मज्ञ ! मैं धर्मभ्रष्ट प्राणियोंमें अग्रगण्य हूँ और इसी रूपमें मेरी सर्वत्र प्रसिद्धि है तो भी आज आपकी शरणमें आया हूँ। अपनी धर्मतत्त्वकी वाणीसे आज मेरी भी रक्षा कीजिये' ॥

बाष्पसंरुद्धकण्ठस्तु वाली सार्तरवः शनैः ।
उवाच रामं सम्प्रेक्ष्य पङ्कलग्न इव द्विपः ॥ ४९ ॥

इतना कहते-कहते आँसुओंसे वालीका गला भर आया और वह कीचड़में फँसे हुए हाथीकी तरह आर्तनाद करके श्रीरामकी ओर देखता हुआ धीरे-धीरे बोला— ॥ ४९ ॥

न चात्मानमहं शोचे न तारां नापि बान्धवान् ।
यथा पुत्रं गुणज्येष्ठमङ्गदं कनकाङ्गदम् ॥ ५० ॥

'भगवन् ! मुझे अपने लिये, ताराके लिये तथा बन्धु-बान्धवोंके लिये भी उतना शोक नहीं होता है, जितना सुवर्णका अङ्गद धारण करनेवाले श्रेष्ठ गुणसम्पन्न पुत्र अङ्गदके लिये हो रहा है ॥ ५० ॥

स ममादर्शनाद् दीनो बाल्यात् प्रभृति लालितः ।
तटाक इव पीताम्बुरुपशोषं गमिष्यति ॥ ५१ ॥

'मैंने बचपनसे ही उसका बड़ा दुलार किया है; अब मुझे न देखकर वह बहुत दुखी होगा और जिसका जल पी लिया गया हो, उस तालाबकी तरह सूख जायगा ॥ ५१ ॥

बालश्चाकृतबुद्धिश्च एकपुत्रश्च मे प्रियः ।
तारेयो राम भवता रक्षणीयो महाबलः ॥ ५२ ॥

'श्रीराम ! वह अभी बालक है। उसकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई है। मेरा इकलौता बेटा होनेके कारण ताराकुमार अङ्गद मुझे बड़ा प्रिय है। आप मेरे उस महाबली पुत्रकी रक्षा कीजियेगा ॥ ५२ ॥

सुग्रीवे चाङ्गदे चैव विधत्स्व मतिमुत्तमाम् ।
त्वं हि गोप्ता च शास्ता च कार्याकार्यविधौ स्थितः ॥५३॥

'सुग्रीव और अङ्गद दोनोंके प्रति आप सद्भाव रक्खें। अब आप ही इन लोगोंके रक्षक तथा इन्हें कर्तव्य-अकर्तव्यकी शिक्षा देनेवाले हैं ॥ ५३ ॥

या ते नरपते वृत्तिर्भरते लक्ष्मणे च या ।
सुग्रीवे चाङ्गदे राजंस्तां चिन्तयितुमर्हसि ॥ ५४ ॥

'राजन् ! नरेश्वर ! भरत और लक्ष्मणके प्रति आपका जैसा बर्ताव है, वही सुग्रीव तथा अङ्गदके प्रति भी होना चाहिये। आप उसी भावसे इन दोनोंका स्मरण करें ॥ ५४ ॥

मद्दोषकृतदोषां तां यथा तारां तपस्विनीम् ।
सुग्रीवो नावमन्येत तथावस्थातुमर्हसि ॥ ५५ ॥

'बेचारी ताराकी बड़ी शोचनीय अवस्था हो गयी है। मेरे ही अपराधसे उसे भी अपराधिनी समझकर सुग्रीव उसका तिरस्कार न करें, इस बातकी भी व्यवस्था कीजियेगा ॥५५॥

त्वया ह्यनुगृहीतेन शक्यं राज्यमुपासितुम् ।
त्वद्वशे वर्तमानेन तव चित्तानुवर्तिना ॥ ५६ ॥
शक्यं दिवं चार्जयितुं वसुधां चापि शासितुम् ।

'सुग्रीव आपका कृपापात्र होकर ही इस राज्यका यथार्थ रूपसे पालन कर सकता है। आपके अधीन होकर आपके चित्तका अनुसरण करनेवाला पुरुष स्वर्ग और पृथ्वीका भी राज्य पा सकता है और उसका अच्छी तरह पालन कर सकता है ॥ ५६½ ॥

त्वत्तोऽहं वधमाकाङ्क्षन् वार्यमाणोऽपि तारया ॥ ५७ ॥
सुग्रीवेण सह भ्रात्रा द्वन्द्वयुद्धमुपागतः ।

'मैं चाहता था कि आपके हाथसे मेरा वध हो; इसी-



वालीका अनुपम सौभाग्य

लिये ताराके मना करनेपर भी मैं अपने भाई सुग्रीवके साथ द्वन्द्वयुद्ध करनेके लिये चला आया' ॥ ५७½ ॥

इत्युक्त्वा वानरो रामं विरराम हरीश्वरः ॥ ५८ ॥
स तमाश्वासयद् रामो वालिनं व्यक्तदर्शनम् ।
साधुसम्मतया वाचा धर्मतत्त्वार्थयुक्तया ॥ ५९ ॥
न संतापस्त्वया कार्य एतदर्थं प्लवङ्गम ।
न वयं भवता चिन्त्या नाप्यात्मा हरिसत्तम ।
वयं भवद्विशेषेण धर्मतः कृतनिश्चयाः ॥ ६० ॥

श्रीरामचन्द्रजीसे ऐसा कहकर वानरराज वाली चुप हो गया । उस समय उसकी ज्ञानशक्तिका विकास हो गया था । श्रीरामचन्द्रजीने धर्मके यथार्थ स्वरूपको प्रकट करनेवाली साधु पुरुषोंद्वारा प्रशंसित वाणीमें उससे कहा—'वानरश्रेष्ठ ! तुम्हें इसके लिये संताप नहीं करना चाहिये । कपिप्रवर ! तुम्हें हमारे और अपने लिये भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि हमलोग तुम्हारी अपेक्षा विशेषज्ञ हैं, इसलिये हमने धर्मानुकूल कार्य करनेका ही निश्चय कर रखा है ॥ ५८-६० ॥

दण्ड्ये यः पातयेद् दण्डं दण्ड्यो यश्चापि दण्ड्यते ।
कार्यकारणसिद्धार्थावुभौ तौ नावसीदतः ॥ ६१ ॥

'जो दण्डनीय पुरुषको दण्ड देता है तथा जो दण्डका अधिकारी होकर दण्ड भोगता है, उनमेंसे दण्डनीय व्यक्ति अपने अपराधके फलरूपमें शासकका दिया हुआ दण्ड भोगकर तथा दण्ड देनेवाला शासक उसके उस फलभोगमें कारण—निमित्त बनकर कृतार्थ हो जाते हैं—अपना-अपना कर्तव्य पूरा कर लेनेके कारण कर्मरूप ऋणसे मुक्त हो जाते हैं । अतः वे दुखी नहीं होते ॥ ६१ ॥

तद् भवान् दण्डसंयोगादस्माद् विगतकल्मषः ।
गतः स्वां प्रकृतिं धर्म्यां दण्डदिष्टेन वर्त्मना ॥ ६२ ॥

'तुम इस दण्डको पाकर पापरहित हुए और इस दण्डका विधान करनेवाले शास्त्रद्वारा कथित दण्डग्रहणरूप मार्गसे ही चलकर तुम्हें धर्मानुकूल शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी ॥ ६२ ॥

त्यज शोकं च मोहं च भयं च हृदये स्थितम् ।
त्वया विधानं हर्यग्र्य न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ ६३ ॥

'अब तुम अपने हृदयमें स्थित शोक, मोह और भयका त्याग कर दो । वानरश्रेष्ठ ! तुम दैवके विधानको नहीं लाँघ सकते ॥ ६३ ॥

यथा त्वय्यङ्गदो नित्यं वर्तते वानरेश्वर ।
तथा वर्तेत सुग्रीवे मयि चापि न संशयः ॥ ६४ ॥

'वानरेश्वर ! कुमार अङ्गद तुम्हारे जीवित रहनेपर जैसा था, उसी प्रकार सुग्रीवके और मेरे पास भी सुखसे रहेगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ६४ ॥

स तस्य वाक्यं मधुरं महात्मनः
समाहितं धर्मपथानुवर्तितम् ।
निशम्य रामस्य रणावमर्दिनो
वचः सुयुक्तं निजगाद वानरः ॥ ६५ ॥

युद्धमें शत्रुका मान मर्दन करनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रजीका धर्ममार्गके अनुकूल और मानसिक शङ्काओंका समाधान करनेवाला मधुर वचन सुनकर वानर वालीने यह सुन्दर युक्तियुक्त वचन कहा—॥ ६५ ॥

शराभितप्तेन विचेतसा मया
प्रभाषितस्त्वं यदजानता विभो ।
इदं महेन्द्रोपमभीमविक्रम
प्रसादितस्त्वं क्षम मे नरेश्वर ॥ ६६ ॥

'प्रभो ! देवराज इन्द्रके समान भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले नरेश्वर ! मैं आपके बाणसे पीड़ित होनेके कारण अचेत हो गया था । इसलिये अनजानमें मैंने जो आपके प्रति कठोर बात कह डाली है, उसे आप क्षमा कीजियेगा । इसके लिये मैं प्रार्थनापूर्वक आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ' ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

अङ्गदसहित ताराका भागे हुए वानरोंसे बात करके वालीके समीप आना और उसकी दुर्दशा देखकर रोना

स वानरमहाराजः शयानः शरपीडितः ।
प्रत्युक्तो हेतुमद्वाक्यैर्नोत्तरं प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

वानरोंका महाराज वाली बाणसे पीड़ित होकर भूमिपर पड़ा था । श्रीरामचन्द्रजीके युक्तियुक्त वचनोंद्वारा अपनी बातका उत्तर पाकर उसे फिर कोई जवाब न सूझा ॥ १ ॥

अश्मभिः परिभिन्नाङ्गः पादपैराहतो भृशम् ।
रामबाणेन चाक्रान्तो जीवितान्ते मुमोह सः ॥ २ ॥

पत्थरोंकी मार पड़नेसे उसके अङ्ग टूट-फूट गये थे । वृक्षोंके आघातसे भी वह बहुत घायल हो गया था और श्रीरामके बाणसे आक्रान्त होकर तो वह जीवनके अन्तकालमें ही

पहुँच गया था। उस समय वह मूर्च्छित हो गया ॥ २ ॥

तं भार्या बाणमोक्षेण रामदत्तेन संयुगे।
हतं प्लवगशार्दूलं तारा शुश्राव वालिनम् ॥ ३ ॥

उसकी पत्नी ताराने सुना कि युद्धस्थलमें वानरश्रेष्ठ वाली श्रीरामके चलाये हुए बाणसे मारे गये ॥ ३ ॥

सा सपुत्राप्रियं श्रुत्वा वधं भर्तुः सुदारुणम्।
निष्पपात भृशं तस्मादुद्विग्ना गिरिकन्दरात् ॥ ४ ॥

अपने स्वामीके वधका अत्यन्त भयंकर एवं अप्रिय समाचार सुनकर वह बहुत उद्विग्न हो उठी और अपने पुत्र अङ्गदको साथ ले उस पर्वतकी कन्दरासे बाहर निकली ॥४॥

ये त्वङ्गदपरीवारा वानरा हि महाबलाः।
ते सकार्मुकमालोक्य रामं त्रस्ताः प्रदुद्रुवुः ॥ ५ ॥

अङ्गदको चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करनेवाले जो महाबली वानर थे, वे श्रीरामचन्द्रजीको धनुष लिये देख भयभीत होकर भाग चले ॥ ५ ॥

सा ददर्श ततस्त्रस्तान् हरीनापततो द्रुतम्।
यूथादिव परिभ्रष्टान् मृगान् निहतयूथपान् ॥ ६ ॥

ताराने वेगसे भागकर आते हुए उन भयभीत वानरोंको देखा। वे जिनके यूथपति मारे गये हों, उन यूथभ्रष्ट मृगोंके समान जान पड़ते थे ॥ ६ ॥

तानुवाच समासाद्य दुःखितान् दुःखिता सती।
रामवित्रासितान् सर्वाननुबद्धानिवेषुभिः ॥ ७ ॥

वे सब वानर श्रीरामसे इस प्रकार डरे हुए थे, मानो उनके बाण इनके पीछे आ रहे हों। उन दुखी वानरोंके पास पहुँचकर सती-साध्वी तारा और भी दुखी हो गयी तथा उनसे इस प्रकार बोली—॥ ७ ॥

वानरा राजसिंहस्य यस्य यूयं पुरःसराः।
तं विहाय सुवित्रस्ताः कस्माद् द्रवत दुर्गताः ॥ ८ ॥

'वानरो! तुम तो उन राजसिंह वालीके आगे-आगे चलनेवाले थे। अब उन्हें छोड़कर अत्यन्त भयभीत हो दुर्गतिमें पड़कर क्यों भागे जा रहे हो?॥ ८ ॥

राज्यहेतोः स चेद् भ्राता भ्रात्रा क्रूरेण पातितः।
रामेण प्रहितैर्दूरान्मार्गणैर्दूरपातिभिः ॥ ९ ॥

'यदि राज्यके लोभसे उस क्रूर भाई सुग्रीवने श्रीरामको प्रेरित करके उनके द्वारा दूरसे चलाये हुए और दूरतक जानेवाले बाणोंद्वारा अपने भाईको मरवा दिया है तो तुमलोग क्यों भागे जा रहे हो?' ॥ ९ ॥

कपिपत्न्या वचः श्रुत्वा कपयः कामरूपिणः।
प्राप्तकालमविश्लिष्टमूचुर्वचनमङ्गनाम् ॥ १० ॥

वालीकी पत्नीका वह वचन सुनकर इच्छानुसार रूप करनेवाले उन वानरोंने कल्याणमयी तारा देवीको सम्बोधित करके सर्वसम्मतिसे स्पष्ट शब्दोंमें यह समयोचित बात कही—॥ १० ॥

जीवपुत्रे निवर्तस्व पुत्रं रक्षस्व चाङ्गदम्।
अन्तको रामरूपेण हत्वा नयति वालिनम् ॥ ११ ॥

'देवि! अभी तुम्हारा पुत्र जीवित है। तुम लौट चलो और अपने पुत्र अङ्गदकी रक्षा करो। श्रीरामका रूप धारण करके स्वयं यमराज आ पहुँचा है, जो वालीको मारकर अपने साथ ले जा रहा है ॥ ११ ॥

क्षिप्तान् वृक्षान् समाविध्य विपुलाश्च तथा शिलाः।
वाली वज्रसमैर्बाणैर्वज्रेणेव निपातितः ॥ १२ ॥

'वालीके चलाये हुए वृक्षों और बड़ी-बड़ी शिलाओंको अपने वज्रतुल्य बाणोंसे विदीर्ण करके श्रीरामने वालीको मार गिराया है। मानो वज्रधारी इन्द्रने अपने वज्रके द्वारा किसी महान् पर्वतको धराशायी कर दिया हो ॥ १२ ॥

अभिभूतमिदं सर्वं विद्रुतं वानरं बलम्।
अस्मिन् प्लवगशार्दूले हते शक्रसमप्रभे ॥ १३ ॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी इन वानरश्रेष्ठ वालीके मारे जानेपर यह सारी वानर-सेना श्रीरामसे पराजित-सी होकर भाग खड़ी हुई है ॥ १३ ॥

रक्ष्यतां नगरी शूरैरङ्गदश्चाभिषिच्यताम्।
पदस्थं वालिनः पुत्रं भजिष्यन्ति प्लवंगमाः ॥ १४ ॥

'तुम शूरवीरोंद्वारा इस नगरीकी रक्षा करो। कुमार अङ्गदका किष्किन्धाके राज्यपर अभिषेक कर दो। राजसिंहासनपर बैठे हुए वालिकुमार अङ्गदकी सभी वानर सेवा करेंगे ॥ १४ ॥

अथवारुचितं स्थानमिह ते रुचिरानने।
आविशन्ति च दुर्गाणि क्षिप्रमद्यैव वानराः ॥ १५ ॥
अभार्याः सहभार्याश्च सन्त्यत्र वनचारिणः।
लुब्धेभ्यो विप्रलब्धेभ्यस्तेभ्यो नः सुमहद्भयम् ॥ १६ ॥

'अथवा सुमुखि! अब इस नगरमें तुम्हारा रहना हमें अच्छा नहीं जान पड़ता; क्योंकि किष्किन्धाके दुर्गम स्थानोंमें अभी सुग्रीवपक्षीय वानर शीघ्र प्रवेश करेंगे। यहाँ बहुत-से ऐसे वनचारी वानर हैं, जिनमेंसे कुछ तो अपनी स्त्रियोंके साथ हैं और कुछ स्त्रियोंसे बिछुड़े हुए हैं। उनमें राज्यविषयक लोभ पैदा हो गया है और पहले हमलोगोंके द्वारा राज्य-सुखसे वञ्चित किये गये हैं। अतः इस समय उन सबसे हमलोगोंको महान् भय प्राप्त हो सकता है' ॥ १५-१६ ॥

अल्पान्तरगतानां तु श्रुत्वा वचनमङ्गना।
आत्मनः प्रतिरूपं सा बभाषे चारुहासिनी ॥ १७ ॥

अभी थोड़ी ही दूरतक आये हुए उन वानरोंकी यह बात सुनकर मनोहर हासवाली कल्याणी ताराने उन्हें अपने अनुरूप उत्तर दिया—॥ १७ ॥

पुत्रेण मम किं कार्यं राज्येनापि किमात्मना।
कपिसिंहे महाभागे तस्मिन् भर्तरि नश्यति ॥ १८ ॥

'वानरो ! जब मेरे महाभाग पतिदेव कपिसिंह वाली ही नष्ट हो रहे हैं, तब मुझे पुत्रसे, राज्यसे तथा अपने इस जीवनसे भी क्या प्रयोजन है ?'॥ १८ ॥

पादमूलं गमिष्यामि तस्यैवाहं महात्मनः।
योऽसौ रामप्रयुक्तेन शरेण विनिपातितः ॥ १९ ॥

'मैं तो, जिन्हें श्रीरामके चलाये हुए बाणने मार गिराया है, उन महात्मा वालीके चरणोंके समीप ही जाऊँगी' ॥१९॥

एवमुक्त्वा प्रदुद्राव रुदती शोकमूर्च्छिता।
शिरश्चोरश्च बाहुभ्यां दुःखेन समभिघ्नती ॥ २० ॥

ऐसा कहकर शोकसे व्याकुल हुई तारा रोती और अपने दोनों हाथोंसे दुःखपूर्वक सिर एवं छाती पीटती हुई बड़े जोरसे दौड़ी ॥ २० ॥

सा व्रजन्ती ददर्शाथ पतिं निपतितं भुवि।
हन्तारं दानवेन्द्राणां समरेष्वनिवर्तिनम् ॥ २१ ॥

आगे बढ़ती हुई ताराने देखा, जो युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले दानवराजोंका भी वध करनेमें समर्थ थे, वे मेरे पति वानरराज वाली पृथ्वीपर पड़े हुए हैं ॥ २१ ॥

क्षेप्तारं पर्वतेन्द्राणां वज्राणामिव वासवम्।
महावातसमाविष्टं महामेघौघनिःस्वनम् ॥ २२ ॥
शक्रतुल्यपराक्रान्तं वृष्ट्वेवोपरतं घनम्।
नदन्तं नदतां भीमं शूरं शूरेण पातितम्।
शार्दूलेनामिषस्यार्थे मृगराजमिवाहतम् ॥ २३ ॥

वज्र चलानेवाले इन्द्रके समान जो रणभूमिमें बड़े-बड़े पर्वतोंको उठाकर फेंकते थे, जिनके वेगमें प्रचण्ड आँधीका समावेश था, जिनका सिंहनाद महान् मेघोंकी गम्भीर गर्जनाको भी तिरस्कृत कर देता था तथा जो इन्द्रके तुल्य पराक्रमी थे, वे ही इस समय वर्षा करके शान्त हुए बादलके समान चेष्टासे विरत हो गये हैं। जो स्वयं गर्जना करके गर्जनेवाले वीरोंके मनमें भय उत्पन्न कर देते थे, वे शूरवीर वाली एक दूसरे शूरवीरके द्वारा मार गिराये गये हैं। जैसे मांसके लिये एक सिंहने दूसरे सिंहको मार डाला हो, उसी प्रकार राज्यके लिये अपने भाईके द्वारा ही इनका वध किया गया है ॥ २२-२३ ॥

अर्चितं सर्वलोकस्य सपताकं सवेदिकम्।
नागहेतोः सुपर्णेन चैत्यमुन्मथितं यथा ॥ २४ ॥

जो सब लोगोंके द्वारा पूजित हो, जहाँ पताका फहरायी गयी हो तथा जिसके पास देवताकी वेदी शोभा पाती हो, उस चैत्य वृक्ष या देवालयको वहाँ छिपे हुए किसी नागको पकड़नेके लिये यदि गरुड़ने मथ डाला हो—नष्ट भ्रष्ट कर दिया हो तो उसकी जैसी दुरवस्था देखी जाती है, वैसी ही दशा आज वालीकी हो रही है (यह सब ताराने देखा) ॥ २४ ॥

अवष्टभ्यावतिष्ठन्तं ददर्श धनुरूर्जितम्।
रामं रामानुजं चैव भर्तुश्चैव तथानुजम् ॥ २५ ॥

आगे जानेपर उसने देखा, अपने तेजस्वी धनुषको धरतीपर टेककर उसके सहारे श्रीरामचन्द्रजी खड़े हैं। साथ ही उनके छोटे भाई लक्ष्मण हैं और वहीं पतिके छोटे भाई सुग्रीव भी मौजूद हैं ॥ २५ ॥

तानतीत्य समासाद्य भर्तारं निहतं रणे।
समीक्ष्य व्यथिता भूमौ सम्भ्रान्ता निपपात ह ॥ २६ ॥

उन सबको पार करके वह रणभूमिमें घायल पड़े हुए अपने पतिके पास पहुँची। उन्हें देखकर उसके मनमें बड़ी व्यथा हुई और वह अत्यन्त व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २६ ॥

सुप्तेव पुनरुत्थाय आर्यपुत्रेति वादिनी।
रुरोद सा पतिं दृष्ट्वा संवीतं मृत्युदामभिः ॥ २७ ॥

फिर मानो वह सोकर उठी हो, इस प्रकार 'हा आर्यपुत्र !' कहकर मृत्युपाशसे बँधे हुए पतिकी ओर देखती हुई रोने लगी ॥ २७ ॥

तामवेक्ष्य तु सुग्रीवः क्रोशन्तीं कुररीमिव।
विषादमगमत् कष्टं दृष्ट्वा चाङ्गदमागतम् ॥ २८ ॥

उस समय कुररीके समान करुण क्रन्दन करती हुई तारा तथा उसके साथ आये हुए अङ्गदको देखकर सुग्रीवको बड़ा कष्ट हुआ। वे विषादमें डूब गये ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

ताराका विलाप

रामचापविसृष्टेन शरेणान्तकरेण तम्।
दृष्ट्वा विनिहतं भूमौ तारा ताराधिपानना ॥ १ ॥
सा समासाद्य भर्तारं पर्यष्वजत भामिनी।
इषुणाभिहतं दृष्ट्वा वालिनं कुञ्जरोपमम् ॥ २ ॥
वानरं पर्वतेन्द्राभं शोकसंतप्तमानसा।
तारा तरुमिवोन्मूलं पर्यदेवयतातुरा ॥ ३ ॥

चन्द्रमुखी ताराने देखा, मेरे स्वामी वानरराज वाली श्रीरामचन्द्रजीके धनुषसे छूटे हुए प्राणान्तकारी बाणसे घायल

होकर धरतीपर पड़े हैं, उस अवस्थामें उनके पास पहुँचकर वह भामिनी उनके शरीरसे लिपट गयी। जो अपने शरीरसे गजराज और गिरिराजको भी मात करते थे, उन्हीं वानरराजको बाणसे आहत होकर जड़से उखड़े हुए वृक्षकी भाँति धराशायी हुआ देख ताराका हृदय शोकसे संतप्त हो उठा और वह आतुर होकर विलाप करने लगी—॥ १–३ ॥

रणे दारुणविक्रान्त प्रवीर प्लवतां वर।
किमिदानीं पुरोभागामद्य त्वं नाभिभाषसे ॥ ४ ॥

'रणमें भयानक पराक्रम प्रकट करनेवाले महान् वीर वानरराज! आज इस समय मुझे अपने सामने पाकर भी आप बोलते क्यों नहीं हैं?॥ ४ ॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल भजस्व शयनोत्तमम्।
नैवंविधाः शेरते हि भूमौ नृपतिसत्तमाः ॥ ५ ॥

'कपिश्रेष्ठ! उठिये और उत्तम शय्याका आश्रय लीजिये। आप-जैसे श्रेष्ठ भूपाल पृथ्वीपर नहीं सोते हैं॥ ५ ॥

अतीव खलु ते कान्ता वसुधा वसुधाधिप।
गतासुरपि तां गात्रैर्मां विहाय निषेवसे ॥ ६ ॥

'पृथ्वीनाथ! निश्चय ही यह पृथ्वी आपको अत्यन्त प्यारी है, तभी तो निष्प्राण होनेपर भी आप आज मुझे छोड़कर अपने अङ्गोंसे इस वसुधाका ही आलिङ्गन किये सो रहे हैं॥ ६ ॥

व्यक्तमद्य त्वया वीर धर्मतः सम्प्रवर्तता।
किष्किन्धेव पुरी रम्या स्वर्गमार्गे विनिर्मिता ॥ ७ ॥

'वीरवर! आपने धर्मयुक्त युद्ध करके स्वर्गके मार्गमें भी अवश्य ही किष्किन्धाकी भाँति कोई रमणीय पुरी बना ली है, यह बात आज स्पष्ट हो गयी (अन्यथा आप किष्किन्धाको छोड़कर यहाँ क्यों सोते)॥ ७ ॥

यान्यस्माभिस्त्वया सार्धं वनेषु मधुगन्धिषु।
विहृतानि त्वया काले तेषामुपरमः कृतः ॥ ८ ॥

'आपके साथ मधुर सुगन्धयुक्त वनोंमें हमने जो-जो विहार किये हैं, उन सबको इस समय आपने सदाके लिये समाप्त कर दिया॥ ८ ॥

निरानन्दा निराशाहं निमग्ना शोकसागरे।
त्वयि पञ्चत्वमापन्ने महायूथपयूथपे ॥ ९ ॥

'नाथ! आप बड़े-बड़े यूथपतियोंके भी स्वामी थे। आज आपके मारे जानेसे मेरा सारा आनन्द लुट गया। मैं सब प्रकारसे निराश होकर शोकके समुद्रमें डूब गयी हूँ॥ ९ ॥

हृदयं सुस्थितं मह्यं दृष्ट्वा निपतितं भुवि।
यन्न शोकाभिसंतप्तं स्फुटतेऽद्य सहस्रधा ॥ १० ॥

'निश्चय ही मेरा हृदय बड़ा कठोर है, जो आज आपको पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी शोकसे संतप्त हो फट नहीं जाता—इसके हजारों टुकड़े नहीं हो जाते॥ १० ॥

सुग्रीवस्य त्वया भार्या हृता स च विवासितः।
यत् तत् तस्य त्वया व्युष्टिः प्राप्तेयं प्लवगाधिप ॥ ११ ॥

'वानरराज! आपने जो सुग्रीवकी स्त्री छीन ली और उन्हें घरसे बाहर निकाल दिया, उसीका यह फल आपको प्राप्त हुआ है॥ ११ ॥

निःश्रेयसपरा मोहात् त्वया चाहं विगर्हिता।
यैषाब्रुवं हितं वाक्यं वानरेन्द्र हितैषिणी ॥ १२ ॥

'वानरेन्द्र! मैं आपका हित चाहती थी और आपके कल्याण-साधनमें ही लगी रहती थी तो भी मैंने आपसे जो हितकर बात कही थी, उसे मोहवश आपने नहीं माना और उल्टे मेरी ही निन्दा की॥ १२ ॥

रूपयौवनदृप्तानां दक्षिणानां च मानद।
नूनमप्सरसामार्य चित्तानि प्रमथिष्यसि ॥ १३ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले आर्यपुत्र! निश्चय ही आप स्वर्गमें जाकर रूप और यौवनके अभिमानसे मत्त रहनेवाली केलिकलामें निपुण अप्सराओंके मनको अपने दिव्य सौन्दर्यसे मथ डालेंगे॥ १३ ॥

कालो निःसंशयो नूनं जीवितान्तकरस्तव।
बलाद् येनावपन्नोऽसि सुग्रीवस्यावशो वशम् ॥ १४ ॥

'निश्चय ही आज आपके जीवनका अन्त कर देनेवाला संशयरहित काल यहाँ आ पहुँचा था, जिसने किसीके भी वशमें न आनेवाले आपको बलपूर्वक सुग्रीवके वशमें डाल दिया'॥ १४ ॥

अस्थाने वालिनं हत्वा युध्यमानं परेण च।
न संतप्यति काकुत्स्थः कृत्वा कर्म सुगर्हितम् ॥ १५ ॥

(अब श्रीरामको सुनाकर बोली—) 'ककुत्स्थ-कुलमें अवतीर्ण हुए श्रीरामचन्द्रजीने दूसरेके साथ युद्ध करते हुए वालीको मारकर अत्यन्त निन्दित कर्म किया है। इस कुत्सित कर्मको करके भी जो ये संतप्त नहीं हो रहे हैं, यह सर्वथा अनुचित है'॥ १५ ॥

वैधव्यं शोकसंतापं कृपणाकृपणा सती।
अदुःखोपचिता पूर्वं वर्तयिष्याम्यनाथवत् ॥ १६ ॥

(फिर वालीसे बोली—) 'मैंने कभी दीनतापूर्ण जीवन नहीं बिताया था, ऐसे महान् दुःखका सामना नहीं किया था; परंतु आज आपके बिना मैं दीन हो गयी, अब मुझे अनाथकी भाँति शोक-संतापसे पूर्ण वैधव्य जीवन व्यतीत करना होगा॥ १६ ॥

लालितश्चाङ्गदो वीरः सुकुमारः सुखोचितः।
वत्स्यते कामवस्थां मे पितृव्ये क्रोधमूर्च्छिते ॥ १७ ॥

'नाथ! आपने अपने वीरपुत्र अङ्गदको, जो सुख भोगने योग्य और सुकुमार है, बड़ा लाड़-प्यार किया था। अब

…धसे पागल हुए चाचाके वशमें पड़कर मेरे बेटेकी क्या …शा होगी ? ॥ १७ ॥

…रुष्व पितरं पुत्र सुदृष्टं धर्मवत्सलम्।
…र्लभं दर्शनं तस्य तव वत्स भविष्यति ॥ १८ ॥

'बेटा अङ्गद ! अपने धर्मप्रेमी पिताको अच्छी तरह …ख लो। अब तुम्हारे लिये उनका दर्शन दुर्लभ हो …ायगा ॥ १८ ॥

…माश्वासय पुत्रं त्वं संदेशं संदिशस्व मे।
मूर्ध्नि चैनं समाघ्राय प्रवासं प्रस्थितो ह्यसि ॥ १९ ॥

'प्राणनाथ ! आप दूसरे देशको जा रहे हैं। अपने पुत्र…का मस्तक सूँघकर इसे धैर्य बँधाइये और मेरे लिये भी कुछ …संदेश दीजिये ॥ १९ ॥

रामेण हि महत् कर्म कृतं त्वामभिनिघ्नता।
आनृण्यं तु गतं तस्य सुग्रीवस्य प्रतिश्रवे ॥ २० ॥

'श्रीरामने आपको मारकर बहुत बड़ा कर्म किया है। उन्होंने सुग्रीवसे जो प्रतिज्ञा की थी, उसके ऋणको उतार दिया' ॥ २० ॥

सकामो भव सुग्रीव रुमां त्वं प्रतिपत्स्यसे।
भुङ्क्ष्व राज्यमनुद्विग्नः शस्तो भ्राता रिपुस्तव ॥ २१ ॥

(अब सुग्रीवको सुनाकर कहने लगी—) 'सुग्रीव ! तुम्हारा मनोरथ सफल हो। तुम्हारे भाई, जिन्हें तुम अपना शत्रु समझते थे, मारे गये। अब बेखटके राज्य भोगो। रुमाको भी प्राप्त कर लोगे' ॥ २१ ॥

किं मामेवं प्रलपतीं प्रियां त्वं नाभिभाषसे।
इमाः पश्य वरा बह्वीर्भार्यास्ते वानरेश्वर ॥ २२ ॥

(फिर वालीसे बोली—) 'वानरेश्वर ! मैं आपकी प्यारी पत्नी हूँ और इस तरह रोती-कलपती हूँ, फिर भी आप मुझसे बोलते क्यों नहीं हैं ? देखिये, आपकी ये बहुत-सी सुन्दरी भार्याएँ यहाँ उपस्थित हैं' ॥ २२ ॥

तस्या विलपितं श्रुत्वा वानर्यः सर्वतश्च ताः।
परिगृह्याङ्गदं दीना दुःखार्ताः प्रतिचुक्रुशुः ॥ २३ ॥

ताराका विलाप सुनकर अन्य वानर-पत्नियाँ भी सब ओरसे अङ्गदको पकड़कर दीन एवं दुःखसे व्याकुल हो जोर-जोरसे क्रन्दन करने लगीं ॥ २३ ॥

किमङ्गदं साङ्गदवीरबाहो
विहाय यातोऽसि चिरं प्रवासम्।
न युक्तमेवं गुणसंनिकृष्टं
विहाय पुत्रं प्रियचारुवेषम् ॥ २४ ॥

(तदनन्तर ताराने फिर कहा—) 'बाजूबन्दसे विभूषित वीर भुजाओंवाले वानरराज ! आप अङ्गदको छोड़कर दीर्घकालके लिये दूसरे देशमें क्यों जा रहे हैं ? जो गुणोंमें आपके सर्वथा निकट है—जो आपके समान ही गुणवान् है तथा जिसका प्रिय एवं मनोहर वेश है, ऐसे प्रिय पुत्रको त्यागकर इस प्रकार चला जाना आपके लिये कदापि उचित नहीं है ॥ २४ ॥

यद्यप्रियं किंचिदसम्प्रधार्य
कृतं मया स्यात् तव दीर्घबाहो।
क्षमस्व मे तद्धरिवंशनाथ
व्रजामि मूर्ध्ना तव वीर पादौ ॥ २५ ॥

'महाबाहो ! यदि नासमझीके कारण मैंने आपका कोई अपराध किया हो तो आप उसे क्षमा कर दें। वानरवंशके स्वामी वीर आर्यपुत्र ! मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर यह प्रार्थना करती हूँ' ॥ २५ ॥

तथा तु तारा करुणं रुदन्ती
भर्तुः समीपे सह वानरीभिः।
व्यवस्यत प्रायमनिन्द्यवर्णा
उपोपवेष्टुं भुवि यत्र वाली ॥ २६ ॥

इस प्रकार अन्य वानर-पत्नियोंके साथ पतिके समीप करुण विलाप करती हुई अनिन्द्य सुन्दरी ताराने, जहाँ वाली पृथ्वीपर पड़ा था, वहीं उसके समीप बैठकर आमरण अनशन करनेका निश्चय किया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

हनुमान्‌जीका ताराको समझाना और ताराका पतिके अनुगमनका ही निश्चय करना

ततो निपतितां तारां च्युतां तारामिवाम्बरात्।
शनैराश्वासयामास हनूमान् हरियूथपः ॥ १ ॥

ताराको आकाशसे टूटकर गिरी हुई तारिकाके समान पृथ्वीपर पड़ी देख वानरयूथपति हनुमान्‌ने धीरे-धीरे समझाना आरम्भ किया—॥ १ ॥

गुणदोषकृतं जन्तुः स्वकर्म फलहेतुकम्।
अव्यग्रस्तदवाप्नोति सर्वं प्रेत्य शुभाशुभम् ॥ २ ॥

'देवि ! जीवके द्वारा गुणबुद्धिसे अथवा दोषबुद्धिसे किये हुए जो अपने कर्म हैं, वे ही सुख-दुःखरूप फलकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं। परलोकमें जाकर प्रत्येक जीव शान्तभावसे

रहकर अपने शुभ और अशुभ—सभी कर्मोंका फल भोगता है ॥ २ ॥

शोच्या शोचसि कं शोच्यं दीनं दीनानुकम्पसे ।
कश्च कस्यानुशोच्योऽस्ति देहेऽस्मिन् बुद्बुदोपमे ॥ ३ ॥

'तुम स्वयं शोचनीया हो; फिर दूसरे किसको शोचनीय समझकर शोक कर रही हो? स्वयं दीन होकर दूसरे किस दीन-पर दया करती हो? पानीके बुलबुलेके समान इस शरीरमें रह-कर कौन जीव किस जीवके लिये शोचनीय है? ॥ ३ ॥

अङ्गदस्तु कुमारोऽयं द्रष्टव्यो जीवपुत्रया ।
आयत्यां च विधेयानि समर्थान्यस्य चिन्तय ॥ ४ ॥

'तुम्हारे पुत्र कुमार अङ्गद जीवित हैं। अब तुम्हें इन्हींकी ओर देखना चाहिये और इनके लिये भविष्यमें जो उन्नतिके साधक श्रेष्ठ कार्य हों उनका विचार करना चाहिये ॥ ४ ॥

जानास्यनियतामेवं भूतानामागतिं गतिम् ।
तस्माच्छुभं हि कर्तव्यं पण्डिते नेह लौकिकम् ॥ ५ ॥

'देवि! तुम विदुषी हो, अतः जानती ही हो कि प्राणियों-के जन्म और मृत्युका कोई निश्चित समय नहीं है। इसलिये शुभ (परलोकके लिये सुखद) कर्म ही करना चाहिये। अधिक रोना-धोना आदि जो लौकिक कर्म (व्यवहार) हैं, उसे नहीं करना चाहिये ॥ ५ ॥

यस्मिन् हरिसहस्राणि शतानि नियुतानि च ।
वर्तयन्ति कृताशानि सोऽयं दिष्टान्तमागतः ॥ ६ ॥

'सैकड़ों, हजारों और लाखों वानर जिनपर आशा लगाये जीवन-निर्वाह करते थे, वे ही ये वानरराज आज अपनी प्रारब्ध-निर्मित आयुकी अवधि पूरी कर चुके ॥ ६ ॥

यदयं न्यायदृष्टार्थः सामदानक्षमापरः ।
गतो धर्मजितां भूमिं नैनं शोचितुमर्हसि ॥ ७ ॥

'इन्होंने नीतिशास्त्रके अनुसार अर्थका साधन—राज्य-कार्यका संचालन किया है। ये उपयुक्त समयपर साम, दान और क्षमाका व्यवहार करते आये हैं। अतः धर्मानुसार प्राप्त होनेवाले लोकमें गये हैं। इनके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

सर्वे च हरिशार्दूलाः पुत्रश्चायं तवाङ्गदः ।
हर्यृक्षपतिराज्यं च त्वत्सनाथमनिन्दिते ॥ ८ ॥

'सती-साध्वी देवि! ये सभी श्रेष्ठ वानर, ये तुम्हारे पुत्र अङ्गद तथा वानर और भालुओंका यह राज्य—सब तुमसे ही सनाथ हैं—तुम्हीं इन सबकी स्वामिनी हो ॥ ८ ॥

ताविमौ शोकसंतप्तौ शनैः प्रेरय भामिनि ।
त्वया परिगृहीतोऽयमङ्गदः शास्तु मेदिनीम् ॥ ९ ॥

'भामिनि! ये अङ्गद और सुग्रीव दोनों ही शोकसे संतप्त हो रहे हैं। तुम इन्हें भावी कार्यके लिये प्रेरित करो। तुम्हारे अधीन रहकर अङ्गद इस पृथ्वीका शासन करें ॥ ९ ॥

संततिश्च यथा दृष्टा कृत्यं यच्चापि साम्प्रतम् ।
राज्ञस्तत् क्रियतां सर्वमेष कालस्य निश्चयः ॥ १० ॥

'शास्त्रमें संतान होनेका जो प्रयोजन बतलाया गया है तथा इस समय राजा वालीके पारलौकिक कल्याणके लिये जो कुछ कर्तव्य है, वही करो—यही समयकी निश्चित प्रेरणा है ॥ १० ॥

संस्कार्यो हरिराजस्तु अङ्गदश्चाभिषिच्यताम् ।
सिंहासनगतं पुत्रं पश्यन्ती शान्तिमेष्यसि ॥ ११ ॥

'वानरराजका अन्त्येष्टि-संस्कार और कुमार अङ्गदका राज्याभिषेक किया जाय। बेटेको राजसिंहासनपर बैठा देखकर तुम्हें शान्ति मिलेगी' ॥ ११ ॥

सा तस्य वचनं श्रुत्वा भर्तृव्यसनपीडिता ।
अब्रवीदुत्तरं तारा हनूमन्तमवस्थितम् ॥ १२ ॥

तारा अपने स्वामीके विरह-शोकसे पीड़ित थी। वह उपर्युक्त वचन सुनकर सामने खड़े हुए हनुमान्‌जीसे बोली—॥ १२ ॥

अङ्गदप्रतिरूपाणां पुत्राणामेकतः शतम् ।
हतस्याप्यस्य वीरस्य गात्रसंश्लेषणं वरम् ॥ १३ ॥

'अङ्गदके समान सौ पुत्र एक ओर और मरे होनेपर भी इस वीरवर स्वामीका आलिङ्गन करके सती होना दूसरी ओर—इन दोनोंमेंसे अपने वीर पतिके शरीरका आलिङ्गन ही मुझे श्रेष्ठ जान पड़ता है ॥ १३ ॥

न चाहं हरिराज्यस्य प्रभवाम्यङ्गदस्य वा ।
पितृव्यस्तस्य सुग्रीवः सर्वकार्येष्वनन्तरः ॥ १४ ॥

'मैं न तो वानरोंके राज्यकी स्वामिनी हूँ और न मुझे अङ्गदके लिये ही कुछ करनेका अधिकार है। इसके चाचा सुग्रीव ही समस्त कार्योंके लिये समर्थ हैं और वे ही मेरी अपेक्षा इसके निकटवर्ती भी हैं ॥ १४ ॥

नह्येषा बुद्धिरास्थेया हनूमन्नङ्गदं प्रति ।
पिता हि बन्धुः पुत्रस्य न माता हरिसत्तम ॥ १५ ॥

'कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जी! अङ्गदके विषयमें आपकी यह सलाह मेरे लिये काममें लाने योग्य नहीं है। आपको यह समझना चाहिये कि पुत्रके वास्तविक बन्धु (सहायक) पिता और चाचा ही हैं, माता नहीं ॥ १५ ॥

नहि मम हरिराजसंश्रयात्
क्षमतरमस्ति परत्र चेह वा ।
अभिमुखहतवीरसेवितं
शयनमिदं मम सेवितुं क्षमम् ॥ १६ ॥

'मेरे लिये वानरराज वालीका अनुगमन करनेसे बढ़कर

इस लोक या परलोकमें कोई भी कार्य उचित नहीं है। युद्धमें शत्रुसे जूझकर मरे हुए अपने वीर स्वामीके द्वारा सेवित चिता आदिकी शय्यापर शयन करना ही मेरे लिये सर्वथा योग्य है' ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

वालीका सुग्रीव और अङ्गदसे अपने मनकी बात कहकर प्राणोंको त्याग देना

वीक्षमाणस्तु मन्दासुः सर्वतो मन्दमुच्छ्वसन्।
आदावेव तु सुग्रीवं ददर्शानुजमग्रतः ॥ १ ॥

वालीके प्राणोंकी गति शिथिल पड़ गयी थी। वह धीरे-धीरे ऊर्ध्व साँस लेता हुआ सब ओर देखने लगा। सबसे पहले उसने अपने सामने खड़े हुए छोटे भाई सुग्रीवको देखा ॥ १ ॥

तं प्राप्तविजयं वाली सुग्रीवं प्लवगेश्वरम्।
आभाष्य व्यक्तया वाचा सस्नेहमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

युद्धमें जिन्हें विजय प्राप्त हुई थी, उन वानरराज सुग्रीवको सम्बोधित करके वालीने बड़े स्नेहके साथ स्पष्ट वाणीमें कहा—॥ २ ॥

सुग्रीव दोषेण न मां गन्तुमर्हसि किल्बिषात्।
कृष्यमाणं भविष्येण बुद्धिमोहेन मां बलात् ॥ ३ ॥

'सुग्रीव ! पूर्वजन्मके किसी पापसे अवश्यम्भावी बुद्धिमोहने मुझे बलपूर्वक आकृष्ट कर लिया था, इसीलिये मैं तुम्हें शत्रु समझने लगा था और इस कारण मेरे द्वारा जो तुम्हारे प्रति अपराध हुए, उसके लिये तुम्हें मेरे प्रति दोष-दृष्टि नहीं करनी चाहिये ॥ ३ ॥

युगपद् विहितं तात न मन्ये सुखमावयोः।
सौहार्दं भ्रातृयुक्तं हि तदिदं जातमन्यथा ॥ ४ ॥

'तात ! मैं समझता हूँ हम दोनोंके लिये एक साथ रहकर सुख भोगना नहीं बदा था, इसीलिये दो भाइयोंमें जो प्रेम होना चाहिये, वह न होकर हमलोगोंमें उसके विपरीत वैरभाव उत्पन्न हो गया ॥ ४ ॥

प्रतिपद्य त्वमद्यैव राज्यमेषां वनौकसाम्।
मामप्यद्यैव गच्छन्तं विद्धि वैवस्वतक्षयम् ॥ ५ ॥

'भाई ! तुम आज ही यह वानरोंका राज्य स्वीकार करो तथा मुझे अभी यमराजके घर जानेको तैयार समझो ॥ ५ ॥

जीवितं च हि राज्यं च श्रियं च विपुलां तथा।
प्रजहाम्येष वै तूर्णमहं चागर्हितं यशः ॥ ६ ॥

'मैं अपने जीवन, राज्य, विपुल सम्पत्ति और प्रशंसित यशका भी तुरंत ही त्याग कर रहा हूँ ॥ ६ ॥

अस्यां त्वहमवस्थायां वीर वक्ष्यामि यद् वचः।
यद्यप्यसुकरं राजन् कर्तुमेव त्वमर्हसि ॥ ७ ॥

'वीर ! राजन् ! इस अवस्थामें मैं जो कुछ कहूँगा, वह यद्यपि करनेमें कठिन है, तथापि तुम उसे अवश्य करना ॥

सुखार्हं सुखसंवृद्धं बालमेनमबालिशम्।
बाष्पपूर्णमुखं पश्य भूमौ पतितमङ्गदम् ॥ ८ ॥

'देखो, मेरा बेटा अङ्गद धरतीपर पड़ा है। इसका मुँह आँसुओंसे भीगा है। यह सुखमें पला है और सुख भोगनेके ही योग्य है। बालक होनेपर भी यह मूढ़ नहीं है ॥ ८ ॥

मम प्राणैः प्रियतरं पुत्रं पुत्रमिवौरसम्।
मया हीनमहीनार्थं सर्वतः परिपालय ॥ ९ ॥

'यह मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है। मेरे न रहनेपर तुम इसे सगे पुत्रकी भाँति मानना। इसके लिये किसी भी सुख-सुविधाकी कमी न होने देना और सदा सब जगह इसकी रक्षा करते रहना ॥ ९ ॥

त्वमप्यस्य पिता दाता परित्राता च सर्वशः।
भयेष्वभयदश्चैव यथाहं प्लवगेश्वर ॥ १० ॥

'वानरराज ! मेरे ही समान तुम भी इसके पिता, दाता, सब प्रकारसे रक्षक और भयके अवसरोंपर अभय देनेवाले हो ॥

एष तारात्मजः श्रीमांस्त्वया तुल्यपराक्रमः।
रक्षसां च वधे तेषामग्रतस्ते भविष्यति ॥ ११ ॥

'ताराका यह तेजस्वी पुत्र तुम्हारे समान ही पराक्रमी है। उन राक्षसोंके वधके समय यह सदा तुम्हारे आगे रहेगा ॥ ११ ॥

अनुरूपाणि कर्माणि विक्रम्य बलवान् रणे।
करिष्यत्येष तारेयस्तेजस्वी तरुणोऽङ्गदः ॥ १२ ॥

'यह बलवान् तेजस्वी तरुण ताराकुमार अङ्गद रणभूमिमें पराक्रम प्रकट करते हुए अपने योग्य कर्म करेगा ॥ १२ ॥

सुषेणदुहिता चेयमर्थसूक्ष्मविनिश्चये।
औत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता ॥ १३ ॥

'सुषेणकी पुत्री यह तारा सूक्ष्म विषयोंके निर्णय करने तथा नाना प्रकारके उत्पातोंके चिह्नोंको समझनेमें सर्वथा निपुण है ॥

यदेषा साध्विति ब्रूयात् कार्यं तन्मुक्तसंशयम् ।
नहि तारामतं किंचिदन्यथा परिवर्तते ॥ १४ ॥

'जिस कार्यको अच्छा बताये, उसे संदेहरहित होकर करना । ताराकी किसी भी सम्मतिका परिणाम उलटा नहीं होता ॥ १४ ॥

राघवस्य च ते कार्यं कर्तव्यमविशङ्कया ।
स्यादधर्मो ह्यकरणे त्वां च हिंस्यादमानितः ॥ १५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीका काम तुम्हें निःशङ्क होकर करना चाहिये । उसको न करनेसे तुम्हें पाप लगेगा और अपमानित होनेपर श्रीरामचन्द्रजी तुझे मार डालेंगे ॥ १५ ॥

इमां च मालामाधत्स्व दिव्यां सुग्रीव काञ्चनीम् ।
उदारा श्रीः स्थिता ह्यस्यां सम्प्रजह्यान्मृते मयि ॥ १६ ॥

'सुग्रीव ! मेरी यह सोनेकी दिव्यमाला तुम धारण कर लो । इसमें उदार लक्ष्मीका वास है । मेरे मर जानेपर इसकी श्री नष्ट हो जायगी । अतः अभीसे पहन लो' ॥ १६ ॥

इत्येवमुक्तः सुग्रीवो वालिना भ्रातृसौहृदात् ।
हर्षं त्यक्त्वा पुनर्दीनो ग्रहग्रस्त इवोडुराट् ॥ १७ ॥

वालीने भ्रातृस्नेहके कारण जब ऐसी बातें कहीं, तब उसके वधके कारण जो हर्ष हुआ था, उसे त्यागकर सुग्रीव फिर दुखी हो गये, मानो चन्द्रमापर ग्रहण लग गया हो ॥ १७ ॥

तद्वालिवचनाच्छान्तः कुर्वन् युक्तमतन्द्रितः ।
जग्राह सोऽभ्यनुज्ञातो मालां तां चैव काञ्चनीम् ॥ १८ ॥

वालीके उस वचनसे सुग्रीवका वैरभाव शान्त हो गया । वे सावधान होकर उचित बर्ताव करने लगे । उन्होंने भाईकी आज्ञासे वह सोनेकी माला ग्रहण कर ली ॥ १८ ॥

तां मालां काञ्चनीं दत्त्वा दृष्ट्वा चैवात्मजं स्थितम् ।
संसिद्धः प्रेत्यभावाय स्नेहादङ्गदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

सुग्रीवको वह सुवर्णमयी माला देनेके पश्चात् वालीने मरनेका निश्चय कर लिया । फिर अपने सामने खड़े हुए पुत्र अङ्गदकी ओर देखकर स्नेहके साथ कहा—॥ १९ ॥

देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये ।
सुखदुःखसहः काले सुग्रीववशगो भव ॥ २० ॥

'बेटा ! अब देश-कालको समझो—कब और कहाँ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसका निश्चय करके वैसा ही आचरण करो । समयानुसार प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख—जो कुछ आ पड़े, उसको सहो । अपने हृदयमें क्षमाभाव रक्खो और सदा सुग्रीवकी आज्ञाके अधीन रहो ॥ २० ॥

यथा हि त्वं महाबाहो लालितः सततं मया ।
न तथा वर्तमानं त्वां सुग्रीवो बहु मन्यते ॥ २१ ॥

'महाबाहो ! सदा मेरा दुलार पाकर जिस प्रकार तुम रहते आये हो, यदि वैसा ही बर्ताव अब भी करोगे तो सुग्रीव तुम्हारा विशेष आदर नहीं करेंगे ॥ २१ ॥

नास्यामित्रैर्गतं गच्छेर्मा शत्रुभिररिंदम ।
भर्तुरर्थपरो दान्तः सुग्रीववशगो भव ॥ २२ ॥

'शत्रुदमन अङ्गद ! तुम इनके शत्रुओंका साथ मत दो । जो इनके मित्र न हों, उनसे भी न मिलो और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखकर सदा अपने स्वामी सुग्रीवके कार्य-साधनमें संलग्न रहते हुए उन्हींके अधीन रहो ॥ २२ ॥

न चातिप्रणयः कार्यः कर्तव्योऽप्रणयश्च ते ।
उभयं हि महादोषं तस्मादन्तरदृग् भव ॥ २३ ॥

'किसीके साथ अत्यन्त प्रेम न करो और प्रेमका सर्वथा अभाव भी न होने दो; क्योंकि ये दोनों ही महान् दोष हैं । अतः मध्यम स्थितिपर ही दृष्टि रक्खो' ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वाथ विवृत्ताक्षः शरसम्पीडितो भृशम् ।
विवृतैर्दशनैर्भीमैर्बभूवोत्क्रान्तजीवितः ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर बाणके आघातसे अत्यन्त घायल हुए वालीकी आँखें घूमने लगीं । उसके भयंकर दाँत खुल गये और प्राण-पखेरू उड़ गये ॥ २४ ॥

ततो विचुक्रुशुस्तत्र वानरा हतयूथपाः ।
परिदेवयमानास्ते सर्वे प्लवगसत्तमाः ॥ २५ ॥

उस समय अपने यूथपतिकी मृत्यु हो जानेसे सभी श्रेष्ठ वानर जोर-जोरसे रोने और विलाप करने लगे—॥ २५ ॥

किष्किन्धा ह्यद्य शून्या च स्वर्गते वानरेश्वरे ।
उद्यानानि च शून्यानि पर्वताः काननानि च ॥ २६ ॥

'हाय ! आज वानरराज वालीके स्वर्गलोक चले जानेसे सारी किष्किन्धापुरी सूनी हो गयी । उद्यान, पर्वत और वन भी सूने हो गये ॥ २६ ॥

हते प्लवगशार्दूले निष्प्रभा वानराः कृताः ।
यस्य वेगेन महता काननानि वनानि च ॥ २७ ॥
पुष्पौघेणानुबध्यन्ते करिष्यति तदद्य कः ।

'वानरश्रेष्ठ वालीके मारे जानेसे सारे वानर श्रीहीन हो गये । जिनके महान् वेग (प्रताप) से समस्त कानन और वन पुष्पसमूहोंसे सदा संयुक्त बने रहते थे, आज उनके न रहनेसे कौन ऐसा चमत्कारपूर्ण कार्य करेगा ? ॥ २७½ ॥

येन दत्तं महद् युद्धं गन्धर्वस्य महात्मनः ॥ २८ ॥
गोलभस्य महाबाहोर्दश वर्षाणि पञ्च च ।
नैव रात्रौ न दिवसे तद् युद्धमुपशाम्यति ॥ २९ ॥

'उन्होंने महामना महाबाहु गोलभ नामक गन्धर्वको महान् युद्धका अवसर दिया था । वह युद्ध पंद्रह वर्षोंतक लगातार चलता रहा । न दिनमें बंद होता था, न रातमें ॥

ततः षोडशमे वर्षे गोलभो विनिपातितः ।

तं हत्वा दुर्विनीतं तु वाली दंष्ट्राकरालवान्।
सर्वाभयंकरोऽस्माकं कथमेष निपातितः ॥ ३० ॥

'तदनन्तर सोलहवाँ वर्ष आरम्भ होनेपर गोलभ वालीके हाथसे मारा गया। उस दुष्ट गन्धर्वका वध करके जिन विकराल दाढ़ोंवाले वालीने हम सबको अभय दान दिया था, वे ही ये हमारे स्वामी वानरराज स्वयं कैसे मार गिराये गये?'॥

हते तु वीरे प्लवगाधिपे तदा
प्लवङ्गमास्तत्र न शर्म लेभिरे।
वनेचराः सिंहयुते महावने
यथा हि गावो निहते गवां पतौ ॥ ३१ ॥

उस समय वीर वानरराज वालीके मारे जानेपर वनोंमें विचरनेवाले वानर वहाँ चैन न पा सके। जैसे सिंहसे युक्त विशाल वनमें साँड़के मारे जानेपर गौएँ दुखी हो जाती हैं, वही दशा उन वानरोंकी हुई ॥ ३१ ॥

ततस्तु तारा व्यसनार्णवप्लुता
मृतस्य भर्तुर्वदनं समीक्ष्य सा।
जगाम भूमिं परिरभ्य वालिनं
महाद्रुमं छिन्नमिवाश्रिता लता ॥ ३२ ॥

तदनन्तर शोकके समुद्रमें डूबी हुई ताराने जब अपने मरे हुए स्वामीकी ओर दृष्टिपात किया, तब वह वालीका आलिङ्गन करके कटे हुए महान् वृक्षसे लिपटी हुई लताकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

ताराका विलाप

ततः समुपजिघ्रन्ती कपिराजस्य तन्मुखम्।
पतिं लोकश्रुता तारा मृतं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

उस समय वानरराजका मुख सूँघती हुई लोकविख्यात ताराने रोकर अपने मृत पतिसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

शेषे त्वं विषमे दुःखमकृत्वा वचनं मम।
उपलोपचिते वीर सुदुःखे वसुधातले ॥ २ ॥

'वीर! दुःखकी बात है कि आपने मेरी बात नहीं मानी और अब आप प्रस्तरसे पूर्ण अत्यन्त दुःखदायक और ऊँचे-नीचे भूतलपर शयन कर रहे हैं ॥ २ ॥

मत्तः प्रियतरा नूनं वानरेन्द्र मही तव।
शेषे हि तां परिष्वज्य मां च न प्रतिभाषसे ॥ ३ ॥

'वानरराज! निश्चय ही यह पृथ्वी आपको मुझसे भी बढ़कर प्रिय है, तभी तो आप इसका आलिङ्गन करके सो रहे हैं और मुझसे बाततक नहीं करते ॥ ३ ॥

सुग्रीवस्य वशं प्राप्तो विधिरेष भवत्यहो।
सुग्रीव एव विक्रान्तो वीर साहसिकप्रिय ॥ ४ ॥

'वीर! साहसपूर्ण कार्योंसे प्रेम रखनेवाले वानरराज! यह श्रीरामरूपी विधाता सुग्रीवके वशमें हो गया है (—आपके नहीं) यह बड़े आश्चर्यकी बात है, अतः अब इस राज्यपर सुग्रीव ही पराक्रमी राजाके रूपमें आसीन होंगे ॥ ४ ॥

ऋक्षवानरमुख्यास्त्वां बलिनं पर्युपासते।
तेषां विलपितं कृच्छ्रमङ्गदस्य च शोचतः ॥ ५ ॥
मम चेमा गिरः श्रुत्वा किं त्वं न प्रतिबुध्यसे।

'प्राणनाथ! प्रधान-प्रधान भालू और वानर जो आप महावीरकी सेवामें रहा करते थे, इस समय बड़े दुःखसे विलाप कर रहे हैं। बेटा अङ्गद भी शोकमें पड़ा है। उन वानरोंका दुःखमय विलाप, अङ्गदका शोकोद्गार तथा मेरी यह अनुनय-विनयभरी वाणी सुनकर भी आप जागते क्यों नहीं हैं? ॥ ५½ ॥

इदं तद् वीरशयनं तत्र शेषे हतो युधि ॥ ६ ॥
शायिता निहता यत्र त्वयैव रिपवः पुरा।

'यही वह वीर-शय्या है, जिसपर पूर्वकालमें आपने ही बहुत-से शत्रुओंको मारकर सुलाया था; किंतु आज स्वयं ही युद्धमें मारे जाकर आप इसपर शयन कर रहे हैं ॥ ६½ ॥

विशुद्धसत्त्वाभिजन प्रिययुद्ध मम प्रिय ॥ ७ ॥
मामनाथां विहायैकां गतस्त्वमसि मानद।

'विशुद्ध बलशाली कुलमें उत्पन्न, युद्धप्रेमी तथा दूसरोंको मान देनेवाले मेरे प्रियतम! तुम मुझ अनाथाको अकेली छोड़कर कहाँ चले गये? ॥ ७½ ॥

शूराय न प्रदातव्या कन्या खलु विपश्चिता ॥ ८ ॥
शूरभार्यां हतां पश्य सद्यो मां विधवां कृताम्।

'निश्चय ही बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अपनी कन्या किसी शूरवीरके हाथमें न दे। देखो, मैं शूरवीरकी पत्नी होनेके कारण तत्काल विधवा बना दी गयी और इस प्रकार सर्वथा मारी गयी ॥ ८½ ॥

अवभग्नश्च मे मानो भग्ना मे शाश्वती गतिः ॥ ९ ॥
अगाधे च निमग्नास्मि विपुले शोकसागरे।

'राजरानी होनेका जो मेरा अभिमान था, वह भङ्ग हो

गया। नित्य-निरन्तर सुख पानेकी मेरी आशा नष्ट हो गयी तथा मैं अगाध एवं विशाल शोकसमुद्रमें डूब गयी हूँ ॥९½॥

अश्मसारमयं नूनमिदं मे हृदयं दृढम् ॥ १० ॥
भर्तारं निहतं दृष्ट्वा यन्नाद्य शतधा कृतम्।

'निश्चय ही यह मेरा कठोर हृदय लोहेका बना हुआ है। तभी तो अपने स्वामीको मारा गया देखकर इसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ १०½ ॥

सुहृच्चैव च भर्ता च प्रकृत्या च मम प्रियः ॥ ११ ॥
प्रहारे च पराक्रान्तः शूरः पञ्चत्वमागतः।

'हाय! जो मेरे सुहृद्, स्वामी और स्वभावसे ही प्रिय थे तथा संग्राममें महान् पराक्रम प्रकट करनेवाले शूरवीर थे, वे संसारसे चल बसे ॥ ११½ ॥

पतिहीना तु या नारी कामं भवतु पुत्रिणी ॥ १२ ॥
धनधान्यसमृद्धापि विधवेत्युच्यते जनैः।

'पतिहीन नारी भले ही पुत्रवती एवं धन-धान्यसे समृद्ध भी हो, किंतु लोग उसे विधवा ही कहते हैं ॥ १२½ ॥

स्वगात्रप्रभवे वीर शेषे रुधिरमण्डले ॥ १३ ॥
कृमिरागपरिस्तोमे स्वकीये शयने यथा।

'वीर! अपने ही शरीरसे प्रकट हुई रक्तराशिमें आप उसी तरह शयन करते हैं, जैसे पहले इन्द्रगोप नामक कीड़ेके-से रंगवाले बिछौनेसे युक्त अपने पलंगपर सोया करते थे ॥१३½॥

रेणुशोणितसंवीतं गात्रं तव समन्ततः ॥ १४ ॥
परिरब्धुं न शक्नोमि भुजाभ्यां प्लवगर्षभ।

'वानरश्रेष्ठ! आपका सारा शरीर धूल और रक्तसे लथपथ हो रहा है; इसलिये मैं अपनी दोनों भुजाओंसे आपका आलिङ्गन नहीं कर पाती।' १४½ ॥

कृतकृत्योऽद्य सुग्रीवो वैरेऽस्मिन्नतिदारुणे ॥ १५ ॥
यस्य रामविमुक्तेन हृतमेकेषुणा भयम्।

'इस अत्यन्त भयंकर वैरमें आज सुग्रीव कृतकृत्य हो गये। श्रीरामके छोड़े हुए एक ही बाणने उनका सारा भय हर लिया ॥ १५½ ॥

शरेण हृदि लग्नेन गात्रसंस्पर्शने तव ॥ १६ ॥
वार्यामि त्वां निरीक्षन्ती त्वयि पञ्चत्वमागते।

'आपकी छातीमें जो बाण धँसा हुआ है, वह मुझे आपके शरीरका आलिङ्गन करनेसे रोक रहा है, इस कारण आपकी मृत्यु हो जानेपर भी मैं चुपचाप देख रही हूँ (आपको हृदयसे लगा नहीं पाती)' ॥ १६½ ॥

उद्ववर्ह शरं नीलस्तस्य गात्रगतं तदा ॥ १७ ॥
गिरिगह्वरसंलीनं दीप्तमाशीविषं यथा।

उस समय नीलने वालीके शरीरमें धँसे हुए उस बाणको निकाला, मानो पर्वतकी कन्दरामें छिपे हुए प्रज्वलित मुखवाले विषधर सर्पको वहाँसे निकाला गया हो ॥ १७½ ॥

तस्य निष्कृष्यमाणस्य बाणस्यापि बभौ द्युतिः ॥ १८ ॥
अस्तमस्तकसंरुद्धरश्मेर्दिनकरादिव ।

वालीके शरीरसे निकाले जाते हुए उस बाणकी कान्ति अस्ताचलके शिखरपर अवरुद्ध किरणोंवाले सूर्यकी प्रभाके समान जान पड़ती थी ॥ १८½ ॥

पेतुः क्षतजधारास्तु व्रणेभ्यस्तस्य सर्वशः ॥ १९ ॥
ताम्रगैरिकसम्पृक्ता धारा इव धराधरात्।

बाणके निकाल लिये जानेपर वालीके शरीरके सभी घावोंसे खूनकी धाराएँ गिरने लगीं, मानो किसी पर्वतसे लाल गेरूमिश्रित जलकी धाराएँ बह रही हों ॥ १९½ ॥

अवकीर्णं विमार्जन्ती भर्तारं रणरेणुना ॥ २० ॥
अस्रैर्नयनजैः शूरं सिषेचास्त्रसमाहतम्।

वालीका शरीर रणभूमिकी धूलसे भर गया था। उस समय तारा बाणसे आहत हुए अपने शूरवीर स्वामीके उस शरीरको पोंछती हुई उन्हें नेत्रोंके अश्रुजलसे सींचने लगी ॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गं दृष्ट्वा विनिहतं पतिम् ॥ २१ ॥
उवाच तारा पिङ्गाक्षं पुत्रमङ्गदमङ्गना।

अपने मारे गये पतिके सारे अङ्गोंको रक्तसे भीगा हुआ देख वालि-पत्नी ताराने अपने भूरे नेत्रोंवाले पुत्र अङ्गदसे कहा—॥ २१½ ॥

अवस्थां पश्चिमां पश्य पितुः पुत्र सुदारुणाम् ॥ २२ ॥
सम्प्रसक्तस्य वैरस्य गतोऽन्तः पापकर्मणा।

'बेटा! देखो, तुम्हारे पिताकी अन्तिम अवस्था कितनी भयंकर है। ये इस समय पूर्व पापके कारण प्राप्त हुए वैरसे पार हो चुके हैं ॥ २२½ ॥

बालसूर्योज्ज्वलतनुं प्रयातं यमसादनम् ॥ २३ ॥
अभिवादय राजानं पितरं पुत्र मानदम्।

'वत्स! प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण गौर शरीरवाले तुम्हारे पिता राजा वाली अब यमलोकको जा पहुँचे। ये तुम्हें बड़ा आदर देते थे। तुम इनके चरणोंमें प्रणाम करो' ॥

एवमुक्तः समुत्थाय जग्राह चरणौ पितुः ॥ २४ ॥
भुजाभ्यां पीनवृत्ताभ्यामङ्गदोऽहमिति ब्रुवन्।

माताके ऐसा कहनेपर अङ्गदने उठकर अपनी मोटी और गोलाकार भुजाओंद्वारा पिताके दोनों पैर पकड़ लिये और प्रणाम करते हुए कहा—'पिताजी! मैं अङ्गद हूँ' ॥

अभिवादयमानं त्वामङ्गदं त्वं यथा पुरा ॥ २५ ॥
दीर्घायुर्भव पुत्रेति किमर्थं नाभिभाषसे।

तब तारा फिर कहने लगी—'प्राणनाथ! कुमार अङ्गद पहलेकी ही भाँति आज भी आपके चरणोंमें प्रणाम करता

है, किंतु आप इसे 'चिरंजीवी रहो बेटा' ऐसा कहकर आशीर्वाद क्यों नहीं देते हैं ? ॥ २५½ ॥

अहं पुत्रसहाया त्वामुपासे गतचेतनम् ।
सिंहेन पातितं सद्यो गौः सवत्सेव गोवृषम् ॥ २६ ॥

'जैसे कोई बछड़े-सहित गाय सिंहके द्वारा तत्काल मार गिराये हुए साँड़के पास खड़ी हो, उसी प्रकार पुत्रसहित मैं प्राणहीन हुए आपकी सेवामें बैठी हूँ ॥ २६ ॥

इष्ट्वा संग्रामयज्ञेन रामप्रहरणाम्भसा ।
तस्मिन्नवभृथे स्नातः कथं पत्न्या मया विना ॥ २७ ॥

'आपने युद्धरूपी यज्ञका अनुष्ठान करके श्रीरामके बाण रूपी जलसे मुझ पत्नीके विना अकेले ही अवभृथस्नान कैसे कर लिया ? ॥ २७ ॥

या दत्ता देवराजेन तव तुष्टेन संयुगे ।
शातकौम्भीं प्रियां मालां तां ते पश्यामि नेह किम् ॥ २८ ॥

'युद्धमें आपसे संतुष्ट हुए देवराज इन्द्रने आपको जो सोनेकी प्रिय माला दे रक्खी थी, उसे मैं इस समय आपके गलेमें क्यों नहीं देखती हूँ ? ॥ २८ ॥

राज्यश्रीर्न जहाति त्वां गतासुमपि मानद ।
सूर्यस्यावर्तमानस्य शैलराजमिव प्रभा ॥ २९ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले वानरराज ! प्राणहीन हो जानेपर भी आपको राज्यलक्ष्मी उसी प्रकार नहीं छोड़ रही है, जैसे चारों ओर चक्कर लगानेवाले सूर्यदेवकी प्रभा गिरिराज मेरुको कभी नहीं छोड़ती है ॥ २९ ॥

न मे वचः पथ्यमिदं त्वया कृतं
न चास्मि शक्ता हि निवारणे तव ।
हता सपुत्रास्मि हतेन संयुगे
सह त्वया श्रीर्विजहाति मामपि ॥ ३० ॥

'मैंने आपके हितकी बात कही थी; परंतु आपने उसे नहीं स्वीकार किया । मैं भी आपको रोक रखनेमें समर्थ न हो सकी । इसका फल यह हुआ कि आप युद्धमें मारे गये । आपके मारे जानेसे मैं भी अपने पुत्रसहित मारी गयी । अब लक्ष्मी आपके साथ ही मुझे और मेरे पुत्रको भी छोड़ रही है' ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

सुग्रीवका शोकमग्न होकर श्रीरामसे प्राणत्यागके लिये आज्ञा माँगना, ताराका श्रीरामसे अपने वधके लिये प्रार्थना करना और श्रीरामका उसे समझाना

तामाशु वेगेन दुरासदेन
त्वभिप्लुतां शोकमहार्णवेन ।
पश्यंस्तदा वाल्यनुजस्तरस्वी
भ्रातुर्वधेनाप्रतिमेन तेपे ॥ १ ॥

अत्यन्त वेगशाली और दुःसह शोकसमुद्रमें डूबी हुई ताराकी ओर दृष्टिपात करके वालीके छोटे भाई वेगवान् सुग्रीवको उस समय अपने भाईके वधसे बड़ा संताप हुआ ॥ १ ॥

स बाष्पपूर्णेन मुखेन पश्यन्
क्षणेन निर्विण्णमना मनस्वी ।
जगाम रामस्य शनैः समीपं
भृत्यैर्वृतः सम्परिदूयमानः ॥ २ ॥

उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली । उनका मन खिन्न हो गया और वे भीतर-ही-भीतर कष्टका अनुभव करते हुए अपने भृत्योंके साथ धीरे-धीरे श्रीरामचन्द्रजीके पास गये ॥ २ ॥

स तं समासाद्य गृहीतचाप-
मुदात्तमाशीविषतुल्यबाणम् ।
यशस्विनं लक्षणलक्षिताङ्ग-
मवस्थितं राघवमित्युवाच ॥ ३ ॥

जिन्होंने धनुष ले रक्खा था, जिनमें धीरोदात्त नायकका स्वभाव विद्यमान था, जिनके बाण विषधर सर्पके समान भयंकर थे, जिनका प्रत्येक अङ्ग सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार उत्तम लक्षणोंसे लक्षित था तथा जो परम यशस्वी थे, वहाँ खड़े हुए उन श्रीरघुनाथजीके पास जाकर सुग्रीव इस प्रकार बोले—॥ ३ ॥

यथा प्रतिज्ञातमिदं नरेन्द्र
कृतं त्वया दृष्टफलं च कर्म ।
ममाद्य भोगेषु नरेन्द्रसूनो
मनो निवृत्तं हतजीवितेन ॥ ४ ॥

'नरेन्द्र ! आपने जैसी प्रतिज्ञा की थी, उसके अनुसार यह काम कर दिखाया । इस कर्मका राज्य-लाभरूप फल भी प्रत्यक्ष ही है । किंतु राजकुमार ! इससे मेरा जीवन निन्दनीय हो गया है । अतः अब मेरा मन सभी भोगोंसे निवृत्त हो गया ॥ ४ ॥

अस्यां महिष्यां तु भृशं रुदत्यां
पुरेऽतिविक्रोशति दुःखतप्ते ।

हते नृपे संशयितेऽङ्गदे च
न राम राज्ये रमते मनो मे ॥ ५ ॥

'श्रीराम ! राजा वालीके मारे जानेसे ये महारानी तारा अत्यन्त विलाप कर रही हैं। सारा नगर दुःखसे संतप्त होकर चीख रहा है तथा कुमार अङ्गदका जीवन भी संशयमें पड़ गया है। इन सब कारणोंसे अब राज्यमें मेरा मन नहीं लगता है ॥ ५ ॥

क्रोधादमर्षादति विप्रधर्षाद्
भ्रातुर्वधो मेऽनुमतः पुरस्तात्।
हते त्विदानीं हरियूथपेऽस्मिन्
सुतीक्ष्णमिक्ष्वाकुवर प्रतप्स्ये ॥ ६ ॥

'इक्ष्वाकुकुलके गौरव श्रीरघुनाथजी ! भाईने मेरा बहुत अधिक तिरस्कार किया था, इसलिये क्रोध और अमर्षके कारण पहले मैंने उसके वधके लिये अनुमति दे दी थी; परंतु अब वानर-यूथपति वालीके मारे जानेपर मुझे बड़ा संताप हो रहा है। सम्भवतः जीवनभर यह संताप बना ही रहेगा ॥ ६ ॥

श्रेयोऽद्य मन्ये मम शैलमुख्ये
तस्मिन् हि वासश्चिरमृष्यमूके।
यथा तथा वर्तयतः स्ववृत्त्या
नेमं निहत्य त्रिदिवस्य लाभः ॥ ७ ॥

'अपनी जातीय वृत्तिके अनुसार जैसे-तैसे जीवन-निर्वाह करते हुए उस श्रेष्ठ पर्वत ऋष्यमूकपर चिरकालतक रहना ही आज मैं अपने लिये कल्याणकारी समझता हूँ; किंतु अपने इस भाईका वध कराकर अब मुझे स्वर्गका भी राज्य मिल जाय तो मैं उसे अपने लिये श्रेयस्कर नहीं मानता हूँ ॥७॥

न त्वा जिघांसामि चरेति यन्मा-
मयं महात्मा मतिमानुवाच।
तस्यैव तद् राम वचोऽनुरूप-
मिदं वचः कर्म च मेऽनुरूपम् ॥ ८ ॥

'बुद्धिमान् महात्मा वालीने युद्धके समय मुझसे कहा था कि 'तुम चले जाओ, मैं तुम्हारे प्राण लेना नहीं चाहता'। श्रीराम ! उनकी यह बात उन्हींके योग्य थी और मैंने जो आपसे कहकर उनका वध कराया, मेरा वह क्रूरतापूर्ण वचन और कर्म मेरे ही अनुरूप है ॥ ८ ॥

भ्राता कथं नाम महागुणस्य
भ्रातुर्वधं राम विरोचयेत।
राज्यस्य दुःखस्य च वीर सारं
विचिन्तयन् कामपुरस्कृतोऽपि ॥ ९ ॥

'वीर रघुनन्दन ! कोई कितना ही स्वार्थी क्यों न हो ? यदि राज्यके सुख तथा भ्रातृ-वधसे होनेवाले दुःखकी प्रबलता-पर विचार करेगा तो वह भाई होकर अपने महान् गुणवान् भाईका वध कैसे अच्छा समझेगा ? ॥ ९ ॥

वधो हि मे मतो नासीत् स्वमाहात्म्यव्यतिक्रमात्।
ममासीद् बुद्धिदौरात्म्यात् प्राणहारी व्यतिक्रमः ॥ १० ॥

'वालीके मनमें मेरे वधका विचार नहीं था; क्योंकि इससे उन्हें अपनी मान-प्रतिष्ठामें बट्टा लगनेका डर था। मेरी ही बुद्धिमें दुष्टता भरी थी, जिसके कारण मैंने अपने भाईके प्रति ऐसा अपराध कर डाला, जो उनके लिये घातक सिद्ध हुआ ॥ १० ॥

द्रुमशाखावभग्नोऽहं मुहूर्तं परिनिष्टनन्।
सान्त्वयित्वा त्वनेनोक्तो न पुनः कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

'जब वालीने मुझे एक वृक्षकी शाखासे घायल कर दिया और मैं दो घड़ीतक कराहता रहा, तब उन्होंने मुझे सान्त्वना देकर कहा—'जाओ, फिर मेरे साथ युद्ध करनेकी इच्छा न करना' ॥ ११ ॥

भ्रातृत्वमार्यभावश्च धर्मश्चानेन रक्षितः।
मया क्रोधश्च कामश्च कपित्वं च प्रदर्शितम् ॥ १२ ॥

'उन्होंने भ्रातृभाव, आर्यभाव और धर्मकी भी रक्षा की है; परंतु मैंने केवल काम, क्रोध और वानरोचित चपलताका ही परिचय दिया है ॥ १२ ॥

अचिन्तनीयं परिवर्जनीय-
मनीप्सनीयं स्वनवेक्षणीयम्।
प्राप्तोऽस्मि पाप्मानमिदं वयस्य
भ्रातुर्वधात् त्वाष्ट्रवधादिवेन्द्रः ॥ १३ ॥

'मित्र ! जैसे वृत्रासुरका वध करनेसे इन्द्र पापके भागी हुए थे, उसी प्रकार मैं भाईका वध कराकर ऐसे पापका भागी हुआ हूँ, जिसको करना तो दूर रहा, सोचना भी अनुचित है। श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये जो सर्वथा त्याज्य, अवाञ्छनीय तथा देखनेके भी अयोग्य है ॥ १३ ॥

पाप्मानमिन्द्रस्य मही जलं च
वृक्षाश्च कामं जगृहुः स्त्रियश्च।
को नाम पाप्मानमिमं सहेत
शाखामृगस्य प्रतिपत्तुमिच्छेत् ॥ १४ ॥

'इन्द्रके पापको तो पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियोंने स्वेच्छासे ग्रहण कर लिया था; परंतु मुझ-जैसे वानरके इस पापको कौन लेना चाहेगा ? अथवा कौन ले सकेगा ? ॥ १४ ॥

नार्हामि सम्मानमिमं प्रजानां
न यौवराज्यं कुत एव राज्यम्।
अधर्मयुक्तं कुलनाशयुक्त-
मेवंविधं राघव कर्म कृत्वा ॥ १५ ॥

'रघुनाथजी ! अपने कुलका नाश करनेवाला ऐसा पाप-पूर्ण कर्म करके मैं प्रजाके सम्मानका पात्र नहीं रहा। राज्य

पाना तो दूरकी बात है, मुझमें युवराज होनेकी भी योग्यता नहीं है ॥ १५ ॥

पापस्य कर्तास्मि विगर्हितस्य
क्षुद्रस्य लोकापकृतस्य लोके ।
शोको महान् मामभिवर्ततेऽयं
वृष्टेर्यथा निम्नमिवाम्बुवेगः ॥ १६ ॥

'मैंने वह लोकनिन्दित पापकर्म किया है, जो नीच पुरुषोंके योग्य तथा सम्पूर्ण जगत्‌को हानि पहुँचानेवाला है। जैसे वर्षाके जलका वेग नीची भूमिकी ओर जाता है, उसी प्रकार यह भ्रातृ-वधजनित महान् शोक सब ओरसे मुझपर ही आक्रमण कर रहा है ॥ १६ ॥

सोदर्यघातापरगात्रवालः
संतापहस्ताक्षिशिरोविषाणः ।
एनोमयो मामभिहन्ति हस्ती
दृप्तो नदीकूलमिव प्रवृद्धः ॥ १७ ॥

'भाईका वध ही जिसके शरीरका पिछला भाग और पुच्छ है तथा उससे होनेवाला संताप ही जिसकी सूँड़, नेत्र, मस्तक और दाँत हैं, वह पापरूपी महान् मदमत्त गजराज नदी-तटकी भाँति मुझपर ही आघात कर रहा है ॥ १७ ॥

अंहो बतेदं नृवराविषह्यं
निवर्तते मे हृदि साधुवृत्तम् ।
अग्नौ विवर्णं परितप्यमानं
किट्टं यथा राघव जातरूपम् ॥ १८ ॥

'नरेश्वर ! रघुनन्दन ! मैंने जो दुःसह पाप किया है, यह मेरे हृदयस्थित सदाचारको भी नष्ट कर रहा है। ठीक उसी तरह, जैसे आगमें तपाया जानेवाला मलिन सुवर्ण अपने भीतरके मलको नष्ट कर देता है ॥ १८ ॥

महाबलानां हरियूथपाना-
मिदं कुलं राघव मन्निमित्तम् ।
अस्याङ्गदस्यापि च शोकतापा-
दर्धस्थितप्राणमितीव मन्ये ॥ १९ ॥

'रघुनाथजी ! मेरे ही कारण वालीका वध हुआ, जिससे इस अङ्गदका भी शोक-संताप बढ़ गया और इसीलिये इन महाबली वानर-यूथपतियोंका समुदाय अधमरा-सा जान पड़ता है ॥ १९ ॥

सुतः सुलभ्यः सुजनः सुवश्यः
कुतस्तु पुत्रः सदृशोऽङ्गदेन ।
न चापि विद्येत स वीर देशो
यस्मिन् भवेत् सोदरसंनिकर्षः ॥ २० ॥

'वीरवर ! सुजन और वशमें रहनेवाला पुत्र तो मिल सकता है; परंतु अङ्गदके समान बेटा कहाँ मिलेगा ? तथा ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ मुझे अपने भाईका सामीप्य मिल सके ॥ २० ॥

अद्याङ्गदो वीरवरो न जीवे-
ज्जीवेत माता परिपालनार्थम् ।
विना तु पुत्रं परितापदीना
सा नैव जीवेदिति निश्चितं मे ॥ २१ ॥

'अब वीरवर अङ्गद भी जीवित नहीं रह सकता। यदि जी सकता तो उसकी रक्षाके लिये उसकी माता भी जीवन धारण करती। वह बेचारी तो यों ही संतापसे दीन हो रही है; यदि पुत्र भी न रहा तो उसके जीवनका अन्त हो जायगा—यह बिल्कुल निश्चित बात है ॥ २१ ॥

सोऽहं प्रवेक्ष्याम्यतिदीप्तमग्निं
भ्रात्रा च पुत्रेण च सख्यमिच्छन् ।
इमे विचेष्यन्ति हरिप्रवीराः
सीतां निदेशे परिवर्तमानाः ॥ २२ ॥

'अतः मैं अपने भाई और पुत्रका साथ देनेकी इच्छासे प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश करूँगा। ये वानर वीर आपकी आज्ञामें रहकर सीताकी खोज करेंगे ॥ २२ ॥

कृत्स्नं तु ते सेत्स्यति कार्यमेत-
न्मय्यप्यतीते मनुजेन्द्रपुत्र ।
कुलस्य हन्तारमजीवनार्हं
रामानुजानीहि कृतागसं माम् ॥ २३ ॥

'राजकुमार ! मेरी मृत्यु हो जानेपर भी आपका सारा कार्य सिद्ध हो जायगा। मैं कुलकी हत्या करनेवाला और अपराधी हूँ। अतः संसारमें जीवन धारण करनेके योग्य नहीं हूँ। इसलिये श्रीराम ! मुझे प्राणत्याग करनेकी आज्ञा दीजिये' ॥ २३ ॥

इत्येवमार्तस्य रघुप्रवीरः
श्रुत्वा वचो वालिजघन्यजस्य ।
संजातबाष्पः परवीरहन्ता
रामो मुहूर्तं विमना बभूव ॥ २४ ॥

दुःखसे आतुर हुए सुग्रीवके, जो वालीके छोटे भाई थे, ऐसे वचन सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेमें समर्थ, रघुकुल-के वीर भगवान् श्रीरामके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। वे दो घड़ी-तक मन-ही-मन दुःखका अनुभव करते रहे ॥ २४ ॥

तस्मिन् क्षणेऽभीक्ष्णमवेक्षमाणः
क्षितिक्षमावान् भुवनस्य गोप्ता ।
रामो रुदन्तीं व्यसने निमग्नां
समुत्सुकः सोऽथ ददर्श ताराम् ॥ २५ ॥

श्रीरघुनाथजी पृथ्वीके समान क्षमाशील और सम्पूर्ण जगत्-की रक्षा करनेवाले हैं। उन्होंने उस समय अधिक उत्सुक

होकर जब इधर-उधर बारंबार दृष्टि दौड़ायी, तब शोकमग्ना तारा उन्हें दिखायी दी, जो अपने स्वामीके लिये रो रही थी ॥ २५ ॥

तां चारुनेत्रां कपिसिंहनाथां
पतिं समाश्लिष्य तदा शयानाम् ।
उत्थापयामासुरदीनसत्त्वां
मन्त्रिप्रधानाः कपिराजपत्नीम् ॥ २६ ॥

कपियोंमें सिंहके समान वीर वाली जिसके स्वामी एवं संरक्षक थे, जो वानरराज वालीकी रानी थी, जिसका हृदय उदार और नेत्र मनोहर थे, वह तारा उस समय अपने मृत पतिका आलिङ्गन करके पड़ी थी । श्रीरामको आते देख प्रधान-प्रधान मन्त्रियोंने ताराको वहाँसे उठाया ॥ २६ ॥

सा विस्फुरन्ती परिरभ्यमाणा
भर्तुः समीपादपनीयमाना ।
ददर्श रामं शरचापपाणिं
स्वतेजसा सूर्यमिव ज्वलन्तम् ॥ २७ ॥

तारा जब पतिके समीपसे हटायी जाने लगी, तब बारंबार उसका आलिङ्गन करती हुई वह अपनेको छुड़ाने और छटपटाने लगी । इतनेहीमें उसने अपने सामने धनुष-बाण धारण किये श्रीरामको खड़ा देखा, जो अपने तेजसे सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७ ॥

सुसंवृतं पार्थिवलक्षणैश्च
तं चारुनेत्रं मृगशावनेत्रा ।
अदृष्टपूर्वं पुरुषप्रधान-
मयं स काकुत्स्थ इति प्रजज्ञे ॥ २८ ॥

वे राजोचित शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थे । उनके नेत्र बड़े मनोहर थे । उन पुरुषप्रवर श्रीरामको, जो पहले कभी देखनेमें नहीं आये थे, देखकर मृगशावकनयनी तारा समझ गयी कि ये ही ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम हैं ॥ २८ ॥

तस्येन्द्रकल्पस्य दुरासदस्य
महानुभावस्य समीपमार्या ।
आर्तातितूर्णं व्यसनं प्रपन्ना
जगाम तारा परिविह्वलन्ती ॥ २९ ॥

उस समय घोर संकटमें पड़ी हुई शोकपीड़ित आर्या तारा अत्यन्त विह्वल हो गिरती-पड़ती तीव्र गतिसे महेन्द्रतुल्य दुर्जय वीर महानुभाव भगवान् श्रीरामके समीप गयी ॥२९॥

तं सा समासाद्य विशुद्धसत्त्वं
शोकेन सम्भ्रान्तशरीरभावा ।
मनस्विनी वाक्यमुवाच तारा
रामं रणोत्कर्षणलब्धलक्ष्यम् ॥ ३० ॥

शोकके कारण वह अपने शरीरकी भी सुध-बुध खो बैठी थी । भगवान् श्रीराम विशुद्ध अन्तःकरणवाले तथा युद्धस्थलमें सबसे अधिक निपुणताके कारण लक्ष्य वेधनेमें अचूक थे, उनके पास पहुँचकर वह मनस्विनी तारा इस प्रकार बोली—॥ ३० ॥

त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च
जितेन्द्रियश्चोत्तमधर्मकश्च ।
अक्षीणकीर्तिश्च विचक्षणश्च
क्षितिक्षमावान् क्षतजोपमाक्षः ॥ ३१ ॥

'रघुनन्दन ! आप अप्रमेय (देश, काल और वस्तुकी सीमासे रहित) हैं । आपको पाना बहुत कठिन है । आप जितेन्द्रिय तथा उत्तम धर्मका पालन करनेवाले हैं । आपकी कीर्ति कभी नष्ट नहीं होती । आप दूरदर्शी एवं पृथ्वीके समान क्षमाशील हैं । आपकी आँखें कुछ-कुछ लाल हैं ॥ ३१ ॥

त्वमात्तबाणासनबाणपाणि-
र्महाबलः संहननोपपन्नः ।
मनुष्यदेहाभ्युदयं विहाय
दिव्येन देहाभ्युदयेन युक्तः ॥ ३२ ॥

'आपके हाथमें धनुष और बाण शोभा पा रहे हैं । आपका बल महान् है । आप सुदृढ़ शरीरसे सम्पन्न हैं और मनुष्य-शरीरसे प्राप्त होनेवाले लौकिक सुखका परित्याग करके भी दिव्य शरीरके ऐश्वर्यसे युक्त हैं ॥ ३२ ॥

येनैव बाणेन हतः प्रियो मे
तेनैव बाणेन हि मां जहीहि ।
हता गमिष्यामि समीपमस्य
न मां विना वीर रमेत वाली ॥ ३३ ॥

'(अतः मैं प्रार्थना करती हूँ कि)' आपने जिस बाणसे मेरे प्रियतम पतिका वध किया है, उसी बाणसे आप मुझे भी मार डालिये । मैं मरकर उनके समीप चली जाऊँगी । वीर ! मेरे बिना वाली कहीं भी सुखी नहीं रह सकेंगे ॥३३॥

स्वर्गेऽपि पद्मामलपत्रनेत्र
समेत्य सम्प्रेक्ष्य च मामपश्यन् ।
न ह्येव उच्चावचताम्रचूडा
विचित्रवेषाप्सरसोऽभजिष्यत् ॥ ३४ ॥

'अमलकमलदललोचन राम ! स्वर्गमें जाकर भी जब वाली सब ओर दृष्टि डालनेपर मुझे नहीं देखेंगे, तब उनका मन वहाँ कदापि नहीं लगेगा; नाना प्रकारके लाल फूलोंसे विभूषित चोटी धारण करनेवाली तथा विचित्र वेशभूषासे मनोहर प्रतीत होनेवाली स्वर्गकी अप्सराओंको वे कभी स्वीकार नहीं करेंगे ॥ ३४ ॥

स्वर्गेऽपि शोकं च विवर्णतां च
मया विना प्राप्स्यति वीर वाली ।
रम्ये नगेन्द्रस्य तटावकाशे
विदेहकन्यारहितो यथा त्वम् ॥ ३५ ॥

'वीरवर! स्वर्गमें भी वाली मेरे बिना शोकका अनुभव करेंगे और उनके शरीरकी कान्ति फीकी पड़ जायगी। वे उसी तरह दुखी रहेंगे जैसे गिरिराज ऋष्यमूकके सुरम्य तट-प्रान्तमें विदेहनन्दिनी सीताके बिना आप कष्टका अनुभव करते हैं॥

त्वं वेत्थ तावद् वनिताविहीनः
प्राप्नोति दुःखं पुरुषः कुमारः।
तत् त्वं प्रजानञ्जहि मां न वाली
दुःखं ममादर्शनजं भजेत॥ ३६॥

'स्त्रीके बिना युवा पुरुषको जो दुःख उठाना पड़ता है उसे आप अच्छी तरह जानते हैं। इस तत्त्वको समझकर आप मेरा वध करिये, जिससे वालीको मेरे विरहका दुःख न भोगना पड़े॥ ३६॥

यच्चापि मन्येत भवान् महात्मा
स्त्रीघातदोषस्तु भवन्न मह्यम्।
आत्मेयमस्येति हि मां जहि त्वं
न स्त्रीवधः स्यान्मनुजेन्द्रपुत्र॥ ३७॥

'महाराजकुमार! आप महात्मा हैं, इसलिये यदि ऐसा चाहते हों कि मुझे स्त्री-हत्याका पाप न लगे तो 'यह वालीकी आत्मा है' ऐसा समझकर मेरा वध कीजिये। इससे आपको स्त्री-हत्याका पाप नहीं लगेगा॥ ३७॥

शास्त्रप्रयोगाद् विविधाच्च वेदा-
दनन्यरूपाः पुरुषस्य दाराः।
दारप्रदानाद्धि न दानमन्यत्
प्रदृश्यते ज्ञानवतां हि लोके॥ ३८॥

'शास्त्रोक्त यज्ञ-यागादि कर्मोंमें पति और पत्नी दोनोंका संयुक्त अधिकार होता है—पत्नीको साथ लिये बिना पुरुष यज्ञकर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकता। इसके सिवा नाना प्रकारकी वैदिक श्रुतियाँ भी पत्नीको पतिका आधा शरीर बतलाती हैं। दूसरे स्त्रियोंका अपने पतिसे अभिन्न होना सिद्ध होता है (अतः मुझे मारनेसे आपको स्त्रीवधका दोष नहीं लग सकता और वालीको स्त्रीकी प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि) संसारमें ज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें स्त्रीदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है॥ ३८॥

त्वं चापि मां तस्य मम प्रियस्य
प्रदास्यसे धर्ममवेक्ष्य वीर।
अनेन दानेन न लप्स्यसे त्व-
मधर्मयोगं मम वीर घातात्॥ ३९॥

'वीरशिरोमणे! यदि धर्मकी ओर दृष्टि रखते हुए आप भी मुझे मेरे प्रियतम वालीको समर्पित कर देंगे तो इस दानके प्रभावसे मेरी हत्या करनेपर भी आपको पाप नहीं लगेगा॥ ३९॥

आर्तामनाथामपनीयमाना-
मेवंगतां नार्हसि मामहन्तुम्।
अहं हि मातङ्गविलासगामिना
प्लवंगमानामृषभेण धीमता।
विना वरार्होत्तमहेममालिना
चिरं न शक्ष्यामि नरेन्द्र जीवितुम्॥ ४०॥

'मैं दुःखिनी और अनाथा हूँ। पतिसे दूर कर दी गयी हूँ। ऐसी दशामें मुझे जीवित छोड़ना आपके लिये उचित नहीं है। नरेन्द्र! मैं सुन्दर एवं बहुमूल्य श्रेष्ठ सुवर्णमालासे अलंकृत तथा गजराजके समान विलासयुक्त गतिसे चलनेवाले बुद्धिमान् वानरश्रेष्ठ वालीके बिना अधिक कालतक जीवित नहीं रह सकूँगी'॥ ४०॥

इत्येवमुक्तस्तु विभुर्महात्मा
तारां समाश्वास्य हितं बभाषे।
मा वीरभार्ये विमतिं कुरुष्व
लोको हि सर्वो विहितो विधात्रा॥ ४१॥

ताराके ऐसा कहनेपर महात्मा भगवान् श्रीरामने उसे आश्वासन देकर हितकी बात कही—'वीरपत्नी! तुम मृत्यु-विषयक विपरीत विचारका त्याग करो; क्योंकि विधाताने इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की है॥ ४१॥

तं चैव सर्वं सुखदुःखयोगं
लोकोऽब्रवीत् तेन कृतं विधात्रा।
त्रयोऽपि लोका विहितं विधानं
नातिक्रमन्ते वशगा हि तस्य॥ ४२॥

'विधाताने ही इस सारे जगत्को सुख-दुःखसे संयुक्त किया है। यह बात साधारणलोग भी कहते और जानते हैं। तीनों लोकोंके प्राणी विधाताके विधानका उल्लङ्घन नहीं कर सकते; क्योंकि सभी उसके अधीन हैं॥ ४२॥

प्रीतिं परां प्राप्स्यसि तां तथैव
पुत्रश्च ते प्राप्स्यति यौवराज्यम्।
धात्रा विधानं विहितं तथैव
न शूरपत्न्यः परिदेवयन्ति॥ ४३॥

'तुम्हें पहलेकी ही भाँति अत्यन्त सुख एवं आनन्दकी प्राप्ति होगी तथा तुम्हारा पुत्र युवराजपद प्राप्त करेगा। विधाताका ऐसा ही विधान है। शूरवीरोंकी स्त्रियाँ इस प्रकार विलाप नहीं करती हैं (अतः तुम भी शोक छोड़कर शान्त हो जाओ)'॥ ४३॥

आश्वासिता तेन महात्मना तु
प्रभावयुक्तेन परंतपेन।
सा वीरपत्नी ध्वनता मुखेन
सुवेषरूपा विरराम तारा॥ ४४॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले परम प्रभावशाली महात्मा श्रीरामके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर सुन्दर वेष और रूपवाली वीरपत्नी तारा, जिसके मुखसे विलापकी ध्वनि निकलती रहती थी, चुप हो गयी—उसने रोना-धोना छोड़ दिया ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

लक्ष्मणसहित श्रीरामका सुग्रीव, तारा और अङ्गदको समझाना तथा वालीके दाह-संस्कारके लिये आज्ञा प्रदान करना, फिर तारा आदिसहित सब वानरोंका वालीके शवको श्मशानभूमिमें ले जाकर अङ्गदके द्वारा उसका दाह-संस्कार कराना और उसे जलाञ्जलि देना

स सुग्रीवं च तारां च साङ्गदां सहलक्ष्मणः।
समानशोकः काकुत्स्थः सान्त्वयन्निदमब्रवीत्॥ १ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीव आदिके शोकसे उनके समान ही दुखी थे। उन्होंने सुग्रीव, अङ्गद और ताराको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

न शोकपरितापेन श्रेयसा युज्यते मृतः।
यदत्रानन्तरं कार्यं तत् समाधातुमर्हथ ॥ २ ॥

'शोक-संताप करनेसे मरे हुए जीवकी कोई भलाई नहीं होती। अतः अब आगे जो कुछ कर्तव्य है, उसको तुम्हें विधिपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये ॥ २ ॥

लोकवृत्तमनुष्ठेयं कृतं वो बाष्पमोक्षणम्।
न कालादुत्तरं किंचित् कर्म शक्यमुपासितुम् ॥ ३ ॥

'तुम सब लोग बहुत आँसू बहा चुके। अब उसकी आवश्यकता नहीं है। लोकाचारका भी पालन होना चाहिये। समय बिताकर कोई भी विहित कर्म नहीं किया जा सकता (क्योंकि उचित समयपर न किया जाय तो उस कर्मका कोई फल नहीं होता) ॥ ३ ॥

नियतिः कारणं लोके नियतिः कर्मसाधनम्।
नियतिः सर्वभूतानां नियोगेष्विह कारणम् ॥ ४ ॥

'जगत्में नियति (काल) ही सबका कारण है। वही समस्त कर्मोंका साधन है और काल ही समस्त प्राणियोंको विभिन्न कर्मोंमें नियुक्त करनेका कारण है (क्योंकि वही सबका प्रवर्तक है) ॥ ४ ॥

न कर्ता कस्यचित् कश्चिन्नियोगे नापि चेश्वरः।
स्वभावे वर्तते लोकस्तस्य कालः परायणम् ॥ ५ ॥

'कोई भी पुरुष न तो स्वतन्त्रतापूर्वक किसी कामको कर सकता है और न किसी दूसरेको ही उसमें लगानेकी शक्ति रखता है। सारा जगत् स्वभावके अधीन है और स्वभावका आधार काल है ॥ ५ ॥

न कालः कालमत्येति न कालः परिहीयते।
स्वभावं च समासाद्य न कश्चिदतिवर्तते ॥ ६ ॥

'काल भी कालका (अपनी की हुई व्यवस्थाका) उल्लङ्घन नहीं कर सकता। वह काल कभी क्षीण नहीं होता। स्वभाव (प्रारब्धकर्म) को पाकर कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं करता ॥ ६ ॥

न कालस्यास्ति बन्धुत्वं न हेतुर्न पराक्रमः।
न मित्रज्ञातिसम्बन्धः कारणं नात्मनो वशः ॥ ७ ॥

'कालका किसीके साथ भाई-चारेका, मित्रताका अथवा जाति-बिरादरीका सम्बन्ध नहीं है। उसको वशमें करनेका कोई उपाय नहीं है तथा उसपर किसीका पराक्रम नहीं चल सकता। कारणस्वरूप भगवान् काल जीवके भी वशमें नहीं है ॥ ७ ॥

किं तु कालपरीणामो द्रष्टव्यः साधु पश्यता।
धर्मश्चार्थश्च कामश्च कालक्रमसमाहिताः ॥ ८ ॥

'अतः साधुदर्शी विवेकी पुरुषको सब कुछ कालका ही परिणाम समझना चाहिये। धर्म, अर्थ और काम भी कालक्रमसे ही प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

इतः स्वां प्रकृतिं वाली गतः प्राप्तः क्रियाफलम्।
सामदानार्थसंयोगैः पवित्रं प्लवगेश्वरः ॥ ९ ॥

'(मेरे द्वारा मारे जानेके कारण) वानरराज वाली शरीरसे मुक्त हो अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुए हैं। नीतिशास्त्रके अनुकूल साम, दान और अर्थके समुचित प्रयोगसे मिलनेवाले जो पवित्र कर्म हैं, वे सभी उन्हें प्राप्त हो गये ॥ ९ ॥

स्वधर्मस्य च संयोगाज्जितस्तेन महात्मना।
स्वर्गः परिगृहीतश्च प्राणानपरिरक्षता ॥ १० ॥

'महात्मा वालीने पहले अपने धर्मके संयोगसे जिसपर विजय पायी थी, उसी स्वर्गको इस समय युद्धमें प्राणोंकी रक्षा न करके उन्होंने अपने हाथमें कर लिया है ॥ १० ॥

एषा वै नियतिः श्रेष्ठा यां गतो हरियूथपः।
तदलं परितापेन प्राप्तकालमुपास्यताम् ॥ ११ ॥

'यही सर्वश्रेष्ठ गति है, जिसे वानरोंके सरदार वालीने प्राप्त किया है। अतः अब उनके लिये शोक करना व्यर्थ है

इस समय तुम्हारे सामने जो कर्तव्य उपस्थित है, उसे पूरा करो' ॥ ११ ॥

वचनान्ते तु रामस्य लक्ष्मणः परवीरहा ।
अवदत् प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं गतचेतसम् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी बात समाप्त होनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने, जिनकी विवेकशक्ति नष्ट हो गयी थी, उन सुग्रीवसे नम्रतापूर्वक इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥

कुरु त्वमस्य सुग्रीव प्रेतकार्यमनन्तरम् ।
ताराङ्गदाभ्यां सहितो वालिनो दहनं प्रति ॥ १३ ॥

'सुग्रीव ! अब तुम अङ्गद और ताराके साथ रहकर वालीके दाह-संस्कार-सम्बन्धी प्रेतकार्य करो ॥ १३ ॥

समाज्ञापय काष्ठानि शुष्काणि च बहूनि च ।
चन्दनानि च दिव्यानि वालिसंस्कारकारणात् ॥ १४ ॥

'सेवकोंको आज्ञा दो—वे वालीके दाह-संस्कारके निमित्त प्रचुर मात्रामें सूखी लकड़ियाँ और दिव्य चन्दन ले आवें ॥ १४ ॥

समाश्वासय दीनं त्वमङ्गदं दीनचेतसम् ।
मा भूर्वालिशबुद्धिस्त्वं त्वदधीनमिदं पुरम् ॥ १५ ॥

'अङ्गदका चित्त बहुत दुखी हो गया है । इन्हें धैर्य बँधाओ । तुम अपने मनमें मूढ़ता न लाओ—किंकर्तव्यविमूढ़ न बनो; क्योंकि यह सारा नगर तुम्हारे ही अधीन है ॥१५॥

अङ्गदस्त्वानयेन्माल्यं वस्त्राणि विविधानि च ।
घृतं तैलमथो गन्धान् यच्चात्र समनन्तरम् ॥ १६ ॥

'अङ्गद पुष्पमाला, नाना प्रकारके वस्त्र, घी, तेल, सुगन्धित पदार्थ तथा अन्य सामान, जिनकी अभी आवश्यकता है, स्वयं ले आवें ॥ १६ ॥

त्वं तार शिबिकां शीघ्रमादायागच्छ सम्भ्रमात् ।
त्वरा गुणवती युक्ता ह्यस्मिन् काले विशेषतः ॥ १७ ॥

'तार ! तुम शीघ्र जाकर वेगपूर्वक एक पालकी ले आओ; क्योंकि इस समय अधिक फुर्ती दिखानी चाहिये । ऐसे अवसरपर वही लाभदायक होती है ॥ १७ ॥

सज्जीभवन्तु प्लवगाः शिबिकावाहनोचिताः ।
समर्था बलिनश्चैव निर्हरिष्यन्ति वालिनम् ॥ १८ ॥

'पालकीको उठाकर ले चलनेके योग्य जो बलवान् एवं समर्थ वानर हों, वे तैयार हो जायँ । वे ही वालीको यहाँसे श्मशानभूमिमें ले चलेंगे' ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सुमित्रानन्दवर्धनः ।
तस्थौ भ्रातृसमीपस्थो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ १९ ॥

सुग्रीवसे ऐसा कहकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण अपने भाईके पास जाकर खड़े हो गये ॥१९॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा तारः सम्भ्रान्तमानसः ।
प्रविवेश गुहां शीघ्रं शिबिकासक्तमानसः ॥ २० ॥

लक्ष्मणकी बात सुनकर तारके मनमें हड़बड़ी मच गयी । वह शिबिका ले आनेके लिये शीघ्रतापूर्वक किष्किन्धा नामक गुफामें गया ॥ २० ॥

आदाय शिबिकां तारः स तु पर्यापतत् पुनः ।
वानरैरुह्यमानां तां शूरैरुद्वहनोचितैः ॥ २१ ॥

वहाँसे शिबिका ढोनेके योग्य शूरवीर वानरोंद्वारा कंधोंपर उठायी हुई उस शिबिकाको साथ लेकर तार फिर तुरंत ही लौट आया ॥ २१ ॥

दिव्यां भद्रासनयुतां शिबिकां स्यन्दनोपमाम् ।
पक्षिकर्मभिराचित्रां द्रुमकर्मविभूषिताम् ॥ २२ ॥

वह दिव्य पालकी रथके समान बनी हुई थी । उसके बीचमें राजाके बैठने योग्य उत्तम आसन था । उसमें शिल्पियोंद्वारा कृत्रिम पक्षी और वृक्ष बनाये गये थे, जो उस पालकीको विचित्र शोभासे सम्पन्न बना रहे थे ॥ २२ ॥

आचितां चित्रपत्तीभिः सुनिविष्टां समन्ततः ।
विमानमिव सिद्धानां जालवातायनायुताम् ॥ २३ ॥

वह शिबिका चित्रके रूपमें बने हुए पैदल सिपाहियोंसे भरी प्रतीत होती थी । उसकी निर्माणकला सब ओरसे बड़ी सुन्दर दिखायी देती थी । देखनेमें वह सिद्धोंके विमान-सी प्रतीत होती थी । उसमें कई खिड़कियाँ बनी थीं, जिनमें जालियाँ लगी हुई थीं ॥ २३ ॥

सुनियुक्तां विशालां च सुकृतां शिल्पिभिः कृताम् ।
दारुपर्वतकोपेतां चारुकर्मपरिष्कृताम् ॥ २४ ॥

कारीगरोंने उस पालकीको बहुत सुन्दर बनानेका प्रयत्न किया था । उसका एक-एक भाग बड़ा सुघड़ बनाया गया था । आकारमें वह बहुत बड़ी थी । उसमें लकड़ियोंके क्रीडा-पर्वत बने हुए थे । वह मनोहर शिल्प-कर्मसे सुशोभित थी ॥२४॥

वराभरणहारैश्च चित्रमाल्योपशोभिताम् ।
गुहागहनसंछन्नां रक्तचन्दनभूषिताम् ॥ २५ ॥

सुन्दर आभूषण और हारोंसे उसको सजाया गया था । विचित्र फूलोंसे उसकी शोभा बढ़ायी गयी थी । शिल्पियोंद्वारा निर्मित गुफा और वनसे वह संयुक्त थी तथा लाल चन्दनद्वारा उसे विभूषित किया गया था ॥ २५ ॥

पुष्पौघैः समभिच्छन्नां पद्ममालाभिरेव च ।
तरुणादित्यवर्णाभिर्भ्राजमानाभिरावृताम् ॥ २६ ॥

नाना प्रकारके पुष्पसमूहोंद्वारा वह सब ओरसे आच्छादित थी तथा प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण कान्तिवाली दीप्तिमती पद्ममालाओंसे अलंकृत थी ॥ २६ ॥

ईदृशीं शिबिकां दृष्ट्वा रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
क्षिप्रं विनीयतां वाली प्रेतकार्यं विधीयताम् ॥ २७ ॥

ऐसी पालकीका अवलोकन करके श्रीरामचन्द्रजीने

लक्ष्मणकी ओर देखते हुए कहा—'अब वालीको शीघ्र ही यहाँसे श्मशानभूमिमें ले जाया जाय और उनका प्रेतकार्य किया जाय' ॥ २७ ॥

ततो वालिनमुद्यम्य सुग्रीवः शिबिकां तदा।
आरोपयत विक्रोशन्नङ्गदेन सहैव तु ॥ २८ ॥

तब अङ्गदके साथ करुण-क्रन्दन करते हुए सुग्रीवने वालीके शवको उठाकर उस शिबिकामें रक्खा ॥ २८ ॥

आरोप्य शिबिकां चैव वालिनं गतजीवितम्।
अलङ्कारैश्च विविधैर्माल्यैर्वस्त्रैश्च भूषितम् ॥ २९ ॥

मृत वालीको शिबिकामें चढ़ाकर उन्हें नाना प्रकारके अलंकारों, फूलोंके गजरों और भाँति-भाँतिके वस्त्रोंसे विभूषित किया ॥ २९ ॥

आज्ञापयत् तदा राजा सुग्रीवः प्लवगेश्वरः।
और्ध्वदेहिकमार्यस्य क्रियतामनुकूलतः ॥ ३० ॥

तदनन्तर वानरोंके स्वामी राजा सुग्रीवने आज्ञा दी कि 'मेरे बड़े भाईका और्ध्वदेहिक संस्कार शास्त्रानुकूल विधिसे सम्पन्न किया जाय ॥ ३० ॥

विश्राणयन्तो रत्नानि विविधानि बहूनि च।
अग्रतः प्लवगा यान्तु शिबिका तदनन्तरम् ॥ ३१ ॥

'आगे-आगे बहुत-से वानर नाना प्रकारके बहुसंख्यक रत्न लुटाते हुए चलें। उनके पीछे शिबिका चले ॥ ३१ ॥

राज्ञामृद्धिविशेषा हि दृश्यन्ते भुवि यादृशाः।
तादृशैरिह कुर्वन्तु वानरा भर्तृसत्क्रियाम् ॥ ३२ ॥

'इस भूतलपर राजाओंके और्ध्वदेहिक संस्कार उनकी बढ़ी हुई समृद्धिके अनुसार जैसे धूमधामसे होते देखे जाते हैं, उसी प्रकार अधिक धन लगाकर सब वानर अपने स्वामी महाराज वालीका अन्त्येष्टि-संस्कार करें' ॥ ३२ ॥

तादृशं वालिनः क्षिप्रं प्राकुर्वन्नौर्ध्वदेहिकम्।
अङ्गदं परिरभ्याशु तारप्रभृतयस्तथा ॥ ३३ ॥
क्रोशन्तः प्रययुः सर्वे वानरा हतबान्धवाः।

तब तार आदि वानरोंने वालीके और्ध्वदेहिक संस्कारका शीघ्र वैसा ही आयोजन किया। जिनके बान्धव वाली मारे गये थे, वे सब-के-सब वानर अङ्गदको हृदयसे लगाकर शीघ्रतापूर्वक वहाँसे रोते हुए शवके साथ चले ॥ ३३½ ॥

ततः प्रणिहिताः सर्वा वानर्योऽस्य वशानुगाः ॥ ३४ ॥
चुक्रुशुर्वीरवीरेति भूयः क्रोशन्ति ताः प्रियम्।

उनके पीछे वालीके अधीन रहनेवाली सभी वानर-पत्नियाँ समीप आकर 'हा वीर, हा वीर' कहती हुई अपने प्रियतमको पुकार-पुकारकर बारंबार रोने-चिल्लाने लगीं ॥ ३४½ ॥

ताराप्रभृतयः सर्वा वानर्यो हतबान्धवाः ॥ ३५ ॥
अनुजग्मुश्च भर्तारं क्रोशन्त्यः करुणस्वनाः।

जिनके जीवन-धनका वध किया गया था, वे तारा आदि सब वानरियाँ करुणस्वरसे विलाप करती हुई अपने स्वामीके पीछे-पीछे चलने लगीं ॥ ३५½ ॥

तासां रुदितशब्देन वानरीणां वनान्तरे ॥ ३६ ॥
वनानि गिरयश्चैव विक्रोशन्तीव सर्वतः।

वनके भीतर रोती हुई उन वानर-वधुओंके रोदन-शब्दसे गूँजते हुए वन और पर्वत भी सब ओर रोते हुए-से प्रतीत होते थे ॥ ३६½ ॥

पुलिने गिरिनद्यास्तु विविक्ते जलसंवृते ॥ ३७ ॥
चितां चक्रुः सुबहवो वानरा वनचारिणः।

पहाड़ी[1] नदी तुङ्गभद्राके एकान्त तटपर जो जलसे घिरा था, पहुँचकर बहुत-से वनचारी वानरोंने एक चिता तैयार की ॥ ३७½ ॥

अवरोप्य ततः स्कन्धाच्छिबिकां वानरोत्तमाः ॥ ३८ ॥
तस्थुरेकान्तमाश्रित्य सर्वे शोकपरायणाः।

तदनन्तर पालकी ढोनेवाले श्रेष्ठ वानरोंने उसे अपने कंधेसे उतारा और वे सब शोकमग्न हो एकान्त स्थानमें जा बैठे ॥ ३८½ ॥

ततस्तारा पतिं दृष्ट्वा शिबिकातलशायिनम् ॥ ३९ ॥
आरोप्याङ्के शिरस्तस्य विललाप सुदुःखिता।

तत्पश्चात् ताराने शिबिकामें सुलाये हुए अपने पतिके शवको देखकर उनके मस्तकको अपनी गोदमें ले लिया और अत्यन्त दुखी होकर वह विलाप करने लगी—॥ ३९½ ॥

हा वानरमहाराज हा नाथ मम वत्सल ॥ ४० ॥
हा महार्ह महाबाहो हा मम प्रिय पश्य माम्।
जनं न पश्यसीमं त्वं कस्माच्छोकाभिपीडितम् ॥ ४१ ॥

'हा वानरोंके महाराज ! हा मेरे दयालु प्राणनाथ ! हा परम पूजनीय महाबाहु वीर ! हा मेरे प्रियतम ! एक बार मेरी ओर देखो तो सही। इस शोकपीड़ित दासीकी ओर तुम दृष्टिपात क्यों नहीं करते हो ! ॥ ४०-४१ ॥

प्रहृष्टमिह ते वक्त्रं गतासोरपि मानद।
अस्तार्कसमवर्णं च दृश्यते जीवतो यथा ॥ ४२ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले प्राणवल्लभ ! प्राणोंके निकल जानेपर भी तुम्हारा मुख जीवित अवस्थाकी भाँति अस्ताचलवर्ती सूर्यके समान अरुण प्रभासे युक्त एवं प्रसन्न ही दिखायी देता है ॥ ४२ ॥

एष त्वां रामरूपेण कालः कर्षति वानर।
येन स्म विधवाः सर्वाः कृता एकेषुणा रणे ॥ ४३ ॥

१. यह नदी सह्यपर्वतसे निकलकर किष्किन्धाकी पर्वत-मालाओंके बीचसे बहती हुई कृष्णा नदीमें जा मिली है।

'वानरराज ! श्रीरामके रूपमें यह काल ही तुम्हें खींचकर लिये जा रहा है, जिसने युद्धके मैदानमें एक ही बाण मारकर हम सबको विधवा बना दिया ॥ ४३ ॥

इमास्तास्तव राजेन्द्र वानर्योऽप्लवगास्तव ।
पादैर्विकृष्टमध्वानमागताः किं न बुध्यसे ॥ ४४ ॥

'महाराज ! ये तुम्हारी प्यारी वानरियाँ, जो वानरोंकी भाँति उछलकर चलना नहीं जानती हैं, तुम्हारे पीछे-पीछे बहुत दूरके मार्गपर पैदल ही चली आयी हैं । इस बातको क्या तुम नहीं जानते ? ॥ ४४ ॥

तवेष्टा ननु चैवेमा भार्याश्चन्द्रनिभाननाः ।
इदानीं नेक्षसे कस्मात् सुग्रीवं प्लवगेश्वर ॥ ४५ ॥

'वानरराज ! जो तुम्हें परम प्रिय थीं, वे तुम्हारी सभी चन्द्रमुखी भार्याएँ यहाँ उपस्थित हैं । तुम इन सबको तथा अपने भाई सुग्रीवको भी इस समय क्यों नहीं देख रहे हो ? ॥ ४५ ॥

एते हि सचिवा राजंस्तारप्रभृतयस्तव ।
पुरवासिजनश्चायं परिवार्य विषीदति ॥ ४६ ॥

'राजन् ! ये तार आदि तुम्हारे सचिव तथा ये पुरवासीजन तुम्हें चारों ओरसे घेरकर दुखी हो रहे हैं ॥ ४६ ॥

विसर्जयैनान् सचिवान् यथापुरमरिंदम ।
ततः क्रीडामहे सर्वा वनेषु मदनोत्कटाः ॥ ४७ ॥

'शत्रुदमन ! आप पहलेकी भाँति इन मन्त्रियोंको विदा कर दीजिये । फिर हम सब प्रेमोन्मत्त होकर इन वनोंमें आपके साथ क्रीडा करेंगी' ॥ ४७ ॥

एवं विलपतीं तारां पतिशोकपरीवृताम् ।
उत्थापयन्ति स्म तदा वानर्यः शोककर्शिताः ॥ ४८ ॥

पतिके शोकमें डूबी हुई ताराको इस प्रकार विलाप करती देख उस समय शोकसे दुर्बल हुई अन्य वानरियोंने उसे उठाया ॥ ४८ ॥

सुग्रीवेण ततः सार्धं सोऽङ्गदः पितरं रुदन् ।
चितामारोपयामास शोकेनाभिप्लुतेन्द्रियः ॥ ४९ ॥

इसके बाद संतापपीड़ित इन्द्रियोंवाले अङ्गदने रोते-रोते सुग्रीवकी सहायतासे पिताको चितापर रक्खा ॥ ४९ ॥

ततोऽग्निं विधिवद् दत्त्वा सोऽपसव्यं चकार ह ।
पितरं दीर्घमध्वानं प्रस्थितं व्याकुलेन्द्रियः ॥ ५० ॥

फिर शास्त्रीय विधिके अनुसार उसमें आग लगाकर उन्होंने उसकी प्रदक्षिणा की । इसके बाद यह सोचकर कि 'मेरे पिता लंबी यात्राके लिये प्रस्थित हुए हैं' अङ्गदकी सारी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठीं ॥ ५० ॥

संस्कृत्य वालिनं तं तु विधिवत् प्लवगर्षभाः ।
आजग्मुरुदकं कर्तुं नदीं शुभजलां शिवाम् ॥ ५१ ॥

इस प्रकार विधिवत् वालीका दाह-संस्कार करके सभी वानर जलाञ्जलि देनेके लिये पवित्र जलसे भरी हुई कल्याणमयी तुङ्गभद्रा नदीके तटपर आये ॥ ५१ ॥

ततस्ते सहितास्तत्र ह्यङ्गदं स्थाप्य चाग्रतः ।
सुग्रीवतारासहिताः सिषिचुर्वानरा जलम् ॥ ५२ ॥

वहाँ अङ्गदको आगे रखकर सुग्रीव और तारासहित सभी वानरोंने वालीके लिये एक साथ जलाञ्जलि दी ॥ ५२ ॥

सुग्रीवेणेव दीनेन दीनो भूत्वा महाबलः ।
समानशोकः काकुत्स्थः प्रेतकार्याण्यकारयत् ॥ ५३ ॥

दुखी हुए सुग्रीवके साथ ही उन्हींके समान शोकग्रस्त एवं दुखी हो महाबली श्रीरामने वालीके समस्त प्रेतकार्य करवाये ॥ ५३ ॥

ततोऽथ तं वालिनमग्र्यपौरुषं
प्रकाशमिक्ष्वाकुवरेषुणा हतम् ।
प्रदीप्य दीप्ताग्निसमौजसं तदा
सलक्ष्मणं राममुपेयिवान् हरिः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार इक्ष्वाकुवंशशिरोमणि श्रीरामके बाणसे मारे गये श्रेष्ठ पराक्रमी और प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी सुविख्यात वालीका दाह-संस्कार करके सुग्रीव उस समय लक्ष्मणसहित श्रीरामके पास आये ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

हनुमान्‌जीका सुग्रीवके अभिषेकके लिये श्रीरामचन्द्रजीसे किष्किन्धामें पधारनेकी प्रार्थना, श्रीरामका पुरीमें न जाकर केवल अनुमति देना, तत्पश्चात् सुग्रीव और अङ्गदका अभिषेक

ततः शोकाभिसंतप्तं सुग्रीवं क्लिन्नवाससम् ।
शाखामृगमहामात्राः परिवार्योपतस्थिरे ॥ १ ॥
अभिगम्य महाबाहुं राममक्लिष्टकारिणम् ।
स्थिताः प्राञ्जलयः सर्वे पितामहमिवर्षयः ॥ २ ॥

तदनन्तर वानरसेनाके प्रधान-प्रधान वीर (हनुमान् आदि) भीगे वस्त्रवाले शोक-संतप्त सुग्रीवको चारों ओरसे घेरकर उन्हें साथ लिये अनायास ही महान् कर्म करनेवाले महाबाहु श्रीरामकी सेवामें उपस्थित हुए । श्रीरामके पास आकर

वे सभी वानर उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये, जैसे ब्रह्माजीके सम्मुख महर्षिगण खड़े रहते हैं ॥ १-२ ॥

ततः काञ्चनशैलाभस्तरुणार्कनिभाननः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं हनूमान् मारुतात्मजः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् सुवर्णमय मेरु पर्वतके समान सुन्दर एवं विशाल शरीरवाले वायुपुत्र हनुमान्‌जी, जिनका मुख प्रातः-कालके सूर्यकी भाँति अरुण प्रभासे प्रकाशित हो रहा था, दोनों हाथ जोड़कर बोले—॥ ३ ॥

भवत्प्रसादात् काकुत्स्थ पितृपैतामहं महत् ।
वानराणां सुदंष्ट्राणां सम्पन्नबलशालिनाम् ॥ ४ ॥
महात्मनां सुदुष्प्रापं प्राप्तं राज्यमिदं प्रभो ।
भवता समनुज्ञातः प्रविश्य नगरं शुभम् ॥ ५ ॥
संविधास्यति कार्याणि सर्वाणि ससुहृद्गणः ।

'ककुत्स्थकुलनन्दन ! आपकी कृपासे सुग्रीवको सुन्दर दाढ़वाले पूर्णबलशाली और महामनस्वी वानरोंका यह विशाल साम्राज्य प्राप्त हुआ, जो इनके बाप-दादोंके समयसे चला आ रहा है । प्रभो ! यद्यपि इसका मिलना बहुत ही कठिन था तो भी आपके प्रसादसे यह इन्हें सुलभ हो गया । अब यदि आप आज्ञा दें तो ये अपने सुन्दर नगरमें प्रवेश करके सुहृदोंके साथ अपना सब राजकार्य सँभालें ॥ ४-५½ ॥

स्नातोऽयं विविधैर्गन्धैरौषधैश्च यथाविधि ॥ ६ ॥
अर्चयिष्यति माल्यैश्च रत्नैश्च त्वां विशेषतः ।
इमां गिरिगुहां रम्यामभिगन्तुं त्वमर्हसि ॥ ७ ॥
कुरुष्व स्वामिसम्बन्धं वानरान् सम्प्रहर्षय ।

'ये शास्त्रविधिके अनुसार नाना प्रकारके सुगन्धित पदार्थों और ओषधियोंसहित जलसे राज्यपर अभिषिक्त होकर मालाओं तथा रत्नोंद्वारा आपकी विशेष पूजा करेंगे । अतः आप इस रमणीय पर्वत-गुफा किष्किन्धामें पधारनेकी कृपा करें और इन्हें इस राज्यका स्वामी बनाकर वानरोंका हर्ष बढ़ावें' ॥ ६-७½ ॥

एवमुक्तो हनुमता राघवः परवीरहा ॥ ८ ॥
प्रत्युवाच हनूमन्तं बुद्धिमान् वाक्यकोविदः ।

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले तथा बातचीतमें कुशल बुद्धिमान् श्रीरघुनाथजीने उन्हें यों उत्तर दिया—॥ ८½ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य ग्रामं वा यदि वा पुरम् ॥ ९ ॥
न प्रवेक्ष्यामि हनुमन् पितुर्निर्देशपालकः ।

'हनुमन् ! सौम्य ! मैं पिताकी आज्ञाका पालन कर रहा हूँ, अतः चौदह वर्षोंके पूर्ण होनेतक किसी ग्राम या नगरमें प्रवेश नहीं करूँगा ॥ ९½ ॥

सुसमृद्धां गुहां दिव्यां सुग्रीवो वानरर्षभः ॥ १० ॥
प्रविष्टो विधिवद् वीरः क्षिप्रं राज्येऽभिषिच्यताम् ।

'वानरश्रेष्ठ वीर सुग्रीव इस समृद्धिशालिनी दिव्य गुफामें प्रवेश करें और वहाँ शीघ्र ही इनका विधिपूर्वक राज्याभिषेक कर दिया जाय' ॥ १०½ ॥

एवमुक्त्वा हनूमन्तं रामः सुग्रीवमब्रवीत् ॥ ११ ॥
वृत्तज्ञो वृत्तसम्पन्नमुदारबलविक्रमम् ।
इममप्यङ्गदं वीरं यौवराज्येऽभिषेचय ॥ १२ ॥

हनुमान्‌से ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीवसे बोले—'मित्र ! तुम लौकिक और शास्त्रीय सभी व्यवहार जानते हो । कुमार अङ्गद सदाचारसम्पन्न तथा महान् बल-पराक्रमसे परिपूर्ण हैं । इनमें वीरता कूट-कूटकर भरी है, अतः तुम इनको भी युवराजके पदपर अभिषिक्त करो ॥ ११-१२ ॥

ज्येष्ठस्य हि सुतो ज्येष्ठः सदृशो विक्रमेण च ।
अङ्गदोऽयमदीनात्मा यौवराज्यस्य भाजनम् ॥ १३ ॥

'ये तुम्हारे बड़े भाईके ज्येष्ठ पुत्र हैं । पराक्रममें भी उन्हींके समान हैं तथा इनका हृदय उदार है । अतः अङ्गद युवराज-पदके सर्वथा अधिकारी हैं ॥ १३ ॥

पूर्वोऽयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः ।
प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसंज्ञिताः ॥ १४ ॥

'सौम्य ! वर्षा कहलानेवाले चार मास या चौमासे आ गये । इनमें पहला मास यह श्रावण, जो जलकी प्राप्ति करानेवाला है, आरम्भ हो गया ॥ १४ ॥

नायमुद्योगसमयः प्रविश त्वं पुरीं शुभाम् ।
अस्मिन् वत्स्याम्यहं सौम्य पर्वते सहलक्ष्मणः ॥ १५ ॥

'सौम्य ! यह किसीपर चढ़ाई करनेका समय नहीं है । इसलिये तुम अपनी सुन्दर नगरीमें जाओ । मैं लक्ष्मणके साथ इस पर्वतपर निवास करूँगा ॥ १५ ॥

इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता ।
प्रभूतसलिला सौम्य प्रभूतकमलोत्पला ॥ १६ ॥

'सौम्य सुग्रीव ! यह पर्वतीय गुफा बड़ी रमणीय और विशाल है । इसमें आवश्यकताके अनुरूप हवा भी मिल जाती है । यहाँ पर्याप्त जल भी सुलभ है और कमल तथा उत्पल भी बहुत हैं ॥ १६ ॥

कार्तिके समनुप्राप्ते त्वं रावणवधे यत ।
एष नः समयः सौम्य प्रविश त्वं स्वमालयम् ॥ १७ ॥
अभिषिञ्चस्व राज्ये च सुहृदः सम्प्रहर्षय ।

'सखे ! कार्तिक आनेपर तुम रावणके वधके लिये प्रयत्न करना । यही हमलोगोंका निश्चय रहा । अब तुम अपने महलमें प्रवेश करो और राज्यपर अभिषिक्त होकर सुहृदोंको आनन्दित करो' ॥ १७½ ॥

इति रामाभ्यनुज्ञातः सुग्रीवो वानरर्षभः ॥ १८ ॥
प्रविवेश पुरीं रम्यां किष्किन्धां वालिपालिताम् ।

श्रीरामचन्द्रजीकी यह आज्ञा पाकर वानरश्रेष्ठ सुग्रीव उस रमणीय किष्किन्धापुरीमें गये, जिसकी रक्षा वालीने की थी ॥

तं वानरसहस्राणि प्रविष्टं वानरेश्वरम् ॥ १९ ॥
अभिवार्य प्रविष्टानि सर्वतः प्लवगेश्वरम् ।

उस समय गुफामें प्रविष्ट हुए उन वानरराजको चारों ओरसे घेरकर हजारों वानर उनके साथ ही गुहामें घुसे ॥ १९½ ॥

ततः प्रकृतयः सर्वा दृष्ट्वा हरिगणेश्वरम् ॥ २० ॥
प्रणम्य मूर्ध्ना पतिता वसुधायां समाहिताः ।

वानरराजको देखकर प्रजा आदि समस्त प्रकृतियोंने एकाग्रचित्त हो पृथ्वीपर माथा टेककर उन्हें प्रणाम किया ॥

सुग्रीवः प्रकृतीः सर्वाः सम्भाष्योत्थाप्य वीर्यवान् ॥ २१ ॥
भ्रातुरन्तःपुरं सौम्यं प्रविवेश महाबलः ।

महाबली पराक्रमी सुग्रीवने उन सबको उठनेकी आज्ञा दी और उन सबसे बातचीत करके वे भाईके सौम्य अन्तःपुरमें प्रविष्ट हुए ॥ २१½ ॥

प्रविष्टं भीमविक्रान्तं सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥ २२ ॥
अभ्यषिञ्चन्त सुहृदः सहस्राक्षमिवामराः ।

भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले वानरश्रेष्ठ सुग्रीवको अन्तःपुरमें आया देख उनके सुहृदोंने उनका उसी प्रकार अभिषेक किया, जैसे देवताओंने सहस्र नेत्रधारी इन्द्रका किया था ॥ २२½ ॥

तस्य पाण्डुरमाजह्रुश्छत्रं हेमपरिष्कृतम् ॥ २३ ॥
शुक्ले च वालव्यजने हेमदण्डे यशस्करे ।
तथा रत्नानि सर्वाणि सर्वबीजौषधानि च ॥ २४ ॥
सक्षीराणां च वृक्षाणां प्ररोहान् कुसुमानि च ।
शुक्लानि चैव वस्त्राणि श्वेतं चैवानुलेपनम् ॥ २५ ॥
सुगन्धीनि च माल्यानि स्थलजान्यम्बुजानि च ।
चन्दनानि च दिव्यानि गन्धांश्च विविधान् बहून् ॥ २६ ॥
अक्षतं जातरूपं च प्रियङ्गुं मधुसर्पिषी ।
दधि चर्म च वैयाघ्रं परार्घ्ये चाप्युपानहौ ॥ २७ ॥
समालम्भनमादाय गोरोचनं मनःशिलाम् ।
आजग्मुस्तत्र मुदिता वराः कन्याश्च षोडश ॥ २८ ॥

पहले तो वे सब लोग उनके लिये सुवर्णभूषित श्वेत छत्र, सोनेकी डाँडीवाले दो सफेद चँवर, सब प्रकारके रत्न, बीज और ओषधियाँ, दूधवाले वृक्षोंकी नीचे लटकनेवाली जटाएँ, श्वेत पुष्प, श्वेत वस्त्र, श्वेत अनुलेपन, जल और थलमें होनेवाले सुगन्धित फूलोंकी मालाएँ, दिव्य चन्दन, नाना प्रकारके बहुत-से सुगन्धित पदार्थ, अक्षत, सोना, प्रियङ्गु (कगनी), मधु, घी, दही, व्याघ्रचर्म, सुन्दर एवं बहुमूल्य जूते, अङ्गराग, गोरोचन और मैनसिल आदि सामग्री लेकर वहाँ उपस्थित हुए, साथ ही हर्षसे भरी हुई सोलह सुन्दरी कन्याएँ भी सुग्रीवके पास आयीं ॥ २३—२८ ॥

ततस्ते वानरश्रेष्ठमभिषेक्तुं यथाविधि ।
रत्नैर्वस्त्रैश्च भक्ष्यैश्च तोषयित्वा द्विजर्षभान् ॥ २९ ॥

तदनन्तर उन सबने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके रत्न, वस्त्र और भक्ष्य पदार्थोंसे संतुष्ट करके वानरश्रेष्ठ सुग्रीवका विधिपूर्वक अभिषेक-कार्य आरम्भ किया ॥ २९ ॥

ततः कुशपरिस्तीर्णं समिद्धं जातवेदसम् ।
मन्त्रपूतेन हविषा हुत्वा मन्त्रविदो जनाः ॥ ३० ॥

मन्त्रवेत्ता पुरुषोंने वेदीपर अग्निकी स्थापना करके उसे प्रज्वलित किया और अग्निवेदीके चारों ओर कुश बिछाये । फिर अग्निका संस्कार करके मन्त्रपूत हविष्यके द्वारा प्रज्वलित अग्निमें आहुति दी ॥ ३० ॥

ततो हेमप्रतिष्ठाने वरास्तरणसंवृते ।
प्रासादशिखरे रम्ये चित्रमाल्योपशोभिते ॥ ३१ ॥
प्राङ्मुखं विधिवन्मन्त्रैः स्थापयित्वा वरासने ।

तत्पश्चात् रंग-बिरंगी पुष्पमालाओंसे सुशोभित रमणीय अट्टालिकापर एक सोनेका सिंहासन रक्खा गया और उसपर सुन्दर बिछौना बिछाकर उसके ऊपर सुग्रीवको पूर्वाभिमुख करके विधिवत् मन्त्रोच्चारण करते हुए बिठाया गया ॥ ३१½ ॥

नदीनदेभ्यः संहृत्य तीर्थेभ्यश्च समन्ततः ॥ ३२ ॥
आहृत्य च समुद्रेभ्यो सर्वेभ्यो वानरर्षभाः ।
अपः कनककुम्भेषु निधाय विमलं जलम् ॥ ३३ ॥
शुभैर्ऋषभशृङ्गैश्च कलशैश्चैव काञ्चनैः ।
शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च ॥ ३४ ॥
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ।
मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनूमाञ्जाम्बवांस्तथा ॥ ३५ ॥
अभ्यषिञ्चत सुग्रीवं प्रसन्नेन सुगन्धिना ।
सलिलेन सहस्राक्षं वसवो वासवं यथा ॥ ३६ ॥

इसके बाद श्रेष्ठ वानरोंने नदियों, नदों, सम्पूर्ण दिशाओंके तीर्थों और समस्त समुद्रोंसे लाये हुए निर्मल जलको एकत्र करके उसे सोनेके कलशोंमें रक्खा । फिर गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, हनुमान् और जाम्बवान्ने महर्षियोंकी बतायी हुई शास्त्रोक्त विधिके अनुसार सुवर्णमय कलशोंमें रक्खे हुए स्वच्छ और सुगन्धित जलसे साँड़के सींगोंद्वारा सुग्रीवका उसी प्रकार अभिषेक किया, जैसे वसुओंने इन्द्रका अभिषेक किया था ॥ ३२—३६ ॥

अभिषिक्ते तु सुग्रीवे सर्वे वानरपुङ्गवाः ।
प्रचुक्रुशुर्महात्मानो हृष्टाः शतसहस्रशः ॥ ३७ ॥

सुग्रीवका अभिषेक हो जानेपर वहाँ लाखोंकी संख्यामें एकत्र हुए समस्त महामनस्वी श्रेष्ठ वानर हर्षमें भरकर जय घोष करने लगे ॥ ३७ ॥

रामस्य तु वचः कुर्वन् सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
अङ्गदं सम्परिष्वज्य यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥ ३८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाका पालन करते हुए वानरराज सुग्रीवने अङ्गदको हृदयसे लगाकर उन्हें भी युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ३८ ॥

अङ्गदे चाभिषिक्ते तु सानुक्रोशाः प्लवंगमाः ।
साधु साध्विति सुग्रीवं महात्मानो ह्यपूजयन् ॥ ३९ ॥

अङ्गदका अभिषेक हो जानेपर महामनस्वी दयालु वानर 'साधु-साधु' कहकर सुग्रीवकी सराहना करने लगे ॥ ३९ ॥

रामं चैव महात्मानं लक्ष्मणं च पुनः पुनः ।
प्रीताश्च तुष्टुवुः सर्वे तादृशे तत्र वर्तिनि ॥ ४० ॥

इस प्रकार अभिषेक होकर किष्किन्धामें सुग्रीव और अङ्गदके विराजमान होनेपर समस्त वानर परम प्रसन्न हो महात्मा श्रीराम और लक्ष्मणकी बारंबार स्तुति करने लगे ॥

हृष्टपुष्टजनाकीर्णा पताकाध्वजशोभिता ।
बभूव नगरी रम्या किष्किन्धा गिरिगह्वरे ॥ ४१ ॥

उस समय पर्वतकी गुफामें बसी हुई किष्किन्धापुरी हृष्ट-पुष्ट पुरवासियोंसे व्याप्त तथा ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित होनेके कारण बड़ी रमणीय प्रतीत होती थी ॥ ४१ ॥

निवेद्य रामाय तदा महात्मने
महाभिषेकं कपिवाहिनीपतिः ।
रुमां च भार्यामुपलभ्य वीर्यवा-
नवाप राज्यं त्रिदशाधिपो यथा ॥ ४२ ॥

वानरसेनाके स्वामी पराक्रमी सुग्रीवने महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर अपने महाभिषेकका समाचार निवेदन किया और अपनी पत्नी रुमाको पाकर उन्होंने उसी प्रकार वानरोंका साम्राज्य प्राप्त किया, जैसे देवराज इन्द्रने त्रिलोकीका ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

प्रस्रवणगिरिपर श्रीराम और लक्ष्मणकी परस्पर बातचीत

अभिषिक्ते तु सुग्रीवे प्रविष्टे वानरे गुहाम् ।
आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १ ॥

जब वानर सुग्रीवका राज्याभिषेक हो गया और वे किष्किन्धामें जाकर रहने लगे, उस समय अपने भाई लक्ष्मणके साथ श्रीरामजी प्रस्रवणगिरिपर चले गये ॥ १ ॥

शार्दूलमृगसंघुष्टं सिंहैर्भीमरवैर्वृतम् ।
नानागुल्मलतागूढं बहुपादपसंकुलम् ॥ २ ॥

वहाँ चीतों और मृगोंकी आवाज गूँजती रहती थी । भयंकर गर्जना करनेवाले सिंहोंसे वह स्थान भरा था । नाना प्रकारकी झाड़ियाँ और लताएँ उस पर्वतको आच्छादित किये हुए थीं और घने वृक्षोंके द्वारा वह सब ओरसे व्याप्त था ॥

ऋक्षवानरगोपुच्छैर्मार्जारैश्च निषेवितम् ।
मेघराशिनिभं शैलं नित्यं शुचिकरं शिवम् ॥ ३ ॥

रीछ, वानर, लंगूर और बिलाव आदि जन्तु वहाँ निवास करते थे । वह पर्वत मेघोंके समूह-सा जान पड़ता था । दर्शन करनेवाले लोगोंके लिये वह सदा ही मङ्गलमय और पवित्रकारक था ॥ ३ ॥

तस्य शैलस्य शिखरे महतीमायतां गुहाम् ।
प्रत्यगृह्णीत वासार्थं रामः सौमित्रिणा सह ॥ ४ ॥

उस पर्वतके शिखरपर एक बहुत बड़ी और विस्तृत गुफा थी । लक्ष्मणसहित श्रीरामने उसीका अपने रहनेके लिये आश्रय लिया ॥ ४ ॥

कृत्वा च समयं रामः सुग्रीवेण सहानघः ।
कालयुक्तं महद्वाक्यमुवाच रघुनन्दनः ॥ ५ ॥
विनीतं भ्रातरं भ्राता लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ।

रघुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी वर्षाका अन्त होनेपर सुग्रीवके साथ रावणपर चढ़ाई करनेका निश्चय करके वहाँ आये थे । उन्होंने लक्ष्मीकी वृद्धि करनेवाले अपने विनययुक्त भ्राता लक्ष्मणसे यह समयोचित बात कही—॥ ५½ ॥

इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता ॥ ६ ॥
अस्यां वत्स्याम सौमित्रे वर्षरात्रमरिंदम ।

'शत्रुदमन सुमित्राकुमार ! यह पर्वतकी गुफा बड़ी ही सुन्दर और विशाल है । यहाँ हवाके आने-जानेका भी मार्ग है । हमलोग वर्षाकी रातमें इसी गुफाके भीतर निवास करेंगे ॥ ६½ ॥

गिरिशृङ्गमिदं रम्यमुत्तमं पार्थिवात्मज ॥ ७ ॥
श्वेताभिः कृष्णताम्राभिः शिलाभिरुपशोभितम् ।

'राजकुमार ! पर्वतका यह शिखर बहुत ही उत्तम और रमणीय है । सफेद, काले और लाल हर तरहके प्रस्तर-खण्ड इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ७½ ॥

नानाधातुसमाकीर्णं नदीदर्दुरसंयुतम् ॥ ८ ॥
विविधैर्वृक्षषण्डैश्च चारुचित्रलतायुतम् ।
नानाविहगसंघुष्टं मयूरवरनादितम् ॥ ९ ॥

'यहाँ नाना प्रकारके धातुओंकी खानें हैं। पास ही नदी बहती है। उसमें रहनेवाले मेढक यहाँ भी उछलते-कूदते चले आते हैं। नाना प्रकारके वृक्षसमूह इसकी शोभा बढ़ाते हैं। सुन्दर और विचित्र लताओंसे यह शैल-शिखर हरा-भरा दिखायी देता है। भाँति-भाँतिके पक्षी यहाँ चहक रहे हैं तथा सुन्दर मोरोंकी मीठी बोली गूँज रही है ॥ ८-९ ॥

मालतीकुन्दगुल्मैश्च सिन्दुवारैः शिरीषकैः।
कदम्बार्जुनसर्जैश्च पुष्पितैरुपशोभितम् ॥ १० ॥

'मालती और कुन्दकी झाड़ियाँ, सिन्दुवार, शिरीष, कदम्ब, अर्जुन और सर्जके फूले हुए वृक्ष इस स्थानकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ १० ॥

इयं च नलिनी रम्या फुल्लपङ्कजमण्डिता।
नातिदूरे गुहाया नौ भविष्यति नृपात्मज ॥ ११ ॥

'राजकुमार ! यह पुष्करिणी खिले हुए कमलोंसे अलंकृत हो बड़ी रमणीय दिखायी देती है। यह हमलोगोंकी गुफासे अधिक दूर नहीं होगी ॥ ११ ॥

प्रागुदक्प्रवणे देशे गुहा साधु भविष्यति।
पश्चाच्चैवोन्नता सौम्य निवातेयं भविष्यति ॥ १२ ॥

'सौम्य ! यहाँका स्थान ईशान कोणकी ओरसे नीचा है, अतः यहाँ यह गुफा हमारे निवासके लिये बहुत अच्छी रहेगी। पश्चिम-दक्षिणके कोणकी ओरसे ऊँची यह गुफा हवा और वर्षासे बचानेके लिये अच्छी होगी* ॥ १२ ॥

गुहाद्वारे च सौमित्रे शिला समतला शिवा।
कृष्णा चैवायता चैव भिन्नाञ्जनचयोपमा ॥ १३ ॥

'सुमित्रानन्दन ! इस गुफाके द्वारपर समतल शिला है, जो बाहर बैठनेके लिये सुविधाजनक होनेके कारण सुखदायिनी है। यह लंबी-चौड़ी होनेके साथ ही खानसे काटकर निकाले हुए कोयलोंकी राशिके समान काली है ॥ १३ ॥

गिरिशृङ्गमिदं तात पश्य चोत्तरतः शुभम्।
भिन्नाञ्जनचयाकारमम्भोधरमिवोदितम् ॥ १४ ॥

'तात ! देखो, यह सुन्दर पर्वत-शिखर उत्तरकी ओरसे कटे हुए कोयलोंकी राशि तथा घुमड़े हुए मेघोंकी घटाके समान काला दिखायी देता है ॥ १४ ॥

दक्षिणस्यामपि दिशि स्थितं श्वेतमिवाम्बरम्।
कैलासशिखरप्रख्यं नानाधातुविराजितम् ॥ १५ ॥

'इसी तरह दक्षिण दिशामें भी इसका जो शिखर है, वह श्वेत वस्त्र और कैलास शृङ्गके समान श्वेत दिखायी देता है। नाना प्रकारकी धातुएँ उसकी शोभा बढ़ाती हैं ॥ १५ ॥

प्राचीनवाहिनीं चैव नदीं भृशमकर्दमाम्।
गुहायाः परतः पश्य त्रिकूटे जाह्नवीमिव ॥ १६ ॥

'वह देखो, इस गुफाके दूसरी ओर त्रिकूट पर्वतके समीप बहनेवाली मन्दाकिनीके समान तुङ्गभद्रा नदी बह रही है। उसकी धारा पश्चिमसे पूर्वकी ओर जा रही है। उसमें कीचड़का नाम भी नहीं है ॥ १६ ॥

चन्दनैस्तिलकैः सालैस्तमालैरतिमुक्तकैः।
पद्मकैः सरलैश्चैव अशोकैश्चैव शोभिताम् ॥ १७ ॥

'चन्दन, तिलक, साल, तमाल, अतिमुक्तक, पद्मक, सरल और अशोक आदि नाना प्रकारके वृक्षोंसे उस नदीकी कैसी शोभा हो रही है ! ॥ १७ ॥

वानीरैस्तिमिदैश्चैव वकुलैः केतकैरपि।
हिन्तालैस्तिनिशैर्नीपैर्वेतसैः कृतमालकैः ॥ १८ ॥
तीरजैः शोभिता भाति नानारूपैस्ततस्ततः।
वसनाभरणोपेता प्रमदेवाभ्यलंकृता ॥ १९ ॥

'जलबेंत, तिमिद, वकुल, केतक, हिन्ताल, तिनिश, नीप, स्थलबेंत, कृतमाल (अमिलतास) आदि भाँति-भाँतिके तटवर्ती वृक्षोंसे जहाँ-तहाँ सुशोभित हुई यह नदी वस्त्राभूषणोंसे विभूषित शृङ्गारसज्जित युवती स्त्रीके समान जान पड़ती है ॥ १८-१९ ॥

शतशः पक्षिसङ्घैश्च नानानादविनादिता।
एकैकमनुरक्तैश्च चक्रवाकैरलंकृता ॥ २० ॥

'सैकड़ों पक्षिसमूहोंसे संयुक्त हुई यह नदी उनके नाना प्रकारके कलरवोंसे गूँजती रहती है। परस्पर अनुरक्त हुए चक्रवाक इस सरिताकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ २० ॥

पुलिनैरतिरम्यैश्च हंससारससेविता।
प्रहसन्त्येव भात्येषा नानारत्नसमन्विता ॥ २१ ॥

'अत्यन्त रमणीय तटोंसे अलंकृत, नाना प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न तथा हंस और सारसोंसे सेवित यह नदी अपनी हास्यच्छटा बिखेरती हुई-सी जान पड़ती है ॥ २१ ॥

क्वचिन्नीलोत्पलैश्छन्ना भाति रक्तोत्पलैः क्वचित्।
क्वचिदाभाति शुक्लैश्च दिव्यैः कुमुदकुड्मलैः ॥ २२ ॥

'कहीं तो यह नील कमलोंसे ढकी हुई है, कहीं लाल कमलोंसे सुशोभित होती है और कहीं श्वेत एवं दिव्य कुमुद-कलिकाओंसे शोभा पाती है ॥ २२ ॥

पारिप्लवशतैर्जुष्टा बर्हिक्रौञ्चविनादिता।
रमणीया नदी सौम्य मुनिसङ्घनिषेविता ॥ २३ ॥

'सैकड़ों जल-पक्षियोंसे सेवित तथा मोर एवं क्रौञ्चके कलरवोंसे मुखरित हुई यह सौम्य नदी बड़ी रमणीय प्रतीत

* ईशानकोणकी ओर नीची तथा नैर्ऋत्यकोणकी ओरसे ऊँची होनेसे उसका द्वार नैर्ऋत्यकोणकी ओर था—यह प्रतीत होता है, इससे उसमें पूर्वी हवा और उधरसे आनेवाली वर्षाका प्रवेश नहीं था।

होती है । मुनियोंके समुदाय इसके जलका सेवन करते हैं ॥ २३ ॥

पश्य चन्दनवृक्षाणां पङ्क्तीः सुरुचिरा इव ।
ककुभानां च दृश्यन्ते मनसैवोदिताः समम् ॥ २४ ॥

'वह देखो, अर्जुन और चन्दन वृक्षोंकी पंक्तियाँ कितनी सुन्दर दिखायी देती हैं । मालूम होता है ये मनके संकल्पके साथ ही प्रकट हो गयी हैं ॥ २४ ॥

अहो सुरमणीयोऽयं देशः शत्रुनिषूदन ।
दृढं रंस्याव सौमित्रे साध्वत्र निवसावहे ॥ २५ ॥

'शत्रुसूदन सुमित्राकुमार ! यह स्थान अत्यन्त रमणीय और अद्भुत है । यहाँ हमलोगोंका मन खूब लगेगा । अतः यहीं रहना ठीक होगा ॥ २५ ॥

इतश्च नातिदूरे सा किष्किन्धा चित्रकानना ।
सुग्रीवस्य पुरी रम्या भविष्यति नृपात्मज ॥ २६ ॥

'राजकुमार ! विचित्र काननोंसे सुशोभित सुग्रीवकी रमणीय किष्किन्धापुरी भी यहाँसे अधिक दूर नहीं होगी ॥ २६ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषः श्रूयते जयतां वर ।
नदतां वानराणां च मृदङ्गाडम्बरैः सह ॥ २७ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मण ! मृदङ्गकी मधुर ध्वनिके साथ गर्जते हुए वानरोंके गीत और वाद्यका गम्भीर घोष यहाँसे सुनायी देता है ॥ २७ ॥

लब्ध्वा भार्यां कपिवरः प्राप्य राज्यं सुहृद्वृतः ।
ध्रुवं नन्दति सुग्रीवः सम्प्राप्य महतीं श्रियम् ॥ २८ ॥

'निश्चय ही कपिश्रेष्ठ सुग्रीव अपनी पत्नीको पाकर, राज्यको हस्तगत करके और बड़ी भारी लक्ष्मीपर अधिकार प्राप्त करके सुहृदोंके साथ आनन्दोत्सव मना रहे हैं' ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वा न्यवसत् तत्र राघवः सहलक्ष्मणः ।
बहुदृश्यदरीकुञ्जे तस्मिन् प्रस्रवणे गिरौ ॥ २९ ॥

ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ उस प्रस्रवण पर्वतपर, जहाँ बहुत-सी कन्दराओं और कुञ्जोंके दर्शन होते थे, निवास करने लगे ॥ २९ ॥

सुसुखे हि बहुद्रव्ये तस्मिन् हि धरणीधरे ।
वसतस्तस्य रामस्य रतिरल्पापि नाभवत् ॥ ३० ॥
हृतां हि भार्यां स्मरतः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ।

यद्यपि उस पर्वतपर परम सुख प्रदान करनेवाले बहुत-से फल-फूल आदि आवश्यक पदार्थ थे, तथापि राक्षसद्वारा हरी गयी प्राणोंसे भी बढ़कर आदरणीय सीताका स्मरण करते हुए भगवान् श्रीरामको वहाँ तनिक भी सुख नहीं मिलता था ॥ ३०½ ॥

उदयाभ्युदितं दृष्ट्वा शशाङ्कं च विशेषतः ॥ ३१ ॥
आविवेश न तं निद्रा निशासु शयनं गतम् ।

विशेषतः उदयाचलपर उदित हुए चन्द्रदेवका दर्शन करके रातमें शय्यापर लेट जानेपर भी उन्हें नींद नहीं आती थी ॥ ३१½ ॥

तत्समुत्थेन शोकेन बाष्पोपहतचेतनम् ॥ ३२ ॥
तं शोचमानं काकुत्स्थं नित्यं शोकपरायणम् ।
तुल्यदुःखोऽब्रवीद् भ्राता लक्ष्मणोऽनुनयं वचः॥ ३३ ॥

सीताके वियोगजनित शोकसे आँसू बहाते हुए वे अचेत हो जाते थे । श्रीरामको निरन्तर शोकमग्न रहकर चिन्ता करते देख उनके दुःखमें समानरूपसे भाग लेनेवाले भाई लक्ष्मणने उनसे विनयपूर्वक कहा—॥ ३२-३३ ॥

अलं वीर व्यथां गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि ।
शोचतो ह्यवसीदन्ति सर्वार्था विदितं हि ते ॥ ३४ ॥

'वीर ! इस प्रकार व्यथित होनेसे कोई लाभ नहीं है । अतः आपको शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि शोक करनेवाले पुरुषके सभी मनोरथ नष्ट हो जाते हैं, यह बात आपसे छिपी नहीं है ॥ ३४ ॥

भवान् क्रियापरो लोके भवान् देवपरायणः ।
आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघव ॥ ३५ ॥

'रघुनन्दन ! आप जगत्में कर्मठ-वीर तथा देवताओंका समादर करनेवाले हैं । आस्तिक, धर्मात्मा और उद्योगी हैं ॥ ३५ ॥

न ह्यव्यवसितः शत्रुं राक्षसं तं विशेषतः ।
समर्थस्त्वं रणे हन्तुं विक्रमे जिह्मकारिणम् ॥ ३६ ॥

'यदि आप शोकवश उद्यम छोड़ बैठते हैं तो पराक्रमके स्थानस्वरूप समराङ्गणमें कुटिल कर्म करनेवाले उस शत्रुका, जो विशेषतः राक्षस है, वध करनेमें समर्थ न हो सकेंगे ॥ ३६ ॥

समुन्मूलय शोकं त्वं व्यवसायं स्थिरीकुरु ।
ततः सपरिवारं तं राक्षसं हन्तुमर्हसि ॥ ३७ ॥

'अतः आप अपने शोकको जड़से उखाड़ फेंकिये और उद्योगके विचारको सुस्थिर कीजिये । तभी आप परिवारसहित उस राक्षसका विनाश कर सकते हैं ॥ ३७ ॥

पृथिवीमपि काकुत्स्थ ससागरवनाचलाम् ।
परिवर्तयितुं शक्तः किं पुनस्तं हि रावणम् ॥ ३८ ॥

'काकुत्स्थ ! आप तो समुद्र, वन और पर्वतोंसहित समूची पृथ्वीको भी उलट सकते हैं; फिर उस रावणका संहार करना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ ३८ ॥

शरत्कालं प्रतीक्षस्व प्रावृट्कालोऽयमागतः ।
ततः सराष्ट्रं सगणं रावणं तं वधिष्यसि ॥ ३९ ॥

'यह वर्षाकाल आ गया है । अब शरद्-ऋतुकी प्रतीक्षा कीजिये । फिर राज्य और सेनासहित रावणका वध कीजियेगा ॥ ३९ ॥

अहं तु खलु ते वीर्यं प्रसुप्तं प्रतिबोधये।
दीप्तैराहुतिभिः काले भस्मच्छन्नमिवानलम्॥ ४०॥

'जैसे राखमें छिपी हुई आगको हवनकालमें आहुतियों-द्वारा प्रज्वलित किया जाता है, उसी प्रकार मैं आपके सोये हुए पराक्रमको जगा रहा हूँ—भूले हुए बल-विक्रमकी याद दिला रहा हूँ'॥ ४०॥

लक्ष्मणस्य हि तद् वाक्यं प्रतिपूज्य हितं शुभम्।
राघवः सुहृदं स्निग्धमिदं वचनमब्रवीत्॥ ४१॥

लक्ष्मणके इस शुभ एवं हितकर वचनकी सराहना करके श्रीरघुनाथजीने अपने स्नेही सुहृत् सुमित्राकुमारसे इस प्रकार कहा—॥ ४१॥

वाच्यं यदनुरक्तेन स्निग्धेन च हितेन च।
सत्यविक्रमयुक्तेन तदुक्तं लक्ष्मण त्वया॥ ४२॥

'लक्ष्मण! अनुरागी, स्नेही हितैषी और सत्यपराक्रमी वीरको जैसी बात कहनी चाहिये, वैसी ही तुमने कही है॥ ४२॥

एष शोकः परित्यक्तः सर्वकार्यावसादकः।
विक्रमेष्वप्रतिहतं तेजः प्रोत्साहयाम्यहम्॥ ४३॥

'लो, सब तरहके काम बिगाड़नेवाले शोकको मैंने त्याग दिया। अब मैं पराक्रमविषयक दुर्धर्ष तेजको प्रोत्साहित करता हूँ (बढ़ाता हूँ)॥ ४३॥

शरत्कालं प्रतीक्षिष्ये स्थितोऽस्मि वचने तव।
सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमनुपालयन्॥ ४४॥

'तुम्हारी बात मान लेता हूँ। सुग्रीवके प्रसन्न होकर सहायता करने और नदियोंके जलके स्वच्छ होनेकी बाट देखता हुआ मैं शरत्-कालकी प्रतीक्षा करूँगा॥ ४४॥

उपकारेण वीरस्तु प्रतिकारेण युज्यते।
अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः॥ ४५॥

'जो वीर पुरुष किसीके उपकारसे उपकृत होता है, वह प्रत्युपकार करके उसका बदला अवश्य चुकाता है, किंतु यदि कोई उपकारको न मानकर या भुलाकर प्रत्युपकारसे मुँह मोड़ लेता है, वह शक्तिशाली श्रेष्ठ पुरुषोंके मनको ठेस पहुँचाता है॥ ४५॥

तदेव युक्तं प्रणिधाय लक्ष्मणः
कृताञ्जलिस्तत् प्रतिपूज्य भाषितम्।
उवाच रामं स्वभिरामदर्शनं
प्रदर्शयन् दर्शनमात्मनः शुभम्॥ ४६॥

'श्रीरामजीके उस कथनको ही युक्तियुक्त मानकर लक्ष्मण-ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और दोनों हाथ जोड़कर अपनी शुभ दृष्टिका परिचय देते हुए वे नयनाभिराम श्रीरामसे इस प्रकार बोले—॥ ४६॥

यथोक्तमेतत् तव सर्वमीप्सितं
नरेन्द्र कर्ता नचिरात् तु वानरः।
शरत्प्रतीक्षः क्षमतामिमं भवान्
जलप्रपातं रिपुनिग्रहे धृतः॥ ४७॥

'नरेश्वर! जैसा कि आपने कहा है, वानरराज सुग्रीव शीघ्र ही आपका यह सारा मनोरथ सिद्ध करेंगे। अतः आप शत्रुके संहार करनेका दृढ़ निश्चय लिये शरत्कालकी प्रतीक्षा कीजिये और इस वर्षाकालके विलम्बको सहन कीजिये॥ ४७॥

नियम्य कोपं परिपाल्यतां शरत्
क्षमस्व मासांश्चतुरो मया सह।
वसाचलेऽस्मिन् मृगराजसेविते
संवर्तयञ्शत्रुवधे समर्थः॥ ४८॥

'क्रोधको काबूमें रखकर शरत्कालकी राह देखिये। बरसातके चार महीनोंतक जो भी कष्ट हो, उसे सहन कीजिये तथा शत्रुवधमें समर्थ होनेपर भी इस वर्षाकालको व्यतीत करते हुए मेरे साथ इस सिंहसेवित पर्वतपर निवास कीजिये'॥ ४८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तविंशः सर्गः॥ २७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २७॥



अष्टाविंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा वर्षा-ऋतुका वर्णन

स तदा वालिनं हत्वा सुग्रीवमभिषिच्य च।
वसन् माल्यवतः पृष्ठे रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ १॥

इस प्रकार वालीका वध और सुग्रीवका राज्याभिषेक करनेके अनन्तर माल्यवान् पर्वतके पृष्ठभागमें निवास करते हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहने लगे—॥ १॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोऽद्य जलागमः।
सम्पश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसंनिभैः॥ २॥

'सुमित्रानन्दन! अब यह जलकी प्राप्ति करानेवाला वह प्रसिद्ध वर्षाकाल आ गया। देखो, पर्वतके समान प्रतीत होनेवाले मेघोंसे आकाशमण्डल आच्छन्न हो गया है॥ २॥

नवमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः।
पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्॥ ३॥

'यह आकाशरूपिणी तरुणी सूर्यकी किरणोंद्वारा समुद्रों-का रस पीकर कार्तिक आदि नौ मासोंतक धारण किये हुए

गर्भके रूपमें जलरूपी रसायनको जन्म दे रही है ॥ ३ ॥

शक्यमम्बरमारुह्य मेघसोपानपंक्तिभिः ।
कुटजार्जुनमालाभिरलंकर्तुं दिवाकरः ॥ ४ ॥

'इस समय मेघरूपी सोपानपंक्तियों (सीढ़ियों) द्वारा आकाशमें चढ़कर गिरिमल्लिका और अर्जुनपुष्पकी मालाओंसे सूर्यदेवको अलंकृत करना सरल-सा हो गया है ॥ ४ ॥

संध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वपि च पाण्डुभिः ।
स्निग्धैरभ्रपटच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम् ॥ ५ ॥

'संध्याकालकी लाली प्रकट होनेसे बीचमें लाल तथा किनारेके भागोंमें श्वेत एवं स्निग्ध प्रतीत होनेवाले मेघखण्डोंसे आच्छादित हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता है, मानो उसने अपने घावमें रक्तरञ्जित सफेद कपड़ोंकी पट्टी बाँध रक्खी हो ॥ ५ ॥

मन्दमारुतनिःश्वासं संध्याचन्दनरञ्जितम् ।
आपाण्डुजलदं भाति कामातुरमिवाम्बरम् ॥ ६ ॥

'मन्द-मन्द हवा निःश्वास-सी प्रतीत होती है, संध्याकालकी लाली लाल चन्दन बनकर ललाट आदि अङ्गोंको अनुरञ्जित कर रही है तथा मेघरूपी कपोल कुछ-कुछ पाण्डुवर्णका प्रतीत होता है । इस तरह यह आकाश कामातुर पुरुषके समान जान पड़ता है ॥ ६ ॥

एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता ।
सीतेव शोकसंतप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति ॥ ७ ॥

'जो ग्रीष्म-ऋतुमें घामसे तप गयी थी, वह पृथ्वी वर्षाकालमें नूतन जलसे भीगकर (सूर्य-किरणोंसे तपी और आँसुओंसे भीगी हुई) शोकसंतप्त सीताकी भाँति बाष्पविमोचन (उष्णताका त्याग अथवा अश्रुपात) कर रही है ॥ ७ ॥

मेघोदरविनिर्मुक्ताः कर्पूरदलशीतलाः ।
शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकगन्धिनः ॥ ८ ॥

'मेघके उदरसे निकली, कपूरकी डलीके समान ठंडी तथा केवड़ेकी सुगन्धसे भरी हुई इस बरसाती वायुको मानो अञ्जलियोंमें भरकर पीया जा सकता है ॥ ८ ॥

एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरभिवासितः ।
सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते ॥ ९ ॥

'यह पर्वत जिसपर अर्जुनके वृक्ष खिले हुए हैं तथा जो केवड़ोंसे सुवासित हो रहा है, शान्त हुए शत्रुवाले सुग्रीवकी भाँति जलकी धाराओंसे अभिषिक्त हो रहा है ॥ ९ ॥

मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः ।
मारुतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः ॥ १० ॥

'मेघरूपी काले मृगचर्म तथा वर्षाकी धारारूप यज्ञोपवीत धारण किये वायुसे पूरित गुफा (या हृदय) वाले ये पर्वत ब्रह्मचारियोंकी भाँति मानो वेदाध्ययन आरम्भ कर रहे हैं ॥ १० ॥

कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरभिताडितम् ।
अन्तःस्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम् ॥ ११ ॥

'ये बिजलियाँ सोनेके बने हुए कोड़ोंके समान जान पड़ती हैं । इनकी मार खाकर मानो व्यथित हुआ आकाश अपने भीतर व्यक्त हुई मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके रूपमें आर्तनाद-सा कर रहा है ॥ ११ ॥

नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति मे ।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी ॥ १२ ॥

'नील मेघका आश्रय लेकर प्रकाशित होती हुई यह विद्युत् मुझे रावणके अङ्कमें छटपटाती हुई तपस्विनी सीताके समान प्रतीत होती है ॥ १२ ॥

इमास्ता मन्मथवतां हिताः प्रतिहता दिशः ।
अनुलिप्ता इव घनैर्नष्टग्रहनिशाकराः ॥ १३ ॥

'बादलोंका लेप लग जानेसे जिनमें ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा अदृश्य हो गये हैं, अतएव जो नष्ट-सी हो गयी हैं—जिनके पूर्व, पश्चिम आदि भेदोंका विवेक लुप्त-सा हो गया है, वे दिशाएँ, उन कामियोंको, जिन्हें प्रेयसीका संयोगसुख सुलभ है, हितकर प्रतीत होती हैं ॥ १३ ॥

क्वचिद् बाष्पाभिसंरुद्धान् वर्षागमसमुत्सुकान् ।
कुटजान् पश्य सौमित्रे पुष्पितान् गिरिसानुषु ।
मम शोकाभिभूतस्य कामसंदीपनान् स्थितान् ॥ १४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! देखो, इस पर्वतके शिखरोंपर खिले हुए कुटज कैसी शोभा पाते हैं ! कहीं तो पहली बार वर्षा होनेपर भूमिसे निकले हुए भापसे ये व्याप्त हो रहे हैं और कहीं वर्षाके आगमनसे अत्यन्त उत्सुक (हर्षोत्फुल्ल) दिखायी देते हैं । मैं तो प्रिया-विरहके शोकसे पीड़ित हूँ और ये कुटज-पुष्प मेरी प्रेमाग्निको उद्दीप्त कर रहे हैं ॥ १४ ॥

रजः प्रशान्तं सहिमोऽद्य वायु-
र्निदाघदोषप्रसराः प्रशान्ताः ।
स्थिता हि यात्रा वसुधाधिपानां
प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान् ॥ १५ ॥

'धरतीकी धूल शान्त हो गयी । अब वायुमें शीतलता आ गयी । गर्मीके दोषोंका प्रसार बंद हो गया । भूपालोंकी युद्ध-यात्रा रुक गयी और परदेशी मनुष्य अपने-अपने देशको लौट रहे हैं ॥ १५ ॥

सम्प्रस्थिता मानसवासलुब्धाः
प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः ।

१. 'शक्यो ह्यम्बरमासाद्य' इति पाठो युक्तः । २. 'शक्या अञ्जलिभिः' इति स्वच्छः पाठः ।

अभीक्ष्णवर्षोदकविक्षतेषु
यानानि मार्गेषु न सम्पतन्ति ॥ १६ ॥

'मानसरोवरमें निवासके लोभी हंस वहाँके लिये प्रस्थित हो गये। इस समय चकवे अपनी प्रियाओंसे मिल रहे हैं। निरन्तर होनेवाली वर्षाके जलसे मार्ग टूट-फूट गये हैं, इसलिये उनपर रथ आदि नहीं चल रहे हैं ॥ १६ ॥

क्वचित् प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति ।
क्वचित्क्वचित् पर्वतसंनिरुद्धं
रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य ॥ १७ ॥

'आकाशमें सब ओर बादल छिटके हुए हैं। कहीं तो उन बादलोंसे ढक जानेके कारण आकाश दिखायी नहीं देता है और कहीं उनके फट जानेपर वह स्पष्ट दिखायी देने लगता है। ठीक उसी तरह, जैसे जिसकी तरङ्गमालाएँ शान्त हो गयी हों, उस महासागरका रूप कहीं तो पर्वतमालाओंसे छिप जानेके कारण नहीं दिखायी देता है और कहीं पर्वतोंका आवरण न होनेसे दिखायी देता है ॥ १७ ॥

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पै-
र्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम् ।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥ १८ ॥

'इस समय पहाड़ी नदियाँ वर्षाके नूतन जलको बड़े वेगसे बहा रही हैं। वह जल सर्ज और कदम्बके फूलोंसे मिश्रित है, पर्वतके गेरु आदि धातुओंसे लाल रंगका हो गया है तथा मयूरोंकी केकाध्वनि उस जलके कलकलनादका अनुसरण कर रही है ॥ १८ ॥

रसाकुलं षट्पदसंनिकाशं
प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम् ।
अनेकवर्णं पवनावधूतं
भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम् ॥ १९ ॥

'काले-काले भौंरोंके समान प्रतीत होनेवाले जामुनके सरस फल आजकल लोग जी भरकर खाते हैं और हवाके वेगसे हिले हुए आमके पके हुए बहुरंगी फल पृथ्वीपर गिरते रहते हैं ॥ १९ ॥

विद्युत्पताकाः सबलाकमालाः
शैलेन्द्रकूटाकृतिसंनिकाशाः ।
गर्जन्ति मेघाः समुदीर्णनादा
मत्ता गजेन्द्रा इव संयुगस्थाः ॥ २० ॥

'जैसे युद्धस्थलमें खड़े हुए मतवाले गजराज उच्चस्वरसे चिग्घाड़ते हैं, उसी प्रकार गिरिराजके शिखरोंकी-सी आकृतिवाले मेघ जोर-जोरसे गर्जना कर रहे हैं। चमकती हुई बिजलियाँ इन मेघरूपी गजराजोंपर पताकाओंके समान फहरा रही हैं और बगुलोंकी पंक्तियाँ मालाके समान शोभा देती हैं ॥ २० ॥

वर्षोदकाप्यायितशाद्वलानि
प्रवृत्तनृत्तोत्सवबर्हिणानि ।
वनानि निर्वृष्टबलाहकानि
पश्यापराह्णेष्वधिकं विभान्ति ॥ २१ ॥

'देखो, अपराह्णकालमें इन वनोंकी शोभा अधिक बढ़ जाती है। वर्षाके जलसे इनमें हरी-हरी घासें बढ़ गयी हैं। झुंड-के-झुंड मोरोंने अपना नृत्योत्सव आरम्भ कर दिया है और मेघोंने इनमें निरन्तर जल बरसाया है ॥ २१ ॥

समुद्वहन्तः सलिलातिभारं
बलाकिनो वारिधरा नदन्तः ।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां
विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति ॥ २२ ॥

'बक-पंक्तियोंसे सुशोभित ये जलधर मेघ जलका अधिक भार ढोते और गर्जते हुए बड़े-बड़े पर्वतशिखरोंपर मानो विश्राम ले-लेकर आगे बढ़ते हैं ॥ २२ ॥

मेघाभिकामा परिसम्पतन्ती
सम्मोदिता भाति बलाकपंक्तिः ।
वातावधूता वरपौण्डरीकी
लम्बेव माला रुचिराम्बरस्य ॥ २३ ॥

'गर्भ-धारणके लिये मेघोंकी कामना रखकर आकाशमें उड़ती हुई आनन्दमग्न बलाकाओंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती है, मानो आकाशके गलेमें हवासे हिलती हुई श्वेत कमलोंकी सुन्दर माला लटक रही हो ॥ २३ ॥

बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन
विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन ।
गात्रानुपृक्तेन शुकप्रभेण
नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन ॥ २४ ॥

'छोटे-छोटे इन्द्रगोप (बीरबहूटी) नामक कीड़ोंसे बीच-बीचमें चित्रित हुई नूतन घाससे आच्छादित भूमि उस नारीके समान शोभा पाती है, जिसने अपने अङ्गोंपर तोतेके समान रंगवाला एक ऐसा कम्बल ओढ़ रखा हो, जिसको बीच-बीचमें महावरके रंगसे रँगकर विचित्र शोभासे सम्पन्न कर दिया गया हो ॥ २४ ॥

निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति
द्रुतं नदी सागरमभ्युपैति ।
हृष्टा बलाका घनमभ्युपैति
कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति ॥ २५ ॥

चौमासेके इस आरम्भकालमें निद्रा धीरे-धीरे भगवान् केशवके समीप जा रही है। नदी तीव्र वेगसे समुद्रके निकट पहुँच रही है। हर्षभरी बलाका उड़कर मेघकी ओर जा रही है और प्रियतमा सकामभावसे अपने प्रियतमकी सेवामें उपस्थित हो रही है ॥ २५ ॥

जाता वनान्ताः शिखिसुप्रनृत्ता
जाताः कदम्बाः सकदम्बशाखाः।
जाता वृषा गोषु समानकामा
जाता मही सस्यवनाभिरामा ॥ २६ ॥

'वनप्रान्त मोरोंके सुन्दर नृत्यसे सुशोभित हो गये हैं। कदम्बवृक्ष फूलों और शाखाओंसे सम्पन्न हो गये हैं। साँड़ गौओंके प्रति उन्हींके समान कामभावसे आसक्त हैं और पृथ्वी हरी-हरी खेती तथा हरे-भरे वनोंसे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होने लगी है ॥ २६ ॥

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवंगमाः ॥ २७ ॥

'नदियाँ बह रही हैं, बादल पानी बरसा रहे हैं, मतवाले हाथी चिग्घाड़ रहे हैं, वनप्रान्त शोभा पा रहे हैं, प्रियतमाके संयोगसे वञ्चित हुए वियोगी प्राणी चिन्तामग्न हो रहे हैं, मोर नाच रहे हैं और वानर निश्चिन्त एवं सुखी हो रहे हैं ॥ २७ ॥

प्रहर्षिताः केतकिपुष्पगन्ध-
माघ्राय मत्ता वननिर्झरेषु।
प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः
सार्धं मयूरैः समदा नदन्ति ॥ २८ ॥

'वनके झरनोंके समीप क्रीडासे उल्लसित हुए मदवर्षी गजराज केवड़ेके फूलकी सुगन्धको सूँघकर मतवाले हो उठे हैं और झरनेके जलके गिरनेसे जो शब्द होता है, उससे आकुल हो ये मोरोंके बोलनेके साथ-साथ स्वयं भी गर्जना करते हैं ॥ २८ ॥

धारानिपातैरभिहन्यमानाः
कदम्बशाखासु विलम्बमानाः।
क्षणार्जितं पुष्परसावगाढं
शनैर्मदं षट्चरणास्त्यजन्ति ॥ २९ ॥

'जलकी धारा गिरनेसे आहत होते और कदम्बकी डालियों-पर लटकते हुए भ्रमर तत्काल ग्रहण किये पुष्परससे उत्पन्न गाढ़ मदको धीरे-धीरे त्याग रहे हैं ॥ २९ ॥

अङ्गारचूर्णोत्करसंनिकाशैः
फलैः सुपर्याप्तरसैः समृद्धैः।
जम्बूद्रुमाणां प्रविभान्ति शाखा
निपीयमाना इव षट्पदौघैः ॥ ३० ॥

'कोयलोंकी चूर्णराशिके समान काले और प्रचुर रससे भरे हुए बड़े-बड़े फलोंसे लदी हुई जामुन-वृक्षकी शाखाएँ ऐसी जान पड़ती हैं, मानो भ्रमरोंके समुदाय उनमें सटकर उनके रस पी रहे हैं ॥ ३० ॥

तडित्पताकाभिरलंकृताना-
मुदीर्णगम्भीरमहारवाणाम्।
विभान्ति रूपाणि बलाहकानां
रणोत्सुकानामिव वारणानाम् ॥ ३१ ॥

'विद्युत्-रूपी पताकाओंसे अलंकृत एवं जोर-जोरसे गम्भीर गर्जना करनेवाले इन बादलोंके रूप युद्धके लिये उत्सुक हुए गजराजोंके समान प्रतीत होते हैं ॥ ३१ ॥

मार्गानुगः शैलवनानुसारी
सम्प्रस्थितो मेघरवं निशम्य।
युद्धाभिकामः प्रतिनागशङ्की
मत्तो गजेन्द्रः प्रतिसंनिवृत्तः ॥ ३२ ॥

'पर्वतीय वनोंमें विचरण करनेवाला तथा अपने प्रति-द्वन्द्वीके साथ युद्धकी इच्छा रखनेवाला मदमत्त गजराज, जो अपने मार्गका अनुसरण करके आगे बढ़ा जा रहा था, पीछे-से मेघकी गर्जना सुनकर प्रतिपक्षी हाथीके गर्जनेकी आशङ्का करके सहसा पीछेको लौट पड़ा ॥ ३२ ॥

क्वचित् प्रगीता इव षट्पदौघैः
क्वचित् प्रनृत्ता इव नीलकण्ठैः।
क्वचित् प्रमत्ता इव वारणेन्द्रै-
र्विभान्त्यनेकाश्रयिणो वनान्ताः ॥ ३३ ॥

'कहीं भ्रमरोंके समूह गीत गा रहे हैं, कहीं मोर नाच रहे हैं और कहीं गजराज मदमत्त होकर विचर रहे हैं। इस प्रकार ये वनप्रान्त अनेक भावोंके आश्रय बनकर शोभा पा रहे हैं ॥ ३३ ॥

कदम्बसर्जार्जुनकन्दलाढ्या
वनान्तभूमिर्मधुवारिपूर्णा।
मयूरमत्ताभिरुतप्रनृत्तै-
रापानभूमिप्रतिमा विभाति ॥ ३४ ॥

'कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और स्थल-कमलसे सम्पन्न वनके भीतरकी भूमि मधु-जलसे परिपूर्ण हो मोरोंके मदयुक्त कलरवों और नृत्योंसे उपलक्षित होकर आपानभूमि (मधुशाला) के समान प्रतीत होती है ॥ ३४ ॥

मुक्तासकाशं सलिलं पतद् वै
सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम्।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबन्ति ॥ ३५ ॥

'आकाशसे गिरता हुआ मोतीके समान स्वच्छ एवं निर्मल जल पत्तोंके दोनोंमें संचित हुआ देख प्यासे पक्षी पपीहे हर्षसे भरकर देवराज इन्द्रके दिये हुए उस जलको पीते हैं। वर्षासे भीग जानेके कारण उनकी पाँखें विविध रंगकी दिखायी देती हैं ॥ ३५ ॥

षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं
प्लवंगमोदीरितकण्ठतालम्।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादै-
र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम् ॥ ३६ ॥

'भ्रमररूप वीणाकी मधुर झंकार हो रही है। मेढकोंकी आवाज कण्ठताल-सी जान पड़ती है। मेघोंकी गर्जनाके रूपमें मृदङ्ग बज रहे हैं। इस प्रकार वनोंमें संगीतोत्सवका आरम्भ-सा हो रहा है ॥ ३६ ॥

क्वचित् प्रनृत्तैः क्वचिदुन्नदद्भिः
क्वचिच्च वृक्षाग्रनिषण्णकायैः।
व्यालम्बबर्हाभरणैर्मयूरै-
र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम् ॥ ३७ ॥

विशाल पंखरूपी आभूषणोंसे विभूषित मोर वनोंमें कहीं नाच रहे हैं, कहीं जोर-जोरसे मीठी बोली बोल रहे हैं और कहीं वृक्षोंकी शाखाओंपर अपने सारे शरीरका बोझ डालकर बैठे हुए हैं। इस प्रकार उन्होंने संगीत (नाच-गान) का आयोजन-सा कर रक्खा है ॥ ३७ ॥

स्वनैर्घनानां प्लवगाः प्रबुद्धा
विहाय निद्रां चिरसंनिरुद्धाम्।
अनेकरूपाकृतिवर्णनादा
नवाम्बुधाराभिहता नदन्ति ॥ ३८ ॥

'मेघोंकी गर्जना सुनकर चिरकालसे रोकी हुई निद्राको त्यागकर जागे हुए अनेक प्रकारके रूप, आकार, वर्ण और बोलीवाले मेढक नूतन जलकी धारासे अभिहत होकर जोर-जोरसे बोल रहे हैं ॥ ३८ ॥

नद्यः समुद्वाहितचक्रवाका-
स्तटानि शीर्णान्यपवाहयित्वा।
दृप्ता नवप्रावृतपूर्णभोगा-
द्रुतं स्वभर्तारमुपोपयान्ति ॥ ३९ ॥

(कामातुर युवतियोंकी भाँति) दर्पभरी नदियाँ अपने वक्षपर (उरोजोंके स्थानमें) चक्रवाकोंको वहन करती हैं और मर्यादामें रखनेवाले जीर्ण-शीर्ण कूलकगारोंको तोड़-फोड़ एवं दूर बहाकर नूतन पुष्प आदिके उपहारसे पूर्णभोगके लिये सादर स्वीकृत अपने स्वामी समुद्रके समीप वेगपूर्वक चली जा रही हैं ॥ ३९ ॥

नीलेषु नीला नववारिपूर्णा
मेघेषु मेघाः प्रतिभान्ति सक्ताः।
दवाग्निदग्धेषु दवाग्निदग्धाः
शैलेषु शैला इव बद्धमूलाः ॥ ४० ॥

'नीले मेघोंमें सटे हुए नूतन जलसे परिपूर्ण नील मेघ ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो दावानलसे जले हुए पर्वतोंमें दावानलसे दग्ध हुए दूसरे पर्वत बद्धमूल होकर सट गये हों ॥ ४० ॥

प्रमत्तसंनादितबर्हिणानि
सशक्रगोपाकुलशाद्वलानि।
चरन्ति नीपार्जुनवासितानि
गजाः सुरम्याणि वनान्तराणि ॥ ४१ ॥

'जहाँ मतवाले मोर कलनाद कर रहे हैं, जहाँकी हरी-हरी घासें वीरबहूटियोंके समुदायसे व्याप्त हो रही हैं तथा जो नीप और अर्जुन वृक्षोंके फूलोंकी सुगन्धसे सुवासित हैं, उन परम रमणीय वनप्रान्तोंमें बहुत-से हाथी विचरा करते हैं ॥ ४१ ॥

नवाम्बुधाराहतकेसराणि
द्रुतं परित्यज्य सरोरुहाणि।
कदम्बपुष्पाणि सकेसराणि
नवानि हृष्टा भ्रमराः पिबन्ति ॥ ४२ ॥

'भ्रमरोंके समुदाय नूतन जलकी धारासे नष्ट हुए केसरवाले कमल-पुष्पोंको तुरंत त्यागकर केसरशोभित नवीन कदम्ब-पुष्पोंका रस बड़े हर्षके साथ पी रहे हैं ॥ ४२ ॥

मत्ता गजेन्द्रा मुदिता गवेन्द्रा
वनेषु विक्रान्ततरा मृगेन्द्राः।
रम्या नगेन्द्रा निभृता नरेन्द्राः।
प्रक्रीडितो वारिधरैः सुरेन्द्रः ॥ ४३ ॥

'गजेन्द्र (हाथी) मतवाले हो रहे हैं, गवेन्द्र (वृषभ) आनन्दमें मग्न हैं, मृगेन्द्र (सिंह) वनोंमें अत्यन्त पराक्रम प्रकट करते हैं, नगेन्द्र (बड़े-बड़े पर्वत) रमणीय दिखायी देते हैं, नरेन्द्र (राजालोग) मौन हैं—युद्धविषयक उत्साह छोड़ बैठे हैं और सुरेन्द्र (इन्द्रदेव) जलधरोंके साथ क्रीडा कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

मेघाः समुद्भूतसमुद्रनादा
महाजलौघैर्गगनावलम्बाः।
नदीस्तटाकानि सरांसि वापी-
र्महीं च कृत्स्नामपवाहयन्ति ॥ ४४ ॥

'आकाशमें लटके हुए ये मेघ अपनी गर्जनासे समुद्रके कोलाहलको तिरस्कृत करके अपने जलके महान् प्रवाहसे नदी, तालाब, सरोवर, बावली तथा समूची पृथ्वीको आप्लावित कर रहे हैं ॥ ४४ ॥

वर्षप्रवेगा विपुलाः पतन्ति
प्रवान्ति वाताः समुदीर्णवेगाः।
प्रणष्टकूलाः प्रवहन्ति शीघ्रं
नद्यो जलं विप्रतिपन्नमार्गाः ॥ ४५ ॥

'बड़े वेगसे वर्षा हो रही है, जोरोंकी हवा चल रही है और नदियाँ अपने कगारोंको काटकर अत्यन्त तीव्र गतिसे जल बहा रही हैं। उन्होंने मार्ग रोक दिये हैं ॥ ४५ ॥

नरैर्नरेन्द्रा इव पर्वतेन्द्राः
सुरेन्द्रदत्तैः पवनोपनीतैः।
घनाम्बुकुम्भैरभिषिच्यमाना
रूपं श्रियं स्वामिव दर्शयन्ति ॥ ४६ ॥

'जैसे मनुष्य जलके कलशोंसे नरेशोंका अभिषेक करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रके दिये और वायुदेवके द्वारा लाये गये मेघरूपी जल-कलशोंसे जिनका अभिषेक हो रहा है, वे पर्वत-

राज अपने निर्मल रूप तथा शोभा-सम्पत्तिका दर्शन-सा करा रहे हैं ॥ ४६ ॥

घनोपगूढं गगनं न तारा
न भास्करो दर्शनमभ्युपैति ।
नवैर्जलौघैर्धरणी वितृप्ता
तमोविलिप्ता न दिशः प्रकाशाः ॥ ४७ ॥

'मेघोंकी घटासे समस्त आकाश आच्छादित हो गया है। न रातमें तारे दिखायी देते हैं, न दिनमें सूर्य। नूतन जलराशि पाकर पृथ्वी पूर्ण तृप्त हो गयी है। दिशाएँ अन्धकारसे आच्छन्न हो रही हैं, अतएव प्रकाशित नहीं होती हैं—उनका स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है ॥ ४७ ॥

महान्ति कूटानि महीधराणां
धाराविधौतान्यधिकं विभान्ति ।
महाप्रमाणैर्विपुलैः प्रपातै-
र्मुक्ताकलापैरिव लम्बमानैः ॥ ४८ ॥

'जलकी धाराओंसे धुले हुए पर्वतोंके विशाल शिखर मोतियोंके लटकते हुए हारोंकी भाँति एवं बहुसंख्यक झरनों-के कारण अधिक शोभा पाते हैं ॥ ४८ ॥

शैलोपलप्रस्खलमानवेगाः
शैलोत्तमानां विपुलाः प्रपाताः ।
गुहासु संनादितबर्हिणासु
हारा विकीर्यन्त इवावभान्ति ॥ ४९ ॥

'पर्वतीय प्रस्तरखण्डोंपर गिरनेसे जिनका वेग टूट गया है, वे श्रेष्ठ पर्वतोंके बहुतेरे झरने मयूरोंकी बोलीसे गूँजती हुई गुफाओंमें टूटकर बिखरते हुए मोतियोंके हारोंके समान प्रतीत होते हैं ॥ ४९ ॥

शीघ्रप्रवेगा विपुलाः प्रपाता
निर्धौतशृङ्गोपतला गिरीणाम् ।
मुक्ताकलापप्रतिमाः पतन्तो
महागुहोत्सङ्गतलैर्ध्रियन्ते ॥ ५० ॥

'जिनके वेग शीघ्रगामी हैं, जिनकी संख्या अधिक है, जिन्होंने पर्वतीय शिखरोंके निम्न प्रदेशोंको धोकर स्वच्छ बना दिया है तथा जो देखनेमें मुक्तामालाओंके समान प्रतीत होते हैं, पर्वतोंके उन झरते हुए झरनोंको बड़ी-बड़ी गुफाएँ अपनी गोदमें धारण कर लेती हैं ॥ ५० ॥

सुरतामर्दविच्छिन्नाः स्वर्गस्त्रीहारमौक्तिकाः ।
पतन्ति चातुला दिक्षु तोयधाराः समन्ततः ॥ ५१ ॥

'सुरत-क्रीडाके समय होनेवाले अङ्गोंके आमर्दनसे टूटे हुए देवाङ्गनाओंके मौक्तिक हारोंके समान प्रतीत होनेवाली जलकी अनुपम धाराएँ सम्पूर्ण दिशाओंमें सब ओर गिर रही हैं ॥ ५१ ॥

विलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजैः ।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः ॥ ५२ ॥

'पक्षी अपने घोंसलोंमें छिप रहे हैं, कमल संकुचित हो रहे हैं और मालती खिलने लगी है; इससे जान पड़ता है कि सूर्यदेव अस्त हो गये ॥ ५२ ॥

वृत्ता यात्रा नरेन्द्राणां सेना पथ्येव वर्तते ।
वैराणि चैव मार्गाश्च सलिलेन समीकृताः ॥ ५३ ॥

'राजाओंकी युद्ध-यात्रा रुक गयी। प्रस्थित हुई सेना भी रास्तेमें ही पड़ाव डाले पड़ी है। वर्षाके जलने राजाओंके वैर शान्त कर दिये हैं और मार्ग भी रोक दिये हैं। इस प्रकार वैर और मार्ग दोनोंकी एक-सी अवस्था कर दी है ॥

मासि प्रौष्ठपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम् ।
अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः ॥ ५४ ॥

'भादोंका महीना आ गया। यह वेदोंके स्वाध्यायकी इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणोंके लिये उपाकर्मका समय उपस्थित हुआ है। सामगान करनेवाले विद्वानोंके स्वाध्यायका भी यही समय है ॥ ५४ ॥

निवृत्तकर्मायतनो नूनं संचितसंचयः ।
आषाढीमभ्युपगतो भरतः कोसलाधिपः ॥ ५५ ॥

'कोसलदेशके राजा भरतने चार महीनेके लिये आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करके गत आषाढ़की पूर्णिमाको निश्चय ही किसी उत्तम व्रतकी दीक्षा ली होगी ॥ ५५ ॥

नूनमापूर्यमाणायाः सरय्वा वर्धते रयः ।
मां समीक्ष्य समायान्तमयोध्याया इव स्वनः ॥ ५६ ॥

'मुझे वनकी ओर आते देख जिस प्रकार अयोध्यापुरीके लोगोंका आर्तनाद बढ़ गया था, उसी प्रकार इस समय वर्षाके जलसे परिपूर्ण होती हुई सरयू नदीका वेग अवश्य ही बढ़ रहा होगा ॥ ५६ ॥

इमाः स्फीतगुणा वर्षाः सुग्रीवः सुखमश्नुते ।
विजितारिः सदारश्च राज्ये महति च स्थितः ॥ ५७ ॥

'यह वर्षा अनेक गुणोंसे सम्पन्न है। इस समय सुग्रीव अपने शत्रुको परास्त करके विशाल वानर-राज्यपर प्रतिष्ठित हैं और अपनी स्त्रीके साथ रहकर सुख भोग रहे हैं ॥ ५७ ॥

अहं तु हृतदारश्च राज्याच्च महतश्च्युतः ।
नदीकूलमिव क्लिन्नमवसीदामि लक्ष्मण ॥ ५८ ॥

'किंतु लक्ष्मण! मैं अपने महान् राज्यसे तो भ्रष्ट हो ही गया हूँ, मेरी स्त्री भी हर ली गयी है; इसलिये पानीसे गले हुए नदीके तटकी भाँति कष्ट पा रहा हूँ ॥ ५८ ॥

शोकश्च मम विस्तीर्णो वर्षाश्च भृशदुर्गमाः ।
रावणश्च महाञ्छत्रुरपारः प्रतिभाति मे ॥ ५९ ॥

'मेरा शोक बढ़ गया है। मेरे लिये वर्षाके दिनोंको बिताना अत्यन्त कठिन हो गया है और मेरा महान् शत्रु रावण भी मुझे अजेय-सा प्रतीत होता है ॥ ५९ ॥

अयात्रां चैव दृष्ट्वेमां मार्गांश्च भृशदुर्गमान्।
प्रणते चैव सुग्रीवे न मया किंचिदीरितम्॥ ६०॥

'एक तो यह यात्राका समय नहीं है, दूसरे मार्ग भी अत्यन्त दुर्गम है। इसलिये सुग्रीवके नतमस्तक होनेपर भी मैंने उनसे कुछ कहा नहीं है॥ ६०॥

अपि चापि परिक्लिष्टं चिराद् दारैः समागतम्।
आत्मकार्यगरीयस्त्वाद् वक्तुं नेच्छामि वानरम्॥ ६१॥

'वानर सुग्रीव बहुत दिनोंसे कष्ट भोगते थे और दीर्घ-कालके पश्चात् अब अपनी पत्नीसे मिले हैं। इधर मेरा कार्य बड़ा भारी है (थोड़े दिनोंमें सिद्ध होनेवाला नहीं है); इसलिये मैं इस समय उससे कुछ कहना नहीं चाहता हूँ॥

स्वयमेव हि विश्रम्य ज्ञात्वा कालमुपागतम्।
उपकारं च सुग्रीवो वेत्स्यते नात्र संशयः॥ ६२॥

'कुछ दिनोंतक विश्राम करके उपयुक्त समय आया हुआ जान वे स्वयं ही मेरे उपकारको समझेंगे; इसमें संशय नहीं है॥ ६२॥

तस्मात् कालप्रतीक्षोऽहं स्थितोऽस्मि शुभलक्षण।
सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमभिकाङ्क्षयन्॥ ६३॥

'अतः शुभलक्षण लक्ष्मण! मैं सुग्रीवकी प्रसन्नता और नदियोंके जलकी स्वच्छता चाहता हुआ शरत्कालकी प्रतीक्षामें चुपचाप बैठा हुआ हूँ॥ ६३॥

उपकारेण वीरो हि प्रतीकारेण युज्यते।
अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः॥ ६४॥

'जो वीर पुरुष किसीके उपकारसे उपकृत होता है, वह प्रत्युपकार करके उसका बदला अवश्य चुकाता है; किंतु यदि कोई उपकारको न मानकर या भुलाकर प्रत्युपकारसे मुँह मोड़ लेता है, वह शक्तिशाली श्रेष्ठ पुरुषोंके मनको ठेस पहुँचाता है'॥ ६४॥

अथैवमुक्तः प्रणिधाय लक्ष्मणः
कृताञ्जलिस्तत् प्रतिपूज्य भाषितम्।
उवाच रामं स्वभिरामदर्शनं
प्रदर्शयन् दर्शनमात्मनः शुभम्॥ ६५॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणने सोच-विचार-कर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और दोनों हाथ जोड़कर अपनी शुभ दृष्टिका परिचय देते हुए वे नयनाभिराम श्रीरामसे इस प्रकार बोले—॥ ६५॥

यदुक्तमेतत् तव सर्वमीप्सितं
नरेन्द्र कर्ता नचिराद्धरीश्वरः।
शरत्प्रतीक्षः क्षमतामिदं भवान्
जलप्रपातं रिपुनिग्रहे धृतः॥ ६६॥

'नरेश्वर! जैसा कि आपने कहा है, वानरराज सुग्रीव शीघ्र ही आपका यह सारा मनोरथ सिद्ध करेंगे। अतः आप शत्रुके संहार करनेका दृढ़ निश्चय लिये शरत्कालकी प्रतीक्षा कीजिये और इस वर्षाकालके विलम्बको सहन कीजिये'॥ ६६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः॥ २८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २८॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीके समझानेसे सुग्रीवका नीलको वानर-सैनिकोंको एकत्र करनेका आदेश देना

समीक्ष्य विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम्।
सारसाकुलसंघुष्टं रम्यज्योत्स्नानुलेपनम्॥ १॥
समृद्धार्थं च सुग्रीवं मन्दधर्मार्थसंग्रहम्।
अत्यर्थं चासतां मार्गमेकान्तगतमानसम्॥ २॥
निवृत्तकार्यं सिद्धार्थं प्रमदाभिरतं सदा।
प्राप्तवन्तमभिप्रेतान् सर्वानेव मनोरथान्॥ ३॥
स्वां च पत्नीमभिप्रेतां तारां चापि समीप्सिताम्।
विहरन्तमहोरात्रं कृतार्थं विगतज्वरम्॥ ४॥
क्रीडन्तमिव देवेशं गन्धर्वाप्सरसां गणैः।
मन्त्रिषु न्यस्तकार्यं च मन्त्रिणामनवेक्षकम्॥ ५॥
उच्छिन्नराज्यसंदेहं कामवृत्तमिव स्थितम्।
निश्चितार्थोऽर्थतत्त्वज्ञः कालधर्मविशेषवित्॥ ६॥
प्रसाद्य वाक्यैर्विविधैर्हेतुमद्भिर्मनोरमैः।
वाक्यविद् वाक्यतत्त्वज्ञं हरीशं मारुतात्मजः॥ ७॥
हितं तथ्यं च पथ्यं च सामधर्मार्थनीतिमत्।
प्रणयप्रीतिसंयुक्तं विश्वासकृतनिश्चयम्॥ ८॥
हरीश्वरमुपागम्य हनूमान् वाक्यमब्रवीत्।

पवनकुमार हनुमान् शास्त्रके निश्चित सिद्धान्तको जाननेवाले थे। क्या करना चाहिये और क्या नहीं—इन सभी बातोंका उन्हें यथार्थ ज्ञान था। किस समय किस विशेष धर्मका पालन करना चाहिये—इसको भी वे ठीक-ठीक समझते थे। उन्हें बातचीत करनेकी कलाका भी अच्छा ज्ञान था। उन्होंने देखा, आकाश निर्मल हो गया है। अब उसमें न तो बिजली चमकती है और न बादल ही दिखायी देते हैं। अन्तरिक्षमें सब ओर सारस उड़ रहे हैं और उनकी बोली सुनायी देती है। (चन्द्रोदय होनेपर) आकाश ऐसा जान पड़ता है, मानो उसपर श्वेत चन्दनसदृश रमणीय चाँदनीका लेप चढ़ा दिया गया हो। सुग्रीवका

प्रयोजन सिद्ध हो जानेके कारण अब वे धर्म और अर्थके संग्रहमें शिथिलता दिखाने लगे हैं। असाधु पुरुषोंके मार्ग (कामसेवन) का ही अधिक आश्रय ले रहे हैं। एकान्तमें ही (जहाँ स्त्रियोंके सङ्गमें कोई बाधा न पड़े) उनका मन लगता है। उनका काम पूरा हो गया है। उनके अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धि हो चुकी है। अब वे सदा युवती स्त्रियोंके साथ क्रीडा-विलासमें ही लगे रहते हैं। उन्होंने अपने सारे अभिलषित मनोरथोंको प्राप्त कर लिया है। अपनी मनोवाञ्छित पत्नी रुमा तथा अभीष्ट सुन्दरी ताराको भी प्राप्त करके अब वे कृतकृत्य एवं निश्चिन्त होकर दिन-रात भोग-विलासमें लगे रहते हैं। जैसे देवराज इन्द्र गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदायके साथ क्रीडामें तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार सुग्रीव भी अपने मन्त्रियोंपर राजकार्यका भार रखकर क्रीडा-विहारमें तत्पर हैं। मन्त्रियोंके कार्योंकी देखभाल वे कभी नहीं करते हैं। मन्त्रियोंकी सज्जनताके कारण यद्यपि राज्यको किसी प्रकारकी हानि पहुँचनेका संदेह नहीं है, तथापि स्वयं सुग्रीव ही स्वेच्छाचारी-से हो रहे हैं। यह सब सोचकर हनुमान्‌जी वानरराज सुग्रीवके पास गये और उन्हें युक्तियुक्त विविध एवं मनोरम वचनोंके द्वारा प्रसन्न करके बातचीतका मर्म समझनेवाले उन सुग्रीवसे हितकर, सत्य, लाभदायक, साम, धर्म और अर्थ-नीतिसे युक्त, शास्त्रविश्वासी पुरुषोंके सुदृढ निश्चयसे सम्पन्न तथा प्रेम और प्रसन्नतासे भरे वचन बोले—॥ १—८½ ॥

राज्यं प्राप्तं यशश्चैव कौली श्रीरभिवर्धिता ॥ ९ ॥
मित्राणां संग्रहः शेषस्तद् भवान् कर्तुमर्हति ।

'राजन्! आपने राज्य और यश प्राप्त कर लिया तथा कुलपरम्परासे आयी हुई लक्ष्मीको भी बढ़ाया; किंतु अभी मित्रोंको अपनानेका कार्य शेष रह गया है, उसे आपको इस समय पूर्ण करना चाहिये ॥ ९½ ॥

यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधु वर्तते ॥ १० ॥
तस्य राज्यं च कीर्तिश्च प्रतापश्चापि वर्धते ।

'जो राजा 'कब प्रत्युपकार करना चाहिये' इस बातको जानकर मित्रोंके प्रति सदा साधुतापूर्ण बर्ताव करता है, उसके राज्य, यश और प्रतापकी वृद्धि होती है ॥ १०½ ॥

यस्य कोशश्च दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिप ।
समान्येतानि सर्वाणि स राज्यं महदश्नुते ॥ ११ ॥

'पृथ्वीनाथ! जिस राजाका कोश, दण्ड (सेना), मित्र और अपना शरीर—ये सब-के-सब समान रूपसे उसके वशमें रहते हैं, वह विशाल राज्यका पालन एवं उपभोग करता है ॥ ११ ॥

तद् भवान् वृत्तसम्पन्नः स्थितः पथि निरत्यये ।
मित्रार्थमभिनीतार्थं यथावत् कर्तुमर्हति ॥ १२ ॥

'आप सदाचारसे सम्पन्न और नित्य सनातन धर्मके मार्गपर स्थित हैं; अतः मित्रके कार्यको सफल बनानेके लिये जो प्रतिज्ञा की है, उसे यथोचितरूपसे पूर्ण कीजिये ॥ १२ ॥

संत्यज्य सर्वकर्माणि मित्रार्थे यो न वर्तते ।
सम्भ्रमाद् विकृतोत्साहः सोऽनर्थेनावरुध्यते ॥ १३ ॥

'जो अपने सब कार्योंको छोड़कर मित्रका कार्य सिद्ध करनेके लिये विशेष उत्साहपूर्वक शीघ्रताके साथ नहीं लग जाता है, उसे अनर्थका भागी होना पड़ता है ॥ १३ ॥

यो हि कालव्यतीतेषु मित्रकार्येषु वर्तते ।
स कृत्वा महतोऽप्यर्थान्न मित्रार्थेन युज्यते ॥ १४ ॥

'कार्यसाधनका उपयुक्त अवसर बीत जानेके बाद जो मित्रके कार्योंमें लगता है, वह बड़े-से-बड़े कार्योंको सिद्ध करके भी मित्रके प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला नहीं माना जाता ॥ १४ ॥

तदिदं मित्रकार्यं नः कालातीतमरिंदम ।
क्रियतां राघवस्यैतद् वैदेह्याः परिमार्गणम् ॥ १५ ॥

'शत्रुदमन! भगवान् श्रीराम हमारे परम सुहृद् हैं। उनके इस कार्यका समय बीता जा रहा है; अतः विदेहकुमारी सीताकी खोज आरम्भ कर देनी चाहिये ॥ १५ ॥

न च कालमतीतं ते निवेदयति कालवित् ।
त्वरमाणोऽपि स प्राज्ञस्तव राजन् वशानुगः ॥ १६ ॥

'राजन्! परम बुद्धिमान् श्रीराम समयका ज्ञान रखते हैं और उन्हें अपने कार्यकी सिद्धिके लिये जल्दी लगी हुई है, तो भी वे आपके अधीन बने हुए हैं। संकोचवश आपसे नहीं कहते कि मेरे कार्यका समय बीत रहा है ॥ १६ ॥

कुलस्य हेतुः स्फीतस्य दीर्घबन्धुश्च राघवः ।
अप्रमेयप्रभावश्च स्वयं चाप्रतिमो गुणैः ॥ १७ ॥
तस्य त्वं कुरु वै कार्यं पूर्वं तेन कृतं तव ।
हरीश्वर कपिश्रेष्ठानाज्ञापयितुमर्हसि ॥ १८ ॥

'वानरराज! भगवान् श्रीराम चिरकालतक मित्रता निभानेवाले हैं। वे आपके समृद्धिशाली कुलके अभ्युदयके हेतु हैं। उनका प्रभाव अतुलनीय है। वे गुणोंमें अपना सानी नहीं रखते हैं। अब आप उनका कार्य सिद्ध कीजिये; क्योंकि उन्होंने आपका काम पहले ही सिद्ध कर दिया है। आप प्रधान-प्रधान वानरोंको इस कार्यके लिये आज्ञा दीजिये ॥ १७-१८ ॥

नहि तावद् भवेत् कालो व्यतीतश्चोदनादृते ।
चोदितस्य हि कार्यस्य भवेत् कालव्यतिक्रमः ॥ १९ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके कहनेके पहले ही यदि हमलोग कार्य प्रारम्भ कर दें तो समय बीता हुआ नहीं माना जायगा; किंतु यदि उन्हें इसके लिये प्रेरणा करनी पड़ी तो यही

समझा जायगा कि हमने समय बिता दिया है—उनके कार्यमें बहुत विलम्ब कर दिया है ॥ १९ ॥

अकर्तुरपि कार्यस्य भवान् कर्ता हरीश्वर ।
किं पुनः प्रतिकर्तुस्ते राज्येन च वधेन च ॥ २० ॥

'वानरराज ! जिसने आपका कोई उपकार नहीं किया हो, उसका कार्य भी आप सिद्ध करनेवाले हैं। फिर जिन्होंने वालीका वध तथा राज्य प्रदान करके आपका उपकार किया है, उनका कार्य आप शीघ्र सिद्ध करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ २० ॥

शक्तिमानतिविक्रान्तो वानरर्क्षगणेश्वर ।
कर्तुं दाशरथेः प्रीतिमाज्ञायां किं नु सज्जसे ॥ २१ ॥

'वानर और भालू-समुदायके स्वामी सुग्रीव ! आप शक्तिमान् और अत्यन्त पराक्रमी हैं; फिर भी दशरथनन्दन श्रीरामका प्रिय कार्य करनेके लिये वानरोंको आज्ञा देनेमें क्यों विलम्ब करते हैं ? ॥ २१ ॥

कामं खलु शरैः शक्तः सुरासुरमहोरगान् ।
वशे दाशरथिः कर्तुं त्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते ॥ २२ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि दशरथकुमार भगवान् श्रीराम अपने बाणोंसे समस्त देवताओं, असुरों और बड़े-बड़े नागोंको भी अपने वशमें कर सकते हैं, तथापि आपने जो उनके कार्यको सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा की है, उसीकी वे राह देख रहे हैं ॥ २२ ॥

प्राणत्यागविशङ्केन कृतं तेन महत् प्रियम् ।
तस्य मार्गाम वैदेहीं पृथिव्यामपि चाम्बरे ॥ २३ ॥

'उन्हें आपके लिये वालीके प्राणतक लेनेमें हिचक नहीं हुई। वे आपका बहुत बड़ा प्रिय कार्य कर चुके हैं; अतः अब हमलोग उनकी पत्नी विदेहकुमारी सीताका इस भूतलपर और आकाशमें भी पता लगावें ॥ २३ ॥

देवदानवगन्धर्वा असुराः समरुद्गणाः ।
न च यक्षा भयं तस्य कुर्युः किमिव राक्षसाः ॥ २४ ॥

'देवता, दानव, गन्धर्व, असुर, मरुद्गण तथा यक्ष भी श्रीरामको भय नहीं पहुँचा सकते; फिर राक्षसोंकी तो बिसात ही क्या है ॥ २४ ॥

तदेवं शक्तियुक्तस्य पूर्वं प्रतिकृतस्तथा ।
रामस्यार्हसि पिङ्गेश कर्तुं सर्वात्मना प्रियम् ॥ २५ ॥

'वानरराज ! ऐसे शक्तिशाली तथा पहले ही उपकार करनेवाले भगवान् श्रीरामका प्रिय कार्य आपको अपनी सारी शक्ति लगाकर करना चाहिये ॥ २५ ॥

नाधस्तादवनौ नाप्सु गतिर्नोपरि चाम्बरे ।
कस्यचित् सज्जतेऽस्माकं कपीश्वर तवाज्ञया ॥ २६ ॥

'कपीश्वर ! आपकी आज्ञा हो जाय तो जलमें, थलमें, नीचे (पातालमें) तथा ऊपर (आकाशमें)—कहीं भी हम लोगोंकी गति रुक नहीं सकती ॥ २६ ॥

तदाज्ञापय कः किं ते कुतो वापि व्यवस्यतु ।
हरयो ह्यप्रधृष्यास्ते सन्ति कोट्यग्रतोऽनघ ॥ २७ ॥

'निष्पाप कपिराज ! अतः आप आज्ञा दीजिये कि कौन कहाँसे आपकी किस आज्ञाका पालन करनेके लिये उद्योग करे। आपके अधीन करोड़ोंसे भी अधिक ऐसे वानर मौजूद हैं, जिन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता' ॥ २७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा काले साधु निरूपितम् ।
सुग्रीवः सत्त्वसम्पन्नश्चकार मतिमुत्तमाम् ॥ २८ ॥

सुग्रीव सत्त्वगुणसे सम्पन्न थे। उन्होंने हनुमान्‌जीके द्वारा ठीक समयपर अच्छे ढंगसे कही हुई उपर्युक्त बातें सुनकर भगवान् श्रीरामका कार्य सिद्ध करनेके लिये अत्यन्त उत्तम निश्चय किया ॥ २८ ॥

संदिदेशातिमतिमान् नीलं नित्यकृतोद्यमम् ।
दिक्षु सर्वासु सर्वेषां सैन्यानामुपसंग्रहे ॥ २९ ॥
तथा सेना समग्रा मे यूथपालाश्च सर्वशः ।
समागच्छन्त्यसङ्गेन सेनाग्र्येण तथा कुरु ॥ ३० ॥

वे परम बुद्धिमान् थे। अतः नित्य उद्यमशील नील नामक वानरको उन्होंने समस्त दिशाओंसे सम्पूर्ण वानर-सेनाओंको एकत्र करनेके लिये आज्ञा दी और कहा—'तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे मेरी सारी सेना यहाँ इकट्ठी हो जाय और सभी यूथपति अपनी सेना एवं सेनापतियोंके साथ अविलम्ब उपस्थित हो जायँ ॥ २९-३० ॥

ये त्वन्तपालाः प्लवगाः शीघ्रगा व्यवसायिनः ।
समानयन्तु ते शीघ्रं त्वरिताः शासनान्मम ।
स्वयं चानन्तरं कार्यं भवानेवानुपश्यतु ॥ ३१ ॥

'राज्य-सीमाकी रक्षा करनेवाले जो-जो उद्योगी और शीघ्रगामी वानर हैं, वे सब मेरी आज्ञासे शीघ्र यहाँ आ जायँ। उसके बाद जो कुछ कर्तव्य हो, उसपर तुम स्वयं ही ध्यान दो ॥ ३१ ॥

त्रिपञ्चरात्रादूर्ध्वं यः प्राप्नुयादिह वानरः ।
तस्य प्राणान्तिको दण्डो नात्र कार्या विचारणा ॥ ३२ ॥

'जो वानर पंद्रह दिनोंके बाद यहाँ पहुँचेगा, उसे प्राणान्त दण्ड दिया जायगा। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३२ ॥

हरींश्च वृद्धानुपयातु साङ्गदो
भवान् ममाज्ञामधिकृत्य निश्चितम् ।
इति व्यवस्थां हरिपुंगवेश्वरो
विधाय वेश्म प्रविवेश वीर्यवान् ॥ ३३ ॥

'यह मेरी निश्चित आज्ञा है। इसके अनुसार इस व्यवस्थाका अधिकार लेकर अङ्गदके साथ तुम स्वयं बड़े-बूढ़े वानरोंके पास जाओ।' ऐसा प्रबन्ध करके महाबली वानरराज सुग्रीव अपने महलमें चले गये ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

शरद्-ऋतुका वर्णन तथा श्रीरामका लक्ष्मणको सुग्रीवके पास जानेका आदेश देना

गृहं प्रविष्टे सुग्रीवे विमुक्ते गगने घनैः ।
वर्षरात्रे स्थितो रामः कामशोकाभिपीडितः ॥ १ ॥

पूर्वोक्त आदेश देकर सुग्रीव तो अपने महलमें चले गये और उधर श्रीरामचन्द्रजी, जो वर्षाकी रातोंमें प्रस्रवणगिरिपर निवास करते थे, आकाशके मेघोंसे मुक्त एवं निर्मल हो जानेपर सीतासे मिलनेकी उत्कण्ठा लिये उनके विरहजन्य शोकसे अत्यन्त पीडाका अनुभव करने लगे ॥ १ ॥

पाण्डुरं गगनं दृष्ट्वा विमलं चन्द्रमण्डलम् ।
शारदीं रजनीं चैव दृष्ट्वा ज्योत्स्नानुलेपनाम् ॥ २ ॥

उन्होंने देखा, आकाश श्वेत वर्णका हो रहा है, चन्द्रमण्डल स्वच्छ दिखायी देता है तथा शरद्-ऋतुकी रजनीके अङ्गोंपर चाँदनीका अङ्गराग लगा हुआ है। यह सब देखकर वे सीतासे मिलनेके लिये व्याकुल हो उठे ॥२॥

कामवृत्तं च सुग्रीवं नष्टां च जनकात्मजाम् ।
दृष्ट्वा कालमतीतं च मुमोह परमातुरः ॥ ३ ॥

उन्होंने सोचा 'सुग्रीव कामभोगमें आसक्त हो रहा है, जनककुमारी सीताका अबतक कुछ पता नहीं लगा है और रावणपर चढ़ाई करनेका समय भी बीता जा रहा है।' यह सब देखकर अत्यन्त आतुर हुए श्रीरामका हृदय व्याकुल हो उठा ॥ ३ ॥

स तु संज्ञामुपागम्य मुहूर्तान्मतिमान् नृपः ।
मनःस्थामपि वैदेहीं चिन्तयामास राघवः ॥ ४ ॥

दो घड़ीके बाद जब उनका मन कुछ स्वस्थ हुआ, तब वे बुद्धिमान् नरेश श्रीरघुनाथजी अपने मनमें बसी हुई विदेहनन्दिनी सीताका चिन्तन करने लगे ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा च विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम् ।
सारसारावसंघुष्टं विललापार्तया गिरा ॥ ५ ॥

उन्होंने देखा, आकाश निर्मल है। न कहीं बिजलीकी गड़गड़ाहट है न मेघोंकी घटा। वहाँ सब ओर सारसोंकी बोली सुनायी देती है। यह सब देखकर वे आर्तवाणीमें विलाप करने लगे ॥ ५ ॥

आसीनः पर्वतस्याग्रे हेमधातुविभूषिते ।
शारदं गगनं दृष्ट्वा जगाम मनसा प्रियाम् ॥ ६ ॥

सुनहरे रंगकी धातुओंसे विभूषित पर्वतशिखरपर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी शरत्कालके स्वच्छ आकाशकी ओर दृष्टिपात करके मन-ही-मन अपनी प्यारी पत्नी सीताका ध्यान करने लगे ॥ ६ ॥

सारसारावसंनादैः सारसारावनादिनी ।
याऽऽश्रमे रमते बाला साद्य मे रमते कथम् ॥ ७ ॥

वे बोले—'जिसकी बोली सारसोंकी आवाजके समान मीठी थी तथा जो मेरे आश्रमपर सारसोंद्वारा परस्पर एक-दूसरेको बुलानेके लिये किये गये मधुर शब्दोंसे मन बहलाती थी, वह मेरी भोली-भाली स्त्री सीता आज किस तरह मनोरञ्जन करती होगी? ॥ ७ ॥

पुष्पितांश्चासनान् दृष्ट्वा काञ्चनानिव निर्मलान् ।
कथं सा रमते बाला पश्यन्ती मामपश्यती ॥ ८ ॥

'सुवर्णमय वृक्षोंके समान निर्मल और खिले हुए असन नामक वृक्षोंको देखकर बार-बार उन्हें निहारती हुई भोली-भाली सीता जब मुझे अपने पास नहीं देखती होगी, तब कैसे उसका मन लगता होगा? ॥ ८ ॥

या पुरा कलहंसानां कलेन कलभाषिणी ।
बुध्यते चारुसर्वाङ्गी साद्य मे रमते कथम् ॥ ९ ॥

'जिसके सभी अङ्ग मनोहर हैं तथा जो स्वभावसे ही मधुर भाषण करनेवाली है, वह सीता पहले कलहंसोंके मधुर शब्दसे जागा करती थी; किंतु आज वह मेरी प्रिया वहाँ कैसे प्रसन्न रहती होगी? ॥ ९ ॥

निःस्वनं चक्रवाकानां निशम्य सहचारिणाम् ।
पुण्डरीकविशालाक्षी कथमेषा भविष्यति ॥ १० ॥

'जिसके विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान शोभा पाते हैं, वह मेरी प्रिया जब साथ विचरनेवाले चकवोंकी बोली सुनती होगी, तब उसकी कैसी दशा हो जाती होगी? ॥१०॥

सरांसि सरितो वापीः काननानि वनानि च ।
तां विना मृगशावाक्षीं चरन्नाद्य सुखं लभे ॥ ११ ॥

'हाय! मैं नदी, तालाब, बावली, कानन और वन सब जगह घूमता हूँ; परंतु कहीं भी उस मृगशावकनयनी सीताके बिना अब मुझे सुख नहीं मिलता है ॥ ११ ॥

अपि तां मद्वियोगाच्च सौकुमार्याच्च भामिनीम्।
सुदूरं पीडयेत् कामः शरद्गुणनिरन्तरः ॥ १२॥

'कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि शरद्-ऋतुके गुणोंसे निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होनेवाला काम भामिनी सीताको अत्यन्त पीड़ित कर दे; क्योंकि ऐसी सम्भावनाके दो कारण हैं—एक तो उसे मेरे वियोगका कष्ट है, दूसरे वह अत्यन्त सुकुमारी होनेके कारण इस कष्टको सहन नहीं कर पाती होगी' ॥ १२ ॥

एवमादि नरश्रेष्ठो विललाप नृपात्मजः।
विहंग इव सारङ्गः सलिलं त्रिदशेश्वरात् ॥ १३॥

इन्द्रसे पानीकी याचना करनेवाले प्यासे पपीहेकी भाँति नरश्रेष्ठ नरेन्द्रकुमार श्रीरामने इस तरहकी बहुत-सी बातें कहकर विलाप किया ॥ १३ ॥

ततश्चञ्चूर्य रम्येषु फलार्थी गिरिसानुषु।
ददर्श पर्युपावृत्तो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणोऽग्रजम् ॥ १४॥

उस समय शोभाशाली लक्ष्मण फल लेनेके लिये गये थे। वे पर्वतके रमणीय शिखरोंपर घूम-फिरकर जब लौटे, तब उन्होंने अपने बड़े भाईकी अवस्थापर दृष्टिपात किया ॥१४॥

स चिन्तया दुस्सहया परीतं
विसंज्ञमेकं विजने मनस्वी।
भ्रातुर्विषादात् त्वरितोऽतिदीनः
समीक्ष्य सौमित्रिरुवाच दीनम् ॥ १५॥

वे दुस्सह चिन्तामें मग्न होकर अचेत-से हो गये थे और एकान्तमें अकेले ही दुखी होकर बैठे थे। उस समय मनस्वी सुमित्राकुमार लक्ष्मणने जब उन्हें देखा, तब वे तुरंत ही भाईके विषादसे अत्यन्त दुखी हो गये और उनसे इस प्रकार बोले—॥ १५ ॥

किमार्य कामस्य वशंगतेन
किमात्मपौरुष्यपराभवेन।
अयं ह्रिया संह्रियते समाधिः
किमत्र योगेन निवर्तते न ॥ १६॥

'आर्य! इस प्रकार कामके अधीन होकर अपने पौरुषका तिरस्कार करनेसे—पराक्रमको भूल जानेसे क्या लाभ होगा? इस लज्जाजनक शोकके कारण आपके चित्तकी एकाग्रता नष्ट हो रही है। क्या इस समय योगका सहारा लेनेसे—मनको एकाग्र करनेसे यह सारी चिन्ता दूर नहीं हो सकती? ॥ १६ ॥

क्रियाभियोगं मनसः प्रसादं
समाधियोगानुगतं च कालम्।
सहायसामर्थ्यमदीनसत्त्वः
स्वकर्महेतुं च कुरुष्व तात ॥ १७॥

'तात! आप आवश्यक कर्मोंके अनुष्ठानमें पूर्णरूपसे लग जाइये, मनको प्रसन्न कीजिये और हर समय चित्तकी एकाग्रता बनाये रखिये। साथ ही, अन्तःकरणमें दीनताको स्थान न देते हुए अपने पराक्रमकी वृद्धिके लिये सहायता और शक्तिको बढ़ानेका प्रयत्न कीजिये ॥ १७ ॥

न जानकी मानववंशनाथ
त्वया सनाथा सुलभा परेण।
न चाग्निचूडां ज्वलितामुपेत्य
न दह्यते वीर वरार्ह कश्चित् ॥ १८॥

'मानववंशके नाथ तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके भी पूजनीय वीर रघुनन्दन! जिनके स्वामी आप हैं, वे जनकनन्दिनी सीता किसी भी दूसरे पुरुषके लिये सुलभ नहीं हैं; क्योंकि जलती हुई आगकी लपटके पास जाकर कोई भी दग्ध हुए बिना नहीं रह सकता' ॥ १८ ॥

सलक्षणं लक्ष्मणमप्रधृष्यं
स्वभावजं वाक्यमुवाच रामः।
हितं च पथ्यं च नयप्रसक्तं
ससामधर्मार्थसमाहितं च ॥ १९॥
निस्संशयं कार्यमवेक्षितव्यं
क्रियाविशेषोऽप्यनुवर्तितव्यः।
न तु प्रवृद्धस्य दुरासदस्य
कुमार वीर्यस्य फलं च चिन्त्यम् ॥ २०॥

लक्ष्मण उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे। उन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता था। भगवान् श्रीरामने उनसे यह स्वाभाविक बात कही—'कुमार! तुमने जो बात कही है, वह वर्तमान समयमें हितकर, भविष्यमें भी सुख पहुँचानेवाली, राजनीतिके सर्वथा अनुकूल तथा सामके साथ-साथ धर्म और अर्थसे भी संयुक्त है। निश्चय ही सीताके अनुसंधान-कार्यपर ध्यान देना चाहिये तथा उसके लिये विशेष कार्य या उपायका भी अनुसरण करना चाहिये; किंतु प्रयत्न छोड़कर पूर्णरूपसे बढ़े हुए दुर्लभ एवं बलवान् कर्मके फलपर ही दृष्टि रखना उचित नहीं है' ॥ १९-२० ॥

अथ पद्मपलाशाक्षीं मैथिलीमनुचिन्तयन्।
उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता ॥ २१ ॥

तदनन्तर प्रफुल्ल कमलदलके समान नेत्रवाली मिथिलेश-कुमारी सीताका बार-बार चिन्तन करते हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणको सम्बोधित करके सूखे हुए (उदास) मुँहसे बोले—॥

तर्पयित्वा सहस्राक्षः सलिलेन वसुंधराम्।
निर्वर्तयित्वा सस्यानि कृतकर्मा व्यवस्थितः ॥ २२ ॥

'सुमित्रानन्दन! सहस्रनेत्रधारी इन्द्र इस पृथ्वीको जलसे तृप्त करके यहाँके अनाजोंको पकाकर अब कृतकृत्य हो गये हैं ॥ २२ ॥

दीर्घगम्भीरनिर्घोषाः शैलद्रुमपुरोगमाः।
विसृज्य सलिलं मेघाः परिशान्ता नृपात्मज ॥ २३ ॥

'राजकुमार! देखो, जो अत्यन्त गम्भीर स्वरसे गर्जना किया करते और पर्वतों, नगरों तथा वृक्षोंके ऊपरसे होकर निकलते थे, वे मेघ अपना सारा जल बरसाकर शान्त हो गये हैं ॥ २३ ॥

नीलोत्पलदलश्यामाः श्यामीकृत्वा दिशो दश ।
विमदा इव मातङ्गाः शान्तवेगाः पयोधराः ॥ २४ ॥

'नील कमलदलके समान श्यामवर्णवाले मेघ दसों दिशाओंको श्याम बनाकर मदरहित गजराजोंके समान वेगशून्य हो गये हैं; उनका वेग शान्त हो गया है ॥ २४ ॥

जलगर्भा महावेगाः कुटजार्जुनगन्धिनः ।
चरित्वा विरताः सौम्य वृष्टिवाताः समुद्यताः ॥ २५ ॥

'सौम्य! जिनके भीतर जल विद्यमान था तथा जिनमें कुटज और अर्जुनके फूलोंकी सुगन्ध भरी हुई थी, वे अत्यन्त वेगशाली झंझावात उमड़-घुमड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरण करके अब शान्त हो गये हैं ॥ २५ ॥

घनानां वारणानां च मयूराणां च लक्ष्मण ।
नादः प्रस्रवणानां च प्रशान्तः सहसानघ ॥ २६ ॥

'निष्पाप लक्ष्मण! बादलों, हाथियों, मोरों और झरनोंके शब्द इस समय सहसा शान्त हो गये हैं ॥ २६ ॥

अभिवृष्टा महामेघैर्निर्मलाश्चित्रसानवः ।
अनुलिप्ता इवाभान्ति गिरयश्चन्द्ररश्मिभिः ॥ २७ ॥

'महान् मेघोंद्वारा बरसाये हुए जलसे धुल जानेके कारण ये विचित्र शिखरोंवाले पर्वत अत्यन्त निर्मल हो गये हैं। इन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो चन्द्रमाकी किरणोंद्वारा इनके ऊपर सफेदी कर दी गयी है ॥ २७ ॥

शाखासु सप्तच्छदपादपानां
प्रभासु तारार्कनिशाकराणाम् ।
लीलासु चैवोत्तमवारणानां
श्रियं विभज्याद्य शरत्प्रवृत्ता ॥ २८ ॥

'आज शरद्-ऋतु, सप्तच्छद (छितवन)को डालियोंमें, सूर्य, चन्द्रमा और तारोंकी प्रभामें तथा श्रेष्ठ गजराजोंकी लीलाओंमें अपनी शोभा बाँटकर आयी है ॥ २८ ॥

सम्प्रत्यनेकाश्रयचित्रशोभा
लक्ष्मीः शरत्कालगुणोपपन्ना ।
सूर्याग्रहस्तप्रतिबोधितेषु
पद्माकरेष्वभ्यधिकं विभाति ॥ २९ ॥

'इस समय शरत्कालके गुणोंसे सम्पन्न हुई लक्ष्मी यद्यपि अनेक आश्रयोंमें विभक्त होकर विचित्र शोभा धारण करती हैं, तथापि सूर्यकी प्रथम किरणोंसे विकसित हुए कमल-वनोंमें वे सबसे अधिक सुशोभित होती हैं ॥ २९ ॥

सप्तच्छदानां कुसुमोपगन्धी
षट्पादवृन्दैरनुगीयमानः ।
मत्तद्विपानां पवनानुसारी
दर्पं विनेष्यन्नधिकं विभाति ॥ ३० ॥

'छितवनके फूलोंकी सुगन्ध धारण करनेवाला शरत्काल स्वभावतः वायुका अनुसरण कर रहा है। भ्रमरोंके समूह उसके गुणगान कर रहे हैं। वह मार्गके जलको सोखता और मतवाले हाथियोंके दर्पको बढ़ाता हुआ अधिक शोभा पा रहा है ॥ ३० ॥

अभ्यागतैश्चारुविशालपक्षैः
स्मरप्रियैः पद्मरजोऽवकीर्णैः ।
महानदीनां पुलिनोपयातैः
क्रीडन्ति हंसाः सह चक्रवाकैः ॥ ३१ ॥

'जिनके पंख सुन्दर और विशाल हैं, जिन्हें कामक्रीडा अधिक प्रिय है, जिनके ऊपर कमलोंके पराग बिखरे हुए हैं, जो बड़ी-बड़ी नदियोंके तटोंपर उतरे हैं और मानसरोवरसे साथ ही आये हैं, उन चक्रवाकोंके साथ हंस क्रीडा कर रहे हैं ॥ ३१ ॥

मदप्रगल्भेषु च वारणेषु
गवां समूहेषु च दर्पितेषु ।
प्रसन्नतोयासु च निम्नगासु
विभाति लक्ष्मीर्बहुधा विभक्ता ॥ ३२ ॥

'मदमत्त गजराजोंमें, दर्प-भरे वृषभोंके समूहोंमें तथा स्वच्छ जलवाली सरिताओंमें नाना रूपोंमें विभक्त हुई लक्ष्मी विशेष शोभा पा रही है ॥ ३२ ॥

नभः समीक्ष्याम्बुधरैर्विमुक्तं
विमुक्तबर्हाभरणा वनेषु ।
प्रियास्वरक्ता विनिवृत्तशोभा
गतोत्सवा ध्यानपरा मयूराः ॥ ३३ ॥

'आकाशको बादलोंसे शून्य हुआ देख वनोंमें पंखरूपी आभूषणोंका परित्याग करनेवाले मोर अपनी प्रियतमाओंसे विरक्त हो गये हैं। उनकी शोभा नष्ट हो गयी है और वे आनन्दशून्य हो ध्यानमग्न होकर बैठे हैं ॥ ३३ ॥

मनोज्ञगन्धैः प्रियकैरनल्पैः
पुष्पातिभारावनताग्रशाखैः ।
सुवर्णगौरैर्नयनाभिरामै-
रुद्योतितानीव वनान्तराणि ॥ ३४ ॥

'वनके भीतर बहुत-से असननामक वृक्ष खड़े हैं, जिनकी डालियोंके अग्रभाग फूलोंके अधिक भारसे झुक गये हैं। उनपर मनोहर सुगन्ध छा रही है। वे सभी वृक्ष सुवर्णके समान गौर तथा नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं। उनके द्वारा वनप्रान्त प्रकाशित-से हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

प्रियान्वितानां नलिनीप्रियाणां
वने प्रियाणां कुसुमोद्गतानाम् ।
मदोत्कटानां मदलालसानां
गजोत्तमानां गतयोऽद्य मन्दाः ॥ ३५ ॥

'जो अपनी प्रियतमाओंके साथ विचरते हैं, जिन्हें कमलके पुष्प तथा वन अधिक प्रिय हैं, जो छितवनके फूलोंको सूँघकर उन्मत्त हो उठे हैं, जिनमें अधिक मद है तथा जिन्हें मदजनित कामभोगकी लालसा बनी हुई है, उन गजराजोंकी गति आज मन्द हो गयी है ॥ ३५ ॥

व्यक्तं नभः शस्त्रविधौतवर्णं
कृशप्रवाहानि नदीजलानि ।
कह्लारशीताः पवनाः प्रवान्ति
तमोविमुक्ताश्च दिशः प्रकाशाः ॥ ३६ ॥

'इस समय आकाशका रंग शानपर चढ़े हुए शस्त्रकी धारके समान स्वच्छ दिखायी देता है, नदियोंके जल मन्दगतिसे प्रवाहित हो रहे हैं, श्वेत कमलकी सुगन्ध लेकर शीतल-मन्द वायु चल रही है, दिशाओंका अन्धकार दूर हो गया है और अब उनमें पूर्ण प्रकाश छा रहा है ॥ ३६ ॥

सूर्यातपक्रामणनष्टपङ्का
भूमिश्चिरोद्घाटितसान्द्ररेणुः ।
अन्योन्यवैरेण समायुताना-
मुद्योगकालोऽद्य नराधिपानाम्॥ ३७ ॥

'घाम लगनेसे धरतीका कीचड़ सूख गया है। अब उसपर बहुत दिनोंके बाद घनी धूल प्रकट हुई है। परस्पर वैर रखनेवाले राजाओंके लिये युद्धके निमित्त उद्योग करनेका समय अब आ गया है ॥ ३७ ॥

शरद्गुणाप्यायितरूपशोभाः
प्रहर्षिताः पांसुसमुत्थिताङ्गाः ।
मदोत्कटाः सम्प्रति युद्धलुब्धा
वृषा गवां मध्यगता नदन्ति ॥ ३८ ॥

'शरद्-ऋतुके गुणोंने जिनके रूप और शोभाको बढ़ा दिया है, जिनके सारे अङ्गोंपर धूल छा रही है, जिनके मदकी अधिक वृद्धि हुई है तथा जो युद्धके लिये लुभाये हुए हैं, वे साँड़ इस समय गौओंके बीचमें खड़े होकर अत्यन्त हर्षपूर्वक हँकड़ रहे हैं ॥ ३८ ॥

समन्मथा तीव्रतरानुरागा
कुलान्विता मन्दगतिः करेणुः ।
मदान्वितं सम्परिवार्य यान्तं
वनेषु भर्तारमनुप्रयाति ॥ ३९ ॥

'जिसमें कामभावका उदय हुआ है, इसीलिये जो अत्यन्त तीव्र अनुरागसे युक्त है और अच्छे कुलमें उत्पन्न हुई है, वह मन्दगतिसे चलनेवाली हथिनी वनोंमें जाते हुए अपने मदमत्त स्वामीको घेरकर उसका अनुगमन करती है ॥ ३९ ॥

त्यक्त्वा वराण्यात्मविभूषितानि
बर्हाणि तीरोपगता नदीनाम् ।
निर्भर्त्स्यमाना इव सारसौघैः
प्रयान्ति दीना विमना मयूराः ॥ ४० ॥

'अपने आभूषणरूप श्रेष्ठ पंखोंको त्यागकर नदियोंके तटोंपर आये हुए मोर मानो सारस-समूहोंकी फटकार सुनकर दुखी और खिन्नचित्त हो पीछे लौट जाते हैं ॥ ४० ॥

वित्रास्य कारण्डवचक्रवाकान्
महारवैर्भिन्नकटा गजेन्द्राः ।
सरस्सुबद्धाम्बुजभूषणेषु
विक्षोभ्य विक्षोभ्य जलं पिबन्ति ॥ ४१ ॥

'जिनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही है, वे गजराज अपनी महती गर्जनासे कारण्डवों तथा चक्रवाकोंको भयभीत करके विकसित कमलोंसे विभूषित सरोवरोंमें जलको हिलोर-हिलोरकर पी रहे हैं ॥ ४१ ॥

व्यपेतपङ्कासु सवालुकासु
प्रसन्नतोयासु सगोकुलासु ।
ससारसारावविनादितासु
नदीषु हंसा निपतन्ति हृष्टाः ॥ ४२ ॥

'जिनके कीचड़ दूर हो गये हैं, जो बालुकाओंसे सुशोभित हैं, जिनका जल बहुत ही स्वच्छ है तथा गौओंके समुदाय जिनके जलका सेवन करते हैं, सारसोंके कलरवोंसे गूँजती हुई उन सरिताओंमें हंस बड़े हर्षके साथ उतर रहे हैं ॥ ४२ ॥

नदीघनप्रस्रवणोदकाना-
मतिप्रवृद्धानिलबर्हिणानाम् ।
प्लवंगमानां च गतोत्सवानां
ध्रुवं रवाः सम्प्रति सम्प्रणष्टाः ॥ ४३ ॥

'नदी, मेघ, झरनोंके जल, प्रचण्ड वायु, मोर और हर्षरहित मेढकोंके शब्द निश्चय ही इस समय शान्त हो गये हैं ॥ ४३ ॥

अनेकवर्णाः सुविनष्टकाया
नवोदितेष्वम्बुधरेषु नष्टाः ।
क्षुधार्दिता घोरविषा बिलेभ्य-
श्चिरोषिता विप्रसरन्ति सर्पाः ॥ ४४ ॥

'नूतन मेघोंके उदित होनेपर जो चिरकालसे बिलोंमें छिपे बैठे थे, जिनकी शरीरयात्रा नष्टप्राय हो गयी थी और इस प्रकार जो मृतवत् हो रहे थे, वे भयंकर विषवाले बहुरंगे सर्प भूखसे पीड़ित होकर अब बिलोंसे बाहर निकल रहे हैं ॥ ४४ ॥

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका ।
अहो रागवती संध्या जहाति स्वयमम्बरम् ॥ ४५ ॥

'शोभाशाली चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे होनेवाले हर्षके कारण जिसके तारे किंचित् प्रकाशित हो रहे हैं (अथवा प्रियतमके करस्पर्शजनित हर्षसे जिसके नेत्रोंकी पुतली किंचित् खिल उठी है) वह लालिमायुक्त संध्या (अथवा अनुरागभरी नायिका) स्वयं ही अम्बर (आकाश अथवा

वस्त्र) का त्याग कर रही है, यह कैसे आश्चर्यकी बात है ! * ॥ ४५ ॥

रात्रिः शशाङ्कोदितसौम्यवक्त्रा
तारागणोन्मीलितचारुनेत्रा ।
ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति
नारीव शुक्लांशुकसंवृताङ्गी ॥ ४६ ॥

'चाँदनीकी चादर ओढ़े हुए शरत्कालकी यह रात्रि श्वेत साड़ीसे ढके हुए अङ्गवाली एक सुन्दरी नारीके समान शोभा पाती है। उदित हुआ चन्द्रमा ही उसका सौम्य मुख है और तारे ही उसकी खुली हुई मनोहर आँखें हैं ॥ ४६ ॥

विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा
प्रहर्षिता सारसचारुपङ्क्तिः ।
नभः समाक्रामति शीघ्रवेगा
वातावधूता ग्रथितेव माला ॥ ४७ ॥

'पके हुए धानकी बालोंको खाकर हर्षसे भरी हुई और तीव्र वेगसे चलनेवाली सारसोंकी वह सुन्दर पंक्ति वायुकम्पित गूँथी हुई पुष्पमालाकी भाँति आकाशमें उड़ रही है ॥ ४७ ॥

सुप्तैकहंसं कुमुदैरुपेतं
महाह्रदस्थं सलिलं विभाति ।
घनैर्विमुक्तं निशि पूर्णचन्द्रं
तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम् ॥ ४८ ॥

'कुमुदके फूलोंसे भरा हुआ उस महान् तालाबका जल जिसमें एक हंस सोया हुआ है, ऐसा जान पड़ता है मानो रातके समय बादलोंके आवरणसे रहित आकाश सब ओर छिटके हुए तारोंसे व्याप्त होकर पूर्ण चन्द्रमाके साथ शोभा पा रहा हो ॥ ४८ ॥

प्रकीर्णहंसाकुलमेखलानां
प्रबुद्धपद्मोत्पलमालिनीनाम् ।
वाप्युत्तमानामधिकाद्य लक्ष्मी-
र्वराङ्गनानामिव भूषितानाम् ॥ ४९ ॥

'सब ओर बिखरे हुए हंस ही जिनकी फैली हुई मेखला (करधनी) हैं, जो खिले हुए कमलों और उत्पलोंकी मालाएँ धारण करती हैं, उन उत्तम बावड़ियों-की शोभा आज वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हुई सुन्दरी वनिताओंके समान हो रही है ॥ ४९ ॥

वेणुस्वरव्यञ्जिततूर्यमिश्रः
प्रत्यूषकालेऽनिलसम्प्रवृत्तः ।
सम्मूर्छितो गर्गरगोवृषाणा-
मन्योन्यमापूरयतीव शब्दः ॥ ५० ॥

'वेणुके स्वरके रूपमें व्यक्त हुए वाद्यघोषसे मिश्रित और प्रातःकालकी वायुसे वृद्धिको प्राप्त होकर सब ओर फैला हुआ दही मथनेके बड़े-बड़े भाण्डों और साँड़ोंका शब्द, मानो एक दूसरेका पूरक हो रहा है ॥ ५० ॥

नवैर्नदीनां कुसुमप्रहासै-
र्व्याधूयमानैर्मृदुमारुतेन ।
धौतामलक्षौमपटप्रकाशैः
कूलानि काशैरुपशोभितानि ॥ ५१ ॥

'नदियोंके तट मन्द-मन्द वायुसे कम्पित, पुष्परूपी हाससे सुशोभित और धुले हुए निर्मल रेशमी वस्त्रोंके समान प्रकाशित होनेवाले नूतन काशोंसे बड़ी शोभा पा रहे हैं ॥ ५१ ॥

वनप्रचण्डा मधुपानशौण्डाः
प्रियान्विताः षट्चरणाः प्रहृष्टाः ।
वनेषु मत्ताः पवनानुयात्रां
कुर्वन्ति पद्मासनरेणुगौराः ॥ ५२ ॥

'वनमें ढिठाईके साथ घूमनेवाले तथा कमल और असन-के परागोंसे गौरवर्णको प्राप्त हुए मतवाले भ्रमर, जो पुष्पोंके मकरन्दका पान करनेमें बड़े चतुर हैं, अपनी प्रियाओंके साथ हर्षमें भरकर वनोंमें (गन्धके लोभसे) वायुके पीछे-पीछे जा रहे हैं ॥ ५२ ॥

जलं प्रसन्नं कुसुमप्रहासं
क्रौञ्चस्वनं शालिवनं विपक्वम् ।
मृदुश्च वायुर्विमलश्च चन्द्रः
शंसन्ति वर्षव्यपनीतकालम् ॥ ५३ ॥

'जल स्वच्छ हो गया है, धानकी खेती पक गयी है, वायु मन्दगतिसे चलने लगी है और चन्द्रमा अत्यन्त निर्मल दिखायी देता है—ये सब लक्षण उस शरत्कालके आगमन-की सूचना देते हैं, जिसमें वर्षाकी समाप्ति हो जाती है, क्रौञ्च पक्षी बोलने लगते हैं और फूल उस ऋतुके हासकी भाँति खिल उठते हैं ॥ ५३ ॥

मीनोपसंदर्शितमेखलानां
नदीवधूनां गतयोऽद्य मन्दाः ।
कान्तोपभुक्तालसगामिनीनां
प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम् ॥ ५४ ॥

'रातको प्रियतमके उपभोगमें आकर प्रातःकाल अल-सायी गतिसे चलनेवाली कामिनियोंकी भाँति उन नदीस्वरूपा वधुओंकी गति भी आज मन्द हो गयी है, जो मछलियोंकी मेखला-सी धारण किये हुए हैं ॥ ५४ ॥

सचक्रवाकानि सशैवलानि
काशैर्दुकूलैरिव संवृतानि ।
सपत्ररेखाणि सरोचनानि
वधूमुखानीव नदीमुखानि ॥ ५५ ॥

'नदियोंके मुख नव वधुओंके मुँहके समान शोभा पाते हैं। उनमें जो चक्रवाक हैं, वे गोरोचनद्वारा निर्मित तिलकके

* यहाँ संध्यामें कामुकी नायिकाके व्यवहारका आरोप होनेसे समासोक्ति अलंकार समझना चाहिये ।

समान प्रतीत होते हैं, जो सेवार हैं, वे वधूके मुखपर बनी हुई पत्रभङ्गीके समान जान पड़ते हैं तथा जो काश हैं, वे ही मानो श्वेत दुकूल बनकर नदीरूपिणी वधूके मुँहको ढके हुए हैं ॥ ५५ ॥

प्रफुल्लबाणासनचित्रितेषु
प्रहृष्टषट्पादनिकूजितेषु ।
गृहीतचापोद्यतदण्डचण्डः
प्रचण्डचापोऽद्य वनेषु कामः ॥ ५६ ॥

'फूले हुए सरकण्डों और असनके वृक्षोंसे जिनकी विचित्र शोभा हो रही है तथा जिनमें हर्षभरे भ्रमरोंकी आवाज गूँजती रहती है, उन वनोंमें आज प्रचण्ड धनुर्धर कामदेव प्रकट हुआ है, जो धनुष हाथमें लेकर विरही जनोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत हो अत्यन्त कोपका परिचय दे रहा है ॥ ५६ ॥

लोकं सुवृष्ट्या परितोषयित्वा
नदीस्तटाकानि च पूरयित्वा ।
निष्पन्नसस्यां वसुधां च कृत्वा
त्यक्त्वा नभस्तोयधराः प्रणष्टाः॥ ५७ ॥

'अच्छी वर्षासे लोगोंको संतुष्ट करके, नदियों और तालाबोंको पानीसे भरकर तथा भूतलको परिपक्व धानकी खेतीसे सम्पन्न करके बादल आकाश छोड़कर अदृश्य हो गये ॥ ५७ ॥

दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः ।
नवसंगमसव्रीडा जघनानीव योषितः ॥ ५८ ॥

'शरद्-ऋतुकी नदियाँ धीरे-धीरे जलके हटनेसे अपने नग्न तटोंको दिखा रही हैं। ठीक उसी तरह जैसे प्रथम समागमके समय लजीली युवतियाँ शनैः-शनैः अपने जघन-स्थलको दिखानेके लिये विवश होती हैं ॥ ५८ ॥

प्रसन्नसलिलाः सौम्य कुरराभिविनादिताः ।
चक्रवाकगणाकीर्णा विभान्ति सलिलाशयाः ॥ ५९ ॥

'सौम्य ! सभी जलाशयोंके जल स्वच्छ हो गये हैं। वहाँ कुरर पक्षियोंके कलनाद गूँज रहे हैं और चक्रवाकोंके समुदाय चारों ओर बिखरे हुए हैं। इस प्रकार उन जलाशयोंकी बड़ी शोभा हो रही है ॥ ५९ ॥

अन्योन्यबद्धवैराणां जिगीषूणां नृपात्मज ।
उद्योगसमयः सौम्य पार्थिवानामुपस्थितः ॥ ६० ॥

'सौम्य ! राजकुमार ! जिनमें परस्पर वैर बँधा हुआ है और जो एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखते हैं, उन भूमि-पालोंके लिये यह युद्धके निमित्त उद्योग करनेका समय उपस्थित हुआ है ॥ ६० ॥

इयं सा प्रथमा यात्रा पार्थिवानां नृपात्मज ।
न च पश्यामि सुग्रीवमुद्योगं च तथाविधम् ॥ ६१ ॥

'नरेशनन्दन ! राजाओंकी विजय-यात्राका यह प्रथम अवसर है, किंतु न तो मैं सुग्रीवको यहाँ उपस्थित देखता हूँ और न उनका कोई वैसा उद्योग ही दृष्टिगोचर होता है ॥ ६१ ॥

असनाः सप्तपर्णाश्च कोविदाराश्च पुष्पिताः ।
दृश्यन्ते बन्धुजीवाश्च श्यामाश्च गिरिसानुषु ॥ ६२ ॥

'पर्वतके शिखरोंपर असन, छितवन, कोविदार, बन्धु-जीव तथा श्याम तमाल खिले दिखायी देते हैं ॥ ६२ ॥

हंससारसचक्राह्वैः कुररैश्च समन्ततः ।
पुलिनान्यवकीर्णानि नदीनां पश्य लक्ष्मण ॥ ६३ ॥

'लक्ष्मण ! देखो तो सही, नदियोंके तटोंपर सब ओर हंस, सारस, चक्रवाक और कुरर नामक पक्षी फैले हुए हैं ॥ ६३ ॥

चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः ।
मम शोकाभितप्तस्य तथा सीतामपश्यतः ॥ ६४ ॥

'मैं सीताको न देखनेके कारण शोकसे संतप्त हो रहा हूँ; अतः ये वर्षाके चार महीने मेरे लिये सौ वर्षोंके समान बीते हैं ॥ ६४ ॥

चक्रवाकीव भर्तारं पृष्ठतोऽनुगता वनम् ।
विषमं दण्डकारण्यमुद्यानमिव चाङ्गना ॥ ६५ ॥

'जैसे चकवी अपने स्वामीका अनुसरण करती है, उसी प्रकार कल्याणी सीता इस भयंकर एवं दुर्गम दण्डकारण्यको उद्यान-सा समझकर मेरे पीछे यहाँतक चली आयी थी ॥६५॥

प्रियाविहीने दुःखार्ते हृतराज्ये विवासिते ।
कृपां न कुरुते राजा सुग्रीवो मयि लक्ष्मण ॥ ६६ ॥

'लक्ष्मण ! मैं अपनी प्रियतमासे बिछुड़ा हुआ हूँ। मेरा राज्य छीन लिया गया है और मैं देशसे निकाल दिया गया हूँ। इस अवस्थामें भी राजा सुग्रीव मुझपर कृपा नहीं कर रहा है ॥ ६६ ॥

अनाथो हृतराज्योऽहं रावणेन च धर्षितः ।
दीनो दूरगृहः कामी मां चैव शरणं गतः ॥ ६७ ॥
इत्येतैः कारणैः सौम्य सुग्रीवस्य दुरात्मनः ।
अहं वानरराजस्य परिभूतः परंतपः ॥ ६८ ॥

'सौम्य लक्ष्मण ! मैं अनाथ हूँ, राज्यसे भ्रष्ट हो गया हूँ। रावणने मेरा तिरस्कार किया है। मैं दीन हूँ। मेरा घर यहाँसे बहुत दूर है। मैं कामना लेकर यहाँ आया हूँ तथा सुग्रीव यह भी समझता है कि राम मेरी शरणमें आये हैं। इन्हीं सब कारणोंसे वानरोंका राजा दुरात्मा सुग्रीव मेरा तिरस्कार कर रहा है; किंतु उसे पता नहीं है कि मैं सदा शत्रुओंको संताप देनेमें समर्थ हूँ ॥ ६७-६८ ॥

स कालं परिसंख्याय सीतायाः परिमार्गणे ।
कृतार्थः समयं कृत्वा दुर्मतिर्नावबुध्यते ॥ ६९ ॥

'उसने सीताकी खोजके लिये समय निश्चित कर दिया था; किंतु उसका तो अब काम निकल गया है, इसीलिये वह दुर्बुद्धि वानर प्रतिज्ञा करके भी उसका कुछ ख्याल नहीं कर रहा है ॥ ६९ ॥

स किष्किन्धां प्रविश्य त्वं ब्रूहि वानरपुङ्गवम् ।
मूर्खं ग्राम्यसुखे सक्तं सुग्रीवं वचनान्मम ॥ ७० ॥

'अतः लक्ष्मण ! तुम मेरी आज्ञासे किष्किन्धापुरीमें जाओ और विषय-भोगमें फँसे हुए मूर्ख वानरराज सुग्रीवसे इस प्रकार कहो—॥ ७० ॥

अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम् ।
आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः ॥ ७१ ॥

'जो बल-पराक्रमसे सम्पन्न तथा पहले ही उपकार करनेवाले कार्यार्थी पुरुषोंको प्रतिज्ञापूर्वक आशा देकर पीछे उसे तोड़ देता है, वह संसारके सभी पुरुषोंमें नीच है ॥ ७१ ॥

शुभं वा यदि वा पापं यो हि वाक्यमुदीरितम् ।
सत्येन परिगृह्णाति स वीरः पुरुषोत्तमः ॥ ७२ ॥

'जो अपने मुखसे प्रतिज्ञाके रूपमें निकले हुए भले या बुरे सभी तरहके वचनोंको अवश्य पालनीय समझकर सत्यकी रक्षाके उद्देश्यसे उनका पालन करता है, वह वीर समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ७२ ॥

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान् नोपभुञ्जते ॥ ७३ ॥

'जो अपना स्वार्थ सिद्ध हो जानेपर, जिनके कार्य नहीं पूरे हुए हैं, उन मित्रोंके सहायक नहीं होते—उनके कार्यको सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करते, उन कृतघ्न पुरुषोंके मरनेपर मांसाहारी जन्तु भी उनका मांस नहीं खाते हैं ॥७३॥

नूनं काञ्चनपृष्ठस्य विकृष्टस्य मया रणे ।
द्रष्टुमिच्छसि चापस्य रूपं विद्युद्गणोपमम् ॥ ७४ ॥

'सुग्रीव ! निश्चय ही तुम युद्धमें मेरेद्वारा खींचे गये सोनेकी पीठवाले धनुषका कौंधती हुई बिजलीके समान रूप देखना चाहते हो ॥ ७४ ॥

घोरं ज्यातलनिर्घोषं क्रुद्धस्य मम संयुगे ।
निर्घोषमिव वज्रस्य पुनः संश्रोतुमिच्छसि ॥ ७५ ॥

'संग्राममें कुपित होकर मेरेद्वारा खींची गयी प्रत्यञ्चाकी भयंकर टङ्कारको, जो वज्रकी गड़गड़ाहटको भी मात करनेवाली है, अब फिर तुम्हें सुननेकी इच्छा हो रही है ॥ ७५ ॥

काममेवंगतेऽप्यस्य परिज्ञाते पराक्रमे ।
त्वत्सहायस्य मे वीर न चिन्ता स्यान्नृपात्मज ॥ ७६ ॥

'वीर राजकुमार ! सुग्रीवको तुम-जैसे सहायकके साथ रहनेवाले मेरे पराक्रमका ज्ञान हो चुका है, ऐसी दशामें भी यदि उसे यह चिन्ता न हो कि ये वालीकी भाँति मुझे मार सकते हैं तो यह आश्चर्यकी ही बात है ! ॥ ७६ ॥

यदर्थमयमारम्भः कृतः परपुरंजय ।
समयं नाभिजानाति कृतार्थः प्लवगेश्वरः ॥ ७७ ॥

'शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले लक्ष्मण ! जिसके लिये यह मित्रता आदिका सारा आयोजन किया गया, सीताकी खोजविषयक उस प्रतिज्ञाको इस समय वानरराज सुग्रीव भूल गया है—उसे याद नहीं कर रहा है; क्योंकि उसका अपना काम सिद्ध हो चुका ॥ ७७ ॥

वर्षाः समयकालं तु प्रतिज्ञाय हरीश्वरः ।
व्यतीतांश्चतुरो मासान् विहरन् नावबुध्यते ॥ ७८ ॥

'सुग्रीवने यह प्रतिज्ञा की थी कि वर्षाका अन्त होते ही सीताकी खोज आरम्भ कर दी जायगी, किंतु वह क्रीड़ा-विहारमें इतना तन्मय हो गया है कि इन बीते हुए चार महीनोंका उसे कुछ पता ही नहीं है ॥ ७८ ॥

सामात्यपरिषत्क्रीडन् पानमेवोपसेवते ।
शोकदीनेषु नास्मासु सुग्रीवः कुरुते दयाम् ॥ ७९ ॥

'सुग्रीव मन्त्रियों तथा परिजनोंसहित क्रीडाजनित आमोद-प्रमोदमें फँसकर विविध पेय पदार्थोंका ही सेवन कर रहा है। हमलोग शोकसे व्याकुल हो रहे हैं तो भी वह हमपर दया नहीं करता है ॥ ७९ ॥

उच्यतां गच्छ सुग्रीवस्त्वया वीर महाबल ।
मम रोषस्य यद्रूपं ब्रूयाश्चैनमिदं वचः ॥ ८० ॥

'महाबली वीर लक्ष्मण ! तुम जाओ। सुग्रीवसे बात करो। मेरे रोषका जो स्वरूप है, वह उसे बताओ और मेरा यह संदेश भी कह सुनाओ ॥ ८० ॥

न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥ ८१ ॥

'सुग्रीव ! वाली मारा जाकर जिस रास्तेसे गया है, वह आज भी बंद नहीं हुआ है। इसलिये तुम अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहो। वालीके मार्गका अनुसरण न करो ॥ ८१ ॥

एक एव रणे वाली शरेण निहतो मया ।
त्वां तु सत्यादतिक्रान्तं हनिष्यामि सबान्धवम् ॥ ८२ ॥

'वाली तो रणक्षेत्रमें अकेला ही मेरे बाणसे मारा गया था, परंतु यदि तुम सत्यसे विचलित हुए तो मैं तुम्हें बन्धु-बान्धवोंसहित कालके गालमें डाल दूँगा ॥ ८२ ॥

यदेवं विहिते कार्ये यद्धितं पुरुषर्षभ ।
तत् तद् ब्रूहि नरश्रेष्ठ त्वर कालव्यतिक्रमः ॥ ८३ ॥

'पुरुषप्रवर ! नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! जब इस तरह कार्य बिगड़ने लगे, ऐसे अवसरपर और भी जो-जो बातें कहनी उचित हों—जिनके कहनेसे अपना हित होता हो, वे सब बातें कहना। जल्दी करो; क्योंकि कार्य आरम्भ करनेका समय बीता जा रहा है ॥ ८३ ॥

कुरुष्व सत्यं मम वानरेश्वर
प्रतिश्रुतं धर्ममवेक्ष्य शाश्वतम्।
मा वालिनं प्रेतगतो यमक्षये
त्वमद्य पश्येर्मम चोदितः शरैः॥ ८४॥

'सुग्रीवसे कहो—'वानरराज! तुम सनातन धर्मपर दृष्टि रखकर अपनी की हुई प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखाओ, अन्यथा ऐसा न हो कि तुम्हें आज ही मेरे बाणोंसे प्रेरित हो प्रेतभावको प्राप्त होकर यमलोकमें वालीका दर्शन करना पड़े'॥

स पूर्वजं तीव्रविवृद्धकोपं
लालप्यमानं प्रसमीक्ष्य दीनम्।
चकार तीव्रां मतिमुग्रतेजा
हरीश्वरे मानववंशवर्धनः॥ ८५॥

मानव-वंशकी वृद्धि करनेवाले उग्र तेजस्वी लक्ष्मणने जब अपने बड़े भाईको दुखी, बढ़े हुए तीव्र रोषसे युक्त तथा अधिक बोलते देखा, तब वानरराज सुग्रीवके प्रति कठोर भाव धारण कर लिया॥ ८५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिंशः सर्गः॥ ३०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३०॥

एकत्रिंशः सर्गः

सुग्रीवपर लक्ष्मणका रोष, श्रीरामका उन्हें समझाना, लक्ष्मणका किष्किन्धाके द्वारपर जाकर अङ्गदको सुग्रीवके पास भेजना, वानरोंका भय तथा प्लक्ष और प्रभावका सुग्रीवको कर्तव्यका उपदेश देना

स कामिनं दीनमदीनसत्त्वं
शोकाभिपन्नं समुदीर्णकोपम्।
नरेन्द्रसूनुर्नरदेवपुत्रं
रामानुजः पूर्वजमित्युवाच॥ १॥

श्रीरामके छोटे भाई नरेन्द्रकुमार लक्ष्मणने उस समय सीताकी कामनासे युक्त, दुखी, उदारहृदय, शोकग्रस्त तथा बढ़े हुए रोषवाले ज्येष्ठ भ्राता महाराजपुत्र श्रीरामसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

न वानरः स्थास्यति साधुवृत्ते
न मन्यते कर्मफलानुषङ्गान्।
न भोक्ष्यते वानरराज्यलक्ष्मीं
तथा हि नातिक्रमतेऽस्य बुद्धिः॥ २॥

'आर्य! सुग्रीव वानर है, वह श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये उचित सदाचारपर स्थिर नहीं रह सकेगा। सुग्रीव इस बातको भी नहीं मानता है कि अग्निको साक्षी देकर श्रीरघुनाथजीके साथ मित्रता-स्थापनरूप जो सत्-कर्म किया गया है, उसीके फलसे मुझे निष्कण्टक राज्यभोग प्राप्त हुए हैं। अतः वह वानरोंकी राज्य-लक्ष्मीका पालन एवं उपभोग नहीं कर सकेगा; क्योंकि उसकी बुद्धि मित्रधर्मके पालनके लिये अधिक आगे नहीं बढ़ रही है॥ २॥

मतिक्षयाद् ग्राम्यसुखेषु सक्त-
स्तव प्रसादात् प्रतिकारबुद्धिः।
हतोऽग्रजं पश्यतु वीरवालिनं
न राज्यमेवं विगुणस्य देयम्॥ ३॥

'सुग्रीवकी बुद्धि मारी गयी है, इसलिये वह विषयभोगोंमें आसक्त हो गया है। आपकी कृपासे जो उसे राज्य आदिका लाभ हुआ है, उस उपकारका बदला चुकानेकी उसकी नीयत नहीं है। अतः अब वह भी मारा जाकर अपने बड़े भाई वीरवर वालीका दर्शन करे। ऐसे गुणहीन पुरुषको राज्य नहीं देना चाहिये॥ ३॥

न धारये कोपमुदीर्णवेगं
निहन्मि सुग्रीवमसत्यमद्य।
हरिप्रवीरैः सह वालिपुत्रो
नरेन्द्रपुत्र्या विचयं करोतु॥ ४॥

'मेरे क्रोधका वेग बढ़ा हुआ है। मैं इसे रोक नहीं सकता। असत्यवादी सुग्रीवको आज ही मार डालता हूँ। अब वालिकुमार अङ्गद ही राजा होकर प्रधान वानरवीरोंके साथ राजकुमारी सीताकी खोज करें'॥ ४॥

तमात्तबाणासनमुत्पतन्तं
निवेदितार्थं रणचण्डकोपम्।
उवाच रामः परवीरहन्ता
स्ववीक्षितं सानुनयं च वाक्यम्॥ ५॥

यों कहकर लक्ष्मण धनुष-बाण हाथमें ले बड़े वेगसे चल पड़े। उन्होंने अपने जानेका प्रयोजन स्पष्ट शब्दोंमें निवेदन कर दिया था। युद्धके लिये उनका प्रचण्ड कोप बढ़ा हुआ था तथा वे क्या करने जा रहे हैं, इसपर उन्होंने अच्छी तरह विचार नहीं किया था। उस समय विपक्षी वीरोंका संहार करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें शान्त करनेके लिये यह अनुनययुक्त बात कही—॥ ५॥

नहि वै त्वद्विधो लोके पापमेवं समाचरेत्।
कोपमार्येण यो हन्ति स वीरः पुरुषोत्तमः॥ ६॥

'सुमित्रानन्दन! तुम-जैसे श्रेष्ठ पुरुषको संसारमें ऐसा

(मित्रवधरूप) निषिद्ध आचरण नहीं करना चाहिये। जो उत्तम विवेकके द्वारा अपने क्रोधको मार देता है, वह वीर समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

नेदमत्र त्वया ग्राह्यं साधुवृत्तेन लक्ष्मण।
तां प्रीतिमनुवर्तस्व पूर्ववृत्तं च संगतम् ॥ ७ ॥

'लक्ष्मण! तुम सदाचारी हो। तुम्हें इस प्रकार सुग्रीवके मारनेका निश्चय नहीं करना चाहिये। उनके प्रति जो तुम्हारा प्रेम था, उसीका अनुसरण करो और उनके साथ पहले जो मित्रता की गयी है, उसे निबाहो ॥ ७ ॥

सामोपहितया वाचा रूक्षाणि परिवर्जयन्।
वक्तुमर्हसि सुग्रीवं व्यतीतं कालपर्यये ॥ ८ ॥

'तुम्हें सान्त्वनापूर्ण वाणीद्वारा कटु वचनोंका परित्याग करते हुए सुग्रीवसे इतना ही कहना चाहिये कि तुमने सीताकी खोजके लिये जो समय नियत किया था, वह बीत गया (फिर भी चुप क्यों बैठे हो') ॥ ८ ॥

सोऽग्रजेनानुशिष्टार्थो यथावत् पुरुषर्षभः।
प्रविवेश पुरीं वीरो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ ९ ॥

अपने बड़े भाईके इस प्रकार यथोचित रूपसे समझानेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पुरुषप्रवर वीर लक्ष्मणने किष्किन्धापुरीमें प्रवेश (करनेका विचार) किया ॥ ९ ॥

ततः शुभमतिः प्राज्ञो भ्रातुः प्रियहिते रतः।
लक्ष्मणः प्रतिसंरब्धो जगाम भवनं कपेः ॥ १० ॥

भाईके प्रिय और हितमें तत्पर रहनेवाले शुभ बुद्धिसे युक्त बुद्धिमान् लक्ष्मण रोषमें भरे हुए ही वानरराज सुग्रीवके भवनकी ओर चले ॥ १० ॥

शक्रबाणासनप्रख्यं धनुः कालान्तकोपमम्।
प्रगृह्य गिरिशृङ्गाभं मन्दरः सानुमानिव ॥ ११ ॥

उस समय वे इन्द्र-धनुषके समान तेजस्वी, काल और अन्तकके समान भयंकर तथा पर्वत-शिखरके समान विशाल धनुषको हाथमें लेकर शृङ्गसहित मन्दराचलके समान जान पड़ते थे ॥ ११ ॥

यथोक्तकारी वचनमुत्तरं चैव सोत्तरम्।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या मत्वा रामानुजस्तदा ॥ १२ ॥

श्रीरामके अनुज लक्ष्मण अपने बड़े भाईकी आज्ञाका यथोक्तरूपसे पालन करनेवाले तथा बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् थे। वे सुग्रीवसे जो बात कहते, सुग्रीव उसका जो कुछ उत्तर देते और उस उत्तरका भी ये जो कुछ उत्तर देते, उन सबको अच्छी तरह समझ-बूझकर वहाँसे प्रस्थित हुए थे ॥ १२ ॥

कामक्रोधसमुत्थेन भ्रातुः क्रोधाग्निना वृतः।
प्रभञ्जन इवाप्रीतः प्रययौ लक्ष्मणस्ततः ॥ १३ ॥

सीताकी खोजविषयक जो श्रीरामकी कामना थी और सुग्रीवकी असावधानीके कारण उसमें बाधा पड़नेसे जो उन्हें क्रोध हुआ था, उन दोनोंके कारण लक्ष्मणकी भी क्रोधाग्नि भड़क उठी थी। उस क्रोधाग्निसे घिरे हुए लक्ष्मण सुग्रीवके प्रति प्रसन्न नहीं थे। वे उसी अवस्थामें वायुके समान वेगसे चले ॥ १३ ॥

सालतालाश्वकर्णांश्च तरसा पातयन् बलात्।
पर्यस्यन् गिरिकूटानि द्रुमानन्यांश्च वेगितः ॥ १४ ॥

उनका वेग ऐसा बढ़ा हुआ था कि वे मार्गमें मिलनेवाले साल, ताल और अश्वकर्ण नामक वृक्षोंको उसी वेगसे बलपूर्वक गिराते तथा पर्वतशिखरों एवं अन्य वृक्षोंको उठा-उठाकर दूर फेंकते जाते थे ॥ १४ ॥

शिलाश्च शकलीकुर्वन् पद्भ्यां गज इवाशुगः।
दूरमेकपदं त्यक्त्वा ययौ कार्यवशाद् द्रुतम् ॥ १५ ॥

शीघ्रगामी हाथीके समान अपने पैरोंकी ठोकरसे शिलाओंको चूर-चूर करते और लंबी-लंबी डगें भरते हुए वे कार्यवश बड़ी तेजीके साथ चले ॥ १५ ॥

तामपश्यद् बलाकीर्णां हरिराजमहापुरीम्।
दुर्गामिक्ष्वाकुशार्दूलः किष्किन्धां गिरिसंकटे ॥ १६ ॥

इक्ष्वाकुकुलके सिंह लक्ष्मणने निकट जाकर वानरराज सुग्रीवकी विशाल पुरी किष्किन्धा देखी, जो पहाड़ोंके बीचमें बसी हुई थी। वानरसेनासे व्याप्त होनेके कारण वह पुरी दूसरोंके लिये दुर्गम थी ॥ १६ ॥

रोषात् प्रस्फुरमाणोष्ठः सुग्रीवं प्रति लक्ष्मणः।
ददर्श वानरान् भीमान् किष्किन्धायां बहिश्चरान् ॥ १७ ॥

उस समय लक्ष्मणके ओठ सुग्रीवके प्रति रोषसे फड़क रहे थे। उन्होंने किष्किन्धाके पास बहुतेरे भयंकर वानरोंको देखा, जो नगरके बाहर विचर रहे थे ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा वानराः सर्वे लक्ष्मणं पुरुषर्षभम्।
शैलशृङ्गाणि शतशः प्रवृद्धांश्च महीरुहान्।
जगृहुः कुञ्जरप्रख्या वानराः पर्वतान्तरे ॥ १८ ॥

उन वानरोंके शरीर हाथियोंके समान विशाल थे। उन समस्त वानरोंने पुरुषप्रवर लक्ष्मणको देखते ही पर्वतके अंदर विद्यमान सैकड़ों शैल-शिखर और बड़े-बड़े वृक्ष उठा लिये ॥

तान् गृहीतप्रहरणान् सर्वान् दृष्ट्वा तु लक्ष्मणः।
बभूव द्विगुणं क्रुद्धो बह्विन्धन इवानलः ॥ १९ ॥

उन सबको हथियार उठाते देख लक्ष्मण दूने क्रोधसे जल उठे, मानो जलती आगमें बहुत-सी सूखी लकड़ियाँ डाल दी गयी हों ॥ १९ ॥

तं ते भयपरीताङ्गाः क्षुब्धं दृष्ट्वा प्लवंगमाः।
कालमृत्युयुगान्ताभं शतशो विद्रुता दिशः ॥ २० ॥

क्षुब्ध हुए लक्ष्मण काल, मृत्यु तथा प्रलयकालीन

अग्निके समान भयंकर दिखायी देने लगे। उन्हें देखकर उन वानरोंके शरीर भयसे काँपने लगे और वे सैकड़ोंकी संख्यामें चारों दिशाओंमें भाग गये ॥ २० ॥

ततः सुग्रीवभवनं प्रविश्य हरिपुंगवाः।
क्रोधमागमनं चैव लक्ष्मणस्य न्यवेदयन् ॥ २१ ॥

तदनन्तर कई श्रेष्ठ वानरोंने सुग्रीवके महलमें जाकर लक्ष्मणके आगमन और क्रोधका समाचार निवेदन किया ॥ २१ ॥

तारया सहितः कामी सक्तः कपिवृषस्तदा।
न तेषां कपिसिंहानां शुश्राव वचनं तदा ॥ २२ ॥

उस समय कामके अधीन हुए वानरराज सुग्रीव भोगासक्त हो ताराके साथ थे। इसलिये उन्होंने उन श्रेष्ठ वानरोंकी बातें नहीं सुनीं ॥ २२ ॥

ततः सचिवसंदिष्टा हरयो रोमहर्षणाः।
गिरिकुञ्जरमेघाभा नगरान्निर्ययुस्तदा ॥ २३ ॥

तब सचिवकी आज्ञासे पर्वत, हाथी और मेघके समान विशालकाय वानर, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाले थे, नगरसे बाहर निकले ॥ २३ ॥

नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे वीरा विकृतदर्शनाः।
सर्वे शार्दूलदंष्ट्राश्च सर्वे विवृतदर्शनाः ॥ २४ ॥

वे सब-के-सब वीर थे। नख और दाँत ही उनके आयुध थे। वे बड़े विकराल दिखायी देते थे। उन सबकी दाढ़ें व्याघ्रोंकी दाढ़ोंके समान थीं और सबके नेत्र खुले हुए थे (अथवा उन सबका वहाँ स्पष्ट दर्शन होता था—कोई छिपे नहीं थे) ॥ २४ ॥

दशनागबलाः केचित् केचिद् दशगुणोत्तराः।
केचिन्नागसहस्रस्य बभूवुस्तुल्यवर्चसः ॥ २५ ॥

किन्हींमें दस हाथियोंके बराबर बल था तो कोई सौ हाथियोंके समान बलशाली थे तथा किन्हीं-किन्हींका तेज (बल और पराक्रम) एक हजार हाथियोंके तुल्य था ॥ २५ ॥

ततस्तैः कपिभिर्व्याप्तां द्रुमहस्तैर्महाबलैः।
अपश्यल्लक्ष्मणः क्रुद्धः किष्किन्धां तां दुरासदाम् ॥ २६ ॥

हाथमें वृक्ष लिये उन महाबली वानरोंसे व्याप्त हुई किष्किन्धापुरी अत्यन्त दुर्जय दिखायी देती थी। लक्ष्मणने कुपित होकर उस पुरीकी ओर देखा ॥ २६ ॥

ततस्ते हरयः सर्वे प्राकारपरिखान्तरात्।
निष्क्रम्योदग्रसत्त्वास्तु तस्थुराविष्कृतं तदा ॥ २७ ॥

तदनन्तर वे सभी महाबली वानर पुरीकी चहारदिवारी और खाईके भीतरसे निकलकर प्रकटरूपसे सामने आकर खड़े हो गये ॥ २७ ॥

सुग्रीवस्य प्रमादं च पूर्वजस्यार्थमात्मवान्।
दृष्ट्वा क्रोधवशं वीरः पुनरेव जगाम सः ॥ २८ ॥

आत्मसंयमी वीर लक्ष्मण सुग्रीवके प्रमाद तथा अपने बड़े भाईके महत्त्वपूर्ण कार्यपर दृष्टिपात करके पुनः वानरराजके प्रति क्रोधके वशीभूत हो गये ॥ २८ ॥

स दीर्घोष्णमहोच्छ्वासः कोपसंरक्तलोचनः।
बभूव नरशार्दूलः सधूम इव पावकः ॥ २९ ॥

वे अधिक गरम और लंबी साँस खींचने लगे। उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। उस समय पुरुषसिंह लक्ष्मण धूमयुक्त अग्निके समान प्रतीत हो रहे थे ॥ २९ ॥

बाणशल्यस्फुरज्जिह्वः सायकासनभोगवान्।
स्वतेजोविषसम्भूतः पञ्चास्य इव पन्नगः ॥ ३० ॥

इतना ही नहीं, वे पाँच मुखवाले सर्पके समान दिखायी देने लगे। बाणका फल ही उस सर्पकी लपलपाती हुई जिह्वा जान पड़ता था, धनुष ही उसका विशाल शरीर था तथा वे सर्परूपी लक्ष्मण अपने तेजोमय विषसे व्याप्त हो रहे थे ॥ ३० ॥

तं दीप्तमिव कालाग्निं नागेन्द्रमिव कोपितम्।
समासाद्याङ्गदस्त्रासाद् विषादमगमत् परम् ॥ ३१ ॥

उस अवसरपर कुमार अङ्गद प्रज्वलित प्रलयाग्नि तथा क्रोधमें भरे हुए नागराज शेषकी भाँति दृष्टिगोचर होनेवाले लक्ष्मणके पास डरते-डरते गये। वे अत्यन्त विषादमें पड़ गये थे ॥ ३१ ॥

सोऽङ्गदं रोषताम्राक्षः संदिदेश महायशाः।
सुग्रीवः कथ्यतां वत्स ममागमनमित्युत ॥ ३२ ॥
एष रामानुजः प्राप्तस्त्वत्सकाशमरिंदम।
भ्रातुर्व्यसनसंतप्तो द्वारि तिष्ठति लक्ष्मणः ॥ ३३ ॥
तस्य वाक्यं यदि रुचिः क्रियतां साधु वानर।
इत्युक्त्वा शीघ्रमागच्छ वत्स वाक्यमरिंदम ॥ ३४ ॥

महायशस्वी लक्ष्मणने क्रोधसे लाल आँखें करके अङ्गदको आदेश दिया—'बेटा! सुग्रीवको मेरे आनेकी सूचना दो। उनसे कहना—शत्रुदमन वीर! श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई लक्ष्मण अपने भ्राताके दुःखसे दुःखी होकर आपके पास आये हैं और नगर-द्वारपर खड़े हैं। वानरराज! यदि आपकी इच्छा हो तो उनकी आज्ञाका अच्छी तरह पालन कीजिये। शत्रुदमन वत्स अङ्गद! बस, इतना ही कहकर तुम शीघ्र मेरे पास लौट आओ' ॥ ३२—३४ ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा शोकाविष्टोऽङ्गदोऽब्रवीत्।
पितुः समीपमागम्य सौमित्रिरयमागतः ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणकी बात सुनकर शोकाकुल अङ्गदने पिता सुग्रीवके समीप आकर कहा—'तात! ये सुमित्रानन्दन लक्ष्मण यहाँ पधारे हैं' ॥ ३५ ॥

अथाङ्गदस्तस्य सुतीव्रवाचा
सम्भ्रान्तभावः परिदीनवक्त्रः।

निर्गत्य पूर्वं नृपतेस्तरस्वी
ततो रुमायाश्चरणौ ववन्दे ॥ ३६ ॥

(अब इसी बातको कुछ विस्तारके साथ कहते हैं—) लक्ष्मणकी कठोर वाणीसे अङ्गदके मनमें बड़ी घबराहट हुई। उनके मुखपर अत्यन्त दीनता छा गयी। उन वेगशाली कुमारने वहाँसे निकलकर पहले वानरराज सुग्रीवके, फिर तारा तथा रुमाके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ३६ ॥

संगृह्य पादौ पितुरुग्रतेजा
जग्राह मातुः पुनरेव पादौ।
पादौ रुमायाश्च निपीडयित्वा
निवेदयामास ततस्तदर्थम् ॥ ३७ ॥

उग्र तेजवाले अङ्गदने पहले तो पिताके दोनों पैर पकड़े। फिर अपनी माता ताराके दोनों चरणोंका स्पर्श किया। तदनन्तर रुमाके दोनों पैर दबाये। इसके बाद पूर्वोक्त बात कही ॥ ३७ ॥

स निद्राक्लान्तसंवीतो वानरो न विबुद्धवान।
बभूव मदमत्तश्च मदनेन च मोहितः ॥ ३८ ॥

किंतु सुग्रीव मदमत्त एवं कामसे मोहित होकर पड़े थे। निद्राने उनके ऊपर पूरा अधिकार जमा लिया था। इसलिये वे जाग न सके ॥ ३८ ॥

ततः किलकिलां चक्रुर्लक्ष्मणं प्रेक्ष्य वानराः।
प्रसादयन्तस्तं क्रुद्धं भयमोहितचेतसः ॥ ३९ ॥

इतनेमें बाहर क्रोधमें भरे हुए लक्ष्मणको देखकर भयसे मोहितचित्त हुए वानर उन्हें प्रसन्न करनेके लिये दीनतासूचक वाणीमें किलकिलाने लगे ॥ ३९ ॥

ते महौघनिभं दृष्ट्वा वज्राशनिसमस्वनम्।
सिंहनादं समं चक्रुर्लक्ष्मणस्य समीपतः ॥ ४० ॥

लक्ष्मणपर दृष्टि पड़ते ही उन वानरोंने सुग्रीवके निकटवर्ती स्थानमें एक साथ ही महान् जलप्रवाह तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जोर-जोरसे सिंहनाद किया (जिससे सुग्रीव जाग उठें) ॥ ४० ॥

तेन शब्देन महता प्रत्यबुध्यत वानरः।
मदविह्वलताम्राक्षो व्याकुलः स्रग्विभूषणः ॥ ४१ ॥

वानरोंकी उस भयंकर गर्जनासे कपिराज सुग्रीवकी नींद खुल गयी। उस समय उनके नेत्र मदसे चञ्चल और लाल हो रहे थे। मन भी स्वस्थ नहीं था। उनके गलेमें सुन्दर पुष्पमाला शोभा दे रही थी ॥ ४१ ॥

अथाङ्गदवचः श्रुत्वा तेनैव च समागतौ।
मन्त्रिणौ वानरेन्द्रस्य सम्मतोदारदर्शनौ ॥ ४२ ॥
प्लक्षश्चैव प्रभावश्च मन्त्रिणावर्थधर्मयोः।
वक्तुमुच्चावचं प्राप्तं लक्ष्मणं तौ शशंसतुः ॥ ४३ ॥

अङ्गदकी पूर्वोक्त बात सुनकर उन्हींके साथ आये हुए दो मन्त्री प्लक्ष और प्रभावने भी, जो वानरराजके सम्मानपात्र और उदार दृष्टिवाले थे तथा राजाको अर्थ और धर्मके विषयमें ऊँच-नीच समझानेके लिये नियुक्त थे, लक्ष्मणके आगमनकी सूचना दी ॥ ४२-४३ ॥

प्रसादयित्वा सुग्रीवं वचनैः कार्यनिश्चितैः।
आसीनं पर्युपासीनौ यथा शक्रं मरुत्पतिम् ॥ ४४ ॥
सत्यसंधौ महाभागौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
मनुष्यभावं सम्प्राप्तौ राज्यार्हौ राज्यदायिनौ ॥ ४५ ॥

राजाके निकट बैठे हुए उन दोनों मन्त्रियोंने देवराज इन्द्रके समान बैठे हुए सुग्रीवको खूब सोच-विचार कर निश्चित किये हुए सार्थक वचनोंद्वारा प्रसन्न किया और इस प्रकार कहा—'राजन्! महाभाग श्रीराम और लक्ष्मण—दोनों भाई सत्यप्रतिज्ञ हैं। (वे वास्तवमें भगवत्स्वरूप हैं) उन्होंने स्वेच्छासे मनुष्य-शरीर धारण किया है। वे दोनों समस्त त्रिलोकीका राज्य चलानेके योग्य हैं। वे ही आपके राज्यदाता हैं ॥ ४४-४५ ॥

तयोरेको धनुष्पाणिर्द्वारि तिष्ठति लक्ष्मणः।
यस्य भीताः प्रवेपन्तो नादान् मुञ्चन्ति वानराः ॥ ४६ ॥

'उनमेंसे एक वीर लक्ष्मण हाथमें धनुष लिये किष्किन्धाके दरवाजेपर खड़े हैं, जिनके भयसे काँपते हुए वानर जोर-जोरसे चीख रहे हैं ॥ ४६ ॥

स एष राघवभ्राता लक्ष्मणो वाक्यसारथिः।
व्यवसायरथः प्राप्तस्तस्य रामस्य शासनात् ॥ ४७ ॥

'श्रीरामका आदेशवाक्य ही जिनका सारथि और कर्तव्यका निश्चय ही जिनका रथ है, वे लक्ष्मण श्रीरामकी आज्ञासे यहाँ पधारे हैं ॥ ४७ ॥

अयं च तनयो राजंस्ताराया दयितोऽङ्गदः।
लक्ष्मणेन सकाशं ते प्रेषितस्त्वरयानघ ॥ ४८ ॥

'राजन्! निष्पाप वानरराज! लक्ष्मणने तारादेवीके इन प्रिय पुत्र अङ्गदको आपके निकट बड़ी उतावलीके साथ भेजा है ॥ ४८ ॥

सोऽयं रोषपरीताक्षो द्वारि तिष्ठति वीर्यवान्।
वानरान् वानरपते चक्षुषा निर्दहन्निव ॥ ४९ ॥

'वानरपते! पराक्रमी लक्ष्मण क्रोधसे लाल आँखें किये नगरद्वारपर उपस्थित हैं और वानरोंकी ओर इस तरह देख रहे हैं, मानो वे अपनी नेत्राग्निसे उन्हें दग्ध कर डालेंगे ॥ ४९ ॥

तस्य मूर्ध्ना प्रणामं त्वं सपुत्रः सहबान्धवः।
गच्छ शीघ्रं महाराज रोषो ह्यद्योपशाम्यताम् ॥ ५० ॥

'महाराज! आप शीघ्र चलें तथा पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके साथ उनके चरणोंमें मस्तक नवावें और इस प्रकार आज उनका रोष शान्त करें ॥ ५० ॥

यथा हि रामो धर्मात्मा तत्कुरुष्व समाहितः।

राजंस्तिष्ठ स्वसमये भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ५१ ॥

'राजन्! धर्मात्मा श्रीराम जैसा कहते हैं, सावधानीके साथ उसका पालन कीजिये। आप अपनी दी हुई बातपर अटल रहिये और सत्यप्रतिज्ञ बनिये' ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीका चिन्तित हुए सुग्रीवको समझाना

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवः सचिवैः सह।
लक्ष्मणं कुपितं श्रुत्वा मुमोचासनमात्मवान् ॥ १ ॥

मन्त्रियोंसहित अङ्गदका वचन सुनकर और लक्ष्मणके कुपित होनेका समाचार पाकर मनको वशमें रखनेवाले सुग्रीव आसन छोड़कर खड़े हो गये ॥ १ ॥

स च तानब्रवीद् वाक्यं निश्चित्य गुरुलाघवम्।
मन्त्रज्ञान् मन्त्रकुशलो मन्त्रेषु परिनिष्ठितः ॥ २ ॥

वे मन्त्रणा (कर्तव्यविषयक विचार) के परिनिष्ठित विद्वान् होनेके कारण मन्त्रप्रयोगमें अत्यन्त कुशल थे। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीकी महत्ता और अपनी लघुताका विचार करके मन्त्रज्ञ मन्त्रियोंसे कहा—॥ २ ॥

न मे दुर्व्याहृतं किंचिन्नापि मे दुरनुष्ठितम्।
लक्ष्मणो राघवभ्राता क्रुद्धः किमिति चिन्तये ॥ ३ ॥

'मैंने न तो कोई अनुचित बात मुँहसे निकाली है और न कोई बुरा काम ही किया है। फिर श्रीरघुनाथजीके भ्राता लक्ष्मण मुझपर कुपित क्यों हुए हैं? इस बातपर मैं बारंबार विचार करता हूँ ॥ ३ ॥

असुहृद्भिर्ममामित्रैर्नित्यमन्तरदर्शिभिः।
मम दोषानसम्भूताञ्श्रावितो राघवानुजः ॥ ४ ॥

'जो सदा मेरे छिद्र देखनेवाले हैं तथा जिनका हृदय मेरे प्रति शुद्ध नहीं है, उन शत्रुओंने निश्चय ही श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई लक्ष्मणसे मेरे ऐसे दोष सुनाये हैं जो मेरे भीतर कभी प्रकट नहीं हुए थे ॥ ४ ॥

अत्र तावद् यथाबुद्धिः सर्वैरेव यथाविधि।
भावस्य निश्चयस्तावद् विज्ञेयो निपुणं शनैः ॥ ५ ॥

'लक्ष्मणके कोपके विषयमें पहले तुम सब लोगोंको धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उनके मनोभावका विधिवत् निश्चय कर लेना चाहिये, जिससे उनके कोपके कारणका यथार्थरूपसे ज्ञान हो जाय ॥ ५ ॥

न खल्वस्ति मम त्रासो लक्ष्मणान्नापि राघवात्।
मित्रं स्वस्थानकुपितं जनयत्येव सम्भ्रमम् ॥ ६ ॥

'अवश्य ही मुझे लक्ष्मणसे तथा श्रीरघुनाथजीसे कोई भय नहीं है, तथापि बिना अपराधके कुपित हुआ मित्र हृदयमें घबराहट उत्पन्न कर ही देता है ॥ ६ ॥

सर्वथा सुकरं मित्रं दुष्करं प्रतिपालनम्।
अनित्यत्वात् तु चित्तानां प्रीतिरल्पेऽपि भिद्यते ॥ ७ ॥

'किसीको मित्र बना लेना सर्वथा सुकर है, परंतु उस मैत्रीको पालना या निभाना बहुत ही कठिन है; क्योंकि मनका भाव सदा एक-सा नहीं रहता। किसीके द्वारा थोड़ी-सी भी चुगली कर दी जानेपर प्रेममें अन्तर आ जाता है ॥ ७ ॥

अतो निमित्तं त्रस्तोऽहं रामेण तु महात्मना।
यन्ममोपकृतं शक्यं प्रतिकर्तुं न तन्मया ॥ ८ ॥

'इसी कारण मैं और भी डर गया हूँ; क्योंकि महात्मा श्रीरामने मेरा जो उपकार किया है, उसका बदला चुकानेकी मुझमें शक्ति नहीं है' ॥ ८ ॥

सुग्रीवेणैवमुक्ते तु हनूमान् हरिपुंगवः।
उवाच स्वेन तर्केण मध्ये वानरमन्त्रिणाम् ॥ ९ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर वानरोंमें श्रेष्ठ हनुमान्‌जी अपनी युक्तिका सहारा लेकर वानरमन्त्रियोंके बीचमें बोले—॥ ९ ॥

सर्वथा नैतदाश्चर्यं यत् त्वं हरिगणेश्वर।
न विस्मरसि सुस्निग्धमुपकारं कृतं शुभम् ॥ १० ॥

'कपिराज! मित्रके द्वारा अत्यन्त स्नेहपूर्वक किये गये उत्तम उपकारको जो आप भूल नहीं रहे हैं, इसमें सर्वथा कोई आश्चर्यकी बात नहीं है (क्योंकि अच्छे पुरुषोंका ऐसा स्वभाव ही होता है) ॥ १० ॥

राघवेण तु वीरेण भयमुत्सृज्य दूरतः।
त्वत्प्रियार्थं हतो वाली शक्रतुल्यपराक्रमः ॥ ११ ॥
सर्वथा प्रणयात् क्रुद्धो राघवो नात्र संशयः।
भ्रातरं सम्प्रहितवाँल्लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ १२ ॥

'वीरवर श्रीरघुनाथजीने तो लोकापवादके भयको दूर हटाकर आपका प्रिय करनेके लिये इन्द्रतुल्य पराक्रमी वालीका वध किया है; अतः वे निःसंदेह आपपर कुपित नहीं हैं। श्रीरामचन्द्रजीने शोभा-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाले अपने भाई लक्ष्मणको जो आपके पास भेजा है, इसमें सर्वथा आपके प्रति उनका प्रेम ही कारण है ॥ ११-१२ ॥

त्वं प्रमत्तो न जानीषे कालं कालविदां वर।
फुल्लसप्तच्छदश्यामा प्रवृत्ता तु शरच्छुभा ॥ १३ ॥

'समयका ज्ञान रखनेवालोंमें श्रेष्ठ कपिराज ! आपने सीताकी खोज करनेके लिये जो समय निश्चित किया था, उसे आप इन दिनों प्रमादमें पड़ जानेके कारण भूल गये हैं । देखिये न, यह सुन्दर शरद्-ऋतु आरम्भ हो गयी है, जो खिले हुए छितवनके फूलोंसे श्यामवर्णकी प्रतीत होती है ॥

निर्मलग्रहनक्षत्रा द्यौः प्रणष्टबलाहका ।
प्रसन्नाश्च दिशः सर्वाः सरितश्च सरांसि च ॥ १४ ॥

'आकाशमें अब बादल नहीं रहे । ग्रह, नक्षत्र निर्मल दिखायी देते हैं । सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाश छा गया है तथा नदियों और सरोवरोंके जल पूर्णतः स्वच्छ हो गये हैं ॥१४॥

प्राप्तमुद्योगकालं तु नावैषि हरिपुंगव ।
त्वं प्रमत्त इति व्यक्तं लक्ष्मणोऽयमिहागतः ॥ १५ ॥

'वानरराज ! राजाओंके लिये विजय-यात्राकी तैयारी करनेका समय आ गया है; किंतु आपको कुछ पता ही नहीं है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आप प्रमादमें पड़ गये हैं । इसीलिये लक्ष्मण यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

आर्तस्य हृतदारस्य परुषं पुरुषान्तरात् ।
वचनं मर्षणीयं ते राघवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥

'महात्मा श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नीका अपहरण हुआ है, इसलिये वे बहुत दुखी हैं । अतः यदि लक्ष्मणके मुखसे उनका कठोर वचन भी सुनना पड़े तो आपको चुपचाप सह लेना चाहिये ॥ १६ ॥

कृतापराधस्य हि तेनान्यत् पश्याम्यहं क्षमम् ।
अन्तरेणाञ्जलिं बद्ध्वा लक्ष्मणस्य प्रसादनात् ॥ १७ ॥

'आपकी ओरसे अपराध हुआ है । अतः हाथ जोड़कर लक्ष्मणको प्रसन्न करनेके सिवा आपके लिये और कोई उचित कर्तव्य मैं नहीं देखता ॥ १७ ॥

नियुक्तैर्मन्त्रिभिर्वाच्यो ह्यवश्यं पार्थिवो हितम् ।
इत एव भयं त्यक्त्वा ब्रवीम्यवधृतं वचः ॥ १८ ॥

'राज्यकी भलाईके कामपर नियुक्त हुए मन्त्रियोंका यह कर्तव्य है कि राजाको उसके हितकी बात अवश्य बतावें । अतएव मैं भय छोड़कर अपना निश्चित विचार बता रहा हूँ ॥ १८ ॥

अभिक्रुद्धः समर्थो हि चापमुद्यम्य राघवः ।
सदेवासुरगन्धर्वं वशे स्थापयितुं जगत् ॥ १९ ॥

'भगवान् श्रीराम यदि क्रोध करके धनुष हाथमें ले लें तो देवता-असुर-गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को अपने वशमें कर सकते हैं ॥ १९ ॥

न स क्षमः कोपयितुं यः प्रसाद्यः पुनर्भवेत् ।
पूर्वोपकारं स्मरता कृतज्ञेन विशेषतः ॥ २० ॥

'जिसे पीछे हाथ जोड़कर मनाना पड़े, ऐसे पुरुषको क्रोध दिलाना कदापि उचित नहीं है । विशेषतः वह पुरुष जो मित्रके किये हुए पहले उपकारको याद रखता हो और कृतज्ञ हो, इस बातका अधिक ध्यान रखे ॥ २० ॥

तस्य मूर्ध्ना प्रणम्य त्वं सपुत्रः ससुहृज्जनः ।
राजंस्तिष्ठ स्वसमये भर्तुर्भार्येव तद्वशे ॥ २१ ॥

'राजन् ! इसलिये आप पुत्र और मित्रोंके साथ मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम कीजिये और अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहिये । जैसे पत्नी अपने पतिके वशमें रहती है, उसी प्रकार आप सदा श्रीरामचन्द्रजीके अधीन रहिये ॥ २१ ॥

न रामरामानुजशासनं त्वया
कपीन्द्र युक्तं मनसाप्यपोहितुम् ।
मनो हि ते ज्ञास्यति मानुषं बलं
सराघवस्यास्य सुरेन्द्रवर्चसः ॥ २२ ॥

'वानरराज ! श्रीराम और लक्ष्मणके आदेशकी आपको मनसे भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीके अलौकिक बलका ज्ञान तो आपके मनको है ही' ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

लक्ष्मणका किष्किन्धापुरीकी शोभा देखते हुए सुग्रीवके महलमें प्रवेश करके क्रोधपूर्वक धनुषको टंकारना, भयभीत सुग्रीवका ताराको उन्हें शान्त करनेके लिये भेजना तथा ताराका समझा-बुझाकर उन्हें अन्तःपुरमें ले आना

अथ प्रतिसमादिष्टो लक्ष्मणः परवीरहा ।
प्रविवेश गुहां रम्यां किष्किन्धां रामशासनात् ॥ १ ॥

इधर गुफामें प्रवेश करनेके लिये अङ्गदके प्रार्थना करनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार किष्किन्धानामक रमणीय गुफामें प्रवेश किया ॥ १ ॥

द्वारस्था हरयस्तत्र महाकाया महाबलाः ।
बभूवुर्लक्ष्मणं दृष्ट्वा सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ॥ २ ॥

किष्किन्धाके द्वारपर जो विशाल शरीरवाले महाबली वानर थे, वे सब लक्ष्मणको देख हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ २ ॥

निःश्वसन्तं तु तं दृष्ट्वा क्रुद्धं दशरथात्मजम्।
बभूवुर्हरयस्त्रस्ता न चैनं पर्यवारयन्॥ ३॥

दशरथनन्दन लक्ष्मणको क्रोधपूर्वक लंबी साँस खींचते देख वे सब वानर अत्यन्त भयभीत हो गये थे। इसलिये वे उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनके साथ-साथ नहीं चल सके॥३॥

स तां रत्नमयीं दिव्यां श्रीमान् पुष्पितकाननाम्।
रम्यां रत्नसमाकीर्णां ददर्श महतीं गुहाम्॥ ४॥

श्रीमान् लक्ष्मणने द्वारके भीतर प्रवेश करके देखा, किष्किन्धापुरी एक बहुत बड़ी रमणीय गुफाके रूपमें बसी हुई है। वह रत्नमयी पुरी नाना प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी होनेके कारण दिव्य शोभासे सम्पन्न है। वहाँके वन-उपवन फूलोंसे सुशोभित दिखायी दिये॥ ४॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधां नानारत्नोपशोभिताम्।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभिताम्॥ ५॥

हर्म्यों (धनियोंकी अट्टालिकाओं) तथा प्रासादों (देवमन्दिरों और राजभवनों) से वह पुरी अत्यन्त घनी दिखायी देती थी। नाना प्रकारके रत्न उसकी शोभा बढ़ाते थे। सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले फलोंसे युक्त खिले हुए वृक्षोंसे वह पुरी सुशोभित थी॥ ५॥

देवगन्धर्वपुत्रैश्च वानरैः कामरूपिभिः।
दिव्यमाल्याम्बरधरैः शोभितां प्रियदर्शनैः॥ ६॥

वहाँ दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करनेवाले परम सुन्दर वानर, जो देवताओं और गन्धर्वोंके पुत्र तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे, निवास करते हुए उस नगरीकी शोभा बढ़ाते थे॥ ६॥

चन्दनागुरुपद्मानां गन्धैः सुरभिगन्धिताम्।
मैरेयाणां मधूनां च सम्मोदितमहापथाम्॥ ७॥

वहाँ चन्दन, अगर और कमलोंकी मनोहर सुगन्ध छा रही थी। उस पुरीकी लंबी-चौड़ी सड़कें भी मैरेय तथा मधुके आमोदसे महक रही थीं॥ ७॥

विन्ध्यमेरुगिरिप्रख्यैः प्रासादैर्नैकभूमिभिः।
ददर्श गिरिनद्यश्च विमलास्तत्र राघवः॥ ८॥

उस पुरीमें विन्ध्याचल तथा मेरुके समान ऊँचे-ऊँचे महल बने थे, जो कई मंजिलके थे। लक्ष्मणने उस गुफाके निकट ही निर्मल जलसे भरी हुई पहाड़ी नदियाँ देखीं॥ ८॥

अङ्गदस्य गृहं रम्यं मैन्दस्य द्विविदस्य च।
गवयस्य गवाक्षस्य गजस्य शरभस्य च॥ ९॥
विद्युन्मालेश्च सम्पातेः सूर्याक्षस्य हनूमतः।
वीरबाहोः सुबाहोश्च नलस्य च महात्मनः॥ १०॥
कुमुदस्य सुषेणस्य तारजाम्बवतोस्तथा।
दधिवक्त्रस्य नीलस्य सुपाटलसुनेत्रयोः॥ ११॥
एतेषां कपिमुख्यानां राजमार्गे महात्मनाम्।
ददर्श गृहमुख्यानि महासाराणि लक्ष्मणः॥ १२॥

उन्होंने राजमार्गपर अङ्गदका रमणीय भवन देखा। साथ ही वहाँ मैन्द, द्विविद, गवय, गवाक्ष, गज, शरभ, विद्युन्माली, सम्पाति, सूर्याक्ष, हनुमान्, वीरबाहु, सुबाहु, महात्मा नल, कुमुद, सुषेण, तार, जाम्बवान्, दधिमुख, नील, सुपाटल और सुनेत्र—इन महामनस्वी वानरशिरोमणियोंके भी अत्यन्त सुदृढ़ श्रेष्ठ भवन लक्ष्मणको दृष्टिगोचर हुए। वे सब-के-सब राजमार्गपर ही बने हुए थे॥ ९—१२॥

पाण्डुराभ्रप्रकाशानि गन्धमाल्ययुतानि च।
प्रभूतधनधान्यानि स्त्रीरत्नैः शोभितानि च॥ १३॥

वे सभी भवन श्वेत बादलोंके समान प्रकाशित हो रहे थे। उन्हें सुगन्धित पुष्पमालाओंसे सजाया गया था। वे प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न तथा रत्नस्वरूपा रमणियोंसे सुशोभित थे॥ १३॥

पाण्डुरेण तु शैलेन परिक्षिप्तं दुरासदम्।
वानरेन्द्रगृहं रम्यं महेन्द्रसदनोपमम्॥ १४॥

वानरराज सुग्रीवका सुन्दर भवन इन्द्रसदनके समान रमणीय दिखायी देता था। उसमें प्रवेश करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन था। वह श्वेत पर्वतकी चहारदीवारीसे घिरा हुआ था॥ १४॥

शुक्लैः प्रासादशिखरैः कैलासशिखरोपमैः।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभितम्॥ १५॥

कैलास-शिखरके समान श्वेत प्रासाद-शिखर तथा समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले फलोंसे युक्त पुष्पित दिव्य वृक्ष उस राजभवनकी शोभा बढ़ाते थे॥ १५॥

महेन्द्रदत्तैः श्रीमद्भिर्नीलजीमूतसंनिभैः।
दिव्यपुष्पफलैर्वृक्षैः शीतच्छायैर्मनोरमैः॥ १६॥

वहाँ इन्द्रके दिये हुए दिव्य फल-फूलोंसे सम्पन्न मनोरम वृक्ष लगाये गये थे, जो परम सुन्दर, नीले मेघके समान श्याम तथा शीतल छायासे युक्त थे॥ १६॥

हरिभिः संवृतद्वारं बलिभिः शस्त्रपाणिभिः।
दिव्यमाल्यावृतं शुभ्रं तप्तकाञ्चनतोरणम्॥ १७॥

अनेक बलवान् वानर हाथोंमें हथियार लिये उसकी ड्योढ़ीपर पहरा दे रहे थे। वह सुन्दर महल दिव्य मालाओंसे अलंकृत था और उसका बाहरी फाटक पक्के सोनेका बना हुआ था॥ १७॥

सुग्रीवस्य गृहं रम्यं प्रविवेश महाबलः।
अवार्यमाणः सौमित्रिर्महाभ्रमिव भास्करः॥ १८॥

महाबली सुमित्राकुमार लक्ष्मणने सुग्रीवके उस रमणीय भवनमें प्रवेश किया। मानो सूर्यदेव महान् मेघके भीतर प्रविष्ट हुए हों। उस समय किसीने रोक-टोक नहीं की॥१८॥

स सप्त कक्ष्या धर्मात्मा यानासनसमावृताः।
ददर्श सुमहद्गुप्तं ददर्शान्तःपुरं महत्॥ १९॥

धर्मात्मा लक्ष्मणने सवारियों तथा विविध आसनोंसे सुशोभित उस भवनकी सात ड्योढ़ियोंको पार करके बहुत ही गुप्त और विशाल अन्तःपुरको देखा ॥ १९ ॥

हैमराजतपर्यङ्कैर्बहुभिश्च वरासनैः ।
महार्हास्तरणोपेतैस्तत्र तत्र समावृतम् ॥ २० ॥

उसमें जहाँ-तहाँ चाँदी और सोनेके बहुतसे पलंग तथा अनेकानेक श्रेष्ठ आसन रक्खे हुए थे और उन सबपर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे । उन सबसे वह अन्तःपुर सुसज्जित दिखायी देता था ॥ २० ॥

प्रविशन्नेव सततं शुश्राव मधुरस्वनम् ।
तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समतालपदाक्षरम् ॥ २१ ॥

उसमें प्रवेश करते ही लक्ष्मणके कानोंमें संगीतकी मीठी तान सुनायी पड़ी, जो वहाँ निरन्तर गूँज रही थी । वीणाके लयपर कोई कोमल कण्ठसे गा रहा था । प्रत्येक पद और अक्षरका उच्चारण सम[1] तालका प्रदर्शन करते हुए हो रहा था ॥ २१ ॥

बह्वीश्च विविधाकारा रूपयौवनगर्विताः ।
स्त्रियः सुग्रीवभवने ददर्श स महाबलः ॥ २२ ॥

महाबली लक्ष्मणने सुग्रीवके उस अन्तःपुरमें अनेक रूपरंगकी बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ देखीं, जो रूप और यौवनके गर्वसे भरी हुई थीं ॥ २२ ॥

दृष्ट्वाभिजनसम्पन्नास्तत्र माल्यकृतस्रजः ।
वरमाल्यकृतव्यग्रा भूषणोत्तमभूषिताः ॥ २३ ॥
नातृप्तान् नाति चाव्यग्रान् नानुदात्तपरिच्छदान् ।
सुग्रीवानुचरांश्चापि लक्षयामास लक्ष्मणः ॥ २४ ॥

वे सब-की-सब उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई थीं, फूलोंके गजरोंसे अलंकृत थीं, उत्तम पुष्पहारोंके निर्माणमें लगी हुई थीं और सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित थीं । उन सबको देखकर लक्ष्मणने सुग्रीवके सेवकोंपर भी दृष्टिपात किया, जो अतृप्त या असंतुष्ट नहीं थे । स्वामीके कार्य सिद्ध करनेके लिये अत्यन्त फुर्तीकी भी उनमें कमी नहीं थी तथा उनके वस्त्र और आभूषण भी निम्न श्रेणीके नहीं थे ॥ २३-२४ ॥

कूजितं नूपुराणां च काञ्चीनां निःस्वनं तथा ।
स निशम्य ततः श्रीमान् सौमित्रिर्लज्जितोऽभवत् ॥ २५ ॥

नूपुरोंकी झनकार और करधनीकी खनखनाहट सुनकर श्रीमान् सुमित्राकुमार लज्जित हो गये (परायी स्त्रियोंपर दृष्टि पड़नेके कारण उन्हें स्वभावतः संकोच हुआ) ॥ २५ ॥

रोषवेगप्रकुपितः श्रुत्वा चाभरणस्वनम् ।
चकार ज्यास्वनं वीरो दिशः शब्देन पूरयन् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् पुनः आभूषणोंकी झनकार सुनकर वीर लक्ष्मण रोषके आवेगसे और भी कुपित हो उठे और उन्होंने अपने धनुषपर टंकार दी, जिसकी ध्वनिसे समस्त दिशाएँ गूँज उठीं ॥ २६ ॥

चारित्रेण महाबाहुरपकृष्टः स लक्ष्मणः ।
तस्थावेकान्तमाश्रित्य रामकोपसमन्वितः ॥ २७ ॥

रघुकुलोचित सदाचारका ख्याल करके महाबाहु लक्ष्मण कुछ पीछे हट गये और एकान्तमें जाकर खड़े हो गये । श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये वहाँ कोई प्रयत्न होता न देख वे मन-ही-मन कुपित हो रहे थे ॥ २७ ॥

तेन चापस्वनेनाथ सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
विज्ञायागमनं त्रस्तः स चचाल वरासनात् ॥ २८ ॥

धनुषकी टंकार सुनकर वानरराज सुग्रीव समझ गये कि लक्ष्मण यहाँतक आ पहुँचे हैं । फिर तो वे भयसे संत्रस्त होकर अपना सिंहासन छोड़कर खड़े हो गये ॥ २८ ॥

अङ्गदेन यथा मह्यं पुरस्तात् प्रतिवेदितम् ।
सुव्यक्तमेष सम्प्राप्तः सौमित्रिर्भ्रातृवत्सलः ॥ २९ ॥

वे मन-ही-मन सोचने लगे कि अङ्गदने पहले मुझे जैसा बताया था, उसके अनुसार ये भ्रातृवत्सल सुमित्राकुमार लक्ष्मण अवश्य ही यहाँ आ गये ॥ २९ ॥

अङ्गदेन समाख्यातो ज्यास्वनेन च वानरः ।
बुबुधे लक्ष्मणं प्राप्तं मुखं चास्य व्यशुष्यत ॥ ३० ॥

अङ्गदके द्वारा उनके आगमनका समाचार तो उन्हें पहले ही मिल गया था । अब धनुषकी टंकारसे वानर सुग्रीवको इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव हो गया कि लक्ष्मणने अवश्य यहाँ पदार्पण किया है फिर तो उनका मुख सूख गया ॥ ३० ॥

ततस्तारां हरिश्रेष्ठः सुग्रीवः प्रियदर्शनाम् ।
उवाच हितमव्यग्रस्त्राससम्भ्रान्तमानसः ॥ ३१ ॥

भयके कारण वे मन-ही-मन घबरा उठे । (लक्ष्मणके सामने जानेका उन्हें साहस न हुआ ।) तथापि किसी तरह धैर्य धारण करके वानरश्रेष्ठ सुग्रीव परम सुन्दरी तारासे हितकी बात बोले—॥ ३१ ॥

किं नु रुट्कारणं सुभ्रु प्रकृत्या मृदुमानसः ।
सरोष इव सम्प्राप्तो येनायं राघवानुजः ॥ ३२ ॥

'सुन्दरी ! इनके रोषका क्या कारण हो सकता है ? जिससे स्वभावतः कोमल चित्त होनेपर भी ये श्रीरघुनाथजीके छोटे भाई रुष्ट-से होकर यहाँ पधारे हैं ॥ ३२ ॥

---

१. संगीतमें वह स्थान जहाँ गाने-बजानेवालोंका सिर या हाथ आप-से-आप हिल जाता है । यह स्थान तालके अनुसार निश्चित होता है । जैसे तितालेमें दूसरे तालपर और चौतालमें पहले तालपर सम होता है । इसी प्रकार भिन्न-भिन्न तालोंमें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर सम होता है । वाद्योंका आरम्भ और गीतों तथा वाद्योंका अन्त इसी समपर होता है । परंतु गाने-बजानेके बीच-बीचमें भी सम बराबर आता रहता है ।

किं पश्यसि कुमारस्य रोषस्थानमनिन्दिते।
न खल्वकारणे कोपमाहरेन्नरपुंगवः ॥ ३३ ॥

'अनिन्दिते! तुम्हारे देखनेमें कुमार लक्ष्मणके रोषका आधार क्या है? ये मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं। अतः बिना किसी कारणके निश्चय ही क्रोध नहीं कर सकते ॥ ३३ ॥

यद्यस्य कृतमस्माभिर्बुध्यसे किंचिदप्रियम्।
तद्बुद्ध्या सम्प्रधार्याशु क्षिप्रमेवाभिधीयताम् ॥ ३४ ॥

'यदि हमलोगोंने इनका कोई अपराध किया हो और तुम्हें उसका पता हो तो अपनी बुद्धिसे विचारकर शीघ्र ही बताओ ॥ ३४ ॥

अथवा स्वयमेवैनं द्रष्टुमर्हसि भामिनि।
वचनैः सान्त्वयुक्तैश्च प्रसादयितुमर्हसि ॥ ३५ ॥

'अथवा भामिनि! तुम स्वयं ही जाकर लक्ष्मणको देखो और सान्त्वनायुक्त बातें कहकर उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयत्न करो ॥ ३५ ॥

त्वद्दर्शने विशुद्धात्मा न स कोपं करिष्यति।
नहि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित् कुर्वन्ति दारुणम् ॥ ३६ ॥

'उनका हृदय शुद्ध है। तुम्हारे सामने वे क्रोध नहीं करेंगे; क्योंकि महात्मा पुरुष स्त्रियोंके प्रति कभी कठोर बर्ताव नहीं करते हैं ॥ ३६ ॥

त्वया सान्त्वैरुपक्रान्तं प्रसन्नेन्द्रियमानसम्।
ततः कमलपत्राक्षं द्रक्ष्याम्यहमरिंदमम् ॥ ३७ ॥

'जब तुम उनके पास जाकर मीठे वचनोंसे उन्हें शान्त कर दोगी और जब उनका मन स्वस्थ एवं इन्द्रियाँ प्रसन्न हो जायँगी, उस समय मैं उन शत्रुदमन कमलनयन लक्ष्मणका दर्शन करूँगा' ॥ ३७ ॥

सा प्रस्खलन्ती मदविह्वलाक्षी
प्रलम्बकाञ्चीगुणहेमसूत्रा।
सलक्षणा लक्ष्मणसंनिधानं
जगाम तारा नमिताङ्गयष्टिः ॥ ३८ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर शुभलक्षणा तारा लक्ष्मणके पास गयी। उसका पतला शरीर स्वाभाविक संकोच एवं विनयसे झुका हुआ था। उसके नेत्र मदसे चञ्चल हो रहे थे, पैर लड़खड़ा रहे थे और उसकी करधनीके सुवर्णमय सूत्र लटक रहे थे ॥ ३८ ॥

स तां समीक्ष्यैव हरीशपत्नीं
तस्थावुदासीनतया महात्मा।
अवाङ्मुखोऽभून्मनुजेन्द्रपुत्रः
स्त्रीसंनिकर्षाद् विनिवृत्तकोपः ॥ ३९ ॥

वानरराजकी पत्नी तारापर दृष्टि पड़ते ही राजकुमार महात्मा लक्ष्मण अपना मुँह नीचा करके उदासीन भावसे खड़े हो गये। स्त्रीके समीप होनेसे उनका क्रोध दूर हो गया ॥ ३९ ॥

सा पानयोगाच्च निवृत्तलज्जा
दृष्टिप्रसादाच्च नरेन्द्रसूनोः।
उवाच तारा प्रणयप्रगल्भं
वाक्यं महार्थं परिसान्त्वरूपम् ॥ ४० ॥

मधुपानके कारण ताराकी नारीसुलभ लज्जा निवृत्त हो गयी थी। उसे राजकुमार लक्ष्मणकी दृष्टिमें कुछ प्रसन्नताका आभास मिला। इसलिये उसने स्नेहजनित निर्भीकताके साथ महान् अर्थसे युक्त यह सान्त्वनापूर्ण बात कही— ॥ ४० ॥

किं कोपमूलं मनुजेन्द्रपुत्र
कस्ते न संतिष्ठति वाङ्निदेशे।
कः शुष्कवृक्षं वनमापतन्तं
दवाग्निमासीदति निर्विशङ्कः ॥ ४१ ॥

'राजकुमार! आपके क्रोधका क्या कारण है? कौन आपकी आज्ञाके अधीन नहीं है? कौन निडर होकर सूखे वृक्षोंसे भरे हुए वनके भीतर चारों ओर फैलते हुए दावानलमें प्रवेश कर रहा है?' ॥ ४१ ॥

स तस्या वचनं श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमशङ्कितः।
भूयः प्रणयदृष्टार्थं लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

ताराके इस वचनमें सान्त्वना भरी थी। उसमें अधिक प्रेमपूर्वक हृदयका भाव प्रकट किया गया था। उसे सुनकर लक्ष्मणके हृदयकी आशङ्का जाती रही। वे कहने लगे— ॥ ४२ ॥

किमयं कामवृत्तस्ते लुप्तधर्मार्थसंग्रहः।
भर्ता भर्तृहिते युक्ते न चैनमवबुध्यसे ॥ ४३ ॥

'अपने स्वामीके हितमें संलग्न रहनेवाली तारा! तुम्हारा यह पति विषय-भोगमें आसक्त होकर धर्म और अर्थके संग्रहका लोप कर रहा है। क्या तुम्हें इसकी इस अवस्थाका पता नहीं है? तुम इसे समझाती क्यों नहीं? ॥ ४३ ॥

न चिन्तयति राज्यार्थं सोऽस्माञ्शोकपरायणान्।
सामात्यपरिषत् तारे काममेवोपसेवते ॥ ४४ ॥

'तारे! सुग्रीव अपने राज्यकी स्थिरताके लिये ही प्रयास करता है। हमलोग शोकमें डूबे हुए हैं, परंतु हमारी इसे तनिक भी चिन्ता नहीं होती है। यह अपने मन्त्रियों तथा राज-सभाके सदस्योंसहित केवल विषय-भोगोंका ही सेवन कर रहा है ॥ ४४ ॥

स मासांश्चतुरः कृत्वा प्रमाणं प्लवगेश्वरः।
व्यतीतांस्तान् मदोदग्रो विहरन् नावबुध्यते ॥ ४५ ॥

'वानरराज सुग्रीवने चार महीनोंकी अवधि निश्चित की थी। वे कभी बीत गये, परंतु वह मधुपानके मदसे अत्यन्त उन्मत्त होकर स्त्रियोंके साथ क्रीडा-विहार कर रहा है। उसे बीते हुए समयका पता ही नहीं है ॥ ४५ ॥

नहि धर्मार्थसिद्ध्यर्थं पानमेवं प्रशस्यते।

पानादर्थश्च कामश्च धर्मश्च परिहीयते ॥ ४६ ॥

'धर्म और अर्थकी सिद्धिके निमित्त प्रयत्न करनेवाले पुरुषके लिये इस तरह मद्यपान अच्छा नहीं माना जाता है; क्योंकि मद्यपानसे अर्थ, धर्म और काम—तीनोंका नाश होता है ॥ ४६ ॥

धर्मलोपो महांस्तावत् कृते ह्यप्रतिकुर्वतः ।
अर्थलोपश्च मित्रस्य नाशे गुणवतो महान् ॥ ४७ ॥

'मित्रके किये हुए उपकारका यदि अवसर आनेपर भी बदला न चुकाया जाय तो धर्मकी हानि तो होती ही है। गुणवान् मित्रके साथ मित्रताका नाता टूट जानेपर अपने अर्थकी भी बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ती है ॥ ४७ ॥

मित्रं ह्यर्थगुणश्रेष्ठं सत्यधर्मपरायणम् ।
तद्द्वयं तु परित्यक्तं न तु धर्मे व्यवस्थितम् ॥ ४८ ॥

'मित्र दो प्रकारके होते हैं—एक तो अपने मित्रके अर्थसाधनमें तत्पर होता है और दूसरा सत्य एवं धर्मके ही आश्रित रहता है। तुम्हारे स्वामीने मित्रके दोनों ही गुणोंका परित्याग कर दिया है। वह न तो मित्रका कार्य सिद्ध करता है और न स्वयं ही धर्ममें स्थित है ॥ ४८ ॥

तदेवं प्रस्तुते कार्ये कार्यमस्माभिरुत्तरम् ।
तत् कार्यं कार्यतत्त्वज्ञे त्वमुदाहर्तुमर्हसि ॥ ४९ ॥

'ऐसी स्थितिमें प्रस्तुत कार्यकी सिद्धिके लिये हमलोगोंको भविष्यमें क्या करना चाहिये? हमारे लिये जो समुचित कर्तव्य हो, उसे तुम्हीं बताओ; क्योंकि तुम कार्यके तत्त्वको जानती हो' ॥ ४९ ॥

सा तस्य धर्मार्थसमाधियुक्तं
निशम्य वाक्यं मधुरस्वभावम् ।
तारा गतार्थे मनुजेन्द्रकार्ये
विश्वासयुक्तं तमुवाच भूयः ॥ ५० ॥

लक्ष्मणका वचन धर्म और अर्थके निश्चयसे संयुक्त था। उससे उनके मधुर स्वभावका परिचय मिल रहा था। उसे सुनकर तारा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके कार्यके विषयमें, जिसका प्रयोजन उसे ज्ञात हो चुका था, पुनः लक्ष्मणसे विश्वासके योग्य बात बोली—॥ ५० ॥

न कोपकालः क्षितिपालपुत्र
न चापि कोपः स्वजने विधेयः ।
त्वदर्थकामस्य जनस्य तस्य
प्रमादमप्यर्हसि वीर सोढुम् ॥ ५१ ॥

'वीर राजकुमार! यह क्रोध करनेका समय नहीं है। आत्मीय जनोंपर क्रोध करना भी नहीं चाहिये। सुग्रीवके मनमें सदा आपका कार्य सिद्ध करनेकी इच्छा बनी रहती है। अतः यदि उनसे कोई भूल भी हो जाय तो उसे आपको क्षमा करना चाहिये ॥ ५१ ॥

कोपं कथं नाम गुणप्रकृष्टः
कुमार कुर्यादपकृष्टसत्त्वे ।
कस्त्वद्विधः कोपवशं हि गच्छेत्
सत्त्वावरुद्धस्तपसः प्रसूतिः ॥ ५२ ॥

'कुमार! गुणोंमें श्रेष्ठ पुरुष किसी हीन गुणवाले प्राणीपर क्रोध कैसे कर सकता है? जो सत्त्वगुणसे अवरुद्ध होनेके कारण शास्त्र-विपरीत व्यापारमें लग नहीं सकता, अतएव जो सद्विचारको जन्म देनेवाला है, वह आप-जैसा कौन पुरुष क्रोधके वशीभूत हो सकता है? ॥ ५२ ॥

जानामि कोपं हरिवीरबन्धो-
र्जानामि कार्यस्य च कालसङ्गम् ।
जानामि कार्यं त्वयि यत्कृतं न-
स्तच्चापि जानामि यदत्र कार्यम् ॥ ५३ ॥

'वानरवीर सुग्रीवके मित्र भगवान् श्रीरामके क्रोधका कारण मैं जानती हूँ। उनके कार्यमें जो विलम्ब हुआ है, उससे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ। सुग्रीवका जो कार्य आपके अधीन था और जिसे आपलोगोंने पूरा किया है, उसका भी मुझे पता है तथा इस समय जो आपका कार्य प्रस्तुत है, उसके विषयमें हमलोगोंका क्या कर्तव्य है, इसका भी मुझे अच्छी तरह ज्ञान है ॥ ५३ ॥

तथापि जानामि तथाविषह्यं
बलं नरश्रेष्ठ शरीरजस्य ।
जानामि यस्मिंश्च जनेऽवबद्धं
कामेन सुग्रीवमसक्तमद्य ॥ ५४ ॥

'नरश्रेष्ठ! इस शरीरमें उत्पन्न हुए कामका जो असह्य बल है, उसको भी मैं जानती हूँ तथा उस कामद्वारा आबद्ध होकर सुग्रीव जहाँ आसक्त हो रहे हैं, वह भी मुझे मालूम है। साथ ही इस बातसे भी मैं परिचित हूँ कि कामासक्तिके कारण ही इन दिनों सुग्रीवका मन दूसरे किसी काममें नहीं लगता ॥ ५४ ॥

न कामतन्त्रे तव बुद्धिरस्ति
त्वं वै यथा मन्युवशं प्रपन्नः ।
न देशकालौ हि यथार्थधर्मा-
ववेक्षते कामरतिर्मनुष्यः ॥ ५५ ॥

'आप जो क्रोधके वशीभूत हो गये हैं, इससे जान पड़ता है कि कामके अधीन हुए पुरुषकी स्थितिका आपको बिल्कुल ज्ञान नहीं है, वानरकी तो बात ही क्या है! कामासक्त मनुष्यको भी देश, काल, अर्थ और धर्मका ज्ञान नहीं रह जाता—उनकी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती है॥५५॥

तं कामवृत्तं मम संनिकृष्टं
कामाभियोगाच्च विमुक्तलज्जम् ।
क्षमस्व तावत् परवीरहन्त-
स्त्वद्भ्रातरं वानरवंशनाथम् ॥ ५६ ॥

'विपक्षी वीरोंका विनाश करनेवाले राजकुमार! वानरराज सुग्रीव विषय-भोगमें आसक्त होकर इस समय मेरे ही पास थे। कामके आवेशमें उन्होंने अपनी लज्जाका परित्याग कर दिया है, तो भी उन्हें अपना भाई समझकर क्षमा कीजिये ॥ ५६ ॥

महर्षयो धर्मतपोऽभिरामाः
कामानुकामाः प्रतिबद्धमोहाः।
अयं प्रकृत्या चपलः कपिस्तु
कथं न सज्जेत सुखेषु राजा ॥ ५७ ॥

'जो निरन्तर धर्म और तपस्यामें ही संलग्न रहते हैं, जिन्होंने मोहको अवरुद्ध कर दिया है—अविवेकको दूर भगा दिया है, वे महर्षि भी कभी-कभी विषयाभिलाषी हो जाते हैं; फिर जो स्वभावसे ही चञ्चल वानर हैं, वह राजा सुग्रीव सुख-भोगमें क्यों न आसक्त हों ?' ॥ ५७ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महार्थं
सा वानरी लक्ष्मणमप्रमेयम्।
पुनः सखेदं मदविह्वलाक्षी
भर्तुर्हितं वाक्यमिदं बभाषे ॥ ५८ ॥

अप्रमेय शक्तिशाली लक्ष्मणसे इस प्रकार महान् अर्थसे युक्त बात कहकर मदसे चञ्चल नेत्रवाली वानर-पत्नी ताराने पुनः खेदपूर्वक स्वामीके लिये यह हितकर वचन कहा—॥५८॥

उद्योगस्तु चिराज्ञप्तः सुग्रीवेण नरोत्तम।
कामस्यापि विधेयेन तवार्थप्रतिसाधने ॥ ५९ ॥

'नरश्रेष्ठ ! यद्यपि सुग्रीव इस समय कामके गुलाम हो रहे हैं, तथापि इन्होंने आपका कार्य सिद्ध करनेके लिये बहुत पहलेसे ही उद्योग आरम्भ करनेकी आज्ञा दे रक्खी है ॥५९॥

आगता हि महावीर्या हरयः कामरूपिणः।
कोटीः शतसहस्राणि नानानगनिवासिनः ॥ ६० ॥

'इसके फलस्वरूप इस समय विभिन्न पर्वतोंपर निवास करनेवाले लाखों और करोड़ों वानर, जो इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ एवं महान् पराक्रमी हैं, यहाँ उपस्थित हुए हैं॥६०॥

तदागच्छ महाबाहो चारित्रं रक्षितं त्वया।
अच्छलं मित्रभावेन सतां दारावलोकनम् ॥ ६१ ॥

'महाबाहो ! (दूसरेकी स्त्रियोंको देखना अनुचित समझकर जो आप भीतर नहीं आये, बाहर ही खड़े रह गये—इसके द्वारा) आपने सदाचारकी रक्षा की है; अतः अब भीतर आइये । मित्रभावसे स्त्रियोंकी ओर देखना (उनके प्रति माता-बहन आदिका भाव रखकर दृष्टि डालना) सत्पुरुषोंके लिये अधर्म नहीं है' ॥ ६१ ॥

तारया चाभ्यनुज्ञातस्त्वरया चापि चोदितः।
प्रविवेश महाबाहुरभ्यन्तरमरिंदमः ॥ ६२ ॥

ताराके आग्रह और कार्यकी जल्दीसे प्रेरित होकर शत्रुदमन महाबाहु लक्ष्मण सुग्रीवके महलके भीतर गये ॥६२॥

ततः सुग्रीवमासीनं काञ्चने परमासने।
महार्हास्तरणोपेते ददर्शादित्यसंनिभम् ॥ ६३ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा, एक सोनेके सिंहासनपर बहुमूल्य बिछौना बिछा है और वानरराज सुग्रीव सूर्यतुल्य तेजस्वी रूप धारण किये उसके ऊपर विराजमान हैं ॥ ६३ ॥

दिव्याभरणचित्राङ्गं दिव्यरूपं यशस्विनम्।
दिव्यमाल्याम्बरधरं महेन्द्रमिव दुर्जयम् ॥ ६४ ॥

उस समय दिव्य आभूषणोंके कारण उनके शरीरकी विचित्र शोभा हो रही थी। दिव्यरूपधारी यशस्वी सुग्रीव दिव्य मालाएँ और दिव्य वस्त्र धारण करके दुर्जय वीर देवराज इन्द्रके समान दिखायी दे रहे थे ॥ ६४ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिः प्रमदाभिः समावृतम्।
संरब्धतररक्ताक्षो बभूवान्तकसंनिभः ॥ ६५ ॥

दिव्य आभूषणों और मालाओंसे अलंकृत युवती स्त्रियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी थीं । उन्हें इस अवस्थामें देख लक्ष्मणके नेत्र रोषावेशके कारण लाल हो गये । वे उस समय यमराजके समान भयंकर प्रतीत होने लगे ॥ ६५ ॥

रुमां तु वीरः परिरभ्य गाढं
वरासनस्थो वरहेमवर्णः।
ददर्श सौमित्रिमदीनसत्त्वं
विशालनेत्रः स विशालनेत्रम् ॥ ६६ ॥

सुन्दर सुवर्णके समान कान्ति और विशाल नेत्रवाले वीर सुग्रीव अपनी पत्नी रुमाको गाढ आलिङ्गन-पाशमें बाँधे हुए एक श्रेष्ठ आसनपर विराजमान थे। उसी अवस्थामें उन्होंने उदार-हृदय और विशाल नेत्रवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणको देखा ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका लक्ष्मणके पास जाना और लक्ष्मणका उन्हें फटकारना

तमप्रतिहतं क्रुद्धं प्रविष्टं पुरुषर्षभम्।
सुग्रीवो लक्ष्मणं दृष्ट्वा बभूव व्यथितेन्द्रियः॥ १॥

लक्ष्मण बेरोक-टोक भीतर घुस आये थे। उन पुरुष-शिरोमणिको क्रोधसे भरा देख सुग्रीवकी सारी इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं॥ १॥

क्रुद्धं निःश्वसमानं तं प्रदीप्तमिव तेजसा।
भ्रातुर्व्यसनसंतप्तं दृष्ट्वा दशरथात्मजम्॥ २॥
उत्पपात हरिश्रेष्ठो हित्वा सौवर्णमासनम्।
महान् महेन्द्रस्य यथा स्वलंकृत इव ध्वजः॥ ३॥

दशरथपुत्र लक्ष्मण रोषपूर्वक लंबी साँस खींच रहे थे और तेजसे प्रज्वलित-से जान पड़ते थे। अपने भाईके कष्टसे उनके मनमें बड़ा संताप था। उन्हें सामने आया देख वानरश्रेष्ठ सुग्रीव सुवर्णका सिंहासन छोड़कर कूद पड़े, मानो देवराज इन्द्रका भलीभाँति सजाया हुआ महान् ध्वज आकाशसे पृथ्वीपर उतर आया हो॥ २-३॥

उत्पतन्तमनूत्पेतू रुमाप्रभृतयः स्त्रियः।
सुग्रीवं गगने पूर्णं चन्द्रं तारागणा इव॥ ४॥

सुग्रीवके उतरते ही रुमा आदि स्त्रियाँ भी उनके पीछे उस सिंहासनसे उतरकर खड़ी हो गयीं। जैसे आकाशमें पूर्ण चन्द्रमाका उदय होनेपर तारोंके समुदाय भी उदित हो गये हों॥ ४॥

संरक्तनयनः श्रीमान् संचचार कृताञ्जलिः।
बभूवावस्थितस्तत्र कल्पवृक्षो महानिव॥ ५॥

श्रीमान् सुग्रीवके नेत्र मदसे लाल हो रहे थे। वे टहलते हुए लक्ष्मणके पास आये और हाथ जोड़कर खड़े हो। लक्ष्मण वहाँ महान् कल्पवृक्षके समान स्थित थे॥५॥

रुमाद्वितीयं सुग्रीवं नारीमध्यगतं स्थितम्।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धः सतारं शशिनं यथा॥ ६॥

सुग्रीवके साथ उनकी पत्नी रुमा भी थी। वे स्त्रियोंके बीचमें खड़े होकर तारिकाओंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते थे। उन्हें देखकर लक्ष्मणने क्रोधपूर्वक कहा—॥

सत्त्वाभिजनसम्पन्नः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः।
कृतज्ञः सत्यवादी च राजा लोके महीयते॥ ७॥

'वानरराज! धैर्यवान्, कुलीन, दयालु, जितेन्द्रिय और सत्यवादी राजाका ही संसारमें आदर होता है॥७॥

यस्तु राजा स्थितोऽधर्मे मित्राणामुपकारिणाम्।
मिथ्या प्रतिज्ञां कुरुते को नृशंसतरस्ततः॥ ८॥

'जो राजा अधर्ममें स्थित होकर उपकारी मित्रोंके सामने की हुई अपनी प्रतिज्ञाको झूठी कर देता है, उससे बढ़कर अत्यन्त क्रूर कौन होगा?॥ ८॥

शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं तु गवानृते।
आत्मानं स्वजनं हन्ति पुरुषः पुरुषानृते॥ ९॥

'अश्वदानकी प्रतिज्ञा करके उसकी पूर्ति न करनेपर 'अश्वानृत' (अश्वविषयक असत्य) नामक पाप होता है। वह पाप बन जानेपर मनुष्य सौ अश्वोंकी हत्याके पापका भागी होता है। इसी प्रकार गोदानविषयक प्रतिज्ञाको मिथ्या कर देनेपर सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है तथा किसी पुरुषके समक्ष उसका कार्य पूर्ण कर देनेकी प्रतिज्ञा करके जो उसकी पूर्ति नहीं करता है, वह पुरुष आत्मघात और स्वजन-वधके पापका भागी होता है (फिर जो परम पुरुष श्रीरामके समक्ष की हुई प्रतिज्ञाको मिथ्या करता है, उसके पापकी कोई इयत्ता नहीं हो सकती)॥९॥

पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रतिकरोति यः।
कृतघ्नः सर्वभूतानां स वध्यः प्लवगेश्वर॥ १०॥

'वानरराज! जो पहले मित्रोंके द्वारा अपना कार्य सिद्ध करके बदलेमें उन मित्रोंका कोई उपकार नहीं करता है, वह कृतघ्न एवं सब प्राणियोंके लिये वध्य है॥ १०॥

गीतोऽयं ब्रह्मणा श्लोकः सर्वलोकनमस्कृतः।
दृष्ट्वा कृतघ्नं क्रुद्धेन तन्निबोध प्लवंगम॥ ११॥

'कपिराज! किसी कृतघ्नको देखकर कुपित हुए ब्रह्माजीने सब लोगोंके लिये आदरणीय यह एक श्लोक कहा है, इसे सुनो॥ ११॥

गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥ १२॥

'गोहत्यारे, शराबी, चोर और व्रत भंग करनेवाले पुरुषके लिये सत्पुरुषोंने प्रायश्चित्तका विधान किया है; किंतु कृतघ्नके उद्धारका कोई उपाय नहीं है॥ १२॥

अनार्यस्त्वं कृतघ्नश्च मिथ्यावादी च वानर।
पूर्वं कृतार्थो रामस्य न तत्प्रतिकरोषि यत्॥ १३॥

'वानर! तुम अनार्य, कृतघ्न और मिथ्यावादी हो; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीकी सहायतासे तुमने पहले अपना काम तो बना लिया, किंतु जब उनके लिये सहायता करनेका अवसर आया, तब तुम कुछ नहीं करते॥ १३॥

ननु नाम कृतार्थेन त्वया रामस्य वानर।
सीताया मार्गणे यत्नः कर्तव्यः कृतमिच्छता॥ १४॥

'वानर ! तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो चुका है; अतः अब तुम्हें प्रत्युपकारकी इच्छासे श्रीरामकी पत्नी सीताकी खोजके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ १४ ॥

स त्वं ग्राम्येषु भोगेषु सक्तो मिथ्याप्रतिश्रवः ।
न त्वां रामो विजानीते सर्पं मण्डूकराविणम् ॥ १५ ॥

'परंतु तुम्हारी दशा यह है कि अपनी प्रतिज्ञाको झूठी करके ग्राम्यभोगोंमें आसक्त हो रहे हो। श्रीरामचन्द्रजी यह नहीं जानते हैं कि तुम मेढककी-सी बोली बोलनेवाले सर्प हो (जैसे साँप अपने मुँहमें किसी मेढकको जब दवा लेता है, तब केवल मेढक ही बोलता है, दूरके लोग उसे मेढक ही समझते हैं; परंतु वह वास्तवमें सर्प होता है। वही दशा तुम्हारी है। तुम्हारी बातें कुछ और हैं और स्वरूप कुछ और) ॥ १५ ॥

महाभागेन रामेण पापः करुणवेदिना ।
हरीणां प्रापितो राज्यं त्वं दुरात्मा महात्मना ॥ १६ ॥

'महाभाग श्रीरामचन्द्रजी परम महात्मा तथा दयासे द्रवित हो जानेवाले हैं; अतएव उन्होंने तुम-जैसे पापी और दुरात्माको भी वानरोंके राज्यपर बिठा दिया ॥ १६ ॥

कृतं चेन्नातिजानीषे राघवस्य महात्मनः ।
सद्यस्त्वं निशितैर्बाणैर्हतो द्रक्ष्यसि वालिनम् ॥ १७ ॥

'यदि तुम महात्मा रघुनाथजीके किये हुए उपकारको नहीं समझोगे तो शीघ्र ही उनके तीखे बाणोंसे मारे जाकर वालीका दर्शन करोगे ॥ १७ ॥

न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥ १८ ॥

'सुग्रीव ! वाली मारा जाकर जिस रास्तेसे गया है, वह आज भी बंद नहीं हुआ है। इसलिये तुम अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहो। वालीके मार्गका अनुसरण न करो ॥ १८ ॥

न नूनमिक्ष्वाकुवरस्य कार्मुका-
च्छरांश्च तान् पश्यसि वज्रसंनिभान् ।
ततः सुखं नाम विषेवसे सुखी
न रामकार्यं मनसाप्यवेक्षसे ॥ १९ ॥

'इक्ष्वाकुवंशशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीके धनुषसे छूटे हुए उन वज्रतुल्य बाणोंकी ओर निश्चय ही तुम्हारी दृष्टि नहीं जा रही है। इसीलिये तुम ग्राम्य सुखका सेवन कर रहे हो और उसीमें सुख मानकर श्रीरामचन्द्रजीके कार्यका मनसे भी विचार नहीं करते हो' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

ताराका लक्ष्मणको युक्तियुक्त वचनोंद्वारा शान्त करना

तथा ब्रुवाणं सौमित्रिं प्रदीप्तमिव तेजसा ।
अब्रवील्लक्ष्मणं तारा ताराधिपनिभानना ॥ १ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मण अपने तेजके कारण प्रज्वलित-से हो रहे थे। वे जब उपर्युक्त बात कह चुके, तब चन्द्रमुखी तारा उनसे बोली—॥ १ ॥

नैवं लक्ष्मण वक्तव्यो नायं परुषमर्हति ।
हरीणामीश्वरः श्रोतुं तव वक्त्राद् विशेषतः ॥ २ ॥

'कुमार लक्ष्मण ! आपको सुग्रीवसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। ये वानरोंके राजा हैं; अतः इनके प्रति कठोर वचन बोलना उचित नहीं है। विशेषतः आप-जैसे सुहृद्के मुखसे तो ये कदापि कटु वचन सुननेके अधिकारी नहीं हैं ॥ २ ॥

नैवाकृतज्ञः सुग्रीवो न शठो नापि दारुणः ।
नैवानृतकथो वीर न जिह्मश्च कपीश्वरः ॥ ३ ॥

'वीर ! कपिराज सुग्रीव न कृतघ्न हैं, न शठ हैं, न क्रूर हैं, न असत्यवादी हैं और न कुटिल ही हैं ॥ ३ ॥

उपकारं कृतं वीरो नाप्ययं विस्मृतः कपिः ।
रामेण वीर सुग्रीवो यदन्यैर्दुष्करं रणे ॥ ४ ॥

'वीर लक्ष्मण ! श्रीरामचन्द्रजीने इनका जो उपकार किया है, वह युद्धमें दूसरोंके लिये दुष्कर है। उसे इन वीर कपिराजने कभी भुलाया नहीं है ॥ ४ ॥

रामप्रसादात् कीर्तिं च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
प्राप्तवानिह सुग्रीवो रुमां मां च परंतप ॥ ५ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले सुमित्रानन्दन ! श्रीरामचन्द्रजीके कृपा-प्रसादसे ही सुग्रीवने वानरोंके अक्षय राज्यको, यशको, रुमाको तथा मुझको भी प्राप्त किया है ॥ ५ ॥

सुदुःखशयितः पूर्वं प्राप्येदं सुखमुत्तमम् ।
प्राप्तकालं न जानीते विश्वामित्रो यथा मुनिः ॥ ६ ॥

'पहले इन्होंने बड़ा दुःख उठाया है। अब इस उत्तम सुखको पाकर ये इतने ऐसे रम गये कि इन्हें प्राप्त हुए समयका ज्ञान ही नहीं रहा। ठीक उसी तरह, जैसे विश्वामित्र मुनिको मेनकामें आसक्त हो जानेके कारण समयकी सुध-बुध नहीं रह गयी थी* ॥ ६ ॥

घृताच्यां किल संसक्तो दश वर्षाणि लक्ष्मण ।
अहोऽमन्यत धर्मात्मा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ ७ ॥

* यह प्रसंग बालकाण्डके तिरसठवें सर्गमें आया है।

'लक्ष्मण ! कहते हैं, धर्मात्मा महामुनि विश्वामित्रने घृताची (मेनका) नामक अप्सरामें आसक्त होनेके कारण दस वर्षके समयको एक दिन ही माना था ॥ ७ ॥

स हि प्राप्तं न जानीते कालं कालविदां वरः ।
विश्वामित्रो महातेजाः किं पुनर्यः पृथग्जनः ॥ ८ ॥

'कालका ज्ञान रखनेवालोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी विश्वामित्रको भी जब भोगासक्त होनेपर कालका ज्ञान नहीं रह गया, तब फिर दूसरे साधारण प्राणीको कैसे रह सकता है ? ॥ ८ ॥

देहधर्मगतस्यास्य परिश्रान्तस्य लक्ष्मण ।
अवितृप्तस्य कामेषु रामः क्षन्तुमिहार्हति ॥ ९ ॥

'कुमार लक्ष्मण ! आहार, निद्रा और मैथुन आदि जो देहके धर्म हैं, (जो पशुओंमें भी समानरूपसे पाये जाते हैं) उनमें स्थित हुए ये सुग्रीव पहले तो चिरकालतक दुःख भोगनेके कारण थके-माँदे एवं खिन्न थे । अब भगवान् श्रीरामकी कृपासे इन्हें जो काम-भोग प्राप्त हुए हैं, उनसे अभीतक इनकी तृप्ति नहीं हुई (इसीलिये इनसे कुछ असावधानी हो गयी); अतः परम कृपालु श्रीरघुनाथजीको यहाँ इनका अपराध क्षमा करना चाहिये ॥ ९ ॥

न च रोषवशं तात गन्तुमर्हसि लक्ष्मण ।
निश्चयार्थमविज्ञाय सहसा प्राकृतो यथा ॥ १० ॥

'तात लक्ष्मण ! आपको यथार्थ बात जाने बिना साधारण मनुष्यकी भाँति सहसा क्रोधके अधीन नहीं होना चाहिये॥१०॥

सत्त्वयुक्ता हि पुरुषास्त्वद्विधाः पुरुषर्षभ ।
अविमृश्य न रोषस्य सहसा यान्ति वश्यताम् ॥ ११ ॥

'पुरुषप्रवर ! आप-जैसे सत्त्वगुणसम्पन्न पुरुष विचार किये बिना ही सहसा रोषके वशीभूत नहीं होते हैं ॥ ११ ॥

प्रसादये त्वां धर्मज्ञ सुग्रीवार्थे समाहिता ।
रोषसमुत्पन्नः संरम्भस्त्यज्यतामयम् ॥ १२ ॥

'धर्मज्ञ ! मैं एकाग्र हृदयसे सुग्रीवके लिये आपसे कृपाकी याचना करती हूँ । आप क्रोधसे उत्पन्न हुए इस महान् क्षोभका परित्याग कीजिये ॥ १२ ॥

रुमां मां चाङ्गदं राज्यं धनधान्यपशूनि च ।
रामप्रियार्थं सुग्रीवस्त्यजेदिति मतिर्मम ॥ १३ ॥

'मेरा तो ऐसा विश्वास है कि सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेके लिये रुमाका, मेरा, कुमार अङ्गदका तथा धन-धान्य और पशुओंसहित सम्पूर्ण राज्यका भी परित्याग कर सकते हैं ॥ १३ ॥

समानेष्यति सुग्रीवः सीतया सह राघवम् ।
शशाङ्कमिव रोहिण्या हत्वा तं राक्षसाधमम् ॥ १४ ॥

'सुग्रीव उस अधम राक्षसका वध करके श्रीरामको सीतासे उसी तरह मिलायेंगे, जैसे चन्द्रमाका रोहिणीके साथ संयोग हुआ हो ॥ १४ ॥

शतकोटिसहस्राणि लङ्कायां किल रक्षसाम् ।
अयुतानि च षट्त्रिंशत्सहस्राणि शतानि च ॥ १५ ॥

'कहते हैं कि लङ्कामें सौ हजार करोड़, छत्तीस अयुत, छत्तीस हजार और छत्तीस सौ राक्षस रहते हैं* ॥ १५ ॥

अहत्वा तांश्च दुर्धर्षान् राक्षसान् कामरूपिणः ।
न शक्यो रावणो हन्तुं येन सा मैथिली हृता ॥ १६ ॥

'वे सब-के-सब राक्षस इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले तथा दुर्जय हैं । उन सबका संहार किये बिना रावणका, जिसने मिथिलेशकुमारी सीताका अपहरण किया है, वध नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

ते न शक्या रणे हन्तुमसहायेन लक्ष्मण ।
रावणः क्रूरकर्मा च सुग्रीवेण विशेषतः ॥ १७ ॥

'लक्ष्मण ! किसीकी सहायता लिये बिना अकेले किसी वीरके द्वारा न तो उन राक्षसोंका संग्राममें वध किया जा सकता है और न क्रूरकर्मा रावणका ही । इसलिये सुग्रीवसे सहायता लेनेकी विशेष आवश्यकता है ॥ १७ ॥

एवमाख्यातवान् वाली स ह्यभिज्ञो हरीश्वरः ।
आगमस्तु न मे व्यक्तः श्रवात् तस्य ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

'वानरराज वाली लङ्काके राक्षसोंकी इस संख्यासे परिचित थे, उन्होंने मुझे उनकी इस तरह गणना बतायी थी । रावणने इतनी सेनाका संग्रह कैसे किया ? यह तो मुझे नहीं मालूम है । किंतु इस संख्याको मैंने उनके मुँहसे सुना था । वह इस समय मैं आपको बता रही हूँ ॥ १८ ॥

त्वत्सहायनिमित्तं हि प्रेषिता हरिपुङ्गवाः ।
आनेतुं वानरान् युद्धे सुबहून् हरिपुङ्गवान् ॥ १९ ॥

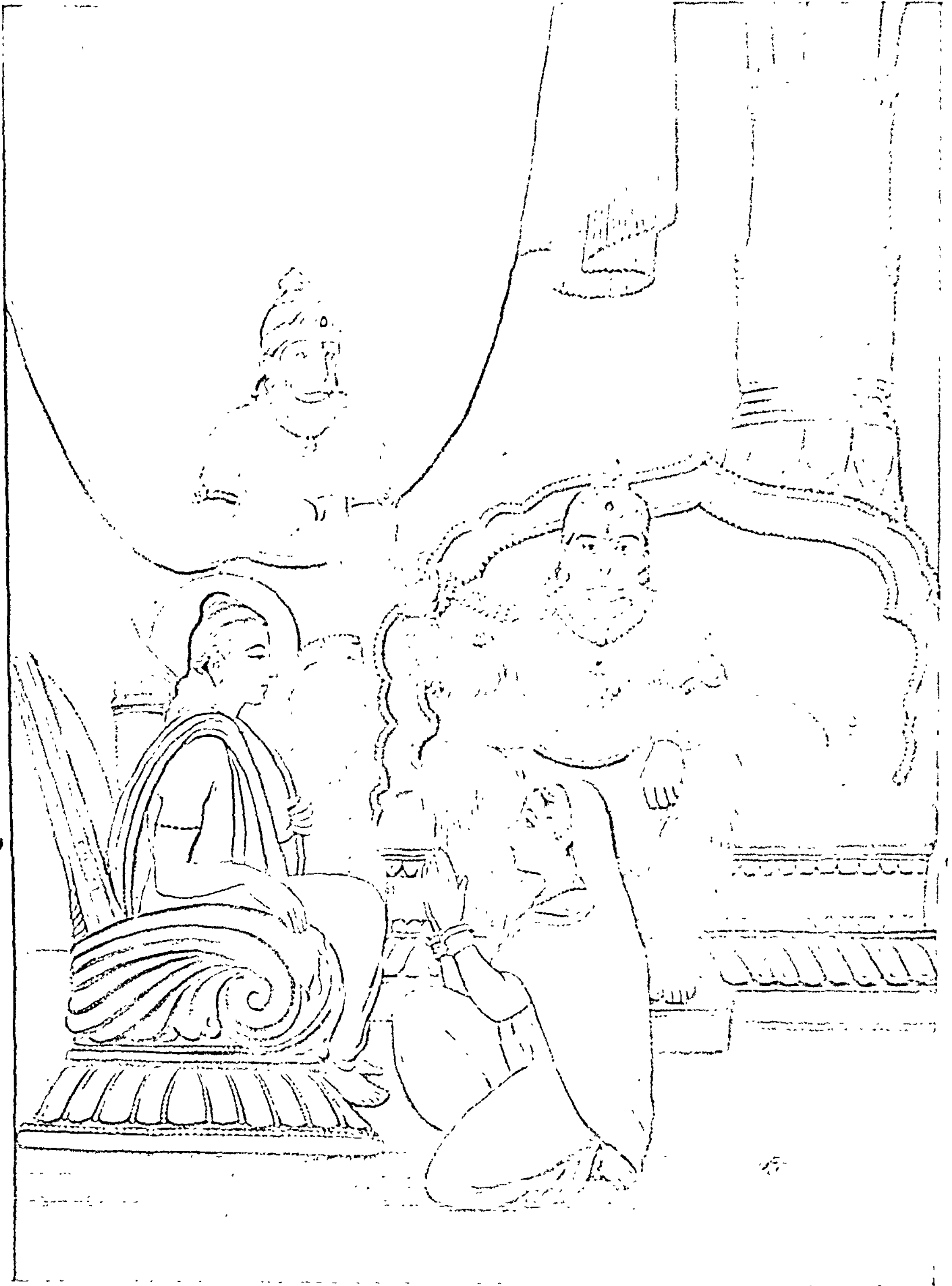
'आपकी सहायताके लिये सुग्रीवने बहुतेरे श्रेष्ठ वानरोंको युद्धके निमित्त असंख्य वानर वीरोंकी सेना एकत्र करनेके लिये भेज रक्खा है ॥ १९ ॥

तांश्च प्रतीक्षमाणोऽयं विक्रान्तान् सुमहाबलान् ।
राघवस्यार्थसिद्ध्यर्थं न निर्याति हरीश्वरः ॥ २० ॥

'वानरराज सुग्रीव उन महाबली और पराक्रमी वीरोंके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं । अतएव भगवान् श्रीरामका कार्य सिद्ध करनेके लिये अभी नगरसे बाहर नहीं निकल सके हैं ॥ २० ॥

कृता सुसंस्था सौमित्रे सुग्रीवेण पुरा यथा ।
अद्य तैर्वानरैः सर्वैरागन्तव्यं महाबलैः ॥ २१ ॥

* आधुनिक गणनाके अनुसार यह संख्या दस खरब, तीन लाख, निन्यानबे हजार, छः सौ होती है ।



सुग्रीव एवं ताराके द्वारा कुपित लक्ष्मणकी सान्त्वना

'सुमित्रानन्दन ! सुग्रीवने उन सबके एकत्र होनेके लिये पहलेसे ही जो अवधि निश्चित कर रक्खी है, उसके अनुसार उन समस्त महाबली वानरोंको आज ही यहाँ उपस्थित हो जाना चाहिये ॥ २१ ॥

ऋक्षकोटिसहस्राणि गोलाङ्गूलशतानि च ।
अद्य त्वामुपयास्यन्ति जहि कोपमरिंदम ।
कोट्योऽनेकास्तु काकुत्स्थ कपीनां दीप्ततेजसाम् ॥ २२ ॥

'शत्रुदमन लक्ष्मण ! आज आपकी सेवामें कोटि सहस्र (दस अरब) रीछ, सौ करोड़ (एक अरब) लंगूर तथा और भी बढ़े हुए तेजवाले कई करोड़ वानर उपस्थित होंगे। इसलिये आप क्रोधको त्याग दीजिये ॥ २२ ॥

तव हि मुखमिदं निरीक्ष्य कोपात्
क्षतजसमे नयने निरीक्षमाणाः ।
हरिवरवनिता न यान्ति शान्तिं
प्रथमभयस्य हि शङ्किताः स्म सर्वाः ॥ २३ ॥

'आपका मुख क्रोधसे तमतमा उठा है और आँखें रोषसे लाल हो गयी हैं। यह सब देखकर हम वानरराजकी स्त्रियोंको शान्ति नहीं मिल रही है। हम सबको प्रथम भय (वालि-वध) के समान ही किसी अनिष्टकी आशङ्का हो रही है' ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका अपनी लघुता तथा श्रीरामकी महत्ता बताते हुए लक्ष्मणसे क्षमा माँगना और लक्ष्मणका उनकी प्रशंसा करके उन्हें अपने साथ चलनेके लिये कहना

इत्युक्तस्तारया वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ।
मृदुस्वभावः सौमित्रिः प्रतिजग्राह तद्वचः ॥ १ ॥

ताराने जब इस प्रकार धर्मके अनुकूल विनययुक्त बात कही, तब कोमल स्वभाववाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणने उसे मान लिया (क्रोधको त्याग दिया) ॥ १ ॥

तस्मिन् प्रतिगृहीते तु वाक्ये हरिगणेश्वरः ।
लक्ष्मणात् सुमहत्त्रासं वस्त्रं क्लिन्नमिवात्यजत् ॥ २ ॥

उनके द्वारा ताराकी बात मान ली जानेपर वानरयूथ-पति सुग्रीवने लक्ष्मणसे प्राप्त होनेवाले महान् भयको भीगे हुए वस्त्रकी भाँति त्याग दिया ॥ २ ॥

ततः कण्ठगतं माल्यं चित्रं बहुगुणं महत् ।
चिच्छेद विमदश्चासीत् सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥ ३ ॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीवने अपने कण्ठमें पड़ी हुई फूलों-की विचित्र, विशाल एवं बहुगुणसम्पन्न माला तोड़ डाली और वे मदसे रहित हो गये ॥ ३ ॥

स लक्ष्मणं भीमबलं सर्ववानरसत्तमः ।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवः सम्प्रहर्षयन् ॥ ४ ॥

फिर समस्त वानरोंमें शिरोमणि सुग्रीवने भयंकर बलशाली लक्ष्मणका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे यह विनययुक्त बात कही—॥ ४ ॥

प्रणष्टा श्रीश्च कीर्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
रामप्रसादात् सौमित्रे पुनश्चाप्तमिदं मया ॥ ५ ॥

'सुमित्राकुमार ! मेरी श्री, कीर्ति तथा सदासे चला आता हुआ वानरोंका राज्य—ये सब नष्ट हो चुके थे। भगवान् श्रीरामकी कृपासे ही मुझे पुनः इन सबकी प्राप्ति हुई है ॥ ५ ॥

कः शक्तस्तस्य देवस्य ख्यातस्य स्वेन कर्मणा ।
तादृशं प्रतिकुर्वीत अंशेनापि नृपात्मज ॥ ६ ॥

'राजकुमार ! वे भगवान् श्रीराम अपने कर्मोंसे ही सर्वत्र विख्यात हैं। उनके उपकारका वैसा ही बदला अंशमात्रसे भी कौन चुका सकता है ? ॥ ६ ॥

सीतां प्राप्स्यति धर्मात्मा वधिष्यति च रावणम् ।
सहायमात्रेण मया राघवः स्वेन तेजसा ॥ ७ ॥

'धर्मात्मा श्रीराम अपने ही तेजसे रावणका वध करेंगे और सीताको प्राप्त कर लेंगे। मैं तो उनका एक तुच्छ सहायकमात्र रहूँगा ॥ ७ ॥

सहायकृत्यं किं तस्य येन सप्त महाद्रुमाः ।
गिरिश्च वसुधा चैव बाणेनैकेन दारिताः ॥ ८ ॥

'जिन्होंने एक ही बाणसे सात बड़े-बड़े ताल वृक्ष, पर्वत, पृथ्वी, पाताल और वहाँ रहनेवाले दैत्योंको भी विदीर्ण कर दिया था, उनको दूसरे किसी सहायककी आवश्यकता भी क्या है ? ॥ ८ ॥

धनुर्विस्फारमाणस्य यस्य शब्देन लक्ष्मण ।
सशैला कम्पिता भूमिः सहायैः किं नु तस्य वै ॥ ९ ॥

'लक्ष्मण ! जिनके धनुष खींचते समय उसकी टंकारसे पर्वतोंसहित पृथ्वी काँप उठी थी, उन्हें सहायकोंसे क्या लेना है ॥ ९ ॥

अनुयात्रां नरेन्द्रस्य करिष्येऽहं नरर्षभ ।
गच्छतो रावणं हन्तुं वैरिणं सपुरस्सरम् ॥ १० ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं तो वैरी रावणका वध करनेके लिये आगामी सैनिकोंसहित यात्रा करनेवाले महाराज श्रीरामके पीछे-पीछे चलूँगा ॥ १० ॥

यदि किंचिदतिक्रान्तं विश्वासात् प्रणयेन वा ।
प्रेष्यस्य क्षमितव्यं मे न कश्चिन्नापराध्यति ॥ ११ ॥

'विश्वास अथवा प्रेमके कारण यदि कोई अपराध बन गया हो तो मुझ दासके उस अपराधको क्षमा कर देना चाहिये; क्योंकि ऐसा कोई सेवक नहीं है, जिससे कभी कोई अपराध होता ही न हो' ॥ ११ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
अभवल्लक्ष्मणः प्रीतः प्रेम्णा चेदमुवाच ह ॥ १२ ॥

महात्मा सुग्रीवके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण प्रसन्न हो गये और बड़े प्रेमसे इस प्रकार बोले—॥ १२ ॥

सर्वथा हि मम भ्राता सनाथो वानरेश्वर ।
त्वया नाथेन सुग्रीव प्रश्रितेन विशेषतः ॥ १३ ॥

'वानरराज सुग्रीव ! विशेषतः तुम-जैसे विनयशील सहायकको पाकर मेरे भाई श्रीराम सर्वथा सनाथ हैं ॥ १३ ॥

यस्ते प्रभावः सुग्रीव यच्च ते शौचमीदृशम् ।
अर्हस्त्वं कपिराज्यस्य श्रियं भोक्तुमनुत्तमाम् ॥ १४ ॥

'सुग्रीव ! तुम्हारा जो प्रभाव है और तुम्हारे हृदयमें जो इतना शुद्ध भाव है, इससे तुम वानरराज्यकी परम उत्तम लक्ष्मीका सदा ही उपभोग करनेके अधिकारी हो ॥ १४ ॥

सहायेन च सुग्रीव त्वया रामः प्रतापवान् ।
वधिष्यति रणे शत्रूनचिरान्नात्र संशयः ॥ १५ ॥

'सुग्रीव ! तुम्हें सहायकके रूपमें पाकर प्रतापी श्रीराम रणभूमिमें अपने शत्रुओंका शीघ्र ही वध कर डालेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १५ ॥

धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
उपपन्नं च युक्तं च सुग्रीव तव भाषितम् ॥ १६ ॥

'सुग्रीव ! तुम धर्मज्ञ, कृतज्ञ तथा युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले हो । तुम्हारा यह भाषण सर्वथा युक्तिसंगत और उचित है ॥ १६ ॥

दोषज्ञः सति सामर्थ्ये कोऽन्यो भाषितुमर्हति ।
वर्जयित्वा मम ज्येष्ठं त्वां च वानरसत्तम ॥ १७ ॥

'वानरशिरोमणे ! तुमको और मेरे बड़े भाईको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा विद्वान् है, जो अपनेमें सामर्थ्य होते हुए भी ऐसा नम्रतापूर्ण वचन कह सके ॥ १७ ॥

सदृशश्चासि रामेण विक्रमेण बलेन च ।
सहायो दैवतैर्दत्तश्चिराय हरिपुंगव ॥ १८ ॥

'कपिराज ! तुम बल और पराक्रममें भगवान् श्रीरामके बराबर हो । देवताओंने ही हमें दीर्घकालके लिये तुम-जैसा सहायक प्रदान किया है ॥ १८ ॥

किं तु शीघ्रमितो वीर निष्क्रम त्वं मया सह ।
सान्त्वयस्व वयस्यं च भार्याहरणदुःखितम् ॥ १९ ॥

'किंतु वीर ! अब तुम शीघ्र ही मेरे साथ इस पुरीसे बाहर निकलो । तुम्हारे मित्र अपनी पत्नीके अपहरणसे बहुत दुखी हैं । उन्हें चलकर सान्त्वना दो ॥ १९ ॥

यच्च शोकाभिभूतस्य श्रुत्वा रामस्य भाषितम् ।
मया त्वं परुषाण्युक्तस्तत् क्षमस्व सखे मम ॥ २० ॥

'सखे ! शोकमग्न श्रीरामके वचनोंको सुनकर जो मैंने तुम्हारे प्रति कठोर बातें कह दी हैं, उनके लिये मुझे क्षमा करो' ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका हनुमान्‌जीको वानरसेनाके संग्रहके लिये दोबारा दूत भेजनेकी आज्ञा देना, उन दूतोंसे राजाकी आज्ञा सुनकर समस्त वानरोंका किष्किन्धाके लिये प्रस्थान और दूतोंका लौटकर सुग्रीवको भेंट देनेके साथ ही वानरोंके आगमनका समाचार सुनाना

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो लक्ष्मणेन महात्मना ।
हनूमन्तं स्थितं पार्श्वे वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

महात्मा लक्ष्मणने जब ऐसा कहा, तब सुग्रीव अपने पास ही खड़े हुए हनुमान्‌जीसे यों बोले—॥ १ ॥

महेन्द्रहिमवद्विन्ध्यकैलासशिखरेषु च ।
मन्दरे पाण्डुशिखरे पञ्चशैलेषु ये स्थिताः ॥ २ ॥
तरुणादित्यवर्णेषु भ्राजमानेषु नित्यशः ।
पर्वतेषु समुद्रान्ते पश्चिमस्यां तु ये दिशि ॥ ३ ॥
आदित्यभवने चैव गिरौ संध्याभ्रसंनिभे ।
पद्माचलवनं भीमाः संश्रिता हरिपुंगवाः ॥ ४ ॥
अञ्जनाम्बुदसंकाशाः कुञ्जरेन्द्रमहौजसः ।
अञ्जने पर्वते चैव ये वसन्ति प्लवंगमाः ॥ ५ ॥
महाशैलगुहावासा वानराः कनकप्रभाः ।
मेरुपार्श्वगताश्चैव ये च धूम्रगिरिं श्रिताः ॥ ६ ॥
तरुणादित्यवर्णाश्च पर्वते ये महारुणे ।
पिबन्तो मधु मैरेयं भीमवेगाः प्लवंगमाः ॥ ७ ॥

वनेषु च सुरम्येषु सुगन्धिषु महत्सु च।
तापसाश्रमरम्येषु वनान्तेषु समन्ततः॥ ८॥
तांस्तांस्त्वमानय क्षिप्रं पृथिव्यां सर्ववानरान्।
सामदानादिभिः कल्पैर्वानरैर्वेगवत्तरैः॥ ९॥

'महेन्द्र, हिमवान्, विन्ध्य, कैलास तथा श्वेत शिखरवाले मन्दराचल—इन पाँच पर्वतोंके शिखरोंपर जो श्रेष्ठ वानर रहते हैं, पश्चिम दिशामें समुद्रके परवर्ती तटपर प्रातःकालिक सूर्यके समान कान्तिमान् और नित्य प्रकाशमान पर्वतोंपर जिन वानरोंका निवास है, भगवान् सूर्यके निवासस्थान तथा संध्याकालिक मेघसमूहके समान अरुण वर्णवाले उदयाचल एवं अस्ताचलपर जो वानर वास करते हैं, पद्माचलवर्ती वनका आश्रय लेकर जो भयानक पराक्रमी वानर-शिरोमणि निवास करते हैं, अञ्जनपर्वतपर जो काजल और मेघके समान काले तथा गजराजके समान महाबली वानर रहते हैं, बड़े-बड़े पर्वतोंकी गुफाओंमें निवास करनेवाले तथा मेरुपर्वतके आसपास रहनेवाले जो सुवर्णकी-सी कान्तिवाले वानर हैं, जो धूम्रगिरिका आश्रय लेकर रहते हैं, मैरेय मधुका पान करते हुए जो महारुण पर्वतपर प्रातःकालके सूर्यकी भाँति लाल रंगके भयानक वेगशाली वानर निवास करते हैं तथा सुगन्धसे परिपूर्ण एवं तपस्वियोंके आश्रमोंसे सुशोभित बड़े-बड़े रमणीय वनों और वनान्तोंमें चारों ओर जो वानर रहते हैं, भूमण्डलके उन सभी वानरोंको तुम शीघ्र यहाँ ले आओ। शक्तिशाली तथा अत्यन्त वेगवान् वानरोंको भेजकर उनके द्वारा साम, दान आदि उपायोंका प्रयोग करके उन सबको यहाँ बुलवाओ॥ २—९॥

प्रेषिताः प्रथमं ये च मयाऽऽज्ञाता महाजवाः।
त्वरणार्थं तु भूयस्त्वं सम्प्रेषय हरीश्वरान्॥ १०॥

'मेरी आज्ञासे पहले जो महान् वेगशाली वानर भेजे गये हैं, उनको जल्दी करनेके लिये प्रेरणा देनेके निमित्त तुम पुनः दूसरे श्रेष्ठ वानरोंको भेजो॥ १०॥

ये प्रसक्ताश्च कामेषु दीर्घसूत्राश्च वानराः।
इहानयस्व ताञ्शीघ्रं सर्वानेव कपीश्वरान्॥ ११॥

'जो वानर कामभोगमें फँसे हुए हों तथा जो दीर्घसूत्री (प्रत्येक कार्यको विलम्बसे करनेवाले) हों, उन सभी कपीश्वरोंको शीघ्र यहाँ ले आओ॥ ११॥

अहोभिर्दशभिर्ये च नागच्छन्ति ममाज्ञया।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो राजशासनदूषकाः॥ १२॥

'जो मेरी आज्ञासे दस दिनके भीतर यहाँ न आ जायँ, राजाज्ञाको कलङ्कित करनेवाले उन दुरात्मा वानरोंको मार डालना चाहिये॥ १२॥

शतान्यथ सहस्राणि कोट्यश्च मम शासनात्।
प्रयान्तु कपिसिंहानां निदेशे मम ये स्थिताः॥ १३॥

'जो मेरी आज्ञाके अधीन रहते हों, ऐसे सैकड़ों, हजारों तथा करोड़ों वानरसिंह मेरे आदेशसे जायँ॥ १३॥

मेघपर्वतसंकाशाश्छादयन्त इवाम्बरम्।
घोररूपाः कपिश्रेष्ठा यान्तु मच्छासनादितः॥ १४॥

'जो मेघ और पर्वतके समान अपने विशाल शरीरसे आकाशको आच्छादित-सा कर लेते हैं, वे घोर रूपधारी श्रेष्ठ वानर मेरा आदेश मानकर यहाँसे यात्रा करें॥ १४॥

ते गतिज्ञा गतिं गत्वा पृथिव्यां सर्ववानराः।
आनयन्तु हरीन् सर्वांस्त्वरिताः शासनान्मम॥ १५॥

'वानरोंके निवासस्थानोंको जाननेवाले सभी वानर तीव्र गतिसे भूमण्डलमें चारों ओर जाकर मेरे आदेशसे उन-उन स्थानोंके सम्पूर्ण वानरगणोंको तुरंत यहाँ ले आवें'॥ १५॥

तस्य वानरराजस्य श्रुत्वा वायुसुतो वचः।
दिक्षु सर्वासु विक्रान्तान् प्रेषयामास वानरान्॥ १६॥

वानरराज सुग्रीवकी बात सुनकर वायुपुत्र हनुमान्‌जीने सम्पूर्ण दिशाओंमें बहुत-से पराक्रमी वानरोंको भेजा॥ १६॥

ते पदं विष्णुविक्रान्तं पतत्रिज्योतिरध्वगाः।
प्रयाताः प्रहिता राज्ञा हरयस्तु क्षणेन वै॥ १७॥

राजाकी आज्ञा पाकर वे सब वानर तत्काल आकाशमें पक्षियों और नक्षत्रोंके मार्गसे चल दिये॥ १७॥

ते समुद्रेषु गिरिषु वनेषु च सरस्सु च।
वानरा वानरान् सर्वान् रामहेतोरचोदयन्॥ १८॥

उन वानरोंने समुद्रोंके किनारे, पर्वतोंपर, वनोंमें और सरोवरोंके तटोंपर रहनेवाले समस्त वानरोंको श्रीरामचन्द्रजीका कार्य करनेके लिये चलनेको कहा॥ १८॥

मृत्युकालोपमस्याज्ञां राजराजस्य वानराः।
सुग्रीवस्याययुः श्रुत्वा सुग्रीवभयशङ्किताः॥ १९॥

अपने सम्राट् सुग्रीवका, जो मृत्यु एवं कालके समान भयानक दण्ड देनेवाले थे, आदेश सुनकर वे सभी वानर उनके भयसे थर्रा उठे और तुरंत ही किष्किन्धाकी ओर प्रस्थित हुए॥ १९॥

ततस्तेऽञ्जनसंकाशा गिरेस्तस्मान्महाबलाः।
तिस्रः कोट्यः प्लवंगानां निर्ययुर्यत्र राघवः॥ २०॥

तदनन्तर कज्जल गिरिसे काजलके ही समान काले और महान् बलवान् तीन करोड़ वानर उस स्थानपर जानेके लिये निकले, जहाँ श्रीरघुनाथजी विराजमान थे॥ २०॥

अस्तं गच्छति यत्रार्कस्तस्मिन् गिरिवरे रताः।
संतप्तहेमवर्णाभास्तस्मात् कोट्यो दश च्युताः॥ २१॥

जहाँ सूर्यदेव अस्त होते हैं, उस श्रेष्ठ पर्वतपर रहनेवाले दस करोड़ वानर, जिनकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान-थी, वहाँसे किष्किन्धाके लिये चले॥ २१॥

कैलासशिखरेभ्यश्च सिंहकेसरवर्चसाम्।
ततः कोटिसहस्राणि वानराणां समागमन् ॥ २२ ॥

कैलासके शिखरोंसे सिंहके अयालकी-सी श्वेत कान्तिवाले दस अरब वानर आये ॥ २२ ॥

फलमूलेन जीवन्तो हिमवन्तमुपाश्रिताः।
तेषां कोटिसहस्राणां सहस्रं समवर्तत ॥ २३ ॥

जो हिमालयपर रहकर फल-मूलसे जीवन-निर्वाह करते थे, वे वानर एक नीलकी संख्यामें वहाँ आये ॥ २३ ॥

अङ्गारकसमानानां भीमानां भीमकर्मणाम्।
विन्ध्याद्वानरकोटीनां सहस्राण्यपतन् द्रुतम् ॥ २४ ॥

विन्ध्याचल पर्वतसे मङ्गलके समान लाल रंगवाले भयानक पराक्रमी भयंकर रूपधारी वानरोंकी दस अरब सेना बड़े वेगसे किष्किन्धामें आयी ॥ २४ ॥

क्षीरोदवेलानिलयास्तमालवनवासिनः।
नारिकेलाशनाश्चैव तेषां संख्या न विद्यते ॥ २५ ॥

क्षीरसमुद्रके किनारे और तमालवनमें नारियल खाकर रहनेवाले वानर इतनी अधिक संख्यामें आये कि उनकी गणना नहीं हो सकती थी ॥ २५ ॥

वनेभ्यो गह्वरेभ्यश्च सरिद्भ्यश्च महाबलाः।
आगच्छद् वानरी सेना पिबन्तीव दिवाकरम् ॥ २६ ॥

वनोंसे, गुफाओंसे और नदियोंके किनारोंसे असंख्य महाबली वानर एकत्र हुए। वानरोंकी वह सारी सेना सूर्यदेवको पीती (आच्छादित करती) हुई-सी आयी ॥२६॥

ये तु त्वरयितुं याता वानराः सर्ववानरान्।
ते वीरा हिमवच्छैले ददृशुस्तं महाद्रुमम् ॥ २७ ॥

जो वानर समस्त वानरोंको शीघ्र आनेके लिये प्रेरित करनेके निमित्त किष्किन्धासे दुबारा भेजे गये थे, उन वीरोंने हिमालय पर्वतपर उस प्रसिद्ध विशाल वृक्षको देखा (जो भगवान् शंकरकी यज्ञशालामें स्थित था) ॥ २७ ॥

तस्मिन् गिरिवरे पुण्ये यज्ञो माहेश्वरः पुरा।
सर्वदेवमनस्तोषो बभूव सुमनोरमः ॥ २८ ॥

उस पवित्र एवं श्रेष्ठ पर्वतपर पूर्वकालमें भगवान् शंकरका यज्ञ हुआ था, जो सम्पूर्ण देवताओंके मनको संतोष देनेवाला और अत्यन्त मनोरम था ॥ २८ ॥

अन्ननिस्यन्दजातानि मूलानि च फलानि च।
अमृतस्वादुकल्पानि ददृशुस्तत्र वानराः ॥ २९ ॥

उस पर्वतपर खीर आदि अन्न (होमद्रव्य) से घृत आदिका स्राव हुआ था, उससे वहाँ अमृतके समान स्वादिष्ठ फल और मूल उत्पन्न हुए थे। उन फलोंको उन वानरोंने देखा ॥ २९ ॥

तदन्नसम्भवं दिव्यं फलमूलं मनोहरम्।
यः कश्चित् सकृदश्नाति मासं भवति तर्पितः ॥ ३० ॥

उस अन्नसे उत्पन्न हुए उस दिव्य एवं मनोहर फल-मूलको जो कोई एक बार खा लेता था, वह एक मासतक उससे तृप्त बना रहता था ॥ ३० ॥

तानि मूलानि दिव्यानि फलानि च फलाशनाः।
औषधानि च दिव्यानि जगृहुर्हरिपुंगवाः ॥ ३१ ॥

फलाहार करनेवाले उन वानरशिरोमणियोंने उन दिव्य मूल-फलों और दिव्य ओषधोंको अपने साथ ले लिया ॥३१॥

तस्माच्च यज्ञायतनात् पुष्पाणि सुरभीणि च।
आनिन्युर्वानरा गत्वा सुग्रीवप्रियकारणात् ॥ ३२ ॥

वहाँ जाकर उस यज्ञ-मण्डपसे वे सब वानर सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये सुगन्धित पुष्प भी लेते आये ॥ ३२ ॥

ते तु सर्वे हरिवराः पृथिव्यां सर्ववानरान्।
संचोदयित्वा त्वरितं यूथानां जग्मुरग्रतः ॥ ३३ ॥

वे समस्त श्रेष्ठ वानर भूमण्डलके सम्पूर्ण वानरोंको तुरंत चलनेका आदेश देकर उनके यूथोंके पहुँचनेके पहले ही सुग्रीवके पास आ गये ॥ ३३ ॥

ते तु तेन मुहूर्तेन कपयः शीघ्रचारिणः।
किष्किन्धां त्वरया प्राप्ताः सुग्रीवो यत्र वानरः ॥ ३४ ॥

वे शीघ्रगामी वानर उसी मुहूर्तमें चलकर बड़ी उतावलीके साथ किष्किन्धापुरीमें जहाँ वानरराज सुग्रीव थे, जा पहुँचे ॥ ३४ ॥

ते गृहीत्वौषधीः सर्वाः फलमूलं च वानराः।
तं प्रतिग्राहयामासुर्वचनं चेदमब्रुवन् ॥ ३५ ॥

उन सम्पूर्ण ओषधियों और फल-मूलोंको लेकर उन वानरोंने सुग्रीवकी सेवामें अर्पित कर दिया और इस प्रकार कहा—॥

सर्वे परिसृताः शैलाः सरितश्च वनानि च।
पृथिव्यां वानराः सर्वे शासनादुपयान्ति ते ॥ ३६ ॥

'महाराज ! हमलोग सभी पर्वतों, नदियों और वनोंमें घूम आये। भूमण्डलके समस्त वानर आपकी आज्ञासे यहाँ आ रहे हैं' ॥ ३६ ॥

एवं श्रुत्वा ततो हृष्टः सुग्रीवः प्लवगाधिपः।
प्रतिजग्राह च प्रीतस्तेषां सर्वमुपायनम् ॥ ३७ ॥

यह सुनकर वानरराज सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनकी दी हुई सारी भेंट-सामग्री सानन्द ग्रहण की ॥३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

लक्ष्मणसहित सुग्रीवका भगवान् श्रीरामके पास आकर उनके चरणोंमें प्रणाम करना, श्रीरामका उन्हें समझाना, सुग्रीवका अपने किये हुए सैन्यसंग्रहविषयक उद्योगको बताना और उसे सुनकर श्रीरामका प्रसन्न होना

प्रतिगृह्य च तत् सर्वमुपायनमुपाहृतम्।
वानरान् सान्त्वयित्वा च सर्वानेव व्यसर्जयत्॥ १॥

उनके लाये हुए उन समस्त उपहारोंको ग्रहण करके सुग्रीवने सम्पूर्ण वानरोंको मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना दी। फिर सबको विदा कर दिया॥ १॥

विसर्जयित्वा स हरीन् सहस्रान् कृतकर्मणः।
मेने कृतार्थमात्मानं राघवं च महाबलम्॥ २॥

कार्य पूरा करके लौटे हुए उन सहस्रों वानरोंको विदा करके सुग्रीवने अपने आपको कृतार्थ माना और महाबली श्रीरघुनाथजीका भी कार्य सिद्ध हुआ ही समझा॥ २॥

स लक्ष्मणो भीमबलं सर्ववानरसत्तमम्।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं सम्प्रहर्षयन्॥ ३॥

तत्पश्चात् लक्ष्मण समस्त वानरोंमें श्रेष्ठ भयंकर बलशाली सुग्रीवका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे यह विनीत वचन बोले—॥

किष्किन्धाया विनिष्क्राम यदि ते सौम्य रोचते।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य सुभाषितम्॥ ४॥
सुग्रीवः परमप्रीतो वाक्यमेतदुवाच ह।

'सौम्य! यदि तुम्हारी रुचि हो तो अब किष्किन्धासे बाहर निकलो।' लक्ष्मणकी यह सुन्दर बात सुनकर सुग्रीव अत्यन्त प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—॥ ४½॥

एवं भवतु गच्छाम स्थेयं त्वच्छासने मया॥ ५॥
तमेवमुक्त्वा सुग्रीवो लक्ष्मणं शुभलक्षणम्।
विसर्जयामास तदा ताराद्याश्चैव योषितः॥ ६॥

'अच्छा, ऐसा ही हो। चलिये, चलें। मुझे तो आपकी आज्ञाका पालन करना है।' शुभ लक्षणोंसे युक्त लक्ष्मणसे ऐसा कहकर सुग्रीवने तारा आदि सब स्त्रियोंको तत्काल विदा कर दिया॥ ५-६॥

एहीत्युच्चैर्हरिवरान् सुग्रीवः समुदाहरत्।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा हरयः शीघ्रमाययुः॥ ७॥
बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे ये स्युः स्त्रीदर्शनक्षमाः।

इसके बाद सुग्रीवने शेष वानरोंको 'आओ, आओ' कहकर उच्चस्वरसे पुकारा। उनकी वह पुकार सुनकर सब वानर, जो अन्तःपुरकी स्त्रियोंको देखनेके अधिकारी थे, दोनों हाथ जोड़े शीघ्रतापूर्वक उनके पास आये॥ ७½॥

तानुवाच ततः प्राप्तान् राजार्कसदृशप्रभः॥ ८॥
उपस्थापयत क्षिप्रं शिबिकां मम वानराः।

पास आये हुए उन वानरोंसे सूर्यतुल्य तेजस्वी राजा सुग्रीवने कहा—'वानरो! तुमलोग शीघ्र मेरी शिबिकाको यहाँ ले आओ'॥ ८½॥

श्रुत्वा तु वचनं तस्य हरयः शीघ्रविक्रमाः॥ ९॥
समुपस्थापयामासुः शिबिकां प्रियदर्शनाम्।

उनकी बात सुनकर शीघ्रगामी वानरोंने एक सुन्दर शिबिका (पालकी) वहाँ उपस्थित कर दी॥ ९½॥

तामुपस्थापितां दृष्ट्वा शिबिकां वानराधिपः॥ १०॥
लक्ष्मणारुह्यतां शीघ्रमिति सौमित्रिमब्रवीत्।

पालकीको वहाँ उपस्थित देख वानरराज सुग्रीवने सुमित्राकुमारसे कहा—'कुमार लक्ष्मण! आप शीघ्र इसपर आरूढ़ हो जायँ'॥ १०½॥

इत्युक्त्वा काञ्चनं यानं सुग्रीवः सूर्यसंनिभम्॥ ११॥
बहुभिर्हरिभिर्युक्तमारुरोह सलक्ष्मणः।

ऐसा कहकर लक्ष्मणसहित सुग्रीव उस सूर्यकी-सी प्रभावाली सुवर्णमयी पालकीपर, जिसे ढोनेके लिये बहुतसे वानर लगे थे, आरूढ़ हुए॥ ११½॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि॥ १२॥
शुक्लैश्च वालव्यजनैर्धूयमानैः समन्ततः।
शङ्खभेरीनिनादैश्च वन्दिभिश्चाभिनन्दितः॥ १३॥
निर्ययौ प्राप्य सुग्रीवो राज्यश्रियमनुत्तमाम्।

उस समय सुग्रीवके ऊपर श्वेत छत्र लगाया गया और सब ओरसे सफेद चँवर डुलाये जाने लगे। शङ्ख और भेरीकी ध्वनिके साथ वन्दीजनोंका अभिनन्दन सुनते हुए राजा सुग्रीव परम उत्तम राजलक्ष्मीको पाकर किष्किन्धापुरीसे बाहर निकले॥ १२-१३½॥

स वानरशतैस्तीक्ष्णैर्बहुभिः शस्त्रपाणिभिः॥ १४॥
परिकीर्णो ययौ तत्र यत्र रामो व्यवस्थितः।

हाथमें शस्त्र लिये तीक्ष्ण स्वभाववाले कई सौ वानरोंसे घिरे हुए राजा सुग्रीव उस स्थानपर गये, जहाँ भगवान् श्रीराम निवास करते थे॥ १४½॥

स तं देशमनुप्राप्य श्रेष्ठं रामनिषेवितम्॥ १५॥
अवातरन्महातेजाः शिबिकायाः सलक्ष्मणः।
आसाद्य च ततो रामं कृताञ्जलिपुटोऽभवत्॥ १६॥

श्रीरामचन्द्रजीसे सेवित उस श्रेष्ठ स्थानमें पहुँचकर

लक्ष्मणसहित महातेजस्वी सुग्रीव पालकीसे उतरे और श्रीरामके पास जा हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ १५-१६ ॥

कृताञ्जलौ स्थिते तस्मिन् वानराश्चाभवंस्तथा ।
तटाकमिव तं दृष्ट्वा रामः कुड्मलपङ्कजम् ॥ १७ ॥
वानराणां महत् सैन्यं सुग्रीवे प्रीतिमानभूत् ।

वानरराजके हाथ जोड़कर खड़े होनेपर उनके अनुयायी वानर भी उन्हींकी भाँति अञ्जलि बाँधे खड़े हो गये। मुकुलित कमलोंसे भरे हुए विशाल सरोवरकी भाँति वानरोंकी उस बड़ी भारी सेनाको देखकर श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीवपर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १७½ ॥

पादयोः पतितं मूर्ध्ना तमुत्थाप्य हरीश्वरम् ॥ १८ ॥
प्रेम्णा च बहुमानाच्च राघवः परिषस्वजे ।

वानरराजको चरणोंमें मस्तक रखकर पड़ा हुआ देख श्रीरघुनाथजीने हाथसे पकड़कर उठाया और बड़े आदर तथा प्रेमके साथ उन्हें हृदयसे लगाया ॥ १८½ ॥

परिष्वज्य च धर्मात्मा निषीदेति ततोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥
निषण्णं तं ततो दृष्ट्वा क्षितौ रामोऽब्रवीत् ततः ।

हृदयसे लगाकर धर्मात्मा श्रीरामने उनसे कहा—'बैठो'। उन्हें पृथ्वीपर बैठा देख श्रीराम बोले— ॥ १९½ ॥

धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते ॥ २० ॥
विभज्य सततं वीर स राजा हरिसत्तम ।
हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते ॥ २१ ॥
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ।

'वीर ! वानरशिरोमणे ! जो धर्म, अर्थ और कामके लिये समयका विभाग करके सदा उचित समयपर उनका (न्याययुक्त) सेवन करता है, वही श्रेष्ठ राजा है। किंतु जो धर्म-अर्थका त्याग करके केवल कामका ही सेवन करता है, वह वृक्षकी अगली शाखापर सोये हुए मनुष्यके समान है। गिरनेपर ही उसकी आँख खुलती है ॥ २०-२१½ ॥

अमित्राणां वधे युक्तो मित्राणां संग्रहे रतः ॥ २२ ॥
त्रिवर्गफलभोक्ता च राजा धर्मेण युज्यते ।

'जो राजा शत्रुओंके वध और मित्रोंके संग्रहमें संलग्न रहकर योग्य समयपर धर्म, अर्थ और कामका (न्याययुक्त) सेवन करता है, वह धर्मके फलका भागी होता है ॥ २२½ ॥

उद्योगसमयस्त्वेष प्राप्तः शत्रुनिषूदन ॥ २३ ॥
संचिन्त्यतां हि पिङ्गेश हरिभिः सह मन्त्रिभिः ।

'शत्रुसूदन ! यह हमलोगोंके लिये उद्योगका समय आया है। वानरराज ! तुम इस विषयमें इन वानरों और मन्त्रियोंके साथ विचार करो' ॥ २३½ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
प्रणष्टा श्रीश्च कीर्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
त्वत्प्रसादान्महाबाहो पुनः प्राप्तमिदं मया ॥ २५ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर सुग्रीवने उनसे कहा—'महाबाहो ! मेरी श्री, कीर्ति तथा सदासे चला आनेवाला वानरोंका राज्य—ये सब नष्ट हो चुके थे। आपकी कृपासे ही मुझे पुनः इन सबकी प्राप्ति हुई है ॥ २४-२५ ॥

तव देव प्रसादाच्च भ्रातुश्च जयतां वर ।
कृतं न प्रतिकुर्याद् यः पुरुषाणां हि दूषकः ॥ २६ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ देव ! आप और आपके भाईकी कृपासे ही मैं वानर-राज्यपर पुनः प्रतिष्ठित हुआ हूँ। जो किये हुए उपकारका बदला नहीं चुकाता है, वह पुरुषोंमें धर्मको कलङ्कित करनेवाला माना गया है ॥ २६ ॥

एते वानरमुख्याश्च शतशः शत्रुसूदन ।
प्राप्ताश्चादाय बलिनः पृथिव्यां सर्ववानरान् ॥ २७ ॥

'शत्रुसूदन ! ये सैकड़ों बलवान् और मुख्य वानर भूमण्डलके सभी बलशाली वानरोंको साथ लेकर यहाँ आये हैं ॥ २७ ॥

ऋक्षाश्च वानराः शूरा गोलाङ्गूलाश्च राघव ।
कान्तारवनदुर्गाणामभिज्ञा घोरदर्शनाः ॥ २८ ॥

'रघुनन्दन ! इनमें रीछ हैं, वानर हैं और शौर्यसम्पन्न गोलाङ्गूल (लङ्गूर) हैं। ये सब-के-सब देखनेमें बड़े भयंकर हैं और बीहड़ वनों तथा दुर्गम स्थानोंके जानकार हैं ॥ २८ ॥

देवगन्धर्वपुत्राश्च वानराः कामरूपिणः ।
स्वैः स्वैः परिवृताः सैन्यैर्वर्तन्ते पथि राघव ॥ २९ ॥

'रघुनाथजी ! जो देवताओं और गन्धर्वोंके पुत्र हैं और इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हैं, वे श्रेष्ठ वानर अपनी-अपनी सेनाओंके साथ चल पड़े हैं और इस समय मार्गमें हैं ॥ २९ ॥

शतैः शतसहस्रैश्च वर्तन्ते कोटिभिस्तथा ।
अयुतैश्चावृता वीर शङ्कुभिश्च परंतप ॥ ३० ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! इनमेंसे किसीके साथ सौ, किसीके साथ लाख, किसीके साथ करोड़, किसीके साथ अयुत (दस हजार) और किसीके साथ एक शङ्कु वानर हैं ॥ ३० ॥

अर्बुदैरर्बुदशतैर्मध्यैश्चान्त्यैश्च वानराः ।
समुद्राश्च परार्धाश्च हरयो हरियूथपाः ॥ ३१ ॥

'कितने ही वानर अर्बुद (दस करोड़), सौ अर्बुद (दस अरब), मध्य (दस पद्म) तथा अन्त्य (एक पद्म) वानर-सैनिकोंके साथ आ रहे हैं। कितने ही वानरों तथा

वानर-यूथपतियोंकी संख्या समुद्र (दस नील) तथा परार्ध (शंख) तक पहुँच गयी है* ॥ ३१ ॥

आगमिष्यन्ति ते राजन् महेन्द्रसमविक्रमाः।
मेघपर्वतसंकाशा मेरुविन्ध्यकृतालयाः॥ ३२॥

'राजन्! वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी तथा मेघों और पर्वतोंके समान विशालकाय वानर, जो मेरु और विन्ध्याचलमें निवास करते हैं, यहाँ शीघ्र ही उपस्थित होंगे॥ ३२॥

ते त्वामभिगमिष्यन्ति राक्षसं योद्धुमाहवे।
निहत्य रावणं युद्धे ह्यानयिष्यन्ति मैथिलीम्॥ ३३॥

'जो युद्धमें रावणका वध करके मिथिलेशकुमारी सीताको लङ्कासे ला देंगे, वे महान् शक्तिशाली वानर संग्राममें उस राक्षससे युद्ध करनेके लिये अवश्य आपके पास आयेंगे'॥ ३३॥

ततः समुद्योगमवेक्ष्य वीर्यवान्
हरिप्रवीरस्य निदेशवर्तिनः।
बभूव हर्षाद् वसुधाधिपात्मजः
प्रबुद्धनीलोत्पलतुल्यदर्शनः॥ ३४॥

यह सुनकर परम पराक्रमी राजकुमार श्रीराम अपनी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले वानरोंके प्रमुख वीर सुग्रीवका यह सैन्य-विषयक उद्योग देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उनके नेत्र हर्षसे खिल उठे और प्रफुल्ल नील कमलके समान दिखायी देने लगे॥ ३४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः॥ ३८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३८॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामचन्द्रजीका सुग्रीवके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा विभिन्न वानर-यूथपतियोंका अपनी सेनाओंके साथ आगमन

इति ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो धर्मभृतां वरः।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य प्रत्युवाच कृताञ्जलिम्॥ १॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने अपनी दोनों भुजाओंसे उनका आलिङ्गन किया और हाथ जोड़कर खड़े हुए उनसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

यदिन्द्रो वर्षते वर्षं न तच्चित्रं भविष्यति।
आदित्योऽसौ सहस्रांशुः कुर्याद् वितिमिरं नभः॥ २॥
चन्द्रमा रजनीं कुर्यात् प्रभया सौम्य निर्मलाम्।
त्वद्विधो वापि मित्राणां प्रीतिं कुर्यात् परंतप॥ ३॥

'सखे! इन्द्र जो जलकी वर्षा करते हैं, सहस्रों किरणोंसे शोभा पानेवाले सूर्यदेव जो आकाशका अन्धकार दूर कर देते हैं तथा सौम्य! चन्द्रमा अपनी प्रभासे जो अँधेरी रातको भी उज्ज्वल कर देते हैं, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि यह उनका स्वाभाविक गुण है। शत्रुओंको संताप देनेवाले सुग्रीव! इसी तरह तुम्हारे समान पुरुष भी यदि अपने मित्रोंका उपकार करके उन्हें प्रसन्न कर दें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये॥ २-३॥

एवं त्वयि न तच्चित्रं भवेद् यत् सौम्य शोभनम्।
जानाम्यहं त्वां सुग्रीव सततं प्रियवादिनम्॥ ४॥

'सौम्य सुग्रीव! इसी प्रकार तुममें जो मित्रोंका हित-साधनरूप कल्याणकारी गुण है, वह आश्चर्यका विषय नहीं है; क्योंकि मैं जानता हूँ कि तुम सदा प्रिय बोलनेवाले हो—यह तुम्हारा स्वाभाविक गुण है॥ ४॥

त्वत्सनाथः सखे संख्ये जेतास्मि सकलानरीन्।
त्वमेव मे सुहृन्मित्रं साहाय्यं कर्तुमर्हसि॥ ५॥

'सखे! तुम्हारी सहायतासे सनाथ होकर मैं युद्धमें समस्त शत्रुओंको जीत लूँगा। तुम्हीं मेरे हितैषी मित्र हो और मेरी सहायता कर सकते हो॥ ५॥

जहारात्मविनाशाय मैथिलीं राक्षसाधमः।
वञ्चयित्वा तु पौलोमीमनुह्लादो यथा शचीम्॥ ६॥

'राक्षसाधम रावणने अपना नाश करनेके लिये ही मिथिलेशकुमारीको धोखा देकर उनका अपहरण किया है। ठीक उसी तरह, जैसे अनुह्लादने अपने विनाशके लिये

---

* यहाँ अर्बुद, शङ्कु, अन्त्य और मध्य आदि संख्यावाचक शब्दोंका आधुनिक गणितके अनुसार नाम बतानेके लिये प्राचीन संज्ञाओंका पूर्णरूपसे उल्लेख किया जाता है और कोष्ठमें उसका आधुनिक नाम दिया जा रहा है—एक (इकाई), दश (दहाई), शत (सैकड़ा), सहस्र (हजार), अयुत (दस हजार), लक्ष (लाख), प्रयुत (दस लाख), कोटि (करोड़), अर्बुद (दस करोड़), अब्ज (अरब), खर्व (दस अरब), निखर्व (खर्व), महापद्म (दस खर्व), शङ्कु (नील), जलधि (दस नील), अन्त्य (पद्म), मध्य (दस पद्म), परार्ध (शंख)—ये संख्याबोधक संज्ञाएँ उत्तरोत्तर दसगुनी मानी गयी हैं। (नारदपुराणसे)

ही पुलोमपुत्री शचीको छलपूर्वक हर लिया था * ॥ ६ ॥

नचिरात् तं वधिष्यामि रावणं निशितैः शरैः ।
पौलोम्याः पितरं दृप्तं शतक्रतुरिवाहितम् ॥ ७ ॥

'जैसे शत्रुहन्ता इन्द्रने शचीके घमंडी पिताको मार डाला था, उसी प्रकार मैं भी शीघ्र ही अपने तीखे बाणोंसे रावणका वध कर डालूँगा' ॥ ७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव रजः समभिवर्तत ।
उष्णतीव्रां सहस्रांशोश्छादयद् गगने प्रभाम् ॥ ८ ॥

श्रीराम और सुग्रीवमें जब इस प्रकार बातें हो रही थीं, उसी समय बड़े जोरकी धूल उठी, जिसने आकाशमें फैलकर सूर्यकी प्रचण्ड प्रभाको ढक दिया ॥ ८ ॥

दिशः पर्याकुलाश्चासंस्तमसा तेन दूषिताः ।
चचाल च मही सर्वा सशैलवनकानना ॥ ९ ॥

फिर तो उस धूलजनित अन्धकारसे सम्पूर्ण दिशाएँ दूषित एवं व्याप्त हो गयीं तथा पर्वत, वन और काननोंके साथ समूची पृथ्वी डगमग होने लगी ॥ ९ ॥

ततो नगेन्द्रसंकाशैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाबलैः ।
कृत्स्ना संछादिता भूमिरसंख्येयैः प्लवंगमैः ॥ १० ॥

तदनन्तर पर्वतराजके समान शरीर और तीखी दाढ़वाले असंख्य महाबली वानरोंसे वहाँकी सारी भूमि आच्छादित हो गयी ॥ १० ॥

निमेषान्तरमात्रेण ततस्तैर्हरियूथपैः ।
कोटीशतपरीवारैर्वानरैर्हरियूथपैः ॥ ११ ॥

पलक मारते-मारते अरबों वानरोंसे घिरे हुए अनेकानेक यूथपतियोंने वहाँ आकर सारी भूमिको ढक लिया ॥ ११ ॥

नादेयैः पार्वतेयैश्च सामुद्रैश्च महाबलैः ।
हरिभिर्मेघनिर्ह्रादैरन्यैश्च वनवासिभिः ॥ १२ ॥

नदी, पर्वत, वन और समुद्र सभी स्थानोंके निवासी महाबली वानर जुट गये, जो मेघोंकी गर्जनाके समान उच्चस्वरसे सिंहनाद करते थे ॥ १२ ॥

तरुणादित्यवर्णैश्च शशिगौरैश्च वानरैः ।
पद्मकेसरवर्णैश्च श्वेतैर्हेमकृतालयैः ॥ १३ ॥

कोई बालसूर्यके समान लाल रंगके थे तो कोई चन्द्रमाके समान गौर वर्णके । कितने ही वानर कमलके केसरोंके समान पीले रंगके थे और कितने ही हिमाचलवासी वानर सफेद दिखायी देते थे ॥ १३ ॥

* पुलोम दानवकी कन्या शची इन्द्रदेवके प्रति अनुरक्त थीं, परंतु अनुह्लादने उनके पिताको फुसलाकर अपने पक्षमें कर लिया और उसकी अनुमतिसे शचीको हर लिया । जब इन्द्रको इसका पता लगा, तब वे अनुमति देनेवाले पुलोमको और अपहरण करनेवाले अनुह्लादको भी मारकर शचीको अपने घर ले आये । यह पुराण-प्रसिद्ध कथा है । (रामायणतिलकसे)

कोटीसहस्रैर्दशभिः श्रीमान् परिवृतस्तदा ।
वीरः शतबलिर्नाम वानरः प्रत्यदृश्यत ॥ १४ ॥

उस समय परम कान्तिमान् शतबलिनामक वीर वानर दस अरब वानरोंके साथ दृष्टिगोचर हुआ ॥ १४ ॥

ततः काञ्चनशैलाभस्ताराया वीर्यवान् पिता ।
अनेकैर्बहुसाहस्रैः कोटिभिः प्रत्यदृश्यत ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् सुवर्णशैलके समान सुन्दर एवं विशाल शरीरवाले ताराके महाबली पिता कई सहस्र कोटि वानरोंके साथ वहाँ उपस्थित देखे गये ॥ १५ ॥

तथापरेण कोटीनां सहस्रेण समन्वितः ।
पिता रुमायाः सम्प्राप्तः सुग्रीवश्वशुरो विभुः ॥ १६ ॥

इसी प्रकार रुमाके पिता और सुग्रीवके श्वशुर, जो बड़े वैभवशाली थे, वहाँ उपस्थित हुए । उनके साथ भी दस अरब वानर थे ॥ १६ ॥

पद्मकेसरसंकाशस्तरुणार्कनिभाननः ।
बुद्धिमान् वानरश्रेष्ठः सर्ववानरसत्तमः ॥ १७ ॥
अनेकैर्बहुसाहस्रैर्वानराणां समन्वितः ।
पिता हनुमतः श्रीमान् केसरी प्रत्यदृश्यत ॥ १८ ॥

तदनन्तर हनुमान्‌जीके पिता कपिश्रेष्ठ श्रीमान् केसरी दिखायी दिये । उनके शरीरका रंग कमलके केसरोंकी भाँति पीला और मुख प्रातःकालके सूर्यके समान लाल था । वे बड़े बुद्धिमान् और समस्त वानरोंमें श्रेष्ठ थे । वे कई सहस्र वानरोंसे घिरे हुए थे ॥ १७-१८ ॥

गोलाङ्गूलमहाराजो गवाक्षो भीमविक्रमः ।
वृतः कोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यत ॥ १९ ॥

फिर लंगूर-जातिवाले वानरोंके महाराज भयंकर पराक्रमी गवाक्षका दर्शन हुआ । उनके साथ दस अरब वानरोंकी सेना थी ॥ १९ ॥

ऋक्षाणां भीमवेगानां धूम्रः शत्रुनिबर्हणः ।
वृतः कोटिसहस्राभ्यां द्वाभ्यां समभिवर्तत ॥ २० ॥

शत्रुओंका संहार करनेवाले धूम्र भयंकर वेगशाली बीस अरब रीछोंकी सेना लेकर आये ॥ २० ॥

महाचलनिभैर्घोरैः पनसो नाम यूथपः ।
आजगाम महावीर्यैस्तिसृभिः कोटिभिर्वृतः ॥ २१ ॥

महापराक्रमी यूथपति पनस तीन करोड़ वानरोंके साथ उपस्थित हुए । वे सब-के-सब बड़े भयंकर तथा महान् पर्वताकार दिखायी देते थे ॥ २१ ॥

नीलाञ्जनचयाकारो नीलो नामैष यूथपः ।
अदृश्यत महाकायः कोटिभिर्दशभिर्वृतः ॥ २२ ॥

यूथपति नीलका शरीर भी बड़ा विशाल था । वे नीले कज्जल गिरिके समान नीलवर्णके थे और दस करोड़ कपियोंसे घिरे हुए थे ॥ २२ ॥

ततः काञ्चनशैलाभो गवयो नाम यूथपः।
आजगाम महावीर्यः कोटिभिः पञ्चभिर्वृतः ॥ २३ ॥

तदनन्तर यूथपति गवय, जो सुवर्णमय पर्वत मेरुके समान कान्तिमान् और महापराक्रमी थे, पाँच करोड़ वानरोंके साथ उपस्थित हुए ॥ २३ ॥

दरीमुखश्च बलवान् यूथपोऽभ्याययौ तदा।
वृतः कोटिसहस्रेण सुग्रीवं समवस्थितः ॥ २४ ॥

उसी समय वानरोंके बलवान् सरदार दरीमुख भी आ पहुँचे। वे दस अरब वानरोंके साथ सुग्रीवकी सेवामें उपस्थित हुए थे ॥ २४ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चोभावश्विपुत्रौ महाबलौ।
कोटिकोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यताम् ॥ २५ ॥

अश्विनीकुमारोंके महाबली पुत्र मैन्द और द्विविद—ये दोनों भाई भी दस-दस अरब वानरोंकी सेनाके साथ वहाँ दिखायी दिये ॥ २५ ॥

गजश्च बलवान् वीरस्तिसृभिः कोटिभिर्वृतः।
आजगाम महातेजाः सुग्रीवस्य समीपतः ॥ २६ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी बलवान् वीर गज तीन करोड़ वानरोंके साथ सुग्रीवके पास आया ॥ २६ ॥

ऋक्षराजो महातेजा जाम्बवान्नाम नामतः।
कोटिभिर्दशभिर्व्याप्तः सुग्रीवस्य वशे स्थितः ॥ २७ ॥

रीछोंके राजा जाम्बवान् बड़े तेजस्वी थे। वे दस करोड़ रीछोंसे घिरे हुए आये और सुग्रीवके अधीन होकर खड़े हुए ॥ २७ ॥

रुमणो नाम तेजस्वी विक्रान्तैर्वानरैर्वृतः।
आगतो बलवांस्तूर्णं कोटीशतसमावृतः ॥ २८ ॥

रुमण (रुमण्वान्) नामक तेजस्वी और बलवान् वानर एक अरब पराक्रमी वानरोंको साथ लिये बड़ी तीव्र गतिसे वहाँ आया ॥ २८ ॥

ततः कोटिसहस्राणां सहस्रेण शतेन च।
पृष्ठतोऽनुगतः प्राप्तो हरिभिर्गन्धमादनः ॥ २९ ॥

इसके बाद यूथपति गन्धमादन उपस्थित हुए। उनके पीछे एक पद्म वानरोंकी सेना आयी थी ॥ २९ ॥

ततः पद्मसहस्रेण वृतः शङ्कुशतेन च।
युवराजोऽङ्गदः प्राप्तः पितुस्तुल्यपराक्रमः ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् युवराज अङ्गद आये। वे अपने पिताके समान ही पराक्रमी थे। इनके साथ एक सहस्र पद्म और सौ शंकु (एक पद्म) वानरोंकी सेना थी (इनके सैनिकोंकी कुल संख्या दस शंख एक पद्म थी) ॥ ३० ॥

ततस्ताराद्युतिस्तारो हरिभिर्भीमविक्रमैः।
पञ्चभिर्हरिकोटीभिर्दूरतः पर्यदृश्यत ॥ ३१ ॥

तदनन्तर तारोंके समान कान्तिमान् तार नामक वानर पाँच करोड़ भयंकर पराक्रमी वानर वीरोंके साथ दूरसे आता दिखायी दिया ॥ ३१ ॥

इन्द्रजानुः कपिर्वीरो यूथपः प्रत्यदृश्यत।
एकादशानां कोटीनामीश्वरस्तैश्च संवृतः ॥ ३२ ॥

इन्द्रजानु (इन्द्रभानु) नामक वीर यूथपति, जो बड़ा ही विद्वान् एवं बुद्धिमान् था; ग्यारह करोड़ वानरोंके साथ उपस्थित देखा गया। वह उन सबका स्वामी था ॥ ३२ ॥

ततो रम्भस्त्वनुप्राप्तस्तरुणादित्यसंनिभः।
अयुतेन वृतश्चैव सहस्रेण शतेन च ॥ ३३ ॥

इसके बाद रम्भनामक वानर उपस्थित हुआ, जो प्रातःकालके सूर्यकी भाँति लाल रंगका था। उसके साथ ग्यारह हजार एक सौ वानरोंकी सेना थी ॥ ३३ ॥

ततो यूथपतिर्वीरो दुर्मुखो नाम वानरः।
प्रत्यदृश्यत कोटीभ्यां द्वाभ्यां परिवृतो बली ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् वीर यूथपति दुर्मुख नामक बलवान् वानर उपस्थित देखा गया, जो दो करोड़ वानर सैनिकोंसे घिरा हुआ था ॥ ३४ ॥

कैलासशिखराकारैर्वानरैर्भीमविक्रमैः।
वृतः कोटिसहस्रेण हनुमान् प्रत्यदृश्यत ॥ ३५ ॥

इसके बाद हनुमान्‌जीने दर्शन दिया। उनके साथ कैलासशिखरके समान श्वेत शरीरवाले भयंकर पराक्रमी वानर दस अरबकी संख्यामें मौजूद थे ॥ ३५ ॥

नलश्चापि महावीर्यः संवृतो द्रुमवासिभिः।
कोटीशतेन सम्प्राप्तः सहस्रेण शतेन च ॥ ३६ ॥

फिर महापराक्रमी नल उपस्थित हुए, जो एक अरब एक हजार एक सौ द्रुमवासी वानरोंसे घिरे हुए थे ॥ ३६ ॥

ततो दधिमुखः श्रीमान् कोटिभिर्दशभिर्वृतः।
सम्प्राप्तोऽभिनदंस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर श्रीमान् दधिमुख दस करोड़ वानरोंके साथ गर्जना करते हुए किष्किन्धामें महात्मा सुग्रीवके पास आये ॥

शरभः कुमुदो वह्निर्वानरो रंह एव च।
एते चान्ये च बहवो वानराः कामरूपिणः ॥ ३८ ॥
आवृत्य पृथिवीं सर्वां पर्वतांश्च वनानि च।
यूथपाः समनुप्राप्ता येषां संख्या न विद्यते ॥ ३९ ॥

इनके सिवा शरभ, कुमुद, वह्नि तथा रंह—ये और दूसरे भी बहुत-से इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानर-यूथपति सारी पृथ्वी, पर्वत और वनोंको आवृत करके वहाँ उपस्थित हुए, जिनकी कोई गणना नहीं की जा सकती ॥

आगताश्च निविष्टाश्च पृथिव्यां सर्ववानराः।
आप्लवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः।
अभ्यवर्तन्त सुग्रीवं सूर्यमभ्रगणा इव ॥ ४० ॥

वहाँ आये हुए सभी वानर पृथ्वीपर बैठे। वे सब-के-सब उछलते, कूदते और गर्जते हुए वहाँ सुग्रीवके चारों ओर जमा हो गये। जैसे सूर्यको सब ओरसे घेरकर बादलोंके समूह छा रहे हों ॥ ४० ॥

कुर्वाणा बहुशब्दांश्च प्रहृष्टा बाहुशालिनः ।
शिरोभिर्वानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयन् ॥ ४१ ॥

अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले बहुतेरे श्रेष्ठ वानरोंने (जो भीड़के कारण सुग्रीवके पासतक न पहुँच सके थे) अनेक प्रकारकी बोली बोलकर तथा मस्तक झुकाकर वानरराज सुग्रीवको अपने आगमनकी सूचना दी ॥

अपरे वानरश्रेष्ठाः संगम्य च यथोचितम् ।
सुग्रीवेण समागम्य स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ॥ ४२ ॥

बहुत-से श्रेष्ठ वानर उनके पास गये और यथोचितरूपसे मिलकर लौटे तथा कितने ही वानर सुग्रीवसे मिलनेके बाद उनके पास ही हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ४२ ॥

सुग्रीवस्त्वरितो रामे सर्वांस्तान् वानरर्षभान् ।
निवेदयित्वा धर्मज्ञः स्थितः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४३ ॥

धर्मके ज्ञाता वानरराज सुग्रीवने वहाँ आये हुए उन सब वानर-शिरोमणियोंका समाचार निवेदन करके श्रीरामचन्द्रजीको शीघ्रतापूर्वक उनका परिचय दिया, फिर हाथ जोड़कर वे उनके सामने खड़े हो गये ॥ ४३ ॥

यथासुखं पर्वतनिर्झरेषु
वनेषु सर्वेषु च वानरेन्द्राः ।
निवेशयित्वा विधिवद् बलानि
बलं बलज्ञः प्रतिपत्तुमीष्टे ॥ ४४ ॥

उन वानर-यूथपतियोंने वहाँके पर्वतीय झरनोंके आस-पास तथा समस्त वनोंमें अपनी सेनाओंको यथोचितरूपसे सुखपूर्वक ठहरा दिया। तत्पश्चात् सब सेनाओंके ज्ञाता सुग्रीव उनका पूर्णतः ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ हो सके ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥



चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीवका सीताकी खोजके लिये पूर्व दिशामें वानरोंको भेजना और वहाँके स्थानोंका वर्णन करना

अथ राजा समृद्धार्थः सुग्रीवः प्लवगेश्वरः ।
उवाच नरशार्दूलं रामं परबलार्दनम् ॥ १ ॥

तदनन्तर बल-वैभवसे सम्पन्न वानरराज राजा सुग्रीव शत्रुसेनाका संहार करनेवाले पुरुषसिंह श्रीरामसे बोले—॥ १ ॥

आगता विनिविष्टाश्च बलिनः कामरूपिणः ।
वानरेन्द्रा महेन्द्राभा ये मद्विषयवासिनः ॥ २ ॥

'भगवन् ! जो मेरे राज्यमें निवास करते हैं, वे महेन्द्रके समान तेजस्वी, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले और बलवान् वानर-यूथपति यहाँ आकर पड़ाव डाले बैठे हैं ॥ २ ॥

त इमे बहुविक्रान्तैर्बलिभिर्भीमविक्रमैः ।
आगता वानरा घोरा दैत्यदानवसंनिभाः ॥ ३ ॥

'ये अपने साथ ऐसे बलवान् वानर योद्धाओंको ले आये हैं, जो बहुत-से युद्धस्थलोंमें अपना पराक्रम प्रकट कर चुके हैं और भयंकर पुरुषार्थ कर दिखानेवाले हैं। यहाँ ऐसे-ऐसे वानर उपस्थित हुए हैं, जो दैत्यों और दानवोंके समान भयानक हैं ॥ ३ ॥

ख्यातकर्मापदानाश्च बलवन्तो जितक्लमाः ।
पराक्रमेषु विख्याता व्यवसायेषु चोत्तमाः ॥ ४ ॥

'अनेक युद्धोंमें इन वानर वीरोंकी शूर-वीरताका परिचय मिल चुका है। ये बलके भण्डार हैं, युद्धसे थकते नहीं हैं—इन्होंने थकावटको जीत लिया है ! ये अपने पराक्रमके लिये प्रसिद्ध और उद्योग करनेमें श्रेष्ठ हैं ॥ ४ ॥

पृथिव्यम्बुचरा राम नानानगनिवासिनः ।
कोट्योघाश्च इमे प्राप्ता वानरास्तव किंकराः ॥ ५ ॥

'श्रीराम ! यहाँ आये हुए ये वानरोंके करोड़ों यूथ विभिन्न पर्वतोंपर निवास करनेवाले हैं। जल और थल—दोनोंमें समानरूपसे चलनेकी शक्ति रखते हैं। ये सब-के-सब आपके किंकर (आज्ञापालक) हैं ॥ ५ ॥

निदेशवर्तिनः सर्वे सर्वे गुरुहिते स्थिताः ।
अभिप्रेतमनुष्ठातुं तव शक्ष्यन्त्यरिंदम ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन ! ये सभी आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले हैं। आप इनके गुरु—स्वामी हैं। ये आपके हित-साधनमें तत्पर रहकर आपके अभीष्ट मनोरथको सिद्ध कर सकेंगे ॥ ६ ॥

त इमे बहुसाहस्रैरनीकैर्भीमविक्रमैः ।
आगता वानरा घोरा दैत्यदानवसंनिभाः ॥ ७ ॥

'दैत्यों और दानवोंके समान घोर रूपधारी ये सभी वानर-यूथपति अपने साथ भयंकर पराक्रम करनेवाली कई सहस्र सेनाएँ लेकर आये हैं ॥ ७ ॥

यन्मन्यसे नरव्याघ्र प्राप्तकालं तदुच्यताम्।
त्वत्सैन्यं त्वद्वशे युक्तमाज्ञापयितुमर्हसि ॥ ८ ॥

'पुरुषसिंह! अब इस समय आप जो कर्तव्य उचित समझते हैं, उसे बताइये। आपकी यह सेना आपके वशमें है। आप इसे यथोचित कार्यके लिये आज्ञा प्रदान करें॥८॥

काममेषामिदं कार्यं विदितं मम तत्त्वतः।
तथापि तु यथायुक्तमाज्ञापयितुमर्हसि ॥ ९ ॥

'यद्यपि सीताजीके अन्वेषणका यह कार्य इन सबको तथा मुझे भी अच्छी तरह ज्ञात है, तथापि आप जैसा उचित हो, वैसे कार्यके लिये हमें आज्ञा दें' ॥ ९ ॥

तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो दशरथात्मजः।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य इदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

जब सुग्रीवने ऐसी बात कही, तब दशरथनन्दन श्रीरामने दोनों भुजाओंसे पकड़कर उन्हें हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

ज्ञायतां सौम्य वैदेही यदि जीवति वा न वा।
स च देशो महाप्राज्ञ यस्मिन् वसति रावणः ॥ ११ ॥

'सौम्य! महाप्राज्ञ! पहले यह तो पता लगाओ कि विदेहकुमारी सीता जीवित है या नहीं तथा वह देश, जिसमें रावण निवास करता है, कहाँ है? ॥ ११ ॥

अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च।
प्राप्तकालं विधास्यामि तस्मिन् काले सह त्वया ॥ १२ ॥

'जब सीताके जीवित होनेका और रावणके निवास-स्थानका निश्चित पता मिल जायगा, तब जो समयोचित कर्तव्य होगा, उसका मैं तुम्हारे साथ मिलकर निश्चय करूँगा ॥ १२ ॥

नाहमस्मिन् प्रभुः कार्ये वानरेन्द्र न लक्ष्मणः।
त्वमस्य हेतुः कार्यस्य प्रभुश्च प्लवगेश्वर ॥ १३ ॥

'वानरराज! इस कार्यको सिद्ध करनेमें न तो मैं समर्थ हूँ और न लक्ष्मण ही। कपीश्वर! इस कार्यकी सिद्धि तुम्हारे ही हाथ है। तुम्हीं इसे पूर्ण करनेमें समर्थ हो॥१३॥

त्वमेवाज्ञापय विभो मम कार्यविनिश्चयम्।
त्वं हि जानासि मे कार्यं मम वीर न संशयः ॥ १४ ॥

'प्रभो! मेरे कार्यका भलीभाँति निश्चय करके तुम्हीं वानरोंको उचित आज्ञा दो। वीर! मेरा कार्य क्या है? इसे तुम्हीं ठीक-ठीक जानते हो, इसमें संशय नहीं है ॥ १४ ॥

सुहृद्द्वितीयो विक्रान्तः प्राज्ञः कालविशेषवित्।
भवानस्मद्धिते युक्तः सुहृदाप्तोऽर्थवित्तमः ॥ १५ ॥

'लक्ष्मणके बाद तुम्हीं मेरे दूसरे सुहृद् हो। तुम पराक्रमी, बुद्धिमान्, समयोचित कर्तव्यके ज्ञाता, हितमें संलग्न रहनेवाले, हितैषी बन्धु, विश्वासपात्र तथा मेरे प्रयोजनको अच्छी तरह समझनेवाले हो' ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो विनतं नाम यूथपम्।
अब्रवीद् रामसांनिध्ये लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ १६ ॥
शैलाभं मेघनिर्घोषमूर्जितं प्लवगेश्वरम्।
सोमसूर्यनिभैः सार्धं वानरैर्वानरोत्तम ॥ १७ ॥
देशकालनयैर्युक्तो विज्ञः कार्यविनिश्चये।
वृतः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ॥ १८ ॥
अधिगच्छ दिशं पूर्वां सशैलवनकाननाम्।
तत्र सीतां च वैदेहीं निलयं रावणस्य च ॥ १९ ॥
मार्गध्वं गिरिदुर्गेषु वनेषु च नदीषु च।

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर सुग्रीवने उनके और बुद्धिमान् लक्ष्मणके समीप ही विनत नामक यूथपतिसे, जो पर्वतके समान विशालकाय, मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले, बलवान् तथा वानरोंके शासक थे और चन्द्रमा एवं सूर्यके समान कान्तिवाले वानरोंके साथ उपस्थित हुए थे, कहा— 'वानरशिरोमणे! तुम देश और कालके अनुसार नीतिका प्रयोग करनेवाले तथा कार्यका निश्चय करनेमें चतुर हो। तुम एक लाख वेगवान् वानरोंके साथ पर्वत, वन और काननों-सहित पूर्व दिशाकी ओर जाओ और वहाँ पहाड़ोंके दुर्गम प्रदेशों, वनों तथा सरिताओंमें विदेहकुमारी सीता एवं रावण-के निवास-स्थानकी खोज करो ॥ १६—१९½ ॥

नदीं भागीरथीं रम्यां सरयूं कौशिकीं तथा ॥ २० ॥
कालिन्दीं यमुनां रम्यां यामुनं च महागिरिम्।
सरस्वतीं च सिन्धुं च शोणं मणिनिभोदकम् ॥ २१ ॥
महीं कालमहीं चापि शैलकाननशोभिताम्।

'भागीरथी गङ्गा, रमणीय सरयू, कौशिकी, सुरम्य कलिन्द-नन्दिनी यमुना, महापर्वत यामुन, सरस्वती नदी, सिंधु, मणि-के समान निर्मल जलवाले शोणभद्र, मही तथा पर्वतों और वनोंसे सुशोभित कालमही आदि नदियोंके किनारे ढूँढ़ो ॥ २०-२१½ ॥

ब्रह्ममालान् विदेहांश्च मालवान् काशिकोसलान् ॥ २२ ॥
मागधांश्च महाग्रामान् पुण्ड्रांस्त्वङ्गांस्तथैव च।

'ब्रह्ममाल, विदेह, मालव, काशी, कोसल, मगध देश-के बड़े-बड़े ग्राम, पुण्ड्रदेश तथा अङ्ग आदि जनपदोंमें छान-बीन करो ॥ २२½ ॥

भूमिं च कोशकाराणां भूमिं च रजताकराम् ॥ २३ ॥
सर्वं च तद् विचेतव्यं मार्गयद्भिस्ततस्ततः।
रामस्य दयितां भार्यां सीतां दशरथस्नुषाम् ॥ २४ ॥

'रेशमके कीड़ोंकी उत्पत्तिके स्थानों और चाँदीकी खानों-में भी खोज करनी चाहिये। इधर-उधर ढूँढ़ते हुए तुम सब लोगोंको इन सभी स्थानोंमें राजा दशरथकी पुत्रवधू तथा श्री-रामचन्द्रजीकी प्यारी पत्नी सीताका अन्वेषण करना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

समुद्रमवगाढांश्च पर्वतान् पत्तनानि च।
मन्दरस्य च ये कोटिं संश्रिता: केचिदालयाः ॥ २५ ॥

'समुद्रके भीतर प्रविष्ट हुए पर्वतोंपर, उसके अन्तर्वर्ती द्वीपोंके विभिन्न नगरोंमें तथा मन्दराचलकी चोटीपर जो कोई गाँव बसे हैं, उन सबमें सीताका अनुसंधान करो ॥२५॥

कर्णप्रावरणाश्चैव तथा चाप्योष्ठकर्णकाः।
घोरलोहमुखाश्चैव जवनाश्चैकपादकाः ॥ २६ ॥
अक्षया बलवन्तश्च तथैव पुरुषादकाः।
किरातास्तीक्ष्णचूडाश्च हेमाभाः प्रियदर्शनाः ॥ २७ ॥
आममीनाशनाश्चापि किराता द्वीपवासिनः।
अन्तर्जलचरा घोरा नरव्याघ्रा इति स्मृताः ॥ २८ ॥
एतेषामाश्रयाः सर्वे विचेयाः काननौकसः।

'जो कर्णप्रावरण (वस्त्रकी भाँति पैरतक लटके हुए कानवाले), ओष्ठकर्णक (ओठतक फैले हुए कानवाले) तथा घोरलोहमुख (लोहेके समान काले एवं भयंकर मुखवाले) हैं, जो एक ही पैरके होते हुए भी वेगपूर्वक चलनेवाले हैं, जिनकी संतानपरम्परा कभी क्षीण नहीं होती, वे पुरुष तथा जो बलवान् नरभक्षी राक्षस हैं, जो सूचीके अग्रभागकी भाँति तीखी चोटीवाले, सुवर्णके समान कान्तिमान्, प्रियदर्शन (सुन्दर), कच्ची मछली खानेवाले, द्वीपवासी तथा जलके भीतर विचरनेवाले किरात हैं, जिनके नीचेका आकार मनुष्य-जैसा और ऊपरकी आकृति व्याघ्रके समान है, ऐसे जो भयंकर प्राणी बताये गये हैं; वानरो ! इन सबके निवासस्थानोंमें जाकर तुम्हें सीता तथा रावणकी खोज करनी चाहिये ॥ २६—२८½ ॥

गिरिभिर्ये च गम्यन्ते प्लवनेन प्लवेन च ॥ २९ ॥

'जिन द्वीपोंमें पर्वतोंपर होकर जाना पड़ता है, जहाँ समुद्रको तैरकर या नाव आदिके द्वारा पहुँचा जाता है, उन सब स्थानोंमें सीताको ढूँढ़ना चाहिये ॥ २९ ॥

यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्।
सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम् ॥ ३० ॥

'इसके सिवा तुमलोग यत्नशील होकर सात राज्योंसे सुशोभित यवद्वीप (जावा), सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) तथा रूप्यकद्वीपमें भी जो सुवर्णकी खानोंसे सुशोभित हैं, ढूँढ़नेका प्रयत्न करो ॥ ३० ॥

यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः।
दिवं स्पृशति शृङ्गेण देवदानवसेवितः ॥ ३१ ॥

'यवद्वीपको लाँघकर आगे जानेपर एक शिशिरनामक पर्वत मिलता है, जिसके ऊपर देवता और दानव निवास करते हैं। वह पर्वत अपने उच्च शिखरसे स्वर्गलोकका स्पर्श करता-सा जान पड़ता है ॥ ३१ ॥

एतेषां गिरिदुर्गेषु प्रपातेषु वनेषु च।
मार्गध्वं सहिताः सर्वे रामपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ३२ ॥

'इन सब द्वीपोंके पर्वतों तथा शिशिर पर्वतके दुर्गम प्रदेशोंमें, झरनोंके आसपास और जंगलोंमें तुम सब लोग एक साथ होकर श्रीरामचन्द्रजीकी यशस्विनी पत्नी सीताका अन्वेषण करो ॥ ३२ ॥

ततो रक्तजलं प्राप्य शोणाख्यं शीघ्रवाहिनम्।
गत्वा पारं समुद्रस्य सिद्धचारणसेवितम् ॥ ३३ ॥
तस्य तीर्थेषु रम्येषु विचित्रेषु वनेषु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ३४ ॥

'तदनन्तर समुद्रके उस पार जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं, जाकर लाल जलसे भरे हुए शीघ्र प्रवाहित होनेवाले शोण नामक नदके तटपर पहुँच जाओगे। उसके तटवर्ती रमणीय तीर्थों और विचित्र वनोंमें जहाँ-तहाँ विदेहकुमारी सीताके साथ रावणकी खोज करना ॥ ३३-३४ ॥

पर्वतप्रभवा नद्यः सुभीमबहुनिष्कुटाः।
मार्गितव्या दरीमन्तः पर्वताश्च वनानि च ॥ ३५ ॥

'पर्वतोंसे निकली हुई बहुत-सी ऐसी नदियाँ मिलेंगी, जिनके तटोंपर बड़े भयंकर अनेकानेक उपवन प्राप्त होंगे। साथ ही वहाँ बहुत-सी गुफाओंवाले पर्वत उपलब्ध होंगे और अनेक वन भी दृष्टिगोचर होंगे। उन सबमें सीताका पता लगाना चाहिये ॥ ३५ ॥

ततः समुद्रद्वीपांश्च सुभीमान् द्रष्टुमर्हथ।
ऊर्मिमन्तं महारौद्रं क्रोशन्तमनिलोद्धतम् ॥ ३६ ॥

'तत्पश्चात् पूर्वोक्त देशोंसे परे जाकर तुम इक्षुरससे परिपूर्ण समुद्र तथा उसके द्वीपोंको देखोगे, जो बड़े ही भयंकर प्रतीत होते हैं। इक्षुरसका वह समुद्र महाभयंकर है। उसमें हवाके वेगसे उत्ताल तरङ्गें उठती रहती हैं तथा वह गर्जना करता हुआ-सा जान पड़ता है ॥ ३६ ॥

तत्रासुरा महाकायाश्छायां गृह्णन्ति नित्यशः।
ब्रह्मणा समनुज्ञाता दीर्घकालं बुभुक्षिताः ॥ ३७ ॥

'उस समुद्रमें बहुत-से विशालकाय असुर निवास करते हैं। वे बहुत दिनोंके भूखे होते हैं और छाया पकड़कर ही प्राणियोंको अपने पास खींच लेते हैं। यही उनका नित्यका आहार है। इसके लिये उन्हें ब्रह्माजीसे अनुमति मिल चुकी है ॥ ३७ ॥

तं कालमेघप्रतिमं महोरगनिषेवितम्।
अभिगम्य महानादं तीर्थेनैव महोदधिम् ॥ ३८ ॥
ततो रक्तजलं भीमं लोहितं नाम सागरम्।
गत्वा प्रेक्ष्यथ तां चैव बृहतीं कूटशाल्मलीम् ॥ ३९ ॥

'इक्षुरसका वह समुद्र काले मेघके समान श्याम दिखायी देता है। बड़े-बड़े नाग उसके भीतर निवास करते हैं। उससे बड़ी भारी गर्जना होती रहती है। विशेष उपायोंसे उस महासागरके पार जाकर तुम लाल रंगके जलसे भरे हुए लोहित नामक भयंकर समुद्रके तटपर पहुँच जाओगे और वहाँ

शाल्मलीद्वीपके चिह्नभूत कूटशाल्मलीनामक विशाल वृक्षका दर्शन करोगे ॥ ३८-३९ ॥

गृहं च वैनतेयस्य नानारत्नविभूषितम्।
तत्र कैलाससंकाशं विहितं विश्वकर्मणा ॥ ४० ॥

'उसके पास ही विश्वकर्माका बनाया हुआ विनतानन्दन गरुड़का एक सुन्दर भवन है, जो नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित तथा कैलास पर्वतके समान उज्ज्वल एवं विशाल है ॥ ४० ॥

तत्र शैलनिभा भीमा मन्देहा नाम राक्षसाः।
शैलशृङ्गेषु लम्बन्ते नानारूपा भयावहाः ॥ ४१ ॥

'उस द्वीपमें पर्वतके समान शरीरवाले भयंकर मंदेहनामक राक्षस निवास करते हैं, जो सुरा समुद्रके मध्यवर्ती शैल-शिखरोंपर लटकते रहते हैं। वे अनेक प्रकारके रूप धारण करनेवाले तथा भयदायक हैं ॥ ४१ ॥

ते पतन्ति जले नित्यं सूर्यस्योदयनं प्रति।
अभितप्ताश्च सूर्येण लम्बन्ते स्म पुनः पुनः ॥ ४२ ॥
निहता ब्रह्मतेजोभिरहन्यहनि राक्षसाः।

'प्रतिदिन सूर्योदयके समय वे राक्षस ऊर्ध्वमुख होकर सूर्यसे जूझने लगते हैं, परंतु सूर्यमण्डलके तापसे संतप्त तथा ब्रह्मतेजसे निहत हो सुरा-समुद्रके जलमें गिर पड़ते हैं। वहाँसे फिर जीवित हो उन्हीं शैल-शिखरोंपर लटक जाते हैं। उनका बारंबार ऐसा ही क्रम चला करता है ॥ ४२½ ॥

ततः पाण्डुरमेघाभं क्षीरोदं नाम सागरम् ॥ ४३ ॥

'शाल्मलिद्वीप एवं सुरा-समुद्रसे आगे बढ़नेपर (क्रमशः घृत और दधिके समुद्र प्राप्त होंगे। वहाँ सीताकी खोज करनेके पश्चात् जब आगे बढ़ोगे, तब) सफेद बादलोंकी-सी आभावाले क्षीरसमुद्रका दर्शन करोगे ॥ ४३ ॥

गत्वा द्रक्ष्यथ दुर्धर्षा मुक्ताहारमिवोर्मिभिः।
तस्य मध्ये महाञ्श्वेतो ऋषभो नाम पर्वतः ॥ ४४ ॥

'दुर्धर्ष वानरो! वहाँ पहुँचकर उठती हुई लहरोंसे युक्त क्षीरसागरको इस प्रकार देखोगे, मानो उसने मोतियोंके हार पहन रखे हों। उस सागरके बीचमें ऋषभ नामसे प्रसिद्ध एक बहुत ऊँचा पर्वत है, जो श्वेत वर्णका है ॥ ४४ ॥

दिव्यगन्धैः कुसुमितैराचितैश्च नगैर्वृतः।
सरश्च राजतैः पद्मैर्ज्वलितैर्हेमकेसरैः ॥ ४५ ॥
नाम्ना सुदर्शनं नाम राजहंसैः समाकुलम्।

'उस पर्वतपर सब ओर बहुत-से वृक्ष भरे हुए हैं, जो फूलोंसे सुशोभित तथा दिव्य गन्धसे सुवासित हैं। उसके ऊपर सुदर्शन नामका एक सरोवर है, जिसमें चाँदीके समान श्वेत रंगवाले कमल खिले हुए हैं। उन कमलोंके केसर सुवर्णमय होते हैं और सदा दिव्य दीप्तिसे दमकते रहते हैं। वह सरोवर राजहंसोंसे भरा रहता है ॥ ४५½ ॥

विबुधाश्चारणा यक्षाः किंनराश्चाप्सरोगणाः ॥ ४६ ॥
हृष्टाः समधिगच्छन्ति नलिनीं तां रिरंसवः।

'देवता, चारण, यक्ष, किंनर और अप्सराएँ बड़ी प्रसन्नताके साथ जल-विहार करनेके लिये वहाँ आया करती हैं ॥ ४६½ ॥

क्षीरोदं समतिक्रम्य तदा द्रक्ष्यथ वानराः ॥ ४७ ॥
जलोदं सागरं शीघ्रं सर्वभूतभयावहम्।
तत्र तत्कोपजं तेजः कृतं हयमुखं महत् ॥ ४८ ॥

'वानरो! क्षीरसागर लाँघकर जब तुमलोग आगे बढ़ोगे, तब शीघ्र ही सुस्वादु जलसे भरे हुए समुद्रको देखोगे। वह महासागर समस्त प्राणियोंको भय देनेवाला है। उसमें ब्रह्मर्षि और्वके कोपसे प्रकट हुआ वडवामुख नामक महान् तेज विद्यमान है ॥ ४७-४८ ॥

अस्याहुस्तन्महावेगमोदनं सचराचरम्।
तत्र विक्रोशतां नादो भूतानां सागरौकसाम्।
श्रूयते चासमर्थानां दृष्ट्वाभूद् वडवामुखम् ॥ ४९ ॥

'उस समुद्रमें जो चराचर प्राणियोंसहित महान् वेगशाली जल है, वही उस वडवामुख नामक अग्निका आहार बताया जाता है। वहाँ जो वडवानल प्रकट हुआ है, उसे देखकर उसमें पतनके भयसे चीखते-चिल्लाते हुए समुद्रनिवासी असमर्थ प्राणियोंका आर्तनाद निरन्तर सुनायी देता है ॥४९॥

स्वादूदस्योत्तरे तीरे योजनानि त्रयोदश।
जातरूपशिलो नाम सुमहान् कनकप्रभः ॥ ५० ॥

'स्वादिष्ट जलसे भरे हुए उस समुद्रके उत्तर तेरह योजनकी दूरीपर सुवर्णमयी शिलाओंसे सुशोभित, कनककी कमनीय कान्ति धारण करनेवाला एक बहुत ऊँचा पर्वत है ॥ ५० ॥

तत्र चन्द्रप्रतीकाशं पन्नगं धरणीधरम्।
पद्मपत्रविशालाक्षं ततो द्रक्ष्यथ वानराः ॥ ५१ ॥
आसीनं पर्वतस्याग्रे सर्वदेवनमस्कृतम्।
सहस्रशिरसं देवमनन्तं नीलवाससम् ॥ ५२ ॥

'वानरो! उसके शिखरपर इस पृथ्वीको धारण करनेवाले भगवान् अनन्त बैठे दिखायी देंगे। उनका श्रीविग्रह चन्द्रमाके समान गौरवर्णका है। वे सर्प जातिके हैं; परंतु उनका स्वरूप देवताओंके तुल्य है। उनके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान हैं और शरीर नील वस्त्रसे आच्छादित है। उन अनन्तदेवके सहस्र मस्तक हैं ॥ ५१-५२ ॥

त्रिशिराः काञ्चनः केतुस्तालस्तस्य महात्मनः।
स्थापितः पर्वतस्याग्रे विराजति सवेदिकः ॥ ५३ ॥

'पर्वतके ऊपर उन महात्माकी ताड़के चिह्नसे युक्त सुवर्णमयी ध्वजा फहराती रहती है। उस ध्वजाके तीन शिखर हैं और उसके नीचे आधारभूमिपर वेदी बनी हुई है। इस तरह उस ध्वजकी बड़ी शोभा होती है। ५३।

पूर्वस्यां दिशि निर्माणं कृतं तत् त्रिदशेश्वरैः ।
ततः परं हेममयः श्रीमानुदयपर्वतः ॥ ५४ ॥

'यही तालध्वज पूर्व दिशाकी सीमाके सूचकचिह्नके रूपमें देवताओंद्वारा स्थापित किया गया है। उसके बाद सुवर्णमय उदयपर्वत है, जो दिव्य शोभासे सम्पन्न है ॥ ५४ ॥

तस्य कोटिर्दिवं स्पृष्ट्वा शतयोजनमायता ।
जातरूपमयी दिव्या विराजति सवेदिका ॥ ५५ ॥

'उसका गगनचुम्बी शिखर सौ योजन लंबा है। उसका आधारभूत पर्वत भी वैसा ही है। उसके साथ वह दिव्य सुवर्णशिखर अद्भुत शोभा पाता है ॥ ५५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ।
जातरूपमयैर्दिव्यैः शोभते सूर्यसंनिभैः ॥ ५६ ॥

'वहाँके साल, ताल, तमाल और फूलोंसे लदे कनेर आदि वृक्ष भी सुवर्णमय ही हैं। उन सूर्यतुल्य तेजस्वी दिव्य वृक्षोंसे उदयगिरिकी बड़ी शोभा होती है ॥ ५६ ॥

तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम् ।
शृङ्गं सौमनसं नाम जातरूपमयं ध्रुवम् ॥ ५७ ॥

'उस सौ योजन लंबे उदयगिरिके शिखरपर एक सौमनस नामक सुवर्णमय शिखर है, जिसकी चौड़ाई एक योजन और ऊँचाई दस योजन है ॥ ५७ ॥

तत्र पूर्वं पदं कृत्वा पुरा विष्णुस्त्रिविक्रमे ।
द्वितीयं शिखरे मेरोश्चकार पुरुषोत्तमः ॥ ५८ ॥

'पूर्वकालमें वामन अवतारके समय पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुने अपना पहला पैर उस सौमनस नामक शिखरपर रखकर दूसरा पैर मेरु पर्वतके शिखरपर रक्खा था ॥ ५८ ॥

उत्तरेण परिक्रम्य जम्बूद्वीपं दिवाकरः ।
दृश्यो भवति भूयिष्ठं शिखरं तन्महोच्छ्रयम् ॥ ५९ ॥

'सूर्यदेव उत्तरसे घूमकर जम्बूद्वीपकी परिक्रमा करते हुए जब अत्यन्त ऊँचे 'सौमनस' नामक शिखरपर आकर स्थित होते हैं, तब जम्बूद्वीपनिवासियोंको उनका अधिक स्पष्टताके साथ दर्शन होता है ॥ ५९ ॥

तत्र वैखानसा नाम वालखिल्या महर्षयः ।
प्रकाशमाना दृश्यन्ते सूर्यवर्णास्तपस्विनः ॥ ६० ॥

'उस सौमनस नामक शिखरपर वैखानस महात्मा महर्षि वालखिल्यगण प्रकाशित होते देखे जाते हैं, जो सूर्यके समान कान्तिमान् और तपस्वी हैं ॥ ६० ॥

अयं सुदर्शनो द्वीपः पुरो यस्य प्रकाशते ।
तस्मिंस्तेजश्च चक्षुश्च सर्वप्राणभृतामपि ॥ ६१ ॥

'यह उदयगिरिके सौमनस शिखरके सामनेका द्वीप सुदर्शन नामसे प्रसिद्ध है; क्योंकि उक्त शिखरपर जब भगवान् सूर्य उदित होते हैं, तभी इस द्वीपके समस्त प्राणियोंका तेजसे सम्बन्ध होता है और सबके नेत्रोंको प्रकाश प्राप्त होता है (यही इस द्वीपके 'सुदर्शन' नाम होनेका कारण है) ॥ ६१ ॥

शैलस्य तस्य पृष्ठेषु कन्दरेषु वनेषु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ६२ ॥

'उदयाचलके पृष्ठभागोंमें, कन्दराओंमें तथा वनोंमें भी तुम्हें जहाँ-तहाँ विदेहकुमारी सीतासहित रावणका पता लगाना चाहिये ॥ ६२ ॥

काञ्चनस्य च शैलस्य सूर्यस्य च महात्मनः ।
आविष्टा तेजसा सन्ध्या पूर्वा रक्ता प्रकाशते ॥ ६३ ॥

'उस सुवर्णमय उदयाचल तथा महात्मा सूर्यदेवके तेजसे व्याप्त हुई उदयकालिक पूर्व संध्या रक्तवर्णकी प्रभासे प्रकाशित होती है ॥ ६३ ॥

पूर्वमेतत् कृतं द्वारं पृथिव्या भुवनस्य च ।
सूर्यस्योदयनं चैव पूर्वा ह्येषा दिगुच्यते ॥ ६४ ॥

'सूर्यके उदयका यह स्थान सबसे पहले ब्रह्माजीने बनाया है; अतः यही पृथ्वी एवं ब्रह्मलोकका द्वार है (ऊपरके लोकोंमें रहनेवाले प्राणी इसी द्वारसे भूलोकमें प्रवेश करते हैं तथा भूलोकके प्राणी इसी द्वारसे ब्रह्मलोकमें जाते हैं)। पहले इसी दिशामें इस द्वारका निर्माण हुआ, इसलिये इसे पूर्व दिशा कहते हैं ॥ ६४ ॥

तस्य शैलस्य पृष्ठेषु निर्झरेषु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ६५ ॥

'उदयाचलकी घाटियों, झरनों और गुफाओंमें यत्र-तत्र घूमकर तुम्हें विदेहकुमारी सीतासहित रावणका अन्वेषण करना चाहिये ॥ ६५ ॥

ततः परमगम्या स्याद् दिक्पूर्वा त्रिदशावृता ।
रहिता चन्द्रसूर्याभ्यामदृश्या तमसावृता ॥ ६६ ॥

'इससे आगे पूर्व दिशा अगम्य है। उधर देवता रहते हैं। उस ओर चन्द्रमा और सूर्यका प्रकाश न होनेसे वहाँकी भूमि अन्धकारसे आच्छन्न एवं अदृश्य है ॥ ६६ ॥

शैलेषु तेषु सर्वेषु कन्दरेषु नदीषु च ।
ये च नोक्ता मयोद्देशा विचेया तेषु जानकी ॥ ६७ ॥

'उदयाचलके आस-पासके जो समस्त पर्वत, कन्दराएँ तथा नदियाँ हैं, उनमें तथा जिन स्थानोंका मैंने निर्देश नहीं किया है, उनमें भी तुम्हें जानकीकी खोज करनी चाहिये ॥ ६७ ॥

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः ।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ६८ ॥

'वानरशिरोमणियो ! केवल उदयगिरितक ही वानरोंकी पहुँच हो सकती है। इससे आगे न तो सूर्यका प्रकाश है और न देश आदिकी कोई सीमा ही है। अतः आगेकी भूमिके बारेमें मुझे कुछ भी मालूम नहीं है ॥ ६८ ॥

अभिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च।
मासे पूर्णे निवर्तध्वमुदयं प्राप्य पर्वतम्॥ ६९॥

'तुमलोग उदयाचलतक जाकर सीता और रावणके स्थानका पता लगाना और एक मास पूरा होते-होतेतक लौट आना॥ ६९॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन् वध्यो भवेन्मम।
सिद्धार्थाः संनिवर्तध्वमधिगम्य च मैथिलीम्॥ ७०॥

'एक महीनेसे अधिक न ठहरना। जो अधिक कालतक वहाँ रह जायगा, वह मेरे द्वारा मारा जायगा। मिथिलेशकुमारीका पता लगाकर अन्वेषणका प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर अवश्य लौट आना॥ ७०॥

महेन्द्रकान्तां वनषण्डमण्डितां
दिशं चरित्वा निपुणेन वानराः।
अवाप्य सीतां रघुवंशजप्रियां
ततो निवृत्ताः सुखिनो भविष्यथ॥ ७१॥

'वानरो! वनसमूहसे अलंकृत पूर्वदिशामें अच्छी तरह भ्रमण करके श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी पत्नी सीताका समाचार जानकर तुम वहाँसे लौट आओ। इससे तुम सुखी होओगे'॥ ७१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः॥ ४०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४०॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका दक्षिण दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए वहाँ प्रमुख वानर वीरोंको भेजना

ततः प्रस्थाप्य सुग्रीवस्तन्महद्वानरं बलम्।
दक्षिणां प्रेषयामास वानरानभिलक्षितान्॥ १॥

इस प्रकार वानरोंकी बहुत बड़ी सेनाको पूर्व दिशामें प्रस्थापित करके सुग्रीवने दक्षिण दिशाकी ओर चुने हुए वानरोंको, जो भलीभाँति परख लिये गये थे, भेजा॥ १॥

नीलमग्निसुतं चैव हनूमन्तं च वानरम्।
पितामहसुतं चैव जाम्बवन्तं महौजसम्॥ २॥
सुहोत्रं च शरारिं च शरगुल्मं तथैव च।
गजं गवाक्षं गवयं सुषेणं वृषभं तथा॥ ३॥
मैन्दं च द्विविदं चैव सुषेणं गन्धमादनम्।
उल्कामुखमनङ्गं च हुताशनसुतावुभौ॥ ४॥
अङ्गदप्रमुखान् वीरान् वीरः कपिगणेश्वरः।
वेगविक्रमसम्पन्नान् संदिदेश विशेषवित्॥ ५॥

अग्निपुत्र नील, कपिवर हनुमान्‌जी, ब्रह्माजीके महाबली पुत्र जाम्बवान्, सुहोत्र, शरारि, शरगुल्म, गज, गवाक्ष, गवय, सुषेण[1] (प्रथम), वृषभ, मैन्द, द्विविद, सुषेण (द्वितीय), गन्धमादन, हुताशनके दो पुत्र उल्कामुख और अनङ्ग (असङ्ग) तथा अङ्गद आदि प्रधान-प्रधान वीरोंको, जो महान् वेग और पराक्रमसे सम्पन्न थे, विशेषज्ञ वानरराज सुग्रीवने दक्षिणकी ओर जानेकी आज्ञा दी॥ २-५॥

तेषामग्रेसरं चैव बृहद्बलमथाङ्गदम्।
विधाय हरिवीराणामादिशद् दक्षिणां दिशम्॥ ६॥

महान् बलशाली अङ्गदको उन समस्त वानर वीरोंका अगुआ बनाकर उन्हें दक्षिण दिशामें सीताकी खोजका भार सौंपा॥ ६॥

ये केचन समुद्देशास्तस्यां दिशि सुदुर्गमाः।
कपीशः कपिमुख्यानां स तेषां समुदाहरत्॥ ७॥

उस दिशामें जो कोई भी स्थान अत्यन्त दुर्गम थे, उनका भी कपिराज सुग्रीवने उन श्रेष्ठ वानरोंको परिचय दिया*॥ ७॥

सहस्रशिरसं विन्ध्यं नानाद्रुमलतायुतम्।
नर्मदां च नदीं रम्यां महोरगनिषेविताम्॥ ८॥
ततो गोदावरीं रम्यां कृष्णवेणीं महानदीम्।
वरदां च महाभागां महोरगनिषेविताम्।
मेखलानुत्कलांश्चैव दशार्णनगराण्यपि॥ ९॥
आब्रवन्तीमवन्तीं च सर्वमेवानुपश्यत।

वे बोले—'वानरो! तुमलोग भाँति-भाँतिके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित सहस्रों शिखरोंवाले विन्ध्यपर्वत, बड़े-बड़े नागोंसे सेवित रमणीय नर्मदा नदी, सुरम्य गोदावरी, महानदी, कृष्णवेणी तथा बड़े-बड़े नागोंसे सेवित महाभागा वरदा आदि नदियोंके तटोंपर और मेखल (मेकल), उत्कल एवं दशार्ण देशके नगरोंमें तथा आब्रवन्ती और अवन्तीपुरीमें भी सब जगह सीताकी खोज करो॥ ८-९½॥

---

1. सुषेण दो थे—एक ताराके पिता और दूसरा उनसे भिन्न वानरयूथपति था।

* यहाँ दक्षिण दिशाका विभाग किष्किन्धासे न करके आर्यावर्तसे किया गया है। पूर्व समुद्रसे पश्चिम समुद्र और हिमालयसे विन्ध्यके भागको आर्यावर्त कहते हैं। सुग्रीवने दक्षिण दिशाके जिन स्थानोंका परिचय दिया है, उनकी स्थिति आर्यावर्तसे ही दिशाका विभाजन करनेपर लगती है।

विदर्भानृषिकांश्चैव रम्यान् माहिषकानपि ॥ १० ॥
तथा वङ्गान् कलिङ्गांश्च कौशिकांश्च समन्ततः ।
अन्वीक्ष्य दण्डकारण्यं सपर्वतनदीगुहम् ॥ ११ ॥
नदीं गोदावरीं चैव सर्वमेवानुपश्यत ।
तथैवान्ध्रांश्च पुण्ड्रांश्च चोलान् पाण्ड्यांश्च केरलान्॥१२॥

'इसी प्रकार विदर्भ, ऋष्टिक, रम्य माहिषक देश, वङ्ग, कलिङ्ग तथा कौशिक आदि देशोंमें सब ओर देखभाल करके पर्वत, नदी और गुफाओंसहित समूचे दण्डकारण्यमें छानवीन करना । वहाँ जो गोदावरी नदी है, उसमें सब ओर बारंबार देखना । इसी प्रकार आन्ध्र, पुण्ड्र, चोल, पाण्ड्य तथा केरल आदि देशोंमें भी ढूँढ़ना ॥ १०—१२ ॥

अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमण्डितः ।
विचित्रशिखरः श्रीमांश्चित्रपुष्पितकाननः ॥ १३ ॥
सुचन्दनवनोद्देशो मार्गितव्यो महागिरिः ।

'तदनन्तर अनेक धातुओंसे अलंकृत अयोमुख (मलय) पर्वतपर भी जाना, उसके शिखर बड़े विचित्र हैं । वह शोभाशाली पर्वत फूले हुए विचित्र काननोंसे युक्त है । उसके सभी स्थानोंमें सुन्दर चन्दनके वन हैं । उस महापर्वत मलयपर सीताकी अच्छी तरह खोज करना ॥ १३½ ॥

ततस्तामापगां दिव्यां प्रसन्नसलिलाशयाम् ॥ १४ ॥
तत्र द्रक्ष्यथ कावेरीं विहृतामप्सरोगणैः ।

'तत्पश्चात् स्वच्छ जलवाली दिव्य नदी कावेरीको देखना, जहाँ अप्सराएँ विहार करती हैं ॥ १४½ ॥

तस्यासीनं नगस्याग्रे मलयस्य महौजसम् ॥ १५ ॥
द्रक्ष्यथादित्यसंकाशमगस्त्यमृषिसत्तमम् ।

'उस प्रसिद्ध मलयपर्वतके शिखरपर बैठे हुए सूर्यके समान महान् तेजसे सम्पन्न मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यका दर्शन करना ॥ १५½ ॥

ततस्तेनाभ्यनुज्ञाताः प्रसन्नेन महात्मना ॥ १६ ॥
ताम्रपर्णीं ग्राहजुष्टां तरिष्यथ महानदीम् ।

'इसके बाद उन प्रसन्नचित्त महात्मासे आज्ञा लेकर ग्राहोंसे सेवित महानदी ताम्रपर्णीको पार करना ॥ १६½ ॥

सा चन्दनवनैश्चित्रैः प्रच्छन्नद्वीपवारिणी ॥ १७ ॥
कान्तेव युवती कान्तं समुद्रमवगाहते ।

'उनके द्वीप और जल विचित्र चन्दनवनोंसे आच्छादित हैं; अतः वह सुन्दर साड़ीसे विभूषित युवती प्रेयसीकी भाँति अपने प्रियतम समुद्रसे मिलती है ॥ १७½ ॥

ततो हेममयं दिव्यं मुक्तामणिविभूषितम् ॥ १८ ॥
युक्तं कवाटं पाण्ड्यानां गता द्रक्ष्यथ वानराः ।

'वानरो ! वहाँसे आगे बढ़नेपर तुमलोग पाण्ड्यवंशी राजाओंके नगरद्वारपर लगे हुए सुवर्णमय कपाटका दर्शन करोगे, जो मुक्तामणियोंसे विभूषित एवं दिव्य है ॥ १८½ ॥

ततः समुद्रमासाद्य सम्प्रधार्यार्थनिश्चयम् ॥ १९ ॥
अगस्त्येनान्तरे तत्र सागरे विनिवेशितः ।
चित्रसानुनगः श्रीमान् महेन्द्रः पर्वतोत्तमः ॥ २० ॥
जातरूपमयः श्रीमानवगाढो महार्णवम् ।

'तत्पश्चात् समुद्रके तटपर जाकर उसे पार करनेके सम्बन्धमें अपने कर्तव्यका भलीभाँति निश्चय करके उसका पालन करना । महर्षि अगस्त्यने समुद्रके भीतर एक सुन्दर सुवर्णमय पर्वतको स्थापित किया है, जो महेन्द्रगिरिके नामसे विख्यात है । उसके शिखर तथा वहाँके वृक्ष विचित्र शोभासे सम्पन्न हैं । वह शोभाशाली पर्वत श्रेष्ठ समुद्रके भीतर गहराईतक घुसा हुआ है ॥ १९-२०½ ॥

नानाविधैर्नगैः फुल्लैर्लताभिश्चोपशोभितम् ॥ २१ ॥
देवर्षियक्षप्रवरैरप्सरोभिश्च शोभितम् ।
सिद्धचारणसङ्घैश्च प्रकीर्णं सुमनोरमम् ॥ २२ ॥
तमुपैति सहस्राक्षः सदा पर्वसु पर्वसु ।

नाना प्रकारके खिले हुए वृक्ष और लताएँ उस पर्वतकी शोभा बढ़ाती हैं । देवता, ऋषि, श्रेष्ठ यक्ष और अप्सराओंकी उपस्थितिसे उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है । सिद्धों और चारणोंके समुदाय वहाँ सब ओर फैले रहते हैं । इन सबके कारण महेन्द्रपर्वत अत्यन्त मनोरम जान पड़ता है । सहस्र नेत्रधारी इन्द्र प्रत्येक पर्वके दिन उस पर्वतपर पदार्पण करते हैं ॥ २१-२२½ ॥

द्वीपस्तस्यापरे पारे शतयोजनविस्तृतः ॥ २३ ॥
अगम्यो मानुषैर्दीप्तस्तं मार्गध्वं समन्ततः ।
तत्र सर्वात्मना सीता मार्गितव्या विशेषतः ॥ २४ ॥

'उस समुद्रके उस पार एक द्वीप है, जिसका विस्तार सौ योजन है । वहाँ मनुष्योंकी पहुँच नहीं है, वह जो

---

१. अन्य पाठके अनुसार यहाँ मत्स्य देश समझना चाहिये ।

२. रामायणतिलकके लेखक अयोमुखको मलय-पर्वतका नामान्तर मानते हैं । गोविन्दराज इसे सह्यपर्वतका पर्याय समझते हैं तथा रामायणशिरोमणिकार अयोमुखको इन दोनोंसे भिन्न स्वतन्त्र पर्वत मानते हैं । यहाँ तिलककारके मतका अनुसरण किया गया है ।

३. यद्यपि पहले पञ्चवटीसे उत्तर भागमें अगस्त्यके आश्रमका वर्णन आया है तथापि यहाँ मलयपर्वतपर भी उनका आश्रम था, ऐसा मानना चाहिये । जैसे वाल्मीकि मुनिका आश्रम अनेक स्थानोंमें था, उसी तरह इनका भी था अथवा ये उसी नामके कोई दूसरे ऋषि थे ।

१. आधुनिक तंजौर ही प्राचीन पाण्ड्यवंशी नरेशोंका नगर है । इस नगरमें भी छानबीन करनेके लिये सुग्रीव वानरोंको आदेश दे रहे हैं ।

दीप्तिशाली द्वीप है, उसमें चारों ओर पूरा प्रयत्न करके तुम्हें सीताकी विशेषरूपसे खोज करनी चाहिये ॥ २३-२४ ॥

स हि देशस्तु वध्यस्य रावणस्य दुरात्मनः।
राक्षसाधिपतेर्वासः सहस्राक्षसमद्युतेः ॥ २५ ॥

'वही देश इन्द्रके समान तेजस्वी दुरात्मा राक्षसराज रावणका, जो हमारा वध्य है, निवासस्थान है ॥ २५ ॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य मध्ये तस्य तु राक्षसी।
अङ्गारकेति विख्याता छायामाक्षिप्य भोजिनी ॥ २६ ॥

'उस दक्षिण समुद्रके बीचमें अङ्गारका नामसे प्रसिद्ध एक राक्षसी रहती है, जो छाया पकड़कर ही प्राणियोंको खींच लेती और उन्हें खा जाती है ॥ २६ ॥

एवं निःसंशयान् कृत्वा संशयान्नष्टसंशयाः।
मृगयध्वं नरेन्द्रस्य पत्नीममिततेजसः ॥ २७ ॥

'उस लङ्काद्वीपमें जो संदिग्ध स्थान हैं, उन सबमें इस तरह खोज करके जब तुम उन्हें संदेहरहित समझ लो और तुम्हारे मनका संशय निकल जाय, तब तुम लङ्काद्वीपको भी लाँघकर आगे बढ़ जाना और अमिततेजस्वी महाराज श्रीरामकी पत्नीका अन्वेषण करना ॥ २७ ॥

तमतिक्रम्य लक्ष्मीवान् समुद्रे शतयोजने।
गिरिः पुष्पितको नाम सिद्धचारणसेवितः ॥ २८ ॥

'लङ्काको लाँघकर आगे बढ़नेपर सौ योजन विस्तृत समुद्रमें एक पुष्पितक नामका पर्वत है, जो परम शोभासे सम्पन्न तथा सिद्धों और चारणोंसे सेवित है ॥ २८ ॥

चन्द्रसूर्यांशुसंकाशः सागराम्बुसमाश्रयः।
भ्राजते विपुलैः शृङ्गैरम्बरं विलिखन्निव ॥ २९ ॥

'वह चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशमान है तथा समुद्रके जलमें गहराईतक घुसा हुआ है। वह अपने विस्तृत शिखरोंसे आकाशमें रेखा खींचता हुआ-सा सुशोभित होता है ॥ २९ ॥

तस्यैकं काञ्चनं शृङ्गं सेवते यं दिवाकरः।
श्वेतं राजतमेकं च सेवते यन्निशाकरः।
न तं कृतघ्नाः पश्यन्ति न नृशंसा न नास्तिकाः ॥ ३० ॥

'उस पर्वतका एक सुवर्णमय शिखर है, जिसका प्रतिदिन सूर्यदेव सेवन करते हैं। उसी प्रकार इसका एक रजतमय श्वेत शिखर है, जिसका चन्द्रमा सेवन करते हैं। कृतघ्न, नृशंस और नास्तिक पुरुष उस पर्वत-शिखरको नहीं देख पाते हैं ॥ ३० ॥

प्रणम्य शिरसा शैलं तं विमार्गथ वानराः।
तमतिक्रम्य दुर्धर्षं सूर्यवान्नाम पर्वतः ॥ ३१ ॥

'वानरो! तुमलोग मस्तक झुकाकर उस पर्वतको प्रणाम करना और वहाँ सब ओर सीताको ढूँढ़ना। उस दुर्धर्ष पर्वतको लाँघकर आगे बढ़नेपर सूर्यवान् नामक पर्वत मिलेगा॥३१॥

अध्वना दुर्विगाहेन योजनानि चतुर्दश।
ततस्तमप्यतिक्रम्य वैद्युतो नाम पर्वतः ॥ ३२ ॥

'वहाँ जानेका मार्ग बड़ा दुर्गम है और वह पुष्पितकसे चौदह योजन दूर है। सूर्यवान्‌को लाँघकर जब तुमलोग आगे जाओगे, तब तुम्हें 'वैद्युत' नामक पर्वत मिलेगा॥३२॥

सर्वकामफलैर्वृक्षैः सर्वकालमनोहरैः।
तत्र भुक्त्वा वरार्हाणि मूलानि च फलानि च ॥ ३३ ॥
मधूनि पीत्वा जुष्टानि परं गच्छत वानराः।

'वहाँके वृक्ष सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंसे युक्त और सभी ऋतुओंमें मनोहर शोभासे सम्पन्न हैं। वानरो! उनसे सुशोभित वैद्युत पर्वतपर उत्तम फल-मूल खाकर और सेवन करने योग्य मधु पीकर तुमलोग आगे जाना ॥ ३३½ ॥

तत्र नेत्रमनःकान्तः कुञ्जरो नाम पर्वतः ॥ ३४ ॥
अगस्त्यभवनं यत्र निर्मितं विश्वकर्मणा।

'फिर कुञ्जर नामक पर्वत दिखायी देगा, जो नेत्रों और मनको भी अत्यन्त प्रिय लगनेवाला है। उसके ऊपर विश्वकर्माका बनाया हुआ महर्षि अगस्त्यका[1] एक सुन्दर भवन है ॥ ३४½ ॥

तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम् ॥ ३५ ॥
शरणं काञ्चनं दिव्यं नानारत्नविभूषितम्।

'कुञ्जर पर्वतपर बना हुआ अगस्त्यका वह दिव्य भवन सुवर्णमय तथा नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित है। उसका विस्तार एक योजनका और ऊँचाई दस योजनकी है ॥३५½॥

तत्र भोगवती नाम सर्पाणामालयः पुरी ॥ ३६ ॥
विशालरथ्या दुर्धर्षा सर्वतः परिरक्षिता।
रक्षिता पन्नगैर्घोरैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाविषैः ॥ ३७ ॥

'उसी पर्वतपर सर्पोंकी निवासभूता एक नगरी है, जिसका नाम भोगवती है (यह पातालकी भोगवतीपुरीसे भिन्न है)। यह पुरी दुर्जय है। उसकी सड़कें बहुत बड़ी और विस्तृत हैं। वह सब ओरसे सुरक्षित है। तीखी दाढ़वाले महाविषैले भयंकर सर्प उसकी रक्षा करते हैं ॥३६-३७॥

सर्पराजो महाघोरो यस्यां वसति वासुकिः।
निर्याय मार्गितव्या च सा च भोगवती पुरी ॥ ३८ ॥

'उस भोगवतीपुरीमें महाभयंकर सर्पराज वासुकि निवास करते हैं (वे योगशक्तिसे अनेक रूप धारण करके दोनों भोगवती पुरियोंमें एक साथ रह सकते हैं)। तुम्हें विशेषरूपसे उस भोगवतीपुरीमें प्रवेश करके वहाँ सीताकी खोज करनी चाहिये ॥ ३८ ॥

तत्र चानन्तरोद्देशा ये केचन समावृताः।
तं च देशमतिक्रम्य महानृषभसंस्थितिः ॥ ३९ ॥

---

१. यह महर्षि अगस्त्यका तीसरा स्थान है।

'उस पुरीमें जो गुप्त एवं व्यवधानरहित स्थान हों, उन सबमें सीताका अन्वेषण करना चाहिये। उस प्रदेशको लाँघकर आगे बढ़नेपर तुम्हें ऋषभ नामक महान् पर्वत मिलेगा ॥ ३९ ॥

सर्वरत्नमयः श्रीमानृषभो नाम पर्वतः ।
गोशीर्षकं पद्मकं च हरिश्यामं च चन्दनम् ॥ ४० ॥
दिव्यमुत्पद्यते यत्र तच्चैवाग्निसमप्रभम् ।
न तु तच्चन्दनं दृष्ट्वा स्प्रष्टव्यं तु कदाचन ॥ ४१ ॥

'वह शोभाशाली ऋषभ पर्वत सम्पूर्ण रत्नोंसे भरा हुआ है। वहाँ गोशीर्षक, पद्मक, हरिश्याम आदि नामोंवाला दिव्य चन्दन उत्पन्न होता है। वह चन्दनवृक्ष अग्निके समान प्रज्वलित होता रहता है। उस चन्दनको देखकर कदापि तुम्हें उसका स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

रोहिता नाम गन्धर्वा घोरं रक्षन्ति तद्वनम् ।
तत्र गन्धर्वपतयः पञ्च सूर्यसमप्रभाः ॥ ४२ ॥

'क्योंकि 'रोहित' नामवाले गन्धर्व उस घोर वनकी रक्षा करते हैं। वहाँ सूर्यके समान कान्तिमान् पाँच गन्धर्वराज रहते हैं ॥ ४२ ॥

शैलूषो ग्रामणीः शिक्षः शुको बभ्रुस्तथैव च ।
रविसोमाग्निवपुषां निवासः पुण्यकर्मणाम् ॥ ४३ ॥
अन्ते पृथिव्या दुर्धर्षास्ततः स्वर्गजितः स्थिताः ।

'उनके नाम ये हैं—शैलूष, ग्रामणी, शिक्ष (शिग्रु), शुक और बभ्रु। उस ऋषभसे आगे पृथ्वीकी अन्तिम सीमापर सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके तुल्य तेजस्वी पुण्यकर्मा पुरुषोंका निवास स्थान है। अतः वहाँ दुर्धर्ष स्वर्गविजयी (स्वर्गके अधिकारी) पुरुष ही वास करते हैं ॥ ४३½ ॥

ततः परं न वः सेव्यः पितृलोकः सुदारुणः ॥ ४४ ॥
राजधानी यमस्यैषा कष्टेन तमसाऽऽवृता ।

'उससे आगे अत्यन्त भयानक पितृलोक है; वहाँ तुम लोगोंको नहीं जाना चाहिये। यह भूमि यमराजकी राजधानी है, जो कष्टप्रद अन्धकारसे आच्छादित है ॥ ४४½ ॥

एतावदेव युष्माभिर्वीरा वानरपुंगवाः ।
शक्यं विचेतुं गन्तुं वा नातो गतिमतां गतिः ॥ ४५ ॥

'वीर वानरपुङ्गवो! बस, दक्षिण दिशामें इतनी ही दूरतक तुम्हें जाना और खोजना है। उससे आगे पहुँचना असम्भव है; क्योंकि उधर जंगम प्राणियोंकी गति नहीं है ॥ ४५ ॥

सर्वमेतत् समालोक्य यच्चान्यदपि दृश्यते ।
गतिं विदित्वा वैदेह्याः संनिवर्तितुमर्हथ ॥ ४६ ॥

'इन सब स्थानोंमें अच्छी तरह देख-भाल करके और भी जो स्थान अन्वेषणके योग्य दिखायी दे, वहाँ भी विदेहकुमारीका पता लगाना; तदनन्तर तुम सबको लौट आना चाहिये ॥ ४६ ॥

यश्च मासान्निवृत्तोऽग्रे दृष्टा सीतेति वक्ष्यति ।
मत्तुल्यविभवो भोगैः सुखं स विहरिष्यति ॥ ४७ ॥

'जो एक मास पूर्ण होनेपर सबसे पहले यहाँ आकर यह कहेगा कि 'मैंने सीताजीका दर्शन किया है' वह मेरे समान वैभवसे सम्पन्न हो भोग्य-पदार्थोंका अनुभव करता हुआ सुखपूर्वक विहार करेगा ॥ ४७ ॥

ततः प्रियतरो नास्ति मम प्राणाद् विशेषतः ।
कृतापराधो बहुशो मम बन्धुर्भविष्यति ॥ ४८ ॥

'उससे बढ़कर प्रिय मेरे लिये दूसरा कोई नहीं होगा। वह मेरे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा होगा तथा अनेक बार अपराध किया हो तो भी वह मेरा बन्धु होकर रहेगा ॥ ४८ ॥

अमितबलपराक्रमा भवन्तो
विपुलगुणेषु कुलेषु च प्रसूताः ।
मनुजपतिसुतां यथा लभध्वं
तदधिगुणं पुरुषार्थमारभध्वम् ॥ ४९ ॥

'तुम सबके बल और पराक्रम असीम हैं। तुम विशेष गुणशाली उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुए हो। राजकुमारी सीताका जिस प्रकार भी पता मिल सके, उसके अनुरूप उच्च कोटिका पुरुषार्थ आरम्भ करो' ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका पश्चिम दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए सुषेण आदि वानरोंको वहाँ भेजना

अथ प्रस्थाप्य स हरीन् सुग्रीवो दक्षिणां दिशम् ।
अब्रवीन्मेघसंकाशं सुषेणं नाम वानरम् ॥ १ ॥
ताराया: पितरं राजा श्वशुरं भीमविक्रमम् ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यमभिगम्य प्रणम्य च ॥ २ ॥
महर्षिपुत्रं मारीचमर्चिष्मन्तं महाकपिम् ।
वृतं कपिवरैः शूरैर्महेन्द्रसदृशद्युतिम् ॥ ३ ॥
बुद्धिविक्रमसम्पन्नं वैनतेयसमद्युतिम् ।
मरीचिपुत्रान् मारीचानर्चिर्माल्यान् महाबलान् ॥ ४ ॥

ऋषिपुत्रांश्च तान् सर्वान् प्रतीचीमादिशद् दिशम् ।
द्वाभ्यां शतसहस्राभ्यां कपीनां कपिसत्तमाः ॥ ५ ॥
सुषेणप्रमुखा यूयं वैदेहीं परिमार्गथ ।

दक्षिण दिशाकी ओर वानरोंको भेजनेके पश्चात् राजा सुग्रीवने ताराके पिता और अपने श्वशुर 'सुषेण' नामक वानरके पास जाकर उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कुछ कहना आरम्भ किया। सुषेण मेघके समान काले और भयंकर पराक्रमी थे। उनके सिवा, महर्षि मरीचिके पुत्र महाकपि अर्चिष्मान भी वहाँ उपस्थित थे, जो देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी तथा शूरवीर श्रेष्ठ वानरोंसे घिरे हुए थे। उनकी कान्ति विनतानन्दन गरुड़के समान थी। वे बुद्धि और पराक्रमसे सम्पन्न थे। उनके अतिरिक्त मरीचिके पुत्र मारीच नामवाले वानर भी थे, जो महाबली और 'अर्चिर्माल्य' नामसे प्रसिद्ध थे। इनके सिवा और भी बहुत-से ऋषिकुमार थे, जो वानररूपमें वहाँ विराजमान थे। सुषेणके साथ उन सबको सुग्रीवने पश्चिम दिशाकी ओर जानेकी आज्ञा दी और कहा—'कपिवरो! आप सब लोग दो लाख वानरोंको साथ ले सुषेणजीकी प्रधानतामें पश्चिमको जाइये और विदेहनन्दिनी सीताकी खोज कीजिये ॥१—५½॥

सौराष्ट्रान् सहबाह्लीकांश्चन्द्रचित्रांस्तथैव च ॥ ६ ॥
स्फीताञ्जनपदान् रम्यान् विपुलानि पुराणि च ।
पुंनागगहनं कुक्षिं वकुलोद्दालकाकुलम् ॥ ७ ॥
तथा केतकखण्डांश्च मार्गध्वं हरिपुङ्गवाः ।

'श्रेष्ठ वानरो! सौराष्ट्र, बाह्लीक और चन्द्रचित्र आदि देशों, अन्यान्य समृद्धिशाली एवं रमणीय जनपदों, बड़े-बड़े नगरों तथा पुन्नाग, बकुल और उद्दालक आदि वृक्षोंसे भरे हुए कुक्षिदेशमें एवं केवड़ेके वनोंमें सीताकी खोज करो॥६-७½॥

प्रत्यक्स्रोतोवहाश्चैव नद्यः शीतजलाः शिवाः ॥ ८ ॥
तापसानामरण्यानि कान्तारगिरयश्च ये ।

'पश्चिमकी ओर बहनेवाली शीतल जलसे सुशोभित कल्याणमयी नदियों, तपस्वी जनोंके वनों तथा दुर्गम पर्वतोंमें भी विदेहकुमारीका पता लगाओ ॥ ८½ ॥

तत्र स्थलीर्मरुप्राया अत्युच्चशिशिराः शिलाः ॥ ९ ॥
गिरिजालावृतां दुर्गां मार्गित्वा पश्चिमां दिशम् ।
ततः पश्चिममागम्य समुद्रं द्रष्टुमर्हथ ॥ १० ॥
तिमिनक्राकुलजलं गत्वा द्रक्ष्यथ वानराः ।

'पश्चिम दिशामें प्रायः मरुभूमि है। अत्यन्त ऊँची और ठंढी शिलाएँ हैं तथा पर्वतमालाओंसे घिरे हुए बहुतसे दुर्गम प्रदेश हैं। उन सभी स्थानोंमें सीताकी खोज करते हुए क्रमशः आगे बढ़कर पश्चिम समुद्रतक जाना और वहाँके प्रत्येक स्थानका निरीक्षण करना। वानरो! समुद्रका जल तिमि नामक मत्स्यों तथा बड़े-बड़े ग्राहोंसे भरा हुआ है। वहाँ सब ओर देख-भाल करना ॥ ९-१०½ ॥

ततः केतकखण्डेषु तमालगहनेषु च ॥ ११ ॥
कपयो विहरिष्यन्ति नारिकेलवनेषु च ।
तत्र सीतां च मार्गध्वं निलयं रावणस्य च ॥ १२ ॥

'समुद्रके तटपर केवड़ोंके कुञ्जोंमें, तमालके काननोंमें तथा नारियलके वनोंमें तुम्हारे सैनिक वानर भलीभाँति विचरण करेंगे। वहाँ तुमलोग सीताको खोजना और रावणके निवास-स्थानका पता लगाना ॥ ११-१२ ॥

वेलातलनिविष्टेषु पर्वतेषु वनेषु च ।
मुरचीपत्तनं चैव रम्यं चैव जटापुरम् ॥ १३ ॥
अवन्तीमङ्गलेपां च तथा चालक्षितं वनम् ।
राष्ट्राणि च विशालानि पत्तनानि ततस्ततः ॥ १४ ॥

समुद्रतटवर्ती पर्वतों और वनोंमें भी उन्हें ढूँढ़ना चाहिये। मुरचीपत्तन (मोरवी) तथा रमणीय जटापुरमें, अवन्ती तथा अङ्गलेपापुरीमें, अलक्षित वनमें और बड़े-बड़े राष्ट्रों एवं नगरोंमें जहाँ-तहाँ घूमकर पता लगाना ॥ १३-१४ ॥

सिन्धुसागरयोश्चैव संगमे तत्र पर्वतः ।
महान् सोमगिरिर्नाम शतशृङ्गो महाद्रुमः ॥ १५ ॥
तत्र प्रस्थेषु रम्येषु सिंहाः पक्षगमाः स्थिताः ।
तिमिमत्स्यगजांश्चैव नीडान्यारोपयन्ति ते ॥ १६ ॥

'सिंधु-नद और समुद्रके संगमपर सोमगिरिनामक एक महान् पर्वत है, जिसके सौ शिखर हैं। वह पर्वत ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंसे भरा है। उसकी रमणीय चोटियोंपर सिंह नामक पक्षी रहते हैं, जो तिमि नामवाले विशालकाय मत्स्यों और हाथियोंको भी अपने घोंसलोंमें उठा लाते हैं ॥ १५-१६ ॥

तानि नीडानि सिंहानां गिरिशृङ्गगताश्च ये ।
दृप्तास्तृप्ताश्च मातङ्गास्तोयदस्वननिःस्वनाः ॥ १७ ॥
विचरन्ति विशालेऽस्मिंस्तोयपूर्णे समन्ततः ।

'सिंह नामक पक्षियोंके उन घोंसलोंमें पहुँचकर उस पर्वत-शिखरपर उपस्थित हुए जो हाथी हैं, वे उन पंखधारी सिंहोंसे सम्मानित होनेके कारण गर्वका अनुभव करते और मन-ही-मन संतुष्ट होते हैं। इसीलिये मेघोंकी गर्जनाके समान शब्द करते हुए उस पर्वतके जलपूर्ण विशाल शिखरपर चारों ओर विचरते रहते हैं ॥ १७½ ॥

तस्य शृङ्गं दिवस्पर्शं काञ्चनं चित्रपादपम् ॥ १८ ॥
सर्वमाशु विचेतव्यं कपिभिः कामरूपिभिः ।

'सोमगिरिका गगनचुम्बी शिखर सुवर्णमय है। उसके ऊपर विचित्र वृक्ष शोभा पाते हैं। इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानरोंको चाहिये कि वहाँके सब स्थानोंको शीघ्रतापूर्वक अच्छी तरह देख लें ॥ १८½ ॥

---

१. यह स्थली पूर्व दिशाके मार्गमें बतायी गयी स्थलीसे भिन्न है।

कोटिं तत्र समुद्रस्य काञ्चनीं शतयोजनाम्‌ ॥ १९ ॥
दुर्दर्शां पारियात्रस्य गत्वा द्रक्ष्यथ वानराः ।

'वहाँसे आगे समुद्रके बीचमें पारियात्र पर्वतका सुवर्णमय शिखर दिखायी देगा, जो सौ योजन विस्तृत है । वानरो ! उसका दर्शन दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है। वहाँ जाकर तुम्हें सीताकी खोज करनी चाहिये ॥ १९½ ॥

कोट्यस्तत्र चतुर्विंशद् गन्धर्वाणां तरस्विनाम्‌ ॥ २० ॥
वसन्त्यग्निनिकाशानां घोराणां कामरूपिणाम्‌ ।
पावकार्चिःप्रतीकाशाः समवेताः समन्ततः ॥ २१ ॥

'पारियात्र पर्वतके शिखरपर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, भयंकर, अग्नितुल्य तेजस्वी तथा वेगशाली चौबीस करोड़ गन्धर्व निवास करते हैं । वे सब-के-सब अग्निकी ज्वालाके समान प्रकाशमान हैं और सब ओरसे आकर उस पर्वतपर एकत्र हुए हैं ॥ २०-२१ ॥

नात्यासादयितव्यास्ते वानरैर्भीमविक्रमैः ।
नादेयं च फलं तस्माद् देशात् किंचित् प्लवङ्गमैः॥ २२ ॥

'भयंकर पराक्रमी वानरोंको चाहिये कि वे उन गन्धर्वोंके अधिक निकट न जायँ—उनका कोई अपराध न करें और उस पर्वतशिखरसे कोई फल न लें ॥ २२ ॥

दुरासदा हि ते वीराः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
फलमूलानि ते तत्र रक्षन्ते भीमविक्रमाः ॥ २३ ॥

'क्योंकि वे भयंकर बल-विक्रमसे सम्पन्न धैर्यवान्‌ महाबली वीर गन्धर्व वहाँके फल-मूलोंकी रक्षा करते हैं । उनपर विजय पाना बहुत ही कठिन है ॥ २३ ॥

तत्र यत्नश्च कर्तव्यो मार्गितव्या च जानकी ।
नहि तेभ्यो भयं किंचित् कपित्वमनुवर्तताम्‌ ॥ २४ ॥

'वहाँ भी जानकीकी खोज करनी चाहिये और उनका पता लगानेके लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये । प्राकृत वानरके स्वभावका अनुसरण करनेवाले तुम्हारी सेनाके वीरोंको उन गन्धर्वोंसे कोई भय नहीं है ॥ २४ ॥

तत्र वैदूर्यवर्णाभो वज्रसंस्थानसंस्थितः ।
नानाद्रुमलताकीर्णो वज्रो नाम महागिरिः ॥ २५ ॥

'पारियात्र पर्वतके पास ही समुद्रमें वज्रनामसे प्रसिद्ध एक बहुत ऊँचा पर्वत है, जो नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त दिखायी देता है । वह वज्रगिरि वैदूर्यमणिके समान नील वर्णका है । वह कठोरतामें वज्रमणि (हीरे) के समान है ॥ २५ ॥

श्रीमान् समुदितस्तत्र योजनानां शतं समम्‌ ।
गुहास्तत्र विचेतव्याः प्रयत्नेन प्लवङ्गमाः ॥ २६ ॥

'वह सुन्दर पर्वत वहाँ सौ योजनके घेरेमें प्रतिष्ठित है । उसकी लंबाई और चौड़ाई दोनों बराबर हैं । वानरो ! उस पर्वतपर बहुत-सी गुफाएँ हैं। उन सबमें प्रयत्नपूर्वक सीताका अनुसंधान करना चाहिये ॥ २६ ॥

चतुर्भागे समुद्रस्य चक्रवान्‌ नाम पर्वतः ।
तत्र चक्रं सहस्रारं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २७ ॥

'समुद्रके चतुर्थ भागमें चक्रवान् नामक पर्वत है । वहीं विश्वकर्माने सहस्रार[1] चक्रका निर्माण किया था ॥ २७ ॥

तत्र पञ्चजनं हत्वा हयग्रीवं च दानवम्‌ ।
आजहार ततश्चक्रं शङ्खं च पुरुषोत्तमः ॥ २८ ॥

'वहींसे पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु पञ्चजन और हयग्रीव नामक दानवोंका वध करके पाञ्चजन्य शङ्ख तथा वह सहस्रार सुदर्शन चक्र लाये थे ॥ २८ ॥

तस्य सानुषु रम्येषु विशालासु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ २९ ॥

'चक्रवान् पर्वतके रमणीय शिखरों और विशाल गुफाओंमें भी इधर-उधर वैदेहीसहित रावणका पता लगाना चाहिये ॥

योजनानि चतुःषष्टिर्वराहो नाम पर्वतः ।
सुवर्णशृङ्गः सुमहानगाधे वरुणालये ॥ ३० ॥

'उससे आगे समुद्रकी अगाध जलराशिमें सुवर्णमय शिखरोंवाला वराह नामक पर्वत है, जिसका विस्तार चौंसठ योजनकी दूरीमें है ॥ ३० ॥

तत्र प्राग्ज्योतिषं नाम जातरूपमयं पुरम्‌ ।
यस्मिन् वसति दुष्टात्मा नरको नाम दानवः ॥ ३१ ॥

'वहीं प्राग्ज्योतिषनामक सुवर्णमय नगर है, जिसमें दुष्टात्मा नरक नामक दानव निवास करता है ॥ ३१ ॥

तत्र सानुषु रम्येषु विशालासु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ३२ ॥

'उस पर्वतके रमणीय शिखरोंपर तथा वहाँकी विशाल गुफाओंमें सीतासहित रावणको तलाश करनी चाहिये॥३२॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं काञ्चनान्तरदर्शनम्‌ ।
पर्वतः सर्वसौवर्णो धाराप्रस्रवणायुतः ॥ ३३ ॥

'जिसका भीतरी भाग सुवर्णमय दिखायी देता है, उस पर्वतराज वराहको लाँघकर आगे बढ़नेपर एक ऐसा पर्वत मिलेगा, जिसका सब कुछ सुवर्णमय है तथा जिसमें लगभग दस सहस्र झरने हैं ॥ ३३ ॥

तं गजाश्च वराहाश्च सिंहा व्याघ्राश्च सर्वतः ।
अभिगर्जन्ति सततं तेन शब्देन दर्पिताः ॥ ३४ ॥

'उसके चारों ओर हाथी, सूअर, सिंह और व्याघ्र सदा गर्जना करते हैं और अपनी ही गर्जनकी प्रतिध्वनिके शब्दसे दर्पमें भरकर पुनः दहाड़ने लगते हैं ॥ ३४ ॥

यस्मिन् हरिहयः श्रीमान् महेन्द्रः पाकशासनः ।
अभिषिक्तः सुरै राजा मेघो नाम स पर्वतः ॥ ३५ ॥

---

१. जिसमें एक हजार अरे हों, उसे सहस्रार चक्र कहते हैं।

'उस पर्वतका नाम है मेघगिरि। जिसपर देवताओंने हरित रंगके अश्ववाले श्रीमान् पाकशासन इन्द्रको राजाके पदपर अभिषिक्त किया था ॥ ३५ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं महेन्द्रपरिपालितम्।
षष्टिं गिरिसहस्राणि काञ्चनानि गमिष्यथ ॥ ३६ ॥
तरुणादित्यवर्णानि भ्राजमानानि सर्वतः।
जातरूपमयैर्वृक्षैः शोभितानि सुपुष्पितैः ॥ ३७ ॥

'देवराज इन्द्रद्वारा सुरक्षित गिरिराज मेघको लाँघकर जब तुम आगे बढ़ोगे, तब तुम्हें सोनेके साठ हजार पर्वत मिलेंगे, जो सब ओरसे सूर्यके समान कान्तिसे देदीप्यमान हो रहे हैं और सुन्दर फूलोंसे भरे हुए सुवर्णमय वृक्षोंसे सुशोभित हैं ॥

तेषां मध्ये स्थितो राजा मेरुरुत्तमपर्वतः।
आदित्येन प्रसन्नेन शैलो दत्तवरः पुरा ॥ ३८ ॥
तेनैवमुक्तः शैलेन्द्रः सर्व एव त्वदाश्रयाः।
मत्प्रसादाद् भविष्यन्ति दिवा रात्रौ च काञ्चनाः ॥ ३९ ॥
त्वयि ये चापि वत्स्यन्ति देवगन्धर्वदानवाः।
ते भविष्यन्ति भक्ताश्च प्रभया काञ्चनप्रभाः ॥ ४० ॥

'उनके मध्यभागमें पर्वतोंका राजा गिरिश्रेष्ठ मेरु विराजमान है, जिसे पूर्वकालमें सूर्यदेवने प्रसन्न होकर वर दिया था। उन्होंने उस शैलराजसे कहा था कि 'जो दिन-रात तुम्हारे आश्रयमें रहेंगे, वे मेरी कृपासे सुवर्णमय हो जायँगे तथा देवता, दानव, गन्धर्व जो भी तुम्हारे ऊपर निवास करेंगे, वे सुवर्णके समान कान्तिमान् और मेरे भक्त हो जायँगे ॥ ३८—४० ॥

विश्वेदेवाश्च वसवो मरुतश्च दिवौकसः।
आगत्य पश्चिमां संध्यां मेरुमुत्तमपर्वतम् ॥ ४१ ॥
आदित्यमुपतिष्ठन्ति तैश्च सूर्योऽभिपूजितः।
अदृश्यः सर्वभूतानामस्तं गच्छति पर्वतम् ॥ ४२ ॥

'विश्वेदेव, वसु, मरुद्गण तथा अन्य देवता सायंकालमें उत्तम पर्वत मेरुपर आकर सूर्यदेवका उपस्थान करते हैं। उनके द्वारा भलीभाँति पूजित होकर भगवान् सूर्य सब प्राणियोंकी आँखोंसे ओझल होकर अस्ताचलको चले जाते हैं ॥४१-४२॥

योजनानां सहस्राणि दश तानि दिवाकरः।
मुहूर्तार्धेन तं शीघ्रमभियाति शिलोच्चयम् ॥ ४३ ॥

'मेरुसे अस्ताचल दस हजार योजनकी दूरीपर है, किंतु सूर्यदेव आधे मुहूर्तमें ही वहाँ पहुँच जाते हैं ॥ ४३ ॥

शृङ्गे तस्य महद्दिव्यं भवनं सूर्यसंनिभम्।
प्रासादगणसम्बाधं विहितं विश्वकर्मणा ॥ ४४ ॥

'उसके शिखरपर विश्वकर्माका बनाया हुआ एक बहुत बड़ा दिव्य भवन है, जो सूर्यके समान दीप्तिमान् दिखायी देता है। वह अनेक प्रासादोंसे भरा हुआ है ॥ ४४ ॥

शोभितं तरुभिश्चित्रैर्नानापक्षिसमाकुलैः।
निकेतं पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥ ४५ ॥

'नाना प्रकारके पक्षियोंसे व्याप्त विचित्र-विचित्र वृक्ष उसकी शोभा बढ़ाते हैं। वह पाशधारी महात्मा वरुणका निवास-स्थान है ॥ ४५ ॥

अन्तरा मेरुमस्तं च तालो दशशिरा महान्।
जातरूपमयः श्रीमान् भ्राजते चित्रवेदिकः ॥ ४६ ॥

'मेरु और अस्ताचलके बीच एक स्वर्णमय ताड़का वृक्ष है, जो बड़ा ही सुन्दर और बहुत ही ऊँचा है। उसके दस स्कन्ध (बड़ी शाखाएँ) हैं। उसके नीचेकी वेदी बड़ी विचित्र है। इस तरह वह वृक्ष बड़ी शोभा पाता है ॥ ४६ ॥

तेषु सर्वेषु दुर्गेषु सरस्सु च सरित्सु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ४७ ॥

'वहाँके उन सभी दुर्गम स्थानों, सरोवरों और सरिताओंमें इधर-उधर सीतासहित रावणका अनुसंधान करना चाहिये ॥

यत्र तिष्ठति धर्मज्ञस्तपसा स्वेन भावितः।
मेरुसावर्णिरित्येष ख्यातो वै ब्रह्मणा समः ॥ ४८ ॥

'मेरुगिरिपर धर्मके ज्ञाता महर्षि मेरुसावर्णि रहते हैं, जो अपनी तपस्यासे ऊँची स्थितिको प्राप्त हुए हैं। वे प्रजापतिके समान शक्तिशाली एवं विख्यात ऋषि हैं ॥४८॥

प्रष्टव्यो मेरुसावर्णिर्महर्षिः सूर्यसंनिभः।
प्रणम्य शिरसा भूमौ प्रवृत्तिं मैथिलीं प्रति ॥ ४९ ॥

'सूर्यतुल्य तेजस्वी महर्षि मेरुसावर्णिके चरणोंमें पृथ्वीपर मस्तक टेककर प्रणाम करनेके अनन्तर तुमलोग उनसे मिथिलेशकुमारीका समाचार पूछना ॥ ४९ ॥

एतावज्जीवलोकस्य भास्करो रजनीक्षये।
कृत्वा वितिमिरं सर्वमस्तं गच्छति पर्वतम् ॥ ५० ॥

'रात्रिके अन्तमें (प्रातःकाल) उदित हुए भगवान् सूर्य जीव-जगत्के इन सभी स्थानोंको अन्धकाररहित (एवं प्रकाशपूर्ण) करके अन्तमें अस्ताचलको चले जाते हैं ॥५०॥

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ५१ ॥

'वानरशिरोमणियो! पश्चिम दिशामें इतनी ही दूरतक वानर जा सकते हैं। उसके आगे न तो सूर्यका प्रकाश है और न किसी देश आदिकी सीमा ही। अतः वहाँसे आगेकी भूमिके विषयमें मुझे कोई जानकारी नहीं है ॥५१॥

अवगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च।
अस्तं पर्वतमासाद्य पूर्णे मासे निवर्तत ॥ ५२ ॥

'अस्ताचलतक जाकर रावणके स्थान और सीताका पता लगाओ तथा एक मास पूर्ण होते ही यहाँ लौट आओ ॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन् वध्यो भवेन्मम।
सहैव शूरो युष्माभिः श्वशुरो मे गमिष्यति ॥ ५३ ॥

'एक महीनेसे अधिक न ठहरना। जो ठहरेगा, उसे

मेरे हाथसे प्राणदण्ड मिलेगा । तुमलोगोंके साथ मेरे पूजनीय श्वशुरजी भी जायँगे ॥ ५३ ॥

श्रोतव्यं सर्वमेतस्य भवद्भिर्दिष्टकारिभिः ।
गुरुरेष महाबाहुः श्वशुरो मे महाबलः ॥ ५४ ॥

'तुम सब लोग इनकी आज्ञाके अधीन रहकर इनकी सभी बातें ध्यानसे सुनना; क्योंकि ये महाबाहु महाबली सुषेणजी मेरे श्वशुर एवं गुरुजन हैं (अतः तुम्हारे लिये भी गुरुकी भाँति ही आदरणीय हैं) ॥ ५४ ॥

भवन्तश्चापि विक्रान्ताः प्रमाणं सर्व एव हि ।
प्रमाणमेनं संस्थाप्य पश्यध्वं पश्चिमां दिशम् ॥ ५५ ॥

'तुम सब लोग भी बड़े पराक्रमी तथा कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें प्रमाणभूत (विश्वसनीय) हो, तथापि इन्हें अपना प्रधान बनाकर तुम पश्चिम दिशाकी देखभाल आरम्भ करो ॥

दृष्टायां तु नरेन्द्रस्य पत्न्याममिततेजसः ।
कृतकृत्या भविष्यामः कृतस्य प्रतिकर्मणा ॥ ५६ ॥

'अमिततेजस्वी महाराज श्रीरामकी पत्नीका पता लग जानेपर हम कृतकृत्य हो जायँगे; क्योंकि उन्होंने जो उपकार किया है, उसका बदला इसी तरह चुक सकेगा ॥ ५६ ॥

अतोऽन्यदपि यत्कार्यं कार्यस्यास्य प्रियं भवेत् ।
सम्प्रधार्य भवद्भिश्च देशकालार्थसंहितम् ॥ ५७ ॥

'अतः इस कार्यके अनुकूल और भी जो कर्तव्य देश, काल और प्रयोजनसे सम्बन्ध रखता हो, उसका विचार करके आपलोग उसे भी करें' ॥ ५७ ॥

ततः सुषेणप्रमुखाः प्लवङ्गाः
सुग्रीववाक्यं निपुणं निशम्य ।
आमन्त्र्य सर्वे प्लवगाधिपं ते
जग्मुर्दिशं तां वरुणाभिगुप्ताम् ॥ ५८ ॥

सुग्रीवकी बातें अच्छी तरह सुनकर सुषेण आदि सब वानर उन वानरराजकी अनुमति ले वरुणद्वारा सुरक्षित पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका उत्तर दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए शतबलि आदि वानरोंको वहाँ भेजना

ततः संदिश्य सुग्रीवः श्वशुरं पश्चिमां दिशम् ।
वीरं शतबलिं नाम वानरं वानरेश्वरः ॥ १ ॥
उवाच राजा सर्वज्ञः सर्ववानरसत्तमः ।
वाक्यमात्महितं चैव रामस्य च हितं तदा ॥ २ ॥

इस प्रकार अपने श्वशुरको पश्चिम दिशाकी ओर जानेका संदेश दे, सर्वज्ञ, सर्व-वानर-शिरोमणि वानरेश्वर राजा सुग्रीव अपने हितैषी शतबलि नामक वीर वानरसे श्रीरामचन्द्रजीके हितकी बात बोले—॥ १-२ ॥

वृतः शतसहस्रेण त्वद्विधानां वनौकसाम् ।
वैवस्वतसुतैः सार्धं प्रविष्टः सर्वमन्त्रिभिः ॥ ३ ॥
दिशं ह्युदीचीं विक्रान्त हिमशैलावतंसिकाम् ।
सर्वतः परिमार्गध्वं रामपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ४ ॥

'पराक्रमी वीर ! तुम अपने ही समान एक लाख वनवासी वानरोंको, जो यमराजके बेटे हैं, साथ लेकर अपने समस्त मन्त्रियोंसहित उस उत्तर दिशामें प्रवेश करो, जो हिमालयरूपी आभूषणसे विभूषित है और वहाँ सब ओर यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीताका अन्वेषण करो ॥ ३-४ ॥

अस्मिन् कार्ये विनिर्वृत्ते कृते दाशरथेः प्रिये ।
ऋणान्मुक्ता भविष्यामः कृतार्थार्थविदां वराः ॥ ५ ॥

'अपने मुख्य प्रयोजनको समझनेवाले वीरोंमें श्रेष्ठ वानरो ! यदि हमलोगोंके द्वारा दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामका यह प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाय तो हम उनके उपकारके ऋणसे मुक्त और कृतार्थ हो जायँगे ॥ ५ ॥

कृतं हि प्रियमस्माकं राघवेण महात्मना ।
तस्य चेत्प्रतिकारोऽस्ति सफलं जीवितं भवेत् ॥ ६ ॥

'महात्मा श्रीरघुनाथजीने हमलोगोंका प्रिय कार्य किया है । उसका यदि कुछ बदला दिया जा सके तो हमारा जीवन सफल हो जाय ॥ ६ ॥

अर्थिनः कार्यनिर्वृत्तिमकर्तुरपि यश्चरेत् ।
तस्य स्यात् सफलं जन्म किं पुनः पूर्वकारिणः ॥ ७ ॥

'जिसने कोई उपकार न किया हो, वह भी यदि किसी कार्यके लिये प्रार्थी होकर आया हो तो जो पुरुष उसके कार्यको सिद्ध कर देता है, उसका जन्म भी सफल हो जाता है । फिर जिसने पहलेके उपकारीके कार्यको सिद्ध किया हो, उसके जीवनकी सफलताके विषयमें तो कहना ही क्या है॥७॥

एतां बुद्धिं समास्थाय दृश्यते जानकी यथा ।
तथा भवद्भिः कर्तव्यमस्मत्प्रियहितैषिभिः ॥ ८ ॥

'इसी विचारका आश्रय लेकर मेरा प्रिय और हित चाहनेवाले तुम सब वानरोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे जनकनन्दिनी सीताका पता लग जाय ॥ ८ ॥

अयं हि सर्वभूतानां मान्यस्तु नरसत्तमः ।
अस्मासु च गतः प्रीतिं रामः परपुरंजयः ॥ ९ ॥

'शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले ये नरश्रेष्ठ श्रीराम समस्त प्राणियोंके लिये माननीय हैं। हमलोगोंपर भी इनका बहुत प्रेम है ॥ ९ ॥

इमानि बहुदुर्गाणि नद्यः शैलान्तराणि च।
भवन्तः परिमार्गन्तु बुद्धिविक्रमसम्पदा ॥ १० ॥

'तुम सब लोग बुद्धि और पराक्रमके द्वारा इन अत्यन्त दुर्गम प्रदेशों, पर्वतों और नदियोंके तटोंपर जा-जाकर सीताकी खोज करो ॥ १० ॥

तत्र म्लेच्छान् पुलिन्दांश्च शूरसेनांस्तथैव च।
प्रस्थलान् भरतांश्चैव कुरूंश्च सह मद्रकैः ॥ ११ ॥
काम्बोजयवनांश्चैव शकानां पत्तनानि च।
अन्वीक्ष्य दरदांश्चैव हिमवन्तं विचिन्वथ ॥ १२ ॥

उत्तरमें म्लेच्छ, पुलिन्द, शूरसेन, प्रस्थल, भरत (इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुरके आसपासके प्रान्त), कुरु (दक्षिण कुरु—कुरुक्षेत्रके आस-पासकी भूमि), मद्र, काम्बोज, यवन, शकोंके देशों एवं नगरोंमें भलीभाँति अनुसंधान करके दरद देशमें और हिमालय पर्वतपर ढूँढ़ो ॥

लोध्रपद्मकखण्डेषु देवदारुवनेषु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ १३ ॥

'वहाँ लोध्र और पद्मककी झाड़ियोंमें तथा देवदारुके जंगलोंमें वैदेहीसहित रावणकी खोज करनी चाहिये ॥१३॥

ततः सोमाश्रमं गत्वा देवगन्धर्वसेवितम्।
कालं नाम महासानुं पर्वतं तं गमिष्यथ ॥ १४ ॥

'फिर देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित सोमाश्रममें होते हुए ऊँचे शिखरवाले काल नामक पर्वतपर जाओ ॥ १४ ॥

महत्सु तस्य शैलेषु पर्वतेषु गुहासु च।
विचिन्वत महाभागां रामपत्नीमनिन्दिताम् ॥ १५ ॥

'उस पर्वतकी शाखाभूत अन्य छोटे-बड़े पर्वतों और उन सबकी गुफाओंमें सती-साध्वी श्रीरामपत्नी महाभागा सीताका अन्वेषण करो ॥ १५ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं हेमगर्भं महागिरिम्।
ततः सुदर्शनं नाम पर्वतं गन्तुमर्हथ ॥ १६ ॥

'जिसके भीतर सुवर्णकी खान हैं, उस गिरिराज कालको लाँघकर तुम्हें सुदर्शन नामक महान् पर्वतपर जाना चाहिये ॥

ततो देवसखो नाम पर्वतः पतगालयः।
नानापक्षिसमाकीर्णो विविधद्रुमभूषितः ॥ १७ ॥

'उससे आगे बढ़नेपर देवसख नामवाला पहाड़ मिलेगा, जो पक्षियोंका निवासस्थान है। वह भाँति-भाँतिके विहंगमोंसे व्याप्त तथा नाना प्रकारके वृक्षोंसे विभूषित है ॥ १७ ॥

तस्य काननखण्डेषु निर्झरेषु गुहासु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ १८ ॥

'उसके वनसमूहों, निर्झरों और गुफाओंमें तुम्हें विदेहकुमारी सीतासहित रावणकी खोज करनी चाहिये ॥१८॥

तमतिक्रम्य चाकाशं सर्वतः शतयोजनम्।
अपर्वतनदीवृक्षं सर्वसत्त्वविवर्जितम् ॥ १९ ॥

'वहाँसे आगे बढ़नेपर एक सुनसान मैदान मिलेगा, जो सब ओरसे सौ योजन विस्तृत है। वहाँ नदी, पर्वत, वृक्ष और सब प्रकारके जीव-जन्तुओंका अभाव है ॥ १९ ॥

तत्तु शीघ्रमतिक्रम्य कान्तारं रोमहर्षणम्।
कैलासं पाण्डुरं प्राप्य हृष्टा यूयं भविष्यथ ॥ २० ॥

'रोंगटे खड़े कर देनेवाले उस दुर्गम प्रान्तको शीघ्रतापूर्वक लाँघ जानेपर तुम्हें श्वेतवर्णका कैलास पर्वत मिलेगा। वहाँ पहुँचनेपर तुम सब लोग हर्षसे खिल उठोगे ॥ २० ॥

तत्र पाण्डुरमेघाभं जाम्बूनदपरिष्कृतम्।
कुबेरभवनं रम्यं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २१ ॥

'वहीं विश्वकर्माका बनाया हुआ कुबेरका रमणीय भवन है, जो श्वेत बादलोंके समान प्रतीत होता है। उस भवनको जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित किया गया है ॥२१॥

विशाला नलिनी यत्र प्रभूतकमलोत्पला।
हंसकारण्डवाकीर्णा अप्सरोगणसेविता ॥ २२ ॥

'उसके पास ही एक बहुत बड़ा सरोवर है, जिसमें कमल और उत्पल प्रचुर मात्रामें पाये जाते हैं। उसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी भरे रहते हैं तथा अप्सराएँ उसमें जलक्रीडा करती हैं ॥ २२ ॥

तत्र वैश्रवणो राजा सर्वलोकनमस्कृतः।
धनदो रमते श्रीमान् गुह्यकैः सह यक्षराट् ॥ २३ ॥

'वहाँ यक्षोंके स्वामी विश्रवाकुमार श्रीमान् राजा कुबेर, जो समस्त विश्वके लिये वन्दनीय और धन देनेवाले हैं, गुह्यकोंके साथ विहार करते हैं ॥ २३ ॥

तस्य चन्द्रनिकाशेषु पर्वतेषु गुहासु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ २४ ॥

'उस कैलासके चन्द्रमाकी भाँति उज्ज्वल शाखा-पर्वतोंपर तथा उनकी गुफाओंमें सब ओर घूम-फिरकर तुम्हें सीतासहित रावणका अनुसंधान करना चाहिये ॥ २४ ॥

क्रौञ्चं तु गिरिमासाद्य बिलं तस्य सुदुर्गमम्।
अप्रमत्तैः प्रवेष्टव्यं दुष्प्रवेशं हि तत् स्मृतम् ॥ २५ ॥

'इसके बाद क्रौञ्चगिरिपर जाकर वहाँकी अत्यन्त दुर्गम विवररूप गुफामें (जो स्कन्दकी शक्तिसे पर्वतके विदीर्ण होनेके कारण बन गयी है) तुम्हें सावधानीके साथ प्रवेश करना चाहिये; क्योंकि उसके भीतर प्रवेश करना अत्यन्त कठिन माना गया है ॥ २५ ॥

वसन्ति हि महात्मानस्तत्र सूर्यसमप्रभाः।
देवैरप्यर्चिताः सम्यग् देवरूपा महर्षयः ॥ २६ ॥

'उस गुफामें सूर्यके समान तेजस्वी महात्मा निवास करते हैं। उन देवस्वरूप महर्षियोंकी देवतालोग भी अभ्यर्थना करते हैं॥ २६॥

क्रौञ्चस्य तु गुहाश्चान्याः सानूनि शिखराणि च।
निर्दराश्च नितम्बाश्च विचेतव्यास्ततस्ततः॥ २७॥

क्रौञ्च पर्वतकी और भी बहुत-सी गुफाएँ, अनेकानेक चोटियाँ, शिखर, कन्दराएँ तथा नितम्ब (ढालू प्रदेश) हैं; उन सबमें सब ओर घूम-फिरकर तुम्हें सीता और रावणका पता लगाना चाहिये॥ २७॥

अवृक्षं कामशैलं च मानसं विहगालयम्।
न गतिस्तत्र भूतानां देवानां न च रक्षसाम्॥ २८॥

'वहाँसे आगे वृक्षोंसे रहित मानस नामक शिखर है, जहाँ शून्य होनेके कारण कभी पक्षीतक नहीं जाते हैं। कामदेवकी तपस्याका स्थान होनेके कारण वह क्रौञ्चशिखर कामशैलके नामसे विख्यात है। वहाँ भूतों, देवताओं तथा राक्षसोंका भी कभी जाना नहीं होता है॥ २८॥

स च सर्वैर्विचेतव्यः ससानुप्रस्थभूधरः।
क्रौञ्चं गिरिमतिक्रम्य मैनाको नाम पर्वतः॥ २९॥

'शिखरों, घाटियों और शाखापर्वतोंसहित समूचे क्रौञ्चपर्वतकी तुमलोग छानबीन करना। क्रौञ्चगिरिको लाँघकर आगे बढ़नेपर मैनाक पर्वत मिलेगा॥ २९॥

मयस्य भवनं तत्र दानवस्य स्वयंकृतम्।
मैनाकस्तु विचेतव्यः ससानुप्रस्थकन्दरः॥ ३०॥

'वहाँ मयदानवका घर है, जिसे उसने स्वयं ही अपने लिये बनाया है। तुमलोगोंको शिखरों, चौरस मैदानों और कन्दराओंसहित मैनाक पर्वतपर भलीभाँति सीताजीकी खोज करनी चाहिये॥ ३०॥

स्त्रीणामश्वमुखीनां तु निकेतस्तत्र तत्र तु।
तं देशं समतिक्रम्य आश्रमं सिद्धसेवितम्॥ ३१॥

'वहाँ यत्र-तत्र घोड़ेके-से मुँहवाली किन्नरियोंके निवासस्थान हैं। उस प्रदेशको लाँघ जानेपर सिद्धसेवित आश्रम मिलेगा॥ ३१॥

सिद्धा वैखानसा यत्र वालखिल्याश्च तापसाः।
वन्दितव्यास्ततः सिद्धास्तपसा वीतकल्मषाः॥ ३२॥
प्रष्टव्या चापि सीतायाः प्रवृत्तिर्विनयान्वितैः।

'उसमें सिद्ध, वैखानस तथा वालखिल्य नामक तपस्वी निवास करते हैं। तपस्यासे उनके पाप धुल गये हैं। उन सिद्धोंको तुमलोग प्रणाम करना और विनीतभावसे सीताका समाचार पूछना॥ ३२½॥

हेमपुष्करसंछन्नं तत्र वैखानसं सरः॥ ३३॥
तरुणादित्यसंकाशैर्हंसैर्विचरितं शुभैः।

'उस आश्रमके पास 'वैखानस सर' के नामसे प्रसिद्ध एक सरोवर है, जिसका जल सुवर्णमय कमलोंसे आच्छादित रहता है। उसमें प्रातःकालिक सूर्यके समान सुनहरे एवं अरुणवर्णवाले सुन्दर हंस विचरते रहते हैं॥ ३३½॥

औपवाह्यः कुबेरस्य सार्वभौम इति स्मृतः॥ ३४॥
गजः पर्येति तं देशं सदा सह करेणुभिः।

'कुबेरकी सवारीमें काम आनेवाला सार्वभौमनामक गजराज अपनी हथिनियोंके साथ उस देशमें सदा घूमता रहता है॥ ३४½॥

तत् सरः समतिक्रम्य नष्टचन्द्रदिवाकरम्।
अनक्षत्रगणं व्योम निष्पयोदमनादितम्॥ ३५॥

'उस सरोवरको लाँघकर आगे जानेपर सूना आकाश दिखायी देगा। उसमें सूर्य, चन्द्रमा तथा तारोंके दर्शन नहीं होंगे। वहाँ न तो मेघोंकी घटा दिखायी देगी और न उनकी गर्जना ही सुनायी पड़ेगी॥ ३५॥

गभस्तिभिरिवार्कस्य स तु देशः प्रकाश्यते।
विश्राम्यद्भिस्तपःसिद्धैर्देवकल्पैः स्वयंप्रभैः॥ ३६॥

'तथापि उस देशमें ऐसा प्रकाश छाया होगा, मानो सूर्यकी किरणोंसे ही वह प्रकाशित हो रहा हो। वहाँ अपनी ही प्रभासे प्रकाशित तपःसिद्ध देवोपम महर्षि विश्राम करते हैं। उन्हींकी अङ्गप्रभासे उस देशमें उजाला छाया रहता है॥ ३६॥

तं तु देशमतिक्रम्य शैलोदा नाम निम्नगा।
उभयोस्तीरयोस्तस्याः कीचका नाम वेणवः॥ ३७॥

'उस प्रदेशको लाँघकर आगे बढ़नेपर 'शैलोदा' नामवाली नदीका दर्शन होगा। उसके दोनों तटोंपर कीचक (वंशीकी-सी ध्वनि करनेवाले) बाँस हैं; यह बात प्रसिद्ध है॥ ३७॥

ते नयन्ति परं तीरं सिद्धान् प्रत्यानयन्ति च।
उत्तराः कुरवस्तत्र कृतपुण्यप्रतिश्रयाः॥ ३८॥

'वे बाँस ही (साधन बनकर) सिद्ध पुरुषोंको शैलोदाके उस पार ले जाते और वहाँसे इस पार ले आते हैं। जहाँ केवल पुण्यात्मा पुरुषोंका वास है, वह उत्तर कुरुदेश शैलोदाके तटपर ही है॥ ३८॥

ततः काञ्चनपद्माभिः पद्मिनीभिः कृतोदकाः।
नीलवैदूर्यपत्राढ्या नद्यस्तत्र सहस्रशः॥ ३९॥

'उत्तर कुरुदेशमें नील वैदूर्यमणिके समान हरे-हरे कमलोंके पत्तोंसे सुशोभित सहस्रों नदियाँ बहती हैं, जिनके जल सुवर्णमय पद्मोंसे अलंकृत अनेकानेक पुष्करिणियोंसे मिले हुए हैं॥ ३९॥

रक्तोत्पलवनैश्चात्र मण्डिताश्च हिरण्मयैः।
तरुणादित्यसंकाशा भान्ति तत्र जलाशयाः॥ ४०॥

'वहाँके जलाशय लाल और सुनहरे कमलसमूहोंसे

मण्डित होकर प्रातःकाल उदित हुए सूर्यके समान शोभा पाते हैं ॥ ४० ॥

महार्हमणिपत्रैश्च काञ्चनप्रभकेसरैः ।
नीलोत्पलवनैश्चित्रैः स देशः सर्वतो वृतः ॥ ४१ ॥

'बहुमूल्य मणियोंके समान पत्तों और सुवर्णके समान कान्तिमान् केसरोंवाले विचित्र-विचित्र नील कमलोंके द्वारा वहाँका प्रदेश सब ओरसे सुशोभित होता है ॥ ४१ ॥

निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिर्मणिभिश्च महाधनैः ।
उद्धूतपुलिनास्तत्र जातरूपैश्च निम्नगाः ॥ ४२ ॥
सर्वरत्नमयैश्चित्रैरवगाढा नगोत्तमैः ।
जातरूपमयैश्चापि हुताशनसमप्रभैः ॥ ४३ ॥

'वहाँकी नदियोंके तट गोल-गोल मोतियों, बहुमूल्य मणियों और सुवर्णोंसे सम्पन्न हैं। इतना ही नहीं, उन नदियोंके किनारे सम्पूर्ण रत्नोंसे युक्त विचित्र-विचित्र पर्वत भी विद्यमान हैं, जो उनके जलके भीतरतक घुसे हुए हैं। उन पर्वतोंमेंसे कितने ही सुवर्णमय हैं, जिनसे अग्निके समान प्रकाश फैलता रहता है ॥ ४२-४३ ॥

नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्ररथाकुलाः ।
दिव्यगन्धरसस्पर्शाः सर्वकामान् स्रवन्ति च ॥ ४४ ॥

वहाँके वृक्षोंमें सदा ही फल-फूल लगे रहते हैं और उनपर पक्षी चहकते रहते हैं। वे वृक्ष दिव्य गन्ध, दिव्य रस और दिव्य स्पर्श प्रदान करते हैं तथा प्राणियोंकी सारी मनचाही वस्तुओंकी वर्षा करते रहते हैं ॥ ४४ ॥

नानाकाराणि वासांसि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ।
मुक्तावैदूर्यचित्राणि भूषणानि तथैव च ।
स्त्रीणां यान्यनुरूपाणि पुरुषाणां तथैव च ॥ ४५ ॥

'इनके सिवा दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ वृक्ष फलोंके रूपमें नाना प्रकारके वस्त्र, मोती और वैदूर्यमणिसे जटित आभूषण देते हैं, जो स्त्रियों तथा पुरुषोंके भी उपयोगमें आने योग्य होते हैं ॥ ४५ ॥

सर्वर्तुसुखसेव्यानि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ।
महार्हमणिचित्राणि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ॥ ४६ ॥

'दूसरे उत्तम वृक्ष सभी ऋतुओंमें सुखपूर्वक सेवन करने योग्य अच्छे-अच्छे फल देते हैं। अन्यान्य सुन्दर वृक्ष बहुमूल्य मणियोंके समान विचित्र फल उत्पन्न करते हैं ।४६।

शयनानि प्रसूयन्ते चित्रास्तरणवन्ति च ।
मनःकान्तानि माल्यानि फलन्त्यत्रापरे द्रुमाः ॥ ४७ ॥
पानानि च महार्हाणि भक्ष्याणि विविधानि च ।
स्त्रियश्च गुणसम्पन्ना रूपयौवनलक्षिताः ॥ ४८ ॥

'कितने ही अन्य वृक्ष विचित्र बिछौनोंसे युक्त शय्याओंको ही फलोंके रूपमें प्रकट करते हैं; मनको प्रिय लगनेवाली सुन्दर मालाएँ भी प्रस्तुत करते हैं; बहुमूल्य पेय पदार्थ और भाँति-भाँतिके भोजन भी देते हैं तथा रूप और यौवनसे प्रकाशित होनेवाली सद्गुणवती युवतियोंको भी जन्म देते हैं ॥ ४७-४८ ॥

गन्धर्वाः किन्नराः सिद्धा नागा विद्याधरास्तथा ।
रमन्ते सततं तत्र नारीभिर्भास्करप्रभाः ॥ ४९ ॥

'वहाँ सूर्यके समान कान्तिमान् गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, नाग और विद्याधर सदा नारियोंके साथ क्रीडा-विहार करते हैं ॥ ४९ ॥

सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे रतिपरायणाः ।
सर्वे कामार्थसहिता वसन्ति सह योषितः ॥ ५० ॥

'वहाँके सब लोग पुण्यकर्मा हैं, सभी अर्थ और कामसे सम्पन्न हैं तथा सब लोग काम-क्रीडापरायण होकर युवती स्त्रियोंके साथ निवास करते हैं ॥ ५० ॥

गीतवादित्रनिर्घोषः सोत्कृष्टहसितस्वनः ।
श्रूयते सततं तत्र सर्वभूतमनोरमः ॥ ५१ ॥

'वहाँ निरन्तर उत्कृष्ट हास-परिहासकी ध्वनिसे युक्त गीत-वाद्यका मधुर घोष सुनायी देता है, जो समस्त प्राणियोंके मनको आनन्द प्रदान करनेवाला है ॥ ५१ ॥

तत्र नामुदितः कश्चिन्नात्र कश्चिदसत्प्रियः ।
अहन्यहनि वर्धन्ते गुणास्तत्र मनोरमाः ॥ ५२ ॥

'वहाँ कोई भी अप्रसन्न नहीं रहता। किसीकी भी बुरे कामोंमें प्रीति नहीं होती। वहाँ रहनेसे प्रतिदिन मनोरम गुणोंकी वृद्धि होती है ॥ ५२ ॥

समतिक्रम्य तं देशमुत्तरः पयसां निधिः ।
तत्र सोमगिरिर्नाम मध्ये हेममयो महान् ॥ ५३ ॥

'उस देशको लाँघकर आगे जानेपर उत्तरदिग्वर्ती समुद्र उपलब्ध होगा। उस समुद्रके मध्यभागमें सोमगिरि नामक एक बहुत ऊँचा सुवर्णमय पर्वत है ॥ ५३ ॥

इन्द्रलोकगता ये च ब्रह्मलोकगताश्च ये ।
देवास्तं समवेक्षन्ते गिरिराजं दिवं गताः ॥ ५४ ॥

'जो लोग स्वर्गलोकमें गये हैं, वे तथा इन्द्रलोक और ब्रह्मलोकमें रहनेवाले देवता उस गिरिराज सोमगिरिका दर्शन करते हैं ॥ ५४ ॥

स तु देशो विसूर्योऽपि तस्य भासा प्रकाशते ।
सूर्यलक्ष्म्याभिविज्ञेयस्तपतेव विवस्वता ॥ ५५ ॥

'वह देश सूर्यसे रहित है तो भी सोमगिरिकी प्रभासे सदा प्रकाशित होता रहता है। तपते हुए सूर्यकी प्रभासे जो देश प्रकाशित होते हैं, उन्हींकी भाँति उसे सूर्यदेवकी शोभासे सम्पन्न-सा जानना चाहिये ॥ ५५ ॥

भगवांस्तत्र विश्वात्मा शम्भुरेकादशात्मकः ।
ब्रह्मा वसति देवेशो ब्रह्मर्षिपरिवारितः ॥ ५६ ॥

'वहाँ विश्वात्मा भगवान् विष्णु, एकादश रुद्रोंके रूपमें प्रकट होनेवाले भगवान् शंकर तथा ब्रह्मर्षियोंसे घिरे हुए देवेश्वर ब्रह्माजी निवास करते हैं ॥ ५६ ॥

न कथंचन गन्तव्यं कुरूणामुत्तरेण वः।
अन्येषामपि भूतानां नानुक्रामति वै गतिः ॥ ५७ ॥

'तुमलोग उत्तर कुरुके मार्गसे सोमगिरितक जाकर उसकी सीमासे आगे किसी तरह न बढ़ना। तुम्हारी तरह दूसरे प्राणियोंकी भी वहाँ गति नहीं है ॥ ५७ ॥

स हि सोमगिरिर्नाम देवानामपि दुर्गमः।
तमालोक्य ततः क्षिप्रमुपावर्तितुमर्हथ ॥ ५८ ॥

'वह सोमगिरि देवताओंके लिये भी दुर्गम है। अतः उसका दर्शनमात्र करके तुमलोग शीघ्र लौट आना ॥ ५८ ॥

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुंगवाः।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ५९ ॥

'श्रेष्ठ वानरो! बस, उत्तर दिशामें इतनी ही दूरतक तुम सब वानर जा सकते हो। उसके आगे न तो सूर्यका प्रकाश है और न किसी देश आदिकी सीमा ही। अतः आगेकी भूमिके सम्बन्धमें मैं कुछ नहीं जानता ॥ ५९ ॥

सर्वमेतद् विचेतव्यं यन्मया परिकीर्तितम्।
यदन्यदपि नोक्तं च तत्रापि क्रियतां मतिः ॥ ६० ॥

'मैंने जो-जो स्थान बताये हैं, उन सबमें सीताकी खोज करना और जिन स्थानोंका नाम नहीं लिया है, वहाँ भी ढूँढ़नेका ही निश्चित विचार रखना ॥ ६० ॥

ततः कृतं दाशरथेर्महत्प्रियं
महत्प्रियं चापि ततो मम प्रियम्।
कृतं भविष्यत्यनिलानलोपमा
विदेहजादर्शनजेन कर्मणा ॥ ६१ ॥

'अग्नि और वायुके समान तेजस्वी तथा बलशाली वानरो! विदेहनन्दिनी सीताके दर्शनके लिये तुम जो-जो कार्य या प्रयास करोगे, उन सबके द्वारा दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामका महान् प्रिय कार्य सम्पन्न होगा तथा उसीसे मेरा भी प्रिय कार्य पूर्ण हो जायगा ॥ ६१ ॥

ततः कृतार्थाः सहिताः सबान्धवा
मयार्चिताः सर्वगुणैर्मनोरमैः।
चरिष्यथोर्वीं प्रति शान्तशत्रवः
सहप्रिया भूतधराः प्लवंगमाः ॥ ६२ ॥

'वानरो! श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय कार्य करके जब तुम लौटोगे, तब मैं सर्वगुणसम्पन्न एवं मनोऽनुकूल पदार्थोंके द्वारा तुम सब लोगोंका सत्कार करूँगा। तत्पश्चात् तुमलोग शत्रुहीन होकर अपने हितैषियों और बन्धु-बान्धवोंसहित कृतार्थ एवं समस्त प्राणियोंके आश्रयदाता होकर अपनी प्रियतमाओंके साथ सारी पृथ्वीपर सानन्द विचरण करोगे' ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामका हनुमान्‌जीको अँगूठी देकर भेजना

विशेषेण तु सुग्रीवो हनूमत्यर्थमुक्तवान्।
स हि तस्मिन् हरिश्रेष्ठे निश्चितार्थोऽर्थसाधने ॥ १ ॥

सुग्रीवने हनुमान्‌जीके समक्ष विशेषरूपसे सीताके अन्वेषणरूप प्रयोजनको उपस्थित किया; क्योंकि उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी इस कार्यको सिद्ध कर सकेंगे ॥ १ ॥

अब्रवीच्च हनूमन्तं विक्रान्तमनिलात्मजम्।
सुग्रीवः परमप्रीतः प्रभुः सर्ववनौकसाम् ॥ २ ॥

समस्त वानरोंके स्वामी सुग्रीवने अत्यन्त प्रसन्न होकर परम पराक्रमी वायुपुत्र हनुमान्‌से इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाम्बरे नामरालये।
नाप्सु वा गतिसङ्गं ते पश्यामि हरिपुंगव ॥ ३ ॥

'कपिश्रेष्ठ! पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, देवलोक अथवा जलमें भी तुम्हारी गतिका अवरोध मैं कभी नहीं देखता हूँ ॥ ३ ॥

सासुराः सहगन्धर्वाः सनागनरदेवताः।
विदिताः सर्वलोकास्ते ससागरधराधराः ॥ ४ ॥

'असुर, गन्धर्व, नाग, मनुष्य, देवता, समुद्र तथा पर्वतोंसहित सम्पूर्ण लोकोंका तुम्हें ज्ञान है ॥ ४ ॥

गतिर्वेगश्च तेजश्च लाघवं च महाकपे।
पितुस्ते सदृशं वीर मारुतस्य महौजसः ॥ ५ ॥

'वीर! महाकपे! सर्वत्र अबाधित गति, वेग, तेज और फुर्ती—ये सभी सद्गुण तुममें अपने महापराक्रमी पिता वायुके ही समान हैं ॥ ५ ॥

तेजसा वापि ते भूतं न समं भुवि विद्यते।
तद् यथा लभ्यते सीता तत्त्वमेवानुचिन्तय ॥ ६ ॥

'इस भूमण्डलमें कोई भी प्राणी तुम्हारे तेजकी समानता करनेवाला नहीं है; अतः जिस प्रकार सीताकी उपलब्धि हो सके, वह उपाय तुम्हीं सोचो ॥ ६ ॥



श्रीरामद्वारा हनुमान्‌को मुद्रिका-प्रदान

त्वय्येव हनुमन्नस्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः ।
देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डितः ॥ ७ ॥

'हनुमन् ! तुम नीतिशास्त्रके पण्डित हो । एकमात्र तुम्हींमें बल, बुद्धि, पराक्रम, देश-कालका अनुसरण तथा नीतिपूर्ण बर्ताव एक साथ देखे जाते हैं' ॥ ७ ॥

ततः कार्यसमासङ्गमवगम्य हनूमति ।
विदित्वा हनुमन्तं च चिन्तयामास राघवः ॥ ८ ॥

सुग्रीवकी बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको यह ज्ञात हुआ कि इस कार्यकी सिद्धिका सम्बन्ध—इसे पूर्ण करनेका सारा भार हनुमान्पर ही है । उन्होंने स्वयं भी यह अनुभव किया कि हनुमान् इस कार्यको सफल करनेमें समर्थ हैं । फिर वे इस प्रकार मन-ही-मन विचार करने लगे—॥ ८ ॥

सर्वथा निश्चितार्थोऽयं हनूमति हरीश्वरः ।
निश्चितार्थतरश्चापि हनूमान् कार्यसाधने ॥ ९ ॥

'वानरराज सुग्रीव सर्वथा हनुमान्पर ही यह भरोसा किये बैठे हैं कि ये ही निश्चितरूपसे हमारे इस प्रयोजनको सिद्ध कर सकते हैं । स्वयं हनुमान् भी अत्यन्त निश्चितरूपसे इस कार्यको सिद्ध करनेका विश्वास रखते हैं ॥ ९ ॥

तदेवं प्रस्थितस्यास्य परिज्ञातस्य कर्मभिः ।
भर्त्रा परिगृहीतस्य ध्रुवः कार्यफलोदयः ॥ १० ॥

'इस प्रकार कार्योंद्वारा जिनकी परीक्षा कर ली गयी है तथा जो सबसे श्रेष्ठ समझे गये हैं, वे हनुमान् अपने स्वामी सुग्रीवके द्वारा सीताकी खोजके लिये भेजे जा रहे हैं । इनके द्वारा इस कार्यके फलका उदय (सीताका दर्शन) होना निश्चित है' ॥ १० ॥

तं समीक्ष्य महातेजा व्यवसायोत्तरं हरिम् ।
कृतार्थ इव संहृष्टः प्रहृष्टेन्द्रियमानसः ॥ ११ ॥

ऐसा विचारकर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी कार्यसाधनके उद्योगमें सर्वश्रेष्ठ हनुमान्जीकी ओर दृष्टिपात करके अपनेको कृतार्थ-सा मानते हुए प्रसन्न हो गये । उनकी सारी इन्द्रियाँ और मन हर्षसे खिल उठे ॥ ११ ॥

ददौ तस्य ततः प्रीतः स्वनामाङ्कोपशोभितम् ।
अङ्गुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्याः परंतपः ॥ १२ ॥

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीरामने प्रसन्नतापूर्वक अपने नामके अक्षरोंसे सुशोभित एक अँगूठी हनुमान्जीके हाथमें दी, जो राजकुमारी सीताको पहचानके रूपमें अर्पण करनेके लिये थी ॥ १२ ॥

अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा ।
मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति ॥ १३ ॥

अँगूठी देकर वे बोले—'कपिश्रेष्ठ ! इस चिह्नके द्वारा जनककिशोरी सीताको यह विश्वास हो जायगा कि तुम मेरे पाससे ही गये हो । इससे वह भय त्यागकर तुम्हारी ओर देख सकेगी ॥ १३ ॥

व्यवसायश्च ते वीर सत्त्वयुक्तश्च विक्रमः ।
सुग्रीवस्य च संदेशः सिद्धिं कथयतीव मे ॥ १४ ॥

'वीरवर ! तुम्हारा उद्योग, धैर्य, पराक्रम और सुग्रीवका संदेश—ये सब मुझे इस बातकी सूचना-सी दे रहे हैं कि तुम्हारे द्वारा कार्यकी सिद्धि अवश्य होगी' ॥ १४ ॥

स तद् गृह्य हरिश्रेष्ठः कृत्वा मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
वन्दित्वा चरणौ चैव प्रस्थितः प्लवगर्षभः ॥ १५ ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान्ने वह अँगूठी लेकर उसे मस्तकपर रक्खा और फिर हाथ जोड़कर श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करके वे वानरशिरोमणि वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ १५ ॥

स तत् प्रकर्षन् हरिणां महद् बलं
बभूव वीरः पवनात्मजः कपिः ।
गताम्बुदे व्योम्नि विशुद्धमण्डलः
शशीव नक्षत्रगणोपशोभितः ॥ १६ ॥

उस समय वीर-वानर पवनकुमार हनुमान् अपने साथ वानरोंकी उस विशाल सेनाको ले जाते हुए उसी तरह शोभा पाने लगे, जैसे मेघरहित आकाशमें विशुद्ध (निर्मल) मण्डलसे उपलक्षित चन्द्रमा नक्षत्र-समूहोंके साथ सुशोभित होता है ॥ १६ ॥

अतिबल बलमाश्रितस्तवाहं
हरिवर विक्रम विक्रमैरनल्पैः ।
पवनसुत यथाधिगम्यते सा
जनकसुता हनुमंस्तथा कुरुष्व ॥ १७ ॥

जाते हुए हनुमान्को सम्बोधित करके श्रीरामचन्द्रजीने फिर कहा—'अत्यन्त बलशाली कपिश्रेष्ठ ! मैंने तुम्हारे बलका आश्रय लिया है । पवनकुमार हनुमान् ! जिस प्रकार भी जनकनन्दिनी सीता प्राप्त हो सके, तुम अपने महान् बल-विक्रमसे वैसा ही प्रयत्न करो । अच्छा, अब जाओ' ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

विभिन्न दिशाओंमें जाते हुए वानरोंका सुग्रीवके समक्ष अपने उत्साहसूचक वचन सुनाना

सर्वांश्चाहूय सुग्रीवः प्लवगान् प्लवगर्षभः ।
समस्तांश्चाब्रवीद् राजा रामकार्यार्थसिद्धये ॥ १ ॥

तदनन्तर वानरशिरोमणि राजा सुग्रीव अन्य समस्त वानरोंको बुलाकर श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये उन सबसे बोले—॥ १ ॥

एवमेतद् विचेतव्यं भवद्भिर्वानरोत्तमैः ।

तदुग्रशासनं भर्तुर्विज्ञाय हरिपुंगवाः ॥ २ ॥
शलभा इव संछाद्य मेदिनीं सम्प्रतस्थिरे ।

'कपिवरो ! जैसा मैंने बताया है, उसके अनुसार तुम सभी श्रेष्ठ वानरोंको इस जगत्में सीताकी खोज करनी चाहिये।' स्वामीकी उस कठोर आज्ञाको भलीभाँति समझकर वे सम्पूर्ण श्रेष्ठ वानर टिड्डियोंके दलकी भाँति पृथ्वीको आच्छादित करके वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २½ ॥

रामः प्रस्रवणे तस्मिन् न्यवसत् सहलक्ष्मणः ॥ ३ ॥
प्रतीक्षमाणस्तं मासं सीताधिगमने कृतः ।

श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ उस प्रस्रवणगिरिपर ही ठहरे रहे और सीताका समाचार लानेके लिये जो एक मासकी अवधि निश्चित की गयी थी, उसकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ ३½ ॥

उत्तरां तु दिशं रम्यां गिरिराजसमावृताम् ॥ ४ ॥
प्रतस्थे सहसा वीरो हरिः शतबलिस्तदा ।

उस समय वीर वानर शतबलिने गिरिराज हिमालयसे घिरी हुई रमणीय उत्तर दिशाकी ओर शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान किया ॥ ४½ ॥

पूर्वां दिशं प्रतिययौ विनतो हरियूथपः ॥ ५ ॥
ताराङ्गदादिसहितः प्लवगः पवनात्मजः ।
अगस्त्याचरितामाशां दक्षिणां हरियूथपः ॥ ६ ॥
पश्चिमां च दिशं घोरां सुषेणः प्लवगेश्वरः ।
प्रतस्थे हरिशार्दूलो दिशं वरुणपालिताम् ॥ ७ ॥

वानर-यूथपति विनत पूर्व दिशाकी ओर गये। कपिगणोंके अधिपति पवनकुमार वानर हनुमान्जी तार और अङ्गद आदिके साथ अगस्त्यसेवित दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थित हुए तथा वानरेश्वर कपिश्रेष्ठ सुषेणने वरुण-द्वारा सुरक्षित घोर पश्चिम दिशाकी यात्रा की ॥ ५—७ ॥

ततः सर्वा दिशो राजा चोदयित्वा यथातथम् ।
कपिसेनापतिर्वीरो मुमोद सुखितः सुखम् ॥ ८ ॥

वानर-सेनाके स्वामी वीर राजा सुग्रीव सम्पूर्ण दिशाओंमें यथायोग्य वानरोंको भेजकर बहुत सुखी हुए और मन-ही-मन हर्षका अनुभव करने लगे ॥ ८ ॥

एवं संचोदिताः सर्वे राज्ञा वानरयूथपाः ।
स्वां स्वां दिशमभिप्रेत्य त्वरिताः सम्प्रतस्थिरे ॥ ९ ॥

इस तरह राजाकी आज्ञा पाकर समस्त वानर-यूथपति बड़ी उतावलीके साथ अपनी-अपनी दिशाकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ९ ॥

नदन्तश्चोन्नदन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः ।
क्ष्वेडन्तो धावमानाश्च विनदन्तो महाबलाः ॥ १० ॥
एवं संचोदिताः सर्वे राज्ञा वानरयूथपाः ।
आनयिष्यामहे सीतां हनिष्यामश्च रावणम् ॥ ११ ॥
अहमेको वधिष्यामि प्राप्तं रावणमाहवे ।
ततश्चोन्मथ्य सहसा हरिष्ये जनकात्मजाम् ॥ १२ ॥
वेपमानां श्रमेणाद्य भवद्भिः स्थीयतामिति ।
एक एवाहरिष्यामि पातालादपि जानकीम् ॥ १३ ॥
विधमिष्याम्यहं वृक्षान् दारयिष्याम्यहं गिरीन् ।
धरणीं दारयिष्यामि क्षोभयिष्यामि सागरान् ॥ १४ ॥
अहं योजनसंख्यायाः प्लवेयं नात्र संशयः ।
शतयोजनसंख्यायाः शतं समधिकं ह्यहम् ॥ १५ ॥
भूतले सागरे वापि शैलेषु च वनेषु च ।
पातालस्यापि वा मध्ये न ममाच्छिद्यते गतिः ॥ १६ ॥

वे समस्त महाबली वानर और उनके यूथपति अपने राजाके द्वारा इस प्रकार प्रेरित हो भाँति-भाँतिके शब्द करते, उच्च स्वरसे गर्जते, दहाड़ते, किलकारियाँ मारते, दौड़ते और कोलाहल करते हुए कहने लगे—'राजन् ! हम सीताको साथ लायेंगे और रावणका वध कर डालेंगे। युद्धमें यदि रावण मेरे सामने आ जाय तो मैं अकेला ही उसे मार गिराऊँगा। तत्पश्चात् उसकी सारी सेनाको मथकर कष्ट एवं भयसे काँपती हुई जानकीजीको सहसा यहाँ उठा लाऊँगा। आपलोग यहीं ठहरें। मैं अकेला ही पातालसे भी जनककिशोरीको निकाल लाऊँगा, वृक्षोंको उखाड़ फेंकूँगा, पर्वतोंके टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा, पृथ्वीको विदीर्ण कर दूँगा और समुद्रोंको भी विक्षुब्ध कर डालूँगा। मैं सौ योजनतक कूद सकता हूँ, इसमें संशय नहीं है। मैं सौ योजनसे भी अधिक दूरतक जा सकता हूँ। पृथ्वी, समुद्र, पर्वत, वन और पातालमें भी मेरी गति नहीं रुकती' ॥ १०—१६ ॥

इत्येकैकस्तदा तत्र वानरा बलदर्पिताः ।
ऊचुश्च वचनं तस्य हरिराजस्य संनिधौ ॥ १७ ॥

इस तरह वहाँ वानरराज सुग्रीवके समीप बलके घमंडमें भरे हुए वानर उस समय एक-एक करके आते और उनके सामने उपर्युक्त बातें कहते थे ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामचन्द्रजीको अपने भूमण्डल-भ्रमणका वृत्तान्त बताना

गतेषु वानरेन्द्रेषु रामः सुग्रीवमब्रवीत्।
कथं भवान् विजानीते सर्वं वै मण्डलं भुवः॥ १॥

उन समस्त वानरयूथपतियोंके चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवसे पूछा—'सखे! तुम समस्त भूमण्डलके स्थानोंका परिचय कैसे जानते हो?'॥ १॥

सुग्रीवश्च ततो राममुवाच प्रणतात्मवान्।
श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये विस्तरेण वचो मम॥ २॥

तब सुग्रीवने विनीत होकर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'भगवन्! मैं सब कुछ विस्तारके साथ बता रहा हूँ। मेरी बातें सुनिये'॥ २॥

यदा तु दुन्दुभिं नाम दानवं महिषाकृतिम्।
प्रतिकालयते वाली मलयं प्रति पर्वतम्॥ ३॥
तदा विवेश महिषो मलयस्य गुहां प्रति।
विवेश वाली तत्रापि मलयं तज्जिघांसया॥ ४॥

'जब वाली महिषरूपधारी दानव दुन्दुभि* (उसके पुत्र मायावी) का पीछा कर रहे थे, उस समय वह महिष मलयपर्वतकी ओर भागा और उस पर्वतकी कन्दरामें घुस गया। यह देख वालीने उसके वधकी इच्छासे उस गुफाके भीतर भी प्रवेश किया॥ ३-४॥

ततोऽहं तत्र निक्षिप्तो गुहाद्वारि विनीतवत्।
न च निष्क्रामते वाली तदा संवत्सरे गते॥ ५॥

'उस समय मैं विनीतभावसे उस गुफाके द्वारपर खड़ा रहा; क्योंकि वालीने मुझे वहीं रख छोड़ा था। परंतु एक वर्ष व्यतीत हो जानेपर भी वाली उसके भीतरसे नहीं निकले॥ ५॥

ततः क्षतजवेगेन आपुपूरे तदा बिलम्।
तदहं विस्मितो दृष्ट्वा भ्रातुः शोकविषार्दितः॥ ६॥

'तदनन्तर वेगपूर्वक बहे हुए रक्तकी धारासे उस समय वह सारी गुफा भर गयी। यह देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ तथा मैं भाईके शोकसे व्यथित हो उठा॥ ६॥

अथाहं गतबुद्धिस्तु सुव्यक्तं निहतो गुरुः।
शिला पर्वतसंकाशा बिलद्वारि मया कृता॥ ७॥

'फिर मेरी बुद्धिमें यह बात आयी कि अब मेरे बड़े भाई निश्चय ही मारे गये। यह विचार पैदा होते ही मैंने उस गुफाके द्वारपर एक पहाड़-जैसी चट्टान रख दी॥ ७॥

अशक्नुवन्निष्क्रमितुं महिषो विनशिष्यति।
ततोऽहमागां किष्किन्धां निराशस्तस्य जीविते॥ ८॥

'सोचा—इस शिलासे द्वार बंद हो जानेपर मायावी निकल नहीं सकेगा, भीतर ही घुट-घुटकर मर जायगा। इसके बाद भाईके जीवनसे निराश होकर मैं किष्किन्धापुरीमें लौट आया॥ ८॥

राज्यं च सुमहत् प्राप्य तारां च रुमया सह।
मित्रैश्च सहितस्तत्र वसामि विगतज्वरः॥ ९॥

'यहाँ विशाल राज्य तथा रुमासहित ताराको पाकर मित्रोंके साथ मैं निश्चिन्ततापूर्वक रहने लगा॥ ९॥

आजगाम ततो वाली हत्वा तं वानरर्षभः।
ततोऽहमददां राज्यं गौरवाद् भययन्त्रितः॥ १०॥

'तत्पश्चात् वानरश्रेष्ठ वाली उस दानवका वध करके आ पहुँचे। उनके आते ही मैंने भाईके गौरवसे भयभीत हो वह राज्य उन्हें वापस कर दिया॥ १०॥

स मां जिघांसुर्दुष्टात्मा वाली प्रव्यथितेन्द्रियः।
परिकालयते वाली धावन्तं सचिवैः सह॥ ११॥

'परंतु दुष्टात्मा वाली मुझे मार डालना चाहता था, उसकी सारी इन्द्रियाँ यह सोचकर व्यथित हो उठी थीं कि 'यह मुझे मारनेके लिये ही गुफाका द्वार बंद करके भाग आया था।' मैं अपनी प्राण-रक्षाके लिये मन्त्रियोंके साथ भागा और वाली मेरा पीछा करने लगा॥ ११॥

ततोऽहं वालिना तेन सोऽनुबद्धः प्रधावितः।
नदीश्च विविधाः पश्यन् वनानि नगराणि च॥ १२॥
आदर्शतलसंकाशा ततो वै पृथिवी मया।
अलातचक्रप्रतिमा दृष्टा गोष्पदवत् कृता॥ १३॥

'वाली मेरे पीछे लगा रहा और मैं जोर-जोरसे भागता गया। उसी समय मैंने विभिन्न नदियों, वनों और नगरोंको देखते हुए सारी पृथ्वीको गायकी खुरीकी भाँति मानकर उसकी परिक्रमा कर डाली। भागते समय मुझे यह पृथ्वी दर्पण और अलातचक्रके समान दिखायी दी॥ १२-१३॥

पूर्वां दिशं ततो गत्वा पश्यामि विविधान् द्रुमान्।
पर्वतान् सदरीन् रम्यान् सरांसि विविधानि च॥ १४॥

'तदनन्तर पूर्व दिशामें जाकर मैंने नाना प्रकारके वृक्ष, कन्दराओंसहित रमणीय पर्वत और भाँति-भाँतिके सरोवर देखे॥ १४॥

उदयं तत्र पश्यामि पर्वतं धातुमण्डितम्।
क्षीरोदं सागरं चैव नित्यमप्सरसालयम्॥ १५॥

'वहाँ नाना प्रकारके धातुओंसे मण्डित उदयाचल तथा

---

* यहाँ दुन्दुभि और महिष शब्दसे उसके पुत्र मायावी नामक दानवका ही वर्णन हुआ है—ऐसा मानना चाहिये; क्योंकि आगे कही जानेवाली सारी बातें उसीके वृत्तान्तसे सम्बन्ध रखती हैं। जिस भैंसेका रूप धारण करता था, वही गुण उसके पुत्र मायावीमें भी था। इसलिये उसको भी महिष या महिषाकृति कहना असङ्गत नहीं है।

अप्सराओंके नित्य-निवासस्थान क्षीरोद सागरका भी मैंने दर्शन किया ॥ १५ ॥

परिकाल्यमानस्तदा वालिनाभिद्रुतो ह्यहम् ।
पुनरावृत्य सहसा प्रस्थितोऽहं तदा विभो ॥ १६ ॥

'उस समय वाली पीछा करते रहे और मैं भागता रहा । प्रभो ! जब मैं यहाँ फिर लौटकर आया, तब वालीके डरसे पुनः सहसा मुझे भागना पड़ा ॥ १६ ॥

दिशस्तस्यास्ततो भूयः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम् ।
विन्ध्यपादपसंकीर्णां चन्दनद्रुमशोभिताम् ॥ १७ ॥

'उस दिशाको छोड़कर मैं फिर दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थित हुआ, जहाँ विन्ध्यपर्वत और नाना प्रकारके वृक्ष भरे हुए हैं तथा चन्दनके वृक्ष जिसकी शोभा बढ़ाते हैं ॥१७॥

द्रुमशैलान्तरे पश्यन् भूयो दक्षिणतोऽपराम् ।
अपरां च दिशं प्राप्तो वालिना समभिद्रुतः ॥ १८ ॥

'वृक्षों और पर्वतोंकी ओटमें बारंबार वालीको देखकर मैंने दक्षिण दिशाको छोड़ दिया तथा वालीके खदेड़नेपर पश्चिम दिशाकी शरण ली ॥ १८ ॥

स पश्यन् विविधान् देशानस्तं च गिरिसत्तमम् ।
प्राप्य चास्तं गिरिश्रेष्ठमुत्तरं सम्प्रधावितः ॥ १९ ॥

'वहाँ नाना प्रकारके देशोंको देखता हुआ मैं गिरिश्रेष्ठ अस्ताचलतक जा पहुँचा । वहाँ पहुँचकर मैं पुनः उत्तर दिशाकी ओर भागा ॥ १९ ॥

हिमवन्तं च मेरुं च समुद्रं च तथोत्तरम् ।
यदा न विन्दे शरणं वालिना समभिद्रुतः ॥ २० ॥
ततो मां बुद्धिसम्पन्नो हनुमान् वाक्यमब्रवीत् ।

'हिमालय, मेरु और उत्तर समुद्रतक पहुँचकर भी जब वालीके पीछा करनेके कारण मुझे कहीं शरण नहीं मिली, तब परम बुद्धिमान् हनुमान्‌जीने मुझसे यह बात कही—॥२०½॥

इदानीं मे स्मृतं राजन् यथा वाली हरीश्वरः ॥ २१ ॥
मतङ्गेन तदा शप्तो ह्यस्मिन्नाश्रममण्डले ।
प्रविशेद् यदि वै वाली मूर्धास्य शतधा भवेत् ॥ २२ ॥

''राजन् ! इस समय मुझे उस घटनाका स्मरण हो आया है, जैसा कि मतङ्गमुनिने उन दिनों वानरराज वालीको शाप दिया था कि 'यदि वाली इस आश्रममण्डलमें प्रवेश करेगा तो उसके मस्तकके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे' ॥ २१-२२ ॥

तत्र वासः सुखोऽस्माकं निरुद्विग्नो भविष्यति ।
ततः पर्वतमासाद्य ऋष्यमूकं नृपात्मज ॥ २३ ॥
न विवेश तदा वाली मतङ्गस्य भयात् तदा ।

''अतः वहीं निवास करना हमलोगोंके लिये सुखद और निर्भय होगा ।' राजकुमार ! इस निश्चयके अनुसार हमलोग ऋष्यमूक पर्वतपर आकर रहने लगे । उस समय मतङ्ग ऋषिके भयसे वालीने वहाँ प्रवेश नहीं किया ॥ २३½ ॥

एवं मया तदा राजन् प्रत्यक्षमुपलक्षितम् ।
पृथिवीमण्डलं सर्वं गुहामस्यागतस्ततः ॥ २४ ॥

'राजन् ! इस प्रकार मैंने उन दिनों समस्त भूमण्डलको प्रत्यक्ष देखा था । उसके बाद ऋष्यमूककी गुफामें आया था' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

पूर्व आदि तीन दिशाओंमें गये हुए वानरोंका निराश होकर लौट आना

दर्शनार्थं तु वैदेह्याः सर्वतः कपिकुञ्जराः ।
व्यादिष्टाः कपिराजेन यथोक्तं जग्मुरञ्जसा ॥ १ ॥

वानरराजके द्वारा समस्त दिशाओंकी ओर जानेकी आज्ञा पाकर वे सभी श्रेष्ठ वानर, जिनके लिये जिस ओर जानेका आदेश मिला था उसी ओर, विदेहकुमारी सीताका पता लगानेके लिये उत्साहपूर्वक चल दिये ॥ १ ॥

ते सरांसि सरित्कक्षानाकाशं नगराणि च ।
नदीदुर्गांस्तथा देशान् विचिन्वन्ति समन्ततः ॥ २ ॥

वे सरोवरों, सरिताओं, लतामण्डपों, खुले स्थानों और नगरोंमें तथा नदियोंके कारण दुर्गम प्रदेशोंमें सब ओर घूम-फिरकर सीताकी खोज करने लगे ॥ २ ॥

सुग्रीवेण समाख्याताः सर्वे वानरयूथपाः ।
तत्र देशान् विचिन्वन्ति सशैलवनकाननान् ॥ ३ ॥

सुग्रीवने जिन्हें आज्ञा दी थी, वे सभी वानर-यूथपति अपनी-अपनी दिशाओंके पर्वत, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण देशोंकी छानबीन करने लगे ॥ ३ ॥

विचित्य दिवसं सर्वे सीताधिगमने धृताः ।
समायान्ति स्म मेदिन्यां निशाकालेषु वानराः ॥ ४ ॥

सीताजीका पता लगानेकी निश्चित इच्छा मनमें लिये वे सब वानर दिनभर इधर-उधर अन्वेषण करते और रातके समय किसी नियत स्थानपर एकत्र हो जाते थे ॥ ४ ॥

सर्वर्तुकांश्च देशेषु वानराः सफलद्रुमान् ।
आसाद्य रजनीं शय्यां चक्रुः सर्वेष्वहःसु ते ॥ ५ ॥

सारे दिन भिन्न-भिन्न देशोंमें घूम-फिरकर वे वानर सभी ऋतुओंमें फल देनेवाले वृक्षोंके पास जाकर रातको वहीं सोया अथवा विश्राम किया करते थे ॥ ५ ॥

तदहः प्रथमं कृत्वा मासे प्रस्रवणं गताः ।
कपिराजेन संगम्य निराशाः कपिकुञ्जराः ॥ ६ ॥

जानेके दिनको पहला दिन मानकर एक मास पूर्ण होनेतक वे श्रेष्ठ वानर निराश हो लौट आये और कपिराज सुग्रीवसे मिलकर प्रस्रवणगिरिपर ठहर गये ॥ ६ ॥

विचित्य तु दिशं पूर्वां यथोक्तां सचिवैः सह ।
अदृष्ट्वा विनतः सीतामाजगाम महाबलः ॥ ७ ॥

महाबली विनत अपने मन्त्रियोंके साथ पहले बताये अनुसार पूर्व दिशामें खोज करके वहाँ सीताको न पाकर किष्किन्धा लौट आये ॥ ७ ॥

दिशमप्युत्तरां सर्वां विविच्य स महाकपिः ।
आगतः सह सैन्येन भीतः शतवलिस्तदा ॥ ८ ॥

महाकपि शतवलि सारी उत्तर दिशाकी छानबीन करके भयभीत हो तत्काल सेनासहित किष्किन्धा आ गये ॥ ८ ॥

सुषेणः पश्चिमामाशां विविच्य सह वानरैः ।
समेत्य मासे पूर्णे तु सुग्रीवमुपचक्रमे ॥ ९ ॥

वानरोंसहित सुषेण भी पश्चिम दिशाका अनुसंधान करके वहाँ सीताको न पाकर एक मास पूर्ण होनेपर सुग्रीवके पास चले आये ॥ ९ ॥

तं प्रस्रवणपृष्ठस्थं समासाद्याभिवाद्य च ।
आसीनं सह रामेण सुग्रीवमिदमब्रुवन् ॥ १० ॥

प्रस्रवणगिरिपर श्रीरामचन्द्रजीके साथ बैठे हुए सुग्रीवके पास आकर सब वानरोंने उन्हें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

विचिताः पर्वताः सर्वे वनानि गहनानि च ।
निम्नगाः सागरान्ताश्च सर्वे जनपदाश्च ये ॥ ११ ॥
गुहाश्च विचिताः सर्वा याश्च ते परिकीर्तिताः ।
विचिताश्च महागुल्मा लतावितत संतताः ॥ १२ ॥

'राजन्! हमने समस्त पर्वत, घने जंगल, समुद्रपर्यन्त नदियाँ, सम्पूर्ण देश, आपकी बतायी हुई सारी गुफाएँ तथा लतावितानसे व्याप्त हुई झाड़ियाँ भी खोज डालीं ॥ ११-१२ ॥

गहनेषु च देशेषु दुर्गेषु विषमेषु च ।
सत्त्वान्यतिप्रमाणानि विचितानि हतानि च ।
ये चैव गहना देशा विचितास्ते पुनः पुनः ॥ १३ ॥

'घने वनों, विभिन्न देशों, दुर्गम स्थानों और ऊँची-ऊँची भूमियोंमें भी ढूँढ़ा है। बड़े-बड़े प्राणियोंकी भी तलाशी ली और उन्हें मार डाला। जो-जो प्रदेश घने और दुर्गम जान पड़े, वहाँ बारंबार खोज की (किंतु कहीं भी सीताजीका पता न लगा) ॥ १३ ॥

उदारसत्त्वाभिजनो हनूमान्
स मैथिलीं ज्ञास्यति वानरेन्द्र ।
दिशं तु यामेव गता तु सीता
तामास्थितो वायुसुतो हनूमान् ॥ १४ ॥

'वानरराज! वायुपुत्र हनुमान् परम शक्तिमान् और कुलीन हैं। वे ही मिथिलेशकुमारीका पता लगा सकेंगे; क्योंकि वे उसी दिशामें गये हैं, जिधर सीता गयी हैं' ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

दक्षिण दिशामें गये हुए वानरोंका सीताकी खोज आरम्भ करना

सह ताराङ्गदाभ्यां तु सहसा हनुमान् कपिः ।
सुग्रीवेण यथोद्दिष्टं गन्तुं देशं प्रचक्रमे ॥ १ ॥

उधर तार और अङ्गदके साथ हनुमान्‌जी सहसा सुग्रीवके बताये हुए दक्षिण दिशाके देशोंकी ओर चले ॥ १ ॥

स तु दूरमुपागम्य सर्वैस्तैः कपिसत्तमैः ।
ततो विचित्य विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च ॥ २ ॥
पर्वताग्रनदीदुर्गान् सरांसि विपुलद्रुमान् ।
वृक्षखण्डांश्च विविधान् पर्वतान् वनपादपान् ॥ ३ ॥
अन्वेषमाणास्ते सर्वे वानराः सर्वतोदिशम् ।
न सीतां ददृशुर्वीरा मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ ४ ॥

उन सभी श्रेष्ठ वानरोंके साथ बहुत दूरका रास्ता तै करके वे विन्ध्याचलपर गये और वहाँकी गुफाओं, जंगलों, पर्वतशिखरों, नदियों, दुर्गम स्थानों, सरोवरों, बड़े-बड़े वृक्षों, झाड़ियों और भाँति-भाँतिके पर्वतों एवं वन्य वृक्षोंमें सब ओर ढूँढ़ते फिरे; परंतु वहाँ उन समस्त वीर वानरोंने मिथिलेशकुमारी जनकनन्दिनी सीताको कहीं नहीं देखा ॥ २–४ ॥

ते भक्षयन्तो मूलानि फलानि विविधान्यपि ।
अन्वेषमाणा दुर्धर्षा न्यवसंस्तत्र तत्र ह ॥ ५ ॥

वे सभी दुर्धर्ष वीर नाना प्रकारके फल-मूलका भोजन करते हुए सीताको खोजते और जहाँ-तहाँ ठहर जाया करते थे ॥ ५ ॥

स तु देशो दुरन्वेषो गुहागहनवान् महान् ।
निर्जलं निर्जनं शून्यं गहनं घोरदर्शनम् ॥ ६ ॥

विन्ध्यपर्वतके आसपासका महान् देश बहुत-सी गुफाओं तथा घने जंगलोंमें भरा था। इससे वहाँ जानकीको ढूँढ़नेमें बड़ी कठिनाई होती थी। भयंकर दिखायी देनेवा

वहाँके सुनसान जंगलमें न तो पानी मिलता था और न कोई मनुष्य ही दिखायी देता था ॥ ६ ॥

तादृशान्यप्यरण्यानि विचित्य भृशपीडिताः ।
स देशश्च दुरन्वेष्यो गुहागहनवान् महान् ॥ ७ ॥

वैसे जंगलोंमें भी खोज करते समय उन वानरोंको अत्यन्त कष्ट सहन करना पड़ा। वह विशाल प्रदेश अनेक गुहाओं और सघन वनोंसे व्याप्त था। अतः वहाँ अन्वेषणका कार्य बहुत कठिन प्रतीत होता था ॥ ७ ॥

त्यक्त्वा तु तं ततो देशं सर्वे वै हरियूथपाः ।
देशमन्यं दुराधर्षं विविशुश्चाकुतोभयाः ॥ ८ ॥

तदनन्तर वे समस्त वानर-यूथपति उस देशको छोड़कर दूसरे प्रदेशमें घुसे, जहाँ जाना और भी कठिन था तो भी उन्हें कहीं किसीसे भय नहीं होता था ॥ ८ ॥

यत्र वन्ध्यफला वृक्षा विपुष्पाः पर्णवर्जिताः ।
निस्तोयाः सरितो यत्र मूलं यत्र सुदुर्लभम् ॥ ९ ॥

वहाँके वृक्ष कभी फल नहीं देते थे। उनमें फूल भी नहीं लगते थे और उनकी डालियोंमें पत्ते भी नहीं थे। वहाँकी नदियोंमें पानीका नाम नहीं था। कन्द-मूल आदि तो वहाँ सर्वथा दुर्लभ थे ॥ ९ ॥

न सन्ति महिषा यत्र न मृगा न च हस्तिनः ।
शार्दूलाः पक्षिणो वापि ये चान्ये वनगोचराः ॥ १० ॥

उस प्रदेशमें न भैंसे थे न हिरन और हाथी, न बाघ थे न पक्षी तथा वनमें विचरनेवाले अन्य प्राणियोंका भी वहाँ अभाव था ॥ १० ॥

न चात्र वृक्षा नौषध्यो न वल्ल्यो नापि वीरुधः ।
स्निग्धपत्राः स्थले यत्र पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः ॥ ११ ॥
प्रेक्षणीयाः सुगन्धाश्च भ्रमरैश्च विवर्जिताः ।

वहाँ न पेड़ थे न पौधे, न ओषधियाँ थीं न लता वेलें। उस देशकी पोखरियोंमें चिकने पत्तों और खिले हुए फूलोंसे युक्त कमल भी नहीं थे। इसीलिये न तो वे देखने योग्य थीं, न उनमें सुगन्ध छा रही थी और न वहाँ भौंरे ही गुंजार करते थे ॥ ११½ ॥

कण्डुर्नाम महाभागः सत्यवादी तपोधनः ॥ १२ ॥
महर्षिः परमामर्षी नियमैर्दुष्प्रधर्षणः ।

पहले वहाँ कण्डु नामसे प्रसिद्ध एक महाभाग सत्यवादी और तपस्याके धनी महर्षि रहते थे, जो बड़े अमर्षशील थे—अपने प्रति किये गये अपराधको सहन नहीं करते थे। शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन करनेके कारण उन महर्षिको कोई तिरस्कृत या पराजित नहीं कर सकता था ॥ १२½ ॥

तस्य तस्मिन् वने पुत्रो बालको दशवार्षिकः ॥ १३ ॥
प्रणष्टो जीवितान्ताय क्रुद्धस्तेन महामुनिः ।

उस वनमें उनका एक बालक पुत्र, जिसकी अवस्था दस वर्षकी थी, किसी कारणसे मर गया। इससे कुपित होकर वे महामुनि उस वनके जीवनका अन्त करनेके लिये उद्यत हो गये ॥ १३½ ॥

तेन धर्मात्मना शप्तं कृत्स्नं तत्र महद्वनम् ॥ १४ ॥
अशरण्यं दुराधर्षं मृगपक्षिविवर्जितम् ।

उन धर्मात्मा महर्षिने उस समूचे विशाल वनको वहाँ शाप दे दिया, जिससे वह आश्रयहीन, दुर्गम तथा पशु-पक्षियोंसे शून्य हो गया ॥ १४½ ॥

तस्य ते काननान्तांस्तु गिरीणां कन्दराणि च ॥ १५ ॥
प्रभवाणि नदीनां च विचिन्वन्ति समाहिताः ।
तत्र चापि महात्मानो नापश्यञ्जनकात्मजाम् ॥ १६ ॥
हर्तारं रावणं वापि सुग्रीवप्रियकारिणः ।

वहाँ सुग्रीवका प्रिय करनेवाले उन महामनस्वी वानरोंने उस वनके सभी प्रदेशों, पर्वतोंकी कन्दराओं तथा नदियोंके उद्गमस्थानोंमें एकाग्रचित्त होकर अनुसंधान किया; परंतु वहाँ भी उन्हें जनकनन्दिनी सीता अथवा उनका अपहरण करनेवाले रावणका कुछ पता नहीं चला ॥ १५-१६½ ॥

ते प्रविश्य तु तं भीमं लतागुल्मसमावृतम् ॥ १७ ॥
ददृशुर्भीमकर्माणमसुरं सुरनिर्भयम् ।

तत्पश्चात् लताओं और झाड़ियोंसे व्याप्त हुए दूसरे किसी भयंकर वनमें प्रवेश करके उन हनुमान् आदि वानरोंने भयानक कर्म करनेवाले एक असुरको देखा, जिसे देवताओंसे कोई भय नहीं था ॥ १७½ ॥

तं दृष्ट्वा वानरा घोरं स्थितं शैलमिवासुरम् ॥ १८ ॥
गाढं परिहिताः सर्वे दृष्ट्वा तं पर्वतोपमम् ।

उस घोर निशाचरको पहाड़के समान सामने खड़ा देख सभी वानरोंने अपने ढीले-ढाले वस्त्रोंको अच्छी तरह कस लिया और सब-के-सब उस पर्वताकार असुरसे भिड़नेको तैयार हो गये ॥ १८½ ॥

सोऽपि तान् वानरान् सर्वान् नष्टाः स्थेत्यब्रवीद् बली ॥
अभ्यधावत संक्रुद्धो मुष्टिमुद्यम्य संगतम् ।

उधर वह बलवान् असुर भी उन सब वानरोंको देखकर बोला—'अरे, आज तुम सभी मारे गये।' इतना कहकर वह अत्यन्त कुपित हो बँधा हुआ मुक्का तानकर उनकी ओर दौड़ा ॥ १९½ ॥

तमापतन्तं सहसा वालिपुत्रोऽङ्गदस्तदा ॥ २० ॥
रावणोऽयमिति ज्ञात्वा तलेनाभिजघान ह ।

उसे सहसा आक्रमण करते देख वालि-पुत्र अङ्गदने समझा कि यही रावण है; अतः उन्होंने आगे बढ़कर उसे एक तमाचा जड़ दिया ॥ २०½ ॥

स वालिपुत्राभिहतो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ॥ २१ ॥
असुरो न्यपतद् भूमौ पर्यस्त इव पर्वतः ।
ते तु तस्मिन् निरुच्छ्वासे वानरा जितकाशिनः ॥ २२ ॥
व्यचिन्वन् प्रायशस्तत्र सर्वे ते गिरिगह्वरम् ।

चाँटेकी मारसे वह असुर मुँहसे रक्त वमन करता हुआ कटकर गिरे हुए पहाड़की भाँति पृथ्वीपर जा पड़ा और उसके प्राणपखेरू उड़ गये। तत्पश्चात् विजयोल्लाससे सुशोभित होनेवाले वानर प्रायः वहाँकी सारी पर्वतीय गुफाओं-में अनुसंधान करने लगे ॥ २१-२२½ ॥

विचितं तु ततः सर्वं सर्वे ते काननौकसः ॥ २३ ॥
अन्यदेवापरं घोरं विविशुर्गिरिगह्वरम् ।

जब वहाँके सारे प्रदेशमें खोज कर ली गयी, तब उन समस्त वनवासी वानरोंने किसी दूसरी पर्वतीय कन्दरामें प्रवेश किया, जो पहलेकी अपेक्षा भी भयानक थी ॥ २३½ ॥

ते विचित्य पुनः खिन्ना विनिष्पत्य समागताः ।
एकान्ते वृक्षमूले तु निषेदुर्दीनमानसाः ॥ २४ ॥

उसमें भी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे थक गये और निराश होकर निकल आये। फिर सब-के-सब एकान्त स्थानमें एक वृक्षके नीचे खिन्नचित्त होकर बैठ गये ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

अङ्गद और गन्धमादनके आश्वासन देनेपर वानरोंका पुनः उत्साहपूर्वक अन्वेषण-कार्यमें प्रवृत्त होना

अथाङ्गदस्तदा सर्वान् वानरानिदमब्रवीत् ।
परिश्रान्तो महाप्राज्ञः समाश्वास्य शनैर्वचः ॥ १ ॥

तदनन्तर परिश्रमसे थके हुए महाबुद्धिमान् अङ्गद सम्पूर्ण वानरोंको आश्वासन देकर धीरे-धीरे इस प्रकार कहने लगे— ॥ १ ॥

वनानि गिरयो नद्यो दुर्गाणि गहनानि च ।
दरी गिरिगुहाश्चैव विचिताः सर्वमन्ततः ॥ २ ॥
तत्र तत्र सहास्माभिर्जानकी न च दृश्यते ।
तथा रक्षोऽपहर्ता च सीतायाश्चैव दुष्कृती ॥ ३ ॥

'हमलोगोंने वन, पर्वत, नदियाँ, दुर्गम स्थान, घने जंगल, कन्दरा और गुफाएँ भीतर प्रवेश करके अच्छी तरह देख डालीं; परंतु उन स्थानोंमें हमें न तो जानकीके दर्शन हुए और न उनका अपहरण करनेवाला वह पापी राक्षस ही मिला ॥ २-३ ॥

कालश्च नो महान् यातः सुग्रीवश्चोग्रशासनः ।
तस्माद् भवन्तः सहिता विचिन्वन्तु समन्ततः ॥ ४ ॥

'हमारा समय भी बहुत बीत गया। राजा सुग्रीवका शासन बड़ा भयंकर है। अतः आपलोग मिलकर पुनः सब ओर सीताकी खोज आरम्भ करें ॥ ४ ॥

विहाय तन्द्रीं शोकं च निद्रां चैव समुत्थिताम् ।
विचिनुध्वं तथा सीतां पश्यामो जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

'आलस्य, शोक और आयी हुई निद्राका परित्याग करके इस प्रकार ढूँढ़ें, जिससे हमें जनककुमारी सीताका दर्शन हो सके ॥ ५ ॥

अनिर्वेदं च दाक्ष्यं च मनसश्चापराजयम् ।
कार्यसिद्धिकराण्याहुस्तस्मादेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ ६ ॥

'उत्साह, सामर्थ्य और मनमें हिम्मत न हारना—ये कार्यकी सिद्धि करानेवाले सद्गुण कहे गये हैं; इसीलिये मैं आपलोगोंसे यह बात कह रहा हूँ ॥ ६ ॥

अद्यापीदं वनं दुर्गं विचिन्वन्तु वनौकसः ।
खेदं त्यक्त्वा पुनः सर्वं वनमेव विचिन्वताम् ॥ ७ ॥

'आज भी सारे वानर खेद छोड़कर इस दुर्गम वनमें खोज आरम्भ करें और सारे वनको ही छान डालें ॥ ७ ॥

अवश्यं कुर्वतां तस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ।
परं निर्वेदमागम्य नहि नोन्मीलनं क्षमम् ॥ ८ ॥

'कर्ममें लगे रहनेवाले लोगोंको उस कर्मका फल अवश्य होता दिखायी देता है; अतः अत्यन्त खिन्न होकर उद्योगको छोड़ बैठना कदापि उचित नहीं है ॥ ८ ॥

सुग्रीवः क्रोधनो राजा तीक्ष्णदण्डश्च वानराः ।
भेतव्यं तस्य सततं रामस्य च महात्मनः ॥ ९ ॥

'सुग्रीव क्रोधी राजा हैं। उनका दण्ड भी बड़ा कठोर होता है। वानरो! उनसे तथा महात्मा श्रीरामसे आपलोगोंको सदा डरते रहना चाहिये ॥ ९ ॥

हितार्थमेतदुक्तं वः क्रियतां यदि रोचते ।
उच्यतां हि क्षमं यत् तत् सर्वेषामेव वानराः ॥ १० ॥

'आपलोगोंकी भलाईके लिये ही मैंने ये बातें कही हैं। यदि अच्छी लगें तो आप इन्हें स्वीकार करें। अथवा वानरो! जो सबके लिये उचित हो, वह कार्य आप ही लोग बतावें' ॥ १० ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा वचनं गन्धमादनः ।
उवाच व्यक्तया वाचा पिपासाश्रमखिन्नया ॥ ११ ॥

अङ्गदकी यह बात सुनकर गन्धमादनने प्यास और थकावटसे शिथिल हुई स्पष्ट वाणीमें कहा— ॥ ११ ॥

सदृशं खलु वो वाक्यमङ्गदो यदुवाच ह ।
हितं चैवानुकूलं च क्रियतामस्य भाषितम् ॥ १२ ॥

'वानरो! युवराज अङ्गदने जो बात कही है, वह आप लोगोंके योग्य, हितकर और अनुकूल है; अतः सब लोग इनके कथनानुसार कार्य करें ॥ १२ ॥

पुनर्मार्गामहे शैलान् कन्दरांश्च शिलास्तथा।
काननानि च शून्यानि गिरिप्रस्रवणानि च ॥ १३ ॥

'हमलोग पुनः पर्वतों, कन्दराओं, शिलाओं, निर्जन वनों और पर्वतीय झरनोंकी खोज करें ॥ १३ ॥

यथोद्दिष्टानि सर्वाणि सुग्रीवेण महात्मना।
विचिन्वन्तु वनं सर्वे गिरिदुर्गाणि संगताः ॥ १४ ॥

'महात्मा सुग्रीवने जिन स्थानोंकी चर्चा की थी, उन सबमें वन और पर्वतीय दुर्गम प्रदेशोंमें सब वानर एक साथ होकर खोज आरम्भ करें' ॥ १४ ॥

ततः समुत्थाय पुनर्वानरास्ते महाबलाः।
विन्ध्यकाननसंकीर्णां विचेरुर्दक्षिणां दिशम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर वे महाबली वानर उठकर खड़े हो गये और विन्ध्यपर्वतके काननोंसे व्याप्त दक्षिण दिशामें विचरने लगे ॥ १५ ॥

ते शारदाभ्रप्रतिमं श्रीमद्रजतपर्वतम्।
शृङ्गवन्तं दरीवन्तमधिरुह्य च वानराः ॥ १६ ॥

सामने शरद्-ऋतुके बादलोंके समान शोभाशाली रजत पर्वत दिखायी दिया, जिसमें अनेक शिखर और कन्दराएँ थीं। वे सब वानर उसपर चढ़कर खोजने लगे ॥ १६ ॥

तत्र लोध्रवनं रम्यं सप्तपर्णवनानि च।
विचिन्वन्तो हरिवराः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः ॥ १७ ॥

सीताके दर्शनकी इच्छा रखनेवाले वे सभी श्रेष्ठ वानर वहाँके रमणीय लोध्रवनमें और सप्तपर्ण (छितवन) के जंगलोंमें उनकी खोज करने लगे ॥ १७ ॥

तस्याग्रमधिरूढास्ते श्रान्ता विपुलविक्रमाः।
न पश्यन्ति स्म वैदेहीं रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ १८ ॥

उस पर्वतके शिखरपर चढ़े हुए वे महापराक्रमी वानर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गये, परंतु श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी रानी सीताका दर्शन न पा सके ॥ १८ ॥

ते तु दृष्टिगतं दृष्ट्वा तं शैलं बहुकन्दरम्।
अध्यारोहन्त हरयो वीक्षमाणाः समन्ततः ॥ १९ ॥

अनेक कन्दराओंवाले उस पर्वतका अच्छी तरह निरीक्षण करके सब ओर दृष्टिपात करनेवाले वे वानर उससे नीचे उतर गये ॥ १९ ॥

अवरुह्य ततो भूमिं श्रान्ता विगतचेतसः।
स्थित्वा मुहूर्तं तत्राथ वृक्षमूलमुपाश्रिताः ॥ २० ॥

पृथ्वीपर उतरकर अधिक थक जानेके कारण अचेत हुए वे सभी वानर वहाँ एक वृक्षके नीचे गये और दो घड़ी-तक वहाँ बैठे रहे ॥ २० ॥

ते मुहूर्तं समाश्वस्ताः किंचिद्भग्नपरिश्रमाः।
पुनरेवोद्यताः कृत्स्नां मार्गितुं दक्षिणां दिशम् ॥ २१ ॥

एक मुहूर्ततक सुस्ता लेनेपर जब उनकी थकावट कुछ कम हो गयी, तब वे पुनः सम्पूर्ण दक्षिण दिशामें खोजके लिये उद्यत हो गये ॥ २१ ॥

हनुमत्प्रमुखास्तावत् प्रस्थिताः प्लवगर्षभाः।
विन्ध्यमेवादितः कृत्वा विचेरुश्च समन्ततः ॥ २२ ॥

हनुमान् आदि सभी श्रेष्ठ वानर सीताके अन्वेषणके लिये प्रस्थित हो पहले विन्ध्य पर्वतके ही चारों ओर विचरने लगे ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

भूखे-प्यासे वानरोंका एक गुफामें घुसकर वहाँ दिव्य वृक्ष, दिव्य सरोवर, दिव्य भवन तथा एक वृद्धा तपस्विनीको देखना और हनुमान्‌जीका उससे उसका परिचय पूछना

सह ताराङ्गदाभ्यां तु संगम्य हनुमान् कपिः।
विचिनोति च विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च ॥ १ ॥

हनुमान्‌जी तार और अङ्गदके साथ मिलकर विन्ध्य-गिरिकी गुफाओं और घने जंगलोंमें सीताजीको ढूँढ़ने लगे ॥ १ ॥

सिंहशार्दूलजुष्टाश्च गुहाश्च परितस्तदा।
विषमेषु नगेन्द्रस्य महाप्रस्रवणेषु च ॥ २ ॥

उन्होंने सिंह और बाघोंसे भरी हुई कन्दराओं तथा उसके आस-पासकी भूमिको भी छान डाला। गिरिराज विन्ध्यपर जो बड़े-बड़े झरने और दुर्गम स्थान थे, वहाँ भी अन्वेषण किया ॥ २ ॥

आसेदुस्तस्य शैलस्य कोटिं दक्षिणपश्चिमाम्।
तेषां तत्रैव वसतां स कालो व्यत्यवर्तत ॥ ३ ॥

घूमते-फिरते वे तीनों वानर उस पर्वतके नैर्ऋत्यकोण-वाले शिखरपर आ पहुँचे। वहीं रहते हुए उनका वह समय, जो सुग्रीवने निश्चित किया था, बीत गया ॥ ३ ॥

स हि देशो दुरन्वेष्यो गुहागहनवान् महान्।
तत्र वायुसुतः सर्वं विचिनोति स्म पर्वतम् ॥ ४ ॥

गुफाओं और जंगलोंसे भरे हुए उस महान् प्रदेशमें सीताको ढूँढ़नेका काम बहुत ही कठिन था तो भी वहाँ वायुपुत्र हनुमान्‌जी सारे पर्वतकी छानबीन करने लगे ॥ ४ ॥

परस्परेण रहिता अन्योन्यस्याविदूरतः।

गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥ ५ ॥
मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनूमान् जाम्बवानपि ।
अङ्गदो युवराजश्च तारश्च वनगोचरः ॥ ६ ॥
गिरिजालावृतान् देशान् मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ।
विचिन्वन्तस्ततस्तत्र ददृशुर्विवृतं बिलम् ॥ ७ ॥

फिर अलग-अलग एक दूसरेसे थोड़ी ही दूरपर रहकर गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, हनुमान्, जाम्बवान्, युवराज अङ्गद तथा वनवासी वानर तार—ये दक्षिण दिशाके देशोंमें जो पर्वत-मालाओंसे घिरे हुए थे, सीताकी खोज करने लगे। खोजते-खोजते उन्हें वहाँ एक गुफा दिखायी दी, जिसका द्वार बंद नहीं था ॥ ५—७ ॥

दुर्गमृक्षबिलं नाम दानवेनाभिरक्षितम् ।
क्षुत्पिपासापरीतास्तु श्रान्तास्तु सलिलार्थिनः ॥ ८ ॥

उसमें प्रवेश करना बहुत कठिन था। वह गुफा ऋक्ष-बिल नामसे विख्यात थी और एक दानव उसकी रक्षामें रहता था। वानरोंको भूख-प्यास सता रही थी। वे बहुत थक गये थे और पानी पीना चाहते थे ॥ ८ ॥

अवकीर्णं लतावृक्षैर्ददृशुस्ते महाबिलम् ।
तत्र क्रौञ्चाश्च हंसाश्च सारसाश्चापि निष्क्रमन् ॥ ९ ॥
जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च रक्ताङ्गाः पद्मरेणुभिः ।

अतः लता और वृक्षोंसे आच्छादित विशाल गुफाकी ओर वे देखने लगे। इतनेमें उसके भीतरसे क्रौञ्च, हंस, सारस तथा जलसे भीगे हुए चक्रवाक पक्षी, जिनके अङ्ग कमलोंके परागसे रक्तवर्णके हो रहे थे, बाहर निकले ॥ ९½ ॥

ततस्तद् बिलमासाद्य सुगन्धि दुरतिक्रमम् ॥ १० ॥
विस्मयव्यग्रमनसो बभूवुर्वानरर्षभाः ।
संजातपरिशङ्कास्ते तद् बिलं प्लवगोत्तमाः ॥ ११ ॥

तब उस सुगन्धित एवं दुर्लङ्घ्य गुफाके पास जाकर उन सभी श्रेष्ठ वानरोंका मन आश्चर्यसे चकित हो उठा। उस बिलके अंदर उन्हें जल होनेका संदेह हुआ ॥ १०-११ ॥

अभ्यपद्यन्त संहृष्टास्तेजोवन्तो महाबलाः ।
नानासत्त्वसमाकीर्णं दैत्येन्द्रनिलयोपमम् ॥ १२ ॥
दुर्दर्शमिव घोरं च दुर्विगाह्यं च सर्वशः ।

वे महाबली और तेजस्वी वानर बड़े हर्षमें भरकर उस गुफाके पास आये, जो नाना प्रकारके जन्तुओंसे भरी हुई तथा दैत्यराजोंके निवासस्थान पातालके समान भयंकर प्रतीत होती थी। वह इतनी भयानक थी कि उसकी ओर देखना कठिन जान पड़ता था। उसके भीतर घुसना सर्वथा कष्टसाध्य था ॥ १२½ ॥

ततः पर्वतकूटाभो हनूमान् मारुतात्मजः ॥ १३ ॥
अब्रवीद् वानरान् घोरान् कान्तारवनकोविदः ।

उस समय पर्वत-शिखरके समान प्रतीत होनेवाले पवन-पुत्र हनुमान्‌जी, जो दुर्गम वनके ज्ञाता थे, उन घोर वानरोंसे बोले—॥ १३½ ॥

गिरिजालावृतान् देशान् मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ॥ १४ ॥
वयं सर्वे परिश्रान्ता न च पश्याम मैथिलीम् ।

'बन्धुओ! दक्षिण दिशाके देश प्रायः पर्वतमालाओंसे घिरे हुए हैं। इनमें मिथिलेशकुमारी सीताको खोजते-खोजते हम सब लोग बहुत थक गये; किंतु कहीं भी हमें उनके दर्शन नहीं हुए ॥ १४½ ॥

अस्माच्चापि बिलाद्धंसाः क्रौञ्चाश्च सह सारसैः ॥ १५ ॥
जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च निष्पतन्ति स्म सर्वशः ।
नूनं सलिलवानत्र कूपो वा यदि वा ह्रदः ॥ १६ ॥
तथा चेमे बिलद्वारे स्निग्धास्तिष्ठन्ति पादपाः ।

'सामनेकी इस गुफासे हंस, क्रौञ्च, सारस और जलसे भीगे हुए चकवे सब ओर निकल रहे हैं। अतः निश्चय ही इसमें पानीका कुआँ अथवा और कोई जलाशय होना चाहिये। तभी इस गुफाके द्वारवर्ती वृक्ष हरे-भरे हैं' ॥ १५-१६½ ॥

इत्युक्तास्तद् बिलं सर्वे विविशुस्तिमिरावृतम् ॥ १७ ॥
अचन्द्रसूर्यं हरयो ददृशू रोमहर्षणम् ।

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर वे सभी वानर अन्धकारसे भरी हुई उस गुफामें, जहाँ चन्द्रमा और सूर्यकी किरणें भी नहीं पहुँच पाती थीं, घुस गये। भीतर जाकर उन्होंने देखा, वह गुफा रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी ॥ १७½ ॥

निशाम्य तस्मात् सिंहांश्च तांस्तांश्च मृगपक्षिणः ॥ १८ ॥
प्रविष्टा हरिशार्दूला बिलं तिमिरसंवृतम् ।

उस बिलसे निकलते हुए उन-उन सिंहों, मृगों और पक्षियोंको देखकर वे श्रेष्ठ वानर अन्धकारसे आच्छादित हुई उस गुफामें प्रवेश करने लगे ॥ १८½ ॥

न तेषां सज्जते दृष्टिर्न तेजो न पराक्रमः ॥ १९ ॥
वायोरिव गतिस्तेषां दृष्टिस्तमसि वर्तते ।

उनकी दृष्टि कहीं अटकती नहीं थी। उनका तेज और पराक्रम भी अवरुद्ध नहीं होता था। उनकी गति वायुके समान थी। अन्धकारमें भी उनकी दृष्टि काम कर रही थी ॥ १९½ ॥

ते प्रविष्टास्तु वेगेन तद् बिलं कपिकुञ्जराः ॥ २० ॥
प्रकाशं चाभिरामं च ददृशुर्देशमुत्तमम् ।

वे श्रेष्ठ वानर उस बिलमें वेगपूर्वक घुस गये। भीतर जाकर उन्होंने देखा, वह स्थान बहुत ही उत्तम, प्रकाशमान और मनोहर था ॥ २०½ ॥

ततस्तस्मिन् बिले भीमे नानापादपसंकुले ॥ २१ ॥
अन्योन्यं सम्परिष्वज्य जग्मुर्योजनमन्तरम् ।

नाना प्रकारके वृक्षोंसे भरी हुई उस भयंकर गुफामें वे एक योजनतक एक दूसरेको पकड़े हुए गये ॥ २१½ ॥

ते नष्टसंज्ञास्तृषिताः सम्भ्रान्ताः सलिलार्थिनः॥ २२ ॥
परिपेतुर्बिले तस्मिन् कंचित् कालमतन्द्रिताः ।

प्यासके मारे उनकी चेतना लुप्त-सी हो रही थी। वे जल पीनेके लिये उत्सुक होकर घबरा गये थे और कुछ कालतक आलस्यरहित हो उस बिलमें लगातार आगे बढ़ते गये ॥ २२½ ॥

ते कृशा दीनवदनाः परिश्रान्ताः प्लवङ्गमाः ॥ २३ ॥
आलोकं ददृशुर्वीरा निराशा जीविते यदा ।

वे वानरवीर जब दुर्बल, खिन्नवदन और श्रान्त होकर जीवनसे निराश हो गये, तब उन्हें वहाँ प्रकाश दिखायी दिया ॥

ततस्तं देशमागम्य सौम्या वितिमिरं वनम् ॥ २४ ॥
ददृशुः काञ्चनान् वृक्षान् दीप्तवैश्वानरप्रभान् ।

तदनन्तर उस अन्धकारसे प्रकाशपूर्ण देशमें आकर उन सौम्य वानरोंने वहाँ अन्धकाररहित वन देखा, जहाँके सभी वृक्ष सुवर्णमय थे और उनसे अग्निके समान प्रभा निकल रही थी ॥ २४½ ॥

सालांस्तालांस्तमालांश्च पुंनागान् वञ्जुलान् धवान् ॥
चम्पकान् नागवृक्षांश्च कर्णिकारांश्च पुष्पितान् ।

साल, ताल, तमाल, नागकेसर, अशोक, धव, चम्पा, नागवृक्ष और कनेर—ये सभी वृक्ष फूलोंसे भरे हुए थे ॥ २५½ ॥

स्तबकैः काञ्चनैश्चित्रै रक्तैः किसलयैस्तथा ॥ २६ ॥
आपीडैश्च लताभिश्च हेमाभरणभूषितान् ।

विचित्र सुवर्णमय गुच्छे और लाल-लाल पल्लव मानो उन वृक्षोंके मुकुट थे। उनमें लताएँ लिपटी हुई थीं तथा वे अपने फलस्वरूप सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ २६½ ॥

तरुणादित्यसंकाशान् वैदूर्यमयवेदिकान् ॥ २७ ॥
विभ्राजमानान् वपुषा पादपांश्च हिरण्मयान् ।

वे देखनेमें प्रातःकालिक सूर्यके समान जान पड़ते थे। उनके नीचे वैदूर्यमणिकी वेदी बनी थी। वे सुवर्णमय वृक्ष अपने दीप्तिमान् स्वरूपसे ही प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७½ ॥

नीलवैदूर्यवर्णाश्च पद्मिनीः पतगैर्वृताः ॥ २८ ॥
महद्भिः काञ्चनैर्वृक्षैर्वृता बालार्कसंनिभैः ।
जातरूपमयैर्मत्स्यैर्महद्भिश्चाथ पङ्कजैः ॥ २९ ॥
नलिनीस्तत्र ददृशुः प्रसन्नसलिलायुताः ।

वहाँ नील वैदूर्यमणिकी-सी कान्तिवाली पद्मलताएँ दिखायी देती थीं, जो पक्षियोंसे आवृत थीं। कई ऐसे सरोवर भी देखनेमें आये, जो बाल सूर्यकी-सी आभावाले विशाल काञ्चनवृक्षोंसे घिरे हुए थे। उनके भीतर सुनहरे रंगके बड़े-बड़े मत्स्य शोभा पाते थे। वे सरोवर सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित तथा स्वच्छ जलसे भरे हुए थे ॥ २८-२९½ ॥

काञ्चनानि विमानानि राजतानि तथैव च ॥ ३० ॥
तपनीयगवाक्षाणि मुक्ताजालावृतानि च ।
हैमराजतभौमानि वैदूर्यमणिमन्ति च ॥ ३१ ॥
ददृशुस्तत्र हरयो गृहमुख्यानि सर्वशः ।

वानरोंने वहाँ सब ओर सोने-चाँदीके बने हुए बहुत-से श्रेष्ठ भवन देखे, जिनकी खिड़कियाँ मोतीकी जालियोंसे ढकी थीं। उन भवनोंमें सोनेके जँगले लगे हुए थे। सोने-चाँदीके ही विमान भी थे। कोई घर सोनेके बने थे तो कोई चाँदीके। कितने ही गृह पार्थिव वस्तुओं (ईंट, पत्थर, लकड़ी आदि) से निर्मित हुए थे। उनमें वैदूर्यमणियाँ भी जड़ी गयी थीं ॥ ३०-३१½ ॥

पुष्पितान् फलिनो वृक्षान् प्रवालमणिसंनिभान् ॥ ३२ ॥
काञ्चनभ्रमरांश्चैव मधूनि च समन्ततः ।
मणिकाञ्चनचित्राणि शयनान्यासनानि च ॥ ३३ ॥
विविधानि विशालानि ददृशुस्ते समन्ततः ।
हैमराजतकांस्यानां भाजनानां च राशयः ॥ ३४ ॥
अगुरूणां च दिव्यानां चन्दनानां च संचयान् ।
शुचीन्यभ्यवहाराणि मूलानि च फलानि च ॥ ३५ ॥
महार्हाणि च यानानि मधूनि रसवन्ति च ।
दिव्यानामम्बराणां च महार्हाणां च संचयान् ॥ ३६ ॥
कम्बलानां च चित्राणामजिनानां च संचयान् ।
तत्र तत्र च विन्यस्तान् दीप्तान् वैश्वानरप्रभान् ॥ ३७ ॥
ददृशुर्वानराः शुभ्राञ्जातरूपस्य संचयान् ।

वहाँके वृक्षोंमें फूल और फल लगे थे। वे वृक्ष मूँगे और मणियोंके समान चमकीले थे। उनपर सुनहरे रंगके भौंरे मड़रा रहे थे। वहाँके घरोंमें सब ओर मधु संचित थे। मणि और सुवर्णसे जटित विचित्र पलंग तथा आसन सब ओर सजाकर रक्खे गये थे, जो अनेक प्रकारके और विशाल थे। वानरोंने उन्हें भी देखा। वहाँ ढेर-के-ढेर सोने, चाँदी और कांस (फूल) के पात्र रक्खे गये थे। अगुरु तथा दिव्य चन्दनकी राशियाँ सुरक्षित थीं। पवित्र भोजनके सामान तथा फल-मूल भी विद्यमान थे। बहुमूल्य सवारियाँ, सरस मधु, महामूल्यवान् दिव्य वस्त्रोंके ढेर, विचित्र कम्बल एवं कालीनोंकी राशियाँ तथा मृगचर्मोंके समूह जहाँ-तहाँ रक्खे हुए थे। वे सब अग्निके समान प्रभासे उद्दीप्त हो रहे थे। वानरोंने वहाँ चमकीले सुवर्णके ढेर भी देखे ॥ ३२—३७½ ॥

तत्र तत्र विचिन्वन्तो बिले तत्र महाप्रभाः ॥ ३८ ॥
ददृशुर्वानराः शूराः स्त्रियं कांचिददूरतः ।
तां च ते ददृशुस्तत्र चीरकृष्णाजिनाम्बराम् ॥ ३९ ॥
तापसीं नियताहारां ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
विस्मिता हरयस्तत्र व्यवतिष्ठन्त सर्वशः ।
पप्रच्छ हनुमांस्तत्र कासि त्वं कस्य वा बिलम् ॥ ४० ॥

उस गुफामें जहाँ-तहाँ खोज करते हुए उन महातेजस्वी शूरवीर वानरोंने थोड़ी ही दूरपर किसी स्त्रीको भी देखा, जो वल्कल और काला मृगचर्म पहनकर नियमित आहार करती

तपस्यामें संलग्न थी और अपने तेजसे दीप्त हो रही थी। वानरोंने वहाँ उसे बड़े ध्यानसे देखा और आश्चर्यचकित होकर सब ओर खड़े हो गये। उस समय हनुमान्‌जीने उससे पूछा—'देवि! तुम कौन हो और यह किसकी गुफा है?' ॥

ततो हनूमान् गिरिसंनिकाशः
कृताञ्जलिस्तामभिवाद्य वृद्धाम्।
पप्रच्छ का त्वं भवनं बिलं च
रत्नानि चेमानि वदस्व कस्य ॥ ४१ ॥

पर्वतके समान विशालकाय हनुमान्‌जीने हाथ जोड़कर उस वृद्धा तपस्विनीको प्रणाम किया और पूछा—'देवि! तुम कौन हो? यह गुफा, ये भवन तथा ये रत्न किसके हैं? यह हमें बताओ' ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

हनुमान्‌जीके पूछनेपर वृद्धा तापसीका अपना तथा उस दिव्य स्थानका परिचय देकर सब वानरोंको भोजनके लिये कहना

इत्युक्त्वा हनुमांस्तत्र चीरकृष्णाजिनाम्बराम्।
अब्रवीत् तां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ॥ १ ॥

इस तरह पूछकर हनुमान्‌जी चीर एवं कृष्ण मृगचर्म धारण करनेवाली उस धर्मपरायणा महाभागा तपस्विनीसे वहाँ फिर बोले—॥ १ ॥

इदं प्रविष्टाः सहसा बिलं तिमिरसंवृतम्।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ताः परिखिन्नाश्च सर्वशः ॥ २ ॥
महद् धरण्या विवरं प्रविष्टाः स्म पिपासिताः।
इमांस्त्वेवंविधान् भावान् विविधानद्भुतोपमान् ॥ ३ ॥
दृष्ट्वा वयं प्रव्यथिताः सम्भ्रान्ता नष्टचेतसः।
कस्यैते काञ्चना वृक्षास्तरुणादित्यसंनिभाः ॥ ४ ॥

'देवि! हम सब लोग भूख-प्यास और थकावटसे कष्ट पा रहे थे। इसलिये सहसा इस अन्धकारपूर्ण गुफामें घुस आये। भूतलका यह विवर बहुत बड़ा है। हम प्याससे पीड़ित होनेके कारण यहाँ आये हैं, किंतु यहाँके इन ऐसे अद्भुत विविध पदार्थोंको देखकर हमारे मनमें बड़ी व्यथा हुई है—हम यह सोचकर चिन्तित हो उठे हैं कि यह असुरोंकी माया तो नहीं है, इसीलिये हमारे मनमें घबराहट हो रही है। हमारी विवेकशक्ति लुप्त-सी हो गयी है। हम जानना चाहते हैं कि ये बालसूर्यके समान कान्तिमान् सुवर्णमय वृक्ष किसके हैं? ॥ २—४ ॥

शुचीन्यभ्यवहाराणि मूलानि च फलानि च।
काञ्चनानि विमानानि राजतानि गृहाणि च ॥ ५ ॥
तपनीयगवाक्षाणि मणिजालावृतानि च।
पुष्पिताः फलवन्तश्च पुण्याः सुरभिगन्धयः ॥ ६ ॥
इमे जाम्बूनदमयाः पादपाः कस्य तेजसा।

'ये भोजनकी पवित्र वस्तुएँ, फल-मूल, सोनेके विमान, चाँदीके घर, मणियोंकी जालीसे ढकी हुई सोनेकी खिड़कियाँ तथा पवित्र सुगन्धसे युक्त एवं फल-फूलोंसे लदे हुए ये सुवर्णमय पावन वृक्ष किसके तेजसे प्रकट हुए हैं? ॥ ५-६½ ॥

काञ्चनानि च पद्मानि जातानि विमले जले ॥ ७ ॥
कथं मत्स्याश्च सौवर्णा दृश्यन्ते सह कच्छपैः।
आत्मनस्त्वनुभावाद् वा कस्य वैतत्तपोबलम् ॥ ८ ॥
अजानतां नः सर्वेषां सर्वमाख्यातुमर्हसि।

'यहाँके निर्मल जलमें सोनेके कमल कैसे उत्पन्न हुए? इन सरोवरोंके मत्स्य और कछुए सुवर्णमय कैसे दिखायी देते हैं? यह सब तुम्हारे अपने प्रभावसे हुआ है या और किसीके? यह किसके तपोबलका प्रभाव है? हम सब अनजान हैं; इसलिये पूछते हैं। तुम हमें सारी बातें बतानेकी कृपा करो' ॥ ७-८½ ॥

एवमुक्ता हनुमता तापसी धर्मचारिणी ॥ ९ ॥
प्रत्युवाच हनूमन्तं सर्वभूतहिते रता।

हनुमान्‌जीके इस प्रकार पूछनेपर समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाली उस धर्मपरायणा तापसीने उत्तर दिया—॥ ९½ ॥

मयो नाम महातेजा मायावी वानरर्षभ ॥ १० ॥
तेनेदं निर्मितं सर्वं मायया काञ्चनं वनम्।

'वानरश्रेष्ठ! मायाविशारद महातेजस्वी मयका नाम तुमने सुना होगा। उसीने अपनी मायाके प्रभावसे इस समूचे स्वर्णमय वनका निर्माण किया था ॥ १०½ ॥

पुरा दानवमुख्यानां विश्वकर्मा बभूव ह ॥ ११ ॥
येनेदं काञ्चनं दिव्यं निर्मितं भवनोत्तमम्।

'मयासुर पहले दानव-शिरोमणियोंका विश्वकर्मा था, जिसने इस दिव्य सुवर्णमय उत्तम भवनको बनाया है ॥ ११½ ॥

स तु वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महद्वने ॥ १२ ॥
पितामहाद् वरं लेभे सर्वमौशनसं धनम्।

'उसने एक सहस्र वर्षोंतक वनमें घोर तपस्या करके ब्रह्माजीसे वरदानके रूपमें शुक्राचार्यका सारा शिल्प-वैभव प्राप्त किया था ॥ १२½ ॥

विधाय सर्वं बलवान् सर्वकामेश्वरस्तदा ॥ १३ ॥
उवास सुखितः कालं कंचिदस्मिन् महावने ।

'सम्पूर्ण कामनाओंके स्वामी बलवान् मयासुरने यहाँकी सारी वस्तुओंका निर्माण करके इस महान् वनमें कुछ कालतक सुखपूर्वक निवास किया था ॥ १३½ ॥

तमप्सरसि हेमायां सक्तं दानवपुङ्गवम् ॥ १४ ॥
विक्रम्यैवाशनिं गृह्य जघानेशः पुरंदरः ।

'आगे चलकर उस दानवराजका हेमा नामकी अप्सराके साथ सम्पर्क हो गया। यह जानकर देवेश्वर इन्द्रने हाथमें वज्र ले उसके साथ युद्ध करके उसे मार भगाया ॥ १४½ ॥

इदं च ब्रह्मणा दत्तं हेमायै वनमुत्तमम् ॥ १५ ॥
शाश्वतः कामभोगश्च गृहं चेदं हिरण्मयम् ।

'तत्पश्चात् ब्रह्माजीने यह उत्तम वन, यहाँका अक्षय कामभोग तथा यह सोनेका भवन हेमाको दे दिया ॥ १५½ ॥

दुहिता मेरुसावर्णेरहं तस्याः स्वयंप्रभा ॥ १६ ॥
इदं रक्षामि भवनं हेमाया वानरोत्तम ।

'मैं मेरुसावर्णिकी कन्या हूँ। मेरा नाम स्वयंप्रभा है। वानरश्रेष्ठ ! मैं उस हेमाके इस भवनकी रक्षा करती हूँ ॥ १६½ ॥

मम प्रियसखी हेमा नृत्तगीतविशारदा ॥ १७ ॥
तयादत्तवरा चास्मि रक्षामि भवनं महत् ।

'नृत्य और गीतकी कलामें चतुर हेमा मेरी प्यारी सखी है। उसने मुझसे अपने भवनकी रक्षाके लिये प्रार्थना की थी, इसलिये मैं इस विशाल भवनका संरक्षण करती हूँ ॥ १७½ ॥

किं कार्यं कस्य वा हेतोः कान्ताराणि प्रपद्यथ ॥ १८ ॥
कथं चेदं वनं दुर्गं युष्माभिरुपलक्षितम् ।

'तुम लोगोंका यहाँ क्या काम है ? किस उद्देश्यसे तुम इन दुर्गम स्थानोंमें विचरते हो ! इस वनमें आना तो बहुत कठिन है। तुमने कैसे इसे देख लिया ? ॥ १८½ ॥

शुचीन्यभ्यवहाराणि मूलानि च फलानि च ।
भुक्त्वा पीत्वा च पानीयं सर्वं मे वक्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'अच्छा, ये शुद्ध भोजन और फल-मूल प्रस्तुत हैं। इन्हें खाकर पानी पी लो। फिर मुझसे अपना सारा वृत्तान्त कहो' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

तापसी स्वयंप्रभाके पूछनेपर वानरोंका उसे अपना वृत्तान्त बताना और उसके प्रभावसे गुफाके बाहर निकलकर समुद्रतटपर पहुँचना

अथ तानब्रवीत् सर्वान् विश्रान्तान् हरियूथपान् ।
इदं वचनमेकाग्रा तापसी धर्मचारिणी ॥ १ ॥

तत्पश्चात् जब सब वानर-यूथपति खा-पीकर विश्राम कर चुके, तब धर्मका आचरण करनेवाली वह एकाग्रहृदया तपस्विनी उन सबसे इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

वानरा यदि वः खेदः प्रणष्टः फलभक्षणात् ।
यदि चैतन्मया श्राव्यं श्रोतुमिच्छामि तां कथाम् ॥ २ ॥

'वानरो ! यदि फल खानेसे तुम्हारी थकावट दूर हो गयी हो और यदि तुम्हारा वृत्तान्त मेरे सुनने योग्य हो तो मैं उसे सुनना चाहती हूँ' ॥ २ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा हनूमान् मारुतात्मजः ।
आर्जवेन यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ३ ॥

उसकी यह बात सुनकर पवनकुमार हनुमान्‌जी बड़ी सरलताके साथ यथार्थ बात कहने लगे—॥ ३ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः ।
रामो दाशरथिः श्रीमान् प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ४ ॥

'देवि ! सम्पूर्ण जगत्‌के राजा दशरथनन्दन श्रीमान् भगवान् राम, जो देवराज इन्द्र और वरुणके समान तेजस्वी हैं, दण्डकारण्यमें पधारे थे ॥ ४ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या सह भार्यया ।
तस्य भार्या जनस्थानाद् रावणेन हृता बलात् ॥ ५ ॥

'उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण तथा उनकी धर्मपत्नी विदेहनन्दिनी सीता भी थीं। जनस्थानमें आकर रावणने उनकी स्त्रीका बलपूर्वक अपहरण कर लिया ॥ ५ ॥

वीरस्तस्य सखा राज्ञः सुग्रीवो नाम वानरः ।
राजा वानरमुख्यानां येन प्रस्थापिता वयम् ॥ ६ ॥
अगस्त्यचरितामाशां दक्षिणां यमरक्षिताम् ।
सहैभिर्वानरैर्मुख्यैरङ्गदप्रमुखैर्वयम् ॥ ७ ॥

'श्रेष्ठ वानरोंके राजा वानरजातीय वीरवर सुग्रीव महाराज श्रीरामचन्द्रजीके मित्र हैं, जिन्होंने इन अङ्गद आदि प्रधान वीरोंके साथ हमलोगोंको सीताकी खोज करनेके लिये अगस्त्यसेवित और यमराजद्वारा सुरक्षित दक्षिण दिशामें भेजा है ॥ ६-७ ॥

रावणं सहिताः सर्वे राक्षसं कामरूपिणम् ।
सीतया सह वैदेह्या मार्गध्वमिति चोदिताः ॥ ८ ॥

'उन्होंने आज्ञा दी थी कि तुम सब लोग एक साथ रहकर विदेहकुमारी सीतासहित उस इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसराज रावणका पता लगाना ॥ ८ ॥

विचित्य तु वनं सर्वं समुद्रं दक्षिणां दिशम् ।
वयं बुभुक्षिताः सर्वे वृक्षमूलमुपाश्रिताः ॥ ९ ॥

'हमने वहाँका सारा जंगल छान डाला। अब दक्षिण दिशाके समुद्रके भीतर उनका अन्वेषण करना है। अबतक सीताका कुछ पता नहीं लगा और हमलोग भूख-प्याससे पीड़ित हो गये। अन्तमें हम सब-के-सब एक वृक्षके नीचे थककर बैठ गये ॥ ९ ॥

विवर्णवदनाः सर्वे सर्वे ध्यानपरायणाः ।
नाधिगच्छामहे पारं मग्नाश्चिन्तामहार्णवे ॥ १० ॥

'हमारे मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी। हम सभी चिन्तामें मग्न हो गये। चिन्ताके महासागरमें डूबकर हम उसका पार नहीं पा रहे थे ॥ १० ॥

चारयन्तस्ततश्चक्षुर्दृष्टवन्तो महद् बिलम् ।
लतापादपसंछन्नं तिमिरेण समावृतम् ॥ ११ ॥

'इसी समय चारों ओर दृष्टि दौड़ानेपर हमको यह विशाल गुफा दिखायी पड़ी, जो लता और वृक्षोंसे ढकी हुई तथा अन्धकारसे आच्छन्न थी ॥ ११ ॥

अस्माद्धंसा जलक्लिन्नाः पक्षैः सलिलरेणुभिः ।
कुरराः सारसाश्चैव निष्पतन्ति पतत्रिणः ॥ १२ ॥

'थोड़ी ही देरमें इस गुफासे हंस, कुरर और सारस आदि पक्षी निकले, जिनके पंख जलसे भीगे थे और उनमें कीचड़ लगी हुई थी ॥ १२ ॥

साध्वत्र प्रविशामेति मया तूक्ताः प्लवङ्गमाः ।
तेषामपि हि सर्वेषामनुमानमुपागतम् ॥ १३ ॥

'तब मैंने वानरोंसे कहा, 'अच्छा होगा कि हमलोग इसके भीतर प्रवेश करें।' इन सब वानरोंको भी यह अनुमान हो गया कि गुफाके भीतर पानी है ॥ १३ ॥

अस्मिन् निपतिताः सर्वेऽप्यथ कार्यत्वरान्विताः ।
ततो गाढं निपतिता गृह्य हस्तैः परस्परम् ॥ १४ ॥

'हम सब लोग अपने कार्यकी सिद्धिके लिये उतावले थे ही, अतः इस गुफामें कूद पड़े। अपने हाथोंसे एक दूसरेको दृढ़तापूर्वक पकड़कर हम गुफामें आगे बढ़ने लगे ॥ १४ ॥

इदं प्रविष्टाः सहसा बिलं तिमिरसंवृतम् ।
एतन्नः कार्यमेतेन कृत्येन वयमागताः ॥ १५ ॥

'इस तरह सहसा हमलोगोंने इस अँधेरी गुफामें प्रवेश किया। यही हमारा कार्य है और इसी कार्यसे हम इधर आये हैं ॥ १५ ॥

त्वां चैवोपगताः सर्वे परिद्यूना बुभुक्षिताः ।
आतिथ्यधर्मदत्तानि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥
अस्माभिरुपयुक्तानि बुभुक्षापरिपीडितैः ।

'भूखसे व्याकुल एवं दुर्बल होनेके कारण हम सबने तुम्हारी शरण ली। तुमने आतिथ्य-धर्मके अनुसार हमें फल और मूल अर्पित किये और हमने भी भूखसे पीड़ित होनेके कारण उन्हें भरपेट खाया ॥ १६½ ॥

यत् त्वया रक्षिताः सर्वे म्रियमाणा बुभुक्षया ॥ १७ ॥
ब्रूहि प्रत्युपकारार्थं किं ते कुर्वन्तु वानराः ।

'देवि! हम भूखसे मर रहे थे। तुमने हम सब लोगोंके प्राण बचा लिये। अतः बताओ, ये वानर तुम्हारे उपकारका बदला चुकानेके लिये क्या सेवा करें' ॥ १७½ ॥

एवमुक्ता तु सर्वज्ञा वानरैस्तैः स्वयंप्रभा ॥ १८ ॥
प्रत्युवाच ततः सर्वानिदं वानरयूथपान् ।

स्वयंप्रभा सर्वज्ञ थी। उन वानरोंके ऐसा कहनेपर उसने उन सभी यूथपतियोंको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १८½ ॥

सर्वेषां परितुष्टास्मि वानराणां तरस्विनाम् ॥ १९ ॥
चरन्त्या मम धर्मेण न कार्यमिह केनचित् ।

'मैं तुम सभी वेगशाली वानरोंपर यों ही बहुत संतुष्ट हूँ। धर्मानुष्ठानमें लगी रहनेके कारण मुझे किसीसे कोई प्रयोजन नहीं रह गया है' ॥ १९½ ॥

एवमुक्तः शुभं वाक्यं तापस्या धर्मसंहितम् ॥ २० ॥
उवाच हनुमान् वाक्यं तामनिन्दितलोचनाम् ।

उस तपस्विनीने जब इस प्रकार धर्मयुक्त उत्तम बात कही, तब हनुमान्‌जीने निर्दोष दृष्टिवाली उस देवीसे यों कहा—॥ २०½ ॥

शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मः सर्वे वै धर्मचारिणीम् ॥ २१ ॥
यः कृतः समयोऽस्माकं सुग्रीवेण महात्मना ।
स तु कालो व्यतिक्रान्तो बिले च परिवर्तताम् ॥ २२ ॥

'देवि! तुम धर्माचरणमें लगी हुई हो। अतः हम सब लोग तुम्हारी शरणमें आये हैं। महात्मा सुग्रीवने हमलोगों-के लौटनेके लिये जो समय निश्चित किया था, वह इस गुफाके भीतर घूमनेमें ही बीत गया ॥ २१-२२ ॥

सा त्वमस्माद् बिलादस्मानुत्तारयितुमर्हसि ।
तस्मात् सुग्रीववचनादतिक्रान्तान् गतायुषः ॥ २३ ॥
त्रातुमर्हसि नः सर्वान् सुग्रीवभयशङ्कितान् ।

'अब तुम कृपा करके हमें इस बिलसे बाहर निकाल दो। सुग्रीवके बताये हुए समयको हम लाँघ चुके हैं, इसलिये अब हमारी आयु पूरी हो चुकी है। हम सब-के-सब सुग्रीवके भयसे डरे हुए हैं, अतः तुम हमारा उद्धार करो ॥ २३½ ॥

महच्च कार्यमस्माभिः कर्तव्यं धर्मचारिणि ॥ २४ ॥
तच्चापि न कृतं कार्यमस्माभिरिह वासिभिः ।

'धर्मचारिणि! हमें जो महान् कार्य करना है, उसे भी हम इस गुफामें रहनेके कारण नहीं कर सके हैं' ॥ २४½ ॥

एवमुक्ता हनुमता तापसी वाक्यमब्रवीत् ॥ २५ ॥

जीवता दुष्करं मन्ये प्रविष्टेन निवर्तितुम्।
तपसः सुप्रभावेण नियमोपार्जितेन च ॥ २६ ॥
सर्वानेव बिलादस्मात् तारयिष्यामि वानरान्।

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर तापसी बोली—'मैं समझती हूँ जो एक बार इस गुफामें चला आता है, उसका जीते-जी यहाँसे लौटना बहुत कठिन हो जाता है। तथापि नियमोंके पालन और तपस्याके उत्तम प्रभावसे मैं तुम सभी वानरोंको इस गुफासे बाहर निकाल दूँगी ॥ २५-२६½ ॥

निमीलयत चक्षूंषि सर्वे वानरपुङ्गवाः ॥ २७ ॥
नहि निष्क्रमितुं शक्यमनिमीलितलोचनैः।

'श्रेष्ठ वानरो! तुम सब लोग अपनी-अपनी आँखें बंद कर लो। आँख बंद किये बिना यहाँसे निकलना असम्भव है' ॥ २७½ ॥

ततो निमीलिताः सर्वे सुकुमाराङ्गुलैः करैः ॥ २८ ॥
सहसा पिदधुर्दृष्टिं हृष्टा गमनकाङ्क्षया।

यह सुनकर सबने सुकुमार अङ्गुलिवाले हाथोंसे आँखें मूँद लीं। गुफासे बाहर निकलनेकी इच्छासे प्रसन्न होकर उन सबने सहसा नेत्र बंद कर लिये ॥ २८½ ॥

वानरास्तु महात्मानो हस्तरुद्धमुखास्तदा ॥ २९ ॥
निमेषान्तरमात्रेण बिलादुत्तारितास्तया।

इस प्रकार उस समय हाथोंसे मुँह ढक लेनेके कारण उन महात्मा वानरोंको स्वयंप्रभाने पलक मारते-मारते बिलसे बाहर निकाल दिया ॥ २९½ ॥

उवाच सर्वांस्तांस्तत्र तापसी धर्मचारिणी ॥ ३० ॥
निःसृतान् विषमात् तस्मात् समाश्वास्येदमब्रवीत्।

तत्पश्चात् वहाँ उस धर्मपरायणा तापसीने उस विषम गुफासे बाहर निकले हुए समस्त वानरोंको आश्वासन देकर इस प्रकार कहा—॥ ३०½ ॥

एष विन्ध्यो गिरिः श्रीमान् नानाद्रुमलतायुतः ॥ ३१ ॥
एष प्रस्रवणः शैलः सागरोऽयं महोदधिः।
स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि भवनं वानरर्षभाः।
इत्युक्त्वा तद् बिलं श्रीमत् प्रविवेश स्वयंप्रभा ॥ ३२ ॥

'श्रेष्ठ वानरो! यह रहा नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त शोभाशाली विन्ध्यगिरि। इधर यह प्रस्रवणगिरि है और सामने यह महासागर लहरा रहा है। तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं अपने स्थानपर जाती हूँ।' ऐसा कहकर स्वयंप्रभा उस सुन्दर गुफामें चली गयी ॥ ३१-३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

लौटनेकी अवधि बीत जानेपर भी कार्य सिद्ध न होनेके कारण सुग्रीवके कठोर दण्डसे डरनेवाले अङ्गद आदि वानरोंका उपवास करके प्राण त्याग देनेका निश्चय

ततस्ते ददृशुर्घोरं सागरं वरुणालयम्।
अपारमभिगर्जन्तं घोरैरूर्मिभिराकुलम् ॥ १ ॥

तदनन्तर उन श्रेष्ठ वानरोंने वरुणकी निवासभूमि भयंकर महासागरको देखा, जिसका कहीं पार नहीं था और जो भयानक लहरोंसे व्याप्त होकर निरन्तर गर्जना कर रहा था ॥ १ ॥

मयस्य मायाविहितं गिरिदुर्गं विचिन्वताम्।
तेषां मासो व्यतिक्रान्तो यो राज्ञा समयः कृतः ॥ २ ॥

मयासुरके अपनी मायाद्वारा बनाये हुए पर्वतकी दुर्गम गुफामें सीताकी खोज करते हुए उन वानरोंका वह एक मास बीत गया, जिसे राजा सुग्रीवने लौटनेका समय निश्चित किया था ॥ २ ॥

विन्ध्यस्य तु गिरेः पादे सम्प्रपुष्पितपादपे।
उपविश्य महात्मानश्चिन्तामापेदिरे तदा ॥ ३ ॥

विन्ध्यगिरिके पार्श्ववर्ती पर्वतपर, जहाँके वृक्ष फूलोंसे लदे थे, बैठकर वे सभी महात्मा वानर चिन्ता करने लगे ॥ ३ ॥

ततः पुष्पातिभाराग्राँल्लताशतसमावृतान्।
द्रुमान् वासन्तिकान् दृष्ट्वा बभूवुर्भयशङ्किताः ॥ ४ ॥

जो वसन्त ऋतुमें फलते हैं, उन आम आदि वृक्षोंकी डालियोंको मञ्जरी एवं फूलोंके अधिक भारसे झुकी हुई तथा सैकड़ों लता-वेलोंसे व्याप्त देख वे सभी सुग्रीवके भयसे थर्रा उठे (वे शरद्-ऋतुमें चले थे और शिशिर-ऋतु आ गयी थी। इसीलिये उनका भय बढ़ गया था) ॥ ४ ॥

ते वसन्तमनुप्राप्तं प्रतिवेद्य परस्परम्।
नष्टसंदेशकालार्था निपेतुर्धरणीतले ॥ ५ ॥

वे एक दूसरेको यह बताकर कि अब वसन्तका समय आना चाहता है, राजाके आदेशके अनुसार एक मासके भीतर जो काम कर लेना चाहिये था, वह न कर सकने या उसे नष्ट कर देनेके कारण भयके मारे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५ ॥

ततस्तान् कपिवृद्धांश्च शिष्टांश्चैव वनौकसः।
वाचा मधुरयाऽऽभाष्य यथावदनुमान्य च ॥ ६ ॥

स तु सिंहवृषस्कन्धः पीनायतभुजः कपिः ।
युवराजो महाप्राज्ञ अङ्गदो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

तब जिनके कंधे सिंह और बैलके समान मांसल थे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और मोटी थीं तथा जो बड़े बुद्धिमान् थे, वे युवराज अङ्गद उन श्रेष्ठ वानरों तथा अन्य वनवासी कपियोंको यथावत् सम्मान देते हुए मधुर वाणीसे सम्बोधित करके बोले—॥ ६-७ ॥

शासनात् कपिराजस्य वयं सर्वे विनिर्गताः ।
मासः पूर्णो बिलस्थानां हरयः किं न बुध्यत ॥ ८ ॥
वयमाश्वयुजे मासि कालसंख्याव्यवस्थिताः ।
प्रस्थिताः सोऽपि चातीतः किमतः कार्यमुत्तरम्॥ ९ ॥

'वानरो ! हम सब लोग वानरराजकी आज्ञासे आश्विन मास बीतते-बीतते एक मासकी निश्चित अवधि स्वीकार करके सीताकी खोजके लिये निकले थे, किंतु हमारा वह एक मास उस गुफामें ही पूरा हो गया, क्या आपलोग इस बातको नहीं जानते ? हम जब चले थे, तबसे लौटनेके लिये जो मास निर्धारित हुआ था, वह भी बीत गया; अतः अब आगे क्या करना चाहिये ? ॥ ८-९ ॥

भवन्तः प्रत्ययं प्राप्ता नीतिमार्गविशारदाः ।
हितेष्वभिरता भर्तुर्निसृष्टाः सर्वकर्मसु ॥ १० ॥

'आपलोगोंको राजाका विश्वास प्राप्त है । आप नीतिमार्गमें निपुण हैं और स्वामीके हितमें तत्पर रहते हैं । इसीलिये आपलोग यथासमय सब कार्योंमें नियुक्त किये जाते हैं ॥ १० ॥

कर्मस्वप्रतिमाः सर्वे दिक्षु विश्रुतपौरुषाः ।
मां पुरस्कृत्य निर्याताः पिङ्गाक्षप्रतिचोदिताः ॥ ११ ॥
इदानीमकृतार्थानां मर्तव्यं नात्र संशयः ।
हरिराजस्य संदेशमकृत्वा कः सुखी भवेत् ॥ १२ ॥

कार्य सिद्ध करनेमें आपलोगोंकी समानता करनेवाला कोई नहीं है । आप सभी अपने पुरुषार्थके लिये सभी दिशाओंमें विख्यात हैं । इस समय वानरराज सुग्रीवकी आज्ञासे मुझे आगे करके आपलोग जिस कार्यके लिये निकले थे, उसमें आप और हम सफल न हो सके । ऐसी दशामें हमलोगोंको अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा, इसमें संशय नहीं है । भला वानरराजके आदेशका पालन न करके कौन सुखी रह सकता है ? ॥ ११-१२ ॥

अस्मिन्नतीते काले तु सुग्रीवेण कृते स्वयम् ।
प्रायोपवेशनं युक्तं सर्वेषां च वनौकसाम् ॥ १३ ॥

'स्वयं सुग्रीवने जो समय निश्चित किया था, उसके बीत जानेपर हम सब वानरोंके लिये उपवास करके प्राण त्याग देना ही ठीक जान पड़ता है ॥ १३ ॥

तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः स्वामिभावे व्यवस्थितः ।
न क्षमिष्यति नः सर्वानपराधकृतो गतान् ॥ १४ ॥

'सुग्रीव स्वभावसे ही कठोर हैं । फिर इस समय तो वे हमारे राजाके पदपर स्थित हैं । जब हम अपराध करके उनके पास जायँगे, तब वे कभी हमें क्षमा नहीं करेंगे ॥ १४ ॥

अप्रवृत्तौ च सीतायाः पापमेव करिष्यति ।
तस्मात् क्षममिहाद्यैव गन्तुं प्रायोपवेशनम् ॥ १५ ॥
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च धनानि च गृहाणि च ।

'उल्टे सीताका समाचार न पानेपर हमारा वध ही कर डालेंगे, अतः हमें आज ही यहाँ स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति और घर-द्वारका मोह छोड़कर मरणान्त उपवास आरम्भ कर देना चाहिये ॥ १५½ ॥

ध्रुवं नो हिंसते राजा सर्वान् प्रतिगतानितः ॥ १६ ॥
वधेनाप्रतिरूपेण श्रेयान् मृत्युरिहैव नः ।

'यहाँसे लौटनेपर राजा सुग्रीव निश्चय ही हम सबका वध कर डालेंगे । अनुचित वधकी अपेक्षा यहीं मर जाना हम लोगोंके लिये श्रेयस्कर है ॥ १६½ ॥

न चाहं यौवराज्येन सुग्रीवेणाभिषेचितः ॥ १७ ॥
नरेन्द्रेणाभिषिक्तोऽस्मि रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।

'सुग्रीवने युवराजपदपर मेरा अभिषेक नहीं किया है । अनायास ही महान् कर्म करनेवाले महाराज श्रीरामने ही उस पदपर मेरा अभिषेक किया है ॥ १७½ ॥

स पूर्वं बद्धवैरो मां राजा दृष्ट्वा व्यतिक्रमम् ॥ १८ ॥
घातयिष्यति दण्डेन तीक्ष्णेन कृतनिश्चयः ।

'राजा सुग्रीवने तो पहलेसे ही मेरे प्रति वैर बाँध रक्खा है । इस समय आज्ञा-लङ्घनरूप मेरे अपराधको देखकर पूर्वोक्त निश्चयके अनुसार तीखे दण्डद्वारा मुझे मरवा डालेंगे ॥ १८½ ॥

किं मे सुहृद्भिर्व्यसनं पश्यद्भिर्जीवितान्तरे ।
इहैव प्रायमासिष्ये पुण्ये सागररोधसि ॥ १९ ॥

'जीवन-कालमें मेरा व्यसन (राजाके हाथसे मेरा मरण) देखनेवाले सुहृदोंसे मुझे क्या काम है ? यहीं समुद्रके पावन तटपर मैं मरणान्त उपवास करूँगा' ॥ १९ ॥

एतच्छ्रुत्वा कुमारेण युवराजेन भाषितम् ।
सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः करुणं वाक्यमब्रुवन् ॥ २० ॥

युवराज वालिकुमार अङ्गदकी यह बात सुनकर वे सभी श्रेष्ठ वानर करुणस्वरमें बोले—॥ २० ॥

तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः प्रियारक्तश्च राघवः ।
समीक्ष्याकृतकार्यांस्तु तस्मिंश्च समये गते ॥ २१ ॥
अदृष्टायां च वैदेह्यां दृष्ट्वा चैव समागतान् ।
राघवप्रियकामाय घातयिष्यत्यसंशयम् ॥ २२ ॥

'सचमुच सुग्रीवका स्वभाव बड़ा कठोर है । उधर

श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्रिय पत्नी सीताके प्रति अनुरक्त हैं। सीताको खोजकर लौटनेके लिये जो अवधि निश्चित की गयी थी, वह समय व्यतीत हो जानेपर भी यदि हम कार्य किये बिना ही वहाँ उपस्थित होंगे तो उस अवस्थामें हमें देखकर और विदेहकुमारीका दर्शन किये बिना ही हमें लौटा हुआ जानकर श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेकी इच्छासे सुग्रीव हमें मरवा डालेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ २१-२२ ॥

न क्षमं चापराद्धानां गमनं स्वामिपार्श्वतः।
प्रधानभूताश्च वयं सुग्रीवस्य समागताः ॥ २३ ॥

अतः अपराधी पुरुषोंका स्वामीके पास लौटकर जाना कदापि उचित नहीं है। हम सुग्रीवके प्रधान सहयोगी या सेवक होनेके कारण इधर उनके भेजनेसे आये थे ॥ २३ ॥

इहैव सीतामन्वीक्ष्य प्रवृत्तिमुपलभ्य वा।
नो चेद् गच्छाम तं वीरं गमिष्यामो यमक्षयम्॥ २४ ॥

'यदि यहीं सीताका दर्शन करके अथवा उनका समाचार जानकर वीर सुग्रीवके पास नहीं जायँगे तो अवश्य ही हमें यमलोकमें जाना पड़ेगा' ॥ २४ ॥

प्लवङ्गमानां तु भयार्दितानां
श्रुत्वा वचस्तार इदं बभाषे।
अलं विषादेन बिलं प्रविश्य
वसाम सर्वे यदि रोचते वः ॥ २५ ॥

भयसे पीड़ित हुए उन वानरोंका यह वचन सुनकर तारने कहा—'यहाँ बैठकर विषाद करनेसे कोई लाभ नहीं है। यदि आपलोगोंको ठीक जँचे तो हम सब लोग स्वयंप्रभाकी उस गुफामें ही प्रवेश करके निवास करें ॥ २५ ॥

इदं हि मायाविहितं सुदुर्गमं
प्रभूतपुष्पोदकभोज्यपेयम्।
इहास्ति नो नैव भयं पुरंदरा-
न्न राघवाद् वानरराजतोऽपि वा॥ २६॥

'यह गुफा मायासे निर्मित होनेके कारण अत्यन्त दुर्गम है। यहाँ फल-फूल, जल और खाने-पीनेकी दूसरी वस्तुएँ भी प्रचुर मात्रामें उपलब्ध हैं। अतः उसमें हमें न तो देवराज इन्द्रसे, न श्रीरामचन्द्रजीसे और न वानरराज सुग्रीवसे ही भय है' ॥ २६ ॥

श्रुत्वाङ्गदस्यापि वचोऽनुकूल-
मूचुश्च सर्वे हरयः प्रतीताः।
यथा न हन्येम तथा विधान-
मसक्तमद्यैव विधीयतां नः ॥ २७ ॥

तारकी कही हुई पूर्वोक्त बात, जो अङ्गदके भी अनुकूल थी, सुनकर सभी वानरोंको उसपर विश्वास हो गया। वे सब-के-सब बोल उठे—'बन्धुओ! हमें वैसा कार्य आज ही अविलम्ब करना चाहिये, जिससे हम मारे न जायँ' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

हनुमान्‌जीका भेदनीतिके द्वारा वानरोंको अपने पक्षमें करके अङ्गदको अपने साथ चलनेके लिये समझाना

तथा ब्रुवति तारे तु ताराधिपतिवर्चसि।
अथ मेने हृतं राज्यं हनूमानङ्गदेन तत् ॥ १ ॥

तारापति चन्द्रमाके समान तेजस्वी तारके ऐसा कहनेपर [illegible]ोंने यह माना कि अब अङ्गदने वह राज्य (जो सुग्रीवके अधिकारमें था) हर लिया (इस तरह वानरोंमें फूट पड़नेसे बहुत-से वानर अङ्गदका साथ देंगे और बलवान् अङ्गद सुग्रीवको राज्यसे वञ्चित कर देंगे—ऐसी सम्भावनाका हनुमान्‌जीके मनमें उदय हो गया) ॥ १ ॥

बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं चतुर्बलसमन्वितम्।
चतुर्दशगुणं मेने हनूमान् वालिनः सुतम् ॥ २ ॥

हनुमान्‌जी यह अच्छी तरह जानते थे कि वालिकुमार अङ्गद आठ[1] गुणवाली बुद्धिसे, चार[2] प्रकारके बलसे और चौदह[3] गुणोंसे सम्पन्न हैं ॥ २ ॥

---

१. बुद्धिके आठ गुण ये हैं—सुननेकी इच्छा, सुनना, सुनकर ग्रहण करना, ग्रहण करके धारण करना, ऊहापोह करना, अर्थ या तात्पर्यको भलीभाँति समझना तथा तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न होना।

२. साम, दान, भेद और दण्ड—ये जो शत्रुको वशमें करनेके चार उपाय नीति-शास्त्रमें बताये गये हैं, उन्हींको यहाँ चार प्रकारका बल कहा गया है। किन्हीं-किन्हींके मतमें बाहुबल, मनोबल, उपायबल और बन्धुबल—ये चार बल हैं।

३. चौदह गुण यों बताये गये हैं—देश-कालका ज्ञान, दृढ़ता, सब प्रकारके क्लेशोंको सहन करनेकी क्षमता, सभी विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना, चतुरता, उत्साह या बल, मन्त्रणाको गुप्त रखना, परस्पर विरोधी बात न कहना, शूरता, अपनी और शत्रुकी शक्तिका

आपूर्यमाणं शश्वच्च तेजोबलपराक्रमैः ।
शशिनं शुक्लपक्षादौ वर्धमानमिव श्रिया ॥ ३ ॥

वे तेज, बल और पराक्रमसे सदा परिपूर्ण हो रहे हैं। शुक्ल पक्षके आरम्भमें चन्द्रमाके समान राजकुमार अङ्गदकी श्री दिनोंदिन बढ़ रही है ॥ ३ ॥

बृहस्पतिसमं बुद्ध्या विक्रमे सदृशं पितुः ।
शुश्रूषमाणं तारस्य शुक्रस्येव पुरंदरम् ॥ ४ ॥

ये बुद्धिमें बृहस्पतिके समान और पराक्रममें अपने पिता वालीके तुल्य हैं । जैसे देवराज इन्द्र बृहस्पतिके मुखसे नीतिकी बातें सुनते हैं, उसी प्रकार ये अङ्गद तारकी बातें सुनते हैं ॥ ४ ॥

भर्तुरर्थे परिश्रान्तं सर्वशास्त्रविशारदः ।
अभिसंधातुमारेभे हनूमानङ्गदं ततः ॥ ५ ॥

अपने स्वामी सुग्रीवका कार्य सिद्ध करनेमें ये परिश्रम (थकावट या शिथिलता) का अनुभव करते हैं। ऐसा विचारकर सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हनुमान्‌जीने अङ्गदको तार आदि वानरोंकी ओरसे फोड़नेका प्रयत्न आरम्भ किया ॥ ५ ॥

स चतुर्णामुपायानां तृतीयमुपवर्णयन् ।
भेदयामास तान् सर्वान् वानरान् वाक्यसम्पदा॥ ६ ॥

वे साम, दान, भेद और दण्ड—इन चार उपायोंमेंसे तीसरेका वर्णन करते हुए अपने युक्तियुक्त वाक्य-वैभवके द्वारा उन सभी वानरोंको फोड़ने लगे ॥ ६ ॥

तेषु सर्वेषु भिन्नेषु ततोऽभीषयदङ्गदम् ।
भीषणैर्विविधैर्वाक्यैः कोपोपायसमन्वितैः ॥ ७ ॥

जब वे सब वानर फूट गये, तब उन्होंने दण्डरूप चौथे उपायसे युक्त नाना प्रकारके भयदायक वचनोंद्वारा अङ्गदको डराना आरम्भ किया— ॥ ७ ॥

त्वं समर्थतरः पित्रा युद्धे तारेय वै ध्रुवम् ।
दृढं धारयितुं शक्तः कपिराज्यं यथा पिता ॥ ८ ॥

'तारानन्दन ! तुम युद्धमें अपने पिताके समान ही अत्यन्त शक्तिशाली हो—यह निश्चितरूपसे सबको विदित है। जैसे तुम्हारे पिता वानरोंका राज्य सँभालते थे, उसी प्रकार तुम भी उसे दृढ़तापूर्वक धारण करनेमें समर्थ हो ॥ ८ ॥

नित्यमस्थिरचित्ता हि कपयो हरिपुंगव ।
नाज्ञाप्यं विषहिष्यन्ति पुत्रदारं विना त्वया ॥ ९ ॥

'किंतु वानरशिरोमणे ! ये कपिलोग सदा ही चञ्चलचित्त होते हैं । अपने स्त्री-पुत्रोंसे अलग रहकर तुम्हारी आज्ञाका पालन करना इनके लिये सह्य नहीं होगा ॥ ९ ॥

त्वां नैते ह्यनुरज्जेयुः प्रत्यक्षं प्रवदामि ते ।
यथायं जाम्बवान् नीलः सुहोत्रश्च महाकपिः ॥ १० ॥
नह्यहं ते इमे सर्वे सामदानादिभिर्गुणैः ।
दण्डेन न त्वया शक्याः सुग्रीवादपकर्षितुम् ॥ ११ ॥

'मैं तुम्हारे सामने कहता हूँ, ये कोई भी वानर सुग्रीवसे विरोध करके तुम्हारे प्रति अनुरक्त नहीं हो सकते । जैसे ये जाम्बवान्, नील और महाकपि सुहोत्र हैं, उसी प्रकार मैं भी हूँ । मैं तथा ये सब लोग साम, दान आदि उपायोंद्वारा सुग्रीवसे अलग नहीं किये जा सकते । तुम दण्डके द्वारा भी हम सबको वानरराजसे दूर कर सको, यह भी सम्भव नहीं है (अतः सुग्रीव तुम्हारी अपेक्षा प्रबल हैं) ॥

विगृह्यासनमप्याहुर्दुर्बलेन बलीयसा ।
आत्मरक्षाकरस्तस्मान्न विगृह्णीत दुर्बलः ॥ १२ ॥

'दुर्बलके साथ विरोध करके बलवान् पुरुष चुपचाप बैठा रहे, यह तो सम्भव है । परंतु किसी बलवान्‌से वैर बाँधकर कोई दुर्बल पुरुष कहीं भी सुखसे नहीं रह सकता; अतः अपनी रक्षा चाहनेवाले दुर्बल पुरुषको बलवान्‌के साथ विग्रह नहीं करना चाहिये—यह नीतिज्ञ पुरुषोंका कथन है ॥ १२ ॥

यां चेमां मन्यसे धात्रीमेतद् बिलमिति श्रुतम् ।
एतल्लक्ष्मणबाणानामीषत् कार्यं विदारणम् ॥ १३ ॥

'तुम जो ऐसा मानने लगे हो कि यह गुफा हमें माताके समान अपनी गोदमें छिपा लेगी, इसलिये हमारी रक्षा हो जायगी तथा इस बिलकी अभेद्यताके विषयमें जो तुमने तारके मुँहसे कुछ सुना है, यह सब व्यर्थ है; क्योंकि इस गुफाको विदीर्ण कर देना लक्ष्मणके बाणोंके लिये बायें हाथका खेल है (अत्यन्त तुच्छ कार्य है) ॥ १३ ॥

स्वल्पं हि कृतमिन्द्रेण क्षिपता ह्यशनिं पुरा ।
लक्ष्मणो निशितैर्बाणैर्भिन्द्यात् पत्रपुटं यथा ॥ १४ ॥

'पूर्वकालमें यहाँ वज्रका प्रहार करके इन्द्रने तो इस गुफाको बहुत थोड़ी हानि पहुँचायी थी; परंतु लक्ष्मण अपने पैने बाणोंद्वारा इसे पत्तेके दोनेकी भाँति विदीर्ण कर डालेंगे ॥ १४ ॥

लक्ष्मणस्य च नाराचा बहवः सन्ति तद्विधाः ।
वज्राशनिसमस्पर्शा गिरीणामपि दारकाः ॥ १५ ॥

'लक्ष्मणके पास ऐसे बहुत-से नाराच हैं, जिनका हल्का-सा स्पर्श भी वज्र और अशनिके समान चोट पहुँचानेवाला है । वे नाराच पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकते हैं ॥ १५ ॥

अवस्थानं यदैव त्वमासिष्यसि परंतप ।
तदैव हरयः सर्वे त्यक्ष्यन्ति कृतनिश्चयाः ॥ १६ ॥

ज्ञान, कृतज्ञता, शरणागतवत्सलता, अमर्षशीलता तथा अचञ्चलता स्थिरता या गम्भीरता) ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! ज्यों ही तुम इस गुफामें रहना आरम्भ करोगे, त्यों ही ये सब वानर तुम्हें त्याग देंगे; क्योंकि इन्होंने ऐसा करनेका निश्चय कर लिया है ॥ १६ ॥

स्मरन्तः पुत्रदाराणां नित्योद्विग्ना बुभुक्षिताः ।
खेदिता दुःखशय्याभिस्त्वां करिष्यन्ति पृष्ठतः ॥ १७ ॥

'ये अपने बाल-बच्चोंको याद करके सदा उद्विग्न रहेंगे । जब यहाँ इन्हें भूखका कष्ट सहना पड़ेगा और दुःखद शय्यापर सोने या दुरवस्थामें रहनेके कारण इनके मनमें खेद होगा, तब ये तुम्हें पीछे छोड़कर चल देंगे ॥१७॥

स त्वं हीनः सुहृद्भिश्च हितकामैश्च बन्धुभिः ।
तृणादपि भृशोद्विग्नः स्पन्दमानाद् भविष्यसि ॥ १८ ॥

'ऐसी दशामें तुम हितैषी बन्धुओं और सुहृदोंके सहयोगसे वञ्चित हो उड़ते हुए तिनकेसे भी तुच्छ हो जाओगे और सदा अधिक डरते रहोगे (अथवा हिलते हुए तिनकेसे अत्यन्त भयभीत होते रहोगे) ॥ १८ ॥

न च जातु न हिंस्युस्त्वां घोरा लक्ष्मणसायकाः ।
अपवृत्तं जिघांसन्तो महावेगा दुरासदाः ॥ १९ ॥

'लक्ष्मणके बाण घोर, महान् वेगशाली और दुर्जय हैं । श्रीरामके कार्यसे विमुख होनेपर तुम्हें कदापि मारे बिना नहीं रहेंगे ॥ १९ ॥

अस्माभिस्तु गतं सार्धं विनीतवदुपस्थितम् ।
आनुपूर्व्यात्तु सुग्रीवो राज्ये त्वां स्थापयिष्यति ॥ २० ॥

'हमारे साथ चलकर जब तुम विनीत पुरुषकी भाँति उनकी सेवामें उपस्थित होगे, तब सुग्रीव क्रमशः अपने बाद तुम्हींको राज्यपर बिठायेंगे ॥ २० ॥

धर्मराजः पितृव्यस्ते प्रीतिकामो दृढव्रतः ।
शुचिः सत्यप्रतिज्ञश्च स त्वां जातु न नाशयेत् ॥ २१ ॥

'तुम्हारे चाचा सुग्रीव धर्मके मार्गपर चलनेवाले राजा हैं । वे सदा तुम्हारी प्रसन्नता चाहनेवाले, दृढव्रत, पवित्र और सत्यप्रतिज्ञ हैं । अतः कदापि तुम्हारा नाश नहीं कर सकते ॥ २१ ॥

प्रियकामश्च ते मातुस्तदर्थं चास्य जीवितम् ।
तस्यापत्यं च नास्त्यन्यत् तस्मादङ्गद गम्यताम् ॥ २२ ॥

'अङ्गद ! उनके मनमें सदा तुम्हारी माताका प्रिय करनेकी इच्छा रहती है ! उनकी प्रसन्नताके लिये ही वे जीवन धारण करते हैं । सुग्रीवके तुम्हारे सिवा कोई दूसरा पुत्र भी नहीं है, इसलिये तुम्हें उनके पास चलना चाहिये' ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

अङ्गदसहित वानरोंका प्रायोपवेशन

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ।
स्वामिसत्कारसंयुक्तमङ्गदो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

हनुमान्‌जीका वचन विनययुक्त, धर्मानुकूल और स्वामीके प्रति सम्मानसे युक्त था । उसे सुनकर अङ्गदने कहा—॥ १ ॥

स्थैर्यमात्ममनःशौचमानृशंस्यमथार्जवम् ।
विक्रमश्चैव धैर्यं च सुग्रीवे नोपपद्यते ॥ २ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! राजा सुग्रीवमें स्थिरता, शरीर और मनकी पवित्रता, क्रूरताका अभाव, सरलता, पराक्रम और धैर्य है—यह मान्यता ठीक नहीं जान पड़ती ॥ २ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिषीं प्रियाम् ।
धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः ॥ ३ ॥
कथं स धर्मं जानीते येन भ्रात्रा दुरात्मना ।
युद्धायाभिनियुक्तेन बिलस्य पिहितं मुखम् ॥ ४ ॥

'जिसने अपने बड़े भाईके जीते-जी उनकी प्यारी महारानीको, जो धर्मतः उसकी माताके समान थी, कुत्सित भावनासे ग्रहण कर लिया था, वह धर्मको जानता है, यह कैसे कहा जा सकता है ? जिस दुरात्माने युद्धके लिये जाते हुए भाईके द्वारा बिलकी रक्षाके कार्यमें नियुक्त होनेपर भी पत्थरसे उसका मुँह बंद कर दिया, वह कैसे धर्मज्ञ माना जा सकता है ? ॥ ३-४ ॥

सत्यात् पाणिगृहीतश्च कृतकर्मा महायशाः ।
विस्मृतो राघवो येन स कस्य सुकृतं स्मरेत् ॥ ५ ॥

'जिन्होंने सत्यको साक्षी देकर उसका हाथ पकड़ा और पहले ही उसका कार्य सिद्ध कर दिया, उन महायशस्वी भगवान् श्रीरामको ही जब उसने भुला दिया; तब दूसरे किसके उपकारको वह याद रख सकता है ? ॥ ५ ॥

लक्ष्मणस्य भयेनेह नाधर्मभयभीरुणा ।
आदिष्टा मार्गितुं सीता धर्मस्तस्मिन् कथं भवेत् ॥ ६ ॥

'जिसने अधर्मके भयसे डरकर नहीं, लक्ष्मणके ही

भयसे भीत हो हमलोगोंको सीताकी खोजके लिये भेजा है, उसमें धर्मकी सम्भावना कैसे हो सकती है ? ॥ ६ ॥

तस्मिन् पापे कृतघ्ने तु स्मृतिभिन्ने चलात्मनि ।
आर्यः को विश्वसेज्जातु तत्कुलीनो विशेषतः ॥ ७ ॥

'उस पापी, कृतघ्न, स्मरण-शक्तिसे हीन और चञ्चल-चित्त सुग्रीवपर कोई श्रेष्ठ पुरुष, विशेषतः जो उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ हो, कभी भी किसी तरह विश्वास कर सकता है ? ॥ ७ ॥

राज्ये पुत्रः प्रतिष्ठाप्यः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
कथं शत्रुकुलीनं मां सुग्रीवो जीवयिष्यति ॥ ८ ॥

'अपना पुत्र गुणवान् हो या गुणहीन, उसीको राज्यपर बिठाना चाहिये, ऐसी धारणा रखनेवाला सुग्रीव मुझ शत्रुकुलमें उत्पन्न हुए बालकको कैसे जीवित रहने देगा ? ॥ ८ ॥

भिन्नमन्त्रोऽपराद्धश्च भिन्नशक्तिः कथं ह्यहम् ।
किष्किन्धां प्राप्य जीवेयमनाथ इव दुर्बलः ॥ ९ ॥

'सुग्रीवसे अलग रहनेका जो मेरा गूढ़ विचार था, वह आज प्रकट हो गया। साथ ही, उसकी आज्ञाका पालन न करनेके कारण मैं अपराधी भी हूँ। इतना ही नहीं, मेरी शक्ति क्षीण हो गयी है। मैं अनाथके समान दुर्बल हूँ। ऐसी दशामें किष्किन्धामें जाकर कैसे जीवित रह सकूँगा ? ॥ ९ ॥

उपांशुदण्डेन हि मां बन्धनेनोपपादयेत् ।
शठः क्रूरो नृशंसश्च सुग्रीवो राज्यकारणात् ॥ १० ॥

'सुग्रीव शठ, क्रूर और निर्दयी है। वह राज्यके लिये मुझे गुप्तरूपसे दण्ड देगा अथवा सदाके लिये मुझे बन्धनमें डाल देगा ॥ १० ॥

बन्धनाच्चावसादान्मे श्रेयः प्रायोपवेशनम् ।
अनुजानन्तु मां सर्वे गृहं गच्छन्तु वानराः ॥ ११ ॥

'इस प्रकार बन्धनजनित कष्ट भोगनेकी अपेक्षा उपवास करके प्राण दे देना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। अतः सब वानर मुझे यहीं रहनेकी आज्ञा दें और अपने-अपने घरको चले जायँ ॥ ११ ॥

अहं वः प्रतिजानामि न गमिष्याम्यहं पुरीम् ।
इहैव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणमेव मे ॥ १२ ॥

'मैं आपलोगोंसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं किष्किन्धापुरीको नहीं जाऊँगा। यहीं मरणान्त उपवास करूँगा। मेरा मर जाना ही अच्छा है ॥ १२ ॥

अभिवादनपूर्वं तु राजा कुशलमेव च ।
अभिवादनपूर्वं तु राघवौ बलशालिनौ ॥ १३ ॥

'आपलोग राजा सुग्रीवको प्रणाम करके उनसे मेरा कुशल-समाचार कहियेगा। अपने बलके कारण शोभा पानेवाले दोनों रघुवंशी बन्धुओंसे भी मेरा सादर प्रणाम निवेदन करते हुए कुशल-समाचार कह दीजियेगा ॥ १३ ॥

वाच्यस्तातो यवीयान् मे सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
आरोग्यपूर्वं कुशलं वाच्या माता रुमा च मे ॥ १४ ॥

'मेरे छोटे पिता वानरराज सुग्रीव और माता रुमासे भी मेरा आरोग्यपूर्वक कुशल-समाचार बताइयेगा ॥ १४ ॥

मातरं चैव मे तारामाश्वासयितुमर्हथ ।
प्रकृत्या प्रियपुत्रा सा सानुक्रोशा तपस्विनी ॥ १५ ॥

'मेरी माता ताराको भी धैर्य बँधाइयेगा। वह बेचारी स्वभावसे ही दयालु और पुत्रपर प्रेम रखनेवाली है ॥ १५ ॥

विनष्टमिह मां श्रुत्वा व्यक्तं हास्यति जीवितम् ।
एतावदुक्त्वा वचनं वृद्धांस्तानभिवाद्य च ॥ १६ ॥
विवेश चाङ्गदो भूमौ रुदन् दर्भेषु दुर्मनाः ।

'यहाँ मेरे नष्ट होनेका समाचार सुनकर वह निश्चय ही अपने प्राण त्याग देगी।' इतना कहकर अङ्गदने उन सभी बड़े-बूढ़े वानरोंको प्रणाम किया और धरतीपर कुश बिछाकर उदास मुँहसे रोते-रोते वे मरणान्त उपवासके लिये बैठ गये ॥ १६½ ॥

तस्य संविशतस्तत्र रुदन्तो वानरर्षभाः ॥ १७ ॥
नयनेभ्यः प्रमुमुचुरुष्णं वै वारि दुःखिताः ।
सुग्रीवं चैव निन्दन्तः प्रशंसन्तश्च वालिनम् ॥ १८ ॥
परिवार्याङ्गदं सर्वे व्यवसन् प्रायमासितुम् ।

उनके इस प्रकार बैठनेपर सभी श्रेष्ठ वानर रोने लगे और दुखी हो नेत्रोंसे गरम-गरम आँसू बहाने लगे। सुग्रीवकी निन्दा और वालीकी प्रशंसा करते हुए उन सबने अङ्गदको सब ओरसे घेरकर आमरण उपवास करनेका निश्चय किया ॥ १७-१८½ ॥

तद् वाक्यं वालिपुत्रस्य विज्ञाय प्लवगर्षभाः ॥ १९ ॥
उपस्पृश्योदकं सर्वे प्राङ्मुखाः समुपाविशन् ।
दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु उदक्तीरं समाश्रिताः ॥ २० ॥
मुमूर्षवो हरिश्रेष्ठा एतत् क्षममिति स्म ह ।

वालिकुमारके वचनोंपर विचार करके उन वानर-शिरोमणियोंने मरना ही उचित समझा और मृत्युकी इच्छासे आचमन करके समुद्रके उत्तर तटपर दक्षिणाग्र कुश बिछाकर वे सब-के-सब पूर्वाभिमुख हो बैठ गये ॥ १९-२०½ ॥

रामस्य वनवासं च क्षयं दशरथस्य च ॥ २१ ॥
जनस्थानवधं चैव वधं चैव जटायुषः ।
हरणं चैव वैदेह्या वालिनश्च वधं तथा ।
रामकोपं च वदतां हरीणां भयमागतम् ॥ २२ ॥

'श्रीरामके वनवास; राजा दशरथकी मृत्यु, जनस्थानवासी राक्षसोंके संहार; विदेहकुमारी सीताके अपहरण; जटायुके मरण; वालीके वध और श्रीरामके क्रोधकी चर्चा करते हुए

उन वानरोंपर एक दूसरा ही भय आ पहुँचा ॥ २१-२२ ॥

स संविशद्भिर्बहुभिर्महीधरो
महाद्रिकूटप्रतिमैः प्लवंगमैः ।
बभूव संनादितनिर्दरान्तरो
भृशं नदद्भिर्जलदैरिवाम्बरम् ॥ २३ ॥

महान् पर्वत-शिखरोंके समान शरीरवाले वहाँ बैठे हुए बहुसंख्यक वानर भयके मारे जोर-जोरसे शब्द करने लगे, जिससे उस पर्वतकी कन्दराओंका भीतरी भाग प्रतिध्वनित हो उठा और गर्जते हुए मेघोंसे युक्त आकाशके समान प्रतीत होने लगा ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

सम्पातिसे वानरोंको भय, उनके मुखसे जटायुके वधकी बात सुनकर सम्पातिका दुखी होना और अपनेको नीचे उतारनेके लिये वानरोंसे अनुरोध करना

उपविष्टास्तु ते सर्वे यस्मिन् प्रायं गिरिस्थले ।
हरयो गृध्रराजश्च तं देशमुपचक्रमे ॥ १ ॥
सम्पातिर्नाम नाम्ना तु चिरजीवी विहंगमः ।
भ्राता जटायुषः श्रीमान् विख्यातबलपौरुषः ॥ २ ॥

पर्वतके जिस स्थानपर वे सब वानर आमरण उपवासके लिये बैठे थे, उस प्रदेशमें चिरंजीवी पक्षी श्रीमान् गृध्रराज सम्पाति आये। वे जटायुके भाई थे और अपने बल तथा पुरुषार्थके लिये सर्वत्र प्रसिद्ध थे ॥ १-२ ॥

कन्दरादभिनिष्क्रम्य स विन्ध्यस्य महागिरेः ।
उपविष्टान् हरीन् दृष्ट्वा हृष्टात्मा गिरमब्रवीत् ॥ ३ ॥

महागिरि विन्ध्यकी कन्दरासे निकलकर सम्पातिने जब वहाँ बैठे हुए वानरोंको देखा, तब उनका हृदय हर्षसे खिल उठा और वे इस प्रकार बोले—॥ ३ ॥

विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्तते ।
यथायं विहितो भक्ष्यश्चिरान्मह्यमुपागतः ॥ ४ ॥
परम्पराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम् ।
उवाचैतद् वचः पक्षी तान् निरीक्ष्य प्लवंगमान् ॥५॥

'जैसे लोकमें पूर्वजन्मके कर्मानुसार मनुष्यको उसके कियेका फल स्वतः प्राप्त होता है, उसी प्रकार आज दीर्घकाल-के पश्चात् यह भोजन स्वतः मेरे लिये प्राप्त हो गया। अवश्य ही यह मेरे किसी कर्मका फल है। इन वानरोंमेंसे जो-जो जायगा, उसको मैं क्रमशः भक्षण करता जाऊँगा' यह बात उस पक्षीने उन सब वानरोंको देखकर कहा ॥ ४-५ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भक्ष्यलुब्धस्य पक्षिणः ।
अङ्गदः परमायस्तो हनूमन्तमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

भोजनपर लुभाये हुए उस पक्षीका यह वचन सुनकर अङ्गदको बड़ा दुःख हुआ और वे हनुमान्‌जीसे बोले—॥ ६ ॥

पश्य सीतापदेशेन साक्षाद् वैवस्वतो यमः ।
इमं देशमनुप्राप्तो वानराणां विपत्तये ॥ ७ ॥

'देखिये, सीताके निमित्तसे वानरोंको विपत्तिमें डालनेके लिये साक्षात् सूर्यपुत्र यम इस देशमें आ पहुँचे ॥ ७ ॥

रामस्य न कृतं कार्यं न कृतं राजशासनम् ।
हरीणामियमज्ञाता विपत्तिः सहसाऽऽगता ॥ ८ ॥

'हमलोगोंने न तो श्रीरामचन्द्रजीका कार्य किया और न राजाकी आज्ञाका पालन ही। इसी बीच वानरोंपर यह सहसा अज्ञात विपत्ति आ पड़ी ॥ ८ ॥

वैदेह्याः प्रियकामेन कृतं कर्म जटायुषा ।
गृध्रराजेन यत् तत्र श्रुतं वस्तदशेषतः ॥ ९ ॥

'विदेहकुमारी सीताका प्रिय करनेकी इच्छासे गृध्रराज जटायुने जो साहसपूर्ण कार्य किया था, वह सब आपलोगोंने सुना ही होगा ॥ ९ ॥

तथा सर्वाणि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ।
प्रियं कुर्वन्ति रामस्य त्यक्त्वा प्राणान् यथा वयम् ॥

'समस्त प्राणी, वे पशु-पक्षियोंकी योनिमें ही क्यों न उत्पन्न हुए हों, हमारी तरह प्राण देकर भी श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय कार्य करते हैं ॥ १० ॥

अन्योन्यमुपकुर्वन्ति स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
ततस्तस्योपकारार्थं त्यजतात्मानमात्मना ॥ ११ ॥

'शिष्ट पुरुष स्नेह और करुणाके वशीभूत हो एक दूसरे-का उपकार करते हैं, अतः आपलोग भी श्रीरामके उपकार-के लिये स्वयं ही अपने शरीरका परित्याग करें ॥ ११ ॥

प्रियं कृतं हि रामस्य धर्मज्ञेन जटायुषा ।
राघवार्थे परिश्रान्ता वयं संत्यक्तजीविताः ॥ १२ ॥
कान्ताराणि प्रपन्नाः स्म न च पश्याम मैथिलीम् ।

'धर्मज्ञ जटायुने ही श्रीरामका प्रिय किया है। हमलोग श्रीरघुनाथजीके लिये अपने जीवनका मोह छोड़कर परिश्रम करते हुए इस दुर्गम वनमें आये, किंतु मिथिलेशकुमारीका दर्शन न कर सके ॥ १२½ ॥

स सुखी गृध्रराजस्तु रावणेन हतो रणे ।

मुक्तश्च सुग्रीवभयाद् गतश्च परमां गतिम् ॥ १३ ॥

'गृध्रराज जटायु ही सुखी हैं, जो युद्धमें रावणके हाथसे मारे गये और परमगतिको प्राप्त हुए। वे सुग्रीवके भयसे मुक्त हैं ॥ १३ ॥

जटायुषो विनाशेन राज्ञो दशरथस्य च।
हरणेन च वैदेह्याः संशयं हरयो गताः ॥ १४ ॥

'राजा दशरथकी मृत्यु, जटायुका विनाश और विदेह-कुमारी सीताका अपहरण—इन घटनाओंसे इस समय वानरोंका जीवन संशयमें पड़ गया है ॥ १४ ॥

रामलक्ष्मणयोर्वासमरण्ये सह सीतया।
राघवस्य च बाणेन वालिनश्च तथा वधः ॥ १५ ॥
रामकोपादशेषाणां रक्षसां च तथा वधम्।
कैकेय्या वरदानेन इदं च विकृतं कृतम् ॥ १६ ॥

'श्रीराम और लक्ष्मणको सीताके साथ वनमें निवास करना पड़ा, श्रीरघुनाथजीके बाणसे वालीका वध हुआ और अब श्रीरामके कोपसे समस्त राक्षसोंका संहार होगा—ये सारी बुराइयाँ कैकेयीको दिये गये वरदानसे ही पैदा हुई हैं' ॥ १५-१६ ॥

तदसुखमनुकीर्तितं वचो
भुवि पतितांश्च निरीक्ष्य वानरान्।
भृशचकितमतिर्महामतिः
कृपणमुदाहृतवान् स गृध्रराजः ॥ १७ ॥

वानरोंके द्वारा बारंबार कहे गये इन दुःखमय वचनोंको सुनकर और उन सबको पृथ्वीपर पड़ा हुआ देखकर परम बुद्धिमान् सम्पातिका हृदय अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा और वे दीन वाणीमें बोलनेको उद्यत हुए ॥ १७ ॥

तत् तु श्रुत्वा तथा वाक्यमङ्गदस्य मुखोद्गतम्।
अब्रवीद् वचनं गृध्रस्तीक्ष्णतुण्डो महास्वनः ॥ १८ ॥

अङ्गदके मुखसे निकले हुए उस वचनको सुनकर तीखी चोंचवाले उस गीधने उच्चस्वरसे इस प्रकार पूछा— ॥ १८ ॥

कोऽयं गिरा घोषयति प्राणैः प्रियतरस्य मे।
जटायुषो वधं भ्रातुः कम्पयन्निव मे मनः ॥ १९ ॥

'यह कौन है, जो मेरे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय भाई जटायुके वधकी बात कह रहा है। इसे सुनकर मेरा हृदय कम्पित-सा होने लगा है ॥ १९ ॥

कथमासीज्जनस्थाने युद्धं राक्षसगृध्रयोः।
नामधेयमिदं भ्रातुश्चिरस्याद्य मया श्रुतम् ॥ २० ॥

'जनस्थानमें राक्षसका गृध्रके साथ किस प्रकार युद्ध हुआ था? अपने भाईका प्यारा नाम आज बहुत दिनोंके बाद मेरे कानमें पड़ा है ॥ २० ॥

इच्छेयं गिरिदुर्गाच्च भवद्भिरवतारितुम्।
यवीयसो गुणज्ञस्य श्लाघनीयस्य विक्रमैः ॥ २१ ॥
अतिदीर्घस्य कालस्य परितुष्टोऽस्मि कीर्तनात्।
तदिच्छेयमहं श्रोतुं विनाशं वानरर्षभाः ॥ २२ ॥

'जटायु मुझसे छोटा, गुणज्ञ और पराक्रमके कारण अत्यन्त प्रशंसाके योग्य था। दीर्घकालके पश्चात् आज उसका नाम सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। चाहता हूँ कि पर्वतके इस दुर्गम स्थानसे आपलोग मुझे नीचे उतार दें। श्रेष्ठ वानरो! मुझे अपने भाईके विनाशका वृत्तान्त सुननेकी इच्छा है ॥ २१-२२ ॥

भ्रातुर्जटायुषस्तस्य जनस्थाननिवासिनः।
तस्यैव च मम भ्रातुः सखा दशरथः कथम् ॥ २३ ॥
यस्य रामः प्रियः पुत्रो ज्येष्ठो गुरुजनप्रियः।

'मेरा भाई जटायु तो जनस्थानमें रहता था। गुरुजनोंके प्रेमी श्रीरामचन्द्रजी जिनके ज्येष्ठ एवं प्रिय पुत्र हैं, वे महाराज दशरथ मेरे भाईके मित्र कैसे हुए? ॥ २३½ ॥

सूर्यांशुदग्धपक्षत्वान्न शक्नोमि विसर्पितुम्।
इच्छेयं पर्वतादस्मादवतर्तुमरिंदमाः ॥ २४ ॥

'शत्रुदमन वीरो! मेरे पंख सूर्यकी किरणोंसे जल गये हैं, इसलिये मैं उड़ नहीं सकता; किंतु इस पर्वतसे नीचे उतरना चाहता हूँ' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥



सप्तपञ्चाशः सर्गः

अङ्गदका सम्पातिको पर्वत-शिखरसे नीचे उतारकर उन्हें जटायुके मारे जानेका वृत्तान्त बताना तथा राम-सुग्रीवकी मित्रता एवं वालिवधका प्रसंग सुनाकर अपने आमरण उपवासका कारण निवेदन करना

शोकाद् भ्रष्टस्वरमपि श्रुत्वा वानरयूथपाः।
श्रद्दधुर्नैव तद्वाक्यं कर्मणा तस्य शङ्किताः ॥ १ ॥

शोकके कारण सम्पातिका स्वर विकृत हो गया था। उनकी कही हुई बात सुनकर भी वानर-यूथपतियोंने उसपर विश्वास नहीं किया; क्योंकि वे उनके कर्मसे शङ्कित थे ॥ १ ॥

ते प्रायमुपविष्टास्तु दृष्ट्वा गृध्रं प्लवंगमाः।

चक्रुर्बुद्धिं तदा रौद्रां सर्वान् नो भक्षयिष्यति ॥ २ ॥

आमरण उपवासके लिये बैठे हुए उन वानरोंने उस समय गीधको देखकर यह भयंकर बात सोची, 'यह हम सबको खा तो नहीं जायगा ?' ॥ २ ॥

सर्वथा प्रायमासीनान् यदि नो भक्षयिष्यति ।
कृतकृत्या भविष्यामः क्षिप्रं सिद्धिमितो गताः ॥ ३ ॥

'अच्छा, हम तो सब प्रकारसे मरणान्त उपवासका व्रत लेकर बैठे ही थे। यदि यह पक्षी हमें खा लेगा तो हमारा काम ही बन जायगा। हमें शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जायगी' ॥

एतां बुद्धिं ततश्चक्रुः सर्वे ते हरियूथपाः ।
अवतार्य गिरेः शृङ्गाद् गृध्रमाहाङ्गदस्तदा ॥ ४ ॥

फिर तो उन समस्त वानर-यूथपतियोंने यही निश्चय किया। उस समय गीधको उस पर्वत-शिखरसे उतारकर अङ्गदने कहा—॥ ४ ॥

बभूवर्क्षरजो नाम वानरेन्द्रः प्रतापवान् ।
ममार्यः पार्थिवः पक्षिन् धार्मिकौ तस्य चात्मजौ ॥ ५ ॥
सुग्रीवश्चैव वाली च पुत्रौ घनबलावुभौ ।
लोके विश्रुतकर्माभूद् राजा वाली पिता मम ॥ ६ ॥

'पक्षिराज ! पहले एक प्रतापी वानरराज हो गये हैं, जिनका नाम था ऋक्षरजा। राजा ऋक्षरजा मेरे पितामह लगते थे। उनके दो धर्मात्मा पुत्र हुए—सुग्रीव और वाली। दोनों ही बड़े बलवान् हुए। उनमेंसे राजा वाली मेरे पिता थे। संसारमें अपने पराक्रमके कारण उनकी बड़ी ख्याति थी ॥ ५-६ ॥

राजा कृत्स्नस्य जगत इक्ष्वाकूणां महारथः ।
रामो दाशरथिः श्रीमान् प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ७ ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या सह भार्यया ।
पितुर्निदेशनिरतो धर्मं पन्थानमाश्रितः ॥ ८ ॥

'आजसे कुछ वर्ष पहले इक्ष्वाकुवंशके महारथी वीर दशरथकुमार श्रीमान् रामचन्द्रजी, जो सम्पूर्ण जगत्के राजा हैं, पिताकी आज्ञाके पालनमें तत्पर हो धर्म-मार्गका आश्रय ले दण्डकारण्यमें आये थे। उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण तथा उनकी धर्मपत्नी विदेहकुमारी सीता भी थीं ॥ ७-८ ॥

तस्य भार्या जनस्थानाद् रावणेन हृता बलात् ।
रामस्य तु पितुर्मित्रं जटायुर्नाम गृध्रराट् ॥ ९ ॥
ददर्श सीतां वैदेहीं ह्रियमाणां विहायसा ।
रावणं विरथं कृत्वा स्थापयित्वा च मैथिलीम् ।
परिश्रान्तश्च वृद्धश्च रावणेन हतो रणे ॥ १० ॥

'जनस्थानमें आनेपर उनकी पत्नी सीताको रावणने बलपूर्वक हर लिया। उस समय गृध्रराज जटायुने, जो उनके पिताके मित्र थे, देखा—रावण आकाशमार्गसे विदेहकुमारीको लिये जा रहा है। देखते ही वे रावणपर टूट पड़े और उसके रथको नष्ट-भ्रष्ट करके उन्होंने मिथिलेशकुमारीको सुरक्षितरूपसे भूमिपर खड़ा कर दिया। किंतु वे वृद्ध तो थे ही। युद्ध करते-करते थक गये और अन्ततोगत्वा रणक्षेत्रमें रावणके हाथसे मारे गये ॥ ९-१० ॥

एवं गृध्रो हतस्तेन रावणेन बलीयसा ।
संस्कृतश्चापि रामेण जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ११ ॥

'इस प्रकार महाबली रावणके द्वारा जटायुका वध हुआ। स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने उनका दाह-संस्कार किया और वे उत्तम गति (साकेतधाम) को प्राप्त हुए ॥ ११ ॥

ततो मम पितृव्येण सुग्रीवेण महात्मना ।
चकार राघवः सख्यं सोऽवधीत् पितरं मम ॥ १२ ॥

'तदनन्तर श्रीरघुनाथजीने मेरे चाचा महात्मा सुग्रीवसे मित्रता की और उनके कहनेसे उन्होंने मेरे पिताका वध कर दिया ॥ १२ ॥

मम पित्रा निरुद्धो हि सुग्रीवः सचिवैः सह ।
निहत्य वालिनं रामस्ततस्तमभिषेचयत् ॥ १३ ॥

'मेरे पिताने मन्त्रियोंसहित सुग्रीवको राज्य-सुखसे वञ्चित कर दिया था। इसलिये श्रीरामचन्द्रजीने मेरे पिता वालीको मारकर सुग्रीवका अभिषेक करवाया ॥ १३ ॥

स राज्ये स्थापितस्तेन सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
राजा वानरमुख्यानां तेन प्रस्थापिता वयम् ॥ १४ ॥

'उन्होंने ही सुग्रीवको वालीके राज्यपर स्थापित किया। अब सुग्रीव वानरोंके स्वामी हैं। मुख्य-मुख्य वानरोंके भी राजा हैं। उन्होंने हमें सीताकी खोजके लिये भेजा है ॥१४॥

एवं रामप्रयुक्तास्तु मार्गमाणास्ततस्ततः ।
वैदेहीं नाधिगच्छामो रात्रौ सूर्यप्रभामिव ॥ १५ ॥

'इस तरह श्रीरामसे प्रेरित होकर हमलोग इधर-उधर विदेहकुमारी सीताको खोजते-फिरते हैं, किंतु अबतक उनका पता नहीं लगा। जैसे रातमें सूर्यकी प्रभाका दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार हमें इस वनमें जानकीका दर्शन नहीं हुआ ॥ १५ ॥

ते वयं दण्डकारण्यं विचित्य सुसमाहिताः ।
अज्ञानात् तु प्रविष्टाः स्म धरण्या विवृतं बिलम् ॥ १६ ॥

'हमलोग अपने मनको एकाग्र करके दण्डकारण्यमें भलीभाँति खोज करते हुए अज्ञानवश पृथ्वीके एक खुले हुए विवरमें घुस गये ॥ १६ ॥

मयस्य मायाविहितं तद् बिलं च विचिन्वताम् ।
व्यतीतस्तत्र नो मासो यो राज्ञा समयः कृतः ॥ १७ ॥

'वह विवर मयासुरकी मायासे निर्मित हुआ है। उसमें खोजते-खोजते हमारा एक मास बीत गया, जिसे राजा सुग्रीवने हमारे लौटनेके लिये अवधि निश्चित किया था ॥ १७ ॥

ते वयं कपिराजस्य सर्वे वचनकारिणः ।
कृतां संस्थामतिक्रान्ता भयात् प्रायमुपासिताः ॥ १८ ॥

'हम सब लोग कपिराज सुग्रीवके आज्ञाकारी हैं, किंतु उनके द्वारा नियत की हुई अवधिको लाँघ गये हैं। अतः उन्हींके भयसे हम यहाँ आमरण उपवास कर रहे हैं ॥ १८ ॥

क्रुद्धे तस्मिंस्तु काकुत्स्थे सुग्रीवे च सलक्ष्मणे ।
गतानामपि सर्वेषां तत्र नो नास्ति जीवितम् ॥ १९ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीव तीनों हमपर कुपित होंगे। उस दशामें वहाँ लौट जानेके बाद भी हम सबके प्राण नहीं बच सकते' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

सम्पातिका अपने पंख जलनेकी कथा सुनाना, सीता और रावणका पता बताना तथा वानरोंकी सहायतासे समुद्र-तटपर जाकर भाईको जलाञ्जलि देना

इत्युक्तः करुणं वाक्यं वानरैस्त्यक्तजीवितैः ।
सबाष्पो वानरान् गृध्रः प्रत्युवाच महास्वनः ॥ १ ॥

जीवनकी आशा त्यागकर बैठे हुए वानरोंके मुखसे यह करुणाजनक बात सुनकर सम्पातिके नेत्रोंमें आँसू आ गये। उन्होंने उच्चस्वरसे उत्तर दिया ॥ १ ॥

यवीयान् स मम भ्राता जटायुर्नाम वानराः ।
यमाख्यात हतं युद्धे रावणेन बलीयसा ॥ २ ॥

'वानरो ! तुम जिसे महाबली रावणके द्वारा युद्धमें मारा गया बता रहे हो, वह जटायु मेरा छोटा भाई था ॥ २ ॥

वृद्धभावादपक्षत्वाच्छृण्वंस्तदपि मर्षये ।
नहि मे शक्तिरस्त्यद्य भ्रातुर्वैरविमोक्षणे ॥ ३ ॥

'मैं बूढ़ा हुआ। मेरे पंख जल गये। इसलिये अब मुझमें अपने भाईके वैरका बदला लेनेकी शक्ति नहीं रह गयी है। यही कारण है कि यह अप्रिय बात सुनकर भी मैं चुपचाप सहे लेता हूँ ॥ ३ ॥

पुरा वृत्रवधे वृत्ते स चाहं च जयैषिणौ ।
आदित्यमुपयातौ स्वो ज्वलन्तं रश्मिमालिनम् ॥ ४ ॥
आवृत्याकाशमार्गेण जवेन स्वर्गतौ भृशम् ।
मध्यं प्राप्ते तु सूर्ये तु जटायुरवसीदति ॥ ५ ॥

'पहलेकी बात है जब इन्द्रके द्वारा वृत्रासुरका वध हो गया, तब इन्द्रको प्रबल जानकर हम दोनों भाई उन्हें जीतनेकी इच्छासे पहले आकाशमार्गके द्वारा बड़े वेगसे स्वर्गलोकमें गये। इन्द्रको जीतकर लौटते समय हम दोनों ही स्वर्गको प्रकाशित करनेवाले अंशुमाली सूर्यके पास आये। हममेंसे जटायु सूर्यके मध्याह्नकालमें उनके तेजसे शिथिल होने लगा ॥ ४-५ ॥

तमहं भ्रातरं दृष्ट्वा सूर्यरश्मिभिरर्दितम् ।
पक्षाभ्यां छादयामास स्नेहात् परमविह्वलम् ॥ ६ ॥

'भाईको सूर्यकी किरणोंसे पीड़ित और अत्यन्त व्याकुल देख मैंने स्नेहवश अपने दोनों पंखोंसे उसे ढक लिया ॥६॥

निर्दग्धपत्रः पतितो विन्ध्येऽहं वानरर्षभाः ।
अहमस्मिन् वसन् भ्रातुः प्रवृत्तिं नोपलक्षये ॥ ७ ॥

'वानरशिरोमणियो ! उस समय मेरे दोनों पंख जल गये और मैं इस विन्ध्य पर्वतपर गिर पड़ा। यहाँ रहकर मैं कभी अपने भाईका समाचार न पा सका (आज पहले-पहल तुम लोगोंके मुखसे उसके मारे जानेकी बात मालूम हुई)' ॥७॥

जटायुषस्त्वेवमुक्तो भ्रात्रा सम्पातिना तदा ।
युवराजो महाप्राज्ञः प्रत्युवाचाङ्गदस्तदा ॥ ८ ॥

जटायुके भाई सम्पातिके उस समय ऐसा कहनेपर परम बुद्धिमान् युवराज अङ्गदने उनसे इस प्रकार कहा— ॥ ८ ॥

जटायुषो यदि भ्राता श्रुतं ते गदितं मया ।
आख्याहि यदि जानासि निलयं तस्य रक्षसः ॥ ९ ॥

'गृध्रराज ! यदि आप जटायुके भाई हैं, यदि आपने मेरी कही हुई बातें सुनी हैं और यदि आप उस राक्षसका निवासस्थान जानते हैं तो हमें बताइये ॥ ९ ॥

अदीर्घदर्शिनं तं वै रावणं राक्षसाधमम् ।
अन्तिके यदि वा दूरे यदि जानासि शंस नः ॥ १० ॥

'वह अदूरदर्शी नीच राक्षस रावण यहाँसे निकट हो या दूर यदि आप जानते हैं तो हमें उसका पता बता दें' ॥१०॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा भ्राता ज्येष्ठो जटायुषः ।
आत्मानुरूपं वचनं वानरान् सम्प्रहर्षयन् ॥ ११ ॥

तब जटायुके बड़े भाई महातेजस्वी सम्पातिने वानरोंका हर्ष बढ़ाते हुए अपने अनुरूप बात कही— ॥ ११ ॥

निर्दग्धपक्षो गृध्रोऽहं गतवीर्यः प्लवङ्गमाः ।
वाङ्मात्रेण तु रामस्य करिष्ये साह्यमुत्तमम् ॥ १२ ॥

'वानरो ! मेरे पंख जल गये। अब मैं बे-परका गीध हूँ। मेरी शक्ति जाती रही (अतः मैं शरीरसे तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकता; तथापि) वचनमात्रसे भगवान् श्रीरामकी उत्तम सहायता अवश्य करूँगा ॥ १२ ॥

जानामि वारुणाँल्लोकान् विष्णोस्त्रैविक्रमानपि ।
देवासुरविमर्दांश्च ह्यमृतस्य विमन्थनम् ॥ १३ ॥

'मैं वरुणके लोकोंको जानता हूँ । वामनावतारके समय भगवान् विष्णुने जहाँ-जहाँ अपने तीन पग रक्खे थे, उन स्थानोंका भी मुझे ज्ञान है । अमृत-मन्थन तथा देवासुर-संग्राम भी मेरी देखी और जानी हुई घटनाएँ हैं ॥ १३ ॥

रामस्य यदिदं कार्यं कर्तव्यं प्रथमं मया ।
जरया च हृतं तेजः प्राणाश्च शिथिला मम ॥ १४ ॥

'यद्यपि वृद्धावस्थाने मेरा तेज हर लिया है और मेरी प्राणशक्ति शिथिल हो गयी है तथापि श्रीरामचन्द्रजीका यह कार्य मुझे सबसे पहले करना है ॥ १४ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन दुरात्मना ॥ १५ ॥

'एक दिन मैंने भी देखा, दुरात्मा रावण सब प्रकारके गहनोंसे सजी हुई एक रूपवती युवतीको हरकर लिये जा रहा था ॥ १५ ॥

क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च भामिनी ।
भूषणान्यपविध्यन्ती गात्राणि च विधुन्वती ॥ १६ ॥

'वह मानिनी देवी 'हा राम ! हा राम ! हा लक्ष्मण' की रट लगाती हुई अपने गहने फेंकती और अपने शरीरके अवयवोंको कम्पित करती हुई छटपटा रही थी ॥ १६ ॥

सूर्यप्रभेव शैलाग्रे तस्याः कौशेयमुत्तमम् ।
असिते राक्षसे भाति यथा वा तडिदम्बुदे ॥ १७ ॥

'उसका सुन्दर रेशमी पीताम्बर उदयाचलके शिखरपर फैली हुई सूर्यकी प्रभाके समान सुशोभित होता था । वह उस काले राक्षसके समीप बादलोंमें चमकती हुई बिजलीके समान प्रकाशित हो रही थी ॥ १७ ॥

तां तु सीतामहं मन्ये रामस्य परिकीर्तनात् ।
श्रूयतां मे कथयतो निलयं तस्य रक्षसः ॥ १८ ॥

'श्रीरामका नाम लेनेसे मैं समझता हूँ, वह सीता ही थी । अब मैं उस राक्षसके घरका पता बताता हूँ, सुनो ॥१८॥

पुत्रो विश्रवसः साक्षाद् भ्राता वैश्रवणस्य च ।
अध्यास्ते नगरीं लङ्कां रावणो नाम राक्षसः ॥ १९ ॥

'रावण नामक राक्षस महर्षि विश्रवाका पुत्र और साक्षात् कुबेरका भाई है । वह लङ्का नामवाली नगरीमें निवास करता है ॥ १९ ॥

इतो द्वीपे समुद्रस्य सम्पूर्णे शतयोजने ।
तस्मिँल्लङ्का पुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ २० ॥

'यहाँसे पूरे चार सौ कोसके अन्तरपर समुद्रमें एक द्वीप है, जहाँ विश्वकर्माने अत्यन्त रमणीय लङ्कापुरीका निर्माण किया है ॥ २० ॥

जाम्बूनदमयैर्द्वारैश्चित्रैः काञ्चनवेदिकैः ।
प्रासादैर्हेमवर्णैश्च महद्भिः सुसमाकृता ॥ २१ ॥

'उसके विचित्र दरवाजे और बड़े-बड़े महल सुवर्णके बने हुए हैं । उनके भीतर सोनेके चबूतरे या वेदियाँ हैं ॥ २१ ॥

प्राकारेणार्कवर्णेन महता च समन्विता ।
तस्यां वसति वैदेही दीना कौशेयवासिनी ॥ २२ ॥

'उस नगरीकी चहारदीवारी बहुत बड़ी है और सूर्यकी भाँति चमकती रहती है । उसीके भीतर पीले रंगकी रेशमी साड़ी पहने विदेहकुमारी सीता बड़े दुःखसे निवास करती हैं ॥ २२ ॥

रावणान्तःपुरे रुद्धा राक्षसीभिः सुरक्षिता ।
जनकस्यात्मजां राजस्तस्यां द्रक्ष्यथ मैथिलीम् ॥ २३ ॥

'रावणके अन्तःपुरमें नजरबंद हैं । बहुत-सी राक्षसियाँ उनके पहरेपर तैनात हैं । वहाँ पहुँचनेपर तुमलोग राजा जनककी कन्या मैथिली सीताको देख सकोगे ॥ २३ ॥

लङ्कायामथ गुप्तायां सागरेण समन्ततः ।
सम्प्राप्य सागरस्यान्तं सम्पूर्णं शतयोजनम् ॥ २४ ॥
आसाद्य दक्षिणं तीरं ततो द्रक्ष्यथ रावणम् ।
तत्रैव त्वरिताः क्षिप्रं विक्रमध्वं प्लवङ्गमाः ॥ २५ ॥

'लङ्का चारों ओरसे समुद्रके द्वारा सुरक्षित है । पूरे सौ योजन समुद्रको पार करके उसके दक्षिण तटपर पहुँचनेपर तुमलोग रावणको देख सकोगे । अतः वानरो ! समुद्रको पार करनेमें ही तुरंत शीघ्रतापूर्वक अपने पराक्रमका परिचय दो ॥ २४-२५ ॥

ज्ञानेन खलु पश्यामि दृष्ट्वा प्रत्यागमिष्यथ ।
आद्यः पन्थाः कुलिङ्गानां ये चान्ये धान्यजीविनः ॥२६॥

'निश्चय ही मैं ज्ञानदृष्टिसे देखता हूँ । तुमलोग सीताका दर्शन करके लौट आओगे । आकाशका पहला मार्ग गौरैयों तथा अन्न खानेवाले कबूतर आदि पक्षियोंका है ॥ २६ ॥

द्वितीयो बलिभोजानां ये च वृक्षफलाशनाः ।
भासास्तृतीयं गच्छन्ति क्रौञ्चाश्च कुररैः सह ॥ २७ ॥

'उससे ऊपरका दूसरा मार्ग कौओं तथा वृक्षोंके फल खाकर रहनेवाले दूसरे-दूसरे पक्षियोंका है । उससे भी ऊँचा जो आकाशका तीसरा मार्ग है, उससे चील, क्रौञ्च और कुरर आदि पक्षी जाते हैं ॥ २७ ॥

श्येनाश्चतुर्थं गच्छन्ति गृध्रा गच्छन्ति पञ्चमम् ।
बलवीर्योपपन्नानां रूपयौवनशालिनाम् ॥ २८ ॥
षष्ठस्तु पन्था हंसानां वैनतेयगतिः परा ।
वैनतेयाच्च नो जन्म सर्वेषां वानरर्षभाः ॥ २९ ॥

'बाज चौथे और गीध पाँचवें मार्गसे उड़ते हैं । रूप, बल और पराक्रमसे सम्पन्न तथा यौवनसे सुशोभित होनेवाले

हंसोंका छठा मार्ग है। उनसे भी ऊँची उड़ान गरुड़की है। वानरशिरोमणियो! हम सबका जन्म गरुड़से ही हुआ है॥ २८-२९॥

गर्हितं तु कृतं कर्म येन स पिशिताशिनः।
प्रतिकार्यं च मे तस्य वैरं भ्रातृकृतं भवेत्॥ ३०॥

'परंतु पूर्वजन्ममें हमसे कोई निन्दित कर्म बन गया था, जिससे इस समय हमें मांसाहारी होना पड़ा है। तुमलोगोंकी सहायता करके मुझे रावणसे अपने भाईके वैरका बदला लेना है॥ ३०॥

इहस्थोऽहं प्रपश्यामि रावणं जानकीं तथा।
अस्माकमपि सौपर्णं दिव्यं चक्षुर्बलं तथा॥ ३१॥

'मैं यहींसे रावण और जानकीको देखता हूँ। हम लोगोंमें भी गरुड़की भाँति दूरतक देखनेकी दिव्य शक्ति है॥

तस्मादाहारवीर्येण निसर्गेण च वानराः।
आयोजनशतात् साग्राद् वयं पश्याम नित्यशः॥ ३२॥

'इसलिये वानरो! हम भोजनजनित बलसे तथा स्वाभाविक शक्तिसे भी सदा सौ योजन और उससे आगेतक भी देख सकते हैं॥ ३२॥

अस्माकं विहिता वृत्तिर्निसर्गेण च दूरतः।
विहिता वृक्षमूले तु वृत्तिश्चरणयोधिनाम्॥ ३३॥

'जातीय स्वभावके अनुसार हमलोगोंकी जीविका-वृत्ति दूरसे देखे गये दूरस्थ भक्ष्यविशेषके द्वारा नियत की गयी है तथा जो कुक्कुट आदि पक्षी हैं, उनकी जीवन-वृत्ति वृक्षकी जड़तक ही सीमित है—वे वहींतक उपलब्ध होनेवाली वस्तुसे जीवन-निर्वाह करते हैं॥ ३३॥

उपायो दृश्यतां कश्चिल्लङ्घने लवणाम्भसः।
अभिगम्य तु वैदेहीं समृद्धार्था गमिष्यथ॥ ३४॥

'अब तुम इस खारे पानीके समुद्रको लाँघनेका कोई उपाय सोचो। विदेहकुमारी सीताके पास जा सफलमनोरथ होकर किष्किन्धापुरीको लौटोगे॥ ३४॥

समुद्रं नेतुमिच्छामि भवद्भिर्वरुणालयम्।
प्रदास्याम्युदकं भ्रातुः स्वर्गतस्य महात्मनः॥ ३५॥

'अब मैं तुम्हारी सहायतासे समुद्रके किनारे चलना चाहता हूँ। वहाँ अपने स्वर्गवासी भाई महात्मा जटायुको जलाञ्जलि प्रदान करूँगा'॥ ३५॥

ततो नीत्वा तु तं देशं तीरे नदनदीपतेः।
निर्दग्धपक्षं सम्पातिं वानराः सुमहौजसः॥ ३६॥
तं पुनः प्रापयित्वा च तं देशं पतगेश्वरम्।
बभूवुर्वानरा हृष्टाः प्रवृत्तिमुपलभ्य ते॥ ३७॥

यह सुनकर महापराक्रमी वानरोंने जले पंखवाले पक्षिराज सम्पातिको उठाकर समुद्रके किनारे पहुँचा दिया और जलाञ्जलि देनेके पश्चात् वे पुनः उनको वहाँसे उठाकर उनके रहनेके स्थानपर ले आये। उनके मुखसे सीताका समाचार जानकर उन सभी वानरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ३६-३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे अष्टपञ्चाशः सर्गः॥ ५८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५८॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

सम्पातिका अपने पुत्र सुपार्श्वके मुखसे सुनी हुई सीता और रावणको देखनेकी घटनाका वृत्तान्त बताना

ततस्तदमृतास्वादं गृध्रराजेन भाषितम्।
निशम्य वदता हृष्टास्ते वचः प्लवगर्षभाः॥ १॥

उस समय वार्तालाप करते हुए गृध्रराजके द्वारा कहे गये उस अमृतके समान स्वादिष्ट मधुर वचनको सुनकर सब वानरश्रेष्ठ हर्षसे खिल उठे॥ १॥

जाम्बवान् वानरश्रेष्ठः सह सर्वैः प्लवङ्गमैः।
भूतलात् सहसोत्थाय गृध्रराजानमब्रवीत्॥ २॥

वानरों और भालुओंमें श्रेष्ठ जाम्बवान् सब वानरोंके साथ सहसा भूतलसे उठकर खड़े हो गये और गृध्रराजसे इस प्रकार पूछने लगे—॥ २॥

क्व सीता केन वा दृष्टा को वा हरति मैथिलीम्।
तदाख्यातु भवान् सर्वं गतिर्भव वनौकसाम्॥ ३॥

'पक्षिराज! सीता कहाँ हैं? किसने उन्हें देखा है? और कौन उन मिथिलेशकुमारीको हरकर ले गया है? ये सब बातें बताइये और हम सब वनवासी वानरोंके आश्रयदाता होइये॥ ३॥

को दाशरथिबाणानां वज्रवेगनिपातिनाम्।
स्वयं लक्ष्मणमुक्तानां न चिन्तयति विक्रमम्॥ ४॥

'कौन ऐसा धृष्ट है, जो वज्रके समान वेगपूर्वक चोट करनेवाले दशरथनन्दन श्रीरामके बाणों तथा स्वयं लक्ष्मणके चलाये हुए सायकोंके पराक्रमको कुछ नहीं समझता है?'॥ ४॥

स हरीन् प्रतिसम्मुक्तान् सीताश्रुतिसमाहितान्।
पुनराश्वासयन् प्रीत इदं वचनमब्रवीत्॥ ५॥

उस समय उपवास छोड़कर बैठे और सीताजीका

वृत्तान्त सुननेके लिये एकाग्र हुए उन वानरोंको प्रसन्नतापूर्वक पुनः आश्वासन देते हुए सम्पातिने उनसे यह बात कही—॥ ५ ॥

श्रूयतामिह वैदेह्या यथा मे हरणं श्रुतम्।
येन चापि ममाख्यातं यत्र चायतलोचना ॥ ६ ॥

'वानरो ! विदेहकुमारी सीताका जिस प्रकार अपहरण हुआ है, विशाललोचना सीता इस समय जहाँ है और जिसने मुझसे यह सब वृत्तान्त कहा है एवं जिस तरह मैंने सुना है, वह सब बताता हूँ, सुनो ॥ ६ ॥

अहमस्मिन् गिरौ दुर्गे बहुयोजनमायते।
चिरान्निपतितो वृद्धः क्षीणप्राणपराक्रमः ॥ ७ ॥

'यह दुर्गम पर्वत कई योजनोंतक फैला है। दीर्घकाल हुआ, जब मैं इस पर्वतपर गिरा था। मेरी प्राणशक्ति क्षीण हो गयी थी और मैं वृद्ध था ॥ ७ ॥

तं मामेवंगतं पुत्रः सुपार्श्वो नाम नामतः।
आहारेण यथाकालं बिभर्ति पततां वरः ॥ ८ ॥

'इस अवस्थामें मेरा पुत्र पक्षिप्रवर सुपार्श्व ही यथासमय आहार देकर प्रतिदिन मेरा भरण-पोषण करता है ॥८॥

तीक्ष्णकामास्तु गन्धर्वास्तीक्ष्णकोपा भुजङ्गमाः।
मृगाणां तु भयं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णक्षुधा वयम् ॥ ९ ॥

'जैसे गन्धर्वोंका कामभाव तीव्र होता है, सर्पोंका क्रोध तेज होता है और मृगोंको भय अधिक होता है, उसी प्रकार हमारी जातिके लोगोंकी भूख बड़ी तीव्र होती है ॥ ९ ॥

स कदाचित् क्षुधार्तस्य ममाहाराभिकाङ्क्षिणः।
गतसूर्येऽहनि प्राप्तो मम पुत्रो ह्यनामिषः ॥ १० ॥

'एक दिनकी बात है मैं भूखसे पीड़ित होकर आहार प्राप्त करना चाहता था। मेरा पुत्र मेरे लिये भोजनकी तलाशमें निकला था, किंतु सूर्यास्त होनेके बाद वह खाली हाथ लौट आया, उसे कहीं मांस नहीं मिला ॥ १० ॥

स मयाऽऽहारसंरोधात् पीडितः प्रीतिवर्धनः।
अनुमान्य यथातत्त्वमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

'भोजन न मिलनेसे मैंने कठोर बातें सुनाकर अपनी प्रीति बढ़ानेवाले उस पुत्रको बहुत पीड़ा दी, किंतु उसने नम्रतापूर्वक मुझे आदर देते हुए यह यथार्थ बात कही—॥

अहं तात यथाकालमामिषार्थी खमाप्लुतः।
महेन्द्रस्य गिरेर्द्वारमावृत्य सुसमाश्रितः ॥ १२ ॥

'तात ! मैं यथासमय मांस प्राप्त करनेकी इच्छासे आकाशमें उड़ा और महेन्द्र पर्वतके द्वारको रोककर खड़ा हो गया ॥ १२ ॥

तत्र सत्त्वसहस्राणां सागरान्तरचारिणाम्।
पन्थानमेकोऽध्यवसं संनिरोद्धुमवाङ्मुखः ॥ १३ ॥

'वहाँ अपनी चोंच नीची करके मैं समुद्रके भीतर विचरनेवाले सहस्रों जन्तुओंके मार्गको रोकनेके लिये अकेला ठहर गया ॥ १३ ॥

तत्र कश्चिन्मया दृष्टः सूर्योदयसमप्रभाम्।
स्त्रियमादाय गच्छन् वै भिन्नाञ्जनचयोपमः ॥ १४ ॥

'उस समय मैंने देखा खानमें काटकर निकाले हुए कोयलेकी राशिके समान काला कोई पुरुष एक स्त्रीको लेकर जा रहा है। उस स्त्रीकी कान्ति सूर्योदयकालकी प्रभाके समान प्रकाशित हो रही थी ॥ १४ ॥

सोऽहमभ्यवहारार्थं तौ दृष्ट्वा कृतनिश्चयः।
तेन साम्ना विनीतेन पन्थानमनुयाचितः ॥ १५ ॥

'उस स्त्री और उस पुरुषको देखकर मैंने उन्हें आपके आहारके लिये लानेका निश्चय किया, किंतु उस पुरुषने नम्रतापूर्वक मधुर वाणीमें मुझसे मार्गकी याचना की ॥ १५ ॥

नहि सामोपपन्नानां प्रहर्ता विद्यते भुवि।
नीचेष्वपि जनः कश्चित् किमङ्ग बत मद्विधः ॥ १६ ॥

'पिताजी ! भूतलपर नीच पुरुषोंमें भी कोई ऐसा नहीं है, जो विनयपूर्वक मीठे वचन बोलनेवालोंपर प्रहार करे। फिर मुझ-जैसा कुलीन पुरुष कैसे कर सकता है ? ॥ १६ ॥

स यातस्तेजसा व्योम संक्षिपन्निव वेगितः।
अथाहं खेचरैर्भूतैरभिगम्य सभाजितः ॥ १७ ॥

'फिर तो वह तेजसे आकाशको व्याप्त करता हुआ-सा वेगपूर्वक चला गया। उसके चले जानेपर आकाशचारी प्राणी सिद्ध-चारण आदिने आकर मेरा बड़ा सम्मान किया ॥ १७ ॥

दिष्ट्या जीवति सीतेति ह्यब्रुवन् मां महर्षयः।
कथंचित् सकलत्रोऽसौ गतस्ते स्वस्त्यसंशयम् ॥ १८ ॥

'वे महर्षि मुझसे बोले—'सौभाग्यकी बात है कि सीता जीवित हैं। तुम्हारी दृष्टि पड़नेपर भी स्त्रीके साथ आया हुआ वह पुरुष किसी तरह सकुशल बच गया; अतः अवश्य तुम्हारा कल्याण हो' ॥ १८ ॥

एवमुक्तस्ततोऽहं तैः सिद्धैः परमशोभनैः।
स च मे रावणो राजा रक्षसां प्रतिवेदितः ॥ १९ ॥

'उन परम शोभायमान सिद्ध पुरुषोंने मुझसे ऐसा कहा, तत्पश्चात् उन्होंने यह भी बताया कि 'वह काला पुरुष राक्षसोंका राजा रावण था' ॥ १९ ॥

पश्यन् दाशरथेर्भार्यां रामस्य जनकात्मजाम्।
भ्रष्टाभरणकौशेयां शोकवेगपराजिताम् ॥ २० ॥
रामलक्ष्मणयोर्नाम क्रोशन्तीं मुक्तमूर्धजाम्।
एष कालात्ययस्तात इति वाक्यविदां वरः ॥ २१ ॥
एतदर्थं समग्रं मे सुपार्श्वः प्रत्यवेदयत्।
तच्छ्रुत्वापि हि मे बुद्धिर्नासीत् काचित् पराक्रमे ॥ २२ ॥

'तात ! दशरथनन्दन श्रीरामकी पत्नी जनककिशोरी सीता शोकके वेगसे पराजित हो गयी थीं। उनके आभूषण गिर रहे थे और रेशमी वस्त्र भी सिरसे खिसक गया था। उनके केश खुले हुए थे और वे श्रीराम तथा लक्ष्मणका नाम ले-लेकर उन्हें पुकार रही थीं। मैं उनकी इस दयनीय दशाको देखता रह गया। यही मेरे विलम्बसे आनेका कारण है।' इस प्रकार बातचीतकी कला जाननेवालोंमें श्रेष्ठ सुपार्श्वने मेरे सामने इन सारी बातोंका वर्णन किया। यह सब सुनकर भी मेरे हृदयमें पराक्रम कर दिखानेका कोई विचार नहीं उठा ॥ २०-२२ ॥

अपक्षो हि कथं पक्षी कर्म किंचित् समारभेत्।
यत् तु शक्यं मया कर्तुं वाग्बुद्धिगुणवर्तिना ॥ २३ ॥
श्रूयतां तत्र वक्ष्यामि भवतां पौरुषाश्रयम्।

'बिना पंखका पक्षी कैसे कोई पराक्रम कर सकता है? अपनी वाणी और बुद्धिके द्वारा साध्य जो उपकाररूप गुण है, उसे करना मेरा स्वभाव बन गया है। ऐसे स्वभावसे मैं जो कुछ कर सकता हूँ, वह कार्य तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो। वह कार्य तुमलोगोंके पुरुषार्थसे ही सिद्ध होनेवाला है ॥ २३½ ॥

वाङ्मतिभ्यां हि सर्वेषां करिष्यामि प्रियं हि वः ॥ २४ ॥
यद्धि दाशरथेः कार्यं मम तन्नात्र संशयः।

'मैं वाणी और बुद्धिके द्वारा तुम सब लोगोंका प्रिय कार्य अवश्य करूँगा, क्योंकि दशरथनन्दन श्रीरामका जो कार्य है, वह मेरा ही है—इसमें संशय नहीं है ॥ २४½ ॥

तद् भवन्तो मतिश्रेष्ठा बलवन्तो मनस्विनः ॥ २५ ॥
प्रहिताः कपिराजेन देवैरपि दुरासदाः।

'तुमलोग भी उत्तम बुद्धिसे युक्त, बलवान्, मनस्वी तथा देवताओंके लिये भी दुर्जय हो। इसीलिये वानरराज सुग्रीवने तुम्हें इस कार्यके लिये भेजा है ॥ २५½ ॥

रामलक्ष्मणबाणाश्च विहिताः कङ्कपत्रिणः ॥ २६ ॥
त्रयाणामपि लोकानां पर्याप्तास्त्राणनिग्रहे।

'श्रीराम और लक्ष्मणके कङ्कपत्रसे युक्त जो बाण हैं, वे साक्षात् विधाताके बनाये हुए हैं। वे तीनों लोकोंका संरक्षण और दमन करनेके लिये पर्याप्त शक्ति रखते हैं ॥ २६½ ॥

कामं खलु दशग्रीवस्तेजोबलसमन्वितः।
भवतां तु समर्थानां न किंचिदपि दुष्करम् ॥ २७ ॥

'तुम्हारा विपक्षी दशग्रीव रावण भले ही तेजस्वी और बलवान् है, किंतु तुम-जैसे सामर्थ्यशाली वीरोंके लिये उसे परास्त करना आदि कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है ॥ २७ ॥

तदलं कालसङ्गेन क्रियतां बुद्धिनिश्चयः।
नहि कर्मसु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ २८ ॥

'अतः अब अधिक समय बितानेकी आवश्यकता नहीं है। अपनी बुद्धिके द्वारा दृढ़ निश्चय करके सीताके दर्शनके लिये उद्योग करो; क्योंकि तुम-जैसे बुद्धिमान् लोग कार्योंकी सिद्धिमें विलम्ब नहीं करते हैं' ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

सम्पातिकी आत्मकथा

ततः कृतोदकं स्नातं तं गृध्रं हरियूथपाः।
उपविष्टा गिरौ रम्ये परिवार्य समन्ततः ॥ १ ॥

गृध्रराज सम्पाति अपने भाईको जलाञ्जलि देकर जब स्नान कर चुके, तब उस रमणीय पर्वतपर वे समस्त वानर-यूथपति उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ १ ॥

तमङ्गदमुपासीनं तैः सर्वैर्हरिभिर्वृतम्।
जनितप्रत्ययो हर्षात् सम्पातिः पुनरब्रवीत् ॥ २ ॥

उन समस्त वानरोंसे घिरे हुए अङ्गद उनके पास बैठे थे। सम्पातिने सबके हृदयमें अपनी ओरसे विश्वास पैदा कर दिया था। वे हर्षोत्फुल्ल होकर फिर इस प्रकार कहने लगे—॥ २ ॥

कृत्वा निःशब्दमेकाग्राः शृण्वन्तु हरयो मम।
तथ्यं संकीर्तयिष्यामि यथा जानामि मैथिलीम् ॥ ३ ॥

'सब वानर एकाग्रचित्त एवं मौन होकर मेरी बात सुनो। मैं मिथिलेशकुमारीको जिस प्रकार जानता हूँ, वह सारा प्रसङ्ग ठीक-ठीक बता रहा हूँ, ॥ ३ ॥

अस्य विन्ध्यस्य शिखरे पतितोऽस्मि पुरानघ।
सूर्यतापपरीताङ्गो निर्दग्धः सूर्यरश्मिभिः ॥ ४ ॥

'निष्पाप अङ्गद! प्राचीन कालमें मैं सूर्यकी किरणोंसे झुलसकर इस विन्ध्यपर्वतके शिखरपर गिरा था। उस समय मेरे सारे अङ्ग सूर्यके प्रचण्ड तापसे संतप्त हो रहे थे ॥ ४ ॥

लब्धसंज्ञस्तु षड्रात्राद् विवशो विह्वलन्निव।
वीक्षमाणो दिशः सर्वा नाभिजानामि किंचन ॥ ५ ॥

'छः रातें बीतनेपर जब मुझे होश हुआ और मैं विवश एवं विह्वल-सा होकर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखने लगा, तब सहसा किसी भी वस्तुको मैं पहचान न सका ॥ ५ ॥

ततस्तु सागराञ्शैलान् नदीः सर्वाः सरांसि च।
वनानि च प्रदेशांश्च निरीक्ष्य मतिरागता ॥ ६ ॥

'तदनन्तर धीरे-धीरे समुद्र, पर्वत, समस्त नदी, सरोवर, वन और यहाँके विभिन्न प्रदेशोंपर दृष्टि डाली, तब मेरी स्मरण-शक्ति लौटी ॥ ६ ॥

हृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरोदरकूटवान्।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चितः ॥ ७ ॥

'फिर मैंने निश्चय किया कि यह दक्षिण समुद्रके तटपर स्थित विन्ध्यपर्वत है, जो हर्षोत्फुल्ल विहंगमोंके समुदायसे व्याप्त है। यहाँ बहुत-सी कन्दराएँ, गुफाएँ और शिखर हैं ॥ ७ ॥

आसीच्चात्राश्रमं पुण्यं सुरैरपि सुपूजितम्।
ऋषिर्निशाकरो नाम यस्मिन्नुग्रतपाऽभवत् ॥ ८ ॥

'पूर्वकालमें यहाँ एक पवित्र आश्रम था, जिसका देवता भी बड़ा सम्मान करते थे। उस आश्रममें निशाकर (चन्द्रमा) नामधारी एक ऋषि रहते थे, जो बड़े ही उग्र तपस्वी थे ॥ ८ ॥

अष्टौ वर्षसहस्राणि तेनास्मिन्नृषिणा गिरौ।
वसतो मम धर्मज्ञे स्वर्गते तु निशाकरे ॥ ९ ॥

'वे धर्मज्ञ निशाकर मुनि अब स्वर्गवासी हो चुके हैं। उन महर्षिके बिना इस पर्वतपर रहते हुए मेरे आठ हजार वर्ष बीत गये ॥ ९ ॥

अवतीर्य च विन्ध्याग्रात् कृच्छ्रेण विषमाच्छनैः।
तीक्ष्णदर्भां वसुमतीं दुःखेन पुनरागतः ॥ १० ॥

'होशमें आनेके बाद मैं इस पर्वतके नीचे-ऊँचे शिखरसे धीरे-धीरे बड़े कष्टके साथ भूमिपर उतरा, उस समय ऐसे स्थानपर आ पहुँचा, जहाँ तीखे कुश उगे हुए थे। फिर वहाँसे भी कष्ट सहन करता हुआ आगे बढ़ा ॥ १० ॥

तमृषिं द्रष्टुकामोऽस्मि दुःखेनाभ्यागतो भृशम्।
जटायुषा मया चैव बहुशोऽधिगतो हि सः ॥ ११ ॥

मैं उन महर्षिका दर्शन करना चाहता था, इसीलिये अत्यन्त कष्ट उठाकर वहाँ गया था। इसके पहले मैं और जटायु दोनों कई बार उनसे मिल चुके थे ॥ ११ ॥

तस्याश्रमपदाभ्याशे ववुर्वाताः सुगन्धिनः।
वृक्षो नापुष्पितः कश्चिदफलो वा न दृश्यते ॥ १२ ॥

'उनके आश्रमके समीप सदा सुगन्धित वायु चलती थी। वहाँका कोई भी वृक्ष फल अथवा फूलसे रहित नहीं देखा जाता था ॥ १२ ॥

उपेत्य चाश्रमं पुण्यं वृक्षमूलमुपाश्रितः।
द्रष्टुकामः प्रतीक्षे च भगवन्तं निशाकरम् ॥ १३ ॥

'उस पवित्र आश्रमपर पहुँचकर मैं एक वृक्षके नीचे ठहर गया और भगवान् निशाकरके दर्शनकी इच्छासे उनके आनेकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ १३ ॥

अथ पश्यामि दूरस्थमृषिं ज्वलिततेजसम्।
कृताभिषेकं दुर्धर्षमुपावृत्तमुदङ्मुखम् ॥ १४ ॥

'थोड़ी ही देरमें महर्षि मुझे दूरसे आते दिखायी दिये। वे अपने तेजसे दिप रहे थे और स्नान करके उत्तरकी ओर लौटे आ रहे थे। उनका तिरस्कार करना किसीके लिये भी कठिन था ॥ १४ ॥

तमृक्षाः सृमरा व्याघ्राः सिंहा नानासरीसृपाः।
परिवार्योपगच्छन्ति दातारं प्राणिनो यथा ॥ १५ ॥

'अनेकानेक रीछ, हरिन, सिंह, बाघ और नाना प्रकारके सर्प उन्हें इस प्रकार घेरे आ रहे थे, जैसे याचना करनेवाले प्राणी दाताको घेरकर चलते हैं ॥ १५ ॥

ततः प्राप्तमृषिं ज्ञात्वा तानि सत्त्वानि वै ययुः।
प्रविष्टे राजनि यथा सर्वं सामात्यकं बलम् ॥ १६ ॥

'ऋषिको आश्रमपर आया जान वे सभी प्राणी लौट गये। ठीक उसी तरह, जैसे राजाके अपने महलमें चले जानेपर मन्त्रीसहित सारी सेना अपने-अपने विश्रामस्थानको लौट जाती है ॥ १६ ॥

ऋषिस्तु दृष्ट्वा मां तुष्टः प्रविष्टश्चाश्रमं पुनः।
मुहूर्तमात्रान्निर्गम्य ततः कार्यमपृच्छत ॥ १७ ॥

'ऋषि मुझे देखकर बड़े प्रसन्न हुए और अपने आश्रममें प्रवेश करके पुनः दो ही घड़ीमें बाहर निकल आये। फिर पास आकर उन्होंने मेरे आनेका प्रयोजन पूछा—॥ १७ ॥

सौम्य वैकल्यतां दृष्ट्वा रोम्णां ते नावगम्यते।
अग्निदग्धाविमौ पक्षौ प्राणाश्चापि शरीरके ॥ १८ ॥

'वे बोले—'सौम्य! तुम्हारे रोएँ गिर गये और दोनों पंख जल गये हैं। इसका कारण नहीं जान पड़ता। इतनेपर भी तुम्हारे शरीरमें प्राण टिके हुए हैं ॥ १८ ॥

गृध्रौ द्वौ दृष्टपूर्वौ मे मातरिश्वसमौ जवे।
गृध्राणां चैव राजानौ भ्रातरौ कामरूपिणौ ॥ १९ ॥

'मैंने पहले वायुके समान वेगशाली दो गीधोंको देखा है। वे दोनों परस्पर भाई और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे। साथ ही वे गीधोंके राजा भी थे ॥ १९ ॥

ज्येष्ठोऽवितस्त्वं सम्पाते जटायुरनुजस्तव।
मानुषं रूपमास्थाय गृह्णीतां चरणौ मम ॥ २० ॥

'सम्पाते! मैं तुम्हें पहचान गया। तुम उन दो भाइयोंमेंसे बड़े हो। जटायु तुम्हारा छोटा भाई था। तुम दोनों मनुष्यरूप धारण करके मेरा चरण-स्पर्श किया करते थे ॥ २० ॥

किं ते व्याधिसमुत्थानं पक्षयोः पतनं कथम्।
दण्डो वायं धृतः केन सर्वमाख्याहि पृच्छतः ॥ २१ ॥

'यह तुम्हें कौन-सा रोग लग गया है। तुम्हारे दोनों पंख कैसे गिर गये? किसीने दण्ड तो नहीं दिया है? मैं जो कुछ पूछता हूँ, वह सब तुम स्पष्टरूपसे कहो' ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

सम्पातिका निशाकर मुनिको अपने पंखके जलनेका कारण बताना

ततस्तद् दारुणं कर्म दुष्करं सहसा कृतम्।
आचचक्षे मुनेः सर्वं सूर्यानुगमनं तथा ॥ १ ॥

'उनके इस प्रकार पूछनेपर मैंने बिना सोचे-समझे सूर्यका अनुगमनरूप जो दुष्कर एवं दारुण कार्य किया था, वह सब उन्हें बताया ॥ १ ॥

भगवन् व्रणयुक्तत्वाल्लज्जया चाकुलेन्द्रियः।
परिश्रान्तो न शक्नोमि वचनं परिभाषितुम् ॥ २ ॥

'मैंने कहा—भगवन्! मेरे शरीरमें घाव हो गया है तथा मेरी इन्द्रियाँ लज्जासे व्याकुल हैं, इसलिये अधिक कष्ट पानेके कारण मैं अच्छी तरह बात भी नहीं कर सकता ॥ २ ॥

अहं चैव जटायुश्च संघर्षाद् गर्वमोहितौ।
आकाशं पतितौ दूराज्जिज्ञासन्तौ पराक्रमम् ॥ ३ ॥

'मैं और जटायु दोनों ही गर्वसे मोहित हो रहे थे; अतः अपने पराक्रमकी थाह लगानेके लिये हम दोनों दूरतक पहुँचनेके उद्देश्यसे उड़ने लगे ॥ ३ ॥

कैलासशिखरे बद्ध्वा मुनीनामग्रतः पणम्।
रविः स्यादनुयातव्यो यावदस्तं महागिरिम् ॥ ४ ॥

'कैलास पर्वतके शिखरपर मुनियोंके सामने हम दोनोंने यह शर्त बदी थी कि सूर्य जबतक अस्ताचलपर जायँ, उसके पहले ही हम दोनोंको उनके पास पहुँच जाना चाहिये ॥ ४ ॥

अप्यावां युगपत् प्राप्तावपश्याव महीतले।
रथचक्रप्रमाणानि नगराणि पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

'यह निश्चय करके हम साथ ही आकाशमें जा पहुँचे। वहाँसे पृथ्वीके भिन्न-भिन्न नगरमें हम रथके पहियेके बराबर दिखायी देते थे ॥ ५ ॥

क्वचिद् वादित्रघोषश्च क्वचिद् भूषणनिःस्वनः।
गायन्तीः स्माङ्गना बह्वीः पश्यावो रक्तवाससः ॥ ६ ॥

'ऊपरके लोकोंमें कहीं वाद्योंका मधुर घोष हो रहा था, कहीं आभूषणोंकी झनकारें सुनायी पड़ती थीं और कहीं लाल रंगकी साड़ी पहने बहुत-सी सुन्दरियाँ गीत गा रही थीं, जिन्हें हम दोनोंने अपनी आँखों देखा था ॥ ६ ॥

तूर्णमुत्पत्य चाकाशमादित्यपथमास्थितौ।
आवामालोकयावस्तद् वनं शाद्वलसंस्थितम् ॥ ७ ॥

'उससे भी ऊँचे उड़कर हम तुरंत सूर्यके मार्गपर जा पहुँचे। वहाँसे नीचे दृष्टि डालकर जब दोनोंने देखा, तब यहाँके जंगल हरी-हरी घासकी तरह दिखायी देते थे ॥ ७ ॥

उपलैरिव संछन्ना दृश्यते भूः शिलोच्चयैः।
आपगाभिश्च संवीता सूत्रैरिव वसुंधरा ॥ ८ ॥

'पर्वतोंके कारण यह भूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानो इसपर पत्थर बिछाये गये हों और नदियोंसे ढकी हुई भूमि ऐसी लगती थी, मानो उसमें सूतके धागे लपेटे गये हों ॥ ८ ॥

हिमवांश्चैव विन्ध्यश्च मेरुश्च सुमहागिरिः।
भूतले सम्प्रकाशन्ते नागा इव जलाशये ॥ ९ ॥
तीव्रः स्वेदश्च खेदश्च भयं चासीत् तदावयोः।
समाविशत मोहश्च ततो मूर्च्छा च दारुणा ॥ १० ॥

'भूतलपर हिमालय, मेरु और विन्ध्य आदि बड़े-बड़े पर्वत तालाबमें खड़े हुए हाथियोंके समान प्रतीत होते थे। उस समय हम दोनों भाइयोंके शरीरसे बहुत पसीना निकलने लगा। हमें बड़ी थकावट मालूम हुई। फिर तो हमारे ऊपर भय, मोह और भयानक मूर्च्छाने अधिकार जमा लिया ॥ ९-१० ॥

न च दिग् ज्ञायते याम्या न चाग्नेयी न वारुणी।
युगान्ते नियतो लोको हतो दग्ध इवाग्निना ॥ ११ ॥

'उस समय न दक्षिण दिशाका ज्ञान होता था, न अग्निकोण अथवा पश्चिम आदि दिशाका ही। यद्यपि यह जगत् नियमितरूपसे स्थित था; तथापि उस समय मानो युगान्तकालमें अग्निसे दग्ध हो गया हो; इस प्रकार नष्टप्राय दिखायी देता था ॥ ११ ॥

मनश्च मे हतं भूयश्चक्षुः प्राप्य तु संश्रयम्।
यत्नेन महता ह्यस्मिन् मनः संधाय चक्षुषी ॥ १२ ॥

यत्नेन महता भूयो भास्करः प्रतिलोकितः।
तुल्यपृथ्वीप्रमाणेन भास्करः प्रतिभाति नौ ॥ १३ ॥

'मेरा मन नेत्ररूपी आश्रयको पाकर उसके साथ ही हतप्राय हो गया—सूर्यके तेजसे उसकी दर्शन-शक्ति लुप्त हो गयी। तदनन्तर महान् प्रयास करके मैंने पुनः मन और नेत्रोंको सूर्यदेवमें लगाया। इस प्रकार विशेष प्रयत्न करनेपर फिर सूर्यदेवका दर्शन हुआ। वे हमें पृथ्वीके बराबर ही जान पड़ते थे ॥ १२-१३ ॥

जटायुर्मामनापृच्छ्य निपपात महीं ततः।
तं दृष्ट्वा तूर्णमाकाशादात्मानं मुक्तवानहम् ॥ १४ ॥

'जटायु मुझसे पूछे बिना ही पृथ्वीपर उतर पड़ा। उसे नीचे जाते देख मैंने भी तुरंत अपने आपको आकाशसे नीचेकी ओर छोड़ दिया ॥ १४ ॥

पक्षाभ्यां च मया गुप्तो जटायुर्न प्रदह्यत।
प्रमादात् तत्र निर्दग्धः पतन् वायुपथादहम् ॥ १५ ॥
आशङ्के तं निपतितं जनस्थाने जटायुषम्।
अहं तु पतितो विन्ध्ये दग्धपक्षो जडीकृतः ॥ १६ ॥

'मैंने अपने दोनों पंखोंसे जटायुको ढक लिया था, इसलिये वह जल न सका। मैं ही असावधानीके कारण वहाँ जल गया। वायुके पथसे नीचे गिरते समय मुझे ऐसा संदेह हुआ कि जटायु जनस्थानमें गिरा है; परंतु मैं इस विन्ध्यपर्वतपर गिरा था। मेरे दोनों पंख जल गये थे, इसलिये यहाँ जडवत् हो गया ॥ १५-१६ ॥

राज्याच्च हीनो भ्रात्रा च पक्षाभ्यां विक्रमेण च।
सर्वथा मर्तुमेवेच्छन् पतिष्ये शिखराद् गिरेः ॥ १७ ॥

'राज्यसे भ्रष्ट हुआ, भाईसे बिछुड़ गया और पंख तथा पराक्रमसे भी हाथ धो बैठा। अब मैं सर्वथा मरनेकी ही इच्छासे इस पर्वतशिखरसे नीचे गिरूँगा' ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें एकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

निशाकर मुनिका सम्पातिको सान्त्वना देते हुए उन्हें भावी श्रीरामचन्द्रजीके कार्यमें सहायता देनेके लिये जीवित रहनेका आदेश देना

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठमरुदं भृशदुःखितः।
अथ ध्यात्वा मुहूर्तं च भगवानिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

'वानरो! उन मुनिश्रेष्ठसे ऐसा कहकर मैं बहुत दुखी हो विलाप करने लगा। मेरी बात सुनकर थोड़ी देरतक ध्यान करनेके बाद महर्षि भगवान् निशाकर बोले—॥ १ ॥

पक्षौ च ते प्रपक्षौ च पुनरन्यौ भविष्यतः।
चक्षुषी चैव प्राणाश्च विक्रमश्च बलं च ते ॥ २ ॥

'सम्पाते! चिन्ता न करो। तुम्हारे छोटे और बड़े दोनों तरहके पंख फिर नये निकल आयेंगे। आँखें भी ठीक हो जायँगी तथा खोयी हुई प्राणशक्ति, बल और पराक्रम—सब लौट आयँगे ॥ २ ॥

पुराणे सुमहत्कार्यं भविष्यं हि मया श्रुतम्।
दृष्टं मे तपसा चैव श्रुत्वा च विदितं मम ॥ ३ ॥

'मैंने पुराणमें आगे होनेवाले अनेक बड़े-बड़े कार्योंकी बात सुनी है। सुनकर तपस्याके द्वारा भी मैंने उन सब बातोंको प्रत्यक्ष किया और जाना है ॥ ३ ॥

राजा दशरथो नाम कश्चिदिक्ष्वाकुवर्धनः।
तस्य पुत्रो महातेजा रामो नाम भविष्यति ॥ ४ ॥

'इक्ष्वाकुवंशकी कीर्ति बढ़ानेवाले कोई दशरथ नामसे प्रसिद्ध राजा होंगे। उनके एक महातेजस्वी पुत्र होंगे, जिनकी श्रीरामके नामसे प्रसिद्धि होगी ॥ ४ ॥

अरण्यं च सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन गमिष्यति।
तस्मिन्नर्थे नियुक्तः सन् पित्रा सत्यपराक्रमः ॥ ५ ॥

'सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ वनमें जायँगे; इसके लिये उन्हें पिताकी ओरसे आज्ञा प्राप्त होगी ॥ ५ ॥

नैर्ऋतो रावणो नाम तस्य भार्यां हरिष्यति।
राक्षसेन्द्रो जनस्थाने अवध्यः सुरदानवैः ॥ ६ ॥

'वनवास-कालमें जनस्थानमें रहते समय उनकी पत्नी सीताको राक्षसोंका राजा रावण नामक असुर हर ले जायगा। वह देवताओं और दानवोंके लिये भी अवध्य होगा ॥ ६ ॥

सा च कामैः प्रलोभ्यन्ती भक्ष्यैर्भोज्यैश्च मैथिली।
न भोक्ष्यति महाभागा दुःखमग्ना यशस्विनी ॥ ७ ॥

'मिथिलेशकुमारी सीता बड़ी ही यशस्विनी और सौभाग्यवती होंगी। यद्यपि राक्षसराजकी ओरसे उसको तरह-तरहके भोगों और भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थोंका प्रलोभन दिया जायगा, तथापि वह उन्हें स्वीकार नहीं करेगी

और निरन्तर अपने पतिके लिये चिन्तित होकर दुःखमें डूबी रहेगी ॥ ७ ॥

परमान्नं च वैदेह्या ज्ञात्वा दास्यति वासवः ।
यदन्नममृतप्रख्यं सुराणामपि दुर्लभम् ॥ ८ ॥

'सीता राक्षसका अन्न नहीं ग्रहण करती—यह मालूम होनेपर देवराज इन्द्र उसके लिये अमृतके समान खीर, जो देवताओंको दुर्लभ है, निवेदन करेंगे ॥ ८ ॥

तदन्नं मैथिली प्राप्य विज्ञायेन्द्रादिदं त्विति ।
अग्रमुद्धृत्य रामाय भूतले निर्वपिष्यति ॥ ९ ॥

'उस अन्नको इन्द्रका दिया हुआ जानकर जानकी उसे स्वीकार कर लेगी और सबसे पहले उसमेंसे अग्रभाग निकालकर श्रीरामचन्द्रजीके उद्देश्यसे पृथ्वीपर रखकर अर्पण करेगी ॥ ९ ॥

यदि जीवति मे भर्ता लक्ष्मणो वापि देवरः ।
देवत्वं गच्छतोर्वापि तयोरन्नमिदं त्विति ॥ १० ॥

'उस समय वह इस प्रकार कहेगी—'मेरे पति भगवान् श्रीराम तथा देवर लक्ष्मण यदि जीवित हों अथवा देवभावको प्राप्त हो गये हों, यह अन्न उनके लिये समर्पित है' ॥ १० ॥

एष्यन्ति प्रेषितास्तत्र रामदूताः प्लवङ्गमाः ।
आख्येया राममहिषी त्वया तेभ्यो विहङ्गम ॥ ११ ॥

'सम्पाते ! रघुनाथजीके भेजे हुए उनके दूत वानर यहाँ सीताका पता लगाते हुए आयेंगे । उन्हें तुम श्रीरामकी महारानी सीताका पता बताना ॥ ११ ॥

सर्वथा तु न गन्तव्यमीदृशः क्व गमिष्यसि ।
देशकालौ प्रतीक्षस्व पक्षौ त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ १२ ॥

'यहाँसे किसी तरह कभी दूसरी जगह न जाना । ऐसी दशामें तुम जाओगे भी कहाँ । देश और कालकी प्रतीक्षा करो । तुम्हें फिर नये पंख प्राप्त हो जायँगे ॥ १२ ॥

उत्सहेयमहं कर्तुमद्यैव त्वां सपक्षकम् ।
इहस्थस्त्वं हि लोकानां हितं कार्यं करिष्यसि ॥ १३ ॥

'यद्यपि मैं आज ही तुम्हें पंखयुक्त कर सकता हूँ; फिर भी इसलिये ऐसा नहीं करता कि यहाँ रहनेपर तुम संसारके लिये हितकर कार्य कर सकोगे ॥ १३ ॥

त्वयापि खलु तत् कार्यं तयोश्च नृपपुत्रयोः ।
ब्राह्मणानां गुरूणां च मुनीनां वासवस्य च ॥ १४ ॥

'तुम भी उन दोनों राजकुमारोंके कार्यमें सहायता करना । वह कार्य केवल उन्हींका नहीं, समस्त ब्राह्मणों, गुरुजनों, मुनियों और देवराज इन्द्रका भी है ॥ १४ ॥

इच्छाम्यहमपि द्रष्टुं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
नेच्छे चिरं धारयितुं प्राणांस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ।
महर्षिस्त्वब्रवीदेवं दृष्टतत्त्वार्थदर्शनः ॥ १५ ॥

'यद्यपि मैं भी उन दोनों भाइयोंका दर्शन करना चाहता हूँ; परंतु अधिक कालतक इन प्राणोंको धारण करनेकी इच्छा नहीं है । अतः वह समय आनेसे पहले ही मैं प्राणोंको त्याग दूँगा' ऐसा उन तत्त्वदर्शी महर्षिने मुझसे कहा था' ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥



त्रिषष्टितमः सर्गः

सम्पातिका पंखयुक्त होकर वानरोंको उत्साहित करके उड़ जाना और वानरोंका वहाँसे दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान करना

एतैरन्यैश्च बहुभिर्वाक्यैर्वाक्यविशारदः ।
मां प्रशस्याभ्यनुज्ञाप्य प्रविष्टः स स्वमालयम् ॥ १ ॥

'बातचीतकी कलामें चतुर महर्षि निशाकरने ये तथा और भी बहुत-सी बातें कहकर मुझे समझाया और श्रीराम-कार्यमें सहायक बननेके कारण मेरे सौभाग्यकी सराहना की । तत्पश्चात् मेरी अनुमति लेकर वे अपने आश्रमके भीतर चले गये ॥ १ ॥

कन्दरात् तु विसर्पित्वा पर्वतस्य शनैः शनैः ।
अहं विन्ध्यं समारुह्य भवतः प्रतिपालये ॥ २ ॥

'तदनन्तर कन्दरासे धीरे-धीरे निकलकर मैं विन्ध्य-पर्वतके शिखरपर चढ़ आया और तबसे तुम लोगोंके आनेकी बाट देख रहा हूँ ॥ २ ॥

अद्य त्वेतस्य कालस्य वर्षं साग्रशतं गतम् ।
देशकालप्रतीक्षोऽस्मि हृदि कृत्वा मुनेर्वचः ॥ ३ ॥

'मुनिसे बातचीतके बाद आजतक जो समय बीता है, इसमें आठ हजारसे अधिक वर्ष निकल गये । मुनिके

१. यहाँ मूलमें साग्रशतम् (सौ वर्षसे अधिक) समय

कथनको हृदयमें धारण करके मैं देश-कालकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

महाप्रस्थानमासाद्य स्वर्गते तु निशाकरे।
मां निर्दहति संतापो वितर्कैर्बहुभिर्वृतम्॥ ४॥

'निशाकर मुनि महाप्रस्थान करके जब स्वर्गलोकको चले गये, तभीसे मैं अनेक प्रकारके तर्क-वितर्कोंसे घिर गया। संतापकी आग मुझे रात-दिन जलाती रहती है ॥ ४ ॥

उदितां मरणे बुद्धिं मुनिवाक्यैर्निवर्तये।
बुद्धिर्या तेन मे दत्ता प्राणानां रक्षणे मम॥ ५॥
सा मेऽपनयते दुःखं दीप्तेवाग्निशिखा तमः।

'मेरे मनमें कई बार प्राण त्यागनेकी इच्छा हुई, किंतु मुनिके वचनोंको याद करके मैं उस संकल्पको टालता आया हूँ। उन्होंने मुझे प्राणोंको रखनेके लिये जो बुद्धि (सम्मति) दी थी, वह मेरे दुःखको उसी प्रकार दूर कर देती है, जैसे जलती हुई अग्निशिखा अन्धकारको ॥ ५½ ॥

बुध्यता च मया वीर्यं रावणस्य दुरात्मनः॥ ६॥
पुत्रः संतर्जितो वाग्भिर्न त्राता मैथिली कथम्।

'दुरात्मा रावणमें कितना बल है, इसे मैं जानता हूँ। इसलिये मैंने कठोर वचनोंद्वारा अपने पुत्रको डाँटा था कि तूने मिथिलेशकुमारी सीताकी रक्षा क्यों नहीं की ॥ ६½ ॥

तस्या विलपितं श्रुत्वा तौ च सीतावियोजितौ॥ ७॥
न मे दशरथस्नेहात् पुत्रेणोत्पादितं प्रियम्।

'सीताका विलाप सुनकर और उनसे बिछुड़े हुए श्रीराम तथा लक्ष्मणका परिचय पाकर तथा राजा दशरथके प्रति मेरे स्नेहका स्मरण करके भी मेरे पुत्रने जो सीताकी रक्षा नहीं की, अपने इस बर्तावसे उसने मुझे प्रसन्न नहीं किया—मेरा प्रिय कार्य नहीं होने दिया' ॥ ७½ ॥

तस्य त्वेवं ब्रुवाणस्य संहतैर्वानरैः सह॥ ८॥
उत्पेततुस्तदा पक्षौ समक्षं वनचारिणाम्।

वहाँ एकत्र होकर बैठे हुए वानरोंके साथ सम्पाति इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि उन वनचारी वानरोंके समक्ष उसी समय उनके दो नये पंख निकल आये ॥ ८½ ॥

दृष्ट्वा स्वां तनुं पक्षैरुद्गतैररुणच्छदैः॥ ९॥
प्रहर्षमतुलं लेभे वानरांश्चेदमब्रवीत्।

अपने शरीरको नये निकले हुए लाल रंगके पंखोंसे संयुक्त हुआ देख सम्पातिको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ। वे वानरोंसे इस प्रकार बोले—॥ ९½ ॥

निशाकरस्य राजर्षेः प्रसादादमितौजसः॥ १०॥
आदित्यरश्मिनिर्दग्धौ पक्षौ पुनरुपस्थितौ।

'कपिवरो! अमिततेजस्वी राजर्षि निशाकरके प्रसादसे सूर्यकिरणोंद्वारा दग्ध हुए मेरे दोनों पंख फिर उत्पन्न हो गये ॥ १०½ ॥

यौवने वर्तमानस्य ममासीद् यः पराक्रमः॥ ११॥
तमेवाद्यावगच्छामि बलं पौरुषमेव च।

'युवावस्थामें मेरा जैसा पराक्रम और बल था, वैसे ही बल और पुरुषार्थका इस समय मैं अनुभव कर रहा हूँ ॥

सर्वथा क्रियतां यत्नः सीतामधिगमिष्यथ॥ १२॥
पक्षलाभो ममायं वः सिद्धिप्रत्ययकारकः।

'वानरो! तुम सब प्रकारसे यत्न करो। निश्चय ही तुम्हें सीताका दर्शन प्राप्त होगा। मुझे पंखोंका प्राप्त होना तुमलोगोंकी कार्य-सिद्धिका विश्वास दिलानेवाला है' ॥१२½॥

इत्युक्त्वा तान् हरीन् सर्वान् सम्पातिः पतगोत्तमः १३
उत्पपात गिरेः शृङ्गाज्जिज्ञासुः खगमो गतिम्।

उन समस्त वानरोंसे ऐसा कहकर पक्षियोंमें श्रेष्ठ सम्पाति अपने आकाश-गमनकी शक्तिका परिचय पानेके लिये उस पर्वतशिखरसे उड़ गये ॥ १३½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रतिसंहृष्टमानसाः।
बभूवुर्हरिशार्दूला विक्रमाभ्युदयोन्मुखाः॥ १४॥

उनकी वह बात सुनकर उन श्रेष्ठ वानरोंका हृदय प्रसन्नतासे खिल उठा। वे पराक्रमसाध्य अभ्युदयके लिये उद्यत हो गये ॥ १४ ॥

अथ पवनसमानविक्रमाः
प्लवगवराः प्रतिलब्धपौरुषाः।
अभिजिदभिमुखां दिशं ययु-
र्जनकसुतापरिमार्गणोन्मुखाः॥ १५॥

तदनन्तर वायुके समान पराक्रमी वे श्रेष्ठ वानर अपने भूले हुए पुरुषार्थको फिरसे पा गये और जनकनन्दिनी सीताकी खोजके लिये उत्सुक हो अभिजित् नक्षत्रसे युक्त दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः॥ ६३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

बीतनेकी बात कही गयी है; परंतु साठवें सर्गके नवें श्लोकमें आठ सहस्र वर्ष बीतनेकी चर्चा आयी है। अतः दोनोंकी एकवाक्यताके लिये यहाँ शत शब्दको आठ सहस्र वर्षका उपलक्षण मानना चाहिये।

चतुःषष्टितमः सर्गः

समुद्रकी विशालता देखकर विषादमें पड़े हुए वानरोंको आश्वासन दे अङ्गदका उनसे पृथक्-पृथक् समुद्र-लङ्घनके लिये उनकी शक्ति पूछना

आख्याता गृध्रराजेन समुत्प्लुत्य प्लवङ्गमाः।
संगताः प्रीतिसंयुक्ता विनेदुः सिंहविक्रमाः॥ १॥

गृध्रराज सम्पातिके इस प्रकार कहनेपर सिंहके समान पराक्रमी सभी वानर बड़े प्रसन्न हुए और परस्पर मिलकर उछल-उछलकर गर्जने लगे॥ १॥

सम्पातेर्वचनं श्रुत्वा हरयो रावणक्षयम्।
हृष्टाः सागरमाजग्मुः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः॥ २॥

सम्पातिकी बातोंसे रावणके निवासस्थान तथा उसके भावी विनाशकी सूचना मिली थी। उन्हें सुनकर हर्षसे भरे हुए वे सभी वानर सीताजीके दर्शनकी इच्छा मनमें लिये समुद्रके तटपर आये॥ २॥

अभिगम्य तु तं देशं ददृशुर्भीमविक्रमाः।
कृत्स्नं लोकस्य महतः प्रतिबिम्बमवस्थितम्॥ ३॥

उन भयंकर पराक्रमी वानरोंने उस देशमें पहुँचकर समुद्रको देखा, जो इस विराट् विश्वके सम्पूर्ण प्रतिबिम्बकी भाँति स्थित था॥ ३॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य समासाद्योत्तरां दिशम्।
संनिवेशं ततश्चक्रुर्हरिवीरा महाबलाः॥ ४॥

दक्षिण समुद्रके उत्तर तटपर जाकर उन महाबली वानर वीरोंने डेरा डाला॥ ४॥

प्रसुप्तमिव चान्यत्र क्रीडन्तमिव चान्यतः।
क्वचित् पर्वतमात्रैश्च जलराशिभिरावृतम्॥ ५॥

वह समुद्र कहीं तो तरङ्गहीन एवं शान्त होनेके कारण सोया हुआ-सा जान पड़ता था। अन्यत्र जहाँ थोड़ी-थोड़ी लहरें उठ रही थीं, वहाँ वह क्रीडा करता-सा प्रतीत होता था और दूसरे स्थलोंमें जहाँ उत्ताल तरङ्गें उठती थीं, वहाँ पर्वतके बराबर जलराशियोंसे आवृत दिखायी देता था॥ ५॥

संकुलं दानवेन्द्रैश्च पातालतलवासिभिः।
रोमहर्षकरं दृष्ट्वा विषेदुः कपिकुञ्जराः॥ ६॥

वह सारा समुद्र पातालनिवासी दानवराजोंसे व्याप्त था। उस रोमाञ्चकारी महासागरको देखकर वे समस्त श्रेष्ठ वानर बड़े विषादमें पड़ गये॥ ६॥

आकाशमिव दुष्पारं सागरं प्रेक्ष्य वानराः।
विषेदुः सहिताः सर्वे कथं कार्यमिति ब्रुवन्॥ ७॥

आकाशके समान दुर्लङ्घ्य समुद्रपर दृष्टिपात करके वे सब वानर 'अब कैसे करना चाहिये' ऐसा कहते हुए एक साथ बैठकर चिन्ता करने लगे॥ ७॥

विषण्णां वाहिनीं दृष्ट्वा सागरस्य निरीक्षणात्।
आश्वासयामास हरीन् भयार्तान् हरिसत्तमः॥ ८॥

उस महासागरका दर्शन करके सारी वानर-सेनाको विषादमें डूबी हुई देख कपिश्रेष्ठ अङ्गद उन भयातुर वानरोंको आश्वासन देते हुए बोले—॥ ८॥

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः॥ ९॥

'वीरो! तुम्हें अपने मनको विषादमें नहीं डालना चाहिये; क्योंकि विषादमें बहुत बड़ा दोष है। जैसे क्रोधमें भरा हुआ साँप अपने पास आये हुए बालकको काट खाता है, उसी प्रकार विषाद पुरुषका नाश कर डालता है॥ ९॥

यो विषादं प्रसहते विक्रमे समुपस्थिते।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिद्ध्यति॥ १०॥

'जो पराक्रमका अवसर आनेपर विषादग्रस्त हो जाता है, उसके तेजका नाश होता है। उस तेजोहीन पुरुषका पुरुषार्थ नहीं सिद्ध होता है'॥ १०॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामङ्गदो वानरैः सह।
हरिवृद्धैः समागम्य पुनर्मन्त्रममन्त्रयत्॥ ११॥

उस रात्रिके बीत जानेपर बड़े-बड़े वानरोंके साथ मिलकर अङ्गदने पुनः विचार आरम्भ किया॥ ११॥

सा वानराणां ध्वजिनी परिवार्याङ्गदं बभौ।
वासवं परिवार्येव मरुतां वाहिनी स्थिता॥ १२॥

उस समय अङ्गदको घेरकर बैठी हुई वानरोंकी वह सेना इन्द्रको घेरकर स्थित हुई देवताओंकी विशाल वाहिनीके समान शोभा पाती थी॥ १२॥

कोऽन्यस्तां वानरीं सेनां शक्तः स्तम्भयितुं भवेत्।
अन्यत्र वालितनयादन्यत्र च हनूमतः॥ १३॥

वालिपुत्र अङ्गद तथा पवनकुमार हनुमान्‌जीको छोड़कर दूसरा कौन वीर उस वानरसेनाको सुस्थिर रख सकता था॥ १३॥

ततस्तान् हरिवृद्धांश्च तच्च सैन्यमरिंदमः।
अनुमान्याङ्गदः श्रीमान् वाक्यमर्थवदब्रवीत्॥ १४॥

शत्रुवीरोंका दमन करनेवाले श्रीमान् अङ्गदने उन बड़े-बूढ़े वानरोंका सम्मान करके उनसे यह अर्थयुक्त बात कही—॥ १४॥

क इदानीं महातेजा लङ्घयिष्यति सागरम्।
कः करिष्यति सुग्रीवं सत्यसंधमरिंदमम्॥ १५॥

'सज्जनो ! तुमलोगोंमें कौन ऐसा महातेजस्वी वीर है जो इस समय समुद्रको लाँघ जायगा और शत्रुदमन सुग्रीवको सत्यप्रतिज्ञ बनायेगा ॥ १५ ॥

को वीरो योजनशतं लङ्घयेत प्लवङ्गमः।
इमांश्च यूथपान् सर्वान् मोचयेत् को महाभयात्॥१६॥

'कौन वीर वानर सौ योजन समुद्रको लाँघ सकेगा ? और कौन इन समस्त यूथपतियोंको महान् भयसे मुक्त कर देगा ? ॥ १६ ॥

कस्य प्रसादाद् दारांश्च पुत्रांश्चैव गृहाणि च।
इतो निवृत्ताः पश्येम सिद्धार्थाः सुखिनो वयम्॥ १७॥

'किसके प्रसादसे हमलोग सफलमनोरथ एवं सुखी होकर यहाँसे लौटेंगे और घर-द्वार तथा स्त्री-पुत्रोंका मुँह देख सकेंगे ॥ १७ ॥

कस्य प्रसादाद् रामं च लक्ष्मणं च महाबलम्।
अभिगच्छेम संहृष्टाः सुग्रीवं च वनौकसम्॥ १८॥

'किसके प्रसादसे हमलोग हर्षोत्फुल्ल होकर श्रीराम, महाबली लक्ष्मण तथा वानरवीर सुग्रीवके पास चल सकेंगे ॥

यदि कश्चित् समर्थो वः सागरप्लवने हरिः।
स ददात्विह नः शीघ्रं पुण्यामभयदक्षिणाम्॥ १९॥

'यदि तुमलोगोंमेंसे कोई वानरवीर समुद्रको लाँघ जानेमें समर्थ हो तो वह शीघ्र ही हमें यहाँ परम पवित्र अभय-दान दे' ॥ १९ ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा न कश्चित् किंचिदब्रवीत्।
स्तिमितेवाभवत् सर्वा सा तत्र हरिवाहिनी॥ २०॥

अङ्गदकी यह बात सुनकर कोई कुछ नहीं बोला। वह सारी वानर-सेना वहाँ जडवत् स्थिर रही ॥ २० ॥

पुनरेवाङ्गदः प्राह तान् हरीन् हरिसत्तमः।
सर्वे बलवतां श्रेष्ठा भवन्तो दृढविक्रमाः।
व्यपदेशकुले जाताः पूजिताश्चाप्यभीक्ष्णशः॥ २१॥

तब वानरश्रेष्ठ अङ्गदने पुनः उन सबसे कहा— 'बलवानोंमें श्रेष्ठ वानरो ! तुम सब लोग दृढ़तापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले हो। तुम्हारा जन्म कलङ्करहित उत्तम कुलमें हुआ है। इसके लिये तुम्हारी बारंबार प्रशंसा हो चुकी है ॥ २१ ॥

नहि वो गमने सङ्गः कदाचित् कस्यचिद् भवेत्।
ब्रुवध्वं यस्य या शक्तिः प्लवने प्लवगर्षभाः॥ २२॥

श्रेष्ठ वानरो ! तुमलोगोंमें कभी किसीकी भी गति कहीं नहीं रुकती। इसलिये समुद्रको लाँघनेमें जिसकी जितनी शक्ति हो, वह उसे बतावे ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

बारी-बारीसे वानर-वीरोंके द्वारा अपनी-अपनी गमनशक्तिका वर्णन, जाम्बवान् और अङ्गदकी बातचीत तथा जाम्बवान्‌का हनुमान्‌जीको प्रेरित करनेके लिये उनके पास जाना

अथाङ्गदवचः श्रुत्वा ते सर्वे वानरर्षभाः।
स्वं स्वं गतौ समुत्साहमूचुस्तत्र यथाक्रमम्॥ १॥

अङ्गदकी यह बात सुनकर वे सभी श्रेष्ठ वानर लंबी छलाँग मारनेके सम्बन्धमें अपने-अपने उत्साहका—शक्तिका क्रमशः परिचय देने लगे ॥ १ ॥

गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः।
मैन्दश्च द्विविदश्चैव सुषेणो जाम्बवांस्तथा॥ २॥

गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, सुषेण और जाम्बवान्—इन सबने अपनी-अपनी शक्तिका वर्णन किया ॥ २ ॥

आबभाषे गजस्तत्र प्लवेयं दशयोजनम्।
गवाक्षो योजनान्याह गमिष्यामीति विंशतिम्॥ ३॥

इनमेंसे गजने कहा—'मैं दस योजनकी छलाँग मार सकता हूँ।' गवाक्ष बोले—'मैं बीस योजनतक चला जाऊँगा' ॥ ३ ॥

शरभो वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह।
त्रिंशतं तु गमिष्यामि योजनानां प्लवङ्गमाः॥ ४॥

इसके बाद वहाँ शरभ नामक वानरने उन कपिवरोंसे कहा—'वानरो ! मैं तीस योजनतक एक छलाँगमें चला जाऊँगा' ॥ ४ ॥

ऋषभो वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह।
चत्वारिंशद् गमिष्यामि योजनानां न संशयः॥ ५॥

तदनन्तर कपिवर ऋषभने उन वानरोंसे कहा—'मैं चालीस योजनतक चला जाऊँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥५॥

वानरांस्तु महातेजा अब्रवीद् गन्धमादनः।
योजनानां गमिष्यामि पञ्चाशत्तु न संशयः॥ ६॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी गन्धमादनने उन वानरोंसे कहा—'इसमें संदेह नहीं कि मैं पचास योजनतक एक छलाँगमें चला जाऊँगा' ॥ ६ ॥

मैन्दस्तु वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह।
योजनानां परं षष्टिमहं प्लवितुमुत्सहे॥ ७॥

इसके बाद वहाँ वानर-वीर मैन्द उन वानरोंसे बोले—'मैं साठ योजनतक एक छलाँगमें कूद जानेका उत्साह रखता हूँ' ॥ ७ ॥

ततस्तत्र महातेजा द्विविदः प्रत्यभाषत।
गमिष्यामि न संदेहः सप्ततिं योजनान्यहम्॥ ८॥

तदनन्तर महातेजस्वी द्विविद बोले—'मैं सत्तर योजनतक चला जाऊँगा, इसमें संदेह नहीं है' ॥ ८ ॥

सुषेणस्तु महातेजाः सत्त्ववान् कपिसत्तमः।
अशीतिं प्रतिजानेऽहं योजनानां पराक्रमे॥ ९॥

इसके बाद धैर्यशाली कपिश्रेष्ठ महातेजस्वी सुषेण बोले—'मैं एक छलाँगमें अस्सी योजनतक जानेकी प्रतिज्ञा करता हूँ' ॥ ९ ॥

तेषां कथयतां तत्र सर्वांस्ताननुमान्य च।
ततो वृद्धतमस्तेषां जाम्बवान् प्रत्यभाषत॥ १०॥

इस प्रकार कहनेवाले सब वानरोंका सम्मान करके ऋक्षराज जाम्बवान्, जो सबसे बूढ़े थे, बोले—॥ १० ॥

पूर्वमस्माकमप्यासीत् कश्चिद् गतिपराक्रमः।
ते वयं वयसः पारमनुप्राप्ताः स्म साम्प्रतम्॥ ११॥
किं तु नैवं गते शक्यमिदं कार्यमुपेक्षितुम्।
यदर्थं कपिराजश्च रामश्च कृतनिश्चयौ॥ १२॥
साम्प्रतं कालमस्माकं या गतिस्तां निबोधत।
नवतिं योजनानां तु गमिष्यामि न संशयः॥ १३॥

'पहले युवावस्थामें मेरे अंदर भी दूरतक छलाँग मारनेकी कुछ शक्ति थी। यद्यपि अब मैं उस अवस्थाको पार कर चुका हूँ तो भी जिस कार्यके लिये वानरराज सुग्रीव तथा भगवान् श्रीराम दृढ़ निश्चय कर चुके हैं, उसकी मेरे द्वारा उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस समय मेरी जो गति है, उसे आपलोग सुनें। मैं एक छलाँगमें नब्बे योजनतक चला जाऊँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ११—१३ ॥

तांश्च सर्वान् हरिश्रेष्ठाञ्जाम्बवानिदमब्रवीत्।
न खल्वेतावदेवासीद् गमने मे पराक्रमः॥ १४॥
मया वैरोचने यज्ञे प्रभविष्णुः सनातनः।
प्रदक्षिणीकृतः पूर्वं क्रममाणस्त्रिविक्रमम्॥ १५॥

ऐसा कहकर जाम्बवान् उन समस्त श्रेष्ठ वानरोंसे पुनः इस प्रकार बोले—'पूर्वकालमें मेरे अंदर इतनी ही दूरतक चलनेकी शक्ति नहीं थी। पहले राजा बलिके यज्ञमें सर्वव्यापी एवं सबके कारणभूत सनातन भगवान् विष्णु जब तीन पग भूमि नापनेके लिये अपने पैर बढ़ा रहे थे, उस समय मैंने उनके उस विराट् स्वरूपकी थोड़े ही समयमें परिक्रमा कर ली थी ॥ १४-१५ ॥

स इदानीमहं वृद्धः प्लवने मन्दविक्रमः।
यौवने च तदासीन्मे बलमप्रतिमं परम्॥ १६॥

'इस समय तो मैं बूढ़ा हो गया, अतः छलाँग मारनेकी मेरी शक्ति बहुत कम हो गयी है; किंतु युवावस्थामें मेरे भीतर वह महान् बल था, जिसकी कहीं तुलना नहीं है ॥१६॥

सम्प्रत्येतावदेवाद्य शक्यं मे गमने स्वतः।
नैतावता च संसिद्धिः कार्यस्यास्य भविष्यति॥ १७॥

'आजकल तो मुझमें स्वतः चलनेकी इतनी ही शक्ति है, परंतु इतनी ही गतिसे समुद्रलङ्घनरूप इस वर्तमान कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती' ॥ १७ ॥

अथोत्तरमुदारार्थमब्रवीदङ्गदस्तदा।
अनुमान्य तदा प्राज्ञो जाम्बवन्तं महाकपिः॥ १८॥

तदनन्तर बुद्धिमान् महाकपि अङ्गदने उस समय जाम्बवान्का विशेष आदर करके यह उदारतापूर्ण बात कही—॥ १८ ॥

अहमेतद् गमिष्यामि योजनानां शतं महत्।
निवर्तने तु मे शक्तिः स्यान्न वेति न निश्चितम्॥ १९॥

'मैं इस महासागरके सौ योजनकी विशाल दूरीको लाँघ जाऊँगा, किंतु उधरसे लौटनेमें मेरी ऐसी ही शक्ति रहेगी या नहीं, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता' ॥ १९ ॥

तमुवाच हरिश्रेष्ठं जाम्बवान् वाक्यकोविदः।
ज्ञायते गमने शक्तिस्तव हर्यृक्षसत्तम॥ २०॥

तब बातचीतकी कलामें चतुर जाम्बवान्ने कपिश्रेष्ठ अङ्गदसे कहा—'रीछों और वानरोंमें श्रेष्ठ युवराज! तुम्हारी गमनशक्तिसे हमलोग भलीभाँति परिचित हैं ॥ २० ॥

कामं शतसहस्रं वा नह्येष विधिरुच्यते।
योजनानां भवाञ्शक्तो गन्तुं प्रतिनिवर्तितुम्॥ २१॥

'भले ही, तुम एक लाख योजनतक चले जाओ, तथापि तुम सबके स्वामी हो, अतः तुम्हें भेजना हमारे लिये उचित नहीं है। तुम लाखों योजन जाने और वहाँसे लौटनेमें समर्थ हो ॥ २१ ॥

नहि प्रेषयिता तात स्वामी प्रेष्यः कथंचन।
भवतायं जनः सर्वः प्रेष्यः प्लवगसत्तम॥ २२॥

'किंतु तात ! वानरशिरोमणे ! जो सबको भेजनेवाला स्वामी है, वह किसी तरह प्रेष्य (आज्ञापालक) नहीं हो सकता। ये सब लोग तुम्हारे सेवक हैं, तुम इन्हींमेंसे किसीको भेजो ॥ २२ ॥

भवान् कलत्रमस्माकं स्वामिभावे व्यवस्थितः।
स्वामी कलत्रं सैन्यस्य गतिरेषा परंतप ॥ २३ ॥

'तुम कलत्र (स्त्रीकी भाँति रक्षणीय) हो, (जैसे नारी पतिके हृदयकी स्वामिनी होती है, उसी प्रकार) तुम हमारे स्वामीके पदपर प्रतिष्ठित हो। परंतप ! स्वामी सेनाके लिये कलत्र (स्त्री) के समान संरक्षणीय होता है। यही लोककी मान्यता है ॥ २३ ॥

अपि वै तस्य कार्यस्य भवान् मूलमरिंदम।
तस्मात् कलत्रवत् तात प्रतिपाल्यः सदा भवान् ॥ २४ ॥

शत्रुदमन ! तात ! तुम्हीं उस कार्यके मूल हो, अतः सदा कलत्रकी भाँति तुम्हारा पालन करना उचित है ॥ २४ ॥

मूलमर्थस्य संरक्ष्यमेष कार्यविदां नयः।
मूले हि सति सिध्यन्ति गुणाः सर्वे फलोदयाः ॥ २५ ॥

'कार्यके मूलकी रक्षा करनी चाहिये। यही कार्यके तत्त्वको जाननेवाले विद्वानोंकी नीति है; क्योंकि मूलके रहनेपर ही सभी गुण सफल सिद्ध होते हैं ॥ २५ ॥

तद् भवानस्य कार्यस्य साधनं सत्यविक्रम।
बुद्धिविक्रमसम्पन्नो हेतुरत्र परंतप ॥ २६ ॥

'अतः सत्यपराक्रमी शत्रुदमन वीर ! तुम्हीं इस कार्यके साधन तथा बुद्धि और पराक्रमसे सम्पन्न हेतु हो ॥ २६ ॥

गुरुश्च गुरुपुत्रश्च त्वं हि नः कपिसत्तम।
भवन्तमाश्रित्य वयं समर्था ह्यर्थसाधने ॥ २७ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! तुम्हीं हमारे गुरु और गुरुपुत्र हो। तुम्हारा आश्रय लेकर ही हम सब लोग कार्यसाधनमें समर्थ हो सकते हैं' ॥ २७ ॥

उक्तवाक्यं महाप्राज्ञं जाम्बवन्तं महाकपिः।
प्रत्युवाचोत्तरं वाक्यं वालिसूनुरथाङ्गदः ॥ २८ ॥

जब परम बुद्धिमान् जाम्बवान् पूर्वोक्त बात कह चुके, तब महाकपि वालिकुमार अङ्गदने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २८ ॥

यदि नाहं गमिष्यामि नान्यो वानरपुङ्गवः।
पुनः खल्विदमस्माभिः कार्यं प्रायोपवेशनम् ॥ २९ ॥

'यदि मैं नहीं जाऊँगा और दूसरा कोई भी श्रेष्ठ वानर जानेको तैयार न होगा, तब फिर हमलोगोंको निश्चितरूपसे मरणान्त उपवास ही करना चाहिये ॥ २९ ॥

न ह्यकृत्वा हरिपतेः संदेशं तस्य धीमतः।
तत्रापि गत्वा प्राणानां न पश्ये परिरक्षणम् ॥ ३० ॥

'बुद्धिमान् वानरराज सुग्रीवके आदेशका पालन किये बिना यदि हमलोग किष्किन्धाको लौट चलें तो वहाँ जाकर भी हमें अपने प्राणोंकी रक्षाका कोई उपाय नहीं दिखायी देता ॥ ३० ॥

स हि प्रसादे चात्यर्थं कोपे च हरिरीश्वरः।
अतीत्य तस्य संदेशं विनाशो गमने भवेत् ॥ ३१ ॥

'वे हमपर कृपा करने और अत्यन्त कुपित होकर हमें दण्ड देनेमें भी समर्थ हैं। उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके जानेपर हमारा विनाश अवश्यम्भावी है ॥ ३१ ॥

तत्तथा ह्यस्य कार्यस्य न भवत्यन्यथा गतिः।
तद् भवानेव दृष्टार्थः संचिन्तयितुमर्हति ॥ ३२ ॥

'अतः जिस उपायसे इस सीता-दर्शनरूपी कार्यकी सिद्धिमें कोई रुकावट न पड़े, उसका आप ही विचार करें; क्योंकि आपको सब बातोंका अनुभव है' ॥ ३२ ॥

सोऽङ्गदेन तदा वीरः प्रत्युक्तः प्लवगर्षभः।
जाम्बवानुत्तमं वाक्यं प्रोवाचेदं ततोऽङ्गदम् ॥ ३३ ॥

उस समय अङ्गदके ऐसा कहनेपर वीर वानरशिरोमणि जाम्बवान्ने उनसे यह उत्तम बात कही—॥ ३३ ॥

तस्य ते वीर कार्यस्य न किंचित् परिहास्यते।
एष संचोदयाम्येनं यः कार्यं साधयिष्यति ॥ ३४ ॥

'वीर ! तुम्हारे इस कार्यमें कोई किंचित् भी त्रुटि नहीं आने पायेगी। अब मैं ऐसे वीरको प्रेरित कर रहा हूँ, जो इस कार्यको सिद्ध कर सकेगा' ॥ ३४ ॥

ततः प्रतीतं प्लवतां वरिष्ठ-
मेकान्तमाश्रित्य सुखोपविष्टम्।
संचोदयामास हरिप्रवीरो
हरिप्रवीरं हनुमन्तमेव ॥ ३५ ॥

ऐसा कहकर वानरों और भालुओंके वीर यूथपति जाम्बवान्ने वानरसेनाके श्रेष्ठ वीर हनुमान्जीको ही प्रेरित किया, जो एकान्तमें जाकर मौजसे बैठे हुए थे। उन्हें किसी बातकी चिन्ता नहीं थी और वे दूरतककी छलाँग मारनेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ थे ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

जाम्बवान्का हनुमान्जीको उनकी उत्पत्तिकथा सुनाकर समुद्रलङ्घनके लिये उत्साहित करना

अनेकशतसाहस्रीं विषण्णां हरिवाहिनीम्।
जाम्बवान् समुदीक्ष्यैवं हनूमन्तमथाब्रवीत्॥ १॥

लाखों वानरोंकी सेनाको इस तरह विषादमें पड़ी देख जाम्बवान्ने हनुमान्जीसे कहा—॥ १॥

वीर वानरलोकस्य सर्वशास्त्रविदां वर।
तूष्णीमेकान्तमाश्रित्य हनूमन् किं न जल्पसि॥ २॥

'वानरजगत्के वीर! तथा सम्पूर्ण शास्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हनुमान्! तुम एकान्तमें आकर चुपचाप क्यों बैठे हो? कुछ बोलते क्यों नहीं?॥ २॥

हनूमन्हरिराजस्य सुग्रीवस्य समो ह्यसि।
रामलक्ष्मणयोश्चापि तेजसा च बलेन च॥ ३॥

'हनूमन्! तुम तो वानरराज सुग्रीवके समान पराक्रमी हो तथा तेज और बलमें श्रीराम और लक्ष्मणके तुल्य हो॥ ३॥

अरिष्टनेमिनः पुत्रो वैनतेयो महाबलः।
गरुत्मानिव विख्यात उत्तमः सर्वपक्षिणाम्॥ ४॥

'कश्यपजीके महाबली पुत्र और समस्त पक्षियोंमें श्रेष्ठ जो विनतानन्दन गरुड़ हैं, उन्हींके समान तुम भी विख्यात शक्तिशाली एवं तीव्रगामी हो॥ ४॥

बहुशो हि मया दृष्टः सागरे स महाबलः।
भुजङ्गानुद्धरन् पक्षी महाबाहुर्महाबलः॥ ५॥

'महाबली महाबाहु पक्षिराज गरुड़को मैंने समुद्रमें कई बार देखा है, जो बड़े-बड़े सर्पोंको वहाँसे निकाल लाते हैं॥५॥

पक्षयोर्यद् बलं तस्य भुजवीर्यबलं तव।
विक्रमश्चापि वेगश्च न ते तेनापहीयते॥ ६॥

'उनके दोनों पंखोंमें जो बल है, वही बल, वही पराक्रम तुम्हारी इन दोनों भुजाओंमें भी है। इसीलिये तुम्हारा वेग और विक्रम भी उनसे कम नहीं है॥ ६॥

बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्त्वं च हरिपुङ्गव।
विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न सज्जसे॥ ७॥

'वानरशिरोमणे! तुम्हारा बल, बुद्धि, तेज और धैर्य भी समस्त प्राणियोंमें सबसे बढ़कर है। फिर तुम अपने-आपको ही समुद्र लाँघनेके लिये क्यों नहीं तैयार करते?॥७॥

अप्सराऽप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुञ्जिकस्थला।
अञ्जनेति परिख्याता पत्नी केसरिणो हरेः॥ ८॥
विख्याता त्रिषु लोकेषु रूपेणाप्रतिमा भुवि।
अभिशापादभूत् तात कपित्वे कामरूपिणी॥ ९॥
दुहिता वानरेन्द्रस्य कुञ्जरस्य महात्मनः।

'(वीरवर! तुम्हारे प्रादुर्भावकी कथा इस प्रकार है—) पुञ्जिकस्थला नामसे विख्यात जो अप्सरा है, वह समस्त अप्सराओंमें अग्रगण्य है। तात! एक समय शापवश वह कपियोनिमें अवतीर्ण हुई। उस समय वह वानरराज महामनस्वी कुञ्जरकी पुत्री इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली थी। इस भूतलपर उसके रूपकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी। वह तीनों लोकोंमें विख्यात थी। उसका नाम अञ्जना था। वह वानरराज केसरीकी पत्नी हुई॥ ८-९½॥

मानुषं विग्रहं कृत्वा रूपयौवनशालिनी॥ १०॥
विचित्रमाल्याभरणा कदाचित् क्षौमधारिणी।
अचरत् पर्वतस्याग्रे प्रावृडम्बुदसंनिभे॥ ११॥

'एक दिनकी बात है, रूप और यौवनसे सुशोभित होनेवाली अञ्जना मानवी स्त्रीका शरीर धारण करके वर्षाकालके मेघकी भाँति श्याम कान्तिवाले एक पर्वत-शिखरपर विचर रही थी। उसके अङ्गोंपर रेशमी साड़ी शोभा पाती थी। वह फूलोंके विचित्र आभूषणोंसे विभूषित थी॥ १०-११॥

तस्या वस्त्रं विशालाक्ष्याः पीतं रक्तदशं शुभम्।
स्थितायाः पर्वतस्याग्रे मारुतोऽपाहरच्छनैः॥ १२॥

'उस विशाललोचना बालाका सुन्दर वस्त्र तो पीले रंगका था, किंतु उसके किनारेका रंग लाल था। वह पर्वतके शिखरपर खड़ी थी। उसी समय वायु देवताने उसके उस वस्त्रको धीरेसे हर लिया॥ १२॥

स ददर्श ततस्तस्या वृत्तावूरू सुसंहतौ।
स्तनौ च पीनौ सहितौ सुजातं चारु चाननम्॥ १३॥

'तत्पश्चात् उन्होंने उसकी परस्पर सटी हुई गोल-गोल जाँघों, एक दूसरेसे लगे हुए पीन उरोजों तथा मनोहर मुखको भी देखा॥ १३॥

तां बलादायतश्रोणीं तनुमध्यां यशस्विनीम्।
दृष्ट्वैव शुभसर्वाङ्गीं पवनः काममोहितः॥ १४॥

'उसके नितम्ब ऊँचे और विस्तृत थे। कटिभाग बहुत ही पतला था। उसके सारे अङ्ग परम सुन्दर थे। इस प्रकार बलपूर्वक यशस्विनी अञ्जनाके अङ्गोंका अवलोकन करके पवन देवता कामसे मोहित हो गये॥ १४॥

स तां भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां पर्यष्वजत मारुतः।
मन्मथाविष्टसर्वाङ्गो गतात्मा तामनिन्दिताम्॥ १५॥

'उनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें कामभावका आवेश हो गया। मन अञ्जनामें ही लग गया। उन्होंने उस अनिन्द्य सुन्दरीको अपनी दोनों विशाल भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया॥

सा तु तत्रैव सम्भ्रान्ता सुव्रता वाक्यमब्रवीत्।
एकपत्नीव्रतमिदं को नाशयितुमिच्छति॥ १६॥

'अञ्जना उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सती नारी थी। अतः उस अवस्थामें पड़कर वह वहीं घबरा उठी और बोली—'कौन मेरे इस पातिव्रत्यका नाश करना चाहता है?'॥ १६॥

अञ्जनाया वचः श्रुत्वा मारुतः प्रत्यभाषत।
न त्वां हिंसामि सुश्रोणि मा भूत् ते मनसो भयम्॥ १७॥

अञ्जनाकी बात सुनकर पवनदेवने उत्तर दिया—'सुश्रोणि! मैं तुम्हारे एकपत्नी-व्रतका नाश नहीं कर रहा हूँ। अतः तुम्हारे मनसे यह भय दूर हो जाना चाहिये॥ १७॥

मनसास्मि गतो यत् त्वां परिष्वज्य यशस्विनि।
वीर्यवान् बुद्धिसम्पन्नस्तव पुत्रो भविष्यति॥ १८॥

'यशस्विनि! मैंने अव्यक्तरूपसे तुम्हारा आलिङ्गन करके मानसिक संकल्पके द्वारा तुम्हारे साथ समागम किया है। इससे तुम्हें बल-पराक्रमसे सम्पन्न एवं बुद्धिमान् पुत्र प्राप्त होगा॥ १८॥

महासत्त्वो महातेजा महाबलपराक्रमः।
लङ्घने प्लवने चैव भविष्यति मया समः॥ १९॥

'वह महान् धैर्यवान्, महातेजस्वी, महाबली, महापराक्रमी तथा लाँघने और छलाँग मारनेमें मेरे समान होगा'॥ १९॥

एवमुक्ता ततस्तुष्टा जननी ते महाकपे।
गुहायां त्वां महाबाहो प्रजज्ञे प्लवगर्षभ॥ २०॥

'महाकपे! वायुदेवके ऐसा कहनेपर तुम्हारी माता प्रसन्न हो गयीं। महाबाहो! वानरश्रेष्ठ! फिर उन्होंने तुम्हें एक गुफामें जन्म दिया॥ २०॥

अभ्युत्थितं ततः सूर्यं बालो दृष्ट्वा महावने।
फलं चेति जिघृक्षुस्त्वमुत्प्लुत्याभ्युत्पतो दिवम्॥ २१॥

'बाल्यावस्थामें एक विशाल वनके भीतर एक दिन उदित हुए सूर्यको देखकर तुमने समझा कि यह भी कोई फल है; अतः उसे लेनेके लिये तुम सहसा आकाशमें उछल पड़े॥ २१॥

शतानि त्रीणि गत्वाथ योजनानां महाकपे।
तेजसा तस्य निर्धूतो न विषादं गतस्ततः॥ २२॥

'महाकपे! तीन सौ योजन ऊँचे जानेके बाद सूर्यके तेजसे आक्रान्त होनेपर भी तुम्हारे मनमें खेद या चिन्ता नहीं हुई॥ २२॥

त्वामप्युपगतं तूर्णमन्तरिक्षं महाकपे।
क्षिप्तमिन्द्रेण ते वज्रं कोपाविष्टेन तेजसा॥ २३॥

'कपिप्रवर! अन्तरिक्षमें जाकर जब तुरंत ही तुम सूर्यके पास पहुँच गये, तब इन्द्रने कुपित होकर तुम्हारे ऊपर तेजसे प्रकाशित वज्रका प्रहार किया॥ २३॥

तदा शैलाग्रशिखरे वामो हनुरभज्यत।
ततो हि नामधेयं ते हनुमानिति कीर्तितम्॥ २४॥

'उस समय उदयगिरिके शिखरपर तुम्हारे हनु (ठोड़ी) का बायाँ भाग वज्रकी चोटसे खण्डित हो गया। तभीसे तुम्हारा नाम हनुमान् पड़ गया॥ २४॥

ततस्त्वां निहतं दृष्ट्वा वायुर्गन्धवहः स्वयम्।
त्रैलोक्यं भृशसंक्रुद्धो न ववौ वै प्रभञ्जनः॥ २५॥

'तुमपर प्रहार किया गया है, यह देखकर गन्धवाहक वायुदेवताको बड़ा क्रोध हुआ। उन प्रभञ्जनदेवने तीनों लोकोंमें प्रवाहित होना छोड़ दिया॥ २५॥

सम्भ्रान्ताश्च सुराः सर्वे त्रैलोक्ये क्षुभिते सति।
प्रसादयन्ति संक्रुद्धं मारुतं भुवनेश्वराः॥ २६॥

'इससे सम्पूर्ण देवता घबरा गये; क्योंकि वायुके अवरुद्ध हो जानेसे तीनों लोकोंमें खलबली मच गयी थी। उस समय समस्त लोकपाल कुपित हुए वायुदेवको मनाने लगे॥ २६॥

प्रसादिते च पवने ब्रह्मा तुभ्यं वरं ददौ।
अशस्त्रवध्यतां तात समरे सत्यविक्रम॥ २७॥

'सत्यपराक्रमी तात! पवनदेवके प्रसन्न होनेपर ब्रह्माजीने तुम्हारे लिये यह वर दिया कि तुम समराङ्गणमें किसी भी अस्त्र-शस्त्रके द्वारा मारे नहीं जा सकोगे॥ २७॥

वज्रस्य च निपातेन विरुजं त्वां समीक्ष्य च।
सहस्रनेत्रः प्रीतात्मा ददौ ते वरमुत्तमम्॥ २८॥
स्वच्छन्दतश्च मरणं तव स्यादिति वै प्रभो।

'प्रभो! वज्रके प्रहारसे भी तुम्हें पीड़ित न देखकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने तुम्हारे लिये यह उत्तम वर दिया—'मृत्यु तुम्हारी इच्छाके अधीन होगी—तुम जब चाहोगे, तभी मर सकोगे, अन्यथा नहीं'॥ २८½॥

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः॥ २९॥
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः।

'इस प्रकार तुम केसरीके क्षेत्रज पुत्र हो। तुम्हारा पराक्रम शत्रुओंके लिये भयंकर है। तुम वायुदेवके औरस पुत्र हो, इसलिये तेजकी दृष्टिसे भी उन्हींके समान हो॥ २९½॥

त्वं हि वायुसुतो वत्स प्लवने चापि तत्समः॥ ३०॥

वयमद्य गतप्राणा भवानस्मासु साम्प्रतम्।
दाक्ष्यविक्रमसम्पन्नः कपिराज इवापरः॥ ३१॥

'वत्स! तुम पवनके पुत्र हो, अतः छलाँग मारनेमें भी उन्हींके तुल्य हो। हमारी प्राणशक्ति अब चली गयी। इस समय तुम्हीं हमलोगोंमें दूसरे वानरराजकी भाँति चातुर्य एवं पौरुषसे सम्पन्न हो॥ ३०-३१॥

त्रिविक्रमे मया तात सशैलवनकानना।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी परिक्रान्ता प्रदक्षिणम्॥ ३२॥

'तात! भगवान् वामनने त्रिलोकीको नापनेके लिये जब पैर बढ़ाया था, उस समय मैंने पर्वत, वन और काननों-सहित समूची पृथ्वीकी इक्कीस बार प्रदक्षिणा की थी॥३२॥

तथा चौषधयोऽस्माभिः संचिता देवशासनात्।
निर्मथ्यममृतं याभिस्तदानीं नो महद्बलम्॥ ३३॥

'समुद्र-मन्थनके समय देवताओंकी आज्ञासे हमने उन ओषधियोंका संचय किया था, जिनके द्वारा अमृतको मथकर निकालना था। उन दिनों हममें महान् बल था॥ ३३॥

स इदानीमहं वृद्धः परिहीनपराक्रमः।
साम्प्रतं कालमस्माकं भवान् सर्वगुणान्वितः॥ ३४॥

'अब तो मैं बूढ़ा हो गया हूँ। मेरा पराक्रम घट गया है। इस समय हमलोगोंमें तुम्हीं सब प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न हो॥ ३४॥

तद् विजृम्भस्व विक्रान्त प्लवतामुत्तमो ह्यसि।
त्वद्वीर्यं द्रष्टुकामा हि सर्वा वानरवाहिनी॥ ३५॥

'अतः पराक्रमी वीर! तुम अपने असीम बलका विस्तार करो। छलाँग मारनेवालोंमें तुम सबसे श्रेष्ठ हो। यह सारी वानरसेना तुम्हारे बल-पराक्रमको देखना चाहती है॥३५॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल लङ्घयस्व महार्णवम्।
परा हि सर्वभूतानां हनुमन् या गतिस्तव॥ ३६॥

'वानरश्रेष्ठ हनुमान्! उठो और इस महासागरको लाँघ जाओ; क्योंकि तुम्हारी गति सभी प्राणियोंसे बढ़कर है॥ ३६॥

विषण्णा हरयः सर्वे हनुमन् किमुपेक्षसे।
विक्रमस्व महावेग विष्णुस्त्रीन् विक्रमानिव॥ ३७॥

'हनुमन्! समस्त वानर चिन्तामें पड़े हैं। तुम क्यों इनकी उपेक्षा करते हो? महान् वेगशाली वीर! जैसे भगवान् विष्णुने त्रिलोकीको नापनेके लिये तीन पग बढ़ाये थे, उसी प्रकार तुम भी अपने पैर बढ़ाओ'॥ ३७॥

ततः कपीनामृषभेण चोदितः
प्रतीतवेगः पवनात्मजः कपिः।
प्रहर्षयंस्तां हरिवीरवाहिनीं
चकार रूपं महदात्मनस्तदा॥ ३८॥

इस प्रकार वानरों और भालुओंमें श्रेष्ठ जाम्बवान्‌की प्रेरणा पाकर कपिवर पवनकुमार हनुमान्‌को अपने महान् वेगपर विश्वास हो आया। उन्होंने वानर वीरोंकी उस सेनाका हर्ष बढ़ाते हुए उस समय अपना विराट्‌रूप प्रकट किया॥ ३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः॥ ६६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६६॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

हनुमान्‌जीका समुद्र लाँघनेके लिये उत्साह प्रकट करना, जाम्बवान्‌के द्वारा उनकी प्रशंसा तथा वेगपूर्वक छलाँग मारनेके लिये हनुमान्‌जीका महेन्द्र पर्वतपर चढ़ना

तं दृष्ट्वा जृम्भमाणं ते क्रमितुं शतयोजनम्।
वेगेनापूर्यमाणं च सहसा वानरोत्तमम्॥ १॥
सहसा शोकमुत्सृज्य प्रहर्षेण समन्विताः।
विनेदुस्तुष्टुवुश्चापि हनूमन्तं महाबलम्॥ २॥

सौ योजनके समुद्रको लाँघनेके लिये वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जीको सहसा बढ़ते और वेगसे परिपूर्ण होते देख सब वानर तुरंत शोक छोड़कर अत्यन्त हर्षसे भर गये और महाबली हनुमान्‌जीकी स्तुति करते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे॥ १-२॥

प्रहृष्टा विस्मिताश्चापि ते वीक्षन्ते समन्ततः।
त्रिविक्रमं कृतोत्साहं नारायणमिव प्रजाः॥ ३॥

वे उनके चारों ओर खड़े हो प्रसन्न एवं चकित होकर उन्हें इस प्रकार देखने लगे, जैसे उत्साहयुक्त नारायणावतार वामनजीको समस्त प्रजाने देखा था॥ ३॥

संस्तूयमानो हनुमान् व्यवर्धत महाबलः।
समाविध्य च लाङ्गूलं हर्षाद् बलमुपेयिवान्॥ ४॥

अपनी प्रशंसा सुनकर महाबली हनुमान्‌ने शरीरको और भी बढ़ाना आरम्भ किया। साथ ही हर्षके साथ

अपनी पूँछको बारंबार घुमाकर अपने महान् बलका स्मरण किया ॥ ४ ॥

तस्य संस्तूयमानस्य वृद्धैर्वानरपुङ्गवैः ।
तेजसाऽऽपूर्यमाणस्य रूपमासीदनुत्तमम् ॥ ५ ॥

बड़े-बूढ़े वानरशिरोमणियोंके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनते और तेजसे परिपूर्ण होते हुए हनुमान्‌जीका रूप उस समय बड़ा ही उत्तम प्रतीत होता था ॥ ५ ॥

यथा विजृम्भते सिंहो विवृते गिरिगह्वरे ।
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तथा सम्प्रति जृम्भते ॥ ६ ॥

जैसे पर्वतकी विस्तृत कन्दरामें सिंह अँगड़ाई लेता है, उसी प्रकार वायुदेवताके औरस पुत्रने उस समय अपने शरीरको अँगड़ाई ले-लेकर बढ़ाया ॥ ६ ॥

अशोभत मुखं तस्य जृम्भमाणस्य धीमतः ।
अम्बरीषोपमं दीप्तं विधूम इव पावकः ॥ ७ ॥

जँभाई लेते समय बुद्धिमान् हनुमान्‌जीका दीप्तिमान् मुख जलते हुए भाड़ तथा धूमरहित अग्निके समान शोभा पा रहा था ॥ ७ ॥

हरीणामुत्थितो मध्यात् सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
अभिवाद्य हरीन् वृद्धान् हनूमानिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

वे वानरोंके बीचसे उठकर खड़े हो गये । उनके सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो आया । उस अवस्थामें हनुमान्‌जीने बड़े-बूढ़े वानरोंको प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥८॥

आरुजन् पर्वताग्राणि हुताशनसखोऽनिलः ।
बलवानप्रमेयश्च वायुराकाशगोचरः ॥ ९ ॥

'आकाशमें विचरनेवाले वायुदेवता बड़े बलवान् हैं । उनकी शक्तिकी कोई सीमा नहीं है । वे अग्निदेवके सखा हैं और अपने वेगसे बड़े-बड़े पर्वत-शिखरोंको भी तोड़ डालते हैं ॥ ९ ॥

तस्याहं शीघ्रवेगस्य शीघ्रगस्य महात्मनः ।
मारुतस्यौरसः पुत्रः प्लवनेनास्मि तत्समः ॥ १० ॥

'अत्यन्त शीघ्र वेगसे चलनेवाले उन शीघ्रगामी महात्मा वायुका मैं औरस पुत्र हूँ और छलाँग मारनेमें उन्हींके समान हूँ ॥ १० ॥

उत्सहेयं हि विस्तीर्णमालिखन्तमिवाम्बरम् ।
मेरुं गिरिमसङ्गेन परिगन्तुं सहस्रशः ॥ ११ ॥

'कई सहस्र योजनोंतक फैले हुए मेरुगिरिकी, जो आकाशके बहुत बड़े भागको ढके हुए है और उसमें रेखा खींचता-सा जान पड़ता है, मैं बिना विश्राम लिये सहस्रों बार परिक्रमा कर सकता हूँ ॥ ११ ॥

बाहुवेगप्रणुन्नेन सागरेणाहमुत्सहे ।
समप्लावयितुं लोकं सपर्वतनदीह्रदम् ॥ १२ ॥

'अपनी भुजाओंके वेगसे समुद्रको विक्षुब्ध करके उसके जलसे मैं पर्वत, नदी और जलाशयोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को आप्लावित कर सकता हूँ ॥ १२ ॥

ममोरुजङ्घावेगेन भविष्यति समुत्थितः ।
समुत्थितमहाग्राहः समुद्रो वरुणालयः ॥ १३ ॥

'वरुणका निवासस्थान यह महासागर मेरी जाँघों और पिंडलियोंके वेगसे विक्षुब्ध हो उठेगा और इसके भीतर रहनेवाले बड़े-बड़े ग्राह ऊपर आ जायँगे ॥ १३ ॥

पन्नगाशनमाकाशे पतन्तं पक्षिसेवितम् ।
वैनतेयमहं शक्तः परिगन्तुं सहस्रशः ॥ १४ ॥

'समस्त पक्षी जिनकी सेवा करते हैं, वे सर्पभोजी विनतानन्दन गरुड़ आकाशमें उड़ते हों तो भी मैं हजारों बार उनके चारों ओर घूम सकता हूँ ॥ १४ ॥

उदयात् प्रस्थितं वापि ज्वलन्तं रश्मिमालिनम् ।
अनस्तमितमादित्यमहं गन्तुं समुत्सहे ॥ १५ ॥
ततो भूमिमसंस्पृश्य पुनरागन्तुमुत्सहे ।
प्रवेगेनैव महता भीमेन प्लवगर्षभाः ॥ १६ ॥

'श्रेष्ठ वानरो ! उदयाचलसे चलकर अपने तेजसे प्रज्वलित होते हुए सूर्यदेवको मैं अस्त होनेसे पहले ही छू सकता हूँ और वहाँसे पृथ्वीतक आकर यहाँ पैर रक्खे बिना ही पुनः उनके पासतक बड़े भयंकर वेगसे जा सकता हूँ ॥ १५-१६ ॥

उत्सहेयमतिक्रान्तुं सर्वानाकाशगोचरान् ।
सागरान् शोषयिष्यामि दारयिष्यामि मेदिनीम् ॥ १७ ॥
पर्वतांश्चूर्णयिष्यामि प्लवमानः प्लवङ्गमः ।
हरिष्याम्युरुवेगेन प्लवमानो महार्णवम् ॥ १८ ॥

'आकाशचारी समस्त ग्रह-नक्षत्र आदिको लाँघकर आगे बढ़ जानेका उत्साह रखता हूँ । मैं चाहूँ तो समुद्रोंको सोख लूँगा, पृथ्वीको विदीर्ण कर दूँगा और कूद-कूदकर पर्वतोंको चूर-चूर कर डालूँगा; क्योंकि मैं दूरतककी छलाँगें मारनेवाला वानर हूँ । महान् वेगसे महासागरको फाँदता हुआ मैं अवश्य उसके पार पहुँच जाऊँगा ॥ १७-१८ ॥

लतानां विविधं पुष्पं पादपानां च सर्वशः ।
अनुयास्यति मामद्य प्लवमानं विहायसा ॥ १९ ॥

'आज आकाशमें वेगपूर्वक जाते समय लताओं और वृक्षोंके नाना प्रकारके फूल मेरे साथ-साथ उड़ते जायँगे ॥१९॥

भविष्यति हि मे पन्थाः स्वातेः पन्था इवाम्बरे ।
चरन्तं घोरमाकाशमुत्पतिष्यन्तमेव च ॥ २० ॥
द्रक्ष्यन्ति निपतन्तं च सर्वभूतानि वानराः ।

'बहुत-से फूल बिखरे होनेके कारण मेरा मार्ग आकाशमें

अनेक नक्षत्रपुञ्जोंसे सुशोभित स्वातिमार्ग (छायापथ) के समान प्रतीत होगा । वानरो ! आज समस्त प्राणी मुझे भयंकर आकाशमें सीधे जाते हुए, ऊपर उछलते हुए और नीचे उतरते हुए देखेंगे ॥ २०½ ॥

महामेरुप्रतीकाशं मां द्रक्ष्यध्वं प्लवङ्गमाः ॥ २१ ॥
दिवमावृत्य गच्छन्तं ग्रसमानमिवाम्बरम् ।
विधमिष्यामि जीमूतान् कम्पयिष्यामि पर्वतान् ।
सागरं शोषयिष्यामि प्लवमानः समाहितः ॥ २२ ॥

'कपिवरो ! तुम देखोगे, मैं महागिरि मेरुके समान विशाल शरीर धारण करके स्वर्गको ढकता और आकाशको निगलता हुआ-सा आगे बढ़ूँगा, बादलोंको छिन्न-भिन्न कर डालूँगा, पर्वतोंको हिला दूँगा और एकचित्त हो छलाँग मारकर आगे बढ़नेपर समुद्रको भी सुखा दूँगा ॥ २१-२२ ॥

वैनतेयस्य वा शक्तिर्मम वा मारुतस्य वा ।
ऋते सुपर्णराजानं मारुतं वा महाबलम् ।
न तद् भूतं प्रपश्यामि यन्मां प्लुतमनुव्रजेत् ॥ २३ ॥

'विनतानन्दन गरुडमें, मुझमें अथवा वायु देवतामें ही समुद्रको लाँघ जानेकी शक्ति है । पक्षिराज गरुड अथवा महाबली वायु देवताके सिवा और किसी प्राणीको मैं ऐसा नहीं देखता, जो यहाँसे छलाँग मारनेपर मेरे साथ जा सके ॥ २३ ॥

निमेषान्तरमात्रेण निरालम्बनमम्बरम् ।
सहसा निपतिष्यामि घनाद् विद्युदिवोत्थिता ॥ २४ ॥

'मेघसे उत्पन्न हुई विद्युत्की भाँति मैं पलक मारते-मारते सहसा निराधार आकाशमें उड़ जाऊँगा ॥ २४ ॥

भविष्यति हि मे रूपं प्लवमानस्य सागरम् ।
विष्णोः प्रक्रममाणस्य तदा त्रीन् विक्रमानिव ॥ २५ ॥

'समुद्रको लाँघते समय मेरा वही रूप प्रकट होगा, जो तीनों पगोंको बढ़ाते समय वामनरूपधारी भगवान् विष्णुका हुआ था ॥ २५ ॥

बुद्ध्या चाहं प्रपश्यामि मनश्चेष्टा च मे तथा ।
अहं द्रक्ष्यामि वैदेहीं प्रमोदध्वं प्लवङ्गमाः ॥ २६ ॥

'वानरो ! मैं बुद्धिसे जैसा देखता या सोचता हूँ, मेरे मनकी चेष्टा भी उसके अनुरूप ही होती है । मुझे निश्चय जान पड़ता है कि मैं विदेहकुमारीका दर्शन करूँगा; अतः अब तुमलोग खुशियाँ मनाओ ॥ २६ ॥

मारुतस्य समो वेगे गरुडस्य समो जवे ।
अयुतं योजनानां तु गमिष्यामीति मे मतिः ॥ २७ ॥

'मैं वेगमें वायुदेवता तथा गरुड़के समान हूँ । मेरा तो ऐसा विश्वास है कि इस समय मैं दस हजार योजनतक जा सकता हूँ ॥ २७ ॥

वासवस्य सवज्रस्य ब्रह्मणो वा स्वयम्भुवः ।
विक्रम्य सहसा हस्तादमृतं तदिहानये ॥ २८ ॥
लङ्कां वापि समुत्क्षिप्य गच्छेयमिति मे मतिः ।

'वज्रधारी इन्द्र अथवा स्वयम्भू ब्रह्माजीके हाथसे भी मैं बलपूर्वक अमृत छीनकर सहसा यहाँ ला सकता हूँ । समूची लङ्काको भी भूमिसे उखाड़कर हाथपर उठाये चल सकता हूँ । ऐसा मेरा विश्वास है' ॥ २८½ ॥

तमेवं वानरश्रेष्ठं गर्जन्तममितप्रभम् ॥ २९ ॥
प्रहृष्टा हरयस्तत्र समुदैक्षन्त विस्मिताः ।

अमिततेजस्वी वानरश्रेष्ठ हनुमान्जी जब इस प्रकार गर्जना कर रहे थे, उस समय सम्पूर्ण वानर अत्यन्त हर्षमें भरकर चकितभावसे उनकी ओर देख रहे थे ॥ २९½ ॥

तच्चास्य वचनं श्रुत्वा ज्ञातीनां शोकनाशनम् ॥ ३० ॥
उवाच परिसंहृष्टो जाम्बवान् प्लवगेश्वरः ।

हनुमान्जीकी बातें भाई-बन्धुओंके शोकको नष्ट करनेवाली थीं । उन्हें सुनकर वानर-सेनापति जाम्बवान्को बड़ी प्रसन्नता हुई । वे बोले—॥ ३०½ ॥

वीर केसरिणः पुत्र वेगवन् मारुतात्मज ॥ ३१ ॥
ज्ञातीनां विपुलः शोकस्त्वया तात प्रणाशितः ।

'वीर ! केसरीके सुपुत्र ! वेगशाली पवनकुमार ! तात ! तुमने अपने बन्धुओंका महान् शोक नष्ट कर दिया ॥ ३१½ ॥

तव कल्याणरुचयः कपिमुख्याः समागताः ॥ ३२ ॥
मङ्गलान्यर्थसिद्ध्यर्थं करिष्यन्ति समाहिताः ।

'यहाँ आये हुए सभी श्रेष्ठ वानर तुम्हारे कल्याणकी कामना करते हैं । अब ये कार्यकी सिद्धिके उद्देश्यसे एकाग्रचित्त हो तुम्हारे लिये मङ्गलकृत्य—स्वस्तिवाचन आदिका अनुष्ठान करेंगे ॥ ३२½ ॥

ऋषीणां च प्रसादेन कपिवृद्धमतेन च ॥ ३३ ॥
गुरूणां च प्रसादेन सम्प्लव त्वं महार्णवम् ।

'ऋषियोंके प्रसाद, वृद्ध वानरोंकी अनुमति तथा गुरुजनोंकी कृपासे तुम इस महासागरके पार हो जाओ ॥ ३३½ ॥

स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव ॥ ३४ ॥
त्वद्गतानि च सर्वेषां जीवनानि वनौकसाम् ।

'जबतक तुम लौटकर यहाँ आओगे, तबतक हम तुम्हारी प्रतीक्षामें एक पैरसे खड़े रहेंगे; क्योंकि हम सब वानरोंका जीवन तुम्हारे ही अधीन है' ॥ ३४½ ॥

ततश्च हरिशार्दूलस्तानुवाच वनौकसः ॥ ३५ ॥
कोऽपि लोके न मे वेगं प्लवने धारयिष्यति ।

तदनन्तर कपिश्रेष्ठ हनुमान्ने उन वनवासी वानरोंसे कहा—'जब मैं यहाँसे छलाँग मारूँगा, उस समय संसारमें कोई भी मेरे वेगको धारण नहीं कर सकेगा ॥ ३५½ ॥

एतानीह नगस्यास्य शिलासंकटशालिनः ॥ ३६ ॥
शिखराणि महेन्द्रस्य स्थिराणि च महान्ति च ।
येषु वेगं गमिष्यामि महेन्द्रशिखरेष्वहम् ॥ ३७ ॥
नानाद्रुमविकीर्णेषु धातुनिष्पन्दशोभिषु ।

'शिलाओंके समूहसे शोभा पानेवाले केवल इस महेन्द्र-पर्वतके ये शिखर ही ऊँचे-ऊँचे और स्थिर हैं, जिनपर नाना प्रकारके वृक्ष फैले हुए हैं तथा गैरिक आदि धातुओंके समुदाय शोभा दे रहे हैं। इन महेन्द्र-शिखरोंपर ही वेगपूर्वक पैर रखकर मैं यहाँसे छलाँग मारूँगा ॥ ३६-३७½ ॥

एतानि मम वेगं हि शिखराणि महान्ति च ॥ ३८ ॥
प्लवतो धारयिष्यन्ति योजनानामितः शतम् ।

'यहाँसे सौ योजनके लिये छलाँग मारते समय महेन्द्र-पर्वतके ये महान् शिखर ही मेरे वेगको धारण कर सकेंगे' ॥ ३८½ ॥

ततस्तु मारुतप्रख्यः स हरिर्मारुतात्मजः ।
आरुरोह नगश्रेष्ठं महेन्द्रमरिमर्दनः ॥ ३९ ॥

यों कहकर वायुके समान महापराक्रमी शत्रुमर्दन पवन-कुमार हनुमान्‌जी पर्वतोंमें श्रेष्ठ महेन्द्रपर चढ़ गये ॥ ३९ ॥

वृतं नानाविधैः पुष्पैर्मृगसेवितशाद्वलम् ।
लताकुसुमसम्बाधं नित्यपुष्पफलद्रुमम् ॥ ४० ॥

वह पर्वत नाना प्रकारके पुष्पयुक्त वृक्षोंसे भरा हुआ था, वन्य पशु वहाँकी हरी-हरी घास चर रहे थे, लताओं और फूलोंसे वह सघन जान पड़ता था और वहाँके वृक्षोंमें सदा ही फल-फूल लगे रहते थे ॥ ४० ॥

सिंहशार्दूलसहितं मत्तमातङ्गसेवितम् ।
मत्तद्विजगणोद्घुष्टं सलिलोत्पीडसंकुलम् ॥ ४१ ॥

महेन्द्र पर्वतके वनोंमें सिंह और बाघ भी निवास करते थे, मतवाले गजराज विचरते थे, मदमत्त पक्षियोंके समूह सदा कलरव किया करते थे तथा जलके स्रोतों और झरनोंसे वह पर्वत व्याप्त दिखायी देता था ॥ ४१ ॥

महद्भिरुच्छ्रितं शृङ्गैर्महेन्द्रं स महाबलः ।
विचचार हरिश्रेष्ठो महेन्द्रसमविक्रमः ॥ ४२ ॥

बड़े-बड़े शिखरोंसे ऊँचे प्रतीत होनेवाले महेन्द्र पर्वतपर आरूढ़ हो इन्द्रतुल्य पराक्रमी महाबली कपिश्रेष्ठ हनुमान् वहाँ इधर-उधर टहलने लगे ॥ ४२ ॥

पादाभ्यां पीडितस्तेन महाशैलो महात्मना ।
रराज सिंहाभिहतो महान् मत्त इव द्विपः ॥ ४३ ॥

महाकाय हनुमान्‌जीके दोनों पैरोंसे दबा हुआ वह महान् पर्वत सिंहसे आक्रान्त हुए महान् मदमत्त गजराजकी भाँति चीत्कार-सा करने लगा (वहाँ रहनेवाले प्राणियोंका शब्द ही मानो उसका आर्त्त चीत्कार था) ॥ ४३ ॥

मुमोच सलिलोत्पीडान् विप्रकीर्णशिलोच्चयः ।
वित्रस्तमृगमातङ्गः प्रकम्पितमहाद्रुमः ॥ ४४ ॥

उसके शिलासमूह इधर-उधर बिखर गये। उससे नये-नये झरने फूट निकले। वहाँ रहनेवाले मृग और हाथी भय-से थर्रा उठे और बड़े-बड़े वृक्ष झोंके खाकर झूमने लगे ॥ ४४ ॥

नानागन्धर्वमिथुनैः पानसंसर्गकर्कशैः ।
उत्पतद्भिर्विहंगैश्च विद्याधरगणैरपि ॥ ४५ ॥
त्यज्यमानमहासानुः संनिलीनमहोरगः ।
शैलशृङ्गशिलोत्पातस्तदाभूत् स महागिरिः ॥ ४६ ॥

मधुपानके संसर्गसे उद्धत चित्तवाले अनेकानेक गन्धर्वोंके जोड़े, विद्याधरोंके समुदाय और उड़ते हुए पक्षी भी उस पर्वतके विशाल शिखरोंको छोड़कर जाने लगे। बड़े-बड़े साँप बिलोंमें छिप गये तथा उस पर्वतके शिखरोंसे बड़ी-बड़ी शिलाएँ टूट-टूटकर गिरने लगीं। इस प्रकार वह महान् पर्वत बड़ी दुरवस्थामें पड़ गया ॥ ४५-४६ ॥

निःश्वसद्भिस्तदा तैस्तु भुजगैरर्धनिःसृतैः ।
सपताक इवाभाति स तदा धरणीधरः ॥ ४७ ॥

बिलोंसे अपने आधे शरीरको बाहर निकालकर लंबी साँस खींचते हुए सर्पोंसे उपलक्षित होनेवाला वह महान् पर्वत उस समय अनेकानेक पताकाओंसे अलंकृत-सा प्रतीत होता था ॥ ४७ ॥

ऋषिभिस्त्राससम्भ्रान्तैस्त्यज्यमानः शिलोच्चयः ।
सीदन् महति कान्तारे सार्थहीन इवाध्वगः ॥ ४८ ॥

भयसे घबराये हुए ऋषि-मुनि भी उस पर्वतको छोड़ने लगे। जैसे विशाल दुर्गम वनमें अपने साथियोंसे बिछुड़ा हुआ एक राही भारी विपत्तिमें फँस जाता है, वही दशा उस महान् पर्वत महेन्द्रकी हो रही थी ॥ ४८ ॥

स वेगवान् वेगसमाहितात्मा
हरिप्रवीरः परवीरहन्ता ।
मनः समाधाय महानुभावो
जगाम लङ्कां मनसा मनस्वी ॥ ४९ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले वानरसेनाके श्रेष्ठ वीर वेगशाली महामनस्वी महानुभाव हनुमान्‌जीका मन वेगपूर्वक छलाँग मारनेकी योजनामें लगा हुआ था। उन्होंने चित्तको एकाग्र करके मन-ही-मन लङ्काका स्मरण किया ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

किष्किन्धाकाण्डं सम्पूर्णम्